श्रीमद्भगवद्गीता

‘शङ्करानन्दी’ व्याख्यासहिता

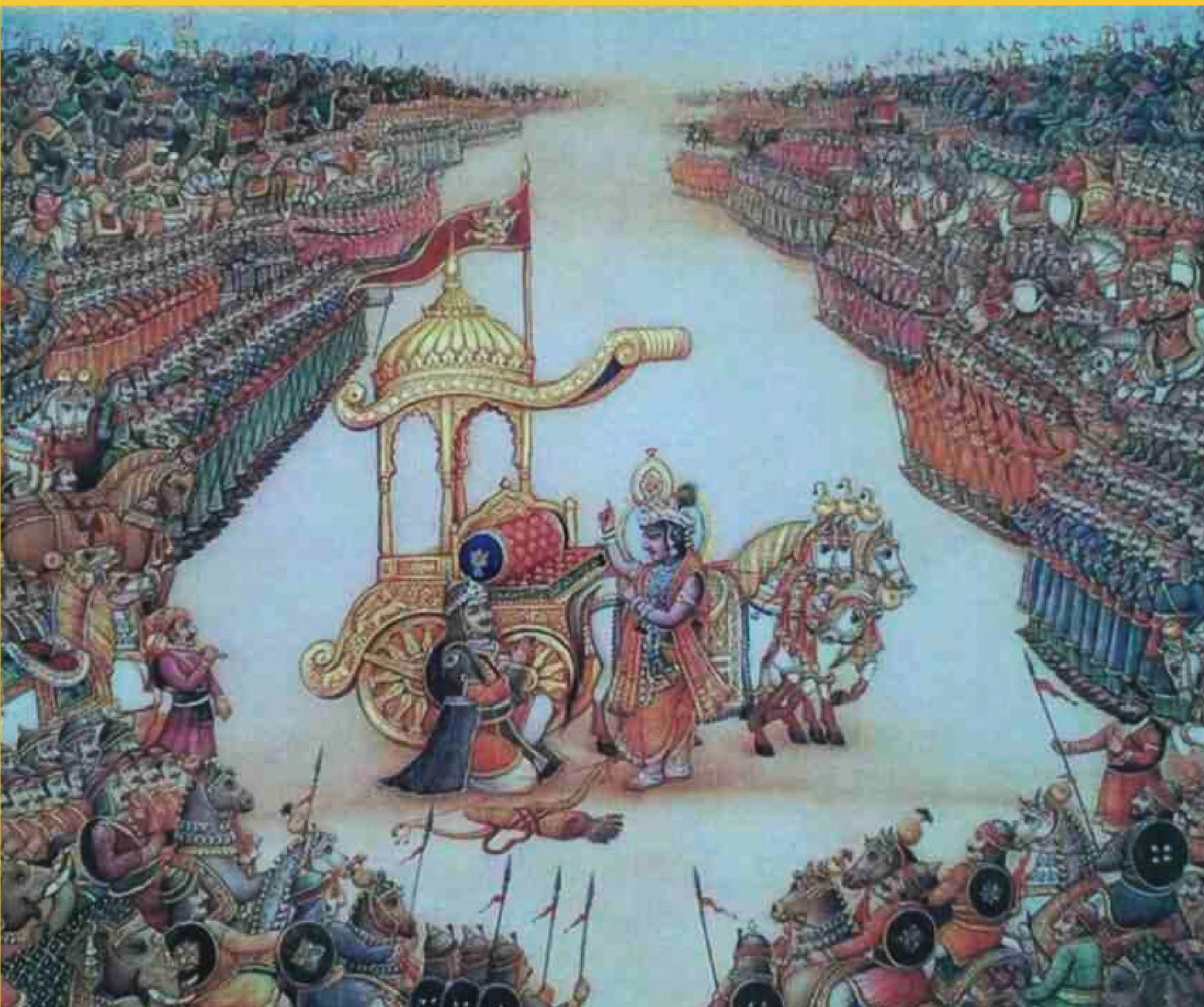

यतिवर श्रीभोलेबाबा

॥ श्रीः ॥

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला
127

श्रीमद्भगवद्गीता

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यपूज्यपाद श्रीशङ्करानन्दसरस्वतीविरचितया
'गीतातात्पर्यबोधिन्या' समलङ्कृतम्

अनुवादक
यतिवरश्रीभोलेबाबा

सम्पादक
श्रीकृष्णपन्तशास्त्रि

चौखम्बा सस्कृत प्रतिष्ठान
दिल्ली

प्रकाशक
श्रेष्ठिप्रवर श्रीगौरीशङ्कर गोयनका
अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालय, काशी.

मुद्रक
ओमुप्रकाश कपूर
श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, बनारस.

नमः परमात्मने

वक्तव्य

गीता निराकार निर्विकार होते हुए भी कारणवश साकार हुए परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रका दिव्य सन्देश है, महाभारतरूपी रत्नमयी महामालाका प्रधान रत्न है, भवसागरमें डूब रहे प्राणियोंके उद्धारकी साधनभूत महानौका है, सम्पूर्ण प्राणियोंकी शाश्वत शान्तिप्राप्तिका अनुपम साधन है और है उपनिषदोंका सार। इसीलिए अतीत कालमें सभी सम्प्रदायोंके आचार्यों और सभी विश्वविख्यात मनीषियोंने स्वयं अपने स्वान्तसुखके लिए, अपने अनुगामियोंको हितोपदेश देनेके लिए एवं दिव्यवाणीका रसास्वाद लेनेके लिए उसका गम्भीर अध्ययन किया, उसपर भाष्य, टीकाएँ तथा विवृतियाँ लिखीं। वर्तमान समयमें भी यथामति यथाशक्ति अतीत कालके मनीषियोंका अनुसरण हो रहा है और भविष्यमें भी जबतक सूर्य और चन्द्र रहेंगे, इसपर विचारचर्चा होती रहेगी। वाङ्मयमें शायद ही ऐसा आदर दूसरे ग्रन्थको प्राप्त हुआ हो।

भगवान् श्रीवेदव्यासजीने भावी विद्वानोंमें वैसी बुद्धिकी प्रखरता न देखकर अनन्त वेदराशिको ऋग्, यजु, साम और अथर्व भेदसे चार भागोंमें विभक्त किया और अपने पैल आदि शिष्योंको उनका अध्ययन कराया। यों उनकी शिष्य-प्रशिष्यपरम्परा द्वारा दारुण कालमें भी वेदराशिकी रक्षा हुई। वेदराशिके चार विभाग करनेके उपरान्त महामुनि श्रीवेदव्यासजीने विचार किया कि वेदार्थ अति गम्भीर, दुरूह और अतिसूक्ष्म है, उसका अर्थ साधारण पुरुषोंकी समझमें नहीं आ

सकता और सबको उसके श्रवण-मननका अधिकार भी नहीं है। इसी विचारके परिणामस्वरूप महामुनिने महाभारतकी रचना की। महाभारत क्या है, यह बात किसी भारतीयसे तिरोहित नहीं है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—चारों पुरुषार्थोंके विविध साधन उसमें प्रचुरमात्रामें विद्यमान हैं। श्रीवेदव्यासजीने स्वयं श्रीमुखसे महाभारतकी महत्ताका वर्णन किया है। वे कहते हैं—

'यदिहाऽस्ति तदन्यत्र यन्नेहाऽस्ति न कुत्रचित्।'

यानी जो वस्तु महाभारतमें है, वह और जगह भी मिल सकती है और जो यहाँ नहीं है, वह कहीं भी नहीं है।

पुराणोंमें एक जगह नहीं, स्थान-स्थानपर महाभारतकी प्रशंसा की गई है और वेदोंमें उसकी गणना की गई है—

'वेदानध्यापयामास महाभारतपञ्चमान्।'
'कार्ष्णं च पञ्चमं वेदं यन्महाभारतं स्मृतम्॥'

इत्यादि अनेक पुराण-वचन हैं।

इस प्रकारके अतिप्रशंसनीय और विविध रत्नोंकी खान महाभारतके पाँच रत्नोंका विशेषरूपसे उल्लेख किया गया है। वे प्रधान पांच रत्न हैं—गीता, सहस्रनाम, स्तवराज, अनुस्मृति और गजेन्द्रमोक्ष।

कहा भी है—

'गीता सहस्रनामानि स्तवराजो ह्यनुस्मृतिः।
गजेन्द्रमोक्षणञ्चैव पञ्च रत्नानि भारते॥'

उक्त पाँच महारत्नोंमें भी भगवान्के मुखकमलसे विनिःसृत गीताका स्थान सबसे ऊँचा है। इन सबसे भी बढ़ कर गीताकी महत्ताका प्रतिपादक भगवान्का यह वचन है—

'गीताश्रयेऽहं तिष्ठामि गीता मे चोत्तमं गृहम्।
गीताज्ञानमुपाश्रित्य त्रींल्लोकान् पालयाम्यहम्॥'

गीताकी महिमा विश्वविदित और निर्विवाद है, इसलिए इसपर अधिक कहना सूर्यको दीपक दिखानेके समान है।

श्रीशङ्करानन्दजीने अपने गुरु आनन्दात्मसरस्वतीको प्रणाम करते हुए गीताके मङ्गलाचरण श्लोकमें उनका नामोल्लेख किया है—

'भक्त्या प्रणम्य स्वगुरुमानन्दात्मसरस्वतीम् ।
क्रियते श्रीमद्भगवद्गीतातात्पर्यबोधिनी ॥'

कौषीतकीब्राह्मणकी दीपिका टीकाका मङ्गलाचरण करते हुए भी उक्त टीकाकारने कहा है—

'आनन्द आत्मा स्थिरजङ्गमानामस्त्यत्र चित्रस्तमहं प्रणम्य ।
कौषीतकीब्राह्मणमात्मविद्यां पदावलोकात् प्रकटीकरोमि ॥'

परमहंसोपनिषत्की स्वरचित दीपिका टीकामें भी उन्होंने लिखा है—

इयं परमहंसानां व्याख्यातोपनिषन्मया ।
तद्धर्मज्ञानजननी सानन्दात्मप्रबोधिनी ॥

उन्होंने उक्त दोनों श्लोकोंमें आनन्दात्मके नामका ठीक वैसे ही कौशलसे समावेश किया है, जैसे कि ऊपर विवरणप्रमेयसंग्रहके मङ्गलश्लोकमें श्रीविद्यारण्यजीने श्रीशङ्करानन्दजीके नामका उल्लेख किया है।

श्रीशङ्करानन्दजीने उपनिषदोंपर जो दीपिका टीका लिखी है, उसके अन्तमें सर्वत्र 'श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यानन्दात्मपूज्यपादशिष्यश्रीशङ्करानन्दभगवतः कृतिः ....समाप्ता' लिखा है, इससे उपनिषदोंपर दीपिका टीका रचनेवाले श्रीशङ्करानन्द और गीतापर तात्पर्यबोधिनी (शङ्करानन्दी) टीका रचनेवाले श्रीशङ्करानन्द एक ही व्यक्ति थे, इस विषयमें विवाद नहीं रह जाता।

श्रीशङ्करानन्दसरस्वतीजीने गीतापर गीतात्पर्य्यबोधिनी और अथर्वशिर, अथर्वशिख, अथर्वशीर्ष, अमृतनाद, अमृतबिन्दु, आरुणि, ईशावास्य, ऐतरेय, काठक, केन, कैवल्य, कौषीतकी, गर्भ, छान्दोग्य, जाबाल, तैत्तिरीय, नारायण, नृसिंहतापिनीय, परमहंस, प्रश्न, ब्रह्म, ब्रह्मवल्ली, महोपनिषद्, माण्डूक्य, मुण्डक, श्वेताश्वतर और हंस—इन २७ उपनिषदोंपर दीपिका टीकाके अतिरिक्त ब्रह्मसूत्रपर भी दीपिकावृत्ति लिखी है, जो एक प्रकारकी शाङ्करभाष्यकी व्याख्या ही कही जा सकती है। ब्रह्मसूत्रकी दीपिकाके मङ्गलाचरणमें वे लिखते हैं—

'शङ्करस्य नमस्कारं कृत्वा शङ्करभाष्यगा ।
सूत्रव्याख्या हिरुक् श्रोतुः सुखार्थं क्रियते मया ॥'

इस ग्रन्थमें उन्होंने बड़ी सरल भाषामें ब्रह्मसूत्रका शाङ्कर तात्पर्य दर्शाया है, जो अद्वैतवेदान्तके प्रारम्भिक शिक्षार्थियोंके लिए परमोपयोगी है ।

इन उपर्युक्त ग्रन्थोंके अतिरिक्त उनकी एक कृति और उपलब्ध होती है, वह है आत्मपुराण । आत्मपुराणमें उन्होंने अद्वैतवेदान्तके प्रायः सम्पूर्ण सिद्धान्तोंका, श्रुतियोंकी गूढ़ग्रन्थियोंका एवं योगसाधनके रहस्यका मार्मिक प्रतिपादन किया है और भी अनेकानेक ज्ञातव्य विषयोंका उसमें समावेश है । यह अद्वैतसाहित्यका एक अनुपम ग्रन्थ है । सुना जाता है कि इन ग्रन्थोंके सिवा (१) यत्यनुष्ठानपद्धति, (२) शिवसहस्रनामटीका और (३) सर्वपुराणसार । ये तीन ग्रन्थ भी उन्हींकी कृतियाँ हैं, पर वे हमारे दृष्टिगोचर नहीं हुए हैं ।

यद्यपि श्रीशङ्करानन्दजीकी जन्मतिथिका निश्चय करना सम्भव नहीं है, तथापि तेरहवीं शताब्दीके उत्तरार्द्धमें उनका जन्म हुआ था, यह निश्चित है । क्योंकि यह तो निर्विवाद ही है कि वे श्रीविद्यारण्यमुनिके गुरु थे । श्रीविद्यारण्य, जिनका पूर्वाश्रमका नाम श्रीमाधवाचार्य था, चौदहवीं शताब्दीके नररत्न थे । उन्होंने सन् १३३५ या ३६ में विजयनगरराज्यकी स्थापना कर स्वयं मन्त्रिपद ग्रहण किया था। इससे ज्ञात होता है कि त्रयोदश शताब्दीके अन्तमें या चतुर्दश शताब्दीके आरम्भमें उनका जन्म हुआ होगा। श्रीशङ्करानन्द श्रीविद्यारण्यके संन्यासदीक्षा गुरु थे और संन्यासाश्रममें उन्होंने उनसे अध्ययन भी किया था । इससे अनुमान होता कि श्रीशङ्करानन्दकी उत्पत्ति विद्यारण्यसे कमसे कम २५ वर्ष पूर्व हुई होगी ।

अभी तक गीतातात्पर्यबोधिनीका किसी भी देशी भाषामें आमूलचूल अनुवाद नहीं हुआ है। हमारी प्रार्थनाको स्वीकार कर अनेक ग्रन्थोंके सुप्रसिद्ध अनुवादक तथा लेखक यतिवर वीतराग श्रीभोलेबाबाजीने इसका हिन्दी अनुवाद करनेकी महती कृपा की है । एतदर्थ हम उनके चिर आभारी हैं और नतमस्तक हो उनका शतशः अभिवादन करते हैं ।

अन्तमें हमारी आन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रसे करबद्ध प्रार्थना है कि सपुत्र श्रीमान् सेठ गौरीशङ्कर गोयनकाजी, जिनकी दानवीरता और सद्धर्मनिष्ठासे ऐसे

उत्तमोत्तम ग्रन्थ संस्कृतटीका टिप्पणी तथा प्राञ्जल हिन्दी अनुवादके साथ जनताको स्वल्प मूल्यमें सुलभ हो रहे हैं, चिरायु हों और इसी प्रकार लोकोपकार होता रहे ।

हमने यथाशक्ति ऐसी चेष्टा की है कि अशुद्धियाँ न रहें, फिर भी प्रमादवश यदि कोई अशुद्धि रह गई हो, तो सज्जन उसे सुधार लेने की कृपा करें ।

वसन्तपञ्चमी
१९९८

विनीत
श्रीकृष्णपन्त

गीताकी विषय-सूची

प्रथम अध्याय [पृ० १–३०]

विषय		पृष्ठ श्लोक
टीकाकारके मङ्गलाचरणके श्लोक	...	१
पाण्डव और कौरवोंकी प्रवृत्ति जाननेके लिए उत्सुक धृतराष्ट्रका सञ्जयसे प्रश्न		२ – १
सञ्जयका प्रतिवचन	...	४ – २
दुर्योधनका अभिप्रायपूर्वक पाण्डवसेनादर्शनमें द्रोणाचार्यको प्रेरित करना		५ – ३
तीन श्लोकोंसे पाण्डवोंके महारथियोंके नामोंका निर्देश	...	५ – ४
तीन श्लोकोंसे दुर्योधनका आचार्यके प्रति अपनी सेनाके नायकोंके नाम और श्रेष्ठत्वका कथन	...	७ – ७
दुर्योधनका अपने पक्षकी पूर्णता और शत्रुपक्षकी अपूर्णताका कथन		६ – १०
दुर्योधनका भीष्मकी रक्षामें द्रोणादिको प्रेरित करना		६ – ११
दुर्योधनके हर्षके लिए भीष्मका शङ्खनाद	...	१० – १२
भीष्मके शङ्खनादके अनन्तर अन्य सेनानायकोंका शङ्ख आदिका नाद		१० – १३
तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र और अर्जुनका शङ्खनिनाद	...	११ – १४
चार श्लोकोंसे शङ्खनाद करनेवाले अन्यान्य पुरुषोंके नामोंका निर्देश		११ – १५
शङ्खनादसे कौरवोंका हृदयविदारण-कथन	...	१२ – १६
धृतराष्ट्रके पुत्रोंको युद्धके लिए उपस्थित देखकर अर्जुनका धनुष उठाना		१३ – २०
भगवान् कृष्णके प्रति अर्जुनका वचन	...	१३ – २१
दो श्लोकोंसे 'युद्धके लिए कौन कौन आये हैं और मुझे किनसे लड़ना चाहिए' यों अर्जुनकी जिज्ञासा	...	१४ – २२
दो श्लोकोंसे भगवान्ने अर्जुनको पक्ष-प्रतिपक्षके सेनानायकोंका दर्शन कराया, यह निरूपण	...	१५ – २४
तीन श्लोकोंसे सेनाओंमें अवस्थित बन्धुओंको देखकर अर्जुनके विषादका निरूपण		१७ – २६
तीन श्लोकोंसे अर्जुनके विषादसूचक वाक्योंका निरूपण	...	१८ – २९
दो श्लोकोंसे अधर्मप्राप्त ऐहिक सुखोंसे अर्जुनकी विमुखताका प्रदर्शन		१९ – ३२
दो श्लोकोंसे आचार्य आदिके वधके लिए अर्जुनकी अनिच्छाका वर्णन		२१ – ३४
कौरवोंके वधसे पापप्राप्तिप्रदर्शनपूर्वक अर्थशास्त्रापेक्षया धर्मशास्त्रकी उत्कृष्टताका प्रतिपादन		२२ – ३६
स्वजनवधसे सुखाभावका निरूपण	...	२३ – ३७

विषय	पृष्ठ-श्लोक
दो श्लोकोंसे लोभग्रस्त पुरुषोंकी कुल क्षय आदि अनर्थमें प्रवृत्ति होनेपर भी विवेकी पुरुषोंकी उनमें प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए, यह कथन	२३ – ३८
कुलक्षय होनेपर कुलधर्मविनाशका वर्णन	२४ – ४०
कुलधर्मका विनाश होनेपर वर्णसङ्करता-प्राप्तिका निरूपण	२५ – ४१
सङ्करतादोषसे पितरोंके नरकपतनका निरूपण	२५ – ४२
कुलघ्नोंकी अनर्थप्राप्तिका वर्णन	२६ – ४३
धर्मरहित पुरुषोंके नरकपातका निरूपण ...	२६ – ४४
दो श्लोकोंसे कुलविनाशकी संभावनासे सन्तप्त अर्जुनके कातरवचनोंका निरूपण	२७ – ४५
शोकसन्तप्त अर्जुनके शस्त्रत्यागका निरूपण	२९ – ४७

द्वितीय अध्याय [पृष्ठ ३१–१४७]

शोकसन्तप्त अर्जुनको विवेकवचनोंसे भगवान्‌ने उपदेश दिया, यों धृतराष्ट्रके प्रति सञ्जयकी उक्ति ...	३१ – १
दो श्लोकोंसे अकीर्त्यादिके हेतुभूत हृदयदौर्बल्यका परित्याग कर 'युद्धके लिए उठो' यों भगवान्‌का अर्जुनके प्रति उपदेश	३३ – २
भीष्म और द्रोण पूज्य हैं, उनसे लड़ना अयोग्य है, ऐसा अर्जुनका कथन	३४ – ४
गुरुहिंसाकी अपेक्षा भिक्षाशनमें श्रेयस्करताका प्रतिपादन	३५ – ५
कर्तव्य युद्धके विषयमें अर्जुनके अनेक संशयोंका निरूपण ...	३६ – ६
दो श्लोकोंसे श्रेयःसाधनके उपदेशके लिए अर्जुनकी भगवान्‌से प्रार्थना	३७ – ७
सञ्जय द्वारा अर्जुनके तूष्णींभावका निरूपण ...	४० – ९
मोहाक्रान्त अर्जुनको भगवान्‌ने उपदेश दिया, यह कथन ...	४० – १०
जीवित या मृतके विषयमें पण्डित शोक नहीं करते, यह निरूपण	४१ – ११
दो श्लोकोंसे तत् और त्वं पदार्थका कालत्रयमें नित्यत्वप्रतिपादन	४४ – १२
शीत, उष्ण आदि द्वन्द्वोंको सहन करना चाहिए, यह निरूपण	५४ – १४
द्वन्द्वसहनशील पुरुषको मोक्ष प्राप्त होता है, यह निरूपण	५६ – १५
ब्रह्मका अस्तित्व और अन्य पदार्थोंका नास्तित्व निरूपण	५७ – १६
आत्माकी अविनाशिताका निरूपण	६२ – १७
अर्जुनकी शोकनिवृत्तिको देखकर भगवान्‌का उसे स्वधर्मोपदेश देना	६४ – १८
आत्माको जो हन्ता और हत जानता है, वह मूढ़ है, यह निरूपण	६८ – १९
आत्मामें छः प्रकारके भावविकारोंका निराकरण	७० – २०
आत्मज्ञानीकी सम्पूर्ण क्रियाओंसे निवृत्तिका प्रतिपादन	७२ – २१
वस्त्रदृष्टान्तसे जीवकी देहादिभिन्नताका प्रतिपादन	७७ – २२
दो श्लोकोंसे आत्माके अच्छेद्यत्व आदिका प्रतिपादन	७८ – २३
आत्मतत्त्वज्ञानीमें शोकाभावका निरूपण ...	८० – २५
तीन श्लोकोंसे प्रकारान्तरसे शोकाभावका निरूपण	८१ – २६

विषय	पृष्ठ	श्लोक
आत्माकी दुर्बोधताका प्रतिपादन ...	८५	२९
आत्माके उद्देश्यसे प्रस्तुत शोकाभावनिरूपणका उपसंहार ...	८८	३०
मुमुक्षुओंको स्वधर्मका पालन करना चाहिए, इसके निरूपणके लिए क्षत्रियोंका युद्ध श्रेयस्कर है, यह निरूपण	८९	३१
भाग्यवानोंको धर्मयुद्ध प्राप्त होता है, यह निरूपण ...	९०	३२
चार श्लोकोंसे युद्ध न करनेपर अकीर्त्ति आदि अनर्थपरम्पराकी प्राप्तिका निरूपण	९१	३३
जय या पराजय होनेपर भी युद्धसे इष्ट फलकी प्राप्तिका कथन	९४	३७
समबुद्धिसे युद्ध करनेपर पापसम्बन्धाभावका प्रतिपादन	९५	३८
ज्ञानके बिना कर्मबन्धकी निवृत्ति नहीं होती, यह प्रतिपादन	९६	३९
मुमुक्षुकी प्रवृत्तिके लिए निष्काम कर्मयोगकी स्तुति ...	९९	४०
व्यवसायात्मक और अव्यवसायात्मक बुद्धिका क्रमशः एकत्व और अनेकत्वकथन	१००	४१
तीन श्लोकोंसे कामी पुरुषोंके स्वभावका निरूपण	१०१	४२
मुमुक्षुओंको त्रिगुणरहित होना चाहिए, यह निरूपण ...	१०४	४५
ब्रह्मविद्को सभी आनन्द प्राप्त होते हैं, इसका दृष्टान्तपूर्वक प्रतिपादन	१०७	४६
शोक, मोह आदिसे अक्रान्त मुमुक्षुका केवल निष्काम कर्ममें ही अधिकार निरूपण	१०९	४७
ज्ञानाभिलाषीको सिद्धि और असिद्धिमें समबुद्धि हो कर्म करना चाहिए, यह कथन	१११	४८
ज्ञानयोगकी श्रेष्ठताका निरूपण	११२	४९
ज्ञानयोगसे ही शुभाशुभ कर्मोंकी निवृत्तिका कथन	११४	५०
निष्काम कर्मसे ज्ञान प्राप्त होनेपर जन्मबन्धनिर्मुक्तिका निरूपण	११५	५१
मोहकी निवृत्तिसे ही वैराग्यप्राप्तिका कथन	११६	५२
ज्ञानयोगकी सिद्धिके प्रकारका कथन ...	११७	५३
स्थितप्रज्ञके स्वरूपको जाननेकी इच्छासे अर्जुनका प्रश्न करना ...	११९	५४
दो श्लोकोंसे स्थितप्रज्ञके पृथक् पृथक् लक्षणोंका कथन ...	१२०	५५
दो श्लोकोंसे 'किसकी ज्ञाननिष्ठा सिद्ध होती है'? इस प्रश्नका उत्तरनिरूपण	१२२	५७
परमात्मज्ञानसे रागनिवृत्तिका कथन ...	१२५	५९
इन्द्रियनिग्रहके अभावमें महान् अनर्थका सूचन	१२६	६०
इन्द्रियनिग्रह करनेवालेमें स्थितप्रज्ञत्वका कथन ...	१२७	६१
दो श्लोकोंसे विषयध्यानकी आसक्ति आदि अनर्थकारिताका निरूपण	१२८	६२
रागद्वेषशून्य पुरुषकी चित्तशुद्धिका कथन	१३०	६४
चित्तशुद्धिका फलकथन	१३१	६५
समाधिरहित पुरुषकी अनर्थप्राप्तिका कथन	१३२	६६
मनकी बाह्य प्रवृत्तिसे बुद्धिनाशका कथन	१३४	६७
इन्द्रियनिग्रहसे ही प्रज्ञास्थैर्यका कथन ...	१३५	६८
ब्रह्मवित् की अद्वैतबोधमें जागरूकता द्वैतबोधमें स्वापका निरूपण	१३६	६९
बाह्य आलम्बनसे रहित होकर केवल ब्रह्मावलम्बनवाला पुरुष शान्तिको प्राप्त होता है, यह निरूपण	१४०	७०

विषय	पृष्ठ	श्लोक
'स्थितप्रज्ञ कहाँ जाता है' ? इस प्रश्नका उत्तरप्रदान	१४४	७१
ब्राह्मी स्थितिमें रहनेवाले यतिकी ब्रह्मप्राप्तिका कथन	१४५	७२

तृतीय अध्याय [पृष्ठ १४८–२०७]

विषय	पृष्ठ	श्लोक
'यदि ज्ञान श्रेष्ठ है, तो मुझे घोर कर्ममें क्यों प्रवृत्त करते हैं' ? ऐसी अर्जुनकी उक्ति	१४८	१
ज्ञान और कर्मयोगमें से जो कल्याणसाधन हो, उसे मुझसे कहिए, ऐसी अर्जुनकी भगवान्‌से प्रार्थना ...	१५१	२
ज्ञान और कर्मयोग इन दोनोंकी क्रमशः श्रेयःसाधनताका निरूपण	१५२	३
मुमुक्षुको चित्तशुद्धिके लिए कर्मकी अवश्य कर्तव्यताका प्रतिपादन	१५४	४
कर्मका त्यागकर कोई भी क्षण भर नहीं रह सकता, यह निरूपण	१५७	५
आत्मवञ्चक पुरुषका निरूपण ...	१५८	६
मुमुक्षुके लिए कर्मसंन्यासकी अपेक्षा कर्मयोगकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन	१५८	७
मुमुक्षु पुरुषको नैष्कर्म्यकी सिद्धिके लिए तथा मिथ्याचारकी निवृत्तिके लिए कर्मकी अवश्यकर्तव्यताका निरूपण	१६०	८
काम्य कर्मकी ही बन्धकताका निरूपण ...	१६२	९
दो श्लोकोंसे ब्रह्माजी द्वारा कहे गये यज्ञोंसे देवाराधन करना चाहिए, यह निरूपण	१६३	१०
देवप्रीत्यर्थ यज्ञानुष्ठान न करनेवाले प्रत्यवायी होते हैं, यह निरूपण	१६५	१२
पञ्च महायज्ञानुष्ठानका फलप्रदर्शन और उनके अभावमें पापभागिताका कथन	१६६	१३
दो श्लोकोंसे वेदविहित कर्ममें जगत्‌स्थितिहेतुत्वका निरूपण ...	१६७	१४
ईश्वर द्वारा प्रवर्तित इस चक्रका अनुवर्तन न करनेवाले पुरुषके जीवनकी व्यर्थताका निरूपण ...	१६९	१६
ज्ञाननिष्ठ पुरुषके लिए कर्मकर्तव्यत्वाभावका प्रतिपादन ...	१७०	१७
ब्रह्मवित्‌को कर्म करनेसे अर्थकी सिद्धि और न करनेसे अनर्थकी प्राप्तिके अभावका प्रतिपादन ...	१७८	१८
मुमुक्षुको कर्म अवश्य करना चाहिए, यह निरूपण	१८१	१९
मुक्तको भी लोकसंग्रहके लिए कर्म करना चाहिए, यह निरूपण	१८१	२०
मूढ लोग श्रेष्ठ पुरुषका अनुसरण करते हैं, यह निरूपण ...	१८३	२१
दो श्लोकोंसे लोकसंग्रहके लिए भगवान्‌की कर्ममें प्रवृत्तिका निरूपण	१८४	२२
श्रेष्ठ अधिकारियों द्वारा कर्मका त्याग करनेपर लोगोंके नाश और सांकर्यका निरूपण	१८५	२४
आसक्तिका परित्याग कर लोकसंग्रहार्थ विद्वान्‌को कर्म करना चाहिए, यह निरूपण	१८६	२५
विद्वान्‌को अज्ञोंका बुद्धिभेद नहीं करना चाहिए, यह निरूपण	१८७	२६
अविद्वान् पुरुषके स्वरूपका निरूपण	१८८	२७
विद्वान् पुरुषके स्वरूपका निरूपण ...	१८९	२८
ज्ञानीने अज्ञ कर्मियोंको विचलित नहीं करना चाहिए, यह निरूपण	१९०	२९
शोकरहित होकर अपने धर्मका अनुष्ठान करो, यों भगवान्‌का अर्जुनके प्रति उपदेश	१९१	३०

विषय	पृष्ठ	श्लोक
भगवान्‌के मतका अनुसरण करनेवालोंकी मुक्तिप्राप्तिका कथन ...	१९२	३१
भगवान्‌से द्वेष करनेवालोंका विनाशकथन	१९३	३२
ज्ञानी भी प्रकृतिका निवारण नहीं कर सकता, यह निरूपण	१९४	३३
रागद्वेषकी बाधकताका निरूपण	१९५	३४
अन्यधर्मकी अपेक्षा स्वधर्मकी श्रेष्ठताका कथन	१९६	३५
किसकी प्रेरणासे पुरुष पाप करता है ? यों अर्जुनका प्रश्न ...	१९८	३६
उक्त प्रश्नके उत्तररूपसे काम और क्रोधमें सर्वानर्थहेतुत्वका निरूपण	१९९	३७
दो श्लोकोंसे दृष्टान्तपूर्वक कामरूपी शत्रुसे ज्ञान आवृत रहता है, यह निरूपण	२००	३८
कामके अधिष्ठानका निरूपण	२०२	४०
मुमुक्षुको कामका निःशेष विनाश करना चाहिए, यह निरूपण	२०३	४१
इन्द्रिय आदिसे आत्माकी भिन्नताका निरूपण	२०४	४२
आत्मज्ञानसे कामरूप शत्रुका विनाश करना चाहिए, यह निरूपण	२०६	४३

चतुर्थ अध्याय [पृष्ठ २०८–२६९]

श्रुतिप्रमाणसिद्ध ज्ञानयोगमें शिष्टपरम्परा द्वारा प्राप्त होनेके कारण भी प्रामाण्य है, ऐसा कथन	२०८	१
दो श्लोकोंसे 'ज्ञानयोग जिसका सम्प्रदाय नष्ट हो चुका था, लोगोंके उद्धारके लिए अर्जुनको निमित्त बनाकर भगवान् द्वारा पुनः प्रवर्तित हुआ' यह निरूपण	२०९	२
'वर्तमान समयमें उत्पन्न हुए आपने पूर्ववर्ती विवस्वान् आदिको उपदेश कैसे दिया ?' ऐसी अर्जुनकी भगवान्‌से जिज्ञासा ...	२११	४
दो श्लोकोंसे 'यद्यपि मैं ईश्वर और अजन्मा हूँ, तथापि माया द्वारा अनेक जन्म ग्रहण करता हूँ' यों भगवान्‌का उत्तरप्रदान ...	२१२	५
दो श्लोकोंसे भगवान्‌के जन्मग्रहणमें हेतुकथन ...	२१५	७
भगवान्‌के जन्म आदिको ब्रह्मस्वरूप जाननेवाला पुरुष मुक्त होता है, यह निरूपण ...	२१७	९
ज्ञानयोगकी प्राचीनताका निरूपण ...	२१८	१०
भगवान्‌की उपासनाके अनुसार फल मिलता है, यह निरूपण	२१९	११
कर्मोंसे ही अन्तःकरणकी शुद्धि होती है, यह निरूपण ...	२२०	१२
गुण और कर्मके विभागसे चातुर्वर्ण्यके निर्माता परमेश्वरमें अकर्तृत्वका प्रतिपादन	२२२	१३
आत्माके अकर्तृत्वज्ञानसे कर्म बन्धक नहीं होते, यह निरूपण	२२३	१४
लोकहितके लिए कर्म करना चाहिए, यह निरूपण ...	२२५	१५
कर्म और अकर्मके स्वरूपज्ञानमें विद्वानोंको भी मोह होता है, यह निरूपण	२२५	१६
कर्म, अकर्म और विकर्मका स्वरूप जानना चाहिए, यह निरूपण ...	२२७	१७
कर्ममें अकर्मदर्शी और अकर्ममें कर्मदर्शी पुरुषमें बुद्धिमत्त्व आदिका निरूपण	२२८	१८

विषय	पृष्ठ - श्लोक
पण्डितके स्वरूपका निरूपण ...	२३८ - १९
कर्ममें प्रवृत्त होनेपर भी ज्ञानीकी अकर्मिताका निरूपण	२३९ - २०
ज्ञानी शारीर कर्मसे पापको प्राप्त नहीं होता, यह निरूपण	२४० - २१
अजगरवृत्ति विद्वान्का लक्षणकथन ...	२४३ - २२
ज्ञानीके सब कर्म लीन हो जाते हैं, यह कथन	२४४ - २३
कर्मप्रविलापनका प्रकार-कथन ...	२४६ - २४
दैवयज्ञ और ज्ञानयज्ञका निरूपण	२४७ - २५
तीन श्लोकोंसे अब्रह्मविदोंके कर्तव्य यज्ञोंका निरूपण	२४९ - २६
डेढ़ श्लोक प्राणायाममें यज्ञत्वका निरूपण	२५१ - २९
डेढ़ श्लोकसे सब यज्ञोंके फलोंका निरूपण	२५३ - ३०
सम्पूर्ण यज्ञोंकी वेदैकमूलताका प्रतिपादन	२५४ - ३२
ज्ञानयज्ञकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन ...	२५५ - ३३
तत्त्वज्ञानके लिए ब्रह्मनिष्ठ गुरुका समाश्रयण करना चाहिए, यह निरूपण	२५६ - ३४
सद्गुरुके उपदेशसे प्राप्त ज्ञानका फलकथन ...	२५७ - ३५
ज्ञानरूप नौकासे सब पापोंके तरणका प्रतिपादन	२५९ - ३६
ज्ञानरूप अग्नि सब पापोंको भस्म करती है, यह निरूपण	२६० - ३७
ज्ञानके सदृश पवित्रतम दूसरी वस्तु नहीं है, यह निरूपण	२६२ - ३८
ज्ञानयोगकी सिद्धिके अन्तरङ्ग साधनोंका कथन ...	२६३ - ३९
अज्ञ होनेके कारण श्रद्धाशून्य संशयात्माका विनाशकथन	२६५ - ४०
ब्रह्मज्ञानी कर्मोंसे बद्ध नहीं होते, यह निरूपण ...	२६७ - ४१
ज्ञानरूप तलवारसे संशयका छेदन करना चाहिए, यह निरूपण	२६८ - ४२

पञ्चम अध्याय [पृष्ठ २७०–३१६]

संन्यास और कर्मयोग दोनोंमें से श्रेष्ठतर किसी एक श्रेयःसाधनके लिए अर्जुनकी जिज्ञासा ...	२७० - १
अविद्वान्के संन्यासकी अपेक्षा कर्मयोगकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन ...	२७३ - २
कर्मयोगीकी स्तुति	२७५ - ३
संन्यास और कर्मयोगका एक ही फल है, यह प्रतिपादन ...	२७६ - ४
संन्यास और कर्मयोगमें फलतः एकरूपता देखनेवाले यतिकी प्रशंसा	२७९ - ५
अशुद्ध अन्तःकरणवालेमें संन्यासकी दुर्घटता-प्रदर्शनपूर्वक शुद्धान्तःकरणवालेके लिए संन्यासका कर्तव्यरूपसे उपदेश	२८० - ६
ब्रह्मज्ञ पुरुष कर्म करता हुआ भी उनसे लिप्त नहीं होता, यह प्रतिपादन	२८१ - ७
दो श्लोकोंसे आहार आदिमें प्रवृत्त ब्रह्मज्ञको 'मैं कर्ता नहीं हूँ' इस बुद्धिसे रहना चाहिये, यह कथन	२८३ - ८
निष्काम भक्तमें कर्मलेप नहीं होता, यह निरूपण	२८५ - १०

विषय	पृष्ठ श्लोक
मुमुक्षु चित्तशुद्धिके लिए निष्काम कर्म करते हैं, यह कथन ...	२८५ – ११
कामना और अकामनासे कर्म करनेवाले पुरुषका फल-कथन ...	२८६ – १२
ब्रह्मवित् सब कर्मोंको छोड़ कर ब्रह्मात्मरूपसे चुपचाप रहता है, यह निरूपण	२८७ – १३
परमात्मामें कर्मप्रवर्तकत्व आदिका निषेध	२९३ – १४
परमात्मा किसीको पुण्य या पाप नहीं देते, यह निरूपण ...	२९४ – १५
ज्ञानसे अज्ञाननाशके बाद परतत्त्वप्रकाश होता है, यह कथन ...	२९६ – १६
विदेहमुक्ति चाहनेवाले पुरुषको बहिर्मुख वृत्तिका त्याग करना चाहिए, इस विषयका सविस्तर प्रतिपादन	२९८ – १७
ब्रह्मवित् यतियोंके लिए विहित सर्वत्र ब्रह्मदर्शनका विशदीकरण ...	३०० – १८
ब्रह्मात्मरूपसे स्थित रहनेवाले यतियोंकी जीवनावस्थामें ही मुक्ति होती है, यह प्रतिपादन	३०१ – १९
ब्रह्मयोग करनेवाले पुरुषके कर्तव्यका कथन ...	३०३ – २०
ब्रह्मनिष्ठ पुरुषकी ब्रह्मसुखप्राप्तिका प्रतिपादन ...	३०५ – २१
ब्रह्मविद् यतिकी वैषयिक सुखोंमें अप्रवृत्तिका प्रतिपादन ...	३०६ – २२
मुमुक्षुको काम, क्रोध आदिका परित्याग करना चाहिए, यह निरूपण	३०८ – २३
ज्ञान होनेपर कैवल्यार्थी यति ब्रह्मनिष्ठासे रहता है, तो उसकी मुक्ति होती है अन्यथा नहीं, यह प्रतिपादन	३१० – २४
संशय आदिसे रहित आत्माराम यतियोंकी विदेहमुक्तिका कथन ...	३११ – २५
सदा आत्मनिष्ठ रहनेवाले पुरुषोंकी ही जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्तिका प्रतिपादन	३१२ – २६
दो श्लोकोंसे निदिध्यासन करनेवाले के कर्तव्य छः अन्तरङ्ग साधनोंका निरूपण	३१३ – २७
ब्रह्मज्ञानसे ही मुक्ति होती है, यह निरूपण	३१५ – २८

षष्ठ अध्याय [पृष्ठ ३१७–३९५]

कर्मयोगकी स्तुतिके लिए निष्काम कर्मयोगी ही संन्यासी है, यह प्रतिपादन	३१७ – १
कर्मस्तुतिके लिए संन्यास और कर्मयोगकी एकताका प्रतिपादन ...	३१९ – २
आरुरुक्षुको कर्म करना चाहिये और आरूढको संन्यास, यह प्रतिपादन	३२१ – ३
योगारूढ़ यतिका लक्षण-कथन	३२५ – ४
आत्माके उद्धारकी अवश्यकर्तव्यताका प्रतिपादन ...	३२७ – ५
पुरुष स्वयं ही अपना शत्रु और मित्र जिस रीतिसे होता है, उसका प्रतिपादन	३३१ – ६
दो श्लोकोंसे योगारूढ़के स्वरूपका प्रतिपादन	३३४ – ७
सर्वत्र समदर्शी योगारूढ़ जीवन्मुक्तकी श्रेष्ठताका वर्णन ...	३३७ – ९
ज्ञानके अप्रतिबद्धत्वके लिए समाधिकी अवश्य कर्तव्यताका निरूपण तथा समाधि करनेवालेके लिए समाधिके अङ्गोंका प्रतिपादन	३३९ – १०
समाधि करनेवालेके आसनका लक्षण ...	३४० – ११

विषय	पृष्ठ	श्लोक
आसनके ऊपर बैठ कर कर्तव्यका प्रतिपादन ...	३४१	१२
दो श्लोकोंसे समाधिके अङ्गनिर्देशपुरस्सर योगनिष्ठाकी सिद्धिके लिए समाधिकी कर्तव्यताका प्रतिपादन ...	३४२	१३
समाधि कर रहे ब्रह्मज्ञानीकी जीवन्मुक्तिरूप फलका तिपादन	३४६	१५
योगसिद्धिके लिए आहार आदिका नियम	३४७	१६
कैसे पुरुषको योगकी सिद्धि होती है, इस विषयका प्रतिपादन	३४८	१७
फिर भी योगरूढ़ ब्रह्मवित्के लक्षणोंका कथन	३५०	१८
यतचित्त योगीकी अवस्थितिमें दृष्टान्तकथन	३५१	१९
तीन श्लोकोंसे योगके लक्षणोंका कथन ...	३५१	२०
पूर्वोक्त लक्षणोंसे लक्षित योगका परिज्ञान करना चाहिए, इस विषयका प्रतिपादन	३५५	२३
समाधिके कर्तव्यप्रकारका कथन	३५६	२४
ब्रह्मज्ञ सर्वसंकल्पत्यागपूर्वक सब इन्द्रियोंका निग्रह कर शनैः मनको विषयोंसे उपरत करे, यह कथन ...	३५७	२५
बाह्य प्रवृत्तिको रोककर मनको अपने स्वरूपमें स्थापन करना चाहिए, यह प्रतिपादन ...	३५८	२६
वासनाक्षय होनेपर ब्रह्मसुखके आविर्भावका कथन	३६०	२७
योगानुष्ठानसे कृतार्थताका प्रतिपादन ...	३६१	२८
आत्मदर्शनसे संसारानर्थके हेतु अज्ञानके विनाशका प्रतिपादन	३६२	२९
अपनेमें ब्रह्माभेददर्शनके फलका कथन ...	३६४	३०
प्रारब्धानुसार देहके नानाधर्मयुक्त होनेपर भी आत्मनिष्ठामें वर्तमान यतिकी मुक्तिका प्रतिपादन	३६६	३१
ज्ञानी सर्वत्र आत्मभाव होनेसे किसीका विक्षेपक नहीं होता, इस विषयका तिपादन	३६७	३२
दो श्लोकोंसे अर्जुन द्वारा आत्मसंस्थ होनेके उपायकी जिज्ञासा ...	३६९	३३
भगवान् द्वारा मनोनिग्रहके साधनका प्रदर्शन ...	३७१	३५
मनोनिग्रह न करनेवाले और करनेवालेको क्रमशः योगकी अप्राप्ति और प्राप्तिका प्रतिपादन	३७२	३६
'तीन श्लोकोंसे योगनिष्ठामें प्रवृत्त पुरुषकी बीचमें मरनेपर कौन-सी गति होती है ?' यों अर्जुनका भगवान्से सविस्तर प्रश्न ...	३७३	३७
छः श्लोकोंसे उक्त प्रश्नके उत्तररूपसे योगनिष्ठामें प्रवृत्त एवं मध्यमें मृत व्यक्तिकी दुर्गतिका अभाव, अनेक वर्षोंतक स्वर्गमें रहकर फिर पवित्र ज्ञानवानोंके घरमें जन्मग्रहण, पूर्वजन्मके संस्कारोंसे योगसिद्धिकी प्राप्ति तथा क्रमशः परम मुक्तिकी प्राप्ति आदिका भगवान् द्वारा सविस्तर निरूपण	३७९	३८
ज्ञानके लिए प्रयत्न कर रहे योगीके फलका निरूपण ...	३९१	४५
अन्य साधनोंका अनुष्ठान करनेवालोंकी अपेक्षा योगीकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन	३९२	४६
समाधिनिष्ठा करनेवाले पुरुषकी प्रशंसा	३९४	४७

विषय | पृष्ठ श्लोक

सप्तम अध्याय [पृष्ठ ३९६–४४५]

भगवान्‌का वक्ष्यमाण अर्थके श्रवणार्थ सावधान होनेके लिए अर्जुनको प्रेरित करना ३९६ – १
सविज्ञान ज्ञानके निरूपणकी प्रतिज्ञा ... ३९७ – २
काम आदि दोषोंसे आक्रान्त पुरुषोंके लिए ज्ञानकी दुर्लभताका प्रतिपादन ३९८ – ३
अपरा प्रकृतिका निरूपण ४०१ – ४
क्षेत्रज्ञरूपा परा प्रकृतिका निरूपण ४०२ – ५
उक्त दो प्रकारकी प्रकृतियोंके कार्योंका प्रदर्शन ४०३ – ६
दृष्टान्तपूर्वक ईश्वरकी सर्वजगदाधारताका प्रतिपादन ४०४ – ७
चार श्लोकोंसे जल आदिमें कारणीभूत रस आदिरूपसे भगवान्‌की स्थितिका प्रतिपादन ... ४०६ – ८
सात्त्विकादि भेदोंसे भिन्न सारा जगत् ब्रह्मरूप ही है और ब्रह्ममें जगत् नहीं है, यह कथन ४१२ – १२
लोगोंकी ईश्वरानभिज्ञतामें हेतु-कथन ... ४१६ – १३
भगवान्‌की शरण पाकर तत्त्वज्ञान द्वारा मुक्ति होती है, इस विषयका प्रतिपादन ४१८ – १४
आसुरभावको प्राप्त नराधमोंकी ईश्वरोपासनामें प्रवृत्तिके अभावका कथन ४२१ – १५
आर्त आदि चार प्रकारके पुण्यवानोंकी भगवद्-भजनमें प्रवृत्तिका कथन ४२२ – १६
ज्ञानी भक्तकी अन्य तीन भक्तोंकी अपेक्षा श्रेष्ठताका प्रतिपादन ४२३ – १७
ज्ञानीकी भगवद्रूपताका प्रतिपादन ... ४२५ – १८
सर्वत्र वासुदेवरूपताका दर्शन करनेवाले पुरुषकी दुर्लभताका कथन ४२७ – १९
विवेकशून्य दूसरे देवताओंका आराधन करते हैं, यह निरूपण ४३० – २०
अन्य देवताओंके आराधनमें अन्तर्यामी द्वारा श्रद्धाप्रदाननिरूपण ४३१ – २१
अन्य देवाराधनसे काम्यप्राप्ति भी ईश्वरसे ही होती है, यह निरूपण ४३२ – २२
अन्य देवोपासकोंको नश्वर फलप्राप्तिकथनपूर्वक ईश्वरज्ञानियोंकी मुक्तिका कथन ... ... ४३३ – २३
सदसद्विवेकशून्य महापण्डितोंके आत्मज्ञानी न होनेमें हेतुका प्रदर्शन ४३६ – २४
ईश्वरके सर्वप्रकाशरूपसे सर्वत्र रहनेपर भी साधारण जनोंके उसको न जाननेमें हेतुकथन ... ४३७ – २५
भगवान्‌का जाननेमें अविद्यारूप आवरणके अभावका प्रतिपादन ... ४३८ – २६
सुख, दुःख आदि द्वन्द्वोंसे मोहित पुरुषोंमें ज्ञानकी अनुत्पत्तिमें हेतुप्रदर्शन ४४० – २७
पुण्यप्रभावसे पापशून्य हुए पुरुष भगवद्भजन करते हैं, यह निरूपण ४४१ – २८
दो श्लोकोंसे मन्दमतियोंके लिए सर्वत्र ब्रह्मबुद्धिकरणरूप सगुणब्रह्मोपासनाका प्रतिपादन ... ४४२ – २९

विषय | पृष्ठ श्लोक

अष्टम अध्याय [पृ० ४४६–४८५]

दो श्लोकोंसे अर्जुनका ब्रह्म, अध्यात्म आदिके स्वरूपको जाननेके लिए भगवान्‌से प्रश्न ... ... ४४६ – १
दो श्लोकोंसे उक्त प्रश्नोत्तररूपसे भगवान्‌का ब्रह्म आदिके स्वरूपका कथन ४४८ – ३
अन्तकालमें ब्रह्मज्ञानीको ब्रह्मात्मरूपसे ही रहना चाहिए, यह निरूपण ४५१ – ५
शरीर छोड़नेके समय जिस स्वरूपकी पुरुष भावना करता है, उसी स्वरूपको प्राप्त होता है, यह निरूपण ... ४५३ – ६
सर्वदा ब्रह्मबुद्धि करनेवाले यतिकी ही मुक्ति होती है, यह निरूपण ४५५ – ७
ब्रह्मध्यान करनेवाले पुरुषको ब्रह्मकी ही प्राप्ति होती है, यह निरूपण ४५६ – ८
उत्क्रान्त आत्मतत्त्वोपासकके प्राप्तव्य पूर्वोक्त परतत्त्वका विविध विशेषणोंसे निरूपण ... ... ४५८ – ९
योगी किस साधनसे और कब परम तत्त्वको स्वयं प्राप्त होता है, इस जिज्ञासाका निराकरण ... ... ४५९ – १०
मुमुक्षुओं द्वारा सद्‌गुरुसे ज्ञातव्य निर्विशेष परब्रह्मकी स्तुति ४६१ – ११
दो श्लोकोंसे उपक्रान्त योगीके प्रयाणका कथन ... ४६२ – १२
निरन्तर ब्रह्मध्यान करनेवाले आत्मतत्त्वज्ञके लिए ब्रह्मप्राप्तिकी सुलभताका निरूपण ४६४ – १४
ब्रह्मप्राप्तिके फलका कथन ... ... ४६५ – १५
ब्रह्मोपासनासे शून्य अज्ञानियोंकी संसारमें पुनरावृत्तिप्रतिपादनपूर्वक ब्रह्मज्ञानियोंकी पुनरावृत्तिके अभावका कथन ... ४६६ – १६
तीन श्लोकोंसे ब्रह्माके दिन और रात्रिसे सत्य आदि लोकोंके आविर्भाव-तिरोभावप्रतिपादनपूर्वक उनके दिन और रात्रिसे जीवोंके आवागमनका प्रतिपादन ... ४६८ – १७
अव्यक्त और उसके कार्यके साथ ईश्वरके सम्बन्धाभाव तथा नित्यत्वका प्रतिपादन ... ... ४७२ – २०
परमात्माको प्राप्त हुए जीवोंकी अपुनरावृत्तिका प्रतिपादन ४७४ – २१
ईश्वरप्राप्तिमें ज्ञानभक्तिरूप परम साधनका निर्देश ... ४७५ – २२
तीन श्लोकोंसे दक्षिणायन और उत्तरायणरूप दो मार्गोंका प्रतिपादन और उनसे जानेवाले जीवोंका फल-कथन ... ४७८ – २३
उत्तरायण और दक्षिणायनरूप देवयान और पितृयानकी अनादिताका प्रतिपादन ४८२ – २६
उक्त दो मार्गोंके फलको जाननेवाले विद्वान्‌को मोक्षमार्गमें प्रमाद नहीं करना चाहिए, इस विषयका प्रतिपादन ... ४८३ – २७
सगुण ब्रह्मकी उपासना करनेवालेके प्राप्तव्य सुख और ब्रह्मप्राप्तिका स्पष्टीकरण ... ... ४८४ – २८

विषय	पृष्ठ श्लोक
नवम अध्याय [पृष्ठ ४८६–५४३]	
भगवान्‌का ज्ञान, विज्ञान और उनके माहात्म्यके प्रतिपादनका उपक्रम	४८६ – १
ज्ञानके माहात्म्यका कथन	४८८ – २
मुक्तिके हेतुभूत ज्ञानमार्गका अश्रद्धावश परित्याग कर कामनासे कर्म, उपासना आदिमें प्रवृत्त पुरुषोंकी गतिका कथन	४९१ – ३
परब्रह्मके स्वरूप, ज्ञान और विज्ञानका कथन	४९२ – ४
ब्रह्ममें भूतोंकी अवस्थितिका निरसन ...	४९५ – ५
आकाशमें वायुकी नाईं ईश्वरमें भूतोंकी स्थितिका प्रतिपादन	४९९ – ६
ईश्वरमें ही भूतोंके लय और उत्पत्तिका प्रतिपादन	५०० – ७
ईश्वरसे ही मायाके द्वारा जीवसंघातकी सृष्टिका प्रतिपादन ...	५०१ – ८
असङ्ग और उदासीन ईश्वर सृष्टि आदि कर्मसे लिप्त नहीं होता, यह कथन	५०२ – ९
ईश्वरकी संनिधिसे प्रकृतिकी ही सृष्टिकारिता तथा ब्रह्मकी असङ्गताका स्पष्टीकरण	५०३ – १०
ईश्वरकी पापिष्ठ लोग ही निन्दा करते हैं, इस विषयका कथन ...	५०४ – ११
मूर्खोंके, स्वभाववर्णनपूर्वक, आसुरयोनिप्राप्तिरूप फलका प्रतिपादन	५०८ – १२
तीन श्लोकोंसे उत्तम, मध्यम आदि अधिकारियोंके, भेदसे ब्रह्मोपासनाके भेदका प्रतिपादन	५१० – १३
चार श्लोकोंसे ईश्वरकी सर्वतोमुखताका प्रतिपादन ...	५१४ – १६
दो श्लोकोंसे मुमुक्षुओंके विवेकज्ञानकी सिद्धिके लिए ब्रह्मविद्या-व्यतिरिक्त अन्य विद्याओंमें संसारवर्धकत्वका प्रतिपादन ...	५१८ – २०
ब्रह्मनिष्ठ योगियोंके योगक्षेमका निर्वाह मैं ही करता हूँ, इस प्रकार भगवान्‌की प्रतिज्ञा	५२१ – २२
तीन श्लोकोंसे भेदबुद्धिसे तत्-तत् देवताओंकी उपासना करनेवाले पुरुषोंका मुख्य फलसे भ्रंशकथनपूर्वक तत्-तत् फलप्राप्तिका प्रतिपादन	५२२ – २३
जो मुमुक्षु भक्त श्रद्धासे पत्र, पुष्प, फल आदि भगवान्‌को अर्पण करता है, उसपर भगवान् प्रसन्न होते हैं, यह निरूपण ...	५२६ – २६
सम्पूर्ण कर्म भगवान्‌के अर्पण करने चाहिए, इस विषयका कथन	५२७ – २७
श्रौत और स्मार्तरूप कर्मोंका ईश्वरार्पणबुद्धिसे अनुष्ठान करनेवाले यतिके फलका कथन ...	५२८ – २८
परमेश्वर सब भूतोंमें सम हैं, यह निरूपण ...	५३० – २९
पूर्वमें प्रतिज्ञात ज्ञानकी पावनतमताका स्पष्टीकरण	५३१ – ३०
भगवद्भजनका फलकथन	५३६ – ३१
दो श्लोकोंसे नीचयोनि तककी भी सद्गुरुके उपदेशसे जनित ज्ञानसे भगवान्‌की उपासना कर क्रमशः या साक्षात् मुक्ति होती है, यह प्रतिपादन	५३७ – ३२
निर्विशेष ज्ञानके अनधिकारी पुरुषको सोपाधिक ईश्वरका भजन कैसे करना चाहिए ? यह निरूपण	५४१ – ३४

विषय — पृष्ठ श्लोक

दशम अध्याय [पृष्ठ ५४४–५७९]

अर्जुनकी तत्त्वज्ञानमें रुचिकी उत्पत्तिके लिए भगवान्‌का तत्त्वोपदेश — ५४४ – १
देव आदि मेरे (ईश्वरके) प्रभावको नहीं जानते, यह निरूपण ... — ५४५ – २
भगवान्‌के माहात्म्यश्रवणका फलप्रदर्शन ... — ५४६ – ३
दो श्लोकोंसे भगवान्‌से ही भगवान्‌की उपासनासे पापशून्य हुए मुमुक्षुओंको ज्ञान आदिकी प्राप्ति होती है, इस विषयका प्रतिपादन — ५४६ – ४
मन्दबुद्धियोंकी उपासनीय भगवद्विभूतियोंका निर्देश — ५५१ – ६
ईश्वरके योगज ऐश्वर्य और विभूतिके सम्यक् ज्ञानका फल-कथन — ५५१ – ७
दो श्लोकोंसे ईश्वरतत्त्वनिर्देशपूर्वक उपासना और उसके प्रकारका प्रतिपादन — ५५२ – ८
दो श्लोकोंसे ईश्वरके अनुग्रहके प्रकारका वर्णन ... — ५५४ – १०
दो श्लोकोंसे सोपाधिक परमेश्वरके स्वरूपको विस्तारपूर्वक जाननेके लिए उत्सुक अर्जुन द्वारा परमेश्वरकी स्तुति — ५६० – १२
भगवदुक्त वचनमें अर्जुनकी आस्थाका प्रदर्शन ... — ५६१ – १४
चार श्लोकोंसे 'आप ही अपने स्वरूपको जान सकते हैं, अतः आप ही मुझको उपदेश दीजिए कि आपकी कहाँ कैसी उपासना करनी चाहिए' यों अर्जुनकी भगवान्‌से प्रार्थना ... — ५६२ – १५
मुख्य-मुख्य विभूतियोंके प्रदर्शनके लिए भगवान्‌का उपक्रम — ५६५ – १९
उत्तम अधिकारियोंकी उपास्य निर्विशेष वस्तुका प्रतिपादन ... — ४६६ – २०
अठारह श्लोकोंसे अधम अधिकारियोंकी उपासनाके लिए भगवान्‌का अपनी विविध विभूतियोंका निरूपण ... ... — ५६७ – २१
'सम्पूर्ण कार्य कारणमात्रस्वरूप ही होते हैं' इस न्यायसे सब भगवत्स्वरूप ही हैं, यह निरूपण ... — ५७५ – ३९
भगवान्‌की विभूतियोंका आनन्त्य-प्रदर्शन ... ... — ५७५ – ४०
सर्वत्र भगवान्‌की विशेष विभूतिका परिज्ञान कैसे हो, इस प्रश्नका उत्तर — ५७६ – ४१
विभूतियोंमें और उनकी उपासनामें अकिञ्चित्करत्वनिर्देशपूर्वक सविशेष उपासनीय वस्तुका उपदेश करते हुए भगवान्‌का दशम अध्यायका उपसंहार — ५७७ – ४२

एकादश अध्याय [पृष्ठ ५८०–६२०]

भगवान् द्वारा स्वोपास्यत्वेन बोधित सर्वैश्वर्यसम्पन्न परमात्मस्वरूपके दर्शनकी इच्छा कर रहे अर्जुन द्वारा भगवान्‌को अभिमुख करना — ५८० – १
भगवान्‌के स्वरूपकी दर्शनेच्छासे उनके माहात्म्यकी स्तुति ... — ५८१ – २
दो श्लोकोंसे भगवान्‌के वचनोंमें विश्वास प्रगट करते हुए अर्जुनकी सर्वात्मक स्वरूपके दर्शनार्थ प्रार्थना ... — ५८२ – ३
दो श्लोकोंसे अर्जुन द्वारा प्रार्थित भगवान्‌का अपने स्वरूपको देखनेके लिए अर्जुनको सावधान करना ... — ५८३ – ५

विषय	पृष्ठ	श्लोक
अपने सर्वात्मक स्वरूपमें उक्त जगत्का प्रदर्शन ...	५८४	७
भगवत्स्वरूपके दर्शनमें चर्मचक्षुकी अयोग्यता-सूचनपूर्वक अर्जुनको दिव्य चक्षुका प्रदान-कथन ...	५८५	८
सञ्जयका अर्जुनको भगवान् द्वारा विश्वस्वरूप प्रदर्शन-कथन	५८५	९
पाँच श्लोकोंसे भगवान्के विश्वात्मक स्वरूपका वर्णन ...	५८६	१०
आठ श्लोकोंसे भगवान्के विश्वरूपको देखकर अर्जुन द्वारा उसका वर्णन	५८८	१५
तीन श्लोकोंसे भगवान्के भयङ्कर रूपके दर्शनसे लोगोंका और अर्जुनका भयप्रदर्शन	५९४	२३
चार श्लोकोंसे अर्जुनका स्वकीय विजय और परकीय पराजयरूप दुर्योधनादिका विराट्स्वरूपमें प्रवेश-कथन ...	५९६	२६
विराट्-रूपधारी परमेश्वरके चेष्टाविशेषका कथन ...	५९७	३०
भयङ्कररूपधारी आप कौन हैं ? यह जाननेके लिए भगवान्से अर्जुनका प्रश्न	५९८	३१
तीन श्लोकोंसे भगवान् द्वारा अपनी प्रवृत्तिका तथा अपने स्वरूपका कथन	५९९	३२
दो श्लोकोंसे अपनी प्रवृत्ति कहकर युद्धमें प्रोत्साहनपूर्वक विजय-प्राप्तिकी निःसन्दिग्धताका प्रतिपादन	६००	३३
सञ्जयका धृतराष्ट्रसे प्रस्तुत वृत्तान्तकथन	६०२	३५
दो श्लोकोंसे भगवान्की महत्ता और सर्वनमस्कार्यताका अर्जुन द्वारा प्रतिपादन	६०२	३६
भगवान्की सर्वात्मकताका प्रतिपादन	६०५	३८
भगवान्की वायु आदिरूपताप्रदर्शनपूर्वक अर्जुनका भगवान्को भूयो भूयः सहस्रशः प्रणाम-निवेदन	६०६	३९
भक्तिके वेगसे उत्पन्न सन्तोषाधिक्यसे भगवान्की स्तुति करते हुए अर्जुनका भगवान्को सर्वतः नमस्कारनिवेदन	६०७	४०
दो श्लोकोंसे पूर्वाचरित अपने अपराधोंके लिए अर्जुनकी भगवान्से क्षमा-याचना	६०८	४१
भगवान्की सर्वपूज्यताका प्रतिपादन	६१०	४३
अर्जुनकी प्रणामपूर्वक प्राक्तन अपराधके लिए पुनः क्षमा-याचना	६११	४४
दो श्लोकोंसे अर्जुनकी विश्वरूपोपसंहारार्थ तथा प्राक्तन रूपके दर्शनार्थ प्रार्थना	६१२	४५
दो श्लोकोंसे भगवान् द्वारा स्वकीय विश्वरूपदर्शनकी अलभ्यताका तथा स्वानुग्रहसे उसकी प्राप्तिका प्रतिपादन	६१३	४७
भयका त्याग कर मेरे शान्त रूपको देखो, यों भगवान्का कथन	६१५	४९
सञ्जयका धृतराष्ट्रसे अर्जुनके प्रति भगवान्का पुनः सौम्यस्वरूपप्रदर्शनकथन	६१६	५०
अर्जुनका मानवरूपदर्शन और आश्वासवचनोंसे स्वास्थ्य कथन	६१६	५१
दो श्लोकोंसे भगवान् द्वारा विराट् स्वरूपकी दुर्लभतमताका कथन	६१७	५२
दो श्लोकोंसे अनन्यभक्ति द्वारा उक्त रूपके दर्शन और ज्ञानका कथन	६१८	५४

विषय पृष्ठ श्लोक

द्वादश अध्याय [पृष्ठ ६२१–६४९]

सगुण और निर्गुण उपासकोंके तारतम्य जाननेकी इच्छासे अर्जुनका प्रश्न ६२१ – १
आरुरुक्षु अर्जुनके लिए सगुण उपासना ही उत्तम है, यह प्ररोचनपूर्वक बतलानेके लिए 'सब ब्रह्म ही है' इस बुद्धिसे सगुण ब्रह्मकी उपासना करनेवाले श्रेष्ठ हैं, यह निरूपण ६२३ – २
दो श्लोकोंसे निर्गुणोपासकोंकी श्रेष्ठतमताका निरूपण ... ६२४ – ३
निर्गुणोपासनामें अपरिपक्व अन्तःकरणवालेके क्लेशाधिक्यका प्रतिपादन ६२६ – ५
अपरिपक्व अन्तःकरणवालेके लिए निर्गुणोपासनाकी हेतुभूत सगुणोपासनाकी कर्तव्यताका कथन ६२७ – ६
सगुणोपासनाका फलकथन ... ... ६२८ – ७
ब्रह्मज्ञानहेतुभूत भगवत्प्रसादके लिए भगवदुपासना करनी चाहिए, यह प्रतिपादन ६२९ – ८
अत्यन्त मन्दबुद्धि उपासकोंके लिए अभ्यासयोगका प्रतिपादन ... ६३० – ९
अभ्यासयोगमें असमर्थ उपासकके लिए ईश्वरोद्देशेन सर्वकर्मानुष्ठानका प्रतिपादन ६३१ – १०
सर्वकर्मफलत्यागरूप अन्य साधनका प्रतिपादन ... ६३२ – ११
कर्मफलत्यागरूप साधनकी सम्पूर्ण मोक्षसाधनोंकी अपेक्षा उत्तमताका प्रतिपादन ... ... ६३३ – १२
सात श्लोकोंसे यतियोंको सम्यक् ज्ञानकी सिद्धिके लिए ब्रह्मनिष्ठा करनी चाहिए, यह प्रतिपादन करनेके लिए ब्रह्मज्ञानीकी स्तुति ६३७ – १३
बारहवें अध्यायका उपसंहार ... ... ६४७ – २०

त्रयोदश अध्याय [पृष्ठ ६५०–७३८]

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके स्वरूपका विवेचन ... ६५० – १
अनेक युक्तियोंसे क्षेत्रज्ञ जीवात्मामें ब्रह्माभिन्नत्वका प्रतिपादन ... ६५७ – २
फिर भी क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके स्वरूपका भलीभाँति विभागशः ज्ञान करानेके लिए भगवान्‌का उपक्रम ... ६६६ – ३
विवक्षित अर्थमें शास्त्र और शास्त्रज्ञोंकी प्रसिद्धिका कथन ६६७ – ४
दो श्लोकोंसे क्षेत्रके स्वरूपका प्रतिपादन ... ६६८ – ५
पाँच श्लोकोंसे आत्मज्ञानकी उत्पत्तिके साधनोंका निरूपण ६७१ – ७
श्रवणादिसम्पन्न यतिकी ज्ञातव्य वस्तुका निरूपण ६८० – १२
क्षेत्रज्ञके स्वरूपका प्रतिपादन ६८५ – १३
क्षेत्रज्ञलक्षणकी सम्पत्तिका प्रतिपादन ६८८ – १४
सम्पूर्ण जगत्‌की ब्रह्ममात्रताका प्रतिपादन ६९१ – १५
ब्रह्मकी अपरिच्छिन्नताका प्रतिपादन ... ... ६९४ – १६
ब्रह्मज्ञानके लिए ब्रह्मका स्वरूप, उसकी प्राप्तिके नियत साधन और उसकी उपलब्धिके स्थानका प्रतिपादन ... ६९७ – १७

विषय	पृष्ठ	श्लोक
क्षेत्र, ज्ञान (अमानित्व आदि) और ज्ञेयके विज्ञानसे ब्रह्मप्राप्तिका कथन	७००	१८
प्रकृति और पुरुषकी अनादिता आदिका प्रतिपादन	७०१	१९
प्रकृति और पुरुषमें संसारकारणत्वका प्रतिपादन	७०५	२०
आत्मामें प्रकृतिसम्बन्धसे संसार है, इस विषयका प्रतिपादन ...	७०७	२१
आत्मामें प्रकृति और उसके कार्यके सम्बन्धके अभावका तथा ब्रह्माभिन्नत्वका प्रतिपादन	७१०	२२
आत्मज्ञानसे कैवल्यप्राप्तिरूप फल-कथन	७१४	२३
दो श्लोकोंसे तत्-तत् अधिकारियोंके अनुरूप ब्रह्मज्ञानप्राप्तिके साधनोंका प्रतिपादन	७१६	२४
संसार क्षेत्रक्षेत्रज्ञलक्षण दो प्रकृतियोंसे जन्य है, इस पूर्वोक्त विषयका स्पष्टीकरण	७१९	२६
जो आत्माको देह आदिका विनाश होनेपर भी विनष्ट न होनेवाला जानता है, वह मुक्त होता है, यह प्रतिपादन ...	७२२	२७
सर्वत्र ब्रह्मके नैरन्तर्यदर्शनसे मुक्ति होती है, यह कथन ...	७२५	२८
आत्माको अकर्ता जाननेवाला ही परमात्मज्ञानवान् है, यह निरूपण	७२७	२९
आत्मव्यतिरिक्त ब्रह्मका अभाव होनेसे विद्वान्‌में आत्मैकत्वदर्शन और उससे ब्रह्मभावसिद्धिका कथन	७२९	३०
आत्मामें कर्तृत्व आदिके अभावका प्रतिपादन ...	७३०	३१
आत्मामें उपाधिकृत कर्मका सम्बन्ध नहीं रहता, यह प्रतिपादन ...	७३४	३२
दृष्टान्तपूर्वक क्षेत्रज्ञ (आत्मा) में क्षेत्रवैलक्षण्यका प्रतिपादन ...	७३५	३३
तेरहवें अध्यायमें प्रतिपादित अर्थका संक्षेपतः प्रतिपादनपूर्वक प्रकृत अध्यायका उपसंहार ...	७३७	३४

चतुर्दश अध्याय [पृष्ठ ७३९–७७५]

गुण और गुणोंके कार्यका परिज्ञान ही मुक्तिका परम कारण है, यह उपदेश विदेहमुक्तिकी श्रेष्ठताका पुनः प्रतिपादन ...	७३९	१
ईश्वरशक्ति प्रकृतिमें सर्वभूतोंकी उत्पादकताका प्रतिपादन ...	७४१	२
प्रकृतिमें और ईश्वरमें क्रमशः मातृत्व और पितृत्वका प्रतिपादन ...	७४३	३
सत्त्वादि गुणोंका विभागपूर्वक गुणोंमें बन्धकत्वका प्रतिपादन ...	७४४	४
तेरह श्लोकोंसे सत्त्व आदि प्रत्येक गुणके स्वरूप और कार्यका प्रदर्शन	७४५	५
गुणोंमें कर्तृत्व आदिका और आत्मामें असङ्गत्वका परिज्ञाता यति आत्मनिष्ठासे गुण और गुणकार्योंका अतिक्रमण कर मुक्त होता है, इस विषयका प्रतिपादन	७४७	६
गुणातिक्रमसे मुक्ति होती है अन्यथा नहीं, यह प्रतिपादन ...	७५८	१९
गुणातीतके स्वरूप आदिके विषयमें अर्जुनके तीन प्रश्न ...	७६०	२०
	७६१	२१

विषय	पृष्ठ	श्लोक
पाँच श्लोकोंसे भगवान् द्वारा पूर्वोक्त प्रश्नोंका क्रमशः उत्तरप्रदान	७६२	२२
प्रत्यग्रूप विद्वान्में ब्रह्मभावकी उपपत्तिका प्रदर्शन ...	७७४	२७
पञ्चदश अध्याय [पृष्ठ ७७६–८१५]		
मुमुक्षुको संसारमें वैराग्य आदि हो, इसलिए भगवान् द्वारा संसारका वृक्षरूपसे वर्णन	७७६	१
असद्बुद्धिसे संसारसे विरक्त पुरुषको ज्ञान और मोक्ष होता है, ऐसा बोधन करनेके लिए संसारवृक्षका पुनः वर्णन	७७८	२
दो श्लोकोंसे सद्-असद् विचारसे उत्पन्न वैराग्यरूप खड्गसे संसारवृक्षका छेदन कर मोक्षके लिए पुरुषको यत्न करना चाहिए, इस विषयका प्रतिपादन	७८१	३
निर्मानमोह आदि लक्षणोंसे लक्षित यति विदेहमुक्तिको प्राप्त होते हैं, इस विषयका प्रतिपादन	७८६	५
ब्रह्मकी सूर्य आदिसे अभास्यता, स्वयंज्योतिष्ट्व तथा स्वस्वरूपताका प्रतिपादन	७८६	६
तीन श्लोकोंसे जीवमें ब्रह्मांशत्व तथा देहेन्द्रियादिभिन्न आत्मामें असंसारित्व आदिका प्रतिपादन	७९३	७
सबके साक्षीरूपसे स्थित परमात्माको ब्रह्मज्ञानी ही देखते हैं, मूढ़ नहीं, इस विषयका प्रतिपादन	७९८	१०
भगवत्प्रसादसे युक्त योगनिष्ठ यतियोंके भी आत्मदर्शनका प्रतिपादन	७९९	११
चार श्लोकोंसे ईश्वरकी सर्वात्मताका प्रतिपादन ...	८००	१२
तीन श्लोकोंसे ज्ञातव्य ब्रह्मके स्वरूपका क्षराक्षरविवेकप्रदर्शन द्वारा निर्वचन	८०६	१६
जो ब्रह्मवित् ईश्वरको नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव जानता है, उसकी मुक्तिका प्रदर्शन	८१३	१९
गीतोक्त अर्थको जाननेवाला कृतार्थ हो जाता है, यों प्रतिपादनपूर्वक पन्द्रहवें अध्यायमें उक्त अर्थका उपसंहार ...	८१४	२०
षोडश अध्याय [पृष्ठ ८१६–८३७]		
तीन श्लोकोंसे दैवी सम्पत्तिके अनुसार उत्पन्न हुए पुरुषके गुणोंका प्रतिपादन	८१६	१
आसुरी सम्पत्तिके अनुसार उत्पन्न पुरुषके गुणोंका प्रतिपादन	८१९	४
दैवी और आसुरी सम्पत्तियोंके कार्यका प्रतिपादन ...	८२०	५
तेरह श्लोकोंसे उपादेय अंशके परिज्ञानके लिए अत्यन्त हेय आसुरी प्रकृतिवालोंका सविस्तर (स्वभाव, निश्चय, कार्य आदि विस्तारसे) प्रतिपादन ...	८२१	६
दो श्लोकोंसे आसुरी प्रकृतिवाले जीवोंकी गतिका प्रतिपादन	८३१	१९

विषय	पृष्ठ श्लोक
दो श्लोकोंसे नरकके द्वारभूत काम आदिका त्याग करनेवाले पुरुषकी परा गति होती है, इस विषयका प्रतिपादन ...	८३२ – २१
शास्त्रविधिका उल्लङ्घन करनेवाले जीवोंकी दुर्गतिका प्रतिपादन ...	८३५ – २३
शास्त्रानुसार कर्मानुष्ठान करना चाहिए, ऐसा प्रतिपादन करते हुए प्रकृत अध्यायका उपसंहार ...	८३६ – २४

सप्तदश अध्याय [पृष्ठ ८३८–८५७]

शास्त्रविधिको जाने बिना अनुष्ठान कर रहे जीवोंकी सात्त्विक निष्ठा है या राजस निष्ठा ? यों अर्जुनका प्रश्न	८३८ – १
तीन प्रकारकी श्रद्धाओंका प्रतिपादन ...	८४० – २
सत्त्व आदि गुणोंके अनुरूप श्रद्धा होती है, यह निरूपण	८४१ – ३
सात्त्विक आदि गुणोंके अनुसार देवयजनका प्रतिपादन ...	८४२ – ४
दो श्लोकोंसे राजस और तामस पुरुषका धर्म आसुर है, यह प्रतिपादन	८४३ – ५
सात श्लोकोंसे गुणभेदसे आहार, यज्ञ, तप और दानके सात्त्विक आदि तीन भेदोंका प्रतिपादन ...	८४४ – ७
तीन श्लोकोंसे शारीर आदि तीन तपोंका प्रतिपादन	८४७ – १४
तीन श्लोकोंसे सात्त्विक, राजस और तामस तपका प्रतिपादन	८४९ – १७
तीन श्लोकोंसे सात्त्विक आदि त्रिविध दानका प्रतिपादन ...	८५१ – २०
ब्रह्मके तीन नाम (ॐ, तत्, सत्) और उनके माहात्म्यका निरूपण	८५२ – २३
प्रणवके विनियोगका निरूपण	८५३ – २४
तीन श्लोकोंसे 'तत्' शब्द और 'सत्' शब्दके विनियोगका प्रतिपादन	८५४ – २५
श्रद्धाके बिना अनुष्ठित कर्मका नैष्फल्य-प्रतिपादन	८५६ – २८

अष्टादश अध्याय [पृष्ठ ८५८–१००६]

संन्यास और त्यागको पृथक्‌रूपसे जाननेके लिए अर्जुनका भगवान्‌से प्रश्न	८५८ – १
मतभेदसे संन्यासशब्दका निरूपण	८६० – २
दोषयुक्त कर्मोंके त्यागका और निर्दुष्ट कर्मोंके अत्यागका प्रतिपादन	८६१ – ३
अधिकारिभेदसे त्यागका त्रैविध्य प्रतिपादन	८६८ – ४
दो श्लोकोंसे कर्तव्यत्वनिरूपणपूर्वक यज्ञादिकी पावनतमताका प्रतिपादन	८६९ – ५
तीन श्लोकोंसे तामस आदि त्रिविध त्यागका प्रतिपादन ...	८७२ – ७
सात्त्विक त्यागसे जनित अन्तःकरणशुद्धिसे युक्त ज्ञानीका लक्षणकथन	८७५ – १०
देहाभिमानी सब कर्मोंका त्याग नहीं कर सकता, अतः उसको कर्मफलका ही त्याग करना चाहिए, यह निरूपण	८७७ – ११
कर्मियोंके संसारकथनपूर्वक विद्वानोंकी मुक्ति होती है, यह निरूपण	८८० – १२
दो श्लोकोंसे सम्पूर्ण कर्मोंकी उत्पत्तिके पाँच कारणोंका प्रदर्शन ...	८८२ – १३
अधिष्ठान आदि पाँच कर्मोत्पत्तिके कारण हैं, इस पूर्वोक्त अर्थका स्पष्टीकरण	८८५ – १५

विषय	पृष्ठ	श्लोक
अधिष्ठान आदिकी क्रियाके प्रति कारणता सिद्ध होनेपर फलित अर्थका प्रतिपादन	८८६	१६
ब्रह्मवित् किसी कर्मसे लिप्त नहीं होता, इस विषयका प्रतिपादन	८९२	१७
ज्ञाता, ज्ञान आदिका निरूपण ...	८९८	१८
ज्ञान आदिके भेदके प्रतिपादनके लिए भगवान्‌की प्रतिज्ञा	९००	१९
सात्त्विक ज्ञानका प्रतिपादन ...	९०१	२०
राजस ज्ञानका प्रतिपादन	९०२	२१
तामस ज्ञानका प्रतिपादन	९०३	२२
सात्त्विक कर्मका प्रतिपादन	९०५	२३
राजस कर्मका प्रतिपादन	९०६	२४
तामस कर्मका प्रतिपादन	९०७	२५
सात्त्विक कर्ताका प्रतिपादन	९०७	२६
राजस कर्ताका प्रतिपादन	९०८	२७
तामस कर्ताका प्रतिपादन	९०९	२८
बुद्धि और धृतिके भेदके प्रतिपादनके लिए उपक्रम	९१०	२९
तीन श्लोकोंसे सात्त्विक, राजस और तामस बुद्धिका प्रतिपादन	९१०	३०
तीन श्लोकोंसे सात्त्विक आदि तीन धृतियोंका निरूपण	९१३	३३
चार श्लोकोंसे सात्त्विक आदि तीन प्रकारके सुखोंका निरूपण	९१५	३६
सम्पूर्ण पदार्थोंके त्रिगुणात्मकत्वका प्रतिपादन	९२२	४०
तत्-तत् वर्णके योग्य कर्मानुष्ठानका प्रतिपादन	९२२	४१
ब्राह्मणके कर्मोंका प्रदर्शन	९२४	४२
क्षत्रियके कर्मोंका प्रदर्शन	९२५	४३
वैश्य और शूद्रोंके कर्मोंका प्रतिपादन	९२६	४४
स्वकर्मानुष्ठानका फल-कथन	९२८	४५
स्वकर्मसे परमेश्वरकी आराधना करनेवालेकी ही चित्तशुद्धि होती है, इसका प्रतिपादन	९३०	४६
परधर्मकी अपेक्षा स्वधर्मकी उत्कृष्टताका प्रतिपादन ...	९३२	४७
जन्मतः प्राप्त अपने धर्मका अवश्य अनुष्ठान करना चाहिए, यह निरूपण	९३३	४८
संन्यासयोगसे ब्रह्मप्राप्तिका कथन	९३६	४९
ज्ञाननिष्ठा और ज्ञानफलका निरूपण ...	९३९	५०
तीन श्लोकोंसे नियतसाधनानुष्ठानपूर्वक ज्ञाननिष्ठा कर रहे विद्वान्‌की ब्रह्मप्राप्तिका कथन	९५३	५१
जीवन्मुक्त कृतार्थ यतिके स्वरूपका निरूपण	९६०	५४
ब्रह्मतत्त्वके निश्चयसे ब्रह्मप्राप्तिका कथन ...	९६३	५५
ईश्वरके प्रसादसे मुक्ति होती है, इस विषयका प्रतिपादन	९६८	५६
ईश्वरका आश्रयण करना चाहिए, यह निरूपण	९६९	५७

विषय	पृष्ठ श्लोक
ईश्वरके आश्रयणका फल-कथन	९७१ – ५८
दो श्लोकोंसे सांख्यमतानुसार कर्मकी अवश्यकर्तव्यताका प्रदर्शन	९७२ – ५९
अन्तर्यामीके स्वरूपका प्रतिपादन ...	९७४ – ६१
ईश्वरके प्रसादसे शाश्वत् शान्ति प्राप्त होती है, यह निरूपण ...	९७५ – ६२
पूर्वोक्त अर्थका दिग्दर्शन कराते हुए भगवान्‌का सम्पूर्ण गीताशास्त्रका उपसंहार ...	९७६ – ६३
उपदेष्टव्य वस्तुकी स्तुति	९७७ – ६४
प्रतिज्ञात उपदेष्टव्यका कथन	९७९ – ६५
आरूढ़की ज्ञाननिष्ठाकर्तव्यताका प्रतिपादन	९८१ – ६६
तपस्वित्व आदि धर्मोंसे रहित पुरुषको गीताका उपदेश नहीं देना चाहिए, यह कथन	९८९ – ६७
अधिकारीको गीताशास्त्रका उपदेश देनेवाले महापुरुषका फल-कथन	९९० – ६८
केवल दयामात्रसे मुमुक्षु जनोंको गीतोपदेश करनेवालोंकी स्तुति	९९३ – ६९
श्रद्धा-भक्तिपूर्वक गीतापाठ करनेका फलकथन	९९५ – ७०
श्रद्धापूर्वक गीताके श्रवणका फल-कथन	९९५ – ७१
अर्जुनने स्वोक्त उपदेश ग्रहण किया या नहीं, यह जाननेकी इच्छासे भगवान्‌का अर्जुनके प्रति प्रश्न ...	९९६ – ७२
भगवान्‌के उपदेशसे जनित ज्ञानरूप फलका अर्जुन द्वारा कथन ...	९९७ – ७३
कथासन्दर्भके अवतरणके लिए धृतराष्ट्रके प्रति सञ्जयकी उक्ति ...	१००० – ७४
मेरे गीताके श्रवणमें केवल गुरुकृपा ही मुख्य साधन था, यों धृतराष्ट्रके प्रति संजयोक्ति ...	१००१ – ७५
सञ्जयका गीताश्रवणजनित सन्तोषका प्रदर्शन	१००२ – ७६
विश्वरूपके दर्शनसे जनित तृप्तिका वर्णन	१००३ – ७७
सञ्जयका अपना निश्चय-कथन	१००३ – ७८

अथ श्रीगीतामाहात्म्यप्रारम्भः

श्रीगणेशाय नमः। श्रीराधारमणाय नमः।

धरोवाच—भगवन् परमेशान भक्तिरव्यभिचारिणी।
प्रारब्धं भुज्यमानस्य कथं भवति हे प्रभो ॥ १ ॥

विष्णुरुवाच—प्रारब्धं भुज्यमानो हि गीताभ्यासरतः सदा।
स मुक्तः स सुखी लोके कर्मणा नोपलिप्यते ॥ २ ॥
महापापादिपापानि गीताध्यानं करोति चेत्।
क्वचित् स्पर्शं न कुर्वन्ति नलिनीदलमम्बुवत् ॥ ३ ॥
गीतायाः पुस्तकं यत्र यत्र पाठः प्रवर्तते।
तत्र सर्वाणि तीर्थानि प्रयागादीनि तत्र वै ॥ ४ ॥
सर्वे देवाश्च ऋषयो योगिनः पन्नगाश्च ये।
गोपाला गोपिका वाऽपि नारदोद्धवपार्षदैः ॥ ५ ॥
सहायो जायते शीघ्रं यत्र गीता प्रवर्तते।
यत्र गीताविचारश्च पठनं पाठनं श्रुतम्।
तत्राऽहं निश्चितं पृथ्वि निवसामि सदैव हि ॥ ६ ॥
गीताश्रयेऽहं तिष्ठामि गीता मे चोत्तमं गृहम्।
गीताज्ञानमुपाश्रित्य त्रीँल्लोकान् पालयाम्यहम् ॥ ७ ॥
गीता मे परमा विद्या ब्रह्मरूपा न संशयः।
अर्धमात्राक्षरा नित्या स्वानिर्वाच्यपदात्मिका ॥ ८ ॥
चिदानन्देन कृष्णेन प्रोक्ता स्वमुखतोऽर्जुनम्।
वेदत्रयी परानन्दा तत्त्वार्थज्ञानसंयुता ॥ ९ ॥
योऽष्टादशजपो नित्यं नरो निश्चलमानसः।
ज्ञानसिद्धिं स लभते ततो याति परं पदम् ॥ १० ॥
पाठेऽसमर्थः संपूर्णे ततोऽर्धं पाठमाचरेत्।
तदा गोदानजं पुण्यं लभते नाऽत्र संशयः ॥ ११ ॥

त्रिभागं पठमानस्तु गङ्गास्नानफलं लभेत् ।
षडंशं जपमानस्तु सोमयागफलं लभेत् ॥ १२ ॥
एकाध्यायं तु यो नित्यं पठते भक्तिसंयुतः ।
रुद्रलोकमवाप्नोति गणो भूत्वा वसेच्चिरम् ॥ १३ ॥
अध्यायं श्लोकपादं वा नित्यं यः पठते नरः ।
स याति नरतां मन्वन्तरं यावद्वसुन्धरे ॥ १४ ॥
गीतायाः श्लोकदशकं सप्त पञ्च चतुष्टयम् ।
द्वौ त्रीनेकं तदर्धं वा श्लोकानां यः पठेन्नरः ॥ १५ ॥
चन्द्रलोकमवाप्नोति वर्षाणामयुतं ध्रुवम् ।
गीतापाठसमायुक्तो मृतो मानुषतां व्रजेत् ॥ १६ ॥
गीताभ्यासं पुनः कृत्वा लभते मुक्तिमुत्तमाम् ।
गीतेत्युच्चारसंयुक्तो म्रियमाणो गतिं लभेत् ॥ १७ ॥
गीतार्थश्रवणासक्तो महापापयुतोऽपि वा ।
वैकुण्ठं समवाप्नोति विष्णुना सह मोदते ॥ १८ ॥
गीतार्थं ध्यायते नित्यं कृत्वा कर्माणि भूरिशः ।
जीवन्मुक्तः स विज्ञेयो देहान्ते परमं पदम् ॥ १९ ॥
गीतामाश्रित्य बहवो भूभुजो जनकादयः ।
निर्धूतकल्मषा लोके गीता याताः परं पदम् ॥ २० ॥
गीतायाः पठनं कृत्वा माहात्म्यं नैव यः पठेत् ।
वृथा पाठो भवेत्तस्य श्रम एव ह्युदाहृतः ॥ २१ ॥
एतन्माहात्म्यसंयुक्तं गीताभ्यासं करोति यः ।
स तत्फलमवाप्नोति दुर्लभां गतिमाप्नुयात् ॥ २२ ॥
सूत उवाच—माहात्म्यमेतद्गीताया मया प्रोक्तं सनातनम् ।
गीतान्ते च पठेद्यस्तु यदुक्तं तत्फलं लभेत् ॥ २३ ॥

इति श्रीवाराहपुराणे धराप्रोक्तं श्रीगीतामाहात्म्यं सम्पूर्णम् ।

अथ श्रीमद्भगवद्गीतान्यासध्यानादि

श्रीगोपालकृष्णाय नमः

ॐ अस्य श्रीमद्भगवद्गीतामालामन्त्रस्य भगवान् वेदव्यास ऋषिः। अनुष्टुप् छन्दः। श्रीकृष्णः परमात्मा देवता। अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषस इति बीजम्। सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रजेति शक्तिः। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच इति कीलकम्। नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावक इत्यङ्गुष्ठाभ्यां नमः। न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुत इति तर्जनीभ्यां नमः। अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव चेति मध्यमाभ्यां नमः। नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातन इत्यनामिकाभ्यां नमः। पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रश इति कनिष्ठिकाभ्यां नमः। नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि चेति करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः। इति करन्यासः। अथ हृदयादिन्यासः। नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावक इति हृदयाय नमः। न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुत इति शिरसे स्वाहा। अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव चेति शिखायै वषट्। नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातन इति कवचाय हुम्। पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रश इति नेत्रत्रयाय वौषट्। नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि चेति अस्त्राय फट्। श्रीकृष्णप्रीत्यर्थे पाठे विनियोगः।

ॐ पार्थाय प्रतिबोधितां भगवता नारायणेन स्वयं
व्यासेन ग्रथितां पुराणमुनिना मध्येमहाभारतम्।
अद्वैतामृतवर्षिणीं भगवतीमष्टादशाध्यायिनी-
मम्ब त्वामनुसन्दधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम्॥ १॥

नमोऽस्तु ते व्यास विशालबुद्धे फुल्लारविन्दायतपत्रनेत्र।
येन त्वया भारततैलपूर्णः प्रज्वालितो ज्ञानमयः प्रदीपः॥ २॥

प्रपन्नपारिजाताय तोत्रवेत्रैकपाणये।
ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः॥ ३॥

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥ ४॥

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—

हे सञ्जय ! धर्मकी अभिवृद्धि करनेवाले कुरुक्षेत्रमें युद्धकी इच्छासे इकट्ठे हुए दुर्योधन आदि मेरे पुत्रोंने एवं युधिष्ठिर आदि पाण्डुपुत्रोंने क्या किया ? ॥१॥

सनन्दनं श्रीसनकं सनातनं सनत्कुमारं च सनत्सुजातम् ।
श्रीवामदेवं च शुकं महान्तं नमामि भक्त्या निजबोधसिद्ध्यै ॥ ५ ॥
भक्त्या श्रीशङ्कराचार्यं तच्छास्त्रं सद्गुरुं मुहुः ।
नमामि शिरसा नित्यं सम्यग्ज्ञानोपपत्तये ॥ ६ ॥
भक्त्या प्रणम्य स्वगुरुमानन्दात्मसरस्वतीम् ।
क्रियते श्रीमद्भगवद्गीतातात्पर्यबोधिनी ॥ ७ ॥

इह खलु भगवानमिततपोबलतेजःशक्तिसंपन्नः सर्वविद्यानिधिः सर्वज्ञचूडामणिः साक्षादपरः श्रीमन्नारायणः श्रीकृष्णद्वैपायनः परमकारुणिकाग्रगण्यः स्वयमतिकृपया भविष्यद्विद्वज्जनानामनतिप्रज्ञामाज्ञाय वर्णाश्रमिणां सकलपुरुषार्थसिद्धये तत्सिद्धिसाधनप्रकाशकमनन्तवेदराशिं ऋगादिभेदेन चतुर्धा विभज्य, एकैकां शाखां पैलवैशम्पायनादिशिष्यप्रशिष्योपशिष्यपरम्पराद्वारा संवर्धयामास । तत्रापि वेदार्थस्य

ब्रह्माके मानस पुत्र श्रीसनन्दन, श्रीसनक, श्रीसनातन, श्रीसनत्कुमारको, श्रीवामदेव और महापुरुष श्रीशुकदेवको अपने बोधकी सिद्धिके लिए मैं भक्तिसे नमस्कार करता हूं ॥ ५ ॥

सद्गुरु श्रीशङ्कराचार्यको और उनके शास्त्रको सम्यक् ज्ञानकी सिद्धिके लिए भक्तिपूर्वक नित्य सिरसे वार-बार नमस्कार करता हूं ॥ ६ ॥

अपने गुरु आनन्दात्मसरस्वतीको भक्तिसे नमस्कार करके मैं श्रीमद्भगवद्गीताकी तात्पर्यबोधिनी टीका करता हूँ ॥ ७ ॥

जिसकी किसीसे तुलना नहीं हो सकती[1] ऐसे तपोवल, तेज और शक्तिसे संपन्न[2], सब विद्याओंके निधि[3], सर्वज्ञोंके शिरोमणि, साक्षात् दूसरे श्रीमन्नारायण, परम कारुणिकोंमें अग्रगण्य, भगवान् श्रीकृष्णद्वैपायन (व्यासमुनि) ने, आगेके विद्वज्जन थोड़ी [4]प्रज्ञावाले होंगे, यह जानकर वर्णाश्रमधर्मसम्पन्न पुरुषोंके सम्पूर्ण पुरुषार्थोंकी सिद्धिके लिए, पुरुषार्थोंकी सिद्धिके साधनोंका प्रकाश करनेवाली [5]वेदराशिको ऋक् आदि भेदसे चार भागोंमें विभक्त करके एक एक शाखाको पैल, वैशम्पायन आदि शिष्य, प्रशिष्य, उपशिष्य परम्पराके द्वारा बढ़ाया । उन शाखाओंमें भी

---

१ अपार, जिसका परिमाण न हो । २ युक्त, पूर्ण । ३ भंडार, खजाने । ४ बुद्धि । ५ वेदसमूह ।

परमसूक्ष्मत्वादतिगूढत्वाद् दुर्विज्ञेयत्वाच्च तदर्थाधिगमाशक्तानां सत्पुरुषाणां धर्मादिसर्वपुरुषार्थसिद्धये 'भारतं पञ्चमो वेदः' इति पञ्चमवेदत्वेन प्रसिद्धां धर्मादिसर्वपुरुषार्थतत्साधनप्रकाशनपरां भारतीं शतसाहस्रीं संहितां प्रवर्तयाञ्चकार । तस्या एतस्या एव संहिताया मध्ये केवलं मुमुक्षूणामनाद्यविद्यातत्कार्यनिवृत्तिद्वारा विदेहकैवल्यफलसिद्धये ब्रह्मात्मैकत्वप्रतिपादनपरां कृष्णार्जुनसंवादरूपामद्वैतामृतवर्षिणीं गीतोपनिषन्नाम्नीं ब्रह्मविद्यां श्लोकानां सप्तशत्या अन्तरे च नक्षत्रमालायाश्चन्द्रमण्डलमिव स्थापयामास । तस्या एतस्यास्त्वध्ययने तदर्थग्रहणे तच्छ्रुतिजन्यज्ञाने तत्फलावाप्तौ चाऽधिकारी सदसद्विवेकी अधर्मभीरुरैहिकामुष्मिकसुखविमुखः शमादिषट्कसम्पन्नो मुमुक्षुरेवेति निर्धारयितुं ब्रह्मविद्याश्रोतरि अर्जुने सदसद्विवेचनमधर्मभीरुत्वमैहिकामुष्मिकसुखवैमुख्यं शमदमादिसम्पत्तिं च प्रदर्शयितुं प्रथमाध्याय आरभ्यते । तत्राऽऽदौ पाण्डवानां धार्तराष्ट्राणां च युद्धाय सन्नद्धानां प्रवृत्तिं श्रोतुकामो धृतराष्ट्र उवाच—**धर्मक्षेत्र इति** ।

धर्मप्रधानत्वाद् धर्मप्रदत्वाद् वा धर्मक्षयात् त्रायते इति वा धर्मक्षेत्रं तस्मिन् धर्मक्षेत्रे वासमात्रेण धर्मतत्फलप्रदे कुरुक्षेत्रे । युयुत्सवो युद्धं चिकीर्षवोऽत एव

वेदका अर्थ बहुत सूक्ष्म, अतिगूढ़ एवं दुर्विज्ञेय होनेके कारण, जो सत्पुरुष वेदके अर्थको समझ नहीं सकते, उनके धर्मादि सब पुरुषार्थोंकी सिद्धि हो, इसलिए 'भारतं पंचमो वेदः' यों पांचवें वेदके रूपसे प्रसिद्ध, धर्मादि सब पुरुषार्थोंका और उनके साधनोंका प्रकाश करनेवाली भारती शतसाहस्री संहिताका (महाभारतका) निर्माण किया। उस संहिताके मध्यमें केवल मुमुक्षुओंको अनादि अविद्या और अनादि अविद्याके कार्यकी निवृत्ति द्वारा विदेह कैवल्यकी प्राप्ति हो, इसलिए ब्रह्म और आत्माके एकत्वका प्रतिपादन करनेवाली भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादरूप, अद्वैत अमृत वर्षानेवाली गीतारूप उपनिषद् नामकी ब्रह्मविद्याका, जैसे नक्षत्रोंकी मालाके मध्यमें चन्द्रमण्डल हो, सात सौ श्लोकोंमें प्रतिष्ठापन किया। उसके अध्ययन करनेमें, अर्थ समझनेमें, उसके सुननेसे उत्पन्न हुए ज्ञानमें और उस ज्ञानके फल (मोक्ष) की प्राप्तिमें अधिकारी वही है, जो सत्यासत्यका विवेकी, अधर्मसे डरनेवाला, इस लोक और परलोकके सुखसे विमुख, शम आदि छः साधनोंसे संपन्न तथा मुमुक्षु है, यों अधिकारीका निर्धारण करनेके लिए ब्रह्मविद्याके सुननेवाले अर्जुनमें उक्त सत्यासत्यविवेक, अधर्मभीरुता, इस लोक और परलोकके सुखभोगसे विमुखता और शम, दम आदि संपत्ति[1] दिखलानेके लिए प्रथम अध्यायका आरंभ किया जाता है।

उसमें पहले युद्धके लिए संनद्ध हुए पाण्डव और धृतराष्ट्रके पुत्रोंकी प्रवृत्ति सुननेकी इच्छावाले धृतराष्ट्र बोले—**'धर्मक्षेत्रे'** इत्यादि।

जिस क्षेत्रमें धर्म प्रधान है अथवा जो धर्मका देनेवाला है या जो धर्मके क्षयसे रक्षा करता है, उस क्षेत्रको धर्मक्षेत्र कहते हैं, ऐसे वास करने मात्रसे धर्म और धर्मके फलको देनेवाले धर्मक्षेत्ररूप कुरुक्षेत्रमें युद्ध करनेकी इच्छासे ही समवेत—एकत्र—

---

१ साधन सामग्री।

सञ्जय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

सञ्जयने कहा—

युद्धकी तयारीके समय व्यूहाकार पाण्डवोंकी सेनाको देखकर दुर्योधनने द्रोणाचार्यके पास जाकर ये वचन कहे ॥ २ ॥

समवेताः समवायं प्राप्ताः सन्नद्धाः । मामकाः दुर्योधनादयः पाण्डवाश्च किमकुर्वत किं कार्यं कृतवन्तः ? संजय, तद् ब्रूहीत्यर्थः । नन्वत्र युयुत्सव इति विशेषणबलेन समवेतानां तेषां कर्तव्यं कार्यं युद्धमेवेति युद्धस्यैव कर्तव्यत्वे प्रतीयमाने कथं युद्धं प्रवृत्तमिति प्रश्नमुत्सृज्य किमकुर्वत संजयेति धृतराष्ट्रप्रश्नोऽनुपपन्न इति न शङ्कनीयम् , धर्मक्षेत्र इत्युक्तत्वात् । तत्क्षेत्रमहिम्ना स्वयमेव धर्मपरो भूत्वा दुर्योधनस्तत्पित्र्यं धर्म्यमर्धराज्यं तेषां दत्तवान् वा, उत तस्यैव महिम्ना प्रवृद्धधर्मा सन् धर्मपुत्रः स्वजनवधो नरकायेति नरकभयाद् युद्धादुपरतो वा, सर्वे युद्धमेव कृतवन्तो वा, यत्तत्र प्रवृत्तं तद्वद इत्युपपन्नतरः प्रश्न इत्यर्थः ॥ १ ॥

पक्षस्तृतीय एव सिद्ध इति संजय उवाच—**दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकमिति** ।

राजा दुर्योधनस्तदा युद्धसन्नाहकाले व्यूढं व्यूहाकारतामापन्नं पाण्डवानामनीकं

याने संनद्ध हुए (हथियार लेकर युद्धके लिये तयार हुए) दुर्योधन आदि मेरे पुत्रोंने और पाण्डवोंने क्या किया, यानी क्या कार्य किया ? हे सञ्जय, उसको मुझसे कहिये, यह अर्थ है ।

शङ्का—श्लोकमें 'युयुत्सवः' (युद्ध करनेकी इच्छावाले) (मामकाः और पाण्डवाः इन शब्दोंके साथ) विशेषण दिया गया है, अतः इस विशेषणके बलसे सिद्ध हो जाता है कि जो युद्ध करनेकी इच्छासे इकट्ठे हुए हैं, उनका कर्तव्य कर्म युद्ध ही है । इस परिस्थितिमें युद्ध कैसे हुआ ? इस प्रकारके प्रश्नको छोड़कर धृतराष्ट्रने यह प्रश्न क्यों किया कि हे सञ्जय, उन्होंने क्या किया ? धृतराष्ट्रका यह प्रश्न ठीक नहीं है ।

समाधान—नहीं, उक्त शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि श्लोकमें 'धर्मक्षेत्र' शब्द भी कहा गया है, इससे धृतराष्ट्रके मनमें यह सन्देह हुआ कि उस धर्मक्षेत्रकी महिमासे क्या दुर्योधनने स्वयं ही धर्मपरायण होकर पांडवोंको उनके पिताका धर्म्यरूप[1] आधा राज्य दे दिया अथवा उसी क्षेत्रकी महिमासे प्रवृद्धधर्म[2] होकर धर्मपुत्र, अपने जनोंका वध नरकप्राप्तिका साधन है, ऐसा समझकर नरकके भयसे युद्धसे उपरत हो गया या सब युद्ध ही करने लगे, इसलिए धृतराष्ट्रका यह प्रश्न कि जो कुछ वहां हुआ, उसे मुझसे कहिये, समुचित[3] है ॥ १ ॥

तीसरा ही पक्ष सिद्ध है, ऐसा सञ्जय कहते हैं—'**दृष्ट्वा तु**' इत्यादिसे ।

युद्धकी तैयारीके समयमें राजा दुर्योधन व्यूहके आकारमें सजी हुई पांडवोंकी सेनाको

१ धर्मसे प्राप्त होने योग्य । २ अधिक धर्मपरायण । ३ युक्त ।

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥
अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥

हे आचार्य, आपके तीक्ष्णबुद्धि शिष्य धृष्टद्युम्न द्वारा शकट, पद्म आदि व्यूहाकारसे रची गई पाण्डवोंकी इस विशाल सेनाको देखिये ॥३॥

पाण्डवोंकी सेनामें सभी योद्धा शूरवीर, महाधनुर्धारी एवं पराक्रममें भीम और अर्जुनके तुल्य हैं । उनमें सात्यकि, विराट, महारथी द्रुपद ॥ ४ ॥

बलं दृष्ट्वा धनुर्विद्याचार्यं द्रोणमुपसङ्गम्य पाण्डवबलोत्कर्षवर्णनेन स्वबलस्य शौर्यबल-पौरुषोत्साहोद्रेकं सम्पादयितुमिच्छयेदं वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

उवाच मधुसूदन इत्यत्र श्रीभगवानुवाचेति यथा तथाऽत्राऽपि दुर्योधन उवाचेति निवेशनीयम् । परं तथा पाठो न दृश्यते, तत्प्रामादिकम् । **पश्यैतामिति** । हे आचार्य, धीमता सूक्ष्मबुद्धिना तव शिष्येणेति गूढाभिसंधीदं वचनम् । द्रुपदपुत्रेण धृष्टद्युम्नेन व्यूढां शकटपद्माद्याकारेण संभावितामतएव महतीं द्रष्टॄणां स्तोत्रार्हां पाण्डुपुत्राणां चमूं सेनामेतामदूरवर्तिनीं पश्य । योद्धृतेजोबलपौरुषसन्नाहसमुज्जृम्भितां विलोकयेत्यर्थः ॥ ३ ॥

योद्धृतेजोबलपौरुषसन्नाहमेव प्रकटयति त्रिभिः—**अत्रेति** ।

देखकर, धनुर्विद्याके आचार्य द्रोणाचार्यके पास जाकर पाण्डवोंकी सेनाके उत्कर्षके वर्णन द्वारा अपनी सेनाका शौर्य, बल, पौरुष और उत्साह बढ़ानेकी इच्छासे यह वचन बोला ॥ २ ॥

'उवाच मधुसूदन' इसके पीछे जैसे 'श्रीभगवानुवाच' ऐसा दिखाई देता है, वैसे ही यहां भी 'दुर्योधन उवाच' ऐसा लिखना चाहिये था, परन्तु ऐसा पाठ यहां देखनेमें नहीं आता, यह प्रमादसे हुआ, ऐसा समझना चाहिये । **'पश्यैताम्'** इत्यादि । हे आचार्य ! धीमान् यानी सूक्ष्म-बुद्धिवाले अपने शिष्य द्रुपदके पुत्र धृष्टद्युम्नकी शकट, पद्म आदि आकारसे रची हुई निकटमें ही विद्यमान इस पांडवोंकी सेनाको देखिए । व्यूहरचनाके कारण ही यह बड़ी दिखायी देती है, इसलिये देखनेवालोंके प्रशंसा करने योग्य है और युद्ध करनेवालोंके तेज, बल, पौरुष और संनाहसे[1] (कवच आदिसे) बढ़ी हुई है । यहां धीमान् आदि शब्द गूढ़ अभिप्रायको प्रकट करते हैं [अर्थात् इसने शत्रुभूत आपसे आपका नाश करनेकी साधनभूत विद्या प्राप्त की, इसलिए यह धीमान् है । आपके वधके लिए उत्पन्न हुए इसे आपने विद्या दी, अतः आपकी अदूरदर्शिता ही मेरे अनर्थका कारण हुई] ॥३॥

योद्धाओंके तेज, बल, पौरुष और संनाहको भी तीन श्लोकोंसे प्रकट करता है— **'अत्र'** इत्यादिसे ।

---

१ हथियारबन्दी ।

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुंगवः ॥ ५ ॥

बलवान् धृष्टकेतु, चेकितान और काशिराज तथा नरश्रेष्ठ पुरुजित्, कुन्तिभोज और शैब्य ॥ ५ ॥

अत्र पाण्डवसेनायां ये योद्धारस्ते सर्वे शूरा विक्रान्तानपि शृणन्तीति शूराः, महेष्वासाः इषवोऽस्यन्ते क्षिप्यन्ते एभिरितीष्वासाः कोदण्डाः ते महान्तो येषां ते महेष्वासाः । युधि भीमार्जुनसमाः बलेन पराक्रमेण च भीमार्जुनाभ्यां समाः । सर्वे तुल्या इत्यर्थः । के ते इत्याकाङ्क्षायां तानेव नाम्ना निर्दिशति—**युयुधान** इत्यादिना । अतिशयेन युध्यतीति युयुधानः सात्यकिः । शत्रून् विशेषेण रटयतीति विराटः । द्रुवृक्षः पदं ध्वजे चिह्नं यस्य स द्रुपदो महारथः ।

'एको दशसहस्राणि योधयेद्यस्तु धन्विनाम् ।
शस्त्रशास्त्रप्रवीणश्च महारथ इति स्मृतः ॥'

इति वचनात् द्रुपदो महारथः ॥ ४ ॥

धृष्टकेतुरिति । धृष्टः परभयंकरः केतुरस्येति धृष्टकेतुः राजविशेषः । चिकितानस्याऽपत्यं चेकितानो वीर्यवान् राजविशेषः । युद्धे पुरून् बहूञ्जयतीति पुरुजित् । कुन्तिभोजः कुन्तीपिता । शिबेर्गोत्रापत्यं शैब्यो राजविशेषः स एव नरपुङ्गवः ॥ ५ ॥

इस पांडवोंकी सेनामें जो योद्धा—युद्ध करनेवाले—हैं, वे सब शूर हैं। जो पराक्रमवालोंको भी मार गिराते हैं उनका नाम शूर है । महेष्वासाः—जिनसे (बाण) फेंके जाते हैं, उनका नाम इष्वास है, जिनके बड़े इष्वास यानी धनुष हों, उनका नाम महेष्वास है । इस सेनामें सभी शूर और महेष्वास एवं युद्धमें यानी बल और पराक्रममें भीम और अर्जुनके समान हैं। वे कौन हैं, यह आकांक्षा होनेपर उनके नाम बतलाते हैं—युयुधान, विराट और महारथ द्रुपद । जो अधिक युद्ध करता है, उसका नाम युयुधान है, यह सात्यकिका नाम है । विशेषरूपसे जो शत्रुओंको भगाता है, उसका नाम विराट है, जिसकी ध्वजाका चिह्न वृक्ष है, वह द्रुपद है । जो अकेले ही दस हजार धनुर्धारियोंसे युद्ध करे और शस्त्रास्त्रमें प्रवीण हो, उसे महारथ कहते हैं ॥ ४ ॥

जिसका धृष्ट यानी शत्रुओंको भयभीत करनेवाला केतु है, वह धृष्टकेतु, यह कोई राजा है, पराक्रमशाली चिकितानका पुत्र चेकितान, यह भी किसी राजाका नाम है । युद्धमें जो बहुतोंको जीतता है, यह पुरुजित् है, कुन्तीके पिताका नाम कुन्तिभोज है । शिबिके गोत्रमें उत्पन्न शैब्य एक राजा है, वह नरपुंगव है यानी नरोंमें श्रेष्ठ है ॥ ५ ॥

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥
अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥ ७ ॥

पराक्रमशाली युधामन्यु, उत्तमोजा, वीर्यवान् सुभद्राका पुत्र—अभिमन्यु और प्रतिविन्ध्य आदि द्रौपदीके पुत्र। ये सभी महारथी हैं ॥ ६ ॥

हे आचार्यवर, हम लोगोंके मध्यमें बल, पौरुष, पराक्रम आदिसे उत्कृष्ट जो मेरी सेनाके नायक हैं, उन्हें आपके परिज्ञानके लिए मैं आपसे कहता हूँ, आप उन्हें जानिये ॥ ७ ॥

युधामन्युरिति । युधायां युद्धे मन्युः कोपवेगो यस्य स युधामन्युः, उत्तममोजो बलं यस्य स उत्तमौजाः पाञ्चालः । वीर्यवान् सौभद्रः सुभद्रापुत्रः, तेजोबलविक्रान्तानपि शत्रून्विविधमीरयति पलाययतीति वीरस्तस्य कर्म वीर्यं तदस्यास्तीति वीर्यवान् । द्रौपद्याः पुत्रा द्रौपदेयाः प्रतिविन्ध्यादयश्चोक्ताः सर्वे महारथाः । 'आत्मानं सारथिं चाऽश्वान् रक्षन्नक्षतमायुधैः । यो युध्यत्ययुतैर्वीरैः स महारथ उच्यते ॥' इत्युक्तलक्षणलक्षितत्वात्सर्वेषां महारथत्वं सिद्धम् ॥ ६ ॥

एवं पाण्डवसेनानेतृन्निर्दिश्याऽथ स्वसेनानेतृन्निर्देष्टुमिदमाह—**अस्माकं त्विति** ।

अस्माकं ये तु विशिष्टा विद्याबलपौरुषपराक्रमकुलशीलादिभिः प्रसिद्धाः सैन्यस्य

जिसको संग्राममें (युद्ध करनेमें) मन्यु यानी कोपका वेग होता है वह युधामन्यु, और जिसका उत्तम ओज यानी बल है, वह उत्तमौजा है, यह बलवान् पांचाल देशका राजा है। वीर्यवान् सौभद्र यानी सुभद्राका पुत्र, जो शत्रु तेज और बलमें अधिक है, उनको भी जो भगा देता है, उसका नाम वीर है, वीरका कर्म वीर्य है, वह वीर्य जिसमें हो, उसको वीर्यवान् कहते हैं। द्रौपदीके पुत्र प्रतिविन्ध्य आदि सब महारथ हैं। अक्षत यानी चोट खाये बिना जो अपनी, सारथीकी और घोड़ोंकी हथियारोंसे रक्षा करता है और जो अयुत यानी दस हजार वीरोंसे अकेले युद्ध करता है, वह महारथ कहलाता है। पूर्वोक्त लक्षणसे सबका महारथ होना सिद्ध है ॥ ६ ॥

इस प्रकार पांडवोंकी सेनाके नेताओंको बताकर अब अपनी सेनाके नेताओंको बतलानेके लिए कहते हैं—**'अस्माकम्'** इत्यादिसे।

हे द्विजश्रेष्ठ, जो हमारे विशिष्ट यानी विद्या, बल, पौरुष, पराक्रम, कुल, शील आदिसे प्रसिद्ध सेनाके नायक यानी नेता हैं, उनको आपको बतलानेके लिए अर्थात् आप मेरे परम

भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥ ८ ॥
अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ९ ॥

आप, भीष्म पितामह, कर्ण, युद्धमें दुर्जय कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्तका पुत्र भूरिश्रवा ॥ ८ ॥

बाह्लीक, भगदत्त, कृतवर्मा आदि और भी अनेक शूरवीरोंने प्राण देकर भी मेरी जीत करानेका निश्चय कर रक्खा है। ये सभी लोग भाँति भाँतिके शस्त्रास्त्रोंसे युद्ध करनेवाले और सब प्रकारके युद्धोंमें कुशल हैं ॥ ९ ॥

नायका नेतारस्तान् ते संज्ञार्थं मम परमाप्तत्वेन परिज्ञानार्थं ब्रवीमि । त्वं निबोध बुध्यस्व । द्विजोत्तम ॥ ७ ॥

के ते इत्यत आह द्वाभ्याम्—**भवानिति** ।

भवान्, भीष्मः, कर्णः, कृपः कृपाचार्यः समितिं वीराणामपि युद्धक्रियां जयतीति समितिंजयो युद्धे दुर्जयोऽश्वत्थामा, विकर्णश्च, सौमदत्तिः सोमदत्तस्याऽपत्यं भूरिश्रवाः ॥ ८ ॥

अन्य इति । अन्येऽवशिष्टा बाह्लीकभगदत्तादयश्च बहवः शूराः शौर्यशालिनः नानाशस्त्रप्रहरणाः नानाविधानि शस्त्राणि शूलचक्रगदाखड्गपरिघादीनि प्रहरणसाधनानि येषां ते नानाशस्त्रप्रहरणास्तत एव युद्धविशारदाः सकलयुद्धेषु निपुणाश्चेति । सर्वे मदर्थे मद्विजयसिद्ध्यै त्यक्तजीविताः प्राणत्यागेनाऽपि जयं संपादयिष्याम इति निश्चयेन तिष्ठन्तीत्यर्थः ॥ ९ ॥

आप्त हैं, अतः आपको उनका परिज्ञान यानी पूर्ण ज्ञान करानेके लिए कहता हूँ। आप उन्हें जानिये ॥ ७ ॥

वे कौन हैं, ऐसा प्रश्न होनेपर दो श्लोकोंसे कहता है—**'भवान्'** इत्यादिसे ।

आप, भीष्मपितामह कर्ण, कृप (कृपाचार्य) समितिञ्जय—जो वीरोंको भी युद्धमें जीतता है, युद्धमें दुर्जय (यह कृपाचार्यका विशेषण है), अश्वत्थामा, विकर्ण, सौमदत्ति अर्थात् सोमदत्तका पुत्र भूरिश्रवा ॥ ८ ॥

'अन्ये' इत्यादि । अन्य (अवशिष्ट) बाल्हीक, भगदत्त आदि बहुतसे शूर वीर (शौर्य स्वभाववाले), अनेक प्रकारके शूल, चक्र, गदा, खड्ग, परिघ आदि शस्त्रास्त्रोंसे प्रहार करनेवाले हैं, इसी कारण युद्धमें विशारद हैं—समस्त युद्धोंमें निपुण हैं, ये सब मेरे लिए यानी मेरा विजय सिद्ध करनेके लिए प्राण त्याग कर भी जयसंपादन करावेंगे, ऐसे निश्चयसे स्थित हैं, यह अर्थ है ॥९॥

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥ १० ॥
अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाऽभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥ ११ ॥

यद्यपि हमारी सेना युद्धके लिए पर्याप्त नहीं है, फिर भी उसके रक्षक भीष्म पितामह हैं, अतएव वह विजयके लिए पर्याप्त ही है, सामने खड़ी पाण्डवोंकी सेना युद्धके लिए पर्याप्त होनेपर भी भीमसेनसे रक्षित होनेके कारण अपर्याप्त ही है ॥ १० ॥

हमारी विजय भीष्म पितामहके अधीन है, इसलिए आप सब लोग मोर्चोंपर अपने-अपने स्थानोंपर स्थित होकर भीष्मकी ही रक्षा करें ॥ ११ ॥

किंच, **अपर्याप्तमिति** । अपर्याप्तं युद्धाय यदनलमस्माकं निरुक्तेभ्यो भिन्नं तद्भीष्माभिरक्षितं भीष्मेणाऽभितः शरीरवाक्शस्त्रास्त्रबलेन रक्षितं सत् मम जयसम्पादनाय पर्याप्तमेव भवति, महापुरुषाश्रयबलात् । तेषां पाण्डवानां तु इदं पुरो दृश्यमानं बलं पर्याप्तमपि भीमेनाऽभिरक्षितं सदपर्याप्तमेव भवति, हीनपुरुषाश्रयादिति भावः । इतोऽन्यथा व्याख्याने संधिः प्रसज्यते, तददर्शनादेवमेव युक्तमिति भाति ॥ १० ॥

तथैवाऽस्तु नाम, किमिदानीं कर्तव्यमित्यत आह—**अयनेष्विति** ।

हि यस्माद् भीष्माधीनो मम जयस्तस्माद्भवन्तो योद्धार एव निरुक्ताः सर्वे अयनेषु चक्रादिव्यूहमार्गेषु यथाभागं विभक्तं स्वं स्वं स्थानं यथा तथा स्थिताः सन्तो भीष्ममेवाऽभिरक्षन्तु सेनामुखे युध्यन्तं भीष्ममभितो रक्षन्तु ।

'अपर्याप्तम्' इत्यादि । अपर्याप्त यानी युद्धके लिए अपूर्ण हमारी सेना जो ऊपर कहे हुओंसे भिन्न है, वह भीष्मसे अभिरक्षित—शरीर, वाणी, शस्त्र और अस्त्रके बलसे भीष्मसे भली भाँति रक्षित—होनेसे मेरी विजयके लिए पर्याप्त ही है, क्योंकि उसे महापुरुषके आश्रयका बल है । इनकी (पाण्डवोंकी) तो सामने खड़ी हुई सेना पर्याप्त होती हुई भी भीमसे अभिरक्षित होनेके कारण अपर्याप्त ही है, क्योंकि वह हीन पुरुषके आश्रित है, यह भाव है । इससे अन्य प्रकारका व्याख्यान करनेमें तो संधिका प्रसंग आता है, पर संधि देखनेमें नहीं आती, इसलिए यही अर्थ युक्त प्रतीत होता है ॥ १० ॥

ऐसा ही हो, परन्तु अब क्या करना चाहिये, ऐसा यदि कोई पूछे, तो कहता है—**'अयनेषु'** इत्यादिसे ।

चूँकि मेरी विजय पितामह भीष्मके अधीन है, इसलिए आप सब उपर्युक्त योद्धा अयनोंमें यानी चक्रादि व्यूह-मार्गोंमें अपने-अपने विभक्त स्थानपर यथायोग्य स्थित होकर भीष्मकी ही रक्षा करें यानी सेनाके आगे युद्ध करते हुए भीष्मकी ही सब तरफसे रक्षा करें । भाव यह कि भीष्मको

तस्य संजनयन् हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥ १२ ॥
ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाऽभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ १३ ॥

पराक्रमशाली कुरुवृद्ध भीष्म पितामहने दुर्योधनको प्रसन्न करते हुए सिंहनाद कर अपना उदात्त शङ्ख बजाया ॥ १२ ॥

सेनापतिके शङ्ख फूँकनेके अनन्तर शङ्ख, नगारे, पखावज, ढोल आदि भाँति-भाँतिके बाजे सहसा बजाये गये, वह (मिलित वाद्यसमूहका) शब्द वीरोंके हृदयोंको कँपानेवाला हुआ ॥१३॥

भीष्मस्य परेभ्य उपद्रवो यथा न स्यात् तथा परिवेष्ट्य रक्षणं कुर्वन्तः सन्त एव यूयं युद्धं कुरुतेत्यर्थः ॥ ११ ॥

एवमुक्तवति राज्ञि किमभवदिति धृतराष्ट्रप्रश्ने सञ्जय आह—**तस्येति** ।

प्रतापवान् कुरुवृद्धः पितामहो भीष्मः तथैव जयं सम्पादयिष्यामीति सूचयन्निव तस्य दुर्योधनस्य हर्षं सम्पादयन् सिंहनादं विनद्य कृत्वा स्वमुच्चैरुदात्तं शङ्खं दध्मौ पूरयामास ॥ १२ ॥

तत इति । ततः भीष्मशङ्खनिनादेनोत्पन्नरणोत्साहैर्द्रोणादिसर्वसैनिकैः स्वस्वशङ्खाश्च सेनाचरैर्भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः पणवाद्या वाद्यविशेषाश्च सहसाऽतित्वरयैवाऽभ्यहन्यन्त । शङ्खभेर्यादिहननसमुत्पन्नो यः शब्दो ध्वनिः स तुमुलः संकीर्णः सन् महानभूदित्यर्थः ॥ १३ ॥

शत्रुओंसे उपद्रव जैसे न हो वैसे ही भीष्मको घेर कर उनकी रक्षा करते हुए आप लोग युद्ध करें ॥११॥

राजाके ऐसा कहनेपर क्या हुआ ? यों धृतराष्ट्रके प्रश्न करनेपर सञ्जय कहता है—**'तस्य'** इत्यादिसे ।

प्रतापवान् कुरुवृद्ध भीष्म पितामह 'यों ही जयसंपादन करूंगा' ऐसा सूचित करते हुए उस दुर्योधनके हर्षको बढ़ाते हुए सिंहनाद करके ऊँचा शब्द करनेवाले अपने शङ्खको बजाने लगे अर्थात् फूँकने लगे ॥ १२ ॥

'ततः' इत्यादि । तदुपरान्त भीष्मके शङ्खके बजानेसे उत्पन्न हुए रणके उत्साहसे युक्त द्रोण आदि सब सैनिकोंने अपने-अपने शङ्ख, सेनाके सिपाहियोंने भेरी, पणव, आनक, गोमुख यानी पणव आदि बाजे सहसा यानी अतिशीघ्रतासे बजाये । शङ्ख, भेरी आदिके बजानेसे जो शब्द हुआ, वह तुमुल होकर यानी मिल कर महान् हो गया, यह अर्थ है ॥ १३ ॥

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥ १४ ॥
पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥ १५ ॥
अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ १६ ॥

तदनन्तर सफेद घोड़ोंसे युक्त (जुते हुए) विशाल रथपर बैठे हुए माधव (भगवान् श्रीकृष्ण) और पाण्डव (अर्जुन) ने दिव्य शङ्ख बजाये ॥१४॥

हृषीकेश (भगवान् श्रीकृष्ण) ने 'पाञ्चजन्य' शङ्ख और धनञ्जय (अर्जुन) ने 'देवदत्त' शङ्ख, लोगोंको भयदायक कर्म करनेवाले भीमने पौण्ड्र नामका महाशङ्ख बजाया ॥ १५ ॥

कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरने 'अनन्तविजय' नामका शङ्ख, नकुल और सहदेवने सुघोष और मणिपुष्पक नामके शङ्ख बजाये ॥ १६ ॥

एवं दुर्योधनसेनाप्रवृत्तिमुक्त्वा पाण्डवसेनाप्रवृत्तिमाह—**तत इति ।**

ततो भीष्मादिशङ्खोद्घोषानन्तरमेव श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति पूज्ये स्यन्दने रथे स्थितौ माधवः पाण्डवोऽर्जुनश्च दिवि भवौ दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥ १४ ॥

उक्तमेव विस्पष्टयति—**पाञ्चजन्यमिति ।**

पञ्चजनादुत्पन्नं पाञ्चजन्यं हृषीकेशो दध्मौ । देवैर्दत्तं शङ्खं धनञ्जयो दध्मौ । लोकभयंकराणि कर्माण्यस्येति भीमकर्मा वृकवदुदरं यस्य स वृकोदरो भीमः पौण्ड्रं नाम महाशङ्खं दध्मौ ॥ १५ ॥

अनन्तविजयमिति । राजा युधि स्थिरत्वाद्युधिष्ठिरो धर्मपुत्रः अनन्तविजयं

इस प्रकार दुर्योधनकी सेनाकी प्रवृत्ति कहकर पाण्डवोंकी सेनाकी प्रवृत्ति कहते हैं—**'ततः'** इत्यादिसे ।

भीष्म आदिके शङ्ख बजानेके बाद ही श्वेत घोड़ोंसे युक्त महान् यानी पूज्य रथपर बैठे हुए श्रीकृष्ण और अर्जुनने दिव्य यानी स्वर्गमें उत्पन्न हुए शङ्ख बजाये ॥ १४ ॥

कहे हुएको ही विशेषरूपसे स्पष्ट करके कहते हैं—**'पाञ्चजन्यम्'** इत्यादिसे ।

पञ्चजनसे उत्पन्न हुआ 'पाञ्चजन्य' शङ्ख हृषीकेशने बजाया। देवताओं द्वारा दिया गया 'देवदत्त' शङ्ख धनञ्जयने (अर्जुनने) बजाया । लोगोंको भय देनेवाले जिसके कर्म हैं एवं वृकके समान जिसका उदर है ऐसे भीमसेनने पौण्ड्र नामका महाशङ्ख बजाया ॥ १५ ॥

'अनन्तविजयम्' इत्यादि । धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरने (युद्धमें स्थिर रहनेवालेने) जिससे

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चाऽपराजितः ॥ १७ ॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान् दध्मुः पृथक्पृथक् ॥ १८ ॥
स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥ १९ ॥

महाधनुर्धारी काशीपति, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराट, अपराजित (रिपुओंसे अजेय) सत्यकका पुत्र सात्यकि ॥ १७ ॥

हे पृथिवीपते, द्रुपद, द्रौपदीके पुत्र, महाबाहु सुभद्रापुत्र (अभिमन्यु), उक्त सभी योधाओंने अलग-अलग शङ्ख बजाये ॥ १८ ॥

आकाश और पृथिवीको प्रतिध्वनि द्वारा पूर्ण कर रही पाञ्चजन्य आदि शङ्खोंसे उत्पन्न महाध्वनिने सम्पूर्ण शङ्खोंके शब्दोंसे मिलकर धृतराष्ट्रके पुत्र, सम्बन्धी और सैनिकोंके हृदयको विदीर्ण कर दिया ॥ १९ ॥

अनन्तो नाशरहितो विजयो यस्मात्तमनन्तविजयं नाम शङ्खं दध्मौ । सुघोषमणिपुष्पकनामानौ शङ्खौ नकुलः सहदेवश्च दध्मतुरिति शेषः ॥ १६ ॥

किंच **काश्य इति** । परमो महानिष्वासो यस्य स काश्यः काशीपतिश्च । 'शिखण्डं श्मश्रुशून्यता' इत्यभिधानात्तदस्याऽस्तीति शिखण्डी पाञ्चालः । महारथो धृष्टद्युम्नः धृष्टं परधर्षकं द्युम्नं बलं यस्य स धृष्टद्युम्नः, सेनापतिः विराटश्च न पराजितो रिपुभिरपराजितः सत्यकस्याऽपत्यं पुमान् सात्यकिः ॥ १७ ॥

द्रुपद इति । द्रुपदो द्रौपदेयाश्च महाबाहुराजानुबाहुः सौभद्रश्च निरुक्ता योधाः सर्वशः पृथक्पृथक् शङ्खान् दध्मुः प्रत्येकं पूरयामासुरित्यर्थः ॥ १८ ॥

किंच स इति । पाञ्चजन्यदेवदत्तपौण्ड्रादिमहाशङ्खेभ्यः समुत्पन्नो यो घोषो

अनन्त यानी नाशरहित विजय होती है, उस अनन्तविजय नामके शङ्खको बजाया । सुघोषक और मणिपुष्पक नामके शङ्ख नकुल और सहदेवने बजाये ॥ १६ ॥

'काश्य०' इत्यादि । जिसका परम यानी महान् धनुष है, वह काश्य अर्थात् काशीपति, मूँछोंका अभाव (मूँछरहितत्व) शिखण्ड है, शिखण्डवाला अर्थात् मूँछरहित शिखण्डी—पांचालका राजा । महारथ धृष्टद्युम्न, दूसरेका दमन करनेवालेका नाम धृष्ट है, द्युम्न बलका नाम है, जिसमें दूसरोंको दमन करनेवाला बल है, वह धृष्टद्युम्न, सेनापति विराट, जो शत्रुओंसे नहीं हारे (अपराजित) सत्यकका पुत्र सात्यकि ॥ १७ ॥

'द्रुपदः' इत्यादि । द्रुपद, द्रौपदीके पुत्र, महाबाहु यानी घुटनों तक पहुँचनेवाली भुजाओंवाला सुभद्राका पुत्र । उपर्युक्त योद्धाओंने भिन्न भिन्न शङ्ख बजाये अर्थात् प्रत्येकने अपना अपना शङ्ख फूँका ॥ १८ ॥

'स' इत्यादि । पाञ्चजन्य, देवदत्त, पौण्ड्र आदि शङ्खोंसे जो शब्द (महाध्वनि)

अथ व्यवस्थितान् दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥ २० ॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।

राजन्, शस्त्रास्त्र चलनेके समय युद्धके लिए इकट्ठे हुए धृतराष्ट्रके पक्षके सैनिकोंको देखकर अर्जुनने स्वयं भी धनुष उठाकर भगवान्‌से यह वाक्य कहा ।

महाध्वनिः स सर्वशङ्खनिनादैस्तुमुलः संकीर्णो भूत्वा नभ आकाशं चकाराद्दिशः सर्वाः पृथिवीं चकारात्पर्वतबिलानि व्यनुनादयन् स्वस्वनादानुरूपं प्रतिध्वनयन् तद्ध्वनिना संभूय स्वयं धार्तराष्ट्राणाम् । अत्र संबन्धार्थोऽण्प्रत्ययः । धृतराष्ट्रस्य पुत्राः पौत्राः सैनिकाश्च सर्वे धार्तराष्ट्राः तेषां हृदयानि हृदयस्थकालखण्डान् व्यदारयद् विदलितवान् । तेन नादेन भग्नहृदया जाता इत्यर्थः ॥ १९ ॥

'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते', 'सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः', 'अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति', 'श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्', 'पराचः कामाननुयन्ति बालाः' इति, 'कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोकः' इति, 'अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते । ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाᳬ रताः ॥' इत्यादिश्रुतिभिः, 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च', 'मोघाशा मोघकर्माणः', 'क्षीणे पुण्ये

उत्पन्न हुआ, सब शंखोंके बजनेसे तुमुल यानी संकीर्ण होकर नभमें यानी आकाशमें, सब दिशाओंमें, पृथिवीमें और पर्वतोंके बिलोंमें गूँजते हुए यानी अपने अपने नादके अनुसार प्रतिध्वनि करते हुए, उस ध्वनिसे मिल कर, उस शब्दने धार्तराष्ट्रोंके हृदयको यानी हृदयमें स्थित कालखंडोंको (कलेजेको अर्थात् हृदयकी दक्षिण ओर स्थित काले मांसपिण्डको) विदीर्ण कर दिया यानी फाड़ दिया । उस नादसे वे भग्नहृदय हो गये, यह अर्थ है । यहां 'धार्तराष्ट्राणाम्' इसमें सम्बन्धार्थक अण् प्रत्यय है यानी धृतराष्ट्रके सम्बन्धी (पुत्र, पौत्र, सैनिक सब) धार्तराष्ट्र हैं ॥१९॥

'इसलिए जैसे यहां कर्मसे उपार्जन किया हुआ लोक क्षीण हो जाता है', 'अनाजके समान मनुष्य पकता—मरता है और फिर उत्पन्न होता है', 'जिन [1]अठारहोंका आश्रय करके रहनेवाला यज्ञरूप कर्म अवर—ज्ञान रहित है, जो मूढ इसको श्रेय मानकर प्रसन्न होते हैं, वे फिर भी जरा और मरणको प्राप्त होते हैं', 'हे अन्तक (यम) ! जो ये मनुष्यके कलतक रहनेवाले पदार्थ हैं', 'बालक बाहरके भोगोंके पीछे जाते हैं', 'कर्मसे पितृलोक विद्यासे देवलोक' 'जो कर्मकी उपासना करते हैं, वे अंधतममें प्रवेश करते हैं और जो कर्म छोड़कर विद्यामें (देवताज्ञानमें) ही रत हैं, वे उससे भी अधिक तममें प्रवेश करते हैं' इत्यादि श्रुतियोंसे, 'जन्मे हुएकी निश्चय मृत्यु होती है और मरे हुएका निश्चय जन्म होता है', 'निष्फल आशावाले, निष्फल कर्मवाले', 'पुण्यके क्षीण होनेपर मर्त्यलोकमें प्रवेश करते

---

१ यज्ञ करनेवाले १६ ऋत्विक्, यजमान और उसकी पत्नी ये सब मिलकर १८ होते हैं ।

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥ २१ ॥
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥ २२ ॥

अर्जुनने कहा—

हे भगवन्, जहांपरसे मैं इस संग्राममें किनके साथ मुझे युद्ध करना चाहिये, यह जाननेके लिए युद्धकी इच्छावाले अतएव युद्धके लिए तत्पर इन सब योधाओंका निरीक्षण करूं, वहांपर ले जाकर दोनों सेनाओंके बीचमें मेरा रथ खड़ा कीजिये ॥२०—२२॥

मर्त्यलोकं विशन्ति' इत्यादिस्मृतिभिश्च जन्यत्वदृश्यत्वादियुक्तिभिश्चाऽपि पण्डितस्य मोक्षैककामिनः स्वेन यष्टव्यदेवानां तदुद्देशेन क्रियमाणकर्मणां तत्फलानां च विचारः सम्यक्कर्तव्य इति सूचयितुमर्जुनस्य परमार्थिनः कर्तव्यं योद्धव्यं योद्धृणां युद्धक्रियायास्तत्फलस्य च विचारं तदुदितवैराग्यं च प्रतिपादयितुमिदं प्रकरणमारभ्यते—**अथेति** ।

अथोभयसेनयोः युद्धसन्नाहसमनन्तरं पाण्डोरपत्यं पाण्डवः कपिध्वजोऽर्जुनः व्यवस्थितान् युद्धाय समुपस्थितान् धार्तराष्ट्रान् दृष्ट्वा स्वयमपि धनुरुद्यम्य शस्त्राणां संपाते प्रयोगकाले प्राप्ते ॥ २० ॥

हृषीकेशमिति । तदा हृषीकेशमिदं वक्ष्यमाणं वाक्यमाह—**सेनयोरिति** । योद्धुकामान् युयुत्सून् । अत एवाऽवस्थितान् सेनां सन्नह्य युद्धायोद्युक्तानेतान् योधान्सर्वान् यावत् यावति देशे स्थित्वाऽहं निरीक्षे सम्यक्पश्यामि हे अच्युत ! तावन्तं देशं मे

हैं' इत्यादि स्मृतियोंसे और जन्यत्व, दृश्यत्व आदि युक्तियोंसे[1] भी केवल मोक्षकी ही कामनावाले पण्डितको अपने यष्टव्य देवताओंका, उनके उद्देश्यसे किये गये कर्मोंका और उनके फलोंका भले प्रकार विचार करना चाहिये, ऐसा सूचित करनेके लिए परमार्थी अर्जुनके कर्तव्य कर्मका, योद्धाओंके योद्धव्य कर्मका, युद्धकी क्रियाका, उसके फलके विचारका और उस विचारसे उत्पन्न हुए वैराग्यका प्रतिपादन करनेके लिए इस प्रकरणका आरम्भ किया जाता है—**'अथ'** इत्यादिसे ।

तदनन्तर यानी दोनों सेनाओंकी युद्धकी तैयारीके अनन्तर पाण्डव (पाण्डुका पुत्र) कपिध्वज[2] (अर्जुन) व्यवस्थित—युद्धके लिए उपस्थित हुए—धृतराष्ट्रके पुत्र आदिको देखकर स्वयं भी धनुषको उठाकर शस्त्रोंका संपात होनेपर यानी शस्त्रोंके प्रयोगकालके आनेपर ॥ २० ॥

'हृषीकेशम्' इत्यादि । तब हृषीकेशसे यह वक्ष्यमाण वाक्य बोला—**सेनयोरिति** । युद्धकी इच्छावाले इसीलिए अवस्थित यानी सेनाको तैयार करके युद्धके लिए खड़े हुए इन सब योद्धाओंका जितने देशमें स्थित होकर मैं निरीक्षण करूँ, यानी भली भाँति देखूँ, हे अच्युत !

---

१ जो जन्य और दृश्य है, वह नश्वर है इत्यादि युक्तियोंसे । २ जिसकी ध्वजामें कपि यानी हनुमान् हैं ।

योत्स्यमानानवेक्ष्येऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥ २३ ॥

संजय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥ २४ ॥

जैसे मैं युद्धमें दुर्बुद्धि दुर्योधनका हित करनेकी इच्छावाले ये सब जो यहां इकट्ठे हुए हैं, उन योद्धाओंको देखूँ वैसे मेरे रथको खड़ा कीजिये ॥ २३ ॥

सञ्जयने कहा—

हे भारत (धृतराष्ट्र) ! जब अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णसे यों कहा तब भगवान्ने दोनों सेनाओंके बीचमें उत्तम रथको खड़ाकर भीष्म,

---

रथं नीत्वा सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापय । किमिह सेनां द्रष्टुमागतोऽसि वा त्वमित्यत आह—**कैरिति** । अस्मिन् रणसमुद्यमे युद्धव्यापारे कैः सह मया योद्धव्यं युद्धं कर्तव्यं भवतीति द्वयोरर्थः ॥ २१, २२ ॥

योत्स्यमानानिति । दुर्बुद्धेरधर्मनिष्ठस्य धार्तराष्ट्रस्य धृतराष्ट्रापत्यस्य दुर्योधनस्य युद्धे प्रियचिकीर्षवः युद्धेनेष्टमर्थं संपादयितुकामाः सन्तोऽत्र कुरुक्षेत्रे ये वा एते समागतास्तान्योत्स्यमानान्सर्वानहमवेक्ष्ये । नाम रूपं कुलं च संबन्धं यथा ज्ञास्ये तथा रथं स्थापयेत्यर्थः ॥ २३ ॥

एवमिति । गुडाकेशः 'अङ्गुष्ठतर्जनीयोगो गुडानाम्नी तु मुद्रिका' इति वचनादङ्गुष्ठतर्जनीयोगो गुडेत्युच्यते । तत्परिमाणा अग्रकेशा यस्य स गुडाकेशः ।

उस देशमें मेरे रथको ले जाकर दोनों सेनाओंके मध्यमें खड़ा कीजिये। क्या यहां तुम सेनाको देखनेके लिए आये हो, ऐसा प्रश्न होनेपर कहते हैं—**कैरिति** । इस रणके समुद्यममें यानी युद्धव्यापारमें किसके साथ मुझे युद्ध करना चाहिये (यह जानना है), यह दोनों श्लोकोंका अर्थ है ॥ २१, २२ ॥

'योत्स्यमानान्' इत्यादि । दुर्बुद्धि (अधर्मनिष्ठ) धार्तराष्ट्रका यानी धृतराष्ट्रके पुत्र दुर्योधनका युद्धमें प्रिय करनेकी इच्छासे यानी युद्ध द्वारा इष्टतम अर्थका (अभीष्ट विजयका) संपादन करनेके लिए इस कुरुक्षेत्रमें जो आये हुए हैं, इन सब युद्धकी इच्छा करनेवालोंको मैं देखूँ। यानी उनके नाम, रूप, कुल और संबन्धको जिस प्रकार जानूँ, उस प्रकार रथको खड़ा कीजिये, यह अर्थ है ॥ २३ ॥

'एवम्' इत्यादि । गुडाकेश, 'अँगूठे और तर्जनीका योग गुडा नामकी मुद्रा है' इस वचनसे अँगूठे और तर्जनीका योग यानी मेल गुडा कहलाता है । जिसके आगेके केश गुडाके बराबर

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥ २५ ॥

द्रोण आदि सम्पूर्ण राजाओंके सन्मुख कहा—हे अर्जुन, इकट्ठे हुए इन कौरवोंको देखो ॥ २४, २५ ॥

यद्वा 'गुडो गोलेक्षुपाकयोः' इत्यभिधानाद्गुडो गोलः ब्रह्माण्डगोलस्तं तप्तायःपिण्डमग्निरिवाऽन्तर्बहिश्चाऽकति व्याप्नोतीति गुडाकः शिवः । 'विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा शिवम्' इति श्रुतेः । यद्वा गुडवन्मधुरः सन् भक्तानकति प्राप्नोतीति गुडाकः शिवः 'स्वादुष्किलायं मधुमाँउतायम्' इति श्रुतेः । स शिव ईशो यस्य स गुडाकेशोऽर्जुनस्तेन, हृषीकेशः हृषीकाणामिन्द्रियाणामीशो हृषीकेशः श्रीकृष्णएवमुक्तः सन् रथोत्तमं रथिकसारथिभ्यामश्वविशेषैर्ध्वजप्रभावेण चोत्कृष्टत्वेन तद्रथस्योत्तमत्वम् । तं रथोत्तमं सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा ॥ २४ ॥

भीष्मेति । भीष्मद्रोणप्रमुखतः । षष्ठीबहुवचनान्तस्तसिः । भीष्मद्रोणौ प्रमुखावादी येषां ते भीष्मद्रोणप्रमुखाः महीक्षितिः । क्षत्रिन्यायेनात्र भीष्मस्यैव महीक्षित्त्वम् । तेषां भीष्मद्रोणप्रमुखानां महीक्षितां भूभुजां सर्वेषां शृण्वतामिति शेषः । हे पार्थ, समवेतान्समवायं प्राप्तानेतान्कुरून्पश्येत्युवाच ॥ २५ ॥

हों, वह गुडाकेश है । अथवा 'गुड गोल और इक्षुपाक (गुड़) का वाचक है' इस कोषसे गुड गोल यानी ब्रह्माण्डगोल है, उस ब्रह्माण्डगोलको जो, अग्नि जैसे लोहेके पिण्डको व्याप्त करती है, वैसे ही बाहर और भीतरसे अकति यानी व्याप्त करते हैं, वे गुडाक शिव हैं, जैसे कि श्रुति कहती है—'इस विश्वके लपेटनेवाले एक शिवको जानकर' अथवा जो गुडके समान मधुर होकर भक्तोंको प्राप्त होते हैं, वे गुडाक शिव हैं । जैसे कि श्रुति है—'यह निश्चय स्वादु है और यह मधुर है' वे शिव जिसके ईश हों, वह गुडाकेश—अर्जुन—है । उस गुडाकेशने—हृषीकेश हृषीकेशोंका यानी इन्द्रियोंका ईश—श्रीकृष्णसे जब इस प्रकार कहा, तब श्रीकृष्ण उस उत्तम रथको, यानी रथी, सारथी, घोड़े और ध्वजाके प्रभावसे और उत्कृष्टता होनेके कारण जो रथ उत्तम है, उस उत्तम रथको दोनों सेनाओंके मध्यमें स्थापित करके ॥ २४ ॥

'भीष्म०' इत्यादि । भीष्मद्रोणप्रमुखतः यह षष्ठीबहुवचनान्त तसि है । भीष्म और द्रोण दोनों जिनमें प्रमुख हैं, यानी आदि हैं वे भीष्मद्रोण आदि राजा । [1]छत्रिन्यायसे यहां भीष्म, द्रोण भी राजा हैं, उन भीष्म द्रोण आदि महीक्षित यानी भूभुज सब राजाओंके सुनते हुए, यह शेष है, हे पार्थ ! समवेत हुए यानी इकट्ठा हुए कौरवोंको देखो, ऐसा कहा ॥ २५ ॥

१—बहुतसे छातावालोंमें बिना छातेवाले भी छत्री कहे जाते हैं । उक्त न्यायसे बहुतसे राजाओंमें भीष्म और द्रोण भी, जो राजा नहीं हैं, राजा कहे गये हैं ।

तत्राऽपश्यत् स्थितान् पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥ २६ ॥
श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥ २७ ॥
कृपया परयाऽऽविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

अर्जुनने दोनों ही सेनाओंमें पितृव्य (चाचा), पितामह, आचार्य, मामा, भाई, पुत्र, पौत्र, समवयस्क, श्वसुर, मित्र सभी आत्मीयोंको ही देखा ।

उन युद्धके लिए तत्पर सब बन्धुबान्धवोंको देखकर अर्जुनको उनपर बड़ी दया आई, खिन्न होकर उसने भगवान्से यह कहा ।

मुमुक्षोर्विदुषो यष्टव्यदेवतापरिशीलनमेव कर्तव्यमिति सूचयितुमर्जुनस्य सैनिकपरिशीलनप्रकारमाह द्वाभ्याम्—**तत्रेति** ।

अथ भगवदुक्तेरनन्तरं पार्थः पृथा कुन्ती तदपत्यं पार्थोऽर्जुनो यत्र रथः स्थापितस्तत्र स्थित्वा । सेनयोरुभयोरपि स्थितान् पितॄन् पितृव्यान् सखीन् सवयस्काः सखायस्तान् सुहृदो मित्राणि चैवं सर्वानपि स्वीयानेवाऽपश्यत् न तु तदतिरिक्तानित्यर्थः ।

एवं तान् दृष्टवतोऽर्जुनस्य तद्दर्शनकार्यमाह—**तानिति** ।

स दर्शनकर्मणि प्रवृत्तः कौन्तेयः कुन्त्या अपत्यं कौन्तेयोऽर्जुनः बन्धून् बन्धुत्वधर्मविशिष्टानेव तानवस्थितान् युद्धसन्नद्धान् सर्वान् समीक्ष्य । ग्रीवामुन्नम्य सम्यग्दृष्ट्वेति द्वयोरर्थः ॥ २६ ॥ २७ ॥

कृपयेति । तेषु परया कृपयाऽऽविष्टो भूत्वा विषीदन्निदं वक्ष्यमाणलक्षणं

मुमुक्षु विद्वान्का यष्टव्य देवताका परिशीलन ही कर्त्तव्य है, यह सूचित करनेके लिए अर्जुनका सैनिकपरिशीलन-प्रकार दो श्लोकोंसे कहते हैं—**'तत्र'** इत्यादिसे ।

अथ यानी भगवान्के कथनके बाद पार्थ यानी पृथाके—कुन्तीके—पुत्र अर्जुनने जहां रथ खड़ा किया गया था, वहां स्थित होकर दोनों सेनाओंमें खड़े हुए पितॄन् यानी पितृव्य, सखीन् यानी सवयस्कों यानी सखाओं, श्वशुर, सुहृद् यानी मित्र—इन सब आत्मीयोंको ही देखा, उनके सिवा किसी अन्यको नहीं देखा, ऐसा अर्थ है ।

इस प्रकार उनको देख चुके अर्जुनका उनके देखनेका फल कहता है—**'तान्'** इत्यादिसे ।

दर्शनरूप कर्ममें प्रवृत्त हुआ वह कुन्तीका पुत्र—कौन्तेय—अर्जुन बन्धुओंको यानी बन्धुत्वधर्मसे युक्त उन युद्धके लिए संनद्ध यानी तैयार हुए सबको देखकर गर्दनको उठाकर अच्छी तरहसे सबको देखकर, यह दोनोंका अर्थ है ॥ २६, २७ ॥

'कृपया' इत्यादि । उनपर बहुत दयायुक्त होकर विषाद करता हुआ यह वक्ष्यमाण—जो

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥ २८ ॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥ २९ ॥

अर्जुनने कहा—

हे कृष्ण, युद्धकी इच्छासे उपस्थित इन पुत्र, पौत्र आदि आत्मीयोंको देखकर मेरा शरीर शिथिल हो रहा है, मुँह सूख रहा है, शरीरमें कम्प हो रहा है, भय और दुःखसे रोंगटे खड़े हो रहे हैं ॥ २६–२९ ॥

वचनमब्रवीत् । 'तस्माच्च देवा बहुधा संप्रसूताः' इति, 'मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च' इत्यादिश्रुतिभ्यो देवतानां जनिश्रवणाज्जनिमतां तेषामनित्यत्वमागन्तुकैश्वर्यत्वं संसारित्वं फलदानेन बन्धकत्वं च विज्ञाय मुमुक्षुणा नित्यसुखार्थिना तद्यजने किमनेन दुःखान्तेन कर्मणेति परितापः कर्तव्य इति सूचयितुमर्जुनस्य स्वकर्तृक-बन्धुजनवधनिमित्तकपरितापप्रकारमाहाऽऽध्यायसमाप्तेः—दृष्ट्वेति ।

युयुत्सुं सेनां सन्नह्य युयुत्सया समुपस्थितमिमं पुरःस्थं स्वजनं पितृपुत्रादिकं दृष्ट्वा मदीया इति ज्ञात्वा ॥ २८ ॥

सीदन्तीति । हन्तुं मम गात्राणि करचरणादयः सीदन्ति शिथिलायन्ते । मुखं च परिशुष्यति शुष्कीभवति । शरीरे वेपथुः कम्पो रोमहर्षो भयसन्तापाभ्यां रोमोद्गमश्च जायते ॥ २९ ॥

आगे कहे जायँगे—वचन बोला । 'और उससे बहुतसे देवता उत्पन्न हुए', 'मुखसे इन्द्र और अग्नि' इत्यादि श्रुतियोंसे देवताओंका जन्म सुननेमें आता है, जन्मनेवाले अनित्य होते हैं, उनका ऐश्वर्य आगन्तुक यानी उत्पन्न होनेवाला होता है, वे संसारी होते हैं, फल देकर बांधते हैं, ऐसा जानकर नित्य सुखकी इच्छा करनेवाले मुमुक्षुको उनके यजनरूप दुःख देनेवाले कर्मसे क्या लाभ है ? ऐसा परिताप करना चाहिये, यह सूचन करनेके लिए, अपने हाथसे बन्धुजनोंका वध होनेके कारण अर्जुनके परितापका प्रकार अध्यायकी समाप्तितक कहता है—'दृष्ट्वा' इत्यादिसे ।

युयुत्सु यानी सेनाको तैयार करके युद्धकी इच्छासे सामने उपस्थित आत्मीय जन पिता, पुत्र आदिको देखकर—'ये मेरे हैं', ऐसा जानकर ॥ २८ ॥

'सीदन्ति' इत्यादि । मेरे हाथ, पैर आदि अंग ढीले पड़े जाते हैं और मुख सूखा जाता है, शरीरमें वेपथु यानी कम्प होता है और रोमहर्ष होता है यानी भय और संतापसे रोम खड़े होते हैं ॥ २९ ॥

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात् त्वक् चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥ ३० ॥
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥ ३१ ॥
न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥ ३२ ॥

मेरे हाथसे गाण्डीव धनुष गिरा जा रहा है, मेरे शरीरकी त्वचा जल रही है, मेरा मन मेरे वशमें नहीं है, इसलिए मैं रथमें बैठनेके लिए भी समर्थ नहीं हूँ ॥३०॥

हे केशव, मैं विपरीत (अनर्थसूचक) निमित्त देखता हूँ, युद्धमें आत्मीयोंको मारकर कोई कल्याण नहीं देखता ॥ ३१ ॥

हे कृष्ण, मैं विजय नहीं चाहता, राज्य अथवा विषयसुख कुछ भी नहीं चाहता । हे गोविन्द, आत्मीयोंकी हिंसासे प्राप्त होनेवाले राज्यसे हमें क्या प्रयोजन? राज्यमूलक भोग और जीवनसे भी क्या प्रयोजन है ? ॥ ३२ ॥

गाण्डीवमिति । हस्ताद् गाण्डीवं धनुः स्रंसते गलति । त्वक् चर्म च परितापेन दह्यते । मे मनोऽपि च भ्रमति परवशं गच्छति । अतएव रथे स्थातुं च न शक्नोमि ॥ ३० ॥

निमित्तानीति । युद्धप्रवृत्तेरनर्थत्वसूचकानि विपरीतान्येव निमित्तानि च पश्यामि न त्वनुकूलानि । हे केशव, इदानीमेवमस्तु, तथापि पश्चात्तु श्रेयो भविष्यतीत्यत आह—**न चेति** । इमं पितृपितामहादिकं स्वजनमाहवे युद्धे हत्वा अनु पश्चाद्युद्धानन्तरभावि न किमपि श्रेयश्च पश्यामि । एतेषां वधेन न कमपि पुरुषार्थमेष्यन्तं विजान इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

अस्त्येवैतेषां वधेन जयादिलक्षणं श्रेय इत्यत आह—**न काङ्क्ष इति** ।

'गाण्डीवम्' इत्यादि । हाथसे गांडीव धनुष गिर रहा है, त्वचा यानी खाल संतापसे जलती है । मेरा मन भी भ्रमता है यानी परवश हुआ जाता है और इसीलिये मैं रथपर बैठनेके लिए भी समर्थ नहीं हूँ ॥ ३० ॥

'निमित्तानि' इत्यादि । युद्धकी प्रवृत्तिके अनर्थत्वको सूचित करनेवाले विपरीत ही निमित्त मैं देखता हूँ, अनुकूल निमित्त नहीं देखता । हे केशव ! , इस समय भले ही ऐसा हो, आगे तो श्रेय होगा, इसपर कहते हैं—**'न च'** । इन पिता, पितामह आदि स्वजनोंको युद्धमें मारकर पीछे यानी युद्धके पीछे होनेवाला कोई भी श्रेय मैं नहीं देखता । इन स्वजनोंके मारनेसे कोई भी पुरुषार्थ प्राप्त हो, ऐसा मैं नहीं जानता, ऐसा अर्थ है ॥ ३१ ॥

उनके वधसे जय आदिरूप श्रेय है ही, इसपर कहते हैं—**'न काङ्क्षे'** इत्यादिसे ।

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥ ३३ ॥

जिन (पिता, पुत्र आदि) के लिए हम राज्य, भोग और सुख चाहते हैं वे ही ये सब अपने प्राण और धनका त्याग कर युद्धके लिए खड़े हैं ॥ ३३ ॥

स्वजनहिंसया प्राप्तो यो जयस्तमहं न काङ्क्षे । तेन प्राप्तं राज्यं च तन्मूलकानि विषयसुखान्यपि नाऽहं काङ्क्ष इत्यर्थः । एतेनाऽधर्मप्राप्तमैहिकसुखमस्माकं माऽस्त्वित्युक्तं भवति । एतैर्यथा राज्याद्यपेक्षया युध्यते तथा भवद्भिरपि युध्यतामित्यत आह— **किमिति** । धर्माधर्मविवेकवतां नोऽस्माकं स्वजनहिंसया प्राप्तेन राज्येन किं फलम् ? तन्मूलकैर्भोगैर्वा किम् ? तदर्थकेन जीवितेन वा किम् ? अधर्ममूलकं दोषावहमेतत्सर्वं सतां नाऽऽशास्यमित्यर्थः ॥ ३२ ॥

'अप्यकार्यशतं कृत्वा भर्तव्या मनुरब्रवीत्' इतिवचनात् पित्रादिभरणार्थं कृतोऽप्यधर्मो न दोषायेत्यत आह—**येषामिति** ।

अकार्यशतेनाऽपि पोषणीयानां येषां पितृपुत्रादीनामर्थे निमित्ते राज्यं भोगाः सुखानि च काङ्क्षितं नोऽस्माभिः काङ्क्षितानि भवन्ति । नः इति तृतीयार्थे षष्ठी । त एव पित्रादय इमे प्राणान् धनानि च त्यक्त्वा युद्धे युद्धनिमित्तमवस्थिताः । जीविताशां त्यक्त्वा युद्धे मर्तुमागत्य तिष्ठन्तीत्यर्थः ॥ ३३ ॥

स्वजनोंकी हिंसासे जो विजय प्राप्त हो, उसे मैं नहीं चाहता । इस जयसे प्राप्त हुए राज्यको और राज्यसे होनेवाले विषयसुखोंको भी मैं नहीं चाहता, यह अर्थ है । भाव यह कि अधर्मसे प्राप्त हुआ ऐहिक सुख हमको मत हो । जैसे ये राज्यके लिए युद्ध करते हैं, वैसे ही तुमको भी युद्ध करना चाहिये, इसपर कहते हैं—**'किम्'** इत्यादिसे । धर्माधर्मके विवेकवाले हमको अपने जनोंकी (आत्मीयोंकी) हिंसासे प्राप्त हुए राज्यसे क्या फल है ? अथवा राज्यसे प्राप्त होनेवाले भोगोंसे क्या लाभ है ? अथवा भोगोंके लिए जीनेसे क्या लाभ है ? अधर्ममूलक दोषयुक्त यह सब सत्पुरुषोंके चाहने योग्य नहीं है ॥ ३२ ॥

'सौ अकार्य करके भी कुटुम्बका भरणपोषण करना चाहिये, ऐसा मनुने कहा है' इस वचनसे पिता आदिके लिए किया हुआ अधर्म भी दोषरूप नहीं होता, इसपर कहते हैं—**'येषाम्'** इत्यादिसे ।

सैकड़ो पाप करके भी जिन अवश्य पोषणीय पिता, पुत्र आदिके लिए राज्य, भोग और सुखकी चाह होती है । (यहां न षष्ठी विभक्ति तृतीया विभक्तिके अर्थमें है) वे ही ये पिता आदि प्राणोंको और धन-सम्पत्तिको छोड़ कर युद्धमें यानी युद्धके निमित्त खड़े हैं, जीनेकी आशा छोड़कर युद्धमें मरनेके लिए आकर खड़े हैं ॥३३॥

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबन्धिनस्तथा ॥ ३४ ॥
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥ ३५ ॥

इनमें कोई हमारे आचार्य, कोई पिता (चाचा), कोई पितामह, कोई मामा, कोई श्वसुर, कोई पोते, कोई साले और कोई सन्बन्धी हैं ॥ ३४ ॥

हे मधुसूदन, ये भले ही मुझे मार डालें, पर मैं स्वर्गके राज्यके लिए भी इन्हें नहीं मारना चाहता, भूमिके राज्यके लिए तो कहना ही क्या है ? ॥ ३५ ॥

के ते इत्याकाङ्क्षायामाह—**आचार्या इति** ।

अत्राऽस्माकं केचिदाचार्याः केचित्पितरः केचित्पुत्रास्तथैव केचित्पितामहाः, चकारात्केचित् मातामहाः केचिन्मातुलाः केचिच्छ्वशुराः केचित्पौत्राः केचित् श्यालाः केचित् संबन्धिनः । एवं सर्वे स्वजना एव नाऽन्ये इत्यर्थः ॥ ३४ ॥

स्वजना एव सर्वे ते भवन्तु । त्वमिदानीं किं कर्तुमिच्छसीत्यत आह—**एतानिति** ।

खड्गैर्मां घ्नतोऽपि हिंसतोऽप्येतानाचार्यादीन् हन्तुं नेच्छामि । त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोरपि निमित्ताय वा । एतेषां हननेनेन्द्रत्वं वाऽप्यागच्छतु तथाऽप्येतान् हन्तुं नेच्छामि, किं नु महीकृते किं वक्तव्यं राज्यार्थमेतान् हन्तुं नेच्छामीति । अनेन स्वर्गसुखमपि माऽस्त्वित्युक्तं भवति ॥ ३५ ॥

वे कौन हैं ? ऐसी आशङ्का होनेपर कहते हैं—'**आचार्या**' इत्यादिसे ।

इनमें कोई हमारे आचार्य हैं, कोई पिता (चाचा) हैं, कोई पुत्र हैं, कोई पितामह हैं, चकारसे कोई मातामह हैं, कोई मातुल—मामा—हैं, कोई श्वशुर हैं, कोई पौत्र हैं, कोई साले हैं, कोई संबन्धी हैं, इस प्रकार सब स्वजन ही हैं, अन्य नहीं हैं ॥ ३४ ॥

वे सब स्वजन ही हों, तुम अब क्या करना चाहते हो, इसपर कहते हैं—'**एतान्**' इत्यादिसे ।

खड्गोंसे ये मुझे मारें यानी मेरी हिंसा करें, तो भी मैं इन आचार्य आदिको मारना नहीं चाहता । त्रिलोकीके राज्यके लिए भी । इनके मारनेसे मुझे इन्द्रपद भी मिल जाय, तो भी इनको मैं मारना नहीं चाहता, पृथिवीके राज्यके लिए मैं यदि इन्हें मारना न चाहूँ, तो इसमें कहना ही क्या है ? इस कथनसे यह बताया कि स्वर्गका सुख भी मत हो ॥ ३५ ॥

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाऽऽश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥ ३६ ॥

हे जनार्दन, दुर्योधन आदि अपने बन्धु-बान्धवोंको मारनेसे हमें क्या सुख होगा ? इन आततायियोंको मारनेसे हमें पाप ही लगेगा ॥ ३६ ॥

एतैर्युष्माकं लाक्षागृहदाहादिभिर्बह्वपकृतम्, अपकारिणां हननं संतोषाय धर्माय च भवतीत्यत आह—**निहत्येति** ।

धार्तराष्ट्रान् दुर्योधनादीनस्मद्भ्रातॄन् सबान्धवान् हत्वा तद्धननेनाऽस्माकं का प्रीतिः स्यात् । अपराधिनः पुत्रस्य शिशोर्हननेन पितुः प्रीतिश्चेदस्माकमेतेषां वधेन प्रीतिः संभवेत् । यथा पुत्रहननेन पितुः शिशुहत्या तथाऽस्माकमपि भ्रातृहत्या स्यात् । ननु

'अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः ।
क्षेत्रदारापहर्ता च षडेते ह्याततायिनः ॥
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाऽविचारयन् ।
नाऽऽततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ॥'

इति वचनादुक्तसर्वदोषविशिष्टानामेतेषां वधे न कश्चिद्दोष इत्यत आह—**पापमेवेति** ।

आतताया उक्ताः षड्विधा दोषा येषां सन्ति ते आततायिनस्तानुक्तदोषवतोऽप्येतान् हत्वा तद्धननेन कर्मणाऽस्मान् पापमेवाऽऽश्रयेत् । अत्राऽयोगव्यवच्छेद एवकारार्थः । यद्यप्यस्त्याततायिवधो न दोषाय तथापि 'स एव पापिष्ठ-

---

इन्होंने तुम्हारा लाक्षागृहदाह आदिसे बहुत अपकार किया है, अपकारियोंको मारना संतोषके लिए और धर्मके लिए भी होता है, इसपर कहते हैं—**'निहत्य'** इत्यादिसे ।

धृतराष्ट्रके पुत्र दुर्योधन आदि अपने भाइयोंको बांधवों सहित मारकर अर्थात् उनके मारनेसे हमारी क्या प्रीति होगी ? यदि अपराधी बालक पुत्रको मारनेसे पिताको प्रीति होती हो, तो हमें भी इन्हें मारनेसे प्रीति हो सकेगी ।

शङ्का—'अग्नि देनेवाला, विष देनेवाला, शस्त्रपाणि—हाथमें शस्त्र लिया हुआ—, धनहरण करनेवाला, क्षेत्र और स्त्रीका अपहरण करनेवाला—ये छः आततायी हैं । आते हुए आततायीको बिना विचारे ही मार दे, आततायीको मारनेसे मारनेवालेको कोई दोष नहीं होता ॥' इस वचनसे कथित सब दोषोंसे युक्त इनका वध करनेमें कोई दोष नहीं है ?

समाधान—**'पापमेव'** इत्यादि । आतताय—कहे हुए छः दोष—जिनमें होते हैं, वे आततायी हैं, कहे हुए दोषवाले इनको मारकर अर्थात् इनके मारणरूप कर्मसे हमको पाप ही लगेगा । यहां एवकारका अर्थ अयोगव्यवच्छेद है यानी अयुक्तकी निवृत्ति एवकारका अर्थ है । यद्यपि आततायीके वधसे दोष नहीं होता, तो भी 'वह बड़ा ही पापी है, जो कुलका नाश करता है',

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥ ३७ ॥
यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ ३८ ॥

इसलिए अपने बन्धु दुर्योधन आदिको हम मारना नहीं चाहते । हे माधव, हम आत्मीयोंको मारकर कैसे सुखी होंगे ? ॥ ३७ ॥

यद्यपि ये लोग लोभसे चित्तवृत्तिके नष्ट होनेके कारण कुलनाशसे होनेवाले दोषका और विश्वासघातजन्य पापका विचार नहीं करते ॥ ३८ ॥

तमो यः कुर्यात्कुलनाशनम्' इति । 'अर्थशास्त्रात्तु बलवद्धर्मशास्त्रमिति स्थितिः' इति न्यायेन अर्थशास्त्राद्बलवत्त्वाद्धर्मशास्त्रस्य । अत आततायित्वदोषादपि कुलनाशकत्वदोषोऽनर्हः । सोऽयमस्माकं स्यादिति भावः ॥ ३६ ॥

तर्हि त्वया किं निश्चितमित्यत आह—**तस्मादिति** ।

यस्माद्धार्तराष्ट्राणां वधेन कुलनाशनदोष एव प्रसज्यते तस्मात्स्वबान्धवान् धार्तराष्ट्रान् हन्तुं वयं नार्हा न योग्याः । नेच्छाम इत्यर्थः । स्वसुखार्थमेतेषां वधः कर्तव्य एवेत्यत आह—**स्वजनमिति** । स्वजनसुखार्थं खलु पुंसः प्रवृत्तिः, वयं तु स्वजनं हत्वा कथं नु सुखिनः स्याम ॥ ३७ ॥

उभयसाधारणः खल्वयं विचारः कथं त्वयैव क्रियत इत्यत आह—**यद्यपीति** ।

एते दुर्योधनादयो लोभोपहतचेतसः स्थितद्रव्यत्यागासहिष्णुत्वं लोभस्तेन

'अर्थशास्त्रसे धर्मशास्त्र बलवान् है, ऐसा सिद्धान्त है', इस न्यायसे अर्थशास्त्रसे धर्मशास्त्र बलवान् होनेसे आततायित्वरूप दोषसे भी कुलका नाश करना रूप दोष अयोग्य (अनुचित) है । वह दोष हमको लगेगा ॥ ३६ ॥

तब तुमने क्या निश्चय किया है, इसपर कहते हैं—**'तस्मात्'** इत्यादिसे ।

चूँकि धार्तराष्ट्रोंका वध करनेसे कुलके नष्ट होनेकी नौबत आती है, इसलिए अपने बांधव धार्तराष्ट्रोंको मारना हमको उचित नहीं है, यानी उनको मैं मारना नहीं चाहता । अपने सुखके लिए उनका वध करना ही चाहिये, इसपर कहते हैं—**'स्वजनम्'** इत्यादिसे ।

स्वजनोंके सुखके लिये ही पुरुषोंकी प्रवृत्ति होती है, हम स्वजनोंको मारकर कैसे सुखी होंगे ? ॥ ३७ ॥

यह विचार तो दोनोंके लिए बराबर है, तब तुम्हीं ऐसा विचार क्यों करते हो ? इसपर वह कहते हैं—**'यद्यपि'** इत्यादिसे ।

उन दुर्योधन आदिके चित्त लोभसे मारे गये हैं । विद्यमान द्रव्यके त्यागको सह न सकना लोभ है, उस लोभसे जिनके चित्त ग्रस्त हों, वे लोभोपहतचेतसः हैं, लोभसे अपहृत चित्त

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ ३९ ॥
कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ ४० ॥

तथापि कुलनाशसे होनेवाले दोषको जान रहे हम लोगोंको इस कुलनाश-जन्य पापसे बचनेके लिए क्यों विचार नहीं करना चाहिये ? ॥ ३९ ॥

कुलधर्मके प्रवर्तक पुरुषोंके नष्ट होनेपर कुलपरम्परासे प्राप्त सदाचार सर्वथा नष्ट हो जाते हैं। कुल और जातिके आचारोंका नाश होनेपर सारे कुलमें अधर्मका साम्राज्य छा जाता है ॥ ४० ॥

हृतं ग्रस्तं चेतो येषां ते लोभोपहतचेतसः सन्तः कुलक्षयकरणेन प्राप्तं कुलक्षयकृतं दोषं, मित्रद्रोहे विश्वासघातं तज्जन्यं पातकं च यद्यपि न पश्यन्ति न विचारयन्ति ३८

कथमिति । तथापि धर्मस्वरूपज्ञैः कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्विजानद्भिः पण्डितैरस्माभिरस्मात्कुलक्षयकृतात्पापान्निवर्तितुं कथं न ज्ञेयमिति काकुः । कथं न विचारितव्यम् विचारितव्यमेव । 'किमकार्यं दुरात्मनाम्' इति न्यायेनैते राज्यलोभेन कुलक्षयं मित्रद्रोहं च कुर्वन्ति यथा तथा वयं कर्तुं न शक्नुम इत्यर्थः ॥ ३९ ॥

कुलक्षये कृते को वाऽनर्थ इत्युक्ते नैक एवाऽनर्थः किन्तु कुलतद्धर्मक्षयाद्यनर्थ-परम्परैवाऽऽपतति । तदागमप्रकारमेवाऽऽह—**कुलक्षय** इत्यादिपञ्चभिः ।

अत्र कुलपदेन कुलसंबन्धिनः पुरुषा लक्ष्यन्ते । कुलधर्मप्रवर्तकपुरुषक्षये सति

होनेसे ये कुलका क्षय करनेसे होनेवाले दोषको, मित्रोंके द्रोह—विश्वासघात और उससे होनेवाले पातकको यद्यपि ये नहीं देखते यानी नहीं विचारते ॥ ३८ ॥

'कथम्' इत्यादि । तो भी हम तो धर्मके स्वरूपको जाननेवाले हैं, कुलके क्षयसे होनेवाले दोषको भी जाननेवाले हैं, इसलिए हम पण्डितोंको अपने कुलके नाशसे होनेवाले पापको क्यों नहीं जानना चाहिये, ऐसा काकु है यानी क्यों नहीं विचार करना चाहिये ? करना ही चाहिये । 'दुरात्माओंके लिए क्या अकार्य है' इस न्यायसे ये जैसे कुलका नाश और मित्रोंका द्रोह करते हैं, वैसे हम नहीं कर सकते, यह अर्थ है ॥ ३९ ॥

कुलका नाश करनेसे क्या अनर्थ होता है, ऐसा यदि पूछे, तो एक ही अनर्थ नहीं है, किन्तु कुलका नाश, कुलके धर्मका नाश इत्यादि अनर्थपरम्परा ही प्राप्त होती है । उसी अनर्थ-परम्पराकी प्राप्तिके प्रकारको कहते हैं—**'कुलक्षये'** इत्यादि पांच श्लोकोंसे ।

यहां कुल शब्दसे कुलसंबंधी पुरुष लक्षित होते हैं । कुलका नाश होनेसे यानी कुलधर्मके प्रवर्तक पुरुषोंका नाश होनेसे सनातन यानी वंशपरम्परासे प्राप्त हुए कुलधर्म यानी कुलके

अधर्माभिभवात् कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥ ४१ ॥
संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥ ४२ ॥

हे कृष्ण, अधर्मकी अभिवृद्धि होनेसे कुलाङ्गनाएँ दूषित हो जाती हैं। कुलाङ्गनाओंके दूषित होनेपर ब्राह्मण आदि वर्णोंमें संकीर्णता आ जाती है अर्थात् वे परस्पर मिलजुल जाते हैं ॥ ४१ ॥

संकर सन्तान कुल और कुलका नाश करनेवाले दोनोंको नरकमें ले जाती है और उनके स्वर्गस्थ पितर भी तर्पण, पिण्ड आदिसे वञ्चित होकर नरकमें गिरते हैं ॥ ४२ ॥

सनातना वंशपारम्पर्येणाऽऽगताः कुलानुरूपेण जात्यनुरूपेण च कर्तव्या आचारविशेषाः प्रणश्यन्ति प्रवर्तकाभावात् प्रकर्षेण नश्यन्ति । धर्मे कुलाचारे जात्याचारे च नष्टे स्वरूपेणाऽदर्शनं गते सति कृत्स्नं कुलमधर्म उतानाचारोऽप्यभिभवति । शिक्षकाभावादभितः कुलेऽनाचार एवाऽभिवर्धते ॥ ४० ॥

अधर्माभिभवादिति । अधर्माभिभवादनाचारवृद्धेः कुलस्त्रियः प्रकर्षेण दुष्यन्ति कुवृत्त्या दूषिता भवन्ति । स्त्रीषु सतीषु दुष्टासु वर्णसंकरः आनुलोम्येन प्रातिलोम्येन च ब्राह्मणादिवर्णानां संकीर्णता जायते । व्यवस्थां त्यक्त्वा वर्णाः संकीर्णा भवन्तीत्यर्थः ॥४१॥

नैतावानेवाऽनर्थः, किन्तु विशेषोऽस्तीत्याह—**संकर इति ।**

कुलधर्मव्यवस्थापकपुरुषनाशकाः कुलघ्नास्तेषां च कुलस्य च संकरो नरकायैव

अनुसार और जातिके अनुसार कर्तव्य आचारविशेष नष्ट हो जाते हैं यानी कुलधर्मके प्रवर्तकोंके अभावसे बिलकुल नष्ट हो जाते हैं । धर्म यानी कुलाचार और जातिके आचारके नष्ट होनेपर—स्वरूपसे लुप्त होनेपर—समस्त कुल अनाचारसे अभिभूत हो जाता है अर्थात् शिक्षकोंका अभाव होनेसे कुलमें अनाचार ही बढ़ जाता है ॥ ४० ॥

'अधर्माभिभवात्' इत्यादि । कुलके अधर्म द्वारा अभिभूत होनेसे यानी अनाचार बढ़नेसे कुलकी स्त्रियां अधिक दुष्ट हो जाती हैं अर्थात् गर्हित आचरणसे दूषित हो जाती हैं । स्त्रियोंके दुष्ट होनेपर वर्णसंकरकी उत्पत्ति होती है यानी आनुलोम्यसे और प्रातिलोम्यसे ब्राह्मण आदि वर्णोंकी संकीर्णता होती है अर्थात् ब्राह्मण आदि वर्ण व्यवस्थाको छोड़कर संकीर्ण हो जाते हैं यानी मिलजुल जाते हैं ॥४१॥

इतना ही अनर्थ नहीं होता, किन्तु और भी होता है, यह कहते हैं—**'संकरो'** इत्यादिसे ।

कुलधर्मके व्यवस्थापकोंका नाश करनेवाले कुलघ्न कहलाते हैं, संकर कुलघ्नोंके और कुलके

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥ ४३ ॥
उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ ४४ ॥

वर्णसङ्कर जातिको उत्पन्न करनेवाले कुलनाशकोंके उक्त दोषोंसे सनातन जातिधर्म और कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं ॥ ४३ ॥

हे जनार्दन, जिनके कुलधर्म नष्ट हो गये हैं, ऐसे पुरुषोंका नरकमें कब तक वास रहता है, उसकी अवधि नहीं है, ऐसा हम सुनते आये हैं ॥४४॥

भवति । कुलहन्तारः सांकर्यसंपादकाः संकीर्णाः सांकर्यसमुत्पन्नाश्च सर्वे नरके पतन्तीत्यर्थः । आस्तामेषोऽनर्थ इतोऽप्यधिकतरोऽस्तीत्याह—**पतन्तीति** । हिश्चाऽर्थे प्रसिद्ध्यर्थे वा । एषां कुलघ्नानां कुलस्य च संकीर्णकानां च ये पितरः स्वर्गस्थास्तेऽपि लुप्तपिण्डोदकक्रियाः सन्तस्तेषामेव दोषेण स्वयं च नरके पतन्ति । 'संकीर्णकानां पितरश्च्यवन्ते नाऽत्र संशयः' इति प्रसिद्धेः ॥ ४२ ॥

इतोऽपि कुलघ्नानामेवाऽनर्थं प्रतिपादयति—**दोषैरिति** ।

कृत्याकृत्यविचारमुत्सृज्य कामक्रोधलोभादिभिः कुलधर्मप्रवर्तकान् ये तु घ्नन्ति ते कुलघ्नास्तेषामेव वर्णसंकरकारकैरेतैरुक्तैरेव दोषैः शाश्वताः श्रुतिमूलकाः स्वर्गापवर्गप्रदाः कुलधर्मा जातिधर्माः चकारादाश्रमधर्माश्च उत्साद्यन्ते उत्सारिता भवन्ति ॥४३॥

यतः, **उत्सन्नेति** । तत उत्सन्नाः विध्वंसिताः कुलजात्यादिधर्मा यैस्ते उत्सन्न-

---

नरकका हेतु होता है अर्थात् कुलका नाश करनेवाले, साङ्कर्य संपादन करनेवाले, संकीर्ण और साङ्कर्यसे उत्पन्न होनेवाले सब नरकमें गिरते हैं । केवल इतना ही अनर्थ नहीं होता, बल्कि इससे भी अधिकतर अनर्थ होता है, ऐसा कहते हैं—**'पतन्ति'** इत्यादिसे । यहां हिशब्द चके अर्थमें है अथवा हिका प्रसिद्धि अर्थ है । इन कुलघातकोंके और कुलको संकीर्ण करनेवालोंके जो पितर स्वर्गमें स्थित हैं, वे भी लुप्तपिडोदकक्रिया (जिनकी पिंड और तर्पणकी क्रियाएँ लुप्त हो गयी हैं) होकर उनके ही दोषसे स्वयं नरकमें पड़ते हैं, क्योंकि 'संकीर्णकोंके पितर नरकमें गिरते हैं, इसमें संशय नहीं हैं', ऐसी प्रसिद्धि (उक्ति) है ॥ ४२ ॥

इससे भी कुलनाशकोंके ही अनर्थका प्रतिपादन करते हैं—**'दोषैः'** इत्यादिसे ।

जो कृत्याकृत्यका (कर्तव्याकर्त्तव्यका) विचार छोड़कर काम, क्रोध, लोभ आदिसे कुलधर्मके प्रवर्तकोंको मारते हैं, उन कुलनाशकोंके वर्णसंकरकारक उक्त दोषोंसे ही सनातन श्रुतिमूलक स्वर्ग और मोक्ष देनेवाले कुलधर्म, जातिधर्म और आश्रमधर्म भी उत्सन्न हो जाते हैं यानी नष्ट हो जाते हैं ॥ ४३ ॥

'उत्सन्न०' इत्यादि । क्योंकि जिन्होंने कुलधर्म और जातिधर्म नष्ट कर दिये हैं, वे उत्सन्न

अहो बत महत् पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥ ४५ ॥

इसलिए राज्यके सुखके लोभसे हम लोग आत्मीयोंका विनाशरूप महापाप करनेके लिए जो प्रवृत्त हुए हैं, यह बड़ा आश्चर्य और खेदजनक घटना है ॥ ४५ ॥

कुलधर्मास्तेषामुत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां नरके रौरवादावनियतं युगमन्वन्तराद्यवधिराहित्यं यथा तथा वासः स्थितिर्भवतीत्यनुशुश्रुम । महर्षीणां वचनेभ्यः श्रुतवन्तो वयमित्यर्थः ॥ ४४ ॥

'पश्यति पुत्रं पश्यति पौत्रं', 'अपाम सोमममृता अभूम', 'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति', 'दक्षिणावन्तो अमृतं भजन्ते' इत्यादिप्ररोचनश्रुतिभिर्विषयसुखाशावशो भूत्वा श्रौतादिकर्मणि प्रवृत्तो यस्तस्य जननमरणप्रवाहसंपात एव निरन्तरो भवतीति मुमुक्षुणा संतप्तव्यमिति सूचयितुमर्जुनस्य कुलक्षयकृतदोषप्राप्तोऽनर्थ एवंलक्षणः कुलघ्नानां महत्तर इति निश्चित्य तज्जन्यसंतापेनोच्यमानमार्तवचनप्रकारमाह—**अहो बतेति** द्वाभ्याम् ।

अहो इत्याश्चर्ये । बतेति खेदे । महत् महत्तरं वाचा वक्तुमशक्यं पापं कर्तुं विवेकिनोऽपि वयं व्यवसिताः प्रयतामहे । अहो महदाश्चर्यम् । बत हन्त । किं

कुलधर्म हैं, उन उत्सन्न कुलधर्मवाले मनुष्योंकी रौरव आदि नरकोंमें अनियत कालतक—युग, मन्वन्तर आदि अवधिसे रहित—स्थिति होती है, ऐसा हमने सुना है अर्थात् महर्षि आदिके वचनोंसे हम ऐसा सुन चुके हैं ॥ ४४ ॥

'पुत्रको देखता है, पौत्रको देखता है', 'हमने सोम पिया है, अतः अमृत हुए हैं', 'चातुर्मास्य यज्ञ करनेवालोंका पुण्य क्षीण नहीं होता', 'दक्षिणाग्निके उपासक (अग्निहोत्र) अमृतको प्राप्त होते हैं' इत्यादि स्तुति करनेवाली श्रुतियोंसे विषयसुखकी आशाके वश होकर जो श्रौतादि कर्ममें प्रवृत्त होता है, उसके जन्म-मरणके प्रवाहकी परम्परा ही निरन्तर होती रहती है, इससे मुमुक्षुको संताप करना चाहिए, यह सूचित करनेके लिए कुलनाशसे उत्पन्न दोषसे प्राप्त हुआ पूर्वोक्त अनर्थ कुलनाशकोंके लिए महत्तर पाप है, ऐसा निश्चय करके अनर्थसे उत्पन्न हुए संतापसे कहे गये अर्जुनके आर्त वचनोंका प्रकार कहते हैं—**'अहो बत'** इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

यहाँ अहोशब्दका अर्थ आश्चर्य है, बतशब्दका अर्थ खेद है । बड़ा भारी, जो कहा नहीं जा सकता, ऐसा पाप करनेके लिए हम विवेकी भी तैयार हो गये हैं—प्रयत्न कर रहे हैं, यह बड़ा आश्चर्य और खेदजनक है । वह कौनसा महापाप है ? ऐसा प्रश्न होनेपर कहते

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥ ४६ ॥

यदि किसी प्रकारकी प्रतिक्रिया न करनेवाले मुझको शस्त्रधारी धृतराष्ट्रके पुत्र आदि सम्बन्धी रणमें मार डालें, तो उनके द्वारा मेरा विघात मेरे लिए अधिक हितकर होगा ॥ ४६ ॥

तन्महत्पापमित्यत आह—**यदिति** । राज्यसुखलोभेन राज्यलब्ध्या प्राप्यं यत्सुखं राजार्हं तत्र यो लोभो लाम्पट्यं तेन दोषेण स्वजनं पितृभ्रातृपुत्रादिकं शस्त्रैर्हन्तुमुद्यता उद्युक्ता वयमिति यत्, एतदेव महत्पापमित्यर्थः ॥ ४५ ॥

पापभीत्या युद्धादुपरतं त्वां त एव बलाद्धनिष्यन्तीत्यत आह—**यदि मामिति** ।

अप्रतीकारं कृतस्य प्रतिक्रिया प्रतीकारस्ताडयन्तं प्रति ताडनम् । पापभीत्या दयया चाऽनुरक्त्या च तमकुर्वन्तम् , अत एवाऽशस्त्रं परित्यक्तायुधं मां धार्तराष्ट्राः स्वयं शस्त्रपाणयः सन्तो रणे यदि हन्युर्निर्दाक्षिण्येन धर्मं त्यक्त्वा मां हिंस्युश्चेत्तद्धननं मम स्वधर्मनिष्ठस्य क्षेमतरमेव भवेत् क्षेमायैव भवति । 'अप्राप्तप्रापणं योगः क्षेमस्तु स्थितरक्षणम्' इति न्यायेन स्थितस्य परिपालनं क्षेमस्तस्मादधिकः क्षेमतरः कुलनाशनदोषतद्धेतुकनरकपातदुष्कीर्त्याद्यनर्थराहित्येन प्राक्कृतपुण्यपुञ्जस्य क्षत्यभाव एव क्षेमतरशब्दार्थस्तस्मादेव भवतीत्यर्थः ॥ ४६ ॥

हैं—**यदिति** । राज्यकी प्राप्तिसे जो राजाके योग्य सुख प्राप्त होता है, उसमें जो लोभ (लोलुपता) है, उस दोषसे—राज्यसुखके लोभरूप दोषसे—पिता, भाई, पुत्र आदि स्वजनोंको शस्त्रोंसे मारनेके लिए हम उद्यत हैं यानी तैयार हुए हैं, यही महापाप है, ऐसा अर्थ है ॥ ४५ ॥

पापके भयसे युद्धसे उपरत हुए तुमको ही वे बलसे मार देंगे, ऐसा प्रश्न होनेपर कहते हैं—**'यदि माम्'** इत्यादिसे ।

अप्रतीकार, कृतकी प्रतिक्रिया प्रतीकार है यानी ताडन करनेवालेका ताडन करना प्रतीकार कहा जाता है, पापके भयसे, दयासे और अनुरागसे उस प्रतिकारको न करनेवाले, इसी कारण अशस्त्र यानी हथियार छोड़ देनेवाले मुझको यदि शस्त्रधारी धृतराष्ट्रके पक्षका अवलम्बन करनेवाले योद्धा रणमें मार दें, यानी मूर्खतासे धर्म छोड़कर मार दें, तो यह मारना मुझ स्वधर्मनिष्ठके लिए क्षेमतर ही होगा, यानी मेरी कुशलके लिए ही होगा । 'अप्राप्तका प्राप्त होना योग है और स्थितका रक्षण क्षेम है' इस न्यायसे स्थितका परिपालन क्षेम है, उससे अधिक क्षेमतर है । कुलनाशका दोष, उसके कारणसे नरकपात, दुष्कीर्ति आदि अनर्थ न होनेसे पूर्वकृत पुण्यपुंजका क्षय न होना ही क्षेमतरशब्दका अर्थ है । वह उसीसे (यों मेरे विघातसे ही) होता है, ऐसा अर्थ है ॥ ४६ ॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वाऽर्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥ ४७ ॥

संजयने कहा—

यों कहकर शोकसन्तप्त अर्जुन रणमें अपने सब शस्त्रोंको रखकर रथके ऊपर चुपचाप बैठ गया ॥ ४७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अर्जुनविषादो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

'परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन', 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' इत्यादिश्रुत्युक्तरीत्या मुमुक्षुर्ब्राह्मणो विद्वान् कर्मणां कर्मफलानां तद्दातॄणां च क्लेशकरत्वानित्यत्वसंसारित्वादिदोषवत्त्वं कर्मकर्तॄणां च जननमरणप्रवाहपातानपायित्वं निरन्तरसंसारदुःखभाक्त्वाद्यनर्थपरम्परां च श्रुतिस्मृतियुक्तिभिर्निश्चित्य मोक्षैककामनया स्वयमसतो विरज्य सहसाधनं कर्म संन्यस्य मुक्त्यै सद्गुरुमुपसीदेदितीममर्थं सूचयितुमर्जुनस्य सदसद्विचारमसत्प्रवृत्तौ परितापमधर्मप्राप्ते राज्ये तत्सुखादौ दोषदर्शनं वैराग्यं च प्रतिपाद्य इदानीं हिंसासाधनभूतशस्त्रसंन्यासं युद्धक्रियानिवृत्तिं च प्रतिपादयन्नध्यायमुपसंहरति—**एवमिति** ।

अर्जुनः संख्ये सत्येवं 'धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्' इत्येवंप्रकारकं वचनमुक्त्वा शोकसंविग्नमानसः स्वजनविनाशं निमित्तीकृत्य समुत्पन्नेन

'ब्राह्मण कर्मसे प्राप्त हुए लोकोंकी परीक्षा करके वैराग्यको प्राप्त होवे, कर्मसे अकर्म (मोक्ष) नहीं होता', 'वह श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुके पास समित् हाथमें लेकर ब्रह्मको जाननेके लिए जावे' इत्यादि श्रुतिमें उक्त रीतिसे मुमुक्षु विद्वान् ब्राह्मण कर्म, कर्मका फल और कर्मफल देनेवालोंमें क्लेशकरत्व, अनित्यत्व, संसारित्व आदि दोषोंका और कर्म करनेवालोंमें जन्ममरणरूप प्रवाहकी अवश्यंभाविता, विनाशिता, निरन्तर संसारदुःखभोगिता आदि अनादि अनर्थपरम्पराका श्रुति, स्मृति और युक्तियोंसे निश्चय करके एक मोक्षकी ही कामनासे स्वयं असत्में वैराग्य कर, साधन सहित कर्मका त्याग करके मुक्तिके लिए सद्गुरुके पास जावे, इस अर्थका सूचन करनेके लिए अर्जुनके सत् और असत्का विचार, असत्प्रवृत्तिमें परिताप, अधर्मसे प्राप्त होनेवाले राज्य और राज्यके सुख आदिमें दोषदर्शन और वैराग्यका प्रतिपादन करके अब हिंसाके साधनरूप शस्त्रका त्याग और युद्धकी क्रियासे निवृत्तिका प्रतिपादन करते हुए अध्यायका उपसंहार (समाप्ति) करते हैं—**'एवम्'** इत्यादिसे ।

युद्ध होनेपर ऐसा—धृतराष्ट्रके पुत्र मुझे रणमें मार दें, तो मेरा क्षेमतर हो, इस प्रकारका—वचन कहकर शोकसंविग्नमानस यानी स्वजनोंके विनाशके कारण

शोकेन संविग्नं मानसं यस्य स तथोक्तः सन् सशरं चापं विसृज्य नाऽहं योद्धुं शक्ष्यामीति रथोपस्थे रथस्योपर्युपाविशत् । उपविष्टवानित्यर्थः । एतेन सदसद्विवेकवतः परमार्थापेक्षिणो मुमुक्षोरनित्यात्स्वर्गादिसुखादसतः सकाशाद्विरज्य तत्साधनं सर्वं संन्यस्तव्यमिति सूचितं भवति । तथा च श्रुतिः—'परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायात्' इति, 'यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्' इति ॥ ४७ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमदानन्दात्मसरस्वतीशिष्यश्रीशङ्करानन्दसरस्वतीकृतौ गीतातात्पर्यबोधिन्यां प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

उत्पन्न हुए शोकसे जिसका मन उदास हो गया है, ऐसा अर्जुन बाण और धनुषको रखकर, 'मैं युद्ध नहीं कर सकूँगा' यों कहता हुआ रथके ऊपर बैठ गया, यह श्लोकका अर्थ है । इससे ऐसा सूचित होता है कि सदसत्विवेकसम्पन्न, परमार्थकी इच्छा करनेवाले मुमुक्षुको अनित्य स्वर्ग आदि असत् सुखसे विरक्त होकर उसके सब साधनोंका त्याग करना चाहिए । इस विषयमें श्रुति भी कहती है—'कर्मसे प्राप्त किये गये लोकोंकी परीक्षा करके ब्राह्मण वैराग्यको प्राप्त होवे', 'जिस दिन वैराग्य हो, उसी दिन संन्यास ग्रहण कर ले' ॥ ४७ ॥

प्रथम अध्याय समाप्त

दूसरा अध्याय

संजय उवाच

तं तथा कृपयाऽऽविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

संजयने कहा—

उस प्रकार दया आदि गुणोंसे युक्त, जिसके नेत्र आंसुओंसे भर गये हैं तथा विषाद कर रहे अर्जुनसे भगवान्‌ने निम्ननिर्दिष्ट वचन कहे ॥ १ ॥

सदसद्विवेकेन तज्जनिततीव्रवैराग्येण मुमुक्षया च संन्यस्तसर्वकर्मणो मोक्षैककामस्य ब्राह्मणस्य सदसद्विवेकवैराग्यादिसाधनसंपत्तिसिद्धेर्ब्राह्मणत्वसिद्धेश्च साफल्याय 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इति, 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः' इति, 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्' इत्यादिश्रुत्युक्तप्रकारेण सद्गुरुं श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठमुपसद्य ब्रह्मविचारः कर्तव्य इतीममर्थं सूचयितुं सदसद्विवेकिनोऽर्जुनस्य परमार्थापेक्षिणः 'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्' इतीश्वरप्रतिपत्तिं तस्मै ईश्वरेण कृतमात्मानात्मज्ञानोपदेशप्रकारं च प्रतिपादयितुं द्वितीयोऽध्याय आरभ्यते । तत्रादौ 'सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्शोकस्य पारं तारयतु' इति श्रवणात्संसारदुःखेन शोचन्तं स्वशरणं गतं मुमुक्षुमभयवचनपूर्वकमभिमुखीकृत्य गुरुस्तत्त्वं बोधयेदिति सूचयितुं

सदसद्-विवेक, उससे उत्पन्न हुए तीव्र वैराग्य और मोक्षकी इच्छासे सब कर्मोंका त्याग करनेवाले एवं केवल मोक्षकी ही कामनावाले ब्राह्मणको सदसद्-विवेक, वैराग्य आदि साधन-संपत्तिकी सिद्धि और ब्राह्मणत्वकी सिद्धिकी सफलताके लिए 'चूँकि स्वर्ग आदि अनित्य हैं, इसलिए साधनचतुष्टयसम्पत्तिके बाद ब्रह्मविचार करना चाहिए', 'आत्माका श्रवण आदि द्वारा दर्शन करना चाहिए', 'उसको जाननेके लिए वह गुरुके ही पास जाय' इत्यादि श्रुतियोंमें कही गई रीतिसे श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरुके पास जाकर ब्रह्मविचार करना चाहिए, इस प्रकारका अर्थ सूचन करनेके लिए सदसद्-विवेकी परमार्थाकांक्षी अर्जुनकी 'मैं आपका शिष्य हूँ, आपकी शरणमें हूँ, मुझे शिक्षा दीजिये' इस प्रकार ईश्वरशरणागति और उसके प्रति ईश्वर द्वारा किये गये आत्मा और अनात्माके ज्ञानके उपदेशके प्रकारका प्रतिपादन करनेके लिए दूसरे अध्यायका आरंभ किया जाता है। इस अध्यायके आदिमें 'भगवन् मैं शोक करता हूँ, मुझको भगवान् शोकसे पार कर दें' ऐसी श्रुति होनेसे संसारके दुःखसे शोक करते हुए अपनी शरणमें प्राप्त मुमुक्षुको अभयवचनपूर्वक अभिमुख करके गुरु तत्त्वका बोधन करे, ऐसा सूचित

तथा शोचन्तमर्जुनं विवेकवचनैर्भगवान्बोधयामासेति वक्तुं धृतराष्ट्रं प्रति संजय उवाच—**तमिति** ।

तथोक्तरीत्या मदीया एते भ्रातृपुत्रादयो युधि म्रियन्त इति मरिष्यमाणस्वजनेषु कृपयाविष्टमतएव विषीदन्तमतएवाऽश्रुपूर्णाकुलेक्षणं तमर्जुनं दृष्ट्वा मधुसूदनः मध्वाख्यमसुरं सूदयतीति मधुसूदनः, यद्वा सर्वेषां देहे मधुवदिष्टत्वान्मधुरहंकारस्तमात्मप्रकाशनेन सूदयतीति मधुसूदनः, यद्वा 'इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मधु' इति श्रवणान्मधुः स्वरूपानन्दस्तं स्वापरोक्षवतां सूदयति स्फोरयतीति मधुसूदनः श्रीकृष्णः इदं वक्ष्यमाणलक्षणं वाक्यमुवाच । अत्र कृपयाविष्टमित्युक्तिर्मुमुक्षोः कृपादिभिरष्टभिरात्मगुणैर्भवितव्यमिति सूचनार्थं कृपापदं क्षान्त्यादीनामुपलक्षणार्थम् । 'दया सर्वभूतेषु क्षान्तिरनसूयाशुचिरनायासो माङ्गल्यमकार्पण्यमस्पृहा चेत्यष्टावात्मगुणाः' इति गौतमोक्तैरष्टभिरात्मगुणैर्विशिष्टस्यैव सम्यक् ज्ञानं जायते 'सोऽहं भगवः शोचामि' इति श्रवणात् । कथं संसारसागरं तरिष्यामीति शोचतः परितप्यत एव गुरुरीश्वरश्च प्रसीदतीति सूचयितुं विषीदन्तमश्रुपूर्णाकुलेक्षणमित्युक्तम् । मुमुक्षोर्गुरुमुसिषीदिषोरेतैरुक्तगुणैर्भवितव्यमित्यनेन ज्ञापितं भवति ॥ १ ॥

करनेके लिए और शोक करते हुए अर्जुनको भगवानने विवेकवचनोंसे बोध दिया, ऐसा कहनेके लिए संजयने धृतराष्ट्रसे कहा—'**तम्**' इत्यादि ।

पूर्वोक्त रीतिसे मेरे ये भाई, पुत्र आदि युद्धमें मरते हैं, इस प्रकार मरनेवाले आत्मीय जनोंमें अत्यन्त कृपासे युक्त, अतएव विषाद कर रहे, इसीलिए आंसुओंसे भरे व्याकुल नेत्रवाले अर्जुनको देखकर मधुसूदन—मधु नामके असुरको मारनेवाले अथवा सब देहोंमें मधुके समान इष्ट होनेके कारण मधु अहङ्कारको कहते हैं—उस मधुरूप अहङ्कारको आत्मप्रकाशसे नष्ट करनेवाले अथवा यह पृथिवी सब भूतोंमें मधु है' इस श्रुतिसे स्वरूपानन्दको मधु कहते हैं, उस स्वरूपानन्दका जो अपने अपरोक्ष करनेवालेके प्रति स्फुरण करानेवाले हैं, ऐसे श्रीकृष्ण वक्ष्यमाण (निम्नलिखित) वाक्य बोले । यहां जो 'कृपयाविष्ट' कहा है, वह यह सूचन करनेके लिए है कि मुमुक्षुओंको कृपा आदि आठ आत्मगुणोंसे युक्त होना चाहिए । अर्थात् श्लोकस्थ कृपाशब्दसे क्षान्ति आदि अन्य गुणोंका भी ग्रहण है । सब भूतोंमें दया, शान्ति (सहनशीलता), अनसूया (दोषदृष्टि न करना), शुचि, अनायास, मांगल्य, अकार्पण्य, अस्पृहा—ये आठ आत्मगुण हैं । इस प्रकार गौतम द्वारा कहे गये आठ आत्मगुणोंसे युक्तको ही यथार्थ ज्ञान होता है । 'भगवन् ! मैं शोक करता हूँ' इस श्रुतिसे 'कैसे संसारसागरसे तरूँगा ?' इस प्रकार शोक करते हुए और सन्तप्तपर ही गुरु और ईश्वर प्रसन्न होते हैं, ऐसा सूचन करनेके लिए 'विषीदन्तम्' और 'अश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्' कहा है । इससे यह सूचित होता है कि गुरुके पास जानेवाले मुमुक्षुको इन कहे हुए गुणोंसे संपन्न होना चाहिये ॥१॥

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ! ॥ २ ॥
क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥ ३ ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—

हे अर्जुन, इस विषम परिस्थितिमें तुम्हें यह मोह कैसे प्राप्त हुआ, जो अनार्योंसे सेवित है, परलोकमें दुर्गतिकारक है और इस लोकमें अपयश देनेवाला है ॥२॥

हे पार्थ, इस कातरपनेको छोड़ो, क्योंकि तुम्हारे ऐसे पुरुषोंके लिए यह शोभा नहीं देता। हे शत्रुनाशन, अधम बनानेवाली हृदयकी दुर्बलताका परित्याग कर युद्धके लिए तैयार हो जाओ ॥ ३ ॥

कुत इति द्वाभ्याम् । हे अर्जुन शुद्धस्वभाव, विषमे सङ्कटे शत्रुभिः शस्त्रैर्हन्तुं प्रवृत्तसमये इदं कश्मलं 'एतान्न हन्तुमिच्छामि', 'यदि मामप्रतीकारम्' इत्याद्युक्तलक्षणश्चित्तव्यामोहः कुतः कस्माद्धेतोस्त्वा त्वां समुपस्थितं प्राप्तम् । कालदोषात् कर्मदोषाद्वा कस्मादयं भ्रमः शुद्धस्वभावस्य विवेकिनस्तव प्राप्त इत्यर्थः । हे पार्थ, अनार्यजुष्टमनार्यैरार्यशिक्षावर्जितैः पामरैर्जुष्टं सेवितम् अस्वर्ग्यं स्वर्गाप्रापकं दुर्गतिकारणमिह लोकेऽप्यकीर्तिकरमिदं क्लैब्यं क्लीबभावं कातर्यं शूराणामनर्हं त्वं मास्म गमः मा भजस्व। राजधर्मज्ञे रणपण्डिते त्वयि नैतदुपपद्यते। वीरतमस्य स्तुत्यस्य

'कुत' इत्यादि दो श्लोकोंसे । हे शुद्धस्वभाववाले अर्जुन, विषम अवस्थामें—जब कि शत्रु शस्त्रों द्वारा मारनेकी तैयारी कर रहे हैं, ऐसे सङ्कटके समयमें—यह कश्मल अर्थात् 'इनको मैं मारना नहीं चाहता', 'यदि मुझ अप्रतीकारकी याने प्रतिक्रिया न करनेवालेकी' इत्यादि वचनों द्वारा कथित चित्तका व्यामोह (भ्रम) किस कारणसे तुमको प्राप्त हुआ ? तात्पर्य यह है कि शुद्धस्वभाववाले तुम जैसे विवेकीको यह भ्रम किस कालके दोषसे या कर्मके दोषसे प्राप्त हुआ ? हे पार्थ, आर्यशिक्षासे रहित पामर पुरुषों द्वारा सेवित, दुर्गतिके कारण और लोकमें भी अपयश देनेवाले इस क्लीबताको अर्थात् शूरोंके न करने योग्य क्लीबभावको (कातरताको) तुम मत प्राप्त होओ, मत भजो । राजाके धर्मको जाननेवाले और युद्ध करनेमें चतुर तुम्हारे लिए यह उचित नहीं है—तुम जैसे वीरतमको ऐसी कातरता नहीं करनी चाहिये, यह

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥

अर्जुनने कहा—

हे मधुसूदन, रणमें मैं भीष्म और द्रोणाचार्यजीके साथ बाणोंसे कैसे युद्ध करूँगा, क्योंकि हे अरिसूदन, वे मेरे पूज्य हैं ॥ ४ ॥

तव नैतद्युक्तमित्यर्थः । हे परंतप शत्रुकर्शन, क्षुद्रं क्षुद्रत्वकारणं निकृष्टत्वापादकं हृदयदौर्बल्यमधैर्यं मनःकालुष्यमेतत्त्यक्त्वोत्तिष्ठ । युद्धाय सन्नद्धो भवेत्यर्थः ॥२,३॥

भगवद्वचनमेतच्छ्रुत्वाऽपि गुर्वादिस्वजनहिंसादोषदुःखमसहमानः सन् उक्तमेवाऽर्थं विशेषयितुमर्जुन उवाच—**कथमिति** ।

कुलवृद्धं गुणवृद्धं च भीष्मं विद्यागुरुं द्रोणं च संख्ये युद्धे इषुभिः कथं प्रतियोत्स्यामि प्रतिपक्षीभूय युद्धं करिष्यामि । किं तौ शौर्याधिकाविति भीत्या ताभ्यां योद्धुं न शक्नोषीत्यत आह—**पूजेति** । अरीन् कामादीन् भक्तानां सूदयतीत्यरिसूदनः हे अरिसूदन, भीष्मद्रोणौ गृहे पितृवत् पुष्पादिभिः पूजार्हौ न तु वाचाऽपि युद्धार्हौ, किमुत बाणैर्मर्मघातिभिर्न युद्धार्हाविति शरैस्तयोर्मर्मच्छेदं कथं करिष्यामीत्यर्थः ॥ ४ ॥

भाव है । हे परंतप (शत्रुकर्शन), क्षुद्र अर्थात् क्षुद्रत्वकी कारण और निकृष्टत्व प्राप्त करानेवाली हृदयकी इस दुर्बलताका—अधीरताका—यानी इस मनकी मलिनताका त्यागकर खड़े हो जाओ अर्थात् युद्धके लिए तैयार हो जाओ ॥ २, ३ ॥

भगवान्‌के उन वचनोंको सुनकर भी गुरु आदि स्वजनोंके हिंसारूप दोषसे जनित दुःखको सहन न करते हुए कथित अर्थका ही पुनः दृढ़ीकरण करनेके लिए अर्जुन कहते हैं—**'कथम्'** इत्यादिसे ।

मैं कुलवृद्ध और गुणोंसे श्रेष्ठ भीष्मसे और विद्यागुरु द्रोणसे संख्यमें (संग्राममें) बाणोंसे कैसे लड़ूँगा अर्थात् प्रतिभट बनकर मैं उनसे कैसे युद्ध करूँगा ? वे दोनों शौर्यमें अधिक हैं, इसलिए भयके मारे तुम उनसे युद्ध नहीं कर सकते, ऐसी यदि शङ्का हो, तो इसपर अर्जुन कहते हैं—**पूजेति** । भक्तोंके काम आदि शत्रुओंको जो नष्ट करता है, वह अरिसूदन कहलाता है, हे अरिसूदन ! भीष्म और द्रोण घरमें पिताके समान प्रतिदिन पुष्पोंसे पूजने योग्य हैं, अतः जब वाणीसे भी वे युद्ध करने योग्य नहीं हैं, तब मर्मघाती बाणोंसे युद्ध करने योग्य नहीं हो सकते हैं, इसमें तो कहना ही क्या है ? इसलिए बाणोंसे उन दोनोंके मर्मस्थानोंका छेदन मैं कैसे करूँगा ? यह भाव है ॥ ४ ॥

गुरूनहत्वा हि महानुभावाञ्छ्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥ ५ ॥

महानुभाव गुरुओंको न मारकर यदि लोकमें भीख माँगकर खाना पड़े, तो वह भी बहुत अच्छा है, धर्मादिका उपदेश करनेवाले गुरुओंको मारकर तो मुझे इसी लोकमें रुधिरसे सिक्त (रुधिरमय) विषयोंका उपभोग करना पड़ेगा ॥ ५ ॥

क्षत्रियाणां युद्धं श्रेयस्करं कथं त्यक्तुं शक्यत इत्यत आह—**गुरूनिति** ।

महाननर्गलोऽनुभावो धर्मब्रह्मविषयको बोधो येषां तान् महानुभावान् गुरून् भीष्मद्रोणकृपादीनहत्वा इह लोके भैक्ष्यं भिक्षान्नं नः श्रेयः युद्धवच्छ्रेयस्करं भवति तदेव भोक्तुं युक्तम् । गुर्वादिस्वजनहिंसारहितं भिक्षाशनमस्माकं श्रेयस्करमित्यर्थः । 'अकृत्वा परसंतापमगत्वा खलमन्दिरम् । अक्लेशयित्वा चाऽऽत्मानं यदल्पमपि तद्बहु ॥' इत्यादिशास्त्रप्रसिद्धिद्योतनार्थो हिशब्दः । किमनाथवद्भिक्षाशनं शूराणाम्, शत्रून् जित्वा राजभोगः कर्तव्य इत्यत आह—**हत्वेति** । कामिर्ज्ञानार्थः । अर्थान् धर्मादिपुरुषार्थान् शिष्येभ्यः कामयन्ति बोधयन्तीत्यर्थकामास्तान् धर्मोपदेष्टॄन् गुरून् हत्वाऽहमिहैव लोके रुधिरप्रदिग्धान् रक्तधाराप्रसिक्तान् रुधिरमयान् भोगान् भुज्यन्त इति भोगाः विषयास्तान्नारकीयान् भुञ्जीयाऽनुभवेयम् । न तु नारकीया एव किन्तु गुर्वादि-

---

क्षत्रियोंका परम कल्याण करनेवाला युद्ध है, अतः इस युद्धका कैसे त्याग किया जा सकता है ? ऐसा यदि प्रश्न हो, तो अर्जुन उसका उत्तर कहते हैं—**'गुरून्'** इत्यादिसे ।

महान्—प्रतिबन्धशून्य—जिनका अनुभाव है यानी धर्म और ब्रह्म दोनोंको विषय करनेवाला जिनका ज्ञान है, उन भीष्म, द्रोण, कृप आदि महानुभाव गुरुओंको न मारकर इस लोकमें भैक्ष्य यानी भिक्षाका अन्न युद्धके समान हमारे लिए श्रेयस्कर है, अतः उसी अन्नको खाना हमें उचित प्रतीत होता है अर्थात् गुरु आदि स्वजनोंकी हिंसासे रहित भिक्षा द्वारा लब्ध भोजन हमारे लिए श्रेयस्कर है । 'दूसरोंको पीड़ा न देकर, दुष्टोंके घरोंमें न जाकर, अपनेको क्लेश न देकर यदि थोड़ा भी हो, तो वह भी बहुत है' इत्यादि शास्त्रप्रसिद्धिका सूचन करनेके लिए 'हि' शब्द है । शूरोंको क्या अनाथके समान भिक्षा माँग कर भोजन करना उचित है ? उन्हें तो शत्रुओंको जीतकर राजभोग करना चाहिए, ऐसा यदि कोई कहे, तो उसपर कहते हैं—**हत्वेति** । यहां 'कम्' धातुका ज्ञान अर्थ है । अर्थोंका यानी धर्मादि पुरुषार्थोंका जो शिष्योंके प्रति प्रतिपादन करते हैं अर्थात् बोधन करते हैं, वे अर्थकाम हैं, उन अर्थकामोंको—धर्मके उपदेशक गुरुओंको—मारकर मैं इस लोकमें ही रुधिर-प्रदिग्ध, अर्थात् रक्तधारासे प्रसिक्त (रुधिरमय) नारकीय भोगोंका (भोगे जानेवाले विषयोंका) अनुभव करूँगा । नारकीय ही नहीं, किन्तु गुरु आदिके वधसे निन्दनीय नरकका भोग

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥

भिक्षा माँगना और युद्ध करना इन दोनोमें से हम धर्मपरायणोंके लिए कौन अच्छा है, यह भी हम नहीं जानते हैं । जय और पराजयके विषयमें संशय छोड़कर यदि स्वधर्म समझकर युद्ध करें, तो भी ठीक नहीं है, क्योंकि युद्धमें जिन प्रिय बान्धवोंको मारकर हम जी नहीं सकते, वे धृतराष्ट्रके पुत्र आदि मरनेका निश्चय करके संग्राममें सामने खड़े हैं ॥ ६ ॥

वधेन जुगुप्स्यो नरकभोगोऽत्रैव भविष्यत्यतो गुर्वादिहिंसाशून्यं भिक्षाशनं श्रेयस्करं मन्य इत्यर्थः ॥ ५ ॥

'ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः' इति श्रवणात् क्षत्रियाणां युद्धमेव श्रेयस्करं न तु भिक्षाशनमित्यत आह—**न चैतदिति** ।

भिक्षाशनयुद्धयोर्मध्ये नोऽस्माकं धर्मपराणां गरीयः श्रेष्ठं कतरत् किंनु वा । गुरुहिंसादुष्कीर्त्यादिदोषशून्यत्वात् , किं भैक्ष्याशनमेव श्रेष्ठम्, उत स्वधर्मत्वाद् युद्धमेव श्रेष्ठम्, आहोस्विदुभयमपि समं वा । चस्त्वर्थः । तदेतद् वयं तु न विद्मो न विजानीमः । जये राज्यसुखहेतुत्वादपजये स्वर्गप्रापकत्वात्स्वधर्मत्वाच्चेति तत्र संशयो न कर्तव्य इति चेत्तथापि संप्राप्तो विजयोऽस्माकं दुःखायैव भवति न तु किंचिदपि भवति सुखायेत्याह—**यानेवेति**। प्राणेभ्योऽपि प्रेयसो यानेव भ्रातृपुत्रादीन् युधि हत्वा न जिजीविषामो जीवितुं न शक्नुमस्त एव धार्तराष्ट्राः

यहीं होगा । इससे गुरु आदिकी हिंसासे रहित भिक्षा द्वारा लब्ध भोजन करना ही मैं श्रेयस्कर मानता हूँ, यह भाव है ॥ ५ ॥

'जो शूर रणभूमिमें युद्ध करते हैं और जो शरीर छोड़ते हैं' ऐसी श्रुतिसे क्षत्रियोंके लिए युद्ध ही श्रेयस्कर है, यह प्रतीत होता है, अतः भीख मांगना उनके लिए उचित नहीं है, ऐसा यदि प्रश्न हो, तो उसका भी अर्जुन उत्तर कहते हैं—**'न चैतद्विद्मः'** इत्यादिसे ।

भीख मांगना और युद्ध करना—इन दोनोंमें से हम धर्मपरायणोंके लिए कौनसा मार्ग श्रेष्ठ है ? गुरुहिंसा, दुष्कीर्ति आदि दोषोंसे रहित होनेके कारण क्या भीख मांगना ही श्रेष्ठ है या स्वधर्म होनेके कारण युद्ध करना श्रेष्ठ है अथवा दोनों अर्थात् युद्ध करना तथा भीख माँगकर खाना—ये दोनों ही समान हैं ? यहां श्लोकस्थ 'च' शब्द 'तु शब्दके अर्थमें है । इसका हमें परिज्ञान नहीं है । यद्यपि युद्ध करना ही श्रेयस्कर है, क्योंकि उसमें जय होनेपर वह सुखका हेतु है, पराजय होनेपर वह स्वर्गका प्रापक है और स्वधर्म भी है, इसलिए युद्धमें संशय नहीं करना चाहिए, तथापि उसमें प्राप्त हुई विजयसे हमें दुःख ही होगा, उससे किसी प्रकारके सुखकी आशा नहीं है, ऐसा कहते हैं—**यानेवेति** । प्राणोंसे भी प्यारे जिन भाई, पुत्र आदिको युद्धमें मारकर हम जीना नहीं चाहते

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ ७ ॥

हे भगवन्, अविद्यारूप दोषसे मेरी आत्मा आवृत हो गई है, अतः मेरा अन्तःकरण धर्मसे हट गया है, इसलिए मैं आपसे पूछता हूँ कि मेरे लिए जो निश्चित हितकर मार्ग हो, उसे कृपया मुझसे कहिये, मैं आपकी शरणमें आया हूँ, मुझे उपदेश दीजिए ॥ ७ ॥

प्रमुखे रणमुखे अवस्थिता म्रियामह इति तिष्ठन्ति । अतोऽनर्थहेतोर्युद्धाद् भैक्ष्याशनमेव नः श्रेयस्करमित्यर्थः ॥ ६ ॥

कथं भवान् पण्डितः सन्नधर्मं धर्ममिव अधर्ममिव धर्मं च मन्यते मूढवदित्याकाङ्क्षायामहमेतद्द्वयं सूक्ष्मार्थं निर्णेतुं न शक्नोमि, यत्कर्तव्यं तत् त्वमेवोपदिशेत्याह—**कार्पण्येति ।**

अविद्याकृतदेहेन्द्रियाद्यनात्मनः स्वरूपमिदमेवाऽहमिति व्यवहरतीति कृपणस्त्वतत्त्वज्ञः, 'यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः' इति, 'कृपणो योऽजितेन्द्रियः' इति श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धेः । तस्य भावः कार्पण्यमज्ञत्वमज्ञानं तमःप्रधानत्वाद्वस्तुस्वरूपं दूषयतीति तदेव दोषस्तेनोपहतस्तिरोहितः स्वस्याऽविक्रियस्य प्रत्यगात्मनो भावः सत्ता यस्य स कार्पण्यदोषोपहतस्वभावोऽविद्यातिरस्कृतात्मस्वरूपो

यानी जी नहीं सकते, वे ही धृतराष्ट्रके पुत्र, पौत्र आदि सम्बन्धी प्रमुखमें (रणमुखमें) अवस्थित हैं यानी हम मरेंगे, ऐसा निश्चय कर स्थित हैं। इसलिए अनर्थके हेतु युद्धसे भिक्षाभोजन ही हमारे लिए श्रेयस्कर—कल्याणकर—है, यह अर्थ है ॥ ६ ॥

हे अर्जुन, तुम पंडित होकर भी मूढ़के समान अधर्मको धर्मकी तरह और धर्मको अधर्मकी तरह कैसे मानते हो ? ऐसी आशङ्का होनेपर मैं इन दोनों सूक्ष्म अर्थोंका निर्णय नहीं कर सकता, जो कर्तव्य हो, उसका आप ही उपदेश दीजिये, ऐसा अर्जुन कहते हैं—'**कार्पण्य०**' इत्यादिसे ।

अविद्याजनित देह, इन्द्रिय आदि अनात्माका स्वरूपभूत यही मैं हूँ, ऐसा व्यवहार करनेवाला अतत्त्वज्ञानी ही यहाँ कृपणशब्दका अर्थ है। क्योंकि 'हे गार्गि ! जो इस अक्षरको न जानकर इस लोकसे मरकर जाता है, वह कृपण है' और 'जो अजितेन्द्रिय है, वह कृपण है' इत्यादि श्रुति और स्मृतिसे अज्ञानी ही कृपण कहा गया है। उसी कृपणमें रहनेवाला धर्म कार्पण्य (अज्ञान) कहलाता है। यह अज्ञान तमःप्रधान होनेके कारण वस्तुस्वरूपको दूषित करता है, अतः वह दोष है, उस दोषसे तिरोहित हुई है विकाररहित प्रत्यगात्मामें स्थित सत्ता (प्रत्यगात्मता) जिसकी ऐसा

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाऽऽधिपत्यम् ॥ ८ ॥

हे भगवन्, भूमिमें निष्कण्टक सम्पूर्ण राज्य पाकर या देवताओंका आधिपत्य याने इन्द्रपद अथवा ब्रह्माके पदको पाकर भी मैं जो देह, इन्द्रिय आदिमें सन्ताप पहुँचानेवाले शोकको दूर करे, ऐसी कोई वस्तु नहीं देखता हूँ ॥ ८ ॥

यस्माद्धर्मसंमूढचेताः अविद्यया संसारे पात्यमानः पुमान् धार्यतेऽनेनेति धर्मस्तस्मिन् स्वरूपप्रकाशके ज्ञानात्मके धर्मे संमूढमप्रविष्टं चेतो यस्य तथोक्त एवंलक्षणसंपन्नोऽहं त्वां परमेश्वरं पृच्छामि श्रुतिस्मृतिभिर्महर्षिभिश्च यन्निश्चितं निर्णीतं नियत-फलं श्रेयःसाधनं शोक-विध्वंसकं तन्मे ब्रूहि । ननु 'नापुत्रायाशिष्याय वै पुनः' इति श्रवणात् पुत्रशिष्यव्यतिरिक्ता-याऽतिरहस्यं न वक्तव्यमित्यत आह—**शिष्य इति** । धर्मज्ञानार्थितयाऽहं ते शिष्यः शिष्यभावं गतोऽस्मि । त्वां जगद्गुरुं परमेश्वरं प्रपन्नं शरणं गतं मुमुक्षुं मां शाध्यनुगृहाण । शोकस्य निःशेषनिवृत्तिर्यथा भवेत् तथा मां बोधयेत्यर्थः ॥ ७ ॥

मया ते किं वक्तव्यम्, भवान् पण्डितः खलु, सूक्ष्मबुद्ध्या युक्त्या च यच्छ्रेयः-साधनं तत्त्वयैव ज्ञातव्यमित्यत आह—**न हीति** ।

इन्द्रियाणां देहेन्द्रियमनोबुद्धीनामुच्छोषणमत्यन्तसंतापकं मम शोकं यद्-

---

कार्पण्योपहत स्वभाव याने अविद्यासे तिरस्कृत आत्मस्वरूपवाला अतएव धर्मसंमूढचेता अर्थात् जिसका अविद्यासे संसारमें गिरे हुए पुरुषको धारण करनेवाले धर्ममें—ज्ञानस्वरूप प्रकाशात्मक धर्ममें—चित्त प्रविष्ट हुआ नहीं है, ऐसा मैं आप परमेश्वरसे पूछता हूँ कि श्रुति और स्मृतियों द्वारा तथा महर्षियों द्वारा निर्णीत जो नियतफल अर्थात् श्रेयका साधन एवं शोकका नाशक मार्ग हो, वह मुझसे कहिये। 'अपुत्रको और अशिष्यको श्रेयका उपदेश न करे' इस अर्थकी बोधक श्रुति होनेके कारण पुत्र और शिष्यके सिवा दूसरेसे अतिरहस्य न कहना चाहिए, ऐसी यदि शङ्का हो, तो उसपर कहते हैं—**शिष्य इति** । धर्मरूप ज्ञानकी इच्छासे मैं आपका शिष्य हूँ यानी शिष्यभावको प्राप्त हुआ हूँ। आप जगद्गुरु परमेश्वरकी मैं शरणमें प्राप्त हुआ हूँ, आप मुझ मुमुक्षुके ऊपर अनुग्रह कीजिये। जिस प्रकार शोककी निःशेष (बिलकुल) निवृत्ति हो जाय, उस प्रकारसे मुझे बोध दीजिए याने समझाइए, यह अर्थ है ॥ ७ ॥

मैं तुमसे कहूँ ही क्या ? तुम तो आप ही पंडित हो, इसलिए सूक्ष्म बुद्धि और युक्तिसे जो श्रेयका साधन हो, वह तुम्हें ही जान लेना चाहिए, यदि ऐसा भगवान् कहें, तो उसपर अर्जुन कहते हैं—**'न हि'** इत्यादिसे ।

इन्द्रियोंको—देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धिको—अधिक सुखानेवाला अर्थात् अत्यन्त सन्तप्त

पनुद्यात् द्रव्यगुणकर्मणां मध्ये विशिष्टं यत्प्राप्तं सन्मामकं दुःखं निवर्तयेत्तदहं न प्रपश्यामि तादृशं न किंचिज्जानामि ज्ञातं चेत्कुतोऽयं शोक इति। हिस्तदज्ञानप्रसिद्धिद्योतनार्थः। शत्रून् जित्वा राज्यं प्राप्य शोकस्त्यक्तुं शक्यते विशिष्टपदार्थभोगेनेत्यत आह—**अवाप्येति**। भूमावसपत्नं निःशात्रवं समृद्धं समग्रं राज्यं सार्वभौमत्वमवाप्य प्राप्य वा सुराणामाधिपत्यमिन्द्रत्वं ब्रह्मत्वं वाऽथ प्राप्याऽहं शोकं त्यक्तुं न शक्नुयाम्। सार्वभौमत्वेन्द्रत्वब्रह्मत्वादीनां जन्यत्वेन ध्वंसप्रतियोगित्वात्तद्वतः शोकविवृत्तिर्न संभवति, प्रकृतेऽपि स्वजनध्वंसहेतुकत्वाच्छोकस्य। अतो विवेकवतो विषयप्राप्तिस्तद्भोगश्च न शोकनिवर्तको भवति। यतः शोकं निःशेषं त्यक्ष्यामि तं धर्मं ममोपदिशेति सर्वभोगविरक्त्या तीव्रमुमुक्षया च भगवन्तं प्रार्थितवानर्जुनः शाधि मामिति। एतेनाऽऽत्यन्तिकसंसारदुःखनिवृत्तिकारणं न भवति ब्रह्मविष्ण्वादिपदलाभः, किन्तु दुःखायैव विनैव ब्रह्मज्ञानम्। तच्च गुरूपदेशं विना न सिद्ध्यति, 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' इति श्रवणात्। अतस्तदर्थिना गुरूपसत्तिः कर्तव्येति सूचितम् 'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्' इति ॥ ८ ॥

एवमर्जुनस्य वृत्तं धृतराष्ट्रं प्रति संजय उवाच—**एवमिति**।

करनेवाला मेरा शोक जिससे दूर हो अर्थात् द्रव्य, गुण और कर्मोंमें से कोई भी विशिष्ट प्राप्त होकर जो मेरे दुःखको निवृत्त कर दे, ऐसा मैं नहीं देखता हूँ। यदि मैं जानकार होता, तो मुझे यह शोक क्यों होता? 'हि' शब्द अर्जुनके अज्ञानकी प्रसिद्धिका सूचन करनेके लिए दिया गया है। शत्रुओंको जीतकर, राज्यको प्राप्त करके विशिष्ट पदार्थोंके भोगसे शोकका त्याग किया जा सकता है, ऐसा यदि प्रश्न हो, तो उसपर कहते हैं—**अवाप्येति**। पृथिवीमें शत्रुओंसे रहित ऐश्वर्ययुक्त समग्र राज्यको (सार्वभौमत्वको) पाकर अथवा देवताओंके आधिपत्यको (इन्द्रपदको) अथवा ब्रह्माके पदको पाकर भी मैं शोकका त्याग नहीं कर सकता। सार्वभौमत्व, इन्द्रत्व और ब्रह्मत्व आदि सब जन्य होनेके कारण नाशके प्रतियोगी—नाशवाले—हैं। नाशवालोंसे शोककी निवृत्ति नहीं हो सकती। प्रकृतमें शोकका कारण स्वजनोंका नाश है। इसलिए विषयोंकी प्राप्ति और उनका भोग विवेकवाले पुरुषके शोकके निवर्तक नहीं होते। जिससे मेरे निःशेष शोककी निवृत्ति हो या जिससे मैं अपने शोकका त्याग कर सकूँ, ऐसे धर्मका मुझे उपदेश कीजिये। इस प्रकार सब-भोगोंके वैराग्यसे और तीव्र मोक्षकी इच्छासे अर्जुनने भगवान्‌से प्रार्थना की कि मुझे उपदेश दीजिए। इससे यह सूचित होता है कि ब्रह्मा, विष्णु आदिके पदकी प्राप्ति आत्यन्तिक संसार-दुःखकी निवृत्तिकी कारण नहीं है, किन्तु ब्रह्मज्ञानके बिना वह दुःखकी ही कारण है। और वह ब्रह्मज्ञान गुरुके उपदेशके बिना सिद्ध नहीं होता, क्योंकि 'आचार्यवान् पुरुष जानता है', ऐसी श्रुति है। मैं आपका शिष्य हूँ, आपकी शरणमें हूँ, मुझे शिक्षा दीजिये, इससे आत्यन्तिक संसार-दुःखकी निवृत्तिकी इच्छावाले पुरुषको गुरुके समीप जाना चाहिए, यह सूचित किया ॥८॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतपः ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥ ९ ॥
तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥१०॥

संजयने कहा—

शत्रुओंका मर्दन करनेवाला अर्जुन उक्त वचनोंके साथ-साथ 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' यों भगवान्‌से कहकर चुप हो गया ॥ ९ ॥

हे भारत, दोनों सेनाओंके बीचमें शोक कर रहे अर्जुनसे भगवान् हँसते हुए निम्ननिर्दिष्ट वचन बोले ॥ १० ॥

परंतपः शत्रुतापनोऽपि गुडाकेशः । नामैकदेशे नामग्रहणम् । गुडो लगुडो दण्डस्तद्वद्दीर्घा आसमन्तात्समाश्च केशाः शिरोजा यस्य स गुडाकेशोऽर्जुनः गोविन्दं गोभिर्वेदान्तवाक्यैरेव विन्दते लभ्यत इति गोविन्दस्तं हृषीकेशं स्वजनहिंसाया अत्यन्तशोकहेतुत्वान्नाऽहं योत्स्ये इत्येवमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह । पुनर्न किंचिद्बभाष इत्यर्थः ॥ ९ ॥

'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे' इति पृष्टः श्रीभगवान् शोचन्तं तं दृष्ट्वा किमुक्तवानित्याकाङ्क्षायामाह—**तमिति** ।

हे भारत, सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तं मदीया एते म्रियन्त इति

इस प्रकारके अर्जुनके वृत्तको (व्यापारको) धृतराष्ट्रके प्रति संजय कहने लगा—**'एवम्'** इत्यादिसे ।

परन्तप यानी शत्रुओंको जीतनेवाला तथा गुडाकेश, नामके एकदेशका जहां ग्रहण हो वहां पूरे नामका ग्रहण करना चाहिए, इस न्यायसे गुड़के (लगुड़के) यानी दंडके समान लम्बे और सब तरफसे समान जिसके केश (बाल) हैं, वह गुडाकेश कहलाता है, अर्जुन गोविन्दसे यानी गोसे वेदान्तवाक्योंसे ही ज्ञात होनेवाले भगवान् हृषीकेशसे 'स्वजनोंकी हिंसा अत्यन्त शोककी हेतु है, इसलिए 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' ऐसा कहकर चुप हो गया, फिर कुछ नहीं बोला, यह अर्थ है ॥ ९ ॥

'जो श्रेयका निश्चित साधन हो, वह मुझसे कहो' इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर श्रीभगवान् उसको शोक करता हुआ देखकर क्या बोले ? ऐसी आकांक्षा हो, तो कहते हैं—**'तम्'** इत्यादिसे ।

हे भारत, दो सेनाओंके बीचमें 'मेरे ये सब बान्धव आदि मर जायँगे' इस प्रकार शोक

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नाऽनुशोचन्ति पण्डिताः ॥ ११ ॥

भगवान्‌ने कहा—

जिनके लिए शोक करना उचित नहीं है, उनके लिए तुम शोक करते हो और शास्त्रोंमें प्रदर्शित वादोंका भी प्रतिपादन करते हो, [इसलिए परस्पर विरुद्ध मार्गका अवलम्बन करनेवाले तुम पण्डित नहीं हो, किन्तु मूर्ख हो] क्योंकि पण्डित लोग मृत या जीवित प्राणियोंके विषयमें शोक नहीं करते ॥ ११ ॥

शोचन्तं एतान् हत्वा तद्दोषेणाऽहं निरयं यास्यामीत्यात्मनि निष्क्रिये निर्विकारे कर्तृत्वादिधर्मशून्य एवाऽनाद्यविद्ययाऽनात्मतद्धर्मानध्यस्य 'अहं कर्ता, भोक्ता' इति विपरीतभावेन मुह्यन्तं तमर्जुनं दृष्ट्वा परमकृपालुः श्रीभगवान् 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धब्रह्मात्मैकत्वज्ञानेन विना नाऽयं द्वैतभ्रम-प्रवर्तकेन भेदशास्त्रेण बोध्यमानः शोकसागरं भ्रममूलकं तर्तुं शक्नोतीति मत्वा पदार्थद्वयशोधनपूर्वकं तज्ज्ञानमुपदिदिक्षुः सन्नादौ त्वंपदार्थशोधनमवतारयितुं तदीय-वृत्तं भवान् पण्डित इति मम बुद्धिरेव वा तव पाण्डित्यमिति प्रहसन्निव वचन-मिदमुवाच ॥ १० ॥

अशोच्यानिति । न शोच्या अशोच्याः शोचितुमनर्हा भीष्मद्रोणा-दयस्तानेतानशोच्यानेव त्वमन्वशोचः एतानुद्दिश्य शोकं कृतवानसि। ननु स्वजन-

---

करते हुए अथवा 'इनको मारकर मारनेके कारण होनेवाले दोषोंसे मैं नरकमें जाऊँगा', इस प्रकार निष्क्रिय, निर्विकार और कर्तृत्व आदि दोषोंसे रहित आत्मामें अनादि अविद्याके द्वारा अनात्मा और अनात्माके धर्मोंका अध्यास करके 'मैं कर्ता-भोक्ता हूँ' इस विपरीतभावसे मोहित हुए अर्जुनको देखकर परमकृपालु श्रीभगवान्‌ने यह सोचकर कि 'तत्र को मोहः' (एकत्व देखनेवालेको क्या मोह है, क्या शोक है) इत्यादि श्रुतियोंमें प्रसिद्ध जीव और ब्रह्मकी एकताके ज्ञानको छोड़कर यदि द्वैतभ्रमके प्रवर्तक भेदशास्त्रके द्वारा अर्जुनको उपदेश दिया जायगा, तो वह भ्रममूलक शोक-सागरको तर नहीं सकेगा, इसलिए 'तत् और त्वम्' पदार्थोंके शोधनपूर्वक ब्रह्मात्मैकत्वज्ञानके उपदेशकी इच्छा रखकर भगवान् पहले त्वंपदार्थके शोधनका उपक्रम करनेके लिए तुम अच्छे पंडित हो या भिन्नवादितामें तुम्हारी अच्छी बुद्धि है, यों उसका उपहास करते हुए निम्ननिर्दिष्ट बचन बोले।

'अशोच्यान्' इत्यादि। जिन भीष्म, द्रोण आदिके विषयमें शोक करना उचित नहीं है अर्थात् जो शोचनीय नहीं हैं, उनको उद्देश करके तुम शोक कर रहे हो। यदि यहां तुम्हें

मरणे सर्वेषां शोको जायत एव कथमुच्यत एतानन्वशोचस्त्वमिति, कुतो वा म्रियमाणानामेतेषामशोच्यत्वमिति चेत् त्वमत्र प्रष्टव्यः, किं भीष्मद्रोणादिशब्दवाच्यार्थमुद्दिश्य शोच्यते उत लक्ष्यार्थमिति। आद्ये भीष्मादिशब्दवाच्यार्थस्याऽसद्वृत्तत्वमवेक्ष्य शोच्यते किंवा तन्नाशमुद्दिश्य शोच्यते इति। नाऽऽद्यः, ते महानुभावा इति त्वयैव तन्महत्त्वप्रतिपादनात्। न द्वितीयः, तदसंभवात्। 'मघवन् मर्त्यं वा इदं शरीरमात्तं मृत्युना' इति शरीरस्य मृत्युग्रस्तत्वश्रवणात्, 'दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभङ्गुरः' इति देहस्य नश्वरत्वश्रवणात्, सर्वदा म्रियमाणप्राणिसंदर्शनाच्च प्रत्यक्षादिप्रमाणैरेव ध्रुवमृत्युकस्य देहादेः शोच्यत्वं न संभवति। न प्रथमे द्वितीयः, आत्माऽजत्वान्न जायते जननाभावान्न म्रियते मरणाभावान्नित्यः 'अजो नित्यः शाश्वतः' इति, 'नित्यो नित्यानाम्' इति लक्ष्यार्थस्याऽऽत्मनो नित्यत्वश्रवणान्नित्यस्य सदाप्तस्याऽऽत्मनः शोच्यत्वानुपपत्तेः। नहि बुद्धिमतां नित्यः पदार्थः शोच्यो भवति नाऽप्यनित्यश्च। यत एवं वाच्यार्थस्य लक्ष्यार्थस्य चोभयोरशोच्यत्वे सिद्धे त्वमशोच्यानेव शोच्यत्वबुद्ध्या मूढवदनुशोचसि। नैतावन्मात्रमेव करोषि, अपि तु

ऐसी शङ्का हो कि अपने आत्मीयके मरनेसे सभीको शोक होता है, इसलिए आप यह कैसे कहते हैं कि इनका क्यों शोक कर रहे हो या मर रहे ये अशोचनीय कैसे हो सकते हैं, तो तुम्हारी यह शङ्का भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस विषयमें हम तुमसे पूछते हैं कि क्या भीष्म, द्रोण आदि शब्दोंके वाच्य अर्थको लेकर तुम शोक करते हो अथवा लक्ष्यार्थको लेकर शोक करते हो ? यदि प्रथम पक्ष कहो यानी भीष्मादि शब्दोंके वाच्य अर्थको लेकर शोक करता हूँ, ऐसा कहो, तो यह बतलाओ कि उनके असदाचरणोंको देखकर शोक करते हो अथवा उनके नाशको लेकर शोक करते हो ? पहला पक्ष तो बन नहीं सकता, क्योंकि वे महानुभाव हैं, यों उनके महत्त्वका तुमने ही प्रतिपादन किया है। दूसरा पक्ष भी नहीं बनता, क्योंकि वह संभव नहीं है, क्योंकि 'मघवन् मर्त्यः' (यह शरीर मृत्युसे ग्रस्त होनेके कारण मर्त्य है, मरणशील है) यह श्रुति शरीर मृत्युग्रस्त है, ऐसा प्रतिपादन करती है। एवं 'क्षणभंगुर मानुष देह देहधारियोंके लिए दुर्लभ है, इस प्रकार देहका विनाश सुननेमें आता है और सर्वदा प्राणी मरते देखे जाते हैं, अतः प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे निश्चित मरणधर्मा देह आदिका शोक करना संभव नहीं है। प्रथम पक्षका दूसरा अंश भी नहीं बनता, यानी भीष्म आदि शब्दोंके लक्ष्य अर्थके लिए शोक करना उचित नहीं है, क्योंकि आत्मा अज होनेके कारण जन्मता नहीं है, जन्मके अभावसे मरता भी नहीं है और मरणके अभावसे वह नित्य है, क्योंकि 'अज है, नित्य है, सनातन है', 'नित्योंका भी नित्य है', इस प्रकार लक्ष्यार्थ आत्मामें नित्यत्व सुना जाता है, इसलिए नित्यका और सदा प्राप्त आत्माका शोक करना उचित नहीं है। बुद्धिमानोंको नित्य पदार्थके विषयमें एवं अनित्यके विषयमें शोक करना उचित नहीं है, अतः इस प्रकार वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ दोनोंकी अशोचनीयता सिद्ध होती है, इसलिए अशोच्योंका ही तुम मूढके समान शोक

प्रज्ञावादांश्च भाषसे सदसत्पदार्थस्वरूपं विविच्य ये प्रकर्षेण जानन्ति ते प्रज्ञाः पण्डितास्तेषां शास्त्रमभिव्याप्ताः वादा आवादास्तान् प्रज्ञावादान् 'कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः' इति, 'उत्सन्नकुलधर्माणाम्' इति, 'कथं भीष्ममहं संख्ये' इत्यादीनि प्रौढवचनान्यपि भाषसे। यदशोच्यशोचनम्, यच्च शास्त्रार्थप्रकटनपाण्डित्यं तदेतद्द्वयं तेजस्तिमिरवत् परस्परविरुद्धं नैकत्र स्थातुमर्हति, अतो भवान् मूढ एव भवति न तु पण्डितः। तर्ह्येवंसमये पण्डिताः कथं वर्तन्त इत्याह—**गतासूनिति**। केवलं मूढाः ममैते पुत्रादयो मृता इति गतासूनेवाऽनुशोचन्ति न त्वगतासून्। शास्त्रज्ञास्तु ममैते पुत्रादयो मूढा दुर्भगा दुर्वृत्ता जाता इत्यगतासूनेवाऽनुशोचन्ति न तु गतासून्। पण्डितास्तु गतासूनगतासूंश्च पुत्रादीन्नाऽनुशोचन्ति। गतासूनामगतासूनामप्युभयेषाम-विद्याकार्यत्वेन स्वप्नार्थवदसत्त्वादुभयत्र ब्रह्मैव पश्यन्ति त एव हि पण्डिताः ये त्वस-त्त्यक्त्वा सदेव गृह्णन्ति। सदा सर्वत्र ब्रह्मदर्शनं हि पाण्डित्यम्, 'ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य' इति श्रुतेः। अत उक्तलक्षणाभावात्त्वं मूढ एव न तु पण्डित इत्यर्थः॥११॥

अशोच्यानन्वशोचस्त्वमिति भीष्मादीनामशोच्यत्वे प्रतिपादिते भीष्मादिपद-लक्ष्यार्थस्याऽऽत्मनो देहेन्द्रियादिभ्यो भिन्नत्वं नित्यत्वं च सूचितं भवति। तमिमर्थम-

करते हो। इतना ही नहीं करते, किन्तु प्रज्ञावाद भी कहते हो। सत् और असत् पदार्थके स्वरूपको विवेकपूर्वक जो भली भाँति जानते हैं, वे प्रज्ञ यानी पंडित कहलाते हैं, शास्त्रोंमें व्याप्त उनके जो वाद हैं, वे प्रज्ञावाद कहलाते हैं, उन प्रज्ञावादोंको भी तुम कहते हो यानी 'कुलके क्षयसे कुलके धर्म नष्ट हो जाते हैं', 'उत्सन्नकुलधर्मोंका', 'मैं भीष्मको युद्धमें कैसे' इत्यादि प्रौढ़ वचनोंको भी कह रहे हो। जो अशोच्यका शोक करना है और जो शास्त्रार्थका प्रकट करना रूप पांडित्य है, वे दोनों प्रकाश और अंधकारके समान परस्पर विरुद्ध हैं—एकमें नहीं रह सकते, इसलिए तुम मूढ़ ही हो पंडित नहीं हो। तब ऐसे समयमें पंडित लोग कैसा बर्ताव करते हैं, ऐसा यदि प्रश्न हो, तो उसका उत्तर कहते हैं—**'गतासूनिति'**। जो केवल मूढ़ हैं, वे मेरे पुत्र आदि मर गये, ऐसा समझ कर मृतकोंके विषयमें शोक करते हैं, नहीं मरे हुओंके विषयमें शोक नहीं करते और जो शास्त्रज्ञ हैं, वे 'मेरे ये पुत्र आदि मूढ़, दुर्भागी और दुराचारी उत्पन्न हुए हैं' ऐसा समझ कर जीते हुओंके विषयमें शोक करते हैं, मरे हुओंके विषयमें शोक नहीं करते। पंडित तो मरे या जीते दोनोंके विषयमें ही शोक नहीं करते, क्योंकि मरे और जीते दोनों अविद्याके कार्य हैं, अतः स्वप्न पदार्थोंके समान मिथ्या होनेसे उनमें ब्रह्म ही देखते हैं। वे ही पंडित हैं जो असत्का त्याग कर सत्का ही ग्रहण करते हैं। सदा सबमें ब्रह्म देखना ही पंडिताई है, क्योंकि ब्राह्मण पांडित्यका निश्चय करके ऐसी श्रुति है। इसलिए उक्त लक्षणोंका अभाव होनेके कारण तुम मूढ़ ही हो, पंडित नहीं हो॥ ११॥

अशोचनीयोंका तुम शोक करते हो, इस प्रकार भीष्म आदिमें अशोचनीयताका प्रतिपादन करनेसे भीष्म आदि पदोंके लक्ष्यार्थ आत्मामें देह, इन्द्रिय आदिसे भेद और नित्यत्व सूचित होता है।

न त्वेवाऽहं जातु नाऽऽसं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥ १२ ॥

मैं (तत्पदार्थ परमात्मा) किसी समय नहीं था, ऐसा नहीं है, किन्तु सदा मैं था ही, वैसे तुम और ये सब राजा नहीं थे, ऐसा नहीं है, किन्तु थे ही और भविष्यमें भी हम सब लोग नहीं होंगे, ऐसा भी नहीं है, किन्तु होंगे ही ॥ १२ ॥

जानन्तमर्जुनमालक्ष्य श्रीभगवान् लक्ष्यार्थस्याऽऽत्मनो नित्यत्वे त्वजत्वं हेतुरित्यजत्वहेतुना शशविषाणस्याऽपि नित्यत्वे प्राप्ते भावत्वे सत्यजत्वं नित्यत्वप्रयोजकम्, यस्य कालत्रये सत्ता न व्यभिचरति स भावो नित्यश्च, यस्य व्यभिचरति नाऽसौ भावोऽनित्यश्चेत्यात्मनः कालत्रयेऽपि सत्ताप्रतिपादनद्वारा देहेन्द्रियादिभ्यो भिन्नत्वं नित्यत्वं च सूचयितुं पुनस्तत्त्वंपदार्थयोः शोधनं शोधितयोरेकत्वं च प्रतिपादयति त्वंपदार्थस्य निःशेषसंसारदुःखनिवृत्त्या नित्यनिरतिशयाखण्डानन्दावाप्तये, तत्पदार्थस्यापि परोक्षत्वपरिच्छिन्नत्वानर्थनिवृत्त्याऽद्वितीयत्वाखण्डैकरसत्वसिद्धये च—**न त्वेवाऽहमिति ।**

अहं तत्पदार्थः परमात्मा सर्वज्ञः सर्वशक्तिः सर्वतन्त्रस्वतन्त्रः परमेश्वरः । जातु कदाचिन्नाऽऽसमिति न, किन्तु सर्वदा आसमेव । मदसंभवे जगत्सृष्ट्याद्यसंभवात् । तथाहि 'जन्माद्यस्य यतः', 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते', 'यतो जातानि भुवनानि विश्वा', 'स ऐक्षत लोकान्नु सृजा इति', 'स इमाँल्लोकानसृजत' इत्यादि-

---

परन्तु अर्जुन उक्त अर्थको नहीं समझा, ऐसा देखकर श्रीभगवान् 'लक्ष्यार्थ आत्माके नित्य होनेमें अजत्व हेतु है, अजत्व हेतुसे खरगोशके सींगमें भी नित्यत्व प्राप्त होता है, परन्तु भावत्वसे युक्त अजत्व नित्यत्वका प्रयोजक है, ऐसा माननेसे उसमें दोष नहीं हो सकता, जिसकी सत्ता तीनों कालोंमें व्यभिचारको प्राप्त न हो यानी एकसी ही बनी रहे, वह भाव है और नित्य है एवं जिसकी व्यभिचरित हो वह न भाव है और न नित्य है, इसलिए आत्माकी तीनों कालोंमें सत्ता है', इस प्रकारके प्रतिपादन द्वारा आत्मामें देह, इन्द्रिय आदिसे भिन्नता और नित्यताका सूचन करनेके लिए फिर भी तत् और त्वम् पदार्थोंका शोधन और शोधन किये हुओंके एकत्वका, त्वंपदार्थके निःशेष संसारदुःखकी निवृत्तिसे नित्य निरतिशय अखण्ड आनन्दकी प्राप्तिके लिए और तत्पदार्थमें परोक्षत्व परिच्छिन्नत्वरूप अनर्थकी निवृत्ति द्वारा अद्वितीयत्व अखंडएकरसत्वको सिद्ध करनेके लिए, प्रतिपादन करते हैं—**'न त्वेवाहम्'** इत्यादि ।

अहं (मैं) यानी तत्पदार्थ परमात्मा—सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वतंत्रस्वतंत्र परमेश्वर—कभी नहीं था, ऐसा नहीं है, किंतु सर्वदा था ही, क्योंकि यदि मैं न होता, तो जगत्की उत्पत्ति ही नहीं होती, क्योंकि 'इस जगत्के जन्म आदि जिससे होते हैं', 'जिससे ये भूत उत्पन्न होते हैं', 'जिससे सब भुवन उत्पन्न हुए', 'उसने संकल्प किया कि मैं लोकोंको उत्पन्न करूँ', 'उसने

श्रुतिभिर्मत्त एव जगदुत्पत्तिः श्राव्यते । मत्त एव जगतः स्थितिश्च 'येन जातानि जीवन्ति', 'व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः', 'स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्', 'भीषास्माद्वातः पवते', 'इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ', 'तस्मिल्लोकाः श्रिताः सर्वे' इत्यादिश्रुतिभिः प्रतिपाद्यते । 'यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति', 'तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति', 'यस्मिन्क्षेत्रे संहरत्येष देवः' इत्यादि-श्रुतिभिर्मत्त एव जगल्लयोऽपि श्राव्यते । यतो मदेककर्तृकत्वं जगत्सृष्ट्यादिक्रिया-यास्ततो जगदुत्पत्तिस्थितिलयादिष्वागच्छत्सु सत्सु तदधिष्ठातृतया सदाऽहमासमेवेति निरुक्तश्रुतिबलात्त्रिष्वपि कालेषु मत्सद्भावो निश्चेतव्य इत्यर्थः । एतेन मेघतदागम-स्थित्यादीनामाधारतया स्थितस्याऽऽकाशस्येव प्रपञ्चतदुत्पत्त्यादीनामधिष्ठानतया स्थितस्य तत्पदार्थस्य स्वस्वरूपतो निष्कलत्वेन निष्क्रियत्वेन च प्रपञ्चतद्धर्मतत्कर्मलेशसंबन्ध-रहितत्वं तद्भिन्नत्वं नित्यत्वं च सूचितं भवति । ननु परमेश्वरस्य स्वतन्त्रस्य काल-त्रयेऽपि तव सद्भावोऽस्तु, मम कथं मर्त्यस्य नित्यत्वं सिध्यतीत्यत आह—**न त्वमिति** । त्वं त्वंपदलक्ष्यार्थश्च जातु कदाचिन्नासीरिति न किन्त्वासीरेव । अतीता-नागतदेहोत्पत्त्यादिषु जाग्रदादिष्विव त्वमस्येव । यथा जाग्रति तिष्ठत एव तव

इन लोकोंको उत्पन्न किया' इत्यादि श्रुतियाँ मुझसे ही जगत्‌की उत्पत्ति होती है, ऐसा प्रति-पादन करती हैं, मुझसे ही जगत्‌की स्थिति होती है, क्योंकि 'जिससे उत्पन्न हो कर जीते हैं', 'व्यक्त और अव्यक्त विश्वका ईश्वर पालन करता है', 'वह स्वर्गको और इस पृथ्वीको धारण करता है', 'इसके भयसे वायु चलता है', 'जिसमें प्राण, अपान दोनों आश्रित हैं, उस दूसरेसे जीते है', 'जिसमें सब लोक स्थित हैं' इत्यादि श्रुतियोंमें उक्त अर्थका प्रतिपादन है एवं 'जिसमें जाते हुए भूत प्रवेश करते हैं' 'इसी प्रकार हे सोम्य! अक्षरसे दो प्रकारके पदार्थ उत्पन्न होते हैं और उसीमें लीन हो जाते हैं', 'जिसमें यह देव संहार करता है' इत्यादि श्रुतियां मुझमें ही जगत्‌के लयका प्रतिपादन करती हैं। चूँकि जगत्‌की सृष्टि आदि क्रिया मुझ एकसे ही की जाती है, इसलिए जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और लय आदिके प्राप्त होनेपर उनके अधिष्ठातारूपसे मैं सदा ही हूँ, इसलिए उक्त श्रुतियोंके बलसे तीनों कालोंमें मेरे सद्भावका यानी अस्तित्वका निश्चय करना चाहिए। इससे सूचित होता है कि जैसे मेघ, मेघके आने और उनके ठहरने आदिमें आकाश आधाररूपसे स्थित है, वैसे ही प्रपंच, प्रपंचकी उत्पत्ति आदिमें अधिष्ठानरूपसे अवस्थित तत्पदार्थ निष्कल, निष्क्रिय स्वस्वरूपसे ही स्थित है और प्रपंच, प्रपंचके धर्म और प्रपंचके कर्मसे लेश मात्र भी संबंध नहीं रखता, प्रपंचसे भिन्न है और नित्य है। आप स्वतंत्र परमेश्वरका तीनों कालोंमें भले ही सद्भाव हो, मुझ मरणशीलका नित्यत्व कैसे सिद्ध होता है, ऐसी शंका यदि अर्जुन करे, तो उसका उत्तर कहते हैं—**'न त्वमिति'**। तुम यानी त्वंपदलक्ष्यार्थ तुम भी कभी नहीं थे, ऐसा नहीं है, किन्तु थे ही। पिछले और आनेवाले देहोंकी उत्पत्ति आदिमें जाग्रत

स्वप्नसंबन्धः, स्वप्ने तिष्ठत एव सुषुप्तिसंबन्धः,- सुषुप्तौ तिष्ठत एव जाग्रत्संबन्धस्तथा गतदेहे तिष्ठत एवैतद्देहसंबन्ध एतद्देहे तिष्ठत एव भाविदेहसंबन्धोऽङ्गीकर्तव्यस्त्वन्यथा सुखदुःखादिवैचित्र्यासंभवात्कर्मवैचित्र्यादेव तव सुखादिवैचित्र्यम्, ततस्तादृग्विध-कर्मकर्तुस्तवाऽस्त्येव देहान्तरेषु सद्भावस्त्वन्यथा कृतहानाऽकृताभ्यागमप्रसङ्गात् । 'यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते' इति, 'जन्मान्तरकृतं कर्म भुञ्जते जन्तवोऽधुना' इत्यादि-श्रुतिस्मृतिविरोधप्रसङ्गाच्च पूर्वकृतस्याऽधुना, अधुना कृतस्य कर्मणः फलं भाविजन्मन्य-नुभुज्येत । तथैव श्रूयते 'प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किंचेह करोत्ययम् । तस्माल्लोका-त्पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे ॥' इति यतस्ततो जाग्रदाद्यवस्थास्विव गतदेहेषु भावि-देहेष्वपि इदानीमिव तव त्रिष्वपि कालेषु सद्भावोऽस्त्येवेत्यर्थः । एतेन त्वंपदार्थस्याऽऽ-त्मनो देहेन्द्रियादिभ्यो भिन्नत्वं नित्यत्वं च सूचितं भवति । इमे जनाधिपाश्च नाऽऽस-न्निति न, किन्तु त्वंपदार्थत्वाविशेषात्त्रिषु कालेष्वासन्नेव । यथाहं तथैवैतेऽपि नित्य-सिद्धसत्स्वभावा इत्यर्थः । जनाधिपा इत्यविद्यावृत्तिभेदेन बहुवचनं न त्वात्मभेदेन, तद्भेदे प्रमाणाभावात् ।

नन्वात्मभेदे प्रमाणाभाव इति यदुक्तम्, तदतिसाहसम्, आत्मतत्त्वे

आदिके समान तुम हो ही । जैसे जाग्रत्में स्थित होनेपर ही तुम्हारा स्वप्नसे संबन्ध होता है, स्वप्नमें स्थित होनेपर ही सुषुप्तिसे संबन्ध होता है, सुषुप्तिमें स्थित होनेपर ही तुम्हारा जाग्रत्से संबन्ध होता है, वैसे ही पिछले देहमें स्थित होनेपर ही तुम्हारा इस देहसे संबन्ध है, इस देहमें स्थित होनेपर ही होनेवाले देहसे तुम्हारा संबन्ध है, ऐसा अङ्गीकार करना चाहिए, नहीं तो सुख, दुःख आदिकी विचित्रताका संभव ही नहीं होगा । कर्मकी विचित्रतासे ही तुममें सुख, दुःख आदिकी विचित्रता है, इसलिए उस प्रकारके कर्म करनेवाले पिछले देहोंमें सद्भाव है ही, नहीं तो कृतहान और अकृताभ्यागमका प्रसंग आवेगा । [किये हुएका फल न भोगना कृतहान है और न किये हुए कर्मका फल भोगना अकृताभ्यागम है] 'पिछले जन्ममें किये कर्मोंको जीव इस जन्ममें भोगता है', 'जो कर्म करता है, उसका फल पाता है' इत्यादि श्रुति और स्मृतियोंसे विरोधका प्रसंग आवेगा । पूर्व जन्ममें किये गये कर्मका इस जन्ममें, इस जन्ममें किये गये कर्मका फल भावी जन्ममें भोगा जाता है। ऐसी ही श्रुति भी है—'जो कुछ यह यहां करता है, उस कर्मका फल भोगकर, उस लोकसे इस लोकमें फिर यहां कर्म करने (को) आता है । ऐसा होनेसे जैसे जाग्रत् आदिमें तुम्हारा सद्भाव है, इसी प्रकार पिछले देहोंमें वर्तमानके समान तुम्हारा तीनों कालोंमें सद्भाव है ही, ऐसा अर्थ है । इससे सूचित होता है कि त्वंपदार्थ आत्मा देह, इन्द्रिय आदिसे भिन्न है और नित्य है । ये राजा नहीं थे, ऐसा नहीं है, किन्तु तीनों कालोंमें ये हैं ही, क्योंकि त्वंपदार्थत्व समान है यानी ये भी त्वंपदार्थ हैं । जैसे मैं वैसे ही ये भी नित्य-सिद्ध सत्स्वभाववाले हैं, यह अर्थ है । जनाधिपा यानी राजा, यह अविद्याकी वृत्तिके भेदसे बहुवचन है, आत्माके भेदसे नहीं है, क्योंकि आत्माके भेदमें यानी भिन्न होनेमें प्रमाण नहीं है ।

शङ्का—आत्माके भिन्न होनेमें प्रमाण नहीं है, यह कहना अत्यन्त साहस है यानी दुराग्रह

विचार्यमाणे त्वात्मैकत्वं न घटते, प्रत्यक्षादिप्रमाणविरोधात्। तथाहि, यत्र यत्र अहंप्रत्ययभेदस्तत्रतत्राऽऽत्मभेद इति प्रतिदेहमहंप्रत्ययभेदस्य प्रत्यक्षेणोपलभ्यमानत्वादेकत्वे तु त्वमहमयमित्यादिव्यवहारलोपप्रसङ्गात् तत आत्मभेदे प्रत्यक्षं प्रमाणम्। आत्मभेदाभावे व्यवहारो न सिद्ध्यतीति व्यवहारसिद्धेरन्यथानुपपत्त्यार्थापत्तिश्च प्रमाणम्। आत्मा प्रतिव्यक्तिभिन्नो भवति, व्यक्तीनां भिन्नत्वात्, गवादिवत्, आत्मा भिन्न एव भवति, प्रतिव्यक्त्यहंप्रत्ययभेदात् व्यक्तिप्रत्ययभेदात्, घटादिवदित्याद्यनुमानं च प्रमाणम्। 'अदितिर्देवा गन्धर्वा मनुष्याः पितरोऽसुराः' इति देवादिभेदप्रतिपादकश्रुतिश्च प्रमाणम्। 'देवदानवगन्धर्वा यक्षराक्षसकिन्नराः' इत्यादिपुराणवचनं च प्रमाणम्। यद्यात्मैकत्वमेवाभ्युपगम्यते तर्हि तव सुखदुःखादिव्यवस्था च न सिद्ध्येत्। एकस्मिन् दुःखिनि सुखिनि च सर्वेऽपि दुःखिनः सुखिनश्च स्युः। देवादिसर्वदेहेष्वात्मैकत्वे सर्वे सर्वज्ञाश्च भवेयुः। तेन विधिनिषेधशास्त्राणामानर्थक्यं च स्यात्। एकस्मिन् बद्धे बन्धो मुक्ते मोक्षश्च सर्वेषां प्रसज्येत। तस्मात् प्रमाणसिद्धमात्मानेकत्वं त्वयाऽप्यङ्गीकर्तव्यमिति चेत्, न; व्याप्तिव्यभिचारात् प्रत्यक्षासिद्धेः। यत्र यत्राऽहंप्रत्ययभेदस्तत्र तत्राऽऽत्मभेद इति व्याप्तिर्व्यभिचरति। शिशुः

है। आत्मतत्वका विचार करनेपर तो आत्माका एकत्व नहीं घटता, क्योंकि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे विरोध है। जैसे कि जहां जहां अहंप्रत्ययका (मैं ज्ञानका) भेद होता है, वहां वहां आत्माका भेद होता है, ऐसा प्रत्येक देहमें अहंप्रत्ययका भेद प्रत्यक्ष प्रमाणसे जाननेमें आता है, एकत्व होनेपर तो तुम, मैं, यह इत्यादि व्यवहारका लोप हो जायगा, अतः आत्माके भेदमें प्रत्यक्ष प्रमाग है। यदि आत्माका भेद न हो, तो व्यवहार सिद्ध न होगा, व्यवहारकी सिद्धि अन्यथा यानी अन्य प्रकारसे उपपन्न नहीं होती, यह अर्थापत्ति प्रमाण है। आत्मा प्रत्येक व्यक्तिमें भिन्न-भिन्न है, व्यक्तियोंके भिन्न होनेसे गौ आदिके समान। एवं आत्मा भिन्न ही है, प्रत्येक व्यक्तिमें अहंप्रत्ययका भेद होनेसे, व्यक्तिप्रत्ययका भेद होनेसे, घट आदिके समान, इत्यादि अनुमान प्रमाण है। 'अदिति, देव, गंधर्व, मनुष्य, पितर, असुर' इस प्रकारकी देवादिके भेदकी प्रतिपादक श्रुति भी उक्तार्थमें प्रमाण है। देव, दानव, गंधर्व, यक्ष, राक्षस, किन्नर इत्यादि पुराणका वचन भी प्रमाण है। यदि आत्मा एक माना जाय, तो तुम्हारे सुख, दुःख आदिकी व्यवस्था भी सिद्ध नहीं हो सकेगी, क्योंकि एकके दुःखी और सुखी होनेसे सभी दुःखी और सुखी हो जायँगे। देवादि सब देहोंमें यदि आत्माका एकत्व मानोगे, तो सब सर्वज्ञ हो जायँगे, ऐसा होनेसे विधि और निषेध शास्त्र भी अनर्थक हो जायँगे, एकके बद्ध होनेपर सबके बद्ध और एकके मुक्त होनेपर सबके मुक्त होनेका प्रसंग भी आ जायगा। इसलिए प्रमाणोंसे सिद्ध आत्माका अनेकत्व तुमको भी अङ्गीकार करना चाहिए।

समाधान—नहीं, उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि व्याप्तिका व्यभिचार होनेके कारण प्रत्यक्ष प्रमाणकी सिद्धि नहीं है। जहां जहां अहंप्रत्ययका भेद है, वहां वहां आत्माका भेद है,

कुमारो युवा वृद्धोऽहमिति शैशवादिदशाभेदेनाऽहंप्रत्ययो भिद्यते, तत्तदवस्थानां भेदात्। नहि कौमारे शिशुरहमिति प्रत्ययोऽस्ति तदुत्पादकशैशवाभावात्, एवं युवत्वे वृद्धत्वे चाऽहं प्रत्ययो भिद्यते। तथापि शैशवाद्यवस्थावतोऽहं प्रत्ययार्थस्याऽऽत्मनो भेदादर्शनान्न प्रत्यक्षं प्रमाणम्। ननु 'विशेषणभेदाद्विशिष्टस्यापि भेदः' इति न्यायेनाऽवस्थाभेदादवस्थावतोऽपि भेदः स्यादिति चेत्तस्य शिशुत्वाद्यभिमानिन्यहंकार एव चरितार्थत्वान्नित्यात्मविषयत्वानुपपत्तेः। अन्यथा बाल्यमारभ्य देहेन्द्रियकृतकार्यस्मरणासंभवात्। स्मर्यते च मया बाल्ये कृतं कन्दुकखेलनमिति। नह्यात्मानेकत्वे एतत्स्मरणं घटते, अन्यकृते कर्मण्यन्यस्य स्मृत्यदर्शनात्। यतो बाल्यमारभ्य वृद्धत्वावसानकं कृतं कार्यं स्मर्यते, ततः प्रत्ययभेदेन प्रत्ययार्थस्य भेद इति प्रत्यक्षमसिद्धम्। व्यक्तिभेदादात्मनोऽपि भेद इत्यनुमानं च न सिद्ध्यति। स्थूलसूक्ष्मकारणदेहानां जाग्रत्स्वप्नदेहयोश्च भेदे सत्यपि अहंप्रत्ययार्थस्याऽऽत्मनो भेदाभावान्नानुमानसिद्धिः। श्रुतिस्त्वदितिर्देवा गन्धर्वा इत्यात्मोपाधिभेदान्वदति न त्वात्मभेदम्, सर्वत्र चैतन्यस्यैकरूपत्वान्नाऽऽत्मभेदोपपत्तिस्ततो देवगन्धर्वमनुष्यादिदेहाः सर्वे जाग्रत्स्वप्नादि-

---

यह व्याप्ति व्यभिचरित है। मैं शिशु हूँ, कुमार हूँ, युवा हूँ, वृद्ध हूँ, इस प्रकार बाल्य आदि अवस्थाके भेदसे अहंप्रत्ययका भेद होता है, क्योंकि उन-उन अवस्थाओंका भेद प्रत्यक्ष है। कौमारमें मैं शिशु हूँ, ऐसा प्रत्यय नहीं होता, क्योंकि उस प्रत्ययके उत्पादक शिशुपनेका अभाव है, इसी प्रकार यौवनमें और बूढ़ेपनमें अहंप्रत्ययका भेद होता है, तो भी शिशु आदि अवस्थावाले अहंप्रत्ययके अर्थ आत्माका भेद देखनेमें नहीं आता, इसलिए प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है। यदि कहो कि 'विशेषणके भेदसे विशिष्टका भी भेद होता है' इस न्यायसे अवस्थाके भेदसे अवस्थावालेका भी भेद है, तो शिशुपन आदिके अभिमानी अहङ्कारमें ही चरितार्थ होता है, नित्य आत्मा उसका विषय नहीं हो सकता यानी शिशुपन आदि अवस्थावाला अहङ्कार ही भेदवाला है, नित्य आत्मा भेदवाला नहीं है। यदि ऐसा न हो, तो बालकपनसे लेकर देह, इन्द्रियों द्वारा किये गयेका स्मरण न हो। स्मरण तो होता ही है कि बालकपनमें मैं गेंदसे खेलता था। आत्माके अनेक होनेमें यह स्मरण नहीं बन सकता, क्योंकि दूसरेसे किये गयेका दूसरेको स्मरण हो, ऐसा देखनेमें नहीं आता। बालकपनसे लेकर वृद्धावस्था तकके किये गये कार्यकी स्मृति होती इसलिए प्रत्ययके भेदसे प्रत्ययके अर्थका भेद है, यह प्रत्यक्ष प्रमाणसे सिद्ध नहीं होता। व्यक्तिके भेदसे आत्माका भी भेद है, ऐसा उक्त अनुमान भी सिद्ध नहीं होता, क्योंकि स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण देहोंका और जाग्रत् तथा स्वप्नके देहोंका भेद होनेपर भी अहंप्रत्ययके अर्थ आत्माका भेद नहीं है, इसलिए अनुमानकी सिद्धि नहीं होती। अदिति, देव, गंधर्व इत्यादि श्रुति तो आत्माकी उपाधिके भेदका अनुवाद करती है, आत्माके भेदका नहीं, क्योंकि चैतन्यके सर्वत्र एकरूप होनेसे आत्माका भेद उपपन्न नहीं है, इसलिए देव, गंधर्व मनुष्य आदि सब देह, जाग्रत्

देहवदात्मनो भोगायतनान्येव न त्वात्मभेदद्योतकाः । यथा स्थूलादिदेहैरेकस्यैवाऽऽत्मनो भोगो भिद्यते तथैव देवादिदेहैरपि । अतो देवादिदेहा भोगायतनान्येव भवन्ति, यतस्तेषु रूपतेजःस्वभावादीनामेव भेदो दृश्यते न तु चेतनस्य । तत एवाऽऽत्मविषयकोऽहमस्मीत्यहंप्रत्ययः सदैकरूपो भवति । तेन व्यक्तिभेदप्रतिपादनपरैव श्रुतिर्न त्वात्मभेदप्रतिपादनपरेति सिद्धम् । तथैव पुराणवचनं च । यथैकस्मिन्नेव देहेऽवयवभेदमुपाश्रित्य शिरः करः पाद इत्यादिव्यवहारास्तथात्मैकत्वेऽपि व्यक्तिभेदमुपाश्रित्य त्वमहमयमित्यादिव्यवहारः सिध्यति नाऽऽत्मभेदस्त्वपेक्ष्यते । एवं व्यवहारसिद्धावन्यथानुपपत्त्यसंभवान्नाऽर्थापत्तिश्च प्रमाणम् । यत्त्वसत्यात्मभेदे सुखदुःखादिव्यवस्था न सिद्ध्यतीति, तन्न; तस्याः कर्मैकनिबन्धनत्वादेकस्मिन्नेव देहे कर्मभेदेन सुखदुःखादिवैचित्र्यदर्शनात् सुखदुःखयोः पुण्यपापकार्यत्वेन तद्भेदाद्भोक्तृभेदाच्च सुखदुःखादिव्यवस्थोपपत्तेः 'यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते' इति, 'यथाकारी यथाचारी तथा भवति' इति श्रवणात्, ततो नाऽऽत्मैकत्वे सुखादिसांकर्यसिद्धिः । 'नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता' इति श्रवणात् फलभोक्तॄणामनेकत्वाच्च । सत्यप्यात्मैकत्वे तदाभासानामनेकत्वोपपत्तेः । यद्यप्यात्मैव सदा सर्वत्र जानाति तथापि तत्तद्देहे

स्वप्न आदिके देहोंके समान आत्माके भोगके स्थान ही हैं, आत्माके भेदको बतलानेवाले नहीं हैं । जैसे स्थूल आदि देहोंसे एक ही आत्माके भिन्न-भिन्न भोग होते हैं, वैसे ही देव आदि देहोंसे भी होते हैं, इसलिए देवादिके देह भी भोगके ही साधन हैं, क्योंकि उनमें रूप, तेज, स्वभाव आदिका ही भेद देखनेमें आता है, चैतन्यका नहीं, इसीलिए आत्मविषयक 'मैं हूँ' ऐसा अहंप्रत्यय सदा एक-सा ही होता है । इससे सिद्ध हुआ कि श्रुति व्यक्तियोंके भेदका ही प्रतिपादन करती है, आत्माके भेदका प्रतिपादन नहीं करती । इसी प्रकार पुराणका वचन भी उपपन्न होता है । जैसे—एक ही देहमें अवयवोंके भेदको लेकर सिर, हाथ, पैर इत्यादि व्यवहार होता है, वैसे ही आत्मामें एकत्व होनेपर भी व्यक्तियोंके भेदको लेकर 'तुम, मैं, यह' इत्यादि व्यवहार सिद्ध होता है, अतः उक्त व्यवहार आत्माके भेदकी अपेक्षा नहीं करता । इस प्रकार व्यवहारकी सिद्धिमें अन्यथा अनुपपत्तिका असंभव होनेसे अर्थापत्ति प्रमाण नहीं हो सकती । आत्माका भेद न होनेपर सुख-दुःख आदिकी व्यवस्था सिद्ध नहीं होगी, यह जो कहा था, वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि वह व्यवस्था कर्ममात्रसे हो सकती है; अतः एक ही देहमें कर्मके भेदसे सुख, दुःख आदिकी विचित्रता देखनेमें आती है, इसलिए पुण्य और पापके कार्य सुख, दुःख आदिकी कर्मके भेदसे और भोक्ताओंके भेदसे व्यवस्था उपपन्न है । 'जो कर्म करता है, उसके फलको प्राप्त करता है', 'जैसा करनेवाला और आचारवाला होता है, वैसा होता है' ऐसी श्रुति है, इसलिए आत्मामें एकत्व होनेपर भी सुखादिके सांकर्यकी प्रसक्ति नहीं होती । 'इसके सिवा दूसरा जाननेवाला नहीं है' ऐसी श्रुति है और फलके भोक्ता अनेक हैं, इसलिए आत्माका एकत्व होनेपर भी आत्माके आभासोंका अनेकत्व उपपन्न है । यद्यपि आत्मा ही सदा सर्वत्र जानता है, तो भी तत्-तत् देहमें तत्-तत् बुद्धिको

तत्तद्बुद्धिमुपादाय स्वयं जानाति, देहभेदाद् बुद्धिभेदस्य नियतत्वात्प्रतिदेहं ज्ञानं तु भिद्यते। ज्ञायते वस्त्वनेनेति ज्ञानं नाम बुद्धिवृत्तिः। सा च परिच्छिन्ना चक्षुरिव स्वसंपृक्तवस्तुमात्रप्रकाशिनी। वृत्तेः परिच्छिन्नत्वात् पदार्थैः सर्वैः संबन्धो न घटते। यदि सर्वपदार्थैः संबन्धः स्यात्तदा सर्वे सर्वज्ञा भवेयुस्तदभावान्न सर्वेषां सार्वज्ञ्यं सिध्यति। यथा विभोरपि महाकाशस्य शब्दसंभूतिहेतोः सर्वत्र भेरीपणवादिभिः संयोगे सत्यपि यत्र भेर्यादिस्ताड्यते तत्रैव शब्दोत्पत्तिर्न तु सर्वत्र, तथैवैकस्याऽऽत्मनः परिपूर्णस्याऽपि यत्र बुद्धिवृत्तेरर्थसंबन्धस्तत्रैव ज्ञानोदयो नाऽन्यत्र। ततो बुद्धिवृत्तीनामनेकत्वादव्यापकत्वाच्च सर्वेषां सार्वज्ञ्यं नोपपद्यत इति सिद्धम्। ततः किञ्चिज्ज्ञान् प्रति प्रवृत्तिनिवृत्तिहेतुत्वाद्विधिनिषेधशास्त्राणां सार्थक्यमेवोपपन्नं भवति। प्राणिनां सर्वज्ञत्वाभावस्य प्रतिपादितत्वाद्वेदान्तश्रवणजन्यज्ञानेन प्रत्यगभिन्नं परब्रह्म स्वात्मना यो विजानाति तस्यैव मुक्तिर्नेतरस्य। तथा च श्रुतिः—'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्' इति। तत आत्मैकत्वेऽपि मुक्तिरात्मज्ञानादेव सिध्यति, 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' इति नियमश्रवणात्। ततः आत्मैकत्वे नैवोक्तदोषाणामवकाशः। आत्मनामनेकत्वं पूर्णत्वं चाऽभ्युपगतवतस्तव

लेकर स्वयं जानता है, देहके भेदसे बुद्धिका भेद नियत होनेके कारण प्रत्येक देहमें ज्ञान तो भिन्न होता है। जिससे वस्तु जानी जाती है, वह ज्ञान है अर्थात् बुद्धिकी वृत्तिका नाम ज्ञान है। वह वृत्ति परिच्छिन्न होनेके कारण चक्षुके समान अपनेसे संबद्ध वस्तुका ही प्रकाश करती है। वृत्ति परिच्छिन्न है, अतः सब पदार्थोंसे उसका सम्बन्ध नहीं हो सकता। यदि वृत्तिका सब पदार्थोंसे संबन्ध होता, तो सब सर्वज्ञ हो जाते, परन्तु ऐसा है नहीं, इसलिए सबमें सर्वज्ञत्व सिद्ध नहीं होता। जैसे व्यापक महा आकाश शब्दकी उत्पत्तिका हेतु है और उसका भेरी (नगाड़ा), पणव आदिसे यद्यपि सर्वत्र संबन्ध है, तथापि जहां भेरी आदिका ताडन किया जाता है, वहीं शब्दकी उत्पत्ति होती है, सर्वत्र नहीं होती, वैसे ही एक परिपूर्ण आत्माका जहां बुद्धिकी वृत्तिके द्वारा पदार्थसे संबन्ध होता है, वहीं ज्ञानका उदय होता है, अन्यत्र नहीं होता। इसलिए बुद्धिकी वृत्तियोंके अनेक और अव्यापक होनेके कारण सब सर्वज्ञ नहीं हो सकते, ऐसा सिद्ध हुआ। इसलिए अल्पज्ञ पुरुषोंके लिए प्रवृत्ति और निवृत्तिके हेतु विधिनिषेधशास्त्रोंका सार्थकत्व भी होता है। प्राणियोंकी सर्वज्ञताके अभावका प्रतिपादन होनेसे वेदान्तके श्रवणसे उत्पन्न हुए ज्ञानसे जो प्रत्यगभिन्न परब्रह्मको अपने आत्माके रूपसे जानता है, उसकी मुक्ति होती है, अन्यकी नहीं। जैसे कि श्रुति है—'जो जो देवताओंमें उसको जानता है, वह वही होता है, उसी प्रकार ऋषियोंमें और उसी प्रकार मनुष्योंमें'। इसलिए आत्माका एकत्व होनेपर भी मुक्ति आत्मज्ञानसे ही सिद्ध होती है, क्योंकि 'ज्ञानसे ही कैवल्य होता है, ऐसा नियम सुना जाता है, इसलिए आत्माके एकत्वमें कहे हुए दोषोंका अवकाश ही नहीं है। आत्मामें अनेकत्व और पूर्णत्व माननेवाले तुम्हारे पक्षमें ही ये

पक्ष एवाऽमी दोषाः संप्रसज्यन्ते। तदुच्यते—आत्मनामनेकत्वे विभुत्वे चाऽभ्युपगते सत्यन्योन्येषामन्योन्यमनोबुद्ध्यादिभिः संयोगः संभवति। तेनोक्तरीत्या सुखदुःखबन्धमोक्षादीनां सांकर्यं च प्रसज्यते। नैक एष एवाऽनर्थः, अपि तु विभुत्वाद्यसिद्धिश्च। तथाहि—यद्यद्वस्तु स्वेतरभेदवत् तत्तत् परिच्छिन्नमित्यात्मनामनेकत्वे सत्यन्योन्यसत्ताभिरन्योन्यभेदवत्त्वेन परिच्छिन्नत्वात् पूर्णत्वं न सिध्यति। पूर्णत्वेऽङ्गीक्रियमाणे त्वनेकत्वं च न सिध्यति, पूर्णत्वानेकत्वयोः परस्परविरोधादात्मनां पूर्णत्वमनेकत्वं च ब्रह्मणाऽपि निर्वोढुं न शक्यते। ततो भवताऽप्यात्मैकत्वमेवाऽभ्युपगन्तव्यम्। किञ्च, परिच्छिन्नाश्चिद्रूपाश्चाऽनेके चाऽऽत्मान इति यः पक्षः सोऽपि न सिध्यति, बहुश्रुतिस्मृतियुक्तिविरोधात्। 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः', 'एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा', 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः', 'एकः सन् बहुधा विचचार', 'एक एव हि भूतात्मा', 'निरपेक्ष एक एव साक्षी एकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वं', 'अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्। महान्तं विभुमात्मानम्' इत्यादिश्रुतिभिः। 'नित्यः सर्वगतः स्थाणुः', 'नित्यः सर्वगतोऽप्यात्मा कूटस्थो दोषवर्जितः। एकः सन् भिद्यते भ्रान्त्या मायया न स्वरूपतः' इत्यादिस्मृतिभिश्च। आत्मा सर्वशरीरेष्वेक एव भवितुमर्हति, पूर्णत्वाद् घटादिष्वाकाशवत्। आत्मा एक एव भवति, निष्कलत्वात्सर्वप्रका-

दोष प्रसक्त होते हैं। उन्हींको कहते हैं—आत्माओंका अनेकत्व और विभुत्व माननेसे दूसरोंका दूसरेके मन, बुद्धि आदिसे संयोग हो जायगा। इस परिस्थितिमें उक्त प्रकारसे सुख, दुःख, बंध, मोक्ष आदिका सांकर्य प्रसक्त होगा, यानी एकके सुख, दुःख आदि दूसरेको भी भासने लगेंगे, ऐसा प्रसंग होगा। एक यही अनर्थ नहीं है, किन्तु विभुत्व आदिकी सिद्धि भी नहीं होगी। जैसे कि जो जो वस्तुएँ अपने और दूसरेके भेदसे युक्त होती हैं, वे सब परिच्छिन्न होती हैं, इस अनुमानसे आत्माओंका अनेकत्व होनेपर एक दूसरेकी सत्ताओंसे एक दूसरेका भेद होगा, इस अवस्थामें परिच्छिन्नत्व प्राप्त होनेसे पूर्णत्वकी सिद्धि नहीं होगी और पूर्णत्वके माननेपर तो अनेकत्व ही सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि पूर्णत्व और अनेकत्व परस्पर विरुद्ध हैं अतः आत्मामें पूर्णत्व और अनेकत्वका ब्रह्मा भी निर्वाह नहीं सकते, इसलिए आपको भी आत्माका एकत्व ही मानना चाहिए। एवं आत्मा परिच्छिन्न, चिद्रूप और अनेक हैं, यह जो पक्ष था, वह भी सिद्ध नहीं होता, क्योंकि बहुतसी श्रुति, स्मृति और युक्तियोंसे विरोध है, क्योंकि 'आकाशके समान सर्वव्यापक और नित्य', 'एक और सर्वभूतोंका अन्तरात्मा', 'एक देव सब भूतोंमें गूढ़', 'एक होकर बहुत प्रकारसे विचरा', 'एक ही भूतात्मा है', 'निरपेक्ष साक्षी एक ही है', 'उस पुरुषसे यह सब पूर्ण है', 'शरीरोंमें अशरीर अनवस्थितोंमें अवस्थित, महान् विभु आत्माको' इत्यादि श्रुतियाँ हैं। एवं 'नित्य, सर्वगत, स्थाणु', 'नित्य, सर्वगत, कूटस्थ, दोषरहित आत्मा एक होकर भी भ्रान्तिरूप मायासे भिन्न है, स्वरूपसे नहीं' इत्यादि स्मृतियाँ हैं। सब शरीरोंमें एक ही आत्मा होना चाहिए, क्योंकि वह घट आदिमें आकाशके समान पूर्ण है। आत्मा एक ही है, क्योंकि

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ १३ ॥

शरीरमें स्थित आत्माके इस देहमें जैसे बाल्य, यौवन और जीर्ण शरीर प्राप्त होते हैं, वैसे ही इस स्थूल शरीरको छोड़नेके बाद दूसरा शरीर भी मिलता है, अतः विद्वान् आत्माके नित्यत्वमें संशय नहीं करते ॥ १३ ॥

शकत्वात्सर्वसाक्षित्वात् सर्वत्राऽहंप्रत्ययार्थत्वाच्चेत्येवमादियुक्तिभिश्चाऽऽत्मनः पूर्णतैवाऽवध्रियते । निरुक्तश्रुतिस्मृतियुक्तिप्रामाण्यादेक एवाऽऽत्मेति सिद्धान्तः । यतोऽहं त्वं चेमे जनाधिपाश्च पूर्वोक्तरीत्या भूतभविष्यद्वर्तमानकालेषु कचिदपि न भविष्याम इति न, किन्तु भविष्याम एव । त्रिष्वपि कालेषु सत्तावन्त एव स्मस्ततोऽहं त्वं चेमे च सर्वे वयं परं ब्रह्मैव—प्रपञ्चतदभिमान्यादिसर्वदृश्यकल्पनाधिष्ठानभूतं निष्कलं निष्क्रियं शान्तमनन्तं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यज्ञानानन्दाद्वयं ब्रह्मैव स्मः । 'भोक्ता भोज्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्', 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' इति च श्रवणात् त्वां च मां चैतांश्च सर्वान् परं ब्रह्मेवेति जानीहीत्यर्थः ॥ १२ ॥

एवं तत्त्वंपदार्थयोः श्रुतियुक्तिभिः शोधितयोर्द्वयोरेकत्वे प्रतिपादिते सत्यपि त्वंपदार्थस्याऽऽत्मनोऽविद्यातत्कार्यकोटिभिस्तिरोहितत्वादतिसूक्ष्मत्वात् दुर्विज्ञेयत्वाच्च श्रोतुर्मुमुक्षोर्मन्दप्रज्ञस्य यावदप्रतिबद्धापरोक्षं तावत् 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' इति

निष्कल है, सबका प्रकाशक है, सर्वसाक्षी है और सर्वत्र अहंप्रत्ययका अर्थ है, इत्यादि युक्तियोंसे आत्मामें पूर्णत्वका निर्धारण होता है । कही हुई श्रुति, स्मृति और युक्तियाँ प्रमाण हैं, अतः एक ही आत्मा है, ऐसा सिद्धान्त है । जिस कारणसे मैं, तुम और ये राजा आदि हम सब भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालोंमें कहीं न हों, ऐसा नहीं है, किन्तु सभी तीनों कालोंमें ही सत्तावाले हैं, इसलिए मैं, तुम और ये—हम सब परब्रह्म ही हैं—प्रपञ्च और प्रपञ्चके अभिमानी आदि सब दृश्य कल्पनाका अधिष्ठानरूप निष्कल, निष्क्रिय, शान्त, अनन्त, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य, ज्ञान, आनन्द और अद्वयरूप ब्रह्म ही हैं । भोक्ता, भोज्य, प्रेरिताको जानकर तीन प्रकारका यह ब्रह्म ही कहा है', 'ब्रह्म ही यह सब है', ऐसा सुननेसे भी तुम, मैं और ये सब परब्रह्म ही हैं, ऐसा जानो, यह अर्थ है ॥ १२ ॥

यद्यपि इस प्रकार तत् और त्वम् दोनों पदार्थोंका श्रुतियोंसे और युक्तियोंसे शोधन किया और शोधन करके उनके एकत्वका प्रतिपादन किया, तथापि त्वंपदार्थ आत्मा अविद्या और अविद्याके करोड़ों कार्योंसे तिरोहित है यानी छिपा हुआ है, सूक्ष्म है और दुर्विज्ञेय है, इसलिए मंदबुद्धिवाले श्रोता मुमुक्षुको जबतक उसका प्रतिबन्धरहित अपरोक्ष ज्ञान न हो, तबतक 'बार बार उपदेश होनेसे

न्यायेन पुनः पुनस्त्वंपदार्थशोधनमेव सम्यक्कर्तव्यमिति सूचयितुमुत्तरग्रन्थमारभते। तत्र पूर्वं त्वंपदार्थस्याऽऽत्मनः कालत्रयेऽपि सद्भावे प्रतिपादिते सत्यप्येतद्देहनाशानन्तरं सत्ता न दृश्यते कथं तत्र सद्भाव इति शङ्कावन्तमर्जुनमालक्ष्य आत्मनो देहान्तरेऽपि सत्तां सदृष्टान्तं प्रत्यक्षानुमानाभ्यामवगमयितुमाह—**देहिन इति**।

अस्मिन् देहे त्वविक्रियात्मनैवैकरूपेणाऽहमहमिति सर्वदा तिष्ठत एव देहिनो देह एवाऽऽत्मोपलम्भादात्मा देहीत्युच्यते। तस्य देहिनो देहोपाधिमत आत्मनः कौमारं कुमारस्येदं कौमारम्, वपुरिति शेषः। यून इदं यौवनं वपुः। जरा जरोपलक्षितं जीर्णवपुश्च यथा येन प्रकारेणाऽऽयाति, कौमारं जहतः सत एव यौवनम्, यौवनं जहतः सत एव जरठं वपुरन्वागच्छति, तथैव एतत् स्थूलं जहतः सत एव देहान्तरमन्यो देहश्चाऽऽयात्यविनश्यत एवाऽऽत्मनः, 'जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते' इति श्रवणात्। किञ्च, जाग्रत्स्वप्नदेहयोः सुषुप्तौ नाशे सत्यात्मसद्भावो न ज्ञायते, तथापि सुषुप्तोत्थितः स्वयं यः स्वप्नमद्राक्षं यः सुखमस्वाप्सं सोऽहमिदानीं जागर्मीति स्वप्रत्यभिज्ञाबलेन जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिष्वात्मनः सत्त्वं नित्यत्वं च यथा जानाति तथा एतद्देहनाशानन्तरमप्यात्मनः सत्त्वं नित्यत्वं च विज्ञाय धीरो विद्वान् आत्मतत्त्वज्ञः

आवृत्ति करनी चाहिए' इस न्यायसे बार-बार त्वंपदार्थका शोधन ही भली-भाँति करना चाहिए, ऐसा सूचन करनेके लिए आगेके ग्रन्थका आरंभ किया जाता है। उसमें पहले त्वंपदार्थका तीनों कालोंमें सद्भाव है, ऐसा प्रतिपादन होनेपर भी इस देहके नाशके पीछे उसकी सत्ता देखनेमें नहीं आती, अतः उसका सद्भाव कैसे है? ऐसी शङ्कावाले अर्जुनको देखकर दूसरे देहमें भी आत्माकी सत्ता है, ऐसा दृष्टान्तके साथ प्रत्यक्ष और अनुमानसे—समझानेके लिए कहते हैं—**'देहिनोऽ०'** इत्यादि।

इस देहमें अविकारी एकस्वरूपसे 'मैं हूँ' इस प्रकार सदा अवस्थित देहीका—देहमें ही आत्माकी उपलब्धि होनेसे आत्मा देही कहलाता है, उसका—अर्थात् देहरूप उपाधिवाले आत्माका—कौमार (कुमारका शरीर), यौवन (युवाका शरीर) और जरा (जरासे उपलक्षित जीर्ण शरीर) जिस प्रकारसे आता है अर्थात् कौमारके छोड़नेपर ही यौवन, यौवनके छोड़नेपर ही बुढ़ापेका शरीर आ जाता है, इसी प्रकार इस स्थूल शरीरके छोड़नेपर ही दूसरा शरीर आता है, आत्माका नाश नहीं होता, क्योंकि 'जीवसे रहित ही यह मर जाता है, जीव नहीं मरता' ऐसी श्रुति है। यद्यपि जाग्रत् और स्वप्नकी दोनों देहोंका सुषुप्तिमें नाश होनेपर आत्माका सद्भाव जाननेमें नहीं आता, तो भी सुषुप्तिसे उठकर जिसने स्वप्न देखा था, जो सुखसे सोया था, वही मैं अब जागता हूँ, ऐसी अपनी प्रत्यभिज्ञाके बलसे जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीनोंमें आत्माकी सत्ता और उसका नित्यत्व जैसे जानता है, वैसे ही इस देहके नाशके बाद भी आत्माका सत्त्व और नित्यत्व जानकर धीर—आत्मतत्त्वज्ञ विद्वान्—इस आत्माके नित्यत्वके विषयमें मोहित

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥ १४ ॥

हे कौन्तेय, चक्षु, वाक् आदि इन्द्रियोंसे गृहीत होनेवाले शब्द आदि भोग्य पदार्थ शीत और उष्णकी तरह सुख और दुःखको देनेवाले हैं, वे उत्पत्ति एवं विनाशशील होनेके कारण अनित्य हैं—चिरस्थायी नहीं हैं, अतः हे भारत, उन्हें तुम सहन करो ॥ १५ ॥

अतस्तत्राऽऽत्मनो नित्यत्वविषये न मुह्यति—आत्मा गतजन्मन्यन्नाद्याहारवान् भवितु-मर्हति, इदानीं स्वयमुपदेशमन्तरेणैव स्तन्याहारप्रवृत्तत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा प्रतिमादिः; आत्मा देहान्तरेष्वागच्छत्सु सत्सु तिष्ठति, नित्यत्वात्, यथाऽत्र कौमारादिदेहेषु प्राप्तेषु सत्सु तिष्ठति तथेत्युक्तप्रत्यक्षश्रुत्यनुमानैरात्मनो जन्मान्तरेषु सद्भावं विज्ञाय तेन नित्यत्वमेव निश्चित्याऽऽत्माऽस्ति वा न वेति पण्डितो न भ्रमतीत्यर्थः ॥ १३ ॥

यद्यपि प्रत्यक्षानुमानश्रुतिभिस्त्वंपदलक्ष्यार्थं आत्मा नित्य एवेति विजानामि तथापि भीष्मादिशब्दवाच्यार्थानां म्रियमाणानां वियोगजं दुःखं सोढुं न शक्यत इत्याशयवन्तमर्जुनमालक्ष्य ब्रह्मविद्भिरनात्मविषयकसुखदुःखानुसंधानं न कर्तव्यम्, किन्तु शरीरान्तरासत्त्या प्रारब्धवशात् प्राप्तमप्याध्यात्मिकादि त्रिविधदुःखं यत्, तत् सोढ्वा तीव्र-मुमुक्षया सदा ब्रह्मानुसंधानमेव कर्तव्यमिति सूचयितुमाह—**मात्रास्पर्शा इति** ।

चक्षुरादिज्ञानेन्द्रियैः सामान्येन मीयन्त इति मात्राः । वागाद्युभयेन्द्रियैः

नहीं होता । आत्मा पिछले जन्ममें अन्न आदि आहारवाला होना चाहिए, क्योंकि इस जन्ममें बिना उपदेशके ही स्तन्य पीनेमें प्रवृत्त होता है, जो ऐसा नहीं होता, वह ऐसा नहीं होता, जैसे प्रतिमा आदि । आत्मा दूसरे देहोंके आनेपर स्थित रहता है, क्योंकि वह नित्य है, जैसे यहाँ कौमार आदि देहोंके प्राप्त होनेपर स्थित रहता है, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए, इन कहे हुए प्रत्यक्ष, श्रुति और अनुमानोंसे दूसरे जन्मोंमें आत्माका सद्भाव जानकर, इससे उसके नित्यत्वका ही निश्चय करके आत्मा है या नहीं ? ऐसा भ्रम पंडित नहीं करते, यह अर्थ है ॥१३॥

यद्यपि प्रत्यक्ष, अनुमान और श्रुतियोंसे त्वंपदका लक्ष्य अर्थ आत्मा नित्य ही है, ऐसा मैं जानता हूँ, तो भी मरनेवाले भीष्म आदि शब्दोंके वाच्य अर्थोंके वियोगसे उत्पन्न हुए दुःखको मैं सह नहीं सकता, ऐसे अभिप्रायवाले अर्जुनको देखकर ब्रह्मज्ञानियोंको अनात्मविषयक सुख-दुःखोंका अनुसंधान नहीं करना चाहिए, किन्तु दूसरे शरीरकी प्राप्तिसे प्रारब्धवश प्राप्त हुए जो आध्यात्मिक आदि तीन प्रकारके दुःख हैं, उनको सहकर तीव्र मोक्षकी इच्छासे सदा ब्रह्मका ही अनुसंधान करना चाहिए, ऐसा सूचन करनेके लिए कहते हैं—**'मात्रास्पर्शा०'** इत्यादिसे ।

चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा जो सामान्यरूपसे जाने जाते हैं, वे मात्रा हैं । वागादि दोनों

स्पृश्यन्ते गृह्यन्त इति स्पर्शाः शब्दादयो भोग्यपदार्थाः स्वयं शीतोष्णसुखदुःखदाः शीतोष्णवत् सुखदुःखदाः। शीतोष्णावनुकूलौ प्रतिकूलौ च सन्तौ यथा सुखं दुःखं ददते, तथैव शब्दादयोऽप्यनुकूलाः प्रतिकूलाश्च सन्तः सुखं दुःखं च च ददत इत्यर्थः। यद्वा शब्दादयः प्रतिकूलमनुकूलं वा शीतमुष्णं वाऽप्यध्यात्ममुत्पाद्य तद्द्वारा साक्षाद्वा सुखं दुःखं च ददतीति शीतोष्णसुखदुःखदाः। ननु विषयेन्द्रियसंयोगस्य नित्यत्वात्तन्निमित्तकसुखदुःखयोरपि नित्यत्वे सत्यात्मविदस्तदनुसंधानं विना ब्रह्मानुसंधिः कथं सिध्यतीत्यत आह—**आगमेति**। आगम उत्पत्तिरपायो विनाशस्तद्वन्तो विषयास्तज्जन्यसुखदुःखादयश्च तडिद्वदनित्यास्तान् क्षणकालावस्थायिनो विषयान् तत्संयोगवियोगांश्च तितिक्षस्व। भारत भा ब्रह्मविद्या तस्यामेव रमत इति भारत हे कौन्तेय, मुमुक्षोर्नित्यसुखार्थिनः प्रारब्धादागतानां सुखदुःखादीनां सहनमवश्यं कर्तव्यम्, तत्सहनं कुर्वत एव श्रवणादि तज्जन्यं ज्ञानं तत्फलं चाऽपि सिद्ध्यत्यतस्त्वमेतेषां समागमसुखवद्वियोगदुःखं च सहस्व। प्रतिक्रियाचिन्ताविषादराहित्येन प्राप्तदुःखसहनं मुमुक्षोरुत्तमो धर्मः। तथा च श्रुतिः—'वृक्ष इव तिष्ठासेच्छिद्यमानो न कुप्येत न कम्पेत। उपल इव तिष्ठासे-

---

प्रकारकी इन्द्रियोंसे जो स्पर्श किये जाते हैं अर्थात् जिनका ग्रहण किया जाता हैं, वे स्पर्श अर्थात् शब्द आदि भोग्य पदार्थ हैं, ये स्वयं शीत और उष्णके समान सुख-दुःख देनेवाले हैं। शीत और उष्ण दोनों जैसे अनुकूल और प्रतिकूल होकर सुख और दुःख देते हैं, वैसे ही शब्द आदि भी अनुकूल और प्रतिकूल होकर सुख और दुःख देते हैं, यह अर्थ है। अथवा शब्द आदि प्रतिकूल और अनुकूलको अथवा शीत और उष्णको आत्मामें उत्पन्न करके उसके द्वारा अथवा साक्षात् सुख और दुःख देते हैं, इस प्रकार शीतोष्णसुखदुःखदाशब्दका अर्थ है।

विषय और इन्द्रियोंका संयोग नित्य है, इसलिए संयोगके निमित्तसे होनेवाले सुख-दुःख भी नित्य हैं, अतः सुखदुःखके अनुसंधानके बिना ब्रह्मका अनुसंधान कैसे हो सकता है, इस शङ्काके उत्तरमें कहते हैं—**आगमेति**। आगम (उत्पत्ति) और अपाय (नाश) इन दोनोंसे युक्त विषय और उन विषयोंसे जन्य सुख, दुःख आदि बिजलीके समान अनित्य हैं, उन क्षणकालतक स्थायी विषयोंको और उनके संयोग एवं वियोगोंको सहन करो। हे भारत, भा ब्रह्मविद्या है, उसमें जो रमता है, वह भारत कहलाता है, हे कौन्तेय, मुमुक्षुको यानी नित्य सुख चाहनेवालेको प्रारब्धसे प्राप्त हुए सुख, दुःख आदिको अवश्य ही सहन करना चाहिए, उन्हें सहन करनेवालेको ही श्रवणादिसे जन्य ज्ञान और ज्ञानका फल मोक्ष सिद्ध होता है, इसलिए तुम जैसे उनके समागमके सुखको सहते हो, वैसे ही उनके वियोगके दुःखको भी सहन करो। प्रतिक्रिया यानी दुःखके हटानेका उपाय, चिन्ता और विषाद आदिको छोड़कर दुःखको सहन करना मुमुक्षुका उत्तम धर्म है। जैसे कि श्रुति है—'वृक्षके समान स्थित होवे, छेदन करनेपर भी कोप न करे,

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १५ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन, सुख और दुःखमें समान रहनेवाले जिस तत्त्वज्ञानी पुरुषको शीत, उष्ण आदि विषय किसी प्रकारकी बाधा नहीं पहुँचाते, वह ब्रह्मभावको प्राप्त होता है ॥ १५ ॥

च्छिद्यमानो न कुप्येत न कम्पेत' इति । देहेन्द्रियादयः शब्दादयश्चाऽनित्याः, आगमापायित्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथाऽऽत्मेति; आत्मा नित्यः, सदागमापायसाक्षित्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा देह इत्याद्यनुमानेन देहेन्द्रियादीनामनित्यत्वं तत्साक्षिण आत्मनो नित्यत्वं चाऽत्रापि सूचितं भवति ॥ १४ ॥

तितिक्षुत्वमेव विवेकवैराग्यशमदमसंन्याससहितं श्रवणादिसाधनं सत्तज्जन्यज्ञानद्वारा मोक्षफलदं भवतीत्याह—यं हीति ।

सर्वदुःखसहनपूर्वकं निरन्तरब्रह्मनिष्ठया यः कैवल्यं संपादयति स एव पुरुषोत्तम इति सूचयितुमिदं संबोधनम् । हे पुरुषर्षभाऽर्जुन, धीरं विषयग्रहणेभ्यो धियं राति निगृह्णातीति धीरः सदात्मनिष्ठस्तम्, अतएव समदुःखसुखं समे दुःखसुखे यस्य तं सुखदुःखयोः प्राप्तयोरविकारात्मना तिष्ठन्तम् । यद्वा समे समभावं ब्रह्मभावं गमिते दुःखसुखे यस्य तम् । यं पुरुषं ब्रह्मविदमेते शीतोष्णादयो न व्यथयन्ति न बाधन्ते

न कांपे इत्यादि ।' देह, इन्द्रिय आदि और शब्दादि अनित्य हैं, क्योंकि वे उत्पत्ति और नाशवाले हैं, जो ऐसा नहीं होता, वह वैसा भी नहीं होता, अर्थात् जो उत्पत्ति और नाशवान् नहीं होता वह अनित्य भी नहीं होता, जैसे आत्मा । और आत्मा नित्य है, क्योंकि वह उत्पत्ति और नाशवालोंका साक्षी है, जो ऐसा नहीं होता, वह ऐसा नहीं होता, जैसे देह, इत्यादि अनुमानसे देह इन्द्रिय आदि अनित्य हैं और उनका साक्षी आत्मा नित्य है, ऐसा यहाँ भी सूचित होता है ॥ १४ ॥

विवेक, वैराग्य, शम, दम और संन्याससे सहित तितिक्षा ही श्रवण आदिकी साधन है और श्रवणादिजन्य ज्ञानके द्वारा मोक्षफलको देनेवाली है, ऐसा कहते हैं—'**यं हि**' इत्यादिसे ।

सब दुःखोंके सहनपूर्वक निरन्तर ब्रह्मनिष्ठासे जो कैवल्य संपादन करता है, वही पुरुषोत्तम है, ऐसा सूचन करनेके लिए यह संबोधन है । हे पुरुषार्षभ अर्जुन, जिस धीर यानी विषयोंका ग्रहण करनेसे जो धीको—बुद्धिको—रोकता है, वह धीर अर्थात् सदात्मनिष्ठ कहलाता है, इसीलिए समदुःखसुख यानी जिसको दुःख, सुख समान हैं—जो सुख दुःख के प्राप्त होनेपर अविकारीरूपसे स्थित रहनेवाला है—अथवा जिसके दुःख सुख सम हो गये हैं यानी समभावको—ब्रह्मभावको—प्राप्त हो गये हैं, ऐसे ब्रह्मज्ञानी पुरुषको ये शीत, उष्ण आदि

नाऽसतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ १६ ॥

सत् वस्तुसे विलक्षण असद्रूप इस जगत्की सत्ता (अस्तिता) नहीं हो सकती और सत्स्वरूप ब्रह्मकी असत्ता (अभाव) नहीं हो सकती, इस प्रकार तत्त्वदर्शियोंने सत् और असत्के विषयमें निश्चय किया है ॥ १६ ॥

निष्ठातो न चालयन्ति स एवामृतत्वाय यदज्ञानात् मृतं मरणं जन्म च पुंसस्तदमृतं ब्रह्म, 'एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म' इति श्रवणात्, तद्भावायाऽमृतत्वाय कल्पते । मुक्तो भवतीत्यर्थः । 'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति सर्वमात्मानं पश्यति', 'अभयं वै ब्रह्म', 'अभयं हि वै ब्रह्म भवति' इत्येतच्छ्रुतिप्रसिद्धिद्योतनार्थो हिशब्दः ॥ १५ ॥

ननु सर्वत्र विद्यमानानां शब्दादीनामनुसंधिं सुतरां त्यक्त्वा सदा ब्रह्मैवाऽनुसंधातुं न शक्यत इत्याशङ्कायां ब्रह्माऽतिरिक्तस्य वस्तुनोऽभावाद्ब्रह्मण एव पूर्णत्वान्निरन्तरत्वाच्च मुमुक्षोः सदा तदेवाऽनुसंधातव्यमिति सूचयितुं ब्रह्मण एव सत्तां तदन्यस्य त्वसत्तां च प्रतिपादयति—**नाऽसत इति** ।

सदित्यस्तितामात्रं वस्तु सर्वगतं सूक्ष्ममेकमेकरसं नित्यं निरवयवं निरञ्जनं विज्ञानं यदवगम्यते सर्ववेदान्तेभ्यः एतद्विलक्षणमसच्छब्दादिलक्षणं जगत्तस्यैतस्य

व्यथा नहीं पहुँचाते—पीड़ा नहीं देते—अर्थात् निष्ठासे चलायमान नहीं करते, वही पुरुष अमृतत्वके लिए समर्थ होता है यानी जिसके अज्ञानसे पुरुषका मरण और जन्म होता है, वह अमृत ब्रह्म है, क्योंकि 'यह अमृत है, यह अभय है, यह ब्रह्म है' ऐसी श्रुति है, उस ब्रह्मभावके लिए यानी अमृतत्वके लिए समर्थ होता है अर्थात् मुक्त होता है, यह भाव है । 'शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु और समाहित होकर आत्मामें ही आत्माको देखता है, सबको आत्मा देखता है', 'अभय ब्रह्म ही है', 'अभय ही निश्चय ब्रह्म है' इत्यादि श्रुतियोंकी प्रसिद्धि सूचन करनेके लिए श्लोकमें 'हि' शब्द कहा गया है ॥ १५ ॥

सर्वत्र विद्यमान शब्दादिके अनुसंधानको बिलकुल छोड़कर केवल ब्रह्मका अनुसंधान सदा नहीं किया जा सकता, ऐसी आशङ्का होनेपर ब्रह्मके सिवा अन्य वस्तुका अभाव है, ब्रह्म पूर्ण है और अन्तररहित है, इसलिए मुमुक्षुको उसीका अनुसंधान करना चाहिए, ऐसा सूचन करनेके लिए ब्रह्मकी ही सत्ता और ब्रह्मके सिवा अन्यकी असत्ताका प्रतिपादन करते हैं— **'नाऽसतो'** इत्यादिसे ।

सत् यानी अस्तितामात्र वस्तु, जो सर्वगत, सूक्ष्म, एकरस, नित्य, निरञ्जन, विज्ञान और सब वेदान्तोंसे जानी जाती है, उस वस्तुसे विलक्षण असत् शब्दादिसे कहलानेवाले जगत्की सत्ता

भावः सत्ता न विद्यते नाऽस्ति। सति स्वरूपेण वस्तुनि सत्ता संपद्यते, तदभावात् सत्ताभावः। असदात्मनो जगतः सत्त्वे प्रमाणाभावात्। नन्वस्त्वेव प्रत्यक्षादि-प्रमाणमिति चेत्, त्वमत्र प्रष्टव्यः; तत्सत्त्वे प्रमाणं किं प्रत्यक्षम्? अनुमानं वा किमु-पमानं वा उत शब्दो वा? नाऽऽद्यः, 'इदं रजतम्, प्रादेशमात्रश्चन्द्रः' इत्यादौ व्यभि-चारदर्शनात्। तत्र प्रमाणप्रमेययोः सम्यक्संसर्गाभावाद्व्यभिचारः, तदन्यत्र प्रामाण-मेवेति चेत्, न; दारुणि गज इति मृदि घट इति विपरीतग्रहदर्शनाद्व्यभिचारानु-च्छित्तेः। न द्वितीयः, त्वत्पक्षे प्रपञ्चस्य प्रत्यक्षत्वात्तत्राऽनुमानानुपपत्तेः। नाऽपि तृतीयः, गोसदृशो गवय इतिवत्, तत्सदृशं जगदिति सादृश्यासंभवात्, अस्त्येव सादृश्यं स्वप्ने इति चेत्? तथात्वे मिथ्यात्वेऽपि तत्सादृश्यापत्तेः। नैव चतुर्थः, विकल्पो नहि वस्तु, नह्यस्ति द्वैतसिद्धिः असत्त्वादन्यस्येति जगतोऽसत्त्वश्रुतिं विना श्रुतिभ्यस्तत्सद्भावाश्रवणात्। ननु 'आत्मन आकाशः संभूतः' इति, 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इति च ब्रह्मणः सकाशाज्जगदुत्पत्तिः श्रूयतेऽतो ब्रह्मकार्यत्वेन जगतोऽस्तित्वे श्रुतिरस्त्येव प्रमाणमिति चेत्, त्वमत्र प्रष्टव्यः; ब्रह्मकार्यं यज्जगदस्ति

नहीं है यानी अस्तित्व नहीं है। जो स्वरूपसे सत् वस्तु है, उसमें सत्ता रहती है और जो स्वरूपसे सत् वस्तु नहीं है, उसमें सत्ताका अभाव होता है। इसलिए असत्स्वरूप जगत्की सत्तामें कोई प्रमाण नहीं है। यदि कहो कि प्रत्यक्ष आदि प्रमाण हैं ही, तो इस विषयमें तुमसे यह प्रश्न होगा कि जगत्के सत्य होनेमें प्रमाण प्रत्यक्ष है या अनुमान है या उपमान है अथवा शब्द है? प्रत्यक्ष तो प्रमाण है नहीं, क्योंकि यह रजत है, प्रादेशमात्र यानी छोटा-सा चन्द्र है, इत्यादिमें व्यभिचार देखनेमें आता है। यदि कहो कि रजत और चन्द्र इनमें प्रमाण और प्रमेयका सम्यक् संसर्ग यानी ठीक-ठीक संबन्ध नहीं है, इसलिए व्यभिचार है, परन्तु इनसे अन्यत्र तो वह प्रमाण है ही, तो ऐसा भी कहना युक्त नहीं है, क्योंकि लकड़ीमें हाथी, मिट्टीमें घट, ऐसा विपरीत ज्ञान देखनेमें आता है, इसलिए व्यभिचारका अभाव नहीं है यानी व्यभिचार है ही। दूसरा पक्ष—अनुमान प्रमाण—भी नहीं हो सकता, क्योंकि तुम्हारे पक्षमें प्रपंच प्रत्यक्ष है, प्रत्यक्षमें अनुमान उपपन्न नहीं है। तीसरा पक्ष उपमान प्रमाण भी नहीं है, क्योंकि जैसे गऊके समान गवय है, वैसे अमुके समान जगत् है, यों सादृश्यका असंभव है। यदि कहो कि जैसा स्वप्न है, वैसा जगत् है, यह सादृश्य है, तो वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा होनेपर स्वप्नके मिथ्यात्वके साथ जगत्का भी सादृश्य प्राप्त हो जायगा। चौथा शब्द प्रमाण भी नहीं हो सकता, क्योंकि विकल्प वस्तु नहीं है, द्वैतकी सिद्धि नहीं है, क्योंकि दूसरेका असत्त्व है, इस प्रकार जगत्के असत्त्व श्रवणको छोड़कर श्रुतियोंसे जगत्का सद्भाव सुननेमें नहीं आता।

'आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ', 'जिससे ये सब भूत उत्पन्न होते हैं' इत्यादि श्रुतियोंसे ब्रह्मसे जगत्की उत्पत्ति सुननेमें आती है। जगत् ब्रह्मका कार्य है, इसलिए जगत्के अस्तित्वमें श्रुति प्रमाण है ही, ऐसी यदि शङ्का हो, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि इस विषयमें

तद् ब्रह्मणो भिन्नं किमभिन्नं वा उत भिन्नाभिन्नं वा ? भिन्नत्वपक्षे कार्यं सद्वा किमसद्वा उत सदसद्वा ? आद्ये कार्यस्य कारणसत्ता वा किमु कार्यसत्ता वा ? नाऽऽद्यः, कार्यकारणयोः सत्तैकत्वे स्वतः सत्ताभावात् कार्यस्याऽसत्त्वापत्तेः । द्वितीये कार्यसत्ता सद्रूपा वा किमसद्रूपेति । आद्ये सद्रूपकार्यसत्ता कारणसत्ताया भिन्ना वा किमभिन्ना वा ? नाऽऽद्यः, ब्रह्मणः पूर्णत्वेन निरन्तरत्वात्कार्यस्य तत्सत्ताव्यतिरिक्तसत्तासंभवादसत्त्वमेव स्यात् । न द्वितीयः, सत्तयोरुभयोः सद्रूपेणैकत्वावगमात्कार्यस्य कारणभिन्नत्वासंभवादसत्त्वाव्याहतेः । असद्रूपेण भिन्नायाः कार्यसत्तायाः स्वतः स्वरूपाभावात्कार्यस्य शून्यत्वापत्तेः । कार्यस्याऽसत्त्वपक्षे जगतः शशविषाणवत्स्वरूपशून्यत्वाद्ब्रह्मकार्यत्वानुपपत्तेः । नन्वसतोऽपि जगतः प्रध्वंसाभाववत्कार्यत्वमुपपद्यत एवेति-चेत्, न; प्रध्वंसाभावस्याऽपि कारणसंबन्धासंभवात्कार्यत्वानुपपत्तेः । कर्तृकरणादिकारकसंबन्धे सति खलु जनिक्रियायां घटादेः कार्यत्वं दृष्टं तथैव कारकसंबन्धवत्त्वे प्रध्वंसस्य भावत्वापत्तावभाव इति निर्देशायोगात्कारकसंबन्धः सत एव सावयवस्य घटते नेतरस्य । नहि घटनाशनसामग्रीसंबन्धः प्रध्वंसस्याऽत्यन्तासत उपयुज्यते तदभावादेव प्रध्वंसाभावस्य न कार्यत्वम्, तथैव जगतोऽप्यसतो न कार्यत्वं सिद्ध्यति ।

तुमसे ही पूछना चाहिए कि ब्रह्मका कार्य जो जगत् है, वह ब्रह्मसे भिन्न है या अभिन्न है या भिन्नाभिन्न है ? यदि भिन्न मानो, तो कार्य सत् है या असत् है या सदसत् है ? प्रथम पक्षमें कार्यकी कारणसत्ता है या कार्यसत्ता ? प्रथम पक्ष तो युक्त नहीं है, क्योंकि कार्य और कारण दोनोंकी यदि सत्ता एक हो, तो अपनी सत्ताका अभाव होनेसे कार्यका असत्त्व ही प्राप्त होगा । दूसरे पक्षमें कार्यकी सत्ता सत्‌रूप है या असत्‌रूप है ? प्रथम पक्षमें सद्रूप कार्यकी सत्ता कारणकी सत्तासे भिन्न है या अभिन्न है ? प्रथम पक्ष तो हो नहीं सकता, क्योंकि ब्रह्म पूर्ण है और निरन्तर है, अतः ब्रह्मकी सत्तासे भिन्न कार्यकी सत्ता नहीं हो सकती, इसलिए कार्यका असत्त्व ही होगा । दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि दोनों सत्ताओंको सद्‌रूपसे एक माननेमें कार्यका कारणसे भिन्न होना असंभव होनेके कारण कार्यमें असत्त्वका व्याघात न होगा। और असद्रूपसे भिन्न कार्यकी सत्ताके स्वतः स्वरूपका अभाव होनेसे कार्यकी शून्यता ही प्राप्त होगी । कार्यको असत् माननेसे खरगोशके सींगके समान जगत् स्वरूपसे शून्य होगा, इस परिस्थितिमें जगत् ब्रह्मका कार्य है, यह कथन ठीक नहीं होगा । यदि कहो कि असत् जगत् भी प्रध्वंसाभावके समान कार्य हो ही सकता है, तो यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि प्रध्वंसाभावका भी कारणसे संबन्ध नहीं हो सकता, इसलिए प्रध्वंसाभावमें कार्यत्व उपपन्न नहीं है । जैसे कर्ता, करण आदि कारकसंबन्ध होनेपर जनिक्रिया होनेसे घटादिमें कार्यत्व देखनेमें आता है, वैसे ही कारकसंबन्धवाले प्रध्वंसमें भावत्वकी प्राप्ति होनेपर वह अभाव है, ऐसा कथन युक्त नहीं है, इसलिए सावयव सत्‌का ही कारकसंबन्ध घटता है, दूसरेका नहीं । अत्यन्त असत् प्रध्वंसका घटनाशक सामग्रीसे संबन्ध नहीं घटता, संबन्धका अभाव होनेसे प्रध्वंसाभाव कार्य नहीं है, इसी प्रकार असत् जगत्‌में कार्यत्व भी सिद्ध नहीं होता । सत्त्व

सदसत्त्वपक्षेऽपि सत्त्वासत्त्वयोर्भावाभावधर्मत्वेनान्योन्यविरुद्धत्वादेकाधिकरणत्वासंभवात्तादृग्धर्मवैशिष्ट्यानुपपत्तौ सुतरां जगतो ब्रह्मकार्यत्वानुपपत्तेः। तर्हि कार्यं कारणाभिन्नमेवेति चेत्, न; बह्वनर्थागमप्रसङ्गात्—कार्यस्य जगतो जडात्मनो ब्रह्माभिन्नत्वे ब्रह्मणोऽपि दृश्यत्वानित्यत्वाप्रकाशत्वदुःखरूपत्वसावयवत्वादिदोषपरम्पराप्रसङ्गात्। तदिष्टापत्तिरेवेति चेत्, तव जगदान्ध्यप्रसक्त्याऽहंममेदमित्यादिव्यवहारासिद्धेः, भवतोऽपि जडत्वेन ज्ञानानुत्पत्तौ मोक्षाभावप्रसङ्गात्, 'तरति शोकमात्मवित्' इत्यादिश्रुतिवैयर्थ्यापत्तेः ब्रह्मानन्दप्राप्तिकामानां सतां मुक्तौ प्रवृत्तिविच्छेदप्रसङ्गात्, 'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यम्' इति, 'अजो नित्यः शाश्वतः' इत्यादिश्रुतिविरोधप्रसङ्गाच्च। तर्हि तृतीय एव पक्षोऽस्त्विति चेत्, न; भिन्नाभिन्नत्वयोरन्योन्यविरुद्धत्वेनैकाश्रयत्वासंभवात्। एवं जगतो ब्रह्मकार्यत्वानुपपत्तौ श्रुतिप्रमाणकत्वं च न सिद्ध्यति। नन्वेवं सति 'यतो वा' इत्यादिश्रुतेर्मृषावादित्वेनाऽप्रामाण्यापात इति चेत्, न; तस्या ब्रह्मणोऽद्वितीयत्वप्रतिपादनपरतया प्रामाण्याभ्युपगमात्। केचिज्जगत्कारणं परमाणव इति वदन्ति, प्रकृतिरित्यपरे। तदुररीकृत्य कार्यकारणाभ्यां सर्वश्रुतिप्रसिद्धमद्वितीयत्वं ब्रह्मणो व्येति,

---

और असत्त्व पक्षमें भी सत्त्व और असत्त्व–भाव और अभावरूप–धर्म एक दूसरेसे विरुद्ध हैं, इसलिए उनका एक अधिकरण नहीं हो सकता, अतः इस प्रकारके भिन्न-भिन्न धर्मोंके उपपन्न न होनेसे जगत्का ब्रह्मकार्य होना उपपन्न नहीं है। तब कार्य और कारण अभिन्न ही हैं, ऐसा यदि कहो, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि बहुतसे अनर्थोंकी प्राप्तिका प्रसंग होगा—जड़स्वरूप इस जगत्को ब्रह्मसे अभिन्न मानोगे, तो ब्रह्म भी दृश्य, अनित्य, अप्रकाश, दुःखरूप, सावयव है, इत्यादि दोषोंकी परम्पराकी प्राप्ति होगी। यदि कहो कि यह तो हमको इष्ट ही है, तब तो जगत्की अंधताका प्रसंग आनेसे 'मैं, मेरा' इत्यादि व्यवहार ही तुम्हारा सिद्ध नहीं होगा। यदि तुम भी जड हो जाओगे, तो ज्ञानकी उत्पत्ति न होनेसे मोक्षके अभावका प्रसंग आवेगा। 'आत्मज्ञानी शोकको तर जाता है' इत्यादि श्रुतियोंके व्यर्थ होनेसे ब्रह्मानन्दकी प्राप्तिकी इच्छा करनेवाले सत्पुरुषोंकी मुक्तिमें प्रवृत्ति नहीं होगी। और ऐसा होनेसे 'जो यह देखने योग्य नहीं है, ग्रहण करने योग्य नहीं है', 'अज, नित्य और शाश्वत है' इत्यादि श्रुतियोंसे विरोध होगा। यदि तीसरा ही पक्ष हो, ऐसा कहो, तो ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि भिन्नत्व और अभिन्नत्व परस्पर विरुद्ध हैं, अतः उनका एक आश्रय नहीं हो सकता। इस प्रकार जगत्में ब्रह्मकी कार्यता उपपन्न न होनेके कारण उसमें श्रुतिका प्रमाण्य सिद्ध नहीं हो सकेगा। यदि कहो कि ऐसा होनेसे 'जिससे ये भूत उत्पन्न होते हैं' इत्यादि श्रुतियोंके मृषावादिनी होनेसे उसमें अप्रामाण्य प्राप्त होगा, तो ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि उक्त श्रुति ब्रह्मका अद्वितीयत्व प्रतिपादन करनेवाली है, इसलिए उसके प्रामाण्यका स्वीकार है। कोई कहते हैं—जगत्के कारण परमाणु हैं और कोई कहते हैं—प्रकृति जगत्की कारण है। उनके माने हुए कार्यकारणोंसे

तदसहमानयाऽनया श्रुत्या जगदुपादानत्वं ब्रह्मणः प्रतिपाद्यते। नन्वूक्तरीत्या जगद्ब्रह्मणोः कार्यकारणभावानुपपत्तौ कथमुपादानं ब्रह्मेति चेत्, विवर्तोपादानं ब्रह्मेति ब्रूमः। विवर्तत्वं नामाऽधिष्ठानस्याऽन्यथाभानमात्रम्, तच्च ग्रहीतुर्ग्रहणदोषकृतम्, शुक्तेर्यथा-रजताकारेण प्रतीतिः। शुक्तियाथात्म्यसंदर्शनेन रजताभासस्य शुक्तिमात्रत्ववदधिष्ठान-ब्रह्मस्वरूपसाक्षात्कारेण जगतोऽपि प्रतीतिमात्रस्य 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' इति, 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' इत्यादिश्रुतिप्रामाण्याद्ब्रह्ममात्रत्वसिद्धौ ब्रह्मणोऽद्वितीयत्वेऽव्याहते सत्यत्रैवं पूर्वोक्तदोषानवकाशः, कार्यस्य नाममात्रत्वा-वशेषात्। यत एवं ततोऽर्थतः शब्दादिप्रपञ्चसद्भावे न श्रुतिः प्रमाणम्। नाऽपि प्रत्यक्षं अनुमानं च। तस्मादप्रामाणिकत्वाज्जगतः स्वतः सत्ता नाऽस्तीति सिद्धम्। एवमसतः शब्दादेः सत्ताभावं प्रतिपाद्य इदानीं ब्रह्मणः स्वस्वरूपस्य सद्भावं प्रतिपादयति—**नाऽभावो विद्यते सत इति।** सामान्यविशेषभावशून्यमखण्डचिदेकरसं सर्वविक्रियारहितं सदेवेत्यादिश्रुतिप्रसिद्धमपूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यं यत्सत्तस्य सतस्त्वभावो नास्तिता क्वचित्कदाचिन्न विद्यते। जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादिषु सद्भावदर्शनादात्मनः सदा सत्त्वे प्रत्यक्षं प्रमाणम्। आत्मा नित्यसत्ताको भवति, अवस्थात्रयसाक्षित्वात्, यन्नैवं

सब श्रुतियोंमें प्रसिद्ध ब्रह्मका अद्वितीयत्व नष्ट होता है, उसको न सहनेवाली श्रुतिसे जगत्का ब्रह्म अपादान है, ऐसा प्रतिपादन किया जाता है। यदि कहो कि उक्त रीतिसे जगत्का और ब्रह्मका परस्पर कार्यकारणभाव नहीं हो सकता, फिर ब्रह्म जगत्का उपादान कैसे है? तो यह कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि हम कहते हैं कि ब्रह्म जगत्का विवर्त उपादान कारण है। अधिष्ठानका अन्य प्रकारसे केवल भान होना विवर्तत्व है और वह ग्रहीताके ग्रहणके यानी द्रष्टाके दर्शनके दोषसे होता है। जैसे कि शुक्तिकी रजतके आकारसे प्रतीति होती है। शुक्तिके यथार्थ ज्ञानसे जैसे मिथ्या रजत शुक्तिमात्र ही है, वैसे ही अधिष्ठान ब्रह्मके स्वरूपका साक्षात्कार होनेसे प्रतीतिमात्र जगत् भी 'आरम्भणशब्दादिसे जगत् ब्रह्मसे अभिन्न है' 'वाचासे कहलानेवाला विकार नाममात्र ही है' इत्यादि श्रुतियोंके प्रामाण्यसे ब्रह्ममात्र ही है, ऐसा सिद्ध होनेसे ब्रह्ममें अद्वितीयत्वका व्याघात नहीं होगा, इसलिए यहांपर पूर्वोक्त दोषोंका अवकाश नहीं है, क्योंकि कार्य नाममात्र शेष रहता है। चूँकि ऐसा है, अतः शब्दादि प्रपंचके सद्भावमें श्रुति प्रमाण नहीं है। प्रत्यक्ष और अनुमान भी उसमें प्रमाण नहीं हैं। अतः अप्रामाणिक होनेके ही कारण जगत्की स्वतः सत्ता नहीं हो सकती, यह सिद्ध हुआ। इस प्रकार असत् शब्दादिकी सत्ताके अभावका प्रतिपादन करके अब ब्रह्मस्वरूपके सद्भावका प्रतिपादन करते हैं—**'नाऽभावो विद्यते सतः'** इत्यादिसे। सामान्य-विशेषभावसे रहित, अखंडचिदेकरस एवं विक्रियाओंसे रहित, 'सदेव' इत्यादि श्रुतियोंमें प्रसिद्ध कार्यकारणसे रहित, भीतर बाहरसे रहित, जो सत् है, उस सत्का अभाव (असत्त्व) कहीं कभी भी नहीं होता। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदिमें आत्माका सदा सद्भाव देखनेमें आता है, अतः आत्माके सदा सद्भावमें यह प्रत्यक्ष प्रमाण है। आत्मा नित्य सत्तावाला है, क्योंकि तीनों अवस्थाओंका साक्षी

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥ १७ ॥

जिसने इस सारे जगत्‌को व्याप्त किया है, वह सूक्ष्मतम वस्तु अविनाशी है, उस अविनाशीका कोई भी विनाश नहीं कर सकता ॥ १७ ॥

तन्नैवं यथा देहादिरित्याद्यनुमानं च । 'अयमात्मा सन्मात्रो नित्यः शुद्धो बुद्धः' इति, 'अजो नित्यः शाश्वतः' इति, 'तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च' इत्यादिश्रुतिश्च प्रमाणम् । एवं सर्वप्रमाणैर्निर्धारितनित्यसत्ताकस्य सतः प्रत्यगभिन्नस्य ब्रह्मणस्त्वभावः कदाचिन्नास्तीति तत्त्वदर्शिभिस्तत्त्वम् सर्वाधिष्ठानभूतस्य ब्रह्मणो याथात्म्यमबाधितस्वरूपं सत्यज्ञानानन्दात्मकं यत्तदेव सदा सर्वत्र द्रष्टुं शीलं येषां ते तत्त्वदर्शिनस्तैर्ब्रह्मविद्भिरेवमुभयोः सदसतोरन्तो निश्चयः सदा सर्वत्र ब्रह्मैकमेवाऽस्ति न ततोऽन्यदिति निष्कर्षो दृष्टः । कृत इत्यर्थः । एतेन त्वमप्यात्मनोऽनित्यत्वभ्रममुत्सृज्य निःशोको भूत्वा 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादिश्रुत्यर्थमवष्टभ्य सर्वत्र ब्रह्मदर्शनपरो भवेति सूचितं भवति ॥ १६ ॥

ननु सदिति सामान्यम्, उत स्वरूपम् ? सामान्यत्वे तस्य विशेषापेक्षत्वेन प्रलयदशायामशेषविशेषविनाशे विनाशः स्यात् । विशेषाणामपि कार्यत्वेन तत्र विनाशात् सामान्यस्याऽपि तद्धर्मत्वेन विनाशोपपत्तेः । स्वरूपत्वे तस्य व्यावृत्तत्वेन कल्पि-

---

है, जो ऐसा नहीं होता, वह वैसा नहीं होता, जैसे देहादि, इत्यादि अनुमान भी है । 'यह आत्मा सन्मात्र, नित्य, शुद्ध और बुद्ध है', 'अज नित्य और शाश्वत है', 'वैसे ही अरस, नित्य और अगन्धवान् है' इत्यादि श्रुतियां प्रमाण हैं । इस प्रकार सब प्रमाणोंसे निर्धारित नित्यसत्तावाले, प्रत्यगभिन्न सत् ब्रह्मका अभाव तो कभी नहीं है, तत्त्वदर्शियोंने सत् असत्‌का ऐसा निर्णय किया है । सबका अधिष्ठानभूत ब्रह्म जो यथार्थ अबाधितस्वरूप सत्य, ज्ञान और आनन्दात्मक है, उसे ही सदा सर्वत्र देखनेका जिनका स्वभाव है, उन तत्त्वदर्शी ब्रह्मज्ञानियोंने सत् और असत् दोनोंका अन्त, यानी निश्चय यानी सदा र्वत्र ब्रह्म एक ही है, उसके सिवा दूसरा नहीं है, ऐसा निष्कर्ष देखा है यानी किया है, अर्थ है । इससे यह सूचित होता है कि तुम भी आत्मामें अनित्यत्वका भ्रम छोड़कर निःशोक होकर 'यह सब ब्रह्म ही है' इत्यादि श्रुतियोंके अर्थका अवलम्बन लेकर सर्वत्र ब्रह्मदर्शनमें परायण हो जाओ ॥ १६ ॥

सत् सामान्य है या स्वरूप है । यदि सामान्य है, तो उसे विशेषकी अपेक्षा होगी, इसलिए प्रलयदशामें संपूर्ण विशेषोंका नाश होनेपर उसका भी विनाश हो जायगा । कार्य होनेसे विशेषोंका प्रलयमें नाश होगा, तो उनका धर्म होनेसे सामान्यका भी नाश होगा । यदि सत्

तत्वाद्विनाशित्वमुपात्तम्, अनुवृत्तत्वे तस्यैव सामान्यत्वेनोक्तदोषप्रसक्तिरित्याशङ्कायां तस्य सामान्यविशेषभावशून्यत्वान्न कथंचिदपि विनाश उपपद्यत इत्याह—**अविनाशि त्विति ।**

इदं परिदृश्यमानमविद्याकार्यमसज्जगत्सर्वं येनाऽतिसूक्ष्मेण विभुना सदात्मकेन मरीच्या जलप्रवाहवत्ततम् अन्तर्बहिश्च व्याप्तं भवति तत्सच्छब्दितं वस्तु अविनाशि यथा असत्तथा विनष्टुं विनाशनविक्रियाया विषयतां प्राप्तुमनर्हं शीलं स्वभावः सत्ता यस्य तदविनाशि । अतिसूक्ष्मत्वादतिमहत्त्वाच्च स्वयं विनाशनक्रियातिगं सन्नित्यमेव भवतीत्यर्थः । आत्मा नित्यः, परिपूर्णत्वात्, गगनवदिति नित्यत्वे अनुमानं प्रमाणम् । नष्टेऽप्येकस्मिन्देहे पदार्थाः सर्वत्र सर्वेषामुपलभ्यन्ते । सा च पदार्थोपलब्धिः सत्येवाऽऽत्मनि रविवत्सर्वप्रकाशके । तं विना तस्या अन्यथानुपपत्तिरिति तत्प्रसूतार्थापत्तिश्च प्रमाणम् । अत्राऽऽत्मनो नाशं वदन् वादी प्रष्टव्यः किमात्मनो नाशः स्वतो वा, परतो वा, किमाश्रयनाशाद्वा, किं संबन्धिनाशाद्वा, उत कारणनाशाद्वा, अथ कार्यनाशाद्वेति । नाऽऽद्यः, निरवयवत्वाद्, यथा सावयवस्य स्वावयवापचयान्नाशस्तथा निरवयवस्याऽऽत्मनः स्वतो नाशानुपपत्तेः । न द्वितीयः, तस्याऽप्यात्मत्वेन स्वं प्रति स्वस्य कर्तृकर्मत्वायोगात् ततोऽपि नाशासंभवात् । न

स्वरूप है, तो वह व्यावृत होनेके कारण कल्पित होगा, इसलिए विनाशसे युक्त होगा। उसको अनुवृत्त माननेपर सामान्यमें जो दोष कहे हैं, उनका प्रसंग आवेगा, ऐसी शङ्का होनेपर वह सामान्य और विशेष दोनों भावोंसे शून्य है, इसलिए किसी प्रकार भी उसका विनाश उपपन्न नहीं है, यह कहते हैं—'**अविनाशि तु**' इत्यादिसे ।

जैसे सूर्यकी किरणोंसे जलका प्रवाह व्याप्त होता है, वैसे ही अविद्याका कार्य यह दीखनेवाला सम्पूर्ण जगत् जिस अतिसूक्ष्म व्यापक सत्स्वरूपसे बाहर और भीतर व्याप्त है, वह सत् नामकी वस्तु अविनाशी है यानी जैसे असत् नाश होने योग्य होता है, वैसे नष्ट होनेकी यानी नाश होनेकी विक्रियाकी विषयताको प्राप्त होनेका जिसका शील—स्वभाव—अर्थात् सत्ता नहीं है, वह अविनाशी है । अतिसूक्ष्म और अतिमहत् होनेसे जो स्वयं विनाशन क्रियासे अतिग—अतीत—होकर नित्य ही रहता है, यह अर्थ है । आत्मा नित्य है, परिपूर्ण होनेसे, आकाशके समान, इस प्रकार आत्माके नित्यत्वमें, यह अनुमान प्रमाण है । एक देहके नष्ट होनेपर भी पदार्थ सर्वत्र, सबको उपलब्ध होते हैं । वह पदार्थोंकी उपलब्धि सर्वप्रकाशक सूर्यके समान, आत्माके होनेपर ही हो सकती है। उसके बिना अनुपपन्न है अतः तज्जन्य अर्थापत्ति भी प्रमाण है, यहां आत्माका नाश कहनेवाले वादीसे पूछना चाहिए कि क्या आत्माका नाश अपनेसे है, या दूसरेसे है, क्या आश्रयके नाशसे है, क्या संबंधीके नाशसे है, या कारणके नाशसे है अथवा कार्यके नाशसे है ? प्रथम पक्ष तो युक्त नहीं है, क्योंकि आत्मा निरवयव है, अतः जैसे सावयवका अपने अवयवोंके नाशसे नाश होता है, वैसे निरवयव आत्माका अपनेसे नाश उपपन्न नहीं है। दूसरा पक्ष भी नहीं है, क्योंकि दूसरा भी

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥ १८ ॥

विनाश रहित, अप्रमेय और नित्य शरीरी आत्माके ये देह अनित्य हैं, इसलिए हे भारत, तुम युद्ध करनेके लिए तैयार हो जाओ ॥ १८ ॥

तृतीयः, 'कस्मिन् भगवः प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि' इत्यात्मनः स्वातिरिक्ताश्रयाभावश्रवणादाश्रयनाशनिमित्तकनाशानुपपत्तेः । नाऽपि चतुर्थः, आत्मनो निरवयत्वेन द्रव्यगुणक्रियादिभिः संयोगादिसंबन्धस्य निरूपयितुमशक्यत्वात् तद्विश्लेषप्रयुक्तनाशासंभूतेः । नाऽपि च पञ्चमः, 'न चास्य कश्चिज्जनिता' इति ब्रह्मणः कारणाभावश्रवणात् तन्निमित्तकनाशायोगात । नैव च षष्ठः, 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते' इति कार्याभावश्रवणात् कार्यनाशनिमित्तकनाशासंभावान्न केनाऽपि प्रकारेणेदं सद्ब्रह्म व्येतीत्यव्ययं तस्यैतस्याऽव्ययस्य नित्यसिद्धसत्ताकस्य ब्रह्मणो विनाशभावं कर्तुं वक्तुं च कोऽपि वादिविशेषो नाऽर्हति । तथात्वे स्वस्यैव नाऽहमस्मीत्यभावप्रसङ्गः, बहुश्रुतिविरोधः, प्रत्यक्षादिविरोधश्च प्रसज्यते इति भावः ॥ १७ ॥

'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्' इत्यत्र त्वंपदवाच्यार्थो देहादिर्जन्मादिमत्त्वेनाऽनित्यत्वादशोच्य एव, त्वंपदलक्ष्यार्थोऽप्यात्मा स्वयमजत्वेन जन्मादिशून्यतया नित्यत्वाद-

---

आत्मा ही है, इसलिए अपने प्रति उसका स्वयं कर्ता और कर्म होना योग्य नहीं है, इसलिए दूसरेसे उसका नाश नहीं हो सकता । तीसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'भगवन्, किसमें वह स्थित है ? अपनी महिमामें' इस प्रकार आत्माका अपने सिवा दूसरे आश्रयका अभाव श्रुति कहती है, इसलिए आश्रयके नाशसे आत्माका नाश उपपन्न नहीं है । क्योंकि आत्माके निरवय होनेसे उसमें द्रव्य, गुण, क्रिया आदिसे संयोग आदि संबन्धका निरूपण नहीं किया जा सकता, इसलिए संबन्धविच्छेदप्रयुक्त उसका नाश नहीं हो सकता । पांचवां पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'इसका कोई उत्पन्न करनेवाला नहीं है' इस प्रकार ब्रह्मके कारणका अभाव सुना जाता है, इसलिए कारणके नाशसे उसका नाश नहीं हो सकता । छठा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'उसका कार्य और करण विद्यमान नहीं है' इस प्रकार आत्माके कार्यका अभाव सुना जाता है, इसलिए कार्यके नाशसे उसका नाश संभव नहीं है, किसी प्रकारसे भी यह सद् ब्रह्म नष्ट नहीं होता, इसलिए अव्यय है । अव्यय नित्यसिद्धसत्तावाले ब्रह्मकी विनाशिताको कोई भी वादी करने अथवा कहनेको समर्थ नहीं है । ऐसा होनेपर अपनेका ही 'मैं नहीं हूँ' ऐसा अभाव प्रसक्त होगा तथा बहुत श्रुतियोंसे और प्रत्यक्ष आदिसे विरोधका प्रसंग होगा, ऐसा भाव है ॥ १७ ॥

'अशोच्योंका तुम शोक करते हो' इसमें त्वंपदके वाच्य अर्थ देह आदि जन्मादिवाले होनेसे—अनित्य होनेसे—अशोच्य हैं ही, त्वंपदका लक्ष्यार्थ आत्मा भी स्वयं अज होनेसे, जन्मादिसे

शोच्य एवेत्युभयोरप्यशोच्यत्वे यत्कारणत्वेन सूचितं तयोरनित्यत्वनित्यत्वज्ञानं तदिदानीं मुखतो विस्पष्टयन् तेन निवृत्तशोकमर्जुनमालक्ष्य स यस्मिन्नर्थे स्वयमेव पूर्वं प्रवृत्तस्तत्रैव तं प्रोत्साहयति श्रीभगवान्—**अन्तवन्त इति** ।

अप्रमेयस्य प्रत्यक्षादिप्रमाणैः प्रमापयितुमशक्यस्य । नह्यस्ति प्रत्यक्षादेर्विषयताऽऽत्मनः प्रमापयित्री । तथाहि—नाऽऽत्मा प्रत्यक्षविषयः, शब्दादिरहितत्वात्; 'अशब्दमस्पर्शम्' इति श्रुतेः । नाऽनुमानविषयः, लिङ्गाभावात्; 'नैव च तस्य लिङ्गम्' इति श्रुतेः । नाऽप्युपमानविषयः, सादृश्याभावात्; 'हेतुदृष्टान्तवर्जितम्' इति श्रुतेः । न शब्दस्याऽपि विषयः, नामरूपजात्याद्यभावात्; 'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रम्' इति श्रुतेः । ननु 'तं त्वौपनिषदम्' इति श्रूयते, कथं शब्दागम्यत्वमिति चेत्, सत्यम्; यद्यपि श्रूयते, तथापि शब्दप्रवृत्तिनिमित्ताभावान्न तत्र शब्दः प्रवर्तते, 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इति श्रुतेः । तर्हि श्रुतेरप्रामाण्यमिति चेत्, न; निर्विशेषाधिगमकत्वात् प्रामाण्योपपत्तेः । श्रुतिरात्मन्यध्यस्ताशेषविशेषं निरस्याऽधिष्ठानभूतं सन्मात्रं निर्विशेषमात्मानमधिगमयति, तेन प्रामाण्यमुपपद्यते । आत्मनः सविशेषत्वेन ज्ञातत्वेऽपि निर्विशेषत्वस्याऽज्ञातत्वादज्ञातज्ञापकत्वेन श्रुतेः प्रमाणलक्षणसम्भवात्,

---

शून्य होनेसे, नित्य होनेसे अशोच्य है ही । इस प्रकार दोनोंके अशोच्य होनेमें जो कारण बतलाया गया है, वह उन दोनोंके नित्यत्व और अनित्यत्वका ज्ञान है, उसको अब मुखसे यानी शब्दोंसे स्पष्ट करते हुए, श्रीभगवान् अर्जुनको पूर्वसूचित अनित्यत्व और नित्यत्वज्ञानसे निवृत्तशोक देखकर, अर्जुन जिस अर्थमें पहलेसे ही प्रवृत्त था, उसी अर्थमें उसको उत्साहित करते हैं—**'अन्तवन्त'** इत्यादिसे ।

अप्रमेय यानी प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे जाननेके अयोग्य । आत्माकी प्रमा करानेवाली प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंकी विषयता आत्मामें नहीं है । जैसे—आत्मा प्रत्यक्षका विषय नहीं है, क्योंकि वह शब्दादिसे रहित है, क्योंकि 'शब्दरहित, स्पर्श रहित' ऐसी श्रुति है । अनुमानका भी विषय नहीं है, क्योंकि उसका लिङ्ग नहीं है, क्योंकि 'उसका लिंग भी नहीं है' ऐसी श्रुति है । आत्मा उपमानका विषय नहीं है, क्योंकि उसमें सादृश्यका अभाव है, क्योंकि 'हेतु और दृष्टान्तसे वर्जित है' ऐसी श्रुति है । शब्दका भी विषय नहीं है, क्योंकि नाम, रूप, जाति आदिका उसमें अभाव है, कारण कि 'वह अदृश्य, अग्राह्य और अगोत्र है' ऐसी श्रुति है । यदि कहो कि 'उपनिषदोंमें प्रतिपादित उस पुरुषको' ऐसा सुननेमें आता है, अतः वह शब्दसे अगम्य कैसे है ? अर्थात् आत्मा शब्दसे जाननेमें आता है, तो यह कथन ठीक है । यद्यपि सुननेमें आता है, तो भी शब्दकी प्रवृत्तिके निमित्तका अभाव है, इसलिए उसमें शब्द प्रवृत्त नहीं होता, क्योंकि 'जिससे वाणी लौट आती है' ऐसी श्रुति है । तब तो श्रुतिका अप्रामाण्य होगा, ऐसा कहो, तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि श्रुति निर्विशेषको बतलाती है, इसलिए श्रुतिका प्रामाण्य उपपन्न है । आत्मामें अध्यस्त संपूर्ण विशेषका निषेध करके श्रुति अधिष्ठानभूत सन्मात्र निर्विशेष आत्माको कहती है, इसलिए श्रुतिका प्रामाण्य उपपन्न है । सविशेष आत्माके जाननेपर भी निर्विशेष आत्मा जाननेमें नहीं आता, श्रुति अज्ञातको ज्ञात करानेवाली है, अतः उसमें प्रमाणका

तथापीदन्तया साक्षान्निर्देष्टुमशक्यत्वादात्मा श्रुतेरविषय एव। किञ्च, आत्मनि विषये त्वन्यथानुपपत्तेरभावान्नाऽप्यर्थापत्तेर्विषयः। भावत्वादनुपलब्धेरप्यविषयः। वागविषत्वादैतिह्यस्याऽप्यविषयः। इत्यात्मनस्त्वप्रमेयत्वं सिद्धम्। सर्वेषां प्रमाणानां प्रमेयानां च यतः प्रामाण्यसिद्धिस्तं किं प्रमापयेत्, 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' इति श्रुतेः। स्वस्मिन्नध्यस्तसर्वप्रमाणप्रमेयसद्भावासद्भावप्रकाशकत्वात्स्वप्रकाशत्वाच्च आत्मनः स्वत एव प्रामाण्यं न तु क्वचिच्च परतस्तत एवाऽप्रमेयस्तस्याऽविनाशिनो विनाशः सत्तादर्शनं परिच्छित्तिस्तदभावोऽस्यास्तीत्यविनाशी अनन्तः, 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' इति श्रुतेः। तस्याऽविनाशिनोऽपरिच्छिन्नस्य परिपूर्णस्याऽत एव नित्यस्य। ननु परिच्छिन्नस्याऽपि परमाणोरस्ति नित्यत्वमिति चेत्, न; तन्नित्यत्वे प्रमाणाभावात्। 'सर्वगतश्च नित्यः' इति, 'यो वै भूमा तदमृतम्' इति श्रवणादपरिच्छिन्नस्यैव भूम्नो नित्यत्वं न तु परिच्छिन्नस्य, 'यदल्पं तन्मर्त्यम्' इति श्रुतेः। शरीरिणः ब्रह्मादिस्तम्बकान्तानि शरीराण्युपलब्धिस्थानत्वेनाऽस्य सन्तीति शरीरी सर्वप्राणिशरीरोपाधिकस्तस्य। आत्मा त्वेक एवेत्यात्मैकत्वे इदं भगवद्वचनं प्रमाणम्। यतः शरीरिण इत्यात्मैकत्वमिमे देहा इतीदमा निर्दिश्यमानानां देहानामनेकत्वं च वक्ति। शरीरिणः सर्वशरीरेष्वह-

---

लक्षण घटता है, तो भी इदंरूपसे यानी यह आत्मा है, इस प्रकार साक्षात् कथन करना अशक्य है, इसलिए आत्मा श्रुतिका विषय नहीं है। विषय आत्मामें अन्यथा उपपत्तिका अभाव होनेसे वह अर्थापत्तिका विषय नहीं है। आत्मा भावरूप है, इसलिए आत्मा अनुपलब्धिका भी विषय नहीं है। वाणीका अविषय होनेसे ऐतिह्य प्रमाणका भी आत्मा विषय नहीं है। वृद्ध पुरुषोंका वचन ऐतिह्य प्रमाण कहलाता है। इस प्रकार आत्माका अप्रमेयत्व सिद्ध है। जिससे सब प्रमाण और प्रमेयोंके प्रामाण्यकी सिद्धि हो, उसका कौन प्रमापक होगा? अर्थात् कोई नहीं होगा, क्योंकि 'जाननेवालेको किससे जाने' ऐसी श्रुति है। अपनेमें अध्यस्त सब प्रमाण-प्रमेयोंके सद्भाव और असद्भावका जो प्रकाशक और स्वप्रकाश है, उस आत्माका स्वतः ही प्रामाण्य है, दूसरेसे कहीं भी प्रामाण्य नहीं है, इसीलिए आत्मा अप्रमेय है, उस अविनाशीका विनाश—उसकी सत्ताका अदर्शन—यानी जिसकी परिच्छिन्नताका अभाव है, वह अविनाशी, अनन्त है, क्योंकि 'सत्य, ज्ञान, अनन्त' ऐसी श्रुति है। उस अविनाशी, अपरिच्छिन्न, परिपूर्णका, इसीलिए नित्यका स्वतः ही प्रामाण्य है। यदि कहो कि परिच्छिन्न परमाणुका भी नित्यत्व है, तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि उसके नित्यत्वमें कोई प्रमाण नहीं है। 'सर्वगत, नित्य', 'जो भूमा है, वह अमृत है,' ऐसा सुननेसे अपरिच्छिन्न भूमाकी ही नित्यता है, परिच्छिन्नकी नहीं है, क्योंकि 'जो अल्प है, वह मर्त्य है' ऐसी श्रुति है। शरीर यानी ब्रह्मासे लेकर स्तम्ब तकके शरीर उसकी उपलब्धिका यानी प्राप्त होनेका स्थान है, इसलिए शरीरीकी—सब प्राणियोंके शरीररूप उपाधिवालेकी। आत्मा तो एक ही है, इस प्रकार आत्माके एक होनेमें भगवान्का यह वचन प्रमाण है, क्योंकि प्रकृत श्लोकमें भगवान्ने 'शरीरिणः' से आत्माका एकत्व और 'इमे देहाः' ऐसे

मित्युपलभ्यमानस्य नित्यस्याऽऽत्मनः इमे उभयत्र सेनयोर्दृश्यमाना भीष्मादिशब्दवाच्या उक्ताः 'आचार्याः पितरः पुत्राः' इत्यादिना त्वयोक्ता देहाः सर्वे अन्तवन्तः अन्तोऽवसानमदर्शनं तद्वन्तः। जन्मादिमत्त्वेन प्रतीतिमात्रत्वेन चाऽनियतसत्ताका इति यावत्। नहि शुक्तिरजतवदधिष्ठानभ्रमकल्पितानां देहादीनां सत्ता संभवति, प्रमाणतो गृह्यमाणेऽपि। यतोऽसतः सत्ताभावः प्रदर्शितः 'नासतो विद्यते भावः' इति, ततस्त्वमेवं देहादीनामन्तवत्त्वं देहिनस्त्वात्मनो नित्यत्वं च सम्यक् अविज्ञाय पूर्वं मदीया एते म्रियन्त इति शोचितवानसि। इदानीं श्रुतियुक्त्यनुभवैर्विचार्यमाणे आत्मनो देहानां चाऽशोच्यत्वं सिद्धमनुभूतं च त्वया यस्मात्, तस्मात् हे भारत विवेकविज्ञानसंपन्न, युध्यस्व युद्धाय यतस्वेति पूर्वमेव युद्धाय प्रवृत्तमर्जुनं भ्रान्त्या शोचन्तं तच्छोकमूलमपनीय स्वकार्यं कुर्वित्यनुजानीते भगवान्, बुभुक्षुं शङ्कितं शङ्कामपास्य भुङ्क्ष्वेतिवत् न तु युद्धं कुर्विति नियुङ्क्ते, ज्ञानकाण्डे कर्मविधेरनुपयुक्तत्वात्। 'नहि कर्मणि कर्मारम्भः' इति कर्मणि कर्मान्तरस्यैवाऽनुपयुक्तत्वे किं वक्तव्यं स्वप्रतिपक्षे ज्ञानप्रकरणे कर्मविधेरनुपयुक्तत्वम्। प्रयास्यन्तं प्रयाहीतिवत् योत्स्यन्तं युध्यस्वेत्यनुमतिमात्रं भगवतो वचनस्य तात्पर्यम्। यद्वा 'एतं वै तमात्मानं विदि-

---

इदंसे कथित देहोंका अनेकत्व है, ऐसा कहते हैं। शरीरीके यानी सब शरीरोंमें 'मैं' रूपसे उपलभ्यमान नित्य आत्माके इन दोनों सेनाओंमें दीखनेवाले भीष्म आदि शब्दोंसे कहे गये— 'आचार्य, पिता, पुत्र' इत्यादि शब्दोंसे तुम्हारे द्वारा कहे गये—देह सब अन्तवाले हैं यानी जन्मादिवाले होनेके कारण और प्रतीतिमात्र होनेके कारण अनियतसत्तावाले हैं, यह अर्थ है, क्योंकि प्रमाणसे गृहीत होनेपर भी शुक्तिमें रजतके समान अधिष्ठानके भ्रमसे कल्पित देहादिकी सत्ता संभव नहीं हो सकता। चूँकि 'असत्का भाव नहीं होता' इस श्लोकसे असत्की सत्ताका अभाव दिखलाया है, इसलिए तुम्हीं देहादिका अन्तवत्त्व और देही आत्माका नित्यत्व भली भाँति न जानकर पूर्वमें 'ये मेरे मरते हैं, ऐसा शोक करने लगे थे, अब श्रुति, युक्ति और अनुभवसे विचार करनेपर आत्माका और देहोका अशोच्यत्व सिद्ध हुआ और तुमने अनुभव भी कर लिया, इसलिए हे विवेकविज्ञानसंपन्न भारत, युद्ध करो—युद्धके लिए यत्न करो। इस प्रकार पूर्वमें ही युद्धके लिए तैयार हुए और भ्रान्तिसे शोक कर रहे अर्जुनको, उसके शोकहेतुको दूर करके 'अपना कार्य करो' ऐसी भगवान् आज्ञा देते हैं। भोजन करनेवाले शङ्कित पुरुषकी शङ्काको दूर करके भोजन करो, ऐसा कहकर भोजन करनेवालेको जैसे भोजनमें नियुक्त करते हैं, वैसे ही अर्जुनको उसके कार्य युद्धमें नियुक्त करते हैं। यह नहीं कहते कि तुम युद्ध करो, क्योंकि ज्ञानकाण्डमें कर्मविधिका उपयोग नहीं है। 'कर्ममें कर्मका आरंभ नहीं होता' इस न्यायसे कर्ममें ही दूसरे कर्मका जब उपयोग नहीं है, तब कर्मके प्रतिपक्ष ज्ञानके प्रकरणमें कर्मकी विधिका उपयोग न हो, इसमें तो कहना ही क्या है ? जैसे चलनेवालेसे कोई कहे कि चलो, ऐसा कहनेमें अनुमतिमात्र ही है, वैसे ही युद्ध करनेवाले अर्जुनसे युद्ध करो, यह कहना अनुमतिमात्र ही है, ऐसा भागवान्के वचनका तात्पर्य है।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नाऽयं हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥

जो पुरुष अहंपदार्थ आत्माको हननक्रियाका कर्ता और जो हनन-क्रियाका विषय मानता है, वे दोनों आत्माको नहीं जानते हैं, क्योंकि आत्मा न तो मारता है और न मारा ही जाता है ॥ १९ ॥

त्वा ब्राह्मणा व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' इति ब्रह्मविदां ब्राह्मणानां सर्वैषणाभ्यो व्युत्थितवतां शरीरयात्रार्थं भिक्षाविधिः श्रूयते। ज्ञानिनामप्यवश्यं शरीरयात्रायां वर्तितव्यमिति, तद्वदत्राऽपि ब्रह्मविदां प्राणत्राणमवश्यं कर्तव्यमिति सूचयितुं ज्ञानप्रकरणे आत्मज्ञानिनोऽर्जुनस्य क्षत्रियत्वेन युवत्वेन च संन्यासवनस्थत्वयोरनुपपत्तौ, राज्ञोऽस्य राज्येनैव शरीरयात्रा भवितव्या राज्यस्य पराक्रान्तत्वेन तज्जयाय यतस्वेति शरीरयात्राऽत्र भगवता विधीयते। 'शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः' इत्यग्रे उच्यते च यतस्ततो न कश्चिदत्र कर्मविधिरिति मन्तव्यम् ॥ १८ ॥

यत्तु 'पापमेवाऽऽश्रयेदस्मान्' इति, 'संकरो नरकायैव कुलघ्नानाम्' इति, 'कथं भीष्ममहं संख्ये' इत्यात्मनः पापक्रियाविषयत्वं तत्फलभोक्तृत्वं तत्क्रियाकर्तृत्वं च मन्यसे तदात्मस्वरूपाज्ञानकृतमेव भवति। सत्यात्मतत्त्वे परिज्ञाते न कस्याऽपि विकल्पस्याऽवकाशोऽस्तीत्यात्मयाथात्म्यमवगमयितुं तत्प्रकाशनपरौ मन्त्रावर्थतः पठति।

अथवा 'उस आत्माको ही जानकर ब्राह्मण विरक्त होकर भिक्षाचरण करते हैं' इस प्रकार जैसे सब इच्छाओंसे रहित ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मणोंके लिए शरीरयात्रार्थ भिक्षाविधि सुनी जाती है। ज्ञानियोंको भी शरीरयात्रा कर्तव्य है, वैसे ही यहां भी ब्रह्मज्ञानियोंको प्राणकी रक्षा अवश्य कर्तव्य है, ऐसा सूचन करनेके लिए ज्ञानके प्रकरणमें आत्मज्ञानी अर्जुनके लिए, क्षत्रिय और युवा होनेसे, संन्यास और वानप्रस्थ दोनों उपपन्न नहीं हैं, इस राजाको राज्यसे ही शरीरयात्रा होनी चाहिए, इसलिए जो राज्य शत्रुओंसे छीन लिया गया है, उसके जीतनेके लिए यत्न करो, इस प्रकार भगवान्ने यहां शरीरयात्राका विधान किया है। और चूँकि भगवान्के द्वारा 'कर्मके बिना तेरी शरीरयात्रा भी सिद्ध न होगी' ऐसा आगे कहा जायगा, इसलिए यहां कोई कर्मविधि नहीं है, ऐसा मानना चाहिए ॥ १८ ॥

'और पाप ही हमको लगेगा', 'संकर कुलनाशकोंके नरकके लिए होता है', 'भीष्मसे रणमें कैसे लड़ूँगा' इस प्रकार आत्माको पापक्रियाका विषय, पापके फलका भोक्ता और पापक्रियाका कर्ता जो तुम मानते हो, वह आत्मस्वरूपके अज्ञानके कारण ही है। आत्मतत्त्वके जाननेपर किसी विकल्पका भी अवकाश नहीं है। इस प्रकार आत्माका यथार्थस्वरूप बतानेके लिए, इसका

तत्राऽऽद्येनाऽऽत्मनः क्रियाश्रयत्वं तद्विषयत्वं च यो मन्यते स श्रुतवेदान्तोऽपि मूढ एवेत्याह—**य एनमिति ।**

यस्त्वहमिमं हन्मीत्यहंप्रत्ययार्थमेनं प्रकृतमात्मानं हन्तारं हननक्रियायाः कर्तारं मन्यते, योऽहमनेन हतोऽस्मीत्येनमात्मानं परेण हतं तद्धननक्रियाया विषयभूतं च मन्यते, एवमात्मानं हननक्रियाया आश्रयं विषयं च मन्यमानौ तौ उभौ पुरुषावात्मानं न विजानीतः । यथाभूतमात्मतत्त्वं साक्षान्न विदितवन्तौ । यतोऽयमात्मा न स्वयं यं च कंचन हन्ति येन केनाऽपि न हन्यते । देहेन्द्रियादिषु व्यापृतेषु सत्स्वयमात्मा चलितेऽपि च वृक्षे तदन्तःस्थ आकाश इव कूटस्थाऽसङ्गचिद्रूपेण सर्वत्रोदासीनतया तूष्णीमास्त इत्यर्थः । 'न तदश्नाति किञ्चन न तदश्नाति कश्चन' इति श्रुतेः । आत्मा निष्क्रिय एव भवति निरवयवत्वादाकाशवदित्यादियुक्तिभिः, 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्' इति, 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' इत्यादिश्रुतिभिश्चाऽऽत्मा निष्क्रिय एवेति श्रुत्वा मत्वा च स्वं कर्तारं भोक्तारं सुखिनं च दुःखिनं च यो मनुते, नाऽसावात्मतत्त्वं विजानाति, अपि तु तस्य श्रवणादिक्रिया मृतप्रसवाप्रसवक्रियावच्छ्रमैकफलैवेति सूचितं भवति ॥ १९ ॥

तर्ह्यात्मतत्त्वं कथंभूतमित्याकाङ्क्षायां यास्कपठितजन्मादिषड्भावविकाररहिततया

प्रकाश करनेवाले दो मन्त्र अर्थसे पढ़ते हैं। उनमें पहले मन्त्रसे जो कोई आत्माको क्रियाका आश्रय और क्रियाका विषय मानता है, वह वेदान्तश्रवण करनेपर भी मूढ ही है, ऐसा कहते हैं—**'य एनम्'** इत्यादिसे ।

जो कोई 'मैं इसको मारता हूँ' इस प्रकार अहंप्रत्ययके अर्थ इस प्रकृत आत्माको मारनेवाला यानी हननक्रियाका करनेवाला मानता है और जो कोई 'मैं इससे मारा गया हूँ, इस प्रकार इस आत्माको दूसरेसे मारा गया अर्थात् हननक्रियाका विषय मानता है, वे दोनों अर्थात् इस प्रकार आत्माको हननक्रियाका आश्रय और विषय माननेवाले दोनों पुरुष आत्माको नहीं जानते यानी यथार्थ आत्मतत्त्वको वे दोनों साक्षात् नहीं जानते हैं, क्योंकि यह आत्मा न तो किसीको मारता है और न किसीसे मारा जाता है । जैसे वृक्षके चलनेपर भी वृक्षके भीतर रहनेवाला आकाश चलता नहीं है, वैसे ही देह, इन्द्रिय आदिके व्यापार करनेपर भी आत्मा कूटस्थ, असङ्ग और चिद्रूपसे सर्वत्र उदासीनतासे तूष्णीं यानी चुप रहता है, यह अर्थ है, क्योंकि 'न वह कुछ खाता है, न उसको कोई खाता है' ऐसी श्रुति है । आत्मा निष्क्रिय ही है, निरवयव होनेसे, आकाशके समान, इत्यादि युक्तियोंसे तथा 'निष्कल, निष्क्रिय, शान्त', 'साक्षी, चेता, केवल और निर्गुण' इत्यादि श्रुतियोंसे आत्मा निष्क्रिय ही है, ऐसा सुनकर और मनन करके जो अपनेको कर्त्ता, भोक्ता, सुखी और दुःखी मानता है, वह आत्मतत्त्वको नहीं जानता, उसकी श्रवण आदि क्रिया मृतप्रसवाके प्रसवक्रियाके समान केवल श्रमरूप फलको ही देनेवाली है, ऐसा सूचित होता है ॥ १९ ॥

तब आत्मतत्त्व कैसा है, ऐसी आकांक्षा होनेपर यास्क ऋषिके कहे हुए जन्मादि छः भाव-

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नाऽयं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २० ॥

यह अज आत्मा न कभी उत्पन्न होता है, न कभी नष्ट होता है, न कभी जन्म पाकर अपने अस्तित्वको प्राप्त करता है और न कभी शरीरका खड्ग आदिसे छेदन करनेपर उसका छेदन होता है, यह नित्य, शाश्वत और पुराण है ॥ २० ॥

कूटस्थासङ्गचिद्रूपत्वमेवाऽऽत्मनः स्वाभाविकं तत्त्वमित्यात्मतत्त्वनिर्धारणाय द्वितीयं मन्त्रं पठति—**न जायत इति**।

अत्र कदाचिच्छब्दः कदाचिन्न जायते कदाचिन्न म्रियत इति सर्वत्र सम्बध्यते। वाशब्दौ चार्थौ भवतः। अत्राऽज इत्यजत्वेनैव सर्वविकारासंभवे प्राप्तेऽपि स्वयं श्रुतिः कण्ठरवेण प्रत्येकं तान्निषेधति, आत्मनो निर्विकारत्वज्ञानस्य निर्विचिकित्सत्वाय। अजः यत्साक्षात्काराद्विद्वान् पुनर्न जायते सोऽजः, स्वयं जननरहितो वाऽजोऽयमात्मा कदाचिन्न जायते निरवयवत्वान्नोत्पद्यते, 'निष्कलं निष्क्रियम्,' इति, 'न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः' इति निरवयवत्वनिष्कारणत्वश्रवणादात्मनो जनिक्रिया नोपपद्यत इति भावविकारः प्रथमो निरस्तः। न म्रियते च तेनैव हेतुनाऽयमात्मा नाशक्रियां न प्राप्नोतीति षष्ठो विकारो निरस्तः। अयमात्मा भूत्वा जनिक्रियां प्राप्य भूयः पुनर्भविता चाऽस्तित्वमात्र भवति, घटवज्जन्मानन्तरभाव्यस्तित्वं

विकारोंसे रहित कूटस्थ, असंग, चिद्रूप आत्माका स्वाभाविक तत्त्व आत्मतत्त्व है, इस प्रकारके आत्मतत्त्वका निर्धारण करनेके लिए दूसरा मन्त्र पढ़ते हैं—'**न जायते**' इत्यादिसे।

यहां कदाचित् शब्दका कभी उत्पन्न नहीं होता, कभी नहीं मरता, इस प्रकार सर्वत्र संबन्ध है। दोनों वा शब्द च के अर्थमें हैं। यद्यपि यहाँ 'अज' कहनेसे ही आत्ममें सब विकारोंका अभाव प्राप्त होता है, तो भी स्वयं श्रुति कण्ठरवसे यानी अपने मुखसे आत्माके निर्विकारत्वज्ञानको संशयरहित यानी निश्चयपूर्वक कहनेके लिए उनमें से प्रत्येकका निषेध करती है। अज, जिसके साक्षात्कारसे विद्वान् फिर जन्म नहीं लेता, वह अज है, अथवा जो स्वयं जन्मरहित है, वह अज है। यह आत्मा कभी जनमता नहीं है यानी निरवयव होनेसे कभी उत्पन्न नहीं होता। 'कलारहित, क्रियारहित', 'न उसका कोई उत्पन्न करनेवाला है, न कोई अधिपति है' इस प्रकार निरवयवत्व और निष्कारणत्व सुननेसे आत्माकी जनिक्रिया उपपन्न नहीं है, इस प्रकार प्रथम भावविकारका यानी जन्मका निषेध किया। न मरता है, उसी हेतुसे यह आत्मा नाशक्रियाको नहीं प्राप्त होता, इस प्रकार छठे भावविकारकका यानी नाशका निषेध किया। आत्मा होकर यानी जनिक्रियाको प्राप्तकर भविष्यमें अस्तित्ववान् नहीं होता यानी घटके समान जन्मके

न प्राप्नोति, किन्तु मृदिव जन्यनपेक्षितप्राक्तनसत्तावानेव भवतीति द्वितीयो विकारो निरस्तः। निरवयवत्वादात्मा नित्य एकरूप इति विपरिणामलक्षणश्चतुर्थो विकारो निरस्तः। एकरूपयैव सत्तया शश्वद्भवतीति शाश्वत इत्यपक्षयलक्षणः पञ्चमो विकारो निरस्तः। निरवयवत्वेनाऽयं पुराऽप्यधुना च सर्वदा नवत्वात् पुराण इति वृद्धिलक्षणस्तृतीयो विकारो निरस्तः। एवं षड्भिर्भावविकारैर्वर्जितत्वे प्रतिपादिते सति आत्मनो नित्यकूटस्थासङ्गचिद्रूपत्वमाद्यन्तशून्यत्वमद्वितीयत्वं च सूचितं भवति, तथाप्यस्य श्रोतुर्देहनाशादात्मनाशभ्रमो न नष्ट इति मत्वा यत्र भ्रमस्तत्रैव पुमान् सम्यग्बोधनीय इति तस्य भ्रमं छेत्तुमाह—**न हन्यत इति**। अस्मिन् शरीरे खड्गादिना हन्यमाने छिद्यमाने सत्यप्यात्मा निर्विकारत्वात् स्वयं घटे भिद्यमाने घटाकाशवन्न हन्यते हननक्रियाया विषयो न भवति। घटे नष्टे घटाकाशवद्देहे नष्टे सत्यात्मा स्वयं स्वरूपेणैव तिष्ठति। तथा च श्रुतिः—'अविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा' इति ॥ २० ॥

एवात्मनोऽहमर्थस्य निर्विकारत्वं नित्यकूटस्थासङ्गचिद्रूपता तदेतत्पारमार्थिकं तत्त्वमिति प्रतिपाद्य, ईदृशमात्मतत्त्वं विदितवतो विदुषः सर्वकर्मसंन्यास एवाऽधिकारो नाऽन्यत्रेति सूचयितुमाह—**वेदेति**।

बाद होनेवाले अस्तित्वको प्राप्त नहीं होता, किन्तु मिट्टीके समान जन्मकी अपेक्षा न कर पूर्व सत्तावाला ही होता है, इस प्रकार दूसरे विकारके अस्तित्वका निषेध किया। निरवयव होनेसे आत्मा नित्य एकरूप है, ऐसा कहकर विपरिणामरूप चौथे विकारका निषेध किया। एकरूप सत्तासे सदा रहता है, इसलिए शाश्वत है, यह कहकर अपक्षयरूप पाँचवें विकारका निषेध किया। निरवयव होनेसे यह पहले भी और अब भी सर्वदा नया होनेसे पुराण है, यह कहकर वृद्धिरूप तीसरे विकारका निषेध किया। यद्यपि इस प्रकार छः भाव-विकारोंके निषेधका प्रतिपादन करनेसे आत्मा नित्य, कूटस्थ, असंग, चिद्रूप है, आदि और अन्तसे रहित है और अद्वितीय है, ऐसा सूचित होता है, तो भी देहके नाशसे आत्माका नाश होता है, यह भ्रम श्रोताका नष्ट नहीं हुआ, ऐसा मानकर जहां भ्रम हो, वहीं पुरुषको ठीक-ठीक बोध कराना चाहिए, इसलिए उसके भ्रमके दूर करनेको कहते हैं—**'न हन्यते'** इत्यादि। इस शरीरके खड्ग आदिसे मारने यानी काटनेपर भी, आत्मा जैसे घटके टूटनेसे घटाकाश नहीं टूटता, वैसे ही मारा नहीं जाता, यानी हननक्रियाका कर्म नहीं होता, क्योंकि निर्विकार है। जैसे घटके नष्ट होनेपर घटाकाश अपने स्वरूपसे स्थित रहता है, वैसे ही देहके नष्ट होनेपर भी यह आत्मा स्वयं स्वरूपसे स्थित रहता है। श्रुति भी है—'अरे मैत्रेयि ! यह आत्मा अविनाशी नाशरहित धर्मवाला है' ॥ २० ॥

इस प्रकार अहमर्थ आत्मामें जो निर्विकारत्व, नित्यत्व, कूटस्थत्व और चिद्रूपत्व है, वही पारमार्थिक तत्त्व है, ऐसा प्रतिपादन करके इस प्रकारके आत्मतत्त्वको असङ्ग जाननेवाले विद्वान्‌को सर्वकर्मके

वेदाऽविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥ २१ ॥

हे पार्थ, जो पुरुष इस आत्माको अविनाशी, अज और अव्यय जानता है, वह किस प्रकार किसको हनन आदि क्रियामें प्रवृत्त करावेगा और किसका विनाश करेगा ? ॥ २१ ॥

ब्रह्मचर्यहिंसादिविवेकवैराग्यशमदमादिश्रुत्याचार्येश्वरप्रसादादिलक्षणया नियतया श्रुत्यादिसाधनसम्पत्त्या युक्तो मोक्षैकप्रयोजनोक्तमुमुक्षुरधिकारी ब्रह्मविद्गुरुसन्निधौ श्रद्धाभक्तिभ्यामजस्रं कृतश्रवणादिजन्यज्ञानेनाऽनुभूयमानमेनं प्रत्यग्रूपमात्मानमहमर्थमजं जन्मादिसर्वविकारशून्यमत एवाऽव्ययं येन केनाऽपि प्रकारेण न व्येतीत्यव्ययम् अविनाशिनं विनाशः प्रमाणेन रज्जुसर्पादेरिव सत्ताबाधः द्रव्यगुणादिभिः परिच्छेदः तदभावोऽस्याऽस्तीत्यविनाशी परिपूर्णस्तमत एव नित्यमेकरसमद्वितीयमात्मतत्त्वमिदमेवाऽहमस्मीति साक्षाद्यो वेद स पुरुषः सर्वात्मभावं गतो विद्वान् कथं केन प्रकारेण कं हन्ति कं विषयीकृत्य हननक्रियां करोति। कं घातयति कं हननक्रियायां प्रवर्तयति। सर्वत्र किंशब्द आक्षेपार्थक एव भवति न तु प्रश्नार्थकः, प्रत्युत्तरादर्शनात्। कथमिति साधनमाक्षिप्य किमिति विषयाक्षेपः। कं घातयतीति प्रयोज्याक्षेपः। एवं क्रियातत्साधनाद्यसंभवे निर्विकारब्रह्मात्मदर्शिनः सर्वकर्मसंन्यास एवाऽधि-

---

संन्यासका ही अधिकार है, अन्यमें अधिकार नहीं है, ऐसा सूचन करनेके लिए कहते हैं— 'वेदा॰' इत्यादिसे ।

ब्रह्मचर्य, अहिंसा आदि; विवेक, वैराग्य, शम आदि; श्रुति, आचार्य और ईश्वरके प्रसादरूप नियत श्रवणादि साधनसंपत्तिसे युक्त, एक मोक्षका ही प्रयोजनवाला मुमुक्षु अधिकारी ब्रह्मवित् गुरुके समीपमें किये गये श्रवणादिसे उत्पन्न हुए ज्ञानसे अनुभवमें आये अहंके अर्थ, प्रत्यक्रूप, अज, यानी जन्मादिविकारोंसे रहित, इसीलिए अव्यय, यानी जिसका किसी भी प्रकारसे व्यय नहीं होता, उस अव्यय, अविनाशी आत्माको, रज्जुमें कल्पित सर्पादिके समान प्रमाणसे सत्ताका बाधकर, द्रव्य, गुण आदि द्वारा परिच्छेद विनाश है, यह विनाश जिसका न हो, उस अविनाशी आत्माको, परिपूर्ण इसीलिए नित्य एकरस आत्मतत्त्वको, यही मैं हूँ' इस प्रकार जो साक्षात् जानता है, वह सर्वात्मभावको प्राप्त हुआ विद्वान् पुरुष कैसे यानी किस प्रकारसे किसको मारता है यानी किसको विषय करके हननक्रिया करता है। किसका घात कराता है यानी किसको हननक्रियामें प्रवृत्त कराता है, सर्वत्र किंशब्द आक्षेपके अर्थमें है, प्रश्नके अर्थमें नहीं है, क्योंकि उसका प्रत्युत्तर देखनेमें नहीं आता। कैसे यह साधनका आक्षेप है और कं यानी किसको, यह विषयका आक्षेप है, किसका घात कराता है, यह प्रयोज्यका आक्षेप है। इस प्रकार क्रिया, क्रियाके

कार इति सिद्धम् । ननु निर्विकारब्रह्मदर्शिनः कथं हन्ति कं हन्ति कं घातयतीति साधनाद्याक्षेपेण हननक्रियाया एव निवृत्तिरत्र सूच्यते न तु सर्वेषां कर्मणामिति चेत्, न; क्रियामात्रहेतोस्तुल्यत्वात्, यत्र यत्र त्वविक्रियात्मज्ञानं तत्र तत्र न प्रवृत्तिरिति निर्विकारात्मज्ञानस्य प्रवृत्तिमात्रं प्रति निवृत्तिहेतुत्वान्न हननक्रियामात्रं प्रति हेतुत्वं नियन्तुं शक्यम् । अतो निर्विकाराद्वितीयब्रह्मात्मज्ञानिनो न कर्तव्यं न कारयितव्यं च किञ्चिदस्तीति सिद्धम् । ननु 'न जायते म्रियते' इति जन्मादिसर्वविक्रियाशून्यत्वं ब्रह्मण उक्तमतो निर्विकारं ज्ञेयं ब्रह्म, ज्ञाता तु विद्वान् विकारीत्युभयोर्निर्विकारत्वसविकारत्वधर्माभ्यां परस्परभिन्नत्वाद्विकारिणो विदुषस्त्वविक्रियत्वज्ञानासंभवात् संन्यासो नोपपद्यते । अविक्रियं ब्रह्मेति ज्ञानमस्त्येव संन्यासकारणमिति चेत्, न; तस्य ज्ञेयविषयत्वेनाऽसाधनत्वात् । नह्यचलः पर्वत इति ज्ञानं क्रियानिवृत्तिकारणं भवति तद्वत्स्वस्य विकारित्वेन विदुषस्त्वविक्रियोऽहमित्यविक्रियात्मत्वज्ञानासंभवात् कर्मसंन्यासोऽनुपपन्न एवेति चेत्, भवानत्र प्रष्टव्यः; इदमहं जानामीतीदमर्थस्य ज्ञाताऽहंप्रत्ययार्थो देहो वा प्राणो वा,

---

साधन आदिका असंभव होनेसे निर्विकार-ब्रह्मात्मदर्शीका सर्वसंन्यासमें ही अधिकार है, यह सिद्ध हुआ । यदि कहो कि 'कैसे मारता है, किसको मारता है, किसको मरवाता है', इस प्रकार साधन आदिके आक्षेपसे निर्विकार ब्रह्मात्मदर्शीकी हननक्रियासे ही निवृत्ति होती है, ऐसा यहाँ सूचित होता है, सब कर्मोंसे निवृत्ति होती है, ऐसा सूचित नहीं होता, तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि सभी क्रियाओंके हेतु समान ही होते हैं, अतः जहाँ-जहाँ अविक्रिय-आत्मज्ञान है, वहाँ-वहाँ प्रवृत्ति नहीं होती, इस प्रकार निर्विकार-आत्मज्ञान प्रवृत्तिमात्रके प्रति निवृत्तिका हेतु है, ऐसा लाभ होनेके कारण हननक्रियामात्रकी निवृत्तिका ही उक्त आत्मज्ञान हेतु है, ऐसा नियमन नहीं किया जा सकता । इसलिए निर्विकार, अद्वितीय, ब्रह्मात्माके जाननेवालेके लिए न तो कुछ कर्तव्य है और न कुछ कारयितव्य है अर्थात् उसके लिए करना-कराना कुछ नहीं है ।

शङ्का—'न जायते न म्रियते' (न पैदा होता है, न मरता है) इस वाक्यसे ब्रह्म जन्म आदि सब विकारोंसे शून्य है, ऐसा कहा गया है, इससे प्रतीत होता है कि ब्रह्मरूप ज्ञेय निर्विकार है और ज्ञाता विद्वान् विकारी है, यों उक्त दोनों (ज्ञेय और ज्ञाता) निर्विकारत्व और सविकारत्वरूप विरुद्ध धर्मवाले होनेके कारण परस्पर भिन्न ही होंगे, इसलिए विकारी विद्वान्के लिए (अपने आपमें) अविकारी ब्रह्मत्वका ज्ञान प्राप्त करना संभव न होनेसे संन्यास उपपन्न नहीं है । यदि कहो कि ब्रह्म अविक्रिय है, ऐसा संन्यासका कारणीभूत ज्ञान है ही, तो यह भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि उस ज्ञानका विषय ज्ञेय है, अतः वह साधन नहीं हो सकता । जैसे पर्वत अचल है, इस प्रकारका ज्ञान क्रियाकी निवृत्तिका कारण नहीं होता, वैसे ही विद्वान् जो स्वयं विकारी है, उसको 'मैं अविक्रिय हूँ' ऐसा ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिए वह कर्मसंन्यासी हो ही नहीं सकता ।

समाधान—इस पूर्वपक्षके विषयमें तुमसे पूछा जाता है कि 'इसको मैं जानता हूँ' इस ज्ञानमें इदमर्थका ज्ञाता जो अहमर्थ प्रतीत होता है, वह क्या देह है या प्राण है अथवा

इन्द्रियाणि वा, मनो वा, अहंकारो वा, विश्वो वा, तैजसो वा, प्राज्ञो वा, उत आत्मा वेति। आद्ये स्वप्नदेहो वा, जाग्रद्देहो वा, उतोभयं वा। नाऽऽद्यः, जागरे अहंप्रत्ययानुदयः स्यात्, स्वप्नदेहनाशात् ज्ञातुरहमर्थस्याऽपि नाशप्रसङ्गात्। तदिष्टापत्तिरेवेति चेत्, न; जाग्रति नाऽहमस्मीति तवाऽभावप्रसङ्गात् प्रत्यक्षविरोधाच्च। न द्वितीयः, न यस्य कस्याऽपि स्वप्ने अहमस्मीत्यहंप्रत्ययोदयः स्यात्। अहं व्रजामीत्युक्त्वा देह एव व्रजत्यतो देह एवाऽहंशब्दार्थ इति चेत्, न; 'देवानिष्ट्वाऽहं स्वर्गं व्रजामि' इत्यादौ व्यभिचारान्मृते देहे विद्यमानेऽप्यहंप्रत्ययादर्शनाच्च। न तृतीयः, द्वयोः सामानाधिकरण्यासंभवात्। नाऽऽदिमो द्वितीयः पक्षः, स्वभावजडत्वात्। नहि जाग्रति स्वप्ने वा स्वं वाऽऽन्यं वा प्राणो जानाति तदभावान्नाऽहमर्थत्वसिद्धिः। तृतीये एकस्य वा इन्द्रियस्य सर्वेषां वाऽहमर्थत्वम्? नाऽऽद्यः, शब्दादिष्वेकस्यैवाऽर्थस्योपलब्धिप्रसङ्गाच्छब्दादेः सर्वस्य सर्वत्रोपलब्धिप्रदर्शनात् प्रत्यक्षविरोधश्च स्यात्। न द्वितीयः, 'अहं ब्राह्मणः' इत्यत्र श्रोत्रादीनां

इन्द्रियाँ हैं या मन है अथवा अहंकार है, आहोस्वित् विश्व है या तैजस है अथवा प्राज्ञ है या आत्मा है? यदि आद्य पक्ष अर्थात् देह है, ऐसा कहो, तो उसमें भी प्रष्टव्य यह है कि वह स्वप्नदेह है या जाग्रत्-देह है अथवा दोनों देह हैं? यदि स्वप्नदेहको अहंप्रत्ययार्थ कहो, तो वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि जागनेपर अहंप्रत्ययका उदय नहीं होगा, कारण कि स्वप्नदेहका नाश होनेसे अहमर्थ ज्ञाताका भी नाश हो जायगा। यदि कहो कि यह तो हमको इष्ट ही है, तो यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि जाग्रत्में 'मैं नहीं हूँ' इस प्रकार तुम्हारा ही अभाव प्रसक्त हो जायगा और प्रत्यक्षसे विरोध भी होगा। दूसरा पक्ष याने जाग्रत् देह भी ज्ञाता नहीं हो सकती, क्योंकि ऐसा होनेसे किसीको भी स्वप्नमें 'मैं हूँ' इस प्रकारके ज्ञानका उदय नहीं होगा। 'मैं चलता हूँ' यह कहकर देह ही चलती है, इसलिए देह ही अहं शब्दका अर्थ है, ऐसा कहो, तो यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि 'देवताओंकी पूजा कर मैं स्वर्गको जाता हूँ' इत्यादिमें व्यभिचार है अर्थात् वहाँ जिस शरीरसे देवताकी पूजा की है, उससे स्वर्ग नहीं जाता, पर ऐसा व्यवहार होता है, अतः व्यभिचार है और मृत देहके विद्यमान होनेपर भी अहंप्रत्यय देखनेमें नहीं आता। तीसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि दोनोंका सामानाधिकरण्य अर्थात् स्वप्न और जाग्रत्के शरीरकी एकार्थता नहीं है। प्रथमका दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि प्राण स्वभावसे ही जड़ है, तात्पर्य यह है कि प्राण जाग्रत् अथवा स्वप्नमें अपनेको या दूसरेको नहीं जानता। इसलिए उसमें अहमर्थत्वकी सम्भावना नहीं हो सकती। मुख्य कल्पका तृतीय पक्ष भी नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें यह प्रश्न होता है कि क्या एक इन्द्रिय अहंका अर्थ है अथवा सब इन्द्रियां? प्रथम कल्प युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेसे शब्दादि विषयोंमें से किसी एक विषयकी ही उपलब्धि हो सकेगी, अन्य विषयोंकी नहीं होगी। और शब्दादि सब विषयोंकी उपलब्धि सर्वत्र देखनेमें आती है, अतः प्रत्यक्षसे विरोध भी होगा। [चक्षु आदि इन्द्रियोंमें से कोई एक इन्द्रिय अहमर्थ मानी जाय, तो जब चक्षुको आत्मा मानेंगे, तब रूपका ही

प्रत्येकं ब्राह्मणशब्दार्थत्वे ब्राह्मणानेकत्वसिद्धावयमेको ब्राह्मण इति प्रत्यक्षसिद्धब्राह्मणैकत्वव्यवहारविरोधप्रसङ्गात् । योऽहं चक्षुषा घटमद्राक्षं सोऽहं पाणिना स्पृशामीति दृगादिभ्यो भिन्नस्याऽहमर्थत्वसिद्धाविन्द्रियाणां तदनुपपत्तेः । नाऽपि चतुर्थः, चक्षुरादिवत् करणत्वाविशेषात्; 'मनसा ह्येव पश्यति' इति श्रुतेः । नाऽपि च पञ्चमः, विकारित्वात् ज्ञातृत्वानुपपत्तावहमर्थत्वानुपपत्तेः । नन्वहं जानामीत्यहंकारस्याऽपि ज्ञातृत्वं प्रतीयत इति चेत्, न; स्वतो जडत्वात् ज्ञातृत्वानुपपत्तेः । यथा 'अहं मनुष्यः' इत्यन्यधर्माध्यासस्तथा 'ज्ञाताऽहम्' इत्यन्यधर्माध्यास एव । स्वतो जडत्वेन ज्ञातृत्वमस्य न संभवति, ज्ञातृत्वस्य चेतनधर्मत्वाद्वह्नेर्दग्धृत्ववत् । शैशवे मया द्राक्षा भुक्तेति तेन तेन सहैव विकारेण विनश्यतोऽहंकारस्य विकारिणः शैशवभुक्तद्राक्षानुभूतिश्चिरकालिकी वृद्धत्वे नोपपद्यते । तदनुपपत्तावहमर्थत्वं न संभवति । 'ममाऽयमहंकारो दुष्टः' इति स्वातिरिक्तस्य ज्ञेयत्वेन ज्ञातृत्वानुपपत्तावहमर्थत्वासिद्धेः । नाऽपि षष्ठो नाऽपि च सप्तमो

प्रत्यक्ष होगा, दूसरेका नहीं होगा, घ्राणको माननेसे गन्धका ही होगा, दूसरेका नहीं, इस क्रमसे जिस इन्द्रियको आत्मा मानेंगे उसीका विषय गृहीत हो सकेगा, अन्यान्य विषयोंका ग्रहण नहीं होगा, ऐसी आपत्ति होगी। इसे इष्टापत्ति भी मान नहीं सकते, क्योंकि सभी विषयोंकी उपलब्धि होती है, अतः उक्त कल्प असङ्गत है, यह भाव है ।] दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'मैं ब्राह्मण हूँ' इत्यादि व्यवहारमें श्रोत्र आदि प्रत्येक इन्द्रिय यदि ब्राह्मणशब्दकी अर्थ होगी, तो ब्राह्मणमें अनेकत्व सिद्ध होगा, इस परिस्थितिमें 'यह एक ब्राह्मण है' इस प्रत्यक्षसिद्ध ब्राह्मणके एकत्वके व्यवहारका विरोध प्रसक्त होगा । इसलिए जिस मैंने नेत्रोंसे घट देखा था, वही मैं हाथसे छूता हूँ, इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा होनेके कारण नेत्रादिसे भिन्न अहंशब्दका अर्थ सिद्ध होनेसे इन्द्रियोंको अहमर्थ मानना उपपन्न नहीं है । चौथा पक्ष भी युक्त नहीं है, अर्थात् मन भी अहमर्थ नहीं है, क्योंकि 'मनसे ही देखता है' इस श्रुतिसे चक्षु आदिके समान मन भी करण ही है, अतः कर्ता नहीं हो सकता । पांचवां पक्ष अहंकार भी अहमर्थ नहीं है, क्योंकि अहंकार विकारी है, अतः ज्ञाता नहीं हो सकता, इसलिए वह भी अहं प्रत्ययका अर्थ नहीं है । यदि कहो कि 'मैं जानता हूँ' इस प्रत्ययसे अहंकारमें भी ज्ञातृत्व प्रतीत होता है, तो यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि जो स्वतः जड़ है, वह ज्ञाता हो नहीं सकता, अतः जैसे 'मैं मनुष्य हूँ' यह अन्य धर्मका अध्यास है, वैसे ही अहंकारमें भी 'मैं ज्ञाता हूँ' यह अन्य धर्मका ही अध्यास है, यह समझना चाहिए । स्वतः जड़ होनेसे अहङ्कारमें ज्ञातृत्वका संभव नहीं हैं, क्योंकि ज्ञातृत्व चेतनका धर्म है, जैसे अग्निका धर्म जलाना । बालकपनमें मैंने द्राक्षा (अंगूर) खायी थी, इस प्रकार तत्-तत् विकारके साथ नष्ट हो जानेवाले विकारी अहंकारका बालकपनमें खाये हुए और देखे हुएका चिरकालिक अनुभव बुढ़ापेमें उपपन्न नहीं हो सकेगा, इसलिए उसके उपपन्न न होनेसे अहंकार अहंप्रत्ययका अर्थ नहीं हो सकता । मेरा यह अहंकार दुष्ट है, इस प्रतीतिसे अपनेसे अन्य अहङ्कारमें ज्ञेयत्व होनेके कारण ज्ञातृत्व सिद्ध न होनेसे अहमर्थत्व उसमें सिद्ध नहीं होता । छठा, सातवाँ और आठवाँ पक्ष भी युक्त

नाऽप्ययमश्च, विश्वादीनां ज्ञातृव्यतिरिक्तत्वेनाऽहमर्थत्वायोगात्तेषामेकैकावस्थाभिमानित्वेन व्यवस्थातद्धर्मविज्ञानासंभवात् । यः स्वप्नमद्राक्षं यः सुखमस्वाप्सं सोऽहं जागर्मीत्यवस्थात्रितयज्ञातुर्विश्वादिभ्यो भिन्नत्वमेवाऽवगम्यते नित्यत्वमविकारित्वं च । अतः पारिशेष्यादात्मैव ज्ञाता, 'नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता' इति श्रुतेः । ननु निरवयवस्याऽऽत्मनो बुद्धितद्वृत्तीन्द्रियैरिन्द्रियार्थैः संबन्धासंभवात् कथं ज्ञातृत्वमिति चेद्, बुद्ध्यादिभिराध्यासिकसंबन्धस्य संभवादविक्रियस्याऽप्यात्मनो ज्ञातृत्वं सिध्यति । यत एवं ततो विज्ञातुरात्मन एवाऽहमर्थत्वम्, 'अहं विजानामि विविक्तरूपः' इति श्रुतेः । तत आत्मैव विद्वान्, निरुक्तविज्ञानस्य विदुषः संभवात् । एवं विद्वदात्मनोरभिन्नत्वे 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यात्मनो ब्रह्माभिन्नत्वश्रवणादविक्रियोऽहमिति विदुषः स्वस्याऽविक्रियत्वाद्वितीयत्वज्ञानसिद्धेर्निरङ्कुशत्वादविक्रियब्रह्मात्मत्वज्ञानबलेन सर्वकर्मसंन्यास उपपद्यत एवेति सिद्धम् ॥ २१ ॥

नन्वात्मनः स्वतो विक्रियावत्त्वाभावेऽपि पूर्वापरदेहपरिग्रहणपरित्यागयोर्विक्रियावत्त्वमौपाधिकं संभवति, पूर्वापरगिरियोगाद्भानोरिव । तेनाऽविक्रियत्वमसिद्धमित्या-

---

नहीं है, क्योंकि विश्व आदि एक-एक अवस्थाके ही अभिमानी हैं, अतः तीनों अवस्थाका कोई एक विज्ञाता नहीं हो सकता, इसलिए वे अहंके अर्थ नहीं हो सकते, क्योंकि विश्व आदि तीनों ज्ञातासे भिन्न हैं। जिसने स्वप्न देखा था, जो सुखसे सोया था, वह मैं जागता हूँ, इस प्रकार तीनों अवस्थाओंका ज्ञाता, विश्व आदि तीनोंसे भिन्न, नित्य और अविकारी है, ऐसा ज्ञात होता है, इसलिए परिशेषसे और 'इसके सिवा दूसरा विज्ञाता नहीं है', इस श्रुतिसे आत्मा ही ज्ञाता है।

शङ्का—निरवयव आत्माका बुद्धि, बुद्धिकी वृत्ति, इन्द्रिय और इन्द्रियोंके विषयोंसे संबन्ध ही जब नहीं हो सकता, तब आत्मामें ज्ञातृत्व कैसे है ?

समाधान—हां, हो सकता है, क्योंकि बुद्धि आदिसे आत्माका आध्यासिक संबन्ध है, इसलिए अविक्रिय आत्माका भी ज्ञातृत्व सिद्ध होता है। ऐसा होनेसे विज्ञाता आत्मा ही अहंशब्दका अर्थ है। 'मैं भिन्न-भिन्नरूप होकर जानता हूँ' इस श्रुतिसे भी अहंका अर्थ आत्मा है, यह ज्ञात होता है। इसलिए आत्मा ही विद्वान् है, क्योंकि निरुक्त विज्ञान विद्वान् आत्माको ही होता है। इस प्रकार विद्वान् और आत्माका अभेद सिद्ध है और 'यह आत्मा ब्रह्म है' इत्यर्थक श्रुतिसे आत्मा ब्रह्मसे अभिन्न है, ऐसा सुननेमें आता है, इसलिए 'मैं अविक्रिय हूँ' ऐसा जाननेवालेका अपने अविकारी, अद्वितीय होनेका ज्ञान निरंकुश सिद्ध होनेसे, अविक्रिय ब्रह्मात्मत्वके ज्ञानके बलसे सब कर्मोंका संन्यास उपपन्न होता है, यह सिद्ध हुआ ॥ २१ ॥

यद्यपि आत्मा स्वयं विकारी नहीं है, तो भी जैसे पूर्व और पश्चिमके पर्वतोंके (उदयाचल और अस्ताचलके) साथ योग होनेसे सूर्यमें विक्रियावत्त्व है, वैसे ही पहले और पिछले देहका ग्रहण और त्याग होनेपर आत्मामें औपाधिक विकारित्व हो सकता है, इसलिए आत्मा अविकारी है, ऐसा सिद्ध नहीं हो

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥२२॥

पुरुष जैसे अपने जीर्ण वस्त्रोंका परित्यागकर नवीन वस्त्रोंका ग्रहण करता है, वैसे ही यह आत्मा जीर्ण शरीरोंका परित्यागकर नवीन शरीरोंका ग्रहण करता है ॥ २२ ॥

शङ्क्य वासांसि गृह्णतो जहतश्च पुरुषस्य यथाऽविक्रियत्वं तथैवाऽऽत्मनोऽपि देहोपादानविसर्गयोरित्यात्मनस्त्वविक्रियत्वं देहादिभिन्नत्वं तद्धर्मतत्कर्मतदवस्थाराहित्यं च सूचयितुमाह—**वासांसीति** ।

नरः पुरुषो जीर्णानि वासांसि विहायाऽपराणि नामरूपलक्षणैः पूर्वविपरीतानि नवानि वसांसि स्वयमविक्रियः सन्नेव यथा गृह्णाति तथा देही देहेऽहमित्युपलभ्यमान आत्मा स्वयमविकारात्मना स्थितः सन्नेव जीर्णानि कालकर्मवशात्त्याज्यतां प्राप्तानि शरीराणि विहाय अन्यानि नामरूपजातिगुणविशेषैः पूर्वविलक्षणानि संयाति प्राप्नोति, न तु स्वयं विक्रियते । यथा वस्त्राणामेवाऽऽगमनिर्गमौ नामरूपवैचित्र्यं शैथिल्यं च न तु पुरुषस्य, तथा शरीराणामेवाऽऽगमापायाववान्तरविकारश्च, न त्वात्मनो निरवयवस्येति देहेन्द्रियादिभ्यो भिन्नत्वमविक्रियत्वं नित्यत्वं चाऽऽत्मनः सूचितं भवति ॥२२॥

ननु घटजलनाशात् तत्रस्थप्रतिबिम्बस्येव शस्त्रादिना देहविनाशे सत्यात्मनोऽपि तत्रो-

---

सकता, ऐसी शङ्का करके वस्त्रके पहनने और छोड़नेपर भी जैसे पुरुष अविकारी ही रहता है, वैसे ही देहके रहने और त्याग करनेपर भी आत्मा अविकारी ही है, देहसे भिन्न है और देहके धर्म, कर्म और उसकी अवस्थाओंसे रहित है, ऐसा सूचन करनेके लिए भगवान् कहते हैं—**'वासांसि'** इत्यादि ।

मनुष्य अपने पुराने वस्त्रोंको छोड़कर दूसरे नवीन वस्त्रोंको अर्थात् नाम, रूप और लक्षणोंसे पूर्व वस्त्रोंसे विपरीत वस्त्रोंको स्वयं अविक्रिय होकर ही जैसे ग्रहण करता है, वैसे ही देहमें अहंरूपसे प्रतीत होनेवाला आत्मा स्वयं अविकारस्वरूपसे स्थित होकर ही पुराने शरीरोंका—काल और कर्मके कारणसे त्यागनेके योग्य शरीरोंका—त्याग कर दूसरे नाम, रूप, जाति और गुणके भेदसे पूर्व शरीरोंसे विलक्षण देहोंका धारण करता है, स्वयं विकारी नहीं होता। जैसे वस्त्रोंका ही आना और जाना, नाम और रूपकी ही विचित्रता और शिथिलता होती है, पुरुषकी नहीं होती, वैसे ही शरीरोंमें ही जन्म, नाश और दूसरे अवयवोंका विकार होता है, निरवयव आत्मामें नहीं, यह समझना चाहिए, इसलिए आत्मा देह, इन्द्रिय आदिसे भिन्न है, अविकारी है और नित्य है, ऐसा सूचित होता है ॥ २२ ॥

यदि शङ्का हो कि जैसे घटके जलका नाश होनेसे घटके जलमें स्थित प्रतिबिम्बका नाश हो

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥ २३ ॥

इस आत्माको न तलवार, गदा आदि शस्त्र काट सकते हैं, न जल शिथिल कर सकता है, न अग्नि जला सकती है और न वायु सुखा सकता है ॥ २३ ॥

पलभ्यमानस्य चरमविकारः स्यादेव, अतोऽविक्रियत्वमसिद्धमित्यत आह—**नैनमिति** ।

शस्यन्ते पदार्था एभिरिति शस्त्राण्यसिगदादयः पृथिवीविकारा देहवदेनं प्रकृतमात्मानं न छिन्दन्त्यवयवविश्लेषं न कुर्वन्ति । निरवयवत्वादाकाशवत्तेषां विशसनक्रियाविषयो न भवत्यात्मेत्यर्थः । आपोऽपि नैनमात्मानं देहवत् क्लेदयन्ति आर्द्रतामापाद्य सावयवस्येव निरवयवस्याऽऽत्मनः शैथिल्यं संपादयितुं न शक्नुवन्ति । पावकोऽग्निरपि देहवन्नैनं दहति, दहनक्रियाया अविषयत्वात् भस्मीकर्तुं न शक्नोति । स्नेहशोषणेन देहं यथा शोषयति तथा मारुतोऽप्येनं न शोषयति शोषणक्रियाया अगोचरत्वादेनं शुष्कीकर्तुं न शक्नोति । यथा घटं जलं क्लेदयति शस्त्राणि ताडनीयानि ताडयन्ति वायुः शोषयति वह्निर्दहति, तथा तत्रस्थमाकाशं निरवयवं न क्लेदयति न ताडयति न शोषयति न दहति, तद्वदात्मानं देहस्थमिति भावः । ततोऽविक्रि-

---

आता है, वैसे ही शस्त्र आदिसे देहका नाश होनेपर देहमें प्रतीत होनेवाली आत्माका भी चरम विकार याने नाश हो ही जायगा, अतः आत्मा अविकारी है, यह सिद्ध नहीं हो सकता, तो इसके उत्तरमें कहते हैं—'**नैनम्**' इत्यादिसे ।

जिनसे पदार्थ काटे या तोड़े जाते हैं, वे तलवार, गदा आदि पृथ्वीके विकार जैसे देहका छेदन कर सकते हैं, वैसे इस प्रकृत आत्माका छेदन नहीं कर सकते यानी आत्माके अवयवोंका पृथक्करण नहीं कर सकते हैं, तात्पर्य यह है कि आत्मा आकाशके समान निरवयव है, अतः वह तलवार आदिसे होनेवाली छेदनरूप क्रियाका विषय (आश्रय) नहीं हो सकता । जल भी देहके समान इस आत्माको क्लिन्न नहीं कर सकता अर्थात् सावयव पदार्थके समान निरवयव आत्माको गीला करके ढीला नहीं कर सकता । पावक (अग्नि) भी देहके समान इसको नहीं जलाता अर्थात् भस्मीभूत नहीं कर सकता, क्योंकि यह आत्मा दहनक्रियाका विषय नहीं है । जैसे वायु चिकनाईको सुखाकर देहको सुखा देता है, वैसे इसको नहीं सुखा सकत । चूँकि आत्मा शोषणक्रियाका अविषय है, इसलिए वायु इसको शुष्क नहीं करता। जैसे घटको जल शिथिल कर देता है, ताडन करने योग्य शस्त्र तोड़ डालते हैं, वायु सुखा देता है, अग्नि जला डालती है, वैसे घटमें स्थित निरवयव आकाशको जल शिथिल नहीं कर सकता, शस्त्र ताडन नहीं कर सकते, वायु नहीं सुखा सकता और अग्नि नहीं जला सकती, इसी प्रकार देहमें स्थित आत्माका वे कुछ नहीं कर सकते, यह भाव है। इसलिए आत्मा

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ २४ ॥

चूँकि यह आत्मा अनादि, नित्य, सर्वव्यापक, स्थिरस्वभाव और अचल है, इसलिए इसका शस्त्रादिसे छेदन, अग्निसे दाह, जलसे क्लेदन और वायुसे शोषण नहीं हो सकता ॥ २४ ॥

यत्वमात्मनः सिद्धम् । एतेन जरारोगादयो भौतिकाश्चोपद्रवाः सर्वे शरीरस्यैव नाऽऽत्मनोऽहमर्थस्येति देहादिभिन्नत्वेनाऽऽत्मनो देहं विषयीकृत्य प्राप्तानर्थागोचरत्वमुक्तम् । ततस्तेषु प्राप्तेष्वपि स्थिरप्रज्ञतया ब्रह्मविद्भिः स्थातव्यमिति सूचितं भवति ॥ २३ ॥

वासांसि जीर्णानीति यतो देहव्यतिरिक्तत्वमात्मनः प्रतिपादितं ततो देहस्यैवच्छेदादयो दृश्यविषयकाः न त्वात्मनो निरवयवस्येति छेदक्लेददहनशोषणानि भूतचतुष्टयकार्याणि न प्रसरन्त्यात्मनीति स्फुटमाह—अच्छेद्य इति ।

सनातनोऽनादिः । 'न तस्य कश्चिज्जनिता न चाऽधिपः' इति श्रवणादात्माऽयं निरवयवत्वेन कुतश्चित्कारणादुत्पन्नो न भवतीति सनातनः जन्मादिविकाररहितस्तत एव नित्यः नित्यत्वादेव सर्वगतः परिपूर्णः । नित्यत्वे सर्वगतत्वेऽप्यात्मनः क्रियाशक्त्याश्रयत्वमस्त्विति न शङ्कनीयम्, नित्यत्वादिधर्मवत्याकाशे तददर्शनात् । अतएव स्थाणुः स्थिरस्वभावः स्थिरत्वादेवाऽचलः । अयमयमित्यपरोक्षेण निर्देश आत्मनो

अविकारी है, यह सिद्ध हुआ । इससे यह कहा कि जरा, रोग आदि सब भौतिक या दैविक उपद्रव शरीरके ही हैं, अहंके अर्थ आत्माके नहीं हैं। इसलिए देहके तादात्म्यसे प्राप्त हुए अनर्थोंका विषय, देह आदिसे भिन्न, आत्मा नहीं है । इसलिए उनके प्राप्त होनेपर भी ब्रह्मज्ञानियोंको स्थिर बुद्धिसे स्थित रहना चाहिए, यह सूचित होता है ॥ २३ ॥

चूँकि **'वासांसि जीर्णानि'** इत्यादि श्लोकसे आत्माको देहसे भिन्न बतलाया है, इसलिए दृश्यविषयजन्य छेदन आदि क्रियाएँ देहमें ही होती हैं, निरवयव आत्मामें नहीं होतीं, चारों भूतोंके कार्य छेदन, भेदन, दहन और शोषण आत्मामें नहीं घुसते, ऐसा अधिक स्पष्ट करते हैं—**'अच्छेद्योऽ०'** इत्यादिसे ।

सनातन शब्दका अर्थ अनादि है । 'न उसका कोई जनिता है और न कोई अधिपति है' एतदर्थक श्रुतिसे यह ज्ञात होता है कि निरवयव होनेके कारण यह आत्मा किसी कारणसे उत्पन्न नहीं होता, इसलिए सनातन है, यानी जन्म आदि विकारोंसे रहित है । और इसीसे यह नित्य है, नित्य होनेसे ही सर्वव्यापक—परिपूर्ण—है । नित्य और सर्वव्यापक होनेपर भी आत्मामें क्रियाशक्तिका आश्रयत्व यानी आत्मा क्रियाका करनेवाला हो, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि नित्यत्व आदि धर्मवाले आकाशमें ऐसा देखनेमें नहीं आता, इसीलिए आत्मा स्थाणु है, यानी स्थिरस्वभाववाला है और स्थिर होनेसे ही अचल है । **'अयम्'** 'अयम्' (यह, यह)

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥ २५ ॥

आत्मा लिङ्ग शरीरसे भिन्न है, अज्ञानसे भिन्न है, विकारसे शून्य है, इसलिए इसको निष्कल और निष्क्रिय जानकर इसके विषयमें तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए ॥ २५ ॥

विद्वत्प्रत्यक्षविषयत्वज्ञापनार्थम् । सनातनत्वान्नित्यत्वात् स्थिरत्वादचलत्वाच्चाऽयमात्मा स्वयमच्छेद्यः छेत्तुमशक्यः, अदाह्यो दग्धुमशक्यः, अक्लेद्यः क्लेदयितुमशक्यः, अशोष्यश्च शोषयितुमशक्य एव भवति । शस्त्रादीनामित्यर्थः । सनातनत्वविशेषणेन निर्विकारत्वम्, नित्यत्वविशेषणेन प्रामाणान्तराबाध्यत्वम्, स्थिरत्वाचलत्वविशेषणाभ्यां क्रियाया अनाश्रयत्वमविषयत्वम्, पूर्णत्वविशेषणेनाऽद्वितीयत्वं नित्यशुद्धत्वमानन्दैकरसत्वं चाऽऽत्मनः सूचितं भवति ॥ २४ ॥

'तरति शोकमात्मवित्' इति श्रवणादात्मनि विज्ञाते शोकनिवृत्तिरात्मविज्ञानं त्वात्मानात्मशोधनं विना न सिध्यतीति तच्छोधनमुपक्रम्य, वासांसीति स्थूलशरीरत्वमात्मनः प्रतिपाद्य, नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणीति छेदादेरविषयत्वे प्रतिपादिते सूक्ष्मकारणयोः शस्त्रादेरविषयत्वसंभवात्तत्राऽऽत्मत्वबुद्धिः स्यात्, सा मा भूदिति अव्यक्ताचिन्त्यपदाभ्यां तद्भिन्नत्वं प्रतिपादयन्नविकार्यत्वं च वदन्नेतल्लक्षणमात्मानं विदितवतस्तव न पुनः शोको युक्त इत्युपक्रान्तमुपसंहरति—**अव्यक्त** इति ।

ऐसा अपरोक्षरूपसे कथन यह जनानेके लिए है कि आत्मा विद्वानोंके प्रत्यक्षका विषय है । सनातन होनेसे, नित्य होनेसे, स्थिर होनेसे और अचल होनेसे यह आत्मा स्वयं अच्छेद्य है—किसीसे छेदन नहीं किया जा सकता, अदाह्य है—किसीसे जलाया नहीं जा सकता, अक्लेद्य है—गलाया नहीं जा सकता, अशोष्य है—सुखाया नहीं जा सकता अर्थात् शस्त्र आदि द्वारा । सनातनत्व विशेषणसे निर्विकारत्व, नित्यत्व विशेषणसे अन्य प्रमाणसे अबाध्यत्व, स्थिरत्व और अचलत्व—इन दो विशेषणोंसे क्रियाका अनाश्रयत्व—अविषयत्व—तथा पूर्णत्व विशेषणसे अद्वितीयत्व, नित्यशुद्धत्व, आनन्दैकरसत्व आत्मामें सूचित होता है ॥ २४ ॥

'आत्मज्ञानी शोकको तर जाता है' इत्यर्थक श्रुतिसे ज्ञात होता है कि आत्माका अपरोक्ष ज्ञान होनेपर शोक निवृत्त हो जाता है, पर वह आत्माका विज्ञान आत्मा और अनात्माका शोधन किये विना सिद्ध नहीं होता, इसलिए उनके शोधनका आरंभ करके, 'वासांसि' इत्यादि श्लोकसे आत्मा स्थूल शरीरसे भिन्न है, ऐसा प्रतिपादन करके, 'नैनं छिन्दन्ति' इत्यादि श्लोकसे आत्मा छेदन आदि क्रियाओंका विषय (आश्रय) नहीं है, ऐसा प्रतिपादन किया। पर ऐसा करनेपर भी सूक्ष्म और कारण शरीरमें शस्त्र आदिकी विषयता नहीं हो सकती, इसलिए उनमें भी आत्मबुद्धिका प्रसंग हो जायगा, ऐसा न हो, इसलिए अव्यक्त और अचिन्त्य—इन दो पदोंसे उन दोनों शरीरोंसे

अहंकारममकारादिभिर्व्यज्यत इति व्यक्तं लिङ्गशरीरम्, तद्धर्मतदवस्थासाक्षित्वेन ततो भिन्नत्वादात्माऽयमव्यक्तो व्यक्ताद्भिन्नः, 'ममेदं दुःखं प्राप्तम्' इति दुःखानुभवितृत्वं येन ज्ञायते स तस्माद्भिन्न एव नाऽत्र संशयः। तथैवाऽचिन्त्यश्च। अदृष्टादिवत् कार्येण शोकमोहादिना चिन्त्यतेऽनुमीयत इति चिन्त्यमव्याकृतमज्ञानं कारणशरीरम्, येन यत् ज्ञायते स ततो भिन्नो दृष्टः। 'मामहं न जानामि' इति 'अहमज्ञः' इत्यज्ञत्वमज्ञानं यतोऽनुभूयते ततः स्वविषयकाज्ञानसाक्षित्वादात्माऽयमज्ञानाच्चिन्त्याद्भिन्नत्वेनाऽचिन्त्यश्चिन्त्याद्भिन्न एव भवतीति। अविकार्यश्च निरवयवत्वादात्माऽयं विकृतेरविषयत्वेनाऽविकार्यः। अविकार्य इत्यनुत्पाद्यत्वादीनामात्मधर्माणामुपलक्षणम्। 'पुरस्तात्सिद्धं हि ब्रह्म' इति श्रवणादनादिसिद्धत्वादात्माऽयमनुत्पाद्यः। 'नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता' इति श्रवणात् ज्ञातुः स्वरूपत्वादनाप्यः। 'शुद्धोऽबाध्यस्वरूपो बुद्धः सुखस्वरूपः' इति श्रवणान्नित्यशुद्धत्वादात्माऽयं न संस्कार्यः। अद्वय एवाऽयमात्मा 'सन्मात्रो नित्यः शुद्धो बुद्धः सत्यो निरञ्जनो विभुरद्वय आनन्दः परः प्रत्यगेकरसः प्रमाणैरेतैरवगतः' इति श्रुत्या

आत्माके भेदका प्रतिपादन कर रहे और अविकार्यत्व कह रहे इस प्रकारके आत्माको जाननेवाले तुम्हें फिर शोक करना युक्त नहीं है, इस प्रकार उपक्रान्तका यानी आरंभ किये हुएका उपसंहार करते हैं—'अव्यक्तोऽ०' इत्यादिसे।

अहंकार और ममकार आदिसे जो व्यक्त यानी प्रकट होता है, वह व्यक्त कहलाता है यानी लिंग शरीर। आत्मा लिंग शरीरके धर्मोंका और उसकी सभी अवस्थाओंका साक्षी है, इसलिए उससे भिन्न होनेके कारण वह अव्यक्त है—व्यक्तसे भिन्न है, क्योंकि 'मुझे यह दुःख हुआ' इस प्रकारके दुःखके अनुभवितृत्वका जिससे ज्ञान होता है, वह उससे भिन्न होता है, इसमें संशय नहीं है। इसी प्रकार आत्मा अचिन्त्य भी है। अदृष्टके—प्रारब्धके—समान शोक, मोह आदिरूप कार्य द्वारा जिसका चिन्तन यानी अनुमान किया जाता है, वह चिन्त्य कहलाता है। वह है अव्याकृत—अज्ञान—या कारण शरीर। उससे आत्मा भिन्न है, क्योंकि जो जिससे जाना जाता है, वह उससे भिन्न होता है, ऐसा अनुभव है। चूँकि 'मैं मुझको नहीं जानता' 'मैं अज्ञ हूँ' इस प्रकार अज्ञत्वका (अज्ञानका) अनुभव किया जाता है, इसलिए स्वविषयक अज्ञानका साक्षी होनेसे यह आत्मा अज्ञानरूप चिन्त्यसे भिन्न होनेके कारण अचिन्त्य है यानी चिन्त्यसे भिन्न ही है। निरवयव होनेसे यह आत्मा जन्मादि विकारोंका आश्रय नहीं है, अतः अविकार्य है। अविकार्यशब्द अनुत्पाद्यत्व आदि आत्माके धर्मोंका भी उपलक्षण है। 'ब्रह्म पहलेसे ही सिद्ध है' एतदर्थक श्रुतिसे आत्मा अनादिसिद्ध है, ऐसा ज्ञात होता है, अतः यह आत्मा अनुत्पाद्य है। 'इसके सिवा दूसरा विज्ञाता नहीं है' इत्यर्थक श्रुतिसे ज्ञाताका स्वरूप होनेके कारण आत्मा अनाप्य (अप्राप्य) है। 'शुद्ध, अबाध्यस्वरूप, बुद्ध और सुखस्वरूप' इत्यर्थक श्रुतिसे नित्य शुद्ध होनेके कारण यह आत्मा असंस्कार्य है। चूँकि इसी अद्वय आत्माको 'सन्मात्र, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, सत्य, निरञ्जन, विभु, अद्वय, आनन्द, पर, प्रत्यगेकरस और इन प्रमाणोंसे अवगत

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि ॥ २६ ॥

यदि यह मान लो कि आत्मा सदा उत्पन्न होता है और मरता है, तो भी हे महाबाहो, तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए ॥ २६ ॥

यस्मादुच्यते तस्मात्त्वमेवं यथोक्तलक्षणमेतमात्मानमस्थूलमव्यक्तमचिन्त्यं निष्कलं निष्क्रियं कूटस्थासङ्गचिद्रूपमहमेवंलक्षण इति स्वं विज्ञाय नाऽनुशोचितुमर्हसि । अहमेतेषां हन्ता मयैते हन्यन्त इति पूर्ववच्छोकं कर्तुं भवान्नाऽर्हतीत्यर्थः । एतेन ब्रह्मविदामद्वैतदर्शिनां न किञ्चिच्छोच्यमस्तीति सूचितं भवति ॥ २५ ॥

एवं संसारभ्रमविध्वंसकमात्मयाथात्म्यविज्ञानमुपदिश्य श्रीभगवानेतादृशविज्ञानस्याऽऽत्मप्रसादेन विना लब्धुमशक्यत्वादर्जुने तदनुदयमालक्ष्य प्रकारान्तरेण तच्छोकमपाकर्तुमिदमाह—'**अथ चेति**' ।

महाबाहो इति साभिप्रायं संबोधनम् । चशब्दो यद्यर्थः । अथवा एनमुक्तमात्मानं नित्यजातं यदा यदा देहोत्पत्तिस्तदा तदा देहेन सह जातमुत्पन्नं देहे मृते देहेन सहैनं नित्यं मृतं च मूढलोकवत् त्वं यदि मन्यसे तथापि तस्मिन् पक्षेऽपि 'एवं नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान् स्वबान्धवान्' इत्युक्तरीत्या शोचितुं नाऽर्हसि ॥ २६ ॥

अस्मिन् पक्षेऽपि शोकस्याऽकर्तव्यत्वे हेतुमाह—'**जातस्येति**' ।

आत्मा है' इत्यर्थक श्रुति कहती है, इसलिए ऐसे यानी यथोक्त लक्षणवाले इस आत्माको—अस्थूल, अव्यक्त, अचिन्त्य, निष्क्रिय, कूटस्थ, असंगचिद्रूप आत्माको—मैं ही उक्त लक्षणवाला हूँ, ऐसा अपनेको जानकर तुम्हें शोक करना योग्य नहीं है अर्थात् मैं इनका मारनेवाला हूँ, ये मुझसे मारे जाते हैं, इस प्रकार पूर्वके समान तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए, यह अर्थ है। इससे यह सूचित होता है कि अद्वैतदर्शी ब्रह्मज्ञानियोंके लिए कुछ भी शोचनीय नहीं है ॥ २५ ॥

इस प्रकार संसाररूप भ्रमका नाश करनेवाले आत्माके यथार्थ विज्ञानका उपदेश करके उक्त विज्ञान आत्माके प्रसादके विना प्राप्त नहीं किया जा सकता, अतः अर्जुनमें उस विज्ञानका उदय न देखकर दूसरे प्रकारसे उसका शोक दूर करनेके लिए भगवान् कहते हैं—'**अथ चैनम्**' इत्यादिसे ।

महाबाहो, यह संबोधन सोपहास (व्यङ्ग्यपूर्ण) है। यहाँ 'च' शब्दका अर्थ यदि है। श्लोकार्थ यह हुआ कि अथवा इसको (उक्त आत्माको) तुम नित्यजात मानते हो, अर्थात् जब-जब देहकी उत्पत्ति होती है, तब-तब देहके साथ आत्मा उत्पन्न होता है और देहके मरनेपर देहके साथ वह नित्य मरता है, ऐसा मूढ़के समान यदि तुम मानते हो, तो भी इस पक्षमें 'अपने बान्धव धृतराष्ट्रके पुत्रोंको हमें मारना नहीं चाहिए' इस प्रकार तुम्हें शोक करना उचित नहीं है ॥ २६ ॥

इस पक्षमें शोक क्यों नहीं करना चाहिए, इसमें हेतु कहते हैं—'**जातस्य**' इत्यादिसे ।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २७ ॥
अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ २८ ॥

उत्पन्न हुएका मरण ध्रुव याने अवश्यंभावी है और मृतका जन्म ध्रुव है, इसलिए तुमको अपरिहार्य विषयमें शोक करना उचित नहीं है ॥ २७ ॥

मायासे शरीरोंकी उत्पत्ति होती है, बीचमें आभाससे उनका स्वरूप प्रतीत होता है, अन्तमें मायामें उनका लय हो जाता है, अतः विद्वान् पुरुषको उनमें शोक करनेका अवकाश ही नहीं है ॥ २८ ॥

हि यस्मात्कारणाज्जातस्य जन्मवतो मृत्युर्मरणं ध्रुवोऽनपायी । तथा मृतस्य च जन्म पुनर्जननं ध्रुवं नियतम् । एवं जन्ममरणयोर्मरणजन्मनोश्चाऽहोरात्रयोरिवाऽव्यभिचार्ययं नियमोऽपरिहार्यस्तस्मादपरिहार्ये ब्रह्मणाऽपि परिहर्तुमशक्येऽर्थे 'अयं देवदत्तो मदीयो म्रियते' इति त्वं शोचितुं नाऽर्हसीत्यर्थः ॥ २७ ॥

इमे भीष्मादिशब्दवाच्याः सर्वे देहा मायाकार्यत्वेनाऽसत्त्वादेते मदीया इति न कदापि शोचनीयमिति सूचयति—**अव्यक्तादीनीति** ।

नामरूपगुणादिभिर्न व्यज्यत इत्यव्यक्तं माया, तस्याः सकाशादादिर्जन्म येषां तान्यव्यक्तादीनि । भूतानि, भवन्तीति भूतानि शरीराणि; भावे क्तः । व्यक्तं व्यक्तता मध्ये येषां तानि व्यक्तमध्यानि देवस्तिर्यङ् मनुष्यो ब्राह्मण इत्याभासतो मध्ये लब्ध-

---

जातका यानी उत्पन्न हुएका मरण ध्रुव (अटल) है तथा मरे हुएका फिर जन्म ध्रुव—अवश्यंभावी—है, यों जन्ममरण और मरणजन्मका दिन-रातके समान अव्यभिचारी—नियत—यह नियम अपरिहार्य है, किसीके टाले टाला नहीं जा सकता, इसलिए ब्रह्मा भी जिस विषयको नहीं टाल सकते, उस विषयमें 'यह मेरा देवदत्त मरता है' इस प्रकार तुम्हें शोक करना उचित नहीं है, ऐसा भाव है ॥ २७ ॥

ये भीष्म आदि शब्दके वाच्य सब देह मायाके कार्य हैं, अतः असत् हैं, इसलिए 'ये मेरे हैं' ऐसा उनके विषयमें कभी शोक नहीं करना चाहिए, ऐसा सूचन करनेके लिए कहते हैं—**'अव्यक्तादीनि'** इत्यादि ।

नाम, रूप और गुण आदिसे जो प्रकट नहीं होता, वह अव्यक्त—माया—है। उस अव्यक्तरूप मायासे जिनका आदि—जन्म—होता है, वे अव्यक्तादि कहे जाते हैं । जो उत्पन्न होते हैं, वे भूत कहलाते हैं अर्थात् शरीर। यहाँ भावमें क्त प्रत्यय है। जिनकी मध्यमें व्यक्तता है, वे व्यक्तमध्य कहलाते

स्वरूपाणि । पुनरव्यक्तनिधनानि, अव्यक्ते मायायामेव निधनं लयो येषां तान्यव्यक्तनिधनानि ऐन्द्रजालिकवत् दृष्टनष्टस्वरूपाणि । अतएव शरीराणि मायाकार्याणि। 'यथा स्वप्नप्रपञ्चोऽयं मयि मायाविजृम्भितः । तथा जाग्रत्प्रपञ्चोऽयं मयि मायाविजृम्भितः ॥' इति वचनादिदं सर्वं स्वप्नार्थवन्मायिकमेवेति सर्वस्य मायाकार्यत्वमेव विदितवतः पुरुषस्य तत्र मायाकार्ये मयाऽयं हन्यते म्रियते नश्यतीति का परिदेवना ? मिथ्याभूतार्थे कः परितापः ? इति विदां परितापमाक्षिपति श्रीभगवान् ।

यद्वा प्रमाणैः सर्वैर्न व्यज्यते व्यक्तीकर्तुं न शक्यत इत्यव्यक्तं परं ब्रह्म, तदग्रहणादादिर्जन्म येषां तान्यव्यक्तादीनि भूतानि शुक्त्यग्रहणाद्रजतवदात्माग्रहणाल्लब्धजन्मानि । तथा व्यक्तमध्यानि, सर्वं व्यञ्जयतीति व्यक्तमन्तःकरणं मध्ये स्थितिकाले येषां तानि व्यक्तमध्यानि देवतिर्यङ्मनुष्यादिभेदं स्त्रीपुंसादिभेदं पितृपुत्रादिभेदं अहं ममाऽयमित्यादिसंबन्धं च कल्पयित्वाऽन्तःकरणमेव प्रपञ्चनिर्वाहं करोति तेन व्यक्तमध्यानि । यावदधिष्ठानादर्शनं तावत्तेषां सत्तास्फूर्त्यादीनि सवासनान्तःकरणबलादेव तस्माद्व्यक्तमध्यानीत्युच्यन्ते भूतानि । 'मनोवृत्तिमयं द्वैतमद्वैतं

हैं। इस प्रकारके व्यक्तमध्य देव, तिर्यक्, मनुष्य, ब्राह्मण आदि हैं, क्योंकि ये मध्यमें आभाससे अपने स्वरूपको प्राप्त होते हैं । फिर ये अव्यक्तनिधन भी होते हैं । अव्यक्तरूप मायामें ही जिनका निधन (लय) होता है, वे अव्यक्तनिधन हैं—ऐन्द्रजालिकके बनाये हुए पदार्थोंके समान दृष्ट-नष्ट-स्वरूपवाले हैं, इसीलिए शरीर मायाके कार्य हैं । 'जैसे यह स्वप्नप्रपञ्च मुझमें मायासे फैला हुआ है, वैसे यह जाग्रत्-प्रपञ्च मुझमें मायासे फैला हुआ है ।' इत्यर्थक वचनसे यह ज्ञात होता है कि स्वप्नके पदार्थोंके समान ये सब मायिक ही हैं, अतः सब मायाके ही कार्य हैं, ऐसा जाननेवाले पुरुषको उस मायाके कार्यमें 'मुझसे यह मारा जाता है, मरता है, नष्ट होता है, इस प्रकार क्या पश्चात्ताप करना ? यानी मिथ्याभूत पदार्थोंमें क्यों दुःख करना ? इस प्रकार भगवान् ज्ञानियोंके परितापका—शोकका—आक्षेप करते हैं । अर्थात् विद्वानोंको परिताप नहीं करना चाहिए, ऐसा कहते हैं ।

अथवा सब प्रमाणोंसे जो प्रकट यानी स्पष्ट नहीं किया जा सकता, वह अव्यक्त कहलाता है, ऐसा है—परब्रह्म । उसका ग्रहण न होनेसे यानी ज्ञान न होनेसे जिनका आदि (जन्म) होता है, वे अव्यक्तादि हैं—शुक्तिका ग्रहण न करनेसे रजतके समान आत्माका ग्रहण न करनेसे उत्पन्न हुए हैं । तथा व्यक्तमध्य । यह भी भूतका ही विशेषण है । सबका जो प्रकाश करता है, उसे व्यक्त—अन्तःकरण—कहते हैं, वह मध्यमें यानी स्थितिकालमें जिनका हो, वे व्यक्तमध्य कहलाते हैं, क्योंकि देव, तिर्यक्, मनुष्य आदि भेद, स्त्री, पुरुष आदि भेद और मैं, मेरा, यह इत्यादि संबन्धकी कल्पना कर अन्तःकरण ही प्रपञ्चका निर्वाह करता है, इसलिए वे भूत व्यक्तमध्य भी कहलाते हैं । जबतक अधिष्ठानका दर्शन नहीं होता, तबतक वासनायुक्त अन्तःकरणसे ही उनकी सत्ता, स्फूर्ति आदि होते हैं, इसलिए वे व्यक्तमध्य कहलाते हैं । क्योंकि 'मनोवृत्तिमय द्वैत

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चाऽन्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥ २९ ॥

करोड़ों मनुष्योंमें से जो कोई इसे जानता है, वह आश्चर्यका जनक होता है, इस आत्माका जो श्रवण करता है, वह भी आश्चर्यका कारण है, इस आत्माके विषयमें जो उपदेश देता है, वह भी आश्चर्यका जनक होता है और कोई इस आत्माका श्रवण, मनन आदि करनेपर भी इसे नहीं ही जानता ॥२९॥

परमार्थतः' इति वचनात् सत्यधिष्ठाने दृष्टे तदा पुनरव्यक्तनिधनानि अव्यक्ते स्वाधिष्ठाने ब्रह्मणि निधनमेषां तथोक्तानि अधिष्ठानाग्रहणादुत्पन्नानि यावदधिष्ठानं न ज्ञायते तावत् स्वतः स्वरूपवन्तीव भूतानि मरीचिकाजलवद्भान्ति, अधिष्ठाने दृष्टे सत्यधिष्ठानमात्राण्येव भवन्ति न ततो व्यतिरिच्यन्ते । तत्र मरीचिजलवत् प्रतिभासमात्रे अधिष्ठानाज्ञानविजृम्भिते देहादिप्रपञ्चे अधिष्ठानसन्दर्शनेन सर्वं ब्रह्मैवेति पश्यतो विदुषः का परिदेवना ? परिदेवनाया अवकाशः कुतः ? इत्यर्थः ॥ २८ ॥

ननु बहुभिः पण्डितैरात्मतत्त्वं श्राव्यते श्रूयते मन्यते च, तथाप्येतादृशं ज्ञानं न कुत्रचिद्दृश्यत इत्याशङ्कायां ममेश्वरस्य श्रुत्याचार्यात्मनां च प्रसादेन विना लब्धुमशक्यमिति सूचयितुं जिज्ञासुश्रोतृवक्तृणां चाऽतिदुर्लभत्वं वदन्नात्मनो दुर्बोधत्वं प्रतिपादयति—**आश्चर्यवदिति** ।

है, परमार्थसे अद्वैत है' इत्यर्थक वचन है । अधिष्ठानका ज्ञान होनेपर सब भूत फिर अव्यक्तनिधन हो जाते हैं । अपने अधिष्ठानभूत अव्यक्त ब्रह्ममें इनका निधन (लय) हो जाता है, इसलिए अधिष्ठानके अग्रहणसे उत्पन्न हुए हैं, ऐसा कहा जाता है । जबतक अधिष्ठान जाननेमें नहीं आता अर्थात् अधिष्ठानका साक्षात्कार नहीं होता, तबतक मरीचिकाजलके समान ये भूत स्वतः स्वरूपवाले-से प्रतीत होते हैं और अधिष्ठानके देखनेपर अर्थात् अधिष्ठानका साक्षात्कार होनेपर अधिष्ठानमात्र ही हो जाते हैं, उससे (अधिष्ठानसे) भिन्न नहीं रहते । इस परिस्थितिमें मरीचिजलके समान अधिष्ठानके अज्ञानसे फैले हुए प्रतिभासमात्र देहादिरूप प्रपञ्चमें विद्वान्को—अधिष्ठानके देखनेसे सब ब्रह्म ही है, यों साक्षात्कार करनेवाले विद्वान्को—परिदेवना क्या ? यानी संतापका अवकाश कहाँ ? यह अर्थ है ॥ २८ ॥

बहुतसे पंडित आत्मतत्त्वको सुनाते हैं, सुनते हैं और उसका मनन भी करते हैं, फिर भी इस प्रकारका ज्ञान कहीं देखनेमें नहीं आता, ऐसी शंका होनेपर भगवान् मेरे (ईश्वरके) तथा श्रुति, आचार्य और आत्माके प्रसादके बिना यह ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता, ऐसा सूचन करनेके लिए जिज्ञासु, श्रोता और वक्ता—ये तीनों अत्यन्त दुर्लभ हैं, ऐसा कहते हुए आत्माकी दुर्बोधताका प्रतिपादन करते हैं—'**आश्चर्यवत्**' इत्यादिसे ।

मनुष्येषु शतकोटिसंख्याकेषु यः कश्चिन्मत्प्रसादपात्रीभूत एनं कूटस्थासङ्गचिद्रूपमात्मानमद्वयमखण्डानन्दैकरसं पश्यति साक्षात्कर्तुमिच्छति स आश्चर्यवदेव भवति ; लोकैः कर्तुमशक्यस्य कर्मणः करणमाश्चर्यं तत्करणार्ह एव भवति । यथा हनुमतः समुद्रलङ्घनं तद्वदत्र सर्वविषयाशापाशं निर्दह्य मोक्षेच्छाकरणमाश्चर्यम्, मोक्षेच्छाया अतिदुर्लभत्वाद्बहुजन्मलभ्यत्वाद्बहुपुण्यपरिपाकसाध्यत्वाच्चित्तप्रसादैकमूलत्वाच्च संतीर्णाशेषविषयाशासिन्धुः शुद्धात्मा मोक्षैककामो मुमुक्षुरतिदुर्लभ इत्यर्थः । किञ्च, एनमुक्तलक्षणमात्मानमन्यः पूर्वोक्ताद् दिदृक्षोर्भिन्नः य कश्चिच्छृणोति सोऽप्याश्चर्यवदेव भवति । आकाशगामी पुरुषो यथा तद्वत्प्राणात्ययेऽपि दुस्त्यजेषु भोग्येषु वैराग्यमतिदुर्लभम्, सत्येतस्मिन् ससाधनस्य कर्मणः संन्यासो दुष्करः, कृतेऽपि च तस्मिन्नमानित्वाद्यक्रोधत्वादिब्रह्मचर्यादिर्दैवी साधनसंपद् दुर्लभा, तस्यामपि लब्धायां 'अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति', 'आचार्यवान्पुरुषो वेद' इति श्रवणाद्ब्रह्मविदाचार्यो दुर्लभः, सिद्धेऽप्युक्तसाधने गुरौ च मत्प्रसादैकलभ्या श्रवणादिनिष्ठा त्वतिदुर्लभा, मदनुग्रहवत्कर्तृकश्रवणादेरेव सम्यग्ज्ञानजनकत्वेन मोक्षफलकत्वान्निरुक्तसाधनसंपन्न आत्मनि विषये श्रोता दुर्लभ

सैकड़ों मनुष्योंमें से जो कोई मेरी प्रसन्नताका भाजन होकर इस कूटस्थ, असंग, चिद्रूप, अद्वय, अखण्डानन्दैकरस आत्माको देखना चाहता है यानी साक्षात् करनेकी इच्छा करता है, वह आश्चर्य-सा होता है । लोगोंसे जो कर्म किया नहीं जा सकता उसका करना आश्चर्य है, उसीको करनेके लिए योग्य होता है । जैसे हनुमान्‌जीका समुद्र लांघना आश्चर्य है, वैसे ही यहां सब विषयोंके आशारूप पाशको जलाकर मोक्षकी इच्छा करना आश्चर्य है । मोक्षकी इच्छा अतिदुर्लभ है, अनेक जन्मोंके वाद प्राप्त होती है, वहुतसे पुण्योंके परिपाकसे साध्य है, चित्तकी शुद्धि ही इसका मुख्य कारण है, इसलिए अशेष विषयोंके आशारूप सिंधुसे पार होनेवाला और और एक मोक्षकी ही कामना करनेवाला शुद्धात्मा मुमुक्षु अतिदुर्लभ है, यह भाव है । और इस कहे हुए आत्माको दूसरा—पूर्वोक्त देखनेकी इच्छावालेसे भिन्न—जो कोई सुनता है, वह भी आश्चर्य-सा ही होता है। जैसे आकाशमें उड़नेवाला पुरुष आश्चर्यका भाजन होता है, वैसे ही आत्माका सुननेवाला पुरुष भी अत्यन्त आश्चर्यका भाजन होता है । तात्पर्य यह है कि प्राण भले ही निकल जायँ, पर दुस्त्याज्य विषयोंमें वैराग्यका होना कठिन है, यदि वैराग्य हो भी गया, तो साधनोंके साथ कर्मोंका परित्याग करना कठिन है, दैव इच्छासे कर्मसंन्यास हुआ भी, तो फिर अमानित्व आदि, अक्रोधत्व आदि और ब्रह्मचर्य आदि दैवी सम्पत्तिकी प्राप्ति करना अत्यन्त कठिन है । भगवान्‌की दयासे वह भी प्राप्त हो गई, तो 'अनन्यप्रोक्ते' (अन्यके उपदेशके बिना इसमें गति नहीं होती यानी तत्त्वदर्शीके उपदेशसे ही उसमें गति होती है' और 'आचार्यवान् पुरुष जानता है' इत्यर्थक श्रुतिसे कहे गये ब्रह्मज्ञानी आचार्य दुर्लभ हैं । यदि उक्त साधन और गुरुकी प्राप्ति हो भी गई, तो केवल मेरी प्रसन्नतासे प्राप्त होनेवाली श्रवणादिनिष्ठा तो अतिदुर्लभ, क्योंकि मेरा अनुग्रह जिसके ऊपर होता है, उसीके किये हुए श्रवण आदिसे सम्यक् ज्ञान उत्पन्न होता है, और उसका फल मोक्ष

इत्यर्थः । तथैव निरुक्तसर्वसाधनसंपन्नश्चाऽद्वेष्टृत्वादिस्वधर्मयुक्तो मत्प्रसादपात्रीभूतो यः कश्चिदुक्तादन्यः श्रवणादिनिष्ठया विज्ञातात्मतत्त्वो ब्रह्मनिष्ठ एव एनमुक्तलक्षणमात्मानं वदति उपसन्नाय सच्छिष्यायात्मतत्त्वमुपदिशति सोऽप्याश्चर्यवदेव भवति । 'ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेद्बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिरमौनं च मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः' इति श्रुत्युक्तब्राह्मणत्वसिद्धिहेतोरतिदुःसाध्यत्वादुक्तलक्षणो ब्रह्मवित्तत्त्वोपदेष्टाऽतिदुर्लभ इत्यर्थः । एवं परमार्थेच्छोः श्रोतुस्तत्त्वोपदेष्टुश्चाऽतिदुर्लभत्वं प्रतिपाद्य इदानीमुक्तसाधनसंपद्विधुरस्य मद्विमुखस्याऽऽत्मा बोद्धुं न शक्य इत्याह—**श्रुत्वाऽप्येनमिति** । श्रुत्याचार्यमत्प्रसादरहितोऽमानित्वादिदैवसंपद्विधुरो यः कश्चिदात्मतत्त्वावगत्यै श्रवणादि करोति स उक्तसाधनवैधुर्याच्छतधा सहस्रधा वा श्रुत्वा श्रवणं कृत्वा अपिशब्दान्मननं च कृत्वाऽप्येनं प्रकृतमात्मानं नैव जानाति । ज्ञातुं ज्ञानफलं च प्राप्तुं न शक्नोतीत्यर्थः । एतेन 'सर्वमिदमहं च ब्रह्मैव' इति सर्वस्य ब्रह्ममात्रत्वविज्ञानं दुर्लभतरमिति सूचितं भवति ॥ २९ ॥

'पूर्वमव्यक्तादीनि भूतानि' इति भीष्मादिशब्दवाच्यार्थस्याऽशोच्यत्वमुपसंहृत्य इदानीमात्मनो लक्ष्यार्थस्याऽशोच्यत्वमुपसंहरति—**देहीति** ।

मिलता है, इसलिए निरुक्त साधनसंपन्न आत्मरूप विषयमें श्रोता और वक्ता भी दुर्लभ है। उसी प्रकार निरुक्त साधनसंपन्न, अद्वेष्टा आदि स्वधर्मोंसे युक्त, मेरे प्रसादका भाजन, ऊपर कहे हुएसे अन्य श्रवणादिनिष्ठासे जिसने तत्त्वको जान लिया है, ऐसा ब्रह्मनिष्ठ ही इस कहे हुए लक्षणवाले आत्माको कहता है यानी शरणमें आये हुए शुद्ध शिष्यके लिए आत्मतत्त्वका उपदेश देता है, वह भी आश्चर्य-सा ही होता है। 'ब्राह्मण पांडित्यको यानी श्रवणको प्राप्त करके बाल्यरूपसे स्थित हो, बाल्यको यानी मननको और पांडित्यको प्राप्त करके मुनि हो, यानी निदिध्यासन करे, अमौन और मौनको यानी श्रवण मननको और निदिध्यासनको प्राप्त करके पीछे ब्राह्मण होता है' इत्यर्थक श्रुतिमें कहे हुए ब्राह्मणत्वकी सिद्धिके हेतु अत्यन्त दुःसाध्य हैं, इसलिए उक्त लक्षणवाला ब्रह्मवित् तत्त्वका उपदेश करनेवाला अतिदुर्लभ है, यह अर्थ है। इस प्रकार परमार्थकी इच्छावाला, श्रोता और तत्त्वका उपदेश करनेवाला—ये तीनों अतिदुर्लभ हैं, ऐसा प्रतिपादन करके अब उक्त साधनोंसे रहित मुझसे विमुख पुरुषको आत्माका बोध नहीं हो सकता, ऐसा भगवान् कहते हैं—**'श्रुत्वाऽप्येनम्'** इत्यादि। श्रुति, आचार्य और मेरे प्रसादसे रहित, अमानित्व आदि दैवीसंपत्तिसे रहित जो कोई आत्मतत्त्वके जाननेके लिए श्रवण आदि करता है, वह उक्त साधनोंसे हीन होनेसे सैकड़ों बार हजारों बार सुनकर यानी श्रवण करके और मनन करके भी इस प्रकृत आत्माको नहीं ही जानता। जाननेको और जाननेके फलको प्राप्त नहीं कर सकता, यह अर्थ है। इससे यह सूचित होता है कि 'यह सब और मैं ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार सब ब्रह्ममात्र ही है, ऐसा विज्ञान दुर्लभतर है ॥ २९ ॥

पूर्वमें **'अव्यक्तादीनि भूतानि'** इत्यादि श्लोकसे भीष्मादि शब्दोंके वाच्य अर्थमें अशो-

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात् सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ ३० ॥

हे भारत, देहका विनाश करनेपर भी इस आत्माका कभी विनाश नहीं होता, इसलिए इन शरीरोंके लिए तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए ॥ ३० ॥

हे भारत आत्मज्ञानसंपन्न, सर्वे देहा उपलब्धिस्थानत्वेनाऽस्य सन्तीति देही सर्वदेहोपाधिमानयमात्मा सर्वस्य ब्रह्मादिस्तम्बान्तस्य प्राणिजातस्य देहे वध्यमानेऽपि नित्यं स्वयमवध्य एव भवति । अविक्रियत्वादात्मा घटेषु नष्टेषु तत्स्थाकाशवत् स्वयं तु न नश्यति यस्मात्तस्मादात्मनोऽनश्वरत्वविज्ञानात् 'त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च' इत्युक्तरीत्या भीष्मादिसर्वभूतानि शरीराण्येते म्रियन्ते मदीया इति न त्वं शोचितुमर्हसि । एतेषु हन्यमानेष्वात्मा न नश्यतीत्यात्मनो नित्यत्वविज्ञाता त्वमात्मानमुद्दिश्य शोकं मोहं च कर्तुं नाऽर्हसीत्यर्थः । अत्र देहो नश्यतीति ममायमिति च यस्य देहविषयौ शोकमोहौ न स्तस्तस्याऽप्रतिबद्धापरोक्षविज्ञानवतो विदुषः 'दैवाधीने शरीरेऽस्मिन् गुणभाव्येन कर्मणा' इति न्यायेन शरीरस्य प्रारब्धाधीनत्वाच्छरीरयात्रार्थमपि न किञ्चित्कर्म कर्तव्यं किमुताऽपरमिति । सिद्धस्य ब्रह्मविदः सर्वकर्मसंन्यास एवाऽधिकार इति भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसीति पदेन सूचितं भवति ॥ ३० ॥

च्यत्वका उपसंहार करके अर्थात् भीष्मादि शब्दोंके वाच्य अर्थके विषयमें तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए, इस विषयको समाप्त करके अब आत्माका लक्ष्यार्थ भी अशोच्य है, इसका उपसंहार करते हैं—'**देही**' इत्यादिसे ।

हे भारत, अर्थात् हे आत्मज्ञानसंपन्न अर्जुन, सब देह आत्माकी उपलब्धिके स्थान हैं, अतः आत्मा देही कहा जाता है । उक्त सब देहरूप उपाधिवाला यह आत्मा ब्रह्मासे लेकर स्तम्ब तक सब प्राणियोंके देहोंका वध करनेपर भी सदा स्वयं अवध्य ही रहता है । जैसे अविकारी होनेसे घटोंके नष्ट होनेपर उनमें स्थित आकाश नष्ट नहीं होता, वैसे ही आत्मा स्वयं नष्ट नहीं होता, यों आत्माकी अनश्वरता ज्ञात होती है, इसलिए 'ये प्राणोंको और धनोंको छोड़कर युद्धमें खड़े हैं' इस प्रकार पहले कहे गये मार्गसे भीष्म आदि सब भूतोंके विषयमें यानी शरीरके विषयमें 'ये मरते हैं, मरे हैं' इस प्रकार तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए अर्थात् इनके मरनेसे आत्मा नष्ट नहीं होता, अतः आत्माके नित्यत्वको जाननेवाले तुमको आत्माके उद्देश्यसे शोक और मोह करना उचित नहीं है, यह अर्थ है । यहां देह नष्ट होती है, यह मेरा है, इस प्रकारके जिसको देहके संबन्धसे शोक और मोह नहीं होते, उस अप्रतिबद्ध अपरोक्ष विज्ञानवाले विद्वान्को 'गुणोंसे होनेवाले कर्मसे दैवाधीन इस शरीरमें' इस न्यायसे शरीरके प्रारब्धाधीन होनेसे उसकी यात्राके लिए भी

स्वधर्ममपि चाऽवेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥ ३१ ॥

अपना धर्म समझकर भी तुम्हें युद्धसे विचलित नहीं होना चाहिए, क्योंकि क्षत्रियके लिए धर्म-प्राप्त युद्धको छोड़कर दूसरा श्रेयःसाधन (कल्याणकर) मार्ग नहीं है ॥ ३१ ॥

'वेदाविनाशिनम्' इत्यत्राऽयमर्थः स्फुटं निरूपितः—'सर्वमिदमहं च ब्रह्मैव' इति सर्वस्य ब्रह्ममात्रत्वविज्ञानमात्मप्रसादजं यस्य, तस्य न किञ्चित् कर्तव्यमस्ति । तदन्यस्याऽहंममेत्याद्यभिमानवतो मुमुक्षोः 'ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन' इत्यादिश्रुतिबलाच्चित्तशुद्ध्यर्थं विधिदृष्टः स्वधर्मः पूर्वोक्तज्ञानसिद्ध्यर्थं कर्तव्य एवेति बोधयितुमिदं प्रकरणमारभ्यते । तत्राऽऽदावर्जुनस्याऽऽत्मज्ञानाभावमालक्ष्य तं स्वभक्तं मुमुक्षुं कर्तव्ये स्वधर्मे प्रवर्तयितुमिदमाह श्रीभगवान्—**स्वधर्ममिति** ।

यदा कर्ता करणं कार्यं च सर्वं ब्रह्मैवेति विज्ञातं तदा न किञ्चित् कर्तव्यमेवोपपद्यते । यद्येते मदीया मया हन्यन्त इति भेदज्ञानं तदाऽपि । चस्त्वर्थः । 'युद्धं स्वधर्मो नृपतेः प्रजानां परिपालनम्' इत्यादिशास्त्रोक्तं स्वधर्मं क्षत्रियस्य कर्तव्यत्वेन विहितमवेक्ष्य स्वबुद्ध्या विचार्य त्वं विकम्पितुं स्वधर्माच्चलितुं नाऽर्हसि ।

कोई कर्म नहीं करना चाहिए, अन्य कर्मका तो कहना ही क्या है ? 'भूतोंका तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए, इत्यर्थक 'भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि' इस पदसे सिद्ध ब्रह्मज्ञानीका सब कर्मोंके संन्यासमें ही अधिकार है, ऐसा सूचित होता है ॥ ३० ॥

'वेदाविनाशिनम्' इसमें इस अर्थका स्पष्टरूपसे निरूपण किया गया है कि 'यह सब और मैं ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार जिसको आत्मप्रसादसे सब पदार्थोंमें ब्रह्ममात्रत्वका विज्ञान उत्पन्न हुआ है, उसके लिए कुछ भी कर्तव्य नहीं है । इससे भिन्न 'मैं, मेरा' इत्यादि अभिमानवाले मुमुक्षुको 'ब्राह्मण यज्ञसे और दानसे तत्त्वके जाननेकी इच्छा करते हैं' इत्यादि श्रुतिके बलसे चित्तकी शुद्धिमें हेतुभूत विधिप्रदर्शित स्वधर्मका अनुष्ठान पूर्वोक्त ज्ञानकी सिद्धिके लिए करना ही चाहिए, ऐसा बोधन करनेके लिए इस प्रकरणका आरंभ किया जाता है । इसमें पहले अर्जुनको अभी तक आत्मज्ञान नहीं हुआ है, ऐसा जानकर अपने भक्त मुमुक्षु अर्जुनको कर्तव्यरूप स्वधर्ममें प्रवृत्त करानेके लिए श्रीभगवान् यह कहते हैं—'**स्वधर्म०**' इत्यादिसे ।

जब कर्ता, करण और कार्य—ये सब ब्रह्म ही हैं, ऐसा जान लिया, तब कुछ भी कर्तव्यशेष नहीं रहता । यदि तुम्हें 'ये मेरे हैं और मुझसे मारे जाते हैं' ऐसा भेदज्ञान है, तो भी—प्रकृतमें चका अर्थ तु है—'युद्ध और प्रजापालन राजाका स्वधर्म है' इत्यादि शास्त्रोक्त स्वधर्म (युद्ध) क्षत्रियके लिए कर्तव्यरूपसे विहित है, ऐसा देखकर यानी अपनी बुद्धिसे विचारकर स्वधर्मसे विचलित नहीं होना चाहिए । तुम्हें स्वधर्मका त्याग

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥ ३२ ॥

हे पार्थ, किसी प्रकारके यत्नके बिना प्राप्त हुआ स्वर्गलाभका खुला द्वारभूत इस प्रकारका युद्ध स्वर्गादि सुखकी इच्छा करनेवाले धन्य क्षत्रियोंको ही प्राप्त होता है ॥३२॥

स्वधर्मं त्वक्तुं नाऽर्हसीत्यनेन स्वधर्मतया कर्तव्यत्वेन प्राप्ते युद्धे याग इव शोकमोहौ हिंसादिदोषविचारश्च न कर्तव्यो विदुषेति सूचितम् । धर्मशास्त्रादागतं धर्म्यं कर्तव्यत्वेन विहितं तस्माद्युद्धादन्यदपरं श्रेयः श्रेयःसाधनं क्षत्रियस्य न विद्यते नाऽस्ति । जयलब्धधनैकसाध्यैर्यागैर्दानैर्व्रतादिभिश्चित्तशुद्धिस्तया ज्ञानं तेन मोक्ष इति युद्धस्य श्रेयःसाधनता युक्ता, ततो युद्धं कर्तव्यमेवेति सिद्धम् । 'ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासः' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धिद्योतनार्थो हिशब्दः ॥ ३१ ॥

ननु जयश्चेद्युद्धस्य श्रेयःसाधनता स्यान्मृतिश्चेन्न किमप्यस्तीत्यत आह—**यदृच्छयेति** ।

हे पार्थ पृथापुत्र, यदृच्छयैवोपपन्नं अयत्नप्राप्तमपावृतं चोद्घाटितकपाटं स्वर्गद्वारं स्वर्गप्राप्तिद्वारभूतं युद्धमीदृशं सुखिनः स्वर्गसुखार्थिनः धन्याः क्षत्रियाः पुण्येन लभन्ते । भाग्यवतामेवेदृशं युद्धमभ्यागच्छतीत्यर्थः । युद्धे मृतस्याऽप्यस्ति स्वर्गसुखमित्यत उभयथाऽपि फलहेतुत्वादवश्यं युद्धं कर्तव्यमित्यर्थः ॥ ३२ ॥

नहीं करना चाहिए, ऐसा कहनेसे यह सूचित होता है कि स्वधर्म होनेके कारण कर्तव्यरूपसे प्राप्त हुए युद्धमें—यागके समान—शोक, मोह और हिंसा आदि दोषका विचार विद्वान्को नहीं करना चाहिए। धर्मशास्त्रसे प्राप्त धर्म्यरूप—कर्तव्यरूपसे विहित—इस युद्धसे बढ़कर क्षत्रियके लिए दूसरा श्रेयका साधन कोई नहीं है। जयसे प्राप्त हुए धनसे ही याग, दान, व्रत आदि होते हैं और उससे चित्तकी शुद्धि होती है, चित्तशुद्धिसे ज्ञान और ज्ञानसे मोक्ष होता है, इसलिए युद्ध श्रेयका साधन है, यह कहना ठीक ही है। इससे युद्ध अवश्य कर्तव्य है, यह सिद्ध हुआ। 'जो शूर रणमें युद्ध करते हैं, वे स्वर्गको प्राप्त करते हैं' इत्यादि श्रुतिप्रसिद्धिका सूचन करनेके लिए 'हि' शब्द है ॥ ३१ ॥

यदि युद्धमें जय हो जाय, तब तो युद्ध श्रेयका साधन होगा। यदि उसमें मरण हो गया, तब तो कुछ नहीं है ? इसपर कहते हैं—**'यदृच्छया'** इत्यादिसे ।

हे पार्थ अर्थात् हे पृथापुत्र अर्जुन, यदृच्छासे उपपन्न—यत्नके बिना ही प्राप्त हुए—अपावृत (खुले हुए) फाटकवाले स्वर्गके द्वार अर्थात् स्वर्गकी प्राप्तिके द्वारभूत इस प्रकारके युद्धको सुखी—स्वर्गके सुखकी इच्छा करनेवाले—धन्य क्षत्रिय पुण्यसे ही प्राप्त करते हैं—भाग्यवानोंको ही इस प्रकारका धर्मयुद्ध प्राप्त होता है। युद्धमें मरे हुएको भी स्वर्गसुख मिलता है, इसलिए दोनों प्रकारसे फलकी प्राप्तिका हेतु युद्ध तुम्हें अवश्य ही करना चाहिए, यह अर्थ है ॥ ३२ ॥

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥

यदि तुम इस धर्मशास्त्रसंमत युद्धको नहीं करोगे, तो अपने धर्म और कीर्तिको चौपट कर पापके भागी होओगे ॥ ३३ ॥

मुमुक्षोर्मोक्षसाधने विध्युक्ते स्वधर्मे प्रमादो माऽस्त्विति ज्ञापयितुं स्वधर्मतया कर्तव्यत्वेन प्राप्तस्य युद्धस्याऽकरणे प्रत्यवायाकीर्त्याद्यनर्थपरम्परा आयास्यतीति नयभयाभ्यामर्जुनं स्वधर्मे प्रवर्तयति पञ्चभिः । तत्राऽऽद्येन हिंसारूपत्वाद्दोषाय भवतीति वा तेषु स्वीयत्वभ्रमेण वा स्वधर्मं युद्धं त्यक्ष्यसि चेत् प्रत्यवायः कीर्तिनाशश्चोभाभ्यामिहपरलोकभ्रंशः स्यादित्याह—**अथ चेदिति** ।

अथ युद्धसन्नाहसमनन्तरं त्वमिमं धर्म्यं धर्मत्वेन दृष्टं विध्युक्तं संग्रामं न करिष्यसि चेत् , ततस्तदकरणेन कीर्तिमीश्वरादिभिः सह युद्धं कृतवानिति अर्जुनः स्वधर्मनिष्ठ इति वा कीर्तिं लोकप्रसिद्धां स्वधर्मं स्वस्य धर्मं च धर्मावबोधकं शास्त्रं वेदादिलक्षणं वा स्वधर्मं त्यक्तवानसि । वेदोक्तकर्मत्यागेन वेदोऽपि त्यक्त एव भवति । एवं स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा वेदवेदोक्तकर्मत्यागलक्षणं पापमवाप्स्यसि न तु संन्यासफलमित्यर्थः ॥ ३३ ॥

एतावन्मात्रमेव न भवति किन्तु—**अकीर्तिमिति** ।

मुमुक्षुको मोक्षके साधन विधिप्रतिपादित स्वधर्ममें प्रमाद नहीं करना चाहिए, ऐसा सूचन करनेके लिए स्वधर्म होनेके कारण कर्तव्यरूपसे प्राप्त युद्धके न करनेमें प्रत्यवाय, अकीर्ति आदि अनर्थपरम्परा प्राप्त होगी, यों नीतिसे और भयसे अर्जुनको स्वधर्ममें पांच श्लोकोंसे भगवान् प्रवृत्त कराते हैं । उनमें से पहले श्लोकसे हिंसारूप होनेसे युद्ध दोषका उत्पादक होता है, ऐसा मानकर अथवा भीष्मादिमें स्वत्वभ्रमसे तुम स्वधर्मरूप युद्धका त्याग करोगे, तो उससे तुम्हें प्रत्यवाय लगेगा और कीर्तिका नाश होगा, इससे इस लोक और परलोकसे तुम गिर जाओगे, ऐसा कहते हैं—**'अथ चेत्'** इत्यादिसे ।

युद्धकी तैयारी हो जानेके अनन्तर यदि तुम इस धर्म्यको यानी धर्मरूपसे शास्त्र द्वारा प्राप्त इस संग्रामको न करोगे, तो उसके न करनेसे अपनी कीर्तिसे—महादेव आदिके साथ भी अर्जुन युद्ध कर चुका है अथवा अर्जुन स्वधर्मनिष्ठ है, इस लोकप्रसिद्ध अपनी कीर्तिसे—और स्वधर्म यानी अपने धर्म और धर्मको बतलानेवाले वेदादिरूप शास्त्रसे तुम हाथ धो बैठोगे । वेदोक्त कर्मका त्याग करनेसे वेदका भी त्याग हो जाता है । तात्पर्य यह है—स्वधर्म और कीर्तिका त्यागकर वेद और वेदोक्त कर्मोंके त्यागरूप पापको ही तुम प्राप्त करोगे, संन्यासके फलको प्राप्त नहीं करोगे, यह भाव है ॥ ३३ ॥

इतना ही नहीं है, किन्तु इससे भी अधिक अनर्थ है, ऐसा कहते हैं—**'अकीर्तिम्'** इत्यादिसे ।

अकीर्तिं चाऽपि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
संभावितस्य चाऽकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ ३४ ॥
भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥ ३५ ॥

सब मनुष्य सभामें बैठ कर तुम्हारी चिरस्थायिनी दुष्कीर्तिकी चर्चा करेंगे, सम्भावित पुरुषकी अकीर्ति मरणसे भी बढ़कर दुःखदायक है ॥ ३४ ॥

बाह्लीक, भगदत्त आदि महारथी यह सोचेंगे कि भयके मारे अर्जुन युद्धसे भाग गया । पहले जिनके द्वारा तुम अत्यधिक संभावित थे, इस समय वे ही तुम्हारा अपमान करेंगे ॥ ३५ ॥

भूतानि अत्र चाऽन्यत्र च विद्यमाना जनाः सर्वे स्वधर्मत्यागजनितामव्ययां चिरकालस्थायिनीमकीर्तिं च ते तव कथयिष्यन्ति सभासु पापिष्ठः स्वधर्मं त्यक्तवानिति । ननु स्वजनवधादागतनिन्दापेक्षया युद्धोपरतिकृतनिन्दा सोढुं शक्यत इति चेद्, उच्यते— 'ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभेत' इति ब्राह्मणालम्भो विहितत्वाद्दोषाय न भवति यथा, तथा युद्धस्य शास्त्रीयत्वाद्युद्धे स्वजनवधो दोषाय न भवति । युद्धादुपरतेस्त्वशास्त्रीयत्वात्तदुपरत्या आगतेयमकीर्तिर्दुष्कीर्तिः संभावितस्य तु । चस्त्वर्थः । धर्मात्मा सत्यसन्धः शूरतमोऽर्जुन इति सर्वत्र सर्वैरीडितस्य सत्कीर्तेस्तव पुण्यपुरुषस्य मरणादतिरिच्यते अधिका भवति । लोके मरणदुःखं क्षणकालिकं दुष्कीर्तिदुःखं तु सतामापातभावित्वान्मरणदुःखान्महत्तरमतो दुष्कीर्तेर्वरं मरणमित्यर्थः ॥ ३४ ॥

अकीर्तिमात्रमेव न भवति, शूरास्त्वां लघुकरिष्यन्तीत्याह—**भयादिति** ।

यहाँ और अन्य स्थानोंमें रहनेवाले सब लोग, स्वधर्मके त्यागसे उत्पन्न हुई अव्यय यानी चिरकालस्थायिनी तुम्हारी अकीर्ति सभाओंमें कहेंगे यानी पापिष्ठ अर्जुनने अपना धर्म त्याग दिया, ऐसा कहेंगे । स्वजनोंके वधसे प्राप्त हुई निन्दाकी अपेक्षा युद्धके उपरामसे प्राप्त निन्दा सही जा सकती है, ऐसा कहें, तो उसपर कहा जाता है कि 'ब्रह्माके लिए ब्राह्मणकी बलि दे' यह ब्राह्मणका आलभन जैसे विहित होनेसे दोषरूप नहीं है, वैसे ही युद्ध शास्त्रीय है, अतः युद्धमें स्वजनोंका वध दोषरूप नहीं है । युद्धसे उपरत होना शास्त्रीय नहीं है, अतः उससे प्राप्त हुई यह अकीर्ति (दुष्कीर्ति) प्रतिष्ठित पुरुषके लिए तो—अर्जुन धर्मात्मा सत्यप्रतिज्ञ, शूरतम है, इस प्रकार सर्वत्र सबसे प्रशंसनीय तुम्हारे ऐसे पुण्यात्मा पुरुषके लिए तो—मरनेसे भी अधिक दुःखप्रद है । लोकमें मरणका दुःख क्षणभरका होता है और दुष्कीर्तिका दुःख तो सत्पुरुषोंको देहपाततक रहता है, अतः मरणके दुःखसे अकीर्तिका दुःख महत्तर है, इसलिए दुष्कीर्तिसे मरना श्रेष्ठ है, यह भाव है ॥ ३४ ॥

केवल अकीर्ति ही तुम्हें नहीं मिलेगी, परन्तु उससे भी अधिक शूर लोग तुम्हारा तिरस्कार करेंगे, ऐसा कहते हैं—**'भयाद्रणा०'** इत्यादिसे ।

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाऽहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥ ३६ ॥

तुम्हारे सामर्थ्यकी निन्दा कर रहे तुम्हारे शत्रु अनेक प्रकारके अवाच्य (बोलनेके अयोग्य) वचन कहेंगे, इससे अधिक दुःख और क्या है ? ॥ ३६ ॥

महारथाः बाह्लीकभगदत्तसौमदत्तिद्रुपदादयः शूराः एवं दययोपरतं त्वां भीष्मेण द्रोणेन कर्णेन चाऽन्यैर्वीरैर्योद्धुमशक्ततया तद्भयेन रणादुपरतोऽर्जुनो न तु दययेति मंस्यन्ते निश्चेष्यन्ति । पूर्वं येषां त्वं बहुमतः शौर्यधैर्ययुद्धचातुर्यादिगुणैरुत्कृष्ट इति बहुमानं गमितः सत्यमिदानीं तेभ्य एव लाघवं रणभयात्पलायत इति लघुत्वमवमतिं यास्यसि । अकीर्तिः पारोक्षिकी तिरस्कृतिः, अवमतिर्लघुकृतिः आपरोक्षिकीति तयोर्भेदः ॥ ३५ ॥

विद्याकुलशीलधर्मकर्मभिः प्रतिष्ठां गतस्याऽकीर्तिर्दुःखं ततोऽप्यधिकं दुःखमवमतिस्ततोऽप्यधिकतरं दुःखं प्रत्यक्षदूषणमिदमित्याह—**अवाच्यवादानिति** ।

अहिताः शत्रवो दुर्योधनकर्णविकर्णादयस्तव सामर्थ्यमत्राऽदृश्यमानं पौरुषं पराक्रमं च निन्दन्तः रणात्पलायितवतस्तव शौर्यं किमिति कुत्सयन्तः सन्तश्चाऽवाच्यवादान् वक्तुमनर्हानवाच्यान् वादान् धिक्शब्दपूर्वकान् दूषणशब्दाननेकधा इतो

महारथ बाल्हीक, भगदत्त, सौमदत्ति, द्रुपद आदि शूर, इस प्रकार दयाके कारण युद्धसे उपरत हुए तुमको—'भीष्म, द्रोण, कर्ण और दूसरे वीरोंसे युद्ध करनेमें असमर्थ होनेके कारण भयसे अर्जुन रणसे उपरत हुआ है, दयासे नहीं हुआ'—ऐसा मानेंगे यानी निश्चय करेंगे । पूर्वमें जिनसे तुमने बहुत मान पाया है यानी अर्जुन शौर्य, धैर्य और युद्धचातुर्य आदि गुणोंसे श्रेष्ठ है, इस प्रकार जो बहुत मान पाया है, वही तुम उन्हींसे लाघव, यानी रणके भयसे भागा' इस प्रकारके लघुत्वको (अपमानको) प्राप्त करोगे । पीठ पीछेके तिरस्कारको अकीर्ति कहते हैं और सामनेके तिरस्कारको लघुकृति कहते हैं, यों अकीर्ति और लाघव दोनोंमें भेद है ॥ ३५ ॥

विद्या, कुल, शील, धर्म और कर्मसे प्रतिष्ठा प्राप्त करनेवालेके लिए अकीर्ति दुःख है, उससे भी अधिक दुःख अवमति यानी अपमान है, उससे भी अधिकतर दुःख यह प्रत्यक्ष दूषण है, ऐसा कहते हैं—**'अवाच्यवादान्'** इत्यादिसे ।

अहित—दुर्योधन, कर्ण, विकर्ण आदि शत्रु—तुम्हारे सामर्थ्यकी यानी यहां न दिखाये गये तुम्हारे पौरुषकी (पराक्रमकी) निन्दा करते हुए अर्थात् रणसे भागनेवाले अर्जुनका शौर्य क्या है—कुछ नहीं है, इस प्रकार दूषण देते हुए न कहने योग्य अवाच्य वचनोंको—धिक्कार-शब्दपूर्वक अनेक प्रकारके दुष्ट शब्दोंको—परस्पर कहेंगे । उन कर्णकठोर मर्मघाती दुष्ट

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ ३७ ॥

यदि युद्धमें मर जाओगे, तो स्वर्ग मिलेगा और जीतोगे तो सारी पृथ्वीका उपभोग करोगे, अतः हे कौन्तेय, युद्ध करनेका निश्चय करके तैयार हो जाओ ॥३७॥

वदिष्यन्ति । ततः कर्णकठोरेभ्यो मर्मघातिभ्यो दूषणवचनेभ्यो दुःखतरं क्षत्रियस्याऽभिमानिनः शूरस्य किन्तु किमस्ति । न ततोऽन्यद् दुःखतरमस्तीत्यर्थः ॥ ३६ ॥

ननु युद्धे कृते गुर्वादिवधवशाच्छिष्टनिन्दा स्यादकृते शत्रुनिन्दा स्यादुभयथाऽपि निन्दादुःखमेव फलाय भवति, न ततोऽन्यदस्तीत्याशङ्कायां न कृते युद्धे यागवद्युद्धस्य स्वधर्मत्वाद्गुर्वादिहिंसायाः पशुहिंसावत्तदन्तःपातित्वान्न शिष्टनिन्दा, नाऽपि च शत्रुनिन्दाऽस्ति जयेऽप्यजये च युद्धेन इष्टफलमस्तीत्याह—**हतो वेति** ।

युद्धे कर्णादिभिर्हतो वा निहतश्च त्वं स्वर्गं प्राप्स्यसि । रिपून् जित्वा जितवांश्चेन्निष्कण्टकां महीं भोक्ष्यसे । यस्माद्युद्धमुभयथा फलायैव भवति न तु विफलाय, तस्माद्युद्धायैव कृतनिश्चयः सन् हे कौन्तेय, उत्तिष्ठ । सन्नद्धो भवेत्यर्थः ॥ ३७ ॥

ननु 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गम्' इति वाक्येन युद्धस्य ऐहिकामुष्मिकसुखसाधनत्वमेव प्रतीयते, न तु 'धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्' इत्युक्तन्यायेन श्रेयःसाधनता

वचनोंसे बढ़कर अभिमानी शूर क्षत्रियके लिए और अधिक दुःख क्या है ? यानी उससे दूसरा अधिकतर दुःख नहीं है, यह भाव है ॥ ३६ ॥

युद्ध करनेसे गुरु आदिका वध होनेके कारण शिष्टनिन्दा होगी—शिष्ट पुरुष निन्दा करेंगे । और युद्ध न करनेसे शत्रुनिन्दा होगी यानी शत्रु निन्दा करेंगे, यों युद्ध करने और न करनेसे निन्दासे होनेवाला दुःख ही फल है, इसके सिवा और कुछ फल नहीं है, ऐसी शङ्का होनेपर कहते हैं कि नहीं, यह बात नहीं है, क्योंकि युद्ध स्वधर्म है, अतः यागमें पशुहिंसाके समान गुरु आदिकी हिंसा स्वधर्मरूप ही है, इसलिए न तो शिष्टनिन्दा है और न शत्रुनिन्दा है और जयमें और पराजयमें तो युद्धसे इष्टफल ही होता है, ऐसा कहते हैं—'**हतो वा**' इत्यादिसे ।

यदि युद्धमें कर्ण आदिसे तुम मारे गये, तो तुम्हें स्वर्ग होगा । यदि शत्रुओंको जीतकर जय प्राप्त करोगे, तो निष्कंटक पृथिवीको भोगोगे । अतः चूँकि युद्ध दोनों तरहसे फलदायक है, निष्फल नहीं है, इसलिए युद्धके लिए ही निश्चय कर हे कुन्तीपुत्र, उठो, खड़े होओ, यानी युद्धके लिए तैयार हो जाओ, यह भाव है ॥ ३७ ॥

'यदि मारे गये, तो स्वर्ग प्राप्त करोगे' इत्यर्थक वाक्यसे युद्ध इस लोक और परलोकका साधन है, यही प्रतीत होता है, 'धर्मरूप युद्धसे अन्य श्रेय नहीं है', इत्यादि न्यायसे युद्ध

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥

सुख-दुःख, लाभ-हानि एवं जय-पराजयको समान समझ कर युद्धमें प्रवृत्त होओ, ऐसा करनेसे तुम्हें पाप नहीं लगेगा ॥ ३८ ॥

विद्यते । तत इन्द्रियारामाणामेव कर्तव्यं युद्धम्, यतः स्वर्गादिसुखहेतुत्वं युद्धस्य दृश्यते ततो बन्धकत्वान्न परमार्थापेक्षावतामित्याशङ्कायां न भावनाभेदादत्र तत्फल-भेदोऽप्यस्ति । यथा ज्योतिष्टोमः स्वर्गकामनया कृतः स्वर्गहेतुरकामनया चित्तशुद्धि-हेतुः, तद्वद्युद्धं प्रजापरिपालनं दानं च कामाकामाभ्यां स्वर्गादिफलाय चित्तशुद्धये च भवति । श्रेयस्कामश्चेत्त्वं युद्धमकामनयैव कुर्वित्याह—**सुखदुःखे** इति ।

लाभालाभौ जयाजयौ च तत्फलभूते सुखदुःखे च समे कृत्वा समबुद्धि-र्भूत्वा लाभादीनां सिद्ध्यसिद्ध्योर्हर्षविषादावकृत्वेत्यर्थः । मद्भक्त्या विधिविधेयो भूत्वा ततो विध्युक्ताय युद्धाय स्वधर्मानुष्ठानाय युज्यस्व यतस्व । एवं विध्युक्तं यत्तदीश्वरा-र्पणबुद्ध्या करिष्यामीत्येवं निश्चयेन युद्धं कुर्वन् पापं नाऽवाप्स्यसि । 'ब्रह्मणे ब्राह्मण-मालभेत' इति श्रुत्युक्ते नरमेधे ब्राह्मणमालभ्य कर्ता यथा पापं नाऽऽप्नोति तथा 'ये युध्यन्ते प्रधनेषु' इति श्रुत्युक्ते स्वधर्मे युद्धे गुर्वादीन् हत्वा गुर्वादिवधजं पापं नरमे-धिवन्नाऽवाप्स्यसीत्यर्थः ॥ ३८ ॥

श्रेयका साधन है, ऐसी प्रतीति नहीं होती, इसलिए इन्द्रियजन्य सुखोपभोगमें रत (विषयी) लोगोंको ही युद्ध करना चाहिए। क्योंकि युद्धमें स्वर्ग आदि सुखकी हेतुता ही देखनेमें आती है, इसलिए बंधजनक होनेसे परमार्थकी अपेक्षावालोंको युद्ध नहीं करना चाहिए, यह शङ्का हो, तो वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि भावनाके भेदसे युद्धके फलका भी भेद है। जैसे स्वर्गकी इच्छासे किया हुआ ज्योतिष्टोम स्वर्गका हेतु होता है और इच्छाके बिना किया हुआ चित्तकी शुद्धिका हेतु है, इसी प्रकार प्रजापालन और दानकी कामनासे किया हुआ युद्ध स्वर्गादि फलका और निष्काम किया हुआ चित्तकी शुद्धिका हेतु होता है। यदि तुम श्रेयकी कामनावाले हो, तो अकामनासे युद्ध करो, ऐसा कहते हैं—**'सुखदुःखे'** इत्यादिसे।

लाभ और हानि, जय और पराजय और उनके फलभूत सुख और दुःख इनको समान करके—उनमें समबुद्धि होकर—अर्थात् लाभ आदिकी सिद्धि और असिद्धिमें हर्ष-विषाद न करके, मेरी भक्तिसे विधिविधेय होकर विधिसे बतलाये हुए स्वधर्मरूप युद्धका अनुष्ठान करनेके लिए युक्त होओ यानी यत्न करो, इस प्रकार विधिसे उक्त जो कर्म है, उसको ईश्वरार्पण बुद्धिसे करूँगा, इस प्रकारके निश्चयसे युद्ध करते हुए तुम पापको प्राप्त नहीं होओगे। 'ब्रह्माके लिए ब्राह्मणकी बलि दे' इत्यर्थक श्रुतिमें कहे हुए नरमेधमें ब्राह्मणका आलम्भन करनेवाला

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धियोंगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥ ३९ ॥

तुमसे जो यह बुद्धि कही है, यह सांख्यबुद्धि—परब्रह्मविषयक बुद्धि—कही है, अब तुम कर्मयोगबुद्धिको सुनो, जिस बुद्धिको प्राप्त कर समस्त कर्मबाधनोंसे छुटकारा पा जाओगे ॥ ३९ ॥

ननु 'वेदाविनाशिनं नित्यम्' इत्यादिना ब्रह्मविदो न किञ्चित्कर्तव्यमस्तीत्युपपाद्येदानीं 'स्वधर्ममपि च' इत्यादिना कर्म कर्तव्यमिति त्वया पुनः कर्म विधीयते। दुःखभूयिष्ठस्य कर्मणः करणापेक्षया कर्ता करणं कार्यं च सर्वं मिथ्यैवेति कर्म सर्वं संन्यस्य तूष्णीमवस्थानमेव सुखमिति चेत्, सत्यम्; एवंविधज्ञानमेवाऽहंममेत्यादिसंसारभ्रमविध्वंसकं भवति, तथापि तदारूढविषयं न त्वारुरुक्षुविषयमिति मुमुक्षूणां कर्मतत्संन्यासमार्गपरिज्ञानाय कर्मसंन्यासकर्मयोगयोर्विषयविभागं सूचयितुं कर्मानुष्ठानप्रकारं च बोधयितुमिदमाह—**एषेति** ।

सांख्ये 'यया तदक्षरमधिगम्यते' इति ब्रह्मविद्भिः ऋषिभिः सम्यक् ख्यायते पठ्यत इति संख्या परविद्या तया संख्यया 'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यम्' इत्यादिना प्रतिपाद्यत इति सांख्यं निर्विशेषं परं ब्रह्म तस्मिन् सांख्ये ब्रह्मणि विषये या बुद्धिरभिहिता

मनुष्य जैसे पापको प्राप्त नहीं होता, वैसे ही 'जो रणमें युद्ध करते हैं', इत्यर्थक श्रुतिमें कहे हुए स्वधर्म युद्धमें गुरु आदिको मारकर गुरु आदिके वधसे होनेवाले पापको (नरमेधीके समान) प्राप्त नहीं होओगे, यह भाव है ॥ ३८ ॥

'जो अविनाशी नित्यको जानता है' इत्याद्यर्थक वाक्यसे ब्रह्मज्ञानीके लिए कुछ भी कर्तव्य नहीं है, ऐसा प्रतिपादन करके अब (स्वधर्म भी) '**स्वधर्ममपि**' इत्यादि वाक्यसे कर्म करना चाहिए, इस प्रकार फिर आप कर्मका विधान करते हैं। अधिक दुःखवाले कर्मके करनेकी अपेक्षा कर्ता, करण और कार्य, सब मिथ्या हैं, इसलिए सब कर्म छोड़कर चुपचाप होकर बैठ जाना ही सुखरूप है, ऐसा कहो, तो ठीक है, यद्यपि इस प्रकारका ज्ञान ही 'मैं' मेरा इत्यादि संसार भ्रमका नाशक है, तो भी वह आरूढ़के लिए है, आरुरुक्षुके लिए नहीं है, इसलिए मुमुक्षुओंको कर्म और कर्मसंन्यासके मार्गका ज्ञान करानेके लिए कर्मसंन्यास और कर्मयोग दोनोंके विषयका विभाग सूचन करनेके लिए और कर्मके अनुष्ठानका प्रकार बतलानेके लिए कहते हैं—'**एषा**' इत्यादि ।

सांख्यमें यानी 'जिससे वह अक्षर जाना जाता है' इस प्रकार जो ब्रह्मज्ञानी ऋषियोंसे ठीक-ठीक पढ़ी जाती है, वह संख्या यानी परा विद्या है, इस संख्यासे—'जो देखने योग्य नहीं है, ग्रहण करने योग्य नहीं है' इत्यादिसे—जिसका प्रतिपादन किया जाता है, वह सांख्य यानी निर्विशेष

'न जायते म्रियते' इत्यादिना परं ब्रह्म विषयीकृत्य पूर्वं यज्ज्ञानं ते तुभ्यमुपदिष्टं सैषा बुद्धिः, तज्ज्ञानमारूढस्यैवाऽऽश्रयणीयं न त्वारुरुक्षोः। आरुरुक्षोस्तव चित्तशुद्ध्यै श्रद्धयेश्वरार्पणबुद्ध्या निरभिमानेनाऽकामनया च सुखदुःखादिषु समबुद्ध्या च कर्मयोग एव कर्तव्यः, न तु ज्ञानयोगस्तव। एवं कर्तव्ये योगे कर्मयोगे त्विमां वक्ष्यमाणलक्षणां बुद्धिं ज्ञानं शृणु। हे पार्थ, यया बुद्ध्या युक्तः समन्वितो वक्ष्यमाणोपदेशप्रकारेण कर्मयोगे वर्तमानः सन् त्वं कर्मबन्धं जन्ममृत्युजरादिभिः पुनः पुनः पुरुषं बध्नाति योजयतीति बन्धः कर्मैव बन्धः कर्मबन्धस्तं प्रहास्यसि। बन्धकेभ्यः सर्वेभ्यः कर्मभ्यो वैदिककर्मानुष्ठानसंभावितचित्तशुद्ध्युत्पन्नाकर्त्रात्मविज्ञानबलेन निष्क्रान्तो भविष्यसीत्यर्थः। नन्वीश्वर एव कर्ता कारयिता कर्मणां फलभोक्ता चेत्यध्यवसायात्मिकयैव बुद्ध्या कर्मबन्धप्रहाणे सति किमकर्त्रात्मज्ञानेन कर्मबन्धान्मुक्तो भविष्यसीति मध्ये कर्मबन्धस्याऽऽत्मज्ञाननिवर्त्यत्वकल्पनयेति चेद्, भवानत्र प्रष्टव्यः—किं कर्मणामीश्वरार्पणमात्रेण कर्मबन्धनिवृत्तिरुच्यते? उतेश्वर एव कर्ता कारयितेत्युक्तिमात्रेण वा कर्मबन्धनिवृत्तिरिति? नाऽऽद्यः; तावन्मात्रेण नैष्कर्म्यासंभवात्। 'नाऽऽदत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः' इति परमेश्वरस्य भक्तैर्दत्तसुकृतदुष्कृतादेरनादानस्मरणात्, अङ्गी-

परब्रह्म है। उस साङ्ख्य (ब्रह्म) विषयमें जो बुद्धि कही है यानी 'जनमता और मरता नहीं है' इत्यर्थक 'न जायते' इत्यादिसे परब्रह्मको विषय करके पूर्वमें जिस ज्ञानका तुम्हें उपदेश दिया था, उस बुद्धिका—उस ज्ञानका—आरूढको ही आश्रयण करना चाहिए, आरुरुक्षुको नहीं करना चाहिए। तुम आरुरुक्षु हो, तुम्हें तो चित्तकी शुद्धिके लिए श्रद्धासे, ईश्वरार्पण-बुद्धिसे, निरभिमानतासे, अकामनासे और सुख-दुःख आदिमें समबुद्धिसे कर्मयोग ही करना चाहिए, ज्ञानयोग तुम्हारा कर्तव्य नहीं है। इस प्रकार कर्तव्यरूप योगमें यानी कर्मयोगमें वक्ष्यमाण लक्षणवाली बुद्धिको (ज्ञानको) सुनो। हे पार्थ, जिस बुद्धिसे युक्त होकर—वक्ष्यमाण उपदेशके अनुसार कर्मयोगमें वर्तमान होकर—तुम कर्मबन्धको—जन्म, मृत्यु, जरा आदिसे जो बांधता है यानी संयुक्त करता है, वह बन्ध है, कर्म ही प्रकृतमें बन्ध है, उस कर्मबन्धको—त्याग दोगे अर्थात् बन्धन करनेवाले सब कर्मोंसे, वैदिक कर्मोंके अनुष्ठानसे जनित चित्तकी शुद्धिसे उत्पन्न अकर्तृरूप आत्माके ज्ञानके बलसे, तुम छुटकारा पा जाओगे, यह भाव है। ईश्वर ही करनेवाला, करानेवाला और कर्मोंके फलका भोगनेवाला है, इस प्रकारकी निश्चयात्मक बुद्धिसे ही कर्मबन्धका त्याग हो जायगा, फिर अकर्तारूप आत्माके ज्ञानसे कर्मबन्धसे मुक्त हो जाओगे, इस प्रकार मध्यमें आत्मज्ञान कर्मबन्धका निवर्तक है, इस प्रकारकी कल्पना करनेसे क्या? ऐसा यदि कहो, तो तुमसे यह पूछते हैं कि क्या कर्मोंके ईश्वरार्पणमात्रसे कर्मबन्धकी निवृत्ति कही जाती है, अथवा ईश्वर ही करनेवाला, करानेवाला है, इतने कहनेमात्रसे कर्मबन्धकी निवृत्ति हो जाती है? प्रथम पक्ष तो हो नहीं सकता, क्योंकि उतने मात्रसे नैष्कर्म्यका संभव नहीं है। 'विभु किसीके पापको और पुण्यको ग्रहण नहीं करता' इस स्मृतिवाक्यसे भक्तोंके पुण्य-पापको ईश्वर ग्रहण नहीं करता, ऐसा सुना जाता है और यदि मान भी लें, तो भी इस पक्षमें सैकड़ों, करोड़ों ब्रह्मके कल्पोंमें

कृतेऽप्यस्मिन् पक्षे शतकोटिब्रह्मकल्पेषु कृतानामनर्पितानां सुकृतादिकर्मणां निवृत्त्यसंभवाच्च । भक्तेरिदानींतनत्वात्तेषां तत्समर्पणायोगात् । यदा जन्मारब्धं तदारभ्याऽस्त्येव भक्तिरिति चेत्, न; तथात्वे जन्मान्तर एव तव मुक्तिप्रसङ्गात् , 'लोकत्रयाधिपतिमप्रतिमप्रभावमीषत्प्रणम्य शिरसा प्रभविष्णुमीशम् । जन्मान्तरप्रलयकल्पसहस्रजातमाशु प्रणाशमुपयाति नरस्य पापम् ॥' इति सकृत्प्रणतेः संसारमहासागरतारकत्वमित्यादिभक्तवाक्यानामप्रामाण्यप्रसङ्गाच्च । तत्राऽपि च पापस्यैव नाशो, न तु पुण्यस्य । न द्वितीयः, 'अयुद्धेन हतो वाली तस्येदं कर्मणः फलम्' इति स्वकृतकर्मण एवाऽपरिहार्यत्वे ईश्वरस्य परकृतकर्मपरिहारायोगात्ततोऽविक्रियात्मविज्ञानादेव पुरुषस्य सर्वकर्मनिवृत्तिर्वक्तव्या । तथा च श्रुतिः—'सर्वं पाप्मानं तरति', 'क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे' इत्यादि । तर्हि 'बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ' इति वचनस्य का गतिरिति चेत्, तस्य फलाभिसंधिराहित्येन कृतं कर्म बन्धाय न भवतीति कर्मस्तुत्या मुमुक्षुभिर्निष्कामत्वेन चित्तशुद्ध्यै कर्म कर्तव्यमिति कर्मविधिपरत्वमेव गतिरिति ब्रूमः, ततोऽविक्रियात्मविज्ञानादेव कर्मबन्धनिवृत्तिरिति सिद्धम् ॥ ३९ ॥

उक्तमेव कर्मयोगं मुमुक्षुप्रवृत्त्यै स्तौति—**नेहेति** ।

किये गये अनर्पित पुण्य आदि कर्मोंकी निवृत्ति असंभव है । भक्ति आज-कलकी है, अतः पिछले कर्म ईश्वरको समर्पण नहीं किये जा सकते । जबसे जन्मका आरंभ हुआ है, तभीसे भक्ति है, ऐसा कहो, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा होनेसे पिछले जन्ममें ही तुम्हारी मुक्तिका प्रसंग हो जायगा और 'तीनों लोकोंके अधिपति अपरिमितप्रभाववाले प्रभविष्णु ईश्वरको थोड़ासा सिरसे प्रणाम करनेसे हजारों प्रलय-सदृश जन्मान्तरोंमें किये हुए पापोंका समूह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है ।' इस प्रकार 'ईश्वरको एक बार प्रणाम करना संसारमहासागरसे तारनेवाला है' इत्यादि भक्तोंके वाक्य अप्रमाण हो जायँगे । उसमें भी पापका ही नाश होगा, पुण्यका नाश नहीं होगा । दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'युद्धके विना वालीको मारा वह कर्मका ही फल है' इत्यादिसे अपने किये हुए कर्मका ही परिहार जब ईश्वर नहीं कर सकता, तब दूसरेके किये हुए कर्मका परिहार ही कैसे कर सकता है ? इसलिए अविक्रिय आत्माके विज्ञानसे ही पुरुषके सब कर्मोंकी निवृत्ति होती है, ऐसा कहना चाहिए । ऐसी श्रुति भी है—'सब पापको तर जाता है', 'उस पर आत्माके देखनेपर इस अधिकारीके सब कर्म क्षीण हो जाते हैं' इत्यादि । तब 'बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ !' (हे पार्थ, जिस बुद्धिसे युक्त) इस वचनकी क्या गति होगी ? ऐसा कहो, तो इसपर हम यह कहते हैं कि फलके संबन्धसे रहित जो कर्म किया जाता है, वह बन्धनका कारण नहीं होता, इस प्रकार कर्मकी स्तुति है, इसलिए मुमुक्षुओंको निष्कामभावसे चित्तकी शुद्धिके लिए कर्म करना चाहिए, इस तरह कर्मविधिपरत्व ही उसकी गति है, इसलिए अविक्रिय आत्मविज्ञानसे ही कर्मबन्धकी निवृत्ति होती है, यह सिद्ध हुआ ॥ ३९ ॥

मुमुक्षुओंकी प्रवृत्तिके लिए कहे हुए कर्मयोगकी स्तुति करते हैं—'**नेह**' इत्यादिसे ।

नेहाऽभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ ४० ॥

निष्कामकर्मयोगमें कर्मका आरम्भ निष्फल नहीं होता एवं प्रत्यवाय भी नहीं होता है, किन्तु इस धर्मका स्वल्प भी अंश बड़े भारी भयसे रक्षा करता है ॥ ४० ॥

इह मोक्षैकप्रयोजने उक्तकर्मयोगे नाऽभिक्रमनाशोऽस्ति अभिक्रम उपक्रमः कर्मण आरम्भस्तस्य नाशो नाऽस्ति। कृषिवाणिज्यादावारब्धे सति कचित् फलति कचिन्न फलति, न तथेदम्, किन्तु नियतफलवदेव भवति भुक्तिवत्। अत्र प्रत्यवायो न विद्यते ज्ञानाज्ञानकृतकर्मनियमादिलोपकृतो दोषः राजाज्ञावन्नाऽनर्थाय कल्पते। अस्य भक्त्या क्रियमाणस्येश्वराराधनात्मकस्य वेदोक्तस्य धर्मस्य संबन्धि स्वल्पमपि केवलाग्निहोत्रं वा श्रौतमौपासनं वा स्मार्तं श्रद्धया कृतं कर्म चित्तशुद्धिजननद्वारा ज्ञानहेतुत्वात् कर्तारं महतो भयाज्जननमरणदुःखात् त्रायते रक्षत्यतो मुमुक्षोः श्रौतं स्मार्तं चोभयं वा श्रद्धाभक्तिभ्यामकामनयेश्वरप्रीत्यै यथाशक्त्यवश्यं कर्तव्यम्, ईश्वरप्रीत्यर्थमेव कृतेन कर्मणा पुमान् तरति, नाऽन्यथेति सूचितं भवति ॥ ४० ॥

योगविषयिण्या बुद्ध्या विशिष्टः पुमान् तरतीत्युक्तम्, योगविषयिणी बुद्धिः केत्याकाङ्क्षायां तस्याः स्वरूपं वदन् तदितरबुद्धिविशिष्टानां न कदाचित्तरणमस्तीति सूचयति—**व्यवसायात्मिकेति**।

यहां यानी जिसका एक मोक्ष ही प्रयोजन है, ऐसे कर्मयोगमें अभिक्रमका नाश नहीं है। अभिक्रम यानी कर्मका आरंभ, उसका नाश नहीं है। जैसे खेती, व्यापार आदिका आरंभ करनेपर कहीं फल होता है, कहीं नहीं होता, ऐसा यह नहीं है, किन्तु भोजनके समान नियमसे फलवाला ही होता है अर्थात् जैसे भोजन करनेसे तृप्ति अवश्य होती है वैसे ही निष्काम कर्मसे अवश्य मुक्ति होती है। इसमें प्रत्यवाय नहीं होता—ज्ञानसे या अज्ञानसे किये हुए कर्म-नियम आदिके लोपसे जनित दोष, राजाकी आज्ञाके समान, अनर्थका हेतु नहीं होता, किन्तु इसका—भक्तिसे किये हुए ईश्वराधनरूप वेदोक्त धर्मका—संबन्धी थोड़ासा अंश—केवल अग्निहोत्र, श्रौत उपासना या स्मार्त उपासनारूप श्रद्धासे किया हुआ कर्म—चित्तकी शुद्धिके उत्पादन द्वारा ज्ञानका हेतु होता है, इससे वह कर्ताकी, जन्म-मरण आदि महाभयसे रक्षा करता है, इसलिए मुमुक्षुको श्रौत और स्मार्त अथवा दोनों कर्म श्रद्धा और भक्तिसे, अकामनासे ईश्वरकी प्रीतिके लिए यथाशक्ति अवश्य ही करने चाहिए, इससे ईश्वरकी प्रीतिके लिए किये गये कर्मसे ही पुरुष तरता है, अन्यथा नहीं, ऐसा सूचित होता है ॥ ४० ॥

योगसंबन्धी बुद्धिसे युक्त पुरुष तरता है, यह कहा गया, उसमें योगसंबन्धी बुद्धि कौन है? ऐसी आकाङ्क्षा होनेपर उसका स्वरूप कहते हुए, उससे भिन्न बुद्धिवाले पुरुषोंका तरण कभी भी नहीं होता, ऐसा सूचन करते हैं—'**व्यवसायात्मिका**' इत्यादिसे।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥ ४१ ॥

हे कुरुनन्दन, इस योगमें प्रवृत्त मुमुक्षुकी 'ईश्वर ही मेरी परम गति है' इस प्रकारकी निश्चयात्मक बुद्धि बाहर और भीतर एक ही रहती है और विषयी पुरुषोंकी बुद्धियाँ अनेक शाखाओंवाली होनेके कारण अनेक प्रकारकी होती हैं ॥ ४१ ॥

'मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाऽशुद्धमेव च । अशुद्धं कामसंकल्पं शुद्धं कामविवर्जितम् ॥' इति श्रवणात् कामसङ्कल्पादिकषायरहिततया शुद्धत्वेनेश्वर एवाऽस्माकं परा गतिरिति व्यवस्थितो व्यवसायो निश्चयो यस्यां सा व्यवसायात्मिका वस्तुतत्त्वनिश्चयवतीश्वराश्रया बुद्धिरिह मोक्षैकप्रयोजने कर्मयोगे प्रवृत्तस्य व्यवसायिनो मुमुक्षोरेकैव बहिरन्तः सदैकरूपैव भवति । 'यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्मिँल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते अन्तवदेवास्य तद्भवति' इति व्यतिरेकमुखेन विदित्वा जुह्वतो यजतस्तप्यतश्च सर्वं कर्म वैदिकमनन्तवदेव भवतीति वदच्छ्रुतिप्रमाणजनितत्वादेकरूपेणैव तिष्ठति न कदाचिद्भिद्यते । अव्यवसायिनां विवेकबुद्धिरहितानां व्यवस्थाशून्यानामेव कामिनां बुद्धयो बहुशाखा बहुप्रकाराः 'आशास्ते यं यजमानोऽसौ' इत्युक्तप्रकारेण बह्वर्थविषयत्वाद्बहुधा भिद्यन्ते । अतएवाऽनन्ताः काम्यानामनन्तत्वात्, एवं बुद्धीनामनन्तत्वे तद्वतां संसारोऽप्यनन्त एव भवति, न कदाप्युपशाम्यतीत्यर्थः ॥ ४१ ॥

'मन दो प्रकारका कहा गया है—शुद्ध और अशुद्ध । अशुद्ध काम और संकल्पसे युक्त होता है और शुद्ध कामनासे रहित होता है' इत्यर्थक श्रुतिसे काम, संकल्प आदि कषायसे रहित और शुद्ध होनेके कारण ईश्वर ही हमारी परम गति है, ऐसा व्यवस्थित है व्यवसाय यानी निश्चय जिसमें, वह व्यवसायिका बुद्धि कहलाती है, यानी वस्तुतत्त्वके निश्चयसे युक्त ईश्वराश्रित बुद्धि । वह प्रकृतमें—एक मोक्ष ही जिसका प्रयोजन है, ऐसे कर्मयोगमें—प्रवृत्त हुए व्यवसायी मुमुक्षुकी एक ही होती है, यानी बाहर भीतर सदा एक-सी ही होती है । 'हे गार्गि, जो इस अक्षरको बिना जाने इस लोकमें होम करता है, यज्ञ करता है और तप तपता है, उसका वह अन्तवाला ही होता है', इत्यर्थक निषेध मुखसे कहती हुई श्रुति इस अर्थमें प्रमाण है कि ज्ञानपूर्वक हवन, यजन और तप करनेवालेका समस्त वैदिक कर्म अन्तवाला नहीं होता, इसलिए इस श्रुति प्रमाणसे उत्पन्न हुई बुद्धि एकरूपसे ही स्थित होती है, कभी भी भिन्न नहीं होती । अव्यवसायियोंकी—विवेकबुद्धिरहित, व्यवस्थारहित कामियोंकी—बुद्धियां बहुत शाखावाली यानी बहुत प्रकारकी होती हैं, क्योंकि उनकी बुद्धियां 'यह यजमान यह चाहता है' इस प्रकार बहुत पदार्थोंसे युक्त होनेके कारण अनेक प्रकारके भेदसे विशिष्ट होती हैं, इसलिए अनन्त होती हैं, क्योंकि काम्य पदार्थ अनन्त हैं ।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नाऽन्यदस्तीति वादिनः ॥ ४२ ॥

हे पार्थ, कर्म और कर्मफलके प्रशंसक वेदवाक्योंमें प्रीति रखनेवाले, वेदके परम तात्पर्यको न जाननेवाले और कर्मसे अतिरिक्त मोक्ष, ईश्वर आदि कुछ नहीं है, ऐसा कहनेवाले विवेकरहित जन इस वक्ष्यमाणलक्षण आपात रमणीय वाणीको कहते हैं ॥ ४२ ॥

नन्वव्यवसायिनामपि योगबुद्धिरस्त्वित्याकाङ्क्षायां कामपराणां तेषामेषा नाऽन्तःकरणमारोहतीति बोधयितुं तेषां स्वभावं वर्णयति त्रिभिः—**यामिमामिति** ।

वेदवादरताः, उच्यन्त इति वादा वाक्यानि वेदस्य वादाः वेदवादास्तेषु 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः' इत्यादिषु कर्मतत्फलतत्साधनप्रकाशकेष्वर्थवादादिवेदवाक्येषु रताः निरतास्तत्रैव तात्पर्यवन्तः । अतएव नाऽन्यदस्तीति वादिनः कर्मतत्फलेभ्यः साधनसाध्येभ्योऽन्यदपीश्वरो वा मोक्षो वा किञ्चिन्नाऽस्तीति प्रष्टृभ्यो वक्तारो वदनशीलाः, यतोऽविपश्चितः वेदानामुपक्रमोपसंहारादिषु तात्पर्यानभिज्ञा बहिर्मुखा मीमांसकाः पुष्पितां पुष्पैर्मल्लिकालतावत् 'अपाम सोमम्' इति, 'दक्षिणावन्तो अमृतत्वं भजन्ते' इति, 'पश्यति पुत्रं पश्यति पौत्रम्' इति, 'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति' इत्याद्यर्थवादलक्षणैः फलशून्यैः पुष्पै रञ्जयन्तीमिमां जन्मकर्मफलप्रदामित्यादिना वक्ष्यमाणलक्षणां यां वाचं 'अग्निमीळे पुरोहितं',

---

इस प्रकार बुद्धियां अनन्त होनेसे उन बुद्धिवालोंका संसार भी अनन्त ही होता है, कभी भी शान्त नहीं होता, यह अर्थ है ॥ ४१ ॥

यदि शङ्का हो कि व्यवस्थारहित बुद्धिवालोंको भी उक्त योगबुद्धि हो जाय, क्या हानि है? तो यह शङ्का भी युक्त नहीं है, क्योंकि उन कामनावालोंके अन्तःकरणमें इस बुद्धिका उदय ही नहीं हो सकता, यह बतलानेके लिए तीन श्लोकोंसे उनके स्वभावका वर्णन करते हैं— **'यामिमाम्'** इत्यादिसे ।

वेदवादरताः । जो कहे जाते हैं, वे वाद हैं यानी वाक्य, वेदके जो वाद हैं, उन्हें वेदवाद कहते हैं, उनमें—'ऐश्वर्यकी कामनावाला वायुके उद्देशसे श्वेत पशुकी बलि दे' इत्यादि कर्म, कर्मफल और कर्मके साधनोंका प्रकाश करनेवाले अर्थवाद आदि वाक्योंमें—निरत यानी प्रीति करनेवाले (उनमें ही तात्पर्य रखनेवाले) इसीलिए पूछनेवालोंसे अन्य कुछ नहीं है, ऐसा कहनेवाले यानी साधन और साध्यरूप कर्म और कर्मके फलोंके सिवा दूसरा ईश्वर अथवा मोक्ष कुछ नहीं है, ऐसा कहनेवाले—कहनेके स्वभाववाले—अविपश्चित् यानी वेदोंके उपक्रम, उपसंहार आदिमें तात्पर्यके न जाननेवाले बहिर्मुख मीमांसक पुष्पित—पुष्पोंसे ढकी हुई लताके समान—'हम सोम पीते हैं', 'दक्षिणाग्निके उपासक अमृतत्वको प्राप्त होते हैं', 'पुत्रको देखता है, पौत्रको देखता है', 'चातुर्मास्य यजन करनेवालोंका अक्षय पुण्य होता है' इत्यादि अर्थवादरूप,

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥ ४३ ॥

और स्वर्गको ही परम पुरुषार्थ माननेवाले विषयी पुरुष केवल विषयोंके ऊपर आधिपत्य प्राप्त हो, इसलिए अग्निष्टोम आदि अनेक कर्मोंकी प्रतिपादक अतएव जन्म, जरा आदि फलको ही देनेवाली वाणीको कहते हैं ॥ ४३ ॥

'इषे त्वोर्जे त्वा', 'ब्रह्म संधत्तं तन्मे जिन्वतम्' इत्यादिवाक्यरूपां प्रवदन्ति । कर्मकाण्डमेव प्राशस्त्येन वदन्ति, न तूपासनाकाण्डं नाऽपि ब्रह्मकाण्डमित्यर्थः ॥ ४२ ॥

योगबुद्ध्यनर्हत्वे तेषां स्वभावो दुष्ट इति सूचयितुं तद्गुणानेव वर्णयति कृष्णः— **कामात्मान इति ।**

स्वर्गपराः स्वर्ग एव परो निरतिशयः पुरुषार्थ इति निश्चयो येषां ते स्वर्गपराः, तत एव भोगैश्वर्यगतिं प्रति भुज्यन्त इति भोगाः दिव्याः स्रक्चन्दनवनितादयस्तेषां समग्रभोगायैश्वर्यमीश्वरत्वं स्वामित्वं तस्य गतिः प्राप्तिस्तां प्रत्येव काम इच्छावेग आत्मनि बुद्धौ येषां ते कामात्मानः विषयभोगलम्पटा मीमांसकाः कामिनः । क्रियाविशेषबहुलां क्रियाविशेषा अग्निष्टोमातिरात्रादयः फलविशेषहेतवो बहुला बहवो यया प्रतिपाद्यन्ते सा क्रियाविशेषबहुला तां तत एव जन्मकर्मफलप्रदाम् । जन्मपदेन मृत्युजरारोगास्तद्दुःखानि च लक्ष्यन्ते । जन्मादय एव स्वप्रतिपादितकर्मणां फलानि जन्मकर्मफलान्यनुष्ठातृभ्यः प्रददातीति जन्मकर्मफलप्रदा, नानायोनिषु

फलशून्य पुष्पोंसे रञ्जन करनेवाली—इस 'जन्मकर्मफलप्रदाम्' इत्यादि—वक्ष्यमाण लक्षणवाली 'पुरोहित अग्निको मैं पूजता हूँ', 'हे पलाश, अन्नके लिए मैं तुझे काटता हूँ' और 'ब्रह्म' इत्यादि वाक्यरूप वाणीको कहते हैं । अर्थात् कर्मकाण्डको ही प्राशस्त्यसे यानी प्रशंसारूपसे कहते हैं, उपासनाकाण्डको और ब्रह्मकाण्डको प्रशस्त नहीं कहते—यह भाव है ॥ ४२ ॥

योगबुद्धिकी अयोग्यता होनेपर उनका स्वभाव भी दुष्ट है, ऐसा सूचन करनेके लिए उनके गुणोंका वर्णन करते हैं—**'कामात्मानः'** इत्यादिसे ।

स्वर्ग ही पर है यानी परम पुरुषार्थ है, ऐसा जिनका निश्चय है, वे स्वर्गपर कहलाते हैं इसीलिए भोगैश्वर्यगतिके प्रति—जिनका उपभोग किया जाता है, वे भोग कहलाते हैं, यानी दिव्य माला, चन्दन, स्त्री आदि विषय, उन समग्र भोगोंके लिए ऐश्वर्यकी (स्वामित्वकी) गतिके (प्राप्तिके) प्रति ही—जिनकी इच्छाका वेग आत्मामें यानी मनमें है, वे कामात्मा यानी विषयभोगोंमें लम्पट कामी मीमांसक । क्रियाविशेषबहुला यानी अग्निष्टोम, अतिरात्र आदि अनेक फलविशेषके हेतु क्रियाविशेषोंका जिससे प्रतिपादन किया जाता है, ऐसी वाणीका इसीलिए जन्मकर्मफलप्रदा । जन्मपदसे मृत्यु, जरा, रोग और उनसे होनेवाले दुःख विवक्षित हैं । जन्म आदि ही वेदप्रतिपादित कर्मोंके फल हैं । ये ही अनुष्ठान करनेवालोंके लिए दिये जाते हैं, अतः उस वाणीका नाम जन्मकर्मफलप्रदा है अथवा नाना योनियोंमें जन्म और कर्मफल—सुख आदि—वेदवाणीसे प्रकाशित

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयाऽपहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ ४४ ॥

विषयोंमें आसक्ति रखनेवाले और जिनका चित्त विषयोंसे अपहृत हुआ है, ऐसे पुरुषोंके अन्तःकरणमें व्यवसायात्मक बुद्धि प्रविष्ट नहीं होती ॥ ४४ ॥

जन्मानि कर्मफलानि सुखादीनि च स्वप्रकाशितकर्मकर्तृभ्यो यच्छतीति वा तां जन्मकर्मफलप्रदां वाचं प्रवदन्तीति पूर्वेणाऽन्वयः ॥ ४३ ॥

यत एवंलक्षणास्ततस्तेषां योगबुद्धिस्तत्फलं च न सिध्यतीत्याह—**भोगेति** ।

अर्थवादबहुलया तया कर्मकाण्डलक्षणया वाचाऽपहृतचेतसां अपहृतं तिरोभावितं चेतः कार्याकार्यविवेकविज्ञानं येषां ते अपहृतचेतसः विषयाशाभ्रामितबुद्धयस्तेषाम् अतएव भोगैश्वर्यप्रसक्तानां भुज्यन्त इति भोगा भोग्यपदार्था ऐश्वर्यं तेषामीश्वरत्वं तयोरेव प्रसक्तानां तेषाम् । समाधौ समाधीयते पुरुषो विषयेष्वनेनेति समाधिः, वासनात्मना जगत्सर्वं समाधीयते पुरुषेणाऽस्मिन्निति वा समाधिरन्तःकरणं तस्मिन् व्यवसायात्मिका बुद्धिर्योगबुद्धिर्न विधीयते न प्रवेश्यते कामैरन्तरालाभावान्न प्रविशति यतस्ततः 'कारणाभावे कार्याभावः' इति न्यायेन योगबुध्यभावे तत्कार्यभूतो मोक्ष एतेषां कदापि न संभवतीत्यर्थः ॥ ४४ ॥

एवं श्रुतिवाक्यानामुपक्रमोपसंहारादिष्वेवाऽवान्तरतात्पर्यं महत्तात्पर्यं चाऽविजा-

---

किये हुए कर्मोंके करनेवालोंको देती है, इस प्रकार कर्मफल देनेवाली वाणीको कहते हैं, ऐसा पूर्व श्लोकसे संबन्ध है ॥ ४३ ॥

चूँकि वे इस प्रकारके लक्षणवाले हैं, इसलिए उनको योगबुद्धि और उसका फल सिद्ध नहीं होता, ऐसा कहते हैं—'**भोगैश्वर्य०**' इत्यादिसे ।

इस कर्मकाण्डरूप अर्थवादबहुल वाणीसे जिनका चित्त हरा गया है यानी जिनका कार्याकार्यका विवेकरूप विज्ञान छिप गया है, वे अपहृत चित्तवाले यानी विषयोंकी आशासे भ्रमित बुद्धिवाले, इसीलिए भोगैश्वर्यमें आसक्ति रखनेवालोंकी—जो भोगे जाते हैं, वे भोग यानी भोग्यपदार्थ और उनका स्वामित्व, इन दोनोंमें जो आसक्त हैं, उनकी समाधिमें—जिससे विषयोंमें पुरुष समाहित होता है, वह समाधि है अथवा वासनास्वरूपसे सब जगत् जिसमें पुरुष द्वारा रक्खा जाता है, वह समाधि है यानी अन्तःकरण, उसमें—व्यवसायात्मिका बुद्धि (योगबुद्धि) नहीं रक्खी जा सकती यानी प्रविष्ट नहीं होती, क्योंकि कामनाओंसे अवकाश न होनेके कारण उसमें वह प्रवेश ही नहीं कर सकती है, इसलिए 'कारणके अभावमें कार्यका अभाव होता है' इस न्यायसे योगबुद्धिका अभाव होनेपर उसका कार्यभूत मोक्ष भी उन्हें कभी नहीं हो सकता, यह अर्थ है ॥४४॥

इस प्रकार श्रुतिके वाक्योंके उपक्रम, उपसंहार आदिमें अवान्तर तात्पर्य और महान् तात्पर्यको न

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥ ४५ ॥

समस्त वेद संसारविषयक ही हैं, अतः हे अर्जुन, तुम राग, द्वेष आदिसे शून्य हो जाओ एवं निर्द्वन्द्व, सदा सत्त्वसम्पन्न, योग और क्षेमसे रहित और आत्मवान् बन जाओ ॥ ४५ ॥

नतामर्थवादैर्मोहितानां कामिनां योगबुद्ध्यभावादीश्वरप्रसादाभावस्तेनैव संसारोपरमाभाव इति प्रतिपाद्य, इदानीं केवलमुमुक्षूणां योगबुद्धिमतामीश्वरप्रीत्यै कर्म कुर्वतां प्ररोचनवाक्यैर्न मोहितव्यमिष्टानिष्टप्राप्तौ समबुद्ध्या श्रद्धाभक्तिभ्यामीश्वराराधनात्मकं कर्म वैदिकं कर्तव्यमिति सूचयितुमाह—**त्रैगुण्येति** ।

राजसास्तामसाः सात्त्विकाश्चेति त्रिविधा गुणास्त्रिगुणा रागद्वेषलोभमोहादयस्तेषां तत्कार्याणां तत्फलानां च समाहारस्त्रैगुण्यं संसारः स एव विषयः कर्मतत्साधनादिप्रकाशनद्वारा वर्धनीयत्वेन गोचरो येषां ते त्रैगुण्यविषया वेदाः । संसारवृद्धेर्वेदोक्तकर्माधीनत्वेन वेदास्त्रैगुण्यविषया इत्युच्यन्ते । त्रैगुण्यस्य वेदविषयत्वेन सर्वेषामुपादेयत्वे सत्यपि न तन्मुमुक्षुभिरादर्तव्यमित्याह—**निस्त्रैगुण्य इति** । यतस्त्वं मोक्षेच्छया योगबुद्धियुक्तः स्वधर्मे प्रवृत्तास्ततो निस्त्रैगुण्यो भव प्ररोचनश्रुतिभ्यो रागद्वेषादिभ्यस्तत्प्रधानकर्मभ्यस्तत्फलेभ्यश्च निष्क्रान्तो भव । निर्द्वन्द्वश्च इष्टानिष्टपदार्थौ द्वौ द्वन्द्वशब्दवाच्यो रागद्वेषादिदोषजनकौ तत्र समबुद्ध्या ताभ्यां निष्क्रान्तो

जाननेवाले, अर्थवादोंसे मोहित कामियोंमें योगबुद्धिका अभाव है, अतः ईश्वरके प्रसादका भी अभाव होता है, और उससे उनके संसारका उपराम भी नहीं होता, यह प्रतिपादन करके अब ईश्वरकी प्रीतिके लिए कर्म करनेवाले योगबुद्धिसम्पन्न, मुमुक्षुओंको प्ररोचन वाक्योंसे मोहित न होना चाहिए और इष्ट एवं अनिष्टकी प्राप्तिमें समबुद्धि होकर श्रद्धा और भक्तिसे ईश्वराराधनरूप वैदिक कर्म करना चाहिए, ऐसा सूचन करनेके लिए कहते हैं—‘**त्रैगुण्य०**’ इत्यादिसे ।

राजस, तामस और सात्त्विक—यों तीन प्रकारके गुण हैं अर्थात् राग, द्वेष, लोभ, मोह आदि । उनका, उनके कार्योंका और उनके फलोंका समाहार यानी समूह त्रैगुण्य है यानी संसार । वह संसार ही जिनका विषय है यानी कर्म और कर्मके साधन प्रकाशन द्वारा संसारको बढ़ाना ही जिनका विषय है, वे त्रैगुण्यविषय हैं यानी संसारका प्रतिपादन करनेवाले वेद । संसारकी वृद्धि वेदोक्त कर्मोंके अधीन है, इसलिए वेद त्रैगुण्यविषय कहलाते हैं । यद्यपि वेदप्रतिपादित होनेसे त्रैगुण्यरूप संसार सबके लिए उपादेय है यानी ग्रहण करने योग्य है, तो भी मुमुक्षुओंको उसका आदर नहीं करना चाहिये, ऐसा कहते हैं—‘**निस्त्रैगुण्य**’ इत्यादिसे । जिस कारणसे तू मोक्षकी इच्छासे योगबुद्धिसे युक्त स्वधर्ममें प्रवृत्त है, इसलिए निस्त्रैगुण्य हो यानी प्ररोचन श्रुतियोंसे राग, द्वेष आदिसे और रागद्वेषादिप्रधान कर्मोंसे और उनके फलोंसे निष्क्रान्त

भव । मोक्षस्य तत्साधनस्य च शमदमक्षान्त्यादेः सत्त्वगुणैकलभ्यत्वान्निस्त्रैगुण्यत्वेऽपि मुमुक्षोः सत्त्वेन भवितव्यमित्याशयेनाऽऽह—**नित्यसत्त्वस्थ इति** । नित्यं सत्त्वगुण एव तिष्ठतीति नित्यसत्त्वस्थो भव । विवेकवैराग्यशमदमादिष्वेव तिष्ठेत्यर्थः । योगक्षेमपरस्य रागद्वेषादिः प्रसज्यते, तेन शमादयः पलायन्ते, ततः साधनविच्छित्तिस्तया मोक्षासिद्धिस्ततो मुमुक्षोस्ताभ्यां निर्गमः कर्तव्य इत्याशयेनाऽऽह—**निर्योगक्षेमो भवेति** । अविद्यमानस्य संपादनं योगः । विद्यमानस्य पालनं क्षेमः । प्रारब्धाधीनो भूत्वा त्वं ताभ्यां निष्क्रान्तो भव । मनसो विषयान्तरपारवश्ये स्वधर्मो न सिध्यत्यतस्तदभावेन भवितव्यमित्याह—**आत्मवानिति** । विहिते कर्मणि श्रवणध्यानकीर्तनादिष्वेव स्थित आत्मा मनोऽस्याऽस्तीत्यात्मवान् । निश्चलचित्तो भवेत्यर्थः । यद्वा 'न जायते म्रियते वा कदाचित्' इति, 'वेदाविनाशिनम्' इत्यादिवाक्यैः प्रतिपादिता सांख्यविषया बुद्धिर्यदि तवाऽस्ति दृढा, तदा त्वयैवं स्थातव्यमिति ज्ञानिनः कर्तव्यं सूच्यते । त्रयो गुणाः सत्त्वादयो यस्य सन्ति तत्त्रिगुणं जगद्बीजमव्याकृतं

होओ यानी दूर रहो, निर्द्वन्द्व होओ, द्वन्द्वशब्दका अर्थ है—राग, द्वेष आदि दोषोंको उत्पन्न करनेवाले इष्ट और अनिष्ट दो पदार्थ, उनमें समबुद्धि करके दोनोंसे निष्क्रान्त होओ यानी उनसे मुक्त हो जाओ । मोक्ष और मोक्षके साधन शम, दम, शान्ति आदि सत्त्वगुणसे ही प्राप्त होते हैं, इसलिए निस्त्रैगुण्य होनेपर भी मुमुक्षुको सत्त्वगुणसे सम्पन्न होना चाहिए, ऐसा कहते हैं—**'नित्यसत्त्वस्थ' से** । सदा सत्त्वगुणका जो आश्रयण करता है, वह नित्यसत्त्वस्थ कहलाता है, तुम सदा सत्त्वगुणका आश्रयण करो अर्थात् सदा विवेक, वैराग्य, शम, दम आदिमें स्थित होओ, यह भाव है । योग और क्षेममें तत्पर पुरुषको राग, द्वेष आदिका प्रसंग होता है, ऐसा होनेपर शम आदि भाग जाते हैं, इससे साधनोंका नाश होता है, इससे मोक्षकी सिद्धि नहीं होती, इसलिए मुमुक्षुको उनसे—योग और क्षेम दोनोंसे—निर्गम करना चाहिए यानी उन दोनोंसे रहित हो जाना चाहिए, इस आशयसे कहते हैं—**निर्योगक्षेमो भव** । अविद्यमानका संपादन करना यानी अप्राप्तको प्राप्त करना योग है, विद्यमानका पालन करना यानी प्राप्तकी रक्षा करना क्षेम है । प्रारब्धके अधीन होकर उन दोनोंसे तुम रहित हो जाओ । यदि मन दूसरे विषयके अधीन हो, तो स्वधर्मकी सिद्धि नहीं होती, इसलिए अवश्य उससे रहित होना चाहिए, ऐसा कहते हैं—**'आत्मवान्' से** । श्रवण, ध्यान, कीर्तन आदि विहित कर्मोंमें जिसका मन स्थित है, वह आत्मवान् कहलाता है । तुम आत्मवान् हो जाओ यानी निश्चलचित्तवाले हो जाओ, यह अर्थ है । अथवा 'कभी जन्मता या मरता नहीं है', 'अविनाशीको जानता है' इत्यर्थक वाक्योंसे प्रतिपादित सांख्यविषयक बुद्धि यदि दृढ़ है, तो तुम्हें वैसे ही रहना चाहिए, यों ज्ञानीके कर्तव्यका सूचन करते हैं । जिसमें सत्त्व आदि तीनों गुण रहते हैं, वह त्रिगुण कहलाता है—जगत्का बीज अव्याकृत । उससे उत्पन्न हुआ जगत् त्रैगुण्य है ।

तस्मादुत्पन्नं जगत्त्रैगुण्यं तदेव प्रतिपाद्यत्वेन विषयो येषां ते त्रैगुण्यविषयाः। साध्यसाधनसाधकफलदेवतात्मकजगत्प्रकाशनपराः सर्वे वेदा इत्यर्थः। वेदतदुक्तकर्मतत्फलेषु प्रवृत्तस्य द्वैतज्ञानबाधं विना नाऽद्वैतज्ञानं तन्निष्ठा तत्फलमपि न सिध्यति। अतस्तन्निष्क्रमो विदुषा कर्तव्य इत्याह—**निस्त्रैगुण्यो भवेति।**

'वेदानिमं लोकममुं च परित्यज्याऽऽत्मानमन्विच्छेत्' इति स्मरणाद्वेदेभ्यस्तदुक्तकर्मभ्यस्त्रैगुण्याज्जगतश्च सर्वस्मान्निष्क्रान्तो भव। सर्वसंन्यासं कुर्वित्यर्थः। कृतेऽपि सर्वसंन्यासे बहिर्मुखस्य द्वैतावलम्बिनो ब्रह्मनिष्ठायोगात्तदयोगे ज्ञानभ्रंशस्तेन मोक्षो न सिध्यत्यतो ज्ञानिना द्वैतावलम्बनं त्यक्तव्यमित्याह—**निर्द्वन्द्व इति।** द्वन्द्वे नामरूपे। सर्वत्र तयोर्ग्रहणान्निर्गतो भव। नामरूपयोर्ग्रहणं मा कुर्वित्यर्थः। निद्रां कुर्वतो नामरूपग्रहणं न संभवत्यतः प्राप्तां तां विदुषो निषेद्धुमाह—**नित्यसत्त्वस्थ इति।** सतो भावः सत्त्वं ब्रह्मस्वरूपं नित्यं तस्मिन्नेव तिष्ठतीति नित्यसत्त्वस्थो भव। सर्वदा ब्रह्मैवाऽनुसंधेहीत्यर्थः। ब्रह्मविदः शरीरयात्राऽपि ब्रह्मदृष्ट्यैव कर्तव्या, न तु बाह्यदृष्ट्येति सूचयितुमाह—**निर्योगक्षेम इति।** स्थितस्यैव देहस्याऽहिकण्टकादिभ्यस्तात्पर्येण पालनं क्षेमः, तस्याऽनुकूलद्रव्यसंपादनं योगः, तदुभयस्याऽपि

उसका प्रतिपादन करना ही जिनका विषय है, वे त्रैगुण्यविषय हैं। सब वेद साध्य, साधन, साधक, फल और देवतारूप जगत्का प्रतिपादन करनेवाले हैं, यह अर्थ है। वेद, वेदोक्त कर्म और कर्मोंके फलोंमें प्रवृत्त पुरुषको द्वैतज्ञानके बाधके बिना अद्वैतज्ञान, उसमें निष्ठा और उसका फल प्राप्त नहीं होते, इसलिए विद्वान्को उनका निष्क्रम करना चाहिए यानी उनका उल्लङ्घन करना चाहिए, ऐसा कहते हैं—**'निस्त्रैगुण्यो भव' से।** 'वेदोंका, इस लोकका और परलोकका त्यागकर आत्माकी इच्छा करे' ऐसी स्मृति है, इसलिए वेद, वेदोक्त कर्म और त्रैगुण्य जगत्—इन सबसे निष्क्रान्त हो जाओ यानी निकल जाओ। सबका संन्यास करो, यह अर्थ है। संन्यास करनेपर भी द्वैतका अवलम्बन करनेवाले बहिर्मुखको ब्रह्मनिष्ठा नहीं होती, उसके न होनेसे ज्ञानका नाश होता है और ऐसा होनेसे मोक्ष सिद्ध नहीं होता, इसलिए ज्ञानीको द्वैतका अवलम्बन छोड़ देना चाहिए, ऐसा कहते हैं—**'निर्द्वन्द्वः' से।** नाम और रूप द्वन्द्व हैं। सर्वत्र उन दोनोंके ग्रहणसे निकल जाओ, नामरूपका ग्रहण मत करो, यह अर्थ है। सोनेवालेको नामरूपका ग्रहण नहीं होता, इसलिए प्राप्त निद्राका निषेध करनेके लिए कहते हैं—**'नित्यसत्त्वस्थः'**। सत्का भाव सत्त्व यानी ब्रह्मस्वरूप, उसमें जो नित्य स्थित रहता है, वह नित्यसत्त्वस्थ है, तुम नित्यसत्त्वस्थ होओ, सर्वदा ब्रह्मका ही अनुसंधान करो, यह अर्थ है। ब्रह्मज्ञानीको शरीरयात्रा भी ब्रह्मदृष्टिसे ही करनी चाहिए, बाह्यदृष्टिसे नहीं, ऐसा सूचन करनेके लिए कहते हैं—**'निर्योगक्षेमः'**। वर्तमान देहका ही तत्पर होकर सर्प, कंटक आदिसे रक्षण करना क्षेम है, उसके अनुकूल द्रव्यका संपादन करना योग है। वे दोनों ही प्रारब्धाधीन हैं और

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ ४६ ॥

जैसे पृथिवीपर स्थित वापी, कूप, तालाब, नदी आदि पुण्य तीर्थोंमें स्नानादि क्रियासे जितना पुण्य होता है, उतना पुण्य सर्वत्र व्याप्त जलवाले समुद्रमें स्नान आदि क्रियासे होता ही है, वैसे ही सब वेदोंमें कथित यज्ञादि पुण्योंसे जितना आनन्द होता है, उससे कहीं अधिक आनन्द ज्ञानवान् ब्राह्मणको होता ही है ॥४६॥

प्रारब्धाधीनत्वात् स्वदृष्ट्या देहाभावाच्च अधिष्ठानज्ञानबलेन तयोर्निर्गमं कृत्वा निर्योगक्षेमो भव । ब्रह्मनिष्ठायां प्रमादः क्वचिदपि मा भूदित्याह—**आत्मवान्** । आत्मा ब्रह्माकारबुद्धिः सदा सैवास्याऽस्तीत्यात्मवान् । यद्वा अहंबुद्धेर्विषय आत्मैव सदाऽस्तु, न क्वचित्प्रमादेनाऽप्यनात्मेति मत्वाऽऽह—**आत्मवान् भवेति** । अनात्मानमहंबुद्धेः क्वचित् कदाचिदपि विषयं मा कुर्वित्यर्थः ॥ ४५ ॥

ननु ब्रह्मविदः श्रुत्युक्तसर्वकर्मसंन्यासे 'साधनाभावे साध्याभावः' इति न्यायेन तत्तत्कर्मविशेषलभ्याः सुखविशेषा न संभवन्ति । तर्ह्युन्मत्तस्येव निष्फलैवाऽस्य प्रवृत्तिरित्याशङ्कायाम् 'सर्वं पदं हस्तिपदे निमग्नम्' इति न्यायेन सत्क्रियालभ्याः सार्वभौमादिब्रह्मान्ता आनन्दाः सर्वे ब्रह्मानुभूतौ तिष्ठतोऽस्याऽऽरूढस्य संभवन्तीति सदृष्टान्तमुपपादयति—**यावानिति** ।

उदमुदकं पिबन्त्यस्मिन्नित्युदपानं जलाशयः । जातावेकवचनम् । तस्मिन्नुदपाने

आत्मदृष्टिसे देहका अभाव है, इसलिए अधिष्ठानके ज्ञानके बलसे उन दोनोंसे निकलकर निर्योगक्षेम होओ । ब्रह्मनिष्ठामें कभी भी प्रमाद न करो, ऐसा कहते हैं—**'आत्मवान्'से** । आत्मा ब्रह्माकार बुद्धिको कहते हैं, सदा वही जिसको हो, वह आत्मवान् कहलाता है अथवा अहंबुद्धिका विषय सदा आत्मा ही हो, अनात्मा कभी प्रमादसे भी न हो, ऐसा मानकर कहते हैं—**'आत्मवान् भव'से** । अनात्माको अहंबुद्धिका विषय कहीं कभी मत करो, यह अर्थ है ॥ ४५ ॥

यदि शङ्का हो कि ब्रह्मज्ञानीके लिए श्रुति द्वारा कथित सभी कर्मोंका परित्याग ही विहित है, तो साधनके अभावमें साध्यका अभाव होता है, इस न्यायसे तत्-तत् कर्मविशेषसे प्राप्त होनेवाले सुखविशेष ब्रह्मज्ञानीको नहीं हो सकते, इस परिस्थितिमें उन्मत्तके समान उसकी प्रवृत्ति निष्फल ही होगी, तो यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि 'सबके पैर हाथीके पैरमें आ जाते हैं', अर्थात् संसारमें जितने पैर हैं, उन सबका समावेश हाथीके पैरमें हो जाता है, इस न्यायसे सत् कर्मसे प्राप्त होनेवाले सार्वभौमसे लेकर ब्रह्मा तकके सब आनन्द, ब्रह्मानुभवमें आरूढ़ पुरुषको प्राप्त होते ही हैं, ऐसा दृष्टान्त सहित उपपादन करते हैं—**'यावान्'** इत्यादिसे ।

उद–उदक—जिसमें पीते हैं, वह उदपान यानी जलाशय कहलाता है । जातिमें एक

भूमौ सर्वत्र विद्यमानवापीकूपतटाकपुष्करिणीनदनद्यादौ पुण्यतीर्थे स्नानदानार्चनादिक्रियया साध्यमानोऽर्थः पुण्यलक्षणो यावान् यावत्परिमाणकः सिध्यति। सर्वतःसंप्लुतोदके सर्वत्र संप्लुतं परिपूर्णमुदकं यस्य स सर्वतःसंप्लुतोदकः समुद्रस्तस्मिन्नेव स्नानदानार्चनादिक्रियया लभ्यमानः पुण्यरूपोऽर्थस्तावानेव। गङ्गादिपुण्यतीर्थेषु तत्र तत्र पृथक्पृथक् क्रियमाणस्नानादिक्रियालभ्यमानपुण्यविशेषैः समानपरिमाण एव सिध्यति न ततो न्यूनायते। शते पञ्चाशन्न्यायेन परिच्छिन्नजलानां गङ्गादीनां समुद्रेऽन्तर्भावात्। एवमेव सर्वेषु वेदेषु ऋगादिषु प्रसिद्धैः कर्मभिर्यागयज्ञदानाध्ययनव्रततपोयोगादिभिरन्यैश्च पुण्यविशेषैः सम्पाद्यमानः श्रुत्युक्त आनन्दः सार्वभौमादिब्रह्मान्तः पुनः पुनः शतगुणितो यावान् भवति तावानानन्दो विजानतः सर्वमिदमहं च ब्रह्मैवेति जगत्सर्वं स्वं च सच्चिदानन्दं ब्रह्मैव पश्यतो ब्राह्मणस्य ब्रह्मविद्यतेर्ब्रह्मानुभूत्या सिध्यति। ततो ब्रह्मविन्नित्यानन्द एव भवति, 'स मोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा' इति श्रुतेः। यद्वा उदपाने भूमौ सर्वत्र विद्यमानवापीकूपतटाकनदनद्यादौ जलप्रदेशे विद्यमानो जलरूपोऽर्थो यावान् तिष्ठति तावान् स जलरूपोऽर्थः सर्वतः संप्लुतोदके समुद्रे एककोणस्थितजलस्यांऽशांशो भवति यथा, तथा वेदेषु शब्दादिविषय-

---

वचन है। उस उदपानमें यानी सर्वत्र भूमिपर विद्यमान वापी, कूप, तलाव, तलैया, नद-नदी आदि पुण्य तीर्थोंमें स्नान, दान, पूजन आदि क्रियासे सिद्ध होनेवाला पुण्यरूप प्रयोजन जितना यानी जितने परिमाणवाला होता है उतना ही सर्वतः संप्लुतोदक यानी जिसका जल सर्वत्र संप्लुत (पूर्ण) है, ऐसे सर्वतःसंप्लुतोदक समुद्रमें स्नान, दान, अर्चन आदि क्रियासे प्राप्त होनेवाला पुण्यरूप प्रयोजन सिद्ध होता है। तत्-तत् गङ्गा आदि पुण्य तीर्थोंमें अलग अलग किये गये स्नान, दान आदिसे प्राप्त होनेवाले पुण्यविशेषोंसे समान परिमाणवाला ही पुण्य सिद्ध होता है, उससे कम नहीं होता, क्योंकि 'सौमें पचास', (सौ कहनेसे उसमें पचासका अवश्य अन्तर्भाव हो जाता है) इस न्यायसे जैसे परिच्छिन्न गङ्गा आदि जलोंका समुद्रमें अन्तर्भाव है वैसे ही ऋगादि सब वेदोंमें प्रसिद्ध याग, यज्ञ, दान, अध्ययन, व्रत, तप, योग आदि क्रियाओंसे और अन्य पुण्यविशेषोंसे सम्पाद्यमान श्रुतिमें कहा हुआ सार्वभौम आदिसे लेकर ब्रह्मा तकका आनन्द बारम्बार सौ गुना करनेसे जितना होता है, उतना आनन्द ज्ञानीको—यह सब और मैं ब्रह्म ही हूँ, इस प्रकार सब जगत्को और अपनेको सच्चिदानन्द ब्रह्म ही जाननेवाले ब्राह्मण ब्रह्मज्ञानी यतिको—ब्रह्मके अनुभवसे सिद्ध होता है। इससे ब्रह्मज्ञानी नित्य आनन्दसे युक्त ही होता है, क्योंकि 'वह मोदनीयको प्राप्त करके मुदित होता है', ऐसी श्रुति है, अथवा जैसे उदपानमें यानी पृथिवीपर सर्वत्र विद्यमान वापी, कूप, तड़ाग, नद, नदी आदि जलप्रदेशोंमें विद्यमान जलरूप अर्थ जितना स्थित है, उतना वह जलरूप अर्थ सब तरफसे भरे हुए जलवाले समुद्रमें एक कोणमें स्थित जलके अंशका अंश है। वेद

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ ४७ ॥

तुम्हारा श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित नित्य और नैमित्तिक कर्मोंमें ही अधिकार है, फलमें कभी नहीं है, अतः कर्मफलके हेतु मत होओ और कर्ममें आसक्त मत होओ ॥४७॥

जातं विदन्ति जानन्तीति वेदाः । विद्धातोः कर्तर्यच् । ब्रह्मादिपिपीलिकान्ताः सर्वे प्राणिनस्तेषु वेदेषु सर्वेषु प्राणिषु पुण्यकर्मपरिपाकवशादिष्टार्थसान्निध्ये प्रतीयमान आनन्दरूपोऽर्थः यावान् तावान् आनन्दरूपोऽर्थः सर्वतःसंप्लुतोदकस्थानीये ब्रह्मणि स्थितानन्दस्य लेशांशो भवति, 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' इति श्रुतेः । एवं स्वप्रतिबिम्बलेशांशमात्रेण ब्रह्मादिपिपीलिकान्तप्राणिजातस्य तत्तत्पुण्यविशेषतारतम्येन सुखतारतम्यप्रदं सर्वतःसंप्लुतोदकस्थानीयमद्वितीयं सत्यज्ञानानन्दघनं परं ब्रह्म विजानतः एतदेवाऽहमिति स्वस्वरूपत्वेन साक्षात्कृतवतो ब्राह्मणस्य ब्रह्मविदोऽखण्डाकारवृत्त्या सर्वदाऽनुभूयमानोऽनन्तो बिम्बानन्द एवंलक्षण एतावानिति वक्तुं न केनाऽपि शक्यत इत्यर्थः ॥ ४६ ॥

यद्यप्येवंलक्षणसंपन्नस्यैव ब्रह्मवित्तमस्य सर्वकर्मसंन्यासेऽधिकारस्तथापि शोकमोहाविष्टत्वादिधर्मैर्विचार्यमाणे नैतल्लक्षणं त्वयि दृश्यते । ततस्तव कर्मण्येवाऽधिकारो न तु ज्ञाने नाऽपि च संन्यासे इति वदन् शतधा कृतश्रवणानामप्यनुदितात्मज्ञानानां मुमु-

---

यानी शब्दादि विषयसमूहको जो जानते हैं, वे वेद हैं । विद् धातुसे कर्तामें अच् प्रत्यय हुआ है, ब्रह्मासे लेकर चींटी तक सब प्राणी । वैसे ही उक्त वेदोंमें यानी सब प्राणियोंमें पुण्य कर्मके परिपाकके कारण इष्ट अर्थकी सन्निधिमें प्रतीत होनेवाला आनन्दरूप अर्थ जितना है, उतना आनन्दरूप अर्थ सर्वतःसंप्लुतोदकस्थानीय ब्रह्ममें स्थित आनन्दका लेश अंश है, इसमें प्रमाण 'इस आनन्दकी मात्राको ही अन्य प्राणी भोगते हैं' ऐसी श्रुति है । इस प्रकार अपने प्रतिबिम्बके लेश अंशमात्रसे ब्रह्मासे लेकर चींटी तक प्राणियोंके समूहको उन उन पुण्यविशेषोंके तारतम्यसे सुखतारतम्य देनेवाले सर्वतःसंप्लुतोदकस्थानीय, अद्वितीय, सत्य ज्ञान आनन्दघन परब्रह्मके जाननेवालेका यानी 'यह सब मैं ही हूँ' इस प्रकारसे स्वस्वरूपसे साक्षात् करनेवाले ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मणका अखण्डाकार वृत्तिसे सर्वदा अनुभवमें आनेवाला अनन्त ब्रह्मानन्द इस लक्षणवाला है, इतना है, वह किसीसे कहा नहीं जा सकता, यह अर्थ है ॥ ४६ ॥

यद्यपि इस प्रकारके लक्षणसे संपन्न ब्रह्मवित्तमका ही सब कर्मोंके संन्यासमें अधिकार है, तो भी विचार करनेपर शोक, मोहाविष्टत्व आदि धर्मोंसे यह लक्षण तुममें नहीं दीखता, इसलिए तुम्हारा कर्ममें ही अधिकार है, न तो ज्ञानमें है और न संन्यासमें ही है, ऐसा कहते हुए,

क्षूणां स्वधर्मानुष्ठानमवश्यं कर्तव्यं न क्वचिदपि त्यक्तव्यमिति निष्कर्षमाह—**कर्मणीति।**

मुमुक्षोस्तव श्रुतिस्मृतिभ्यां विहिते काम्यवर्जिते नित्ये नैमित्तिके च कर्मण्येवाऽधिकारो योग्यता नाऽन्यत्र ज्ञाननिष्ठायां संन्यासे वेत्यन्ययोगव्यवच्छेदार्थ एवकारस्तत्राऽपि कर्मफलेषु 'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि' इति, 'धर्मेण पापमपनुदति' इति नित्यानामपि फलश्रवणात्तत्फलेषु मा ते अधिकारः नाऽस्ति योग्यता। कदाचिदपि कर्मफलेष्वपेक्षा न कर्तव्येत्यर्थः। कर्मफलेष्वपेक्षितेषु सत्सु बीजे सत्यङ्कुरवत्पुनर्जन्मादयो दुःखभूमयः स्वयमेव स्युस्तस्मान्मा कर्मफलहेतुर्भूः यथा स्वर्गकामी स्वर्गफलहेतुस्तथा त्वमेतत्कर्मफलहेतुर्मा भूः। कर्मफलेष्वपेक्षावान्मा भवेत्यर्थः। ननु फलशून्यं तत्राऽपि क्लेशप्रधानं कर्म कर्तुं न शक्यते तदपेक्षया तत्त्यागः सुखावह इत्याकाङ्क्षायामारुरुक्षोः कर्मत्यागो न युक्त इत्याशयेनाऽऽह—**मा त इति।** अकर्म कर्मव्यतिरेकः क्रियात्याग इति यावत्। तस्मिन्नकर्मणि ते सङ्गो मनःसक्तिर्माऽस्तु। अकरणे प्रत्यवायस्तेन नरको दुर्योनिश्च स्यात्। अतो मुमुक्षोः कर्मसंन्यासो न युक्त इत्यर्थः। एतेन कर्मफलानपेक्षया श्रद्धया चेश्वरप्रीत्यर्थं भक्त्या कर्म कुर्वत एव मोक्षो नाऽन्यथेति सूचितं भवति ॥ ४७ ॥

जिन्होंने सैकड़ों बार श्रवण किया है, जिनको आत्मज्ञानका उदय नहीं हुआ है, ऐसे मुमुक्षुओंको स्वधर्मका अनुष्ठान करना चाहिए, कभी त्याग नहीं करना चाहिए, ऐसा निष्कर्ष कहते हैं—**'कर्मण्ये०'** इत्यादिसे।

श्रुति और स्मृति द्वारा विहित काम्यवर्जित नित्य और नैमित्तिक कर्मोंमें ही तुम मुमुक्षका अधिकार है यानी तुम्हारी योग्यता है, अन्य ज्ञाननिष्ठामें या संन्यासमें नहीं है, इस प्रकार अन्य उपायकी व्यावृत्ति करनेके लिए एवकार है, इसमें भी कर्मफलोंमें 'यज्ञ, दान और तप पवित्र करनेवाले हैं' यह 'धर्मसे पापको नष्ट करता है' इस प्रकार नित्य कर्मोंका भी फल सुना जाता है' इसलिए उनके फलोंमें तुम्हारा अधिकार नहीं है, यानी योग्यता नहीं है, कर्मके फलोंमें कभी भी अपेक्षा नहीं करनी चाहिए, यह अर्थ है। जैसे बीजसे अंकुर उत्पन्न होता है, वैसे ही कर्मके फलोंकी अपेक्षा होनेपर पुनर्जन्मादि दुःखभूमियां आप ही हो जायँगी, इसलिए कर्मके फलके हेतु मत होओ यानी जैसे स्वर्गकामी स्वर्ग फलका हेतु होता है, वैसे तुम उस कर्मके फलके हेतु मत होओ कर्मके फलोंमें अपेक्षावाले मत होओ, यह अर्थ है। यदि शंका हो कि फलशून्य और उसमें भी जिनमें क्लेश प्रधान है, ऐसे कर्म नहीं किये जा सकते, उनकी अपेक्षा उनका त्याग सुख देनेवाला है, ऐसी आकांक्षा होनेपर आरुरुक्षुको कर्मका त्याग करना युक्त नहीं है, इस आशयसे कहते हैं—**'मा ते'**। अकर्म—कर्मका व्यतिरेक—यानी क्रियाका त्याग। उस अकर्ममें तुम्हारा संग यानी मनकी आसक्ति मत हो। न करनेसे प्रत्यवाय, उससे नरक और दुर्योनि होती है, इसलिए मुमुक्षुके लिए कर्मका संन्यास युक्त नहीं है, यह अर्थ है। इससे

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥ ४८ ॥

हे धनञ्जय, ब्रह्मभावापन्न होकर, सङ्गका त्यागकर और सिद्धि और असिद्धिमें सम होकर कर्मोंको करो, क्योंकि समता ही योग है ॥ ४८ ॥

जन्मादिदुःखनिःशेषनिवृत्त्यपेक्षैव तवाऽस्ति चेत्तर्हि त्वं कर्मैव कुर्वित्युपदिशति— **योगस्थ इति ।**

'निर्दोषं हि समं ब्रह्म' इति वक्ष्यमाणं ब्रह्माऽत्र समशब्देनोच्यते । समस्य भावः समत्वं तदेव ज्ञानेन युज्यते प्राप्यत इति योग इत्युच्यते । तस्मिन् योगे ब्रह्मणि स्वस्य तद्भावापत्त्यैतदेकापेक्षया तिष्ठतीति योगस्थो मोक्षैककामः सन् त्वं सङ्गं एतैर्मम दुरितक्षयोऽस्त्विति, प्रतिबन्धनिवृत्तिरस्त्विति वा, प्रसीदत्वीश्वरो मह्यमिति वा, कर्मजन्यं फलं मे भूयादिति वा, सङ्गः कामस्तं कर्मसु त्यक्त्वा प्रारब्धस्य कर्मणः साङ्गतासिद्धिस्तदभावोऽसिद्धिः, ईश्वरप्रसादप्राप्तिः सिद्धिस्तदप्राप्तिरसिद्धिः, चित्त-प्रसक्तिः सिद्धिस्तदभावोऽसिद्धिरित्यादिसिद्ध्यसिद्ध्योः समो हर्षविषादशून्यो भूत्वा कर्माणि क्लेशात्मकान्यपि विहितानीति बुद्ध्या कुर्वित्यर्थः ॥ ४८ ॥

मोक्षेच्छयैव फलानपेक्षया समबुद्ध्या च कर्माणि नित्यानि नैमित्तिकानि च

यह सूचित होता है कि कर्मफलकी अपेक्षा न करके श्रद्धासे और ईश्वरकी प्रीतिके लिए कर्म करनेवालेका ही मोक्ष होता है, अन्यथा नहीं होता ॥ ४७ ॥

यदि जन्मादि दुःखोंकी निःशेष निवृत्तिकी ही तुम्हें अपेक्षा है, तो तुम कर्म ही करो, ऐसा उपदेश देते हैं—**'योगस्थः'** इत्यादिसे ।

'निर्दोष सम ब्रह्म है' इत्यादिसे वक्ष्यमाण ब्रह्म यहां समशब्दसे विवक्षित है, समका भाव समत्व है, समत्व ही ज्ञानसे जोड़ा जाता है यानी प्राप्त किया जाता है, इसलिए वह योग कहलाता है । उस योगरूप ब्रह्ममें केवल ब्रह्मभावकी प्राप्तिकी अपेक्षासे ही जो स्थित होता है, वह योगस्थ कहलाता है, तुम योगस्थ—एक मोक्षकी ही कामनावाले—होकर संगको—इनसे ही मेरे पापोंका क्षय हो अथवा प्रतिबंधकी निवृत्ति हो अथवा मेरे लिए ईश्वर प्रसन्न हो, कर्मजन्य फल मुझको मत हो इस प्रकारके कामका कर्मोंमें त्याग कर सिद्धि और असिद्धिमें—प्रारब्ध कर्मकी सांगता सिद्धि है, उसका अभाव असिद्धि है, ईश्वरके प्रसादकी प्राप्ति सिद्धि है, उसकी अप्राप्ति असिद्धि है, चित्तका लगना सिद्धि है, उसका न लगना असिद्धि है, इत्यादि सिद्धि और असिद्धिमें—सम होकर यानी हर्ष-विषाद रहित होकर क्लेशरूप कर्म भी विहित है, इस बुद्धिसे कर्म करो, यह अर्थ है ॥ ४८ ॥

जब मोक्षकी इच्छासे, फलकी अनपेक्षासे और समबुद्धिसे ही नित्य और नैमित्तिक कर्म

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥ ४९ ॥

हे धनञ्जय, बुद्धियोगकी (ज्ञानयोगकी) अपेक्षा कर्मयोग दूर अर्थात् निकृष्ट है, इसलिए बुद्धिकी शरण खोजो, क्योंकि कर्मफलकी इच्छा करनेवाले मनुष्य कृपण—निकृष्ट—होते हैं ॥ ४९ ॥

कुर्वतश्चित्तशुद्धिर्यदा जायते कर्मभिस्तत्फलैश्च भोग्यैर्न किमप्यस्ति तुच्छैरित्यलंबुद्धिलक्षणा तदा निकृष्टफलदे कर्मण्यनास्थया ज्ञानयोग एवाऽऽदर्तव्य इति बोधयति—'दूरेणेति' ।

बहुसाधनसाध्यत्वात् क्लेशभूयिष्ठत्वादसाङ्गत्वे फलवैगुण्यात् साङ्गत्वे च जन्मादिदुःखबीजत्वादकरणे प्रत्यवायजनकतया निरयहेतुत्वाच्च अवरं निकृष्टं कर्म नित्यनिरतिशयमोक्षसुखहेतोर्बुद्धियोगाज्ज्ञानयोगाद् दूरेण वर्तते 'दूरमेते विपरीते विषूची', 'अविद्या या या च विद्या' इति श्रवणाद्विपरीतभावहेतुतया मोक्षहेतोर्ज्ञानयोगस्य दूरमेव भवति । 'अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म' इति श्रुत्योक्तमवरत्वं कर्मणो हिशब्दो द्योतयति । अतः कर्म नाऽऽस्थेयमिति भावः । ननु बहवः कर्मयोगमेवाऽनुतिष्ठन्ति कथं कर्माऽवरमित्यत आह—**कृपणा इति** । कर्मजन्यफलस्य स्वर्गस्य, सुखस्य वाऽप्यैहिकस्य हेतवः कर्मफलहेतवः कर्मफलप्रार्थिनः कामिनो ये त एव कृपणा अधमा नीचाः ।

करनेवालेके चित्तकी शुद्धि हो जाती है यानी कर्मोंसे, उनके भोग्य तुच्छ फलोंसे कुछ लाभ नहीं है, इस प्रकार अहंबुद्धिरूप चित्तकी शुद्धि हो जाती है, तब निकृष्ट फल देनेवाले कर्मोंमें आस्था न करके ज्ञानयोगमें ही आदर करना चाहिए, ऐसा बोधन करते हैं—'**दूरेण**' इत्यादिसे ।

बहुत साधनोंसे साध्य होनेसे, क्लेशका आधिक्य होनेसे और अंगोंका सान्निध्य न होनेपर फल विपरीत होनेसे, अंगोंका साहित्य होनेपर भी जन्मादि दुःखोंका बीज होनेसे, न करनेपर प्रत्यवाय उत्पन्न करके नरकका हेतु होनेसे अवर यानी निकृष्ट कर्म नित्य निरतिशय मोक्षसुखके हेतु बुद्धियोगसे यानी ज्ञानयोगसे दूर ही रहता है । 'ये दोनों मार्ग भिन्न-भिन्न हैं, जो विद्या है और जो अविद्या है' ऐसा सुननेसे कर्मयोग विपरीतभावका हेतु होनेसे मोक्षके हेतु ज्ञानयोगसे दूर ही है । 'जिसमें अठारह ऋत्विक् आदि हैं, वह कर्म निकृष्ट है' इस प्रकार श्रुतिमें कहे हुए कर्मके निकृष्टत्वका हिशब्द द्योतन करता है । इसलिए कर्म आस्था करने योग्य नहीं है, यह भाव है । बहुतसे कर्मयोगका अनुष्ठान करते हैं, तब कर्म निकृष्ट कैसे है ? यदि ऐसी शंका हो, तो उसपर कहते हैं—**कृपणा इति** । कर्मजन्य स्वर्गरूप फलके अथवा यहाँके सुखके जो हेतु हैं, वे कर्मफलहेतु हैं यानी कर्मफल चाहनेवाले जो कामी हैं, वे कृपण हैं—

'यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः' इति श्रुतिर्विशिष्टजन्मकर्मशीलगुणवतोऽप्यजानत एव ब्रह्मतत्त्वं कर्मिणोऽधमत्वं ब्रवीति । 'एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरा मृत्युं ते पुनरेवापियन्ति', 'यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते' इति कर्मिणां कर्मफलमोहितानां ब्रवीति श्रुतिरनर्थमेव । 'अतो धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते' 'एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य', 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्', 'यया चिरात्सर्वपापं व्यपोह्य परात्परं पुरुषमुपैति विद्वान्' इत्यादिश्रुतिभिर्विवेकवतां भोग्येष्वप्रार्थ्यत्वं मोक्षस्यैव प्रार्थ्यत्वं विद्यैकगम्यत्वं च प्रतिपाद्यते यस्मात्तस्माद्धनञ्जय बुद्धौ सांख्यबुद्धौ चित्तप्रसादासादितज्ञानयोग एव शरणं वासं मनसोऽन्विच्छ तत्रैव मनः स्थापय । तव चित्तं यदा प्रसीदति तदारभ्य ज्ञानयोग एव तिष्ठ । अवरत्वादसाधनत्वादनात्मन्यात्मताधीहेतुत्वाच्च न क्वचित्कर्मणि तिष्ठेत्यर्थः । एतेन यावच्चित्तप्रसादस्तावदेव कर्मसाधनं मुमुक्षोरतः परं ज्ञानयोग एवेति सूचितम् । तेन यावज्जीवमग्निहोत्रमपक्वबुद्धेरेवेति सिद्धम् ॥ ४९ ॥

मुमुक्षोर्जन्मादिहेतूनां सर्वेषामपि कर्मणां निःशेषनिवृत्तिर्ज्ञानयोगबलेनैव

अधम हैं यानी नीच हैं । 'हे गार्गि, जो इस अक्षरको जाने बिना इस लोकसे चला जाता है, वह कृपण है' यह श्रुति ब्रह्मतत्त्वको न जाननेवाले विशिष्ट जन्म, कर्म, शील आदिरूप गुणवाले कर्मीको ही अधम कहती है । 'यही (कर्म या कर्मजन्य स्वर्ग) श्रेय है, इस प्रकार कर्मका जो मूढ़ अभिनन्दन करते हैं, वे फिर भी जरा और मृत्युको प्राप्त होते हैं', 'जिसे कर्मी लोग रागवश नहीं जानते, इससे आतुर होकर स्वर्गसे गिर जाते हैं', इत्यादि श्रुतियां कर्मफलमें मोहित कर्मियोंका अनर्थ ही कहती हैं, इसलिए 'धीर पुरुष अमृतत्वको जानकर अस्थायी पदार्थोंमें स्थिर फलकी इच्छा नहीं करते', 'हे सोम्य, जो इस गुहारूप बुद्धिमें छिपे हुएको जानता है, वह अविद्याकी गांठको काट देता है', 'ज्ञानसे ही कैवल्य होता है', 'जिससे शीघ्र ही सब पापोंको दूर करके विद्वान् परसे पर पुरुषको प्राप्त होता है' इत्यादि श्रुतियोंसे विवेकी भोग्य पदार्थोंको नहीं चाहते, केवल मोक्षकी ही इच्छा करते हैं, ऐसा प्रतीत होता है और वह मोक्ष विद्यासे ही प्राप्त होता है, ऐसा प्रतिपादन किया जाता है, इसलिए हे धनञ्जय ! बुद्धिमें यानी सांख्यबुद्धिमें—चित्तके प्रसादसे प्राप्त हुए ज्ञानयोगमें—ही मनके शरणको यानी वासको खोजो यानी उसीमें मनको स्थापित करो । जब तुम्हारा चित्त प्रसन्न यानी शुद्ध हो जाय, तबसे ज्ञानयोगमें ही स्थित होओ। निकृष्ट होनेसे, मोक्षका साधन न होनेसे और अनात्मामें आत्मबुद्धिका हेतु होनेसे कर्ममें कभी स्थित मत होओ, यह अर्थ है । इससे यह सूचित होता है कि जबतक चित्त शुद्ध न हो, तबतक ही मुमुक्षु कर्म करे और तदनन्तर ज्ञानयोगमें ही स्थित होवे । इससे सिद्ध हुआ कि जीवनपर्यन्त अग्निहोत्र आदि कर्म अपक्वबुद्धिवालेके लिए ही हैं ॥ ४९ ॥

मुमुक्षुके जन्मादि-हेतु सब कर्मोंकी निःशेष निवृत्ति ज्ञानयोगके बलसे ही होती

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥ ५० ॥

इस लोकमें सांख्यबुद्धिसे सम्पन्न पुरुष पुण्य और पाप दोनोंके सम्बन्धको छोड़ देता है, इसलिए योगमें तत्पर होओ, क्योंकि पुण्य-पापकी निवृत्तिमें ज्ञानयोग ही कुशल—परम साधन—है ॥ ५० ॥

सिद्ध्यति नाऽन्येन । अतस्त्वं तत्रैव निष्ठां कुर्विति बोधयति—बुद्धियुक्त इति ।

बुद्धिः सांख्यविषया निरुक्ता तया युक्तः ज्ञानयोगेन युक्तो ब्रह्मविदारूढः स्वस्य कूटस्थासङ्गचिदात्मत्वविज्ञानबलेनैव इह लोके जन्मान्तरशतसहस्रेष्वधुना ज्ञानोत्पत्तेः प्रागूर्ध्वं च कृते नानायोनिसहस्रप्रापके उभे सुकृतदुष्कृते जहाति । ज्ञानाग्निना निर्मूल्याऽत्र जीवन्नेव मुक्तो भवति यस्मात्तस्मात्त्वं योगाय ज्ञानयोगाय युज्यस्व यतस्व। ननु कृच्छ्रचान्द्रायणादिप्रायश्चित्तैस्त्रिसुपर्णादिजपैरश्वमेधादियागैर्गङ्गादिमहानदीस्नानदानैश्च सर्वपापक्षये सति किमर्थं ज्ञानयोगाभ्यासक्लेश इति चेत् , न; तैर्निःशेषनिवृत्त्यसंभवादुक्ताः प्रायश्चित्तादयो यदुद्देशेन क्रियन्ते तैस्तदेव निवर्त्यते नेतरत् । अन्यथा प्रायश्चित्तभेदविध्यानर्थक्यप्रसङ्गात् । 'तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते' इति ब्रह्महत्याव्यतिरिक्तपापतरणाश्रवणात् । कृतेऽपि प्रायश्चित्तादौ पापस्यैव निवृत्तिर्न तु

है, अन्यसे नहीं, इसलिए तुम उसीमें निष्ठा करो, ऐसा उपदेश देते हैं—'बुद्धियुक्तो' इत्यादिसे ।

तथोक्त सांख्यसंबन्धी बुद्धिसे युक्त—ज्ञानयोगसे युक्त—ब्रह्मज्ञानी (आरूढ) अपने कूटस्थ, असंग, चेतन आत्माके विज्ञानके बलसे ही इस लोकमें पिछले सैकड़ों हजारों जन्मोंमें और इस जन्ममें ज्ञानकी उत्पत्तिसे पहले किये गये अनेक योनियोंको देनेवाले पुण्य और पाप दोनोंको त्याग देता है । ज्ञानरूप अग्निसे निर्मूल करके यहां जीता हुआ ही मुक्त हो जाता है, इसलिए तुम योगके लिए यानी ज्ञानयोगके लिए यत्न करो ।

शङ्का—कृच्छ्र, चान्द्रायण आदि प्रायश्चित्तोंसे, त्रिसुपर्ण आदि जपोंसे, अश्वमेध आदि यज्ञोंसे गंगा आदि महानदियोंमें स्नान और दानसे जब सब पाप क्षीण हो जाते हैं, तब ज्ञानके अभ्यासरूप क्लेशसे क्या प्रयोजन है ?

समाधान—नहीं, उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि उनसे अशेष पापोंकी निवृत्ति नहीं हो सकती, कहे हुए प्रायश्चित्त आदि जिस उद्देशसे किये जाते हैं, वही पाप उनसे निवृत्त होता है, दूसरा पाप निवृत्त नहीं होता । यदि ऐसा न हो, तो भिन्न-भिन्न प्रायश्चित्तोंकी विधियां निरर्थक हो जायँगी । 'जो अश्वमेधसे यजन करता है, वह ब्रह्महत्यासे तर जाता है' इससे अश्वमेधसे ब्रह्महत्यासे भिन्न पापसे तरना नहीं सुना जाता । प्रायश्चित्त आदिके करनेपर भी पापकी ही निवृत्ति होती है,

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ ५१ ॥

ज्ञानयोगमें निष्ठावाले विद्वान् कर्मजनित फलका परित्याग कर जन्मसंबन्धसे (देहसे) निर्मुक्त होकर दुःखरहित पदको प्राप्त होते हैं ॥ ५१ ॥

पुण्यस्य शतकोटिजन्महेतोः। नहि पुण्यस्य निवर्तकमस्ति महत्साधनं विनाऽऽत्मज्ञानम्, 'तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय' इति, 'स य एवंविद्वानेते आत्मानꣳ स्पृणुते' इति । स्मृतावत्रैवाऽस्ति उभे सुकृतदुष्कृते इत्यतः पापपुण्योभयात्मकेषु कर्मसु निवर्तितव्येषु सत्सु योगो ज्ञानयोग एव कौशलं कुशलमेव कौशलं निपुणं ज्ञानकुशलैर्दृष्टं परमं साधनं तस्माद्योगाय युज्यस्वेति पूर्वेणाऽन्वयः । जहातीहेत्यत्राऽसंधिरार्षः ॥५०॥

फलानपेक्षया समबुद्ध्या च सम्यगनुष्ठितनित्यनैमित्तिककर्मपरिपाकसंजातचित्तशुद्धेः फलभूतायाः श्रवणादिजनिताविक्रियात्मतत्त्वविज्ञानसिद्धेः फलमाह— **कर्मजमिति ।**

बुद्धियुक्ताः बुद्धिः सांख्यबुद्धिर्ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं तया युक्तास्तन्निष्ठासंपन्नाः हि ज्ञानयोगनिष्ठाः खलु मनीषिणो विद्वांसः कर्मजं कर्मभ्यः सञ्चितादिभ्यो जातं नानायोनिसहस्रप्रापकं फलं जन्मादिलक्षणं त्यक्त्वा 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याऽप्यपायः' इति न्यायेन ज्ञानाग्निना सर्वेषामपि कर्मणां दाहे सति तत्फलानां च जन्मा-

---

पुण्यकी नहीं होती, जो सैकड़ों करोड़ जन्मोंके हेतु हैं। पुण्यकी निवृत्तिका महान् साधन आत्मज्ञानके सिवा दूसरा नहीं है, क्योंकि 'तब विद्वान् पुण्य और पापको दूर करके', 'जो इस प्रकार जाननेवाला है, वह इन दोनोंको अपना आत्मा जानता है' ऐसी श्रुति है। इसी स्मृतिमें 'दोनों पुण्य और पाप' ऐसा कहा है, इसलिए निवृत्त करने योग्य पुण्य और पाप दोनों प्रकारके कर्मोंमें योग यानी ज्ञानयोग ही कौशल है, कुशल ही कौशल है यानी निपुण है, ज्ञानकुशलोंने योगको ही परमसाधन-रूपसे देखा है, इससे योगके लिए यत्न करो, ऐसा पूर्वसे संबन्ध है। 'जहातीह उभे' यहाँपर संधि न करना आर्ष है ॥ ५० ॥

फलकी अनिच्छासे और समबुद्धिसे भली भाँति किये गये नित्य एवं नैमित्तिक कर्मोंके परिपाकसे उत्पन्न हुई चित्तशुद्धिके फलभूत श्रवणादिसे उत्पन्न हुए अविक्रिय आत्मतत्त्वविज्ञानकी सिद्धिका फल कहते हैं—**'कर्मजम्'** इत्यादिसे ।

बुद्धियुक्त, बुद्धिसे—सांख्यबुद्धिसे—(ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानसे) युक्त यानी उसकी निष्ठासे संपन्न ज्ञानयोगनिष्ठावाले मनीषी यानी विद्वान् कर्मज—संचित आदि कर्मोंसे उत्पन्न—अनेक योनियोंको प्राप्त करानेवाले जन्म आदिरूप फलका त्याग कर, 'निमित्तके नाशसे कार्यका नाश होता है' इस न्यायसे ज्ञानरूप अग्निसे सब कर्मोंके जल जानेपर उनके फल और जन्म

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥

जब तुम्हारी बुद्धि मोहरूपी कालिमाका परित्याग करेगी, तब तुम श्रुत और सुने जानेवाले विषयोंमें वैराग्यको प्राप्त होओगे ॥ ५२ ॥

दीनां दाहसंभवात् तेन त्यक्तकर्मफला भवन्ति । आत्मनः कूटस्थत्वासङ्गत्वविज्ञानशक्तिबलेन विद्वांसः स्वयं कर्मफलाविषया भूत्वेत्यर्थः । जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः जन्मना बन्धः संबन्धो यस्य स जन्मबन्धो देह उत्तरकालभावी वर्तमानश्च तेन विनिर्मुक्ताः कारणाभावाद् भाविदेहसंबन्धरहितास्तादात्म्याभावाद् वर्तमानदेहसंबन्धरहिताश्च सन्तः स्वयमिह जीवन्त एवाऽनामयमाध्यात्मिकादिसर्वोपद्रवरहितं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावमखण्डानन्दैकरसं पदं पद्यते ज्ञानेन प्राप्यत इति पदं परं ब्रह्म गच्छन्ति । अविद्याकृतं वासनाकृतमप्यन्यभावं परित्यज्य तद्भावमेव प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । हिर्विद्वदनुभवद्योतनार्थः ॥ ५१ ॥

चित्तशुद्धिजन्यं सर्वत्राऽलंबुद्धिलक्षणं वैराग्यं प्रज्ञास्थैर्यलक्षणं योगं च कदा केन वा प्राप्स्यामीत्यभिप्रायमर्जुनस्याऽऽलक्ष्य यदा तव बुद्धिकालुष्यनिवृत्तिर्यदा वा प्रज्ञा निर्विकल्पा भविष्यति तदा वैराग्यं योगं च प्राप्स्यसीत्येतद्द्वयं श्लोकद्वयेन क्रमेण प्रतिपादयति—**यदेति** ।

सदसद्विवेकशून्यतयाऽन्तःकरणमसत्स्वेव विषयेषु रम्यमरम्यमिष्टमनिष्टं ग्राह्यम-

---

आदिका नाश होनेसे कर्मफलसे रहित हो जाते हैं। आत्मा कूटस्थ असंग है, इस विज्ञानशक्तिके बलसे विद्वान् स्वयं कर्मके फलका विषय न होकर, यह अर्थ है। जन्मबन्धसे छूटे हुए—जन्मसे जिसका बन्ध यानी संबन्ध हो, वह जन्मबन्ध कहलाता है अर्थात् भावी और वर्तमान देह, उनसे मुक्त हुए—यानी कारणके अभावसे भावी देहके संबन्धसे रहित तादात्म्यके अभावसे वर्तमान देहके सम्बन्धसे रहित होकर स्वयं यहां यानी जीते हुए ही अनामय—आध्यात्मिक आदि उपद्रवोंसे रहित—नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्तस्वभाव अखण्डानन्द एकरस पदको यानी जो ज्ञानसे प्राप्त किया जाता है, उस परब्रह्मको प्राप्त होते हैं। अविद्याजनित और वासनाजनित अन्य भावका त्याग कर ब्रह्मभावको ही प्राप्त होते हैं, यह अर्थ है। विद्वानोंका अनुभव बतलानेके लिए 'हि' पद है ॥ ५१ ॥

चित्तकी शुद्धिसे उत्पन्न हुए सर्वत्र अलंबुद्धिरूप वैराग्यको और बुद्धि-स्थिरतारूप योगको मैं कब अथवा किससे प्राप्त होऊँगा, अर्जुनका ऐसा अभिप्राय जानकर जब तुम्हारी बुद्धि कालुष्यसे रहित होगी और जब निर्विकल्प प्रज्ञा होगी, तब तुम वैराग्य और योगको प्राप्त होओगे, यों दोनोंका क्रमसे दो श्लोकोंसे प्रतिपादन करते हैं—**'यदा'** इत्यादिसे ।

सत्य और असत्यके विवेकसे शून्य होनेपर अन्तःकरण मिथ्या विषयोंमें रम्य और अरम्य, इष्ट

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥ ५३ ॥

श्रुतियोंसे विप्रतिपन्न—सन्दिग्ध—तुम्हारी बुद्धि जब निश्चल होकर परब्रह्ममें दृढ़ होगी तब तुम प्रज्ञास्थैर्यरूप योगको प्राप्त होओगे ॥ ५३ ॥

ग्राह्यमिति येन रागद्वेषग्रस्तं सत्सर्वदा प्रवर्तते तदेव मोहकलिलं मोहो विचित्तता विषयजातमेतत्सर्वमसन्मायिकं तुच्छमिति विवेकाभावः पदार्थापरिज्ञानं तदेव कलिलं कालुष्यं दर्पणस्य धूलिपटलवद्विवेकबुद्धेरावरणमेवंलक्षणं मोहकलिलं ते बुद्धिर्यदा व्यतितरिष्यति 'यदिदं मनसा वाचा चक्षुर्भ्यां श्रवणादिभिः । नश्वरं गृह्यमाणं च विद्धि मायामनोमयम् ॥' इत्यादिवचनार्थस्य सम्यग्ग्रहणजन्येन शिवप्रसादमूलकेन दृश्यमानं सर्वं मिथ्यैवेति निश्चयेन यदा त्यक्ष्यति तदा श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च, द्रष्टव्यस्य दृष्टस्य च, ज्ञातव्यस्य ज्ञातस्य च, गृहीतस्य ग्राह्यस्य च वस्तुनो मिथ्यात्वमेव विज्ञाय निर्वेदं वैराग्यं सर्वत्राऽलंबुद्धिलक्षणं गन्ताऽसि प्राप्स्यसि । व्यवहार्यस्य मिथ्यात्वाद् व्यवहारस्य मिथ्यार्थगोचरत्वान्निष्फलेनाऽनेन मम किमिति सर्वस्माद्व्यवहार्याद्व्यवहाराच्चोपरतो भविष्यसीत्यर्थः ॥ ५२ ॥

एवं मुमुक्षोर्ज्ञानयोगसिद्धेरसाधारणकारणं बाह्योपरमणं निरूप्याऽथ ज्ञानयोगसिद्धिप्रकारमाह—'श्रुतीति' ।

और अनिष्ट, ग्राह्य और अग्राह्य समझकर, जिस राग-द्वेषसे ग्रस्त होकर सर्वदा प्रवृत्त होता है, वही मोहकलिल है, मोह यानी विचित्तता अर्थात् यह सब विषयसमूह असत्, मायिक और तुच्छ है, इस प्रकार विवेकका अभाव यानी पदार्थोंका अपरिज्ञान यानी ठीक ठीक ज्ञान न होना, वही कलिल यानी कालुष्य है यानी दर्पणमें धूलिपटलके समान विवेकबुद्धिका आवरण है, उक्त मोहकलिलको जब तुम्हारी बुद्धि तर जायगी अर्थात् 'जो यह मनसे, वाणीसे, नेत्रोंसे और श्रोत्र आदिसे गृहीत होता है, उसे माया और मनका रचा हुआ और नश्वर जानो' इत्यादि वचनोंके अर्थके सम्यक् ज्ञानसे उत्पन्न शिवप्रसादमूलक—दीखनेवाले सब पदार्थ मिथ्या हैं—इस निश्चयसे मोहरूप कालुष्यको जब तुम्हारी बुद्धि त्याग देगी, तब श्रोतव्य और श्रुत, द्रष्टव्य और दृष्ट, ज्ञातव्य और ज्ञात, ग्राह्य और गृहीत वस्तुको मिथ्या जानकर निर्वेदको यानी सर्वत्र अलंबुद्धिरूप वैराग्यको प्राप्त होओगे । व्यवहार्यके मिथ्या होनेसे व्यवहार मिथ्या पदार्थोंसे आक्रान्त है, इसलिए इस निष्फल व्यवहारसे मेरा क्या ? ऐसा समझकर व्यवहार्य और व्यवहार सबसे उपरत हो जाओगे, यह अर्थ है ॥ ५२ ॥

इस प्रकार मुमुक्षुके ज्ञानयोगकी सिद्धिका मुख्य कारण बाहरसे उपरत होना ही है, ऐसा निरूपण करके अब ज्ञानयोगकी सिद्धिका प्रकार कहते हैं—'श्रुति०' इत्यादिसे ।

ऋगादिभिः श्रुतिभिः कुत्रचित्कर्मविशेषास्तत्फलविशेषास्तन्महत्त्वविशेषाः प्रतिपाद्यन्ते, कुत्रचिदुपास्तिविशेषास्तत्फलविशेषास्तन्महत्त्वविशेषाः प्रतिपाद्यन्ते, कुत्रचिद्ब्रह्म सगुणं तन्माहात्म्यं तत्फलस्य औत्कृष्ट्यं च प्रतिपाद्यते, कुत्रचिन्निर्गुणं ब्रह्म तज्ज्ञानं तन्माहात्म्यं तत्फलप्राशस्त्यं च प्रतिपाद्यते । एतत्सर्वं श्रुतवतो विप्रतिपत्तिः— किं सर्वेषां प्राधान्यम्, उत सगुणस्य, उत निर्गुणस्य, उतोभयेषामित्येवं श्रुतिवाक्यैर्विप्रतिपन्ना संशयाविष्टा बहुविक्षेपवती ते बुद्धिः प्रज्ञया शास्त्रं सर्वमवलोक्य श्रुतिस्मृतियुक्तिबलेन गुरूपदेशेन च 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इति न्यायेन सर्वस्याऽपि शास्त्रस्य महत्तात्पर्यं निर्विशेषे एव ब्रह्मणि पर्यवसितमिति परिज्ञाय विप्रतिपत्तीः सर्वाः परित्यज्य निश्चला निर्विशेषा भूत्वा समाधौ समाधीयते चित्तमस्मिन्निति समाधिः परब्रह्म तस्मिन् तदाकारेणैवाऽचला चलनहेतूनां बाह्यवासनानां नाशादविक्रिया निश्चला सती यदा स्थास्यति तदा योगं प्रज्ञास्थैर्यलक्षणमवाप्स्यति । यद्वा 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'सर्वं ब्रह्मैतदात्म्यमिदं सर्वं', 'सद्धीदं सर्वं चिद्धीदं सर्वं', 'तत्त्वमसि', 'अयमात्मा ब्रह्म', 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यं', 'ब्रह्मैवेदं सर्वं' इत्यादिश्रुतिभिः सर्वस्य ब्रह्ममात्रत्वप्रतिपत्तिजनकाभिर्विशेषप्रतिपत्तिमती या सा श्रुति-

---

ऋगादि श्रुतियों द्वारा कहींपर विविध कर्म, उनके अनेक फल और उनकी महिमाका प्रतिपादन किया जाता है, कहीं विविध उपासनाएँ, उनके फलविशेष और उनके महत्त्वविशेषोंका प्रतिपादन किया जाता है, कहींपर सगुण ब्रह्म, उसकी उपासना, उसका माहात्म्य और उसके फलके उत्कर्षका प्रतिपादन किया जाता है एवं कहींपर निर्गुण ब्रह्म, उसका ज्ञान, उसका माहात्म्य और उसके फलप्राशस्त्यका (उत्कर्षका) प्रतिपादन किया जाता है । इन सबके सुननेवालेको संदेह होता है—क्या सबकी प्रधानता है, या सगुणकी या निर्गुणकी अथवा दोनोंकी, इस प्रकार श्रुतिके वाक्योंसे विप्रतिपन्न यानी संशययुक्त तुम्हारी बुद्धि निश्चल होकर यानी प्रज्ञासे सब शास्त्रोंका विचार करके श्रुति, स्मृति और युक्तिके बलसे और गुरुके उपदेशसे 'सब वेद जिस पदको कहते हैं' इस न्यायसे सब शास्त्रका महान् तात्पर्य निर्विशेष ब्रह्ममें ही है, ऐसा जानकर सब सन्देहोंको छोड़कर निश्चल यानी निर्विशेष होकर समाधिमें—जिसमें चित्त धारण किया जाता है, वह समाधि है यानी परब्रह्म, उस परब्रह्ममें—उसके आकारसे अचल, यानी चलनकी हेतु बाहरकी वासनाओंके नाशसे, अविक्रिय यानी निश्चल होकर जब स्थित हो जायगी, तब तुम प्रज्ञास्थिरतारूप योगको प्राप्त होओगे । अथवा 'सत्य, ज्ञान, अनन्त ब्रह्म है', 'यह सब आत्मा है', 'यह सभी सत् है', 'वह तुम हो', 'यह आत्मा ब्रह्म है', 'यह ब्रह्म पूर्वसे रहित, पीछेसे रहित, भीतरसे रहित और बाहरसे रहित है', 'ब्रह्म यह सब' इत्यादि श्रुतियोंसे यानी सबको ब्रह्ममात्र बतलानेवाली श्रुतियोंसे जो विशेष ज्ञानवाली है, वह श्रुतिविप्रतिपन्ना बुद्धि, सब ब्रह्म ही है, इस प्रकार श्रुतियोंसे उत्पन्न हुए विशिष्ट ज्ञानवाली बुद्धि श्रुतिविप्रतिपन्ना है, इसलिए निश्चल है यानी

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ।। ५४ ।।

अर्जुनने कहा—हे केशव, समाधिस्थ पुरुष यह स्थितप्रज्ञ है, ऐसा कब कहा जाता है एवं स्थितप्रज्ञ क्या बोलता है, कैसे रहता है और कैसे जाता है ।। ५४ ।।

विप्रतिपन्ना सर्वं ब्रह्मैवेति श्रुतिभिः संभावितविशिष्टज्ञानवतीत्यर्थः । तत एव निश्चला विक्षेपनिर्मुक्ता । नहि परमाप्तवाक्यश्रवणेन नाप्यधिष्ठानसंदर्शनेन वा सद्बुद्धेर्विप्रतिपत्तिर्विक्षेपो वा संभवति । अत एव सम्यक्श्रवणेन मननेन च संपन्ना ते बुद्धिः समाधावसंप्रज्ञाताख्ये अचला निर्वातस्थदीपवन्निश्चला निष्कम्पा भूत्वा यदा यस्मिन्काले चित्तपरिपाकावस्थायां स्थास्यति स्थिता भविष्यति तदा त्वं योगं ज्ञानयोगमप्रतिबद्धं प्राप्स्यसि । योगारूढो भविष्यसीत्यर्थः ।। ५३ ।।

श्रवणमननाभ्यां विज्ञातात्मतत्त्वस्य विदुषः समाधिना प्रज्ञास्थैर्यसिद्धिं श्रुत्वा स्थितप्रज्ञस्य लक्षणं विज्ञातुकामोऽर्जुनः पृच्छति—**स्थितप्रज्ञस्येति** ।

स्थितप्रज्ञस्य स्थिता ब्रह्माकारेण निश्चला बाह्यानवगाहिनी प्रज्ञा बुद्धिर्यस्य स स्थितप्रज्ञ आरूढस्तस्य भाषा भाषणं का कदा सिद्ध्यति । समाधिस्थस्य नित्यं निरन्तरं नियमेन समाधिं कुर्वाणस्य । समाधिनिष्ठानिरतो विद्वान् पण्डितैरयं स्थितप्रज्ञ

विशेषसे रहित है, क्योंकि परम आप्तोंके वाक्यके सुननेसे अथवा अधिष्ठानके सम्यक् दर्शनसे सत् बुद्धिकी विप्रतिपत्ति अथवा विक्षेपका संभव नहीं है । इसलिए इस प्रकार सम्यक् श्रवणसे और मननसे संपन्न तुम्हारी बुद्धि असंप्रज्ञात समाधिमें अचल यानी निवातस्थ (वायुशून्य प्रदेशमें स्थित) दीपकके समान निश्चल यानी निष्कम्प होकर जिस कालमें—चित्तकी परिपाक अवस्थामें—स्थित हो जायगी, तब तुम योगको यानी अप्रतिबद्ध ज्ञानयोगको प्राप्त होओगे । योगारूढ हो जाओगे, यह अर्थ है ।। ५३ ।।

श्रवण और मननसे जिसने आत्मतत्त्वको जान लिया है, उस विद्वान्‌की समाधिसे प्रज्ञा-स्थिरताकी सिद्धि होती है, ऐसा सुनकर स्थितप्रज्ञके लक्षणको जाननेकी इच्छासे अर्जुन पूछता है—**'स्थितप्रज्ञस्य'** इत्यादिसे ।

स्थितप्रज्ञकी—बाहरके पदार्थोंका ग्रहण न करनेवाली केवल ब्रह्माकारसे निश्चल है प्रज्ञा यानी बुद्धि जिसकी, उस स्थितप्रज्ञकी—आरूढकी—भाषा क्या है—वह कब सिद्ध होता है । समाधिस्थकी यानी नित्य निरन्तर नियमसे समाधि करनेवालेकी क्या भाषा है ? यानी समाधिनिष्ठामें निरत यह विद्वान् स्थितप्रज्ञ है, ऐसा पंडितोंसे कब कहा जाता है, यह अर्थ है ।

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ ५५ ॥

भगवान्ने कहा—हे पार्थ, जब पुरुष मनोगत सब विषयभोगेच्छाओंका परित्याग करता है और अपने आपमें जब स्वस्वरूपसे सन्तुष्ट रहता है, तब उसे स्थितप्रज्ञ कहते हैं ॥ ५५ ॥

इति कदा भाष्यत इत्यर्थः । स्थितधीः स्थितप्रज्ञः स्वयं किं प्रभाषेत किमासीत किं व्रजेत । कथं तिष्ठति कथं चरति किं वदतीत्यर्थः ॥ ५४ ॥

सिद्धस्य लक्षणानि यानि तान्येव साधकस्य साधनानि प्रयत्नेन संपाद्यानि । येषु सिद्धेषु सत्स्वेव विदुषः प्रज्ञास्थैर्यं विदेहकैवल्यं च सिद्ध्यत्यतस्तानि मुमुक्षोर्यत्नेन साधनीयानीति सूचयितुमध्यायपरिसमाप्तेस्तान्येव प्रतिपाद्यन्ते । तत्राऽऽदौ प्रथमप्रश्नस्योत्तरमाह श्रीभगवान्—**प्रजहातीति** ।

श्रवणादिना सम्यग्विज्ञातात्मतत्त्वो मुमुक्षुः समाधौ वर्तमानो मनोगतान्, 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' इति श्रवणादात्मस्वरूपप्रकाशनैककारणे मनस्येव स्थितान्विषयान् । कामयन्तीति कामाः विषयभोगेच्छास्तान् सर्वान्यदा यस्मिन् काले समाधिसिद्धिदशायां प्रजहाति निःशेषं परित्यजति । विषयाशानां निःशेषपरित्यागे हेतुमाह—**आत्मनीति** । स्वतःसिद्धे नित्यकूटस्थासङ्गचिद्रूपे चक्षुषो रूपवत्सर्वत्रोपलभ्यमान

स्थितधी यानी स्थितप्रज्ञ स्वयं क्या बोले, कैसे बैठे, कैसे चले? यानी कैसे बैठता है, कैसे चलता है और क्या बोलता है ॥ ५४ ॥

जो सिद्धके लक्षण हैं, उन्हींका ही साधकको प्रयत्नसे संपादन करना चाहिए, उनके सिद्ध होनेपर ही विद्वान्की प्रज्ञाकी स्थिरता और विदेहकैवल्य सिद्ध होते हैं, इसलिए मुमुक्षुओंने उनको प्रयत्नपूर्वक सिद्ध करना चाहिए, यह सूचन करनेके लिए अध्यायकी समाप्ति तक उनका ही प्रतिपादन करते हैं। उसमें पहले प्रथम प्रश्नका उत्तर श्रीभगवान् कहते हैं—**'प्रजहाति'** इत्यादिसे ।

जिसने समाधिसे भली भाँति आत्मतत्त्वको जान लिया है, ऐसा समाधिमें रहनेवाला मुमुक्षु 'मनसे ही देखना चाहिए' इस श्रुतिके अनुसार आत्मस्वरूपका प्रकाश करनेमें मुख्य कारण मनमें स्थित विषयोंको और कामोंको अर्थात् विषयभोगकी इच्छाओंको जिस कालमें यानी समाधिसिद्धिदशामें बिलकुल त्याग देता है । विषयकी इच्छाओंके निःशेष त्यागमें हेतु कहते हैं—**'आत्मनि'से** । स्वतःसिद्ध नित्य कूटस्थ असङ्ग चिद्रूपमें, चक्षुको रूपके समान सर्वत्र उपलभ्यमान आनन्द

आनन्दैकरस आत्मनि स्वस्वरूपे क्रीडन् रममाणो ब्रह्मविदात्मना स्वस्वरूपेणैवोक्तलक्षणेन तुष्टः स्वात्मानन्दरसानुभूत्यैव संतोषं तृप्तिं च प्राप्याऽमृतरसपायी लवणाम्बुवत्तुच्छं विषयसुखं नाऽपेक्षते । तत एव तद्विषयान् कामान् सर्वान् प्रजहाति । यदैवंलक्षणो भवति तदा स्थितप्रज्ञोऽयमिति पण्डितैरुच्यत इत्यर्थः । 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य' इति श्रुतेरर्थोऽनेन प्रतिपादितो भवति । ननु विषयेषु कामोदयकारणेषु सत्सु दृष्टेषु च विदुषोऽपि तदनुभूतौ कामो जायत एव न निःशेषेण कामपरित्यागः संभवतीति चेद्, भवानत्र प्रष्टव्यः, विषयेषु कामोदयो विषयस्वभावो वा किं पुरुषस्वभावो वा ? नाऽऽद्यः, दृष्टे तृणपर्णादौ भोक्तुं पुंसः कामानुदयात् । न द्वितीयः, कान्तासंनिधौ बालस्य कामादर्शनात् । तर्हि कथं कामोदय इति चेद् , उच्यते; 'काम! जानामि ते मूलं सङ्कल्पात् किल जायसे' इति स्मरणात् कामः सङ्कल्पमूलकः । सङ्कल्पो वासनामूलकः । नहि वासनया विना वस्तुनि समीचीनत्वबुद्धिरुदेति । समीचीनत्वबुद्धिं विना कामोऽपि न घटते । ततः कामोत्पत्तेः कारणं विषयेषु भोग्यत्ववासनैव । वासना नाम भोगजन्यसंस्कारः । भोग्यत्ववासनाबलादेव विषयेषु कामः प्रवृत्तिश्च जन्तूनाम् , तदिदं लोकशास्त्रप्रसिद्धम् , विदुषस्तु नित्यं निरन्तरं समाधिनिष्ठायामेव तिष्ठतः सदा

एकरस स्वस्वरूप आत्मामें क्रीडा करता हुआ, रमण करता हुआ ब्रह्मज्ञानी आत्मासे यानी उक्त लक्षणवाले स्वस्वरूपसे ही तुष्ट होता है—स्वात्मानन्द रसके अनुभवसे ही स्वतोषको (तृप्तिको) प्राप्त करके, जैसे अमृतरस पीनेवाला खारे जलकी अपेक्षा नहीं करता वैसे ही तुच्छ विषयसुखकी अपेक्षा नहीं करता । इसीलिए उन विषयोंको यानी सब कामोंको त्याग देता है । जब इस प्रकारके लक्षणसे युक्त होता है, तब वह पंडितों द्वारा 'यह स्थितप्रज्ञ है' ऐसा कहा जाता है, यह अर्थ है । 'जो कामनाएँ इसके हृदयमें हैं, वे जब छूट जाती हैं' इस श्रुतिका अर्थ इससे प्रतिपादित होता है । कामकी उत्पत्तिमें कारणभूत विषयोंके होनेपर और उनके देखनेपर विद्वान्को भी उनके अनुभवमें कामना उत्पन्न होती ही है, अतः कामके निःशेष त्यागका संभव नहीं है, ऐसा यदि आप कहें, तो इस विषयमें आपसे पूछा जाता है कि विषयोंके अस्तित्वमें कामका उदय होना क्या विषयोंका स्वभाव है अथवा पुरुषका स्वभाव है ? पहला पक्ष तो युक्त नहीं है, क्योंकि देखे हुए घास, फूस आदिको भोगनेकी इच्छा पुरुषको नहीं होती । दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि स्त्रीके समीपमें, बालकमें काम दिखाई नहीं देता । तब कामका उदय कैसे होता है ? यह पूछो तो कहते हैं—'हे काम, मैं तेरे मूलको यानी कारणको जानता हूँ, संकल्पसे ही तू उत्पन्न होता है' ऐसी स्मृति है, अतः काम संकल्पमूलक है यानी संकल्प कामका हेतु है। संकल्प वासनामूलक है । वासनाके बिना वस्तुमें समीचीनत्वबुद्धिका उदय नहीं होता । समीचीनत्वबुद्धिके बिना काम भी उत्पन्न नहीं होता, इसलिए कामकी उत्पत्तिका कारण विषयोंमें भोग्यत्ववासना ही है । भोगजन्य संस्कारका नाम वासना है । भोग्यत्ववासनाके बलसे ही विषयोंमें काम और जीवोंकी प्रवृत्ति होती है, यह लोकमें और शास्त्रमें प्रसिद्ध है । विद्वान् तो नित्य निरन्तर समाधिनिष्ठामें ही स्थित रहता है और

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६ ॥

दुःखप्रद ज्वर आदि व्याधियोंके प्राप्त होनेपर जिसका मन उद्विग्न नहीं होता, सुखप्रद विषयोंमें जिसको स्पृहा नहीं होती और जिसको भय और क्रोध नहीं होते, उस मुनिको स्थितधी (स्थितप्रज्ञ) कहते हैं ॥ ५६ ॥

सर्वत्र ब्रह्मैव पश्यतो विषयग्रहणं न सम्भवति मृदात्मना पश्यतो घटाग्रहणं यथा तथा सर्वं ब्रह्मात्मना पश्यतस्तदभावे विषयवासनाः स्वयमेव क्षीयन्ते । तासां क्षये कामाः स्वयमेव विनश्यन्ति । स्वयमेव विनश्यतां कामानां नाशो विदुषि ह्युपचर्यते—प्रजहाति यदेति । प्रभया नश्यतस्तमसो नाशनं सूर्यः करोतीतिवत्, यत एवं ततस्तत्सिद्धं निर्वासनत्वं विदुषो लक्षणमिति । तदिदं निर्वासनत्वं समाधिना साधकस्य संपादनीयमित्यवसितं च ॥ ५५ ॥

इदं मुमुक्षोरवश्यं साधनीयं साधनमिति सूचयितुं सिद्धस्य लक्षणान्तरमाह—दुःखेष्विति ।

दुःखेषु दुःखप्रापकेषु ज्वरशूलशिरोवेदनादिष्वाध्यात्मिकेषु, चौराहिव्याघ्रादिष्वाधिभौतिकेषु, वर्षवातातपादिष्वाधिदैविकेषूपद्रवेषु प्राप्तेषु सत्सु स्वयमनुद्विग्नमनाः अनुद्विग्नं किं करोमि क्व गच्छामीति विक्षेपव्यथाविधुरं मनो यस्य सोऽनुद्विग्नमनाः समाधिनिष्ठया तैरक्षोभितचित्त इत्यर्थः । तथा सुखेषु सुखप्रापकेषु मिष्टान्नरसादिषु स्वयं प्राप्तेषु विगतस्पृहः विगता विशिष्य निर्गता स्पृहा रसनादीन्द्रियलौल्यं यस्य

सदा सर्वत्र ब्रह्मको ही देखता है, उसको विषयोंका ग्रहण नहीं हो सकता । जैसे मिट्टीके स्वरूपसे देखनेवालेको घटका ग्रहण नहीं होता, वैसे ही सबको ब्रह्मरूपसे देखनेवालेको विषयोंका ग्रहण न होनेसे विषयवासना स्वयं ही क्षीण हो जाती है । उनका क्षय होनेपर कामनाएँ स्वयं ही नष्ट हो जाती हैं । 'प्रजहाति यदा' इससे कामनाओंके नाशका विद्वान्के हृदयमें उपचार किया जाता है । जैसे प्रभासे नष्ट होनेवाले अन्धकारका नाश सूर्य करता है, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए । ऐसा होनेसे यह सिद्ध हुआ कि निर्वासनत्व ही विद्वान्का लक्षण है । इसलिए साधकको समाधि द्वारा निर्वासनत्वका संपादन करना चाहिए ॥ ५५ ॥

मुमुक्षुको इस साधनका अवश्य साधन करना चाहिए, यह सूचन करनेके लिए सिद्धका दूसरा लक्षण कहते हैं—'**दुःखेष्व०**' इत्यादिसे ।

दुःखोंमें यानी दुःखदायक ज्वर, शूल, मस्तकपीड़ा आदि आध्यात्मिक, चोर, सर्प, व्याघ्र आदि आधिभौतिक, वर्षा, वात, आतप आदि आधिदैविक उपद्रवोंके प्राप्त होनेपर स्वयं अनुद्विग्न मनवाला यानी 'क्या करूँ, कहाँ जाऊँ' इस प्रकारके विक्षेपजनित व्यथासे जिसका मन रहित हो, वह अनुद्विग्न मनवाला यानी समाधिनिष्ठ होनेके कारण उन उपद्रवोंसे अक्षुब्ध तथा सुखोंमें यानी सुखदायक स्वयं प्राप्त हुए मीठे अन्नरस आदिमें स्पृहारहित,

स विगतस्पृहः । स्वानन्दरसास्वादासक्त्या तेष्वादररहित इत्यर्थः । वीतरागभयक्रोधः उपकारिणि रागः प्रीतिः, अत्यन्तापकारिणि क्रोधोऽप्रीतिः, आसन्ने मरणहेतौ भयं चैतत्त्रितयं स्वात्मनिष्ठया वीतं न प्राप्तं येन स वीतरागभयक्रोधः । प्रीत्यप्रीति-भयहेतूनां प्रीत्यादीनां तत्कार्याणां चाऽविषयीभूत इत्यर्थः । दुःखादिषु विषादाद्यनुदये हेतुमाह—**मुनिरिति** । श्रुतं दृष्टं स्पृष्टं च सर्वं प्रत्यग्दृष्ट्या ब्रह्मैव मनुते पश्यति जानाति न तु तत्तदाकारेणेति मुनिर्ब्रह्मनिष्ठः एवंलक्षणो यः स स्थितधीः स्थितप्रज्ञः सिद्ध इत्युच्यत इत्यर्थः । एतेन दुःखादिबाह्यानालम्बिन एव सद्ब्रह्मनिष्ठावत एव सम्यग्ज्ञानम् सम्यग्ज्ञानिन एव विदेहमुक्तिरिति सूचितं भवति । संसिद्धो ब्रह्मविद्यतिरापत्सु सम्पत्सु न किंचिद्वदति, किन्तु तूष्णीमेव स्वात्मना तिष्ठतीति किं प्रभाषेतेत्यस्य प्रश्नस्योत्तरं दत्तम् ॥ ५६ ॥

श्रवणादिना विज्ञातात्मतत्त्वो विदेहकैवल्यार्थी सन् ज्ञानपरिपाकाय समाधौ प्रवृत्तः साधको य एवं वर्तते तस्यैव ज्ञाननिष्ठा सिध्यतीत्याह—**य इति** ।

यः समाधौ प्रवृत्तो यतिः सर्वत्र कन्थाकौपीनादिपरिग्रहे देहजीवनेऽप्यनभिस्नेहः अत्यन्तासक्तिरहितो भवति । प्रारब्धवशादागतं यच्छुभमनुकूलं तत् नाऽभिनन्दति यद्-

---

विगता—बिलकुल चली गयी है—स्पृहा यानी रसना आदि इन्द्रियोंकी चञ्चलता जिसकी, वह विगतस्पृह यानी स्वानन्दरसके आस्वादमें ही आसक्ति होनेके कारण विषयोंमें आदररहित जिसके उपकार करनेवाले पर राग (प्रीति), अत्यन्त अपकार करनेवाले पर क्रोध (अप्रीति) और मरण-हेतुके समीप आनेपर भय—ये तीनों आत्मनिष्ठासे चले गये हैं यानी जिसको प्राप्त नहीं होते, वह वीतरागभयक्रोध कहलाता है अर्थात् प्रीति, अप्रीति और भयके हेतु और उनके कार्य प्रीति आदिका अविषयीभूत यह भाव है । दुःखादिमें विषाद आदिका उदय न होनेमें हेतु कहते हैं—'मुनिः' जो सुने हुए, देखे हुए और छुए हुए सब पदार्थोंको प्रत्यक् दृष्टिसे ब्रह्म ही मानता है, और जानता है, तत्-तत् आकारसे नहीं, इसलिए मुनि ब्रह्मनिष्ठ ही है । इस प्रकारके लक्षण-वालेको, स्थितधी, स्थितप्रज्ञ और सिद्ध, कहते हैं, यह अर्थ है । इससे दुःख आदि बाह्य आलम्बनसे रहित एवं सत् ब्रह्ममें निष्ठावालेको ही सम्यक् ज्ञान होता है और सम्यक् ज्ञान-वालेको ही विदेहमुक्ति होती है, ऐसा सूचित होता है । संसिद्ध, ब्रह्मवित् यति आपत्तिमें और संपत्तिमें कुछ नहीं कहता, किन्तु स्वयं चुप ही बैठता है, इस प्रकार कैसे बोले इस प्रश्नका उत्तर दिया ॥५६॥

श्रवण आदिसे आत्मतत्त्वको जाननेवाला विदेह कैवल्यकी इच्छावाला होकर ज्ञानके परिपाकके लिए समाधिमें प्रवत्त हुआ जो साधक इस प्रकार वर्तता है, उसको ही ज्ञाननिष्ठा सिद्ध होती है, यह कहते हैं—'**यः**' इत्यादिसे ।

जो समाधिमें प्रवृत्त यति कंथा, कौपीन आदि सबका ग्रहण करनेमें, देहके जीवनमें भी अन-भिस्नेह यानी अत्यन्त आसक्ति रहित होता है, प्रारब्धाधीन जो शुभ यानी अनुकूल आ जाता है,

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाऽभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५७ ॥
यदा संहरते चाऽयं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५८ ॥

सब पदार्थोंमें आसक्तिसे रहित जो यति प्रारब्धवश तत्-तत् शुभ और अशुभ विषयोंको प्राप्त कर हर्ष और विषाद नहीं करता, उसीकी प्रज्ञा सिद्ध होती है ॥५७॥

जैसे कछुआ अपने सब अङ्गोंको समय-समयपर समेट लेता है, वैसे ही ज्ञाननिष्ठामें प्रवृत्त यह योगी जब इन्द्रियार्थोंसे अपनी सब इन्द्रियोंको समेट लेता है, तभी उसकी प्रज्ञा सिद्ध होती है ॥ ५८ ॥

शुभं प्रतिकूलं तत् न द्वेष्टि । हर्षविषादरहितो भूत्वा सर्वत्र समबुद्धिः सन् समाधावेव तिष्ठति तस्यैव प्रज्ञा प्रतिष्ठिता स्याज्ज्ञाननिष्ठा सिध्यति नेतरस्येत्यर्थः ॥ ५७ ॥

यद्यपि ज्ञाननिष्ठासिद्धेर्महद्वैराग्यं तीव्रमोक्षेच्छा तत्परत्वं चैतत्त्रितयमेव कारणं तथापीन्द्रियनिग्रहाभावे वैराग्यादि ज्ञाननिष्ठा च न सिध्यतीत्यतः साधकस्य यतेर्यत्नत इन्द्रियजयः संपाद्यः प्रज्ञासिद्ध्या इत्याह—**यदेति** ।

योऽयं ज्ञाननिष्ठायां प्रवृत्तो यतिर्यथा कूर्मः स्वाङ्गानि परेभ्यो भयात् सर्वशः सर्वाणि तत्तत्काले स्वस्मिन्नेवोपसंहरते तद्वदिन्द्रियार्थेभ्यस्तत्तद्विषयेभ्यो भयाद्रागादिदोषप्रसक्तिभयात् समाधिविघ्नभयाच्च वागादीनि चक्षुरादीनि च सर्वशः सर्वाणि यदा स्वयं स्वस्मिन्नुपसंहरते समाधिस्थैर्याय तत्तत्प्रवृत्तिं वारयति, तदा तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता भवतीत्यर्थः ॥ ५८ ॥

उससे प्रसन्न नहीं होता और जो अशुभ यानी प्रतिकूल आ जाता है, उससे द्वेष नहीं करता । किन्तु हर्ष और विषादसे रहित और सर्वत्र समबुद्धि होकर समाधिमें ही स्थित रहता है, उसकी ही प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है, ज्ञाननिष्ठा सिद्ध होती है, अन्यकी नहीं, यह अर्थ है ॥ ५७ ॥

यद्यपि महान् वैराग्य, तीव्र मोक्षकी इच्छा और ब्रह्मपरायणता, ये तीनों ही ज्ञाननिष्ठाकी सिद्धिमें कारण हैं, तो भी इन्द्रियनिग्रहके बिना वैराग्य आदि और ज्ञाननिष्ठा सिद्ध नहीं होते, इसलिए साधक यतिको यत्नपूर्वक प्रज्ञासिद्धिके लिए इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करनी चाहिए, ऐसा कहते हैं—**'यदा'** इत्यादिसे ।

जो यह ज्ञाननिष्ठामें प्रवृत्त यति है, वह जैसे कछुआ दूसरोंके भयसे अपने सब अंगोंको भली भाँति तत्-तत् समयमें अपनेमें उपसंहार कर लेता है, वैसे ही इन्द्रियोंके अर्थोंसे यानी तत्-तत् विषयोंसे, भयसे—रागादि दोषोंकी प्रसक्तिके भयसे—और समाधिमें विघ्न होनेके भयसे वाक् आदि

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ ५९ ॥

इन्द्रियोंको अपने वशमें रखनेवाले देहाभिमानी तपस्वीके केवल विषय ही निवृत्त होते हैं, राग निवृत्त नहीं होता, परन्तु इस स्थितप्रज्ञ मुनिका तो परब्रह्मको जानकर राग भी निवृत्त हो जाता है ॥ ५९ ॥

नन्विन्द्रियाणां विषयेभ्यो वैमुख्यकरणं प्रज्ञास्थैर्यकारणमित्येतदयुक्तम्, यत्किंचित्कार्यमुद्दिश्य सर्वेन्द्रियनिग्रहं कृत्वा तिष्ठति पुरुषे इन्द्रियनिग्रहो दृश्यते न तु प्रज्ञास्थैर्यमिति चेत्, न; तस्य रागवत्त्वेन ब्रह्मज्ञानं तन्निष्ठा च न संभवतीति सूचयितुमाह—**विषया इति** ।

आह्रियन्ते विषया यैस्ते आहारा इन्द्रियाणि नियमार्थं तेभ्यो निर्गतो यः स निराहार इन्द्रियनिग्रहवान् तापसस्तस्य देहिनः देह एवाऽहमित्यहंबुद्धेरालम्बनत्वेनाऽस्याऽस्तीति देही देहाद्यभिमानी तस्य इन्द्रियाणां निगृहीतत्वाद्विषयाः शब्दादयः सर्वे विनिवर्तन्ते विशिष्य निवृत्ता भवन्ति । रसवर्जं रागं विना । 'रसो रागे गुणे द्रव्ये' इत्यभिधानाद्रसो रागो न गच्छति । 'रागो लिङ्गमबोधस्य' इति नियमात्सर्वमिदमहं च ब्रह्मैवेति सर्वस्य स्वस्य च ब्रह्ममात्रत्वज्ञानं रागश्च नैतद्द्वयमेकत्र स्थातुं

और चक्षु आदि सब इन्द्रियोंका जब स्वयं अपनेमें, समाधिकी स्थिरताके लिए, उपसंहार कर लेता है यानी उनकी प्रवृत्तिको रोक देता है, तब उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है ॥ ५८ ॥

इन्द्रियोंको विषयोंसे विमुख करना प्रज्ञाकी स्थिरताका कारण है, यह ठीक नहीं है, क्योंकि चाहे जिस किसी कार्यके उद्देश्यसे इन्द्रियोंका निग्रह करके अवस्थित पुरुषमें इन्द्रियोंका निग्रह देखनेमें आता है, परन्तु प्रज्ञाकी स्थिरता देखनेमें नहीं आती, ऐसा यदि कहो, तो यह कहना युक्त नहीं है, क्योंकि वह रागी है, अतः उसको ब्रह्मज्ञान और ब्रह्मज्ञानकी निष्ठा नहीं हो सकती, ऐसा सूचन करनेके लिए कहते हैं—'**विषया**' इत्यादिसे ।

जिनसे विषय गृहीत होते हैं, वे आहार हैं यानी इन्द्रियाँ। नियमके लिए जो उनसे निकल गया है यानी उनसे रहित हो गया है, वह निराहार है यानी इन्द्रियनिग्रह करनेवाला तपस्वी। उस निराहार देहीकी—'मैं हूँ' ऐसी अहंबुद्धिमें देहको ही आलम्बन माननेवालेकी अर्थात् देहादिके अभिमानीकी—इन्द्रियोंका निग्रह होनेसे शब्दादि सब विषय निवृत्त हो जाते हैं यानी विशेषरूपसे निवृत्त हो जाते हैं, पर रसवर्ज यानी रागके बिना यानी रागके सिवा। 'रस शब्द, राग, गुण और द्रव्य इन तीनोंका वाचक है' इस कोषसे रसनाम रागका है, राग नहीं जाता। 'राग अबोधका चिह्न है' इस नियमसे 'मैं और ये सब ब्रह्म ही हैं' ऐसा सबमें और अपनेमें ब्रह्ममात्रत्वरूप ज्ञान और राग ये दोनों एक वस्तुमें ठहर नहीं सकते, इसलिए रागवाला होनेसे ही उसके बोधका

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥ ६० ॥

हे कौन्तेय, ज्ञानमें किसी प्रकारका प्रतिबन्ध न हो, इस अभिलाषासे समाधिमें प्रयत्न करनेवाले विद्वान् पुरुषके मनको भी विक्षोभकारक इन्द्रियां बलात् पकड़ कर विषयों में गिरा देती हैं ॥ ६० ॥

शक्नोति । अतो रागवत्त्वादेवाऽस्य बोधाभावस्तत एव रुद्धेन्द्रियत्वेऽपि न प्रज्ञास्थैर्यप्रसक्तिरित्यर्थः । तर्हि कथं तस्य रागनिवृत्तिः प्रज्ञा च सिध्यतीत्याकाङ्क्षायामाह—**रसोऽपीति** । अस्य मौनेनेन्द्रियनिग्रहेण व्रतादिना चित्तशुद्धौ सत्यां श्रवणादिजन्यज्ञानेन परं ब्रह्माऽद्वितीयं दृष्ट्वा इदमेवाऽहमस्मीति स्वात्मना साक्षात्कृतवतो रसो निवर्तते निर्गच्छति । विषयेषु भोग्यत्वभावना निवृत्त्या रागनिवृत्तिः । भोग्यत्वभावना तु ब्रह्मदृष्ट्या निवर्तते । सर्वस्य स्वस्य च ब्रह्ममात्रत्वावगमाग्निना भोक्तृभोग्यत्वभेदवने निर्दग्धे सति तदाश्रितत्वात्तेन सहैव स्वयं च दग्धो भवतीत्यर्थः । अपिशब्दात्प्रज्ञास्थैर्यं च सिध्यतीति सूचितं भवति ॥ ५९ ॥

यत एवमतः सिद्धं मुमुक्षोर्यतेः सर्वस्य ब्रह्ममात्रत्वज्ञानं संपादनीयं रागद्वेषादिनिःशेषनिवृत्तये निष्प्रवृत्तये विदेहमुक्तये चेति विदेहकैवल्यसिद्धेः कारणभूतब्रह्मज्ञानस्य सम्यक्त्वसिद्धये समाधौ प्रवृत्तस्य यतेरिन्द्रियनिग्रह एव आदाववश्यं कर्तव्यस्तदभावे महाननर्थ इति सूचयितुमाह—**यतत इति** ।

अभाव है, इसलिए इन्द्रियोंके रुकनेपर भी जब प्रज्ञाकी स्थिरताका प्रसंग नहीं है, तब उसके रागकी निवृत्ति और प्रज्ञाकी सिद्धि कैसे होगी ? ऐसी आकांक्षा होनेपर कहते हैं—**'रसोऽपि'** । मौनसे, इन्द्रियोंके निग्रहसे और व्रत आदिसे इसके चित्तकी शुद्धि होनेपर श्रवणादिसे उत्पन्न ज्ञानसे अद्वितीय परब्रह्मको देखकर 'यह मैं ही हूँ' ऐसा स्वात्मस्वरूपसे साक्षात् करनेवालेका रस निवृत्त हो जाता है यानी चला जाता है । विषयोंमें भोग्यत्वकी भावना निवृत्त होनेसे रागकी निवृत्ति होती है । भोग्यत्वभावना ब्रह्मदृष्टिसे निवृत्त होती है । सबमें और अपनेमें ब्रह्ममात्रत्व ज्ञानरूप अग्निसे भोक्तृत्व-भोग्यत्वभेदरूप वनके जल जानेपर, उसके आश्रित होनेसे, उसके साथ राग भी स्वयं जल जाता है, यह अर्थ है । 'अपि' शब्दसे सूचित होता है कि प्रज्ञाकी स्थिरता सिद्ध हो जाती है ॥ ५९ ॥

जिस कारणसे ऐसा है, इससे सिद्ध हुआ कि राग-द्वेषकी निःशेष निवृत्तिके लिए, निष्प्रवृत्तिके लिए और मुक्तिके लिए मुमुक्षुको सबमें ब्रह्ममात्रत्वज्ञानका संपादन करना चाहिए । इसलिए विदेहकैवल्यकी सिद्धिमें कारणरूप ब्रह्मज्ञानकी सिद्धिके लिए समाधिमें प्रवृत्त हुए यतिको इन्द्रियोंका निग्रह पहले अवश्य करना चाहिए, ऐसा न होनेसे महान् अनर्थकी सम्भावना है, ऐसा सूचन करनेके लिए कहते हैं—**'यततो'** इत्यादिसे ।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६१ ॥

अतः उन ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियोंका संयम करके समाहितचित्त हो मेरा भक्त बन कर रहे, क्योंकि जिसके वशमें इन्द्रियाँ होती हैं, उसीकी प्रज्ञा सिद्ध होती है ॥ ६१ ॥

हि यस्मात्कारणाद् यततः समाधिना ज्ञानस्याऽप्रतिबन्धत्वसिद्धये प्रयत्नं कुर्वतः । समाधौ तिष्ठतोऽपीत्यर्थः । विपश्चितः विषयजातं मायिकमसत्तुच्छमिति विषयजातं मायिकमसत्तुच्छमिति विषयप्रवृत्तिर्बन्धाय भवतीति च विजानतोऽपि पुरुषस्य मुमुक्षोर्मनः मनुते ब्रह्मानेनेति मनः सर्वत्र सदवलोकनकारणम् । इन्द्रियाणि प्रमाथीनि प्रमथितुं विषयदर्शनमात्रेण व्याकुलीकर्तुं शीलं येषां तानि प्रमाथीनीन्द्रियाणि रागादिदोषग्रस्तानि प्रसभं बलात्कारेणाऽस्य पश्यतः सतो विवेकयुक्तमपि मनः हरन्ति गृहीत्वा विषयेषु पातयन्ति स्वरूपाच्च्यावयन्तीत्येतदिन्द्रियनिग्रहमकुर्वतः स्वरूपभ्रंश एव विदुषो महाननर्थः ॥ ६० ॥

यस्मादेवं तस्मादिन्द्रियसंयमवत एव स्थितप्रज्ञत्वमाह—**तानीति** ।

विषयेषु पुनः पुनर्दोषदर्शनेन बन्धकत्वभयेन च रागद्वेषाभ्यां वियोजितानि तानीन्द्रियाणि सर्वाणि संयम्य तेषु प्रवृत्तिं निरुध्य तत्तद्गोलकेषु स्थापयित्वा ब्रह्मविद्यानिर्युक्तो योगेन युक्तः समाहितचित्तः । वृत्तेर्ब्रह्माकारतामापाद्येत्यर्थः । मत्परः

जिस कारणसे यत्न करनेवाले यानी समाधिसे ज्ञानकी अप्रतिबन्धकताकी सिद्धिके लिए प्रयत्न करनेवाले या समाधिमें स्थित होनेवाले विपश्चित्‌के यानी विषय मायिक, असत् और तुच्छ हैं, अथवा विषयोंमें प्रवृत्ति बन्धनकी कारण है, ऐसा जाननेवाले मुमुक्षु पुरुषके भी मनको जिससे ब्रह्म विचारा जाता है, वह मन यानी सर्वत्र सत् ब्रह्मको देखनेमें कारणभूत विवेकयुक्त भी मनको प्रमाथी इन्द्रियां प्रमथन करनेका यानी विषयके दर्शनमात्रसे व्याकुल करनेका जिनका स्वभाव है, वे प्रमाथी इन्द्रियां यानी रागद्वेषग्रस्त इन्द्रियां प्रसभ यानी बलात्कारपूर्वक हर लेती हैं यानी पकड़कर विषयोंमें गिरा देती हैं, स्वरूपसे गिरा देती हैं, इस प्रकार इन्द्रियोंका निग्रह न करनेवालेका स्वरूपसे भ्रंश होना ही महान् अनर्थ है ॥ ६० ॥

जिस कारणसे ऐसा है, इसलिए इन्द्रियोंका संयम करनेवाले पुरुषमें ही स्थितप्रज्ञत्व है, ऐसा कहते हैं—**'तानि'** इत्यादिसे ।

विषयोंमें बार बार दोषोंके दर्शनसे, बन्धकत्वके भयसे और रागद्वेषसे अलग की हुई उन सब इन्द्रियोंका संयम करके यानी उनकी प्रवृत्तिको रोककर तत्-तत् गोलकोंमें स्थापित करके, ब्रह्मवित् यति यानी योगसे युक्त समाहितचित्त होकर अर्थात् वृत्तिकी ब्रह्माकारता प्राप्त

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥ ६२ ॥

विषयोंमें रम्यत्व, अरम्यत्व आदिका ध्यान करनेवाले पुरुषका उनमें सङ्ग हो जाता है, सङ्गसे काम और कामसे क्रोध उत्पन्न होता है ॥ ६२ ॥

अहमेव परः परमात्मेति परस्मिन्नेव ब्रह्मण्यहंधीर्यस्य स मत्परः सर्वमिदमहं च ब्रह्मैवेति सर्वं स्वं च ब्रह्मैव पश्यन्नासीत । प्रत्यग्दृष्ट्या सर्वदा तिष्ठेदित्यर्थः । एवं नित्यं निरन्तरं पश्यतो यस्य यतेरिन्द्रियाणि विषयग्रहानवकाशतया नीरागाणि भूत्वा वशे वश्यानि भवन्ति । तस्य खलु प्रज्ञा प्रतिष्ठिता निश्चला भवति मोक्षश्च सिध्यति नैवेतरस्येत्यर्थः ॥ ६१ ॥

नन्विन्द्रियैरन्तःकरणं विषयेषु पातितं चेदनेनाऽस्य विदुषः को वाऽनर्थ इति चेद्विषयाभिध्यानमेव सर्वानर्थबीजम्, तेनाऽनर्थहेतुपरम्पराऽऽपतति, तया परावरैकत्व-विज्ञानं विनश्यति, तन्नाशाज्जननमरणतरङ्गमालिनि संसाराब्धौ पतित्वा स्वयं च विद्वान् विनश्यतीति विदुषोऽपि बहिर्मुखत्वस्य जन्मादिदुःखप्रवाहपातानपायित्वमेव फलं न तु मुक्तिः, कारणाभावात् । रागद्वेषाभ्यां विषयेषु प्रविष्टस्य विदुषोऽपि विषयाभिध्यानमेव प्रसज्यते न तु ब्रह्मध्यानमिति सर्वानर्थमूलं विषयाभिध्यानं तत्कार्यं च प्रतिपादयति—**ध्यायत इति द्वाभ्याम्** ।

करके मत्पर यानी मैं ही पर यानी परमात्मा हूँ, इस प्रकार परब्रह्ममें ही जिसकी बुद्धि है, वह मत्पर यानी यह सब और मैं 'ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार सबको और अपनेको ब्रह्म ही देखता हुआ वे स्थित होवे। प्रत्यक् दृष्टिसे स्थित होवे, यह अर्थ है। इस प्रकार नित्य निरन्तर देखनेवाले जिस यतिकी इन्द्रियाँ विषयके ग्रहणके अनवकाशसे नीराग होकर वशमें हो जाती हैं, निश्चय उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित यानी निश्चल होती है और मोक्षकी भी सिद्धि होती है, दूसरेकी नहीं, यह अर्थ है ॥ ६१ ॥

इन्द्रियों द्वारा विषयोंमें अन्तःकरण गिराया जाय, तो उससे इस विद्वान्का क्या अनर्थ होगा ऐसा यदि कहो, तो सब अनर्थोंका बीज विषयोंका ध्यान ही होगा, उससे अनर्थके हेतुकी परम्परा प्राप्त होती हैं, उससे परमात्मा और जीवके एकत्वका विज्ञान नष्ट हो जाता है, उसके नाशसे जन्ममरणकी तरंगोंकी मालावाले संसारसमुद्रमें गिरकर विद्वान् भी स्वयं नष्ट हो जाता है, इस प्रकार विद्वान्के भी बहिर्मुखत्वका जन्मादि दुःखके प्रवाहमें निरन्तर गिरना ही फल होता है, मुक्ति नहीं होती, क्योंकि कारणका अभाव है। रागद्वेषसे विषयोंमें फँसे हुए विद्वान्को विषयोंके ध्यानका ही प्रसंग आता है, ब्रह्मध्यानका नहीं, इसलिए सब अनर्थोंके मूल विषयोंके ध्यान और उसके कार्यका प्रतिपादन करते हैं—**'ध्यायतो'** इत्यादि दो श्लोकोंसे।

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात् स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥ ६३ ॥

क्रोधसे मोह उत्पन्न होता है, मोहसे स्मृतिका नाश, स्मृतिनाशसे बुद्धिका नाश होता है और बुद्धिका नाश होनेपर स्वयं विनष्ट हो जाता है ॥ ६३ ॥

विषयान् शब्दादीन् ध्यायतस्तेषु रम्यत्वमरम्यत्वं च इदं भोग्यमिति वा चिन्तयतः पुंसः सङ्गस्तेषु रम्यत्वाकारेण भोग्यत्वाकारेण वा भावितेषु भोगेषु प्रीतिः प्राक्तनसंस्कारादासक्तिरुपजायते सद्य उत्पद्यते । सङ्गात् प्रीत्या तत्र ममाऽमुना भवितव्यमिति कामो भोगेच्छावेगः सम्यक् जायते, ग्रस्तो येनाऽभोग्यमपि कलत्रादि स्त्रैणो भगिन्यादि वा भोग्यत्वबुद्ध्या भोक्तुं त्वरयते पुरुषः । कामाद्येन केनाऽपि प्रतिबन्धेन हतात् क्रोधोऽभिजायते । परवशीकृतात्मनः परापकारकरणहेतुबुद्धिविशेषः क्रोधः ॥ ६२ ॥

क्रोधादिति । क्रोधात् संमोहो वैचित्त्यं कार्याकार्यविवेकशून्यता जायते । क्रोधाविष्टः खलु संमोहेन महान्तमप्यपचरति । गुरुमपि धिक्करोति । संमोहादुक्तलक्षणात् स्मृतिविभ्रमो जायते । वेदान्तश्रवणजन्यज्ञानेन ब्रह्मैवाऽहमिति पुनः पुनः कृतस्वानुभवसंस्कारजस्तदाकारपरिणामिबुद्धिवृत्तिविशेषः स्मृतिरित्युच्यते । तस्या विभ्रमो भ्रंशः स्मृतिहेतुषु सत्स्वपि स्मृतेरनुदयः, स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशः बुद्धिर्ब्रह्ममयी वृत्तिस्तस्याः

शब्दादि विषयोंका ध्यान करनेवालेका अर्थात् उनमें रम्यत्व और अरम्यत्वका अथवा यह भोग्य है, इस प्रकार भोग्यत्वका चिन्तन करनेवाले पुरुषका संग यानी रम्यत्वके आकारसे अथवा भोग्यत्वके आकारसे परिभावित उन भोगोंमें प्रीति—पूर्वके संस्कारोंसे आसक्ति—तुरत ही उत्पन्न होती है । संगसे यानी प्रीतिसे 'उनमें (विषयोंमें) यह मुझे प्राप्त होना चाहिए, ऐसी कामनाका—भोगकी इच्छाका—वेग पूर्णरूपसे उत्पन्न होता है, जिस वेगसे ग्रस्त होकर पुरुष कलत्र आदि अभोग्यको अथवा स्त्रीलंपट भगिनी आदिको, भोग्यत्वबुद्धिसे, भोगनेके लिए शीघ्रता करता है । किसी प्रतिबन्धसे काम आदिकी पूर्ति न होनेपर क्रोध उत्पन्न होता है । पराधीन जीव जिस बुद्धिसे दूसरेका अपकार करनेके लिए उद्यत हो जाता है, उस परापकार करनेमें हेतुभूत बुद्धिविशेषको क्रोध कहते हैं ॥ ६२ ॥

'क्रोधाद्भवति' इत्यादि । क्रोधसे मोह होता है यानी वैचित्तता—कार्य और अकार्यमें विवेकशून्यता—उत्पन्न होती है । क्रोधसे आविष्ट होकर पुरुष मोहवश महान् पुरुषोंका भी अपकार कर डालता है । गुरुको भी धिक्कार देता है । उक्त लक्षणवाले मोहसे स्मृतिविभ्रम हो जाता है । वेदान्तश्रवणजन्य ज्ञानसे 'मैं ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार बारम्बार किये गए स्वानुभवके संस्कारोंसे उत्पन्न ब्रह्माकारताको प्राप्त हुई बुद्धिकी एक प्रकार वृत्ति स्मृति कहलाती है । उसका विभ्रम यानी भ्रंश—स्मृतिका हेतु होनेपर भी स्मृतिका अनुदय—होता है । उस स्मृतिभ्रंशसे

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ ६४ ॥

रागद्वेषसे रहित अपने वशीभूत इन्द्रियोंसे अनिषिद्ध अन्न आदि विषयोंका उपभोग करनेवाला स्वायत्त मनवाला पुरुष अन्तःकरणकी अत्यन्त निर्मलताको प्राप्त होता है ॥६४॥

स्वविषयकस्मृतिविनाशान्नाशो भवति । यथा पुरोवर्तिन्येव पुरुषे पुत्र इति स्मृतिरस्ति चेन्ममाऽयं पुत्र इति पुत्राकारेण बुद्धिर्जायते, भ्रान्तस्य तु स्मृत्यसंभवात् पुत्राकारा बुद्धिर्न जायते। तथा ब्रह्मण्यपरोक्षेऽपि विषयव्यामोहाक्रान्तचित्तस्य विदुषः स्वविषयकस्मृत्यभावादिदमहं च ब्रह्मैवेति दृश्याकारतामुत्सृज्य जगतः स्वस्य च ब्रह्माकारत्वावगाहिन्यखण्डात्मिका चिन्मयी वृत्तिर्न जायते । किन्तु भोक्तृभोग्याकारवृत्तिभिः स्वयं तिरोहिता भूत्वा नष्टा भवति । एवं स्वविज्ञानविनाशाद्विद्वान् स्वयमपि प्रणश्यति प्रकर्षेण नश्यति प्रणश्यति । संसारकारागारे पतितत्वात्कदाचिदपि मुक्तिं न प्राप्नोति । विषं पिबतोऽमरत्वमिव असन्मार्गे प्रविष्टस्य सद्गतिर्न संभवति । अतो विषयाणामवकाशमदत्त्वा सर्वेन्द्रियनिग्रहपूर्वकं समाधिं कुर्वत एव सम्यक् ज्ञानं तत्फलं च सिध्यतीति सिद्धम् ॥ ६३ ॥

नन्विन्द्रियैर्विषयग्रहणाभावे विदुषः कथ शरीरयात्रा सेत्स्यति ? इत्याशङ्कायां तत्प्रकारं नित्यं समाधिमनुतिष्ठतश्चित्तप्रसादं च प्रतिपादयति—**रागेति** ।

बुद्धिका नाश हो जाता है । बुद्धिका यानी ब्रह्ममयी वृत्तिका, स्वविषयक स्मृतिका नाश होनेसे, नाश हो जाता है । जैसे सामने बैठे हुए ही पुरुषमें, यह पुत्र है, ऐसी यदि स्मृति हो, तो मेरा यह पुत्र है, इस प्रकार पुत्राकार बुद्धि उत्पन्न होती है, परन्तु भ्रान्त पुरुषको, वैसी स्मृतिका असंभव होनेसे पुत्राकार बुद्धि उत्पन्न नहीं होती, वैसे ही अपरोक्ष ब्रह्ममें भी विषयोंके व्यामोहसे आक्रान्त चित्तवाले विद्वान्को स्वविषयक स्मृतिका अभाव होनेसे 'यह और मैं ब्रह्म ही हूँ' ऐसी दृश्याकारताको छोड़कर जगत्‌में और अपनेमें ब्रह्माकारत्वको विषय करनेवाली अखण्डात्मिका चिन्मयी वृत्ति उत्पन्न नहीं होती; किन्तु भोक्ताभोग्यके आकारवाली वृत्तियोंसे स्वयं तिरोहित होकर नष्ट हो जाती है । इस प्रकार स्वविज्ञानके विनाशसे विद्वान् स्वयं भी प्रणष्ट हो जाता है, यानी बिलकुल नष्ट हो जाता है—संसाररूप जेलमें फँसकर कभी भी मुक्तिको प्राप्त नहीं करता । जैसे विष पीनेवालेका अमर होना असंभव है, वैसे ही असत् मार्गमें प्रविष्ट पुरुषकी सद्गति असंभव है । इसलिए विषयोंको अवकाश न देकर सब इन्द्रियोंका निग्रहकर समाधि करनेवाले पुरुषको ही सम्यक् ज्ञान और उसका फल सिद्ध होता है, यह सिद्ध हुआ ॥ ६३ ॥

इन्द्रियोंसे यदि विषयोंका ग्रहण न होगा, तो विद्वान्की शरीरयात्रा कैसे सिद्ध होगी ? ऐसी आशंका होनेपर शरीरयात्राके मार्ग और समाधि करनेवाले पुरुषके चित्तके प्रसादका प्रतिपादन करते हैं—'**राग०**' इत्यादिसे ।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ ६५ ॥

अन्तःकरणकी शुद्धि होनेपर विद्वान्‌के दुःखोत्पादक सब विक्षेप निवृत्त हो जाते हैं और उसीसे प्रसन्नचित्तवाले पुरुषकी ब्रह्मदर्शिनी प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है ॥ ६५ ॥

रागद्वेषयोर्बीजं विषयेष्विष्टत्वानिष्टत्वबुद्धिरेव, दोषदर्शनेन तस्यां परित्यक्तायामिन्द्रियाणि रागद्वेषविमुक्तानि भवन्ति तैः रागद्वेषवियुक्तैः । विषयेष्वसत्त्वतुच्छत्वबन्धकत्वबुध्या रागद्वेषाभ्यां वियोजितैरित्यर्थः । तत एवाऽऽत्मवश्यैरात्मनः स्वस्य वश्यैः सङ्कोचव्याकोचयोर्वशवर्तिभिः प्रसन्नैरिन्द्रियैस्तु विषयानन्नरसादीननिषिद्धान् । तत्राऽपि प्राणत्राणमात्रपर्याप्तान् चरन् भुञ्जानो ब्रह्मविद्यतिर्विधेयात्मा विधेयः इन्द्रियशुध्या समाधिना च निर्मुक्तरागादिदोषतया शुद्धत्वेन स्वाधीन आत्मा मनो यस्य स विधेयात्मा सन् । प्रसादं चित्तस्य स्वास्थ्यमत्यन्तनिर्मलतां गच्छति । 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः' इति श्रवणादिन्द्रियशुध्या चित्तशुद्धिः सिध्यतीत्यर्थः ।६४।

नित्यं समाधिनिष्ठया चेन्द्रियाणां मनसश्च शुद्धिलक्षणं प्रसादं संपादितवतो विदुषस्तत्सिद्धेः फलमाह—**प्रसाद इति ।**

इन्द्रियशुद्धिसिद्धेः प्रसादे प्राप्ते सति अस्य विदुषः सर्वदुःखानाम् । अत्र दुःखशब्देन तद्धेतवो विक्षेपा लक्ष्यन्ते । तेषां सर्वेषां विक्षेपाणां हानिर्निःशेषनिवृत्तिरुप-

---

विषयोंमें इष्टत्व और अनिष्टत्व बुद्धि राग और द्वेषमें बीज है, दोषदर्शनसे उस बुद्धिका त्याग करनेपर इन्द्रियां राग और द्वेषसे रहित हो जाती हैं, उन रागद्वेषसे रहित इन्द्रियोंसे अर्थात् विषयोंमें असत्त्व, तुच्छत्व और बन्धकत्व-बुद्धि द्वारा रागद्वेषरूप दोषोंसे परिशुद्ध की हुई इन्द्रियोंसे । इसीलिए आत्मवशीभूत यानी आत्माके (अपने) वशमें की हुई यानी संकोच और असंकोच दोनोंके वशमें रहनेवाली प्रसन्न इन्द्रियोंसे अन्न, रस आदि अनिषिद्ध विषयोंको उनमें भी प्राणकी रक्षामात्रके लिए पर्याप्त भोगोंको भोगता हुआ ब्रह्मवित् यति विधेय—इन्द्रियोंकी शुद्धि और समाधि द्वारा रागद्वेषसे रहित और शुद्ध होनेसे स्वाधीन—है' आत्मा यानी मन जिसका, ऐसा विधेयात्मा होकर चित्तके प्रसादको—स्वास्थ्यको यानी अत्यन्त निर्मलताको—प्राप्त होता है । 'आहारकी शुद्धिसे सत्त्वकी शुद्धि, सत्त्वकी शुद्धिसे ध्रुवा स्मृति होती है' इत्यर्थक वचन सुननेमें आता है, इसलिए इन्द्रियोंकी शुद्धिसे चित्तकी शुद्धि होती है, ऐसा सिद्ध होता है ॥ ६४ ॥

जिस विद्वान्‌ने नित्य समाधिनिष्ठासे इन्द्रियों और मनकी शुद्धिरूप प्रसादका संपादन किया है उसके उक्त प्रसादकी सिद्धिका फल कहते हैं—**'प्रसादे'** इत्यादिसे ।

इन्द्रियोंकी शुद्धिकी सिद्धिसे प्रसाद प्राप्त होनेपर इस विद्वान्‌के सब दुःखोंकी—यहां दुःखशब्दसे दुःखके हेतुभूत अनेक प्रकारके विक्षेप लक्षणासे गृहीत होते हैं, उन सब दुःखहेतु विक्षेपोंकी—

नाऽस्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चाऽयुक्तस्य भावना ।
न चाऽभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥ ६६ ॥

अयुक्त पुरुषको न बुद्धि होती है और न भावना होती है, एवं भावनारहित पुरुषको शान्ति नहीं मिलती और शान्तिरहित पुरुषको सुख कहाँ ॥ ६६ ॥

जायते । तत एव आशु शीघ्रमेव प्रसन्नचेतसो निर्मलात्मनस्तस्य बुद्धिः सर्वत्र ब्रह्मदर्शिनी प्रज्ञा पर्यवतिष्ठते । प्रतिष्ठिता भवतीत्यर्थः ॥ ६५ ॥

नित्यानित्यविवेकवैराग्याभ्यां तीव्रमुमुक्षुतया च सर्वं संन्यस्य मुमुक्षवो ये यतयः श्रवणं कुर्वन्ति तेषां मुक्तिः सम्यग्ज्ञानेन विना न सिध्यति, सम्यग्ज्ञानं च समाधिं विना, समाधिश्चेन्द्रियनिग्रहं विना, इन्द्रियनिग्रहोऽपि निःशेषरागादित्यागं विना न सिध्यतीति । 'यततो ह्यपि कौन्तेय' इत्यादिना रागद्वेषपरित्यागमिन्द्रियनिग्रहं समाध्यनुष्ठानं च प्रतिपाद्य 'ध्यायतो विषयान्पुंसः' इति ज्ञानिनोऽपि वहिर्मुखस्य ज्ञाननाशाद्यनर्थनिपातं प्रतिपाद्य इदानीं बहुधा श्रुतश्रावितवेदान्तस्य पठनपाठनमात्रेण आत्मानं कृतार्थं मन्यमानस्य मुमुक्षोरालस्येन दुर्मेधया च ध्यानादावप्रवृत्तस्य समाधिरवश्यं कर्तव्य इति सूचयितुं तदकर्तुरनर्थमाह—**नाऽस्तीति ।**

शतधा श्रुतवेदान्तोऽपि यस्तीव्रमुमुक्षया शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुर्भूत्वाऽप्रतिबद्धज्ञानसिद्धये समाधिं न करोति तस्याऽयुक्तस्याऽसमाहितचेतसः पुरुषस्य बुद्धिः

हानि यानी निःशेष निवृत्ति हो जाती है। उसीसे शीघ्र ही उस प्रसन्नचित्तवालेकी—निर्मल आत्मावालेकी—बुद्धि यानी सर्वत्र ब्रह्म देखनेवाली प्रज्ञा स्थित हो जाती है यानी प्रतिष्ठित हो जाती है ॥ ६५ ॥

नित्यानित्यविवेक और वैराग्यसे एवं तीव्र मोक्षकी इच्छासे सबका त्याग कर जो मुमुक्षु यति श्रवण करते हैं, उनको सम्यक् ज्ञानके विना मुक्ति सिद्ध नहीं होती और सम्यक् ज्ञान समाधिके बिना सिद्ध नहीं होता, समाधि इन्द्रियोंके निग्रहके विना और इन्द्रियोंका निग्रह भी रागादिके निःशेष त्यागके विना सिद्ध नहीं होता। 'यततो ह्यपि कौन्तेय' इत्यादिसे रागादिके परित्याग, इन्द्रियोंके निग्रह और समाधिके अनुष्ठानका प्रतिपादन करके, 'ध्यायतो विषयान्पुंसः' (विषयोंका ध्यान करता हुआ पुरुष) इससे वहिर्मुख ज्ञानीको भी ज्ञानके नाशसे अनर्थ होता है, ऐसा प्रतिपादन करके अब बहुत जिसने वेदान्त सुना और सुनाया है और पठन-पाठनमात्रसे अपनेको कृतार्थ माननेवाले एवं आलस्यसे और दुर्बुद्धिसे ध्यानादिमें प्रवृत्त न हुए मुमुक्षुको समाधि अवश्य करनी चाहिए, ऐसा सूचन करनेके लिए समाधि न करनेवालेको अनर्थ मिलता है, ऐसा कहते हैं—**'नाऽस्ति'** इत्यादिसे।

सैकड़ों वार वेदान्तका श्रवण करनेपर भी जो तीव्र मोक्षकी इच्छासे शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु होकर अप्रतिबद्ध ज्ञानकी सिद्धिके लिए समाधि नहीं करता, उस अयुक्तकी यानी

सर्वत्र ब्रह्मदर्शनलक्षणा चित्तप्रसादैकलभ्या प्रत्यग्दृष्टिर्नाऽस्ति। बहुधा कृतेऽपि श्रवणे तदुत्पन्नं ज्ञानं पदवाक्यार्थगोचरमेव भवति, न तु वस्तुगोचरम्, सूक्ष्मबुद्ध्या क्वचिज्जातमपि न तिष्ठति स्थिरमित्यर्थः। अयुक्तस्येति पुनरुक्तिः समाधेरवश्यकर्तव्यत्वद्योतनार्था। 'कारणाभावे कार्याभावः' इति न्यायेन अयुक्तस्य समाधिसमुत्पन्नब्रह्मापरोक्षज्ञानशून्यस्य भावना न च नास्ति। देह इव इदमेवाऽहमस्मीति स्वात्मना साक्षात्कृते ब्रह्मण्येवाऽऽत्मत्वाभिनिवेशो भावना। तत्तादात्म्यापत्त्या स्वस्य ब्रह्मण्येव व्यवस्थिताऽहंबुद्धिलक्षणा या सा चाऽयुक्तस्य न संभवतीत्यर्थः। तदसंभवे तत्कार्यं च न संभवतीत्याह— **न चाऽभावयत इति।** प्रबुद्धो यथा देहं तथा ब्रह्मैवाऽहं नेतरदित्यात्मानं ब्रह्मैवाऽभावयतोऽमन्यमानस्य ब्रह्मात्मना स्वयमतिष्ठतो यतेः शान्तिरनात्मतादात्म्यतत्कार्यसंबन्धादर्शनलक्षणा चोपशान्तिर्न सिध्यति। किञ्चाऽशान्तस्याऽनात्मानमेवाऽऽत्मानं द्वैतं च पश्यतः सुखं नित्यं निरन्तरं ब्राह्मं कुतः सर्वमिदमहं च ब्रह्मैवेति सर्वं स्वं च ब्रह्मैव पश्यत एव यतेर्ब्रह्मानन्दरसानुभवः स्यात्। तद्विपरीतदर्शिनः कुतः सिध्यतीत्यर्थः। यद्वा न चाऽभावयतः शान्तिः श्रुतं दृष्टं स्पृष्टं मतं विज्ञातं स्वयं च सर्वं चिद्रूपं ब्रह्मैवेति सर्वस्य चिन्मात्रत्वमखण्डया चिदात्मिकया वृत्त्या नित्यं निरन्तरमभावयतोऽपश्यतोऽ-

---

असमाहित चित्तवाले पुरुषकी बुद्धि नहीं होती यानी सर्वत्र ब्रह्मदर्शनरूप केवल चित्तके प्रसादसे प्राप्त होनेवाली प्रत्यग्दृष्टि नहीं होती। अनेक बार श्रवण करनेपर भी उससे उत्पन्न हुआ ज्ञान केवल पद और वाक्यार्थको ही विषय करनेवाला होता है, वस्तुको विषय करनेवाला नहीं होता, सूक्ष्म बुद्धिसे कहीं उत्पन्न होनेपर भी स्थिर नहीं रहता, यह अर्थ है। 'अयुक्तस्य' शब्दकी पुनरुक्ति 'समाधि अवश्य करनी चाहिए' ऐसा सूचन करनेके लिए है। 'कारणके अभावमें कार्यका अभाव होता है' इस न्यायसे अयुक्तको यानि समाधिसे उत्पन्न ब्रह्मापरोक्ष ज्ञानसे रहित पुरुषको भावना भी नहीं होती। देहके समान यही मैं हूँ, इस प्रकार अपने आत्माके रूपसे प्रत्यक्षीकृत ब्रह्ममें आत्मत्वका अभिनिवेश भावना है। ब्रह्मके तादात्म्यकी प्राप्तिसे ब्रह्ममें व्यवस्थित अहंबुद्धिरूप जो स्वकीय भावना है, वह अयुक्तकी नहीं होती, यह अर्थ है। उसके न होनेसे उसका कार्य भी नहीं होता, यह कहते हैं—**'न चाऽभावयतः'**। प्रबुद्धको यानी जैसे देह मैं हूँ, वैसे ही ब्रह्म मैं हूँ, दूसरा नहीं, इस प्रकार आत्मा ब्रह्म ही है, ऐसी भावना न करनेवालेको (न माननेवालेको) ब्रह्मरूपसे स्वयं स्थित न होनेवाले यतिको शान्ति नहीं होती यानी अनात्मतादात्म्य और उसके कार्यके संबन्धको न देखनारूप उपशान्ति सिद्ध नहीं होती और अशान्तको यानी अनात्मामें आत्मा और द्वैत देखनेवाले पुरुषको सुख यानी नित्य निरन्तर ब्रह्मका सुख कहां? 'यह सब और मैं ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार सबको और अपनेको ब्रह्मरूप देखनेवाले यतिको ही ब्रह्मानन्दरसका अनुभव होता है। उससे विपरीत देखनेवालेको वह कहांसे प्राप्त हो? यह अर्थ है। अथवा भावना न करनेवालेको शान्ति नहीं होती यानी सुने हुए, देखे हुए, स्पर्श किये हुए, माने हुए, जाने हुए और स्वयम्—सब चिद्रूप ब्रह्म ही है, इस प्रकार सबमें चिन्मात्रत्वकी

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाऽम्भसि ॥ ६७ ॥

यदि विद्वान् अपने अपने विषयोंमें प्रवृत्त इन्द्रियोंके पीछे मनको भी प्रवृत्त करे, तो जैसे वायु जलमें नौकाको हर लेता है, वैसे ही उक्त मन उसकी बुद्धिको हर लेता है ॥ ६७ ॥

विदुषः शान्तिर्विदेहमुक्तिश्चिदानन्दैकरसब्रह्मरूपेणाऽवस्थानलक्षणा नाऽस्ति । एवमशान्तस्य विदेहमुक्तिमप्राप्तस्य सुखं विदेहकैवल्यसुखं कुतः । ब्रह्मभावमप्राप्तस्य ब्रह्मसुखं न सिध्यतीत्यर्थः ॥ ६६ ॥

ननु सूक्ष्मबुद्धेः श्रवणादिजन्यज्ञानं समाध्यभावेऽपि न नश्यति यथा मेधाविनाऽधीतमीमांसादिशास्त्रजन्यज्ञानं मेधया प्रतिष्ठितमेव भवति तथैवेति चेत्, न इष्टकाचयनादिज्ञानमतिस्थूलमपि मुहुर्मुहुरवलोडनं चरणं प्रचारणं वा विना न स्फुटं प्रतिभाति । किमु वक्तव्यमतिसूक्ष्ममतीन्द्रियमविषयमप्रचुरमसंस्कृतमनारूढमविनष्टप्रतिपक्षमात्मज्ञानं समाध्यभावे न प्रतिभातीति । ततस्तत्सिद्ध्यै मुमुक्षोः समाधिः कर्तव्य इति सूचयितुं बहिःप्रवृत्तस्य ज्ञाननाशनप्रकारं सदृष्टान्तमाह—**इन्द्रियाणामिति** ।

हि यस्मात्कारणादिन्द्रियाणां श्रोत्रादीनां वागादीनां च स्वस्वविषयेषु चरतां सतां लोकशास्त्रविषयकर्मवासनाभिराविष्टं यन्मनोऽनुविधीयते विदुषा तत्तदिच्छावता स्वेच्छानुरूपं प्रवर्त्यते तदेव मनः अम्भसि नदीजले वायुर्नावमिवाऽस्य स्ववासनानुरूपं

अखण्ड चिदात्मक वृत्तिसे नित्य निरन्तर भावना न करनेवाले यानी न देखनेवाले अविद्वान्को शान्ति नहीं मिलती है—चिदानन्द एकरस ब्रह्मरूपसे अवस्थानरूप विदेहमुक्ति नहीं होती है । एवं विदेहमुक्तिको न प्राप्त हुए अशान्तको सुख यानी विदेहकैवल्यरूप सुख कहां ? ब्रह्मभावको प्राप्त न हुए पुरुषको ब्रह्मसुख सिद्ध नहीं होता, यह अर्थ है ॥ ६६ ॥

जैसे मेधावीका पढ़ा हुआ मीमांसादिशास्त्रजन्य ज्ञान बुद्धिमें स्थित रहता है, वैसे ही, सूक्ष्म बुद्धिवालेका श्रवणादिजन्य ज्ञान समाधिके अभावमें भी नष्ट नहीं होगा, ऐसा यदि कहो, तो यह कहना युक्त नहीं है, क्योंकि जब इष्टकाचयन आदिका अतिस्थूल ज्ञान भी वारम्वार चिन्तन करने करानेके बिना स्पष्ट नहीं भासता है, तब अतिसूक्ष्म, अतीन्द्रिय, अविषय, अप्रचुर, असंस्कृत मनमें आरूढ़ और अविनष्ट-प्रतिपक्षी आत्मज्ञान समाधिके अभावमें नहीं भासता, इसमें तो कहना ही क्या है ? इसलिए उक्त आत्मज्ञानकी सिद्धिके लिए समाधि करनी चाहिए, ऐसा सूचन करनेके लिए बाहर प्रवृत्ति करनेवालेका ज्ञाननाश-प्रकार दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं—'**इन्द्रियाणाम्**' इत्यादिसे ।

जिस कारणसे श्रोत्रादि और वागादि इन्द्रियोंके अपने अपने विषयोंमें चलनेपर उनके पीछे लोक, शास्त्र, विषय और कर्मकी वासनाओंसे युक्त जो मन चला जाता है यानी उस उस इच्छावाले विद्वान्के इच्छानुसार प्रवृत्त किया जाता है, वही मन, नदीके जलमें जैसे वायु नावको

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६८ ॥

इससे हे महाबाहो, अपने-अपने विषयोंसे जिसकी सब इन्द्रियाँ निगृहीत हो जाती हैं, उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित हो जाती है ॥ ६८ ॥

प्रवर्तमानस्याऽस्य विदुषः प्रज्ञां आत्मानात्मविवेकबुद्धिं हरति संहरति । अत्राऽयमभिप्रायः—नद्याः परपारं गच्छन्तीं नौकां प्रतिकूलो वायुर्गृहीत्वा महावर्ते तां पातयति, जलेनाऽऽपूर्य वा मज्जयति, महापाषाणेनाऽभिहत्य मज्जयति, पुनरपारं वा विषमस्थानं वा गमयति, सर्वथाऽनर्थवतीमेव करोति यथा, तथा विदुषोऽपि प्रज्ञां विवेकबुद्धिमनाद्यविद्यावासनाभिरुच्चावचाभिराकृष्टं मनो विषये वा कर्मणि वा योगे वाप्युपास्तौ वा व्यवहारे वाऽन्यत्र वा पातयित्वा वायुर्नावमिव विध्वंसयतीत्यर्थः ॥ ६७ ॥

यस्माद्रागद्वेषलोभमोहादिदोषैरेवेन्द्रियप्रवृत्तिस्तया समाध्यभावस्तेन ज्ञानाभावस्तेनैव ब्रह्मणि स्वात्मन्यहंभावाभावस्तस्मात् मुक्त्यभावस्ततः सुखाभावश्चैवमनर्थव्रातापातो रागद्वेषादिभिरिन्द्रियनिग्रहमकृत्वा बहिःप्रवृत्तस्य ज्ञानिनोऽपि । तस्मादिन्द्रियग्रामं रागादिभिर्वियोज्य सम्यङ् निगृह्य च मुमुक्षोर्यतेर्विदेहमुक्त्यै समाधिरवश्यं कर्तव्य इति सूचयितुमाह—**तस्मादिति** ।

खींच लेता है, वैसे ही अपनी वासनानुसार प्रवृत्ति करनेवाले इस विद्वान्‌की प्रज्ञाको यानी आत्मा और अनात्माके विवेकसे युक्त बुद्धिको हर लेता है यानी खींच लेता है। यहां यह अभिप्राय है—जैसे नदीके दूसरे किनारे पर जानेवाली नौकाको प्रतिकूल वायु पकड़ कर उसको महा आवर्तमें गिरा देता है, जलसे भर कर डुबो देता है, महा पाषाणसे टकरा कर तोड़ देता है, उसी किनारे पर अथवा विषम स्थानमें ले जाता है, सर्वथा अनर्थ ही करता है, वैसे ही विद्वान्‌की प्रज्ञाको यानी विवेक-बुद्धिको अनादि अविद्याकी ऊँची-नीची वासनाओं द्वारा आकृष्ट मन विषयोंमें, कर्ममें, योगमें, उपासनामें, व्यवहारमें अथवा अन्य किसीमें गिरा कर, जैसे वायु नावको नष्ट कर देता है, वैसे ही नष्ट कर देता है, यह अर्थ है ॥ ६७ ॥

चूँकि राग, द्वेष, लोभ, मोह आदि दोषोंसे ही इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति होती है, उससे समाधिका अभाव होता है, उससे ज्ञानका अभाव, उसीसे अपने आत्मा ब्रह्ममें अहंभावका अभाव, उससे मुक्तिका अभाव और उससे सुखका अभाव होता है, यों रागद्वेष आदिसे इन्द्रियोंका निग्रह न करके बाहर प्रवृत्त होनेवाले ज्ञानीको भी अनर्थपरम्परा प्राप्त होती है, इसलिए रागादिसे इन्द्रियोंके समूहको अलग करके और भलीभाँति निग्रह करके मुमुक्षु यतिको विदेहमुक्तिके लिए समाधि अवश्य करनी चाहिए, ऐसा सूचन करनेके लिए कहते हैं—**'तस्मात्'** इत्यादिसे ।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ ६९ ॥

सर्वसाधारण प्राणियोंके लिए जो निशा है अर्थात् जिसमें साधारण प्राणियोंकी दृष्टि नहीं पहुँचती, उस निशारूप आत्मनिष्ठामें संयमी विद्वान् जागता है—रमण करता है और द्रष्टा, दर्शन आदि भेदोंसे युक्त जिस अविद्यामें प्राणी 'अहं, मम' (मैं, मेरा) इत्यादि व्यवहार करते हैं, सबमें ब्रह्मभाव देखनेवाले ब्रह्मज्ञानीके लिए वह निशा है याने जैसे प्राणी रात्रिमें व्यवहार नहीं करते, वैसे ही अविद्यारूप रात्रिमें ब्रह्मनिष्ठ 'अहं मम' इत्यादि व्यवहार नहीं करता ॥ ६९ ॥

रागादिशत्रुसंहारसमर्थस्यैवाऽत्राऽधिकारो नाऽन्यस्येति सूचनार्थं महाबाहो इति संबोधनम् । यस्य मोक्षैकार्थिनो यतेरिन्द्रियार्थेभ्यः सर्वाणीन्द्रियाणि निगृहीतानि भवन्ति तीव्रवैराग्येण तस्य धन्यस्य समाधिः सिध्यति प्रज्ञा प्रतिष्ठिता भवति । विदेहबुद्धिरग्रे तिष्ठति तत्सुखं चेत्यर्थः ॥ ६८ ॥

जन्मानेकशतसहस्रकृतसुकृतपरिपाकेन श्रुत्याचार्येश्वरप्रसादपौष्कल्यं प्राप्तवतो यस्य समाधिना सर्वमिदमहं च ब्रह्मैवेति ब्रह्माऽपरोक्षविज्ञानमप्रतिबद्धं भवति तस्य महात्मनः स्थितप्रज्ञस्य प्रबुद्धस्य स्वप्नव्यवहारवदहंममेदमित्यादिव्यवहारो लौकिको वैदिकश्च निःशेषो विनिवर्तते । निद्रावदविद्याया निःशेषविनष्टत्वात्तत्कार्यस्याऽपि निःशेषनिवृत्तिः, अतः प्रबुद्धो जागर इव जीवन्मुक्तो ब्रह्मविद्ब्रह्मण्येवाऽऽरमति, नाऽन्यत्रेति प्रतिपादयति—**या निशेति** ।

रागादि शत्रुओंका संहार करनेमें समर्थका ही इसमें अधिकार है, अन्यका नहीं, यह सूचन करनेके लिए महाबाहो, यह संबोधन है । जिस मुमुक्षु यतिकी सब इन्द्रियां उनके विषयोंसे निगृहीत हो जाती हैं, तीव्र वैराग्यसे उस धन्य पुरुषकी समाधि सिद्ध होती है यानी प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है, विदेहबुद्धि और विदेहबुद्धिका सुख संमुख खड़ा होता है ॥ ६८ ॥

सैकड़ों, हजारों अनेकों जन्मोंमें किये हुए पुण्योंके परिपाकसे, श्रुति, आचार्य और ईश्वरके प्रसादकी पुष्कलता प्राप्त करनेवाले जिसको समाधिसे 'यह सब और मैं ब्रह्म ही हूँ ऐसा ब्रह्मका अप्रतिबद्ध अपरोक्ष विज्ञान होता है उस स्थितप्रज्ञ, प्रबुद्ध महात्माका स्वप्नके व्यवहारके समान मैं, मेरा, यह इत्यादि लौकिक और वैदिक व्यवहार निवृत्त हो जाता है । निद्राके समान अविद्याके निःशेष नष्ट हो जानेसे उसके कार्यकी भी निःशेष निवृत्ति हो जाती है, इसलिए जैसे जाग्रत्-पुरुष जागरणमें रमण करता है, वैसे ही ब्रह्मवित् जीवन्मुक्त ब्रह्ममें ही रमण करता है, अन्यत्र नहीं, ऐसा प्रतिपादन करते हैं—**'या निशा'** इत्यादिसे ।

प्राचीनकर्मफलानुभूत्यै पुनःपुनर्भवन्ति जायन्त इति भूतानि प्राणिनस्तेषां सर्वेषां भूतानां स्थितप्रज्ञव्यतिरिक्तानां सर्वभूतानां या निशा भवति 'तेजः परस्यां देवतायाम्' इत्यादिश्रुत्युक्ता या परदेवता सर्वप्रमाणागोचरा निर्विशेषा सत्तामात्रा स्वयं निशेव भवति । यथा निशा नितरां शेरते प्राणिनो यत्र सा निशा तमिस्रा रात्रिः सर्वव्यापकत्वेन दृष्टेः प्रवेष्टुमशक्यत्वेन सर्वपदार्थानां स्वमात्रत्वापादनेन च भूतानां मनुष्यादीनां व्यवहर्तुमशक्या भवति, तथा सेयं परदेवताऽपि सर्वव्यापकत्वादिधर्मैः सर्वभूतानां व्यवहर्तुमशक्यत्वान्निशेत्युच्यते । शं सुखं नितरां सुखरूपत्वान्निशा तस्यां निशायामत्यन्तसुखरूपायां परस्यां देवतायां परे ब्रह्मण्यानन्दघने स्वयमविद्यानिद्राप्रबुद्धः संयमी बहिःप्रवृत्तिनिवृत्तसर्वेन्द्रियो ब्रह्मविदेक एव जागर्ति । तत्रैवाऽऽरमति क्रीडत्यानन्दति । तदन्ये तु शेरते श्रुतवेदान्ता अपि निद्रिता इव तत्स्वरूपं किमपि न जानन्तीत्यर्थः । यस्यामविद्यायां द्रष्टृदर्शनदृश्यादिभेदवत्यां भूतानि जाग्रति अहं ममेदमिष्टमनिष्टमिदं कार्यमिदमकार्यमिति व्यवहरन्ति सा त्वविद्या द्वैतभूमिः पश्यतः द्रष्टारं दर्शनं दृश्यं च सर्वं प्रत्यग्दृष्ट्या ब्रह्मैव पश्यतो मुनेर्ब्रह्मनिष्ठस्य निशा भवति । यथा निशायां प्राणिनो न व्यवहरन्ति तथाऽयमविद्यानिशायामहं ममेति न व्यव-

---

पहले अनुष्ठित कर्मोंके फलका अनुभव करनेके लिए जो बारम्बार होते हैं यानी जन्म लेते हैं, वे भूत (प्राणी) कहलाते हैं, उन सब भूतोंकी यानी स्थितप्रज्ञसे भिन्न सब प्राणियोंकी जो रात है यानी 'तेज परदेवतामें' इत्यर्थक श्रुतियोंमें कही हुई सब प्रमाणोंकी अविषय, निर्विशेष सत्तामात्ररूप परदेवता स्वयं रात्रिके समान है। जैसे निशा यानी जिसमें प्राणी बिलकुल सो जाते हैं, ऐसी अंधेरी रात्रि, सर्वव्यापक होनेसे उसमें दृष्टिका प्रवेश न हो सकनेके कारण, सब पदार्थोंको स्वस्वरूप बनाकर मनुष्य आदि भूतोंके व्यवहारकी अविषय होती है, वैसे ही यह परदेवता भी सर्वव्यापकत्व आदि धर्मोंसे सब भूतोंके व्यवहारकी विषय नहीं होती, इसलिए निशा कहलाती है ।

'शम्' सुखका नाम है, अत्यन्त सुखरूप होनेसे वह निशा है, उस निशामें यानी अत्यन्त सुखरूप परदेवतामें—आनन्दरूप परब्रह्ममें—स्वयं अविद्यारूप निद्रासे जागता हुआ एक संयमी—बाहरकी प्रवृत्तिसे सब इन्द्रियोंको रोकनेवाला ब्रह्मवित्— ही जागता है । उसीमें रमता है, क्रीड़ा करता है, आनन्द करता है। उससे अन्य तो सोते हैं यानी श्रुतवेदान्त पुरुष भी निद्रालुके समान उसके स्वरूपको कुछ भी नहीं जानते, यह भाव है। जिस द्रष्टा, दर्शन, दृश्य आदि भेदवाली अविद्यामें भूत जागते हैं यानी मैं, मेरा, यह इष्ट है, यह अनिष्ट है, यह कार्य है, और यह अकार्य है, ऐसा व्यवहार करते हैं, वह अविद्या—द्वैतभूमि—तो द्रष्टा और दर्शनको प्रत्यग्दृष्टिसे ब्रह्मरूप देखनेवाले ब्रह्मनिष्ठ मुनिकी निशा है । जैसे प्राणी रात्रिमें व्यवहार नहीं करते, वैसे ही यह मुनि अविद्यारूप रात्रिमें 'मैं, मेरा' इत्यादि व्यवहार नहीं करता । मैं, मेरा इत्यादि प्रत्ययकी हेतु अनादि अविद्याकी वासनाओंके

हरति । अहं ममेत्यादिप्रत्ययहेतूनामनाद्यविद्यावासनां निःशेषविनष्टत्वेन तद्बुद्धेर्ब्रह्ममय्याः प्रवेष्टुमशक्यत्वादत्राऽहं ममेदमिति प्राकृतमेव व्यवहारं न करोति, कुत एवंलक्षणस्याऽस्य विदुषो वैदिकव्यवहारः सिध्यतीत्यर्थः । यद्वा 'अधीहि भगवो ब्रह्मविद्यां वरिष्ठाम्' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धा या ब्रह्मविद्या सर्वभूतानां सर्वेषां प्राणिनां निशा भवति । स्वयं चिदाकृत्या सूर्यप्रभावत्प्रकाशरूपाऽपि सुदृष्टिशून्यानां निशेव भवतीति निशेत्युच्यते । यथा प्रसिद्धनिशा स्वकीयतमःशक्त्या नामरूपभेदमपास्य सर्वं वस्तुजातं तमोमात्रं कृत्वा स्वयमेव सर्वत्र विजृम्भते तथैवैषा ब्रह्मविद्या स्वकीयचिच्छक्त्या नामरूपभेदमपोह्य सर्वं दृश्यजातं चिन्मात्रं कृत्वा स्वयमेकैव सर्वत्र विजृम्भते । यत्र निशायामिव अज्ञास्तज्ज्ञाश्च सर्वे व्यवस्थानरूपान् स्वप्नान् पश्यन्तः शेरते, तस्यां ब्रह्मविद्यायां संयमी बहिःप्रवृत्तिशून्यः स्थितप्रज्ञो ब्रह्मविदेक एव जागर्ति । आत्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मज्योतिरात्मानन्दो भूत्वा सर्वदाऽऽस्ते । यस्यामविद्यायां सर्वाणि भूतानि जाग्रति त्वमहमिदमद इति व्यवहरन्ति सा त्वविद्या द्वैतावस्था पश्यतो द्रष्टारं दर्शनं दृश्यं च सर्वं मिथ्यैवेति पश्यतो ब्रह्मविदो निशा भवति । यथा प्राणिनां ब्रह्मविद्या निशा तथा ब्रह्मविदोऽप्यविद्या निशा । ब्रह्मविद्यया ब्रह्मैवाऽहमिति स्वमानन्दैकरसं परिपूर्णं विषयीकर्तुं यथैवाऽज्ञाः न शक्नु-

---

निःशेष नष्ट हो जानेके कारण वह (द्वैतभूमि) उक्त ब्रह्ममयी बुद्धिमें प्रवेश नहीं कर सकती, अतः ज्ञानदशामें मैं, मेरा, यह, ऐसा प्राकृत व्यवहार ही जब मुनि नहीं करता, तब उक्त लक्षणवाले विद्वान्का वैदिक व्यवहार कहांसे सिद्ध होगा, यह अर्थ है । अथवा 'हे भगवन्, श्रेष्ठ ब्रह्मविद्या पढ़ाइये' इत्यर्थक श्रुतिसे प्रसिद्ध जो ब्रह्मविद्या है, वह सब भूतोंकी—प्राणियोंकी—निशा है अर्थात् सूर्यके समान स्वयं चिदाकारसे प्रकाशरूप होनेपर भी वह ब्रह्मविद्या सुदृष्टिसे रहित प्राणियोंके लिए निशाके समान है, इसलिए वह निशा कहलाती है। जैसे प्रसिद्ध रात्रि अपनी अन्धकाररूप शक्तिसे नामरूपात्मक भेदको दूर करके सब वस्तुओंको अन्धकारमय बनाकर आप ही सर्वत्र फैल जाती है, वैसे ही यह ब्रह्मविद्या अपनी चित्-शक्तिसे नामरूपात्मक भेदको दूर करके सब दृश्य-समूहको चिन्मात्र बनाकर स्वयं एक होकर ही सर्वत्र व्यापक हो जाती है । जिसमें रात्रिके समान अज्ञानी और उसके ज्ञानी सब व्यवस्थानरूप स्वप्नोंको देखते हुए सोते हैं, उस ब्रह्मविद्यामें बाहरकी प्रवृत्तिसे शून्य अकेला स्थितप्रज्ञ ब्रह्मवित् संयमी ही जागता है । आत्मरति, आत्मक्रीड, आत्ममिथुन, आत्मज्योति और आत्मानन्द होकर सर्वदा स्थित रहता है । जिस अविद्यामें सब भूत जागते हैं—तू, मैं, यह, वह, ऐसा व्यवहार करते हैं—वह द्वैतावस्थारूप अविद्या, तो देखनेवालेकी यानी द्रष्टा, दर्शन और दृश्य सब मिथ्या ही हैं, ऐसा देखनेवाले ब्रह्मवित्की रात है । जैसे प्राणियोंकी ब्रह्मविद्या रात है, वैसे ही ब्रह्मवित्की अविद्या रात है अर्थात् जैसे अज्ञानी ब्रह्मविद्या द्वारा 'ब्रह्म ही मैं हूँ' इस प्रकार अपनेको आनन्दैकरस और परिपूर्ण जान नहीं सकते, वैसे ही यह ब्रह्मवित् अविद्या द्वारा

वन्ति तथैवाऽयं ब्रह्मविद्विद्ययाऽहं ममेदमिति देहेन्द्रियादिकं विषयीकर्तुं न शक्नोतीत्यर्थः । तत एवाऽस्य लौकिके वैदिके च कर्मण्यनधिकारः, योग्यत्वाभावात् । यस्य देहतदाश्रितवर्णजात्यादावभिमानः फलार्थित्वं ममेदं कर्तव्यमिदं न कर्तव्यमिति क्रियासु गुणदोषदर्शनं च विद्यते तस्यैव कर्मणि योग्यता दृश्यते न तूक्तलक्षणशून्यस्य । नहि नित्यनिरन्तरसमाधिनिष्ठया निरूढविज्ञानबलेनाऽविद्यां तत्कार्यं चाऽध्यासादिकं निर्मूल्य ब्रह्मतादात्म्यमापाद्य ब्रह्मैवाऽहमिति सर्वदा ब्रह्मण्येव तदात्मना तिष्ठतो विदुषः पुनः शरीरतादात्म्यापत्तिस्तत्राऽहंममेत्यभिमानश्च संभवति । तदसंभवे तत्राऽऽरोपितवर्णजात्याद्यभिमानोऽपि न सिध्यति । तदसिद्धौ सर्वमिथ्यात्वदर्शिनः फलाभिसंध्यसिद्धेः क्रियासु गुणदोषदर्शनासिद्धेश्च । सत्येवं न विदुषः कर्मण्यधिकार उपयुज्यते, सर्वमिथ्यात्वदर्शनस्य प्रवृत्तेश्च परस्परविरुद्धत्वादेकाधिकरणत्वानुपपत्तेः । वस्तुनः सत्यत्वनिश्चयधीपूर्विका प्रवृत्तिर्भ्रमकल्पितत्वनिश्चयधीमूलकं मिथ्यात्वज्ञानं ततस्तयोः परस्परविरुद्धत्वमेकाधिकरणत्वानुपपत्तिश्च । ननु कर्ता करणं कार्यं च सर्वं मिथ्यैवेति विदुषा कर्म क्रियताम्, मिथ्यात्वेन कृतं कर्म बन्धाय न भवतीति चेत् , न; मिथ्यात्वज्ञानस्य प्रवृत्तिविरोधान्नेदं जलम्, किन्तु मरुरेवेति जलमिथ्यात्ववेदिनस्तृषि-

---

'मैं, मेरा' इत्यादिरूपसे देह, इन्द्रिय आदिको जान नहीं सकता, यह भाव है । इसलिए योग्यताका अभाव होनेसे लौकिक और वैदिक कर्ममें इसका अधिकार नहीं है । जिसमें देह और देहके आश्रित वर्ण, जाति आदिमें अभिमान, फलकी इच्छा और मेरा यह कर्तव्य है, यह अकर्तव्य है, इस प्रकार क्रियाओंमें गुण और दोषका दर्शन विद्यमान है, उसीकी कर्ममें योग्यता देखनेमें आती है और जो उक्त लक्षणोंसे रहित है, उसकी देखनेमें नहीं आती, क्योंकि नित्य निरन्तर समाधिनिष्ठासे प्रौढ़ हुए विज्ञानके बलसे अविद्या और अविद्याके आध्यासिक कार्योंका निर्मूलन कर ब्रह्मके तादात्म्यको प्राप्त करके ब्रह्म ही मैं हूँ, इस प्रकार ब्रह्मस्वरूपसे ब्रह्ममें ही स्थित होनेवाले विद्वान्को फिर शरीरके तादात्म्यकी प्राप्ति और उसमें मैं, मेरा इत्यादि अभिमान नहीं हो सकता । उसका असंभव होनेपर उसमें आरोपित वर्ण, जाति आदिका अभिमान भी सिद्ध नहीं होता । उसके सिद्ध न होनेपर सबमें मिथ्यात्व देखनेवाले पुरुषमें फलकी इच्छा और क्रियाओंमें गुण और दोषका दर्शन नहीं हो सकता, ऐसा होनेसे विद्वान्का कर्ममें अधिकार युक्त नहीं होता, क्योंकि सर्वमिथ्यात्वदर्शन और प्रवृत्ति ये दोनों परस्पर विरुद्ध हैं, अतः उनका एक अधिकरण उपपन्न नहीं है, क्योंकि वस्तुमें सत्यत्वनिश्चयबुद्धिपूर्वक प्रवृत्ति और भ्रमकल्पितत्वनिश्चयबुद्धिपूर्वक मिथ्यात्वज्ञान होता है, इसलिए परस्पर विरुद्ध होनेके कारण उन दोनोंका एक अधिकरण उपपन्न नहीं है ।

यदि शङ्का हो कि कर्ता, करण और कार्य सब मिथ्या हैं, ऐसा समझकर भी विद्वान् कर्म करे, क्या हानि है ? क्योंकि मिथ्यारूपसे किया हुआ कर्म बन्धनका कारण नहीं होता, तो यह शङ्का भी ठीक नहीं है, क्योंकि मिथ्यात्वज्ञानका प्रवृत्तिसे विरोध है । यह जल नहीं है, किन्तु मरुभूमि

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥

महानद और नदियोंके निरन्तर प्रवाहोंसे चारों ओरसे भरे जानेपर भी अपनी पूर्व मर्यादाको न छोड़नेवाले समुद्रमें जैसे अनेक तरहके गङ्गा, सिन्धु आदि सरिताओंके जल प्रविष्ट होते हैं, वैसे ही सभी प्रकारके भोग्य पदार्थोंसे आपूर्यमाण होनेपर भी अपनी अखण्डाकारवृत्तिरूपा प्रतिष्ठाको न छोड़नेवाले जिस मुनिमें अनेक तरहके भोग्य पदार्थ प्रविष्ट होते हैं, वही केवल शान्तिको—मोक्षको—प्राप्त होता है, विषयोंकी अभिलाषा करनेवाला पुरुष प्राप्त नहीं होता ॥७०॥

तस्याऽपि प्रवृत्त्यदर्शनात्किमुताऽऽरोपितं दृश्यं सर्वं मिथ्यैवेति तदधिष्ठानं ब्रह्मैव सर्वत्र पश्यतः प्रवृत्तिरनुपपन्नेत्यतो ह्यविद्यावत एव कर्मण्यधिकारो, न तु विद्यावतः; विद्याया अविद्यातत्कार्यविरोधित्वाद्विद्यावति ब्रह्मविदि अविद्या तत्कार्यं च तेजसीव तमः सकार्यं स्थातुं न शक्नोति । यत एवं ततो विधिर्विधानं विधेयं विधाता च सर्वमाविधिकं मिथ्यैवेति विजानतो ब्रह्मविदः सदाऽऽत्मना तूष्णीमवस्थितिं विना न किञ्चित्कर्तव्यमस्तीति सिद्धम् ॥ ६९ ॥

यथा कन्यका स्वयमृतुमती भूत्वा जननीं जनकं भ्रातरं च सर्वं स्वजनं त्यक्त्वा भर्तारमेवैकमाश्रित्य तदेकालम्बना भूत्वा तत्रैव रमते तेनैव तुष्यति हृष्यत्यानन्दति नाऽन्यं शृणोति पश्यति स्मरति स्पृशति स्वयं पतिव्रता भूत्वा तत्रैव तिष्ठति, तथैव यस्य ब्रह्मविदो यतेः प्रज्ञा समाधिना प्रौढीभूय देहं प्राणमिन्द्रियजातं च सर्वं

है, इस प्रकार मरीचिका जलमें मिथ्यात्व जाननेवाले प्यासे पुरुषकी भी जब उसमें प्रवृत्ति देखनेमें नहीं आती, तब आरोपित सम्पूर्ण दृश्यको मिथ्या और उसके अधिष्ठानभूत ब्रह्मको ही सर्वत्र देखनेवाले पुरुषकी प्रवृत्ति नहीं होती, इसमें तो कहना ही क्या है ? इसलिए अविद्यावालेका ही कर्ममें अधिकार है, विद्यावालेका नहीं । विद्याका अविद्या और अविद्याकार्यके साथ विरोध होनेके कारण विद्यावान् ब्रह्मज्ञानीमें अविद्या और अविद्याका कार्य, उजालेमें अन्धेरे और अन्धेरेके कार्यके समान, ठहर नहीं सकते । यतः ऐसा है, इसलिए विधि, विधान, विधेय और विधाता, सब अविद्याके कार्य मिथ्या हैं, ऐसा जाननेवाले ब्रह्मवित्का, चुपचाप आत्मस्वरूपसे सदा अवस्थितिके सिवा, कुछ भी अन्य कर्तव्य नहीं है, यह सिद्ध हुआ ॥ ६९ ॥

जैसे कन्या स्वयं ऋतुमती होकर माता, पिता, भाई आदि सब स्वजनोंको छोड़कर केवल पतिकी ही आश्रित होकर केवल उसीका आलम्बन कर उसीमें रमण करती है, उसीसे सन्तुष्ट होती है, हर्ष करती है, आनन्द करती है, दूसरेका न सुनती है, न देखती है, न स्मरण करती है और न स्पर्श करती है, स्वयं पतिव्रता होकर पतिमें स्थित रहती है, वैसे ही जिस ब्रह्मवित्

दूरतः परित्यज्य सच्चिदानन्दैकरसं परं ब्रह्मैकमेवाऽऽश्रित्य तदेकालम्बना भूत्वा तत्रैव रमन्ती क्रीडन्ती नन्दन्ती तुष्यन्ती हृष्यन्ती सती पतिव्रतावन्नाऽन्यच्छृणोति पश्यति मनुते विजानाति स्वयं सदा तदात्मना तिष्ठति। स एव जीवन्मुक्तिसुखं विदेह-कैवल्यसुखं च विदन्त इति सूचयितुं स्थितप्रज्ञस्य यतेर्भिक्षादावपि वृत्तेर्बाह्यानालम्ब-नत्वमेव प्रतिपादयति श्रीभगवान् एवंलक्षण एव यतिर्विदेहमुक्तिं प्राप्नोति नाऽन्यविध इति निर्धारयन्—**आपूर्यमाणमिति**।

गङ्गानर्मदागोदावरीकृष्णाकावेरीसिन्ध्वादीनां महानदनदीनां दशशतसहस्र-संख्याकेभ्यो मुखेभ्योऽतिपरिणामवद्भ्यः समागतैरभ्रंकषैर्महाप्रवाहैरपरिमितैः समन्ता-दापूर्यमाणमपि स्वयमचलप्रतिष्ठं अचला चलनवर्जिता प्राक्तनस्वीयलक्षणमनतिक्रान्ता वृद्धिक्षयशून्या प्रतिष्ठा जलस्थितिमर्यादा यस्य सोऽचलप्रतिष्ठस्तम्। प्रवाहाप्रवेशकाल इव प्रवेशकालेऽप्येकरूपेण सत्ताविशेषशून्यतया वर्तमानमित्यर्थः। सदैकरूपेणैव तिष्ठन्तं समुद्रमापः गङ्गासिन्ध्वादिमहानदीनां नानामुखेभ्यः समागतानि जलानि नानाविधवर्णरसगन्धगुणफलवत्य आपो यद्वत्प्रविशन्ति स्वकीयशुक्लनीलारुणपीतादि-रूपविशेषं मधुराम्लतिक्तकषायादिरसविशेषं परिमलपूत्यादिगन्धविशेषं लघुत्व-गुरुत्वादिगुणविशेषं एकद्वित्रिचतुःपञ्चषट्सप्ताष्टनवदशशतकृच्छ्रसमानपुण्यविशेषं

यतिकी प्रज्ञा समाधिसे प्रौढ़ होकर देह, प्राण और इन्द्रियसमूह सबका दूरसे ही त्यागकर सच्चिदानन्दैकरस एक परब्रह्मकी ही आश्रित होकर, उस एकका ही आलम्बन कर उसीमें रहती हुई, क्रीड़ा करती हुई, आनन्द करती हुई, संतुष्ट होती हुई, हर्ष करती हुई पतिव्रताके समान दूसरेको न सुनती है, न देखती है, न मनन करती है, न जानती है, स्वयं सदा ब्रह्म-स्वरूपसे ही स्थित रहती है, वही जीवन्मुक्तिके सुखको और विदेहमुक्तिके सुखको प्राप्त होता है, ऐसा सूचन करनेके लिए उक्त लक्षणवाला यति ही विदेहमुक्तिको प्राप्त होता है, अन्य प्रकारका नहीं, ऐसा निर्धारण करते हुए श्रीभगवान् भिक्षा आदिमें भी स्थितप्रज्ञ यतिकी वृत्ति बाहरका अवलम्बन नहीं करती, ऐसा प्रतिपादन करते हैं—**'आपूर्यमाणम्'** इत्यादिसे।

गङ्गा, नर्मदा, गोदावरी, कृष्णा, कावेरी, सिन्धु आदि महानद और नदियोंके सैकड़ों अति-विस्तृत मुखोंसे आये हुए अपरिमित आकाश छूनेवाले (अतिउन्नत) प्रवाहोंसे चारों ओरसे भरे जानेपर भी जो समुद्र स्वयं अचलप्रतिष्ठ है यानी चलनवर्जित—पूर्वके अपने लक्षणको न छोड़नेवाली अर्थात् बढ़ने घटनेसे रहित—प्रतिष्ठा—जलस्थितिकी मर्यादा—जिसकी है अर्थात् प्रवाहके प्रवेश न करनेके समयमें जैसा है, वैसे ही प्रवेशकालमें भी एकरूपसे—सत्ताविशेषसे रहितरूपसे—वर्तमान, यह भाव है। सदा एकरूपसे ही रहनेवाले समुद्रमें गङ्गा, सिन्धु आदि महानदियोंके अनेक मुखोंसे आये हुए अनेक प्रकारके वर्ण, रस, गन्ध आदि गुणवाले जल जैसे प्रवेश करते हैं यानी अपने श्वेत, नील, लाल, पीत आदि रूपविशेषकों; मधुर, खट्टे, तीखे, कसैले आदि रसोंको; सुगन्ध, दुर्गन्ध आदि गन्धविशेषको; हलका, भारी आदि गुणोंको; एक, दो, तीन, चार, पाँच,

तत्तन्नामविशेषं च परित्यज्य समुद्रभावमेव यथा गच्छन्ति । समुद्रं प्राप्य तत्संबन्धमहिम्ना नामरूपगुणविशेषैर्यथा समुद्रान्न भिद्यन्त इत्यर्थः, तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति । काम्यन्ते नामभेदेन रूपभेदेन रसभेदेन गन्धभेदेन पाकभेदेन च विविच्य गृह्यन्त इति कामा भोग्यपदार्थाः सूपापूपरसान्नादयस्तदन्यें च भोग्यविशेषा नानाविधैर्नामरूपरसगन्धपाकसंस्कारादिविशेषविचित्रैरनेकैर्भोग्यविशेषैः सर्वतोऽनिच्छाप्रारब्धादेव संप्राप्तैरापूर्यमाणं मां गृहाण मां गृहाणेति दातृजनद्वारा समन्तात्पतद्भिर्व्याकुलीक्रियमाणमप्यचलप्रतिष्ठमचला निर्विकल्पा विपरीतभावशून्या व्युत्थानदशायामप्याहारादौ सदाकारतामापाद्य सदात्मनैव निश्चलीभूय स्थिताखण्डाकारवृत्तौः प्रतिष्ठा स्थितिर्यस्य सोऽचलप्रतिष्ठः । तदानीमपि बाह्यानविकल्प्य समाधिनिष्ठया विपरिणामरहितान्तःकरण इत्यर्थः । तमचलप्रतिष्ठमेव यं ब्रह्मविदं यतिं सर्वे कामाः प्रविशन्ति, यं ब्रह्मनिष्ठं प्राप्य सर्वे विषयाश्चिद्भावापन्ना अध्यात्मदृष्ट्या प्रविलापिताः सन्तः स्वकीयं नामविशेषं रूपविशेषं गन्धविशेषं पाकविशेषं संस्कारविशेषं रुचिविशेषं च परित्यज्य समुद्रप्रविष्टमहानदीजलानि समुद्रभावमिव स्वयं ब्रह्मभावं गच्छन्तीत्यर्थः । य एवंलक्षणो ब्रह्मविद्यतिः स एव शान्तिमविद्याप्रपञ्चोपशमलक्षणां विदेहमुक्तिमाप्नोति,

---

छः, सात, आठ, नव, दश, सौ कृच्छ्रोंके समान पुण्यविशेषको और तत्-तत् नामविशेषोंको छोड़कर जैसे समुद्रभावको ही प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् समुद्रको प्राप्त होकर उसके संबन्धकी महिमासे नामरूप और गुणविशेषोंसे जैसे समुद्रसे भिन्न नहीं रहते, वैसे ही काम जिसमें प्रवेश करते हैं । जो चाहे जाते हैं—नामके भेदसे, रूपके भेदसे, रसके भेदसे, गन्धके भेदसे, पाकके भेदसे भिन्न भिन्न रूपसे जिनका ग्रहण किया जाता है—वे काम कहे जाते हैं यानी भोग्य पदार्थ, दाल, पुए, रस, अन्न आदि और इनसे अन्य भी भोग्यविशेष । नाम, रूप, रस, गन्ध, पाक, संस्कार आदि विशेषोंसे विचित्र अनेक प्रकारके चारों ओरसे अनिच्छापूर्वक प्रारब्धसे ही प्राप्त हुए भोग्यविशेषोंसे आपूर्यमाण यानी 'मुझे ग्रहण करो,' इस प्रकार देनेवालों द्वारा सब तरफसे आनेवाले भोग्य विशेषोंसे व्याकुल करनेपर भी अचलप्रतिष्ठ यानी निर्विल्प—विपरीत भावसे शून्य—अर्थात् व्युत्थानदशामें भी आहार आदिमें सत्की आकारताको प्राप्त करके सदात्मरूपसे ही निश्चल होकर स्थित, अखण्डाकार वृत्तियोंसे जिसकी प्रतिष्ठा यानी स्थिति है, वह अचलप्रतिष्ठ है यानी तब भी बाह्य विकल्प न करके समाधिनिष्ठासे विपरिणामरहित अन्तःकरणवाला, यह अर्थ है । उस अचलप्रतिष्ठ जिस ब्रह्मवित् यतिमें सब काम प्रवेश करते हैं, यानी जिस ब्रह्मनिष्ठको प्राप्त होकर सब विषय चिद्भावको प्राप्त होकर अध्यात्मदृष्टिसे लीन होकर अपने नामविशेषको, रूपविशेषको, गन्धविशेषको, पाकविशेषको, संस्कारविशेषको और रुचिविशेषको छोड़कर जैसे समुद्रमें प्रविष्ट हुए महा नदियोंके जल समुद्रभावको प्राप्त हो जाते हैं, वैसे ही स्वयं ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाते हैं, यह अर्थ है । जो इस प्रकार लक्षणवाला ब्रह्मवित् यति है, वही शान्तिको यानी अविद्याप्रपञ्चो-

न तु कामकामी। कामान् विषयान् यः कामयते स कामकामी स्वयं कैवल्यकारणभूतां ब्रह्मनिष्ठां स्वधर्मं परित्यज्याऽनात्मन्येवाऽऽत्मभावमापद्य भोक्ता सन् शुक्तौ रजतमिव मरौ जलमिव ब्रह्मण्यद्वितीये ह्यविद्यमानमेव द्वैतं कल्पयित्वा अहं भोक्तेदं भोग्यमित्यनृताभिसन्धितया बाह्यवासनाभिरसत्यहन्ताममताभिनिवेशेन बद्धः सन् इदं रम्यमिदमिष्टमित्यादिभेदबुद्ध्या नामरूपादिविशेषविभागेन पदार्थान् गृह्णाति यतस्ततः कामकामी भेददर्शी शान्तिं न प्राप्नोति देहादितादात्म्यापत्त्या योऽसदभिनिवेशेन ब्रह्मण्यद्वितीये भेदं पश्यति स एव कामकामी द्वैतदर्शी मुक्तिं न प्राप्नोतीत्यर्थः। तथाच श्रुतिः—'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति तत्त्वेव भयं विदुषोऽमन्वानस्य' इति। नहि देहतादात्म्यं विना भेददर्शनं कामना च सिध्यति। नाऽपि देहतादात्म्यं चाऽविद्यां विना संभवति, अविद्यावतो मुक्त्यभावो युक्त एव यतस्ततः क्वचित्कदाचिदपि देहतादात्म्यापत्त्या भेददृष्टिर्न कर्तव्या विदेहकैवल्यार्थिना यतिनेति सिद्धम्। पूर्वश्लोकेनाऽनेन च द्वाभ्यामाहारादावपि स्थितप्रज्ञो ब्रह्मविद्यतिर्ब्रह्मात्मना ब्रह्मण्येव तिष्ठति न क्वचिदप्यनात्मनीति किमासीतेति प्रश्नस्योत्तरं दत्तम् ॥ ७० ॥

यस्मात् ध्यायतो विषयानित्यत्र विषयाणां श्रवणेन दर्शनेन च विनैव केवलध्यानमात्रेण कामाद्यनर्थाविर्भूत्या विदुषोऽपि प्रणाशः प्रतिपादितः किमुत ब्रह्मनिष्ठा-

परमरूप विदेहमुक्तिको प्राप्त होता है, कामकामी नहीं। जो कामोंको यानी विषयोंको चाहता है, वह कामकामी कहलाता है। वह विषयी पुरुष स्वयं कैवल्यके कारणभूत ब्रह्मनिष्ठारूप स्वधर्मका त्यागकर अनात्मामें आत्मभाव प्राप्त करके भोक्ता होकर शुक्तिमें रजतके समान, मरुमें जलके समान अद्वितीय ब्रह्ममें अविद्यमान ही द्वैतकी कल्पना करके 'मैं भोक्ता हूँ, यह भोग्य है' ऐसी मिथ्या अभिसन्धि द्वारा बाह्यवासनाओंसे असत्‌में अहंता और ममताके अभिनिवेशसे बद्ध होकर यह रम्य है, यह इष्ट है, इत्यादि भेदबुद्धिसे नाम, रूप आदि विशेष विभागों द्वारा पदार्थोंका ग्रहण करता है, इसलिए कामकामी—भेददर्शी—शान्तिको प्राप्त नहीं होता यानी देहादिके तादात्म्यको प्राप्त होकर जो असत् अभिनिवेशसे अद्वितीय ब्रह्ममें भेद देखता है, वह कामकामी (द्वैतदर्शी) मुक्ति ही नहीं पाता, यह अर्थ है। जैसी कि श्रुति है—'जभी यह इसमें थोड़ासा भी भेद मानता है, तब इसको भय होता है, वह भय अभेद न माननेवाले विद्वान्‌को होता है'। देहतादात्म्यके विना भेददर्शन और कामना सिद्ध नहीं होती, अविद्याके विना देहतादात्म्यका भी संभव नहीं है। चूँकि अविद्यावालेमें मुक्तिका अभाव युक्त ही है, इसलिए कभी और कहीं भी देहतादात्म्यको प्राप्त होकर भेददृष्टि विदेहकैवल्य चाहनेवाले यतिको नहीं करनी चाहिए, यह सिद्ध हुआ। पूर्व और इस श्लोकसे आहार आदिमें भी स्थितप्रज्ञ ब्रह्मवित् यति ब्रह्मस्वरूपसे ब्रह्ममें ही स्थित होता है, अनात्मामें कभी भी स्थित नहीं होता, इस प्रकार 'कैसे बैठे' इस प्रश्नका उत्तर दिया ॥ ७० ॥

'ध्यायतो विषयान्' (विषयोंका ध्यान करता हुआ) इत्यादि श्लोकमें सुनने और देखनेके सिवा केवल विषयोंके ध्यानमात्रसे ही काम आदि अनर्थोंकी उत्पत्ति होकर विद्वान्‌का नाश होता है, ऐसा जब

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमाँश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ ७१ ॥

केवल ब्रह्ममें ही अभिनिवेश रखनेके कारण जिसका देहसे अहमात्मक अहङ्कार निकल गया है, देहादि और उसके धर्मोंसे जिसकी ममता (संबन्ध) निकल गयी है, जो सब विषयोंसे वितृष्ण है और सम्पूर्ण बाह्य विषयोंको छोड़कर सर्वत्र ब्रह्मबुद्धिसे विचरता है, वही परम शान्तिको प्राप्त होता है ॥ ७१ ॥

मुत्सृज्य बाह्यवृत्त्या विषयानिन्द्रियैर्गृह्णतो भुञ्जतो यथेच्छं विहरतो वा कामकामिनः प्रणाश इति । तस्माद्विदेहकैवल्यार्थिना यतिना ब्रह्मविदा सर्वथा विषयग्राहमुत्सृज्य सर्वेन्द्रियनिग्रहपूर्वकं सदाऽऽत्मनिष्ठया स्थातव्यम्, एवं यस्तिष्ठति स एव विदेहमुक्तिं विन्दतीति प्रतिपादयति—**विहायेति** ।

पुमर्थमतिदुर्लभं मोक्षं महता प्रयत्नेन संपादयति ब्रह्मवित् खलु पुमान् पुरुषशब्दवाच्यो यो ब्रह्मविद्यतिः स्वयं निरहङ्कारः ब्रह्मैवाऽहमिति ब्रह्मण्येव निरूढात्मत्वाभिनिवेशेन देहान्निर्गतोऽहंकारोऽहमात्मिका बुद्धिर्यस्य स निरहङ्कारः नित्यनिरन्तरब्रह्मनिष्ठया निर्मूलितानात्मतादात्म्यग्रन्थिरित्यर्थः । तत एव निर्ममः । देहतद्धर्मतत्कर्मतदवस्थादिभ्यो निर्गतो ममताबन्धो यस्य स निर्ममः । ब्रह्मतादात्म्यापत्त्या वपुष्यहंभावाभावे तद्धर्मादौ ममताभावो विदुषो युक्त एवेत्यर्थः । तत एव निःस्पृहः विषयेभ्यो निर्गता स्पृहा सुखाशालक्षणा यस्य स निःस्पृहः ब्रह्मण्येवाऽऽत्मतापत्त्या देहादेरनात्मत्वेन

प्रतिपादन किया, तब फिर ब्रह्मनिष्ठाको छोड़कर बाह्य वृत्तिसे विषयोंका उक्त इन्द्रियोंसे ग्रहण करनेवाले, भोगनेवाले अथवा यथेच्छ विहार करनेवाले कामकामीके नाशमें तो कहना ही क्या है ? इसलिए विदेहकैवल्य चाहनेवाले ब्रह्मवित् यतिको सर्वथा विषयोंका ग्रहण नहीं करना चाहिए, किन्तु सब इन्द्रियोंके निग्रहपूर्वक सदा आत्मनिष्ठासे स्थित होना चाहिए, इस प्रकार जो स्थित होता है, वही विदेहमुक्तिको प्राप्त होता है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं—'विहाय' इत्यादिसे ।

पुमर्थ यानी अतिदुर्लभ मोक्षको, महान् प्रयत्नसे प्राप्त करनेवाला ब्रह्मवित् पुमान् है अर्थात् पुरुषशब्दसे वाच्य है, एवंभूत ब्रह्मवित् यति स्वयं निरहङ्कार यानी ब्रह्म ही मैं हूँ, इस प्रकार ब्रह्ममें ही निरूढ़ आत्मत्वाभिनिवेशके द्वारा देहसे अहमात्मक बुद्धिरूप अहङ्कार जिसका निकल गया है, वह निरहङ्कार यानी नित्य निरन्तर समाधिनिष्ठासे जिसने अनात्मतादात्म्यरूप ग्रन्थिका उच्छेद कर दिया है, यह अर्थ है । इसीलिए निर्मम । देह, देहके धर्म, देहके कर्म, देहकी अवस्था आदिसे जिसकी ममतारूप बन्ध कट गया है, वह निर्मम । ब्रह्मतादात्म्यकी प्राप्तिसे शरीरमें अहंभावका अभाव होनेपर उसके धर्मादिमें विद्वान्को ममताका अभाव युक्त ही है, यह अर्थ है । इसीलिए निस्पृह यानी विषयोंमें सुखकी आशारूप स्पृहा जिसकी निकल गयी है, ऐसा निस्पृह पुरुष ब्रह्ममें आत्मभाव

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वाऽस्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥ ७२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

हे मोक्ष चाहनेवाले अर्जुन ! यही ब्राह्मी (ब्रह्मप्रापक) स्थिति है, जिसको पाकर मुमुक्षु मोहको (देहको) प्राप्त नहीं होता । अधिक क्या कहें, अन्त समयमें क्षणभर भी इस अवस्थामें रहकर पुरुष मुक्तिको प्राप्त कर लेता है ॥ ७२ ॥

निरस्तत्वात्तमुद्दिश्य सुखाशासम्भवात् स्वस्य निरन्तरब्रह्मानन्दामृतरसेनैव तृप्तत्वाच्च विदुषो विषयसुखापेक्षाभावो युक्तः । तत एव सर्वान् कामान् बाह्यशब्दवाच्यान् विषयान् विहाय शुक्तिरजततुल्यैस्तैः प्रयोजनाभावादिन्द्रियैस्तद्ग्रहणमकृत्वा सर्वमिदमहं च ब्रह्मैवेति स्वं सर्वं च ब्रह्मैव पश्यन् चरति 'कामान्नीकामरूप्यनुसञ्चरन्' इत्यादिश्रुत्युक्तप्रकारेण भूमौ सर्वत्राऽसङ्गोदासीनो भूत्वा यः पर्यटति परमहंसः स एव शान्तिमात्यन्तिकसंसारोपरमलक्षणां विदेहमुक्तिमधिगच्छति, नैतद्विपरीतलक्षण इत्यर्थः । ब्रह्मात्मना सर्वं वीक्षमाणो ब्रह्मानन्दमनुभुञ्जानो ब्रह्मवित् सर्वत्र चरति, नैकतः तिष्ठतीति 'व्रजेत किम्'इति प्रश्नस्योत्तरं दत्तम् ॥ ७१ ॥

मुमुक्षोर्यतेः श्रवणजन्यं ज्ञानं प्रपञ्चवासनाभिः कामक्रोधादिभिरहंममाद्यभिमानविशेषैश्च सप्रतिबन्धकं विदेहमुक्त्यै नाऽलमिति निश्चित्य परमकृपालुः श्रीभगवान्

होनेसे देहादिका, अनात्मरूप होनेके कारण, निरास होता है, अतः उसके उद्देशसे सुखकी आशा असम्भव होनेके कारण और स्वतः निरन्तर ब्रह्मानन्दरूप अमृतरससे ही तृप्त होनेके कारण विद्वान्को विषयसुखकी अपेक्षा नहीं हो सकती । इसीलिए सब कामोंको यानी बाह्यशब्दसे वाच्य विषयोंको छोड़कर—शुक्तिमें कल्पित रजतके समान कुछ भी प्रयोजन न होनेके कारण इन्द्रियोंसे उनका ग्रहण न करके—'ये सब और मैं ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार अपनेमें और सबमें ब्रह्म ही देखता हुआ जो विचरता है अर्थात् 'कामोंके पीछे निष्काम होकर चलता हुआ' इत्याद्यर्थक श्रुतियोंमें कहे गये प्रकारसे पृथिवीमें चारों ओर असङ्ग और उदासीन होकर जो परमहंस पर्यटन करता है, वही शान्तिको यानी आत्यन्तिक संसारोपरमरूप विदेहमुक्तिको प्राप्त होता है, इससे विपरीत लक्षणवाला प्राप्त नहीं होता, यह भाव है । ब्रह्मरूपसे सबको देखनेवाला और ब्रह्मानन्दको भोगनेवाला ब्रह्मवित् सर्वत्र विचरता है, एक स्थानमें नहीं ठहरता, इस कथनसे स्थितप्रज्ञ 'कैसे चलता है' इस पूर्वोक्त प्रश्नका उत्तर दिया गया ॥ ७१ ॥

मुमुक्षु यतिका श्रवणजन्य ज्ञान, प्रपञ्चकी वासनाओंसे, काम, क्रोध आदिसे और अहं, मम आदि अभिमानविशेषोंसे प्रतिबद्ध होकर विदेहमुक्तिके लिए पर्याप्त नहीं होता, ऐसा निश्चय करके

समाधावचला बुद्धिरिति ब्रह्मनिष्ठां प्रस्तुत्य निरन्तरं ब्रह्मनिष्ठया सर्वकामप्रहाणं कृतवतः शरीरयात्रादावपि ब्रह्मात्मना ब्रह्मणि तिष्ठतोऽहंममादिबन्धान्मुक्तवत एव विदुषो विदेहमुक्तिं प्रतिपाद्य इदानीं मुमुक्षोरेषैव संपादनीया ह्यनयैव विदेहमुक्तिर्नाऽन्यथेति सूचयन्नुपक्रान्तां ब्रह्मनिष्ठामुपसंहरति—**एषेति** ।

स्वस्वरूपं प्रकाश्य मुमुक्षुं संसारमृत्योः पातीति पः परमात्मा तमेवाऽर्थयते वाञ्छतीति पार्थस्तस्य संबुद्धिः हे पार्थ मुमुक्षो, त्वमिदं मयोच्यमानं शृणु । श्रुत्वा कुरु । ब्राह्मी ब्रह्मप्राप्तेर्नियतकारणत्वाद् ब्राह्मी ब्रह्मप्रापिका स्थितिर्निष्ठा । एषा मया प्रतिपादिता मुमुक्षूणाम् । विदेहकैवल्यार्थी ब्रह्मविन्मुमुक्षुरेनां प्रस्तुतां ब्रह्मनिष्ठां प्राप्याऽनुष्ठाय न मुह्यति विमोहाय न कल्पते । सर्वेषां प्राणिनामहमिति विशिष्टो मोहो यत्र स विमोहो देहस्तं न प्राप्नोति । एतस्यां निष्ठायां स्थित्वा ब्रह्मवित् पुनर्देही न भवतीत्यर्थः । किञ्च, पूर्वस्मिन्नेव वयसि प्रसिद्धसाधनो जन्मान्तरीयसंन्यासश्रवणादिपुण्यकर्मपरिपाकवशाद्विद्वानिह प्रारब्धविशेषबलेन किञ्चित्कालं संसृत्याऽन्तकाले चरमावस्थायामप्यस्यां निष्ठायां स्थित्वा निर्वाणं निष्क्रियं नित्यानन्दैकरसं ब्रह्म ऋच्छति मुक्तिं गच्छतीत्यर्थः,

'विज्ञाय चरमावस्थां देवताभ्यो नृपोत्तमः ।
खट्वाङ्गो नाम राजर्षिर्मुहूर्ते मुक्तिमेयिवान् ॥' इति प्रसिद्धेः ।

परम कृपालु श्रीभगवान् 'समाधावचला बुद्धिः' (समाधिमें अचल बुद्धि) इससे ब्रह्मनिष्ठाका प्रस्ताव करके निरन्तर ब्रह्मनिष्ठासे सब कामनाओंका त्याग करनेवाले, शरीरयात्राआदिमें भी ब्रह्मस्वरूपसे ब्रह्ममें स्थित और अहं, मम आदि बन्धनसे मुक्त हुए विद्वान्की ही विदेहमुक्ति होती है, ऐसा प्रतिपादन कर अब मुमुक्षुको इसीका संपादन करना चाहिए, क्योंकि इसीसे विदेहमुक्ति होती है, अन्य प्रकारसे नहीं होती, ऐसा सूचन करते हुए प्रस्तुत ब्रह्मनिष्ठाका उपसंहार करते हैं—'**एषा**' इत्यादिसे ।

अपने स्वरूपको प्रकाशित करके जो मुमुक्षुको संसाररूप मृत्युसे बचाता है, वह 'पः' याने परमात्मा कहलाता है, उसीको जो चाहता है, वह पार्थ कहलाता है, हे पार्थ उसका संबोधन है । हे मुमुक्षु पार्थ, तुम मेरे इस कथनको सुनो याने सुनकर आचरणमें लाओ । ब्रह्मप्राप्तिकी नियत कारण होनेसे ब्रह्मको प्राप्त करानेवाली ब्राह्मी स्थितिका (निष्ठाका) मुमुक्षुओंके लिए ही मैंने प्रतिपादन किया है, विदेहकैवल्य चाहनेवाला ब्रह्मवित् मुमुक्षु इस प्रस्तुत ब्रह्मनिष्ठाको प्राप्त करके—इसका अनुष्ठान करके—मोहित नहीं होता यानी विमोहके योग्य नहीं होता। सब प्राणियोंको 'मैं' ऐसा विशिष्ट मोह जिसमें हो, वह विमोह है यानी देह, उसको प्राप्त नहीं होता । इस निष्ठामें स्थित होकर ब्रह्मवित् फिर देहवाला नहीं होता, यह अर्थ है । किञ्च, पूर्व आयुमें ही साधनसम्पन्न होकर पूर्वजन्मके संन्यास, श्रवण आदि पुण्यकर्मोंके परिपाकके कारण विद्वान् यहां प्रारब्धविशेषके बलसे कुछ काल संसारमें आकर अन्तकालमें यानी अन्तिम अवस्थामें इस निष्ठामें स्थित होकर भी निर्वाणको यानी निष्क्रिय, नित्य और आनन्दैकरसरूप ब्रह्मको प्राप्त होता है अर्थात् मुक्तिको प्राप्त होता है, यह भाव है,

यत एवं ततो विदेहकैवल्यार्थिभिर्यतिभिर्बाह्ये प्रवृत्तिं परित्यज्याऽस्यामेव निष्ठायां सर्वदा स्थातव्यमिति सिद्धम् ॥७२॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमदानन्दात्मसरस्वतीशिष्यश्रीशङ्करानन्दसरस्वतीकृतौ गीतावाक्यतात्पर्यबोधिन्यां द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

क्योंकि 'राजाओंमें उत्तम खट्वाङ्ग नामका राजर्षि अन्तिम अवस्थाको देवताओंसे जानकर एक मुहूर्तमें मुक्तिको प्राप्त हुआ', ऐसा प्रसिद्ध है ।

यतः ऐसा है, इसलिए कैवल्यार्थी यतियोंको बाह्य विषयोंमें प्रवृत्ति छोड़कर इसी ब्राह्मीनिष्ठामें सर्वदा स्थित रहना चाहिए, यह सिद्ध हुआ ॥ ७२ ॥

दूसरा अध्याय समाप्त

अथ तृतीयोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत् कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ १ ॥

हे अज्ञानका विनाश करनेवाले जनार्दन, यदि कर्मयोगकी अपेक्षा ज्ञानयोगको आप श्रेष्ठ मानते हैं, तो हे केशव, हिंसात्मक कर्ममें मुझे क्यों प्रवृत्त करा रहे हैं ॥ १ ॥

'न त्वेवाऽहं जातु नाऽऽसम्' इत्यात्मानात्मविवेचनमुपक्रम्य 'न जायते म्रियते वा' इत्यादिना सम्यगात्मतत्त्वं निर्धार्य 'वेदाऽविनाशिनम्' इत्यादिना ब्रह्मविदः सर्वकर्मसंन्यासमुक्त्वा तस्यैव 'प्रजहाति' इत्यारभ्य 'स शान्तिमाप्नोति' इत्यन्तेन ग्रन्थेन ब्रह्मनिष्ठां तत्फलं च मोक्षं प्रतिपाद्य 'न कामकामी'इति कामकामिनो मोक्षाभावः प्रतिपादितस्तेन सर्वकर्मसंन्यासपूर्वकं ब्रह्मनिष्ठया मोक्षः संपादनीय इति सर्वेषां प्रवृत्तौ संप्रसक्तायाम्—

'विरक्तः प्रव्रजेद्धीमान् सरक्तस्तु गृहे वसेत् ।
सरागो नरकं याति प्रव्रजन् हि द्विजाधमः ॥
यदा मनसि संजातं वैतृष्ण्यं सर्ववस्तुषु ।
तदा संन्यासमिच्छेत पतितः स्याद्विपर्यये ॥

'न त्वेवाऽहं जातु नाऽऽसम्' (मैं कभी नहीं था, ऐसा नहीं है) इत्यादिसे आत्मा और अनात्माका विवेचन आरंभ करके, 'न जायते म्रियते' (न जन्मता है, न मरता है) इत्यादिसे ठीक-ठीकरूपसे आत्मतत्त्वका निर्धारण करके, 'जो अविनाशी नित्यको जानता है' इत्यादिसे ब्रह्मज्ञानीके लिए सब कर्मोंका संन्यास कहकर 'प्रजहाति' इत्यादिसे आरंभ करके, 'स शान्तिमाप्नोति' (वह शान्तिको प्राप्त होता है) इत्यन्त ग्रन्थसे उसी ज्ञानीकी ब्रह्मनिष्ठा और ब्रह्मनिष्ठाके फल मोक्षका प्रतिपादन करके अनन्तर 'न कामकामी' इससे कामनावालेको मोक्ष नहीं होता, ऐसा प्रतिपादन किया। इससे सब कर्मोंके संन्यासपूर्वक ब्रह्मनिष्ठा द्वारा मोक्षका संपादन करना चाहिए, यों सबकी संन्यासमें प्रवृत्तिका प्रसंग आनेपर—

'बुद्धिमान् विरक्त घरसे निकल जाय, सरक्त तो घरमें वास करे' क्योंकि यदि रागवाला अधम ब्राह्मण संन्यास ग्रहण करे, तो वह नरकमें गिरता है। जब सब वस्तुओंकी तृष्णा मनसे निकल जाय, तब संन्यासकी इच्छा करे, इससे विपरीत आचरण करनेपर पतित हो जाता है। कर्म प्रवृत्तिलक्षण है

प्रवृत्तिलक्षणं कर्म ज्ञानं संन्यासलक्षणम् ।
तस्माज्ज्ञानं पुरस्कृत्य संन्यसेदिह बुद्धिमान् ॥
यदा तु विदितं तत्त्वं परं ब्रह्म सनातनम् ।
तदैकदण्डं संगृह्य सोपवीतां शिखां त्यजेत् ॥
अहमेव परं ब्रह्म वासुदेवाख्यमव्ययम् ।
इति बोधो दृढो यस्य तदा भवति भैक्ष्यभुक् ॥
प्राणे गते यथा देहः सुखं दुःखं न विन्दति ।
तथा चेत्प्राणयुक्तोऽपि स कैवल्याश्रमे वसेत् ॥
अनधीत्याऽखिलान् वेदाननिष्ट्वाऽखिलान् सुरान् ।
अनुत्पाद्य सुतान् विप्रो न संन्यसितुमर्हति ॥
अकुर्वन् विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन् ।
प्रचरन्निन्द्रियार्थेषु नरः पतनमृच्छति ॥'

'ज्ञात्वा नैष्कर्म्यमाचरेत् । सशिखं वपनं कृत्वा बहिः सूत्रं त्यजेद् बुधः ।' 'ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' इति ।

'परं ब्रह्म परिज्ञाय प्रव्रजेद् ब्राह्मणोत्तमः ।
अन्यथा कर्म कुर्वीत न प्रमाद्येत कर्हिचित् ॥
स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः ।
विपरीतस्तु दोषः स्यादुभयोरेष निश्चयः ॥'

और ज्ञान संन्यासलक्षण है यानी कर्मका लक्षण प्रवृत्ति है और ज्ञानका लक्षण संन्यास है, इसलिए इस लोकमें बुद्धिमान् ज्ञानपूर्वक संन्यास करे । जब सनातन परब्रह्मरूप तत्त्वका परिज्ञान हो जाय, तब एक दण्डका ग्रहण करके उपवीतसहित शिखाका त्याग करे । जिसको वासुदेवनामक अव्यय परब्रह्म मैं ही हूँ, ऐसा दृढ़ बोध हो चुका, तब वह भिक्षाभोजी होता है। जैसे प्राणके निकल जानेपर शरीर सुख और दुःख नहीं जानता, वैसे ही प्राणके रहनेपर भी यदि न जाने, तो वह कैवल्य आश्रममें बसे । ब्राह्मण संपूर्ण वेदोंको पढ़े बिना, यज्ञों द्वारा सब देवताओंका पूजन किये बिना और पुत्रोंको उत्पन्न किये बिना संन्यासका अधिकारी नहीं होता । विहित कर्म न करता हुआ, निन्दित कर्म करता हुआ एवं इन्द्रियोंसे विषयोंको भोगता हुआ मनुष्य पतित होता है ।' 'तत्त्वको जानकर ज्ञानी नैष्कर्म्यका आचरण करे, शिखासहित मुण्डन कराके बाहरका सूत्र त्याग दे ।' 'वे निश्चय पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणका त्याग करके भिक्षाचरण करते थे' । 'उत्तम ब्राह्मण परब्रह्मको भली भाँति जानकर संन्यास ग्रहण करे, ऐसा न हो तो कर्म करे, कभी भी प्रमाद न करे । अपने अपने अधिकारमें जो निष्ठा है, वह गुण कहा गया है, इससे विपरीत तो दोष है, यह दोनोंका निश्चय है ।'

इत्यादिश्रुतिस्मृतिवचनेभ्यो ह्यधिकारिणामेव संन्यासो नाऽनधिकारिणामन्यथाकृत्वा पतिष्यन्तीति ज्ञानकर्मयोगयोरधिकार्यादिभेदेन भेद एवेति तयोर्विभागं दर्शयितुं चाऽनधिकारिणां कर्मैव चित्तशुद्धिद्वारा मोक्षसाधनं तदेवाऽवश्यं कर्तव्यमिति बोधयितुं च तृतीयाध्याय आरभ्यते। तत्राऽऽदौ 'कर्मण्येवाऽधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' इति तव कर्मण्येवाऽधिकारो नाऽन्यत्रेत्यवधारणपूर्वकं कर्म विधाय—'दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय। बुद्धौ शरणमन्विच्छ' इति ज्ञानयोगात् कर्मयोगो निकृष्टस्ततो ज्ञानयोगमेवाऽऽश्रयेति ज्ञानयोगविधानाच्च तेन व्याकुलीभूतान्तरात्मा भूत्वाऽर्जुनः स्वयं 'दूरेण ह्यवरं कर्म' इति वचनार्थमेव मनसि निधाय कर्मयोगात् ज्ञानयोगस्य साक्षान्मोक्षसाधनत्वेन विशिष्टतरत्वं मन्यमान इदमुवाच—**ज्यायसीति**।

जनं जननं तत्कारणमज्ञानं च स्वसाक्षात्कारेणाऽर्दयति हिनस्तीति जनार्दनस्तस्य संबुद्धिर्हे जनार्दन, कर्मणः कर्मयोगाद् बुद्धिर्ज्ञानयोग एव ज्यायती श्रेष्ठेति ते मताऽभिमता चेत्किं किमर्थं 'कर्मण्येवाऽधिकारस्ते' इति मां कर्मणि ज्ञानान्निकृष्टे नियोजयसि। तत्राऽपि घोरे हिंसात्मके 'तस्माद्युध्यस्व भारत' इति चोदयसि। भवानीश्वरस्तव वचनमलङ्घ्यम्। मां भक्तमनुरक्तं च योग्यमर्थं त्याजयित्वाऽयोग्यार्थे प्रेषयसीत्यर्थः॥ १॥

इत्याद्यर्थक श्रुति-स्मृति-वचनोंसे अधिकारियोंके लिए ही संन्यासका विधान है, अनधिकारियोंके लिए नहीं है, जो ऐसा न करेंगे, तो पतित होंगे, इस प्रकार ज्ञानयोग और कर्मयोगका अधिकारी आदिके भेदसे भेद ही है, इसलिए इन दोनोंका विभाग दिखलानेके लिए और अनधिकारियोंको चित्तकी शुद्धि द्वारा कर्म ही मोक्षका साधन है, वही अवश्य करना चाहिए, यह बतलानेके लिए तीसरे अध्यायका आरंभ किया जाता है। इसमें पहले 'कर्ममें ही तुम्हारा अधिकार है, फलमें कभी भी नहीं है', इत्यादिसे तुम्हारा कर्ममें ही अधिकार है, अन्यमें नहीं है, इस प्रकार अवधारणपूर्वक कर्मका विधान करके हे धनंजय, ज्ञानयोगसे कर्मयोग बहुत ही निकृष्ट है, अतः ज्ञानकी शरण लो' इससे ज्ञानयोगसे कर्मयोग निकृष्ट है, इसलिए ज्ञानयोगका आश्रय लो, इस प्रकार ज्ञानयोगका विधान किया है, इससे अर्जुन व्याकुलमन होकर स्वयं 'कर्म बहुत ही निकृष्ट है' इस वचनके अर्थको ही मनमें धारण करके और कर्मयोगकी अपेक्षा ज्ञानयोगको साक्षात् मोक्षका साधन और श्रेष्ठतर मानकर कहता है—'**ज्यायसी**' इत्यादि।

जनको—जन्मको और उसके कारण अज्ञानको—अपने साक्षात्कारसे अर्दन करता है यानी नष्ट कर देता है, वह जनार्दन कहलाता है, जनार्दन उसका संबोधन है—हे जनार्दन, कर्मसे (कर्मयोगसे) बुद्धि—ज्ञानयोग—ही श्रेष्ठ है, ऐसा यदि आपका मत है—आपको अभिमत है—तो 'कर्ममें ही तुम्हारा अधिकार है' इत्यादिसे ज्ञानकी अपेक्षा निकृष्ट कर्ममें आप मुझको क्यों नियुक्त करते हैं? उसमें भी घोर हिंसात्मक कर्ममें 'इसलिए हे भारत, युद्ध करो', ऐसी क्यों प्रेरणा करते हैं? आप

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ २ ॥

ज्ञान-कर्म-समुच्चयके प्रतिपादक वचनों द्वारा आप मानो मेरी बुद्धिको भ्रममें डाल रहे हैं अर्थात् मुझे कर्ममें प्रवृत्त करा रहे हैं, अतः ज्ञान और कर्मयोगमें से किसी एकको, जो मेरे योग्य हो, विचार कर मुझसे कहिए, जिससे मैं श्रेय पा सकूँ ॥२॥

किञ्च, **व्यामिश्रेणेति** । 'कर्मण्येवाऽधिकारस्ते' इति 'बुद्धौ शरणमन्विच्छ' इति चैवंलक्षणेन व्यामिश्रेणेव क्षीरनीरयोरिव द्वयोर्मेलनं व्यामिश्रं तेनेव ज्ञानकर्मणोः समुच्चयवतैव वाक्येन मम बुद्धिं मोहयसीव मां कर्मणि नियोजयसि । यद्यपि युद्धं कर्तव्यं वा त्यक्तव्यं वेति संशयालोस्त्वां शरणं गतस्य मम भ्रमापनयाय भवान् दयया प्रवृत्तो न तु मोहनाय, तथापि विवेकविकलस्य जडात्मनो मम भवद्वचनं व्यामिश्रमिव भाति, तेन व्यामिश्रकवाक्येन मम बुद्धिं मोहयसीव प्रतीयते । तदपि मम बुद्धिदोष एवेति भावः । तर्हीदानीं किं कर्तव्यमित्यत आह—**तदेकमिति** । ज्ञानकर्मणोः क्रियाकारकफलभेदेन विपरीतयोरेककर्तृत्वासंभावात्तयोरेकं ज्ञानं वा कर्म वा मदधिकारानुरूपं तत्र मम योग्यत्वमयोग्यत्वं च विचार्य, इदमेवाऽस्याऽर्हमिति निश्चित्य वद । येन ज्ञानेन वा कर्मणा वा तयोरेकतरेण वाऽहं साक्षात्परम्परया वा श्रेयः परमपुरुषार्थं प्राप्नुयाम् ॥ २ ॥

ईश्वर हैं, आपका वचन अलंध्य है—टालने योग्य नहीं है । मुझ भक्त और अनुरक्तको जो योग्य अर्थ है, उसका त्याग कराके अयोग्य अर्थमें क्यों प्रेरित करते हैं, यह अर्थ है ॥ १ ॥

किञ्च **'व्यामिश्रेण'** इत्यादि । 'कर्ममें ही तुम्हारा अधिकार है' और 'बुद्धिकी शरण लो' इस प्रकारके व्यामिश्र वाक्यसे (दूध और पानीके समान दोनोंका मेलन व्यामिश्रण है) अर्थात् ज्ञान और कर्मके समुच्चयवाले वाक्यसे मेरी बुद्धिको मोहित-सी करके मुझको कर्ममें नियुक्त करते हैं । यद्यपि युद्ध कर्तव्य है अथवा त्यागने योग्य है, ऐसा संशयग्रस्त होकर मैं आपके शरण आया हूँ, अतः मेरा भ्रम दूर करनेके लिए दयासे आप प्रवृत्त हुए हैं, मोहित करनेके लिए नहीं, तो भी विवेकरहित जड़ बुद्धिवाले मुझको आपके वचन मिले-जुलेसे प्रतीत होते हैं, इसलिए मिलेजुले वाक्यसे मेरी बुद्धिको आप मोहित करते हुए-से प्रतीत होते हैं, यह भी मेरी बुद्धिका दोष है, यह भाव है । तो अब क्या करना चाहिए, ऐसा पूछनेपर अर्जुन कहता है—**'तदेकम्'** से । क्रिया, कारक और फलके भेदसे ज्ञान और कर्म विरुद्ध हैं, दोनोंका एक कर्ता नहीं हो सकता, इसलिए दोनोंमें से मेरे अधिकारके अनुसार एक ज्ञान अथवा कर्मको, योग्यता और अयोग्यताका विचारकर यही इसके योग्य है, ऐसा निश्चय करके, कहिए । जिससे कि ज्ञान अथवा कर्म दोनोंमें से किसी एकके द्वारा साक्षात् अथवा परम्परासे मैं श्रेयको—परम पुरुषार्थको—प्राप्त होऊँ ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ ३ ॥

भगवान्‌ने कहा—पूर्वमें वेदस्वरूपधारी मैंने इस लोकमें स्वधर्मपरायण ब्राह्मण आदि मुमुक्षुओंके लिए दो प्रकारकी निष्ठाएँ कहीं हैं अर्थात् ब्रह्मज्ञानी योगियोंके लिए ज्ञानयोगसे एक निष्ठा (अवस्थिति) और गृहस्थोंके लिए कर्मयोगसे दूसरी निष्ठा कही है ॥ ३ ॥

त्वया यदुक्तं तत्सत्यं तवैवाऽयं बुद्धिदोषस्तदा यदुक्तं तत्त्वया न ज्ञातम् । विद्याबुद्धिशक्त्यवस्थादौ विचार्यमाणे तव कर्मण्येवाऽधिकारो न तु संन्यासे । तत एवोक्तं मया 'कर्मण्येवाऽधिकारस्ते' इति । तथापि चित्तशुद्धिद्वारा ज्ञानसिद्ध्यै कर्म कुरु, न तु फलायेति सूचयितुं 'बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः' इत्युक्तम्, न तु कर्म त्यक्त्वा बुद्धिमाश्रयेत्युक्तम्, नाऽप्युभयं च कुर्विति । ज्ञानकर्मणो राजसूय-बृहस्पतिसवादिवद्भिन्नकर्तृकत्वेनैकपुरुषानुष्ठेयत्वायोगादिदं पूर्वमेव सूचितम्—'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु' इति, तदेव पुनरुच्यते श्रूयतामित्याशयेन श्रीभगवानुवाच—लोक इति ।

अस्मिँल्लोके ब्राह्मणादीनां स्वधर्मपराणां मुमुक्षूणां पुरा पूर्वकाले मया वेदरूपिणा सर्वज्ञेन सर्वधर्मोपदेष्ट्रा द्विविधा द्विप्रकारा निष्ठा शास्त्रीयस्याऽनुष्ठेयस्य धर्मस्याऽसाङ्कर्यं

तुमने जो कहा वह सत्य है, तुम्हारी ही बुद्धिका यह दोष है कि जो मैंने तुमसे कहा, उसे तुमने नहीं समझा। विद्या, बुद्धि, शक्ति, अवस्था आदिका विचार करनेपर कर्ममें ही तुम्हारा अधिकार है, संन्यासमें नहीं। इसीलिए मैंने कहा कि तुम्हारा कर्ममें ही अधिकार है। फिर भी चित्तकी शुद्धिके द्वारा ज्ञानकी सिद्धिके लिए कर्म करो, फलके लिए नहीं, ऐसा सूचन करनेके लिए बुद्धिकी अपेक्षा फलके लिए कर्म करनेवाले कृपण हैं, ऐसा कहा है, यह नहीं कहा है कि कर्मको छोड़कर बुद्धिका आश्रय लो और यह भी नहीं कहा है कि दोनों ही करो, क्योंकि राजसूय और बृहस्पति-सव आदिके समान ज्ञान और कर्मके कर्ताओंके भिन्न-भिन्न होनेसे एक पुरुष उन दोनोंका अनुष्ठान नहीं कर सकता, इसका पूर्वमें ही सूचन कर दिया है—'सांख्यविषयक यह बुद्धि तुझसे कही, अब योगविषयक बुद्धिको सुनो। उसीको फिर कहता हूँ, सुनो, इस आशयसे श्रीभगवान् कहते हैं—'लोके' इत्यादि।

इस लोकमें स्वधर्मपरायण ब्राह्मण आदि मुमुक्षुओंसे पुरा—पूर्वकालमें—वेदरूप, सर्वज्ञ और सब धर्मोंके उपदेश करनेवाले मैंने दो प्रकारकी निष्ठा—नियमपूर्वक स्थिति—व्यवस्था कही है

यथा तथा नियमेन स्थितिर्व्यवस्था प्रोक्ता कृतेत्यर्थः । तत्कथमिति चेदुच्यते—**ज्ञानयोगेनेति** । वेदान्तैः सर्वैः सम्यक् ख्यायते तात्पर्येण प्रतिपाद्यत इति सांख्यं निर्विशेषं परं ब्रह्म तदेव स्वात्मत्वेन ये विदुस्ते सांख्याः ब्रह्मविदस्तेषां सांख्यानां यतीनां ब्रह्मज्ञानाम् । ज्ञानयोगेन ब्रह्मविद् ब्रह्मणा युज्यत एकीक्रियतेऽनेनेति योगः ज्ञानमेव योगो ज्ञानयोगस्तेन सर्वमिदमहं च ब्रह्मैवेति ब्रह्माकारवृत्त्या निष्ठा नैश्चल्येन स्थितिः प्रोक्ता सदैकरीत्या कर्तव्यत्वेन विहिता । 'तमेवैकं विजानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ', 'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात्', 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'तज्जलानिति शान्त उपासीत', 'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः । नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान्वाचो विग्लापनं हि तत्' इत्यादिवाक्यैरतत्प्रवृत्तिं निषिध्य तेषां ब्रह्मनिष्ठैव कर्तव्यत्वेन प्रोक्तेत्यर्थः । योगिनां कर्मयोगिनां गृहिणां कर्मयोगेन युज्यते अभ्युदयोऽनेनेति योगः कर्मैव योगः कर्मयोगस्तेन निष्ठा नियमस्थितिः प्रोक्ता । 'अहरहः संध्यामुपासीत', 'उदिते सूर्ये प्रातर्जुहोति', 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत', 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः', 'तस्मात्स्वाध्यायोऽध्येतव्यः', 'ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च । सत्यं च

यानी की है, जिससे कि शास्त्रीय अनुष्ठेय धर्मका साङ्कर्य न हो ।

उक्त व्यवस्था किस प्रकारसे की गई है ? उसपर कहते हैं—**'ज्ञानयोगेन'** इत्यादिसे ।

सब वेदान्तों द्वारा ठीकरूपसे जो कहा जाता है—तात्पर्यसे प्रतिपादित किया जाता है—वह सांख्य है याने निर्विशेष परब्रह्म, उसीको जो अपने आत्मरूपसे जानते हैं, वे सांख्य—ब्रह्मज्ञानी—कहलाते हैं, उन सांख्योंकी (ब्रह्मज्ञानी यतियोंकी) ज्ञानयोगसे निष्ठा कही है। जिससे ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मके साथ सम्बद्ध किया जाता है याने एकीकृत किया जाता है, वह योग है, ज्ञान ही योग है, उस ज्ञानरूप योगके द्वारा 'यह सब और मैं ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार ब्रह्माकारवृत्तिसे निष्ठा (निश्चलरूपसे स्थिति) कही गई है—सदा एक रीतिसे कर्तव्यरूपसे उसका विधान किया गया है। 'उस एक आत्माको जानो, दूसरी बातोंको छोड़ो', 'परम अज्ञानसे पार पानेके लिए आत्माका ॐ से ध्यान करो, तुम्हारा कल्याण हो', 'वेदान्तके विज्ञानसे भली भाँति निश्चय किये हुए अर्थवाले', 'यह सब ब्रह्म है', 'वह जन्म देनेवाला, लय करनेवाला और चेष्टा करनेवाला है, शान्त होकर उसकी उपासना करे', धीर ब्राह्मण पुरुष उसीको जानकर ब्रह्मबुद्धि करे, बहुतसे शब्दोंका ध्यान न करे, क्योंकि वह केवल वाणीका श्रम है' इत्यर्थक वाक्योंसे अन्य प्रवृत्तिका निषेध करके उनका कर्तव्य ब्रह्मनिष्ठा ही है, ऐसा कहा गया है, यह अर्थ है। योगी यानी कर्मयोगी गृहस्थोंकी कर्मयोगसे—जिससे अभ्युदय प्राप्त किया जाता है, वह योग कहलाता है। कर्मरूप ही योग कर्मयोग कहलाता है, उससे—निष्ठा (नियमसे स्थिति) कही है, 'प्रतिदिन सन्ध्या करे' 'सबेरे सूर्यका उदय होनेपर हवन करे', 'वसन्त ऋतुमें ब्राह्मण अग्निका आधान करे', 'यहां कर्म करता हुआ ही सौ वर्ष तक जीनेकी इच्छा करे', 'इसलिए स्वाध्याय पढ़ना चाहिए', 'ऋत, स्वाध्याय और प्रवचन करे ।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥

कोई भी पुरुष नित्य श्रौत, स्मार्त आदि कर्मोंका अनुष्ठान किये बिना मुक्तिको प्राप्त नहीं कर सकता, एवं आलस्यवश शिखा, उपवीत आदिके त्यागमात्रसे भी सिद्धिको प्राप्त नहीं होता ॥ ४ ॥

स्वाध्यायप्रवचने च । अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च । अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च । 'सत्यं वद । धर्मं चर ।' 'तानि त्वयोपास्यानि' इति श्रौतस्मार्तकर्मनिष्ठैव कर्मिणां कर्तव्यत्वेन प्रोक्ता विहिता । एवं निष्ठाद्वयं कर्मिणां गृहस्थानामकर्मिणां संन्यासिनां चाऽसङ्कीर्णम् । विभज्य प्रदर्शितमित्यर्थः ॥ ३ ॥

नन्वेवं सति ज्ञानकर्मणोरुभयोरपीतरेतरानपेक्षयैव साक्षान्मोक्षहेतुत्वं प्राप्तमिति-चेत्, न; 'न कर्मणा न प्रजया' इत्यादिश्रुतिभिः कर्मणो मोक्षसाधनत्वनिषेधात् 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' इतीतरव्यावृत्तिपूर्वकं ज्ञानस्यैव साक्षान्मोक्षसाधनत्वावधारणाच्च न कर्मणो मोक्षसाधनता संभवति । यद्यपि ज्ञानमेव समुत्पन्नं स्वयमन्यानपेक्षया पुरुषस्य सद्यो मुक्तिसुखं प्रयच्छति, तथापि 'सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः' इति श्रवणात् सत्त्वशुद्धिं विना ज्ञानं नोदेति । सत्त्वशुद्धिश्च 'ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन' इति श्रवणाद्यज्ञदानादिसत्कर्मानुष्ठितिं विना न सिध्यति । अतो मुमुक्षोरनुत्पन्नात्म-

---

सत्य, स्वाध्याय और प्रवचन करे । अग्नि रक्खे, स्वाध्याय और प्रवचन करे ।' 'सत्य बोलो । धर्म करो । [हमारे जो शोभन चरित्र हैं,] उनको तुम करो । इत्यादि श्रुतियोंसे श्रौत-स्मार्त-कर्मनिष्ठा ही कर्मियोंके लिए कर्तव्य है, ऐसा कहा गया है यानी उसका विधान किया गया है । इस प्रकार कर्मी गृहस्थोंकी और अकर्मी संन्यासियोंकी दो निष्ठाएँ अलग-अलग विभाग करके दिखलायी गई हैं ॥३॥

यदि शङ्का हो कि ऐसा होनेसे ज्ञान और कर्म एक दूसरेकी अपेक्षाके बिना ही साक्षात् मोक्षके हेतु हो जायँगे, तो यह शङ्का भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'न कर्मसे न प्रजासे' इत्याद्यर्थक श्रुतियोंसे कर्म मोक्षका साधन है, इसका निषेध किया गया है और 'ज्ञानसे ही कैवल्य प्राप्त होता है' इस श्रुतिसे दूसरेकी व्यावृत्ति कर ज्ञान ही मोक्षका साधन है, ऐसा निर्धारण किया गया है, इसलिए कर्ममें मोक्षकी साधनताका संभव नहीं है । यद्यपि उत्पन्न हुआ ज्ञान ही स्वयं दूसरेकी अपेक्षाके बिना पुरुषको शीघ्र मोक्ष-सुख देता है, तो भी 'अन्तःकरणकी शुद्धि होनेपर निश्चित स्मृति होती है' इत्यर्थक श्रुतिसे अन्तःकरणके शुद्ध हुए बिना ज्ञानका उदय नहीं होता और 'ब्राह्मण यज्ञसे और दानसे तत्त्वको जाननेकी इच्छा करते हैं' इत्यर्थक श्रुतिसे यज्ञ, दान आदि सत् कर्मोंके अनुष्ठानके बिना अन्तःकरणकी शुद्धि नहीं होती, ऐसा कहा है, इसलिए जिस मुमुक्षुको आत्मज्ञान नहीं हुआ है, उसको

ज्ञानस्याऽवश्यं चित्तशुद्ध्यर्थं कर्म कर्तव्यमन्यथा मोक्षो न सिध्यतीत्याह—**न कर्मणामिति ।**

नित्यानां कर्मणां श्रौतादीनामनारम्भादनाचरणान्नैष्कर्म्यं न यत्र कर्म तन्निष्कर्म ब्रह्म, 'निष्कलं निष्क्रियम्' इति श्रुतेः । तस्य भावो नैष्कर्म्यं निष्क्रियब्रह्मात्मनाऽवस्थानलक्षणां मुक्तिं पुरुषो नाऽश्नुते, उपायाभावात् । सत्येवोपाये उपेयं सिध्यति । यत उपायभूतानां कर्मणामननुष्ठानादुपेयभूतं ज्ञानं तत्फलं च नैष्कर्म्यं पुरुषस्य न सिध्यति, अतो मुमुक्षोरीश्वरार्पणबुद्ध्या नित्यं नैमित्तिकं च कर्माऽवश्यमनुष्ठातव्यं तेन ज्ञानं मोक्षश्च सिध्यतीत्यर्थः । ननु 'न कर्मणा न प्रजया' इति श्रुत्यैव कर्मणो मोक्षसाधनत्वनिषेधात् 'संन्यासयोगाद्' इति संन्यासस्यैव यतीनां मुक्तिहेतुत्वश्रवणाच्च सर्वकर्मणां संन्यासमेव कृत्वाऽहं तूष्णीं सुखमासे, न कदाऽपि च कुर्वे क्लेशभूयिष्ठं कर्म; तत्राऽपि च हिंसाप्रधानमित्याशङ्कायामाह—**न चेति ।** कर्मणि क्लेशभूयिष्ठत्वबुद्ध्याऽप्यलसत्वेन वाऽप्यापातवैराग्याच्छिखायज्ञोपवीतत्यागमात्रादेव सिद्धिं नैष्कर्म्यसिद्धिं विदेहमुक्तिं ब्राह्मणो मुमुक्षुर्न समधिगच्छति विनैव वेदान्तश्रवणजन्यज्ञानेन, 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' इति श्रुतिप्रसिद्धेः । ननु संन्यस्य मुक्त्यर्थं दहरोपास्तिं वा

चित्तकी शुद्धिके लिए कर्म अवश्य करना चाहिए, इसके बिना मोक्ष नहीं होता, ऐसा कहते हैं—**'न कर्मणाम्'** इत्यादिसे ।

श्रौत आदि नित्य कर्मोंका आरंभ किये बिना—आचरण किये बिना—नैष्कर्मको प्राप्त नहीं होता । जहां कर्म न हो, वह निष्कर्म कहलाता है अर्थात् ब्रह्म, क्योंकि 'निष्कल और निष्क्रिय' ऐसी श्रुति है । निष्कर्मका भाव नैष्कर्म्य है, उसको पुरुष प्राप्त नहीं होता अर्थात् निष्क्रिय ब्रह्मस्वरूपसे अवस्थितिरूप मुक्तिको पुरुष प्राप्त नहीं होता, क्योंकि उपायका अभाव है । उपायके होनेपर ही उपेय सिद्ध होता है, उपायरूप कर्मोंका अनुष्ठान न होनेसे पुरुषको उपेयरूप ज्ञान और ज्ञानका फल नैष्कर्म्य प्राप्त नहीं होता, इसलिए मुमुक्षुको ईश्वरार्पणबुद्धिसे नित्य और नैमित्तिक कर्मोंका अनुष्ठान अवश्य करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करनेसे ज्ञान और ज्ञानका फल मोक्ष सिद्ध होता है, यह भाव है ।

'न कर्मसे, न प्रजासे' इत्यर्थक 'न कर्मणा न प्रजया' इत्यादि श्रुतिसे ही कर्ममें मोक्षसाधनत्वका निषेध किया गया है । 'संन्यासयोगसे' इत्यर्थक श्रुति यतियोंके मोक्षके प्रति संन्यास ही कारण है, ऐसा कहती है । इसलिए 'सब कर्मोंका संन्यास करके ही मैं चुपचाप सुखसे बैठता हूँ, बहुत क्लेशवाले कर्मको उसमें भी हिंसाप्रधान कर्मको कभी भी नहीं करता, ऐसी शङ्का होनेपर कहते हैं—**'न च'** इत्यादिसे । मुमुक्षु ब्राह्मण कर्ममें क्लेश अधिक समझ कर आलस्यसे अथवा आपात वैराग्य द्वारा शिखा और यज्ञोपवीतके त्यागमात्रसे ही सिद्धि—नैष्कर्म्यसिद्धि—यानी विदेहमुक्ति वेदान्तके श्रवणसे उत्पन्न ज्ञानके बिना प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि 'ज्ञानसे ही कैवल्य होता है' ऐसा श्रुतिमें प्रसिद्ध है । मुक्तिके लिए संन्यासका ग्रहणकर मैं दहरोपासना, वैश्वानरी उपासना, शिवकी पूजा अथवा शिवके नामका

वैश्वानरीं वोपास्ति शिवस्य वा पूजां तन्नामकीर्तनं वा कुर्यामिति चेत्, नाऽऽद्यः; 'सत्यकामः सत्यसंकल्पः' इति दहरोपासनस्य सत्यकामत्वादिगुणवत्त्वश्रवणाद् गुणवदुपास्त्या तद्भावापत्तिप्रसङ्गात् । न द्वितीयः, 'स सर्वेषु भूतेष्वन्नमत्ति' इति श्रवणाद्वैश्वानरोपास्त्या सर्वभूतात्मनाऽन्नादनमात्रफलप्रसङ्गात् । न तृतीयः, 'देवो भूत्वा देवानप्येति' इति श्रवणात्तल्लोकप्राप्तिप्रसङ्गात् । नाऽपि चतुर्थः, 'नाऽस्ति पातकमहो कलिकाले नामकीर्तनपरेषु नरेषु', 'पुण्यश्रवणकीर्तनम्' इत्यादिवचनात् पापक्षयमात्रप्रयोजनसिद्धेः । 'यद् दृश्यं तदसद्'इत्यव्याकृतादेः स्थूलान्तरस्य सगुणस्य सर्वस्य दृश्यत्वेनाऽसत्त्वावगमादुपास्यस्य सर्वस्याऽपि सगुणत्वेनाऽसत्त्वाव्यभिचारादसदुपास्त्या त्वसद्भाव एव फलं सिद्ध्यति, न क्वचिदपि सद्भावः; उपासनानुरूपत्वात्फलसिद्धेः, 'तं यथा यथोपासते तथैव भवति', 'असन्नेव स भवति असद्ब्रह्मेति वेद चेत्' इत्यादिश्रुतेः 'ये यथा माम्' इति स्मृतेश्च। किञ्च, 'असुर्या नाम ते लोकाः' इति, 'न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः' इत्यात्मतत्त्वाज्ञानिनोऽसुरलोकप्राप्तिरूपमहानर्थश्रवणात्, 'अरुन्मुखान् यतीन् सालावृकेभ्यः प्रायच्छम्' इति वेदान्तविमुखानां यतीनामिन्द्रभयश्रवणाच्च; 'प्रत्यक्तत्त्वविवेकाय संन्यासः सर्वकर्मणाम् । श्रुत्या विधीयते तस्मात्तत्त्यागी

कीर्तन करूँगा, ऐसा यदि कहे, तो उसमें प्रथम कल्प युक्त नहीं है, क्योंकि 'सत्यकामः सत्यसंकल्पः' इत्यादिसे दहरोपासनामें सत्यकामत्व आदि गुण सुने जाते हैं, इससे गुणवाली उपासनासे गुणभावकी प्राप्तिका ही प्रसंग होगा । दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'वह सब भूतोंमें अन्नको खाता है' इत्यर्थक श्रुतिसे वैश्वानरकी उपासनासे सब भूतोंमें अन्नभक्षणरूप फलका ही प्रसंग होगा । तीसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'देव होकर देवताओंको प्राप्त होता है' इत्यर्थक श्रुतिसे देव-लोककी प्राप्तिका प्रसंग होगा । चौथा पक्ष भी नहीं बन सकता, क्योंकि 'कलिकालमें नामकीर्तनपरायण मनुष्योंमें पातक नहीं होता, यह आश्चर्य है', 'पुण्य है नाम-श्रवण और नाम-कीर्तन जिसका' इत्यादि वचनोंसे नाम-कीर्तनका पाप-क्षयमात्र प्रयोजन सिद्ध होता है । 'जो दृश्य है, वह असत् है' इत्यर्थक वाक्यसे अव्याकृतसे लेकर स्थूलतक सब सगुण पदार्थोंमें दृश्यत्व होनेसे असत्त्वका ही परिज्ञान होगा और सब उपास्य सगुण होनेके कारण व्यभिचरित हैं, अतः असत् उपासनासे तो असद्भावरूप ही फल सिद्ध होगा, सद्भाव कभी भी सिद्ध नहीं होगा; क्योंकि उपासनाके अनुसार ही फलकी सिद्धि होती है । 'उसकी जैसी जैसी उपासना करता है, वैसा ही होता है', 'जो ब्रह्मको असत् जानता है, वह असत् ही होता है' इत्याद्यर्थक श्रुतियोंसे, 'जो जैसे मेरी उपासना करते हैं, वैसे ही मैं उन्हें भजता हूँ' इत्यर्थक स्मृतिसे और असुर्या यानी अन्धकारनामके जो लोक हैं, उनको आत्महत्यारे यानी आत्माको न जाननेवाले प्राप्त होते हैं', 'जो यहाँ आत्माको न जाना, तो महान् हानि है' इस प्रकार आत्माके न जाननेवालोंको असुरलोककी प्राप्तिरूप महान् अनर्थ सुननेमें आता है। 'अरुन्मुख (आत्मज्ञानशून्य) संन्यासियोंको इन्द्रने कुत्तोंको दे दिया' इस प्रकार वेदान्तसे विमुख यतियोंका इन्द्रसे भय होता है, ऐसा सुननेमें आता

नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥

कभी कोई भी प्राणी क्षणभरके लिए कर्म किये बिना नहीं रह सकता, क्योंकि प्रत्येक प्राणी प्रकृतिके गुणोंसे विवश होकर कुछ-न-कुछ करता ही रहता है ॥५॥

पतितो भवेत् ॥' इति यतेः स्वरूपविवेकाभावे पतितत्वस्मरणात् संन्यासस्याऽपि कर्मत्वाविशेषात्तावन्मात्रेण मोक्षासंभवाच्च । तस्माद्यतेर्मुमुक्षोः सर्वथा वेदान्तश्रवणेन ज्ञानं प्रयत्नेन संपादनीयमिति सूचितं भगवता 'न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति' इति । चकारस्त्वर्थः । 'संन्यासयोगाद्' इत्यत्र ब्रह्मविदां यतीनां ब्रह्मण्यारोपितनामरूपग्रहणत्यागः संन्यासशब्देनोच्यते न तु कर्मसंन्यासः । 'यतयः' इति पदेनैव संन्यासस्य सिद्धत्वादन्यथा पुनरुक्तिप्रसङ्गः । तस्माद्यतेः संन्यासस्य फलं वेदान्तश्रवणजन्यज्ञानमेवेति सिद्धम् ॥ ४ ॥

यदुक्तं सर्वकर्मसंन्यासं कृत्वाऽहं तूष्णीं सुखमास इति, तन्न; संस्कारजप्रवृत्तेः क्रियाया निःशेषत्यागायोगाद् वृत्तेरालम्बनाभावाच्च तूष्णीमासनं ब्रह्मनिष्ठं विना न कस्याऽपि घटत इत्याशयेनाह—**नहीति** ।

अत्र लोके जातु कदाचिदपि कश्चियो वा को वाऽपि प्राणी क्षणं क्षणार्धमप्यकर्मकृत्किमपि कर्माऽकुर्वन्न तिष्ठति, किन्तु सुषुप्तिं विना जाग्रत्स्वप्नयोः सर्वदा

है, इसलिए 'प्रत्यक्-तत्त्वके विवेकके लिए सब कर्मोंके संन्यासका श्रुति द्वारा विधान किया जाता है, इसलिए कर्मोंको त्यागनेवाला पतित होता है ।' इस प्रकारकी स्मृति स्वरूपके विवेकके न रहनेपर यतिका पतन होता है, ऐसा बतलाती है और संन्यास भी कर्मरूप है, इसलिए संन्यासमात्रसे मोक्षका असंभव है । यति मुमुक्षुको सर्वथा वेदान्तके श्रवणसे प्रयत्नपूर्वक ज्ञानका संपादन करना चाहिए, ऐसा भगवान्‌ने 'न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति' इस वाक्यसे सूचन किया है । यहां चशब्द तुशब्दके अर्थमें है । 'संन्यासयोगात्' इस श्रुतिमें संन्यासशब्दसे ब्रह्ममें आरोपित नाम और रूपके ग्रहणका त्याग ही कहा गया है, कर्मका संन्यास नहीं, क्योंकि 'यतयः' इस पदसे ही संन्यास सिद्ध है, नहीं तो पुनरुक्तिका प्रसङ्ग हो जायगा, इसलिए यतिके संन्यासका फल वेदान्तश्रवणजन्य ज्ञान ही है, यह सिद्ध हुआ ॥ ४ ॥

यह जो कहा था कि सब कर्मोंका त्याग करके मैं चुपचाप सुखसे बैठता हूँ, वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि संस्कारोंसे उत्पन्न हुई प्रवृत्तिका निःशेष त्याग नहीं हो सकता और वृत्तिका आलम्बन न होनेसे ब्रह्मनिष्ठके सिवा किसीका भी चुप होकर बैठना नहीं बन सकता, इस आशयसे कहते हैं—**'नहि'** इत्यादिसे ।

इस लोकमें कभी कोई भी प्राणी क्षण—आधे क्षण भी—किसी कर्मको किये बिना नहीं बैठता, किन्तु सुषुप्तिके सिवा जाग्रत् और स्वप्न दोनोंमें सर्वदा शरीरसे, मनसे, वाणीसे अथवा

कायेन वा मनसा वा वाचा वा चक्षुरादिभिर्वा यत्किञ्चित्कर्म कुर्वन्नेव तिष्ठति न क्वचिदपि तूष्णीमित्यर्थः। इदं सर्वं प्रत्यक्षमिति हिःप्रसिद्धिद्योतनार्थः। कस्मात्तूष्णीं स्थातुं न शक्नोतीत्याकाङ्क्षायामाह—**कार्यत** इति। हि यस्मात् कारणात् सर्वोऽपि प्राणिवर्गः प्रकृतिजैः सत्त्वरजस्तमोगुणात्मिका मूलप्रकृतिस्तस्याः सकाशाज्जाताः प्रकृतिजास्तैर्गुणैर्गुणाः द्रव्यवासना गुणवासना कर्मवासना जातिवासना रागद्वेषादयश्च तैः प्रकृतिजैर्गुणैरन्तः प्रेर्यमाणोऽवशोऽस्वतन्त्रः सन्नेव वहिरन्तः कर्म नानाव्यापाररूपं कार्यते। वासनात्मिकायाः प्रवृत्तेर्वशो भूत्वा न कोऽपि तूष्णीं स्थातुं शक्नोति बिना ब्रह्मविद्वर्यम्। ब्रह्मविद्वर्यस्तु निर्विकल्पसमाध्यग्निना निर्मूलितप्रकृतिगुणतत्कार्यतूलपटलत्वाद्वायुना मेरुरिव स्वयं गुणैर्न चाल्यते, किन्तु निष्क्रियब्रह्मात्मना तूष्णीमेव तिष्ठति। 'उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते' इति स्मरणात्। ततो ब्रह्मविद्वर्य एक एव तूष्णीं स्थातुं शक्नोति, न ततोऽन्य इत्यर्थः॥ ५॥

ननु सर्वं कर्म संन्यस्य करपादादीन्द्रियग्रामं रुद्ध्वा वहिस्तूष्णीं स्थाणुवन्निश्चलत्वेन स्थातुं शक्यत एवेत्याशङ्कायाम्, न; बन्धमोक्षयोर्गतिं स्वाधिकारं चाऽविज्ञाय किं कर्मणा निष्फलेन क्लेशभूयिष्ठेनेति दुरहङ्कारेण मुक्तिसाधनं वैदिकं कर्म सर्वं संन्यस्य यस्तूष्णीं तिष्ठति स दम्भाचार इत्याह—**कर्मेन्द्रियाणीति**।

नेत्र आदिसे कुछ-न-कुछ कर्म करता ही रहता है, कहीं भी चुपचाप नहीं रहता, यह अर्थ है। यह सबको प्रत्यक्ष है, ऐसी प्रसिद्धि बतलानेके लिए श्लोकमें हिशब्द दिया गया है। चुपचाप क्यों नहीं स्थित रह सकता? ऐसी शङ्का होनेपर कहते हैं—'कार्यते' इत्यादिसे। जिस कारणसे सभी प्राणीवर्ग प्रकृतिसे उत्पन्न हुए गुणों द्वारा कर्ममें प्रवृत्त किया जाता है, अर्थात् सत्त्व, रज और तमोगुणात्मक मूल प्रकृति है, उससे उत्पन्न हुए गुण प्रकृतिज हैं, उन गुणोंके द्वारा (द्रव्यवासना, गुणवासना, कर्मवासना, जातिवासना, राग, द्वेष आदि प्रकृतिसे उत्पन्न गुणोंके द्वारा) भीतरसे प्रेरित हुए अवश यानी पराधीन प्राणीसे ही बाहर और भीतर नाना व्यापाररूप कर्म कराया जाता है। वासनास्वरूप प्रकृतिके वश होकर ब्रह्मविद्के सिवा कोई भी चुपचाप नहीं ठहर सकता। ब्रह्मविद् तो निर्विकल्प समाधिरूप अग्निसे प्रकृतिके गुण और उनके कार्यरूप रुईके ढेरका उच्छेद हो जानेसे यानी जल जानेसे वायुसे मेरुके समान गुणोंसे विचलित नहीं किया जाता, किन्तु निष्क्रिय ब्रह्मात्मरूपसे चुपचाप ही बैठा रहता है, क्योंकि 'उदासीनके समान बैठा हुआ गुणोंसे चलायमान नहीं किया जाता' ऐसी स्मृति है, इसलिए एक ब्रह्मविद् ही चुपचाप रह सकता है, उसके सिवा दूसरा नहीं रह सकता, यह अर्थ है॥ ५॥

सब कर्मोंका त्यागकर हाथ, पैर आदि इन्द्रियोंको रोककर बाहरसे चुपचाप स्थाणुके समान निश्चल होकर अवस्थित हो सकता है, ऐसी यदि शङ्का हो, तो वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि बन्ध और मोक्षके स्वरूपको और अपने अधिकारको न जानकर 'निष्फल और अधिक कष्टवाले कर्मसे क्या होगा?

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ६ ॥
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्याऽऽरभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥

कर्तव्य और अकर्तव्यके विवेकसे शून्य जो कोई कर्मेन्द्रियोंका संयम कर उनके विषयोंका मनसे ध्यान करता हुआ रहता है, वह सज्जनों द्वारा आत्मवञ्चक कहा जाता है ॥ ६ ॥

जो पुरुष मनसे इन्द्रियोंका संयम कर आसक्तिरहित होकर कर्मेन्द्रियोंसे श्रौत-स्मार्त कर्मोंका अनुष्ठान करता है, वह पूर्वोक्त आत्मवञ्चक कर्मयोगीकी अपेक्षा उत्तम है ॥ ७ ॥

विमूढात्मा विमूढः कार्याकार्यविवेकरहित आत्मा मनो यस्य स विमूढात्मा सन् स्वस्य कर्तव्यं वैदिकं कर्म मुक्तिसाधनं परित्यज्य बहिः कर्मेन्द्रियाणि संयम्य निरुध्य चक्षुषी निमील्याऽन्तरिन्द्रियार्थान् शब्दादीन् स्मरंश्चिन्तयन् य आस्ते ब्रह्मविदहमेव कर्मसंन्यासेन कृतार्थोऽस्मीति स मिथ्याचारोऽसदाचारः कपटचारित्र आत्मवञ्चक इति सद्भिरुच्यत इत्यर्थः । एतेन श्रवणार्थं वाऽन्यथा वा संन्यस्य श्रवणादिकमकृत्वा वेषेण जीवनं कुर्वन् संन्यासेनैव कृतार्थोऽहमिति यो यतिर्मन्यते सोऽपि मिथ्याचार एवेति सूचितं भवति ॥ ६ ॥

अनात्मज्ञस्य मुमुक्षोः कर्मसंन्यासापेक्षया कर्मयोग एव श्रेष्ठ इत्याह—**यस्त्विति** ।

इस प्रकारके दुरहङ्कारसे मुक्तिके साधन समस्त वैदिक कर्मोंका त्यागकर जो चुपचाप बैठता है, वह दुराचारी है, ऐसा कहते हैं—**'कर्मेन्द्रियाणि'** इत्यादिसे ।

विमूढ यानी कर्तव्य और अकर्तव्यके विवेकसे रहित जिसका आत्मा—मन—है, वह विमूढात्मा कहलाता है। विमूढात्मा होकर अपने कर्तव्यभूत मुक्तिके साधन वैदिक कर्मोंका त्यागकर बाहरसे कर्मेन्द्रियोंका संयमकर (रोककर) यानी आंखोंको मीचकर भीतर इन्द्रियोंके विषय शब्दादिका स्मरण (चिन्तन) करता हुआ जो बैठता है—मैं ही ब्रह्मज्ञानी हूँ, कर्मोंके त्यागनेसे कृतार्थ हूँ, ऐसा मानता है—वह मिथ्याचारी (असदाचारी) कपट करनेवाला, आत्मवञ्चक है, ऐसा शिष्ट पुरुषों द्वारा कहा जाता है, यह अर्थ है । इससे यह सूचित होता है कि श्रवणके लिए अथवा अन्य कारणसे संन्यासका ग्रहणकर श्रवण आदि न करके वेषसे जीविका करनेवाला जो यति संन्याससे ही मैं कृतार्थ हूँ, ऐसा मानता है, वह भी मिथ्याचारी ही है ॥ ६ ॥

अनात्मज्ञ मुमुक्षुके लिए कर्मसंन्यासकी अपेक्षा कर्मयोग ही श्रेष्ठ है, ऐसा कहते हैं—**'यस्तु'** इत्यादिसे ।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ ८ ॥

अर्जुन, तुम विहित कर्म करो, कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है, यदि तुम कर्म न करोगे, तो तुम्हारी शरीरयात्रा भी नहीं हो सकेगी ॥ ८ ॥

तुशब्दः पूर्वस्मादस्य श्रेष्ठत्वद्योतनार्थः । यस्त्वनात्मज्ञो मुमुक्षुर्विचक्षणः कर्मसंन्यासमकृत्वैव चक्षुरादीनीन्द्रियाणि रागद्वेषादिदोषाणां गोचराणि न भवेयुर्यथा तथाऽन्तर्नियम्य स्वयमसक्तः फलाभिसन्धिरहितो भूत्वेश्वरार्पणबुद्ध्या कर्मेन्द्रियैर्वागादिभिः कर्मयोगं श्रौतं स्मार्तं वाऽऽरभते श्रद्धया चित्तशुद्ध्यै करोति स विशिष्यते । मोक्षसाधनीभूतकर्मयोगनिष्ठत्वात् कर्मयोगी पूर्वोक्तदाम्भिककर्मसंन्यासापेक्षया श्रेष्ठ इत्यर्थः ॥ ७ ॥

मुमुक्षोर्नैष्कर्म्यसिद्धये मिथ्याचारत्वादौ निवृत्तये चाऽवश्यं कर्म कर्तव्यमिति सूचयितुमाह—**नियतमिति** ।

हि यस्मात्कारणादकर्मणः येन न सम्भाव्यते कर्मबन्धः पुरुषस्य स कर्मसंन्यासस्तस्मादकर्मणो मूढकर्तृकाद्विवेकवता मोक्षसाधनत्वेन क्रियमाणं कर्म ज्यायः श्रेष्ठम् । यद्यपि 'संन्यास एवाऽत्यरेचयद्' इति संन्यासस्यैव सर्वोत्कृष्टतमत्वं श्रूयते, तथापि 'योग्यप्रयुक्तं साधनं कार्यसाधकम्' इति न्यायेन नाऽहं कर्म करोमीत्यभिमानवन्मूढतमकृतत्वात् संन्यासस्य तदपेक्षया परमेश्वरमाराध्याऽहं तरिष्यामीती-

---

पहलेकी अपेक्षा इसकी श्रेष्ठता दिखलानेके लिए श्लोकमें तुशब्द दिया गया है। जो कोई अनात्मज्ञ चतुर मुमुक्षु कर्मसंन्यास किये विना ही चक्षु आदि इन्द्रियोंको जैसे राग-द्वेष आदि दोषोंको विषय करनेवाली न हों, वैसे भीतरसे नियममें रखकर स्वयं असक्त—फलके सङ्कल्पसे रहित—होकर ईश्वरार्पणबुद्धिसे वाणी आदि कर्मेन्द्रियोंसे श्रौत अथवा स्मार्तरूप कर्मयोगका आरम्भ करता है—श्रद्धासे चित्तकी शुद्धिके लिए कर्मोंको करता है—वह श्रेष्ठ है अर्थात् मोक्षसाधनीभूत कर्मयोगमें निष्ठा होनेसे कर्मयोगी पूर्वोक्त दाम्भिक कर्मसंन्यासीकी अपेक्षासे श्रेष्ठ है, ऐसा भाव है ॥ ७ ॥

नैष्कर्म्यकी सिद्धिके लिए और मिथ्याचारत्व आदिकी निवृत्तिके लिए मुमुक्षुको कर्म अवश्य करना चाहिए, ऐसा सूचन करनेके लिए कहते हैं—**'नियतम्'** इत्यादिसे ।

जिस कारणसे अकर्मसे—जिससे पुरुषको कर्म बन्धनरूप न हो, वह अकर्म याने संन्यास है, उस अकर्मसे—अर्थात् मूढ़ द्वारा किये गए अकर्मसे विवेकी द्वारा किया गया मोक्षका साधनरूप कर्म अधिक श्रेष्ठ है। यद्यपि 'संन्यास ही सर्वोत्तम है' इत्यर्थक श्रुतिसे संन्यास ही सबसे उत्कृष्टतम है, ऐसा सुननेमें आता है, तो भी 'योग्य व्यक्ति द्वारा प्रयुक्त साधन कार्यका साधक होता है' इस न्यायसे मैं कर्म नहीं करता' इस प्रकारके अभिमानवाले मूढ़तमके द्वारा किये गये संन्यासकी अपेक्षा 'मैं परमेश्वरका

श्वरार्पणबुध्या निरभिमानिना मुमुक्षुणा क्रियमाणत्वात् कर्म ज्याय इत्युपचर्यते, न तु संन्यासो दूष्यते। किन्तु विद्वत्संन्यासाद्विविदिषासंन्यासाद्विलक्षणः संन्यासः स्वस्थेन न कर्तव्य इत्युच्यते। तत्र विध्यभावाद्यत आत्मतत्त्वमज्ञात्वैव केवलमूढेनाऽविविदिषुणा कर्मसंन्यासः कृतश्चेत्, तेन प्रत्यवाय एकोऽनर्थः, नरकपातो द्वितीयः, दुर्योनिस्तृतीयः, मोक्षाभावश्चतुर्थः। कृते तु कर्मणि प्रत्यवायाभावः ईश्वरप्रसादश्चित्तशुद्धिर्ज्ञानं मोक्षश्च सिध्यति। अतः फलभूयस्त्वात् कर्मणः त्वं नियतं विध्युक्तं कर्म नित्यं वा नैमित्तिकं वेश्वरप्रीत्यर्थं चित्तशुद्ध्यर्थं च कुर्वित्यर्थः। न केवलमामुष्मिकार्थमेव कर्म कर्तव्यं भवति किन्त्वैहिकार्थमपि कर्तव्यमित्याह—**शरीरेति**। निश्चलात्मना स्थाणुवत्तूष्णीमवस्थानं खल्वकर्म कर्मसंन्यासस्तस्मादकर्मणो निःशेषकर्मपरित्यागात् ते शरीरयात्राऽपि न प्रसिद्ध्येत्। सुखेन न सिद्ध्यतीत्यर्थः। नहि बृहच्छिलावद्गुहायां कन्दरे वा तूष्णीं तिष्ठतः शरीरयात्रा सिध्यति यत्किञ्चित्तदनुकूलव्यापारं विना। ततस्तदर्थमपि कर्म कर्तव्यमेव। ननु यावता कर्मणा शरीरपरित्राणं सिद्ध्येत्तावत् कर्म कुर्यां न ततोऽतिरिक्तमिति चेत् तत एव भवानतिमूढः संन्यासानर्हश्च भवति; यतः स्वेतरस्यैवाऽनात्मनो देहस्य रक्षणं कर्तुमिच्छति न त्वात्मनः। तवाऽयमात्मा जननमरणप्रवाहे पतित्वा मुहुर्मुहुर्निमज्जन्नुन्मज्जन्निरन्तरदुःखेन क्लिश्नाति।

आराधन करके संसारसे तर जाऊँगा,' इस प्रकार ईश्वरार्पणबुद्धिसे अभिमानरहित मुमुक्षु द्वारा अनुष्ठित कर्म श्रेष्ठ है, ऐसा उपचारसे कहा जाता है, इससे संन्यास दूषित नहीं किया जाता, किन्तु विद्वत्संन्याससे और विविदिषासंन्याससे भिन्न संन्यास स्वस्थ पुरुषको नहीं करना चाहिए, ऐसा कहा जाता है, क्योंकि उसमें विधिका अभाव है। यतः आत्मतत्त्वको जाने बिना ही नितान्त मूढ़ (अविद्वान्) यदि कर्मसंन्यास (कर्मत्याग) करे, तो उससे प्रत्यवाय एक अनर्थ होता है, नरकपात दूसरा, दुर्योनिकी प्राप्ति तीसरा और मोक्षका अभाव चौथा अनर्थ होता है और कर्म करनेसे तो प्रत्यवायका अभाव, ईश्वरका प्रसाद, चित्तकी शुद्धि, ज्ञान और मोक्ष सिद्ध होता है, इसलिए कर्म अधिक फलवाला होनेसे तुम नियत—विहित नित्य अथवा नैमित्तिक—कर्म ईश्वरकी प्रीतिके लिए और चित्तकी शुद्धिके लिए करो, ऐसा अर्थ है। केवल परलोकके लिए ही कर्म नहीं करना चाहिए, किन्तु इस लोकके लिए भी कर्म करना चाहिए, ऐसा कहते हैं—**'शरीर०'** इत्यादिसे। निश्चल शरीरसे ठूंठके समान चुपचाप स्थित होना अकर्म—कर्मसंन्यास—है, इसलिए अकर्मसे—निःशेष कर्मका त्याग करनेसे—तुम्हारी शरीरयात्रा भी सिद्ध नहीं होगी, यह अर्थ है। बड़े पत्थरके समान गुहामें या कन्दरामें चुपचाप बैठनेवाला शरीरके अनुकूल थोड़ा बहुत व्यापार किये बिना अपनी शरीरयात्रा सिद्ध नहीं कर सकता, इससे उसके लिए भी कर्म करना ही चाहिए। यदि कहो कि जितने कर्मसे शरीरकी रक्षा हो जाय, उतना ही कर्म करूँगा, उससे अधिक नहीं, तो भी तुम अत्यन्त मूढ हो और संन्यासके योग्य नहीं हो, क्योंकि अपनेसे भिन्न अनात्मभूत देहकी ही रक्षा करना चाहते हो, न कि आत्माकी। तुम्हारा यह आत्मा जन्म-मरणके प्रवाहमें गिरकर बारम्बार डूबता, उछलता हुआ

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥ ९ ॥

परमेश्वरकी प्रसन्नताके लिए किये जानेवाले कर्मोंको छोड़कर दूसरे जितने काम्य और निषिद्ध कर्म हैं, उनसे लोग जन्म आदि बन्धको ही प्राप्त होते हैं, इसलिए हे कौन्तेय, तुम आसक्तिको छोड़कर केवल भगवान्‌की प्रसन्नताके लिए कर्म करो ॥९॥

त्वमात्मनस्त्राणमकृत्वा अनात्मनः शत्रोरेव त्राणाय यतस इतोऽपि वा दुरभिमानं त्यक्त्वा कर्मणा शरीरत्राणमत्यन्तास्थया यथा करोषि तथा विहितानि कर्माण्यनुष्ठाय तेन प्राप्तचित्तशुद्धयाऽऽत्मज्ञानमपरोक्षलक्षणं संपाद्याऽऽत्मानं दुःखसागरादुद्धर । 'उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानम्' इति वचनादात्मनो मोक्षार्थमेव कर्म कुरु, न कचिदप्यन्यार्थमित्यर्थः ॥ ८ ॥

ननु 'कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते' इति कर्मणां बन्धहेतुत्वस्मरणात् कथं बन्धकं कर्म कर्तुं शक्यत इत्याशङ्कायां न, काम्यस्यैव कर्मणो बन्धकत्वं नत्वीश्वरार्पणबुद्ध्या क्रियमाणस्येत्याह—**यज्ञार्थादिति** ।

'यज्ञो वै विष्णुः' इति श्रवणाद्यज्ञस्य श्रीविष्णोः परमेश्वरस्याऽर्थं सन्तुष्टिनिमित्तं यत्कर्म क्रियते वैदिकं तद्यज्ञार्थमित्युच्यते । तस्माद्यज्ञार्थात् कर्मणो नित्यादीश्वरप्रीतिहेतोरन्यत्र काम्यादौ कर्मण्ययं लोकोऽधिकारी ब्राह्मणादिः कर्मबन्धनः कर्मैव बन्धनं जन्मादेर्निबन्धनं हेतुर्यस्य स कर्मबन्धनो भवति । विहिताकरणेन वा काम्येन

निरन्तर क्लेश पाता है । तुम आत्माका रक्षण न करके अनात्मभूत शत्रुका रक्षण करनेके लिए ही यत्न करते हो, इसलिए दुरभिमानका त्याग कर जैसे शरीरकी रक्षाके लिए अत्यन्त आस्थासे कर्म करते हो, वैसे ही विहित कर्मोंका अनुष्ठान करके उससे प्राप्त हुई चित्तकी शुद्धिसे अपरोक्षलक्षण आत्मज्ञानका संपादन करके आत्माका दुःखसागरसे उद्धार करो । 'आत्माका आत्मासे उद्धार करो ।' इस वचनसे आत्माके मोक्षके लिए ही कर्म करो, कहीं भी अन्य अर्थके लिए कर्म न करो, ऐसा अर्थ है ॥ ८ ॥

'प्राणी कर्मसे बाँधा जाता है और विद्यासे छूट जाता है', इस प्रकार स्मृतिसे कर्म बन्धनके हेतु हैं, ऐसा प्रतिपादित है, अतः बन्धक कर्म मैं कैसे कर सकता हूँ, ऐसी यदि आशङ्का हो, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि काम्य कर्म ही बन्धक है, ईश्वरार्पणबुद्धिसे किया गया कर्म नहीं, ऐसा कहते हैं—'**यज्ञार्थात्**' इत्यादिसे ।

'यज्ञ निश्चय विष्णु है' इत्यर्थक श्रुतिसे यज्ञ नाम विष्णुका है, उसके लिए—श्रीविष्णु परमेश्वरकी सन्तुष्टिके लिए—जो वैदिक कर्म किया जाता है, वह यज्ञार्थ कहलाता है। इसलिए ईश्वरकी प्रीतिके हेतु नित्य आदि यज्ञार्थ कर्मके सिवा काम्य आदि कर्ममें अधिकारी यह लोक याने ब्राह्मण आदि कर्मबन्धन होता है अर्थात् कर्म ही है बन्धन—जन्म आदिका हेतु—जिसका, अर्थात् कर्मों द्वारा बन्धनको प्राप्त

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ १० ॥

सृष्टिके आरम्भमें ब्रह्माने श्रुति द्वारा प्रतिपादित यज्ञोंके साथ ब्राह्मण आदि वर्णोंकी उत्पत्ति कर उनसे कहा कि तुम लोग श्रौत और स्मार्त यज्ञोंका अनुष्ठान कर देवताओंको प्रसन्न करो। देवताओंकी प्रसन्नताके लिए किया गया यज्ञ तुम्हारे लिए अभीष्ट फलदायक हो ॥ १० ॥

निषिद्धेन वा कृतेन कर्मणा नरो बन्धवान् भवति, न त्वीश्वरप्रीत्यै क्रियमाणेन कर्मणा। 'तत्कर्म यन्न बन्धाय' इति स्मरणादीश्वराराधनात्मकमेव कर्माबन्धकं तदन्यत्तु बन्धकमित्यर्थः। ततस्तदर्थमीश्वरप्रीत्यर्थं चाऽवश्यं त्वं मुक्तसङ्गः फलाभिसन्धिरहितो भूत्वा विहितं कर्म समाचर सम्यगनुतिष्ठ। तेन तुष्टेश्वरप्रसादाच्छुद्धात्मा सन् ज्ञानं प्राप्य मुक्तो भविष्यसीत्यर्थः ॥ ९ ॥

पूर्वं नैष्कर्म्यसिद्धये मिथ्याचारत्वनिवृत्तये शरीरयात्रासिद्धये चाऽवश्यं कर्म कर्तव्यमित्युक्त्वा इदानीं 'धर्मज्ञसमयः प्रमाणम्' इति सूत्रोक्तरीत्या धर्मज्ञतमेन ब्रह्मणा प्रोक्तः प्रामाणिकोऽयं परमो धर्मो मुमुक्षूणामवश्यं कर्तव्य इन्द्रादिदेवताप्रसादसिद्धय इत्याह—**सहयज्ञा इति** द्वाभ्याम्॥

पुरा सृष्ट्यादौ प्रजापतिर्ब्रह्मा श्रुत्युक्तैर्यज्ञैः सह प्रजाः ब्राह्मणादिवर्णान् सृष्ट्वा ताः प्रजा उवाच यूयमनेन यज्ञेन श्रौतेन स्मार्तेन च प्रसविष्यध्वं चरुपुरो-

---

होता है। विहितके न करनेसे अथवा काम्य या निषिद्ध कर्मके करनेसे मनुष्य बँध जाता है, ईश्वरकी प्रीतिके लिए किये गये कर्मसे नहीं। अर्थात् 'जो बन्धनका कारण न हो, वह कर्म है' इत्यर्थक स्मृतिसे ईश्वरके आराधनके लिए किया गया कर्म बन्धक नहीं होता और उससे अतिरिक्त कर्म बंधक होता है, यह भाव है। इससे उसके लिए—ईश्वरकी प्रीतिके लिए—मुक्तसङ्ग होकर—फलके सङ्कल्पसे रहित होकर—तुम विहित कर्मका आचरण करो—यानी सम्यक् अनुष्ठान करो। उससे तुष्ट हुए ईश्वरके प्रसादसे शुद्धचित्त होकर और ज्ञान प्राप्त करके तुम मुक्त हो जाओगे, यह अर्थ है ॥ ९ ॥

पूर्वमें नैष्कर्म्यकी प्राप्तिके लिए, मिथ्याचारत्वकी निवृत्तिके लिए और शरीरयात्राकी सिद्धिके लिए अवश्य कर्म करना चाहिए, ऐसा कहकर अब 'धर्मज्ञोंका सिद्धान्त प्रमाण है' इत्यर्थक सूत्रमें प्रतिपादित रीतिसे धर्मज्ञतम ब्रह्माजीके द्वारा कहे गये इस प्रामाणिक परम धर्मका मुमुक्षुओंको, इन्द्रादि देवताओंकी प्रसन्नताके लिए, अवश्य अनुष्ठान करना चाहिए, ऐसा कहते हैं—**'सहयज्ञाः'** इत्यादि दो श्लोकोंसे।

पूर्वमें यानी सृष्टिके आदिमें प्रजापति ब्रह्मा श्रुतिमें कहे गये यज्ञों सहित प्रजाको—ब्राह्मण आदि वर्णोंको—उत्पन्न कर उनसे बोले कि तुम इन श्रौत और स्मार्त यज्ञोंसे चरु, पुरोडाश

देवान् भावयताऽनेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ ११ ॥

श्रौत और स्मार्त यज्ञसे तुम लोग इन्द्र आदि देवताओंको प्रसन्न रक्खो, यज्ञसे सन्तुष्ट हुए इन्द्र आदि देव तुम्हारी अभीष्ट फलके प्रदान द्वारा सम्भावना करें, यों एक दूसरेकी संभावनासे तुम लोग परम कल्याणको प्राप्त करोगे ॥ ११ ॥

डाशादिद्रव्यैर्देवानां प्रीतिमुत्पादयध्वम् । एष देवानुद्दिश्य श्रद्धया कृतो यज्ञोऽपि वः इष्टानिच्छाया विषयभूतान् काम्यन्त इति कामाः फलविशेषास्तान् दोग्धीतीष्टकामधुक् भवतु । निष्कामानां ज्ञानप्रतिबन्धकदुरितक्षयाय सकामानां स्वर्गसुखाय भवेदित्यभिप्रायः ॥ १० ॥

कथमयं यज्ञोऽस्माकमिष्टार्थाय भवतीत्यत आह—**देवानिति** ।

अनेन यज्ञेन श्रौतेन स्मार्तेन च यूयं देवानिन्द्रादीन् भावयत संभावयत । चरुपुरोडाशादिभिः सन्तुष्टान् कुरुतेत्यर्थः । अनेन संभावितास्तुष्टाः सन्तस्ते देवा इन्द्रादयो वः युष्मान् भावयन्तु इष्टार्थप्रदानेन संभावयन्तु । एवं परस्परं भावयन्तः सन्तो यूयं देवानां प्रसादेन निःशेषविनष्टप्रतिबन्धा भूत्वा सत्त्वशुद्ध्या सम्यक् ज्ञानं प्राप्य परं निरतिशयानन्दलक्षणं श्रेयो विदेहकैवल्यमवाप्स्यथ । यद्यप्यत्र 'परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ' इत्युभयेषां परश्रेयःप्राप्तिविधिः प्रतीयते, तथापि विचार्यमाणे प्रजानामेव धर्मोपदेशविषयत्वेनोक्तधर्मानुष्ठानलभ्यपरमश्रेयःप्राप्तिविधिर्न तु

आदि द्रव्यों द्वारा देवताओंकी प्रीति उत्पन्न करो। देवताओंके लिए श्रद्धासे किया गया यज्ञ भी तुम्हारे लिए इष्टकामधुक हो (इष्टोंको—इच्छाके विषयभूत कामोंको—जो चाहे जाते हैं, वे काम कहलाते हैं याने फलविशेष—भोग—,उनको जो देता है, वह इष्टकामधुक् कहलाता है ।) अर्थात् यज्ञ निष्कामोंको ज्ञानके प्रतिबन्धक पापोंके क्षयके लिए और कामनावालोंको स्वर्गसुखके लिए हो, यह अभिप्राय है ॥ १० ॥

यह यज्ञ हमारे इष्ट अर्थके लिए कैसे होता है, इसके उत्तरमें कहते हैं—**'देवान्'** इत्यादिसे।

इस श्रौत और स्मार्त यज्ञसे इन्द्रादि देवताओंको प्रसन्न करो । चरु, पुरोडाश आदिसे सन्तुष्ट करो, यह अर्थ है । इससे संभावित हुए—संतुष्ट हुए—इन्द्रादि देवता तुमको भावित करें—इष्ट पदार्थोंको देकर सन्तुष्ट करें। इस प्रकार परस्पर एक दूसरेको सन्तुष्ट करते हुए तुम देवताओंके प्रसादसे निःशेष प्रतिबन्ध विनष्ट होनेपर अन्तःकरणकी शुद्धिसे सम्यक् ज्ञान प्राप्त करके परको—निरतिशय आनन्दरूप श्रेयको—विदेहकैवल्यको—प्राप्त होओगे । यद्यपि यहां 'परस्पर सन्तुष्ट करते हुए परम श्रेयको प्राप्त होओगे, ऐसी दोनोंके परमश्रेयकी विधि प्रतीत होती है, तो भी विचार करनेपर प्रजा ही धर्मके उपदेशकी विषय है, इससे प्रजाके लिए ही उक्त धर्मके अनुष्ठानसे लभ्य परमश्रेयकी विधि है, उनके ऊपर अनुग्रह करनेवाले देवताओंके लिए नहीं है, वे उपदेशके विषय नहीं हैं,

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥ १२ ॥

यज्ञों द्वारा संभावित देवता तुम्हें इष्ट भोग देंगे। उन देवताओं द्वारा दिये गये पदार्थोंका, उन्हें समर्पण किये बिना, जो कोई अपने आप उपभोग करता है, वह चोर ही है ॥ १२ ॥

तदनुग्राहकाणां देवानाम् । तेषामुपदेशाविषयत्वात् स्वयंप्रभातविज्ञानत्वाज्जीवन्मुक्तत्वाच्च न श्रेयोविधिरुपयुज्यते । ततः संभावनायामेव परस्परपदस्य संबन्धो न तु परमश्रेयःप्राप्तिविधाविति ज्ञेयम् ॥ ११ ॥

यज्ञैः संभाविता देवा मुमुक्षूणां न केवलमामुष्मिकमेव सुखं प्रयच्छन्ति, किन्तु ऐहिकसंपत्सुखमपि, अतस्तेषां प्रीत्यै यज्ञाद्यवश्यं कर्तव्यमन्यथा प्रत्यवायी भवतीति सूचयितुमाह—**इष्टानिति** ।

यज्ञैः श्रौतैः स्मार्तैश्च भाविताः संभाविताः देवा वो युष्मभ्यमिष्टानिच्छाविषयभूतान् भोगान् पशुपुत्रकलत्रधनधान्यादीन् दास्यन्ते वितरिष्यन्ते । एवं तैर्देवैर्दत्तान् पदार्थान् पुनश्चरुपुरोडाशादिरूपेणैभ्यो देवेभ्योऽप्रदायाऽदत्त्वा देवानामृषीणां पितॄणां च यज्ञेन ब्रह्मचर्येण प्रजया चाऽनृण्यमकृत्वा यः स्वशरीरमेव पोष्टुं भुङ्क्ते सः स्तेनो देवादीनां चोर एव भवति शिष्टानां निन्द्यश्च। देवब्रह्मस्वहारिणस्तस्करस्य या गतिस्तां च गच्छतीत्यर्थः ॥ १२ ॥

क्योंकि वे स्वयंप्रभातविज्ञान हैं (उनको आत्मतत्त्वज्ञान स्वतः प्राप्त है) और जीवनमुक्त भी हैं, अतः उनके लिए श्रेयकी विधि उपयुक्त नहीं है, इससे संभावनामें ही परस्पर पदका संबन्ध है, परम श्रेयकी प्राप्तिकी विधिमें संबन्ध नहीं है, ऐसा जानना चाहिए ॥ ११ ॥

यज्ञोंसे सन्तुष्ट देवता मुमुक्षुओंको केवल परलोकके सुखको ही नहीं देते, किन्तु यहाँके संपत्ति-सुखको भी देते हैं, इसलिए उनकी प्रसन्नताके लिए यज्ञ आदिका अवश्य ही अनुष्ठान करना चाहिए, ऐसा न करनेसे मनुष्य प्रत्यवायी (पापी) होता है, ऐसा सूचन करनेके लिए कहते हैं—**'इष्टान्'** इत्यादि ।

श्रौत और स्मार्त यज्ञोंसे भावित—सन्तुष्ट हुए—देवता तुमको इष्ट—इच्छाके विषयभूत—पशु, पुत्र, स्त्री, धन-धान्य आदि भोगोंको देंगे, वितरित करेंगे। इस प्रकार उन देवताओं द्वारा दिये गये पदार्थोंको फिर चरु, पुरोडाश आदिरूपसे उन देवताओंको प्रदान न कर अर्थात् देवता, ऋषि और पितरोंका यज्ञ, ब्रह्मचर्य और प्रजासे ऋण न चुकाकर जो अपने शरीरको पुष्ट करनेके लिए खाता है, वह देवताओंका चोर और शिष्ट पुरुषों द्वारा निन्द्य ही होता है। देव और ब्राह्मणके धनको हरनेवाले की जो गति है, उसको प्राप्त होता है, ऐसा अर्थ है ॥ १२ ॥

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ १३ ॥

यज्ञसे अवशिष्ट अन्नका भक्षण करनेवाले ब्राह्मण आदि सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाते हैं और जो केवल अपने उदरकी पूर्तिके लिए पाक करते हैं, वे पापका ही भक्षण करते हैं ॥ १३ ॥

ये तु पञ्चमहायज्ञान् कृत्वा शिष्टान्नाशिनो भवन्ति ते सर्वपापैर्मुक्ता भवन्ति । ये तु देवतातिथ्यादीननुद्दिश्य स्वार्थमेव पचन्ति ते पापाशिन एवेति पञ्चमहायज्ञानुष्ठानाननुष्ठानयोः फलं प्रतिपादयति पञ्चमहायज्ञानां दैनन्दिनत्वेनाऽवश्यकर्तव्यत्वदार्ढ्याय—**यज्ञशिष्टाशिन इति ।**

ब्राह्मणा यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो 'देवयज्ञः पितृयज्ञः' इति श्रुत्युक्तपञ्चमहायज्ञाननुष्ठाय तच्छेषान्नभोजिनो भूत्वा सर्वकिल्बिषैः 'कण्डनी पेषणी चुल्ली चोदकुम्भी च मार्जनी । पञ्च सूना गृहस्थस्य पञ्चयज्ञात् प्रणश्यति' इति स्मृत्युक्तानि यानि बुद्धिपूर्वकं पाणिपादपातोत्पन्नानि यान्यवशेन प्राप्तानि तैरेतैः सर्वैः किल्बिषैर्मुच्यन्ते । तेषां मोक्षाच्चित्तशुद्धिस्तया ज्ञानं मुक्तिं च विन्दन्तीत्यर्थः । पञ्चमहायज्ञानकुर्वाणाः पापा ये ब्राह्मणा आत्मकारणात् स्वोदरपूर्तिहेतोरेव पचन्ति शूद्रवन्न देवार्थं वैश्वदेवार्थं पचन्ति देवेभ्यः पितृभ्यो ब्राह्मणेभ्यश्चाऽदत्त्वा स्वयमेव भुञ्जते च ते तु पापमेवाऽन्न-

---

जो लोग पाँच महायज्ञ करके बचे हुए अन्नका भोजन करते हैं, वे सब पापोंसे छूट जाते हैं और जो लोग देवता, अतिथि आदिके उद्देशसे नहीं, किन्तु अपने ही उद्देशसे पकाते हैं, वे पापका भोजन करनेवाले ही होते हैं, इस प्रकार पाँच यज्ञ करनेवाले और न करनेवाले दोनोंके फलका प्रतिपादन करते हैं, जिससे कि पाँच महायज्ञोंको प्रतिदिन अवश्य करना चाहिए, यह दृढ़ हो जाय—'**यज्ञशिष्टा०**' इत्यादिसे ।

ब्राह्मण यज्ञशिष्टाशी होकर याने 'देवयज्ञ पितृयज्ञ' इत्यर्थक श्रुतिमें कहे गये पांच महायज्ञोंका अनुष्ठान कर उनसे अवशिष्ट हुए अन्नके भोजी होकर सब पापोंसे छूट जाते हैं । 'ओखली, चक्की, चूल्हा, जलकुम्भी और बुहारी ये पांच गृहस्थकी हत्यायें पांच महायज्ञोंके करनेसे नष्ट हो जाती हैं', इत्यर्थक स्मृतिमें कहे गये जो बुद्धिपूर्वक पाप होते हैं तथा जो हाथ पैर आदिके चलानेसे उत्पन्न होते हैं और जो परवश होनेसे प्राप्त होते हैं, उन सब पापोंसे छूट जाते हैं । उनके छूट जानेसे चित्तकी शुद्धि और उससे ज्ञान और मुक्तिकी प्राप्ति करते हैं, यह अर्थ है । पांच महायज्ञोंको न करनेवाले जो पापी ब्राह्मण अपने लिए—अपने उदरकी पूर्तिके लिए—ही शूद्रके समान पकाते हैं, देवताओंके लिए और वैश्वदेवके लिए नहीं पकाते—देवता, पितृ और ब्राह्मणोंको न देकर स्वयं ही खाते हैं—वे पापरूप अन्नका भोजन करते हैं, अन्नका नहीं । उनकी दृष्टिसे

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ १४ ॥

श्रोत्रिय ब्राह्मण द्वारा शास्त्रानुसार विहित यज्ञसे वृष्टि होती है, वृष्टिसे धान, यव आदि अन्नोंकी उत्पत्ति होती है, [स्त्री-पुरुषों द्वारा] उपभुक्त अन्नसे प्राणी उत्पन्न होते हैं एवं वृष्टि द्वारा जगत्की उत्पत्तिमें मुख्य कारणभूत यज्ञ वैदिक क्रियासे उत्पन्न होता है ॥ १४ ॥

रूपेण स्थितं भुञ्जते, न त्वन्नम् । स्वदृष्ट्या तदन्नमिव भाति, शास्त्रदृष्ट्या देवतादृष्ट्या च पापमेव भवति त एव पापिष्ठतमा इत्यर्थः । तथा च श्रुतिः—'मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः', 'केवलाघो भवति केवलादी' इति । 'एका क्रिया द्व्यर्थकरी बभूव' इति न्यायेन मुमुक्षुणा श्रोत्रियेण क्रियमाणं कर्म सत्त्वशुद्धिद्वारा स्वस्य मोक्षहेतुर्भवति वृष्ट्यादिद्वारा जगत्स्थितिहेतुश्च भवत्यत उभयथाऽपि कर्म कर्तव्यमेव ॥ १३ ॥

'मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः' इति 'नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते' इति कर्मणो मोक्षहेतुत्वं प्रतिपादितम्, जगत्स्थितिहेतुत्वमिदानीं निरूप्यते—**अन्नादिति त्रयेण** ।

'अग्नौ प्रास्ताऽऽहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः' इति स्मृत्युक्तप्रक्रियया यज्ञाच्छ्रोत्रियेण यथाशास्त्रं निर्वर्तितात् पर्जन्यो वृष्टिर्भवति । पर्जन्याद् व्रीहियवादिरूपस्याऽन्नस्य संभव उत्पत्तिर्भवति । अन्नात् स्त्रीपुंसाभ्यां भुक्ताच्छुक्रशोणितरूपेण परिणताद्भूतानि प्राणिनो भवन्ति जायन्ते । जातान्यन्नेनैव

वह अन्नके समान भासता है, शास्त्रदृष्टिसे और देवतादृष्टिसे तो वह पाप ही होता है, वे लोग पापिष्ठतम हैं, यह अर्थ है । जैसी कि श्रुति भी है—'यज्ञ न करनेवाले व्यर्थ ही अन्न खाते हैं', 'अकेला खानेवाला केवल पापी होता है' । 'एक क्रिया दो अर्थ करनेवाली होती' इस न्यायसे श्रोत्रिय मुमुक्षु द्वारा किया गया कर्म अन्तःकरणकी शुद्धि द्वारा अपने मोक्षका हेतु होता है और वृष्टि आदि द्वारा जगत्की स्थितिका हेतु होता है, इसलिए दोनों प्रकारसे कर्म कर्तव्य ही है ॥ १३ ॥

'सब पापोंसे छूट जाते हैं' इस वाक्यसे और 'पुरुष नैष्कर्म्य प्राप्त करता है' इस वाक्यसे कर्म मोक्षका हेतु है, ऐसा प्रतिपादन किया, अब जगत्की स्थितिका हेतु कर्म है, ऐसा निरूपण करते हैं—**'अन्नात्'** इत्यादि तीन श्लोकोंसे ।

भली भाँति दी गई आहुति आदित्यको प्राप्त होती है । आदित्यसे वृष्टि होती है, वृष्टिसे अन्न और अन्नसे प्रजा।' इत्यर्थक स्मृतिमें प्रतिपादित रीतिसे यज्ञसे—श्रोत्रिय ब्राह्मण द्वारा यथाशास्त्र किये गये यज्ञसे—पर्जन्य यानी वृष्टि होती है । पर्जन्यसे व्रीहि, यव आदि अन्नकी उत्पत्ति होती है। अन्नसे—स्त्री और पुरुष द्वारा उपभुक्त रजवीर्यमें परिणत अन्नसे—भूत (प्राणी) उत्पन्न होते हैं, जन्मते हैं। उत्पन्न हुए वे अन्नसे ही जीते भी हैं। इस प्रकार वृष्टि और अन्न द्वारा जो यज्ञ जगत्के

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

यह तुम निश्चय जानो कि यज्ञमें हेतुभूत कर्मकी उत्पत्ति वेदसे हुई है और वेद परम ब्रह्म परमात्मासे हुआ है, इसलिए सभी वस्तुओंमें प्रकाशकत्वरूपसे अवस्थित वेद अश्वमेधान्त सम्पूर्ण कर्मोंमें स्थित है अर्थात् उन कर्मोंका वेद ही कर्तव्यरूपसे विधान करता है ॥ १५ ॥

जीवन्ति च । एवं वृष्ट्यन्नद्वारा जगज्जीवनहेतुर्यो यज्ञः स तु कर्मसमुद्भवः ऋत्विग्यजमानादिभिः क्रियमाणहोममन्त्रतन्त्रादिक्रिया वैदिकी कर्मेत्युच्यते । तस्मात् सम्यगुद्भवो यस्य स कर्मसमुद्भवोऽपूर्वलक्षणो यज्ञः ॥ १४ ॥

कर्मेति । यज्ञकारणभूतं यत्कर्म तत्तु ब्रह्मोद्भवं ब्रह्म वेद ऋगादिस्तस्मादुत्पन्नं विद्धि । तच्च ब्रह्माक्षरसमुद्भवं विद्धि । 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः' इति श्रवणात्सर्वजगत्कारणभूतादक्षरात्परमात्मनः सकाशान्निःश्वासरूपेण स्वयमेवाऽऽविर्भूतमत एव नित्यमपौरुषेयं ब्रह्म वेदं विजानीहीत्यर्थः । यस्माद्यज्ञैकमूला जगदुत्पत्तिः स्थितिश्च तस्मात् स्वयं सर्वगतं सर्वार्थप्रकाशकत्वेन सर्वलोकस्थानां तत्तद्धर्मनियतिस्थापकत्वेन च सर्वत्र स्थितमपि ब्रह्म वेदो यज्ञे ब्राह्मणादिभिरनुष्ठेये औपासनाद्यश्वमेधान्ते कर्मण्येव तद्विधानैकप्रयोजनत्वात्प्रतिष्ठितं नित्यं नियमेन स्थितं भवति । वर्णाश्रमिणां कर्तव्यत्वेन कर्माणि वेद एव विदधातीत्यर्थः ॥ १५ ॥

जीवनका हेतु है, वह कर्मसे उत्पन्न हुआ है । ऋत्विक्, यजमान आदि द्वारा की गई होम, मन्त्र, तन्त्र आदि वैदिकी क्रिया कर्म कहलाती है । उससे जिसका सम्यक् उद्भव है, वह कर्मसमुद्भव कहलाता है, अतः यज्ञका अपूर्व लक्षण है ॥ १४ ॥

'कर्म' इत्यादि । यज्ञका कारणभूत जो कर्म है, वह ब्रह्मोद्भव है । ऋगादि वेदोंका नाम ब्रह्म है, कर्म उससे उत्पन्न हुआ है, ऐसा जानो । और वह ब्रह्म (वेद) अक्षरसे उत्पन्न हुआ है, ऐसा जानो, क्योंकि 'उस महान्का यह ऋग्वेद, यजुर्वेद श्वास है, ऐसी श्रुति है, इसलिए सब जगत्के कारणभूत अक्षर परमात्माके निःश्वासरूपसे स्वयं ही आविर्भूत हुआ है । इसीलिए ब्रह्मको—वेदको—नित्य और अपौरुषेय जानो, ऐसा अर्थ है । जिस कारणसे जगत्की उत्पत्ति और स्थितिका मूल एक यज्ञ ही है, इसलिए स्वयं, सर्वगत—सब अर्थोंके प्रकाशकरूपसे सम्पूर्ण लोकमें तत्-तत् धर्मकी नियतिके स्थापकरूपसे सर्वत्र स्थित—भी ब्रह्म—वेद—यज्ञमें स्थित है—ब्राह्मण आदिकोंसे अनुष्ठान करने योग्य औपासनसे लेकर अश्वमेध तक कर्ममें केवल उनके विधानके लिए प्रतिष्ठित है—नियमसे स्थित है, वर्ण और आश्रमवालोंके कर्मोंका वेद ही विधान करता है, ऐसा अर्थ है ॥ १५ ॥

एवं प्रवर्तितं चक्रं नाऽनुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥ १६ ॥

इस प्रकार ईश्वर द्वारा प्रवर्तित चक्रका विषयभोगलम्पट अतएव पापमय जीवनवाला जो पुरुष अनुवर्तन नहीं करता, उसका जीना ही निष्फल है ॥ १६ ॥

एवमिति । ईश्वरः श्रुतिमुखेन यज्ञसन्ततिं विधाय यज्ञद्वारा वृष्टिं चाऽन्नं च संभाव्य भूतसृष्टिं तत्स्थितिं च निर्वोढुमिच्छया स्वयमेव चक्रं प्रवर्तितवान् । तदिदमीश्वरप्रवर्तितं चक्रं नियतमिह लोके यः कर्माधिकारी ब्राह्मणादिर्नाऽनुवर्तयति परमेश्वरेण श्रुत्या विधायितं कर्मयोगं नाऽनुतिष्ठति एतदीश्वरशासनमकृत्वा स्वयमिन्द्रियाराम इन्द्रियार्थेष्वेव अजस्रमारमतीतीन्द्रियारामो विषयभोगलम्पटः सन्नत एवाऽघायुरायुषः फलमघमेव यस्य सोऽघायुर्भूत्वा काकवच्छाल्मलिवन्मोघं व्यर्थं निष्फलमेव जीवति । नैतावन्मात्रमेव भवति, किन्त्वीश्वराज्ञोल्लङ्घनदोषेण विहिताकरणप्रत्यवायेन नित्यकृतपापसङ्घातेन चाऽनेककल्पं नरकं चाऽधिगच्छतीत्यर्थः । ततो विवेकिनो ब्राह्मणस्य मुमुक्षोरनात्मज्ञस्य तरणार्थं लोकहितार्थं चाऽवश्यं वेदोक्तं कर्म कर्तव्यमेवेति सिद्धम् ॥ १६ ॥

तत्र श्रीभगवान् 'ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्' इति सांख्यानां संन्यासिनामसांख्यानां योगिनां गृहिणां चोत्तरदक्षिणायनवदसङ्कीर्णं निष्ठाद्वयं विभज्य

'एवम्' इत्यादि । ईश्वरने श्रुति द्वारा यज्ञोंकी सृष्टि कर, यज्ञ द्वारा वृष्टि और अन्नकी उत्पत्ति कर भूतोंकी सृष्टि तथा उनकी स्थितिका निर्वाह करनेकी इच्छासे स्वयं ही उक्त चक्र चलाया है । उस ईश्वर द्वारा चलाये गये चक्रका इस लोकमें जो ब्राह्मण आदि कर्माधिकारी नियमसे अनुसरण नहीं करता यानी परमेश्वरसे श्रुति द्वारा प्रतिपादित कर्मयोगका अनुष्ठान नहीं करता, ईश्वरकी इस आज्ञाका पालन न कर स्वयं जो इन्द्रियाराम—इन्द्रियोंके विषयोंमें सर्वदा रमण करनेवाला इन्द्रियाराम कहलाता है—अर्थात् विषयभोगलम्पट—इसीलिए अघायु—जिसकी आयुका फल पाप ही है, वह अघायु—होकर कौएके समान और सेमरके वृक्षके समान व्यर्थ—निष्फल—ही जीवन व्यतीत करता है । केवल इतना ही नहीं होता, किन्तु ईश्वरकी आज्ञाके उल्लंघनके दोषसे, विहितके न करनेके प्रत्यवायसे तथा नित्य किये गये पापोंके समूहसे अनेक कल्पोंतक नरकको प्राप्त होता है, यह अर्थ है । इसलिए विवेकी मुमुक्षु अनात्मज्ञ ब्राह्मणको संसारसे तरनेके लिए और लोकके हितके लिए वेदोक्त कर्मोंका अनुष्ठान अवश्य ही करना चाहिए, यह सिद्ध हुआ ॥ १६ ॥

'सांख्योंकी ज्ञानयोगसे और योगियोंकी कर्मयोगसे', इत्यर्थक श्लोकसे सांख्योंकी (संन्यासियोंकी) असांख्योंकी (योगी गृहस्थोंकी) उत्तर-दक्षिण मार्गके समान दो भिन्न

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ १७ ॥

जो पुरुष केवल आत्मामें क्रीडा करता है, आत्मामें तृप्त रहता है और आत्मामें ही सन्तुष्ट रहता है, उसके लिए कोई कर्तव्य शेष रहता ही नहीं है ॥ १७ ॥

दर्शयित्वा 'तदेकं वद निश्चित्य' इति स्वस्य कर्तव्यं पृष्टवतोऽर्जुनस्य कर्माधिकारिणः सन्निहितत्वात् तद्धितमुपदेष्टुं 'न कर्मणामनारम्भात्' इति कर्मयोगमुपक्रम्य 'नियतं कुरु कर्म त्वम्' इत्यस्मै कर्मयोगमेवोपदिश्य 'यज्ञार्थाद्' इत्यारभ्य 'मोघं पार्थ स जीवति' इत्यन्तेन ग्रन्थेनाऽनात्मज्ञस्य मुमुक्षोरवश्यं सत्त्वशुद्ध्यर्थं कर्म कर्तव्यमेव, कृते कर्मणि देवताप्रसाद ईश्वरप्रसादश्च सिद्ध्यतीति सूचयितुं कर्मणः कर्तव्यत्वमेव बहुप्रक्रियया निश्चित्य इदानीं सांख्यस्य यतेर्ज्ञानयोगनिष्ठां विना नाऽन्यत् कथञ्चिदपीषत्कर्तव्यमस्तीति सूचयितुमाह—य इति ।

तुशब्दोऽनात्मरतिव्यावृत्त्यर्थः । यस्तु मानवः बहिरन्तश्च सर्वत्र ब्रह्मैव मापयति ग्राहयति मानं प्रत्यग्दर्शनं तदेव सर्वदा वाति भजतीति मानवो ब्रह्मविद्यतिरात्मरतिः 'अहं ब्रह्मास्मि' इति श्रुत्युक्तरीत्या स्वात्मना साक्षात्कृते नित्यानन्दैकरसेऽद्वितीये परे ब्रह्मण्येव रतिरन्तःकरणस्य रमणं क्रीडा सर्वदा विहारो यस्य स आत्मरतिरेव भवेत् । 'आत्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः' इति श्रवणाद् यो ब्रह्मवित्

निष्ठाएँ अलग-अलग दिखला कर 'उनमेंसे निश्चय करके एकको कहिये', इस प्रकार अपना कर्तव्य पूछनेवाले कर्माधिकारी अर्जुनके सन्निहित होनेसे उसके हितका उपदेश करनेके लिए 'कर्मारंभके विना' इत्यादिसे कर्मयोगका आरंभ करके 'तुम नियत कर्म करो' यहाँतक उसके लिए कर्मयोगका ही उपदेश करके 'यज्ञार्थात्' यहांसे लेकर 'हे पार्थ, वह व्यर्थ जीता है' एतत्पर्यन्त ग्रन्थसे अनात्मज्ञ मुमुक्षुको सत्त्वकी शुद्धिके लिए अवश्य ही कर्म करना चाहिए, कर्म करनेसे देवताका प्रसाद और ईश्वरका प्रसाद सिद्ध होता है, ऐसा सूचन करनेके लिए बहुत प्रक्रियाओंसे कर्मकी कर्तव्यताका निश्चय करके अब भगवान् सांख्य यतिको ज्ञानयोगनिष्ठाके सिवा और कुछ भी किसी प्रकार भी नहीं करना चाहिए, ऐसा सूचन करनेके लिए कहते हैं—'य०' इत्यादिसे ।

तुशब्द अनात्मरतिकी व्यावृत्तिके लिए है । जो मानव (बाहर और भीतर सर्वत्र ब्रह्मको ही मापता है—ग्रहण कराता है—वह मान यानी प्रत्यग्दर्शन कहलाता है, उसीका जो सर्वदा भजन करता है, वह मानव कहलाता है, यानी ब्रह्मज्ञानी यति) केवल आत्मरति होता है अर्थात् 'मैं ब्रह्म हूँ' इस श्रुतिमें कही गई रीतिसे अपने आत्मरूपसे साक्षात् किये गये नित्य आनन्दैकरस अद्वितीय परब्रह्ममें ही रति यानी अन्तःकरणका रमण अर्थात् क्रीडा—सर्वदा विहार—जिसका हो, वह आत्मरति है, क्योंकि 'आत्मरति आत्मक्रीड़ आत्ममिथुन आत्मानन्द' ऐसी श्रुति है

सर्वदाऽऽत्मन्येव विहरति न कचिदप्यनात्मनीत्यर्थः। किञ्चाऽऽत्मतृप्तश्च आत्मनैवाऽऽनन्दैकरसेन पूर्णेन स्वीकृत्याऽधिगतेन तृप्तः, 'आत्मलाभान्न परं विद्यते' इति स्मरणात्। अतः प्राप्तव्यान्तराभावादात्मप्राप्त्यैव सर्वत्र प्राप्तालम्बुद्धिर्यस्य स आत्मतृप्तश्च भवेत्। आत्मन्येव चक्षुषो रूपवद्बहिरन्तः सर्वत्र वृत्तेर्विषयभूते चिदानन्दैकरसे ब्रह्मण्येव सन्तुष्टः, यथा कामी इष्टार्थे सन्तुष्टो भवति तथा य आत्मन्येव सन्तुष्टश्च स्यात्, तस्य महात्मन आत्मारामस्य कृतकृत्यस्य यतेः कार्यं कर्तव्यं कर्म न विद्यते नाऽस्ति, पर्याप्तकामत्वेन प्राप्तव्याभावात्।

नन्वधिकृतत्वाविशेषाद् विदुषोऽपि कर्तव्यमेव वैदिकं कर्म, कर्मविधेः सर्वसामान्यात् कर्मशास्त्रतदर्थतन्नियमपरिज्ञातृत्वाद् विदुषः 'विद्वान् यजते' इति विशेषविधानाच्च विधिबलाद् विदुषाऽप्यवश्यं कर्म कर्तव्यमेवेति चेद्, भवानत्र प्रष्टव्यः। परावरैकत्वविज्ञानवह्निनिर्मूलितद्वैतभ्रमस्य सर्वं ब्रह्मैव पश्यतो जीवन्मुक्तस्य ब्रह्मविदः कर्मकरणं स्वार्थं वा किं परार्थं वा? आद्ये कर्मैहिकार्थं वा किमामुष्मिकार्थं वा? आद्ये शरीरक्षार्थं वा किं परिग्रहरक्षार्थं वाऽप्युत विलासार्थम्? नाऽऽद्यः, 'सिद्धेऽन्यथार्थे न यतेत तत्र परिश्रमं तत्र समीक्षमाणः' इति वचनाच्छरीरस्थितेः प्रारब्धाधीनत्वा-

---

अर्थात् जो ब्रह्मज्ञानी सर्वदा आत्मामें ही विहार करता है, अनात्मामें कभी नहीं, यह भाव है। और आत्मासे ही तृप्त—आनन्दैकरस पूर्ण साक्षात् किये गये आत्मासे ही तृप्त—होता है, क्योंकि आत्मलाभसे बढ़कर अन्य लाभ नहीं है', ऐसी स्मृति है, इसलिए दूसरे प्राप्तव्यका अभाव होनेसे आत्मप्राप्तिसे ही सम्पूर्ण प्राप्तव्य वस्तुओंमें जिसकी अलंबुद्धि हुई है, वह आत्मतृप्त ही होता है। आत्मामें ही—जैसे नेत्र रूपमें सन्तुष्ट होता है वैसे ही बाहर और भीतर सर्वत्र वृत्तिके विषयभूत चिदानन्दैकरस ब्रह्ममें ही संतुष्ट होता है। जैसे कामी इष्ट अर्थमें संतुष्ट होता है, वैसे ही जो आत्मामें ही सन्तुष्ट है, उस महात्मा आत्माराम कृतकृत्य यतिके लिए कार्य—कर्तव्य कर्म—हैं नहीं, क्योंकि पूर्णकाम होनेसे उसके लिए कोई वस्तु प्राप्त नहीं है।

यदि शङ्का हो कि अधिकारके समान होनेसे विद्वान्को भी वैदिक कर्म कर्तव्य हैं ही, क्योंकि कर्मकी विधि सबके लिए सामान्य है, विद्वान् कर्मशास्त्र, उसके अर्थ और नियमका ज्ञाता है एवं 'विद्वान् यजन करता है' इत्यर्थक विशेष विधायक वचन है, अतः विधिके बलसे विद्वान्को भी कर्म अवश्य करना चाहिए, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि इस विषयमें आपसे पूछते हैं कि क्या पर और अवरके एकत्वविज्ञानरूप अग्निसे द्वैतभ्रमका निर्मूलन कर देनेवाले, सब ब्रह्म ही है, ऐसा देखनेवाले जीवन्मुक्त ब्रह्मज्ञानीका कर्म अपने लिए है या दूसरेके लिए? प्रथम पक्षमें—अपने लिए है, इस पक्षमें—यहांके फलके लिए है या पारलौकिक फलके लिए है? यदि प्रथम पक्षका अङ्गीकार करो, तो वह कर्म शरीरकी रक्षाके लिए है या परिग्रहकी रक्षाके लिए है अथवा विलासके लिए है? आद्य पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि 'पदार्थके मिथ्या सिद्ध होनेपर उसमें परिश्रम देखनेवाला

त्तदुद्दिश्य विदुषः कर्मानुपपत्तेः । न द्वितीयः, 'एवं वै तमात्मानं विदित्वा' इति श्रुतेः निःशेषनिवृत्तमिथ्याज्ञानानां ब्रह्मविदां पुत्राद्येषणाभ्यो व्युत्थानश्रवणात्ताभ्य उत्थितवतो विदुषः परिग्रहाभावात्तद्रक्षानिमित्तककर्मानुपपत्तेः । न तृतीयः, सर्वमात्मानमेव पश्यत आत्मरतेर्विदुषोऽन्यत्र रत्यप्रसक्तौ विलासासंभवात् । तर्ह्यामुष्मिकार्थमस्त्विति चेत्, तत्राऽपि किं स्वर्गार्थं वा किमपवर्गार्थं किमात्मशुद्ध्यर्थं वा ? नाऽऽद्यः, 'पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः' इति सर्वकामप्रविलयश्रवणाद्विदुषः स्वर्गकामासम्भवात्तदर्थककर्मानुष्ठानानुपपत्तेः, न द्वितीयः; 'न कर्मणा न प्रजया' इति श्रुत्या कर्मणां मोक्षसाधनत्वनिषेधाज्जीवन्मुक्तत्वाच्च विदुषस्तदर्थककर्मासिद्धेः । तृतीये किं शरीरशुद्ध्यर्थं वा, किं चित्तशुद्ध्यर्थं वा, किं आत्मशुद्ध्यर्थं वा कर्म कर्तव्यम् ? नाऽऽद्यः, 'कलेवरं मूत्रपुरीषभाजनम्' इति स्मरणात् प्रत्यक्षत्वाच्च मलमांसास्थिमतो वपुषः कर्मणा शुद्ध्यसम्भवात् । न द्वितीयः, 'यतयः शुद्धसत्त्वाः' इति श्रवणात् शुद्धचित्तत्वादेव सम्यगुत्पन्नात्मज्ञानत्वाद्विदुषस्तच्छुद्ध्यपेक्षासिद्धेः । न तृतीयः, 'अस्नाविरꣳशुद्धमपापविद्धम्' इति श्रवणान्निरवय-

---

उसमें यत्न न करे' इस वचनसे शरीरकी स्थितिके प्रारब्धके अधीन होनेसे देहके उद्देशसे विद्वान्का कर्म करना उपपन्न नहीं होता । दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'ऐसे उस आत्माको जानकर' इत्यर्थक श्रुतिसे निःशेष निवृत्तमिथ्याज्ञानवाले ब्रह्मज्ञानियोंका पुत्रादि एषणाओंसे व्युत्थान सुना जाता है, अतः विरक्त विद्वान्को परिग्रहका अभाव होनेसे उसकी रक्षाके लिए कर्म करना उपपन्न नहीं है । तीसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि सबको आत्मा जाननेवाले, आत्मरत विद्वान्की दूसरेमें रति नहीं हो सकती, इसलिए विलासके लिए कर्म संभव नहीं है। तब आमुष्मिक फलके लिए ही कर्म हो, ऐसा कहो, तो उसमें भी क्या स्वर्गके लिए, या मोक्ष लिए या चित्तशुद्धिके लिए कर्म करे ? प्रथम पक्ष तो युक्त नहीं है', क्योंकि 'पर्याप्तकाम कृतात्मकी सब कामनाएँ यहीं लीन हो जाती हैं' यह श्रुति विद्वान्की सब कामनाओंका प्रविलय कहती है । इसलिए विद्वान्को स्वर्गकी कामना नहीं हो सकती, इसलिए स्वर्गके लिए कर्म करना उपपन्न नहीं है । दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'न कर्मसे न प्रजासे' इस श्रुतिसे कर्म मोक्षके साधन हैं, इसका निषेध किया है और जीवन्मुक्त भी है, इसलिए मोक्षके लिए विद्वान्का कर्म सिद्ध नहीं होता । तीसरे पक्षमें क्या शरीरकी शुद्धिके लिए या चित्तकी शुद्धिके लिए या आत्माकी शुद्धिके लिए कर्म कर्तव्य है ? प्रथम पक्ष तो युक्त है नहीं, क्योंकि 'शरीर मूत्र-विष्ठाका वर्तन है' ऐसी स्मृति होनेसे और प्रत्यक्ष होनेसे मल, मांस, हड्डीवाले शरीरकी कर्मसे शुद्धि नहीं हो सकती । दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'शुद्ध अन्तःकरणवाले यति' इस श्रुतिसे शुद्धचित्त होनेसे ही सम्यक्ज्ञान उत्पन्न होनेसे विद्वान्को चित्तशुद्धिकी अपेक्षा नहीं रहती । तीसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'नाड़ी रहित शुद्ध अपापविद्ध' इत्यर्थक श्रुति है और आत्मा, निरवयव होनेसे अविषय है, अतः उसकी कर्मसे शुद्धि होती

वत्वेनाऽविषयत्वाच्च कर्मणाऽऽत्मनः शुद्धिकल्पनायोगात्। यज्ज्ञानबलेन विष्णुरुद्रादयोऽकार्यशतकोटिमपि कृत्वा स्वयं शुद्ध्यन्त्यन्यानपि च शोधयन्ति तमात्मानं कः केन शोधयेत्। 'स्वत एव सतः शुद्धिर्नोऽसता येन केनचित्' इत्यात्मनः स्वत एव शुद्धत्वात्। तर्हि विदुषः कर्माचरणं परार्थमेवाऽस्त्विति चेत्, त्वमत्र प्रष्टव्यः, लोकार्थं यः कर्म करोति स किमपरोक्षज्ञानी उत परोक्षज्ञानी वेति? आद्ये स यतिर्वा गृहस्थो वा? नाऽऽद्यः, तस्य निरभिमानत्वात् संन्यस्तसर्वकर्मतत्साधनत्वाच्च कर्मशब्दाप्रसक्तेः। देहवर्णाश्रमादिष्वहं ममेत्यभिमानः प्रपञ्चसत्यत्वबुद्धिरर्थित्वं कर्तव्यताबुद्धिरकरणे प्रत्यवायभयं शास्त्रभयं च खलु प्रवृत्तेर्बीजम्। तदेतत्सर्वमपि समूलं परावरैकत्वविज्ञानमहाग्निना निर्दह्य स्वयं निष्क्रियब्रह्मात्मना तिष्ठतो निर्दग्धानात्मतादात्म्यग्रन्थेः सर्वात्मभावापन्नस्य स्वात्मारामस्य यतेरतिवदनमेव न संभवति किमुत कर्मणि प्रवृत्तिरिति। तथा च श्रुतिः—'प्राणो ह्येष सर्वभूतैर्विभाति विजानन्विद्वान् भवते नातिवादी' इति। ततो ब्रह्मनिष्ठस्याऽऽत्मरतेः स्वार्थं वा परार्थं वा कर्मणि प्रवृत्तिर्न संभवति। नाऽपि द्वितीयः, जन्मानेकसहस्रकृतपुण्यकर्मपुञ्जपरिपाकेनेश्वरप्रसादेन च सर्वदृश्यमिथ्यात्वनिश्चयपूर्वकं ब्रह्मैवाहमिति ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानमप्रतिबद्धं यदा समुत्पन्नं स्यात्तदैव

है, ऐसी कल्पना करना युक्त नहीं है। जिसके ज्ञानके बलसे विष्णु, रुद्र आदि सैकड़ों करोड़ असम्भव (अशक्य) कार्योंको करके भी स्वयं शुद्ध होते हैं और दूसरोंको शुद्ध करते हैं, उस आत्माको कौन और किससे शुद्ध करे? 'सत्की शुद्धि आप ही होती है, किसी असत्से नहीं होती' इससे प्रतीत होता है कि आत्मा स्वतः ही शुद्ध है। यदि शङ्का हो कि तब तो विद्वान्का कर्मानुष्ठान परार्थ ही होगा, तो यह शङ्का भी युक्त नहीं है, क्योंकि इस विषयमें तुमसे यह पूछा जाता है कि लोकके लिए जो कर्म करता है, वह क्या अपरोक्षज्ञानी है या परोक्षज्ञानी है? प्रथम पक्षमें भी यह विकल्प होता है कि वह यति (त्यागी) है या गृहस्थ है। प्रथम पक्ष तो युक्त नहीं है, क्योंकि यतिके निरभिमान होनेसे और सब कर्म एवं कर्मके साधनोंका त्याग होनेसे उसमें कर्मशब्द प्रवृत्त हो नहीं सकता। देह, वर्ण, आश्रम आदिमें 'मैं' और 'मेरा' ऐसा अभिमान, प्रपञ्चमें सत्यत्व बुद्धि, विषयेच्छा, कर्तव्यता बुद्धि, न करनेमें प्रत्यवायका भय और शास्त्रका भय—ये प्रवृत्तिके बीज हैं। इन सभीको ही पर और अवरके एकत्वविज्ञानरूप महा अग्निसे मूल सहित जलाकर स्वयं निष्क्रिय ब्रह्मस्वरूपसे स्थित होनेवाले, अनात्मतादात्म्यरूप ग्रन्थिको जलानेवाले एवं सर्वात्मभावको प्राप्त हुए स्वात्माराम यतिका जब अतिवदन ही संभव नहीं है, तब उसकी कर्मोंमें प्रवृत्तिका संभव नहीं है, इसमें तो कहना ही क्या है? जैसी कि श्रुति है—'यह प्राण ही सर्वभूतों द्वारा भासता है, ऐसा जाननेवाला विद्वान् अतिवादी नहीं होता।' इसलिए ब्रह्मनिष्ठ, आत्मरतिकी अपने लिए या दूसरेके लिए कर्ममें प्रवृत्ति संभव नहीं है। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि अनेकों हजार जन्मों द्वारा किये गये पुण्यकर्मोंके पुञ्जके परिपाकसे और ईश्वरके प्रसादसे सर्वदृश्यके मिथ्यात्वका निश्चय कर 'ब्रह्म ही मैं हूँ' ऐसा

गृहस्थोऽपि याज्ञवल्क्यादिवदेषणाभ्यो व्युत्थास्यति, न त्वहं ममेति संसर्तुमर्हति; तत्कारणासंभवात्। संसारकारणं खल्वनात्मनि देहादावहंभावस्तदन्यत्र ममभावश्च। तदेतद्द्वयं यस्य ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानेन विध्वस्तं न स पुनः संसाराय कल्पते। नहि ब्रह्मैवाहमिति विज्ञानं ब्राह्मणोऽहं ममेदमिति बुद्धिश्च तेजस्तिमिरवत्परस्परविरुद्धमेकत्र वस्तुं शक्नोति। ततो ब्रह्मतत्त्वविज्ञानखड्गनिर्भिन्नहृदयग्रन्थेर्विदुषः पुनः संसरणं न संभवति। अतः संसाराद् व्युत्तिष्ठत्येव गृह्यपि विद्वान् यदि न व्युत्तिष्ठेत्तदव्युत्थानमेव ज्ञापयत्यज्ञानतत्कार्यनिगृहीतत्वं विदुषः। ननु तद्धेतुकप्रारब्धाभावाद् गृही ब्रह्मभावापन्नोऽपि नोत्तिष्ठतीति चेत्, जडभरतवद्वसेत् न त्वहं ममेदमिति संसरति। मिथ्यात्वज्ञानस्य संसारस्य च मिथो विरोधात्। नहि मरुं निर्जलं दृष्ट्वा पुनर्दूरात्प्रतीयमानं जलमादातुं पातुं वा विवेकी गच्छति। स्वयं बलवता प्रेष्यमाणोऽपि वेगेन हर्षेण च न गच्छति, किन्तु हा कष्टमिति रुदन् मन्दं मन्दं गच्छति नाऽप्यन्यं चोदयति तद्वत्प्रतिकूलप्रारब्धवानपि विद्वान् तत्सर्वमिथ्यात्वदर्शी संसर्तुं न हृष्यति नाऽन्यं प्रेषयति च। किन्तु भग्नकटिसर्पवन्मन्दगतिर्भविष्यति, प्रवृत्तिहेतोरनात्मन्यहंभावस्याऽभावात्। ब्रह्मैवाहमिति ब्रह्मात्मना ब्रह्मण्येव तिष्ठतो ब्रह्मविदो ब्राह्मणस्य चाण्डालमिव

ब्रह्मात्मके एकत्वका अप्रतिबद्ध विज्ञान जब उत्पन्न होता है, तब गृहस्थ भी याज्ञवल्क्य आदिके समान एषणाओंसे छूट जाता है और 'मैं' और 'मेरा' ऐसा संकल्प करनेके योग्य नहीं होता, क्योंकि उसके कारणका असंभव है। संसारका कारण तो अनात्मा देह आदिमें अहंभाव और देह आदिसे भिन्न पदार्थोंमें ममता है। ब्रह्माहम् यों एकत्वके विज्ञानसे जिसके ये दोनों नष्ट हो गये हैं, वह फिर संसारके लिए समर्थ नहीं होता। मैं ब्रह्म ही हूँ, यह विज्ञान और 'मैं ब्राह्मण हूँ', 'मेरा यह है' ऐसी बुद्धि ये दोनों उजाले और अँधेरेके समान परस्पर विरुद्ध हैं, अतः एकमें नहीं रह सकते। इसलिए ब्रह्मतत्त्वविज्ञानरूप खड्गसे जिसने हृदयकी ग्रन्थि काट दी है, फिर उस विद्वान्‌के संसरणका संभव नहीं है, इसलिए गृहस्थ विद्वान् भी संसारसे निकल जाता है। यदि नहीं निकलता, तो उसका न निकलना ही, वह अज्ञान और अज्ञानके कार्यसे जकड़ा हुआ है, ऐसा सूचित करता है। यदि कहो कि निकलनेका प्रारब्ध न होनेसे ब्रह्मभावको प्राप्त हुआ गृहस्थ भी घरसे नहीं निकलता, तो यह कहना भी ठीक नहीं है, वह जड़ भरतके समान घरमें रहता है, मैं और मेरा नहीं करता, क्योंकि मिथ्यात्व ज्ञान और संसारका परस्पर विरोध है। जैसे निर्जल मरुको देखकर दूरसे प्रतीत होनेवाले जलके लेनेके लिए अथवा पीनेके लिए विवेकी नहीं जाता। बलवान्‌के द्वारा भेजे जानेपर भी स्वयं वेगसे और हर्षसे नहीं जाता। किन्तु 'हा कष्ट' यों रुदन करता हुआ धीरे-धीरे जाता है और दूसरेको प्रेरित भी नहीं करता, वैसे ही प्रतिकूल प्रारब्धवाला सर्वमिथ्यात्वदर्शी विद्वान् कर्म करनेमें हर्ष नहीं करेगा और दूसरेको भेजेगा भी नहीं, किन्तु कमर टूटे हुए सर्पके समान मन्दगतिवाला होगा, क्योंकि प्रवृत्तिके हेतु अहंभावका अभाव है। जैसे ब्राह्मणको चाण्डालको छूना नहीं रुचता, वैसे ही 'मैं ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार ब्रह्मस्वरूपसे ब्रह्ममें स्थित

तनुं स्प्रष्टुं न रोचते । देहादितादात्म्यं विनाऽहं ममेति व्यवहर्तुं च न शक्यते । ब्रह्मविदां देहादितादात्म्यमतीव दुःखम्, तत्तादात्म्येनाऽहं ममेति प्रवृत्तिस्ततोऽतिदुःखम्, तत्राऽपि कर्मकरणमत्यन्तदुःखमेवेति विज्ञाय गृहस्थोऽपि विद्वान् सर्वं संन्यस्यत्येव, न स्वार्थं न परार्थं वा कर्म कर्तुं शक्नोति । अतः परोक्षज्ञान्येव चतुर्थाध्याये चाऽत्र च वक्ष्यमाणरीत्या लोकसंग्रहं करिष्यतीति न क्वचिदप्यपरोक्षज्ञानी निःशेषविनष्टानात्माहंभावः । ननु 'योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः । सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते । नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्' इत्यादिवाक्यार्थपर्यालोचनया त्वपरोक्षज्ञानिनोऽपि लोकसंग्रहार्थं कर्म कर्तव्यमेवेति प्रतीयते, कथं परोक्षज्ञान्येव लोकसंग्रहं करिष्यतीति नियमः क्रियते, विशुद्धात्मत्वादिविशेषणजातं कथं परोक्षज्ञानिनः सिद्ध्येद्विना ब्रह्मनिष्ठं ब्रह्मविदं मुनिरिति तत्त्वविदिति ब्रह्मविल्लिङ्गदर्शनात्ततोऽपरोक्षज्ञानिनोऽपि लोकसङ्ग्रहार्थं कर्म कर्तव्यमेवेति चेत्, सत्यम्; विशुद्धात्मत्वादिविशेषणजातमितरस्माद् ब्रह्मविदं व्यावर्तयति । तदिदं मुक्तिकृतलक्षणं जन्मशतकोट्याऽप्यन्येषामलभ्यम् । तथाप्यत्र त्वं प्रष्टव्यः, अपरोक्षज्ञानी द्विविधः सिद्धः साधकश्चेति । तयोः किं सिद्धस्योच्यते उत साधकस्य वा लोकसंग्रह

विद्वान्को शरीरका छूना नहीं रुचता । देहादि तादात्म्यके बिना मैं और मेरा ऐसा व्यवहार नहीं हो सकता । ब्रह्मज्ञानियोंके लिए देहादितादात्म्य ही अत्यन्त दुःख है, उस तादात्म्यसे होनेवाली 'मैं और मेरा' ऐसी प्रवृत्ति उससे भी अधिक दुःख है, उसमें भी कर्म करना अत्यन्त ही दुःख है, ऐसा जानकर गृहस्थ भी विद्वान् सबको त्याग ही देता है, अपने लिए या परायेके लिए कर्म नहीं कर सकता । इसलिए परोक्षज्ञानी ही चौथे अध्यायमें और यहांपर भी वक्ष्यमाण प्रकारसे लोकसंग्रह करेगा, अपरोक्षज्ञानी कहीं भी नहीं करेगा, क्योंकि उसका अनात्माहंभाव निःशेष निवृत्त हो गया है । यदि कहो कि 'योगयुक्त, विशुद्ध मनवाला, शरीरको जीतनेवाला, इन्द्रियोंको वशमें करनेवाला और सब भूतोंमें आत्मबुद्धि करनेवाला विद्वान् करता हुआ भी लिप्त नहीं होता । युक्त पुरुष ऐसा मानता है कि मैं कुछ नहीं करता।' इत्यादि वाक्योंके अर्थका विचार करनेसे जब अपरोक्षज्ञानीको भी लोकसंग्रहके लिए नित्य कर्म करना चाहिए, ऐसा प्रतीत होता है, तब परोक्षज्ञानी ही लोकसंग्रहके लिए कर्म करता है, ऐसा नियम कैसे किया जाता है? और विशुद्ध आत्मत्व आदि विशेषणोंका समूह ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मज्ञके सिवा परोक्षज्ञानीमें कैसे रह सकेगा ? एवं 'मुनि' और 'तत्त्ववित्' शब्दों द्वारा ब्रह्मवित्के लक्षण भी देखनेमें आते हैं, इसलिए अपरोक्षज्ञानीको लोकसंग्रहके लिए कर्म कर्तव्य हैं, ऐसा यदि कहो, तो ठीक है, विशुद्ध आत्मत्व आदि विशेषण ब्रह्मवित्को अन्यसे पृथक् करते हैं, क्योंकि ये मुक्तिकृत लक्षण सैकड़ों करोड़ जन्मों भी दूसरोंको अलभ्य हैं । तथापि तुमसे पूछा जाता है कि सिद्ध और साधकके भेदसे अपरोक्षज्ञानी दो प्रकारके होते हैं, इसमें प्रश्न यह होता है कि उन दोनोंमें से सिद्धका लोकसंग्रह है या साधकका ? प्रथम कल्प तो युक्त है नहीं, क्योंकि वह तो मुक्त है, अतः उससे लोकसंग्रह हो नहीं सकता। 'मैं और यह सब ब्रह्म ही है', इस प्रकार नित्य

इति । नाऽद्यः, मुक्तत्वात्तस्य लोकसङ्ग्रहानुपपत्तेः 'सर्वमिदमहं च ब्रह्मैव' इति नित्यनिरन्तरब्रह्मनिष्ठया निशितीकृतपरावरैकत्वविज्ञानखड्गेन द्वैतभ्रमबन्धं विच्छिद्य ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तैः सह सर्वप्राणिभिः स्वं मुक्तं पश्यतो ब्रह्मविद्यतेस्तद्दृष्ट्या बद्धलोकाभावात्तत्संग्रहासंभवात् । यथा देवदत्तः सर्वेभ्यः पूर्वं स्वयं भुक्त्वा स्वमेव भुक्तवन्तं पश्यति नान्यम् , यथा वा यज्ञदत्तः स्वयं पूर्वं प्रतिबुध्य स्वमेव प्रतिबुद्धं पश्यति न तथा विद्वानात्मानमेव मुक्तं पश्यति, किन्तु स्वविज्ञानेन स्वं च सर्वं च प्राणिजातं मुक्तमेव पश्यति । यथा बुद्धिमान् स्वस्य चेतनत्वधर्मवैशिष्ट्यविज्ञानेन ब्रह्माण्डस्थं प्राणिजातं सर्वं चेतनत्वधर्मविशिष्टमेव विजानाति, यथा वा पाचकः स्थालीपुलाकस्यैकस्य पक्वताज्ञानेन सर्वस्याऽप्यन्यस्य पक्वतां विजानाति, तथा ब्रह्मविद् यतिः स्वमुक्त्या सर्वान् मुक्तानेव विजानाति न तु स्वमात्रम् । यस्तु स्वमात्रमेव मुक्तं पश्यति न त्वन्यं न स ब्रह्मविदेव भवति नाऽपि च मुक्तः, किन्तु स वाचा मुक्तः न त्वविद्याबन्धात् । यथा विवेकी सूक्ष्मबुद्ध्या तरङ्गफेनबुद्बुदाद्यम्मयं सर्वं जलमात्रं पश्यति, यथा कटकमुकुटादि हैमं सर्वं हेममात्रं पश्यति । यथा वा रज्जुसर्पं रज्जुमात्रं पश्यति, तथा यस्तु प्रत्यग्दृष्ट्या स्वं च जगत्सर्वं च ब्रह्ममात्रं पश्यति स एव ब्रह्मविदद्वैतदर्श्यविद्याबन्धविमुक्तश्च । तस्यैतस्याद्वैतदर्शिनो महात्मनः सिद्धस्य सुप्तोत्थितवत्स्वातिरिक्तमपश्यतः पूर्णवृत्तेर्ब्रह्मविद्वरिष्ठस्य लोकविधिविधानविधेयादेरभावात्त-

---

निरन्तर ब्रह्मनिष्ठासे तीक्ष्ण हुए जीवब्रह्मैकत्व विज्ञानरूपी खड्गसे द्वैत भ्रमबन्धको काटकर ब्रह्मासे लेकर स्तम्बतक सब प्राणियोंके साथ अपनेको मुक्त देखनेवाले ब्रह्मज्ञानी यतिके लिए उसकी दृष्टिसे लोकोंका अभाव होनेसे, लोकसंग्रह संभव नहीं है । जैसे देवदत्त सबसे पहले स्वयं भोजन करके स्वयंको ही भोजन किया हुआ देखता है, दूसरेको नहीं और जैसे यज्ञदत्त स्वयं पहले जागकर अपनेको ही जागा हुआ देखता है वैसे विद्वान् अपनेको ही मुक्त नहीं देखता, किन्तु अपने विज्ञानसे अपनेको और सब प्राणियोंको मुक्त ही देखता है । जैसे बुद्धिमान् अपने चेतनत्ववैशिष्ट्य विज्ञानसे ब्रह्माण्डमें स्थित सब प्राणियोंको चेतनत्वधर्मसे विशिष्ट ही जानता है, अथवा जैसे पाचक बटलोईके एक चावलके पाकके ज्ञानसे अन्य सब चावल पक गये, ऐसा जान लेता है, वैसे ही ब्रह्मज्ञानी यति अपनी मुक्तिसे सबको मुक्त ही जानता है, केवल अपनेको ही नहीं । यदि कोई केवल अपनेको ही मुक्त देखता है, तो वह ब्रह्मज्ञानी ही नहीं है और मुक्त भी नहीं है । किन्तु वाणीसे मुक्त है, न कि अविद्याबन्धनसे । जैसे सूक्ष्मबुद्धिसे तरङ्ग, फेन, बुद्बुदादिको जलमय देखता है, जैसे कटक, मुकुट आदि सुवर्णके भूषणोंको सुवर्णमात्र देखता है अथवा जैसे रज्जुके सर्पको रज्जुमात्र देखता है, वैसे ही जो प्रत्यक् दृष्टिसे अपनेको और सब जगत्को ब्रह्ममात्र देखता है, वही ब्रह्मज्ञानी अद्वैतदर्शी अविद्याबन्धसे मुक्त होता है । उस अद्वैतदर्शी महात्मा सिद्धको, नींदसे उठे हुएके समान अपनेसे अन्य पूर्ववृत्तको न देखनेवाले, श्रेष्ठ ब्रह्मविद् यतिकी दृष्टिमें

दुद्देशेन कर्मणि प्रवृत्तिर्न संभवति । 'कुर्वन्नपि न लिप्यते' इति प्रवृत्तिद्योतकं वाक्यं विद्यते तत्कथमिति चेत्, तदर्थं श्लोकव्याख्यानावसरे वक्ष्यामः । 'विद्वान् यजते' इत्यत्र विदितवेदार्थो ब्राह्मणो विद्वच्छब्दार्थो न तु ब्रह्मविद्यतिस्तस्य सर्वकर्मसंन्यासित्वाद्विधेरपि लोकवन्मिथ्यात्वकोट्यन्तःपातित्वाच्च कर्मविध्यनुपपत्तेः । न द्वितीयः, साधकस्य मुमुक्षोर्यतेः कर्मविध्यदर्शनात् । नहि मुमुक्षोर्यतेर्निदिध्यासोर्लोकसंग्रहार्थं कर्म कर्तव्यमिति विधिरस्ति विना समाधिम्, 'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञाम्' इति, 'परं ब्रह्मानुसन्दध्यात्' इति, 'यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञः' इति, 'ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्' इति ज्ञाननिष्ठैव कर्तव्यत्वेन श्रूयते । स्मर्यते च 'मनः संयम्य मच्चित्तः' इति, 'ध्यानयोगपरो नित्यम्' इति, 'वाचं यच्छ मनो यच्छ' इति च । अतः साधकस्याऽऽत्मवेदिनो यतेः कर्तव्यः समाधिरेव न श्रौतं न स्मार्तं च स्वार्थं वा परार्थं वा । 'शौचमाचमनं स्नानं न तु चोदनया चरेत्' इति ज्ञाननिष्ठस्य विध्यभावस्मरणात् । 'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति' इति श्रुत्या जिज्ञासया संन्यस्तसर्वकर्मणो यतेर्विविदिषोरेव 'जिज्ञासायां संप्रवृत्तो नाद्रियेत्कर्मचोदनाम्' इति श्रवणादिज्ञानसाधनं विना नाऽन्यत्कर्तव्यमिति कर्मविधेरुपेक्ष्यत्वस्मरणात्किमुत सिद्धस्य विज्ञातात्मतत्त्वस्य

विधि, विधान और विधेय आदिका अभाव होनेसे उनके उद्देशसे कर्ममें प्रवृत्तिका संभव नहीं है। यदि कहो कि 'करता हुआ भी लिप्त नहीं होता' ऐसा प्रवृत्तिद्योतक वचन विद्यमान है, उसकी उपपत्ति कैसे होगी, तो उसका अर्थ श्लोकके व्याख्यानके अवसरपर कहेंगे। 'विद्वान् यजन करता है' इसमें वेदके अर्थको जाननेवाला ब्राह्मण विद्वत्-शब्दका अर्थ है, ब्रह्मवित् यति नहीं है, क्योंकि उसके सब कर्मोंका संन्यासी होनेसे और विधिका भी लोकके समान मिथ्याकोटिके भीतर प्रवेश होनेसे उसके लिए कर्मकी विधि उपपन्न नहीं है। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि साधक मुमुक्षु यतिके लिए विधि देखनेमें नहीं आती। और निदिध्यासन करनेवाले मुमुक्षु यतिके लिए समाधिके सिवा लोकसंग्रहार्थ कर्म करना चाहिए, ऐसी विधि नहीं है। 'उसको ही जानकर धीर प्रज्ञा करे—ब्रह्मबुद्धि ही करे', 'परब्रह्मका अनुसन्धान करे', 'विद्वान् वाणीका मनमें लय करे', 'ब्राह्मण पाण्डित्यको समाप्त करके बाल्यरूपसे स्थित हो' इस प्रकार ज्ञाननिष्ठाको ही श्रुति कर्तव्यरूपसे कहती है। स्मृतिमें भी कहा है कि 'मनका संयम करके मुझमें चित्त लगानेवाला हो', 'नित्य ध्यानयोगमें परायण हो', 'मनको रोको, वाणीको रोको'। इसलिए आत्मज्ञानी साधक यतिका कर्तव्य समाधि ही है, श्रौत या स्मार्तरूप कर्म अपने या परायेके लिए कर्तव्य नहीं है। 'शौच, आचमन या स्नान विधिसे न करे' इस प्रकार ज्ञाननिष्ठके लिए विधिका अभाव स्मृति कहती है। 'इसी आत्मलोककी संन्यासी इच्छा करते हुए घरसे निकल जाते हैं' इस श्रुति द्वारा जिज्ञासासे सब कर्मोंका त्याग करनेवाले यति विविदिषुका 'जिज्ञासामें प्रवृत्त हुआ कर्मविधिका आदर न करे' यह स्मृति श्रवण आदि ज्ञानके साधनोंके सिवा अन्य कर्तव्य नहीं है, यों जब कर्मविधिकी उपेक्षा कहती है, तब आत्मतत्त्व जाननेवाले सिद्धको कर्मतन्त्रका अवकाश नहीं

नैव तस्य कृतेनाऽर्थो नाऽकृतेनेह कश्चन ।
न चाऽस्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ १८ ॥

सर्वत्र आत्मभावको देखनेवाले यतिका कर्म करनेसे या न करनेसे कोई भी प्रयोजन नहीं है और किसी प्रयोजनके लिए वह न तो शिव आदि देवताओंमें से और न ब्राह्मण आदिमें से किसीका आश्रय लेता है ॥ १८ ॥

साधकस्य कर्मतन्त्रानवकाश इति । अतः परोक्षज्ञान्येव बहुधा कृतश्रवण आभासात्मज्ञान्यहंममादिबाह्यवासनाबद्धो लोकसंग्रहवचनस्य विषयः । अथवा लोकानुग्रहार्थं ब्रह्मणा सृष्टा महान्तो व्यासागस्त्यपराशरवसिष्ठादयस्तत्सदृशा वा अन्ये आधिकारिका निग्रहानुग्रहक्षमास्ते वा भवेयुर्लोकसंग्रहवचनस्य विषयाः । न तु सिद्धो नाऽपि च साधको मुमुक्षुर्यतिः । तत एवोच्यते भगवता सर्वज्ञेन 'तस्य कार्यं न विद्यते' इति ॥१७॥

ननु ब्रह्मेन्द्रादिभिस्तत्तत्पदं लब्ध्वा प्राप्तं यत्सुखं तत्कर्मजन्यमेव । ततः सर्वत्र सुखस्य कर्मसंपाद्यत्वाद् ब्रह्मविदोऽपि सुखार्थित्वाच्च तस्य निरन्तरसुखसिद्ध्यै कर्म यत्किञ्चित्कर्तव्यमेवेत्याशङ्कायाम्, न; 'आनन्दो ब्रह्मेति', 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इति ब्रह्मण आनन्दैकरूपत्वश्रवणान्निरन्तरब्रह्मनिष्ठया तद्भावापन्नस्याऽखण्डानन्दस्वरूपेणैव तिष्ठतोऽस्य निरन्तरं ब्रह्मानन्दरसानुभूतेरनवच्छिन्नत्वात्क्रियाजन्यसुखस्याऽनित्यत्वात्तदनपेक्षिणो ब्रह्मविदः कर्मसाध्योऽर्थस्तदभावे अनर्थो वा न कश्चिदस्तीत्याह—**नैवेति** ।

है, इसमें तो कहना ही क्या है ? इसलिए बहुत वार श्रवण किया हुआ आभास आत्मज्ञानी, मैं और मेरा आदि बाह्य वासनाओंसे बद्ध परोक्षज्ञानी ही लोकसंग्रह-वचनका विषय है । अथवा लोकके अनुग्रहके लिए उत्पन्न हुए व्यास, अगस्त्य, पराशर, वसिष्ठ आदि और उनके समान अन्य अधिकारी, जो निग्रह और अनुग्रह करनेके लिए समर्थ हैं, लोकसंग्रह-वचनके विषय हैं । सिद्ध या साधक मुमुक्षु यति उक्त वचनके विषय नहीं हैं । इसीलिए सर्वज्ञ भगवान्ने कहा है—उसका कोई कर्तव्य नहीं है ॥ १७ ॥

ब्रह्मा, इन्द्र आदिने तत्-तत् पदको प्राप्त करके जिस सुखको प्राप्त किया है, वह कर्मजन्य ही है । इसलिए सुख सर्वत्र कर्मसे ही संपाद्य होता है, ब्रह्मज्ञानी सुखकी इच्छा करता है, अतः उसको निरन्तर सुखकी सिद्धिके लिए कुछ न कुछ कर्म करना ही चाहिए, ऐसी यदि शङ्का हो, तो वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'आनन्द ब्रह्म', 'विज्ञान और आनन्द ब्रह्म' इस प्रकार ब्रह्ममें आनन्दैकरूपत्वका श्रवण होनेसे निरन्तर ब्रह्मनिष्ठासे ब्रह्मभावको प्राप्त हुए अखण्डानन्दस्वरूपसे स्थित इस यतिको निरन्तर अनवच्छिन्न ब्रह्मानन्दरसका अनुभव होनेके कारण उसे अनित्य क्रियाजन्य सुखकी अपेक्षा नहीं होती, अतः ब्रह्मज्ञानीको कर्मसे साध्य अर्थ अथवा उसके अभावमें कुछ अनर्थ नहीं होता, ऐसा कहते हैं—'**नैव**' इत्यादिसे ।

तस्याऽहमेवेदं सर्वमिति सर्वमात्मानमेवाऽद्वितीयं पश्यत आत्मारामस्याऽऽत्मानन्दस्य यतेः सिद्धस्य कृतेनाऽनुष्ठितेन कर्मणा प्राप्तव्योऽर्थः कश्चिदपि नैवाऽस्ति, आत्मतृप्तत्वात् सर्वमिथ्यात्वदर्शित्वाच्च । योगक्रियया प्राप्तव्याकाशगमनाणिमादिसिद्धिर्नाऽपेक्ष्यते, सर्वात्मभावापन्नत्वात्तपःक्रियया प्राप्तव्यब्रह्मेन्द्रादिपदापेक्षा च न संभवति, जीवन्मुक्तत्वाद्वैदिकक्रियया प्राप्तव्यचित्तशुद्धिद्वारकमोक्षापेक्षाऽपि नाऽस्ति; अतो ब्रह्मवित्तमस्य कर्मणा साधनीयोऽर्थः कश्चिदपि नाऽस्त्येवेत्यर्थः । नन्वेतस्य कर्मणा प्राप्तव्येष्टार्थाभावेऽपि विध्युल्लङ्घनदोषो वाऽप्यकरणे प्रत्यवायदोषो वा स्यात्तेन ज्ञानहानिर्वा स्वरूपहानिर्वा प्रसज्येतेत्याशङ्कायामाह—**नाऽकृतेनेति** । उक्तलक्षणस्य ब्रह्मविदस्त्वकृतेन विहितानाचरणेनाऽनर्थ उक्तः कश्चनेह लोके न संभवति 'मायामात्रमिदं द्वैतम्' इति न्यायेन विधेरप्याविद्यकत्वेन मिथ्यात्वाद्विदुषस्तदुल्लङ्घने दोषाभावः । 'उभे ह्येवैष एते आत्मानꣳ स्पृणुते' इति श्रवणादकर्मणोऽपि ब्रह्ममात्रत्वदर्शनेन स्वतः सत्ताभावादकर्मोऽपि दोषाय न कल्पते । निरन्तरब्रह्मनिष्ठयैव तिष्ठतो विदुषस्तेन ज्ञानहानिर्न संभवति 'एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य' इति ब्रह्मवित्स्वरूपस्य कर्माकर्मभ्यां वृद्धिक्षयाभावश्रवणाद् ब्रह्मविदोऽकर्मणा स्वरूपहानिश्च न भवति । तस्मादकृतेनाऽस्य न कश्चिदप्यनर्थ इत्यर्थः । नन्वस्य मुक्तिप्रतिबन्धकनिवृत्त्यर्थं वाऽप्याध्यात्मिकाद्युपद्रव-

---

'मैं ही यह सब हूँ' इस प्रकार सबको अद्वितीय आत्मा देखनेवाले उस आत्माराम (आत्मानन्द) यति (सिद्ध) के लिए अनुष्ठित कर्मसे प्राप्त होने योग्य अर्थ कुछ भी नहीं है, क्योंकि वह आत्मामें तृप्त है और सबको मिथ्या देखनेवाला है । योग-क्रियासे प्राप्त होने योग्य आकाश-गमन, अणिमा आदि सिद्धिकी उसे अपेक्षा नहीं है, सर्वात्मभावको प्राप्त होनेके कारण तपरूप क्रियासे प्राप्त होने योग्य ब्रह्मा, इन्द्र आदि पदकी अपेक्षा भी नहीं है और जीवन्मुक्त होनेसे वैदिक क्रियासे प्राप्त होनेवाली चित्तशुद्धि द्वारा प्राप्य मोक्षकी अपेक्षा भी नहीं है । इसलिए उत्तम ब्रह्मज्ञानीको कर्मसे साधनीय कोई भी अर्थ नहीं है, यह भाव है । कर्मसे प्राप्तव्य अर्थके न होनेपर भी विधिके उल्लंघनका दोष और न करनेमें प्रत्यवायका दोष होगा ही, इससे उसके ज्ञानकी हानि अथवा स्वरूपकी हानिका प्रसंग आवेगा, ऐसी शङ्का होनेपर कहते हैं—**'नाऽकृतेन'** इत्यादि । उक्त लक्षणवाले ब्रह्मवित्को न करनेसे—विहित कर्मका आचरण न करनेसे—यहां (इस लोकमें) उक्त कोई अनर्थ नहीं हो सकता । 'यह द्वैत मायामात्र है' इस न्यायसे विधि भी अविद्यारूप होनेसे मिथ्या है, इसलिए विद्वान्को उसके उल्लंघनसे दोष नहीं होता । 'इन दोनोंको वह अपना आत्मा जानता है' ऐसी श्रुति होनेसे अकर्मकी भी ब्रह्ममात्रदर्शनसे पृथक् सत्ताका अभाव है, इसलिए अकर्म भी दोषके लिए समर्थ नहीं होता । निरन्तर ब्रह्मनिष्ठासे ही स्थित होनेवाले विद्वान्के ज्ञानकी उससे हानिका संभव नहीं है और 'ब्राह्मणकी यह नित्य महिमा है' इस श्रुतिसे ब्रह्मवित्के स्वरूपकी कर्म और अकर्मसे वृद्धि और क्षतिका अभाव होनेसे अकर्मसे ब्रह्मवित्के स्वरूपकी हानि भी नहीं होती । इसलिए कर्म न करनेसे उसका कोई अनर्थ नहीं होता । परन्तु उसको मुक्तिके प्रतिबन्धककी निवृत्तिके लिए

निवृत्त्यर्थं वाऽप्युपास्तिक्रियया शिवो वा विष्णुर्वाऽन्यो वा व्यपाश्रयणीयो भवति। अथवा शरीरयात्रार्थं ब्राह्मणो वा क्षत्रियो वाऽप्यनुसृत्याऽऽश्रयणीयो भवति। अतो विदुषः सर्वदा कर्मत्यागो न युज्यत एवेत्याशङ्कायामाह—**न चेति**। अस्योक्तलक्षणस्य ब्रह्मवित्तमस्य देवेषु शिवो वा विष्णुर्वा, सर्वभूतेषु ब्राह्मणो वाऽन्यो वा कश्चिदपि यत्किञ्चित्कार्यमुक्तलक्षणमुद्दिश्य क्रियया व्यपाश्रय आश्रणीयः कश्चिदपि नाऽस्ति 'इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः' इति वचनादिहैवाऽस्मिन् शरीरे नित्यनिरन्तरब्रह्मनिष्ठया भाविशरीरप्रापकमज्ञानं तत्कार्यं सञ्चितादिसर्वकर्मजातं च विनिर्मूल्य स्वयं शरीरसंबन्धरहितत्वेनैव सदा स्थितत्वाद् ब्रह्मविदोऽत्रैव मुक्तस्य इतो मुक्तिप्रतिबन्धकासंभवान्मिथ्याकोट्यन्तःपातित्वाच्च शिवविष्ण्वादिराराध्यो न भवति आध्यात्मिकाद्युपद्रवस्य शरीरत्राणस्य च प्रारब्धाधीनत्वात् पुंप्रयत्नस्य वैयर्थ्यदर्शनाच्च न कोऽपि ब्राह्मणादिराश्रयणीय एव। अतो ब्रह्मविद्वर्यस्य मुक्तस्य क्वचिदपि यत्किञ्चिदपि कर्म न कर्तव्यमेव। कृतं चेत् स ब्रह्मविदेव न भवति। तथा च स्मृतिः—'ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः। नैवाऽस्ति किञ्चित्कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित्' इति ॥ १८ ॥

योगारूढस्य तस्यैव मुक्तस्य यतेरात्मारामस्य कर्म न कर्तव्यं किन्त्वारुरुक्षोर्मोक्षार्थिनस्तव कर्म कर्तव्यमेवेति बोधयितुमाह—**तस्मादिति**।

अथवा आध्यात्मिक आदि उपद्रवोंकी निवृत्तिके लिए उपास्ति क्रियासे शिव, विष्णु अथवा अन्यका आश्रयण करना चाहिए। अथवा शरीरकी यात्राके लिए ब्राह्मण अथवा क्षत्रियका आश्रयण करना चाहिए। इसलिए विद्वान्के लिए सर्वदा कर्मका त्याग युक्त ही नहीं है, ऐसी आशङ्का होनेपर कहते हैं—'न च' इत्यादि। इस उक्त लक्षणवाले ब्रह्मवित्तमका देवोंमें शिव या विष्णु, और सब भूतोंमें ब्राह्मण या अन्य कोई भी उक्त किसी भी कार्यके उद्देश्यसे व्यपाश्रय—आश्रयण—करने योग्य नहीं है। 'यहीं उन्होंने संसारको जीत लिया, जिनका मन समतामें स्थित है', इत्यर्थक वचनसे यहां इस शरीरमें ही नित्य निरन्तर ब्रह्मनिष्ठासे भावी शरीरको प्राप्त करानेवाले अज्ञान और उसके कार्य संचित आदि सब कर्मसमूहका निर्मूलन करके स्वयं शरीरके संबन्धसे रहित होकर सदा स्थित होनेके कारण ब्रह्मवित् यहीं मुक्त है, इससे मुक्तिके प्रतिबन्धकका असंभव होनेसे और देवादिका मिथ्याकोटिमें प्रवेश होनेसे शिव, विष्णु आदि आराध्य नहीं है, आध्यात्मिक आदि उपद्रव और शरीरकी रक्षाके प्रारब्धाधीन होनेसे और पुरुषप्रयत्नकी व्यर्थता देखनेसे ब्राह्मण आदि कोई भी आश्रय करने योग्य नहीं है। इसलिए ब्रह्मविद्वर्य मुक्तका कहीं भी कुछ भी कर्म कर्तव्य नहीं है। यदि कर्तव्य है, तो ब्रह्मवित् ही नहीं है। जैसी कि स्मृति है—'ज्ञानरूपी अमृतसे तृप्त कृतकृत्य योगीका कुछ भी कर्तव्य नहीं है, यदि कर्तव्य है, तो वह तत्त्ववित् नहीं है ॥ १८ ॥

इसी योगारूढ मुक्त आत्माराम यतिका कर्तव्य नहीं है, किन्तु आरुरुक्षु मोक्षार्थी तुम्हारा तो कर्म ही कर्तव्य है, यह बतलानेके लिए कहते हैं—'**तस्मात्**' इत्यादिसे।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ १९ ॥
कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवाऽपि संपश्यन् कर्तुमर्हसि ॥ २० ॥

इसलिए फलविशेषकी अभिलाषा न रखकर तुम निरन्तर कर्म करो, क्योंकि फलविशेषकी अभिलाषाका त्यागकर कर्मानुष्ठान करनेसे पुरुषको मोक्ष प्राप्त होता है ॥१९॥

यतः जनक, अजातशत्रु आदि कर्मोंसे ही ज्ञाननिष्ठाको प्राप्त हुए थे, अतः उनके आचारको देखकर या लोकसंग्रहरूप प्रयोजनके लिए (लोग उन्मार्गगामी न हों, इसलिए) तुम्हें कर्म अवश्य करना चाहिए ॥ २० ॥

हि यस्मात्कारणान्मुमुक्षुः पुरुषः स्वयमसक्तः फलाभिसन्धिरहितो भूत्वा वैदिकं कर्माऽऽचरन् सम्यगनुतिष्ठन्नेव परं परमपुरुषार्थं मोक्षमाप्नोति यथाऽयमात्मरतिरस्मिञ्जन्मनि जन्मान्तरेषु च वैदिकं कर्म कृत्वैव चित्तशुद्धिं प्राप्याऽऽत्मज्ञानेन मुक्तिं प्राप्तवान्, तथाऽन्योऽपि कर्मभूमिस्थः कर्म कृत्वैव ज्ञानं प्राप्य मुक्तो भवति, नैवाऽन्यथा। तस्मात्त्वमपि मुमुक्षुरसक्तो निष्कामः सन् सततं कार्यं कर्तव्यं वैधं नित्यं नैमित्तिकं च कर्म समाचर श्रद्धाभक्तिभ्यामीश्वरार्पणबुद्ध्या सम्यक् कुरु । कर्मणैव चित्तशुद्धिं प्राप्य ज्ञानं च मोक्षं च प्राप्स्यसीत्यर्थः। 'धर्मेण पापमपनुदति' इति, 'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः' इति, 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' इत्यादिश्रुतिस्मृतिभिर्धर्मानुष्ठानादेव पापक्षयः, पापक्षयादेव ज्ञानम् , ज्ञानादेव मोक्ष इति प्रतिपाद्यते ॥ १९ ॥

ततो मुमुक्षोरज्ञातात्मतत्त्वस्याऽवश्यं कर्मैव कर्तव्यमित्युपदिश्याऽस्मिन्नर्थे वृद्धाचारं

जिस कारणसे मुमुक्षु स्वयं असक्त—फलकी अभिलाषासे रहित—होकर वैदिक कर्मका आचारण—ठीक-ठीक अनुष्ठान—करता हुआ ही परको—परमपुरुषार्थरूप मोक्षको—प्राप्त होता है । जैसे यह आत्मरति इस जन्ममें और पिछले जन्मोंमें वैदिक कर्म करके ही चित्तकी शुद्धिको प्राप्त होकर आत्मज्ञानसे मुक्तिको प्राप्त हुआ है, वैसे ही कर्मभूमिमें स्थित दूसरा कोई भी कर्म करके ही ज्ञानको प्राप्त होकर मुक्त होता है, अन्य प्रकारसे नहीं; इसलिए तुम भी मुमुक्षु असक्त—निष्काम—होकर सदा कर्तव्यरूपसे विधिसे विहित नित्य और नैमित्तिक कर्मोंको श्रद्धाभक्तिपूर्वक ईश्वरार्पणबुद्धिसे ठीक-ठीक करो। कर्मसे ही चित्तशुद्धि प्राप्त करके ज्ञानको और मोक्षको भी प्राप्त होओगे, यह अर्थ है । 'धर्मसे पापको नष्ट करता है', 'पापकर्मके क्षीण होनेसे पुरुषोंको ज्ञान होता है', 'ज्ञानसे ही तो कैवल्य प्राप्त होता है' इत्यादि श्रुति-स्मृतियोंसे, धर्मके अनुष्ठानसे ही पापोंका क्षय, पापोंके क्षयसे ज्ञान और ज्ञानसे ही मोक्ष होता है, ऐसा प्रतिपादन किया जाता है ॥ १९ ॥

इसलिए आत्मतत्त्वके न जाननेवाले मुमुक्षुको अवश्य ही कर्म करना चाहिए, ऐसा उपदेश

प्रमाणयति श्रीभगवान्—**कर्मणैवेति** ।

जनकादयः जनको वैदेह आदिर्येषां ते जनकादयः अश्वपतिभगीरथादयः क्षत्रियाः कर्मणैव श्रौतस्मार्तकर्मानुष्ठानेनैव चित्तशुद्धिं प्राप्य ज्ञानेन संसिद्धिमास्थिताः मुक्तिं प्राप्य कृतार्था जाता इत्यतस्त्वमपि कर्मैव कृत्वा तदुत्पन्नचित्तशुद्ध्या ज्ञानं प्राप्य मुक्तो भूत्वा सुखेन तिष्ठेत्यर्थः । यद्वा जनकादयो ज्ञानयोगनिष्ठानिरूढतया संसिद्धिं मुक्तिं प्राप्याऽपि लोकहितार्थं कर्मणैव सह स्थिताः स्वयं कृतार्था अपि मूढतारणार्थं कर्म कुर्वन्त एव स्थिता इत्यर्थः । आरूढानामेव एवं सति किमुताऽनात्मज्ञेनाऽऽरुरुक्षुणा त्वया मोक्षार्थं कर्म कर्तव्यमिति । एवं मुमुक्षोरनात्मज्ञस्याऽऽरुरुक्षोर्मोक्षार्थमवश्यं कर्म कर्तव्यमेवेति निर्धार्य, इदानीं मुक्तेनाऽऽप्याधिकारिकेण लोकहितार्थं कर्म कर्तव्यमेवेति बोधयितुं तत्र दृष्टान्तत्वेन जनकादीनां ज्ञानवृद्धानां प्रवृत्तिमुदाहृत्य तवाऽप्येतादृशोऽऽधिकारो यद्यस्ति तिष्ठतु तथापि जनकादिवत्त्वया लोकहितार्थमपि कर्माऽवश्यं कर्तव्यमेव । महापुरुषप्रवृत्त्या खलु शास्त्रस्य प्रामाण्यं कर्मणः प्राशस्त्यमज्ञतरणं च पारम्पर्येणाऽऽचारप्रचयोऽपि च सिद्ध्यति, अतो मुक्तेनाऽप्यवश्यं महता कर्म कर्तव्यमित्याशयेनाऽऽह—**लोकसंग्रहमिति** । लोकः पामरजनस्तस्य संग्रहः सत्कर्ममार्गप्रदर्शनेन तारणमुन्मार्गान्निवारणं वा तमिमं लोकसंग्रहमेवाऽर्थं संपश्यन् मया क्रियमाणं

करके इस विषयमें वृद्धाचारको प्रमाणरूपसे श्रीभगवान् बतलाते हैं—'**कर्मणैव**' इत्यादिसे ।

जनकादि, जनक—वैदेह—जिनमें आदि हैं, वे जनकादि कहे जाते हैं अर्थात् अश्वपति, भगीरथ आदि क्षत्रिय कर्मसे ही—श्रौत-स्मार्तरूप कर्मके अनुष्ठानसे ही—चित्तशुद्धिको प्राप्त करके ज्ञानसे संसिद्धिको प्राप्त हुए यानी मुक्तिको प्राप्त करके कृतार्थ हुए, इसलिए तुम भी कर्म ही करके, उससे उत्पन्न हुई चित्तशुद्धिसे ज्ञान प्राप्त करके मुक्त होकर सुखसे बैठो, यह अर्थ है । अथवा जनक आदि ज्ञानयोगनिष्ठाके परिपक्व होनेसे संसिद्धिको—मुक्तिको—प्राप्त होकर भी लोकहितके लिए कर्म करते ही रहे अर्थात् स्वयं कृतार्थ होते हुए भी मूढ़ोंके तारणके लिए कर्म करते हुए ही स्थित रहे, यह अर्थ है । आरूढ़ोंने जब ऐसा किया, तो अनात्मज्ञ आरुरुक्षु तुम्हें कर्म करना चाहिए, इसमें तो कहना ही क्या है ? इस प्रकार मुमुक्षु अनात्मज्ञ आरुरुक्षु मोक्षार्थीको कर्म कर्तव्य है, ऐसा निर्धारण करके, अब मुक्त अधिकारीको भी लोकके हितके लिए कर्म कर्तव्य है, ऐसा बतलानेके लिए उससे दृष्टान्तरूपसे जनकादि ज्ञानवृद्धोंकी प्रवृत्तिका उदाहरण देकर तुम्हें भी यदि ऐसा अधिकार हो, तो भी जनकादिके समान लोकके हितके लिए कर्म अवश्य ही करना चाहिए । महापुरुषोंकी प्रवृत्तिसे अवश्य ही शास्त्रका प्रामाण्य, कर्मका प्राशस्त्य और अज्ञानीका तरण और परम्परासे आचारकी वृद्धि भी सिद्ध होती है । इसलिए महान् मुक्त पुरुषको भी कर्म अवश्य कर्तव्य है, इस आशयसे कहते हैं—'**लोकसंग्रहम्**' इत्यादि । लोक—पामर जन, उसका संग्रह यानी सत् कर्मके मार्गको दिखलानेसे तारण अथवा कुमार्गसे निवारण, इस लोकसंग्रहरूप अर्थको

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ २१ ॥

श्रेष्ठ पुरुष श्रौत-स्मार्तरूप जिस-जिस कर्मका अनुष्ठान करता है, साधारण लोग भी उसीका अनुष्ठान करते हैं और वह जिस शास्त्रको प्रमाण मानता है, उसीको प्राकृत पुरुष भी प्रमाण मानते हैं ॥ २१ ॥

कर्म लोकोपकाराय भवतीति पश्यन्नपि कर्म कर्तुं त्वमर्हसीत्यर्थः ॥ २० ॥

मत्कर्तृकं कर्म कथं लोकस्योपकाराय भवतीति चेदुच्यते—**यद्यदाचरतीति ।**

वेदशास्त्राध्ययनाध्यापनयोस्तदर्थज्ञानज्ञापनयोस्तदुक्तकर्मानुष्ठानानुष्ठापनयोश्च दक्षिणः कुलशीलादिमहत्त्वसंपन्नश्च यो द्विजश्रेष्ठः, यद्यच्छ्रौतं स्मार्तं वा अन्यद्वाऽऽचरति नियमेनाऽनुतिष्ठति मुमुक्षुः इतरः पामरोऽपि तत्तदेव कर्माऽऽचरति न तु स्वयमप्यन्यत्करोति शास्त्रतज्ज्ञानतदुक्तकर्मपरिज्ञानाभावात् । किञ्च, उक्तलक्षणः श्रेष्ठः यद्यच्छास्त्रं स्वयं प्रमाणं कुरुते इदमेव प्रमाणमिति व्यवहरति, लोको मूढजनस्तदेव तेन प्रमाणीकृतमेव शास्त्रमनुवर्तते तदेव शास्त्रं स्वयं प्रमाणं करोति । श्रेष्ठानुसारी भवति पामर इत्यर्थः । एतेन श्रेष्ठस्य कृतार्थस्याऽपि लोकहितार्थं कर्म कर्तव्यमेवेति सिद्धम् ॥२१॥

ननु महात्मनः कृतार्थस्य कर्मणा साध्यमपश्यतः कर्मकरणं कुत्राऽपि न दृष्टमित्या-

---

देखकर याने मेरे द्वारा किया गया कर्म लोकके हितके लिए होगा, ऐसा देखकर भी तुम कर्म करनेके योग्य हो, यह अर्थ है ॥ २० ॥

मेरे द्वारा किया गया कर्म लोकके उपकारके लिए कैसे होगा ? यों यदि अर्जुन पूछे तो उसपर भगवान् कहते हैं—**'यद्यदाचरति'** इत्यादिसे ।

वेद शास्त्रोंका पढ़ने और पढ़ानेमें उनके अर्थको जानने एवं समझनेमें एवं उनमें कहे गये कर्मोंका अनुष्ठान करने और करानेमें दक्ष और कुल, शील आदि प्रयुक्त महत्त्वसे सम्पन्न जो द्विजश्रेष्ठ, जिस-जिस श्रौत या स्मार्त अथवा अन्य प्रकारका कर्म करता है—नियमसे उसका अनुष्ठान करता है, दूसरा पामर मुमुक्षु भी उसी कर्मका आचरण करता है, स्वयं उससे अन्य नहीं करता, क्योंकि शास्त्र, शास्त्रजन्य ज्ञान और उसमें कहे गये कर्मका परिज्ञान उसे नहीं है । और उक्त लक्षणवाला श्रेष्ठ जिस-जिस शास्त्रको स्वयं प्रमाण मानता है—यही प्रमाण है, ऐसा व्यवहार करता है, लोक (मूढ जन) उसका ही—उसके द्वारा प्रमाणित किये गये शास्त्रके अनुसार वर्ताव करता है—उसी शास्त्रको प्रमाण मानता है । पामर पुरुष श्रेष्ठ पुरुषका अनुसारी होता है, यह अर्थ है । इससे श्रेष्ठ कृतार्थको भी लोकके हितके लिए कर्म करना ही चाहिए, यह सिद्ध हुआ ॥२१॥

कुछ भी उत्पाद्य नहीं है, ऐसा हमारे लिए कर्मसे साध्य न देखनेवाले कृतार्थ महात्माका कर्म

न मे पार्थाऽस्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।
नाऽनवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ २२ ॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्माऽनुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ २३ ॥

हे पार्थ, तीनों लोकोंमें किसी वस्तुकी प्राप्तिके लिए मेरा कुछ भी कर्तव्य नहीं है और ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जो क्रियासे प्राप्त होनेवाली हो और मुझे प्राप्त न हुई हो । फिर भी मैं कर्म करता ही रहता हूँ ॥ २२ ॥

कदाचित् मैं आलस्यसे रहित होकर कर्म न करूँ, तो हे पार्थ, सब मनुष्य मुझे कर्मरहित देखकर मेरा अनुकरण करेंगे, क्योंकि लोग मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं ॥ २३ ॥

शङ्कायां अस्मिन्नर्थे त्वहमेव प्रमाणमित्याह श्रीभगवान्—**न मे इति ।**

हे पार्थ, षड्गुणैश्वर्यसंपन्नस्याऽवाप्तसर्वकामस्य सर्वेश्वरस्य मे यत्किञ्चित्कार्यमाप्तव्यमर्थमुद्दिश्य कर्तव्यं कर्म नाऽस्ति, तत्कुतः अनवाप्तमप्राप्तं सत् मम क्रिययाऽवाप्तव्यं प्राप्तव्यं वस्तु किञ्चिदपि त्रिषु लोकेषु न विद्यते । गृहस्वामिनो गृहस्थद्रव्यवद्ब्रह्माण्डस्थं सर्वं वस्तु ब्रह्माण्डस्वामिनो मे प्राप्तमेव भवति न तु प्राप्तव्यं किञ्चिदस्ति, एवं महाभाग्यवैराग्यज्ञानसमृद्धोऽप्यहं लोकसंग्रहात्मके कर्मणि वर्ते एव हि । चकारो ह्यर्थः । मम वैदिके लौकिके च कर्मणि प्रवर्तनं भवतां प्रत्यक्षसिद्धमिति । हिः प्रसिद्धिबोधनार्थः ॥ २२ ॥

ननु सर्वेश्वरस्य तव लोकसंग्रहोऽपि न कर्तव्यः, अनर्थाभावादित्याशङ्क्य, न;

करना कहीं देखनेमें नहीं आता, ऐसी शङ्का होनेपर इस विषयमें तो मैं ही प्रमाण हूँ, ऐसा श्रीभगवान् कहते हैं—'**न मे**' इत्यादिसे ।

हे पार्थ, षड्गुण ऐश्वर्यसे सम्पन्न, प्राप्तसर्वकाम, सबके ईश्वर मुझको प्राप्तव्यके उद्देश्यसे—कुछ भी कर्म—कर्तव्य कर्म—नहीं है । यह कैसे ? अनवाप्त—अप्राप्त—होनेसे क्रियासे मुझे अवाप्तव्य—आप्तव्य वस्तु तीनों लोकोंमें विद्यमान नहीं है, जैसे घरमें स्थित द्रव्य घरके स्वामीका होता है, वैसे ही ब्रह्माण्डमें स्थित सब वस्तु ब्रह्माण्डके स्वामी मुझको प्राप्त ही है, कुछ भी प्राप्तव्य नहीं है । इस प्रकार महाभाग्य, वैराग्य और ज्ञानसे समृद्ध भी मैं लोकसंग्रहस्वरूप कर्म करता ही हूँ । चकार हिके अर्थमें है । वैदिक और लौकिक कर्ममें मेरी प्रवृत्ति तुम्हारे प्रत्यक्ष है । 'हि' शब्द प्रसिद्धि बतलानेके लिए है ॥ २२ ॥

आप सबके ईश्वर हैं, अतः आपको लोकसंग्रह करनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि आपमें

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥ २४ ॥

यदि अपनेको कृतकृत्य समझकर मैं वैदिक कर्मका त्याग कर दूँ, तो ये सब लोक उच्छिन्न हो जायँगे, इतना ही नहीं, किन्तु वर्णसङ्करका उत्पादक होऊँगा और सारी प्रजाकी दुर्गतिका भी हेतु होऊँगा ॥ २४ ॥

'अश्रेष्ठः श्रेष्ठानुसारी' इति न्यायेन सर्वज्ञोऽयं कृष्ण इति सर्वे मदनुसारिणो भवन्ति, मय्यकर्मणि सति सर्वेऽप्यकर्माणो भवेयुस्तेन लोकक्षतिरुपपद्यते, अतः कर्म मम कर्तव्यमेवेत्याशयेनाऽऽह—**यदीति** द्वाभ्याम् ।

अहं कृतार्थोऽस्मीति वा न कर्मणा मम साध्यमस्तीति वाऽप्यहमतन्द्रितः मन्त्र-तन्त्रप्रयोगादावप्रमत्तो भूत्वा जातु क्वचित्कदाचिदपि कर्मणि विहिते न वर्तेयं यदि विहितकर्मकर्ता न स्यां चेत् मामकर्माणं दृष्ट्वा सर्वे मनुष्या अप्यकर्माणो भवेयुः, हि यस्मात्कारणान्मनुष्याः सर्वे भगवानयं सर्वज्ञ इति मयि सर्वज्ञत्वबुद्ध्या मम वर्त्म मदीयमेव मार्गमनुवर्तन्ते अश्रेष्ठस्य श्रेष्ठानुसारित्वनियमात् । मया कर्मणि त्यक्ते स्वयमपि कर्म त्यजेयुरित्यर्थः ॥ २३ ॥

ननु तैरपि कर्म त्यज्यताम्, ततः कोऽनर्थ इत्यत आह—**उत्सीदेयुरिति** ।

सर्वैः कर्मणि परित्यक्ते 'अन्नाद्भवन्ति भूतानि' इत्युक्तरीत्या हविर्भागाभावाद् देवाः

कोई अनर्थ नहीं है, ऐसी यदि शङ्का हो, तो वह भी युक्त नहीं है, 'क्योंकि अश्रेष्ठ श्रेष्ठका अनुसारी होता है', इस न्यायसे यह कृष्ण सर्वज्ञ है, ऐसा जानकर सब मेरा अनुसरण करते हैं, अतः मेरे कर्म न करनेसे सब लोग कर्म न करनेवाले हो जायँगे, उससे लोककी क्षति होगी, इसलिए मुझे कर्म करना चाहिए, इस आशयसे कहते हैं—**'यदि'** इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

'मैं कृतार्थ हूँ' अथवा 'कर्मसे मेरा कोई मतलब नहीं है' ऐसा मान कर यदि मैं आलस्य-रहित होकर याने मन्त्र-तन्त्रके प्रयोग आदिमें अप्रमत्त होकर कहीं कभी भी विहित कर्म न करूँ—मैं विहित कर्मका कर्ता न होऊँ—तो मुझको अकर्मा (कर्म न करनेवाला) देखकर सभी मनुष्य कर्म न करनेवाले हो जायँगे। क्योंकि 'अश्रेष्ठ श्रेष्ठानुसारी होता है', ऐसा नियम होनेसे सब मनुष्य 'यह भगवान् सर्वज्ञ है' ऐसा समझकर मुझमें सर्वज्ञत्व बुद्धिसे मेरे मार्गपर चलते हैं, इस-लिए मेरे कर्मके त्यागनेसे वे स्वयं भी कर्म त्याग देंगे, यह भाव है ॥ २३ ॥

वे भी कर्मका त्याग करें, उससे क्या अनर्थ होगा ? ऐसा यदि अर्जुन पूछे, तो उसपर भगवान् कहते हैं—**'उत्सीदेयु०'** इत्यादि ।

यदि सभी कर्मका त्याग कर देंगे, तो 'अन्नसे भूत होते हैं' इत्यादि कही गई रीतिसे हविर्भागके

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ २५ ॥

हे भारत, जैसे पुत्र, कलत्र आदिमें अभिमान रखनेवाले अतत्त्वज्ञ पुरुष कर्म करते हैं, वैसे ही विद्वान् लोकसंग्रह करनेकी इच्छासे अनासक्त होकर कर्म करे ॥ २५ ॥

प्रक्षीणा भवेयुः वृष्ट्याद्यभावान्मनुष्यादीनामनुत्पत्तिरुत्पन्नानां च विनाशः स्यात् । एतावानेवाऽनर्थो न भवति, किन्तु वर्णसाङ्कर्यमपि च स्यादित्याह—**सङ्करस्येति** । कृतकृत्यत्वाभिमानेनाऽहं लोकस्थितिकारणं वैदिकं कर्म त्याजयित्वा संकरस्य च कर्ता स्याम् । तत्तद्वर्णजातिभेदव्यवस्थापककर्माभावे सर्वेषामैकरूप्यापत्तौ वर्णाः सङ्कीर्यन्ते । सोऽपि वर्णसङ्करो मत्कर्तृक एव स्यात् । एवं साङ्कर्यसंपादनेनाऽहं सर्वाः प्रजा उपहन्यां सर्वासां प्रजानामुपहतिकर्ता च स्याम् । उपहतिर्दुर्गतिप्राप्तिः । सद्गतिहेतोः सत्कर्मानुष्ठानस्याऽभावात् सर्वे नरकभाजो भवेयुरित्यर्थः । यत एषाऽनर्थपरम्परापत्तिस्ततः कृतकृत्यस्याऽपि मम तव चाऽप्यात्मविदोऽन्यस्य च लोकहितार्थं कर्म कर्तव्यमेवेति सिद्धम् ॥२४॥

तर्हि लोकहितार्थं कर्मणि प्रवृत्तेन विदुषा कथं कर्म कर्तव्यमित्याकाङ्क्षायामाह—**सक्ता इति** ।

अविद्वांसोऽनात्मज्ञाः कर्मणि कर्मजन्यफले स्वर्गपुत्रधनादौ सक्ता आसक्तिमन्तो भूत्वा नियमेन श्रद्धाभक्तिभ्यां यथा विहितं कर्म कुर्वन्ति तथैव वर्तमानः सन्

अभावसे देवता क्षीण हो जायँगे, उससे वृष्टि आदिका अभाव होनेपर मनुष्य आदिकी उत्पत्ति नहीं होगी और जो उत्पन्न हुए हैं, उनका नाश हो जायगा । इतना ही अनर्थ नहीं है, किन्तु वर्णोंका सांकर्य भी हो जायगा, ऐसा कहते हैं—**'सङ्करस्य'** इत्यादिसे । कृतकृत्यत्वके अभिमानसे मैं लोककी स्थितिमें हेतुभूत वैदिक कर्मोंका त्याग कराकर संकरका कर्ता होऊँगा । तत्-तत् वर्ण और जातिके भेदके व्यवस्थापक कर्मका अनुष्ठान न होनेसे सब एकरूप हो जायँगे, ऐसा होनेपर वर्ण सङ्कीर्ण हो जाते हैं, उस वर्णोंके सङ्करका कर्ता मैं ही होऊँगा । इस प्रकार साङ्कर्यका सम्पादन करनेसे मैं ही सब प्रजाको भ्रष्ट करूँगा—सब प्रजाकी उपहति करनेवाला होऊँगा । दुर्गतिकी प्राप्तिका नाम उपहति है । सद्गतिके हेतु सत् कर्मोंके अनुष्ठानके अभावसे सब नरकगामी हो जायँगे, यह अर्थ है । यतः इस अनर्थपरम्पराकी प्राप्ति है, इसलिए कृतकृत्य मुझे, तुम्हें और किसी अन्य आत्मज्ञानीको भी लोकके हितके लिए कर्म करना ही चाहिए, यह सिद्ध हुआ ॥ २४ ॥

तब लोकके हितके लिए कर्ममें प्रवृत्त हुए विद्वान्को कर्म कैसे करना चाहिए, ऐसी आकाङ्क्षा होनेपर कहते हैं—**'सक्ताः'** इत्यादिसे ।

जैसे अविद्वान् अनात्मज्ञ कर्ममें—स्वर्ग, पुत्र, धन आदि कर्मजन्य फलमें—सक्त (आसक्तिवाले) होकर नियमपूर्वक श्रद्धा और भक्तिसे विहित कर्म करते हैं, वैसे ही कर्ममें प्रवृत्त होकर लोकसंग्रह

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन् ॥ २६ ॥

युक्त विद्वान्‌को कर्ममें अभिनिवेश रखनेवाले मनुष्योंकी बुद्धिको विचलित नहीं करना चाहिए, किन्तु सब श्रौत कर्मोंका अनुष्ठान करते हुए उनकी उन कर्मोंमें प्रीति करानी चाहिए ॥ २६ ॥

लोकसङ्ग्रहं चिकीर्षुर्विद्वान् ब्रह्मविदाधिकारिकः स्वयमसक्तः कर्तृत्वाभिनिवेशरहितः फलापेक्षारहितोऽपि भूत्वा कर्म कुर्यात् । एवं कुर्वन् स्वयं तीर्णः परानपि तारयतीति भावः । कर्तृत्वाभिनिवेशरहितत्वं फलानपेक्षित्वं साकल्यवैकल्ययोर्हर्षविषादशून्यत्वं च तज्ज्ञाज्ञयोर्वैलक्षण्यम् । नियमेन कर्मकरणं तूभयत्र सममेव ॥ २५ ॥

किञ्च, **न बुद्धिभेदमिति** । विद्वान् ब्रह्मवित् स्वयं युक्त आत्मनो देहादितादात्म्याभावदर्शनयोगनिष्ठो भूत्वा समाचरन् कालोचितं कर्म कुर्वन् कर्मसङ्गिनां कर्मासक्तानाम् । फलापेक्षया नियमेन कर्म कुर्वतामित्यर्थः । यद्वा देहेन्द्रियादिभिरेव क्रियमाणेषु कर्मस्वहं कर्ता भोक्तेत्यभिमानः सङ्गः स येषां तेषां कर्मसङ्गिनामतत्त्वविदां मूढानां स्वयं पण्डितत्वाभिमानेन बुद्धिभेदं 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामः' इति वचनाज्ज्योतिष्टोमं कृत्वा स्वर्गफलं भोक्ष्य इत्यादिफलविषया या कामना बुद्धिस्तस्या भेदं चालनं न जनयेत् । न कर्माणि कामनया कर्तव्यानीति वा, स्वर्गादिफलमसदिति वा, कर्त्रादि सर्वं मिथ्येति वा तेषां बुद्धेर्वैकल्यं न संपादयेत्, किन्तु 'अक्षय्यं

करनेकी इच्छावाला ब्रह्मवित् अधिकारी विद्वान् स्वयं असक्त होकर—कर्तृत्वके अभिमानसे शून्य होकर और फलकी अपेक्षासे भी रहित होकर—कर्म करे । ऐसा करनेसे स्वयं तर जाता है और दूसरोंको भी तार देता है, यह भाव है । कर्तृत्वके अभिनिवेशसे रहित होना, फलकी अनपेक्षा और उसकी सिद्धि एवं असिद्धिमें हर्ष और विषादसे रहित होना ही तत्त्वज्ञ और अज्ञमें विलक्षणता है । नियमसे कर्म करना तो दोनोंमें समान है ॥ २५ ॥

किञ्च '**न बुद्धिभेदम्**' इत्यादि । ब्रह्मवित् विद्वान् स्वयं युक्त—आत्मामें देहादितादात्म्यभावके दर्शनसे योगनिष्ठ होकर कालानुरूप कर्म करता हुआ कर्मसङ्गी याने कर्मासक्तोंका (फलकी अपेक्षासे कर्म करनेवालोंका, यह अर्थ है, अथवा देह, इन्द्रिय आदिसे ही किये जानेवाले कर्ममें 'मैं कर्ता भोक्ता हूँ' यह अभिमान सङ्ग है, वह जिनको हो, उन कर्मसङ्गी अनात्मवित् मूढोंका) स्वयं पण्डितत्वके अभिमानसे बुद्धिभेद न करे । स्वर्गकी कामनावाला ज्योतिष्टोम याग करे' इस वचनसे ज्योतिष्टोम करके स्वर्गरूप फलका भोग करूँगा इत्यादि फलरूप विषयसे युक्त कामना बुद्धि है, उसका भेद—विचालन—न करे । अथवा कामनासे कर्म न करने चाहिए, अथवा स्वर्ग आदि फल असत् हैं अथवा कर्ता आदि सब मिथ्या हैं, ऐसा कहकर उनकी

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते ॥ २७ ॥

ये सारे कर्म शरीर, इन्द्रिय आदि मायाके कार्यसे ही किये जाते हैं, परन्तु अहङ्कारसे विमोहित अन्तःकरणवाला पुरुष मैं ही करनेवाला हूँ यों मानता है ॥२७॥

ह वै चातुर्मास्ययाजिनः' इति, 'पश्यति पुत्रं पश्यति पौत्रम्' इति, 'तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति' इत्यादिना च सर्वाणि कर्माणि वैदिकानि जोषयेत् प्रीणयेत् । कर्मफलस्तुत्या कर्माणि कर्तुमिच्छामेव संपादयेदित्यर्थः ॥ २६ ॥

मूढानामेव कर्म न तु पण्डितानामिति सूचयितुमज्ञानां कर्मसङ्गिनामित्युक्तम्, कर्मसङ्गिनामिति यदुक्तं तदेव विस्पष्टयति—प्रकृतेरिति ।

प्रकृतिर्माया सत्त्वादिगुणद्वारा आकाशादिमहाभूतरूपेण परिणता तस्याः प्रकृतेर्गुणाः कार्यभूताः देहेन्द्रियादयस्तैरेव न क्वचिदप्यात्मना क्रियमाणानि सर्वाणि कर्माणि प्रति अविद्वानहङ्कारविमूढात्मा स्वाविद्यया देहेन्द्रियादावनात्मन्यहमिति बुद्धिरहङ्कारस्तेन विमूढो विपरीतग्रहणतत्पर आत्मा मनो यस्य सोऽहङ्कारविमूढात्मा । यद्वा विमूढ इत्यत्राऽन्तर्गर्भितो णिच् । देहेन्द्रियादिष्वहङ्करणेन विमोहितः द्रष्टाऽहं स्प्रष्टाऽहं श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता भोक्तेति तत्तदुपाधिसंबन्धसंभावितविपरीतवृत्तीनां विषयतां गमितः आत्मा प्रत्यग्लक्षणो येन सोऽहंकारविमू-

---

बुद्धिकी विकलता सम्पादन न करे, किन्तु चातुर्मास्यका यजन करनेवालोंको फल अक्षय होता है', 'पुत्रको देखता है', पौत्रको देखता है 'इसलिए धर्मको श्रेष्ठ कहते हैं' इत्यादिसे सब वैदिक कर्म करावे । कर्मफलकी स्तुति करके कर्म करनेकी इच्छाका ही सम्पादन करे, यह भाव है ॥ २६ ॥

मूढोंके लिए ही कर्म है, पण्डितोंके लिए नहीं, ऐसा सूचन करनेके लिए 'अज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्' ऐसा कहा । उसमें 'कर्मसङ्गिनाम्' यह जो शब्द कहा गया है, उसीको स्पष्ट करते हैं—'प्रकृतेः' इत्यादिसे ।

प्रकृतिके अर्थात् सत्त्व आदि गुणोंके द्वारा आकाश आदि महाभूतरूपसे परिणामको प्राप्त हुई मायाके गुणोंसे—कार्यभूत देह, इन्द्रिय आदिसे—ही, कहीं भी स्वरूपसे नहीं, किये जानेवाले सब कर्मोंके प्रति अविद्वान् अहङ्कारविमूढ़मनवाला—अपनी अविद्यासे देह, इन्द्रिय आदि अनात्मामें 'मैं हूँ' ऐसी बुद्धि अहङ्कार है, उस अहङ्कारसे विमूढ़ होकर विपरीत ग्रहणमें जिसका आत्मा याने मन है, वह अहङ्कारविमूढ़ात्मा कहलाता है अथवा, विमूढ इसमें अन्तर्गर्भित णिच् है । देह, इन्द्रिय आदिमें अहङ्कार करनेसे विमोहित याने मैं द्रष्टा, स्प्रष्टा, श्रोता, सूँघनेवाला, चखनेवाला, सोचनेवाला, कर्ता और भोक्ता हूँ, इस प्रकार तत्-तत् उपाधिके सम्बन्धसे प्राप्त विपरीत वृत्तियोंकी विषयताको प्राप्त किया है, यानी जाना है प्रत्यक्लक्षण आत्मा जिसने वह अहङ्कार-

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥ २८ ॥

हे महाबाहो, गुण और कर्मोंके विभागके स्वरूपको जाननेवाला विद्वान् गुण (चक्षु आदि) गुणोंमें (रूपादि विषयोंमें) अनुवृत्त होते हैं, ऐसा समझ कर आसक्त नहीं होता ॥ २८ ॥

ढात्मा । यद्वा देहेन्द्रियादिष्वहङ्करणेन विमोहितोऽहंप्रत्ययार्थत्वेनाऽविदित आत्मा येन सोऽहङ्कारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते । दुष्टादुष्टप्रारब्धवशाद् देहेन्द्रियैः कृतेषु दुष्टेष्वदुष्टेष्वपि कर्म स्वकर्तारमेवाऽऽत्मानं मया पापं कृतं पुण्यं कृतमिति तत्तत्क्रियायाः कर्तारमेव पश्यतीत्यर्थः ॥ २७ ॥

विद्वान् युक्त इति यदुक्तमात्मनो देहेन्द्रियतत्कर्मसंबन्धाभावदर्शनं विदुषस्तदनेन प्रतिपाद्यते—**तत्त्वविदिति** ।

गुणकर्मविभागयोः गुणाश्चक्षुरादयो वागादयो बुद्धिर्मनश्च । तत्र चक्षुःश्रोत्रादीनामेव दर्शनश्रवणादिक्रिया, वाक्पाण्यादीनामेव वचनादानादिक्रिया, बुद्धेरेवाऽहङ्करणक्रिया, मनस एव संकल्पनक्रिया, आत्मनस्तु कूटस्थासङ्गचिद्रूपेणाऽवस्थानमात्रम् , एवं गुणविभागः कर्मविभागश्च तयोर्गुणकर्मविभागयोरात्मनश्च तत्त्वं याथात्म्यं सम्यग्वेत्तीति तत्त्वविद्विद्वान् । तुशब्दोऽविद्वद्व्यावृत्त्यर्थः । सर्वकर्मसु गुणाश्चक्षुरादय एव गुणेषु रूपादिषु वर्तन्ते, वागादय एव वचनादिषु वर्तन्ते, बुद्धिरेव तेषां कर्मस्वहंकर्तेत्यहंकरोति,

---

विमूढात्मा है । अथवा देह, इन्द्रिय आदिमें अहङ्कार करनेसे विमोहित होकर जिस अहंप्रत्ययके अर्थरूपसे आत्माको नहीं जाना है, वह अहङ्कारविमूढ़ात्मा है—मैं कर्ता हूँ, ऐसा मानता है । दुष्ट और अदुष्ट प्रारब्धवशसे देह, इन्द्रियोंसे किये गये दुष्ट और अदुष्ट कर्मोंमें अकर्ता आत्माको मैंने पाप किया, मैंने पुण्य किया, इस प्रकार उस उस क्रियाका कर्ता ही देखता है, यह अर्थ है ॥ २७ ॥

'विद्वान् युक्तः' इस श्लोकसे जो यह कहा था कि आत्मामें देह, इन्द्रिय और उनके कर्मके अभावका दर्शन विद्वान्को होता है, उसका इस श्लोकसे प्रतिपादन किया जाता है—'**तत्त्वविद्**' इत्यादिसे ।

गुण और कर्म दोनोंका विभाग अर्थात् चक्षु आदि, वाक् आदि, बुद्धि और मन ये गुण हैं । उनमें चक्षु, श्रोत्र आदिकी दर्शन, श्रवण आदि क्रियाएँ, वाक् पाणि आदिकी बोलना, पकड़ना आदि क्रियाएँ, बुद्धिकी अहङ्कार करना क्रिया और मनकी ही सङ्कल्प क्रिया है, आत्माका तो कूटस्थ, असङ्ग और चिद्रूपसे अवस्थानमात्र है, इस प्रकार गुणोंका विभाग और कर्मोंका विभाग है' इन दोनों गुण और कर्मके विभागको और आत्माके तत्त्वको ठीक-ठीक प्रकारसे जो जानता है, वह तत्त्ववित् विद्वान् है । तुशब्द अविद्वान्की व्यावृत्तिके लिए है । सब कर्मोंमें चक्षु आदि गुण ही रूपादि गुणोंमें रहते हैं, वाणी आदि ही वचन आदिमें वर्तते हैं, बुद्धि ही उन कर्मोंमें अहङ्कार करती है, मैं तो न

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥ २९ ॥

मायाके कर्मोंमें अभिनिवेश रखनेवाले पामर जन इन्द्रियों द्वारा किये जानेवाले कार्योंमें आसक्ति करते हैं, उन मन्द अतत्त्वज्ञ पुरुषोंको पूर्ण तत्त्वज्ञ कभी भी विचलित न करे ॥ २९ ॥

अहं तु न शृणोमि, न पश्यामि, न वदामि, न करोमि, न गच्छामि किन्तु कूटस्थासङ्गचिदात्मा सर्वदा तूष्णीमेवाऽऽसमिति मत्वा निश्चित्य तेषां कर्मसु न सज्जते । तत्राऽहं ममेति प्रत्ययं न करोतीत्यर्थः ॥ २८ ॥

एवं देहेन्द्रियादिभिः क्रियमाणेषु कर्मसु स्वस्य अकर्तृत्वदृष्ट्या विद्वान् स्वविलक्षणानज्ञान् कर्मिणः प्रमादेनाऽपि न विचालयेदिति पुनरुक्तमेवाऽर्थं द्रढयति— **प्रकृतेरिति ।**

कर्मिणां विद्वद्वैलक्षण्यं दर्शयति—**प्रकृतेर्गुणसंमूढा इति ।** प्रकृतेरुक्तलक्षणाया गुणेषु कार्येषु देहेन्द्रियादिष्वहंबुद्ध्या संमूढास्तदात्मतामापन्नाः पामराः स्वयं गुणकर्मसु गुणैः श्रवणादिभिर्वागादिभिः क्रियमाणेषु कर्मसु श्रवणदर्शनवचनादानभोजनादिष्वहमेव श्रोता द्रष्टा वक्ता दाता कर्ता भोक्तेति सज्जन्तेऽभिनिवेशं कुर्वन्ति । एतान् कर्मिणोऽकृत्स्नविदोऽब्रह्मविदोऽज्ञान् कृत्स्नवित्पूर्वोक्तलक्षणो ब्रह्मविन्न विचालयेत् । कामनया कर्म न कर्तव्यमिति वा, कर्मफलमसदिति वा, कर्त्रादि मिथ्येति

सुनता हूँ, न देखता हूँ, न बोलता हूँ, न करता हूँ, न जाता हूँ, किन्तु कूटस्थ असङ्ग चित्-रूपसे सर्वदा चुपचाप ही रहता हूँ, ऐसा मानकर—निश्चय कर—विद्वान् उनके कर्मोंमें आसक्त नहीं होता । उनमें 'मैं, मेरा' ऐसा व्यवहार नहीं करता, यह भाव है ॥ २८ ॥

इस प्रकार देह, इन्द्रिय आदिसे किये जानेवाले कर्मोंमें अपनी अकर्तृत्व दृष्टिसे विद्वान् 'अन्य अज्ञानी कर्मियोंको भूलकर भी विचलित न करे' इस पूर्वोक्त अर्थको ही फिर दृढ़ करते हैं—'प्रकृते०' इत्यादिसे ।

कर्मियोंमें विद्वानोंकी अपेक्षासे वैलक्षण्य दिखलाते हैं—'प्रकृतेर्गुणसंमूढाः' इत्यादिसे । उक्त लक्षणवाली प्रकृतिके गुणोंमें—देह, इन्द्रिय आदि कार्योंमें—अहंबुद्धिसे संमूढ याने उनके सम्बन्धको प्राप्त हुए पामर पुरुष ही स्वयं श्रोत्र आदि, वाणी आदि गुणोंसे किये जानेवाले कर्मोंमें—श्रवण, दर्शन, वचन, आदान, भोजन आदिमें—मैं ही सुननेवाला, देखनेवाला, बोलनेवाला, देनेवाला, करनेवाला, भोगनेवाला हूँ, इस प्रकार आसक्त हो जाते हैं—अभिनिवेश करते हैं, इन कर्मी, अपूर्णज्ञानी, ब्रह्मको न जाननेवाले अज्ञानियोंको कृत्स्नवित्—सर्वज्ञ पूर्वोक्त लक्षणवाला ब्रह्मवित्—चलायमान न करे । 'कामनासे कर्म न करना चाहिए, इस प्रकार अथवा कर्मका

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याऽध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युद्ध्यस्व विगतज्वरः ॥ ३० ॥

तुम आध्यात्मबुद्धिसे सम्पूर्ण कर्मोंको मेरे अर्पण कर एवं आशा, ममता और शोकका परित्याग कर युद्ध करो ॥ ३० ॥

वा, त्वं ब्रह्मैव तव न किंचित्कर्तव्यमस्तीति वा न विक्षेपयेत् किन्तु कर्मस्तुत्या कर्मस्वेव प्रवर्तयेदित्यर्थः ॥ २९ ॥

एवं ज्ञानिनामप्याधिकारिकाणां लोकसंग्रहार्थमवश्यं कर्म कर्तव्यमिति लोकसंग्रहकारिणेत्येवं वर्तितव्यमिति चोपदिश्याऽधुना लोकसंग्रहदृष्ट्याऽपि स्वधर्मं कुर्वित्याह—**मयीति** ।

लोकसंग्रहकर्ताऽऽत्मतत्त्वज्ञस्त्वमध्यात्मचेतसा 'इदं सर्वं यदयमात्मा' इति श्रुत्युक्तरीत्याऽऽत्मानमधिकृत्य प्रवृत्तमध्यात्मं चेतो ज्ञानम् । अध्यात्मं च तच्चेतश्च तेनाऽध्यात्मचेतसा 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः' इति वक्ष्यमाणलक्षणया प्रत्यग्दृष्ट्या सर्वं ब्रह्मैवेति दर्शनेन कर्माणि नित्यनैमित्तिकादीनि सर्वाणि मयि सर्वात्मनि ब्रह्मणि संन्यस्य सर्वं ब्रह्मैवेति प्रविलाप्य जयेन प्राप्ते राज्ये युद्धक्रियाफले निराशीर्निरपेक्षः सन्, वध्यमानेषु भ्रात्रादिषु निर्ममो ममतारहितो भूत्वा एते मदीया मया हन्यन्त इति यो ज्वरः संतापः स विगतो यस्य स विगतज्वरो निःशोको भूत्वा युध्यस्व । लोकसंग्रहार्थं

फल असत् है या कर्ता आदि मिथ्या हैं, तुम ब्रह्म ही हो । तुम्हारा कुछ भी कर्तव्य नहीं है, इस प्रकार विक्षेप न करे, किन्तु कर्मकी स्तुति करके कर्ममें ही प्रवृत्त करावे, यह अर्थ है ॥ २९ ॥

इस प्रकार आधिकारिक ज्ञानियोंको भी लोकसंग्रहके लिए अवश्य कर्म करना चाहिए, इससे लोकसंग्रह करनेवालेको इस प्रकार कर्म करना चाहिए, यह उपदेश देकर अब लोकसंग्रहकी दृष्टिसे भी स्वधर्म करो, ऐसा कहते हैं—**'मयि'** इत्यादिसे ।

लोकसंग्रह करनेवाला आत्मतत्त्वज्ञानी अध्यात्मचेतस्से—'यह जो है, वह सब आत्मा है' इस श्रुतिमें कही गई रीतिसे आत्माका उद्देश्य कर जो कुछ किया जाय, वह अध्यात्म कहलाता है, चेतस् शब्दका अर्थ प्रकृतमें ज्ञान है, अध्यात्मरूप चेतस् अध्यात्मचेतस् कहलाता है, उस अध्यात्मचेतससे—अर्थात् 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः' इस वक्ष्यमाण लक्षण प्रत्यक्-दृष्टिसे सब ब्रह्म ही है, इस दर्शनसे नित्य, नैमित्तिक सब कर्मोंको मुझ सबके आत्मा ब्रह्ममें त्यागकर—'सब ब्रह्म ही है' इस बुद्धिसे प्रविलय करके जयसे प्राप्त हुए युद्धक्रियाके फलभूत राज्यमें निराशी—निरपेक्ष होकर—मरनेवाले भाई आदिमें निर्मम—ममता रहित—होकर ये मेरे मुझसे मारे जाते हैं, ऐसा जो ज्वर—सन्ताप—है, वह जिसका चला गया है, ऐसे विगतज्वर—निःशोक—होकर युद्ध करो—लोकसंग्रहके लिए कर्म

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥ ३१ ॥

जो लोग मेरे इस आदेशका अनसूयापूर्वक श्रद्धाके साथ सदा अनुसरण करते हैं वे भी नाना दुःखोंके हेतु पुण्य-पाप कर्मोंसे छुटकारा पा जाते हैं ॥ ३१ ॥

कर्म कुर्वित्यर्थः । अत्राऽयमभिप्रायः—सर्वमिदमहं च ब्रह्मैवेति परावरैकत्वविषयकाप्रतिबद्धापरोक्षज्ञानवानाधिकारिको ब्रह्मविदत्रोक्तरीत्या लोकहितार्थं कर्म कुर्याज्जीवत एव मुक्तत्वादस्य परतारणमेव प्रयोजनम् । परोक्षज्ञानी चेदात्मा देहादिभिन्नस्तद्द्रष्टृत्वाद्घटद्रष्टृवदिति स्वस्य देहादिभिन्नत्वज्ञानेन यौक्तिकेन नाऽहं कर्ता कारयितेत्यकर्तृत्वबुद्ध्या 'मायामात्रमिदं द्वैतम्' इत्यादिश्रुतिबलेन इदं सर्वं मिथ्या मायाकार्यत्वादैन्द्रजालिकवदित्यादियुक्तिबलेन च कर्ता कार्यं करणं च सर्वं मिथ्यैवेति कर्त्रादेः सर्वस्य मिथ्यात्वमेव पश्यन् सर्वत्र निराशीर्निर्ममो भूत्वा लोकहितार्थं कर्म कुर्यात्तेन चित्तपरिपाको ज्ञानं मोक्षश्च सिध्यति । लोकोपकारश्चाऽस्य तरणं तारणं चोभयमप्युपपद्यते । अनात्मज्ञश्चेत्परिग्रहे ममतारहितः कर्मफलानपेक्षश्च भूत्वा श्रौतानि स्मार्तानि च सर्वाणि कर्माणीश्वरार्पणबुद्ध्या स्वार्थमेव कुर्यात्तेन चित्तशुद्धिस्तया ज्ञानं मोक्षश्चाऽस्य सिध्यतीति ॥ ३० ॥

'न कर्मणामनारम्भात्' इत्यारभ्य 'मयि सर्वाणि कर्माणि' इत्यन्तेन ग्रन्थेन

करो, यह अर्थ है । यहां यह अभिप्राय है—'मैं और यह सब ब्रह्म ही है' ऐसे पर और अपरके एकत्वविषयक अप्रतिबद्ध अपरोक्ष ज्ञानसे युक्त आधिकारिक ब्रह्मवित् कही गई रीतिसे यहां लोकके हितके लिए कर्म करे, जीते हुए ही मुक्त होनेसे उसका दूसरेको तारना ही प्रयोजन है । यदि परोक्षज्ञानी हो, तो 'आत्मा देह आदिसे भिन्न है, देहका द्रष्टा होनेसे, घटके द्रष्टाके समान' ऐसे देह आदिसे भिन्न आत्माके युक्तिजन्य ज्ञानसे न मैं करनेवाला हूँ, न करानेवाला हूँ, ऐसी अकर्तृत्वबुद्धिसे और 'यह द्वैत मायामात्र है' इत्यादि श्रुतियोंके बलसे 'यह सब मिथ्या है, मायाका कार्य होनेसे, इन्द्रजालके समान' इत्यादि युक्तियोंके बलसे कर्ता, कार्य और करण सब मिथ्या ही हैं, इस प्रकार कर्ता आदि सबको मिथ्या स्वरूप देखता हुआ, सबमें निराशी, निर्मम होकर लोकके हितके लिए कर्म करे, इससे चित्तका परिपाक, ज्ञान और मोक्ष सिद्ध होता है । और लोकका उपकार इसका तरना और तारना दोनों है । इसको उपपन्न होते हैं। आत्मज्ञानी न हो, तो परिग्रहमें ममता रहित, कर्मके फलमें इच्छा रहित होकर श्रौत और स्मार्त सब कर्म ईश्वरार्पण बुद्धिसे अपने ही लिए करे, उससे चित्तशुद्धि, उससे ज्ञान और उससे मोक्ष सिद्ध होता है ॥ ३० ॥

'कर्मका आरम्भ किये विना' यहांसे लेकर 'मुझमें सब कर्म' यहां तकके ग्रन्थसे मुमुक्षुको

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नाऽनुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः ॥ ३२ ॥

जो ब्राह्मण आदि अविवेकवश दूषित करते हुए मेरे इस शासनका अनुष्ठान नहीं करते, उन अविवेकियोंको ब्रह्मज्ञानमें मूढ़ और पुण्य लोकसे भ्रष्ट जानो ॥ ३२ ॥

मुमुक्षोरवश्यं मोक्षार्थमीश्वरार्पणबुद्ध्या कर्म कर्तव्यमिदं मम मतमिति निश्चित्य श्रीभगवान् स्वमतानुसारिणो ये ते मुक्ता भविष्यन्ति, ये तु विपरीतकारिणस्ते विनङ्क्ष्यन्तीति नियमयति—**ये मे मतमिति** ।

ये विवेकिनो मानवा ब्राह्मणादयो मुमुक्षवः इदमुक्तलक्षणं मे ममेश्वरस्य मतं शासनमनसूयन्तः असूया नाम गुणदूषणा जगद्गुरौ मयि तामकुर्वन्तः किन्तु श्रद्धावन्तस्तत्र श्रद्धां भक्तिञ्च कुर्वन्तः सन्तोऽनुतिष्ठन्ति समनुवर्तन्ते । मच्छासनमनुल्लङ्घ्य ये नित्यं कर्म कुर्वन्तीत्यर्थः । ते सत्त्वशुद्ध्या निर्विकारात्मविज्ञानं प्राप्य कर्मभिः पुण्यापुण्यलक्षणैर्नानादुःखहेतुभिः सञ्चितादिभिर्मुच्यन्ते । अपिशब्दात् जन्मादिभिश्च मुक्ता भवन्तीत्यर्थः ॥ ३१ ॥

विपर्यये दण्डमाह—**ये त्विति** ।

ये त्वविवेकिनो ब्राह्मणादयो दुरहङ्कारा एतदुक्तं ममेश्वरस्य मतं शासनमभ्यसूयन्तोऽत्यन्तं दूषयन्तः सन्तो नाऽनुतिष्ठन्ति दुराग्रहेण मदाज्ञां न कुर्वते सर्वज्ञानविमूढान् सर्वात्मकत्वाद्ब्रह्म सर्वमित्युच्यते, तद्विषयकं ज्ञानं सर्वज्ञानं तस्मिन् विषये विशिष्य मूढास्तान् सर्वज्ञानविमूढान् अचेतसो विचेतसोऽविवेकिनः कर्म

मोक्षके लिए ईश्वरार्पणबुद्धिसे कर्म अवश्य करना चाहिए, यह मेरा मत है, ऐसा निश्चय करके श्रीभगवान् जो मेरे मतके अनुसारी हैं, वे मुक्त हो जायँगे और जो उससे विपरीत आचरण करनेवाले हैं, वे नष्ट होंगे, ऐसा नियमन करते हैं—**'ये मे मतम्'** इत्यादिसे ।

जो विवेकी मानव—ब्राह्मण आदि मुमुक्षु—मेरे (ईश्वरके) इस उक्त लक्षणवाले मुझ मतका (शासनका) मुझ जद्गुरुमें असूया (गुणोंमें दूषणका उद्भावन असूया है) न करते हुए, किन्तु मुझमें श्रद्धा और भक्ति करते हुए, अनुष्ठान करते हैं—उसके अनुसार वर्तते हैं—अर्थात् मेरे शासनका उल्लङ्घन न कर जो नित्य कर्म करते हैं, यह भाव है । वे चित्तशुद्धिसे निर्विकार आत्मविज्ञानको प्राप्त करके नाना दुःखोंके हेतु सञ्चित आदि पुण्यपापरूप कर्मोंसे छूट जाते हैं । अपिशब्दसे यह अर्थ सूचित होता है कि जन्म आदिसे भी छूट जाते हैं ॥ ३१ ॥

उल्लङ्घन करनेपर दण्ड कहते हैं—**'ये त्वे०'** इत्यादिसे ।

जो अविवेकी दुरहङ्कारी ब्राह्मण आदि मुझ ईश्वर द्वारा कहे गये इस मतकी—शासनकी—अभ्यसूया करते हैं अर्थात् अत्यन्त दूषण वतलाते हुए उसका अनुष्ठान नहीं करते—दुराग्रहसे मेरी आज्ञा नहीं मानते—उनको सर्वज्ञानमें विमूढ जानो (अर्थात् सबका आत्मा होनेसे ब्रह्म सर्व कहलाता है, ब्रह्मविषयक ज्ञान, सर्वज्ञान है, इस विषयमें जो विशेष मूढ हैं, उनको सर्वज्ञानसे विमूढ अर्थात्

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥ ३३ ॥

ब्रह्मवित् पुरुष भी शरीरस्थितिमें हेतुभूत वासनाके अनुसार चेष्टा करता है, [अज्ञानियोंके लिए तो कहना ही क्या है ?] प्रत्येक प्राणी अपनी अपनी रागद्वेषात्मक प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करते ही रहते हैं, इसलिए क्षणिक निग्रह क्या करेगा ? ॥ ३३ ॥

बहुसाधनसाध्यं क्लेशभूयिष्ठमदृष्टफलं चाऽतस्तत्संन्यास एव परमसुखमित्येवं विपरीतबुद्धयस्तान् संन्यासानर्हानकर्मनिष्ठान् जनान्नष्टान् विनष्टपुण्यलोकान् विद्धि । स्वधर्मं परित्यज्य परधर्मे वर्तमानाः स्वयमेव विपरीतबुद्ध्या विनश्येयुरित्यर्थः ॥ ३२ ॥

मम मतमनादृत्य कर्तव्यं कर्म संन्यस्य स्थाणुवत्तूष्णीमास्महे इति ये तु मन्यन्ते तेषां प्रकृत्यधीनानामचलित्वा तूष्णीमासनं न घटते । ज्ञानिनामप्यजयायाः प्रकृतेर्मम मायाया निग्रहस्याऽतिदुष्करत्वादिति 'कार्यते ह्यवशः कर्म' इति वचनार्थमेव पुनर्द्रढयति मूढानां कर्मणि नियमनार्थम्—**सदृशमिति** ।

नित्यनिरन्तरब्रह्मनिष्ठानिर्मूलितसर्ववासनाग्रन्थिरपि ब्रह्मवित्प्राणत्राणहेतुतयाऽविशिष्टायाः स्वस्याः प्रकृतेर्वासनायाः सदृशमनुरूपमेवाऽऽहारादौ चेष्टते । तां निग्रहीतुं न शक्नोति, शरीरस्थितिहेतोः प्रकृतेर्दुर्निवारत्वात् । एवं ब्रह्मनिष्ठया प्रकृतिमतीत्य तिष्ठतो जितेन्द्रियस्य ब्रह्मविदोऽपि प्रकृत्यनुवर्तित्वे सत्यवशिष्टानां मूढानां किमु

अचेतस्—अविवेकी—जानो)। कर्म अनेक साधनोंसे साध्य हैं, अनेकविध क्लेशोंसे युक्त हैं और अदृष्ट फलवाले हैं, इसलिए उनके संन्यासमें ही परम सुख है, इस प्रकारकी विपरीत बुद्धिवाले, संन्यासके अयोग्य, अकर्ममें निष्ठावाले उन जनोंको नष्ट जानो—पुण्यलोकसे नष्ट हुए जानो। स्वधर्मको छोड़कर पराये धर्मका अनुष्ठान करनेवाले विपरीत बुद्धिसे स्वयं ही नष्ट हो जाते हैं, यह अर्थ है ॥ ३२ ॥

मेरे मतका अनादर कर जो कर्तव्य कर्मोंका त्याग कर हम ठूंठके समान चुपचाप हो जायँगे, ऐसा मानते हैं, उन प्रकृतिके अधीन मनुष्योंका अचल होकर चुपचाप बैठना नहीं बन सकता, क्योंकि ज्ञानियोंके लिए भी मेरी मायाका निग्रह अत्यन्त दुष्कर है। 'अवश्य कर्म करना चाहिए' इस वचनके अर्थको ही, कर्ममें मूढोंका नियमन करनेके लिए, फिर दृढ़ करते हैं—**'सदृशम्'** इत्यादिसे ।

नित्य निरन्तर ब्रह्मनिष्ठासे सब वासनाओंकी ग्रन्थिको जिसने निर्मूल कर दिया है, ऐसा ब्रह्मवित् भी प्राणकी रक्षामें हेतुरूपसे अवशिष्ट अपनी प्रकृतिके (वासनाके) सदृश—अनुसार—आहार आदिमें चेष्टा करता है, उसको—आहार आदि स्वभावको—रोक नहीं सकता, क्योंकि शरीरकी स्थितिमें हेतु होनेसे प्रकृतिका निवारण नहीं किया जा सकता। इस प्रकार ब्रह्मनिष्ठासे प्रकृतिका उल्लङ्घन कर स्थित जितेन्द्रिय ब्रह्मवित् भी जब प्रकृतिका अनुसरण करता है, तब उससे भिन्न मूढोंके

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ ३४ ॥

सभी श्रोत्र आदि इन्द्रियोंके शब्द आदि विषयोंमें राग और द्वेष नियमतः रहते हैं, इसलिए उनके अधीन कभी नहीं होना चाहिए, क्योंकि वे (राग और द्वेष) मुमुक्षुके मोक्षमार्गके विरोधी हैं ॥ ३४ ॥

वक्तव्यमित्याशयेनाऽऽह—**प्रकृतिमिति** । सुखदुःखयोरनुभूत्यै स्वस्वकर्मणा भवन्तीति भूतानि सर्वे प्राणिनः स्वस्वजात्यनुरूपेण नानाक्रियानिर्वृत्तिहेतुभूतां प्रकृतिं रागद्वेषादि-गुणवतीं वासनात्मिकां यान्ति स्वस्वप्रकृत्यनुरूपेण रागद्वेषाभ्यां नानारूपं चेष्टन्त एव न प्रकृत्यधीनास्तूष्णीं स्थातुं क्षणमपि शक्नुवन्त्यतो वयं न किञ्चित्कुर्म इति निग्रहस्तात्कालिकेन्द्रियनिरोधः किं करिष्यति । रागादिदोषवत्स्वकीयप्रकृतिवेगेन सर्वस्याऽपि चेष्टितव्ये सति नाऽहं किञ्चित् करोमीति नियमो व्यर्थ इत्यर्थः ॥ ३३ ॥

ननु सर्वस्याऽपि प्राणिजातस्य रागद्वेषात्मिकया प्रकृत्या ग्रस्तत्वे त्वन्मतानुसारि-णामप्युक्तलक्षणप्रकृतिग्रस्तत्वात्त्वदुक्ते कर्मयोगे कथं तेषां प्रवृत्तिर्घटेतेत्याकाङ्क्षायां रागद्वेषयोः समीचीनत्वासमीचीनत्वबुद्धिमूलकत्वात् 'न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नाऽनुषज्जते' इति न्यायेन ईश्वराराधनात्मके कर्तव्ये विध्युक्ते कर्मणि कुशलत्वाकुशल-त्वबुद्धिपरित्यागे रागद्वेषयोरनवकाश इति सूचयितुं रागद्वेषयोः स्थितिं तन्निवृत्ति-प्रकारं तयोर्बन्धकत्वं चाऽऽह—**इन्द्रियस्येति** ।

विषयमें क्या कहना ? इस आशयसे कहते हैं—'**प्रकृतिम्**' इत्यादि । सुख-दुःखका अनुभव करनेके लिए अपने-अपने कर्मसे उत्पन्न होनेवाले भूत (सब प्राणी) अपनी-अपनी जातिके अनुसार अनेक क्रियाओंकी उत्पत्तिमें हेतुभूत रागद्वेषवाली वासनास्वरूप प्रकृतिको प्राप्त होते हैं—अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार रागद्वेषसे अनेक प्रकारकी चेष्टा ही करते रहते हैं, प्रकृतिके अधीन होनेसे क्षणभर भी चुप नहीं रह सकते । इसलिए 'हम कुछ कर्म न करेंगे' ऐसा अल्पकालिक निग्रह—इन्द्रियोंका निरोध—क्या करेगा ? रागद्वेषवाली अपनी प्रकृतिके वेगसे सभीमें चेष्टाएँ होती हैं, अतः मैं कुछ नहीं करता हूँ, यह नियम व्यर्थ है, ऐसा भाव है ॥ ३३ ॥

यदि सभी प्राणी रागद्वेषवाली प्रकृतिसे ग्रस्त हैं, तो आपके मतानुसारी प्राणी भी उक्त लक्षणवाली प्रकृतिसे ग्रस्त होंगे ही, इस परिस्थितिमें आपके द्वारा कहे गये कर्मयोगमें उनकी प्रवृत्ति कैसे बन सकेगी ? ऐसी आकाङ्क्षा होनेपर कहते हैं कि राग और द्वेष दोनोंकी कारण समी-चीनत्व और असमीचीनत्व बुद्धि है । 'कल्याण न करनेवाले कर्मसे द्वेष नहीं करता और कल्याण करनेवाले कर्ममें राग नहीं करता' इस न्यायसे ईश्वराराधनस्वरूप विधिबोधित कर्ममें कुशलत्व और अकुशलत्व बुद्धिका त्याग करनेपर रागद्वेषको अवकाश ही नहीं रहता, ऐसा सूचन करनेके

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ३५ ॥

नियमानुसार भली भाँति अनुष्ठित पर धर्मकी अपेक्षा अपना विकल धर्म भी श्रेष्ठ है, इसलिए अपने धर्ममें रहकर मर जाना अच्छा है, पर पराया धर्म भयावह है ॥ ३५ ॥

इन्द्रियस्येन्द्रियस्य सर्वेषामिन्द्रियाणां श्रोत्रादीनामर्थे शब्दादौ रागद्वेषौ व्यवस्थितौ इष्टे रागोऽनिष्टे द्वेष इत्येवं प्रतिविषयं नियमेन स्थितौ भवतः । इन्द्रियाणां विषयेषु रागो वा द्वेषो वाऽस्तु, मुमुक्षोस्तेन तु का हानिरित्यत आह—**तौ हीति** । हि यस्मात्कारणात्तौ रागद्वेषावस्य धर्मं चिकीर्षोर्मोक्षमार्गस्य परिपन्थिनौ पथि चोराविव प्रतिबन्धकौ मुमुक्षुं मोक्षसाधनमाश्रयन्तं स्वाश्रयबलेन विषयारण्ये पातयित्वा तदन्तरेव भ्रामयतः । ततो मुमुक्षुः पुरुषः सदसद्विवेकी विषये समीचीनत्वादिबुद्ध्या तयो रागद्वेषयोः वशमधीनतां न गच्छेत् द्रव्ये गुणे कर्मणि वा समीचीनत्वादिबुद्धिं न कुर्यात् । विषयेषु समीचीनत्वासमीचीनत्वबुद्धिकरणमेव तयोर्वशवर्तित्वहेतुस्तां मुमुक्षुरकुर्वन् रागद्वेषयोरविषयो भूत्वा स्वधर्मे कुशले वाऽकुशले वाऽपीश्वरप्रीत्यै प्रवर्तेत । एवं प्रवृत्तो निष्प्रत्यूहं मोक्षं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ३४ ॥

ननु 'अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा नैष्कर्म्यमाचरेत्' इति स्मरणात्कर्मसंन्यासोऽपि

लिए राग और द्वेषकी स्थिति, उनकी निवृत्तिका प्रकार और उन दोनोंमें बन्धकत्वका अस्तित्व कहते हैं—'**इन्द्रियस्य**' इत्यादिसे ।

इन्द्रिय इन्द्रियके—श्रोत्र आदि सब इन्द्रियोंके—(अर्थमें शब्द आदि विषयोंमें) राग और द्वेष व्यवस्थित हैं अर्थात् इष्टमें राग और अनिष्टमें द्वेष, इस प्रकार प्रत्येक विषयमें राग और द्वेष नियमसे स्थित हैं । इन्द्रियोंके विषयोंमें राग अथवा द्वेष भले ही रहे, उससे मुमुक्षुकी क्या हानि है ? ऐसी शङ्का हो, तो उसपर कहते हैं—'**तौ हि**' इत्यादि । जिस कारणसे राग-द्वेष दोनों इसके—धर्म करनेकी इच्छावाले पुरुषके—मोक्षमार्गमें परिपन्थी हैं—मार्गमें चोरोंके समान प्रतिबन्धक हैं—मोक्षके साधनोंमें लगे हुए मुमुक्षुको अपने आश्रयके बलसे विषयरूप वनमें डालकर उसके भीतर ही भटकाते हैं, इसलिए सत् और असत्का विवेकी पुरुष विषयमें समीचीनत्व आदि बुद्धिसे उन राग और द्वेषके वशमें न हो, उनके अधीन न हो अर्थात् द्रव्यमें, गुणमें अथवा कर्ममें समीचीनत्व आदि बुद्धि न करे । विषयोंमें समीचीनत्व और असमीचीनत्व बुद्धिका करना ही उन दोनोंके वशमें हो जानेका हेतु है, अतः उस बुद्धिको न करता हुआ अर्थात् रागद्वेषका विषय न होकर मुमुक्षु कुशल अथवा अकुशल स्वधर्ममें ईश्वरकी प्रीतिके लिए प्रवृत्त हो । इस प्रकार प्रवृत्त हुआ मुमुक्षु विघ्नके बिना मोक्षको प्राप्त होता है, यह भाव है ॥ ३४ ॥

'सब भूतोंको अभय देकर संन्यासका ग्रहण करे' इस स्मृतिसे कर्मसंन्यासरूप धर्म भी करना

धर्मः कर्तव्य एवेति चेत्, सत्यम्; संन्यासोऽपि शास्त्रीय एव धर्मः कर्तव्यश्च मुमुक्षोस्तथापि 'स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः' इति वचनादपक्वान्तःकरणस्य स धर्मो न भवति, किन्तु बहुजन्मानुष्ठितपुण्यपुञ्जैः परिपक्वान्तःकरणस्य सर्वतो विरक्तस्य कर्मणां मोक्षसाधनत्वमपश्यत एव मुमुक्षोर्विविदिषया कर्तव्यो धर्मः संन्यासः कृतार्थस्य वा विदुषः, न तु मूढस्य कर्मस्वलसस्य दुःखबुद्ध्या। ततोऽस्य संन्यासः परधर्म एव न तु स्वधर्मः, नाऽपि च श्रेयोहेतुः, किन्तु कर्मैव स्वधर्मः श्रेयोहेतुश्चाऽनुष्ठेय इत्याह—**श्रेयानिति**।

वर्णाश्रमिणामयं परमोपदेशः क्रियते भगवता शृण्वन्तु मुमुक्षवः स्वनुष्ठितात् यथाशास्त्रं सु सम्यग् नियमेनाऽनुष्ठितादाचरितात् परधर्माद्विगुणोऽपि व्यङ्गोऽप्यसम्यगनुष्ठितोऽपि स्वधर्मः कर्तव्यत्वेन स्वस्य यः शास्त्रेण विहितः स एव स्वधर्मः पुरुषस्य श्रेयान् श्रेष्ठतरः विध्युक्तत्वात्। यथा कर्मणः परधर्मत्वाद्यतेः स्नानजपस्तोत्रादिकर्मापेक्षया ज्ञानसाधनश्रवणाद्येकप्रयोजनः सर्वकर्मसंन्यास एव श्रेष्ठो धर्मस्तथा कर्मसंन्यासस्य परधर्मत्वाद्गृहिणोऽपि सर्वकर्मसंन्यासापेक्षया ज्ञानसाधनसत्त्वशुद्ध्येकप्रयोजनः कर्मयोग एव श्रेष्ठो धर्मः। एवमेवेतरेषां वर्णाश्रमिणां च परधर्मापेक्षया स्वधर्म एव

ही चाहिए, ऐसा यदि कहो, तो ठीक है, क्योंकि संन्यास भी शास्त्रीय धर्म है एवं मुमुक्षुका कर्तव्य है, तो भी 'अपने-अपने धर्ममें जो निष्ठा है, वह गुण कहलाती है' इस वचनसे अपक्व अन्तःकरणवालेका वह धर्म नहीं है, किन्तु बहुत जन्मोंमें अनुष्ठित पुण्यके पुञ्जोंसे परिपक्व अन्तःकरणवाले सभी प्रकारसे विरक्तका, कर्मोंको मोक्षका साधन न देखनेवाले मुमुक्षुका ही तत्त्व जाननेकी इच्छासे संन्यास कर्तव्य धर्म है अथवा कृतार्थ विद्वान्का वह कर्तव्य है, दुःखबुद्धिसे कर्मोंमें आलसी मूढ़का कर्तव्य नहीं है। इसलिए संन्यास मूढ़का परधर्म ही है, स्वधर्म नहीं है और श्रेयका हेतु भी नहीं है, किन्तु कर्म ही स्वधर्म है और श्रेयका हेतु भी है अतः उसीका अनुष्ठान करना योग्य है, ऐसा कहते हैं—**'श्रेयान्'** इत्यादिसे।

भगवान् वर्णाश्रमवालोंको यह परम उपदेश देते हैं कि अय मुमुक्षु, तुम लोग सुनो—भलीभाँति अनुष्ठित अर्थात् शास्त्रानुसार ठीक-ठीक नियमसे अनुष्ठित—आचरित—पराये धर्मसे विगुण भी—व्यङ्ग भी—भली भाँति अनुष्ठित नहीं हुआ—स्वधर्म (कर्तव्यरूपसे अपनेलिए जिसका शास्त्रने विधान किया है ऐसा स्वधर्म) पुरुषका श्रेयान्—श्रेष्ठतर—है, क्योंकि वह विहित है—श्रुति द्वारा उसका विधान किया गया है। जैसे कर्म परधर्म होनेसे स्नान, जप, स्तोत्र आदि कर्मकी अपेक्षा ज्ञानके साधन श्रवण आदिरूप मुख्य प्रयोजनवाला सब कर्मोंका संन्यास ही यतिका श्रेष्ठ धर्म है, वैसे ही कर्मसंन्यास परधर्म होनेसे सर्व कर्मसंन्यासकी अपेक्षा ज्ञानका साधन और अन्तःकरणकी शुद्धिरूप मुख्य प्रयोजनवाला कर्मयोग ही गृहस्थका भी श्रेष्ठ धर्म है। इसी प्रकार अन्य वर्णाश्रमवालोंके परधर्मकी अपेक्षा स्वधर्म ही कल्याणकारक है, यह अर्थ है। क्योंकि श्रेष्ठतर परधर्मका त्यागकर थोड़े व्यङ्ग

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥ ३६ ॥

अर्जुनने कहा—भगवन्, किस बलवान्‌के द्वारा प्रेरित होकर यह पुरुष इच्छा न रहने पर भी प्रबल राजा या अन्य द्वारा बलात्कार पूर्वक नियुक्त भृत्यकी नाईं पापका आचरण करता है ॥ ३६ ॥

श्रेयस्कर इत्यर्थः । किञ्च, सुतरां परधर्मं परित्यज्य स्वल्पे व्यङ्गेऽपि वा स्वधर्मे नियमेन वर्तमानस्य निधनं मरणं श्रेयः श्रेयसे स्वर्गायाऽपवर्गाय वा भवति, न क्वचिदप्यश्रेयसे नरकाय । स्वधर्मं संपरित्यज्य वागगोचरेऽपि परधर्मे वर्तमानस्य निधनं क्वचिच्छ्रेयसे न भवति, किन्तु परधर्मो भयावहः नियमेन सम्यगनुष्ठितोऽपि परधर्मो भयं यमदूतेभ्यो नरकं चाऽऽवहति संपादयतीति भयावहः । नरकगर्भवासादिदुःखप्रवाहहेतुरेव भवतीत्यर्थः ॥ ३५ ॥

यद्यपि 'ध्यायतो विषयान्' इति, 'इन्द्रियस्येन्द्रियस्य' इति च पुरुषस्य जननमरणाद्यनर्थपरम्परागमनकारणं निरूपितं तथापि विशेषतस्तत्स्वरूपं तदधिष्ठानं तज्जयोपायं च विज्ञातुकामोऽर्जुनः स्वयं विस्मृतवत्तदेव पृच्छति । संसारकारणे विज्ञाते पण्डितैस्तदुपायेन परिहर्तुं शक्यत इत्यर्जुन उवाच—अथेति ।

अथशब्दः पृथक्प्रश्नारम्भार्थः । ब्रह्मविदां ब्रह्मानन्दामृतं वर्षतीति वृष्णिः सम्यग्बोधस्तेनाऽवगम्यत इति वार्ष्णेयः परमात्मा श्रीभगवान् तस्य सम्बुद्धिर्हे वार्ष्णेय,

---

(अङ्ग विकल) भी स्वधर्ममें रहनेवालेका निधन—मरण—श्रेय है अर्थात् स्वर्ग अथवा मोक्षरूप श्रेयके लिए होता है, कहीं भी अश्रेय नरकके लिए नहीं होता । स्वधर्मका त्यागकर वाणीके अविषय परधर्ममें बरतनेवालेका मरण कहीं श्रेयके लिए नहीं होता, किन्तु परधर्म भयका देनेवाला है—नियमपूर्वक ठीक-ठीक रूपसे अनुष्ठित भी परधर्म यमदूतोंसे भय और नरक देता है—नरककी प्राप्ति कराता है । नरक, गर्भवास आदि दुःखके प्रवाहका हेतु ही होता है, यह अर्थ है ॥ ३५ ॥

यद्यपि 'विषयोंका ध्यान करता हुआ', 'इन्द्रियोंका इन्द्रियोंके विषयोंमें' इत्याद्यर्थक श्लोकोंसे भी पुरुषके जन्म, मरण आदि अनर्थपरम्पराकी प्राप्तिके कारणका निरूपण किया गया है, तो भी विशेषरूपसे उसके स्वरूप, उसके अधिष्ठान और उसके जयके उपायको जाननेकी इच्छावाला अर्जुन स्वयं भूले हुएके समान उसीको पूछता है, क्योंकि संसारके कारणको जानकर ही पण्डित उसका उपायसे परिहार कर सकते हैं, इसलिए अर्जुन कहता—'अथ' इत्यादि ।

अथशब्द पृथक् प्रश्नके आरम्भके लिए है । ब्रह्मज्ञानियोंमें ब्रह्मानन्दरूप अमृतको जो वर्षाता है, वह वृष्णि कहलाता है अर्थात् सम्यक् बोध, उससे जो जाना जाता है, वह वार्ष्णेय अर्थात् परमात्मा श्रीभगवान् । उनका संबोधन है वार्ष्णेय, बलवान् राजासे अथवा अन्यसे बलात्कारसे नियुक्त हुए—

श्रीभगवानुवाच ।

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥ ३७ ॥

रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम (वैषयिक प्रबल अभिलाष) ही क्रोधके रूपमें परित हो जाता है । यह कभी भी तृप्त नहीं होता इसीसे पुरुषोंको बड़े बड़े दोष प्राप्त होते हैं इसलिए इस लोकमें मुमुक्षुका इसे वैरी जानो ॥ ३७ ॥

बलवता राज्ञा चाऽन्येन वा बलात्कारेण नियोजितः प्रेष्य इव कार्याकार्यज्ञोऽप्ययं पुरुषः स्वयं फलं पापसाध्यमनिच्छन्नपि पापमाचरति, केन प्रयुक्तोऽस्मिन् कार्यकारणसङ्घाते बलवता केन प्रेरितो भूत्वाऽयुक्तमपि करोति तं ब्रूहीत्यर्थः ॥ ३६ ॥

'अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित् । यद्यद्धि कुरुते जन्तुस्तत्तत्कामस्य चेष्टितम् ॥' इति न्यायेन पुंसः सकलकर्माचरणकारणं सर्वानर्थबीजं काम एवेति बोधयितुं श्रीभगवानुवाच—**काम एष इति ।**

सर्वेषां प्रवृत्तेः काममूलत्वात्कामः सर्वप्रत्यक्ष इत्यभिप्रायेण एष इति पुरोनिर्देशः । योग्यत्वायोग्यत्वविचारमन्तरेण वस्तु दृष्टं श्रुतं च कामयति पुमांसमिति कामः वैषयिकी प्रबलेच्छाऽत्र कामशब्देनोच्यते । एष कामः यः पुंसः संसारकारणं स एष काम एव केनचित्स्वविषये प्रतिबद्धे क्रोधात्मना परिणमते । ततः क्रोधोऽप्येष काम एव । स्वयं रजोगुणसमुद्भवः रजसः गुणो रागो रञ्जनात्मिका वैषयिकी सामा-

---

प्रेरित भृत्यके समान कार्य और अकार्यको जाननेवाला भी यह पुरुष स्वयं पापसे साध्य फलकी इच्छा न करता हुआ भी जो पाप करता है, वह किससे प्रयुक्त होकर—इस कार्यकारणके संघातमें किस बलवान्से प्रेरित होकर—अयुक्त कर्म भी करता है, उसको कहो, यह अर्थ है ॥ ३६ ॥

'यहाँ अकाम पुरुषकी कोई क्रिया कहीं देखनेमें नहीं आती, जन्तु जो कुछ करता है, वह सब कामकी ही चेष्टा है ।' इस न्यायसे पुरुषके सब कर्मोंके आचरणका कारण और सब अनर्थोंका बीज काम ही है, यह बतलानेके लिए भगवान् बोले—**'काम एष'** इत्यादिसे ।

सबकी प्रवृत्तिका कारण काम है, यह काम सबको प्रत्यक्ष है, इस अभिप्रायसे **'एष'** इससे उसका प्रत्यक्ष निर्देश किया है । योग्यत्व और अयोग्यत्वके विचारके बिना देखी और सुनी गई वस्तुकी जो पुरुषमें कामना उत्पन्न कराता है, वह काम है । यहाँपर विषयोंकी प्रबल इच्छा कामशब्दसे कही जाती है । यह काम जो पुरुषके संसारका कारण है, वह काम ही किसीके द्वारा अपने विषयमें प्रतिबद्ध करनेपर क्रोधरूपसे परिणामको प्राप्त हो जाता है, बदल जाता है, इसलिए यह क्रोध भी काम ही है । स्वयं रजोगुणसे उत्पन्न हुआ रजका गुण राग है अर्थात् रञ्जनस्वरूप विषयसम्बन्धी सामान्य इच्छा,

धूमेनाऽऽव्रियते वह्निर्यथाऽऽदर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनाऽऽवृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ ३८ ॥

जैसे मलिन धूमसे प्रकाशरूप अग्नि आवृत होती है, जैसे लेप करनेवाले मलसे (धूलिसे) दर्पण आवृत होता है और जैसे अचेतन जरायुसे चेतन गर्भ आवृत होता है वैसे ही पूर्वोक्त अप्रकाशरूप, लेप करनेवाले और अचेतन कामसे पुरुषका चेतनतुल्य यह ज्ञान आवृत है ॥ ३८ ॥

न्येच्छा स एव विषयसन्निधाने काममुद्भावयतीति कामो रजोगुणसमुद्भवः । यद्वा 'प्रज्ञां तु सात्त्विकीं प्राहुस्तामसीं तु विचित्तताम् । क्रियां तु राजसीं प्राहुर्गुणतत्त्वविदो बुधाः ॥' इति वचनात्क्रिया रजोगुणस्तस्य समुद्भवो यस्मात्स रजोगुणसमुद्भवः काम एव प्रवृत्तिहेतुरित्यर्थः । 'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति' इति वचनान्महदियत्ताशून्यमशनमुपभोगलक्षणं यस्य स महाशनः । कदाचित् तृप्तिरहित इत्यर्थः । तत एव महापाप्मा महान्पाप्मा दोषो यस्मात्पुरुषस्याऽऽयाति स महापाप्मा । यतः कामाविष्टः स्वसारमप्यारोढुमिच्छति, चण्डालादप्यर्थं गृह्णाति, क्रुद्धो गुरुमप्याक्रोशति, गामपि च हन्ति, अतः कामस्य युक्तं महापाप्मत्वमित्यर्थः । तस्मात्त्वमिह संसारे मुमुक्षोरेनं काममेव वैरिणं विद्धि । मुक्तिप्रतिबन्धकमेतमेव विजानीहीत्यर्थः ॥ ३७ ॥

यदुक्तं मुमुक्षोर्मुक्तिप्रतिबन्धकत्वेन वैरित्वं कामस्य तदेव विस्पष्टयति—**धूमेनेति** द्वाभ्याम् ।

वही विषयके समीप होनेपर कामको उत्पन्न करती है, इसलिए काम रजोगुणसे उत्पन्न हुआ है । अथवा 'गुणोंके तत्त्वको जाननेवाले पण्डित प्रज्ञाको सात्त्विकी, विचित्तताको—बेहोशीको—तामसी और क्रियाको राजसी कहते हैं ।' इस वचनसे क्रिया रजोगुण है, उसकी उत्पत्ति जिससे हुई है, वह रजोगुणसमुद्भव काम ही प्रवृत्तिका हेतु है, ऐसा अर्थ है । 'कभी काम विषयोंके उपभोगसे शान्त नहीं होता ।' इस वचनसे महत्—इयत्तारहित—उपभोगरूप अशन जिसका हो, वह महाशन अर्थात् कभी भी तृप्त न होनेवाला, यह भाव है । इसीलिए महापाप्मा—महान् पाप्मा (दोष) जिससे पुरुषको प्राप्त होता है, वह महापाप्मा । क्योंकि कामके आवेशसे बहनपर भी आरूढ़ होनेकी इच्छा करता है, चण्डालसे भी धन ले लेता है । क्रुद्ध पुरुष गुरुको भी कोसता है, गायको भी मारता है, इसलिए कामका महापाप्मा होना युक्त ही है, यह अर्थ है । इसलिए इस संसारमें कामको ही मुमुक्षुका वैरी जानो अर्थात् वही काम मुक्तिका प्रतिबन्धक है, ऐसा जानो, यह भाव है ॥ ३७ ॥

यह जो कहा कि मुक्तिका प्रतिबंधक होनेसे काम मुमुक्षुका वैरी है, उसको ही स्पष्ट करते हैं—'**धूमेन**' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणाऽनलेन च ॥ ३९ ॥

हे कौन्तेय, अग्निके समान कभी तृप्त न होनेवाले, ज्ञानीके वैरी इस कामसे ज्ञान आवृत है अर्थात् जैसे कीचड़ जलको आवृत करता है अथवा राहु चन्द्रको आवृत करता है वैसे ही ब्रह्मको ग्रहण करनेवाली बुद्धिवृत्तिको काम आवृत करता है ॥ ३९ ॥

धूमेनाऽप्रकाशस्वरूपेण स्वयं प्रकाशस्वरूपोऽपि वह्निर्यथाऽऽव्रियते आवृतो भवति, मलेन लेपनस्वभावेन रजसा स्वयं बिम्बप्रकाशनेनाऽऽह्लादकर आदर्शश्च यथाऽऽव्रियते, अचेतनेनोल्बेन चेतनो गर्भः शिशुर्यथाऽऽवृतो भवति तथाऽप्रकाशरूपेण लेपकेन अचेतनेन च तेन पूर्वोक्तेन कामेन प्रकाशस्वरूपमात्मप्रकाशनेनाऽऽनन्दकरमाभासव्याप्त्या चेतनतुल्यमिदं पुरुषस्य ज्ञानमावृतं तिरोहितमित्यर्थः ॥ ३८ ॥

ज्ञानावरणमेव विशदयति—**आवृतमिति** ।

यस्मादनलेन निरन्तरविषयसेवयाऽप्यलंभावो यस्य नाऽस्ति सोऽनलः हृद्यन्तरनलवदाचरतीति वाऽनलस्तेन दुष्पूरेण दुःखेन पूरणमिष्टप्रापणं यस्य स दुष्पूरः, कामिताप्राप्तौ पुरुषं दुःखेन पूरयतीति वा दुष्पूरस्तेन कामरूपेण काम्यत इति कामो विषयस्तमेव सर्वत्र रूपयति गोचरयति न क्वचिद् ब्रह्मेति कामरूपस्तेन, तस्मादेव

अप्रकाशस्वरूप धूमसे स्वयं प्रकाशस्वरूप भी अग्नि जैसे आवृत होता है—ढक जाता है, मलसे—लेपनस्वभाववाले रजसे—स्वयं बिम्बके प्रकाशन द्वारा आनन्द देनेवाला आदर्श जैसे ढक जाता है, अचेतन झिल्लीसे चेतन गर्भ—शिशु—जैसे ढक जाता है, वैसे ही अप्रकाशरूप, लेपक और अचेतन इस पूर्वोक्त कामके द्वारा प्रकाशस्वरूप, आत्माके प्रकाशनसे आनन्द देनेवाला, आभासव्याप्तिसे चेतनके समान इस पुरुषका ज्ञान आवृत—तिरोहित—हो जाता है, यह अर्थ है ॥ ३८ ॥

ज्ञानके आवरणको ही विस्तारसे कहते हैं—'आवृतम्' इत्यादिसे ।

अतः अनलसे—निरन्तर विषयोंके सेवनसे भी जिसको अलंभाव (तृप्ति) न हो, वह अनल कहलाता है, अथवा हृदयके भीतर जो अग्निके समान काम करता है, वह अनल कहलाता है अर्थात् अग्नि, उस अग्निरूप दुष्पूर जिसके अभीष्टकी प्राप्ति दुःखसे भरी है, वह दुष्पूर कहलाता है अथवा इच्छितकी अप्राप्तिमें पुरुषको दुःखसे जो पूर्ण करता है, वह दुष्पूर कहलाता है, कामरूपसे जो चाहा जाता है, वह काम कहलाता है अर्थात् विषय, उसीको सर्वत्र जो दिखलाता है और ब्रह्मको कहीं भी नहीं दिखलाता, वह कामरूप कहलाता है, इसीलिए वह ज्ञानीका

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याऽधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ ४० ॥

चक्षु आदि इन्द्रियों, मन और बुद्धि इस कामके आश्रय हैं और इन्हीं इन्द्रिय आदिके व्यापार द्वारा यह काम देहात्मबुद्धि करनेवालेको, चाहे वह ज्ञानी हो या अज्ञानी, विमोहित करता है ॥ ४० ॥

ज्ञानिनो नित्यवैरिणा नित्यं बाह्यालम्बनहेतुत्वेन प्रतिकूलत्वान्नित्यवैरी, नित्यग्रहणहेतोर्ज्ञानस्याऽऽवरकत्वाद्वा नित्यवैरिणा । एतेन कामेन ज्ञानं सर्वत्र ब्रह्मग्राहिका बुद्धिवृत्तिरावृतम् । पङ्केन जलमिव राहुणा चन्द्रबिम्बमिव पिहितमित्यर्थः ॥ ३९ ॥

ननु संसारकारणं कामस्तत्कार्यं ज्ञानतिरोधानं विषयसन्निधापनं तापनं दुःखप्रापणं च निरूपितम्, तथापि मुमुक्षोस्तज्जयो दुर्घटस्तदधिष्ठानाज्ञानात् । ज्ञाते हि शत्रोः स्थाने तज्जित्यै यत्नः कर्तुं शक्यत इत्याकाङ्क्षायामाह—**इन्द्रियाणीति** ।

'यदा पञ्चाऽवतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह । बुद्धिश्च न विचेष्टेत तामाहुः परमां गतिम् ॥' इत्येतच्छ्रुतितात्पर्यज्ञैरिन्द्रियादीनां कामाश्रयत्वमुच्यते । कामस्यैव तच्चेष्टाहेतुत्वात् । तत इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि मनो बुद्धिश्चाऽस्य कामस्याऽधिष्ठानमाश्रय इति बोद्धव्यम् । स्वप्रवृत्तेर्द्वारभूतैरेभिरिन्द्रियव्यापारैरेष कामः ज्ञानं प्रत्यग्दृष्टिमावृत्य वृत्तेर्बहिः प्रवणतां कृत्वा देहिनं देहात्मबुद्धिं पुरुषं ज्ञानिनमज्ञानिनं च विमोहयति

नित्य वैरी है—सदा बाह्य आलम्बनका हेतु होनेसे प्रतिकूल होनेके कारण अथवा वह ग्रहणके हेतु ज्ञानका ढकनेवाला होनेसे कामका नित्य वैरी कहा जाता है, इस नित्यवैरीभूत कामसे ज्ञान—सर्वत्र ब्रह्मका ग्रहण करानेवाली बुद्धिकी वृत्ति—ढकी हुई है अर्थात् कीचड़से जलके समान, राहुसे चन्द्रबिम्बके समान ढकी हुई है, ऐसा भाव है ॥ ३९ ॥

यद्यपि काम संसारका कारण है और ज्ञानको ढक देना, विषयोंके समीप ले जाना, तपाना और दुःख प्राप्त कराना उसका कार्य है, ऐसा निरूपण किया गया है तथापि मुमुक्षुको उसे जानना कठिन है, क्योंकि उसके स्थानका परिज्ञान होनेपर ही उसको जीतनेका यत्न किया जा सकता है, ऐसी आकाङ्क्षा होनेपर कहते हैं—'**इन्द्रियाणि**' इत्यादिसे ।

'जब मन सहित पाँचों श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियां स्थिर हो जाती हैं, बुद्धि चेष्टा नहीं करती और लीन भी नहीं होती, उसको परमा गति कहते हैं ।' इत्यर्थक श्रुतिके तात्पर्यके जाननेवालोंने इन्द्रियोंका आश्रय (स्थान) काम है, ऐसा कहा है, क्योंकि इन्द्रियोंकी चेष्टाका हेतु काम ही है, इसलिए चक्षु आदि इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इस कामके स्थान—आश्रय—हैं, ऐसा जानना चाहिए । अपनी प्रवृत्तिके द्वारभूत इन इन्द्रियोंके व्यापारोंसे ही यह काम ज्ञानको—प्रत्यक् दृष्टिको (अवान्तर दृष्टिको)—ढककर वृत्तिको बहिर्मुख करके देहीको—देहात्म बुद्धिवाले ज्ञानी और

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ ४१ ॥

इसलिए हे भरतकुलावतंस अर्जुन, पहले इन्द्रियोंका नियमन करके तुम इस पापी कामको, जो ज्ञान और विज्ञान दोनोंका नाश करनेवाला है, मार डालो ॥ ४१ ॥

अहं भोक्ता इदं भोग्यं रम्यमरम्यं इदं सुखमिदं दुःखमित्यादिना विविधं भावयति । कामदोषेणैव बुद्धेश्चलनं देहेन्द्रियादितादात्म्यापत्तिरहंममेति संसारः पुंस इत्यर्थः ॥४०॥

निःशेषकामनिबर्हणाभावे बुद्धेर्नैश्चल्यं न संभवति, तदसंभवे ज्ञानं विशुद्धं न भवति, तदभावे मोक्षाभावस्ततो मुमुक्षुणा तज्जयोऽवश्यं कर्तव्य इति सूचयितुमाह—**तस्मादिति** ।

हि यस्मान्मनोबुद्धीन्द्रियव्यापारैकबलः कामो मुमुक्षोस्तव नित्यशत्रुस्तस्मात्त्वमादाविन्द्रियाण्यन्तरं मनो बुद्धिं च नियम्य विषयग्रहविमुखानि कृत्वा इन्द्रियाण्यादावित्युक्तिर्मनोबुद्ध्योर्नियमनं सूचयति । नियमविधावादिपदस्याऽनन्तरकृत्यद्योतकत्वात्, सत्यामन्तर्विषयचिन्तायामिन्द्रियनिग्रहस्य विफलत्वात्, 'मनस्तु पूर्वमादद्यात्कुमीनमिव मत्स्यहा' इतिवचनाद्वस्तुदर्शने मनस एव करणत्वाच्च, अत इन्द्रियनियमनानन्तरमेव मनोबुद्ध्योरपि निग्रहः कर्तव्य एव । एवं कामाधिष्ठाननिरोधं कृत्वा ज्ञानविज्ञाननाशनं

अज्ञानी पुरुषको—विशेष मोहित करता है—मैं भोक्ता हूँ, यह भोग्य है, यह रम्य है, यह अरम्य है, यह सुख है, यह दुःख है इत्यादि अनेक प्रकारके भावोंसे पूर्ण करता है । कामके दोषसे ही बुद्धिका चलना; देह, इन्द्रिय आदिके तादात्म्यकी प्राप्ति; मैं, मेरा ऐसा संसार पुरुषका है, यह अर्थ है ॥४०॥

कामकी निःशेष निवृत्ति हुए बिना बुद्धिकी स्थिरता नहीं हो सकती, स्थिर बुद्धिके बिना विशुद्ध ज्ञान नहीं होता और विशुद्ध ज्ञानके बिना मोक्ष नहीं होता, इसलिए मुमुक्षुको कामके ऊपर अवश्य विजय प्राप्त करनी चाहिए, ऐसा सूचन करनेके लिए कहते हैं—**'तस्मात्'** इत्यादिसे।

यतः मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके व्यापाररूप मुख्य बलको धारण करनेवाला काम ही तुम्हारे जैसे मुमुक्षुका सदा मुख्य शत्रु है, इसलिए तुम पहले इन्द्रियोंको और पीछे मन और बुद्धिको नियममें रख करके—विषयोंके ग्रहणसे विमुख करके—'इन्द्रियाण्यादौ' (पहले इन्द्रियोंको) ऐसा कहनेसे मन और बुद्धिका नियमन भी सूचित होता है, क्योंकि नियमविधिमें आदि पद पीछेके कृत्यको सूचित करता है । यदि भीतर विषयोंकी चिन्ता बनी रहेगी तो इन्द्रियोंका निग्रह करना ही निष्फल हो जायगा । 'जैसे मछली मारनेवाला कुमीनको (चञ्चल मछलीको) पहले पकड़ता है, वैसे ही मनको पहले वशमें करे' इत्यर्थक वचनसे वस्तुके देखनेमें मन ही करण है, ऐसा प्रतीत होता है, इसलिए इन्द्रियोंके निग्रहके पीछे मन और बुद्धिका भी निग्रह करना ही चाहिए । इस

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ ४२ ॥

विषयोंकी अपेक्षा इन्द्रियाँ पर (श्रेष्ठ) हैं, इन्द्रियोंसे मन श्रेष्ठ है, मनकी अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ है और जो बुद्धिसे पर है अर्थात् साक्षीरूपसे अवस्थित होकर बुद्धि आदिका जो प्रकाश करता है, वह आत्मा है ॥ ४२ ॥

ज्ञानं श्रुतियुक्तिभिः पर्वते वह्निरस्तीतिवत्परोक्षको वस्तुनिश्चयः सर्वं ब्रह्मैवेति, विज्ञानं तु विषयव्याप्तवृत्तिजन्यं महानसाग्निज्ञानवदिदमेवाऽहमिति, एवंरूपयोर्मोक्षैकप्रयोजनयोश्चन्द्रसूर्ययोरिवाऽविशेषविशेषस्फुरणयोर्ज्ञानविज्ञानयोर्नाशनं विध्वंसकम् । अतएव स्ववैरिणं पाप्मानं पापिष्ठमेनं कामं प्रजहि निःशेषं विध्वंसयेत्यर्थः ॥ ४१ ॥

ननु कामो दुर्जयो दुर्जयस्य जये बलवदाश्रयोऽपेक्ष्यते मुमुक्षुः कमाश्रित्य कस्य महिम्ना कामं जयेदित्याकाङ्क्षायां 'रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते' इति न्यायेन परमात्मानं सर्वान्तरं सर्वगमवगम्य तदाश्रयणेन त्वं कामं जहीति बोधयितुमात्माधिगमप्रकारमाह—**इन्द्रियाणीति** ।

'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था ह्यर्थेभ्यश्च परं मनः' इत्याद्याः श्रुतय इन्द्रियाणि पराण्याहुः । इन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि पञ्च पञ्च कर्मेन्द्रियाणि च स्वापेक्षया जडं बाह्यं

प्रकार कामके स्थानोंका निरोध करके ज्ञान और विज्ञानका नाश करनेवाले कामको मार डालो—निःशेष नष्ट कर दो—यह अर्थ है । 'पर्वतमें अग्नि है', इस प्रकार परोक्षज्ञानके समान श्रुतियोंसे और युक्तियोंसे 'सब ब्रह्म ही है', इस प्रकार वस्तुविषयक निश्चयात्मक परोक्षज्ञान ज्ञानशब्दसे कहा जाता है और रसोई घरमें अग्नि है, इस प्रकारके अपरोक्षज्ञानके समान, यह मैं ही हूँ, इस प्रकार विषयव्याप्त वृत्तिसे जन्य अपरोक्षज्ञान विज्ञानशब्दसे कहलाता है । चन्द्र और सूर्यके समान अविशेष और विशेष स्फुरणरूप वे दोनों—ज्ञान और विज्ञान—मोक्षकी प्राप्तिमें कारण हैं, काम उन दोनोंका नाश करनेवाला है, इसलिए कामको मारना ही चाहिए ॥ ४१ ॥

दुर्जय कामका जय करनेके लिए बलवान्के आश्रयकी अपेक्षा होती है, अतः मुमुक्षु किसका आश्रय लेकर किसकी महिमासे कामको जीतेगा, ऐसी आकाङ्क्षा होनेपर 'रसवर्जम्' (परमात्माको देखकर इसका रस भी निवृत्त हो जाता है) इस न्यायसे सर्वव्यापक, सर्वान्तर परमात्माको जानकर उसीका आश्रय लेकर तुम कामको मारो, ऐसा समझानेके लिए आत्माके जाननेका प्रकार कहते हैं—'**इन्द्रियाणि**' इत्यादिसे ।

'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः' इत्यादि श्रुतियां इन्द्रियोंको पर—उत्कृष्ट—कहती हैं । तात्पर्य यह है कि श्रोत्र आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियां और वाणी आदि पाँच कर्मेन्द्रियोंमें, अपनी अपेक्षा जड़, बाह्य,

स्थूलं व्याप्यं कार्यं प्रवर्त्यं च यच्छरीरं तस्मात् प्रकाशकत्वान्तरत्वसूक्ष्मत्वप्रवर्तकत्वव्यापकत्वकारणत्वादिधर्मैः पराण्युत्कृष्टतराण्याहुर्वदन्ति। येन यत्प्रकाश्यते प्रवर्त्यते च तत्तदपेक्ष्य व्यापकं सूक्ष्मं परं भिन्नं च भवति। यथाऽयसोऽयस्थो वह्निस्तथा देहमपेक्ष्येन्द्रियाणि देहतद्धर्मप्रकाशत्वात्प्रवर्तकत्वाच्च पराणि भिन्नानि च भवन्तीत्यर्थः। तथेन्द्रियेभ्यो मनः प्रकाशकत्वादिधर्मेण परमुत्कृष्टं भिन्नं च भवति। इन्द्रियतद्धर्माणां प्रकाशकत्वान्मनः खल्वन्तरस्थं सदिन्द्रियाणि तद्धर्मांश्च प्रकाशयति। ततो मनसस्तत्परत्वं भिन्नत्वं च युक्तमित्यर्थः। एवं मनसोऽपि प्रकाशकत्वादिधर्मैर्बुद्धिः परा भवति। बुद्ध्या खलु मनस्तद्धर्मांश्च प्रकाश्यन्ते प्रवर्त्यन्ते च ततस्तत्परत्वं भिन्नत्वं च बुद्धेः सिद्धमेव। सूक्ष्मत्वान्तरत्वव्यापकत्वकारणत्वप्रवर्तकत्वप्रकाशकत्वादिधर्मैर्यः स्वयं सर्वतो व्याप्य बुद्ध्यादिस्थूलपर्यन्तं कार्यकरणसङ्घातं स्वसन्निधिमात्रेण प्रवर्तयन् तद्धर्मतत्कर्मतद्गुणतद्विकारांश्च सर्वानविकारात्मना साक्षाज्जानाति प्रकाशयति स एव आत्मा बुद्धेः परतः परः सर्वस्मादुत्कृष्टतमः भिन्नश्च नित्यत्वात्सर्वज्ञत्वात्सर्वप्रकाशकत्वात्सर्वसाक्षित्वाच्च। 'पुरुषान्न परं किञ्चित्' इति श्रवणात्। यत एवं ततः सर्वस्मात्परं सर्वद्रष्टारमत एव देहेन्द्रियादिभ्यो भिन्नं सर्वप्रकाशकं चिदानन्दैकरसं सन्मात्रं परिपूर्णमेतमेव स्वात्मानं विजानीहीत्यर्थः॥ ४२॥

स्थूल, व्याप्य, कार्य और प्रवर्त्यरूप जो शरीर है, उस शरीरकी अपेक्षा, प्रकाशकत्व, अवान्तरत्व, सूक्ष्मत्व, व्यापकत्व, कारणत्व और प्रर्तकत्व आदि धर्मोंके होनेसे वे पर यानी उत्कृष्ट हैं, ऐसा उक्त श्रुतियां कहती हैं। जिससे जो प्रकाशित किया जाता है और प्रवृत्त किया जाता है, वह उसकी अपेक्षा व्यापक, सूक्ष्म, पर और भिन्न होता है, जैसे लोहेसे लोहेमें स्थित अग्नि, वैसे ही देहकी अपेक्षा इन्द्रियां देह और देहके धर्मोंकी प्रकाशक और प्रवर्तक होनेसे पर और भिन्न हैं, यह अर्थ है। तथा इन्द्रियोंकी अपेक्षा मन, प्रकाशकत्व आदि धर्मोंसे युक्त होनेके कारण, पर (उत्कृष्ट) और भिन्न है, क्योंकि इन्द्रिय और इन्द्रियोंके धर्मोंका प्रकाशक होनेके कारण अवान्तर स्थित होकर वह इन्द्रियों और उनके धर्मोंका प्रकाश करता है, इसलिए मनका पर होना और भिन्न होना युक्त ही है, यह भाव है। तथा मनकी अपेक्षा भी प्रकाशकत्व आदि धर्मोंसे बुद्धि पर है। बुद्धिसे ही मन और मनके धर्म प्रकाशित और प्रवृत्त होते हैं, इसलिए मनसे बुद्धिका पर होना और भिन्न होना सिद्ध ही है। सूक्ष्मत्व, अवान्तरत्व, व्यापकत्व, कारणत्व, प्रवर्तकत्व, प्रकाशकत्व आदि धर्मोंसे जो स्वयं सर्वत्र व्यापक होकर बुद्धिसे लेकर स्थूल तक कार्यकरण-संघातको अपनी सन्निधिमात्रसे प्रवृत्त करता हुआ उसके धर्म, उसके कर्म, उसके गुण और उसके विकार, इन सबको अविकारस्वरूपसे साक्षात् जानता है—प्रकाशित करता है, वह आत्मा बुद्धिसे भी परतः पर है याने सबसे उत्कृष्टतम और भिन्न है, क्योंकि वह नित्य, सर्वज्ञ, सर्वप्रकाशक और सर्वसाक्षी है, इसमें 'पुरुषसे पर कुछ नहीं है, इत्यर्थक श्रुति प्रमाण है। जिस कारणसे ऐसा है,

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्याऽऽत्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥ ४३ ॥

हे महाबाहो, बुद्धि आदि सम्पूर्ण दृश्योंसे विलक्षण अखण्डैरस आत्माको जानकर और अन्तःकरणको उस आत्माके साथ संयुक्त कर कामरूप दुर्जय शत्रुका नाश करो ॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

एवं बुद्ध्यादेर्दृश्यजातस्य द्रष्टारमात्मानं सन्मात्रमात्मत्वेनाऽधिगम्य तन्निष्ठया स्वशत्रोः कामस्य संहारहेतोर्निःशेषनिर्मूलनं कुर्विति कर्मयोगस्य मोक्षोपायभूतस्योपेयभूतया ज्ञाननिष्ठया संभाव्यमानः सर्वकामनिर्मोक्ष एव मुक्तिरिति सूचयन् कर्मयोगमुपसंहरति—**एवमिति** ।

महाबाहो इति विशेषणं मुमुक्षोः कामरूपशत्रुसंहरणपटीयस्त्वद्योतनार्थम् । बुद्धेर्बुद्ध्यादेः सर्वदृश्यस्य परं विलक्षणं द्रष्टारमखण्डानन्दैकरसमात्मानमयमेवाऽहमस्मीत्येवं स्वात्मना सम्यग्बुद्ध्वाऽऽत्मन्येवाऽऽत्मत्वबुद्धिं दृढां कृत्वा त्वमात्मानं कामस्याऽऽश्रयभूतं कारणभूतं चाऽन्तःकरणमात्मना स्वस्वरूपेणाऽन्तर्बहिःपूर्णेनाऽखण्डैकरसेन संस्तभ्य संयोज्याऽऽरोपितं नामरूपग्रहणमकृत्वा तदधिष्ठानभूतब्रह्मदर्शन एव नियोज्य सर्वं ब्रह्मैवेति सर्वत्र ब्रह्मदर्शनादन्यत्र दुरासदं दुर्जयं जेतुमशक्यस्वभावं कामरूपं

इसलिए सबसे पर, सबके द्रष्टा, इसीलिए देह इन्द्रियादिसे भिन्न, सबके प्रकाशक, चिदानन्दैकरस, सन्मात्र और परिपूर्ण इस अपने आत्माको जानो, यह अर्थ है ॥ ४२ ॥

इस प्रकार बुद्धि आदि दृश्यसमूहके द्रष्टा सन्मात्र आत्माको अपने आत्मस्वरूपसे जानकर, उसकी निष्ठा द्वारा संसारके कारण अपने शत्रु कामका तुम निःशेष निर्मूलन करो, इस प्रकार मोक्षके कारणभूत कर्मयोगकी उपेयरूप ज्ञाननिष्ठासे होनेवाली कामोंकी निवृत्ति ही मुक्ति है, ऐसा सूचन करते हुए कर्मयोगका उपसंहार करते हैं—'**एवम्**' इत्यादिसे ।

महाबाहो, यह विशेषण कामरूप शत्रुको मारनेमें मुमुक्षुकी चतुराई दिखलानेके लिए है । बुद्धिसे—बुद्धि आदि सब दृश्योंसे—विलक्षण इस अखण्ड आनन्दैकरस आत्माको 'यह मैं ही हूँ' इस प्रकार अपनी आत्माके रूपसे ठीक-ठीक जानकर—आत्मामें ही आत्मबुद्धिको दृढ कर—तुम आत्माको—कामके आश्रयभूत और कारणभूत अन्तःकरणको—आत्मासे—स्वस्वरूपसे भीतर बाहर पूर्ण, अखण्डैकरस आत्मासे—भली भाँति जोड़कर अर्थात् आरोपित नाम और रूपका ग्रहण न करके उनके अधिष्ठानभूत ब्रह्मके दर्शनमें लगाकर 'सब ब्रह्म ही है' ऐसे सर्वत्र

शत्रुं जहि विध्वंसय। विशिष्य विषयग्रहणमेव कामाविर्भूतिकारणं सर्वत्र ब्रह्मदृष्ट्या तदग्रहणमेव कामविनाशनहेतुरतः सर्वं ब्रह्मैव पश्यन् कामं निर्मूलयेत्यर्थः। अत्र 'न कर्मणामनारम्भात्' इति कर्मयोगमुपक्रम्य मुमुक्षोस्तत्त्यागनिन्दनपूर्वकं बहुवचनैः कर्मण एव कर्तव्यत्वं प्रतिपाद्य अहंममेति संसारस्य प्रवृत्तिलक्षणस्य कारणं काम एवेति काममाहात्म्यं वर्णयित्वा, कर्मणा प्राप्तचित्तशुद्धेः पुरुषस्य ज्ञानयोगनिष्ठया तज्जयः कर्तव्य इति वदता भगवता 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः' इत्यादिश्रुतिप्रमाणककामनिर्मोक एव मोक्ष इति सूचितं भवति। तेन मोक्षहेतोर्ज्ञानयोगस्यैव प्राधान्यं कर्मयोगस्योपसर्जनतैवेत्यस्याध्यायस्य ज्ञानयोगपर्यवसायित्वात्तत्परत्वमेवेति सिद्धम्॥ ४३॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमदानन्दात्मसरस्वतीशिष्यश्रीशङ्करानन्दसरस्वतीकृतौ गीतावाक्यतात्पर्यबोधिन्यां तृतीयोऽध्यायः॥

ब्रह्मदर्शनसे अन्यत्र दुरासद—जीतनेको अशक्य स्वभाववाले—कामरूप शत्रुको मार दो—नष्ट कर दो। भिन्न-भिन्न विषयोंका ग्रहण ही कामकी उत्पत्तिमें कारण है, सर्वत्र ब्रह्मदृष्टिसे उनका ग्रहण न करना ही कामके विनाशका हेतु है, इसलिए सबको ब्रह्म ही देखते हुए कामका निर्मूलन करो, यह अर्थ है। यहां 'कर्म आरम्भ किये बिना' यहांसे कर्मयोगका आरम्भ करके उसके त्यागकी निन्दापूर्वक बहुत वचनोंसे कर्म ही मुमुक्षुका कर्तव्य है, ऐसा प्रतिपादन करके 'मैं मेरा' प्रवृत्तिरूप संसारका कारण काम ही है' ऐसा कामके माहात्म्यका वर्णन करके कर्मसे प्राप्त हुई चित्तकी शुद्धिसे पुरुषको ज्ञाननिष्ठा द्वारा कामको जीतना चाहिए, ऐसा भगवान्के कहनेसे 'जब इसके हृदयमें स्थित सब काम छूट जाते हैं' इत्यादि श्रुतिरूप प्रमाणके अनुसार कामका छूट जाना ही मोक्ष है, ऐसा सूचित होता है। इसलिए मोक्षका हेतु ज्ञानयोग प्रधान है और कर्मयोग गौण है, अतः इस अध्यायका ज्ञानयोगमें पर्यवसान होनेसे यह अध्याय ज्ञानयोगपरक ही है, यह सिद्ध हुआ॥४३॥

तीसरा अध्याय समाप्त

चतुर्थोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ १ ॥

भगवान्‌ने कहा—पहले-पहल मैंने इस अविनाशी ज्ञानयोगका सूर्यको उपदेश दिया, सूर्यने मनुको उपदेश दिया और मनुने अपने ज्येष्ठपुत्र इक्ष्वाकुको उपदेश दिया ॥ १ ॥

द्वितीयाध्याये तदनन्तराध्याये च कर्मयोगैकोपायस्य ज्ञानयोगस्यैव 'एषा ब्राह्मी स्थितिः' इति, 'संस्तभ्याऽऽत्मानमात्मना' इत्यादिवचनैर्मोक्षैकसाधनत्वं प्रतिपाद्याऽधुना तस्यैव योगस्य 'एष पन्था एतत्कर्म', 'एतद्ब्रह्म' इत्यादिश्रुतिप्रमाणकत्वे सिद्धेऽपि सिद्धपरम्पराभ्युपगत्वेनाऽपि प्रामाण्यं सूचयितुमिदमाह श्रीभगवान्—**इममिति** ।

अहं परमात्मा । सृष्ट्यादौ अव्ययः अव्ययवेदैकप्रमाणत्वादव्ययः 'न स पुनरावर्तते' इति श्रवणादव्ययफलहेतुत्वाद्वाऽव्ययः । सर्वत्र ब्रह्मदर्शनलक्षणयोगसाध्यस्य मोक्षस्य व्ययाभावाज्ज्ञानस्याऽव्ययफलहेतुत्वम् । यत्साध्यं तदनित्यमिति मोक्षस्य ज्ञानसाध्यत्वान्न नित्यत्वमिति नाऽनुमानस्याऽवकाशस्तस्योक्तश्रुतिपराहतत्वाच्चमव्ययं नित्य-

---

दूसरे अध्यायमें और तीसरे अध्यायमें कर्मयोग ही एक जिसका उपाय (कारण) है, ऐसे ज्ञानयोगमें 'एषा ब्राह्मी स्थितिः' (यह ब्राह्मी, स्थिति है) और 'संस्तभ्याऽऽत्मानमात्मना' (अन्तःकरणको आत्मासे जोड़कर) इत्यादि वचनोंसे मोक्षसाधनत्वका प्रतिपादन कर अन्तमें 'एष पन्था' इत्यादि श्रुतियोंसे यद्यपि कर्मयोग प्रामाणिकत्वरूपसे सिद्ध है, तथापि सिद्धोंने भी परम्परासे उसका स्वीकार किया है, इससे भी उसका प्रामाण्य है, यह सूचन करनेके लिए भगवान् यह कहते हैं—**'इमम्'** इत्यादिसे ।

मैं—परमात्मा । सृष्टिके आदिमें अव्यय अविनाशी वेद इसमें प्रमाण हैं, इसलिए यह योग अव्यय कहा गया है अथवा अव्यय फलका हेतु होनेसे योगको अव्यय कहते हैं, क्योंकि 'वह फिर नहीं लौटता' इत्यर्थक श्रुति है । भाव यह कि सर्वत्र ब्रह्मदर्शनरूप योगसे होनेवाले मोक्षका व्यय नहीं होता, इसलिए ज्ञान अव्यय फलका हेतु है । जो साध्य होता है, वह अनित्य होता है, इस प्रकारकी व्याप्ति होनेके कारण ज्ञानसे साध्य मोक्ष नित्य नहीं हो सकता, इस अनुमानका यहां अवकाश नहीं है, क्योंकि यह अनुमान उक्त श्रुतिसे वाधित है, इसलिए

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ॥ २ ॥

हे अर्जुन, यों सूर्य आदि विशिष्ट जनोंकी परम्परासे प्राप्त इस ज्ञानयोगको राजा और ऋषि जानते थे, पर इस समय कालके प्रभावसे उक्त योगका सम्प्रदाय विच्छिन्न हो गया है ॥ २ ॥

फलमित्यर्थः । इममध्यायद्वयेन प्रतिपादितं मोक्षैकप्रयोजनं योगं ज्ञानयोगं विवस्वते सूर्याय प्रोक्तवानस्मि । 'स्वयं तीर्णः परान् तारयति' इति न्यायेन सोऽपि विवस्वान्मनवे प्राह स्वपुत्रायोक्तवान् । मनुरपि स्वपुत्रायेक्ष्वाकवेऽब्रवीदुपदिष्टवानित्यर्थः ॥१॥

स्वप्रोक्तज्ञानयोगस्य विशिष्टजनपरिगृहीतत्वमेव विस्पष्टयति—**एवमिति** ।

ब्रह्मनिष्ठया परं शत्रुं कामक्रोधादिलक्षणं तापयति विनाशयतीति परन्तपेति संबुद्धिः । एवमुक्तरीत्या विवस्वदादिविशिष्टजनपरम्पराप्राप्तं ज्ञानयोगमिममर्वाचीना राजर्षयो जनकादयो विदुरेवमेव विदुरिति वा । राजानश्च ते ऋषयश्च राजर्षयः । इदं ब्राह्मणादीनामुपलक्षणम् । राजानश्च ऋषयश्च विदुरिति वा । ननु राजभिर्ऋषिभिर्महापुरुषैः परिगृहीतत्वे सर्वत्र प्रसिद्धत्वात्किं त्वयोपदिश्यत इत्यत आह—**स इति** । पूर्वं विवस्वदादिषु मया प्रवर्तितो यो योगः स इदानीं महता कालेन कालदेशविपर्यासेन प्रवर्त्यप्रवर्तकजनाभावादिहाऽस्मिल्लोके नष्टः । संप्रदायविच्छित्तिं प्राप्त इत्यर्थः ॥२॥

उक्त अविनाशी नित्य फलरूप मोक्षको, यह भाव है । दो अध्यायोंसे प्रतिपादित केवल मोक्षरूप प्रयोजनवाले इस योगका—ज्ञानयोगका—मैंने सूर्यको उपदेश दिया था । 'स्वयं तरा हुआ दूसरोंको तारता है' इस न्यायसे उस विवस्वान्ने भी इस योगका अपने पुत्र मनुको उपदेश दिया था, मनुने अपने पुत्र इक्ष्वाकुसे कहा था—अर्थात् अपने पुत्रको उपदेश दिया था, यह अर्थ है ॥ १ ॥

मुझसे कहा गया ज्ञानयोग विशिष्ट जनों द्वारा परिगृहीत है, ऐसा स्पष्ट करते हैं—**'एवम्'** इत्यादिसे ।

ब्रह्मनिष्ठासे काम, क्रोध आदिरूप परको—शत्रुको—जो तपाता है—नष्ट करता है, वह परन्तप कहलाता है, परन्तप यह सम्बोधन है । हे अर्जुन, इस प्रकार कही गई रीतिसे विवस्वान् आदि विशिष्ट जनोंकी परम्परासे प्राप्त ज्ञानयोगको ये अर्वाचीन जनकादि राजर्षि जानते थे अर्थात् इसी प्रकार ही जानते थे । राजा होकर जो ऋषि हों, वे राजर्षि हैं । यह ब्राह्मण आदिका भी उपलक्षण है । अथवा 'राजानश्च ऋषयश्च' इस प्रकार राजर्षिशब्दका द्वन्द्व समास करके राजा भी और ऋषि भी जानते थे, ऐसा अर्थ कर सकते हैं । यदि शङ्का हो कि इस योगको जब महापुरुष राजर्षि जानते हैं, तो सर्वत्र प्रसिद्ध ही है, तब आप क्यों उपदेश करते हैं, तो उसका परिहार करनेके लिए कहते हैं—'स' । पूर्व विवस्वान् आदिमें मैंने जिस योगको चालू किया था, वह अब बहुत

स एवाऽयं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३ ॥

आज मैंने उसी पुरातन योगका, जो परब्रह्मरूप उत्तम वस्तुकी प्राप्तिका हेतु होनेके कारण पात्रपरीक्षाके बिना जिस किसी साधारण प्रश्नकर्ता अनधिकारीसे कहने योग्य नहीं है, तुम्हें उपदेश दिया है, क्योंकि तुम मेरे भक्त एवं सखा हो ॥ ३ ॥

विनष्टसंप्रदायः स योगः किमर्थं पुनरिदानीं त्वया प्रवर्तित इत्याकाङ्क्षायां कूटस्थासङ्गचिद्रूप एवाऽऽत्मन्यविक्रियेऽविषयेऽनात्मतद्धर्मकर्माण्यध्यस्य कर्ताऽहं भोक्ताऽहं सुखी दुःखीति मोमुह्यमानं दोधूयमानं लोकमिममालोक्य कृपया तं संसारसागरादुद्दिधीर्षया मया त्वां निमित्तीकृत्य प्रवर्तित इत्याशयेनाऽऽह—**स एवाऽयमिति** ।

पूर्वं विवस्वते संप्रदायप्रवृत्त्यै पुरातनः अनादिश्रुतिमूलकत्वात्सनातनो यो योगः प्रोक्तः संसारध्वान्तविध्वंसकः स एवाऽयं योगो मयाऽद्य कर्तृत्वभोक्तृत्वभ्रमेण मुह्यमानाय ते तुभ्यं प्रोक्तः । बुद्धिमोहविच्छित्त्यै उपदिष्ट इत्यर्थः । अर्जुनस्य ज्ञानोपदेशयोग्यतां दर्शयति—**भक्त इत्यादिना** । 'यथा शिवमयो विष्णुरेवं विष्णुमयः शिवः' इति शिवकेशवयोरभेदश्रवणाच्छिवरूपं मामेव बहिरन्तरमायया श्रद्धया भजस्यतो मे भक्तोऽसि सदा मद्भजनशीलोऽसि । सखा चाऽसि, सखा स्निग्धः सख्युः स्मरण-

---

काल होनेसे—समयके बदलनेसे याने प्रवर्त्य और प्रवर्तक जनोंके न रहनेसे—इस लोकमें नष्ट हो गया है, संप्रदायसे विच्छिन्न हो गया है, यह अर्थ है ॥ २ ॥

जिसका सम्प्रदाय नष्ट हो गया है, उस योगको आपने अब फिर क्यों चालू किया ? ऐसी आशङ्का होनेपर कूटस्थ, असङ्ग, चेतन, अविकारी, अविषयरूप आत्मामें अनात्माका और अनात्माके धर्म-कर्मोंका अध्यास करके मैं कर्ता, मैं भोक्ता, सुखी, दुःखी, इस प्रकार मोहित हुए और दुःखी इस लोकको देखकर कृपासे उनका संसारसागरसे उद्धार करनेकी इच्छासे मैंने तुम्हें निमित्त करके इसे चालू किया है, उस आशयसे कहते हैं—**'स एवाऽयम्'** इत्यादिसे ।

पूर्वमें सम्प्रदायकी प्रवृत्तिके लिए विवस्वान्‌के पुरातन—अनादि श्रुतिमूलक होनेसे सनातन संसाररूप अन्धेरेका नाश करनेवाला जो योग कहा था, वही यह योग मैंने आज कर्तृत्व-भोक्तृत्वके भ्रमसे मोहित हुए तुमसे कहा है अर्थात् बुद्धिके मोहका नाश करनेके लिए तुम्हें उपदेश दिया है, यह भाव है । अर्जुनमें ज्ञानके उपदेशकी योग्यता है, ऐसा दिखलाते हैं—**'भक्त'** इत्यादिसे । 'जैसे शिवमय विष्णु हैं, वैसे ही विष्णुमय शिव हैं' इस प्रकारके शास्त्रसे शिव और केशवका अभेद होनेके कारण शिवस्वरूप मुझको ही बाहर भीतर कपटके बिना श्रद्धासे भजता है, इसलिए तुम मेरे भक्त हो, सदा मेरा भजन करना ही तुम्हारा स्वभाव है । और तुम सखा भी—स्निग्ध भी हो, क्योंकि सखाके स्मरण और श्रवण आदिसे चित्त द्रवित हो

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

अर्जुनने कहा—आपका जन्म बहुत पीछे हुआ और सूर्यका जन्म तो संसारकी सृष्टिके आदिमें हुआ था, अतः मुझे कैसे यह विश्वास हो कि आपने ही पहले इस ज्ञानयोगका सूर्यको उपदेश दिया था ॥ ४ ॥

श्रवणादिभिर्द्रवीभूयमानचित्तः स्निग्धश्चासि । ममायं भक्तः स्निग्धश्चेति हेतोरेव स योगस्त उपदिष्ट इत्यर्थः । किमेवं पात्रपरिशीलनं योगोपदेशायेत्यत आह—**रहस्यमिति** । हि यस्मादेतद् ज्ञानशास्त्रं रहस्यं गोप्यं यस्मै कस्मैचित् पृष्टवते वक्तुमयोग्यम् । तत्कुत इत्यत आह—उत्तममिति । गृहस्थानामकर्मिणां उत्तमं सर्वोत्तमं परं ब्रह्म तत्प्राप्तिहेतुत्वादुत्तमसाधनं मुक्तेरत एव रहस्यमत एव न कस्मैचिद्वक्तव्यमित्यर्थः ॥ ३ ॥

राजसाधारणोऽयं कृष्णः वसुदेवपुत्रत्वादनेनोक्तमिदं शास्त्रमप्रमाणमित्यत्र गीतायां सर्वेषामविश्वासः स्याच्चद्वक्तुर्भगवत ईश्वरत्वे विज्ञाते श्रद्धाभक्तिभ्यां प्रवृत्तिः संपद्येत तया सर्वे कृतार्थाः स्युरिति श्रीकृष्णस्य परमेश्वरत्वं तन्मुखेनैव प्रथयितव्यमित्याशयेनाऽर्जुन उवाच—**अपरमिति** ।

श्रीकृष्णाभिधानस्य भवतो जन्म अपरमर्वाचीनम्, वसुदेवगृहे त्वदुत्पत्तेर्दृष्टत्वात् । विवस्वतः सर्वजगत्प्रकाशकं तेजोऽस्यास्तीति विवस्वान् सूर्यस्तस्य तु जन्म परं

जाता है । यह मेरा भक्त और स्निग्ध भी है, इस प्रकार निश्चय करके मैंने उस योगका तुम्हें उपदेश दिया है । योगके उपदेशके लिए इस प्रकार पात्रका परिशीलन आप क्यों करते हैं ? इसपर कहते हैं—रहस्यम् इत्यादि । यतः यह ज्ञानशास्त्र रहस्य है—गोप्य है—जिस किसी पूछनेवालेसे कहने योग्य नहीं है । यह कैसे ? इसपर कहते हैं—**'उत्तमम्'** । उत्तम—सर्वोत्तम परब्रह्म—की प्राप्तिका कारण है, इसलिए यह शास्त्र मुक्तिका उत्तम साधन है, इसीलिए रहस्य है अर्थात् किसीसे कहने योग्य नहीं है ॥ ३ ॥

वसुदेवका पुत्र होनेसे यह कृष्ण एक साधारण राजा है, अतः इसके द्वारा कहा गया यह शास्त्र प्रमाण नहीं हो सकता, यों इस गीतामें सबको अविश्वास होगा, उसके वक्ता भगवान्में ईश्वरत्व बुद्धि होनेपर ही गीतामें श्रद्धा और भक्तिसे प्रवृत्ति होगी और उससे सब कृतार्थ होंगे, इसलिए श्रीकृष्णका परमेश्वरत्व उनके मुखसे ही प्रसिद्ध करना चाहिए, इस आशयसे अर्जुन बोला—**'अपरम्'** इत्यादि ।

श्रीकृष्ण नामधारी आपका जन्म अर्वाचीन (हालका) है, क्योंकि वसुदेवके घरमें ही आपकी उत्पत्ति हुई है और विवस्वान्का—सम्पूर्ण जगत्का प्रकाश करनेवाला जिसका तेज है, वह सूर्य

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ॥ ५ ॥

भगवान्‌ने कहा—हे अर्जुन, मेरे अनेक जन्म बीत चुके हैं, तुम्हारे और दूसरे प्राणियोंके भी अनेक जन्म बीत चुके हैं, मैं उन सबको जानता हूँ, परन्तु हे परन्तप, तुम उन्हें नहीं जानते हो ॥ ५ ॥

प्राचीनम्, सृष्ट्यादौ 'चक्षोः सूर्यो अजायत' इति श्रवणात् । एवमुभयोर्जन्मव्यत्यासे सति त्वमादौ विवस्वत इमं योगं प्रोक्तवानित्येतद्वचनं सत्यमित्यहं कथं विजानीयामन्यो वा विजानीयात्, 'एष वन्ध्यासुतो याति' इति वाक्य इवाऽस्मिन्वाक्ये त्वदुक्तशास्त्रे च सर्वेषामविश्वास एवोदेतीत्यर्थः ॥ ४ ॥

इदं मम मायाविलासवैभवमेव सत्यमिति जानतां केवलमूढानामेवं प्रत्ययो न तु मत्तत्त्वं विदितवतां पण्डितानाम् । तेषामस्त्येव मयीश्वरत्वभावना श्रद्धा भक्तिश्च । मदुक्तौ च प्रमाणताबुद्धिः । अहं तु स्वयमजोऽव्ययो भूतानामीश्वरो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्तथापि तस्यैतस्य स्वमहिम्ना सिद्धनित्यज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजःसंपन्नस्य लोकनिग्रहानुग्रहचिकीर्षोर्ममैवमेव बहूनि जन्मानि सन्तीत्याह—**बहूनीति** ।

मे ममाऽप्रमेयस्वभावस्याऽनन्तशक्तेः परमेश्वरस्य देवतिर्यङ्मनुष्येषु जन्मानि व्यतीतान्यतिक्रान्तानि बहून्यसङ्ख्यानि सन्ति । तव चाऽन्येषां च भूतानां तानि

विवस्वान् कहलाता है अर्थात् सूर्यका—तो जन्म प्राचीन अर्थात् 'ईश्वरके नेत्रसे सूर्य उत्पन्न हुआ, इत्यर्थक श्रुतिके अनुसार सृष्टिके आदिमें हुआ है । इस प्रकार आप दोनोंका जन्म आगे पीछे होनेके कारण 'पहले पहल मैंने विवस्वान्‌को इस योगका उपदेश दिया था' इस प्रकारके आपके वचनमें मैं अथवा दूसरा कोई भी सत्यता कैसे जान सकता है ? इसलिए 'यह वन्ध्याका पुत्र जाता है' इस वाक्यके समान उक्त वाक्यमें और आपके द्वारा कहे गये इस शास्त्रमें अविश्वास ही उत्पन्न होगा, यह भाव है ॥ ४ ॥

मेरी मायाके इस विलासवैभवको सत्य जाननेवाले मूढ़ोंको ही वैसा ज्ञान होगा, मेरे तत्त्वके परिज्ञाता पण्डितोंको वैसा ज्ञान कभी नहीं होगा । उनकी मुझमें ईश्वरत्वभावना, श्रद्धा और भक्ति है एवं मेरे द्वारा कहे गये वाक्योंमें प्रामाण्यबुद्धि भी है । मैं यद्यपि स्वतः अज, अद्वय, भूतोंका ईश्वर, नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त स्वभाववाला हूं, तथापि अपनी सामर्थ्यसे सिद्ध, नित्य ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेजसे सम्पन्न होकर मैं लोकके निग्रह और अनुग्रहकी इच्छासे बहुतसे जन्म लेता हूँ, ऐसा कहते हैं—'बहूनि' इत्यादिसे ।

अप्रमेयस्वभाव एवं अनन्तशक्तिवाले मुझ परमेश्वरके देव, तिर्यक् और मनुष्योंमें असंख्य जन्म बीत गये हैं । तुम्हारे और अन्य भूतोंके भी अनेक जन्म बीत गये हैं । उन जन्मोंको

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥ ६ ॥

यद्यपि वास्तवमें मैं जन्मरहित, अविनाशी एवं सब प्राणियोंका नियन्ता हूं तथापि अपनी त्रिगुणात्मिका मायाको अपने वशमें रखकर उसी स्वस्वरूप मायासे मैं जन्म लेता हूँ ॥ ६ ॥

गतानि जन्मानि सर्वाण्यहं वेद वेद्मि । 'नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते' इति श्रवणादप्रतिहतविज्ञानशक्तित्वादतीतानागतवर्तमानार्थं सर्वं विजानामीत्यर्थः । त्वं तु तानि जन्मानि न वेत्थ पापपुण्यरागद्वेषादिदोषैस्तिरोभूतज्ञानशक्तित्वादतीतानागत-वर्तमानं न किञ्चिज्जानासीत्यर्थः ॥ ५ ॥

ननु 'कर्मणा जायते जन्तुः कर्मणैव प्रलीयते' इति स्मरणाज्जन्मादिहेतोः पुण्यपापादेरभावात्तवेश्वरस्य स्वतन्त्रस्य कथं जन्मादिरित्याकाङ्क्षायां माययैव मम जन्मादयो न तु लोकवत्कर्मणेति बोधयितुमाह—**अजोऽपीति** ।

कदाचित्कथञ्चित् कुतश्चिन्न जायत इत्यजः । 'न तस्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः' इति श्रवणाज्जन्महेतोरुपादानादेरभावादजो जन्मरहित एवाऽस्मि । एवमजः सन्नपि तथाऽव्ययात्मा निरवयवत्वेन विनाशकारणसामग्रीसंबन्धायोगादव्ययः नाशनक्रियाया अविषयः आत्मा स्वभावो यस्य सोऽव्ययात्मा नित्यः ।

मैं जानता हूँ; क्योंकि 'विज्ञाताके विज्ञानका लोप नहीं होता' इत्यर्थक श्रुतिके अनुसार मैं अप्रतिहत विज्ञान एवं शक्तिसे सम्पन्न हूँ, अतः भूत, भविष्यत् और वर्तमान सब पदार्थोंको जानता हूँ, यह अर्थ है। परन्तु तुम उन जन्मोंको नहीं जानते अर्थात् पाप, पुण्य, राग, द्वेष आदि दोषों द्वारा तिरोभूत ज्ञान और शक्तिसे सम्पन्न होनेके कारण तुम भूत, भविष्यत् और वर्तमान कुछ भी नहीं जानते, यह भाव है ॥ ५ ॥

'कर्मसे जन्तु उत्पन्न होता है और कर्मसे ही मरता है' इत्यर्थक स्मृतिवाक्य द्वारा जन्म आदिके हेतुरूपसे ज्ञात पुण्य और पाप आदिका आपमें अभाव होनेके कारण स्वतन्त्र ईश्वर स्वरूप आपके जन्म आदि कैसे होंगे ? ऐसी आकाङ्क्षा होनेपर अर्जुनको 'मायासे ही मेरे जन्म आदि हैं, लोकके समान कर्मसे नहीं हैं, ऐसा बतलानेके लिए कहते हैं—'**अजोऽपि**' इत्यादिसे ।

किसी समय, किसी प्रकार और किसी हेतुवश जो उत्पन्न न हो, वह अज कहलाता है। तात्पर्य यह है कि 'उसका कोई उत्पन्न करनेवाला नहीं है और न अधिपति है, इत्यर्थक श्रुतिके अनुसार जन्मके हेतुभूत उपादान आदि कारणोंके अभावसे मैं जन्मरहित ही हूँ। यों अज होकर भी तथा अव्ययात्मा (निरवयव होनेके कारण नाशक सामग्रीका सम्बन्ध न होनेसे जिसका आत्मा—स्वभाव—नाशनक्रियाका विषय नहीं है, वह अव्ययात्मा कहलाता है, याने नित्य। सारांश

'अजो नित्यः' इति श्रवणादव्ययात्मा नित्य एवास्मि न कचिदपि षड्विकारवान् । अजोऽव्ययात्मेति विशेषणद्वयं तदन्तरालविकारासंभवद्योतनार्थम्, आद्यन्तयोरभावे तदन्तरवस्थाकल्पनायोगात् । ननु तव कर्मनिमित्तकजन्माभावेऽपीश्वरो नियन्ता स्यादेवेत्यत आह—भूतेति । ब्रह्मादीनामन्येषां च भूतानामहमेवेश्वरो नियन्ता स्वसन्निधिमात्रेण 'एष सर्वेश्वरः' इति श्रुतेः । न तु ममाऽन्योऽस्ति नियन्ता 'न चाधिपः' इति श्रवणादतोऽहं न कस्याऽपि च नियोगविषयः । एवमजोऽप्यव्ययात्मापीश्वरोऽपि च सन्नहं निर्विकार एव परमात्मा । प्रकृतिं प्रकर्षेण कृतिः सृष्ट्यादिक्रिया यस्याः सकाशान्मम सा प्रकृतिस्त्रिगुणात्मिका दैवी माया 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' इति श्रुतेः । तां प्रकृतिं स्वां स्वकीयां 'कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः' इति श्रवणात्स्वस्योपाधिभूतामव्यक्तसंज्ञिकां मूलप्रकृतिमधिष्ठाय तस्यां तत्कार्ये चाऽहं ममेति भावनां कृत्वा योऽजत्वादिलक्षणः सोऽहं सम्भवाम्यात्ममायया आत्माधीना माया आत्ममाया तया संभवामि । यद्वा भानोः प्रभावाद्वह्नेर्दग्धृत्वशक्तिवदात्मनो ममाऽभिन्ना माया आत्ममाया न तु मद्व्यतिरिक्ता 'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' इति श्रवणादन्यथा त्वद्वैतहानिः श्रुतिविरोधश्च

यह निकला कि 'अज और नित्य' इत्यर्थक श्रुतिके अनुसार मैं अव्ययात्मा याने नित्य ही हूँ, कभी भी छठे भावविकारसे युक्त नहीं होता हूँ । अज और अव्ययात्मा ये दो विशेषण मध्यवर्ती अन्यान्य विकारोंका अभाव बतलानेके लिए हैं, क्योंकि आदि और अन्तका अभाव होनेपर मध्यवर्ती विकारोंका अस्तित्व ही नहीं रह सकता । आपका यद्यपि कर्म द्वारा जन्म नहीं होता, तथापि ईश्वर आपके नियन्ता होंगे ? इस प्रश्नके उत्तरमें कहते हैं—'भूता०' इत्यादि । ब्रह्म आदिका और अन्य भूतोंका मैं ही ईश्वर—केवल अपनी सन्निधिसे नियन्ता—हूँ, इसमें 'एष सर्वेश्वरः' (यह सबका ईश्वर है) यह श्रुति प्रमाण है । मेरा नियन्ता मुझको छोड़कर दूसरा नहीं है, क्योंकि 'न चाधिपः' ऐसी श्रुति है । इसलिए मैं किसीके नियोगका विषय भी नहीं हूँ । इस प्रकार अज, अव्ययात्मा और ईश्वर होकर भी मैं निर्विकार परमात्मा ही हूँ । सृष्टि आदि क्रिया जिसके सम्बन्धसे होती है, वह मेरी प्रकृति—त्रिगुणात्मिका दैवी माया—है, क्योंकि 'मायाको तो प्रकृति जानो' ऐसी श्रुति है। इस अपनी प्रकृतिको याने यह जीव कार्यरूप उपाधिवाला है और ईश्वर कारणरूप उपाधिवाला है, इत्यर्थक श्रुतिके अनुसार अपनी उपाधिभूत अव्यक्तनामक मूल प्रकृतिको अधिष्ठित करके उसमें और उसके कार्यमें 'मैं और मेरा', ऐसी भावना करके मैं, जो अजत्व आदि लक्षणवाला हूँ, जन्म लेता हूँ, अर्थात् अपनी अधीन माया द्वारा उत्पन्न होता हूँ । अथवा सूर्यकी प्रभाके समान, अग्निमें जलानेकी शक्तिके समान आत्मभूत मुझसे अभिन्न माया ही आत्ममाया शब्दका अर्थ है, वह मुझसे भिन्न नहीं है, क्योंकि 'अपने गुणोंसे छिपी हुई देवात्मशक्तिको' इत्यर्थक श्रुति है । यदि ऐसा न माना जाय, तो अद्वैतकी हानि होगी और श्रुतिसे विरोध भी होगा,

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

जब-जब वर्णाश्रम धर्मावलम्बियोंके अभ्युदय और निःश्रेयसके हेतु वैदिक धर्मका ह्रास होता है, तब-तब मैं धर्मरक्षण और अधर्मविनाशके योग्य शरीरको धारण करता हूँ ॥ ७ ॥

स्यादतो बह्नेर्दहनशक्तिवदभिन्नैव सा प्रकृतिशब्दिता माया, तयैवाऽहं जन्मवान्न तु वस्तुतस्तथात्वे 'निष्कलं निष्क्रियम्' इति 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' इति श्रुतेर्विरोधापत्तेस्ततो माययैवाऽहं देवादिषु संभवामीत्यर्थः । एवं तत्पदार्थस्येश्वरस्य जन्मादेर्मायिकत्वे बोधिते त्वं पदार्थस्यापि तदभिन्नत्वाज्जन्मकर्माद्याविद्यकमेवेति सूचितं भवति ॥ ६ ॥

देवादिषु मायया तव संभवः कदेत्याकाङ्क्षायामाह—**यदेति** ।

वर्णाश्रमिणामभ्युदयनिःश्रेयससिद्धेः सम्यगनुष्ठेयस्य धर्मस्य वैदिकस्य ग्लानिर्विघ्नकारिभिर्निर्विशेषविच्छित्तिर्यदा यदा भवति । हिः पुराणप्रसिद्धिद्योतनार्थः । तथैवाऽधर्मस्य सर्वानर्थहेतुरभ्युत्थानं अभितः सर्वत्राऽऽश्रमेषु वर्णेषु चोत्थानं धूमकेतोरिवोत्पत्तिर्भवति तदा तदाऽऽत्मानं स्वस्य धर्माधर्मयोस्तद्वतां चाऽनुग्रहनिग्रहयोग्यं देहमात्ममायया सर्वनियन्ताऽहमीश्वरः सृजामीत्यर्थः ॥ ७ ॥

इसलिए अग्निकी दाहक शक्तिके समान प्रकृति नामकी वह माया मुझसे अभिन्न ही है, उससे ही मैं जन्मवाला होता हूँ, न कि वास्तविक। ऐसा होनेपर तो 'निष्कल, निष्क्रिय और चेतन न जन्मता है और न मरता है' इत्यर्थक श्रुतिसे विरोध होगा, इसलिए मायासे ही मैं देवादिमें उत्पन्न होता हूँ, यह अर्थ है । इस प्रकार तत्पदार्थ ईश्वरके जन्म आदि मायिक हैं, ऐसा बतलानेसे त्वंपदार्थ जीवके भी, ईश्वरसे अभिन्न होनेके कारण, जन्म और कर्म आदि अविद्या द्वारा किये गये हैं, ऐसा सूचित होता है ॥ ६ ॥

देव आदिमें मायासे आपका जन्म कब होता है ? ऐसी आकाङ्क्षा होनेपर भगवान् कहते हैं—'यदा' इत्यादिसे ।

वर्ण और आश्रमवालोंका अभ्युदय और निःश्रेयस जिससे सिद्ध होता है, ऐसे अनुष्ठान करने लायक सुन्दर वैदिक धर्मकी जब-जब ग्लानि होती है, अर्थात् विघ्न करनेवाले असुरों द्वारा जब उनकी बिलकुल विच्छित्ति (विनाश) हो जाती है । हिशब्द पुराणों द्वारा प्रसिद्धि बतलानेके लिए है । और अग्निके समान सब अनर्थोंके हेतु अधर्मका जब-जब अभ्युत्थान—सब आश्रम और वर्णोंमें उत्पत्ति—होती है, तब-तब धर्मकी अभिवृद्धि और अधर्मका विनाश करनेके लिए एवं धार्मिक और अधार्मिकोंका अनुग्रह और निग्रह करनेके लिए योग्य अपनी देहको अपनी मायाके द्वारा सबका नियन्ता मैं ईश्वर उत्पन्न करता हूँ, यह अर्थ है ॥ ७ ॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥ ८ ॥

सज्जनोंके रक्षणके लिए, असज्जन पापियोंके विनाशके लिए और धर्मकी स्थापनाके लिए मैं प्रत्येक युगमें जन्म लेता हूँ ॥ ८ ॥

उक्तमर्थं स्पष्टयति—**परित्राणायेति** ।

प्राणात्ययेऽपि ये स्वधर्मं न त्यजन्ति त एव साधवस्तेषां स्वधर्मैकशरणानां परित्राणाय तेषां विनैव प्रार्थनामिहपरलोकयोर्विच्छित्तिर्यथा न स्यात्तथा रक्षणं परित्राणं तस्मै । एतेन साधुभिरीश्वर एवाऽस्माकं त्रातेति धैर्येण स्वधर्मे स्थातव्यमिति सूचितं भवति । किंच दुष्कृतां ये तु त्रिभिरपि करणैः शास्त्रनिषिद्धमेव कुर्वन्ति नान्यत्ते दुष्कृतो जगद्दूषणास्तेषां समूलविनाशाय च धर्मसंस्थापनार्थाय च धर्मस्य सतामभ्युदयनिःश्रेयसहेतोरधर्मस्य न्यक्कारपूर्वकं संस्थापनार्थाय धर्मस्याऽधिकारिभिः सर्वैर्नियमेन यथाशास्त्रमनुष्ठापनमेव संस्थापनं तदेवाऽर्थः प्रयोजनं तस्मै युगे युगे कृतादौ भूयो भूयः स्वमायया स्वयमेव संभवाम्यवतरामीत्यर्थः । एतेन साधुपरिपालनमसाधुविनाशनं धर्मसंस्थापनं चैतत्त्रितयमेव भगवदवतारस्य प्रयोजनमिति सूचितं भवति । यज्ञादिधर्मेण संरक्षितेन देवा वर्धन्ते तैर्वृष्टयश्च ताभिरन्नमन्नेन प्राणिनः सर्वे जीवन्त्यतो धर्मसंरक्षणमात्रेण विश्वं सर्वं रक्षितमेव भवतीति भावः ॥ ८ ॥

पूर्वोक्त अर्थका ही स्पष्टीकरण कहते हैं—**'परित्राणाय'** इत्यादिसे ।

प्राणोंके जानेपर भी जो अपने धर्मको नहीं छोड़ते, वे ही साधु हैं । उन स्वधर्मकी ही शरण लेनेवाले पुरुषोंकी रक्षा करनेके लिए अर्थात् किसी प्रकारकी प्रार्थनाके बिना ही उनका जिस प्रकार यह लोक और परलोक दोनों विच्छिन्न न हों, उस प्रकारकी रक्षाके लिए जन्म लेता हूँ । इससे यह सूचित होता है कि ईश्वर हमारी रक्षा करनेवाला है, ऐसा समझकर स्वधर्ममें साधुओंको स्थित रहना चाहिए और जो तीनों इन्द्रियोंसे शास्त्रनिषिद्ध ही आचरण करते हैं, अन्य कुछ नहीं करते, उन जगत्में दूषणभूत पापियोंका समूल नाश करनेके लिए और धर्मके संस्थापनके लिए अर्थात् सत्पुरुषोंके अभ्युदय और निःश्रेयसके हेतु धर्मका अधर्मनाशपूर्वक संस्थापन करनेके लिए सब अधिकारियों द्वारा नियमसे शास्त्रानुसार धर्मका अनुष्ठान कराना ही यहाँ धर्मका संस्थापन है, इसी प्रयोजनके लिए युग युगमें—सत्ययुग आदिमें—फिर फिर अपनी मायासे आप ही उत्पन्न होता हूँ, अवतार लेता हूँ, यह अर्थ है । इससे यह सूचित होता है कि साधुओंका परिपालन, असाधुओंका नाश और धर्मका स्थापन करना, ये ही भगवान्के अवतारके प्रयोजन हैं । यज्ञ आदिसे धर्मकी रक्षा करनेसे देवता सन्तुष्ट होते हैं, उनसे वृष्टि होती है, वृष्टिसे अन्न होता है और अन्नसे सब प्राणी जीते हैं । धर्मके संरक्षणमात्रसे सब विश्व रक्षित होता है, यह भाव है ॥ ८ ॥

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ९ ॥

जो मेरे प्राकृत शरीर हैं और उनके द्वारा किये गये जो कर्म हैं, उन सबका अध्यात्मबुद्धिसे विचार कर ये चैतन्यस्वरूप ब्रह्म ही हैं, ऐसा जो पुरुष जानता है, वह पुनः जन्मको प्राप्त नहीं होता, किन्तु विदेहमुक्तिको ही प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

दुष्टानां शिष्टानां च निग्रहानुग्रहार्थं धर्मसंस्थापनार्थं च विवस्वदादिभ्यो योगोपदेशाय च मायया संभावितानि यानि शरीराणि यानि तैः कृतानि कर्माणि तान्येतानि च सर्वाणि वस्तुतो ब्रह्ममात्रमेवेति यो जानाति स मुक्तिं गच्छतीत्याह—**जन्म कर्मेति**।

इतरानपेक्षया स्वात्मनि स्वयमेव स्वप्रकाशेन दिव्यति प्रकाशत इति दिव्यं निर्विशेषचिदेकरसं परं ब्रह्म। दिविति दिवुधातोः क्विबन्तं रूपम् , तस्मिन् दिवि परे ब्रह्मणि पूर्णानन्दैकघनेऽद्वितीये सर्वाधिष्ठाने प्रतीता या प्रकृतिर्यच्च प्राकृतं मे जन्म शरीरं यच्च तत्कृतं कर्म तदेतत्सर्वं तत्त्वतोऽध्यात्मदृष्ट्या परिशील्य दिव्यं दिवो ब्रह्मणः स्वरूपं दिव्यं चैतन्यं तन्मात्रमेवेत्येवं यो वेत्ति साक्षाद्विजानाति स सर्वस्य ब्रह्ममात्रत्वदर्शी विद्वानिमं विद्वद्देहं त्यक्त्वा पुनर्जन्म नैति न तु पुनर्जायते, किन्तु मामेति सच्चिदानन्दैकरसं मां ब्रह्मैव प्राप्नोति। विदेहमुक्तिं गच्छतीत्यर्थः ॥ ९ ॥

दुष्टोंका निग्रह और शिष्टोंका अनुग्रह करनेके लिए, धर्मके संस्थापनके लिए और सूर्य आदिको योगका उपदेश देनेके लिए मायासे उत्पन्न मेरे जितने शरीर और उनके द्वारा किये गये जितने कर्म हैं, वे सब वास्तवमें ब्रह्ममात्र ही हैं, ऐसा जो जानता है, वह मुक्तिको प्राप्त होता है, ऐसा कहते हैं—'जन्म कर्म' इत्यादिसे।

दूसरेकी अपेक्षाके विना जो अपनेमें आप ही अपने प्रकाशसे दीप्त होता है अर्थात् प्रकाशित होता है, वह दिव्य कहा जाता है अर्थात् निर्विशेष चेतनैकरस। यह दिव्-शब्द दिवुधातुसे क्विप् प्रत्यय होकर बना है, उस दिव्में—पूर्ण, आनन्दैकघन, अद्वितीय अपने अधिष्ठान परब्रह्ममें—प्रतीत होनेवाली जो प्रकृति है और जो प्राकृत मेरे जन्म, शरीर और उनके द्वारा किये गये कर्म हैं, उन सबको अध्यात्मदृष्टि द्वारा परिशीलन करके ये दिव्य हैं अर्थात् ब्रह्मका जो दिव्य चैतन्यस्वरूप है, तन्मात्र ही ये हैं, ऐसा जो जानता है—साक्षात् जानता है, वह सबको ब्रह्ममात्र देखनेवाला विद्वान् इस विद्वद्-देहका त्यागकर फिर जन्मको नहीं पाता, फिर जन्म नहीं लेता, किन्तु मुझको ही प्राप्त हो जाता है—सच्चिदानन्दैकरस मुझ परब्रह्मको ही प्राप्त हो जाता है—अर्थात् विदेहमुक्तिको प्राप्त हो जाता है, यह भाव है ॥ ९ ॥

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ १० ॥

राग, भय और क्रोधसे रहित एवं ज्ञानरूप तपश्चर्यासे पवित्र हुए वामदेव आदि अनेक मुमुक्षु सदा सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि करते हुए मेरे स्वरूपसे पूर्ण होकर विदेहमुक्तिको प्राप्त हो गये हैं ॥ १० ॥

सर्वं ब्रह्मैवेति सर्वस्य ब्रह्ममात्रत्वदर्शनयोगेन प्राञ्चो बहवो मुक्ता इति 'योगः प्रोक्तः पुरातनः' इति यदुक्तं योगस्य प्राक्तनत्वं तत् प्रतिपादयति—**वीतरागेति** ।

भोगेषूपकारिषु च राग आध्यात्मिकाद्युपद्रवेभ्यो भयं स्वस्याऽपकारिषु क्रोधः । क्रोध इत्यापस्तम्बेनोक्तानां भूतदाहीयानां दुर्गुणानामुपलक्षणम् । तीव्रमुमुक्षया सदसद्विवेकवैराग्याभ्यां वीता विशिष्य निर्गता रागभयक्रोधा येषां ते वीतरागभयक्रोधाः ज्ञानतपसा ज्ञानं ब्रह्मैवाऽहमिति साक्षाद् ब्रह्मण्येवाऽऽत्मत्ववेदनमप्रतिबद्धं यज्ज्ञानं तदेव तपः मुमुक्षोर्यतेः कर्तव्यम् , 'मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्येकाग्र्यं परमं तपः' इति स्मरणात् । तेन ज्ञानतपसा पूताः सम्यग्विनष्टानात्मस्वभावत्वेन शुद्ध आत्मा मनो येषां ते शुद्धात्मानो बहवो वामदेवादयो मुमुक्षवः स्वयं सर्वदा मामुपाश्रिताः मामपूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमद्वितीयं परं ब्रह्मैवोपाश्रिताः । उपाश्रयणं नाम सर्वं ब्रह्मैवेति बहिरन्तः सर्वत्र प्रत्यग्दृष्ट्या सदेकत्वदर्शनं तदेव कुर्वन्तः सन्तो मन्मया मदात्मना पूर्णा भूत्वा देहपातानन्तरं मद्भावं ब्रह्मात्मनाऽवस्थानलक्षणमागताः । विदेहमुक्तिं प्राप्ता इत्यर्थः ॥ १० ॥

सब ब्रह्म ही है, इस प्रकार सब पदार्थोंमें ब्रह्ममात्रत्वदर्शनरूप योगसे पहलेके अनेक सिद्ध मुक्त हो चुके हैं, यों 'मैंने पुरातन योग कहा' इत्यर्थक 'योगः प्रोक्तः पुरातनः' इत्यादि वाक्यसे जो योगकी पुरातनता कही, उसका प्रतिपादन करते हैं—'वीतराग०' इत्यादिसे ।

भोग और उपकारियोंमें राग, आध्यात्मिक आदि उपद्रवोंसे भय और अपने अपकारियोंके ऊपर क्रोध होता है। क्रोधशब्द आपस्तम्ब द्वारा कहे गये भूतोंको दग्ध करनेवाले दुर्गुणोंका उपलक्षण है । तीव्र मोक्षकी इच्छासे, सत् एवं असत्के विवेकसे और वैराग्यसे वीत गये हैं याने विशेषरूपसे निकल गये हैं, राग, भय और क्रोध जिनके वे वीतरागभयक्रोध कहलाते हैं और 'मनको और इन्द्रियोंको एकाग्र करना परम तप है', इत्यर्थक स्मृतिवाक्यसे मुमुक्षु यतिके लिए कर्तव्यरूपसे विहित 'ब्रह्म ही मैं हूँ', इस प्रकारके ब्रह्ममें ही अप्रतिबद्ध आत्मत्वको जाननारूप जो ज्ञान है, उस ज्ञानरूप तपसे पवित्र हुए और अनात्मस्वभावके नष्ट हो जानेके कारण जिनका आत्मा (मन) शुद्ध हो गया है, ऐसे शुद्धात्मा वामदेव आदि अनेक मुमुक्षु जो स्वयं सर्वदा मेरे आश्रित थे अर्थात् अपूर्व, अनपर, अनन्तर, अबाह्य, अद्वितीय मेरे (परब्रह्मके) उपाश्रित थे, वे मद्भावको प्राप्त हुए ('सब ब्रह्म ही है' इस प्रकार बाहर भीतर सर्वत्र प्रत्यग्दृष्टिसे सदा एकत्व-दर्शन करना उपाश्रयण है) । सारांश यह निकला कि इस प्रकार उपाश्रयण करते हुए वे वामदेव आदि

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्माऽनुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ ११ ॥

जो पुरुष जिस जिस फलकी अभिलाषा कर मेरे जिस जिस स्वरूपकी [ज्ञानयोगसे या कर्मयोगसे] उपासना करते हैं, मैं उनकी उपासनाके अनुसार उन्हें तत्-तत् फल देता हूँ । इसीलिए हे पार्थ, शास्त्रके तत्त्वको जाननेवाले या उनका अनुसरण करनेवाले ब्राह्मण आदि जितने मुमुक्षु हैं, वे सब मेरे सम्मत—श्रुति आदिसे विहित—कर्ममार्गका ही अनुसरण करते हैं ॥ ११ ॥

ननु सर्वे प्राणिनः सुधाब्धाविव त्वय्येवाऽद्वितीये परे ब्रह्मणि तिष्ठन्ति, त्वदावासस्य सर्वसमत्वे केभ्यश्चिदेव तत्र मुक्तिं प्रयच्छसि, न तु सर्वेभ्यः कस्तवाऽयं पक्षपात इत्याशङ्कायाम्, न; सुधाब्धिवासस्य सर्वसमत्वेऽपि निपीतसुधानामेवाऽमरत्वं न त्वितरेषां यथा, तथैव मय्यवस्थानस्य सर्वसमत्वेऽपि मामेकं परं भावं ये भजन्ति तेषामेव विमुक्तिर्न त्वपरं भावं भजतां कामिनामिति 'तं यथा यथोपासते तथैव भवति' इत्येतच्छ्रुत्यर्थमनुसृत्याऽऽह—**ये यथेति** ।

'द्वे रूपे वासुदेवस्य व्यक्तं चाऽव्यक्तमेव च । अव्यक्तं ब्रह्मणो रूपं व्यक्तमेतच्चराचरम् ॥' इति स्मरणादव्यक्तं निर्विशेषं परं ब्रह्म । व्यक्तं तु मायोपाधिकमपरं ब्रह्म सकार्यमेवं व्यवस्थितं मत्तत्त्वं शास्त्राचार्योपदेशसंस्कृतस्वस्वप्रज्ञानुरूपेण तत्तद्विज्ञाय परब्रह्मविदो वाऽप्यपरब्रह्मविदोऽपि वा तत्तत्फलार्थिनो ये जना मामेवं

मुमुक्षु मन्मय होकर (मेरे स्वरूपसे पूर्ण होकर) देहपातके पीछे ब्रह्मस्वरूपसे अवस्थानरूप मेरे भावको प्राप्त हुए अर्थात् विदेहमुक्तिको प्राप्त हुए, यह भाव है ॥ १० ॥

सब प्राणी अमृतके समुद्रके समान अद्वितीय परब्रह्मरूप आपमें ही स्थित हैं। आपमें रहना सभीके लिए समान होनेपर भी किन्हींको आप मुक्ति देते हैं, सबको नहीं देते, ऐसा पक्षपात आप क्यों करते हैं ? ऐसी आशङ्का होनेपर कहते हैं कि नहीं, यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि अमृतसमुद्रमें वास सबके लिए समान होनेपर भी जैसे उनमें से अमृतको पीनेवाले ही अमरभावको प्राप्त होते हैं, दूसरे नहीं होते, वैसे ही मुझमें सबकी समान स्थिति होनेपर भी जो मुझे भजते हैं, उन्हींकी मुक्ति होती है, अन्यभावको भजनेवाले कामियोंकी नहीं होती, यों 'उसकी जैसे जैसे उपासना करता है, वैसा ही होता है' इत्यर्थक श्रुतिके अनुसार भगवान् कहते हैं—'**ये यथा**' इत्यादिसे ।

'वासुदेवके दो रूप व्यक्त और अव्यक्त हैं । अव्यक्त ब्रह्मका रूप है और यह चराचर व्यक्त है ॥' इत्यर्थक स्मृतिसे निर्विशेष पर ब्रह्म अव्यक्त है और मायाकी उपाधिवाला कार्यसहित अपर ब्रह्म व्यक्त है । इस प्रकार व्यवस्थित मेरे तत्-तत् तत्त्वको शास्त्र और आचार्यके उपदेशसे संस्कृत हुई अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार जानकर जो लोग, चाहे वे परब्रह्मको जाननेवाले हों

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥ १२ ॥

इस लोकमें इन्द्र, अग्नि आदि देवोंकी तुष्टिके लिए याग करनेवाले या श्रौत आदि कर्मोंसे चित्तकी शुद्धि चाहनेवाले पुरुष मेरे सम्मत कर्ममार्गका अनुसरण करते हैं, क्योंकि कर्मभूमिरूप मनुष्यलोकमें कर्मानुष्ठानजन्य सिद्धि (चित्तशुद्धि आदि) अतिशीघ्र होती है ॥ १२ ॥

द्वेधाऽवस्थितं परमात्मानं यथा प्रपद्यन्ते ज्ञानयोगेन वा कर्मयोगेन वाऽप्यन्यथा वा येन प्रकारेणोपासते तत्तत्साधननिष्ठांस्तानुपासकान् तथैव यस्मिन् यस्मिन् तत्त्वे परिनिष्ठिता भवन्ति तत्तद्रूपेणैव प्रत्यक्षीभूय भजाम्यनुगृह्णामि । तत्तद्वस्तूपासनानुरूपफलेन योजयामीत्यर्थः । 'यादृशी भावना यत्र सिद्धिर्भवति तादृशी' इति नियमात् स्वस्वप्रज्ञाबलेन परिगृहीतवस्तूपासनानुरूपेणैव तेषां तेषां फलं सिध्यति, नाऽन्यथा । अतो मम न कश्चित्पक्षपात इति भावः । एवं ज्ञानकर्मयोगफलप्रदाने समभावेन मयि स्थिते सत्यपि शास्त्रार्थज्ञास्तदनुसारिणो ये मनुष्या ब्राह्मणादयो मुमुक्षवस्ते सर्वे ममेश्वरस्याऽभिमतं श्रुतिस्मृतिविहितं वर्त्म कर्ममार्गमेव अनुवर्तन्ते । यद्वा ममेश्वरस्य कृतेर्विषयभूतं कर्ममार्गमनुवर्तन्ते । विशिष्य कर्मैव कुर्वन्तीत्यर्थः ॥ ११ ॥

ननु मोक्षस्य सन्निकृष्टकारणं प्रकृष्टं सर्वश्रुतिप्रसिद्धं ज्ञानयोगमुत्सृज्य पण्डिता अपि किं कर्ममार्गमनुतिष्ठन्तीत्याशङ्कायाम्, न; ज्ञानयोगस्य चित्तशुद्ध्येकलभ्य-

---

अथवा तत्-तत् फलार्थी होकर अपरब्रह्मको जाननेवाले हों, दो प्रकारसे स्थित मुझ परमात्माको जिस प्रकार भजते हैं, ज्ञानयोगसे अथवा कर्मयोगसे अथवा अन्य जिस किसी प्रकारसे भजते हैं, तत्-तत् साधन निष्ठावाले उन उपासकोंको मैं वैसे ही—जिस-जिस तत्त्वमें वे परिनिष्ठित होते हैं, तत्-तत् रूपसे प्रत्यक्ष होकर उन्हें भजता हूँ—उनके ऊपर अनुग्रह करता हूँ। तत्-तत् उपासनाके अनुसार फल देता हूँ, यह अर्थ है। 'जहाँ जैसी भावना होती है वैसी सिद्धि होती है' इस नियमसे अपनी-अपनी बुद्धिके बलसे गृहीत वस्तुकी उपासनाके अनुसार ही उन उनको फलकी सिद्धि होती है, अन्यथा नहीं। इसलिए मेरा कोई पक्षपात नहीं है, यह भाव है। इस प्रकार ज्ञानयोग और कर्मयोगके फल देनेमें समानभावसे मेरे स्थित होनेपर भी शास्त्रके अर्थको जाननेवाले और शास्त्रके अनुसार चलनेवाले जो मनुष्य ब्राह्मण आदि मुमुक्षु हैं, वे सब मुझ ईश्वरके अभिमत श्रुति-स्मृतिमें विहित मार्गका (कर्ममार्गका) अनुवर्तन करते हैं अथवा मुझ ईश्वर द्वारा किये गये कर्ममार्गका ही अनुवर्तन करते हैं। विशेषरूपसे कर्म ही करते हैं, यह भाव है ॥ ११ ॥

मोक्षके प्रति सन्निकृष्ट अर्थात् सब श्रुतियोंमें प्रसिद्ध प्रकृष्ट अन्तरङ्ग साधन ज्ञानयोगको छोड़कर पण्डित लोग भी कर्मयोगका अनुष्ठान क्यों करते हैं ? ऐसी यदि आशङ्का हो, तो वह युक्त नहीं है,

त्वात्तदसिद्धौ सर्वकर्म संन्यस्य ज्ञानयोगे प्रवृत्तस्य ज्ञाननिष्ठासंभवात्तदसिद्धौ मोक्षासिद्धेस्तेन ज्ञानकर्मफलयोरुभयोरपि भ्रंशः स्यात्ततो मोक्षस्याऽदिमं परं कारणं चित्तशुद्धिरेव कर्मभिः संपादनीयेति विचक्षणाः कर्मैव कुर्वन्तीत्याशयेनाऽऽह—

काङ्क्षन्त इति ।

इहाऽस्मिन् लोके देवता इन्द्राग्न्यादिदेवान् तत्प्रसादसिद्धये यजन्त आज्यादिहविषाऽऽराधयन्तः पण्डिताः कर्मणां श्रद्धाभक्तिभ्यां नियमेनाऽनुष्ठितानां श्रौतादीनामनुष्ठानेन [पूर्वैः ?] लब्धां सिद्धिं सत्त्वशुद्धिलक्षणां काङ्क्षन्तो मम वर्त्माऽनुवर्तन्त इति पूर्वेणाऽन्वयः । ननु हठादियोगैरपि धीशुद्धिः संपादयितुं शक्यते किं कर्मणेत्याशङ्कायाम्, न; तेषामवैदिकत्वाद् ब्राह्मणस्याऽविहितत्वाच्च कर्तुमयोग्यत्वात्कृतैरपि तैश्चित्तशुद्धेर्बहुकालभाव्यत्वाच्चाऽवश्यं ब्राह्मणस्य मुमुक्षोः कर्मणैव भवितव्यमित्याशयेनाऽऽह—

क्षिप्रमिति । हि यस्मात्कारणान्मानुषे लोके कर्मभूमौ कर्मजा वैदिककर्मानुष्ठानसंपन्ना सिद्धिश्चित्तशुद्धिलक्षणा क्षिप्रं शीघ्रमेव भवति । यज्ञैराराधितानां देवानां प्रसादाच्छीघ्रमेव मनः प्रसीदतीत्यर्थः । मानुषे लोके सिद्धिरित्युक्तिर्मनुष्यलोक एव चातुर्वर्ण्यं चातुराश्रम्यं कर्मविधिश्च नाऽस्त्यन्यत्र लोक इति सूचितं भवति ॥ १२ ॥

क्योंकि चित्तकी शुद्धि होनेपर ही ज्ञानयोगकी सिद्धि होती है, चित्तकी शुद्धि न होनेपर जो कोई सब कर्मोंका संन्यास करके ज्ञानयोगमें प्रवृत्त होता है, उसको ज्ञाननिष्ठा नहीं होती, उसके सिद्ध न होनेपर मोक्षकी सिद्धि नहीं होती, ऐसा होनेसे ज्ञान और कर्म दोनोंके फलका भ्रंश (विनाश) होता है, इसलिए मोक्षकी आदि कारण चित्तकी शुद्धिका कर्मोंसे ही सम्पादन करना योग्य है, इसलिए विचक्षण पुरुष कर्मानुष्ठान ही करते हैं, इस आशयसे कहते हैं—'**काङ्क्षन्तः**' इत्यादिसे ।

इस लोकमें इन्द्र, अग्नि आदि देवताओंका, उनकी प्रसन्नताके लिए आज्य आदि हविष्से, आराधन करनेवाले पण्डित लोग श्रद्धा-भक्तिपूर्वक नियमसे अनुष्ठित श्रौत आदि कर्मोंका फल चित्तकी शुद्धि चाहते हुए मेरे मार्गका अनुवर्तन करते हैं; यों पूर्व श्लोकसे सम्बन्ध है। यदि शङ्का हो कि हठयोग आदिसे भी तो बुद्धिकी शुद्धि की जा सकती है, फिर कर्मानुष्ठानसे क्या प्रयोजन है ? अर्थात् कर्मोंके अनुष्ठानकी क्या आवश्यकता है ? तो यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि हठयोग आदि वैदिक नहीं हैं, अतः ब्राह्मणोंके लिए विधान न होनेसे उनका अनुष्ठान ही अशक्य है और करनेपर भी उनसे चित्तकी शुद्धि बहुत कालमें होती है, इसलिए मुमुक्षु ब्राह्मणको कर्मानुष्ठान ही करना चाहिए, इस आशयसे कहते हैं—'**क्षिप्रम्**' इत्यादि । जिस कारणसे मनुष्यलोकमें—कर्मभूमिमें—कर्मसे उत्पन्न होनेवाली (वैदिक कर्मोंके अनुष्ठानसे प्राप्त होनेवाली) चित्तकी शुद्धिरूपा सिद्धि क्षिप्र—शीघ्र—ही होती है अर्थात् यज्ञ द्वारा आराधित देवताओंके प्रसादसे शीघ्र ही मन शुद्ध हो जाता है, यह भाव है, इसलिए कर्मानुष्ठान ही करना चाहिए। 'मनुष्यलोके सिद्धिः' (मनुष्यलोकमें सिद्धि) ऐसा कहनेसे यह सूचित

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥ १३ ॥

सृष्टिके आदिमें सत्त्व आदि गुणोंका और शम आदि कर्मोंका विभाग कर मैंने चार वर्ण और चार आश्रमोंका निर्माण किया है, यद्यपि मायासे मैं उनका कर्ता हूँ, तथापि तत्त्वदृष्टिसे अविनाशी-स्वरूप मुझे अकर्ता ही जानो ॥ १३ ॥

'मम वर्त्माऽनुवर्तन्ते' इत्यत्र मत्कृतेर्विषयभूतं कर्ममार्गमनुवर्तन्त इति यदुक्तं तद्विस्पष्टयति—**चातुर्वर्ण्यमिति** ।

गुणकर्मविभागशः गुणानां सत्त्वादीनां कर्मणां शमादीनां च विभागेन रज-उपसर्जनसत्त्वप्रधानस्य ब्राह्मणस्य शमदमादयः कर्माणि, सत्त्वोपसर्जनरजःप्रधानस्य क्षत्रियस्य शौर्यतेजोधृत्यादयः कर्माणि, तमउपसर्जनरजःप्रधानस्य वैश्यस्य कृष्यादीनि कर्माणि, रजउपसर्जनतमःप्रधानस्य शूद्रस्य परिचर्यात्मकं कर्म, एवं गुणकर्मविभागशश्चातुर्वर्ण्यं चत्वारो वर्णा एव चातुर्वर्ण्यं चातुराश्रम्यं च सर्गादौ मया सृष्टम् । अत एव 'मम वर्त्माऽनुवर्न्ते मनुष्याः' इति यदुक्तं तत्सिद्धम् । 'यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते' इति श्रवणात्तवाऽपि तर्हि चातुर्वर्ण्यसृष्टिकर्मकर्तुस्तत्फलेन जन्मादिना संबन्धसंभवान्न नित्यत्वेश्वरत्वादि सिध्यतीत्याशङ्कायाम् , न; 'विकल्पो

होता है कि मनुष्यलोकमें ही चार वर्ण, चार आश्रम और कर्मोंकी विधि है, दूसरे किसी लोकमें नहीं है ॥ १२ ॥

'मेरे मार्गका अनुवर्तन करते हैं' इत्यर्थक 'मम वर्त्माऽनुवर्तन्ते' इत्यादि श्लोकमें मेरी कृतिके विषयभूत कर्ममार्गका अनुवर्तन करते हैं, यह जो कहा गया है, उसीको विशेषरूपसे स्पष्ट करते हैं—'चातुर्वर्ण्यम्' इत्यादिसे ।

गुण और कर्मके विभागसे—सत्त्व आदि गुणोंके और शम आदि कर्मोंके विभागसे—अर्थात् जिसमें रज गौण है और सत्त्व प्रधान है, ऐसे ब्राह्मणके शम आदि कर्म हैं, जिसमें सत्त्व गौण है और रज प्रधान है, ऐसे क्षत्रियके शौर्य, तेज, धैर्य आदि कर्म हैं, जिसमें तम गौण और रज प्रधान है, ऐसे वैश्यके कृषि आदि कर्म हैं एवं जिसमें रज गौण और तम प्रधान है, ऐसे शूद्रके परिचर्यारूप कर्म हैं, इस प्रकार गुण और कर्मके विभागसे सर्गके आदिमें चातुर्वर्ण्य (चार वर्णोंको ही चातुर्वर्ण्य कहते हैं) और चार आश्रमोंको मैंने उत्पन्न किया । इसीलिए 'मनुष्य मेरे मार्गका अनुवर्तन करते हैं' यह जो कहा था, वह सिद्ध हुआ । 'जिस प्रकारके निश्चयसे युक्त होता है, उसी कर्मको करता है, जिस कर्मको करता है, उसके फलको प्राप्त होता है' इत्यर्थक श्रुति होनेके कारण चातुर्वर्ण्यसृष्टिरूप कर्म करनेवाले आपका भी तो उस कर्मके फलभूत जन्म आदिसे संबन्ध है, इससे आपमें नित्यत्व और ईश्वरत्व सिद्ध नहीं होता, ऐसी शङ्का होनेपर कहते हैं कि

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥ १४ ॥

न मेरी कर्मोंमें या कर्मजनित फलोंमें किसी प्रकारकी स्पृहा है और न मुझे ये कर्म स्पर्श ही करते हैं, इस प्रकार मेरे स्वरूपको जो जानता है, वह कर्मोंसे बद्ध नहीं होता ॥ १४ ॥

नहि वस्तु' 'मायामात्रमिदं द्वैतम्' इति श्रवणात् स्रष्टृस्रष्टव्यादेर्मायिकत्वेन मिथ्यात्वान्निष्कलस्य निष्क्रियस्याऽविक्रियस्य मम सर्जनादिक्रियायोगाद्वस्तुतो मामकर्तारमेव विजानीहीत्याह—**तस्येति** । तस्य चातुर्वर्ण्यस्य प्रपञ्चस्य च मायया कर्तारमपि मायामोहितचित्तानां कर्तृत्वेन प्रतीयमानं मां परमात्मानमकर्तारं निर्गुणत्वाद्वस्तुतः कर्तृत्वादिधर्मशून्यमेव विद्धि । तदभावे कर्मासंभूतौ तत्फलजन्माद्यसंभवादव्ययं नाशरहितं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावमेव विजानीहीत्यर्थः ॥ १३ ॥

परस्य ब्रह्मणो ममोपाधिद्वयं माया तत्कार्यं च स्वस्य कूटस्थासङ्गचिद्रूपत्वेन मायातत्कार्यसम्बन्धासंभवान्मायाकर्तृकैर्जगत्सृष्ट्यादिकर्मभिः श्लेषो यथा नाऽस्ति, तथा प्रत्यग्रूपस्य ममाऽसङ्गत्वेन देहेन्द्रियादिकृतकर्मभिरपि श्लेषो नाऽस्ति । एवं कर्तृत्वभोक्तृत्वादिधर्मशून्यं मां परमात्मानं श्रवणमननादिसंजातविज्ञानबलेन यः स्वात्मत्वेन विज्ञाय कर्मणि प्रवर्तते स कर्मभिर्न बध्यत इत्याह—**न मामिति** ।

नहीं, यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि विकल्प वस्तु नहीं है', 'यह द्वैत मायामात्र है' इत्यर्थक श्रुतिके अनुसार मायिक होनेसे स्रष्टा, स्रष्टव्य आदि सब मिथ्या हैं, इसलिए मुझ निष्कल, निष्क्रिय और अविकारीका सर्जन आदि क्रियासे संबन्ध नहीं है, अतः वस्तुरूपसे मुझे अकर्ता ही जानो, ऐसा कहते हैं—**'तस्य'** इत्यादिसे । यद्यपि इस चातुर्वर्ण्य प्रपञ्चका मैं मायासे मोहित चित्तवालोंको कर्तारूपसे प्रतीत होता हूँ, तो भी मुझ परमात्माको तुम अकर्ता ही जानो, क्योंकि मैं निर्गुण हूँ, अतः वस्तुतः कर्ता आदि धर्मोंसे रहित ही हूँ । कर्ता न होनेके कारण मेरा कर्म नहीं होता, कर्म न होनेसे कर्मके फलभूत जन्म आदिका मुझमें असम्भव है, अतः मुझको अव्यय (नाशरहित) अर्थात् नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव ही जानो, ऐसा भाव है ॥ १३ ॥

मुझ परब्रह्मकी दो उपाधियाँ हैं माया और मायाका कार्य यों । मैं स्वयं कूटस्थ असङ्ग चिद्रूप है, इसलिए माया और मायाके कार्यसे मेरा सम्बन्ध न होनेके कारण माया द्वारा किये गये जगत्‌की सृष्टि आदि कर्मोंसे जैसे मेरा सम्बन्ध नहीं है, वैसे ही असङ्ग होनेके कारण मुझ प्रत्यक् रूपका देह, इन्द्रिय आदि द्वारा किये गये कर्मोंके साथ भी सम्बन्ध नहीं है, इस प्रकार कर्तापन, भोक्तापन आदि धर्मोंसे रहित मुझ परमात्माको श्रवण, मनन आदिसे उत्पन्न विज्ञानके बलसे जो कोई अपने आत्मरूपसे जानकर कर्मोंमें प्रवृत्त होता है—कर्म करता है, वह कर्मोंसे लिप्त नहीं होता, ऐसा कहते हैं—**'न माम्'** इत्यादिसे ।

कूटस्थासङ्गचिद्रूपत्वेन बुद्ध्यादिसम्बन्धशून्यस्य मे प्रत्यगात्मनः कर्मफले कर्मसु तज्जन्यफलेषु च न स्पृहाऽस्ति स्पृहाया बुद्धिधर्मत्वाद् बुद्ध्यादिसाक्षिणोऽविकारिणो मम तद्धर्मायोगान्न कर्मफलेच्छा संभवति । अतएव 'न मां कर्माणि लिम्पन्ति', 'स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते' इति कामिन एव कर्मसङ्कल्पतदारम्भश्रवणात्कर्मफलेच्छुनैव विज्ञानात्मना कर्माणि क्रियन्ते न त्वकामिना अक्रियेण मया । अतो न बुद्ध्यादिभिः कृतानि कर्माणि मामकर्तारं कर्मतत्कर्तृसाक्षिणं लिम्पन्ति स्पृशन्ति । येन यत्कर्म क्रियते फलेच्छुना स तेन कर्मणा लिप्यते तैलवन्नाऽन्यस्ततो बुद्ध्यादेः कर्मकर्तुरन्यस्य बुद्ध्यादिकृतकर्माणि लेपाय न भवन्ति इत्येवं कर्मफलेच्छारहितं कर्मणामकर्तारमभोक्तारं चाऽऽकाशवत्सर्वगतमसङ्गमविक्रियं बुद्धितद्धर्मतत्कर्मतदवस्थासाक्षिणं मां परमात्मानं स्वतत्त्वं योऽभिजानाति सम्यगाभिमुख्येन अयमेवाऽहमस्मीति साक्षात्स्वात्मना यो वेत्ति स विद्वानाधिकारिको लोकसंग्रहार्थं कृतैः कर्मभिर्न बध्यते । कृतानि कर्माण्यमुष्य देहारम्भकाणि न भवन्तीत्यर्थः ॥ १४ ॥

विदुष उपाधिकृतानां कर्मणामबन्धकत्वज्ञानमेव परार्थप्रवृत्तौ बलवत्साधनमिति सूचयित्वा प्राज्ञोऽप्यबन्धकत्वज्ञानेनैव परार्थं प्रवृत्ता इति शिष्टाचारं प्रमाणयन्

कूटस्थ, असंग और चिद्रूप होनेके कारण बुद्धि आदिके सम्बन्धसे रहित मुझ परमात्माकी कर्मफलोंमें यानी कर्मोंमें और उनसे उत्पन्न होनेवाले फलोंमें स्पृहा नहीं है । स्पृहा बुद्धिका धर्म है, इसलिए बुद्धि आदिके साक्षी, अविकारी मेरा उनके धर्मोंसे सम्बन्ध नहीं है, इसलिए उन कर्मोंके फलकी इच्छाका भी सम्भव नहीं है । इसीलिए 'कर्म मुझे नहीं लगते', 'वह जैसी इच्छासे युक्त होता है, वैसा निश्चयवाला होता है, जैसे निश्चयवाला होता है, वैसा कर्म करता है' इस प्रकार कामनावालेका ही कर्मका सङ्कल्प और कर्मका आरम्भ सुननेमें आता है, इसलिए कर्मके फलकी इच्छासे ही जीवात्मा द्वारा कर्म किये जाते हैं, मुझ अकामी और क्रियारहित द्वारा नहीं किये जाते । इसलिए बुद्धि आदि द्वारा किये गये कर्म मुझ कर्म और कर्मके कर्ताके साक्षी अकर्ताको नहीं लगते—नहीं छूते । जिसके द्वारा जिस कर्मफलकी इच्छासे कर्म किया जाता है, वह तेलके समान, उस कर्मसे लिप्त होता है दूसरा नहीं होता, इसलिए कर्मोंके कर्ता बुद्धि आदिसे अन्यको बुद्धि आदि द्वारा किये गये कर्म लिप्त नहीं होते, ऐसा होनेसे कर्मफलकी इच्छासे रहित, कर्मके अकर्ता, अभोक्ता आकाशके समान सर्वव्यापक, असंग, अविक्रिय एवं बुद्धि, बुद्धिके धर्म, बुद्धिके कर्म, बुद्धिकी अवस्थाओंके साक्षी मुझ परमात्माको जो अपना तत्त्व (स्वरूप) मानता है, भलीभाँति सब प्रकारसे 'यही मैं हूँ' ऐसा साक्षात् अपने आत्मरूपसे जो जानता है, वह विद्वान् अधिकारी लोकसंग्रहके लिए किये गये कर्मोंसे लिप्त नहीं होता । इसके द्वारा किये गये कर्म देहको आरम्भ करनेवाले नहीं होते, यह अर्थ है ॥ १४ ॥

उपाधि द्वारा किये गये कर्म बन्धन करनेवाले नहीं होते, यह ज्ञान ही विद्वान्‌की परार्थ प्रवृत्तिमें बलवान् साधन है, ऐसा सूचन करके पूर्वके विद्वान् भी अबन्धकत्वज्ञानसे ही परार्थमें प्रवृत्त

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ १५ ॥
किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १६ ॥

आत्मा देह, इन्द्रिय आदिसे भिन्न है एवं देह आदि द्वारा किये गये कर्मोंसे बद्ध नहीं होता, ऐसा जानकर ही पहलेके जनक आदि बड़े-बड़े मुमुक्षुओंने लोगोंके कल्याणके लिए कर्म किये थे, इसलिए तुम भी उन ज्ञानवृद्धों महापुरुषों द्वारा अनुष्ठित अनादिकालसे प्रवृत्त कर्मोंको करो ॥ १५ ॥

कर्म और अकर्मके तत्त्वका निर्णय करनेमें बड़े-बड़े विद्वान् भी समर्थ नहीं हुए, इसलिए उन कर्म और अकर्मके स्वरूपका तुम्हें उपदेश दूंगा, उनके स्वरूपको जानकर तुम इस दुःखरूप संसारसे मुक्त हो जाओगे ॥ १६ ॥

त्वयाऽप्येवमेव प्रवर्तितव्यमित्याह—**एवमिति** ।

एवं ज्ञात्वा अहं बुद्ध्यादिसाक्षी प्रत्यगेवाऽस्मि देहेन्द्रियादिभ्यो भिन्नः सन् देहेन्द्रियकृतैः कर्मभिर्न बद्ध इत्यात्मनो देहेन्द्रियादिभ्यो भिन्नत्वं देहादिकृतकर्मणामबन्धकत्वं चैवमुक्तरीत्या विज्ञाय मुमुक्षुभिर्मुक्तैर्मुमोचयिषुभिरितीदं गर्भितणिजन्तं रूपम् । अविद्याबन्धेभ्यो मोचयितुमिच्छद्भिर्मुमुक्षुभिः पूर्वैरपि जनकादिभिर्लोकहितार्थं कर्म कृतं भवति यस्मात , तस्मात्त्वं पूर्वैः कृतं ज्ञानवृद्धैः सद्भिरनुष्ठितं पूर्वतरमनादिकालप्रवृत्तं कर्मैव लोकहितार्थं कुरु, न तु संन्यासमित्यर्थः ॥ १५ ॥

ननु कर्मणां बन्धकत्वमेव सिध्यति, 'कर्मणा बध्यते जन्तुः' इति कर्मणां बन्ध-

---

हुए, यों शिष्टाचारको प्रमाण मानकर तुम्हें भी वैसा ही करना चाहिए, ऐसा कहते हैं—'**एवम्**' इत्यादिसे ।

ऐसा जानकर—मैं बुद्धि आदिका साक्षी प्रत्यक्-स्वरूप ही हूँ और देह, इन्द्रिय आदिसे भिन्न होनेके कारण देह, इन्द्रियों द्वारा किये गये कर्मोंसे मैं बद्ध नहीं होता, इस प्रकार आत्मा देह, इन्द्रियोंसे भिन्न है और देह आदि द्वारा किये गये कर्म आत्माके बन्धक नहीं होते, ऐसा उक्त रीतिसे जानकर—मुमुक्षुओंने ('मुमुक्षुभिः' यह शब्द गर्भितणिजन्तका रूप है) अर्थात् अविद्यारूप बन्धनोंसे छुड़ानेकी इच्छावाले पूर्वके जनक आदि मुमुक्षुओंने लोकके हितके लिए कर्म किये थे, इसलिए पूर्वके लोगों द्वारा किये गये अर्थात् ज्ञानवृद्ध सत्पुरुषों द्वारा अनुष्ठित अनादिकालसे प्रवृत्त कर्मोंको ही लोकके हितके लिए तुम करो, उनका त्याग मत करो, ऐसा अर्थ है ॥ १५ ॥

यदि शङ्का हो कि कर्मोंमें बन्धकत्व ही सिद्ध होता है, क्योंकि 'कर्मसे जन्तु बँधता है',

कत्वस्मरणात् इति चेत्, न; तत्स्मृतेरविद्वत्कर्तृककर्मविषयत्वात्। 'तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेन' इति विदुषः कर्मालेपश्रवणात्, कर्माकर्मणोस्तत्त्वं सम्यग् ज्ञात्वा विदुषा क्रियमाणं कर्माऽकर्मैव तत् न बन्धाय भवति। अविदुषा कृतमकर्मैव कर्म तदेव बन्धाय भवति। तर्हि कर्माकर्मणोर्लक्षणं किमित्याकाङ्क्षायामाह—**किं कर्मेति**।

श्रुतिस्मृतिभ्यां यद्विहितं तत्कर्म यदविहितं तदकर्मेति केचित् पण्डिता जगुः। वैदिकं श्रौतं स्मार्तं च यत् तत्सर्वं कर्म, तत्संन्यासोऽकर्मेत्यपरे। चलनात्मकं कर्म त्वचलनं तूष्णीमासनमकर्मेत्यन्ये। केचित्तु किं कर्म किमकर्मेति—किं वा कर्मशब्दवाच्यमकर्मशब्दवाच्यं वा किमिति—कवयः सर्वशास्त्रज्ञा अप्यत्र कर्माकर्मतत्त्वनिर्णये मोहिता मूढभावं गताः। तत्तत्त्वं निर्णेतुमसमर्था जाता इत्यर्थः। यत एवं ततः कर्माकर्मस्वरूपमजानते ते तुभ्यं कर्म चाऽकर्म च प्रवक्ष्यामि तयोर्लक्षणमुपदेक्ष्यामि। यज्ज्ञात्वा ययोस्तत्त्वं विज्ञाय अशुभात्संसारान्मोक्ष्यसे। कर्माकर्मणोस्तत्त्वं सम्यक् ज्ञात्वा मुक्तो भविष्यसीत्यर्थः॥ १६॥

ननु कर्माकर्मणोरुभयोस्तत्त्वमारुरुक्षोर्ज्ञातव्यं वा किमारूढस्यैवेत्याकाङ्क्षायाम्

इत्यर्थक स्मृति कर्मोको बन्धक कहती है, तो यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि उक्त स्मृति अविद्वान् द्वारा किये गये कर्मोंको ही बन्धक बतलाती है। 'उसको जानकर पाप-कर्मसे लिप्त नहीं होता' इत्यर्थक 'तं विदित्वा' इत्यादि श्रुति विद्वान्‌को कर्मका लेप नहीं होता, ऐसा बतलाती है। कर्म और अकर्म दोनोंके तत्त्वको ठीक-ठीक जानकर विद्वान् द्वारा किया गया कर्म अकर्म ही होता है, उससे बन्धन नहीं होता, अविद्वान् द्वारा किया गया अकर्म ही कर्म कहलाता है और उसीसे बन्धन होता है। ऐसी व्यवस्था होनेपर कर्म और अकर्मका लक्षण क्या है? ऐसी यदि आकांक्षा हो, तो उसपर कहते हैं—'किं कर्म' इत्यादिसे।

श्रुति और स्मृतिसे जो विहित है, वह कर्म कहलाता है और उनसे जो विहित नहीं है, वह अकर्म कहलाता है, ऐसा कुछ पण्डित लोग कहते हैं। वैदिक याने श्रौत और स्मार्तरूप जो कुछ है, वह सब कर्म है और उसका संन्यास अकर्म है, ऐसा दूसरे कहते हैं। क्रिया ही कर्म है और क्रियारहित होकर चुपचाप बैठना ही अकर्म है, ऐसा कुछ और लोग कहते हैं। कौन कर्म है और कौन अकर्म है? अर्थात् कर्मशब्दका वाच्य क्या है और अकर्मशब्दका वाच्य क्या है? यों कुछ शास्त्रज्ञ कवि भी कर्म और अकर्मके तत्त्वका निर्णय करनेमें मोहित हुए हैं—मूढ़भावको प्राप्त हुए हैं अर्थात् उनके तत्त्वको जाननेमें असमर्थ हो गये हैं। यतः ऐसा है, इसलिए कर्म और अकर्मके स्वरूपको न जाननेवाले तुम्हारे प्रति कर्म और अकर्मके तत्त्वको मैं कहूँगा अर्थात् उन दोनोंके लक्षणका तुम्हें उपदेश दूँगा। जिससे उन दोनोंके तत्त्वको जानकर तुम अशुभसे (संसारसे) मुक्त हो जाओगे। कर्म और अकर्मके तत्त्वको ठीक-ठीक जानकर तुम मुक्त हो जाओगे, यह भाव है॥ १६॥

कर्म और अकर्म दोनोंके तत्त्वका परिज्ञान आरुरुक्षुने करना चाहिए या आरूढ़ने करना

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ १७ ॥

मुक्ति चाहनेवाले पुरुषको कर्म, विकर्म (निन्दित कर्म) और अकर्मके तत्त्वका परिज्ञान अवश्य करना चाहिए, क्योंकि उन तीनोंकी गति याने उनके कर्तव्यत्वका परिज्ञान विद्वानोंके लिए भी दुर्ज्ञेय है ॥ १७ ॥

आरुरुक्षोः कर्माकर्मविकर्मणामेव तत्त्वं सम्यक् ज्ञातव्यं तद्बोधस्यैव तस्य दुरवगाहत्वाचान्येव बोद्धव्यानि प्रयत्नेनाऽस्याऽत्रैवाऽधिकारो नाऽन्यत्रेत्याशयेनाऽऽह—**कर्मण इति।**

मुमुक्षोरारोढुमिच्छतः कर्मणो वर्णाश्रमादेरनुष्ठेयस्य बोद्धव्यमस्ति । ज्ञाते सति हि कर्मस्वरूपे यथाशास्त्रं कर्म कर्तुं शक्यते नाऽज्ञाते । शास्त्राणामनेकत्वाच्छास्त्रप्रवर्तकानां बहुविधत्वाच्च देशकालयुगाधिकारिवर्णाश्रमवयोवस्थादिभेदेन सङ्कोचव्याकोचाभ्यां कर्मविधेरनेकरूपत्वाच्च कर्तव्यस्य कर्मणस्तत्त्वं सम्यग्बोद्धव्यमित्यर्थः । विकर्मणोऽनन्तसम्बन्धवता विधिना विहितविपरीततया विधीयमानत्वाद्विकर्म प्रतिषिद्धं निन्दितं कर्म तस्य विकर्मणोऽपि बोद्धव्यमस्ति । ज्ञाते हि निषिद्धांशे यन्निषिद्धं तत्परिहर्तुं शक्यते । ततो निरुक्तदेशकालादिभेदेन निषिद्धस्याऽपि बहुविधत्वाद् बोद्धव्यमस्तीत्यर्थः । तथैवाऽकर्मणोऽपि न कर्माऽकर्म कर्माभावः यस्मात्कर्म न सम्भवति तदकर्मेति वा कर्मसंन्यासस्तस्याऽपि बोद्धव्यमस्ति । काम्यकर्मत्यागो

चाहिए ? ऐसी आकांक्षा होनेपर आरुरुक्षुने ही कर्म, अकर्म और विकर्मके तत्त्वका ठीक-ठीक परिज्ञान करना चाहिए, क्योंकि उसके लिए उसका समझना कठिन है, इसलिए उनके तत्त्वका प्रयत्नपूर्वक परिज्ञान करनेमें ही आरुरुक्षुका अधिकार है, अन्यत्र नहीं, इस आशयसे कहते हैं—'**कर्मणो**' इत्यादिसे ।

आरूढ़ होनेकी इच्छावाले मुमुक्षुको वर्ण और आश्रम आदिके अनुष्ठानयोग्य कर्मका परिज्ञान करना चाहिए। कर्मके स्वरूपको जानकर ही शास्त्रानुसार कर्म किया जा सकता है, जाने बिना नहीं किया जा सकता, क्योंकि शास्त्र अनेक हैं और शास्त्रोंके प्रवर्तक भी अनेक प्रकारके हैं, इसलिए देश, काल, युग, अधिकारी, वर्ण, आश्रम, वय, अवस्था आदिके भेदसे, संक्षेप और विस्तारसे कर्मविधिका अनेक प्रकारसे निरूपण होनेके कारण कर्तव्य कर्मके तत्त्वका ठीक-ठीक परिज्ञान करना चाहिए, यह भाव है। विधि अनेक संबन्धोंसे युक्त होती है, अतः उसके द्वारा विहितविपरीतरूप सम्बन्धसे विधान किया गया कर्म विकर्म कहलाता है अर्थात् प्रतिषिद्ध—निन्दित—कर्म । उस विकर्मको भी जानना चाहिए। निषिद्ध अंशके जाननेपर ही उस निषिद्धका त्याग किया जा सकता है, पूर्वोक्त देश, काल आदिके भेदसे निषिद्ध कर्म भी बहुविध हैं, अतः उनको अवश्य जानना चाहिए, यह भाव है । इसी प्रकार अकर्मको भी जानना चाहिए अर्थात् कर्मका अभाव अकर्म कहलाता है या जिससे कर्मका सम्भव न हो, वह अकर्म कहलाता है याने कर्मका संन्यास, उसको भी जानना चाहिए।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ १८ ॥

लौकिक और वैदिक व्यापाररूप सम्पूर्ण चेष्टाओंमें जो कर्मके अभावको देखता है और जो देह, इन्द्रिय आदि व्यापारके उपरामरूप अकर्ममें कर्मको देखता है, वही सम्पूर्ण मनुष्योंमें बुद्धिमान्, योगी एवं समस्त श्रौत और स्मार्त कर्मोंका अनुष्ठान करनेवाला है ॥ १८ ॥

निषिद्धत्यागः कर्मफलत्यागः सर्वकर्मपरित्यागः कर्ममात्रपरित्याग इत्यादिभेदेन संन्यासोऽपि बहुधा भिद्यते ततस्तस्याऽपि बोद्धव्यमस्तीत्यर्थः । हि यस्मात्कारणात्कर्मणः । कर्मण इति विकर्माकर्मणोरप्युपलक्षणम् । कर्माकर्मविकर्मणां त्रयाणामपि गतिरेवं कर्तव्यमिति कर्तव्यतानिश्चितिर्गहना विदुषामपि दुर्ज्ञेया भवत्यत आरुरुक्षोः कर्माकर्मविकर्मणां स्वरूपं शास्त्रत आचार्यतश्च सलक्षणं सरहस्यं च सम्यक् ज्ञातव्यमित्यर्थः ॥१७॥

नैवेतान्यारूढस्य तु बोद्धव्यानि किन्तु आरुरुक्षोः कर्माकर्मणोरेव तत्त्वं बोद्धव्यमशुभमोक्षायेति पूर्वं वक्ष्यामीति यत्प्रतिज्ञातं तदिदानीमुपदिशति—**कर्मणीति** ।

क्रियते देहेन्द्रियैरेव निर्वर्त्यत इति कर्म लौकिको वैदिकश्च सर्वोऽपि व्यापारस्तस्मिन् कर्मणि चेष्टामात्रे औपाधिके आत्मयाथात्म्यज्ञो विद्वान् अकर्म कर्माभावं यः पश्येत् । तथैवाऽकर्मणि देहेन्द्रियव्यापारोपरमलक्षणे तूष्णीमवस्थायां कर्म क्रियामेव यः पश्येत् ।

क्योंकि काम्य कर्मका त्याग, निषिद्ध कर्मका त्याग, कर्मके फलका त्याग, सब कर्मोंका परित्याग, कर्ममात्रका परित्याग इत्यादि भेदसे संन्यास भी बहुत प्रकारका है, इसलिए उसको भी जानना चाहिए, यह तात्पर्य है। यहाँ कर्मशब्द विकर्म और अकर्मका उपलक्षण है। जिस कारणसे कर्मकी—कर्म, अकर्म और विकर्म तीनोंकी—भी गति गहन है अर्थात् इसे यों करना चाहिए, इस प्रकार कर्तव्यताका निर्णय गहन है, विद्वानोंके लिए भी दुर्ज्ञेय है, इसलिए आरुरुक्षुको कर्म, अकर्म और विकर्मका स्वरूप शास्त्रसे और आचार्यके द्वारा लक्षण और रहस्यके साथ ठीक-ठीक जानना चाहिए, यह भाव है ॥ १८ ॥

इन कर्म, विकर्म आदिका तत्त्व आरूढको नहीं जानना चाहिए, किन्तु आरुरुक्षुको ही कर्म और अकर्मका तत्त्व, अशुभरूप संसारसे मुक्त होनेके लिए, जानना चाहिए; ऐसा कहा पहले 'मैं तुमसे कर्म कहूँगा' इत्यर्थक 'प्रवक्षामि' ऐसी जो पूर्वमें प्रतिज्ञा की थी, अब उसका उपदेश देते हैं—'कर्मण्य०' इत्यादिसे ।

देह और इन्द्रियों द्वारा ही जो किया जाता है, वह कर्म कहलाता है अर्थात् सभी तरहका लौकिक या वैदिक व्यापार। इस कर्ममें (उपाधि द्वारा किये गये चेष्टामात्रमें) आत्माके

ननु कर्मण्यकर्मदर्शनं चाऽकर्मणि कर्मदर्शनं चोभयमपि न संभवति, प्रत्यक्षविरोधात्। नहि कर्माऽकर्म भवितुमर्हति, व्यापारस्य दृश्यमानत्वात्। नाऽप्यकर्म च कर्म भवति, स्थाणुवत्तूष्णींभावस्योपलभ्यमानत्वाद्भावे चाऽभावदर्शनमभावे च भावदर्शनमतिविरुद्धमप्रामाणिकं च, भावाभावयोरभावत्वभावत्वासंभवादिति चेत्, न; सद्बुद्ध्या विचार्यमाणे दर्शनद्वयोपपत्तेः। तत्कथमिति चेत्, उच्यते—स्वयमकर्मा सन्नेव पुमानन्यकर्मणा कर्मी भवति। यथा मेघक्रियया चन्द्रः क्रियावान् यथा चाऽनलक्रिययाऽऽतपः क्रियावान् तथा देहादितादात्म्येन देहादिक्रियया स्वयमक्रियोऽपि क्रियावान् भवत्यखिलो जन्तुस्तथापि ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मैवाऽहमिति ब्रह्मण्येवाऽऽत्मत्वविज्ञानेन स्वस्य देहादिसम्बन्धाभावात्तत्कर्तृकं कर्माऽकर्मैव पश्यति, तत्राऽहंममेति स्वत्वाभावात्। नह्यन्यकर्तृके कर्मण्यन्यस्य स्वत्वमुपपद्यते, तदभावाद्देहादिकर्तृकं कर्माऽस्याऽकर्मैव भवत्यबन्धकत्वेनाऽकर्मतुल्यत्वात्। तस्मात्तदकर्मैव पश्यतीत्यर्थः, न तु स्वगतं कर्माकर्म पश्यति, स्वस्य निरवयवत्वेन क्रियासमवायानुपपत्तेः। यथा वृक्षे चलति सति तत्स्थमाकाशं निष्क्रियं पश्यति। यथा मेघेषु धावत्सु सत्सु चन्द्रं निष्क्रियं पश्यति, तथा देहेन्द्रिया-

---

याथात्म्यको जाननेवाला जो विद्वान् कर्मके अभावको देखे और इसी प्रकार अकर्ममें—देह और इन्द्रियोंकी व्यापाररहित अवस्थामें जो कर्मको (क्रियाको) ही देखे।

शङ्का—कर्ममें अकर्मको देखना और अकर्ममें कर्मको देखना—इन दोनोंका ही सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षसे विरोध है—कर्म अकर्म नहीं हो सकता, क्योंकि व्यापार देखनेमें आता है। और अकर्म भी कर्म नहीं होता, क्योंकि ठूँठके समान चुपचाप दिखाई देता है एवं भावमें अभावको देखना और अभावमें भावको देखना अत्यन्त विरुद्ध और अप्रामाणिक है, क्योंकि भावमें अभावत्व और अभावमें भावत्व असम्भव है।

समाधान—नहीं, उक्त शङ्का अयुक्त है, क्योंकि सूक्ष्म बुद्धिसे विचार करनेपर उक्त प्रकारके दोनों दर्शन युक्तियुक्त हैं। वह कैसे ? ऐसा पूछो, तो कहते हैं—स्वयं कर्मरहित होनेपर भी पुरुष दूसरेके कर्मसे कर्मका आश्रय होता है। जैसे मेघकी क्रियासे क्रियारहित चन्द्र क्रियावाला और अग्निकी क्रियासे निष्क्रिय गर्मी क्रियावाली होती है वैसे ही देहादिके साथ तादात्म्य होनेके कारण देहादिकी क्रियासे स्वयं अक्रिय होनेपर भी सब जन्तु क्रियावाले हो जाते हैं, तथापि ब्रह्मवेत्ता—ब्रह्म मैं ही हूँ, इस प्रकार ब्रह्ममें ही आत्मत्वविज्ञानसे अपना देहादिके साथ सम्बन्ध न होनेके कारण, देहादि द्वारा किये गये कर्मको अकर्म ही देखता है, क्योंकि उसमें मैं और मेरा इस प्रकार उसका स्वत्व नहीं है। अन्य द्वारा किये गये कर्ममें अन्यका स्वत्व नहीं हो सकता। स्वत्वके न होनेसे देहादि द्वारा किया गया कर्म उसका अकर्म ही होता है, क्योंकि वह उसका बन्धक नहीं होता, अतः वह अकर्मके समान ही है। इसलिए उस कर्मको वह अकर्म ही देखता है, यह अर्थ है, अपनेमें रहनेवाले कर्मको अकर्म देखता है, ऐसा अर्थ नहीं है, क्योंकि स्वयं तो निरवयव है, इसलिए आत्मामें क्रियाका समवाय (सम्बन्ध) ही नहीं हो सकता। जैसे वृक्षके चलनेपर वृक्षमें स्थित आकाशको निष्क्रिय देखता है, जैसे बादलोंके दौड़नेपर चन्द्रको निष्क्रिय देखता है, वैसे ही देह, इन्द्रिय आदिके विषयोंमें स्वच्छन्द प्रवृत्त होनेपर

दिषु स्वच्छन्दं विषयेषु प्रवृत्तेषु सत्सु स्वं निष्क्रियमेव पश्यति विद्वान्। ततो 'निष्कलं निष्क्रियम्' इत्यादिश्रुतिप्रामाण्यात्कूटस्थासङ्गचिद्रूपमात्मानमेवाऽऽत्मत्वेन विजानतो विदुषो देहादिकर्तृके कर्मण्यकर्मदर्शनमुपपद्यत एव। तस्यैतस्य दर्शनस्य विद्वत्प्रत्यक्षत्वात् 'अकर्तारं स पश्यति' इत्यादिस्मृतिसिद्धत्वाच्च प्रामाण्योपपत्तेः। किञ्च, मूढः स्वस्मिन् देहाद्यध्यस्य तद्व्यापारोपरमे चाऽहमासे तूष्णीं सुखं न किञ्चित्करोमि दुःखकरं कर्मेत्यसुखे देहेन्द्रियनिरोधे सुखबुद्ध्या तदक्रियया स्वमक्रियमेव पश्यति। यथाऽश्वारूढोऽश्वस्थित्या स्वं स्थितं पश्यति यथा गच्छन्तमेव सूर्यमगच्छन्तं पश्यति, न तथा विद्वान्, किन्तु तस्मिन् देहादिव्यापारोपरमेऽप्यकर्मणि कर्मैव पश्यति। यथा निगूढाङ्गुलिमुष्टौ बहिः क्रियाभावेऽप्यन्तरङ्गुलीनां मुकुलीभावसिद्धेः कारणभूताङ्गुलिनिरोधनक्रिया विद्यते। यथा निमीलिते चक्षुषि बहिर्दर्शनक्रियाभावेऽपि पक्ष्मनिरोधनक्रिया विद्यते तथा नाऽहं किंचित्करोमीति तूष्णीमवस्थायामपि बहिर्देहेन्द्रियादिचलनक्रियाभावेऽप्यन्तर्नाऽहं किञ्चित्करोमीति कर्तुराग्रहरूपा मानसी क्रिया विद्यत एव। अन्तराग्रहक्रियाभावे बहिः पाण्यादिनिरोधायोगान्मनोव्यापारैकमूलत्वात्सर्वार्थसिद्धये इन्द्रियक्रियासंभवाच्च। ऐन्द्रियनिग्रहक्रियैव देहो निश्चलस्तिष्ठति, तद-

---

भी विद्वान् आत्माको निष्क्रिय ही देखता है। इससे 'निष्कलं निष्क्रियम्' इत्यादि श्रुतियोंके प्रामाण्यसे कूटस्थ, असङ्ग, चिद्रूप आत्माको ही आत्मरूपसे जाननेवाले विद्वान्की देहादि द्वारा किये गये कर्ममें अकर्म दृष्टि युक्तियुक्त ही है। इस प्रकारका विज्ञान विद्वान्को प्रत्यक्ष अनुभूत है और 'अकर्ताको देखता है' इत्यर्थक स्मृतिसे भी सिद्ध है, इसलिए उक्त दर्शन प्रमाणरूप है। किञ्च, मूढ पुरुष देहादिका अपनेमें अध्यास करके उसका व्यापार बन्द हो जानेपर मैं चुपचाप सुखसे बैठा हूँ, कुछ नहीं करता हूँ, कर्म दुःख करनेवाला है, ऐसा समझकर देह, इन्द्रियोंके असुखरूप निरोधमें सुखबुद्धि करके उनकी क्रिया न होनेसे अपनेको ही अक्रिय जानता है। जैसे घुड़सवार घोड़ेके ठहर जानेसे अपनेको भी ठहरा हुआ देखता है और जैसे चलते हुए सूर्यको नहीं चलता हुआ देखता है, वैसे विद्वान् नहीं देखता, किन्तु देह आदिके व्यापारके उपरामरूप अकर्ममें भी कर्मको ही देखता है। जैसे जिसमें अङ्गुलियाँ छिप गई हैं, ऐसी बद्ध मुट्ठीमें बाहरकी क्रियाके न होनेपर भी अङ्गुलियोंके मुकुलीभावकी सिद्धिमें कारणभूत अङ्गुलियोंका-निरोध करनेवाली भीतरी क्रिया विद्यमान है और जैसे आँखोंके बन्द कर लेनेपर बाहर देखनेकी क्रिया न होनेपर भी पलक मींचनेकी क्रिया विद्यमान है, वैसे ही 'मैं कुछ नहीं करता हूँ' इस प्रकारकी चुपचाप अवस्थामें भी देह, इन्द्रिय आदिकी बाहर चलनारूप क्रिया न होनेपर भी भीतर 'मैं कुछ नहीं करता हूँ' इस प्रकार कर्ताकी आग्रहरूप मानसी क्रिया विद्यमान ही है। भीतर आग्रहरूप क्रियाके न होनेपर बाहर हाथ आदिका निरोध नहीं हो सकता, और सर्वार्थकी सिद्धिके लिए मनके व्यापारके अधीन इन्द्रियोंकी क्रिया भी नहीं हो सकती। इन्द्रियोंकी निग्रहरूपा क्रियासे ही देह निश्चल रहता है, यदि वह न हो, तो देहका चलना अथवा

भावे देहचलनं वेन्द्रियचलनं वा स्यात् ततो मूढदृष्ट्या स्वकर्मणि तूष्णीमवस्थानेऽपि कर्मदर्शनस्य न्यायदृष्टान्तानुभवसिद्धत्वादकर्मणि कर्मदर्शनमविरुद्धं प्रामाणिकं च ।

भावे चाऽभावदर्शनमभावे च भावदर्शनमयुक्तमिति यत्, तन्न; देहचेष्टाया भावत्वेऽप्यबन्धकत्वेनाऽभावतुल्यत्वात्तत्र कर्माभावदर्शनस्योपयुक्तत्वादभावे चाऽभावदर्शनमुपपद्यते । तूष्णीमवस्थायामकर्मण्यप्युक्तरीत्या कर्मदर्शनादकर्मणि कर्मदर्शनं चोपपन्नतरमेवाऽतो न कोऽपि विरोधः ।

ननु विदुषः कर्मण्यकर्मदर्शनमतीतानागतवर्तमानसर्वकर्मनिर्मोकहेतुत्वेन जन्मादिबन्धनिवर्तकत्वात्कर्तव्यमेव भवति, अकर्मणि कर्मदर्शनस्य तु प्रयोजनाभावादकर्मणि च कर्म यः पश्येदिति विधिर्निरर्थक एवेति चेत्, न; तस्याऽप्यकर्मास्पृष्टात्मदर्शनसाधनत्वेन सफलत्वोपपत्तेः । निष्क्रियं शान्तमिति निष्क्रियत्वशान्तत्वयोर्ब्रह्मलक्षणत्वश्रवणादत्राऽपि निष्क्रियत्वशान्तत्वधर्मवति देहेन्द्रियव्यापारोपरमे तूष्णीमवस्थाने स्वरूपभ्रमः स्यात्तन्मा भूदित्युपदिशति 'अकर्मणि च कर्म यः' इति । कर्मवदकर्मणोऽप्यौपाधिकत्वात् पुरुषतन्त्रत्वात् दृश्यत्वाद्विचार्यमाणे सक्रियत्वाच्च स्वयमनात्मैव भवति । तद्द्रष्टा यः स एवाऽऽत्मेति बोद्धव्यमिति सूचयितुमु-

---

इन्द्रियोंका चलना रहेगा ही, इसलिए मूढ़की दृष्टिसे तो अकर्ममें—चुपचाप अवस्थितिमें भी—कर्मदर्शन न्याय, दृष्टान्त और अनुभवसे सिद्ध है । इसलिए अकर्ममें कर्मदर्शन अविरुद्ध और प्रामाणिक है ।

भावमें अभावदर्शन और अभावमें भावदर्शन युक्त नहीं है, यह जो कहा, सो युक्त नहीं है, क्योंकि देहकी चेष्टामें भावत्व होनेपर भी वह बन्धक नहीं है, अतः अभावके समान ही है, अतः उसमें कर्मके अभावका दर्शन उपयोगी होनेसे भावमें अभावदर्शन उपपन्न है । चुपचाप अवस्थानरूप अकर्ममें भी उक्त रीतिसे कर्म-दर्शन हो सकता है, अतः अकर्ममें कर्मका देखना उपपन्नतर (युक्तियुक्त) ही है, इसलिए कोई भी विरोध नहीं है ।

यदि शङ्का हो कि विद्वान्का कर्ममें अकर्म देखना भूत, भविष्यत् और वर्तमान सब कर्मोंसे छुटकारा पानेमें हेतु है, अतः जन्म आदिका निवर्तक होनेसे उसे तो उसको करना ही चाहिए, परन्तु अकर्ममें कर्मदर्शनका प्रयोजन नहीं है, इसलिए 'अकर्ममें कर्मको देखे' यह विधि निरर्थक ही है, तो यह शङ्का, युक्त नहीं है, क्योंकि वह भी अकर्मसे भिन्न आत्माके दर्शनका साधन है, इसलिए वह सफल है । 'निष्क्रियं शान्तम्' इत्यादि श्रुतिसे निष्क्रियत्व और शान्तत्व दोनों ब्रह्मके लक्षण सुननेमें आते हैं, इससे प्रकृतमें भी निष्क्रियत्व और शान्तत्व धर्मवाले देह, इन्द्रियोंके व्यापारके उपरामरूप चुपचाप स्थितिमें आत्म-स्वरूपका भ्रम हो जायगा, वह न हो, इसलिए उपदेश करते हैं—'जो अकर्ममें कर्म देखे' । कर्मके समान अकर्म भी औपाधिक, पुरुषतन्त्र और दृश्य है एवं विचार करनेसे सक्रिय है, इसलिए अनात्मा ही है । जो उसका द्रष्टा है, वही आत्मा है, ऐसा

पदिश्यते—'अकर्मणि च कर्म यः' इति। किञ्चाऽकर्मणोऽपि कर्मवत्कर्मत्वज्ञानेन कर्माकर्मणोरुभयोरप्यनात्मत्वे सिद्धे विदुषस्तूष्णीमवस्थायामकर्मणो निष्फलत्वात्त-दपेक्षया लोकोपकारकत्वात्कर्मणि प्रवृत्तिः सफलेत्यपि सूचयति—'अकर्मणि च कर्म यः' इति, अतो विधेः सर्वथा साफल्यमस्ति।

ननु कर्मण्यकर्मदर्शनमकर्मणि कर्मदर्शनं चैककर्तृकं न संभवति, परस्परविरुद्धत्वेन तयोरेकाश्रयत्वायोगात्। 'विकल्पो नहि वस्तु' इति द्वैतं सर्वं मिथ्यैव पश्यतो विदुषो देहेन्द्रियादेर्मिथ्यात्वात्तदाश्रितकर्मणोऽपि मिथ्यात्वदर्शनं युक्तम्, न त्वकर्मणि कर्म-दर्शनं युक्तम्, तस्य देहादिसत्यत्वज्ञानैकसाध्यत्वात्। देहादेः सत्यत्वे खलु तदाश्रित-स्याऽकर्मणः सत्यत्वं कर्मत्वं च सिद्ध्यति, तत्सिद्धौ तु कर्मणि अकर्मदर्शनं न सिद्ध्यति, तस्य मिथ्यात्वज्ञाननिबन्धनत्वात्। एवं परस्परविरुद्धयोस्तयोरेकपुरुषा-धिकरणत्वं न सम्भवति, 'कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः' इति यच्छ-ब्दद्वयश्रवणाच्च। ततस्तयोर्भिन्नपुरुषाश्रयत्वमेवेति चेत्, न; विदुष उभयत्र मिथ्यात्व-दर्शनस्यैव विवक्षितत्वाद्यथा देहेन्द्रियादेस्तत्कर्मणोऽपि च मिथ्यात्वं द्रष्टव्यं तथा तद्व्यापारोपरमस्याऽपि मिथ्यात्वमेव द्रष्टव्यम्। उभयोरप्यविद्याकार्यभूतदेहाश्रयत्वेनाऽ-

---

जानना चाहिए, ऐसा सूचन करनेके लिए उपदेश किया जाता है—'जो अकर्ममें कर्म देखता है'। अकर्ममें भी कर्मके समान कर्मत्वके जाननेसे कर्म और अकर्म दोनों ही अनात्मा हैं, ऐसा सिद्ध होता है, अतः विद्वान्‌की चुपचाप अवस्थामें, अकर्मके निष्फल होनेसे, उसकी अपेक्षा लोगोंका उपकार करनेवाली कर्ममें प्रवृत्ति ही सफल है, ऐसा सूचित होता है, अतः 'अकर्ममें कर्मको देखे' यह विधि सर्वथा सफल है।

शङ्का—कर्ममें अकर्म देखना और अकर्ममें कर्म देखना, इन दोनोंको एक पुरुष नहीं कर सकता, क्योंकि वे परस्पर विरुद्ध हैं, इसलिए उन दोनोंका एक आश्रय नहीं हो सकता। अपिच 'विकल्प वस्तु नहीं है' इस प्रकार सब द्वैतको मिथ्या देखनेवाले विद्वान्‌का, देह और इन्द्रिय आदिके मिथ्या होनेसे, उनमें आश्रित कर्मको भी मिथ्या देखना युक्त है, परन्तु अकर्ममें कर्मको देखना युक्त नहीं है, क्योंकि वह तो देहादिमें सत्यत्वके ज्ञानसे ही सिद्ध होता है। देहादिकी सत्यता होनेपर तो देहादिके आश्रित अकर्ममें सत्यत्व और उसमें कर्मत्व सिद्ध होगा और ऐसा सिद्ध होनेपर तो कर्ममें अकर्म देखना सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि इसका कारण तो मिथ्यात्वका ज्ञान है। इस प्रकार परस्पर विरुद्ध दोनोंका एक पुरुष अधिकरण नहीं हो सकता। इसलिए दोनोंके आश्रय भिन्न-भिन्न पुरुष होने चाहिएँ, ऐसा ही कहना चाहिए।

समाधान—नहीं, उक्त शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि विद्वान्‌का दोनोंमें मिथ्यात्वदर्शन विवक्षित है। जैसे देह, इन्द्रिय आदि और उनके कर्ममें मिथ्यात्व देखना चाहिए, वैसे ही उनके अव्यापारमें भी मिथ्यात्व ही देखना चाहिए, क्योंकि दोनों ही अविद्याके कार्यरूप देहके आश्रित होनेके कारण

वस्तुत्वाविशेषादन्यथा भेददृष्टेरशुभमोक्षासम्भवात्। यः कर्माकर्मणोरुभयोस्तदाश्रयस्याऽपि मिथ्यात्वमेव विनिश्चित्य तदधिष्ठानं परं ब्रह्म निष्कलं निष्क्रियं शान्तमनन्तमखण्डानन्दैकरसमिदमेवाऽहमिति स्वात्मना विज्ञाय तदात्मना तिष्ठति स एवाऽशुभान्मुक्तो भवत्यतोऽन्यथाऽऽत्मानं पश्यतो न मुक्तिरस्ति। तस्मात् तयोरेकपुरुषाश्रयत्वमेव, न त्वनेकपुरुषाश्रयत्वम्। यच्छब्दद्वयं तु 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यत्र यथा, तथा बोधसौकर्यार्थमेव, न तु ग्रहीतृभेदसिद्ध्यर्थम्। 'स बुद्धिमान्' इत्येकेनैव तच्छब्देनोपसंहारात्। एवं कर्मण्यकर्मदर्शनमकर्मणि कर्मदर्शनं च यः करोति शास्त्रत आचार्यतो युक्तितश्चाऽनुभूतितश्च स एव मनुष्येष्वधिकृतः सर्वशास्त्रेषु बुद्धिमानात्मतत्त्वज्ञः स एव युक्तो योगी च स एव कृत्स्नकर्मकृत् सर्वेषां श्रौतानां स्मार्तानामितरेषां च पुण्यकर्मणां कर्ता च भवति। 'यथा कृताय विजितायाधरेयाः संयन्त्येवमेनꣳसर्वं तदभिसमेति यत्किंच प्रजाः साधु कुर्वन्ति यस्तद्वेद यत्स वेद' इति श्रवणात्सर्वाणि सर्वलोकैः कृतानि पुण्यकर्माण्यनेन कृतानि भवन्तीत्यर्थः ॥१८॥

यद्वा 'किं कर्म किमकर्मेति' इति श्लोकव्याख्यानपुच्छमत्र लिख्यते। अशुभात्संसारान्मोक्ष्यसे। कर्माकर्मणोस्तत्त्वं सम्यक् ज्ञात्वा मुक्तो भविष्यसीत्यर्थः ॥ १६ ॥ ननु

एक-से अवस्तुरूप ही हैं। यदि ऐसा न हो, तो भेददृष्टि होनेके कारण अशुभसे (संसारसे) मोक्ष असम्भव हो जायगा। कर्म और अकर्म दोनोंमें एवं उनके आश्रयमें भी मिथ्यात्वका ही निश्चय करके उनके अधिष्ठानभूत निष्कल, निष्क्रिय, शान्त, अनन्त, अखण्डानन्दैकरस परब्रह्मको 'यही मैं हूँ' इस प्रकार अपने आत्मरूपसे जानकर जो उसी स्वरूपसे स्थित रहता है, वही अशुभसे मुक्त होता है, इससे अन्य प्रकारके आत्माको देखनेवालेकी मुक्ति नहीं होती। इससे यह सिद्ध हुआ कि दोनों एक ही पुरुषके आश्रित हैं, भिन्न-भिन्न पुरुषोंके आश्रित नहीं हैं। 'जिससे ये भूत उत्पन्न होते हैं' इत्यादि श्रुतिमें जैसे 'यत्'शब्दका अनेक बार प्रयोग बोधके सौकर्यके लिए है, वैसे ही प्रकृतमें भी बोधके सौकर्यके लिए दो 'यत्' शब्द प्रयुक्त हैं, ग्रहीताके भेदकी सिद्धिके लिए उनका प्रयोग नहीं है, क्योंकि 'स बुद्धिमान्' इस प्रकार एक ही तत् शब्दसे उपसंहार किया गया है। इस प्रकार जो कोई शास्त्रसे, आचार्यसे, युक्तिसे और अनुभवसे कर्ममें अकर्मदर्शन और अकर्ममें कर्मदर्शन करता है, वही मनुष्योंमें से सब शास्त्रोंमें अधिकृत बुद्धिमान्—आत्मतत्त्वज्ञ—है, वही युक्त—योगी—है, वही कृत्स्नकर्मकृत् है—सब श्रौत, स्मार्त और अन्य पुण्य कर्मोंका कर्ता भी है। 'जैसे कृत नामक चार अङ्कवाले पासेके जीत लेनेपर अन्य एक, दो, तीन अङ्कवाले पासे भी विजित होकर प्राप्त हो जाते हैं, वैसे ही प्रजा जो कुछ साधु कर्म करती है, वह सब इसको प्राप्त हो जाता है, जो उसको जानता है जिसको वह जानता है', इत्यर्थक श्रुतिके अनुसार सब लोगोंके द्वारा किये गये सम्पूर्ण पुण्य कर्म इसके द्वारा किये गये हो जाते हैं, यह भाव है ॥१८॥

अथवा 'किं कर्म किमकर्मेति' (कर्म क्या है और अकर्म क्या है) इस श्लोककी व्याख्याका अन्तिम भाग यहाँ लिखा जाता है। अशुभरूप संसारसे तुम मुक्त हो जाओगे। कर्म और अकर्मका तत्त्व ठीक-ठीक जानकर तुम मुक्त हो जाओगे, यह भाव है (॥ १६ ॥)

'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति' इत्यात्मतत्त्वज्ञानादेव मुक्तिः श्रूयते, न तु कर्माकर्मणो-स्तत्त्वज्ञानादिति चेत्, सत्यम्; आत्मज्ञानादेव मुक्तिस्तथापि 'तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय' इति पुण्यपापविध्वंसनं कृतवत एव विदुषो मुक्तिः श्रूयते, ततो मुमुक्षोः कर्मादितत्त्वज्ञानेन जन्मादिहेतुभ्यः कर्मादिभ्यो मोक्तव्यं तदर्थं कर्मादीनां तत्त्वं ज्ञातव्यमित्याह—**कर्मणो ह्यपीति** । कर्मणोऽपि कर्तव्यत्वेन शास्त्रेणोक्तस्य स्वर्गादि-हेतोस्तत्त्वं मुमुक्षोर्बोद्धव्यं तद्विपरीतस्य दुर्गतिहेतोर्विकर्मणो निषिद्धस्याऽपि तत्त्वं बोद्धव्यं तथैवाऽनर्थहेतोरकर्मणोऽप्यश्रद्धया विहिताकरणलक्षणस्य तत्त्वं बोद्धव्यं सद्गुरोः । ननु 'चलनात्मकं कर्म' इति चलनमेव कर्मणः स्वरूपं किं तस्य बोद्धव्यमस्तीत्याशङ्कायाम्, न; कर्माकर्मविकर्मणां तत्त्वं मूढैर्ज्ञातुं न शक्यमित्याह—**गहनेति** । हि यस्मात्कार-णात्कर्मणः । कर्मण इतीतरयोरप्युपलक्षणम् । कर्मणो विकर्मणोऽप्यकर्मणश्च गतिस्त-त्त्वावगतिर्याथात्म्यवेदनं सद्गुरूपदेशेन विना ज्ञातुं गहना दुर्घटा दुर्लभेत्यर्थः ॥१७॥

तर्हि तेषां तत्त्वं त्वयैवोपदेष्टव्यं जगद्गुरुणेत्याकाङ्क्षायां कर्माकर्मविकर्मणां चाऽऽकाशादिप्रपञ्चस्य सर्वस्याऽपि तत्त्वं ब्रह्मैव तस्मिन्विदिते सर्वस्याऽपि

'उस परमात्माको जानकर मृत्युका अतिक्रमण करता है' इत्यर्थक श्रुतिसे आत्मज्ञानसे ही मुक्ति होती है, ऐसा जाना जाता है, कर्म और अकर्मके तत्त्वज्ञानसे मुक्ति होती है, ऐसा सुननेमें नहीं आता, ऐसी यदि शङ्का करो, तो ठीक है; यद्यपि आत्मज्ञानसे ही मुक्ति होती है, तो भी 'तब विद्वान् पुण्य और पाप दोनोंको नष्ट करके' इत्याद्यर्थक श्रुतिसे पुण्य और पापको नष्ट करनेवाले विद्वान्की ही मुक्ति होती है, ऐसा ज्ञात होता है, इसलिए मुमुक्षुको कर्मादिके तत्त्वके ज्ञानसे जन्म आदिके हेतुभूत कर्म आदिसे मुक्त होना चाहिए और उसके लिए कर्म आदिके तत्त्वको जानना चाहिए, ऐसा कहते हैं—'**कर्मणो ह्यपि**' इत्यादिसे ।

शास्त्रमें कर्तव्यरूपसे कहे गये कर्म भी स्वर्ग आदिकी प्राप्तिके हेतु हैं, उनका तत्त्व मुमुक्षुको जानना चाहिए। उनसे विरुद्ध दुर्गतिके हेतु विकर्मको—निषिद्ध कर्मके तत्त्वको—भी जानना चाहिए, उसी प्रकार अनर्थके हेतु अकर्मके—अश्रद्धासे विहितको न करना-रूप अकर्मके—तत्त्वको भी सद्गुरुसे जानना चाहिए। यदि शङ्का हो कि 'चलनात्मकं कर्म' (कर्म चलनक्रियास्वरूप है) इत्यादि कर्मस्वरूपबोधक वाक्यसे प्रतिपादित क्रियारूप चलन ही कर्मका स्वरूप है, फिर उसमें क्या ज्ञातव्य है ? तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि कर्म, अकर्म और विकर्मका तत्त्व मूढ़ पुरुष जान नहीं सकते, ऐसा कहते हैं—'**गहना**' इत्यादि । प्रकृतमें कर्मशब्द विकर्म और अकर्मका भी उपलक्षण है। क्योंकि कर्मकी—कर्म, विकर्म और अकर्मकी—गतिको (तत्त्वज्ञान याने ठीक-ठीक परिज्ञानको) सद्गुरुके उपदेशके विना जानना गहन याने दुर्घट है—दुर्लभ है, यह भाव है ॥ १७ ॥

तब आप जगद्गुरुको ही उनके तत्त्वका हमें उपदेश देना चाहिए, ऐसी आकांक्षा होनेपर कर्म, अकर्म और विकर्मका तथा आकाश आदि सारे प्रपञ्चका तत्त्व ब्रह्म ही है, उसके जाननेसे

तत्त्वं विदितं भवतीति। 'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि', 'संपश्यन् ब्रह्म परमम्' इत्येतच्छ्रुतिप्रमाणकं परावरैकत्वदर्शनं निःशेषसंसारभ्रमविध्वंसकमुपदिशति—**कर्मण्यकर्म य इति**। क्रियते सृज्यत इति कर्म ब्रह्मकार्यं महदादिस्थूलान्तं जगत्तस्मिन् कर्मणि सर्वत्र जगत्यकर्म न विद्यते यत्र कर्म तदकर्म 'निष्कलं निष्क्रियम्' इति श्रवणान्निष्क्रियं परं ब्रह्म यः पश्येत्। प्रतीतं प्रपञ्चं सर्वं ब्रह्मैव यः पश्यतीत्यर्थः। ननु सविशेषं जगन्निर्विशेषं परं ब्रह्म गवाश्ववदेतद्द्वयं परस्परं विलक्षणं भवति। गामश्वमिव ब्रह्मविलक्षणं विश्वं कथं ब्रह्म पश्यति विद्वानिति चेत्, न; तयोः कार्यकारणभावापन्नत्वाद्वैलक्षण्यानुपपत्तेः। गवाश्वयोस्तु कार्यकारणभावाभावाज्जातिभेदाच्च वैलक्षण्यं संभवति, न तथा जगद्ब्रह्मणोः। ननु नामतो रूपतो गुणतो जातितश्च जगद्भिद्यते निरुक्तभेदस्य प्रत्यक्षत्वादेवंभेदभिन्नं जगत्कथं ब्रह्म पश्यतीति चेद्, न; नामरूपादेरधिष्ठानाज्ञानकल्पितत्वाद्यथैकस्मिन् तोये तरङ्गफेनबुद्बुदादिभेदकल्पना, यथैकस्यामेव भूम्यां गृहक्षेत्रादिभेदकल्पना, तथैवैकस्मिन् ब्रह्मणि नामरूपादिभेदकल्पना भ्रममूला, न तु वास्तवी। यथा द्रवत्वशीतत्वशुक्लत्वमधुरत्वादीनां तोयधर्माणां

सबका तत्त्व ज्ञात हो जाता है, इसलिए 'सब भूतोंमें स्थित आत्माको और आत्मामें स्थित सब भूतोंको' और 'परब्रह्मको ठीक-ठीक देखता हुआ' इत्याद्यर्थक श्रुतियोंसे प्रमाणित पर और अवरका एकत्वदर्शन निःशेष संसाररूप भ्रमका नाशक है, ऐसा उपदेश देते हैं—'**कर्मण्यकर्म यः**' इत्यादिसे। जो उत्पन्न किया जाता है, वह कर्म कहलाता है अर्थात् ब्रह्मका कार्यभूत महत्से लेकर स्थूल पदार्थों तक सम्पूर्ण जगत्। उस कर्ममें याने सारे जगत्में अकर्मको (जहाँ कर्म विद्यमान नहीं है, वह अकर्म कहलाता है, याने 'निष्कल, निष्क्रिय' इत्यर्थक श्रुतिसे सिद्ध निष्क्रिय परब्रह्मको) जो देखता है—प्रतीत होनेवाले सारे प्रपञ्चको जो ब्रह्मरूप ही देखता है, यह भाव है।

शङ्का—जगत् सविशेष है और परब्रह्म निर्विशेष है, अतः वे दोनों गाय और घोड़ेके समान विलक्षण हैं। अब इस विषयमें प्रश्न यह होता है कि ब्रह्मसे विलक्षण विश्वको विद्वान् ब्रह्मरूप कैसे देखेगा जो कि गायसे घोड़ेके समान अत्यन्त विलक्षण हैं।

समाधान—नहीं, उक्त शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि जगत् और ब्रह्मका कार्यकारणभाव होनेसे उनकी विलक्षणता उपपन्न नहीं है। गाय और घोड़ेका तो कार्यकारणभाव न होनेसे एवं जातिका भेद होनेसे उनकी परस्पर विलक्षणता हो सकती है, पर जगत् और ब्रह्मकी विलक्षणता नहीं हो सकती। यदि कहो कि नाम, रूप, गुण और जातिसे जगत् भिन्न है, क्योंकि यह भेद प्रत्यक्ष है, उक्त भेदोंसे भिन्न जगत्को ब्रह्मस्वरूप किस प्रकार देखेगा ? तो यह कहना भी युक्त नहीं है; क्योंकि नाम, रूप आदि भेद अधिष्ठानके अज्ञानसे कल्पित है। जैसे एक ही जलमें तरङ्ग, फेन, बुद्बुद आदि भेदकी कल्पना है, जैसे एक ही भूमिमें घर, खेत आदिकी कल्पना है, वैसे ही एक ब्रह्ममें नाम, रूप आदि भेदकी कल्पना भ्रमके कारण है, वास्तविक नहीं है। जैसे द्रवत्व, शीतत्व, शुक्लत्व, मधुरत्व आदि जलके धर्म तरङ्ग आदिमें बाहर भीतर सर्वत्र

तरङ्गादिषु बहिरन्तरनुस्यूतत्वाज्जलसत्ताव्यतिरेकेण पृथक्सत्ताभावाच्च तरङ्गादि सर्वं जलमात्रमेव भवति, तथा जगत्यपि बहिरन्तः सर्वत्राऽविच्छेदेन सत्त्वचित्त्वादीनां ब्रह्मधर्माणामनुगमदर्शनाद् ब्रह्मसत्ताव्यतिरेकेण पृथक्सत्ताभावाच्च 'चिद्धीदं सर्वं सद्धीदं सर्वम्', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' इत्यादिश्रुतिभिरिदं सर्वं ब्रह्मैव ब्रह्मकार्यत्वात् मृत्कार्यभूतो घटो मृद्यथा । 'इदं सर्वं ब्रह्मैव ब्रह्मण्यारोपितत्वाच्छुक्तिरजतवत्' इत्यादियुक्तिभिर्मृदादिदृष्टान्तैश्च सम्यग्विचार्यमाणे जगत्सर्वं ब्रह्मैव भवति। अतएव शुद्धात्मा ब्रह्मवित्सर्वं जगद्ब्रह्मैव पश्यतीत्यर्थः । यद्यपि श्रुतियुक्तिदृष्टान्तानुभवैर्जगतो ब्रह्ममात्रत्वे सिद्धे जगतः कार्यत्वं निवृत्तं तन्निवृत्त्या ब्रह्मणोऽपि 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याऽप्यपायः' इति न्यायेन कारणत्वं निवृत्तमेव भवति । कार्यत्वसापेक्षत्वात्कारणत्वस्य, तन्निवृत्त्या तन्निवृत्तिरेवमुभयनिवृत्त्या तु कार्यकारणभावविकलमेवाऽद्वितीयं ब्रह्मेति ब्रह्मणोऽद्वितीयत्वं सिद्धम्, तथाप्यधुना विचारादद्वितीयत्वं ब्रह्मणः सिद्धं पूर्वं तु जगदिति ब्रह्मेति द्वैतमस्त्येवेत्याशङ्कायाम् , न; पूर्वमपि यथा रज्जुरेव सर्पतच्छिरःपुच्छादिरूपेणाऽभात् , यथा मरुरेव जलतरङ्गफेनादिरूपेणाऽभात्तथा ब्रह्मैव भ्रान्त्या द्रव्यगुणकर्मादिभेदभिन्नजगदात्मना भातम् , न तु वस्तुतो जगदस्तीति मुमुक्षुणा ब्रह्मणः

अनुस्यूत हैं और जलकी सत्तासे व्यतिरिक्त उनकी पृथक् सत्ता नहीं है, इसलिए तरङ्ग आदि सब जलमात्र ही हैं, वैसे ही जगत्में भी बाहर भीतर सर्वत्र सत्त्व, चित्त्व आदि ब्रह्मके धर्म पूर्णरूपसे अनुस्यूत देखे जाते हैं और ब्रह्मकी सत्तासे व्यतिरिक्त दूसरी सत्ताका जगत्में अभाव है, अतः 'यह सब चित् ही है', 'यह सब सत् ही है', 'यह सब ब्रह्म ही है' इत्यादि श्रुतियोंसे, 'यह सब ब्रह्म है, ब्रह्मका कार्य होनेसे, मिट्टीके कार्यभूत घटकी मिट्टीरूपताके समान', 'यह सब ब्रह्म ही है, ब्रह्ममें आरोपित होनेसे, सीपमें आरोपित चाँदीके समान' इत्यादि युक्तियोंसे और मिट्टी आदिके दृष्टान्तोंसे भली भाँति विचार करनेपर सब जगत् ब्रह्म ही है, इसलिए शुद्ध मनवाला ब्रह्मज्ञानी सम्पूर्ण जगत्को ब्रह्म ही देखता है, यह अर्थ है। यद्यपि श्रुति, युक्ति, दृष्टान्त और अनुभवसे जगत् ब्रह्ममात्र है, ऐसा सिद्ध होनेपर जगत्का कार्यत्व निवृत्त हो जाता है और उसके निवृत्त होनेपर ब्रह्मका भी 'निमित्तका नाश होनेसे नैमित्तिकका नाश होता है', इस न्यायसे कारणत्व निवृत्त हो ही जाता है, क्योंकि कारण कार्यकी अपेक्षासे होता है, इसलिए कार्यकी निवृत्तिसे कारणकी निवृत्ति है ही यों दोनोंकी निवृत्तिसे कार्यकारणभाव रहित अद्वितीय ब्रह्म है, यह सिद्ध हुआ, तथापि विचार करनेके अनन्तर अब 'ब्रह्म अद्वितीय है', यह सिद्ध हुआ, परन्तु विचारसे पहले तो 'जगत् है' और 'ब्रह्म है', इस प्रकार द्वैत है ही, ऐसी यदि शङ्का हो, तो वह भी युक्त नहीं है, कारण कि जैसे पहले भी रज्जु ही सर्प, उसके सिर और पूँछ आदिके रूपसे प्रतीत हुई थी अथवा जैसे मरुभूमि ही जल, तरङ्ग, फेन आदिके रूपसे प्रतीत हुई थी, वैसे ही ब्रह्म ही भ्रान्तिसे द्रव्य, गुण, कर्म आदिके भेदसे भिन्न जगद्रूपसे प्रतीत हुआ था, वस्तुतः जगत् कुछ है ही नहीं, इस

कालत्रयेऽप्यद्वितीयत्वसिद्धये ब्रह्मणि तद्विवर्तत्वेन जगत्स्थितमिति द्रष्टव्यमिति व्यतिहारमुखेनोक्तमेव दर्शनं पुनर्द्रढयति—जगतो ब्रह्ममात्रत्वे निर्विचिकित्सत्वाय—**अकर्मणि च कर्म य इति।** अकर्मण्युक्तलक्षणे ब्रह्मणि कर्म चोक्तलक्षणं जगद्यः पश्येद्ब्रह्मविवर्तत्वेन स्वतः सत्ताभावाद्रजतं शुक्तिमिव सलिलं मरुमिव जगत्सर्वं ब्रह्मैव यः पश्यतीत्यर्थः। 'सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद' इति श्रुतिर्ब्रह्मणः पृथक्सत्तावत्त्वेन नामरूपादिभेदभिन्नं जगत् पश्यतो विदुषोऽनर्थं ब्रवीति यतस्ततो नामरूपादिद्वैतदर्शनं भ्रमकल्पितमुत्सृज्य निःश्रेयसार्थिना निःशेषविनष्टविपर्ययं यथा तथा नाम रूपं गुणं कर्म च सर्वं ब्रह्मैवेति द्रष्टव्यमिति सिद्धम्। एवमसंदिग्धमविपर्यस्तं सर्वं प्रत्यग्दृष्ट्या ब्रह्मैव यः पश्यति स एव बुद्धिमान् ब्रह्मवेत्ता। स एव युक्तो ब्रह्मनिष्ठः। स एव कृत्स्नकर्मकृत् कृत्स्नानि सर्वाण्यनेककल्पार्जितानि संचितान्याधुनिकजन्मकृतान्यप्रवृत्तफलानि कर्माणि नानायोनिप्रापकाणि स्वयाथात्म्यविज्ञानखड्गेन कृन्तति छिनत्तीति कृत्स्नकर्मकृत् सर्वं पाप्मानं तरतीति श्रवणादेवं द्रष्टा यः सोऽशुभान्मुक्तो भवतीत्यर्थः॥ १८॥

'यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्ते' इत्येतच्छ्रुत्युक्तरीत्या कर्मण्यकर्मत्वद-

---

प्रकार मुमुक्षुको, तीनों कालमें ब्रह्म अद्वितीय ही है, ऐसा सिद्ध करनेके लिए ब्रह्ममें ब्रह्मके विवर्तरूपसे जगत् स्थित है, ऐसा देखना चाहिए, इस प्रकार व्यतिहारमुखसे उक्त दर्शनको ही जगत्की ब्रह्ममात्रतामें निःसंशय होनेके लिए, फिर दृढ़ करते हैं—'अकर्मणि च कर्म यः'। अकर्ममें (उक्त लक्षणवाले ब्रह्ममें) कर्मको—उक्त लक्षणवाले जगत्को—जो देखता है अर्थात् ब्रह्मके विवर्तरूप होनेके कारण, अपनी सत्ता न होनेसे, जैसे चांदीको सीप, जलको मरु देखता है, वैसे ही जो सब जगत्को ब्रह्म ही देखता है, यह भाव है। 'जो सबको आत्मासे अन्य जानता है, उसका सब अनादर करते हैं' इत्यर्थक श्रुति नाम, रूप आदि भेदसे भिन्न ब्रह्मकी सत्तासे अतिरिक्त सत्तावाले जगत्को देखनेवालेके प्रति अनर्थ बतलाती है, इसलिए कल्याणाकाङ्क्षीको भ्रमसे कल्पित नाम-रूपादि द्वैतदर्शनका त्यागकर जिस प्रकारसे विपरीत ज्ञान निःशेष निवृत्त हो जाय, उस प्रकार नाम, रूप, गुण और कर्म, सब ब्रह्म ही है, ऐसा देखना चाहिए, यह सिद्ध हुआ। इस प्रकार सन्देहरहित, विपर्यरहित सबको प्रत्यग्दृष्टिसे जो ब्रह्म ही देखता है, वही बुद्धिमान्—ब्रह्मवेत्ता है, वही युक्त याने ब्रह्मनिष्ठ है, वही कृत्स्नकर्मकृत् है (कृत्स्न—सब—अनेक कल्पोंमें अर्जित सञ्चित और इस जन्ममें किये गये अप्रवृत्तफलवाले अनेक योनियोंको प्राप्त करानेवाले कर्मोंको आत्माके याथात्म्य विज्ञानरूप खड्गसे जो काट देता है—छिन्न-भिन्न कर देता है, वह कृत्स्नकर्मकृत् है)। 'सब पापोंसे तर जाता है' इत्यर्थक श्रुतिके अनुसार जो इस प्रकार देखता है, वह अशुभसे (संसारसे) मुक्त हो जाता है, यह अर्थ है॥ १८॥

'जैसे कमलके पत्तेको जल नहीं छूता' इत्यर्थक 'यथा पुष्करपलाश०' इत्यादि श्रुतिमें कही

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥ १९ ॥

जिस ब्रह्मज्ञानीके प्राणरक्षाके लिए किये जानेवाले शरीर, इन्द्रिय आदिके सम्पूर्ण व्यापार काम और संकल्पसे वर्जित हैं, उस ज्ञानरूपी अग्निसे दग्ध कर्मवाले जीवन्मुक्त महापुरुषको शास्त्रज्ञ लोग पण्डित कहते हैं ॥१९॥

र्शनेन शरीरयात्रोपयुक्तानि ज्ञानसमकालानि सर्वाणि कर्माणि यो विश्लेषयति स एव पण्डित इत्याह—**यस्येति** ।

समारम्भाः सम्यग्देहेन्द्रियादिभिरेवाऽऽरभ्यन्ते क्रियन्त इति समारम्भाः प्राणत्राणोपयोगिनो देहेन्द्रियव्यापाराः सर्वे यस्य ब्रह्मविदः कामसङ्कल्पवर्जिताः । कामोऽनेन भवितव्यमितीच्छावेगः, सङ्कल्पस्तद्धेतुः सम्यक्त्वबुद्धिस्ताभ्यां वर्जिताः क्षुदादिवत्तात्कालिका भवन्ति, तं ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं कूटस्थासङ्गचिद्रूप एवाऽहं न तु कर्ता भोक्ता श्रोता द्रष्टा वक्तेत्यात्मन्येवाऽऽत्मभावाप्त्या देहतद्धर्मतत्कर्मसु स्वस्याऽसङ्गत्वदर्शनं तदेवाऽग्निस्तेन दग्धानि निर्मूलितानि सर्वाणि विहिताविहितादिरूपाणि कर्माण्यौपाधिकानि यस्य तमेव जीवन्मुक्तं महापुरुषं बुधाः शास्त्रज्ञाः पण्डितं प्राहुः । पण्डा कल्याणी सर्वत्र ब्रह्ममात्रावगाहिन्यखण्डात्मिका वृत्तिरस्य संजातेति पण्डितस्तमेव पण्डितं वदन्ति नाऽन्यमित्यर्थः । अत्र कामवर्जिता इत्यनेन 'यद्यद्धि कुरुते जन्तुस्तत्तत्कामस्य

गई रीतिसे कर्ममें अकर्मत्वके दर्शनसे शरीरकी यात्राके उपयोगी ज्ञानके समकालिक सब कर्मोंका जो विश्लेषण करता है, वही पण्डित है, ऐसा कहते हैं—'**यस्य**' इत्यादिसे ।

अविकल देह, इन्द्रिय आदिसे ही जिनका आरम्भ (अनुष्ठान) किया जाता, वे समारम्भ—कहलाते हैं अर्थात् प्राणरक्षाके उपयोगी देह एवं इन्द्रियोंके सम्पूर्ण व्यापार । ये व्यापार जिस ब्रह्मज्ञानीके काम और सङ्कल्पसे रहित हैं—'यह मुझे मिलना चाहिये' इस प्रकारके इच्छाके वेगरूप काम और सम्यक्त्वबुद्धिरूप उक्त कामके हेतुभूत सङ्कल्प—इन दोनोंसे रहित हैं अर्थात् भूख आदिके समान तात्कालिक हैं, शास्त्रज्ञ लोग उस ज्ञानरूप अग्निसे दग्ध कर्मवाले पुरुषको पण्डित कहते हैं । तात्पर्य यह है कि 'कूटस्थ असङ्गचिद्रूप ही मैं हूँ, कर्ता, भोक्ता, श्रोता, द्रष्टा और वक्तारूप नहीं हूँ इस प्रकार आत्मामें ही आत्मभावकी प्राप्तिसे देह, देहके धर्म और देहके कर्मोंमें अपना असङ्गत्व दर्शन ही अग्नि है, उस अग्निसे जल गये हैं—निर्मूलित हो गये हैं, विहित, अविहित आदिरूप सब औपाधिक कर्म जिसके । उसी जीवन्मुक्त महापुरुषको ही बुध याने शास्त्रज्ञ लोग पण्डित कहते हैं (पण्डा—कल्याणी—अर्थात् सर्वत्र ब्रह्ममात्रत्व समझनेवाली अखण्डस्वरूप वृत्ति जिसको प्राप्त हुई है, वह पण्डित कहलाता है), दूसरेको नहीं कहते, यह भाव है । यहाँ 'कामसङ्कल्पवर्जित' यह जो कहा है, इससे 'जो जो जन्तु करता है, वह कामकी चेष्टा है' इस न्यायसे कर्मोंमें

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥ २० ॥

ब्रह्मानन्दमें मग्न रहनेवाला, कामनारहित पुरुष देह आदिमें तादात्म्यरूप अभिमानको छोड़कर यदि कर्ममें प्रवृत्त हो, तो भी वह कुछ नहीं करता अर्थात् उन कर्मोंसे लिप्त नहीं होता ॥ २० ॥

चेष्टितम्' इति न्यायात् कर्मसु प्रवृत्तेः कारणं कामस्तत्कारणं सङ्कल्प एवाऽऽरम्भाणां तद्विवर्जितत्वे स्वार्थे परार्थे वा विदुषः प्रवृत्तिरनुपपन्ना सती शरीरयात्रामात्रावशिष्टा, साऽपि तात्कालिकी, तत्राऽपि कामाद्यभावाद्वेगवर्जिता ज्ञानाग्निनिर्दग्धा च भवतीति सूचितं भवति ॥ १९ ॥

सर्वं ब्रह्मैव पश्यतो विदुषः स्वार्था परार्था वा प्रवृत्तिर्न संभवति क्वचिद्वासनया आहारादौ कर्मणि प्रवृत्तोऽपि स्वयमकर्मैव भवतीत्याह—त्यक्त्वेति ।

ब्रह्मवित्स्वयं नित्यतृप्तः नित्येनाऽऽनन्दैकरसेन स्वात्मना साक्षात्कृतेन ब्रह्मणैव तृप्तस्तृप्तिं गतः स्वरूपसुखसंपन्नस्तत एव निराश्रयः । येनससाधनं कर्म पुमानाश्रयति स आश्रयः कामस्तस्मान्निर्गतो यः स निराश्रयो निष्कामस्तत एव कर्मसु न प्रवर्तते काममूलत्वात्प्रवृत्तेस्तदभावात्तदभावो युक्तः । यदि वासनया भिक्षाटनादौ क्वचित्प्रवर्तते तदा कर्मफलासङ्गं कर्माणि फलन्ति यत्रेति वा, कर्माणि फलतीति

प्रवृत्तिका कारण काम है और कामका कारण सङ्कल्प ही है कर्मोंमें उनको छोड़ देनेपर स्वार्थ या परार्थ विद्वान्‌की प्रवृत्ति न होनेके कारण शरीरयात्रा ही अवशिष्ट रह जाती है, वह भी तात्कालिक ही होती है, उसमें भी प्रवृत्ति, काम आदि न होनेसे, वेगसे रहित और ज्ञानरूप अग्निसे जली हुई रहती है, यह सूचित होता है ॥ १९ ॥

'सब ब्रह्म ही है' ऐसा जाननेवाले विद्वान्‌की अपने लिए अथवा दूसरेके लिए प्रवृत्ति नहीं हो सकती, कहींपर वासनासे आहार आदि कर्ममें उसके प्रवृत्त होनेपर भी वह स्वयं अकर्म ही रहता है, ऐसा कहते हैं—'त्यक्त्वा' इत्यादिसे ।

ब्रह्मज्ञानी स्वयं नित्यतृप्त—नित्य आनन्दैकरस अपने आत्मरूपसे साक्षात् किये गये ब्रह्मसे तृप्तिको प्राप्त हुआ है अर्थात् स्वरूपसुखको प्राप्त हुआ है, इसीलिए निराश्रय है (पुरुष जिससे साधनसहित कर्मका आश्रय करता है, वह आश्रय कहलाता है याने काम, उस कामसे जो रहित हो वह निराश्रय—निष्काम—कहलाता है) इसीलिए कर्ममें प्रवृत्त नहीं होता, क्योंकि प्रवृत्तिका कारण काम है, कामके अभावसे प्रवृत्तिका अभाव युक्त ही है । यदि वासनासे कहीं भिक्षाटन आदिमें प्रवृत्त होता है, तो कर्मफलमें आसक्तिका—कर्म जिसमें फलते हैं या जो कर्म

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ २१ ॥

सम्पूर्ण कामनाओंसे रहित, सब परिग्रहोंसे रहित एवं देह तथा चित्तका निरोध करनेवाला पुरुष शरीरस्थितिके लिए कर्म करता हुआ भी पापसे लिप्त नहीं होता ॥ २१ ॥

वा, स्वयं कर्मणां फलत्वाद्वा, कर्मफलो देहस्तत्राऽऽसङ्गं कर्ता भोक्ता वक्ता श्रोता द्रष्टाऽहमिति तत्तादात्म्यं त्यक्त्वा कर्मणि स्वोचितेऽभिप्रवृत्तोऽपि स विद्वान् परदृष्ट्या कुर्वन्नपि स्वदृष्ट्या तु किञ्चिन्न करोत्येव । कर्मण्यकर्मत्वदर्शनेन कर्मभिरुपाधिकृतैर्न लिप्यत इत्यर्थः ॥ २० ॥

यस्तु विवेकवैराग्यशमदमादिसाधनसंपत्त्या सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य श्रवणमननाभ्यां विज्ञातात्मतत्त्वो यतिर्निदिध्यासनपरो भवति स तु शरीरयात्रामात्रात्मकं कर्म कृत्वा ब्रह्मनिष्ठया निर्मूलितबन्धः सन्मुक्तो भवतीत्याह—**निराशीरिति** ।

निःशेषं गता आशिषो वैषयिक्यः कामना यस्मात् स निराशीः । विनष्टसर्वकाम इत्यर्थः । तत एव त्यक्तसर्वपरिग्रहः त्यक्ताः कौपीनकन्थातिरिक्ताः सर्वे परिग्रहा येन स त्यक्तसर्वपरिग्रहो योगनिष्ठापरो यतिः स्वयं यतचित्तात्मा—आत्मा देहः, यतौ निरुद्धौ चित्तात्मानौ येन स यतचित्तात्मा, यद्वा यतं संस्थापितं

करता है अथवा जो स्वयं कर्मका फल है, वह कर्मफल कहलाता है, याने देह । उस देहमें आसक्तिका—(मैं कर्ता, भोक्ता, वक्ता, श्रोता, द्रष्टा हूँ, इस प्रकारके तादात्म्यका) त्याग-कर अपने उचित कर्ममें प्रवृत्त हुआ भी वह विद्वान् दूसरोंकी दृष्टिसे तो कुछ करता हुआ भी अपनी दृष्टिसे कुछ भी नहीं करता अर्थात् कर्ममें अकर्म देखनेके कारण उपाधि द्वारा किये गये कर्मोंसे लिप्त नहीं होता, यह भाव है ॥२०॥

परन्तु जो विवेक, वैराग्य, शम, दम आदि साधनसम्पत्तिसे सब कर्मोंका परित्याग कर श्रवण और मननसे आत्मतत्त्वको जानकर निदिध्यासनपरायण होता है, वह तो शरीरयात्रा-स्वरूप कर्म करके ब्रह्मनिष्ठासे बन्धनका निर्मूलन करता हुआ मुक्त हो जाता है, ऐसा कहते हैं—'निराशी०' इत्यादिसे ।

जिसमें से आशिष—विषयोंकी कामनाएँ—निःशेष चली गई हों, वह निराशी है । विनष्ट-सर्वकाम, यह अर्थ है । इसीलिए त्यक्तसर्वपरिग्रह—कौपीन और कन्थाके सिवा समस्त परिग्रहका जिसने त्याग कर दिया है, वह त्यक्तसर्वपरिग्रह—योगनिष्ठापरायण यति स्वयं यतचित्तात्मा—जिसने आत्मा (देह) और चित्त दोनों जीत लिये हैं—वशमें कर लिये हैं, वह यतचित्तात्मा है । अथवा जिसने चित्तको सदा आत्मामें ही, (अनात्मामें कभी नहीं) स्थापित कर लिया है, वह यत-

चित्तमात्मन्येव न क्वचिदनात्मनि येन स यतचित्तात्मा सन्। शारीरम्—शरीरस्थितिकारणं शारीरं प्राणत्राणैकप्रयोजनं तत्राऽपि केवलं यतित्वज्ञानित्वकर्तृत्वाभिमाननिर्मुक्तं शारीरं कर्म कुर्वन् किल्बिषं नाऽऽप्नोति । ननु 'व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' इति प्राणत्राणहेतोर्भिक्षाया यतेर्विहितत्वाद्विहितानुष्ठित्या किल्बिषासंभवादप्राप्तकिल्बिषप्राप्त्यभावप्रतिपादनमयुक्तमिति चेत्, न; क्वचित्किल्बिषप्राप्तिप्रसङ्गाद्यतचित्तात्मेत्युक्त्या वाचोऽपि निरुद्धत्वान्मौनिनो यतेः क्वचिदभिशस्तादिभ्योऽपि भिक्षाग्रहप्रसङ्गात् 'अभिशस्तपतितवर्जम्' इत्यादिश्रुतिप्रतिषिद्धानुष्ठित्या स्यादेव किल्बिषं सम्यग्ज्ञानप्रतिबन्धकं यत्तदेव कर्मण्यकर्मत्वदर्शनाग्निना निर्दह्य मुक्तिं प्राप्नोतीत्याशयेनोच्यते कुर्वन्नाऽऽप्नोति किल्बिषमिति । यद्वा 'मधु मांसं च मद्यं च ताम्बूलं तैलमौषधम् । त्याज्यान्यष्टौ यतेर्दूरात्तथा कान्ता च काञ्चनम् ॥' इत्यतिनिषिद्धमपि शारीरं शरीरस्थितिकारणं यदभावे शरीरं निर्गच्छति श्रवणादि न सिध्यति तच्छारीरं सर्पदंशननेत्ररोगोदरशूलादिमहोपद्रवे औषधसेवालक्षणम् 'औषधवदाशमनादाचरेत्' इति श्रवणाच्छारीरं कर्म केवलमयत्नसिद्धं कुर्वन् यतिः श्रवणादिशीलः किल्बिषं न प्राप्नोति । यद्वा निराशीर्नित्यानित्यविवेकवैराग्यतीव्रमोक्षेच्छाभिराशीर्भ्य

चित्तात्मा है, ऐसा यतचित्तात्मा होकर शरीरकी स्थितिके कारण शारीर कर्मको अर्थात् केवल प्राणरक्षारूप प्रयोजनसे युक्त, उसमें भी यतित्व, ज्ञानित्व और कर्तृत्वके अभिमानसे रहित कर्मको करता हुआ पापसे लिप्त नहीं होता। यदि शङ्का हो कि 'विरक्त होकर भिक्षावृत्ति करते हैं' इस श्रुतिसे प्राणरक्षामें हेतु भिक्षाचरण यतिके लिए विहित है, विहितका अनुष्ठान करनेसे पाप नहीं लगता, जहाँ पाप प्राप्त ही नहीं है, वहाँ पापकी प्राप्तिके अभावका प्रतिपादन ठीक नहीं है, तो यह शङ्का भी युक्त नहीं है, क्योंकि कहीं पापकी प्राप्तिका प्रसङ्ग उसको भी हो सकता है। 'यतचित्तात्मा', इस प्रकारके कथनसे वाणीके भी निरुद्ध होनेसे मौनी यतिको कहीं अभिशस्त (निन्दित) आदिसे भी भिक्षाग्रहणका प्रसङ्ग होगा, 'अभिशस्त और पतितको छोड़कर' इत्यादि श्रुतियोंसे निषिद्ध भिक्षाग्रहणरूप कर्मका अनुष्ठान करनेसे पाप होगा ही, जो सम्यक् ज्ञानका प्रतिबन्धक है, उसीको कर्ममें अकर्मत्वदर्शनसे जलाकर मुक्तिको प्राप्त होता है, इसीलिए कहा है कि कर्ता हुआ भी पापको प्राप्त नहीं होता। अथवा 'मधु, मांस, मद्य, ताम्बूल, तैल, औषध, कान्ता और काञ्चन, इन आठोंको यति दूरसे त्याग देवें' इस वाक्यसे अतिनिषिद्ध भी शारीरको—शरीरकी स्थितिके कारण कर्मको—यानी जिसके न करनेसे शरीर चला जाता है, श्रवण आदि सिद्ध नहीं होते, उस शारीर कर्मको सर्पदंश, नेत्ररोग, उदरशूल आदि महान् उपद्रवोंमें औषधसेवारूप 'औषधके समान उपद्रवके शान्त होने तक करे' इत्यर्थक श्रुतिके अनुसार यत्नके बिना प्राप्त शारीर कर्मको—करता हुआ श्रवण आदिसे युक्त यति पापको प्राप्त नहीं होता। अथवा निराशी—नित्यानित्यवस्तुविवेक, वैराग्य तथा तीव्र मुमुक्षाके द्वारा आशाओंसे अर्थात् तुच्छ विषयवाली

ऐहिकामुष्मिकसुखाशाभ्यस्तुच्छविषयाभ्यो निर्गतो यः स निराशीस्तत एव त्यक्तसर्वपरिग्रहः धर्मप्रजासंपत्त्यर्थं परिगृह्यत इति परिग्रहो दारादिः सर्वोऽपि मोक्षेच्छया परित्यक्तो येन स त्यक्तसर्वपरिग्रहः संन्यस्तसर्वकर्मतत्साधनो यतिः स्वयं यतचित्तात्मा यतौ बाह्यवृत्तेर्निवर्तितौ चित्तमात्मा कार्यकारणसंघातश्च द्वौ येन स यतचित्तात्मा सन् शारीरं शरीरोपाधिकत्वादात्मा शारीरस्तत्प्रापकं कर्माऽपि श्रवणादिकं शारीरमेव भवति । बाह्यं जपादिकर्म सर्वं परित्यज्याऽऽन्तरं केवलं शारीरमेव श्रवणादिलक्षणं कर्म कुर्वन् किल्बिषं दुःखप्रदं संसारबन्धनं न प्राप्नोति । 'कुर्वन्नाऽऽप्नोति किल्बिषम्' इति वदता भगवता जपादिकर्मणा सह श्रवणादि कुर्वन् वा श्रवणादि त्यक्त्वा यतिस्तद्व्यतिरिक्तं कर्मैव कुर्वन् किल्बिषमेव प्राप्नोतीति सूचितं भवति । तेन यतेः श्रवणाद्येव सर्वदा कर्तव्यं नाऽन्यत्स्तोत्रमन्त्रजपादिकमिति सिद्धं भवति । तथा च स्मृतिः—'यमानभीक्ष्णं सेवेत नियमान्मत्परस्त्यजेत् । जिज्ञासायां संप्रवृत्तो नाऽऽद्रियेत्कर्मचोदनाम् ॥' 'इति संन्यस्य श्रवणं कुर्यान्नाऽन्यत् कुर्याद्यतिः क्वचित्' इति च ॥ २१ ॥

परावरैकत्वविज्ञानाग्निनिर्दग्धाविद्यातत्कार्यग्रन्थेर्जीवन्मुक्तस्य विदुषः शरीरयात्रा-

---

इस लोक और परलोकके सुखकी आशाओंसे जो निकल गया है, वह निराशी कहलाता है, इसीसे त्यक्तसर्वपरिग्रह—धर्म और प्रजाकी प्राप्तिके लिए जिसका ग्रहण किया जाता है, वह परिग्रह कहलाता है, अर्थात् दारा आदि । उन सबका मोक्षकी इच्छासे जिसने त्याग किया है, वह त्यक्तसर्वपरिग्रह कहलाता है अर्थात् सब कर्म और कर्मके साधनोंका त्यागनेवाला यति । स्वयं यत हो गये हैं—बाहरकी वृत्तिसे (व्यापारसे) निवृत्त कर दिये हैं—चित्त और कार्यकारण-सङ्घात (देह, इन्द्रिय आदि) दोनों जिसने, वह यतचित्तात्मा कहलाता है, यतचित्तात्मा होकर शारीर कर्मको शरीररूप उपाधिवाला होनेसे आत्मा शरीर कहलाता है, उसको प्राप्त करानेवाला श्रवण आदि कर्म ही शारीर है । बाहरके जप आदि सब कर्मका त्यागकर आन्तर केवल श्रवण आदिरूप शारीर कर्मको ही करता हुआ किल्विषको—दुःख देनेवाले संसाररूप बन्धनको—प्राप्त नहीं होता । 'करता हुआ किल्विषको प्राप्त नहीं होता' इत्यर्थक 'कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्' इस प्रकार भगवान्‌के कहनेसे यह सूचित होता है कि जपादि कर्म सहित श्रवणादिको करता हुआ अथवा श्रवणादिका त्यागकर अन्य कर्मको करता हुआ यति किल्बिषको ही प्राप्त होता है, इसलिए यतिको सर्वदा श्रवण आदि ही करने चाहिए, अन्य स्तोत्र, मन्त्र, जप आदि नहीं करने चाहिएँ । ऐसा सिद्ध होता है । जैसे कि स्मृति है—'यमोंका सदा सेवन करे, मत्परायण होकर नियमोंको त्याग देवे, ब्रह्मविचारमें प्रवृत्त हुआ कर्मविधिका आदर न करे ।' संन्यास करके यति श्रवणको करे और कुछ भी कहीं न करे ॥ २१ ॥

परावरैकत्वविज्ञानरूप अग्निसे जिसकी अविद्या और अविद्याकी कार्यरूप ग्रन्थि जल गई

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वाऽपि न निबध्यते ॥ २२ ॥

प्रारब्धवश प्राप्त अन्न आदिसे सन्तुष्ट होनेवाला, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंसे रहित, मात्सर्यशून्य एवं सिद्धि और असिद्धिमें हर्ष और विषादसे रहित यति कर्म करके भी बन्धनको प्राप्त नहीं होता ॥ २२ ॥

तिरिक्तं कर्तव्यं कर्म नाऽस्तीति प्रतिपाद्य निदिध्यासोर्यतेर्मौनिनस्त्वन्नतद्दातृविचारमन्तरेण शरीरयात्रां कुर्वतोऽपि विमुक्तिर्न प्रतिबध्यत इत्युक्त्वा जीवन्मुक्तस्याऽजगरवृत्तेर्यदृच्छाप्राप्तेन जीवनं कुर्वतोऽपि यतेर्या वृत्तिः सा मुक्तिप्रतिबन्धकी न भवतीतीदानीं प्रतिपादयति श्रीभगवान्—**यदृच्छेति** ।

द्वन्द्वातीतः द्वन्द्वानि त्वमहमिति, इदमद इति, इष्टमनिष्टमिति, शुद्धमशुद्धमिति, द्वैतमद्वैतमित्यादीनि विपरीतज्ञानान्यतीतः सर्वत्र ब्रह्मदृष्ट्या विनष्टविपरीतदर्शनस्तत एव विमत्सरः अहमेवेदं सर्वमिति सर्वस्य स्वात्मत्वेनाऽधिगतत्वादुत्कृष्टत्वापकृष्टत्वभावनानुपपत्तौ सर्वत्राऽऽत्मबुद्धिः । अतएव यदृच्छालाभसन्तुष्टः अयत्नप्राप्तो लाभो यदृच्छालाभः प्रारब्धवशात् स्वत एव प्राप्तः साधुना वाऽसाधुना वा दत्तः शुद्धोऽशुद्धो वाऽल्पोऽनल्पो वाऽन्नादिस्तेनैव सन्तुष्टः परितृप्तिं प्राप्तः सन्नाहारस्य सिद्धावसिद्धौ च समो ब्रह्मानन्दानुभूत्या स्वयं हर्षविषादवैवर्ण्यादिरहितो भूत्वैवं शरीरयात्रां कृत्वाऽप्याजगरो

है, ऐसे जीवन्मुक्त यतिको शरीरयात्राके सिवा अन्य कर्तव्य कर्म नहीं है, ऐसा प्रतिपादन करके निदिध्यासन करनेवाले मौनी यतिकी भी, जो कि अन्न और अन्नके देनेवालेके विषयमें किसी प्रकारका विचार न कर शरीरयात्रा करता है, मुक्ति नहीं रुकती, ऐसा कहा, अब अजगरवृत्तिसे आकस्मिक प्रारब्धवश प्राप्त हुए पदार्थसे जीवननिर्वाह करनेवाले जीवन्मुक्त यतिकी जो वृत्ति है, वह भी मुक्तिकी प्रतिबन्धक नहीं है, ऐसा श्रीभगवान् प्रतिपादन करते हैं—'यदृच्छा' इत्यादिसे ।

तुम और मैं, यह और वह, इष्ट और अनिष्ट, शुद्ध और अशुद्ध, द्वैत और अद्वैत इत्यादि विपरीतज्ञानरूप द्वन्द्व जिसके अतीत हो गये हैं याने सर्वत्र ब्रह्मनिष्ठासे जिसका विपरीत दर्शन निवृत्त हो गया है, वह द्वन्द्वातीत है, इसीसे विमत्सर—मैं ही यह सब हूँ, इस प्रकार सबको अपने आत्मस्वरूप जाननेके कारण उत्कृष्टत्व और अपकृष्टत्व भावना न होनेसे सर्वत्र आत्मबुद्धिवाला, इसीसे यदृच्छालाभसन्तुष्ट—यत्नके बिना प्राप्त लाभ यदृच्छालाभ कहलाता है अर्थात् प्रारब्धसे स्वतः ही प्राप्त चाहे वह अन्न आदि साधु या असाधु द्वारा दिया गया हो, चाहे शुद्ध या अशुद्ध हो, चाहे थोड़ा या बहुत हो, उसीसे सन्तुष्ट (परितृप्तिको प्राप्त हुआ), सिद्धि और असिद्धिमें सम—ब्रह्मानन्दके अनुभवसे स्वयं हर्ष, विषाद, वैवर्ण्य आदिसे रहित—होकर, इस प्रकार शरीरयात्रा करता हुआ

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाऽऽचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ २३ ॥

अहं, मम इत्यादि अभिमानसे शून्य (अहङ्कारशून्य), कामनाओंसे रहित एवं सर्वदा ब्रह्माकार चित्तवृत्तिवाले पुरुष द्वारा भगवान्‌की तुष्टिके लिए या लोकहितके लिए अनुष्ठीयमान सम्पूर्ण विकर्म आदि कर्म समूल विनष्ट हो जाते हैं अर्थात् जन्मादि बन्धनके कारण नहीं होते ॥ २३ ॥

ब्रह्मविद्यतिर्न निबध्यते मुक्तेः प्रतिबन्धनं न प्राप्नोति । लोकदृष्ट्या त्वाहारादिवैषम्येण प्रतिबन्धकवद्दोषेण प्रतीयमानोऽपि विद्वान् सर्वमिदमहं च ब्रह्मैवेति भोक्तृभोग्यदातृदेयादेः सर्वदृश्यस्य ब्रह्ममात्रत्वेन प्रविलापितत्वात्परे ब्रह्मण्यद्वितीये प्रतिबन्धहेतोरन्यस्याऽसंभवात्पतितेऽस्मिन् विद्वद्देहे विदेहमुक्तिं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ २२ ॥

ननु सर्वमिदमहं च ब्रह्मैवेति सर्वस्याऽपि स्वस्य च ब्रह्मत्वमेव प्रत्यग्दृष्ट्या सर्वदा पश्यतां ब्रह्मविदां जीवन्मुक्तानां शरीरयात्रात्मकं कर्म ब्रह्मदृष्ट्या प्रविलापितत्वेन निःसत्ताकतया तेषां मुक्तिप्रतिबन्धकं माऽस्तु, लोकानुग्रहकाम्यया कर्मणि प्रवृत्तस्याऽऽधिकारिकस्याऽन्यस्य वा विदुषोऽहं कर्ताऽनेनेदं कर्तव्यमिति क्रियाकारकभेददृष्टिमवष्टभ्य क्रियमाणेन कर्मणा मुक्तिः प्रतिबध्यत एव, 'नाऽभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि' इत्यादिस्मृतिनियमादित्याशङ्कायाम् , न; ब्रह्मविद्भिर्महापुरुषैः

भी अजगरवृत्तिवाला ब्रह्मज्ञानी यति बँधता नहीं है—मुक्तिके प्रतिबन्धको प्राप्त नहीं होता अर्थात् यद्यपि लोकदृष्टिसे प्रतिबन्धकके समान आहार आदिकी विषमता दोषसे युक्त प्रतीत होता है, तथापि 'यह सब मैं ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार भोक्ता, भोग्य, दाता, देय आदि सब दृश्योंका ब्रह्ममात्ररूपसे प्रविलापन होनेके कारण अद्वितीय परब्रह्ममें प्रतिबन्धहेतु अन्यके न होनेसे इस विद्वत्-देहके नष्ट होनेपर उक्त विद्वान् विदेहमुक्तिको प्राप्त होता है, यह भाव है ॥ २२ ॥

'यह सब और मैं ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार सबको और अपनेको प्रत्यग्दृष्टिसे सर्वदा ब्रह्मरूप ही देखनेवाले जीवन्मुक्त ब्रह्मज्ञानियोंका शरीरयात्रारूप कर्म ब्रह्मदृष्टिसे प्रविलापित होनेके कारण सत्तारहित है, अतः उनकी मुक्तिमें भले ही वह प्रतिबन्धक न हो, पर लोकानुग्रहकी कामनासे कर्ममें प्रवृत्त हुए अधिकारीकी अथवा अन्य अविद्वान्‌की 'मैं कर्ता हूँ' 'इससे यह कर्तव्य है' इस प्रकार क्रिया, कारक आदि भेददृष्टिका अवलम्बन कर किये जा रहे कर्मसे मुक्ति रुक ही जाती है, क्योंकि 'बिना भोगे सैकड़ों कल्पोंतक कर्मका क्षय नहीं होता' इस प्रकार स्मृतिका नियम है, ऐसी यदि आशङ्का हो, तो वह युक्त नहीं

क्रियमाणं क्रियाकारकादिभेदभिन्नमपि कर्म लौकिकं वैदिकं च सर्वं ब्रह्मैवेति सर्वत्र ब्रह्मबुद्ध्यैव क्रियते, न तु मयेदं क्रियत इति भेददृष्ट्या । ततस्तैः क्रियमाणं कर्माऽकर्मैव सत्स्वयं मुक्तिं तेषां प्रतिबद्धुं न शक्नोतीत्याशयेनाऽऽह—**गतसङ्गस्येति** ।

मुक्तस्य ब्रह्मण्येवाऽऽत्मभावापत्त्याऽहंममाभिनिवेशेन विमुक्तस्य निरहङ्कृतेरत एव गतसङ्गस्य सज्जते पुमाननेन कर्मस्विति सङ्गः कामः स गतो यस्य तस्य गतसङ्गस्य निष्कामस्याऽत एव ज्ञानावस्थितचेतसः ज्ञानं सर्वत्र ब्रह्मदर्शनलक्षणं तत्रैवाऽवस्थितं चेतो यस्य तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः दृश्यावगाहिन्या वृत्तेः सदा ब्रह्माकारतामेवाऽऽपादयतो यज्ञाय विष्णवे । यद्वा श्रौतैः स्मार्तैश्च कर्मभिर्देवान् यजन्तीति यज्ञाः ब्राह्मणा ब्रह्मादयस्तेभ्यः । जातावेकवचनम् । यज्ञाय लोकहितायैवाऽऽचरतः कर्माणि कुर्वतः आधिकारिकस्य नित्यमनुष्ठीयमानं कर्म समग्रं करणत्रयनिर्वर्तितं सर्वं कर्माकर्मादिलक्षणं वा सर्वं प्रविलीयते । ब्रह्मबुद्ध्या प्रविलापितं सत्समूलं विनश्यति न जन्मादिफलाय कल्पत इत्यर्थः ॥ २३ ॥

प्रविलापनप्रकारमेवाऽऽह—**ब्रह्मार्पणमिति** ।

ब्रह्माऽर्पणं हविरर्प्यतेऽनेनेत्यर्पणं चमसस्रुक्स्रुवादिकं सर्वं ब्रह्मैवेति प्रत्यग्दृष्ट्या

है; क्योंकि महापुरुष ब्रह्मज्ञानियों द्वारा किये जा रहे क्रिया, कारक आदि भेदसे भिन्न लौकिक और वैदिक कर्मका 'सब ब्रह्म ही है' इस प्रकार सर्वत्र ब्रह्मबुद्धिसे ही अनुष्ठान होता है, यह मैंने किया, इस भेददृष्टिसे नहीं होता, इसलिए उनके द्वारा किया जा रहा कर्म, अकर्म होनेके कारण, उनकी मुक्तिको रोक नहीं सकता, इस आशयसे कहते हैं—**'गतसङ्गस्य'** इत्यादिसे ।

मुक्त अर्थात् ब्रह्ममें ही आत्मभावकी प्राप्तिसे 'मैं, मेरा' इस प्रकारके अभिनिवेशसे रहित याने निरहङ्कार, अतएव गतसङ्ग (जिससे पुरुष कर्ममें आसक्त होता है, वह सङ्ग कहलाता है अर्थात् काम । वह काम जिसका चला गया है, उसे गतसङ्ग कहते हैं, अर्थात् निष्काम) इसीसे ज्ञानावस्थितचित्त (ज्ञानमें—सर्वत्र ब्रह्मदर्शनरूप ज्ञानमें—ही जिसका चित्त स्थित है, वह ज्ञानावस्थितचित्त है) अर्थात् दृश्यावगाहिनी वृत्तिमें सदा ब्रह्माकारताका सम्पादन करनेवाले। यज्ञके लिए (विष्णुके लिए) अथवा श्रौत-स्मार्त कर्मोंसे जो देवताओंका यजन करते हैं, वे यज्ञ हैं याने ब्रह्मा आदि ब्राह्मण, उनके लिए (जातिमें एक वचन है) । यज्ञके लिए (लोकहितके लिए) ही आचरण करनेवाले—कर्म करनेवाले—अधिकारीके नित्य नियमसे अनुष्ठित समग्र कर्म—(तीनों करणोंसे किये गये कर्म-अकर्मरूप सब कर्म) लीन हो जाते हैं । ब्रह्मबुद्धिसे प्रविलापित होकर समूल नष्ट हो जाते हैं—जन्मादि फलके लिए समर्थ नहीं होते, यह अर्थ है ॥ २३ ॥

लय करनेका प्रकार कहते हैं—**'ब्रह्मार्पणम्'** इत्यादिसे ।

जिससे हविका अर्पण किया जाता है, उसे अर्पण कहते हैं अर्थात् चमस, स्रुक्, स्रुवा

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ २४ ॥

अग्निमें हविका प्रक्षेप करनेमें साधानभूत चमस, स्रुक्, स्रुवा आदि सब ब्रह्मज्ञानीके लिए ब्रह्मस्वरूप ही हैं, हविस् भी ब्रह्म ही है, ब्रह्म (हवन करनेवाले) द्वारा की गई हवनक्रिया भी ब्रह्मस्वरूप ही है एवं सर्वत्र ब्रह्ममात्रत्वदर्शनरूप ब्रह्म कर्ममें अन्तःकरणको स्थापित करनेवाले पुरुष द्वारा प्राप्तव्य स्थान भी ब्रह्म ही है ॥२४॥

ब्रह्मवित्पश्यति । मूढदृष्ट्या यद्रजतं तदेव विवेकिदृष्ट्या शुक्तिर्यथा तथाऽज्ञदृष्ट्या यच्चमसादि यज्ञसाधनं तदेव ब्रह्मविद्दृष्ट्या ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः । ब्रह्म हविर्यज्ञियं यद्धविश्चरुपुरोडाशादिकं होम्यद्रव्यं तत्सर्वं ब्रह्मैव पश्यति । ब्रह्मणा होमकर्त्रा । कर्ताऽपि ब्रह्मैवेति यजमानं स्वं ब्रह्मविद् ब्रह्मैव पश्यति । ब्रह्माग्नौ ब्रह्मैवाऽग्निस्तं होमाधिकरणं ब्रह्मैवेति पश्यति । तस्मिन् ब्रह्माग्नौ यद्धुतं हवनक्रिया तदपि ब्रह्मैव पश्यति । ब्रह्मकर्मसमाधिना सर्वस्य ब्रह्ममात्रत्वदर्शनं यत्तद् ब्रह्मकर्म तस्मिन् ब्रह्मकर्मणि समाधिश्चित्तस्य स्थापनं यस्य तेन ब्रह्मकर्मसमाधिना सर्वं ब्रह्मैव पश्यता ब्रह्मविदा यद्गन्तव्यमेवंदर्शनस्य फलत्वेन प्राप्तव्यमिदमेवाऽहमस्मीति तद् ब्रह्मैव भवति । इत्थं लोकहितार्थं प्रवृत्तस्याऽऽधिकारिकस्य ब्रह्मविदोऽपि ससाधनं सर्वं कर्म ब्रह्मवृत्त्या ब्रह्ममात्रत्वेन प्रविलापितत्वात्स्वयं निःसत्त्वेनाऽकर्मैव सद्बन्धाय न भवतीति सिद्धम् । एतेन चलनात्मिकायाः प्रवृत्तेर्निरोधस्य दुष्करत्वात् सर्वदा विदुषोऽपि प्रवर्तितव्यत्वे

आदि यज्ञपात्र, ये सब ब्रह्म ही हैं, इस प्रकार प्रत्यग्दृष्टिसे ब्रह्मज्ञानी देखता है। मूढदृष्टिसे जो रजत है, वही जैसे विवेकदृष्टिसे सीप है, वैसे ही अज्ञानीकी दृष्टिसे चमस आदि जो यज्ञसाधन है, वही ब्रह्मज्ञानीकी दृष्टिसे ब्रह्म है, यह भाव है। यज्ञ करनेके लिए जो हवि—चरु, पुरोडाश आदि होम्य द्रव्य—हैं, उनको ये सब ब्रह्म ही हैं, ऐसा देखता है। ब्रह्मा द्वारा (होमके कर्ता द्वारा)। कर्ता भी ब्रह्म ही है, इसलिए यजमानरूप अपनेको ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म ही देखता है। ब्रह्माग्निमें—ब्रह्म ही अग्नि है, उसको—होमके अधिकरणको—ब्रह्म ही है, ऐसा देखता है। उस ब्रह्माग्निमें जो हुत—हवन क्रिया—है, वह भी ब्रह्म ही है, ऐसा देखता है। ब्रह्मकर्मसमाधिसे—सबमें जो ब्रह्ममात्रत्वदर्शन है, वह ब्रह्मकर्म है, उस ब्रह्मकर्ममें समाधि—चित्तका स्थापन—जिसका है, उस ब्रह्मकर्मसमाधिसे 'सब ब्रह्म ही है, ऐसा देखनेवाले ब्रह्मज्ञानीका जो गन्तव्य—इस प्रकारके दर्शनके फलरूपसे जो 'यही मैं हूँ' इस प्रकार प्राप्तव्य है, वह ब्रह्म ही है। इस प्रकार लोकहितके लिए प्रवृत्त अधिकारी ब्रह्मज्ञानीका भी साधनसहित सब कर्म ब्रह्मवृत्तिसे ब्रह्ममात्ररूपसे प्रविलापित होनेके कारण स्वयं निःसत्त्व होनेसे अकर्म ही होता हुआ बन्धनके लिए नहीं होता, यह सिद्ध हुआ। इससे यह सूचित होता है कि चलनात्मक

दैवमेवाऽपरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ २५ ॥

मोक्ष चाहनेवाले कुछ कर्मयोगी श्रौत और स्मार्तरूप दैव यज्ञकी ही (चित्तकी शुद्धिके लिए) उपासना करते हैं, कर्मयोगीसे अन्य यति, जिन्होंने श्रवणादिसे आत्मतत्त्वको जान लिया है, सत्, चित्, और आनन्दरूप निर्विशेष ब्रह्मरूप अग्निमें सोपाधिक आत्मरूप यज्ञका निरुपाधिक यज्ञरूपसे प्रक्षेप करते हैं याने सोपाधिक आत्माका निर्विशेष आत्मरूपसे अनुभव करते हैं ॥ २५ ॥

प्राप्ते विवेकिनो व्यर्थव्यावृत्त्यपेक्षया वैदिकी प्रवृत्तिर्भूषणाय मनोहर्षाय लोकहिताय चाऽन्ततोऽप्यबन्धाय च भवति, अतस्तयैव दृष्ट्या सद्भिर्ब्रह्मविद्भिः प्रवर्तितव्यमिति सूचितं भवति ॥ २४ ॥

पूर्वं 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः' इति मन्त्रेण चमसादीनां ब्रह्ममात्रत्वदर्शनलक्षणं ज्ञानं यज्ञरूपत्वेन वर्णयित्वा तस्यैव ज्ञानयज्ञस्य साक्षान्मोक्षैकसाधनत्वेन दैवादियज्ञापेक्षया सर्वोत्तमत्वं प्रतिपादयितुं मोक्षस्य व्यवहितसाधनानां दैवादियज्ञानां मुमुक्षुभिः स्वाधिकारानुरूपेण चित्तशुद्ध्यर्थमनुष्ठेयत्वं सूचयितुं च दैवादियज्ञान्निरूपयति—**दैवमिति** ।

देवानिन्द्रादीनुद्दिश्य प्रवृत्तो यज्ञो दैवस्तं दैवमेव यज्ञं श्रौतं स्मार्तं चाऽपरे मोक्षकामा योगिनः कर्मयोगिनो गृहिणश्चित्तशुद्ध्यर्थं पर्युपासतेऽनुतिष्ठन्तीति दैव एव वैदिको यज्ञो गृहिणां कर्तव्य इति सूचयित्वा ब्रह्मविदां यतीनां स्वयमेव यज्ञः

प्रवृत्तिका रोकना दुष्कर है, इसलिए विद्वान्को भी करने योग्य कर्मोंके प्राप्त होनेपर विवेकीकी, व्यर्थ व्यावृत्तिकी अपेक्षा, वैदिक प्रवृत्ति भूषणके लिए, मनके हर्षके लिए एवं लोकके हितके लिए है और अन्तमें बन्धनके अभाव (मुक्ति) के लिए होती है, इसीलिए उसी दृष्टिसे सदाचारी ब्रह्मज्ञानियोंको वर्तना चाहिए ॥ २४ ॥

पूर्वमें 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः' इस मन्त्रसे चमस आदिमें ब्रह्ममात्रत्वदर्शनरूप ज्ञानका यज्ञरूपसे वर्णन करके मोक्षके प्रति साक्षात् साधन होनेके कारण दैवादि यज्ञोंकी अपेक्षा उस ज्ञानयज्ञमें ही सबसे उत्कृष्टताका प्रतिपादन करनेके लिए मोक्षके व्यवहित (बहिरङ्ग) साधन दैवादि यज्ञ मुमुक्षुओंको अपने अधिकारके अनुसार चित्तकी शुद्धिके लिए करने चाहिए, ऐसा सूचन करनेके लिए दैवादि यज्ञोंका निरूपण करते हैं—'**दैवमेवाऽपरे**' इत्यादिसे ।

इन्द्र आदि देवताओंके उद्देशसे किया गया यज्ञ दैव कहलाता है, उसी श्रौत और स्मार्तरूप दैव यज्ञकी कोई मोक्ष चाहनेवाले योगी (कर्मयोगी गृहस्थ) चित्तकी शुद्धिके लिए उपासना करते हैं—अनुष्ठान करते हैं। दैव ही—वैदिक यज्ञ ही—गृहस्थोंको करना चाहिए,

कर्तव्यो मुक्त्यर्थमित्युक्तमेव ज्ञानयज्ञं प्रकारान्तरेण वर्णयति—ब्रह्माग्नाविति । अपरे गृहिभ्यो भिन्ना यतयः श्रवणादिभिर्विज्ञातात्मतत्त्वाः स्वयं ब्रह्माग्नौ 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'आनन्दो ब्रह्म', 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरम्' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धं निरस्ताशेषविशेषं सच्चिदानन्दघनं यत्परं ब्रह्म तदेवाऽग्निरविद्यातत्कार्यदावदाहकत्वात् सोपाधिकात्माहुतिप्रक्षेपस्याऽधिकरणत्वाच्च परं ब्रह्माग्निरित्युच्यते । तस्मिन् ब्रह्माग्नौ यज्ञं पामरैरहं भोक्तेति विषयोपभोगैरिज्यत इति यज्ञ आत्मा सोपाधिकस्तं यज्ञं वस्तुतो निर्विशेषमप्यध्यासतो बुद्ध्याद्युपाधियुक्तमात्मानमाहुतिनिक्षेपणकाले यज्ञेनाऽऽत्मना निर्विशेषस्वरूपेणैव ब्रह्मणि जुह्वति । अहं ब्रह्मास्मीत्यहंपदार्थं सोपाधिकवत्प्रतीयमानं विवेकवृत्त्या निर्विशेषं भावयित्वा ब्रह्माभिन्नमनुभवन्तीत्यर्थः । यद्वा यज्ञमात्मानं सोपाधिकं यज्ञेन 'यज्ञो वै विष्णुः' इति श्रवणात्सोपाधिकेनेश्वरेण सहैव जुह्वति । सोपाधिकमीश्वरं सोपाधिकमात्मानं चोभौ तत्तदुपाधिमपोह्य चोभयोरधिष्ठानभूतेन तुरीयेण निर्विशेषेण ब्रह्मणाऽभिन्नौ पश्यन्ति । यथा तरङ्गबुद्बुदौ तन्नामरूपापोहेन तदाधारभूतसमुद्रेणाऽभिन्नौ पश्यन्ति तद्वदित्यर्थः ॥ २५ ॥

ऐसा सूचन करके ब्रह्मज्ञानी यतियोंको मुक्तिके लिए उसी यज्ञको करना चाहिए, इस प्रकार कहे गये ज्ञानयज्ञका ही दूसरे प्रकारसे वर्णन करते हैं—'ब्रह्माग्नौ' इत्यादिसे । दूसरे (गृहस्थोंसे भिन्न) श्रवणादिसे आत्मतत्त्वको जाननेवाले यति स्वयं ब्रह्मरूप अग्निमें—'सत्य, ज्ञान अनन्त ब्रह्म', 'आनन्द ब्रह्म', 'वह यह ब्रह्म कार्यकारणरहित है' इत्यादि श्रुतियोंमें प्रसिद्ध, अशेषविशेषसे रहित, सच्चिदानन्दघन जो परब्रह्म है, वही अग्नि है, क्योंकि अविद्या और अविद्याके कार्यको जलानेवाला है और सोपाधिक आत्माकी आहुतिके प्रक्षेपका अधिकरण है, इसलिए परब्रह्म अग्नि कहा जाता है, उस ब्रह्मरूप अग्निमें—यज्ञका (पामर पुरुषों द्वारा जिसका 'मैं भोक्ता हूँ' ऐसा समझकर विषयरूप उपभोगोंसे यजन किया जाता है, वह यज्ञ है यानी सोपाधिक आत्मा उस यज्ञका) वस्तुरूपसे निर्विशेष भी अध्यास द्वारा बुद्धि आदि उपाधिसे युक्त आत्माको आहुति प्रक्षेपसमयमें यज्ञस्वरूपसे (निर्विशेषस्वरूपसे) ही ब्रह्ममें हवन करते हैं । 'मैं ब्रह्म हूँ' इसमें सोपाधिकके समान प्रतीत होनेवाले अहं पदार्थमें—विवेकवृत्तिसे निर्विशेषकी भावना करके ब्रह्माभेदका अनुभव करते हैं, यह भाव है । अथवा यज्ञको—सोपाधिक आत्माको—यज्ञसे 'यज्ञ विष्णु ही है' इस श्रुतिके अनुसार सोपाधिकके साथ ही हवन करते हैं । सोपाधिक ईश्वर और सोपाधिक आत्मा दोनोंको और उनकी उपाधियोंको दूर करके दोनोंके अधिष्ठान तुरीय, निर्विशेष ब्रह्मसे दोनोंको अभिन्न देखते हैं । जैसे तरङ्ग, बुद्बुद दोनोंको उनके नाम और रूप दूर करके उनके आधारभूत समुद्रसे अभिन्न देखते हैं, वैसे ही देखते हैं, यह भाव है ॥ २५ ॥

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन् विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥ २६ ॥

कुछ नैष्ठिक ब्रह्मचारी आदि मुमुक्षु लोग श्रोत्र आदि इन्द्रियोंका संयमरूप अग्निमें हवन करते हैं याने इन्द्रियनिग्रहरूप यज्ञका अनुष्ठान करते हैं और कुछ गृहस्थ मुमुक्षु लोग शब्द आदि विषयोंका इन्द्रियरूप अग्निमें हवन करते हैं अर्थात् अनिषिद्ध विषयोंका इन्द्रियोंसे अनुभव करते हैं ॥ २६ ॥

एवं ब्रह्मविदां कर्तव्यं ज्ञानयज्ञं विधायाऽथाऽब्रह्मविदां कर्तव्यानि यज्ञान्तराण्याह— **श्रोत्रादीनीति ।**

उक्तेभ्योऽन्ये त्वब्रह्मविदो मुमुक्षवो नैष्ठिकब्रह्मचार्यादयः इन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि वागादीनि च संयमाग्निषु । संयमो नाम तत्तदिन्द्रियस्य तत्तद्विषयाद् विनिवर्त्य तत्तत्स्थाने निग्रहः । इन्द्रियाणां बहुत्वात्संयमा बहवस्त एवाऽग्नयस्तेषु संयमाग्निषु चक्षुरादीन्द्रियाहुतीर्जुह्वति । इन्द्रियनिग्रहरूपं यज्ञं कुर्वन्तीत्यर्थः । एतदन्ये गृहिणो मुमुक्षवः स्वधर्मनिष्ठाः शब्दादिविषयाननिषिद्धान् योग्यकाल एवेन्द्रियाग्निषु तन्निक्षेपणाधिकरणत्वादिन्द्रियाण्येवाऽग्नयस्तेषु जुह्वति । विषयानुभवनियम एव तेषां यज्ञ इत्यर्थः ॥ २६ ॥

किञ्च, **सर्वाणीति** । उक्तेभ्योऽपरे केचन यतयो ध्याननिष्ठा इन्द्रियकर्माणि ज्ञानेन्द्रियाणां कर्मेन्द्रियाणां च कर्माणि श्रवणदर्शनादीनि वचनादानादीनि च

इस प्रकार ब्रह्मज्ञानियोंके कर्तव्यभूत ज्ञानयज्ञका विधानकर अब ब्रह्मको नहीं जाननेवाले अब्रह्मज्ञानियोंके कर्तव्यभूत दूसरे यज्ञोंको कहते हैं—'श्रोत्रादीनी०' इत्यादिसे ।

जो कहे गये हैं, उनसे अन्य ब्रह्मको न जाननेवाले नैष्ठिक ब्रह्मचारी आदि मुमुक्षु लोग इन्द्रियोंको—'श्रोत्रादि और वागादि इन्द्रियोंको—संयमरूप अग्नियोंमें (तत्-तत् इन्द्रियोंको तत्-तत् विषयोंसे हटाकर तत्-तत् स्थानमें रोकना संयम कहलाता है । इन्द्रियाँ अनेक प्रकारकी हैं, अतः उनके संयम भी अनेक हैं, वे ही अग्नियाँ हैं; उन संयमरूप अग्नियोंमें) चक्षु आदि इन्द्रियरूप आहुतियोंका प्रक्षेप करते हैं यानी इन्द्रियोंका निग्रहरूप यज्ञ करते हैं, यह भाव है । दूसरे स्वधर्मनिष्ठ गृहस्थ मुमुक्षु अनिषिद्ध शब्द आदि विषयोंका योग्य समयमें ही इन्द्रियरूप अग्नियोंमें (इन्द्रियाँ ही अग्नि हैं, क्योंकि वे विषयोंके प्रक्षेपकी अधिकरण हैं, उन इन्द्रियरूप अग्नियोंमें) हवन करते हैं । विषयोंके अनुभवका नियम ही उनका यज्ञ है, यह भाव है ॥ २६ ॥

किञ्च, 'सर्वाणि' इत्यादि । पूर्व श्लोकमें कहे गये ब्रह्मचारी आदिसे अन्य कोई ध्याननिष्ठ यति इन्द्रियोंके कर्म—ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियोंके श्रवण, दर्शन आदि और वचन, आदान

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चाऽपरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ २७ ॥
द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथाऽपरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ २८ ॥

कुछ ध्याननिष्ठ यति ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियोंके व्यापारोंका (श्रवण, दर्शन, वचन, आदान आदिका) एवं प्राणके उच्छ्वास आदि व्यापारोंका आत्मज्ञानसे अवगत आत्मसमाधिरूप अग्निमें हवन करते हैं अर्थात् प्राण एवं इन्द्रियोंके समग्र व्यापारोंका अवरोध कर सदा आत्माका ही अनुभव करते हैं ॥ २७ ॥

कुछ मुमुक्षु सुपात्रमें द्रव्यदानरूप द्रव्ययज्ञ करते हैं, कुछ चान्द्रायण आदिरूप तपोयज्ञ करते हैं, कुछ आसन, प्राणायाम आदि रूप अङ्गोंसे युक्त योगयज्ञ करते हैं, कुछ वेदपारायणरूप स्वाध्याय यज्ञ करते हैं एवं कुछ शास्त्रपरिशीलनरूप ज्ञानयज्ञ करते हैं, यों मोक्षके लिए कितने ही यति कठोर व्रतका अनुष्ठान करते हैं ॥ २८ ॥

सर्वाणि, प्राणकर्माणि च प्राणस्याऽपानव्यानादिभेदभिन्नस्य कर्माण्युच्छ्वासनिश्वासनिमेषोन्मेषजृम्भणोद्गारादीनि कर्माणि सर्वाण्यपि ज्ञानदीपिते ज्ञानेनाऽऽत्मविषयकेण दीपिते सम्यगवगमिते आत्मसंयमयोगाग्नौ स्वस्वरूपे आत्मनि संयमयोगो मनोनिरोधः समाधिः स एवाऽग्निस्तस्मिन् प्राणकर्माणीन्द्रियकर्माणि च जुह्वति। प्राणेन्द्रियव्यापारं निरुध्य सदाऽऽत्मानमेवाऽनुभवन्तीत्यर्थः ॥ २७ ॥

एतान्यपि मुमुक्षुभिः कर्तव्यानीति सूचयितुं पुनरपि यज्ञान्तराण्याह—द्रव्येति।

उक्तेभ्योऽपरे केचन मुमुक्षवो द्रव्ययज्ञाः सत्पात्रेषु नियमेन श्रद्धया द्रव्यनि-

---

आदि सब कर्म। और प्राणके कर्म—अपानादि भेदसे भिन्न प्राणके उच्छ्वास, निश्वास, निमेष, उन्मेष, जृम्भण, उद्गार आदि सभी कर्म ज्ञानसे दीपित—आत्मविषयक ज्ञानसे दीपित—यानी भली-भाँति जाने गये आत्मसंयमयोगरूप अग्निमें (अपने स्वरूपभूत आत्मामें संयमयोग—मनोनिरोधरूप समाधि ही अग्नि है, उस अग्निमें) प्राण और इन्द्रियोंके कर्मोंका हवन करते हैं यानी प्राण और इन्द्रियोंके व्यापारोंको बन्द करके सदा आत्माका ही अनुभव करते हैं, यह भाव है ॥ २७ ॥

ये भी मुमुक्षुओंको करने चाहिएँ, ऐसा सूचन करनेके लिए दूसरे यज्ञोंको भी कहते हैं—'द्रव्य०' इत्यादिसे ।

कहे गये ध्याननिष्ठ यतियोंसे अन्य कोई मुमुक्षु द्रव्ययज्ञ हैं (सत्पात्रोंमें नियमतः श्रद्धासे द्रव्य-

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥ २९ ॥

कुछ मुमुक्षु लोग अपानवृत्तिमें प्राणका प्रक्षेप करते हैं अर्थात् पूरकात्मक प्राणायाम करते हैं, कुछ लोग प्राणवृत्तिमें अपानवृत्तिका प्रक्षेप करते हैं अर्थात् रेचकात्मक प्राणायाम करते हैं और कुछ लोग प्राण और अपानवृत्तिकी गतिका अवरोध कर प्राणायाममें तत्पर रहते हैं अर्थात् कुम्भक प्राणायाम करते हैं ॥२९॥

क्षेपणमयमेवाऽस्माकं यज्ञ इति ये कुर्वन्ति ते द्रव्ययज्ञाः केचन तपोयज्ञाः तपश्चान्द्रायणप्राजापत्याद्युपवासादिरूपं वा इदमेवाऽस्माकं यज्ञ इति ये कुर्वन्ति ते तपोयज्ञाः। केचन योगयज्ञाः योग आसनप्राणायामादिभिः स्वाङ्गैर्युक्तो लक्ष्ये चित्तस्थैर्यलक्षण एव यज्ञो येषां ते योगयज्ञाः। तथा केचन स्वाध्यायज्ञानयज्ञाः अन्ते श्रूयमाणो यज्ञशब्दः प्रत्येकं सम्बध्यते। तेन स्वाध्याययज्ञाः ज्ञानयज्ञा इति रूपद्वयम्। 'तस्य वा एतस्य यज्ञस्य द्वावनध्यायौ यदात्माऽशुचिर्यद्देशः' इति श्रुत्युक्तानध्यायद्वयं त्यक्त्वा सर्वदा वेदपारायणमेवाऽस्माकं यज्ञ इत्यध्यनविधिं नियमेन ये कुर्वन्ति ते स्वाध्याययज्ञाः। तथा केचन ज्ञानयज्ञाः ज्ञानं ज्ञानशास्त्रपरिशीलनमिदं नो यज्ञ इति सदा ये कुर्वन्ति ते ज्ञानयज्ञाः। एवं मोक्षार्थं यतयो यत्नशीलाः संशितव्रतास्तत्र तत्र स्वस्वनिष्ठायां संशितमतितीक्ष्णं व्रतं नियमो येषां ते संशितव्रता बहवः सन्तीति द्रव्यत्यागस्य तपसो योगस्य स्वाध्यायावृत्तेः शास्त्रपरिशीलनस्य च यज्ञत्वं सूचितं भवति ॥ २८ ॥

निक्षेपण ही हमारा यज्ञ है, ऐसा समझकर जो द्रव्यदान करते हैं, वे द्रव्ययज्ञ हैं)। कोई तपोयज्ञ हैं (चान्द्रायण, प्राजापत्य आदि अथवा उपवासादिरूप ही हमारा यज्ञ है, ऐसा समझकर जो तप करते हैं, वे तपोयज्ञ हैं)। कोई योगयज्ञ हैं (आसन, प्राणायाम आदि अङ्गोंसे युक्त लक्ष्यमें चित्तकी स्थिरतारूप योग ही जिनका यज्ञ है, वे योगयज्ञ हैं)। इसी प्रकार कोई स्वाध्यायज्ञानयज्ञ हैं। अन्तमें सुना गया यज्ञशब्द प्रत्येकके साथ याने स्वाध्याय और ज्ञान शब्दके साथ सम्बन्ध रखता है। इसलिए स्वाध्याययज्ञ और ज्ञानयज्ञ, यों दो रूप हैं। 'उस इस यज्ञके दो ही अनध्याय हैं--अशुचि देह और अशुचि देश' इन दो अनध्यायोंको छोड़कर सर्वदा वेद-पारायण करना ही हमारा यज्ञ है, इस प्रकार अध्ययनविधिका जो नियमसे अनुष्ठान करते हैं, वे स्वाध्याययज्ञ हैं। इसी प्रकार कोई ज्ञानयज्ञ हैं--ज्ञान--ज्ञानशास्त्रका परिशीलन—ही हमारा यज्ञ है, ऐसा समझकर जो सदा ज्ञानशास्त्रका परिशीलन करते हैं, वे ज्ञानयज्ञ हैं। इस प्रकार मोक्षके लिए यत्नशील यति संशितव्रत (तत्-तत् अपनी-अपनी निष्ठामें संशित--अति तीक्ष्ण—व्रत (नियम) जिनका है, वे संशितव्रत कहलाते हैं) बहुतसे हैं। इससे द्रव्यत्यागमें, तपमें, योगमें, स्वाध्यायव्रतमें और शास्त्रपरिशीलनमें यज्ञत्व सूचित होता है ॥ २८ ॥

प्राणायामोऽपि मुमुक्षोः पापक्षयार्थिनो यज्ञ एव स कर्तव्य इति सूचयितुमाह—
अपान इति ।

केचन मुमुक्षवः अपाने अपानवृत्तौ वायुप्रवेशनाड्यां प्राणं प्राणवृत्तिं जुह्वति । नासिकाद्वये तत्तत्कालं ज्ञात्वा पूरकाख्यं प्राणायामं कुर्वन्तीत्यर्थः । तथा केचन प्राणे प्राणवृत्तौ वायुनिर्गमनाड्यामपानमपानवृत्तिं जुह्वति । रेचकमेव प्राणायामं कुर्वन्तीत्यर्थः । केचन प्राणापानगती रुद्ध्वा मुखनासिकाभ्यां बहिर्वायोर्गमनं प्राणस्य गतिस्ताभ्यां वायोरन्तःप्रवेशोऽपानगतिरेते प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामनिरताः केवलं कुम्भकाख्यं प्राणायामं कुर्वन्तीत्यर्थः । यद्वा अपरे केचन प्राणायामपरायणाः मुमुक्षवः प्राणापानयोर्गती मुखनासिकाभ्यां वायोर्निर्गमप्रवेशौ त्रिकूटे निरुध्य ततो हृदये प्राणेऽपानं तथाऽपाने प्राणं च जुह्वति । प्राणेनाऽपानमपानेन प्राणं च योजयन्त्यैकीकुर्वन्ति । तेन सर्वनाडीषु स्थितं पापं सर्वं भस्मीभवतीत्यर्थः । प्राणेऽपानं जुह्वति पूरकं कुर्वन्ति । ततः प्राणापानगती रुद्ध्वा कुम्भकं कृत्वा तथाऽपाने प्राणं जुह्वति रेचकं कुर्वन्तीति वा योजना ॥ २९ ॥

किञ्च, **अपर इति ।** अपरे केचन मुमुक्षवः नियताहाराः स्वल्पाहाराः क्षीराद्यल्पाहारेणाऽन्तर्वायूनां वशत्वसंपादनाय प्राणानन्तर्वायून् प्राणेषु तेषु वायुभेदेषु

प्राणायाम भी पापोंका क्षय चाहनेवाले मुमुक्षुका यज्ञ ही है, वह कर्तव्य है, ऐसा सूचन करनेके लिए कहते हैं—'अपाने' इत्यादिसे ।

कोई मुमुक्षु अपानमें—अपानवृत्तिमें—यानी वायुके प्रवेशकी नाड़ीमें प्राणका—प्राणवृत्तिका—हवन करते हैं । दोनों नासिकाओंमें तत्-तत् कालको जानकर पूरकनामक प्राणायाम करते हैं, यह अर्थ है। इसी प्रकार कोई प्राणमें—प्राणकी वृत्तिमें—अर्थात् वायुके निकलनेकी नाड़ीमें अपानवृत्तिका प्रक्षेप करते हैं । रेचक प्राणायाम ही करते हैं, यह अर्थ है। कोई प्राण और अपानकी गतिको रोककर—मुख और नासिकासे वायुका बाहर गमन ही प्राणकी गति है, उन (दोनोंसेमुख और नासिकासे) वायुका भीतर प्रवेश अपानकी गति है, इन दोनों प्राण और अपानकी गतिको रोककर—प्राणायाम-निरत केवल कुम्भक नामके प्राणायामको करते हैं, यह भाव है । अथवा दूसरे कोई प्राणायामपरायण मुमुक्षु प्राण और अपान दोनोंकी गतिको—मुख और नासिकासे वायुके निर्गम और प्रवेशको—त्रिकूटमें रोककर, पीछे हृदयमें (प्राणमें) अपानका और अपानमें प्राणका प्रक्षेप करते हैं । प्राणके साथ अपानको और अपानके साथ प्राणको जोड़ते हैं—एक करते हैं । ऐसा करनेसे सब नाड़ियोंमें स्थित सब पाप भस्मीभूत हो जाते हैं, यह भाव है । अथवा प्राणमें अपानका होम करते हैं—पूरक करते हैं। पीछे प्राण और अपानकी गतिको रोककर—कुम्भक प्राणायाम कर—अपानमें प्राणका होम करते हैं—रेचक प्राणायाम करते हैं, ऐसी योजना करनी चाहिए ॥ २९ ॥

किञ्च, 'अपरे' इत्यादि । कुछ दूसरे नियताहार—स्वल्प आहार करनेवाले—मुमुक्षु दूध आदि थोड़े आहारसे भीतरके वायुओंको वशमें करनेके लिए प्राणोंका—भीतरके वायुओंका—

अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ ३० ॥
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नाऽयं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥ ३१ ॥

कुछ लोग स्वल्प आहार करते हुए प्राणोंका (अन्तर्वायुओंका) प्राणोंमें हवन करते हैं यानी बस्ति आदि क्रियाओं द्वारा आन्तर भागको स्वच्छ करते हैं । दैव आदि यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाले यज्ञानुष्ठानसे पापशून्य पूर्वोक्त सभी मुमुक्षु लोग यज्ञशिष्ट अमृतान्नका उपभोग करते हुए सनातन ब्रह्मको प्राप्त करते हैं। हे कुरुसत्तम, जो यज्ञानुष्ठान नहीं करता, उसका यह मुक्ति सम्पादन-योग्य मानव देह ही नहीं है, फिर दैव आदि कहांसे होंगे ॥३०,३१॥

जुह्वति । बस्तिधौत्यादिक्रिययाऽन्तःशोधनं कुर्वन्तीत्यर्थः । एवं दैवादियज्ञान्नियमेन कुर्वतां तत्तद्यज्ञानुष्ठानस्य फलमाह—**सर्वेऽपीति** । यज्ञविदः यज्ञान् विदन्त्यनुतिष्ठन्तीति यज्ञविदो दैवादियज्ञानुष्ठायिन एते निरुक्ताः सर्वेऽपि यज्ञशिष्टामृतभुजः यज्ञानुष्ठानानन्तरभावित्वादेतेषामन्नं यज्ञशिष्टं यज्ञशिष्टत्वादेवाऽमृतं तद्भुञ्जत इति यज्ञशिष्टामृतभुजः । यद्वा यज्ञानुष्ठानेन शिष्टो यज्ञशिष्टः नित्यत्वादमृतः कालः । भोजनसंबद्धत्वादमृतशब्देन काल उच्यते । यज्ञशिष्टो योऽमृतः कालस्तस्मिन् भुञ्जत इति यज्ञशिष्टामृतभुजः सन्तो यज्ञक्षपितकल्मषाः यज्ञैर्नियमेनाऽनुष्ठितैः क्षपितं नाशितं कल्मषं येषां ते यज्ञक्षपितकल्मषाः यज्ञानुष्ठाननिःशेषविनष्टज्ञानप्रतिबन्धका भूत्वा सकृदुपदेशेनैव सद्गुरोरात्मज्ञानं प्राप्य सनातनं नित्यं ब्रह्म सच्चिदानन्दै-

---

प्राणोंमें—उक्त वायुभेदोंमें—होम करते हैं । बस्ति, धौति आदि क्रियासे भीतरी शुद्धि करते हैं, यह भाव है । इस प्रकार दैव आदि यज्ञोंका नियमसे अनुष्ठान करनेवालोंके तत्-तत् यज्ञानुष्ठानका फल कहते हैं—'सर्वेऽप्येते' इत्यादिसे । यज्ञवित्—जो यज्ञोंका अनुष्ठान करते हैं, वे यज्ञवित् हैं—दैवादि यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाले कहे गये ये सभी यज्ञशिष्टामृतभोजी हैं (यज्ञके अनुष्ठानके अनन्तर होनेके कारण इनका अन्न यज्ञशिष्ट है, यज्ञशिष्ट होनेसे ही अमृत है, उस अमृतका भोजन करते हैं, इसलिए यज्ञशिष्टामृतभोजी हैं)। अथवा यज्ञके अनुष्ठानसे शिष्ट यज्ञशिष्ट है, नित्य होनेसे अमृत काल है । भोजनके साथ सम्बद्ध होनेके कारण अमृतशब्दसे काल कहा जाता है । यज्ञानुष्ठानसे अवशिष्ट जो अमृतरूप काल है, उसमें भोजन करते हैं, अतः यज्ञशिष्टामृतभोजी हैं। यज्ञक्षपितकल्मष (नियमतः अनुष्ठित यज्ञोंसे क्षपित—नष्ट हो गये—हैं पाप जिनके, वे यज्ञक्षपितकल्मष कहलाते हैं) अर्थात् यज्ञके अनुष्ठानसे ज्ञानके प्रतिबन्धक जिनके निःशेष नष्ट हो गये हैं, ऐसे यज्ञक्षपितकल्मष होकर एक बारके सद्गुरुके उपदेशसे ही आत्मज्ञानको प्राप्त करके सनातन, सच्चिदानन्दैकरस नित्य ब्रह्मको प्राप्त

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥ ३२ ॥

पूर्वोक्त विविध यज्ञोंका वेद द्वारा ही प्रतिपादन किया गया है, उन सब यज्ञोंको कर्मज याने कर्मस्वरूप ही जानो, ऐसा जानकर तुम संसारसे अवश्य मुक्त हो जाओगे ॥ ३२ ॥

करसं यान्ति । ज्ञानानुत्पत्तौ क्रमान्मुक्ता भवन्तीत्यभिप्रायः । उक्तेषु यज्ञेष्वन्यतमं यज्ञमकुर्वतो दुःशीलस्य दुर्भगस्याऽनुष्ठानफलमाह—**नाऽयमिति** । अयज्ञस्य यस्य न विद्यते यज्ञेषूक्तेष्वेकोऽपि यज्ञो मोक्षसाधनः सोऽयमयज्ञस्तस्य मोक्षधर्मशून्यस्य दुर्बुद्धेरयं लोकः लोक्यत इति लोको देहो मुक्तिसंपादनयोग्यो मानव एव नाऽस्ति । इतोऽन्यो दैवो वा ब्राह्मो वा शैवो वा कुतः कस्माद्धेतोरधर्मनिष्ठस्याऽसाधारणकारणसाध्यः सिध्यतीति द्वयोरर्थः ॥ ३० ॥ ३१ ॥

स्वत्कल्पिता एवैते यज्ञाः, न तु शास्त्रीया इत्याशङ्कायाम्, न; ते वेदैकमूला इत्याह—**एवमिति** ।

'दैवमेवाऽपरे यज्ञम्' इत्येवमाद्या बहुविधा बहुप्रकारा निरुक्ता यज्ञाः सर्वे ब्रह्मणो वेदस्य मुखे मुखेनैव वितता विस्तृताः । प्रतिपादिता इत्यर्थः । ननु 'यज्ञविदो यान्ति ब्रह्म सनातनम्' इति यज्ञानामपि साक्षान्मोक्षसाधनत्वं प्रतीयते किं ज्ञानप्रयासेनेत्याशङ्कायाम्, न; तेषामपि कर्मत्वेन 'न कर्मणा न प्रजया' इत्यादिबहुश्रुति-

---

होते हैं। ज्ञानके उत्पन्न न होनेपर क्रमसे मुक्त हो जाते हैं, यह अभिप्राय है। कहे गये यज्ञोंमें से किसी भी एक यज्ञका अनुष्ठान न करनेवाले दुःशील भाग्यहीनके क्रियाका फल कहते हैं—**'नाऽयम्'** इत्यादिसे। अयज्ञका—जिसका उन यज्ञोंमें से एक भी मोक्षका साधन यज्ञ नहीं है, यह अयज्ञ है—उसका—मोक्षधर्मसे शून्य दुर्बुद्धिका—यह लोक (जो देखा जाता है, वह लोक है यानी देह) अर्थात् मुक्तिसम्पादन करने योग्य मानव देह ही जब नहीं है, तब इससे अन्य देव, ब्राह्म या शैव देह कहाँसे होंगे यानी किस हेतुसे अधर्मनिष्ठका असाधारण कारणसे सिद्ध होनेवाला देह सिद्ध होगा यह दोनोंका अर्थ है ॥ ३० ॥

ये यज्ञ तो आपके द्वारा कल्पित हैं, शास्त्रीय नहीं हैं, ऐसी यदि तुम्हें शङ्का हो, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि उन यज्ञोंका वेदमें उल्लेख है, ऐसा कहते हैं—**'एवम्'** इत्यादिसे।

'दैवमेवाऽपरे यज्ञम्' इत्यादि अनेक प्रकारके कहे गये सब यज्ञ ब्रह्माके—वेदके—मुखसे ही वितत—विस्तृत—हैं। प्रतिपादित हैं, यह अर्थ है।

'यज्ञ जाननेवाले सनातन ब्रह्मको प्राप्त होते हैं' इत्यर्थक वाक्यसे यज्ञ ही साक्षात् मोक्षके साधन हैं, ऐसा प्रतीत होता है; फिर ज्ञानके लिए प्रयास करनेकी क्या आवश्यकता है? ऐसी यदि शङ्का हो, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि वे यज्ञ भी कर्मरूप हैं, अतः 'न कर्मसे न प्रजासे' इत्यादि अनेक श्रुतियोंके

श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप ।
सर्वं कर्माऽखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ३३ ॥

हे परन्तप, उक्त द्रव्यमय यज्ञोंसे ज्ञानयज्ञ ही श्रेष्ठतर है यानी मोक्षका सम्पादक है । हे पार्थ, सम्पूर्ण कर्म ज्ञानमें ही परिसमाप्त होते हैं ॥ ३३ ॥

विरोधान्न नित्यफलदातृत्वम्, किन्त्वनित्यफलदत्वमिति सूचयितुमाह—**कर्मजानिति**। 'क्रियां कुर्वद्धि कारकम्' इति स्मरणात्कर्मभ्यः कर्मकारकेभ्यो जाताः कर्मजा वागादीन्द्रियसंभवास्तान् कर्मजान् कर्माण्येव तान् सर्वान् यज्ञान् विद्धि । नन्वपूर्वाः खलु यज्ञा वागादीन्द्रियव्यापारजा एवेति चेदपूर्वत्वे पूर्वत्वे वा तेषां कर्मत्वं न व्यभिचरति । अतएवाऽनित्यफलदत्वमेवं ज्ञात्वा नित्यफलदं ज्ञानं प्राप्य संसारान्मोक्ष्यसे, न त्वनित्यफलदान् यज्ञानित्यर्थः ॥ ३२ ॥

तत एव ज्ञानयज्ञं 'ब्रह्मार्पणम्' इत्यनेन मन्त्रेण वर्णितं दैवादिभ्यो यज्ञेभ्यो व्यवहितसाधनेभ्यः साक्षान्मोक्षैकसाधनत्वादुत्कर्षयति—**श्रेयानिति** ।

द्रव्यमयात् द्रव्यमन्त्रतन्त्रक्रियाश्रमसाध्यादनित्याल्पस्वर्गादिफलहेतोर्यज्ञादुक्तात् सर्वयज्ञजातान्नित्यनिरन्तरानन्दरूपमोक्षैकफलदो ज्ञानयज्ञः श्रेयान् श्रेष्ठतरसंप्राप्तिः । यत्र ज्ञाने पुंसः कर्तव्यं श्रौतं स्मार्तं लौकिकं यच्च यावच्च तत्सर्वं कर्माऽखिलं खिलः शेषः स न विद्यते यत्र तदखिलं निःशेषं परिसमाप्यते समापितं भवति । वेलां प्राप्तस्य यथा गन्तव्यं नाऽस्ति तथा ज्ञानं प्राप्तवतः कर्तव्यं किञ्चिन्नाऽस्तीत्यर्थः ।

साथ विरोध होनेसे उनसे नित्य फल नहीं हो सकता, ऐसा सूचन करनेके लिए कहते हैं—'**कर्मजान्**' इत्यादिसे । 'क्रियाको करनेवाला ही कारक है', इस स्मृतिसे कर्मोंसे (कर्मकारकोंसे) उत्पन्न हुए कर्मज हैं, यानी वागादि इन्द्रियोंसे उत्पन्न । उन सब यज्ञोंको कर्मसे उत्पन्न यानी कर्म ही जानो । यदि कहो कि वागादि इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुए यज्ञ अपूर्व हैं, तो यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि अपूर्व या पूर्व होनेपर उनका कर्मत्व चला नहीं जाता, इसलिए उनको अनित्यफल देनेवाले जानकर नित्यफल देनेवाले ज्ञानको प्राप्त करके ही संसारसे मुक्त हो जाओगे, अनित्य फल देनेवाले यज्ञोंसे नहीं, यह भाव है ॥ ३२ ॥

इसीलिए 'ब्रह्मार्पणम्' इस मंत्रसे वर्णित ज्ञानयज्ञ, साक्षात् मोक्षका साधन होनेसे, बहिरङ्ग साधनभूत दैवादि यज्ञोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ है, ऐसा कहते हैं—'**श्रेयान्**' इत्यादिसे ।

द्रव्यमय यज्ञसे—द्रव्य, मन्त्र, तन्त्र, क्रिया और श्रमसे साध्य स्वर्गादि अनित्य, अल्प, फलके हेतु कहे गये सम्पूर्ण यज्ञोंके समूहसे—नित्य, निरन्तर आनन्दरूप मोक्षलक्षण मुख्य फलको देनेवाला ज्ञानयज्ञ श्रेयान् श्रेष्ठतर (मुक्ति) का प्रापक है । जिस ज्ञानमें पुरुषका श्रौत, स्मार्त, लौकिक जो कुछ कर्तव्य है, वह सब कर्म अखिल—जिसमें खिल (शेष) विद्यमान न हो, वह अखिल है यानी—निःशेष समाप्त हो जाता है । जैसे तटको प्राप्त हुए पुरुषके लिए गन्तव्य स्थान नहीं है, वैसे ही ज्ञानको प्राप्त

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ ३४ ॥

मोक्षप्रद उस ज्ञानको गुरुओंसे प्रणिपात, परिप्रश्न और शुश्रूषा द्वारा जानो, वे तत्त्वदर्शी ज्ञानी तुम्हें योग्य समझकर तत्त्वका उपदेश देंगे ॥ ३४ ॥

यद्वा यत्र ज्ञाने संप्राप्ते कर्म ब्रह्मकल्पशतार्जितं संचितमागामि च प्रवृत्तमप्रवृत्तं च सर्वमखिलं निरवशेषं परिसमाप्यते ज्ञानशक्त्या सूर्यप्रभया तम इव कर्म सर्वं निर्मूल्यत इत्यर्थः । यद्वा 'यथा कृताय विजितायाधरेयाः संयन्तिः' इत्येतच्छ्रुत्युक्तरीत्या लोके सर्वत्र पुण्यशरीरिभिर्यज्ञदानतपोव्रतादिरूपं यद्यत्पुण्यं क्रियते तत्सर्वं यस्मिन् ज्ञाने संप्राप्ते विदुषा परिसमाप्यते संप्राप्तं भवति । यत्प्राप्त्या सर्वाकर्मणामनुष्ठाता विद्वान्भवतीत्यर्थः ॥ ३३ ॥

एवं विशेषणविशिष्टं कथं मे सिध्येदित्याकाङ्क्षायामाह—**तद्विद्धीति** ।

यत्तु द्रव्ययज्ञादिभ्यो विशिष्टतरं साक्षान्मोक्षैकफलप्रदं तज्ज्ञानं गुरुभ्यो विद्धि । गुरून् प्रसाद्य तेभ्यो विजानीहीत्यर्थः । केन प्रसन्ना भूत्वा गुरवोऽत्यन्तरहस्यमिदं ज्ञानं मह्यमुपदेक्ष्यन्तीत्याकाङ्क्षायामाह—**प्रणिपातेनेति** । प्रणिपातेन प्रणिपातः साष्टाङ्गनमस्कारस्तेन, सेवया काले काले श्रद्धाभक्तिभ्यां क्रियमाणशुश्रूषया च समये

हुए पुरुषका कुछ भी कर्तव्य नहीं है, यह भाव है। अथवा जिस ज्ञानके प्राप्त होनेपर ब्रह्माके सैकड़ों कल्पोंसे उपार्जित सञ्चित, आगामी, प्रवृत्त, अप्रवृत्त सब कर्म निःशेष समाप्त हो जाते हैं, सूर्यकी प्रभासे अन्धकारके समान ज्ञानकी शक्तिसे सबका निर्मूलन हो जाता है, यह भाव है । अथवा जैसे कृत नामके पासेके जीत लेनेपर अन्यान्य सब पासे विजित होकर प्राप्त हो जाते हैं' इस श्रुतिमें कही गई रीतिसे लोकमें सर्वत्र पुण्यवान् पुरुषों द्वारा यज्ञ, दान, तप, व्रत आदिरूप जो-जो पुण्य किया जाता है, वह सब जिस ज्ञानके प्राप्त होनेपर विद्वान्के द्वारा परिसमाप्त किया जाता है अर्थात् प्राप्त किया होता है । जिसकी प्राप्तिसे विद्वान् सब कर्मोंका अनुष्ठान करनेवाला हो जाता है, यह अर्थ है ॥३३॥

इस प्रकारके विशेषणोंसे युक्त ज्ञान मुझे कैसे प्राप्त होगा ? ऐसी आकांक्षा होनेपर कहते हैं— 'तद्विद्धि' इत्यादिसे ।

द्रव्ययज्ञ आदिसे श्रेष्ठतर साक्षात् मोक्षरूप फलको देनेवाला जो ज्ञान है, उस ज्ञानको गुरुओंसे तुम जानो । गुरुओंको प्रसन्न करके उनसे जानो, यह अर्थ है । किस साधनसे प्रसन्न होकर गुरु अत्यन्त रहस्यरूप उस ज्ञानका मुझे उपदेश देंगे, ऐसी आकाङ्क्षा होनेपर कहते हैं—**प्रणिपातेन** इत्यादिसे । प्रणिपातसे—साष्टाङ्ग नमस्कारसे—, सेवासे (समय-समय पर श्रद्धा और भक्ति द्वारा की गई शुश्रूषासे) और समयपर विनयपूर्वक पास जाकर किये गये परिप्रश्नसे अर्थात् 'कैसा बन्ध है ?

विनयेनोपसङ्गम्य क्रियमाणपरिप्रश्नेन—'कथं बन्धः कथं मोक्षो विद्याविद्ये उभे च के। क आत्मा कः परात्मा च तयोरैक्यं कथं वद ॥' इत्यादिविवेकप्रश्नेन—चैवंप्रणिपातशुश्रूषाविवेकप्रश्नैस्त्वयि श्रद्धां भक्तिं पाण्डित्यमुपदेशयोग्यतां च दृष्ट्वा प्रसन्ना भूत्वा ज्ञानिनः शास्त्रजन्यज्ञानसंपत्तिमन्तः तत्त्वदर्शिनः साक्षात्कारजन्यवस्तुयाथात्म्यवेदनवन्तश्चोक्तविशेषणद्वयविशिष्टैरुपदिष्टं ज्ञानं संसारनिवर्तकं भवति। अतो विशेषणद्वयेन भवितव्यं गुरोः। एवंलक्षणसंपन्ना गुरवस्ते तुभ्यं शमदमादिसाधनवते ज्ञानं ब्रह्मात्मैकत्वावगमकं निःशेषसंसारभ्रमापनोदकमुपदेक्ष्यन्ति। दययाऽनुग्रहीष्यन्तीत्यर्थः। 'श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' इति श्रवणाज्ज्ञानिन इति तत्त्वबोधने गुरूणां सर्वशास्त्रार्थपरिज्ञानसंपत्तिं तत्त्वदर्शिन इति वस्तुविषयकाप्रतिबद्धानुभवसंपत्तिमपेक्ष्य विशेषणद्वयोपन्यासः। बहुवचनं तु 'बहुभ्यः श्रोतव्यं बहुधा' इति न्यायमनुसृत्य च सत्सु बहुषु गुरुष्वत्र कश्चिदेको ब्रह्मवित्तमो लभ्यते। ततः संसारभ्रमापनोदकं सम्यग्ज्ञानं सलक्षणं सेत्स्यतीत्यभिप्रायेण चोक्तं न तु बहुभ्यो ज्ञानं संपादनीयमिति। 'श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' इत्येकवचनश्रवणात्। 'उपसीदेदेकमेव सद्गुरुं ब्रह्मवित्तमम्' इति वचनाच्च। तस्माच्छास्त्रज्ञं तत्त्वज्ञं च गुरुमाश्रयेदिति सिद्धम् ॥ ३४ ॥

कैसे मोक्ष होता है ? विद्या और अविद्या दोनों क्या हैं ? कौन आत्मा है और कौन परमात्मा है ? दोनोंकी एकता कैसे है ? यह कहिये' इत्यादि विवेकके प्रश्नोंसे। इस प्रकारके प्रणिपात, शुश्रूषा और अनेक प्रश्नोंके द्वारा तुममें श्रद्धा, भक्ति, पाण्डित्य और उपदेशकी योग्यता देखकर प्रसन्न होकर--ज्ञानी (शास्त्रजन्य ज्ञानरूप सम्पत्तिवाले) और तत्त्वदर्शी (साक्षात्कारजन्य वस्तुके याथात्म्यज्ञानसे युक्त) इन दो विशेषणोंसे विशिष्ट पुरुषों द्वारा किया गया उपदेश संसारका निवर्तक होता है। इसलिए गुरुको इन दो विशेषणोंसे युक्त होना चाहिए--इस प्रकारके लक्षणोंसे सम्पन्न गुरु तुम्हें (शम, दम आदि साधनोंसे सम्पन्न तुम्हें) ब्रह्मात्माकी एकता बतलानेवाले ज्ञानका अर्थात् निःशेष संसाररूप भ्रमको निवृत्त करनेवाले ज्ञानका उपदेश देंगे। दयासे अनुग्रह करेंगे, यह अर्थ है। 'श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ' इत्यर्थक श्रुतिसे तत्त्वका बोध करानेमें गुरुओंको सम्पूर्ण शास्त्रज्ञानकी सम्पत्ति एवं वस्तुविषयक अप्रतिवद्ध अनुभवकी सम्पत्ति अपेक्षित है, अतः उन्हीं दो सम्पत्तियोंकी अपेक्षा करके 'ज्ञानिनः' और 'तत्त्वदर्शिनः--इन दो विशेषणोंका उपन्यास (कथन) किया गया है। 'ज्ञानिनः' इत्यादिमें बहुवचन तो 'बहुतोंसे बहुत बार सुनना चाहिए' इस न्यायके अनुसार गुरुओंके अनेक होनेपर भी इस संसारमें कोई एक ब्रह्मवित्तम (ब्रह्मज्ञोंमें श्रेष्ठ गुरु) मिलता है; उससे संसारभ्रमका नाशक सम्यग्ज्ञान लक्षणसहित प्राप्त होगा, इसी अभिप्रायसे कहा गया है। बहुतोंसे ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, इस अभिप्रायसे नहीं,क्योंकि 'श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' यों एकवचन सुननेमें आता है और 'ब्रह्मवित्तम एक ही गुरुके समीप जाय' ऐसा वचन भी है। इसलिए शास्त्रज्ञ और तत्त्वज्ञ गुरुकी शरणमें जाना चाहिए, यह सिद्ध हुआ ॥ ३४ ॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥ ३५ ॥

हे अर्जुन, जिसको जानकर तुम 'अहम्, मम' इस प्रकारके मिथ्याज्ञानको फिर नहीं पाओगे अर्थात् उक्त मिथ्याज्ञानका त्याग करोगे । जिस ज्ञानसे सम्पूर्ण भूतोंको पहले अपनेमें देखोगे और अनन्तर मुझ अद्वितीय परब्रह्ममें देखोगे यानी आत्माको परब्रह्मसे अभिन्न देखोगे ॥ ३५ ॥

सद्गुरूपदेशेन लब्धज्ञानस्य फलमाह—**यज्ज्ञात्वेति** ।

प्रसन्नैर्ब्रह्मविद्भिरुपदिष्टं यज्ज्ञानं ज्ञात्वा तदेकनिष्ठया प्राप्य त्वमेवमिदानीं यथा, तथा पुनर्मोहम् 'अहम्, एते मदीयाः' इत्यात्मन्यद्वितीये त्वनेकत्वभ्रमं न यास्यसि । त्वमहमिदमद इत्यादि मिथ्याज्ञानं त्यक्ष्यसीत्यर्थः । ननु सति द्वैतज्ञानहेतौ भूतजाते कथमात्मनोऽद्वितीयत्वमित्यत आह—**येनेति** । 'आत्मैवेदं सर्वम्' इति सर्वस्य भूतजातस्याऽऽत्ममात्रत्वग्राहकेण येन सूक्ष्मबुद्ध्या समधिगतेन ज्ञानेन भूतानि ब्रह्मादि-स्तम्बपर्यन्तान्यशेषेण अशेषाणि साक्षादहमेवेदं सर्वमिति स्वाभिन्नानि द्रक्ष्यसि घटकलशशरावादिसर्वं बुद्धिसौक्ष्म्येण मृन्मात्रं चित्रं भित्तिमात्रं तरङ्गफेनबुद्बुदादि जलमात्रं यथा, तथा भूतजातं सर्वं स्वमात्रमेव द्रक्ष्यसीत्यर्थः । ननु तथापि ब्रह्माऽऽत्मा चेति भेदोऽस्त्येव कथमद्वैतसिद्धिरित्यत आह—**अथो मयीति** । तानि भूतानि मयि निर्विशेषे परे ब्रह्मण्यथो समनन्तरमेव द्रक्ष्यसि च । एवं तव च मम च

सद्गुरुके उपदेशसे प्राप्त हुए ज्ञानका फल कहते हैं—'**यज्ज्ञात्वा**' इत्यादिसे ।

प्रसन्न हुए ब्रह्मज्ञानियों द्वारा उपदिष्ट जिस ज्ञानको जानकर यानी उसमें एकनिष्ठासे प्राप्त कर तुम इस प्रकार—जैसे इस समय मोहको प्राप्त हो वैसे—फिर मोहको—'मैं, ये मेरे हैं' ऐसे एक अद्वितीय आत्मामें अनेकत्वके भ्रमको—प्राप्त नहीं होओगे । तुम 'मैं, यह, वह' इत्यादि मिथ्याज्ञानको त्याग दोगे, यह अर्थ है । द्वैतज्ञानके हेतु भूतसमूहके होते हुए आत्माका अद्वितीयत्व कैसे है ? ऐसी यदि शङ्का हो, तो उसपर कहते हैं—'**येन**' इत्यादिसे । 'आत्मा ही यह सब है' इस प्रकार सब भूतसमूहमें आत्ममात्रत्वका ग्रहण करानेवाले सूक्ष्म बुद्धिसे प्राप्त जिस ज्ञानसे ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त अशेष भूतोंको साक्षात् 'यह मैं ही हूँ, इस प्रकार अपनेसे अभिन्न देखोगे । जैसे सूक्ष्म बुद्धिसे देखनेपर घट, कलश, सकोरे आदिमें मिट्टीमात्र ही प्रतीत होती है, चित्र दीवारमात्र ज्ञात होता है और तरङ्ग, फेन, बुद्बुद आदि जलमात्र ज्ञात होते हैं, वैसे ही सब भूतसमूहको आत्ममात्र ही देखोगे, यह अर्थ है । तो भी ब्रह्म और आत्मा, ऐसा भेद तो है ही, अद्वैतकी सिद्धि कैसे है ? इसपर कहते हैं—**अथो मयि** । उन भूतोंको मुझमें—निर्विशेष परब्रह्ममें—अथो—बाद ही—देखोगे । इस प्रकार तुम्हारा और मेरा सर्वात्मकत्व देखकर दोनोंकी

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥ ३६ ॥

यदि तुम सम्पूर्ण पापियोंकी अपेक्षा पापकृत्तम हो यानी सम्पूर्ण पापियों द्वारा किये जानेवाले महापातक आदि पापोंका अकेले अनुष्ठान करनेवाले हो, तो भी सब पापोंको (पापसमुद्रको) ज्ञानरूपी नौका द्वारा तर जाओगे ॥ ३६ ॥

सर्वात्मकत्वं दृष्ट्वा द्वयोरप्येकत्वं द्रक्ष्यसीत्यर्थः; 'तत्त्वमसि' इति श्रुतेः । यद्वा सर्वभूतात्मकमात्मानं दृष्ट्वा तमात्मानं निर्विशेषं मयि सर्वाधिष्ठाने परे ब्रह्मणि द्रक्ष्यसि । ब्रह्माभिन्नमात्मानं द्रक्ष्यसीत्यर्थः ॥ ३५ ॥

एवंविधं ज्ञानं प्राप्याऽपि भीष्मद्रोणादिगुरुस्वजनवधजनितात् पापान्मुक्तो न स्यामेवेत्याशङ्कावन्तमर्जुनमालक्ष्याऽऽह—अपि चेदेति ।

महापातकोपपातकतत्समपापसङ्करीकरणमलिनीकरणादीनि पापान्युक्तान्यनुक्तानि च सर्वाणि समस्तानि व्यस्तानि च ये कुर्वन्ति ते पापाः पापकारिणस्त्रिलोकस्था भूतभविष्यद्वर्तमानकालीना एतेभ्यः सर्वेभ्यः पापेभ्यः पापकारिभ्योऽपि यदि त्वं पापकृत्तमस्तैः सर्वैः कृतं पापं त्वयैकेनैव यदा कृतं भवति तदा त्वं पापकृत्तमो भविताऽसि। एवं पापकृत्तमोऽप्यसि चेत्सर्वं वृजिनार्णवं ज्ञानप्लवेन स्वस्य कूटस्थासङ्गचिद्रूपत्वेन विक्रियासंभवान्नाऽहं कर्मणां कर्ता सदा निष्क्रिय एवाऽस्मीति यदविक्रियत्वज्ञानं तदेव प्लवस्तरणिस्तेनैव संतरिष्यसि किमु वक्तव्यं भीष्मादिवधजं पापं तरिष्यसीति ॥ ३६ ॥

एकता देखोगे, यह भाव है, क्योंकि 'वही तुम हो' ऐसी श्रुति है । अथवा सर्वभूतात्मक आत्माको देखकर उस निर्विशेष आत्माको मुझमें—सबके अधिष्ठानभूत परब्रह्ममें—देखोगे । ब्रह्मसे अभिन्न आत्माको देखोगे, यह भाव है ॥ ३५ ॥

इस प्रकारके ज्ञानको प्राप्त करके भी भीष्म, द्रोण आदि गुरुओं और स्वजनोंके वधसे उत्पन्न पापसे तो मैं छूटूँगा नहीं, इस प्रकारकी आशङ्कासे युक्त अर्जुनको जानकर भगवान् कहते हैं—'अपि चेदसि' इत्यादिसे ।

महापातक और उपपातक एवं उनके समान पाप, सङ्करीकरण, मलिनीकरण आदि कहे गये एवं न कहे गये सम्पूर्ण—समस्त और व्यस्त—पापोंको जो करते हैं, वे पाप हैं याने पाप करनेवाले हैं । तीनों लोकोंमें स्थित भूत, भविष्यत् और वर्तमान कालके सब पापोंसे—पाप करनेवालोंसे—भी यदि तुम पापकृत्तम हो अर्थात् उन सबके द्वारा किये गये पाप अकेले तुम्हारे द्वारा ही जब किये गये हों, तब तुम पापकृत्तम होओगे । इस प्रकारके यदि तुम पापकृत्तम भी हो, तो भी सब पापोंके समुद्रको ज्ञानरूपी नाव द्वारा—आत्मामें कूटस्थ, असङ्गचिद्रूपता होनेके कारण विकारका सम्भव न होनेसे मैं कर्मोंका कर्ता नहीं हूँ, सदा निष्क्रिय ही हूँ, ऐसा जो अविकारित्वका ज्ञान है, वही प्लव (नाव) है, उस नावके द्वारा—तर जाओगे, फिर भीष्मादिके वधसे उत्पन्न पापसे तर जाओगे, इसमें तो कहना ही क्या ? ॥ ३६ ॥

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ ३७ ॥

हे अर्जुन, जैसे प्रदीप्त अग्नि काष्ठोंको भस्म कर देती है, वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि सब कर्मोंको भस्म कर देती है ॥ ३७ ॥

महामेरुं लङ्घयतो वालुकाकणलङ्घनवदपारपापार्णवं तरतस्तव भीष्मादिवधजपापपल्वलतरणमविचार्यमेव, अतो धर्माधर्मतत्कार्यमहार्णवं तर्तुमिच्छतो ज्ञानमेव सम्पादनीयम्, तेनैव विद्वाञ्छतकोटिकल्पार्जितं सर्वं पापं तरति । तथा च श्रुतिः—'नैनं पाप्मा तरति सर्वं पाप्मानं तरति' इति । समुद्रतरणे नौकावज्ज्ञानं पापनिबर्हणे बहुकालं नाऽपेक्षते किन्तु क्षणेनैव सर्वं पापं विध्वंसयतीति सदृष्टान्तमुपपादयति—यथेति ।

समिद्धः क्षुद्रकाष्ठैः प्रज्वलनेन प्रवृद्धोऽग्निरेधांसि काष्ठानि क्षणेन भस्मसात्कुरुते यथा, तथा समिद्धो निरन्तरध्यानसमाधिभिः प्रवर्तितो ज्ञानाग्निर्ज्ञानमुक्तलक्षणं तदेवाऽग्निर्ज्ञानाग्निः । सर्वकर्माणि सर्वाणि पुण्यपापमिश्ररूपाणि कर्माणि । यद्वा प्रारब्धकर्मणो भोगैकनाश्यत्वात्तद्विना ज्ञानोत्पत्तेः पूर्वभावीनि पश्चाद्भावीनि च बहुजन्मसञ्चितानि चेत्येवंरूपाणि सर्वाणि कर्माणि भस्मसात्करोति क्षणाद्भस्मीकरोति । यथा स्थाणुज्ञानं तत्स्वरूपावारकाज्ञाननिवर्तनेन सह चौरभूतादिभ्रमं विध्वस्य भ्रमकार्यं च विध्वंस-

---

जैसे महामेरुके लाँघनेवालेको बालूके कणके लाँघनेमें विचार करना नहीं पड़ता, वैसे ही पापरूप महासमुद्रको तैर रहे तुमको भीष्मादिके वधसे उत्पन्न हुए पापरूप छोटे तालाबके तैरनेमें विचार करना ही नहीं चाहिए, इसलिए धर्म, अधर्म और उसके कार्यभूत महासमुद्रको तैरनेकी इच्छावालेको ज्ञानका ही सम्पादन करना योग्य है, इससे ही विद्वान् सौ, करोड़ कल्पोंमें उपार्जित सब पापोंको तर जाता है, जैसे कि श्रुति है—'इसको पाप अतिक्रमण नहीं करता, यह सब पापोंको तर जाता है' । जैसे समुद्रके तैरनेमें नौका अधिक कालकी अपेक्षा करती है, वैसे ज्ञान पापोंका नाश करनेमें बहुत कालकी अपेक्षा नहीं करता, किन्तु क्षणभरमें ही सब पापको नष्ट कर देता है, ऐसा दृष्टान्तसहित कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

समिद्ध—छोटे-छोटे काष्ठोंके जलानेसे बढ़ी हुई—अग्नि जैसे ईंधनोंको—काष्ठोंको—क्षणभरमें भस्म कर देती है, वैसे ही समिद्ध—निरन्तर ध्यान, समाधिसे प्रवर्तित—ज्ञानरूप अग्नि (कहे गये लक्षणसे युक्त ज्ञान ही ज्ञानरूप अग्नि है) सब कर्मोंको—पुण्य, पाप और मिश्रित कर्मोंको—अथवा भोगसे ही नष्ट होनेवाले प्रारब्ध कर्मके सिवा ज्ञानकी उत्पत्तिसे पूर्वभावी और पश्चात्भावी और बहुत जन्मोंके सञ्चितरूप सब कर्मोंको भस्म कर देती है, क्षणभरमें राख कर देती है । जैसे स्थाणुका ज्ञान, इसके स्वरूपके ढाँकनेवाले अज्ञानको दूर करनेके साथ ही चोर, भूत आदि भ्रमको नष्ट करके भ्रमके कार्यको भी नष्ट कर देता है, वैसे ही निष्क्रिय

यति, तथा निष्क्रियब्रह्मात्मत्वज्ञानमपि तदावारकाज्ञाननिवर्तनेन सहैव विदुषस्तदुद्भावितकर्तृत्वभ्रमं विध्वस्य तत्सम्भावितानि सर्वाणि कर्माणि च सद्यो निर्मूलयति। सर्वदा निष्क्रिय एवाऽस्मीत्येवंविज्ञानवन्तं विद्वांसं करोति। निष्क्रियब्रह्मात्मत्वविज्ञानमित्यर्थः। ननु ज्ञानस्याऽज्ञाननिवृत्तिरेव कार्यमिति चेत्, न; भ्रमादिनिवृत्तेरपि तत्कार्यत्वपर्यवसानादेकस्याः क्रियाया अनेककार्यकारित्वदर्शनात्। यथा ब्रह्मास्त्रपातस्य रावणवक्षश्छेदः प्राणनिर्गमो देहपातश्च कार्यं भवति, तद्वत्। ननु कर्ममात्रस्याऽप्यज्ञानकार्यत्वे सिद्धे कारणनाशात्प्रारब्धस्याऽपि सञ्चितादिवन्निवृत्तिः स्यादेवेति चेत्, न; प्रवृत्तफलत्वात्तस्य निवृत्त्यनुपपत्तेः। यथा भुक्तेः पूर्वभाविनः पश्चाद्भाविनोऽप्यन्नस्य त्याग उपपद्यते, न तथा भुक्तान्नस्य; प्रवृत्तफलत्वात्तथैवाऽऽरब्धकर्मणोऽपि। ननु कार्यस्य सद्भावे कारणस्याऽपि सद्भावोऽङ्गीकर्तव्य इति चेत्, न; कारणाभावेऽपि कार्याभासदर्शनात्तन्नियमाव्यवस्थितेः। जलबुद्धौ नष्टायामपि मरौ पुनर्जलाभासप्रतीतेः, सत्यत्वबुद्ध्यभावेऽपि प्रतिच्छायादौ व्यवहारदर्शनात्तथा देहाद्यात्मत्वसत्यत्वममत्वबुद्ध्यभावेऽपि विदुषः कर्मतत्फलाभासोपपत्तेः। अतो युक्तं निष्क्रियब्रह्मात्मविज्ञानस्य समाधिनाऽप्रति-

---

ब्रह्मका ज्ञान भी उसको आवृत करनेवाले अज्ञानकी निवृत्तिके साथ ही विद्वान्‌के अज्ञानजनित कर्तृत्वभ्रमको नष्ट करके उससे उत्पन्न सब कर्मोंका शीघ्र ही निर्मूलन कर देता है यानी निष्क्रियब्रह्मात्मत्वविज्ञान विद्वान्‌को 'मैं सदा निष्क्रिय हूँ', इस प्रकारके विज्ञानसे युक्त कर देता है, यह अर्थ है। यदि शङ्का हो कि ज्ञानका कार्य तो केवल अज्ञानकी निवृत्ति ही है, तो यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि भ्रमादिकी निवृत्तिका भी उसके कार्यमें पर्यवसान है, क्योंकि एक क्रियासे अनेक कार्योंकी भी उत्पत्ति देखनेमें आती है। जैसे ब्रह्मास्त्रके निक्षेपणसे रावणके वक्षःस्थलका छेदन, प्राणोंका निर्गमन और देहका विनिपातरूप कार्य होता है, वैसे ही प्रकृतमें भी अज्ञानकी निवृत्तिके साथ कर्तृत्वादिभ्रमकी निवृत्ति होती है। यदि शङ्का हो कि कर्ममात्र अज्ञानके कार्य हैं, इसलिए अज्ञानरूप कारणका नाश होनेपर सञ्चितादि कर्मोंके समान प्रारब्ध कर्मकी भी निवृत्ति होनी चाहिए, तो यह शङ्का भी युक्त नहीं है, क्योंकि प्रारब्धकर्मका फल प्रवृत्त है, इसलिए उसकी निवृत्ति नहीं हो सकती। जैसे भोगसे पूर्वभावी और पश्चात्‌भावी अन्नका त्याग किया जा सकता है, वैसे भुक्त अन्नका त्याग नहीं किया जा सकता; क्योंकि उसका फल प्रवृत्त हो गया है, वैसे ही प्रारब्ध कर्मका भी फल प्रवृत्त है। कार्यके विद्यमान होनेपर कारणका भी अस्तित्व मानना चाहिए, ऐसी शङ्का भी युक्त नहीं है, क्योंकि कारणके अभावमें भी कार्यका आभास देखनेमें आता है, इसलिए उक्त नियम असङ्गत है। जलबुद्धिके नष्ट हो जानेपर भी मरुभूमिमें फिर जलाभासकी प्रतीति होती है। सत्यत्वबुद्धिका अभाव होनेपर भी प्रतिच्छाया आदिमें व्यवहार देखा जाता है, इसी प्रकार देहादिमें आत्मत्व, सत्यत्व और ममत्व बुद्धिका अभाव होनेपर भी विद्वान्‌में कर्म और उसके फलका आभास युक्त ही है। इसलिए निष्क्रियब्रह्मात्माका विज्ञान, जो समाधिसे अप्रतिबद्धताको प्राप्त हुआ है,

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनाऽऽत्मनि विन्दति ॥ ३८ ॥

यतः [निष्क्रिय आत्मज्ञान सम्पूर्ण कर्मोंको नष्ट कर देता है, इसलिए] ज्ञानके सदृश इस संसारमें और शास्त्रमें कोई वस्तु पवित्र नहीं है । अधिकारी दीर्घकालके बाद स्वयं योगसे संसिद्ध होकर उस ज्ञानको अपनी आत्मामें प्राप्त करता है ॥३८॥

बद्धतां प्रापितस्याऽविद्यानिःशेषनिर्मूलकत्वम्; अन्यथा त्वयं घट इत्युक्तिमात्रे ब्रह्मावारकाज्ञानसद्भावप्रसङ्गः । तस्मात् सर्वमिदमहं च ब्रह्मैवेति विज्ञानमज्ञानं सर्वं निर्मूलयत्येव सकार्यमिति सिद्धम् ॥ ३७ ॥

ननु राजसूयाश्वमेधादिक्रतुभिः, दानैः कन्यादिभिः, कृच्छ्रचान्द्रायणादितपोभिश्च सर्वपापनिवृत्तिसंभवात् किं सर्वपरिग्रहत्यागमूलकशमदमादिसाधनपूर्वकसंन्यासाश्रमं संपाद्याऽऽत्मज्ञानेनेत्याशङ्कायाम्, न; औषधवद्यदुद्देशेन क्रियन्ते उक्ता राजसूयादयस्तस्यैवोद्दिष्टस्य पापस्य निवर्तका भवन्ति, न तु सर्वेषां पापानां सञ्चितागामिवर्तमानानामनेकेषामनेकरूपाणाम् । तत्राऽपि पापस्यैव निवर्तका न तु बहुजन्मसंपादकपुण्यकर्मणाम् । इदं तु पापानां पुण्यानां मिश्राणां च कर्मणां सञ्चितादीनां च सर्वेषां विध्वंसने परमकारणं पवित्रतमं ज्ञानमेव । नैवैतादृशमन्यदस्ति मुमुक्षोः प्रयत्नेन संपादनीयमिति सूचयितुमाह—**न हीति** ।

निःशेष अविद्याका निर्मूलन कर देता है, यह कहना युक्त है । यदि ऐसा न माना जाय, तो 'यह घट है', इतना कहनेमात्रसे ब्रह्मके आवारक अज्ञानका सद्भाव प्रसक्त हो जायगा, इससे 'यह और मैं सब ब्रह्म ही है' इत्याकारक विज्ञान कार्यसहित सम्पूर्ण अज्ञानका निर्मूलन कर ही देता है, यह सिद्ध हुआ ॥ ३७ ॥

यदि शङ्का हो कि राजसूय, अश्वमेध आदि यज्ञोंसे, कन्या आदि दानोंसे और कृच्छ्र-चान्द्रायण आदि तपोंसे सब पापोंकी निवृत्ति हो सकती है, फिर सर्वपरिग्रहत्यागमूलक शम, दम, आदि साधनपूर्वक संन्यास आश्रमका ग्रहण करके आत्मज्ञानका सम्पादन करनेसे क्या लाभ है ? तो यह शङ्का भी युक्त नहीं है, क्योंकि जिस रोगके उद्देशसे औषध किया जाता है, उससे उसी रोगकी जैसे निवृत्ति होती है, अन्य रोगकी नहीं, वैसे ही जिसके उद्देशसे उक्त राजसूय आदि किये जाते हैं, उस उद्दिष्ट पापकी ही उनसे निवृत्ति होती है, अन्य विविध सञ्चित, आगामी, वर्तमान पापोंकी निवृत्ति नहीं होती । उसमें भी पापकी ही उनसे निवृत्ति होती है, बहुत जन्मोंमें सम्पादित पुण्य कर्मोंकी नहीं होती । यह ज्ञान तो पाप, पुण्य, मिश्र, सञ्चित आदि सब कर्मोंको नष्ट कर देनेमें परम कारण और पवित्रतम है; इसके समान अन्य नहीं है, इसलिए मुमुक्षुको प्रयत्नपूर्वक उसीका सम्पादन करना चाहिए, ऐसा सूचन करनेके लिए कहते हैं—'न हि' इत्यादिसे ।

श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाऽधिगच्छति ॥ ३९ ॥

सम्पूर्ण इन्द्रियोंको संयममें रखनेवाला, ब्रह्माकारताके सम्पादनमें आसक्तचित्त एवं श्रद्धावान् पुरुष ही ज्ञानको प्राप्त करता है और ज्ञानको प्राप्त कर तत्क्षण ही निरतिशयसुखरूप शान्तिको (मोक्षको) प्राप्त करता है ॥ ३९ ॥

हि यस्मात्कारणान्नानायोनिषु नानाविधजन्ममरणादिमहादुःखपरम्पराप्रापकाणि पुण्यपापमिश्रात्मकान्यनेककल्पशतसमार्जितान्यशेषाणि कर्माणि समूलमुन्मूलयत्यविक्रियात्मज्ञानम् । तस्माज्ज्ञानेन सदृशमुक्तधर्मैस्तुल्यमत्यन्तशुद्धिकरं परमपुरुषार्थसाधनतममिह लोके शास्त्रे च न विद्यते नाऽस्ति । एतादृशं शुद्धिकारणं मुक्तिकारणमस्मिन् लोके लोकान्तरे च न संभवतीत्यर्थः । एतादृशं ज्ञानमनाद्यविद्यातत्कार्यविध्वंसकमधिकारी कृतश्रवणादिर्यतिः कालेन महता दीर्घेण योगसंसिद्धः योगेन ज्ञानयोगेन नित्यनिरन्तरसमाधिनिष्ठया तात्पर्येण कृतया संसिद्धः निःशेषविनष्टसर्वबाह्यवासनता संसिद्धिस्तां प्राप्तः संसिद्धः सम्यङ्निर्मूलितसर्वप्रतिबन्धः सन् स्वयमात्मनि स्वान्तःकरण एव विन्दति । सर्वमिदमहं च ब्रह्मैवेत्यप्रतिबद्धा ब्रह्ममयी वृत्तिर्बुद्धावेवोदेतीत्यर्थः ॥ ३८ ॥

एवं ज्ञानमहात्म्यं तत्सिद्धिप्रकारं च प्रतिपाद्य ज्ञानयोगसिद्धेरन्तरङ्गसाधनान्याह—**श्रद्धावानिति** ।

श्रद्धावान् 'तत्त्वमसि' इति श्रुत्या ब्रह्मात्मैकत्वमुच्यते तदेव गुरुणोपदिश्यते ।

जिस कारणसे अविक्रिय आत्मज्ञान नाना योनियोंमें अनेक प्रकारके जन्म-मरण आदि महादुःखोंकी परम्परा प्राप्त करानेवाले पुण्य, पाप मिश्ररूप अनेक कल्पशतोंमें उपार्जित सम्पूर्ण कर्मोंको समूल नष्ट कर देता है, इसलिए ज्ञानके समान (उक्त धर्मोंसे सदृश) अत्यन्तशुद्धिकर परमपुरुषार्थका साधन यहाँ—इस लोकमें और शास्त्रमें—दूसरा कोई नहीं है। इस प्रकार शुद्धिका कारण (मुक्तिका कारण) इस लोकमें और दूसरे लोकमें संभव नहीं है, यह अर्थ है। अनादि अविद्या और अविद्याके कार्यको नष्ट करनेवाले इस ज्ञानको श्रवणादिसाधनसम्पन्न अधिकारी यति दीर्घकालमें योगसंसिद्ध (योगसे—ज्ञानयोगसे—यानी नित्यनिरन्तर तात्पर्यसे की गई समाधिनिष्ठासे जिसने निःशेषसम्पूर्णबाह्यवासनाविनाशरूप सिद्धिको प्राप्त किया है, वह योगसंसिद्ध अर्थात् सम्यङ्निर्मूलितप्रतिबन्ध--जिसने ठीक-ठीक ज्ञानके प्रतिबन्धोंका निर्मूलन किया है, ऐसा--) होकर स्वयं अपने अन्तःकरणमें ही प्राप्त करता है। 'यह मैं और सब ब्रह्म ही है' ऐसी अप्रतिबद्ध ब्रह्ममयी वृत्ति बुद्धिमें ही उदित होती है, यह भाव है ॥ ३८ ॥

इस प्रकार ज्ञानका महात्म्य और उसकी सिद्धिका प्रकार कहकर ज्ञानयोगकी सिद्धिके अन्तरङ्ग साधनोंको कहते हैं—'श्रद्धावान्' इत्यादिसे ।

'तत्त्वमसि' (वह तू है) इस श्रुतिसे ब्रह्म और आत्माका एकत्व कहा जाता है, उसीका

तत्र श्रुतिवाक्ये गुरूक्तौ च सत्यत्वबुद्धिः श्रद्धा, 'अस्तीत्येवोपलब्धव्यः' इति श्रवणात्। तादृश्यव्यभिचारिणी श्रद्धा यस्याऽस्ति स श्रद्धावान्। मुमुक्षोरवश्यं श्रद्धावत्त्वेन भवितव्यम् तद्भावे न किञ्चिदस्त्यतः श्रद्धा प्रयत्नेन संपादनीयेत्यर्थः। श्रद्धावत्त्वेऽपि बहिर्मुखस्य ज्ञानं न सिद्ध्यत्यतस्तद्राहित्येन भवितव्यमित्याह— **संयतेन्द्रिय** इति। संयतानि तत्तद्विषयेष्वप्रवर्तितान्युभयेन्द्रियाणि येन सः। संयतेन्द्रियत्वं यतेर्धर्मत्वेन सदा भवितव्यं बहिःप्रवृत्तिशून्यस्यैव ज्ञानं सिध्यति सिद्धं च तेनैव रक्षितव्यं भवति नाऽन्यथा तिष्ठतीत्यर्थः। एवं च श्रद्धावत्त्वसंयतेन्द्रियत्वयोः सिद्धयोः सतोरप्यन्तर्विषयान् ध्यायतो यतेर्ज्ञानं न सिध्यत्यतस्तद्राहित्येन भवितव्यमित्याह—**तत्पर** इति। सर्वदा तस्मिन्नेव वृत्तेरन्तर्बहिर्ब्रह्माकारत्वापादन एव पर आसक्तचित्तस्तत्परः। ब्रह्माकारवृत्तिपरत्वमेवाऽसाधारणकारणं तेनैव विपरीतप्रत्ययाः सर्वे नश्यन्त्यनात्मवासनाश्च सर्वाः ज्ञानस्याऽप्रतिबद्धता च सिध्यत्यतस्तदेव सम्पादनीयं मोक्षैकार्थिन इत्येवं नियतविशेषणत्रयसम्पन्नो यो यतिः स एव ब्रह्मैवाऽहमस्मीत्यप्रतिबद्धं ज्ञानं लभते, नाऽन्यः शतधा श्रुतश्रावितवेदान्तोऽपि विद्वानित्यर्थः। एवं श्रद्धावत्त्वसंयतेन्द्रियत्वतत्परत्वादिसाधनसम्पत्त्या दैर्घकालिक्या नित्यनिरन्तरं ब्रह्म-

---

गुरु द्वारा उपदेश दिया जाता है, उस श्रुतिवाक्यमें और गुरुके कथनमें सत्यत्वबुद्धि ही श्रद्धा कहलाती है, क्योंकि 'अस्तित्वरूपसे ही आत्माको जानना चाहिए' ऐसी श्रुति है। इस प्रकारकी जिसकी अटल श्रद्धा है, वह श्रद्धावान् कहलाता है। मुमुक्षुको अवश्य ही श्रद्धालु होना चाहिए, श्रद्धाके न रहनेपर तो कुछ है ही नहीं, इसलिए प्रयत्नपूर्वक श्रद्धाका सम्पादन करना चाहिए, यह भाव है। श्रद्धावान् होनेपर भी बहिर्मुखको ज्ञान प्राप्त नहीं होता, इसलिए बहिर्मुख न होना चाहिए, ऐसा कहते हैं—'**संयतेन्द्रिय**' से। संयत कर लिया है, तत्-तत् विषयोंमें प्रवृत्त नहीं किया है, दोनों इन्द्रियोंको जिसने वह संयतेन्द्रिय है। संयतेन्द्रियत्व यतिका धर्म है, यतिको सदा संयतेन्द्रिय होना चाहिए, क्योंकि बाहरकी प्रवृत्तिसे रहितको ही ज्ञान प्राप्त होता है और प्राप्त हुआ ज्ञान उससे रक्षित रहता है, नहीं तो नहीं ठहरता; यह अर्थ है। इस प्रकार श्रद्धावत्त्व और संयतेन्द्रियत्व दोनोंके सिद्ध होनेपर भी भीतर विषयोंका ध्यान करनेवाले यतिको ज्ञान सिद्ध नहीं होता, इसलिए भीतर भी विषयोंके ध्यानसे रहित होना चाहिए, ऐसा कहते हैं—'**तत्परः**' से। सर्वदा उसीमें —वृत्तिकी भीतर और बाहर ब्रह्माकारताके आपादनमें ही—पर—आसक्तचित्तवाला—तत्पर है। ब्रह्माकारवृत्तिपरत्व ही असाधारण कारण है, इसीसे सब विपरीत प्रत्यय नष्ट हो जाते हैं, सब अनात्मवासनाएँ भी नष्ट होती हैं और ज्ञानकी अप्रतिबद्धता भी सिद्ध होती है, इसलिए मोक्षार्थीको वही सम्पादनीय है। इस प्रकार इन तीन नियत विशेषणोंसे सम्पन्न जो यति है, वही 'मैं ब्रह्म ही हूँ' ऐसे अप्रतिबद्ध ज्ञानको प्राप्त करता है, इससे अन्य दूसरा विद्वान्, जिसने सैकड़ों बार वेदान्तको सुना और सुनाया भी है, नहीं प्राप्त करता, यह अर्थ है। इस प्रकार श्रद्धावत्त्व, संयतेन्द्रियत्व

अज्ञश्चाऽश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नाऽयं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥ ४० ॥

अज्ञानी, श्रद्धासे रहित एवं संशयवाला पुरुष नष्ट हो जाता है। संशयग्रस्त पुरुषको न ऐहिक सुख प्राप्त होता है, न पारलौकिक सुख प्राप्त होता है और न विषयसुख ही मिलता है ॥ ४० ॥

निष्ठया निष्पन्नं जगतश्च स्वस्य च ब्रह्मात्मनैवोपलभ्यमानत्वापादकं ज्ञानं लब्ध्वा ब्रह्मविद्यतिरचिरेणैवोत्तरक्षण एव परां संशयविपरीतभावनादिनिर्मुक्तज्ञानावभासितत्वाद्वस्तुस्वाभाव्याच्चाऽविद्यातत्कार्याभासशून्यां निरतिशयसुखात्मिकां ब्रह्मात्मनाऽवस्थानलक्षणां शान्तिं मुक्तिं विदेहात्मिकां गच्छति । प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ३९ ॥

'ब्रह्मविदाप्नोति परम्', 'ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः', 'ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति', 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति', 'य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति', 'ये विदुर्यान्ति ते परम्', 'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्' इति, 'ब्रह्मविन्मुक्तो भवति ज्ञानवत्त्वाद्वामदेवादिवत्' इत्यादिश्रुतिस्मृतियुक्तिशतप्रसिद्धेः सम्यग्ज्ञानान्मोक्ष इत्येतस्मिन्नर्थे ब्राह्मणेन मोक्षैककामेन अश्रद्धा वा संशयो वाऽप्यात्मज्ञानसंपादने प्रयत्नाभावो वा न कर्तव्यः कृतश्चेन्मोक्षो न लभ्यत इत्याह—अज्ञश्चेति ।

यस्तु सर्वाणि कर्माणि मोक्षार्थं संन्यस्य मोक्षकारणे श्रवणादौ तत्कारणे गुरु-

तत्परत्व आदि साधनसम्पत्तिसे एवं दीर्घकालिक नित्य-निरन्तर ब्रह्मनिष्ठासे उत्पन्न जगत्के और अपने ब्रह्मात्मरूपसे उपलभ्यमानत्वको सिद्ध करनेवाले ज्ञानको प्राप्त करके ब्रह्मवित् यति शीघ्र ही (उत्तरक्षणमें ही) संशय, विपरीतभावना आदिसे रहित ज्ञानसे अवभासित होनेसे और वस्तुस्वभाववाली होनेसे अविद्या और उसके कार्यके आभाससे रहित, निरतिशय सुखस्वरूप ब्रह्मस्वरूपसे अवस्थितिरूप परा शान्तिको—विदेहस्वरूप मुक्तिको—प्राप्त होता है यानी प्राप्त करता है, यह अर्थ है ॥ ३९ ॥

'ब्रह्मवित् परमात्माको प्राप्त होता है', 'देवको जानकर सब पाशोंसे मुक्त हो जाता है', 'शिवको जानकर अत्यन्त शान्तिको प्राप्त होता है', 'उसीको जानकर मृत्युको लांघ जाता है', 'जो इसको जानते हैं वे अमृत हो जाते हैं', 'जो इसको जानते हैं, वे परको प्राप्त होते हैं', 'मुझको तत्त्वरूपसे जानकर तदनन्तर मुझमें ही प्रवेश करता है', 'ब्रह्मवित् मुक्त होता है, ज्ञानवान् होनेसे, वामदेव आदिके समान' इत्यादि सैकड़ों श्रुति, स्मृति और युक्तियों द्वारा सम्यक् ज्ञानसे ही मोक्ष होता है, यह प्रसिद्ध है, अतः इस विषयमें केवल मोक्षकी कामनावाले ब्राह्मणको अश्रद्धा, संशय अथवा आत्मज्ञानसम्पादनमें प्रयत्नका अभाव नहीं करना चाहिए। यदि करेगा, तो उसे मोक्ष प्राप्त नहीं होगा, ऐसा कहते हैं—'अज्ञश्चा०' इत्यादिसे ।

जो पुरुष मोक्षके लिए सब कर्मोंका त्यागकर मोक्षके कारण श्रवण आदि और उनके कारण

शुश्रूषाशमदमतितिक्षातत्परत्वादौ च प्रयत्नमकृत्वाऽऽत्मज्ञानं न संपादयति स एवाऽत्र मोक्षशास्त्रे अज्ञ इत्युच्यते। स च यस्य तु संन्यासे वेदान्तश्रवणादौ गुरौ च मोक्षे च ज्ञानान्मोक्ष इत्यस्मिन्नर्थे चाऽविश्वासो भवति सोऽश्रद्दधानः श्रद्धाशून्यश्च संशयात्मा च 'अपाम सोममृता अभूम', 'दक्षिणावन्तो अमृतं भजन्ते' इत्यादि-वाक्यैः कर्मणो मुक्तिहेतुत्वं प्रतिपाद्यते; 'तरति शोकमात्मवित्', 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्', 'कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया तु विमुच्यते' इत्यादिश्रुतिस्मृतिवाक्यैर्ज्ञानेन मुक्तिरिति प्रतिपाद्यते; ततः कर्मणा वा ज्ञानेन वा मुक्तिरिति संशय आत्मनि चित्ते यस्य स संशयात्मा सम्यगधीतशास्त्रोऽपि यः संशयग्रहग्रस्तः स चाऽपि विनश्यति ज्ञानफलाद्भ्रश्यति न कदापि मुक्तिं प्राप्नोतीत्यर्थः। एवं त्रयाणामपि ज्ञानशून्यानां मुक्त्यभावं प्रतिपाद्य तत्र दोषाधिक्यात् संशयालुं विशेषयति—**नाऽयमिति**। संशयात्मनः पापिष्ठस्य मुक्तिरेव नाऽस्तीति न, किन्तु भाविजन्मन्ययं लोको मानुषोऽपि नास्ति, न परः स्वर्गोऽपि च नास्ति, पुंसः संशय एव महापापसमुद्भवः सर्वानर्थस्य च बीजम्, तत इदमवश्यं कर्तव्यमनेन तरिष्यामीति कर्मणि वैदिके सर्वत्र च श्रद्धाऽसंभवात् श्रद्धावैधुर्येण कृतानां कर्मणां स्वफलदानसामर्थ्यासंभवात्तत्तल्लोकप्राप्त्यभावोपपत्तेः।

गुरुशुश्रूषा, शम, दम, तितिक्षा, तत्परत्व आदिमें प्रयत्न न कर आत्मज्ञानका संपादन नहीं करता, वही यहां (मोक्षशास्त्रमें) अज्ञ कहलाता है। और जिसका संन्यास, वेदान्तके श्रवण आदिमें, गुरुमें और मोक्षमें—ज्ञानसे मोक्ष होता है, इस विषयमें—विश्वास नहीं होता, वह अश्रद्दधान—श्रद्धाशून्य—है और जो संशयात्मा है यानी 'हम सोम पियेंगे अमृत होंगे', 'दक्षिणाग्निके उपासक अमृतको भजते हैं' इत्यादि वाक्योंसे कर्म मुक्तिका हेतु है, ऐसा प्रतिपादन किया जाता है, 'आत्मवित् शोकको तर जाता है', 'ज्ञानसे ही कैवल्य होता है', 'कर्मसे जन्तु बांधा जाता है, विद्यासे जन्तु छूट जाता है' इत्यादि श्रुति और स्मृतिके वाक्योंसे ज्ञानसे मुक्ति होती है, ऐसा प्रतिपादन किया जाता है; इससे कर्मसे मुक्ति होती है या ज्ञानसे, ऐसा संशय जिसकी आत्मामें—चित्तमें—हो, वह संशयात्मा है। भली भांति शास्त्रोंको पढ़कर भी जो संशयरूप ग्रहसे ग्रस्त है, वह भी नष्ट हो जाता है यानी ज्ञानफलसे भ्रष्ट हो जाता है, कभी भी मुक्तिको प्राप्त नहीं होता, यह अर्थ है। इस प्रकार ज्ञानसे शून्य तीनोंको मुक्ति नहीं होती, ऐसा प्रतिपादन करके उनमें से, दोष अधिक होनेके कारण, संशयालुको बढ़कर दोषी कहते हैं—'**नाऽयमिति**'। संशयात्मा पापीकी मुक्ति ही नहीं होती, इतना ही नहीं है, किन्तु भावी जन्ममें यह लोक—मनुष्यलोक—भी उसे नहीं मिलता और न पर है यानी स्वर्गलोक भी नहीं मिलता। पुरुषका संशय ही महापापको उत्पन्न करनेवाला और सब अनर्थोंका बीज है, उससे यह अवश्य कर्तव्य है, इससे मैं तर जाऊँगा, इस प्रकार वैदिक कर्ममें और सर्वत्र श्रद्धा नहीं होती और श्रद्धाके न होनेसे किये गये कर्मोंकी अपना फल देनेमें सामर्थ्य न होनेसे उनसे तत्-तत् लोककी प्राप्तिका अभाव उपपन्न

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥ ४१ ॥

हे धनंजय, ज्ञानसे जिसके संशय निवृत्त हो गये हैं और योगसे सम्पूर्ण कर्मोंका जिसने त्याग कर दिया है ऐसे ब्रह्मज्ञानीको कर्म बन्धनमें नहीं डालते हैं ॥ ४१ ॥

न च विषयसुखमप्यस्ति तादृशस्य त्वाहारादावपि संशयसंभवात्ततः संशयात्मा नरलोकपरलोकयोस्तत्सुखस्य च दूरीभवतीत्यर्थः । एतेन मुमुक्षोर्यतेः प्रयत्नेनाऽऽत्मज्ञत्वं संन्यासगुरुवेदान्तश्रवणादिषु श्रद्धावत्त्वं सर्वत्र निःसंशयवत्त्वं च संपादनीयमिति सूचितं भवति ॥ ४० ॥

तर्ह्येवमनर्थहेतोः संशयस्य निःशेषनिवृत्तिः कथं सिध्यतीत्याकाङ्क्षायां श्रुतियुक्तिसमुत्पन्नब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानेनैव तस्य विच्छित्तिर्नोऽन्यथेति सूचयितुं परावरैकत्वविज्ञानविच्छिन्नसर्वसंशयत्वादेव ब्रह्मवित्कर्मभिर्न निबध्यत इति प्रतिपादयति—**योगेति।**

ज्ञानसंछिन्नसंशयं ज्ञानं परावरयोरखण्डैकरसत्वसंदर्शनलक्षणं तेन ज्ञानेन निरन्तरसमाधिनिष्पन्नाप्रतिबद्धभावेन संछिन्ना निःशेषं निर्मूलिताः संशयाः—मोक्षः कर्मणा वा ज्ञानेन वा, ज्ञानं च परोक्षं वाऽपरोक्षं वा, मोक्षो ज्ञानेन सिध्यति वा न वेत्येवमादयः—सर्वे यस्य तं ज्ञानसंछिन्नसंशयमत एव योगसंन्यस्तकर्माणं 'सर्वमिदमहं च ब्रह्मैव' इति सर्वस्य जगतः स्वस्य च ब्रह्ममात्रत्वदर्शनं योगस्तेन संन्यस्तानि विश्ले-

---

ही है । संशययुक्त पुरुषको विषयसुख भी नहीं मिलता, क्योंकि आहारादिमें उक्त संशय हो सकता है, इसलिए संशयात्मा पुरुष इहलोक और परलोक दोनोंके सुखसे दूर ही रहता है, यह अर्थ है । इससे यह सूचित होता है कि मुमुक्षु यतिको प्रयत्नसे आत्मज्ञत्व, संन्यास, गुरु एवं वेदान्तश्रवण आदिमें श्रद्धा और सर्वत्र संशयाभावका संपादन करना चाहिए ॥ ४० ॥

तब इस प्रकारके अनर्थके हेतु संशयकी निःशेष निवृत्ति कैसे सिद्ध होती है, ऐसी आकाङ्क्षा होनेपर श्रुति और युक्तिसे उत्पन्न हुए ब्रह्मात्माकी एकताके विज्ञानसे ही उसका नाश होता है, अन्य प्रकारसे नहीं, ऐसा सूचन करनेके लिए पर और अवरके एकत्वके विज्ञानसे सम्पूर्ण संशयोंका नाश हो जानेसे ही ब्रह्मवित् कर्मोंसे बन्धनको प्राप्त नहीं होता, ऐसा प्रतिपादन करते हैं—'योग०' इत्यादिसे ।

पर और अवर दोनोंके अखण्डैकरससंदर्शनरूप ज्ञानसे यानी निरन्तर समाधिनिष्ठासे अप्रतिबद्ध उक्त ज्ञानसे संछिन्न—निःशेष निर्मूलित—हुए हैं संशय (मोक्ष कर्मसे है या ज्ञानसे, ज्ञान परोक्ष या अपरोक्ष, मोक्ष ज्ञानसे सिद्ध होता है या नहीं, इत्यादि सम्पूर्ण संशय) जिसके, वह ज्ञानसंछिन्नसंशय है, अतएव योगसंन्यस्तकर्मा ('सब यह और मैं ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार सब जगत्में और अपनेमें ब्रह्ममात्रत्वदर्शन योग है, उस योगसे त्याग दिये हैं—अलग कर दिये

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ ४२ ॥
इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इसलिए हे भारत, अपने अज्ञानजनित चित्तगत इस संशयको ज्ञानरूपी तलवारसे काट कर उठो और कर्मयोगका अनुष्ठान करो अर्थात् युद्ध करो ॥ ४२ ॥

पितानि, सम्यङ्नितरामस्तानि ब्रह्मणि ब्रह्मात्मना लयं गतानीति वा कर्माणि संचितान्यागामीनि च सर्वाणि यस्य तं योगसंन्यस्तकर्माणमात्मवन्तमप्रमत्तम् । यद्वात्मैव बहिरन्तः सर्वत्र वृत्तेर्विषयत्वेनाऽस्याऽस्ति नान्यदित्यात्मवान् तमात्मवन्तं ब्रह्मविदं कर्माणि स्वप्नवदाभासरूपाणि शरीरयात्रामात्रैकप्रयोजनानि देहचेष्टारूपाणि योगाग्निनिर्दग्धत्वान्निर्वीर्याणि न निबध्नन्ति बन्धाय न कल्पन्ते । शुक्तिदृष्ट्या रजतप्रत्ययवद्ब्रह्मदृष्ट्या विनश्यन्तीत्यर्थः । एतेन ब्रह्मविदां यतीनां योगेनैव सर्वकर्मसंन्यासः कर्तव्यः कर्मणामबन्धकत्वायेति सूचितं भवति ॥ ४१ ॥

यथा ब्रह्मवित्तमो ज्ञानसंछिन्नसंशयत्वाद्योगसंन्यस्तसर्वकर्मा सन् कर्मबन्धनिर्मुक्तस्तथा त्वमपि ज्ञानसंछिन्नसंशयो भूत्वा योगसंन्यस्तकर्मा सन् कर्मनिष्ठो भवेत्याह—तस्मादिति ।

यस्मात् संशयवान् तद्दोषेणैव कर्मज्ञानयोगयोरन्यतरप्रवृत्त्यनुपपत्त्या स्वयमुभयभ्रष्टो भवति तस्मात् हे भारत, त्वमज्ञानसंभूतं स्वस्याऽविक्रियब्रह्मात्मत्वादर्शनलक्षणं यद्-

---

गये हैं, भली भांति ब्रह्ममें निःशेष अस्त हो गये हैं अथवा ब्रह्मात्मरूपसे लीन हो गये हैं—संचित और आगामी सब कर्म जिसके, वह योगसंन्यस्तकर्मा है) आत्मवान् यानी अप्रमत्त । अथवा जिसकी वृत्तिका विषय बाहर भीतर सर्वत्र आत्मा ही है, अन्य नहीं है, वह आत्मवान् है, उस आत्मवान्को—ब्रह्मवित्को—स्वप्नके समान आभासरूप, शरीरयात्रा ही जिनका प्रयोजन है, ऐसे देहकी चेष्टारूप योगरूप अग्निसे दग्ध होनेके कारण निर्वीर्य कर्म बांधते नहीं हैं—बंधन करनेके लिए समर्थ नहीं होते । जैसे शुक्तिदृष्टिसे रजत नष्ट हो जाता है, वैसे ही ब्रह्मदृष्टिसे कर्म नष्ट हो जाते हैं, यह अर्थ है । इससे यह सूचित होता है कि कर्म बन्धक न हो, इसलिए ब्रह्मवित् यतियोंको योगसे ही सब कर्मोंका संन्यास करना चाहिए ॥ ४१ ॥

जैसे ब्रह्मवित्तम यति ज्ञानसे सञ्छिन्नसंशयवाला होकर और योगसे सब कर्मोंका त्यागी होकर कर्मरूप बन्धनसे विमुक्त हो जाता है, वैसे ही तुम भी ज्ञानसे सञ्छिन्नसंशयवाले होकर याने योगसे संन्यस्त कर्मवाले होकर कर्मनिष्ठ होओ, ऐसा कहते हैं—'तस्मात्' इत्यादिसे ।

जिस कारणसे संशयग्रस्त पुरुषकी संशयदोषसे ही कर्मयोग और ज्ञानयोग दोनोंमें से किसी एकमें भी प्रवृत्ति न होनेके कारण वह स्वयं उभयतः भ्रष्ट हो जाता है, इसलिए हे भारत, तुम

ज्ञानं तस्मादेव संभूतमात्मनः स्वस्य हृत्स्थं चित्तगतं संशयं मोक्षसाधनं ज्ञानं वाऽन्यद्वा, ज्ञानं च परोक्षं वाऽपरोक्षं वा, ज्ञानेनाऽविद्यातत्कार्याणां निःशेषनिवृत्तिरस्ति वा न वेत्यादिलक्षणं सन्देहं ज्ञानासिना ज्ञानं ब्रह्मैवाऽहमिति स्वस्य निर्विकारेऽद्वितीये परे ब्रह्मण्येवाऽऽत्मप्रत्ययोऽप्रतिबद्धस्तदेवाऽसिस्तेनैवं निरुक्तलक्षणं संशयमात्मनाशकं छित्त्वोत्तिष्ठ व्युत्थाय योगं कर्मयोगमातिष्ठ समाचर । युध्यस्वेत्यर्थः ॥ ४२ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमदानन्दात्मसरस्वतीशिष्यश्रीशङ्करानन्दसरस्वतीकृतौ गीतावाक्यतात्पर्यबोधिन्यां चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

अज्ञानसे उत्पन्न हुए अपने अविक्रिय ब्रह्मात्मत्वका अदर्शनरूप जो अज्ञान है, उसीसे उत्पन्न अपने हृदयमें स्थित—चित्तगत—संशयको (मोक्षका साधन ज्ञान है या अन्य, ज्ञान परोक्ष है या अपरोक्ष, ज्ञानसे अविद्या और उसके कार्यकी निवृत्ति होती है या नहीं ? इत्यादिरूप सन्देहको) ज्ञानरूप असिसे—ज्ञान यानी 'मैं ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार अपना निर्विकार अद्वितीय परब्रह्ममें अप्रतिबद्ध आत्मप्रत्यय ही असि (तलवार) है, उसीसे—निरुक्त लक्षणवाले आत्मनाशक संशयको काट कर उठो—खड़े होओ, उठकर योगका—कर्मयोगका भली-भाँति अनुष्ठान करो यानी युद्ध करो, यह अर्थ है ॥ ४२ ॥

चौथा अध्याय समाप्त

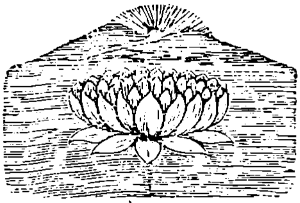

पञ्चमोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ १ ॥

अर्जुनने कहा—हे कृष्ण, आप कर्मोंके त्यागका और फिर कर्मयोगका उपदेश देते हैं, उन दोनोंमें से जिस एकका मोक्षसाधनरूपसे आपने निश्चय किया हो, उसे मुझसे कहिए ॥ १ ॥

'कर्मण्यकर्म यः पश्येत्' इत्यारभ्य कर्मसंन्यासमुपक्रम्य 'ज्ञानाग्निदग्धकर्माणम्', शारीरं केवलं कर्म', 'यदृच्छालाभसन्तुष्टः', 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ', 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि', 'योगसंन्यस्तकर्माणम्' इत्येतैर्वाक्यैर्ब्रह्मविदो ब्रह्मनिष्ठस्य कर्तव्यः कर्मसंन्यास एवेति प्रतिपाद्येदानीं कर्मसंन्यासकर्मयोगयोरेकदैकपुरुषाननुष्ठेयत्वमुभयोरन्तरङ्गबहिरङ्गसाधनभावेनैकार्थोपयोगित्वम्, फलैकत्वेऽपि तयोः साध्यसाधनभावेन पूर्वापरभावित्वं कर्मसाधनसाध्ये ज्ञाने संप्राप्ते ब्रह्मविदः कर्तव्यः सर्वकर्मसंन्यास एवेत्याद्यर्थनिरूपणाय पञ्चमाध्याय आरभ्यते । तत्राऽऽदौ 'लोकसंग्रहमेवाऽपि' इति विदुषो लोकहितार्थं कर्म कर्तव्यमिति कर्मयोगमुपक्रम्योपक्रान्ते 'वर्त एव च कर्मणि' इति तत्र स्वदृष्टान्तं विधाय, 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' इति न्यायेनाऽनुष्ठातव्यमित्यनुष्ठान-

---

'कर्ममें जो अकर्म देखता है' यहाँसे लेकर कर्मसंन्यासका उपक्रम करके 'ज्ञानरूप अग्निसे दग्ध कर्मवालेका', 'केवल शरीरके उपयोगी कर्म', 'यदृच्छा लाभसे सन्तुष्ट', 'हे पार्थ, सम्पूर्ण कर्म ज्ञानमें ही परिसमाप्त होते हैं', 'ज्ञानरूप अग्नि सब कर्मोंको जला देती है', 'योगसे कर्म त्यागनेवालेको' इन वाक्योंसे ब्रह्मवित् ब्रह्मनिष्ठ पुरुषका कर्तव्य कर्मसंन्यास ही है, ऐसा प्रतिपादन करके अब कर्मसंन्यास और कर्मयोग—दोनोंका एक कालमें एक पुरुष द्वारा अनुष्ठान नहीं हो सकता, दोनों अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग साधनरूपसे एक ही प्रयोजनके लिए उपयोगी हैं, यद्यपि दोनोंका फल एक ही है, तो भी दोनों साध्य-साधनभावसे पहले और पीछे होनेवाले हैं, कर्मरूप साधनसे साध्य ज्ञानके प्राप्त होनेपर ब्रह्मवित्का कर्तव्य सर्वकर्मसंन्यास ही है, इत्यादि अर्थका निरूपण करनेके लिए पाँचवें अध्यायका आरम्भ किया जाता है । उसमें पहले 'लोकसंग्रहको भी' इस वाक्यसे विद्वान्को लोकके हितके लिए कर्म कर्तव्य है, इस प्रकार कर्मयोगका उपक्रम करके अन्तमें 'कर्ममें ही वर्तता हूँ' इत्यादिसे उसमें अपना दृष्टान्त देकर 'गुण गुणोंमें वर्तते हैं' इस न्यायसे कर्मका अनुष्ठान करना चाहिए, इस प्रकार अनुष्ठानकी प्रक्रियाका सूचन

प्रक्रियां सूचयित्वा, एवं 'पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्' इति तस्य शिष्टाभ्युपगतत्वं दर्शयित्वा, तस्मिन्नेव कर्मयोगे 'कुरु कर्मैव तस्मात्त्वम्' इति 'योगमातिष्ठोत्तिष्ठ' इति संन्यासेन सहोपदिष्टे सति कर्मसंन्यासकर्मानुष्ठानयोरुभयोर्युगपत्कर्तव्यत्वेन प्राप्तयोश्चक्षुरुन्मीलननिमीलनवदन्योन्यविरोधादनेनैकदा कर्तुमशक्यत्वाद् द्वयोरन्यतरस्य कर्तव्यत्वे प्राप्ते, तयोर्यच्छ्रेष्ठतरं पुमर्थसाधकं तज्ज्ञात्वैकं कर्तुं शक्यत इति तदन्यतरश्रेष्ठत्वजिज्ञासयाऽर्जुन उवाच। नन्वत्र एतयोः कर्मसंन्यासकर्मयोगयोर्यच्छ्रेष्ठतरं तन्मे ब्रूहीत्यर्जुनस्य प्रश्नः किं विद्वत्कर्तृककर्मसंन्यासकर्मयोगयोर्वा किमविद्वत्कर्तृककर्मसंन्यासकर्मयोगयोर्वा, उत विद्वदविद्वत्कर्तृकसंन्यासकर्मयोगयोर्वेति चेदुच्यते, नाऽऽद्यः, निरन्तरसमाधिसमुत्पन्नसम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मैवाहमिति निष्क्रिये परे ब्रह्मण्येवाऽऽत्मभावमुपेत्य सदा तदात्मनैव तिष्ठतो ब्रह्मविदस्तद्विपरीतात्माज्ञानमूलकानात्मतादात्म्यासंभवादहंकारैककारणकः कर्मयोगो न कथंचन सिध्यति, स्वविरोधिनि सम्यग्ज्ञाने विजृम्भमाणे सत्यर्के तमस इवाऽज्ञानस्य स्थित्यनुपपत्तौ विदुषोऽनात्मतादात्म्यं न संभवत्येव, तदसंभवे तत्कारणकाहंकारासंभवात्तदेकनिबन्धनः कर्मयोगः स्वप्नेऽपि संभावयितुं न शक्यते। नहि

करके, 'इसी प्रकार पूर्वके लोगोंने पूर्वकालमें किया है' इत्यादिसे वह (कर्मयोग) शिष्ट पुरुषोंसे प्राप्त हुआ है, ऐसा दिखला कर, उसी कर्मयोगमें 'इसलिए तुम कर्म ही करो' 'खड़े हो जाओ, कर्मयोग करो' इत्यादि वाक्योंसे संन्याससहित कर्मयोगका उपदेश होनेपर कर्मसंन्यास और कर्मका अनुष्ठान दोनों एक साथ ही कर्तव्यरूपसे प्राप्त होते हैं। आँखके खोलने और मींचनेके समान दोनोंका विरोध है, इसलिए एक पुरुष द्वारा एक समयमें वे नहीं किये जा सकते, इससे दोनोंमें से कोई एक कर्तव्य है, ऐसा प्राप्त होनेपर दोनोंमें से जो एक श्रेष्ठतर पुरुषार्थका साधक हो, उसको जानकर वही एक किया जा सकता है, इसलिए उन दोनोंमें से जो श्रेष्ठ हो, उसको जाननेकी इच्छावाले अर्जुनने कहा—'**संन्यासम्**' इत्यादि।

शङ्का—यहाँ कर्मसंन्यास और कर्मयोग दोनोंमें से जो श्रेष्ठ हो, उसे मुझसे कहिए, यह अर्जुनका प्रश्न क्या जो संन्यास और कर्मयोग विद्वान्के करनेके हैं, उनके लिए है, या जो अविद्वान्के हैं, उनके लिए है, या जो विद्वान् और अविद्वान् दोनोंके करनेके हैं, उनके लिए है?

समाधान—प्रथम पक्ष तो युक्त नहीं है, क्योंकि निरन्तर समाधिसे उत्पन्न हुए सम्यग्ज्ञानसे 'मैं ब्रह्म ही हूँ', इस प्रकार निष्क्रिय परब्रह्ममें ही आत्मभाव प्राप्त करके सदा ब्रह्मस्वरूपसे ही स्थित होनेवाले ब्रह्मवित् यतिमें ब्रह्मज्ञानसे विपरीत आत्माके अज्ञानसे होनेवाले अनात्मतादात्म्यका सम्भव न होनेसे केवल अहङ्कारमूलक कर्मयोग किसी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकता। जैसे सूर्यमें अन्धकार नहीं हो सकता, वैसे ही अज्ञानके विरोधी सम्यक् ज्ञानके होनेपर अज्ञानकी स्थिति नहीं हो सकती, ऐसा होनेसे विद्वान्में अनात्माका तादात्म्य नहीं रह सकता, उसके न होनेसे उसका कार्य अहङ्कार नहीं हो सकता, अहङ्कारके न होनेसे, अहङ्कार ही

जाग्रतः स्वप्नार्थसंबन्धवद्ब्रह्मविद्यायामेव जाग्रतो ब्रह्मविदोऽनात्मतादात्म्यतत्कार्यसम्बन्धः संभवति, तत्सत्त्वे कृतकृत्यताभावप्रसङ्गात् 'तद्ब्रह्माऽहमस्मीति कृतकृत्यो भवति', 'नैवाऽस्ति किंचित्कर्तव्यम्' इत्यादिश्रुतिस्मृत्यप्रामाण्यप्रसङ्गात्प्रत्यक्षविरोधाच्च । वक्रकोटरत्वादिधर्मसंदर्शिनः स्थाणौ पुनश्चोरत्वबुद्धिः पलायनं च न संभवति यथा, तथा ब्रह्मैवाऽऽत्मानं विजानतस्तदानन्दमनुभवतः सर्वं ब्रह्मैव पश्यतो ब्रह्मविदोऽनात्मतादात्म्यापत्तिः कर्तृत्वबुद्धिः कामना च कर्मणि प्रवृत्तिश्च न सम्भवत्येवाऽतो विद्वत्कर्तृककर्मसंन्यासकर्मयोगविषयो न भवति । नाऽपि तृतीयः, विद्वत्ताविद्वत्तयोः परस्परविरोधिन्योरेकाधिकरणत्वानुपपत्तौ प्रश्नासम्भवात् परिशेषादविद्वत्कर्तृकयोरेव कर्मसंन्यासकर्मयोगयोर्द्वयोरेकदैव कर्तव्यत्वप्रसक्तावप्युभयोः परस्परविरुद्धत्वेन सह प्रयोगायोगात्तयोरन्यतरस्य प्रशस्यतरत्वे सिद्धे तत्रैको मुमुक्षुणा कर्तुं शक्यत इति तयोरेकस्य श्रेष्ठत्वजिज्ञासुरर्जुनः पृच्छति—संन्यासमिति ।

सदानन्दरूपत्वात्परमात्मा कृष्ण इत्युच्यते तस्य संबुद्धिर्हे कृष्ण, पूर्वोक्तैर्वचनैः संन्यासं विध्युक्तानामवश्यमनुष्ठेयानां कर्मणां त्यागं शंससि कथयसि । पुनर्भूयोऽपि

जिसका हेतु है, ऐसा कर्मयोग स्वप्नमें भी नहीं हो सकता । जैसे जगत्का स्वप्नके पदार्थोंसे सम्बन्ध नहीं है, वैसे ही ब्रह्मविद्यामें जागनेवाले ब्रह्मवित्का अनात्मतादात्म्य और उसके कार्यके साथ सम्बन्धका सम्भव नहीं है, क्योंकि ऐसा होनेसे कृतकृत्यताके अभावका प्रसङ्ग हो जायगा एवं 'ब्रह्मवित् मैं वह ब्रह्म हूँ इस प्रकार कृतकृत्य होता है ।' 'कुछ भी कर्तव्य नहीं है' इत्यादि श्रुति और स्मृतियोंमें अप्रामाण्यका प्रसङ्ग हो जायगा और प्रत्यक्षसे भी विरोध होगा । जैसे स्थाणुमें वक्रत्व, कोटरत्व आदि देखनेवालेको स्थाणुमें फिर चोरत्वबुद्धि और पलायन (भागना) नहीं होता, वैसे ही अपनेको ब्रह्म ही जाननेवाले, उसके आनन्दका अनुभव करनेवाले, सबको ब्रह्म ही देखनेवाले ब्रह्मवित्में अनात्मतादात्म्यकी प्राप्ति, कर्तृत्वबुद्धि, कामना और कर्ममें प्रवृत्ति नहीं होती, इसलिए विद्वान् द्वारा किये गये कर्मसंन्यास और कर्मयोगके विषयमें प्रश्न ही नहीं हो सकता है । तीसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि विद्वान् और अविद्वान् दोनोंका परस्पर विरोध है, दोनों विरोधियोंका एक अधिकरण नहीं हो सकता, इसलिए उक्त प्रश्नका सम्भव नहीं है । परिशेषसे जिनका अविद्वान् कर्ता है, उन्हीं कर्मसंन्यास और कर्मयोगमें एक ही समयमें कर्तव्यत्वका प्रसङ्ग आनेपर भी दोनोंका परस्पर विरोध होनेसे एक साथ प्रयोग नहीं हो सकता, इसलिए दोनोंमें से किसी एकके श्रेष्ठतर सिद्ध होनेपर ही उनमेंसे किसी एकको मुमुक्षु कर सकता है, अतः दोनोंमें से किसी एककी श्रेष्ठता जाननेकी इच्छासे अर्जुन पूछते हैं—'संन्यासम्' इत्यादिसे ।

सत् और आनन्दरूप होनेसे परमात्मा ही कृष्ण कहलाते हैं, हे कृष्ण, उनका सम्बोधन है, पूर्वोक्त वचनोंसे संन्यासको—विधि द्वारा कहे गये अवश्य अनुष्ठेय कर्मोंके त्यागको—आप कहते हैं । और फिर भी 'इसलिए तुम कर्मको ही करो' । 'योगका अनुष्ठान करो ।' इत्यादिसे कर्म-

श्रीभगवानुवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २ ॥

भगवान्‌ने कहा—संन्यास और कर्मयोग दोनों यद्यपि मोक्षके साधन हैं, तथापि उन दोनोंमें से अविद्वान्‌के लिए कर्मसंन्यासकी अपेक्षा कर्मयोग अधिक श्रेष्ठ है ॥२॥

'कुरु कर्मैव तस्मात्त्वम्' इति 'योगमातिष्ठ' इति च कर्मयोगमपि शंससि । क्रिययाऽप्यधिकारितः साधनसंपत्त्या चाऽऽश्रमेण च परस्परविरुद्धौ संन्यासकर्मयोगावेकेनैकदा कर्तुमशक्यौ मह्यं तत्कर्तव्यत्वेन विधत्से । ममाऽत्र संशयः—कर्तव्यः कर्मयोगो वा संन्यासो वेति द्वयोरप्याश्रमादिभेदेन विरुद्धत्वादेकेनैकदा कर्तुमशक्यत्वात्तयोर्यच्छ्रेयःसाधनं भवति तदेव कर्तव्यं न तु द्वयमिति भाति । अत एतयोर्यदेकं प्रशस्यतरं मोक्षसाधनत्वेन भवता सुनिश्चितं तदेव मे ब्रूहीत्यर्थः ॥ १ ॥

एवं कर्मसंन्यासकर्मयोगयोरेकेनैकदाऽननुष्ठेयत्वे सिद्धे तयोरन्यतरस्य ज्यायस्त्वनिर्णयाय 'देशकालवयोवस्थाबुद्धिशक्त्यनुरूपतः । धर्मोपदेशो भैषज्यं वक्तव्यं धर्मपारगैः ॥' इति न्यायेनाऽधिकार्यनुरूपमुत्तरं श्रीभगवानुवाच—**संन्यास इति ।**

ब्रह्मणि नितरामासः संन्यासः बाह्यप्रवणताराहित्येन चित्तस्य ब्रह्मणि ब्रह्मात्मनावस्थानलक्षणो निर्विकल्पकसमाधिः, प्रत्यग्दृष्ट्याऽनात्मप्रत्ययनिरासः संन्यासः सविकल्पक-

---

योगको भी कहते हैं। तात्पर्य यह है कि क्रियासे, अधिकारीसे, साधनसम्पत्तिसे और आश्रमसे परस्पर विरुद्ध संन्यास और कर्मयोगका एक पुरुष द्वारा एक समयमें अनुष्ठान नहीं किया जा सकता, उनका मेरे लिए कर्तव्यरूपसे आप विधान करते हैं। अतः मुझे इसमें संशय होता है कि क्या मेरे लिए कर्तव्य कर्मयोग है या संन्यास है? क्योंकि दोनों ही आश्रम आदिके भेदसे परस्पर विरुद्ध होनेके कारण एक पुरुष द्वारा एक समयमें नहीं किये जा सकते, अतः उन दोनोंमें से जो श्रेयका साधन हो, उसीका अनुष्ठान करना चाहिए, दोनोंका नहीं, ऐसा प्रतीत होता है। इसलिए उन दोनोंमें से जिसका मोक्षके श्रेष्ठतर साधनरूपसे आपने भली-भाँति निश्चय किया हो, उसीको मुझसे कहिए, यह अर्थ है ॥ १ ॥

इस प्रकार कर्मसंन्यास और कर्मयोग दोनों एक पुरुष द्वारा एक समयमें नहीं किये जा सकते, ऐसा सिद्ध होनेपर उन दोनोंमें से एकके श्रेष्ठत्वका निर्णय करनेके लिए 'देश, काल, वय, अवस्था, बुद्धि और शक्तिके अनुसार औषधरूप धर्मका उपदेश धर्मके पार पहुँचे हुए लोगोंको करना चाहिए' इस न्यायसे अधिकारके अनुसार भगवान्‌ने अर्जुनके प्रश्नका उत्तर कहा—'**संन्यासः**' इत्यादिसे।

ब्रह्ममें नितरां आसीन रहना संन्यास है। बाह्य आसक्तिसे रहित होकर ब्रह्ममें चित्तका ब्रह्मस्वरूपसे स्थित हो जानारूप निर्विकल्पक समाधि संन्यास है, प्रत्यक् दृष्टिसे अनात्मप्रत्ययका

समाधिः । द्वावप्येतौ संन्यासौ प्रधानौ । एतयोः श्रवणमननयोश्चाऽङ्गभूतस्तत्प्रतिकूलानां सर्वेषां च कर्मणां परित्यागलक्षणः संन्यास इत्येवं संन्यासशब्दार्थस्त्रेधा भिद्यते । अत्र प्रधानभूतौ संन्यासौ न विवक्षितौ, किन्त्वङ्गभूत एव सर्वकर्मसंन्यासः श्रवणादिजन्यज्ञानद्वारा मोक्षहेतुः, यस्त्वविद्वत्कर्तृकः स च स्वानुष्ठानप्राप्तचित्तशुद्धिजन्यज्ञानद्वारा मोक्षहेतुः, यस्त्वविद्वत्कर्तृकः कर्मयोगः स च तावुभावपि निःश्रेयसकरौ यद्यपि मोक्षस्य साधने एव भवतस्तथाप्यविदुषः समकाले कर्तव्यत्वेन प्राप्तयोस्तयोस्तु गुणदोषविचारे क्रियमाणे सदसद्विवेकजन्यतीव्रवैराग्यतीव्रमोक्षेच्छायमनियमशमदमाद्यन्तरङ्गसाधनपौष्कल्यशून्यात्केवलप्रैषमात्रोच्चारणरूपात्संन्यासात् कर्मयोगः श्रद्धया समनुष्ठीयमानो विशिष्यते स्वानुष्ठानभवैर्गुणैर्विशेषत्वाय कल्पते । श्रौतस्मार्तादिलक्षणं कर्मैव परमेश्वरप्रीत्यै श्रद्धया समनुतिष्ठतोऽविदुष ऋणत्रयनिवृत्तिस्तज्जन्य इन्द्रादिदेवताप्रसाद ईश्वरप्रसादे इन्द्रियप्रसादस्ततश्चित्तशुद्धिरेवमादिज्ञानसाधनसंपत्तिः सिध्यति, अस्माद्धेतोः कर्मयोग उक्तलक्षणात्संन्यासाद्विशिष्टतरो भवति, अतः साधनशून्येनाऽविदुषा सहसा संन्यासो न कर्तव्यः कर्मैवेश्वरार्पणबुद्ध्या सम्यक्कर्तव्यमिति सिद्धम् ।

ननु 'न्यासमेषां तपसामतिरिक्तमाहुः' इति संन्यासस्यैवोत्कृष्टत्वं श्रूयते, ततो

निरास—संन्यास—सविकल्पक समाधि है । ये दोनों संन्यास प्रधान हैं । इन दोनोंके श्रवण और मननमें अङ्गभूत—इनके प्रतिकूल सब कर्मोंका परित्यागरूप—तीसरा संन्यास है, यों संन्यास-शब्दका अर्थ तीन प्रकारका है । यहाँ प्रधानभूत दो संन्यास विवक्षित नहीं हैं, किन्तु अङ्गभूत सब कर्मोंका संन्यास ही श्रवणादिसे उत्पन्न ज्ञानके द्वारा मोक्षका हेतु है, जो अविद्वान् द्वारा किया गया है, वही अपने अनुष्ठानसे प्राप्त हुई चित्तशुद्धिसे उत्पन्न हुए ज्ञान द्वारा मोक्षका हेतु है और अविद्वान् द्वारा करनेका जो कर्मयोग है, वह भी मोक्षका हेतु है, ये दोनों ही यद्यपि निःश्रेयसकर—मोक्षके साधन—हैं, तो भी अविद्वान्‌को कर्तव्यरूपसे एक ही कालमें प्राप्त होनेपर दोनोंके गुण और दोषका विचार करनेपर सत् और असत्‌के विवेकसे उत्पन्न तीव्र वैराग्य, तीव्र मोक्षकी इच्छा, यम, नियम, शम, दम आदि अन्तरङ्ग साधनोंकी पुष्कलतासे शून्य, केवल प्रैष-मन्त्रोच्चारणरूप संन्यासकी अपेक्षा श्रद्धासे अनुष्ठीयमान कर्मयोग श्रेष्ठ है यानी अपने अनुष्ठानसे उत्पन्न होनेवाले गुणोंके द्वारा श्रेष्ठ बनानेमें समर्थ है । श्रौतस्मार्त कर्मोंका ही परमेश्वरकी प्रीतिके लिए श्रद्धापूर्वक अनुष्ठान करनेसे अविद्वान्‌के तीन ऋणोंकी निवृत्ति हो जाती है, इससे इन्द्र आदि देवताओंका प्रसाद होता है, ईश्वरका प्रसाद होनेपर इन्द्रियोंका प्रसाद होता है, उससे चित्तकी शुद्धि आदि ज्ञानकी साधनसम्पत्ति सिद्ध हो जाती है, इस प्रकार उक्त लक्षणोंवाले संन्याससे कर्मयोग विशिष्टतर है, इसलिए साधनशून्य अविद्वान्‌को सहसा संन्यासका ग्रहण नहीं करना चाहिए, कर्मोंका ही ईश्वरार्पणबुद्धिसे ठीक-ठीक अनुष्ठान करना चाहिए, यह सिद्ध हुआ ।

यदि शङ्का हो कि 'इन तपोंमें संन्यासको श्रेष्ठ कहते हैं' इत्यादि वाक्यसे संन्यासकी ही

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

हे महाबाहो, जो अकुशल कर्ममें अप्रीति नहीं करता, कर्म फलकी इच्छा नहीं करता और सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंसे रहित है, उसे नित्य संन्यासी जानो, वह अनायास संसारसे मुक्त हो जाता है ॥ ३ ॥

भगवतः संन्यासन्यक्कारपूर्वकं कर्मयोगस्योत्कृष्टत्ववर्णनमयुक्तमिति चेत्, न; सर्वलोकानुग्रहहेतुत्वाद्भगवत्प्रवृत्तेः पूर्वं 'न जायते म्रियते वा' इत्यादिवाक्यैरमूढानामात्मतत्त्वं तत्साधनं सर्वकर्मसंन्यासं चोपदिश्य, इदानीं स्वीयां विद्यां प्रज्ञां प्रकृतिं च परपारगमनशक्तिं चाऽविज्ञायाऽज्ञानात्कुतश्चिन्निमित्तात्सहसा संन्यस्य मूढाः पतिष्यन्तीति तानुद्धर्तुमत्राऽप्रकृतमपि प्रकृत्य कर्मयोगं तेषां कर्मण्येव प्रवृत्तिसिद्धये कर्मयोगं स्तौति 'कर्मयोगो विशिष्यते' इति न तु संन्यासं निराकरोति, संन्यासस्य स्वरूपत्वात् सर्वोत्तमत्वाच्च । 'न्यास इति ब्रह्मा ब्रह्मा हि परः' इति 'न्यास एवात्यरेचयत्' इति संन्यासस्यैव ब्रह्मत्वसर्वश्रेष्ठतमत्वश्रवणात्ततः कर्मयोगस्तुतिपरमेवैतद्वचनमिति निश्चेतव्यम् ॥ २ ॥

तत एव कर्मयोगिनं स्तौति—ज्ञेय इति ।

यस्त्वकुशलं कर्म न द्वेष्टि तत्राऽप्रीतिं न करोति, किन्तु कुशलमकुशलमपि कर्मैवेति बुद्ध्या करोति । यद्वा न द्वेष्टि—द्वेषोऽप्रीतिस्तां यस्मै कस्मैचिदपि प्राणिने न करोति,

---

उत्कृष्टता सुननेमें आती है, इसलिए भगवान्के द्वारा संन्यासके तिरस्कारपूर्वक कर्मयोगकी उत्कृष्टताका वर्णन करना युक्त नहीं है, तो यह शङ्का भी युक्त नहीं है, क्योंकि सबके ऊपर अनुग्रह करनेके लिए भगवान्की प्रवृत्ति है, इसलिए पूर्वमें 'न जन्मता है, न मरता है' इत्यादि वाक्योंसे अमूढोंके प्रति आत्मतत्त्व और उसके साधन सब कर्मोंके संन्यासका उपदेश देकर अब अपनी विद्या, प्रज्ञा और प्रकृतिको एवं परपार जानेकी शक्तिको न जानकर अज्ञानसे, किसी निमित्तको लेकर सहसा संन्यासका ग्रहण करके मूढजन पतित हो जायँगे, इसलिए उनका उद्धार करनेके लिए यहाँ कर्मयोगके अप्रकृत होनेपर भी उसे प्रकृत बनाकर कर्ममें ही उनकी प्रवृत्तिको सिद्ध करनेके लिए 'कर्मयोगो विशिष्यते' इससे भगवान् कर्मयोगकी स्तुति करते हैं, संन्यासका निराकरण नहीं करते, क्योंकि संन्यास स्वस्वरूप है और सर्वोत्तम है । 'न्यास, यह ब्रह्मा है, ब्रह्मा ही पर है' और 'न्यास ही सबसे बढ़कर श्रेष्ठ है' इत्यर्थक वाक्यसे यह ज्ञात होता है कि श्रुति संन्यासमें ब्रह्मत्व और सर्वश्रेष्ठतमत्वका प्रतिपादन करती है, इसलिए कर्मयोगकी स्तुतिके लिए ही भगवान्का यह वचन है, ऐसा निश्चय करना चाहिए ॥ २ ॥

इसीलिए कर्मयोगीकी स्तुति करते हैं—'ज्ञेयः' इत्यादिसे ।

जो अकुशल कर्मसे द्वेष नहीं करता अर्थात् उसमें अप्रीति नहीं करता, किन्तु कुशल और अकुशल भी कर्म ही हैं, इस बुद्धिसे उन्हें करता है । अथवा द्वेष नहीं करता इसका अर्थ यों करना

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ४ ॥

अज्ञानी साङ्ख्य और योगको अलग अलग फलवाले कहते हैं, पण्डित नहीं कहते, उन दोनोंसे किसी एकका आश्रय करनेसे दोनोंका जो फल है, उसे प्राप्त करते हैं ॥ ४ ॥

न काङ्क्षति—यत्किंचिदपि कर्मजं फलं न काङ्क्षति । यद्वा, प्राप्तस्याऽनर्थस्य निवृत्तिमप्राप्तस्याऽर्थस्य प्राप्तिं न काङ्क्षति । निर्द्वन्द्वः द्वन्द्वानि शीतोष्णसुखदुःखलाभालाभादीनि तेभ्यः समबुद्ध्या निर्गतो निर्द्वन्द्वो य एवंलक्षणः स एव नित्यसंन्यासी नित्यं संन्यासोऽस्यैवेति पण्डितैर्ज्ञेयो ज्ञातव्यः । हि यस्माद्रागादिदोषरहितः परिपक्वचित्तः समबुद्ध्यादिगुणयुक्तस्तस्मादयं गृही कर्मनिष्ठोऽपि सुखं परिग्रहत्यागशीतवाताद्युपद्रवभिक्षाटनादिदुःखराहित्यं यथा तथाऽनायासेन बन्धात्संसारात् प्रमुच्यते । यथोक्तकर्मानुष्ठानेन चित्तशुद्धिं ज्ञानं च प्राप्य कालान्तरे मुक्तो भवति न त्वपक्वचित्तो यतिरपीत्यर्थः । एतेन कर्मोपासनाभ्यां परिपक्वचित्तस्यैव संन्यासाधिकार इति सूचितं भवति ॥ ३ ॥

ननु 'कर्मणा पितृलोकः' इति कर्मिणां पितृलोकप्राप्तिः श्रूयते कथं कर्मिणः 'सुखं बन्धात्प्रमुच्यते' इति कर्मफलं भवबन्धमोक्षणं शास्त्रविरुद्धमुच्यत इत्याशङ्कायाम्, न; कामिनामेव कर्मफलं पित्रादिलोको न तु निष्कामानामिति विरुद्धफलवादिमतन्यक्कार-

चाहिए, जिस किसी प्राणीके प्रति द्वेष—अप्रीति—नहीं करता एवं किसी भी कर्मसे होनेवाले फलको जो नहीं चाहता अथवा प्राप्त हुए अनर्थकी निवृत्ति और अप्राप्त अर्थकी प्राप्ति नहीं चाहता। निर्द्वन्द्व—शीतोष्ण, सुखदुःख, लाभालाभ आदि द्वन्द्व हैं, समबुद्धि होनेसे जो उनसे निकल गया है, वह निर्द्वन्द्व है। जो इस प्रकारके लक्षणोंसे युक्त है, वही नित्यसंन्यासी है—नित्य ही उसका संन्यास है, ऐसा पण्डितोंको जानना चाहिए। जिस कारणसे रागादि दोषसे रहित, परिपक्व चित्तवाला, समबुद्धि आदि गुणोंसे युक्त है, इसलिए (गृहस्थ) कर्मनिष्ठ भी सुखपूर्वक—परिग्रहत्याग, शीतवातादि, भिक्षाटनादि दुःखसे रहित—अनायाससे बन्ध (संसारसे) मुक्त हो जाता है। यथोक्त कर्मके अनुष्ठानसे चित्तशुद्धि और ज्ञानको प्राप्त करके कालान्तरमें मुक्त हो जाता है। इससे सूचित होता है कि कर्म और उपासनासे परिपक्व चित्तवालेका ही संन्यासमें अधिकार है, अन्यका नहीं है ॥ ३ ॥

'कर्मसे पितृलोक होता है' इत्यर्थक श्रुतिसे कर्म करनेवालोंको पितृलोककी प्राप्ति होती है, ऐसा ज्ञात होता है, इस परिस्थितिमें 'अनायास बंधसे मुक्त होता है' इस प्रकार कर्मानुष्ठान करनेवाले पुरुषके प्रति कर्मका फल संसारबन्धनसे मुक्ति है, ऐसा शास्त्रविरुद्ध कैसे कहा जाता है, ऐसी यदि शङ्का हो, तो वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि कामनावाले पुरुषोंके लिए ही कर्मका फल पितृलोक कहा गया है,

पूर्वकं संन्यासकर्मयोगयोः फलमेकमेवेति निश्चित्य तयोरेकस्याऽऽश्रयणेनोभयोर्यत्फलं तदाप्नोतीत्याह—**सांख्ययोगाविति** ।

बाला वेदान्तशास्त्रार्थरहस्यावेदिनः केचिद्विद्वांसः सांख्ययोगौ सांख्यं सर्ववेदान्तैः सम्यक्तत्परत्वेन ख्यायते प्रतिपाद्यत इति सांख्यं परं ब्रह्म तत्प्राप्तेः परमकारणत्वात्सांख्यं ज्ञाननिष्ठाङ्गभूतः संन्यासः योगः कर्मयोगस्तावुभौ सांख्ययोगौ क्रिययाऽधिकारित आश्रमेण च पृथग्यथा भिन्नौ तथा फलेनाऽपि भिन्नाविति साधनतः फलतश्च भेदं वदन्ति । 'कर्मणा पितृलोकः', 'स्वर्गं वा एते लोकं यन्ति' इत्यादिवाक्यैः 'संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः', 'नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति' इत्यादिवाक्यैश्च संन्यासकर्मयोगयोः साधनभेदं फलभेदं च प्रतिपादयन्तीत्यर्थः । श्रुतिस्मृतिप्रामाण्यात् तयोः फलपार्थक्यं युक्तमेवेत्यत आह—**नेति** । पण्डिता वेदान्तशास्त्रपारगास्तद्रहस्यवेदिनो ब्रह्मविदस्तु तयोः फलमेकमेव वदन्ति तत्कथमिति चेत्, उच्यते—तत्त्वमस्यादिवाक्यानि पुंसश्चित्तशुद्ध्यभावे ब्रह्मतत्त्वं बोधयितुं न शक्नुवन्ति । चित्तशुद्धिश्च कर्मोपासनाभ्यां विना न सिध्यति, कर्मोपासनयोः प्रवृत्तिश्च कर्मेश्वरयोर्महत्त्वस्तुतिं विना न सिध्यत्यतः श्रुतैरेवाऽर्थवादवाक्यैः 'पश्यति पुत्रम्' इत्यादिभिः 'एष

निष्काम पुरुषोंके लिए नहीं, इस प्रकार विरुद्ध फलवादीके मतके तिरस्कारपूर्वक संन्यास और कर्मयोग दोनोंका फल एक ही है, ऐसा निश्चय करके इन दोनोंमें से किसी एकका आश्रयण करनेवाले पुरुषको दोनोंका जो फल है, वह प्राप्त होता है, ऐसा कहते हैं—'**साङ्ख्ययोगौ**' इत्यादिसे ।

बाल यानी वेदान्तशास्त्रके रहस्यको न जाननेवाले कितने ही विद्वान् सांख्ययोगको—(सब वेदान्तों द्वारा ठीक-ठीक तात्पर्यसे जिसका व्याख्यान किया जाता है—प्रतिपादन किया जाता है—वह सांख्य कहलाता है यानी परब्रह्म, उसकी प्राप्तिका परम कारण होनेके कारण—ज्ञाननिष्ठाका अङ्गभूत संन्यास साङ्ख्य है, योग यानी कर्मयोग उन सांख्य और योग दोनोंको क्रियासे, अधिकारीसे और आश्रमसे जैसे वे भिन्न हैं, वैसे ही फलसे भी 'ये लोग कर्मसे भिन्न हैं इस प्रकार साधन और फलसे भेद कहते हैं । अर्थात् 'कर्मसे पितृलोक' स्वर्गलोकको प्राप्त होते हैं' इत्यादि वाक्योंसे एवं 'संन्यासयोगसे शुद्ध अन्तःकरणवाले यति' 'परम नैष्कर्म्यसिद्धिको संन्याससे प्राप्त होता है' इत्यादि वाक्योंसे संन्यास और कर्मयोग दोनोंके साधनभेद और फलभेदका प्रतिपादन करते हैं, यह भाव है । श्रुति और स्मृतिके प्रामाण्यसे दोनोंका फल भिन्न मानना युक्त ही है, इसपर कहते हैं—**नेति** । पण्डित—वेदान्तशास्त्रके पारङ्गत—उसके रहस्यको जाननेवाले ब्रह्मवित्—तो दोनोंका फल एक ही है, ऐसा कहते हैं । वह कैसे ? यदि ऐसा कहो, तो कहा जाता है-तत्त्वमसि' आदि वाक्य पुरुषके चित्तके शुद्ध न होनेपर ब्रह्मतत्त्वका बोधन नहीं कर सकते, चित्तकी शुद्धि कर्मकी उपासनाके बिना सिद्ध नहीं होती और कर्म तथा उपासनामें प्रवृत्ति कर्म तथा ईश्वरके महत्त्वकी स्तुतिके बिना सिद्ध नहीं होती, इसलिए श्रुत 'पुत्रको देखता है' इत्यादि अर्थवाद

सर्वेश्वर एष सर्वज्ञः' इत्यादिवाक्यैश्च कर्मेश्वरयोर्महत्त्वे प्रतिपाद्यमाने फलानुषक्त्या कर्मण्युपास्तौ च प्रवृत्तस्य ताभ्यां शुद्धात्मन एवोपदिष्टं तत्त्वज्ञानं फलति, अतो ज्ञानसिद्धेः कारणं चित्तशुद्धिस्तत्कारणं कर्मैवेत्यतः कर्मणो मोक्ष एव फलं ज्ञान-साधनत्वात्संन्यासस्यापि 'विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳसह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते' इति श्रवणादविद्यया मृत्युं ज्ञानप्रतिबन्धमतीत्य ज्ञानेनाऽमृतं मोक्षमश्नुत इति ज्ञानकर्मयोगयोर्ज्ञानसंन्यासयोश्च साध्यसाधनभावा-वगमाद् ज्ञानफलं तत्फलमेवेति सांख्ययोगयोरेकमेव फलं मोक्ष इति पण्डिताः मन्यन्ते। तस्मात्कारकादेरेव भेदो न तु तयोः फलतो भेद इति सिद्धं यतस्ततः सांख्ययोगयोरेकमपि। अपिशब्दो वार्थः। उभयोर्मध्ये सांख्यं वा कर्मयोगं वा सम्यगास्थितः समनुतिष्ठन् मुमुक्षुरुभयोरपि फलं मोक्षाख्यं बिन्दते प्राप्नोतीति सां-ख्यकर्मयोगयोर्मोक्षं प्रत्यन्तरङ्गबहिरङ्गभावेन कालतोऽप्यल्पत्वानल्पत्वाभ्यां च साध्य-साधनभावेनाऽप्युभयोस्तरतमभावे विद्यमानेऽपि गजाश्वयोरिव तयोः समत्वप्रतिपाद-नमनधिकारिणा कर्मैव कर्तव्यं न तु संन्यास इति सूचनार्थम्॥ ४॥

वाक्योंसे ही और 'यह सबका ईश्वर है, यह सर्वज्ञ है' इत्यादि वाक्योंसे कर्म और ईश्वर दोनोंके महत्त्वका प्रतिपादन करनेपर फलके अनुषङ्गसे जो कोई कर्म और उपासना दोनों करता है, उनके करनेसे जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, उसके प्रति किया गया उपदेश तत्त्वज्ञानरूप फलसे युक्त होता है, इसलिए ज्ञानकी सिद्धिका कारण चित्तशुद्धि है और उसका कारण कर्म ही है, इसलिए कर्मका फल मोक्ष ही है। ज्ञानका साधन होनेसे संन्यासका फल भी मोक्ष है। 'विद्या और अविद्या दोनोंको जो साथ जानता है, अविद्यासे मृत्युको तरकर विद्यासे अमृतको प्राप्त होता है' इस श्रुतिसे अविद्यासे मृत्युको—ज्ञानके प्रतिबन्धको—दूर कर ज्ञानसे अमृतरूप मोक्ष पाता है, इस प्रकार ज्ञान और कर्मयोग दोनोंका और ज्ञान एवं संन्यास दोनोंका साध्यसाधनभाव ज्ञात होता है, इसलिए ज्ञानफल ही दोनोंका फल है, इस प्रकार सांख्य और योग दोनोंका एक ही फल मोक्ष है, ऐसा पंडित मानते हैं। इसलिए कारक आदिसे ही दोनोंका भेद है, फलसे भेद नहीं है, यह सिद्ध हुआ, इसलिए सांख्य और योग दोनोंमें से एकका भी (यहां अपिशब्द वाके अर्थमें है) दोनोंमें से चाहे सांख्य चाहे कर्मयोगका भली भाँति अनुष्ठान करके मुमुक्षु दोनोंसे ही मोक्षनामक फलको प्राप्त होता है। इस प्रकार सांख्य और कर्मयोग दोनोंका मोक्षके प्रति अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग भावसे, अल्प अनल्प कालसे और साध्य-साधनभावसे भी तारतम्य होनेपर भी हाथी और घोड़ेके समान दोनोंका समत्वप्रतिपादन, अनधिकारीका कर्म ही कर्तव्य है, न कि संन्यास, ऐसा सूचन करनेके लिए है॥ ४॥

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ५ ॥

जिस स्थानको सांख्य प्राप्त करते हैं, उसी स्थानको कर्मयोगी भी प्राप्त करते हैं, अतएव सांख्य और योगको जो एकरूप देखता है, वही सम्यग्दर्शी है ॥ ५ ॥

यदुक्तं सांख्ययोगयोरेकफलत्वं पुनस्तदेव विस्पष्टयन् तदेकत्वदर्शिनं स्तौति—**यदिति** ।

सांख्यं परं ब्रह्म-तदात्मत्वेन ये विदुस्ते सांख्यास्तैः सांख्यैर्ब्रह्मनिष्ठैर्यतिभिर्यत्स्थानं सदैकरूपेणैव तिष्ठति न क्वचित्किंचिदपि विकरोतीति स्थानं स्वरूपं केवलभावात्मकं प्राप्यते स्वात्मनाऽवगम्यते । योगैः फलाभिसंधिवर्जितमीश्वरप्रीत्यै क्रियमाणं वैदिकं कर्म मोक्षोपायत्वाद्योग इत्युच्यते, स योगो येषामस्ति ते योगाः । मतुबर्थेऽच्प्रत्ययोऽत्र द्रष्टव्यः । तैर्योगैः कर्मनिष्ठैरपि तदेव स्थानं मोक्षाख्यं गम्यते । निरन्तरं श्रद्धया समनुष्ठीयमानकर्मसंभावितचित्तशुद्धिजन्यज्ञानतद्योगप्राप्त्या तैरपि स्वात्मत्वेनाऽवगन्तुं शक्यत इत्यर्थः । 'एष पन्था एतत्कर्मैतद्ब्रह्म' इति श्रवणाद्यतः सांख्ययोगयोः फलैकत्वं प्रमाणसिद्धं ततः सांख्यं ज्ञानयोगं योगं कर्मयोगं चैकं यः पश्यति द्वयोरप्येकस्यैव मोक्षस्य फलत्वान्मोक्षसाधनयोस्तयोरप्येकत्वमेकार्थकत्वं च यः पश्यति स पश्यति । स एव सम्यग्दर्शी न त्वन्य इत्यर्थः ॥ ५ ॥

सांख्य और योग दोनोंका फल एक ही है, ऐसा जो कहा, उसीको पुनः स्पष्ट करते हुए उन दोनोंके एकत्वदर्शनकी स्तुति करते हैं—**'यत्'** इत्यादिसे ।

सांख्य परब्रह्म है, उसको जो आत्मरूपसे जानते हैं, वे सांख्य हैं, उन सांख्यों द्वारा—ब्रह्मनिष्ठ यतियों द्वारा—जो स्थान (सदा एकरूपसे स्थित जो रहता है, कहीं, कुछ भी विकारको नहीं प्राप्त होता, वह स्थान यानी स्वरूप—केवल भावस्वरूप) प्राप्त किया जाता है—अपने आत्मरूपसे जाना जाता है । योगोंसे—फलकी अभिसन्धिरहित ईश्वरकी प्रीतिके लिए किया जानेवाला वैदिक कर्म मोक्षका उपाय होनेसे योग कहलाता है । वह योग जिनका है, वे योग हैं मतुब्के अर्थमें अच् प्रत्यय यहां समझना चाहिए । उन योगोंसे—कर्मनिष्ठोंसे—भी वह मोक्ष नामक स्थान प्राप्त किया जाता है । निरन्तर श्रद्धा द्वारा अनुष्ठित कर्मसे चित्तशुद्धि, उससे ज्ञान, तदनन्तर ज्ञानयोगकी प्राप्तिके द्वारा उनसे भी ब्रह्म अपने आत्मरूपसे जाना जा सकता है, यह अर्थ है । चूँकि 'यह मार्ग, यह कर्म, यह ब्रह्म' इत्यर्थक श्रुतिसे सांख्य और योग दोनोंका एक फल सिद्ध है, इसलिए सांख्यको—(ज्ञानयोगको) और योगको (कर्मयोगको) जो एक देखता है—दोनोंका एक ही फल मोक्ष है, इसलिए मोक्षके साधन दोनोंका एक ही अर्थ है, ऐसा जो देखता है—वही सम्यग्दर्शी है, अन्य सम्यग्दर्शी नहीं है, ऐसा अर्थ है ॥ ५ ॥

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाऽधिगच्छति ॥ ६ ॥

हे महाबाहो, कर्मयोगके अनुष्ठानके विना संन्यासका प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है, अतः कर्मयोगसे युक्त गृहस्थ ब्रह्मको शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त करता है ॥ ६ ॥

यस्मात् संन्यासकर्मयोगयोर्मोक्षैकफलकत्वं प्रदर्शितन्यायेन सिद्धं तस्मादपक्वान्तःकरणेन मोक्षार्थिना कर्मैव कर्तव्यं न तु संन्यासः, अपक्वान्तरात्मनः संन्यासो दुर्घट इत्युपदिशन् कर्मणा मृदितकषायस्य तु कर्तव्यत्वेन संन्यासमुपदिशति—**संन्यास इति**।

अयोगतस्त्वयोगे कर्मयोगानुष्ठानजन्यचित्तशुद्ध्यभावे संन्यासो ज्ञाननिष्ठालक्षण आप्तुमधिगन्तुं दुःखं दुर्घटम् । चित्तशुद्ध्येकसाध्यत्वात् ज्ञाननिष्ठालक्षणसंन्यासस्य 'कारणाभावे कार्याभावः' इति न्यायेन कर्मसंभावितचित्तशुद्ध्यभावे संन्यासो न सिध्यतीत्यर्थः । एवं संन्यासस्य कर्मयोगानुष्ठानसंभावितचित्तप्रसादैकलभ्यत्वं निश्चित्य इदानीं कर्मयोगेन सुपक्वान्तःकरणस्य तु मुमुक्षोः संन्यासः कर्तव्य इत्याशयेनाऽऽह—**योगेति** । योगयुक्तः योगेन योगानुष्ठानसंभूतचित्तप्रसादेन युक्तः संयुक्तः स्वयं मुनिर्गृही ब्रह्म । ब्रह्मशब्देनाऽत्र संन्यास उच्यते । 'न्यास इति ब्रह्मा ब्रह्मा हि परः' इति श्रवणाद्ब्रह्मस्वरूपेणाऽवस्थानलक्षणं प्रधानसंन्यासं परिक्रान्तःकरणत्वान्मुमुक्षु-

---

यतः दिखलाये गये न्यायसे संन्यास और कर्मयोग दोनोंका एक मोक्ष ही फल है, यह सिद्ध है, इसलिए अपक्व अन्तःकरणवाले मोक्षार्थीके लिए कर्म ही कर्तव्य है, संन्यास नहीं, क्योंकि अपक्व अन्तःकरणवालेका संन्यास हो ही नहीं सकता, ऐसा उपदेश करते हुए कर्मसे जिसके पाप नष्ट हो गये हैं, ऐसे पुरुषका तो संन्यास ही कर्तव्य है, ऐसा उपदेश करते हैं—**'संन्यास०'** इत्यादिसे ।

अयोगतः याने कर्मयोगके अनुष्ठानसे होनेवाली चित्तशुद्धिका अभाव होनेपर ज्ञाननिष्ठारूप संन्यासका प्राप्त होना दुःख याने दुर्घट है, क्योंकि ज्ञाननिष्ठारूप संन्यास चित्तशुद्धिसे ही प्राप्त होता है, अतः 'कारणका अभाव होनेपर कार्यका अभाव रहता है', इस न्यायसे कर्मसे होनेवाली चित्तशुद्धिका अभाव होनेपर संन्यास सिद्ध नहीं हो सकता, यह भाव है । इस प्रकार कर्मयोगके अनुष्ठानसे जनित चित्तके प्रसादसे ही संन्यास प्राप्त होता है, ऐसा निश्चय करके अब कर्मयोगसे सुपक्व अन्तःकरणवाले मुमुक्षुके लिए संन्यास ही कर्तव्य है, इस आशयसे कहते हैं—**'योगेति'** योगयुक्त—योगके अनुष्ठानसे उत्पन्न हुए चित्तके प्रसादसे संयुक्त—मुनि (गृहस्थ) ब्रह्मको (ब्रह्मशब्दसे यहाँ संन्यासका ग्रहण है, क्योंकि 'न्यास यह ब्रह्मा है, ब्रह्मा ही पर है' ऐसी श्रुति है, इसलिए ब्रह्मस्वरूपसे अवस्थानरूप प्रधान संन्यास ही ब्रह्मशब्दार्थ प्रकृतमें समझना चाहिए। परिपक्व

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ७ ॥

कर्मयोगसे युक्त अतएव शुद्धमन, देहको वशमें रखनेवाला, जितेन्द्रिय एवं जिसका आत्मा सम्पूर्ण प्राणियोंका स्वरूपभूत आत्मा है, ऐसा यति कर्म करता हुआ भी लिप्त नहीं होता ॥ ७ ॥

रधिकारी नचिरेण शीघ्रमेवाऽधिगच्छति प्राप्नोतीत्यर्थः । यद्वा, योगयुक्तः योगसंभावितचित्तशुद्धियुक्तः स्वयं मुमुक्षुश्चित्तप्रसादमहिम्नैव मुनिः संन्यासी निरुक्तलक्षणसंन्यासवान् भूत्वा तन्निष्ठया नचिरेण क्षिप्रमेव ब्रह्माऽधिगच्छति । ब्रह्मैवाऽहमित्यप्रतिबद्धवृत्त्या स्वं ब्रह्मैव विजानातीत्यर्थः । एतेनाऽपक्वान्तःकरणस्य कृतेऽपि कर्मसंन्यासे मुख्यसंन्यासो न सिध्यति, परिपक्वान्तःकरणस्य तु बाह्योऽप्यबाह्यश्च संन्यासः सिध्यति तत्फलमपि सिध्यति सर्वात्मतापत्तिरिति सूचितं भवति ॥ ६ ॥

यः कर्मानुष्ठानसंप्राप्तचित्तशुद्धिर्जितेन्द्रियः सर्वात्मभावापन्नो ब्रह्मवित्तमः स शारीरं कर्म यत्किञ्चित्कुर्वन्नपि न लिप्यत इत्याह—**योगयुक्त इति ।**

योगयुक्तः योगेन कर्मयोगेन युक्तः । चिरमनुष्ठितकर्मयोग इत्यर्थः । यद्वा, मुनिर्ब्रह्माऽधिगच्छतीति मुख्यसंन्यासाधिगमस्योक्तत्वाद्योगयुक्तः योगेन संन्यासयोगेन ब्रह्मनिष्ठालक्षणेन युक्तः । चिरमनुष्ठितसमाधियोग इत्यर्थः । तत एव विशुद्धात्मा जितेन्द्रि-

---

अन्तःकरणवाला मुमुक्षु अधिकारी शीघ्र ही उसे प्राप्त होता है । अथवा योगयुक्त—योगसे होनेवाली चित्तशुद्धिसे युक्त—मुमुक्षु स्वयं ही चित्तप्रसादकी महिमासे मुनि—संन्यासी—यानी निरुक्तलक्षण संन्याससे युक्त होकर उसकी निष्ठासे शीघ्र ही ब्रह्मको प्राप्त होता है । 'ब्रह्म ही मैं हूँ' ऐसी अप्रतिबद्ध वृत्तिसे अपनेको ब्रह्म ही जानता है, यह अर्थ है । इससे यह सूचित होता है कि अपक्व अन्तःकरणवाले पुरुष द्वारा कर्मसंन्यास करनेपर भी उससे मुख्य संन्यास सिद्ध नहीं होता और परिपक्व अन्तःकरणवालेको तो बाहरका और भीतरका संन्यास सिद्ध होता है और उसका सर्वात्मताप्राप्तिरूप फल भी प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

कर्मोंके अनुष्ठानसे चित्तशुद्धिको प्राप्त करनेवाला, जितेन्द्रय और सर्वात्मभावसे सम्पन्न जो ब्रह्मवित्तम यति है, वह शरीरोपयोगी कुछ कर्म करे, तो भी उससे लिप्त नहीं होता, ऐसा कहते हैं—'योगयुक्तो' इत्यादिसे ।

योगसे—कर्मयोगसे युक्त—याने चिरकालतक जिसने कर्मयोगका अनुष्ठान किया है, ऐसा पुरुष, योगयुक्तशब्दका अर्थ है । अथवा 'मुनि ब्रह्मको प्राप्त होता है' इस प्रकार मुख्य संन्यासकी प्राप्तिका कथन होनेसे योगयुक्त (योगसे—ब्रह्मनिष्ठारूप संन्यासयोगसे—युक्त) अर्थात् चिरकाल तक जिसने समाधियोग किया है, वह पुरुष, यह अर्थ है । इसीलिए विशुद्धात्मा और

यश्च । विशुद्धः रागद्वेषादिदोषैर्निःशेषवियुक्त आत्मा मनो यस्य स विशुद्धात्मा । तत एव जितेन्द्रियः जितानि विषयग्रहणवैमुख्यं प्रापितान्युभयेन्द्रियाणि येन स जितेन्द्रियः । विशुद्धात्मत्वं जितेन्द्रियत्वं च चिरकालसमनुष्ठितसमाध्येकलभ्यमत एव विजितात्मा 'आत्मा यत्नधृतिस्वान्तस्वभावपरमात्मसु' इत्यभिधानाद्विजितो निर्जितो निर्यापित आत्मा स्वभावो बाह्यवासनालक्षणो येन स विजितात्मा । समाधिनिर्मूलितानात्मवासन इत्यर्थः । तत एव सर्वभूतात्मभूतात्मा सर्वेषां ब्रह्मादिस्तम्बान्तानां भूतानां प्राणिनामात्मभूतः स्वरूपभूतः आत्मा प्रत्यग्लक्षणः स्वात्मा यस्य स सर्वभूतात्मभूतात्मा 'प्राणो ह्येष सर्वभूतैर्विभाति', 'अहमेवेदं सर्वम्' इत्यादिश्रुत्यर्थानुभूत्या स्वानुभूत्या च सर्वात्मतामापन्नो यो ब्रह्मवित्तमः स शरीरयात्रार्थं यत्किञ्चिद्विधमवैधं वा कर्म कुर्वन्नपि तेन कर्मणा पुण्येनाऽपुण्येन वा न लिप्यते । कर्मण्यकर्मत्वदृष्ट्या न श्लिष्यत इत्यर्थः । ननु 'लोकसंग्रहम्' इत्यादिशास्त्रेण कर्तव्यतया प्राप्तानां शास्त्रीयाणामेव कर्मणाममुष्य कर्तव्यत्वे 'शरीरयात्रार्थं कर्म' इति शास्त्रविरुद्धमुच्यत इति चेत्, न; ब्रह्मविदः कर्मानुपपत्तेः ब्रह्मैवाऽहमिति स्वस्याऽविक्रियब्रह्मात्मत्वविज्ञानेन निःशेषविनष्टमिथ्याज्ञानत्वात् तद्विपरीतज्ञानैकनिबन्धनस्य कर्मयोगस्याऽसंभवात् सम्य-

---

जितेन्द्रिय है । विशुद्ध—रागद्वेषादि दोषोंसे जिसका आत्मा (मन) रहित—हो गया है, वह विशुद्धात्मा है, इसीलिए जितेन्द्रिय है—जीत ली गई हैं—विषयोंके ग्रहणसे विमुख कर दी गई हैं—दोनों इन्द्रियाँ जिससे वह जितेन्द्रिय है । विशुद्धात्मता और जितेन्द्रियता चिरकालतक अनुष्ठित समाधिसे ही प्राप्त होती है, इसीलिए विजितात्मा है । 'यत्न, धृति, अन्तःकरण, स्वभाव और परमात्मामें आत्मशब्दका प्रयोग होता है' इस कथनसे विजित—जीत लिया गया है—यानी दूर कर दिया गया है आत्मा—बाह्यवासनारूप स्वभाव—जिससे वह विजितात्मा है । समाधिसे जिसने अनात्मवासनाका निर्मूलन कर दिया है, वह, यह अर्थ है । इसीलिए सर्वभूतात्मभूतात्मा, जिसका आत्मा ब्रह्मासे लेकर स्तम्बतक सब भूतोंका—प्राणियोंका—आत्मा—प्रत्यग्लक्षण स्वरूपभूत वह सर्वभूतात्मभूतात्मा यानी 'यह प्राणरूप आत्मा ही सब भूतोंके स्वरूपसे भासता है', 'मैं ही यह सब हूँ' इत्यादि श्रुतियोंके अर्थके अनुभवसे जो ब्रह्मवित् सर्वात्मताको प्राप्त हो गया है, वह शरीरयात्राके लिए यत्किञ्चित् विधिनिषेधरूप कर्म करता हुआ भी इस पुण्यरूप अथवा पापरूप कर्मसे लिप्त नहीं होता । कर्ममें अकर्मत्वदृष्टि होनेके कारण कर्मसम्बन्धसे युक्त नहीं होता, यह भाव है ।

शङ्का—'लोकसंग्रहम्' इत्यादि शास्त्र द्वारा कर्तव्यरूपसे प्राप्त हुए शास्त्रीय कर्म ही इसके कर्तव्य हैं, यदि ऐसा कहते हैं, तो 'शरीरयात्राके लिए कर्म' इस शास्त्रसे विरुद्ध अर्थ ही आप कहते हैं ।

समाधान—नहीं, ऐसा नहीं है, क्योंकि ब्रह्मवित्का कर्म हो ही नहीं सकता, क्योंकि 'मैं ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार अपने अविक्रिय ब्रह्मात्मत्वके विज्ञानसे उसका मिथ्याज्ञान निःशेष नष्ट हो गया है, इसलिए उक्त ज्ञानसे विपरीत ज्ञानरूप केवल कारणसे होनेवाले कर्मयोगका उसमें सम्भव नहीं है,

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥८॥

प्रज्ञासे युक्त तत्त्ववित् पुरुष विषयोंमें इन्द्रियाँ ही प्रवृत्त होती हैं, ऐसा निश्चय करके देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूंघता हुआ, खाता हुआ,

---

ग्ज्ञानस्य मिथ्याज्ञानतत्कार्यविरोधात्। नह्यधिष्ठानज्ञाने सति तद्विपर्ययज्ञानं तत्कार्यं च संभावयितुं शक्यम्। स्थाणुज्ञाने चोरज्ञानतत्कार्यादर्शनात्कूटस्थासङ्गचिद्रूपमेवाऽऽत्मानमप्रतिहतवृत्त्या पश्यतो विदुषस्त्वनात्मतादात्म्यानुपपत्तौ तदात्मत्वाभिनिवेशनिष्पाद्यः कर्मयोगः स्वप्नेऽपि न सम्भवति। विधिविधानादेः सर्वस्य दृश्यस्य मिथ्यात्वमेव पश्यतो विधेयत्वासंभवाच्च, योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्माधिगच्छतीति सर्वकर्मसंन्यासावगमाच्च, पश्यन् शृण्वन्नित्यत्र च त्रयोदशधा कर्मक्रिया श्रूयते न वैदिकक्रियायास्त्रयोदशधा करणत्वं सम्भवति, विदुषस्त्वाहारादौ देहेन्द्रियचेष्टायास्तथाविधत्वसम्भवात्सर्वथा ब्रह्मविदो जीवन्मुक्तस्य वैधः कर्मलेशो न सम्भावयितुं शक्यते, तत एवोच्यते 'तस्य कार्यं न विद्यते' इति, ततो न कश्चिच्छास्त्रविरोधः ॥ ७ ॥

योगयुक्तत्वादिविद्वल्लक्षणपञ्चकविशिष्टस्य ब्रह्मविद आहारादौ प्रवृत्तस्य दर्शनादीन्द्रियव्यापारेषु 'नाऽहं कर्ताऽस्मि' इत्येवंबुद्ध्या स्थातव्यमित्याह—**नैवेति द्वाभ्याम्।**

क्योंकि सम्यक् ज्ञानका मिथ्याज्ञान और उसके कार्यसे विरोध है। अधिष्ठानका ज्ञान होनेपर उसका विपरीत ज्ञान और विपरीत ज्ञानका कार्य हो नहीं सकता। स्थाणुका ज्ञान होनेपर चोरज्ञान और उसका कार्य देखनेमें नहीं आता। अतः अपनेको अप्रतिहत वृत्तिसे कूटस्थ, असङ्ग, चिद्रूप ही देखनेवाले विद्वान्को अनात्माका तादात्म्य अनुपपन्न है, इसलिए अनात्मामें आत्मत्वके अभिनिवेशसे होनेवाला कर्मयोग स्वप्नमें भी नहीं हो सकता, विधि-विधान आदि सब दृश्योंमें मिथ्यात्व देखनेवाले पुरुषको विधेयत्वका सम्भव नहीं है और 'योगयुक्त मुनि ब्रह्मको प्राप्त होता है' इस प्रकार सर्वकर्मसंन्यासका प्रतिपादन है। 'पश्यन्शृण्वन्' (देखता हुआ, सुनता हुआ) यहाँ भी तेरह प्रकारकी क्रिया सुननेमें आती है, वैदिक क्रियाके प्रति तेरह प्रकारके करणत्वका सम्भव नहीं है, विद्वान्की तो आहार आदिमें देह, इन्द्रिय आदिकी इस प्रकार चेष्टाका सम्भव है, इसलिए ब्रह्मवित् जीवन्मुक्तमें विधिरूप कर्मके लेशका भी सम्भव नहीं हो सकता। इसीलिए कहा जाता है कि 'उसका कुछ भी कर्तव्य नहीं है'। इससे शास्त्रसे कुछ भी विरोध नहीं है ॥ ७ ॥

योगयुक्तत्व आदि विद्वान्के पाँच लक्षणोंसे विशिष्ट तथा आहार आदिमें प्रवृत्त ब्रह्मवित्को इन्द्रियोंके दर्शनादि व्यापारोंमें 'मैं कर्ता नहीं हूँ' इस प्रकारकी बुद्धिसे स्थित होना चाहिए, ऐसा कहते हैं—'**नैव**' इत्यादि दो श्लोकोंसे।

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ ९ ॥

जाता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, प्रलाप करता हुआ, त्याग करता हुआ, ग्रहण करता हुआ, निमेष-उन्मेष करता हुआ भी मैं कुछ नहीं करता हूँ, ऐसा माने ॥ ८, ९ ॥

तत्त्वविदात्मयाथात्म्यज्ञो ब्रह्मविद्यतिर्युक्तः स्वस्य कूटस्थत्वासङ्गत्वान्तर्बहिः-पूर्णत्वदर्शनलक्षणया प्रज्ञया युक्तः सन् स्वयं बहिः पश्यन् अश्नन् भक्षणं कुर्वन् स्वपन् निद्रां कुर्वन् श्वसन्नुच्छ्वासं निःश्वासं च कुर्वन्नुन्मिषन्निमिषन् निमेषोन्मेषौ च कुर्वन्नपि, इन्द्रियार्थेषु शब्दादिविषयेष्विन्द्रियाण्येव वर्तन्ते नाऽहं द्रष्टा श्रोता स्प्रष्टा घ्राता भोक्ता गन्तेत्येवंलक्षणामेव वृत्तिं सर्वदा धारयन् तानि तानि कर्माणीन्द्रियाण्येव कुर्वन्त्यहं त्वविक्रियत्वान्नैव किञ्चित्करोमि, किन्तु तत्तत्क्रियासाक्षित्वेन निष्क्रियात्मना तूष्णीमेवाऽऽस इत्येवं मन्येत। स्वं तत्र तत्र निष्क्रियमेव वीक्षेत। देहेन्द्रियव्यापारेष्वहं-ममेतिभावनां त्यक्त्वा विदुषा तूष्णीं स्थातव्यम् । एवं स्वं ब्रह्मैव पश्यतो ब्रह्मविदो दुष्टादुष्टान्नस्वीकृत्या प्राप्तपापपुण्यलेपो नाऽस्तीति सिद्धमिति द्वयोरर्थः ॥ ८, ९ ॥

ननु स्वमविक्रियमेव परं ब्रह्म विजानतो ब्रह्मविदो महात्मनः कर्मलेपो माऽस्तु कर्मसु प्रवृत्तस्य मुमुक्षोऽविदुषस्तु स्यादेव कर्मलेपस्तस्य का वा गतिरित्याकाङ्क्षायां

तत्त्ववित्--आत्माके याथात्म्यको जाननेवाला--युक्त--अपनी (आत्माकी) कूटस्थत्व, असङ्गत्व और बाहर भीतर पूर्णत्वके दर्शनरूप प्रज्ञासे युक्त--होकर स्वयं बाहर देखता हुआ, सुनता हुआ, सूँघता हुआ, भक्षण करता हुआ, चलता हुआ, सोता हुआ, श्वास एवं उच्छ्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, छोड़ता हुआ, पकड़ता हुआ, पलक खोलता एवं बन्द करता हुआ भी इन्द्रियोंके अर्थोंमें—शब्दादि विषयोंमें—इन्द्रियाँ ही व्यापार करती हैं, मैं देखनेवाला, सुननेवाला, छूनेवाला, सूँघनेवाला, खानेवाला, चलनेवाला आदि नहीं हूँ, इस प्रकारकी वृत्तिको ही सर्वदा धारण करता हुआ, उन-उन कर्मोंको इन्द्रियाँ ही करती हैं, मैं तो अविक्रय होनेसे कुछ नहीं करता, किन्तु तत्-तत् क्रियाका साक्षी होनेके कारण निष्क्रियस्वरूपसे चुपचाप ही रहता हूँ, ऐसा माने यानी अपनेको तत्-तत् स्थलमें निष्क्रिय ही देखे। देह-इन्द्रियोंके व्यापारोंमें 'मैं मेरा' ऐसी भावनाका त्यागकर विद्वान्को चुपचाप रहना चाहिए। इस प्रकार अपनेको ब्रह्म ही देखनेवाले ब्रह्मवित्को दुष्ट अदुष्ट अन्नके स्वीकारसे प्राप्त होनेवाले पाप और पुण्यका लेप नहीं होता, यह सिद्ध हुआ, ऐसा दोनोंका भाव है ॥ ८, ९ ॥

अपनेको अविक्रिय परब्रह्म जाननेवाले ब्रह्मवित् महात्माको कर्मका लेप भले ही मत हो, परन्तु कर्ममें प्रवृत्त हुए अविद्वान् मुमुक्षुको तो कर्मका लेप होगा ही, अतः उसकी क्या गति होगी ? ऐसी

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाऽम्भसा ॥ १० ॥
कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥ ११ ॥

जो पुरुष फलकी अभिलाषाका परित्याग कर, परमात्मामें सम्पूर्ण कर्मोंको अर्पणकर नित्य-नैमेत्तिक कर्म करता है, वह जैसे कमलके पत्तेमें जलका स्पर्श नहीं होता, वैसे ही पापसे लिप्त नहीं होता ॥ १० ॥

योगी लोग देहसे, मनसे, बुद्धिसे और केवल इन्द्रियोंसे भी फलकी अभिलाषाका त्यागकर आत्मशुद्धिके लिए कर्म करते हैं ॥ ११ ॥

तस्याऽपि च निष्कामस्य मद्भक्तस्य मय्यर्पितसर्वकर्मणः कर्मलेपो नाऽस्तीत्याह— ब्रह्मणीति ।

यस्तु मुमुक्षुरनात्मज्ञः सङ्गं सङ्गः फलकामस्तं त्यक्त्वा कर्मफले यत्र कुत्राऽपि काममकृत्वा संप्राप्तदुःखस्याऽपि निवृत्तिमकामयमानः सन् ब्रह्मणि सगुणे मयि परमेश्वरे सर्वाणि कर्माण्याधाय कर्तृत्वं कारयितृत्वं भोक्तृत्वं भोजयितृत्वं च स्थापयित्वा मदर्पणबुद्ध्या श्रद्धया भक्त्या च नित्यं नैमित्तिकं च कर्म करोति सोऽपि मद्भक्तः पापेन बन्धकेन यथा पापं जन्मादिबन्धकारणं तथा पुण्यमपि जन्मादिबन्धकारणमेव भवत्यतो वैदिकं कर्म जन्मादिबन्धहेतुत्वात्पापमित्युच्यते । तेन न लिप्यते पद्मपत्रमम्भसा यथा तथा मद्भक्तः कर्मणा न लिप्यत इत्यर्थः ॥ १० ॥

नन्वकामनया कर्माणि कुर्वतां किं फलमित्याकाङ्क्षायामात्यन्तिकसंसारदुःख-

---

आकाङ्क्षा होनेपर उस निष्काम मेरे भक्तको भी, जिसने सब कर्म मुझे अर्पण कर दिये हैं, कर्मका लेप नहीं होता, ऐसा कहते हैं—'ब्रह्मण्या०' इत्यादिसे ।

जो अनात्मज्ञ मुमुक्षु सङ्गका—फलकी कामना सङ्ग है, उसका—त्यागकर (किसी भी कर्मके फलमें कामना न करके) प्राप्त हुए दुःखकी निवृत्तिकी भी इच्छा न करता हुआ ब्रह्ममें—मुझ सगुण परमेश्वरमें—सब कर्मोंको रखकर (कर्तृत्व, कारयितृत्व और भोक्तृत्व, भोजयितृत्वका स्थापन करके) ईश्वरार्पणबुद्धिसे, श्रद्धासे और भक्तिसे नित्य और नैमित्तिक कर्म करता है, वह मेरा भक्त भी बन्धक पापसे—जैसे पाप जन्म आदि बन्धका कारण है, वैसे ही पुण्य भी जन्म आदि बन्धनका कारण है, इसलिए जन्म आदि बन्धका हेतु होनेसे वैदिक कर्म पाप कहलाता है, उससे—लिप्त नहीं होता । जैसे कमलका पत्ता जलसे लिप्त नहीं होता, वैसे ही मेरा भक्त कर्मसे लिप्त नहीं होता, यह भाव है ॥ १० ॥

कामनारहित कर्म करनेवालोंको क्या फल प्राप्त होता है ? ऐसी आकाङ्क्षा होनेपर, आत्यन्तिक

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ १२ ॥

युक्त पुरुष कर्मफलका त्यागकर नैष्ठिकी मुक्तिको प्राप्त होता है । और कामनासे कर्मफलमें आसक्त अयुक्त पुरुष बन्धनको प्राप्त होता है ॥ १२ ॥

विध्वंसकविज्ञानजनयित्री चित्तशुद्धिरेव फलमिति ज्ञापयितुं मुमुक्षवश्चित्तशुद्ध्यर्थमेव कर्म कुर्वन्तीत्याह—**कायेनेति** ।

योगिनः कर्मयोगिनो मुमुक्षवः सङ्गं सज्जते पुमाननेन कर्मफलेष्विति सङ्गः कामः फलविषयकस्तं त्यक्त्वा फलापेक्षां सुतरां परित्यज्य परमेश्वरप्रीतय एव कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि चात्मशुद्धये सत्त्वशोधनायैव कर्म वैदिकं नियमेन कुर्वन्ति । यद्वा यत्किंचित्कर्तव्यं मनसा संकल्प्य तदेव बुद्ध्या निश्चित्य तदेवेन्द्रियैः केवलै रागद्वेषविवर्जितैः कायेनाऽपि कर्म कुर्वन्ति । यद्वा कायेनेन्द्रियैश्च वैदिकं कर्म बुद्ध्या निश्चितस्य विष्ण्वादेर्मनसा ध्यानं श्रोत्रेण केवलेन कथाश्रवणं केवलेन चक्षुषा महद्दर्शनं वाचा केवलया स्वाध्यायादि पद्भ्यां तीर्थाटनादिकमीश्वरप्रीत्यै कुर्वन्तीत्यर्थः ॥ ११ ॥

श्रद्धया भक्त्या चेश्वरप्रीतय एवाऽकामनया कर्म कुर्वतामन्यथा कुर्वतां च फलमाह—**युक्त इति** ।

यस्तु सदसद्विवेकी मोक्षेच्छया कर्मफलं त्यक्त्वा स्वेनाऽनुष्ठीयमानानां कर्मणां

संसाररूप दुःखके नाशक विज्ञानकी जननी चित्तशुद्धि ही फल है, ऐसा बतलानेके लिए मुमुक्षु चित्तशुद्धिके लिए ही कर्म करते हैं, ऐसा कहते हैं—'**कायेन**' इत्यादिसे ।

योगी—कर्मयोगी मुमुक्षु—सङ्गका—जिससे पुरुष कर्मफलोंमें आसक्त होता है, वह सङ्ग है, यानी फलविषयक काम, उसका—त्यागकर यानी फलकी अपेक्षाका बिलकुल त्यागकर परमेश्वरकी प्रीतिके लिए ही कायासे, मनसे, बुद्धिसे और केवल इन्द्रियोंसे भी आत्माकी शुद्धिके लिए—अन्तःकरणका शोधन करनेके लिए—ही वैदिक कर्म नियमसे करते हैं । अथवा जिस किसी कर्तव्य कर्मका मनसे सङ्कल्प करके, उसीका बुद्धिसे निश्चय कर उसीका रागद्वेषरहित इन्द्रियोंसे और शरीरसे भी अनुष्ठान करते हैं । अथवा देह और इन्द्रियोंसे वैदिक कर्म यानी बुद्धिसे निश्चय किये विष्णु आदिका मनसे ध्यान, केवल श्रोत्रसे कथा श्रवण, केवल नेत्रसे महान् पुरुषोंके दर्शन, केवल वाणीसे स्वाध्याय आदि, पैरोंसे तीर्थाटन आदि ईश्वरकी प्रीतिके लिए करते हैं, यह भाव है ॥ ११ ॥

श्रद्धा और भक्तिसे ईश्वरकी ही प्रीतिके लिए, निष्कामनासे कर्म करनेवालोंका एवं उस प्रकार न करनेवालोंका फल कहते हैं—'**युक्तः**' इत्यादि ।

जो सदसद्विवेकी मोक्षकी इच्छासे कर्मफलका त्यागकर—अपने द्वारा अनुष्ठित कर्मोंके फलकी

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्याऽऽस्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देहे नैव कुर्वन्न कारयन् ॥ १३ ॥

सम्पूर्ण कर्मोंका मनसे त्यागकर जितेन्द्रिय यति नव द्वारवाले शरीरमें ही न स्वयं कुछ करता हुआ और न कुछ करवाता हुआ सुखपूर्वक अपने स्वरूपभूत चैतन्यरूपसे स्थित रहता है ॥ १३ ॥

फलमनपेक्ष्य युक्तो भवति लाभालाभयोः सिद्ध्यसिद्ध्योश्च समो भूत्वा परमेश्वरप्रीतय एव यः कर्म करोति स एव नैष्ठिकीं कर्मनिष्ठाजन्यां शान्तिं चित्तशुद्धिं प्राप्नोति। यद्वा, नैष्ठिकीं कर्मनिष्ठासमुत्पन्नचित्तशुद्धिसंभावितज्ञानप्रकाशितां शान्तिं मुक्तिं प्राप्नोति। यस्त्वविवेकी कामकारेण कामनया फले कर्मफले सक्त आसक्तः सन्नयुक्त उक्तलक्षणकर्मानुष्ठानपरो न भवति, स निबध्यते। ज्ञानानुत्पत्त्या जन्मादिबन्धवान् भवति, ततस्त्वमुक्तलक्षणयोगयुक्तो भवेत्यर्थः। एतेन निष्कामेन कृतं कर्म मोक्षाय भवति सकामेन कृतं कर्म बन्धाय भवतीति सूचितम् ॥ १२ ॥

नन्वकामस्य कर्मयोगेनैव मुक्तिश्चेत्तर्हि सर्वैरप्यकामनया कर्मैव कर्तव्यं न तु संन्यास इत्याशङ्कायाम् , न; 'नित्यनैमित्तिकैरेव' इति न्यायेन अकामनया कृतकर्मणां फलं चित्तशुद्धिस्तस्याः फलं ज्ञानं ज्ञानस्य सर्वकर्मसंन्यासः 'नित्यनैमित्तिकैरेव कुर्वाणो दुरितक्षयम्। ज्ञानं च विमलीकुर्वन्नभ्यासेन च वासयेत् ॥ अभ्यासात्पक्वविज्ञानः कैवल्यं लभते नरः।' इति सदात्मनावस्थानं च फलमतो बहुजन्मकृतसुकृतप-

---

अपेक्षा न कर—युक्त होता है वह लाभालाभ एवं सिद्धि और असिद्धि दोनोंमें सम होकर परमेश्वरकी प्रीतिके लिए ही जो कर्म करता है, वही नैष्ठिकी—कर्मनिष्ठासे उत्पन्न हुई—शान्तिको (चित्तशुद्धिको) प्राप्त होता है। अथवा नैष्ठिकी—कर्मनिष्ठासे उत्पन्न चित्तशुद्धिसे होनेवाली—ज्ञान द्वारा प्रकाशित शान्तिको (मुक्तिको) प्राप्त होता है। जो अविवेकी कामनासे फलमें—कर्मफलमें—सक्त—आसक्त—होकर युक्त नहीं होता—उक्तलक्षण कर्मोंके अनुष्ठानमें परायण नहीं होता, वह बन्धनको प्राप्त होता है। ज्ञानकी उत्पत्ति न होनेके कारण जन्म आदि बन्धवाला होता है, इसलिए तुम उक्त लक्षणवाले योगसे युक्त होओ, यह भाव है। इससे यह सूचन किया कि निष्कामसे किया गया कर्म मोक्षका हेतु होता है और सकामसे किया गया कर्म बन्धका हेतु होता है ॥१२॥

यदि कर्मयोगसे ही अकाम पुरुषकी मुक्ति हो जाय, तो सबको कामनासे रहित होकर कर्म ही करना चाहिए, संन्यास नहीं, ऐसी यदि आशङ्का हो, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि 'नित्य-नैमित्तिकोंसे ही', इस न्यायसे निष्काम वृत्तिसे किये गये कर्मोंका फल चित्तशुद्धि है, चित्तशुद्धिका फल ज्ञान है, ज्ञानका फल सर्वकर्मसंन्यास और 'नित्य नैमित्तिक कर्मसे ही पापको क्षय करता हुआ, ज्ञानको अभ्याससे निर्मल करता हुआ परिपक्व करे। अभ्याससे पक्वविज्ञानवाला पुरुष कैवल्यको प्राप्त होता है' इत्यादि वाक्यके अनुसार सदा आत्मरूपसे अवस्थान फल है, इसलिए अनेक जन्मोंमें

रिपाकात्संप्राप्तचित्तशुद्धेस्तयैव समुत्पन्नपरावरैकत्वविज्ञानस्य सर्वात्मदर्शिनो ब्रह्मविदः कर्मेषदपि न संभवति, कारणाभावात्, किन्तु ब्रह्मविद्वर्यः सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य स्वयमविक्रियब्रह्मात्मना तूष्णीं तिष्ठतीत्याह—सर्वेति ।

नित्यनिरन्तरसमाधिनिष्ठानिर्मूलितसर्ववासनापटलत्वेन सुप्रसन्नबाह्याभ्यन्तरकरणत्वाद्वशी वशीकृतसर्वेन्द्रियग्रामः शुद्धात्मा ब्रह्मवित् सर्वकर्माणि नित्यनैमित्तिककाम्यप्रतिषिद्धलक्षणानि शास्त्रीयाण्यशास्त्रीयाणि च सर्वाणि कर्माणि मनसाधिष्ठानयाथात्म्यसंदर्शनसंजातारोपितसर्वदृश्यवस्तुमिथ्यात्वप्रत्ययवतः संन्यस्य कर्म तत्कर्ता तत्साधनं तत्फलं च सर्वमसदेवेति विज्ञानेन संत्यज्येत्यर्थः । ननु मनसेति वचनात् सर्वेषां कर्मणां मनसैव त्यागो न तु बहिःक्रियया विहितानां त्यागायोगादिति चेत्, न; 'विकल्पो नहि वस्तु', 'मायामात्रमिदं द्वैतम्' इति सर्वमिथ्यात्वदर्शिनो विदुषो विध्यनुपपत्तेः । विधेरपि दृश्यान्तःपातित्वाद्यथा मरुस्वरूपदर्शिनो जलपानविधिवचनं जलवन्मिथ्या भवति, तथाऽधिष्ठानब्रह्मसंदर्शिनः कर्मविधिरपि कर्मवत्कारकवन्मिथ्यैव भवति । सर्वप्रमाणैः सर्वं मिथ्यैव पश्यतो ब्रह्मविदः कर्मप्रवृत्तिश्च न संभवत्येव । ननु सर्वं मिथ्यैवेति प्रवर्ततामिति चेत्, न; मिथ्यात्वबुद्धेः प्रवृत्तेश्च

किये गये पुण्य कर्मोंके परिपाकसे प्राप्त चित्तशुद्धिवाले और चित्तशुद्धिसे जिसको परमेश्वरके एकत्वका विज्ञान उत्पन्न हुआ है, ऐसे सर्वात्मदर्शी विद्वान्‌में कारणका अभाव होनेसे किसी भी कर्मका सम्भव नहीं है, किन्तु ब्रह्मविद्वर्य सब कर्मोंका त्यागकर स्वयं अविक्रिय ब्रह्मस्वरूपसे चुपचाप स्थित रहता है, ऐसा कहते हैं—'सर्व०' इत्यादिसे ।

नित्य निरन्तर समाधिनिष्ठासे सम्पूर्ण वासनापटलका निर्मूलन हो जानेके कारण बाहर और भीतरकी सब इन्द्रियाँ सुप्रसन्न हो जाती हैं, अतः वशी यानी सम्पूर्ण इन्द्रियसमूहको वशमें करनेवाला, शुद्ध आत्मावाला ब्रह्मवित् सम्पूर्ण कर्मोंका—नित्य, नैमित्तिक, काम्य, प्रतिषिद्धरूप शास्त्रीय और अशास्त्रीय सब कर्मोंका—मनसे (अधिष्ठानके सम्यक् ज्ञानसे आरोपित सम्पूर्ण दृश्य वस्तुओंके मिथ्यात्वज्ञानसे युक्त मनसे) त्यागकर यानी कर्म, कर्मका कर्त्ता, कर्मका साधन और कर्मका फल सब मिथ्या ही है, इस प्रकारके विज्ञानसे त्यागकर, यह अर्थ है । यदि शङ्का हो कि 'मनसा' इस वचनसे सम्पूर्ण कर्मोंका मनसे ही त्याग प्रतिपादित है, बाहरकी क्रियासे नहीं, क्योंकि विहित कर्मोंका त्याग करना युक्त नहीं है, तो यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि 'विकल्प वस्तु नहीं है', 'यह द्वैत मायामात्र है' इस प्रकार सबमें मिथ्यात्व देखनेवाले विद्वान्‌के लिए कोई विधि ही नहीं है, क्योंकि विधिका भी दृश्यके भीतर ही प्रवेश है, जैसे मरुभूमिके स्वरूपको देखनेवालेके प्रति जलपानका विधिवचन जलके समान मिथ्या होता है, वैसे ही अधिष्ठानभूत ब्रह्मस्वरूपको देखनेवाले विद्वान्‌के प्रति कर्म्मविधि भी कर्म और कारकके समान मिथ्या ही है । सब प्रमाणोंसे सबमें मिथ्यात्व देखनेवाले ब्रह्मवित्‌की कर्ममें प्रवृत्तिका सम्भव ही नहीं है । 'सम्पूर्ण मिथ्या ही है' इस प्रकार समझकर पुरुष प्रवृत्त होगा, ऐसा यदि कहो, तो वह भी युक्त

परस्परविरोधादेकाधिकरणत्वानुपपत्तेः। नन्वन्तर्मिथ्यात्वबुद्ध्या बहिः सत्यत्वबुद्ध्या क्रियतां कर्मेति चेत्, न; एकस्मिन्वस्तुनि बुद्धिद्वयायोगात्। नहि मरुं दृष्टवतो जलमिथ्यात्वबुद्धिस्तत्सत्यत्वबुद्धिश्चोपपन्ना दृष्टा। तद्वत्सर्वदृश्यमिथ्यात्वज्ञानं तत्सत्यत्वज्ञानं तत्प्रवृत्तिश्च नैकस्य कदाप्युपपद्यते, पदार्थसत्यत्वधीपूर्वकत्वात्प्रवृत्तेर्मनसि सर्वदृश्यमिथ्यात्वदृढप्रत्ययवति विदुषि सति कथं बहिः प्रवृत्तिः संपद्येत। 'यद्धि मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति' इति वागादिप्रवृत्तेर्मनोव्यापारपूर्वकत्वश्रवणात्, ततो बहिः करणं मनसा संन्यास इति यत्तदपास्तम्। तस्मात्सर्वदृश्यमिथ्यात्वनिश्चयपूर्वकं सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्य ब्रह्मविद्वर्यः स्वयमविक्रियब्रह्मात्मना तूष्णीमास्ते। कुत्रेत्याकाङ्क्षायामाह—**नवेति**। नवद्वारे चक्षुर्भ्यां श्रोत्राभ्यां नासिकाभ्यां वक्त्रेण च पायूपस्थाभ्यां च नवसंख्याकानि द्वाराणि सूर्याद्यधिदैवतरक्षितानि यस्य तन्नवद्वारं प्रत्यगात्मैकराजकं बुद्धिप्रधानकं मनःप्रभृतिसर्वकरणपरिचारकं प्राणादिदशवायुग्रामपालकं ब्रह्मविष्ण्वादिसर्वदेवतायतनं तस्मिन् नवद्वारे पुरे देहे सुखं स्वसुखाविर्भावं यथा तथाऽऽस्ते। सुखरूपेण तिष्ठतीत्यर्थः। ननु 'विद्वान् देहे आस्ते' इति यत्तदनुपपन्नम्, विद्वानविद्वान् यतिरयतिश्च सर्वोऽपि देह एवाऽऽस्ते, 'अहमिहाऽऽसे' इत्य-

---

नहीं है, क्योंकि मिथ्यात्वबुद्धिका और प्रवृत्तिका परस्पर विरोध होनेसे उनका एक अधिकरण नहीं हो सकता। भीतर मिथ्यात्वबुद्धि और बाहर सत्यत्वबुद्धिसे कर्म करे, क्या हानि है? ऐसा यदि कहो, तो वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि एक वस्तुमें दो बुद्धियाँ नहीं हो सकतीं। मरुके यथार्थज्ञानवाले पुरुषकी जलमें मिथ्यात्वबुद्धि और उसीमें सत्यत्वबुद्धि हो, ऐसा देखनेमें नहीं आया है। इसी प्रकार सबमें मिथ्यात्वज्ञान, उसमें सत्यत्वज्ञान और उसमें प्रवृत्ति एक पुरुषकी कभी भी नहीं हो सकती, क्योंकि पदार्थमें सत्यत्वबुद्धिपूर्वक प्रवृत्ति होनेके कारण मनमें सम्पूर्ण दृश्यके मिथ्यात्वके दृढ़ प्रत्ययवाले विद्वान्में बाहर प्रवृत्ति कैसे होगी? क्योंकि जिसका मनसे ध्यान करता है, उसको वाणीसे बोलता है और उसको कर्मेन्द्रियोंसे करता है' इत्यादि वाक्यसे वाणी आदिकी प्रवृत्ति मनोव्यापारपूर्वक सुननेमें आती है, इससे बाहरसे करना और मनसे त्यागना, यह जो कहा था, उसका खण्डन हुआ। इसलिए सम्पूर्ण दृश्यके मिथ्यात्वके निश्चयपूर्वक सब कर्मोंका मनसे त्यागकर ब्रह्मविद्वर्य स्वयं अविक्रिय ब्रह्मस्वरूपसे चुपचाप बैठता है। कहाँ बैठता है? ऐसी आकांक्षा होनेपर कहते हैं—'नवेति'। नवद्वार (दो चक्षु, दो श्रोत्र, दो नासिकाएँ एक मुख और दो पायु एवं उपस्थ—ये नव द्वार) जो कि सूर्य आदि देवताओंसे रक्षित हैं, जिसके हैं, वह नवद्वार कहलाता है, अर्थात् प्रत्यक् आत्मा जिसमें एक राजा है, बुद्धि प्रधान है, मन आदि सब इन्द्रियाँ परिचारक हैं, प्राण आदि दश वायु जिसमें ग्रामपालक हैं, ब्रह्मा, विष्णु आदि सब देवताओंका जो आयतन (रहनेका स्थान) है, ऐसे नव द्वारवाले घरमें—देहमें—सुखसे—अपने सुखका जैसे अविर्भाव हो, वैसे—बैठता है। सुखरूपसे स्थित रहता है, यह भाव है। विद्वान् देह में बैठता है, यह जो आपने कहा, वह युक्त नहीं है, क्योंकि विद्वान्, अविद्वान्, यति, अयति सभी

नुभवादिति चेत्, न; देहात्मबुद्धेर्मूढतमस्य विपरीतप्रत्ययदर्शनात् । यस्तु देहमात्रात्मदर्शी मूढतमस्तस्य गेहे देहल्यामास इति प्रत्ययं विना नाऽहं देह आस इति प्रत्ययः संभवति, यथा ब्रह्मविदः । तथाच ब्रह्माण्डे चराचरं सर्वं वस्तुजातं स्वतेजसा प्रकाशयन्तं भानुमन्तमिव बुद्ध्यादिसर्वदृश्यजातमनात्मकमात्मभासा भासयन्तं स्वप्रकाशं चिदेकरसं सर्वसाक्षिणमसङ्गोदासीनं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावमानन्दघनमात्मानं स्वात्मना साक्षादयमेवाऽऽहमस्मीति यो विजानाति स एव देहव्यतिरिक्तात्मदर्शी विद्वान् शक्नोति गेहे देवदत्तवद्देहे निष्क्रियब्रह्मात्मना सुखमासितुं नाऽन्यस्तत एवोच्यते भगवता 'सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्याऽऽस्ते सुखं वशी । नवद्वारे पुरे देहे' इति । यद्वा वशी नित्यनिरन्तरब्रह्मनिष्ठया वशीकृतान्तर्बहिःकरणो निश्चलात्मा ब्रह्मविद्वर्यः सर्वकर्माणि विहितानि प्रतिषिद्धान्युभयविलक्षणानि च देहचेष्टारूपाणि सर्वाण्यपि च कर्माण्यतीतानेककल्पेष्वधुना च सर्वावस्थासु सर्वदा देहेन्द्रियव्यापारेण परिणततया प्रकृत्यैव कृतानि न तु मया कूटस्थासङ्गचिद्रूपेणेत्येवमात्मानात्मनोः स्वरूपविवेकज्ञानवता मनसा नवद्वारे स्थूलेन पुर्यष्टकेन च नवद्वारवति पुरे पुरसदृशे पूर्णत्वाद्वा पुरं तस्मिन् पुरे देहे कारणे देहशब्दोपलक्षितायां प्रकृतावेव संन्यस्य जननमरणादिविकाराः कर्तृत्व-

---

देहमें ही बैठते हैं, क्योंकि 'मैं यहाँ बैठता हूँ' ऐसा अनुभव होता है, ऐसा यदि कहो, तो यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि देहात्मबुद्धिवाले मूढ़तमका विपरीत प्रत्यय देखनेमें आता है । जो देहात्मदर्शी मूढ़तम है, उसको घरमें या देहलीमें बैठा हुआ हूँ,' इस प्रकारके ज्ञानके सिवा 'मैं देहमें बैठा हूँ,' इस प्रकारका ज्ञान नहीं होता जैसा कि विद्वान्को होता है, क्योंकि ब्रह्माण्डमें चराचर सम्पूर्ण वस्तुजातको अपने तेजसे प्रकाश करनेवाले सूर्यके समान बुद्धि आदि सम्पूर्ण अनात्म दृश्यजातको आत्माके प्रकाशसे प्रकाशित करनेवाले स्वप्रकाश, चिदेकरस, सबके साक्षी असङ्ग, उदासीन, नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव एवं आनन्दघन आत्माको अपने आत्मरूपसे साक्षात् 'यह मैं ही हूँ, इस प्रकारसे जो जानता है, वही देहसे भिन्न आत्माको देखनेवाला विद्वान्, घरमें देवदत्तके समान, देहमें निष्क्रिय ब्रह्मस्वरूपसे सुखपूर्वक बैठ सकता है, दूसरा नहीं बैठ सकता, इसीलिए भगवान्ने कहा है—'सम्पूर्ण कर्मोंका मनसे त्यागकर वशी सुखसे नवद्वारवाले पुररूपी देहमें बैठता है । अथवा वशी—नित्य निरन्तर ब्रह्मनिष्ठासे भीतर बाहरकी इन्द्रियोंको वशमें करनेवाला निश्चलात्मा ब्रह्मविद्वर्य—सब कर्मोंका—विहित, प्रतिषिद्ध और इन दोनोंसे विलक्षण देहचेष्टारूप सभी कर्मोंका—अतीत अनेक कल्पोंमें और इस समय सम्पूर्ण अवस्थाओंमें सर्वदा देह, इन्द्रियके व्यापाररूपसे परिणत हुई प्रकृति द्वारा ही किये गये हैं, कूटस्थ, असङ्ग और चिद्रूप होनेके कारण मुझसे नहीं किये गये हैं, इस प्रकार आत्मा और अनात्माके स्वरूपके विवेकरूप ज्ञानवाले मनसे नवद्वारवाले—स्थूल और पुर्यष्टकरूपसे नवद्वारवाले पुर—पुरके समान होनेसे अथवा पूर्ण होनेसे पुरनामक देहमें—कारणमें यानी देहशब्दसे उपलक्षित प्रकृतिमें—ही त्यागकर—जनन-मरणादि

भोक्तृत्वसुखित्वदुःखित्वादिधर्मा जाग्रदाद्यवस्थाविशेषाश्च सर्वे प्रकृतेरेव न तु कूटस्थासङ्गचिद्रूपात्मनो ममेति सम्यगनात्मतादात्म्याध्यासं परित्यज्य स्वयं निष्कलनिष्क्रियनित्यशुद्धबुद्धनिरन्तरानन्दैकरसाद्वितीयब्रह्मात्मना स्वात्मन्येव तूष्णीं सुखमास्ते। न किञ्चिद्विकरोतीत्यर्थः।

ननु जपाकुसुमसान्निध्यात् स्फटिके रक्तिमवदनात्मसान्निध्यादात्मनि प्रतीयमानान्यनात्मकर्तृकाणि सर्वाणि प्रकृतिरेव करोति नाऽहं करोमीति विद्यया स्वयं ब्रह्मभावमापद्य विद्वान् तिष्ठतु तथापि निष्क्रियात्मना स्थातुं न शक्नोति, तस्य ब्रह्मात्मना तिष्ठतोऽन्यकर्तृकक्रियासंबन्धाभावेऽपि स्वाश्रयक्रियावत्त्वसंभवात्, यथाऽन्तर्गृहस्थप्रदीपस्य पवनाद्यन्यकर्तृकचलनक्रियाभावेऽपि स्वकर्तृकतैलादानक्रिया विद्यते, यथा वा गजमारुह्य गच्छतो राज्ञो गजकर्तृकगमनक्रियाभावेऽपि स्वनिष्ठचलनक्रिया गजप्रेरणादिक्रिया च विद्यते, तद्वत् परमात्मनोऽपि कर्तृत्वं कारयितृत्वं विद्यत एवेति चेत्, न; निरवयवत्वात्परमात्मनः क्रियाश्रयत्वानुपपत्तेः 'निष्कलं निष्क्रियम्' इति निरवयवत्वनिष्क्रियत्वश्रवणादात्मनः क्रियावत्त्वे सावयवत्वादनित्यत्वं स्यात्तदनिष्टं सर्ववादिनां श्रुतिविरोधश्च स्यात्। राज्ञोऽवयवित्वात् कर्तृत्वाद्युपपत्तिर्न तथाऽऽत्मन इति बोधयितुमाह—**नैव कुर्वन्न कारयन्निति**। निरवयवत्वात्परमात्मा स्वयं नैव किंचि-

---

विकार, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुखित्व, दुःखित्व आदि धर्म और जाग्रत् आदि अवस्थाविशेष, सब प्रकृतिके ही हैं, न कि मुझ कूटस्थ असङ्ग चिद्रूप आत्माके, इस प्रकार अनात्मतादात्म्यरूप अध्यासका भली-भाँति त्यागकर स्वयं निष्कल, निष्क्रिय, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, निरन्तर, आनन्दैकरस अद्वितीय ब्रह्मस्वरूपसे अपनी आत्मामें ही चुपचाप सुखसे बैठता है, कुछ भी नहीं करता, यह अर्थ है।

जपाकुसुमकी सन्निधिसे स्फटिकमें जैसे लाली आ जाती है, वैसे ही अनात्माकी सन्निधिसे आत्मामें प्रतीत होनेवाले अनात्माके द्वारा किये जानेवाले सब कर्मोंको प्रकृति ही करती है, मैं नहीं करता, इस प्रकार विद्यासे स्वयं ब्रह्मभावको प्राप्त करके विद्वान् यद्यपि भले ही स्थित रहे, तो भी निष्क्रियरूपसे स्थित नहीं रह सकता, क्योंकि ब्रह्मस्वरूपसे स्थित होनेवाले उस पुरुषका अन्य द्वारा की गई क्रियासे सम्बन्ध न होनेपर भी वह स्वाश्रय क्रियाका आश्रय हो सकता है, जैसे घरमें रक्खे हुए दीपकमें अन्य पवन आदिकी चलनक्रियाके न होनेपर भी उसमें अपने द्वारा की गई तैलग्रहण आदि क्रिया विद्यमान है, अथवा जैसे हाथीपर चढ़कर जानेवाले राजामें हाथी द्वारा की गई गमनक्रिया यद्यपि नहीं है, तो भी स्वनिष्ठ चलनक्रिया और हाथीको चलाना आदि क्रिया विद्यमान है, वैसे ही परमात्मामें कर्तृत्व और कारयितृत्व विद्यमान है ही, ऐसा यदि कहो, तो वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि परमात्मा निरवयव है, इसलिए वह क्रियाका आश्रय हो नहीं सकता। 'निष्कल, निष्क्रिय' इत्यादि वाक्योंसे आत्मामें निरवयवत्व और निष्क्रियत्व सुननेमें आता है। क्रिया माननेपर आत्मामें सावयवत्व और अनित्यत्व प्राप्त होगा, ऐसा होनेपर सब वादियोंको अनिष्ट और श्रुतिसे विरोध होगा। अवयवी होनेसे राजामें तो कर्तृत्व आदि उपपन्न है, ऐसा बोधन करनेके लिए कहते हैं—'**नैव कुर्वन्न कारयन्निति**'। निरवयव होनेसे परमात्मा न स्वयं कुछ

त्करोति नाऽप्यन्यान् कारयति चेत्यर्थः। नहि निरवयवे परिपूर्णे च वस्तुनि चलनक्रिया कल्पयितुं शक्यते, प्रमाणविरोधात्। नहि निरवयवे पूर्णे आकाशे चलनं संभवति तद्वदात्मन्यपि, 'नित्यः सर्वगतः स्थाणुः' इत्यात्मनः पूर्णत्वनिष्क्रियत्वयोः प्रतिपादितत्वात्।

ननु परमात्मनो निरवयवस्य निष्क्रियस्य कर्तृत्वकारयितृत्वयोरसंभवे 'सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा', 'एष एव साधु कर्म कारयति', 'एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः' इत्यादिश्रुतीनामात्मनः कर्तृत्वकारयितृत्वप्रतिपादिकानामप्रामाण्यं स्यादिति चेत्, न; सन्निधिमात्रेणाऽऽत्मनस्तथात्वसम्भवाद्यथा सूर्यसान्निध्यात्तमोनिवृत्तौ सत्यां तन्निवृत्तिं सूर्यः करोतीत्युपचर्यते, यथा चुम्बकसान्निध्यादयसि चलति सति तच्चलनं चुम्बकमयश्चालयतीति चुम्बके उपचर्यते, तथाऽऽत्मसान्निध्यात् प्रकृतौ विजृम्भमाणायां तद्विजृम्भणं सर्वाधिपत्यं परमात्मन्युपचर्यतेऽविकारिण्येव, तथैवाऽऽत्मसान्निध्याद् बुद्ध्यादेः प्रवृत्तौ सत्यां बुद्ध्यादीनात्मा प्रवर्तयतीति तत्प्रवृत्तिरात्मन्यविक्रिय एवोपचर्यते—परमात्मा करोति कारयतीति। 'ध्यायतीव लेलायतीव' इति श्रुतेः आत्मन एवंविधकर्तृत्वकारयितृत्वयोः सम्भवात्तमिममर्थमादाय प्राणिनामस्वातन्त्र्यसिद्ध्यै परमात्मनः कर्तृत्वं कारयितृत्वं च श्रुतयो वदन्ति। अनयोक्तरीत्या परमात्मनः सृष्ट्यादिक्रियाप्रतिपादिकानामेतासां च श्रुतीनां

करता है और न दूसरेसे कराता है, यह अर्थ है। निरवयव और परिपूर्ण वस्तुमें चलनक्रियाकी कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि प्रमाणसे विरोध है। जैसे निरवयव पूर्ण आकाशमें चलनक्रियाका सम्भव नहीं है, वैसे ही आत्मामें भी क्रियाका सम्भव नहीं है, क्योंकि 'नित्य, सर्वगत, स्थाणु' इत्यादि श्रुतिसे आत्मामें पूर्णत्व और निष्क्रियत्वका प्रतिपादन किया गया है।

निरवयव, निष्क्रिय परमात्मामें कर्तृत्व और कारयितृत्व दोनोंका सम्भव न होनेपर 'महात्मा सबका आधिपत्य करता है', 'यही साधु कर्म कराता है', 'यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है' इत्यादि आत्मामें कर्तृत्व और कारयितृत्वका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियाँ अप्रमाण हो जायँगी, यदि ऐसा कहो, तो वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि सन्निधिमात्रसे आत्मा ऐसा हो सकता है। जैसे सूर्यकी सन्निधिसे अँधेरेके दूर हो जानेपर अँधेरेको सूर्य दूर करता है, यों उपचारसे कहा जाता है, जैसे चुम्बककी सन्निधिसे लोहेके चलनेपर चुम्बक लोहेको चलाता है, यों लोहेका चलना चुम्बकमें उपचारसे कहा जाता है, वैसे ही आत्माकी सन्निधिसे प्रकृति फैलती है, उसका फैलना सर्वाधिपत्य अविकारी परमात्मामें उपचारसे कहा जाता है, वैसे ही आत्माकी सन्निधिसे बुद्धि आदिके व्यापार करनेपर, बुद्धि आदिको आत्मा प्रवृत्त करता है, इस प्रकार उनकी प्रवृत्ति अविक्रिय आत्मामें उपचारसे कही जाती है कि परमात्मा करता है, कराता है। 'ध्यान करते हुएके समान, चलते हुएके समान' इस श्रुतिसे आत्मामें उस प्रकारके कर्तृत्व और कारयितृत्व—दोनोंका सम्भव होनेसे, इसी अर्थको लेकर प्राणियोंकी अस्वतन्त्रता सिद्ध करनेके लिए परमात्मा करनेवाला और करानेवाला है, ऐसा श्रुतियाँ कहती हैं। इस उक्त रीतिसे परमात्माकी सृष्टि आदि क्रियाओंका प्रतिपादन करनेवाली इन श्रुतियोंको

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ १४ ॥

स्वयं आत्मा लोगोंको कर्ममें प्रवृत्त नहीं करता, इष्टप्रद और अनिष्टप्रद वस्तुकी उत्पत्ति नहीं करता एवं प्राणियोंको पुण्य-पापके फलका अनुभव भी नहीं कराता, किन्तु स्वभाव यानी प्रकृति ही उन सबको करती है ॥ १४ ॥

प्रामाण्यमभ्युपगन्तव्यम् । अन्यथा 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्' इति, 'न तदश्नाति किञ्चन न तदश्नाति कश्चन' इत्यादिश्रुतीनामात्मनो निर्विकारत्वप्रतिपादिकानां व्याकोपः स्यात् । यत एवं परमात्मनोऽविक्रियत्वं बहुश्रुतिप्रमाणकं तत आत्मा किंचिन्न करोति न कारयतीति सिद्धम् ॥ १३ ॥

नन्वात्मनो निरवयवत्वेन क्रियाश्रयत्वानुपपत्तौ स्वतः कर्तृत्वासंभवेऽपि यथाऽयस्कान्तस्याऽयश्चालकत्वं तथा कारयितृत्वं स्यादेवेत्याशङ्कायाम्, न; तथात्वे प्राणिनामात्मसान्निध्यस्य नित्यत्वात् सर्वदा सर्वेषां प्रवृत्तिरेव स्यात्तददर्शनादात्मनः कारयितृत्वं न प्रामाणिकमित्याशयेनाऽऽह—**न कर्तृत्वमिति ।**

प्रकर्षेण स्वयमेव सर्वत्र भाति सर्वं भासयतीति वा सर्वात्मना स्वयमेव भातीति वा प्रभुरात्मा स्वयं लोकस्य प्राणिनः कर्तृत्वं त्वमिदं कुर्विति कर्मणि प्रवृत्तिं न सृजति । यं कञ्चन जन्तुं न प्रवर्तयतीत्यर्थः । तथा कर्माणि 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' इति स्मरणात् क्रियया प्राप्तुमिष्टतमानि कर्माणीत्युच्यन्ते तानि न सृजति नोत्पादयति ।

प्रमाण समझना चाहिए। नहीं तो 'निष्कल, निष्क्रिय, शान्त', 'न वह कुछ खाता है, न उसको कोई खाता है' इत्यादि आत्मामें निर्विकारत्वका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियोंसे विरोध हो जायगा। जिस कारण इस प्रकार परमात्माका अविक्रियत्व बहुत श्रुतियोंसे प्रमाणित है, इसलिए आत्मा न तो कुछ करता है और न कराता है, यह सिद्ध हुआ ॥ १३ ॥

यद्यपि निरवयव होनेसे क्रियाका आश्रय न होनेके कारण आत्मामें स्वतः कर्तृत्व नहीं है, तो भी जैसे चुम्बक लोहेको चलाता है, वैसे ही उसमें कारयितृत्व होगा ही, ऐसी यदि आशङ्का हो, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा होनेपर प्राणियोंको नित्य आत्माकी सन्निधि होनेसे सबकी सर्वदा प्रवृत्ति ही होगी, परन्तु ऐसा देखनेमें नहीं आता, इसलिए आत्मामें कारयितृत्व प्रामाणिक नहीं है, इस आशयसे कहते हैं—**'न कर्तृत्वम्'** इत्यादि ।

प्रकर्षसे स्वयं ही सर्वत्र भासता है या सबका भास कराता है अथवा सबके आत्मस्वरूपसे स्वयं ही भासता है, ऐसा प्रभु—आत्मा—स्वयं लोकमें—प्राणियोंमें कर्तृत्वको—'तुम यह करो इस प्रकार कर्ममें प्रवृत्तिको—उत्पन्न नहीं करता । किसी भी जन्तुको प्रवृत्त नहीं करता, यह भाव है । तथा कर्मोंको—'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' इत्यर्थक सूत्रके अनुसार क्रिया द्वारा प्राप्त करनेके लिए जो इष्टतम हैं, वे कर्म कहलाते हैं, उनको—नहीं सृजता—उत्पन्न नहीं

नाऽऽदत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनाऽऽवृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥ १५ ॥

परमात्मा न किसीके पापका ग्रहण करता है और न किसीके पुण्यका ही ग्रहण करता है, अज्ञानसे ज्ञान आवृत है, इसलिए जन्तुओंको मोह होता है॥१५॥

इष्टप्रदमनिष्टप्रदं वा क्रियया प्राप्तुं योग्यं वस्तु न संपादयतीत्यर्थः । कर्मफलसंयोगं च न सृजति तं तं प्राणिनं तत्तत्कृतपापपुण्यफलेन न संयोजयति । प्राणिनः सुखदुःखानि नाऽनुभावयति चेत्यर्थः । आत्मनः कारयितृत्वप्रापयितृत्वभोजयितृत्वाद्यभावे तर्हि कारयिता प्रापयिता भोजयिता क इत्याकाङ्क्षायामाह— **स्वभाव इति** । स्वयमेव सर्वं भावयतीति स्वं भावयतीति वा स्वभावः प्रकृतिर्वासनामयी प्रवर्तयति कर्मरूपिणी प्रकृतिरिष्टानिष्टे संपाद्य सुखदुःखे चाऽनुभावयति । प्राणिनः स्वात्मा तु प्राणिप्रकृतितच्चेष्टातत्सुखदुःखानुभूतीनां साक्ष्येव भवत्यविक्रियः सन्नित्यर्थः ॥ १४ ॥

ननु 'एष ह्येव साधु कर्म कारयति', 'सत्त्वैस्यैष प्रवर्तकः', 'ईश्वरः सर्वभूतानाम्' 'सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा', 'धर्मावहं पापनुदं भगेशं वरदं देवमीड्यं', 'प्रभुः प्रीणाति विश्वभुक्' इत्यादिश्रुतिभिः स्मृतिभिश्च परमात्मनः कर्तृत्वं कारयितृत्वं धर्मावहत्वं पापापनोदकत्वं समर्पितपूजादिभिः परितोष्टृत्वादिकं प्रतिपाद्यते। कथं 'न कर्तृत्वं न कर्माणि'

करता । इष्ट अथवा अनिष्ट देनेवाली क्रियासे प्राप्त होने योग्य वस्तुको सम्पादन नहीं करता, यह भाव है । कर्मफलसंयोगको भी उत्पन्न नहीं करता तत्-तत् प्राणीको तत्-तत् किये गये पाप और पुण्यके फलसे नहीं जोड़ता यानी प्राणियोंको सुख और दुःखका अनुभव नहीं कराता, यह भाव है । यदि आत्मा करानेवाला, प्राप्त करानेवाला, भोग करानेवाला नहीं है, तो करानेवाला, प्राप्त करानेवाला और भोग करानेवाला कौन है ? ऐसी आकांक्षा होनेपर कहते हैं—**स्वभाव इति** । जो स्वयं सबको भावना कराता है, या स्वयं भावना करता है, वह स्वभाव कहलाता है यानी वासनामयी प्रकृति प्रवृत्त करती है, कर्मरूपिणी प्रकृति इष्ट और अनिष्टका सम्पादन करके सुख और दुःखका अनुभव कराती है । प्राणियोंका अपना आत्मा तो प्राणीकी प्रकृति, उसकी चेष्टा, उसके सुख और दुःखके अनुभवका साक्षी ही होता है, क्योंकि वह अविक्रिय है, यह अर्थ है ॥ १४ ॥

'यही शुभ कर्म कराता है, यही अन्तःकरणका प्रेरक है', 'ईश्वर सब भूतोंके हृदयमें स्थित है' 'महात्मा सबका आधिपत्य करता है—अधिपति होता है', 'धर्मको देनेवाले, पापोंको नष्ट करनेवाले, ऐश्वर्योंके ईश्वर, वर देनेवाले पूज्यदेवको मैं भजता हूँ', 'प्रभु विश्वभुक् प्रसन्न होता है' इत्यादि श्रुतियों और स्मृतियोंसे परमात्मामें कर्तृत्व, कारयितृत्व, धर्मप्रदातृत्व, पापनाशकर्तृत्व, समर्पित पूजासे परितोष्टृत्व आदिका प्रतिपादन किया जाता है, फिर कैसे

इत्यात्मनः श्रुतिस्मृत्युक्तधर्मवत्त्वाभावः प्रतिपाद्यत इत्याकाङ्क्षायाम्, न; श्रुतिस्मृतिभिः पुराणैरप्यात्मन्युपाधिकृतमारोप्य प्रतिपाद्यते मुमुक्षूणां सत्त्वशुद्ध्यर्थं तदुपास्तौ प्रवृत्तिसिद्धये न तु तत्त्वाविवकम्। वस्तुतस्तु कूटस्थासङ्गचिद्रूपत्वादात्मा स्वयं न करोति न कारयति नाऽऽदत्त इत्याह—**नाऽऽदत्त इति।**

निरवयवत्वान्निष्क्रियत्वाच्च विभुर्व्यापकः स्वयमात्मा भक्तस्य वाऽप्यन्यस्य वा यस्य कस्यचित्पापं नाऽऽदत्ते ब्राह्मणो हिरण्यगर्भमिव न गृह्णाति। ननु 'हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः', 'अनेकजन्मार्जितपापसञ्चयं हरत्यशेषं स्मृतमात्र एव' इत्यादिवाक्यैर्भक्तकृतं पापं भगवानादत्त इति प्रतिपाद्यत इति चेत्, सत्यम्; प्रतिपाद्यते, तत्प्रतिपादनं नामकीर्तनप्रायश्चित्तयाऽनात्मज्ञं तत्पापान्मोचयितुमेव भवति, न तु परमात्मनो विकारित्वं संपाद्य तत्पापादानप्रतिपादनाय। एतत् 'तस्मात्संकीर्तनं विष्णोर्जगन्मङ्गलमंहसाम्। महतामपि कौरव्य विद्ध्यैकान्तिकनिष्कृतिम्। एका विनिष्कृतिः शंभोः सकृदेव हि कीर्तनम्' इत्यादिवचनेभ्योऽवगम्यते। अन्यथा निर्विकारत्वप्रतिपादकबहुश्रुतिविरोधप्रसङ्गात्। किञ्च, यस्य कस्याऽपि भक्तस्य वाऽन्यस्य वा भक्त्या समर्पितं श्रौतस्मार्तकर्मानुष्ठानजन्यं सुकृतं च नैवाऽऽदत्ते वह्निराहुतिमिव न

'न कर्तृत्वको, न कर्मोंको' इस प्रकार आत्मामें श्रुति और स्मृतियों द्वारा कहे गये धर्मोंसे रहितत्वका प्रतिपादन किया जाता है, ऐसी यदि आकांक्षा हो, तो वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि श्रुति, स्मृति और पुराणोंसे भी आत्मामें उपाधि द्वारा किये गयेका आरोप करके मुमुक्षुओंकी चित्तशुद्धिके लिए और उनकी उपासनामें प्रवृत्ति सिद्ध करनेके लिए प्रतिपादन किया जाता है, न कि तत्त्वसे प्रतिपादन किया जाता है। वस्तुरूपसे तो कूटस्थ, असङ्ग, चिद्रूप होनेसे आत्मा स्वयं न कराता है, न लेता है, ऐसा कहते हैं—'**नाऽऽदत्ते**' इत्यादिसे।

निरवयव होनेसे और निष्क्रिय होनेसे विभु (व्यापक) स्वयं आत्मा भक्तके या अन्य किसीके पापको नहीं लेता—जैसे ब्राह्मण सुवर्णको लेता है, वैसे नहीं लेता। 'दुष्ट चित्तवाले पुरुषों द्वारा स्मृत हरि पापोंको हरता है', 'केवल स्मरण करनेसे ही अनेक जन्मोंमें किये गये पापोंके ढेरको हर लेता है' इत्यादि वाक्योंसे भक्त द्वारा किये गये पापोंका भगवान् ग्रहण करते हैं, ऐसा प्रतिपादन किया जाता है, ऐसा यदि कहो, तो वह ठीक है। अवश्य उसका प्रतिपादन किया जाता है, पर वह प्रतिपादन नामकीर्तनरूप प्रायश्चित्तसे अनात्मज्ञको उसके पापसे छुड़ानेके लिए ही है, परमात्मामें विकारित्वका सम्पादन करके उसके पापको लेता है, ऐसा प्रतिपादन करनेके लिए नहीं है। 'इसलिए जगत्का मङ्गलरूप विष्णुका कीर्तन है, हे कौरव्य, तुम महापापोंका भी उसे ऐकान्तिक प्रायश्चित्त जानो', 'केवल शम्भुका कीर्तन ही मुख्य प्रायश्चित्त है' इत्यादि वचनोंसे जाननेमें आता है। यदि ऐसा न हो, तो निर्विकारत्वका प्रतिपादन करनेवाली बहुत-सी श्रुतियोंसे विरोधका प्रसङ्ग आवेगा और जिस किसी भक्तको या अन्य किसीको भक्तिसे समर्पित श्रौत-स्मार्त कर्मोंके अनुष्ठानसे उत्पन्न होनेवाले पुण्यको भी, जैसे अग्नि आहुतिको ग्रहण करता है,

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥ १६ ॥

जैसे उदित हुआ सूर्य अन्धकारको दूर कर पदार्थोंको प्रकाशित करता है वैसे ही जिनका आत्मविषयक ज्ञानसे बुद्धिनिष्ठ अज्ञान नष्ट हो गया है, उनका वह ज्ञान परमात्मवस्तुको प्रकाशित करता है ॥ १६ ॥

किंचिद्गृह्णाति । ननु तर्हि 'धर्मावहं पापनुदं वरदं देवमीड्यम्', 'प्रभुः प्रीणाति', 'पत्रं पुष्पं फलं तोयम्' इत्यादिश्रुतिस्मृतिवाक्यानामप्रामाण्यापात इति चेत्, न; मुमुक्षोः सत्त्वशुद्धिकामस्य परमेश्वरोपास्तौ तन्महत्त्वप्रतिपादनेन रुच्युत्पादनपरत्वात्तेषां वाक्यानां 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' इत्यादिवाक्यवत्प्रामाण्योपपत्तेः । ननु 'पण्डिताश्चाऽप्यपण्डिताश्च सर्वे स्नानसंध्यानुष्ठानयज्ञदानादिजं फलमीश्वरायैव समर्पयन्ति गृह्णातीश्वर इति तत्कथमित्याकाङ्क्षायां ते वेदान्तविचारजन्यज्ञानाभावादेव तथा कुर्वन्तीत्याशयेनाऽऽह—**अज्ञानेनेति** । आत्मनो देहेन्द्रियादिभ्यो भिन्नत्वाविक्रियत्वचिद्रूपत्वपरिपूर्णत्वाखण्डानन्दैकरसत्ववेदनं ज्ञानं तद्विलक्षणमज्ञानं तेनोक्तलक्षणं ज्ञानमावृतं राहुणा रविबिम्बवत्तिरोहितं तेनैव परमात्मतत्त्वाविवेकेन जन्तवः प्राणिनः सर्वेऽप्यहंममेत्यनेन कर्मणेश्वरः प्रीयते मह्यमीप्सितं दास्यति भोक्ष्ये भोजयिष्यामीति मुह्यन्ति । परतत्त्वमजानन्तः सन्तः संसरन्तीत्यर्थः ॥ १५ ॥

ननु सर्वेषामज्ञानावृतज्ञानत्वे कथं मुमुक्षूणामात्मज्ञानाविर्भावः कथं वा तेषां

वैसे किंचित् भी ग्रहण नहीं करता । तब धर्मको देनेवाले, पापको नष्ट करनेवाले, वर देनेवाले, पूज्य देवको', 'प्रभु चेष्टा कराता है' 'पत्र, पुष्प, फल, जल' इत्यादि श्रुति-स्मृतिवाक्योंका अप्रामाण्य प्राप्त होगा, ऐसा यदि कहो, तो वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि चित्तशुद्धिकी इच्छावाले मुमुक्षुकी परमेश्वरकी उपासनामें रुचि उत्पन्न करनेके लिए ईश्वरका महत्त्व प्रतिपादन करनेमें उन वाक्योंका तात्पर्य है, इसलिए वायु तेजीसे चलनेवाली देवता है', इत्यादि वाक्योंके समान उनमें प्रामाण्य उपपन्न है । पण्डित और अपण्डित भी सब स्नान, सन्ध्या, अनुष्ठान, यज्ञ, दान आदिसे उत्पन्न होनेवाले फलको ईश्वरके समर्पण करते हैं, ईश्वर ग्रहण करता है, यह कैसे, ऐसी यदि आकांक्षा हो, तो वे वेदान्तविचारजन्य ज्ञान न होनेसे ही ऐसा करते हैं, इस आशयसे कहते हैं—'**अज्ञानेन**' इत्यादिसे । आत्मा देहेन्द्रिय आदिसे भिन्न है, अविक्रिय है, चिद्रूप है, परिपूर्ण है, अखण्डानन्दैकरस है, ऐसा ज्ञान है, उससे विपरीत अज्ञान है, उस अज्ञानसे उक्त लक्षणवाला ज्ञान ढका हुआ है, राहुसे सूर्यके बिम्बके समान तिरोहित है, उसीसे परमात्मतत्त्वके अविवेकसे सब जन्तु (सभी प्राणी) 'मैं' 'मेरा' ऐसा मानकर इस कर्मसे ईश्वर प्रसन्न होता है, मुझे मेरा इच्छित देगा, भोगूँगा, भोग कराऊँगा, इस प्रकार मोहित हो जाते हैं। परमात्माके तत्त्वको न जाननेसे संसारको प्राप्त होते हैं, यह भाव है ॥ १५ ॥

सभीका ज्ञान अज्ञानसे यदि आवृत है, तो मुमुक्षुओंमें आत्मज्ञानका आविर्भाव कैसे होगा और

मुक्तिरित्याशङ्कायामीश्वरप्रीत्यै कृतनित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठानेन यदा चित्तपरिपाकस्तदा सम्यग् ज्ञानमुदेत्यज्ञानं नाशयित्वा परं तत्त्वं प्रकाशयति तदा ते मुक्तिं गच्छन्तीत्याशयेनाऽऽह—**ज्ञानेनेति द्वाभ्याम्** ।

तुशब्दो ज्ञानव्यतिरिक्तस्याऽज्ञाननाशकत्वासंभवद्योतनार्थः । कर्मोपास्तिभ्यां परिपक्वचित्तानां येषां ज्ञानेन तु श्रवणादिसमुत्पन्नेनाऽऽत्मविषयकेणाऽऽत्मनो बुद्धेः सम्बन्धि बुद्धिनिष्ठमित्येतज्ज्ञानाज्ञानयोर्बुद्धिधर्मत्वादावृतिरनावृतिश्च पटलेन चक्षुष एव न तु घटस्य, तद्वदज्ञानं ज्ञानं च बुद्धेरेव नाऽऽत्मनस्तु अन्यथाऽहमिति प्रत्ययानुत्पत्तेः, ततो बुद्धिसंबध्येवाऽज्ञानं येन मोहिताः संसरन्ति प्राणिनो यत्सर्वानर्थबीजं तदज्ञानं नाशितं भवति सूर्योदयेन तिमिरमिव विध्वस्तं भवति तेषां शुद्धात्मनां समुत्पन्नं तज्ज्ञानमादित्यवद्यथोदित आदित्यः पदार्थजातं प्रकाशयति तथा तत्सर्ववेदान्तप्रसिद्धं सत्यज्ञानादिलक्षणं प्रत्यगभिन्नं परं ब्रह्म प्रकाशयति । सूर्यप्रकाशेन स्थाणुरेवाऽयमिति यथा तथा ज्ञानप्रकाशेन ब्रह्मैवाऽहमिति स्वं ब्रह्मैव विजानन्तीत्यर्थः ॥ १६ ॥

'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्' इत्यादिश्रुत्युक्तरीत्या विदेहकैवल्यार्थिभिः समुत्पन्नज्ञानस्य संरक्षणं कर्तव्यं सदात्मनिष्ठया स्थित्वा न किञ्चिद्बाह्यं

उनकी मुक्ति कैसे होगी ? ऐसी आकांक्षा होनेपर ईश्वरकी प्रीतिके लिए किये गये नित्य और नैमित्तिक कर्मोंके अनुष्ठानसे जब चित्तकी शुद्धि हो जाती है, तब सम्यक् ज्ञानका उदय होता है, ज्ञान अज्ञानको नष्ट करके पर तत्त्वको प्रकाशित करता है, उसी समय मुमुक्षु मुक्तिको प्राप्त होते हैं, इस आशयसे कहते हैं—'**ज्ञानेन**' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

तुशब्द ज्ञानके सिवा दूसरे किसी उपायसे अज्ञानका नाश नहीं होता, यह सूचन करनेके लिए है । कर्म और उपासनासे जनितचित्तशुद्धिवाले जिन पुरुषोंकी ज्ञानसे—श्रवणादिसे उत्पन्न हुए आत्मविषयक ज्ञानसे—आत्माका यानी बुद्धिका सम्बन्धी यानी बुद्धिनिष्ठ (ये ज्ञान और अज्ञान दोनों बुद्धिके धर्म हैं, अतः जैसे पटलसे आवरण और अनावरण चक्षुमें होता है, घटमें नहीं होता वैसे ही अज्ञान और ज्ञान बुद्धिको ही आवृत करते हैं, आत्माको नहीं करते । यदि ऐसा न हो, तो 'मैं हूँ' ऐसा ज्ञान उत्पन्न नहीं होगा, इसलिए बुद्धिसम्बन्धी ही वह अज्ञान है, जिससे मोहित हुए प्राणी संसारको प्राप्त होते हैं और जो सम्पूर्ण अनर्थोंका बीज है) वह अज्ञान नष्ट हो जाता है—जैसे सूर्यका उदय होनेपर अन्धकार दूर हो जाता है, वैसे ही ज्ञानका उदय होनेपर अज्ञान दूर हो जाता है—उन शुद्धात्माओंमें उत्पन्न हुआ वह ज्ञान आदित्यके समान—जैसे उदयको प्राप्त हुआ आदित्य पदार्थसमूहको प्रकाशित करता है, वैसे ही—सम्पूर्ण वेदान्तोंमें प्रसिद्ध उस सत्य, ज्ञान आदिरूप प्रत्यक्से अभिन्न परब्रह्मको प्रकाशित करता है—सूर्यके प्रकाशसे जैसे यह स्थाणु ही है, वैसे ज्ञानके प्रकाशसे मैं ब्रह्म ही हूँ, वैसे आपको ब्रह्म ही जानता है, यह भाव है ॥ १६ ॥

'इसलिए त्यागसे रक्षा करो, किसीका भी धन मत ग्रहण करो' इत्यादि श्रुतियोंमें कहे गये प्रकारसे विदेहकैवल्यकी इच्छावालोंको उत्पन्न हुए ज्ञानका संरक्षण अवश्य करना चाहिए, सदा आत्म-

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ १७ ॥

सर्वत्र परब्रह्मका दर्शन करनेवाले, ब्रह्ममें सदा अहंप्रतीति रखनेवाले, ब्रह्ममें स्थिर वृत्ति रखनेवाले, अद्वितीय-आत्मतत्त्वपरायण एवं जिन्होंने ज्ञानसे सम्पूर्ण पापोंका प्रक्षालन कर दिया है, ऐसे यति देहसम्बन्धरहित मुक्तिको प्राप्त होते हैं ॥ १७ ॥

द्रष्टव्यमिति बोधयितुमाह—**तद्बुद्धय इति** ।

तद्बुद्धय आदित्येन रूपमिव श्रवणादिजन्यज्ञानेन प्रकाशितं सर्ववेदान्तप्रसिद्धं सच्चिदानन्दैकरसं सर्वात्मकं यत्परं ब्रह्म तस्मिन्नेव बुद्धिर्येषां ते तद्बुद्धयः सर्वत्र ब्रह्मदर्शिनः मुमुक्षुभिः कल्पितभेदमगृहीत्वा चक्षुषा रूपमिव प्रत्यग्दृष्ट्या सदा सर्वत्र ब्रह्मैव द्रष्टव्यमित्यर्थः । सर्वं ब्रह्मेवेति सर्वत्र ब्रह्मण्येव गृह्यमाणेऽपि ग्रहीता ग्राह्यमिति भेदः स्याच्चदा 'एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति' इति भेदद्रष्टुर्भय-श्रवणादतोऽभेदेन द्रष्टव्यमित्याह—**तदात्मान इति** । तदेव परं ब्रह्माऽऽत्माऽहंप्रत्ययार्थो येषां ते तदात्मानः ब्रह्मैवाऽहमिति ब्रह्मण्येव स्वात्मना साक्षात्कृते अहंप्रत्ययवन्तो न तु देह इत्यर्थः । समाधिदशायां ब्रह्मण्येवाऽहंप्रत्यये सत्यपि विदुष आहारादौ देहेऽहं-प्रत्ययश्च तेन प्रबलेन चिरकालिकेन स्थूलेन देहात्मप्रत्ययेन ब्रह्मात्मप्रत्ययो बाह्य-ध्वनिना नादध्वनिवद्विनश्यति । ततो बाह्यं कर्म सर्वं संन्यस्याऽऽहाराद्यवस्थासु सर्वा-

---

निष्ठासे स्थित होकर बाहर कुछ भी नहीं देखना चाहिए, ऐसा बोधन करनेके लिए कहते हैं—'तद्बुद्धयः' इत्यादिसे ।

आदित्यसे प्रकाशित रूपके समान, श्रवणादिजन्य ज्ञानसे प्रकाशित सम्पूर्ण वेदान्तोंमें प्रसिद्ध सच्चिदानन्दैकरस सर्वात्मक जो परब्रह्म है, उसीमें जिनकी बुद्धि है, वे तद्बुद्धि—यानी सर्वत्र ब्रह्मदर्शी । जैसे चक्षु रूपको देखता है, वैसे ही मुमुक्षुओंको कल्पित भेदका ग्रहण न करके प्रत्यक् दृष्टिसे सदा सर्वत्र ब्रह्म ही देखना चाहिए, यह अर्थ है । सब ब्रह्म ही है, इस प्रकार सर्वत्र ब्रह्मका ग्रहण करनेपर भी ग्रहीता ग्राह्य, ऐसा भेद हो, तो 'इसमें जो थोड़ासा भी भेद करता है, उसको भय होता है' इस श्रुतिसे भेद देखनेवालेको भय सुना जाता है, इसलिए अभेदसे देखना चाहिए, ऐसा कहते हैं—**तदात्मान इति** । वही परब्रह्म जिनके अहंप्रत्ययका अर्थ है, वे तदात्मा—ब्रह्म ही मैं हूँ, इस प्रकार अपने आत्मरूपसे साक्षात् किये गये ब्रह्ममें ही अहंप्रत्ययवाले न कि देहमें, यह अर्थ है । समाधि अवस्थामें केवल ब्रह्ममें अहंप्रत्ययके होनेपर भी विद्वान्‌का आहारादिमें और देहमें अहंप्रत्यय हो जाता है । इस प्रबल, चिर-कालिक स्थूलदेहात्मप्रत्ययसे, जैसे बाहरकी ध्वनिसे नादकी ध्वनि नष्ट हो जाती है, वैसे ही ब्रह्मात्मप्रत्यय नष्ट हो जाता है, इसलिए बाहरके सब कर्मोंका त्याग कर आहारादि सब अवस्थाओंमें

स्वपि ब्रह्मण्येवाऽऽत्मत्वबुद्ध्या दृश्यानवगाहिन्या स्थातव्यमित्याह—**तन्निष्ठा इति।** तस्मिन् ब्रह्मण्यात्माकारप्रत्ययकरणमेव निष्ठा अहंबुद्धेर्नैश्चल्यं येषां ते तन्निष्ठाः स्वस्य ब्रह्मात्मनाऽवस्थितत्वदर्शिन एव स्थिरीभूतवृत्तय इत्यर्थः। ब्रह्मात्मत्वदर्शने स्थिरीभूतचित्तवृत्तीनामपि क्वचित्प्रयोजनान्तरापेक्षाऽस्ति चेत्तया सा निष्ठा प्रतिबध्यते बाह्यात्मत्वं च स्यात्ततः कार्यान्तरं बाह्यं किञ्चिदप्येनपेक्ष्य मुमुक्षोः सदा तदेकपरत्वेन भवितव्यमित्याह—**तत्परायणा इति।** तत्सच्चिदानन्दैकरसमद्वितीयं स्वात्मनाऽधिगतं परं ब्रह्मैव बहिरन्तः सदा बुद्धिवृत्तेश्चक्षुषो रूपवत् परं नियतमयनं गतिर्येषां ते तत्परायणा आहारविहारादौ सदा सर्वत्र ब्रह्मदर्शनं ब्रह्मण्येवाऽऽत्मदर्शनं च चिदेकवृत्त्या ये न मुञ्चन्ति ते तत्परायणाः। सदात्मारामा इत्यर्थः। एवं सर्वत्र ब्रह्मदर्शनं ब्रह्मण्यात्मत्वदर्शनं तन्निष्ठत्वं तत्परायणत्वं च विदेहमुक्तेरसाधारणकारणमेतच्चतुष्टयमनुतिष्ठन्ति ये ब्रह्मविदस्त एव ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ज्ञानेनोक्तान्तरङ्गसाधनचतुष्टयानुष्ठित्याऽप्रतिबद्धतां गतेन निर्धूतं निःशेषं प्रक्षालितं कल्मषं बौद्धं जगद्ब्रह्मणोर्ब्रह्मात्मनोश्च भेदग्रहलक्षणं येषां ते ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः सन्तः स्वयमपुनरावृत्तिं भूयो देहसम्बन्धित्वापत्तिः पुनरावृत्तिस्तदभावोऽपुनरावृत्तिस्तां देहसम्बन्धरहितां मुक्तिं गच्छन्ति। ब्रह्मात्मना स्थितिदशायां गलितेऽस्मिन् देहे ब्रह्मणि वृत्तौ लीनायां सत्यां स्वयं ब्रह्माकारेणैव तिष्ठन्तीत्यर्थः॥१७॥

भी दृश्यका अवलम्बन न करनेवाली आत्मबुद्धिसे ब्रह्ममें ही स्थित होना चाहिए, ऐसा कहते हैं—**तन्निष्ठा इति।** ब्रह्ममें आत्माकार प्रत्यय करना ही निष्ठा—अहंबुद्धिकी निश्चलता—जिनकी है, वे तन्निष्ठ—अपनेको ब्रह्मस्वरूपसे स्थित देखनेवाले ही स्थिरीभूत वृत्तिवाले, यह अर्थ है। ब्रह्मात्मत्वदर्शनमें स्थिरीभूत चित्तवृत्तिवालोंको भी जब कभी अन्य प्रयोजनकी अपेक्षा होती है, तब उससे वह निष्ठा रुक जाती है और बाह्यात्मता हो जाती है, इसलिए भीतर बाहर किसी कार्यकी भी अपेक्षा न करके मुमुक्षुको सदा उस एकके ही परायण होना चाहिए, ऐसा कहते हैं—**तत्परायणा इति।** सच्चिदानन्दैकरस, अद्वितीय, अपने आत्मरूपसे जाना हुआ परब्रह्म ही बाहर भीतर सदा बुद्धिवृत्तिका चक्षुका रूपके समान जिनका नियत अयन (गति) है, वे तत्परायण—आहार, विहार आदिमें सदा सर्वत्र ब्रह्मदर्शन और ब्रह्ममें ही केवल चिदाकार वृत्तिसे आत्मदर्शन जो नहीं छोड़ते, वे तत्परायण सदा आत्माराम, यह अर्थ है। इस प्रकार सर्वत्र ब्रह्मदर्शन (ब्रह्ममें आत्मत्वदर्शन), तत्परायणता, तन्निष्ठत्व इन विदेह मुक्तिके चार असाधारण कारणोंका जो ब्रह्मवित् अनुष्ठान करते हैं, वे इस प्रकारके ज्ञानसे विधूतकल्मष (ज्ञानसे—उक्त चार अन्तरङ्ग साधनोंके अनुष्ठानसे अप्रतिबद्धताको प्राप्त हुए ज्ञानसे—निर्धूत हो गया है, निःशेष क्षालित है, जगत् और ब्रह्मका तथा ब्रह्म और आत्माका भेदग्रहणरूप बुद्धिका कल्मष जिनका, वे ज्ञाननिर्धूतकल्मष होकर स्वयं अपुनरावृत्तिको—फिर देहके सम्बन्धकी प्राप्ति पुनरावृत्ति है, उसका अभाव अपुनरावृत्ति है उसको—यानी देहसम्बन्धरहित मुक्तिको प्राप्त होते हैं—ब्रह्मरूपसे अवस्थानदशामें देहके नष्ट होने एवं वृत्तिके ब्रह्ममें लीन होनेपर स्वयं ब्रह्मस्वरूपसे स्थित होते हैं, यह अर्थ है॥ १७॥

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ १८ ॥

विद्या एवं विनयसे सम्पन्न ब्रह्मणमें, गायमें, हाथीमें, श्वानमें एवं चाण्डाल आदिमें पण्डित लोग समदर्शी होते हैं ॥ १८ ॥

तद्बुद्धय इत्यनेन ब्रह्मविद्यतीनां सर्वदा कर्तव्यत्वेन यद्विहितं कल्पितनामरूपाद्यग्रहणेन सर्वत्र ब्रह्मदर्शनं तद्विशदयति—**विद्याविनयसंपन्न इति** ।

विद्याविनयसंपन्ने विद्या सर्ववेदशास्त्राधीतिस्तदर्थज्ञानं वा, विनयो नम्रता उपशान्तिर्वा, ताभ्यामन्यैश्च स्वधर्मपरत्वप्रतिग्रहविमुखत्वसत्यशौचदयादिभिः सुगुणैः संपन्ने जगत्पूज्ये ब्राह्मणे, जात्या गुणेन धर्मेण च परमनिकृष्टे स्वप्राणवृत्त्यै श्वानमपि पचतीति वा श्वो भवितव्यमिति पचतीति वा श्वपाकश्चण्डालस्तस्मिन्नपि, जात्या सञ्चारेण क्षीरादिना च जगत्पावन्यां गवि धेनौ, जात्यादिभिरतिनिकृष्टे तुच्छभुजि शुनि शुनके, राजपूज्ये हस्तिनि भद्रगजे, चकाराल्लोष्टाश्मकाञ्चनादिषु सर्वत्र तत्तद्द्रव्यतत्तद्गुणतत्तद्धर्मतत्तत्कर्मभिरस्पृश्यमानं सर्वदाऽऽकाशवदेकरूपेण समरसतया तिष्ठतीति परं ब्रह्म सममित्युच्यते । तदेव सर्वत्र द्रष्टुं शीलं येषां ते समदर्शिनः । आरोपितनामरूपाद्यगृहीत्वैव सर्वत्राऽधिष्ठानभूतब्रह्ममात्रदर्शनपराः पण्डिता इत्यर्थः । परावरैकत्वविज्ञानपौष्कल्यवन्तः पण्डिताः सदा समदर्शिन एव भवन्ति न कचिद्विषमदर्शिन इति समदर्शित्वं पण्डितानां धर्म इति सूचितं भवति॥ १८ ॥

'तद्बुद्धयः' इससे ब्रह्मवित् यतियोंके सर्वदा कर्तव्यरूपसे कल्पित नामरूपादिका ग्रहण न कर सर्वत्र ब्रह्मदर्शनका जो विधान किया था, उसीको स्पष्ट करते हैं—**'विद्याविनयसंपन्ने'** इत्यादिसे।

विद्या और विनयसे संपन्न, सम्पूर्ण वेद-शास्त्रका अध्ययन अथवा उनके अर्थका ज्ञान विद्या है, विनय नम्रता अथवा उपशान्ति है, उन दोनोंसे और दूसरे स्वधर्मपरायणता, प्रतिग्रहविमुखता, सत्य, शौच, दया आदि शुभ गुणोंसे सम्पन्न जगत्पूज्य ब्राह्मणमें; जातिसे, गुणसे और धर्मसे परम निकृष्ट अपनी प्राणवृत्तिके लिए जो कुत्तेको भी पकाता है, अथवा दूसरे दिन भोजन करनेके लिए पहले दिन जो पकाता है वह श्वपाक चाण्डाल है, उसमें भी; जातिसे, संचारसे और दूध आदिसे जगत्पावनी गायमें—धेनुमें—; जाति आदिसे अतिनिकृष्ट तुच्छ पदार्थोंका भक्षण करनेवाले कुत्तेमें; राजपूज्य हाथीमें—भद्र हाथीमें; चकारसे ढेला, पत्थर, काञ्चन आदिमें सर्वत्र तत्-तत् द्रव्य, तत्-तत् गुण, तत्-तत् धर्म और तत्-तत्कर्मसे अस्पृश्य—छूनेमें न आनेवाले, सर्वदा आकाशके समानएकरूपसे (समानरूपसे) स्थित रहता है, इसलिए परब्रह्म 'सम' कहलाता है, उसे ही सर्वत्र देखनेका जिनका स्वभाव है, वे समदर्शी हैं । आरोपित नाम आदिका ग्रहण न करके सर्वत्र अधिष्ठानभूत ब्रह्ममात्रके दर्शनमें परायण पण्डित, यह अर्थ है । परावरके एकत्वविज्ञानकी पुष्कलतावाले पण्डित सदा सम-

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥ १९ ॥

उन लोगोंने यहीं संसारको जीत लिया है, जिनका अन्तःकरण समतारूप ब्रह्ममें स्थित है, क्योंकि समतारूप ब्रह्म दुःख-दोष रहित है, इससे वे ब्रह्ममें ही अवस्थित हैं ॥ १९ ॥

सदा सर्वत्र ब्रह्मैव पश्यन्तः सन्तो ये तु तदात्मना तिष्ठन्ति तेषामेव विदेहमुक्तिर्नेतरेषामिति सूचयितुं ब्रह्मनिष्ठानां यतीनां जीवद्दशायामेव मुक्तिं दर्शयति—इहैवेति ।

परावरैकत्वविज्ञानवतां तद्बुद्धित्वाद्यन्तरङ्गसाधनवतां सर्वकर्मसंन्यासिनां येषां ब्रह्मविदां मनः सर्वदा साम्ये सममेव साम्यम् । स्वार्थे ष्यञ्प्रत्ययः । तस्मिन् साम्ये समरसे परे ब्रह्मण्येव स्थितं नैश्चल्येन तिष्ठति । ये तु सर्वत्र ब्रह्मैव पश्यन्ति तदात्मतामेवाऽऽपद्यन्ते तत्रैव निष्ठां कुर्वन्ति तदात्मतापन्नवृत्त्या कालं नयन्ति तैरेवंलक्षणैर्ब्रह्मविद्भिरिहैव जीवद्दशायामेव सर्गो जन्म भविष्यद्देहसंबन्धो जितो निर्जितः । परिहृत इत्यर्थः । अविद्याकामकर्माणि खलु शरीरारम्भकाणि अद्वितीये ब्रह्मणि जगद्बुद्धिसंपादिका देहादावहंममबुद्धिसंपादिका वासनाऽविद्या तन्मूलकाः कामास्तत्कार्याणि कर्माणि तेषामविद्याकामकर्मणां नित्यनिरन्तरब्रह्मनिष्ठया निःशेषविनाशे सति 'कारणनाशा-

---

दर्शी ही होते हैं, कहीं विषमदर्शी नहीं होते, इससे समदर्शी होना पण्डितोंका धर्म है, ऐसा सूचित होता है ॥ १८ ॥

सदा सर्वत्र केवल ब्रह्मको ही देखते हुए जो ब्रह्मस्वरूपसे स्थित रहते हैं, उन्हींकी विदेहमुक्ति होती है, दूसरोंकी नहीं, ऐसा सूचन करनेके लिए ब्रह्मनिष्ठ यतियोंकी जीवित अवस्थामें ही मुक्ति दिखलाते हैं—'इहैव' इत्यादिसे ।

पर और अवरके एकत्वके विज्ञानवाले, तद्बुद्धित्व आदि अन्तरङ्ग साधनवाले जिन सर्वकर्मसंन्यासी ब्रह्मज्ञानियोंका मन सर्वदा साम्यमें—सम ही साम्य है, स्वार्थमें ष्यञ् प्रत्यय है, उस साम्यमें—यानी समरस परब्रह्ममें ही स्थित—निश्चलतासे ठहरता है और जो सर्वत्र ब्रह्म ही देखते हैं, उसकी स्वरूपताको ही प्राप्त होते हैं—उसमें ही निष्ठा करते हैं, तदात्मतापन्न वृत्तिसे कालको व्यतीत करते हैं, इन लक्षणवाले उन ब्रह्मज्ञानियोंने यहीं—जीवित अवस्थामें ही—सर्ग—भावी देहका संबन्ध—जीत लिया है—निश्चय जीत लिया है । उसका परिहार कर दिया है, यह अर्थ है । शरीरको आरंभ करनेवाले अविद्या, काम और कर्म—अद्वितीय ब्रह्ममें जगद्बुद्धि संपादन करनेवाली, देहादिमें अहंबुद्धिका संपादन करनेवाली वासनाका—अविद्याका—तन्मूलक कामका एवं कामके कार्य कर्मका । नित्य और निरन्तर ब्रह्मनिष्ठासे निःशेष नाश होनेपर 'कारणके नाशसे

त्कार्यनाशः' इति न्यायेन तत्कार्यभूतभाविदेहसम्बन्धनाशोऽपि सिध्यत्यत एवोच्यते—**इहैव तैर्जितः सर्ग इति** । ननु ब्रह्मविदां क्वचिदपि बाह्यालम्बनं विना सर्वदा ब्रह्मण्येव ब्रह्मात्मनाऽऽवस्थानं कथमुपपद्यत इत्याकाङ्क्षायाम्, न; तेषां मनसोऽतिनिर्मलत्वाद्ब्रह्मसुखानुभूतिरसिकत्वात्ताद्दग्ब्रह्मनिष्ठासंपादकपुण्यसंपत्तेश्च सदानन्दैकरसे ब्रह्मणि स्थितिः संभवतीति सूचयितुं ब्रह्मण आनन्दरूपत्वं प्रतिपादयति—**निर्दोषं हीति** । हि यस्मात्कारणाद्ब्रह्म निर्दोषम् । दोषशब्देनाऽत्र तत्कार्यं दुःखं लक्ष्यते । निर्दोषं निर्दुःखं दुःखलेशशून्यमानन्दरूपमित्यर्थः, 'आनन्दो ब्रह्म,' 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म', 'स्वप्रकाशमानन्दघनम्' इति श्रुतेः । ननु ब्रह्मणः स्वत आनन्दरूपत्वेऽप्यनृतजडदुःखात्मकप्रपञ्चसंबन्धसंभवात्क्वचिद्दुःखलेशसंबन्धः संभवेदित्याशङ्कायाम्, न; 'मायामात्रमिदं द्वैतम्', 'असत्त्वादन्यस्य' 'नह्यस्ति द्वैतसिद्धिरात्मैव सिद्धोऽद्वितीयः', 'एकमेवाद्वितीयम्, 'अद्वयो ह्ययमात्मैकल एव' इत्यादिश्रुतिभिर्जगतः स्वरूपासत्त्वं ब्रह्मणोऽद्वितीयत्वं च नियमेन प्रतिपाद्यते यतस्ततो मरीचिजलसंबन्धवद् ब्रह्मणो मिथ्याभूतप्रपञ्चसंबन्धासंभवात् सदा सर्वत्रैकरसत्वमेवेति बोधयितुमाह—**सममिति** । समं सर्वत्र सममेव परं ब्रह्म सच्चिदानन्दमात्रमेकरसं 'सद्घनोऽयं चिद्घन आनन्दघन एकरसः'

कार्यका नाश होता है' इस न्यायसे उनके कार्यभूत भावी देहका सर्वथा नाश भी सिद्ध हो जाता है, इसलिए कहा जाता है—यहीं उन्होंने सर्ग जीत लिया है, वहां भी बाहरके आलम्बनके विना ब्रह्मज्ञानियोंका सर्वदा ब्रह्ममें ही ब्रह्मस्वरूपसे स्थित होना कैसे उपपन्न होता है ? ऐसी यदि आकाङ्क्षा हो, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि उनका मन अत्यन्त निर्मल होनेसे, ब्रह्मसुखके अनुभवका रसिक होनेसे और इस प्रकारका ब्रह्मनिष्ठाका संपादन करनेवाले पुण्योंकी सम्पत्ति होनेसे सदानन्दैकरस ब्रह्ममें उनकी स्थिति हो सकती है, ऐसा सूचन करनेके लिए ब्रह्मकी आनन्दरूपताका प्रतिपादन करते हैं—**निर्दोषमिति** । हि—जिस कारणसे ब्रह्म निर्दोष है । दोषशब्दसे यहां दोषका कार्य दुःख लक्षित है । निर्दोष—निर्दुःख—दुःखके लेशसे रहित—आनन्दरूप, यह अर्थ है । 'आनन्द ब्रह्म है' 'स्वप्रकाश आनन्दघन है', इत्यादि श्रुतियोंसे ब्रह्ममें स्वरूपसे आनन्दरूपत्व होनेपर भी मिथ्या, जड़, दुःखस्वरूप प्रपञ्चके साथ संवन्ध है, इसलिए कहीं दुःखके लेशका संबन्ध हो जाय, ऐसी आशंका होनेपर कहते हैं—नहीं, 'मायामात्र यह द्वैत है, क्योंकि अन्य असत् है', 'द्वैतकी सिद्धि है ही नहीं, अद्वितीय आत्मा ही सिद्ध है', 'एक ही अद्वितीय है' 'अद्वय यह आत्मा अकेला ही है' इत्यादि श्रुतियां जगत्के स्वरूपका असत्त्व और ब्रह्मका अद्वितीयत्व नियमसे प्रतिपादन करती हैं, इसलिए जैसे मरुका जलसे संवन्ध नहीं है, वैसे ही ब्रह्मका मिथ्याभूत प्रपञ्चसे संबन्ध न होनेसे, सदा सर्वत्र एकरसत्व ही है, ऐसा बोधन करनेके लिए कहते हैं—**सममिति** । सर्वत्र सम ही परब्रह्म सच्चिदानन्दमात्र एकरस 'यह सद्घन, चिद्घन, आनन्दघन एकरस है' इत्यादि श्रुतियोंसे ब्रह्म सदा एकस्वभाव ही है, समरसत्व होनेसे,

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाऽप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥ २० ॥

इष्ट वस्तुको प्राप्त कर जो हर्ष नहीं करता, अप्रिय 'अनिष्ट' वस्तुको प्राप्त कर जो दुःखी नहीं होता एवं जो स्थिरबुद्धि तथा मोहरहित है, वह ब्रह्मवित् सदा ब्रह्ममें ही स्थित रहता है ॥ २० ॥

इत्यादिश्रुतिभिर्ब्रह्म सदैकस्वभावमेव भवति समरसत्वाल्लवणपिण्डवदित्यादियुक्तिभिश्च सजातीयविजातीयादिभेदवैधुर्यमेव प्रतिपाद्यते । ततः सदानन्दैकरसमेव परं ब्रह्म न त्वविद्यातत्कार्यतद्धर्मतत्कर्मलेशसंपृक्तम् । तस्मादेव ब्रह्मविदां मनो ब्रह्मानन्दामृतरसास्वादासक्त्या ब्रह्मण्येव तिष्ठति । सर्वदैवमेव ब्रह्मण्यानन्दघने येषां ब्रह्मविदां यतीनां मनस्तिष्ठति त एव विदेहमुक्तिं गच्छन्तीति सिद्धम् ॥ १९ ॥

विदेहमुक्तिकामस्य ब्रह्मविदः सर्वं संन्यस्य सर्वदा ब्रह्मण्येव ब्रह्मात्मना तिष्ठतो यतेः सर्ववासनासंक्षयः सर्वकामप्रमोकः सर्वकर्मप्रविलयश्चेति त्रितयस्य भाविजन्महेतोरनिष्टस्य निवृत्तिस्तथा जीवद्दशायां दृष्टदुःखानुपलब्धिः सदानन्दानुभूतिर्विदेहकैवल्यप्राप्तिश्चेत्येतत्त्रितयस्येष्टस्य प्राप्तिरेवं पुरुषार्थः सिध्यति, तस्मान्मुमुक्षोः श्रवणादिना सम्यग्विदितात्मतत्त्वस्य यतेर्ब्रह्मनिष्ठाऽवश्यं कर्तव्येति सूचयितुं ब्रह्मयोगं कुर्वतः कर्तव्यमाह—**न प्रहृष्येदिति** ।

ब्रह्मणि सर्वत्र ब्रह्ममात्रदर्शने समाधौ स्थितः प्रवृत्तो ब्रह्मविद्यतिः स्वयं भिक्षा-

---

लवण पिण्डके समान, इत्यादि युक्तियोंसे भी, सजातीय, विजातीय आदि भेदसे रहित ही प्रतिपादन किया जाता है । इसलिए परब्रह्म सदानन्दैकरस ही है, अविद्या, अविद्याके कार्य, धर्म और कर्मसे उसका लेश भी संबन्ध नहीं है । इसीलिए ब्रह्मविदोंका मन ब्रह्मानन्दामृतरसास्वादकी आसक्तिसे ब्रह्ममें ही डटा रहता है । सदा ऐसे ही आनन्दघन ब्रह्ममें जिन ब्रह्मभावापन्न यतियोंका मन ठहरता है, वे ही विदेहमुक्तिको प्राप्त होते हैं, यह सिद्ध हुआ ॥ १९ ॥

विदेहमुक्तिकी कामनावाले ब्रह्मवित् सबका त्याग करके सर्वदा ब्रह्ममें ही ब्रह्मस्वरूपसे स्थित होनेवाले यतिको सम्पूर्ण वासनाओंका संक्षय सम्पूर्ण कामोंका प्रमोक और सम्पूर्ण कामोंका विजय भावी जन्मके हेतु इन तीन अनिष्टोंकी निवृत्ति तथा जीवित अवस्थामें दृष्ट दुःखकी अनुपलब्धि, सदानन्दका अनुभव और विदेह कैवल्यकी प्राप्ति, इन तीनों इष्टोंकी प्राप्ति, ऐसा पुरुषार्थ सिद्ध होता है, इसलिए मुमुक्षु, सम्यक् विदितात्मतत्त्व यतिको ब्रह्मनिष्ठा अवश्य करनी चाहिए, ऐसा सूचन करनेके लिए ब्रह्मयोग करनेवालेका कर्तव्य कहते हैं—**'न प्रहृष्येत्'** इत्यादिसे ।

ब्रह्ममें—सर्वत्र ब्रह्ममात्र दर्शनरूप समाधिमें स्थित—प्रवृत्त—ब्रह्मवित् यति स्वयं भिक्षा-

टनादौ यदृच्छया प्रारब्धवशात्प्राप्तं प्रियमिष्टं वस्तु वचनं वा कर्म वा पूजादिलक्षणं प्राप्य श्रुत्वा दृष्ट्वा स्पृष्ट्वा वा रम्यत्वबुद्ध्येष्टताबुद्ध्या वा न प्रहृष्येत् प्रहर्षं न कुर्यात्। प्रहर्षोऽनात्मधर्मस्तस्मिन् कृते स्वस्याऽनात्मतादात्म्ये सत्यसदारोपणं स्याद्वस्तुनो नामरूपगुणविशेषविमर्शनं विना समीचीनत्वबुद्धिरिष्टताबुद्धिश्च न जायते, समीचीनत्वादि बुद्धिं विना प्रहर्षोऽपि नोत्पद्यते, हर्षोत्पत्तिश्च द्रष्टरि भोक्तर्यात्मत्वाभिनिवेशं विना न संभवत्येवमनर्थहेतुर्भवति पदार्थविमर्शनं तत्र रम्यताबुद्धिरिष्टताबुद्धिश्च ततः प्रत्यग्दृष्टिं परित्यज्य पदार्थविमर्शनं रम्यताबुद्धिमिष्टत्वादिबुद्धिं च प्रहर्षं च ब्रह्मविन्न कुर्यात्किन्तु सर्वत्र प्रत्यग्दृष्ट्यैव तिष्ठेदित्यर्थः। किञ्चाऽप्रियमनिष्टमाध्यात्मिकमाधिभौतिकमाधिदैविकं ज्वरादिसर्पचोरादिवर्षवाताद्यनर्थकारणं प्राप्य नोद्विजेत् उद्वेगश्चलनमधैर्यं भयं च तन्नावहेत्। हा हतोऽस्मीत्यौपाधिकमनर्थं स्वं न प्रापयेत्। तदनर्थस्य स्वयं विषयो न भवेदिति यावत्। किन्तु भवितव्यं भवत्येवेति दृढबुद्ध्योपाधिं प्रारब्धाय समर्प्य स्वयं तदविषयीभूतनिर्विशेषब्रह्माकारेणैव तिष्ठेत्। स्वदृष्ट्या स्थितवतो मुक्तिर्न विहन्यते, बाह्यदृष्ट्या स्थितस्य तूपाध्यविनाशो मुक्तिविनाशश्च स्यात्। ततः प्रत्यग्दृष्टिं परित्यज्य बाह्यग्रहणं तत्राऽनिष्टताबुद्धिं स्वस्य तदनर्थविषयत्वमुद्वेगं च विद्वान्न कुर्यादित्यर्थः। इष्टानिष्टयोः प्राप्तौ प्रहर्षोद्वेगावकृत्वा कथं स्थात-

---

टनादिमें प्रयत्नके विना प्रारब्धाधीन प्राप्त हुए प्रियको—इष्ट वस्तु, वचन या पूजादिरूप कर्मको—प्राप्त होकर, सुनकर, देखकर या छूकर रम्यत्वबुद्धिसे अथवा इष्टताबुद्धिसे प्रहर्षित न हो—प्रहर्ष न करे, प्रहर्ष अनात्माका धर्म है, उसके करनेसे अपना आत्मासे तादात्म्य होनेपर असत्का आरोपण होगा। वस्तुके नाम, रूप और गुण विशेषका विचार किये बिना समीचीनत्व बुद्धि और इष्टता बुद्धि उत्पन्न नहीं होती, समीचीनत्व बुद्धिके बिना प्रहर्ष भी उत्पन्न नहीं होता और प्रहर्षकी उत्पत्ति द्रष्टामें--भोक्तामें आत्मत्वके अभिनिवेशके बिना नहीं होती, इस प्रकार पदार्थका विचार अनर्थका कारण होता है, पदार्थविचार होनेपर रम्यताबुद्धि और इष्टताबुद्धि होती है, इसलिए प्रत्यक् दृष्टिका त्यागकर पदार्थका विमर्शन, रम्यता बुद्धि, इष्टता बुद्धि और प्रहर्ष ब्रह्मवित् न करें, किन्तु सर्वत्र प्रत्यक् दृष्टिसे ही स्थित हो, ऐसा अर्थ है। और अप्रियको—आध्यात्मिक ज्वर आदि, आधिभौतिक सर्प, चोर आदि, आधिदैविक वृष्टि, वात आदि अनर्थके कारणको प्राप्त होकर उद्वेग न करे--चलन, अधैर्य और भय उद्वेग है, उसको न करे--हाय मैं मर गया, ऐसे उपाधिके अनर्थको प्राप्त न हो—उस अनर्थका आप विषय न हो, यह अर्थ है, किन्तु भवितव्य होता ही है, ऐसी दृढ़ बुद्धिसे उपाधिको प्रारब्धके अर्पण करके आप प्रारब्धके अविषयीभूत निर्विशेष ब्रह्माकारसे स्थित रहे। स्वदृष्टिसे स्थित होनेवालेकी मुक्ति नष्ट नहीं होती बाह्य दृष्टिसे स्थित होनेवालेकी उपाधिका नाश नहीं होता, मुक्तिका नाश हो जाता है। इसलिए प्रत्यक् दृष्टिका त्यागकर बाह्यग्रहण, उसमें अपनी अनिष्टताबुद्धि, उससे अपना अनर्थ विषयत्व और उद्वेग विद्वान् न करे,

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥ २१ ॥

बाह्य विषयोंमें जिसका मन आसक्त नहीं है, ऐसा पुरुष आत्माका साक्षात्कार करनेपर आत्मासाक्षात्कारजनित सुखका अनुभव करता है और वही ब्रह्मयोगयुक्तात्मा होकर अक्षय्य सुखको प्राप्त करता है ॥ २१ ॥

व्यमित्यत आह—**असंमूढ इति** । संमूढो विपरीतग्राही तद्विलक्षणः समदर्श्येवाऽसंमूढो ब्रह्मण्येवाऽऽत्मप्रत्ययस्तत्रैव स्थिरबुद्धिः स्थिरा स्वस्य ब्रह्माकारतामत्यजन्ती निश्चला बुद्धिर्यस्य स स्थिरबुद्धिः सन् ब्रह्मण्येव स्थितो भवेत् । स्वस्य सर्वस्य ब्रह्ममात्रदर्शन एव तिष्ठेदित्यर्थः ॥ २० ॥

'न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य' इत्युक्त्वा विषयसुखं परित्यक्तव्यमिति सूचितम्, विषयसुखे परित्यक्ते ब्रह्मविदः सुखाभावादुन्मत्तस्येवाऽमुष्य स्थितिर्निष्फलैवेत्याशङ्कायाम्, न; 'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति' इति श्रवणान्नित्यनिरन्तरं निरतिशयं ब्रह्मसुखमुमुष्य ब्रह्मनिष्ठायां तिष्ठतोऽस्तीत्याह—**बाह्यस्पर्शेष्विति** ।

य आत्मतत्त्वज्ञः स्वयं बाह्यस्पर्शेषु मूढैरात्मनो बहिरेव कल्पिता बाह्याः, इन्द्रियैः स्पृश्यन्ते गृह्यन्त इति स्पर्शाः बाह्याश्च ते स्पर्शाश्च तेषु बाह्यस्पर्शेषु शब्दादिषु तज्जन्यसुखेषु च तुच्छत्वबुद्ध्या बन्धकत्वबुद्ध्या च असक्तोऽप्रवृत्त आत्मा मनो

यह भाव है । इष्ट और अनिष्टके प्राप्त होनेपर हर्ष और उद्वेग न कर कैसे स्थित होना चाहिए ? इसपर कहते हैं—**असंमूढ इति** । संमूढ़ यानी विपरीतग्राही, उससे विलक्षण समदर्शी ही असंमूढ है । ब्रह्ममें ही आत्मप्रत्यय करनेवाला उसीमें स्थिरबुद्धि (स्थिर—अपनी ब्रह्माकारताको न त्यागनेवाली निश्चल—जिसकी बुद्धि है, वह स्थिरबुद्धि है) होकर ब्रह्ममें ही स्थित होवे । अपनेको और सबको ब्रह्ममात्र देखता हुआ ही स्थित होवे, यह भाव है ॥ २० ॥

'प्रियको प्राप्त होकर हर्ष न करे' यह कहकर विषयसुखका त्याग करना चाहिए, ऐसा सूचन किया । इसपर यदि यह शङ्का हो कि विषयसुखके त्याग देनेपर ब्रह्मवित्को सुख न होनेसे उन्मत्तके समान उसकी स्थिति निष्फल ही होगी, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि 'रसको प्राप्त कर ही यह आनन्दी होता है' इस श्रुतिसे ब्रह्मनिष्ठामें स्थित रहनेवाले इस पुरुषको नित्य निरन्तर निरतिशय ब्रह्मसुख होता है, ऐसा कहते हैं—'**बाह्यस्पर्शेषु**' इत्यादिसे ।

जो आत्मतत्त्वज्ञ स्वयं बाह्यस्पर्शोंमें (मूढ़ों द्वारा आत्मासे पृथक् कल्पित पदार्थ बाह्य हैं, इन्द्रियोंसे जो छुये जाते हैं—ग्रहण किये जाते हैं—वे स्पर्श हैं, बाहरके स्पर्श बाह्यस्पर्श हैं, उन बाह्यस्पर्शोंमें यानी शब्दादि विषयोंमें और उनसे जन्य सुखोंमें) तुच्छत्वबुद्धिसे और बन्धकत्वबुद्धिसे असक्त—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥ २२ ॥

हे कौन्तेय, इन्द्रिय और विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले जो भोग हैं, वे उत्पत्ति और विनाशसे युक्त होनेके कारण दुःखके ही हेतु हैं, अतएव ज्ञानी पुरुष उनमें आसक्ति नहीं रखता ॥ २२ ॥

यस्य सोऽसक्तात्मा सन् तीव्रवैराग्येण मनसा विषयग्रहणमकुर्वन् गुहायां वा अन्यत्र रहसि समाहितो भूत्वाऽऽत्मनि बुद्ध्यादिसाक्षिणि प्रतीचि साक्षात्कृते सति यत्सुखमात्मसाक्षात्कारसंभूतं विन्दत्यनुभवति स एव ब्रह्मविद्ब्रह्मयोगयुक्तात्मा नामरूपग्रहणमकृत्वा चिदाकारवृत्त्या बहिरन्तः सर्वत्र ब्रह्ममात्रदर्शनं ब्रह्मयोगस्तस्मिन् सर्वत्र सदा ब्रह्मदर्शन एव युक्तो नियमित आत्मा मनो यस्य स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सन् व्युत्थानाव्युत्थानयोः सदा सर्वत्र ब्रह्मैवाऽऽनन्दैकरसं परिपूर्णं पश्यन् ततोऽधिकतरमक्षयं सदा सर्वत्राऽऽनन्दैकरसस्य ब्रह्मण एव बुद्धिवृत्तेर्विषयत्वाद्विच्छित्तिरहितं सुखं स्वरूपानन्दमश्नुते । सर्वत्र ब्रह्ममात्रदर्शनपरो ब्रह्मविद्यतिः सदानन्दो भवतीत्यर्थः । अत्राऽयमभिप्रायः । गुहादौ रहसि समाधिं कुर्वतः समाधिकाल एवाऽऽत्मानन्दानुभवः न तु सर्वदा सर्वत्र, ब्रह्मयोगयुक्तात्मनस्तु बहिरन्तः सदा सर्वत्र ब्रह्मानन्दानुभवो निरर्गल इति ॥ २१ ॥

ननु 'बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा' इत्युक्तिरनुपयुक्ता, ब्रह्मविदः काले विषयसुखमप्य-

---

अप्रवृत्त—है आत्मा—मन—जिसका, वह असक्तात्मा होकर तीव्र वैराग्यसे मनसे विषयोंका ग्रहण न करता हुआ गुहामें या अन्य कहीं एकान्तमें समाहित होकर बुद्धि आदिके साक्षी प्रत्यक् आत्माका साक्षात् करनेपर जिस सुखका—आत्मसाक्षात्कारसे उत्पन्न हुए सुखका—अनुभव करता है, वही ब्रह्मवित् ब्रह्मयोगयुक्तात्मा (नाम और रूपका ग्रहण न करके चिदाकारवृत्तिसे बाहर भीतर सर्वत्र ब्रह्ममात्रदर्शनमें ही युक्त—नियमित—है आत्मा—मन—जिसका वह ब्रह्मयोगयुक्तात्मा है) होकर व्युत्थान और अव्युत्थान दोनों दशाओंमें सदा सर्वत्र आनन्दैकरस परिपूर्ण ब्रह्मको ही देखता हुआ, उससे अधिकतर अक्षय—सदा सर्वत्र आनन्दैकरस ब्रह्म ही बुद्धिका विषय होनेसे नाशरहित—सुखको (स्वरूपानन्दको) भोगता है । सर्वत्र ब्रह्मदर्शनपरायण ब्रह्मवित् यति सदानन्दरूप होता है, यह अर्थ है । यहाँ यह अभिप्राय है—गुहा आदि एकान्तस्थलमें समाधि करनेवाले पुरुषको समाधिकालमें ही आत्मानन्दका अनुभव होता है, सदा सर्वत्र नहीं । ब्रह्मयोगयुक्तात्मा पुरुषको तो बाहर भीतर सदा सर्वत्र ब्रह्मानन्दका अनुभव विना रोक-टोकके होता है ॥ २१ ॥

'बाहरके विषयोंमें असक्त आत्मा' यह कथन उपयुक्त नहीं है, क्योंकि ब्रह्मवित्को समयपर विषयसुख भी होगा और ब्रह्मसुख तो है ही, ऐसी यदि आशङ्का हो, तो वह युक्त नहीं है,

स्तु सुखं ग्राह्यं चाऽप्यस्तीत्याशङ्कायाम्, न; विषयसुखस्याद्यन्तवत्त्वेन दुःखवत्त्वाद-ल्पत्वान्न तत्राऽऽत्मतत्त्वज्ञः प्रवर्तत इत्याह—ये हीति ।

हि यस्मात्कारणात्संस्पर्शजा इन्द्रियाणां विषयाणां च संस्पर्शः परस्परसंयोगस्तस्मादेव जायन्त इति संस्पर्शजा इन्द्रियार्थसंपर्कसंभाविता ये भोगाः विषयसुखानि ते आद्यन्तवन्त उत्पत्तिविनाशवन्तः । अत एवाऽनित्याः क्षणिका इत्यर्थः । संस्पर्शजा इति जन्यत्वहेतुनैवाऽनित्यत्वे सिद्धे पुनराद्यन्तवन्त इति वचनं निरर्थकमिति न मन्तव्यम्; तार्किकैः प्रध्वंसाभावस्य जन्यत्वं नित्यत्वं चाऽङ्गीकृतम् । मीमांसकैरपि 'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतम्' इति तज्जन्यसुखस्याऽप्यक्षयत्वमुररीकृतम्, तन्निरसितुमाद्यन्तवन्त इत्युक्तम् । तेन विषयसुखस्य क्षणिकत्वमल्पत्वं च प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धं विषयेन्द्रियसंयोगात्पूर्वं तद्वियोगात्पश्चाच्च सुखादर्शनात् । ये आद्यन्तवन्तो भोगास्ते दुःखयोनयो दुःखहेतव एव भवन्ति । स्वकारणनाशे स्वनाशे स्वकारणासिद्धौ स्वासिद्धौ च यस्माद् दुःखमेव प्रयच्छन्ति तदिदं सर्वलोकप्रसिद्धं तस्माद् विषयसुखस्य सापेक्षत्वं क्षणिकत्वमल्पत्वं दुःखदत्वं च विज्ञाय बुधो ब्रह्मवित्तेषु विषयसुखेषु न रमते रतिं न करोति । भुक्तिदशायामपि स्वयं स्वदृष्ट्या ब्रह्मानन्दामृतरसमेव पिबति न बाह्यमनुसंधत्त इत्यर्थः ॥ २२ ॥

क्योंकि विषयसुख आदि और अन्तवाला होनेसे दुःखरूप है, अल्प है और तुच्छ है, इसलिए आत्मतत्त्वज्ञ पुरुष उसमें प्रवृत्त नहीं होता, ऐसा कहते हैं—'ये हि' इत्यादिसे ।

जिस कारणसे संस्पर्शज (इन्द्रियोंके और विषयोंके संस्पर्शसे—परस्पर संयोगसे—जो उत्पन्न होते हैं, वे संस्पर्शज हैं यानी इन्द्रियोंके और विषयोंके सम्पर्कसे उत्पन्न) जो भोग—विषयसुख—हैं, वे आदि और अन्तवाले यानी उत्पत्ति और विनाशवाले हैं; इसीलिए अनित्य अर्थात् क्षणिक हैं, यह अर्थ है । 'संस्पर्शजा' ऐसा कहनेसे जब जन्यत्वहेतुसे ही अनित्यत्व सिद्ध है, तब 'आदि और अन्तवाले' यह कथन निरर्थक ही है, ऐसा नहीं समझना चाहिए, क्योंकि तार्किकोंने प्रध्वंसाभावमें जन्यत्व और नित्यत्वका अङ्गीकार किया है । मीमांसकोंने 'चातुर्मास्यका यजन करनेवाले पुरुषोंका पुण्य अक्षय्य है' इस प्रकार चातुर्मास्य यागजन्य सुखमें भी अक्षयत्व माना है, इसका निराकरण करनेके लिए 'आदि और अन्तवाले', ऐसा कहा है । इससे विषयसुखमें क्षणिकत्व और अल्पत्व प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे सिद्ध है, क्योंकि विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे पहले और वियोगसे पीछे सुख देखनेमें नहीं आता । आदि और अन्तवाले जो भोग हैं, वे दुःखयोनि—दुःखके हेतु—ही होते हैं । यतः अपने कारणका और अपना नाश होनेपर एवं अपने कारणके और अपने असिद्ध होनेपर दुःख ही देते हैं, यह सबपर विदित है, इसलिए विषयसुखमें सापेक्षत्व, क्षणिकत्व, अल्पत्व और दुःखदायकत्वको जानकर ब्रह्मवित् पण्डित उन विषयसुखोंमें नहीं रमता यानी रति नहीं करता । भोगनेके समयमें भी स्वयं अपनी दृष्टिसे ब्रह्मानन्द अमृतरसको ही पीता है, बाहरका अनुसन्धान नहीं करता, यह भाव है ॥ २२ ॥

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥ २३ ॥

यहीं वर्तमान शरीरके छूट जानेके पहले ही जो काम और क्रोधसे जायमान वेगको सह सकता है, वही पुरुष योगी है और वही सुखी है ॥ २३ ॥

ननु सर्वं ब्रह्मैव पश्यतो ब्रह्मनिष्ठानिर्धूतकषायस्याऽऽत्मारामस्य सिद्धस्य सुखेच्छया विषयेषु प्रवृत्तिर्माऽस्तु, अभ्यासिनस्त्विष्टेऽप्यनिष्टेऽपि कामः क्रोधस्ताभ्यां प्रवृत्तिर्निवृत्तिश्च स्यातामेवेत्याशङ्कायाम्, न; तस्याऽपि मुमुक्षोः प्रयत्नेन तौ परिहर्तव्यावेव कामक्रोधजयेनैव शमादयः श्रवणं ज्ञानं मोक्षस्तत्सुखं च सिध्यति नाऽन्यथेत्याशयेनाऽऽह—शक्नोतीति ।

स्मृते श्रुते दृष्टे प्राप्ते च भोग्यपदार्थे या भोगेच्छा सत्वरा स कामः । यः शिष्टमपि भ्रष्टयति वृद्धमपि गर्धयत्यनुपतापिनमपि सन्तापयति । अप्रियवस्तुनि स्मृते श्रुते दृष्टे च सति मनःक्षोभको यो द्वेषपरिपाकः स क्रोधः यः स्वाश्रयं वह्निरिव दहति गुरुमपि हिंसति । ताभ्यां कामक्रोधाभ्यां सम्यगुद्भव उत्पत्तिर्यस्य तं कामक्रोधसमुद्भवं वेगं कामक्रोधयोरुद्रेकं शरीरविमोक्षणात् प्रागेव विद्यमानदेहस्य पतनात् पूर्वमेव । यौवनकाल एवेति यावत् । यो मुमुक्षुस्तितिक्षया तीव्रमोक्षेच्छासमुत्पन्नया सोढुं शक्नोति । कामक्रोधौ निर्जित्य शान्तो दान्तो भवितुमर्हतीत्यर्थः । स नरो मोक्षार्थी श्रवणादिना ज्ञानं संपाद्य

सब ब्रह्म ही है, ऐसा देखनेवाले, ब्रह्मनिष्ठासे जिसके राग-द्वेष आदि कषाय नष्ट हो गये हैं ऐसे आत्माराम पुरुषकी सुखकी इच्छासे विषयोंमें प्रवृत्ति भले ही न हो, अभ्यासीकी तो इष्टमें और अनिष्टमें काम और क्रोधके कारणसे प्रवृत्ति और निवृत्ति होगी ही, ऐसी यदि आशङ्का हो, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि उस मुमुक्षुको भी प्रयत्नपूर्वक उन दोनोंका परिहार करना चाहिए, क्योंकि कामक्रोधके जीतनेसे ही शमादि, श्रवण, ज्ञान, मोक्ष और मोक्षका सुख सिद्ध होता है, अन्य प्रकारसे नहीं, इस आशयसे कहते हैं—'शक्नोती०' इत्यादिसे ।

भोग्य पदार्थोंके स्मरण करने, सुनने, देखने और प्राप्त होने पर जो शीघ्र भोगनेकी इच्छा होती है, वह काम है, जो शिष्टको भी भ्रष्ट कर देता है, वृद्धको भी लोभी बना देता है, सन्तापरहितको भी सन्तप्त कर देता है । अप्रिय वस्तुके स्मरण करने, सुनने और देखने पर मनको क्षुब्ध करनेवाला जो द्वेषका परिपाक है, वह क्रोध है, जो अपने आश्रयको अग्निके समान जलाता है, गुरुकी भी हिंसा करता है । उन काम और क्रोध दोनोंसे जिसका सम्यक् उद्भव—उत्पत्ति—है, उस कामक्रोधसे उत्पन्न हुए वेगको—कामक्रोधके उद्रेकको—शरीर छूटनेसे पहले ही—विद्यमान देहके पतनसे पहले ही—अर्थात् यौवनकालमें ही जो मुमुक्षु तीव्रमोक्षकी इच्छासे उत्पन्न हुई तितिक्षासे सह सकता है । कामक्रोधको जीतकर शान्त और दान्त बननेके लिए जो योग्य होता है, यह भाव

युक्तो योगी सुखी च ब्रह्मानन्दी भवितुं शक्नोतीत्यर्थः । अत्राऽयमभिप्रायः 'दुर्लभो मानुषो देहो ब्राह्मो देहः सुदुर्लभः । ब्राह्मं देहं समासाद्य येन मुक्त्यै न यत्यते ॥ सुमेरोरग्रमासाद्य स्वदेहं पातयत्यधः । तमेव पतितं विद्युर्जातिभ्रष्टं महर्षयः ॥' इति न्यायेन ब्राह्मं मोक्षसंपादनयोग्यं देहं प्राप्य कामक्रोधपरवशो भूत्वा पतितश्चेत्पुनरुक्तलक्षणो देहो दुष्प्रापस्ततो मुमुक्षोर्विवेकवैराग्याभ्यां यौवने पूर्वे वयसि कामादिशत्रून्विजित्य प्रयत्नेनेदानीमेव मोक्षः संपादनीय इति । यद्वा इहैवाऽस्मिन्नेव जन्मनि मोक्षं प्राप्तुमिच्छया शरीरविमोक्षणात् । अत्र शरीरपदेन तदाश्रितगार्हस्थ्यं लक्ष्यते । तस्य विमोक्षणात्संन्यासात्प्रागेव यो मुमुक्षुर्नरो विवेकवैराग्याभ्यां कामक्रोधोद्भवं वेगं सोढुं शमयितुं शक्नोति स एव शमदमादिसाधनसंपन्नः सन् श्रुत्या मत्या च ज्ञानं सपाद्य युक्तो ब्रह्मयोगयुक्तो भवितुं सुखी ब्रह्मानन्दी च भवितुमर्हति, न तु कामक्रोधजयमकृत्वा संन्यस्य श्रवणादिना ज्ञानं तत्फलं ब्रह्मण्यात्मभावं मोक्षसुखं च प्राप्तुं शक्नोतीत्यर्थः ॥ २३ ॥

नित्यानित्यविवेकवैराग्यतीव्रमोक्षेच्छाभिः सर्वं संन्यस्य शमाद्यन्तरङ्गसाधनसंपत्त्या श्रुत्वा मत्वा च ताभ्यां समुत्पन्नात्मविज्ञानो यो यतिः स स्वयं विदेहकैवल्यार्थी सन्नेव

है । वह मोक्षार्थी नर श्रवणादिसे ज्ञानका संपादन करके युक्त—योगी—और सुखी—ब्रह्मानन्दी—हो सकता है । यहां यह अभिप्राय है—'मानुष शरीर दुर्लभ है, उसमें ब्राह्मणका शरीर तो बहुत ही दुर्लभ है, ब्राह्मणके शरीरको प्राप्त करके जो मुक्तिके लिए यत्न नहीं करता, वह सुमेरुके शिखर पर चढ़कर अपनी देहको नीचे गिरा देता है, उसको ही महर्षि पतित और जातिभ्रष्ट जानते हैं।' इस न्यायसे मोक्षका संपादन करने योग्य ब्राह्मणदेहको पाकर कामक्रोधके परवश होकर मोक्षके लिए यत्न न किया, तो पीछे उक्त लक्षणवाला देह प्राप्त होना कठिन है, इसलिए मुमुक्षुको विवेक और वैराग्यसे यौवनमें—बुढ़ापेसे पहले—काम आदि शत्रुओंको जीतकर प्रयत्नपूर्वक अभी ही मोक्षका संपादन करना चाहिए। अथवा यहीं--इसी जन्ममें ही—मोक्षप्राप्तिकी इच्छासे शरीर छूटनेसे (यहाँ शरीर-शब्दका उसके आश्रित गार्हस्थ्य लक्ष्य अर्थ है, उसके छूटनेसे) पहले--संन्याससे पहले ही जो मुमुक्षु नर विवेक-वैराग्यसे काम और क्रोधसे उत्पन्न हुए वेगको सह सकता है यानी शान्त कर सकता है, वही शमदमादिसाधनसंपन्न होकर श्रवण और मननसे ज्ञानका संपादन करके युक्त—ब्रह्मयोगयुक्त—और सुखी--ब्रह्मानन्दी—होनेके योग्य होता है । काम-क्रोधको न जीतकर सन्यास करके श्रवणादिसे ज्ञान और ज्ञानके फलको यानो ब्रह्ममें आत्मभावको और मोक्षसुखको प्राप्त नहीं कर सकता, यह भाव है ॥ २३ ॥

नित्यानित्यका विवेक, वैराग्य और तीव्र मोक्षेच्छासे सबका संन्यास कर शमादि अन्तरङ्ग साधनसंपत्तिपूर्वक श्रवण और मनन करके, उन दोनोंसे जिसको आत्मविज्ञान उत्पन्न हुआ है, वह यति यदि स्वयं विदेहकैवल्यार्थी होकर ब्रह्मनिष्ठासे ही स्थित होता है, तो मुक्तिको प्राप्त होता

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथाऽन्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ २४ ॥

जो ब्रह्मवित् यति अपनी आत्मामें ही सुख माननेवाला, आत्मामें रमण करनेवाला, आत्मामें अन्तःकरणको स्थिर करनेवाला है वह योगी स्वयं ब्रह्मभूत होकर ब्रह्मनिर्वाणको प्राप्त होता है ॥ २४ ॥

ब्रह्मनिष्ठया तिष्ठति चेन्मुक्तिं गच्छति नाऽन्यथेति सूचयितुमाह—योऽन्तरिति ।

योगी श्रवणमननाभ्यां समुत्पन्नात्मज्ञानपरिपाकाय समाधिनिष्ठायां प्रवृत्तो यो ब्रह्मविद्यतिः स सदान्तर्ज्योतिरेव भवेत् । एवशब्दः सर्वत्र संबध्यते । 'सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा' इति श्रवणादन्तःशब्देनाऽत्र सर्वान्तरत्वादात्मेत्युच्यते । मनोज्योतिरिति श्रवणाज्ज्योतिःशब्देन मन उच्यते । अन्तरात्मन्येव ज्योतिर्मनो यस्य सोऽन्तर्ज्योतिरेव भवेन्न कचिद्वाह्यज्योतिः सदा सर्वत्राऽऽत्मानमेव पश्येन्न तु बाह्यमित्यर्थः । अन्तरारामः अन्तरात्मन्येवाऽऽरमणमहंबुद्धेः क्रीडनं यस्य सोऽन्तरारामो न कचिदनात्मारामः सदात्मन्येवाऽहंबुद्धिमान् भवेन्न कचिदप्यनात्मनीत्यर्थः । योऽन्तःसुखः सदात्मन्येव साधनानपेक्षं सुखमात्मीयं यस्य सोऽन्तःसुखः सदात्मनैव सन्तुष्येदित्यर्थः । स योगी स्वयमेव निरन्तरब्रह्मनिष्ठया ब्रह्मभूतः निःशेषतया देहात्मभावं परित्यज्य ब्रह्मण्येवाऽऽत्मभावं गतः सन् ब्रह्मनिर्वाणं विदेहकैवल्यसुखं गच्छति । उक्तलक्षणसंपन्न एव विदेहमुक्तिं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ २४ ॥

है, अन्य प्रकारसे नहीं, यह सूचन करनेके लिए कहते हैं—'योऽन्त०:' इत्यादिसे ।

योगी—श्रवण और मननसे उत्पन्न हुए आत्मज्ञानके परिपाकके लिए समाधिनिष्ठामें प्रवृत्त हुआ जो ब्रह्मवित् यति—है, वह सदा अन्तर्ज्योति होता है । 'एव'शब्दका सर्वत्र संबन्ध है । 'सबसे ही अन्तरतर जो यह आत्मा है' ऐसी श्रुति है, अतः अन्तःशब्दसे यहां सबसे भीतर होनेके कारण आत्मा कहा जाता है । 'मनो ज्योतिः' ऐसी श्रुति है, अतः ज्योतिःशब्दसे मन कहा जाता है । अन्तरात्मामें ही ज्योति (मन) जिसका है, ऐसा अन्तर्ज्योति ही होवे, कभी बाह्यज्योति न होवे यानी सदा सर्वत्र आत्माको ही देखे, बाह्यको नहीं, यह अर्थ है। अन्तराराम (अन्तरात्मामें ही आरमण—अहंबुद्धिका क्रीडन—जिसका है, वह अन्तराराम है) हो, कहीं अनात्माराम न हो, सदा आत्मामें ही अहंबुद्धिवाला होवे, अनात्मामें कभी नहीं, यह अर्थ है । अन्तःसुख—सदा आत्मामें ही साधनकी अपेक्षाके बिना आत्मीय सुख जिसका है, ऐसा अन्तःसुख होवे, सदा आत्मामें ही सन्तुष्ट हो, यह भाव है । वह योगी स्वयं ही निरन्तर ब्रह्मनिष्ठासे ब्रह्मभूत निःशेषरूपसे देहात्मभावका त्याग कर ब्रह्ममें ही आत्मभावको प्राप्त होकर ब्रह्मनिर्वाणको—विदेहकैवल्यसुखको—प्राप्त होता है । उक्त लक्षणसे संपन्न पुरुष ही विदेहमुक्तिको प्राप्त होता है, यह अर्थ है ॥ २४ ॥

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ २५ ॥

जिनके पाप क्षीण हो गये हैं, जिनके सम्पूर्ण संशय नष्ट हो गये हैं, जिन्होंने अपने मनको वशमें कर लिया है एवं जो सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत हैं, वे ऋषि विदेह-कैवल्यको प्राप्त होते हैं ॥ २५ ॥

प्रक्षीणकल्मषत्वाच्छिन्नद्वैधत्वयतात्मत्वादिधर्मविशिष्टा भूत्वा सदाऽऽत्मन्येव ये रमन्ते त एव विदेहमुक्तिं गच्छन्तीत्याह—**लभन्त इति** ।

यतात्मानः यतः संयमितः बाह्यप्रवणतावैमुख्यं गमित आत्मा मनो येषां ते यतात्मानः सर्वथा निरुद्धान्तरङ्गा भूत्वा सर्वभूतहिते 'तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा' इति श्रवणादानन्दरूपत्वाच्च सर्वेषां ब्रह्मादिस्तम्बान्तानां भूतानामात्मैव प्रियो हितस्तस्मिन् सर्वभूतात्मनि स्वात्मनि ब्रह्मण्येव रता निरता ये ऋषयो यतयो भवन्ति । ये सदात्मन्येव रमन्ते ते सदात्मनिष्ठया क्षीणकल्मषाः क्षीणं निःशेषक्षयं गतं कल्मषं मनःकषायरूपं वासनाशब्दितं येषां ते क्षीणकल्मषाः ब्रह्मयोगनिष्ठा निर्धूतान्तःकरणदोषा अत एव समुत्पन्नात्मयाथात्म्यविज्ञानेन छिन्नद्वैधाः अर्थस्य द्वैधात्वमवलम्ब्य जायन्त इति द्वैधाः संशयाः स्थाणुत्वपुरुषत्वबुद्ध्योरेकत्र समावेशे खलु संशयो जायते स्थाणुर्वा पुरुषो वेत्येवमेवाऽत्राप्यर्थज्ञानद्वैविध्यमवलम्ब्य संशया जायन्ते तत्कथमिति चेद्, उच्यते—आत्मा चिद्रूपो वाऽ-

---

कल्मषके प्रक्षीण हो जानेसे, छिन्नद्वैधत्व, यतात्मत्व आदि धर्मोंसे विशिष्ट होकर सदा आत्मामें ही जो रमण करते हैं, वे ही विदेहमुक्तिको प्राप्त होते हैं, ऐसा कहते हैं—'**लभन्ते**' इत्यादिसे ।

यतात्मा (वशमें हो गया है—जीत लिया गया है यानी बाहर घूमनेसे विमुख कर दिया गया है आत्मा—मन जिनका वे यतात्मा सर्वथा निरुद्धान्तरङ्ग होकर सर्वभूतोंके हितमें—'वह यह प्रिय, पुत्रसे प्रिय, धनसे प्रिय, अन्य सबसे प्रिय है, जो यह आत्मा अन्तरतर है' इस श्रुतिसे और आनन्दरूप होनेसे ब्रह्मासे लेकर स्तम्ब तक सब भूतोंका प्रिय आत्मा ही हित है, उस सब भूतोंके आत्मा, अपने आत्मा ब्रह्ममें ही रत—निरत जो ऋषि—यति होते हैं । जो सदा आत्मामें ही रमण करते हैं, वे सदात्मनिष्ठासे क्षीणकल्मष—क्षीण—निश्शेष नष्ट हो गया है कल्मष—मनका कषाय—वासनानामक जिनका, वे क्षीणकल्मष ब्रह्मयोगनिष्ठासे जिनके अन्तःकरणके दोष धुल गये हैं, इसीलिए उत्पन्न हुए आत्मयाथात्म्यविज्ञानसे छिन्नद्वैधा—अर्थके द्वैधत्वका अवलम्बन करके जो उत्पन्न होते हैं, वे द्वैध—संशय—हैं स्थाणुत्व और पुरुषत्वकी बुद्धिका एकत्र समावेश होनेपर अवश्य संशय होता है—स्थाणु है या पुरुष, इसी प्रकार यहां भी दो प्रकारके अर्थज्ञान लेकर संशय उत्पन्न होते हैं । वह कैसे ? यह पूछो तो कहते हैं—आत्मा चिद्रूप है या अचिद्रूप, चिद्रूप होनेपर भी नित्य है या

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥ २६ ॥

काम और क्रोधसे रहित, चित्तको वशमें रखनेवाले आत्मज्ञ यतियोंको जीवित-दशा और विदेहदशा—दोनोंमें ब्रह्मानन्दका अनुभव होता है ॥ २६ ॥

चिद्रूपो वा, चिद्रूपत्वेऽपि नित्यो वाऽनित्यो वा, नित्यत्वेऽपि देहेन्द्रियादिभ्यो भिन्नो वाऽभिन्नो वा, भिन्नत्वेऽपि देहादिभिः संसृष्टो वा न वा, असंसृष्टत्वेऽपि स्वयं कर्तृत्वादिधर्मविशिष्टो वा न वा, कर्तृत्वादिधर्मवैशिष्ट्याभावेऽपि स्वयमसङ्गो वा न वा, असङ्गत्वेऽपि देहादिकृतकर्मभिर्लिप्यते वा न वा, कर्मलेपाभावेऽपि स्वयं ब्रह्माऽभिन्नत्वेऽपि ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं ममोत्पन्नं वा न वा, उत्पन्नत्वेऽपि तज्ज्ञानं यथार्थं वाऽयथार्थं वा, यथार्थत्वेऽपि मुक्तेः साधकं वाऽसाधकं वा, मुक्तिसाधकत्वेऽपि मम जीवन्मुक्तिरस्ति वा न वा, तत्सत्त्वेऽपि विदेहमुक्तिः सिध्यति वा न वेत्येवमादयः संशयाः पूर्वोक्तज्ञानेन छिन्ना विनष्टा द्वैधा येषां ते छिन्नद्वैधाः सन्तो ब्रह्मनिर्वाणं विदेहकैवल्यं लभन्ते प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ॥ २५ ॥

कामक्रोधराहित्येन सदात्मनिष्ठया तिष्ठतामेव यतीनां जीवन्मुक्तिसुखं विदेहमुक्तिसुखं च सिध्यति नेतरेषामित्याशयेनाऽऽह—**कामक्रोधवियुक्तानामिति** ।

काम इच्छाविशेषः वस्तुष्विष्टताबुद्ध्या मनसो बहिःप्रवृत्तिहेतुः । कामव्याघाते

अनित्य, नित्य होनेपर भी देह, इन्द्रिय आदिसे भिन्न है या अभिन्न, भिन्न होनेपर भी देहादिसे सम्बद्ध है या नहीं, असम्बद्ध होनेपर भी कर्तृत्व आदि धर्मोंसे विशिष्ट है या नहीं, कर्तृत्व आदि धर्मोंसे विशिष्ट न होनेपर भी स्वयं असङ्ग है या नहीं, असङ्ग होनेपर भी देहादि द्वारा किये गये कर्मोंसे लिप्त होता है, या नहीं, कर्मका लेप न होनेपर भी स्वयं ब्रह्मसे अभिन्न है, या नहीं, ब्रह्मसे अभिन्न होनेपर भी मुझको ब्रह्मात्माके एकत्वका विज्ञान उत्पन्न हुआ है, या नहीं ? उत्पन्न होनेपर भी वह ज्ञान यथार्थ है या अयथार्थ, यथार्थ होनेपर भी मुक्तिका साधक है या असाधक ? मुक्तिका साधक होनेपर भी मेरी जीवन्मुक्ति है या नहीं ? उसके होनेपर भी विदेहमुक्ति सिद्ध होती है या नहीं इत्यादि संशय होते हैं । पूर्वोक्त ज्ञानसे छिन्न—विनष्ट—हो गये हैं द्वैध जिनके, वे छिन्नद्वैध होकर ब्रह्मनिर्वाणको—विदेहकैवल्यको प्राप्त होते हैं—यह अर्थ है ॥ २५ ॥

काम क्रोधसे रहित होकर सदा आत्मनिष्ठासे स्थित होनेवाले यतियोंको ही जीवन्मुक्तिका सुख और विदेहमुक्तिका सुख सिद्ध होता है, दूसरोंको नहीं, इस आशयसे कहते हैं—'**कामक्रोध०**' इत्यादिसे ।

काम—इच्छाविशेष है, जो वस्तुओंमें इष्टताबुद्धिसे मनकी बाहर प्रवृत्तिमें हेतु है । कामका

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवाऽन्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥ २७ ॥

बाह्य विषयोंको मनसे हटा कर, दृष्टिको दोनों भौंहोंके बीचमें रख कर तथा नासिकाके भीतर संचार करनेवाले प्राण और अपानको सम कर जो इन्द्रिय, मन और

जायमाने वस्तुन्यनिष्टताबुद्ध्या मनसो बहिःप्रवृत्तेरेव हेतुर्बुद्धिवृत्तिविशेषः क्रोधः । एतद्द्वयमेव श्रवणमननसमाधिविच्छित्तेः परमकारणं तद्वतो ज्ञानं न सिध्यति समाधिश्च । ताभ्यां समाधौ विच्छिन्ने सति सम्यग् ज्ञानं शतधा श्रुतवतोऽपि न संभवति, तदभावे मोक्षाभावस्ततो मुमुक्षोः समाधित्सोर्यतेः कामक्रोधराहित्येनाऽवश्यं भवितव्यमिति सूचयितुं पुनः पुनरुक्तमपि कामक्रोधपरित्यागं तदविस्मरणाय स्मारयति— **कामक्रोधवियुक्तानामिति** । कामक्रोधाभ्यामुक्तलक्षणाभ्यां वियुक्तानामेव यतीनां शान्तानां यतचेतसां सर्वात्मनि प्रत्यगभिन्ने ब्रह्मण्येव यतं नियमेन स्थापितं चेतो येषां तेषां सर्वदा ब्रह्मण्येव तिष्ठतामत एव विदितात्मनामयमेवाऽहमिति साक्षात्स्वात्मत्वेन विदितः सर्वात्मक आत्मा निर्विशेषः परमात्मा यैस्तेषां सम्यग्विदितात्मतत्त्वानामेव ब्रह्मविदामभित उभयतो जीवद्दशायां विदेहदशायां च ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मानन्दानुभूतिर्वर्तते सिध्यतीत्यर्थः । एतेन कामक्रोधादिकं विक्षेपकारणं दूरतस्त्यक्त्वा समाधिनिष्ठायामेव तिष्ठतो यतेः सम्यग्ज्ञानं तत्फलं मोक्षश्च सिध्यतीति सूचितं भवति ॥ २६ ॥

संयतात्मनामिति सम्यग्ज्ञानसिद्धेस्तत्फलसिद्धेश्च समाधिः परमकारणमिति सूच-

---

व्याघात होनेपर वस्तुमें अनिष्टताबुद्धिसे मनकी बाह्य प्रवृत्तिका हेतुभूत बुद्धिवृत्तिविशेष ही क्रोध है—ये दोनों ही श्रवण, मनन और समाधिके विनाशमें परम कारण हैं। उन दोनोंसे युक्त पुरुषको ज्ञान नहीं होता और उसकी समाधि भी सिद्ध नहीं होती। उनसे समाधिके विच्छिन्न होनेपर सैकड़ों बार श्रवण करनेवालेको भी सम्यक् ज्ञान नहीं होता, उसके न होनेसे मोक्ष नहीं होता, इसलिए समाधिकी इच्छावाले मुमुक्षु यतिको अवश्य काम और क्रोधसे रहित होना चाहिए, ऐसा सूचन करनेके लिए बार-बार कहे गये भी काम-क्रोधके परित्यागका, विस्मरण न हो, इसलिए, स्मरण कराते हैं—**कामक्रोधवियुक्तानामिति** । उक्त लक्षणवाले कामक्रोधसे रहित शान्त यतचेतस्—सबके आत्मभूत प्रत्यक्से अभिन्न ब्रह्ममें यत—नियमसे स्थापित जिनका चित्त है, वे यतचेतस् यानी सदा ब्रह्ममें स्थित रहनेवाले, इसीलिए विदितात्मा (यही मैं हूँ, इस प्रकार अपने आत्मरूपसे सर्वात्मक आत्मा—निर्विशेष परमात्मा—जिन्होंने जान लिया है, उन सम्यक् आत्मतत्त्व जाननेवाले ब्रह्मवेत्ता) यतियोंको ही अभितः—उभयतः—यानी जीवितदशा और विदेहदशा दोनोंमें ब्रह्मनिर्वाण—ब्रह्मानन्दका अनुभव—होता है, यह भाव है । इससे यह सूचित होता है कि विक्षेपके कारण काम, क्रोध आदिका दूरसे ही त्याग कर समाधिनिष्ठामें ही स्थित होनेवाले यतिको सम्यग्ज्ञान और उसका फल (मोक्ष) प्राप्त होता है ॥ २६ ॥

'संयतात्मनाम्' इससे सम्यक् ज्ञानकी और उसके फलकी सिद्धिका परम कारण समाधि है,

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥ २८ ॥

बुद्धिको अपने वशमें करता है, वह मोक्षपरायण, इच्छा, भय एवं क्रोधसे रहित मुनि सदा मुक्त ही है ॥ २७,२८ ॥

यित्वा तमेव समाधियोगं ससाधनमुपदिदिक्षुस्तस्य सूत्रभूतं श्लोकत्रयमाह । तत्राऽऽदौ श्लोकद्वयेन निदिध्यासोरन्तरङ्गसाधनानि षट् कर्तव्यान्युपदिशति—**स्पर्शानिति** ।

आत्मनो बहिरेव भ्रान्त्या कल्पिता बाह्यास्तान् बाह्यान् स्पर्शान् शब्दादिविषयान् बहिः कृत्वा बहिर्देशे एव संस्थाप्य । मनसा न किंचित्स्मृत्वेत्यर्थः । इतस्ततो दर्शनं यथा न स्यात्तथा भ्रुवोरन्तरे चक्षुर्दृष्टिं कृत्वा तथा नासाभ्यन्तरचारिणौ प्राणापानौ च समौ साम्यावस्थापन्नौ हृदये कृत्वा केवलं कुम्भकं कुर्वन्नित्यर्थः । पापक्षयार्थं मनोनैश्चल्यार्थं केवलकुम्भकं मुमुक्षोः कर्तव्यम् । यतेन्द्रियमनोबुद्धिः इन्द्रियाणि च मनश्च बुद्धिश्चेन्द्रियमनोबुद्धयः यताः संयताः स्वस्वविषयवैमुख्यं गमिता यस्य स यतेन्द्रियमनोबुद्धिः । इन्द्रियैर्विषयग्रहणं मनसा विषयचिन्तनं बुद्ध्याऽऽवेशात्प्राप्तस्याऽप्यर्थस्य ग्रहणमकुर्वन्नित्यर्थः । विगतेच्छाभयक्रोधः इच्छा च भयं च क्रोधश्च इच्छाभयक्रोधाः विशिष्य बुद्धिं परित्यज्य गता विगता इच्छाभयक्रोधा यस्य स विगतेच्छाभयक्रोधो भूत्वा यस्मिन् कस्मिन् विषये इच्छायां सत्यां समाधिर्न सिध्यति

ऐसा सूचन करके साधनसहित उसी समाधियोगका उपदेश करनेकी इच्छावाले भगवान् उसके सूत्ररूप तीन श्लोकोंको कहते हैं, उसमें पहले दो श्लोकोंसे निदिध्यासन करनेवालेको छः अन्तरङ्ग साधनोंका अनुष्ठान करना चाहिए, ऐसा उपदेश देते हैं—**'स्पर्शान्'** इत्यादिसे ।

आत्मासे बाहर ही भ्रान्तिसे कल्पित पदार्थ बाह्य हैं, उन बाह्य स्पर्शोंको—शब्दादि विषयोंको—बाहर करके (बाहरही रख करके) मनसे किसी प्रकार भी उनका स्मरण न करके, यह अर्थ है । इधर उधरके दर्शनको छोड़कर भौंहोंके बीचमें चक्षु—दृष्टि—करके, तथा नासिकाके भीतर चलनेवाले प्राण और अपान दोनोंको हृदयमें सम—साम्यावस्थापन्न—कर—केवल कुम्भक करता हुआ, यह अर्थ है । पापोंका क्षय और मनकी निश्चलताके लिए मुमुक्षुको केवल कुम्भक करना चाहिए। यतेन्द्रियमनोबुद्धि (इन्द्रियां, मन और बुद्धि—ये तीन यत—संयत हो गये हैं—अपने अपने विषयसे विमुख हो गये हैं, जिसके, वह यतेन्द्रियमनोबुद्धि है), इन्द्रियोंसे विषयका ग्रहण, मनसे विषयका चिन्तन एवं बुद्धिसे आवेश द्वारा प्राप्त भी विषयोंका ग्रहण न करता हुआ, यह भाव है । विगतेच्छाभयक्रोध (विशेषरूपसे बुद्धिका त्याग कर चले गए हैं इच्छा, भय और क्रोध जिसके वह विगतेच्छाभयक्रोध है), किसी विषयपर इच्छा होनेसे समाधि सिद्ध नहीं होती । यदि दिन एवं रातमें, वन और गुहा आदिमें प्राणियोंसे भय रहता हो, तो समाधि

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥ २९ ॥
इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-
संवादे संन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

[निदिध्यासन करनेवाला यति] यज्ञ और तपके भोक्ता, सम्पूर्ण लोकोंके महेश्वर, सम्पूर्ण प्राणियोंके सुहृत् मुझको जानकर परम शान्तिको प्राप्त होता है ॥ २९ ॥

दिवारात्रावरण्ये गुहादौ प्राणिभ्यो भयमस्ति चेत्समाधिर्न सिध्यति मशकपिपीलिकादिष्वपकारिषु च क्रोधो हृद्यस्ति चेत्समाधिर्न सिध्यत्यत एव तत्त्रितयं निदिध्यासुः परित्यजेदित्यर्थः । किञ्च, मोक्षपरायणः प्रयत्नेन कर्तव्यं कार्यं सर्वं परित्यज्य तीव्रमोक्षेच्छया मोक्षसाधनैकनिष्ठः स मोक्षपरायणः सन् यो मुमुक्षुः सर्वं संन्यस्य सदा मुनिर्भवति मुनिर्मननशीलः मननं वस्तुध्यानं नियमेन तदेव करोतीति मुनिः यः सदा मुनिरेव भवति स एव मुक्तो भवति नाऽन्यः शतधा कृतश्रवणोपीऽति द्वयोरर्थः ॥ २७ ॥ २८ ॥

श्लोकद्वयेन ध्यातुः साधनं ध्यातारं च निरूप्येदानीं तृतीयेन तस्य ध्येयं वस्तु निरूपयति—**भोक्तारमिति** ।

उक्तसाधनसंपन्नो निदिध्यासुर्यतिर्यज्ञतपसां यज्ञानां श्रौतानां स्मार्तानां तपसां सत्यश्रुतशान्त्यादीनामन्येषां च कर्मणां यत्फलं तस्य भोक्तारमात्मानमुपाधितद्धर्मसंबन्धरहितं स्वं सर्वभूतानां ब्रह्मादिस्तम्बान्तानामात्मत्वात्सुहृदं प्रेष्ठतमम् । यद्वा सर्व-

---

सिद्ध नहीं होती, यदि मच्छर चींटी आदि अपकारियोंपर हृदयमें क्रोध हो, तो समाधि सिद्ध नहीं होती, इसलिए निदिध्यासु उन तीनोंका त्याग कर दे । किञ्च, मोक्षपरायण—प्रयत्नपूर्वक सब कर्तव्य कर्मोंका त्याग कर तीव्र मोक्षकी इच्छासे मोक्षके साधनोंमें ही निष्ठावाला—होकर जो मुमुक्षु सबका संन्यास करके सदा मुनि होता है । मुनि यानी मननशील । मननको—वस्तुके ध्यानको—ही नियमसे जो करता है, वह मुनि है । जो सदा मुनि ही होता है, वही मुक्त होता है, दूसरा सैकड़ों वार श्रवण करनेपर भी मुक्त नहीं होता, यह दोनोंका भाव है ॥ २७ ॥ २८ ॥

दो श्लोकोंसे ध्याताके साधनका और ध्याताका निरूपण करके अब तीसरे श्लोकसे ध्येय वस्तुका निरूपण करते हैं—'**भोक्तारम्**' इत्यादिसे ।

उक्त साधनसम्पन्न निदिध्यासन करनेवाला यति श्रौत, स्मार्त यज्ञोंका तथा सत्य, श्रुत, शान्ति आदि तपोंका एवं अन्य कर्मोंका जो फल है, उसके भोक्ता आत्मा—उपाधि और उपाधिके धर्मके सम्बन्धसे रहित आत्मरूप—ब्रह्मसे लेकर स्तम्बतक सब भूतोंका आत्मा होनेसे सुहृद् यानी

भूतानां सु शोभनं हृत् हृदयमुपलब्धिस्थानत्वेन यस्य तं सुहृदं सर्वभूतानां हृदये आत्मत्वेन वर्तमानं सर्वलोकमहेश्वरं लोक्यन्त इति लोकाः सर्वे च ते लोकाश्च सर्वलोका अव्यक्तादिस्थूलान्तास्तेभ्यो महान्महत्तमः स्वसन्निधिमात्रेण सर्वमीष्टे चेष्टयतीतीश्वरः महांश्चासावीश्वरश्च महेश्वरस्तं सर्वलोकमहेश्वरं सर्वात्मकं सच्चिदानन्दैकरसं मां परमात्मानं ज्ञात्वा प्रत्यगात्मानं स्वं मामेव परं ब्रह्म ज्ञात्वा प्रत्यगभिन्नं परं ब्रह्म मां मत्वा ध्यात्वा च शान्तिमृच्छति सर्वसंसारोपशमं परं ब्रह्मभावं प्राप्नोतीत्यर्थः । यद्वा यज्ञतपसां भोक्तारं कार्योपाधिकं त्वंपदार्थमात्मानं सर्वभूतसुहृदं सर्वलोकमहेश्वरं कारणोपाधिकं तत्पदार्थं च 'अथात आदेशो नेति नेति' इत्यादिश्रुत्यवष्टम्भेनोपाधिद्वयं निरस्य केवलचैतन्यमात्रौ तौ तत्त्वंपदार्थौ द्वावपि तयोरधिष्ठानभूतं सत्यं ज्ञानमनन्तं चिदानन्दैकरसं निर्विशेषं मां परं ब्रह्म ज्ञात्वा एतदेवाऽहमिति तन्मां परं ब्रह्मैव स्वात्मना सर्वदा मत्वा ध्यात्वा च शान्तिमृच्छति विदेहमुक्तिं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ २९ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमदानन्दात्मसरस्वतीशिष्यश्रीशङ्करानन्दसरस्वतीकृतौ गीतातात्पर्यबोधिन्यां पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

श्रेष्ठतम । अथवा सब भूतोंका सु (शोभन) हृत्—हृदय जिसका उपलब्धिस्थानरूप है, वह सुहृद् है यानी सबभूतोंके हृदयमें आत्मरूपसे वर्तमान सब लोकोंके महेश्वरको (जो देखे जाते, वे लोक हैं सब लोक सर्वलोक—अव्यक्तसे लेकर स्थूलतक—उनसे महत्—महत्तम, अपनी सन्निधिमात्रसे सबको चलाता है—सचेष्ट करता है, वह ईश्वर है, महान् होकर जो ईश्वर हो, वह महेश्वर है । उस सर्वलोकमहेश्वरको) यानी सर्वात्मक सच्चिदानन्दैकरस मुझ परमात्माको—जानकर—प्रत्यगात्मा मुझको ही परब्रह्म जानकर—और मुझ प्रत्यगात्मा परब्रह्मका ही मनन एवं ध्यान करके शान्तिको प्राप्त होता है यानी सब संसारसे रहित परब्रह्मभावको प्राप्त होता है, यह अर्थ है । अथवा यज्ञ और तपोंके भोक्ता कार्यरूप उपाधिवाले त्वं पदार्थ आत्माको और सब भूतोंके सुहृद् सर्वलोकमहेश्वर कारणरूप उपाधिसे युक्त तत् पदार्थको 'इसलिए 'न' 'न' इस प्रकार निषेधमुखसे ब्रह्मका निर्देश है' इत्यादि श्रुतियोंके अवलम्बनसे दोनों उपाधियोंका निरास कर केवल चैतन्यमात्र जो वे दोनों तत् और त्वं पदार्थ हैं, उन दोनोंके भी अधिष्ठानभूत सत्य, ज्ञान, अनन्त, चिदानन्दैकरस निर्विशेष मुझ परब्रह्मको जानकर 'यही मैं हूँ' इस प्रकार मुझ परब्रह्मका अपने आत्मरूपसे सर्वदा मनन करके और ध्यान करके शान्तिको प्राप्त होता है यानी विदेहमुक्तिको प्राप्त होता है, यह भाव है ॥ २९ ॥

पाँचवा अध्याय समाप्त

षष्ठोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाऽक्रियः ॥ १ ॥

भगवान्‌ने कहा—कर्मफलकी अपेक्षा न कर अवश्य कर्तव्य कर्मका जो अनुष्ठान करता है, वही संन्यासी और योगी है, केवल कर्मोंको छोड़नेवाला एवं क्रियारहित पुरुष संन्यासी और योगी नहीं हो सकता ॥ १ ॥

पूर्वं पञ्चमाध्यायान्ते 'स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यान्' इत्यादिश्लोकत्रयेण यतेरात्मविदः श्रवणादिजन्यज्ञानस्याऽप्रतिबद्धत्वसिद्धयेऽवश्यकरणीयं ध्यानयोगं सूचयित्वेदानीं तस्यैव ध्यानयोगस्य बहिरङ्गान्तरङ्गसाधनान्यधिकारिणं तल्लक्षणं तत्फलं च निरूपयितुं षष्ठोऽध्याय आरभ्यते। तत्राऽऽदौ श्रवणादिभिः संभाव्यमानज्ञानोत्पत्तेः परमकारणं चित्तशुद्धिस्तस्यां सत्यामेव श्रवणं मननं निदिध्यासनं तज्जन्यज्ञानं च सिध्यति। सत्त्वशुद्धेः कारणं तु कर्मयोग एव। श्रवणादेस्तज्जन्यज्ञानस्य च यमादिवद्बहिरङ्गं बलवत्तरम्। तस्मिन्सत्येव सत्त्वशुद्धिस्तया श्रवणादि सकार्यं सिध्यति। अतो मुमुक्षोरवश्यं वैदिकं कर्म नियमेन श्रद्धया चेश्वरभक्त्या च कर्तव्यमिति सूचयितुं कर्मयोगिनं तदीयकर्मयोगं च स्तोतुं श्रीभगवानुवाच—**अनाश्रित इति।**

पहले पाँचवें अध्यायके अन्तमें 'बाहरके विषयोंको हटा करके' इत्यर्थक 'स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यान्' इत्यादि तीन श्लोकोंसे आत्मवित् यतिके श्रवण आदिसे जन्य ज्ञानमें अप्रतिबद्धताकी सिद्धिके लिए अवश्य कर्तव्य ध्यानयोगका सूचन करके अब उसी ध्यानयोगके बहिरङ्ग एवं अन्तरङ्ग साधनका, अधिकारीका तथा उसके लक्षण और फलका निरूपण करनेके लिए छठे अध्यायका आरम्भ किया जाता है। उसमें पहले श्रवणादिसे संभावित ज्ञानकी उत्पत्तिका चित्तशुद्धि परम कारण है, उसके होनेपर ही श्रवण, मनन, निदिध्यासन और उनसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान सिद्ध होता है। चित्तशुद्धिका कारण तो कर्मयोग ही है, क्योंकि वह श्रवण आदिका और उनसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानका, यम आदिके समान, बलवत्तर बहिरङ्ग साधन है। उसके प्राप्त होनेपर ही चित्तशुद्धि और उससे (चित्तशुद्धिसे) कार्य सहित श्रवणादि सिद्ध होते हैं। इसलिए मुमुक्षुको वैदिक कर्मका नियमसे, श्रद्धासे और ईश्वरभक्तिसे अवश्य ही अनुष्ठान करना चाहिए, ऐसा सूचन करनेके लिए कर्मयोगी और उसके कर्मयोगकी स्तुति करनेके लिए श्रीभगवान् बोले—'अनाश्रितः' इत्यादिसे।

अधीतवेदवेदाङ्गस्तदर्थज्ञो यो मुमुक्षुर्ब्राह्मणः स्वयं कर्मफलं 'स्वर्गकामश्चिन्वीत', 'यः पशुकामः', 'पश्यति पुत्रम्' इत्यादिश्रुतिवाक्यैस्तत्र तत्र प्रतिपाद्यमानं कर्मणां फलं पुत्रपशुस्वर्गप्राप्तिलक्षणमनाश्रितः मोक्षैककामनया यत्किञ्चिदपि कर्मफलमनपेक्ष्यैव सर्वं कर्मेश्वराय समर्प्य निष्कामः सन् कार्यं नियमेन यत्कर्तव्यं नित्यं नैमित्तिकं च काम्यवर्जितं कर्म अग्निहोत्रादिलक्षणं करोति श्रद्धया भक्त्या च सम्यगनुतिष्ठति स कर्मफलकामनापरित्यागरूपसंन्यासवत्त्वात्संन्यासी च भवति। कर्मयोगे चित्तसमाधानवत्त्वाद्योगी च भवति। 'न निरग्निर्न चाऽक्रियः' इत्यत्राऽवधारणपदमध्याहर्तव्यम्। निरग्निरेव संन्यासीति न, अक्रिय एव योगीति च न, किन्तु फलकामसङ्कल्पत्यागेन चित्तनैश्चल्येन मदेकभक्त्या च यः कर्म करोति गृहस्थः सोऽपि च संन्यासी योगी च भवतीत्यर्थः। निरग्निरित्यत्राऽग्निशब्देनाऽग्निपूर्वकाणि कर्माणि लक्ष्यन्ते। चौलोपनयनमारभ्य ब्राह्मणस्य प्राप्तानि स्मार्तानि श्रौतानि च कर्माणि सर्वाण्यग्निपूर्वकाण्येव। तान्येतानि ससाधनानि सलक्षणानि विविदिषया येन संन्यस्तानि भवन्ति स निरग्निः स संन्यासी स एव श्रवणादिना संप्राप्तविज्ञानो भूत्वा ज्ञानयोगे प्रवृत्तः सन् देहेन्द्रियादिचेष्टारूपाः क्रियाः सर्वास्त्यजन्नक्रियो योगी भवति॥ १॥

ननु संन्यासित्वं योगित्वं चाऽनात्मज्ञकर्तृकसर्वकर्मव्युत्थानलक्षणो ब्रह्मविद्धर्मः

वेद और वेदाङ्गोंको पढ़ा हुआ और उनके अर्थको जाननेवाला जो मुमुक्षु ब्राह्मण स्वयं कर्मफलके—'स्वर्गकी कामनावाला चयन करे', 'जो पशुकी कामनावाला', 'पुत्रको देखता है' इत्यादि श्रुतिवाक्योंसे तत्-तत् स्थलमें प्रतिपादित पुत्र, पशु और स्वर्गप्राप्तिरूप कर्मोंके फलके—आश्रित न होकर यानी किसी भी कर्मफलकी अपेक्षा न कर केवल मोक्षकी ही कामनासे सम्पूर्ण कर्मोंको ईश्वरके समर्पण कर निष्काम हो कार्यको—काम्य कर्मको छोड़कर कर्तव्यरूप नित्य-नैमित्तिक अग्निहोत्रादिरूप कर्मको—नियमसे करता है—श्रद्धासे और भक्तिसे भली भाँति उनका अनुष्ठान करता है—वह कर्मफलकी कामनाके परित्यागरूप संन्याससे युक्त होनेके कारण संन्यासी ही है और कर्मयोगमें चित्तका समाधान करता है, अतः योगी भी है। 'न निरग्निर्न चाऽक्रियः, यहाँपर अवधारणपदका (एवका) अध्याहार करना चाहिए। इससे निरग्नि ही संन्यासी हो सकता है और अक्रिय ही योगी हो सकता है, ऐसा नहीं है, किन्तु फलकी कामनाके संकल्पका त्याग कर चित्तकी निश्चलतासे, जो गृहस्थ केवल भक्तिसे ही कर्म करता है, वह भी संन्यासी और योगी हो सकता है, यह अर्थ है। निरग्नि, इसमें लक्षणासे अग्निशब्दका अग्निपूर्वक कर्म अर्थ है। चौल एवं उपनयनसे लेकर प्राप्त श्रौत और स्मार्तरूप ब्राह्मणके सब कर्म अग्निपूर्वक ही होते हैं। तथोक्त इन साधनसहित एवं लक्षणसहित कर्मोंको विविदिषासे जिसने त्याग दिया है, वह निरग्नि है, यानी वह संन्यासी है। वही श्रवण आदिसे विज्ञानको प्राप्त कर ज्ञानयोगमें प्रवृत्त होता हुआ देह, इन्द्रिय आदिकी चेष्टारूप सब क्रियाओंका त्यागकर योगी होता है॥ १॥

सम्पूर्ण कर्मोंका त्यागरूप संन्यास और योगका अनुष्ठान अनात्मज्ञकर्तृक तो है नहीं,

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥ २ ॥

हे अर्जुन, पण्डित लोग जिसको संन्यास कहते हैं, उसीको तुम योग जानो, क्योंकि संकल्पका त्याग न करनेवाला कोई भी पुरुष योगी नहीं हो सकता ॥२॥

सर्वशास्त्रप्रसिद्धः कथं प्रवृत्तिधर्मवतोऽनात्मज्ञस्य गृहिणो दाराग्निहोत्रादिसाधनवत उपपद्यत इत्याशङ्कायाम् , न; उक्तरीत्या धर्माणामपि धर्मिणां परस्परभेदे सत्यपि संन्यासकर्मयोगयोः साध्यैकत्वेन फलतो भेदाभावात् संन्यासिनो यत्फलं तदेव फलं कर्मयोगिनोऽप्यतः फलसाम्यमुपपद्यत इति सूचयितुं संन्यासवत् कर्माऽपि मोक्षस्य परमसाधनं तदवश्यं मुमुक्षोः कर्तव्यमिति कर्म स्तोतुं च संन्यासकर्मयोगयोरभेदमाह—**यमिति** ।

पण्डिताः यं कर्मित्वादर्शनलक्षणं धर्मं संन्यासमिति प्राहुर्वदन्ति, त्वं तमेव संन्यासं योगं कर्मयोगं विद्धि जानीहि । सर्वकर्माणि मनसेति वचनात् स्वस्य कूटस्थासङ्गचिद्रूपत्वविज्ञानेनाऽनात्मकर्तृककर्माभावदर्शनं संन्यासस्तस्य फलं तु मोक्षः कर्मसंभावितचित्तशुद्धिजन्यज्ञानकार्यत्वात्संन्यासस्य कर्माङ्गं भवत्यङ्गाङ्गिनोरुभयोरप्येककार्यान्वयित्वेनैकफलत्वेन चैकत्वमुपपद्यते ततस्तयोरभेदमेव पश्येत्यर्थः । अथवा उभयोरपि परमार्थ-

---

क्योंकि अनात्मज्ञकर्तृक सर्वकर्मोंसे व्युत्थानरूप वे दोनों धर्म ब्रह्मवित्के ही हैं, ऐसा सब शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है, इस परिस्थितिमें प्रवृत्तिधर्मवाले एवं दारा, अग्निहोत्र आदि साधनवाले अनात्मज्ञ गृहस्थ उनका कैसे अनुष्ठान कर सकते हैं, ऐसी यदि शङ्का हो, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि उक्त रीतिसे धर्मोंका और धर्मियोंका परस्पर भेद होनेपर भी संन्यास और कर्मयोग दोनोंके साध्यकी एकता होनेके कारण उनका फलप्रयुक्त भेद नहीं है, यानी संन्यासका जो फल है, वही फल कर्मयोगका भी है, इसलिए फलकी समता उपपन्न है, ऐसा सूचन करनेके लिए, संन्यासके समान मोक्षका परम साधन कर्म भी है, उसका मुमुक्षुको अवश्य अनुष्ठान करना चाहिए, यों कर्मकी स्तुति करनेके लिए संन्यास और कर्मयोग दोनोंका अभेद कहते हैं—**'यम्'** इत्यादिसे ।

पण्डित लोग जिस कर्मित्वादर्शनरूप धर्मको संन्यास कहते हैं, तुम उसी संन्यासको योग यानी कर्मयोग जानो । 'सब कर्मोंका मनसे' इत्यर्थक वचनसे आत्मामें कूटस्थत्व, असङ्गत्व और चिद्रूपत्वके विज्ञानसे अनात्मज्ञ द्वारा किये जानेवाले कर्मोंका अभाव देखना संन्यास है । उसका फल मोक्ष है । कर्मसे होनेवाली चित्तशुद्धिसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानका उत्पादक होनेसे संन्यासका कर्म अङ्ग है । अङ्ग और अङ्गी दोनोंका ही एक कार्यके साथ सम्बन्ध होनेके कारण और एकफलवत्ता होनेके कारण उनमें एकत्व उपपन्न है, इसलिए दोनोंके अभेदको ही देखो, यह अर्थ है । अथवा परमार्थ-

सिद्धिसाधनत्वाविशेषादेकत्वमेव भवति, यथा श्रवणादिजन्यविज्ञानेन विना कर्मित्वादर्शनाभावे त्वक्रियात्मस्वरूपेणाऽवस्थानलक्षणो मोक्षो न सिध्यति । तथा विहितकर्मानुष्ठानाभावे चित्तशुद्ध्यभावात्तज्ज्ञानानुत्पत्तौ स्वस्वरूपावस्थानलक्षणो मोक्षो न सिद्ध्यत्येव । ततो मोक्षं प्रत्युभयोरप्यसाधारणकारणत्वेऽविशेषभावादुभयोरेकशक्तिकत्वेनैकार्थफलकत्वेन च भेदाभावादेकत्वमुपपद्यते । यद्वा सर्वसंकल्पसंन्यासीतिवचनात्सर्वसंकल्पपरित्यागः संन्यासः सर्वत्र ब्रह्मदृष्ट्या बाह्यपदार्थभावनापरिवर्जनं यतेर्धर्मः । यद्यप्येतल्लक्षणं मुख्यवृत्त्या कर्मयोगस्य न संभवति तथापि कर्मफलसंकल्पसंन्यासलक्षणलक्षितत्वात्फलसंकल्पपरित्यागगुणेन वृत्त्या संन्यासकर्मयोगयोरेकत्वं संभवति, अतः संन्यास एव कर्मयोग इति तयोरभेदमेव विजानीहीत्यर्थः । यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धीत्युक्त्या कर्मफलसंकल्पसंन्यासोपलक्षित एव कर्मयोगो मोक्षाय भवतीति सूचितं भवति । यतः कर्मफलसंकल्पसंन्यासैकप्रधानत्वं कर्मयोगस्य ततो मुमुक्षोर्गृहिणस्तद्युक्तयाऽवश्यं भवितव्यमिति बोधयितुमाह—**नहीति** । असंन्यस्तसंकल्पः संन्यस्तः मोक्षैककामनया सम्यक्परित्यक्तः संकल्पः कर्मफलविषयकं मननं येन मुमुक्षुणा स संन्यस्तसंकल्पस्तद्विलक्षणोऽसंन्यस्तसंकल्पः । कर्मणः पूर्वं पश्चात्तत्काले च कर्मफलमेव मन्वानः सन् यः कर्म करोति सोऽसंन्यस्तसंकल्पो ब्राह्मणो

सिद्धिके साधन समान होनेसे दोनों एक ही हैं । जैसे श्रवण आदिसे जन्य विज्ञानके बिना कर्मित्वादर्शन न होनेसे अविक्रिय आत्मस्वरूपसे अवस्थानरूप मोक्ष सिद्ध नहीं होता, वैसे ही विहित कर्मोंके अनुष्ठानके बिना चित्तशुद्धिके न होनेसे आत्मज्ञानकी उत्पत्ति न होनेके कारण स्वस्वरूपावस्थानरूप मोक्ष भी सिद्ध नहीं होता । इसलिए मोक्षके प्रति दोनों ही समानरूपसे असाधारण कारण हैं, अतः दोनों ही एक शक्तिवाले और एक फलवाले हैं, अतः भेद न होनेसे उन दोनोंकी एकता उपपन्न है । अथवा 'सर्वसङ्कल्पसंन्यासी' इस वचनसे सम्पूर्ण सङ्कल्पोंका परित्यागरूप संन्यास (सर्वत्र ब्रह्मदृष्टिसे बाहरके पदार्थोंकी भावनाका त्याग) यतिका धर्म है । यद्यपि मुख्य वृत्तिसे कर्मयोगका यह लक्षण नहीं है, तो भी कर्मफलसङ्कल्पसंन्यासरूपसे लक्षित होनेके कारण सङ्कल्पपरित्यागरूप गुणवृत्तिसे संन्यास और कर्मयोगकी एकता हो सकती है । इसलिए संन्यास ही कर्मयोग है, यों तुम उन दोनोंका अभेद ही जानो, यह अर्थ है । 'जिसको संन्यास कहते हैं, उसीको योग जानो' ऐसा कहनेसे कर्मफलसङ्कल्पके संन्याससे उपलक्षित कर्मयोग ही मोक्षका कारण है, ऐसा सूचित होता है । जिस कारणसे कर्मफलसङ्कल्पसंन्यासकी ही कर्मयोगमें प्रधानता है, इसलिए गृहस्थ मुमुक्षुको कर्मफलसङ्कल्पसंन्याससे अवश्य ही युक्त होना चाहिए, ऐसा बोधन करनेके लिए कहते हैं—**नहीति** । असंन्यस्तसङ्कल्प (संन्यस्त—मोक्षकी एक कामनासे बिलकुल त्याग दिये हैं—सङ्कल्प—कर्मफलसम्बन्धी विचार—जिस मुमुक्षुने, वह संन्यस्तसङ्कल्प है, इससे विपरीत लक्षणवाला असंन्यस्तसङ्कल्प है) यानी कर्मके पहले और पिछले कालमें कर्मफलका ही सङ्कल्प करता हुआ जो कर्म करता है, वह असंन्यस्त-

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ३ ॥

ज्ञानयोगको प्राप्त करनेकी इच्छावाले मुनिके लिए ज्ञानयोगकी प्राप्तिमें कर्म साधन कहा जाता है और ज्ञानयोगमें आरूढ़ उसी मुनिके लिए विदेहकैवल्यकी प्राप्तिमें शम साधन कहा जाता है ॥ ३ ॥

वाऽन्यो वा कश्चिदपि योगी न भवति । योगो नाम कर्मफलापेक्षाराहित्येन लब्धं चित्तनैश्चल्यं तद्वानेव योगी, यः कर्मफलाशासम्भावितचित्तविक्षेपवान् स योगी न भवतीत्यर्थः । यद्वा योऽसंन्यस्तसंकल्पः स योगी मोक्षयोगार्हो न भवति, किन्तु जन्मादिदुःखयोग्येव भवतीत्यर्थः । 'कामान् यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र' इति, 'उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धिद्योतनाथा हिशब्दः ॥ २ ॥

एवं मुमुक्षूणां कर्मणोऽवश्यकर्तव्यत्वसिद्धये कर्मयोगं कर्मयोगिनं च संन्याससंन्यासिभ्यां समत्वेन स्तुत्वाऽधुना कर्मयोगस्य ज्ञानसाधनत्वं वदन् तत्कर्तव्यताया अवधिं च सूचयन्नारूढस्य विदेहमुक्तेः कारणमाह—**आरुरुक्षोरिति ।**

योगं सम्यक् दर्शननिष्ठामारुरुक्षोर्मुक्त्यै ज्ञानयोगं प्राप्तुमिच्छां कुर्वतो मुनेर्भविष्यन्मुनेः । 'गृहस्थः स्त्रियमुद्वहेत्' इति न्यायेनाऽस्य भविष्यत्संन्यासित्वमादाय मुनित्वव्यपदेशः । गौणवृत्त्या वा मुनेर्गृहिणो ज्ञानयोगप्राप्तेः कारणं कर्मैव । चित्त-

---

सङ्कल्प ब्राह्मण अथवा अन्य कोई भी योगी नहीं होता । कर्मफलकी अपेक्षा किये बिना प्राप्त हुई चित्तकी निश्चलताका नाम योग है, उसी योगसे युक्त योगी है, जो कर्मफलकी अभिलाषासे होनेवाले चित्तविक्षेपसे युक्त है, वह योगी नहीं है, यह अर्थ है । अथवा जो असंन्यस्तसङ्कल्प है, वह योगी—मोक्षरूप फलके लिए योग्य—नहीं है, किन्तु जन्म आदि दुःखोंके लिए ही योग्य है । 'जो सङ्कल्प करता हुआ भोगोंकी कामना करता है, वह कामनाओंके कारणसे तत्-तत् स्थलमें जन्म लेता है', 'जो अकामी इस शुद्ध पुरुषकी उपासना करते हैं, वे धीर संसारमें जन्म नहीं लेते' इत्यादि श्रुतियोंकी प्रसिद्धिका सूचन करनेके लिए 'हि' शब्द है ॥ २ ॥

इस प्रकार मुमुक्षुके लिए कर्म अवश्य कर्तव्य हैं, ऐसा सिद्ध करनेके लिए कर्मयोग और कर्मयोगीकी संन्यास और संन्यासी दोनोंसे समता है, यों समता-प्रतिपादन द्वारा उनकी स्तुति करके अब कर्मयोग ज्ञानका साधन है, ऐसा कहते हुए और कर्मयोगकी कर्त्तव्यताकी अवधिका सूचन करते हुए योगारूढ़ पुरुषकी विदेहमुक्तिका कारण कहते हैं—**'आरुरुक्षो०'** इत्यादिसे ।

योगपर—सम्यक् दर्शननिष्ठापर—आरुरुक्षु—मुक्तिके लिए ज्ञानयोगकी प्राप्तिकी इच्छा करनेवाले—मुनिकी—भविष्यत् मुनिकी । 'गृहस्थ स्त्रीके साथ विवाह करे' इस न्यायसे भविष्यत् संन्यासको लेकर मुनित्वका कथन है । अथवा गौणवृत्तिसे मुनिकी—गृहस्थकी—ज्ञानयोगप्राप्तिका

शुद्धेः कर्मणा विनाऽन्येन संभावयितुमशक्यत्वात् कर्मैव पुरुषं चित्तशुद्धिं संपाद्य ज्ञानयोगमारोहयति, अतः कर्मैव ज्ञानयोगप्राप्तेः कारणमित्युच्यते । 'मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यन् तानि त्रेतायां बहुधा संततानि । तान्याचरथ नियतं सत्यकामाः' इत्यादिश्रुतिभिः प्रतिपाद्यत इत्यर्थः । यस्य चित्तशुद्ध्यै कर्मयोगो विहितस्तस्यैव नित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठासंभावितचित्तशुद्धौ सत्यामुदितविवेकवैराग्यशमदमादिसाधन-संपत्त्या प्राप्तश्रवणादिजन्यज्ञानेन योगारूढस्य योगं ज्ञानयोगमारूढस्य संप्राप्तवतो यतेर्विदेहकैवल्यार्थिनः शमो बाह्योपरमणमेव विदेहमुक्तेरन्तरङ्गसाधनमित्युच्यते । 'तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ', 'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं', 'तमेव धीरो विज्ञाय', 'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्येत्' इति, 'आत्मरतिरात्मक्रीडः' इत्यादिश्रुतिभिः 'नैतादृशं ब्राह्मणस्याऽस्ति वित्तं यथैकता समता सत्यता च । शीलं स्थितिर्दण्डनिधानमार्जवं ततस्ततश्चोपरमः क्रियाभ्यः ॥ नैव धर्मी न चाऽधर्मी न चैव हि शुभाशुभी । यः स्यादेकासने लीनस्तूष्णीं किञ्चिद-चिन्तयन् ॥' इत्यादिस्मृतिभिश्च विज्ञातात्मतत्त्वस्य यतेः समाधौ प्रवृत्तस्य शम उपशमः सर्वोपरमणं कारणमित्युच्यते । ब्रह्मण्यारोपितनामरूपाद्यग्रहणमेव शमशब्दार्थः सर्व-संन्यासलक्षणः स एव विदेहमुक्तेः परमकारणमिति श्रुतिस्मृतिभिरुच्यत इत्यर्थः ।

कारण कर्म ही है । चित्तशुद्धि कर्मके सिवा दूसरे उपायसे नहीं हो सकती, कर्म ही चित्तशुद्धिका सम्पादन कराकर पुरुषको ज्ञानयोगपर आरूढ़ करता है, इसलिए कर्म ही ज्ञानयोगकी प्राप्तिका कारण है, ऐसा कहा जाता है—'सर्वज्ञ ऋषियोंने जिन कर्मोंको मन्त्रोंमें देखा था, उन्हींका त्रेतामें बहुधा विस्तार किया गया है, सत्यकी कामनावाले पुरुष उनका नियमसे अनुष्ठान करें' इत्यादि श्रुतियोंसे प्रतिपादन किया जाता है, यह अर्थ है । जिसकी चित्तशुद्धिके लिए कर्मयोग विहित है, नित्य, नैमित्तिक कर्मोंके अनुष्ठानसे संभावित चित्तशुद्धि होनेपर उदित विवेक, वैराग्य, शम, दम आदि साधनोंकी सम्पत्तिसे प्राप्त श्रवणादिजन्य ज्ञानसे उसी योगारूढ़की—ज्ञानयोगको प्राप्त करनेवाले यतिकी यानी विदेहकैवल्यार्थीकी—विदेहमुक्तिका शम—बाह्यविषयोंसे उपरम—ही अन्तरङ्ग साधन है, ऐसा कहा जाता है । 'इस एक आत्माको ही जानो, दूसरी बातोंको छोड़ दो', 'ओं, इसरूपसे आत्माका ध्यान करो', 'उसको ही धीर जानकर', 'शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु और समाहित होकर आत्मामें आत्माको देखे', 'आत्मामें रति करनेवाला, आत्मामें क्रीडा करनेवाला' इत्यादि श्रुतियोंसे और 'ब्राह्मणका ऐसा धन कोई नहीं है, जैसा कि धन एकता, समता, सत्यता, शील, स्थिरता, दण्डनिधान, आर्जव और तत्-तत् क्रियाओंसे उपराम है ।' 'न धर्मी न अधर्मी, न शुभी अशुभी, जो एक आसनसे चुपचाप बैठा हुआ किसीका चिन्तन न करता हुआ लीन है' । इत्यादि स्मृतियोंसे आत्मतत्त्वको जाननेवाले समाधिमें प्रवृत्त यतिका शम—उपशम—यानी सर्वोपरमण कारण है, ऐसा कहा जाता है । ब्रह्ममें आरोपित नाम, रूप आदिका ग्रहण न करना

यस्मादेवं तस्मान्मुमुक्षोरवश्यं चित्तशुद्ध्यै श्रद्धयेश्वरार्पणबुद्ध्या च वैदिकमेव कर्म कर्तव्यम् । तस्यैव कर्मानुष्ठानसंभावितचित्तशुद्ध्या तदेकपरतया सम्यक्कृतश्रवणादिसंप्राप्तज्ञानस्य समाधिनिष्ठायां तिष्ठतः सर्वकर्मसंन्यास एव कर्तव्य इत्यभिप्रायः । आरुरुक्षोः कर्म कारणं तस्यैव योगारूढस्य शमः कारणमित्युक्त्या गन्तुर्गमनं समुद्रपर्यन्तमेव ततः परं तु गतेः परिसमाप्तिर्यथा, तथा मुमुक्षोर्ज्ञानसिद्धिपर्यन्तमेव कर्म कर्तव्यं ज्ञानसिद्धौ सर्वकर्मसंन्यास एव कर्तव्य इति सूचितं भवति । तेन 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति', 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः' इत्यादिश्रुतिवाक्यानां यावज्जीवमग्निहोत्रादिकर्मणः कर्तव्यत्वप्रतिपादकानामविद्वानेव गतिर्न तु विद्वान् । अन्यथा 'यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्', 'सशिखं वपनं कृत्वा बहिःसूत्रं त्यजेद् बुधः', 'ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति', 'यदा तु विदितं तत्त्वं परं ब्रह्म सनातनम् । तदैकदण्डं संगृह्य सोपवीतां शिखां त्यजेत्' इत्यादिश्रुतिस्मृतिविरोधप्रसङ्गात् । ननु जडजात्यन्धमूकादीनामेव वैदिककर्मानधिकारिणां संन्यासो न तु विदुषः, 'विद्वान् यजते' इति विदुषो यागादिकर्मविधानादिति चेत्, न; निरुक्तश्रुतिस्मृतिविरोधप्रसङ्गात् । 'बहिःसूत्रं त्यजेद् बुधः'

ही शमशब्दका अर्थ है यानी सर्वसंन्यास । वही विदेहमुक्तिका परम कारण है, ऐसा श्रुति और स्मृतियोंसे कहा जाता है, यह अर्थ है । जिस कारणसे ऐसा है, इसलिए मुमुक्षुको अवश्य चित्तशुद्धिके लिए श्रद्धासे तथा ईश्वरार्पणबुद्धिसे वैदिक कर्मोंका ही अनुष्ठान करना चाहिए । कर्मके अनुष्ठानसे उत्पन्न चित्तशुद्धिसे, केवल उसीमें परायण होकर सुन्दर रीतिसे किए गये श्रवणादिसे प्राप्त हुए ज्ञानसे युक्त तथा समाधिनिष्ठामें स्थित रहनेवाले उसी पुरुषके लिए सर्वकर्मसंन्यास ही कर्तव्य है, यह अभिप्राय है । आरुरुक्षुके लिए कर्म कारण है और उसी योगारूढके लिए शम कारण है, ऐसा कहनेसे जैसे गन्ताका गमन समुद्रपर्यन्त ही होता है, अनन्तर तो उसकी समाप्ति हो जाती है, वैसे ही मुमुक्षुको ज्ञानकी प्राप्तितक ही कर्म कर्तव्य हैं, ज्ञान सिद्ध होनेपर तो सर्वकर्मसंन्यास ही कर्त्तव्य है, ऐसा सूचित होता है । इसलिए 'जीवनपर्यन्त अग्निहोत्र करे', 'कर्म करता हुआ ही यहाँ सौ वर्ष तक जीनेकी इच्छा करे' इत्यादि जीवनपर्यन्त अग्निहोत्रादि कर्मोंकी कर्तव्यताका प्रतिपादन करनेवाले श्रुतिवाक्योंका विषय अविद्वान् ही है, विद्वान् नहीं है यह ज्ञात होता है। अन्यथा 'जिस दिन वैराग्य हो जाय, उसी दिन संन्यासका ग्रहण करे', 'विद्वान् शिखासहित मुण्डन कराकर बाहरका सूत्र त्याग दे', 'वे पुत्रैषणाका, वित्तैषणाका और लोकैषणाका त्याग करके भिक्षाचरण करते हुए', 'जब परब्रह्म सनातन तत्त्वको जान लिया जाय, तब एक दण्डका ही ग्रहण करके उपवीत सहित शिखाको त्याग दे ।' इत्यादि श्रुति और स्मृतियोंसे विरोधका प्रसङ्ग होगा । यदि शङ्का हो कि वैदिक कर्मके अनधिकारी जड, जन्मसे ही अन्धे, गूंगे आदि पुरुषोंके लिए ही संन्यास है, विद्वान्‌के लिए नहीं है, क्योंकि 'विद्वान् यज्ञ करे' इत्यादिसे विद्वान्‌के लिए यागादि कर्मोंका विधान है, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि

इति, 'किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मायं लोकः' इति, 'यदा तु विदितं तत्त्वम्' इत्यादिश्रुतिस्मृतिवाक्यार्थे सम्यग्विचार्यमाणे संन्यासस्य ब्रह्मविदेव योग्यो विषयो न तु जडादिस्तेषां वेदशास्त्राधीतिशून्यानां 'परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायात्' इत्येतच्छ्रुत्यर्थपदवाक्यप्रमाणबलेन लोकानां कर्मचितत्वानित्यत्वाल्पफलत्वासत्त्वपरीक्षायोग्यतासंभवात्, वेदाध्ययनतदर्थविचारे तत्त्वनिश्चये कर्मणि लौकिके च सर्वत्र योग्यस्यैऽवाधिकारदर्शनाद्वेदाध्ययनतदर्थविचारानर्हाणां ब्रह्मतत्त्वावगमनं बुधत्वं च स्वप्नेऽपि न संभावयितु शक्यते। ततो वेदान्तश्रवणादिनाऽधिगतब्रह्मतत्त्वानामेव बुधत्वं संन्यासश्च निरुक्तश्रुतिस्मृतिभिरवगम्यते। तत एव भगवताऽप्युच्यते—'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगम्' इत्यादि। अतः सम्यग्विदितात्मतत्त्वस्यैव संन्यासो न तु जडादेर्नाऽपि परोक्षज्ञानिनः। 'महत्पदं ज्ञात्वा वृक्षमूले वसेत्', 'ज्ञात्वा नैष्कर्म्यमाचरेत्', 'तस्माज्ज्ञानं पुरस्कृत्य संन्यसेदिह बुद्धिमान्। अहमेवाक्षरं ब्रह्म वासुदेवाख्यमव्ययम्। इति भावो ध्रुवो यस्य तदा भवति भैक्ष्यभुक्।' 'यदा तु विदितं तत्त्वम्' इत्यादिश्रुतिस्मृतिशतेभ्यो ब्रह्मविद एव संन्यासः कर्तव्य इति सिद्धम्। 'विद्वान् यजते' इत्यत्र वेदश्रौतार्थतत्प्रयोगप्रायश्चित्तविद्विद्वच्छब्दार्थस्तस्यैव

ऐसा माननेसे उपर्युक्त श्रुति और स्मृतियोंसे विरोध होगा। 'विद्वान् बाहरका सूत्र त्याग दे', 'जिन हम लोगोंका यह आत्मा लोक है, वे हम प्रजासे क्या करेंगे', 'जब कि तत्त्व जान लिया' इत्यादि श्रुति और स्मृतियोंके वाक्योंके अर्थका भली भाँति विचार करनेपर ज्ञात होता है कि संन्यासके लिए योग्य विषय ब्रह्मवित् पुरुष ही है, जड आदि पुरुष नहीं हैं, क्योंकि वेदशास्त्रोंके अध्ययनसे शून्य उन लोगोंमें 'कर्मसे प्राप्त होनेवाले लोकोंकी परीक्षा करके ब्राह्मण निर्वेदको प्राप्त हो' इस श्रुतिके अर्थ, पद और वाक्यरूप प्रमाणके बलसे लोकोंमें कर्मचितत्व, अनित्यत्व, अल्पफलत्व एवं असत्त्व परीक्षाकी योग्यताका सम्भव नहीं है, क्योंकि वेदाध्ययनमें, वेदके अर्थके विचारमें, तत्त्वनिश्चयमें और लौकिक कर्ममें सर्वत्र योग्य पुरुषका ही अधिकार देखा जाता है, इसलिए वेदके अध्ययन तथा उसके अर्थके विचारमें अयोग्य पुरुषोंमें ब्रह्मतत्त्वज्ञान और वैदुष्यका स्वप्नमें भी सम्भव नहीं हो सकता, इसलिए वेदान्तके श्रवण आदिसे जिन्होंने ब्रह्मतत्त्व जान लिया है, उन्हींमें वैदुष्य और संन्यास है, ऐसा उपर्युक्त श्रुति और स्मृतियोंसे ज्ञात होता है। इसीलिए भगवान्ने कहा है—'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगम्' इत्यादि। अतः भली भाँति आत्मतत्त्वको जाननेवाले पुरुषोंके लिए ही संन्यास है, जड़ आदिके लिए नहीं है एवं परोक्षज्ञानीके लिए भी नहीं है, क्योंकि 'महान् पदको जानकर वृक्षके मूलमें बसे', 'जानकर नैष्कर्म्यका आचरण करे', 'इसलिए यहाँ बुद्धिमान् ज्ञानपूर्वक संन्यास करे', 'मैं ही अक्षर अव्यय वासुदेव नामक ब्रह्म हूँ', ऐसा दृढ़ भाव जिसको होता है, वही भिक्षाका भोजन करनेवाला है', 'जब तत्त्व जान लिया' इत्यादि सैकड़ों श्रुति और स्मृतियोंसे विद्वान्का ही संन्यास कर्तव्य है, यह सिद्ध होता है। 'विद्वान् यज्ञ करे' यहाँपर वेद, श्रौतार्थ, उसका प्रयोग और प्रायश्चित्तको जाननेवाला पुरुष

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसङ्कल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥

सम्पूर्ण सङ्कल्पोंका परित्याग करनेवाला पुरुष जब शब्द आदि विषयोंमें और स्नान आदि कर्मोंमें आसक्ति नहीं करता तब वह योगारूढ़ कहा जाता है ॥ ४ ॥

यजत इति कर्मविधिर्न तु ब्रह्मविदः, 'तस्य कार्यं न विद्यते' इति ब्रह्मविदः कर्माभावस्मरणात् । ततस्त्वविद्वानेव यावज्जीवश्रुतिवाक्यानां गतिरिति स्थितम् ॥ ३ ॥

ननु बाह्योपरमणमेवैकं शमाभिधानं साधनमवलम्ब्य योगारोहणं कुर्वतो यतेः कदा योगारूढत्वसिद्धिरित्याकाङ्क्षायां यदा सर्वत्र ब्रह्मदृष्ट्या कर्मसु विषयेषु चाऽसद्धियाऽमुष्य प्रवृत्त्यभावस्तदा योगारूढत्वसिद्धिरिति बोधयति—**यदा हीति** ।

सर्वसंकल्पसंन्यासी संकल्पाः द्रव्यगुणकर्मादिगोचराः समीचीनत्वबुद्धयः सर्वविषयाः संकल्पाः सर्वसंकल्पास्तान् संन्यसितुं शीलमस्याऽस्तीति सर्वसंकल्पसंन्यासी अधिष्ठानयाथात्म्यसंदर्शनेनाऽऽरोपितानां द्रव्यादीनां मिथ्यात्वे तेषु शुक्तिरजतवदाभासमात्रेषु तज्ज्ञस्य समीचीनत्वबुद्धयः संकल्पाः न जायन्ते । कामाश्च वैषयिकाः कामाः सर्वे यन्मूलाः 'संकल्पमूलाः कामा वै यज्ञाः संकल्पसंभवाः' इति स्मरणात्ततः प्रत्यग्दृष्ट्या सर्वस्य ब्रह्ममात्रत्वेन निराश्रयान् सर्वान् संकल्पान् संन्यस्य सर्वं ब्रह्मैवेति सर्वत्र ब्रह्मदर्शन-

---

विद्वान् शब्दका अर्थ है, उसीके लिए 'यज्ञ करे' यह कर्मविधि है, ब्रह्मवित्के लिए नहीं है, क्योंकि 'उसका कर्तव्य नहीं है' यों ब्रह्मवित्के कर्मके अभावका कथन है, इसलिए अविद्वान् ही 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यादि श्रुतिवाक्योंका विषय है, ऐसा सिद्ध हुआ ॥ ३ ॥

केवल बाह्यविषयोंसे उपरमणरूप शमनामक साधनका अवलम्बन कर योगारोहण करनेवाले यतिमें कब योगारूढ़त्वकी सिद्धि होती है ? ऐसी आकांक्षा होनेपर जब सर्वत्र ब्रह्मदृष्टिसे कर्मोंमें और विषयोंमें मिथ्यात्व बुद्धि होनेसे प्रवृत्ति नहीं होती, तब योगारूढ़त्वकी सिद्धि होती है, ऐसा बोधन करते हैं—'यदा हि' इत्यादिसे ।

सर्वसङ्कल्पसंन्यासी (सङ्कल्प—द्रव्य, गुण, कर्म आदिको विषय करनेवाली समीचनत्वबुद्धियाँ—सम्पूर्ण विषयोंका सङ्कल्प—सर्वसङ्कल्प हैं, उनको त्यागनेका जिसका स्वभाव है, वह सर्वसंकल्पसंन्यासी है) अधिष्ठानभूत ब्रह्मके याथात्म्यदर्शनसे आरोपित द्रव्य आदि पदार्थोंमें मिथ्यात्वके ज्ञात होनेपर शुक्तिमें आरोपित रजतके समान आभासरूप उन पदार्थोंमें तत्त्वज्ञके समीचीनत्वबुद्धिरूप सङ्कल्प, जो विषयसंबन्धी सम्पूर्ण कामोंका मूलभूत हैं, उत्पन्न नहीं होते क्योंकि संकल्पके कार्य काम हैं, निश्चय वे संकल्पसे उत्पन्न हुए हैं' ऐसी स्मृति है, इसलिए प्रत्यक्-दृष्टिसे सबके ब्रह्ममात्र होनेके कारण आश्रयरहित सम्पूर्ण संकल्पोंका त्याग कर सब

शीलो ब्रह्मविद्यतिर्यदा यस्मिन्काले इन्द्रियार्थेषु क्वचिद्भिक्षाटनादौ दृष्टेषु शब्दादिषु कर्मसु च क्वचिद्वासनया कर्तव्यत्वेन प्रतीतेषु स्नानशौचादिकर्मस्वपि नाऽनुषज्जते भोक्तृभोजनभोज्येषु कर्तृकारणकार्येषु च मिथ्यात्वबुद्ध्या स्वयमनुषङ्गं आसक्तिं न करोति। अनुषङ्गो नामाऽहं भुञ्जेऽहं करोमीति भोक्तृकर्तृतादात्म्यापत्तिस्तां न करोति, किन्त्वसङ्गोदासीनत्वेन सर्वत्र साक्षिभूतस्तिष्ठतीत्यर्थः। यद्वा प्राक्तनसंस्कारानुरूपा प्रवृत्तिरनुषक्तिस्तां न करोति, प्रवृत्तेः काममूलत्वात् कामस्य संकल्पमूलत्वात्संकल्पानां सर्वेषामप्याश्रयमिथ्यात्वविज्ञानेन संन्यस्तत्वाद्विदुषः शब्दादिषु कर्मसु चाऽप्यनुषङ्गाभावो युक्तः; 'कारणाभावे कार्याभावः' इति न्यायात्। यद्वा विपरीतप्रत्ययनिरसनपूर्वकं सर्वत्र ब्रह्मदर्शननिष्ठायां प्रवृत्तो ब्रह्मविद्यतिः स्वयं सर्वसंकल्पसंन्यासी अधिष्ठानाज्ञानदोषेण शुक्तौ रजतप्रत्ययवन्निर्विशेषे परे ब्रह्मण्यद्वितीये घटः पटः कुड्यमिति भ्रान्त्या सम्यक्कल्प्यन्त इति सङ्कल्पाः विपरीतप्रत्ययास्तान् सर्वान् सङ्कल्पान् संन्यसितुं चिद्वृत्त्या ब्रह्मणि प्रविलापयितुं शीलमस्यास्तीति सर्वसङ्कल्पसंन्यासी विजातीयप्रत्ययप्रविलापनपरतया सजातीयप्रत्ययावृत्तिं कुर्वन्नित्यर्थः। यदा यस्मिन्काले सर्वत्र ब्रह्ममात्रग्रहणशीलाया बुद्धिवृत्तेः स्थिरीभावदशायां इन्द्रियार्थेषु क्वचिदाभासतः प्रतीयमानेषु विषयेषु कर्मसु च चक्षुरादी-

ब्रह्म ही है, यों सर्वत्र ब्रह्मदर्शनशील ब्रह्मवित् यति—जिस समय इन्द्रियोंके अर्थोंमें—कहीं भिक्षाटन आदिमें देखे गये शब्दादि विषयोंमें—और कर्मोंमें—कहीं वासना द्वारा कर्तव्यरूपसे प्रतीत होनेवाले स्नान, शौच आदि कर्मोंमें—भी अनुषंग नहीं करता, भोक्ता, भोजन और भोज्योंमें तथा कर्ता, करण और कार्योंमें मिथ्यात्वबुद्धिसे स्वयं अनुषंग—आसक्ति—नहीं करता। मैं भोगता हूँ, मैं कर्ता हूँ, इस प्रकार भोक्ता और कर्ताके तादात्म्यकी प्राप्तिका नाम अनुषंग है, उसको नहीं करता, किन्तु असंग-उदासीनरूपसे सर्वत्र साक्षीभूत होकर स्थित रहता है, यह अर्थ है। अथवा पूर्वके संस्कारोंके अनुसार प्रवृत्ति अनुषङ्ग है, उसको नहीं करता, क्योंकि प्रवृत्ति काममूलक है, काम संकल्पमूलक है, अतः आश्रयके मिथ्यात्वविज्ञानसे सब संकल्पोंका त्याग होनेके कारण विद्वान्का शब्दादिमें और कर्मोंमें भी अनुषङ्गका न होना युक्त है, क्योंकि कारणका अभाव होनेपर कार्यका अभाव होता है, यह न्याय है। अथवा विपरीतप्रत्ययका निरसनकर सर्वत्र ब्रह्मनिष्ठामें प्रवृत्त हुआ ब्रह्मवित् यति स्वयं सम्पूर्णसंकल्पसंन्यासी—अधिष्ठानके अज्ञानरूप दोषसे, शुक्तिमें रजत प्रत्ययके समान, निर्विशेष अद्वितीय परब्रह्ममें घट, पट, कुड्य, ये भ्रान्तिसे भली भाँति जो कल्पित होते हैं, वे सङ्कल्प हैं यानी विपरीतप्रत्यय, उन सम्पूर्ण सङ्कल्पोंको त्यागनेका—चिद्वृत्तिसे ब्रह्ममें लय करनेका—जिसका शील है, वह सर्वसङ्कल्पसंन्यासी है यानी विजातीय प्रत्ययके विनाशनपूर्वक सजातीय प्रत्ययकी आवृत्तिको करता हुआ, यह अर्थ है। अथवा जिस कालमें (सर्वत्र ब्रह्ममात्रका ग्रहण करनेवाली बुद्धिकी वृत्ति जब स्थिर होती है, उस दशामें) इन्द्रियोंके अर्थोंमें—कहीं आभाससे प्रतीत होनेवाले विषयोंमें और कर्मोंमें—नेत्र आदि इन्द्रियोंसे तत्-तत् विषयके ग्रहण-

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥

श्रवणादिसे जनित आत्मज्ञानसे युक्त पुरुष स्वयं आप ही अपना उद्धार करे, कभी [बहिर्मुख होकर] अपना विनाश न करे, क्योंकि आप ही अपना बन्धु है और आप ही अपना शत्रु है ॥ ५ ॥

न्द्रियैस्तत्तद्विषयग्रहणकर्मस्वपि नाऽनुषज्जते अनुषक्तिं न करोति। अनुषक्तिर्नामाऽकस्माद् दृष्टार्थानुरूपेण पुनर्वृत्तेः परिणतिस्तां चक्षुरादिभिरिन्द्रियैर्ग्रहणक्रियां च न करोति, किन्तु दृष्टान् विषयान् तद्वृत्तिद्रष्टारं च प्रत्यावृत्त्या ब्रह्मणि प्रविलापयतीत्यर्थः। एवं द्रष्टृदर्शनदृश्यादिभेदभिन्नं विश्वं सर्वं यदा ब्रह्ममात्रं पश्यति तदा योगारूढः सर्वस्य स्वस्य च ब्रह्ममात्राकारप्रत्ययोऽप्रतिबद्धो योगस्तत्राऽऽरूढः प्रतितिष्ठत इति कृत्वा योगारूढ इत्युच्यते। स्थितप्रज्ञोऽयं जीवन्मुक्त इति पण्डितैरन्योन्यं प्रति भाष्यत इत्यर्थः। 'विजानन्विद्वान्भवते नातिवादी', 'आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावान्' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धिद्योतनार्थो हिशब्दः ॥ ४ ॥

मुमुक्षुदुर्लभं मानुषं तत्राऽपि ब्राह्मं देहं प्राप्य सदसद्विवेकसंपादनयोग्यं स्वोद्देशेन कृतश्रौतादिसत्कर्मभिर्भक्त्या च प्रसन्नपरमेश्वरप्रसादसंपन्नो भूत्वा शमादिसाधनसंपत्त्या सद्गुरोः सकाशाच्छ्रवणं मननं च कृत्वा ब्रह्मैवाहमिति स्वात्मना ब्रह्म ज्ञात्वा योगारूढः सन् चिदेकरसब्रह्मात्मना यदा तिष्ठति तदा खल्वयं संसारदुःखसागरे

रूप कर्मोंमें आसक्त नहीं होता, अनुषङ्ग नहीं करता। अचानक देखे गये पदार्थके अनुसार पुनः वृत्तिका परिणाम अनुषङ्ग है, उसको—चक्षु आदि इन्द्रियोंसे ग्रहण करनेकी क्रियाको—नहीं करता, किन्तु देखे हुए विषयोंको और उनकी वृत्तिके द्रष्टाको प्रत्यावृत्तिसे ब्रह्ममें लीन करता है, यह अर्थ है। इस प्रकार द्रष्टा, दर्शन, दृश्य आदि भेदसे भिन्न सम्पूर्ण विश्वको जब ब्रह्ममात्र देखता है, तब योगारूढ़—सबमें और अपनेमें अप्रतिबद्ध ब्रह्ममात्राकार प्रत्यय योग है, उसपर स्थित होता है, इसलिए योगारूढ़ कहलाता है। यह स्थितप्रज्ञ जीवन्मुक्त है, ऐसा पण्डितों द्वारा परस्पर कहा जाता है, यह अर्थ है। 'जानकर विद्वान् अतिवादी नहीं होता' इत्यादि श्रुतियोंकी प्रसिद्धिका सूचन करनेके लिए हिशब्द है ॥ ४ ॥

मुमुक्षुओंको दुर्लभ मानुष देह, उसमें भी सदसद्विवेकका सम्पादन करने योग्य ब्राह्मण देहको प्राप्त करके अपने उद्देशसे किए गये श्रौतादि सत्कर्मोंसे और भक्तिसे प्रसन्न हुए परमेश्वरके प्रसादसे सम्पन्न होकर शम आदि साधनसम्पत्तिसे सद्गुरुके पाससे श्रवण और मनन करके 'मैं ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार अपने आत्मरूपसे ब्रह्मको जानकर योगारूढ़ होता हुआ चिदेकरस ब्रह्मरूपसे जब स्थित रहता है, तब संसारदुःखसागरमें डूबे हुए इस आत्माको स्वयं ही उठाकर

मग्नमात्मानं स्वयमेव समुद्धृत्य मोक्षसाम्राज्यसुखे संस्थापितवान् भवति, यतस्ततो ब्राह्मणादिभिर्विवेकसंपन्नैर्मनुष्यत्वब्राह्मणत्वविवेकित्वादिसिद्धेः साफल्याय सर्वं संन्यस्य प्रयत्नेन संसाराब्धिनिमग्नस्याऽऽत्मनः समुद्धरणमवश्यं कर्तव्यमित्याह—**उद्धरेदिति** ।

पुत्रमित्रकलत्रादिगोचरमहामोहावर्तशताकुले कामक्रोधलोभाहङ्कारममकारादिचित्तविकारमहाग्राहसमुज्जृम्भिते नानाविधमहारोगतिमितिमिङ्गिलकोटिविराजिते अशनायापिपासादिमहाकल्लोलोद्वेल्लिते तापत्रयनिबिडवडवानलज्वालामालासंवीते स्वेष्टजननष्टिप्रयुक्तप्रलापमहाध्वनिविघूर्णिते नित्यनिरन्तरदुर्वासनाशैवालपटलसंकीर्णे विषयविषपरिपूर्णे संसारार्णवे निमग्नं जन्ममृत्युजरादिदुःखेन हतोऽस्मीत्याक्रोशन्तमात्मनं स्वमात्मना श्रद्धाभक्तिसमाराधितपरमेश्वरप्रसादवता सदसद्विवेकवैराग्यशमदमादिसाधनवता श्रवणादिसमुत्पन्नात्मज्ञानवता स्वेनैवोद्धरेत् स्वोद्धरणे स्वयमेवोक्तलक्षणसंपन्नः साधनमनुत्तमं नाऽन्यत् । सत्येवोक्तलक्षणे साधकतमे कार्यं साधनान्तरं च सिध्यति नाऽन्यथा । ततो विचक्षणो मुमुक्षुरुक्तलक्षणवता स्वेनैव स्वोद्धरणं कुर्यात् यथा महाज्वरादिप्रचण्डरोगदुःखनिमग्नमात्मानं स्वं स्वयमेव प्रतिकूलमपथ्याचरणादिकमपास्य दिव्यौषधपथ्यसेवननिरतो भूत्वा प्रयत्नेन रोगादुद्धरति, तथा भूतदाहीयाना-

---

मोक्षरूप साम्राज्यसुखमें संस्थापन करनेवाला होता है, इसलिए विवेकसम्पन्न ब्राह्मणोंको मनुष्यत्व, ब्राह्मणत्व, विवेकित्व आदिकी सिद्धिको सफल बनानेके लिए सबका त्यागकर प्रयत्नपूर्वक संसार-समुद्रमें निमग्न आत्माका उद्धार अवश्य करना चाहिए, ऐसा कहते हैं—**'उद्धरेत्'** इत्यादिसे ।

पुत्र, मित्र, कलत्र आदिके दर्शनसे होनेवाले महामोहरूप सैकड़ों भँवरोंसे आकुल; काम, क्रोध, लोभ, अहङ्कार और ममकार आदि चित्तके विकाररूप महाग्राहोंसे विस्तृत; नाना प्रकारके महारोगरूप करोड़ों तिमि-तिमिंगिलोंसे सुशोभित; भूख, प्यास आदि महा तरङ्गोंसे व्याप्त; तापसमूहरूप घन बड़वाग्निकी ज्वालारूप मालाओंसे लपेटे हुए; स्वेष्टजनोंके नाशसे होनेवाले प्रलापरूप महाध्वनिसे शब्द करते हुए; नित्य, निरन्तर दुर्वासनारूप सेवारपटलसे भरे हुए एवं विषयरूप विषसे परिपूर्ण संसारसमुद्रमें डूबे हुए जन्म, मरण, जरा आदि दुःखसे 'मैं मर गया' इस प्रकार शब्द करते हुए आत्माका—अपना—आत्मासे—श्रद्धा और भक्तिसे आराधित ईश्वरके प्रसादसे युक्त, सदसद्विवेक, वैराग्य, शम, दम आदि साधनोंसे सम्पन्न, श्रवणादिसे उत्पन्न हुए आत्मज्ञानसे युक्त अपनेसे—ही उद्धार करे । अपना उद्धार करनेमें उक्त लक्षणोंसे सम्पन्न आप ही सर्वोत्तम साधन है, अन्य नहीं है । उक्त लक्षणसे युक्त साधकतमके होनेपर ही कार्य और दूसरा साधन सिद्ध होता है, अन्यथा नहीं, इसलिए विचक्षण मुमुक्षु उक्त लक्षणवाले अपनेसे ही अपना उद्धरण करे । जैसे महाज्वरादि प्रचण्ड रोगोंमें डूबे हुए आत्माका—अपना—आप ही प्रतिकूल अपथ्य आचरण आदिको छोड़कर दिव्य औषध एवं पथ्यसेवनमें निरत होकर प्रयत्नसे रोगसे उद्धार करता है, वैसे ही आपस्तम्ब द्वारा कहे गये भूतोंको जलानेवाले क्रोध आदि दुर्गुणोंको

पस्तम्बोक्तान् क्रोधादिदुर्गुणान् तत्कार्याणि चाऽपास्य प्रतिकूलं सर्वं कर्म संन्यस्याऽमानित्वादीनामात्मगुणानां च सेवया सद्गुरोः संनिधौ नियमेन कृतश्रवणादिनाऽऽत्मज्ञानं समधिगम्य योगारूढो भूत्वाऽऽत्मानं स्वं स्वयमेव संसारसागरादुद्धरेदित्यर्थः । आत्मन उद्धरणं नामाऽविद्यातत्कार्यसंबन्धलेशरहितेन सच्चिदानन्दैकस्वरूपेण स्थापनमेव । स्वस्वरूपेणाऽवस्थानं खल्वात्मनो मोक्षस्तमेव निरन्तरब्रह्मयोगनिष्ठया मुमुक्षुः संपादयेत्, न त्वनाद्यविद्यावासनावशवर्ती सन् बहिर्मुखो भूत्वाऽऽत्मानमवसादयेत् । यथा रोगी जिह्वादोषवेगवशगो भूत्वा स्वारोग्यप्रतिकूलमपथ्यं भुक्त्वा स्वं स्वयमेव नाशयति, तथा मुमुक्षुर्यतिर्बाह्यवासनयाऽऽत्मतरणप्रतिकूलां बहिःप्रवृत्तिं कृत्वा स्वं स्वयमेव न नाशयेत्, किन्तु 'वाचं यच्छ मनो यच्छ यच्छ प्राणेन्द्रियाणि च । आत्मानमात्मना यच्छ न भूयः कल्पसेऽध्वने ॥' इति न्यायेनाऽन्तःप्रणवो भूत्वा स्वोद्धरणमेव कुर्यादित्यर्थः ।

ननु पङ्के मग्नं पशुं तदीया इवाऽऽत्मानं भ्रातृपुत्रादयो बान्धवाः कन्यादानश्राद्धादिभिः समुद्धरिष्यन्ति किं स्वप्रयासेनेत्याशङ्कायामाह—आत्मैवेति । स्वाविद्यया जननमरणादिदुःखप्रवाहे पतित्वाऽऽध्यात्मिकादितापत्रयाग्निना संतप्यमानस्याऽऽत्मनः स्वस्याऽऽत्मा स्वयमेव बन्धुः संसारदुःखाद् मोचयित्वा निरतिशयमोक्षसुखेन बध्नातीति बन्धुः संसारदुःखाब्धितारकः स्वस्य स्वयमेव न तु भ्रात्रादिः, तत्कर्तृक-

---

और उनके कार्योंको दूर कर, प्रतिकूल सम्पूर्ण कर्मोंका त्यागकर तथा अमानित्व आदि आत्मगुणोंका सेवन कर सद्गुरुके समीपमें नियमसे किये गये श्रवण आदिसे आत्मज्ञानको प्राप्त करके योगारूढ़ होकर आत्माका—अपना—आपसे ही संसारसागरसे उद्धार करना चाहिए । अविद्या और अविद्याके कार्यके सम्बन्धलेशसे रहित सच्चिदानन्दैकस्वरूपसे आत्माका स्थापन ही आत्माका उद्धार है । स्वस्वरूपसे अवस्थान ही आत्माका मोक्ष है, उसीका निरन्तर मोक्षनिष्ठासे मुमुक्षु सम्पादन करे, अनादि अविद्याका वशवर्त्ती होकर यानी बहिर्मुख होकर आत्माको न गिरावे । जैसे रोगी जिह्वादोषके वेगके वशवर्ती होकर अपने आरोग्यके प्रतिकूल अपथ्यका उपभोग कर अपना आप ही नाश करता है, वैसे ही मुमुक्षु यति बाह्यवासनासे आत्मतरणके प्रतिकूल बाहरकी प्रवृत्ति करके अपना आप ही नाश न करे, किन्तु 'वाणीको रोको, प्राण और इन्द्रियोंको रोको, आत्मासे आत्माको रोको, फिर संसारमार्गके योग्य नहीं होओगे' इस न्याससे अन्तर्मुख होकर अपना उद्धार ही करे, यह अर्थ है ।

दलदलमें फँसे हुए पशुको जैसे उसके मालिक आदि निकाल लेते हैं, वैसे ही भाई, पुत्र आदि बान्धव कन्यादान, श्राद्ध आदिसे आत्माका (हमारा) उद्धार कर लेंगे, अपने प्रयाससे क्या ? ऐसी आशङ्का होनेपर कहते हैं—आत्मैवेति । अपनी अविद्यासे जन्म, मरण आदि दुःखके प्रवाहमें पड़कर आध्यात्मिकादि तापत्रयरूप अग्निसे सन्तप्यमान आत्माका (अपना) आत्मा (आप) ही बन्धु है (संसाररूप दुःखसे छुड़ाकर निरतिशय मोक्षरूप सुखके साथ जो बांधता है, वह बन्धु है, अपनेको

श्राद्धादिपुण्यकर्मणामविषयत्वेनाऽऽत्मा न तैस्तार्यते। यथा महारोगी परकर्तृकपथ्यौषधसेवया न तार्यते विना स्वकर्तृकया, तथैव स्वयमपि स्वकर्तृकश्रवणमनननिदिध्यासनसमाधिनिष्ठया विना पुत्रादिभिर्न तार्यते प्रत्युत स्नेहास्पदत्वेन बन्धहेतुरेव भवति पुत्रादिर्न तु मुक्तये। तत एवाऽवधार्यते 'आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुः' इति। स्वस्व रोगक्षुधादिदुःखप्राप्तौ तन्निवर्तकत्वं स्वस्यैव दृष्टमिति प्रत्यक्षप्रसिद्धम्। 'एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वान् तस्यैवाऽऽत्मा विशते ब्रह्मधाम' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धिं च हिशब्दो द्योतयति। नन्वात्मानं प्रत्यात्मन एव बन्धुत्वे स्वातिरिक्तानामेव सर्वेषां शत्रुत्वं सिद्धं न काऽप्यात्मन इत्यादिशङ्कायाम्, न; स्वोद्धरणाय यत्नमकुर्वाणो यो बहिर्मुखः स एव स्वस्य स्वयं शत्रुर्भवतीत्याह—'आत्मैवेति'। आत्मनः स्वस्याऽऽत्मैव शत्रुः शान्तो दान्त इत्युक्तसाधनसंपत्त्याऽऽत्मोद्धरणाय समाधिमकुर्वाणो यः स एव यतिः स्वस्य स्वयमेव शत्रुर्भवति। यथा जिह्वादोषेणाऽपथ्यकारी स्वस्य स्वयमेव शत्रुस्तथा शमादिसाधनसामग्रीमनालम्ब्य स्वोद्धरणसाधनभूतब्रह्मयोगनिष्ठायामतिष्ठन्ननाद्यविद्यावासनावेगाद्विदेहमुक्तिहेतोर्ज्ञानस्य निर्मूलकं बाह्यमेवाऽऽलम्बते यतस्तत आत्मन आत्मैव रिपुर्मारकः, न तु बहिरपकर्ता। तस्य बाह्यकार्यं प्रत्येव रिपुत्वं न तु मुक्तिं प्रति। अत

संसाररूप दुःखसमुद्रसे तारनेवाला आप ही है, भाई आदि नहीं, क्योंकि उनके द्वारा किये गये श्राद्ध आदि पुण्यका विषय आत्मा नहीं होता, इसलिए उनके द्वारा तारा नहीं जा सकता। जैसे खुद पथ्यादिका आचरण न करनेवाला महारोगी दूसरों द्वारा किये गये पथ्य और औषधसेवनसे तारा नहीं जा सकता, वैसे ही अपने द्वारा किये गये श्रवण, मनन, निदिध्यासन और समाधिनिष्ठाके बिना पुत्रादिसे आत्मा तारा नहीं जा सकता, प्रत्युत स्नेहके आस्पद होनेके कारण पुत्रादि बन्धके हेतु ही होते हैं, मुक्तिके हेतु नहीं होते। इसीलिए अवधारण किया जाता है—'आत्मा ही आत्माका बन्धु है'। अपनेको रोग, क्षुधा आदि जनित दुःख प्राप्त होनेपर उसकी निवृत्ति आपसे ही होती है, ऐसा प्रत्यक्ष प्रसिद्ध है। 'जो विद्वान् इन उपायोंसे प्रयत्न करता है, उसीकी आत्मा ब्रह्मधाममें प्रवेश करती है' इत्यादि श्रुतियोंकी प्रसिद्धिका हिशब्द सूचक है। यदि शङ्का हो कि 'आत्माके प्रति आत्मा ही बन्धु है', इस कथनसे आत्मासे अन्य सम्पूर्ण शत्रु हैं, ऐसा सिद्ध होता है, आत्मा शत्रु है, ऐसा कहीं भी सिद्ध नहीं होता, तो यह शङ्का भी युक्त नहीं है, क्योंकि अपने उद्धारके लिए प्रयत्न न करनेवाला जो बहिर्मुख है, वही अपना खुद शत्रु है, ऐसा कहते हैं—आत्मैवेति। आत्माका—अपना—आत्मा ही शत्रु है यानी 'शान्त, दान्त', इत्यादि श्रुतिसे कही गई साधनसम्पत्तिसे आत्माका उद्धार करनेके लिए जो समाधि नहीं करता है, वही यति अपना आप ही शत्रु है। जैसे जिह्वादोषसे अपथ्य करनेवाला अपना आप ही शत्रु होता है, वैसे ही जो शम, दम, आदि साधनसामग्रीका अवलम्बन न करके अपने उद्धरणकी साधनभूत योगनिष्ठामें स्थित न होकर अनादि अविद्याकी वासनाके वेगसे विदेहमुक्तिके हेतुभूत ज्ञानका निर्मूलन करनेवाले बाह्य विषयका ही आलम्बन करता है, वह स्वयं ही आत्माका शत्रु—मारनेवाला—है, बाहरका शत्रु कोई नहीं है। वह तो बाहरके प्रति ही शत्रु है, मोक्षके प्रति नहीं। इसीलिए

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनाऽऽत्मैवाऽऽत्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेताऽऽत्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥

राग-द्वेष आदिसे इन्द्रियोंके वशीभूत होकर स्वाभाविक देह, इन्द्रिय आदिकी प्रवृत्तिको ही अपनी अभीष्ट समझनेवाले संसारी आत्माका विवेक, वैराग्य आदिसे सम्पन्न कार्यकरणसङ्घातरूप आत्माके ऊपर विजय प्राप्त किया हुआ आत्मा बन्धु है और देह, इन्द्रिय आदि अनात्म पदार्थ समाधिनिष्ठाके प्रतिकूल हैं, अतः उनकी प्रवृत्तिके अनुसार चलनेवाला आत्मा अपना शत्रुतुल्य ही है ॥ ६ ॥

एवाऽवधार्यते आत्मैव रिपुरात्मन इति । मुक्तिहेतोः सार्वात्म्यसिद्धेर्बाह्यालम्बनस्यैव प्रतिपक्षत्वात् तत्कर्तुः स्वस्य युक्तं स्वं प्रति स्वस्यैव रिपुत्वं रोगिण्यपथ्यकारिणि तद्दृष्टमिति हिः प्रसिद्धिं द्योतयति ॥ ५ ॥

यदुक्तं स्वं प्रति स्वस्यैव बन्धुत्वं शत्रुत्वं च तदिदानीं विस्पष्टयति—बन्धुरिति ।

अनाद्यविद्यावासनया रागद्वेषादिभिश्च बन्धकगुणैरिन्द्रियवशो भूत्वा देहेन्द्रियादिप्रवृत्तिमेव स्वाभाविकीं स्वस्येष्टामेव मन्यमानो य आत्मा संसरति तस्याऽऽत्मनः सदसद्विवेकवता तीव्रविरक्तिमता मोक्षेच्छयैव कृतश्रवणादिना विज्ञातात्मतत्त्वेनाऽमानित्वादिगुणसंपन्नेन येनाऽऽत्मना रागद्वेषादिदोषानभिभूयाऽऽत्मा कार्यकरणसंघात एव जितो निर्जितो भवति स आत्मा बन्धुर्भवति । कार्यकरणसंघातजयस्तु तत्प्रवृत्तिप्रतियोगिगुणावष्टम्भेन कर्तव्यः । देहप्रवृत्तिर्देहशिरोग्रीवाणां समत्व-

---

अवधारण किया जाता है—'आत्मा ही आत्माका शत्रु है'। मुक्तिके हेतुभूत सार्वात्म्यकी सिद्धिका बाह्य आलम्बन ही प्रतिपक्षी है, इसलिए उसको करनेवाला आप ही अपना शत्रु है, यह कहना युक्त है। अपथ्य करनेवाले रोगीमें वैसा देखा जाता है, इस प्रकारकी प्रसिद्धिका 'हि' शब्द सूचन करता है ॥ ५ ॥

आप ही अपना बन्धु और शत्रु है, ऐसा जो कहा गया है, उसीको विशेषरूपसे स्पष्ट करते हैं—'बन्धु०' इत्यादिसे ।

अनादि अविद्याकी वासनासे और राग, द्वेष आदि बन्धक गुणोंसे इन्द्रियोंके वशमें होकर 'देह, इन्द्रिय आदिकी स्वाभाविक प्रवृत्ति ही अपनी अभीष्ट है' ऐसा मानता हुआ जो आत्मा संसारको प्राप्त होता है, उस आत्माके सत्यासत्यविवेकसे युक्त, तीव्र वैराग्यसे युक्त, मोक्षकी इच्छासे किये गये श्रवण आदिसे जायमान आत्मतत्त्वज्ञानसे युक्त तथा अमानित्व आदि गुणोंसे सम्पन्न जिस आत्माके द्वारा राग-द्वेष आदि दोषोंका अभिभव करके आत्माको—कार्यकारणसङ्घातरूप आत्माको—ही जीत लिया जाता है, वह आत्मा बन्धु है। कार्यकारणसङ्घातरूप आत्माका जय तो उसकी प्रवृत्तिके प्रतियोगी (विरोधी) गुणोंके अवलम्बनके द्वारा करना चाहिए। देहकी प्रवृत्तिका

धारणेन धैर्येण च, प्राणप्रवृत्तिः प्राणायामेन क्षान्त्या च, इन्द्रियप्रवृत्तिर्मनःप्रवृत्तिश्च वैराग्येण शान्त्या च, बुद्धिप्रवृत्तिः सदसद्विवेकविज्ञानेन तीव्रमोक्षेच्छया च, ब्रह्मण्येवाऽऽत्मभावेनाऽहंकारप्रवृत्तिर्जेतव्या। एवं कार्यकरणसङ्घातलक्षण एवाऽऽत्मा येन वशीकृतो भवति स कार्यकरणसङ्घातजेताऽऽत्मा पूर्वोक्तस्याऽहंममेति संसरिष्णोरात्मनो बन्धुस्तारको भवति। स्वतरणकारणभूतज्ञानस्याऽप्रतिबन्धत्वाय क्रियमाणसमाधिनिष्ठाप्रतिकूलकार्यकरणसङ्घातप्रवृत्तिं वासनाकृतां निगृह्य यस्मात् समाधावेव प्रवर्तते तस्मादित्यर्थः। एतेन देहेन्द्रियमनोबुद्ध्यादेरनुकूलत्वे समाधिर्ज्ञानं च मोक्षश्च सिध्यति नाऽन्यथा। ततः प्रतियोगिगुणावष्टम्भेन देहेन्द्रियादेर्जयोऽवश्यं मुमुक्षोर्यतेः कर्तव्य इति सूचितम्। तत एव देहेन्द्रियादेर्जयमकुर्वाणः स्वस्य स्वयमेव शत्रुर्भवतीत्याह—**अनात्मन इति।** अनात्मनो देहेन्द्रियादेः स्वस्ववासनानुरूपप्रवृत्त्या शत्रुत्वे समाधिनिष्ठाप्रतिकूलत्वे सति तत्प्रवृत्त्यनुसार्यात्माऽपि संसारमग्नस्याऽऽत्मनः स्वस्य स्वयं शत्रुवदेव भवति। स्वोद्धरणक्रियाप्रतिकूलदेहाद्यनुसारित्वाद्यथा रोगी विरोध्यपथ्यानुसारी पुरुषः स्वस्य स्वयं शत्रुर्भवति तथाऽयमात्माऽपि। 'नाविरतो दुश्चरितात्', 'यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञः' इति, 'वाचं यच्छ' इत्यादिश्रुतिस्मृत्युक्तमोक्षमार्गमनादृत्य यतो

जय देह, सिर और ग्रीवाका समरूपसे धारण करनेसे एवं धैर्यसे, प्राणकी प्रवृत्तिका जय प्राणायाम और शान्तिसे, इन्द्रियोंकी और मनकी प्रवृत्तिका जय वैराग्यसे और शान्तिसे, बुद्धिकी प्रवृत्तिका जय सदसत्के विवेक, विज्ञान एवं तीव्र मोक्षकी इच्छासे तथा अहङ्कारकी प्रवृत्तिका जय ब्रह्ममें आत्मभावसे करना चाहिए। इस प्रकार कार्यकरणसङ्घातरूप आत्माको ही जिसने अपने वशमें कर लिया है, वह कार्यकारणसङ्घातको जीतनेवाला आत्मा पूर्वोक्त मैं, मेरा इत्यादि रूपसे संसारको प्राप्त होनेवाले आत्माका बन्धु यानी तारक है। यतः अपने तरणके कारणभूत ज्ञानके अप्रतिबन्धके लिए की जानेवाली समाधिनिष्ठाकी प्रतिकूल वासना द्वारा उत्पन्न कार्यकारणसङ्घातकी प्रवृत्तिको रोक कर समाधिमें ही प्रवृत्त होता है, इसलिए बन्धु है, यह अर्थ है। इससे यह सूचित होता है कि देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिके अनुकूल होनेपर ही समाधि, ज्ञान और मोक्ष सिद्ध होता है, अन्यथा नहीं, इसलिए मुमुक्षु यतिको प्रतियोगी गुणोंके अवलम्बनसे देह, इन्द्रिय आदिका जय अवश्य करना चाहिए। इसीलिए देह, इन्द्रिय आदिके ऊपर विजय प्राप्त न करनेवाला अपना आप ही शत्रु है, ऐसा कहते हैं—**अनात्मन** इति। अपनी-अपनी वासनाके अनुसार वृत्ति द्वारा अनात्मभूत देह, इन्द्रिय आदिके शत्रु यानी समाधिनिष्ठाके प्रतिकूल होनेपर उनकी प्रवृत्तिका अनुसारी आत्मा (आप) भी संसारमग्न आत्माका (अपना) शत्रुतुल्य ही हो जाता है। जैसे विरोधी अपथ्यका अनुसरण करनेवाला रोगी पुरुष स्वयं अपना आप शत्रु होता है, वैसे ही यह आत्मा भी अपने उद्धरणके प्रतिकूल देह आदिका अनुसरण करनेसे अपना आप ही शत्रु होता है। यतः 'दुश्चरितसे अविरत नहीं हुआ', 'प्राज्ञ वाणीका मनमें लय करे', 'वाणीको

वासनानुरूपेण स्वमुक्तेः प्रतिकूलां बहिःप्रवृत्तिमेव करोति ततो युक्तमात्मनः स्वं प्रति स्वस्य शत्रुत्वम् । यस्मादेवं तस्मान्मुमुक्षोर्यतेः श्रवणादिजन्यज्ञानवतो विदेहकैवल्यसिद्ध्यै कर्तृकरणभोक्तृभोग्यादिसर्वदृश्यमिथ्यात्वबुद्ध्या तीव्रवैराग्येण च मिथ्याविषयां बन्धकरीं बाह्यप्रवृत्तिं निगृह्य ब्रह्मयोगनिष्ठामधिष्ठायाऽऽत्मोद्धरणमवश्यं प्रयत्नेन कर्तव्यमिति सिद्धम् । 'ननु उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानम्' इत्यात्मनैवाऽऽत्मन उद्धरणं कर्तव्यमित्युक्ते त्वेकस्यैवाऽऽत्मनः कर्तृकर्मभावः प्रसज्यते, स च लोकशास्त्रविरुद्धः, नहि स्वस्कन्धं स्वयमारोढुं शक्नोति तद्वत् स्वं स्वयमुद्धर्तुं च न शक्नोत्येवेति चेत्, सत्यम्; स्वं प्रति स्वस्य कर्तृभावः कर्मभावश्च नोपपद्यते तथापि गुणभेदेन तद्द्वयमात्मन्येकस्मिन्नप्युपपद्यते, तदुच्यते—स्वाज्ञानेन संसारे पतितं स्वं स्वयमेव शमदमसंन्याসादिसाधनसम्पत्त्या श्रवणमननिदिध्यासादिभिः समुत्पन्नकूटस्थासङ्गचिद्रूपत्वविज्ञानेन देहेन्द्रियादिसम्बन्धरहितं ज्ञात्वा कर्तृत्वभोक्तृत्वादिसम्बन्धेभ्यो मोचयितुमर्हत्येव । यथा अज्ञानेनाऽरण्ये निर्जने ह्रदे वाऽन्यत्र वा पङ्के पतितं स्वं स्वयमेव विवेकी चतुरः पुरुषस्तरुं तरुशाखां वा लतां वाऽन्यद्वाऽऽलम्ब्योपायेन पङ्कात् समुद्धरति तद्वदेतन्न्यायाद्भगवद्वचनाच्च न कोऽपि विरोधः ॥ ६ ॥

रोको' इत्यादि श्रुति और स्मृतियों द्वारा कहे गये मोक्षमार्गका अनादर करके वासनाके अनुसार अपनी मुक्तिकी प्रतिकूल क्रियाको ही करता है, इसलिए आत्माके प्रति अपना शत्रुत्व युक्त ही है। जिस कारणसे ऐसा है, इसलिए श्रवण आदिसे जनित ज्ञानसे सम्पन्न मुमुक्षु यतिको विदेहकैवल्यकी सिद्धिके लिए कर्ता, करण, भोक्ता, भोग्य आदि सम्पूर्ण दृश्योंमें मिथ्यात्वबुद्धिसे और तीव्र वैराग्यसे मिथ्याविषयवाली, तथा बन्धमें डालनेवाली बाह्यप्रवृत्तिको रोक कर एवं ब्रह्मनिष्ठामें स्थित होकर प्रयत्नपूर्वक आत्माका उद्धार करना चाहिए, यह सिद्ध हुआ। यदि यह शङ्का हो कि 'उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानम्' (आत्मासे आत्माका उद्धरण करना चाहिए) ऐसा कहनेसे तो एक ही आत्मामें कर्तृत्व और कर्मत्वका प्रसङ्ग होता है और वैसा लोक और शास्त्रसे विरुद्ध है, क्योंकि जैसे अपने कन्धेपर आप नहीं चढ़ सकता, वैसे ही आप अपना उद्धार नहीं कर सकता, तो यह कहना यद्यपि ठीक है क्योंकि अपने प्रति अपनेमें कर्तृभाव और कर्मभाव नहीं हो सकता, तथापि गुणोंके भेदसे वे दोनों एक आत्मामें भी रह सकते हैं। उसीको कहा जाता है—अपने अज्ञानसे संसारमें पड़े हुए आपको शम, दम, संन्यास आदि साधनोंकी सम्पत्तिसे, श्रवण, मनन और निदिध्यासन आदिसे उत्पन्न कूटस्थ असङ्ग चिद्रूपत्वके विज्ञानसे देह, इन्द्रिय आदिके संबन्धसे रहित जानकर आप ही कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि संबन्धोंसे छुड़ानेके लिए योग्य होता ही है। जैसे अज्ञानसे निर्जन वनमें एवं तालाब अथवा अन्यत्र दलदलमें गिरा हुआ विवेकी चतुर पुरुष वृक्ष, वृक्षकी शाखा, लता या अन्य किसीका अवलम्बन कर उपाय द्वारा दलदलसे अपनेको निकाल लेता है, वैसे ही प्रकृतमें इस न्यायसे और भगवान्‌के वचनसे कोई भी विरोध नहीं है ॥ ६ ॥

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ७ ॥

वशीकृतचित्तवाले प्रशान्त यतिको शीत और उष्ण प्रयुक्त सुख-दुःखके तथा मान और अपमानके प्राप्त होनेपर भी परमात्मा समाहित रहता है अर्थात् बाहर भीतर सर्वत्र स्वयं ही बुद्धिवृत्तिका विषय रहता है ॥ ७ ॥

समाधेः प्रतिकूलां देहेन्द्रियादिप्रवृत्तिं निरुध्य समाधिनिष्ठां कृतवतो यतेः फलमहमेवेदं सर्वमिति सर्वत्राऽप्रतिबद्धात्मापारोक्ष्यमेवेति सूचयन् वक्ष्यमाणलक्षणसंपन्नो भूत्वा यः समाधिनिष्ठासंपादितविज्ञानबलेन विपरीतप्रत्ययानामकम्प्यो भवति स योगारूढ इति बोधयति—जितात्मन इति द्वाभ्याम् ।

विवेकवैराग्याभ्यां तीव्रमोक्षेच्छया चेश्वरप्रसादाद्गुरोः प्रसादाच्च श्रुत्वा मत्वाऽऽत्मानं सम्यग्विज्ञाय कार्यकारणसङ्घातं वशीकृत्याऽऽत्मोद्धरणाय यः समाधिं करोति तस्य जितात्मनः जितो निर्जितः समाधिना सर्ववासनापटलसंक्षये सति विपरीतग्रहो यथा न स्यात्तथा वशीकृतो विपरीतग्रहवैमुख्यं प्रापित आत्मा मनो यस्य तस्य जितात्मनस्तत एव प्रशान्तस्य निर्विकल्पस्य यतेः परमात्मा निरतिशयानन्दरूपत्वान्निरवधिकमहत्त्वाच्च परमश्चाऽसावात्मा च परमात्मा परं ब्रह्म समाहितः सम्यगाहितः समाहितः विपरीतप्रत्ययनिर्मुक्तो भूत्वा बहिरन्तः सर्वत्र चक्षुषो रूपमिव बुद्धिवृत्तेः स्वयमेव विषयो भवतीत्यर्थः । कर्ताऽहं भोक्ता सुखी दुःखीत्यादिविपरीतप्रत्ययैः संसारीभूत-

---

समाधिकी प्रतिकूल देह, इन्द्रिय आदिकी प्रवृत्तिको रोक कर समाधिनिष्ठा करनेवाले यतिको 'मैं ही यह सब हूँ' ऐसा सर्वत्र अप्रतिबद्ध आत्माका अपरोक्षज्ञानरूप फल ही मिलता है, ऐसा सूचन करते हुए वक्ष्यमाण लक्षणोंसे सम्पन्न होकर समाधिनिष्ठा द्वारा सम्पादित विज्ञानके बलसे विपरीत प्रत्ययों द्वारा जो विचलित नहीं होता, वह योगारूढ़ है, ऐसा बोधन करते हैं— 'जितात्मनः' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

विवेक, वैराग्य एवं तीव्र मोक्षकी इच्छासे, ईश्वरके प्रसाद और गुरुके प्रसादसे श्रवण और मननपूर्वक आत्माको ठीक-ठीक जानकर जो कार्यकरणसङ्घातको वशमें कर आत्माका उद्धार करनेके लिए समाधि करता है, उस जितात्मा (जीत लिया है यानी समाधिसे सम्पूर्ण वासनाओंके समूहका क्षय होनेपर वशमें कर लिया है—विपरीत ग्रहणसे विमुख हो गया है—आत्मा—मन जिसका वह जितात्मा है) इसीलिए प्रशान्तका—निर्विकल्प यतिका—परमात्मा (निरतिशय आनन्दरूप और निरवधिक महत्त्व होनेके कारण परम, जो परम और आत्मा है वह परमात्मा है यानी परब्रह्म) विपरीत प्रत्ययसे निर्मुक्त होकर बाहर भीतर सर्वत्र, नेत्रवृत्तिका रूपके समान, स्वयं ही बुद्धिवृत्तिका विषय होता है, यह भाव है । 'मैं कर्ता, भोक्ता, सुखी, दुःखी हूँ'

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ ८ ॥

ज्ञान और विज्ञानसे तृप्त अन्तःकरणवाला, इन्द्रियोंको अपने वशमें करनेवाला, लोहे, पत्थर और सोने आदिमें समबुद्धि रखनेवाला तथा विपरीत प्रत्ययोंसे विचलित न होनेवाला योगी पण्डितों द्वारा योगारूढ कहा जाता है ॥ ८ ॥

स्याऽऽत्मनः समाधिनिष्ठासंजातविज्ञानबलेन तत्तत्प्रत्ययसंबन्धराहित्यापादनमेवाऽऽत्मनः समुद्धरणमिति परमात्मा समाहित इतिपदेन सूचितं भवति ।

यदुक्तमुद्धरेदात्मनाऽऽत्मानमिति तदुद्धरणप्रकारमेव निरूप्येदानीमेवंलक्षणो योगारूढो जीवन्मुक्त इति योगिनो योगारूढत्वं सूचयितुमाह—**शीतेति** । तस्य योगनिष्ठासिद्धेरसाधारणकारणमाह—**विजितेन्द्रिय इति** । सदसद्विवेकजन्यतीव्रमोक्षेच्छाभ्यां विशिष्य जितानि विजितानि विषयग्रहणवैमुख्यं गमितानीन्द्रियाणि बाह्याभ्यन्तरकरणानि येन स जितेन्द्रियो भूत्वा, योगी योगनिष्ठायां प्रवृत्तो ब्रह्मविद्यतिः स्वयं ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'तज्जलानिति', 'अयमात्मा ब्रह्म', 'तत्त्वमसि', 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' इत्यादिश्रुतयः, 'वासुदेवः सर्वम्' इत्यादिस्मृतयश्च सर्वस्य जगतो नामरूपप्रत्ययनिरासपूर्वकं नियमेन ब्रह्ममात्रत्वं प्रतिपादयन्ति । निरुक्तश्रुतिस्मृतिवाक्यबलात् सर्वस्य ब्रह्ममात्रत्वावधारणमप्रतिहतं ज्ञानं शास्त्रेण सूर्यग्रहणनिश्चयवत् । विज्ञानं तु श्रुतिस्मृतिभिः सम्यङ्निर्धारितस्य चिदेक-

इत्यादि विपरीत प्रत्ययोंसे संसारीभूत आत्माके साथ समाधिनिष्ठासे उत्पन्न विज्ञानके बलसे तत्-तत् प्रत्ययके संबन्धाभावका संपादन करना ही आत्माका उद्धार है, ऐसा 'परमात्मा समाहितः' इस पदसे सूचित होता है ।

'आत्मासे आत्माका उद्धार करे', यह जो कहा था, तदनुसार आत्माके उद्धारके मार्गका निरूपण करके अब 'ऐसे लक्षणसे युक्त जीवन्मुक्त योगारूढ है', इस प्रकार योगीमें योगारूढत्वका सूचन करनेके लिए कहते हैं—'शीत०' इत्यादिसे । उसकी योगनिष्ठाकी सिद्धिमें असाधारण कारण बतलाते हैं—**विजितेन्द्रिय इति** । सत् एवं असत्के विवेक और तीव्रमोक्षकी इच्छासे युक्त होकर जीत ली हैं—विशेष करके जीत ली हैं—विषयोंके ग्रहणसे विमुख कर ली हैं इन्द्रियाँ—बाहर और भीतरकी इन्द्रियाँ जिसने, वह विजितेन्द्रिय है, जितेन्द्रिय होकर, योगी—योगनिष्ठामें प्रवृत्त ब्रह्मवित् यति—स्वयं ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा—'सब यह ब्रह्म है', 'वह जन्म देनेवाला, लय करनेवाला और चेष्टा करानेवाला है', 'यह आत्मा ब्रह्म है', 'वह तू है', 'ब्रह्म ही यह सब है' इत्यादि श्रुतियाँ और 'सब वसुदेव है' इत्यादि स्मृतियाँ सम्पूर्ण जगत्में नामरूपप्रत्ययके निरासपूर्वक नियमसे ब्रह्ममात्रत्वका प्रतिपादन करती हैं । शास्त्रसे सूर्यग्रहणके निश्चयके समान निरुक्त श्रुति और स्मृतियोंके बलसे सबमें ब्रह्ममात्रत्वका अप्रतिहत अवधारण

बुद्धिवृत्त्या ब्रह्मैवाऽहमिदं जगच्चेति निर्विशेषात्मना सर्वतः परिपूर्णस्य साक्षादपरोक्षीकरणम्। चक्षुषा राहुग्रस्तार्कबिम्बदर्शनवदेताभ्यामुक्तलक्षणाभ्यां ज्ञानविज्ञानाभ्यां सर्वस्य ब्रह्ममात्रत्वावगाहकाभ्यामप्रतिबन्धाभ्यां तृप्तः पूर्णः विकल्पान्तरस्याऽवकाशरहित आत्मा मनो यस्य स ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा तत एव समलोष्टाश्मकाञ्चनः समानि चिदाकारवृत्त्या समत्वेन ब्रह्ममात्रतया दृष्टानि लोष्टाश्मकाञ्चनानि येन स समलोष्टाश्मकाञ्चनः सर्वत्र ब्रह्ममात्रदर्शीत्यर्थः। एतेन बाह्यपदार्थविवेकराहित्यं हेयोपादेयत्वबुद्धिशून्यत्वं च सूचितं भवति। ननु योगारूढस्य ब्रह्मविदः सदा सर्वत्र ब्रह्मदर्शनमनुपपन्नं प्राप्ते सत्याधिभौतिकाद्युपद्रवे तद्दर्शनतदनुसन्धानाभ्यां ब्रह्मदर्शनस्य व्याघातः स्यादित्याशङ्कायाम् , न; विजितेन्द्रियत्वान्निःशेषविनष्टबाह्यवासनत्वाच्च तेषु प्राप्तेष्वपि ब्रह्मविद्ब्रह्मदृष्ट्यैव तिष्ठति न ततश्चलतीति बोधयितुमाह—**शीतोष्णेति**। मानापमानयोर्मानः स्तुतिपूजोपचारादिः, अपमानस्तु निन्दातिरस्कारादिस्तयोः प्राप्तयोः सतोस्तथा शीतोष्णसुखदुःखेषु शीतोष्णेत्याधिभौतिकानामाधिदैविकानां चोपलक्षणम्। सुखदुःखेत्याध्यात्मिकानामुपलक्षणम्। शीतोष्णव्याघ्रसर्पादावग्न्यादिषु वृष्ट्यशन्यादिषु च ज्वरादिषु मिष्टान्नादिषु च प्राप्तेषु सत्स्वपि ब्रह्मवित्समदर्शन

ज्ञान है। नेत्रसे राहुग्रस्त सूर्यके बिम्बके दर्शनके समान श्रुति और स्मृतियों द्वारा भली भाँति निर्धारित चिन्मात्रबुद्धिवृत्तिसे ब्रह्म ही मैं और यह सब जगत् है, ऐसा निर्विशेषस्वरूपसे सर्वतः परिपूर्णका साक्षात् अपरोक्षीकरण विज्ञान है। इस प्रकार कहे गये लक्षणवाले सबको ब्रह्ममात्र बतलानेवाले प्रतिबन्धरहित ज्ञान और विज्ञानसे—तृप्त है—पूर्ण है—यानी दूसरे विकल्पके अवकाशसे रहित है आत्मा (मन) जिसका वह ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा, इसीलिए समलोष्टाश्मकाञ्चन—चिदाकारवृत्ति द्वारा समरूपसे—ब्रह्ममात्ररूपसे—देखे हैं मिट्टीका ढेला, पत्थर और सोना जिसने, वह समलोष्टाश्मकाञ्चन है। सर्वत्र ब्रह्ममात्रदर्शी, यह भाव है। इससे बाहरके पदार्थोंके विवेकसे रहित होना और ग्रहण तथा त्यागबुद्धिसे रहित होना सूचित होता है। यदि शङ्का हो कि योगारूढ ब्रह्मवित्का सदा सर्वत्र ब्रह्मदर्शन नहीं हो सकता, क्योंकि आधिभौतिक आदि उपद्रवोंके प्राप्त होनेपर उनके दर्शन और उनके अनुसन्धानसे ब्रह्मदर्शनका व्याघात हो जायगा, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि विजितेन्द्रिय होनेसे और बाहरकी वासनाके निःशेष नष्ट हो जानेसे उन उपद्रवोंके प्राप्त होनेपर भी ब्रह्मवित् ब्रह्मदृष्टिसे ही स्थित रहता है, उससे चलायमान नहीं होता, ऐसा बोधन करनेके लिए कहते हैं—'**शीतोष्ण**' इत्यादिसे। मानापमानके—मान यानी स्तुति, पूजा, उपचार आदि; अपमान यानी निन्दा तिरस्कार आदि—उन दोनोंके प्राप्त होनेपर तथा शीतोष्णसुखदुःख (शीतोष्ण शब्द आधिभौतिक और आधिदैविकोंका भी उपलक्षण है और सुखदुःख शब्द आध्यात्मिकोंका उपलक्षण है) तात्पर्य यह है कि 'शीत, उष्ण, व्याघ्र, सर्प आदि, अग्नि आदि, वृष्टि, वज्रपात आदि, ज्वरादि और मिष्टान्न आदिके प्राप्त होनेपर भी ब्रह्मवित् समदर्शी ही होता है,

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥

योगारूढ़ ब्रह्मवित् यतिकी सुहृद्, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और बन्धुओंमें तथा साधुओं और पापियोंमें सर्वत्र समबुद्धि यानी समताको प्राप्त हुई बुद्धि स्थिर रहती है ॥ ९ ॥

एव भवति न वाऽऽरोपितनामरूपक्रियातत्फलानुसन्धानपरो भवति । नामरूपादेर्ब्रह्मणि प्रविलापितत्वेन पुनर्वृत्तिविषयत्वायोगात्ततः स्वयं ब्रह्मदृष्ट्या तिष्ठति, न ततः किंचिच्चलति । तथा च श्रुतिः—'महत्पदं ज्ञात्वा वृक्षमूले वसेत् कुचैलोऽसहाय एकाकी समाधिस्थ आत्मकाम आप्तकामो निष्कामो जीर्णकामो व्याघ्रे हस्तिनि सिंहे दंशे मशके नकुले सर्पे यक्षे राक्षसे गन्धर्वे मृत्यो रूपाणि विदित्वा न बिभेति कुतश्चनेति वृक्ष इव तिष्ठासेच्छिद्यमानो न कुप्येत न कम्पेत उपल इव तिष्ठासेच्छिद्यमानो न कुप्येत न कम्पेत आकाशमिव तिष्ठासेच्छिद्यमानो न कुप्येत न कम्पेत सत्येन तिष्ठासेत्' इति । एवं विपरीतप्रत्ययहेतुषु प्राप्तेष्वपि ब्रह्मवित्कूटस्थो विपरीतप्रत्ययैरकम्प्यो भवति यदा तदा युक्तो योगारूढ इत्युच्यते पण्डितैरिति द्वयोरर्थः ॥७,८॥

ज्ञानविज्ञानपूर्णत्वं बाह्यपदार्थविवेकरहितत्वं हेयोपादेयबुद्धिशून्यत्वं विपरीतप्रत्ययैरकम्पितत्वं च योगारूढस्य लक्षणमिति प्रतिपाद्येदानीमपि सर्वत्र समदर्शनमेव

आरोपित नाम, रूप, क्रिया और क्रियाके फलका अनुसंधान करनेवाला नहीं होता, क्योंकि नाम, रूप आदिका ब्रह्ममें लय कर देनेके कारण फिर वे वृत्तिविषय नहीं हो सकते, इसलिए ब्रह्मदृष्टिसे ही स्थिर रहता है, उससे तनिक भी विचलित नहीं होता । जैसे कि श्रुति है—'महान् पदको जानकर वृक्षके मूलमें बसे, कुवस्त्रवाला, असहाय, अकेला, समाधिस्थ, आत्मकाम, आप्तकाम, निष्काम और जीर्णकाम मुमुक्षु व्याघ्रमें, हाथीमें, सिंहमें, दंशमें, मच्छरमें, नकुलमें, सर्पमें, यक्षमें, राक्षसमें और गन्धर्वमें मृत्युके रूपको जानकर किसीसे डरता नहीं है, वृक्षके समान रहे, काटनेपर न कोप करे और न काँपे, पत्थरके समान रहे, तोड़नेपर भी न कोप करे और न काँपे, आकाशके समान रहे, छिद्यमान होनेपर न कोप करे और न काँपे, सत्यरूपसे स्थित रहे ।' इस प्रकार विपरीत प्रत्ययोंके हेतुओंके प्राप्त होनेपर भी ब्रह्मवित् कूटस्थ विपरीत प्रत्ययोंसे जब कम्पित नहीं होता है, तब पण्डितों द्वारा वह युक्त यानी योगारूढ़ कहलाता है, यह दोनोंका अर्थ है ॥ ७,८ ॥

ज्ञान और विज्ञानसे पूर्ण होना, अनात्म पदार्थोंके विचारसे रहित होना, हेयोपादेयबुद्धिसे शून्य होना और विपरीत प्रत्ययोंसे कम्पित न होना योगारूढ़का लक्षण है, ऐसा पहले प्रतिपादन करके

ब्रह्मविदो योगारूढस्य जीवन्मुक्तस्य लक्षणमिति तदेव पुनर्द्रढयति—सुहृदिति ।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु—प्रत्युपकारमनपेक्ष्यैवोपकर्ता सुहृत्, 'ददाति प्रतिगृह्णाति' इत्याद्युक्तलक्षणलक्षितं मित्रम्, परोक्षापरोक्षयोरपकर्ताऽरिः शत्रुः, अप्रियवादित्वाद् द्वेष्टुं योग्यो द्वेष्यः, वादिप्रतिवादिनोः समो मध्यस्थः, सर्वत्रोपेक्षावानुदासीनः, बन्धवो बान्धवास्तेषु—, प्राणात्ययेऽपि ये स्वधर्मं न त्यजन्ति शास्त्रानुवर्तिनस्ते साधवस्तेष्वपि, निषिद्धकारिणो दुराचाररताः पापास्तेषु च संन्या-सात्पूर्वमुक्तगुणविशिष्टेष्वपि सुहृदादिपापिष्ठान्तेषु जनेषु योगारूढस्य ब्रह्मविदो यतेस्तत्तन्नामरूपजातिगुणक्रियाग्रहणेन विनैव समबुद्धिः सर्वत्र ब्रह्मबुद्धिर्विशिष्यते। क्वचिदापाततो मृदि घटबुद्धिवत्पदार्थबुद्धौ जातायामप्युत्तरक्षणे तां बाधित्वा घटे मृद्बुद्धिवत् सर्वत्र ब्रह्मबुद्धिरेव विशेषायते। ब्रह्मप्रत्यय एवाऽबाध्यमानः स्थिरीभवतीत्यर्थः। 'समबुद्धिर्विमुच्यते' इति पाठे तु समबुद्धिरिति प्रथमान्तं पदं विशेषणम्। समा समाकारतामापन्ना सदा सर्वत्र ब्रह्ममात्रग्राहिणी बुद्धिर्यस्य स समबुद्धिर्विमुच्यते। सुहृदादिषु सर्वत्र सदा ब्रह्मैव यः पश्यति स मुक्तो भवतीत्यर्थः ॥ ९ ॥

यतो योगारूढस्यैवाऽप्रतिबद्धज्ञानं सर्वत्र ब्रह्मदर्शनं मुक्तिश्च नाऽन्यस्याऽतो मुमु-

---

फिर भी सर्वत्र समदर्शन ही ब्रह्मवित् योगारूढ जीवन्मुक्तका लक्षण है, ऐसा प्रतिपादन करते हुए उसीको दृढ़ करते हैं—'सुहृद्' इत्यादिसे ।

सुहृत्, अरि, मित्र, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और बन्धुओंमें (प्रत्युपकारकी अपेक्षाके बिना उपकार करनेवाला सुहृत् है; 'देता है, लेता है, भोजन करता है, कराता है एवं गुप्त बात कहता है और सुनता है' इत्यादिसे उक्त लक्षणोंसे लक्षित मित्र है; परोक्ष और अपरोक्षमें अपकार करनेवाला अरि—शत्रु है; अप्रियवादी होनेसे द्वेष करने योग्य द्वेष्य है; वादी और प्रतिवादी दोनोंमें सम मध्यस्थ है; सर्वत्र उपेक्षावाला उदासीन है, बन्धु यानी बान्धव उनमें), प्राण जानेपर भी जो स्वधर्मका त्याग नहीं करते, वे शास्त्रानुवर्ती साधु हैं, उनमें भी, निषिद्ध करनेवाले दुराचारमें रत पापी हैं उनमें भी अर्थात् संन्याससे पूर्व उक्त गुणोंसे विशिष्ट सुहृत्से लेकर पापिष्ठ तक इन जनोंमें योगारूढ ब्रह्मवित् यतिकी तत्-तत् नाम, रूप, जाति, गुण और क्रियाका विचार किये बिना ही समबुद्धि—सर्वत्र ब्रह्मबुद्धि प्राप्त रहती है—कहीं अचानक मिट्टीमें घटबुद्धिके समान पदार्थबुद्धि होनेपर भी पिछले ही क्षणमें उसका बाध करके घटमें मिट्टी बुद्धिके समान सर्वत्र ब्रह्मबुद्धि ही हो जाती है। अबाध्यमान ब्रह्म-प्रत्यय ही स्थिर हो जाता है, यह अर्थ है। 'समबुद्धिर्विमुच्यते' इस पाठमें तो 'समुबुद्धिः' प्रथमान्त पद योगारूढ़का विशेषण है। सम यानी समाकारताको प्राप्त हुई सदा सर्वदा ब्रह्ममात्रका ग्रहण करानेवाली जिसकी बुद्धि है, वह समबुद्धि मुक्त होता है। सुहृदादिमें सर्वत्र सदा ब्रह्म ही जो देखता है, वह मुक्त होता है, यह भाव है ॥ ९ ॥

यतः योगारूढ़को ही अप्रतिबद्ध ज्ञान, सर्वत्र ब्रह्मदर्शन और मोक्ष प्राप्त होते हैं,

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ १० ॥

योगाभ्यास करनेवाला यति एकाकी, विषयभोगाशासे रहित, कौपीन, कन्था आदिके सिवा अन्य परिग्रहसे रहित, एकान्तमें स्थित तथा चित्त और देहादि-सङ्घातको अपने वशमें कर निरन्तर ब्रह्मका ध्यान करे ॥ १० ॥

क्षुणा श्रवणमननाभ्यां विज्ञातात्मतत्त्वेन यतिनैतावन्मात्रेणैव कृतार्थोऽस्मीत्यस्मितां त्यक्त्वा ज्ञानस्याऽप्रतिबद्धत्वाय समाधिरवश्यं कर्तव्य इति तत्कर्तुः समाध्यङ्गानि सूचयन् समाधिं विदधाति—**योगीति** ।

योगी 'संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः' इति श्रवणात् संन्यासी, यद्वा ब्रह्मणि चित्तं योक्तुं स्थापयितुं शीलमस्याऽस्तीति योगी योगाभ्यासशीलो यतिरेकाकी, एकाकीतिविशेषणान्निदिध्यासोः 'एकस्तपो द्विरध्यायी' इति न्यायेन स्वातिरिक्तजनशून्यत्वं विवक्षितम् । सति जनान्तरे वाग्व्यापारप्रसक्त्या ध्याननिष्ठाभङ्गप्रसङ्गात् तत एकाकित्वेन भवितव्यम् । किञ्च, निराशीः सर्वाभ्य आशीर्भ्यो विषयभोगाशाभ्यस्तीव्रमोक्षेच्छावैराग्याभ्यां निर्गतो यः स निराशीः 'एकान्तवासो लघुभोजनादि मौनं निराशा करणावरोधः । मुनेरसोः संयमनं षडेते चित्तप्रसादं जनयन्ति शीघ्रम् ॥' इति न्यायेन निदिध्यासोर्देहजीवनादावप्याशाराहित्येन भवितव्यमिति सूचितम् । किञ्च, अपरिग्रहः कौपीनकन्थातिरिक्तः परिग्रहो यस्य नाऽस्ति सोऽपरिग्रहः । सति

इसलिए श्रवण-मनन द्वारा आत्मतत्त्वको जाननेवाले मुमुक्षु यतिको 'इतने मात्रसे ही मैं कृतार्थ हूँ' ऐसा अभिमान छोड़कर ज्ञानकी अप्रतिबद्धताके (अमोघताके) लिए समाधि अवश्य करनी चाहिए, ऐसा सूचन करते हुए समाधि-कर्ताके लिए समाधिके अङ्गोंका विधान करते हैं—'योगी' इत्यादिसे ।

योगी यानी 'संन्यासयोगसे शुद्धअन्तःकरणवाले' इस श्रुतिसे संन्यासी अथवा ब्रह्ममें चित्तको लगानेका—स्थापन करनेका—जिसका स्वभाव है, वह योगी है यानी योगाभ्यासी यति एकाकी ('एकाकी' इस विशेषणसे निदिध्यासन करनेवालेको अपने सिवा दूसरे जनको पासमें नहीं रखना चाहिए यह विवक्षित है, क्योंकि 'तप करनेवाला एक, अध्ययन करनेवाले दो होने चाहिएँ' ऐसा न्याय है । दूसरे मनुष्योंके होनेपर बातचीत करने लगेंगे और उससे ध्याननिष्ठाका भङ्ग हो जायगा, इसलिए अकेले ही रहना चाहिए) किञ्च, निराशी (जो तीव्र मोक्षकी इच्छा और वैराग्य द्वारा सब आशाओंसे यानी विषयभोगकी इच्छाओंसे निकल गया है, वह निराशी है, 'तात्पर्य यह निकला कि एकान्तवास, सूक्ष्म भोजन आदि, मौन, निराशा, इन्द्रियोंका निरोध, प्राणोंका संयम ये छः मुनिके चित्तके प्रसादको शीघ्र उत्पन्न करते हैं'—इस न्यायसे निदिध्यासन करनेवालेको देहके जीवन आदिमें भी आशा रहित होना चाहिए) और अपरिग्रह (कौपीन कन्थाके सिवा अन्य परिग्रह

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नाऽत्युच्छ्रितं नाऽतिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥ ११ ॥

शुद्ध प्रदेशमें अपने निश्चल आसनको, जो न अधिक ऊँचा हो, न अधिक नीचा हो तथा जो पहले कुशासे तदनन्तर मृगचर्मसे तदनन्तर वस्त्रसे आच्छादित हो, लगाकर ॥ ११ ॥

तदतिरिक्ते परिग्रहे यतेरपि चौरादिभयं तद्रक्षणविक्षेपप्रसक्त्या समाध्यसिद्धेस्ततस्तद्राहित्येन भवितव्यम् । एवं योगस्य बहिरङ्गसिद्धावप्यन्तरङ्गाभावे योगो न सिद्ध्यत्यतस्तेन भवितव्यमित्याशयेनाऽऽह—**यतचित्तात्मेति** । यतौ वासनया प्राप्ततत्तद्व्यापृतेः सकाशान्निगृहीतौ चित्तं चात्मदेहेन्द्रियसङ्घातश्च तावुभौ येन स यतचित्तात्मा तत्तद्व्यापारान्निरुद्धदेहेन्द्रियमनोबुद्धिचित्त इत्यर्थः । एवमादिध्यानसाधनसम्पन्नो मुमुक्षुर्निदिध्यासुः स्वयं रहस्येकान्ते गिरिकुहरगुहादौ स्थितः सततं नित्यनिरन्तरं नियमेनाऽऽत्मानं मनः प्रत्यगभिन्ने परे ब्रह्मणि सर्वदृश्यनिषेधावधिभूते नाऽज्ञानतत्कार्ये किन्तु नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यपरमानन्दाद्वयमित्युक्तलक्षणे स्वात्मनि युञ्जीत सन्दधीत । ब्रह्मैवाऽहमहमेव ब्रह्मेति स्वात्मना ब्रह्माऽनुसन्दध्यादित्यर्थः ॥ १० ॥

पूर्वं योगस्य बहिरङ्गमन्तरङ्गं च संक्षेपेणोक्त्वा इदानीं देशासनशरीरधारणादीनि

जिसका नहीं है, वह अपरिग्रह है । इनके सिवा दूसरेका परिग्रह करनेपर यतिको भी चोर आदिसे भय और उसके रक्षणसे उत्पन्न विक्षेपका प्रसङ्ग होनेपर समाधि सिद्ध नहीं होगी, इसलिए उससे रहित होना चाहिए । इस प्रकार योगके बहिरङ्ग साधनके सिद्ध होनेपर भी यदि अन्तरङ्ग साधन सिद्ध न हो, तो योग सिद्ध नहीं होता, इसलिए अन्तरङ्ग साधन भी होना चाहिए, इस आशयसे कहते हैं—**यतचित्तात्मेति** । वशमें कर लिये गये हैं—वासनासे प्राप्त तत्-तत् व्यापारोंसे निगृहीत कर लिये गये हैं—चित्त तथा देह, इन्द्रिय आदिके सङ्घात जिससे, वह यतचित्तात्मा है । देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और चित्तको उन-उन व्यापारोंसे रोकनेवाला, यह भाव है । इत्यादि ध्यानसाधनसम्पन्न, निदिध्यासन करनेवाला मुमुक्षु स्वयं एकान्तमें—पर्वत कुहर, गुहा आदिमें स्थित होकर सतत—नित्य निरन्तर नियमसे आत्माको (मनको) प्रत्यगभिन्न, सर्व दृश्यके निषेधके अवधिभूत ब्रह्ममें, अज्ञान और अज्ञानके कार्यमें नहीं, किन्तु 'नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य, परमानन्द, अद्वय', इस प्रकार कहे गये लक्षणवाले अपनी आत्मामें जोड़े यानी लगावे, यानी ब्रह्म ही मैं हूँ, मैं ही ब्रह्म हूँ, इस प्रकार अपने आत्मरूपसे ब्रह्मका अनुसन्धान करे, यह भाव है ॥ १० ॥

पूर्वमें योगके बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग साधनोंको संक्षेपसे कहकर अब देश, आसन, शरीर-

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्याऽऽसने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥ १२ ॥

उस आसनपर बैठकर अन्तःकरणमें ब्रह्मसाक्षात्कारकी योग्यताके लिए चित्त और इन्द्रियोंके व्यापारोंसे विरत हो मनको एकाग्र कर समाधि लगावे ॥ १२ ॥

बहिरङ्गान्यन्तरङ्गाणि च योगस्य विशिष्य बोधयितुमादावासनलक्षणमाह—शुचाविति ।

शुचौ मार्जनप्रोक्षणादिक्रियया स्वभावेन वा शुद्धे विजने देशे प्रदेशे नदीतीरगुहादावात्मनः स्वस्यैव ध्यानयोग्यमासनं नाऽत्युच्छ्रितमत्यन्तौन्नत्यरहितम् । अत्युन्नतत्वे क्वचित्पारवश्येन चलनपतनादिविघ्नप्रसङ्गात् ततो नाऽतितुङ्गं नाऽतिनीचं निम्नं च। तथात्वे शैत्यौष्ण्यपाषाणादिघर्षेण क्लेशप्रसङ्गात्ततस्तदुभयविलक्षणम् । तत्राऽपि चैलाजिनकुशोत्तरं चैलं वस्त्रम् , अजिनं वैयाघ्रं कार्ष्णं वा, कुशा दर्भा उत्तरमुपर्युपरि व्युत्क्रमेण यस्य तच्चैलाजिनकुशोत्तरम् । अधः कुशैस्ततोऽजिनेन ततो वस्त्रेणाऽऽच्छादितमित्यर्थः । वस्त्रं यद्यपि स्मृत्या निषिद्धं 'वस्त्रं दारिद्र्यदुःखाय दारु रोगाय चोपलः' इति तद्गृहस्थविषयं न यतिविषयं द्रष्टव्यम् । ध्याता स्वस्यैवमासनमचलं स्थिरं निश्चलं यथा तथा प्रतिष्ठाप्य । कल्पयित्वेत्यर्थः ॥ ११ ॥

एवमासनमुक्त्वा तत्र कर्तव्यमाह—तत्रेति ।

धारण आदि योगके बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग साधनोंका विशेषरूपसे बोधन करनेके लिए पहले आसनका लक्षण कहते हैं—'शुचौ' इत्यादिसे ।

शुचि—मार्जन, प्रोक्षण आदि क्रियाओंसे अथवा स्वभावसे ही शुद्ध—निर्जन—नदी-किनारे या गुहा आदि प्रदेशमें—अपने ही ध्यानके योग्य अत्यन्त ऊँचाईसे और निचाईसे रहित आसनको । (अत्यन्त ऊँचा होनेपर कहीं परवशतासे चलने, गिरने आदि विघ्नोंका प्रसङ्ग हो सकता है, इसलिए आसन अत्यन्त ऊँचा नहीं होना चाहिए और न अति नीचा—निम्न—होना चाहिए । निम्न होनेपर शीत, उष्णता, पत्थर आदिकी रगड़से क्लेशका प्रसङ्ग हो सकता है, इसलिए इन दोनोंसे विलक्षण ही आसन होना चाहिए)। इसमें भी चैलाजिनकुशोत्तर—चैल (वस्त्र), अजिन (व्याघ्रका या काले हरिणका चर्म), कुशा (दर्भ) उत्तर—ऊपर-ऊपर उलटे क्रमसे जिसमें हैं, वह चैलाजिनकुशोत्तर है। नीचे कुशासे, तदनन्तर अजिनसे और उसके बाद वस्त्रसे ढका हुआ, यह अर्थ है । यद्यपि 'वस्त्र दारिद्र्यदुःखका, काठ और पत्थर रोगका हेतु है' इत्यादि स्मृतिसे वस्त्र निषिद्ध है, तथापि वह निषेध गृहस्थके लिए है, यतिके लिए नहीं, ऐसा समझना चाहिए । ध्याता अपने ही आसनको अचल यानी स्थिर (निश्चल) स्थापन कर यानी बनाकर, यह अर्थ है ॥ ११ ॥

इस प्रकार आसनको कहकर उसपर कर्तव्य कर्मको कहते हैं—'तत्रैकाग्रम्' इत्यादिसे ।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ १३ ॥

कमरका ऊपरी भाग, सिर और ग्रीवा—इन तीनोंको ऋजु और अचलरूपसे धारण करता हुआ (स्थाणुके समान) निश्चल होकर इधर-उधर न ताकता हुआ अपनी नासिकाके अग्र भागको देखकर ॥ १३ ॥

निदिध्यासुस्तत्रोक्तलक्षण आसने उपविश्य स्वयं यतचित्तेन्द्रियक्रियः इदमेव योगिनो योगसिद्धेरुत्तममन्तरङ्गसाधनमित्युक्तमपि पुनरुपदिशति—**यतचित्तेन्द्रियक्रिय इति** । यता संयता सम्यङ् निरुद्धा चित्तस्योभयेन्द्रियाणां च क्रिया स्वाभाविकी चेष्टा विषयप्रवृत्तिर्येन स यतचित्तेन्द्रियक्रियो भूत्वा मनो मनोवृत्तिस्तामेकाग्रं लक्ष्यस्यैवाऽभिमुखं कृत्वा सम्यक्प्रत्यक्प्रवणं कृत्वेत्यर्थः । एवंलक्षणसंपन्नो यतिरात्मविशुद्धये आत्मनो विशुद्धिरविद्यातत्कार्यदेहेन्द्रियादावन्यत्राऽहंममेदमित्याद्यसत्प्रत्ययानां तत्कारणवासनानां च निःशेषनिवृत्तिरेवाऽऽत्मनोऽन्तःकरणस्य विशुद्धिस्तत्सिद्धये योगं ब्रह्मण्येवाऽऽत्मभावेन पुरुषं योजयतीति योगः समाधिस्तं युञ्ज्यात् । प्रत्यक्प्रत्ययसन्तानं कुर्यादित्यर्थः ॥ १२ ॥

पुनरपि योगाङ्गान्येव सिद्धेरान्तराण्युपदिशन्नेवंलक्षणः सन्नेव यतिः समाधिं कुर्यादित्याह—**सममिति** द्वाभ्याम् ।

कायशिरोग्रीवं कायः कटेरूर्ध्वप्रदेशः । कायश्च शिरश्च ग्रीवा च कायशिरो-

---

निदिध्यासन करनेवाला पुरुष उक्त लक्षणवाले आसनपर बैठकर स्वयं यतचित्तेन्द्रियक्रिय होवे । यही योगीकी योगसिद्धिमें उत्तम अन्तरङ्ग साधन है, इसलिए कहे हुएका भी फिर उपदेश करते हैं—**यतचित्तेन्द्रियक्रिय इति** । यत (संयत) यानी भली भाँति निरुद्ध किया है, चित्तकी और दोनों प्रकारकी इन्द्रियोंकी क्रियाको—स्वाभाविकी चेष्टाको—विषयोंमें प्रवृत्तिको—जिसने, वह यतचित्तेन्द्रियक्रिय है । यतचित्तेन्द्रियक्रिय होकर मनको—मनकी वृत्तिको—एकाग्र—लक्ष्यके ही अभिमुख—करके सम्यक् अन्तर्मुखी करके, यह अर्थ है । इस प्रकारके लक्षणोंसे सम्पन्न यति आत्माकी विशुद्धि—अविद्या और अविद्याके कार्य देह या इन्द्रिय आदिमें अन्यत्र 'मैं, मेरा, यह' इत्यादि मिथ्याप्रत्ययोंकी और उनके कारण वासनाओंकी निश्शेष निवृत्ति—ही आत्माकी (अन्तःकरणकी) विशुद्धि है, उसकी सिद्धिके लिए योगको—ब्रह्ममें आत्मभावसे जो जोड़ता है, वह योग है यानी समाधि उसको—करे । लगातार आत्मचिन्तन करे, यह अर्थ है ॥ १२ ॥

फिर भी योगकी सिद्धिके दूसरे अङ्गोंका उपदेश करते हुए, उन लक्षणोंसे युक्त होकर ही यति समाधि करे, ऐसा कहते हैं—**'समम्'** इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

कायशिरोग्रीवको (काय यानी कमरके ऊपरका भाग । काय, सिर और ग्रीवा—ये तीन

ग्रीवम्। समं ऋज्वचलं च यथा स्यात्तथा धारयन्। कायशिरोग्रीवे समतया ऋजुत्वेन धार्यमाणे पार्श्वयोः पश्चाच्च द्रष्टुं स्प्रष्टुं च न शक्यते, तथापि मशकपिपीलिकाद्युपद्रवे चलनं संभवति तन्निरासार्थमचलमित्युक्तम्। एवं कायशिरोग्रीवमृज्वचलं च धारयन् स्थिरः स्थाणुवन्निश्चलो भूत्वा स्वं स्वकीयं नासिकाग्रमेव चक्षुषा संप्रेक्ष्य। चक्षुषा नासिकाग्रं संप्रेक्ष्येत्युक्तिश्चक्षुषा तद्विषयं रूपं न गृह्णीयादिति नियमार्थं न तु नासिकाग्रदर्शनार्थम्। यदि नासिकाग्रदर्शनमेव विवक्षितं स्यात्तदा मनस्तदाकारेण तत्रैव स्थितं स्यात्, तेन चित्तस्य ब्रह्मण्यवस्थानं न संभवति, ब्रह्मणि चित्तस्थापनं खलु समाधिः। यतः 'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा' इत्युच्यते ततश्चक्षुषा नासिकाग्रदर्शनविधी रूपाग्रहणसूचनार्थमेव चक्षुषोरचाञ्चल्यार्थं च। तेन सिद्धं चक्षुषो यथारूपाग्रहणं तथा श्रोत्रादीनामपि शब्दाद्यग्रहणमत्र विवक्षितमिति ज्ञातव्यम्। चक्षुषो रूपाग्रहणविधानादेव निदिध्यासुं नियमयति—**दिशश्चाऽनवलोकयन्निति**। यद्यपि नासिकाग्रदर्शनविधिनैव तदतिरिक्तदर्शनं निषिद्धमेव भवति तथापि क्वचित्पुरस्तात्पश्चात्पार्श्वयोर्विपरीतशब्दोत्पत्तावपि दिशश्च प्राच्यादींश्चकारादात्मशरीरञ्चानवलोकयन्नेव युक्त आसीतेत्युत्तरेण संबन्धः ॥ १३ ॥

कायशिरोग्रीव हैं) सम (ऋजु) एवं अचलरूपसे धारण करता हुआ। यद्यपि काय, सिर और ग्रीवाका समरूपसे और ऋजुरूपसे धारण करनेपर इधर-उधर बगलमें या पीछे देख और छू नहीं सकता, तथापि मच्छर, चींटी आदिके उपद्रवसे चलन हो सकता है, उसका निरास करनेके लिए 'अचल' ऐसा कहा है। इस प्रकार धड़, सिर और ग्रीवाको सीधे और अचलरूपसे धारणकर एवं स्थिर—ठूँठके समान—निश्चल होकर आप अपनी नासिकाके अग्रको देखता हुआ। 'चक्षुसे नासिकाके अग्रको देख कर', यह कथन चक्षुसे चक्षुके विषय रूपका ग्रहण न करे, इस प्रकारके नियमके लिए है, नासिकाके अग्रके दर्शनके लिए नहीं है। यदि नासिकाका अग्रदर्शन ही विवक्षित हो, तो मन उसके आकारसे वहींपर स्थित होगा, ऐसा होनेपर ब्रह्ममें चित्तके अवस्थानका सम्भव नहीं होगा। ब्रह्ममें चित्तका स्थापन ही समाधि है। यतः 'मनको आत्मामें स्थित करके', ऐसा कहा है, इसलिए नेत्रसे नासिकाग्रदर्शनकी विधि रूपका चक्षुसे ग्रहण नहीं करना चाहिए, ऐसा सूचन करने और नेत्रकी चञ्चलताका निषेध करनेके लिए ही है। इससे सिद्ध होता है कि जैसे नेत्रसे रूपका ग्रहण विवक्षित नहीं है, वैसे ही श्रोत्र आदिसे शब्दादिका ग्रहण नहीं करना चाहिए, ऐसा भी यहाँ विवक्षित है, यह समझना चाहिए। नेत्रसे रूपके अग्रहणका विधान करनेसे ही निदिध्यासन करनेवालेका नियमन करते हैं—**दिशश्चाऽनवलोकयन्निति**। यद्यपि नासिकाग्रदर्शनकी विधिसे ही उसके सिवा अन्य दर्शनका निषेध हो ही जाता है, तथापि कहीं आगे पीछे इधर-उधर विपरीत शब्दकी उत्पत्ति होनेपर दिशाओंको और चकारसे अपने शरीरको भी न देखता हुआ इस प्रकार युक्त होकर बैठे, ऐसा आगेके श्लोकसे सम्बन्ध है ॥ १३ ॥

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥ १४ ॥

प्रशान्तात्मा, भयरहित एवं ब्रह्मचारिव्रतमें अवस्थित होकर तथा मनका संयम कर, मुझमें चित्त लगाकर और ब्रह्मग्राहक वृत्तिसे युक्त होकर उक्त आसनपर स्थित होवे ॥ १४ ॥

समकायशिरोग्रीवत्वं स्थिरत्वं नासिकाग्रदृष्टृत्वं दिगनवलोकनं च योगिनो योगसिद्धेरङ्गानीति सूचयित्वेतोऽप्यन्तरङ्गानि तत्सिद्धेरसाधारणसाधनानि च सूचयन्नुक्तसाधनसंपन्नो यतिः समाधिं कुर्यादित्याह—**प्रशान्तात्मेति** ।

प्रकर्षेण शान्तः प्रशान्त आत्मा रागद्वेषाद्यनुत्पत्तिरेवाऽऽत्मनोऽन्तःकरणस्य शान्तिस्तस्याः प्रकर्षस्तु रागद्वेषादिदोषोत्पत्तिहेतूनां विषयेषु समीचीनत्वासमीचीनत्वप्रीत्यप्रीतीष्टसाधनत्वानिष्टसाधनत्वबुद्धीनां निवृत्तिरेव । एवंलक्षणः प्रशान्त आत्माऽन्तःकरणं यस्य स प्रशान्तात्मा । विगतभीः विशिष्य गता विगता निःशेषविनष्टा भीरन्नादानविसर्गातिरिक्तस्य दन्तधावनमुखक्षालनादेः शास्त्रीयस्य सर्वस्य च कर्मणः परित्यागे शिष्टा निन्दिष्यन्तीति या भीतिः सा यस्य न विद्यते स विगतभीः 'स्वाध्यायं च सर्वकर्माणि संन्यस्य' इत्यादि, 'वेदानिमं लोकममुं च परित्यज्याऽऽत्मानमन्विच्छेत्' इति, 'त्यज धर्ममधर्मं च', 'नैव धर्मी न चाऽधर्मी नचैव हि शुभाशुभी'

समकायशिरोग्रीव होना, स्थिर होना, नासिकाग्रदर्शन और दिशाओंका अदर्शन योगीके योगकी सिद्धिके अङ्ग हैं, ऐसा सूचन करके इनसे भी अन्तरङ्ग और योगकी सिद्धिके असाधारण साधनोंका सूचन करते हुए, उक्त साधनसम्पन्न मुमुक्षु यति समाधि करे, ऐसा कहते हैं—**'प्रशान्तात्मा'** इत्यादिसे ।

प्रकर्षसे शान्त प्रशान्त है । राग, द्वेष आदिकी उत्पत्तिका न होना ही आत्माकी (अन्तःकरणकी) शान्ति है, और उसका प्रकर्ष है, रागद्वेषादिकी उत्पत्तिके हेतुभूत विषयोंमें समीचीनत्व, असमीचीनत्व, प्रीति, अप्रीति, इष्टसाधनत्व और अनिष्टसाधनत्व विषयक बुद्धियोंकी निवृत्ति ही । इस प्रकारके लक्षणसे युक्त प्रशान्त है आत्मा—अन्तःकरण—जिसका, वह प्रशान्तात्मा है। विगतभी—विशेषरूपसे यानी निःशेषरूपसे नष्ट हो गयी है, यानी भोजन, आदान, विसर्गके सिवा अन्य दन्तधावन, मुखक्षालन आदि शास्त्रीय कर्मोंके और सम्पूर्ण कर्मोंके परित्यागसे शिष्ट पुरुष निन्दा करेंगे, इस प्रकारकी भीति जिसकी, वह विगतभी है । स्वाध्याय और सब कर्मोंका त्याग कर', 'वेदोंका, इस लोक और उस लोकका त्यागकर अनन्तर आत्माकी इच्छा करे', 'धर्म और अधर्मका त्याग करे । 'धर्मी भी नहीं, अधर्मी भी नहीं, शुभी और अशुभी भी

इत्यादिश्रुतिस्मृतिनिश्चयमवष्टभ्य निर्भीक इत्यर्थः । किञ्च, ब्रह्मचारिव्रते स्थितः । अत्र ब्रह्मचारिव्रतपदेन भिक्षामात्रं लक्ष्यते, न तु त्रिषवणादिः । त्रिषवणाद्यनुष्ठानस्य समाधिसंभाविताविक्रियब्रह्माभिन्नत्वज्ञानविध्वंसकत्वाद् योगं युञ्जीत सततमिति नित्यनिरन्तरकर्तव्यतया प्राप्तसमाध्यनुष्ठानप्रतिकूलत्वाच्चाऽऽहारमात्रमत्र गृह्यते । आहारविषये ब्रह्मचारिणो व्रतं भिक्षाशनमेव । तस्मिन् ब्रह्मचारिव्रते केवलं माधुकरभक्षण एव स्थितो भवेन्निदिध्यासुर्यतिर्न तु प्राक्प्रणीतादौ । प्राक्प्रणीतायाचिततात्कालिकोपपन्नेषु आहारस्य परतन्त्रत्वेन द्रव्यगुरुत्वाकालिकत्वन्यूनातिरिक्तत्वप्रतीक्षादिदोषवत्तया समाधिविघ्नकारित्वप्रसङ्गात् । तस्मात् स्वाधीने ब्रह्मचारिव्रते भिक्षाशन एव स्थितो भवेदित्यर्थः । मनोवृत्तिरूपं बहिःप्रवणशीलं संयम्य विषयसंबन्धो यथा न स्यात्तथा निगृह्य मच्चित्तः मयि बुद्धितद्वृत्तिसाक्षिणि चिदेकरसे प्रत्यग्रूपे ब्रह्मणि चित्तं यस्य स मच्चित्तः । बहिर्गच्छच्चित्तं मयि सम्यक् स्थापयित्वेत्यर्थः । मच्चित्त इत्यत्राऽस्मच्छब्दार्थस्य चित्तस्थापनाधिकरणस्य ब्रह्मणः स्थापयितुश्च भेदे प्राप्ते 'उदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति' इति श्रवणाद्भेददर्शिनो मुक्तिर्न संभवति ततो ध्याता ब्रह्मैवाऽहमिति स्वं ब्रह्माभिन्नं भावयेदिति बोधयितुमाह—मत्पर इति । अहमेव परः परमात्मेति मत्परः ब्रह्मैवाऽहमिति स्वस्य ब्रह्मभावग्राहकया वृत्त्या युक्तः सन्नासीत । स्वं ब्रह्मैव भावयन्नासने तूष्णीमुपविशेदित्यर्थः ॥ १४ ॥

नहीं' इत्यादि श्रुति और स्मृतियोंका अवलम्बन कर निर्भीक होवे, यह अर्थ है । किञ्च, ब्रह्मचारीके व्रतमें स्थित। यहाँ 'ब्रह्मचारिव्रत' पदसे केवल भिक्षा ही लक्षित होती है, त्रिषवण आदि नहीं, क्योंकि त्रिषवण आदिका अनुष्ठान समाधिसे होनेवाले अविक्रियब्रह्माभिन्नत्वज्ञानका नाशक है और 'सतत योगका अनुष्ठान करे' इससे नित्य निरन्तर कर्तव्यरूपसे प्राप्त समाधिके प्रतिकूल है, अतः आहारमात्रका ही यहाँ ग्रहण किया जाता है । आहारके विषयमें ब्रह्मचारीका व्रत भिक्षाभोजन ही है । उस ब्रह्मचारि-व्रतमें यानी केवल माधुकरके (मधुकरीसे प्राप्त अन्नके) भक्षणमें ही निदिध्यासु यति स्थित होवे प्राक्-प्रणीत आदिमें नहीं, क्योंकि प्राक्प्रणीत (पूर्वरचित), अयाचित और तात्कालिक वृत्तिसे प्राप्त अन्नोंमें आहारकी परतन्त्रता होनेके कारण द्रव्यका भारी होना, असमयमें होना, न्यून या अधिकका होना और प्रतीक्षा करना इत्यादि दोष हैं, अतः वे समाधिके विघ्नकारी हैं । इसलिए स्वाधीन ब्रह्मचारिव्रतभूत भिक्षाभोजनमें ही स्थित होवे, यह अर्थ है । वृत्तिरूप बाह्यप्रवृत्तिशील मनका संयम करके यानी विषयोंके साथ जैसे सम्बन्ध न हो वैसे मनका निग्रह करके मच्चित्त—मुझ बुद्धि और उसकी वृत्तिके साक्षी चिदेकरस, प्रत्यक्रूप ब्रह्ममें जिसका चित्त है, वह मच्चित है । बाहर जानेवाले चित्तका मुझमें भली भाँति स्थापन करके, यह अर्थ है । मच्चित्त, इसमें यदि 'अस्मत्' शब्दके अर्थभूत चित्तस्थापनके अधिकरण ब्रह्मका और स्थापन करनेवालेका भेद प्राप्त होगा, तो 'जो थोड़ा-सा भी भेद करता है, उसको भय होता है' इस श्रुतिसे भेददर्शीकी मुक्ति नहीं होगी, इसलिए ध्याता 'ब्रह्म ही मैं हूँ' इस प्रकार अपनेको

युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ १५ ॥

उक्त रीतिसे मनको सदा आत्मामें समाहित करता हुआ योगी अप्रतिहत ज्ञानसे युक्त होकर निरतिसय सुखसे युक्त आत्मभावापत्तिरूप शान्तिको (संसार-निवृत्तिरूप शान्तिको) प्राप्त होता है ॥ १५ ॥

'योगमात्मविशुद्धये' इति वचनाद् योगानुष्ठानस्य फलमात्मविशुद्धिरात्मविशुद्धेस्तु फलमप्रतिबद्धज्ञानसिद्धिद्वारा ब्रह्मनिर्वाणमेवेति सूचयितुं योगिनो ब्रह्मविदो जीवत एव मुक्तिफलमाह—**युञ्जन्निति** ।

योगी योगनिष्ठापरायणो यतिरेवमेकाकित्वनिराशिष्ट्वापरिग्रहत्वसमकायशिरोग्रीवत्वस्थिरत्वनासिकाग्रद्रष्टृत्वदिगनवेक्षितृत्ववीतभयत्वब्रह्मचारिव्रतस्थत्वप्रशान्तत्वादिविशेषणविशिष्टो भूत्वा निरुक्तलक्षण आसन उपविश्याऽऽत्मानमन्तःकरणं ब्रह्मणि सदा युञ्जन्ननुसन्धानं कुर्वन्नियतमानसः श्रद्धया तीव्रमुमुक्षुया चिरकालं नित्यनिरन्तरसमनुष्ठितसमाध्यभ्यासबलेन नियतं निश्चलं सर्वबाह्यवासनानिःशेषसंक्षयवशाद् विपरीतप्रत्ययानुत्पत्तौ निर्विकारात्मना स्थितं मानसं 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' इति श्रवणान्मनुत इदमेवाहमस्मीति स्वात्मना ब्रह्म साक्षात्क्रियतेऽनेनेति मनः मन एव मानसं यस्य

ब्रह्मसे अभिन्न समझे, ऐसा बोधन करनेके लिए कहते हैं—**मत्पर इति** । मैं ही पर यानी परमात्मा हूँ, ऐसा जो मानता है, वह मत्पर है यानी 'ब्रह्म ही मैं हूँ, इस प्रकार अपनेमें ब्रह्मभावका ग्रहण करनेवाली वृत्तिसे युक्त होकर बैठे । अपनेको ब्रह्म ही समझता हुआ आसन पर चुपचाप बैठे, यह अर्थ है ॥ १४ ॥

'योगको आत्मशुद्धिके लिए करे' इस वचनसे योगानुष्ठानका फल आत्माकी शुद्धि है और आत्माकी शुद्धिका फल अप्रतिबद्ध ज्ञानकी सिद्धिके द्वारा ब्रह्मनिर्वाण है, यह सूचन करनेके लिए ब्रह्मवित् योगीको जीवितदशामें ही मुक्तिरूप फल प्राप्त होता है, ऐसा कहते हैं—**'युञ्जन्नेवम्'** इत्यादिसे ।

योगी—योगनिष्ठापरायण यति—पूर्वोक्त एकाकित्व, निराशिष्ट्व, अपरिग्रहत्व, समकायशिरोग्रीवत्व, स्थिरत्व, नासिकाग्रदर्शन, दिगदर्शन, वीतभयत्व, ब्रह्मचारिव्रतस्थितत्व, प्रशान्तत्व आदि विशेषणोंसे विशिष्ट होकर तथा निरुक्त लक्षणवाले आसन पर बैठकर आत्माको—अन्तःकरणको—ब्रह्ममें सदा लगता हुआ—अनुसन्धान करता हुआ—नियतमानस—श्रद्धासे, तीव्र मुमुक्षासे तथा चिरकालतक नित्य निरन्तर अनुष्ठित समाधिके अभ्यासके बलसे नियत है यानी निश्चलरूपसे सर्वबाह्यवासनाका निःशेष क्षय हो जानेसे विपरीत प्रत्ययके उत्पन्न न होनेके कारण निर्विकारस्वरूपसे स्थित है—मानस ('मनसे ही देखना चाहिए' इस श्रुतिसे जिससे मनन किया जाता है—यही मैं हूँ, इस प्रकार अपने आत्मरूप ब्रह्मका साक्षात्कार किया जाता है, वह मन है, मन ही मानस है) जिसका, वह नियत-

नाऽत्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चाऽतिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चाऽर्जुन ॥ १६ ॥

हे अर्जुन, जो अपने उदरके परिमाणसे अधिक खाता है, जो बहुत थोड़ा खाता है या कुछ खाता ही नहीं है, जो सदा सोया ही रहता है और जो जागता ही रहता है, उसकी समाधिनिष्ठा कभी सिद्ध नहीं होती ॥ १६ ॥

स नियतमानसोऽप्रतिबद्धात्मविज्ञानो भूत्वा । निर्वाणपरमां निर्वाणं शरीरसंबन्धरहितं परमं परमपुरुषार्थलक्षणं कैवल्यं यया सा ताम् । यद्वा निर्वाणं मोक्षरूपं परमं निरतिशयसुखं यस्यां सा ताम् । अत एव मत्संस्थां ममैव संस्था स्थितिर्यत्र नाऽन्यस्य बुद्ध्यादेस्ताम् । यद्वा मम रूपेण संस्था यया ताम् । यद्वा मद्भावापत्तिरूपां ब्रह्मात्मना स्थितिलक्षणां शान्तिं सर्वोपरतिमात्यन्तिकसंसारनिवृत्तिरूपामधिगच्छति । प्राप्नोतीत्यर्थः । एतेन योगस्य फलं भुक्तेस्तृप्तिवत् स्वप्रत्यक्षं यतस्ततो मुमुक्षोर्यतेः श्रवणमात्रसंभावितमुक्तत्वभ्रममुत्सृज्याऽवश्यं विदेहमुक्त्यै समाधिः कर्तव्य इति सूचितं भवति ॥ १५ ॥

'योगी युञ्जीत सततम्' इत्यारभ्यैतच्छ्लोकपर्यन्तं योगं योगाङ्गानि योगासनं योगिनो योगस्य फलं च प्रतिपाद्य पुनरपीदानीं योगाभ्यासिन एवाऽऽहारादिबहिरङ्गमन्तरङ्गं योगानन्दं च प्रतिपादयति—**नाऽत्यश्नतस्त्विति** ।

'यदात्मसंमितमन्नं तदवति न हिनस्ति यद्भूयो हिनस्ति तद्यत्कनीयो न तदवति' इति श्रवणात् । श्रुतेरयमर्थः—आत्मसंमितं स्वोदरपरिमाणमनुकूलं च यदन्नं भुज्यते

मानस—अप्रतिबद्धविज्ञानवाला—होकर निर्वाणपरमा—निर्वाण (शरीरसंबन्धसे रहित) परमपुरुषार्थ कैवल्य जिससे हो अथवा निर्वाण—मोक्षरूप निरतिशय सुख—जिसमें है, वह निर्वाणपरमा है, इसीलिए मत्संस्था—मेरी ही संस्था—स्थिति जिसमें है, अन्य बुद्धि आदिकी नहीं, अथवा जिससे मेरे रूपसे ही संस्था होती है, अथवा मेरे भावकी प्राप्तिरूप—ब्रह्मस्वरूपसे स्थितिरूप—शान्तिको सर्वोपरतिरूप अत्यन्त संसारकी निवृत्तिरूप शान्तिको प्राप्त होता है। प्राप्त करता है, यह अर्थ है । इससे यह सूचित होता है कि भोजनका फल जैसे तृप्ति है वैसे ही योगका फल अपना साक्षात्कार है, इसलिए मुमुक्षु यतिको श्रवणमात्रसे उत्पन्न हुए मुक्तत्वभ्रमका त्यागकर विदेहमुक्तिके लिए समाधि अवश्य करनी चाहिए ॥ १५ ॥

'योगी सदा योग करे' यहाँसे लेकर इस श्लोक तक योग, योगके अङ्ग, योगका आसन और योगीके योगफलका प्रतिपादन करके अब फिर योगाभ्यासीके ही आहार आदि बहिरङ्ग अन्तरङ्ग साधनोंका और योगानन्दका प्रतिपादन करते हैं—'**नाऽत्यश्नतस्तु**' इत्यादिसे ।

'जो अपने संमित अन्न है, वह रक्षा करता है, मारता नहीं, जो अधिक होता है, वह मारता है, जो कम होता है, वह रक्षा नहीं करता' इस श्रुतिसे । श्रुतिका अर्थ यह है । आत्मसंमित—

तदन्नं भोक्तारमवति धर्मनिर्वाहाय च भवति। न हिनस्ति धातुवैषम्यं संपाद्य पुरुषं न हन्ति न पीडयति च यद्भूयः स्वोदरपरिमाणादतिरिक्तमन्नं भुज्यते तद्धिनस्ति शूला-दिकमुत्पाद्य पुरुषं हन्ति धर्मं च नाशयति, यत्कनीयः यत्कनीयोऽत्यल्पमन्नं भुज्यते न तत्पुरुषमवति क्षुन्निवृत्त्यै धर्मनिर्वाहाय च क्षमं न भवति। ततः परिमितमेव भोक्तव्यमिति सिद्धम्। इममेवाऽर्थं श्रीभगवानप्याह। अत्यश्नतः स्वोदरपरिमाणम-तिक्रम्य जरयितुमशक्यमन्नमश्नतो बह्वाशिनो योगिनो यतेर्न योगोऽस्ति योगनिष्ठा न सिध्यति। शुश्रूषोरपि यतेः श्रवणं मननं ब्रह्मचर्यं च न सिद्ध्यति। एकान्तं नियमेनाऽनश्नतोऽप्यल्पमश्नतश्च यतेर्योगो नाऽस्त्येव, श्रवणं मननं चाऽपि न सिद्ध्यति। किन्तु स्वस्वोदरपरिमितममेदोवृद्धिकरं चाऽन्नमश्नत एव योगः श्रवणं मननं ब्रह्मचर्यं च दिवास्वापादिदोषराहित्यमपि सिध्यतीत्यर्थः। अथवा 'पूरयेदशनेनार्धं तृतीयमुद-केन तु। वायोः संचरणार्थाय चतुर्थमवशेषयेत्॥' इत्यादिशास्त्रपरिमाणमतीत्याऽश्न-तोऽनश्नतश्च योगो न सिद्ध्यति यथा, तथाऽतिस्वप्नशीलस्याऽत्यन्तनिद्रालोरतिजाग्रतश्च योगो न सिद्ध्यतीत्यर्थः॥ १६॥

तर्हि कीदृशस्य योगः सिध्यतीत्याह—युक्ताहारेति।

अपने उदरके अनुसार और अनुकूल जो अन्न खाया जाता है, वह अन्न खानेवालेकी रक्षा करता है और धर्मके निर्वाहके लिए होता है। मारता नहीं यानी धातुओंकी विषमताका सम्पादन करके पुरुषको मारता नहीं और पीड़ा नहीं देता, जो बहुत—अपने उदरके परिमाणसे अधिक अन्न खाया जाता है, वह मारता है—शूलादि पीड़ाको उत्पन्न करके पुरुषको मारता है और धर्मका नाश करता है, जो कनीय—बहुत थोड़ा अन्न खाया जाता है, वह पुरुषकी रक्षा नहीं करता—भूखकी निवृत्तिके लिए और धर्मके निर्वाहके लिए समर्थ नहीं होता, इसलिए परिमित ही खाना चाहिए, यह सिद्ध हुआ। इसी अर्थको श्रीभगवान् भी कहते हैं। अत्यश्नतः—अपने उदरके परिमाणसे अधिक, पचानेके अशक्य अन्न खानेवाले—बहुत खानेवाले—योगी (यति) का योग नहीं होता—उसे योगनिष्ठा सिद्ध नहीं होती। श्रवण करनेकी इच्छावाले यतिका भी श्रवण, मनन और ब्रह्मचर्य सिद्ध नहीं होता। एकान्त यानी नियमसे न खानेवाले और थोड़ा खानेवाले यतिका भी योग सिद्ध नहीं होता और श्रवण-मनन भी सिद्ध नहीं होते, किन्तु अपने उदरके अनुकूल और चर्बीको न बढ़ानेवाले अन्नके भोक्ताको ही योग, श्रवण, मनन और ब्रह्मचर्य एवं दिवास्वाप आदि दोषोंका अभाव सिद्ध होता है, यह अर्थ है। अथवा 'उदरका अर्धभाग भोजनसे पूर्ण करे, तीसरा भाग जलसे और वायुके लिए चौथा हिस्सा शेष रक्खे' इत्यादि शास्त्रबोधित परिमाणका उल्लङ्घन कर खानेवाले या न खानेवालेका जैसे योग सिद्ध नहीं होता, वैसे ही अतिस्वप्नशीलका (अत्यन्त सोनेवालेका) और अत्यन्त जागनेवालेका योग सिद्ध नहीं होता, यह भाव है॥ १६॥

तब कैसे पुरुषका योग सिद्ध होता है? यह कहते हैं—'युक्ताहार०' इत्यादिसे।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ १७ ॥

जो नियमित आहार और विहार करता है, जो क्रियाओंमें उपयुक्त चेष्टा करता है तथा जो नियमित निद्रा और जागरण करता हैं, उसीकी सम्पूर्ण दुःखोंका विनाश करनेवाली समाधिनिष्ठाकी सिद्धि होती है ॥ १७ ॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तः 'पूरयेदशनेऽनार्धम्' इति, 'न गव्यूतेः परं गच्छेन्न ग्रामे नगरे वसेत्' इत्यादिशास्त्रनियमेन युक्तः आहारोऽन्नं विहारो विश्रान्त्यै संचारो यस्य तस्य परिमिताहारविहारस्य, युक्तचेष्टस्य कर्मसु अन्नादानविसर्गादिक्रियासु युक्ता यावता कार्यसिद्धिस्तावत्परिमिता न तु विशृङ्खला चेष्टा देहेन्द्रियव्यापारो यस्य तस्य, युक्तस्वप्नावबोधस्य स्वप्नो निद्रा, अवबोधो जागरस्तावेतौ युक्तौ परिमितौ 'जागृयाद्दश नाड्यस्तु निद्रा तु दश नाडिकाः । पश्चाज्जागरणं तद्वद्दश नाड्यस्तु योगिनः ॥' इत्युक्तलक्षणलक्षितौ स्वप्नावबोधौ यस्य तस्य योगिनो ब्रह्मनिष्ठस्य आहारविहारनिद्रादीनामतिरिक्तत्वे रजस्तमोवृद्धिस्तया समाधेर्ज्ञानस्य च विच्छित्तिस्त-तस्तत्परिमित्या भवितव्यम् । एवंलक्षणस्य यतेर्योगः समाधिर्दुःखहा दुःखान्याध्या-त्मिकादीनि जन्मादीनि च सर्वाणि स्वानुष्ठानसमुत्पन्नाप्रतिबद्धबोधेन हन्तीति दुःखहा भवति । विदेहमुक्तिं संपादयतीत्यर्थः ॥ १७ ॥

'भोजनसे आधा पेट भरे' 'गव्यूतिसे (दो कोशसे) अधिक न चले, गाँवमें या नगरमें न बसे' इत्यादि शास्त्रके नियमसे अनुकूल है, आहार (अन्न) विहार (विश्रान्तिके लिए सञ्चार) जिसका, वह युक्ताहारविहार है यानी परिमित आहार और विहार करनेवाले, कर्मोंमें यानी भोजन, विसर्ग आदि क्रियाओंमें युक्तचेष्ट—जितनीसे कार्यकी सिद्धि हो, उतनी यानी परिमित, न कि स्वच्छन्द—चेष्टा (देह, इन्द्रियका व्यापार) जिसकी है, वह युक्तचेष्ट है यानी कर्मोंमें युक्त चेष्टावाले युक्तस्वप्नाबोध निद्रा और जागरण, ये दोनों जिसके युक्त—परिमित—हैं अर्थात् 'दश नाड़ी (घड़ी) जागे, दश नाड़ी निद्रा ले, पीछे दश नाड़ी जागे, इस प्रकार योगीकी दश नाड़ियाँ हैं' इन उक्त लक्षणोंसे लक्षित हैं निद्रा और जागरण दोनों जिसके उस योगीका—ब्रह्मनिष्ठका—आहार, विहार, निद्रा आदिके अधिक होनेसे रज और तमकी वृद्धि होती है, इससे समाधिका और ज्ञानका विनाश होता है, इसलिए वे सब परिमित होने चाहिएँ । इस प्रकारके लक्षणवाले यतिका योग यानी समाधि दुःखनाशक होती है अर्थात् आध्यात्मिकादि, जन्मादि सब दुःखोंको अपने अनुष्ठानसे उत्पन्न हुए अप्रतिबद्ध बोधसे नष्ट कर देती है, विदेहमुक्तिका सम्पादन कराती है, यह अर्थ है ॥ १७ ॥

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥ १८ ॥

जिस समय योगीका एकाग्रताको प्राप्त हुआ चित्त ब्रह्ममें ही अवस्थित हो जाता है और सम्पूर्ण विषयोंसे निस्पृह हो जाता है, उस समय योगीको पण्डित योगारूढ कहते हैं ॥ १८ ॥

यद्यपि 'यदा हि नेन्द्रियार्थेषु' इति, 'कूटस्थो विजितेन्द्रियः' इति च योगिनो योगारूढत्वं सम्यङ्निरूपितं, तथापि ब्रह्मविल्लक्षणे परिज्ञाते मुमुक्षुभिस्तदाराधनं तदाश्रयणं च कृत्वा ज्ञानं मुक्तिश्च प्राप्तुं शक्यत इति तदेव च पुनर्विस्पष्टयति—यदेति ।

निरुक्तबहिरङ्गान्तरङ्गसाधनसंपत्त्या तीव्रमोक्षेच्छावैराग्याभ्यां च नित्यं योगमभ्यस्यतो योगिनो यतेर्यदा यस्मिन्काले विनियतं विषयसंबन्धो यथा न स्यात्तथा निरन्तराभ्यासबलेनैकाग्र्यमधिगमितं चित्तमात्मनि नित्यानन्दैकरसे प्रत्यगभिन्ने ब्रह्मण्येववाऽतिष्ठते सर्ववासनाक्षत्या सर्वकामविध्वस्त्या च स्वयं सद्वासनावासितं सत्सर्वदा स्वरूप एव तिष्ठति । प्रयत्नेनाऽपि न बाह्यमवलम्बत इत्यर्थः । तदेव विस्पष्टयति—निःस्पृह इति । काम्यन्त इति कामाः शब्दादयस्तेभ्यो यत्नादयत्नाद्वा कचिद्विषयीभूतेभ्यः सर्वेभ्यश्च यदाऽयं निःस्पृह इच्छाशून्यो भवति तेषु मिथ्यात्वबुद्ध्या इन्द्रियाणि मनश्च न प्रवर्तयति तदा युक्तो योगारूढ इत्युच्यते पण्डितैरिति शेषः ॥१८॥

यद्यपि 'जब इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त नहीं होता', 'कूटस्थ और विजितेन्द्रिय' इत्यर्थक वाक्योंसे योगीमें योगारूढत्वका भली भाँति निरूपण किया गया है, तथापि ब्रह्मवित्के लक्षणका परिज्ञान होनेपर ही मुमुक्षुओं द्वारा उनका आराधन और उनका आश्रयण करके ज्ञान और मुक्तिकी प्राप्ति की जा सकती है, इसीलिए उसीका फिर स्पष्टीकरण करते हैं—'यदा' इत्यादिसे ।

पूर्वोक्त बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग साधनोंकी सम्पत्तिसे और तीव्र मोक्षकी इच्छा तथा वैराग्यसे सदा योगका अभ्यास करनेवाले योगी यतिका जिस समय विनियत—विषयोंके सम्बन्धसे रहित यानी निरन्तर अभ्यासके बलसे एकाग्रताको प्राप्त हुआ—चित्त आत्मामें—नित्यानन्दैकरस प्रत्यगभिन्न ब्रह्ममें—स्थित हो जाता है—सम्पूर्ण वासनाओंके और सम्पूर्ण कामनाओंके नष्ट हो जानेपर स्वयं सत्की वासनासे वासित होकर सर्वदा स्वरूपमें ही स्थित रहता है । प्रयत्नसे भी बाह्यका अवलम्बन नहीं करता, यह अर्थ है । उसीको स्पष्ट करते हैं—निःस्पृह इति । जो चाहे जाते हैं, वे काम हैं अर्थात् शब्दादि विषय । यत्नसे या यत्नके बिना विषयीभूत हुए उन सब विषयोंसे जब यह निःस्पृह—(इच्छाशून्य) हो जाता है—मिथ्यात्वबुद्धि होनेसे इन्द्रिय और मनको उनमें प्रवृत्त नहीं करता, तब वह युक्त—योगारूढ—कहा जाता है, पण्डितों द्वारा यह शेष है ॥ १८ ॥

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥ १९ ॥

वायुशून्य प्रदेशमें (घरके भीतर) रक्खा हुआ दीपक जैसे विचलित नहीं होता वैसे ही आत्मा ज्ञानके लिए योगाभ्यास करनेवाले निगृहीतचित्तवाले योगीका चित्त विचलित नहीं होता ॥ १९ ॥

योगमारुह्य तिष्ठतो यतेश्चित्तं कथं तिष्ठतीत्याकाङ्क्षायां तच्चित्तस्थितेरुपमानमाह तदनुष्ठितयोगस्याऽसंप्रज्ञातसमाधित्वं सूचयितुं—**यथेति** ।

आत्मन इति कर्मणि षष्ठी । आत्मन आत्मानं विषयीकृत्य प्रवर्तितं योगम्, यद्वा आत्मनः सर्वोपलब्धिसिद्धिसाधनं योगं समाधिं युञ्जतः सादरं नित्यनिरन्तरं समनुतिष्ठतो योगिनो यतेः परमहंसस्य यतचित्तस्य यतं ब्रह्मण्येव ब्रह्माकारेण निश्चलतया सदा स्थापितं चित्तं येन तस्य यतचित्तस्य ब्रह्मण्येव स्थिरीभूतमनसः सैवोपमा उपमीयते अनयेत्युपमा स एव दृष्टान्तः । निवातस्थोऽन्तर्गृहस्थो दीपो यथा नेङ्गते न चलति तथा ब्रह्मणि स्थापितं ब्रह्मविच्चित्तं न चलति, ब्रह्मण्येव ब्रह्माऽऽत्मना निश्चलीभूय तिष्ठत्ययमेवाऽसंप्रज्ञातः समाधिः । तदुक्तम्—'मनसो वृत्तिशून्यस्य निर्विकारात्मना स्थितिः । असंप्रज्ञातनामाऽसौ समाधिर्योगिनां प्रियः ॥' इति ॥ १९ ॥

एवंलक्षणसंपन्नो यश्चित्तपरिपाकविशेषः स एव योगो ज्ञातव्य इति वक्तुं तल्लक्षणान्याह—**यत्रेति** त्रिभिः ।

योगमें आरूढ़ होकर स्थित रहनेवाले यतिका चित्त किस प्रकार स्थित रहता है, ऐसी आकाङ्क्षा होनेपर उसके द्वारा अनुष्ठित योगमें असंप्रज्ञातसमाधित्वका सूचन करनेके लिए उसके चित्तकी स्थितिका उपमान (दृष्टान्त) कहते हैं—'**यथा**' इत्यादिसे ।

'आत्मनः', यह कर्ममें षष्ठी है । आत्माको विषय करके यानी आत्माको उद्देश्य करके प्रवृत्त हुए योगका अथवा आत्माकी सर्वत्र उपलब्धिकी सिद्धिमें साधनभूत योगका (समाधिका) सादर नित्य निरन्तर अनुष्ठान करनेवाले परमहंस यति यतचित्तकी—जिसने ब्रह्ममें ही ब्रह्माकार वृत्तिसे निश्चलरूपसे अपने चित्तका सदा स्थापन किया है, वह यतचित्त है यानी ब्रह्ममें ही स्थिरीभूत मनवालेकी—वही उपमा है (जिससे सादृश्य बतलाया जाता है, वह उपमा है) यानी वही दृष्टान्त है । निवातमें रक्खा हुआ यानी घरके भीतर रक्खा हुआ दीपक जैसे हिलता-चलता नहीं वैसे ही ब्रह्ममें स्थापित ब्रह्मवित्का चित्त चलता नहीं है यानी ब्रह्ममें ही ब्रह्मस्वरूपसे निश्चल होकर ठहरता है, यही असंप्रज्ञात समाधि है । जैसे कहा भी है—'वृत्तिशून्य मनकी निर्विकारस्वरूपसे स्थिति असंप्रज्ञातनामकी समाधि है और वह योगियोंको प्रिय है' ॥ १९ ॥

इस प्रकारके लक्षणसे सम्पन्न जो चित्तका परिपाकविशेष है, उसीको योग जानना चाहिए, ऐसा कहनेके लिए उसके लक्षणको कहते हैं—'**यत्रोपरमते**' इत्यादि तीन श्लोकोंसे ।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवाऽऽत्मनाऽऽत्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ २० ॥

जिस अवस्थामें योगकी निरन्तर आवृत्तिसे निरुद्ध हुआ चित्त उपशमको प्राप्त होता है और जिस अवस्थामें पर ब्रह्मको अपने आत्मरूप देखता हुआ योगी परमानन्दको प्राप्त होता है ॥ २० ॥

बहिरङ्गान्तरङ्गसाधनसिद्ध्या तीव्रमोक्षेच्छया च विजृम्भितया योगसेवया योगो योगाङ्गसविकल्पसमाधिर्विजातीयप्रत्ययोदयराहित्येन केवलचित्प्रत्ययमात्रोदयलक्षणस्तस्य सेवया निरन्तरावृत्त्या निरुद्धं विपरीतवृत्तिर्यथा न स्यात्तथा चिरकालं ब्रह्मप्रत्ययावृत्तावेव स्थापितं चित्तं स्वयं निःशेषविनष्टसर्वबाह्यवासनापटलं सत् यत्र यस्यां दशायां स्वस्य केवलशुद्धसत्त्वांशमात्रावशेषरूपायां प्राप्तायां सत्यामुपरमते उपशमं गच्छति । वृत्त्यन्तरपरिणाममुज्झित्वा ध्येयात्मनैव निवातस्थप्रदीपवन्निष्कम्पं तिष्ठतीत्यर्थः । किञ्च, यत्र यस्यां चित्तपरिपाकविशेषदशायामयं ब्रह्मविदुत्तम आत्मनि निर्मलान्तःकरणे व्योम्नि राकाचन्द्रबिम्बवत्प्रकाशमानं वृत्त्यारूढं चिदानन्दैकरसमात्मानं परं ब्रह्माऽऽत्मना स्वात्मना ब्रह्मैवाऽहमिति स्वस्वरूपत्वेन पश्यन् साक्षादपरोक्षीकुर्वन् तुष्यत्यानन्दति मुक्तः कृतार्थोऽस्मीति मोदते, 'स मोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा' इति श्रुतेः । आत्मनि तुष्यतीति योगारोहणं कृतवतो महात्मन आत्मसंसारमोक्षणं तत्सुखं च प्रत्यक्षं यतस्ततः श्रवणादिना विज्ञातात्मतत्त्वस्य यतेर्योगारोहणेनैवाऽऽत्मोद्धरणं सिध्यति तदवश्यं कर्तव्यमित्यनेन सूचितं भवति ॥ २० ॥

वहिरङ्ग और अन्तरङ्ग साधनोंकी सिद्धिसे और तीव्र मोक्षकी इच्छासे वृद्धिको प्राप्त हुई योगसेवासे (योगकी—योगकी अङ्गभूत सविकल्प समाधिकी—यानी विजातीय प्रत्ययके उदयसे शून्य केवल चित्प्रत्ययमात्रके आविर्भावरूप योगकी सेवासे—निरन्तर आवृत्तिसे) निरुद्ध यानी विपरीत प्रत्ययोंका निरास करनेके लिए ब्रह्मप्रत्ययरूप वृत्तिमें ही स्थापित चित्त स्वयं सम्पूर्ण वासनाओंके समूहसे रहित होकर जिस समय केवल अपने शुद्ध सत्त्वांशरूपसे उपशमको प्राप्त हो जाता है। दूसरी वृत्तिके परिणामको छोड़कर ध्येयस्वरूपसे ही निवातस्थ दीपकके समान चञ्चलताको छोड़कर स्थिर होता है, यह अर्थ है । किञ्च, जिस चित्तपरिपाकविशेषरूप दशामें यह उत्तम ब्रह्मविद् आत्मामें—निर्मल अन्तःकरणमें—, आकाशमें पूर्ण चन्द्रबिम्बके समान, प्रकाशमान वृत्त्यारूढ़ चिदानन्दैकरस परब्रह्मस्वरूप आत्माको स्वस्वरूपसे ब्रह्म ही मैं हूँ, इस प्रकार स्वस्वरूपसे देखता हुआ—साक्षात् अपरोक्ष करता हुआ—सन्तुष्ट होता है—आनन्द लेता है यानी 'वह मोदनीयको प्राप्त करके ही मुदित होता है', इस श्रुतिके अनुसार मैं कृतार्थ हूँ, इस प्रकार मुदित होता है । यतः 'आत्मामें सन्तुष्ट होता है', इस वाक्यसे योगारोहण करनेवाले महात्माको अपना संसार मोक्ष और

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवाऽयं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ २१ ॥
यं लब्ध्वा चाऽपरं लाभं मन्यते नाऽधिकं ततः ।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणाऽपि विचाल्यते ॥ २२ ॥

जिस अवस्थामें योगनिष्ठ यति आत्माकारवृत्तिसे ग्राह्य, अतीन्द्रिय, उत्पत्ति और विनाशसे शून्य सुखका अनुभव करता है और जिस अवस्थामें चिदेकरस ब्रह्ममें स्थित होकर परमार्थरूपसे विचलित नहीं होता ॥ २१ ॥

जिस आत्मतत्त्वको प्राप्त कर अन्य लाभको उससे उत्कृष्ट नहीं मानता और जिसमें अवस्थित होकर खड्गपात आदिसे जनित महान् दुःखोंसे भी चालित नहीं होता ॥ २२ ॥

किञ्च, सुखमिति । यत्र यस्यां बुद्धेः केवलशुद्धसत्त्वभावापत्तिदशायामयं योगनिष्ठो ब्रह्मवियतिः बुद्धिग्राह्यं स्ववृत्त्यैकगम्यमत एवाऽतीन्द्रियं इन्द्रियाविषयमिन्द्रियविषयसंबन्धरहितमजन्यमित्यर्थः । तत एवाऽऽत्यन्तिकमन्तमतिक्रम्य वर्तमानमात्यन्तिकमाद्यन्तशून्यमत एव 'एषोऽस्य परमानन्दः' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धं यत्तत्सुखं वेत्ति । सदानन्दोऽहमस्मीत्यात्मानन्दमनुभवतीत्यर्थः । यत्राऽयं योगी स्वयं चिदेकवृत्त्या स्वस्वरूपे सच्चिदानन्दैकरसे ब्रह्मणि तदात्मना स्थितः सन् तत्त्वतः परमार्थात् स्वरूपात् न चलति शतधा बाह्याभ्यन्तरविक्षेपेषु प्राप्तेष्वपि न किञ्चिद्विपरीतभावं भजतीत्यर्थः ॥ २१ ॥

किञ्च, यमिति । आत्मसाक्षात्कार एव परमो लाभस्तल्लब्धेरसाधारणकारणं

मोक्षका सुख प्रत्यक्ष है, इसलिए श्रवणादि द्वारा जिसे आत्मतत्त्व विज्ञात है, उस यतिका योगारोहणसे ही आत्मोद्धरण सिद्ध होता है। इससे यह सूचित होता है कि योगारोहण अवश्य करना चाहिए॥२०॥

किञ्च, 'सुखम्' इत्यादि । बुद्धिकी केवल शुद्ध सत्त्वभावकी प्राप्तिरूप जिस दशामें योगनिष्ठ ब्रह्मवित् यति बुद्धिग्राह्य—केवल स्ववृत्तिसे ग्राह्य—, इसीलिए अतीन्द्रिय—इन्द्रियोंके अविषय यानी इन्द्रिय और विषयोंके सम्बन्धसे रहित । अजन्य, यह अर्थ है । उसीसे आत्यन्तिक—अन्तका उल्लङ्घन करके वर्तमान—यानी आदि और अन्तसे रहित, इसीलिए 'यह इसका परमानन्द है' इत्यादि श्रुतियोंमें प्रसिद्ध जो सुख है, उस सुखको जानता है । 'सदानन्दरूप ही मैं हूँ' इस प्रकार आत्मानन्दका अनुभव करता है, यह अर्थ है । जहाँ यह योगी स्वयं चिदेकवृत्तिसे स्वस्वरूप सच्चिदानन्दैकरस ब्रह्ममें उस स्वरूपसे स्थित होकर तत्त्वसे—परमार्थस्वरूपसे—चलायमान नहीं होता । बाहर भीतरके सैकड़ों विक्षेपोंके प्राप्त होनेपर भी किसी प्रकारके विपरीतभावको प्राप्त नहीं होता, यह अर्थ है ॥ २१ ॥

किञ्च, 'यम्' इत्यादि । आत्माका साक्षात्कार ही परम लाभ है, उसकी प्राप्तिका असाधारण

योगसिद्धिरपि परमलाभ एवेति मत्वा । यमिति कार्यकारणयोरभेदेन निर्देशः । सदानन्दैकरसस्याऽऽत्मन उपलब्धेः परमकारणं यं निर्विकल्पकसमाधिं तत्कार्यमात्मलाभं च लब्ध्वा योगारूढो यतिः क्वचित्प्राप्तमपरमनात्मविषयकं लाभं ततः सर्वस्य ब्रह्ममात्रत्वोपलम्भकनिर्विकल्पकसमाधेस्तत्फलादात्मलाभादधिकमुत्कृष्टं न मन्यते । आत्मव्यतिरिक्तस्य सर्वस्याऽपि पदार्थस्य मायिकत्वेनाऽसत्त्वात्तुच्छत्वात्सोपद्रवत्वाद् दुःखबीजत्वान्मिथ्यात्वाच्च धर्मादेर्लाभं सन्तो न लाभाय मन्यन्त इत्यर्थः । ननु ब्रह्मविष्ण्वादिलोकप्राप्तिस्तु विदुषो लाभ एवेति चेत्, न; सत्यलोकवैकुण्ठादेरपि मायिकत्वेनोक्तदोषवत्तया मिथ्यात्वाविशेषात्तल्लाभस्तत्स्वामित्वलाभोऽप्यलाभ एव भवति । 'आत्मलाभान्न परं विद्यते' इति स्मृत्यैवाऽऽत्मलाभातिरिक्तलाभस्य लाभत्वनिषेधान्नित्यनिरतिशयानन्दरूपस्याऽऽत्मन एव लाभो लाभाय भवति । तस्माद्ब्रह्मविदात्मसाक्षात्कारकरणत्वादमुमेव योगं परमं लाभं मन्यते न ततोऽन्यं लाभमित्यर्थः । किञ्च, यस्मिन् यस्यामन्तःकरणपरिपाकविशेषावस्थायां स्थितः बाह्यमाभ्यन्तरं च विस्मृत्य सद्भावापन्नया वृत्त्या पूर्णानन्दैकरसब्रह्मरूपेण संस्थितो ब्रह्मविद् यतिः गुरुणा खड्गपातादिजनितेनाऽन्येन वाऽऽध्यात्मिकेन महता दुःखेन न विचाल्यते स्वरूपाच्चालयितुं न शक्यते । बाह्याभ्यन्तरविक्षेपशतैर्विपरीतभावं गमयितुं न शक्यत इत्यर्थः ॥ २२ ॥

कारण योगसिद्धि भी परम लाभ ही है, ऐसा मानकर ('यम्' [जिसको] यह कथन कार्य और कारणके अभेदके अभिप्रायसे है) सदानन्दैकरस आत्माकी उपलब्धिकी परम कारण जिस निर्विकल्पक समाधि और उसके कार्यभूत आत्मलाभको प्राप्त करके योगारूढ यति कहींपर प्राप्त दूसरे अनात्मविषयक लाभको इससे—सब ब्रह्ममात्र है, इस प्रकार ज्ञान करानेवाली निर्विकल्प समाधिसे और उसके फल आत्मलाभसे—अधिक (उत्कृष्ट) नहीं मानता । आत्माके सिवा सम्पूर्ण पदार्थ मायिक, असत्, तुच्छ, उपद्रवप्रद, दुःखके बीज और मिथ्या हैं, अतः सज्जन पुरुष धर्म आदिके लाभको लाभ नहीं मानते, यह अर्थ है । यदि शङ्का हो कि ब्रह्मलोक, विष्णुलोक आदिकी प्राप्ति विद्वान्का लाभ है ही, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि सत्यलोक, वैकुण्ठलोक आदि भी मायिक होनेके कारण उक्त दोषसे ग्रस्त हैं, अतः उनमें भी मिथ्यात्वके समानरूपसे अवस्थित होनेके कारण उनका लाभ और उनके स्वामी होनेका लाभ भी अलाभ ही है । 'आत्मलाभसे बढ़कर अन्य लाभ नहीं है' इस स्मृतिसे ही आत्मलाभके सिवा अन्य लाभोंमें लाभत्वका निषेध किया गया है, इसलिए नित्य, निरतिशय आनन्दरूप आत्माका लाभ ही लाभ है । इससे आत्मसाक्षात्कारका साधन होनेसे इसी योगको ब्रह्मवित् परम लाभ मानता है, उससे अन्य लाभको लाभ नहीं मानता, यह अर्थ है । किञ्च, जिसमें—अन्तःकरणके परिपाकविशेषरूप जिस अवस्थामें—स्थित होकर बाह्य और अवान्तर विषयोंको भूलकर सद्भावको प्राप्त हुई वृत्तिसे पूर्णानन्दैकरस ब्रह्मरूपसे स्थित हुआ ब्रह्मवित् यति खड्गपात आदिसे जनित अथवा अन्य

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगो निर्विण्णचेतसा ॥ २३ ॥

दुःखके सम्बन्धलेशसे शून्य उस अवस्थाको योग जानो । आलस्य दोषसे शून्य चित्तसे उस समाधिका अवश्य अनुष्ठान करना चाहिए ॥ २३ ॥

योगस्य लक्षणान्युक्त्वाऽधुनोक्तलक्षणवन्तं योगं विजानीयादित्याह—**तं विद्यादिति ।**

बाह्योपरतत्वादिचित्तपरिपाकभेदविशिष्टो योऽन्तःकरणावस्थाविशेषस्तमेव योगसंज्ञितं विद्यात् । योग इति संज्ञितं संज्ञा यस्य स योगसंज्ञितस्तमुक्तलक्षणमन्तःकरणावस्थाविशेषमेव योगं विजानीयात् पण्डित इत्यर्थः । योगस्योक्तमेव लक्षणं विस्पष्टत्वार्थं पुनरप्याह—**दुःखसंयोगवियोगमिति ।** अत्र दुःखशब्देन तदनुबन्धि वैषयिकं सुखं च गृह्यते । दुःखानामाध्यात्मिकादीनां सुखानां च संयोगः संसर्गस्तेन वियोगो यस्य स दुःखसंयोगवियोगः अप्रकाशितबाह्यसुखदुःखप्रत्ययो योऽन्तःकरणस्थितिविशेषस्तं योगं विद्यादित्यर्थः । एवं योगलक्षणं योगं चाऽऽत्मनि पश्यन् तुष्यतीति योगफलमपि प्रतिपाद्य संसारनिमग्नस्याऽऽत्मन उद्धरणं योगेन विना नाऽन्येन सिध्यत्यतो विज्ञातात्मतत्त्वस्य यतेर्विदेहमुक्त्यै समाधिरवश्यं कर्तव्य इति सूचयितुं पुनः समाधेः

आध्यात्मिक महान् दुःखसे विचलित नहीं किया जाता—स्वरूपसे चलायमान नहीं किया जा सकता । बाहर भीतरके सैकड़ों विक्षेपोंसे विपरीत भावको प्राप्त नहीं कराया जा सकता, यह अर्थ है ॥२२॥

योगके लक्षणोंको कहकर अब उक्त लक्षणवाले योगको जानना चाहिए, ऐसा कहते हैं—**'तं विद्यात्'** इत्यादिसे ।

बाह्य विषयोंसे उपराम आदि चित्तके परिपाकविशेषसे युक्त जो अन्तःकरणकी अवस्थाविशेष है, उसका नाम योग है, ऐसा जानना चाहिए । योग जिसकी संज्ञा है, वह योगसंज्ञित कहलाता है । उस उक्त लक्षणवाले अन्तःकरणकी अवस्थाविशेषको ही पण्डित योग जाने, यह अर्थ है । योगके उक्त लक्षणको स्पष्ट करनेके लिए फिर भी कहते हैं—**दुःखसंयोगवियोगमिति ।** यहाँ दुःखशब्दसे उसका संबन्धी विषयसुखका भी ग्रहण किया जाता है । आध्यात्मिक आदि दुःखोंके और सुखोंके संयोगसे जिसका वियोग है, वह दुःखसंयोगवियोग है अर्थात् जिसमें बाहरके सुख-दुःखोंकी प्रतीति न हो, ऐसी विशेष प्रकारकी जो अन्तःकरणकी स्थिति है, उसको योग जाने, यह अर्थ है । इस प्रकार योगके स्वरूपका और उस योगको अपनेमें देखकर सन्तुष्ट होता है, इत्यर्थक 'पश्यन्नात्मनि तुष्यति' इस वाक्यसे योगके फलका भी प्रतिपादन करके, संसारमें निमग्न आत्माका उद्धरण योगके सिवा दूसरे साधनसे सिद्ध नहीं होता, इसलिए आत्मतत्त्वके ज्ञाता यतिको विदेहमुक्तिके लिए समाधि अवश्य करनी

सङ्कल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥ २४ ॥

सङ्कल्पसे होनेवाली सम्पूर्ण अभिलाषाओंका सर्वतः परित्याग कर और अन्तः-करणसे सम्पूर्ण इन्द्रियोंका चारों ओरसे निग्रह कर ॥ २४ ॥

कर्तव्यतामाह—स इति । आत्मसमुद्धरणे परमसाधनमयमुक्तलक्षणो योगोऽनेनैवाऽऽत्मा समुद्ध्रियते एतच्छास्त्रप्रसिद्धं विद्वत्प्रत्यक्षं चेति निश्चयेन चित्तदार्ढ्येनाऽप्यनिर्विण्णचेतसा नासाग्रदर्शनमिन्द्रियनिरोधनं साम्येन कायस्थापनं मनोनिग्रहश्च क्लेशाय भवति नाऽहं कर्तुं शक्नोमीति समाधिकरणे यदलसत्वं तेन दोषेण युक्तं चित्तं निर्विण्णं तीव्रमोक्षेच्छया तद्रहितमनिर्विण्णं तेनाऽनिर्विण्णेन चेतसा मुमुक्षोर्यतेः स उक्तलक्षणो योगः समाधिर्योक्तव्यः प्रयोक्तव्यः । विदेहमुक्त्यै सम्यक्कर्तव्य इत्यर्थः ॥ २३ ॥

समाधेः कर्तव्यप्रकारमेवाऽऽह—सङ्कल्पेति ।

पदार्थेषु समीचीनत्वकल्पनमेव संकल्पस्तस्मात् प्रभवन्तीति संकल्पप्रभवास्तान् कामान् विषयाभिलाषान् सर्वान् सर्वपदार्थविषयानशेषतस्त्यक्त्वा । परित्यक्तेऽपि तैले लेपरूपेण पात्रे शेषस्तिष्ठति यथा, तथा कामेषु त्यक्तेष्वपि विषयेषु रञ्जनारूपेण कामशेषो यथा न स्यात्तथा सर्वत्र कामत्यागः कर्तव्यः । सति कामलेशे तदाकृष्टं मनः समाधौ न तिष्ठत्यतः सर्वत्र देहजीवनादावपि निरपेक्षो भवेद्योगीत्यर्थः । योग-

---

चाहिए, ऐसा सूचन करनेके लिए समाधिकी कर्तव्यताको फिर कहते हैं—स इति । आत्माके उद्धरणमें यह उक्त लक्षणवाला योग परम कारण है, इसीसे आत्माका उद्धार किया जाता है, यह शास्त्रप्रसिद्ध और विद्वानोंके प्रत्यक्ष है, इस प्रकारके निश्चयसे और चित्तकी दृढ़तासे भी अनिर्विण्णचेतस्से—'नासाग्रदर्शन, इन्द्रियनिरोध, समतासे कायका स्थापन और मनोनिग्रह, इनमें क्लेश होता है, अतः मैं उन्हें नहीं कर सकता हूँ', ऐसा समझ कर समाधिका अनुष्ठान करनेमें जो आलस्यरूप दोष है, उस दोषसे युक्त चित्त निर्विण्ण है तीव्र मोक्षकी इच्छासे, उस दोषसे रहित अनिर्विण्णचित्त है, उस अनिर्विण्णचित्तसे—मुमुक्षु यतिको उस उक्त लक्षणवाले योगका (समाधिका) अनुष्ठान करना चाहिए। विदेहमुक्तिके लिए भली भाँति अनुष्ठान करना चाहिए, यह अर्थ है ॥२३॥

समाधि करनेका प्रकार कहते हैं—'सङ्कल्प०' इत्यादिसे ।

पदार्थोंमें समीचीनत्व-कलपना ही सङ्कल्प है, उससे जो उत्पन्न होते हैं, वे सङ्कल्पप्रभव हैं, उन सम्पूर्ण सङ्कल्पप्रभव कामोंका यानी सम्पूर्ण विषयोंकी अभिलाषाओंका अविशेषरूपसे त्यागकर जैसे तेलको निकाल लेनेपर भी लेपरूपसे पात्रमें उसका शेष रह जाता है, वैसे कामोंका त्याग करनेपर भी विषयोंमें रञ्जनारूपसे उसका शेष जैसे न रह जाय, वैसे सर्वत्र कामका त्याग करना चाहिए। तनिक भी कामके रहनेपर उससे आकृष्ट होकर मन समाधिमें

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥ २५ ॥

धैर्यसे निगृहीत बुद्धिसे मनको क्रमशः बाह्य विषयोंसे उपरत करे और उसको आत्मामें लगाकर बाह्य तथा आन्तर अन्य किसी वस्तुका ध्यान न करे ॥ २५ ॥

सिद्धेरन्तरङ्गं बलवत्साधनमुक्त्वा साधनान्तरमाह—**मनसेति** । समाधौ कृते सम्यग्ज्ञानं तेनैव मोक्षो नाऽन्यथेत्येवं निश्चयवता कामसंकल्पयोर्दूरवर्तिनैव मनसा इन्द्रियग्रामं चक्षुरादीनां वागादीनां च संघातं समन्ततः सर्वतो नियम्य । तेषां प्रवृत्तिं निगृह्येत्यर्थः । इन्द्रियैर्मनसा संयोगाकरणमेवेन्द्रियनियमनमिति मनसैवेति पदेन सूचितम् । तत इन्द्रियाणां मनसश्च संयोगो यथा न स्यात्तथा स्थातव्यमित्यभिप्रायः ॥२४॥

ब्रह्मविदुक्तलक्षण आसने सम्यगासित्वा शरीरं साम्येन स्थापयित्वा दिशोऽपश्यन्नासाग्रे दृष्टिं मुक्त्वा सर्वकामसंकल्पत्यागपूर्वकं सर्वेन्द्रियाणि निगृह्य ततः शनैः शनैरुपरमेदित्याह—**शनैरिति** ।

शनैः शनैः क्रमेण बाह्यविषयेभ्यस्तत इन्द्रियेभ्यस्ततोऽन्तर्विपरीतप्रत्ययेभ्यश्च मन्दं मन्दमन्तःकरणमुपरमेदुपरतं कुर्यात् । मोक्षैककामनया विषयैरिन्द्रियैरसत्प्रत्ययैश्च संबन्धो यथा न स्यात्तथा मनसो बहिः प्रवृत्तिमुपशमयेदित्यर्थः । 'यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि । ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि'

नहीं ठहरता, इसलिए सर्वत्र देहके जीवन आदिमें भी योगी निरपेक्ष होवे, यह अर्थ है । योगसिद्धिके बलवान् अन्तरङ्ग साधनको कहकर अब दूसरे साधनोंको कहते हैं—**मनसेति** । समाधि करनेसे सम्यक् ज्ञान होता है, उसीसे मोक्ष होता है, अन्य प्रकारसे नहीं, इस प्रकार निश्चयवाले, काम और सङ्कल्पसे दूर रहनेवाले मनसे इन्द्रियसमूहको—नेत्रादि और वाणी आदिके सङ्घातको—सब ओरसे नियममें रखकर (उनकी प्रवृत्तिको रोककर यह अर्थ है) इन्द्रियोंसे मनका संयोग न करना ही इन्द्रियोंका नियमन है, ऐसा मनसे ही, इस पदसे सूचित किया गया । इसलिए इन्द्रियोंका और मनका जिस रीतिसे संयोग न हो, उसी रीतिसे स्थित होना चाहिए, यह अभिप्राय है ॥२४॥

ब्रह्मवित्को उक्तलक्षणवाले आसनपर ठीक-ठीक बैठकर, शरीरको समभावसे स्थापन करके दिशाओंको न देखते हुए, नासिकाग्रमें दृष्टि लगाकर सर्वकामसङ्कल्पके त्यागपूर्वक सब इन्द्रियोंको रोककर पीछे धीरे-धीरे उपरामको प्राप्त होना चाहिए, ऐसा कहते हैं—'**शनैः**' इत्यादिसे ।

शनैः शनैः यानी क्रमशः बाह्य विषयोंसे, तदनन्तर इन्द्रियोंसे तदन्तर भीतरके विपरीत प्रत्ययोंसे धीरे-धीरे अन्तःकरणको उपरत करे यानी व्यापाररहित करे । केवल मोक्षकी ही इच्छासे, विषयोंसे, इन्द्रियोंसे और असत् प्रत्ययोंसे अन्तःकरणका सम्बन्ध न हो, इसलिए मनकी बाह्य प्रवृत्तिको शान्त करे, यह अर्थ है । 'प्राज्ञ वाणीका मनमें लय करे, मनका ज्ञानरूप आत्मामें—बुद्धिमें—लय करे,

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ २६ ॥

अस्थिर और चञ्चल मन जिस जिस विषयके लिए बाहर जाता है, उस उस विषयसे हटाकर आत्मामें ही उसका स्थापन करे ॥ २६ ॥

इत्येतच्छ्रुत्युक्तरीत्या वागुपलक्षितानि सर्वाणीन्द्रियाणि तत्तद्विषयैः सह मनसि प्रविलापयेत् । प्रपञ्चकारणं तन्मनोऽपि ज्ञान आत्मनि अहमात्मिकायां बुद्धौ तज्ज्ञानमहमात्मिकां बुद्धिं महत्यात्मनि महत्तत्त्वे तन्महत्तत्त्वमव्याकृते तदव्याकृतं शान्ते सर्वप्रपञ्चोपशमे निर्विशेषे परे ब्रह्मणि प्रविलापयेत् । एवं सर्वं ब्रह्मणि प्रविलाप्य 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' इत्यादिश्रुत्यर्थावष्टम्भसमुत्पन्ननिश्चयवती दृढवृत्तिर्धृतिर्धैर्यं तया गृहीतया निगृहीतया बुद्ध्या पूर्वोक्तप्रविलापनेन सर्वत्र ब्रह्ममात्रावशेषत्वसंस्कारबलेन सर्वमात्मैव न ततोऽन्यदस्तीत्येवंप्रत्ययवत्या बुद्ध्या मन आत्मसंस्थं सम्यगात्मन्येव चैतन्यरूपे स्थितं निश्चलं कृत्वा सर्वमात्मानमेव पश्यन्नित्यर्थः । एवमात्मसंस्थं मनः कृत्वा विद्वान् ततः स्वयं किञ्चिदपि बाह्यमभ्यन्तरं वा वस्तु न चिन्तयेन्न भावयेत् किन्तु सर्वं ब्रह्मैव भावयेदित्यर्थः । एतेन ब्रह्माकारवृत्त्या मनसो योऽन्यभावनाभावः स एष एव योग इति सूचितं भवति ॥ २५ ॥

ननु विषयलम्पटस्य मनस आत्मनि संस्थितिर्न संभवति, तद्विषयवासनाभी रागादिभिश्च विषयप्रवृत्त्येकस्वभावत्वान्मनसः 'स्वभावो दुरतिक्रमः' इति न्यायेन

ज्ञानको महत् आत्मामें, उसका शान्त आत्मामें' इस श्रुतिमें कही गई रीतिसे वाणीसे उपलक्षित सब इन्द्रियोंका तत्-तत् विषयोंके साथ मनमें लय करना चाहिए । प्रपञ्चके कारणभूत उस मनका भी ज्ञानरूप आत्मामें यानी अहमात्मिका बुद्धिमें लय करे, उस ज्ञानका—अहमात्मिका बुद्धिका—महत् आत्मामें—महत्तत्त्वमें—लय करे, महत्तत्त्वका अव्याकृतमें लय करे, इस अव्याकृतका शान्तमें—सर्वप्रपञ्चरहित निर्विशेष परब्रह्ममें—लय करे, इस प्रकार सबका ब्रह्ममें लय करके 'ब्रह्म ही यह सब है' इत्यादि श्रुत्यर्थके अवलम्बसे उत्पन्न निश्चयाकार दृढ़ वृत्ति धृति—धैर्य—है, इससे निगृहीत बुद्धिसे—पूर्वोक्त रीत्या प्रविलापन करनेसे सर्वत्र ब्रह्ममात्र शेष रहे हुए संस्कारके बलसे सब आत्मा ही है, उससे अन्य नहीं है, इस प्रकार प्रत्ययसे युक्त बुद्धिसे—मनको आत्मसंस्थ यानी सम्यक् चैतन्यरूप आत्मामें ही स्थित—निश्चल—करके सबको आत्मा ही देखता हुआ, यह भाव है । इस प्रकार मनको आत्मसंस्थ करके विद्वान् स्वयं बाहर भीतर किसी भी वस्तुका चिन्तन न करे—भावना न करे, किन्तु सम्पूर्ण ब्रह्म ही है, ऐसी भावना करे । इससे सूचित होता है कि ब्रह्माकार वृत्तिसे मनमें अन्य भावका न होना ही योग है ॥ २५ ॥

विषयलम्पट मनकी आत्मामें संस्थिति असंभव है, क्योंकि उन विषयवासनाओंसे और रागादिसे विषयोंमें प्रवृत्ति ही मनका स्वभाव है । 'स्वभाव दुरतिक्रम है' इस न्यायसे स्वभावसे

स्वभावतः प्राप्तप्रवृत्तिनिरोधो न सिद्ध्यति, तदसिद्धौ कुत आत्मनि संस्थितिरित्याशङ्कायाम् , न; विषयेषु सत्यत्वसमीचीनत्वेष्टत्वबुद्ध्येकबलान्मनसः प्रवृत्तिस्तद्धेतवो रागादयश्च 'विकल्पो नहि वस्तु', 'मायामात्रमिदं द्वैतं', 'त्रयमप्येतत्सुषुप्तं स्वप्नं मायामात्रम्' इत्यादिश्रुतिभिरिदं सर्वं मिथ्या कल्पितत्वाच्छुक्तिरजतवदित्यादियुक्तिभिश्च विषयाणां मिथ्यात्वे सिद्धे विषये सत्यत्वसमीचीनत्वेष्टत्वबुद्धयो नश्यन्ति रागादयश्च तेन मनसश्च प्रवृत्तिर्न संभवति । क्वचिद्वासनया यदा मनः प्रवर्तते तदा विषयमिथ्यात्वबुद्ध्या ततो निवर्त्य स्वरूप एव स्थापनीयमित्याह—**यत इति** ।

वासनावेगाच्चञ्चलं चपलं रागादिदोषग्रस्तत्वादस्थिरमव्यवस्थं मनः स्वविषयमात्मानमनादृत्य वासनया वा रागादिना वा हठाद्वा ज्ञातमज्ञातं च सत् यतो यतो यं यं विषयमुद्दिश्य निश्चरति निर्गच्छति ततस्ततस्तस्मात्तस्माद्विषयान्नियम्य तत्र तत्र विषये मिथ्यात्वं दुःखप्रदत्वं बन्धकत्वमात्मव्यतिरेकेणाऽसत्त्वं चोद्घाट्य वैरस्यमापाद्यैवैतन्मनः पुनराकृष्य चिद्भावं गमयित्वाऽऽत्मन्येव वशं नयेत् । आत्मनि नित्यत्वचिद्रूपत्वाखण्डानन्दैकरसत्वस्वरूपत्वादिगुणप्रकाशनेन रुचिं संपाद्य नियमेनाऽऽत्मस्थमेव कुर्यादित्यर्थः ॥ २६ ॥

पुनःपुनर्विषयेभ्यस्तत्तद्दोषोद्घाटनपूर्वकमाकृष्य मन आत्मन्येव स्थापयित्वाऽत्यन्त-

---

प्राप्त हुई प्रवृत्तिको रोक नहीं सकते। जब उसको रोक ही नहीं सकते, तब मनकी आत्मामें भली भाँति स्थिति कहाँसे होगी, ऐसी यदि आशंका हो, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि विषयोंमें केवल सत्यत्व, समीचीनत्व, इष्टत्व बुद्धिके बलसे मनकी प्रवृत्ति होती है, उसके हेतु रागादि हैं 'विकल्प वस्तु नहीं है', 'मायामात्र यह द्वैत है', 'ये तीनों ही यह सुषुप्त स्वप्न मायामात्र है' इत्यादि श्रुतियोंसे और 'यह सब मिथ्या है, कल्पित होनेसे, शुक्ति रजतके समान' इत्यादि युक्तियोंसे विषयोंमें मिथ्यात्वके सिद्ध होनेपर उनमें सत्यत्व, समीचीनत्व और इष्टत्व विषयक बुद्धियां नष्ट हो जाती हैं और राग आदि भी नष्ट हो जाते हैं, इसलिए मनकी प्रवृत्तिका संभव नहीं है। यदि कहीं वासनासे मनकी प्रवृत्ति होती हो, तो विषयोंकी मिथ्यात्वबुद्धिसे उससे निवृत्त करके स्वरूपमें ही मनको स्थापन करना चाहिए, ऐसा कहते हैं—'यत' इत्यादिसे ।

वासनाके वेगसे चञ्चल—चपल—तथा रागादि दोषोंसे ग्रस्त होनेके कारण अस्थिर—अव्यवस्थित—मन अपने विषय आत्माका अनादर करके वासनासे, रागादिसे अथवा हठसे ज्ञात या अज्ञात होकर जिस जिस विषयके प्रति जाता है, उस-उस विषयसे रोककर—यानी तत्-तत् विषयमें मिथ्यात्व, दुःखप्रदत्व, बन्धकत्व और आत्मा व्यतिरेकसे असत्त्वका उद्घाटन करके वैराग्यको प्राप्त करा कर इस मनमें चिद्भावको प्राप्त कराकर आत्माके अधीन ही करे यानी आत्मामें नित्यत्व, चिद्रूपत्व, अखण्डनन्दैकरसत्व आदि गुणोंके प्रकाशन द्वारा स्थापन करके नियमसे आत्मामें ही मनको स्थित करे, यह अर्थ है ॥ २६ ॥

बार बार विषयोंसे, तत्-तत् दोषोंके उद्घाटनपूर्वक मनको खींच कर आत्मामें ही स्थापन

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ २७ ॥

भेदवासनासे रहित, रजोगुण और तमोगुणसे रहित, प्रशान्तमनवाले तथा ब्रह्मभावको प्राप्त हुए योगीको उत्तम सुखकी प्राप्ति होती है ॥ २७ ॥

श्रद्धया चिरकालं नित्यनिरन्तरं चित्प्रत्ययावृत्तिमेव कुर्वतो योगिनो यतेर्बाह्यवासनानां तत्प्रत्ययानां च निःशेषसंक्षये सति यदा ब्रह्मणि मनः प्रशान्तिमेति तदा सुखं ब्राह्ममनुत्तममाविर्भवतीत्याह—**प्रशान्तेति ।**

शान्तरजसं नित्यनिरन्तरसमाधिनिष्ठया शान्तो विनष्टो रजोगुणः । रज इति तमसोऽप्युपलक्षणम् । तमोगुणश्च स्वकार्यैः कामक्रोधलोभमोहाहंकारममकारादिभिः सह यस्य स शान्तरजास्तं शान्तरजसं केवलं शुद्धसत्त्वस्वभावमत एवाऽकल्मषम् अन्तःकरणस्य कल्मषं भेदवासना एव राजस्यस्तामस्यः सत्त्वमिश्रीभूतभौतिकगोचरा यास्ताः सर्वा न विद्यन्ते यस्य चित्ते सोऽकल्मषस्तमत एव प्रशान्तमनसं विक्षेपविपरीतभावहेत्वो रजस्तमोगुणयोः सकार्ययोर्निःशेषविनाशाद्वृत्तिशून्यतया प्रशान्तं प्रकर्षेण शान्तं प्रशान्तं अविषयाकारतामेव समापन्नं मनो यस्य तं प्रशान्तमनसमत एव ब्रह्मभूतं ब्रह्मैवाहमित्युपाधिकृतपरिच्छिन्निं परित्यज्य पूर्णात्मनैव स्थितमेनं योगिनं ब्रह्मविदं यतिमनुत्तमं यस्मादुत्तमं नास्ति तदनुत्तममनुपमं नित्यं निरतिशयं साधनान-

---

करके अत्यन्त श्रद्धासे चिरकाल नित्य निरन्तर चित्-प्रत्ययकी आवृत्ति ही करनेवाले योगी यतिकी, वासनाओंका और उनके प्रत्ययोंका निःशेष क्षय होनेपर जब मन ब्रह्ममें प्रशान्ति पाता है, तब अनुत्तम ब्रह्म सुख प्रकट होता है, ऐसा कहते हैं—**'प्रशान्त०'** इत्यादिसे ।

नित्य निरन्तर समाधिनिष्ठासे नष्ट हो गया है, रज यानी रजोगुण (यहाँ रजशब्द तमका भी उपलक्षण है और तमोगुणका भी उसके कार्य काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहङ्कार, ममकार आदिके साथ ग्रहण करना चाहिए) जिसका वह शान्तरज है, उस शान्तरज—केवल सत्त्वस्वभाव, इसीलिए अकल्मष (अन्तःकरणका कल्मष भेदवासना ही राजसी और तामसी, सत्त्वसे मिश्रीभूत भूत-भौतिकको विषय करनेवाली जो हैं, वे सब जिसके चित्तमें नहीं हैं, वह अकल्मष है) इसलिए प्रशान्तमन विक्षेप और विपरीतभावके हेतु रजोगुण और तमोगुण दोनोंका कार्यसहित निःशेष विनाश होनेसे वृत्तिशून्य होनेके कारण प्रकर्षसे शान्त है यानी विषयाकारताको प्राप्त नहीं हुआ है, मन जिसका, ऐसा प्रशान्तमन, इसीलिए ब्रह्मभूत—ब्रह्म ही मैं हूँ, इस प्रकार औपाधिक परिच्छिन्नताका त्याग कर पूर्णस्वरूपसे स्थित इस योगीको—ब्रह्मवित् यतिको—अनुत्तम (जिससे उत्तम दूसरा न हो, वह अनुत्तम है यानी अनुपम) नित्य, निरतिशय, साधनकी अपेक्षासे

युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ २८ ॥

पूर्वोक्त रीतिसे सदा चिदानन्दघन परिपूर्ण अद्वितीय परमब्रह्मका अनुसन्धान करता हुआ वासनाजनित भेददर्शनसे रहित योगी अयत्नसिद्ध (अकृत्रिम) ब्रह्मरूप असीम अक्षय सुखको प्राप्त होता है ॥ २८ ॥

पेक्षमयत्नसिद्धमक्षय्यमात्मभूतमात्मैकवेद्यं ब्राह्मं सुखमुपैति । तदा प्राप्नोतीत्यर्थः । साधननिरपेक्षापारसुखाविर्भावः सुषुप्तौ सर्वप्रत्यक्षः । 'एषोऽस्य परमानन्दः' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धश्चेति प्रसिद्धिद्योतनार्थो हिशब्दः ॥ २७ ॥

योगमनुष्ठायैव यतिः कृतार्थो भवति सदा सुखं ब्राह्ममक्षय्यमेव प्राप्नोति न क्वचिद् दुःखलवमित्युक्तमेव सुखलाभं योगजं योगिनः प्रशंसति मुमुक्षोरवश्यं योगः करणीयो मुक्तिसुखसिद्धय इति सूचयितुम्—युञ्जन्निति ।

दृश्यं सर्वं मिथ्यैवेति दृश्यमिथ्यात्वं दृढं निश्चित्य सर्वत्र कामसङ्कल्पपरित्यागपूर्वकं सर्वेन्द्रियाणि निगृह्य बहिरङ्गान्तरङ्गसाधनसम्पन्नो भूत्वा योगी समाधिनिष्ठायां प्रवृत्तो यतिरेवं यथाशास्त्रं यथालक्षणं सदा नित्यमात्मानं चिदानन्दैकरसं परिपूर्णमद्वितीयं परं ब्रह्म युञ्जन्ननुसन्दधानः सर्वमिदमहं च ब्रह्मैवेत्यखण्डवृत्त्या सर्वं ब्रह्मैव पश्यन् विगतकल्मषः विशिष्य गतं विगतं निःशेषविनष्टं कल्मषं वासनाकृतभेददर्शन-

---

रहित यानी अनायाससिद्ध, अक्षय, आत्मभूत, केवल आत्मासे वेद्य ब्रह्मसुखको प्राप्त होता है । तब प्राप्त करता है, यह अर्थ है । साधननिरपेक्ष, अपार सुखका आविर्भाव सुषुप्तिमें सभीको प्रत्यक्ष है और 'यह इसका परमानन्द है', इत्यादि श्रुतियोंसे उसकी प्रसिद्धि भी है, इस प्रकार प्रसिद्धिका सूचन करनेके लिए हिशब्द है ॥ २७ ॥

योगका अनुष्ठान करके ही यति कृतार्थ होता है यानी सदा अक्षय ब्रह्मसुखको ही प्राप्त होता है, कभी लेशमात्र भी दुःखको प्राप्त नहीं होता, यों कहे गये योगसे उत्पन्न सुखलाभकी, मुमुक्षुको मुक्तिसुखकी सिद्धिके लिए अवश्य योग करना चाहिए ऐसा सूचन करनेके लिए, प्रशंसा करते हैं—'युञ्जन्' इत्यादिसे ।

सम्पूर्ण दृश्य मिथ्या ही है, इस प्रकार दृश्यमें मिथ्यात्वका दृढ़ निश्चय कर, सर्वत्र काम, सङ्कल्पके परित्यागपूर्वक सब इन्द्रियोंका निग्रह कर एवं बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग साधनोंसे सम्पन्न होकर योगी—समाधिनिष्ठामें प्रवृत्त यति यानी शास्त्र और लक्षणके अनुसार सदा आत्माका (चिदानन्दैकरस परिपूर्ण अद्वितीय परमब्रह्मका) अनुसंधान करता हुआ यानी 'सब, यह और मैं ब्रह्म ही हैं', इस प्रकारकी अखण्डवृत्तिसे सबको ब्रह्ममात्र देखता हुआ, विगतकल्मष (विशेष करके गत विगत निःशेष नष्ट हो गया है कल्मष यानी वासनाकृत भेददर्शन जिसका, वह विगत-

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चाऽऽत्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ २९ ॥

योगसे युक्त अन्तःकरणवाला और चिरकालके योगाभ्याससे सत्-मात्रका ग्रहण करनेवाला ब्रह्मवित्तम सम्पूर्ण भूतोंमें आत्माको और आत्मामें सम्पूर्ण भूतोंको देखता है ॥ २९ ॥

लक्षणं यस्य स विगतकल्मषः सन् सुखेनाऽप्रयत्नेन सिद्धं साधननिरपेक्षमकृत्रिमं ब्रह्मसंस्पर्शं ब्रह्मणा ब्रह्मात्मना संस्पृश्यतेऽवगम्यत इति ब्रह्मसंस्पर्शं ब्रह्माभिन्नं चिदेकरसमित्यर्थः । यद्वा संस्पृश्यते गृह्यतेऽनेनेति संस्पर्शः स्वरूपं ब्रह्मैव संस्पर्शो यस्य तद् ब्रह्मसंस्पर्शं ब्रह्मात्मकमत एवाऽत्यन्तमन्तं परिमाणमतीत्य तिष्ठतीत्यत्यन्तमपारमक्षयं नित्यं शाश्वतं ब्राह्मं सुखमश्नुते । जीवन्नेव मुक्तः सन् मुक्तिसुखमनुभुङ्क्ते इत्यर्थः ॥ २८ ॥

योगस्य फलमप्रतिबद्धमात्मैकत्वदर्शनमात्मानन्दानुभूतिश्च । तत्र क्रममविवक्षित्वा द्वयोरप्यैकैवाऽऽत्मानन्दानुभूतिर्दर्शिता । अधुना द्वितीयमात्मैकत्वदर्शनं सर्वसंसारदुःखनिर्मूलनकारणं प्रतिपाद्यते—**सर्वभूतस्थमिति** ।

पुरुषं परमपुरुषार्थेन योजयति सङ्घट्टयतीति योगः बहुजन्मकृतं पुण्यपुञ्जपरिपाकजन्यं प्रत्यग्दर्शनम् यस्मिन् सत्येवाऽप्रतिबन्धेन पुरुषस्य मोक्षस्तेन योगेन सम्यग्दर्शनेनैव युक्तः आत्मा मनो यस्य स योगयुक्तात्मा ब्रह्माकाराकारितान्तः-

---

कल्मष) होकर अनायाससिद्ध—साधननिरपेक्ष, अकृत्रिम ब्रह्मसंस्पर्श (ब्रह्मस्वरूपसे जो जाना जाता है, वह ब्रह्मसंस्पर्श है) ब्रह्मसे अभिन्न चिदेकरस, यह अर्थ है । अथवा जिससे ग्रहण किया जाता है, वह संस्पर्श है यानी स्वरूप । ब्रह्म ही है संस्पर्श (स्वरूप) जिसका यानी ब्रह्मात्मक, इसलिए अत्यन्त अर्थात् अन्तका (परिमाणका) उल्लङ्घन कर जो स्थित रहता है, वह अत्यन्त यानी अपार, अक्षय, नित्य, शाश्वत, ब्रह्मसुखको भोगता है—जीता हुआ ही मुक्त होकर मुक्तिके सुखका अनुभव करता है, यह भाव है ॥ २८ ॥

अप्रतिबद्ध आत्मैकत्वदर्शन और आत्मानन्दका अनुभव योगका फल है । क्रमकी विवक्षा न कर उन दोनोंका एक ही आत्मानन्दानुभव पहले दिखलाया गया है। अब सम्पूर्ण संसार-दुःखके निर्मूलनके कारणभूत दूसरे आत्मैकत्वदर्शनका प्रतिपादन किया जाता है—**'सर्वभूतस्थम्'** इत्यादिसे।

पुरुषको परम पुरुषार्थसे जो जोड़ देता है—'मिला देता है, वह योग है यानी बहुत जन्मोंमें किये गये पुण्यपुञ्जके परिपाकसे उत्पन्न हुआ प्रत्यग्दर्शन, जिसके होनेसे ही किसी प्रतिबन्धके बिना पुरुषको मोक्ष प्राप्त होता है, उस योगसे—सम्यक् दर्शनसे ही युक्त है आत्मा (मन) जिसका वह योगयुक्तात्मा—ब्रह्माकारसे आकारित अन्तःकरणवाला, (जिसका अन्तःकरण ब्रह्माकार हो गया है),

करणस्तत एव समदर्शनः समं समभावापन्नं विशेषग्रहणनिर्मुक्तं चिरकालयोगाभ्यासवशात् सर्वत्र सन्मात्रग्रहणशीलं दर्शनं यस्य स समदर्शनो ब्रह्मवित्तमः स्वयं सर्वभूतस्थं भवन्तीति भूतानि अधिष्ठानाग्रहणदोषेण ततः पृथक्सत्तावन्तीव प्रतीयमानान्यव्याकृतादीनि ब्रह्मादिस्तम्बान्तानि च यानि तेषु सर्वेषु भूतेषु ब्रह्माण्डे सूर्यवद्गृहेषु प्रदीपवद् घटादिष्वाकाशवदविकारात्मना तिष्ठतीति सर्वभूतस्थमात्मानं यथाऽस्मिन् कार्यकरणसङ्घाते देहेन्द्रियप्राणमनोबुद्ध्यादीनां तद्धर्मतत्कर्मतदवस्थानां च साक्षित्वेन सर्वप्रकाशकत्वेनाऽहमर्थतया निरभिमानेनाऽहं तिष्ठामि तथैव सर्वभूतेष्वपि भूततदवस्थातद्धर्मतत्कर्मादीनां साक्षित्वेन प्रकाशकत्वेनाऽहमर्थत्वेनाऽविकारात्मनाऽहमेवैकरूपेण चैतन्यात्मना तिष्ठामीत्येवंभूतानुभूत्या स्वस्यैव सर्वत्र तथा स्थितिमनुभावयित्र्या स्वसद्भावं सर्वतो विनिश्चित्य सर्वभूतेषु प्रत्यग्रूपेण वर्तमानमात्मानं स्वमेकमेव समीक्षते सम्यगनुभवति। एवं सर्वभूतेष्वात्मैकत्वं विज्ञाय बाह्यनिर्विकल्पसमाधिनिष्ठानिष्पन्नाधिष्ठानयाथात्म्यविज्ञानबलेनाऽऽत्मन्येव परिपूर्णे सच्चिदानन्दैकरसे निर्विकल्पे निराकारे निर्विशेषे स्वस्वरूपे सर्वभूतान्यव्याकृतादीनि स्थूलान्तानि सकार्याण्यात्ममात्राण्येव समीक्षते। यथाऽधिष्ठानविवेकविज्ञानेन घटशरावादीनि मृण्मात्राणि, यथा जलतरङ्गफेनबुद्बुदादीनि मरुमात्राणि, यथा सर्पशिरउरःपुच्छादीनि रज्जुमात्राणि

इसीलिए समदर्शन—सम (समभावको प्राप्त) यानी विशेषग्रहणसे रहित, चिरकालके योगाभ्याससे सर्वत्र सन्मात्रग्रहणशील—दर्शन जिसका है, वह समदर्शन ब्रह्मवित्तम, स्वयं सर्वभूतस्थ—जो होते हैं, वे भूत अर्थात् अधिष्ठानके अग्रहणरूप दोषके कारण उससे भिन्न सत्तावान्से प्रतीत होनेवाले अव्याकृत आदि और ब्रह्मासे लेकर स्तम्ब तक सम्पूर्ण भूत। उन सब भूतोंमें ब्रह्माण्डमें सूर्यके समान, घरमें दीपकके समान, घटादिमें आकाशके समान अविकारस्वरूपसे स्थित रहनेवाले सर्वभूतस्थ आत्माको—जैसे इस कार्यकरणसंघातमें देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदिके और उनके धर्म, कर्म और अवस्थाओंके साक्षीरूपसे, सर्वप्रकाशकरूपसे मैं ही एकरूपसे (चैतन्य स्वरूपसे) स्थित हूँ, वैसे ही सर्व भूतोंमें भी भूत, उनकी अवस्था, धर्म और कर्म आदिकोंके साक्षीरूपसे, प्रकाशकरूपसे अहंके अर्थरूपसे, अविकारी स्वरूपसे मैं ही एकरूपसे (चैतन्यस्वरूपसे) स्थित हूँ, इस प्रकारसे अपना ही सर्वत्र अनुभवसे यानी वैसी स्थितिके अनुभवसे अपना सद्भाव सर्व प्रकारसे निश्चय करके सब भूतोंमें प्रत्यक्रूपसे वर्तमान आत्माको—एक अपनेको सम्यक् देखता है—भली भाँति अनुभव करता है। इस प्रकार सब भूतोंमें आत्माका एकत्व जानकर बाह्य निर्विकल्पसमाधिनिष्ठासे प्राप्त हुए अधिष्ठानके यथार्थ विज्ञानके बलसे आत्मामें ही (परिपूर्ण सच्चिदानन्द, एकरस, निर्विकल्प, निराकार, निर्विशेष स्वरूपमें) सब भूतोंको—अव्याकृतसे स्थूल तक कार्यसहित सब भूतोंको—आत्ममात्र ही देखता है। जैसे अधिष्ठानके विवेकविज्ञानसे घट, शराव आदिको मिट्टीमात्र, जैसे जलतरंग, फेन, बुद्बुद आदिको

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याऽहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ ३० ॥

जो ब्रह्मवित् पुरुष सर्वत्र मुझको देखता है और मुझमें सम्पूर्ण जगत्को देखता है, उस ब्रह्मवित् यतिके लिए मैं कभी परोक्ष नहीं होता और वह भी कभी अनात्मपदार्थोंमें तादात्म्याभिमान नहीं करता ॥ ३० ॥

समीक्षते विवेकी पुरुषः, तथा ब्रह्मविदपि योगानुष्ठानसमुत्पन्नाप्रतिबद्धाद्वैतात्मविज्ञानबलेन सर्वाण्यपि च भूतान्यधिष्ठानाज्ञानतः प्रतीतान्यात्ममात्राण्येव समीक्षते । अहमेवेदं सर्वमिति सर्वमात्मानमेव साक्षादनुभवति न तु स्वस्मात्तेषां पृथक् सत्तां पश्यति, एवमाधाराधेयोभयात्मना प्रतीतमात्मानं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावमेकमेवाऽद्वितीयं निष्कलं निष्क्रियं शान्तमनन्तमपारसुखं पश्यति सर्वसंसारदुःखनिर्मुक्तमत इदमेव दर्शनं मुक्तेः परमकारणमिति सूचितं भवति । न तु योगः सांख्यं कर्म च स्तोत्रमन्त्रजपादि च । तथा च श्रुतिः—'सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि । सम्पश्यन् ब्रह्म परमं याति नाऽन्येन हेतुना ॥' इति । एतेन संसारसागरनिमग्नात्मोद्धरणाय मुमुक्षोर्विदेहकैवल्यार्थिनः समाधिरवश्यं कर्तव्य इति सिद्धम् ॥ २९ ॥

उक्तरीत्या स्वात्मनः सर्वभूतस्थत्वं सर्वभूताधारत्वं च पश्यतो ब्रह्मविदश्च स्वस्य च स्वरूपेणैकत्वं बोधयितुं स्वस्यापि सर्वभूतस्थत्वं सर्वभूताधिवासत्वं च

मात्र, जैसे सर्पके सिर, छाती, पूँछ आदिको रस्सीमात्र विवेकी पुरुष देखता है, वैसे ही ब्रह्मवित् भी योगानुष्ठानसे उत्पन्न हुए अप्रतिबद्ध अद्वैतात्मविज्ञानके बलसे अधिष्ठानके अज्ञानसे प्रतीत होनेवाले सब भूतोंको आत्ममात्र ही देखता है । 'मैं ही यह सब हूँ' इस प्रकार सबका आत्मरूपसे ही साक्षात् अनुभव करता है, अपनेसे पृथक् उनकी सत्ता नहीं देखता, इस प्रकार आधार, तथा आधेय स्वरूपसे प्रतीत होनेवाले नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त स्वभाववाले एक ही अद्वितीय, निष्कल, निष्क्रिय, शान्त, अनन्त, अपारसुख, सब संसारदुःखोंसे निर्मुक्त आत्माको देखता है, इसलिए यही दर्शन मुक्तिका परम कारण है, ऐसा सूचित होता है । योग, सांख्य, कर्म और स्तोत्र, मन्त्र, जपादि मुक्तिके कारण नहीं हैं । जैसे कि श्रुति है—'सब भूतोंमें आत्माको और आत्मामें सब भूतोंको भली भाँति देखकर परब्रह्मको प्राप्त होता है, अन्य हेतुसे नहीं ।' इससे संसार-सागरमें निमग्न आत्माके उद्धरणके लिए विदेहकैवल्यार्थी मुमुक्षुको समाधि अवश्य करनी चाहिए, यह सिद्ध हुआ ॥ २९ ॥

उक्त प्रकारसे अपनेमें सर्वभूतस्थता और सर्वभूताधारताको देखनेवाले ब्रह्मवित्का और अपना स्वरूपसे एकत्व ही है, ऐसा बोधन करनेके लिए अपनेमें भी सर्वभूतस्थता और सर्व

सूचयन्नेवमीश्वरस्य स्वस्य च स्वरूपेणैकत्वमेवाऽप्रतिबद्धवृत्त्या पश्यतो ब्रह्मविद्यतेस्तद्दर्शनस्य फलमाह—य इति ।

य उक्तसाधनसम्पत्त्या योगारूढो ब्रह्मविद्यतिर्मां सच्चिदानन्दैकरसं परं ब्रह्म सर्वत्र ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तेषु भूतेषु प्रत्यगात्मस्वरूपेण स्थितं पश्यति । तथैवोक्तलक्षणे मयि परे ब्रह्मण्यव्याकृतादिस्थूलान्तं जगच्च सर्वं व्योम्नि गन्धर्वनगरवदाभासमात्रं निःसत्ताकं पश्यति तस्यैवं स्वस्य च मम च सर्वभूतस्थत्वसर्वभूताधारत्वलक्षणाभ्यां नियताभ्यां श्रुतियुक्तिबलाच्च स्वरूपेणैकत्वमेव सदैव पश्यतो ब्रह्मवित्तमस्याऽहं सच्चिदानन्दैकरसं परं ब्रह्म न प्रणश्यामि । प्रणाशोऽदर्शनम् । वृत्तेरविषयत्वं न गच्छामि, किन्तु तिष्ठतो गच्छत आसीनस्य वा शयानस्य वाऽप्युन्मिषतो निमिषतो भुञ्जतो वा यथेच्छया तिष्ठतस्तद्बुद्धिवृत्तेः सदा सर्वत्र चक्षुषो रूपवत्परमानन्दमावहन् विषयो भवामीत्यर्थः । यथा घटः स्वद्रष्टुः स्वयं भिन्न एव भूत्वा विषयो भवति तथा ब्रह्माऽपि सर्वत्र स्वं पश्यतो ब्रह्मविदः स्वयं भिन्नमेव सद् विषयं भवति । तथात्वे 'उदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति' इति श्रवणादेवं भेददृष्टेः सतोऽपि मोक्षाभाव प्रसङ्गाद्भेददृष्टिं परिहर्तुमाह—स चेति । स च ब्रह्मविदपि मे मम चिदेकरसस्य निर्विशेषस्य ब्रह्मणो न प्रणश्यति। प्रणाशो नामाऽनात्मतादात्म्यापत्तिरेव विदुषः।

भूताधारत्वका सूचन करते हुए, इसी प्रकार ईश्वरका और अपना स्वरूपसे ऐक्य, अप्रतिबद्ध वृत्तिसे देखनेवाले ब्रह्मवित् यतिका और उसके दर्शनका फल कहते हैं—'य' इत्यादिसे ।

उक्त साधनसम्पत्तिसे युक्त जो योगारूढ ब्रह्मवित् यति मुझको—सच्चिदानन्दैकरस परब्रह्मको— सर्वत्र (ब्रह्मसे लेकर स्तम्ब तक सब भूतोंमें) प्रत्यक्आत्मस्वरूपसे स्थित देखता है, इसी प्रकार उक्तलक्षणवाले मुझ परब्रह्ममें अव्याकृतसे लेकर स्थूल तक सब जगत्को आकाशमें गन्धर्वनगरके समान आभासमात्र, सत्ता रहित देखता है, इस प्रकार अपना और मेरा सब भूतोंमें स्थित होना, सबका आधार होना रूप नियत लक्षणोंसे, श्रुति और युक्तिके बलसे स्वरूपसे सदा ही एकत्व देखनेवाले उस ब्रह्मवित्तममें सच्चिदानन्दैकरस परब्रह्म नाशको प्राप्त नहीं होता । प्रणाश अदर्शन है । वृत्तिका अविषय नहीं होता हूँ किन्तु खड़े होते, चलते, बैठते, अथवा सोते हुए अथवा पलक खोलते हुए, मींचते हुए, भोजन करते हुए अथवा इच्छानुसार रहते हुए उसकी बुद्धिकी वृत्तिका सदा सर्वत्र, नेत्रका रूपके समान, परमानन्द देता हुआ विषय होता हूँ, यह अर्थ है । जैसे घट स्वयं भिन्न ही होकर अपने द्रष्टाका विषय होता है, वैसे ही ब्रह्म भी स्वयं भिन्न होकर ही अपने देखनेवाले ब्रह्मवित्का विषय होता है । ऐसा होनेपर 'थोड़ासा भी जो भेद मानता है, उसको भय होता है' इस श्रुतिसे, इस प्रकार भेददृष्टिके होनेपर भी मोक्षके अभावका प्रसंग आनेसे, भेददृष्टिका परिहार करनेके लिए कहते हैं— 'स च' इति । वह ब्रह्मवित् भी मेरा—मुझ चिदेकरस निर्विशेष ब्रह्मका अदृश्य नहीं होता ।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥ ३१ ॥

जो ब्रह्मवित् योगी 'सब वह ब्रह्म ही है' यों ऐक्यका आश्रयण कर सम्पूर्ण भूतोंमें रहनेवाले मुझको भजता है, अपने प्रारब्धके अनुसार विविध चेष्टाओंसे युक्त देहकी चेष्टासे लोकदृष्टिसे बालक, मूर्ख, उन्मत्त आदिकी नाईं प्रतीत होता हुआ भी अपनी दृष्टिसे निर्विकार ब्रह्मरूपसे स्थित वह ब्रह्मवित्तम देहावसान होनेपर मेरे स्वरूपसे स्थित होता है ॥ ३१ ॥

यथा वैधर्म्यापत्तिः पुरुषस्य नरकाद्यनर्थहेतुस्तथा ब्रह्मविदो विपरीतभावापत्तिरेव जन्माद्यनर्थहेतुर्यतस्ततोऽयं क्वचिदप्यनात्मन्यात्मभावं न करोति । किन्तु देवदत्तः स्वदेह इव ब्रह्मैवाऽहमिति स्वात्मना विषयीकृते निर्विशेषे परे ब्रह्मण्येव सर्वदाऽऽहंवृत्त्या तिष्ठतीत्यर्थः ॥ ३० ॥

एवं योगानुष्ठानसम्भावितसम्यग्दर्शनस्य सर्वस्य ब्रह्ममात्रत्वावगाहिनः फलं सदा सर्वत्र ब्रह्मदर्शनं ब्रह्मण्येवाऽऽत्मत्वदर्शनं सर्वदा ब्रह्मानन्दानुभूतिश्चेति सूचयित्वाऽधुना त्वेवंलक्षणो ब्रह्मवित्तमः स्वप्रारब्धानुरूपेण देहे नानाधर्मवत्यपि सति स्वयं स्वनिष्ठयैव वर्तमानः सन् मुक्तिं प्राप्नोतीत्याह—**सर्वभूतस्थितमिति** ।

'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन', 'सर्वं ह्येतद्ब्रह्म', 'अयमात्मा ब्रह्म', 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादिश्रुत्यर्थविचारसमुत्थज्ञानबलेन योगानुष्ठानसमुत्पन्नस्वानुभूति-

---

अनात्मतादात्म्यकी प्राप्ति ही विद्वान्का प्रणाश है जैसे वैधर्म्यकी प्राप्ति पुरुषके नरकादिरूप अनर्थकी हेतु है, वैसे विपरीत भावकी प्राप्ति ही ब्रह्मवित्के जन्मादि अनर्थकी हेतु है, इसलिए वह कहीं भी अनात्ममें आत्मभाव नहीं करता, किन्तु जैसे देवदत्त अपने देहमें, वैसे ही 'मैं ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार अपने आत्मरूपसे विषय किये गये निर्विशेष परब्रह्ममें ही सर्वदा अहंवृत्तिसे ठहरता है, यह अर्थ है ॥ ३० ॥

इस प्रकार योगानुष्ठानसे जिसमें सम्यग्दर्शन उत्पन्न हुआ है सबमें ब्रह्ममात्रत्वका ग्रहण करनेवाले ब्रह्मवित्तमका फल सदा सर्वत्र ब्रह्मदर्शन—ब्रह्ममें ही आत्मत्वदर्शन और सर्वदा ब्रह्मानन्दका अनुभव—है, ऐसा सूचन करके अब ऐसे लक्षणवाला ब्रह्मवित्तम अपने प्रारब्धानुसार नाना देहके नाना धर्मयुक्त होनेपर भी स्वयं अपनी निष्ठासे व्यवहार करता हुआ मुक्ति प्राप्त करता है, ऐसा कहते हैं—**'सर्वभूतस्थितम्'** इत्यादिसे ।

'अद्वितीय एक ही ब्रह्म है, यहां नाना कुछ नहीं है', 'सभी यह ब्रह्म है', 'यह आत्मा ब्रह्म है', 'मैं ब्रह्म हूँ' इत्यादि श्रुतियोंके अर्थके विचारसे उत्पन्न हुए ज्ञानके बलसे और योगानुष्ठानसे

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥३२॥

जो योगी अपनी उपमासे सब प्राणियोंमें सुख और दुःखको समान देखता है अर्थात् जैसा सुख मुझे इष्ट है और दुःख अनिष्ट है वैसे ही सबको सुख इष्ट और दुःख अनिष्ट है, ऐसा जानकर किसीको पीड़ा नहीं पहुँचाता, वह योगी मेरे मतसे सर्वश्रेष्ठ है ॥ ३२ ॥

बलेन चैकत्वमास्थितः सर्वमिदमहं च ब्रह्मैवेति सदैकत्वमेवाऽऽस्थितः सर्वं ब्रह्मैवेति दृढनिश्चययुक्तो भूत्वा यो ब्रह्मविद्यतिः सर्वभूतस्थं महदादिस्थूलपर्यन्तं सर्वभूतजातं बहिरन्तः सदैकरूपेणाऽयःपिण्डमग्निरिव सर्वतो व्याप्य तिष्ठतीति सर्वभूतस्थं मां निर्विशेषं परं ब्रह्म भजति । ब्रह्मैवाऽहमिति प्रत्यग्दृष्ट्या स्वं मामेव साक्षाद्विज्ञाय मद्भावं यो भजतीत्यर्थः । स योगी मद्भावापन्नो ब्रह्मवित्सर्वथा वर्तमानः स्वप्रारब्धानुरूपेण विविधचेष्टावद्देहचेष्टया लोकदृष्ट्या बालवन्मूढवदुन्मत्तवच्छिष्टवदशिष्टवत्प्रतीयमानोऽपि स्वदृष्ट्या निर्विकारब्रह्मात्मनैव स्थितो ब्रह्मवित्तमः पतितेऽस्मिन् देहे मयि वर्तते मदात्मना मयि तिष्ठति । यद्वा मयीति तृतीयार्थे सप्तमी । मया ब्रह्मात्मना तिष्ठति विदेहमुक्तिं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ३१ ॥

'सर्वभूतसुहृच्छान्तः' इति 'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः' इति स्मरणात्सर्वभूतसुहृत्तया मनोवाक्कायकर्मभिः प्राणिपीडामकुर्वत एव श्रवणं मननं

उत्पन्न हुए स्वानुभवके बलसे एकत्वमें स्थित हुआ, 'सब यह और मैं ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार सदा एकत्वमें ही स्थित हुआ, 'सब ब्रह्म ही है' ऐसे दृढ़ निश्चयसे युक्त होकर जो ब्रह्मवित् यति सब भूतोंमें स्थित—महत्से लेकर स्थूल तक सर्वभूतोंको बाहर भीतर सदा एक रूपसे, लोहपिण्डको अग्निके समान चारों ओरसे व्याप्त होकर स्थित मुझ निर्विशेष परब्रह्मको भजता है । ब्रह्म ही मैं हूँ, यों प्रत्यग्दृष्टिसे अपनेको मुझे ही साक्षात् जानकर मद्भावको जो भजता है, यह अर्थ है । वह योगी—मेरे भावको प्राप्त हुआ ब्रह्मवित्—सर्वथा वर्तमान—अपने प्रारब्धानुसार अनेक प्रकारकी चेष्टावाली देहकी चेष्टासे लोकदृष्टिसे बालकके समान, मूढ़के समान, उन्मत्तके समान, शिष्टके समाम, अशिष्टके समान, प्रतीत होता हुआ भी—स्वदृष्टिसे निर्विकार ब्रह्मस्वरूपसे स्थित ब्रह्मवित्तम इस देहके गिरनेपर मुझमें वर्तता है—मेरे स्वरूपसे मुझमें स्थित होता है । अथवा 'मयि' तृतीयाके अर्थमें सप्तमी है । मुझ ब्रह्मस्वरूपसे स्थित होता है । विदेहमुक्तिको प्राप्त होता है, यह अर्थ है ॥ ३१ ॥

'सब भूतोंके सुहृद् शान्त', 'पाप कर्मका क्षय होनेपर पुरुषोंको ज्ञान उत्पन्न होता है' ऐसी स्मृति है, अतः सब भूतोंके सुहृद्रूपसे मन, वाणी, शरीर और कर्मसे प्राणियोंको पीड़ा न

तज्जन्यज्ञानं च तत्फलं मोक्षश्च सिध्यति नाऽन्यथा, अतो मुमुक्षोर्यतेः श्रवणादिनिष्ठस्य स्वसाम्येन सर्वप्राणिनां सुखं दुःखं च परिज्ञाय तेषामुपद्रवः कथञ्चिदपि न कर्तव्य इति बोधयितुमाह—आत्मौपम्येनेति ।

आत्मौपम्येन सर्वप्राणिसुखदुःखवेदनकर्मण्यात्मा स्वयमेवोपमा दृष्टान्तो यस्य आत्मोपमस्तस्य भाव आत्मौपम्यं तेन स्वसादृश्येन । सर्वत्र सर्वप्राणिषु । वाशब्दश्चार्थः । यदिशब्दोऽप्यर्थः । सर्वत्र सुखं च दुःखं चापि यः समं पश्यति, यथा स्वस्य सुखमिष्टं दुःखमनिष्टं भवति तथैव सर्वप्राणिनामपीति विज्ञाय वाङ्मनःक्रियाभिः परेषां क्वचित्कदाचित्कथञ्चिदपि विक्षेपं न करोतीत्यर्थः । एवंलक्षणः स योगी यतिः परम उत्कृष्टो मतः संमतः । यद्वा आत्मौपम्येन नित्यमुक्तस्वरूपत्वेन यथाऽहं देहतद्धर्मकर्मसुखदुःखादिसम्बन्धरहितस्तथा सर्वेऽपि च देहिनो देहतद्धर्मतत्कर्मसुखदुःखादिसम्बन्धरहिता एवेत्यात्मौपम्येन यद्यपि सर्वेषां च नित्यमुक्तत्वं प्रत्यग्दृष्ट्या विजानाति तथापि बाह्यदृष्ट्या सुखं च दुःखं च समं स्वसमं सर्वत्र सर्वभूतेषु यो ब्रह्मवित्पश्यति । 'कीटवद्विचरेन्महीम्' इत्यादिस्मृतिप्रामाण्यान्मुक्तत्वान्न मे पापलेशोऽस्तीत्यभिमानमुत्सृज्य सर्वत्राऽऽत्मबुद्ध्या प्राणिमात्रस्य विक्षेपं यो

करनेवालेको ही श्रवण, मनन, उनसे जन्य ज्ञान और उसका फल मोक्ष प्राप्त होता है, अन्यथा नहीं, इसलिए श्रवणादिनिष्ठ मुमुक्षु यतिको अपने समान सम्पूर्ण प्राणियोंका सुख और दुःख जानकर उनको किसी प्रकार भी दुःख न देना चाहिए, यह बोधन करनेके लिए कहते हैं— 'आत्मौपम्येन' इत्यादिसे ।

आत्मौपम्येन—सब प्राणियोंके सुख-दुःखके ज्ञानरूप कर्ममें आत्मा (स्वयं) ही जिसकी उपमा (दृष्टान्त) है, ऐसा वह आत्मोपम—उसका भाव आत्मौपम्य है, यानी अपने सादृश्यसे । सर्वत्र—सब प्राणियोंमें । वाशब्द चकारार्थक है । यदि शब्दका अर्थ अपि (भी) है । जो सर्वत्र सुखको भी और दुःखको भी समान देखता है, जैसे अपनेको सुख इष्ट होता है और दुःख अनिष्ट है, वैसे ही सब प्राणियोंका भी सुख इष्ट है और दुःख अनिष्ट है, ऐसा जानकर वाणी, मन और क्रियासे दूसरोंका कहीं, कभी, किसी प्रकार भी विक्षेप नहीं करता, यह अर्थ है । ऐसे लक्षणवाला वह योगी (यति) परम (उत्कृष्ट) माना गया है । अथवा आत्मौपम्यसे—नित्य मुक्त स्वरूप होनेसे जैसे मैं देह और उसके धर्म, कर्म, सुख, दुःख आदिके संबन्धसे रहित हूँ वैसे ही सब देही भी देह और उसके धर्म, कर्म, सुख-दुःख आदिके संबन्धसे रहित ही हैं, यों अपनी उपमासे आत्मज्ञानसे यद्यपि सबका ही नित्य मुक्त होना जानता है, तो भी बाह्यदृष्टिसे सुख और दुःखको सम (अपने समान सर्वत्र) सब भूतोंमें जो ब्रह्मवित् देखता है, 'कीटके समान पृथिवीपर विचरे' इत्यादि स्मृतियोंके प्रामाण्यसे, मुक्त होनेसे मेरा पापलेश नहीं है, इस अभिमानको छोड़कर सर्वत्र आत्मबुद्धिसे जो प्राणीमात्रका विक्षेप नहीं करता, यह अर्थ है । इस प्रकार सब प्राणियोंमें

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याऽहं न पश्यामि चञ्चलत्वात् स्थितिं स्थिराम् ॥३३॥

अर्जुनने कहा—हे मधुसूदन, आपने साधारणरूपसे जो योग कहा उसकी मैं निश्चल निष्ठा नहीं देखता हूँ, क्योंकि मन अत्यन्त अस्थिर है ॥ ३३ ॥

न करोतीत्यर्थः । एवं सर्वप्राणिषु स्वबुध्या अनुकूलवर्ती स योगी योगनिष्ठो ब्रह्मविद् यतिः परमः ज्ञानिनां सर्वेषामुत्तम इति ममाऽभिमत इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्' इति, 'यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता' इत्यादिना मनस आत्मसंस्थत्वं निवातस्थप्रदीपवन्निश्चलत्वं च योगिभिर्योगसिद्ध्यै सम्पादनीयमिति श्रुत्वाऽन्तःकरणस्याऽऽत्मसंस्थितत्वस्थिरत्वसिद्धेरुपायजिज्ञासयाऽर्जुन उवाच—**य** इति ।

'योगी युञ्जीत सततम्' इत्यादिना मुमुक्षोर्यतेः कैवल्यार्थिनः कर्तव्यत्वेन योऽयं ध्यानयोगः साम्येन साधारण्येन त्वया प्रोक्तः, न तु मनोनिरोधनसाधननिरूपणपूर्वकं विशेषेणोक्त इत्यर्थः । ततो मनसश्चञ्चलत्वादेतस्य प्रतिपादितस्य योगस्य स्थिरां निश्चलां स्थितिं निष्ठामहं न पश्यामि । ब्रह्मण्यन्तःकरणस्थिरीभावस्य साधनमहं न जानामीत्यर्थः ॥ ३३ ॥

यदुक्तं तदेव सविशेषं विस्पष्टयति—**चञ्चलमिति** ।

आत्मबुद्धिसे अनुकूलवर्ती वह योगी—योगनिष्ठ—ब्रह्मवित् यति परम (ज्ञानियोंमें सर्वोत्तम) है, ऐसा मेरा अभिमत है, यह अर्थ है ॥ ३२ ॥

'मनको आत्मसंस्थ कर कुछ भी चिन्तन न करे', 'जैसे निवातस्थ दीपक हिलता डुलता नहीं है, वही उसकी उपमा मानी गई है' इत्यादिसे मनकी आत्मसंस्थताका और निवातस्थ दीपके समान निश्चलताका योगियोंको योगसिद्धिके लिए सम्पादन करना चाहिए, ऐसा सुनकर अन्तःकरणकी आत्मसंस्थता और स्थिरताकी सिद्धिके उपायको जाननेकी इच्छावाला अर्जुन बोला—'य' इत्यादिसे ।

'योगी सदा योग करे' इत्यादिसे मुमुक्षुके (कैवल्यार्थी यतिके, कर्तव्यरूपसे जो यह ध्यानयोग साम्यसे—साधारणरूपसे—आपने कहा है, मनके निरोधके साधननिरूपणपूर्वक विशेषरूपसे नहीं कहा, यह भाव है । इसलिए मनके चञ्चल होनेसे पूर्वोक्त योगकी स्थिरता (निश्चल स्थिति) यानी निष्ठा मैं नहीं देखता हूँ । ब्रह्ममें अन्तःकरणके स्थिर होनेके साधनको मैं नहीं जानता हूँ, यह अर्थ है ॥ ३३ ॥

जो कहा, उसीको विशेषरूपसे स्पष्ट करते हैं—'चञ्चलम्' इत्यादिसे ।

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम् ।
तस्याऽहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥३४॥

हे कृष्ण, मन अत्यन्त चञ्चल, क्षोभकारक, बलवान् और दृढ़ है, वायुके निग्रहके समान उसका निग्रह करना मैं अत्यन्त दुष्कर समझता हूँ ॥ ३४ ॥

'कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः । तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते' इति सदानन्दस्वरूपत्वात् परमात्मा कृष्ण इत्युच्यते, तस्य सम्बुद्धिर्हे कृष्ण, मनश्चञ्चलं चपलम् । यद्यपि पक्ष्मणां चञ्चलत्वमस्ति तथापि तत्कृतोऽनर्थः कश्चिदपि नाऽस्ति न तथेदम् , किन्तु प्रमाथि च तत्तद्विषयवासनाभिस्तत्कार्यै रागद्वेषलोभादिदोषैश्च धीरमपि पुरुषं प्रमथ्नाति विक्षोभयतीति प्रमाथि प्रमथनशीलम् । पण्डितमपि परवशं करोतीत्यर्थः । यद्यपि विषादेः प्रमथनशीलत्वमस्ति तथापि मन्त्रादिना तन्निग्रहीतुं शक्यते, न तथेदम् , किन्तु बलवत्सारवन्महाजववत्स्वशक्त्या वेगवत्त्वान्न मन्त्रादिसाधनैर्निरोद्धुं शक्यत इत्यर्थः । यथा महावेगवतां बाणानां साधनान्तरेण छेदः सिध्यति न तथैतस्य छेदः सम्भवति, तत्कथमिति चेत् , दृढं वज्रसारं सूक्ष्मं च छेदस्य विषयो न भवति; यत एवंलक्षणं मनस्तत एतस्य मनसो वायोरिव निग्रहं सुदुष्करं मन्ये । उपायकोटिभिः सुतरां निरोद्धुमशक्यं मन्य इत्यर्थः । 'अप्यब्धिपानान्महतः सुमेरून्मूलनादपि । अपि वह्न्यशनात्साधो विषमश्चित्तनिग्रहः ॥' इत्यादिशास्त्रप्रसिद्धिद्योतनार्थो हिशब्दः ॥ ३४ ॥

'कृषि भूवाचक (सत्तावाचक) शब्द है और ण आनन्दवाचक है, उन दोनोंका ऐक्य परमब्रह्म कृष्ण कहा जाता है' इस प्रकार सदानन्दरूप होनेसे परमात्मा कृष्ण कहलाता है, इसका सम्बोधन है हे कृष्ण, मन चञ्चल (चपल) है । यद्यपि पलक चञ्चल हैं, तो भी उनसे किसी प्रकारका अनर्थ नहीं होता, वैसा यह नहीं है, किन्तु प्रमाथि भी है—तत्-तत् विषयोंकी वासनाओंसे और उनके कार्य राग-द्वेष, लोभ आदि दोषोंसे धीर पुरुषको मथ डालता है—क्षुब्ध कर देता है, ऐसा प्रमाथी—प्रमथनशील है । पण्डितोंको भी परवश कर देता है, यह अर्थ है । यद्यपि विष आदि प्रमथनशील हैं, तो भी मन्त्रादिसे रोके जा सकते हैं, यह ऐसा नहीं है, किन्तु बलवान्—सारवान्—महावेगवाला है—वेगवाला होनेसे मन्त्रादि साधनोंसे अपनी शक्तिसे रोका नहीं जा सकता, यह अर्थ है । जैसे महावेगवाले बाण दूसरे साधनोंसे काट दिये जा सकते हैं, वैसे इसका काटना सम्भव नहीं है । यह कैसे ? यह कहो, तो दृढ़ वज्रसार और सूक्ष्म होनेसे यह अकाट्य है । यतः मन ऐसे लक्षणोंवाला है, इसलिए वायुके समान इसका रोकना मैं दुष्कर समझता हूँ । सैकड़ों उपायोंसे भी रोका नहीं जा सकता, ऐसा मैं मानता हूँ, यह अर्थ है । 'समुद्रके पानसे भी, महान् सुमेरुके उखाड़नेसे भी, अग्निके भक्षणसे भी हे साधो !

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ ३५ ॥

भगवान्‌ने कहा—हे महाबाहो, यद्यपि मनकी चञ्चलता और दुर्निग्रहतामें कोई संशय नहीं है, तथापि हे कुन्तीनन्दन, अभ्यास और वैराग्यसे उसका निग्रह होता है ॥ ३५ ॥

मनसो दुर्निग्रहत्वं यच्चलोकशास्त्रप्रसिद्धमेवेत्यङ्गीकृत्य तदेवाऽनुवदन् मुमुक्षोस्तन्निग्रहसाधनं च प्रतिपादयति श्रीभगवान्—**असंशयमिति** द्वाभ्याम् ।

यद्यपि चञ्चलत्वात् प्रमाथित्वाद् बलवत्त्वाद् दृढत्वाच्च मनसो दुर्निग्रहत्वे त्वसंशयं संशयो नाऽस्ति, तथापि तन्निग्रहोपायस्त्वेवमेवोच्यते, तं शृणु; वैराग्येण श्रुतिस्मृतियुक्तिभिरुक्तरीत्या सर्वस्याऽपि च विश्वस्य मिथ्यात्वमेव सम्यक्पश्यतो विदुषः विषयेष्वसत्त्वतुच्छत्वबन्धकत्वबुद्धिः सम्यगुदेति । तया च तीव्रमोक्षेच्छया च समुत्पन्नं यद्विषयवैरस्यं तदेव वैराग्यं तेन वैराग्येण गृह्यते मनो निगृह्यते । पदार्थमिथ्यात्वज्ञानेन रागद्वेषादिदोषास्तद्वेगहेतवो विनिवर्तन्ते । तन्निवृत्त्या मनो वशवर्ति निश्चलं च भवतीत्यर्थः । ननु रागद्वेषादिदोषशून्येषु बालादिषु मनश्चाञ्चल्यमेव दृश्यते कथं रागद्वेषादिराहित्येन वैराग्यमात्रेण च मनसो निश्चलत्वं सिध्यतीत्याशङ्कायाम् , न; तेषां पदार्थमिथ्यात्वज्ञानं रागाद्यभावश्च, न सम्भवति मनोनैश्चल्यं च । तथाप्यङ्ग्यभावे

चित्तका रोकना कठिन है' इत्यादि शास्त्रकी प्रसिद्धिका सूचन करनेके लिए 'हि' शब्द है ॥ ३४ ॥

मनकी जो दुर्निग्रहता कही गई है, वह लोक और शास्त्रमें प्रसिद्ध ही है, उसे स्वीकार करके उसका अनुवाद करते हुए भगवान् मुमुक्षुको उसके निग्रहके साधनोंका उपदेश देते हैं—**'असंशयम्'** इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

यद्यपि चञ्चल, प्रमाथि, बलवान् और दृढ़ होनेसे मनके दुर्निग्रह होनेमें कोई संशय नहीं है तो भी उसके निग्रहका उपाय कहता हूँ, उसको सुनो, वैराग्यसे एवं श्रुति, स्मृति और युक्तियों द्वारा कही गई रीतिसे समस्त विश्वमें मिथ्यात्वको भली भाँति देखनेवाले विद्वान्‌की विषयोंमें असत्त्व, तुच्छत्व, बन्धकत्व बुद्धिका उदय होता है और उससे तथा तीव्र मोक्षेच्छासे उत्पन्न हुआ, जो विषयवैरस्य है, वही वैराग्य है, उस वैराग्यसे ग्रहण किया जाता है—मन रोका जाता है । पदार्थोंके मिथ्यात्वज्ञानसे राग-द्वेष आदि दोष और उनके वेगके कारण निवृत्त हो जाते हैं, उनकी निवृत्तिसे मन वशवर्ती और निश्चल हो जाता है, यह भाव है । राग, द्वेष आदि दोषशून्य बालक आदिमें मनकी चञ्चलता ही देखनेमें आती है, फिर राग, द्वेष आदि रहित वैराग्यमात्रसे मनका निश्चल होना कैसे सिद्ध होता है ? ऐसी आशङ्का हो, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि उनमें पदार्थमिथ्यात्वज्ञान और रागादिके अभावका संभव नहीं है, अतः मनका

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥ ३६ ॥

जिसका अन्तःकरण वशमें नहीं है, वह ज्ञानयोगको प्राप्त नहीं कर सकता, और जिसका अन्तःकरण वशमें है और जो प्रयत्नशील है वह ज्ञानयोगको प्राप्त कर सकता है, ऐसा मेरा मत है ॥ ३६ ॥

सत्यङ्गमात्रेण कार्यं न सिद्ध्यत्यतोऽङ्गिना भवितव्यमित्याशयेनाह—**अभ्यासेनेति** । विजातीयप्रत्ययतिरस्कारपूर्विका सजातीयप्रत्ययावृत्तिरभ्यासस्तेन तीव्रमोक्षेच्छा तीव्रवैराग्यैकसाधनेन चिरकालं नित्यनिरन्तरभाविना ब्रह्मप्रत्ययाभ्यासेन विजातीयप्रत्ययानां निःशेषविनाशे सति तत्तद्वासनानां निःशेषसङ्क्षयात् 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याऽप्यपायः' इति न्यायेन चलननिमित्तानां बाह्यवासनानामपाये मनः स्वयमेव निश्चलं भवति । अतस्तीव्रमोक्षेच्छावैराग्यसंवलितसत्प्रत्ययाभ्यास एव मनोनिग्रहे तन्नैश्चल्ये च परमकारणं तेनैव सम्यगनुष्ठितेन मनो निश्चलं भवतीत्यर्थः ॥ ३५ ॥

किञ्च, **असंयतात्मनेति** । तीव्रमोक्षेच्छावैराग्याभावयुक्तेनाऽसंयतात्मना असंयतः ज्ञातेऽप्यात्मनि तत्तद्वासनया बहिरेव प्रवृत्तिस्ततश्चिरकालं नित्यं निरन्तरमत्यन्तास्थया ब्रह्मण्यस्थापित आत्मा मनो यस्य तेनाऽसंयतात्मना समाधिमकुर्वता यतिना योगो ज्ञानयोगः सदा सर्वत्र ब्रह्ममात्रदर्शनलक्षणोऽप्रतिबद्धः शुक्तिकासंदर्शनेन शुक्तिप्रत्ययवदधिष्ठानब्रह्मदर्शनसमुत्पन्नः सन्ततो यो ब्रह्मप्रत्ययः स दुष्प्रापः । नित्य-

---

निश्चल होना भी संभव नहीं है । तो भी अङ्गीका अभाव होनेसे अङ्गमात्रसे कार्य सिद्ध नहीं होता, इसलिए अङ्गी (अङ्ग सहित) होना चाहिए, इस आशयसे कहते हैं—**'अभ्यासेन'** इत्यादिसे । विजातीय प्रत्ययके तिरस्कारपूर्वक सजातीय प्रत्ययकी आवृत्ति अभ्यास है । उससे—तीव्र मोक्षेच्छा और तीव्र वैराग्यरूप मुख्य साधनसे तथा चिरकाल तक नित्य, निरन्तर होनेवाले ब्रह्मप्रत्ययके अभ्याससे—विजातीय प्रत्ययोंका निःशेष विनाश होनेपर, तत्-तत् वासनाओंका निःशेष क्षय हो जानेसे 'कारणका नाश होनेपर कार्यका नाश होता है' इस न्यायसे चलनकी हेतुभूत बाह्य वासनाओंका नाश होनेपर मन स्वयं ही निश्चल हो जाता है । इसलिए तीव्र मोक्षेच्छा और वैराग्यसे सहकृत सत् प्रत्ययका अभ्यास ही मनके निग्रह और निश्चलतामें परम कारण है, उसीका भली भाँति अनुष्ठान करनेसे मन निश्चल होता है, यह भाव है ॥ ३५ ॥

किञ्च, **'असंयतात्मना'** इत्यादि । तीव्र मोक्षकी इच्छा और वैराग्यके अभावसे युक्त असंयत आत्मासे (असंयत आत्माके जाननेपर भी तत्-तत् वासनाओंसे बाहरकी प्रवृत्ति होती है, इससे चिरकाल तक नित्य, निरन्तर, अत्यन्त आस्थासे ब्रह्ममें स्थापित नहीं हुआ है आत्मा (मन) जिसका, उस असंयात्मासे—समाधि न करनेवाले यतिसे—योग (ज्ञानयोग) सदा सर्वत्र ब्रह्ममात्रदर्शनरूप अप्रतिबद्ध—सीपके दर्शनसे सीपके प्रत्ययके समान अधिष्ठान ब्रह्मके दर्शनसे उत्पन्न

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥ ३७ ॥

अर्जुनने कहा—हे कृष्ण, जो यत्नशील नहीं है, परन्तु श्रद्धासे युक्त है एवं योगसे जिसका अन्तःकरण हट गया है, वह योगलभ्य फलको न प्राप्त कर किस गतिको प्राप्त करता है ॥ ३७ ॥

निरन्तराभ्यासश्रमदुःखेन विना प्राप्तुमशक्यो दुष्प्राप इति मे ममेश्वरस्य मतिर्निश्चयः । कृतास्वपि श्रवणकोटिषु यतेः समाधिना विना सम्यक् दर्शनं न सिध्यतीत्यर्थः । मुमुक्षोर्यतेः समाधिनैव सम्यग्ज्ञानं मोक्षश्च सिध्यत्यतः समाधिरेव कर्तव्य इति सूचयितुमाह—**वश्यात्मना त्विति** । पूर्वस्मादस्य वैलक्षण्यद्योतनार्थस्तुशब्दः । वश्यात्मना वश्यः स्वायत्तस्तीव्रमोक्षेच्छातीव्रवैराग्याभ्यां सुतरां विषयेष्वप्रवर्तित आत्मा मन इन्द्रियग्रामश्च येन तेन वश्यात्मना, यतताऽत्यन्तश्रद्धया यथाकालं यथालक्षणं योगसिद्ध्यै यत्नं कुर्वतैव यतिना योग उक्तलक्षणोऽनेनैवोपायेन अवाप्तुं प्राप्तुं शक्यो भवति नाऽन्येनेत्यर्थः ॥ ३६ ॥

एवं योगप्राप्त्युपायं ज्ञात्वा पुनरिदानीमिहाऽमुत्र च सुखकारणानि श्रौतादीनि कर्माणि सर्वाणि च संन्यस्य योगनिष्ठायां प्रवृत्तस्य यतेर्योगसिद्ध्यसंभवकाले एव मृतस्य स्वर्गापवर्गसाधनविधुरस्य का वा गतिर्भविष्यतीत्याशङ्कायां तां गतिं ज्ञातुकामोऽर्जुन उवाच—**अयतिरिति** ।

हुआ सन्तत जो ब्रह्मप्रत्यय है, वह दुष्प्राप्य है । नित्य निरन्तर अभ्यासके श्रमरूप दुःखके बिना प्राप्त होने योग्य नहीं है (दुष्प्राप्य है), ऐसी मेरी (मुझ ईश्वरकी) मति (निश्चय) है । करोड़ों बार श्रवण करनेपर भी समाधिके बिना यतिको सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं होता, यह अर्थ है । मुमुक्षुको (यतिको) समाधिसे ही सम्यग्ज्ञान और मोक्ष प्राप्त होते हैं, इसलिए समाधि ही कर्तव्य है, ऐसा सूचन करनेके लिए कहते हैं—**'वश्यात्मना'** इत्यादिसे ।

पहलेसे इसकी विलक्षणता दिखलानेके लिए तुशब्द है । वश्यात्मासे—वश्य—स्वाधीन—तीव्र मोक्षेच्छा और तीव्र वैराग्यसे विषयोंमें बिलकुल प्रवृत्त नहीं किया है आत्मा—मन और इन्द्रियसमूहको जिसने, उस वश्यात्मासे, यत्न करनेवालेसे—अत्यन्त श्रद्धासे यथाकाल यथालक्षण योगसिद्धिके लिए यत्न करनेवाले यतिसे—उक्त लक्षणवाला योग इस उपायसे प्राप्त किया जा सकता है, अन्य उपायसे नहीं, यह अर्थ है ॥ ३६ ॥

इस प्रकार योगप्राप्तिका उपाय जानकर फिर अब इस लोक और पर लोकके सुखके साधन श्रौत आदि सब कर्मोंका त्यागकर योगनिष्ठामें प्रवृत्त हुए, योग सिद्धिके असम्भव कालमें ही

योगानुष्ठानेनैव सम्यग्ज्ञानं तेनैव मोक्ष इति निश्चयपूर्विकयाऽऽस्तिक्यबुद्ध्योपेतः सम्पन्नोऽप्ययतिः यतते योगसिद्ध्यै यत्नं करोतीति यतिः समाध्यनुष्ठानप्रयत्नवान् स न भवतीत्ययतिः । 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि भवन्ति महतामपि' इति न्यायेन प्रतिबन्धककर्मवशात् सम्प्राप्तविचित्रविघ्नविशेषैः समाधिधारणप्रमत्तस्तत एव योगाच्चलितमानसः ब्रह्मैवाऽहमिति ब्रह्मण्येवाऽऽत्मना धीनैश्चल्यं योगस्तस्माद्योगादन्तकालेऽन्यथा वा चलितं बाह्यवासनया दुष्कर्मणा च विपरीतभावापन्नं मानसं यस्य स चलितमानसो विनष्टस्मृतिरेवंलक्षणो योगी यतिर्योगसंसिद्धिं विदेहमुक्त्या पुरुषं योजयतीति योगः सम्यग्ज्ञानं तस्य संसिद्धिर्निरन्तरसमाध्यनुष्ठित्याऽप्रतिबद्धता 'सर्वमिदमहं च ब्रह्मैव' इत्यप्रतिबद्धं सम्यग्दर्शनं योगसंसिद्धिस्तां समाधिफलमप्राप्य स्वयं मृत्वा कां गतिं गच्छति । अत्र कामित्यविज्ञातपदार्थज्ञानार्थकः किंशब्दो न त्वाक्षेपाद्यर्थकः । गम्यत इति गतिस्तेन प्राप्तव्योऽर्थः क इत्यर्थः । स्वर्गसम्पादककर्मानुष्ठानाभावात्स्वर्गप्राप्त्यभावः, विष्ण्वादिदेवतोपास्त्यभावात्तल्लोकप्राप्त्यभावः, समाधिसम्भावितसम्यग्दर्शनाभावान्मुक्तिप्राप्त्यभावः; पापाचरणाभावाद् दुर्योनिदुर्गतिप्राप्त्यभावश्च । ततोऽप्राप्तयोगसंसिद्धेर्यतेः का वा गतिर्भविष्यति तां वदेत्यभिप्रायः । नन्वत्र कां

मर जानेवाले तथा स्वर्ग और मोक्षके साधनोंसे रहित यतिकी क्या गति होगी ? ऐसी शङ्का होनेपर उस गतिको जाननेकी इच्छावाला अर्जुन बोला—'अयतिः' इत्यादिसे ।

योगानुष्ठानसे ही यथार्थ ज्ञान होता है और उससे ही मोक्ष होता है, ऐसी निश्चयपूर्वक आस्तिक्य बुद्धिसे युक्त (सम्पन्न) भी अयति—यत्न करता है, योगसिद्धिके लिए जो यत्न करता है, वह यति, समाधिके अनुष्ठानमें यत्न न करनेवाला अयति—'श्रेयमें महान् पुरुषोंको बहुत विघ्न होते हैं' इस न्यायसे प्रतिबन्धक कर्मोंके वशसे प्राप्त विचित्र विघ्न विशेषोंसे समाधि करनेमें प्रमत्त, इसीलिए योगसे चलित मनवाला—ब्रह्म ही मैं हूँ, यों ब्रह्ममें ही आत्मारूपसे बुद्धिका निश्चल होना योग है, इस योगसे अन्तकालमें अथवा अन्यथा चलित—बाह्य वासना और दुष्कर्मसे विपरीत भावको प्राप्त है मन जिसका, वह चलितमानस है—विनष्टस्मृति, ऐसे लक्षणवाला योगी (यति) योगसंसिद्धिको—जो पुरुषको विदेहमुक्तिसे जोड़ता है, वह योग—सम्यग्ज्ञान है, उसकी संसिद्धि—निरन्तर समाधिके अनुष्ठानसे अप्रतिबद्धता 'सब यह और मैं ब्रह्म ही हूँ', ऐसा अप्रतिबद्ध सम्यग्दर्शन योगसंसिद्धि है, उसको—समाधिके फलको प्राप्त न होकर स्वयं मर कर किस गतिको प्राप्त होता है ? यहाँ 'किसको' यों अविज्ञात पदार्थके ज्ञानके लिए किंशब्द है, यहां किंशब्द आक्षेप आदि अर्थवाला नहीं है । जो प्राप्त होता है, वह गति, उससे प्राप्त होने योग्य पदार्थ क्या है, यह अर्थ है। स्वर्गसम्पादक कर्मोंके अनुष्ठानके अभावसे स्वर्गप्राप्तिका अभाव, विष्णु आदि देवताओंकी उपासनाके अभावसे उनके लोककी प्राप्तिका अभाव, समाधिसे होनेवाले सम्यक् दर्शनके अभावसे मुक्तिकी प्राप्तिका अभाव और पापाचरणके अभावसे दुर्योनिका—दुर्गतिका—अभाव है, तब अप्राप्त है योगसंसिद्धि जिस ऐसे यतिकी कौनसी गति होगी ? उसे कहिए, यह

गतिं कृष्ण गच्छतीत्यर्जुनस्य प्रश्नोऽनुपपन्न एव भवति। योगसंसिद्धेरप्राप्तत्वेऽपि यतेरेतस्य प्राक्तनपुण्यकर्मसंभवात्तदनुरूपस्वर्गादिलोकप्राप्त्युपपत्तेरिति चेत्, न; तेषां चित्तशुद्धावेवोपक्षीणत्वात्। 'जन्मान्तरसहस्रेषु यज्ञदानतपोध्वरैः। नाराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते॥ स्ववर्णाश्रमधर्मेण तपसा हरितोषणात्। साधनं प्रभवेत् पुंसां वैराग्यादिचतुष्टयम्॥ नित्यनैमित्तिकैरेव नियमेनेश्वरार्पितैः। बहुजन्मकृतैर्विप्रः सत्त्वशुद्धिं समश्नुते'॥ 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' इति च। प्राक्तनानामीश्वरार्पितानां पुण्यकर्मणां चित्तशुद्ध्येकप्रयोजनवत्त्वस्मरणात्। ननु तर्हि 'संन्यासाद्ब्रह्मणः स्थानम्' इत्यादिस्मृतिप्रसिद्धसंन्यासक्रियामात्रलभ्या ब्रह्मलोकगतिर्विद्यत एवेति चेत्, न; तत्संन्यासस्याऽन्यथासिद्धत्वात्। 'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति', 'संन्यस्य श्रवणं कुर्यात्' इत्यादिश्रुतिस्मृतिविहितसंन्यासस्य श्रुत्यङ्गत्वेन श्रवणाद्यर्थसिद्धावेवोपक्षीणस्वशक्तिकत्वाद् ब्रह्मलोकप्रापकत्वानुपपत्तेः। यथा 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इति विहितज्योतिष्टोमयागस्य स्वर्गप्रापणे एवोपक्लृप्तसंकल्पत्वात् स्वर्गप्रापण एव सामर्थ्यं न तु ब्रह्मादिलोकप्रापणे तथा श्रवणाद्यर्थसिद्धावेवोपक्लृप्तस्य विविदिषासंन्यासस्य श्रवणाद्यर्थप्रापण एव सामर्थ्यं न तु फलान्तरप्रापणे। 'स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म

अभिप्राय है। यदि शङ्का हो कि—यहाँ हे कृष्ण, 'किस गतिको प्राप्त होता है', अर्जुनका यह प्रश्न उपपन्न ही नहीं होता, क्योंकि योगसिद्धिके न होनेपर भी यतिके पूर्वजन्मके पुण्यकर्मका सम्भव है, उसके अनुसार स्वर्ग आदिकी प्राप्ति उपपन्न है, ऐसा यदि कहो, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि वे तो चित्तशुद्धि होनेमें उपक्षीण हो गये। 'पिछले हजारों जन्मोंमें किये गये यज्ञ, दान और तपसे पापरहित हुए मनुष्योंकी कृष्णमें भक्ति होती है। स्ववर्ण और आश्रमके धर्मसे, तपसे और हरितोषसे पुरुषोंको वैराग्य आदि चार साधन प्राप्त होते हैं, बहुत जन्मोंमें नियमसे ईश्वरार्पणपूर्वक किये गये नित्यनैमित्तिक कर्मोंसे ब्राह्मण चित्तशुद्धिको प्राप्त करता है।' और 'स्वकर्मसे उसका पूजन करके मानव सिद्धिको प्राप्त होता है' यों पूर्वके ईश्वरार्पित पुण्य कर्मोंका फल चित्तशुद्धि ही है, ऐसी स्मृति है। तब 'संन्याससे ब्रह्माका स्थान' इत्यदि स्मृतियोंमें प्रसिद्ध संन्यासकी क्रियामात्रसे प्राप्त होनेवाली ब्रह्मलोककी गति विद्यमान है ही, ऐसा कहो, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि वह संन्यास अन्यथासिद्ध है। 'इसी लोककी इच्छा करते हुए संन्यासी संन्यास करते हैं' 'संन्यास करके श्रवण करे' इत्यादि श्रुतिस्मृतियोंसे संन्यासका श्रवण अङ्ग होनेसे श्रवण आदि अर्थकी सिद्धिमें ही शक्तिहीन होनेसे, उसका ब्रह्मलोकको प्राप्त करनेवाला फल उपपन्न नहीं है। जैसे 'स्वर्गकी कामनावाला ज्योतिष्टोम याग करे' इससे विहित यागका स्वर्गके प्राप्त करानेमें ही सङ्कल्प होनेसे स्वर्गकी प्राप्ति करानेमें ही सामर्थ्य है, ब्रह्मलोक आदिकी प्राप्ति करानेमें नहीं है, इसी प्रकार श्रवण आदि अर्थकी सिद्धिमें ही समर्थ विविदिषासंन्यासका श्रवण आदि अर्थको प्राप्त कराने में ही सामर्थ्य है, दूसरे फल प्राप्त करानेमें नहीं है। 'वह जैसी कामनावाला होता है, वैसे

कुरुते तदभिसम्पद्यते' इति श्रुतिनियमात्ततः श्रवणाद्यङ्गत्वेन कृतस्य विविदिषासंन्यासस्य श्रवणादावेवोपक्षीणत्वाद्यतेस्तदतिरिक्तपुण्यकर्मानुपलम्भाच्च युक्त एवाऽर्जुनस्य प्रश्न इति सिद्धम् । ननु तर्हि 'संन्यासाद्ब्रह्मणः स्थानम्' इत्यादिस्मृतिवाक्यानामानर्थक्यं स्यादिति चेदुच्यते—'संन्यासाद्ब्रह्मणः स्थानम्' इति संन्यासस्य ब्रह्मस्थानं फलं स्मर्यते तद्विद्वत्संन्यासस्य वा विविदिषासंन्यासस्य वा उताऽऽपत्संन्यासस्य वा ? नाऽऽद्यः, 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' इति विदुषः प्राणोत्क्रमणाभावश्रवणात्तत्कर्तृकसंन्यासफलत्वानुपपत्तेः । न द्वितीयः, विविदिषासंन्यासस्य श्रवणाद्यर्थसिद्ध्येकफलत्वात् पुनः फलान्तरकल्पनायोगात् पारिशेष्यादापत्संन्यासस्यैव ब्रह्मलोकः फलमित्यवसीयते । तथैव स्मर्यते—'आपद्यपि च कुर्वीत संन्यासं ब्राह्मणोत्तमः । यदनुष्ठानमात्रेण प्रयाति ब्रह्मणः पदम् ॥' इत्यतः 'संन्यासाद् ब्रह्मणः स्थानम्' इत्यादिस्मृतिवाक्यानामापत्संन्यासविषयत्वेन सार्थकत्वान्न कदाचिदप्यनुपपत्तिः । नन्वापदि संन्यस्याऽपि पुनर्जीवित्वा विवेकी श्रवणादिना ज्ञानं संपाद्य मुक्तो भवति कथमापत्संन्यासस्य ब्रह्मलोकैकफलत्वमिति चेद्, उच्यते, जन्मान्तरे मोक्षेच्छया संन्यस्य श्रवणं

निश्चयवाला होता है, जैसे निश्चयवाला होता है, वैसा कर्म करता है, जैसा कर्म करता है, वैसा फल प्राप्त करता है' ऐसा श्रुतिका नियम है । श्रवण आदिके अङ्गत्वरूपसे किये गये विविदिषासंन्यासके, श्रवण आदिमें उपक्षीणत्व होनेसे, यतिमें उसके सिवा अन्य पुण्यकर्मकी उपलब्धि न होनेसे अर्जुनका प्रश्न युक्त ही है, यह सिद्ध हुआ । तब तो 'संन्याससे ब्रह्माका स्थान' इत्यादि स्मृतिवाक्य अनर्थक हो जायँगे, ऐसा कहो तो कहते हैं । 'संन्याससे ब्रह्माका स्थान' इस स्मृतिसे संन्यासका फल ब्रह्माका स्थान, कहा जाता है, वह विद्वत्संन्यासका है या विविदिषासंन्यासका अथवा आपत्संन्यासका ? आद्य पक्ष तो युक्त नहीं है, क्योंकि 'उसके प्राण उत्क्रमण नहीं करते' इससे विद्वान्‌के प्राणोंके उत्क्रमणका अभाव श्रुति कहती है, अतः लोकान्तरमें गमनका असंभव होनेसे उसके द्वारा किये गये संन्यासका फल ब्रह्मलोक नहीं हो सकता, क्योंकि उसका फल जीवन्मुक्तिमें ही उपक्षीण हो जानेसे विद्वत्संन्यासका केवल लोकान्तर फल होना संभव नहीं है । दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि विविदिषासंन्यासका श्रवण आदि अर्थकी सिद्धि ही फल है, अतः फिर दूसरे फलकी कल्पना युक्त नहीं है । परिशेषसे आपत्संन्यासका ही ब्रह्मलोक फल है ऐसा निश्चय किया जाता है । इस विषयमें स्मृति भी है—उत्तम ब्राह्मण आपत्‌में भी संन्यास करे, जिसके अनुष्ठानमात्रसे ब्रह्मके पदको प्राप्त होता है ।' इसलिए 'संन्याससे ब्रह्माका स्थान' इत्यादि स्मृतिवाक्योंका, आपत्संन्यासविषय होनेसे, सार्थकत्व है, इसलिए कभी भी अनुपपत्ति नहीं है । यदि शङ्का हो कि आपत्‌में संन्यासका ग्रहण करके फिर जीकर विवेकी श्रवण आदिसे ज्ञान प्राप्त करके मुक्त हो जाता है, तो फिर कैसे कहा जाता है कि आपत्संन्यासका केवल ब्रह्मलोक ही फल है, तो इसपर कहा जाता है—पिछले जन्ममें मोक्षकी इच्छासे संन्यास ग्रहण कर श्रवण करनेवालेको प्रतिबन्धवश यदि ज्ञान उत्पन्न न हुआ हो, तो

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥ ३८ ॥

हे महाबाहो, ज्ञानफल और कर्मफलसे भ्रष्ट, योगनिष्ठामें विमूढ़ एवं ज्ञान और

कृतवतस्तस्य प्रतिबन्धवशाज्ज्ञानानुत्पत्तौ पुनरत्राऽपि जन्मन्यापद्युपदेशेन पूर्वसंस्कारवशात् संन्यस्य श्रुत्या मत्या च ज्ञानं प्राप्य मुक्तो भवति, इममेवाऽर्थं श्रीभगवानपि वक्ष्यति—'शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते' इत्यादिना । ततो न कश्चिदत्र विरोधः । नन्वप्राप्तयोगसंसिद्धेरपि योगिनो यतेः संन्यासस्य श्रवणाद्युपक्षीणत्वेऽपि 'भिक्षाटनं जपः शौचं स्नानं ध्यानं सुरार्चनम् । कर्तव्यानि षडेतानि यतीनां नृपदण्डवत् ॥ स्वशाखोपनिषद्गीताम्' इत्यादिस्मृत्युक्तमन्त्रजपस्तोत्रसुरार्चनादिपुण्यकर्मणः स्वर्गादिहेतोः संभवादस्त्येव तत्प्राप्यः पुण्यलोक इति चेत्, न; स्तोत्रमन्त्रजपादेर्भेदप्रत्ययघटितत्वेन विपरीतभावहेतुत्वात् ब्रह्मविद्विषयत्वानुपपत्तेः । 'नैतादृशं ब्राह्मणस्याऽस्ति वित्तम्', 'उपरमः क्रियाभ्यः', 'नैव धर्मी न चाधर्मी तूष्णीं किञ्चिदचिन्तयन्' इति योगिनो यतेः सर्वकर्मोपरमस्मरणात् । 'ध्यानयोगपरो नित्यम्' इत्यत्र निदिध्यासोः क्रियान्तरानवकाशार्थं नित्यपदमिति श्रीभाष्यकृद्भिर्व्याख्यातत्वाच्च निरन्तरयोगनिष्ठापरस्य यतेर्मन्त्रजपादिपुण्यकर्मानुष्ठानानुपपत्तौ तत्फलभूतपुण्यलोकगतिर्न सम्भवत्येव । अत एवाऽर्जुनः पृच्छति कां गतिं कृष्ण गच्छतीति ॥ ३७ ॥

फिर इस वर्तमान जन्ममें भी आपत्तिमें उपदेशसे पूर्वसंस्कारवश संन्यासका ग्रहण कर, श्रवण और मननसे ज्ञान प्राप्त करके मुक्त होता है। इसी अर्थको श्रीभगवान् भी कहेंगे—'पवित्र श्रीमानोंके घरमें योगभ्रष्ट जन्म लेता है' इत्यादिसे । इसलिए यहाँ कोई विरोध नहीं है । यदि शङ्का हो कि जिसने योगसे सिद्धि प्राप्त नहीं की है, ऐसे योगी यतिका संन्यास यद्यपि श्रवण आदिमें उपक्षीण हो जाता है, तथापि 'भिक्षाटन, जप, शौच, स्नान, ध्यान, देवपूजन ये छः कर्तव्य यतिके राजदण्डके समान हैं, स्वशाखोपनिषद्गीताको' इत्यादि स्मृतिसे कहे गये मन्त्र, जप, स्तोत्र, देवार्चन आदि स्वर्ग आदिके हेतु पुण्यकर्मोंका यतिके लिए अनुष्ठान होनेसे, उनसे प्राप्त होनेवाला पुण्यलोक है ही, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि स्तोत्र, मन्त्र, जप आदि भेदप्रत्ययसे किये जाते हैं और विपरीत भावनाके हेतु हैं, इसलिए ब्रह्मवित् उनका विषय नहीं हो सकता । 'इसके समान ब्राह्मणका दूसरा धन नहीं है', 'क्रियाओंसे उपराम', 'न धर्मी हो और न अधर्मी, चुपचाप बैठे, कुछ चिन्तन न करे' इत्यादिसे योगी यतिका सब कर्मोंसे उपराम सुना जाता है । 'सदा ध्यानयोगपरायण' इस वाक्यमें निदिध्यासुको दूसरी क्रियाके लिए अवकाश नहीं है, ऐसा सूचन करनेके लिए नित्यपद दिया गया है, ऐसा भाष्यकारोंने व्याख्यान किया है, इसलिए निरन्तर योगनिष्ठापरायण यतिके लिए मन्त्र, जप आदि पुण्यकर्मोंका अनुष्ठान उपपन्न न होनेसे उनके फलभूत पुण्यलोकमें गतिका सम्भव ही नहीं है, इसलिए अर्जुन पूछता है कि हे कृष्ण, वह कौन-सी गतिको प्राप्त होता है ॥ ३७ ॥

एतं मे संशयं कृष्ण च्छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥ ३९ ॥

कर्म दोनोंमें से किसी एकके आलम्बनसे रहित यति छिन्न मेघके समान क्या विनाशको तो प्राप्त नहीं होता ? ॥ ३८ ॥

हे कृष्ण, मेरे उक्त संशयको सम्पूर्णरूपसे आप ही काट सकते हैं, आपके सिवा दूसरा कोई भी उक्त संशयका छेदन नहीं कर सकता ॥ ३९ ॥

किञ्च, कच्चिदिति । ब्रह्मणः पथि ब्रह्ममार्गे योगनिष्ठायां विमूढः विशिष्य मूढो विमूढः प्रतिबन्धककर्मदोषेण विपरीतभावं प्राप्तः । समाधिनिष्ठाप्रच्युत इत्यर्थः । तत एवाऽप्रतिष्ठः प्रतितिष्ठत्यनयेति प्रतिष्ठा आधारस्तद्रहितोऽप्रतिष्ठः ज्ञानकर्मान्यतरालम्बनरहितो यतिः स्वयमुभयविभ्रष्टः योगनिष्ठाप्रच्युतत्वाज्ज्ञानफलभ्रष्टः सर्वकर्मसंन्यासात् कर्मफलभ्रष्टश्चैवमुभयविधगतिशून्यः सन् छिन्नाभ्रमिव प्रागगच्छन्मेघमण्डलसंबन्धरहितं पश्चादागच्छन्मेघमण्डलसंबन्धरहितं च यन्मध्यवर्ति स्वल्पमभ्रं तद्वायुना छिन्नं सद् यथाऽन्तराले नश्यति स्वरूपनाशं प्राप्नोति, तथाऽयमपि नश्यति कच्चित् । तद्वत्स्वरूपनाशं प्राप्नोति वा किमित्यर्थः ॥ ३८ ॥

एतमिति । हे कृष्ण सदानन्दस्वरूप परमात्मन्, त्वमेव सर्वज्ञः परमेश्वरः मे ममैतं प्रतिपादितं संशयमशेषतो निःशेषं यथा तथा छेत्तुं श्रुतिस्मृतियुक्तिभिर्निरसितुमर्हसि । समर्थोऽसीत्यर्थः । यस्मिन् छिन्ने सति मुमुक्षवो निर्भयाः सन्तः सर्वकर्माणि

किञ्च, 'कच्चित्' इत्यादि । ब्रह्मके पथमें—ब्रह्ममार्गमें—यानी योगनिष्ठामें विमूढ़ (विशेष करके मूढ़ विमूढ़) यानी प्रतिबन्धक कर्मके दोषसे विपरीत भावको प्राप्त हुआ अर्थात् समाधिनिष्ठासे पतित । इसीलिए अप्रतिष्ठ (जिसका अवलम्बन कर स्थित होता है, वह प्रतिष्ठा—आधार—उससे रहित अप्रतिष्ठ) यानी ज्ञान और कर्म दोनोंमें से किसी प्रकारके आलम्बनसे रहित यति स्वयं उभयभ्रष्ट (योगनिष्ठासे गिर जानेके कारण ज्ञानफलसे भ्रष्ट और सम्पूर्ण कर्मोंका संन्यास होनेके कारण कर्मफलसे भ्रष्ट, इस प्रकार दोनों प्रकारकी गतिसे शून्य) होकर छिन्न बादलके समान यानी पहले जानेवाले मेघमण्डलके सम्बन्धसे भ्रष्ट और पीछे आनेवाले मेघमण्डलके सम्बन्धसे रहित, जो बीचमें रहनेवाला छोटा बादल है वह वायुसे छिन्न होकर जैसे बीचमें नष्ट हो जाता है—स्वरूपनाशको प्राप्त हो जाता है, वैसे ही क्या यह भी नष्ट हो जाता है, उसके समान स्वरूपनाशको प्राप्त होता है क्या, यह अर्थ है ॥ ३८ ॥

'एतम्' इत्यादि । हे कृष्ण—सदानन्दरूप परमात्मन्, आप सर्वज्ञ परमेश्वर ही मेरे इस संशयका अशेषरूपसे यानी सर्वथा छेदन करनेके लिए यानी श्रुति, स्मृति और युक्तियोंसे निरास करनेके लिए योग्य हैं । समर्थ हैं, यह अर्थ है । जिसके छिन्न होनेपर मुमुक्षु निर्भय होकर सम्पूर्ण कर्मोंका

श्रीभगवानुवाच ।

पार्थ नैवेह नाऽमुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
नहि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ॥ ४० ॥

भगवान्‌ने कहा—हे पार्थ, इस लोक या परलोकमें उसका कभी विनाश हो ही नहीं सकता, क्योंकि हे तात, शुभ कर्मोंका अनुष्ठान करनेवाला दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता ॥ ४० ॥

संन्यस्य योगनिष्ठायां प्रवर्तेरन् । ननु देवा वा ऋषयो वा सर्वज्ञा महान्तस्ते संशयं छेत्स्यन्ति ते प्रष्टव्या इत्याशङ्कायामाह—त्वदन्य इति । 'अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः' इति वचनात्त्वमेव देवानां ऋषीणां चाऽऽदिः सर्वज्ञः, त्वत्तोऽन्यस्त्वदन्यो देवो वा ऋषिर्वा यः कश्चिदप्यस्य संशयस्य छेत्ता निवर्तको नोपपद्यते न संभवतीत्यर्थः । 'मेधावी छिन्नसंशयः' इति सर्वसंशयच्छेत्तृत्वं तव शास्त्रप्रसिद्धमिति प्रसिद्धिद्योतनार्थो हिशब्दः ॥ ३९ ॥

'न्यास इति ब्रह्मा ब्रह्मा हि परः परो हि ब्रह्मा । तानि वा एतान्यवराणि तपांसि न्यास एवाऽत्यरेचयत्' इति संन्यासस्य ब्रह्मस्वरूपत्वं सर्वतपोभ्यश्च वरिष्ठत्वं श्रूयते । तथैव 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः' इति संन्यासयोगवतां यतीनां शुद्धसत्त्वत्वं वेदान्तार्थविज्ञातृत्वं च श्रूयते । 'ऋतं तपः सत्यं तपः श्रुतं तपः शान्तं तपः' इति, 'शमेन शान्ताः शिवमाचरन्ति शमेन नाकं मुनयोऽन्वविन्दन् । तस्माच्छमं परमं वदन्ति', 'दमेन

त्याग कर योगनिष्ठामें प्रवृत्त हों । देव, ऋषि, सर्वज्ञ आदि जो महान् हैं, वे तुम्हारे संशयको काट देंगे, उनसे पूछना चाहिए, ऐसी आशङ्का होनेपर कहते हैं—त्वदन्य इति । 'मैं देवताओं और ऋषियोंके मध्यमें सबसे आदि हूँ' इस वचनसे आप ही देवता और ऋषियोंके आदि और सर्वज्ञ हैं, आपके सिवा दूसरा देवता, ऋषि अथवा अन्य कोई इस संशयका छेदन नहीं कर सकता । 'मेधावी छिन्नसंशयः' इससे आप ही सम्पूर्ण संशयोंके छेत्ता है, यह शास्त्रप्रसिद्ध है, इस प्रसिद्धिका सूचन करनेके लिए 'हि' शब्द है ॥ ३९ ॥

'न्यास यह ब्रह्म है, ब्रह्म ही पर है, पर ही ब्रह्म है, वे निश्चय अवर तप हैं, न्यास ही सबसे बढ़कर है' इससे संन्यास ब्रह्मस्वरूप है, सम्पूर्ण तपोंसे वरिष्ठ है, ऐसा सुना जाता है । इसी प्रकार 'वेदान्तविज्ञानसे भली भाँति निश्चित अर्थवाले, संन्यासयोगसे शुद्ध अन्तःकरणवाले यति' इससे संन्यासयोगवाले यतियोंका शुद्धसत्त्व होना और वेदान्तके अर्थका विज्ञाता होना सुना जाता है । 'ऋत तप है, सत्य तप है, श्रवण तप है, शान्त तप है', 'शमसे शान्त होकर कल्याण प्राप्त करते हैं, शमसे मुनि नाक (ब्रह्म) को प्राप्त हुए, इसलिए शमको परम

दान्ताः किल्बिषमवधुन्वन्ति दमेन ब्रह्मचारिणः सुवरगच्छन् दमो भूतानां दुराधर्षम्', 'सत्यं परं परं सत्यं सत्येन न सुवर्गाल्लोकाच्च्यवन्ते कदाचन सतां हि सत्यम्' इत्यादिना वाक्यजातेन ऋतसत्यश्रुतशान्तादीनां मुमुक्षुधर्माणां श्रुत्या तपस्त्वमुच्यते। 'मानसं वै प्राजापत्यम्' इति, 'मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्यैकाग्र्यं परमं तपः' इति, 'अश्वमेधसहस्राणि वाजपेयशतानि च। एकस्य ध्यानयोगस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्' इति समाधेः परमतपस्त्वं श्रूयते। स्मर्यते च 'अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव ब्रह्मलोकं निगच्छति ब्रह्मचर्यैकनिष्ठया', 'अहिंसा परमो धर्मो यया याति त्रिविष्टपम्' इति, 'तपसामपि सर्वेषां वैराग्यं परमं तपः' इति, 'सत्यं तीर्थं क्षमा तीर्थं तीर्थमिन्द्रियनिग्रहः। सर्वभूतदया तीर्थं तीर्थमार्जवमेव च ॥' इति ब्रह्मचर्यादीनां मुमुक्षुधर्माणां परममहत्त्वं श्रूयते स्मर्यते च। विघ्ननिहतयोगानां जडभरतवीतहव्यादीनां जन्मान्तरे योगपारङ्गतत्वं विष्णुपुराणवासिष्ठादिषु प्रसिद्धम्। एवं निरुक्तलक्षणैः संन्यासऋतसत्यशमदमाद्युत्तमतपोभिर्ब्रह्मचर्याद्युत्तमधर्मैरपि विशिष्टस्य योगिनो यतेः क्वचिद् दुष्कर्मवशाद्योगभ्रंशे सत्यपि ब्रह्मविद इहाऽप्यमुत्राऽपि न कश्चिदनर्थोऽस्तीति बोधयितुं श्रीभगवानुवाच—**पार्थेति**।

स्वदत्तां ब्रह्मविद्यां शिष्यप्रशिष्यद्वारा तनोति विस्तारयतीति तातस्तस्य संबुद्धिर्हे तात पार्थ, तस्य समाधिनिष्ठायां प्रवृत्तस्य संन्यासऋतसत्यशमदमाद्युत्तमतपो-

---

कहते हैं', 'दमसे दान्त होकर किल्बिषको नष्ट करते हैं, दमसे ब्रह्मचारी स्वर्गको प्राप्त हुए, दम भूतोंका दुराधर्ष है', 'सत्य पर है, सत्यसे स्वर्गलोकसे कभी गिरते नहीं हैं, सत्पुरुषोंका सत्य है' इत्यादि वाक्योंसे ऋत, सत्य, श्रुत, शान्त आदि मुमुक्षुओंके धर्मोंको श्रुति तप कहती है। 'मानस ही प्राजापत्य है', 'मन और इन्द्रियोंकी एकाग्रता परम तप है', 'हजार अश्वमेध और सौ वाजपेय ध्यानयोगकी एक कलाके बराबर नहीं हैं' इससे समाधि परम तप है, ऐसा सुननेमें आता है। 'जो यज्ञ कहा जाता है, वह ब्रह्मचर्य ही है, ब्रह्मचर्यकी एकनिष्ठासे ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है', 'अहिंसा परम धर्म है, जिससे स्वर्गको जाता है', 'सब तपोंमें वैराग्य परम तप है', 'सत्य तीर्थ है, क्षमा तीर्थ है, इन्द्रियोंका निग्रह तीर्थ है, सब भूतोंपर दया तीर्थ है और आर्जव भी तीर्थ है' यों ब्रह्मचर्य आदि मुमुक्षुओंके धर्मोंका परम महत्त्व सुननेमें और स्मरण करनेमें आता है। विघ्ननिहत जड भरत और वीतहव्य आदि योगियोंका दूसरे जन्ममें योगपारंगत होना विष्णुपुराण और वासिष्ठ आदिमें प्रसिद्ध है। इस प्रकार निरुक्त लक्षणोंसे संन्यास, ऋत, शम, दम आदि उत्तम तपोंसे, ब्रह्मचर्य आदि उत्तम धर्मोंसे विशिष्ट योगी यतिका कहीं दुष्कर्मवश योगभ्रंश होनेपर भी ब्रह्मवित्का इस लोकमें और परलोकमें भी कोई अनर्थ नहीं होता, ऐसा बोधन करनेके लिए श्रीभगवान् बोले—'**पार्थ**' इत्यादिसे।

अपने द्वारा दी गई ब्रह्मविद्याको शिष्य और प्रशिष्य द्वारा जो फैलाता है—विस्तारको प्राप्त करता है—वह तात है, उसकी सम्बुद्धि है—हे तात, हे पार्थ, समाधिनिष्ठामें प्रवृत्त हुए संन्यास, ऋत, सत्य,

विशिष्टस्य ब्रह्मचर्याहिंसादिविशिष्टधर्मवतो योगिनो यतेर्दुष्कर्मवशाद् ब्रह्ममार्गप्रच्युतत्वेऽपि इहाऽस्मिँल्लोके विनाशो हानिः शिष्टगर्हणाप्राप्तप्रतिष्ठाभङ्गलक्षणो नैवाऽस्ति। ब्रह्मनिष्ठायां श्रद्धावत्त्वादिविशिष्टगुणवत्त्वाद्ब्रह्मचर्याद्युत्तमधर्मवत्त्वाच्च शिष्टनिन्दाप्रसक्तेः। नहि दुष्कर्मप्रापितैराध्यात्मिकाद्युपद्रवैर्विघ्नतः स्वधर्मनिष्ठं पुरुषं शिष्टा निन्दितुमर्हन्ति। यथा विधिना संकल्पपूर्वकं शालां प्रविश्याऽग्नीषोमीयान्तं कृतस्य यज्ञकर्मणो दैवात् सति विघ्ने यजमानमास्थावन्तं श्रोत्रिया न निन्दितुमर्हन्ति तद्वत्। अतो नैवाऽस्याऽत्र प्रतिष्ठाभङ्गलक्षणो नाशस्तथैवाऽमुत्र परस्मिँल्लोके विनाशो दुर्योनिदुर्गतिप्राप्तिलक्षणो नाऽस्ति, कल्याणकृत्त्वादमुष्य यतेः। नहि कल्याणकृच्छुभकृत्कश्चित्पुरुषो दुर्गतिं गच्छति किन्तु सद्गतिमेव गच्छति। तथा च श्रुतिः—'तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा' इति। यद्वा 'अतिकल्याणरूपत्वान्नित्यकल्याणसंश्रयात्। स्मर्तॄणां वरदत्वाच्च ब्रह्म तन्मङ्गलं विदुः' इति, 'मङ्गलानां च मङ्गलम्' इति, 'पवित्रं मङ्गलं परम्' इति परब्रह्मणो मङ्गलस्वरूपत्वस्मरणात्कल्याणं मङ्गलस्वरूपं ब्रह्म करोति स्वात्मना साक्षाद्विजानातीति कल्याणकृद्ब्रह्मवित्कश्चिद्ब्राह्मणो वा क्षत्रियो वाऽन्यो वा योगभ्रंशं प्राप्य दुर्गतिं निरयं न गच्छति। जडभरतादौ तत्प्रसिद्धमिति

शम, दम आदि उत्तम तपोंसे विशिष्ट, ब्रह्मचर्य, अहिंसा आदि विशिष्ट धर्मवाले योगीके—यतिके—दुष्कर्मवश ब्रह्ममार्गसे च्युत हो जानेपर भी यहाँ—इस लोकमें—विनाश (शिष्टनिन्दासे प्राप्त प्रतिष्ठाभङ्गरूप हानि) नहीं होता। ब्रह्मनिष्ठामें श्रद्धावाला होनेसे, विशिष्ट गुणवाला होनेसे और ब्रह्मचर्य आदि उत्तम धर्मवाला होनेसे शिष्टों द्वारा निन्दाका प्रसङ्ग ही नहीं है। दुष्कर्मसे प्राप्त हुए आध्यात्मिक आदि उपद्रवोंसे विघ्नको प्राप्त हुए स्वधर्मनिष्ठ पुरुषकी शिष्ट पुरुष निन्दा कभी नहीं करते। जैसे विधिसे सङ्कल्पपूर्वक यज्ञशालामें प्रवेश करके अग्नीषोमीय पर्यन्त किये गये यज्ञ कर्ममें दैवयोगसे विघ्न उपस्थित होनेपर आस्थावाले यजमानकी श्रोत्रिय निन्दा नहीं करते, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए। इसलिए इसका इस लोकमें प्रतिष्ठाभंगरूप नाश नहीं है। इसी प्रकार परलोकमें दुर्योनि—दुर्गति—प्राप्तिरूप विनाश नहीं है, क्योंकि वह यति कल्याण कर्म करनेवाला है। कल्याणकृत्—शुभ करनेवाला—कोई पुरुष दुर्गतिको नहीं प्राप्त होता, किन्तु सद्गतिको ही प्राप्त होता है। वैसी ही श्रुति है—'वे जो यहाँ सुन्दर आचरण करते हैं, वे शीघ्र ही रमणीय योनिको प्राप्त होते हैं, ब्राह्मणयोनिको, क्षत्रिययोनिको अथवा वैश्ययोनिको'। अथवा 'अतिकल्याणरूप होनेसे, नित्य कल्याणका आश्रय होनेसे, स्मरण करनेवालोंका वरदाता होनेसे मङ्गलरूप उस ब्रह्मको जानते हैं' 'मङ्गलोंका भी मङ्गल' 'पवित्र परम मङ्गल' इत्यादि वाक्योंसे परब्रह्ममें मङ्गलस्वरूपताका स्मरण होनेसे कल्याणको—मङ्गलस्वरूप ब्रह्मको जो प्राप्त करता है यानी अपने स्वरूपसे साक्षात् पहचानता है, वह कल्याणकृत्—ब्रह्मवित् ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा अन्य योगभ्रंशको प्राप्त होकर

प्रसिद्धिद्योतनार्थो हिशब्दः । ननु ध्यानयोगादौ प्रवृत्तो यो यतिः स ब्रह्मविदेव न भवति, तस्य ब्रह्मवित्त्वे ध्यानाभ्यासक्रियायोगात् ध्यानयोगाभ्यासोऽपि स्वाध्याया-भ्यासवत्क्रियैव भवति 'तस्य कार्यं न विद्यते' इति 'नैवाऽस्ति किञ्चित्कर्तव्यम्' इति च ब्रह्मविदः कर्तव्याभावस्मरणादिति चेत् , सत्यम् ; नाऽस्त्येव कर्तव्यं ब्रह्मविदः कृतकृत्यस्य यस्य चक्षुषो रूपवद्बहिरन्तर्ब्रह्मोपलब्धिस्तथापि भवानत्र प्रष्टव्यः— 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इति मुमुक्षोः कर्तव्यत्वेन निदिध्यासा श्रूयते, सा कृतश्रवणस्य वा किमकृतश्रवणस्य वा ? न द्वितीयः; वेदान्तार्थविचारशून्यस्याऽऽत्मानात्मविवेकविभागज्ञानाभावान्निदिध्यासानुपपत्तेः । आद्ये श्रवणादिना विज्ञातात्मतत्त्वस्य वा उत अविज्ञातात्मतत्त्वस्येति ? न द्वितियः; अविज्ञातात्मतत्त्वस्य निदिध्यासायोगात् । निदिध्यासा नाम विजातीयप्रत्ययतिरस्कारपूर्विका सजातीयप्रत्ययवृत्तिः खलु । सैषा सम्यग्विदितात्मतत्त्वस्यैव सिध्यति नेतरस्य । यथा घटप्रत्ययस्य विजातीयः पटप्रत्यय इति ज्ञानं घटपटयोः स्वरूपं लक्षणं च विजानत एव सिध्यति । तद्विज्ञानं च तयोः संदर्शनं कृतवत एव सिध्यति नाऽन्यस्य, तद्वदात्म-प्रत्ययानामनात्मप्रत्यया विजातीया इति ज्ञानमात्मानात्मनोः स्वरूपं लक्षणं च विज्ञात-

---

दुर्गतिको—नरकको—नहीं प्राप्त होता । जड़ भरतादिमें वह प्रसिद्ध है, ऐसी प्रसिद्धि सूचन करनेके लिए 'हि' शब्द है । यदि शङ्का हो कि ध्यानयोग आदिमें प्रवृत्त हुआ जो यति है, वह ब्रह्मवित् ही नहीं हो सकता, क्योंकि ब्रह्मवित् होनेपर उसकी ध्यानाभ्यासके लिए क्रिया नहीं हो सकती, क्योंकि ध्यानाभ्यास भी स्वाध्यायाभ्यासके समान क्रिया ही है । 'उसका कार्य विद्यमान नहीं है' इससे और 'इसका कुछ कर्तव्य नहीं है', इससे भी ब्रह्मवित्के लिए कर्तव्यका निषेध ही किया गया है, तो यह शङ्का ठीक है उस ब्रह्मवित्के लिए कोई कर्तव्य ही नहीं है । जिस कृतकृत्यको, नेत्रको रूपके समान, बाहर भीतर सर्वत्र ब्रह्मकी उपलब्धि होती है, तो भी आपसे यह पूछना चाहिए कि 'आत्मा द्रष्टव्य, श्रोतव्य, मन्तव्य और निदिध्यासितव्य है' इससे मुमुक्षुके कर्तव्यरूपसे निदिध्यासन सुना जाता है, वह कृतश्रवणका है या अकृतश्रवणका ? दूसरा पक्ष तो युक्त है नहीं, क्योंकि वेदान्तविचारसे शून्य पुरुषको आत्मा और अनात्माके विभागका ज्ञान न होनेसे निदिध्यासन हो ही नहीं सकता । प्रथम पक्षमें यह प्रश्न है कि निदिध्यासन श्रवणादिसे जिसे आत्मतत्त्व ज्ञात है, उस पुरुषके लिए है अथवा जिसे आत्मतत्त्व अविज्ञात है, उस पुरुषके लिए । दूसरा पक्ष तो युक्त है नहीं, क्योंकि अविज्ञात आत्मतत्त्वको निदिध्यासन हो नहीं सकता, क्योंकि विजातीय प्रत्ययके तिरस्कारपूर्वक सजातीय प्रत्ययकी आवृत्तिका नाम निदिध्यासन है, वह तो भली भाँति आत्मतत्त्वको जाननेवाले पुरुषको ही हो सकता है, दूसरेको नहीं । जैसे घटप्रत्ययका विजातीय पटप्रत्यय है, ऐसा ज्ञान घट-पट दोनोंके स्वरूप और लक्षणको जाननेसे ही सिद्ध होता है और उनका विज्ञान दोनोंके संदर्शन करनेवालोंको ही होता है, अन्यको नहीं, वैसे ही आत्म-प्रत्ययोंके अनात्मप्रत्यय विजातीय हैं, ऐसा ज्ञान आत्मा और अनात्माके स्वरूप और लक्षणको

वत एव सिध्यति । तादृग्विज्ञानं तत्साक्षात्कारवत एव सिध्यति नेतरस्य । नहि कश्चिदप्यदृष्टं गण्डभेरुण्डं दृष्टगरुडादिवद्भावयितुं शक्नोति यथा पितरं तथा प्रपितामहं वा तद्वदविज्ञातात्मतत्त्वस्तदनुभवशून्यः कश्चिदप्यनात्मवदात्मानं भावयितुं न शक्नोति, स्वानुभवाभावात्। ततोऽनात्मवत्तद्विलक्षणत्वेनाऽऽत्मस्वरूपं सम्यग्विदितवत एव निरुक्तलक्षणा निदिध्यासा समाधिश्च कर्तव्यो भवति । 'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः' इति, 'तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ' इत्युक्त्वा निरुक्तलक्षणमात्मानं विज्ञातवतामेव 'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्' इति चाऽऽत्मध्यानं विदधाति श्रुतिः । नन्वात्मविदः किमर्थं ध्यानं समाधिर्वेति न मन्तव्यम्, ध्यानसमाध्योरात्मतत्त्वज्ञानाप्रतिबन्धहेतुत्वात्सर्वमिदमहं च ब्रह्मैवेति सर्वस्य स्वस्य च ब्रह्ममात्रत्वविज्ञानं ब्रह्मण्येवाऽऽत्मताज्ञानं चाऽप्रतिबद्धं श्रुतिमात्रेण न सिध्यति विनैव ध्यानसमाधिभ्याम्। 'समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति सर्वमात्मानं पश्यति' इति ब्रह्मविदो ब्रह्मण्येवाऽऽत्मत्वविज्ञातस्याऽप्रतिबद्धत्वसिद्धये सार्वात्म्यसिद्धये च समाधिं विदधाति श्रुतिः। अतो ब्रह्मविदोऽप्यप्रतिबद्धज्ञानसिद्धये निदिध्यासादिरवश्यं कर्तव्य इति सिद्धम्॥४०॥

उक्तरीत्या समाधिं कृतवतो ब्रह्मविदो दुष्कर्मवशात् समाधिविघ्ने सति मृतस्य यतेर्दुर्गतिर्नाऽस्ति किन्तु सद्गतिरेवेत्याह—प्राप्येति ।

जाननेवाले पुरुषको ही सिद्ध होता है । वैसा विज्ञान उनका साक्षात्कार करनेवालेको ही सिद्ध होता है, दूसरेको नहीं । कोई भी न देखे हुए गण्डभेरुण्डकी देखे हुए गरुड आदिके समान भावना नहीं कर सकता अथवा जैसे पिताकी भावना कर सकता है वैसे प्रपितामहकी नहीं कर सकता, वैसे ही अविज्ञात आत्मतत्त्व और उसके अनुभवसे रहित कोई भी पुरुष अनात्माके समान आत्माकी भावना नहीं कर सकता, क्योंकि आत्माका अनुभव है नहीं । इसलिए जैसे अनात्माका, वैसे उससे विलक्षण आत्माके स्वरूपको ठीक ठीक जाननेवालेका ही निरुक्त लक्षणवाला निदिध्यासन या समाधि कर्तव्य है । 'इसीको धीर ब्राह्मण जानकर प्रज्ञा करे', 'उस एक आत्माको जाने, अन्य बातें छोड़ दें' ऐसा कहकर निरुक्त लक्षणवाले आत्माके जाननेवालोंका ही 'ओम् ऐसे आत्माका ध्यान करे' इत्यादिसे भी आत्मध्यानका श्रुति विधान करती है । आत्मवित्का ध्यान या समाधि किसलिए, ऐसा न समझना चाहिए, क्योंकि ध्यान और समाधि दोनों अप्रतिबद्ध आत्मज्ञानके हेतु हैं, 'सब यह और मैं ब्रह्म ही हूँ, इस प्रकार सबका और अपनेका ब्रह्ममात्र विज्ञान और ब्रह्ममें ही अप्रतिबद्ध आत्मरूपसे ज्ञान, ध्यान और समाधिके बिना, श्रवणमात्रसे सिद्ध नहीं होता । 'समाहित होकर आत्मामें ही आत्माको देखता है, सबको आत्मा देखता है' इससे ब्रह्मवित्के ब्रह्ममें ही आत्मविज्ञानके अप्रतिबद्धत्वकी सिद्धिके लिए और सर्वात्मतासिद्धिके लिए श्रुति समाधिका विधान करती है, इसलिए ब्रह्मवित्का भी अप्रतिबद्ध ज्ञानकी सिद्धिके लिए निदिध्यासन आदि अवश्य कर्तव्य है, यह सिद्ध हुआ ॥ ४० ॥

उक्त रीतिसे समाधि करनेवाले ब्रह्मवित्का दुष्कर्मवश समाधिका भङ्ग होनेपर मरे हुए यतिकी दुर्गति नहीं होती, किन्तु सद्गति ही होती है, ऐसा कहते हैं—'प्राप्य' इत्यादि ।

प्राप्य पुण्यकृतॉंल्लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ४१ ॥

योगभ्रष्ट पुरुष पुण्यकर्मसे सम्पादित स्वर्ग आदि लोकोंको प्राप्त कर, वहाँ सैकड़ों वर्ष रहकर फिर शुद्ध श्रीमान् लोगोंके घरमें जन्म लेता है ॥ ४१ ॥

योगमार्गे प्रवृत्तो ब्रह्मविद् यतिरप्राप्तयोगसंसिद्धिः सन् मृत्वा । 'वाजिमेधसहस्राणि राजसूयशतानि च । वाजपेयसहस्राणि अश्वमेधशतानि च ॥ एकस्य ज्ञानयोगस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥' इति, 'मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्यैकाग्र्यं परमं तपः' इत्यश्वमेधादिक्रतुकोट्यपेक्षया ध्यानयोगलेशस्य महत्तरपुण्यकर्मत्वस्मरणात् परमतपस्त्वाच्च तत्पुण्यकर्ममहिम्नैव स्वयं पुण्यकृतामश्वमेधादिमहाक्रतुकारिणां महालोकान् प्राप्य तत्र शाश्वतीः बह्वीः समाः संवत्सरानुषित्वा । तत्रत्य भोगाननुभूयेत्यर्थः । तद्भोगक्षये पुनरिह लोके शुचीनां योनिबीजकर्मादिशुद्धिमतां श्रीमतां भाग्यवतां च गृहिणां गेहे वंशे योगभ्रष्टोऽभिजायते समुत्पन्नो भवति न तु कर्मभ्रष्टः । कर्मिणः सति कर्मभ्रंशे पुण्यलोकप्राप्तिः शुचिश्रीमद्गेहे अभिजननं च न संभवति । तैलपाकवत्साङ्गस्यैव कर्मणः फलावश्यंभावित्वनियमान्न तथा योगिनः । तस्य देवतादर्शनवद्यावद्यावद्योगानुष्ठानं तावत्तावत्फलवद्भवति, तत एव योगभ्रंशेऽपि योगिनः पुण्यलोकप्राप्तिः शुचिश्रीमत्कुलप्रसूतिश्चेत्यर्थः ॥ ४१ ॥

योगमार्गमें प्रवृत्त हुआ ब्रह्मवित् यति योगसंसिद्धिको प्राप्त न होकर मरके 'हजार वाजिमेध और सौ राजसूय, हजार वाजपेय और सौ अश्वमेध एक ज्ञानयोगकी सोलहवीं कलाके बराबर नहीं होते' और 'मन और इन्द्रियोंकी एकाग्रता ही परम तप है' इससे अश्वमेधादि करोड़ों क्रतुओंकी अपेक्षा ध्यानयोगके लेशमें महत्तर पुण्यकर्मत्वका स्मरण होनेसे और परम तप होनेसे इस पुण्य कर्मकी महिमासे ही स्वयं पुण्य कर्म करनेवालोंके—अश्वमेधादि महाक्रतु करनेवालोंके—महान् लोकोंको प्राप्त होकर, वहां बहुतसे संवत्सरों तक वास करके—वहांके भोगोंका अनुभव करके—उन भोगोंका क्षय होनेपर फिर यहां (इस लोकमें) शुचियोंके यानी योनि, बीज और कर्मादिसे शुद्ध श्रीमान्—भाग्यवान्—गृहस्थोंके घरमें (वंशमें) जन्म लेता है—उत्पन्न होता है, कर्मभ्रष्ट नहीं होता । कर्मियोंके कर्मोंका नाश होनेपर पुण्यलोककी प्राप्ति और पवित्र श्रीमानोंके घरमें जन्मका संभव नहीं है, क्योंकि तेलपाकके समान अङ्गसहित ही कर्मका फल अवश्य होता है, यह नियम है, योगीका ऐसा नहीं है । उसका तो देवतादर्शनके समान जितना योगका अनुष्ठान होगा, उतने फलसे युक्त होगा ही, इसीलिए योगभ्रंश होनेपर भी योगीकी पुण्यलोककी प्राप्ति और शुद्ध श्रीमानोंके कुलमें उत्पत्ति होती है, यह अर्थ है ॥ ४१ ॥

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥ ४२ ॥

अथवा ज्ञानी योगियोंके घरमें ही उसका जन्म होता है। लोकमें इस प्रकार शुद्ध वंशमें जन्म होना अत्यन्त दुर्लभ है ॥ ४२ ॥

'मनोहराणां भोज्यानां युवतीनां च वाससाम् । वित्तस्याऽपि च सान्निध्याच्चलेच्चित्तं सतामपि ॥ तत्सान्निध्यं ततस्त्यक्त्वा मुमुक्षुर्दूरतो वसेत् ॥' इति न्यायेन विषयसान्निध्यस्यैव विक्षेपकत्वे श्रीमद्गेहे समुत्पन्नस्य तस्योत्तमभक्तस्य योगिनो विषयभोगानुषक्त्या रागद्वेषादिभिर्मनःक्षोभं विना पुनर्विवेकवैराग्यादिविज्ञानयोगश्च क्षिप्रं न सेत्स्यतीति योगसिद्धेः कालव्यवधानमसहमानः सन्नाह—अथवेति ।

अथवा श्रीमद्विलक्षणानां दरिद्राणां शुचीनां धीमतामेव योगिनां कुले भवति जायते । यद्वा योगी ब्रह्मविन्मृतिकाले यदि प्राक्तनकर्मवशात् हृदये विषयभोगेच्छावेगवान् तदा पुण्यकृतांल्लोकाननुभूय शेषानुभूत्यै श्रीमतां गेहे अभिजायते । यदि हृदये चित्तशोधकसत्कर्मविशेषवशात्तीव्रमोक्षेच्छावैराग्यवेगस्तदा स योगी । अथवा । अथशब्द आनन्तर्यार्थः । वाशब्दोऽवधारणार्थः । अथैव देहपातानन्तरमेव धीमतां ज्ञानिनां तत्राऽपि योगिनां ज्ञानयोगनिष्ठानामेव कुले भवति । प्रभवतीत्यर्थः । ईदृशं तद्वैराग्यमोक्षेच्छावेगानुरूपं ब्रह्मनिष्ठानामेव ज्ञानिनां कुले समनन्तरभावि यज्जन्म

'मनोहर भोज्य, युवती, वस्त्र एवं धनके सांनिध्यसे सत्पुरुषोंका भी चित्त विचलित हो जाता है, इसलिए उनके सांनिध्यका त्याग कर मुमुक्षु उनसे दूर ही बसे।' इस न्यायसे विषयोंका सांनिध्य विक्षेपका उत्पादक होनेसे श्रीमानोंके घरमें उत्पन्न हुए उस उत्तम भक्त योगीका विषयभोगोंकी आसक्तिसे राग, द्वेष आदिसे मनके क्षोभके बिना विवेक, वैराग्य आदि विज्ञानयोग शीघ्र प्राप्त नहीं होगा, इस प्रकार योगसिद्धिके कालव्यवधानको न सह कर कहते हैं—**'अथवा'** इत्यादिसे ।

अथवा श्रीमानोंसे विलक्षण दरिद्र शुचि धीमान् योगियोंके ही कुलमें होता है यानी जन्म लेता है। अथवा ब्रह्मवित् योगी मरणकालमें यदि पूर्वकर्मवश हृदयमें विषयभोगकी इच्छाके वेगसे युक्त हो, तो पुण्य-सम्पादित लोकोंका अनुभव करके शेष अनुभवके लिए श्रीमानोंके घरमें जन्म लेता है। यदि हृदयमें चित्तशोधक सत्कर्मविशेषवश तीव्र मोक्षेच्छा और वैराग्यका वेग हो, तो वह योगी ('अथवा' इस शब्दमें अथशब्दका आनन्तर्य अर्थ है, वाशब्द अवधारणके अर्थमें है) देहपातके पीछे ही धीमानोंके (ज्ञानियोंके) उनमें भी योगियोंके—ब्रह्मनिष्ठ ज्ञानियोंके—कुलमें उत्पन्न होता है, यह अर्थ है। इस प्रकार उक्त वैराग्य और मोक्षेच्छावेगके अनुरूप ज्ञानी

तदेतदुर्लभतरं हि एतदत्यन्तदुर्लभं खलु। गृहिणां ज्ञानित्वं दुर्लभम्, तत्राऽपि तादृशानां ब्रह्मनिष्ठानामेव कुले लोकान्तरं योन्यन्तरमगत्वा कालव्यवधानं विना यज्जननं तद्-दुर्लभतरमेव महत्तरेण तपसा लभ्यं भवति न स्वल्पेन, तत एवोच्यते दुर्लभतरमिति। ननु योगिनामेव ज्ञानिनां गृहमेधिनां कुले भवतीति यदुक्तं तन्नोपपद्यते; गृहिणां ब्रह्मवेदनासंभवात् ज्ञानोत्पत्तेरधिकारासंभवाच्च। शमदमवैराग्यसंन्यासाद्यन्तरङ्गसाधन-शून्यानां बहिर्मुखानां तेषां श्रवणादिना ज्ञानमपरोक्षं न संभवति विना यतिम्, तत्राऽपि परमहंसान्। तदुक्तम्—'ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं वेदान्तश्रवणादिना। जायते परहंसस्य यतेर्मुख्याधिकारिणः॥ नाऽऽश्रमान्तरनिष्ठस्य' इति। ततस्तेषां ज्ञानाभावे कुतो योग-निष्ठेति चेत्, तर्हि धीमतां कर्मशास्त्रार्थज्ञानवतां योगिनां कर्मयोगिनां कुले भव-तीति ब्रूम इति चेत्, न; तथात्वे जन्मनो दुर्लभतरत्वाभावप्रसङ्गाच्छ्रोत्रियकुलाभिजन-नस्य सत्कर्मवत्साधारण्याद् ये ये सत्कर्मवन्तस्ते ते श्रोत्रियकुले एवाऽभिजायन्ते; 'रमणीयां योनिमापद्येरन्' इति श्रुतेः। ततो जन्मनो दुर्लभतरत्वानुपपत्तिप्रसूतार्थापत्त्या गृहिणामपि केषाञ्चिदीश्वरप्रसादवतां शुद्धात्मनां ज्ञानं ज्ञानयोगित्वं चाऽभ्युपगन्तव्यम्। अन्यथा वसिष्ठागस्त्यादीनां जनकाश्वपत्यादीनां च प्राचामाधुनिकानां च वाचस्पति-खण्डनकारादीनामनात्मज्ञत्वप्रसङ्गात्। तर्हि 'अथाऽतः' इति सूत्रस्थाऽथशब्दसूचितश्रवण-

---

ब्रह्मनिष्ठोंके कुलमें व्यवधानके विना तुरन्त होनेवाला जो जन्म है, वह दुर्लभतर है यानी अत्यन्त दुर्लभ है। गृहस्थोंका ज्ञानी होना दुर्लभ है, उसमें भी ऐसे ब्रह्मनिष्ठोंके कुलमें, लोकान्तर या दूसरी योनिमें न जाकर, कालके व्यवधानके विना जो जन्म है, वह दुर्लभतर ही है, यानी महत्तर पुण्यसे ही वह प्राप्त होता है, थोड़े पुण्यसे नहीं, इसीलिए दुर्लभतर कहा है। योगी ज्ञानी गृहस्थोंके कुलमें जन्म लेता है, यह जो कहा, वह युक्त नहीं है, क्योंकि गृहस्थ ब्रह्मको जान नहीं सकते तथा ज्ञानकी उत्पत्तिमें उनका अधिकार भी नहीं है। यतिके सिवा, उनमें भी परमहंसोंके सिवा शम, दम, वैराग्य, संन्यास आदि अन्तरङ्ग साधनोंसे शून्य उन बहिर्मुख गृहस्थोंको श्रवण आदिसे अपरोक्ष ज्ञान नहीं हो सकता। कहा भी है—ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञान वेदान्तश्रवण आदिसे मुख्य अधिकारी परमहंस यतिको ही होता है, दूसरे आश्रममें रहनेवालेको नहीं। इससे ज्ञानके न होनेसे उनकी योगनिष्ठा नहीं हो सकती। यदि तुम कहो कि कर्मशास्त्रार्थका ज्ञान रखनेवाले श्रीमान् योगियोंके—कर्मयोगियोंके—कुलमें जन्म लेता है, ऐसा अर्थ हम कहते हैं, तो वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा होनेसे जन्ममें दुर्लभतरत्वके अभावका प्रसङ्ग हो जायगा यानी श्रोत्रिय कुलमें सत्कर्मवालेका जन्म साधारण हो जायगा, क्योंकि जो-जो सत्कर्मवाले होते हैं, वे-वे श्रोत्रिय कुलमें ही जन्म लेते हैं। 'रमणीय कर्मवाले रमणीय योनिको प्राप्त होते हैं' ऐसी श्रुति है। इसलिए जन्मकी दुर्लभतरताकी अनुपपत्तिसे प्रसूत अर्थापत्ति-प्रमाणसे गृहस्थोंमें से भी किन्हीं-किन्हीं ईश्वरप्रसादवाले शुद्धात्माओंमें ज्ञान और ज्ञानयोगित्व मानना चाहिए। यदि ऐसा न माना जाय, तो प्राचीन वसिष्ठ, अगस्त्य, जनक, अश्वपति आदिमें और आधु-निक वाचस्पति, खण्डनकार आदिमें अनात्मज्ञत्वका प्रसङ्ग हो जायगा। 'तव अथातः' इस सूत्रमें स्थित

साधनवैधुर्येऽपि श्रवणादिना ज्ञानसिद्धावथशब्दस्याऽऽनर्थक्यं स्यादिति चेत्, न; तेषामपि जन्मान्तरे शमदमसंन्यासादिसाधनवत्त्वस्योत्पन्नज्ञानेनाऽनुमीयमानत्वादथशब्दस्याऽर्थवत्त्वोपपत्तेः। न च शमदमसंन्यासाद्युत्तमसाधनवच्छ्रवणादिजन्यज्ञानेन तेषां तत्रैव मुक्तिसिद्धौ पुनर्जनिकथा कुत इति वाच्यम्; तादृक्साधनसंपत्तावपि तेषां प्रतिबन्धवशात्सम्यग्ज्ञानानुत्पत्तौ मोक्षासंभवाज्जन्मान्तरे तु तन्निवृत्त्या सम्यग्ज्ञानं योगनिष्ठा परमोपशान्तिरपि संभवति। 'क्रमाचस्याऽपि जायते' इति स्मृतिवाक्यशेषात्क्रमादाश्रमक्रमाज्जन्मक्रमाद्वा चित्तपरिपाकक्रमाद्वा तस्याऽप्याश्रमान्तरवतोऽपि ज्ञानं जायत इत्यर्थः। तर्हि तेषां व्युत्थानप्रसङ्ग इति न च वाच्यम्, विषयानुभावककर्मणा व्युत्थाननिरोधसंभवान्निरन्तरब्रह्मनिष्ठानां नित्यानन्दामृतरसपायिनां तेषां संन्याससाध्याभावाच्च। तर्हि विषयानुभूतेर्ब्रह्मानुभूतेश्च परस्परविरोधादेकाधिकरणत्वानुपपत्तिरिति न वक्तव्यम्। तद्दृष्ट्या विषयानुभूतेराभासत्वेन स्वप्नार्थवन्मिथ्यात्वोपपत्तेः। तर्हि व्यवहारलोपप्रसङ्ग इति चेत्, न; क्वचित्क्रियते क्वचिन्न क्रियते तेन तेषां सर्वमिथ्यात्वदर्शिनां प्रत्यवायाद्यनर्थाभावात् 'शौचमाचमनं स्नानं न तु चोदनया चरेत्। अन्यांश्च नियमाञ्ज्ञानी यथाऽहं लीलयेश्वरः॥' इति ज्ञानिनामीश्वरवद्विधितन्नियमभङ्गदोषाद्यभावस्मरणात्॥ ४२॥

'अथ' शब्दसे सूचित श्रवण-साधनोंके न रहनेपर भी श्रवण आदिसे ज्ञानके सिद्ध होनेपर अथ-शब्द अनर्थक हो जायगा, ऐसा कहो, तो वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि वे भी पिछले जन्ममें शम, दम, संन्यास आदि साधनोंसे युक्त थे, ऐसा उत्पन्न हुए ज्ञानसे अनुमान होता है, इसलिए अथशब्दका सार्थकत्व युक्त है। यदि कहो कि शम, दम, संन्यास आदि उत्तम साधनवाले श्रवण आदिसे उत्पन्न हुए ज्ञानसे उनकी उसी जन्ममें मुक्ति हो जायगी, फिर पुनर्जन्मकथा व्यर्थ है, तो यह नहीं कहना चाहिए, क्योंकि उस प्रकारकी साधनसम्पत्ति होनेपर भी प्रतिबन्धवश सम्यक् ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, अतः उनका मोक्ष न होनेसे दूसरे जन्ममें, तो उसकी निवृत्तिके द्वारा सम्यक् ज्ञान, योगनिष्ठा और परम उपशान्ति हो सकती है। 'क्रमसे उसको भी उत्पन्न होता है' इस स्मृति-वाक्यशेषसे क्रमसे यानी आश्रमके क्रमसे, जन्मके क्रमसे अथवा चित्तपरिपाकके क्रमसे उस दूसरे आश्रमवालेको भी ज्ञान उत्पन्न होता है, यह अर्थ है। तब तो उनके व्युत्थानका प्रसङ्ग आवेगा, यह भी नहीं कहना चाहिए, क्योंकि विषयके अनुभावक कर्मसे व्युत्थानका निरोध होता है और उन निरन्तर ब्रह्मनिष्ठ, नित्यानन्दामृतरस पीनेवालोंमें संन्यास-साध्यका अभाव है। तब विषयानुभव और ब्रह्मानुभवका परस्पर विरोध होनेसे उनकी एकाधिकरणता नहीं हो सकती, ऐसा यदि कहो, तो वह नहीं कहना चाहिए, क्योंकि उनकी दृष्टिसे विषयानुभव आभासरूप होनेसे स्वप्न पदार्थके समान मिथ्या है। तब व्यवहारके लोपका प्रसङ्ग होगा, ऐसा यदि कहो, तो वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि कहीं किया जाता है, कहीं नहीं किया जाता, इससे उन सम्पूर्ण मिथ्यात्व-दर्शियोंके लिए प्रत्यवाय आदि अनर्थ नहीं होते। 'शौच, आचमन, स्नान और अन्य नियम जैसे मैं ईश्वरलीलासे करता हूँ, वैसे ही ज्ञानी करे, विधिरूपसे नहीं' इस शास्त्रसे ज्ञानियोंके लिए

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥ ४३ ॥

हे कुरुनन्दन, ज्ञानवान् योगियोंके वंशमें जन्म लेकर वह योगी पूर्वजन्ममें अनुष्ठित श्रवणादिजन्य उस बुद्धियोगको (पिता आदिके उपदेशसे) प्राप्त करता है और उसके बाद फिर इस जन्ममें संसिद्धिके लिए प्रयत्न भी करता है ॥ ४३ ॥

'शिलोञ्छवृत्त्या परितुष्टचित्तो धर्मं महान्तं विरजं जुषाणः । मय्यर्पितात्मा गृह एव तिष्ठन्नतिप्रसक्तः समुपैति शान्तिम् ॥' इत्यादिवचनप्रामाण्याल्लक्षकोटिसंख्याकेषु गृहिष्वपि यः कश्चिदीश्वरप्रसादपात्रीभूतो गृहस्थो ज्ञानी ज्ञानयोगी च संभवति यतस्ततो ज्ञानिनामेव योगिनां गृहिणां गृहे योगभ्रष्टस्याऽऽशुयोगसिद्धये जन्माऽङ्गीकर्तव्यम् । इममेवाऽर्थं स्पष्टयितुमाह—तत्रेति ।

तत्र ज्ञानवतां योगिनां कुले जन्म लब्ध्वा स योगी पौर्वदेहिकं पूर्वस्मिन् देहे भवं पौर्वदेहिकं पूर्वजन्मन्यनुष्ठितश्रवणादिसंभवं ज्ञानिना योगवता च पित्रादिनोपदिष्टं तं बुद्धिसंयोगं यद्धर्मवान् पिता भवति तमेव धर्मं पुत्रायोपदिशति प्रायेण तदिदं लोकप्रसिद्धम् । यः प्राग्जन्मन्यनुष्ठितत्वादग्निवदन्तर्लीनात्मना स्थितः ब्रह्मविदा पित्रा वेदान्तवाक्यैर्व्यक्तीकृतस्तं बुद्धिसंयोगं बुद्धिर्ज्ञानं परावरैकत्वप्रवेदनलक्षणं तदेव समीचीनो योगो मुक्तिसिद्धौ परमोपायस्तं बुद्धिसंयोगं ज्ञानयोगं लभते प्राग्जन्म-

---

ईश्वरके समान विधि और उसके नियमके भङ्गसे दोषादिका लेप नहीं होता, ऐसा प्रतीत होता है ॥४२॥

शिल और उञ्छ वृत्तिसे परितुष्ट चित्तवाला, महान् पापरहित (वैराग्य) धर्मका सेवन करता हुआ, मुझमें अर्पित आत्मावाला तथा घरमें रह कर अतिप्रसक्त (आसक्त) न होनेवाला गृहस्थ शान्तिको प्राप्त होता है' इत्यादि वचनोंके प्रामाण्यसे यतः करोड़ों गृहस्थोंमें से कोई एक ही ईश्वरप्रसादका भाजन गृहस्थ ज्ञानी और ज्ञानयोगी होता है, इसलिए ज्ञानी एवं योगी गृहस्थोंके घरमें योगभ्रष्टका शीघ्र योगसिद्धिके लिए जन्म अङ्गीकार करना चाहिए, इसी अर्थको स्पष्ट करनेके लिए कहते हैं—'तत्र' इत्यादिसे ।

ज्ञानसम्पन्न योगियोंके कुलमें जन्म लेकर वह योगी पौर्वदेहिक—पूर्वदेहमें हुए पौर्वदेहिक यानी पूर्वजन्ममें अनुष्ठित श्रवणादिसे उत्पन्न—तथा ज्ञानी और योगी पिता आदि द्वारा उपदिष्ट उस बुद्धियोगको ('जिस धर्मवाला पिता होता है, उसी धर्मका वह पुत्रको प्रायः उपदेश देता है', यह लोकमें प्रसिद्ध है । जो पूर्वजन्ममें अनुष्ठित होनेसे अग्निके समान भीतर लीनस्वरूपसे स्थित है और ब्रह्मवित् पिता द्वारा वेदान्तवाक्योंसे प्रकट किया गया है, उस बुद्धिसंयोगको) (बुद्धि—परावरके एकत्वका ज्ञान—वही समीचीन योग है यानी मुक्तिकी सिद्धिका परम उपाय है, उस बुद्धियोगको) यानी ज्ञानयोगको प्राप्त करता है । पूर्वजन्ममें ही अनुबद्ध होनेसे थोड़ेसे उपदेश

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्माऽतिवर्तते ॥ ४४ ॥

संस्काररूपसे अवस्थित उसी पूर्वजन्मके अभ्याससे वह योगी हठात् योगनिष्ठामें प्रवृत्त होता है । परब्रह्मका जिज्ञासु भी शब्दब्रह्मका (वेदोपदेश और उससे प्रतिपादित कर्मका) अतिक्रमण कर श्रवण आदिमें प्रवृत्त होता है ॥४४॥

न्येवाऽनुबद्धत्वात् स्वरूपोपदेशेनैवाऽल्पकालेन प्राप्नोतीत्यर्थः । एतावन्मात्रेण पुमान् कृतार्थो न भवति, ज्ञानस्य सम्यक्त्वसंपादनेन विना, ततो मुमुक्षोस्तदवश्यं संपादनीयमिति सूचयितुमाह—**यतत इति** । ततः पित्रादेर्ज्ञानयोगलब्ध्यनन्तरं संसिद्धौ ज्ञानस्य सम्यक्त्वसिद्धिनिमित्तं भूयः पुनरस्मिञ्जन्मन्यपि यतते च प्रयत्नमपि करोति । यद्वा ततस्तस्मादेव संस्कारवेगादेव भूयोऽधिकतरं यतते च ज्ञानस्याऽप्रतिबद्धत्वसिद्धये पूर्ववन्नियमेन गुरूपदिष्टरीत्या नित्यं निरन्तरं च समाधिं करोतीत्यर्थः ॥ ४३ ॥

निरन्तरं समाध्यनुष्ठाने कारणमाह—**पूर्वाभ्यासेनेति** ।

हि यस्मात्कारणात्पूर्वाभ्यासेन पूर्वस्मिञ्जन्मनि श्रद्धया तीव्रमोक्षेच्छया अत्यन्तवैराग्येण च चिरकालं नित्यं निरन्तरं च नियमेन कृतो योऽभ्यासः संततसमाध्यावृत्तिस्तेनैव संस्कारात्मना बुद्धिस्थेनाऽभ्यासवेगेन सर्वाणि कर्माणि विधिना त्याजयित्वा स योगभ्रष्टो यतिः स्वयमवशोऽप्यनिच्छन्नपि ह्रियते बलात्कारेण योगनिष्ठायामेव स्थाप्यते न तु कर्मनिष्ठायां नैव विषयभोगनिष्ठायां च तस्मादेव संसिद्धि-

---

थोड़े ही कालमें प्राप्त कर लेता है, यह अर्थ है । ज्ञानका सम्यक्त्व सम्पादन किये बिना इतने मात्रसे ही पुरुष कृतार्थ नहीं होता, इसलिए मुमुक्षुको ज्ञानका सम्यक्त्व अवश्य सम्पादन करना चाहिए, ऐसा सूचन करनेके लिए कहते हैं—**यतत इति** । पीछे (पिता आदि द्वारा ज्ञानयोगको प्राप्त करनेके पीछे) संसिद्धिके लिए—ज्ञानकी सम्यक्त्वसिद्धिके निमित्त—फिर—इस जन्ममें—भी यत्न करता है और प्रयत्न भी करता है । अथवा पीछे इस संस्कारके वेगसे ही अधिकतर यत्न करता है यानी ज्ञानका अप्रतिबद्धत्व सिद्ध करनेके लिए पूर्वके समान नियमसे गुरु द्वारा उपदिष्ट रीतिसे नित्य निरन्तर समाधि ही करता है, यह अर्थ है ॥ ४३ ॥

नित्यनिरन्तर समाधिके अनुष्ठानमें कारण कहते हैं—**'पूर्वाभ्यासेन'** इत्यादिसे ।

यतः पूर्वके अभ्याससे (पूर्वजन्ममें श्रद्धा, तीव्र मोक्षकी इच्छा और अत्यन्त वैराग्यसे चिरकाल तक नित्य और निरन्तर नियमसे किया गया जो अभ्यास—सतत समाधिकी आवृत्ति है, उससे) यानी संस्कारस्वरूप बुद्धिस्थ अभ्यासके वेगसे सब कर्मोंका विधिसे त्याग कर वह योगभ्रष्ट यति स्वयं इच्छा न करते हुए भी खींचा जाता है—बलात्कारसे योगनिष्ठामें ही स्थापित किया जाता है, कर्मनिष्ठामें और भोगनिष्ठामें नहीं, इसलिए संसिद्धिके निमित्त

निमित्तं भूयः पूर्वस्मादधिकतरं यतते चेति पूर्वेणाऽन्वयः। ननु 'अहरहः संध्यामुपासीत', 'उदिते सूर्ये प्रातर्जुहोति', 'दर्शपौर्णमासाभ्यां यजेत', 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति', 'श्रौतं चाऽपि तथा स्मार्तं कर्माऽऽलम्ब्य वसेद्विजः। तद्विहीनः पतत्येव ह्यालम्बरहितान्धवत्' इत्यादिश्रुतिस्मृत्युपदेशमनादृत्यैव ब्राह्मणः सन्, श्रौतं स्मार्तं च कर्म सर्वं सन्न्यस्याऽयं कथं योगनिष्ठायामेव प्रवर्तेत इत्याशङ्कायाम्, 'जन्मान्तरसहस्रेषु बुद्धिर्या भाविता पुरा। तामेव भजते जन्तुरुपदेशो निरर्थकः॥' इति न्यायेन जन्मान्तरे कर्मी चेत् कर्मरतो धर्मी चेद्धर्मरतः पापी चेत् पापरतो भक्तश्चेद्भक्तिरतो ज्ञानी चेज्ज्ञानरतो योगी चेद्योगरतो भवति स्वस्वसंस्कारानुरूपेण। नैवोपदेशतत्परो भवति विना संस्कारेण जनस्तथैवाऽयमपि वेदशास्त्रादिकं सर्वमधीत्य तदर्थं च विचार्य 'न कर्मणा न प्रजया' इत्यादिश्रुतिवाक्यैः कर्मणो मोक्षासाधनत्वं निश्चित्य प्राक्तनज्ञानयोगाभ्याससंस्कारवेगात् कर्म वैदिकं च सर्वं संन्यस्य ब्रह्मनिष्ठायामेव तिष्ठतीति किमु वक्तव्यम्। मुमुक्षुरपि सर्वं कर्म संन्यस्य श्रवणादावेव वर्तत इत्याह—जिज्ञासुरिति। योगस्य श्रवणादिसंजातविज्ञानवन्तं योगिनं स्वभावं ब्रह्मभावं योजयति गमयतीति योगो निर्विशेषः परमात्मा परं ब्रह्म तस्य योगस्य जिज्ञासुस्तत्स्वरूपं ज्ञातुमिच्छुर्जिज्ञासुर्मुमुक्षुरपि मोक्षैककामनया शब्दब्रह्म वेदस्तं तदुपदेशं तत्प्रतिपाद्यं

पहलेसे भी अधिकतर यत्न करता है, ऐसा पूर्व श्लोकसे संबन्ध है। यदि कहो कि 'प्रतिदिन संध्या करे', 'सूर्यका उदय होनेपर हवन करे', 'दर्शपौर्णमासका यजन करे', 'जबतक जीवे, तबतक अग्निहोत्र करे', 'ब्राह्मण श्रौत और स्मार्त कर्मका अवलम्बन कर बसे, उससे रहित आलम्बनशून्य अन्धेके समान गिरता ही है' इत्यादि श्रुति और स्मृतियोंके उपदेशका अनादर करके श्रौत और स्मार्त सब कर्मोंका त्याग कर ब्राह्मण होकर यह योगनिष्ठामें कैसे प्रवृत्त हो सकता है, ऐसी शङ्का होनेपर 'हजारों पिछले जन्मोंमें पहले जो भावित बुद्धि रहती है, उसीको जीव भजता है, उपदेश निरर्थक है' इस न्यायसे पिछले जन्ममें अपने संस्कारोंके अनुसार कर्मी हो तो कर्मरत, धर्मी हो तो धर्मरत, पापी हो तो पापरत, भक्त हो तो भक्तिरत, ज्ञानी हो तो ज्ञानरत और योगी हो योगरत होता है, 'मनुष्य संस्कारके बिना उपदेशमें तत्पर नहीं होता, तथा यह भी वेदशास्त्र आदिको पढ़कर और उनके अर्थका विचार कर 'न कर्मसे, न प्रजासे' इत्यादि श्रुतिवाक्योंसे, कर्म मोक्षका साधन नहीं है, ऐसा निश्चय करके पूर्वके ज्ञानयोगके अभ्यासके संस्कारोंके वेगसे कर्मोंका (वैदिक और अन्य सबका) त्याग कर ब्रह्मनिष्ठामें ही स्थित रहता है, इस विषयमें तो कहना ही क्या। मुमुक्षु भी सम्पूर्ण कर्मोंका त्याग कर श्रवण आदिमें ही प्रवृत्त होता है, ऐसा कहते हैं—जिज्ञासुरिति। योगका (श्रवण आदिसे उत्पन्न हुए *विज्ञानवाले योगीको स्वभावमें—ब्रह्मभावमें जो जोड़ता है—प्राप्त कराता है, वह योग—परमात्मा परब्रह्म,* उस योगका) जिज्ञासु यानी मुमुक्षु भी केवल मोक्षकी कामनासे *शब्दब्रह्मका* (वेदका), उसके उपदेशका और उसमें प्रतिपादित कर्मका उल्लङ्घन करता

प्रयत्नाद् यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ ४५ ॥

निरन्तर नियमसे संसिद्धिके लिए यत्न कर रहा और अज्ञान तथा उसके कार्य-रूप पापसे रहित यति अनेक जन्मोंमें ज्ञानवान् होकर तदुपरान्त विदेहमुक्तिको प्राप्त होता है ॥ ४५ ॥

कर्म चाऽतिवर्तते । 'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति' 'वेदानिमं लोकममुं च परित्यज्याऽऽत्मानमन्विच्छेत्' इत्यादिश्रुतिस्मृतिबलाज्जिज्ञासुरपि वेदं वेदोक्तं कर्म च सर्वं संन्यस्य श्रवणादावेव प्रवर्तत इत्यर्थः ॥ ४४ ॥

योगविषये तीव्रमोक्षेच्छावैराग्याभ्यां कृताधिकतरप्रयत्नस्य यतेः फलमाह—प्रयत्नादिति ।

प्रयत्नात् समाधौ प्रकृष्टो यत्नः प्रयत्नस्तस्मात् संसिद्धयै यतमानस्तत्परतया नित्यं निरन्तरं च नियमेन समाधिनिष्ठां कुर्वाणस्तु कालान्तरफलसिद्धेर्मन्दप्रयत्नाद्भिक्षोरेनं व्यावर्तयितुं तुशब्दः । प्रकृष्टप्रयत्नस्तीव्रमोक्षेच्छुर्योगी ब्रह्मविद् यतिः संशुद्धकिल्बिषः निरन्तरसमाधिनिष्ठया सम्यक् शोधितं निर्यापितं किल्बिषमज्ञानतत्कार्यलक्षणं यस्य सः संशुद्धकिल्बिषः । निःशेषविनिष्टबाह्यवासनातत्कार्यकामकर्मफलः सन्ननेकजन्म-संसिद्धः अनेकेष्वेकव्यतिरिक्तेषु कपिञ्जलाधिकरणन्यायेन बहुवचनस्य त्रित्वे पर्यव-सानादेकद्वित्रिषु जन्मसु संसिद्धः संसिद्धिः सम्यग्दर्शनं तद्वान् संसिद्धोऽप्रतिबद्ध-

---

है । 'इसी आत्मलोककी इच्छा करनेवाले संन्यासी गार्हस्थ्यका त्याग कर देते हैं', 'वेदोंका, इस लोकका और परलोकका त्याग कर आत्माका ही अनुसन्धान करे' इत्यादि श्रुति और स्मृतिके बलसे जिज्ञासु भी वेद और वेदोक्त सम्पूर्ण कर्मका त्याग कर श्रवण आदिमें ही प्रवृत्त होता है, यह अर्थ है ॥ ४४ ॥

योगके विषयमें तीव्र मोक्षेच्छा और वैराग्यसे अधिकतर प्रयत्न करनेवाले यतिका फल कहते हैं—'प्रयत्नात्' इत्यादिसे ।

प्रयत्नसे (समाधिमें प्रकृष्ट यत्न प्रयत्न, उससे) संसिद्धिके लिए यतमान—तत्पर होकर नित्य-निरन्तर नियमसे समाधिनिष्ठा करनेवाला—तो (कालान्तरमें फल प्राप्त करनेवाले, मन्दप्रयत्नवाले भिक्षुसे इसको विलक्षण बतलानेके लिए 'तु' शब्द है, प्रकृष्ट प्रयत्न करनेवाला, तीव्र मोक्षेच्छु योगी—ब्रह्मवित् यति—संशुद्धकिल्बिष (निरन्तर समाधिनिष्ठासे भली भाँति शुद्ध हो गया है—चला गया—है अज्ञान और अज्ञानका कार्यरूप किल्बिष जिसका, वह संशुद्धकिल्बिष—बाह्य वासना और उनका कार्य काम और कर्मफल जिसका, ऐसा संशुद्धकिल्बिष होकर अनेकजन्म-संसिद्ध—अनेक—एकसे अधिक (कपिञ्जल-अधिकरणन्यायसे बहुवचनका तीनमें पर्यवसान होनेसे एक दो तीन) जन्मोंमें संसिद्ध—ससिद्धि (सम्यक्दर्शन) से युक्त—अप्रतिबद्ध

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ ४६ ॥

हे अर्जुन, योगी चान्द्रायण आदि तपके अनुष्ठान करनेवालोंसे, मीमांसा आदि शास्त्रोंका ज्ञान रखनेवालोंसे तथा अग्निहोत्र आदि कर्मोंका अनुष्ठान करनेवाले कर्मियोंसे भी अत्यन्त श्रेष्ठ है, अतः तुम योगी होओ ॥ ४६ ॥

विज्ञानो निःशेषविनष्टभेदप्रत्ययो भूत्वा ततस्तेन सम्यग्दर्शनेनैव परां परमपुरुषार्थभूतां गतिं स्वात्मनाऽधिगम्यत इति गतिः स्वस्वरूपभूता परमावस्था तां विदेहमुक्तिं याति । निर्विशेषनित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यपरमानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मना स्वेन रूपेण तिष्ठतीत्यर्थः । एतेन तीव्रमोक्षेच्छोर्यतेः श्रवणमनननिदिध्यासनसमाधिषु क्रियान्तरानवकाशेनाऽधिकतरप्रयत्नेन भवितव्यमल्पप्रयत्नस्य तु चिरतरेणैव कालेन मुक्तिरिति सूचितं भवति ॥ ४५ ॥

यतः शमदमसंन्यासाद्युत्तमसाधनसंपत्तिमताऽधिकतरप्रयत्नसमनुष्ठितसमाधिनिष्ठासंभावितार्द्वैतविज्ञानवतैव योगिना प्राप्यो भवति मोक्षस्ततस्तस्याऽद्वैतविज्ञानवत एव योगिनोऽन्यसाधनानुष्ठातृभ्य आधिक्यमाह—तपस्विभ्य इति ।

तपस्विनस्तापसाः कृच्छ्रचान्द्रायणादिपञ्चाग्निमध्यस्थत्वादितपोनिरता मुमुक्षवस्तेभ्यो योगी उक्तलक्षणो ब्रह्मवियतिरधिको भवति । तपसा कल्मषं हन्तीति स्मरणात्तेषां तपसः पापनिवृत्त्येकप्रयोजनवत्त्वेनाऽल्पफलत्वात्तेभ्योऽल्पप्रयोजनवद्भ्यः प्राज्ञा-

---

विज्ञानवाला यानी निःशेष विनष्टभेदप्रत्ययवाला होकर, तदनन्तर उस सम्यग्दर्शनसे ही परा (परम पुरुषार्थरूप) गतिको (अपने आपसे जो प्राप्त की जाती है, वह गति—स्वरूपभूता परमावस्था, उसको) यानी विदेहमुक्तिको प्राप्त होता है । निर्विशेष, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य, परमानन्द तथा अद्वितीय ब्रह्मस्वरूपसे (अपने स्वरूपसे) स्थित होता है, यह अर्थ है । इससे यह सूचित होता है कि तीव्रमोक्षेच्छु यतिको श्रवण, मनन, निदिध्यासन और समाधिमें दूसरी क्रियाको अवकाश न देकर अधिकतर प्रयत्न करना चाहिए, अल्प प्रयत्न करनेवालेकी तो चिरतर कालमें (बड़ी देरमें) मुक्ति होती है ॥ ४५ ॥

जिस कारणसे शम, दम, संन्यास आदि उत्तम साधन सम्पत्तिवाले तथा अधिकतर प्रयत्नसे अनुष्ठित समाधिनिष्ठासे सम्भावित अद्वैतविज्ञानवाले योगीको ही मोक्ष प्राप्त होता है, इसलिए इस अद्वैतविज्ञानवाले योगीको अन्य साधनोंका अनुष्ठान करनेवालोंसे बढ़कर कहते हैं—'तपस्विभ्यो०' इत्यादिसे ।

तपस्वियोंसे (कृच्छ्र-चान्द्रायण आदि, पञ्चाग्निके मध्यमें बैठने आदि तपोंमें निरत मुमुक्षुओंसे) उक्त लक्षणवाला योगी ब्रह्मवित् यति अधिक है । 'तपसे कल्मष नष्ट करते हैं' इस स्मरणसे, उनके तपका एकमात्र पापकी निवृत्ति फल होनेसे, वह अल्प फलवाला है, इसलिए उन

पत्यादिलोकगामिभ्यो ज्ञाननिष्ठया पुनरावृत्तिनिर्मुक्तविदेहमुक्तिपथगामी ब्रह्मविदुत्तमोऽधिको भवतीत्यर्थः। ज्ञानिभ्यो मीमांसादिशास्त्रार्थविद्भ्योऽप्यधिक उत्तमो मतः संमतः। तेषां शास्त्रार्थज्ञानस्य धर्मानुष्ठानानुष्ठापनैकप्रयोजनत्वेनाऽल्पफलकत्वात्। यद्यपि 'यस्तु व्याकुरुते वाचं यस्तु मीमांसते गिरम्। तावुभौ पुण्यकर्माणौ पङ्क्तिपावनपावनौ ॥' इति तेषां पुण्यकर्मत्वं पावकत्वं च विद्यते, तथापि तेन पुण्यलोकप्राप्तिः पुनरावृत्तिरप्यस्त्यतस्तेभ्य उक्तलक्षणो योग्येवाऽधिको भवति। किञ्च, कर्मिभ्योऽग्निहोत्रादिवैदिककर्मनिष्ठेभ्यश्च योग्येवाऽधिको भवति। यद्यपि 'अपाम सोममममृता अभूम' इति, 'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति' इति कर्मिणाममृतत्वं सुकृतस्याऽक्षय्यत्वं च श्रूयते, तथापि तस्याऽग्निष्टोमादिपुण्यकर्मापेक्षयाऽक्षय्यत्वं न तु स्वाभाविकं तथैवाऽमरत्वं च मर्त्यापेक्षया पुनःपुनर्मरणराहित्यं न तु मुक्तिः। यतः 'नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति' इति कर्मिणां पुनरावृत्तिः श्रूयते। ततः कर्मिभ्यश्च निरुक्तलक्षणो योग्येवाऽधिक उत्तमो भवति। चकार उक्तेभ्योऽनुक्तेभ्यः सांख्ययोगादिमतनिष्ठेभ्यः सर्वेभ्यो ज्ञाननिष्ठो ब्रह्मविदेव श्रेष्ठ इति ज्ञापनार्थः। यस्मादेवं तस्मान्मुमुक्षुश्चेत्त्वं योगी भव। हे अर्जुन, योगनिष्ठाजनितसम्यग्ज्ञानबलेन पुनरावृत्तिरहितं ब्राह्मं पदं विदेहकैवल्याख्यं प्राप्स्यसीत्यर्थः॥४६॥

अल्प प्रयोजनवालोंसे यानी प्राजापत्य आदि लोकोंको प्राप्त करनेवालोंसे ज्ञाननिष्ठा द्वारा पुनरावृत्तिरहित विदेहमुक्तिके मार्गमें जानेवाला ब्रह्मवित् अधिक—उत्तम—है, यह अर्थ है। ज्ञानियोंसे—मीमांसा आदि शास्त्रार्थके जाननेवालोंसे भी—अधिक (उत्तम) माना गया है, क्योंकि उनके शास्त्रार्थज्ञानका प्रयोजन केवल धर्मानुष्ठान करना और कराना ही है, अतः उसका फल अल्प है। यद्यपि 'जो वाणीको प्रकट करता है और जो वाणीको विचारता है, वे दोनों पुण्यकर्मवाले और पङ्क्तिपावनोंको भी पावन करनेवाले हैं' इस वचनसे उनमें पुण्यकर्मवत्ता और पवित्रकारिता दोनों विद्यमान हैं, तथापि उससे पुण्यलोककी प्राप्ति और पुनरावृत्ति भी है, इसलिए उनकी अपेक्षा उक्त लक्षणवाला योगी ही उत्तम है। और कर्मियोंसे—अग्निहोत्र आदि वैदिक कर्मनिष्ठोंसे—भी योगी उत्तम है। यद्यपि 'हमने सोम पिया, अतः हम अमृत हुए हैं' इससे और 'चातुर्मास्य यज्ञ करनेवालोंका पुण्य अक्षय्य ही होता है', इससे कर्मियोंकी अमरता और उनके पुण्यकी अक्षय्यता सुननेमें आती है, तो भी उसमें अग्निष्टोम आदिकी अपेक्षा अक्षय्यत्व है, स्वाभाविक नहीं है। इसी प्रकार अमृतत्व भी मर्त्यकी अपेक्षा पुनःपुनः मरणराहित्यरूप है, मुक्ति नहीं है, क्योंकि 'स्वर्गके पृष्ठपर वे पुण्यका अनुभव करके इस लोकमें अथवा इससे हीनतर लोकमें प्रवेश करते हैं' इससे कर्मियोंकी पुनरावृत्ति सुननेमें आती है, इसलिए कर्मियोंसे उक्त लक्षणवाला योगी अधिक-उत्तम—है। चशब्द कहे गये और न कहे गये सांख्य, योग आदिके मतमें निष्ठावाले सबसे ज्ञाननिष्ठ ब्रह्मवित् ही श्रेष्ठ है, यह दिखलानेके लिए है। यतः ऐसा है, इसलिए यदि तुम मुमुक्षु हो, तो योगी होओ। हे अर्जुन, तुम योगनिष्ठाजन्य सम्यक् ज्ञानके बलसे पुनरावृत्तिरहित विदेहकैवल्यनामक ब्रह्मपदको प्राप्त होओगे, यह अर्थ है ॥४६॥

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनाऽन्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥ ४७ ॥

श्रद्धावान् होकर जो पुरुष परब्रह्ममें अनुगत अन्तःकरणसे सदा मेरा अनुसन्धान करता है, वह सम्पूर्ण योगियोंमें श्रेष्ठतम है, ऐसा मेरा मत है ॥ ४७ ॥

विदेहमुक्तेरसाधारणकारणसम्यग्ज्ञानसिद्ध्यै समाधिनिष्ठायामधिष्ठितवतो योगिनः परमपुरुषार्थसाधकत्वात्तापसादिभ्योऽधिकत्वं प्रतिपाद्येदानीं सर्वदा समाध्यनुष्ठानाभावे श्रवणश्रावणकोट्याऽपि सम्यक् ज्ञानं न सिध्यति । तदभावे विदेहमुक्तिश्च । ततो मुमुक्षोर्यतेरवश्यं समाधिः कर्तव्य इति ज्ञापयितुं तस्य समाधिश्रमाद् बाह्यतो देशकालमूलबन्धासननियमादिश्रमरहितं समाधिं सूचयितुमिच्छया तन्निष्ठावन्तं स्तौति—**योगिनामिति ।**

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'सर्वं ह्येतद् ब्रह्म', 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' इत्यादिश्रुतिशतैः, 'सोऽहं च त्वं स च सर्वमेतत्', 'भूतानि विष्णुर्भुवनानि विष्णुः', 'वासुदेवः सर्वम्' इत्यादिस्मृतिसहस्रैः, इदं सर्वं ब्रह्मैव, ब्रह्मविवर्तत्वाद्, मरुजलवदित्यादियुक्तिकोटिभिश्च निर्धारितेऽर्थे सर्वस्य ब्रह्ममात्रत्वे श्रद्धावान् श्रद्धा नाम विपरीतभावनाराहित्येनोक्तार्थानुवृत्तबुद्धिवृत्तिविशेषस्तद्वानेव सन् यो मुमुक्षुर्ब्रह्मविद्यतिर्मद्गतेन श्रुतं दृष्टं स्पृष्टं मतं विज्ञातं च सर्वं ब्रह्मैवेति विपरीतप्रत्ययराहित्येन पूर्वोक्तश्रुतिस्मृति-

---

विदेहमुक्तिके असाधारण कारण सम्यक् ज्ञानकी सिद्धिके लिए समाधिनिष्ठामें स्थित रहनेवाले योगी परम पुरुषार्थकी साधक है, अतः तापस आदिकी अपेक्षा उसकी उत्तमताका प्रतिपादन करके अब सर्वदा समाधिके अनुष्ठान बिना करोड़ोंवार श्रवण या श्रावण करनेपर भी सम्यग् ज्ञान सिद्ध नहीं होता और उसके बिना विदेहमुक्ति सिद्ध नहीं होती, इसलिए मुमुक्षु यतिको समाधि अवश्य करनी चाहिए, यह बतलानेके लिए उसकी समाधिश्रमसे भिन्न यानी देश, काल, मूलबन्ध, आसन नियम आदि श्रमसे रहित समाधिका सूचन करनेकी इच्छासे समाधिनिष्ठावालेकी स्तुति करते हैं—**'योगिनामपि'** इत्यादिसे ।

'यह सब निश्चय ब्रह्म है', 'सभी यह ब्रह्म है', 'ब्रह्म ही यह सब है' इत्यादि सैकड़ों श्रुतियोंसे, वह 'मैं और तुम यह सब वह है', 'भूत विष्णु हैं, भुवन विष्णु हैं', 'सब वासुदेव है' इत्यादि हजारों स्मृतियोंसे तथा यह सब ब्रह्मका विवर्त होनेसे ब्रह्म ही है, मरुजलके समान, इत्यादि सैकड़ों युक्तियोंसे निर्धारित अर्थमें—सम्पूर्ण ब्रह्ममात्र है, इसमें—श्रद्धावान् (विपरीत भावनारहित उक्त अर्थमें अनुवृत्त बुद्धिवृत्तिविशेषका नाम श्रद्धा है, उस वृत्तिसे युक्त) होकर जो मुमुक्षु ब्रह्मवित् यति मद्गत—सुना हुआ, देखा हुआ, छुआ हुआ, माना हुआ और जाना हुआ सब ब्रह्म ही है, इस प्रकार विपरीत प्रत्ययसे रहित पूर्वोक्त श्रुति, स्मृति और युक्तियोंसे निर्धारित

युक्तिभिर्निर्धारिते सच्चिदानन्दैकरसे मय्यद्वितीये परे ब्रह्मणि गतेन बहिरन्तः सर्वत्र मत्सत्तानुवर्तिनाऽन्तरात्मना चेतसा निरुक्तलक्षणं मां भजते सर्वमिदमहं च ब्रह्मैवेति स्वं जगच्च सर्वं ब्रह्मैव पश्यति। आहारविहारशयनासनादिषु सर्वास्ववस्थासु च वृत्त्यन्तररहिततया सर्वदा मामेव परमात्मानं स्वात्मना योऽनुसंधत्त इत्यर्थः। योगिनां विराड्हिरण्यगर्भेश्वराद्युपासकानां सर्वेषामपि। पञ्चम्यर्थे षष्ठी। योगिभ्यः सर्वेभ्य इत्यर्थः। स एव युक्ततमः। यतो विराडाद्युपासका योगिनस्त्वविद्यापटलव्यवहित-दृष्टयोपास्योपासकादिभेदमालम्ब्य विराडाद्युपासते। अयं तु श्रवणादिजन्यज्ञाना-ग्निनिर्दग्धद्वैतभ्रमपटलो भूत्वा स्वस्य च सर्वस्य जगतश्च ब्रह्ममात्रत्वमेव पश्यति। तत एव युक्ततमो योगी श्रेष्ठ इति मे ममेश्वरस्य मतोऽभिमत इत्यर्थः। एतेन यो ब्रह्मवित्तेन सर्वदा ब्रह्मनिष्ठयैव स्थातव्यमिति बोधितं भवति। प्रत्यग्दृष्ट्या वृत्त्यन्तरराहित्येन सर्वस्य ब्रह्ममात्रत्वदर्शनमेव सुकरः समाधिरिति सूचितं च॥ ७॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमदानन्दात्मसरस्वतीशिष्यश्रीशङ्करानन्द-सरस्वतीकृतौ गीतातात्पर्यबोधिन्यां षष्ठोऽध्यायः॥ ६॥

मुझ सच्चिदानन्दैकरस अद्वितीय परब्रह्ममें गत—बाहर भीतर सर्वत्र मेरी सत्ताके अनुवर्ती—अन्त-रात्मासे (चित्तसे) मुझ निरुक्त लक्षणवालेको भजता है—सब यह और मैं ब्रह्म ही हूँ, इस प्रकार अपनेको और सब जगत्को ब्रह्म ही देखता है। आहार, विहार, शयन, आसन आदिमें और सब अव-स्थाओंमें दूसरी वृत्तिसे रहित सर्वदा मुझ परमात्माका ही जो अनुसन्धान करता है, यह अर्थ है। योगियोंसे—विराट्, हिरण्यगर्भ, ईश्वर आदिके उपासक सबसे—भी। पञ्चमीके अर्थमें षष्ठी है। सब योगियोंसे, यह अर्थ है। वही उत्तम योगी है। क्योंकि विराड् आदिके उपासक योगीकी तो अविद्यापटलसे व्यवहित दृष्टि है, अतः वह उपास्य, उपासक आदि भेदका आलम्बन करके विराड् आदिकी उपासना करता है। यह तो श्रवणादिजन्य ज्ञानरूप अग्निसे निर्दग्धद्वैतभ्रमपटल होकर अपनेको और सम्पूर्ण जगत्को ब्रह्ममात्र देखता है। इसीलिए युक्ततम (श्रेष्ठ योगी) है, ऐसा मुझ ईश्वरका मत है, अभिमत है, यह अर्थ है। इससे यह बोधित होता है कि जो ब्रह्मवित् है, उसको सर्वदा ब्रह्मनिष्ठासे ही रहना चाहिए। प्रत्यग्-दृष्टि द्वारा दूसरी वृत्तिसे रहित होकर सबमें ब्रह्ममात्रत्वदर्शन ही सुकर समाधि है, यह भी सूचित होता है॥ ४७॥

इति यतिवर श्रीभोलेबाबाविरचित गीताशङ्करानन्दीभाषानुवादमें छठा अध्याय समाप्त

सप्तमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ १ ॥

भगवान्‌ने कहा—हे पार्थ, मुझमें मन लगा कर, मेरा आश्रयण कर योगानुष्ठान करनेवाले तुम संशयके बिना जिस प्रकारसे मेरा साक्षात्कार करोगे, उस प्रकारको सुनो ॥ १ ॥

पूर्वं षष्ठाध्यायेन ज्ञानयोगमारुरुक्षोः कर्मैव साधनं तस्यैव योगमारूढस्य सर्वकर्मसंन्यासः साधनमिति कर्मतत्संन्यासयोः क्रमाच्चित्तशुद्धिं ज्ञानयोगसिद्धिं प्रति च कारणत्वं प्रतिपाद्य योगं साङ्गं सलक्षणं च निरूप्य योगभ्रष्टस्य नाशशङ्कामपास्य यो ब्रह्मवित्तेन सदा ब्रह्मनिष्ठयैव स्थातव्यमित्युक्तम् । इदानीं यन्निष्ठया ब्रह्मवित्तिष्ठति तद् ब्रह्म कीदृशं किंलक्षणं कथं वा तेन तत्र स्थातव्यमित्याशङ्कायां तन्निरूपयितुं सप्तमाध्याय आरभ्यते । तत्राऽऽदौ ईश्वरैकशरणतया शुश्रूषुणा मोक्षार्थिना श्रोतव्यार्थे सावधानेन भवितव्यमिति ज्ञापयितुमर्जुनं मदाश्रयो मन्मनाश्च भूत्वा मयोच्यमानमर्थं सावधानतया शृण्विति बोधयितुं श्रीभगवानुवाच—**मयीति** ।

हे पार्थ, त्वं योगं 'तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्' इत्युक्तलक्षणं

पहले छठे अध्यायसे ज्ञानयोगमें आरूढ़ होनेकी इच्छावाले पुरुषके लिए कर्म ही साधन है, योगमें आरूढ हुए उसी पुरुषके लिए सर्वकर्मसंन्यास साधन है, इस प्रकार कर्म और कर्मसंन्यास दोनों क्रमसे चित्तशुद्धि और ज्ञानयोगसिद्धिके कारण हैं, ऐसा प्रतिपादन किया, अनन्तर साङ्ग और सलक्षण योगका निरूपण किया, तदनन्तर योगभ्रष्टके विनाशकी शङ्काको दूर कर, जो ब्रह्मवित् है, उसको सदा ब्रह्मनिष्ठासे ही स्थित रहना चाहिए, ऐसा कहा । अब जिस ब्रह्मकी निष्ठासे ब्रह्मवित् स्थित रहता है, वह ब्रह्म किस प्रकारका है, उसका क्या लक्षण है, ब्रह्मवित्‌को उसमें कैसे स्थित रहना चाहिए ? ऐसी आशङ्का होनेपर उसका निरूपण करनेके लिए सप्तम अध्यायका प्रारम्भ किया जाता है । उसमें सर्वप्रथम केवल ईश्वरकी ही शरण लेकर सुननेकी इच्छावाले मुमुक्षुको श्रोतव्य अर्थमें सावधान रहना चाहिए, यह बतलानेके लिए तथा अर्जुनके प्रति मेरे आश्रित होकर और मुझमें मन लगाकर कहे जानेवाले अर्थको सावधान होकर सुनो, ऐसा बोधन करनेके लिए श्रीभगवान् बोले—**'मयि'** इत्यादिसे ।

हे पार्थ, योगका यानी 'दुःखके संयोगके वियोगको योग जानो' इत्यादि कहे गये

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ २ ॥

मैं तुम्हें विज्ञानके साथ इस अपरोक्ष ज्ञानका सम्पूर्णरूपसे उपदेश दूँगा, जिसके जान लेनेपर इस विषयमें फिर कुछ भी ज्ञातव्य अवशिष्ट नहीं रहता ॥२॥

युञ्जन् युयुक्षन् कर्तुमिच्छन्, मदाश्रयः अहमेव सर्वात्मा सर्वान्तर्यामी भक्तत्राणपरायणः परमेश्वर आश्रय आलम्बनं शरणं यस्य स मदाश्रयः । यथा स्वर्गकाम्यग्निहोत्रादिकर्माश्रयः यथा वा जयैषी शस्त्रास्त्रादिसाधनाश्रयो भवति तथा मुमुक्षुर्योगी मदाश्रयः 'ईश्वरानुग्रहादेव पुंसामद्वैतवासना' इति स्मरणात् मदाश्रयेण खलु मुमुक्षोर्ज्ञानं तत्साधनपौष्कल्यं मोक्षश्च निर्विघ्नेन सिध्यत्यतस्त्वं मदाश्रयः सन् मयि वक्ष्यमाणलक्षणे ज्ञातव्ये परे ब्रह्मण्येवाऽऽसक्तमनाः मल्लक्षणमत्तत्त्वमन्महत्त्वविचारतदवगमतन्निश्चयादावेवाऽऽसक्तं संलग्नं मनो यस्य स मय्यासक्तमना भूत्वा न त्वन्यत्राऽऽसक्तमनाः सन् मां मायया तद्गुणतद्धर्मतच्छक्तितद्वैभवोपलक्षितं वस्तुतस्तद्रहितं च परमात्मानं प्रतिपाद्यमानमसंशयं संशयं विना समग्रं साक्षात्कारपर्यवसानं यथा येन प्रकारेण ज्ञास्यसि इदं खलु परं तत्त्वमिति ज्ञातुं शक्नुयास्तथा वक्ष्यामि शृणुष्वेत्यर्थः ॥ १ ॥

यदुपदेक्ष्यामीति प्रतिज्ञातं तद्वेदनमेवाऽऽह—ज्ञानमिति ।

अहं ते तुभ्यं ज्ञानं मद्विषयकं इदमधुना वक्ष्यमाणं सविज्ञानं विज्ञानसहित-

---

लक्षणवाले योगका अनुष्ठान करनेकी इच्छावाले तुम मदाश्रय होकर (सबका आत्मा, सबका अन्तर्यामी, भक्तरक्षणपरायण मैं परमेश्वर ही जिसका आश्रय—आलम्बन—यानी शरण हूँ, वह मदाश्रय है । जैसे स्वर्गकामीके अग्निहोत्र आदि कर्म आश्रय हैं अथवा जैसे जयकी इच्छावाले पुरुषके शस्त्र, अस्त्र आदि आश्रय हैं, वैसे ही मुमुक्षु योगीका मैं आश्रय हूँ, जैसे कि स्मृति है—'ईश्वरके अनुग्रहसे ही पुरुषोंको अद्वैतवासना होती है ।' मेरे आश्रयसे ही मुमुक्षुका ज्ञान, ज्ञानके साधनोंका बाहुल्य और मोक्ष निर्विघ्न सिद्ध होता है, इसलिए तुम मेरे आश्रित होकर) तथा मुझमें—आगे कहे जानेवाले लक्षणोंसे युक्त ज्ञातव्य परब्रह्ममें—ही आसक्त मनवाले (मेरे लक्षण, मेरे तत्त्व, मेरे महत्त्वके विचार, उनके जानने और उनके निश्चय आदिमें ही जिसका मन आसक्त—संलग्न—है, ऐसे मुझमें आसक्त मनवाले) होकर यानी मनको अन्यत्र न लगाकर मुझको—माया, उसके गुण, उसके धर्म, उसकी शक्ति, उसके वैभवसे उपलक्षित और वस्तुतः उनसे रहित प्रतिपाद्यमान परमात्माको—संशयके बिना समग्र—साक्षात्कारपर्यन्त—जिस प्रकारसे जानोगे—यही परमतत्त्व है, ऐसा जान सकोगे—उस प्रकारसे उसे मैं कहूँगा, तुम सुनो, यह अर्थ है ॥ १ ॥

जिस ज्ञानका उपदेश करनेके लिए प्रतिज्ञा की थी, उसी ज्ञानको कहते हैं—'ज्ञानम्' इत्यादिसे ।

मैं तुम्हें अपने ज्ञानका, जो अब कहा जायगा, विज्ञानसहित (उपदेशके अनन्तर ही क्षणमें

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ ३ ॥

हजारों मनुष्योंमें से कोई विरला ही ज्ञानकी सिद्धिके लिए यत्न करता है और उन ज्ञानसिद्धिके लिए यत्न करनेवाले सिद्ध मनुष्योंमें से कोई एक-आध ही मुझ परमात्माको यथार्थरूपसे जान पाता है ॥ ३ ॥

मुपदेशोत्तरक्षणभाव्यनुभवसंयुक्तमशेषतः यावता वस्त्वनुभूयते तावदशेषं वक्ष्याम्युपदेक्ष्यामि । यज्ज्ञात्वा मयोपदिष्टं यज्ज्ञानं प्राप्येह ब्रह्मविषये तव भूयः पुनर्ज्ञातव्यं प्राप्तव्यमन्यत्पुरुषार्थसाधनं नाऽवशिष्यते नाऽपेक्ष्यते । अनेनैव कृतार्थो भविष्यसीत्यर्थः । यद्वा, जगद्गुरुरेषोऽहं ते मुमुक्षवे शुद्धात्मने तुभ्यं ज्ञानं 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति श्रवणाज्ज्ञानैकस्वरूपमिदं विद्वद्भिः प्रत्यक्षेणाऽनुभूयमानमहमर्थत्वेन साक्षादपरोक्षमिति वा इदंतया निर्दिष्टं ब्रह्म सविज्ञानमनुभवसहितं तदनुभवो यथा स्यात्तथाऽशेषतः समग्रं वक्ष्याम्युपदेक्ष्यामि । यज्ज्ञात्वा यत्साक्षादनुभूय । यस्मिन्विज्ञात इत्यर्थः । इह भूयः पुनर्न विज्ञातव्यं वस्त्ववशिष्यते । 'येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्' इति, 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' इत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानश्रवणान्मयि परे ब्रह्मणि विज्ञाते न विदुषः पुनर्ज्ञेयान्तरावशेषो विद्यते । मत्तत्त्वज्ञो यः स सर्वज्ञो भवतीत्यर्थः ॥ २ ॥

नन्वहमर्थत्वे ब्रह्मणः कथं तज्ज्ञानं ब्रह्मैवाहमिति सर्वत्र नोपलभ्यत इति चेत्,

---

होनेवाले अनुभवसे सहित) अशेषसे—जितनेसे वस्तुका अनुभव हो जाय, उतनेका सम्पूर्णरूपसे—उपदेश करूँगा, जिसको जानकर—मेरे द्वारा उपदिष्ट जिस ज्ञानको प्राप्त कर—ब्रह्मके सम्बन्धमें तुम्हारे लिए फिर ज्ञातव्य—प्राप्तव्य—अन्य पुरुषार्थसाधन अवशिष्ट नहीं रहेगा—अपेक्षित नहीं होगा । इसीसे ही कृतार्थ हो जाओगे, यह अर्थ है । अथवा जगद्गुरु यह मैं तुम्हारे लिए—शुद्ध मनवाले मुमुक्षुके लिए—ज्ञानका—'सत्य, ज्ञान, अनन्त ब्रह्म' इस श्रुतिसे, 'केवल ज्ञानस्वरूप' इस—प्रत्यक्षरूपसे विद्वानोंके अनुभवमें आनेवाले अहंके अर्थरूपसे साक्षात् अपरोक्ष अथवा इदन्त्वरूपसे निर्दिष्ट ब्रह्मका सविज्ञान—अनुभवसहित—जैसे उसका अनुभव हो, वैसे अशेष—समग्ररूपसे—उपदेश करूँगा । जिसको जानकर—जिसका साक्षात् अनुभव करके यानी जिसका विज्ञान होनेपर, यह अर्थ है । यहाँ फिर विज्ञातव्य वस्तु शेष नहीं रहती । 'जिससे अश्रुत श्रुत हो जाता है, अज्ञात ज्ञात और अननुभूत अनुभूत हो जाता है, 'भगवन्, किसको जान लेनेपर यह सब ज्ञात हो जाता है' इत्यादिसे एकके विज्ञानसे सबका विज्ञान श्रुतिमें सुना जाता है, इसलिए मुझ परब्रह्मको जान लेनेपर फिर विद्वान्‌को जानने योग्य दूसरा कुछ नहीं रहता । जो मेरे तत्त्वका जाननेवाला होता है, वह सर्वज्ञ हो जाता है, यह अर्थ है ॥ २ ॥

यदि ब्रह्मका अहम् (मैं) अर्थ होगा, तो 'ब्रह्म ही मैं हूँ' इस प्रकार ब्रह्मज्ञानका उपलम्भ

सत्यम्; नोपलभ्यते यद्यपि 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' इति श्रुत्याऽप्युच्यते ब्रह्मणः साक्षाद्परोक्षत्वं तथाप्यनेकजन्मार्जितपुण्यपुञ्जसमुद्भावितचित्तपरिपाकसमुत्पन्नविवेकवैराग्यशमदमसंन्यासाद्युत्तमसाधनवतामेव परमेश्वरानुग्रहपात्रीभूतानां श्रवणमननादिभिस्तज्ज्ञानं सिध्यति न तु मलिनचित्तानामीश्वरकृपादूरवर्तिनां कामानलदंदह्यमानानां सर्वगताऽप्यर्कप्रभा यथाऽन्धानामत एव स्वज्ञानं दुर्लभमित्याह—**मनुष्याणामिति।**

मनुष्याणां सहस्रेषु। मनुष्याणामिति मनुष्यत्वग्रहणं तदितरेषां बन्धमोक्षज्ञानाभावसूचनार्थम्। ततो मनुष्याणामेव बन्धमोक्षज्ञानशास्त्रतदर्थग्रहणाधिकार इति मनुष्यत्वं प्राप्तवतां तत्राऽपि ब्राह्मणत्वमवश्यं मोक्षाय यतितव्यमिति ज्ञापयितुं मनुष्याणामित्युक्तम्। तत्र मनुष्याणामपि पापपूरितदेहानां सर्वेषां मुक्त्ययोग्यत्वं सूचयितुं सहस्रेष्वित्युक्तम्। सहस्रेष्वित्ययुतनियुतलक्षाणामुपलक्षणम्। देवकृपैकलभ्याया मुमुक्षाया अतिदुर्लभत्वात्। एवमुक्तसंख्यावन्मनुष्येषु कश्चिदेव मोक्षैककामनया श्रद्धाभक्तिभ्यामीश्वरार्पणबुद्ध्या बहुजन्मसमनुष्ठितपुण्यकर्मपरिपाकेन शुद्धात्मा सन् विवेकवैराग्यशमदमाद्युत्तमसाधनसंपन्नो भूत्वा सिद्धये ज्ञानसिद्धये यतति यतते। नित्यनिरन्तरश्रवणादिनिष्ठया यत्नं करोतीत्यर्थः। अयमेव सिद्धो यस्य

सर्वत्र क्यों नहीं होता, ऐसी यदि शङ्का हो, तो ठीक है। यद्यपि वैसा उपलम्भ नहीं होता, क्योंकि 'जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है' इस श्रुतिसे भी ब्रह्मकी साक्षात् अपरोक्षता कही गई है, तथापि अनेक जन्मोंमें अर्जित पुण्यपुञ्जसे उत्पन्न होनेवाले चित्तके परिपाकसे जनित विवेक, वैराग्य, शम, दम, संन्यास आदि उत्तम साधनवाले तथा परमेश्वरके अनुग्रहके पात्रीभूत (भाजन) मनुष्योंको ही श्रवण, मनन आदिसे वह ज्ञान प्राप्त होता है, मलिनचित्तवाले, ईश्वरकी कृपासे रहित तथा कामरूप अग्निसे दग्ध पुरुषोंको प्राप्त नहीं होता, जैसे सर्वगत सूर्यका प्रकाश अन्धोंको प्राप्त नहीं होता, इसीलिए आत्मज्ञान दुर्लभ है, ऐसा कहते हैं—**'मनुष्याणाम्'** इत्यादिसे।

हजारों मनुष्योंमें इत्यर्थक 'मनुष्याणां सहस्रेषु' इस वाक्यमें 'मनुष्याणाम्' यों मनुष्यत्वका ग्रहण, मनुष्योंके सिवा दूसरोंको बन्धमोक्षके ज्ञानका अभाव है, यह सूचन करनेके लिए है इससे मनुष्योंको ही बन्धमोक्षज्ञानशास्त्रका और उसके अर्थको समझनेका अधिकार है, इसलिए मनुष्यत्व प्राप्त करनेवालोंको, उसमें भी ब्राह्मणत्व प्राप्त करनेवालोंको अवश्य ही मोक्षके लिए यत्न करना चाहिए, ऐसा बोधन करनेके लिए (मनुष्याणाम्) ऐसा कहा गया है। उन मनुष्योंमें भी पापपूरित देहवाले सबको मुक्तिकी योग्यता नहीं है, यह सूचन करनेके लिए (सहस्रेषु) ऐसा कहा है। 'सहस्रेषु' यह शब्द हजार, दश हजार, लाखोंका उपलक्षण है, क्योंकि केवल देवकी ही कृपासे प्राप्त होनेवाली मुमुक्षा अत्यन्त दुर्लभ है। इस प्रकार उक्त संख्यावाले मनुष्योंमें से कोई विरला ही केवल मोक्षकी कामनासे, श्रद्धाभक्तिसे, ईश्वरार्पणबुद्धिसे, अनेक जन्मोंमें अनुष्ठित पुण्यकर्मके परिपाकसे शुद्धचित्तवाला होकर, विवेक, वैराग्य, शम, दम आदि उत्तम साधनोंसे संपन्न होकर सिद्धिके लिए (ज्ञानसिद्धिके लिए) यत्न करता है। नित्य निरन्तर श्रवण आदि निष्ठासे यत्न करता है,

चित्तं दृष्टादृष्टसर्वविषयवैमुख्यं प्राप्य श्रवणादावेव तिष्ठति । एवमुक्तलक्षणसंपन्नानां ज्ञानसिद्ध्यै एव श्रवणाद्येकनिष्ठानां सिद्धानामपि सहस्रेषु कोटिपर्यन्तेषु कश्चिदेव गुर्वात्मेश्वरसुप्रसादसंपन्नो नित्यनिरन्तरनिर्विकल्पकसमाधिनिष्ठापरिश्रान्तो ब्रह्मविदुत्तमः वासुदेवः सर्वमिति साक्षान्मामानन्दैकरसं चिद्घनमद्वितीयं परं ब्रह्म वेत्ति विजानाति । ननु विष्णुमीश्वरं रामं कृष्णं च देवमनुष्यादयः सर्वे जानन्ति कथं कश्चिदेव मां वेत्तीत्युच्यत इति चेत् , न; ते मामयथाभूतस्वरूपमेव जानन्ति । स्वतो भिन्नं परिच्छिन्नम् , न तु यथार्थस्वरूपमित्याह—तत्त्वत इति । तत्त्वतः श्रुत्या 'एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्ये' इति दृश्यवैशिष्ट्यरहितत्वेन प्रतिपादितं मायातत्कार्यलेशसंबन्धशून्यं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावमानन्दैकतनुमद्वितीयं मां परं ब्रह्मविदुत्तम एक एव स्वात्मना साक्षाद्विजानाति नाऽन्य इत्यर्थः । एतेन वर्णानां ब्राह्मणादीनां सर्वेषां मुमुक्षुताया श्चित्तशुद्धेर्ज्ञानोद्देशेनैव नियतश्रवणादिप्रवृत्तेस्तत्समुत्पन्नसम्यग्ज्ञानसिद्धेश्च तदेकद्वारकमुक्तेरपि च पूर्वपूर्वापेक्षया क्रमेणोत्तरोत्तरस्याऽतिदुर्लभत्वं सूचितमतः प्रयत्नेनोक्तसाधनसंपत्त्या मुक्तिः संपादनीया विवेकवतामिति सिद्धम् ॥ ३ ॥

कीदृशं ब्रह्म किंलक्षणमिति पृष्टवते 'ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानम्' इति ब्रह्मणो ज्ञानस्वरूपत्वं लक्षणमित्युक्त्वेदानीं 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' इति, 'सर्वं

यह अर्थ है । वही सिद्ध होता है, जिसका कि चित्त दृष्ट एवं अदृष्ट सम्पूर्ण विषयोंसे विमुख होकर श्रवण आदिमें ही स्थित रहता है । इस प्रकार उक्त लक्षणोंसे संपन्न, ज्ञानसिद्धिके लिए ही केवल श्रवण आदिमें निष्ठा करनेवाले हजारों करोड़ों सिद्धोंमें भी कोई एक विरला ही गुरु, आत्मा और ईश्वरके प्रसादसे संपन्न नित्य निरन्तर निर्विकल्पक समाधिनिष्ठासे परिश्रान्त ब्रह्मविदुत्तम, 'वासुदेव सब है' इस प्रकार साक्षात् मुझको—आनन्दैकरस, चिद्घन, अद्वितीय परब्रह्मको—जानता है—अनुभव करता है । यदि शङ्का हो कि विष्णु, ईश्वर, राम और कृष्णको देवता, मनुष्य आदि सब जानते हैं, ऐसी अवस्थामें मुझे कोई एक विरला ही जानता है, ऐसा आप कैसे कहते हैं, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि वे अपनेसे भिन्न परिच्छिन्न मेरे अयथाभूत स्वरूपको ही जानते हैं, यथार्थस्वरूपको नहीं, ऐसा कहते हैं—'तत्त्वतः' इति । तत्त्वसे—श्रुति द्वारा 'इस अदृश्य अनात्म्यमें' इस प्रकार दृश्यविशिष्टतासे रहितरूपसे प्रतिपादित माया, मायाके कार्यलेशके संबन्धसे शून्य, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव आनन्दैकमूर्ति अद्वितीय मुझ परमको ब्रह्मविदुत्तम एक ही अपने आत्मरूपसे साक्षात् जानता है, अन्य नहीं, यह अर्थ है । इससे ब्राह्मण आदि सब वर्णोंकी मुमुक्षुताका, चित्तशुद्धिका, ज्ञानके उद्देश्यसे ही नियत श्रवण आदिमें प्रवृत्तिका और उससे उत्पन्न हुए सम्यक् ज्ञानकी सिद्धिका, केवल उन्हींके द्वारा ही होनेवाली मुक्तिका भी पूर्व पूर्वकी अपेक्षासे उत्तरोत्तर अतिदुर्लभ होना सूचित किया, इसलिए विवेकसम्पन्न पुरुषोंको प्रयत्न करके उक्त साधनसंपत्तिसे मुक्तिका संपादन करना चाहिए ॥ ३ ॥

ब्रह्म कैसा है ? उसका क्या लक्षण है ? ऐसा पूछनेवालेके प्रति 'मैं तुमसे विज्ञानसहित ज्ञान', इससे ब्रह्मका ज्ञानस्वरूपत्व लक्षण है, ऐसा कहकर अब 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः',

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥

मेरी अनादि अपरोक्ष माया पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहङ्कारके भेदसे आठ प्रकारकी है ॥ ४ ॥

खल्विदं ब्रह्म' इत्यादिश्रुत्यर्थावष्टम्भेन ब्रह्मकार्यत्वात्तद्विवर्तत्वाच्च जगत्सर्वं ब्रह्मैवेति बोधयितुं निर्विकारस्याऽपि स्वस्य ब्रह्मणः प्रकृतिद्वारा जगत्कारणत्वसिद्धये आदावपरां प्रकृतिं निर्दिशति—**भूमिरिति** ।

भूमिर्गन्धतन्मात्रलक्षणा कारणात्मिका सूक्ष्मा न तु स्थूला कार्यात्मिका । भिन्ना प्रकृतिरष्टधेति भूम्यादीनामष्टानामपि प्रकृतित्वाभिधानात् । 'महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त' इति महदादिभूम्यन्तानां सप्तानामपि विकृतित्वस्मरणात्कथं प्रकृतित्वमिति न शङ्कनीयम्, तासामिह जगदारम्भकत्वात्प्रकृतित्वोपपत्तेः । तथैवाऽऽपोऽपि रसतन्मात्राः अनलो रूपतन्मात्रः वायुः स्पर्शतन्मात्रः खमाकाशं शब्दतन्मात्रं मन इति संकल्पविकल्पयोरहंकारप्रधानत्वात् तदात्मकेन मनसा तत्कारणमहङ्कारो गृह्यते । बुद्धिरिति शब्देन सर्वसमष्टिर्महत्तत्त्वं लक्ष्यते । अहङ्कार इत्यहङ्कारवासनाविशिष्टमविद्यात्मकमव्यक्तमुच्यते, बीजे शाखापर्णपुष्पादिवासनावदव्यक्ते सर्वकारणे महदादिसर्वविकारवासनासंभवात् । 'कारणगुणा हि कार्यगुणानारभन्ते' इति न्यायात् इयं

('वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इस श्रुतिसे यह जगत् ब्रह्मरूप ही है, उससे अतिरिक्त नहीं है), इससे तथा 'यह सब निश्चय ब्रह्म है' इत्यादि श्रुतियोंके अर्थके अवलम्बनसे ब्रह्मका कार्य और विवर्त होनेसे सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म ही है, ऐसा बोधन करनेके लिए निर्विकार ब्रह्ममें भी प्रकृतिके द्वारा जगत्कारणत्वको सिद्ध करनेके लिए पहले अपरा प्रकृतिका निर्देश करते हैं—'भूमिः' इत्यादिसे ।

भूमि यानी गन्धतन्मात्रलक्षणवाली कारणस्वरूप सूक्ष्म पृथ्वी, न कि कार्यात्मक स्थूल पृथ्वी, क्योंकि 'भिन्ना प्रकृतिरष्टधा' इससे भूमि आदि आठोंमें प्रकृतित्वका प्रतिपादन किया गया है । 'महत् आदि सात प्रकृति और विकृति हैं' इससे महत्से लेकर भूमितक सातोंमें विकृतित्वका स्मरण होनेसे उनमें प्रकृतित्व कैसे है ? ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि उनमें जगदारम्भकत्व होनेसे प्रकृतित्वका कथन है । तथा जल भी रसतन्मात्र, तेज रूपतन्मात्र, वायु स्पर्शतन्मात्र, खम् (आकाश) शब्दतन्मात्र, मनःशब्दसे सङ्कल्प और विकल्प दोनोंमें अहङ्कारकी प्रधानता है, अतः सङ्कल्प-विकल्पात्मक मनसे मनके कारण अहङ्कारका ग्रहण किया जाता है । बुद्धि, इस शब्दसे सबका समष्टि महत्तत्त्व लक्षित होता है । अहंकार इससे अहंकारवासनासे विशिष्ट अविद्यात्मक अव्यक्त कहलाता है । क्योंकि बीजमें शाखा, पत्ते, पुष्प आदिकी वासनाके समान सर्वकारण अव्यक्तमें महदादि सम्पूर्ण विकारोंकी वासनाका संभव है । 'कारणके गुण ही कार्यके गुणोंका आरम्भ करते हैं' इस न्यायसे केवल कार्यसे ही ज्ञात होनेवाली यह प्रकृति स्वयं पूर्वोक्त

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥

हे महाबाहो, यह पूर्वोक्त प्रकृति अपरा है, इससे अन्य मेरी जीवरूपा श्रेष्ठ प्रकृतिको भी तुम जानो, जिसके द्वारा यह सारा जगत् धारण किया जाता है ॥५॥

प्रकृतिः कार्यैकवेद्या स्वयमुक्तप्रकारेणाऽष्टधा भिन्ना मे मम परमात्मनो निर्गुणस्याऽपि स्वगुणद्वारा गुणित्वे सृष्ट्यादिकारणत्वे च हेतुरुपाधिः । सैषैव माया, 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' इति श्रुतेः । यत्कार्यमेतन्मरुमरीचिकाकल्पं जगज्जालमिति ॥ ४ ॥

एवं सृष्ट्यादिहेतोः प्रकृतेरष्टधा स्वरूपं निरूप्य एतस्या एव प्रकृत्यन्तराद् भिन्नत्वं नाम च वदन् तामपि प्रकृतिं निर्दिशति—**अपरेयमिति** ।

या पूर्वोक्ता प्रकृतिः सेयमपरा नाम्ना चाऽपरा परप्रकृतेर्भिन्ना निकृष्टा च, अनृतत्वाज्जडत्वाद् दुःखात्मकत्वादशुद्धत्वात्पुरुषाधीनत्वात् तद्वेद्यत्वाद् ज्ञानेन तन्निवर्त्यत्वाच्च तदपेक्षया निकृष्टत्वम् । पराया अपराविलक्षण्यद्योतनार्थस्तुशब्दः । इत उक्तायाः प्रकृतेरन्यां भिन्नां विलक्षणां च परां शुद्धत्वेन तदुपजीव्यत्वेन सत्तास्फूर्तिप्रदत्वेन च श्रेष्ठाम् । 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते' इति प्रसिद्धां मे प्रकृतिं जीवभूतां क्षेत्रज्ञरूपां विद्धि विजानीहि । यया क्षेत्रज्ञरूपया परया प्रकृत्याऽन्तरङ्गस्थया जगदिदं धार्यते सर्वत्र देहेन्द्रियादिरूपं जगज्जीवेन खलु धार्यते । अहं ममेत्यभिमानेन तोषण-

---

रीतिसे आठ प्रकारके भेदको प्राप्त हुई मेरे—मुझ निर्गुण परमात्माके—अपने गुणोंके द्वारा गुणी होने और सृष्टि आदिका कारण होनेमें हेतु (उपाधि) है । वही यह माया है, क्योंकि 'मायाको तो प्रकृति जाने' ऐसी श्रुति है । जिसका कार्य मरुमरीचिकाके समान यह जगज्जाल है ॥ ४ ॥

इस प्रकार सृष्टि आदिके हेतु प्रकृतिके आठ प्रकारके स्वरूपका निरूपण करके इसी प्रकृतिकी दूसरी प्रकृतिसे भिन्नता और नाम कहते हुए उस प्रकृतिका भी निर्देश करते हैं—'अपरेयम्' इत्यादिसे।

जो पूर्वोक्त प्रकृति है, वह अपरा यानी अपरा नामवाली है, परा प्रकृतिसे भिन्न है और निकृष्ट है, क्योंकि यह अनृत, जड़ और दुःखस्वरूप है, अशुद्ध है, पुरुषके अधीन है, वेद्य है और ज्ञानसे निवृत्त हो जाती है, इसलिए उसकी अपेक्षासे निकृष्ट है । परा प्रकृतिमें अपरा प्रकृतिकी विलक्षणता दिखलानेके लिए तुशब्द है। इस कही गई प्रकृतिसे अन्य—भिन्न—विलक्षणको परा जानो—शुद्ध होने, अपरा प्रकृतिकी उपजीव्य होने और सत्तास्फूर्ति देनेवाली होनेसे श्रेष्ठ जानो 'उस परमात्माकी परा शक्ति अनेक प्रकारकी सुनी जाती है' इससे प्रसिद्ध मेरी क्षेत्रज्ञरूप (जीवभूत) प्रकृतिको जानो । जिस अन्तरङ्गस्थ क्षेत्रज्ञरूप परा प्रकृतिसे यह जगत् धारण किया जाता है—सर्वत्र देह, इन्द्रिय आदिरूप जगत् जीवसे ही धारण किया जाता है । मैं, मेरा रूप

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥

ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त सम्पूर्ण भूत इन दो प्रकृतियोंसे ही उत्पन्न होकर अपनी सत्ताको प्राप्त करते हैं, ऐसा तुम जानो। सम्पूर्ण स्थूल-सूक्ष्मात्मक प्रपञ्चका मैं ही उपादान तथा निमित्त कारण हूँ ॥ ६ ॥

पोषणरक्षणादिक्रिया संपाद्यते। तथा बहिरपि घटोऽयं पटोऽयमिति सत्तास्फूर्तिप्रदानेन नामरूपादिभेदकल्पनया भोग्यत्वसंभावनया विनियोगेन च जगतो निर्वाहोऽप्यनेनैव क्रियत इत्यर्थः ॥ ५ ॥

उक्तस्य प्रकृतिद्वयस्य कार्यमाह—एतदिति।

एतन्निरुक्तलक्षणं प्रकृतिद्वयं योनिः कारणं येषां तानि एतद्योनीनि भवन्ति जन्मना सत्तां भजन्तीति भूतानि ब्रह्मादिस्तम्बान्तानि जङ्गमानि स्थावराणि च वृत्तवर्तमानवर्तिष्यमाणानि जनिमन्ति सर्वाण्यपीत्युपधारय। अवधारयेत्यर्थः। ननु त्वत्प्रकृत्योरेव जगत्कारणत्वे 'यतो वा इमानि भूतानि' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धं जगत्कारणत्वं तव कुत इत्याकाङ्क्षायां तत्कार्यं यज्जगज्जननं तन्मत्कार्यमेव भवति, मद्व्याप्त्या खलु तयोर्जगज्जननशक्तिर्न तु केवलयोः, यथा जीवव्याप्त्या देहस्य पुण्यपापक्रियाकरणशक्तिर्न तु केवलस्य। तथात्वे तस्यैव स्वर्गादिभोगप्रसङ्गात्तत्तदुपाधिकस्य जीवस्यैव तत्करणं यथा, तथैतद्द्वयोपाधिकस्य ममैव सर्वज्ञस्य सर्वजगज्जनकत्वम्। यतः

अभिमानसे तोषण, पोषण, रक्षण आदि क्रियाका संपादन किया जाता है, इसी प्रकार बाहर भी 'यह घट, यह पट', इस प्रकार सत्तास्फूर्ति देकर नाम, रूप आदि भेदकल्पनासे, भोग्यत्वकी संभावनासे और विनियोगसे जगत्‌का निर्वाह भी इसीसे किया जाता है, यह अर्थ है ॥ ५ ॥

उक्त दोनों प्रकृतियोंके कार्यको कहते हैं—'एतद्' इत्यादिसे।

ये उक्तलक्षणवाली दो प्रकृतियाँ जिनकी योनि (कारण) हैं, वे एतद्योनि हैं, जन्मसे सत्ताको प्राप्त करनेवाले भूत हैं। ब्रह्मासे लेकर स्तम्ब तक, जंगम और स्थावर, भूत, वर्तमान तथा भविष्यत् जन्मवाले सभी भूतोंकी जननी ये दो प्रकृतियाँ हैं, ऐसा समझो—अवधारण करो, यह अर्थ है। जब आपकी दोनों प्रकृतियाँ ही जगत्‌की कारण हैं, तो 'जिससे ये भूत उत्पन्न होते हैं' इत्यादि श्रुतियोंमें प्रसिद्ध आप जगत्‌के कारण कैसे हैं ? ऐसी आकांक्षा होनेपर उनका कार्य जो जगत्‌का जनन है, वह मेरा ही कार्य है, क्योंकि मेरी व्याप्तिसे ही उन दोनोंमें जगत्‌जननकी शक्ति है, केवल दोनोंमें नहीं है, जैसे जीवकी व्याप्तिसे देहमें पुण्य-पाप क्रिया करनेकी शक्ति है, केवल देहमें नहीं है। यदि केवल देहमें ही पुण्यपापकारिता मानी जाय, तो केवल देहको ही स्वर्गादिभोग प्राप्त होगा, इसलिए देहकी उपाधिवाले जीवकी ही जैसे पुण्यपापकारिता मानी जाती है, वैसे ही इन

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनञ्जय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७ ॥

हे धनञ्जय, मायारूप उपाधिसे विशिष्ट मेरे (परमेश्वरके) सिवा साङ्ख्य आदि सम्मत प्रकृति, परमाणु आदि कुछ भी कारण नहीं है । सूतमें जैसे मणियाँ गुँथी रहती हैं, वैसे ही अधिष्ठानभूत मुझमें यह सम्पूर्ण जगत् गुँथा है ॥ ७ ॥

'सोऽकामयत बहु स्याम्' इति ममैव बहुभवनसंकल्पः श्रूयते, ततोऽहमेव सर्वजगत्कारणमित्याह—अहमिति । कृत्स्नस्य स्थूलस्य सूक्ष्मस्य कारणस्य च सर्वस्य जगतोऽहमेव प्रभवः प्रभवत्यस्मादिति प्रभव उपादानम् । तथा प्रलयश्च उपसर्गवशात् प्रलीयते निष्पाद्यतेऽनेनेति प्रलयो निमित्तकारणं चोभयमप्यहमेवेत्यर्थः ॥ ६ ॥

केचिद् ब्रह्मणो व्यतिरिक्तं कारणं कल्पयित्वा जगतस्तत्कारणाधारत्वं श्रुतिविरुद्धं वर्णयन्ति तन्मतनिरासं कुर्वन् सर्वाधारोऽहमेवेत्याह—मत्त इति ।

मत्तः प्रकृत्युपाधिकात् सत्यादिलक्षणात् परमेश्वरात् परतरं कारणं सांख्यपरिकल्पितप्रधानशब्दवाच्यं नैयायिकपरिगृहीतपरमाणुलक्षणं वा अन्यद्वा किंचिदीषदपि नाऽस्ति, प्रकृत्यादीनां कारणत्वे प्रमाणाभावात् । 'यतो वा' इत्यादिश्रुतिरेव प्रमाणमिति चेत्, न; 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' इत्याद्यधिकरणजातेन जगत्कारणस्य चेतनत्वादिधर्मवत्त्वप्रतिपादनेन श्रुत्यर्थाविषयतया प्रकृत्यादेः कारणत्वस्य निरस्तत्वात् । 'यः सर्वज्ञः सर्व-

---

दो उपाधिवाले मुझ सर्वज्ञका ही सम्पूर्ण जगत्को उत्पन्न करना रूप कार्य है, क्योंकि 'उसने कामना की, मैं बहुत होऊँ' इससे मेरा ही बहुत होनेका संकल्प सुननेमें आता है, इसलिए मैं ही सम्पूर्ण जगत्का कारण हूँ, ऐसा कहते हैं—'अहम्' । कृत्स्नका—स्थूल, सूक्ष्म और कारण सम्पूर्ण जगत्का मैं ही प्रभव—उपादान—तथा प्रलय (उपसर्गवश प्रलय किया जाता है—निष्पादन किया जाता है—जिससे, वह प्रलय है) यानी निमित्त कारण दोनों मैं ही हूँ, यह अर्थ है ॥ ६ ॥

कोई ब्रह्मसे अन्यमें जगत्-कारणताकी कल्पना करके श्रुतियोंसे विरुद्ध जगत्के कारण और आधारका वर्णन करते हैं, उनके मतका खण्डन करते हुए सबका आधार मैं ही हूँ, ऐसा कहते हैं—'मत्तः' इत्यादिसे ।

मुझसे—प्रकृतिरूप उपाधिवाले, सत्य आदि लक्षणवाले परमेश्वरसे—परतर कारण सांख्यों द्वारा कल्पित प्रधान, नैयायिकों द्वारा स्वीकृत परमाणुरूप अथवा अन्य कुछ भी नहीं है, क्योंकि प्रकृति आदिके कारण होनेमें प्रमाण नहीं है । 'जिससे ये' इत्यादि श्रुति ही प्रमाण है, ऐसा कहो, तो 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' इत्यादि अधिकरणोंसे जगत्के कारणको चेतनत्व आदि धर्मवाला कहनेसे श्रुतिके अर्थका विषय न होनेसे प्रकृति आदिमें

विद्यस्य ज्ञानमयं तपः' इति, 'एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य', 'प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धत्वादहमेव चेतनः सर्वज्ञः सर्वजगत्कारणमित्यर्थः । किञ्च, 'कस्मिन्सर्वे सम्प्रतिष्ठिता भवन्ति' इत्युपक्रम्य श्रुत्या रसातलादिब्रह्मान्तान्सर्वलोकानपोह्य 'सर्वे लोका आत्मनि ब्रह्मणि मणय इवौताः प्रोताश्च' इति सर्वलोकानां सर्वात्मनि ब्रह्मण्येवौतप्रोतत्वप्रतिपादनाल्लोकानां प्रकृत्याद्याधारत्वं मिथ्या कर्तुमहमेव सर्वाधार इत्याह—मयीति । सूत्रे मणिगणा इव मय्येव स्वकारणे सर्वाधिष्ठाने ब्रह्मणीदं चराचरात्मकमव्याकृतादिस्थूलान्तं जगत्सर्वं प्रोतमनुगतं भवति । तन्तुषु पटवत् सूत्रे मणिगणवत् मत्सत्तामेवाऽनुवृत्य तिष्ठति न पृथग्विद्यत इत्यर्थः । ननु दृष्टान्ते तावदस्य मण्याधारसूत्रस्य तत्र प्रोतसौवर्णादिमणीनां च यथा भेदस्तथा त्वयि प्रोतस्य जगतस्तदाधारस्य च तवाऽपि भेदो युक्त एवेति चेत्, न; सूक्ष्मबुद्ध्या युक्त्या च विचार्यमाणे भेदादर्शनात् स्थूलबुद्धीनां सूत्रस्य मणीनां च भेदे प्रतीयमानेऽपि सूक्ष्मबुद्धीनां युक्त्या विचार्यमाणे सूत्रमणिगणयोराधाराधेययोर्द्वयोरपि भौतिकत्वेनैकत्वमेवाऽवगम्यते न तु भेदः । तत्र रूपव्यक्तिविशेषकृतो भेदो विद्यत एवेति चेत्, तस्य मूढव्यवहृत्यै कल्पितत्वेनाऽप्रामाणिकत्वाद्रूपत्वावच्छिन्न-

कारणत्वका निरास किया है। जो सर्वज्ञ है, सर्ववित् है, जिसका ज्ञानमय तप है', 'यह सबका ईश्वर है, यह सर्वज्ञ है, यह अन्तर्यामी है, यह सबका कारण है', 'भूतोंका उपादान और निमित्त' इत्यादि श्रुतियोंमें प्रसिद्ध होनेसे चेतन और सर्वज्ञ मैं ही सम्पूर्ण जगत्का कारण हूँ, यह अर्थ है। और भी 'किसमें सब स्थित होते हैं' ऐसा उपक्रम करके श्रुतिने रसातलसे लेकर ब्रह्मलोक तक सब लोकोंका बाध करके 'ब्रह्म आत्मामें सब लोक मणियोंके समान ओत-प्रोत हैं' इससे सब लोकोंका सबके आत्मा ब्रह्ममें ही ओत-प्रोत होना प्रतिपादन किया है, इसलिए प्रकृति आदिमें लोकोंकी आधारताको मिथ्या करनेके लिए मैं ही सबका आधार हूँ, ऐसा कहते हैं—मयीति । सूत्रमें मणिगणोंके समान मुझ जगत्के कारण, सबके अधिष्ठान ब्रह्ममें यह चर-अचररूप अव्याकृतसे लेकर स्थूलतक सम्पूर्ण जगत् ओत यानी अनुगत है यानी तन्तुमें पटके समान, सूतमें मणियोंके समान मेरी सत्तामें ही अनुवृत्त होकर स्थित है, भिन्न नहीं है, यह अर्थ है। यदि शङ्का हो कि दृष्टान्तमें तो इस मणियोंके आधारभूत सूतका और उसमें गुँथे हुए सुवर्ण आदि मणियोंका जैसे भेद है, वैसे आपमें गुँथे हुए जगत्का और उसके आधारभूत आपका भी भेद होना युक्त ही है, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि सूक्ष्मबुद्धिसे और युक्तिसे विचार करनेपर भेद प्रतीत ही नहीं होता, स्थूलबुद्धिवाले पुरुषोंको सूतमें और मणियोंमें परस्पर यद्यपि भेद प्रतीत होता है, तथापि सूक्ष्मबुद्धिवाले पुरुषोंको युक्तिसे विचार करनेपर आधार-आधेयरूप सूत्र और मणिगण दोनोंमें, भौतिकत्व होनेसे, एकत्व ही प्रतीत होता है, भेद नहीं। यदि शङ्का हो कि उनमें रूपव्यक्तिविशेषसे किया गया भेद है ही, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि वह तो मूढ़ोंके व्यवहारके लिए कल्पित है, अतः अप्रामाणिक है, कारण कि रूपत्वावच्छिन्न रूपकी

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभाऽस्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ ८ ॥

हे कौन्तेय, जलमें सारभूत रस मैं ही हूँ, चन्द्र और सूर्यमें प्रकाश भी मैं ही हूँ, सम्पूर्ण वेदोंमें ॐकार मैं ही हूँ, आकाशमें शब्द मैं हूँ, तथा मनुष्योंमें पौरुष भी मैं हूँ ॥ ८ ॥

रूपस्य सर्वत्रैकत्वे सिद्धे तद्विशेषस्यौपाधिकत्वेनाऽस्वाभाविकत्वान्मिथ्यात्वोपपत्तेः । चित्रपटेऽपि सर्वत्राऽनुगतरूपस्यैकत्वदर्शनात् भौतिकत्वसामान्यस्य सर्वानुगतत्वात्तद्विशिष्टस्य वस्तुन एकत्वोपपत्त्या सर्वमिदं भौतिकमिति सर्वत्र भौतिकैकप्रत्यये जाते तत्र व्यक्तिविशेषकल्पितप्रत्ययानुदयात् अयं समुद्र इत्यत्र तरङ्गफेनबुद्बुदादिप्रत्ययादर्शनात् प्रधाने गृहीतेऽप्रधानग्रहणस्याऽन्याय्यत्वाद्व्यक्तिविशेषकृतभेदासिद्धेः । यथैकस्या एव भूमेः स्वास्थ्यगृहादिकल्पनया भेदव्यवहारस्तथा भौतिकत्वेनैकत्वेऽपि सूत्रादौ सूत्रमिति मणिरिति भेदो व्यवहारायैव कल्पितो न वास्तवः । तथात्वे भौतिकत्वाभावप्रसङ्गात् भेदस्य निरूपयितुमशक्यत्वाच्च तदेकत्वमेवाऽभ्युपगन्तव्यं यथा दृष्टान्ते तथैव दार्ष्टान्तिकेऽपि ब्रह्मजगतोरप्येकत्वमेवाऽङ्गीकर्तव्यम् । अन्यथा 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' इत्याद्यद्वैतप्रतिपादकश्रुतिविरोधप्रसङ्गादित्यर्थः ॥ ७ ॥

तस्मादेव 'यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्या-

---

सर्वत्र एकता होनेके कारण रूपविशेषके उपाधिप्रयुक्त होनेसे उसमें स्वाभाविकता नहीं है, अतः वह मिथ्या ही है । चित्रपटमें भी सर्वत्र अनुगत रूपके एकत्वका अनुभव होता है, इसलिए भौतिकत्व सामान्यके सबमें अनुगत होनेके कारण उससे विशिष्ट वस्तुमें भी एकत्व मानना युक्त है, अतः 'ये सब भौतिक हैं', यों सर्वत्र केवल भौतिकप्रत्ययके होनेपर उसमें व्यक्तिविशेष द्वारा कल्पित प्रतीतिका उदय नहीं होता, क्योंकि 'यह समुद्र है' इस प्रतीतिमें तरङ्ग, फेन, बुद्बुद आदि प्रत्यय देखनेमें नहीं आते, इससे प्रधानका ग्रहण होनेपर अप्रधानका ग्रहण करना अनुचित होनेके कारण व्यक्तिविशेषसे सम्पादित भेद सिद्ध नहीं होता । जैसे एक ही भूमिका, उसमें स्थित गृहादिकी कल्पनासे, भेदव्यवहार होता है, वैसे ही भौतिकत्वरूपसे एकत्व होनेपर भी सूत्र आदिमें यह सूत्र है, यह मणि है, ऐसा भेद व्यवहारके लिए कल्पित है, वास्तव नहीं है । यदि ऐसा माना जाय, तो भौतिकत्वके अभावका प्रसङ्ग होगा और भेदका निरूपण करना अशक्य होगा, इससे एकत्व ही समझना चाहिए । जैसे दृष्टान्तमें वैसे ही दार्ष्टान्तिकमें भी ब्रह्म और जगत्के एकत्वका ही अङ्गीकार करना चाहिए । अन्यथा 'ब्रह्म ही यह सब है', इत्यादि अद्वैतका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियोंसे विरोध होगा, यह अर्थ है ॥ ७ ॥

इसीसे 'जो अग्निका लाल रूप है, वह तेजका रूप है, जो श्वेत है, वह जलका और जो

पागादग्नेरग्नित्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्' 'यदादित्यस्य रोहितं रूपम्' इत्यादिश्रुत्युक्तप्रकारेण रसप्रभाप्रणवादिरूपेणाऽबादेः कारणात्मना तिष्ठतः स्वस्मात्पृथगबर्कादीनां सत्ताभावं प्रतिपादयति स्वाभिन्नत्वसिद्धये—**रसोऽहमिति** ।

अहमप्सु रसोऽस्मि रसरूपेण तिष्ठाम्यतो रसात्मके मयि स्वकारणे आपः प्रोता मदात्मना मदेकसत्ताः सत्यो मयि तिष्ठन्ति । मृत्कार्यस्य घटस्य मृदात्मना मृद्यवस्थानं प्रत्यक्षसिद्धं तद्वन्न तु पृथग्विद्यन्त इत्यर्थः । तथा शशिसूर्ययोरहं प्रभाऽस्मि तत्कारणप्रभारूपेण तयोस्तिष्ठामि । ततस्तदात्मके स्वकारणे मयि तौ प्रोतौ मदेकसत्ताकौ भूत्वा तौ मदात्मना मय्येव विद्येते न तु मत्तः पृथगित्यर्थः । सर्ववेदेषु ऋगादिष्वहं प्रणवोऽस्मि ॐकाररूपेण तिष्ठामि । प्रणवात्मके मयि स्वकारणे सर्वे वेदाः प्रोता मदेकसत्ताका भूत्वा मयि प्रणवे तिष्ठन्तीत्यर्थः । खे व्योम्न्यहं शब्दोऽस्मि तत्कारणशब्दरूपेण तिष्ठामि । तदात्मके मयि स्वकारणे खं प्रोतं ततो मदेकसत्ताकं सत् मदात्मना मयि तिष्ठति । नृषु पुरुषेष्वहं पौरुषमस्मि अहं पौरुषं पुरुषभावः पुंलक्षणं येनाऽयं पुमानिति ज्ञायते तदात्मके मयि पुरुषाः प्रोताः मदेकसत्तया मदभिन्नाः सन्तो मयि तिष्ठन्तीत्यर्थः ॥ ८ ॥

काला है, वह अन्नका (पृथ्वीका) है, अग्निका अग्नित्व गया, विकार वाणीसे आरब्ध नाममात्र है, तीन ही रूप सत्य हैं', 'जो आदित्यका लाल रूप है' इत्यादि श्रुतियोंमें कहे गये प्रकारसे, रस, प्रभा, प्रणव आदिरूपसे, जल आदिके कारणस्वरूपसे स्थित हुए अपनेसे भिन्न जल, सूर्य आदिकी सत्ताके अभावका अपने अभेदकी सिद्धिके लिए प्रतिपादन करते हैं—'**रसोऽहम्**' इत्यादिसे ।

मैं जलोंमें रस हूँ—रसरूपसे स्थित हूँ, इसलिए अपने कारण रसात्मक मुझमें जल प्रोत हैं—मेरे स्वरूपसे—मेरी एक सत्तावाले होकर मुझमें स्थित हैं। जैसे मिट्टीके कार्य घटका मिट्टीस्वरूपसे स्थित होना प्रत्यक्षसिद्ध है, वैसे ही अपने कारणरूपसे वे स्थित हैं, न कि पृथक् हैं, यह अर्थ है। तथा चन्द्र, सूर्यमें मैं प्रभा हूँ, उनके कारण प्रभारूपसे उन दोनोंमें स्थित हूँ। इसलिए उनके कारण तथा स्वरूपभूत मुझमें वे दोनों प्रोत हैं, केवल मेरी सत्तासे युक्त होकर मेरे स्वरूपसे मुझमें ही विद्यमान हैं, न कि भिन्न हैं, यह अर्थ है। सम्पूर्ण वेदोंमें—ऋगादिमें—मैं प्रणव हूँ—ॐकाररूपसे स्थित हूँ। प्रणवस्वरूप मुझ अपने कारणमें सम्पूर्ण वेद प्रोत हैं, मेरी सत्तासे युक्त होकर प्रणवरूप मुझमें स्थित हैं, यह अर्थ है। आकाशमें मैं शब्द हूँ—उसके कारण शब्दरूपसे स्थित हूँ। शब्द स्वरूप अपने कारणभूत मुझमें आकाश प्रोत है, इसलिए केवल मेरी ही सत्तासे युक्त होकर मेरे स्वरूपसे मुझमें स्थित है। नरोंमें—पुरुषोंमें मैं पौरुष हूँ, पौरुष—पुरुषभाव यानी पुरुषलक्षण, जिससे यह पुरुष है, ऐसा ज्ञात होता है, उस पौरुषस्वरूप मुझमें पुरुष प्रोत हैं—केवल मेरी सत्तासे मुझसे अभिन्न होकर मुझमें स्थित हैं, यह अर्थ है ॥ ८ ॥

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चाऽस्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चाऽस्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥

पृथ्वीमें मैं मनोहर गन्ध हूँ, अग्निमें मैं तेज हूँ, सम्पूर्ण प्राणियोंमें मैं जीवन हूँ और तपस्वियोंमें मैं तप हूँ ॥ ९ ॥

किञ्च, पुण्यो गन्ध इति । पृथिव्यां चाऽहं पुण्यो गन्धोऽस्मि पुण्यो मनोहरश्च शुद्धश्च । गन्धस्य मनोहरत्वशुद्धत्वोक्तिरबाकाशादिकारणभूतरसशब्दादीनामुपलक्षणार्थम् । पञ्चानामपि पृथिव्यादिकारणानां गन्धरसादीनां वास्तवं यन्मनोहरत्वं शुद्धत्वं तद्योगिप्रत्यक्षम् । दुष्टत्वं तु कार्यद्रव्यान्तरसंसर्गादेव जायते भोक्तृकर्मानुरूपेण न तु स्वभावतोऽस्ति । यो मनोहरः शुद्धो गन्धस्तेन रूपेण पृथिव्यां तिष्ठामि । गन्धात्मके स्वकारणे मयि पृथिवी प्रोता गन्धात्मके मयि गन्धमयात्मना तिष्ठतीत्यर्थः । विभावसावग्नावहं तेजोऽस्मि तेजःस्वरूपे स्वकारणे मय्यग्निः प्रोतः मत्सत्तया तेजोमयो भूत्वा मदभिन्नः सन् मदात्मना तेजःस्वरूपे मयि तिष्ठतीत्यर्थः । सर्वेषु भूतेषु प्राणिष्वहं जीवनमस्मि । जीवनं जीवनकारणमन्नादिस्तेन रूपेण भुक्तान्नरसात्मना प्राणिषु तिष्ठामि । ततस्तेऽन्नरसात्मके स्वकारणे मयि प्रोतास्ततो मत्सत्तयाऽन्नरसमया भूत्वा तदात्मना मय्यन्नरसात्मके तिष्ठन्तीत्यर्थः । तपः कृच्छ्रचान्द्रायणादिकं चित्तैकाग्र्यं वा पञ्चाग्निमध्यावस्थानं वा येषामस्ति ते तपस्विनस्तेषु चाऽहं तपोऽस्मि तपोरूपेण तिष्ठामि । ततस्ते तपोमये मयि प्रोता-

---

किञ्च, 'पुण्यो गन्धः' इत्यादि । पृथिवीमें मैं पुण्य गन्ध हूँ, (पुण्यशब्दका अर्थ मनोहर और शुद्ध है) गन्धके मनोहरत्व और शुद्धत्वका कथन जल, आकाश आदिके कारणभूत रस, शब्द आदिके उपलक्षणके लिए है । पृथिवी आदिके कारण गन्ध, रस आदि पाँचोंका वास्तवमें जो मनोहरत्व और शुद्धत्व स्वरूप है, उसका योगियोंको प्रत्यक्ष है । दुष्टत्व तो भोक्ताके कर्मानुसार कार्यरूप दूसरे द्रव्यके संसर्गसे ही उत्पन्न होता है, स्वभावसे नहीं । जो मनोहर और शुद्ध गन्ध है, उस रूपसे मैं पृथिवीमें स्थित हूँ । अपने कारण गन्धस्वरूप मुझमें पृथिवी प्रोत है । गन्धात्मक मुझमें गन्धमयस्वरूपसे स्थित है, यह अर्थ है । विभावसुमें—(अग्निमें) मैं तेज हूँ—तेजःस्वरूप अपने कारण मुझमें, अग्नि प्रोत है । मेरी सत्तासे तेजोमय होकर मुझसे अभिन्न होकर मेरे स्वरूपसे तेजःस्वरूप मुझमें स्थित है, यह अर्थ है । सब भूतोंमें—प्राणियोंमें मैं जीवन हूँ । जीवन (जीवनका कारण) अन्न आदि है, उस रूपसे—भुक्त अन्नके रसरूपसे प्राणियोंमें स्थित हूँ, इसलिए वे अन्नरसस्वरूप मुझ अपने कारणमें प्रोत हैं, इसलिए मेरी सत्तासे अन्नरसमय होकर इस स्वरूपसे अन्नरसात्मक मुझमें स्थित हैं, यह अर्थ है । तप कृच्छ्र, चान्द्रायण आदि या चित्तकी एकाग्रता या पञ्चाग्नियोंके मध्यमें स्थिति है, यह तप जिनका है, वे तपस्वी हैं, उनमें मैं

स्तपोमात्रात्मकाः सन्तस्तपःस्वरूपे मयि तिष्ठन्ति न तु मत्तो व्यतिरिच्यन्त इत्यर्थः। ननु तपस्विनां तपस्त्वपां रसवत्कारणं न भवति, किन्तु धर्मः; तपसः कारणत्वे सिद्धे खलु तव कारणभावस्तेषां कारणमात्रत्वं च संपद्येत, तदभावे कथमुच्यते तपश्चाऽस्मि तपस्विष्विति चेत्, न; धर्मस्याऽपि तपसः स्वर्गादिफलजनकत्वेन कारणत्वसम्भवात् धर्मवतां यो धर्मः स्वर्गादिफलहेतुः सोऽप्यहमेव यथा व्यवहारहेतुधर्माविरुद्धः कामो वक्ष्यमाणस्तद्वत्, ततो धर्मिणो धर्मस्वरूपे मयि मदात्मना तिष्ठन्ति। धर्ममात्रस्य मत्स्वरूपत्वं धर्मिणां तन्मात्रत्वं च बोधयितुं तपश्चाऽस्मीत्युक्तम्। तप इति धर्ममात्रस्योपलक्षणम्। ननु कार्यस्य कारणमात्रत्वं घटादौ दृष्टं श्रुतं च कथं धर्मिणो धर्ममात्राकारता धर्मे तन्मात्रत्वेनाऽवस्थानं च सम्भवतीति चेद्, उच्यते— वह्नेर्दाहकत्वं धर्मः स चाऽग्निं सर्वतो व्याप्य तिष्ठति, दाहकत्वस्याऽग्नौ सर्वत्रोपलम्भात् तद्विनाऽग्नेः पृथक् स्वरूपाभावात् तदाकारता तदात्मना तत्राऽवस्थानं च दृश्यते तद्वत् सर्वत्र द्रष्टव्यम् ॥ ९ ॥

ननु 'आकाशाद्वायुर्वायोरग्निः' इत्यादिना पूर्वपूर्वस्य कारणत्वमुत्तरोत्तरस्य तु कार्यत्वं श्रूयते ततस्तत्तत्कारणे तत्तत्कार्यं प्रोतं भवति कथं त्वय्यश्रुतकारणत्वे

तप हूँ यानी तपरूपसे स्थित हूँ, इसलिए वे मुझ तपोमयमें प्रोत हैं। वे केवल तपःस्वरूप होकर मुझ तपःस्वरूपमें स्थित हैं, मुझसे भिन्न नहीं हैं, यह अर्थ है। यदि शङ्का हो कि तपस्वियोंका तप तो जैसे जलका रस कारण है, वैसे कारण नहीं है, किन्तु धर्म है, तपमें कारणत्वके सिद्ध होनेपर ही आपमें कारणत्व और उनमें कारणमात्रता हो सकती है, उसके अभावमें आप कैसे कहते हैं कि तपस्वियोंमें मैं तप हूँ, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि स्वर्गादिरूप फलका जनक होनेसे धर्मरूप तपमें भी कारणत्वका संभव है, अतः धार्मिकोंमें जो स्वर्गादिरूप फलका हेतु धर्म है, वह भी मैं ही हूँ, जैसे व्यवहारके हेतु धर्मसे अविरुद्ध वक्ष्यमाण काम मैं हूँ, वैसे ही धर्म भी मैं हूँ, इसलिए धार्मिक पुरुष धर्मस्वरूप मुझमें मेरे स्वरूपसे रहते हैं। धर्ममात्र मेरा स्वरूप है और धर्मी मेरे स्वरूपमात्र हैं, ऐसा बोधन करनेके लिए तप भी मैं हूँ, ऐसा कहा है। तपःशब्द धर्ममात्रका उपलक्षण है। यदि शङ्का हो कि कार्य कारणस्वरूप है, ऐसा घट आदि स्थलोंमें देखा और सुना भी जाता है, परन्तु (अश्रुत और अदृष्ट) धर्मीकी धर्माकारता और धर्ममें धर्मीमात्ररूपसे स्थिति कैसे हो सकती है ? तो इसपर कहते हैं—जैसे अग्निका दाहकत्व (जलाना) धर्म है, वह अग्निको चारों ओरसे व्याप्त करके स्थित है, क्योंकि दाहकत्व अग्निमें सर्वत्र पाया जाता है, उसके विना अग्निका पृथक् स्वरूप नहीं है, अतः अग्निका उसीके आकारसे और उसके स्वरूपसे उसमें अवस्थान दिखाई देता है, वैसे ही सर्वत्र समझना चाहिए ॥ ९ ॥

यदि शङ्का हो कि 'आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि' इत्यादिसे पूर्व-पूर्वमें कारणत्व और उत्तरोत्तरमें कार्यत्व सुना जाता है, इसलिए तत्-तत् कारणमें तत्-तत् कार्य प्रोत हो सकते हैं, परन्तु आपकी

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥ १० ॥

हे पार्थ, तुम मुझ ईश्वरको ही आकाश आदि सम्पूर्ण भूतोंके आविर्भावका कारण जानो। मैं बुद्धिमान् मनुष्योंकी बुद्धि हूँ और तेजस्वियोंका तेज (प्रगल्भता) भी मैं हूँ ॥ १० ॥

त्ववादिकं प्रोतमित्युच्यत इत्याशङ्कायाम्, न; 'आत्मन आकाशः संभूतः' इत्यात्मशब्दवाच्यान्मत्त एवेश्वरादाकाशस्य संभूतिश्रवणादहमेव सर्वजगदुत्पत्तेः प्रकृष्टं कारणमित्याह—**बीजं मामिति** ।

मामेवेश्वरं बीजं सर्वेषामप्याकाशादिभूतानामाविर्भूतिकारणं विद्धि विजानीहि । ननु यथा भूतानां तथा तवाऽपि कारणान्तरमस्तीत्याशङ्कायाम् 'सा काष्ठा सा परा गतिः' इति, 'विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः' इति, 'न तस्य कश्चिज्जनिता' इति च श्रवणादहमेव सर्वस्मादुत्तरः सर्वस्याऽप्यादिकारणं न तु मम कारणमस्तीत्याह—**सनातनमिति** । सर्वस्मात् प्राक्तनं स्वयं निष्कारणमित्यर्थः । ततो यदुक्तं मत्तः परतरमिति मयि सर्वमिति तत्सिद्धम् । एतेन स्वस्यैव सर्वकारणत्वं सर्वस्याऽपि स्वमात्रत्वं च स्थापितम्, तथापीदानीं बुद्ध्यादीनामात्मप्रकाशत्वं बोधयितुमर्थात् तद्वतां तत्कारणत्वं तन्मात्रत्वं चाऽऽह—**बुद्धिरिति** । बुध्यते आत्माऽनात्मा च धर्माधर्मादिरप्यवगम्यतेऽनयेति बुद्धिः प्रज्ञा तद्वतामहं बुद्धिः बुद्धिरूपं कारणमस्मि । मयि

कारणता कहीं सुनी नहीं गई है, इस अवस्थामें आपमें जल आदि प्रोत हैं, यह कैसे कहा जाता है, ऐसी शङ्का हो, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि 'आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ' इससे आत्मशब्दसे वाच्य मुझ ईश्वरसे ही आकाशकी उत्पत्ति सुनी जाती है, इसलिए मैं ही सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्तिका परम कारण हूँ, ऐसा कहते हैं—'बीजं माम्' इत्यादिसे ।

मुझ ईश्वरको तुम आकाश आदि सब भूतोंके आविर्भावका कारण जानो यानी समझो । जैसे भूतोंका कारण है, वैसे क्या आपका भी कोई दूसरा कारण है, ऐसी आशङ्का होनेपर 'वह काष्ठा है, वह परा गति है', 'विश्वसे (सबसे) इन्द्र पूर्व है' तथा 'उसका कोई उत्पन्न करनेवाला नहीं है' इन श्रुतियोंसे मैं ही सबसे प्राचीन और सबका आदि कारण हूँ, मेरा दूसरा कारण नहीं है, ऐसा कहते हैं—**सनातनमिति** । सबसे पूर्व हूँ यानी स्वयं निष्कारण हूँ, यह अर्थ है । इसलिए 'मुझसे परतर' और 'मुझमें सब' ऐसा जो कहा था, वह सिद्ध हुआ । इससे यद्यपि अपनेमें (ईश्वरमें) सर्वकारणत्व और सभीमें स्वमात्रत्व सिद्ध हुआ, तथापि बुद्धि आदिमें आत्मप्रकाशत्वका बोधन करनेके लिए अर्थतः तद्वानोंमें तत्कारणत्व और तन्मात्रत्व कहते हैं—**बुद्धिरिति** । आत्मा और अनात्मा तथा धर्म और अधर्म आदि जिससे जाने जाते हैं, वह बुद्धि यानी प्रज्ञा है, उस बुद्धिसे पूर्ण मनुष्योंमें मैं बुद्धिरूप कारण हूँ । मुझ बुद्धिस्वरूपमें वे प्रोत

बलं बलवतां चाऽहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥ ११ ॥

हे भरतश्रेष्ठ, मैं बलवानोंका काम और रागसे रहित बल हूँ तथा वर्णाश्रमियोंका धर्मसे अविरुद्ध काम भी मैं हूँ ॥ ११ ॥

बुद्ध्यात्मके ते प्रोताः सन्तो मदात्मना मयि तिष्ठन्तीत्यर्थः । तेजः प्रागल्भ्यम् । चेतनधर्मत्वादात्मप्रकाशप्रवृत्तिहेतुकं परेषामप्रधृष्यमभिभावकं च यत्तेजस्तद्वतामहं तेजोरूपं कारणमस्मि । तदात्मके मयि ते प्रोता मदात्मना मयि तिष्ठन्तीत्यर्थः ॥ १० ॥

बलमिति । कामरागविवर्जितं कामः सन्निकृष्टविषयापेक्षाप्रकृष्टप्रवृत्तिहेतुः, रागस्त्वप्राप्तविषयाशाप्रवृत्तिहेतुस्ताभ्यां विवर्जितम् । कामक्रोधादिवेगसमुत्पन्नं मानसमैन्द्रियकं च बलं यत्ततो भिन्नं शरीरमात्राश्रयं देहयात्रामात्रोपयोगि बलं तदहमस्मि । बलवतां देहशक्तिमताम् । बलात्मके मयि स्वकारणे ते प्रोताः सन्तो मदात्मना मयि तिष्ठन्ति । ननु 'काममय एवायं पुरुषः' इत्यादिना पुरुषव्यापारस्य सर्वस्याऽपि काममूलकत्वमेव श्रूयते दृश्यते च, कामरागाभावे पुंसो देहयात्रा वा स्वधर्मो वा कथं सेत्स्यतीत्याकाङ्क्षायामाह—**धर्मेति** । भूतेषु वर्णाश्रमिषु धर्माविरुद्धः । धर्मस्य शास्त्रीयस्याऽविरुद्धस्त्वविरोधी स्वस्याऽऽश्रमधर्मस्य साधको न तु बाधकः उत्पथहेतुश्च यः कामः सोऽहमस्मि । तेषु कामात्मनाऽहं तिष्ठामि । मयि

होकर मेरे स्वरूपसे मुझमें स्थित हैं, यह अर्थ है । तेज यानी प्रागल्भ्य । चेतनका धर्म होनेसे आत्मप्रकाशकी प्रवृत्तिके हेतु, दूसरोंसे न दबनेवाला और दूसरोंको दबानेवाला जो तेज है, उस तेजसे युक्त पुरुषोंमें मैं तेजोरूप कारण हूँ, तेजःस्वरूप मुझमें प्रोत हुए वे मेरे स्वरूपसे मुझमें स्थित हैं, यह अर्थ है ॥ १० ॥

'बलम्' इत्यादि । कामरागविवर्जित (कामशब्दका अर्थ—निकृष्ट विषयकी अपेक्षा उत्कृष्ट विषयमें प्रवृत्तिका हेतु काम है और रागका अर्थ—अप्राप्त विषयकी आशासे प्रवृत्तिका हेतु राग है, उन दोनोंसे रहित) यानी काम, क्रोध आदिके वेगसे उत्पन्न हुआ जो मनका और इन्द्रियोंका बल है, उससे भिन्न, शरीरमात्र जिसका आश्रय है तथा देहयात्रामात्रमें उपयोगी जो बल है, वह मैं हूँ । बलवानोंमें—देहकी शक्तिवालोंमें । अपने कारण मुझ बलात्मकमें वे प्रोत होकर मेरे स्वरूपसे मुझमें स्थित हैं । यदि शङ्का हो कि 'काममय ही यह पुरुष है' इत्यादिसे सम्पूर्ण व्यापार काममूलक सुने जाते हैं और देखे जाते हैं । काम तथा रागके बिना पुरुषकी देहयात्रा अथवा स्वधर्म कैसे सिद्ध होगा, ऐसी आकांक्षा होनेपर कहते हैं—**धर्मेति** । भूतोंमें (वर्णाश्रमियोंमें) धर्मसे अविरुद्ध—शास्त्रीय धर्मके अविरुद्ध—अविरोधी—, अपने आश्रमधर्मका साधक, न कि बाधक और उत्थानका हेतु जो काम

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान् विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥ १२ ॥

इस लोकमें सत्त्वगुणप्रधान देव, ऋषि आदि, रजोगुणप्रधान गन्धर्व आदि तथा तमोगुणप्रधान राक्षस आदि जो पदार्थ हैं; वे सब मुझसे ही उत्पन्न हैं ऐसा समझो, मैं उनमें नहीं रहता, किन्तु वे मुझमें रहते हैं ॥ १२ ॥

कामात्मके स्वकारणे ते प्रोताः सन्तो मयि मदात्मना मृदि घटवत्तिष्ठन्ति, न तु स्वरूपेण मत्तो भिद्यन्त इत्यर्थः । प्राणिनिष्ठबलस्य चेष्टाहेतोः कामस्य च चेतनधर्मत्वेनाऽऽत्मप्रकाश्यत्वं द्रष्टव्यम् ॥ ११ ॥

मत्तः परतरमित्युपक्रम्य योऽर्थः संग्रहेण प्रतिपादितस्तमेवाऽर्थं 'रसोऽहम्' इत्यादिना 'कामोऽस्मि भरतर्षभ' इत्यन्तेन ग्रन्थेन रसप्रभाद्यात्मना स्वस्य कारणत्वमपि चन्द्रादीनां कार्यत्वं कारणे रसादिरूपे स्वस्मिन् तेषां प्रोतत्वं कारणमात्रत्वं च प्रतिपाद्य तमेवोपक्रान्तमर्थमुपसंहर्तुमिदानीं सामान्येन सर्वेषां पदार्थानां स्वस्मादेव जगदेकबीजादुत्पत्तिमुत्पन्नानां स्वस्मिन्नेव स्वात्मनाऽवस्थितिं च प्रतिपादयति—ये चैवेति ।

इह लोके सात्त्विकाः सत्त्वगुणप्रधाना एव भावाः पदार्थाः देवा ऋषयो ब्राह्मणाः शर्करादयश्च । ये च राजसा रजोगुणप्रधाना एव भावा गन्धर्वा यक्षाः क्षत्रियाः मरीचादयः पदार्थाः । ये च तामसास्तमोगुणप्रधाना एव भावा राक्षसाः

है, वह मैं हूँ—उनमें कामस्वरूपसे मैं स्थित हूँ । मुझ कामात्मक अपने कारणमें वे प्रोत होकर मुझमें मेरे स्वरूपसे ऐसे स्थित हैं, जैसे घट मिट्टीमें स्थित है स्वरूपसे मुझसे अतिरिक्त नहीं हैं, यह अर्थ है। चेष्टाके हेतु प्राणियोंमें रहनेवाला बल और काम चेतनके धर्म होनेसे आत्मासे प्रकाश्य हैं, ऐसा समझना चाहिए ॥ ११ ॥

'मुझसे परतर' यहाँसे आरम्भ करके जिस अर्थका संक्षेपसे प्रतिपादन किया था, उसी अर्थको 'मैं रस हूँ' इत्यादिसे लेकर 'भरतर्षभ मैं काम हूँ', यहां तकके ग्रन्थसे रस, प्रभा आदि स्वरूपसे अपना कारणत्व और चन्द्र आदिका कार्यत्व, रस आदिरूप कारण अपनेमें उनका प्रोत होना और कारणमात्र होना इत्यादिका प्रतिपादन करके उसी आरम्भ किये गये अर्थका उपसंहार करनेके लिए अब सामान्यरूपसे सब पदार्थोंकी जगत्के बीज अपनेसे उत्पत्ति और उत्पन्न हुएकी अपनेमें ही अपने स्वरूपसे स्थितिका प्रतिपादन करते हैं—'ये चैव' इत्यादिसे ।

इस लोकमें सात्त्विक (सत्त्वगुणप्रधान) ही भाव—देव, ऋषि, ब्राह्मण और शर्करा आदि पदार्थ—, जो राजस (रजोगुणप्रधान) ही भाव—गन्धर्व, यक्ष, क्षत्रिय, मिरच आदि पदार्थ—तथा जो तामस (तमोगुणप्रधान) ही भाव—राक्षस, क्रव्याद, शूद्र और लहसुन आदि पदार्थ—उत्पन्न होते

क्रव्यादाः शूद्राः गृञ्जनादयः पदार्था जायन्ते जाता जनिष्यमाणाश्च एतान् सर्वान् तत्तद्गुणोपाधिकाज्जगद्बीजान्मत्त एव जातान्विद्धि विजानीहि, न त्वन्यस्मात्। मद्व्यतिरिक्तस्य कारणत्वनिषेधादित्येवकारार्थः। तेषु सात्त्विकादिपदार्थेष्वहं सत्त्वरजस्तमोगुणरूपेण कारणात्मना तिष्ठामि, अतस्ते मयि सत्त्वादिगुणात्मके स्वकारणे प्रोताः सन्तो मदात्मनैव तिष्ठन्तीत्यर्थः। यथा सत्त्वगुणकार्यं शर्करादि माधुर्यमात्रमेव भवति, यथा रजोगुणकार्यं मरीचः कटुमात्र एव भवति, यथा तमोगुणकार्यं गृञ्जनं मत्ततामात्रमेव भवति, तदिदं सर्वप्रत्यक्षम्; एवमेव ब्रह्मकार्यं जगत्सर्वं ब्रह्ममात्रमेवेति बोद्धव्यम्। एतेन 'मत्तः परतरं नान्यत्', 'मयि सर्वमिदं प्रोतम्' इत्यारभ्य 'राजसास्तामसाश्च ये' इत्यन्तेन ग्रन्थेन मायाशबलितस्य ब्रह्मणो मृद्वत्परिणामकारणत्वपक्षमाश्रित्य कार्यस्य कारणमात्रत्वं मृद्घटादौ सम्यग्दृष्टान्तन्यायेन 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादिपूर्वोक्तश्रुतिबलेन च ब्रह्मकार्यस्य जगतो ब्रह्ममात्रत्वमेव सम्यक् निर्धार्य मुमुक्षुभिः सम्यक्श्रुतवेदान्तैर्विज्ञाततदर्थैर्यतिभिः श्रुतं दृष्टं स्पृष्टं मतं विज्ञातं च सर्वमिदमहं च ब्रह्मैवेति प्राक्तनीं वासनाकृतां नामरूपभेदकल्पनां निःशेषमुत्सृज्य, स्वस्मिन् सर्वत्र च ब्रह्मबुद्धिरेव प्रयत्नेन संपादनीया, अयमेव समाधिः। या सर्वत्र ब्रह्माकारवृत्तिर्ब्रह्मत्ववासना चैषा यथा दृढा निरन्तरा वश्या स्याचथा वर्तितव्यमिति

हैं, उत्पन्न हुए और उत्पन्न होंगे, उन सबको तत्-तत् गुणरूप उपाधिसे युक्त जगत्के बीज मुझसे ही उत्पन्न हुए जानो यानी समझो, दूसरेसे नहीं। मुझसे अतिरिक्त वस्तुमें कारणत्वका निषेध होनेसे, यह एवकारका अर्थ है। उन सात्त्विक आदि पदार्थोंमें मैं सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणरूप कारणस्वरूपसे स्थित हूँ, इसलिए वे मुझ सत्त्व आदि गुणात्मक अपने कारणमें प्रोत होकर मेरे स्वरूपसे ही स्थित हैं, यह अर्थ है। जैसे सत्त्वगुणका कार्य शर्करादि माधुर्यमात्र ही होता है, जैसे रजोगुणका कार्य मिरच कटुमात्र ही होता है, जैसे तमोगुणका कार्य लहसुन मत्ततामात्र (उन्मादकमात्र) ही होता है, यह सबको प्रत्यक्ष है, वैसे ही ब्रह्मका कार्य सम्पूर्ण जगत् ब्रह्ममात्र ही है, ऐसा जानना चाहिए। इससे 'मुझसे परतर अन्य नहीं है', 'मुझमें यह सब प्रोत है' यहाँसे लेकर 'जो राजस और तामस' यहां तकके ग्रन्थसे मायाशबलित ब्रह्ममें मिट्टीके समान परिणामकारणत्व है, इस पक्षको लेकर कार्यमें कारणमात्रत्व मिट्टी, घट आदिमें उत्तम दृष्टान्तरूप न्यायसे तथा 'सब ही यह ब्रह्म है' इत्यादि पूर्वोक्त श्रुतिके बलसे ब्रह्मके कार्य जगत्में ब्रह्ममात्रत्वका ही भली भाँति निर्धारण करके वेदान्तको जिन्होंने भली भाँति सुना है और उसके अर्थको जाना है, ऐसे यति मुमुक्षुओंको सुना हुआ, देखा हुआ, छुआ हुआ, जाना हुआ और अनुभव किया हुआ यह सब और मैं ब्रह्म ही हूँ, इस प्रकार पूर्वकी वासनाओं द्वारा की गई नामरूप-भेदकी कल्पनाका निःशेष त्याग कर अपनेमें और सबमें ब्रह्मबुद्धिका ही प्रयत्नपूर्वक संपादन करना चाहिए, यही समाधि है। सर्वत्र ब्रह्माकारवृत्ति और यह ब्रह्मत्ववासना जैसे दृढ़—निरन्तर और वश्य हो जाय, वैसे बरतना चाहिए, यह सूचित होता है। 'सभी

सूचितं भवति । 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'तज्जलानिति शान्त उपासीत' इत्येषा श्रुतिरेवाऽस्याऽर्थस्य प्रमाणम् । एवं स्वस्य ब्रह्मणो मायोपाधिकस्य—सच्छब्दवाच्यस्याऽविद्याशबलस्य ब्रह्मणः—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धं परिणामलक्षणं जगत्कारणत्वं प्रतिपाद्य ब्रह्मणः परिपूर्णस्य सर्वाधारस्य च परिणामकारणत्वपक्षे 'रसोऽहमप्सु' इत्यत्रादिषु कारणतया रसाद्यात्मना स्थितत्वे परिच्छिन्नत्वस्तद्गुणदोषवत्त्वा जलं मधुरमिति तदधीनसत्तावत्त्वा च तत्सत्त्वे सति सत्त्वं तन्नाशे नाश इति विकारित्वं चेत्याद्यनर्थागमो प्रसज्यत इति तन्निवृत्तये स्वस्य दृश्यसम्बन्धाभावसिद्धये चा 'अस्थूलमनण्वह्रस्वम्' इत्यादिश्रुतिसिद्धनिर्विशेषस्वरूपत्वावधारणाय पूर्वोक्तसमाधिनिष्ठया परिशुद्धात्मनां यतीनां निर्विशेष एव परे ब्रह्मण्यात्मत्वधीसिद्धये चाऽत्रादिषु रसाद्यात्मनाऽवस्थितत्वं निषेधति—न त्वहमिति । ननु ब्रह्मणो जगत्कारणत्वे निषिद्धे सति 'यतो वा' इत्यादिश्रुतीनां 'अहं कृत्स्नस्य जगतः' इत्यादिस्मृतीनां च ब्रह्मणो जगदुपादानत्ववादिनीनामप्रामाण्यमेव स्यादिति चेद्, न; तासामद्वैतावधारणतत्परत्वात् प्रामाण्योपपत्तेः । द्वैतिनः केचित्प्रकृतेरण्वादेश्च जगत्कारणत्वं वदन्तस्तत्कार्यं जगद्ब्रह्मणो व्यतिरिक्तं कल्पयित्वा श्रुतिसिद्धमद्वैतमपाकुर्वन्ति । तेनाऽद्वैतश्रुतीनां व्याहतिस्तां स्वयमसहमाना 'यतो वा' इत्यादिश्रुतयो ब्रह्मण एव

यह ब्रह्म है', 'जिससे जन्म, नाश और चेष्टा है, उसकी शान्त होकर उपासना करे' यह श्रुति ही उस अर्थमें प्रमाण है । इस प्रकार मायारूप उपाधिसे विशिष्ट ब्रह्ममें—सत्‌शब्दवाच्य अविद्याशबल ब्रह्ममें—'सभी यह ब्रह्म है' इत्यादि श्रुतियोंमें प्रसिद्ध परिणाम लक्षणवाले जगत्‌कारणत्वका प्रतिपादन करके, परिपूर्ण सर्वाधार ब्रह्मके परिणामकारणत्वपक्षमें 'जलमें मैं रस हूँ' इससे जल आदिमें रस आदिस्वरूप कारणरूपसे स्थित होनेपर परिच्छिन्नता, उनके गुण और दोषोंकी आश्रयता, 'जल मधुर है' इससे उसके अधीन सत्तावत्ता और उनके होनेपर सत्ता और उनका नाश होनेपर नाश यों विकारित्व इत्यादि अनर्थोंकी प्राप्ति हो जायगी, इसलिए उसकी निवृत्तिके लिए और अपना दृश्यके साथ असम्बन्ध सिद्ध करनेके लिए 'स्थूल नहीं, अणु नहीं, ह्रस्व नहीं' इत्यादि श्रुतियोंसे सिद्ध निर्विशेषस्वरूपका अवधारण करनेके लिए और पूर्वोक्त समाधिनिष्ठासे परिशुद्ध मनवाले यतियोंकी निर्विशेष परब्रह्ममें ही आत्मत्वबुद्धि सिद्ध करनेके लिए जलादिमें रसादिरूपसे अवस्थितिका निषेध करते हैं—'न त्वहमिति । यदि शङ्का हो कि ब्रह्मका जगत्-कारणत्व निषिद्ध होनेपर ब्रह्ममें जगदुपादानत्वको कहनेवाली 'यतो वा' इत्यादि श्रुतियोंका और 'मैं संपूर्ण जगत्‌का' इत्यादि स्मृतियोंका अप्रामाण्य ही हो जायगा, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि वे अद्वैतके अवधारणके लिए हैं, इसलिए उनका प्रामाण्य उपपन्न है । कोई कोई द्वैतवादी प्रकृति, परमाणु आदिमें जगत्-कारणत्व कहते हुए उनके कार्य जगत्‌को ब्रह्मसे भिन्न मानकर श्रुतिसिद्ध अद्वैतसिद्धान्तका खण्डन करते हैं । उससे अद्वैतकी प्रतिपादक श्रुतियोंकी व्याहति होगी, उसको स्वयं

जगत्कारणत्वं कार्यस्य कारणाव्यतिरिक्तत्वं च बहुदृष्टान्तैः प्रतिपाद्याऽद्वैतमेव निर्वहन्ति । ततः सृष्टिश्रुतीनामद्वैतसिद्धावेव तात्पर्यं न तु स्वार्थे । 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' इत्यादिश्रुतीनां यथा तद्वत् । विध्येकार्थानामर्थवादश्रुतीनां विधिना सह प्रामाण्यं यथा, तथाऽद्वैतश्रुत्येकार्थानां सृष्टिश्रुतीनां स्मृतीनां च 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इत्याद्यद्वैतश्रुतिभिः 'विज्ञानमेकम्' इत्यादिस्मृतिभिश्च सहैवाऽस्ति प्रामाण्यं नाऽत्र कुशङ्कावकाशः । ननु तर्हि प्रकृतेः परमाण्वादेश्च यथा, तथा ब्रह्मणोऽपि कारणत्वानङ्गीकारे जगन्निष्कारणकमेव स्यादिति चेद्, अस्त्येव जगत्कारणमधिष्ठानाज्ञानलक्षणस्त्वदीयभ्रम इति ब्रूमः, तत एव श्रीभगवानाह—न त्वहमिति । तुशब्दो व्यावृत्यर्थश्चार्थो वा । एतद्योनीनीत्युक्तत्वादेतेषु मायामयेषु रज्जुसर्पवत्प्रतीतिमात्रेष्वबादिषु रसादिरूपेण नाऽहं कारणमस्मि, किन्तु मायैवाऽस्ति । मायया खलु मयि निर्विशेषे विशेषाकारेण तेषां प्रतीतिर्यथा मरौ जलप्रतीतिस्तथा । तत एव 'विकल्पो नहि वस्तु', 'मायामात्रमिदं द्वैतम्', 'असत्त्वादन्यस्य' इत्यादिश्रुतिभिः 'यथा स्वप्नप्रपञ्चोऽयम्' इत्यादिस्मृतिभिः 'इदं सर्वं मिथ्या, मायाकार्यत्वात्, ऐन्द्रजालिकवत्' इत्यादियुक्तिभिश्च जगतो मायाकार्यत्वादेव मिथ्यात्वं नियमेन प्रतिपाद्यते, जाग्रत्स्वप्नयोर्व्यभिचरितस्य प्रपञ्चस्य

न सहनेवाली 'यतो वा' इत्यादि श्रुतियां अनेक दृष्टान्तोंसे ब्रह्ममें ही जगत्-कारणताका और कार्यकी कारणसे अभिन्नताका प्रतिपादन करके अद्वैतका ही निर्वाह करती हैं। इससे सिद्ध होता है कि सृष्टिश्रुतियोंका अद्वैतकी सिद्धिमें ही तात्पर्य है, स्वार्थमें नहीं, 'वायु शीघ्र चलनेवाला देवता' इत्यादि श्रुतियोंका जैसे स्वार्थमें तात्पर्य नहीं है, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए। जैसे विधिवाक्यके सदृश अर्थकी बोधक अर्थवाद श्रुतियोंका विधिवाक्यके साथ प्रामाण्य है, वैसे ही अद्वैतप्रतिपादक श्रुतियोंके सदृश अर्थकी बोधक सृष्टिप्रतिपादक श्रुतियोंका 'एक अद्वितीय ही ब्रह्म है, इत्यादि अद्वैतब्रह्मबोधक श्रुति और 'विज्ञान एक' इत्यादि स्मृतियोंके साथ ही प्रामाण्य है, इसमें कुशङ्का करनेका अवकाश नहीं है। यदि शङ्का हो कि तब तो जैसे प्रकृति और परमाणु आदिमें कारणत्व नहीं माना जाता, वैसे ही ब्रह्ममें भी कारणत्वके न माननेपर जगत् कारणरहित ही हो जायगा, तो यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि जगत्का कारण अधिष्ठानका अज्ञानरूप तुम्हारा भ्रम है ही, ऐसा हम कहते हैं, इसीलिए श्रीभगवान् कहते हैं—न त्वहमिति। तुशब्द व्यावृत्तिके अथवा चके अर्थमें है। 'एतद्योनीति' ऐसा कहनेसे इन मायामय, रज्जुसर्पके समान प्रतीतिमात्र, जल आदिमें रसादिरूपसे मैं कारण नहीं हूँ, किन्तु माया ही कारण है। मायासे ही मुझ निर्विशेषमें विशेष आकारसे उनकी मरुमें जलकी प्रतीतिके समान प्रतीति होती है। इसलिए 'विकल्प वस्तु नहीं है', 'मायामात्र यह द्वैत है', 'अन्यका असत्त्व है' इत्यादि श्रुतियोंसे, 'जैसे यह स्वप्न प्रपञ्च है' इत्यादि स्मृतियोंसे और 'यह सब मिथ्या है, मायाका कार्य होनेसे, इन्द्रजालके तमाशेके समान' इत्यादि युक्तियोंसे मायाकार्य होनेके कारण ही जगत्में नियमतः मिथ्यात्वका प्रतिपादन किया जाता है,

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाऽभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥ १३ ॥

इन सात्त्विक, राजस और तामस भावोंसे मोहित हुआ यह सम्पूर्ण जगत् उनसे भिन्न (विलक्षण), पर और अव्यय मुझ परमात्माको नहीं जानता ॥१३॥

प्रत्यक्षेण सुषुप्तावभावदर्शनाच्च जगतो मायाकार्यत्वं प्रतीतिमात्रत्वं च युक्तम् । ततस्तेषु मरुजलवत्प्रतीतिमात्रेष्वबादिषु परिपूर्णस्याऽप्रमेयस्य निष्कलस्य निष्क्रियस्याऽसङ्गस्याऽमूर्तस्याऽविकारिणस्तदेकाधारतया तत्राऽवस्थानं न संभवति । तदभावे तद्गुणदोषपरिच्छिन्नत्वादिर्न संभावयितुं शक्यते । यथा भ्रमकल्पितसर्पे रज्जोरवस्थानं तद्धर्माणां कौर्यादीनां विषस्य वाऽन्यस्य वा संबन्धः कल्पयितुं न शक्यते तद्वत् । ननु भूतेष्वबादिषु तव परिपूर्णस्याऽसङ्गस्याऽपरिच्छिन्नस्यैवैकदेशे स्थितिर्मास्तु भूतानां तु त्वयि स्थितिः संभवेदित्यत आह — **ते मयीति** । ते चाऽबादयो भावा मदयदृश्यत्वादिगुणके कूटस्थाऽसङ्गचिद्रूपे परे ब्रह्मणि वस्तुतो न सन्ति । 'नेह नानास्ति किञ्चन', 'नहीदं सर्वं कदाचित्', 'नह्यस्ति द्वैतसिद्धिः' इति च श्रुतेः । यतः एवं ततस्त्रिष्वपि कालेषु सजातीयविजातीयस्वगतभेदरहितं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावमद्वितीयमानन्दैकरसं परं ब्रह्मैकमेवाऽस्तीति सिद्धम् , 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इति श्रुतेः ॥ १२ ॥

ननु त्वां परिपूर्णं सच्चिदानन्दैकरसमद्वितीयं परं ब्रह्म कस्मादयं लोको निःशेष-

---

इसलिए जाग्रत् और स्वप्न दोनोंमें प्रत्यक्षसे व्यभिचारी प्रपञ्चका और सुषुप्तिमें अभाव होनेके कारण जगत्में मायाकार्यत्व और प्रतीतिमात्रत्व युक्त ही है। इसलिए उनमें—मरुजलके समान प्रतीतिमात्रस्वरूप जलादिमें—परिपूर्ण, अप्रमेय, निष्कल, निष्क्रिय, असङ्ग, अमूर्त अविकारी ब्रह्मका उनकी आधारतारूपसे उनमें स्थिति नहीं हो सकती, उसके अभावमें उनके गुण और दोषोंसे परिच्छिन्नता आदिका संभव नहीं हो सकता, जैसे भ्रमकल्पित सर्पमें रज्जुकी स्थिति, सर्पके धर्म क्रौर्य आदिका, विषका अथवा अन्यका सम्बन्ध कल्पित नहीं हो सकता, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए । यदि शङ्का हो कि जलादिमें तो परिपूर्ण, असङ्ग, अपरिच्छिन्न आपकी एक देशमें स्थिति मत हो, परन्तु भूतोंमें तो आपकी स्थिति हो ही सकती है, तो इसपर कहते हैं—**ते मयीति** । वे भी जल आदि पदार्थ मुझ अदृश्यत्व आदि गुणवाले कूटस्थ असङ्ग चिद्रूप परब्रह्ममें वस्तुतः नहीं हैं, क्योंकि 'यहाँ नाना कुछ नहीं है', 'यह सब कभी नहीं था', 'द्वैतकी सिद्धि ही नहीं है' इत्यादि श्रुतियाँ हैं, यतः ऐसा है, इसलिए तीनों कालोंमें सजातीय विजातीय और स्वगत भेदसे रहित, नित्य, शुद्ध, बुद्ध मुक्तस्वभाव, अद्वितीय आनन्दैकरस परब्रह्म एक ही है, ऐसा सिद्ध हुआ, क्योंकि 'एक ही अद्वितीय ब्रह्म है' इत्यादि श्रुतियाँ हैं ॥ १२ ॥

निःशेष संसारदुःखका नाश करनेके लिए यह लोक आप परिपूर्ण सच्चिदानन्द एक परब्रह्मको

संसारदुःखविच्छित्त्यै न विजानातीत्याकाङ्क्षायां तत्कारणमाह—**त्रिभिर्गुणमयैरिति ।**

गुणमयैः सत्त्वादिगुणपरिणामैस्त्रिभिस्त्रिप्रकारैः सात्त्विकै राजसैस्तामसैश्च भावैर्भोग्यपदार्थैरेतैरनुभूयमानैः शब्दादिविषयैर्बन्धकैस्तत्प्रवृत्तिकारणै रागद्वेषादिभिश्च मोहितम् । मोहः सदसद्विवेकाभावस्तं प्रापितम् । 'इन्द्रियाभ्यामजय्याभ्यां द्वाभ्यामेव हतं जगत् । अहो उपस्थजिह्वाभ्यां ब्रह्मादि मशकावधि ॥' इति न्यायेनाऽनाद्यविद्यया विषयभोगलाम्पट्यमेवाऽनुगमितमिदं जगज्जङ्गमप्राणिजातं सर्वं च एभ्यः सत्त्वादिगुणेभ्यो गुणकार्येभ्यश्चाऽऽकाशादिभूतेभ्यः सर्वेभ्यो दृश्येभ्यः परं भिन्नं नित्यत्वेन निर्गुणत्वेन शुद्धत्वेन बोधैकरसत्वेनाऽऽनन्दघनत्वेन विलक्षणं चाऽव्ययमविक्रियं शाश्वतं परिपूर्णमद्वितीयं मां परं ब्रह्म नाऽभिजानाति । तत्र कश्चिच्छ्रुत्वा मत्वाऽपि ब्रह्म परोक्षमेव जानाति न त्विदमेवाऽहमित्याभिमुख्येन स्वात्मना वेत्तीत्यर्थः । यद्वा गुणमयैः सत्त्वादिगुणविकारैर्मनोमयो विज्ञानमयश्च ज्ञानेन्द्रियाण्यग्न्यादिदेवाश्च सत्त्वविकाराः, प्राणादयः कर्मेन्द्रियाणि च रजोविकाराः, आनन्दमयश्चाऽन्नमयश्च तमोविकारौ, एवं सत्त्वादिगुणमयैस्त्रिविधैर्भावैरात्मन उपाधित्वेन भाव्यन्ते इति भावाः स्थूलसूक्ष्मकारणदेहास्तैः । इत्थंभावे तृतीया । देहत्रितयात्मना स्थितमिदं जगत् प्राणिजातं सर्वं मोहितं पञ्चकोशात्मकमिदं शरीरमेवाऽहमित्यनाद्यविद्यया आवरणा-

---

किसलिए नहीं जानता, ऐसी आकांक्षा होनेपर उसका कारण कहते हैं—'त्रिभिर्गुणमयैः' इत्यादिसे।

गुणमय—सत्त्व आदि गुणोंके परिणाम—तीन प्रकारके सात्त्विक, राजस और तामस भावोंसे—भोग्यपदार्थोंसे—यानी इन अनुभवमें आनेवाले शब्द आदि बन्धक विषयोंसे और उनकी प्रवृत्तिके कारण राग, द्वेष आदिसे मोहित—सत् और असत्का विवेक न होना मोह है, उस मोहको प्राप्त । 'शोक है कि अजेय उपस्थ और जिह्वारूप दो इन्द्रियोंसे ही ब्रह्मासे लेकर मच्छर तकका यह सारा जगत् आक्रान्त है' इस न्यायसे अनादि अविद्यासे विषयभोगलम्पटताको ही यह जगत् (यह सम्पूर्ण जंगम प्राणिजात यानी सारा जगत्) प्राप्त हुआ है, इनसे—सत्त्वादि गुणोंसे और गुणोंके कार्य आकाश आदि सम्पूर्ण दृश्य भूतोंसे—पर—भिन्न—यानी नित्य, निर्गुण, शुद्ध, बोधैकरस और आनन्दघन होनेसे विलक्षण और अव्यय—अविकारी—, सनातन, परिपूर्ण और अद्वय मुझ परब्रह्मको यथार्थ नहीं जानता। उनमें से कोई एकाध ही श्रवण तथा मनन करके परोक्ष ब्रह्मको ही जानता है, 'यही मैं हूँ' ऐसे साक्षात् अपने स्वरूपसे ब्रह्मको नहीं जानता, यह अर्थ है । अथवा गुणमयोंसे—सत्त्व आदि गुणविकारोंसे—यानी मनोमय, विज्ञानमय, ज्ञानेन्द्रियाँ और अग्नि आदि देवता सत्त्वविकार, प्राण आदि और कर्मेन्द्रियाँ रजोविकार, आनन्दमय और अन्नमय तमोविकार, इस प्रकार सत्त्व आदि गुणमय तीन प्रकारके भावोंसे—आत्माकी उपाधिरूपसे जो होते हैं, वे भाव हैं यानी स्थूल, सूक्ष्म, कारण देह, उनसे—इत्थंभावमें तृतीया है । देहत्रयस्वरूपसे स्थित यह जगत्—प्राणिजात—सम्पूर्ण मोहित है—पञ्चकोशात्मक यह शरीर ही मैं हूँ, ऐसी

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ १४ ॥

स्वप्रकाश चैतन्यस्वरूप ब्रह्ममें कल्पित, सत्त्व, रज और तमोगुणरूप इस मेरी मायाका अतिक्रमण करना अत्यन्त कठिन है, जो यति मेरी अपने आत्मस्वरूपसे उपासना करते हैं, वे ही इस मायाका अतिक्रमण करते हैं ॥ १४ ॥

त्मिकया वासनात्मिकया च त्रिगुणमय्या देह एवाऽऽत्मबुद्धिं प्रापितं सत् स्वयमेभ्यः स्थूलसूक्ष्मकारणदेहेभ्यः परं नित्यत्वशुद्धत्वसूक्ष्मत्वान्तरत्वकूटस्थत्वासङ्गत्वचिद्रूपत्वानन्दैकरसत्वसर्वज्ञत्वसर्वसाक्षित्वसर्वप्रकाशकत्वादिधर्मैर्विलक्षणमनावृततया सर्वदा प्रकाशमानहमर्थतया प्रत्यक्षेण सुषुप्तावपि प्रतीयमानमेकात्मकमेकरूपं निर्विशेषं मां प्रत्यग्रूपं परं ब्रह्म नाऽभिजानाति । अयमेवाऽहमिति क्षुद्वद्रोगवदारोग्यवद्भोजनादिसुखवद्देहेन्द्रियादिभ्यो भिन्नतया स्वात्मना न कोऽपि साक्षात्करोति, अहो इदमेवाऽत्यद्भुततरमिति मन्यते श्रीभगवान् ॥ १३ ॥

नन्वनाद्यविद्यया माययाऽनात्मन्येवाऽऽत्मत्वभ्रमेण मोहितानां संसारदुःखाग्निना संतप्यमानानां प्राणिनां कथं तरणं सिध्यतीत्याकाङ्क्षायां तत्तरणोपायं विवक्षुरीश्वर आदौ तत्तरणे महान् प्रयत्नः कर्तव्य इति बोधयितुं तस्या दुर्जयत्वमाह—दैवीति ।

कालत्रयेऽप्यन्यानपेक्षया स्वयमेव दीव्यते प्रकाशत इति देवः परमात्मा निर्वि-

---

आवरणस्वरूप और वासनास्वरूप त्रिगुणमयी अनादि अविद्यासे देहमें आत्मबुद्धिको प्राप्त होकर इन स्थूल, सूक्ष्म और कारण देहोंसे परको—नित्यत्व, शुद्धत्व, सूक्ष्मत्व, आन्तरत्व, कूटस्थत्व, असङ्गत्व, चिद्रूपत्व, आनन्दैकरसत्व, सर्वज्ञत्व, सर्वसाक्षित्व, प्रकाशकत्व आदि धर्मोंसे विलक्षण आवरणरहित होनेसे अहंके अर्थरूप सर्वदा प्रकाशमान, प्रत्यक्षसे सुषुप्तिमें भी प्रतीत होनेवाले, एकात्मक, एकरूप, निर्विशेष मुझ प्रत्यक्रूप परब्रह्मको—पूर्णरूपसे स्वयं नहीं जानता । यों भूखके समान, रोगके समान, आरोग्यके समान, भोजन आदि सुखके समान, देह, इन्द्रिय आदिसे भिन्न करके अपने आत्मरूपसे 'यही मैं हूँ' यों कोई भी साक्षात्कार नहीं करता । अहो, यही महा आश्चर्य है, ऐसा श्रीभगवान् मानते हैं ॥ १३ ॥

अनादि अविद्यासे—मायासे—अनात्मामें आत्माके भ्रमसे मोहित, संसारदुःखरूप अग्निसे सन्तप्त प्राणियोंका कैसे उद्धार होता है, ऐसी आकांक्षा होनेपर उद्धारके उपायको कहनेकी इच्छावाले ईश्वर पहले उससे अपना उद्धार करनेके लिए महान् प्रयत्न करना चाहिए, ऐसा बोधन करनेके लिए मायाकी दुर्जयता कहते हैं—'दैवी' इत्यादिसे ।

तीनों कालोंमें दूसरेकी अपेक्षाके विना स्वयं ही जो प्रकाशता है, वह देव है, यानी

शेषस्तस्मिन्नात्मन्याकाशे नीलिमवदाभासरूपेण मयि तिष्ठतीति दैवी। यद्वा 'तथाहि प्राज्ञे सैषाविद्या' इति श्रवणाद् देवे प्राज्ञे तिष्ठतीति दैवी गुणमयी गुणात्मिका माया मम स्वरूपस्य जलस्य शैवालमिवावरणीभूय तिष्ठति सैषा माया पुंसां दुरत्यया दुःखेनाऽत्ययोऽतिक्रमणं यस्याः सा दुरत्यया। दृष्टादृष्टविषयसुखतत्साधनसर्वस्वपरित्यागयमनियमादिदुःखेनैवाऽत्येतुं शक्यते नाऽन्येन, अतएव दुरत्यया दुर्जया हि खलु। मायाया दुर्जयत्वं लोकशास्त्रप्रसिद्धम्। एवं मायाजये प्रयत्नाधिक्यं बोधयित्वा तत्तरणोपायं च स्वयमेवाऽऽह—**मामेवेति**। निष्कामनयेश्वरार्पणबुद्ध्या बहुजन्मस्वनुष्ठितपुण्यकर्मविशेषैः शुद्धात्मानः सन्तो विवेकवैराग्याभ्यां सर्वं संन्यस्य ब्रह्मविदुरोः सन्निधौ श्रद्धया तीव्रमोक्षेच्छया प्राप्ततदेकनिष्ठया श्रवणं मननं च कृत्वा षष्ठेनोक्तरीत्या मामेव निर्गुणमदृश्यत्वानात्मत्वादिलक्षणं चिदेकरसं परं ब्रह्म नित्यनिरन्तरनिर्विकल्पकसमाधिनिष्ठया क्रियान्तरानवकाशप्रदयैव ये यतयः प्रपद्यन्ते विपरीतप्रत्ययराहित्येन सर्वदा स्वात्मनाऽनुसंदधते त एव गुर्वात्मेश्वरप्रसादातिशयात्सम्यगुत्पन्नऽप्रतिबद्धपरावरैकत्वविज्ञानेनैवैतामावरणविक्षेपात्मिकां सर्वानर्थकारणभूतां सत्त्वरजस्तमोगुणमयीं मायां तत्कार्यं च विपरीतदर्शनलक्षणं तरन्ति। सर्वमिदमहं च ब्रह्मैवेत्यप्रतिबद्धब्रह्मैकत्वप्रत्ययेन विध्वंसयन्ति। नित्यनिरन्तरब्रह्मनिष्ठया रजो-

---

निर्विशेष परमात्मा, उस आत्मरूप मुझमें आकाशमें नीलरूपके समान, आभासरूपसे जो स्थित रहती है, वह दैवी है। अथवा 'प्राज्ञमें वह यह अविद्या' इस श्रुतिके अनुसार देवमें जो स्थित है, वह दैवी है, यानी गुणमयी—गुणस्वरूप माया—मेरे स्वरूपकी, जलकी शैवालके समान, ढकनेवाली होकर स्थित है, वह यह माया, पुरुषोंको दुरत्यय है—दुःखसे जिसका अत्यय (अतिक्रमण)—होता है, वह दुरत्यय है—दृष्टादृष्ट विषयोंके सुख, उसके साधन सर्वस्वका परित्याग, यम, नियम आदिसे जनित दुःखसे तरी जा सकती है, अन्यसे नहीं, इसलिए अवश्य ही दुरत्यय यानी दुर्जय है। मायाका दुर्जय होना लोकमें और शास्त्रमें प्रसिद्ध है। इस प्रकार मायाको जीतनेमें प्रयत्नकी अधिकता बतलाकर उसके तरनेके उपायको भी स्वयं ही कहते हैं—**मामेवेति**। निष्कामतासे ईश्वरार्पणबुद्धिसे, बहुत जन्मोंमें अनुष्ठित पुण्यकर्मविशेषोंसे शुद्ध मनवाला होकर विवेक और वैराग्यसे सम्पूर्णका त्यागकर ब्रह्मवित् गुरुकी सन्निधिमें श्रद्धासे, तीव्र मोक्षकी इच्छासे प्राप्त हुई उस एकनिष्ठासे श्रवण और मनन करके छठे अध्यायमें कही गई रीतिसे मुझको ही—निर्गुण तथा अदृश्यत्व आदि लक्षणवाले चिदेकरस, परब्रह्मको ही—नित्य निरन्तर निर्विकल्पक समाधिनिष्ठासे दूसरी क्रियाको अवकाश न देकर जो यति भजते हैं—विपरीत प्रत्ययसे रहित सर्वदा अपने आत्मरूपसे उसका अनुसन्धान करते हैं, वे ही गुरु, आत्मा और ईश्वरके प्रसादके अतिशयसे ठीक-ठीक उत्पन्न हुए अप्रतिबद्ध पर और अवरके एकत्वविज्ञानसे ही इस आवरण और विक्षेपस्वरूप सम्पूर्ण अनर्थकी कारणभूत सत्त्व, रज, तमोगुणमयी विपरीत दर्शनरूप माया और उसके कार्यको तरते हैं। सब यह और मैं ब्रह्म ही हूँ, ऐसे अप्रतिबद्ध ब्रह्मैकत्वके प्रत्ययसे माया और उसके कार्यको नष्ट करते हैं। नित्य,

गुणान् रागादीन्, तमोगुणान्विपरीतभावादीन्, सत्त्वगुणाञ्शमादींश्च तत्कार्याणि च प्रवृत्तिनिवृत्त्यहंममेत्यादीनि सर्वाण्यतीत्य इहैव संसारान्मुक्ता भूत्वा विदेहमुक्तिसुखमखण्डमात्मीयं प्राप्नुवन्ति नाऽन्ये श्रवणमात्रेणाऽऽत्मानं कृतार्थं मन्यमाना इत्यर्थः । अत्र 'मामेव ये प्रपद्यन्ते' इत्यस्मच्छब्देन सगुणं वस्तु न विवक्षितम् । तथात्वे तदुपास्त्या गुणमय्या मायाया अतिक्रमासम्भवात् । नहि गुणवदुपास्त्या सत्त्वादिगुणातिक्रमणं भेददर्शननिवृत्तिश्च सिध्यति विषसेवयाऽमृतत्वसिद्धिवत् । अमृतसेवयैवाऽमृतत्वसिद्धिर्दुःसाध्या कथं सा विषसेवया सिध्येत् । तद्वन्निर्गुणोपास्त्या मायायास्तत्कार्यस्य निःशेषनिवृत्त्यसम्भवेऽनर्थकया सगुणोपास्त्या कथं तन्निवृत्तिः संभवेत् । तत एव 'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति' इति निर्विशेषोपासिनः कचिदीषद्भेदं पश्यतो विदुषोऽपि तद्भेददर्शनस्य संसारलक्षणं भयं श्रूयते किमुत सर्वदाभेदैकनिबन्धनां सगुणोपास्तिं कुर्वतः । उपास्त्यनुरूपत्वात्फलसिद्धेः । नह्युपास्तिभेदे फलाभेदोऽस्ति । नहि पिचुमन्दसेवावत आम्रसेवाफलमस्ति तद्वत् । तथा च श्रुतिः—'यथाक्रतुरस्मिल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति तं यथायथोपास्ते तथैव भवति', 'असन्नेव स भवति असद्ब्रह्मेति वेद चेत्' इत्यादि । तथा स्मृतिश्च 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्त-

निरन्तर ब्रह्मनिष्ठासे रजोगुणरूप राग आदिको, तमोगुणरूप विपरीतभाव आदिको और सत्त्वगुणरूप शम आदिको और उनके कार्य प्रवृत्ति, निवृत्ति, मैं मेरा आदि सबका उल्लङ्घन कर यहीं संसारसे मुक्त होकर विदेहमुक्तिके अखण्ड आत्मीय सुखको प्राप्त करते हैं, दूसरे श्रवणमात्रसे अपनेको कृतार्थ माननेवाले नहीं, यह अर्थ है । यहाँ 'मुझको ही जो भजते हैं' इसमें अस्मत् शब्दसे सगुण वस्तु विवक्षित नहीं है, ऐसा होनेसे उसकी उपासनासे गुणमयी मायाका अतिक्रमण करना सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि गुणवालेकी उपासनासे सत्त्व आदि गुणोंका अतिक्रमण और भेददर्शनकी निवृत्तिकी सिद्धि नहीं होती, जैसे कि विषके सेवनसे अमरत्व सिद्ध नहीं हो सकता, अमृतके सेवनसे ही अमृतत्वकी सिद्धि दुःसाध्य है, फिर वह विषके सेवनसे कैसे सिद्ध हो सकती है । इसी प्रकार निर्गुणकी उपासनासे माया और उसके कार्यकी निःशेष निवृत्ति करना असम्भव है, तो अनर्थक सगुण उपासनासे उसकी निवृत्ति कैसे होगी ? इसीलिए 'जब कि यह इसमें थोड़ासा अन्तर करता है, तब उसको भय होता है' इससे कहीं कुछ थोड़ासा भेद देखनेवाले निर्विशेष ब्रह्मके उपासक विद्वान्‌को उस भेददर्शनका फल संसाररूप भय सुननेमें आता है, तो फिर सर्वदा भेदकी कारण सगुणोपासना करनेवाले पुरुषके लिए तो क्या कहना है ? क्योंकि उपासनाके अनुसार ही फलकी सिद्धि होती है, उपासनाका भेद होनेपर फलका अभेद हो, ऐसा नहीं होता । निम्बका सेवन (सींचना आदि) करनेवालेको आम्रसेवनका फल नहीं मिलता, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए। श्रुति भी है—'जैसे निश्चयवाला पुरुष इस लोकमें होता है, वैसे ही यहाँसे जाकर होता है, जैसी-जैसी उपासना करता है, वैसा ही होता है', 'वह असत् ही होता है, जो असत् ब्रह्म है, ऐसा

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययाऽपहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥ १५ ॥

आसुर भावका आश्रयण करनेवाले तथा मायासे जिनका ज्ञान अपहृत हो गया है, ऐसे मूढ़ नराधम पापी मेरी कभी उपासना नहीं करते ॥ १५ ॥

थैव भजाम्यहम्' इति । माया खलु ब्रह्मात्मनोर्ब्रह्मजगतोश्च भेददर्शनहेतुस्तस्या एव प्रवर्धकमत्यन्तभेददर्शनलक्षणमयमुपास्यो ममाऽहमेनमुपासे इत्यहंममपदप्रत्ययार्थ-भेदाश्रयं द्वैतोपासनमेव कुर्वतो यदि मायानिवृत्तिः स्यात् तदा प्राचीं दिशं गच्छतः कैलासप्राप्तिः स्यात् । यस्मादेवं तस्मादत्राऽस्मच्छब्दार्थो निर्गुणमेव परं ब्रह्म, तस्यै-वोपास्तिं कुर्वत एव मायात्यय इति सिद्धम् ॥ १४ ॥

ननु त्वदुपास्त्या सर्वानर्थकरीं मायां यदि तरन्ति, तर्हि मीमांसकतार्किकादयो महापण्डिताः सर्वे कस्मात्त्वां नोपासत इत्याकाङ्क्षायामाह—**न मामिति** ।

क्रियत इति कर्म दुष्टं जननमरणादिदुःखप्रदं काम्यलक्षणं कर्म एषामस्ति ते दुष्कृतिनो मीमांसकाः पण्डिता अप्यपहृतज्ञानाः मायया कामादिरूपिण्याऽपहृतं तिरो-भावितं ज्ञानं सदसद्विवेकलक्षणं येषां ते अपहृतज्ञानास्तत एवाऽऽसुरं भावं 'इदमद्य मया लब्धम्' इत्युक्तप्रकारमेवाऽऽश्रिताः सन्तो वेदान्तानां कर्तृस्तावकतया 'आम्नायस्य

जानता है' इत्यादि । तथा स्मृति भी है—'जो जैसे मुझे भजते हैं, उनको वैसे ही मैं भजता हूँ ।' ब्रह्म और आत्माके तथा ब्रह्म और जगत्के भेददर्शनकी हेतु माया ही है, उसीको बढ़ानेवाली अत्यन्त भेददर्शनरूप 'यह मेरा उपास्य है, मैं इसकी उपासना करता हूँ' इस प्रकार मैं और मेरे पदप्रत्ययके अर्थभेदके आश्रय द्वैतकी उपासना करनेवाले पुरुषको यदि मायाकी निवृत्ति हो जाय, तो पूर्व दिशासे जानेवाले पुरुषको कैलासकी प्राप्ति हो जायगी । यतः ऐसा है, इसलिए यहां 'अस्मत्' शब्दका अर्थ निर्गुण परब्रह्म ही है, उसीकी उपासना करनेवालेकी मायाका अत्यय (विनाश) होता है, यह सिद्ध हुआ ॥ १४ ॥

यदि शङ्का हो कि जब आपकी उपासनासे सम्पूर्ण अनर्थोंकी उत्पादक मायाका मनुष्य अतिक्रमण करते हैं, तब महापण्डित मीमांसक, तार्किक आदि सब आपकी ही उपासना क्यों नहीं करते, तो इसपर कहते हैं—'न माम्' इत्यादि ।

जो किया जाता है, वह कर्म है । दुष्ट यानी जन्म, मरण आदि दुःख देनेवाला काम्यरूप कर्म जिनका है, वे दुष्कृती हैं । दुष्कृती मीमांसक पण्डित भी अपहृतज्ञान (कामादिरूपिणी मायासे अप-हृत—तिरोभावित—है, सदसत्-विवेकरूप ज्ञान जिनका, वे अपहृतज्ञान हैं), इसीलिए आसुर-भावके—'यह आज मैंने प्राप्त किया' यों उक्त प्रकारके आसुरभावके—ही वश होकर वे

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ १६ ॥

हे भरतकुलावतंस अर्जुन, चार प्रकारके पुण्यशाली मनुष्य मेरा भजन करते हैं, वे हैं—आर्त (दुःखी), जिज्ञासु, अर्थका अभिलाषी और ज्ञानी ॥ १६ ॥

क्रियार्थत्वात्' इति न्यायेन कर्मशेषत्वमेवाऽभ्युपगम्याऽविश्वासेन तद्विचारमेव न कुर्वन्ति, कुतस्तेषां मज्ज्ञानं तदसत्त्वे कुतो मदुपास्तिप्रसक्तिस्तत एव मां न प्रपद्यन्ते। तार्किका वैशेषिकाश्च पण्डिता अपि माययाऽपहृतज्ञानास्तत एव मूढाः सन्तो जगदुपादानमणव एवेति मामुपसर्जनं कृत्वा स्वस्वाभिमतपदार्थज्ञानादेव मुक्तिरित्यभिमानेन मद्विचारज्ञानशून्या भूत्वा मां न प्रपद्यन्ते । अन्ये चार्वाकजैनबौद्धादयो नराधमा अपि न मां प्रपद्यन्त एवेत्यर्थः ॥ १५ ॥

ननु महापण्डितानामप्येवंविधत्वे के पुनस्त्वां प्रपद्यन्ते इत्याकाङ्क्षायां ये शुद्धात्मानः शास्त्रतो गुरुतश्च मत्तत्त्वं श्रुत्वा मामेव सर्वेश्वरं सर्वार्थदं जानन्ति ते मां प्रपद्यन्ते तथापि तेषां मद्भजनपराणां भेदोऽस्तीत्याह—चतुर्विधा इति ।

इह जन्मनि जन्मान्तरेष्वनेकेषु च 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' इत्यादिशास्त्रेण तदर्थज्ञेन च गुरुणा शिक्षिताः सन्तः ईश्वरार्पणबुद्ध्या सुष्ठु मन्त्रतन्त्राद्यलोपं यथा तथाऽनुष्ठितानि कृतानि श्रौतस्मार्तादीनि कर्माणि येषां सन्ति

कर्ताके स्तावकत्वरूपसे 'वेदका क्रिया अर्थ है' इत्यादि न्याय द्वारा वेदान्तोंको कर्मशेष मानकर अविश्वाससे उनका विचार ही नहीं करते, इस अवस्थामें उनको मेरा ज्ञान कहांसे होगा, उसके न होनेपर मेरी उपासनाका प्रसङ्ग कहांसे होगा, इसीलिए मुझको नहीं भजते हैं । तार्किक और वैशेषिक पण्डित भी मायासे अपहृत ज्ञानवाले हैं, इसीलिए मूढ होकर जगत्के उपादानकारण अणु हैं, इस प्रकार मुझको उपसर्जन करके अपने अपने अभिमत पदार्थोंसे ही मुक्ति है, इस अभिमानसे मेरे ज्ञानके विचारसे शून्य होनेसे मुझे नहीं भजते । अन्यान्य चार्वाक, जैन, बौद्ध आदि अधम नर भी मुझे भजते ही नहीं हैं, ऐसा अर्थ है ॥ १५ ॥

जब महापण्डित भी इस प्रकारके हैं, तब कौन आपको भजते हैं, ऐसी आकांक्षा होनेपर जो शुद्धात्मा शास्त्रसे और गुरुसे मेरे तत्त्वको सुनकर मुझे ही सम्पूर्ण अर्थका देनेवाला सर्वेश्वर जानते हैं, वे ही यद्यपि मुझको भजते हैं, तथापि उन मेरे भजन करनेवालोंमें भेद है, ऐसा कहते हैं—'चतुर्विधा' इत्यादिसे ।

इस जन्ममें और पिछले अनेकों जन्मोंमें 'मनुष्य अपने कर्मसे उसका अर्चन करके सिद्धिको प्राप्त होता है' इत्यादि शास्त्रसे और उसके अर्थको जाननेवाले गुरुसे शिक्षित होकर ईश्वरार्पणबुद्धिसे सुमुक्षु—मन्त्र, तन्त्र आदिका लोप जैसे न हो, वैसे अनुष्ठित श्रौत, स्मार्त आदि कर्म जिनके हैं,

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ १७ ॥

उन चारोंमें सर्वदा ब्रह्ममें समाधि लगानेवाला केवल अखण्डब्रह्माकार वृत्तिको करनेवाला ज्ञानी भक्त श्रेष्ठ है, क्योंकि ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह मुझे प्रिय है ॥ १७ ॥

ते सुकृतिनः सत्कर्मानुष्ठानपरा विवेकिनो ये ते आर्तादिभेदेन चतुर्विधाश्चतुष्प्रकारा भूत्वा मां भजन्ते । तत्प्रकारमेवाऽऽह—आर्त इत्यादिना । आर्त आध्यात्मिकाद्युपद्रवेण निष्पीडितस्तदुपद्रवनिवृत्त्या नित्यानित्यपदार्थविवेकेनाऽऽत्मतत्त्वं ज्ञातुमिच्छुर्जिज्ञासुर्मत्प्रसादसिद्ध्यै, ऐहिकामुष्मिकसुखतत्साधनकाम्यर्थार्थी कामसिद्ध्यै, ज्ञानी ब्रह्मविदुत्पन्नज्ञानस्याऽप्रतिबद्धत्वसिद्धये । एवं चतुर्विधा जना भजन्ते मां सगुणमीश्वराख्यमार्तादयस्त्रयोऽपि । ज्ञानी तु निर्गुणं परं ब्रह्माख्यं मां भजति । इदमेवाऽहमिति स्वात्मनाऽनुसन्धत्त इति ज्ञातव्यम्, ज्ञानीतिविशेषणसामर्थ्यात् ॥ १६ ॥

नन्वत्र परोक्षज्ञानी विवक्षित इति चेत्, न; परोक्षज्ञानिनः 'एकभक्तिर्विशिष्यते' इति, 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' इत्येकभक्तित्वपरमात्माभिन्नत्वप्रतिपादनायोगात् । तर्हि ब्रह्मविदपि तत्प्रसादातिशयसिद्धये सगुणमीश्वरमेवोपास्त इति चेत्, न; अयथार्थस्वरूपं भजतो भक्तगणस्याऽपेक्षया स्वस्य यथाभूतस्वरूपानुसंधानपरे ब्रह्मविद्येव परमेश्वरस्य समग्रानुग्रहकरणसंभवात् । पितुः पुत्रेभ्यः सर्वेभ्योऽप्रयोजकेभ्यो

वे सुकृती—सत्कर्म करनेवाले विवेकी जो आर्त आदि भेदसे चार प्रकारके होकर मुझको भजते हैं । उनके प्रकारको ही कहते हैं—'आर्त' इत्यादिसे । आर्त यानी आध्यात्मिक आदि उपद्रवसे पीड़ित, उस उपद्रवकी निवृत्तिके लिए, जिज्ञासु नित्य एवं अनित्य पदार्थके विवेकसे आत्मतत्त्वको जाननेकी इच्छा करनेवाले मेरे प्रसादकी सिद्धिके लिए, अर्थार्थी इस लोक एवं पर लोकके सुख और उनके साधनकी कामनावाले कामनाकी सिद्धिके लिए और ज्ञानी (ब्रह्मवित्) उत्पन्न हुए ज्ञानकी अप्रतिबद्धताकी सिद्धिके लिए । यों चार प्रकारके लोग मुझको भजते हैं। यद्यपि ईश्वरनामक सगुण ब्रह्मको आर्त आदि तीनों भी भजते हैं, तथापि ज्ञानी परब्रह्मनामक मुझ निर्गुणको भजता है—यही मैं हूँ, इस प्रकार अपने आत्मरूपसे अनुसन्धान करता है, ऐसा 'ज्ञानी' इस विशेषणकी सामर्थ्यसे समझना चाहिए ॥ १६ ॥

यहां परोक्षज्ञानी ही विवक्षित है, ऐसा यदि कहो, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा कहनेसे परोक्षज्ञानीका 'एकभक्तिवाला श्रेष्ठ है', 'ज्ञानी तो मेरे मतसे मेरा आत्मा ही है' इस प्रकार एकभक्तित्व और परमात्मासे अभिन्नत्वका प्रतिपादन नहीं हो सकेगा। तब ब्रह्मवित् भी उसके प्रसादके अतिशयकी सिद्धिके लिए सगुण ईश्वरकी ही उपासना करता है, ऐसा कहो, तो वह भी नहीं है, क्योंकि अयथार्थ स्वरूपको भजनेवाले भक्तगणकी अपेक्षा अपने यथार्थस्वरूपके भजनेवाले ब्रह्मवित्के ऊपर ही परमेश्वरका समग्र अनुग्रह करना हो सकता है जैसे सब अप्रयोजक पुत्रोंकी अपेक्षा विद्याविनय-

विद्याविनयशीलवित्तार्जनकीर्तिप्रतिष्ठावति सत्पुत्र एव प्रीत्यतिशयकरणदर्शनात् तद्वत् 'ॐमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात्' इति ब्रह्मविदां ध्येयवस्तुनो मायातत्कार्यलेशसम्बन्धशून्यत्वश्रवणाच्च । 'अथ योऽन्यां देवतामुपास्ते' इति स्वभिन्नत्वेन देवतान्तरोपासिनः पशुतुल्यत्वश्रवणाच्च । 'जीवेशावाभासेन करोति' इतीश्वरस्याऽपि मायाभासत्वश्रवणात्तत्राऽसत्त्वबुद्ध्या तद्विलक्षण एव सच्चिदानन्दैकरसे परे ब्रह्मण्येव सदा तदात्मना विष्ठतस्तदानन्दामृतरसपायिनो ब्रह्मविदः सगुणे रुच्यसंभवात् सविशेषोपासनानुपपत्तेः । ब्रह्मविद उपासनमेवाऽनुपपन्नमिति चेत् , न; 'तमेव धीरो विज्ञाय' इति ब्रह्मविद एव ज्ञानस्याप्रतिबद्धत्वसिद्धये प्रज्ञाकरणश्रवणात् । प्रज्ञाकरणं नाम सर्वत्र ब्रह्मदर्शनमेव । यत एवं ततो निर्विशेषमेवपरं ब्रह्मब्रह्मविद उपास्य मिति सिद्धौ निर्विशेषपरत्वादेव महात्मानं ब्रह्मविदमार्तादिभ्यः सविशेषपरेभ्यो विशेषयति बहुभिर्विशेषणैः—तेषां ज्ञानीति ।

नित्ययुक्तः नित्यं क्रियान्तरानवकाशं यथा तथा युक्तः । सर्वदा ब्रह्मण्येव समाहितचित्त इत्यर्थः । यद्वा नित्ये मायातत्कार्यसम्बन्धशून्यत्वादविक्रियेऽक्षरे परमात्मन्येव युक्तो न त्वनित्यपरः सर्वत्र ब्रह्मैव पश्यति न त्वन्यदित्यर्थः । द्रष्टा

शील वित्तार्जन, कीर्ति और प्रतिष्ठावाले सत्पुत्रमें ही पिताकी प्रीतिका अतिशय देखनेमें आता है, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए। 'ॐ ऐसे आत्माका ध्यान करो, आपका कल्याण हो, तमसे पर पार होनेके लिए' इससे ब्रह्मविदोंकी ध्येय वस्तु माया और मायाके कार्य लेशके संबन्धसे शून्य सुनी जाती है । 'जो अन्य देवताकी उपासना करता है' इससे अपनेसे भिन्न देवताकी उपासना करनेवालेका पशुतुल्य होना सुननेमें आता है । 'जीव और ईश्वरको माया आभाससे करती है' इससे ईश्वरमें भी मायाका आभासत्व सुननेमें आता है, इसलिए इसमें असत्त्वबुद्धि करके इससे विलक्षण सच्चिदानन्दैकरस परब्रह्ममें ही सदा उसके स्वरूपसे स्थित रहनेवाले उसके आनन्दरूप अमृत रसको पीनेवाले, ब्रह्मवित्की सगुणमें रुचि असंभव है, इसलिए सविशेषकी उपासना उपपन्न नहीं है । ब्रह्मवित्की उपासना ही उपपन्न नहीं है, ऐसा कहो, तो वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'उसको ही धीर जानकर' इत्यादिसे ब्रह्मवित्का ही ज्ञानके अप्रतिबद्धत्वकी सिद्धिके लिए प्रज्ञा करना सुननेमें आता है । सर्वत्र ब्रह्मदर्शनका नाम ही प्रज्ञा करना है । इसलिए निर्विशेष परब्रह्म ही ब्रह्मवित्का उपास्य है, ऐसा सिद्ध होनेपर निर्विशेषपरत्व होनेसे ही ब्रह्मवित् महात्माकी आर्त आदि सविशेषब्रह्मपरक भक्तोंसे अनेक विशेषणोंसे श्रेष्ठता कहते हैं—'तेषां ज्ञानी' इत्यादिसे ।

नित्ययुक्त (नित्य—जिस प्रकार दूसरी क्रियाका अवकाश न हो उस प्रकार—युक्त—सर्वदा ब्रह्ममें ही समाहित चित्तवाला—, यह अर्थ है । अथवा नित्यमें—माया और मायाके कार्यके संबन्धसे शून्य होनेके कारण अविकारी अक्षर परमात्मामें—ही युक्त, न कि अनित्यमें युक्त) सर्वत्र ब्रह्मको ही देखता है, दूसरेको नहीं, यह अर्थ है । द्रष्टा, दृश्य ऐसा भेद होनेपर, यह कहते हैं—

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवाऽनुत्तमां गतिम् ॥ १८ ॥

यद्यपि ये सभी भक्त श्रेष्ठ हैं, तथापि ज्ञानी भक्त तो मेरी आत्मा ही है, ऐसा मेरा मत है, क्योंकि वह मेरे स्वरूपके ग्रहणमें मनको लगाकर अनुत्तम गतिरूप मुझ परम ब्रह्मको ही अहमर्थ मानकर सर्वदा स्थित रहता है ॥ १८ ॥

दृश्यमिति भेदे इदमाह—**एकभक्तिरिति** । स्वविषयीभूतवस्त्वाकारं भजतीति भक्तिरन्तःकरणवृत्तिः एका अहमिदमिति द्वैविध्यनिर्मुक्ता स्वस्य च ब्रह्मणश्चोभयोरेकत्वावगाहिन्यखण्डाकारा भक्तिर्वृत्तिर्यस्य स एकभक्तिः । जगद्ब्रह्मणोरात्मब्रह्मणोश्चाऽभेददर्शननिष्ठ इत्यर्थः । तत एव ज्ञानिनो निर्विशेषः परमात्माऽहमेवाऽऽत्मत्वादानन्दरूपत्वाच्चाऽत्यर्थं प्रियः प्रेष्ठो न त्वन्यः । 'तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धिप्रकाशनार्थो हिशब्दः । तथा मम च जगदीश्वरस्याऽपि स ज्ञान्येव प्रियः प्रेष्ठ उक्तलक्षणत्वात् । यत एवं ततस्तेषामिति पञ्चम्यर्थे षष्ठी । तेभ्यः सविशेषपरेभ्य आर्तादिभ्यो ज्ञानी नित्ययुक्तादिविशेषणैर्विशिष्यते । श्रेष्ठो भवतीत्यर्थः ॥ १७ ॥

ननु ज्ञानिन एव तेभ्यः श्रेष्ठत्वे त्वितरेषां त्रयाणां निकृष्टत्वमेव प्राप्तं त्वद्भक्तानामिदं कथं युक्तमित्याकाङ्क्षायां तेऽपि च श्रेष्ठा एव भवन्तीत्याह—**उदारा इति** ।

एकभक्तिरिति । अपनी विषयीभूत वस्तुके आकारको जो भजती है, वह भक्ति है यानी अन्तःकरणकी वृत्ति, एक यानी 'यह मैं हूँ' इस प्रकार द्वैतसे रहित तथा अपने और ब्रह्मके एकत्वको ग्रहण करनेवाली अखड आकारवाली भक्ति (वृत्ति) जिसकी है, वह एकभक्ति है । जगत् और ब्रह्मके तथा अपने और ब्रह्मके अभेददर्शनमें अवस्थित, यह अर्थ है। इसीलिए ज्ञानीको अहम् (मैं) यानी निर्विशेष परमात्मा ही आत्मा और आनन्दरूप होनेसे अत्यन्त ही प्रिय (प्रियतम) हूँ, दूसरा नहीं । 'वह यह प्रिय है, पुत्रसे प्रिय, धनसे प्रिय एवं अन्य सबसे प्रिय है, जो यह सबसे भीतर आत्मा है' इत्यादि श्रुतियोंकी प्रसिद्धि दिखलानेके लिए 'हि' शब्द है । तथा मेरा भी—जगदीश्वरका—भी वह ज्ञानी ही प्रिय है, उक्त लक्षणवाला होनेसे प्रेष्ठ है । यतः ऐसा है, इसलिए 'तेषाम्' यह पञ्चमीके अर्थमें षष्ठी है, उनसे—सविशेषपरायण आर्त आदि भक्तोंसे—ज्ञानी नित्ययुक्त आदि विशेषणोंसे श्रेष्ठ है, यह अर्थ है ॥ १७ ॥

यदि शङ्का हो कि जब उनसे ज्ञानी ही श्रेष्ठ है, तब दूसरे आर्त आदि तीनोंमें निकृष्टत्व हुआ, पर आपके भक्तोंके लिए यह कैसे युक्त हो सकता है, तो इसपर 'वे भी श्रेष्ठ ही हैं' ऐसा कहते हैं—'उदाराः' इत्यादिसे ।

अत्र सर्व इति सर्वशब्देन ज्ञानिनोऽप्यार्ताद्यन्तःपातित्वेऽपि ज्ञानी त्विति विभक्तत्वात्तद्व्यतिरिक्तानामेव सर्वशब्दवाच्यत्वम्। एते पूर्वोक्ताः सर्वे आर्तादयोऽप्युदारा उत्कृष्टत्वमेवाऽऽरान्तीत्युदारा उत्कृष्टाः मद्भजनविमुखीभूतमीमांसकादिभ्यः श्रेष्ठा एव भवन्ति। यस्मान्मदर्पणबुद्ध्या कर्मानुष्ठानं चित्तशुद्धिरयमेव परमेश्वर इति ज्ञानं मद्भजनं चाऽत्यन्तदुर्लभमेते एतत्सर्वं प्राप्य मामेव भजन्ते तस्मादेतेषामपि श्रेष्ठत्वमस्त्येव। ननु भजनक्रियया ज्ञानिनोऽप्येतेषां च समे सति श्रेष्ठत्वे ज्ञानी विशिष्यत इति कथं सर्वसमस्य तव तत्र पक्षपात इत्यत आह—**आस्थित इति**। हि यस्मात् स ज्ञानी युक्तात्मा प्रत्यग्वृत्त्या सदा सर्वत्र मत्स्वरूपग्रहण एव युक्तोऽभिनिविष्ट आत्मा मनो यस्य स युक्तात्मा सन्। अनुत्तमां यस्याः नित्यत्वेन महत्त्वेन सूक्ष्मत्वेनाऽऽन्तरत्वेनाऽऽनन्दत्वेन ज्ञेयत्वेन प्राप्यत्वेन च लोकशास्त्रप्रसिद्ध उत्तमः पदार्थः प्रमाणाबाधितो नाऽस्ति साऽनुत्तमा तां गतिं ज्ञानेनैवैकेन गम्यत इति गतिस्तां केवलतां तदात्मकमेव मामास्थितः। अयमेवाऽहमिति मामेव परं ब्रह्म चिदेकरसमद्वितीयमहमर्थं कृत्वा आ समन्तात् स्थितः आस्थितः पूर्णात्मना तिष्ठति। न क्वचिदपि देहेन्द्रियादिभिः परिच्छिन्नो भवतीत्यर्थः। तस्मादेव ज्ञानी श्रेष्ठ एवेति न, किन्तु मे मम परमेश्वरस्य पूर्वोक्तरीत्याऽऽत्मैव भवति। ब्रह्मैवाऽहमिति सर्वदा पूर्णात्मना स्थितत्वात् स्वरूपमेव

यहाँ 'सर्वे' इस सर्वशब्दसे यद्यपि ज्ञानीका भी आर्त आदिके अन्दर अन्तर्भाव हो जाता है, तथापि 'ज्ञानी तु' इस प्रकार उसका विभाग होनेसे ज्ञानीसे भिन्न भक्त ही सर्वशब्दके वाच्य हैं, यह समझना चाहिए। ये पूर्वोक्त आर्त आदि सभी उदार हैं—उत्कृष्टताके ही भाजन हैं—उत्कृष्ट हैं—यानी मेरे भजनसे विमुख मीमांसक आदिसे श्रेष्ठ ही हैं। जिस कारणसे मुझमें अर्पणबुद्धिसे कर्मोंका अनुष्ठान, चित्तशुद्धि, यही परमेश्वर है, ऐसा ज्ञान और मेरा भजन इन सब अत्यन्त दुर्लभ वस्तुओंको प्राप्त करके ये मुझे ही भजते हैं, इसलिए उनमें भी श्रेष्ठत्व है ही। जब भजनक्रियासे ज्ञानी और इनमें श्रेष्ठता समान है, तब 'ज्ञानी विशेष है' इस प्रकार सबको सम देखनेवाले आपका (ज्ञानीके लिए) पक्षपात क्यों है ? इसपर कहते हैं—**आस्थित इति**। जिस कारणसे वह ज्ञानी युक्तात्मा (प्रत्यक्-वृत्तिसे सदा सर्वत्र मेरे स्वरूपके ग्रहणमें ही लगा हुआ है आत्मा—मन—जिसका, ऐसा युक्तात्मा) होकर अनुत्तम (नित्य होनेसे, महत् होनेसे, सूक्ष्म होनेसे, आन्तर होनेसे, आनन्दरूप होनेसे, ज्ञेय और प्राप्यरूप होनेसे जिससे बढ़कर लोक-शास्त्रप्रसिद्ध उत्तम पदार्थ प्रमाणसे अबाधित नहीं है, वह अनुत्तम है) गतिरूप—जो केवल ज्ञानसे प्राप्त होती है, वह गति है, यानी केवलतास्वरूप—मुझको आस्थित है यानी यही मैं हूँ, यों मुझ परब्रह्म चिदेकरस अद्वितीयको अहंका अर्थ मानकर पूर्णात्मरूपसे स्थित है। कहीं भी देह, इन्द्रिय आदिसे परिच्छिन्न नहीं होता, यह अर्थ है। इसीलिए ज्ञानी श्रेष्ठ ही नहीं है, किन्तु मेरा—मुझ परमेश्वरका—पूर्वोक्त रीतिसे आत्मा ही है। 'ब्रह्म ही मैं हूँ', इस प्रकार सर्वदा पूर्णस्वरूपसे उसके स्थित होनेसे वह मेरा स्वरूप ही है, ऐसा मेरा मत है।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ १९ ॥

अनेक जन्मोंके अन्तमें ज्ञानी 'सभी ब्रह्म है' इस प्रकारकी अप्रतिबद्ध वृत्तिसे मुझ परम ब्रह्मको प्राप्त होता है यानी 'यह मैं ही हूँ' इस प्रकार अपने स्वरूपसे ब्रह्मको जानता है । उक्त रीतिसे अपनेको और सम्पूर्ण जगत्को ब्रह्म जाननेवाला महात्मा लोकमें अत्यन्त दुर्लभ है ॥ १९ ॥

भवतीति मम मतं निश्चय इत्यर्थः । तस्मादेव सगुणभक्तेभ्यः सर्वेभ्यो ज्ञानी विशिष्यत इत्युक्तम् ॥ १८ ॥

एवं ज्ञानिनो ज्ञानाधिकत्वेन सर्वोत्तमत्वं प्रतिपाद्येदानीं कतिपयैर्जन्मभिर्ब्रह्मनिष्ठैक-प्रयोजनैः सम्यक्परिपक्वविज्ञानेन विनष्टाशेषप्रतिबन्धकेन सर्वं ब्रह्मैव पश्यतो महात्मन एवं समुत्पन्नज्ञानस्य फलं विदेहमुक्तिं प्रतिपादयति—**बहूनामिति** ।

बहूनामनेकेषां द्वित्रिचतुःसंख्याकानां जन्मनां 'तत्र तं बुद्धिसंयोगम्' इत्युक्त-प्रकारेण सम्यग्ज्ञानसिद्ध्येकप्रयोजनानां जन्मनामन्ते चरमे जन्मनि प्राक्तनयाऽप्याधुनिक्या च समाधिनिष्ठया निःशेषविनष्टविपरीतभावकारणकोटितया ब्रह्मविद्वासुदेवः सर्वमित्यप्रतिबद्धवृत्त्या सर्वस्य वासुदेवमात्रत्वज्ञानवान् । ननु नामरूपक्रियाजाति-विशेषैः पृथिव्यप्तेजोवाय्वादितत्कार्यभेदेन पृथक्सत्तावत्तया प्रत्यक्षेणोपलभ्यमानस्य जगतः सर्वस्य कथं वासुदेवः सर्वमिति तद्विलक्षणवासुदेवाभिन्नत्वं सिध्यतीति चेत्,

---

निश्चय है, यह अर्थ है । इसलिए सब सगुण भक्तोंसे ज्ञानी विशिष्ट (श्रेष्ठ) है, ऐसा कहा है ॥१८॥

इस प्रकार ज्ञानकी अधिकतासे ज्ञानीमें सबकी अपेक्षा उत्तमताका प्रतिपादन करके अब केवल ब्रह्मनिष्ठारूप प्रयोजनवाले अनेक जन्मोंसे विज्ञानके भलीभाँति परिपक्व होने एवं सम्पूर्ण प्रतिबन्धकोंके नष्ट हो जानेके कारण, 'सब ब्रह्म ही है, यों देखनेवाले महात्माके उस प्रकारके उत्पन्न ज्ञानका फल विदेहमुक्ति है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं—'बहूनाम्' इत्यादिसे ।

बहुत—अनेक—यानी दो, तीन, चार जन्मोंके ('वहाँ उस बुद्धिसंयोगको' इसमें उक्त प्रकारसे सम्यक्ज्ञानकी सिद्धिरूप प्रयोजनवाले जन्मोंके) अन्तमें (अन्तिम जन्ममें) प्राक्तन (पूर्वजन्मकी) और आधुनिक समाधिनिष्ठासे सम्पूर्ण विपरीतभावके कारणोंका विनाश होनेके कारण 'वासुदेव ही सब है' इस प्रकारकी अप्रतिबद्ध वृत्तिसे सम्पूर्ण जगत् वासुदेवमात्र है, इस प्रकारके ज्ञानसे सम्पन्न ब्रह्मवित् । यदि शङ्का हो कि नाम, रूप, क्रिया और जातिविशेषोंसे, पृथ्वी, जल, तेज, वायु आदिके तथा उनके कार्योंके भेदसे पृथक्सत्ताश्रयत्वरूपसे प्रत्यक्ष उपलभ्यमान सम्पूर्ण जगत्की वासुदेव सब है, यों जगत्से विलक्षण वासुदेवके साथ अभिन्नता कैसे हो सकती है ? तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि

न; श्रुतियुक्तिभिर्विचार्यमाणे नामरूपादेस्तद्विशिष्टस्य जगतोऽपि ब्रह्मसत्ताव्यतिरेकेण सत्तासिद्धेः । मृदि घटवन्मरौ जलवद् ब्रह्मणि कल्पितस्य जगतः सति सत्तासंभवे नामरूपजात्यादिभिरनेकत्वं तद्विलक्षणत्वं च सिध्येत्तदभावात्तदसिद्धेः । नहि घटस्य मृत्सत्ताव्यतिरेकेण प्रमाणैः सत्ता निरूपयितुं शक्यते । ननु पृथुबुध्नकम्बुग्रीवाद्याकारेण मृदो भिन्नतया घटस्वरूपस्योपलभ्यमानत्वात्तद्भिन्नस्य घटस्य तत्सत्ताभिन्नसत्तोपपद्यत एवेति चेत् , न; पृथुबुध्नत्वाद्याकारवत्तया मृद एव स्थितत्वाज्जडत्वगन्धवत्त्वादिमृद्धर्माणामव्यभिचारात् स्थितिभेदाद्भेद एवेति चेत्, न; मृद्येव स्थितिभेदस्य कल्पितत्वात् स्थितिभेदानुगतत्वेन मृद एवोपलभ्यमानत्वादुक्तधर्माव्यभिचाराच्च । प्रत्यक्षेण घटस्य मृत्सत्ताभिन्नसत्ताया निरूपयितुमशक्यत्वात्तद्भिन्नत्वासिद्धेर्मृदभिन्नत्वस्य प्रत्यक्षत्वात् । घटस्य तद्भिन्नत्वं साधयितुमनुमानमशक्तं प्रत्यक्षेणाऽसंदिग्धे चाऽनुमानाप्रवृत्तेः । घटादावप्येतन्न्यायस्य युक्तत्वात् साहश्यानुपपत्तावुपमानस्याऽप्यनुपपत्तिः । 'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात्' इति घटस्य मृण्मात्रत्वश्रवणाच्छब्देनाऽपि घटस्य पृथक्सत्ता संपादयितुं न शक्यते ।

श्रुतियों और युक्तियोंसे विचार करनेपर नाम, रूप आदिकी और उनसे विशिष्ट जगत्‌की भी ब्रह्मकी सत्तासे अतिरिक्त सत्ता सिद्ध नहीं होती । मिट्टीमें घटके समान और मरुभूमिमें जलके समान ब्रह्ममें कल्पित जगत्‌की सत्ताका यदि सम्भव होता, तो नाम, रूप और जाति आदि द्वारा अनेकत्व और उससे विलक्षणत्व सिद्ध होता, ऐसा सिद्ध नहीं है, अतः उसकी सिद्धि नहीं हो सकती । मिट्टीकी सत्तासे भिन्न घटकी सत्ताका प्रमाणोंसे निरूपण नहीं किया जा सकता है । यदि शङ्का हो कि पृथुबुध्न, कम्बुग्रीवा आदि आकारसे मिट्टीसे भिन्न घटके स्वरूपकी उपलब्धि होती है, इसलिए मिट्टीसे भिन्न घटकी मिट्टीकी सत्तासे भिन्न सत्ता मानना युक्त है ही, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि पृथुबुध्नत्व आदि आकारसे मिट्टी ही घटरूपसे स्थित है, इसलिए घटमें जड़ता, गन्धवत्ता आदि मिट्टीके धर्मोंका व्यभिचार नहीं होता। यदि शङ्का हो कि घटमें स्थितिके भेदसे भेद है ही, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि मिट्टीमें ही स्थितिभेद कल्पित है, इसलिए स्थितिके भेदमें अनुगतरूपसे मिट्टी ही उपलब्ध होती है और उक्त धर्मोंका व्यभिचार भी नहीं है । प्रत्यक्ष प्रमाणसे मिट्टीसे भिन्न घटकी सत्ताका निरूपण नहीं किया जा सकता, मिट्टीसे भिन्न होना सिद्ध नहीं होता, क्योंकि घटकी मिट्टीसे अभिन्नता प्रत्यक्ष है । घटका मिट्टीसे भिन्न होना अनुमानसे सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि प्रत्यक्षसे असन्दिग्धमें अनुमानकी प्रवृत्ति भी नहीं होती । घट आदिमें भी इस न्यायकी उपयोगिता होनेसे घटकी सत्ताका मिट्टीकी सत्तासे सादृश्य उपपन्न न होनेमें उपमानकी भी अनुपपत्ति है । अतः उसके कारणकी सत्तासे भिन्न सत्तावत्ता सिद्ध नहीं होती । 'जैसे हे सोम्य, एक मिट्टीके पिण्डसे सब मिट्टीका विकार ज्ञात हो जाता है' इस श्रुतिसे घटका मिट्टीमात्र होना ज्ञात होता है, इसलिए शब्दसे भी घटकी पृथक् सत्ताका सम्पादन नहीं किया जा सकता । इसी प्रकार

तद्वज्जगतोऽपि मृदि घटवद् ब्रह्मणि कल्पितस्य सर्वप्रमाणैः पृथक्सत्ता संपादयितुं न शक्यते। कल्पितत्वस्योभयसाधारण्यात् ततः स्वतः सत्ताशून्यस्य जगतो ब्रह्माभिन्नत्वमेव सिद्धम्। पूर्वोक्तरीत्या जगत्सत्ताया बाधितत्वे तदाश्रयनामरूपजात्यादेरपि बाधितत्वात् स्वकार्यनिर्वाहानुपपत्तेः। यत एवं ततो वासुदेवः सर्वमिति भ्रान्त्या प्रतीतस्य सर्वस्याऽधिष्ठानाऽनन्यत्वेन वासुदेवमात्रत्वात् प्रत्यग्दृष्ट्याऽप्रतिबद्धया सकलमिदमहं च वासुदेव एवेति ज्ञानवान् सन् ब्रह्मविद्वरिष्ठः प्रारब्धशेषसमाप्तौ 'तस्य तावदेव चिरम्' इति श्रुत्युक्तरीत्या पतितेऽस्मिन्विद्वच्छरीरे निरस्ताशेषविशेषमपूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यं सच्चिदानन्दैकरसमद्वितीयं मां परं ब्रह्म प्रतिपद्यते। घटे नष्टे घटाकाशो महाकाशात्मना यथा, तथोपाधौ विनष्टे परिच्छित्तिहेतोरभावात् पूर्णात्मना तिष्ठति। विदेहकैवल्यं प्राप्नोतीत्यर्थः। एवमप्रतिबद्धवृत्त्या सर्वत्र ब्रह्ममात्रत्वदर्शी महात्मा पुरुषो ब्रह्मविद्वरिष्ठो लोके सुदुर्लभः शुकादिवत् कश्चिदेव न तु प्रायश इत्यभिप्रायः। यद्वा बहूनामनेकेषां सम्यग्ज्ञानसिद्धिकारणसमाध्येकप्रयोजनानां जन्मनामन्तेऽवसाने तत्तज्जन्मन्यनुष्ठितसमाधिविशेषैरविद्याकामादिप्रतिबन्धकजातस्य निःशेषनिवृत्त्या विशुद्धविज्ञानः सन् ज्ञानवान् ज्ञानी वासुदेवः सर्वं ब्रह्मैवेत्यप्रतिबद्धवृत्त्या मां सर्वात्मकं परं ब्रह्म प्रपद्यते इदमेवाऽहमिति स्वस्वरूपत्वेन विजानाति। एवं सर्वं स्वं

मिट्टीमें घटके समान ब्रह्ममें कल्पित जगत्की सम्पूर्ण प्रमाणोंसे ब्रह्मकी सत्तासे पृथक् सत्ताका सम्पादन नहीं किया जा सकता। कल्पितत्व दोनोंमें समान है, इसलिए स्वतःसत्तासे शून्य जगत्की ब्रह्मसे अभिन्नता सिद्ध है। पूर्वोक्त रीतिसे जगत्की सत्ताका बाध हो जानेपर उसके आश्रयवाले नाम, रूप, जाति आदिका भी बाध हो जानेके कारण अपने कार्यका निर्वाह नहीं हो सकता। यतः ऐसा है, इसलिए 'वासुदेव सब है', इससे भ्रान्ति द्वारा प्रतीत सम्पूर्ण जगत् अधिष्ठानस्वरूप होनेके कारण वासुदेवस्वरूप ही है, अतः अप्रतिबद्ध प्रत्यक् दृष्टिसे सब यह और मैं वासुदेव ही हूँ, इस प्रकारके ज्ञानसे युक्त होकर ब्रह्मविद्वरिष्ठ प्रारब्धशेषकी समाप्तिके अनन्तर उसको तबतक ही देर है', इस श्रुतिमें कही गई रीतिसे विद्वत्-शरीरके गिरनेपर अशेष विशेषोंसे रहित, अपूर्व, अनपर, अनन्तर, अबाह्य, सच्चिदानन्दैकरस अद्वितीय मुझ परब्रह्मको प्राप्त होता है, जैसे घटके नष्ट होनेपर घटाकाश महाकाशस्वरूपसे स्थित हो जाता है, वैसे ही उपाधिके नष्ट होनेपर, परिच्छिन्नताका हेतु न होनेसे पूर्णस्वरूपसे स्थित होता है। विदेहकैवल्यको प्राप्त होता है, यह भाव है। ऐसा अप्रतिबद्ध वृत्तिसे सर्वत्र ब्रह्ममात्रदर्शी महात्मा पुरुष ब्रह्मविद्वरिष्ठ लोकमें बहुत ही दुर्लभ है, शुकादिके समान कोई विरला ही है, बहुधा नहीं, यह अभिप्राय है। अथवा सम्यक् ज्ञानकी सिद्धिके कारण केवल समाधिरूप प्रयोजनवाले अनेक जन्मोंके अन्तमें तत्-तत् जन्ममें अनुष्ठित समाधिविषयोंसे अविद्या, काम आदि प्रतिबन्धकोंकी निःशेष निवृत्ति हो जानेपर विशुद्धविज्ञानवाला होकर ज्ञानवान्—ज्ञानी—सब वासुदेव ब्रह्म ही है, इस अप्रतिबद्ध वृत्तिसे मुझ सर्वात्मक परब्रह्मको प्राप्त होता है, यही मैं हूँ, यों स्वस्वरूपसे जानता है। इस प्रकार

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥ २० ॥

तत्-तत् पुत्र, पौत्र आदि फलकी अभिलाषाओंसे तिरोहित ज्ञानवाले मीमांसक आदि अपनी अन्तःकरणकी वासनासे बलात् प्रेरित होकर (देवताराधन और फल-सम्पादनमें उपयुक्त) उन-उन नियमोंका अवलम्बन कर इन्द्र आदि देवताओंकी उपासना करते हैं ॥ २० ॥

च ब्रह्मैव यो विजानाति स एष महात्मा महान् सर्वदा ब्रह्माकारेणैव वर्तत इति महानुत्कृष्टः आत्माऽन्तःकरणं यस्य स महात्मा महानुभावः लोके सुदुर्लभः सुतरां दुर्लभः सुदुर्लभो विरलः शतसहस्रेषु कृतश्रवणादिषु कश्चिदित्यर्थः ॥ १९ ॥

ननु स्वस्वरूपमेव प्रत्यग्लक्षणं सर्वात्मकं ब्रह्मेति चेत् सर्वे किमात्मानमेव परिपूर्णमासन्नतरमश्रमलभ्यं न जानन्ति, ज्ञात्वा किमिति मुक्तिं न प्राप्नुवन्तीत्याकाङ्क्षायां मदीयया माययाऽपहृतविवेकविज्ञानाः सन्तो देवतान्तराराधनपरा भूत्वा मां न जानन्ति न भजन्ति तत्फलं च न प्राप्नुवन्तीत्याह—कामैरिति चतुर्भिः ।

'पश्यति पुत्रं पश्यति पौत्रं', 'एतैरायुष्काम आयुराशास्ते राष्ट्रकामः पशुकामो ब्रह्मवर्चसकामः' इत्यादि श्रुत्युक्तैः, 'विष्णुलोकं स गच्छति' 'शिवेन सह मोदते' इत्यादिपुराणवचनोक्तैस्तैस्तैः पुत्रपौत्रपशुस्वर्गविष्ण्वादिलोकविषयैस्तत्तद्देवतामहत्त्व-प्रतिपादकवाक्यश्रवणसमुत्पन्नैः कामैर्मम मायालक्षणैर्हृतज्ञानाः हृतं तिरोभावितं ज्ञानं

सब और आप ब्रह्म ही हैं, ऐसा जो जानता है, वह यह महात्मा महान्—सर्वदा ब्रह्माकारसे ही वर्तता है, इसलिए महान्—उत्कृष्ट आत्मा—अन्तःकरण—जिसका, वह महात्मा—महानुभाव—लोकमें सुदुर्लभ—बहुत ही दुर्लभ है—श्रवण आदि करनेवाले सैकड़ों हजारोंमें कोई विरला ही होता है, यह भाव है ॥ १९ ॥

यदि प्रत्यक्लक्षणवाला सर्वात्मक ब्रह्म अपना स्वरूप ही है, तो सब परिपूर्ण, बहुत ही निकट, अश्रमलभ्य आत्माको क्यों नहीं जानते ? और जानकर इस मुक्तिको क्यों नहीं प्राप्त होते, ऐसी आशंका होनेपर, मेरी मायासे अपहृत विवेकविज्ञानवाले होकर दूसरे देवताओंकी आराधनामें परायण होकर मुझको न तो जानते हैं, न भजते हैं और न उसका फल ही प्राप्त करते हैं, ऐसा कहते हैं—'कामैः' इत्यादि चार श्लोकोंसे ।

'पुत्रको देखता है, पौत्रको देखता है', 'उन देवताओंसे आयुकी कामनावाले आयुकी, राज्यकी कामनावाले राज्यकी, पशुकी कामनावाले पशुकी, ब्रह्मतेजकी कामनावाले ब्रह्मतेजकी आशा करते हैं', इत्यादि श्रुतियोंके वचनोंसे, 'विष्णुलोकको वह प्राप्त होता है', 'शिवके साथ आनन्द करता है' इत्यादि पुराणोंके वचनोंसे उक्त तत्-तत् पुत्र, पशु, स्वर्ग, विष्णु आदि लोकोंकी तत्-तत् देवताओंके महत्त्वके प्रतिपादक वाक्योंके श्रवणसे उत्पन्न हुई मायारूप कामनाओंसे हृतज्ञान—हरा गया है—छिप

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याऽचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥ २१ ॥

जो-जो भक्त जिस-जिस तनुकी (शिव, विष्णु, इन्द्र आदिमें से किसी देवताकी) श्रद्धासे आराधना करना चाहता है, उस-उस भक्तके लिए उस-उस देवतामें मैं उसी अटल श्रद्धाका प्रदान करता हूँ ॥ २१ ॥

नित्यानित्यपदार्थविवेचने नित्यपदार्थवेदने तदनुसन्धाने तत्फलसम्पादनेऽशक्तं विवेकज्ञानं येषां ते हृतज्ञानाः सन्तो मीमांसकास्तार्किकाः शैवाः शाक्ता वैष्णवाश्चाऽन्ये सर्वे जनाः स्वया स्वकीयया स्वान्तःकरणस्थया प्रकृत्या तत्तद्देवताराधने भजने तत्फलसंपादने च कृतिकारिण्या वासनया नियताः प्रेरिता भूत्वा तं तं तत्-तत्कर्मानुष्ठाने तत्तद्देवताभजने च यो यो नियमस्तत्तच्छास्त्रेणोक्तो वैदिकः स्मार्तः पौराणिकस्तान्त्रिकश्च कर्मानुष्ठानजपहोमदानस्तोत्रपाठादिविषयो विध्यनतिक्रमस्तं तं नियममास्थायाश्रित्याऽन्यदेवताः अन्याः स्वात्मतत्त्वव्यतिरिक्ताः परस्य ब्रह्मणो भिन्ना देवताः सविशेषान् सोपाधिकान् ब्रह्मेन्द्रविष्ण्वादिदेवान् प्रपद्यन्ते । तदुपास्त्या लभ्येषु फलेष्वनित्येषु तुच्छेषु नित्यत्वरम्यत्वेष्टत्वबुद्ध्या मोहितास्तत्सिद्ध्यै इन्द्रादीन्भजन्त इत्यर्थः ॥ २० ॥

किञ्च, य इति । तेषां मध्ये शैवो वा वैष्णवो वा शाक्तो वा कर्मी वाऽन्यो वा यो यो भक्तः उपासको यां यां तनुं कामितार्थं तनोतीति तनुर्देवता तां शिवं

गया है—ज्ञान—नित्यानित्य पदार्थके विवेचनमें, नित्य पदार्थके जाननेमें, उसका अनुसंधान करनेमें और इसके फलका संपादन करनेमें जिनका विवेकज्ञान—असमर्थ है, वे हृतज्ञान मीमांसक, तार्किक, शैव, शाक्त, वैष्णव और अन्य सब लोग स्वकीय—अपने अन्तःकरणमें स्थित—प्रकृतिसे—तत्-तत् देवताके आराधनमें, भजनमें और उसके फलका संपादन करनेमें कर्म करानेवाली वासनासे—नियत प्रेरित होकर तत्-तत् कर्मके अनुष्ठानमें और तत्-तत् शास्त्रोक्त वैदिक, स्मार्त पौराणिक और तान्त्रिक कर्मोंके अनुष्ठान, जप, होम, दान, स्तोत्रपाठविषयक विधिका अतिक्रमण न करनेवाले तत्-तत् नियममें आस्था करके (आश्रित होकर) अन्य देवताओंको—अन्य—अपने आत्मतत्त्वसे भिन्न, परब्रह्मसे भिन्न देवताओंको—यानी सविशेष, सोपाधिक ब्रह्मा, इन्द्र, विष्णु आदि देवताओंको पूजते हैं। उनकी उपासनासे प्राप्त होनेवाले अनित्य और तुच्छ फलोंमें नित्यत्व और रम्यत्व बुद्धि करके मोहित होकर उनकी सिद्धिके लिए इन्द्र आदिको भजते हैं, यह भाव है ॥२०॥

किञ्च 'य' इत्यादि । उनके मध्यमें शैव, वैष्णव, शाक्त, कर्मी अथवा अन्य जो जो भक्त—उपासक—जिस जिस तनुकी—चाहे हुए पदार्थको जो बढ़ाता है, वह तनु है, यानी देवता, उसकी—

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥ २२ ॥

वह मुझसे प्रदत्त श्रद्धासे युक्त होकर अपने देवताका आराधन करता है, पीछे तत्-तत् देवताओंमें अन्तर्यामी-रूपसे अवस्थित मुझसे दिये गये अभीष्ट पदार्थोंको प्राप्त करता है ॥ २२ ॥

वा विष्णुं वापीन्द्रमन्यं वा यया श्रद्धया स्वयाऽर्चितुं फलसिद्ध्यै आराधयितुमिच्छति तस्य तस्य भक्तस्य तस्यां तस्यामेव देवतायां शिवादौ तामेव श्रद्धामचलां स्थिरामहमात्मा बुद्धिस्थोऽन्तर्यामी विदधामि । प्रयच्छामीत्यर्थः । अत्राऽयमभिप्रायः— अङ्कुरस्थं जलमङ्कुरः पैप्पलो वा पैचुमन्दो वाऽऽम्रो वा स्वस्ववासनानुरूपेण यथा परिणमते तथाऽस्य शक्तिं प्रयच्छति, तद्वद्बुद्धिस्थ आत्माऽपि प्राणी स्वकर्मानुरूपवासनया यथा प्रवर्तितुमिच्छति तथा स्वसन्निधिमात्रेण तद्बुद्धेस्तत्प्रवृत्त्यनुरूपां शक्तिं संभावयति न तु सारथिरश्वमिव चोदयति, अमूर्तस्याऽविकारिणः क्रियासंभवात् । तथा श्रुतिश्च 'य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्यादित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयति य आत्मनि तिष्ठन्' इति ॥ २१ ॥

एवं देवतान्तरभक्तानां तत्तद्देवतायां दृढश्रद्धासिद्धिः स्वस्मादेवेति प्रतिपाद्य तेषां फलसिद्धिरपि तत्तद्देवताद्वारा स्वस्मादेवेत्याह—स तयेति ।

शिव, विष्णु, इन्द्र अथवा अन्यकी अपनी जिस श्रद्धासे अर्चना करना—फलकी सिद्धिके लिए आराधना करना—चाहता है, उसकी—उस भक्तकी—उसमें—उसी शिव आदि देवतामें—उसी अचल—स्थिर—श्रद्धाको मैं—आत्मा—यानी बुद्धिमें स्थित अन्तर्यामी करता हूँ । देता हूँ, यह अर्थ है । यहाँ यह अभिप्राय है—जैसे अङ्कुर चाहे वह पीपलका, निम्बका अथवा आमका हो, अपनी वासनाके अनुसार बढ़ता है वैसे अङ्कुरमें स्थित जल उसको शक्ति भी देता है, वैसे ही बुद्धिमें स्थित आत्मा भी, प्राणी अपने कर्मानुसार वासनासे जैसे प्रवृत्त होना चाहता है, वैसे अपनी सन्निधि मात्रसे उसकी बुद्धिको तथा उसकी प्रवृत्तिके अनुसार शक्तिको उत्पन्न कर देता है; जैसे सारथी रथकी प्रेरणा करता है, वैसे प्रेरणा नहीं करता, क्योंकि अमूर्त तथा अविकारीमें क्रियाका सम्भव नहीं है । श्रुति भी है—'जो आदित्यमें स्थित होकर, आदित्यके भीतर है, जिसको आदित्य नहीं जानता, जिसका आदित्य शरीर है, जो भीतर रहकर आदित्यका नियमन करता है, जो आत्मामें स्थित होकर, इत्यादि ॥२१॥

इस प्रकार अन्य देवताओंके भक्तोंकी तत्-तत् देवताओंमें दृढ़ श्रद्धाकी सिद्धि अपनेसे ही होती है, ऐसा प्रतिपादन करके उनके फलकी सिद्धि भी तत्-तत् देवताओंके द्वारा अपनेसे ही होती है, ऐसा कहते हैं—'स तया' इत्यादिसे ।

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥ २३ ॥

अल्पबुद्धिवाले उन कामियोंका वह फल विनाशी ही होता है, देवताओंका भजन करनेवाले देवलोकको प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त यानी ज्ञानी मुझको (विदेहमुक्तिको) प्राप्त होते हैं ॥ २३ ॥

स च भक्तोऽपि तया उक्तरीत्या मया संभावितया श्रद्धया युक्तः सन् । संधिरत्राऽऽर्षः । तस्याः स्वस्वदेवताया आराधनं तत्तद्देवताविषयं कर्म मन्त्रजपहोमादि-लक्षणमीहते करोति, पश्चान्मयैव तत्तद्देवतान्तर्यामिणा ततस्तत्तद्देवताद्वारा विहितान् दत्तान् । देवतया दापितानित्यर्थः । हितानिष्टान्कामांश्च कामितार्थानपि लभते 'एष ह्येव साधु कर्म कारयति' इति, 'एको बहूनां यो विदधाति कामान्' इति च श्रवणान्ममैव कर्मकारयितृत्वं तत्तत्कर्मफलदातृत्वं चेति तत्तद्देवतानामनात्मत्वमनीश्वर-त्वमस्वायत्तत्वं च सूचितम् । तेन चेतनमीश्वरं सर्वार्थदमात्मभूतमनायासलभ्यं मां त्यक्त्वा मूढा देवतान्तरमुक्तलक्षणं भजन्तीति व्यञ्जितं च ॥ २२ ॥

'काम एषः क्रोध एषः' इति कामस्य दुष्पूरत्वं पातकित्वं वैरित्वं च पूर्वमेवोक्तम्, ततः काम एव सर्वानर्थबीजं तद्वता कृतं कर्म तत्फलं च ध्वंसप्रतियोगित्वादपुरुषार्थ-करमेवेत्याह—अन्तवदिति ।

वह भक्त भी उससे—उक्त रीतिसे मेरे द्वारा उत्पादित श्रद्धासे—युक्त होकर ('तस्याराधन' यहाँ सन्धि आर्ष है) उसका—अपने-अपने देवताका—आराधन—तत्-तत् देवताविषयक कर्म—(मन्त्र, जप, होम आदि रूप) करता है, पीछे उस-उस देवताके अन्तर्यामीरूप मुझसे ही उस-उस देवता द्वारा विहित—दिये गये—देवता द्वारा दिलाये गये यह अर्थ है। हित—इष्ट—कामोंको (अभीष्ट पदार्थोंको) प्राप्त करता है । 'यही शुभ कर्म कराता है' तथा 'एक ही होकर जो बहुत लोगोंके इष्ट पदार्थोंको देता है' इत्यादि श्रुतिसे मैं ही कर्मकारयिता और उस-उस कर्मके फलका दाता हूँ, इससे उन-उन देवताओंका अनात्मत्व, अनीश्वरत्व और अस्वातन्त्र्य सूचित होता है । और उससे चेतन, ईश्वर, सम्पूर्ण पदार्थोंको देनेवाले, आत्मभूत तथा आयासके बिना प्राप्त होने योग्य मुझको छोड़कर मूढ़ पुरुष उक्त लक्षणवाले दूसरे देवताको भजते हैं, ऐसा भी व्यञ्जित होता है ॥ २२ ॥

'काम यह क्रोध यह' इससे कामका दुष्पूरत्व (कभी पूर्ति न होना), पातकित्व और वैरित्व पूर्वमें ही कहा गया है, इससे काम ही सम्पूर्ण अनर्थोंका बीज है, कामी द्वारा किया गया कर्म और उसका फल नाशका प्रतियोगी (अनित्य) है, इसलिए वह पुरुषार्थका सम्पादक नहीं है, ऐसा कहते हैं—'अन्तवत्तु' इत्यादिसे ।

अल्पमेधसाम् अल्पा सदसद्विवेचनासत्त्यागसदादानादिक्रियानर्हा मन्दा मेधा विवेकबुद्धिर्येषां तेषां कामिनाम्, तत्फलम् उपवासनियमायासबह्वर्थसाध्ययज्ञदानादिक्रियाप्रसन्नदेवताभ्य उपलब्धं फलं तदन्तवदेव । तुशब्दोऽवधारणार्थः । सेवाया महद्विषयत्वे फलस्याऽपि महत्त्वं तद्विपरीतत्वे विपरीतत्वं 'महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्तेः' इति प्रसिद्धं राजभटसेवादौ दृष्टं च, यस्मादेतैः सेविता देवताः सगुणत्वादनित्याः परिच्छिन्नाः सोपाधिकाश्चानीश्वराश्चाऽल्पविभूतयस्तासां सेवया भटसेवावदल्पमेव फलमनित्यं च तस्मात्तेषां कामिनां तत्तत्फलं 'यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्मिँल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते अन्तवदेवास्य तद्भवति' इति श्रवणादन्तवन्नाशवदेव भवति' न तु मोक्षवन्नित्यम् । नह्यनित्योपासनया नित्यं महत्फलं सिध्यति, यस्मादेवं तस्माद्देवयजो देवान्ब्रह्मादीनिन्द्रादीन्यजन्ति तत्तच्छास्त्रोक्तविधिना भजन्तीति देवयजो देवताभक्तास्तानेव देवान् यान्ति । 'कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोकः' इति, 'देवो भूत्वा देवानप्येति' इति च श्रवणात्तत्तत्सारूप्यं प्राप्य तत्तद्देवतालोकं प्राप्नुवन्ति । एतेन सगुणोपासकानां देहायासक्लेशोऽप्यर्थव्ययक्लेशोऽप्यल्पफलत्वक्लेशश्चेत्यहो कष्टमिति गम्यते । एवं सगुणोपासकानामुपासनाफलं प्रतिपाद्य 'वासुदेवः सर्वमिति',

---

अल्पमेधसोंका (अल्प—सत् और असत्का विवेचन, असत्का त्याग और सत्का ग्रहण आदि क्रियाके अयोग्य मन्द—मेधा—विवेकबुद्धि—जिनकी है, उनका) यानी—कामियोंका वह फल—उपवास, नियम, आयास तथा बहुत धनसे साध्य यज्ञ, दान आदि क्रियाओंसे प्रसन्न हुए देवताओं द्वारा प्राप्त फल—अन्तवाला (विनाशी) ही है। 'तु' शब्द अवधारणके अर्थमें है। सेवाके विषयका (सेव्यका) महत्त्व होनेपर फलका महत्त्व होता है, इससे विपरीत होनेपर विपरीत होता है, यह बात 'महान्‌की सेवाको विमुक्तिका द्वार कहते हैं,' इससे प्रसिद्ध है और राजा और भटकी सेवा आदिमें देखा भी गया है, जिस कारणसे इनके द्वारा सेवित देवता सगुण होनेके कारण अनित्य, परिच्छिन्न, सोपाधिक, अनीश्वर तथा थोड़ी विभूतिवाले हैं, उनकी सेवासे, भटकी सेवाके समान थोड़ा ही फल प्राप्त होता है और अनित्य भी है, इसलिए उन कामियोंका तत्-तत् फल, 'हे गार्गि, जो इस अक्षरको न जानकर इस लोकमें होम करता है, तप तपता है और यजन करता है, उसका फल अन्तवाला ही होता है' इस श्रुतिसे अन्तवान् (नाशवान्) ही होता है, मोक्षके समान नित्य नहीं होता, क्योंकि अनित्यकी उपासनासे नित्य तथा महान् फल सिद्ध नहीं होता, यतः ऐसा है इसलिए ब्रह्मा, इन्द्र आदि देवताओंका यजन करनेवाले अर्थात् तत्-तत् शास्त्रोक्त विधिसे उनका भजन करनेवाले देवयज यानी देवताभक्त उन देवताओंको ही प्राप्त होते हैं। 'कर्मसे पितृलोक, विद्यासे देवलोक' और 'देवता होकर देवताओंको प्राप्त होता है' ऐसी श्रुति है, अतः तत्-तत् देवसारूप्यको प्राप्त होकर तत्-तत् देवताके लोकको प्राप्त होते हैं। इससे ज्ञात होता है कि सगुणके उपासकोंका देहके आयासका क्लेश, और धनके व्ययका क्लेश अल्पफलवाला होनेसे, क्लेश ही है, यह महा कष्ट है। इस प्रकार सगुण ब्रह्मके उपासकोंकी उपासनाके फलका प्रतिपादन कर 'वासुदेव सब है'

'ज्ञानवान्मां प्रपद्यते' इत्युक्तमर्थं पुण्यात्मनां श्रोतॄणां विवेकवतां स्वोपास्तावेव श्रद्धा भूयादिति पुनरपि प्रतिपादयति—**मद्भक्ता** इति। अपिशब्दस्त्वर्थः। मद्भक्ताः सदसद्विवेकवैराग्यशमदमसंन्यासाद्युत्तमसाधनसंपत्त्या ब्रह्मविद्वर्यप्रसत्त्या च श्रवणमननाभ्यामात्मानं मां परं ब्रह्म ज्ञात्वाऽजस्रमैकात्मिकया भक्त्या ये भजन्ति ते मद्भक्ता यतयस्तु मां परं ब्रह्मैव यान्ति। 'संप्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः। ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति' इति श्रवणान्नित्यनिरतिशयानन्दं पुनरावृत्तिवर्जितं विदेहकैवल्यं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः। 'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते' इति, यो मद्भक्तः स मे प्रियः' इति च ज्ञानिनोऽपि भक्तत्वप्रतिपादनादत्र मद्भक्ता इति ज्ञानिन एवोच्यन्ते न त्वितरे। पूर्वं 'ज्ञानवान्मां प्रपद्यते' इति, स्वभक्तस्यैव ज्ञानिनः स्वप्राप्तिप्रतिपादनादितरभक्तस्य वासुदेवः सर्वमिति ज्ञानासंभवाच्च, 'सर्वारम्भपरित्यागी' इति सर्वकर्मपरित्यागायोगाच्च, 'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्' इति स्वस्वरूपं तत्त्वतो विज्ञातवत एव वक्ष्यति च विदेहमुक्तिम्। यत एवं ततोऽत्र भक्ता ब्रह्मविद एवेति ज्ञातव्यम्॥२३॥

ननु महापण्डिता उक्ता भक्ताः सर्वेऽपि शास्त्रार्थं सम्यग्विचार्य ज्ञात्वा त्वामेव

'ज्ञानवान् मुझे प्राप्त होता है' इससे उक्त अर्थको, विवेकवाले पुण्यात्मा श्रोताओंकी अपनी उपासनामें ही श्रद्धा हो, इस बुद्धिसे फिर भी कहते हैं—'मद्भक्ता' इति। अपिशब्द तुके अर्थमें है। जो मेरे भक्त—सदसत्के विवेक, वैराग्य, शम, दम, संन्यास आदि उत्तम साधनसम्पत्तिसे और ब्रह्मविद्वर्यके प्रसादसे तथा श्रवण और मननसे आत्माको—मुझ परब्रह्मको—जानकर निरन्तर एकात्मिका भक्तिसे भजन करते हैं, वे मेरे भक्त यति तो मुझ पर ब्रह्मको ही प्राप्त होते हैं। 'इसको प्राप्त होकर ज्ञानसे तृप्त, कृतात्मा, रागरहित, प्रशान्त वे ऋषि सर्वव्यापकको सर्वथा प्राप्त करके धीर और युक्तात्मा होकर सर्वमें ही प्रवेश करते हैं' इस श्रुतिसे नित्य, निरतिशयानन्द, पुनरावृत्तिरहित विदेहकैवल्यको प्राप्त होते हैं, यह अर्थ है। 'उनमें ज्ञानी नित्ययुक्त, एकभक्तिवाला विशिष्ट है' इससे और 'जो मेरा भक्त है, वह मुझे प्रिय है' इससे ज्ञानीका भी भक्त होना प्रतिपादन किया गया है, इसलिए यहाँ मेरे भक्त शब्दसे ज्ञानी ही कहे जाते हैं, दूसरे नहीं। पूर्वमें 'ज्ञानवान् मुझको प्राप्त होता है' इससे, स्वभक्त ज्ञानीकी स्वप्राप्ति कही गई है, इससे अपने ज्ञानी भक्तके लिए ही अपनी प्राप्तिका प्रतिपादन होनेके कारण दूसरे भक्तको 'सब वासुदेव हैं' ऐसा ज्ञान असंभव है। 'सर्वारम्भपरित्यागी' इससे भी अन्यके लिए सम्पूर्ण कर्मोंका परित्याग अयोग्य है, 'तदुपरान्त मुझको तत्त्वतः जानकर उसके पीछे मुझमें ही प्रवेश करता है' इससे स्वस्वरूपको तत्त्वसे जाननेवालेकी ही विदेहमुक्ति होती है, ऐसा कहेंगे। जिस कारणसे ऐसा है, इसलिए यहाँ भक्त ब्रह्मवित् ही है, ऐसा जानना चाहिए॥२३॥

महापण्डित उक्त सभी भक्त सम्यक् विचारपूर्वक शास्त्रार्थको जानकर प्रत्यक् लक्षणवाले

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाऽव्ययमनुत्तमम् ॥ २४ ॥

मन्दमति लोग मेरे (आत्माके) अविनाशी सर्वोत्तम परम तत्त्वको (स्वरूपको) न जानकर मुझको (अहमर्थ आत्माको) देहस्वरूपसे अवस्थित मानते हैं ॥२४॥

प्रत्यग्लक्षणमात्मानं निर्विशेषमविनाभूतमुपास्य कस्माद्विदेहमुक्तिं न प्राप्नुवन्तीत्याकाङ्क्षायामविद्यातत्कार्योपहतचित्तत्वाद् मद्विषयकं ज्ञानं विपरीतं विना समीचीनं नोदेति, तदभावान्मत्प्राप्त्यभाव इति बोधयितुमाह—**अव्यक्तमिति** ।

अबुद्धय आत्मानात्मस्वरूपविवेचनतत्त्वाध्यवसायक्षमा बुद्धिर्मत्प्रसादजा येषां नास्ति ते स्वल्पबुद्धयो मूढाः पण्डिता अपि सदसद्विवेकशून्याः सन्तो ममाऽऽत्मनोऽव्ययमव्यक्तादिस्थूलपर्यन्तस्य सर्वस्याऽपि दृश्यस्य नाशे सत्यपि स्वयं नाशरहितमतएवाऽनुत्तमं 'सा काष्ठा सा परा गतिः' इति श्रवणादुत्तमोत्तमं सर्वतः परिपूर्णं परं चेतनत्वेन सर्वप्रकाशकत्वेन सर्वाधारत्वेन सर्वद्रष्टृत्वेन च बुद्ध्यादेर्विलक्षणं भिन्नं च भावं परमं तत्त्वमजानन्तो भूत्वा, अव्यक्तं न व्यज्यते केनाऽपि प्रमाणेनेत्यव्यक्तः । यद्वा व्यज्यत इति व्यक्तो विकारो देहेन्द्रियादिस्तद्बन्धरहितत्वादव्यक्तस्तं मामात्मानमहमर्थं व्यक्तिमापन्नं व्यक्तिर्देहस्तदात्मना स्थितं मन्यते । 'त्वामात्मानं परं मत्वा परमात्मानमेव च । आत्मा पुनर्बहिर्मृग्य अहोऽज्ञजनताज्ञता ॥' इत्युक्तरीत्या मयि च देहं देहे च

आत्मभूत, निर्विशेष अविनात्मक आपकी ही उपासना करके विदेहमुक्तिको क्यों नहीं प्राप्त करते, ऐसी आकाङ्क्षा होनेपर, अविद्या और अविद्याके कार्यसे उपहत चित्तवाले होनेके कारण उन्हें मेरे ज्ञानका (विपरीत प्रत्ययसे रहित) यथार्थरूपसे उदय नहीं होता, उसके न होनेसे मेरी प्राप्ति नहीं होती, ऐसा बोधन करनेके लिए कहते हैं—'**अव्यक्तम्**' इत्यादिसे ।

अबुद्धि मेरे प्रसादसे उत्पन्न होनेवाली (आत्मा और अनात्माके स्वरूपके विवेचन तथा उनके तत्त्वका निश्चय करनेके लिए समर्थ बुद्धि जिनकी नहीं है, वे अबुद्धि हैं) यानी स्वल्पबुद्धिवाले मूढ़ पण्डित होते हुए भी सत् और असत्के विवेकसे शून्य होकर मेरा आत्मा अव्यय (अव्यक्तसे लेकर स्थूलतक सम्पूर्ण दृश्यका नाश होनेपर भी स्वयं नाशरहित), इसीलिए अनुत्तम 'वह काष्ठा है, वह परा गति है', इस श्रुतिसे सर्वोत्तम, सर्वत्र परिपूर्ण पर—चेतनत्व, सर्वप्रकाशकत्व, सर्वाधारत्व और सर्वद्रष्टृत्वसे बुद्धि आदिसे विलक्षण (भिन्न) भावरूप परम तत्त्वके अज्ञानी होकर, अव्यक्त—जो किसी प्रमाणसे भी व्यक्त नहीं होता, वह अव्यक्त है अथवा जो व्यञ्जित होता है, वह व्यक्त है यानी विकार, देह, इन्द्रिय आदि, उनके सम्बन्धसे रहित होनेके कारण अव्यक्त, उसको मुझ आत्मा अहंके अर्थको व्यक्तिमापन्न यानी व्यक्तिभूत देहके स्वरूपसे स्थित मानते हैं । 'परमात्मारूप आपको उत्कृष्ट आत्मा जानकर भी जो आत्माको बाहर ढूँढ़ते हैं, वह अज्ञ जनोंकी अज्ञता है ।' इसके द्वारा उक्त रीतिसे मुझमें देहको और देहमें मुझको अध्याससे एक

नाऽहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥ २५ ॥

मैं तमोरूप मायासे आवृत होनेके कारण विवेकशून्य साधारण पुरुषोंके ज्ञानका विषय नहीं होता, इसीलिए विपरीत भावको प्राप्त हुए ये लोग मुझ पुरःस्थित अविनाशी ईश्वरको नहीं देखते हैं ॥ २५ ॥

मामध्यस्यैकीकृत्य देह एवाऽहमिति देहमेवाऽऽत्मानं पश्यन्तीत्यर्थः । एवमनात्मानमेवाऽऽत्मानं पश्यतां कुतो ज्ञानं कुतो मुक्तिरिति सिद्धम् ॥ २४ ॥

सर्वास्ववस्थासु सर्वप्रकाशकतया प्रतीयमानं परिपूर्णं प्रत्यक्षमात्मतत्त्वं कथं न विजानात्ययं जन इत्याकाङ्क्षायामाह—**नाऽहमिति** ।

अहं प्रत्यग्लक्षणः परात्मा सर्वप्रकाशकोऽपि सर्वगतोऽपि सर्वस्याऽपि लोकस्य जनस्याऽऽत्मेश्वरप्रसादशून्यस्य ब्रह्मविद्वर्यानुग्रहविधुरस्य प्रकाशो ज्ञानविषयो न भवामि । मामनावृतस्वरूपमपि विना ब्रह्मविदोऽन्यः कोऽपि न जानातीत्यर्थः । लोकस्याऽऽत्मस्वरूपाज्ञाने कारणमाह—**योगेति** । स्ववृत्त्या पुरुषं जननमरणदुःखप्रवाहेण योजयतीति योगा सा चासौ माया च योगमाया तया तमोरूपया समावृतः योगमायासमावृतः । यथा सूर्यप्रकाशके चक्षुषि काचपटलेनाऽऽवृते सत्यमहमन्ध इत्यध्यासेन पुमानन्धो भवति तथाऽऽत्मप्रकाशके ज्ञानचक्षुषि मायया आवरणात्मिकया संवृते सत्यध्यासेनाऽयं

करके देह ही मैं हूँ, इस प्रकार देहको ही आत्मा देखते हैं, यह अर्थ है । इस प्रकार अनात्माको ही आत्मा देखनेवालोंको कहाँसे ज्ञान और कहाँसे उनकी मुक्ति होगी ? यानी किसी प्रकार भी मुक्ति नहीं हो सकती, यह सिद्ध हुआ ॥ २४ ॥

सब अवस्थाओंमें सबके प्रकाशरूपसे प्रतीत होनेवाले परिपूर्ण प्रत्यक्ष आत्मतत्त्वको यह लोक क्यों नहीं जानता ? ऐसी आकाङ्क्षा होनेपर [आत्माके ज्ञातत्व और अज्ञातत्वका हेतु] कहते हैं—'नाऽहम्' इत्यादिसे ।

मैं—प्रत्यक् लक्षणवाला परात्मा—यद्यपि सबका प्रकाशक और सबका व्यापक हूँ, तथापि आत्मा और ईश्वरके प्रसादसे शून्य तथा ब्रह्मविद्वर्यके अनुग्रहसे रहित सभी जनोंके प्रकाशका—ज्ञानका—विषय नहीं होता हूँ । अनावृतस्वरूप मुझको ब्रह्मवित्‌के सिवा दूसरा कोई भी नहीं जानता, यह अर्थ है । मनुष्योंके आत्मस्वरूपके अज्ञानमें कारण कहते हैं—**योगेति** । अपने व्यापारसे पुरुषको जन्म-मरण एवं दुःखके प्रवाहके साथ जो जोड़ती है, वह योगा है, योगारूप माया, योगमाया है, उस तमोरूपिणी मायासे भलीभाँति ढका हुआ योगमायासमावृत है । जैसे सूर्यके प्रकाशक चक्षुके काचपटलसे ढक जानेपर मैं अन्धा हूँ, इस अध्याससे पुरुष अन्धा हो जाता है, वैसे ही आत्मप्रकाशक ज्ञानचक्षुके आवरणस्वरूपिणी मायासे ढक जानेपर अध्याससे ये लोग भी

वेदाऽहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥ २६ ॥

हे अर्जुन, मैं भूत, भविष्यत् और वर्तमानकालके सम्पूर्ण भूतोंको जानता हूँ, परन्तु मुझ प्रत्यग्रूप अहमर्थ आत्माको कोई नहीं जानता ॥ २६ ॥

लोकोऽप्यज्ञो भवतीत्युच्यते । योगमायासमावृतस्तत एव मूढो विपरीतभावं प्राप्तोऽयं लोको मामात्मभूतं प्रत्यक्षं पुरस्थं सूर्यमन्ध इव नाऽभिजानाति । देहेन्द्रियादिभ्यो भिन्नतया स्फुटतरं प्रतीयमानमजमव्ययमात्मानं साक्षादयमहमिति स्वात्मना न वेत्ती-त्यर्थः । अजमित्यात्मनः कालत्रयेऽप्यव्याहतनित्यत्वबोधनार्थं विशेषणम् । 'अजा-मेकाम्' इत्यजत्वहेतुना मायाया अपि तथात्वे प्राप्ते तन्निवृत्त्यर्थमव्ययमिति विशेषणम् । 'ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले' इति प्रकृतेरपि लयः श्रूयते विद्वद्भिरनुभूयते च ततोऽ-व्ययत्वविशेषणमव्याहतम् ॥ २५ ॥

'नाहं प्रकाशः सर्वस्य' इत्युक्त्या स्वस्यापि लोकवदविद्यावृतत्वे सर्वस्य जगतोऽ-प्यान्ध्यं प्रसज्येत, अतो नाऽहमविद्ययाऽऽवृत इति तदभावं प्रतिपादयति—वेदेति ।

भोक्तुर्भोगार्थं मत्त एव भवन्तीति भूतानि मनोबुद्ध्यादीनि तत्प्रवर्तनानि च समतीतानि गतानि वर्तमानानि च भविष्याणि चाऽहं वेद । जाग्रदाद्यवस्थासु तेषां

अज्ञ हो जाते हैं, ऐसा कहा जाता है । योगमायासे समावृत, इसीलिए मूढ (विपरीतभावको प्राप्त हुआ) यह लोक मुझ आत्मभूत प्रत्यक्ष पुरःस्थितको, जैसे अन्धा सूर्यको नहीं जानता, वैसे ही नहीं जानता । देह, इन्द्रिय आदिसे भिन्नरूपसे स्पष्टतर प्रतीत होनेवाले अज अव्यय आत्माको, साक्षात् 'यही मैं हूँ' इस प्रकार अपने आत्मस्वरूपसे नहीं जानता, यह अर्थ है । अज, यह आत्माका विशेषण तीनों कालोंमें आत्माकी अबाधित नित्यताका बोधन करनेके लिए है । 'अजामेकाम्' इस प्रकार अजत्वहेतुसे मायामें भी अजत्व और एकत्व प्राप्त होता है, उसकी निवृत्तिके लिए 'अव्यय' यह विशेषण दिया गया है । 'वे ब्रह्मलोकोंमें परके—ब्रह्माके—अन्तकालमें' इस वाक्यसे प्रकृतिका भी लय सुना जाता है और विद्वानोंके अनुभवमें भी आता है, इसलिए आत्मामें अव्ययत्व विशेषण अव्याहत यानी अबाधित है ॥ २५ ॥

'मैं सबके ज्ञानका विषय नहीं हूँ' इस कथनसे आप स्वयं ईश्वर होनेपर भी लोकके समान यदि अविद्यासे आवृत होंगे, तो सब जगत् अन्धा हो जायगा, इस शङ्काके होनेपर 'मैं अविद्यासे ढका हुआ नहीं हूँ' इस प्रकार उस (अविद्यावृतत्वके) अभावका प्रतिपादन करते हैं—'वेदाऽहम्' इत्यादिसे ।

भोक्ताके भोगके लिए जो मुझसे ही होते हैं, वे भूत हैं—मन, बुद्धि आदि और उनके व्यापार । मैं समतीत (बीते हुए) वर्तमान और भविष्यत्कालिक सब भूतों और उनके व्यापारोंको जानता हूँ—जाग्रत्

सत्तां स्फूर्तिं प्रवर्तनशक्तिं च प्रयच्छन् सर्वदा प्रकाशमानः सन् प्रत्यग्रूपोऽहं विजानामि । देहेन्द्रियादीनां प्रवृत्तिं निवृत्तिं चाऽवस्थाभेदेन सत्तामसत्तां च साक्षादहं जानामीत्यर्थः । मायावृतत्वे प्राणिनां ज्ञानाभावः प्रवृत्त्यभावश्च ममाऽपि वेदनाभावश्च प्रसज्येत । तत्तादिष्टापत्तिरेवेति चेत्, न; प्रत्यक्षविरोधप्रसङ्गात्प्राणिन इष्टमनिष्टं च जानन्ति प्रवर्तन्ते च, तदिदं सर्वप्रत्यक्षं ततः प्राणिप्रवृत्त्या 'जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादिप्रपञ्चं यत्प्रकाशते' इत्यादि श्रुत्या चाऽऽत्मनो ममाऽविद्यावरणाभावः सिद्धस्तत एवाऽहं सर्वास्ववस्थासु सर्वदा सर्वं जानामि । मां तु दृश्यत्वादनित्यत्वाज्जडत्वाच्च देहेन्द्रियग्रामः प्राणो वा मनो वा बुद्धिर्वाऽप्यन्यो वा कश्चन न वेद । किञ्चिन्न जानातीत्यर्थः । 'अहं विजानामि विविक्तरूपो न चास्ति वेत्ता मम चित्सदाहम्' इति श्रुतेः । तत एवाऽजत्वाव्ययत्वानुत्तमत्वादिविशेषणानि सार्थकानि । यद्वा सर्वप्रकाशकत्वेन सर्वास्ववस्थास्वहमर्थतया देदीप्यमानं बुद्ध्यादिसर्वपदार्थतद्धर्मतत्कर्मणां च ज्ञातारं मां कश्चन पण्डितोऽपि न वेद न जानातीत्यर्थः । यद्वा प्रत्यगभिन्नः परमात्माऽहं समतीतान्यतिक्रान्तानि वर्तमानानि च भविष्याणि च भूतानि सर्वप्राणिजातानि वेद वेद्मि । मां तु प्रत्यग्लक्षणमात्मभूतमप्यहमर्थं कश्चन कोऽपि न वेद न शृणोति न मनुते न विजानाति न भजति चेत्यर्थः ॥ २६ ॥

आदि अवस्थाओंमें उन्हें सत्ता, स्फूर्ति और व्यापारशक्तिको देता हुआ सर्वदा प्रकाशमान होकर प्रत्यक्रूप मैं जानता हूँ । देह, इन्द्रिय आदिकी प्रवृत्ति और निवृत्तिको तथा अवस्थाओंके भेदसे सत्ता और असत्ताको मैं साक्षात् जानता हूँ, यह अर्थ है । यदि मैं मायासे ढका हुआ होता, तो प्राणियोंके ज्ञानका अभाव, प्रवृत्तिका अभाव तथा मेरे भी ज्ञानका अभाव हो जाता । ऐसा होना तो इष्टापत्ति ही है, ऐसा यदि कहो, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षसे विरोध है, प्राणी इष्ट और अनिष्टको जानते भी हैं और प्रवृत्त भी होते हैं, यह सबको प्रत्यक्ष है, इसलिए प्राणियोंकी प्रवृत्तिसे और 'जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि प्रपञ्चको जो प्रकाशित करता है' इत्यादि श्रुतिसे आत्माका (मेरा) अविद्यारूप आवरणका अभाव सिद्ध है, इसीलिए मैं सब अवस्थाओंमें सर्वदा सबको जानता हूँ । मुझको तो दृश्य, अनित्य और जड होनेके कारण देह-इन्द्रियसमूह, प्राण, मन, बुद्धि अथवा अन्य कोई नहीं जानता, क्योंकि 'मैं विविक्तरूप होकर जानता हूँ, मैं सदा चिद्रूप हूँ और मुझको जाननेवाला कोई नहीं है' ऐसी श्रुति है । इसीलिए अजत्व, अव्ययत्व, अनुत्तमत्व आदि विशेषण सार्थक हैं । अथवा सबका प्रकाशक होनेसे सब अवस्थाओंमें अहं अर्थरूपसे प्रकाशमान, बुद्धि आदि सब पदार्थोंके, उनके धर्मोंके तथा उनके कर्मोंके जाननेवाले मुझको कोई पण्डित भी नहीं जानता, यह अर्थ है । अथवा प्रत्यक्से अभिन्न परमात्मामें समतीत (व्यतीत हुए), वर्तमान और भविष्यत्कालीन भूतोंको—सब प्राणियोंको—जानता हूँ, मुझ प्रत्यक् लक्षणवाले, आत्मभूत, अहंके अर्थको भी न कोई जानता है, न सुनता है, न मनन करता है, न पहचानता है और न भजता है, यह अर्थ है ॥ २६ ॥

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥ २७ ॥

हे रिपुनिषूदन अर्जुन, इच्छा और द्वेषसे उत्पन्न सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंके मोहसे (विपरीतबुद्धिसे) सम्पूर्ण प्राणी उत्पत्तिकालमें ही (पूर्व जन्मके कर्मोंसे) मूढ़भावको प्राप्त होते हैं ॥ २७ ॥

पूर्वं 'कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः' इति कामस्य ज्ञानप्रतिबन्धकत्वं यद्यप्युक्तम्, तथापीदानीं कामादीनां प्रतिबन्धकत्वं प्रवृत्तिदशायां वा उत पूर्वमेवेत्याकाङ्क्षायां पुरुषः प्राचीनपापकर्मवशात्कामरागादिकृतमोहविशिष्टः सन्नेव जायत इत्याह—इच्छेति ।

इच्छाद्वेषसमुत्थेन इच्छानुकूले प्रीतिरननुकूले त्वप्रीतिर्द्वेषस्ताभ्यां समुत्थेन समुत्पन्नेन द्वन्द्वमोहेन द्वन्द्वं सुखं दुःखं च तयोस्तत्साधनयोश्च विपरीतबुद्धिर्मोहः । मोहो नाम विचित्तता विवेकाभावस्तेन द्वन्द्वमोहेन सर्वभूतानि सर्वप्राणिनोऽपि सर्गे उत्पत्तिकाल एव संमोहं मूढभावं प्राचीनकर्मदोषेण यान्ति नैवेदानीम् । यत एवं ततो जन्मान्तरीयमहापापसंभावितमोहदोषेणैव द्वन्द्वमोहविमूढा मोक्षसाधने वेदान्ते तद्विचारे तज्जन्यज्ञाननिष्ठायां चाऽश्रद्धया न प्रवर्तन्ते । प्रवृत्तानामपि तज्ज्ञानं नोत्पद्यते । 'ज्ञानं नोत्पद्यते पुंसां पापोपहतचेतसाम्' इति स्मरणात्, किन्तु बन्धसाधने काम्ये कर्मणि देवतोपास्त्यादौ श्रद्धया भक्त्या च मोक्षसाधनत्वबुद्ध्या च नियमेन प्रवर्तन्ते । तत्रापि यच्चित्तशोधकं

पूर्वमें 'तत्-तत् कामनाओंसे अपहृतज्ञानवाले' इस वाक्यसे काम ज्ञानका प्रतिबन्धक है, ऐसा यद्यपि कहा गया है, तथापि वर्तमान समयमें काम आदि प्रतिबन्धक हैं अथवा प्रवृत्तिदशामें या पहले ही प्रतिबन्धक हैं, ऐसी आकांक्षा होनेपर पुरुष पूर्वके पापकर्मवश काम, राग आदि द्वारा उत्पन्न मोहसे युक्त होकर ही उत्पन्न होता है, ऐसा कहते हैं—'इच्छा०' इत्यादिसे ।

इच्छा-द्वेषसे समुत्थ (इच्छा यानी अनुकूलमें प्रीति और द्वेष यानी प्रतिकूलमें अप्रीति, उन दोनोंसे उत्पन्न) द्वन्द्वमोहसे (द्वन्द्व यानी सुख-दुःख, उनमें और उनके साधनोंमें विपरीत बुद्धि मोह है अर्थात् विचित्तता (तात्पर्य यह हुआ कि विवेकके अभावका नाम मोह है) उस द्वन्द्वमोहसे सभी प्राणी सर्गमें (उत्पत्तिकालमें) ही संमोहको—मूढ़भावको—पूर्वकर्मके दोषसे प्राप्त होते हैं, आधुनिक कर्मसे नहीं । जिस कारणसे ऐसा है, इसलिए पिछले जन्मके महापापसे उत्पन्न हुए मोहके दोषसे ही द्वन्द्वमोहसे विमूढ़ पुरुष मोक्षके साधन वेदान्त तथा वेदान्तविचारमें और उससे जन्य ज्ञाननिष्ठामें श्रद्धा न होनेसे प्रवृत्त नहीं होते। प्रवृत्त हुए पुरुषोंको भी उसका ज्ञान नहीं होता, क्योंकि 'पापसे उपहृत चित्तवाले पुरुषको ज्ञान नहीं होता' ऐसी स्मृति है, किन्तु बन्धके साधन काम्य कर्म और देवताकी उपासना आदिमें श्रद्धासे, भक्तिसे और मोक्षसाधनत्वबुद्धिसे नियमसे प्रवृत्त होते हैं। उसमें भी जो कर्म चित्तका शोधक है, उसमें प्रवृत्त नहीं होते, जो मलिनताका कारण जन्मादि

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥ २८ ॥

जिन पुण्य कर्म करनेवाले मनुष्योंका पाप नष्ट हो जाता है, वे ही द्वन्द्वमोहसे निर्मुक्त होकर, दृढव्रती बनकर मेरी उपासना करते हैं ॥ २८ ॥

न तत्र प्रवर्तन्ते यन्मालिन्यकारणं जन्मादिदुःखबीजं तत्रैव । एवं स्थूलमेव बाह्यं विविच्य न विजानन्ति किमुताऽऽन्तरमतिसूक्ष्ममात्मतत्त्वं यद् द्वन्द्वमोहविमूढानां युक्तायुक्तार्थापरिज्ञानं तदिदं प्राग्भवीयपापकार्यमित्यवगच्छेदित्यर्थः ॥ २७ ॥

तर्हि केन द्वन्द्वमोहनिवृत्तिः के पुनर्द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भूत्वा त्वामात्मानं यथाभूतं विज्ञाय भजन्तीत्याकाङ्क्षायामाह—येषां त्विति ।

पुण्यकर्मणामत्यन्तश्रद्धया भक्त्या चेश्वरप्रीत्यै नियमेन बहुजन्मभिः कृतं सर्वकामविनिर्मुक्तमुक्तलक्षणसंपन्नं यज्ञदानतपोरूपं पुण्यं कर्म वैदिकं येषां तेषां पुण्यकर्मणां सत्कर्मैकनिष्ठानां येषां जनानां पापं प्राग्भवीयमन्तगतं 'धर्मेण पापमपनुदति' इति श्रवणाद्यज्ञादिपुण्यकर्मभिर्येषां पापकर्म निःशेषं विनष्टं भवतीत्यर्थः । त एव पुण्यकर्मभिरीश्वरोपास्त्या च प्रतिबन्धनिवृत्त्या संप्राप्तचित्तप्रसादमहिम्ना द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ताः सदसज्ज्ञानोदयप्रतिबन्धो यो द्वन्द्वमोहस्तस्मान्निर्मुक्ता निष्क्रान्ताः सन्तः सर्वकर्मतत्साधनसंन्यासैकसाधनेन श्रुत्याचार्यप्रसादलब्धेन प्रत्यक्तत्त्वविज्ञानेन दृढव्रताः

दुःखका बीज है, उसमें ही प्रवृत्त होते हैं । इस प्रकार जब स्थूलको—विषयको—भी विवेकपूर्वक नहीं जानते, तब अतिसूक्ष्म, आन्तर आत्मतत्त्वको क्या जानेंगे । द्वन्द्वमोहसे विमूढ़ हुए लोगोंको जो युक्त और अयुक्त अर्थका परिज्ञान नहीं होता, वह पूर्व जन्मके पाप कर्मका फल है, ऐसा समझे, यह अर्थ है ॥ २७ ॥

तब द्वन्द्वमोहकी निवृत्ति किससे होती है और कौन द्वन्द्वमोहसे छूटकर आत्मस्वरूप आपको भलीभाँति जानकर भजते हैं, ऐसी आकांक्षा होनेपर कहते हैं—'येषान्तु' इत्यादिसे ।

अत्यन्त श्रद्धा और भक्तिसे ईश्वरकी प्रीतिके लिए नियमसे बहुत जन्मोंसे जिन्होंने सम्पूर्ण कामनासे रहित उक्त लक्षणोंसे संपन्न यज्ञ, दान और तपरूप वैदिक पुण्यकर्मका अनुष्ठान किया है उन पुण्य कर्मवाले यानी सत्कर्ममें ही केवल निष्ठा रखनेवाले जिन जनोंका प्राक्तन पाप अन्तगत हो जाता है, 'धर्मसे पापको नष्ट करता है', इस श्रुतिसे यज्ञादि पुण्य कर्मोंसे जिनका पाप कर्म निःशेष नष्ट हो जाता है, यह अर्थ है । वे ही पुण्य कर्मोंसे और ईश्वरकी उपासनासे प्रतिबन्धोंकी निवृत्ति द्वारा प्राप्त हुए चित्तके प्रसादकी महिमासे द्वन्द्वमोहसे निर्मुक्त होकर (सदसत्-ज्ञानके उदयका प्रतिबन्ध जो द्वन्द्वमोह है, उससे निर्मुक्त होकर) सम्पूर्ण कर्म और उनके साधनोंके संन्यासरूप एक साधनसे प्राप्त श्रुति एवं आचार्यके प्रसादसे प्राप्त हुए प्रत्यक्-तत्त्वके विज्ञानसे दृढ़

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाऽखिलम् ॥ २९ ॥

जरा और मरणसे मुक्त होनेके लिए मेरा समाश्रयण कर जो ब्रह्मज्ञानका अभ्यास करते हैं, वे अध्यात्मको—ब्रह्मसे लेकर स्तम्बपर्यन्त सम्पूर्ण उपाधियोंमें प्रत्यग्रूपसे अवस्थित वस्तुको—और समस्त कर्मोंको ब्रह्म ही देखते हैं ॥ २९ ॥

'सर्वमिदमहं च ब्रह्मैव' इति दृढमप्रतिहतं व्रतं बुद्धिनिश्चयविशेषलक्षणं येषां ते दृढव्रताः श्रुतिस्मृतियुक्तिकोटिभिर्निर्णीतार्थे सनिश्चया भूत्वा मां निष्कलं निष्क्रियं निर्विशेषं निराकारं निरञ्जनं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावमानन्दैकरसं प्रत्यगभिन्नं परं ब्रह्माऽद्वितीयं भजन्ते नित्यनिरन्तरैकनिष्ठयाऽनुसंदधते नाऽन्ये वैषयिकसुखभ्रमभ्रान्ता इत्यर्थः ॥२८॥

'मद्भक्ता यान्ति माम्' इत्यत्र सर्वे किं त्वां न प्राप्नुवन्तीत्याकाङ्क्षायां मायातत्कार्यदोषेण संवृता मूढा मां न जानन्ति न भजन्ति न च प्राप्नुवन्ति । ये तु प्राचीनपुण्यातिशयेन सर्वपापनिवृत्तौ सत्यां सम्यगुदितचित्तप्रसादेन द्वन्द्वमोहान्निष्क्रम्य निरन्तरसमाधिनिष्ठया मां भजन्ते त एव मद्भक्ता यान्ति मामित्युक्तविदेहमुक्तिरेव चैतेषां समाधिनिष्ठासम्पन्नसम्यग्ज्ञानस्य फलमिति ज्ञातव्यम्, न तु 'जरामरणमोक्षाय' इति वक्ष्यमाणं 'जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये । ते ब्रह्म तद्विदुः' इति जरामरणमोक्षमुद्दिश्यैव यत्नं कुर्वतां तन्मोक्षसाधनं सर्वस्य ब्रह्ममात्रत्वदर्शनमुच्यते ।

व्रतवाले ('सब यह और मैं ब्रह्म ही हूँ' ऐसा दृढ़ यानी अप्रतिहत व्रत (बुद्धिनिश्चयविशेषरूप) जिनका है, वे दृढ़व्रत हैं) अर्थात् श्रुति, स्मृति तथा करोड़ों युक्तियोंसे अर्थमें निश्चयवाले होकर मुझको—निष्कल, निष्क्रिय, निर्विशेष, निराकार, निरञ्जन, नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव, आनन्दैकरस, प्रत्यगभिन्न अद्वितीय परब्रह्मको—भजते हैं, नित्य निरन्तर एकनिष्ठासे अनुसंधान करते हैं, विषयोंके सुखके भ्रमसे भ्रान्त दूसरे पुरुष नहीं भजते, यह अर्थ है ॥ २८ ॥

'मेरे भक्त मुझको प्राप्त होते हैं' इसमें सब आपको क्यों नहीं प्राप्त होते, ऐसी आकांक्षा होनेपर माया और इसके कार्यके दोषसे दबे हुए ये मूढ़ मुझको न जानते हैं, न भजते हैं और न प्राप्त होते हैं । परन्तु जो पूर्व जन्मके पुण्यके अतिशयसे सब पापोंकी निवृत्ति होनेपर सम्यक् उदित हुए चित्तके प्रसाद द्वारा द्वन्द्वमोहसे निकलकर निरन्तर समाधिनिष्ठासे मुझको भजते हैं, वे ही मेरे भक्त मुझको प्राप्त होते हैं, इससे उक्त विदेहमुक्ति ही उनके समाधिनिष्ठासे संपन्न सम्यक् ज्ञानका फल है, ऐसा जानना चाहिए, 'जरा-मरणसे छूटनेके लिए' इत्यादिसे कहा गया अर्थात् 'जरा और मरणसे छूटनेके लिए मेरा आश्रयण करके जो यत्न करते हैं, वे उस ब्रह्मको जानते हैं' इससे जरा मरणके मोक्षके उद्देश्यसे यत्न करनेवालोंको उनके मोक्षका साधन सबमें ब्रह्ममात्रत्वदर्शन नहीं कहा जाता है ।

तस्मात् 'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्तः' इत्यारभ्यैतत्पर्यन्तं ब्रह्मविदां निर्विशेषब्रह्मैकनिष्ठानां 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति', 'ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति', 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इत्यादि-श्रुत्येकप्रमाणानामत्रैव विदेहमुक्तिं प्रतिपाद्याऽधुना मन्दप्रज्ञानां सर्वं ब्रह्मैवेति सर्वत्र ब्रह्मबुद्धिकरणलक्षणं सगुणोपासनं संक्षेपेणोपदिशति—जरेति ।

जरामरणमोक्षाय जन्ममृत्युप्रवाहनिःशेषनिवृत्तये सर्वकारणं सर्वात्मकं मां पर-मेश्वरमाश्रित्य भ्रमकल्पितनामरूपाद्यग्रहणेन सर्वदा मत्स्वरूपैकानुसन्धानपरा भूत्वा ये मुमुक्षवो यतन्ते 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादिश्रुत्यर्थावष्टम्भेन सर्वत्र ब्रह्म प्रत्यया-वृत्तिमेव ये कुर्वन्तीत्यर्थः । ते निरन्तरब्रह्मप्रत्ययावृत्तिमहिम्ना कृत्स्नमध्यात्मं ब्रह्मादि-स्तम्बपर्यन्तेषु सर्वोपाधिष्वात्मत्वेन स्थितं प्रत्यग्रूपं वस्तु समस्तं कर्म च तस्य सुख-दुःखाद्यनुभूतिकारणं कर्माऽपि समस्तं ब्रह्मैव विदुः । ब्रह्म दृष्ट्वाऽध्यात्मं कर्म च सर्वं ब्रह्ममात्रत्वेन विजज्ञुरित्यर्थः । यथा तोयात् पृथगिव प्रतीयमानास्तरङ्गबुद्बुदादयो द्रवत्वशीतत्वशुक्लतादिभिर्जलधर्मैर्बहिरन्तर्व्याप्तत्वेन पृथग्रूपादिसम्भावितसत्ताभावाज्जलान्न भिद्यन्ते, किन्तु जलमात्रा एव भवन्ति तरङ्गाद्याश्रितक्रियाऽपि तरङ्गाद्यभिन्नत्वेन तरङ्गाद्यात्मकतोयमात्रत्वात् तरङ्गादेस्तत्क्रियायास्तोयमात्रत्वमेव तद्वद्ब्रह्मणोऽपि भिन्ना-

---

इसलिए 'उनमें ज्ञानी नित्ययुक्त' से लेकर यहाँतक निर्विशेष केवल ब्रह्ममें निष्ठा करनेवाले 'उसके प्राण नहीं निकलते', 'ब्रह्म ही होकर ब्रह्मको प्राप्त होता है', 'ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्म ही होता है' इत्यादि श्रुतियोंको केवल प्रमाण माननेवाले ब्रह्मविदोंकी यहीं विदेहमुक्तिका प्रतिपादन करके अब मन्दप्रज्ञावालोंको 'सब ब्रह्म ही है' इस प्रकार सर्वत्र ब्रह्मबुद्धि करनारूप सगुण ब्रह्मकी उपासनाका संक्षेपसे उपदेश देते हैं—'जरा०' इत्यादिसे ।

जरा और मरणसे मुक्त होनेके लिए—जरा-मृत्युके प्रवाहकी निःशेष निवृत्तिके लिए—सबके कारण, सबके आत्मा मुझ परमेश्वरका आश्रय लेकर, भ्रमसे कल्पित नाम-रूप आदिका ग्रहण न करके सर्वदा मेरे स्वरूपके ही अनुसंधानमें तत्पर होकर जो मुमुक्षु यत्न करते हैं । 'सब निश्चय यह ब्रह्म है' इत्यादि श्रुतियोंके अर्थका अवलम्बन कर सर्वत्र ब्रह्मप्रत्ययकी जो आवृत्ति करते हैं, यह अर्थ है । वे निरन्तर ब्रह्मप्रत्ययकी आवृत्तिकी महिमासे सम्पूर्ण अध्यात्मको—ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त सब उपाधियोंमें आत्मरूपसे स्थित प्रत्यक्-रूप वस्तु और समस्त कर्मको तथा उसके सुख-दुःख आदिके अनुभवके कारण समस्त कर्मको भी—ब्रह्म ही जानते हैं । ब्रह्मको देखकर अध्यात्म और कर्म सबको ब्रह्ममात्ररूपसे जानते हैं, यह अर्थ है । जैसे जलसे पृथक्-से प्रतीत होनेवाले तरङ्ग, बुद्बुद आदिमें द्रवत्व, शीतत्व, शुक्लत्व आदि जलके धर्मोंसे बाहर-भीतर व्याप्त होनेके कारण स्वरूप आदिसे संभावित पृथक् सत्ताका अभाव है, अतः वे जलसे भिन्न नहीं हो सकते, किन्तु जलरूप ही हो सकते हैं, तरङ्ग आदिमें रहनेवाली क्रिया भी, तरङ्ग आदिसे अभिन्न होनेके कारण, तरङ्ग आदिके स्वरूपभूत जलरूप ही है, अतः तरङ्ग आदि और उनकी क्रिया जलमात्र ही है, वैसे ही ब्रह्मसे भी भिन्न-से प्रतीत होनेवाले अध्यात्म आदि पदार्थ

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥ ३० ॥

जो पुरुष अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञके साथ मुझको जानते हैं, वे मरणसमयमें भी समाहितचित्त होकर मुझे जानते हैं ॥ ३० ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

नीव प्रतीयमानान्यध्यात्मादीनि वस्तूनि सत्त्वचित्त्वादिभिर्ब्रह्मधर्मैर्बहिरन्तर्व्याप्तत्वेन स्वतः सत्ताभावाद्ब्रह्मणो न भिद्यन्ते, किन्तु ब्रह्ममात्राण्येव भवन्ति । तदाश्रितक्रियाऽप्यध्यात्माभिन्नत्वेन तदात्मकब्रह्माभिन्नत्वाच्च । अध्यात्मनां च सर्वेषां कर्मणां च ब्रह्ममात्रत्वदर्शनं युक्तमेवेति सिद्धम् ॥ २९ ॥

सर्वस्य ब्रह्ममात्रत्वदर्शनपरास्ते उपासका न केवलमध्यात्मकर्मणोरेव ब्रह्ममात्रत्वं विदुः किन्त्वधिभूतादीनामपीत्याह—साधिभूताधिदैवमिति ।

कार्यं सर्वमधिभूतम् अधिदैवं हिरण्यगर्भश्चाऽग्न्यादिकमप्येताभ्यां सह वर्तत इति साधिभूताधिदैवम् अधिभूताधिदैवरूपेण स्थितम् । अधियज्ञो यज्ञादिदेवता तेन सह वर्तत इति साधियज्ञमधियज्ञात्मना स्थितं च मां परं ब्रह्म सर्वात्मकं ये विदुः अध्यात्माधिभूताधिदैवाद्याकारेण सर्वात्मना प्रतीयमानं मां परं ब्रह्म ये नित्यनिरन्तर-

---

सत्त्व, चित्त्व आदि ब्रह्मके धर्मोंसे व्याप्त होनेके कारण स्वतः सत्तावान् न होनेसे ब्रह्मसे भिन्न नहीं हैं, किन्तु ब्रह्मस्वरूप ही हैं । उनमें रहनेवाली क्रियाके भी अध्यात्मसे अभिन्न होनेके कारण तदात्मक ब्रह्मसे अभिन्न होनेसे अध्यात्मोंका और सम्पूर्ण कर्मोंका ब्रह्ममात्रत्वदर्शन युक्त ही है, यह सिद्ध हुआ ॥ २९ ॥

सर्वत्र ब्रह्ममात्रत्वदर्शनमें परायण वे उपासक केवल अध्यात्म और कर्मका ही ब्रह्ममात्रत्व नहीं जानते, किन्तु अधिभूत आदिका भी ब्रह्ममात्रत्व जानते हैं, ऐसा कहते हैं—'साधिभूताधिदैवम्' इत्यादिसे ।

सम्पूर्ण कार्य अधिभूत हैं, अधिदैव है—हिरण्यगर्भ और अग्नि आदि भी, इन दोनोंके साथ जो रहता है, वह साधिभूताधिदैव है यानी अधिभूत और अधिदैवरूपसे स्थित । अधियज्ञ यानी यज्ञादिका देवता, उसके साथ जो स्थित है, वह साधियज्ञ है यानी अधियज्ञस्वरूपसे स्थित मुझ परब्रह्म सर्वात्मकको जो जानते हैं—अध्यात्म, अधिभूत तथा अधिदैव आदि आकारसे, सर्वस्वरूपसे प्रतीत होनेवाले मुझ परब्रह्मको जो नित्य-निरन्तर समाधिनिष्ठासे सम्भावित अप्रतिबद्ध वृत्तिसे

समाधिनिष्ठया सम्भावितापतिबद्धवृत्त्या ब्रह्मैवेदं सर्वमिति सर्वं ब्रह्मैव विदुस्ते मय्येव ब्रह्मणि युक्तचेतसः समाहितचित्ता भूत्वा प्रयाणकाले उत्क्रान्तिसमयेऽपि च देहेन्द्रियप्राणमनोबुद्ध्यादीनां व्याकुलीभावकालेऽपि विपरीतभावराहित्येन सर्वात्मानमेव मां विदुः पश्यन्ति, न तु मत्तो भिन्नं देहेन्द्रियादिकं वाऽऽत्मानं वा वेदनक्रियां वा प्राणिजातं वा देवतान्तरं वा न शृण्वन्ति न पश्यन्ति न स्मरन्ति चेत्यर्थः ॥ ३० ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमदानन्दात्मसरस्वतीशिष्यश्रीशङ्करानन्दसरस्वतीकृतौ गीतातात्पर्यबोधिन्यां सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

'ब्रह्म ही यह सब है', इस प्रकार सबको ब्रह्म ही जानते हैं, वे मुझ ब्रह्ममें ही युक्तचित्तवाले—समाहितचित्तवाले—होकर प्रयाणकालमें—उत्क्रान्तिके समयमें—भी अर्थात् देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदिके व्याकुलीभावकालमें भी विपरीत भावसे रहित होकर सबके आत्मा मुझको ही जानते हैं—देखते हैं, मुझसे भिन्नको नहीं अर्थात् देह, इन्द्रिय आदिको, अपनेको, वेदनक्रियाको, प्राणिसमूहको अथवा दूसरे देवताको न देखते हैं, न सुनते हैं और न उनका स्मरण करते हैं, यह अर्थ है ॥ ३० ॥

सातवाँ अध्याय समाप्त ।

अष्टमोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १ ॥

अर्जुनने कहा—हे पुरुषोत्तम, ब्रह्म क्या है, अध्यात्म क्या है, कर्म क्या है, अधिभूत कौन कहा जाता है और अधिदैव किसे कहते हैं ॥ १ ॥

सप्तमाध्यायान्ते त्वदृश्यत्वादिगुणकं निर्विशेषं प्रमाणागम्यं परं ब्रह्म स्वात्मनाऽधिगन्तुमशक्तानां मन्दप्रज्ञानां भेददर्शनहेतुभूतबाह्यवासनापटलनिःशेषनिवृत्त्या चित्तप्रसादसिद्धौ निर्विशेषज्ञानयोग्यता सेत्स्यतीति सगुणब्रह्मोपासनमुपक्रम्य, 'ते ब्रह्म तद्विदुः' इत्यादिना अध्यात्माधिभूताधिदैवाधियज्ञादीनां ब्रह्माभिन्नत्वदर्शनलक्षणमुपासनं सूचयित्वा, इदानीं ब्रह्मादीनां स्वरूपं विविच्य दर्शयितुं प्रयाणकाले मुमुक्षोः कर्तव्यं ध्यातव्यं प्राप्तव्यं च वस्तु प्रतिपादयितुं पुनरावृत्तिसहितरहितस्थानयोः स्वरूपं बोधयितुं कर्मिणामुपासकानां च गन्तव्यं मार्गं प्रदर्शयितुं चाऽष्टमाध्याय आरभ्यते। तत्राऽदौ 'ते ब्रह्म' इत्यादिना निर्दिष्टानां ब्रह्मादिपदानामनेकार्थत्वादत्र योग्यमर्थमजानानस्तद्बुभुत्सयाऽर्जुन उवाच—किं तदिति ।

परावरयोरुभयोरपि ब्रह्मशब्दार्थत्वादत्र विवक्षितं परं वा किमपरं वा ब्रह्म

सातवें अध्यायके अन्तमें तो अदृश्यत्व आदि गुणवाले, निर्विशेष तथा प्रमाणसे अगम्य परब्रह्मको अपने आत्मरूपसे जाननेमें असमर्थ मन्दप्रज्ञावाले पुरुषोंको भेददर्शनके हेतुभूत बाह्य-वासनापटलकी निःशेष निवृत्तिसे चित्तप्रसादके सिद्ध होनेपर निर्विशेष ब्रह्मके ज्ञानकी योग्यता प्राप्त होगी, इसलिए सगुण ब्रह्मकी उपासनाका उपक्रम करके 'वे उस ब्रह्मको जानते हैं' इत्यादिसे अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैव तथा अधियज्ञ आदिकी ब्रह्मभिन्नत्वदर्शनरूप उपासनाका सूचन करके अब ब्रह्म आदिके स्वरूपको विवेकपूर्वक दिखलानेके लिए मरणकालमें मुमुक्षुका कर्तव्य, ध्यातव्य और प्राप्तव्य वस्तुका प्रतिपादन करनेके लिए पुनरावृत्ति सहित और रहित दोनों स्थानोंके स्वरूपको बतलानेके लिए और उपासकोंका गन्तव्य मार्ग दिखलानेके लिए आठवें अध्यायका आरम्भ किया जाता है। उसमें पहले 'वे ब्रह्म' इत्यादिसे निर्दिष्ट ब्रह्म आदि पदोंकी अनेकार्थता होने कारण यहाँ उनके योग्य अर्थको न जानता हुआ अर्जुन उनके जाननेकी इच्छासे बोला—'किं तत्' इत्यादिसे ।

पर और अवर दोनोंमें ही ब्रह्मशब्दार्थत्व होनेसे क्या यहाँ ब्रह्मशब्दसे परब्रह्म विवक्षित है

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥ २ ॥

हे मधुसूदन, अधियज्ञ किसको कहते हैं, वह इस देहमें किस रूपसे रहता है और किस रूपसे मरणसमयमें समाहित चित्तवाले पुरुषों द्वारा आप जाने जाते हैं ॥ २ ॥

तदुच्यताम् । आत्मानं देहमधितिष्ठतीत्यध्यात्मत्वं प्राणेन्द्रियादीनां प्रतीचश्च संभवति । तस्मात् किमध्यात्मं प्राणो वा श्रोत्रादिर्वा उत आत्मा वा । कर्मणोऽपि श्रौतं स्मार्तं लौकिकं चेति त्रैविध्यात् कर्मशब्देन किं विवक्षितम् । भूतानां कार्यकारणभेदेन पृथिव्यादिभेदेन चाऽनेकत्वसंभवादधिभूतमिति किं प्रोक्तम् । किञ्चाऽधिदैवतमित्यग्न्यादयो देवाः सर्वे वा उतैकदेशो वा तत्सम्बन्धि यत्किञ्चित्क्रियान्तरं वा किमुच्यते ॥१॥

अधियज्ञ इति । 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' इति, 'यज्ञो वै विष्णुः' इति यज्ञमधिष्ठायाऽवस्थितेरुभयत्राऽन्यत्राऽपि च सम्भवादत्र विज्ञानात्मा वा विष्णुर्वाऽन्यो वा को विवक्षितः । स चाऽत्र देहे कथं तिष्ठति साकारेण वाऽप्युत निराकारेण बुद्ध्याद्यन्यतमो वा भिन्नो वा । किञ्च, प्रयाणकालेऽपि नियतात्मभिः समाहितचित्तैस्त्वं कथं केन प्रकारेण ज्ञेयो ज्ञातव्योऽसि । सगुणरूपेण निर्गुणरूपेण वाऽन्येन रूपेण वाऽन्यथा वा सर्वं सम्यग्वक्तव्यमिति पृच्छति ॥ २ ॥

या अपर ब्रह्म, इसको कहिये । आत्माको (देहको) लेकर जो स्थित होता है, वह अध्यात्म है, वह अध्यात्मत्व प्राण, इन्द्रिय आदिमें तथा आत्मामें रहता है, इसलिए क्या प्राण अध्यात्म है या श्रोत्र आदि अथवा आत्मा । कर्म भी श्रौत, स्मार्त और लौकिक तीन प्रकारके हैं, इसलिए कर्मशब्दसे कौनसा कर्म विवक्षित है । भूतोंका कार्यकारणभेदसे और पृथिवी आदिके भेदसे अनेक होना सम्भव है, इसलिए अधिभूतशब्दसे कौन कहा जाता है और अधिदैवतशब्दसे क्या अग्नि आदि देवता सब विवक्षित हैं अथवा (उनका) एकदेश अथवा उससे सम्बद्ध कोई दूसरी क्रिया ? कहिए, क्या कहते हैं ? ॥ १ ॥

अधियज्ञ इति । 'विज्ञान यज्ञका विस्तार करता है' और 'यज्ञ विष्णु है', यहाँ दोनों स्थलोंमें और अन्यस्थलमें भी यज्ञका अधिष्ठान करके स्थित होना सम्भव है, इसलिए प्रकृतमें अधियज्ञ शब्दसे विज्ञानात्मा विवक्षित है या विष्णु विवक्षित है अथवा दूसरा कोई ? और वह इस देहमें कैसे स्थित रहता है, क्या साकाररूपसे या निराकाररूपसे स्थित रहता है एवं क्या बुद्धि आदिमें से कोई एक है, अथवा उनसे भिन्न है । किञ्च, प्रयाणकालमें भी नियतात्माओं द्वारा (समाहितचित्तवालों द्वारा) आप कैसे (किस प्रकारसे) जाने जा सकते हैं ? सगुणरूपसे, निर्गुणरूपसे या अन्यरूपसे अथवा अन्य प्रकारसे, सब ठीक-ठीक कहिए, ऐसा अर्जुन पूछते हैं ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥

भगवान्‌ने कहा—हे अर्जुन, अक्षर (सत्य, ज्ञान आदिस्वरूप) परब्रह्म है, अध्यात्म परब्रह्मका स्वभाव (स्वरूप) है तथा स्थावर, जङ्गम पदार्थोंको उत्पन्न करनेवाला विसर्ग (श्रौतस्मार्तरूप यज्ञ) कर्म है ॥ ३ ॥

किं तद् ब्रह्मेत्यादिना सप्तानामप्युक्तानां प्रश्नानां क्रमेण प्रष्टुरर्थावबोधसौकर्याय स्वाभिमतमर्थं श्रीभगवानुवाच—अक्षरमिति ।

अक्षरम् 'अजो नित्यः शाश्वतः' इति श्रवणाज्ज्ञानाज्ञानाभ्यां कालेनाऽन्येन वा न क्षरति न नश्यतीत्यक्षरम् । यद्वा अव्याकृतं तत्कार्यं च सर्वं बहिरन्तश्चाऽग्निरयःपिण्डमिवाऽश्नुते व्याप्नोतीत्यक्षरं सत्यज्ञानादिलक्षणं परं ब्रह्म, 'एतद्वै तदक्षरं गार्गि' इति श्रुतेः । ननु 'ॐमित्येकाक्षरम्' इति, 'संयुक्तमेतत् क्षरमक्षरं च' इति प्रणवस्याऽव्यक्तस्य चाऽप्यक्षरत्वं श्रूयते कथं ब्रह्मण एवाऽक्षरत्वमिति चेत्, न; अक्षरस्य ब्रह्मणो वाचकत्वात्प्रणवस्याऽक्षरत्वं न तु नित्यत्वेनाऽक्षरत्वम् । तस्य प्रकृतिलीनस्येति प्रलयश्रवणात् क्षरापेक्षयाऽव्यक्तस्याऽक्षरत्वं न तु नित्यत्वेन 'क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः' इति प्रकृतेः क्षरत्वं परस्य ब्रह्मण एवाऽक्षरत्वं च श्रूयते । ततो ब्रह्मैकमेवाऽक्षरं न ततोऽन्यदक्षरमस्ति । तर्हि विशेषणवैयर्थ्यं स्यादिति चेत्, न; ब्रह्मणः सर्ववैलक्षण्यनिर्वाहार्थकत्वा-

---

'वह ब्रह्म क्या है' इत्यादिसे उक्त सातों प्रश्नोंका क्रमसे, पूछनेवाले अर्जुनको अर्थज्ञान सुगमतासे हो, इसलिए अपने अभिमत अर्थको श्रीभगवान् कहते हैं—'अक्षरम्' इत्यादिसे ।

'अजन्मा, नित्य, शाश्वत' इस श्रुतिसे, ज्ञान अज्ञान, काल अथवा अन्य किसी वस्तुसे जो क्षर—नष्ट नहीं—होता, वह अक्षर है । अथवा अव्याकृत और उसके सम्पूर्ण कार्योंको जो बाहर भीतर, जैसे अग्नि लोहपिण्डको व्याप्त करता है वैसे, व्याप्त करता है, वह अक्षर यानी सत्य, ज्ञान आदि रूप परब्रह्म, क्योंकि 'हे गार्गि यही वह अक्षर है' ऐसी श्रुति है । यदि शङ्का हो कि 'ॐ यह एक अक्षर है' इससे और 'संयुक्त यह क्षर और अक्षर' इससे प्रणव और अव्यक्तमें भी अक्षरत्व सुननेमें आता है, ऐसी अवस्थामें ब्रह्मका ही अक्षरत्व कैसे ? तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि अक्षर ब्रह्मका वाचक है, इसलिए प्रणव अक्षर है, नित्य होनेसे अक्षर नहीं है, क्योंकि 'उस प्रकृतिलीनका' इस वचनसे उसका प्रलय सुननेमें आता है, इसलिए क्षरकी अपेक्षा अव्यक्त अक्षर है, नित्यत्वसे नहीं, 'क्षर प्रधान है, अमृत अक्षर है' इससे प्रकृतिका क्षरत्व और परब्रह्मका ही अक्षरत्व सुननेमें आता है । इसलिए ब्रह्म ही एक अक्षर है, उससे अन्य अक्षर नहीं है । तब विशेषणकी व्यर्थता होगी, ऐसा यदि कहो, तो वह युक्त नहीं है,

द्विशेषणस्य सार्थकत्वोपपत्तेः । क्षरमक्षरमिति पदार्थत्वेनोभयोः समत्वे प्राप्ते परममिति विशेषणं ब्रह्मणो निरवयवत्वनिष्क्रियत्वनित्यत्वनिःसङ्गत्वनित्यशुद्धत्वनिरतिशयत्वातिसूक्ष्मत्वसद्घनत्वचिद्घनत्वानन्दघनत्वसर्वव्यापकत्वसर्वप्रकाशकत्वसर्वाधारत्वादिधर्मैः सर्वोत्तमत्वापादकं भवति । श्रूयते च 'महतोऽव्यक्तमुत्तमम्', 'अव्यक्तात्तु परः पुरुषः' इति । एवं विशेषणविशिष्टमक्षरं ब्रह्म पूर्वोक्तब्रह्मपदस्याऽर्थ इत्यर्थः । एवं ब्रह्मशब्दार्थमुक्त्वाऽध्यात्मपदस्याऽर्थमाह—**स्वभाव इति ।** आत्मानं देहं बुध्यन्तं ब्रह्माण्डं रविरिव प्रकाशयितुमधिष्ठाय तिष्ठतीत्यध्यात्मं यत्तत्परस्य ब्रह्मणः स्वभावः स्वरूपमेव। स्वभावो नामाऽध्यात्मं प्रत्यक्तत्त्वं स्वयमेव भवतीति स्वभावः परं ब्रह्म स्वयमेव प्रतिशरीरं प्रत्यग्रूपेणाऽहमर्थोऽप्यात्मा ज्ञाता भवतीत्यर्थः । यथा घटादिषु विद्यमान आकाशो महाकाशस्वभावस्तथा ब्रह्मादिस्तम्बान्तेषु शरीरेष्वहमर्थत्वेन विद्यमानं चैतन्यं ब्रह्मचैतन्यमेव । तत एव तत्त्वमस्यादिवाक्यानां तयोरेकत्वप्रतिपादने प्रवृत्तिः । यतः एवं ततः परस्य ब्रह्मणः स्वभाव एवाऽध्यात्ममित्युच्यते न तु प्राणेन्द्रियादिः । भूतभावोद्भवकरः भूतान्येव भावा भूतभावाः स्थावरजङ्गमरूपपदार्थास्तेषामुद्भव उत्पत्तिः, उद्भव इति जरामरणादेरुपलक्षणं तं करोतीति भूतभावोद्भवकरः विसर्गः देवतोद्देशेन

क्योंकि ब्रह्मकी सबसे विलक्षणताका निर्वाहक होनेसे विशेषण सार्थक है । क्षर और अक्षर, इससे पदार्थत्वरूपसे दोनोंकी समानता प्राप्त होनेपर 'परम' यह विशेषण निरवयवत्व, निष्क्रियत्व, नित्यत्व, निःसङ्गत्व, नित्यशुद्धत्व, निरतिशयत्व, अतिसूक्ष्मत्व, सद्घनत्व, चिद्घनत्व, आनन्दघनत्व, सर्वव्यापकत्व, सर्वप्रकाशकत्व, सर्वाधारत्व आदि धर्मोंसे ब्रह्मकी सर्वोत्तमताका आपादक है । श्रुति भी है—'महत्से अव्यक्त उत्तम है' और 'अव्यक्तसे भी उत्तम पर पुरुष है' । इस प्रकारके विशेषणोंसे विशिष्ट अक्षर ब्रह्म पूर्वोक्त ब्रह्मपदका अर्थ है, यह भाव है । इस प्रकार ब्रह्मशब्दका अर्थ कहकर अध्यात्मपदका अर्थ कहते हैं—**स्वभाव इति ।** आत्माको—बुद्धिपर्यन्त देहको—जैसे सूर्य ब्रह्माण्डको प्रकाशित करता है, वैसे ही प्रकाशित करनेके लिए उनका अवलम्बन करके जो स्थित है, वह अध्यात्म है, यह अध्यात्म इस परब्रह्मका स्वभाव है यानी स्वरूप है, स्वभाव याने अध्यात्म प्रत्यक्तत्त्व, जो स्वयं होता है, वह स्वभाव कहलाता है । परब्रह्म स्वयं ही प्रत्येक शरीरमें प्रत्यक्-रूपसे अहमूका अर्थ भी आत्मा ज्ञाता होता है, यह अर्थ है । जैसे घट आदिमें विद्यमान आकाश महाकाशके स्वभावसे युक्त है, वैसे ही ब्रह्मासे लेकर स्तम्बतकके शरीरोंमें अहंके अर्थरूपसे चैतन्य (ब्रह्मचैतन्य) ही विद्यमान है, इसीलिए 'तत्त्वमसि' आदि वाक्योंकी प्रवृत्ति उन दोनोंके एकत्वका प्रतिपादन करनेमें है । जिस कारणसे ऐसा है, इसलिए परब्रह्मका स्वभाव ही अध्यात्म है, ऐसा कहा जाता है, प्राण, इन्द्रिय आदि नहीं । भूतभावोद्भवकर (भूतरूप भाव भूतभाव है, यानी स्थावर-जङ्गमरूप पदार्थ, उनका उद्भव यानी उत्पत्ति, उद्भवशब्द जरा, मरण आदिका उपलक्षण है, उसको जो करता है, वह भूतभावोद्भवकर है) विसर्ग—देवताके उद्देश्यसे

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाऽधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवाऽत्र देहे देहभृतां वर ॥ ४ ॥

हे सब प्राणियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन, जो विनाशी पदार्थ है, वह अधिभूत है, हिरण्यगर्भ (आदिपुरुष) अधिदैवत है, इस देहमें अधियज्ञ (सम्पूर्ण यज्ञोंका अधिष्ठाता) मैं ही हूँ ॥ ४ ॥

द्रव्यत्यागो यज्ञः श्रौतस्मार्तादिलक्षणो वृष्ट्यादिद्वारा सर्वप्राणिजन्मकारणं यस्तदेव कर्मसंज्ञितं कर्मेत्यर्थः । न तु चलनमात्रम् ॥ ३ ॥

अधिभूतमिति । क्षरो भावः क्षरति नश्यतीति क्षरो भावो नश्वरः पदार्थः सर्वोऽप्यधिभूतमित्युच्यते न तु कारणं कार्यमित्यादिभेदोऽत्र विवक्षितः, किन्तु स्वकर्माऽधिकृत्य यद्यद्भवति तत्तज्जनिमद्वस्तु सर्वमधिभूतमित्यर्थः । अधिदैवं तु पुरुषः पूर्णमनेन सर्वं कार्यजातमिति, पुरिशयनाद्वा पुरुषो हिरण्यगर्भः । 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य' इति श्रुत्युक्तः समष्टिव्यष्टिसर्वशरीराभिमानी सर्वप्राणिकरणानां शक्तिप्रदाताऽधिदैवमित्युच्यते न तु क्रियान्तरम् । चकारः श्रोत्रादिचतुर्दशकरणप्रवर्तकदिग्वातार्कादीनां समुच्चयार्थः । अधियज्ञः इज्यते क्रियते इति यज्ञः श्रौतस्मार्तक्रियात्मको विसर्गः पूर्वोक्तस्तमधिकृत्य तिष्ठतीत्यधियज्ञोऽहमेव सर्वप्राणिनां कर्म तत्फलविभागं तत्परिपाकं प्रवृत्तिं निवृत्तिं च कुर्वन्नत्र देहे त्वहमेवेश्वरो नियन्ताऽस्मीत्यर्थः । 'यच्च स्वभावं पचति विश्वयोनिः पाच्यांश्च सर्वान् परिणामयेद्यः' इति,

द्रव्यत्याग—यानी श्रौत, स्मार्त आदि रूप यज्ञ, जो वृष्टि आदि द्वारा सम्पूर्ण प्राणियोंके जन्मका कारण है, वही कर्मशब्दसे कहलानेवाला कर्म है, चलनमात्र नहीं ॥ ३ ॥

'अधिभूतम्' इत्यादि । जिसका क्षर होता है यानी नाश होता है, वह क्षर भाव है यानी नश्वर सभी पदार्थ, वे अधिभूत कहलाते हैं । कारण, कार्य इत्यादि भेद यहाँ विवक्षित नहीं है, किन्तु अपने कर्मके अनुसार जो जो होता है, वे उत्पत्तिमत् सम्पूर्ण वस्तुएँ अधिभूत हैं, यह अर्थ है । अधिदैव तो पुरुष है (जिससे सम्पूर्ण कार्यसमूह पूर्ण है अथवा जो पुरियोंमें शयन करता है, वह पुरुष है) यानी हिरण्यगर्भ । 'हिरण्यगर्भ भूतोंके अगुवा थे' इस श्रुतिमें कहा गया समष्टि-व्यष्टि सब शरीरोंका अभिमानी, सब प्राणियोंकी इन्द्रियोंको शक्ति देनेवाला देव अधिदैव कहा जाता है, दूसरी क्रिया नहीं । चशब्द श्रोत्र आदि चौदह इन्द्रियोंके प्रवर्तक दिशा, वायु, सूर्य आदिके समुच्चयके लिए है । अधियज्ञ (जो किया जाता है, वह यज्ञ है यानी श्रौत-स्मार्त क्रियात्मक पूर्वोक्त विसर्ग, उसका अवलम्बन कर जो स्थित रहता है, वह अधियज्ञ है) मैं ही हूँ। सब प्राणियोंके कर्म, उनके फलोंका विभाग, उनके परिपाक, प्रवृत्ति और निवृत्तिको करता हुआ इस देहमें मैं ईश्वर ही नियन्ता हूँ, यह अर्थ है । क्योंकि 'जो विश्वयोनि स्वभावको बनाता है और पाकके योग्य सम्पूर्ण पदार्थोंका परिणाम करता है', 'यह अन्तर्यामी है, यह योनि है'

अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नाऽस्त्यत्र संशयः ॥ ५ ॥

मरणसमयमें 'मैं ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार अपनेमें ब्रह्मभावका अनुसन्धान करता हुआ शरीरको छोड़कर जो पुरुष जाता है, वह मुझको ही प्राप्त होता है, इसमें सन्देह नहीं ॥ ५ ॥

'एषोऽन्तर्याम्येष योनिः', 'एष ह्येव साधु कर्म कारयति' इति श्रुतेः। 'पृथिव्यां तिष्ठन्' इत्यादौ निराकारतया नियम्याऽभिन्नत्वं स्वरूपेण तु भिन्नत्वं तदगोचरत्वं च मम पृथिव्यादिनियन्तुः श्रुत्यैवोच्यते, ततो न साकारता नाऽपि विकारितादिर्मम एवमेवाऽस्मिन्देहे तिष्ठामीति भावः। एवमध्यात्मकर्माधिभूताधिदैवाधियज्ञस्वरूपेण सर्वात्मना स्थितं परं ब्रह्म निःशेषविसृष्टविपरीतप्रत्ययेन सर्वं ब्रह्मैवेत्येकवृत्त्या जरामरणमोक्षकामेन नित्यमुपासितव्यमिति प्रश्नप्रतिवचनयोस्तात्पर्यार्थः ॥ ४ ॥

'साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः। प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुः' इति साधिभूताधिदैवाधियज्ञरूपब्रह्मोपासकानामन्तकालेऽपि ब्रह्मवेदनं स्मरणलक्षणं यत् पूर्वमुपक्रान्तं तदिदानीं सफलं विस्तरेण प्रतिपादयति—अन्तकाल इति।

एकवचनं बहुवचनस्योपलक्षणम्। योऽध्यात्माधिभूतादिभेदप्रत्ययराहित्येनोक्तलक्षणं मामेव परं ब्रह्म जरामरणमोक्षायाऽविच्छिन्नयोगनिष्ठयाऽजस्रमनुसन्धत्ते स ब्रह्मविदन्तकाले च तथैवैकवृत्त्या मामेव स्मरन् ब्रह्मैवाऽहमिति स्वस्य ब्रह्मतामेव भाव-

---

'यही साधु कर्म कराता है' ऐसी श्रुति है। 'पृथिवीमें स्थित होकर' इत्यादिमें पृथिवी आदिके नियन्ता मुझमें निराकाररूपसे नियम्यके साथ अभिन्नत्व, स्वरूपसे भिन्नत्व तथा उनका अगोचरत्व श्रुतिसे ही कहा जाता है, इससे न मुझमें साकारता है और न तो मुझमें विकारिता आदि ही हैं, इसी प्रकार इस देहमें मैं स्थित रहता हूँ, यह भाव है। इस प्रकार अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव, तथा अधियज्ञ स्वरूपसे, सर्वात्मना स्थित परब्रह्मकी निःशेष विपरीत प्रत्ययका त्याग कर सब ब्रह्म ही है, इस एक वृत्तिसे, जरा-मरण प्रवाहसे छूटनेकी इच्छावाले पुरुषको नित्य उपासना करनी चाहिए, ऐसा प्रश्न और उत्तर दोनोंका तात्पर्य है ॥ ४ ॥

'जो पुरुष साधिभूत, साधिदैव और साधियज्ञभूत मुझको जानते हैं, वे प्रयाणकालमें (मरणकालमें) भी मुझको जानते हैं' इस श्लोकसे साधिभूत, साधिदैव और साधियज्ञरूप ब्रह्मके उपासकोंके अन्तकालमें भी ब्रह्मके स्मरणरूप जिस ज्ञानका पूर्वमें उपक्रम किया गया था, उसका फलके साथ विस्तारसे प्रतिपादन करते हैं—'अन्तकाले' इत्यादिसे।

एकवचन बहुवचनका उपलक्षण है। जो अध्यात्म, अधिभूत आदि भेदप्रत्ययसे रहित होकर उक्त लक्षणवाले मुझ पर ब्रह्मका ही जरा-मरणसे छूटनेके लिए अविच्छिन्न योगनिष्ठासे सर्वदा अनुसन्धान करता है, वह ब्रह्मवित् अन्तकालमें भी उसी एक वृत्तिसे मेरा ही स्मरण करता हुआ—ब्रह्म

यन् न त्वध्यात्मादिकं स्मरन् तत्स्मरणे त्वहं ममेदमित्यादिव्यामोहः पुनः संसारहेतुः स्यात्, ततः सर्वात्मना परं ब्रह्मैव मां ध्यायन् कलेवरं त्यक्त्वा मद्भावं ब्रह्मभावं याति मामेव प्राप्नोति नाऽस्त्यत्र संशयः। मरणकाले परमेव ब्रह्म ध्यात्वा कलेवरं त्यक्तवतो ब्रह्मविदो ब्रह्मभावापत्तिः परोक्षत्वादस्ति वा नवेत्यस्मिन्नर्थे संशयो न कर्तव्यस्त्वयाऽन्येन वा वैदिकेन। यतो 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इति श्रुत्यैवाऽयमर्थो निर्धार्यते, ततो ब्रह्मवियतिः सर्वदा ब्रह्मानुसन्धानमेव कुर्वन्नन्तकालेऽपि स्वं ब्रह्मैव भावयन् ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः। 'पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैर्यच्चित्तस्तेनैष प्राण आयाति प्राणस्तेजसा युक्तः सहात्मना यथासङ्कल्पितं लोकं नयति' इति श्रवणात्। ब्रह्मविदोऽन्तकालेऽपि च ब्रह्मात्मनैव स्थातव्यं न तु दृश्यात्मना। तदात्मना तिष्ठतो भाविशरीरविषया स्मृतिः स्मृत्यनुरूपा तच्छरीरप्राप्तिश्च भवति। ननु ब्रह्मविदः कर्माभावात् कुतो भाविशरीरस्मृतिस्तत्प्राप्तिश्चेति चेत्, न; कर्मगतेर्विचित्रत्वादवगन्तुं न शक्यते। तर्हि तथाविधकर्मगत्या ब्रह्माऽनुसन्धिरपि तदा निरुद्धः स्यादिति चेत्, न; प्राक्कृतचिरस्थिरनित्यनिरन्तराभ्यस्तयोगबलेन प्राणवेदनाज्ञानवत्कर्म तज्ज्ञानं च निरुध्यते। तेनैव रुद्धविपरीतभावः सन् ब्रह्मैव ध्यायति ब्रह्मैव गच्छति। अत एवाऽन्तकाले च मामेवेति

ही मैं हूँ' इस प्रकार अपने ब्रह्मभावकी ही भावना करता हुआ (न कि अध्यात्म आदिका स्मरण करता हुआ, क्योंकि उनके स्मरणसे तो संसारके हेतु मैं, मेरा आदि व्यामोहका फिर प्रसङ्ग हो जायगा, इसलिए सर्वात्मरूपसे मुझ परब्रह्मका ही ध्यान करता हुआ) शरीरको छोड़कर मेरे भावको ही प्राप्त होता है यानी मुझको ही प्राप्त होता है, इसमें संशय नहीं है। मरणकालमें परब्रह्मका ध्यान करके शरीरको छोड़ रहे ब्रह्मवित्की ब्रह्मभावप्राप्ति परोक्ष है, इसलिए वह है या नहीं, ऐसा इस विषयमें तुमको अथवा अन्य वैदिकको संशय नहीं करना चाहिए, क्योंकि 'ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्म ही होता है' इस श्रुतिसे इस अर्थका निश्चय किया जाता है। इससे सर्वदा ब्रह्मानुसंधान करनेवाला ब्रह्मवित् यति अन्तकालमें अपनेको ब्रह्म ही जानता हुआ ब्रह्म ही हो जाता है, यह अर्थ है, 'क्योंकि मनमें लीन हो रहे इन्द्रियोंके साथ वह दूसरे शरीरको प्राप्त होता है मरणसमयमें पुरुष जैसे चित्तसे युक्त होता है, उस चित्तसे ही यह प्राणमें आ जाता है, तेजसे तथा आत्मासे युक्त प्राण उसे यथासंकल्पित लोकको ले जाता है' ऐसी श्रुति है ब्रह्मवित्को अन्तकालमें भी ब्रह्मस्वरूपसे ही स्थित होना चाहिए, दृश्यस्वरूपसे नहीं। दृश्यस्वरूपसे स्थित होनेवाले पुरुषको भावी शरीरकी स्मृति होती है और उसके अनुसार उस शरीरकी प्राप्ति होती है। यदि कहो कि ब्रह्मवित्के कर्म तो हैं नहीं, फिर भावी शरीरकी स्मृति और उसकी प्राप्ति कहांसे होगी ? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि कर्मकी गति विचित्र है, अतः वह जानी नहीं जा सकती। तब इस प्रकारकी कर्मकी गतिसे ब्रह्मानुसंधान भी रुक जायगा, ऐसा यदि कहो, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि पूर्वकृत, चिरकाल तक स्थिर, नित्य-निरन्तर अभ्यस्त योगके बलसे प्राणवेदनाके ज्ञानके समान कर्म और उसका ज्ञान रुक जाता है। उसीसे निरुद्धविपरीतभाव होकर ब्रह्मका

यं यं वाऽपि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ ६ ॥

हे अर्जुन, भक्त पुरुष जिस जिस भावका (शिव, इन्द्र आदि देवोंके स्वरूपका) स्मरणकर अन्तमें शरीर छोड़ता है, वह सदा उस भावसे भावित होकर उस उस स्वरूपको ही प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

चकारैवकाराभ्यां ब्रह्मविदो विषयान्तरभावनाराहित्येनाऽन्तकालेऽपि ब्रह्मात्मनैव स्थातव्यत्वं नियमयति श्रीभगवानिममेवार्थमग्रेऽपि स्पष्टयति । तर्हि 'तीर्थे श्वपचगृहे वा' इत्यादि-वचनजातस्य का गतिरिति चेत्, पुण्यापुण्यक्षेत्रतीर्थनिवासविचारो ब्रह्मविदो न कर्तव्यो ब्रह्मज्ञानेनैव विमुक्तिर्न तु क्षेत्रनिवासेनेति बोधनमेव गतिः । पुण्यक्षेत्रेऽपि निष्ठाराहित्येनैव विस्मृतिं प्राप्याऽन्तकाले मृगमेव ध्यात्वा जडभरतो मृगत्वं प्राप्तवान् । तस्मात्पूर्वमप्यन्तकाले च ब्रह्मविदो यतेर्ब्रह्मनिष्ठयैव स्थातव्यमिति सिद्धम् ॥ ५ ॥

ननु पुण्येन पुण्यलोकमिति न्यायेन देवयजां विष्णुयजां शिवयजां चाऽऽराधन-मात्रेण तत्स्वरूपता सिध्यति यथा, तथा ब्रह्मविदोऽपि निरन्तरश्रवणादिना ब्रह्म-भावापत्तिः सिध्यति । किमर्थमन्तकाले प्राणवेदनाप्राचुर्ये त्वन्तकाले च मामेवेति नियमेन ब्रह्मविदस्त्वद्ध्यानमवश्यं कर्तव्यमित्ययं निर्बन्ध इत्याशङ्कायाम्, न; विष्ण्वा-दिभक्तानामपि नित्यं चाऽन्तकाले च तद्ध्यानमेव कुर्वतां तत्स्वरूपापत्तिस्तदितरेषां

ध्यान करता है यानी ब्रह्मको ही प्राप्त होता है। इसीलिए 'अन्तकाले च मामेव' इसमें चकार और एवकार दोनोंसे ब्रह्मवित्‌को दूसरे विषयकी भावनासे रहित होकर अन्तकालमें भी ब्रह्म-स्वरूपसे स्थित रहना चाहिए, ऐसा श्रीभगवान् नियमन करते हैं और इसी अर्थको आगे भी स्पष्ट करते हैं। तब 'तीर्थमें या श्वपचके घरमें' इत्यादि वचनोंकी क्या गति होगी, ऐसा यदि कहो, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि पुण्य, अपुण्य क्षेत्र तथा तीर्थमें निवासका विचार ब्रह्मवित्‌को नहीं करना चाहिए, ब्रह्मज्ञानसे ही मुक्ति होती है, क्षेत्रनिवाससे नहीं, यह बतलाना ही गति है। पुण्यक्षेत्रमें भी निष्ठारहित होनेपर विस्मृतिको प्राप्त होकर अन्तकालमें मृगका ध्यान करके जडभरत मृगताको प्राप्त हुए, इसलिए पहले और अन्तकालमें ब्रह्मवित् यतिको ब्रह्मनिष्ठासे ही स्थित रहना चाहिए, यह सिद्ध हुआ ॥ ५ ॥

यदि शङ्का हो कि 'पुण्यसे पुण्यलोक' इस न्यायसे देवयज, विष्णुयज और शिवयज पुरुषोंको आराधनमात्रसे जैसे उनके स्वरूपभावकी प्राप्ति हो जाती है, वैसे ही ब्रह्मवित्‌को भी निरन्तर श्रवण आदिसे ब्रह्मभावकी प्राप्ति हो जायगी, फिर किस लिए जिसमें प्राण वेदनाका आधिक्य है, ऐसे अन्तकालमें 'अन्तकालमें भी मुझको' इस प्रकार नियमपूर्वक ब्रह्मवित्‌को आपका ध्यान अवश्य करना चाहिए, यह आग्रह है ? तो नहीं, यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि विष्णु आदिके भक्तोंको भी नित्य और अन्तकालमें उनका ध्यान करनेपर ही उनके स्वरूपकी प्राप्ति होती है

तु नियमेन भजतां तल्लोकप्राप्तिरेव । सोऽयं नियमः सर्वसाधारणो न तु ब्रह्मविद एवेत्याह—यमिति ।

भक्तो वाऽन्यो वा पुरुषस्तद्भावभावितः तस्य शिवादेर्वाऽभीष्टवस्तुनो वा शत्रोर्वाऽन्यस्य वा भावः स्वरूपं भावितः भक्त्या प्रीत्या वा मोहेन वा द्वेषेण वा भयेन वा सर्वदा भावनाया बुद्धिवृत्तेर्विषयत्वमापादितो भवति येन स तद्भावभावितः सर्वदा तत्स्वरूपमेव भावयन्नन्तकाले यं यं वाऽपि भावं शिवं वा विष्णुं वाऽन्यं वा प्रियमप्रियं पदार्थं पूर्वसंस्कारबलेन स्मरन् चिन्तयन्नेव कलेवरं त्यजति तं तमेव भावं स्वेन चिन्तितपदार्थस्वरूपमेवैति पूर्वकालीनोत्तरकालीनध्यानशक्तिमहिम्ना ध्येयस्वरूपमेव प्राप्नोति न त्वाराधनमात्रपुण्यकर्मणा । नहीन्द्रं यष्ट्वा विप्र इन्द्रत्वं प्राप्नोति तद्वच्छ्रवणमात्रेण ब्रह्मविद् ब्रह्मभावं न गच्छति । तथा च श्रुतिः —'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन' इति । किन्तु सदा तद्भावभावित एव । तस्य ब्रह्मणो भावस्तद्भावो ब्रह्मस्वरूपं सदाऽयमेवाऽहमिति भावितः स्वात्मनाऽनुभवसहितो (अनुभवविषयीकृतः ?) येन स तद्भावभावितः । यद्वा तद्भावं ब्रह्मभावं भावितो नित्यनिरन्तरसमाधिनिष्ठासम्भावितसम्यग्ज्ञानेन प्रापितो यः स तद्भावभावितः सन्नेव ब्रह्मभावं गच्छति । तथा च श्रुतिः 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' इति । नित्यनिरन्तरध्यानेन ध्यातुर्ध्येयस्व-

---

और दूसरे नियमसे भजनेवालोंको तो उनके लोककी प्राप्ति ही होती है, यह नियम सर्वसाधारण है, केवल ब्रह्मवित्‌के लिए ही नहीं है, ऐसा कहते हैं—'यम्' इत्यादिसे ।

भक्त या अन्य पुरुष तद्‌भावभावित (शिव आदिका, अभीष्ट वस्तुका या शत्रुका या अन्यका भाव—स्वरूप—जिससे भावित—भक्ति, प्रीति, मोह, द्वेष या भयसे सर्वदा भावनाकी यानी बुद्धिवृत्तिकी विषयताको प्राप्त—होता है वह तद्भावभावित है) यानी सर्वदा उस स्वरूपकी ही भावना कर अन्तकालमें जिस-जिस भावका, (शिवका, विष्णुका या अन्य प्रिय-अप्रिय पदार्थका) पूर्व-संस्कारके बलसे स्मरण (चिन्तन) करता हुआ शरीरको छोड़ता है, वह उस भावको—अपने चिन्तित पदार्थके स्वरूपको—ही प्राप्त होता है—पूर्व या पश्चात्‌कालीन ध्यानकी शक्तिकी महिमासे ध्येयके स्वरूपको ही प्राप्त हो जाता है, केवल आराधनरूप पुण्यकर्मसे नहीं। जैसे इन्द्रका यजन करके ब्राह्मण इन्द्रपदको प्राप्त नहीं होता, वैसे श्रवणमात्रसे ब्रह्मवित् ब्रह्मको प्राप्त नहीं होता । जैसे कि श्रुति भी है—'यह आत्मा प्रवचनसे प्राप्त नहीं होता, न मेधासे, न बहुत सुननेसे' । किन्तु, सदा उस भावसे भावित होकर ही प्राप्त होता है । उस ब्रह्मका भाव तद्भाव है यानी ब्रह्मस्वरूप, सदा यही मैं हूँ, इस प्रकार भावित यानी अपने आत्मरूपसे अनुभव-विषय किया है जिसने, वह तद्भावभावित है । अथवा तद्भावको ब्रह्मभावको जो भावित—नित्य निरन्तर समाधिनिष्ठासे उत्पन्न हुए सम्यक् ज्ञानसे प्राप्त कराया गया—है, ऐसा तद्भावभावित होकर ही ब्रह्मभावको प्राप्त होता है । जैसे कि श्रुति है—'जिसको ही यह भजता है, उसीको यह प्राप्त होता है' । नित्य निरन्तर ध्यानसे ध्याताका ध्येयस्वरूप होना भ्रमर, कीट आदिमें देखा भी गया है। जिस कारण ऐसा

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयः ॥ ७ ॥

इसलिए मुझमें मन और बुद्धिको अर्पण कर सम्पूर्ण आहार, व्यवहार आदि समयमें मेरा अनुसन्धान करो और लड़ो, ऐसा करनेसे मुझे ही तुम प्राप्त होओगे, इसमें संशय नहीं है ॥ ७ ॥

रूपापत्तिभ्रमरकीटादौ दृष्टा च । यस्मादेवं तस्माद्ब्रह्मविदां यतीनां विदेहमुक्तिकामानां नित्यं चाऽन्तकाले च ब्रह्मैवाऽनुसन्धातव्यं न क्वचिदपि बाह्यमिति सिद्धम् ॥ ६ ॥

ब्रह्मविदां यतीनां ध्यानस्याऽवश्यकर्तव्यत्वसिद्धये उक्तमेवाऽर्थमर्जुनं विषयीकृत्य पुनर्द्रढयति—**तस्मादिति** ।

यस्माच्चरमकालीना दृश्यभावना अविद्यामूलकत्वाच्छरीरारम्भहेतुस्तस्मात्त्वमर्जुनः सर्वेषु च कालेष्वाहारविहारशयनासनादिषु सर्वास्ववस्थासु सर्वात्मके मयि ब्रह्मण्येवाऽर्पिते मनोबुद्धी येन सोऽर्पितमनोबुद्धिः । अत्र मयीति विषयसप्तमी । बुद्धिरहंवृत्तिरिदंवृत्तिर्मनस्तयोर्विषयं मामेव कृत्वा समर्पिते मदात्मना स्थापिते मनोबुद्धी येन स मय्यर्पितमनोबुद्धिः सन्नहमर्थमिदमर्थं च मामनुस्मर । या मां स्मरति विषयीकरोति वृत्तिस्तामन्वेवाऽनुसृत्यैव स्मर तामनुगतयैव सजातीयवृत्त्याऽनुसन्धेहि न तु भिन्नवृत्त्यन्तरालं कुरु । तथा चेत् बाह्यवासना न नश्यति तदभावे संसारो न निवर्तते

है, इसलिए विदेहमुक्तिकी कामनावाले ब्रह्मवित् यतियोंको नित्य और अन्तकालमें भी ब्रह्मानुसन्धान ही करना चाहिए, कहीं भी बाह्यका—अनात्मजातका—अनुसन्धान नहीं करना चाहिए, यह सिद्ध हुआ ॥ ६ ॥

ब्रह्मवित् यतियोंके ध्यानकी अवश्यकर्तव्यताको सिद्ध करनेके लिए उक्त अर्थका ही अर्जुनके उद्देश्यसे फिर दृढ़ीकरण करते हैं—'**तस्मात्**' इत्यादिसे ।

जिस कारणसे अन्तकालकी दृश्यभावना अविद्याकी कार्य होनेसे शरीरके आरंभकी हेतु है, इसलिए तुम (अर्जुन) सब कालोंमें—आहार, विहार, शयन, आसन आदि सब अवस्थाओंमें—मय्यर्पितमनोबुद्धि (सर्वात्मक ब्रह्मरूप मुझमें अर्पण किये हैं मन और बुद्धि जिसने, वह अर्पितमनोबुद्धि है, यहां 'मयि' इसमें विषयसप्तमी है, बुद्धि है—अहमाकारवृत्ति, मन है, इदंवृत्ति । मुझको ही इन दोनोंका विषय करके समर्पित—मेरे स्वरूपसे स्थापित—किये हैं—मन और बुद्धि जिसने वह मय्यर्पितमनोबुद्धि है) होकर अहंके और इदंके अर्थभूत मेरा ही स्मरण करो । जो वृत्ति मेरा स्मरण करती है—मुझे विषय करती है इसीके अनुसार—स्मरण करो, अनुगत सजातीय वृत्तिसे मेरा अनुसंधान करो, भिन्न वृत्तिको अवकाश मत दो । ऐसा करनेसे तो बाह्यवासना नष्ट नहीं होती, उसके नष्ट न होनेसे संसार निवृत्त नहीं होता,

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नाऽन्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थाऽनुचिन्तयन् ॥ ८ ॥

हे पार्थ, अभ्यास द्वारा प्राप्त निर्विकल्पक समाधिसे युक्त, अन्य विषयमें न जानेवाले अन्तःकरणसे (ब्रह्मका) अनुचिन्तन करता हुआ पुरुष दिव्य परम पुरुषको प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

ततः पुङ्खानुपुङ्खवदविच्छिन्नया सद्वृत्त्या सर्वमिदमहं च ब्रह्मैवेति सर्वदा मामनुसन्धेहि । एवं सदाऽनुसन्धानं कुर्वन्मामेव परं ब्रह्मैष्यसि पूर्णानन्दैकरसात्मनाऽवस्थानलक्षणं ब्रह्मभावं गमिष्यसि । न तु पुनः शरीरं ममैवं भविष्यति वा नवेति संशयोऽत्र कर्तव्यो मद्वचनं श्रद्धत्स्वेत्यर्थः । ननु विजातीयप्रत्ययराहित्येन सर्वदा सर्वं ब्रह्मैवेति पश्यतो मम कथं जीवनसिद्धिरित्यत आह—युध्य चेति । त्वं क्षत्रियः खलु स्वजीवनसाधनं युद्धं च कुरु । ननु ब्रह्मानुसन्धेर्युद्धक्रियायाश्च प्रत्ययभेदेन साधनभेदेन स्थितिभेदेन च परस्परं विरुद्धत्वात् द्वयोरेककालैकाधिकरणत्वासम्भवात् कथं तद्द्वयं युगपत्कर्तुं शक्यत इति न शङ्कनीयम्; 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः' इति पूर्वोक्तरीत्या कर्ता करणं च कार्यं भोक्ता भोज्यं भोजनं च सर्वं ब्रह्मैवेति सर्वत्र ब्रह्मदृष्ट्या यच्छारीरं केवलं कर्म तत्कर्तव्यं न त्वतिरिक्तम् । विदुषोऽप्यतिप्रवृत्त्या वासनावृद्धिस्तया पुनरपि जन्मादिसंसारस्तस्मात् सर्वदाऽप्यन्तकाले च ब्रह्मविदो ब्रह्मानुसन्धिरेव कर्तव्य इति सिद्धम् ॥ ७ ॥

इसलिए पुङ्खानुपुङ्खके समान (जैसे अविच्छिन्नरूपसे एक पुंख [पर] के बाद दूसरा पुंख [पर] होता है, वैसे ही) अविच्छिन्न सत्प्रवृत्तिसे यह सब और मैं ब्रह्म ही हूँ, इस प्रकार सर्वदा मेरा ही अनुसंधान करो। इस प्रकार सदा अनुसन्धान करते हुए तुम मुझ परब्रह्मको प्राप्त होओगे—पूर्ण आनन्दैकरस आत्मरूपसे अवस्थानरूप ब्रह्मभावको प्राप्त होओगे। मेरा शरीर फिर ऐसा होगा या नहीं, ऐसा संशय इसमें नहीं करना चाहिए, मेरे वचनमें श्रद्धा करो, यह अर्थ है। यदि शङ्का हो कि विजातीय प्रत्ययसे रहित होकर सर्वदा 'सब ब्रह्म ही है', इस प्रकार देखनेसे मेरे जीवननिर्वाह कैसे होगा ? तो इसपर कहते हैं—'युध्य चेति' तुम क्षत्रिय हो, अतः अपने जीवनका साधन युद्ध भी करो। यदि शङ्का हो कि ब्रह्मानुसन्धान और युद्धक्रियाका प्रत्ययके भेदसे, साधनके भेदसे और स्थितिके भेदसे परस्पर विरोध होनेसे दोनोंका एक कालमें एक अधिकरणमें होना जब संभव नहीं है, तब दोनों एक साथ कैसे किये जा सकते हैं, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः' इस पूर्वोक्त रीतिसे कर्ता, करण कार्य, भोक्ता, भोज्य और भोजन सब ब्रह्म ही हैं, इस प्रकार सर्वत्र ब्रह्मदृष्टिसे जो केवल शरीरनिर्वाहककर्म है, उसीको करना चाहिए, दूसरेको नहीं। विद्वान्‌को भी अतिप्रवृत्तिसे वासनाकी वृद्धि होगी, उससे फिर जन्मादि संसार होगा, इसलिए सर्वदा और अन्तकालमें भी ब्रह्मवित्‌को ब्रह्मानुसन्धान ही करना चाहिए, यह सिद्ध हुआ ॥ ७ ॥

ननु ब्रह्मविदः स्वज्ञानदग्धाखिलकर्मणः कर्माभावात् कुतो भाविशरीरस्मृतिस्तत्प्राप्तिश्चेति चेत्, कर्मगतेर्विचित्रत्वात् तत्तत्त्वमवगन्तुं न शक्यते; तर्हि तथाविधकर्मगत्या मरणकाले ब्रह्मानुसन्धिरपि निरुद्धः स्यादिति चेत्, न; प्राक्कालेनाऽभ्यासयोगबलेन योगी ब्रह्मस्वरूपानुलीनान्तःकरणतया स्वयं प्राणवेदनावत् कर्म तत्कार्यं च न मनुते। यथा मद्यरसवेगेन तत्पायी प्रारब्धकृतं बाह्यं किञ्चिन्न मनुते किन्तु मद्यरसवेगेन प्राप्तमेव कार्यं करोति तद्वद्यमप्यभ्यासयोगबलेन ब्रह्मैव ध्यायति ब्रह्मैव गच्छतीत्याशयेनाऽऽह—अभ्यासेति।

अभ्यासयोगयुक्तेन तीव्रमोक्षेच्छयाऽप्यतिवैराग्येण च तदेकपरत्वेन चिरकालं नित्यनिरन्तरं च क्रियमाणविजातीयप्रत्ययानन्तरिता या सजातीयप्रत्यया वृत्तिः सार्वकालिकी स एष एवाऽभ्यासः समाधिरेतदभ्यासेन प्राप्तो यो निर्विकल्पकसमाधिः स योगस्तेन युक्तेन ब्रह्माकारतां प्राप्तेन तत एव नान्यगामिना अन्यं भाविकर्मकार्यं प्राणेन्द्रियादिविक्षेपं वाऽन्यद्वा गन्तुं मन्तुं च शीलं वासनाशक्तिर्नाऽस्याऽस्तीति नान्यगामि तेन चेतसाऽनुचिन्तयन् उक्तरीत्या स्वरूपमेव ध्यायन् ब्रह्मवित्परमं निरतिशयमहत्त्वसम्पन्नं दिव्यं प्रकाशैकरूपं पुरुषं याति प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

यदि शङ्का हो कि आत्मज्ञानसे जिसके सब कर्म जल गये हैं, ऐसे ब्रह्मवित्‌के कर्मका अभाव है, अतः उसे भावी शरीरकी स्मृति और उसकी प्राप्ति कैसे होगी ? यदि कहो कि कर्मकी गति विचित्र होनेसे जानी नहीं जा सकती, तब तो इस प्रकारकी कर्मकी गतिसे मरणकालमें ब्रह्मानुसन्धान भी निरुद्ध (रुक) हो जायगा, तो यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि पूर्वकालके अभ्याससे प्राप्त योगके बलसे योगी, ब्रह्मस्वरूपमें अन्तःकरणके लीन होनेके कारण, स्वयं प्राणवेदनाके समान कर्म और उसके कार्यको नहीं जानता। जैसे मद्यको पीनेवाला पुरुष मद्यरसके वेगसे किसी प्रारब्धजनित बाह्य वस्तुको नहीं जानता, किन्तु मद्यरसके वेगसे प्राप्त हुए कार्यको ही करता है, वैसे ही यह योगी भी अभ्याससे प्राप्त योगके बलसे ब्रह्मका ही ध्यान करता है, ब्रह्मको ही प्राप्त होता है, इस आशयसे कहते हैं—'अभ्यास०' इत्यादिसे।

अभ्यासयोगसे युक्त (तीव्र मोक्षकी इच्छासे और अतिवैराग्यसे केवल ध्येयवस्तुमें परायण होकर चिरकालतक नित्य निरन्तर की गई विजातीय प्रत्ययसे रहित जो सदातन सजातीय प्रत्ययकी आवृत्ति है, वही यह अभ्यास है यानी समाधि, उस अभ्याससे प्राप्त हुई जो निर्विकल्पक समाधि है, वह योग है, उससे युक्त) यानी ब्रह्माकारताको प्राप्त हुए, इसीलिए नान्यगामी (अन्यको—भावी कर्मसे होनेवाले प्राण, इन्द्रिय आदि विक्षेपको अथवा अन्य वस्तुको—प्राप्त होने या मनन करनेकी वासनाशक्ति जिसकी नहीं है, वह नान्यगामी है) चित्तसे अनुचिन्तन करता हुआ (उक्त रीतिसे स्वरूपका ही ध्यान करता हुआ) ब्रह्मविद् यति निरतिशय-महत्त्वसंपन्न दिव्य—केवल प्रकाशरूप पुरुष—को प्राप्त होता है, यह अर्थ है ॥ ८ ॥

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ ९ ॥

सर्वज्ञ, सबके नियन्ता, सम्पूर्ण प्राणियोंको कर्मानुसार फल देनेवाले, अणुसे भी अति सूक्ष्म, अनादि, अचिन्त्य, सूर्यके समान नित्य चैतन्यरूप प्रकाशसे युक्त तथा अज्ञान और उसके कार्यके सम्बन्धसे रहित परमात्माका जो पुरुष [अन्तकालमें] स्मरण करता है [वह परम पुरुषको प्राप्त होता है] ॥ ९ ॥

'य एवमेताँल्लोकानात्मन्येव प्रतिष्ठितान् वेदात्मैव भवति' इति श्रुत्या सर्वात्मनः परमात्मन उपासनमुक्त्वा तस्यैवोपासकस्य 'योऽयं विज्ञानघन उत्क्रामन् केन कतरद्वाव स्थानमुत्सृज्योत्क्रामति' इत्युत्क्रमणमुपक्रम्य शरीरादुत्क्रमणप्रकारमेव वर्णयितुम् 'अपुनर्भवाय कोशं भिनत्ति कोशं भित्त्वा शीर्षकपालं भिनत्ति शीर्षकपालं भित्त्वा अक्षरं भिनत्त्यक्षरं भित्वा मृत्युं भिनत्ति मृत्युर्वै परे देवे एकीभवति' इत्युक्तक्रमेणोत्क्रान्तस्य परदेवताप्राप्तिरुक्ता । तथैवाऽत्रापि 'साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः' इति भगवता सर्वात्मकस्य स्वस्य परमात्मन उपासनमुक्त्वाऽऽत्मतत्त्वोपासकस्योपास्तिपरिपाकदशायाम् 'अन्तकाले च मामेव' इत्युत्क्रमणं तदानीं विदुषः कर्तव्यं कार्यं च सूचयित्वा, इदानीमुत्क्रान्तस्योपासकस्य प्राप्तव्यं यदैश्वरं परतत्त्वमुपान्त्यश्लोकनिर्दिष्टं तदेव विशेषणैर्विशिनष्टि—कविमिति ।

कविमतीतानागतवर्तमानसर्वप्राणितद्धर्मतत्कर्माणि चित्रविचित्राणि तत्फलानि

'जो इस प्रकार आत्मामें ही प्रतिष्ठित इन लोकोंको जानता है, वह आत्मा ही हो जाता है' इस श्रुतिसे सर्वात्मक परमात्माकी उपासना कहकर, उसी उपासकके 'उत्क्रमण कर रहा जो यह विज्ञानघन है, वह किसके द्वारा किस स्थानको छोड़कर उत्क्रमण करता है' इस प्रकार उत्क्रमणका उपक्रम करके, शरीरसे उत्क्रमणके प्रकारका ही वर्णन करनेके लिए 'पुनर्जन्म न हो, इसलिए कोशका भेदन करता है, कोशका भेदन करके सिरके कपालका (ब्रह्मरन्ध्रका) भेदन करता है, सिरकपालका भेदन करके अक्षरका भेदन करता है, अक्षरका भेदन करके मृत्युका भेदन करता है, मृत्यु परदेवमें एकीभूत हो जाती है' इत्यादि श्रुतिसे कथित क्रमसे उत्क्रान्त जीवकी जैसे परदेवताप्राप्ति कही गई है, वैसे ही यहाँ भी 'साधिभूत, साधिदैव और मुझ साधियज्ञको जो जानते हैं' इत्यादिसे सर्वात्मक परमात्माकी उपासना कहकर, आत्मतत्त्वके उपासककी उपासनाकी परिपाकदशामें 'और अन्तकालमें मुझको ही' इत्यादिसे उत्क्रमण और उस समय विद्वान्‌के कर्तव्य कार्यका सूचन करके अब भगवान् उत्क्रान्त उपासकका प्राप्तव्य जो ईश्वरसम्बन्धी परतत्त्व पिछले श्लोकमें कहा गया है, उसीका विशेषणों द्वारा विस्तारपूर्वक व्याख्यान करते हैं—'कविम्' इत्यादिसे ।

कवि (अतीत, अनागत तथा वर्तमान सभी प्राणियोंको, उनके धर्मोंको, उनके कर्मोंको

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ १० ॥

मरणसमयके प्राप्त होनेपर निश्चल मनसे, भक्तिसे और योगबलसे युक्त होकर जो पुरुष भौंहोंके बीचमें प्राणोंको ले जाकर पूर्वोक्त कवि आदि विशेषणोंसे युक्त पुरुषकी उपासना करता है, वह उक्त दिव्य परम पुरुषको प्राप्त होता है ॥ १० ॥

च साक्षादव्यवधानेन कोऽब्रवीति विजानातीति कविः सर्वज्ञस्तम्। तत एवाऽनुशासितारं सर्वेषां प्राणिनां हृदये बुद्धिकोशे स्थित्वा तत्तत्प्राणिकर्माण्यनुसृत्य शासितारम्। नियन्तारमित्यर्थः। धातारं च सर्वस्य प्राणिजातस्य तत्कृतकर्मणामनेककोटिकल्पार्जितानां फलं तद्धत्त इति धातारम्। विधातारमित्यर्थः। अणोरतिसूक्ष्मस्याऽऽकाशादेरपि कारणत्वादणीयांसमतिसूक्ष्मम्, अत एव सर्वकारणत्वात् पुराणमनादिमतिसूक्ष्मत्वादनादित्वादप्रमेयत्वादचिन्त्यरूपं वाङ्मनसागोचरम्। आदित्यवर्णमादित्यस्येवाऽनपायो नित्यो वर्णश्चैतन्यलक्षणः प्रकाशो यस्य स आदित्यवर्णस्तम्। तमसः परस्तात्तमसो मोहात्मकादज्ञानात्तत्कार्याच्च परतः स्थितम्। अज्ञानतत्कार्यसंबन्धरहितमित्यर्थः। एवंरूपं परमात्मानं मां योऽनुस्मरेत् अनेकजन्मार्जितपुण्यपुञ्जपरिपाकासादितपरमेश्वरप्रसादसंपन्नः संस्मरेत् प्रागभ्यस्तयोगबलेनाऽन्तकालेऽनुसंदध्यात्स तं परं पुरुषमुपैतीत्युत्तरेण संबन्धः ॥ ९ ॥

कविं पुराणमित्यादिलक्षणसंपन्नं परमात्मानमुपासीनो योगी कया साधनसंपत्त्या कदा स्वयं प्राप्नोतीत्याकाङ्क्षायामाह—प्रयाणकाल इति।

तथा उनके चित्रविचित्र फलोंको साक्षात्—व्यवधानके बिना—जो जानता है, वह कवि है) यानी सर्वज्ञ, इसीलिए अनुशासिता (सब प्राणियोंके हृदयमें यानी बुद्धिकोशमें स्थित होकर तत्-तत् प्राणीके कर्मके अनुसार नियन्ता यह अर्थ है) और धाता (सब प्राणियोंको उनके द्वारा अनुष्ठित अनेक कोटिकल्पोंसे उपार्जित कर्मोंके फलको जो देता है, वह धाता है) यानी विधाता, अतिसूक्ष्मका और आकाश आदिका भी कारण होनेके कारण अणुसे अतिसूक्ष्म, इसीलिए सबका कारण होनेसे पुराण यानी अनादि, अतिसूक्ष्म, अनादि और अप्रमेय होनेसे अचिन्त्यरूप (वाणी और मनका अविषय) आदित्यवर्ण (सूर्यके समान नाशरहित नित्य चैतन्यरूप है वर्ण—प्रकाश—जिसका, वह आदित्यवर्ण है), तमसे पर (मोहात्मक अज्ञानसे और उसके कार्यसे परे स्थित) यानी अज्ञान और अज्ञान-कार्यके सम्बन्धसे रहित, यह अर्थ है। इस प्रकारके रूपवाले मुझ परमात्माका जो अनुस्मरण करता है—अनेक जन्मोंसे सम्पादित पुण्यपुञ्जके परिपाकसे प्राप्त ईश्वरके प्रसादसे संपन्न होकर संस्मरण करता है—यानी पूर्वमें अभ्यस्त योगबलसे अन्तकालमें अनुसन्धान करता है, वह उस पर पुरुषको प्राप्त होता है, इस प्रकार आगेके श्लोकके साथ सम्बन्ध है ॥ ९ ॥

'कवि पुराण' इत्यादि लक्षणोंसे संपन्न परमात्माको उपासना करनेवाला योगी किस साधन-

तीव्रमोक्षेच्छावैराग्याभ्यामनन्यवृत्त्या नित्यं निरन्तरं च कविमित्यादिविशेषणसंपन्नं परमात्मानमनुसंदधानः स योगी प्रयाणकाले मृतिकाले संप्राप्ते सति स्वयमचलेन चिरकालनित्यनिरन्तरसजातीयप्रत्ययावृत्त्याऽभ्यासातिशयपटुत्ववशान्निश्चलेन विषयान्तरसंपर्कवर्जितेन मुक्तेः परमसाधनेन मनसा भक्त्या वृत्तेः स्वविषयाकारतापत्तिर्भक्तिस्तया च योगबलेन योगः समाधिस्तेन संभावितं बलं चित्तस्य लक्ष्यैकाकारतापत्तिस्थैर्यलक्षणं तेनैवोत्तमसाधनेन युक्तः सन् 'शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' इति श्रुत्युक्तरीत्या पूर्वं कुम्भकेन हृदये प्राणापानावेकीकृत्य स्थापयित्वा, अनन्तरमिडापिङ्गले द्वे नाड्यौ ऊर्ध्वं चोर्ध्वगामिन्या सुषुम्नया नाड्या प्राणं भ्रुवोर्मध्ये लम्बिकान्तं सम्यगानीय, 'शीर्षकपालं भित्त्वा' श्रुत्युक्तरीत्या पृथिवीं भित्त्वाऽपो भित्त्वा तेजो भित्त्वा वायुं भित्त्वाऽऽकाशं भित्त्वा मनो भित्त्वा भूतादिं भित्त्वा महान्तं भित्त्वाऽव्यक्तं भित्त्वाऽक्षरं भित्त्वा मृत्युं भित्त्वा तं कविं पुराणमित्युक्तलक्षणं दिव्यं प्रकाशैकस्वभावं परं पुरुषमुपैति। प्राप्नोतीत्यर्थः। 'अन्तकाले च मामेव' इत्यन्तकाले च ब्रह्मानुसंधानविधिः। 'सदा तद्भावभावितः' इति तत्पूर्वमपि सर्वदा ब्रह्मानुसंधानविधिः। 'तस्मात् सर्वेषु

संपत्तिसे, किस समय स्वयं प्राप्त होता है, ऐसी आकाङ्क्षा होनेपर कहते हैं—'प्रयाणकाले' इत्यादिसे।

तीव्र मोक्षकी इच्छा और वैराग्य द्वारा अनन्य वृत्तिसे नित्य और निरन्तर 'कवि' आदि विशेषणोंसे सम्पन्न परमात्माका अनुसन्धान करता हुआ वह योगी प्रयाणकालमें यानी मरणकालके प्राप्त होनेपर स्वयं अचल—चिरकालतक नित्य निरन्तर सजातीय प्रत्ययकी आवृत्तिसे अभ्यासजनित अतिशय पटुतावश निश्चल यानी दूसरे विषयोंके सम्पर्कसे वर्जित मुक्तिके परम साधन मनसे, भक्तिसे (वृत्तिकी स्वविषयाकारतापत्ति भक्ति है उससे) और योगबलसे (समाधिसे उत्पन्न बलसे—चित्तके केवल लक्ष्याकारतापत्तिस्थिरतारूप बलसे—यानी उसी उत्तम साधनसे युक्त होकर 'सौ और एक (एक सौ एक) हृदयकी नाड़ियाँ हैं, उनमें से एक मूर्धामें होकर निकली है, उससे ऊपर जाता हुआ अमृतको प्राप्त होता है' इस श्रुतिके द्वारा उक्त रीतिसे पहले कुम्भक द्वारा हृदयमें प्राण और अपानका एकीकरण करके यानी स्थापन करके पीछे इडा और पिङ्गला दो नाडियोंका एकीकरण कर तदनन्तर उर्ध्व जानेवाली सुषुम्रा नाडीसे प्राणको भौंहोंके मध्यमें लम्बिकातक (तालुके ऊपर स्थित सूक्ष्म जिह्वा तक) भलीभाँति ले जाकर 'शीर्षकपालका भेदन करके' इस श्रुतिमें उक्त रीतिसे पृथिवीका भेदन करके, जलका भेदन करके, तेजका भेदन करके, वायुका भेदन करके, आकाशका भेदन करके, मनका भेदन करके, अहङ्कारका भेदन करके, महत्तत्त्वका भेदन करके, अव्यक्तका भेदन करके, अक्षरका भेदन करके, मृत्युका भेदन करके उस कवि पुराण आदि उक्त लक्षणवाले दिव्य प्रकाशैकस्वभाव पर पुरुषके समीप जाता है, प्राप्त होता है, यह अर्थ है। 'अन्तकाले च मामेव' इससे अन्तकालमें भी ब्रह्मानुसन्धानकी विधि है, 'सदा तद्भावभावितः' इससे उसके पूर्व भी सदा ब्रह्मानुसन्धानकी विधि है, 'तस्मात्सर्वेषु कालेषु'

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥ ११ ॥

ब्रह्मविद् याज्ञवल्क्य आदि जिस ब्रह्मरूप अक्षरका शिष्योंके प्रति उपदेश देते हैं, जिस ब्रह्मको वीतराग यति प्राप्त करते हैं और जिसको जाननेकी इच्छासे बड़े बड़े ब्राह्मण [गुरुजीके पास] ब्रह्मचर्यका अनुष्ठान करते हैं, मैं उस ब्रह्मको तुमसे संक्षेपसे कहूँगा ॥ ११ ॥

कालेषु' इत्युक्तार्थश्च, 'अभ्यासयोगयुक्तेन' इत्यनेनोक्तार्थश्च, ब्रह्मविदां च सगुणोपासकानां चाऽयमुपदेशः सम एव ज्ञातव्यः प्रयत्नेन कर्तव्यश्च । कविं पुराणमित्युक्तार्थस्तूपासकस्यैव न तु ब्रह्मविद इति विवेकः ॥ १० ॥

यतीनां मुमुक्षूणां सद्गुरोः सकाशाद् यज्ज्ञातव्यं निर्विशेषं परं ब्रह्म तदनेन प्रस्तौति तेषां तीव्रमोक्षेच्छया प्रवृत्तिसिद्धये—यदिति ।

सर्वे वेदाः स्वस्वोपनिषन्मुखेन ब्रह्मैव प्रतिपादयन्ति 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' इति, सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञानं ब्रह्म' इति, 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्', 'स यश्चायं पुरुषः' इति 'ईशावास्यमिदं सर्वं', 'अहं ब्रह्मास्मि' इति, 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्', 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं', 'तत्त्वमसि' इति, 'सर्वं ह्येतद्ब्रह्म', 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यतः सर्वेषां वेदानां तात्पर्यविषयभूतोऽर्थः परं ब्रह्मैव भवति । तेन वेदविदो वेदार्थविदः वेदार्थमुक्तलक्षणं परं ब्रह्म साक्षात् स्वात्मना ये विदुस्ते वेदविदो ब्रह्मविदो याज्ञवल्क्यादयः सर्वे यदक्षरं न क्षरति

इससे उक्त अर्थ और 'अभ्यासयोगयुक्तेन' इससे कहा हुआ अर्थ भी ब्रह्मविदोंके लिए और सगुण उपासकोंके लिए भी यह उपदेश समान ही जानना चाहिए और प्रयत्नसे करना भी चाहिए । कवि पुराण, इससे उक्त अर्थ तो उपासकके लिए ही है, ब्रह्मवित्के लिए नहीं, ऐसा विवेक है ॥ १० ॥

यति (मुमुक्षुओंका) सद्गुरुके समीपमें जाकर जो निर्विशेष परब्रह्म ज्ञातव्य है, उसकी प्रशंसा मुमुक्षुओंकी तीव्रमोक्षेच्छाके द्वारा प्रवृत्तिकी सिद्धिके लिए करते हैं—'यद०' इत्यादिसे ।

सम्पूर्ण वेद अपने अपने उपनिषदोंके द्वारा ब्रह्मका ही प्रतिपादन करते हैं—'यह एक आत्मा ही पहले था', 'सम्पूर्ण वह प्रज्ञानेत्र प्रज्ञान ब्रह्म है', 'सत्य और ज्ञान अनन्त ब्रह्म है', 'सत्य ही सत्य और अनृत हुआ', 'वह जो यह पुरुष', 'ईश्वरसे यह सब ढका हुआ है', 'मैं ब्रह्म हूँ', 'हे सोम्य, पहिले यह सत् ही था', 'यह सब इसीका स्वरूप है', 'वह तू है', 'सभी यह ब्रह्म है', 'यह आत्मा ब्रह्म है' इन सब वाक्योंसे सब वेदोंका तात्पर्यविषयभूत अर्थ परब्रह्म ही है । उससे वेदके जाननेवाले यानी वेदके अर्थके जाननेवाले (वेदका अर्थ है—उक्तलक्षण परब्रह्म, उसको साक्षात् अपने स्वरूपसे जो जानते हैं, वे वेदवित् हैं) यानी याज्ञवल्क्य आदि सब जिस अक्षरका (जो ज्ञान,

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायाऽऽत्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥ १२ ॥

सम्पूर्ण नासिका आदि द्वारोंका योगबलसे निरोध कर, मनका हृदयमें निरोध कर और अपने प्राणोंको ब्रह्मरन्ध्रमें स्थापित कर योगप्रक्रियाका आश्रयण करता हुआ योगी ॥ १२ ॥

ज्ञानाज्ञानादिनाशतात्साधनेन न नश्यतीत्यक्षरं नित्यकूटस्थमसङ्गं चिदेकरसमद्वितीयं यत्परं ब्रह्म 'एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वम्' इति श्रुत्युक्तरीत्याऽशेषविशेषापवादेन निष्कलं निष्क्रियं शान्तमनन्तमभिवदन्ति शिष्येभ्य उपदिशन्ति वीतरागाः निःशेषविनष्टरागादिदोषाः सम्यग्ज्ञानसम्पन्ना यतयः 'संप्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः' इति श्रुत्युक्तप्रकारेण यत्परं ब्रह्म विशन्ति प्राप्नुवन्ति यत्परं ब्रह्म गुरोर्ज्ञातुमिच्छन्तः सन्तो महान्तो ब्राह्मणा 'भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ' इति श्रुत्युक्तरीत्या गुरुसन्निधौ ब्रह्मचर्यं चरन्ति । ब्रह्मचर्यं नाम दृष्टादृष्टसर्वविषयसुखवैमुख्येनाऽऽहारादिनियमेन स्वधर्मेण च श्रद्धया भक्त्या च सद्गुरुसंनिधौ वेदान्तश्रवणमेव, तत्कुर्वन्ति । तदक्षरसंज्ञितं पदं ज्ञानेन पद्यते प्राप्यत इति पदं परं ब्रह्म ते तुभ्यं संग्रहेण 'परस्तस्मात्तु भावोऽन्यः' इति संक्षेपेणैव प्रवक्ष्ये । प्रकर्षेण कथयिष्यामीत्यर्थः ॥ ११ ॥

'स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' इति योगिप्राप्यवस्तुवर्णनप्रसङ्गादागतं

अज्ञान आदिके नाश और उसके साधनोंसे नष्ट नहीं होता, वह अक्षर है यानी नित्य कूटस्थ, असङ्ग, चिदेकरस, अद्वितीय जिस परब्रह्मका) 'हे गार्गि, निश्चय इस अक्षरको ब्राह्मण अस्थूल, अनणु, अह्रस्व कहते हैं' इस श्रुतिमें कही गई रीतिसे अशेष विशेषका अपवाद करके निष्कल, निष्क्रिय, शान्त, अनन्त ब्रह्मका शिष्योंके प्रति उपदेश करते हैं । वीतराग यानी जिनके राग आदि दोष निःशेष विनष्ट हो गये हैं, ऐसे सम्यक् ज्ञानसे सम्पन्न यति 'इसको प्राप्त करके ऋषि ज्ञानसे तृप्त' इस श्रुतिमें कहे गये प्रकारसे जिस परब्रह्मको प्राप्त होते हैं, जिस परब्रह्मको गुरुसे जाननेकी इच्छासे बड़े बड़े ब्राह्मण 'फिर भी तपसे, ब्रह्मचर्यसे और श्रद्धासे एक वर्ष तक वास करो' इस श्रुतिमें कही गई रीतिसे गुरुके समीपमें ब्रह्मचर्यको धारण करते हैं (दृष्ट और अदृष्ट विषयके सुखसे विमुख होकर आहार आदिके नियमसे, स्वधर्मसे, श्रद्धासे और भक्तिसे सद्गुरुके समीप वेदान्तश्रवणका ही नाम ब्रह्मचर्य है, उसको जो करते हैं), उस अक्षर नामक पदको (ज्ञानसे जो प्राप्त किया जाता है, वह पद है यानी परब्रह्म, इसको) तुम्हें संक्षेपसे इससे अन्य दूसरा भाव है' यों संक्षेपसे ही कहूँगा । भली भाँति कहूँगा, यह अर्थ है ॥ ११ ॥

'वह उस दिव्य परपुरुषको प्राप्त होता है' इस प्रकार योगीकी प्राप्तव्य वस्तुके वर्णनके

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥ १३ ॥

'ॐ' इस एकाक्षर प्रणवका स्पष्ट उच्चारण और उसके अर्थभूत मेरा (परमेश्वरका) मनसे ध्यान करता हुआ जो शरीरको छोड़कर जाता है, वह परम गतिको प्राप्त होता है ॥ १३ ॥

ज्ञानिप्राप्यस्य वस्तुनो वर्णनं यत्किञ्चित्कृत्वा प्रकृतमेव योगिप्रयाणं प्रतिपादयति—सर्वेति ।

सर्वद्वाराणि नासिके चक्षुषी श्रोत्रे मुखमधोबिलं लिङ्गं च वायोर्निर्गमद्वाराणि सर्वाणि संयम्य योगबलेन निरुध्य बहिरन्तर्व्यापृतिशीलं मनश्च हृदि निरुध्य प्राणवायुमपि सर्वाङ्गीणमाकृष्य हृदयमानीय एतं सुषुम्नया संयोज्य विशुद्धचक्रमनाहतचक्रमाज्ञाचक्रं चाऽतिक्रम्य प्राणं मूर्ध्नि ब्रह्मरन्ध्रे द्वादशान्ते षोडशान्ते चाऽऽधाय योगधारणां योगप्रक्रियामुत्क्रमणगतिमास्थितः सन् योगी ॥ १२ ॥

ओमिति । एकं च तदक्षरं चैकाक्षरं ब्रह्मणो वाचकत्वाद्ब्रह्मेत्युच्यते प्रणवस्तमेकाक्षरमेव त्रिमात्रकं च दीर्घघण्टानादवदोमिति व्याहरन्वाचा प्रस्फुटमुच्चरन् तदर्थं कविं पुराणमित्युक्तलक्षणसंपन्नं मां परमेश्वरमनुस्मरन् मनसा ध्यायन् शीर्षकपालं भित्त्वा देहमत्र स्थूलं त्यजन्नेवं देहत्यागं कृत्वा यः सूक्ष्मेण प्रयाति पूर्वोक्तक्रमेण

प्रसङ्गसे प्राप्त हुए ज्ञानीकी प्राप्तव्य वस्तुका थोड़ासा वर्णन करके प्रकृत योगीके प्रयाणका ही प्रतिपादन करते हैं—'सर्व०' इत्यादिसे ।

सब द्वारोंका—नासिका, नेत्र, श्रोत्र, मुख, अधोबिल (मलत्यागेन्द्रिय) और लिङ्ग—इन सब वायुके निकलनेके द्वारोंका—संयम करके (योगबलसे निरोध कर, बाहर भीतर व्यापार करनेवाले मनको हृदयमें रोककर सब अङ्गोंकी प्राणवायुको भी खींचकर हृदयमें लाकर, उसको सुषुम्नासे जोड़कर, विशुद्धचक्र, अनाहतचक्र और आज्ञाचक्रका उल्लङ्घन कर प्राणको मूर्धामें—द्वादशान्त और षोडशान्त ब्रह्मरन्ध्रमें—धारण करके योगधारणमें—योगप्रक्रियामें—यानी उत्क्रमण गतिमें स्थित होकर योगी ॥१२॥

'ओम्' इत्यादि । एक होकर अक्षर भी है, अतः 'ओम्' एकाक्षर है, वह ब्रह्मका वाचक होनेसे ब्रह्म कहा जाता है एकाक्षर और त्रिमात्रक प्रणवका दीर्घ घण्टानादके समान ओम् इस प्रकार स्पष्ट उच्चारण करता हुआ, उसके अर्थभूत कवि, पुराण आदि उक्त लक्षणोंसे सम्पन्न मेरा—परमेश्वरका—स्मरण करता हुआ यानी मनसे ध्यान करता हुआ शीर्षकपालका भेदन करके स्थूल देहको यहाँ छोड़कर, इस प्रकार देहत्याग करके जो सूक्ष्म शरीरसे जाता है—पूर्वोक्त क्रमसे

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याऽहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ १४ ॥

हे पार्थ, जो पुरुष अनन्यचित्त होकर जीवनपर्यन्त सतत मेरा (परमात्माका) स्मरण करता है, उस नित्ययुक्त योगीको मैं अत्यन्त सुलभ हूँ ॥१४॥

भूम्यादिकं भित्त्वा यो योगी गच्छति स क्रमेण परमां गतिं केवलतां याति। विदेहमुक्तिं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ १३ ॥

एवं परब्रह्मोपासकस्य परां गतिमुक्त्वा इदानीं श्रवणादिना विज्ञातात्मतत्त्वो यतिस्तीव्रमोक्षेच्छासमुदितवैराग्यवेगेन नित्यं निरन्तरं मां परं ब्रह्म योऽनुसंधत्ते तस्याऽहं सुलभ इति स्वकीयसौलभ्यं प्रतिपादयति—अनन्यचेता इति ।

अनन्यचेताः न विद्यते अन्यो ब्रह्मातिरिक्तो विषयो यस्य तदनन्यं विषयान्तरास्पृष्टं चेतो यस्य सोऽनन्यचेताः ब्रह्मण्येव समाहितचित्तः सन् यो ब्रह्मवित् नित्यशो नित्यं यावज्जीवं तत्राऽपि सततमविरामं सर्वदा मामेव परं ब्रह्म स्मरति ब्रह्मैवाऽहमिति स्वात्मनाऽनुसंधत्ते तस्यैव नित्ययुक्तस्य सर्वदा मामेवाऽनुसंदधतो योगिनो ब्रह्मनिष्ठस्य यतेरहं सुलभः सुतरामनायासेन लब्धुं शक्यः सुलभः। अप्रयत्नेन प्राप्य इत्यर्थः । यस्मादस्य योगिन इव न प्राणायामाभ्यासक्लेशो नेन्द्रियनिग्रहश्रमो नाऽपि मनोनिरोधायासो नाऽपि च सुषुम्नयोर्ध्वगमनदुःखं नैव च शीर्षकपालभूम्याद्या-

---

भूमि आदिका भेदन करके जो योगी जाता है, वह क्रमसे परमगतिरूप केवलताको प्राप्त होता है। विदेहमुक्तिको प्राप्त होता है, यह अर्थ है ॥ १३ ॥

इस प्रकार परब्रह्मके उपासककी परमगति कहकर अब श्रवण आदिसे आत्मतत्त्वको जाननेवाला जो यति तीव्र मोक्षकी इच्छासे उदित वैराग्यके वेगसे नित्य निरन्तर मुझ परब्रह्मका अनुसन्धान करता है, उसके लिए मैं सुलभ हूँ, इस प्रकार अपनी सुलभताका प्रतिपादन करते हैं— 'अनन्यचेता' इत्यादिसे ।

अनन्यचेता (ब्रह्मके सिवा दूसरा जिसका विषय नहीं है, वह अनन्य है, दूसरे विषयको छूनेवाला जिसका चित्त न हो, वह अनन्यचेता है) यानी ब्रह्ममें ही समाहित चित्तवाला होकर जो ब्रह्मवित् यति जीवनपर्यन्त उसमें भी सतत सर्वदा मेरा यानी परब्रह्मका ही स्मरण करता है—ब्रह्म ही मैं हूँ, इस प्रकार अपने आत्मरूपसे अनुसन्धान करता है, उस नित्ययुक्त—सदा मेरा ही अनुसन्धान करनेवाले—योगी यानी ब्रह्मनिष्ठ यतिको मैं सुलभ हूँ—सहज ही अर्थात् आयासके बिना प्राप्त होने योग्य हूँ, यह अर्थ है। यतः इसको योगीके समान न प्राणायामके अभ्यासका क्लेश, न इन्द्रियनिग्रहका श्रम, न मनका निरोध करनेमें आयास होता है और न सुषुम्ना द्वारा ऊर्ध्व जानेका दुःख होता है एवं

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाऽऽप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥ १५ ॥

मुझ सच्चिदानन्द परमात्माको प्राप्त कर केवलानन्दमयी भगवदात्मस्थितिको (जीवन्मुक्तिको) प्राप्त हुए बड़े बड़े महात्मा अनित्य दुःखरूप जन्मको प्राप्त नहीं होते हैं ॥ १५ ॥

वरणभेदव्यथा चाऽस्तीषदपि, किन्त्वत्रैव तिष्ठतः प्रारब्धपरिक्षये स्वत एव प्राणेन्द्रियमनोबुद्ध्यादीनां सुषुप्ताविव ब्रह्मणि विलये सति अप्रयत्नेन जीवः प्राज्ञमिव ब्रह्मविन्मां निर्विशेषं निष्कलं निष्क्रियं शान्तमनन्तमपूर्वमनपरमबाह्यमानन्दघनं परं ब्रह्म प्राप्नोति । तस्माद्ब्रह्मविदो यतेर्ब्रह्मनिष्ठस्य मत्प्राप्तेः सुलभत्वादहं सुलभ इत्युच्यते । सुलभो नाम सुखप्राप्यस्ततस्त्वमनन्यचेताः सन् मां सर्वदा संस्मरेत्यर्थः ॥ १४ ॥

सर्वकर्मसंन्यासी एकाकी मौनी भैक्ष्यजीवी भूत्वा यत्र कुत्राऽप्युपविश्य सर्वमिदमहं च ब्रह्मैवेत्यध्यात्मदृष्ट्या सर्वदा सर्वं ब्रह्मैव यः पश्यति तस्य योगिनो ब्रह्मनिष्ठस्य यतेरहं सुलभ इति स्वप्राप्तिसुलभत्वं प्रतिपाद्येदानीं स्वं प्राप्तवतां फलमाह—**मामिति** ।

मां सच्चिदानन्दैकरसं परं ब्रह्मोपेत्य मदेकरसतां प्राप्य तत एव परमामनुत्तमां केवलानन्दमयीं संसिद्धिं मदात्मना स्थितिलक्षणां विदेहमुक्तिं गता महात्मानो महानुभावा यतयः । यद्वा महात्मानः महान्नित्यनिरन्तरब्रह्मनिष्ठया निःशेषविनष्टरजस्तमो-

---

शीर्षकपालभूमि आदि आवरणके भेदनकी थोड़ी-सी भी व्यथा नहीं होती, किन्तु यहीं स्थित रहकर प्रारब्धका क्षय होनेपर स्वतः ही प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिका सुषुप्तिके समान ब्रह्ममें विलय हो जानेपर यत्नके बिना जीव जैसे प्राज्ञको प्राप्त होता है, वैसे ही ब्रह्मवित् मुझको—निर्विशेष, निष्कल, निष्क्रिय, शान्त, अनन्त, अपूर्व, अनपर, अबाह्य, आनन्दघन परब्रह्मको—प्राप्त होता है । इसलिए ब्रह्मवित् यतिको—ब्रह्मनिष्ठको—मेरी प्राप्ति सुलभ होनेसे मैं सुलभ हूँ, यह कहा गया है । सुखसे प्राप्यको सुलभ कहते हैं, इसलिए तुम अनन्यचित्त होकर मेरा सर्वदा स्मरण करो, यह अर्थ है ॥ १४ ॥

सम्पूर्ण कर्मोंका त्यागी, एकाकी, मौनी, भैक्ष्यजीवी होकर जहाँ कहीं भी बैठकर यह 'सब और मैं ब्रह्म ही हूँ, इस प्रकार अध्यात्मदृष्टिसे सर्वदा जो सबको ब्रह्म ही देखता है, उस योगीको—ब्रह्मनिष्ठ यतिको—'मैं सुलभ हूँ' इससे अपनी प्राप्तिकी सुलभताका प्रतिपादन करके अब अपनेको (ईश्वरको) प्राप्त होनेवालोंका फल कहते हैं—'माम्' इत्यादिसे ।

मुझको—सच्चिदानन्दैकरस परब्रह्मको—प्राप्त होकर यानी मेरी एकरसताको प्राप्त होकर, इसीलिए परम—अनुत्तम—यानी केवल आनन्दमयी संसिद्धिको यानी मेरे स्वरूपसे स्थितिरूप विदेहमुक्तिको प्राप्त हुए महात्मा (महानुभाव यति) अथवा महान्—नित्य निरन्तर ब्रह्मनिष्ठा द्वारा

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ १६ ॥

हे अर्जुन, ब्रह्मलोकसे लेकर सम्पूर्ण लोक पुण्यवश प्राप्त हुए जीवोंको पुण्यक्षीण होनेपर पुनर्जन्मको ही प्राप्त कराते हैं। हे कौन्तेय, मुझको प्राप्त होकर [पूर्णात्मरूपसे स्थित रहनेवाले ब्रह्मवित्‌का] तो फिर जन्म नहीं होता ॥१६॥

गुणतत्कार्यत्वादतिस्वच्छतरत्वेन प्रकृष्टः केवलशुद्धसत्त्वभावापन्न आत्मा मनो येषां ते महात्मानः सुप्रसन्नान्तःकरणाः तत एव परमामनुत्तमफलप्रदानोन्मुखीं संसिद्धिं सुखानुभूतौ दुःखानुभूतौ च वृत्तेर्ब्रह्मात्मना संस्थितिरेव संसिद्धिस्तां बहुजन्माभ्यस्तां सर्वास्वप्यवस्थास्वप्रतिबद्धामखण्डाकारवृत्तिलक्षणां गताः प्राप्ता यतयो ब्रह्मनिष्ठा मां कार्यकारणभावविकलं मायातत्कार्यलेशसम्बन्धशून्यं सद्घनं चिद्घनमानन्दघनं परं ब्रह्मोपेत्य मद्भावं प्राप्य घटाकाशो महाकाशतामिव स्वयं ब्रह्मैकतां प्राप्य अशाश्वतं शाश्वतो ब्रह्मभावस्ततो विलक्षणत्वादशाश्वतं नश्वरं तत्राऽपि दुःखालयमाध्यात्मिकादि-दुःखाश्रयं जन्म। अत्र जन्मना विकारेण विकारि जनिमच्छरीरं गृह्यते। विदेह-मुक्तिं प्राप्ता ब्रह्मविदः पुनरनित्यं दुःखभूयिष्ठं शरीरं दैवं प्राजापत्यं वा गान्धर्वं वा मानुषं वाऽन्यद्वा नाऽऽप्नुवन्ति। कारणाभावादविद्याकामकर्माणि खलु शरीरप्राप्तिकारणं तेषां सर्वेषां सम्यग्ज्ञानमहाग्निज्वालाभिर्भस्मीभूतत्वात् मुक्ता न पुनरावर्तन्ते। 'न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते' इति श्रुतेः। अभ्यासः संशयं विच्छिनत्तीत्यर्थः ॥१५॥

रजोगुण और तमोगुणके कार्यके निःशेष नष्ट हो जानेसे अतिस्वच्छ होनेके कारण श्रेष्ठ—केवल शुद्ध सत्त्वभावको प्राप्त हुआ—आत्मा (मन) जिनका हो, वे महात्मा हैं यानी सुप्रसन्न अन्तःकरणवाले, इसीलिए परम (अनुत्तम फल देनेमें उन्मुख) संसिद्धिको—सुखके अनुभवमें और दुःखके अनुभवमें वृत्तिकी ब्रह्मस्वरूपसे स्थिति ही संसिद्धि है, उसको—बहुत जन्मोंमें अभ्यस्त, सब अवस्थाओंमें अप्रतिबद्ध अखण्डाकारवृत्तिस्वरूप संसिद्धिको—प्राप्त हुए ब्रह्मनिष्ठ यति मुझको—कार्यकारणभाव-रहित, माया और उसके कार्यके लेशके सम्बन्धसे शून्य, सद्घन, चिद्घन, आनन्दघन परब्रह्मको—प्राप्त होकर यानी मेरे भावको प्राप्त होकर, जैसे घटाकाश महाकाशताको प्राप्त होता है, वैसे स्वयं ब्रह्मै-कताको प्राप्त होकर अशाश्वत (शाश्वत जो ब्रह्मभाव, उससे विलक्षण होनेसे अशाश्वत यानी नश्वर, तत्रापि दुःखालय—आध्यात्मिक आदि दुःखोंके आश्रय—जन्मको (यहाँ जन्मरूप विकारसे विकारी जन्मवाले शरीरका ग्रहण किया जाता है, उसको) प्राप्त नहीं होते। विदेहमुक्तिको प्राप्त हुए ब्रह्म-वित् फिर अनित्य एवं दुःखप्रचुर देवका, प्रजापतिका, गन्धर्वका, मनुष्यका अथवा अन्यका शरीर प्राप्त नहीं करते, क्योंकि कारणका अभाव है। अविद्या, काम और कर्म ही शरीरप्राप्तिके कारण हैं, उन सबके सम्यक् ज्ञानरूप महा अग्निकी ज्वालासे भस्मीभूत हो जानेसे मुक्त हुए पुरुष फिर नहीं लौटते, क्योंकि 'फिर नहीं लौटता और फिर नहीं लौटता' ऐसी श्रुति है। अभ्यास संशयका छेदन करता है, यह अर्थ है ॥ १५ ॥

एवं ब्रह्मभावापन्नानां ब्रह्मविदां पुनरावृत्त्यभावं प्रतिपाद्य तदितरेषां श्रुतिशून्यानां तद्वतामप्यसम्यग्दर्शनवतां स्वेतरप्राप्तिमतां पुनरावृत्तिरस्त्येवेति सूचयन्नुक्तमेवाऽर्थं पुनर्दृढीकरोति, ब्रह्मविदां मुक्तिसिद्धावसंशयसिद्ध्यर्थं यतीनां सम्यग्दर्शनसिद्धौ प्रयत्नसूचनार्थं च—आब्रह्मेति ।

अत्र ब्रह्मशब्देन चतुर्मुख उच्यते, सहस्रयुगपर्यन्तमिति कालनिर्णयश्रवणात् । आब्रह्मभुवनात् भवन्ति भूतान्यत्रेति, सन्तीति वा भुवनं ब्रह्मणो भुवनं ब्रह्मभुवनं सत्यलोकः आब्रह्मभुवनात् ब्रह्मलोकमारभ्य सर्वे लोकाः पुनरावर्तिनः पुण्यवशात् प्राप्तान् पुनरावर्तयन्ति पुनर्भवमेव पुण्यक्षयान्ते प्रापयन्तीति पुनरावर्तिनः सत्यलोकादिलोकास्ततस्तल्लोकगतानां पुनरावृत्तिरस्त्येव, 'यावत्संपातम्' इति, 'नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति' इति श्रवणात् । न विद्यते अकं दुःखं यत्रेति सत्यलोकस्यैव नाकत्वं युक्तं तदन्यत्र विद्यमानानां दैत्येभ्यः क्वचित् प्रलयाग्नेश्च दुःखसंभवादुक्तश्रुतिबलात् सत्यादिलोकगतानामपि पुनरावृत्तिः प्रामाणिकी । ननूक्तश्रुतिबलाद् ब्रह्मभावं गतानां ब्रह्मविदामपि युक्ता पुनरावृत्तिरित्याशङ्कायाम् , न; 'तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ' इति, 'यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं

इस प्रकार ब्रह्मभावको प्राप्त हुए ब्रह्मवेत्ताओंकी पुनरावृत्तिके अभावका प्रतिपादन करके उनके सिवा दूसरे श्रुतिशून्य और श्रुतिसम्पन्न होते हुए भी असम्यक् दर्शनवाले, अपनेसे अन्यको प्राप्त होनेवाले मनुष्योंकी पुनरावृत्ति है ही, ऐसा सूचन कर रहे भगवान् ब्रह्मवेत्ताओंकी मुक्तिकी सिद्धिमें संशयकी निवृत्तिके लिए तथा यतियोंके सम्यक्-दर्शनकी सिद्धिमें प्रयत्नका सूचन करनेके लिए उक्त अर्थका ही फिर दृढ़ीकरण करते हैं—'आब्रह्म०' इत्यादि ।

यहाँ ब्रह्मशब्दसे चतुर्मुख ब्रह्मा कहा जाता है, क्योंकि 'हजार युग तक' यों कालका निर्णय सुननेमें आता है । आब्रह्मभुवनात् (जहाँ भूत होते हैं या विद्यमान हैं, वह भुवन है ब्रह्माका भुवन ब्रह्मभुवन है अर्थात् सत्यलोक) यानी ब्रह्मलोकसे लेकर सम्पूर्ण लोक पुनरावृत्तिवाले हैं—पुण्यवश प्राप्त हुए लोगोंको फेर देते हैं, यानी पुण्यका क्षय होनेपर पुनर्जन्मको ही प्राप्त कराते हैं, इसलिए उन लोकोंमें गये हुए जीवोंकी पुनरावृत्ति है ही, क्योंकि 'जबतक पुण्यक्षय' तथा 'नाकके (सत्यलोकके) पृष्ठपर पुण्यका अनुभव करके इस लोकको या इससे हीनतर लोकको जाते हैं' ऐसी श्रुति हैं । 'जहाँ अक यानी दुःख नहीं है' इस व्युत्पत्तिसे सत्यलोकमें ही नाकत्व मानना युक्त है, क्योंकि इससे अन्यत्र रहनेवाले जीवोंको कहीं दैत्योंसे और कहीं प्रलयाग्निसे दुःखका सम्भव है, अतः उक्त श्रुतिके बलसे सत्यादि लोकोंमें गये हुए जीवोंकी पुनरावृत्ति प्रामाणिकी है । यदि शङ्का हो कि उक्त श्रुतिके बलसे ब्रह्मभावको प्राप्त हुए ब्रह्मज्ञानियोंकी भी पुनरावृत्ति मान सकते हैं, तो यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि 'उसका ज्ञान होनेपर पिछले और पहिलेके पापोंका असम्बन्ध हो जाता है', 'जैसे अग्निमें

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ १७ ॥

दिन और रातको जाननेवाले मनु आदि विद्वान् जिस प्रकार एक हजार दिव्य युगोंका ब्रह्माका एक दिन मानते हैं, उसी प्रकार उक्त हजार युगोंकी एक रात्रि भी मानते हैं ॥ १७ ॥

हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते' इति, 'तस्यैव स्यात्पदवित्तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेन' इति, 'सर्वं पाप्मानं तरति' इत्यादिश्रुतिभिर्ब्रह्मविदः सर्वपापप्रदाहो लेपाभावश्च प्रतिपाद्यते यतस्ततः 'कर्मणा जायते जन्तुः कर्मणैव प्रलीयते' इति, 'प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किञ्चेह करोत्ययम् । तस्माल्लोकात्पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे' इत्यादिश्रुतिस्मृत्युक्तप्रकारेण निर्दग्धकर्मणामेव शेषकर्मानुभूत्यै पुनरावृत्तिर्न तु ज्ञानाग्निनिर्दग्धाशेषकर्मणां ब्रह्मविदाम् । तेषामावृत्त्यै कर्मशेषाभावान्न पुनरावृत्तिः प्रामाणिकी । 'न च पुनरावर्तते' इत्यनेकधा तन्निषेधाच्च न तेषां पुनरावर्तनमस्तीति तुशब्देनैव व्यावर्तयन्नाह—मामिति । हे कौन्तेय शुद्धकुलोत्पन्नार्जुन, मां सत्यज्ञानादिलक्षणं सदानन्दैकरसं परमात्मानमुपेत्य पूर्णात्मना तिष्ठतो ब्रह्मवित्तमस्य तु पुनर्जन्म पुनरावृत्तिर्न विद्यते । नास्तीत्यर्थः । यद्वा मामुपेत्य तु विद्वान् पुनर्जन्म पुनरावृत्तिं न विद्यते न प्राप्नोति । 'विद सत्तायाम्' इति धातोः प्राप्त्यर्थता वा, विन्दतेर्वा दिवाद्यन्तःपातित्वं द्रष्टव्यम् ॥ १६ ॥

प्रक्षिप्त इषीकातूल जल जाता है, वैसे ही उसके सब पाप जल जाते हैं', 'उसीके स्वरूपका परिज्ञाता होवे, उसको जानकर पापकर्मसे लिप्त नहीं होता', 'सब पापोंसे तर जाता है' इत्यादि श्रुतियोंसे ब्रह्मवित्के सब पापोंका दाह और लेपके अभावका प्रतिपादन किया जाता है, इसलिए 'कर्मसे जन्तु उत्पन्न होता है और कर्मसे ही मरता है' तथा 'जो कुछ यह यहाँ करता है, उस कर्मके फलको परलोकमें पाकर वहाँसे फिर इस लोकमें कर्म करनेके लिए आता है' इत्यादि श्रुति और स्मृतियोंमें कहे गये प्रकारसे निर्दग्ध कर्मवाले जीवोंकी ही शेष कर्मोंके अनुभवके लिए पुनरावृत्ति है, ज्ञानरूप अग्निसे निर्दग्ध अशेष कर्मवाले ब्रह्मविदोंकी नहीं । उनकी आवृत्तिके लिए कर्मका शेष न होनेके कारण पुनरावृत्ति प्रामाणिकी नहीं है और 'नहीं फिर लौटता है' इत्यादिसे अनेक बार उसका निषेध भी किया गया है । उनका पुनरावर्तन नहीं होता, ऐसी तुशब्दसे व्यावृत्ति करते हुए कहते हैं—मामिति । हे कौन्तेय यानी शुद्धकुलमें उत्पन्न हुए अर्जुन, मुझको—सत्य, ज्ञान आदि लक्षणवाले सदानन्दैकरस परमात्माको—प्राप्त होकर पूर्णस्वरूपसे स्थित होनेवाले ब्रह्मवित्तमका तो पुनर्जन्म—पुनरावृत्ति—नहीं है, यह अर्थ है। अथवा मुझको प्राप्त होकर तो विद्वान् पुनर्जन्मको (पुनरावृत्तिको) नहीं पाता । 'विद सत्तायाम्' इस विद्धातुका प्राप्ति अर्थ है, अथवा लाभार्थक 'विद्' धातुको दिवादिगणपठित समझना चाहिए ॥ १६ ॥

एवं स्वं प्राप्तवतः पुनरावृत्त्यभावं प्रतिपाद्येदानीं सत्यादिलोकेषु नित्यत्वनित्यसुखत्वानावर्तित्वबुद्ध्या पुण्यकर्माणि कृत्वा गत्वा पुनरागच्छन्तो निर्गच्छन्तः पुनः पुनर्जायमाना म्रियमाणाः सन्तः प्राणिनः सर्वे सर्वदा दुःखमेवाऽनुभवन्ति प्ररोचनोक्तिभिर्मुह्यमाना अन्धपरम्परावत् गच्छन्तमनुगच्छन्ति च, न कोऽप्यत्र वृत्तं विचारयति न तपति न विरज्यते अहो कष्टमज्ञत्वमिति तेषां सदसद्विवेकवैराग्यासत्यागसदुपादानप्रवृत्तिसिद्धये सत्यादिलोकानां कालपरिच्छिन्नानां ब्रह्मणो दिवारात्रिभ्यामाविर्भावं तिरोभावं च तद्दिवारात्रिभ्यां प्राणिनामपि सर्वेषामुत्पत्तिं प्रलयं च प्रतिपादयति—सहस्रेति त्रिभिः ।

अहोरात्रविदः 'दैविकानां युगानां च सहस्रपरिसंख्यया । ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावती रात्रिरेव च ॥' इत्युक्तरीत्या ब्रह्मणः प्रजापतेरहोरात्रयोः कालपरिमाणमियदिति विदन्ति जानन्तीत्यहोरात्रविदो मन्वादयो ये महान्तः ब्रह्मणोऽहर्दिनं सहस्रयुगपर्यन्तं सहस्रसंख्याकैर्युगैर्दिव्यैः पर्यन्तं पर्यवसानं यस्य तत्सहस्रयुगपर्यन्तमुक्तयुगसहस्रपरिमाणकमेव यत् यथा विदुर्जानन्ति विदन्ति तथैव ते मन्वादयो रात्रिमपि युगसहस्रान्तां युगसहस्रपरिमाणवतीमेव विदुर्वदन्ति च । ततो भ्रान्तैर्नित्य-

---

इस प्रकार स्वको (ईश्वरको) प्राप्त होनेवाले जीवोंकी पुनरावृत्तिके अभावका प्रतिपादन करके अब नित्यत्व, नित्यसुखत्व और अनावर्तित्व बुद्धिसे सत्य आदि लोकोंमें पुण्य कर्मके अनुष्ठान द्वारा बारबार गमनागमन कर रहे तथा इस लोकमें आकर पुनः पुनः जनन मरणको प्राप्त हो रहे सम्पूर्ण प्राणी सर्वदा दुःखका ही अनुभव करते हैं और सत्यादि लोकोंकी स्तुति करनेवाले वाक्योंसे मोहित होकर अन्धपरम्पराके समान जा रहेके पीछे जाते हैं, कोई भी यहाँ वस्तुस्थितिका विचार नहीं करता, न कोई तप करता है और न कोई वैराग्य करता है, अहो अज्ञत्व कष्टदायक है, [ऐसा विचार कर भगवान्] उनकी सदसत्के विवेक, वैराग्य, असत्के त्याग तथा सत्के ग्रहणमें प्रवृत्ति सिद्ध करनेके लिए कालसे परिच्छिन्न सत्यादि लोकोंका ब्रह्माके दिन रातसे आविर्भाव और तिरोभावका तथा उन दिन रातसे सब प्राणियोंकी उत्पत्ति और प्रलयका भी प्रतिपादन करते हैं—'सहस्र०' इत्यादि तीन श्लोकोंसे।

जो अहोरात्रविद् ('हजार दैविक युग मिलकर ब्रह्माका एक दिन होता है और इतनी ही उसकी रात भी होती है, यह जानना चाहिए' इस वाक्य द्वारा उक्त रीतिसे ब्रह्माके—प्रजापतिके—दिन रातके कालका इतना परिमाण है, ऐसा जो जानते हैं, वे अहोरात्रवित् कहलाते हैं यानी ब्रह्माके दिन-रातको जाननेवाले) मनु आदि महान् ब्रह्माके दिनको सहस्रयुगपर्यन्त (जिसकी समाप्ति हजार दिव्य युगोंसे होती है, वह सहस्रयुगपर्यन्त है) यानी उक्त दिव्य सहस्र युगोंके परिमाणसे युक्त जैसे जानते हैं, वैसे ही वे मनु आदि रातको भी युग सहस्रमें अन्त होनेवाली यानी युगसहस्रपरिमाणवाली ही जानते हैं और कहते हैं । इसलिए भ्रान्तों द्वारा नित्यत्वरूपसे

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाऽव्यक्तसंज्ञके ॥ १८ ॥

ब्रह्माके दिनके आनेपर अव्यक्तसे (अविद्यानामक ब्रह्मके सुषुप्तसे) ये सम्पूर्ण स्थावर-जङ्गम पदार्थ उत्पन्न होते हैं और रातके आनेपर उसी अव्यक्त-नामक ब्रह्मसुषुप्तमें सम्पूर्ण पदार्थ लीन हो जाते हैं ॥ १८ ॥

त्वेनाऽङ्गीकृतस्य सत्यलोकस्य प्रतीतिः सहस्रयुगपर्यन्तमेव, ततः सत्यलोकस्यैवम-नित्यत्वे सति ततोऽपराणां महरादिनां भूरादीनां चाऽनित्यत्वे चाऽल्पसुखत्वे च का वार्तेति भावः ॥ १७ ॥

एवं सत्यादिलोकानामनित्यत्वं प्रतिपाद्याऽधुना तल्लोकगतानां प्राणिनामति-दुःखमेवेत्याह—अव्यक्तादिति ।

कार्येण विनाऽन्येन न व्यज्यत इत्यव्यक्तं ब्रह्मणः सुषुप्तमविद्यात्मकं नहि बुद्ध्यादिवत् सुषुप्तं व्यज्यते तत एवाऽव्यक्तमित्युच्यते । मूलकारणाव्यक्तवद् ब्रह्म-सुषुप्त्याख्यमप्यव्यक्तं सर्वोत्पत्तिप्रलयकारणमव्यक्तत्वाविशेषात् प्रजापतेरहरागमे दिने प्राप्ते तस्मादुक्तलक्षणादव्यक्ताद्व्यक्तयः प्रमाणैर्व्यज्यन्ते गृह्यन्त इति व्यक्तयः सर्वाः स्थावरजङ्गमादिप्राणिकोटयः प्रभवन्ति । बीजादङ्कुरवज्जायन्त इत्यर्थः । तथा ब्रह्मणो रात्र्यागमे रात्रौ प्राप्तायां तत्रैवाऽव्यक्तसंज्ञके अव्यक्तनाम्नि ब्रह्मणः सुषुप्ते प्रलीयन्ते

स्वीकृत सत्यलोककी प्रतीति सहस्रयुगपर्यन्त ही है, इससे उस प्रकार सत्यलोकके अनित्य होनेपर उसे अन्य महर् आदि और भू आदि लोकोंके अनित्य और अल्पसुख होनेमें कहना ही क्या है, यह भाव है ॥ १७ ॥

इस प्रकार सत्य आदि लोकोंमें अनित्यत्वका प्रतिपादन कर अब उन लोकोंमें गये हुए प्राणियोंको अत्यन्त दुःख ही मिलता है, ऐसा कहते हैं—'अव्यक्तात्' इत्यादिसे ।

कार्यके सिवा दूसरे किसीसे जो व्यक्त नहीं होता, वह अव्यक्त है—ब्रह्माका अविद्यात्मक सुषुप्त, वह बुद्धि आदिके समान व्यक्त नहीं होता, इसीलिए अव्यक्त कहलाता है । मूलकारण अव्यक्तके समान ब्रह्मसुषुप्तनामका अव्यक्त भी सम्पूर्ण पदार्थोंकी उत्पत्ति, स्थिति और लयका कारण है, क्योंकि दोनोंमें अव्यक्तत्व समान है । प्रजापतिके दिनके प्राप्त होनेपर, उस उक्त-लक्षणवाले अव्यक्तसे व्यक्तियाँ (प्रमाणोंसे जो व्यक्त होती हैं यानी गृहीत होती हैं, वे व्यक्तियाँ हैं) यानी सम्पूर्ण स्थावर, जङ्गम आदि करोड़ों प्राणी) उत्पन्न होती हैं—बीजसे अङ्कुरके समान जन्म लेती हैं, यह अर्थ है । उसी प्रकार ब्रह्माकी रात आनेपर उसी अव्यक्तनामक ब्रह्माके सुषुप्तमें वे लीन हो जाती हैं—बीजमें व्रीहि आदिके समान भली भाँति लीन हो जाती

भूतग्रामः स एवाऽयं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
राज्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥ १९ ॥

हे पार्थ, [पूर्व कल्पमें जिन प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई थी] वे ही ये जीव पुण्य और पाप कर्मवश ब्रह्माजीके दिनके आनेपर उत्पन्न हो हो कर रात्रि आनेपर विनष्ट हो जाते हैं ॥ १९ ॥

व्रीह्यादयो बीज इव प्रकर्षेण लीयन्ते । अदर्शनं गच्छन्तीत्यर्थः । एतेन प्रजापते-रहोरात्रयोः सर्वप्राणिनामपरिहार्यं जननमरणदुःखमनन्तमिति सूचितम् ॥ १८ ॥

ननु तरङ्गबुद्बुदादिवद्ये ये प्राणिनो यदा यदा जनित्वा यद्यद्दुःखमनुभवन्ति तत्तद्दुःखं तेषामेव भवति न तु नवीनानां तदितरेषां कालान्तरे जातानां जनिष्यमाणानां चेति चेद्भवानत्र प्रष्टव्यः, पूर्वमसत एवेदानीं जातस्य सुखदुःखादिवैचित्र्यं प्रत्यक्षेणोपलभ्यते तत्कालस्वभावो वा प्राणिस्वभावो वा देशस्वभावो वा द्रव्यस्वभावो वा उत आधुनिककर्मस्वभावो वा । नाऽऽद्यः, शीतवातादिवदेकदैव सर्वेषामपि तदागमप्रसङ्गात् । न द्वितीयः, श्यामत्वरक्तत्वादिवत्सदानुगमप्रसङ्गात् । न तृतीयः, सर्वेषामपि सर्वदा तदापत्तिप्रसङ्गात् । नाऽपि चतुर्थः, एकमहानदीजलपायिनां नरपशुमृगखगादीनां संततदुःखवैचित्र्यापत्तेः । नैव च पञ्चमः, तर्णकस्याऽकर्मिणः सुखाद्यभावप्रसङ्गात् । तर्हि प्राक्तनकर्मवशादेवेति चेत् , न; प्रागसज्जनिवादिनस्तव तद-

---

हैं । अदर्शनको प्राप्त हो जाती हैं, यह अर्थ है । इससे यह सूचित किया कि प्रजापतिके दिन-रात दोनोंमें सम्पूर्ण प्राणियोंको जन्म-मरणरूप अनन्त दुःख अपरिहार्य है ॥ १८ ॥

यदि शङ्का हो कि तरङ्ग, बुद्बुद आदिके समान जो-जो प्राणी जब-जब जन्म लेकर जिस-जिस दुःखका अनुभव करते हैं, वह-वह दुःख उन्हींको होता है, उनसे भिन्न दूसरे कालमें जन्मे हुए और जन्मनेवाले नवीन प्राणियोंको नहीं होता, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि आपसे इस विषयमें यह प्रश्न होगा कि जो पूर्वमें था ही नहीं और इस समय उत्पन्न हुआ है उसको जो सुख-दुःखकी विचित्रता प्रत्यक्षसे उपलब्ध होती है, वह कालका स्वभाव है या प्राणीका स्वभाव है अथवा देशका स्वभाव है या द्रव्यका स्वभाव है अथवा आधुनिक कर्मका स्वभाव है ? प्रथम पक्ष तो युक्त है नहीं, क्योंकि शीत, वात आदिके समान एक कालमें ही सबको उनकी प्राप्तिका प्रसङ्ग आवेगा । दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि श्यामत्व, रक्तत्व आदिके समान सर्वदा ही प्राप्तिका प्रसङ्ग आवेगा । तीसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि सभीको सर्वदा उनकी प्राप्तिका प्रसङ्ग आवेगा । चौथा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि एक महानदीके जलके पीनेवाले नर, पशु, मृग, पक्षी आदिको सदा दुःखकी विचित्रताकी प्राप्ति हो जायगी । पाँचवाँ पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि अकर्मी बछुवेको सुख आदिके अभावका प्रसङ्ग आवेगा । तब पूर्वकर्मवश ही है, ऐसा यदि कहो, तो वह भी नहीं कह सकते, क्योंकि पूर्वमें असत् पदार्थके जन्मको माननेवाले तुम्हारे

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥ २० ॥

उस अविद्यानामक ब्रह्मसुषुप्तरूप अव्यक्तसे भिन्न जो सनातन परमात्मरूप पर अव्यक्त है, वह सम्पूर्ण भूतोंके नष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होता ॥ २० ॥

प्रसक्तेः । प्रत्यक्षप्रमाणवादी खलु भवान् प्रत्यक्षेणोपलभ्यमानस्यैतस्य गतिरुच्यतां तर्हि जीवादीनां प्राक्सद्भावमङ्गीकरिष्यामि सुखादिवैचित्र्यावगतेर्गत्यन्तरमपश्यन्नि-त्यसद्वादिनं जीवजगतोः प्राक्सद्भावमङ्गीकारयितुं कर्ममोक्षशास्त्रयोर्मुमुक्षुप्रवृत्तिसिद्ध्यर्थं जीववत्कर्मणां तत्कृतसंसारस्य चाऽनादित्वं बोधयितुमिदमाह—**भूतग्राम** इति ।

पूर्वकल्पेषु यो भूतग्रामः प्राणिवर्गो जातः सोऽयमेवाऽवशोऽस्वतन्त्रः स्वयम-विद्याऽस्मिताभिनिवेशपूर्वकं रागद्वेषाभ्यां कृतपुण्यापुण्यकर्माधीनः सन् तत्तत्कर्म-फलानुभूत्यै कल्पे कल्पे भूत्वा भूत्वा तत्तत्फलमनुभूयाऽनुभूय पुनः कृत्वा अहरागमे प्रभवति राज्यागमे प्रलीयते नश्यति च । एवं घटीयन्त्रवत्पुण्यापुण्यकर्मवेगेन पुनः पुनर्जायते म्रियते चाऽऽध्यात्मिकादिदुःखेन व्यथते तपति च न कदाचिज्जन्ममरण-प्रवाहपारं गच्छतीत्यर्थः ॥ १९ ॥

यस्मादेवं विषयसुखमोहग्रहग्रस्तानां दुःखपरम्परा तस्मात् विवेकिभिर्यथा

मतमें उसका प्रसङ्ग नहीं है । आप प्रत्यक्ष प्रमाणवादी हैं, अतः आपको प्रत्यक्षसे उपलभ्यमान इस सुख-दुःख वैचित्र्यकी गति कहनी चाहिए । यदि कहो कि सुख आदिकी विचित्रताके परिज्ञानकी दूसरी गति न देखकर मैं जीवादिका पूर्वमें सद्भाव अङ्गीकार कर लूँगा, [तो इष्ट ही है], इस प्रकार असद्वादीको जीव और जगत्का पूर्वमें सद्भाव अङ्गीकार करानेके लिए, कर्म और मोक्ष शास्त्रमें मुमुक्षुकी प्रवृत्ति सिद्ध करनेके लिए तथा जीवके समान कर्म और उससे प्राप्त संसारका अनादित्व बोधन करनेके लिए यह कहते हैं—'**भूतग्रामः**' इत्यादि ।

पूर्वकल्पोंमें जो भूतग्राम—प्राणिवर्ग—उत्पन्न हुआ था, वही यह अवश—परतन्त्र—यानी स्वयं अविद्यासे अस्मिताके अभिनिवेशपूर्वक राग-द्वेषसे किये गये पुण्य और पाप कर्मके अधीन होकर तत्-तत् कर्मके फलके अनुभवके लिए प्रत्येक कल्पमें उत्पन्न हो होकर तत्-तत् फलका पुनः पुनः अनुभव करके दिनके आनेपर उत्पन्न होता है और रातके आनेपर नष्ट हो जाता है । इस प्रकार घटीयन्त्रके समान पुण्य और पाप कर्मके वेगसे पुनः पुनः जनमता है और मरता है आध्यात्मिक आदि दुःखसे पीडित होता है और सन्तप्त होता है, कभी भी जन्म-मरणके प्रवाहसे छुटकारा नहीं पाता, यह अर्थ है ॥ १९ ॥

जिस कारणसे विषयसुखमोहरूप ग्रहसे ग्रसे हुए पुरुषके दुःखकी परम्परा इस प्रकार है,

मत्प्राप्तिः स्यात्तथा प्रयतितव्यमिति सूचयन्स्वस्याऽव्यक्ततत्कार्यलेशसंबन्धराहित्यं नित्यत्वं च प्रतिपादयति स्वं प्राप्तवतां संसारदुःखं पुनरावृत्तिश्च नाऽस्तीति ज्ञापयितुम्—पर इति ।

तस्मात् पूर्वोक्तात्सर्वव्यक्तीनामुत्पत्तिप्रलयहेतोरव्यक्तात्त्वन्यो भिन्नो विलक्षणश्चाऽक्षराख्यो भावः परमात्मा स्वयमस्मादव्यक्तात् कारणाव्यक्ताच्च भिन्न एव भवति । न व्यज्यते प्रमाणैः सर्वैर्मातुं न शक्यत इत्यव्यक्तोऽप्रमेयश्च । ननु उभयोरप्यव्यक्तत्वाविशेषात् कथमेतस्य तद्विलक्षणत्वमित्यत आह—पर इति । परः प्रकृष्टोऽनुत्तम इत्यर्थः । 'अव्यक्तात्तु परः पुरुषः' इति श्रुतेः । ननु कस्माद्धेतोरक्षरस्याऽव्यक्तात् प्रकृष्टत्वमित्यत आह—सनातन इति । सनातनोऽनादिर्नित्य इत्यर्थः । नित्यत्वं नाम भावस्य जन्मादिविक्रियानाश्रयत्वमेव । नैवेतदव्यक्तस्याऽस्ति, 'सच्छब्दवाच्यमविद्याशबलं ब्रह्म ब्रह्मणोऽव्यक्तम्' इति अव्यक्तस्य प्रथमविकारत्वश्रवणाद् । विकारित्वाऽवरत्वादिधर्मैरक्षरसालक्षण्यमनुपपन्नमित्यर्थः । यदुक्तमक्षरस्य नित्यत्वं तदेव विस्पष्टयति—य इति । यः सनातनोऽव्यक्तोऽक्षरः परमात्मा स सर्वेषु भूतेष्वव्यक्तमहदादिषु कालतो ज्ञानतो वा नश्यत्सु अभावं गतेषु सत्सु स्वतो वा परतो वा न विनश्यति । कदापि नाशं न प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ २० ॥

इसलिए विवेकियोंको जैसे मेरी प्राप्ति हो, वैसा यत्न करना चाहिए, ऐसा सूचन कर रहे श्रीभगवान्, अपनेको (ईश्वरको) प्राप्त होनेवाले पुरुषोंको संसारका दुःख और पुनरावृत्ति नहीं होती, ऐसा सूचित करनेके लिए, अव्यक्त और अव्यक्तके कार्यलेशका अपनेमें (ईश्वरमें) सम्बन्धाभावका और नित्यताका प्रतिपादन करते हैं—'पर०' इत्यादिसे ।

पूर्वोक्त सम्पूर्ण व्यक्तियोंकी उत्पत्ति और प्रलयके हेतु अव्यक्तसे तो भिन्न और विलक्षण अक्षरनामक भाव—परमात्मा—स्वयं इस अव्यक्तसे और कारणरूप अव्यक्तसे भिन्न ही है । जो व्यक्त नहीं किया जाता अर्थात् सम्पूर्ण प्रमाणोंसे जो जाना नहीं जाता, वह अव्यक्त है यानी अप्रमेय । यदि शङ्का हो कि जब दोनोंमें भी अव्यक्तत्व समान है, तब वह उससे कैसे विलक्षण है ? तो इसपर कहते हैं—पर इति । पर यानी प्रकृष्ट, अनुत्तम, यह अर्थ है, क्योंकि 'अव्यक्तसे तो पुरुष पर (उत्तम) है' ऐसी श्रुति है। किस कारणसे अक्षर अव्यक्तसे अनुत्तम है ? इसपर कहते हैं—सनातन इति । सनातन यानी अनादि। नित्य, यह अर्थ है । जन्म आदि विकारकी अनाश्रयता ही भावकी नित्यता है । अव्यक्तमें वैसी नित्यता नहीं है, क्योंकि 'अविद्याशबल ब्रह्म 'सत्-शब्दवाच्य है, ब्रह्मसे अव्यक्त होता है' यों अव्यक्तमें प्रथमविकारता सुननेमें आती है, इसलिए विकारित्व और निकृष्टत्व आदि धर्मोंसे अक्षरके साथ उसका सालक्षण्य उपपन्न नहीं है, यह अर्थ है । अक्षरका नित्यत्व जो कहा गया है, उसीको स्पष्ट करते हैं—य इति । जो सनातन अव्यक्त अक्षर परमात्मा है, वह सब अव्यक्त, महद् आदि भूतोंके कालसे या ज्ञानसे अभावको प्राप्त होने यानी नष्ट हो जानेपर भी स्वतः या दूसरेसे नष्ट नहीं होता । कभी भी नाशको प्राप्त नहीं होता, यह अर्थ है ॥ २० ॥

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ २१ ॥

जो भाव अव्यक्त या अक्षर कहा गया है, उसीको अनुत्तम (सर्वश्रेष्ठ) गति कहते हैं । जिसको पाकर पुरुष इस संसारमें पुनः नहीं लौटते, वही मेरा परम धाम है यानी प्रकाशात्मक स्वरूप है ॥ २१ ॥

एवं सत्त्वं चाऽक्षरस्य प्रतिपाद्याऽधुना यः सनातनो भावोऽव्यक्तः प्रतिपादितः स एवाऽक्षरः परमात्मेति तं प्राप्तानामपुनरावृत्तिं च प्रतिपादयति—अव्यक्त इति ।

यः परत्वसनातनत्वाविनाशित्वादिधर्मैरविद्याख्यादव्यक्तादन्योऽव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमेवाऽक्षरम्, 'महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः । पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥' इत्यादिश्रुतयः परमां नित्यनिरतिशयाद्वितीयाखण्डचिदानन्दैकरसत्वादनुत्तमां गतिं ज्ञानेनैकेन गम्यत इति गतिस्तां परं तत्त्वमित्याहुर्वदन्ति, अतोऽक्षर एव नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यपरमानन्दमद्वितीयं परं ब्रह्मेत्यर्थः । नन्वक्षर एवोक्तलक्षणं परं ब्रह्माऽस्तु तेन तव मम च किमित्याकाङ्क्षायाम् , स एव परमात्मा, तं प्राप्तवतां न पुनरावृत्तिरस्तीति तद्भावसिद्धये त्वादृशैः कृतिभिर्यत्यतामिति सूचयितुं तस्य याथात्म्यं च बोधयितुमाह—यमिति । बहुजन्मसञ्चितपुण्यपुञ्जपरिपाकसंप्राप्तचित्तप्रसादमत्प्रसादपात्रीभूताः शमदमाद्युत्तमसाधनसंपन्ना धन्याः संन्यासिनः सन्ततसमाधि-

---

इस प्रकार अक्षरके अस्तित्वका प्रतिपादन करके अब जिस सनातन अव्यक्त भावका पहले प्रतिपादन किया था, वही अक्षर परमात्मा है, इसलिए उसको प्राप्त होनेवाले प्राणियोंकी पुनरावृत्ति नहीं होती, ऐसा प्रतिपादन करते हैं—'अव्यक्तो०' इत्यादिसे ।

जो परत्व, सनातनत्व, अविनाशित्व आदि धर्मों द्वारा अविद्यानामक अव्यक्तसे भिन्न अव्यक्त और अक्षर कहा गया है, उसी अक्षरको 'महत्से पर अव्यक्त है और अव्यक्तसे पर पुरुष है, पुरुषसे पर कुछ नहीं है, वह परा गति है' इत्यादि श्रुतियाँ परम—नित्य, निरतिशय, अद्वितीय अखण्डचिदानन्दैकरस होनेसे अनुत्तम—गति (जो केवल ज्ञानसे ही प्राप्त की जाती है, वह गति है) यानी परम तत्त्व कहते हैं, इसलिए अक्षर ही नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य और परमानन्दस्वरूप अद्वितीय पर ब्रह्म है, यह अर्थ है । यदि शङ्का हो कि भले ही अक्षर उक्त लक्षणवाला परब्रह्म हो, उससे तुम्हारा और मेरा क्या प्रयोजन ? तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि वही परमात्मा है, उसको प्राप्त होनेवाले जीवोंकी पुनरावृत्ति नहीं होती, इसलिए तत्स्वरूपताकी सिद्धिके लिए तुम्हारे सरीखे पुण्यात्माओंको यत्न करना चाहिए, ऐसा सूचन करनेके लिए और उसके यथार्थस्वरूपका बोधन करनेके लिए कहते हैं—'यम्' इत्यादि । बहुत जन्मोंके सञ्चित पुण्यपुञ्जके परिपाकसे प्राप्त हुए चित्तके प्रसाद और मेरे प्रसादके भाजन, शम दम आदि उत्तम साधनोंसे सम्पन्न, धन्य,

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्याऽन्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥ २२ ॥

हे अर्जुन, जिसके भीतर सम्पूर्ण प्राणी हैं और जिसके द्वारा यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त या प्रकाशित है वह सर्वोत्तम अव्यक्त पुरुष अनन्य भक्तिसे ही प्राप्त किया जा सकता है ॥ २२ ॥

निष्ठाः संपादितसंसिद्धयः सन्तो यमक्षरं परं ब्रह्म प्राप्य पुनः संसाराय न निवर्तन्ते देहवन्तः पुनर्न भवन्ति, तदेवाऽक्षरं परं ब्रह्म मायोपाधिकस्य ममेश्वरस्य धाम अप्राकृतमबाधितमनाद्यन्तं प्रकाशात्मकं स्वरूपं नैजमित्यर्थः ॥ २१ ॥

परस्तस्मात्त्वित्यादिश्लोकद्वयेन स्वस्य परस्य ब्रह्मणः स्वरूपं तत्प्राप्तानामपुनरावृत्तिं च प्रतिपाद्याऽधुना कथं तत्प्राप्स्यामः केन वा साधनेन नियतेनेत्याकाङ्क्षावतां परिशुद्धात्मनां मोक्षैककामानां तत्प्राप्तौ परमसाधनमाह—पुरुष इति ।

परः 'अव्यक्तात्तु परः पुरुषः' इति श्रवणात् सर्वोत्तमः पुरुषः बहिरन्तः सर्वत्रैकरसत्वेन पूर्णत्वात् पुरुषः सोऽक्षरः परमात्मा । अनन्या न विद्यतेऽन्यः परमात्मातिरिक्तो विषयो यस्याः साऽनन्या सर्वत्र ब्रह्ममात्रग्राहिणी अहमिदंप्रत्ययनिर्मुक्ता तयाऽनन्यया भक्त्या सर्वमिदमहं च ब्रह्मैवेति भजति वेत्ति विद्वाननयेति भक्तिर्ज्ञानम् । भजतिरत्र ज्ञानार्थः । तुशब्दोऽवधारणार्थः । भक्त्या ज्ञानेनैवाऽऽचार्यप्रसादलब्धेन

सतत समाधिनिष्ठ तथा संसिद्धिका सम्पादन किये हुए संन्यासी जिस अक्षर परब्रह्मको प्राप्त होकर फिर संसारके लिए नहीं लौटते हैं, यानी फिर देहवाले नहीं होते, वही अक्षर परब्रह्म मेरा यानी मायोपाधिक ईश्वरका धाम अर्थात् अप्राकृत, अबाधित तथा आदि और अन्तसे शून्य प्रकाशात्मक निजी स्वरूप है, यह अर्थ है ॥ २१ ॥

'परस्तस्मात्तु' इत्यादि दो श्लोकोंसे परब्रह्मके स्वरूपका और उसको प्राप्त होनेवाले जीवोंकी अपुनरावृत्तिका प्रतिपादन करके अब कैसे और किस नियत साधनसे हम उसको प्राप्त होंगे, ऐसी आकाङ्क्षावाले, परिशुद्ध चित्तवाले तथा केवल एक मोक्षकी ही कामनावाले यतियोंके लिए उसकी प्राप्तिका परम साधन कहते हैं—'पुरुषः' इत्यादिसे ।

पर—'अव्यक्तसे पर पुरुष' इस श्रुतिसे सर्वोत्तम—पुरुष (बाहर और भीतर सर्वत्र एकरसतासे पूर्ण होनेके कारण पुरुष कहलाता है) वह अक्षर परमात्मा अनन्य (जिसका परमात्माके सिवा अन्य विषय नहीं है, वह अनन्य है) यानी सर्वत्र ब्रह्ममात्रका ग्रहण करानेवाली 'मैं, यह' इत्यादि ज्ञानसे रहित भक्तिसे (यह सब और मैं ब्रह्म ही हूँ, इस प्रकार जिससे विद्वान् जानता है, वह भक्ति है यानी ज्ञान । भजधातुका यहाँ ज्ञान अर्थ है । तु शब्दका

समाधिनिष्ठया शुद्धेन लभ्यः प्राप्तव्यः परमात्मा न तु कर्मणा योगेन सांख्येन च ब्रह्म प्राप्तुं शक्यमित्यर्थः । ननु परं ब्रह्माऽतिसूक्ष्ममतीन्द्रियं च कथं मुमुक्षुरिदमेवाऽहमिति ज्ञातुं शक्नुयादित्याकाङ्क्षायामाह—**यस्येति** । यस्य निर्विशेषस्य परिपूर्णस्याऽद्वितीयस्य ब्रह्मणोऽन्तःस्थानि अन्तस्तद्देशे दर्पणे नगरमिवाऽऽभासरूपेणेमानि भूतानि स्थितानि भवन्ति । यद्यपि दर्पणे नगरं स्थितमिव प्रतीयते तथापि सन्निहितदृष्ट्या सम्यग्निरीक्ष्यमाने दर्पणमेवाऽस्ति न तु तत्र नगरं स्वयं स्वरूपेण विद्यते, तद्वद्ब्रह्मण्यपि जगदस्तीव भाति । ज्ञानदृष्ट्याऽधिष्ठानग्राहिण्या परिशील्यमाने ब्रह्मैकमेवाऽस्ति न तु तत्र जगत् । ननु यदुक्तं तत्सत्यमेव दर्पणे नगरं नाऽस्तीति, तथापि दर्पणस्य स्वच्छत्वात्तत्र प्रतीत्यै पुरतो नगरमस्त्येव तद्वद् ब्रह्मणि स्वरूपेण जगतोऽभावेऽपि तत्र प्रतीत्यै तदन्यत्र जगदस्त्येवेति चेदस्त्येव ब्रह्मण्यद्वितीये जगत्कल्पयतः पुरुषस्य मलिनात्मनो बुद्धौ । यथा स्वनेत्रस्थं पीतिमानं शङ्खे कल्पयति, यथा स्वबुद्धिस्थं प्रपञ्चं स्वप्ने कल्पयति, तथा पुरुषः स्वबुद्धिस्थमेव वासनामयं प्रपञ्चं निष्प्रपञ्चे ब्रह्मणि कल्पयति पश्यति च मूढः । नहि स्वप्ने स्वरूपेण जगदस्ति विना बौद्धं वासनामयम्, तस्य सत्यत्वे बाधाभावप्रसङ्गात् । तद्वद् ब्रह्मण्यपि पुरुषान्तःकरणवासनाकल्पितमेव नाम-

---

अवधारण अर्थ है) अर्थात् ज्ञानसे ही—आचार्यके प्रसादसे प्राप्त समाधिनिष्ठासे शुद्ध ज्ञानसे ही—परमात्मा प्राप्त किया जा सकता है, कर्मसे, योगसे और सांख्यसे ब्रह्म प्राप्त नहीं किया जा सकता, यह अर्थ है। परब्रह्म तो अतिसूक्ष्म और अतीन्द्रिय है, अतः मुमुक्षु 'यही मैं हूँ', इस प्रकार जाननेके लिए कैसे समर्थ हो सकता है, ऐसी आकाङ्क्षा होनेपर कहते हैं—'यस्य' इत्यादिसे। जिस निर्विशेष परिपूर्ण अद्वितीय ब्रह्मके भीतर, दर्पणमें नगरके समान, आभासरूपसे ये भूत स्थित हैं। यद्यपि दर्पणमें नगर स्थित-सा प्रतीत होता है, तो भी जैसे सन्निहित दृष्टिसे भली भाँति देखनेपर केवल दर्पण ही रहता है, उसमें स्वरूपसे स्वयं नगर नहीं है, वैसे ही ब्रह्ममें भी जगत् विद्यमान-सा भासता है, अधिष्ठानको ग्रहण करानेवाली ज्ञानदृष्टिसे विचार करनेपर तो केवल ब्रह्म ही है, उसमें जगत् नहीं है। यदि शङ्का हो कि दर्पणमें नगर नहीं है, यह जो कहा, वह यद्यपि ठीक ही है, तथापि जैसे दर्पणके स्वच्छ होनेके कारण उसमें प्रतीतिके लिए सामने नगर है ही, वैसे ही ब्रह्ममें स्वरूपसे जगत्के न होनेपर भी उसमें प्रतीत होनेके लिए उससे अन्यत्र जगत्का अङ्गीकार करना ही चाहिए, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि अद्वितीय ब्रह्ममें जगत्की कल्पना करनेवाले मलिन अन्तःकरणसे युक्त पुरुषकी बुद्धिमें जगत् है ही। जैसे स्वनेत्रमें स्थित पीलाईकी शङ्खमें कल्पना करता है और जैसे स्वबुद्धिस्थ प्रपञ्चकी स्वप्नमें कल्पना करता है, वैसे ही मूढ़ पुरुष स्वबुद्धिस्थ ही वासनामय प्रपञ्चकी निष्प्रपञ्च ब्रह्ममें कल्पना करता है और देखता भी है। वासनामय बुद्धिप्रभव जगत्के सिवा स्वप्नमें स्वरूपसे दूसरा जगत् नहीं है, क्योंकि यदि वह सत्य होगा, तो उसके बाधके अभावका प्रसङ्ग आवेगा, उसी प्रकार ब्रह्ममें भी पुरुषके

रूपात्मकमिदं जगत् न तु वस्तुतोऽस्ति तस्य सत्यत्वे नाऽस्तीति निषेधायोगात्। यतः श्रुतिः 'अथात आदेशो नेति नेति' 'आत्माऽगृह्यो नहि गृह्यते' इति चाऽऽरोपितं जगन्निषिध्यैव ब्रह्माऽधिगमयति, ततो वासनया प्रतीयमानं नामरूपात्मकं जगत्सर्वं मिथ्यैवेत्यधिष्ठानसंदर्शनसंजातविज्ञानेन नेदं जगत्किन्तु ब्रह्मैवेत्यधिष्ठानमात्रत्वावशेषं निषिध्य तन्निषेधावधिभूतं दर्पणवत्स्वच्छं वस्त्वन्तरशून्यं चिदेकरसं परं ब्रह्म इदमेवाऽहमिति शुद्धात्मना बुद्धिमता सद्गुरुनुग्रहवता ज्ञातुं शक्यत एवेत्यभिप्रायेणोक्तं यस्याऽन्तःस्थानि भूतानीति। एवं ज्ञातुमशक्तस्य यतेरुपायान्तरमाह—**येनेति**। इदं परिदृश्यमानं जडं जगत्सर्वं येन प्रकाशैकरूपेण ब्रह्मणा ततं बहिरन्तश्च सर्वतो व्याप्तं प्रकाशितं च भवति, 'स पर्यगाच्छुक्रमकायम्' इति, 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इति च श्रुतेः। ततः प्रकाश्यस्य प्रकाशव्यतिरेकेण पृथक् स्वरूपाभावादग्निव्याप्ताय:पिण्डादौ तद्दर्शनाद् ब्रह्मव्याप्तमिदं सर्वं ब्रह्मैवेति सर्वस्य ब्रह्ममात्रत्वविज्ञानेन स्वस्याऽपि ब्रह्ममात्रत्वं ज्ञातुं शक्यत एवेत्यर्थः॥ २२॥

'पुरुषः स परः पार्थ' इति परस्य ब्रह्मणो ज्ञानैकप्राप्यत्वं उक्तलक्षणेन ज्ञानेन ब्रह्मभावापन्नानां यतीनाम् 'यं प्राप्य न निवर्तन्ते' इत्यपुनरावृत्तिलक्षणां विदेहमुक्तिं च तत्फलं

अन्तःकरणकी वासना द्वारा कल्पित ही नामरूपात्मक यह जगत् है, वस्तुतः नहीं है। यदि वह सत्य होगा, तो 'नहीं है' यह निषेध युक्त नहीं होगा। यतः 'अब इसलिए नेति नेति आदेश है' और 'आत्मा अगृह्य है, उसका ग्रहण नहीं किया जाता' यह श्रुति भी आरोपित जगत्का निषेध करके ही ब्रह्मका बोध कराती है, इसलिए वासनासे प्रतीत होनेवाला नामरूपात्मक सब जगत् मिथ्या ही है, यों अधिष्ठानके दर्शनसे उत्पन्न हुए विज्ञानसे, 'यह जगत् नहीं है, किन्तु ब्रह्म ही है, इस प्रकार अधिष्ठानमात्रावशेष जगत्का निषेध करके, उस निषेधके अवधिभूत दर्पणके समान स्वच्छ दूसरी वस्तुसे रहित चिदेकरस परब्रह्म 'यही मैं हूँ' इस प्रकार शुद्ध आत्मावाले बुद्धिमान् सद्गुरुके अनुग्रहसे युक्त पुरुषके द्वारा जाना ही जा सकता है, इस अभिप्रायसे कहा है—'यस्यान्तःस्थानि भूतानि'। इस प्रकार जाननेमें असमर्थ यतिके लिए दूसरा उपाय कहते हैं—**येनेति**। यह दृश्यमान सम्पूर्ण जड़ जगत् जिस एक प्रकाशरूप ब्रह्मसे तत है यानी बाहर और भीतर सर्वत्र व्याप्त और प्रकाशित है, क्योंकि 'वह शुद्ध, कायारहित सर्वत्र पूर्ण है' और 'उसके प्रकाशसे यह सब भासता है' ऐसी श्रुति है। इससे प्रकाशसे भिन्न प्रकाश्यके पृथक् स्वरूपका अभाव है, क्योंकि अग्निसे व्याप्त लोहपिण्ड आदिमें ऐसा देखनेमें आता है, अतः ब्रह्मसे व्याप्त यह सब जगत् ब्रह्म ही है, इस प्रकार सबके ब्रह्ममात्रत्वके विज्ञानसे अपना भी ब्रह्ममात्रत्व जाना ही जा सकता है, यह अर्थ है॥ २२॥

'हे पार्थ, वह पर पुरुष है' इससे परब्रह्मकी केवल ज्ञानसे ही प्राप्यताका, उक्त लक्षणवाले ज्ञानसे ब्रह्मभावको प्राप्त हुए यतियोंकी 'जिसको प्राप्त होकर लौटते नहीं हैं' इस श्रुतिके अनुसार

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥२३॥

हे भरतकुलोत्पन्न अर्जुन, संन्यासी और कर्मयोगी जिस कालमें मरकर आवृत्ति और अनावृत्तिको प्राप्त होते हैं, मैं उस कालको तुमसे कहूँगा ॥ २३ ॥

प्रतिपाद्येदानीमुक्तप्रकारेण ब्रह्म ज्ञातुमशक्तानामशुद्धबुद्धीनां मुमुक्षूणां चित्तशुद्धये 'एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः' इति परापरयोर्ब्रह्मणोरुपास्तौ प्रणवस्य प्रतीकत्वं सूचयित्वा तत्र 'यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत' इति श्रुत्युक्तरीत्या प्लुतेनोच्चार्यमाणे ओंकारे परब्रह्मबुद्धिं कृत्वा तमेव ब्रह्मेति ये ध्यायन्ति तेषां प्रणवावेशितब्रह्मबुद्धीनामन्येषां च 'तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये' इत्यादिश्रुत्युक्तसगुणोपासकानां क्रमेण विदेहमुक्तिं प्राप्स्यमानानां संन्यासयोगवतां प्रयाणकाले प्राप्ते तेषां का गतिरित्याकाङ्क्षायाम् 'तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान् षडुदङ्ङेति मासांस्तान्मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एतान् ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पन्थाः' इति 'अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति धूमाद्रात्रिं रात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद्यान् षड्दक्षिणैति मासांस्तान्नैते संवत्सरमभिप्राप्नु-

अपुनरावृत्तिरूप विदेहमुक्तिका और उसके फलका प्रतिपादन करके अब उक्त प्रकारसे ब्रह्मको जाननेमें असमर्थ अशुद्धबुद्धिवाले मुमुक्षुओंको चित्तशुद्धिके लिए 'हे सत्यकाम, जो पर और अपर ब्रह्म है, वह ओंकार है' इससे पर और अपर ब्रह्म दोनोंकी उपासनाओंमें प्रणवके प्रतीकत्वका सूचन करके, उसमें 'जो फिर इस त्रिमात्र 'ओम्' इसी अक्षरसे पर पुरुषका ध्यान करता है' इस श्रुति द्वारा उक्त रीतिसे प्लुतसे उच्चारण किये जानेवाले ॐकारमें परब्रह्मबुद्धि करके, वही ब्रह्म है, इस प्रकार जो ध्यान करते हैं, उन प्रणवमें आवेशित ब्रह्मबुद्धिवाले यतियोंको और दूसरोंको 'जो अरण्यमें स्वाश्रमविहित कर्म और हिरण्यगर्भ विद्याका सेवन करते हैं' इत्यादि श्रुतिसे उक्त सगुणके उपासक क्रमसे विदेहमुक्तिको प्राप्त होनेवाले संन्यासयोगवालोंकी प्रयाणकालके प्राप्त होनेपर क्या गति होती है, ऐसी आकांक्षा होनेपर 'जो इस प्रकार जाननेवाले गृहस्थ, वानप्रस्थ, नैष्ठिक ब्रह्मचारी और संन्यासी श्रद्धालु तपस्वी होते हैं, वे अर्चिको प्राप्त होते हैं, अर्चिसे दिनको, दिनसे आपूर्यमाण (शुक्ल) पक्षको, आपूर्यमाण पक्षसे छः उत्तरायण मासोंको, उन मासोंसे संवत्सरको, संवत्सरसे आदित्यको, आदित्यसे चन्द्रमाको और चन्द्रमासे विद्युत्को, वहां अमानव पुरुष है, वह इनको ब्रह्म प्राप्त कराता है, यह देवयान मार्ग है' इससे, 'और जो ये ग्राममें इष्ट, पूर्त और दान करते हैं, वे धूमको प्राप्त होते हैं, धूमसे रात्रिको, रात्रिसे अपर (कृष्ण) पक्षको अपर पक्षसे इन छः दक्षिणायन मासोंको, इन मासोंसे ये संवत्सरको प्राप्त नहीं होते, मासोंसे पितृलोकको, पितृलोकसे

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ २४ ॥

जिस कालमें उत्तरायणाभिमानी देवता, कालाभिमानी देवता, दिवसाभिमानी देवता, शुक्लपक्षाभिमानी देवता और उत्तरायणके छः मासोंके अभिमानी देवता रहते हैं, उस कालमें मरे हुए ब्रह्मके उपासक पुरुष ब्रह्मको ही प्राप्त होते हैं ॥ २४ ॥

वन्ति, मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति, तस्मिन् यावत्संपातमुषित्वाऽथैतमध्वानं पुनर्निवर्तन्ते' इति श्रुत्युक्तेनोत्तरायणेन ब्रह्मप्राप्तिरपुनरावृत्तिलक्षणेति बोधयितुमुत्तरायणं तद्व्यावृत्त्यर्थमित्थं कर्मिणां कर्मफलमिति सूचनार्थं च दक्षिणायनमपीति मार्गद्वयम् । तत्रैकेन गतानामपुनरावृत्तिमन्येन मार्गेण गतानां पुनरावृत्तिं च प्रतिपादयति—यत्रेति ।

योगिन इत्यत्र योगिनः योगिनः इति जसि सरूपाणामेकशेषे कृते योगिन इति रूपसिद्धिः । तत्रैकेन योगिन इति पदेन संन्यासिन उच्यन्ते, द्वितीयेन तु कर्मिणः । कर्मिणां कर्मफलसंन्यासयोगाद्गौणवृत्त्या योगित्वम् । योगिन उभयविधाः यत्र यस्मिन्काले प्रयाता मृताः सन्तः स्वयमनावृत्तिमावृत्तिं च यान्ति तं कालं वक्ष्यामि शृण्वित्यर्थः ॥२३॥

योगिन इत्युभयविधानां योगिनां सामान्येनैकत्र मृतानामपुनरावृत्तिरन्यत्र

आकाशको, आकाशसे चन्द्रमाको, यह सोम राजा उन देवताओंका अन्न है, उसको देवता खाते हैं, उसमें जबतक (स्वर्गमें भोग्य पुण्य) संपत्ति है, तबतक रहकर फिर इसी मार्गसे लौटते हैं' इस श्रुतिमें उक्त उत्तरायणसे अपुनरावृत्तिरूप ब्रह्मप्राप्ति होती है, ऐसा बोधन करनेके लिए उत्तरायण और उसकी व्यावृत्तिके लिए, इस प्रकार कर्मियोंका कर्मफल है, यह सूचन करनेके लिए दक्षिणायन भी है, यों दो मार्ग हैं, उनमें से एकसे गये हुए जीवोंकी अपुनरावृत्ति और दूसरेसे गये हुए जीवोंकी पुनरावृत्ति होती है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं—'यत्र' इत्यादिसे।

'योगिनः' यहाँपर 'योगिनः योगिनः' इस प्रकार [प्रथमा विभक्तिका बहुवचनान्त यानी 'जस्' प्रत्ययान्तका समस्तरूप है] 'सरूपाणामेकशेष विभक्तौ' इस सूत्रसे 'जस्' पर रहते एक शेष करनेपर 'योगिनः' इस रूपकी सिद्धि है । उनमें से एक 'योगिनः' इस पदसे संन्यासी कहे गये हैं, और दूसरेसे कर्मी । कर्मियोंमें कर्मफलसंन्यासके योगसे गौण वृत्ति द्वारा योगित्व है । दोनों प्रकारके योगी जिस कालमें मृत होकर स्वयं अनावृत्ति और आवृत्तिको प्राप्त होते हैं, उस कालको मैं तुमसे कहूँगा, सुनो यह अर्थ है ॥ २३ ॥

'योगिनः' इससे दोनों प्रकारके योगियोंका समानरूपसे निर्देश होनेसे एक कालमें मरे हुओंकी

मृतानां तु पुनरावृत्तिरित्यनियमेन परलोकप्राप्तौ सत्यामुभयेषाम् 'स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते' इत्यादि-श्रुतिबलात् 'क्रियाभेदात्फलभेदः' इति न्यायेन च नियतमयनविभागं दर्शयति—अग्निरिति ।

तेऽर्चिषमभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरित्यग्न्यनन्तरमहरेव श्रूयते न तु ज्योतिः कथमत्राऽग्निर्ज्योतिरिति श्रुतिविरुद्धमुच्यत इति न शङ्कनीयम्, अर्चिःशब्दस्याऽग्निज्योतिषोरुभयोरपि साधारण्यात् श्रुत्याऽर्चिरित्युक्तं तदेवाऽत्र विभज्य दर्शितं ततो न कोऽपि विरोधः । अग्निरुत्तरायणकालाभिमानिनी देवता । ज्योतिश्च कालाभिमानिनी देवता । अहरित्यहरभिमानिनी देवता । शुक्लः शुक्लपक्षाभिमानिनी देवता । षण्मासाः षण्मासाभिमानिनी देवता । संवत्सरादीनामुपलक्षणमेतत् । यत्रोत्तरायणकाले अग्न्यादयः कालाभिमानिनो भूत्वा तिष्ठन्ति तत्र तस्मिन्नुत्तरायणे प्रयाता मृताः सन्तो ब्रह्मविदः ब्रह्मोपास्यत्वेन ये विदुस्ते ब्रह्मविदो ब्रह्मोपासका योगिन उक्तक्रमेण ब्रह्म गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति न साक्षात् । 'स तेजसि सूर्ये संपन्नः' इत्युक्त्वाऽनन्तरम् 'परात् परं पुरुषमीक्षते' इति ब्रह्मप्राप्तेरन्तरालं श्रावयति श्रुतिः सूर्य इत्यग्न्यादीनामुपलक्षणम् । तत उक्तक्रमेणैव योगिनो ब्रह्म प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । ननु ब्रह्मविद इत्यविशेषश्रवणा-

---

अपुनरावृत्ति और अन्य कालमें मरे हुओंकी तो पुनरावृत्ति होती है, इस प्रकार अनियमसे परलोककी प्राप्ति होनेपर दोनोंके 'वह जैसी कामनावाला होता है, वैसे निश्चयवाला होता है, जिस निश्चयवाला होता है, उस कर्मको करता है, जिस कर्मको करता है, उसको प्राप्त होता है' इत्यादि श्रुतिके बलसे और 'क्रियाके भेदसे फलका भेद होता है' इस न्यायसे नियत अयनविभागको दिखलाते हैं—'अग्नि०' इत्यादिसे ।

'वे अर्चिको प्राप्त होते हैं, अर्चिसे दिनको' इस श्रुतिसे अग्निके पीछे दिन ही सुननेमें आता है, न कि ज्योति, अतः यहाँ अग्नि ज्योति है, इस प्रकार श्रुतिसे विरुद्ध कैसे कहा जाता है, यह शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि अर्चिशब्द अग्नि और ज्योति दोनोंमें ही साधारण है । इसलिए श्रुतिमें अर्चि ऐसा कहा है, वही यहाँ विभाग करके दिखलाया गया है, अतः कोई भी विरोध नहीं है । अग्नि उत्तरायण कालका अभिमानी देवता, ज्योति कालका अभिमानी देवता, अहः दिनका अभिमानी देवता, शुक्ल शुक्लपक्षका अभिमानी देवता और षण्मास—षण्मासका अभिमानी देवता, संवत्सर आदिका यह उपलक्षण है । जिस उत्तरायणकालमें अग्नि आदि कालके अभिमानी होकर स्थित हैं, उस उत्तरायणमें मरकर ब्रह्मविद् (ब्रह्मको उपास्यरूपसे जो जानते हैं, वे ब्रह्मविद् हैं) यानी ब्रह्मके उपासक योगी उक्त क्रमसे ब्रह्मको जाते हैं—प्राप्त होते हैं, साक्षात् नहीं । 'वह तेजोरूप सूर्यमें सम्पन्न होता है' ऐसा कहकर पीछे 'परसे पर पुरुषको देखता है' इससे ब्रह्मप्राप्तिका अन्तराल (मध्यवर्ती काल) श्रुति सुनाती है । सूर्यशब्द अग्नि आदिका उपलक्षण है । इसलिए उक्त क्रमसे ही योगी ब्रह्मको प्राप्त होते हैं । यदि शङ्का हो कि 'ब्रह्मविद्'

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥२५॥

जिस कालमें धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष तथा दक्षिणायन छः मासोंके अभिमानी देवता रहते हैं, उस दक्षिणायनमें मृत कर्मयोगी चन्द्रलोकको प्राप्त कर [वहां कर्मफलका उपभोग कर] पुनः वापस आता है ॥ २५ ॥

योगिनामपि क्रममुक्तिरेवेति चेत्, न; 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' इति ज्ञानिनामुत्क्रमणाभावश्रवणात् । 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' इत्यन्तरालाभावश्च श्रूयते । 'अत्र ब्रह्म समश्नुते' इत्यादिश्रुतिविरोधप्रसङ्गाच्च नाऽऽशङ्का कर्तव्या । अत्रोत्तरायणे कालाभिमानित्वेनाऽग्न्यादिदेवतानामुपन्यासः दक्षिणायने रात्र्यादौ मृतानामप्युपासकानामर्चिरादिमार्गेणैव ब्रह्मप्रापकत्वनियमार्थं ब्रह्मगन्तॄणां तत्तल्लोकेषु विश्रमार्थं तत्रत्यसुखानुभूत्यर्थं च । एवमन्यत्राऽपि द्रष्टव्यम् ॥२४॥

कर्मिणः स्वकृतकर्मफलमारोहणावरोहणाद् दुःखं श्रुत्वा विवेकवैराग्याभ्यां ब्रह्मवेदनसंपादनपरा भवन्त्विति बोधयितुं दक्षिणायनमृतानां फलमाह—धूम इति ।

धूमो धूमाभिमानिनी देवता । रात्रिः रात्र्यभिमानिनी देवता । कृष्णः कृष्णपक्षाभिमानिनी देवता । षण्मासाः षण्मासाभिमानिनी देवता । एताः यत्र दक्षिणायने कालाभिमानिन्यो भवन्ति तत्र दक्षिणायने प्रयातो मृतो योगी कर्मयोगी

इस प्रकार साधारणरूपसे श्रवण होनेके कारण योगियोंको भी क्रममुक्ति ही प्राप्त होती है, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि 'उसके प्राण उत्क्रमण नहीं करते' इस श्रुतिसे ज्ञानियोंके उत्क्रमणका अभाव सुननेमें आता है, 'ब्रह्म ही होकर ब्रह्मको प्राप्त होता है' इससे अन्तराल-कालका अभाव भी सुननेमें आता है और 'यहां ब्रह्मको प्राप्त होता है' इत्यादि श्रुतियोंके विरोधसे भी वैसी शङ्का नहीं करनी चाहिए । इस उत्तरायणमें कालके अभिमानीरूपसे अग्नि आदि देवताओंका जो उपन्यास किया गया है, वह दक्षिणायनमें रात्रि आदिमें मरे हुए उपासकोंको भी अर्चि आदि मार्गसे ही ब्रह्म प्राप्त होता है, इस नियमके लिए, ब्रह्मको जानेवाले पुरुषोंके तत्-तत् लोकमें विश्रामके लिए और वहांके सुखके अनुभवके लिए है । इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए ॥ २४ ॥

आरोहावरोहका कारण होनेसे अपने किये हुए कर्मोंका फल दुःख ही है, ऐसा श्रुतिसे जानकर कर्मानुष्ठान करनेवाले पुरुष विवेक और वैराग्यसे ब्रह्मज्ञानके संपादनमें परायण हों, ऐसा बोधन करनेके लिए दक्षिणायनमें मरनेवालोंका फल कहते हैं—'धूमो' इत्यादिसे ।

धूम यानी धूमका अभिमानी देवता, रात्रि यानी रात्रिका अभिमानी देवता, कृष्ण यानी कृष्णपक्षका अभिमानी देवता, षण्मास यानी छः मासोंका अभिमानी देवता । ये जिस दक्षिणायनमें कालके

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्तते पुनः ॥ २६ ॥

देवयान और पितृयान नामकी दो गतियाँ (मार्ग) ज्ञान और कर्मके अधिकारी लोगोंके लिए शाश्वत यानी अनादि ही हैं। देवयानसे गया हुआ पुरुष पुनः संसारमें नहीं आता और पितृयानसे गया हुआ पुरुष पुनः संसारमें आता है ॥ २६ ॥

चान्द्रमसं लोकं प्राप्य तत्र चान्द्रमसं चन्द्रमसः प्राप्तं ज्योतिरिष्टापूर्तादिपुण्यकर्मसंभवं फलं प्राप्याऽनुभूय 'कृतात्ययेऽनुशयवान्' इति न्यायेन कर्मफलभोगसंक्षये शेषकर्मानुभूत्यै निवर्तते । तेनैव मार्गेण मानवं लोकं पुनरायाति पुनर्गच्छत्येवं यातायातदुःखमनन्तमहो कष्टमविवेकिनामिति सूचितं भवति ॥ २५ ॥

ननु कादाचित्कमेवैतद् दुःखं गृहिणामित्याशङ्कायामाह—शुक्लकृष्णे इति ।

शुक्लकृष्णे ज्ञानप्रकाशाधिकाग्न्यादिदेवताधिष्ठितत्वाद्विद्याप्राप्यत्वात् प्रकाशलोकभूयिष्ठत्वाद् ब्रह्मप्राप्तिहेतुत्वेनोत्कृष्टत्वाच्च देवयानलक्षणा गतिः शुक्ला भवति । अनतिप्रकाशदेवताधिष्ठितत्वात् धूमप्राचुर्यात् भूयः संसारहेतुत्वेन निकृष्टत्वाच्च पितृयानलक्षणा गतिः कृष्णा भवति । एवं शुक्लकृष्णे निर्मलमलिनस्वभावे एते पूर्वोक्ते गती मार्गौ जगतो लोकस्य । अत्र जगच्छब्देन ज्ञानकर्माधिकारिणो गृह्यन्ते न त्वन्ये केवलप्राकृतास्तेषां ज्ञानकर्मणोरनधिकारात् । ततो ज्ञानकर्मस्वधिकारिणामेव मोक्षार्थं

अभिमानी होते हैं, उस दक्षिणायनमें मरनेवाला योगी (कर्मयोगी) चन्द्रलोकको प्राप्त होकर वहां चन्द्रसे प्राप्त ज्योतिको अर्थात् इष्ट, पूर्त आदि पुण्य कर्मसे उत्पन्न हुए फलको प्राप्त कर यानी उक्त फलका अनुभव कर 'पुण्यका क्षय होनेपर अनुशयवाला' इस न्यायसे कर्मफलभोगका क्षय होनेपर शेष कर्मोंका अनुभव करनेके लिए वापस आता है। उसी मार्गसे मनुष्यलोकमें फिर आता है और फिर जाता है, इस प्रकार यातायातजनित दुःख अनन्त हैं, अहो अविवेकियोंके लिए बड़ा कष्ट है, ऐसा सूचित होता है ॥ २५ ॥

गृहस्थोंको यह दुःख कभी कभी ही होता है, ऐसी आशङ्का होनेपर कहते हैं—'शुक्लकृष्णे' इत्यादिसे ।

जिनमें ज्ञान और प्रकाशकी अधिकता है, ऐसे अग्नि आदि देवताओं द्वारा अधिष्ठित होनेसे, विद्या द्वारा प्राप्य होनेसे, प्रकाशवाले लोकोंका आधिक्य होनेसे और ब्रह्मप्राप्तिका हेतु होनेके कारण श्रेष्ठ होनेसे देवयानरूप गति शुक्ल है। थोड़े प्रकाशवाले देवताओं द्वारा अधिष्ठित होनेसे, धूमकी अधिकता होनेसे और पुनः संसारका हेतु होनेके कारण निकृष्ट होनेसे पितृयानरूप गति कृष्ण है। इस प्रकार निर्मल और मलिन स्वभाववाले ये पूर्वोक्त शुक्ल तथा कृष्ण मार्ग जगत्के यानी लोकके । (यहाँ 'जगत्'शब्दसे ज्ञान और कर्मके अधिकारियोंका ही ग्रहण किया जाता है, अन्य

नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवाऽर्जुन ॥ २७ ॥

देवयान और पितृयानको जाननेवाला कोई भी योगी मुग्ध नहीं होता अर्थात् मोक्षमार्गविरोधी मार्गका प्रमादसे भी स्मरण नहीं करता, इसलिए हे अर्जुन, यदि तुम मोक्षेच्छु हो, तो सब कालोंमें योगयुक्त (समाहितचित्त) होओ ॥ २७ ॥

कर्मफलानुभूत्यर्थं च 'कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोकः' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धे एते पदव्यौ शाश्वते मते । जीवानामनादित्वान्नित्यत्वादनन्तत्वाच्च तेषां यावत्संसारस्तावत्पर्यन्तं स्वर्गसिद्धये मोक्षसिद्धये च द्वावप्येतौ मार्गौ नित्यावेव भवत इत्यर्थः । एवं तयोर्नित्यत्वं प्रतिपाद्य चोभयोर्नियतं फलमाह—**एकयेति** । एतयोर्द्वयोर्गत्योर्मध्ये एकया गत्या शुक्लया विद्वाननावृत्तिं मुक्तिं याति, 'न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते' इति श्रुतेः । अन्यया गत्या कृष्णयाऽविद्वानावर्तते, 'प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किञ्चेह करोत्ययम् । तस्माल्लोकात्पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे' इति श्रुतेः । पुनर्जन्मादिसंसारायाऽऽगच्छतीत्यर्थः ॥ २६ ॥

शुक्लाया गतेः फलं मोक्षः कृष्णाया गतेः फलं बन्ध इति द्वयोर्गत्योः स्वरूपं फलं च कारणं च विदितवतो विदुषः प्रमादोऽत्र न कर्तव्य इति सूचयितुमाह—**नैते इति** ।

केवल प्राकृत पुरुषोंका नहीं, क्योंकि उनका ज्ञान और कर्ममें अधिकार नहीं है) इससे ज्ञान और कर्ममें अधिकारियोंके ही मोक्षके लिए और कर्मफलके अनुभवके लिए 'कर्मसे पितृलोक और विद्यासे देवलोक प्राप्त होता' इत्यादि श्रुति-प्रसिद्ध ये मार्ग शाश्वत माने गये हैं । जीव अनादि, नित्य और अनन्त हैं, अतः उनका जबतक संसार है, तबतक स्वर्गकी सिद्धिके लिए और मोक्षकी सिद्धिके लिए ये दोनों मार्ग भी नित्य ही हैं, यह अर्थ है । इस प्रकार उन दोनोंमें नित्यत्वका प्रतिपादन करके उनका नियत फल कहते हैं—एकयेति । इन दोनों गतियोंमें से एकसे (शुक्ल गतिसे) विद्वान् अनावृत्तिको—मुक्तिको—प्राप्त होता है, क्योंकि 'फिर लौटता नहीं है फिर लौटता नहीं है' ऐसी श्रुति है । दूसरीसे (कृष्ण गतिसे) अविद्वान् लौटता है, क्योंकि 'जीव जो कुछ कर्म यह यहाँ करता है, परलोकमें उस कर्मके फलका उपभोग कर, उस लोकसे फिर इस लोकमें कर्म करनेके लिए आता है' ऐसी श्रुति है । फिर जन्मादि संसारके लिए आता है, यह अर्थ है ॥ २६ ॥

शुक्ल गतिका फल मोक्ष है तथा कृष्ण गतिका फल बन्ध है, इस प्रकार दोनों गतियोंके स्वरूप, फल और कारणको जाननेवाले विद्वान्को यहाँ प्रमाद नहीं करना चाहिए, ऐसा सूचन करनेके लिए कहते हैं—'नैते' इत्यादिसे ।

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाऽऽद्यम् ॥२८॥

वेदाध्यन करनेसे, यज्ञ करनेसे, तपश्चर्या करनेसे तथा दान करनेसे जिस पुण्य-फलका [शास्त्रोंमें] निर्देश किया गया है, उस सम्पूर्ण पुण्य-फलका, ब्रह्म उपासना करनेवाला योगी अक्षर ब्रह्मको जानकर, अतिक्रमण करता है और परम ब्रह्मको प्राप्त होता है ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे तारकब्रह्मयोगो नामाऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

एते निरुक्तलक्षणोत्तरायणदक्षिणायनसंज्ञिके सृती पदव्यौ जानन् श्रुतिस्मृति-युक्तिभिस्तयोर्बन्धमोक्षकारणत्वं सम्यग् जानन् कश्चन कश्चिदपि योगी मोक्षेच्छया योगनिष्ठायां प्रवृत्तो हंसो वा परमहंसो वा मुमुक्षुर्न मुह्यति । मोहो नाम मोक्षमार्ग-विरोधिमार्गस्मरणम् । प्रमादेनाऽपि तदवलम्बनं च न करोति । क्वचिदपि योगनिष्ठायां प्रमत्तो न भवेदित्यर्थः । यस्मादेतयोर्गत्योर्बन्धमोक्षहेतुत्वं प्रसिद्धं तस्मात्त्वं मुमुक्षुश्चेत् सर्वेषु कालेष्वाहारशयनासनादिष्वपि सर्वदा योगयुक्तो भव । ब्रह्मानुसन्धानमेव कुरु न क्वचिदपि बाह्यानुसन्धानमित्यर्थः ॥ २७ ॥

एवमुत्तरायणं दक्षिणायनं च योगिभिः कर्मिभिश्च गम्यं मार्गद्वयं तत्र गन्तॄणां योगिनां कर्मयोगिनां च फलं सम्यक् प्रतिपाद्याऽधुना सगुणब्रह्मोपासकस्याऽर्चिरादि-लोके प्राप्यं सुखं ब्रह्मप्राप्तिं च विस्पष्टयति—वेदेष्विति ।

ये पूर्वोक्त लक्षणवाली उत्तरायण और दक्षिणायन नामकी गतियोंको (मार्गोंको) जानता हुआ—श्रुति, स्मृति और युक्तियोंसे दोनोंमें बन्ध और मोक्षकी कारणता है, ऐसा भली भाँति जानता हुआ—कोई भी योगी (मोक्षेच्छासे योगनिष्ठामें प्रवृत्त हंस या परमहंस मुमुक्षु) मोहित नहीं होता। मोक्षमार्गके विरोधी मार्गके स्मरणका नाम मोह है । प्रमादसे भी उसका अवलम्बन नहीं करता । कभी भी योगनिष्ठामें प्रमत्त नहीं होना चाहिए, यह अर्थ है । जिस कारणसे इन दोनों गतियोंमें बन्ध और मोक्षकी हेतुता प्रसिद्ध है, इसलिए यदि तुम मुमुक्षु हो, तो सम्पूर्णकालोंमें आहार, शयन, आसन आदिमें भी सर्वदा योगसे युक्त होओ । ब्रह्मानुसन्धान ही करो, कभी भी बाह्य पदार्थका अनुसन्धान मत करो, यह अर्थ है ॥ २७ ॥

इस प्रकार योगियोंसे और कर्मियोंसे प्राप्त होने योग्य उत्तरायण और दक्षिणायन दो मार्गोंका तथा उनमें जानेवाले योगियोंके और कर्मयोगियोंके फलका भली भाँति प्रतिपादन करके अब सगुण-ब्रह्मोपासकके अर्चि आदि लोकमें प्राप्त होने योग्य सुखका और ब्रह्मप्राप्तिका स्पष्टीकरण करते हैं—'वेदेषु' इत्यादिसे ।

वेदेषु ऋगादिषु साङ्गेषु सलक्षणेष्वध्ययनविध्युक्तनियमेन सम्यगधीतेषु सत्सु यज्ञेष्वाधानाद्यश्वमेधान्तेषु यागेषु साद्गुण्येन साङ्गोपाङ्गं सम्यगनुष्ठितेषु तपःसु कृच्छ्र-चान्द्रायणादिष्ववैकल्येन सम्यगाचरितेषु दानेषु कन्यागवाश्वादिविषयेषु यथोक्त-देशकालपात्रादिसंपत्त्या सम्यक्कृतेषु सत्सु तत्कर्तॄणां यत्पुण्यफलं यदूर्ध्वलोकेषु भोक्तव्यं सुखं शास्त्रे प्रदिष्टं निर्दिष्टं तत्सर्वमपि इदम् 'अक्षरं ब्रह्म परमम्' इत्या-दिना निरूपितमध्यात्मकर्माधिभूताधिदैवाधियज्ञादिभेदनिर्मुक्तं ब्रह्म प्रणवालम्बनं वा विदित्वा श्रद्धाभक्तिभ्यामजस्रं सम्यगुपास्य योगी सगुणब्रह्मोपासकः स्वयमग्न्यादि-ब्रह्मभुवनान्तेषु लोकेषु गमनकाले स्थाने स्थाने सम्यगग्न्यादिभिः पूज्यमानः सन् पूर्वोक्तं सुखमत्येति ततोऽप्यतिशयेन प्राप्नोति। नैतावन्मात्रमेव फलं ब्रह्मोपास्तेः किन्तु स्थानं सर्वाधिष्ठानमाद्यं सर्वकारणं परं ब्रह्मोपैति प्राप्नोति च। मुक्तिं च गच्छतीत्यर्थः ॥ २८ ॥

इति श्रीमदानन्दात्मसरस्वतीशिष्यश्रीशङ्करानन्दसरस्वतीकृतौ
गीतातात्पर्यबोधिन्यामष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

साङ्ग और सार्थ ऋग्वेद आदि वेदोंका अध्ययनविधि द्वारा प्रतिपादित नियमपूर्वक भली भाँति अध्ययन करनेपर, आधानसे लेकर अश्वमेध तक यज्ञोंका विधिपूर्वक साङ्गोपाङ्ग अनुष्ठान करनेपर, कृच्छ्र, चान्द्रायण आदि तपोंका न्यूनताके बिना भली भाँति आचरण करनेपर तथा कन्या, गौ, घोड़े आदि दानोंके शास्त्रानुसार देश, काल, पात्र आदि सम्पत्ति पूर्वक ठीक-ठीक किये जानेपर उनके करनेवालोंको जिस पुण्य-फलका (ऊर्ध्वलोकोंमें भोगने योग्य जिस सुखका) शास्त्रमें कथन है, वह सभी सुख इसको—'अक्षरं ब्रह्म परम्' इत्यादिसे निरूपित किए हुए अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधि-दैव, अधियज्ञ आदि भेदसे रहित ब्रह्मको अथवा प्रणवालम्बनको—जानकर श्रद्धाभक्तिसे सर्वदा भली भाँति उपासना कर योगी—सगुण ब्रह्मका उपासक—स्वयं अग्निसे लेकर ब्रह्मभुवन पर्यन्त लोकोंमें जाते समय स्थान-स्थान पर अग्नि आदि द्वारा उत्तम रीतिसे पूजित होकर पूर्वोक्त सुखको लांघ जाता है यानी उस सुखसे भी अधिक सुखको प्राप्त होता है। ब्रह्मकी उपासनाका इतना ही फल नहीं है, किन्तु सबके अधिष्ठान, सबके कारण पर ब्रह्मको प्राप्त होता है। मुक्तिको प्राप्त होता है, यह अर्थ है ॥ २८ ॥

आठवाँ अध्याय समाप्त

नवमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १ ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—हे अर्जुन, असूया न करनेवाले तुमसे मैं विज्ञान सहित इस ज्ञानको कहूँगा, जिसको जानकर तुम संसारदुःखके प्रवाहरूप अशुभसे मुक्त हो जाओगे ॥ १ ॥

मन्दबुद्धेश्चित्तशुद्ध्यर्थं योगमार्गेण ब्रह्मप्राप्त्यर्थं चाऽध्यात्मादिभेदरहितमक्षरशब्द-वाच्यं ब्रह्मोपास्यत्वेनोपदिश्य तदुपासकस्य योगिनोऽर्चिरादिमार्गेण गमनं ब्रह्मप्राप्तिं चाऽष्टमे प्रतिपाद्येदानीं मुमुक्षूणामनेनैव मार्गेण मोक्षप्राप्तिर्नाऽन्यथेति प्राप्तामाशङ्कां निवर्तयितुमधिकारिणां शुद्धबुद्धीनामिहैव मोक्षसिद्ध्यर्थं च साक्षात् मोक्षकारणं परब्रह्म-विषयं ज्ञानं विज्ञानं च ब्रह्मस्वरूपं च परस्य ब्रह्मणः प्रकृतिकर्तृकेषु सृष्ट्यादिषु साक्षित्वासङ्गत्वोदासीनत्वादिधर्मांश्चोपासनाप्रकारभेदांश्च स्वस्य सार्वात्म्यं चाऽन्यच्च प्रतिपादयितुं नवमाध्याय आरभ्यते। तत्राऽऽदावपृष्टोऽपि भक्तेषु दयाविष्टचित्ततया स्वयमेव ज्ञानं विज्ञानं तन्माहात्म्यं च प्रतिपादयितुं श्रीभगवानुवाच—इदमिति।

'परस्तस्मात्तु भावोऽन्यः' इति, 'पुरुषः स परः पार्थ' इत्युपान्त्याऽध्याये निरू-

---

जिसकी बुद्धि मन्द है, उसके चित्तकी शुद्धिके लिए और योगमार्गसे ब्रह्मकी प्राप्तिके लिए अध्यात्म आदि भेदसे शून्य अक्षरशब्दसे वाच्य ब्रह्मका उपास्यरूपसे उपदेश करके, उसके उपासक योगीके अर्चि आदि मार्गसे गमन और ब्रह्मकी प्राप्तिका आठवें अध्यायमें प्रतिपादन करके, अब मुमुक्षुओंको इसी मार्गसे मोक्षकी प्राप्ति होती है, दूसरे मार्गसे नहीं, इस प्रकार प्राप्त हुई आशङ्काको दूर करनेके लिए और शुद्धबुद्धिवाले अधिकारियोंकी यहीं मोक्षसिद्धिके लिए साक्षात् मोक्षके कारण परब्रह्मविषयक ज्ञान और विज्ञानका, ब्रह्मके स्वरूपका तथा प्रकृति द्वारा किये गये सृष्टि आदि कार्योंमें परब्रह्मकी साक्षिता, असङ्गता और उदासीनता आदि धर्मोंका, उपासनाके प्रकारके भेदोंका, अपने सार्वात्म्यका और अन्य विषयका भी प्रतिपादन करनेके लिए नवम अध्यायका आरम्भ किया जाता है। प्रश्न न करनेपर भी भक्तोंके प्रति दयापूर्णचित्त होनेके कारण श्रीभगवान् उनमें पहले ज्ञान, विज्ञान और उनके माहात्म्यका प्रतिपादन करनेके लिए स्वयं ही बोले—'इदम्' इत्यादिसे।

'उससे पर अन्य भाव है' तथा 'हे पार्थ, वह पुरुष पर है' इस वाक्यसे, पूर्व अध्यायमें

पितनिर्विशेषब्रह्मणः सन्निहितत्वात्तद्विषयत्वेन भक्तानुग्रहेच्छावेगात् बुद्ध्यारूढत्वेन च इदमितीदमा प्रत्यक्षेण ज्ञानं निर्दिष्टम्। तुशब्दो ब्रह्मज्ञानस्य यमनियमादिक्लेशरहितत्वात्साक्षान्मोक्षैकसाधनत्वाच्च सगुणज्ञानाद्विशिष्टत्वद्योतनार्थः। यतः सगुणं ज्ञानं ज्ञातृज्ञेयादिभेदमेव संपाद्याऽनर्थायैव भवति न तु पुरुषार्थाय, 'येऽन्यथातो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति' इति ब्रह्मणस्तेषां च भेदं पश्यतामविदुषामीश्वराधीनत्वं जन्मादिबन्धं च ब्रवीति श्रुतिः। इदं तु 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इति श्रवणाद् ब्रह्मप्रापय एव भवत्यतः सगुणज्ञानात् बन्धकाद् ब्रह्मज्ञानस्योत्पत्त्युत्तरक्षण एव मोक्षहेतोरुत्कृष्टत्वं सूचयत इत्यर्थः। तुशब्देनोक्तमुत्कृष्टत्वमेव विस्पष्टयति—**विज्ञानसहितमिति**। विज्ञानं नामाऽपरोक्षानुभवः 'ब्रह्मैवेदं सर्वं', 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादिश्रुत्युक्तरीत्या सर्वस्य स्वस्य च प्रत्यक्षेण ब्रह्ममात्रत्ववेदनं न तु पाताले सूर्यग्रहणमितिवत्तटस्थार्थावबोधनम्। निरुक्तलक्षणविज्ञानसहितं ज्ञानं साक्षान्मोक्षकारणम्। तत एव ब्रह्मज्ञानं विशेषयति—**गुह्यतममिति**। कायसिद्ध्यष्टैश्वर्यसिद्ध्यादियोगचर्याणां यानि रहस्यानि मन्त्रयन्त्रौषधानि तेभ्यः सर्वेभ्यो गुह्येभ्य उत्कृष्टं गुह्यतमम्। परमरहस्यमित्यर्थः। तत एव यस्मै कस्मै चाऽयोग्याय दुर्गुणिने न देयम्, किन्तु शुद्धात्मन एवेति

निरूपित निर्विशेष ब्रह्मकी सन्निधि होनेसे उसकी विषयता होनेके कारण तथा भक्तोंके ऊपर अनुग्रह करनेकी इच्छाके वेगसे बुद्धिमें आरूढ़ होनेके कारण 'इदम्' इस प्रकार 'इदम्' शब्दसे प्रत्यक्षतः ज्ञानका (ब्रह्मज्ञानका) निर्देश किया गया है। ब्रह्मज्ञान यम, नियम आदि क्लेशोंसे रहित तथा साक्षात् ही मोक्षका साधन है, इसलिए सगुण ब्रह्मज्ञानसे उसकी श्रेष्ठता बतलानेके लिए 'तु' शब्द है। जिस कारणसे सगुण ज्ञान ज्ञाता, ज्ञेय आदि भेदका सम्पादन कर अनर्थका कारण ही होता है, पुरुषार्थका कारण नहीं होता, क्योंकि 'जो उक्त आत्मदर्शनको विपरीत या भली भाँति नहीं जानते, वे अन्य स्वामीसे युक्त तथा क्षीण लोकवाले होते हैं' इत्यादि श्रुति ब्रह्मका और उनका भेद माननेवाले अज्ञानियोंका ईश्वरके अधीन होना और जन्म आदि बन्धसे युक्त होना कहती है। यह ज्ञान तो 'ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्म ही होता है' इस श्रुतिसे ब्रह्मको प्राप्त करानेवाला है, इसलिए बन्धन करनेवाले सगुण ज्ञानसे ब्रह्मज्ञानकी, जो अपनी उत्पत्तिके बाद तुरत ही मोक्षका हेतु है, उत्कृष्टता सूचित होती है, यह अर्थ है। तुशब्दसे कहे गये उत्कृष्टत्वको ही स्पष्ट करते हैं—**'विज्ञानसहितमिति'**। विज्ञान अपरोक्ष अनुभवका नाम है, 'ब्रह्म ही यह सब है', 'मैं ब्रह्म हूँ' इत्यादि श्रुतियोंमें कही गई रीतिसे सबमें और अपनेमें प्रत्यक्षसे ब्रह्ममात्रत्व जानना ही विज्ञान है, पातालमें सूर्यग्रहण है, इसके समान तटस्थ पदार्थका जानना विज्ञान नहीं है। निरुक्त लक्षणवाले विज्ञानसे युक्त ज्ञान साक्षात् मोक्षका कारण है। इसीलिए ब्रह्मज्ञानकी विशेषता कहते हैं—**गुह्यतममिति**। कायसिद्धि, आठ प्रकारके ऐश्वर्योंकी सिद्धि आदि योगाचरणके जो मन्त्र, तन्त्र, औषधि आदि रहस्य हैं, उन सब गुह्योंसे उत्कृष्ट गुह्यतम। परम रहस्य, यह अर्थ है। इसीलिए

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ २ ॥

यह ज्ञान सब विद्याओंका राजा गोपनीय वस्तुओंमें अतिगोप्य सर्वश्रेष्ठ, पवित्र, विद्वानोंके प्रत्यक्ष होने योग्य, धर्मसे विरोध न रखनेवाला और अव्यय है उसका विशुद्ध आत्मावाले पुरुषों द्वारा आयासके बिना ही सम्पादन किया जा सकता है ॥ २ ॥

सूचयितुमाह—अनसूयव इति । परगुणेषु दोषाविष्करणमसूया । सेयं कामक्रोधलोभमोहेर्ष्यादीनामुपलक्षणम् । असूयादिदुर्गुणा यस्य न सन्ति सोऽनसूयुस्तस्मै अनसूयवे सद्गुणाय शिष्याय ते तुभ्यमिदं ज्ञानं प्रवक्ष्यामि । सम्यगुपदेक्ष्यामीत्यर्थः । नन्विदं ज्ञानं प्राप्तवतो मम किं स्यादित्यत आह—यदिति । तीव्रमोक्षेच्छावैराग्यशमदमाद्युत्तमसाधनसंपन्नः सन् त्वं मयोच्यमानमुक्तविशेषणविशिष्टं यज्ज्ञानं ब्रह्मात्मैकत्वविषयं ज्ञात्वा प्राप्याऽनेनाऽधिगतात्मस्वरूपः सन् अशुभादनाद्यविद्यासम्भावितसंसारदुःखप्रवाहान्मोक्ष्यसे मुक्तो भूत्वाऽखण्डानन्दैकरसब्रह्मात्मना सुखं स्थास्यसीत्यर्थः ॥१॥

उक्तस्यैव ज्ञानस्य जिग्राहयिषया माहात्म्यं प्रतिपादयति—राजविद्येति ।

राजविद्या विद्या ज्ञानानि सकलवेदशास्त्राध्ययनसमुत्पन्नानीहलोकपरलोकसाधनानि यानि तानि सर्वाणि पुंसः संसारवर्धकान्येव भवन्ति न तु निवर्तकानि ।

जिस किसी अयोग्य दुर्गुणीको देने योग्य नहीं है । किन्तु शुद्ध मनवाले पुरुषको ही देने योग्य है, ऐसा सूचन करनेके लिए कहते हैं—अनसूयव इति । पराये गुणोंमें दोषोंका प्रकट करना असूया है, यह काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्षा आदिका उपलक्षण है, असूया आदि दुर्गुण जिसमें नहीं हैं, वह अनसूयु है, उस अनुसूयुके लिए—सद्गुणी शिष्यभूत तुम्हारे लिए-इस ज्ञानको कहूँगा । भली भाँति उपदेश करूँगा, यह अर्थ है । इस ज्ञानको प्राप्त करनेसे मेरा क्या लाभ होगा, ऐसा यदि अर्जुन पूछे तो कहते हैं—यदिति । तीव्रमोक्षकी इच्छा, वैराग्य, शम, दम आदि उत्तम साधनोंसे सम्पन्न होकर तुम मेरे द्वारा कहे हुए उक्त विशेषणोंसे विशिष्ट जिस ज्ञानको—ब्रह्मात्मैकत्वको बतलानेवाले ज्ञानको—जानकर—प्राप्त करके—इससे आत्मस्वरूपको प्राप्त होकर अशुभसे—अनादि अविद्यासे उत्पन्न हुए संसाररूप दुःखके प्रवाहसे—छूट जाओगे । मुक्त होकर अखण्डानन्दैकरस ब्रह्मस्वरूपसे सुखपूर्वक स्थित होओगे, यह अर्थ है ॥ १ ॥

ग्रहण करानेकी इच्छासे उक्त ज्ञानके ही माहात्म्यका प्रतिपादन करते हैं—'राजविद्या' इत्यादिसे ।

विद्या सम्पूर्ण वेद और शास्त्रोंके पढ़नेसे उत्पन्न हुए इस लोक एवं परलोकके साधन जितने ज्ञान हैं, वे सब ज्ञान पुरुषके संसारको बढ़ानेवाले ही हैं, निवृत्त करनेवाले नहीं

ब्रह्मविद्या तु स्वोत्पत्तिमात्रेण विदुषो ब्रह्मतां गमयित्वा सकारणं संसारं निःशेषं निवर्तयति। यथा प्रबोधः स्वाप्नं संसारं तद्दुःखं च तथा। ततः सर्वासां विद्यानां राजा श्रेष्ठो भवत्यत उच्यते राजविद्येति। यद्वा सर्वा विद्याः शास्त्रजन्याः सम्यगहङ्कारं वर्धयित्वाऽऽत्मतत्त्वं तिरोहितं कुर्वन्ति। इयं तु 'स आत्मा तत्त्वमसि' इति वाक्यश्रवणमात्रेण संजाता सत्यनात्मन्यहङ्कारं नाशयित्वा सर्वसंसारधर्मनिर्मुक्तमात्मतत्त्वं राजयति प्रकाशयतीति राज्ञी सा चाऽसौ विद्या च राजविद्या। राजगुह्यं च गुह्याः संवरणीया मन्त्रयन्त्रदिव्यौषधादयः पदार्था वाऽमूल्या रत्नादयस्तेषां सर्वेषां राजाऽतिरहस्यत्वेन गोपनीयत्वाद्राजगुह्यम्। राजवत्संवरणीयत्वाद्वा राजगुह्यम्। किञ्च, पवित्रं पुनातीति पवित्रं तत्राऽपीदं ब्रह्मज्ञानमनुत्तमं पवित्रं सूर्यानलानिलादयो देवा ऋगादयो वेदा गङ्गाद्याः सरितश्च प्रायश्चित्तान्यप्यशेषाणि भजतां नरकदुःखकारणं पापमेव नाशयन्ति, तच्चाऽपि तात्कालिकमेव पापं न तु पुण्यम्, इदं ब्रह्मज्ञानं तु 'तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय' इति श्रवणाच्छतकोटिब्रह्मकल्पार्जितं पापराशिं पुण्यराशिं च बहुजन्ममरणतद्दुःखप्रवाहकारणं तूलपर्वतानग्निरिव ध्वान्तपटलमर्क इव समूलं निर्मूल्य ब्रह्मविदं निष्कर्माणं करोत्यतो ब्रह्मज्ञानमेव ब्रह्मविष्णुशिवादीनामर्कादीनां

हैं, ब्रह्मविद्या तो अपनी केवल उत्पत्तिसे ही ब्रह्मताको प्राप्त कराकर विद्वान्‌के संसारको कारणके साथ निःशेष निवृत्त कर देती है, जैसे जागरण स्वप्नके संसारको और उसके दुःखको निवृत्त कर देता है, वैसे ही ब्रह्मविद्या संसारको निवृत्त कर देती है। इससे सम्पूर्ण विद्याओंमें यह [ब्रह्मविद्या] राजा यानी श्रेष्ठ है, इसलिए यह राजविद्या कहलाती है। अथवा शास्त्रजन्य सम्पूर्ण विद्याएँ भली भाँति अहङ्कारको बढ़ाकर आत्मतत्त्वको आवृत करती हैं और यह ब्रह्मविद्या तो 'वह आत्मा है, वह तू है' इस वाक्यके श्रवणमात्रसे उत्पन्न होकर अनात्मामें विद्यमान अहंकारको नष्ट करके सम्पूर्ण संसारधर्मोंसे रहित आत्मतत्त्वको प्रकाशित करती है, इसलिए वह रानी विद्या है, अतः राजविद्या है। राजगुह्य—गुह्य यानी गोपनीय मन्त्र, यन्त्र और दिव्य औषध आदि पदार्थ अथवा अमूल्य रत्न आदि, उन सबका अतिरहस्य होनेके कारण रक्षणीय होनेसे राजा है, अतः राजगुह्य—है अथवा राजाके समान संवरण करने योग्य होनेसे राजगुह्य है। किञ्च, पवित्र है (जो पवित्र करता है, वह पवित्र है), पवित्र करनेवालोंमें भी यह ब्रह्मज्ञान सर्वोत्तम पवित्र है—सूर्य, अग्नि, वायु आदि देवता, ऋगादि वेद, गङ्गा आदि नदियां और संपूर्ण प्रायश्चित्त आदि अनुष्ठान करनेवाले मनुष्योंके नरकरूप दुःखके कारण पापोंको ही नष्ट करते हैं, उसमें भी तात्कालिक पापको ही नष्ट करते हैं, पुण्यको नहीं, यह ब्रह्मज्ञान तो 'विद्वान् पुण्य और पापको धोकर' इस श्रुतिसे सैकड़ों करोड़ों ब्रह्माके कल्पोंसे प्राप्त पापके ढेरका और पुण्यके ढेरका, जो बहुत जन्मोंतक मरण और मरणजनित दुःखके प्रवाहका कारण है, रुईके पर्वतोंको अग्निके समान, अन्धकार-पटलको सूर्यके समान, समूल निर्मूलन करके ब्रह्मवित्‌को निष्कर्म कर देता है, इसलिए ब्रह्मज्ञान ही ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदिको और सूर्य आदिको पवित्र करनेवाला होनेसे सबकी अपेक्षा

च पावकत्वादुत्कृष्टतमं पवित्रं शुद्धिकरं वस्त्वित्यर्थः। ज्ञानस्यैतन्माहात्म्यं शास्त्रैक-गम्यं वा प्रमाणान्तरगम्यं वा कालान्तरगम्यं वेत्याकाङ्क्षायां सूर्यस्य कार्येण सह गाढान्धकारविध्वंसकत्वं न केवलशास्त्रैकगम्यं किन्तु प्रत्यक्षावगम्यं च यथा तथा ज्ञानस्याऽपीत्याह—प्रत्यक्षावगममिति। अवगम्यतेऽनेनेत्यवगमं प्रमाणं तत्तु प्रत्यक्षं वैदुष्यं प्रत्यक्षमवगमं यस्य तत्प्रत्यक्षावगमं ज्ञानमाहात्म्यं विद्वत्प्रत्यक्षमित्यर्थः। यद्वा अवगम्यतेऽनुभूयत इत्यवगमः फलं प्रत्यक्षोऽवगमो यस्य तत्प्रत्यक्षावगमं भोजनादि-सुखवत् सद्यः प्रत्यक्षं ज्ञानफलं न तु धर्मादिफलवत्परोक्षमित्यर्थः। धर्म्यं च मुमुक्षो-र्धर्मवदर्हतीति धर्म्यं सर्वेषामाश्रमिणां स्वधर्मानुकूलमेव ज्ञानं न तु धर्मविरोधीत्यर्थः। यद्यपि गृहिणो धर्म्य एव स चयनः सर्वतोमुखादिक्रतुस्तथाऽपि तस्य श्रमसाध्यत्वमस्ति न तथा ज्ञानस्येत्याह—सुसुखमिति। सुतरां देहेन्द्रियादिश्रमं विनैव तत्त्वज्ञप्रसा-दाद्रत्नादिज्ञानमिव ब्रह्मज्ञानमपि बुद्ध्यारूढं कर्तुं सुखमनायासमेव शुद्धात्मनां सुसंपाद-मित्यर्थः। ननु कटिकण्डूयनवज्ज्ञानस्याऽल्पक्रियासाध्यत्वे फलस्याऽप्यल्पत्वमेव स्यात् क्रियाभूयस्त्वे फलभूयस्त्वं क्रियाल्पीयस्त्वे फलस्याऽप्यल्पीयस्त्वं सर्वप्रसिद्धमित्या-शङ्कायाम्, न; अल्पीयस्या अपि चन्द्रालोकनक्रियायास्तद्दर्शिनस्तदाह्लादसुखस्य

पवित्र है यानी शुद्धि करनेवाली वस्तु है, यह अर्थ है। ज्ञानका यह माहात्म्य क्या केवल शास्त्रसे जाना जाता है या दूसरे प्रमाणसे जाना जाता है या दूसरे कालसे जाना जाता है, ऐसी आकांक्षा होनेपर जैसे सूर्यका कार्यसहित अन्धकारका नाश करना केवल शास्त्रसे ही नहीं जाना जाता, किन्तु प्रत्यक्षसे भी उसका ज्ञान होता है, वैसे ही ज्ञानका माहात्म्य भी है, ऐसा कहते हैं—प्रत्यक्षावगममिति। जिससे जाननेमें आता है, वह अवगम है यानी प्रमाण, तत्रापि विद्वान्‌का प्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष अवगम जिसका हो, वह प्रत्यक्षावगम है यानी ज्ञानका माहात्म्य विद्वानोंका प्रत्यक्ष है। अथवा जो जाना जाता है यानी जिसका अनुभव किया जाता है, वह अवगम है, यानी फल, जिसका अवगम (फल) प्रत्यक्ष हो, वह प्रत्यक्षावगम है (भोजन आदिके सुखके समान तत्क्षण ही ज्ञानके फलका प्रत्यक्ष होता है, धर्म आदिके फलके समान परोक्षमें नहीं, यह अर्थ है। और धर्म्य—ज्ञान मुमुक्षुके लिए धर्मके समान उपादेय है यानी ज्ञान सब आश्रमवालोंके स्वधर्मके अनुकूल ही है, धर्मका विरोधी नहीं है, यह अर्थ है। यद्यपि गृहस्थका धर्म्य ही चयनयुक्त सर्वतोमुख आदि क्रतु है, तथापि वह श्रमसे साध्य है, ज्ञान ऐसा नहीं है, ऐसा कहते हैं—सुसुखमिति। सहजमें ही—देह, इन्द्रिय आदिके श्रमके बिना ही—तत्त्वज्ञानीके प्रसादसे रत्न आदिके ज्ञानके समान ब्रह्मज्ञानको भी बुद्धिमें आरूढ़ करनेके लिए आयास नहीं करना पड़ता अर्थात् शुद्ध अन्तःकरणवाले बिना आयासके ही उसका संपादन करते हैं, यह अर्थ है। यदि शङ्का हो कि कमरके खुजलानेके समान ज्ञान भी अल्पक्रियासे साध्य होगा, तो उसका फल भी अल्प ही होगा, क्योंकि क्रियाके अधिक होनेपर बहुत फल और क्रियाके स्वल्प होनेपर थोड़ा फल, ऐसा सबपर विदित है, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि चन्द्रदर्शनरूप थोड़ी क्रियाका भी चन्द्रके दर्शन करनेवालोंको उसके दर्शनजनित

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥

हे शत्रुनिषूदन अर्जुन, इस ज्ञानरूप धर्मके स्वरूप या मोक्षरूप फलमें श्रद्धा न करनेवाले पुरुष मुझको (आनन्दैकरस आत्मभूत मोक्षरूप फलको) छोड़कर अनेक योनियोंमें पुनः पुनः पतनरूप संसार-मार्गमें बार-बार जन्म लेते हैं और विनष्ट होते हैं ॥ ३ ॥

महत्त्वदर्शनात्तद्वज्ज्ञानस्याऽल्पक्रियासाध्यत्वेऽपि फलतो महत्त्वमस्तीत्याह—अव्ययमिति । फलतो न व्येतीत्यव्ययमव्ययफलम् । 'नह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्' इति ज्ञानप्राप्तस्य वस्तुनो ध्रुवत्वश्रवणात् ज्ञानस्याऽश्रमसाध्यत्वेऽप्यस्त्येव नित्यफलजनकत्वमित्यर्थः । ज्ञानस्य मोक्षसाधनत्वे बाधकप्रमाणाभावाद्वाऽव्ययमित्युक्तम् ॥२॥

एवं ज्ञानस्याऽनायाससाध्यत्वमव्ययफलजनकत्वं च प्रतिपाद्य निःशेषसंसारदुःखध्वान्तविध्वंसनकारणे ज्ञाने रविवदप्रयासलभ्ये विद्यमानेऽप्यन्धवदश्रद्धया मुक्तिमार्गमुत्सृज्य कामनया कर्मोपास्त्यादौ प्रवृत्तान् पुरुषान् दृष्ट्वा क्रोशन्निव दययेदमाह—अश्रद्दधाना इति ।

अस्योक्तगुणविशेषविशिष्टस्य धर्मस्याऽविद्यया जननमरणप्रवाहे पात्यमानाः पुरुषा ध्रियन्तेऽनेनेति धर्मो ज्ञानं तस्य मोक्षैकहेतोर्ज्ञानस्य स्वरूपे तत्फले मोक्षे च अश्रद्दधानाः श्रद्धा नाम कृतिहेतुः फलाप्त्यवसान आस्थाविशेषस्तच्छून्या दुर्विदग्धाः

आह्लादरूप सुखका आधिक्य देखनेमें आता है, वैसे ही ज्ञानका, अल्पक्रियासे साध्य होनेपर भी, फलसे महत्त्व है, ऐसा कहते हैं—अव्ययमिति । जिसका फलसे व्यय नहीं होता वह अव्यय है यानी अव्यय फलवाला । 'अध्रुवोंसे वह ध्रुव प्राप्त नहीं किया जाता' इस श्रुतिसे ज्ञानसे प्राप्त होनेवाली वस्तुका ध्रुवत्व सुना जाता है, इसलिए श्रमके बिना साध्य होनेपर भी ज्ञान नित्यफलका जनक है ही, यह अर्थ है । अथवा ज्ञानके मोक्ष-साधनत्वमें बाधक प्रमाण न होनेसे उसे अव्यय कहा है ॥२॥

ज्ञान अनायाससे साध्य है और अव्यय फलका जनक है, ऐसा प्रतिपादन करके, संसार-दुःखरूप अँधेरेको निःशेष नष्ट करनेमें हेतुभूत प्रयासके बिना प्राप्त होनेवाले ज्ञानके सूर्यके समान विद्यमान रहते भी अन्धेके समान अश्रद्धासे मुक्तिके मार्गको छोड़कर कामनासे कर्म, उपासना आदिमें प्रवृत्त हुए पुरुषोंको देखकर क्रोश कर रहे से श्रीभगवान् दयासे यह कहते हैं—'अश्रद्दधानाः' इत्यादिसे ।

उक्त गुणविशेषोंसे विशिष्ट धर्मके (अविद्यासे जन्म-मरणके प्रवाहमें गिराये जा रहे पुरुषोंको जो उद्धार करता है, वह धर्म है यानी ज्ञान, उसके) अर्थात् मोक्षके एकमात्र हेतु ज्ञानके स्वरूपमें और उसके फल मोक्षमें श्रद्धा न करनेवाले (कर्मकी हेतु, फलप्राप्ति तक रहनेवाली एक प्रकारकी

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ ४ ॥

किसी प्रमाणसे ज्ञात न होनेवाले स्वरूपसे युक्त यानी निर्विशेष मुझसे (परब्रह्मसे) यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है । अव्यक्त आदि सम्पूर्ण भूत अव्यक्त-स्वरूप मुझमें रहते हैं, पर मैं उनमें नहीं रहता ॥ ४ ॥

पुरुषा दुष्कर्मणा मोक्षे मोक्षसाधने ज्ञाने च श्रद्धाभक्तिप्रयत्नरहिताः सन्तो मामप्राप्य मामात्मानमानन्दैकरसं हस्तगतं मोक्षाख्यं फलमुत्सृज्य मृत्युसंसारवर्त्मनि मृत्युभूयिष्ठः संसारो मृत्युसंसारः नानायोनिषु नरके च पुनः पुनः पतनलक्षणस्तदेव वर्त्म तस्मिन्नेव निवर्तन्ते नितरां वर्तन्ते मुहुर्मुहुर्जायन्ते म्रियन्ते अहो बत दौर्विदग्ध्यमपारदुःखकारणम् । एतेन निरुक्तमहत्त्वविशिष्टात्मज्ञाने धर्मे ये यतयः श्रद्धावन्तो निष्ठावन्तश्च भवन्ति त एव मुक्ता भवन्तीति सूचितं भवति ॥ ३ ॥

एवं ज्ञानस्य सर्वोत्तमत्वं सुलभत्वं दुर्भगालभ्यत्वं च प्रतिपाद्य पूर्वं यदुक्तं 'परस्तस्मात्तु भावोऽन्य' इति, 'यस्याऽन्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्' इति तदिदानीं परस्य ब्रह्मणः स्वरूपं ज्ञानं विज्ञानं च प्रतिपादयति सार्धेन—मयेति ।

न केनाऽपि प्रमाणेन व्यज्यते बोध्यत इत्यव्यक्ताऽप्रमेया मूर्तिः स्वरूपं यस्य सोऽव्यक्तमूर्तिः । ननु न केनाऽपि प्रमाणेन बोध्यत इति यदुक्तं तत्, न; 'तं त्वौपनिषदम्'

आस्था श्रद्धा है, उससे शून्य) दुर्विदग्ध पुरुष दुष्कर्मके प्रभावसे मोक्ष और मोक्षके साधन ज्ञानमें श्रद्धा, भक्ति और प्रयत्नसे रहित होकर मुझको प्राप्त न कर यानी हस्तगत मोक्षनामक आनन्दैकरस फलको छोड़कर मृत्युसंसारमार्गमें (मृत्युसे पूर्ण संसार, मृत्युसंसार है यानी नाना योनियोंमें और नरकमें बारबार पतनरूप संसार है, वही ठहरा मार्ग, उसमें) बारबार जन्मते और मरते हैं, शोक है कि लोगोंकी मूर्खता अपार दुःखकी कारण है । इससे यह सूचित होता है कि निरुक्त महत्त्वविशिष्ट आत्मज्ञानरूप धर्ममें जो यति श्रद्धा और निष्ठासे युक्त हैं, वे ही मुक्त होते हैं ॥ ३ ॥

इस प्रकार ज्ञानकी सर्वोत्तमता, सुलभता और भाग्यहीन पुरुष द्वारा अलभ्यताका प्रतिपादन करके पूर्वमें 'परस्तस्मात्तु भावोऽन्यो', 'यस्याऽन्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्' इत्यादि जो कहा गया था, इस समय परब्रह्मके उस स्वरूपका, ज्ञानका और विज्ञानका डेढ श्लोकसे प्रतिपादन करते हैं—'मया' इत्यादिसे ।

किसी प्रमाणसे व्यक्त न होनेवाली (बोधित न होनेवाली) अव्यक्त यानी अप्रमेय जिसकी मूर्ति (स्वरूप) है, वह अव्यक्तमूर्ति है । यदि शङ्का हो कि किसी प्रमाणसे जाननेमें नहीं

इति श्रवणाद् ब्रह्मणः श्रुतिबोध्यत्वमस्त्येवेति चेत्, न; श्रुतेरप्यगोचरत्वात्तद्बोधकत्वानुपपत्तेः। श्रुतिः खलु 'अस्थूलम्' इत्यादिना सर्वदृश्यनिषेधं कृत्वा यन्निषेधाविषयं सर्वदृश्यविलक्षणं तद् ब्रह्मेति बोधयति न तु साक्षादिदमिति। ननु 'सत्यं ज्ञानम्' इति 'आनन्दो ब्रह्म' इति च श्रुतिः सत्यादिस्वरूपं ब्रह्मेति बोधयत्येवेति चेत्, न; तस्याः श्रुतेर्ब्रह्मणस्त्वसद्वैलक्षण्यप्रतिपादनपरत्वाज्जगतः सकारणस्याऽनृतजडदुःखात्मकस्य प्रत्यक्षत्वादर्थात्सिद्धं तद्वैलक्षण्यं ब्रह्मणस्तदेव श्रुत्याऽप्यसद्वैलण्यमुपदेष्टुं 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'आनन्दो ब्रह्म' इत्युक्तं न तु साक्षादिदमित्युपदिश्यते, वाग्रूपत्वाच्छ्रुतेस्तद्वृत्तेरविषयत्वाद् ब्रह्मणः। ततः सिद्धं सर्वप्रमाणाव्यञ्जयत्वम्। तेनाऽव्यक्तमूर्तिना निर्विशेषेण मया ब्रह्मणा सर्वमिदं जगत्ततं व्याप्तं यथा रूपवद् द्रव्यं जडं सर्वं सर्वत्र सूर्यालोकव्याप्तमेव सच्चक्षुर्ग्राह्यत्वमापद्यते न त्वव्याप्तम्, तद्वन्मया चिदेकस्वरूपेण बहिरन्तः सर्वतो व्याप्तमेव सज्जगत्सर्वं सर्वकरणव्यवहार्यत्वमापद्यते न त्वव्याप्तं स्वतो निरात्मकत्वादप्रकाशत्वाच्च 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इति श्रुतेः। ततः सर्वमिदं जगन्मया सर्वतो व्याप्य प्रकाश्यत इत्यर्थः। एतेन सर्वजगत्प्रकाशकं यत्तद्ब्रह्मेति ज्ञानमुपदिष्टं भवति। किञ्च, सर्वभूतानि सर्वाण्यव्यक्तमहदादीनि स्थूलान्तानि भूतानि

आता, यह जो कहा, वह युक्त नहीं है, क्योंकि 'उपनिषदोंसे जानने योग्य उस पुरुषको' इस श्रुतिसे ब्रह्म श्रुतियोंसे जानने योग्य है ही, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि अगोचर होनेसे श्रुति भी उसकी बोधक नहीं हो सकती। श्रुति 'स्थूल नहीं' इत्यादिसे सम्पूर्ण दृश्यका निषेध करके, जो निषेधका विषय नहीं है और सम्पूर्ण दृश्यसे विलक्षण है, वह ब्रह्म है, ऐसा बोधन करती है, साक्षात् यह है, ऐसा बोधन नहीं करती। यदि शङ्का हो कि 'सत्य ज्ञान' और 'आनन्द ब्रह्म है' इत्यादि श्रुति सत्य आदि स्वरूपवाला ब्रह्म है, ऐसा बोधन करती ही है, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि वह श्रुति ब्रह्म असत्से विलक्षण है, ऐसा प्रतिपादन करती है। कारण सहित जगत् मिथ्या, जड और दुःखात्मक है, यह प्रत्यक्ष है, अतः ब्रह्ममें जगद्विलक्षणता अर्थतः सिद्ध है। ब्रह्मकी उसी असत्से विलक्षणताका उपदेश करनेके लिए 'सत्य, ज्ञान, अनन्त ब्रह्म है', 'आनन्द ब्रह्म है' ऐसा श्रुतिने कहा है, साक्षात् यह है, ऐसा उपदेश नहीं किया है, क्योंकि श्रुति वाणीरूप है और ब्रह्म वाणीकी वृत्तिका विषय नहीं है। इससे ब्रह्म सम्पूर्ण प्रमाणोंसे व्यक्त नहीं होता, यह सिद्ध हुआ। उस अव्यक्तमूर्तिवाले मुझ निर्विशेष ब्रह्मसे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है। जैसे रूपवान् सम्पूर्ण जड द्रव्य सर्वत्र सूर्यके प्रकाशसे व्याप्त होकर ही चक्षुसे गृहीत होते हैं, न कि अव्याप्त होकर वैसे ही मुझ एक चेतनस्वरूपसे बाहर भीतर सर्वत्र व्याप्त होकर ही सब जगत् सब इन्द्रियोंके व्यवहारके योग्य होता है, न कि मुझसे अव्याप्त होकर, कारण कि 'उसके प्रकाशसे यह सब भासता है' इस श्रुतिसे वह स्वयं निरात्मक और अप्रकाश है। इसलिए यह सब जगत् मुझसे सर्वत्र व्याप्त होकर प्रकाशित किया जाता है, यह अर्थ है। इससे सब जगत्का प्रकाशक जो है, वह ब्रह्म है, इस प्रकारके ज्ञानका उपदेश होता है। किञ्च, सम्पूर्ण—अव्यक्त, महत्तत्त्वसे लेकर स्थूलतक चर और

चराणि स्थावराणि च सर्वाणि मत्स्थानि मय्यव्यक्तमूर्तौ तिष्ठन्तीति मत्स्थानीत्युच्यते। यथा तोये तरङ्गबुद्बुदादयस्तोयसत्तया सत्तावन्तो भूत्वा तोये तिष्ठन्ति यथा वा नगरनिवासिनो दर्पणसत्तया सत्तावन्तो भूत्वा दर्पणे तिष्ठन्ति तथा सर्वाणि भूतानि मत्सत्तया सत्तां प्राप्य मयि तिष्ठन्तीत्यर्थः, 'सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः' इति श्रुतेः। एतेन सर्वभूताधारं यत्तद्ब्रह्मेति ज्ञानमुपदिष्टं भवति। 'परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः' इत्यत्राऽव्यक्तात्परमात्मा पर उत्कृष्ट इति यदुक्तं स्वस्योत्कृष्टत्वमव्यक्तस्य तु निकृष्टत्वं तदेव पुनर्विस्पष्टयितुमव्यक्तस्य सकार्यस्य व्याप्यत्वेनाऽऽधेयत्वेन च निकृष्टत्वं स्वस्य व्यापकत्वेनाऽऽधारत्वेन चोत्कृष्टत्वञ्च दर्शयित्वा, इदानीमेवं व्याप्यव्यापकभावेनाऽऽधाराधेयभावेन च भेदेऽङ्गीक्रियमाणे भेदस्य यथार्थत्वं भेददर्शिनां मुमुक्षूणां मोक्षाभावश्चाऽद्वैतश्रुतिविरोधश्च प्रसज्यत इति तं परिहर्तुं 'अथात आदेशो नेति नेति', 'न सन्नासन्न सदसत्' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धं सर्वदृश्यनिषेधं करोति ब्रह्मणोऽद्वितीयत्वसिद्धये—न चाऽहमित्यादिना। चकारोऽवधारणार्थः। तेष्वव्यक्तादिस्थूलान्तेषु भूतेषु ब्रह्मादिस्तम्बान्तेषु कूटस्थाऽसङ्गचिद्रूपः परमात्माऽहमन्तः प्रविश्याऽऽत्मरूपेण वा व्यापकत्वेन वा नैवाऽवस्थितोऽस्मि। गृहे

अचर सब—भूत मत्स्थानि—मुझ अव्यक्त मूर्तिमें स्थित हैं, इसलिए मत्स्थानि कहलाते हैं। जैसे जलमें तरङ्ग, बुद्बुद् आदि जलकी सत्तासे सत्तावाले होकर जलमें स्थित रहते हैं या जैसे नगरमें रहनेवाले दर्पणकी सत्तासे सत्तावाले होकर दर्पणमें स्थित होते हैं, वैसे ही सब प्राणी मेरी सत्तासे सत्ताको प्राप्त करके मुझमें स्थित रहते हैं, यह अर्थ है। क्योंकि 'सत् आयतनवाले, सत् प्रतिष्ठावाले' ऐसी श्रुति है। इससे सम्पूर्ण भूतोंका जो आधार है, वह ब्रह्म है, ऐसा ज्ञान उपदिष्ट होता है। 'परन्तु उस अव्यक्तसे सनातन अव्यक्त भाव उत्कृष्ट है' इस श्लोकमें अव्यक्तसे परमात्मा पर उत्कृष्ट है, इस प्रकार जो अपना उत्कृष्टत्व और अव्यक्तका निकृष्टत्व कहा था, उसीको फिर स्पष्ट करनेके लिए कार्य सहित अव्यक्तका व्याप्यत्व और आधेयत्वसे निकृष्टत्व तथा अपना व्यापकत्व और आधारत्वसे उत्कृष्टत्व दिखलाकर अब इस प्रकार व्याप्यव्यापकभावसे और आधार-आधेयभावसे भेदका अङ्गीकार करनेपर भेदका यथार्थत्व, भेददर्शी मुमुक्षुओंके मोक्षका अभाव और अद्वैतश्रुतियोंके साथ विरोधका प्रसङ्ग आता है, अतः उसका परिहार करनेके लिए 'इसलिए नेति नेति आदेश हैं', 'न सत्, न असत् और न सदसत्' इत्यादि श्रुतियोंमें प्रसिद्ध सम्पूर्ण दृश्यका, ब्रह्मकी अद्वितीयता सिद्ध करनेके लिए, निषेध करते हैं—'न चाऽहम्' इत्यादिसे। चकारका अवधारण अर्थ है, उन अव्यक्तसे लेकर स्थूल तक अर्थात् ब्रह्मासे लेकर स्तम्बतक भूतोंमें मैं कूटस्थ, असङ्ग, चिद्रूप परमात्मा भीतर प्रवेश करके आत्मरूपसे अथवा व्यापकरूपसे स्थित नहीं ही हूँ। घरमें वायुके समान, बिलमें सर्पके समान लोहेके पिंडमें अग्निके समान मैं विकारीके सदृश उन भूतोंमें प्रवेश करके अथवा व्यापक होकर स्थित नहीं हूँ, यह अर्थ है। विकारी

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥ ५ ॥

मुझ चिदेकरस परिपूर्ण ब्रह्ममें अव्यक्त आदि भूत नहीं रहते । हे अर्जुन, तुम मेरे योगरूप ऐश्वर्यको देखो [यानी शुद्धात्मा मुमुक्षुको सम्पूर्ण घटादि दृश्य पदार्थोंके अभावके आश्रय तथा उस अभावके प्रकाशक परब्रह्मको आत्मरूपसे जानना चाहिए। तात्पर्य यह है कि यद्यपि यत्र तत्र श्रुति और स्मृतिमें यह कहा गया है कि सम्पूर्ण भूत मुझमें रहते हैं, तथापि वह परमार्थिक रूपसे नहीं कहा गया है, किन्तु मायाको लेकर वैसा कहा गया है, वस्तुतः मैं न किसीका आश्रय हूँ और न किसीमें रहता हूँ । इस प्रकार मेरे ऐश्वर्यको जानो] भूतभावनस्वरूप मैं भूतोंको धारण करता हूँ, किन्तु भूतोंमें नहीं रहता है ॥ ५ ॥

वायुरिव बिले सर्प इवाऽयःपिण्डमग्निरिवाऽहं विकारीव तेषु भूतेषु प्रविश्य व्याप्य वा नैव तिष्ठामीत्यर्थः । विकारिणः खलु वाय्वग्न्यादेर्गृहायःपिण्डादौ प्रवेशो व्याप्तिश्चोपपद्यते न त्वविकारिणो निरवयवस्याऽसङ्गस्याऽक्रियस्य मम परिपूर्णस्योपपद्यते यथाकाशस्य तथा । ननु घटाकाश इत्यत्र यथाऽऽकाशस्य घटे प्रविश्य स्थिति-रुपयुज्यते तद्वद्भूतेषु तवाऽप्यस्त्विति चेत् , न; आकाशस्याऽपि घटान्तःप्रवेशकल्पना भ्रम एव निरवयवस्य चलनासंभवात् । ननु 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' इत्यादि-श्रुतिभिर्ब्रह्मणो भूतेषु प्रवेश उच्यत इति चेत्, न; तस्याऽऽभासविषयत्वान्न ब्रह्मविषय-त्वोपपत्तिः । 'निष्कलं निष्क्रियम्' इति, 'असङ्गो न हि सज्जते', 'आकाशवत्सर्वगतः' इति, 'पूर्णमदः' इति च ब्रह्मणो निरवयवत्वनिष्क्रियत्वासङ्गत्वपूर्णत्वश्रवणात्प्रवेश-क्रिया वा व्यापनक्रिया वा संयोगो वाऽन्यद्वा सम्भावयितुं न शक्यते ततस्तेषु प्रवि-श्याऽहं नैव स्थित इति सिद्धम् ॥ ४ ॥

वायु, अग्नि आदिका घर और लोहपिण्ड आदिमें प्रवेश और व्याप्ति हो सकती है, परन्तु आकाशकी नाईं अविकारी, निरवयव, असङ्ग, अक्रिय मुझ परिपूर्ण ईश्वरकी नहीं हो सकती । यदि शङ्का हो कि घटाकाशस्थलमें जैसे आकाशकी घटमें प्रवेश करके स्थिति होती है, वैसे ही भूतोंमें आपकी भी स्थिति हो सकती है, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि घटके भीतर आकाशकी भी प्रवेश-कल्पना भ्रम ही है, क्योंकि निरवयवका चलन हो नहीं सकता । यदि शङ्का हो कि 'उसको उत्पन्न करके पीछे उसमें प्रवेश किया' इत्यादि श्रुतियोंसे ब्रह्मका भूतोंमें प्रवेश कहा जाता है, तो वह युक्त नहीं है, उस श्रुतिका तो आभास विषय है, अतः ब्रह्म विषय हो नहीं सकता । 'निष्कल, निष्क्रिय', 'असङ्ग है, अतः सक्त नहीं होता', 'आकाशके समान सर्वगत' और वह पूर्ण है, इत्यादि श्रुतियोंसे ब्रह्मकी निरवयवता, निष्क्रियता, असङ्गता और पूर्णता सुननेमें आती है, इसलिए ब्रह्ममें प्रवेशरूप क्रिया, व्यापनरूप क्रिया तथा संयोग अथवा अन्य कुछ सम्भव नहीं है, इसलिए उनमें प्रविष्ट होकर मैं स्थित नहीं हूँ, यह सिद्ध हुआ ॥ ४ ॥

नन्वविक्रियस्य पूर्णस्य तव परस्य ब्रह्मणो भूतेष्ववस्थितिर्व्याप्तिश्च माऽस्तु भूतानि तु त्वयि तिष्ठन्त्येवेत्याशङ्कायामाह—**न च मत्स्थानीति ।**

मय्यव्यक्तमूर्तौ चिदेकरसे परिपूर्णे ब्रह्मणि भूतान्यव्यक्तादिस्थूलान्तानि सकार्याणि स्थितानि च न भवन्ति । भूतेषु च यथा नाऽहं तथा मयि च भूतानि न सन्तीत्यर्थः । ननु 'सर्वभूतनिवासोऽसि' इति तव सर्वभूताश्रयत्वं स्मर्यते कथं न च मत्स्थानि भूतानीत्युच्यत इति चेद्, भावानत्र प्रष्टव्यः; निष्कले निराकारे निर्विशेषे परिपूर्णे ब्रह्मणि किं भूतानि संयोगसम्बन्धेन तिष्ठन्ति किं समवायसम्बन्धेन वा उत तादात्म्यसम्बन्धेन वा तिष्ठन्ति ? आद्ये भूतानां ब्रह्मणश्च संयोगः सर्वतो वा उतैकदेशेन वा ? नाऽऽद्यः, परिच्छिन्नानामपरिच्छिन्नेन सर्वतः संयोगायोगात् । न द्वितीयः, निरवयवस्य देशकल्पनासंभवात् । परमाणौ द्व्यणुकवत्तिष्ठन्त्विति चेत्, न; निरवयवसावयवयोः संयोगानुपपत्तेः । नाऽपि समवायः, भूतानां ब्रह्मणश्चाऽयुतसिद्धत्वाभावात् समवायासिद्धेः । नाऽपि तृतीयः, जडाजडयोस्तादात्म्यासंभवात् । तर्हि कः संबन्ध इति चेदध्याससम्बन्ध इति ब्रूमः, ततो यत्र यदध्यस्तं तत्र तन्नाममात्रमेव भवति, न तु वस्तुतोऽस्ति; शुक्तिकारजतादौ तद्दर्शनात् । यत एवं ततो

अविकारी पूर्ण परब्रह्मरूप आपकी भूतोंमें स्थिति और व्याप्ति भले ही मत हो, भूत तो आपमें स्थित हैं ही, ऐसी आशङ्का होनेपर कहते हैं—'न च मत्स्थानि' इत्यादिसे ।

मुझ अव्यक्त मूर्तिवाले चेतनैकरस परिपूर्ण ब्रह्ममें कार्य सहित अव्यक्तसे लेकर स्थूलतक भूत स्थित नहीं हैं । जैसे भूतोंमें मैं नहीं हूँ, वैसे ही भूत भी मुझमें नहीं हैं, यह अर्थ है । यदि शङ्का हो कि जब 'सम्पूर्ण भूतोंके तुम निवास हो' इस स्मृतिसे आप सम्पूर्ण भूतोंके आश्रय हैं, ऐसा प्रतिपादन किया जाता है, तब 'भूत भी मुझमें स्थित नहीं हैं', यह कैसे कहा जाता है ? तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि इस विषयमें आपसे यह प्रश्न होगा कि निष्कल, निराकार, निर्विशेष, परिपूर्ण ब्रह्ममें क्या भूत संयोग सम्बन्धसे स्थित हैं या समवाय सम्बन्धसे अथवा तादात्म्य सम्बन्धसे स्थित हैं ? प्रथम पक्षमें यह प्रश्न होगा कि क्या भूतोंका और ब्रह्मका संयोग सम्पूर्ण अंशसे है, अथवा एकदेशसे ? प्रथम पक्ष तो युक्त है नहीं, क्योंकि परिच्छिन्नोंका अपरिच्छिन्नके साथ सर्वांशसे संयोग हो नहीं सकता । दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि निरवयवके देशकी कल्पना करना ही असम्भव है । यदि परमाणुओंमें द्वयअणुकके समान भूत आपमें स्थित हों, ऐसा कहो, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि निरवयव और सावयवका संयोग उपपन्न नहीं हो सकता । समवाय भी नहीं है, क्योंकि भूतोंका और ब्रह्मका अयुतसिद्धत्व न होनेसे समवायकी सिद्धि नहीं है । तीसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि जड़ और अजड़का तादात्म्य हो नहीं सकता । तब कौन-सा सम्बन्ध है, ऐसा कहो तो अध्यास सम्बन्ध है, ऐसा हम कहते हैं । इसलिए जो जहाँ अध्यस्त होता है, वहाँ वह नाममात्र ही होता है, वस्तुरूप नहीं होता, जैसा कि शुक्तिरजत आदिमें देखनेमें आता है । जिस कारणसे ऐसा है, इसलिए मुझ परिपूर्ण निर्विशेष परब्रह्ममें

मयि परिपूर्णे परे ब्रह्मणि निर्विशेषे भूतानि न सन्त्येव, भूतसद्भावे तत्कृतपरिच्छित्त्या पूर्णत्वासंभवात् 'पूर्णमदः पूर्णमिदम्' इति श्रुत्या ब्रह्मणः पूर्णत्वमेवोच्यते । 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्' इति, 'एकमेवाऽद्वितीयं ब्रह्म' इति, 'एक एव हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः' इत्यादि श्रुतिशतैर्ब्रह्मणोऽद्वितीयत्वं नियमेन प्रतिपाद्यते । यस्मान्मयि निष्कले निष्क्रिये निःसङ्गे निरन्तरे निराश्रये निर्विशेषे परिपूर्णे 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादिश्रुतिप्रमाणकः प्रपञ्चाभावः प्रतिपादितस्तस्मान्मे मम पारमार्थिकमप्राकृतमैश्वरं ब्राह्मं योगं युज्यते ज्ञानेन प्राप्यत इति योगं स्वरूपं सद्घनं चिद्घनमानन्दघनमद्वितीयं पश्य इदमेवाऽहमिति स्वात्मना पश्य । सदिदं ब्रह्मैवाऽहमिति स्वं ब्रह्मैव विद्धीत्यर्थः । ननु 'नेति नेति' इति सर्वदृश्यनिषेधे कृते तन्निषेधावधित्वेन जगदभाव एवाऽवशिष्यते तत्र किमस्तीदं ब्रह्मैवाऽहमस्मीति विज्ञानमिति चेत्, सत्यम् प्रपञ्चाभावोऽत्र प्रतीयते तथापि श्रूयतामत्रोच्यते—दृश्यप्रपञ्चो येन भास्यमानो यदात्मना यत्र तिष्ठति तदभावोऽपि तेनैव भास्यमानस्तदात्मना तत्रैव तिष्ठति नाऽन्यथा, ततो जगत्तदभावयोः स्वरूपभूतं तदवभासकं तदधिष्ठानं निर्विशेषं निर्विकल्पं यद् तद् ब्रह्मेति सूक्ष्मबुद्धिभिर्युक्तिकुशलैरवबुध्यताम् । तदिदं ब्रह्मस्वरूपं स्वापरोक्षं स्वेनैवं वेद्यं

भूत हैं ही नहीं, क्योंकि यदि भूत होते, तो उनके द्वारा की गई परिच्छिन्नतासे पूर्णत्वका सम्भव न होता, 'पूर्ण वह पूर्ण यह' इस श्रुतिसे ब्रह्मकी पूर्णता ही कही जाती है । 'वह यह ब्रह्म पूर्वरहित, पररहित, भीतर और बाहरसे रहित', 'एक ही अद्वितीय ब्रह्म है', 'एक ही रुद्र है, दूसरेके लिए स्थान नहीं है, इत्यादि सैकड़ों श्रुतियोंसे ब्रह्मकी अद्वितीयताका नियमतः प्रतिपादन किया जाता है । जिस कारणसे मुझ निष्कल, निष्क्रिय, निःसङ्ग, निरन्तर, निराश्रय, निर्विशेष परिपूर्णमें 'यहाँ नाना कुछ नहीं है' इत्यादि श्रुतिसे प्रमाणित प्रपञ्चाभावका प्रतिपादन किया है, इसलिए मेरे पारमार्थिक, अप्राकृत ऐश्वर ब्राह्म योगको (जो युक्त किया जाता है ज्ञानसे प्राप्त किया जाता है, वह योग है यानी चिद्घन, आनन्दघन, अद्वितीय ब्रह्मस्वरूप, उसको) देखो—यही मैं हूँ, ऐसा अपने स्वरूपसे देखो । सत्स्वरूप यह ब्रह्म ही मैं हूँ, इस प्रकार अपनेको ब्रह्म ही जानो, यह अर्थ है । यदि शङ्का हो कि 'नेति नेति' इससे सम्पूर्ण दृश्यका निषेध करनेपर उस निषेधके अवधिरूपसे जगत्का अभाव ही शेष रहता है, उस अवस्थामें क्या यह ब्रह्म ही मैं हूँ, ऐसा विज्ञान है ? तो यह शङ्का ठीक है, यद्यपि प्रपञ्चका अभाव यहाँ प्रतीत होता है, तो भी सुनो, इस विषयमें कहता हूँ—दृश्य प्रपञ्च जिससे भास्यमान होकर जिसके स्वरूपसे जहाँ स्थित रहता है, उसका अभाव भी उससे ही भास्यमान होकर उसके स्वरूपसे वहीं स्थित रहता है, अन्य प्रकारसे नहीं, इसलिए जगत् और जगत्के अभावका स्वरूपभूत, उन दोनोंका प्रकाश करनेवाला तथा उन दोनोंका अधिष्ठान निर्विशेष और निर्विकल्प जो है, वह ब्रह्म है, ऐसा सूक्ष्मबुद्धिवाले युक्तिकुशल पुरुषोंको जानना चाहिए । वह स्वापरोक्ष ब्रह्मस्वरूप अपने आरोग्यके समान स्वयं ही जानने योग्य है, इसीलिए भगवान्

स्वारोग्यवत्, तत एव भगवानपि 'न च मत्स्थानि भूतानि' इति स्वस्मिन्नारोपितभूतजातं सर्वं निषिध्य तदवधित्वेन स्वमवशेषयति—पश्य मे योगमैश्वरमिति। सर्वदृश्यनिषेधावधिभूतं तदभावावभासकं स्वं परं ब्रह्म सर्वे मुमुक्षवः शुद्धात्मानः स्वात्मना विजानन्त्विति। एतेन सर्वदृश्यनिषेधावधिलक्षणं सर्वाधिष्ठानं निर्विशेषं प्रज्ञानैकरसं यत्परं ब्रह्म तदेवाऽहमिति वेदनमेव विज्ञानमिति सूचितं भवति। ननु 'सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः' इति, 'सर्वभूतनिवासोऽसि' इति च ब्रह्मणः सर्वभूताधारत्वं श्रूयते स्मर्यते च कथं 'न च मत्स्थानि भूतानि' इत्युच्यते इति चेत्, सत्यम्; श्रुत्या स्मृत्या चोच्यते मम सर्वभूताश्रयत्वं तथापि न तत्पारमार्थिकम्, किन्तु मायाविलसनमाश्रित्योच्यते, लोकदृष्ट्या तत्तु मयाऽप्यङ्गीक्रियत एवेत्याशयेनाऽऽह सार्धेन—भूतभृदिति। अर्जुनः स्वयमयमेव साक्षात्परमेश्वर इति मयीश्वरत्वबुद्धिमत्त्वादहमात्मेत्युक्ते मद्देह एव परमात्मत्वबुद्धिं कुर्यादिति श्रीभगवानात्मशब्दार्थं स्वदेहाद्विभज्य भिन्नत्वेन निर्दिशति—ममाऽऽत्मेति। अयमात्मा 'सन्मात्रो नित्यः शुद्धो बुद्धः सत्यो मुक्तो निरञ्जनो विभुरद्वयानन्दः परः प्रत्यगेकरसः' इत्यादिश्रुत्युक्तो ममाऽस्येश्वरत्वाभिमानिन आत्माऽव्यक्तमूर्तिः प्रत्यग्लक्षणो भूतभावनः भूतान्याकाशादीनि पृथिव्य-

---

भी 'मुझमें भूत स्थित नहीं हैं', इस वाक्यसे अपनेमें आरोपित सम्पूर्ण भूतसमूहका निषेध करके उस निषेधके अवधिरूपसे अपनेको ही शेष रखते हैं—पश्य मे योगमैश्वरमिति। सम्पूर्ण दृश्यके निषेधके अवधिभूत, उसके अभावके अवभासक स्वस्वरूप परब्रह्मको शुद्ध मनवाले मुमुक्षु अपने आत्मरूपसे जानें। इससे सम्पूर्ण दृश्यके निषेधका अवधिरूप तथा सबका अधिष्ठान निर्विशेष प्रज्ञानैकरस जो परब्रह्म है, वही मैं हूँ, ऐसा जानना ही विज्ञान है, यह सूचित होता है। यदि शङ्का हो कि 'सोम्य, यह सब प्रजा सत् आयतनवाली और सत् प्रतिष्ठावाली है' तथा 'सम्पूर्ण भूतोंके तुम निवास हो' इत्यादि श्रुति और स्मृतिसे ब्रह्म सब भूतोंका आधार है, ऐसा प्रतिपादन किया गया है, तब 'मुझमें भूत स्थित नहीं है' ऐसा क्यों कहा जाता है, तो सत्य है, श्रुति और स्मृतिसे मैं सब भूतोंका आश्रय हूँ, ऐसा कहा जाता है, तो भी वह पारमार्थिक नहीं है, किन्तु मायाविलासका आश्रयण कर कहा जाता है, लोकदृष्टिसे उसको तो मैं भी मानता ही हूँ, इस आशयसे डेढ़ श्लोकसे कहते हैं—भूतभृदिति। स्वयं यही साक्षात् परमेश्वर है, इस प्रकार मुझमें अर्जुनकी ईश्वरत्वबुद्धि होनेके कारण 'मैं आत्मा' ऐसा कहनेपर वह मेरी देहमें ही परमात्मत्वबुद्धि करेगा, इसलिए श्रीभगवान् आत्मशब्दार्थका अपनी देहसे अलग करके भिन्नरूपसे कथन करते हैं—ममाऽऽत्मेति। यह आत्मा 'सन्मात्र, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, सत्य, मुक्त, निरञ्जन, विभु, अद्वयानन्द, पर, प्रत्यगेकरस' इत्यादि श्रुत्युक्त मेरा (इस ईश्वरत्वके अभिमानीका) आत्मा—(अव्यक्तमूर्तिवाला प्रत्यक्स्वरूप) भूतभावन (आकाशसे लेकर पृथिवीपर्यन्त कार्यसहित सम्पूर्ण भूतोंको जो भावन करता है यानी अपनी सत्तासे

यथाऽऽकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ ६ ॥

जैसे सर्वत्र गमनशील महान् वायु [आकाशका स्पर्श न कर ही] आकाशमें सदा अवस्थित रहता है, वैसे ही सम्पूर्ण भूत मुझमें रहते हैं, ऐसा जानो ॥ ६ ॥

न्तानि सकार्याणि सर्वाणि भावयति स्वसत्तया स्वप्रकाशेन सत्तावन्ति प्रकाशवन्ति च करोतीति भूतभावनः सन् भूतभृत् स्वस्मिन्नारोपितानि भूतानि स्वसत्तया स्वमात्राणि बिभर्ति दधातीति भूतभृदेव भवति । चकारस्त्वर्थः । न तु भूतस्थः भूतेष्वात्मरूपेणाऽभिमानितया न तिष्ठतीति न भूतस्थ इत्युच्यते । आत्मनो भूतस्थत्वे 'विशेषणनाशाद्विशिष्टस्याऽपि नाशः' इति न्यायेन भूतनाशात् स्वस्याऽपि नाशकथाप्रसङ्गात् तदीयकर्तृत्वभोक्तृत्वादिधर्मानुषङ्गश्च स्यादत उच्यते न च भूतस्थ इति । नन्वात्मनो भूतस्थत्वाभावे तैः परिच्छिन्नः स्यादिति चेत्, न; नभसि नीलिमवन्मयि कल्पितत्वात्तेषां स्वतः सत्ताभावात् परिच्छेदकत्वानुपपत्तेः । यद्वा अधिष्ठानव्यतिरेकेण भूतानां पृथक्स्वरूपाभावात् स्वमात्रेषु तेषु न पुनः स्थातव्यमित्युच्यते न च भूतस्थ इति । तेन सिद्धं भूतान्येव मयि मरौ जलमिव व्योम्नि नैल्यमिव तिष्ठन्ति न तु भूतेष्वहमिति ॥ ५ ॥

ननु महान्ति खल्वाकाशादिभूतानि तेषां महतां सकार्याणां स्वव्यवस्थानं

सत्तायुक्त और अपने प्रकाशसे प्रकाशयुक्त करता है, वह भूतभावन कहलाता है) होकर भूतभृत् (अपनेमें आरोपित अपनी सत्तासे अपने स्वरूपभूत भूतोंको भरता है—धारण करता है—वह भूतभृत्) ही है । चकार तुके अर्थमें है । परन्तु भूतोंमें स्थित नहीं रहता यानी भूतोंमें आत्मरूप अभिमानसे स्थित नहीं होता, इसलिए भूतस्थ नहीं है, ऐसा कहा जाता है । आत्माके भूतस्थ होनेपर तो 'विशेषणके नाशसे विशिष्टका भी नाश होता है' इस न्यायसे भूतोंके नाशसे अपने भी नाशके कथनका प्रसङ्ग आवेगा और उनके कर्तापन, भोक्तापन आदि धर्मोंसे भी सम्बन्ध प्राप्त होगा, इसलिए कहा जाता है—'भूतोंमें स्थित भी नहीं' । आत्मा भूतस्थ न हो, तो उनसे आत्मामें परिच्छिन्नता हो जायगी, ऐसा यदि कहो, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि आकाशमें नीलिमाके समान मुझमें कल्पित होनेके कारण उनकी स्वतः सत्ता नहीं है, इसलिए वे परिच्छेदक नहीं हो सकते । अथवा अधिष्ठानसे भिन्न भूतोंका पृथक् स्वरूप न होनेके कारण स्वस्वरूप उनमें फिर [अपनेको] स्थित नहीं होना चाहिए, इस अभिप्रायसे 'भूतोंमें स्थित नहीं' ऐसा कहा जाता है । इससे सिद्ध हुआ कि मरुमें जलके समान, आकाशमें नीलिमाके समान मुझमें भूत स्थित हैं, परन्तु भूतोंमें मैं स्थित नहीं हूँ ॥ ५ ॥

आकाश आदि भूत तो महान् हैं, कार्यसहित उन महानोंकी आपमें स्थिति कैसे हो सकती

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

हे अर्जुन, ब्रह्माजीके कल्पका क्षय होनेपर [मुझमें स्थित] सम्पूर्ण आकाश आदि भूत मेरी त्रिगुणात्मक अपर मायामें लीन हो जाते हैं और ब्रह्माजीके कल्पके आदिमें उन्हीं भूतोंका मैं [अपनी प्रकृति द्वारा] फिर उत्पादन करता हूँ ॥७॥

कथमुपपद्यत इत्याशङ्कायाम् 'स दिवो ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान्' इति, 'एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पुरुषः । पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' इति श्रवणात् बृहत्तमे मयि परे ब्रह्मणि चन्द्रे नीलिमवदेकदेश एवाऽव्यक्तादीनि भूतानि तिष्ठन्तीति सदृष्टान्तमुपपादयति—यथेत्यादिना ।

सर्वत्रग आकाशमस्पृश्यैव स्वयं सर्वत्र गच्छत्याविर्भावं तिरोभावञ्च भजन् सर्वतश्चेष्टते इति सर्वत्रगो महान् महत्परिमाणवान् वायुराकाशे भूताकाशे नित्यं सदा यथा स्थितो भवति । तथा सर्वाणि भूतानि महदादिस्थूलान्तानि मत्स्थानि मयि परिपूर्णे निष्क्रिये निराकारे निरन्तरे परे ब्रह्मणि तिष्ठन्तीति मत्स्थानीत्येवोपधारयाऽवधारयेत्यर्थः ॥ ६ ॥

एवं सर्वेषामपि भूतानामाकाशे वायुवत् स्वस्मिन्नेव स्थितिमुक्त्वा स्वस्मिन्नेव लयमुत्पत्तिं चाऽऽह—सर्वभूतानीति ।

'अव्यक्ताद्व्यक्तयः' इति यत् पूर्वमुक्तं भूतानां प्रलयादिकं तत्तु दैनन्दिनम् । इदानीं

है, ऐसी आशङ्का होनेपर 'वह स्वर्गसे बड़ा, अन्तरिक्षसे बड़ा', 'इतनी इसकी महिमा है, इससे बड़ा पुरुष है, सब भूत इसके पाद हैं, इसके अमृतरूप तीन पाद द्युलोकमें हैं' इस श्रुतिसे बृहत्तम मुझ परब्रह्ममें, जैसे चन्द्रमें एकदेशमें ही नीलिमा रहती है वैसे ही, अव्यक्त आदि भूत स्थित हैं, ऐसा दृष्टान्तपूर्वक उपपादन करते हैं—'यथा०' इत्यादिसे ।

सर्वत्रग (आकाशको छूये बिना ही जो स्वयं सर्वत्र जाता है यानी आविर्भाव और तिरोभावको प्राप्त होकर सर्वत्र चेष्टा करता है, वह सर्वत्रग है) महान्—महत् परिमाणवाला—वायु आकाशमें—भूताकाशमें—नित्य—सदा—जैसे स्थित रहता है, वैसे ही महत्से लेकर स्थूलतक सम्पूर्ण भूत मुझमें स्थित हैं यानी मुझ परिपूर्ण निष्क्रिय, निराकार निरन्तर परब्रह्ममें स्थित रहते हैं, इस प्रकार उपधारण करो यानी [हे कौन्तेय, तुम] अवधारण करो, यह अर्थ है ॥ ६ ॥

इस प्रकार आकाशमें वायुके समान सभी भूतोंकी स्थिति अपनेमें कहकर अपनेमें ही लय और उत्पत्ति कहते हैं—'सर्वभूतानि' इत्यादिसे ।

'अव्यक्तसे व्यक्तियाँ' इससे जो पूर्वमें भूतोंका प्रलय आदि कहा, वह तो दैनन्दिन (दैनिक) था। अब

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥

अपनी मायारूप प्रकृतिको लेकर इस सम्पूर्ण जगत्को, जो अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेशात्मक प्रकृतिके स्वभावसे अस्वतन्त्र है, बार-बार उत्पन्न करता हूँ ॥ ८ ॥

प्राकृतप्रलयाद्युच्यते । यानि मत्स्थानि तान्येव सर्वाणि भूतान्याकाशादीनि कल्पक्षये कल्पो ब्रह्मकल्पस्तस्य क्षये सति ब्रह्मप्रलये प्राप्ते सति मामिकां मदीयामपराख्यां प्रकृतिं त्रिगुणात्मिकां मायाम् 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' इति श्रुतिप्रसिद्धां यान्ति । स्वोत्पत्तिव्युत्क्रमेण प्रकृतौ प्रलीयन्ते इत्यर्थः । प्रकृतौ यानि लयं गतानि तान्येव भूतानि कल्पादौ ब्रह्मकल्पादौ पुनरप्यहं विसृजामि । स्वप्रकृतिद्वारा यथाक्रमं यथालक्षणं च जगदुत्पादयामीत्यर्थः ॥ ७ ॥

'य एको वर्णो बहुधा शक्तियोगाद्वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति । विचैति चान्ते विश्वमादौ स देवः स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु' इति श्रवणात् स्वयं कूटस्थासङ्गचिद्रूपोऽपि परमात्मा स्वोपाधिधर्मं भूतसृष्ट्यादिकं स्वधर्मत्वेन निर्दिशति 'अयमेव जगदुत्पत्तिस्थितिलयकर्ता सर्वविन्मोक्षप्रदाता च एनमाराध्य वयं कृतार्थाः स्याम इति मुमुक्षवः सगुणं समुपासताम्' इति सूचयितुं केचन जगदनीश्वरं मन्यन्ते तन्मतं निरसयितुं वा—प्रकृतिमिति ।

प्राकृत प्रलय आदि कहा जाता है। मुझमें जो स्थित हैं, वे ही आकाश आदि सब भूत कल्पका क्षय होनेपर (ब्रह्माके कल्पका क्षय होनेपर) यानी ब्रह्माका प्रलय प्राप्त होनेपर मेरी अपरा नामकी प्रकृतिको यानी 'मायाको तो प्रकृति जानो' इस श्रुतिमें प्रसिद्ध त्रिगुणात्मिका मायाको प्राप्त होते हैं—अपनी उत्पत्तिके विपरीत क्रमसे प्रकृतिमें लीन होते हैं, यह अर्थ है। जो भूत प्रकृतिमें लयको प्राप्त हुए हैं, उनको कल्पके आदिमें—ब्रह्माके कल्पके आदिमें—मैं फिर उत्पन्न करता हूँ। अपनी प्रकृतिके द्वारा क्रमानुसार तथा स्वरूपानुसार जगत्को उत्पन्न करता हूँ, यह अर्थ है ॥ ७ ॥

'जो एक वर्णवाला, निहित अर्थवाला, बहुत प्रकारकी शक्तियोंके योगसे अनेक वर्णोंको और विश्वको आदिमें धारण करता है और अन्तमें चेतनतारहित कर देता है, वह देव हमको शुभ बुद्धिसे भली भाँति युक्त करे' इस श्रुतिसे स्वयं कूटस्थ असङ्ग चिद्रूप होनेपर भी परमात्मा अपनी उपाधिके धर्मस्वरूप भूतसृष्टि आदिका—'यही जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लय करनेवाला, सर्ववित् और मोक्षका देनेवाला है, इसका आराधन करके हम कृतार्थ होंगे, इस प्रकार मुमुक्षु सगुण ब्रह्मकी उपासना करें', ऐसा सूचन करनेके लिए अथवा कोई लोग जगत्को ईश्वररहित मानते हैं, उनके मतका खण्डन करनेके लिए—अपने धर्मरूपसे निर्देश करते हैं—'प्रकृतिम्' इत्यादिसे ।

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥

हे धनञ्जय, उस प्रकृति द्वारा किये गये सृष्टि आदि कर्मोंमें असक्त और उदासीनके (तटस्थके) समान साक्षीरूपसे दूर स्थित मुझको वे भूतसृष्टि आदि कर्म स्पर्श भी नहीं करते ॥ ९ ॥

मायाख्यां स्वां स्वोपाधिभूतां प्रकृतिं शुद्धसत्त्वात्मिकामवष्टभ्योपादायाऽहं परमेश्वरः प्रकृतेर्वशात् अविद्यास्मिताभिनिवेशरागद्वेषात्मिकायाः प्रकृतेः स्वभावादवशमस्वतन्त्रमनादिसंसारवासनाग्रस्तमिमं परिदृश्यमानं देवतिर्यगादिलक्षणं भूतग्रामं प्राणिजातं सर्वं संहृत्य पुनः पुनर्विसृजामि तदीयकर्मानुरूपेण नानायोनिषूत्पादयामीत्यर्थः । एतेन प्राणिनां कर्म निमित्तमात्रमहमेव स्रष्टा भर्ता संहर्ता नेता च न मत्तोऽन्यः कश्चिदस्तीति सूचितं भवति । तथा च श्रुतिः 'एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिः' इति ॥ ८ ॥

नन्वेवं भूतग्रामं नानायोनिषु जनयतः पुनः पुनः संहरतः स्वर्गं नरकं च गमयतस्तवाऽपि पुण्यपापकर्मसंश्लेषः स्यादित्याशङ्कायाम् , न; भूतानां संहारः सृष्टिः सुखदुःखादिफलप्रापणं च सर्वं प्रकृतेरेव कर्म नाऽऽत्मनो ममाऽविक्रियस्याऽसङ्गस्याऽव्यक्तमूर्तेस्तत्कर्मलेशसंबन्धो वस्तुतः किञ्चिदस्तीति प्रकृतिकर्तृकेषु स्वस्याऽसङ्गोदासीनत्वमेव प्रतिपादयति—**न चेति** ।

चकारस्त्वर्थः। तानि भूतसृष्टिसंहारादीनि कर्माणि प्रकृतिकर्तृकानि मां तु परमात्मा-

---

माया नामकी अपनी—अपनी उपाधिभूत—शुद्ध सत्त्वात्मिका प्रकृतिको स्वीकार कर (लेकर) मैं परमेश्वर प्रकृतिवशसे—अविद्या, अस्मिता, अभिनिवेश, राग, द्वेषरूपी प्रकृतिके स्वभावसे—अवश (अस्वतन्त्र) अनादि संसारकी वासनासे ग्रस्त इस परिदृश्यमान, देव, तिर्यक् आदिरूप भूतग्रामका (सम्पूर्ण प्राणियोंका) संहार करके उनको पुनः पुनः उत्पन्न करता हूँ । उनके कर्मके अनुसार उन्हें नाना योनियोंमें उत्पन्न करता हूँ, यह अर्थ है । इससे यह सूचित होता है कि प्राणियोंका कर्म निमित्तमात्र है, मैं ही स्रष्टा, भर्ता, संहर्ता और नेता हूँ, मुझसे अन्य कोई नहीं है । जैसे कि श्रुति है—'यह सबका ईश्वर है, यह भूतोंका ईश्वर है' ॥ ८ ॥

इस प्रकार भूतसमूहको अनेक योनियोंमें उत्पन्न करनेवाले, बारबार संहार करनेवाले, स्वर्ग और नरकको प्राप्त करानेवाले आपमें भी पुण्य-पापरूप कर्मका सम्बन्ध होगा, ऐसी आशङ्का होनेपर, नहीं; भूतोंका संहार, सृष्टि और सुख-दुःख आदि फलका प्राप्त कराना सब प्रकृतिका ही कर्म है, मुझ अविकारी, असङ्ग, अव्यक्तमूर्तिवालेका सृष्टि आदि प्रकृतिके कर्मोंसे वस्तुतः कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, इस प्रकार प्रकृतिसे किये जानेवाले सृष्टि आदिमें अपना (ईश्वरका) असङ्ग होना और उदासीन होना ही श्रीभगवान् प्रतिपादन करते हैं—'न च' इत्यादिसे ।

चकार तुके अर्थमें है । भूतोंकी सृष्टि तथा संहार आदि प्रकृति द्वारा किये गये वे कर्म मुझको

मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥ १० ॥

हे कौन्तेय, साक्षीरूप मुझसे उपहित (युक्त) होकर प्रकृति ही स्थावर-जङ्गमात्मक सम्पूर्ण जगत्के उत्पत्तिकी स्थिति और लय करती है । इस साक्षीकी केवल सन्निधिसे ही अव्यक्तसे लेकर स्थूलपर्यन्त समस्त संसार सर्वतः चेष्टा करता है ॥ १० ॥

नमसङ्गमविक्रियं तटस्थं न निबध्नन्ति मम बन्धाय न भवन्ति । मां न स्पृशन्तीत्यर्थः । स्वस्य तटस्थत्वमेव प्रतिपादयति—उदासीनवदिति । तेषु प्रकृतिकर्तृकेषु सृष्ट्यादिकर्मस्वसक्तं सक्तिर्नाम संयोगसंबन्धस्तद्रहितमसङ्गमत एवोदासीनवत् उदासीनस्तूष्णीमवस्थाता तटस्थस्तद्वदासीनं प्रकृतितत्कार्याणां साक्षित्वेन दूरतः स्थितं मां तत्कर्माणि न स्पृशन्तीत्यर्थः । एतेनोपाधितद्धर्मतत्कर्मस्वसक्तं तत्साक्षित्वेन स्थितमाकाशवदसङ्गमविक्रियमात्मानं यो विजानाति ब्रह्मविद्यतिः स कर्मभिरुपाधिकर्तृकैर्विहितप्रतिषिद्धैर्न निबध्यत इति सूचितं भवति ॥ ९ ॥

यदुक्तं स्वस्य प्रकृतिकर्तृकेषु कर्मस्वसङ्गत्वमुदासीनत्वं च तदेव विस्पष्टयति—मयेति ।

राजवद्यस्य सन्निधिमात्रेण प्रधानादिप्रवृत्तिः सोऽध्यक्षस्तेनाऽध्यक्षेण साक्षिणा कूटस्थासङ्गचिद्रूपेण मया स्वप्रवृत्तिहेतुनोपहिता सती प्रकृतिरेव सचराचरं चरं जङ्गम-

---

—असङ्ग, अविकारी, तटस्थ परमात्माको—तो नहीं बाँधते—मेरे बन्धनके कारण नहीं होते । मुझे नहीं छूते, यह अर्थ है । अपनी तटस्थताका ही प्रतिपादन करते हैं—उदासीनवदिति । उन प्रकृतिसे किये जानेवाले सृष्टि आदि कर्मोंमें असक्त (सक्ति नाम संयोग सम्बन्धका है, उससे रहित) यानी असङ्ग, इसीलिए उदासीनके समान (चुपचाप स्थित रहनेवाले तटस्थके समान) । प्रकृति और प्रकृतिके कार्योंके साक्षीरूपसे दूर स्थित हुए मुझको उसके कर्म नहीं छूते, यह अर्थ है । इससे यह सूचित होता है कि उपाधिमें, उपाधिके धर्मोंमें तथा उपाधिके कर्मोंमें असक्त, साक्षीरूपसे स्थित, आकाशके समान असङ्ग, अविकारी आत्माको जो जानता है, वह ब्रह्मवित् यति उपाधिसे किये जानेवाले विहित और निषिद्ध कर्मोंसे बाँधा नहीं जाता ॥ ९ ॥

प्रकृतिसे किये जानेवाले कर्मोंमें ईश्वरका असंग और उदासीन होना जो कहा गया है उसीका विशेषरूपसे स्पष्टीकरण करते हैं—'मया०' इत्यादिसे ।

राजाके समान जिसकी सन्निधिमात्रसे प्रधान आदिकी प्रवृत्ति होती है, वह अध्यक्ष है, उस अध्यक्ष साक्षी, कूटस्थ, असङ्ग, चिद्रूप, अपनी प्रवृत्तिके हेतुरूप मुझसे उपहित हुई प्रकृति ही सचराचर

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥ ११ ॥

सम्पूर्ण भूतोंके ईश्वर मेरे विलक्षण सच्चिदानन्दस्वरूपको शास्त्र या आचार्य द्वारा न जानकर मूढ़ पुरुष सारे प्राणियोंके शरीरमें साक्षीरूपसे स्थित मेरा तिरस्कार करते हैं ॥ ११ ॥

मचरं स्थावरं चरं च अचरं च चराचरं तेन सह वर्तत इति सचराचरं जगत्सर्वं सूयते जनयति स्थापयति संहरते च । अहं तु तत्तत्प्रवृत्तेः साक्षिमात्रः । अनेन साक्षिणो मम सान्निध्यमात्रेणैव हेतुना स्वप्रवृत्तिकारणेनाऽव्यक्तादिस्थूलान्तं समष्टिव्यष्ट्यात्मकं जगत्सर्वं विपरिवर्तते सर्वतश्चेष्टते । यथा सर्वसाक्षिणः सूर्यस्य सान्निध्यमात्रेण तत्प्रकाशबलेन सर्वेषां प्राणिनां प्रवृत्तिर्निवृत्तिश्च सिध्यति, तथा सर्वसाक्षिणो मम सान्निध्यमात्रेण मत्प्रकाशबलेन देहेन्द्रियप्राणमनोबुद्ध्यादीनां स्वस्वविषये प्रवृत्तिर्निवृत्तिश्च इष्टानिष्टसुखादिज्ञानं च सिध्यति । एतावन्मात्रमेव मम कार्यं न तु कर्तृत्वं कारयितृत्वं भोक्तृत्वं भोजयितृत्वं दातृत्वं दापयितृत्वं वाऽस्ति कूटस्थासङ्गचिन्मूर्तेरिति भावः ॥ १० ॥

एवं सर्वप्रकाशकं सर्वद्रष्टारं सर्वसाक्षिणं मामात्मानं पापिष्ठतमाः पशुकल्पा अवमन्यन्त इत्याह—अवजानन्तीति ।

'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा । कर्माध्यक्षः सर्व-

---

(जङ्गम और स्थावरके साथ जो रहता है, वह सचराचर है) सब जगत्को उत्पन्न करती है, स्थापन करती है और संहार करती है । मैं तो तत्-तत् प्रवृत्तिका केवल साक्षी ही हूँ । मुझ साक्षीके इस केवल सान्निध्यरूप हेतुसे अपनी प्रवृत्तिके कारण अव्यक्तसे लेकर स्थूलपर्यन्त, समष्टिव्यष्टिरूप सम्पूर्ण जगत् सब प्रकारकी चेष्टा करता है । जैसे सबके साक्षी सूर्यके केवल सान्निध्यसे ही उसके प्रकाशके बलसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी प्रवृत्ति और निवृत्ति सिद्ध होती है, वैसे ही सबके साक्षीभूत मेरे केवल सान्निध्यसे ही मेरे प्रकाशके बलसे देह, इन्द्रिय, प्राण, मन तथा बुद्धि आदिकी अपने अपने विषयमें प्रवृत्ति और निवृत्ति और इष्ट, अनिष्ट सुख आदिका ज्ञान सिद्ध होता है । केवल इतना ही मेरा कार्य है, करना, कराना, भोगना, भोगाना, देना अथवा दिलाना मुझ कूटस्थ असङ्ग चिन्मूर्तिका कार्य नहीं है, यह भाव है ॥ १० ॥

इस प्रकार सबके प्रकाशक, सबके द्रष्टा तथा सबके साक्षी मुझ आत्माका पशु-तुल्य अत्यन्त पापी लोग ही अपमान करते हैं, ऐसा कहते हैं—'अवजानन्ति' इत्यादिसे ।

'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' (एक देव सब भूतोंमें गूढ़, सर्वव्यापक,

भूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ।' श्रुतेरयमर्थः—जगतो ब्रह्मादिभेदेन प्राप्तमीश्वरानेकत्वं निरस्यति—एक इति । 'एक एव हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः' इति श्रुत्यन्तरप्रसिद्धेः । एतेन तेषामैश्वर्यं प्राकृतमनित्यं चाऽऽभासिकं चेति सूचितम् । तत एकत्वं कारणत्वं चाऽव्याकृते पर्यवसितं निरस्यति—देव इति । कालत्रयेऽपीतरानपेक्षयाऽखण्डचिदात्मना स्वयमेव दीव्यते प्रकाशत इति देवः । अव्याकृतस्य जडत्वेन देवत्वासंभवात् स्वतः कारणत्वानुपपत्तेः । एकत्वदेवत्वसंपत्त्या सूर्यस्य प्राप्तमीश्वरत्वं निरस्यति—सर्वभूतेष्विति । सर्वभूतेषु चिदेकरसात्मना स्थित इत्यर्थः । एतेन सूर्यस्यैकत्वे देवत्वेऽपि चिदात्मना भूतेष्ववस्थितत्वाभावादीश्वरत्वाभावः । सर्वभूतेषु सर्वदैकरूपेण चित्प्रकाशात्मना स्थितत्वे ब्रह्मणः प्राप्तं सर्ववेद्यत्वं निरस्यति—गूढ इति । सर्वभूतेषु प्रकाशात्मना विद्यमानत्वेऽपि मेघैः सूर्यवदविद्यातत्कार्यैस्तिरोहितत्वात् परमात्मा न सर्वेषां वेद्यो भवतीत्यर्थः । भूतेषु गूढत्वे सति ब्रह्मणः प्राप्तं बुद्ध्यादिवत् परिच्छिन्नत्वं निरस्यति—सर्वव्यापीति । घटादिकं मृदिव जगद्बहिरन्तश्च सर्वतः स्वसत्तया व्याप्नोतीति सर्वव्यापी बहिरन्तःपूर्णत्वाद् ब्रह्मणः परिच्छिन्नत्वाभाव इति भावः । गूढात्मना सर्वव्यापकत्वमाकाशे पर्यवसितं निरस्यति—सर्वभूतान्तरात्मेति । सर्वेषां

सब भूतोंका अन्तरात्मा, कर्मोंका अध्यक्ष, सब भूतोंका अधिवास, साक्षी, चेता, केवल और निर्गुण)। इस श्रुतिका यह अर्थ है—'एक' शब्दसे श्रुति ब्रह्मा आदिके भेदसे प्राप्त जगत्के अनेक ईश्वरोंका निरास करती है, क्योंकि 'एक ही रुद्र है, दूसरा नहीं है' ऐसा दूसरी श्रुतिसे प्रसिद्ध है। इससे यह सूचित होता है कि उनका (ब्रह्मादिका) ऐश्वर्य प्राकृत, अनित्य और प्रातिभासिक है। तदनन्तर श्रुति अव्याकृतमें प्राप्त एकत्व और कारणत्वका 'देव' शब्दसे निरास करती है। तीनों कालोंमें वह दूसरेकी अपेक्षाके बिना अखण्ड चेतनरूपसे आप ही प्रकाशित होता है, इसलिए देव कहा जाता है। जड़ होनेसे अव्याकृतमें देवत्वका सम्भव नहीं है, इसलिए उसमें स्वतः कारणत्व नहीं हो सकता। एक और देव होनेके कारण सूर्यमें जो ईश्वरत्व प्राप्त होता है, उसका 'सर्वभूतेषु' इत्यादि शब्दसे निरास किया है। सब भूतोंमें चिदेकस्वरूपसे स्थित है, यह अर्थ है। इससे यह सूचित किया कि एक और देव होनेपर भी चिदात्मस्वरूपसे सूर्यकी भूतोंमें स्थिति असम्भव होनेके कारण उसमें ईश्वरत्वका अभाव है। सब भूतोंमें सर्वदा चित्-प्रकाशस्वरूपसे स्थित होनेपर ब्रह्ममें प्राप्त सर्ववेद्यताका गूढ़शब्दसे श्रुति निरसन करती है। सब भूतोंमें प्रकाशस्वरूपसे विद्यमान होनेपर भी, मेघोंसे सूर्यके समान, अविद्या और अविद्याके कार्यसे आवृत होनेके कारण परमात्मा सबको विदित नहीं होता, यह अर्थ है। भूतोंमें गूढ़ होनेसे बुद्धि आदिके समान ब्रह्ममें जो परिच्छिन्नत्व प्राप्त होता है, उसका 'सर्वव्यापी' शब्दसे श्रुति निरसन करती है। घट आदिको मिट्टीके समान, ब्रह्म जगत्को बाहर भीतर सब ओरसे अपनी सत्तासे व्याप्त करता है, इसलिए सर्वव्यापी है। बाहर भीतर पूर्ण होनेसे ब्रह्ममें परिच्छिन्नत्व नहीं है, यह भाव है। गूढ़रूपसे सबमें व्यापक होना आकाशमें भी घटता है, उसका 'सर्वभूतान्तरात्मा' शब्दसे श्रुति निरसन करती है। सब भूतोंके भीतर बुद्धिरूप

भूतानामन्तर्बुद्धिगुहायामात्मरूपेण तिष्ठतीत्यर्थः । सर्वव्यापकत्वेऽप्याकाशस्य जडत्वेन सर्वभूतात्मत्वासंभवाद् ब्रह्मत्वं न संभवति । सर्वभूतात्मत्वे ब्रह्मणः कर्मकर्तृत्वं तत्फल-भोक्तृत्वं संसारित्वं च प्राप्तं निरस्यति—कर्माध्यक्ष इति । उपाधिमधिष्ठाय तद्धर्मा-नीक्षत इत्यध्यक्षः । भूतानां तत्कर्मणां तत्फलभोगानां च साक्ष्येव भवत्यात्मा निरवय-वत्वान्निष्क्रियत्वाच्च स्वयं कर्म किञ्चिन्न करोति नाऽपि च भुङ्क्ते इत्यर्थः । ब्रह्मणः सर्वभूतान्तरात्मत्वे सर्वभूताश्रयत्वं तदधीनत्वं च प्राप्तं निरस्यति—सर्वभूताधिवास इति । वसत्यस्मिन् सर्वमिति वासः । अधिकतमश्चाऽसौ वासश्चेत्यधिवासः । अधि-वसत्यस्मिन् सर्वमिति वाऽधिवासः । शुक्तौ रजतवद्दर्पणे पुरवत् स्वस्मिन् कल्पितानां भूतानां परमात्माऽधिवासोऽधिष्ठानमेव भवति न तु स्वयं तदधिकरण इत्यर्थः । न केवलं कर्मणामेव ज्ञाताऽयं भवत्यात्मा किन्तु भूतानां तद्धर्माणां तत्कर्मणां तत्फलानु-भूतीनां तदवस्थानां च द्रष्टेत्याह—साक्षीति । बुद्धितद्विकाराणां सर्वेषां साक्षीत्यर्थः । साक्षादीक्षते इति साक्षीत्यात्मन ईक्षणक्रियाकर्तृत्वे प्राप्ते सत्याह—चेतेति । चेतयि-तृत्वमविक्रियत्वं स्वयमविक्रियात्मना सर्वं पश्यतीत्यर्थः । अविक्रियत्वे हेतुमाह—केवल इति । केवलो निरवयवः । निरवयवत्वादविक्रियः स्वयमविक्रियः सन्नेव सर्वं पश्य-

---

गुहामें आत्मरूपसे स्थित है, यह अर्थ है । सर्वव्यापक होनेपर भी जड आकाश होनेसे सम्पूर्ण भूतोंका आत्मा नहीं हो सकता, इसलिए वह ब्रह्म भी नहीं हो सकता । सब भूतोंका आत्मा होनेसे ब्रह्ममें कर्मकर्तृत्व कर्मफल भोक्तृत्व और संसारित्व प्राप्त होता है, उसका 'कर्माध्यक्ष'से श्रुति निरसन करती है । उपाधिको स्वीकार करके उसके धर्मोंको देखता है, इसलिए अध्यक्ष है । भूतोंका, उनके कर्मोंका और उनके फलके भोगोंका आत्मा साक्षी ही होता है, क्योंकि निरवयव और निष्क्रिय होनेसे वह स्वयं कुछ नहीं करता और न उनके फलको भोगता है, यह अर्थ है । सब भूतोंका अन्तरात्मा होनेसे ब्रह्मका भूतोंका आश्रय होना और उनके अधीन होना प्राप्त होता है, उसका 'सर्वभूताधिवास' शब्दसे श्रुति निरसन करती है । सब इसमें बसता है, इससे वास कहलाता है । अधिकतम जो वास है, वह अधिवास है । अथवा सबभूत इसमें वास करते हैं, इससे यह अधिवास कहलाता है । शुक्तिमें रजतके समान, दर्पणमें नगरके समान अपनेमें कल्पित भूतोंका परमात्मा अधिवास यानी अधिष्ठान ही है, स्वयं उनका अधिकरण नहीं है, यह अर्थ है । यह आत्मा केवल कर्मोंका ही ज्ञाता नहीं है, किन्तु भूतोंका, उनके धर्मोंका, उनके कर्मोंका, उनके फलके अनुभवोंका और उनकी अवस्थाओंका भी द्रष्टा है, ऐसा 'साक्षी' शब्दसे श्रुति कहती हैं । बुद्धि और बुद्धिके सम्पूर्ण विकारोंका साक्षी, यह अर्थ है । जो प्रत्यक्ष देखता है, वह साक्षी है । इससे आत्मा ईक्षण क्रियाका कर्ता है, ऐसा प्राप्त होनेपर श्रुति 'चेता' ऐसा कहती है । स्वयं अविकारीरूपसे चेतनकारयितृत्व और अविक्रियत्वको देखता है, यह अर्थ है । अविक्रिय होनेमें हेतु कहते हैं—केवल इति । केवल यानी निरवयव । निरवयव होनेसे

तीत्यर्थः । शब्दगुणकमाकाशमिति निरवयवस्याऽप्याकाशस्य यथा गुणवत्त्वं तथा ब्रह्मणो निरवयवस्याऽपि सत्त्वचित्त्वादिगुणवत्त्वे प्राप्ते परिहरति श्रुतिः—निर्गुण इति । 'आत्मन आकाशः संभूतः' इति आकाशस्य जनिश्रवणात् तस्य जनिमत्त्वेन सावयवत्वादाकाशस्य गुणवत्त्वं युक्तम्, निष्कलमिति ब्रह्मणो निरवयत्वश्रवणाद्गुणवत्त्वमनुपपन्नमेव, ततः सत्त्वचित्त्वादिस्वरूपमेव भवति न तु गुण इत्यर्थः । परस्य ब्रह्मणः सर्वविशेषाभावप्रतिपादनार्थश्चकारः । एवं श्रुतिनिरूपितलक्षणं भूतमहेश्वरं स्वसंनिधिमात्रेण प्रकृतिं प्राकृतं च सर्वमीष्टे चेष्टयतीतीश्वरः । स्वयमविक्रियोऽप्ययसोऽयस्कान्त इव सर्वस्य प्रवृत्तिहेतुः । 'महतो महीयान्' इति श्रवणात् महत्तमत्वान्महांश्चाऽसावीश्वरश्च महेश्वरः । भूतानामव्यक्तादिस्थूलान्तानां महेश्वरो भूतमहेश्वरस्तं भूतमहेश्वरं सर्वस्य चेष्टाकारणं सर्वमहत्तमं परं नित्यत्वकूटस्थत्वासङ्गत्वसत्त्वचित्त्वानन्तत्वसर्वव्यापित्वसर्वज्ञत्वसर्वप्रकाशकत्वादिधर्मैः सर्वदृश्यविलक्षणं मम परस्य ब्रह्मण आकाशकल्पं सच्चिदानन्दैकरसं भावं स्वरूपमहंशब्दार्थमजानन्तः शास्त्राचार्येभ्यः किञ्चिदप्यविदितवन्तो मूढाः पशुकल्पा मानुषीं तनुमिति सर्वप्राणिशरीरमात्रस्योपलक्षणम् । तनुं शरीरमाश्रितं स्वदेहे बुद्धिगुहायां सर्वप्रकाशकतया सर्वसाक्षित्वेन विद्यमानं मां

अविक्रिय है, स्वयं अविकारी होकर ही सबको देखता है, यह अर्थ है । शब्दगुणवाला आकाश है, इस प्रकार जैसे निरवयव आकाशमें भी शब्द गुण माना जाता है, वैसे निरवयव ब्रह्ममें भी सत्त्व, चित्त्व आदि गुण प्राप्त होते हैं, उनका 'निर्गुण' इस शब्दसे श्रुति परिहार करती है । 'आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ' इस श्रुतिसे आकाशका जन्म सुननेमें आता है, अतः जन्म होनेसे सावयव होनेके कारण आकाशमें गुणवत्त्व मानना युक्त है, परन्तु 'निष्कल' इस शब्दसे निरवयवत्वका कथन होनेसे ब्रह्ममें गुणवत्त्व मानना युक्त नहीं है, इसलिए ब्रह्म सत्त्व, चित्त्व आदि स्वरूप ही है, गुणवान् नहीं है, यह अर्थ है । परब्रह्ममें सम्पूर्ण विशेषोंका अभाव है, ऐसा प्रतिपादन करनेके लिए चकार है । इस प्रकार श्रुतिसे निरूपित लक्षणवाले भूतमहेश्वर (अपनी केवल सन्निधिसे ही प्रकृति और प्राकृत सबमें जो चेष्टा उत्पन्न करता है, वह ईश्वर कहलाता है । जैसे स्वयं अविक्रिय होनेपर भी लोहेको अयस्कान्तमणि चलाती है, वैसे ही सबकी प्रवृत्तिका यह हेतु है । 'महान्से भी महान्' इस श्रुतिसे महत्तम होनेके कारण महान् है और ईश्वर भी है, अतः महेश्वर है । अव्यक्तसे लेकर स्थूलतक भूतोंका महेश्वर है, अतः भूतमहेश्वर कहलाता है) यानी सबकी चेष्टाके कारण तथा सबसे महत्तम पर (नित्यत्व, कूटस्थत्व, असङ्गत्व, सत्त्व, चित्त्व, अनन्तत्व, सर्वव्यापित्व, सर्वज्ञत्व और सर्वप्रकाशकत्व आदि धर्मोंसे सम्पूर्ण दृश्यसे विलक्षण) मेरे (परब्रह्मके) आकाशसदृश सच्चिदानन्दैकरस भावको—स्वरूपको यानी अहंशब्दके अर्थको न जाननेवाले (शास्त्र और आचार्यसे कुछ भी न जाननेवाले) मूढ़—पशुकल्प—(यहाँ मानुषी तनु, यह सब प्राणियोंके शरीरमात्रका उपलक्षण है।) तनुमें—शरीरमें—आश्रित यानी अपने देहमें बुद्धिरूप गुहामें सबके प्रकाशक होनेके कारण सबके साक्षीरूपसे विद्यमान मेरी यानी प्रत्यक्लक्षण आत्माकी

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥ १२ ॥

[जो मूढ़ पुरुष मेरे तत्त्वको न जानकर मेरा तिरस्कार करते हैं,] वे निष्फल मनोरथवाले, निष्फल श्रौत-स्मार्त कर्मवाले, निष्फल शास्त्राध्ययन और शास्त्र-जनित ज्ञानवाले तथा विपरीत बुद्धिवाले होकर मोहिनी राक्षसी और आसुरी योनिको बार-बार प्राप्त होते हैं ॥ १२ ॥

प्रत्यग्लक्षणमात्मानमवजानन्ति तिरस्कुर्वन्ति । मय्यहमर्थे स्वात्मन्यानन्दैकरसे मलमांसास्थिपिण्डं देहमारोप्य तद्धर्मान् कर्तृत्वभोक्तृत्वादीन् जरारोगादींश्चाऽध्यस्याऽवमन्यन्ते । कर्ताऽहं भोक्ताऽहं बालोऽहं मूढोऽहं पापिष्ठोऽहं बधिरोऽन्धः काणः खञ्जः पङ्गुः जीर्णोऽहं हतोऽहं मृतोऽहमित्येवं सर्वदा मम वैपरीत्यमेव सम्पादयन्तीत्यर्थः ॥११॥

'असुर्या नाम ते लोकाः' इत्यादिश्रुत्यर्थं प्रकाशयितुमात्मज्ञानविमुखानामात्मनः सर्वदा विपरीतभावमेव संपादयतां मूढानां स्वभावं वर्णयित्वा तेषामात्मज्ञानवैमुख्यस्य फलं श्रुत्युक्तमेव प्रतिपादयति—**मोघाशा** इति ।

ये तु मूढा मत्तत्त्वमविज्ञायाऽऽत्मानं मामवजानन्ति ते मोघाशाः, मोघा वितथा आशा मनोरथा येषां ते मोघाशाः । 'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति' इति प्ररोचनोक्त्या स्वर्गे शतकोटिकल्पपर्यन्तं वत्स्याम इति चातुर्मास्यं कृतवतां कामिनामाशायाः 'श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्' इति न्यायेन स्वल्पकालिकत्वात्तेषां

अवज्ञा करते हैं यानी मेरा तिरस्कार करते हैं । अहंके अर्थ आनन्दैकरस अपने आत्मभूत मुझमें मल, मांस और हड्डीके पिण्डभूत देहका आरोप करके कर्तापन, भोक्तापन आदिका तथा जरा, रोग आदि उसके धर्मोंका अध्यास करके तिरस्कार करते हैं । मैं कर्ता, मैं भोक्ता, मैं बालक, मैं मूढ़, मैं पापिष्ठ, मैं बहिरा, अन्धा, काना, कंजा, पंगु, मैं जीर्ण, मैं पिट गया, मैं मारा गया इत्यादि प्रकारसे सर्वदा मेरे विपरीत भावका ही संपादन करते हैं, यह अर्थ है ॥ ११ ॥

'अप्रकाशात्मक स्थावरान्त लोक' इत्यादि श्रुतियोंके अर्थका प्रकाश करनेके लिए आत्मज्ञानसे विमुख हुए तथा सर्वदा आत्माके विपरीतभावका ही संपादन कर रहे मूढ़ पुरुषोंके स्वभावका वर्णन करके उनकी आत्मज्ञानविमुखताका श्रुतिमें कहा गया जो फल है, अब उस फलका प्रतिपादन कहते हैं—'मोघाशा' इत्यादिसे ।

जो मूढ मेरे तत्त्वको न जानकर आत्मस्वरूप मेरा तिरस्कार करते हैं, वे मोघाशा हैं अर्थात् मोघ यानी निष्फल है आशा (मनोरथ) जिनके वे मोघाशा हैं । 'चातुर्मास्य यज्ञ करनेवालोंका पुण्य अक्षय होता है' इस प्ररोचन वचनसे स्वर्गमें सैकड़ों या करोड़ों कल्पोंतक हम बसेंगे, इस इच्छासे चातुर्मास्य यज्ञ किये हुए कामियोंकी आशा 'हे अन्तक, ये पदार्थ कल

वितथाशत्वं युक्तमेव । किञ्च, मोघकर्माणः मोघानि निष्फलानि श्रौतानि स्मार्तानि च कर्माणि येषां ते मोघकर्माणः । बहुतरश्रमसंपादितानां श्रौतादिपुण्यकर्मणां क्षणिक-तुच्छजिह्वोपस्थसुखैकप्रयोजनत्वात् मोघकर्मत्वं युक्तम् । किञ्च, मोघज्ञानाः मोघमनर्थ-साधकमसद्गोचरं ज्ञानं सकलवेदशास्त्राध्ययनजन्यं येषां ते मोघज्ञानाः 'ब्रह्मचारिवासो-ष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि' इति स्मरणात् बहुकालिकसकलवेदशास्त्राध्ययनतदर्थविचारजनितं ज्ञानं सर्वं बन्धायैव जातं न तु मोक्षायाऽतो युक्तं मोघज्ञानत्वम् । यतो मोघज्ञानास्तत एव विचेतसो विपरीतबुद्धयः सर्वदा देहमात्रात्मदर्शिनो भूत्वा राक्षसीं 'अग्निहोत्रं च वेदाश्च राक्षसानां गृहे गृहे । दया सत्यं च शौचं च राक्षसानां न विद्यते ॥' इत्येवंलक्षणा राक्षसास्तेषां संबन्धिनीं दया सत्यं शौचं क्षमा ह्रीर्दानमित्यादिसद्धर्म-शून्यां क्रौर्यहिंसादम्भदर्पादिदुर्गुणैकप्रधानां राजसीं योनिं चाऽप्यासुरीं 'इदमद्य मया लब्धम्' इत्यादिनोक्तलक्षणवन्त आसुरास्तेषां स्वभावप्रचुरामासुरीं च मोहिनीमुपर्युपरि मूढत्वातिशयसंपादिनीमेव प्रकृतिं योनिं श्रिताः प्राप्ता भवन्ति। भूयो भूयः पुनः पुनरि-त्यर्थः । यद्वा, ये त्वात्ममोक्षणे प्रयत्नमकृत्वा राक्षसीं वाऽसुरीं वा मोहिनीमेव प्रकृतिं संपत्तिमाश्रिता भवन्ति ते जन्मनि जन्मनि मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतस एव भवन्ति । अर्थस्तूक्त एव ॥ १२ ॥

रहेंगे या नहीं, इसमें भी सन्देह है' इस न्यायसे थोड़े कालतक स्थायी हैं, अतः उनकी आशाका निष्फल होना युक्त ही है । और मोघकर्मा (मोघ—निष्फल—हैं श्रौत और स्मार्त कर्म जिनके, वे मोघकर्मा हैं) बहुत श्रमसे संपादित श्रौत आदि पुण्य कर्मोंका क्षणिक और तुच्छ जिह्वा तथा उपस्थ द्वारा प्राप्त होनेवाला सुख फल होनेसे उनका मोघकर्म होना युक्त है । किञ्च, मोघज्ञान, मोघ यानी अनर्थका साधक मिथ्याविषयक ज्ञान जिनको संपूर्ण वेद और शास्त्रोंके पढ़नेसे उत्पन्न हुआ है, वे मोघज्ञान हैं । 'अड़तालीस वर्षों तक ब्रह्मचर्यवास' इस स्मृतिसे बहुत कालतक वेद और शास्त्रोंका अध्ययन और उनके विचारसे उत्पन्न हुआ सम्पूर्ण ज्ञान बन्धका ही हेतु होता है, मोक्षका नहीं, इसलिए मोघज्ञान होना युक्त है । चूँकि मोघज्ञानवाले हैं, इसलिए विचेतस् यानी विपरीत बुद्धिवाले अर्थात् सर्वदा देहमात्रमें आत्मदर्शी होकर राक्षसी ('अग्निहोत्र और वेद राक्षसोंके घर घरमें होते हैं, दया, सत्य और शौच राक्षसोंमें नहीं रहते ।' इत्यादि लक्षणवाले राक्षस हैं, उनकी) यानी दया, सत्य, शौच, क्षमा, लज्जा, दान इत्यादि सत् धर्मोंसे शून्य तथा क्रूरता, हिंसा, दम्भ, दर्प आदि दुर्गुणोंसे पूर्ण राजसी योनि और आसुरी ('यह आज मैंने प्राप्त किया' इत्यादिसे कहे गये लक्षणवाले आसुर हैं, उनके स्वभावसे पूर्ण आसुरी है) मोहनी (क्रमशः उत्तरोत्तर अत्यन्त मूढ़ताका संपादन करनेवाली) प्रकृतिको—योनिको—ही प्राप्त होते हैं । फिर-फिर प्राप्त करते हैं, यह अर्थ है । अथवा जो आत्माको मुक्त करनेमें प्रयत्न न कर राक्षसी, आसुरी अथवा मोहनी ही संपत्तिका आश्रयण करते हैं, वे जन्म जन्ममें मोघाशा, मोघकर्मा, मोघज्ञान और विपरीतबुद्धिवाले ही होते हैं । अर्थ तो पहले कहा ही जा चुका है ॥ १२ ॥

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ १३ ॥

हे पार्थ, दैवी प्रकृतिका आश्रयण किये हुए प्रसन्नचित्तवाले कुछ यति तो भूतोंके उत्पादक मुझ अव्ययको जानकर, अनन्यचित्त होकर मेरी ही सेवा करते हैं अर्थात् ये सब और मैं ब्रह्म हूँ, इस प्रकारकी अप्रतिबद्ध वृत्तिसे सदा ब्रह्मको ही देखते हैं ॥ १३ ॥

एवमासुरसंपत्तिमतामविदुषां गतिं प्रतिपाद्याऽधुना दैवसंपत्तिमतां विदुषां स्थितिं प्रतिपादयितुं तत्रोत्तममध्यमाद्यधिकारिभेदेन ब्रह्मोपास्तेरपि भेदमाह त्रिभिः । तत्र दैवसंपत्तिमत्सूत्तमानाह—**महात्मान इति** ।

तुशब्दो ब्रह्मविदां मूढवैपरीत्यद्योतनार्थः । महात्मानः बहुजन्माराधितपरमेश्वरप्रसादातिशयात् सम्यङ्मृदितकषायत्वेन विषयग्रहवैमुख्यं प्राप्य सर्वदा प्रत्यक्प्रवणशीलत्वान्महानुत्कृष्ट आत्मा चित्तं येषां ते महात्मानः प्रसन्नचित्ताः केचिद्यतयो ब्रह्मविदः स्वयं दैवीं देवस्य परमात्मनः प्राप्तेरन्तरङ्गसाधनत्वाद्दैवी तां प्रकृतिं संपत्तिं तीव्रमोक्षेच्छावैराग्यशमदमतितिक्षोपरमादिसत्त्वगुणपौष्कल्यलक्षणामाश्रिताः सन्तो मां भूतादिमव्ययं च ज्ञात्वा भूतादिर्भूतानामादिराविर्भूतिकारणं भूतादिरित्युक्तिः 'तदनन्यत्वम्' इति न्यायात् कार्यस्य कारणमात्रत्वेन भूतानां पृथक्स्वरूपाभावाद् ब्रह्मणोऽद्वितीयत्वज्ञापनार्था । कदल्यादेः कार्यनाशेन कारणस्याऽपि नाशदर्शनात्तद्वद्भूत-

---

इस प्रकार आसुर संपत्तिवाले अविद्वानोंकी गतिका प्रतिपादन कर अब दैवसंपत्तिवाले विद्वानोंकी स्थितिका प्रतिपादन करनेके लिए उत्तम, मध्यम आदि अधिकारियोंके भेदसे ब्रह्मकी उपासनाका भी भेद है, ऐसा आगेके तीन श्लोकोंसे कहते हैं । उनमें सर्वप्रथम दैवसंपत्तिवाले पुरुषोंमें जो सबसे उत्तम हैं, उनको कहते हैं—'महात्मान०' इत्यादिसे ।

'तु' शब्द ब्रह्मविदोंका मूढ़ोंसे वैलक्षण्य बतलानेके लिए है । बहुत जन्मोंतक आराधित परमेश्वरके प्रसादके अतिशयसे भली भाँति रागादि कषायोंकी निवृत्ति हो जानेके कारण विषयोंके ग्रहणमें विमुखता प्राप्त कर सर्वदा प्रत्यक्-प्रवणशील होनेसे महान्—उत्कृष्ट—है आत्मा यानी चित्त जिनका, वे महात्मा हैं अर्थात् प्रसन्नचित्तवाले कोई ब्रह्मवित् यति स्वयं दैवी (परमात्मा देवकी प्राप्तिमें अन्तरङ्ग साधन होनेसे दैवी कहलाती है) प्रकृतिके—संपत्तिके—यानी तीव्रमोक्षेच्छा, वैराग्य, शम, दम, तितिक्षा, उपरम आदि सत्त्व गुणोंके पौष्कल्यसे युक्त संपत्तिके आश्रित होकर मुझ भूतादि और अव्ययको जानकर (भूतोंका आदि यानी आविर्भूतिका कारण भूतादि कहलाता है) । भूतादि, यह उक्ति 'तदनन्यत्वमारम्भण०' इस न्यायसे कार्यके कारणरूप होनेके कारण भूतोंके पृथक्-स्वरूपका अभाव होनेसे ब्रह्मका अद्वितीयत्व बतलानेके लिए है । जैसे कदली आदिके कार्यके नाशसे कारणका भी नाश देखनेमें आता है, वैसे ही भूतोंके नाशसे ब्रह्मके नाशका

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ १४ ॥

ब्रह्मचर्य, अहिंसा आदि उत्तम धर्मोंसे तथा इन्द्रियोंके निग्रहसे दृढ़ व्रतका धारण कर रहे, सर्वदा गुरुकी सन्निधिमें वेदान्त-श्रवण कर रहे, ज्ञानके लिए यत्न कर रहे एवं भक्तिसे मेरी प्रार्थना कर रहे सदा नियममें रत कुछ मुमुक्षु मेरी उपासना करते हैं ॥ १४ ॥

नाशाद् ब्रह्मणोऽपि नाशप्रसक्तौ तं वारयत्यव्ययमिति । ज्ञानेन वाऽज्ञानेन वा कारणनाशेन वा कार्यनाशेन वा स्वतो वाऽन्यतो वा येन केनाऽपि न व्येतीत्यव्ययं नित्यं सर्वात्मकमद्वितीयमखण्डानन्दैकरसं मां परं ब्रह्म ज्ञात्वा श्रवणादिभिः स्वात्मना सम्यग्विज्ञायाऽनन्यमनसः । मनो नाम बुद्धिवृत्तिः न विद्यतेऽन्यो मद्व्यतिरिक्तो वृत्तेर्विषयत्वेन येषां तेऽनन्यमनसः वस्त्वन्तरदर्शनरहिताः सन्तो मां भजन्ति सर्वमिदमहं च ब्रह्मैवेत्यप्रतिबद्धवृत्त्या सदा सर्वं ब्रह्मैव पश्यन्तीत्यर्थः । तत एव महात्मान इति विशेषणमर्थवत् ॥ १३ ॥

एवमुत्तमानामुपास्तिप्रकारमुक्त्वाऽथ मध्यमानामुपास्तिप्रकारमाह—सततमिति ।

केचन मुमुक्षवः स्वात्मतत्त्वजिज्ञासया तीव्रमोक्षेच्छावैराग्याभ्यां च ससाधनं कर्माऽखिलं संन्यस्य दृढव्रताः स्वजीवनादावप्यपेक्षाराहित्येन ब्रह्मचर्याहिंसाद्युत्तमधर्मेण बहिरन्तरिन्द्रियनिग्रहेण च दृढं विच्छित्तिरहितं ज्ञानसंपादनपरत्वलक्षणं व्रतं नियमो

प्रसङ्ग आनेपर 'अव्यय' शब्दसे उसका वारण करते हैं। ज्ञानसे, अज्ञानसे, कारणके नाशसे, कार्यके नाशसे, अपनेसे या अन्यसे किसी प्रकारसे भी जिसका व्यय नहीं होता, वह अव्यय कहलाता है यानी नित्य, सर्वात्मक, अद्वितीय, अखण्ड आनन्दैकरस मुझ परब्रह्मको जानकर (श्रवण आदि द्वारा अपने आत्माके रूपसे भलीभाँति जानकर) अनन्यमन (मन यानी बुद्धिकी वृत्ति, जिनकी बुद्धिकी वृत्तिका विषय मुझसे भिन्न दूसरा नहीं है, वे अनन्यमन हैं) यानी दूसरी वस्तुके दर्शनसे रहित होकर मुझको भजते हैं। सब यह और मैं ब्रह्म ही हूँ, इस प्रकार अप्रतिबद्ध वृत्तिसे सदा सबको ब्रह्म ही देखते हैं, यह अर्थ है। इसीलिए महात्मा, यह विशेषण सार्थक है ॥ १३ ॥

इस प्रकार उत्तमोंकी उपासनाका प्रकार कहकर अब मध्यमोंकी उपासनाका प्रकार कहते हैं— 'सततम्' इत्यादिसे ।

कोई मुमुक्षु अपने आत्माके तत्त्वको जाननेकी इच्छासे तीव्र मोक्षकी इच्छा और वैराग्यके द्वारा साधनसहित समस्त कर्मोंका त्याग करके दृढ़व्रत (अपने जीवन आदिमें भी अपेक्षा रहित होकर ब्रह्मचर्य, अहिंसा आदि उत्तम धर्मसे और बाहर भीतरकी इन्द्रियोंके निग्रहसे दृढ़—अविच्छिन्न—ज्ञानसंपादनतत्परतारूप व्रत यानी नियम जिनका है, वे दृढ़व्रत हैं) होकर सर्वदा

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥ १५ ॥

कोई अपरिपक्व बुद्धिवाले यति ज्ञानरूप यज्ञसे 'मैं ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार अपनेमें ब्रह्मकी भावना कर रहे प्रत्यगभिन्न ब्रह्मस्वरूप मेरी उपासना करते हैं, उनमें भी कुछ मुख्य अधिकारी मुझ सर्वात्माकी अभेदरूपसे और कुछ मध्यम अधिकारी भेदरूपसे यानी 'आदित्यो ब्रह्म', 'मनो ब्रह्म' (आदित्य ब्रह्म है, मन ब्रह्म है) इत्यादि श्रुतिमें उक्त रीतिसे अनेकरूपसे उपासना करते हैं ॥ १५ ॥

येषां ते दृढव्रता भूत्वा सततं सर्वदा 'आसुप्तेरामृतेः कालं नयेद्वेदान्तचिन्तया' इति स्मरणादजस्रं मामेव प्रत्यग्लक्षणमात्मानमुद्दिश्य मत्साक्षात्कारसिद्धये सद्गुरुसंनिधौ वेदान्तान् कीर्तयन्तः पठन्तस्तदर्थमुपपत्तिभिर्विचारयन्तो ज्ञानं यथा सिध्येत्तथा यतन्तो यत्नं कुर्वन्तः । 'तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये' इति श्रवणाच्छ्रद्धया भक्त्या च ज्ञानदातारमीश्वरं मां नमस्यन्तः प्रार्थयन्तश्चैवं नित्ययुक्ता निरन्तरनियमोपेताः शुश्रूषवो मामुपासते । यद्वा, नित्यो मोक्षस्तत्सिद्धये युक्ता नियता मामुपासते । 'सततं कीर्तयन्तो माम्' इत्यनेन नामकीर्तनं विवक्षितमिति मूढबुद्धिभिर्न मन्तव्यम्, उपक्रमविरोधात् प्रकरणविरोधाद्विशेषणविरोधाच्च तदत्र न सिध्यति ॥१४॥

एवमात्मतत्त्वजिज्ञासूनां यतीनां मुमुक्षूणां वेदान्तश्रवणलक्षणमुपासनमुक्त्वा श्रवणमननाभ्यां सम्यग्विज्ञाततत्त्वानां यतीनां निदिध्यासादिलक्षणमात्मोपासनं प्रतिपादयति—ज्ञानयज्ञेनेति ।

यानी 'सोने और मरने तक वेदान्तचिन्तनसे कालको बितावे' इस स्मृतिके अनुसार निरन्तर मुझ प्रत्यक्-लक्षण आत्माके ही उद्देश्यसे मेरे साक्षात्कारकी सिद्धिके लिए सद्गुरुके समीप वेदान्तोंका कीर्तन करते हुए—अध्ययन करते हुए—और उनके अर्थको दृष्टान्तोंसे विचारते हुए, ज्ञान जैसे प्राप्त हो, वैसे यत्न करते हुए। मैं मुमुक्षु 'आत्मबुद्धिके प्रकाशक उस देवकी ही शरणको प्राप्त होता हूँ' इस श्रुतिके अनुसार श्रद्धासे और भक्तिसे ज्ञान देनेवाले मुझ ईश्वरको ही नमस्कार करते हुए—प्रार्थना करते हुए—नित्ययुक्त यानी निरन्तर नियमसे युक्त तथा सेवन करनेकी इच्छावाले होकर मेरी उपासना करते हैं । अथवा नित्य यानी मोक्ष, उसकी सिद्धिके लिए नियमसे मेरी उपासना करते हैं । 'सततं कीर्तयन्तो माम्' इस वाक्यसे नामकीर्तन विवक्षित है, ऐसा मूढ़ बुद्धिवालोंको न मानना चाहिए, क्योंकि उपक्रम, प्रकरण और विशेषणोंका विरोध होनेसे नामकीर्तन यहाँ सिद्ध नहीं होता ॥ १४ ॥

इस प्रकार आत्मतत्त्वके जिज्ञासु मुमुक्षु यतियोंकी वेदान्तश्रवणरूप उपासनाका प्रतिपादन कर अब वेदान्तश्रवण और मननसे तत्त्वको भली भाँति जाननेवाले यतियोंकी निदिध्यासन आदिरूप उपासनाका प्रतिपादन करते हैं—'ज्ञानयज्ञेन' इत्यादिसे ।

ज्ञानयज्ञेन ज्ञानं ब्रह्मात्मैकत्वविषयं तदेव ब्रह्मोपास्तेः साधनत्वाद्यज्ञ इत्युच्यते। इज्यतेऽनेनेति यज्ञः ज्ञानमेव यज्ञो ज्ञानयज्ञस्तेन ज्ञानयज्ञेन चाऽप्यन्ये केचिदपक्वान्तरात्मानो यजन्तो ब्रह्मैवाऽहमहमेव ब्रह्मेति स्वं ब्रह्मैव भावयन्तः सन्तो मां प्रत्यगभिन्नं परं ब्रह्मोपासते विपरीतभावनाविच्छित्त्यै नित्यमनुसन्दधते। अपिशब्दः केचन कर्मिणः कर्मयज्ञेनोपासत इति सूचनार्थः। ननु ज्ञानयज्ञेन कथं तवोपास्तिर्भेदेनाऽभेदेन वा कर्तव्येत्याकाङ्क्षायाम् 'स यश्चायम्' इति, 'अयमात्मा ब्रह्म' इति, 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादिश्रुत्यर्थं ब्रह्मविदाचार्यमुखतः सरहस्यं सम्यगवगाह्य तमेवाऽर्थं श्रुत्युक्तविशेषैः स्वात्मना सम्यगनुभूय भूयो भेदमनालम्ब्य तदेकत्वमेव सदा भावयितुं ये तु शक्तास्तैरेकत्वेनोपासितव्यमशक्तैर्भेदेनेति बोधयितुमाह—**एकत्वेन पृथक्त्वेनेति**। ज्ञानयज्ञेन ये तूपासनं कुर्वन्ति मुख्याधिकारिणः परमहंसा यतयस्त एकत्वेनाऽभेदेन ब्रह्मैवाऽहमिति स्वाभिन्नं मामुपासते। ये तु मध्यमाधिकारिणो हंसकुटीचकादयस्ते तु पृथक्त्वेन भेदेन विश्वतोमुखं सर्वात्मकं मां बहुधाऽनेकप्रकारम् 'आदित्यो ब्रह्म' इति, 'मनो ब्रह्म' इति, 'ओमित्येतेनैवाक्षरेण' इत्यादिश्रुत्युक्तरीत्या बहुधा भेदेनोपासते। तत्राऽप्यनधिकारिणः केचन मुमुक्षवो वैदिकाः 'सोमेन यक्ष्ये' इत्यादिना कर्मयज्ञेन

ज्ञानयज्ञसे (ज्ञान यानी जीव और ब्रह्मके एकत्वको विषय करनेवाला ज्ञान, वही ब्रह्मकी उपासनाका साधन होनेसे यज्ञ कहलाता है। जिससे यजन किया जाता है, वह यज्ञ है, ज्ञानरूप यज्ञ ज्ञानयज्ञ कहलाता है, उस ज्ञानयज्ञसे) भी कोई दूसरे अपक्व अन्तरात्मावाले यजन करते हुए—'ब्रह्म ही मैं हूँ, मैं ही ब्रह्म हूँ', इस प्रकार अपनेमें ब्रह्मकी ही भावना करते हुए—मेरी (प्रत्यगभिन्न परब्रह्मकी) उपासना करते हैं यानी विपरीत भावनाको क्षीण करनेके लिए नित्य मेरा अनुसन्धान करते हैं। अपिशब्द कोई कर्मी कर्मयज्ञसे मेरी उपासना करते हैं, ऐसा सूचन करनेके लिए है। ज्ञानयज्ञसे किस प्रकार आपकी उपासना करनी चाहिए, भेदसे या अभेदसे ? ऐसी आकांक्षा होनेपर 'स यश्चायम्' (जो यह पुरुषमें है और जो यह आदित्यमें है, वह एक है) 'यह आत्मा ब्रह्म है', 'मैं ब्रह्म हूँ' इत्यादि श्रुतियोंके अर्थको ब्रह्मविद् आचार्यके मुखसे रहस्यसहित भली भाँति समझ कर उसी अर्थका श्रुत्युक्त विशेषोंसे अपने आत्मरूपसे ठीक-ठीक अनुभव करके पुनः भेदका अवलम्बन न करके जो उनके एकत्वकी सदा भावना करनेके लिए समर्थ हैं, उनको एकत्वसे उपासना करनी चाहिए और जो समर्थ नहीं हैं, उनको भेदसे, ऐसा बोधन करनेके लिए कहते हैं—**एकत्वेन पृथक्त्वेनेति**। जो मुख्य अधिकारी परमहंस यति ज्ञानयज्ञसे उपासना करते हैं, वे एकत्वसे—अभेदसे—ब्रह्म ही मैं हूँ, इस प्रकार अपनेसे अभिन्न मेरी उपासना करते हैं और जो मध्यम अधिकारी हंस, कुटीचक आदि हैं, वे तो पृथक्त्वसे—भेदसे—विश्वतोमुख—सर्वात्मक—मेरी बहुधा—अनेक प्रकारसे—'आदित्य ब्रह्म है', 'मन ब्रह्म है', 'ओम् इस एक अक्षरसे' इत्यादि श्रुतिमें उक्त रीतिसे अनेक प्रकारसे—उपासना करते हैं। उनमें भी अनधिकारी कोई वैदिक मुमुक्षु 'सोमसे यजन करूँगा' इत्यादि कर्मयज्ञसे इन्द्र आदिरूप मेरी उपासना

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाऽहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥ १६ ॥

आधान आदि क्रतु मैं ही हूँ, औपासन आदि स्मार्त यज्ञ मैं ही हूँ, पार्वण आदि श्राद्ध मैं ही हूँ, अन्नात्मक औषध मैं ही हूँ, हविस्‌के प्रदानमें विनियुक्त मन्त्र मैं ही हूँ, चरु, पुरोडाश आदि होम-साधन मैं ही हूँ, अग्नि और हवनक्रिया भी मैं ही हूँ ॥ १६ ॥

मामिन्द्रादिरूपमुपासते तत्राऽपि केचन शिवविष्णुब्रह्मादित्यादिरूपं मां तन्त्रेण वैदिकेनोपासते ॥ १५ ॥

ननु 'यत्तदद्रेश्यम्' इति, 'तदरूपमनामयम्', 'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः' इति, परस्य ब्रह्मणो नामरूपाद्यभाव एव श्रूयते, कथं नामरूपादिशून्यस्य तव दृश्येष्विन्द्रादिषु शिवादिषु च ब्रह्मबुद्ध्योपास्तिरुपपद्यत इत्याकाङ्क्षायाम् 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते', 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् । तस्याऽवयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्', 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति', 'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः' इत्यादिश्रुतिभिः परस्य ब्रह्मणो ममैव मायया सविशेषत्वं सार्वात्म्यं च प्रतिपाद्यते । तत् इन्द्रादयः शिवादयः क्रतुयज्ञमन्त्रादयश्च जगच्च सर्वमप्यहमेवेति स्वस्य विश्वतोमुखत्वं प्रतिपादयति—अहमिति चतुर्भिः ।

यः क्रतुराधानाद्यश्वमेधान्तो यागः श्रुत्युक्तः सोऽहमेव । अद्वितीयार्थे एवकारः सर्वत्राऽन्वेति । यज्ञ औपासनादीशानबल्यन्तः स्मार्तोऽहमेव । क्रतुयज्ञयोरङ्गिनो-

---

करते हैं, उनमें भी कोई शिव, विष्णु, ब्रह्मा, आदित्य आदिरूप मेरी तन्त्र और वैदिक मार्गसे उपासना करते हैं ॥ १५ ॥

'जो वह देखने योग्य नहीं', 'वह रूपरहित और रोगरहित है' और 'दिव्य अमूर्त पुरुष' इत्यादि श्रुतियोंसे परब्रह्मके नाम, रूप आदिका अभाव ही कहा जाता है, इस परिस्थितिमें नाम, रूप आदिसे शून्य आपकी दृश्य इन्द्र आदिमें और शिव आदिमें ब्रह्मबुद्धिसे कैसे उपासना कर सकते हैं ? ऐसी आकांक्षा होनेपर 'इन्द्र मायासे बहुत रूपवाला प्रतीत होता है', 'मायाको तो प्रकृति जानो और मायावालेको महेश्वर, उसके अवयवभूतोंसे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है', 'एक सत्‌को ब्राह्मण बहुत प्रकारका कहते हैं', 'उसको इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि कहते हैं' इत्यादि श्रुतियोंसे मुझ परब्रह्ममें ही मायासे सविशेषत्व और सर्वात्मत्वका प्रतिपादन किया जाता है, इसलिए इन्द्रादि, शिवादि और क्रतु, यज्ञ, मन्त्र आदि तथा सम्पूर्ण जगत् मैं ही हूँ, ऐसा अपना विश्वतोमुख होना प्रतिपादन करते हैं—'अहम्' इत्यादि चार श्लोकोंसे ।

क्रतु यानी आधानसे लेकर अश्वमेध पर्यन्त श्रुत्युक्त जो याग है, वह मैं ही हूँ । अद्वितीय अर्थमें विद्यमान एवकारका सबके साथ अन्वय होता है । यज्ञ यानी औपासनसे लेकर ईशानबलि तक

पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ॥ १७ ॥

इस आकाश आदि प्रपञ्चका मैं ही पिता हूँ, जगत्‌की माता (अपरा प्रकृति) मैं ही हूँ, जगत्‌का पितामह (मायोपाधिक ईश्वर) मैं ही हूँ, धाता मैं ही हूँ, तथा वेद्य, पवित्र, ओंकार एवं ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद भी मैं ही हूँ ॥ १७ ॥

ब्रह्मत्वे तदङ्गानां देवतायजमानादीनां ब्रह्मत्वमेव बोद्धव्यम् । स्वधाशब्देन पितृभ्यो यत्क्रियते पार्वणश्राद्धादि तत्स्वधाशब्दितमहमेव । यत्प्राणिभिर्भुज्यते व्रीह्याद्योषधिभ्यः समुत्पन्नमन्नं तदौषधमहमेव । भोज्यस्य ब्रह्मत्वे भोक्त्रादीनां ब्रह्मत्वमेव सिद्धम् । येन देवताभ्यः पितृभ्यश्च स्वाहास्वधान्तेन हविर्दीयते स मन्त्रोऽहमेव । आज्यं चरु-पुरोडाशाद्यहमेव । अग्निरप्यहमेव । हुतं हवनक्रिया चाऽप्यहमेव ॥ १६ ॥

किञ्च, पितेति । 'मायाशबलं ब्रह्म ब्रह्मणोऽव्यक्तमव्यक्तान्महान् महतोऽहङ्कारः अहङ्कारात्पञ्चतन्मात्राणि' इति श्रवणादस्याऽऽकाशादिप्रपञ्चस्य पिता जनको भूतादिरहमेव । माताऽव्यक्तमपरा प्रकृतिरहमेव । पितामहोऽक्षरसंज्ञको मायोपाधिरीश्वरोऽहमेव । धाता पोष्टाऽहम् । यद्यद्वेद्यं शब्दस्पर्शरूपादिलक्षणं वस्तु तत्सर्वमहमेव । अत्र यद्यत्पवित्रं शोधकं सूर्याग्निवाय्वबादि तत्सर्वमहमेव । ओंकारः परावरयोर्ब्रह्मणोर्वाचकः सोऽहमेव । ऋक्सामयजूंषि चकारादथर्वेतिहासपुराणादिकमहमेव ॥ १७ ॥

स्मार्त याग भी मैं ही हूँ। क्रतु और यज्ञ इन दोनों अग्नियोंमें ब्रह्मत्वके होनेपर उनके अङ्ग देवता, यजमान आदिमें भी ब्रह्मत्व ही जानना चाहिए । स्वधाशब्दसे पितरोंके लिए जो पार्वण श्राद्ध आदि किया जाता है, वह स्वधानामक मैं ही हूँ । प्राणियों द्वारा व्रीहि आदि औषधियोंसे उत्पन्न हुआ जो अन्न खाया जाता है, वह औषध मैं ही हूँ । भोज्यके ब्रह्मरूप होनेपर भोक्ता आदि भी ब्रह्मस्वरूप सिद्ध हुए। जिस स्वाहा-स्वधान्त मन्त्रसे देवताओं और पितरोंके लिए हविस् दिया जाता है, वह मन्त्र मैं ही हूँ । आज्य—चरु, पुरोडाश आदि—मैं ही हूँ । अग्नि भी मैं ही हूँ और हुत—हवन क्रिया—भी मैं ही हूँ ॥ १६ ॥

किञ्च, 'पिता' इत्यादि । 'मायाशबल ब्रह्म, ब्रह्मसे अव्यक्त, अव्यक्तसे महान्, महान्‌से अहङ्कार, अहङ्कारसे पञ्चतन्मात्राएँ' इस श्रुतिसे आकाश आदि इस प्रपञ्चका पिता (जनक) यानी भूतादि मैं ही हूँ । माता (अव्यक्त) यानी अपरा प्रकृति मैं ही हूँ । पितामह यानी अक्षरसंज्ञक मायोपहित ईश्वर मैं ही हूँ । धाता यानी पोषण करनेवाला मैं हूँ । जो जो वेद्य शब्द, स्पर्श, रूप आदि वस्तु है, वह सब मैं ही हूँ । यहाँ जो जो पवित्र यानी शोधक सूर्य, अग्नि, वायु, जल आदि हैं, वे सब मैं ही हूँ । ओंकार यानी पर और अवर ब्रह्मका वाचक शब्द मैं ही हूँ । ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और चकारसे अथर्ववेद, इतिहास, पुराण आदि मैं ही हूँ ॥ १७ ॥

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ १८ ॥

कर्मफलरूप गति, जगत्का धारण करनेवाला, नियन्ता, साक्षी, निवास (भूतोंका आधार), दुःखी लोगोंकी शरण, उपकार-कर्ता, सृष्टि, प्रलय और स्थितिका कारण, निधान तथा जगत्का अविनाशी बीज मैं ही हूँ ॥ १८ ॥

किञ्च, गतिरिति । गतिर्गम्यते कर्मणा प्राप्यत इति गतिः कर्मफलं स्वर्गादिरहमेव । भर्ता धर्ता जगतः कूर्मादिरहमेव । प्रभुर्नियन्ताऽहमेव प्राणिकृतकर्मणां साक्षी 'आदित्यचन्द्रावनिलोऽनलश्च' इत्युक्तः सूर्यादिरहमेव । सर्वाणि भूतानि यस्मिन्निवसन्ति स निवासो भूतधात्र्यहमेव । आर्तानां शरणमार्तिहन्ताऽहमेव । सुहृत् दययैव प्राणिनामुपकर्ता चन्द्रः पर्जन्यो वायुर्वा सोऽहमेव । प्रभवः प्रभवत्यस्मात् सर्वमिति प्रभवः सर्वजगत्सृष्टिकारणं यः सोऽहमेव । प्रलयः सर्वस्य प्रकृष्टो लयो यस्मात् स प्रलयः सर्वजगत्संहर्ताऽपि यः सोऽहमेव । स्थानमिति गर्भितणिजन्तं नाशदशापन्नं सर्वं यः स्थापयति स स्थानं स्थितिकारणमहमेव । निधानं निधीयते सर्वमस्मिन्निति निधानं कार्यकारणप्रपञ्चाधिष्ठानमहमेव । ज्ञानेन विनाऽन्येन न व्येति न नश्यतीत्यव्ययं नाशरहितं जगद्बीजमव्याकृताख्यमप्यहमेव ॥ १८ ॥

किञ्च, तपाम्यहमिति । आदित्यरूपोऽहं वसन्तग्रीष्मयोस्तपामि जगतस्तापक्रियां

किञ्च, 'गति' इत्यादि । कर्मसे जो प्राप्त की जाती है, वह गति है यानी कर्मफल स्वर्ग आदि, वह मैं ही हूँ । जगत्का भर्ता यानी धारण करनेवाला कूर्म (कच्छप) आदि मैं ही हूँ । प्रभु यानी नियता मैं ही हूँ । प्राणियों द्वारा किये गये कर्मोंका साक्षी ('आदित्य, चन्द्र, वायु और अग्नि' इस श्रुतिसे कहे गये सूर्यादि) मैं ही हूँ । सब भूत जिसमें रहते हैं, वह निवास है यानी भूतोंकी धात्री मैं ही हूँ । आर्तोंकी शरण (आर्तिहन्ता) मैं ही हूँ । सुहृत् (दयासे प्राणियोंके ऊपर उपकार करनेवाला चन्द्र, पर्जन्य अथवा वायु) मैं ही हूँ । प्रभव (जिससे सब उत्पन्न होता है, वह प्रभव है) यानी सम्पूर्ण जगत्की सृष्टिका जो कारण है, वह मैं ही हूँ । प्रलय (सबका प्रकृष्ट लय जिससे होता है, वह प्रलय है) यानी जो सम्पूर्ण जगत्का संहार करनेवाला है, वह भी मैं ही हूँ । स्थान, यह शब्द णिजन्तगर्भित है । [इससे यह अर्थ हुआ कि] नाशकी दशाको प्राप्त हुए सबको जो स्थापन करता है, वह स्थान है यानी स्थितिका कारण, वह मैं ही हूँ । निधान (सब जिसमें रक्खा जाता है, वह निधान है) यानी कार्यकारणरूप प्रपञ्चका अधिष्ठान मैं ही हूँ । ज्ञानके सिवा दूसरेसे जो नष्ट नहीं होता, वह अव्यय है यानी जगत्का नाशरहित अव्याकृत-नामक बीज भी मैं ही हूँ ॥ १८ ॥

किञ्च, 'तपाम्यहम्' इत्यादि । आदित्यरूप होकर मैं बसन्त और ग्रीष्म दोनोंमें तपता हूँ

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाऽहमर्जुन ॥ १९ ॥

हे अर्जुन, आदित्यरूप होकर [वसन्त और ग्रीष्ममें] मैं तपता हूँ, कार्तिक आदि आठ महीनोंमें वर्षाको मैं ही रोकता हूँ, आषाढ़ आदि चार महीनोंमें मैं ही वर्षा करता हूँ, मैं ही अमृत और मृत्यु हूँ तथा कार्य और कारण भी मैं ही हूँ ॥१९॥

करोमि । जगत्सर्वं तापयामीत्यर्थः । कार्तिकाद्यष्टौ मासान् वर्षं निगृह्णामि । वर्षासु चतुरो मासान्वर्षमृत्सृजामि । चकारादतिवृष्ट्यनावृष्टिभ्यां सुभिक्षं दुर्भिक्षं च करोमि । न म्रियन्ते येन देवतास्तदमृतमहमेव । म्रियन्ते प्राणिनो येन स मृत्युरहमेव । यदिदमस्तीति नाम्ना रूपेण च निर्दिश्यते तद्व्यक्तं नामरूपात्मकं कार्यं सदित्युच्यते । तद्विलक्षणमव्यक्तं नामरूपकारणमसदित्युच्यते तदुभयं सच्चाऽसच्चाऽहमेव । चकारस्तयोरुभयोः सदसतोर्व्यक्ताव्यक्तयोर्निषेधे कृते तन्निषेधावधित्वेन स्थितं कार्यकारणभावविकलं निर्विषयं निर्विशेषं यत्परं वस्तु तदहमिति सूचनार्थः । एतेन क्रतुयज्ञादेः सदसदन्तस्य वस्तुनः सर्वस्य ब्रह्मस्वरूपत्वात् मुमुक्षुभिर्ब्रह्मबुद्ध्या यद्यद्वस्तूपास्यते तत्तदात्मना तूपास्यब्रह्मत्वान्मुमुक्षोश्चित्तशुद्धिः क्रमान्मोक्षसिद्धिश्च भवतीति सूचितम् । नन्वब्रह्मणि ब्रह्मबुद्ध्या क्रियमाणोपास्तिः कथं फलाय भवति कथं वा दृश्यं ब्रह्म भविष्यतीति चेत्, भवानत्र प्रष्टव्यः; दृश्यं नाम यत्किञ्चिद्वस्त्वस्ति वा न वेति । न द्वितीयः, सर्वव्यवहारलोपप्रसङ्गात् । आद्ये, दृश्यं वस्तु सद्रूपेणाऽस्ति वा किमसद्रू-

यानी जगत्को तपानेकी क्रिया करता हूँ । सम्पूर्ण जगत्को तपाता हूँ, यह अर्थ है । कार्तिक आदि आठ महीनोंमें मैं वर्षाको रोकता हूँ, वर्षामें चार महीने मैं वर्षा करता हूँ । चकारसे अतिवृष्टि और अनावृष्टिसे सुभिक्ष और दुर्भिक्ष करता हूँ । जिससे देवता नहीं मरते हैं, वह अमृत मैं ही हूँ । जिससे प्राणी मरते हैं, वह मृत्यु भी मैं ही हूँ । यह है, इस प्रकार जो नाम और रूपसे कहा जाता है, वह नामरूपात्मक व्यक्त कार्य सत् कहलाता है । उससे विलक्षण नाम और रूपका कारण—अव्यक्त—असत् कहा जाता है, वे दोनों सत् और असत् मैं ही हूँ. उन दोनों सत् और असत्का—व्यक्त और अव्यक्तका—निषेध करनेपर उनके निषेधके अवधिरूपसे स्थित कार्यकारणभावरहित निर्विषय, निर्विशेष जो पर वस्तु है, वह मैं हूँ, ऐसा सूचन करनेके लिए चकार है । इससे यह सूचित होता है कि क्रतु, यज्ञ आदिसे लेकर सत्-असत् तक सम्पूर्ण वस्तु ब्रह्मस्वरूप है, इसलिए मुमुक्षु ब्रह्मबुद्धिसे जिस-जिसकी उपासना करते हैं, उस-उस स्वरूपसे उपास्य ब्रह्म ही है, अतः मुमुक्षुके चित्तकी शुद्धि और क्रमसे मोक्षकी सिद्धि भी हो जाती है । यदि शङ्का हो कि अब्रह्ममें ब्रह्मबुद्धिसे की गई उपासना फलकी हेतु कैसे होगी और ब्रह्म दृश्य कैसे होगा, तो इस विषयमें आपसे प्रश्न यह होगा कि दृश्य नामकी कोई वस्तु है या नहीं है? दूसरा पक्ष तो युक्त है नहीं, क्योंकि उसको माननेसे सम्पूर्ण व्यवहारके

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥ २० ॥

ऋग् आदि वेदोंका अध्ययन करनेवाले, सोमपान करनेवाले पापरहित जो कामी पुरुष यज्ञोंसे मेरा यजन कर स्वर्गगतिकी प्रार्थना करते हैं, वे पुण्य स्वर्गलोकको प्राप्त कर स्वर्गमें देवताओंके सर्वोत्तम सुखका अनुभव करते हैं ॥ २० ॥

पेणेति । न द्वितीयः, शशविषाणकल्पस्याऽसतो वस्तुनोऽस्तीति निर्देशायोगात् । तर्हि सद्रूपेणेवेति चेत्, तथात्वे सर्वं ब्रह्मैव, ब्रह्मातिरिक्तस्य सत्त्वाभावात् । ननु सर्वस्य ब्रह्मत्वे घटपटादेर्नाशे सति ब्रह्मणोऽपि नाशप्रसङ्ग इति चेत्, न; नाशस्य भ्रमकल्पित-व्याप्यांशविषयत्वात्, यथा दण्डादिना कल्पितकम्बुग्रीवाद्याकारवतो घटस्यैव व्याप्यांशस्य नाशो दृश्यते न तु मृदो व्यापकांशस्य । तथा भ्रमकल्पितनामरूपादेरेव व्याप्यांशस्य नाशो न तु व्यापकांशस्य सतः, तन्नाशे दृश्याभावभानाभावप्रसङ्गात् । ततो दृश्यं च दृश्याभावश्च सदात्मनैव तिष्ठतः सर्वं ब्रह्मैवेति सिद्धम् । तेनेष्टे वस्तुनि ब्रह्मबुद्ध्या कृतोपास्तिः फलायैव भवति, भावनानुरूपत्वात् फलसिद्धेः ॥ १९ ॥

एवं मुमुक्षूणां मन्दबुद्धीनामुपास्तिसिद्ध्यै क्रत्वाद्यसदन्तं सर्वमहमेवेति सर्वस्य स्व-मात्रत्वं प्रतिपाद्य 'राजविद्या' इत्यत्र ब्रह्मविद्याव्यतिरिक्तानां विद्यानां सकलवेदशास्त्राध्ययन-

---

लोपका प्रसङ्ग हो जायगा । पहले पक्षमें दृश्य वस्तु क्या सद्रूपसे है या असद्रूपसे है ? दूसरा पक्ष युक्त है नहीं, क्योंकि खरगोशके सींगोंके समान असत् वस्तुको 'है' ऐसा कहना नहीं घटता । सत्-रूपसे ही है, ऐसा यदि कहो, तो वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेसे तो सब ब्रह्म ही होगा, क्योंकि ब्रह्मसे भिन्न वस्तुका अस्तित्व है नहीं । यदि शङ्का हो कि जब सब ब्रह्म ही है, तब घट, पट आदिका नाश होनेपर ब्रह्मके भी नाशका प्रसङ्ग होगा, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि नाशका विषय भ्रमसे कल्पित व्याप्य अंश है । जैसे दण्ड आदिसे कल्पित कम्बुग्रीवा आदि आकारवाले घटरूप व्याप्य अंशका ही नाश देखनेमें आता है, व्यापक अंश मिट्टीका नाश देखनेमें नहीं आता, वैसे ही भ्रमकल्पित नाम, रूप आदि व्याप्य अंशका ही नाश होता है, व्यापक अंश सत्का नहीं । उसका नाश होनेपर तो दृश्यके अभावके भानका अभाव प्राप्त हो जायगा, इसलिए दृश्य और दृश्यका अभाव दोनों सत् स्वरूपसे स्थित हैं, अतः सब ब्रह्म ही है, यह सिद्ध हुआ । इसलिए इष्ट वस्तुमें ब्रह्मबुद्धिसे की गई उपासना फल देने योग्य ही होती है, क्योंकि भावनाके अनुसार फलकी सिद्धि होती है ॥ १९ ॥

इस प्रकार मन्दबुद्धिवाले मुमुक्षुओंकी उपासनाकी सिद्धिके लिए क्रतुसे लेकर असत् तक 'सब मैं ही हूँ' इस प्रकार सबका स्वमात्रत्व-प्रतिपादन करके 'राजविद्या' इत्यादि श्लोकमें ब्रह्मविद्याके

जनितानां यदुक्तं संसारवर्धकत्वमेव तदेव 'अश्रद्दधानाः पुरुषाः' इत्यत्र निरूप्याऽधुनाऽपि मुमुक्षूणां विवेकसिद्ध्यै पुनः प्रतिपादयति—त्रैविद्या इति द्वाभ्याम् ।

ऋग्युजःसामरूपास्तिस्रश्च ता विद्याश्च त्रिविद्यास्ता ये अधीयन्ते ते त्रैविद्या ऋग्यजुःसामाध्ययनवन्तस्तदर्थज्ञानवन्तोऽपि ये कामिनः स्वयं सोमपाः सोमं पिबन्तीति सोमपाः तत एव पूतपापाः पूतानि निर्गतानि बहुविधानि पापानि येषां ते पूतपापाः सन्तो यज्ञैरग्निष्टोमातिरात्रादिभिः क्रतुभिः अष्टौ वसव एकादश रुद्राः द्वादशाऽऽदित्याः प्रजापतिश्च वषट्कारश्चेत्युक्तदेवतास्वरूपं मां परमेश्वरमिष्ट्वा सम्यगाराध्य स्वर्गतिं स्वर्गप्राप्तिं प्रार्थयन्ते । 'स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति', 'स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्ते' इति स्वर्गफलं श्रुत्वा स्वर्गो मे भूयादिति स्वर्गसुखमेव कामयन्ते ते स्वर्गकामाः पुण्यमग्निष्टोमादिपुण्यकर्मफलं सुरेन्द्रलोकं स्वर्गस्थानमासाद्य तत्र दिवि स्वर्गे दिव्यान्स्वर्गीयान्देवभोगान्देवानां ये भोगा यच्छरीरं यद्योग्यं यत्सुखं तादृशानेव भोगान्सुखविशेषान् देवैः प्रापितान्वा देवभोगानश्नन्ति अनुभुञ्जते । 'यावत्संपातमुषित्वा' इति न्यायेन यावत्पुण्यफलानुभूतिनिर्णयस्तावत्पर्यन्तं स्वर्गभोगाननुभवन्तीत्यर्थः ॥ २० ॥

सिवा सब वेदशास्त्रोंके पढ़नेसे उत्पन्न हुई विद्याएँ संसारको बढ़ानेवाली हैं, यह जो कहा था, उसका 'अश्रद्दधानाः पुरुषाः' इसमें निरूपण करके इस समय भी मुमुक्षुओंके विवेककी सिद्धिके लिए फिर उसीका प्रतिपादन करते हैं—'त्रैविद्या' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

ऋग्, यजु, सामरूप तीन विद्या त्रिविद्या हैं, उनको जो पढ़ते हैं, वे त्रैविद्य हैं यानी ऋक्, यजु और सामको पढ़नेवाले और उनके अर्थको जाननेवाले भी जो कामी स्वयं सोमपा (सोमरसको जो पीते हैं, वे सोमपा हैं) इसीलिए पूतपाप (पूत हैं यानी निकल गये हैं अनेक प्रकारके पाप जिनके वे पूतपाप हैं) होकर यज्ञोंसे (अग्निष्टोम, अतिरात्र आदि क्रतुओंसे) आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य और प्रजापति और वषट्कार यों उक्त देवतास्वरूप मुझ परमेश्वरकी पूजा कर—भली भाँति आराधना कर—स्वर्गगतिकी—स्वर्गप्राप्तिकी—प्रार्थना करते हैं। 'स्वर्गलोकमें किसी प्रकारका भी भय नहीं है', 'स्वर्गमें स्थित लोक अमृतत्व पाते हैं' इस श्रुतिसे स्वर्गरूप फलको जानकर 'मुझे स्वर्ग हो' इस प्रकार स्वर्गके सुखकी ही जो कामना करते हैं, वे स्वर्गकामी पुरुष पुण्यको (अग्निष्टोम आदि कर्मके फलभूत सुरेन्द्रलोकको) यानी स्वर्गस्थानको प्राप्त करके वहाँ स्वर्गमें स्वर्गीय देवभोगोंका—देवताओंके जो भोग हैं, जो शरीर है, जिसके योग्य जो सुख है, उन भोगोंका (सुखविशेषोंका) अथवा देवताओंसे प्राप्त हुए देवभोगोंका उपभोग करते हैं। 'जबतक पुण्यका क्षय न हो, तबतक रहकर' इस न्यायसे जबतक पुण्यकर्मके फलके अनुभवका निर्णय है, तबतक स्वर्गके भोगोंका अनुभव करते हैं, यह अर्थ है ॥ २० ॥

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ २१ ॥

वे सोमरस पीनेवाले स्वर्गमें गये हुए स्वर्गकामी वहाँ प्रचुर स्वर्गीय सुखका उपभोग कर पुण्यका क्षय होनेपर मृत्युलोकमें आते हैं, इस प्रकार कर्मकाण्डात्मक तीन वेदोंसे प्रतिपादित केवल कर्मका ही अवलम्बन करनेवाले विषयभोगलम्पट कामी पुरुष अविरत गमनागमनरूप (जन्ममरणरूप) कर्मफलको प्राप्त करते रहते हैं ॥ २१ ॥

किञ्च, ते तमिति । ते सोमपाः स्वर्गकामिनः स्वर्गं गताः सन्तः विशालं स्वपुण्याधिक्येन बहुलं स्वर्गीयं सुखविशेषं भुक्त्वाऽनुभूय पश्चात्तत्सुखभोगकारणे स्वपुण्ये क्षीणे सति मर्त्यलोकं विशन्ति । तं देहं त्यक्त्वा पुनरत्र जायन्त इत्यर्थः । एवं त्रयीधर्मं त्रयो वेदास्त्रयी कर्मकाण्डं तेनोक्तो धर्मस्त्रयीधर्मः 'त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू', 'दक्षिणावन्तो अमृतत्वं भजन्ते' इत्याद्यर्थवादपूर्वकं वेदैरुक्तं धर्मं कर्मैवाऽनुप्रपन्नाः श्रुत्युक्तं कर्मैव निःश्रेयसाभ्युदयसिद्धौ परमकारणं न शमो न च दमो नाऽपि च संन्यासो नैव ज्ञानं नैवेश्वरश्चेति निश्चयमनुसृत्य केवलकर्मैकनिष्ठाः कामकामाः काम्यन्त इति कामाः भौमा दिव्याश्च विषयास्तानेव कामयन्त इति कामकामा विषयभोगलम्पटा मीमांसकाः पण्डिता अप्येवमुक्तप्रकारेण गतागतं गतं चाऽऽगतं च गतागतं गमनागमनमेवाऽनुपरतं कर्मफलं लभन्ते । तत आगत्य जायन्ते जाताः पुनर्मृत्वा स्वर्गं गच्छन्त्येवं जननमरणप्रवाहे कामिनो मज्जन्तीत्यर्थः ॥ २१ ॥

किञ्च, 'ते तम्' इत्यादि । वे सोम पीनेवाले स्वर्गकामी पुरुष स्वर्गमें जाकर वहाँ विशाल यानी अपने पुण्यकी अधिकतासे अत्यधिक स्वर्गीय सुखविशेषका उपभोग कर (अनुभव कर) पश्चात् (उस सुखभोगके हेतुभूत अपने पुण्यके क्षीण होनेपर) मनुष्यलोकमें प्रवेश करते हैं। उस देहका त्याग कर फिर यहाँ जन्म लेते हैं, यह अर्थ है । इस प्रकार त्रयीधर्म (तीन वेदोंका नाम त्रयी है यानी कर्मकाण्ड, उससे कहा गया धर्म त्रयीधर्म है) 'तीन कर्मोंको करनेवाला जन्ममरणसे तर जाता है', 'दक्षिणाग्निके उपासक अमृतत्वको पाते हैं' इत्यादि अर्थवादपूर्वक वेदोंसे कहे गये धर्मका (कर्मका) अनुसरण करनेवाले यानी श्रुतिमें उक्त कर्म ही निःश्रेयस और अभ्युदयकी सिद्धिमें परम कारण है, न शम कारण है, न दम ही कारण है, न संन्यास ही कारण है, न ज्ञान ही कारण है और न ईश्वर ही कारण है, इस प्रकारका निश्चय करके केवल एक कर्ममें ही निष्ठा रखनेवाले कामकाम (जो चाहे जाते हैं, वे काम हैं यानी पृथिवीके और स्वर्गके विषय, उन्हींको जो चाहते हैं, वे कामकाम हैं) यानी विषयभोगलम्पट मीमांसक पण्डित भी उस उक्त प्रकारसे गमनागमनरूप कर्मफलको ही प्राप्त करते हैं । वहाँसे आकर जन्म लेते हैं और जन्म लेकर फिर मरकर स्वर्गमें जाते हैं, इस प्रकार जन्म-मरणरूप प्रवाहमें कामी डूबते ही रहते हैं, यह अर्थ है ॥ २१ ॥

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ २२ ॥

अद्वैत ब्रह्ममें निष्ठा रखकर जो यति आनन्दैकरसस्वरूप मेरी भावना करते हुए अपनेको और सबको ब्रह्म ही देखते हैं, निरन्तर समाहित चित्तवाले उन ब्रह्मज्ञानियोंके योग-क्षेमका मैं ही निर्वाह करता हूँ ॥ २२ ॥

एवमनीश्वरवादिनां कर्मैकशरणानां बाह्यज्ञानवतां कामिनां गतिं प्रतिपाद्याऽधुना निर्द्वन्द्वानां नित्यसत्त्वस्थानां निर्योगक्षेमाणामात्मवतां निष्कामानां निरहङ्कारममकाराणां मदेकशरणानां ब्रह्मविदां योगक्षेममहमेव वहामीत्याह—**अनन्या इति** ।

अनन्याः न विद्यते अन्यो मद्व्यतिरिक्तो विषयस्त्वहंबुद्धेरिदंबुद्धेश्च येषां ते अनन्याः सदाऽद्वैतदर्शननिष्ठाः सन्तो ये यतयो मां निर्विशेषं नित्यानन्दैकरसं परं ब्रह्मैव चिन्तयन्तो बहिरन्तश्चैकवृत्त्या विषयानवगाहिन्या सर्वमिदमहं च ब्रह्मैवेति भावयन्तः पर्युपासते स्वं च सर्वं च सर्वदा ब्रह्मैव ये पश्यन्तीत्यर्थः । नित्याभियुक्तानां नित्यो निरन्तरोऽविच्छिन्नोऽभियोगः आभिमुख्येन बुद्धिवृत्तेर्वस्तुसंयोगः साक्षात्कारलक्षणस्तद्वन्तो ये ते नित्याभियुक्ता निरन्तरसमाहितचित्तास्तेषां नित्याभियुक्तानां ब्रह्मविदां योगक्षेमम् । अप्राप्तस्याऽपेक्षितस्य वस्तुनः प्रापणं योगः, स्थितस्य परिपालनं क्षेमः, तदुभयमहमेव वहामि । यद्वा तेषां नित्याभियुक्तानां

इस प्रकार अनीश्वरवादी, केवल कर्मकी शरण लेनेवाले तथा बाह्यज्ञानसे युक्त कामी पुरुषोंकी गतिको कहकर अब श्रीभगवान् द्वन्द्वरहित, सदा सत्त्वभावसे पूर्ण, योगक्षेमकी चिन्तासे रहित, आत्मसम्पन्न, कामनाशून्य, अहंकार एवं ममकारसे शून्य तथा केवल मेरी ही शरण लेनेवाले ब्रह्मविदोंके योग-क्षेम मैं ही करता हूँ, ऐसा कहते हैं—'**अनन्या**' इत्यादिसे ।

अनन्य (जिनकी अहंबुद्धि और इदंबुद्धिका मेरे सिवा दूसरा विषय नहीं है, वे अनन्य हैं) यानी सदा अद्वैतदर्शनमें निष्ठासम्पन्न होकर जो यति मेरा—निर्विशेष नित्य आनन्दैकरस परब्रह्मका—ही चिन्तन करते हुए—बाहर-भीतर विषयको ग्रहण न करनेवाली एक-वृत्तिसे 'यह सब और मैं ब्रह्म ही हूँ', इस प्रकार भावना करते हुए—उपासना करते हैं। जो आपको और सबको सर्वदा ब्रह्म ही देखते हैं, यह अर्थ है। नित्याभियुक्त (नित्य निरन्तर—अविच्छिन्न—अभियोगसे यानी बुद्धिवृत्तिके साक्षात्काररूप अभिमुख वस्तु-संयोगसे जो युक्त हैं, वे नित्याभियुक्त हैं) अर्थात् निरन्तर समाहित चित्तवाले उन ब्रह्मविदोंके योग-क्षेम (अपेक्षित अप्राप्त वस्तुका प्राप्त करना योग है और स्थितका परिपालन क्षेम है, ये दोनों) मैं ही करता हूँ। अथवा उन नित्याभियुक्तोंके योगक्षेमको (योग

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयाऽन्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ २३ ॥

हे कौन्तेय, जो पुरुष श्रद्धायुक्त होकर [भेदबुद्धिसे] इन्द्र आदि अन्य देवताओंकी उपासना करते हैं, वे यद्यपि मेरी ही उपासना करते हैं, तथापि अज्ञानपूर्वक उपासना करते हैं, [इसलिए उन्हें बार-बार जन्म-मरणका ग्रहण करना ही पड़ता है] ॥ २३ ॥

योगक्षेमं योगो निरन्तरब्रह्मनिष्ठा तस्य क्षेममाध्यात्मिकाद्युपद्रवैर्विच्छेदराहित्यं तदहं सर्वदा करोमीत्यर्थः ॥ २२ ॥

ननु 'अहं क्रतुः' इत्यादिना क्रतुयज्ञमन्त्रदेवतादिकं सर्वमहमेवेति तवैव सार्वात्म्यं त्वयैव साक्षात्प्रतिपादितम् । कामकामा अपि इन्द्रादिदेवतारूपं त्वामेव क्रतुभिरुपासते । त्वद्भक्तानां तेषां कथं मुख्यफलभ्रंशो जन्माद्यनर्थपातश्चेति चेत्, उच्यते—'सर्वं ह्येतद् ब्रह्म', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'इन्द्रं मित्रम्', 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' इत्यादिश्रुतिभिः 'भूतानि विष्णुः' इत्यादिस्मृतिभिः सर्वं ब्रह्मैवेति प्रतिपाद्यते । अहं क्रतुरिति ममैव सर्वात्मत्वं मयाऽप्युक्तं सर्वदेवात्मक एवाऽहम्, सत्यं तेऽपि मामेव क्रतुभिरुपासते तथापि श्रुतौ स्मृतौ मदुक्तौ च विश्वासमकृत्वाऽविद्यास्मितादिदोषेण सर्वं ब्रह्मैवेति मामज्ञात्वा स्वेषु देवेषु मन्त्रादिषु भेदबुद्धिममुञ्चमाना मामुपासते। ततस्ते मद्भक्ता न भवन्ति, किन्तु देवयज एव भवन्ति । तेनैव

यानी निरन्तर ब्रह्मनिष्ठा, उसका क्षेम यानी आध्यात्मिक आदि उपद्रवोंसे विच्छेद न होना, उसको) मैं सर्वदा करता हूँ, यह अर्थ है ॥ २२ ॥

यदि शङ्का हो कि 'अहं क्रतुः' (मैं क्रतु हूँ) इत्यादिसे क्रतु, यज्ञ, मन्त्र और देवता आदि सब मैं ही हूँ, इस प्रकार आप ही की सर्वात्मता आपने ही साक्षात् कही । कामकाम (विषयभोगासक्त) पुरुष भी इन्द्र आदि देवतारूप आपकी ही क्रतुओंसे उपासना करते हैं [ऐसी अवस्थामें वे आप ही के भक्त ठहरे], अतः आपके उन भक्तोंका मुख्य फलसे भ्रंश तथा उन्हें जन्म आदि अनर्थकी प्राप्ति कैसे होगी ? तो इसपर कहते हैं—'सभी यह ब्रह्म है', 'सब निश्चय यह ब्रह्म है', 'इन्द्र मित्र', 'एक सत्को ब्राह्मण बहुत प्रकारसे कहते हैं' इत्यादि श्रुतियोंसे तथा 'भूत विष्णु है' इत्यादि स्मृतियोंसे सब ब्रह्म ही है, ऐसा प्रतिपादन किया जाता है और 'मैं क्रतु हूँ', इत्यादिसे मेरी सर्वात्मता मैंने भी कही है । यद्यपि यह सत्य है कि सर्वदेवात्मक मैं ही हूँ, अतः वे कामकामी भी क्रतुओंसे मेरी ही उपासना करते हैं, तथापि श्रुतियोंमें और मेरे कथनमें विश्वास न करके अविद्या, अस्मिता आदि दोषसे सब ब्रह्म ही है, इस प्रकार मुझे न जानकर अपनेमें, देवताओंमें तथा मन्त्र आदिमें भेदबुद्धिका परित्याग न कर मेरी उपासना करते हैं, इसलिए वे मेरे भक्त नहीं हैं, किन्तु देवयज ही हैं । इसीसे उनका मुख्य फलसे भ्रंश

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनाऽतश्च्यवन्ति ते ॥ २४ ॥

यद्यपि सम्पूर्ण यज्ञोंका मैं ही भोक्ता और नेता हूँ, ऐसा वे जानते हैं, तथापि तात्त्विक दृष्टिसे वैसा मुझको नहीं जानते, इसलिए वे परम पुरुषार्थरूप मोक्षसे भ्रष्ट हो जाते हैं ॥ २४ ॥

तेषां मुख्यफलभ्रंशोऽनर्थापातश्चेति सिंहावलोकनन्यायेन तत्पूर्वश्लोकार्थमनुसृत्य प्रतिपादयति—**येऽपीति** त्रिभिः ।

येऽप्यैहिकामुष्मिकफलार्थिनो ब्राह्मणादयः स्वेष्टदेवतासु तदाराधनेषु च श्रद्धया 'एषैव परदेवता त्वेतस्या आराधनेनाऽहं कृतार्थः स्याम्' इत्यास्तिक्यबुद्ध्याऽन्विताः समेताः सन्तः स्वयमन्या देवता इयं मम, एतस्या आराधकोऽहमिति स्वभिन्नत्वेन गृहीताया इन्द्रादिदेवताया एव भक्तास्तदाराधने भक्तियुक्ता भूत्वा यजन्ते । वैदिकेनैव तन्त्रेणोपासत इत्यर्थः । तेऽपीन्द्रादिदेवतायाजका यद्यपि मामेवेन्द्रादिदेवतारूपं यजन्ते । ब्रह्मणः सर्वात्मकत्वादिन्द्रादिदेवतारूपेणाऽहमेव तैराराध्यते । तथापि ते मामविधिपूर्वकं यजन्ति न विद्यते विधिर्विध्यर्थज्ञानं च यत्र तदविध्यज्ञानं तत्पूर्वकं यजन्ति । 'अहं क्रतुः' इत्युक्तप्रकारेण इज्यो याजको यजनं यागश्च सर्वं ब्रह्मैवेत्येवंज्ञानशून्या भूत्वा मां यजन्त इत्यर्थः ॥ २३ ॥

ननु 'शुण्ठास्त्रयो वैष्णवाः', 'अग्नेर्घृतं विष्णोस्तण्डुलाः', 'यज्ञो वै विष्णुः' इति

और अनर्थपात होता है, ऐसा सिंहावलोकनन्यायसे उसी पूर्व श्लोकके अर्थके अनुसार प्रतिपादन करते हैं—**'येऽप्यन्य०'** इत्यादि तीन श्लोकोंसे ।

इस लोक और परलोकके फलको चाहनेवाले जो कोई ब्राह्मण आदि अपने इष्ट देवतामें और उसके आराधनमें श्रद्धासे 'यही पर देवता है, इसके आराधनसे मैं कृतार्थ होऊँगा' इस प्रकारकी आस्तिक्य बुद्धिसे युक्त होकर स्वयं 'यह मेरा सेव्य देवता मुझसे भिन्न है, मैं इसका आराधक हूँ' इस प्रकार अपनेसे पृथक्रूपसे गृहीत इन्द्र आदि देवताके ही भक्त—उसके आराधनमें भक्तियुक्त—होकर उसका पूजन करते हैं । वैदिक तन्त्रसे ही उपासना करते हैं, यह अर्थ है । यद्यपि वे इन्द्रादि देवताओंके याजक भी इन्द्रादि देवतारूप मेरा ही यजन करते हैं । ब्रह्म सर्वात्मक है, इसलिए इन्द्र आदिरूपसे उनके द्वारा मेरा ही आराधन किया जाता है, तथापि वे मेरा अविधिपूर्वक यजन करते हैं । जिसमें विधि और विधिके अर्थका ज्ञान न हो, वह अविधि है यानी अज्ञानतापूर्वक यजन करते हैं । 'अहं क्रतुः' इत्यादि उक्त प्रकारसे इज्य, याजक, यजन और याग, सब ब्रह्म ही हैं, इस प्रकारके ज्ञानसे शून्य होकर मेरा पूजन करते हैं, यह अर्थ है ॥ २३ ॥

यदि शङ्का हो कि 'शुण्ठास्त्रयो वैष्णवाः', 'अग्निका घृत, विष्णुके तण्डुल', 'यज्ञ ही विष्णु है'

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥२५॥

इन्द्र, शिव, विष्णु आदि देवताओंके उद्देश्यसे यज्ञ, दान, पूजन आदिरूप व्रतको करनेवाले पुरुष इन्द्र आदिके स्थानको प्राप्त होते हैं । पितरोंके उद्देश्यसे श्राद्ध, ब्राह्मणभोजन करनेवाले पितृव्रत पुरुष अग्निष्वात्त आदि पितरोंके स्थानको प्राप्त होते हैं । वेताल, विनायक, दुर्गा आदि भूतोंके उपासक वेताल आदिके स्थानको प्राप्त होते हैं तथा मुझ सगुण ब्रह्मकी उपासना करनेवाले पुरुष अर्चि आदि मार्ग द्वारा मुझको प्राप्त होते हैं ॥ २५ ॥

त्वां यज्ञेषु भोक्तारं नेतारं च ज्ञात्वैव ते यजन्ते कथमज्ञानपूर्वकं यजन्तीत्यत आह— **अहमिति** ।

हिर्निरुक्तश्रुतिप्रसिद्धिद्योतनार्थः । यद्यपि सर्वयज्ञानां श्रौतानां स्मार्तानां च सर्वेषां यज्ञानामिन्द्रादिदेवतारूपेणाऽहमेव भोक्ता च प्रभुर्नेता चाऽस्मि, तथैव तेऽपि भोक्तारं प्रभुं च मां जानन्ति तथापि तत्त्वेन न तु जानन्ति 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादिश्रुत्युक्तप्रकारेण मदुक्तरीत्या च यज्ञो यज्ञभोक्ता यज्ञनेता च यजमानो याजकाश्चरुपुरोडाशादि चैतत्सर्वं ब्रह्मैव न ततोऽन्यत्किञ्चिदप्यस्तीति तत्त्वेन याथात्म्येन यथाभूतस्वरूपेण मां ब्रह्म न जानन्त्यतो मत्तत्त्वाज्ञानादेव ते देवतायाजकाश्च्यवन्ति च्यवन्ते परमपुरुषार्थाद्भ्रश्यन्ति । कदापि न मुक्तिं विन्दन्तीत्यर्थः ॥ २४ ॥

तर्हि तेषां का वा गतिरित्याकाङ्क्षायां मुख्यफलाभावेऽपि तत्तद्देवतोपासनानुरूपं फलं भवतीत्याह—**यान्तीति** ।

इससे यज्ञोंमें आपको भोक्ता और नेता जानकर ही जब वे यजन करते हैं, तब आप कैसे कहते हैं कि वे अज्ञानपूर्वक यजन करते हैं ? तो इसपर कहते हैं—**'अहम्'** इत्यादिसे ।

'हि' पूर्वोक्त श्रुतिकी प्रसिद्धि बतलानेके लिए है । यद्यपि सब यज्ञोंका—श्रौत और स्मार्तरूप सब यज्ञोंका—इन्द्र आदि देवताओंके रूपसे मैं ही भोक्ता, प्रभु और नेता हूँ, वे भी इसी प्रकार मुझको ही भोक्ता और प्रभु जानते ही हैं, तथापि वे तत्त्वसे नहीं जानते, यानी 'ब्रह्म अर्पण और ब्रह्म हवि है', 'यह सब ब्रह्म ही है' इत्यादि श्रुत्युक्त प्रकारसे और मेरे द्वारा कही गई रीतिसे यज्ञका भोक्ता, यज्ञका नेता, यजमान, याजक और चरु, पुरोडाश आदि तथा यह सब ब्रह्म ही है, ब्रह्मसे भिन्न कुछ नहीं है, इस प्रकार तत्त्वसे (याथात्म्यसे) यानी यथाभूत स्वरूपसे मुझको—ब्रह्मको—नहीं जानते, इसलिए मेरे तत्त्वके अज्ञानसे ही वे देवताके याजक गिरते हैं अर्थात् परम पुरुषार्थसे भ्रष्ट होते हैं । कभी भी मुक्तिको प्राप्त नहीं होते, यह अर्थ है ॥२४॥

तब उनकी क्या गति होगी ? ऐसी आकांक्षा होनेपर, मुख्यफल न होनेपर भी तत्-तत् देवताकी उपासनाके अनुसार फल होता है, ऐसा कहते हैं—**'यान्ति'** इत्यादिसे ।

देवव्रता देवेष्विन्द्रादिषु यज्ञदानादिनियमो व्रतं शिवविष्ण्वादिषु जपपूजोपवासादिनियमो व्रतं येषां ते देवव्रता देवयाजिनो देवानिन्द्रादीन् शिवविष्ण्वादींश्च यान्ति। तत्तत्पदं गच्छन्तीत्यर्थः। पितृव्रताः पितृषु व्रतं श्राद्धभूरिभोजनादिनियमो येषां ते पितृव्रताः पितॄनग्निष्वात्तादीन्यान्ति। भूतेज्याः भूतानि विनायकवेतालदुर्गाक्षेत्रपालयक्षिण्यादयस्तानि जपहोमबल्यादिभिर्ये यजन्ति ते भूतेज्या भूतानि यान्ति। मद्याजिनः मां सगुणं ब्रह्म 'आदित्यो ब्रह्म' 'मनो ब्रह्म' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इति ये भेदेनाऽभेदेन च यजन्ति ते मद्याजिनः सगुणोपासका अप्यर्चिरादिक्रमेण मां यान्ति। अत्रत्योऽपिशब्दो निर्गुणं परं ब्रह्म स्वात्मना ये विदुस्तेषामुत्क्रमणाभावं प्राप्त्यभावं च सूचयति। यद्वा मद्याजिनो निर्गुणोपासकाः सगुणोपासका अपि मामेव परं ब्रह्म साक्षात् क्रमेण च यान्ति मद्भावं भजन्तीत्यर्थः। यद्यपि विवेकवैराग्यसंन्यासशमदमादिसंपत्त्या वेदान्तश्रवणादिना ब्रह्मज्ञानं सुलभं तत्फलप्राप्तिश्च सुलभा गमनादिश्रमशून्या, तथापि नित्यश्रमसाध्यैर्जपहोमोपवासस्तोत्रपाठादिभिरतिदुष्करैः श्राद्धनियमैर्बहुर्थव्ययैकप्रधानैर्देहायाससाध्यैश्च क्रतुयज्ञदानादिभिरुक्तैरनुक्तैश्च क्रियाविशेषैर्बहुश्रममूलैर्लब्धव्यं यत्फलं तदल्पकालिकं क्षयिष्णु सप्रतियोगिकं पुनरावृत्तिकरं च भवति। पण्डितानामपि तत्रैव कामः सङ्कल्पः प्रयत्नः

देवव्रता—(इन्द्र आदि देवताओंकी प्रीतिके लिए यज्ञ, दान आदिका नियमरूप अथवा शिव, विष्णु आदिकी प्रीतिके लिए जप, पूजा, उपवास आदिका नियमरूप व्रत जिनका है वे देवव्रत हैं) यानी देवयाजी देवोंको—इन्द्र आदिको और शिव, विष्णु आदिको प्राप्त होते हैं। उन-उनके पदको प्राप्त होते हैं, यह अर्थ है। पितृव्रत (जिनका पितरोंमें व्रत—श्राद्धमें बहुत ब्राह्मणोंको भोजन कराना आदि नियम—है, वे पितृव्रत हैं) पुरुष पितरोंको यानी अग्निष्वात्त आदिको प्राप्त होते हैं। भूतेज्य (भूतोंकी—विनायक, वेताल, दुर्गा, क्षेत्रपाल, यक्षणी आदिकी—जप, होम, वलि आदिसे जो पूजा करते हैं, वे भूतेज्य हैं) भूतोंको प्राप्त होते हैं। मद्याजी (मुझ सगुण ब्रह्मको 'आदित्य ब्रह्म है' 'मन ब्रह्म है' 'यह सब निश्चय ब्रह्म है' इस प्रकार भेदसे या अभेदसे पूजते हैं, वे मद्याजी हैं) यानी सगुणके उपासक भी अर्चिक्रमसे मुझको प्राप्त होते हैं। यहाँपर 'अपि' शब्द निर्गुण परब्रह्मको आत्मरूपसे जो जानते हैं, उनके उत्क्रमणके अभावका और प्राप्तिके अभावका सूचन करता है। अथवा मद्याजी यानी निर्गुणके उपासक और सगुणके उपासक मुझ परब्रह्मको ही साक्षात् और क्रमसे प्राप्त होते हैं। मेरे भावको भजते हैं, यह अर्थ है। यद्यपि विवेक, वैराग्य, संन्यास, शम-दम आदि संपत्तिसे वेदान्तश्रवण आदिसे ब्रह्मज्ञान सुलभ है और उसके फलकी प्राप्ति भी सुलभ है, यानी गमन आदिके श्रमसे रहित है, तथापि नित्य श्रमसे साध्य जप, होम, उपवास, स्तोत्र-पाठ आदि, अति दुष्कर, श्राद्धनियम, अधिक धनका व्यय ही जिनमें प्रधान है और देहके आयाससे साध्य क्रतु, यज्ञ, दान आदि उक्त एवं अनुक्त बहुश्रमके हेतु क्रियाविशेषोंसे जो फल होता है, वह अल्पकालिक, विनाशी, प्रतियोगीसे युक्त और पुनरावृत्ति करनेवाला होता है। पण्डितोंकी भी उसमें ही इच्छा, सङ्कल्प, प्रयत्न और प्रवृत्ति देखनेमें आती है,

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ २६ ॥

जो पुरुष मेरी शालग्राम आदि प्रतिमाको पत्र, पुष्प, फल, जल आदि जो कुछ भक्तिपूर्वक समर्पण करता है, उस शुद्धात्माकी भक्तिपूर्वक प्रदत्त उस पत्र, पुष्प आदि वस्तुका मैं ही उपभोग करता हूँ अर्थात् उसी वस्तुसे मैं सन्तुष्ट होता हूँ ॥२६॥

प्रवृत्तिश्च दृश्यते न तु ज्ञाने ज्ञानशास्त्रे स्वल्पश्रमे नित्यफले अहो एषैव पारमेश्वरी माया जगन्मोहिनीति वयं मन्यामहे ॥ २५ ॥

नन्वधिकारिणां महात्मनां ब्रह्मज्ञानं सुलभं तत्फलमप्यनावृत्तिलक्षणमनन्तमखण्डानन्दमद्वयं मोक्षाख्यं चाऽतिसुलभमेव भवति । तत्राऽनधिकारिणामतिमन्दप्रज्ञानां तु मुमुक्षूणां का वा गतिरित्याकाङ्क्षायां सतामारुरुक्षूणामपि भक्तानामहं सुलभ एवेत्याशयेनाऽऽह—**पत्रमिति ।**

पत्रं पुष्पं वा फलं तोयं वा शालग्रामे प्रतिमायां वा मे मह्यं यो मुमुक्षुर्भक्त्या श्रद्धया च प्रयच्छति तस्य प्रयतात्मनः शुद्धवृत्तेः सद्भक्त्योपहृतं समर्पितं तद्वस्त्वहं परमेश्वरः सम्यगश्नाम्यनुगृह्णामि । तेनैव सन्तुष्टः स्यामित्यर्थः । 'धिगनीशार्चनं जन्म' इतीश्वराराधनशून्यस्य जन्मनो निष्फलत्वश्रवणादीश्वराराधनस्य षट्कर्मान्तःपातित्वाच्चेश्वराराधनं मुमुक्षोरवश्यं कर्तव्यमिति सूचितं भवति । यद्वा 'अभ्यागतः स्वयं विष्णुः' इति स्मरणात्काले प्राप्ताय मे मद्रूपायाऽतिथये पत्रं पक्वं शाकं वा फलं वा पुष्पं पुष्प-

---

स्वल्प श्रमवाले, नित्य फलवाले ज्ञानशास्त्रमें नहीं, अहो, यही जगत्को मुग्ध करनेवाली परमेश्वरकी माया है, ऐसा हम मानते हैं ॥ २५ ॥

अधिकारी महात्माओंको ब्रह्मज्ञान सुलभ है और अनावृत्तिरूप अनन्त, अखण्ड, आनन्द अद्वय मोक्षनामक उसका फल अत्यन्त ही सुलभ है, परन्तु उसमें अनधिकारी मन्दबुद्धिवाले मुमुक्षुओंकी कैसे गति होगी ? ऐसी आकाङ्क्षा होनेपर आरुरुक्षु सत् पुरुष भक्तोंको भी मैं सुलभ ही हूँ, ऐसा कहते हैं—**'पत्रम्'** इत्यादिसे ।

जो मुमुक्षु भक्तिसे और श्रद्धासे शालग्राममें या मेरी अन्य प्रतिमामें मेरे लिए पत्र, पुष्प, फल या जल देता है, उस प्रयतात्माका—शुद्धवृत्तिवालेका—सच्ची भक्तिसे दिये हुए—समर्पण किये हुए—उस पदार्थको मैं परमेश्वर भलीभाँति भोगता हूँ—ग्रहण करता हूँ । उससे ही सन्तुष्ट हो जाता हूँ, यह अर्थ है । 'अनीशकी पूजा करनेवालेके जन्मको धिक्कार है' इस श्रुतिसे ईश्वरका आराधन न करनेवाले पुरुषका जन्म निष्फल है और ईश्वरका आराधन षट्कर्मके भीतर ही है, इसलिए मुमुक्षुको ईश्वरका आराधन अवश्य करना चाहिए, यह सूचित होता है । अथवा 'अभ्यागत स्वयं विष्णु है' इस स्मृतिवचनसे समयपर प्राप्त हुए मत्स्वरूप अतिथिके लिए पका

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ २७ ॥

हे अर्जुन, जिस विहित कर्मको तुम करते हो, जिस शास्त्रीय अनायास लब्ध अन्नको तुम खाते हो, जिस चरु, परोडाश आदिका देवताके लिए तुम होम करते हो, जो पात्रोंमें तुम दान करते हो और जो सन्ध्यावन्दन आदिरूप तप करते हो, उन सबका तुम ब्रह्मबुद्धिसे ही अनुष्ठान करो ॥ २७ ॥

शब्देन शलाटुरुच्यते तं वा पक्वं तोयं वा स्वयं यद्भुङ्क्ते तद्भक्त्या श्रद्धया च यः प्रयच्छति दानमेव गृहस्थस्येति नियमात् स्वधर्मनिष्ठस्य भूतदयावतस्तस्य शुद्धात्मनः शुद्धभक्त्या ब्राह्मणमुखे उपहृतं समर्पितं पत्रं वा तोयं तद् द्रव्यमहं परमेश्वरः साक्षात्तन्मुखेनाऽश्नामि भुञ्ज इत्यर्थः ॥ २६ ॥

यस्मादहं साधूनां भक्तिसुलभस्तस्माद्यद्यत्कर्म करोषि तत्तदखिलं मदर्पणं कुर्वित्याह—**यदिति**।

विहितमलोकविद्विष्टं यल्लौकिकं कर्म करोषि, यच्च शास्त्रीयमनायासलब्धमन्नमश्नासि, यच्च चरुपुरोडाशादिहोम्यमग्न्यादिदेवताभ्यो जुहोषि, यच्च पात्रेभ्य ओदनोदकधनधान्यकन्यागवादिविशिष्टं द्रव्यं ददासि, यच्च तपस्यसि सन्ध्यावन्दनादि वेदाध्ययनादि वा व्रतोपवासादिकं वा तपः करोषि, लौकिकं वैदिकं च यद्यत्कर्म करोषि तत्सर्वं मदर्पणं कुरुष्व। ब्रह्मार्पणबुद्ध्यैव सर्वं कर्म कुरुष्वेत्यर्थः ॥ २७ ॥

शाक, फल या पुष्प (पुष्पशब्दसे यहाँ अपक्वफल कहा जाता है) या पका फल या जल, जिसको खुद खाता है। उसको भक्तिसे और श्रद्धासे जो देता है। 'दान ही गृहस्थका है' इस नियमसे स्वधर्मनिष्ठ, भूतदयावाले, उस शुद्ध आत्मा द्वारा शुद्ध-भक्तिसे ब्राह्मणके मुखमें डाला हुआ (समर्पण किया हुआ) पत्र या जल, उस द्रव्यको मैं परमेश्वर साक्षात् उसके मुखसे खाता हूँ, यह अर्थ है ॥ २६ ॥

जिस कारणसे मैं साधुओंको भक्तिसे सुलभ हूँ, इसलिए जो-जो कर्म तुम करते हो, उन सबको मेरे अर्पण करो, ऐसा कहते हैं—**'यत्'** इत्यादिसे।

जो विहित—लोकसे अविरुद्ध—लौकिक कर्मको तुम करते हो, और जो शास्त्रीय (अनायास प्राप्त हुए) अन्नको तुम खाते हो और जो चरुपुरोडाश आदि होमयोग्य वस्तुओंका अग्नि आदि देवताओंके लिए हवन करते हो और जो पात्रोंको ओदन, उदक, धन, धान्य, कन्या, गौ आदि उत्तम वस्तु देते हो और जो तप करते हो—संध्या-वन्दन आदि, वेदाध्ययन आदि अथवा व्रत उपवास आदि तप करते हो—लौकिक और वैदिक जो-जो कर्म करते हो, उन सबको मेरे अर्पण करो। ब्रह्मार्पणबुद्धिसे सब कर्म करो, यह अर्थ है ॥ २७ ॥

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ २८ ॥

ईश्वरार्पणबुद्धिसे कर्म करते हुए तुम शुभ-अशुभ फल देनेवाले कर्मरूप बन्धनोंसे मुक्त हो जाओगे तथा संन्यासरूप योगमें आसक्त मनवाले और कर्म-बन्धनोंसे विमुक्त होकर क्रमसे विदेहमुक्तिको ही प्राप्त हो जाओगे ॥ २८ ॥

श्रौतं स्मार्तं वाऽन्यद्वाऽपीश्वरार्पणबुद्ध्या कर्म कुर्वतस्तदनुष्ठितेः फलमाह— **शुभाशुभफलैरिति ।**

एवमीश्वरार्पणबुद्ध्या वैदिकमवैदिकं च युक्तं कर्म कुर्वाणस्त्वं शुभाशुभफलैः सुख-दुःखप्रदैः स्वर्गनरकहेतुभिर्वा कर्मबन्धनैः कर्माण्येव बन्धनानि कर्मबन्धनानि तैर्मोक्ष्यसे मुक्तो भविष्यसि । ननु 'कर्मण्येवाऽधिकारस्ते' इति, 'नियतं कुरु कर्म त्वम्' इति, 'स्वधर्मम्' इति च विहितानामेव कर्मणां कर्तव्यत्वविधानात् कथं विहितानामशुभफल-त्वमिति चेत्, न; विहितानामप्यनुष्ठानवैकल्ये त्वशुभफलहेतुत्वोपपत्तेः । 'यस्याग्निहोत्र-मदर्शमपौर्णमासमचातुर्मास्यमनाग्रयणमतिथिवर्जितं च । अहुतमवैश्वदेवमविधिना हुतमासप्तमांस्तस्य लोकान्हिनस्ति' इति, 'स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति' इत्यादिश्रुतेः स्मृतेश्च मन्त्रतन्त्रस्वरवर्णद्रव्यकालादिनियमवैपरीत्ये स्खलने भ्रंशे च विहितानामप्य-शुभफलकारित्वमुपपद्यते । ततो 'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते' इति

श्रौत या स्मार्त या अन्य कर्मोंको ईश्वरार्पणबुद्धिसे करनेवालेका उनके अनुष्ठानसे जो फल होता है, उसको कहते हैं—'**शुभाशुभफलैः**' इत्यादिसे ।

इस प्रकार ईश्वरार्पणबुद्धिसे वैदिक और अवैदिक युक्त कर्म करते हुए [हे अर्जुन] तुम शुभ और अशुभ फलोंसे—सुख-दुःखके देनेवाले अथवा स्वर्ग-नरकके हेतुभूत कर्मबन्धनोंसे—(कर्मरूप बन्धन कर्मबन्धन हैं, उनसे) छूट जाओगे—मुक्त हो जाओगे । यदि शङ्का हो कि 'कर्ममें ही तुम्हारा अधिकार है' इससे 'तुम नियमसे कर्म करो' इत्यर्थक वाक्योंसे और 'स्वधर्मम्' इत्यादि वाक्यसे विहित कर्मोंका कर्तव्यरूपसे ही विधान होनेसे विहित कर्मोंका अशुभ फल कैसे होगा ? तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि अनुष्ठानका वैकल्य होनेपर भी विहित कर्म अशुभ फलके हेतु हो सकते हैं । 'जिसका अग्निहोत्र दर्श-पौर्णमास, चातुर्मास्य और आग्रयणसे रहित और अतिथिसे रहित हो तथा अहुत, वैश्वदेवरहित, विधिरहित हुत हो, तो वह उसके सात लोकोंको नष्ट करता है ।' तथा 'वह वाणीरूप वज्र होकर यजमानको मारता है' इत्यादि श्रुति और स्मृतिसे मन्त्र, तन्त्र, स्वर, वर्ण, द्रव्य, काल आदि नियमके विपरीत, स्खलित या भ्रष्ट होनेपर विहित कर्म अशुभ फलके उत्पादक हो जाते हैं, यह उचित है । इसलिए 'नेहाभिक्रमनाशो०' (मोक्षशास्त्रमें मोक्षके लिए किया गया कर्मका उपक्रम निष्फल नहीं है तथा ज्ञान या अज्ञानसे उसमें त्रुटि रहनेपर कुछ

इति न्यायेनेश्वरार्पणबुद्ध्या श्रद्धाभक्तिभ्यां च कृतानां तु कर्मणां विपर्यासेऽपि प्रत्यवायाद्यसंभवात् तथा संन्यासयोगयुक्तात्मा संन्यासः परमेश्वरे कर्मफलत्यागः स एव योगः कर्मबन्धमोक्षोपायस्तत्र सर्वकर्मफलसंन्यास एव युक्तः सक्त आत्मा मनो यस्य तथोक्तः सन् कर्मबन्धनैर्विमुक्तः क्रमेण मां परमात्मानमुपैष्यसि । विदेहमुक्तिं प्राप्स्यसीत्यर्थः । यद्वा सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा चेश्वरार्पणबुद्ध्या चाऽनेनेश्वरो मे प्रसीदत्वित्यादिकामनाराहित्येन चैवं नित्यं नैमित्तिकं च कर्म कुर्वाणस्त्वं स्वानुष्ठितसत्कर्मसमुत्पन्नचित्तशुद्धिद्वारा संप्राप्तात्मविज्ञानः सन् संन्यासयोगयुक्तात्मा नाऽहं कर्ताऽस्मीति स्वस्य सम्यक्-कूटस्थत्वासङ्गत्वविज्ञानेन सञ्चिताद्यशेषकर्मसम्बन्धाभावदर्शनमेव संन्यासयोगस्तस्मिन्सञ्चितागामिवर्तमानसर्वकर्मतत्कर्त्रादिसम्बन्धाभावदर्शन एव युक्तः समाहित आत्मा मनो यस्य स संन्यासयोगयुक्तात्मा भूत्वा शुभाशुभफलैः स्वर्गनरकसुखदुःखप्रापकैः कर्मबन्धनैः कर्माणि पुण्यापुण्यमिश्ररूपाणि सञ्चितादीनि तान्येव पुरुषो जन्मादिभिर्बध्यते यैस्तानि बन्धनानि तैः कर्मबन्धनैर्मोक्ष्यसे । एवं विमुक्तः संन्यासयोगेन कर्मबन्धनैर्विमुक्तः सन् मां निर्विशेषं परं ब्रह्माऽन्तरालं विनैवोपैष्यसि । विदेहकैवल्यं प्राप्स्यसीत्यर्थः ॥ २८ ॥

परमात्मा भक्तानां मुक्तिं प्रयच्छति न त्वभक्तानाम्, अतो 'निर्दोषं हि समं ब्रह्म'

प्रत्यवाय नहीं लगता) इस न्यायसे ईश्वरार्पणबुद्धिसे और श्रद्धाभक्तिसे किये गये कर्मोंका विपर्यास होनेपर भी प्रत्यवाय आदि नहीं होते । तथा संन्यासयोगयुक्तात्मा (संन्यास यानी परमेश्वरमें कर्मफलका समर्पण, वही योग है यानी कर्मबन्धसे छूटनेका उपाय है, उस सर्वकर्मफलसंन्यासमें ही जिसका—युक्त—आसक्त—आत्मा—मन—हो, वह संन्यासयोगयुक्तात्मा है) होते हुए तुम कर्मबन्धनोंसे विमुक्त होकर क्रमसे मुझ परमात्माको प्राप्त होओगे । विदेहमुक्तिको प्राप्त होओगे, यह अर्थ है । अथवा सिद्धि और असिद्धिमें समान होकर ईश्वरार्पणबुद्धिसे तथा इस कर्मसे मेरे ऊपर ईश्वर प्रसन्न हो, इत्यादि कामनासे रहित होकर नित्य और नैमित्तिक कर्म करते हुए तुम अपने द्वारा अनुष्ठित कर्मोंसे उत्पन्न हुई चित्तशुद्धि द्वारा विज्ञानको प्राप्तकर संन्यासयोगयुक्तात्मा (मैं कर्ता नहीं हूँ, इस प्रकार अपने कूटस्थत्व, असङ्गत्वके यथार्थ विज्ञानसे संचित आदि अशेष कर्मोंके संबन्धका अभाव देखना ही संन्यासयोग है, उस संचित, आगामी, वर्तमान सब कर्म तथा उनके कर्ता आदि संबन्धके अभावको देखनेमें ही जिसका—आत्मा—मन युक्त—समाहित—है, वह संन्यासयोगयुक्तात्मा है) होकर शुभाशुभफलक सुखदुःखरूप स्वर्गनरकको प्राप्त करानेवाले कर्मबन्धनोंसे (कर्म यानी पुण्य, अपुण्य, मिश्ररूप संचित आदि, उनके द्वारा ही पुरुष जन्म आदिसे बांधा जाता है, अतः वे बन्धन हैं, उन कर्मबन्धनोंसे) छूट जाओगे । इस प्रकार विमुक्त—संन्यासयोग द्वारा कर्मबन्धनोंसे विमुक्त—होकर मुझको—निर्विशेष परब्रह्मको—अन्तरालके बिना ही प्राप्त हो जाओगे । विदेहकैवल्यको प्राप्त होओगे, यह अर्थ है ॥ २८ ॥

यदि शङ्का हो कि परमात्मा भक्तोंको ही मुक्ति देते हैं, अभक्तोंको नहीं, इसलिए 'निर्दोषं हि

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥ २९ ॥

सम्पूर्ण भूतोंमें मैं समस्वभावसे रहता हूँ, न कोई मेरा प्रिय है और न कोई अप्रिय है । भक्तिसे मेरा जो कोई भजन करते हैं, वे मुझ आनन्दात्मक ब्रह्ममें सदा रहते हैं और उनमें मैं रहता हूँ ॥ २९ ॥

इति स्मृत्युक्तं परमात्मनो यत्समत्वं तदुक्तिमात्रमेव, वैषम्यं त्वस्त्येवेत्याशङ्कायाम्, न; सर्वसमोऽपि भानुः शीतकाले स्वमनावृतदेशमासाद्य ये सेवन्ते तेषां शीतं नाशयति न त्वसेवमानानाम् । ततस्तद्वैषम्यं भानुकृतं न भवति किन्तु पुरुषकृतमेव यथा, तथैव प्रकृतेऽपीति सूचयितुमाह—**समोऽहमिति** ।

सर्वभूतेषु सर्वेषु ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तेषु प्राणिष्वहं परमात्मा परिपूर्णो निर्विशेषः स्वयं घटमठादिष्वाकाशवत् समस्तुल्यस्वभाव एवाऽस्मि न वाय्वादिवद्विषमस्तत एव मम न कश्चिदपि प्रियोऽस्ति नाऽपि द्वेष्योऽप्रियोऽप्यस्ति । 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' इति श्रवणादमनस्कस्य प्रियाप्रियत्वभावनायोगात् । ननु प्रियाप्रियत्वभावनाभावे कथं तर्हि केषाञ्चिन्मुक्तिः केषाञ्चिदमुक्तिरित्याशङ्कायाम्, न; तत्पुरुषतन्त्रं न तु मत्तन्त्रमित्याह—**ये भजन्तीति** । स्वप्रयत्नेन तीव्रमोक्षेच्छया च शुभान्येव कर्माणि बहुजन्मभिः कृत्वा तत्परिपाकाच्छुद्धात्मानः सन्तः सर्वं संन्यस्य सद्गुरुप्रसादात् श्रवणादिना परतत्त्वं

समं ब्रह्म' इस स्मृतिमें कहा गया परमात्माका जो समत्व है, वह केवल कथनमात्र ही है, विषमता तो है ही, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि सर्वत्र सम होनेपर भी शीतकालमें आवरण-रहित देशमें आकर जो सूर्यका सेवन करते हैं, उन्हींके शीतका वह नाश करता है, सेवन न करनेवालोंके शीतका नहीं, इसलिए वह विषमता जैसे सूर्य द्वारा नहीं की गई है, किन्तु पुरुष द्वारा की गई है वैसे ही प्रकृतमें भी है । ऐसा सूचन करनेके लिए कहते हैं—**'समोऽहम्'** इत्यादिसे ।

सब भूतोंमें यानी ब्रह्मासे लेकर स्तम्बतक सब प्राणियोंमें परिपूर्ण, निर्विशेष परमात्मस्वरूप में स्वयं तो घट, मठ आदिमें आकाशके समान समस्वभावसे ही रहता हूँ, वायु आदिके समान विषमस्वभावसे नहीं, इसीलिए मेरा न तो कोई प्रिय है और न द्वेष्य (अप्रिय) ही है । क्योंकि 'परमात्मा प्राणरहित, मनरहित और शुभ्र है' इस अर्थकी प्रतिपादक श्रुतिसे अन्तःकरणसे रहित परमात्माकी प्रिय या अप्रिय भावना हो ही नहीं सकती । यदि शङ्का हो कि आपमें प्रिय या अप्रियकी भावना ही जब नहीं है, तब किन्हींकी मुक्ति और किन्हींकी मुक्ति नहीं होती, यह कैसे ? तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि वह पुरुषके अधीन है, मेरे अधीन नहीं, ऐसा कहते हैं—**ये भजन्तीति** । अनेक जन्मों द्वारा अपने प्रयत्नसे और तीव्र मोक्षकी इच्छासे शुभ कर्मोंका अनुष्ठान करनेके अनन्तर, उनके परिपाकसे शुद्ध अन्तःकरणवाले होकर सबका संन्यास करके सद्गुरुके प्रसादसे श्रवण आदि द्वारा परतत्त्वको जानकर जो पुरुषधौरेय भक्तिसे—अखण्डवृत्तिसे—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ ३० ॥

यद्यपि कोई पुरुष स्वभावतः निकृष्ट आचरणवाला भी हो, तथापि अनन्य वृत्तिसे युक्त होकर यदि वह मेरी उपासना करता है, तो उसे साधु (सज्जन) ही समझना चाहिए, क्योंकि वह सम्यक् ज्ञानसे सम्पन्न है ॥ ३० ॥

ज्ञात्वा ये पुरुषधौरेया भक्त्याऽखण्डवृत्त्या मां भजन्ति । ब्रह्मैवाहऽमिति स्वमेव पूर्णात्मना स्थितं पश्यन्तीत्यर्थः । ते यतयो ब्रह्मनिष्ठाः स्वच्छस्वभावत्वात् सर्वदा मय्यानन्दात्मनि ब्रह्मणि स्वयं वर्तन्ते । मयि मद्रूपेण तिष्ठन्तीत्यर्थः । अहं च निर्विशेषः परिपूर्णोऽपि तेषु ब्रह्मवित्सु तद्वृत्तेः सर्वदा चक्षुषो रूपवद्विषयीभूय तिष्ठामि । यथा सर्वव्यापकः सर्वसमोऽप्याकाशः स्वच्छेषु जलदर्पणादिषु प्रतिबिम्बते न तु कुड्यादिषु तद्वदहमपि सत्सु भामि न त्वसत्सु । 'तरति शोकमात्मवित्' इति श्रवणाद्ये मां विदुस्ते मुक्ता ये न विदुस्ते बद्धा भवन्त्यतो मद्वेदनमेव पुंप्रयत्नलभ्यं मुक्तिकारणं तदभावो बन्धकारणं न त्वहं न च गुरुर्नोऽपि च शास्त्रं ततो न मम सर्वसमत्वव्याघात इति भावः । एतेन शीतनिवृत्तिः पुरुषप्रयत्नसाध्या यथा तथा भवमुक्तिरपि पुरुषप्रयत्नसाध्या न तु स्वयमेव सिद्ध्यति । तस्मान्मुमुक्षुभिर्मुक्त्यै प्रयतितव्यमिति सूचितं भवति ॥२९॥

राजविद्येति विशेषणेन सूचितं ब्रह्मविद्याव्यतिरिक्तविद्यानां सकलवेदशास्त्राध्ययनसमुत्पन्नानां बन्धकत्वम् 'मोघाशा' इति 'त्रैविद्या माम्' इत्यादौ प्रतिपाद्य ब्रह्मविद्यायाश्च

मुझको भजते हैं । 'ब्रह्म ही मैं हूँ, यों अपनेको पूर्णस्वरूपसे स्थित देखते हैं, यह अर्थ है । वे ब्रह्मनिष्ठ यति स्वच्छस्वभाव होनेके कारण सर्वदा मुझ आनन्दस्वरूप ब्रह्ममें स्वयं रहते हैं । मुझमें मेरे रूपसे ही स्थित होते हैं, यह अर्थ है । और निर्विशेष परिपूर्णरूप मैं भी उन ब्रह्मविदोंमें, चक्षुका रूपके समान उनकी वृत्तिका सर्वदा विषयीभूत होकर, स्थित होता हूँ । जैसे सर्वव्यापक सर्वसम भी आकाश स्वच्छ जल, दर्पण आदिमें प्रतिबिम्बित होकर भासता है, दीवार आदिमें नहीं, वैसे ही मैं भी सत्पुरुषोंमें भासता हूँ, असत्पुरुषोंमें नहीं । 'आत्मवित् शोकको तर जाता है' इस प्रकारकी श्रुति होनेसे जो मुझको जानते हैं, वे मुक्त हो जाते हैं और जो नहीं जानते, वे बद्ध रहते हैं, इसलिए पुरुषप्रयत्नसे लभ्य मेरा विज्ञान ही मुक्तिका कारण है, उसका अभाव बन्धका कारण है, न मैं, बन्धका कारण हूँ और न गुरु तथा शास्त्र इसलिए मेरी सर्वसमताका व्याघात नहीं है, यह भाव है । इससे जैसे शीतकी निवृत्ति पुरुषप्रयत्नसे होती है, वैसे ही भवमुक्ति भी पुरुषप्रयत्नसे होती है, स्वयं नहीं होती । इसलिए मुमुक्षुओंको मुक्तिके लिए प्रयत्न करना चाहिए, ऐसा सूचित होता है ॥ २९ ॥

'राजविद्या' इस विशेषणसे ब्रह्मविद्याको छोड़कर अन्य समस्त वेद और शास्त्रके अध्ययनसे उत्पन्न हुई सम्पूर्ण विद्याएँ बन्धक हैं, ऐसा जो पहले सूचित किया था, उसका 'मोघाशा' इसमें और

मोक्षप्रदत्वं 'महात्मानस्तु' इति 'यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्' इत्यादौ प्रतिपाद्याऽधुना 'पवित्रमिदमुत्तमम्' इति ज्ञानस्य यत् पावकतमत्वं प्रतिज्ञातं तद्विशदयति—**अपि चेत्सुदुराचार इति** ।

यः कश्चिद् ब्राह्मणो वा क्षत्रियो वाऽन्यो वा सुदुराचारः सुतरां जातितो वर्णतः क्रियातो वा स्वभावतो वाऽत्यन्तदुष्ट आचारो वृत्तं यस्य स सुदुराचारोऽपि यद्यपि पापिष्ठोऽपि वा स्यात्तथापि जन्मान्तरीयपुण्यकर्मातिशयेन सद्गुरुप्रसादात् परतत्त्वं ज्ञात्वा स्वयमनन्यभाक् अन्यदनात्मस्वरूपं कर्तृत्वभोक्तृत्वादिधर्मविशिष्टं देहेन्द्रियादिकमात्मत्वेन भजतीत्यनन्यभाक् चित्तप्रसादजनितस्वयाथात्म्यविज्ञानेन तथा न भवतीत्यनन्यभाक् सन् मा परं ब्रह्म भजते, ब्रह्मैवाऽहमित्यविक्रियं ब्रह्मैव सदा स्वमनुसंधत्ते स ब्रह्मवेत्ता साधुरेव सज्ज्ञानात् सदाचारवत्तया सत्पुरुष एवेति पण्डितैर्मन्तव्यः । पौर्विकीयां पापी दुराचार इति बुद्धिं त्यक्त्वा ब्रह्मविदेष पुण्यतम एवेति विज्ञातव्य इत्यर्थः । तस्य पुण्यतमत्वमेव निश्चिनोति—**सम्यगिति** । हि यस्मात् कारणात् स पुरुषः सम्यग्व्यवसितः व्यवसीयते वस्तुयाथात्म्यं निश्चीयतेऽनेनेति व्यवसितं विज्ञानं तत्त्वनिश्चयात्मकं सम्यक् समीचीनं व्यवसितं जातिवर्णतद्धर्मतत्कर्मसम्बन्धशून्यमाकाशवदतिनिर्मलं निष्क्रियं नित्यमुक्तस्वभावं यत्परं ब्रह्म तदेवाऽहमिति तत्त्वसाक्षात्कारजनितं स्वभावनिश्चयलक्षणं

'त्रैविद्या माम्' इत्यादिमें प्रतिपादन करके तदनन्तर ब्रह्मविद्या मोक्ष प्रदायिनी है, ऐसा 'महात्मानस्तु' इसमें और 'यान्ति मद्यान्ति नोऽपि माम्' (मेरे यजन करनेवाले मुझको ही प्राप्त होते हैं) इत्यादिमें प्रतिपादन करके अब 'पवित्रमिदमुत्तमम्' इससे ज्ञानके पावकतमत्वकी जो प्रतिज्ञा की थी उसीको स्पष्ट करते हैं—**'अपि चेत् सुदुराचार'** इत्यादिसे ।

जो कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय या दूसरा सुदुराचार (जातिसे, वर्णसे, क्रियासे या स्वभावसे अत्यन्त दुष्ट आचार—वृत्त—जिसका है, वही सुदुराचार है) यानी यद्यपि पापिष्ठ भी हो, तो भी पिछले जन्मके पुण्यकर्मके अतिशयसे सद्गुरुके प्रसादसे परतत्त्वको जानकर स्वयं अनन्यभाक् (अन्य—अनात्मस्वरूप कर्ताभोक्तापन आदि धर्मोंसे विशिष्ट देह, इन्द्रिय आदिको आत्मस्वरूपसे जो भजता है, वह अन्यभाक् है, चित्तके प्रसादसे उत्पन्न हुए अपने याथात्म्यविज्ञानसे, जो वैसा न हो, वह अनन्यभाक् है) होकर मुझ परब्रह्मको भजता है—ब्रह्म ही मैं हूँ, यों अपनेमें अविकारी ब्रह्मका ही सदा अनुसन्धान करता है, वह ब्रह्मवेत्ता साधु ही सन् ज्ञानसे सदाचारवाला होनेसे सत्पुरुष ही है, ऐसा पण्डितोंको मानना चाहिए, पूर्वकी पापी, दुराचारी' इस बुद्धिका त्यागकर यह ब्रह्मवित् पुण्यतम ही है, ऐसा जानना चाहिए, यह अर्थ है। उसके पुण्यतम होनेका ही निश्चय कराते हैं—**सम्यगिति** । जिस कारणसे वह पुरुष सम्यग्-व्यवसित (जिससे वस्तुका याथात्म्य निश्चित किया जाता है, वह व्यवसित है यानी तत्त्वनिश्चयात्मक विज्ञान, सम्यक्—समीचीन—व्यवसित—जाति, वर्ण, उनके धर्म तथा उनके कर्मके सम्बन्धसे शून्य, आकाशके समान अतिनिर्मल, निष्क्रिय, नित्यमुक्तस्वभाववाला जो परब्रह्म है, वही मैं हूँ, इस प्रकार तत्त्वसाक्षात्कारसे उत्पन्न हुआ निश्चय-

यस्य स सम्यग्व्यवसितः । यस्मात्सम्यग्ज्ञानसंपन्नस्तस्मात्साधुरेवेति सर्वैर्ज्ञातव्यः पूजनीयश्चेति भावः । 'न वासुदेवभक्तानाम्' इति 'न मे भक्तः प्रणश्यति' इत्येतद्वाक्यार्थे विचार्यमाणे त्वस्याऽर्थ एवमपि भवति—अपि चेत्सुदुराचारः ब्रह्मनिष्ठो ब्रह्मविद्यतिः स्वयं भ्रमप्रमादाभ्यां सुदुराचारोऽप्यतिनिन्दिताचारोऽपि वा यदि स्यात् एकाकितया मौनितया च भिक्षाटनं कुर्वन्नभिशस्तपतितादीनामप्यन्नाद्यशनेन वा सति देशकालवैषम्ये दुष्टान्नभक्षणेन वा क्वचिच्चाण्डालादिसम्पर्केण वाऽप्यत्यन्तदोषी भवेच्चेत् तथाप्यनन्यभाक् विषयाकारं भजतीति भाक् वृत्तिर्न विद्यतेऽन्यो मद्व्यतिरिक्तो विषयो यस्याः साऽनन्या विषयान्तरशून्या भाक् वृत्तिर्यस्य सोऽनन्यभाक् सन् 'अहमन्नमहमन्नमहमन्नादोऽहमन्नादः' इत्येतच्छ्रुत्युक्तरीत्या दाता दानं देयं च भोक्ता भोज्यं भोजनं च सर्वमहमेव ब्रह्मैवेति सर्वत्र ब्रह्मदृष्टिर्भूत्वा यो मां निर्विशेषं परं ब्रह्म भजते प्रत्यग्दृष्ट्या सर्वमिदमहं च ब्रह्मैवेत्यनुसन्धत्ते, एवं सर्वस्य स्वस्य च ब्रह्ममात्रत्वानुसन्धानमात्रेण स ब्रह्मवित्साधुरेव शुद्ध एवेति पण्डितैर्मन्तव्यो ज्ञातव्य इत्यर्थः । ननु तदनुरूपप्रायश्चित्ताभावात् कथं शुद्ध एवेति ज्ञातुं शक्यत इत्यत आह—**सम्यगिति** । 'आत्मलाभान्न परं विद्यते', 'सम्यग्दर्शनसंपन्नः कर्मभिर्न निबध्यते। दर्शनेन विहीनस्तु संस्कारं प्रतिपद्यते ॥

रूप स्वभाव—जिसका है वह सम्यक्-व्यवसित है। यतः वह सम्यक्ज्ञानसे संपन्न है, इसलिए साधु ही है, ऐसा सबको जानना चाहिए और पूजना चाहिए, यह भाव है। 'वासुदेवके भक्तोंका कभी अशुभ नहीं होता' तथा 'मेरा भक्त नष्ट नहीं होता' इन वाक्योंके अर्थका यदि विचार किया जाय, तो इस श्लोकका अर्थ ऐसा भी होता है—अपि चेत् सुदुराचारः यानी ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मवित् यति स्वयं भ्रम और प्रमादसे यदि कदाचित् अतिनिन्दित आचारवाला भी हो जाय यानी अकेला होनेके कारण तथा मौनी होकर भिक्षाटन करनेके कारण अभिशस्त, पतित आदि मनुष्यके अन्नादिका भोजन करनेसे या देशकालकी विषमता होनेपर दूषित अन्नका भोजन करनेसे एवं कहीं चाण्डाल आदिके सम्पर्कसे अत्यन्त दोषी भी हो जाय, तथापि अनन्यभाक् (विषयके आकारको जो भजती है, वह भाक् है यानी वृत्ति, मेरे सिवा अन्य आकार जिसका विद्यमान नहीं है, वह अनन्य है; दूसरे विषयसे रहित जिसकी वृत्ति है वह अनन्यभाक् है) 'मैं अन्न हूँ, मैं अन्न हूँ, मैं अन्नाद हूँ, मैं अन्नाद हूँ' इस श्रुतिमें उक्त रीतिसे दाता, दान और देय, भोक्ता, भोज्य और भोजन सब मैं ही हूँ यानी उक्त सब ब्रह्म ही है, ऐसा सर्वत्र ब्रह्मदृष्टिवाला होकर जो मुझको—निर्विशेष परब्रह्मको—भजता है अर्थात् प्रत्यक्-दृष्टिसे यह सब और मैं ब्रह्म ही हूँ, ऐसा अनुसन्धान करता है, इस प्रकार सबमें और अपनेमें ब्रह्ममात्रत्वका केवल अनुसन्धान करनेसे वह ब्रह्मवित् साधु ही है—शुद्ध ही है, ऐसा पण्डितोंको मानना चाहिए, जानना चाहिए, यह अर्थ है। यदि शङ्का हो कि उसके अनुसार प्रायश्चित्त न होनेके कारण वह शुद्ध ही है, ऐसा कैसे जाना जा सकता है, तो इसपर कहते हैं—'**सम्यगिति**। 'आत्मलाभको छोड़कर दूसरा कोई लाभ ही नहीं है', 'सम्यग्दर्शनसे युक्त पुरुष कर्मसे बांधा

प्रायश्चित्तं ब्रह्मविदो यतेस्तु ब्रह्मवेदनम् । दोषप्रसक्तावन्यन्न शास्त्रदृष्टं विधीयते ॥
अतिपापप्रसक्तोऽपि ध्यायन्निमिषमच्युतम् । भूयस्तपस्वी भवति पङ्क्तिपावनपावनः ॥
प्रायश्चित्तान्यशेषाणि तपः कर्मात्मकानि वै । यानि तेषामशेषाणां कृष्णानुस्मरणं परम् ॥
यदि कुर्यात्प्रमादेन योगी कर्म विगर्हितम् । योगेनैव दहेदंहो नाऽन्यत्तत्र कदाचन ॥
स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः । विपरीतस्तु दोषः स्यादुभयोरेष निश्चयः ॥'
इत्यादिवचनैर्ज्ञानिनो ज्ञानमेव प्रायश्चित्तमिति मन्वादीनां यन्निश्चितं तत्तु व्यवसितं समीचीनं व्यवसितं यस्य स सम्यग्व्यवसितः समीचीनप्रायश्चित्तवानेवेत्यर्थः । 'तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ', 'यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते' इति, 'न लिप्यते कर्मणा पापकेन' 'उभे ह्येवैष एते तरति' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धिप्रकाशनार्थो हिशब्दः ।

अतिपापेति वचनस्याऽयमर्थः—अतिपापप्रसक्तोऽपि ब्रह्मविद्यतिर्भ्रमप्रमादाभ्यां वा देशकालादिवैषम्ये दुष्टान्नभक्षणलक्षणमत्यन्तपापं कृत्वाऽपि निमिषं क्षणार्धमच्युतं नित्यकूटस्थमसङ्गमात्मानं ध्यायन् 'अकर्ताऽहमभोक्ताऽहमविकारोऽहमक्रियः' इति कर्तृकरणकार्येभ्यो भिन्नं स्वं निष्क्रियमेव परं ब्रह्म पश्यन्नित्यर्थः । तपस्वी

नहीं जाता, आत्मदर्शनसे विहीन पुरुषके लिए संस्कार होता है । ब्रह्मवित् यतिके लिए प्रायश्चित्त तो केवल ब्रह्मज्ञान ही है, दोषका प्रसङ्ग होनेपर शास्त्रविहित अन्य प्रायश्चित्तका विधान नहीं किया जाता है । महापातकसे युक्त होनेपर भी निमिषमात्र अच्युतके ध्यानके प्रभावसे फिर तपस्वी पंक्तिपावनोंको भी पवित्र करनेवाला हो जाता है, जितने तप और कर्मरूप प्रायश्चित्त हैं, उन सबमें कृष्णका अनुस्मरण सर्वोत्तम प्रायश्चित्त है । यदि प्रमादसे योगी निन्दित कर्म कर भी ले, तो भी योगसे ही वह उस पापको जलावे, अन्य किसीका आश्रयण न करे । अपने-अपने अधिकारमें जो निष्ठा है, वह गुण कहा गया है, विपरीत तो दोष है, यों गुण और दोष दोनोंका निश्चय है ।' इत्यादि वचनोंसे ज्ञानीका ज्ञान ही प्रायश्चित्त है, ऐसा मनु आदि द्वारा जो निश्चित है, वह भली भाँति जिसको व्यवसित है, वह सम्यग्व्यवसित है यानी समीचीन प्रायश्चित्तवाला, यह अर्थ है । 'उसके जाननेपर आगेके और पहलेके पापोंका असम्बन्ध और विनाश होता है ।' 'जैसे कमलके पत्तेको जल नहीं छूता, वैसे ही इस प्रकार जाननेवालेको पापकर्म नहीं छूता', 'पापकर्मसे लिप्त नहीं होता', 'यह इन दोनोंको ही तर जाता है ।' इत्यादि श्रुतियोंकी प्रसिद्धि बतलानेके लिए 'हि' शब्द है ।

'अतिपाप' इत्यादि श्लोकका यह अर्थ है—अतिपापमें असक्त भी यति ब्रह्मवित् यति यानी भ्रमसे या प्रमादसे देशकाल आदिकी विषमता होनेपर दुष्ट अन्नभक्षणरूप बड़े पापको करके भी ब्रह्मविद् यति निमिषमात्र (केवल आधे क्षण) अच्युतका—नित्य कूटस्थ असङ्ग आत्माका—ध्यान करता हुआ ('मैं अकर्ता, मैं अभोक्ता, मैं अविकारी, मैं अक्रिय' इस प्रकार अपनेको कर्ता, करण और कार्यसे भिन्न निष्क्रिय परब्रह्म देखता हुआ, यह अर्थ है) तपस्वी—

'शुचिदीनर्षिव्रतिनो वनस्थाश्च तपस्विनः' इत्यभिधानात् भूयः पुनरपि तपस्वी शुचिर्भवति पुनरपि तपःसंपन्नो वा । ननु ब्रह्मध्यानेन शुद्ध एव भवति तथाऽप्ययं व्यवहारायोग्य एवेत्यत आह—पङ्क्तीति । ये त्रिसुपर्णं पठितारः ये च चतुर्वेदिनः ये वा वाजपेयचयनादिक्रतुकर्तारस्ते सर्वे पङ्क्तिपावनास्तानप्ययं पूजानमस्कारादिभिः पुनातीति पङ्क्तिपावनपावनः सर्वेषां पूज्यश्च भवतीत्यर्थः । प्रायश्चित्तानीत्यस्याऽयमर्थः—यान्यशेषाणि कृच्छ्रातिकृच्छ्रमहाकृच्छ्रचान्द्रायणादीनि प्रायश्चित्तानि तपोरूपाणि यानि वाजपेयराजसूयाश्वमेधादीनि कर्मात्मकान्यशेषाणि प्रायश्चित्तानि । वै प्रसिद्धौ । शास्त्रप्रसिद्धानीत्यर्थः । तेषामशेषाणामपि प्रायश्चित्तानाम् । पञ्चम्यर्थे षष्ठी । तेभ्यः सर्वेभ्यः कृष्णानुस्मरणं परम् । 'कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः । तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते' इति स्मरणात् कृष्णः सदानन्दस्वरूपः परमात्मा परं ब्रह्म तस्याऽनुस्मरणं अविक्रियं ब्रह्मैवाऽहमिति गुरूपदेशानुरूपेण स्वात्मनाऽनुभव एव परमुत्कृष्टतमं सुकरं च प्रायश्चित्तम् । अत्राऽयमभिप्रायः—यत्पापमुद्दिश्य कृच्छ्रादि क्रियते तेन तत्पापमेव गच्छति न त्वन्यत्सञ्चितं चाऽऽगामि च । कृष्णानुस्मरणं तु 'अहं ब्रह्मेति मां ध्यायन्नेकाग्रमनसा सकृत् । सर्वं तरति पाप्मानं कल्पकोटिशतैः कृतम् ॥'

'शुचि, दीन, ऋषि, व्रती तथा वनस्थ तपस्वी कहलाते हैं इस कोषसे फिर भी तपस्वी (शुचि) होता है या फिर भी तपसे सम्पन्न होता है । यदि ब्रह्मके ध्यानसे शुद्ध ही होता है, तो भी यह व्यवहारके अयोग्य ही है, इसपर कहते हैं--पङ्क्तीति । जो त्रिसुपर्णके पढ़नेवाले और जो चतुर्वेदी अथवा जो वाजपेय, चयन आदिके कर्ता हैं, वे सब पङ्क्तिपावन हैं, उनको वह पूजा, नमस्कार आदिसे पवित्र करता है, इसलिए पङ्क्तिपावनपावन यानी सबका पूज्य होता है, यह अर्थ है । प्रायश्चित्त, इसका यह अर्थ है--कृच्छ्र, अतिकृच्छ्र, महाकृच्छ्र चान्द्रायण आदि तपरूप जो अशेष प्रायश्चित्त हैं, जो कर्मरूप वाजपेय, राजसूय, अश्वमेध आदि अशेष प्रायश्चित्त प्रसिद्ध हैं । वैशब्द प्रसिद्धार्थक है, शास्त्रोंमें प्रसिद्ध, यह अर्थ है । उन अशेष प्रायश्चित्तोंका । पञ्चमीके अर्थमें षष्ठी है । उन सबसे कृष्णका अनुस्मरण परम प्रायश्चित्त है । कृष्णशब्दमें कृष् धातु भू वाचक है और ण आनन्दका वाचक है', उन दोनोंका ऐक्य परब्रह्म कृष्ण कहलाता है' इस स्मरणसे सदानन्दस्वरूप परमात्मा परं ब्रह्म हैं कृष्णका अनुस्मरण--अविकारी ब्रह्म मैं ही हूँ, ऐसा गुरुके उपदेशके अनुसार अपने स्वरूपसे अनुभव—ही परम--उत्कृष्टतम—और सुकर प्रायश्चित्त है । यहाँ यह अभिप्राय है--जिस पापके उद्देशसे जो कृच्छ्र आदि किया जाता है, उससे वही पाप नष्ट होता है, अन्य सञ्चित या आगामी नहीं । कृष्णका अनुस्मरण तो 'मैं ब्रह्म हूँ ऐसे मुझको एकाग्र मनसे एकबार ध्यान करता हुआ सैकड़ो करोड़ों कल्पोंमें किये गये सम्पूर्ण पापोंसे तर जाता है' इस न्यायसे सैकड़ों करोड़ों कल्पोंमें

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ ३१ ॥

ब्रह्मवित् यति [मेरे ध्यानसे] शीघ्र ही पुण्यात्मा हो जाता है और पुनरावृत्तिरहित विदेहमुक्तिको प्राप्त होता है, हे कौन्तेय, मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता, ऐसा तुम निश्चयरूपसे जानो ॥ ३१ ॥

इति न्यायेन शतकोटिकल्पार्जितं भूतं भवच्च भावि च सर्वं पापं पुण्यं च विध्वस्य मोक्षं प्रयच्छत्यतो ब्रह्मानुसन्धानं सर्वोत्तमं प्रायश्चित्तमिति ॥ ३० ॥

कुर्वन्तु नाम कृच्छ्रचान्द्रायणाश्वमेधादीनि तपःकर्मात्मकानि प्रायश्चित्तानि तथापि तेषु यथोक्तदेशकालद्रव्यमन्त्रतन्त्रादिनियमावैकल्येन कृतेष्वेव शुद्धिः सिद्ध्यति, तत्राऽपि षड्रात्रद्वादशरात्रपक्षमाससंवत्सरादिव्यवधानेन दैर्घकालिकी शुद्धिः सा च पारोक्षिकी न तथा मद्ध्यानेनेत्याह—**क्षिप्रमिति ।**

ब्रह्मविद्यतिर्मद्ध्यानेन क्षिप्रं शीघ्रमेवोत्तरक्षणे प्रत्यग्वृत्त्या त्वस्याऽविक्रियब्रह्मात्मत्वदर्शनसमकाल एव धर्मात्मा पुण्यात्मा शुद्धो भवति न तत्र नियमावैकल्यं कालदैर्घ्यं पापनिवृत्तेः पारोक्ष्यं चाऽस्तीत्यर्थः । एतावन्मात्रमेव न भवत्यपि तु शश्वच्छाश्वतीं शान्तिं मुक्तिं निगच्छति । पुनरावृत्तिरहितां विदेहमुक्तिं प्राप्नोत्येवेत्येतदर्थनिश्चयार्थो नीत्युपसर्गः । ब्रह्मविद्यतेरन्तरागतदोषविशेषैर्मुक्तिर्न प्रतिबध्यत एवेत्यस्मिन्नर्थे प्रतिज्ञां कुर्वित्याह—**कौन्तेयेति ।** ब्रह्मैवाऽहमिति ज्ञानयोगबलेन ब्रह्मभावं भजतीति भक्तो

किये गये भूत, वर्तमान और भावी सब पुण्य और पापोंको नष्ट करके मोक्षको प्राप्त कराता है, इसलिए ब्रह्मका अनुसन्धान सबसे उत्तम प्रायश्चित्त है ॥ ३० ॥

यद्यपि कृच्छ्र, चान्द्रायण, अश्वमेध आदि तप और कर्मरूप प्रायश्चित्त भले ही करें, तो भी उनमें—यथोक्त देश, काल, द्रव्य, मन्त्र-तन्त्र आदि नियमोंकी अविकलतासे किये जानेपर शुद्धि होती है, उसमें भी षड्रात्र, द्वादशरात्र, पक्ष, मास संवत्सर आदि व्यवधानसे जो दीर्घकालमें होनेवाली शुद्धि है, वह परोक्षमें होनेवाली है, मेरे ध्यानसे होनेवाली शुद्धि ऐसी नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'क्षिप्रम्'** इत्यादिसे ।

ब्रह्मवित् यति मेरे ध्यानसे शीघ्र उत्तर क्षणमें ही यानी प्रत्यक्वृत्तिसे अपने अविक्रिय ब्रह्मात्मत्वके दर्शनके समकालमें ही धर्मात्मा—पुण्यात्मा—शुद्ध होता है, उसमें नियमकी अविकलता, कालकी दीर्घता और पापकी निवृत्तिकी परोक्षता नहीं होती, यह अर्थ है । केवल इतना ही नहीं होता, किन्तु शश्वत्—शाश्वती—शान्तिको—मुक्तिको—प्राप्त होता है । पुनरावृत्तिरहित विदेहमुक्तिको प्राप्त होता ही है, इस अर्थके निश्चयके लिए 'नि' उपसर्ग है । ब्रह्मवित् यतिकी बीचमें आये हुए दोषविशेषोंसे मुक्ति रुकती ही नहीं है, इस अर्थमें प्रतिज्ञा कर, ऐसा कहते हैं—**'कौन्तेय'** इति । ब्रह्म ही मैं हूँ, इस ज्ञानयोगके बलसे ब्रह्मभावको जो भजता है, वह भक्त—ब्रह्मवित्

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥ ३२ ॥

हे अर्जुन, स्त्रियाँ, वैश्य और शूद्र तथा इनसे अतिरिक्त जो भी कोई अन्य पापयोनि (नीच कर्म करनेवाले म्लेच्छ आदि) हैं, वे भी मेरी उपासनासे परम गतिको प्राप्त होते हैं ॥ ३२ ॥

ब्रह्मवित् हे कौन्तेय, मे मम भक्तो ब्रह्मनिष्ठो ब्रह्मविद्यतिर्न प्रणश्यति, मध्ये प्राप्तब्रह्मनिष्ठाविघ्नदोषेण दुर्गतिं दुर्योनिं वा न गच्छति, किन्तु विघ्नकोटीः सर्वा मदनुग्रहेण मन्निष्ठया च निर्मूल्य विदेहमुक्तिं प्राप्नोत्येव नाऽत्र संशयः, त्वमस्मिन्नर्थे प्रतिजानीहि भगवद्भक्तो ब्रह्मविन्न नश्यतीति प्रतिज्ञां कुरु । 'योगक्षेमं वहाम्यहम्' इति मया प्रतिज्ञातत्वादीश्वरैकशरणानां ब्रह्मविदां ब्रह्मनिष्ठानां न विघ्नैर्मुक्तिः प्रतिहन्यत इति गजघण्टया घोषयेत्यर्थः ॥ ३१ ॥

एवमुपक्रान्तज्ञानस्य माहात्म्यं तत्फलं च प्रतिपाद्याऽधुना 'सुसुखं कर्तुम्' इति यदुक्तं तद्विशदयति—**मां हीति** द्वाभ्याम् ।

स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रा येऽपि स्युरन्ये पापयोनयो नीचजन्मानो ये नीचकर्माणश्च म्लेच्छपुक्कसादयस्तेऽपि मां परमात्मानं सोपाधिकं निरुपाधिकं वा सद्गुरूपदेशजनितज्ञानेन व्यपाश्रित्य सम्यगुपास्य क्रमेण साक्षाद्वा परां गतिं परमपुरुषार्थं कैवल्यं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । हिशब्दः 'किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा आभीरकङ्का यवनाः खशादयः । येऽन्ये

हे कौन्तेय, मेरा भक्त—ब्रह्मवित् ब्रह्मनिष्ठ यति—नष्ट नहीं होता—मध्यमें प्राप्त हुए ब्रह्मनिष्ठाविघ्नरूप दोषसे दुर्गतिको या दुर्योनिको प्राप्त नहीं होता, किन्तु करोड़ों विघ्नोंको मेरे अनुग्रहसे और मेरी निष्ठासे उच्छिन्न करके विदेहमुक्तिको प्राप्त होता ही है, इसमें संशय नहीं है, तुम इस अर्थमें प्रतिज्ञा करो यानी भगवद्भक्त ब्रह्मवित् यति नष्ट नहीं होता, ऐसी प्रतिज्ञा करो । 'योगक्षेमका मैं वहन करता हूँ' ऐसी मेरी प्रतिज्ञा होनेसे ईश्वरकी ही शरण लेनेवाले ब्रह्मविद् ब्रह्मनिष्ठोंकी मुक्ति विघ्नोंसे प्रतिबद्ध नहीं होती, यों हाथीके घण्टेसे घोषणा करो, यह अर्थ है ।

इस प्रकार आरब्ध ज्ञानका माहात्म्य और फल कहकर अब 'सुसुखं कर्तुम्' ऐसा जो कहा था, उसे स्पष्ट करते हैं—**'मां हि'** इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

स्त्रियाँ, वैश्य, शूद्र तथा जो अन्य पापयोनि—नीच जन्मवाले और नीच कर्म करनेवाले म्लेच्छ, पुक्कस आदि—हैं, वे भी मुझ सोपाधिक या निरुपाधिक परमात्माका सद्गुरुके उपदेशसे उत्पन्न हुए ज्ञानसे आश्रयण करके यानी ठीक-ठीक उपासना करके क्रमसे या साक्षात् परम गतिको—परम पुरुषार्थको—यानी कैवल्यको प्राप्त होते हैं, यह अर्थ है । 'किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, कङ्क, यवन, खस आदि जो अन्य पापी हैं, वे जिसके उपाश्रयके (भक्तोंके) आश्रयसे शुद्ध

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥ ३३ ॥

जब निरक्षर स्त्री आदि मेरे भजनसे मुक्त हो जाते हैं, तब उत्तम जातिवाले ब्राह्मण तथा राजर्षि भक्त होकर मुक्त हो जाते हैं, इसमें तो कहना ही क्या है ? [इसलिए हे अर्जुन, तुम] अनित्य, दुःखस्वरूप इस मुक्तिसाधन देहको प्राप्त कर सदा मेरा भजन करो ॥ ३३ ॥

च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः शुद्ध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः' इत्यादिशास्त्रप्रसिद्धि-द्योतनार्थः । एतेन स्त्रीशूद्रादीनामपि शास्त्रप्रज्ञाशून्यानां ज्ञानतत्फलप्राप्तिप्रतिपादनेन ज्ञानस्याऽतिसुलभत्वं सूचितं भवति ॥ ३२ ॥

श्रवणमननाद्ययोग्यानामनक्षरमुखानामपि स्त्रीशूद्रादीनां ज्ञानतत्फलसिद्धौ किमुत वेदशास्त्राध्ययननिपुणानां सद्धर्मनिष्ठानां ब्राह्मणादीनां ज्ञानं तत्फलं च सेत्स्यतीति कैमुतिकन्यायेन ज्ञानस्याऽतिसुलभत्वं सूचयन् शुद्धात्मनः सदसद्विवेकिनो ब्राह्मणादीन् मुमुक्षून् ज्ञानतत्फलसंपादने प्रवर्तयितुमाह—**किं पुनरिति ।**

पुण्या उत्तमजातयः अथवा पुण्यकर्माणः शुद्धात्मानो वा ब्राह्मणाः श्रोत्रियाः पुनस्तथा तथाविधा राजर्षयो राजसत्तमाः श्रवणादिभिर्लब्धज्ञानसम्पत्त्या भक्ता मन्निष्ठासम्पन्ना भूत्वा परां निरतिशयानन्दरूपत्वादुत्तमां गतिं ज्ञानेन गम्यत इति गतिः विदेहमुक्तिस्तां यान्तीति किमु वक्तव्यमित्यर्थः । ननु पुरुषार्थे इत्यत्र बहुव्रीहिर्वा कर्म-

---

होते हैं, उस प्रभविष्णु भगवान्के लिए नमस्कार है ।' इत्यादि शास्त्रप्रसिद्धि बतलानेके लिए 'हि' शब्द है। इससे सूचित होता है कि शास्त्रप्रज्ञासे शून्य स्त्री, शूद्र आदिके लिए भी ज्ञान और उसके फलकी प्राप्तिका प्रतिपादन होनेसे ज्ञान अति सुलभ है ॥ ३२ ॥

जब श्रवण, मनन, आदिके अयोग्य निक्षर स्त्री, शूद्र आदिको भी ज्ञान और उसका फल प्राप्त होना है, तब फिर वेदशास्त्रके अध्ययनमें निपुण सद्धर्मनिष्ठावाले ब्राह्मण आदिको ज्ञान और उसका फल प्राप्त होगा, इसमें तो कहना ही क्या है ? यों कैमुतिकन्यायसे ज्ञानकी अति सुलभताका सूचन करते हुए शुद्धात्मा तथा सदसत्-विवेकी ब्राह्मण आदि मुमुक्षुओंको ज्ञान और उसके फलका सम्पादन करनेमें प्रवृत्त करानेके लिए कहते हैं—**'किं पुनः'** इत्यादिसे ।

पुण्य—उत्तम जातिवाले अथवा पुण्य कर्मवाले या शुद्धात्मा श्रोत्रिय ब्राह्मण—तथा (तथाविध) राजर्षि—राजसत्तम—श्रवण आदिसे प्राप्त हुई ज्ञानसम्पत्तिसे भक्त यानी मेरी निष्ठासे सम्पन्न होकर परा—निरतिशय आनन्दरूप होनेसे उत्तम—गतिको (ज्ञानसे जो प्राप्त होती है, वह गति है यानी विदेहमुक्ति, उसको) प्राप्त होते हैं, इसमें तो कहना ही क्या, यह अर्थ है ।

धारयो वा तत्पुरुषो वा ? नाऽऽद्यो न द्वितीयश्च, अर्थसाङ्गत्याभावात् । न तृतीयोऽपि द्वितीयाचतुर्थीपञ्चमीषष्ठीसप्तमीतत्पुरुषः, अयोग्यार्थत्वात् । ननु पुरुषस्य योग्योऽर्थः पुरुषार्थ इति षष्ठीतत्पुरुष उपयुज्यत एवेति चेत् , न; धर्मादौ स्त्रीणामयोग्यत्वप्रसङ्गात्परिशेषात्पुरुषेण साध्योऽर्थः पुरुषार्थ इति मोक्षस्यैव पुरुषार्थत्वं न तु धर्मार्थादेः, धर्मार्थकामानां स्त्रीसाध्यत्वसंभवात् । 'भर्तृशुश्रूषणं स्त्रीणामग्निहोत्रनिषेवणम्' इति स्त्रीणामपि स्वधर्मः शास्त्रीयः साध्यो विद्यत एव, ततो धर्मस्याऽस्त्येव स्त्रीसाध्यता, तथैवाऽर्थस्य कामस्याऽपि न तु मोक्षस्य, तासां वेदशास्त्राध्ययनतदर्थविचारयोग्यत्वाभावात्; तथैव शूद्रजातेरपि, 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः' इत्यात्मसाक्षात्कारमुद्दिश्य श्रवणविधानात् । ननु तासां वेदान्ताध्ययनयोग्यत्वाभावेऽपि श्रवणयोग्यताऽस्त्येवेति चेत् , न; 'मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः' इति मननशक्त्यसंभवात् । पदवाक्यप्रमाणज्ञस्यैव वेदान्तविचारमननतदर्थाध्यवसायसामर्थ्यं युज्यते नेतरस्य पुरुषस्याऽपि किमुत स्त्रीणां न युज्यत इत्यतः स्त्रीणां मोक्षसाधनसम्पादनायोग्यत्वात् न मोक्षाधिकारः यथा पुरुषाणाम् । ततः पुरुषेण साध्योऽर्थः पुरुषार्थ इति मोक्षस्यैव मुख्यं पुरुषार्थत्वं धर्मादेस्तु गौणम् । ननु धर्मोऽपि

'पुरुषार्थ' इस शब्दमें बहुव्रीहि समास है या कर्मधारय है या तत्पुरुष है ? पहला और दूसरा पक्ष तो युक्त है नहीं, क्योंकि ऐसा माननेसे अर्थकी सङ्गति नहीं हो सकती । तीसरा पक्ष भी—दूसरी, चौथी, पाँचवीं, छठी या सातवीं विभक्तिके साथ तत्पुरुष भी—नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा करनेसे योग्य अर्थ नहीं होता । पुरुषका योग्य अर्थ पुरुषार्थ, यों षष्ठी तत्पुरुष प्रकृतमें उपयुक्त है ही, ऐसा यदि कहो, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि धर्म आदिमें स्त्रियोंकी अयोग्यताका प्रसङ्ग हो जायगा, इसलिए परिशेषसे पुरुषसे साध्य अर्थ पुरुषार्थ, यही कहना चाहिए, इससे मोक्षमें ही पुरुषार्थत्व होगा, धर्म आदिमें नहीं, क्योंकि धर्म, अर्थ और काम तो स्त्रियोंसे साध्य हो सकते हैं । 'भर्ताकी सेवा, अग्निहोत्रसेवन स्त्रियोंका भी धर्म है' इससे स्त्रियोंका भी शास्त्रीय साध्य धर्म विद्यमान है ही, इसलिए धर्म स्त्री द्वारा साध्य है ही, इसी प्रकार अर्थकी और कामकी भी स्त्री द्वारा साध्यता है, मोक्षकी नहीं है, क्योंकि उनमें वेद-शास्त्र पढ़ने और उसके अर्थके विचारकी योग्यता नहीं है, इसी प्रकार शूद्र जातिका भी समझना चाहिए, क्योंकि 'अरे आत्मा ही देखने योग्य, सुनने योग्य है' इससे आत्मसाक्षात्कारके उद्देशसे श्रवणका विधान है । यदि कहो कि उनमें वेदान्तके अध्ययनकी योग्यता न होनेपर भी श्रवणकी योग्यता तो है ही, तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि युक्तियोंसे मनन करना चाहिए' इस वचनसे उनमें मननकी शक्ति नहीं है । पद, वाक्य और प्रमाण जाननेवालेको ही वेदान्तविचार और उसके अर्थके समझनेकी सामर्थ्य है, दूसरे पुरुषको नहीं, फिर स्त्रियोंको कहाँसे होगी ? इसलिए स्त्रियोंमें मोक्षके साधनोंका संपादन करनेकी योग्यता न होनेसे, मोक्षका अधिकार नहीं है जैसे कि पुरुषोंको है । इसलिए पुरुषसे साध्य अर्थ पुरुषार्थ है, इससे मोक्ष ही मुख्य पुरुषार्थ है, धर्म आदि तो गौण हैं । यदि कहो कि धर्म भी मोक्षके समान

मोक्षवत् पुरुषेण साध्य एवाऽर्थो भवति । 'उदिते सूर्ये प्रातर्जुहोति', 'अहरहर्यजमानः स्वयमेवाऽग्निहोत्रं जुहोति', 'विद्वान् यजते' इति धर्मस्याऽपि पुरुषार्थत्वश्रवणादिति चेत्, न; अग्निहोत्रादेः स्त्रीपुरस्कारकत्वेन केवलपुरुषसाध्यत्वासंभवाद्धर्मानुष्ठानस्य ज्ञानसिद्धेरङ्गत्वात्तत्साध्यमोक्षस्यैव प्रधानत्वं धर्मस्य गुणभावस्तेन मोक्ष एव पुरुषार्थ इति स्थितम् । ननु स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रा इति स्त्रीशूद्राणामपि ज्ञानं तत्फलसिद्धिश्च प्रतिपाद्यत इति चेत्, न; तद्वचनस्य स्त्रीशूद्रादीनामपि ज्ञानतत्फलसिद्धौ किमुत ब्राह्मणादीनां ज्ञानं तत्फलं च सिद्ध्यतीति ज्ञानतत्फलसौलभ्यप्रतिपादनपरत्वेन स्वार्थे तात्पर्याभावात्, ततो न स्त्रीणां ज्ञानाधिकारः । ननु गार्गीसुलभादिस्त्रीणां धर्मव्याधादिशूद्राणां च ज्ञानसम्पत्तिः श्रूयते कथं स्त्रीशूद्रादीनां ज्ञानानधिकार इति चेद्, उच्यते—धर्मव्याधः पूर्वं ब्राह्मणो ज्ञाननिष्ठः सन्नेव ब्राह्मणशापेन शूद्रो जातस्तत्राऽपि प्राक्तनपुण्यकर्मविशेषादेव ज्ञानी च । यथा ज्ञानिन एव ब्राह्मणस्य दुष्कर्मवशात् शूद्रयोनिस्तथा ब्राह्मणानामेव कर्मविशेषात् स्त्रीयोनिरुपयुज्यते । तासामपि तज्ज्ञानं प्राग्भवीयमेव न त्वाधुनिकम्, स्त्रीणां वेदान्ताध्ययनतदर्थविचारानधिकारात् । अत एव ततः सिद्धं पुरुषेण साध्योऽर्थः पुरुषार्थो मोक्ष एवेति । सोऽयं मोक्षः पुंस्त्वसिद्धेः साफल्याय पुरुषेण सदसद्विवेकवता मुमुक्षुणा सत्साधन-

---

पुरुषसे साध्य होनेसे पुरुषार्थ है, क्योंकि 'सूर्यका उदय होनेपर सबेरे हवन करता है', 'दिन-दिन यजमान स्वयं ही अग्निहोत्र करता है', 'विद्वान् यजन करता है' इससे धर्म भी पुरुषार्थ सुननेमें आता है, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि अग्निहोत्र आदिका स्त्रीके सहित अनुष्ठान होनेसे वे केवल पुरुषसे साध्य नहीं हैं और धर्मका अनुष्ठान ज्ञानसिद्धिका अङ्ग है, अतः साध्य मोक्ष ही प्रधान है, धर्म गौण है, इसलिए मोक्ष ही पुरुषार्थ है, यह सिद्ध हुआ । यदि कहो कि 'स्त्री, वैश्य और शूद्र' इत्यर्थक वाक्यसे स्त्री-शूद्रोंके लिए भी ज्ञानका और उनके फलकी सिद्धिका प्रतिपादन किया है, तो यह कहना युक्त नहीं है, क्योंकि वह वचन—'स्त्री-शूद्रोंको भी जब ज्ञान और उसका फल सिद्ध हो जाता है, तब ब्राह्मण आदिको ज्ञान और उसका फल सिद्ध होता है, इसमें तो कहना ही क्या, इस प्रकार ज्ञान और उसके फलकी सुलभताका—प्रतिपादक होनेसे स्वार्थमें उसका तात्पर्य नहीं है, इसलिए स्त्रियोंको ज्ञानका अधिकार नहीं है । यदि कहो कि गार्गी, सुलभा आदि स्त्रियोंकी और धर्मव्याध आदि शूद्रोंकी भी ज्ञानसंपत्ति सुननेमें आती है, फिर स्त्री-शूद्रोंको ज्ञानका अधिकार कैसे नहीं है ? तो इसपर कहते हैं कि धर्मव्याध पूर्वजन्ममें ज्ञाननिष्ठ ब्राह्मण होकर ही ब्राह्मणके शापसे शूद्रयोनिमें उत्पन्न हुआ, उसमें भी पूर्वपुण्यकर्मविशेषसे ज्ञानी भी हुआ । जैसे ज्ञानी ब्राह्मणको दुष्कर्मवशसे शूद्र योनि मिलती है, वैसे ही ब्राह्मणोंको ही कर्मविशेषसे स्त्रीयोनि हो सकती है । उनका भी वह ज्ञान पूर्वका ही है, अबका नहीं, क्योंकि स्त्रियोंको वेदान्तके पढ़ने और उसके विचारमें अधिकार नहीं है । इसलिए उससे सिद्ध हुआ कि पुरुष द्वारा साध्य अर्थ पुरुषार्थ मोक्ष ही है । सत् और असत्के विवेकवाले मुमुक्षु पुरुषको पुरुषत्वसिद्धिकी सफलताके लिए इस मोक्षका सत्साधन संन्यासपूर्वक संपादन करना चाहिए,

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ ३४ ॥

[हे अर्जुन, तुम] यह सब वासुदेव ही है, यों सम्पूर्ण जगत्में सदा मेरी भावना करो, मेरे भक्त होओ, मेरी ही श्रौत और स्मार्त कर्मोंसे उपासना करो, मुझे नमस्कार करो और मेरी शरणमें रहो, यों कर्मयोगसे मेरी उपासना कर अन्तमें मुझ परब्रह्मको ही क्रमशः प्राप्त होओगे ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

संन्यासपूर्वकं प्रयत्नेन संपादनीय इति बोधयितुमिदमाह—**अनित्यमिति** । नित्यो न भवतीत्यनित्यः 'मघवन्मर्त्यं वा इदं शरीरमात्तं मृत्युना' इति देहस्य मृत्युग्रस्तत्वश्रवणादनित्योऽनिश्चितस्वभावः श्वः स्थास्यतीति विश्वसितुमयोग्य इत्यर्थस्तमनित्यम् । एतेन 'श्वः कार्यमद्य कुर्वीत' इति न्यायेन कालमविलम्ब्य पुरुषार्थसिद्धये धीमता क्षिप्रमेव प्रयतितव्यमिति सूचितम् । किञ्च, असुखं दुःखात्मकमाध्यात्मिकाद्युपद्रवकोटिग्रस्तत्वात् दुःखस्वरूपम् । एतेन यदा स्वस्थता देहस्य तदैव मोक्षाय यतितव्यमिति सूचितम् । लोक्यत इति वाऽऽत्मस्वरूपं लोकयतीति वा लोको मानवो देहस्तमिमं मुक्तिसाधनं प्राप्य देहः क्षणभङ्गुरो दुर्लभश्च मानुष इति ज्ञात्वा तीव्रमोक्षेच्छावैराग्याभ्यां तु मां परमात्मानं मुक्तिप्रदातारं सोपाधिकं वा निरुपाधिकं वा भजस्व । श्रद्धाभक्तिभ्यामनुसन्धेहि । यदि निर्विशेषविषयं ज्ञानमुपदिष्टं तेऽस्ति तदा निर्विशेषमेव मां महात्मानस्त्वित्युक्तरीत्या त्वमभेदेन भजस्व । तदभावे सोपाधिकमेव भेदेन भजस्वेत्यभिप्रायः ॥ ३३ ॥

ऐसा बोधन करनेके लिए यह कहते हैं—**अनित्यमिति** । जो नित्य न हो, वह अनित्य है, 'हे इन्द्र, मृत्युसे ग्रस्त यह शरीर मरणशील है' इस प्रकार देहका मृत्युग्रस्त होना सुननेमें आता है, अतः अनित्य है—अनिश्चित स्वभाववाला है—यानी कल रहेगा, इस प्रकार विश्वास करनेके अयोग्य है, यह अर्थ है । इससे यह सूचित किया कि 'कलके कार्यको आज करे' इस न्यायसे कालका विलम्ब न करके बुद्धिमान्को शीघ्र ही प्रयत्न करना चाहिए । किञ्च, असुख—दुःखात्मक—यानी आध्यात्मिक आदि करोड़ों उपद्रवोंसे ग्रस्त होनेके कारण दुःखस्वरूप । इससे यह सूचित किया कि जब देह स्वस्थ हो, तभी मोक्षके लिए यत्न करना चाहिए । जो देखा जाता है, अथवा जो आत्मस्वरूपको दिखलाता है, वह लोक है यानी मानव देह, उस मुक्तिके साधनको प्राप्त करके 'मानुष देह क्षणभङ्गुर और दुर्लभ है' ऐसा जानकर तीव्र मोक्षेच्छा और वैराग्यसे मेरा—मुक्ति देनेवाले सोपाधिक या निरुपाधिक परमात्माका—भजन करो यानी श्रद्धाभक्तिसे अनुसन्धान करो । यदि निर्विशेष विषयके ज्ञानका तुम्हें उपदेश मिला है, तो मुझ निर्विशेषको ही 'महात्मानस्तु' इससे कही गई रीतिसे तुम अभेदसे भजो, उसके अभावमें सोपाधिकको ही भेदसे भजो, यह अभिप्राय है ॥ ३३ ॥

निर्विशेषज्ञानानधिकारिणो मम सोपाधिकस्य तव भजनं कथं कर्तव्यमिति चेत्, उच्यते, शृणु—**मन्मना इति ।**

मन्मनाः 'भूतानि विष्णुः' इति न्यायेन सर्वात्मके मयि लग्नं मनो यस्य स त्वं मन्मना भव । 'वासुदेवः सर्वम्' इति जगत्सर्वं मामेव सदा भावय । यद्वा 'मनो मोक्षे निवेशयेत्' इति स्मरणान्मय्यानन्दात्मनि मोक्षस्वरूपे संस्थापितं मनो यस्य स मन्मना मोक्ष एवैकस्मिन् पुरुषार्थेऽतिसंसक्तमना भव । न तु धर्मफले चाऽर्थे च कामे चेत्यर्थः । मुमुक्षोरेवं मोक्षैककामत्वमुक्त्वा तस्य कर्तव्यमाह—**मद्याजीति ।** मामेव परमेश्वरं श्रौतैः स्मार्तैश्च कर्मभिर्यष्टुं शीलमस्याऽस्तीति मद्याजी भव । मामेव कर्मभिर्यजस्वेत्यर्थः । कर्मकरणे त्वग्न्यादिदेवतासु भेदबुद्धिर्न कर्तव्या किन्तु मद्बुद्ध्या भवितव्यमित्याशयेनाऽऽह—**मद्भक्त इति ।** 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः' इति न्यायेनेज्यो यजनं यजमानो यागश्च सर्वं ब्रह्मैवेति सर्वत्र मद्बुद्ध्या मां भजतीति मद्भक्तो भव । सर्वत्र ब्रह्मबुद्धिं कुर्वित्यर्थः । तथैव मां नमस्कुरु 'वासुदेवः सर्वम्' इति सर्वं मामेव मत्वा नमस्कुरु, 'आश्वचण्डालगोखरम्' इति स्मरणात् । यद्वा मातृपितृगुरुदेवतादिभ्यो मद्बुद्ध्या प्रणामं च कुरु । किञ्च, मत्परायणः अहमेव परमयनं गतिर्यस्य स मत्परायणः सर्वावस्थासु

निर्विशेष ज्ञानके अनधिकारी मुझको सोपाधिकस्वरूप आपका भजन कैसे करना चाहिए ? ऐसा यदि कहो, तो [इस विषयमें मैं] कहता हूँ, सुनो—**'मन्मना'** इत्यादि ।

'भूत विष्णु हैं' इस न्यायसे सर्वात्मक मुझमें जिसका मन लगा है, वह मन्मना है, तुम मन्मना होओ यानी वासुदेव सब है, इस प्रकार सब जगत्को सदा मेरा स्वरूप ही समझो अथवा 'मनको मोक्षमें लगावे' इस स्मृतिवचनसे मोक्षस्वरूप, आनन्दस्वरूप मुझमें जिसका मन स्थापित है, ऐसे मन्मना होओ यानी केवल मोक्षरूप पुरुषार्थमें अत्यन्त आसक्त मनवाले होओ । धर्मफलभूत अर्थमें और काममें आसक्त न होओ, यह अर्थ है । इस प्रकार मुमुक्षुको केवल मोक्षकी कामना ही करनी चाहिए, ऐसा कहकर अब उसका कर्तव्य कहते हैं—**मद्याजीति ।** श्रौत और स्मार्त कर्मोंसे मुझ परमेश्वरके लिए ही यजन करनेका जिसका स्वभाव है, वह मद्याजी है यानी मेरी ही कर्मोंसे पूजा करो, यह अर्थ है । कर्म करते समय अग्नि आदि देवताओंमें भेदबुद्धि नहीं करनी चाहिए, किन्तु मेरी बुद्धिसे युक्त होना चाहिए, इस आशयसे कहते हैं—**मद्भक्त इति ।** 'ब्रह्म अर्पण है ब्रह्म हवि है' इस न्यायसे इज्य, यजन, यजमान और याग सब ब्रह्म ही हैं, यों सर्वत्र ब्रह्मबुद्धिसे जो मुझको भजता है, वह मेरा भक्त है, तुम मेरे भक्त होओ । सर्वत्र ब्रह्मबुद्धि करो, यह अर्थ है । उसी प्रकार मुझको नमस्कार करो, 'वासुदेव सब है' इस प्रकार मुझको सर्वात्मक मानकर प्रणाम करो, कुत्ता, चण्डाल, गाय और गदहे तकको' ऐसी स्मृति है । अथवा माता, पिता, गुरु, देवता आदिको मेरी बुद्धिसे ही प्रणाम करो । किञ्च, मत्परायण (मैं ही परम अयन—गति

सर्वदा परमेश्वर एव मम गतिरिति मच्छरणो भव । यद्वा मत्प्रीतय एव लौकिकं वैदिकं च सर्वं कर्म करोतीति मत्परायणः सन्नेवमुक्तप्रकारेण युक्त्वा योगं कृत्वा कर्मयोगेन मामुपास्याऽन्ते आत्मानं परमात्मानं मामेव परं ब्रह्मैष्यसि क्रमेण प्राप्स्यसि । विदेहकैवल्यसुखं गमिष्यसीत्यर्थः ॥ ३४ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमदानन्दात्मसरस्वतीशिष्यश्रीशङ्करानन्द-सरस्वतीकृतौ गीतातात्पर्यबोधिन्यां नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

जिसकी हूँ, वह मत्परायण है) यानी सब अवस्थाओंमें सर्वदा परमेश्वर ही मेरी गति है, इस प्रकार मेरी शरणमें प्राप्त होओ अथवा मेरी प्रसन्नताके लिए ही लौकिक और वैदिक सब कर्मोंको करनेवाले (मत्परायण) होकर ही उक्त प्रकारसे योग करके—कर्मयोगसे मेरी उपासना करके—अन्तमें आत्माको—परमात्मस्वरूप मुझ परब्रह्मको—ही प्राप्त होओगे—क्रमसे प्राप्त होओगे । विदेहकैवल्यसुखको प्राप्त होओगे, यह अर्थ है ॥ ३ ॥

नवम अध्याय समाप्त

दशमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १ ॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे महाबाहो, मेरे पारमार्थिक वचनको फिर भी सुनो, जिसे मैं तुम्हारे निरतिशय सुखके सम्पादनकी इच्छासे सूक्ष्म वस्तुके श्रवणमें प्रेम रखनेवाले तुमसे कहूँगा ॥ १ ॥

पूर्वाध्यायान्ते 'मन्मना भव मद्भक्तः' इत्यर्जुनं प्रति मुमुक्षुस्त्वं चित्तशुद्धये तज्जन्यज्ञानद्वारा कैवल्यसिद्धये च सविशेषं मां ब्रह्मोपास्स्वेत्युक्तम्, इदानीं मन्दप्रज्ञस्य मुमुक्षोस्तस्यैव तीव्रमोक्षेच्छया स्वोपास्तौ क्षिप्रप्रवृत्तिसिद्धये स्वोपास्तेः फलं स्वस्य च परमात्मन उपास्यस्य सर्वज्ञत्वं सर्वेश्वरत्वं सर्वार्थप्रदातृत्वं भक्तानुग्राहकत्वं विभूतिविशेषं च प्रतिपादयितुं दशमाध्याय आरभ्यते । तत्राऽऽदावर्जुनस्य श्रोतुरुपास्तौ रुच्युत्पत्तये मनो रञ्जयितुमिदं श्रीभगवानुवाच—**भूय इति** ।

हे महाबाहो, ज्ञातव्यस्य वस्तुनः परमसूक्ष्मत्वाद् दुर्विज्ञेयत्वात् सर्वव्यवहारागोचरत्वाच्च भूयः पुनरपि तदेव बोधयितुमुच्यमानं मे मम परमं परमार्थविषयं तन्निष्ठासिद्धिकारणं वचो वचनं शृणु । इदं श्रुत्वा तदर्थं ज्ञात्वा तरिष्यामीति तच्छ्रवणे

पहलेके अध्यायके अन्तमें यानी नवम अध्यायके अन्तमें 'हे अर्जुन, तुम मुझमें (ईश्वरमें) मन लगाओ और मेरे भक्त होओ' इत्यर्थक वाक्यसे अर्जुनके प्रति भगवान्ने यह कहा कि हे मुमुक्षु अर्जुन, तुम चित्तकी शुद्धिके लिए और उससे उत्पन्न हुए ज्ञान द्वारा कैवल्यकी सिद्धिके लिए मुझ सविशेष ब्रह्मकी उपासना करो, अब मन्द बुद्धिवाले उसी मुमुक्षुको तीव्र मोक्षेच्छा द्वारा अपनी (ईश्वरकी) उपासनामें शीघ्र प्रवृत्त करनेके लिए अपनी उपासनाके फलका तथा उपास्य परमात्माकी सर्वज्ञता, सर्वेश्वरता, सर्वार्थदातृता, भक्तोंके ऊपर अनुग्रहकर्तृता एवं विभूतिविशेषका प्रतिपादन करनेके लिए दसवें अध्यायका आरम्भ किया जाता है । उसमें पहले श्रोता अर्जुनकी उपासनामें रुचि उत्पन्न करनेके लिए, मनके रञ्जनार्थ, श्रीभगवान् बोले—**'भूय'** इत्यादिसे ।

हे महाबाहो, ज्ञातव्य वस्तु परम सूक्ष्म है, दुर्विज्ञेय है और सम्पूर्ण व्यवहारोंकी अविषय है, इसलिए फिर भी उसीका बोधन करनेके लिए मेरे परम—परमार्थ विषयवाले—यानी उसकी निष्ठाकी सिद्धिके कारण वचनको सुनो । उसको सुनकर, उसके अर्थको जानकर मैं तर जाऊँगा,

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥ २ ॥

इन्द्र आदि देवता और भृगु आदि महर्षि मेरे (परमेश्वरके) प्रभावको आद्योपान्त नहीं जानते, क्योंकि मैं ही सम्पूर्ण देवताओं और महर्षियोंका कारण हूँ ॥ २ ॥

प्रीयमाणाय प्रीतिं कुर्वते । श्रवणोत्सुकायेत्यर्थः । ते तुभ्यं हितकाम्यया हितं नित्य-निरतिशयं सुखं तस्य संपादनेच्छया यद्वक्ष्यामि तच्छृण्वित्यर्थः । एतेन तच्छ्रुत्वा मत्वा तत्त्वं ज्ञात्वा तरिष्यामीति मोक्षैककामाय श्रद्धावत एव तत्त्वोपदेशः कर्तव्य इति सूचितम् ॥ १ ॥

ननु मम तत्त्वोपदेष्टारो महान्तो व्यासादयः सन्ति तेषां परमं वचः श्रुतवतो ममाऽपि ज्ञानं भविष्यति किमर्थं त्वयैव वक्तव्यमित्यत आह—**न म इति** ।

सुरगणा इन्द्रादयो देवा महर्षयो भृग्वादयो व्यासादयश्च मे मम महदादिसर्व-प्रपञ्चस्रष्टुः परमेश्वरस्य प्रभवं प्रभावं सृष्टिस्थित्यदनप्रवेशनियमननिग्रहानुग्रहादिसामर्थ्यं सर्वशः सर्वप्रकारैर्न विदुः न विजानन्ति । ननु देवा भृग्वादयश्चाऽऽदिमा दिव्यज्ञान-संपन्नाश्च कथं त्वत्प्रभावं न जानन्तीत्यत आह—**अहमिति** । हि यस्मात्कारणाद्देवानां महर्षीणां च सर्वेषामुत्पत्तेर्वैभवसिद्धेस्तपःसिद्धेर्योगसिद्धेर्दिव्यज्ञानसिद्धेश्चाऽप्यहमेवाऽऽदिः

इस अभिलाषासे उसके सुननेमें प्रीति करनेवाले यानी सुननेके लिए उत्सुक, यह अर्थ है । तुमसे हितकी कामनासे यानी नित्य निरतिशय सुखके सम्पादनकी इच्छासे जो कहूँगा, उसको सुनो, यह अर्थ है । इससे यह सूचित किया कि उसका श्रवण और मनन कर तथा उसके तत्त्वको जानकर मैं तर जाऊँगा, इस प्रकार केवल मोक्षकी कामना करनेवाले श्रद्धावान् पुरुषको ही तत्त्वका उपदेश करना चाहिए ॥ १ ॥

यदि शङ्का हो कि हमको तत्त्वका उपदेश करनेवाले बड़े-बड़े व्यास आदि महर्षि हैं, उनके परम वचनको सुनकर मुझको भी ज्ञान हो जायगा, फिर आपको ही क्यों उपदेश देना चाहिए, इस पर कहते हैं—**'न मे'** इत्यादिसे ।

इन्द्र आदि देवता, भृगु आदि और व्यास आदि महर्षि मेरे—महदादि सम्पूर्ण प्रपञ्चके स्रष्टा परमेश्वरके—प्रभावको—सृष्टि, स्थिति, प्रलय, प्रवेश, नियमन, निग्रह, अनुग्रह आदिकी सामर्थ्यको—सब प्रकारसे नहीं जानते । यदि शङ्का हो कि देवता और भृगु आदि सबसे आदिम और दिव्य ज्ञानसे सम्पन्न हैं, फिर वे आपके प्रभावको क्यों नहीं जानते, तो इसपर कहते हैं—**अहमिति** । यतः सब देवता और महर्षियोंकी उत्पत्ति, वैभवसिद्धि, तपःसिद्धि, योगसिद्धि और दिव्यज्ञानसिद्धिका मैं ही आदि—कारण—हूँ, 'उससे ही अनेक देवता उत्पन्न

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

जो पुरुष अजस्वरूप, निमित्त आदि कारणसे रहित तथा सम्पूर्ण लोकोंके महान् ईश्वरस्वरूप मुझको आत्मरूपसे जानता है, वह सम्पूर्ण पुरुषोंमें मोहरहित होकर सब प्रकारके पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ ३ ॥

कारणम् 'तस्माच्च देवा बहुधा संप्रसूताः' इति 'यस्मिन् युक्ता महर्षयो देवताश्च' इति श्रवणान्मत्त एव तेषामुत्पत्तिः सर्वार्थसिद्धिश्चाऽतो मत्तोऽर्वाचीनास्ते मम महत्त्वं न विजानन्ति यथा पितृमहत्त्वं शिशुस्ततो मम महत्त्वमहमेवोपदेक्ष्यामीति भावः ॥ २ ॥

ननु त्वयैव त्वन्महत्त्वमुपदिश्यतां तच्छ्रुतवतो मम तेन किं स्यादित्याकाङ्क्षायामाह—**य इति** ।

मर्त्येषु मरणशीलेषु शतकोटिसंख्याकेषु पण्डितेषु यो मुमुक्षया सदसद्विवेकवैराग्याभ्यामसंमूढः संमोहो विषयेष्विष्टताबुद्धिस्तद्रहितोऽसंमूढो विषयाशापिशाच्यवशो भूत्वा सुखसाधनं सर्वं संन्यस्य मत्प्रसादसंपन्नः सन् श्रवणमननादिसमुत्पन्नज्ञानेनाऽजं जन्मादिरहितम् । जन्माद्यसंभवे कारणमाह—**अनादिमिति** । 'न तस्य कश्चिज्जनिता न चाऽधिपः' इति श्रवणादादिर्जन्मादिकारणं निमित्तमुपादानं च न विद्यते यस्य सोऽनादिस्तमत एवाऽजं नित्यम् । नन्वनादित्वाजत्वयोः शशविषाणस्याऽपि संभवात्तस्याऽपि नित्यत्वं स्यादित्यतिव्याप्तौ स्वस्य भावत्वमदृश्यत्वं परममहत्त्वं श्रुत्यनुमानगम्यत्वं च

हुए हैं' तथा 'जिसमें महर्षि और देवता युक्त हैं' इस श्रुतिसे मुझसे ही उनकी उत्पत्ति और सर्वार्थकी सिद्धि होती है, इसलिए मुझसे पीछे उत्पन्न हुए वे मेरे महत्त्वको नहीं जानते, जैसे कि पिताके महत्त्वको बालक नहीं जानता, इसलिए अपने महत्त्वका मैं ही उपदेश दूँगा, यह भाव है ॥ २ ॥

भले ही आप अपना माहात्म्य कहें, उसको सुनकर मेरा उससे कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होगा ? ऐसी आकांक्षा होनेपर कहते हैं—**'यो'** इत्यादिसे ।

सैकड़ों करोड़ों सङ्ख्यावाले मरणशील पण्डितोंमें से जो कोई मुक्तिकी इच्छासे सत्-असत्के विवेक और वैराग्य द्वारा असम्मूढ होकर (सम्मोह यानी विषयोंमें इष्टताबुद्धि, उससे रहित) यानी विषयाशारूप पिशाचीके वश न होकर सुखके सब साधनोंका त्याग कर मेरे प्रसादसे संपन्न होकर श्रवण, मनन आदिसे उत्पन्न हुए ज्ञानसे अज यानी जन्म आदिसे रहित । जन्म आदि न होनेमें कारण कहते हैं—**अनादिमिति** । 'इसका कोई जनिता और अधिपति नहीं है' इस श्रुतिसे आदि यानी निमित्त और उपादान रूप जन्म आदिके कारण जिसके नहीं हैं, वह अनादि है, इसीलिए अज (नित्य) । अनादित्व और अजत्व तो खरगोशके सींगमें भी है, इसलिए उसमें भी नित्यत्व होगा, इस प्रकार नित्यत्वलक्षणकी अतिव्याप्ति होनेपर अपना भावत्व,

सूचयितुमाह—**लोकमहेश्वरमिति**। यस्य सन्निधिमात्रेण लोको जगत्सर्वं चेष्टते स ईश्वरः यथा रथो जडो रथिकेन चेष्टते तथा जडं जगत्सर्वं चेतनेनैव चेष्टते ततो जगच्चेष्टाक्रियया तद्धेतोश्चेतनस्य सत्त्वभावत्वं परममहत्त्वं चाऽनुमीयते। 'य ईशः अस्य जगतो नित्यमेव' इति श्रूयते च। ततोऽनादिमजं महांश्चाऽसावीश्वरश्च महेश्वरः लोकस्य महेश्वरो लोकमहेश्वरस्तं सर्वप्रपञ्चप्रवर्तकं चकारात्कूटस्थासङ्गचिद्रूपं मां निर्विशेषं परं ब्रह्म वेत्ति यः साक्षादिदमेवाऽहमस्मीति स्वात्मना विजानाति स ब्रह्मविद्यतिः सर्वपापैः सर्वैर्बुद्धिपूर्वकैरबुद्धिपूर्वकैश्च पापैः पापकार्यैर्दुःखदुर्योनिदुर्गतिभिश्च प्रमुच्यते। पापैः पापकार्यैश्च न किञ्चित्सम्बध्यत इत्यर्थः। ब्रह्मविदः सर्वात्मदर्शिनः बुद्धिपूर्वकं पापाचरणं न संभवति, तत्सत्त्वे ब्रह्मवित्त्वासंभवात्। पापपुण्यकर्माचरणस्य देहजातिवर्णाश्रमाद्यभिमानैकमूलत्वात् तत्सत्त्वे त्वमुष्य ब्रह्मवित्त्वमेव न संभवति। ब्रह्मवित्त्वं नाम ब्रह्मण्येव सर्वदृश्यविलक्षणे आत्मत्ववेदनं तत्सत्त्वे देहाद्यहंभावाभाव एव। तत्सत्त्वे तु ब्रह्मण्यात्मत्वभावनाभावः द्वयोर्विपरीतप्रत्यययोस्तेजस्तिमिरयोरिव युगपत्क्रमाद्वाऽप्येकाधिकरणत्वं न संभवति। असत्येवाऽनात्मन्यहंभावे तदाश्रितजात्याद्यभिमाने च विदुषः कर्मकर्तृत्वं नाऽस्ति। ततो न बुद्धिपूर्वकं विदुषः पापाचरणं संभवति। ननु देहात्मना

अदृश्यत्व, परममहत्त्व तथा श्रुति और तन्मूलक अनुमानसे ज्ञेयत्वका सूचन करनेके लिए कहते हैं—**लोकमहेश्वरमिति**। जिसकी सन्निधिमात्रसे लोक—सब जगत्—चेष्टा करता है, वह ईश्वर है, जैसे जड़ रथ रथिक द्वारा चेष्टा करता है, वैसे ही सम्पूर्ण जड़ जगत् चेतनसे ही चेष्टा करता है, इसलिए जगत्की चेष्टारूप क्रियासे उसके हेतु चेतनमें सत्त्व, भावत्व, और परममहत्त्वका अनुमान किया जाता है। 'जो इस जगत्का ईश है, वह नित्य ही है' ऐसी श्रुति भी है। इसलिए अनादि, अज और महान् जो ईश्वर है, वह महेश्वर है—लोकका महेश्वर—लोकमहेश्वर है, उसको—सम्पूर्ण प्रपञ्चके प्रवर्तकको—चकारसे कूटस्थ, असङ्ग, चिद्रूप मुझ निर्विशेष परब्रह्मको जो जानता है—साक्षात् यही मैं हूँ, यों अपने आत्मरूपसे जो जानता है—वह ब्रह्मवित् यति सब पापोंसे—सब बुद्धिपूर्वक तथा अबुद्धिपूर्वक किये गये पापोंसे—तथा पापके कार्य दुःख, दुर्योनि और दुर्गतिसे छूट जाता है। पापोंसे और पापके कार्योंसे वह किञ्चित् भी सम्बद्ध नहीं होता, यह अर्थ है। ब्रह्मवित् सर्वात्मदर्शीका बुद्धिपूर्वक पापाचरण हो ही नहीं सकता, क्योंकि ऐसा होनेसे वह ब्रह्मवित् ही नहीं होगा। सारांश यह है कि पापपुण्यरूप कर्मका आचरण देह, जाति तथा वर्णाश्रम आदिके अभिमानसे ही होता है, अभिमानके रहनेपर तो वह ब्रह्मवित् हो ही नहीं सकता। सम्पूर्ण दृश्यसे विलक्षण केवल ब्रह्ममें ही जो आत्मत्वबुद्धि करता है, उसीका नाम ब्रह्मवित् है। ब्रह्ममें आत्मत्वबुद्धि होनेपर देह आदिमें अहंभाव होता ही नहीं। उक्त अभिमानके होनेपर तो ब्रह्ममें आत्मत्वभावनाका अभाव होता है, तेज और अन्धकारके समान दोनों विपरीत प्रत्ययोंका एक साथ अथवा क्रमसे भी एक अधिकरण नहीं हो सकता। अनात्मामें अहंभाव और उसके आश्रित जाति आदि अभिमानके न होनेपर ही विद्वान्में कर्मकर्तृत्व नहीं है, इसलिए विद्वान्का पापाचरण बुद्धिपूर्वक नहीं हो सकता।

पापं कृत्वा 'मया पापं कृतम्' इति कचित्कर्तृत्वप्रत्ययः पुनरविक्रियब्रह्मात्मना नाऽहं कर्ताऽस्मीत्यकर्तृत्वप्रत्ययश्चैकस्य क्रमादुपयुज्यत एवेति चेत्, न; तथात्वे सार्वात्म्यदर्शनविच्छित्तिप्रसङ्गात्सार्वात्म्यदर्शनं देहाद्यात्मत्वबुद्धिः पापाचरणं च विदुषो न संभवति । अहं ब्रह्मविन्न मे दोषोऽस्तीति प्राणिहिंसां वा यथेष्टाचरणं वा यः करोति सः ब्रह्मविदेव न भवति, सर्वभूतसुहृच्छान्त इत्यादिब्रह्मविलक्षणाभावादतो न बुद्धिपूर्वकं विदुषः पापाचरणं किन्त्वबुद्धिपूर्वकं कचित्संभवति ज्ञानेन तस्य निवृत्तिस्तथापि ज्ञानस्य माहात्म्यं स्तूयते—द्विविधैरपि पापैः प्रमुच्यत इति । यद्वा अनादिं जन्मादिकारणवर्जितं अत एवाऽजं जन्मादिसर्वविकारशून्यं लोकमहेश्वरं सर्वेषां लोकानां महान्तमीश्वरं निरतिशयैश्वर्यसंपन्नं निग्रहानुग्रहकर्तारं मोक्षप्रदातारं च मां परमात्मानं यो वेत्ति शास्त्राचार्योपदेशाभ्यां ज्ञात्वा मोक्षेच्छया यो मामुपास्ते स मर्त्येषु मृत्युग्रस्तेष्वयमेवाऽसंमूढः संमूढः सदसद्विवेकशून्यस्तद्विलक्षणत्वादसंमूढः यस्मात् कामाग्निना सर्वेषु दन्दह्यमानेषु स्वयं तदविषयो भूत्वा मोक्षमेवाऽपेक्षमाणः सन् श्रद्धाभक्तिभ्यां मामुपास्ते तस्मादसावसंमूढो मद्भक्तः सर्वपापैर्यानि मनोवाक्कायकृतानि जन्मान्तरीयाण्याधुनिकानि च तैः सर्वैः पापैर्ज्ञानोत्पत्तेः प्रतिबन्धकैर्मदुपास्त्या प्रमुच्यते

यदि शङ्का हो कि देहात्मासे पाप करके 'मैंने पाप किया' इस प्रकार कहीं कर्तृत्वका प्रत्यय और अविक्रिय ब्रह्मात्मरूपसे मैं कर्ता नहीं हूँ, इस प्रकार अकर्तृत्वका प्रत्यय—ये दोनों क्रमसे एक पुरुषमें भी हो सकते हैं, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा होनेपर सार्वात्म्यदर्शनके विच्छेदका प्रसङ्ग हो जायगा, अतः सार्वात्म्यदर्शन, देह आदिमें आत्मत्वबुद्धि और पापाचरण—ये सब विद्वान्‌में नहीं हो सकते। 'मैं ब्रह्मवित् हूँ, मेरा दोष नहीं है, इस प्रकार प्राणियोंकी हिंसा अथवा यथेष्टाचरण जो करता है, वह ब्रह्मवित् ही नहीं है, क्योंकि 'सम्पूर्ण भूतोंका सुहृद्, शान्त' इत्यादि ब्रह्मवित्‌के लक्षणोंका उसमें अभाव है, इसलिए बुद्धिपूर्वक पापाचरण विद्वान्‌का नहीं है, किन्तु अबुद्धिपूर्वक कहीं हो जाता है, ज्ञानसे उसकी निवृत्ति हो जाती है, तो भी 'दोनों प्रकारके पापोंसे छूट जाता है', इससे ज्ञानके माहात्म्यकी स्तुति की जाती है । अथवा अनादि—जन्म आदिके कारणसे रहित—इसीलिए अज—जन्म आदि सम्पूर्ण विकारोंसे शून्य—लोकमहेश्वर—सब लोकोंके महान् ईश्वर यानी निरतिशय ऐश्वर्यसे सम्पन्न, निग्रह और अनुग्रहके कर्ता एवं मोक्षदाता मुझ परमात्माको जो जानता है—शास्त्र एवं आचार्यके उपदेशसे जानकर मोक्षकी इच्छासे जो मेरी उपासना करता है, मर्त्योंमें—मृत्युग्रस्तोंमें यही असम्मूढ़—सम्मूढ़ (सदसत्-विवेकशून्य पुरुषसे विलक्षण होनेके कारण असम्मूढ़) है, क्योंकि कामरूप अग्निसे जलनेवाले सबमें, स्वयं उसका विषय न होकर, मोक्षकी अपेक्षा करता हुआ श्रद्धा और भक्तिसे मेरी उपासना करता है, इसलिए वह असम्मूढ़ मेरा भक्त सम्पूर्ण पापोंसे—मन, वाणी तथा शरीरसे किये गये पहिलेके और इस जन्मके जितने पाप हैं, उन सब ज्ञानकी उत्पत्तिके प्रतिबन्धक पापोंसे—मेरी उपासना द्वारा

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाऽभयमेव च ॥ ४ ॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ५ ॥

बुद्धि, ज्ञान, असंमोह (विपरीत भावनाका अनुदय), क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख, दुःख, भव (उत्पत्ति), अभाव (विनाश), भय, अभय, अहिंसा, समता, तुष्टि, तप, दान, यश, अपयश आदि अनेकविध प्राणियोंके विकार मुझसे ही उत्पन्न होते हैं ॥ ४,५ ॥

प्रकर्षेण निःशेषं मुच्यते प्रमुच्यते । 'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः' इति स्मरणात् सत्त्वप्रधानया मदुपास्त्या सर्वपापविनिर्मुक्तः सन् ज्ञानं प्राप्य मुक्तो भवतीत्यर्थः ॥ ३ ॥

स्वोपास्त्या सर्वपापविनिर्मुक्तानां मुमुक्षूणां स्वस्मादेव ज्ञानं ज्ञानसाधनं च भवतीत्याह—**बुद्धिरिति** द्वाभ्याम् ।

ज्ञानं ब्रह्मात्मैकत्वविषयं परोक्षमपरोक्षं च । बुद्धिस्तदेवाऽहमिति ज्ञातुर्ब्रह्ममात्रत्वनिश्चयात्मिका । असंमोहः पुनर्विपरीतभावनानुदयः । क्षमाऽऽध्यात्मिकाद्युपद्रवसहिष्णुता । सत्यं यथार्थवचनम् । सत्यमिति ब्रह्मचर्यादीनामुपलक्षणम् । दमो बाह्येन्द्रियनिग्रहः । शमोऽन्तःकरणस्य विषयप्रवृत्त्युपरमः । अहिंसा ब्रह्मनिष्ठया स्वाहिंसनम् । समता सर्वत्र समदर्शनम् । तुष्टिः स्वानन्दानुभवः । तपश्चित्तैकाग्र्यम् । दानं

बिलकुल छूट जाता है । 'पापकर्मका क्षय होनेपर पुरुषोंको ज्ञान उत्पन्न होता है' इस स्मृतिसे सत्त्वप्रधान मेरी उपासनासे सम्पूर्ण पापोंसे छूटकर ज्ञान प्राप्त करके मुक्त हो जाता है, यह अर्थ है ॥ ३ ॥

अपनी (ईश्वरकी) उपासनासे सम्पूर्ण पापोंसे निर्मुक्त हुए मुमुक्षुओंको अपनेसे ही (ईश्वरसे ही) ज्ञान और ज्ञानका साधन प्राप्त होता है, ऐसा कहते हैं—'बुद्धि०' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

ज्ञान यानी ब्रह्मात्माके एकत्वको विषय करनेवाला परोक्ष या अपरोक्ष ज्ञान । बुद्धि यानी वही मैं हूँ, इस प्रकार जाननेवाले पुरुषकी ब्रह्ममात्रत्वनिश्चयात्मिका बुद्धि । असंमोह यानी विपरीत भावनाका फिर उदय न होना । क्षमा यानी आध्यात्मिक आदि उपद्रवोंकी सहिष्णुता । सत्य यानी यथार्थ वचन । सत्यशब्द ब्रह्मचर्य आदिका भी उपलक्षण है । दम यानी बाहरकी इन्द्रियोंका निग्रह । शम यानी अन्तःकरणका विषयप्रवृत्तिसे उपरम । अहिंसा यानी ब्रह्मनिष्ठा द्वारा अपनी हिंसा न करना । समता यानी सर्वत्र समदर्शन । तुष्टि यानी अपने (आत्माके) आनन्दका अनुभव । तप यानी चित्तकी एकाग्रता । दान यानी दण्डका त्याग । मनसे,

दण्डन्यासः । मनोवाक्कायकर्मभिः प्राणिनामदण्डनमपीडनमित्यर्थः, 'दण्डन्यासः परं दानम्' इति स्मरणात् । यशः ब्रह्मविदयमिति सर्वत्र कीर्तिः । अयशो दुष्कीर्तिः । अयश इत्यबुद्धिरज्ञानं संमोहः अक्षमा असत्यमदमोऽशमः हिंसा इत्यादीनामुक्तविपरीतानामुपलक्षम् । सुखं वैषयिकम् । दुःखमाध्यात्मिकाद्युपद्रवनिमित्तकम् । भवः उत्पत्तिः । अभावो विनाशः । भयं भूतेभ्यस्त्रासः । अभयं तदभावः । एवं पृथग्विधा नानाप्रकारा उक्ता अनुक्ताः कामक्रोधलोभमोहदम्भदर्पासूयाहङ्कारादयो भावा विकारा राजसास्तामसाश्चाऽबुद्ध्याद्ययशोऽन्ता बन्धहेतवो गुणाः मद्भजनशून्यानां भूतानां प्राणिनां मत्त एवेश्वराद्भवन्ति । बुद्ध्यादियशोन्तानि मुक्तिसाधनानि मद्भजनवतां मत्त एव भवन्त्यतो मुमुक्षुभिर्मदुपासनमवश्यं कर्तव्यम् । मदुपास्त्या सर्वपापनिवृत्तिर्ज्ञानं च ससाधनं सिद्ध्यतीति भावः । एतेन 'संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धं संसारबन्धतन्मोक्षकारणत्वं स्वस्य प्रतिपादितं भवति । तेन मुमुक्षुभजनीयत्वं च सिद्धमिति द्वयोरर्थः ॥ ४, ५ ॥

'भवन्ति भावा भूतानाम्' इति स्वस्य मुमुक्षूपास्यत्वे कारणं दुष्टशिष्टनिग्रहानुग्रहसामर्थ्यं बन्धमोक्षहेतुत्वं सर्वतन्त्रस्वातन्त्र्यं सर्वज्ञत्वं सर्वेश्वरत्वं च सूचयित्वाऽधुना सामान्येन स्वविभूतिं मन्दप्रज्ञानामुपासनीयं वस्तु निर्दिशति—**महर्षय इति ।**

वाणीसे, शरीर और कर्मसे प्राणियोंको दण्ड (पीड़ा) न पहुँचाना, यह अर्थ है, क्योंकि 'दण्डन्यास ही उत्तम दान है' ऐसी स्मृति है । यश यानी यह ब्रह्मवित् है, ऐसी सर्वत्र कीर्ति । अयश यानी दुष्कीर्ति । 'अयशस्' शब्द अबुद्धि, अज्ञान, संमोह, अक्षमा, असत्य, अदम, अशम और हिंसा आदि विपरीत धर्मोंका उपलक्षण है । सुख यानी विषयसंबन्धी सुख । दुःख यानी आध्यात्मिक आदि उपद्रवोंसे जनित दुःख । भव यानी उत्पत्ति । अभाव यानी विनाश । भय यानी भूतोंसे त्रास । अभय यानी उसका अभाव । इस प्रकार अनेक प्रकारके कहे गये और न कहे गये काम, क्रोध, लोभ, मोह, दम्भ, दर्प, असूया, अहङ्कार आदि भाव—राजस और तामस विकार अबुद्धिसे लेकर अयशतक—बन्धके हेतु गुण मेरे भजनसे शून्य भूतोंके—प्राणियोंके—मुझसे—ईश्वरसे—होते हैं । बुद्धिसे लेकर यश तक मुक्तिके साधन, मेरा भजन करनेवालोंको मुझसे ही होते हैं, इसलिए मुमुक्षुओंको मेरी उपासना अवश्य करनी चाहिए मेरी उपासनासे सब पापोंकी निवृत्ति होती है और साधनों सहित ज्ञानकी सिद्धि होती है, यह भाव है । इससे 'संसारमोक्ष, स्थिति और बन्धका हेतु है' इत्यादि श्रुतियोंमें प्रसिद्ध संसारबन्धकारणत्व और संसारमोक्षकारणत्वका अपनेमें ही प्रतिपादन किया गया है । इससे मुमुक्षुभजनीयत्व भी सिद्ध हुआ, ऐसा दो श्लोकोंका अर्थ है ॥ ४ ॥ ५ ॥

'सब प्राणियोंके भाव—पूर्वोक्त बुद्धि आदि कार्य—मुझ ईश्वरसे ही होते हैं' इत्यर्थक-वाक्यसे अपने मुमुक्षों द्वारा उपास्य होनेमें कारण, दुष्ट और शिष्ट पुरुषोंके निग्रह और अनुग्रहमें सामर्थ्य,

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥ ६ ॥
एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नाऽत्र संशयः ॥ ७ ॥

भृगु, वसिष्ठ आदि प्राचीन सात महर्षि तथा उनसे भी प्राचीन स्वायम्भुव आदि चार मनु हिरण्यगर्भस्वरूप मेरे सङ्कल्पसे उत्पन्न हुए हैं, अतएव मत्स्वरूप हैं । तीनों लोकोंमें जिनकी ये प्रजाएँ दीख पड़ती हैं, ये भी सब मेरी विभूतियाँ ही हैं ॥ ६ ॥

इस प्रकारकी मेरी विभूतियाँ और ऐश्वर्यको जो तात्त्विक दृष्टिसे जानता है, वह मेरी उपासनारूप विकल्पोंसे रहित योगसे युक्त होता है ॥ ७ ॥

पूर्वे सर्वेभ्यः प्राक्तनाः सप्त भृग्वादयो वसिष्ठान्ता महर्षयस्तथा पूर्वे प्राचीनाः स्वायम्भुवाद्यश्चत्वारो मनवश्च मम जगत्स्रष्टुर्ब्रह्मणः सङ्कल्पात्मकान्मनसो जाता मानसास्तत एव मद्भावा मम परमेश्वरस्य स्वरूपत्वेन भाव्यन्त इति मद्भावाः । मम विभूतय इत्यर्थः । लोके लोकत्रितये येषां भृग्वादीनां स्वायम्भुवादीनां च सम्बन्धिन्य इमाः सर्वत्र परिदृश्यन्ते स्थावरजङ्गमात्मिकाः प्रजाः । एताः सर्वा अपि मम विभूतय एवेत्यभिप्रायः । एतेन चराचरात्मकं विश्वं सर्वं मम ब्रह्मणो विभूतिरेवेति सूचितं भवति ॥ ६ ॥

एवमात्मीयं योगजमैश्वर्यं विभूतिं च प्रतिपाद्यैतद्द्वयं सम्यग्विदितवतस्तद्वेदनस्य फलमाह—**एतामिति ।**

मम निर्विशेषस्यैव परस्य ब्रह्मणः एतां प्रतिपादितां विभूतिं मायया विविधा-

---

बन्धमोक्षकी हेतुता, सर्वतन्त्रस्वतन्त्रता, सर्वज्ञत्व और सर्वेश्वरत्वका सूचन करके अब सामान्यरूपसे मन्दबुद्धिवालोंकी भजनीय अपनी विभूतिरूप वस्तुको दिखलाते हैं—**'महर्षयः'** इत्यादिसे ।

सबसे पहले सात—भृगुसे लेकर वसिष्ठ तक महर्षि—तथा उनसे भी प्राचीन स्वायम्भुव आदि चार मनु जगत्के उत्पादक मुझ परब्रह्मके सङ्कल्परूप मनसे उत्पन्न हुए हैं, इसलिए वे मद्भाव हैं, मुझ परमेश्वरके स्वरूपसे जिनकी भावना की जाती है, वे मद्भाव हैं यानी मेरी विभूतियां हैं, यह अर्थ है । तीनों लोकोंमें जिन भृगु आदिकी और स्वस्वयम्भुव आदिकी ये सर्वत्र दिखाई देनेवाली स्थावरजङ्गमात्मक प्रजाएँ हैं, ये सब भी मेरी विभूतियां ही हैं, यह अभिप्राय है । इससे यह सूचित होता है कि चराचरात्मक सब विश्व मुझ ब्रह्मकी विभूति ही है ॥ ६ ॥

इस प्रकार योगसे उत्पन्न हुए अपने ऐश्वर्य और विभूतिका प्रतिपादन करके इन दोनोंको भलीभाँति जाननेवाले मनुष्योंके उक्त दर्शनका फल कहते हैं—**'एताम्'** इत्यादि ।

मेरी (निर्विशेष परब्रह्मकी) उक्तरूपसे प्रतिपादित विभूतिको (मायासे अनेक प्रकारका होना

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ ८ ॥

मैं (परमात्मा ही) सम्पूर्ण प्रपञ्चका उपादान हूँ तथा मुझसे ही (परमेश्वरसे ही) सम्पूर्ण प्राणियोंकी प्रवृत्ति और निवृत्ति होती है, अतः परमेश्वर ही सबका कारण है, इस प्रकार श्रुति आदि द्वारा निश्चय करके भावनासे (यह ब्रह्म ही है, इस प्रकारकी भावनासे) युक्त मुमुक्षु मेरा ध्यान (उपासना) करते हैं ॥ ८ ॥

कारेण भवनं विभूतिस्तां सर्वात्मतां योगं च मायायोगजमैश्वर्यं सृष्टिस्थित्यदनप्रवेशनियमननिग्रहानुग्रहादिसामर्थ्यं चैतत्सर्वं तत्त्वतो याथार्थ्येन यो विचक्षणः शास्त्राचार्योपदेशजन्यविवेकविज्ञानेन वेत्ति नेदं जगत् किन्तु परमात्मनः स्वरूपमेवेति सर्वं मत्स्वरूपत्वेन मामेव बन्धमोक्षयोः सर्वस्य च कारणत्वेन सम्यग्विजानाति स मुमुक्षुरविकम्पेन विकम्पो विकल्पस्तद्रहितेन योगेन मदुपास्तियोगेन युज्यते युक्तो भवति । मोक्षेच्छया सर्वत्र विरक्तो भूत्वा श्रद्धाभक्तिभ्यां वासुदेवः सर्वमिति सर्वत्र मद्बुद्ध्या मामेवोपास्ते नाऽत्र संशयः, मुमुक्षुः सर्वं संन्यस्य श्रवणादिनिष्ठया मामेवोपास्त इत्यत्र संशयो न कर्तव्य इत्यर्थः ॥७॥

तस्य वस्तुतत्त्वनिश्चयप्रकारं चोपास्तिं च विस्पष्टयति—**अहमिति ।**

अहं निर्विशेषः परमात्मैव मायाशबलितः सन् सर्वस्य प्रपञ्चस्य प्रभवः प्रभवत्यस्मादिति प्रभव उपादानं कार्यं सर्वं कारणमात्रमेवेति न्यायेन सर्वं परमात्मस्वरूपमेवेति च मत्तः परमात्मनः सकाशादेव बुद्धिर्ज्ञानमित्युक्तरीत्या मोक्षसाधनं मोक्षश्च

विभूति है, उसको) यानी सर्वात्मताको और योगको (मायाके योगसे उत्पन्न हुए ऐश्वर्यको) अर्थात् सृष्टि, स्थिति, प्रलय, प्रवेश, नियमन, निग्रह और अनुग्रह आदिकी सामर्थ्यको तत्त्वसे—यथार्थरूपसे—जो विचक्षण शास्त्र और आचार्यके उपदेशसे उत्पन्न हुए विवेकविज्ञानसे जानता है यानी यह जगत् नहीं है, किन्तु परमात्माका स्वरूप ही है, इस प्रकार सबके मेरे स्वरूप होनेसे मुझको ही बन्ध, मोक्ष और सबके कारणरूपसे ठीक ठीक जानता है, वह मुमुक्षु अविकम्प (विकल्पसे रहित) योगसे (मेरी उपासनारूप योगसे) युक्त होता है । मोक्षकी इच्छासे सर्वत्र विरक्त होकर श्रद्धा और भक्तिसे 'वासुदेव ही सब है' इस प्रकार सर्वत्र ब्रह्मबुद्धिसे मेरी ही उपासना करता है, इसमें संशय नहीं है । मुमुक्षु सबका त्याग कर श्रवणादिनिष्ठासे मेरी ही उपासना करता है, इसमें संशय नहीं करना चाहिए, यह अर्थ है ॥ ७ ॥

उसके वस्तुतत्त्वके निश्चयके प्रकारको और उपासनाको विशेषरूपसे स्पष्ट करते हैं—**'अहम्'** इत्यादिसे ।

मैं—निर्विशेष परमात्मा—ही मायाशबलित होकर सम्पूर्ण प्रपञ्चका प्रभव—जिससे उत्पन्न होता है, वह प्रभव है—यानी उपादान, 'सब कार्य कारणमात्र ही हैं', इस न्यायसे सब परमात्मस्वरूप ही है और मुझ परमात्मासे ही 'बुद्धिर्ज्ञानम्' इत्यादिमें उक्त रीतिसे मोक्षका साधन और मोक्ष, बन्धका

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ ९ ॥

जिनका चित्त मुझमें (सविशेष ईश्वरमें) लगा है एवं जिनकी वाग् आदि इन्द्रियाँ मेरे स्वरूपके प्रतिपादक वाक्योंके उच्चारण आदिमें लगी हैं, वे बुध (मुमुक्षु) परस्पर अपने अपने अनुभवानुसार वाक्यार्थका बोधन करते हुए तथा अपने अनुभवका कथन करते हुए सन्तुष्ट होते हैं और सदा रमण करते हैं यानी मेरा सदा श्रवण, मनन और निदिध्यासन करते हुए कालका यापन करते हैं ॥ ९ ॥

बन्धसाधनं संसारश्च सर्गश्चाऽभ्युदयः सर्वं प्रवर्तते । प्राणिनां प्रवृत्तिर्निवृत्तिश्च सिद्ध्यत्यतः सर्वकारणं परमेश्वर एवेति मत्वा श्रुतियुक्तिगुरूक्तिभिर्निश्चित्य बुधाः परोक्षज्ञानिनो मुमुक्षवः भावसमन्विता भावः सर्वं ब्रह्मैवेत्येवंलक्षणस्तेन समन्विताः सर्वत्र मद्भावनायुक्ताः सन्तः सर्वदा मां सर्वात्मकं परमात्मानं भजन्ते शृण्वते मन्वते ध्यायन्त्येवमुपासत इत्यर्थः ॥ ८ ॥

तदुपास्तिप्रकारमेवाऽऽह—**मच्चिता इति ।**

मच्चित्ता मयि सर्वभूतात्मके सविशेषे ब्रह्मणि चित्तं सर्वं ब्रह्मैवेति वासनापन्नं येषां ते मच्चित्ताः मद्गतप्राणाः मद्गता मत्तत्त्वप्रतिपादकवाक्योच्चारणे तदर्थश्रवणे तन्निश्चितार्थदर्शने च तत्पराः प्राणा वागादीन्द्रियाणि येषां ते मद्गतप्राणा भूत्वा बुधाः परस्परं स्वस्वप्रज्ञानुसारेण वाक्यार्थं बोधयन्तस्तथा परस्परं स्वानुभवं कथयन्तश्च सन्तः स्वानुभवानुरूपेण तुष्यन्ति चाऽऽनन्दन्ति च सदैवं वेदान्तेषु रमन्ते । सर्वं मामेव पश्यन्तः शृण्वन्तो भावयन्तश्च कालं नयन्तीत्यर्थः ॥ ९ ॥

साधन और संसार, सर्ग और अभ्युदय सब प्रवृत्त होते हैं तथा प्राणियोंकी प्रवृत्ति और निवृत्ति होती है, इसलिए सबका कारण परमेश्वर ही है, ऐसा मानकर—श्रुति, युक्ति और गुरुके वचनोंसे निश्चय कर—बुध—परोक्षज्ञानी मुमुक्षु—भावसमन्वित (भावसे—सब ब्रह्म ही है, इत्याकारकभावसे—समन्वित) यानी सर्वत्र मेरी भावनासे युक्त होकर सर्वदा मुझको—सर्वात्मक परमात्माको—भजते हैं, श्रवण करते हैं, मनन करते हैं और ध्यान करते हैं, इस प्रकार उपासना करते हैं, यह अर्थ है ॥ ८ ॥

उनकी उपासनाके प्रकारको ही कहते हैं—**'मच्चित्ता'** इत्यादिसे ।

मुझ सर्वात्मक सविशेष ब्रह्ममें 'सब ब्रह्म ही है' इस प्रकारकी वासनासे युक्त जिनका चित्त है, वे मच्चित हैं, मेरे तत्त्वके प्रतिपादक वाक्योंके उच्चारणमें, उसके अर्थोंके सुननेमें और उनके निश्चित (सुविचारित) अर्थके दर्शनमें तत्पर हैं वाक् आदि इन्द्रियाँ जिनकी वे मद्गतप्राण हैं। मच्चित और मद्गत प्राण होकर बुध (ब्रह्मोपासक) परस्पर अपनी-अपनी प्रज्ञाके अनुसार वाक्योंके अर्थोंका बोधन करते हुए तथा परस्पर अपने अनुभवको कहते हुए अपने अनुभवके अनुसार सन्तुष्ट

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ १० ॥

सर्वदा वेदान्तश्रवण आदिमें परिनिष्ठित तथा प्रीतिपूर्वक मेरी उपासना करनेवाले उन श्रवण आदिमें निरत ब्रह्मज्ञानियोंको मैं वह बुद्धियोग देता हूँ, जिससे वे मेरे स्वरूपको प्राप्त हो जाते हैं ॥ १० ॥

एवं मुमुक्षूणां श्रवणश्रावणादिभेदेन भजनप्रकारमुक्त्वाऽधुना स्वानुग्रहप्रकारमाह—**तेषामिति** द्वाभ्याम् ।

सततयुक्तानां सततं सर्वदा वेदान्तश्रवणादिष्वेव परिनिष्ठितानां प्रीतिपूर्वकं स्वस्वरूपसाक्षात्कारसिद्ध्य आसक्तिविशेषः प्रीतिस्तत्पूर्वकं श्रवणादिजन्यज्ञानानुरूपेण मां भजतां ध्यायतां तेषामहं परमात्मा तमेव बुद्धियोगं बुद्धिः स्वरूपज्ञानं सैव योगो बुद्धियोगस्तं ददामि । तेषां नित्यनिरन्तरश्रवणादिनिष्ठानामत्यन्तप्रीतिपूर्वकया मदुपास्त्या प्रीतः सन्नेवाऽहं सम्यग्दर्शनलक्षणं सर्वमिदमहं च ब्रह्मैवेति सर्वस्य चिदेकरसब्रह्ममात्रत्वावगाहकं ज्ञानयोगं मत्प्राप्तिप्रतिबन्धनिवर्तकं प्रयच्छामीत्यर्थः । श्रवणादिभिर्मद्भजननिष्ठा मदनुग्रहपात्रीभूतास्ते मद्भक्ता येन यादृशेन बुद्धियोगेन मां निर्विशेषं व्योमवन्निराकारं नित्यकूटस्थासङ्गचिद्रूपं सदानन्दैकरसं परं ब्रह्माऽद्वितीयमुपयान्ति इदमेवाऽहमित्यनात्मन्यात्मभावमुत्सृज्य मामेव स्वात्मत्वेन जानन्ति तादृशं मत्साक्षात्कारं

होते हैं, आनन्द करते हैं और सदा सर्वदा वेदान्तोंमें रमण करते हैं । सबको मत्स्वरूप ही देखते हुए, सुनते हुए और भावना करते हुए कालका अतिक्रमण करते हैं, यह अर्थ है ॥ ९ ॥

इस प्रकार श्रवण, श्रावण आदिके भेदसे मुमुक्षुओंके भजनका प्रकार कहकर अब अपने अनुग्रहका प्रकार कहते हैं—**'तेषाम्'** इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

सततयुक्त (सतत—सर्वदा—वेदान्तके श्रवण आदिमें ही परिनिष्ठित) प्रीतिपूर्वक (स्वस्वरूपके साक्षात्कारकी सिद्धिके लिए जो आसक्तिविशेष है, वह प्रीति है, तत्-पूर्वक) श्रवण आदिसे जन्य ज्ञानके अनुसार मेरा भजन करनेवाले (ध्यान करनेवाले) उन मुमुक्षुओंको मैं—परमात्मा—वही बुद्धियोग—स्वरूपज्ञानरूपी योग—देता हूँ । अत्यन्त प्रीतिपूर्वक की हुई अपनी उपासनासे प्रसन्न होकर मैं ही नित्य निरन्तर समाधिनिष्ठा करनेवाले उन मुमुक्षुओंको सम्यग्दर्शनरूप 'सब यह और मैं ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार सबका चिदेकरसब्रह्ममात्रत्व ग्रहण करानेवाले मेरी प्राप्तिमें प्रतिबन्धकी निवृत्ति करनेवाले ज्ञानयोगको देता हूँ, यह अर्थ है । श्रवण आदिसे मेरे भजनमें निष्ठा रखनेवाले, मेरे अनुग्रहके पात्रीभूत वे मेरे भक्त जिस प्रकारके बुद्धियोगसे मुझको—निर्विशेष, आकाशके समान निराकार, नित्य, कूटस्थ, असङ्ग, चिद्रूप, सदानन्दैकरस अद्वितीय परब्रह्मको—प्राप्त होते हैं यानी यही मैं हूँ, इस प्रकार अनात्मामें आत्मभावको छोड़कर मुझको ही अपने आत्मरूपसे जानते हैं, उस प्रकारके अपने साक्षात्काररूप बुद्धिको देता हूँ, यह अर्थ है । इससे यह सूचित होता

प्रयच्छामीत्यर्थः । एतेन दिव्यमणिलक्षणं लक्षणज्ञाच्छृण्वतां तदुक्तिभिर्लक्षणं गृह्णतां लक्ष्ये सूक्ष्मबुद्ध्या युक्त्या च लक्षणमन्वेषयतां लक्ष्यलक्षणयोः साङ्गत्यमालोचयतां तदेव पुनःपुनः शृण्वतामालोचयतां सम्यक्पश्यतामेवेश्वरानुग्रहान्मणितत्त्वं विज्ञायते, न मणिं बहिःकीर्तयतामतत्त्वज्ञाच्छृण्वतामनालोचयतामसूक्ष्मबुद्धीनामयुक्तिकुशलानामसम्यग्दृष्टीनामनीश्वरप्रसादवतां दिव्यमणितत्त्वं गोचरीभवति तथैव ब्रह्मतत्त्वमपीति सूचितं भवति ॥ १० ॥

यद्वा 'मम यो वेत्ति तत्त्वतः' इत्येतद्वाक्यार्थे सम्यग्विचार्यमाणे 'एतां विभूतिम्' इत्यादि 'येन मामुपयान्ति ते' इत्यन्तानां चतुर्णां श्लोकानामेवमर्थः—एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ॥ सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नाऽत्र संशयः ॥ ७ ॥ एतां यथोक्तां विभूतिं महत्त्वविस्तारं योगं च सृष्टिस्थितिलयप्रवेशनियमनादिक्रियासामर्थ्यं च सर्वं मम निर्विशेषस्याऽविक्रियस्य परस्य ब्रह्मणो माययैव न तु वस्तुतोऽस्तीति तत्त्वतो यथाभूतार्थदर्शनेन यो ब्रह्मविद्यतिः सद्गुरुप्रसादलब्धात्मविज्ञानो वेत्ति सर्वमिदं मायिकं मिथ्यैवेति विजानाति स ब्रह्मविदविकम्पेन विकम्पो विक्षेपस्तद्रहितेन ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानदार्ढ्याद्विकल्पनिर्मुक्तेन योगेन सम्यग्दर्शनलक्षणेन युज्यते देहादावात्मभावमुत्सृज्य ब्रह्मैवाऽहमिति ब्रह्मण्येवात्मत्वबुद्ध्या निश्चलो भवति

है कि जैसे दिव्यमणिके लक्षणका परिज्ञान रखनेवाले मनुष्यसे दिव्यमणिके लक्षणको सुननेवाले, उसके वचनोंसे लक्षणका ग्रहण करनेवाले, लक्ष्यमें सूक्ष्मबुद्धि तथा युक्तिसे लक्षणका अन्वेषण करनेवाले, लक्ष्य और लक्षण दोनोंकी संगतिका विचार करनेवाले, उसीको बार-बार सुनने और विचारनेवाले तथा भलीभाँति देखनेवाले पुरुषको ही ईश्वरके अनुग्रहसे मणिका तत्त्व ज्ञात होता है, परन्तु बाहरसे केवल मणि, मणि, यों चिल्लानेवाले, अतत्त्वज्ञ पुरुषसे उसको सुननेवाले, विचार न करनेवाले, स्थूलबुद्धिवाले, युक्तिमें अकुशल, भली भाँति दृष्टिको न रखनेवाले तथा ईश्वरके प्रसादसे रहित पुरुषोंको दिव्यमणिका तत्त्व ज्ञात नहीं होता, वैसे ही ब्रह्मतत्त्व भी ज्ञात नहीं होता ॥ १० ॥

अथवा 'मम यो वेत्ति तत्त्वतः' (मुझ परब्रह्मकी विभूतिको जो तत्त्वतः जानता है) इस वाक्यके अर्थका भली भाँति विचार करनेपर 'एतां विभूतिम्' इस श्लोकसे लेकर 'येन मामुपयान्ति ते' यहाँतकके चार श्लोकोंका यों अर्थ है—**'एताम्'** इत्यादि । यथोक्त विभूति यानी महत्त्वका विस्तार और योग—सृष्टि, स्थिति, लय, प्रवेश एवं नियमन आदि क्रियाकी सम्पूर्ण सामर्थ्य—मुझ निर्विशेष अविक्रिय परब्रह्मकी मायासे ही है, वस्तुतः नहीं है, इस बातको तत्त्वसे—यथाभूत अर्थदर्शनसे—सद्गुरुके प्रसादसे प्राप्त आत्मविज्ञानसे युक्त जो ब्रह्मवित् यति जानता है—सब यह मायिक मिथ्या ही है, ऐसा जानता है—वह ब्रह्मवित् अविकम्प (विक्षेपसे रहित) यानी ब्रह्मात्माके एकत्व-विज्ञानके दृढ़ होनेके कारण विकल्पसे रहित योगसे—सम्यक् दर्शनरूप योगसे—युक्त होता है—देह आदिमें आत्मभावका त्याग कर ब्रह्म ही मैं हूँ,

न पुनरहमिदं ममेति विकल्पं भजते नाऽत्र संशयः कर्तव्यः ॥ ७ ॥ 'मय्येव सकलं जातं मयि सर्वं प्रतिष्ठितम्' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धं ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञाननिष्ठावतामनुभवमाह—अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ॥ इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ ८ ॥ प्रतीयमानस्याऽस्य सर्वस्य जगतोऽहमेव परं ब्रह्म प्रभवः उपादानम्। मय्येव सर्वं प्रतीतमित्यर्थः । मत्तो मत्सन्निधानादेव सर्वं जगत्प्रवर्तत इत्यर्थः । इत्येवं जगत्प्रतीतेस्तत्प्रवृत्तेश्च स्वमेव परं ब्रह्म कारणं मत्वा बुधा ब्रह्मविदो भावसमन्विताः भावो ब्रह्मण्येवाऽऽत्मभावस्तेन समन्विताः समेताः सन्तो मां परं ब्रह्म भजन्ते ब्रह्मैवाऽहमहमेव ब्रह्मेत्यनुसन्दधत इत्यर्थः ॥८॥ तद्भजनप्रकारमेवाऽऽह—मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् । कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ ९ ॥ शास्त्रार्थं शिष्यान्बोधयन्तः परस्परं स्वस्वानुभवं कथयन्तस्ते बुधा मच्चित्ताः मय्येव प्रत्यगभिन्ने परे ब्रह्मणि चित्तं मदाकाराकारितं येषां ते मच्चित्ताः मद्गतप्राणा मद्गता मद्भावं गमिताः प्रत्यग्वृत्त्या मदात्मना प्रविलापिताः प्राणा इन्द्रियादयो येषां ते मद्गतप्राणाः सन्तः वृत्त्यारूढं मामानन्दैकरसमनुभूय तुष्यन्ति च सन्तोषं वहन्ति नित्यमेवं रमन्ति मय्येव सर्वदा रमन्ते च मामेव नित्यं बोधयन्तः कथयन्तो ध्यायन्तश्च बुधाः कालं नयन्तीर्थः ॥ ९ ॥ एवं ब्रह्मविदां यतीनां स्वभक्तानां स्वभजनप्रका-

---

इस प्रकार ब्रह्ममें ही आत्मबुद्धिसे निश्चल होता है, फिर मैं और यह मेरा है, इस प्रकारके विकल्पमें नहीं पड़ता, इस विषयमें संशय नहीं करना चाहिए । ॥ ७ ॥ 'मुझमें ही सब उत्पन्न हुआ, मुझमें सब स्थित है' इत्यादि श्रुतिप्रसिद्ध ब्रह्मात्मके एकत्वविज्ञानमें निष्ठा रखनेवालोंका अनुभव कहते हैं—**'अहं सर्वस्य'** इत्यादि । प्रतीत होनेवाले इस सम्पूर्ण जगत्का मैं परब्रह्म ही प्रभव—उपादान—हूँ । मुझमें ही सम्पूर्ण जगत् प्रतीत होता है, यह अर्थ है । मुझसे—मेरे संनिधानसे—ही सब जगत् प्रवृत्त होता है, यह अर्थ है । इस प्रकार जगत्की प्रतीति और प्रवृत्तिका कारण परब्रह्म ही है, ऐसा मानकर बुध—ब्रह्मवित्—भावसमन्वित (भावसे—केवल ब्रह्ममें ही आत्मभावसे—समन्वित—समेत—यानी युक्त होकर मुझ परब्रह्मको भजते हैं । 'ब्रह्म ही मैं हूँ, और मैं ही ब्रह्म हूँ' इस प्रकार अनुसन्धान करते हैं, यह अर्थ है ॥ ८ ॥ उनके भजनका प्रकार कहते हैं—**'मच्चित्ता'** इत्यादिसे । शिष्योंको शास्त्रार्थका बोधन कराते हुए, परस्पर अपने-अपने अनुभवको कहते हुए वे बुध मच्चित्त (मुझमें ही—प्रत्यगभिन्न परब्रह्ममें ही—मेरे आकारसे परिणत जिनका चित्त है, वे मच्चित्त हैं) तथा मद्गतप्राण (मद्गत—मेरे भावको प्राप्त—यानी प्रत्यक्वृत्तिसे मेरे स्वरूपमें प्रविलापित हैं प्राण—इन्द्रिय आदि—जिनके, वे मद्गतप्राण हैं) होकर वृत्तिमें आरूढ़ मुझको जानकर—आनन्दैकरसका अनुभव करके तुष्ट होते हैं—सन्तोषको प्राप्त होते हैं, नित्य ही रमण करते हैं—मुझमें ही सर्वदा रमते हैं और मेरा ही नित्य बोधन करते हुए, कथन करते हुए और ध्यान करते हुए काल बिताते हैं, यह अर्थ है ॥ ९ ॥ इस प्रकार अपने भक्त ब्रह्मवित् यतियोंके

रमुक्त्वाऽधुना स्वानुग्रहप्रकारमाह—तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ॥ ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ १० ॥ सततयुक्तानां सततं सर्वदा युक्तानां मयि परे ब्रह्मण्येव सदा समाहितचित्तानामेव भजतां मामेव भजन्तीति भजन्तो भक्तास्तेषां भजतां भक्तानां तेषां बुधानां ब्रह्मविदां प्रीतिपूर्वकम् 'भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः' इति वचनादैहिकामुष्मिकं सुखं तत्साधनजातं च सर्वं संन्यस्य स्वदेहजीवनादावप्याशां परित्यज्य मोक्षैकवाञ्छया मदीयमेव परं तत्त्वं सच्चिदानन्दघनमितरानवगाह्यमजस्रं तदेकप्रीत्या भजत्सु तेषूत्तमभक्तेषु समुत्पन्ना या प्रीतिः एते मद्भक्तवर्या मत्प्राप्तयेऽत्यन्तश्रमं कुर्वन्तीति दयारसार्द्रान्तःकरणवृत्तिविशेषः प्रीतिस्तत्पूर्वकमेवाऽहं बुद्धियोगं बुद्धिर्निःशेषनिर्मुक्तविपरीतप्रत्ययं सन्मात्रैकविषयं सम्यग्दर्शनं तेन योगं वृत्तेः संयोगं ददामि । अहमिदमद इत्यादिभेदप्रत्ययशून्यां ब्रह्मैकगोचरामखण्डात्मिकां वृत्तिं प्रयच्छामीत्यर्थः । येन यादृशेन मत्प्रसादप्राप्तेन बुद्धियोगेन ते बुधाः मामद्वितीयं निर्विशेषं सच्चिदानन्दघनं परं ब्रह्मोपयान्ति । स्वात्मत्वेन विज्ञाय तद्भावं प्राप्नुवन्ति तं प्रयच्छामीत्यर्थः । एतेन शतधा कृतश्रवणश्रावणानामपि यतीनां सततयुक्तानामीश्वरः प्रसीदति प्रसन्नः सन् सम्यग्दर्शनं च प्रयच्छति नेतरेषाम् । अतो मुमुक्षूणां विज्ञातात्मतत्त्वानां यतीनां निरन्तरब्रह्मनिष्ठया भवितव्यमिति सूचितम् ॥ १० ॥

अपने भजनका प्रकार कहकर अब अपने अनुग्रहका प्रकार कहते हैं—'**तेषाम्**' इत्यादिसे । सततयुक्त (सतत—सर्वदा—युक्त यानी मुझ परब्रह्ममें ही सदा समाहित चित्तवाले) मुझको भजनेवाले (मेरा भजन करनेवाले) उन बुधोंको यानी उन ब्रह्मविदोंको प्रीतिपूर्वक ('वे भक्त मुझे अत्यन्त प्यारे हैं' इस वचनसे इस लोक और परलोकके सुख और उनके साधन तथा अन्यान्य सब विषयोंका त्याग करके अपनी देहके आजीवन आदिमें भी आशाको छोड़कर केवल मोक्षकी ही इच्छासे दूसरोंसे अग्राह्य सच्चिदानन्दघनस्वरूप मेरे परतत्त्वको ही निरन्तर केवल उसीकी प्रीतिके लिए भजनेवाले उन उत्तम भक्तोंमें उत्पन्न हुई जो प्रीति है यानी ये भक्तवर्य मेरी प्राप्तिके लिए अत्यन्त श्रम करते हैं, इस प्रकारकी दयारससे आर्द्र अन्तःकरणकी एक प्रकारकी वृत्ति प्रीति है, उस प्रीतिपूर्वक) ही मैं बुद्धियोगको (बुद्धि यानी सम्पूर्ण विपरीत प्रत्ययोंसे रहित केवल सन्मात्रको विषय करनेवाला सम्यक् दर्शन, उसके साथ वृत्तिके संयोगको) देता हूँ । मैं, यह, वह इत्यादि भेदज्ञानसे शून्य केवल ब्रह्मको ही विषय करनेवाली अखण्डात्मिका वृत्तिको देता हूँ, यह अर्थ है । मेरे प्रसादसे प्राप्त हुए जिस बुद्धियोगसे वे बुध मुझको—अद्वितीय, निर्विशेष सच्चिदानन्दघन परब्रह्मको—प्राप्त होते हैं । अपने आत्मरूपसे जानकर उसके भावको प्राप्त होते हैं, उस बुद्धियोगको देता हूँ, यह अर्थ है । इससे यह सूचित होता है कि सैकड़ों बार किये गये श्रावण और श्रवणसे युक्त सततयुक्त यतियोंके ऊपर ही ईश्वर प्रसन्न होते हैं और प्रसन्न होकर उन्हींको सम्यक्-दर्शन देते हैं, दूसरोंको नहीं । इसलिए आत्मतत्त्वको जाननेवाले मुमुक्षु यतियोंको निरन्तर ब्रह्मनिष्ठासे युक्त होना चाहिए, यह सूचित हुआ ॥ १० ॥

तेषामेवाऽनुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥ ११ ॥

केवल मेरे भजनमें ही निष्ठा रखनेवाले उन ब्रह्मज्ञानियोंके ऊपर अनुग्रह करनेकी इच्छासे ही मैं (परमात्मा) उनके प्रत्यगाकार अन्तःकरणकी वृत्तिमें आरूढ़ होकर (उनके) अज्ञानजनित अन्धकारको प्रकाशमय ज्ञानरूप दीपकसे विनष्ट कर देता हूँ ॥ ११ ॥

ननु 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति श्रवणादनन्तस्य परिपूर्णस्य ब्रह्मणस्तव प्राप्तिस्तेषामस्त्येव। 'ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते' इत्युक्तिरयुक्तेति चेत्,सत्यम्; सर्वात्मकं मां परं ब्रह्म सर्वे प्राप्ता एव भवन्ति तथाप्यज्ञानेन मां प्राप्तमप्राप्तमेव मन्यन्ते मूढाः । यथा प्रातः प्राप्तमप्यर्कालोकमप्राप्तमेव मन्यन्ते जात्यन्धास्तद्वत्, तत एव मद्भजनशीला ये तेषां मत्प्राप्तिज्ञानावरकमज्ञानमहं नाशयामीत्याह—**तेषामिति** ।

मच्चित्तत्वादिभिः सततयुक्तत्वादिभिश्च ज्ञानपरिपाकसाधनैर्ये मां भवमुक्त्यै भजन्ति तेषां मद्भजनैकनिष्ठानां ब्रह्मविदामनुकम्पार्थमेते निरन्तरसमाधिनिष्ठालक्षणे मद्भजने श्राम्यन्त्यमीषां श्रमनिवृत्तिः कथं स्यादिति समुत्पन्ना या अनुकम्पा दया तदर्थं तन्निमित्तमेवाऽहं परमात्माऽऽत्मभावस्थः आत्मनः प्रतीचो मम भावो भावना ध्यानात्मिका वृत्तिस्तत्रस्थः मद्ध्यानवृत्तेश्चक्षुषः सूर्य इव सम्यग्विषयीभूयेत्यर्थः। यद्वा आत्माऽन्तःकरणं

यदि शङ्का हो कि 'सत्य, ज्ञान, अनन्त ब्रह्म' इत्यर्थक श्रुतिसे अनन्त, परिपूर्ण, ब्रह्मस्वरूप आपकी प्राप्ति उन्हें स्वतः सिद्ध ही है । इस परिस्थितिमें 'ददामि बुद्धियोगम्' यह कथन अयुक्त है, तो यह कहना ठीक है, यद्यपि सर्वात्मक मुझ परब्रह्मको सब प्राप्त ही हैं, तथापि अज्ञानसे मुझ प्राप्त परब्रह्मको मूढ़ अप्राप्त ही मानते हैं। जैसे जन्मान्ध पुरुष प्रातःकालमें प्राप्त हुए सूर्यके प्रकाशको अप्राप्त ही मानते हैं, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए। इसीलिए जो मेरे भजनशील हैं, उनके अज्ञानको, जो मेरी प्राप्तिज्ञानका आवारक है, मैं नष्ट करता हूँ, ऐसा कहते हैं—**'तेषाम्'** इत्यादिसे ।

मच्चित्तत्व आदि और सततयुक्तत्व आदि ज्ञानके परिपाकके साधनोंसे जो संसारसे मुक्त होनेके लिए मुझको भजते हैं, केवल मेरे भजनमें ही निष्ठा रखनेवाले उन ब्रह्मविदोंके ऊपर अनुकम्पा करनेके लिए (ये निरन्तर समाधिनिष्ठारूप मेरे भजनमें श्रम करते हैं, इनके श्रमकी निवृत्ति कैसे हो, इस प्रकार उत्पन्न हुई जो अनुकम्पा यानी दया है उसके लिए—उसके निमित्त—) मैं परमात्मा आत्मभावस्थ होकर (आत्माका—प्रत्यक् आत्मभूत मेरा—भाव यानी भावना—ध्यानात्मिका वृत्ति—उसमें स्थित होकर) जैसे चक्षुका सूर्य विषय होता है, वैसे ही अपने ध्यानकी वृत्तिका विषयीभूत होकर, यह अर्थ है । अथवा आत्मा यानी अन्तःकरण, उसका भाव यानी

तस्य भावो वृत्तिस्तत्र प्रत्यग्रूपेण तिष्ठतीत्यात्मभावस्थः प्रत्यग्वृत्तावाविर्भूतः सन् ज्ञानदीपेन ज्ञायते वस्तुतत्त्वमनेनेति ज्ञानमात्मस्वरूपप्रकाशको बुद्धिवृत्तिविशेषः स एव दीपो ज्ञानदीपस्तेन ज्ञानदीपेन। भास्वता नित्यनिरन्तरसमाधिनिष्ठासंभाविताप्रतिबद्धभावेन निरङ्कुशप्रकाशवता ज्ञानदीपेनाऽज्ञानजमज्ञानमनाद्यविद्यालक्षणं तस्माज्जातमज्ञानजमावरणात्मकं तमो नाशयामि। घटाद्यावरकं तम उदयाचलारूढः सूर्यः स्वप्रभया यथा विध्वंसयति तथा मामेव निरन्तरं ध्यायतां सतां धीवृत्तिफलकारूढो भूत्वाऽहं मत्प्रकाशव्याप्तधीवृत्तिविशेषेण मत्स्वरूपावरकमविद्याध्वान्तं निःशेषं विध्वस्य स्वात्मतत्त्वमविद्यातत्कार्यतद्धर्मतत्कर्मतल्लक्षणतदवस्थातदाभाससंबन्धलेशशून्यं आकाशवन्नित्यनिरन्तरं निर्विकल्पं निराकारं निर्विकारं निरञ्जनं निष्क्रियं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावमात्मानमनाद्यन्तमनन्तमखण्डानन्दैकरसं परिपूर्णमिदमेवाऽहमिति मय्येव परे ब्रह्मण्यात्मतत्त्वप्रत्ययो विस्पष्टतरो यथा स्यात्तथा प्रकाशयामीत्यर्थः। एतेन 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्' इत्येतच्छ्रुत्युक्तरीत्या तीव्रमोक्षेच्छातीव्रवैराग्याभ्यां निदिध्याससमाधिषु परिश्रान्तस्यैव यतेरीश्वरप्रसादस्तेनैव सम्यग्दर्शनं तत एवाऽविद्याध्वान्तनिःशेषनिवृत्तिस्तयैव विदेहकैवल्यसुखसिद्धिरिति सूचितम् ॥११॥

वृत्ति, उसमें प्रत्यक्रूपसे जो स्थित होता है, वह आत्मभावस्थ है यानी प्रत्यक् वृत्तिमें आविर्भूत होकर ज्ञानदीपसे (जिससे वस्तुतत्त्व जाना जाता है, वह ज्ञान है यानी आत्मस्वरूपकी प्रकाशक बुद्धिकी एक वृत्ति, तद्रूप दीप ज्ञानदीप है। भास्वत्—नित्यनिरन्तर समाधिनिष्ठासे उत्पन्न हुए अप्रतिबद्ध भावसे निरङ्कुशप्रकाशवाले ज्ञानदीपसे अज्ञानसे उत्पन्न हुए (अनादि अविद्यारूप अज्ञानसे उत्पन्न हुए यानी अज्ञानजन्य) आवरणात्मक तमको नष्ट करता हूँ। जैसे घट आदिको ढांकनेवाले अन्धकारको उदयाचलपर आरूढ़ सूर्य अपनी प्रभासे नष्ट करता है, वैसे ही नित्य निरन्तर मेरा ध्यान करनेवाले सज्जन पुरुषोंके धीवृत्तिरूपी पीठपर आरूढ़ होकर मैं अपने प्रकाशसे व्याप्त बुद्धिकी वृत्तिविशेषसे मेरे स्वरूपको ढांकनेवाले अविद्यारूप अन्धकारको निःशेष नष्ट करके अविद्या और अविद्याके कार्य, उसके कर्म, उसके लक्षण, उसकी अवस्था, उसके आभासके सम्बन्धलेशसे शून्य आकाशके समान नित्य निरन्तर, निर्विकल्प, निराकार, निर्विकार, निरञ्जन, निष्क्रिय, नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाववाले आत्माको—अनादि, अनन्त, अखण्डानन्दैकरस परिपूर्ण अपने आत्मतत्त्वको—यही मैं हूँ, इस प्रकार मुझ परब्रह्ममें ही आत्मतत्त्वका प्रत्यय विस्पष्टतर जैसे हो, वैसे प्रकाशित करता हूँ, यह अर्थ है। इससे यह सूचित हुआ कि 'जिसको यह वरण कर लेता है, उससे ही लभ्य है, उसीके लिए यह आत्मा अपने स्वरूपको प्रकट कर देता है' इस श्रुतिमें उक्त रीतिसे तीव्र मोक्षेच्छा और वैराग्यसे निदिध्यासनरूप समाधिमें परिश्रान्त यतिको ही ईश्वरका प्रसाद प्राप्त होता है, उससे ही सम्यक्-दर्शन होता है, उसीसे अविद्यारूप अन्धकारकी निःशेष निवृत्ति होती है, उसीसे विदेहकैवल्यरूप सुखकी सिद्धि होती है, यह सूचित हुआ ॥११॥

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥ १२ ॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥ १३ ॥

अर्जुनने कहा—भगवन्, आप ही अप्राकृत अत्यन्तसूक्ष्म धाम (आश्रय) हैं, आप ही निर्विशेष परब्रह्म हैं और आप वायु अग्नि आदिको भी पवित्र करनेवाले सर्वोत्तम पवित्र हैं, देवर्षि नारद तथा असित, देवल, व्यास प्रभृति सम्पूर्ण ऋषि आपको ही अविनाशी, दिव्य, आदिदेव, अज एवं व्यापक पुरुष कहते हैं, स्वयं आप भी अपनेको वैसा ही कहते हैं ॥ १२, १३ ॥

एवं मन्दप्रज्ञस्य मुमुक्षोः स्वमुपासितुं सामान्येन विभूतियोगं प्रतिपाद्य स्वोपास्त्या विशुद्धात्मनो विज्ञातात्मतत्त्वस्य यतेर्निर्विशेषोपासनं तत्फलं च भगवता सम्यक्प्रतिपादितं तच्छ्रुत्वा स्वयं निर्विशेषस्वरूपस्य मूढानुपास्यत्वं निश्चित्य मुमुक्षोरतिमन्दबुद्धेः सर्वात्मकमीश्वरस्वरूपं सविशेषमप्युपासितुमशक्यमिति मन्वानस्तदनुजिघृक्षया तद्बुद्धेरनुरूपं सोपाधिकस्यैव परमेश्वरस्य स्वरूपविशेषं विस्तरेण प्रष्टुकामः सन्नर्जुनः परमेश्वरं स्तौति—**परमिति** द्वाभ्याम् ।

परं सविशेषाद्विलक्षणमप्राकृतमतिसूक्ष्ममतीन्द्रियमनुदयास्तमयवृद्धिक्षयमनाद्यन्तमप्रमेयं धाम केवलकूटस्थासङ्गचित्सकृत्स्मृतिमात्रेण शतकोटिकल्पार्जितपापपटलविध्वंसकत्वात्परममुत्कृष्टतमं वाय्वर्काग्न्यादीनामपि पावकत्वात्तेभ्योऽप्युत्तमं पवित्रं पावनं

इस प्रकार मन्दबुद्धिवाले मुमुक्षुके लिए अपनी उपासना करनेके लिए सामान्यसे विभूतियोगका प्रतिपादन करके अपनी उपासनासे विशुद्ध अन्तःकरणवाले विज्ञात आत्मतत्त्ववाले यतिकी निर्विशेष उपासना और उसके फलका भगवान्ने भलीभाँति प्रतिपादन किया, उसको सुनकर निर्विशेष स्वरूप मूढोंका उपास्य नहीं है, ऐसा निश्चय करके अतिमन्द बुद्धिवाला मुमुक्षु सर्वात्मक ईश्वरके सविशेष स्वरूपकी भी उपासना नहीं कर सकता, ऐसा मानकर उनके ऊपर अनुग्रह करनेकी इच्छासे उनकी बुद्धिके अनुरूप सोपाधिक परमेश्वरके सविशेष स्वरूपको विस्तारसे पूछनेकी कामनावाला अर्जुन परमेश्वरकी स्तुति करता है—**'परम्'** इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

पर—सविशेषसे विलक्षण—अप्राकृत, अतिसूक्ष्म, अतीन्द्रिय, उदय और अस्तसे शून्य वृद्धि और क्षयसे रहित, अनाद्यनन्त, अप्रमेय धाम, केवल कूटस्थ, असङ्ग, चित्, एक बारकी स्मृतिमात्रसे शतकोटि कल्पोंमें किये गये पापपटलका नाशकर्ता होनेसे पर—उत्कृष्टतम—, वायु, सूर्य अग्नि आदिको

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
नहि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥ १४ ॥

हे केशव, आप जो कुछ यह मुझसे कह रहे हैं, उस सबको मैं सत्य ही मानता हूँ, क्योंकि भगवन्, आपके स्वरूपको न तो देवता जानते हैं और न तो दानव ही जानते हैं ॥ १४ ॥

यत् 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति, 'पवित्राणां पवित्रं यो मङ्गलानां च मङ्गलम्' इत्यादि-श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धं निर्विशेषं परं ब्रह्म तद्भवानेव नाऽन्य इत्यर्थः। ननु त्वमेव परं ब्रह्मेति निर्धार्यते, कथमेतत्त्वया विदितमित्याकाङ्क्षायामाप्तवाक्याद्विज्ञातमिति सूचयितुमाह— **पुरुषमिति** । देवर्षिर्नारदस्तथैवाऽसितो देवलो व्यास इत्याद्याः सर्वे ऋषयस्त्वां शाश्वतं नित्यं दिवि स्वे महिम्नि स्थातुं योग्यं दिव्यम्, दिवि अव्याकृताकाशे बुद्धि-गुहायां भवति सत्तां भजतीति वा तं दिव्यमादिदेवं सर्वकारणत्वादादिर्द्योतनशील-त्वाद्देवः स चाऽसौ देवश्च तमादिदेवमजं जन्मादिविकारवर्जितं विभुं व्यापकं परिपूर्णं पुरुषं परमात्मानमाहुर्वदन्ति । भक्त्या पृष्टा मह्यं कथयन्तीत्यर्थः । एतेन बहुभ्यः श्रोतव्यं ज्ञातव्यं वस्त्विति सूचितं भवति । किञ्च, स्वयं चैव त्वमपि 'भोक्तारं यज्ञ-तपसाम्' इति, 'सर्वभूतस्थितं यो माम्' इति च स्वं परमात्मानं मे मह्यं ब्रवीषि कथ-यसि यस्मात्तस्मात्त्वमेव परं ब्रह्मेति द्वयोरर्थः ॥ १२ ॥ १३ ॥

भी पवित्र करनेवाले होनेसे, उनसे भी उत्तम पवित्र यानी पावन 'सत्य, ज्ञान और अनन्त ब्रह्म है' तथा 'जो पवित्रोंका पवित्र और मङ्गलोंका मङ्गल' इत्यादि श्रुति और स्मृतिमें प्रसिद्ध निर्विशेष जो परब्रह्म है, वह आप ही हैं, अन्य नहीं, ऐसा अर्थ है । यदि शङ्का हो कि मैं ही परब्रह्म हूँ, ऐसा जो निर्धारण किया है, उसे तुमने कैसे जाना ? तो आप्त पुरुषोंके वाक्योंसे वैसा जाना है, यह सूचन करनेके लिए अर्जुन कहते हैं--**पुरुषमिति** । देवर्षि नारद तथा असित, देवल, व्यास आदि सब ऋषि आपको शाश्वत (नित्य), दिव्य (दिव्में--अपनी महिमामें--स्थित होने योग्य दिव्य, अथवा दिव्में--अव्याकृत आकाशमें--यानी बुद्धिगुहामें जो होता है—सत्ताको भजता है--वह दिव्य है), आदिदेव (सबका कारण होनेसे आदि, द्योतनशील होनेसे देव, जो आदि और देव है, वह आदिदेव है), अज—जन्म आदि विकारोंसे रहित—, विभु—व्यापक--, पुरुष—परिपूर्ण परमात्मा—कहते हैं । मेरे भक्तिसे पूछनेपर मुझसे वैसा कहते हैं, यह अर्थ है । इससे यह सूचित होता है कि वस्तु बहुतोंसे सुननी चाहिए और जाननी चाहिए । किञ्च, स्वयं आप भी 'यज्ञ और तपोंके भोक्ताको' तथा 'सब भूतोंमें स्थित मुझको' इत्यर्थक वाक्योंसे अपने आपको मुझसे परमात्मा कहते हैं, इसलिए आप ही परब्रह्म हैं, ऐसा दोनोंका अर्थ है ॥ १२, १३ ॥

स्वयमेवाऽऽत्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥ १५ ॥

हे भूतभावन (सम्पूर्ण भूतोंके उत्पादक), हे भूतेश (सम्पूर्ण भूतोंका अन्तर्यामीरूपसे नियमन करनेवाले), हे देवाधिदेव, हे सम्पूर्ण जगत्के स्वामी पुरुषोत्तम, स्वयं आप ही अपनी सम्पूर्ण विभूतियोंको जानते हैं [आपसे अतिरिक्त और कोई आपकी विभूतियोंको जाननेमें समर्थ नहीं है] ॥ १५ ॥

ननु मयाऽपि शतधाऽप्युक्तं ऋषिभिरपि सहस्रधा कथितं तदस्तु, तव निश्चयः कथमित्यत आह—**सर्वमिति** ।

हे केशव, 'बहूनि मे व्यतीतानि' इति, 'मत्तः परतरं नाऽन्यत्' इति, 'न मे विदुः सुरगणाः' इति, 'महर्षयः सप्त पूर्वे' इति च मां प्रति यद्वदसि तदेतत्सर्वमहमृतं सत्यमेव मन्ये। परमाप्तत्वात्परमेश्वरत्वाद् वेदनकारणत्वाच्च तव वचनं यथार्थमित्येवाऽवधारय इत्यर्थः । हि यस्मात्कारणाद्देवा दानवाश्चाऽर्वाचीनास्तस्मात्ते व्यक्तिं व्यज्यते सर्वमस्या इति व्यञ्जयतीति वा व्यक्तिस्तां तव स्वरूपमैश्वरमचिन्त्यमनन्तवैभवमप्रमेयप्रभावमनाद्यन्तं देवाः सर्वज्ञा अपीन्द्रादयो न विदुः दानवा मध्वादयोऽपि न विदुस्ततोऽर्वाचीनाः किञ्चिज्ज्ञा मनुष्या न विदुरिति किमु वक्तव्यमित्यर्थः ॥ १४ ॥

यस्मात्त्वं देवऋष्यादीनामादिस्तस्मात्स्वयमेवाऽऽत्मानं जानासीत्याह—**स्वयमिति** ।

भूतान्याकाशादीनि स्तम्बान्तानि भावयति स्वस्मादेव संभावयतीति भूतभावन ।

भले ही मैंने भी सैकड़ों बार कहा और ऋषियोंने भी हजारों बार कहा, पर तुम्हारा निश्चय कैसा है ? इसपर अर्जुन कहते हैं—**'सर्वम्'** इत्यादिसे ।

हे केशव, 'बहुतसे मेरे जन्म बीत गये', 'मुझसे पर अन्य नहीं है', 'मेरे प्रभावको देवगण नहीं जानते', तथा 'सात पूर्वके महर्षि' इत्यादि मेरे प्रति जो आप कहते हैं, वह सब ऋत—सत्य—ही है, ऐसा मैं मानता हूँ । परम आप्त होने, परमेश्वर होने तथा परमेश्वरके ज्ञानमें कारण होनेसे आपका वचन यथार्थ ही है, ऐसा मैं निश्चय करता हूँ, यह अर्थ है । जिस कारणसे देवता और दानव अर्वाचीन हैं, इसलिए वे सर्वज्ञ इन्द्रादि देवता भी आपकी व्यक्तिको (सम्पूर्ण जिससे प्रकट होता है अथवा जो सबको प्रकट करती है, वह व्यक्ति है, उसको) यानी आपके अचिन्त्य, अनन्त वैभववाले, अप्रमेयप्रभाव, अनादि तथा अनन्त ऐश्वरस्वरूपको नहीं जानते और मधु आदि दानव भी नहीं जानते, तब उनसे अर्वाचीन अल्पज्ञ मनुष्य नहीं जानते, इसमें तो कहना ही क्या है ? यह अर्थ है ॥ १४ ॥

चूँकि आप देव, ऋषि आदिके भी आदि हैं, इसलिए आप ही अपनेको जानते हैं, ऐसा कहते हैं—**'स्वयम्'** इत्यादिसे ।

अपने आप ही जो भूतोंकी—आकाशसे लेकर स्तम्ब पर्यन्त सब भूतोंकी—भावना करते हैं

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥ १६ ॥

भगवन्, जिन विभूतियोंके द्वारा आप इन सम्पूर्ण लोकोंको व्याप्तकर स्थित हैं, अपनी उन सम्पूर्ण दिव्य (अप्राकृत) विभूतियोंको मुझसे कहिए ॥ १६ ॥

भूतेश तान्येव भूतानीष्टे स्वयमन्तर्यामिरूपेण प्रवर्तयतीति भूतेश । अग्न्यादयः खलु वागादीन्यधिष्ठाय जगत्प्रवर्तयन्तीत्यत आह—**देवदेवेति** । देवानपि वह्न्यादीन्देवयति चेष्टयतीति देवदेव, 'य आदित्ये तिष्ठन्' इत्यादिश्रुतेः । देवानामपि देव पूज्येति वा देवदेव, स्वेन सृष्टं जगत्सर्वमन्नोदकादिरूपेण नियन्तृत्वरूपेण च पातीति जगत्पते, पूर्णत्वात्पुरुषः सर्वमहत्त्वादुत्तमः पुरुषश्चाऽसावुत्तमश्च हे पुरुषोत्तम, स्वयमेव त्वमात्मना स्वेनैव स्वमात्मानं वेत्थ पुरुषः स्वाङ्गसम्पत्तिं बलपुष्टिजवारोग्यानारोग्याङ्गगुणवैकल्यावैकल्यधैर्यादिलक्षणां यथा तथाऽऽत्मीयवैभवं मायायोगविशेषविशेषितं त्वमेव जानासि न त्वन्यः परिच्छिन्नः किञ्चिज्ज्ञ इति भावः ॥ १५ ॥

यतः स्वेनैकेन वेद्यमहिमा त्वमतः स्वतत्त्वमेवेदं मह्यमुपदिशेत्याह—**वक्तुमिति** ।

दिव्यास्तेजोबलपौरुषशक्तिप्रकाशादिगुणैरप्राकृता आत्मनस्ते परमेश्वरस्य या विभूतयो महत्त्वविस्तारास्ता अशेषेण साकल्येन स्वीयमहत्त्वपारज्ञस्त्वमेव मे मह्यं

यानी उत्पत्ति करते हैं, वे भूतभावन हैं, भूतेश—उन्हीं भूतोंको जो चेष्टा कराते हैं यानी स्वयं अन्तर्यामीरूपसे जो प्रवृत्त करते हैं, वे भूतेश हैं । अग्नि आदि भी वागादिमें स्थित होकर जगत्को प्रवृत्त करते हैं, इसपर कहते हैं—**देवदेवेति**। देवोंको—अग्नि आदि देवोंको—भी जो चेष्टा कराता है, वह देव-देव है, क्योंकि 'जो आदित्यमें स्थित होकर' इत्यादि श्रुति है । अथवा देवताओंका भी जो देव यानी पूज्य है, वह देवदेव है । स्वयं उत्पन्न कर सम्पूर्ण जगत्का अन्न, जल आदि रूपसे और नियन्तारूपसे जो पालन करता है, वह जगत्पति है, पूर्ण होनेसे पुरुष है, सम्पूर्ण पदार्थोंकी अपेक्षा महान् होनेसे उत्तम है, पुरुष होकर जो उत्तम है, वह पुरुषोत्तम है, हे पुरुषोत्तम, अपने स्वरूपको आप स्वयं ही जानते हैं—जैसे बल, पुष्टि, वेग, आरोग्य, अनारोग्य, सूरतकी विकलता एवं अविकलता तथा धैर्य आदिरूप अपनी अङ्गसंपत्तिको पुरुष जानता है, वैसे ही अपने मायायोगविशेषसे विशेषित वैभवको आप ही स्वयं जानते हैं, दूसरा परिच्छिन्न और अल्पज्ञ पुरुष नहीं जानता, यह भाव है ॥ १५ ॥

जिस कारणसे केवल आप ही अपनी महिमाको जानते हैं, इसलिए अपने तत्त्वका स्वयं आप ही मुझको उपदेश दें, ऐसा कहते हैं—**'वक्तुम्'** इत्यादिसे ।

दिव्य—तेज, बल, पौरुष, शक्ति, प्रकाश आदि गुणोंसे अप्राकृत—आत्माकी—आप परमेश्वरकी—जो विभूतियां (महत्त्वविस्तार) हैं, उन सबको अशेषतः—सम्पूर्णरूपसे—अपने महत्त्वके

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥ १७ ॥
विस्तरेणाऽऽत्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नाऽस्ति मेऽमृतम् ॥ १८ ॥

हे योगीश्वर, सर्वदा सविशेषस्वरूपसे आपकी उपासना कर रहा मैं निर्विशेष-स्वरूप आपको किस प्रकार जानूं तथा भगवन्, किन-किन भावोंमें आपका मुझे ध्यान करना चाहिए इत्यादि सब मुझसे कहिए। हे जनार्दन, आप अपने योगको तथा विभूतिको फिर [विस्तारपूर्वक] मुझसे कहिए, क्योंकि आपकी वाणीरूप अमृतका पान करते हुए मुझे तृप्ति नहीं होती ॥ १७,१८ ॥

वक्तुमर्हसि । याभिर्विभूतिभिरात्मनो विविधैर्भावैरिमान् परिदृश्यमानान् लोकान् स्वर्ग-मर्त्यादीन्व्याप्याऽऽपूर्य तिष्ठसि ॥ १६ ॥

किञ्च, **कथमिति** । योगिन् मायायोगजमैश्वर्यं योग इत्युच्यते सोऽस्याऽस्तीति योगी हे योगिंस्त्वां सविशेषं परिचिन्तयन् सदा सर्वत्र ध्यायन्स्तुवन्नमस्कुर्वन्नहं शुद्धात्मा सन् त्वामवाङ्मनसगोचरं निर्विशेषं परं ब्रह्म कथं विद्यां केन प्रकारेण जानीयाम् । तादृशमहत्त्वविशिष्टं तव विभूतिविशेषं मे वक्तुमर्हसीति पूर्वेणाऽन्वयः । त्वां कथं विद्यामिति प्रश्नो वा । हे भगवन्, जडाजडभेदेन देवदानवमर्त्यादिभेदेन वा बहुविधेषु भावेषु पदार्थेषु केषु केषु त्वं मया मुमुक्षुणा चिन्त्योऽसि ध्यातव्योऽसि । 'सर्वं विष्णुमयं जगद्' इति न्यायेन त्वदात्मके जगति कुत्र कुत्र तव विशेषस्फूर्तिः कुत्र कुत्र तव ध्यानं विशिष्य मया कर्तव्यमित्यर्थः ॥ १७ ॥

पारको जाननेवाले आप ही मुझसे कहिए। जिन अपनी विभूतियोंसे—अनेक प्रकारके भावोंसे—इन देखनेमें आनेवाले स्वर्ग आदि लोकोंको व्याप्त करके—पूर्ण करके—आप स्थित हैं ॥ १६ ॥

किञ्च, **'कथम्'** इत्यादि। मायाके योगसे उत्पन्न हुआ ऐश्वर्य योग कहलाता है, वह योग जिसमें हो, वह योगी है, हे योगिन्, सविशेष आपका परिचिन्तन करता हुआ—सदा सर्वत्र ध्यान, स्तुति एवं नमस्कार करता हुआ—मैं शुद्धात्मा होकर मन और वाणीके अगोचर निर्विशेष परब्रह्म-स्वरूप आपको कैसे जानूँ। अतः जैसे जानूँ, वैसे उस प्रकारके महत्त्वसे विशिष्ट अपने विभूतिविशेषको मुझसे कहिये, ऐसा पूर्वश्लोकसे संबन्ध है। अथवा आपको कैसे जान सकता हूँ? यह प्रश्न है। हे भगवन्, जड़ और अजड़के भेदसे अथवा देव, दानव, मनुष्य आदिके भेदसे बहुत प्रकारके विद्यमान भावोंमें से किन-किन पदार्थोंमें आपका मुझ मुमुक्षुको चिन्तन—ध्यान—करना चाहिए। 'सम्पूर्ण जगत् विष्णुमय है' इस न्यायसे आपके स्वरूपभूत जगत्में कहाँ-कहाँ आपकी विशेष स्फूर्ति है, और कहाँ-कहाँ आपका ध्यान विशेषरूपसे मुझे करना चाहिए, यह अर्थ है ॥ १७ ॥

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नाऽस्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥ १९ ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—कुरुश्रेष्ठ, मैं मूढ़बुद्धि पुरुषोंके समझने योग्य अपनी उन मुख्य-मुख्य विभूतियोंको तुमसे कहूँगा, मेरी विभूतियोंका अन्त (इयत्ता) नहीं है ॥ १९ ॥

प्रकृतं प्रश्नमुपसंहरति—**विस्तरेणेति** ।

जायत इति जनो दृश्यवर्गस्तमन्तर्बहिश्च सर्वतोऽर्दति व्याप्नोतीति जनार्दनस्तस्य संबुद्धिर्हे जनार्दन सर्वव्यापिन् । आत्मनः परमात्मनस्तवेश्वरस्य योगं मायाकृतमैश्वर्यविशेषं विभूतिं च भूयः पुनरपि विस्तरेण नामरूपादिभेदैर्विशेषेण कथय । ननु 'अक्षरं ब्रह्म परमम्' इति, 'अहं क्रतुरहं यज्ञः' इति, महर्षयः सप्त पूर्वे' इत्यष्टमे नवमे दशमे च समासव्यासाभ्यां विभूतिरुक्ता, पिष्टपेषणन्यायेन पुनरुक्त्या किं साध्यमित्यत आह—**तृप्तिरिति** । हि यस्मात्कारणात्तव परमेश्वरस्य वागमृतं शृण्वतः श्रोत्राभ्यां पिबतो मे तृप्तिर्नाऽस्ति तस्मात्पुनः कथय । अत्राऽयमभिप्रायः—अष्टमेऽध्यात्मादिभेदभिन्नं सर्वं ब्रह्मेत्युपास्स्वेत्युक्तं तत्र सर्वात्मनि नामरूपजात्यादिभेदवासनादोषदूषितान्तःकरणस्य मूढबुद्धेर्भेदबुद्धिं विना अभेदबुद्ध्यनुदयादुपास्तिर्न संभवति, नवमेऽप्यहं क्रतुरिति सार्वात्म्यमेव प्रतिपादितं तत्राऽपि च मनो विशेषालम्बनाभावान्न प्रविशति, दशमेऽपि सामान्येनैवोक्तं न तत्राऽपि मनसो विशेषालम्बनं दृश्यते ।

प्रकृत प्रश्नका उपसंहार करते हैं—**'विस्तरेण'** इत्यादिसे ।

जो उत्पन्न होता है, वह जन है यानी दृश्यवर्ग, उसको बाहर भीतर सब ओरसे जो अर्दन करता है यानी व्याप्त करता है, वह जनार्दन है, उसकी संबुद्धि है—हे जनार्दन यानी हे सर्वव्यापिन्, आत्माके—आप परमात्मा ईश्वरके—योगको—मायाकृत ऐश्वर्यविशेषको—और विभूतिको फिर भी विस्तारसे—नाम, रूप आदि भेदोंसे विशेषतः—कहिए। यदि शङ्का हो कि 'अक्षरं ब्रह्म परमम्', 'अहं क्रतु०' तथा 'महर्षयः सप्त पूर्वे' इत्यादिसे आठवें, नवें और दशवें अध्यायोंमें संक्षेपसे और विस्तारसे विभूतियां कही गई हैं, फिर पिष्टपेषणन्यायसे (पिसेको पीसनेके सदृश) उसका पुनःकथन करनेसे क्या फल ? तो इसपर कहते हैं—**तृप्तिरिति** । जिस कारणसे परमेश्वररूप आपके अमृत वचन सुनकर—कानोंसे पानकर—मुझे तृप्ति नहीं होती, इसलिए फिर कहिए । यहां यह अभिप्राय है—अध्यात्म आदि भेदोंसे भिन्न सब ब्रह्म है, यों उपासना करो, यह आठवें अध्यायमें कहा, वहाँ सर्वात्मामें नाम, रूप, जाति आदि भेदकी वासनासे दूषित अन्तःकरणवाले मूढ़बुद्धि पुरुषकी भेदबुद्धिको छोड़कर अभेदबुद्धिका उदय न होनेसे उक्त उपासनाका संभव ही नहीं है । नवेंमें भी 'मैं क्रतु' इससे सर्वात्मत्वका प्रतिपादन किया है, वहाँपर भी विशेष आलम्बन न होनेसे मन प्रवेश नहीं करता । दसवेंमें भी सामान्यसे ही कहा है, अतः उसमें भी मनका विशेष आलम्बन

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥ २० ॥

हे गुडाकेश, सब यतियोंको सम्पूर्ण प्राणियोंकी बुद्धिरूप गुहामें साक्षीरूपसे स्थित प्रत्यगात्मरूप मेरी उपासना करनी चाहिए एवं सम्पूर्ण भूतोंका मैं ही उपादान (अव्यक्तरूप), स्थिति (व्यक्तस्वरूप) तथा अन्त (प्रलयस्वरूप) हूँ । मध्यमाधिकारियोंको तद्रूपसे मेरी उपासना करनी चाहिए ॥ २० ॥

ततो मूढबुद्धेस्तदुपास्तौ बुद्धिस्थैर्याय विभूतिविशेषो विस्तरेण वक्तव्य इति ॥ १८ ॥

स्वयं सर्वज्ञोऽप्यर्जुनप्रश्नवाक्येन मूढबुद्धेः प्रज्ञामान्द्यमुद्दिश्य परितपन्निव दयया मन्दप्रज्ञाननुग्रहीतुमिदं श्रीभगवानुवाच—**हन्त त इति** ।

हन्त बतैवं वा मूढबुद्धेः प्रज्ञा । हे कुरुश्रेष्ठ, तद्बुद्ध्यनुरूपा मम या दिव्या अप्राकृता विभूतयः स्वरूपविशेषास्तास्ते तुभ्यं कथयिष्यामि प्राधान्यतः प्राधान्येन, येषु येषु मम विभूतिभेदेषु तेजःशक्तिबलपौरुषविद्यामहत्त्वगुणविशेषैर्या या विभूतिः प्रधाना श्रेष्ठा भवति, तां तां विभूतिं मूढानां प्रीत्युत्साहश्रद्धाभक्तिजनयित्रीं कथयामीत्यर्थः । ननु विशिष्टा अविशिष्टाश्च सर्वा विभूतयः कथ्यन्तामित्यत आह—**नाऽस्तीति** । मे विभूतीनां मायापरिमितशक्तिविजृम्भितानां विस्तरस्य बहुत्वस्याऽन्तो नाऽस्ति । गङ्गावालुकानां समुद्रजलकणानां नक्षत्राणां च संख्यापरिसमाप्तिरस्ति, न तु मम विभूतिविस्तरस्येत्यर्थः ॥ १९ ॥

दिखलाई नहीं देता, इसलिए उसकी उपासनामें मूढ़बुद्धि पुरुषकी बुद्धिकी स्थिरताके लिए विभूतियोंको विस्तारसे कहना चाहिए ॥ १८ ॥

स्वयं सर्वज्ञ भी श्रीभगवान् मन्दबुद्धिवाले मनुष्यकी प्रज्ञाकी मन्दताके उद्देशसे किये गये अर्जुनके प्रश्नवाक्यसे सन्तप्त-से होकर दयासे मन्दबुद्धिवालोंपर अनुग्रह करनेके लिए बोले—**'हन्त'** इत्यादिसे ।

हन्त—खेद है, अथवा मूढ़बुद्धिकी बुद्धि ही ऐसी है । हे कुरुश्रेष्ठ, मूढ़बुद्धि पुरुषकी बुद्धिके अनुरूप मेरी जो दिव्य—अप्राकृत—विभूतियां यानी स्वरूपविशेष हैं, उनको मैं तुमसे मुख्यतः कहूँगा । मेरी जिन-जिन विभूतियोंमें तेज, बल, पौरुष, विद्या, महत्त्व आदि गुणोंसे जो जो विभूति प्रधान (श्रेष्ठ) है, उस-उस मूढ़ोंकी प्रीति, उत्साह, श्रद्धा तथा भक्तिको उत्पन्न करनेवाली विभूतिको कहता हूँ, यह अर्थ है । मुख्य और अमुख्य सब विभूतियां कहनी चाहिएँ, ऐसी आकांक्षा होनेपर कहते हैं—**नाऽस्तीति** । मायारूप अपरिमित शक्तिसे फैली हुई मेरी विभूतियोंके विस्तारका यानी बहुत्वका अन्त नहीं है । गङ्गाकी वालू, समुद्रके जलकण और नक्षत्रोंकी संख्याकी परिसमाप्ति हो सकती है, पर मेरे विभूतिविस्तारकी समाप्ति नहीं है, यह अर्थ है ॥ १९ ॥

आदित्यानामाऽहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ २१ ॥

बारह आदित्योंमें विष्णुनामक आदित्य मेरी विभूति है, ज्योतिश्चक्रमें अंशुमान् (सूर्य) मेरी विभूति है, देवताओंमें मरीचिनामक देवता मेरी विभूति है और सम्पूर्ण नक्षत्रोंमें चन्द्रमा मेरी विभूति है, अतः उन सबकी मद्बुद्धिसे उपासना करनी चाहिए ॥ २१ ॥

मुमुक्षूणां चित्तशुद्ध्यै उपास्यान्विभूतिविशेषान्वक्ष्यामीत्युक्ते मुख्याधिकारिणामेतदुपास्तेरेव कर्तव्यत्वप्राप्तौ तेषां निर्विशेष एवोपास्यो न तु सविशेष इति ज्ञापयितुमादौ ब्रह्मविदुपास्यं वस्तु निर्दिशति—**अहमिति** ।

गुडाका निद्रा तस्या ईशः गुडाकेशः । स्ववशनिद्र इत्यर्थः । हे गुडाकेश, सर्वभूताशयस्थितः सर्वेषां ब्रह्मादिस्तम्बान्तानां प्राणिनामाशये आ समन्तात्सर्वतः शेते शयान इव नैश्चल्येनाऽऽत्मा तिष्ठति यत्र स आशयो बुद्धिगुहा तत्र स्वरूपत्वेन सर्वप्रकाशकत्वेन साक्षित्वेन च तिष्ठतीति सर्वभूताशयस्थितः सर्वभूताधिवासः कूटस्थाऽसङ्गचिद्रूप आत्मा प्रत्यगात्माऽहं ब्रह्मविदां यतीनामुपास्य इत्यर्थः, 'अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः' इत्यादिश्रुतेः । एवं मुख्याधिकारिणामुपास्यं निरूप्य मध्यमाधिकारिणामुपास्यमाह—**अहमिति** । भूतानामाकाशादीनामादिरुपादानमव्यक्तं तद्रूपश्च भूतानां मध्यं स्थितिर्व्यक्तस्वरूपश्च भूतानामन्त एव चाऽन्तः प्रलयस्तद्रूपश्चाऽहमुपास्यः । प्रपञ्चकारणरूपेण च प्रपञ्चरूपेण च प्रपञ्च-

मुमुक्षुओंकी चित्तशुद्धिके लिए उपास्य विभूतियोंको कहूँगा, यों कहनेसे मुख्य अधिकारियोंको भी इन्हींकी उपासना कर्तव्य है, ऐसा प्राप्त होनेपर उनका उपास्य निर्विशेष ही है, सविशेष नहीं, यह बतलानेके लिए आदिमें ब्रह्मवित्‌की उपास्य वस्तु कहते हैं—**'अहम्'** इत्यादिसे ।

गुडाका यानी निद्रा, उसका ईश गुडाकेश, स्ववशनिद्र, यह अर्थ है । हे गुडाकेश, सर्वभूताशयस्थित (ब्रह्मासे लेकर स्तम्ब तक सब प्राणियोंके आशयमें—आ—समन्तात्—सब ओरसे सोता है—सोता हुआ-सा निश्चलतासे जहां आत्मा स्थित रहता है—वह आशय है यानी बुद्धिगुहा, वहां स्वरूपसे—सर्वप्रकाशकरूपसे—और साक्षीरूपसे जो स्थित है, यह सर्वभूताशयस्थित) यानी सब भूतोंका अधिवास, कूटस्थ, असङ्गचिद्रूप आत्मा—प्रत्यक् आत्मा—मैं ब्रह्मवित् यतियोंका उपास्य हूँ, यह अर्थ है, क्योंकि 'शरीरके भीतर ज्योतिर्मय शुभ्र ही है, जिसको क्षीणदोष यति देखते हैं' इत्यादि श्रुति है । इस प्रकार मुख्य अधिकारियोंका उपास्य कहकर मध्यम अधिकारियोंका उपास्य कहते हैं—**'अहमिति** । भूतोंका—आकाशादि भूतोंका—आदि—उपादान अव्यक्तस्वरूप—भूतोंका मध्य—स्थिति यानी व्यक्तस्वरूप, और भूतोंका अन्त यानी प्रलयरूप में—उपास्य हूँ, प्रपञ्चके कारणरूपसे, प्रपञ्चरूपसे और प्रपञ्चके प्रलयरूपसे भी मैं स्थित हूँ ।

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥ २२ ॥

वेदोंमें मैं सामवेद हूँ, देवोंमें मैं इन्द्र हूँ, इन्द्रियोंमें मैं मन हूँ तथा शरीरोंमें मैं बुद्धि हूँ ॥ २२ ॥

प्रलयरूपेणाऽपि च स्थितोऽहं सगुणः परमात्मा मध्यमानामुपास्य इत्यर्थः ॥ २० ॥

एवमुत्तममध्यमानामुपास्यभेदं निरूप्याऽधुनाऽधमानामुपासनार्थमात्मीयानेव विभूतिविशेषान्निरूपयति—**आदित्यानामिति** ।

द्वादशादित्याः सर्वेऽपि मम विभूतिरेव नामरूपादिभिर्विशेषाय भवतीति विभूतिस्तेषामादित्यानां मध्ये तु विष्णुरहं विष्णुर्नामाऽऽदित्यः प्रभावातिशयेन मम विभूतिविशेषः । सोऽयं परमेश्वर एवेति मद्बुद्ध्योपास्य इत्यर्थः । ज्योतिश्चक्रे वर्तमानानि ज्योतींषि सर्वाणि च मम विभूतिरेव तेषां मध्ये त्वंशुमान् रविरहं तेजआधिक्येन मम विभूतिविशेषः । सोऽयं परमेश्वर एवेति मद्बुद्ध्योपास्य इत्यर्थः । मरुत इति देवताविशेषा मम विभूतिरेव तेषां मध्ये मरीचिरहं मरीचिर्नाम देवता मम विभूतिविशेषो मद्बुद्ध्योपास्य इत्यर्थः । अश्विन्यादिनक्षत्राणि सर्वाणि मम विभूतिरेव तेषां मध्ये शश्यहं शोभाधिक्येन मम विभूतिविशेषः सोऽयं मद्बुद्ध्योपास्य इत्यर्थः । एवं सर्वत्र षष्ठ्यन्तानां विभूतित्वं प्रथमान्तानां द्वितीयान्तानां च तद्विशेषत्वं चेश्वरत्वेनोपास्यत्वं च द्रष्टव्यम् ॥ २१ ॥

सगुण परमात्मा मध्यमोंके उपास्य हैं, यह अर्थ है ॥ २० ॥

इस प्रकार उत्तम एवं मध्यम अधिकारियोंके उपास्यविशेषका निरूपण करके अब अधम अधिकारियोंकी उपासनाके लिए अपने ही विभूतिविशेषोंका निरूपण करते हैं—**'आदित्यानाम्'** इत्यादिसे ।

सब बारह आदित्य मेरी ही विभूति हैं (नाम, रूप आदिसे जो विशेषकी हेतु होती है, वह विभूति है), उन आदित्योंके मध्यमें तो मैं विष्णु हूं—विष्णुनामका आदित्य मेरे प्रभावके अतिशयसे मेरा विभूतिविशेष है। वह परमेश्वर ही है, यों मद्‌बुद्धिसे उसकी उपासना करनी चाहिए, यह अर्थ है । ज्योतिश्चक्रमें वर्तमान ज्योतियां सब मेरी ही विभूतियाँ हैं, उनके मध्यमें तो अंशुमान् रवि मैं हूँ—तेज अधिक होनेसे वह मेरा विभूतिविशेष है। वह परमेश्वर ही है, यों मेरी बुद्धिसे वह उपास्य है, यह अर्थ है । मरुत् देवता । सब देवता मेरी ही विभूतियाँ हैं, उनके मध्यमें मैं मरीचि हूं, मरीचिनामका देवता मेरी विशेष विभूति है, वह मद्‌बुद्धिसे उपास्य है, यह अर्थ है । अश्विनी आदि नक्षत्र सब मेरी ही विभूतियां हैं, उनके मध्यमें मैं शशी (चन्द्रमा) हूं—शोभाकी अधिकतासे वह मेरा विभूतिविशेष है, वह मद्‌बुद्धिसे उपास्य है । इस प्रकार षष्ठीविभक्त्यन्तोंमें विभूतित्व है एवं प्रथमान्त और द्वितीयान्तोंमें विभूतिविशेषत्व तथा ईश्वररूपसे उपास्यत्व समझना चाहिए ॥ २१ ॥

रुद्राणां शङ्करश्चाऽस्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चाऽस्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥ २३ ॥
पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥ २४ ॥
महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥ २५ ॥

ग्यारह रुद्रोंमें मैं शङ्कर हूँ, यक्ष और राक्षसोंमें कुबेर हूँ, वसुओंमें अग्नि हूँ तथा उन्नत पर्वतोंमें मेरु हूँ। हे पार्थ, तुम पुरोहितोंमें मुख्य परोहित बृहस्पति मुझे ही जानो, सेनापतियोंमें स्कन्द (कार्तिकेय) मैं ही हूँ तथा पुण्य जलाशयोंमें समुद्र हूँ। महर्षियोंमें मैं भृगु हूँ, अर्थवाचक शब्दोंमें प्रणव हूँ, यज्ञोंमें जप-यज्ञ हूँ तथा स्थावरोंमें मैं हिमालय पर्वत हूँ ॥२३–२५॥

वेदानामिति । भवन्तीति भूतानि शरीराणि जीवाधिष्ठितानि तेषां मध्ये चेतना बुद्ध्यादिस्थूलान्तं सर्वं चेतयतीति चेतना साभासा बुद्धिवृत्तिः साऽहमस्मीत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ २२ ॥

रुद्राणामिति । रुद्राणामेकादशानां मध्ये शङ्कराख्यो यः कश्चिद्रुद्रः सोऽहम् । वित्तेशः कुबेरः । वसूनां मध्ये पावकोऽग्निः । शिखरिणां शिखरवतामत्युन्नतानां मध्ये मेरुरहम् ॥ २३ ॥

पुरोधसामिति । सरांसि पुण्यतीर्थानि तेषां मध्ये सागरोऽहम् ॥ २४ ॥

महर्षीणामिति । गिरामर्थवाचकपदानां मध्ये एकाक्षरं प्रणवोऽहम् । स्थावराणामचलानां मध्ये हिमालयोऽहम् ॥ २५ ॥

'वेदानाम्' इत्यादि । जो होते हैं, वे भूत हैं यानी जीवसे अधिष्ठित शरीर, उनके मध्यमें चेतना (बुद्धिसे लेकर स्थूलपर्यन्त सब पदार्थोंको जो चेतन करती है, वह चेतना है) यानी बुद्धिकी साभास वृत्ति, वह मैं हूँ, यह अर्थ है । शेष स्पष्ट है ॥ २२ ॥

'रुद्राणाम्' इत्यादि । ग्यारह रुद्रोंके मध्यमें शङ्करनामक जो रुद्र है, वह मैं हूँ। वित्तेश यानी कुबेर मैं हूँ । वसुओंके मध्यमें पावक यानी अग्नि तथा शिखरियोंके—अति उन्नत पर्वतोंके—मध्यमें मैं मेरु हूँ ॥ २३ ॥

'पुरोधसाम्' इत्यादि । सर यानी पुण्यतीर्थ, उनके मध्यमें मैं सागर हूँ ॥ २४ ॥

'महर्षीणाम्' इत्यादि । गिराम् यानी अर्थवाचक पदोंके मध्यमें मैं एकाक्षर प्रणव हूँ। स्थावर यानी अचलोंके मध्यमें मैं हिमालय हूँ ॥ २५ ॥

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥ २६ ॥
उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥ २७ ॥
आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चाऽस्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥ २८ ॥
अनन्तश्चाऽस्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितॄणामर्यमा चाऽस्मि यमः संयमतामहम् ॥ २९ ॥
प्रह्लादश्चाऽस्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥ ३० ॥

सम्पूर्ण वृक्षोंमें मैं पीपल हूँ, देवर्षियोंमें नारद हूँ, गन्धर्वोंमें चित्ररथ हूँ, तथा सिद्धोंमें मैं कपिल मुनि हूँ। अश्वोंमें अमृतमथनके समय उत्पन्न हुआ उच्चैःश्रवा हूँ, गजेन्द्रोंमें ऐरावत हूँ और मनुष्योंमें नराधिप यानी राजा हूँ। आयुधोंमें मैं वज्र हूँ, धेनुओंमें कामधेनु हूँ, प्रजाकी उत्पत्तिका कारण काम मैं हूँ तथा सर्पोंमें मैं वासुकि हूँ। नागोंमें मैं अनन्त (शेषनाग) हूँ, जलीय देवोंमें वरुण हूँ, पितरोंमें अर्यमा हूँ तथा दुष्टोंका निग्रह करनेवालोंमें यमराज हूँ। दैत्योंमें मैं प्रह्लाद हूँ, शुभ, अशुभ, वृद्धि और क्षय करनेवालोंमें काल हूँ, मृगोंमें सिंह हूँ तथा पक्षियोंमें गरुड़ हूँ ॥ २६–३० ॥

अश्वत्थ इत्यादिद्वयोः स्पष्टोऽर्थः ॥ २६ ॥ २७ ॥

आयुधानामिति । कामधुक् कामधेनुः । प्रजनयिता कन्दर्पः कामोऽहम् ॥२८॥

अनन्त इति । नागानां मध्ये अनन्तः शेषोऽहम् । यादसां जलदेवतानां मध्ये वरुणोऽहम् । संयमतां दुष्टनिग्रहं कुर्वतां मध्ये यमोऽहम् ॥ २९ ॥

प्रह्लाद इति । शुभमशुभं वृद्धिं क्षयं च कलयतां कुर्वतां मध्ये कालोऽहम् ॥३०॥

'अश्वत्थः' इत्यादि दो श्लोकोंका स्पष्ट अर्थ है ॥ २६,२७ ॥

'आयुधानाम्' इत्यादि । कामधुक् यानी कामधेनु । प्रजनन करनेवाला कन्दर्प—काम—मैं हूँ ॥२८॥

'अनन्त०' इत्यादि नागोंके मध्यमें अनन्त—शेषनाग—मैं हूँ। यादसोंमें यानी जलके देवताओंके मध्यमें वरुण मैं हूँ। संयमन करनेवालोंमें यानी दुष्टोंका निग्रह करनेवालोंके मध्यमें मैं यम हूँ ॥२९॥

'प्रह्लाद०' इत्यादि । शुभ, अशुभ, वृद्धि और क्षय करनेवालोंके मध्यमें मैं काल हूँ ॥ ३० ॥

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चाऽस्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥ ३१ ॥
सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाऽहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥ ३२ ॥

पवित्र करनेवालोंमें मैं वायु हूँ, शस्त्रधारियोंमें श्रीरामचन्द्र हूँ, जलजन्तुओंमें मगर हूँ तथा नदियोंमें गङ्गा हूँ । हे अर्जुन, सर्गोंका आदि, अन्त और मध्य मैं ही हूँ, विद्याओंमें अध्यात्मविद्या मैं हूँ तथा विवाद करनेवालोंमें वाद हूँ ॥ ३१,३२ ॥

पवन इति । पवतां पावनकर्तॄणां मध्ये पवनो वायुरहम् । शस्त्रभृतां मध्ये रामो दाशरथिरहम् । स्रोतसां स्रोतोवतीनां नदीनां मध्ये जाह्नवी गङ्गाऽहम् ॥ ३१ ॥

आदित्यादिविभूतीनां विष्ण्वादिविभूतिविशेषाणां च स्वमात्रत्वं सूचयितुं विकाराणां सर्वेषामादिर्मध्यं चाऽन्तश्चाऽहमेव सर्वात्मा परिपूर्ण इत्याह—**सर्गाणामिति ।**

सृज्यन्त इति सर्गा महदादिस्थूलान्ता विकारास्तेषामादिरुपादानकारणमहमेव, घटकरकादेर्मृद्वत् । मत्त एव सर्वं समुत्पन्नमित्यर्थः, 'तस्मात्सर्वमभवत्' इति श्रुतेः । ननु सर्वविकारकारणत्वेनाऽऽदौ सत्यपि सद्भावे तव कार्यदशायां सत्तादर्शनात्सार्वात्म्यं पूर्णत्वं च न संभवतीत्याशङ्कायामाह—**मध्यं चैवेति ।** मृत्कार्ये घटादौ गन्धवत्त्वादेर्मृद्धर्मस्य संदर्शनान्मृद एव समन्वयस्तेन घटादि सर्वं मृदेव यथा तथा महदादिषु सत्तास्फूर्त्यादेर्मद्धर्मस्य संदर्शनान्ममैव समन्वयस्तेन सर्वमहमेव यस्मादेवं तस्मात्प्रपञ्चस्य

'पवनः' इत्यादि । पावन करनेवालोंके मध्यमें मैं पवन—वायु—हूँ । शस्त्रधारियोंके मध्यमें मैं श्रीरामचन्द्र यानी दाशरथि हूँ । नदियोंके मध्यमें मैं जाह्नवी—गङ्गा—हूँ ॥ ३१ ॥

आदित्य आदि सामान्य विभूतियोंका और विष्णु आदि विशेष विभूतियोंका स्वस्वरूपत्व सूचन करनेके लिए सम्पूर्ण विकारोंका आदि, मध्य और अन्त सर्वात्मा परिपूर्णरूप मैं ही हूँ, ऐसा कहते हैं—**'सर्गाणाम्'** इत्यादिसे ।

जो उत्पन्न किये जाते हैं, वे सर्ग हैं यानी महत्‌से लेकर स्थूल तक विकार, उनका आदि—उपादान कारण—मैं ही हूँ, जैसे कि घट, करक आदिकी उपादान कारण मिट्टी है । मुझसे ही सब उत्पन्न हैं, यह अर्थ है, क्योंकि 'उससे सब उत्पन्न हुए' यह श्रुति है । यदि शङ्का हो कि विकारोंके कारणरूपसे पहले आपका सद्भाव होनेपर भी कार्यदशामें आपकी सत्ता देखनेमें नहीं आती, इसलिए आपकी सर्वात्मता और पूर्णताका संभव नहीं है, तो इसपर कहते हैं—**मध्यं चैवेति ।** मिट्टीके धर्मभूत गन्धवत्त्व आदिके देखनेसे मिट्टीके कार्य घट आदिमें केवल मिट्टीका ही समन्वय है, इसलिए जैसे घट आदि सब मिट्टी ही हैं, वैसे ही सत्ता, स्फूर्ति आदि मेरे धर्मोंके देखनेसे महद् आदिमें मेरा ही समन्वय है, इसलिए सब मैं ही हूँ ।

मध्यं चाऽहमेव विकारात्मना स्थितोऽस्मीति सिद्धम् । ननु विकारात्मना स्थितत्वे तव विकारनाशान्नाशप्रसक्तौ तव सत्ताभावादनित्यत्वमसर्वात्मत्वमपूर्णत्वं च स्यादित्याशङ्कायामाह—**अन्तश्चेति** । कार्यस्याऽन्तस्त्वदर्शनलक्षणो यः सोऽप्यहमेव । कल्पितरूपस्य घटस्य नाशे सति तत्कारणस्य तदनुवृत्ताया मृदो नाशाभावादस्त्येव कपालतच्चूर्णाद्यनुवृत्ताया मृदः सत्ता तद्वन्महदादिसर्वविकारनाशेऽपि तत्कारणभूततदनुवृत्तमत्सत्ताया नाशाभावादस्त्येव मम सद्भावो नित्यत्वं सार्वात्म्यं पूर्णत्वं च । यतो विकाराणामादिरन्तश्च मध्यं चाऽहमेव मदतिरिक्तस्य वस्तुनः प्रमाणतो निरूपयितुमशक्यत्वादत आदित्यादिविभूतयो विष्ण्वादिविभूतिविशेषाश्च सर्वेऽप्यहमेवेति सिद्धम् । यद्वा 'सृष्टिस्थित्यन्तकरणीं ब्रह्मविष्णुशिवात्मिकाम् । स संज्ञां याति भगवानेक एव जनार्दनः ॥' इतिवचनात्सृज्यन्त इति सर्गाः प्राणिनस्तेषामादिः सृष्टिकारणं ब्रह्माऽहमेव । अन्तश्च अन्तं करोतीत्यन्तः संहारकर्ता शिवः सोऽप्यहमेव । तथा मध्यं च । मध्यशब्देनाऽत्र तदुभयमध्यवर्ती स्थितिकर्ता विष्णुर्लक्ष्यते सोऽप्यहमेवेत्यर्थः । विद्या ज्ञानहेतवः सर्वे वेदाः शास्त्राणि च तासां मध्ये मोक्षहेतुत्वादध्यात्मविद्या उपनिषदस्त्वहमेव । प्रवदतां विवादं कुर्वताम् । अत्र प्रवदच्छब्देन वादजल्पवितण्डादयो लक्ष्यन्ते तेषां मध्ये त्वर्थनिर्णयहेतुत्वाद्वादोऽहमित्यर्थः ॥ ३२ ॥

जिस कारणसे ऐसा है, इसलिए प्रपञ्चका मध्य मैं ही हूँ यानी विकाररूपसे मैं ही स्थित हूँ, यह सिद्ध हुआ । विकारस्वरूपसे स्थित होनेपर विकारके नाशसे आपके नाशका भी प्रसंग होगा, ऐसी अवस्थामें आपकी सत्ताका अभाव होनेसे आपमें अनित्यत्व, असर्वात्मत्व और अपूर्णत्व हो जायगा, ऐसी आशङ्का होनेपर कहते हैं—**अन्तश्चेति** । कार्यका अदर्शनरूप जो अन्त है, वह भी मैं ही हूँ । जैसे घटका नाश होनेपर उसकी कारण तथा उसमें अनुवृत्त मिट्टीका नाश न होनेसे कपाल तथा उसके चूर्ण आदिमें अनुवृत्त मिट्टीकी सत्ता है ही, वैसे ही महदादि सम्पूर्ण विकारोंका नाश होनेपर भी उनकी कारणभूत तथा उनमें अनुवृत्त मेरी सत्ताका नाश न होनेसे मेरा सद्भाव, नित्यत्व, सर्वात्मत्व और पूर्णात्मत्व है ही । जिस कारणसे विकारोंका आदि, अन्त और मध्य मैं ही हूं, क्योंकि मुझसे अतिरिक्त वस्तुका प्रमाणसे निरूपण नहीं किया जा सकता, इसलिए आदित्य आदि सामान्य विभूतियां और विष्णु आदि विशेष विभूतियां सब मैं ही हूं, यह सिद्ध हुआ । अथवा 'एक वे जनार्दन भगवान् ही सृष्टि, स्थिति तथा अन्त करनेवाली ब्रह्मा, विष्णु, शिवस्वरूप संज्ञाको प्राप्त होते हैं' इस वचनसे जो उत्पन्न किए जाते हैं, वे सर्ग हैं यानी प्राणी' उनका आदि—सृष्टिका कारण ब्रह्मा—मैं ही हूँ, अन्त (जो अन्त करता है, वह अन्त है) यानी संहारकर्ता शिव भी मैं ही हूँ । मध्यशब्दसे यहां उन दोनोंका मध्यवर्ती स्थितिकर्ता विष्णु विवक्षित है, वह भी मैं ही हूँ, यह अर्थ है । विद्या यानी ज्ञानके हेतु सब वेद और शास्त्र, उनके मध्यमें मोक्षकी हेतु होनेसे अध्यात्मविद्या—उपनिषद्—मैं ही हूँ । विवाद करनेवालोंके मध्यमें (यहां प्रवदत्-

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाऽक्षयः कालो धाताऽहं विश्वतोमुखः ॥ ३३ ।
मृत्युः सर्वहरश्चाऽहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥ ३४ ॥
बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥ ३५ ॥

अक्षरोंमें मैं अकार हूँ, समासोंमें द्वन्द्व-समास हूँ, मैं ही कभी क्षीण न होनेवाला काल हूँ तथा कर्म फलको देनेवाला विश्वतोमुख धाता हूँ । सबका विनाश करनेवाला मृत्यु मैं हूँ, भावी पदाथोंमें मैं अभ्युदय (उत्कर्ष) हूँ तथा नारियोंमें मैं कीर्ति, श्री, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमारूप देवीरूपिणी स्त्रियाँ हूँ । रथन्तर आदि सामोंमें मैं बृहत्साम हूँ, मन्त्रोंमें मैं गायत्री मन्त्र हूँ, मासोंमें मैं मार्गशीर्ष हूँ तथा ऋतुओंमें मैं वसन्त हूँ ॥ ३३–३५ ॥

अक्षराणामिति । वर्णानामकारोऽहं सामासिकस्य समासानां समूहः सामासिकस्तत्र द्वन्द्वः समासोऽहम् । विश्वतोमुखः धाता कर्मफलप्रदाताऽहम् । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ३३ ॥

मृत्युरिति । सर्वं हरतीति सर्वहरो मृत्युरहम् । भविष्यतां भाविनां मध्ये उद्भवोऽभ्युदयोऽहम् । नारीणां मध्ये कीर्त्यादिक्षमान्ता देवताः स्त्रियोऽहम् ॥ ३४ ॥

बृहत्सामेति । सामवेदे यानि सामानि रथन्तरादीनि तेषां मध्ये बृहत्सामाऽहम् । छन्दसां गायत्र्यादिच्छन्दोयुक्तानां मन्त्राणां मध्ये चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री अहम् ।

शब्दसे वाद, जल्प, वितण्डा आदि लक्षित होते हैं) अर्थनिर्णयका हेतु होनेसे वाद मैं हूँ, यह अर्थ है ॥ ३२ ॥

'अक्षराणाम्' इत्यादि । वर्णोंके मध्यमें मैं अकार हूँ । सामासिक यानी समासोंका समूह, उसमें मैं द्वन्द्व समास हूँ । विश्वतोमुख धाता—कर्मफलका प्रदाता—मैं हूँ। शेष स्पष्ट है ॥ ३३ ॥

'मृत्युः' इत्यादि । जो सबको हरता है, वह सर्वहर मृत्यु मैं हूँ । भविष्यतोंके—भावी पदार्थोंके—मध्यमें उद्भव—अभ्युदय—मैं हूँ । नारियोंके मध्यमें कीर्तिसे लेकर क्षमा तक देवीरूपिणी स्त्रियां मैं हूं ॥ ३४ ॥

'बृहत्साम' इत्यादि । सामवेदमें रथन्तर आदि जो साम हैं, उनके मध्यमें मैं बृहत्साम हूँ । छन्दोंमें—गायत्री आदि छन्दोंसे युक्त मन्त्रोंके मध्यमें—मैं चौबीस अक्षरवाली गायत्री हूँ ।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥ ३६ ॥
वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥ ३७ ॥
दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥ ३८ ॥

कपट करनेवालोंमें मैं द्यूत हूँ, तेजस्वियोंमें मैं तेज हूँ, जीतनेवालोंमें विजय, उद्यागियोंमें उद्योग तथा सात्त्विक पुरुषोंमें सत्त्वगुण मैं ही हूँ । वृष्णियोंमें मैं वासुदेव हूँ, पाण्डवोंमें धनञ्जय हूँ, मुनियोंमें व्यास हूँ और कवियोंमें उशना यानी शुक्र हूँ । दुष्टोंका निग्रह करनेवाले पुरुषोंमें मैं दण्ड हूँ, जीतनेकी इच्छा करनेवालोंमें नीति हूँ, गोपनीयोंमें मैं मौन हूँ तथा ज्ञानियोंमें मैं ज्ञान हूँ ॥ ३६,३८ ॥

मासानां चैत्रादीनां मध्ये मार्गशीर्षोऽहम् । ऋतूनां शिशिरादीनां मध्ये कुसुमाकरो वसन्तोऽहम् । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ३५ ॥

द्यूतमिति । छलं कपटस्तं कुर्वतां मायया परस्वहारिणां मध्ये द्यूतमहम् । सारिकाभिः क्रीडनं द्यूतं सर्वस्वहरणकारणम् । तेजः प्रागल्भ्यं तद्वतां तेजोऽहम् । जेतॄणां जयोऽहम् । व्यवसाय उद्योगस्तद्वतां व्यवसायोऽहम् ॥ ३६ ॥

वृष्णीनामिति । कवीनां तत्त्वज्ञानां मध्ये उशना शुक्रोऽहम् ॥ ३७ ॥

दण्ड इति । दमयतां दुष्टशिक्षां कुर्वतां दण्डो दण्डनक्रियाऽहमस्मि । जिगीषतां जेतुमिच्छतां नीतिर्न्यायो धर्ममार्गः शास्त्रीयो यः सोऽहमस्मि । गुह्यानां गोपनीयानां

चैत्र आदि मासोंके मध्यमें मार्गशीर्ष मैं हूँ । शिशिर आदि ऋतुओंके मध्यमें कुसुमाकर (बसन्त) मैं हूँ । शेष स्पष्ट है ॥ ३५ ॥

'द्यूतम्' इत्यादि । छल-कपट करनेवालोंके—मायासे परधन हरनेवालोंके—मध्यमें मैं द्यूत हूँ । पासोंसे खेल करना द्यूत है, वह सर्वस्वहरणमें कारण है । तेज यानी प्रागल्भ्य, तेजस्वी पुरुषोंमें मैं तेज हूँ । जीतनेवालोंमें मैं जय हूँ । व्यवसाय यानी उद्योग, उसको करनेवालोंके मध्यमें मैं व्यवसाय हूँ ॥ ३६ ॥

'वृष्णीनाम्' इत्यादि । कवियोंके—तत्त्वज्ञानियोंके—मध्यमें मैं उशना—शुक्र—हूँ, ॥३७॥

'दण्डो' इत्यादि । दमन करनेवालोंमें—दुष्टोंको शिक्षा देनेवालोंमें—मैं दण्ड—दण्डन क्रिया—हूँ । जयैषी यानी जीतनेकी इच्छा करनेवालोंके मध्यमें नीति—न्याय—यानी जो शास्त्रीय धर्म-मार्ग है, वह मैं हूँ । गुह्योंमें—गोपनीयोंके मध्यमें—जो मौन—मननशीलत्व—है,

यच्चाऽपि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥ ३९ ॥
नाऽन्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥ ४० ॥

हे अर्जुन, सम्पूर्ण आकाश आदि भूतोंकी उत्पत्तिका कारण अव्यक्त मैं हूँ, संसारमें ऐसी कोई चराचर वस्तु नहीं है जो मेरे बिना उत्पन्न हुई हो। हे परन्तप, मेरी दिव्य विभूतियोंका अन्त नहीं है, यह तो मैंने तुमसे केवल सूक्ष्मरूपसे अपनी विभूतियोंका विस्तार कहा है ॥ ३९,४० ॥

मध्ये मौनं मननशीलत्वं यत्तदहमस्मि । ज्ञानवतां यज्ज्ञानं ब्रह्मात्मैक्यविषयं मुक्तिसाधनं तदहमस्मि ॥ ३८ ॥

एवं विभूतिविशेषमुक्त्वा तदुपक्रान्तमुपसंहर्तुं कार्यं सर्वं कारणमात्रमेवेति न्यायमनुसृत्य सामान्येन सर्वमहमेवेत्याह—**यच्चेति** ।

यच्च सर्वेषामप्याकाशादीनां बीजं संभूतिकारणमव्याकृताख्यं जगद्योनिस्तदहम् । एतेन कार्यस्य कारणमात्रत्वात्सर्वमहमेवेति सूचितम् । सिद्धमेवाऽर्थं व्यतिरेकमुखेनाऽऽह—**न तदस्तीति** । मया सच्चिदानन्दस्वरूपेणाऽनन्तेन ब्रह्मणा विना भूतं मत्सत्ताव्याप्तं मद्भिन्नं चरमचरं वा यद्वस्तु स्यात्तज्जगत्त्रयेऽपि नाऽस्ति । मद्व्यतिरिक्तं सद्वाऽसद्वा यत्किञ्चिद्यत्र कुत्राऽपि येन केनाऽपि संभावयितुं न शक्यमित्यर्थः । एतेन सर्वमहमेवेति सिद्धम्, 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' इति श्रुतेः ॥ ३९ ॥

यस्माज्जगत्सर्वं ममैव विभूतिस्तस्मान्मद्विभूतीनामन्तो नाऽस्तीत्याह—**नाऽन्तोऽस्तीति** ।

वह मैं हूँ । ज्ञानवालोंमें जो ज्ञान—ब्रह्मात्मैक्यविषय ज्ञान—मुक्तिका साधन है, वह मैं हूँ ॥ ३८ ॥

इस प्रकार विभूतिविशेषको कहकर उपक्रान्तका उपसंहार करनेके लिए 'सम्पूर्ण कार्य कारणमात्र ही हैं' इस न्यायसे सामान्यतः सब मैं ही हूं, ऐसा कहते हैं—**'यच्चा०'** इत्यादिसे ।

किञ्च, जो अकाशादि सबका बीज—उत्पत्तिका कारण—अव्याकृतनामक जगत्की योनि है, वह मैं हूँ । इससे यह सूचित किया कि कार्य कारणमात्र होनेसे सब मैं ही हूँ । सिद्ध अर्थको ही व्यतिरेकमुखसे कहते हैं—**न तदस्तीति** । मुझ सच्चिदानन्दस्वरूप अनन्त ब्रह्मके विना यानी मेरी सत्तासे अव्याप्त अर्थात् मुझसे भिन्न चर अथवा अचर कोई वस्तु हो, यह तीनों लोकोंमें भी नहीं हो सकता । मुझसे भिन्न सत् या असत् किसी भी वस्तुकी कहीं भी कोई भी संभावना नहीं कर सकता, यह अर्थ है । इससे सब मैं ही हूँ, यह सिद्ध हुआ, क्योंकि 'ब्रह्म ही यह सब है' ऐसी श्रुति है ॥३९॥

जिस कारणसे सब मेरी ही विभूतियां हैं, इसलिए मेरी विभूतियोंका अन्त नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'नाऽन्तोऽस्ति'** इत्यादिसे ।

यद् यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥ ४१ ॥

हे अर्जुन, लोकमें जो चेतन या अचेतन वस्तु ज्ञान आदिकी समृद्धिसे युक्त, उत्साह आदिसे युक्त तथा शोभा आदिसे युक्त दिखाई देती है, वह मेरे तेजके अंशसे उत्पन्न हुई है, ऐसा तुम समझो ॥ ४१ ॥

निर्विशेषे परे ब्रह्मणि स्वविकारैर्महदादिभिः साकमाविर्भावतिरोभावाभ्यां दीव्यति क्रीडतीति दिव्या त्रिगुणात्मिका माया ततो जाता दिव्या विभूतयस्तासां दिव्यानां मम ब्रह्मणो विभूतीनामन्तो नाऽस्ति मन्मायाशक्तीनां तद्विकाराणां चाऽनन्तत्वान्मम विभूतयोऽनन्तास्ततस्तासामन्त इयत्ता नाऽस्तीत्यर्थः । ननु 'आदित्यानामहं विष्णुः' इत्यादिना कथमुक्तमित्यत आह—**एष इति** । य इदानीं ते विभूतेर्विस्तरो मया प्रोक्तः स एष तूद्देशतस्त्वामुद्दिश्य संक्षेपेण प्रोक्तो न तु विस्तरेण । मम ब्रह्मणो विभूतिः साकल्येन शतकोटिकल्पैरपि वक्तुं ज्ञातुं च न शक्यत इत्यर्थः ॥ ४० ॥

नन्वेवं चेत्तर्हि तव विभूतिविशेषः सर्वत्र कथं ज्ञातव्य इत्याकाङ्क्षायां वक्ष्यमाणलक्षणैर्ज्ञातव्य इत्याशयेनाऽऽह—**यद्यदिति** ।

लोकेऽत्र परत्र यद्यत्सत्त्वं चेतनमचेतनं वा विभूतिमत् विभूतिः प्राजापत्यस्य वा प्रभावस्य वा धनस्य वा पुण्यकर्मणां वा विद्याया वा तपसो वा शौर्यधैर्यौदार्यशमदमादिसद्गुणानां वा ज्ञानस्य वा समृद्धिरस्याऽस्तीति विभूतिमत् दृश्यते । तथोर्जित-

---

निर्विशेष परब्रह्ममें अपने विकार महद् आदिके साथ जो आविर्भाव और तिरोभावसे क्रीडा करती है, वह दिव्या है यानी त्रिगुणात्मिका माया, उससे उत्पन्न हुई मेरी—ब्रह्मकी—उन दिव्य विभूतियोंका अन्त नहीं है—मेरी मायाकी शक्तियोंका और उनके विकारोंका आनन्त्य होनेसे मेरी विभूतियां अनन्त हैं, इसलिए उनका अन्त—इयत्ता—नहीं है, यह अर्थ है । तब 'आदित्योंके मध्यमें मैं विष्णु हूँ' इत्यादिसे अपनी विभूतियोंको आपने कैसे कहा, तो इसपर कहते हैं—**एष इति** । जो अभी तुमसे विभूतिका विस्तार कहा है, वह तो केवल उद्देशसे (संक्षेपसे) कहा है, न कि विस्तारसे । मेरी—ब्रह्मकी—विभूतियोंका सैकड़ों या करोड़ों कल्पोंमें भी यथावत् (पूर्णरूपसे) कथन या परिज्ञान नहीं हो सकता, यह अर्थ है ॥ ४० ॥

यदि ऐसा है, तो आपके विभूतिविशेषको सर्वत्र कैसे जानना चाहिए, ऐसी आकाङ्क्षा होनेपर वक्ष्यमाण लक्षणोंसे जानना चाहिए, इस आशयसे कहते हैं—**'यद्यद्'** इत्यादिसे ।

लोकमें—इस लोक और परलोकमें—जो जो सत्त्व—चेतन या अचेतन द्रव्य—विभूतिमत् (विभूति—प्राजापत्य, प्रभाव, धन, पुण्यकर्म, विद्या, तपकी या शौर्य, धैर्य, औदार्य, शम, दम आदि सद्गुणोंकी अथवा ज्ञानकी समृद्धि—जिसमें हो, वह विभूतिमत् है) देखनेमें आता है,

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवाऽर्जुन ।
विष्टभ्याऽहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ ४२ ॥

हे अर्जुन, अथवा मेरी इन अनेक विभूतियोंके परिज्ञानसे तुम्हें क्या फल है ? मैं निर्विशेष परमात्मा ही अपनी एक कलासे इस सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त कर स्थित हूँ ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

मोजसा तेजसा वा तरसा वा बलेन वा पौरुषेण वा सारेण वाऽप्याकारेण वा दार्ढ्येन वा उत्साहेन वा महत्तरमूर्जितं यद्यद् दृश्यते तथा श्रीमच्छ्रीः शोभा लक्ष्मीर्वा कान्तिर्वा सरस्वती वा बुद्धिर्वा कीर्तिर्वा स्फूर्तिर्वाऽस्याऽस्तीति श्रीमद्यद्यद् दृश्यते तत्तद्वस्तु मम परमेश्वरस्य तेजोंऽशसंभवं सद्गुणैर्मे प्रभावं तेजयति प्रकाशयतीति तेजो मम शक्तिस्तस्या अंशः कला स एव संभव उत्पत्तिकारणं यस्य तन्मम तेजोंऽशसंभवमवगच्छ । एतत्पर-मेश्वरस्य विभूतिविशेष इति त्वं जानीहीत्यर्थः ॥ ४१ ॥

एवं मुमुक्षूणामतिमन्दबुद्धीनामुपासनार्थमयं परमात्मनो विभूतिविशेषत्वात् परमेश्वर एवेति ज्ञानार्थं च 'आदित्यानामहं विष्णुः' इत्येतदारभ्य 'ज्ञानं ज्ञानवतामहम्' इत्येतदन्तेन ग्रन्थेन स्वविभूतिविशेषान् प्रतिपाद्य, अधुना विभूतिविशेषज्ञानस्य तदुपा-स्तेरप्यकिञ्चित्करत्वसूचनद्वारा सविशेषमेव परमेश्वरमधिकारिणां प्रज्ञावतामुपासनीयं वस्तूपदिशन्नध्यायमुपसंहरति—**अथवेति** ।

ऊर्जित (ओजसे या तेजसे या वेगसे या बलसे या पौरुषसे या सारसे या आकारसे या दृढ़तासे या उत्साहसे, महत्तर) जो देखनेमें आता है तथा श्रीमत् (शोभा या लक्ष्मी या कान्ति या सरस्वती या बुद्धि या कीर्ति या स्फूर्ति जिसमें हो, वह श्रीमत् है) देखनेमें आता है, वह वह द्रव्य मेरे--परमेश्वरके—तेजके अंशसे उत्पन्न है (सद्गुणोंसे मेरे प्रभावको जो प्रकाशित करता है, वह तेज है यानी मेरी शक्ति, उसका अंश यानी कला, वही संभव यानी उत्पत्तिका कारण जिसका है, वह तेजोंशसंभव है), यह समझो । यह परमेश्वरकी विशेष विभूति है, ऐसा तुम जानो, यह अर्थ है ॥ ४१ ॥

इस प्रकार अतिमन्द बुद्धिवाले मुमुक्षुओंकी उपासनाके लिए तथा यह विश्व परमात्माका विभूतिविशेष होनेसे परमेश्वर ही है, ऐसे ज्ञानके लिए 'आदित्योंके मध्यमें मैं विष्णु हूँ' यहांसे लेकर 'ज्ञानवालोंमें मैं ज्ञान हूँ' यहां तकके ग्रन्थसे अपने विभूतिविशेषोंका प्रतिपादन करके अब विशेष विभूतियोंका ज्ञान और उनकी उपासना भी अकिञ्चित्कर है, ऐसे सूचन द्वारा सविशेष

मदीयविभूतयस्त्वनन्तास्ता वक्तुं ज्ञातुं न शक्यन्ते । अथवाऽयमयं मम विभूतिविशेष इति बहवो मम विभूतिविशेषा उक्ता अपि शुद्धात्मनो मुख्याधिकारिणस्तव बहुना बहुप्रकारेण अनेन मद्विषयकेण ज्ञानेन किं किं फलं स्यात् । तज्ज्ञानेन तदुपास्त्या च चित्तशुद्धिर्वा मोक्षो वा न किञ्चित्फलं सिद्ध्यतीत्यर्थः । ननु विष्ण्वादिव्यक्तिविशेषाणामपि त्वत्स्वरूपत्वात्तदुपास्त्या तज्ज्ञानेन च मुख्यं फलं स्यादेवेत्याशङ्कायाम्, न; विभूतिविशेषाणामप्यनन्तत्वात्तेष्वीश्वरत्वबुद्धौ सत्यामनेकेश्वरत्वज्ञानं स्यान्न तन्मोक्षहेतुर्भवति विभूतीनामनन्तत्वे तदुपास्तिरेकेन कर्तुं न शक्यते, तासां च गुणविशेषतारतम्याच्चित्तस्य रागादिकालुष्यं विना प्रसादोऽपि न सिध्यति, अतो मुमुक्षुर्मुख्याधिकारी त्वं मामेवैकं सर्वात्मकं परमेश्वरं भवमुक्त्यै भजस्वेति सूचयितुमाह—**विष्टभ्येति** । अहं निर्विशेष एव परमात्मा स्वयमिदं परिदृश्यमानं मायाकार्यं स्थावरजङ्गमात्मकं कृत्स्नं जगदेकांशेन यथा निरवयवस्याऽप्याकाशस्य मेघावच्छेदेन मेघाकाश इति भागकल्पना तथा निरंशस्याऽपि परस्य ब्रह्मणो मायातत्कार्यावच्छेदेन तदुपहितचैतन्यस्यांऽशत्वं कल्प्यते । तेन कल्पितेनांऽशेन 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि' इति श्रवणान्मायोपाधिकेन पादेन विष्टभ्य सर्वतो व्याप्य स्थितोऽस्मि विश्वात्मनाऽ-

---

परमेश्वर ही प्रज्ञावान् अधिकारियोंकी उपासनीय वस्तु है, यों उपदेश करते हुए अध्यायका उपसंहार करते हैं—**'अथवा'** इत्यादिसे ।

मेरी विभूतियाँ अनन्त हैं, अतः उनका कथन या परिज्ञान नहीं हो सकता अथवा यह मेरी विशेष विभूति है, यह मेरी विशेष विभूति है, यों बहुतसी मेरी विभूतियाँ यद्यपि कही गई हैं, तथापि शुद्धात्मा, मुख्य अधिकारीरूप तुम्हें अनेक प्रकारके मद्विषयक इस ज्ञानसे क्या—क्या फल—होगा । उनके ज्ञानसे और उनकी उपासनासे चित्तशुद्धि, मोक्ष या कुछ भी फल सिद्ध नहीं होता, यह अर्थ है । यदि शङ्का हो कि विष्णु आदि व्यक्तिविशेष भी आप ही के स्वरूप हैं, अतः उनकी उपासनासे और उनके ज्ञानसे मुख्य फल हो जायगा, तो यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि विभूतिविशेष भी अनन्त हैं, अतः उनमें ईश्वरत्वबुद्धि करनेसे अनेक ईश्वरोंका ज्ञान होगा, वह मोक्षका हेतु नहीं है, विभूतियोंके अनन्त होनेसे एक पुरुष द्वारा उनकी उपासना भी नहीं हो सकती और उनमें गुणविशेषोंका तारतम्य होनेसे रागादिरूप मलिनताके सिवा चित्तमें प्रसाद भी नहीं हो सकता, इसलिए मुमुक्षु मुख्य अधिकारी तुम एक सर्वात्मक परमेश्वररूप मेरा ही संसारसे मुक्ति पानेके लिए भजन करो, ऐसा सूचन करनेके लिए कहते हैं—**विष्टभ्येति** । मैं निर्विशेष परमात्मा ही स्वयं इस परिदृश्यमान, मायाके कार्यभूत स्थावरजङ्गमात्मक सम्पूर्ण जगत्को एक अंशसे—जैसे निरवयव होनेपर भी आकाशकी मेघोंके अवच्छेदसे मेघाकाश, ऐसी विभागकल्पना होती है, वैसे ही मुझ निरंश परब्रह्मकी भी माया और उसके कार्यके अवच्छेद द्वारा उससे उपहित चैतन्यके अंशरूपसे कल्पना होती है, इस कल्पित अंशसे—'सब भूत इसके पाद हैं' इस श्रुतिसे मायोपाधिक पादसे घेर कर—सब ओरसे व्याप्त कर—स्थित हूँ यानी विश्वरूपसे

हमेव तिष्ठामि । 'सहस्रशीर्षा पुरुषः', 'सहस्रशीर्षं देवम्' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धं विश्वरूपं मामेकमेवेश्वरं भजस्व, मद्भजनेन कृतार्थो भविष्यसीत्यर्थः ॥ ४२ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमदानन्दात्मसरस्वतीशिष्यश्रीमच्छङ्करानन्दसरस्वतीकृतौ गीतातात्पर्यबोधिन्यां दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

मैं ही स्थित हूँ । 'हजार सिरवाला पुरुष', 'हजार सिरवाले देवको' इत्याद्यर्थक श्रुतियोंसे प्रसिद्ध विश्वरूप मुझ एक ईश्वरको भजो, मेरे भजनसे ही तुम कृतार्थ होओगे, यह अर्थ है ॥ ४२ ॥

दसवाँ अध्याय समाप्त

एकादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ १ ॥

अर्जुनने कहा—भगवन्, मेरे ऊपर अनुग्रह करनेके लिए आपने आत्म-तत्त्वके प्रकाशक, गोपनीय तथा भ्रमनाशक जिस वचनका मुझे उपदेश दिया, उससे मेरा यह मोह (चित्तभ्रम) नष्ट हो गया है ॥ १ ॥

दशमे मन्दप्रज्ञानां मनःशुद्धिद्वारा मोक्षसिद्धये स्वविभूतिविशेषानुपासनार्थं प्रतिपाद्य अमन्दप्रज्ञानां तु 'विष्टभ्याऽहम्' इत्यादिना विश्वात्मकमैश्वरमेव सोपाधिकं स्वरूपमुपास्यत्वेन सूचयित्वा इदानीमर्जुनप्रार्थनया विश्वरूपं मायाविलासविजृम्भितं स्वरूपमत्यद्भुतं दर्शयितुं स्वत एव सृष्ट्यादिक्रियां प्रकाशयितुं स्वसाक्षात्कारस्याऽतिदुर्लभत्वं भक्त्येकगम्यत्वं च प्रतिपादयितुमेकादशाध्याय आरभ्यते । तत्राऽदौ सर्वजगत्कारणं सर्वात्मकं सर्वैश्वर्यसंपन्नं स्वरूपं स्वस्योपास्यत्वेन बोधितं श्रुत्वा तत्साक्षात्कर्तुकामः सन् भगवत्कृतानुग्रहानुवादेन भगवन्तमभिमुखीकर्तुमर्जुन उवाच—**मदिति** ।

मदनुग्रहाय एते भ्रातृपुत्रादयो मदीया म्रियन्ते हन्तैतेषामहमिति शोकमोहसागरे मज्जतो ममाऽनुग्रहाय । मोहेन शोचन्तं मां कृपयाऽनुग्रहीतुमित्यर्थः । यदध्यात्मसंज्ञित-

---

दसवें अध्यायमें मन्दबुद्धिवाले मनुष्योंको मनकी शुद्धिके द्वारा मोक्षकी प्राप्ति हो, इसके लिए अपनी विशेष विभूतियोंका उपासनार्थ प्रतिपादन करके तथा अमन्दबुद्धिवाले पुरुषोंके लिए 'विष्टभ्याहम्' इत्यादिसे केवल विश्वात्मक सोपाधिक ईश्वरस्वरूपका उपास्यरूपसे सूचन करके अब अर्जुनकी प्रार्थनासे मायाविलाससे उत्पन्न (मायिक) विश्वात्मक अति अद्भुत स्वरूपको दिखलानेके लिए अपनेसे ही सृष्टि आदि क्रियाका प्रकाश करनेके लिए अर्थात् मुझ परमेश्वरसे ही सृष्टि आदि क्रियाएँ होती हैं, यह प्रकट करनेके लिए, अपने साक्षात्कारकी अतिदुर्लभता और केवल भक्तिसे ही प्राप्यताका प्रतिपादन करनेके लिए ग्यारहवें अध्यायका आरंभ किया जाता है । इसमें पहले सम्पूर्ण जगत्‌के कारण सर्वात्मक सर्वैश्वर्यसंपन्न स्वरूपको अपने उपास्यरूपसे बोधित (बतलाया हुआ) जानकर उसके साक्षात्कारकी इच्छासे प्रेरित होकर भगवान् द्वारा किए गये अनुग्रहके अनुवाद द्वारा भगवान्‌को अभिमुख करनेके लिए अर्जुन बोले--**'मद्'** इत्यादि ।

मेरे ऊपर अनुग्रह करनेके लिए--ये मेरे भाई, पुत्र आदि मरते हैं, इनका मारनेवाला मैं हूं, यों शोक-मोहके सागरमें डूब रहे मुझपर अनुग्रह करनेके लिए । मोहसे शोक कर रहे मुझपर कृपासे अनुग्रह करनेके लिए, यह अर्थ है । अध्यात्मसंज्ञित (आत्माके याथात्म्यके

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाऽव्ययम् ॥ २ ॥

हे कमलपत्राक्ष, आपसे ही सम्पूर्ण जगत्‌का प्रभव (उत्पत्ति) और विनाश होता है एवं आप ही सर्वात्मा तथा सर्वेश्वर हैं, यह सब विस्तारपूर्वक आपसे मैंने सुना ॥२॥

मात्मयाथात्म्यप्रकाशकम् 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं', 'नाऽयं हन्ति न हन्यते', 'न जायते म्रियते वा कदाचित्', 'वेदाऽविनाशिनं नित्यम्', 'अच्छेद्योऽयम्' इत्यादिलक्षणं परमं परमार्थविषयमात्मनः कर्तृत्वभोक्तृत्वादिभ्रमापनोदकमतएव गुह्यं गोपनीयमयोग्यानामसद्धर्माणामश्रद्धात्मनामदेयं यद्वचस्त्वयोक्तमुपदिष्टं तेन वचसाऽऽत्मानात्मस्वरूपप्रकाशकेन मिथ्याज्ञाननिवर्तकेनाऽयं पूर्वोक्तलक्षणो मोहश्चित्तभ्रमो विगतः विशिष्य गतो विगतः । त्वत्कृपया विनष्टमोहो जातोऽस्मीत्यर्थः ॥ १ ॥

एवं भगवत्कृतोपकारानुवादेन भगवन्तं स्तुत्वा तत्स्वरूपदिदृक्षया तन्माहात्म्यं प्रस्तौति—**भवाप्ययाविति** ।

कं ब्रह्मसुखं स्वरूपानन्दस्तमलति प्रकाशयतीति कमलमात्मज्ञानं यत्तदेव पतनात्त्रायत इति पत्रं कमलं च तत्पत्रं च कमलपत्रं तेनाऽक्ष्यते प्राप्यत इति हे कमलपत्राक्ष, ज्ञानैकगम्य परमात्मन्, हि यस्मात्कारणात् 'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा', 'प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य', 'अहं सर्वस्य प्रभवः' इति त्वत्तः ईश्वरादेव भूतानामाकाशादीनां

प्रकाशक 'अशोच्यका तुम शोक करते हो', 'न यह मारता है, न मारा जाता है', 'न कभी जन्मता है, न मरता है', 'जो इसे अविनाशी नित्य जानता है', 'यह अच्छेद्य है' इत्यादि लक्षणवाले), परम (परमार्थविषयक) यानी आत्माके कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि भ्रमका नाश करनेवाले, इसीलिए गुह्य—गोपनीय—यानी अयोग्य असद्धर्मवाले अश्रद्धालुओंको न देने योग्य जिस वचनका आपने उपदेश दिया, आत्मा एवं अनात्माके प्रकाशक तथा मिथ्याज्ञानके निवर्तक उस वचनसे पूर्वोक्त लक्षणवाला मेरा मोह—चित्तका भ्रम—चला गया यानी विशेषरूपसे निकल गया। आपकी कृपासे मैं नष्टमोह हो गया हूं, यह अर्थ है ॥ १ ॥

इस प्रकार भगवान् द्वारा किये गये उपकारके अनुवादसे भगवान्‌की स्तुति करके उनके स्वरूपके दर्शनकी इच्छासे उनके माहात्म्यका अर्जुन प्रस्ताव करते हैं—**'भवाप्ययौ'** इत्यादिसे ।

क—ब्रह्मसुख—यानी स्वरूपानन्द, उसका जो प्रकाशन करता है, वह कमल है, यानी आत्मज्ञान, पतनसे रक्षा करता है, इससे वही पत्र हुआ। कमलस्वरूप पत्र कमलपत्र है, उससे जो देखा जाता है—प्राप्त किया जाता है—वह कमलपत्राक्ष है यानी केवल ज्ञानसे ही प्राप्त होनेवाले हे परमात्मन्, जिस कारणसे 'मैं सम्पूर्ण जगत्‌का प्रभव और प्रलय हूँ', 'अपनी प्रकृतिका अवलम्बन कर' तथा 'मैं सबका प्रभव' इससे ईश्वरस्वरूप आपसे ही आकाशादि

एवमेतद्यथाऽऽत्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥

हे परमेश्वर, आपने अपने स्वरूपका जैसा वर्णन किया, वह वैसा ही है। हे पुरुषोत्तम, आपके उस ऐश्वर स्वरूपका मैं दर्शन करना चाहता हूँ ॥ ३ ॥

तत्कार्याणां च सर्वेषां भवाप्ययौ उत्पत्तिप्रलयौ विस्तरशो बहुशो मया त्वत्सकाशाच्छ्रुतौ। किञ्च, 'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च', 'सर्वभूतमहेश्वरम्', 'मत्तः सर्वं प्रवर्तते' इति माहात्म्यं महान् सर्वव्यापक आत्मा स्वरूपं यस्य स महात्मा तस्य भावो माहात्म्यं सार्वात्म्यमपि चकारात्सर्वेश्वरत्वं च बहुशो मया त्वत्तः श्रुतमित्यर्थः ॥२॥

तस्मात्तत्सर्वं सत्यमेवेत्याह—**एवमिति**।

सर्वातिशयमहत्त्वात्परमः सर्वव्याप्तिहेतुत्वादीश्वरः हे परमेश्वर, सर्वज्ञस्त्वम् 'मम भूतमहेश्वरम्' इत्यात्मानमात्मस्वरूपं यथाऽऽत्थ येन प्रकारेण स्थितं वक्षि एतदेवं यथार्थमेव सर्वकारणं सर्वव्यापकं च सर्वनियन्तृ चैव तवैश्वरं रूपं नाऽन्यथेश्वरवचनमस्ति, न तत्र परीक्षा कर्तव्या, किन्तु त्वदनुग्रहपात्रीभूतस्य ममैवं तृष्णेत्याह—**द्रष्टुमिति**। पुरुषाभ्यां व्याकृताव्याकृताभ्यां स्वमहिम्नोत्तमत्वात् हे पुरुषोत्तम, मज्जन्मसाफल्याय तवैश्वरं समग्रैश्वर्यज्ञानतेजःशक्तिसम्पन्नं सर्वात्मकं स्वरूपं द्रष्टुमिच्छामि तथा ममेच्छाऽस्तीत्यर्थः ॥ ३ ॥

भूतोंके तथा उनके सम्पूर्ण कार्योंके प्रभव (उत्पत्ति) तथा प्रलय—दोनोंको विस्तारसे मैंने सुना। किञ्च, 'मैं ही सब यज्ञोंका भोक्ता और प्रभु भी हूं', 'सब भूतोंका महेश्वर' तथा 'मुझसे सब प्रवृत्त होता है' इससे माहात्म्य (महान् यानी सर्वव्यापक आत्मा—स्वरूप—जिसका है, वह महात्मा है, इसका भाव माहात्म्य है) यानी सार्वात्म्य भी सुना। चकारसे सर्वेश्वरत्व भी विस्तारसे मैंने आपसे सुना, यह अर्थ है ॥ २ ॥

इसलिए वह सब सत्य ही है, ऐसा कहते हैं—**'एवम्'** इत्यादिसे।

सबसे अधिक महत्त्व होनेसे परम, सबके व्यापारका हेतु होनेसे ईश्वर। हे परमेश्वर, सर्वज्ञस्वरूप आपने 'मम भूतमहेश्वरम्' इत्यादिसे आत्माको—अपने स्वरूपको—जैसे कहा यानी जिस प्रकारसे अवस्थित कहा, वह वैसा ही है—सर्वकारण और सर्वव्यापक सबका नियन्ता ही आपका ऐश्वर स्वरूप है, ईश्वरस्वरूप आपका वचन अन्यथा नहीं हो सकता, उसमें परीक्षा नहीं करनी है, किन्तु आपके अनुग्रहके भाजन मेरी ऐसी तृष्णा है, ऐसा कहते हैं—**'द्रष्टुमिति'**। व्याकृत और अव्याकृत दोनों पुरुषोंकी अपेक्षा अपनी महिमासे उत्तम होनेसे हे पुरुषोत्तम, अपना जन्म सफल करनेके लिए आपके ऐश्वर—समग्र ऐश्वर्य, ज्ञान, तेज और शक्तिसे सम्पन्न सर्वात्मक—स्वरूपको देखनेकी मैं इच्छा करता हूँ। ऐसी मेरी इच्छा है, यह अर्थ है ॥ ३ ॥

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयाऽऽत्मानमव्ययम् ॥ ४ ॥
श्रीभगवानुवाच
पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥ ५ ॥

हे प्रभो, यदि आप ऐसा समझते हों कि उस स्वरूपके दर्शनकी मुझमें योग्यता है, तो हे योगेश्वर, मुझको अपने अव्यय स्वरूपका दर्शन कराइए ॥ ४ ॥

भगवान्‌ने कहा—हे पार्थ, मेरे सैकड़ों, हजारों विविध स्वरूपोंको, जो दिव्य तथा अनेकवर्ण और अनेकविध आकृतियोंसे युक्त हैं, देखो । हे भारत,

---

तदेव प्रार्थयते—**मन्यस इति** ।

सृष्टिस्थितिप्रलयप्रवेशनियमनसमर्थत्वात् हे प्रभो, तव स्वरूपं मया द्रष्टुं शक्यमिति यदि मन्यसे जानासीच्छसि वा । ब्रह्मात्मैकत्वदर्शनलक्षणो ज्ञानयोगो योगस्तस्येश्वर हे योगेश्वर, ततो मे त्वं दर्शयाऽऽत्मानं स्वरूपमव्ययम्, अव्ययस्योपाधित्वादव्ययफलहेतुत्वाद्वाऽव्ययम् । यदुपास्त्या शुद्धात्मा सन् पुमान् मुक्तो भवति ॥ ४ ॥

एवं प्रार्थितोऽर्जुनेन श्रीभगवानुवाच—**पश्येति** ।

दिवो मायाया जातानि दिव्यानि नानावर्णानि नानाकाराणि च नानाप्रकाराणि शतशः सहस्रशश्च बहून्यथाऽन्तरमेव पश्य न तु कालान्तरे । ननु 'द्रष्टुमिच्छामि ते रूपम्' इति, 'दर्शयाऽऽत्मानम्' इति चाऽर्जुनेन तवैश्वरं रूपं दर्शयेत्युक्ते त्रिविक्रमाकारवत् स्वाकारं वैष्णवं रूपमदर्शयित्वा 'पश्य मे पार्थ रूपाणि' इति बहूनामादित्यादि-

---

उसीकी अर्जुन प्रार्थना करते हैं—**'मन्यसे'** इत्यादिसे ।

सृष्टि, स्थिति, प्रलय, प्रवेश और नियमन करनेमें समर्थ होनेके कारण हे प्रभो, यदि मैं आपके स्वरूपको देख सकता हूँ, ऐसा आप मानते हैं, जानते हैं अथवा इच्छा करते हैं, तो ब्रह्म और आत्माके एकत्वदर्शनरूप ज्ञानयोगके ईश्वर हे योगेश्वर, आप मुझे अपने अव्यय स्वरूपको (अव्ययकी उपाधि होनेसे अथवा अव्यय फलका हेतु होनेसे अव्यय है), जिसकी उपासनासे शुद्धात्मा होकर पुरुष मुक्त होता है, दिखलाइये ॥ ४ ॥

इस प्रकार अर्जुन द्वारा प्रार्थित श्रीभगवान् बोले—**'पश्य'** इत्यादिसे ।

दिव्‌से—माया द्वारा—उत्पन्न हुए दिव्य, नाना वर्णवाले और नाना प्रकारके बहुतसे सैकड़ों, हजारों मेरे रूपोंको अभी देखो, दूसरे समयमें नहीं । यदि शङ्का हो कि 'आपका रूप देखना चाहता हूँ' तथा 'अपने स्वरूपको दिखलाओ' इससे अर्जुनने आपके ऐश्वर रूपको दिखलाइए, ऐसा कहा है, इसपर वामनके समान स्वाकार वैष्णव रूपको न दिखला कर 'पार्थ मेरे रूपोंको देखो'

पश्याऽऽदित्यान् वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याऽऽश्चर्याणि भारत ॥ ६ ॥
इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याऽद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चाऽन्यद् द्रष्टुमिच्छसि ॥ ७ ॥

आदित्यों, वसुओं, रुद्रों, आश्विनीकुमारों तथा अन्यान्य देवताओंको देखो एवं कभी न देखे गये अनेक आश्चर्योंको देखो ॥ ५,६ ॥

हे गुडाकेश, तुम एकत्र स्थित सम्पूर्ण चराचर जगत्‌को मेरी इसी देहमें देखो तथा शत्रुओंके पराजयको भी, जिसे देखनेकी तुम्हें इच्छा है, मुझमें ही देखो ॥७॥

रूपाणां प्रदर्शनं भगवतस्त्वयुक्तमेव, 'औषधमानय' इत्युक्ते पर्वतानयनवदिति न शङ्कनीयम्, अव्यक्तादिस्तम्बपर्यन्तं स्थूलसूक्ष्मकारणप्रपञ्चरूपेण समष्टिव्यष्टिरूपेण च सर्वात्मना स्थितं 'अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः । वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा', 'सहस्रशीर्षं देवम्' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धं प्रकृतं प्राकृतं च सर्वमीश्वरस्य कारणब्रह्मणः स्वरूपमेव बहुधा 'विश्वतोमुखम्' इति स्वेनैवोक्तत्वात् । न तु केवलशङ्खचक्रादिचिह्नितं रूपम्, तस्याऽपि प्राकृतत्वेनाऽत्रैवाऽन्तर्भूतत्वात्ततः सर्वात्मकं सर्वकारणं सर्वोत्तममैश्वरं रूपं यत्तदेवाऽर्जुनस्य द्रष्टुमिष्टत्वाद्भगवता दर्शितम् । न किञ्चिदत्राऽनुपयुक्तमस्ति । किञ्च, अदृष्टपूर्वाणि पूर्वं येन केनाऽप्यदृष्टानि बहून्यसंख्यान्याश्चर्याण्यद्भुतानि रूपाणि पश्येति द्वयोरर्थः ॥ ५ ॥ ६ ॥

कुत्र द्रष्टव्यमित्याकाङ्क्षायामाह—इहेति ।

इत्यादिसे बहुतसे आदित्य आदि रूपोंका प्रदर्शन कराना भगवान्‌के लिए अयुक्त ही है, जैसे कि 'औषध लाओ' ऐसा कहनेपर पर्वतका लाना, तो ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि अव्यक्तसे लेकर स्तम्ब तक स्थूल-सूक्ष्म कारण-प्रपञ्चरूपसे, समष्टि-व्यष्टिरूपसे तथा सर्वस्वरूपसे स्थित 'जिसके अग्नि मस्तक, चन्द्र और सूर्य नेत्र, दिशाएँ श्रोत्र, वाणीका विस्तार वेद, वायु प्राण, हृदय विश्व, पैरोंसे पृथ्वी है । वही सब भूतोंका अन्तरात्मा है', 'हजार सिरवाले देवको' इत्यादि श्रुतिसे प्रसिद्ध प्रकृत और प्राकृत सब ईश्वरका—कारण ब्रह्मका—स्वरूप है, ऐसा ही बहुत बार 'विश्वतोमुख' यों ईश्वरने ही कहा है, न कि केवल शङ्ख, चक्र आदिसे चिह्नित रूप, क्योंकि प्राकृत रूप होनेसे उसका भी इसीमें अन्तर्भाव है, इसलिए सर्वात्मक, सर्वकारण तथा सर्वोत्तम ऐश्वर रूप जो है, उसीको अर्जुन देखना चाहता है, उसीको भगवान्‌ने दिखलाया है, अतः यहां अनुपयुक्त कुछ नहीं है । किञ्च, अदृष्टपूर्व—पहिले किसीने न देखे हों ऐसे--बहुतसे—असंख्य--आश्चर्यमय—अद्भुत--रूपोंको देखो, ऐसा दोनोंका अर्थ है ॥ ५, ६ ॥

कहां देखना चाहिए, ऐसी आकाङ्क्षा होनेपर कहते हैं—'इह' इत्यादिसे ।

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ८ ॥
सञ्जय उवाच
एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥

हे अर्जुन, तुम इन प्राकृत चर्ममय चक्षुओंसे मेरे दिव्य रूपको नहीं देख सकते। तुम्हें मैं दिव्य चक्षु देता हूँ, मेरे ऐश्वर योगको (स्वरूपको) देखो। संजयने कहा—हे राजन्, यों कहकर तदनन्तर महायोगेश्वर श्रीहरि परमात्माने अपना निरतिशय परम ऐश्वर रूप अर्जुनको दिखलाया ॥ ८,९ ॥

गुडा वर्तुलत्वप्रधाना आ समन्तात् केशा यस्य स गुडाकेशः हे गुडाकेश, सचराचरं स्थावरजङ्गमोपेतं सर्वमेकत्रैव तिष्ठतीत्येकस्थं कृत्स्नं जगदिहाऽस्मिन् मम देहे विश्वात्मके अद्य पश्य। यच्चाऽन्यत्परेषां पराजयं नाशनं वा द्रष्टुमिच्छसि तदपि मय्येव पश्येत्यर्थः ॥ ७ ॥

किञ्च, **न त्विति**। यथा पूर्वमिन्द्रादीन् दृष्टवानसि तथा मां त्वप्राकृतं दिव्यं तेजःपुञ्जं विश्वरूपधरमप्रमेयमनेन प्राकृतेन चर्ममयेन चक्षुषा त्वं द्रष्टुं न शक्ष्यसे। न शक्नोषीत्यर्थः। तर्हि मम का वा गतिरित्याकाङ्क्षायामाह—**दिव्यमिति**। ते तुभ्यं मद्दर्शनयोग्यं दिव्यं तेजोमयं चक्षुर्ददामि। येन मां द्रष्टुं शक्ष्यसे तेन चक्षुषा मे ममैश्वरमीश्वरत्वकारणं योगं योगमायाविजृम्भितं स्वरूपं पश्येत्यर्थः ॥ ८ ॥

एवमिति। योगो योगमाया सकार्या तस्याः प्रवृत्तेः कारणत्वादीश्वरः महांश्चाऽसौ

गुडा यानी वर्तुलाकार, आ यानी सब ओरसे जिसके केश हैं, वह गुडाकेश है, हे गुडाकेश, तुम सचराचर—स्थावर और जङ्गमसे युक्त—एकस्थ यानी एकत्र ही स्थित संपूर्ण जगत्को यहां—इस मेरी विश्वात्मक देहमें—आज देखो और अन्य भी—दूसरोंका पराजय या विनाश भी—जो देखना चाहते हो, उसे भी मुझमें ही देखो, यह अर्थ है ॥ ७ ॥

किञ्च, **'न तु'** इत्यादि। जैसे पूर्वमें तुमने इन्द्र आदिको देखा था, वैसे मुझको—अप्राकृत दिव्य तेजःपुञ्जवाले विश्वरूपधर अप्रमेयस्वरूप मुझको—इस प्राकृत चर्ममय चक्षुसे तुम देख नहीं सकते। तब मेरी क्या गति होगी, इस आकाङ्क्षापर कहते हैं—**दिव्यमिति**। तुम्हें मैं अपने दर्शनके योग्य दिव्य—तेजोमय—चक्षु देता हूँ। जिस दिव्य चक्षुसे तुम मुझे देख सकोगे, उस चक्षुसे मेरे ऐश्वरको—ईश्वरत्वके कारण योगको—यानी योगमायासे विजृम्भित स्वरूपको देखो, यह अर्थ है ॥ ८ ॥

'एवम्' इत्यादि। योग यानी कार्यसहित योगमाया, उसकी प्रवृत्तिका कारण होनेसे ईश्वर,

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ १० ॥
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥ ११ ॥

जिसमें अनेक मुख, अनेक नेत्र तथा अनेक आश्चर्यजनक चित्र-विचित्र दृष्टियाँ हैं, जिसमें उद्यत विविध दिव्य आयुध हैं, जो अनेक दिव्य आभरणों, मालाओं और वस्त्रोंसे विभूषित है, दिव्य गन्धवाले अनुलेपनसे युक्त है तथा सम्पूर्ण आश्चर्यजनक वस्तुओंसे पूर्ण है, ऐसा सर्वात्मक अपिरिच्छिन्न स्वरूप दिखलाया ॥ १०,११ ॥

योगेश्वरश्च महायोगेश्वरः स्वसाक्षात्कारवतामविद्यां सकार्यां हरतीति हरिः परमात्मा । ऐश्वरमीश्वरसम्बन्धि परमं निरतिशयं रूपं दर्शयामासेत्यर्थः ॥ ९ ॥

तद्रूपमेव वर्णयति—**अनेकेति** द्वाभ्याम् ।

अनेकान्यपरिमितान्यद्भुतान्याश्चर्यकराणि दर्शनान्यूर्ध्वाधस्तिर्यक्पश्यन्त्यो विकृताः सौम्याः साधारणा भयङ्कराश्चित्रा दृष्टयो यस्य तदनेकाद्भुतदर्शनं दिव्यानि प्रचण्डप्रकाशवन्त्यनेकान्युद्यतान्युद्धृतानि चक्रगदाद्यायुधानि यस्य तद्दिव्यानेकोद्यतायुधं रूपम् ॥ १० ॥

किञ्च, **दिव्येति** । सर्वाश्चर्यमयं तेजोबलवीर्यशक्तिरूपगुणावयवावस्थानादिविशेषैः सर्वैराश्चर्यप्रचुरं सर्वतः स्वयमेव दीव्यते प्रकाशत इति देवम् । सर्वतोमुखं सर्वात्मकमत एवाऽनन्तमपरिच्छिन्नं स्वरूपं दर्शयामासेति पूर्वेणाऽन्वयः ॥ ११ ॥

महान् योगेश्वर महायोगेश्वर है, अपना साक्षात्कार करनेवाले पुरुषोंकी कार्यसहित अविद्याको जो हरता है, वह हरि है यानी परमात्मा, उसने अपना ऐश्वर—ईश्वरसम्बन्धी—परम—निरतिशय—स्वरूप अर्जुनको दिखलाया, यह अर्थ है ॥ ९ ॥

उसी रूपका वर्णन करते हैं—'**अनेक०**' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

अनेक—अपरिमित—अद्भुत—आश्चर्य करानेवाले—दर्शनोंसे युक्त (ऊपर-नीचे और तिरछे देख रहीं जिसकी दृष्टियां विकृत, सौम्य, साधारण, भयङ्कर और विचित्र हैं, वह अनेकाद्भुतदर्शन है), दिव्य—प्रचण्ड प्रकाशवाले—अनेक उद्यत यानी उद्धृत हैं—चक्र, गदा आदि आयुध जिसमें, वह दिव्यानेकोद्यतायुध है, वैसे रूपको ॥ १० ॥

किञ्च, '**दिव्य०**' इत्यादि । सर्वाश्चर्यमय—तेज, बल, वीर्य, शक्ति, रूप, गुण, अवयव-संस्थान आदि सम्पूर्ण विशेषोंसे आश्चर्यप्रचुर—देव (सब ओरसे स्वयं ही जो दीप्त होता है—प्रकाशित होता है—वह देव है), सर्वतोमुख यानी सर्वात्मक, इसीलिए अनन्त यानी अपरिच्छिन्न स्वरूप दिखलाया, ऐसा पूर्वके श्लोकके साथ अन्वय है ॥ ११ ॥

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥ १२ ॥
तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥ १३ ॥

आकाशमें हजारों सूर्योंकी एक साथ उदित हुई प्रभा यदि इसके सदृश (भगवान्‌की प्रभाके समकक्ष) हो तो वह उन महेश्वर भगवान्‌की प्रभाके सदृश कही जाय, [पर विचारनेपर वह समकक्ष हो ही नहीं सकती] । जिस समय अर्जुनको दिव्य चक्षु दिया गया, उसी समय उसने देवाधिदेवके विश्वात्मक शरीरमें एकत्र स्थित विविधरूपसे विभक्त सम्पूर्ण जगत् देखा ॥ १२,१३ ॥

विश्वरूपस्य यद्देवत्वं तदेव विशदयति—**दिवीति** ।

दिव्याकाशे युगपदेकदैवोत्थितस्य सूर्याणां सहस्रस्य युगपदुत्थिता समकालोदिता मेघाद्यावरणवर्जिता च या भाः प्रभा विद्यते सा विश्वरूपस्य भासः प्रकाशस्य स्फुरणसंपत्त्या स्वयं यदि सदृशी स्यात् समानकक्षा भवेच्चेत्तदा विश्वरूपप्रकाशस्य सदृशीति वक्तुं शक्यते । द्वयोः स्फुरणसंपत्तौ विचार्यमाणायां सूर्यसहस्रप्रभापेक्षया विश्वरूपप्रकाश एवाऽधिको भविष्यतीति मन्य इति भावः ॥ १२ ॥

'इहैकस्थं जगत्कृत्स्नम्' इति यथोक्तं भगवता तथैवाऽर्जुनोऽपि दृष्टवानित्याह-**तत्रेति** ।

यदा यस्मिन् क्षणे दिव्यं चक्षुर्दत्तं तदैव पाण्डवो देवदेवस्य तत्रैव विश्वात्मके शरीरे एकस्थमपि देवर्षिगन्धर्वादिभेदेनाऽनेकधा प्रविभक्तं कृत्स्नं जगदपश्यत् ॥ १३ ॥

विश्वरूपका जो देवत्व है, उसीको स्पष्ट करते हैं—**'दिवि'** इत्यादिसे ।

दिव्में—आकाशमें—युगपद्—एक ही साथ—उदित हुए हजारों सूर्योंकी—एक कालमें उत्थित (उदित हुई) और मेघादि आवरणोंसे वर्जित जो भा—प्रभा—है, वह विश्वरूपके भाकी—प्रकाशकी—स्फुरणसम्पत्तिसे यदि स्वयं सदृश हो यानी समकक्ष हो, तो वह विश्वरूपके प्रकाशके सदृश है, ऐसा कहा जा सकता है । परन्तु दोनोंकी स्फुरणसम्पत्तिके विषयमें यदि विचार किया जाय, तो हजारों सूर्योंकी प्रभाकी अपेक्षा विश्वरूपका प्रकाश ही अधिक (प्रचुर) होगा, ऐसा मैं मानता हूँ, यह भाव है ॥ १२ ॥

'इहैकस्थं जगत् कृत्स्नम्' (मेरी देहमें एकस्थ सम्पूर्ण जगत्को), इत्यादिसे जैसा भगवान्‌ने कहा था, वैसा ही अर्जुनने भी देखा, ऐसा कहते हैं—**'तत्र'** इत्यादिसे ।

जब (जिस क्षणमें) अर्जुनको दिव्य चक्षु दिया गया, उसी समय उसने देवदेवके उसी विश्वात्मक शरीरमें एक स्थानमें स्थित होनेपर भी देव, ऋषि, गन्धर्व आदि भेदोंसे विविधरूपसे विभक्त जगत्को देखा ॥ १३ ॥

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥ १४ ॥

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥१५॥

तदनन्तर विस्मयसे पूर्ण पुलकित-शरीर अर्जुन सिरसे प्रणाम कर हाथ जोड़कर देवाधिदेव भगवान्‌से कहने लगे ॥ १४ ॥

अर्जुनने कहा—हे देवाधिदेव, मैं आपके शरीरमें सम्पूर्ण देवताओंको, सम्पूर्ण भूत-समूहोंको, कमलासनपर स्थित सब प्राणियोंके नियन्ता चतुर्मुख ब्रह्माको, सम्पूर्ण ऋषियोंको तथा दिव्य उरगोंको (शेष, वासुकि आदि सर्पोंको) देखता हूँ ॥ १५ ॥

दृष्ट्वा किं कृतवानित्यत आह—**तत इति** । स्पष्टम् ॥ १४ ॥

'पश्य मे पार्थ रूपाणि', 'पश्याऽऽदित्यान् वसून्' इति त्वया यथोक्तं तथैव पश्यामीत्याहाऽर्जुनः—**पश्यामीति** ।

हे देव, तव देहे भूतविशेषसङ्घान् भूतविशेषा देवतिर्यगादिविभेदभिन्नाः प्राणिविशेषास्तेषां सङ्घान् । तानेव विशेषयति—**देवानिति** । तत्राऽपि विशेषयति—**ब्रह्माणमिति** । ईशं सर्वप्राणिनां नियन्तारं कमलासनस्थं ब्रह्माणं चतुर्मुखं ऋषीन् नारदसनकादीन् दिव्यानुरगान् शेषवासुक्यादीन् पश्यामीत्यर्थः ॥ १५ ॥

देखकर अर्जुनने क्या किया, उसे कहते हैं—**'ततः'** इत्यादिसे ।

इस श्लोकका अर्थ स्पष्ट है ॥ १४ ॥

'हे पार्थ, तुम मेरे रूपोंको देखो' तथा 'आदित्योंको और वसुओंको देखो' इत्यादिसे आपने जैसा कहा था, वैसा ही मैं देखता हूँ, ऐसा अर्जुन कहते हैं—**'पश्यामि'** इत्यादिसे ।

हे देव, आपकी देहमें भूतविशेषसङ्घोंको (भूतविशेष यानी देव, तिर्यक् आदि भेदोंसे भिन्न प्राणिविशेष, उनके समूहोंको) । उन्हींका विशेषतः प्रतिपादन करते हैं—**देवानिति** । उनमें भी विशेषरूपसे प्रतिपादन करते हैं—**ब्रह्माणमिति** । ईश—सम्पूर्ण प्राणियोंके नियन्ता—कमलासनस्थ ब्रह्माको यानी चतुर्मुखको, ऋषियोंको—नारद एवं सनक आदिको—, दिव्य उरगोंको यानी शेष, वासुकि आदि दिव्य सर्पोंको देखता हूँ, यह अर्थ है ॥ १५ ॥

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नाऽन्तं न मध्यं न पुनस्तवाऽऽदिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥१६॥
किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥ १७ ॥
त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥ १८ ॥

हे विश्वेश्वर, जिनके अनेक बाहु, उदर, मुख और नेत्र हैं एवं अनन्त रूप हैं, ऐसे आपको चारों ओरसे देखता हूँ, हे विश्वरूप, आपके आदि, मध्य और अन्त मैं नहीं देखता ॥ १६ ॥

भगवन्, किरीटी, गदाधारी, चक्रधारी तथा तेजोराशिसे पूर्ण चारों ओरसे प्रकाशमान अतएव दीप्त सूर्य और अग्निके समान अप्रमेयस्वरूप (चक्षुके अविषय) सर्वतः दुर्निरीक्ष्य आपको देखता हूँ ॥ १७ ॥

भगवन्, आप ही अक्षर हैं, आप ही परम वेद्य हैं, इस सारे जगत्के आप ही परम निधान हैं, आप ही अव्यय, नित्य एवं वैदिक धर्मके रक्षक पुरुष हैं, ऐसा मैं मानता हूँ ॥१८॥

किञ्च, **अनेकेति** । अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रमनन्तरूपं अनन्तानि रूपाणि यस्य तं त्वां सर्वतः पश्यामि । हे विश्वेश्वर विश्वरूप, तव नाऽन्तं न मध्यं पुनरादिं च न पश्यामि ॥ १६ ॥

किञ्च, **किरीटिनमिति** । तेजोराशिं तेजःपुञ्जमत एव सर्वतो दीप्तिमन्तं प्रकाशयुक्तमत एव दीप्तानलार्कद्युतिं जाज्वल्यमानसूर्यानलसन्निभमत एवाऽप्रमेयं परिच्छेदरहितं चक्षुःप्रमाणागोचरमत एव समन्तात् सर्वतो दुर्निरीक्ष्यं दुःखेन द्रष्टुमशक्यं पश्यामि । शिष्टं स्पष्टम् ॥ १७ ॥

किञ्च '**अनेक०**' इत्यादि । अनेक बाहु, उदर मुख तथा नेत्रोंसे युक्त अनन्तरूप (जिसके अनन्त रूप हैं, ऐसे) आपको सर्वत्र मैं देखता हूँ । हे विश्वेश्वर विश्वरूप, आपके अन्त, मध्य और आदिको मैं नहीं देखता हूँ ॥ १६ ॥

किञ्च, '**किरीटिनम्**' इत्यादि । तेजोराशि—तेजःपुञ्ज—अतएव सर्वत्र दीप्तिमान्—प्रकाशयुक्त—अतएव दीप्तानलार्कद्युति—जाज्वल्यमान सूर्य और अग्निके समान—अतएव अप्रमेय—परिच्छेदरहित—चक्षुप्रमाणके अविषय, अतएव सब ओरसे दुर्निरीक्ष्य—दुःखसे देखनेके लिए भी अशक्य—आपको देखता हूँ । शेष स्पष्ट है ॥ १७ ॥

त्वदीयैतन्महामायायोगसंभाविताद्भुतस्वरूपमहत्त्वदर्शनेनैव त्वामेवमहं मन्य इत्याह—**त्वमक्षरमिति** ।

अक्षरं निरवयत्वान्निराश्रयत्वात्क्रियानाश्रयत्वात्क्रियाविषयत्वादनन्तत्वाच्च न क्षरतीत्यक्षरं नित्यकूटस्थम्, 'एतद्वै तदक्षरं गार्गि' इति श्रुतेः। तत एव परममुत्तमोत्तमम्, 'अव्यक्तात्तु परः पुरुषः' इति श्रुतेः। तत एव परमार्थत्वात्परमपुरुषार्थत्वाच्च वेदितव्यं मुमुक्षुभिर्ज्ञातव्यम्, 'स आत्मा स विज्ञेयः' इति श्रुतेः वेदितव्यं परमं यदक्षरं निर्विशेषं परं ब्रह्म तत्त्वमेव। तथापि जगद्बीजं मत्तोऽन्यदस्तीत्यत आह—**त्वमस्येति**। अस्य महदादिस्थूलपर्यन्तस्य विश्वस्य सर्वविकारजातस्य यन्निधानं निधीयते सर्वमस्मिन्निति निधानं जगद्बीजमव्याकृताख्यं त्वमेव, 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्' इति, 'परस्मान्न सन्नासन्न सदसदिति आत्मन एव त्रैविध्यं सर्वत्र योनित्वमपि' इति श्रुतेः, 'मत्तः परतरम्' इति स्मृतेश्च। ननु यद्यप्यहमेव परं ब्रह्म निर्विशेषं जगत्कारणं चाऽहमेव, तथापि मत्तोऽन्यः कश्चिदीश्वरोऽस्ति ज्ञातव्य उपास्यश्चेत्यत आह—**त्वमव्यय इति**। न विद्यते व्ययो ज्ञानाज्ञानाभ्यामन्यैर्वा विनाशो यस्य सोऽव्ययो नित्यः शाश्वतधर्मगोप्ता शश्वद्भवतीति शाश्वतो वेदस्तेनोक्ता ये धर्मा ज्ञानकर्मादयस्तेषां गोप्ता वर्णाश्रमधर्मरक्षकः सृष्ट्यादिकर्ता ईश्वरोऽपि त्वमेव, 'एष

आपके इस महामायाके योगसे सम्भावित अद्भुत स्वरूपके महत्त्वके दर्शनसे ही आपको मैं ऐसा मानता हूँ, ऐसा कहते हैं—**'त्वमक्षरम्'** इत्यादिसे ।

अक्षर (निरवयव, निराश्रय, क्रियाका अनाश्रय, क्रियाका अविषय तथा अनन्त होनेसे जो नष्ट नहीं होता, वह अक्षर है) यानी नित्य कूटस्थ, क्योंकि 'हे गार्गि, इस अक्षरको' ऐसी श्रुति है । इसलिए परम यानी उत्तमसे उत्तम, क्योंकि 'अव्यक्तसे पर पुरुष है' ऐसी श्रुति है। उसीसे परमार्थरूप और परम पुरुषार्थरूप होनेसे वेदितव्य—मुमुक्षुओंसे ज्ञातव्य, यानी 'वह आत्मा है, वह विज्ञेय है' इत्यर्थक श्रुतिसे वेदितव्य अक्षरस्वरूप निर्विशेष जो परतत्त्व परब्रह्म है, वह आप ही हैं। तथापि जगत्का बीज मुझसे अन्य है ही, इसपर कहते हैं—**त्वमस्येति**। इन महत्से लेकर स्थूलपर्यन्त सम्पूर्ण विकारोंके समूहभूत विश्वका निधान (जिसमें सब रक्खा जाता है, वह निधान है यानी अव्याकृतनामक जगत्का बीज) आप ही हैं, क्योंकि 'प्रतिज्ञा और दृष्टान्तके अनुपरोधसे उपादान और निमित्त ब्रह्म ही है' तथा 'पर होनेसे न सत् न असत् न सदसत् यों आत्मामें ही तीन प्रकारका सर्वत्र योनित्व है' इत्यर्थक श्रुति है और 'मुझसे परतर' इत्यर्थक स्मृति है । यदि शङ्का हो कि यद्यपि मैं ही निर्विशेष परब्रह्म हूँ और जगत्का कारण भी मैं ही हूँ, तो भी मुझसे कोई अन्य ईश्वर ज्ञातव्य और उपास्य है ही, तो इसपर कहते हैं—**त्वमव्यय इति**। जिसका ज्ञानसे, अज्ञानसे अथवा अन्यसे व्यय—नाश—नहीं होता, वह अव्यय है यानी नित्य, शाश्वतधर्मगोप्ता (जो सदा रहता है, वह शाश्वत है यानी वेद, उससे कहे गये धर्म—ज्ञान, कर्म आदि—उनका गोप्ता) यानी वर्णाश्रमधर्मरक्षक सृष्टिके आदि कर्ता ईश्वर आप ही हैं।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥१९॥

हे भगवन्, आदि, मध्य और अन्तसे शून्य, असीम पराक्रमवाले, असंख्य भुजाओंसे समन्वित, चन्द्र और सूर्यरूपी नेत्रोंसे युक्त, प्रज्वलित अग्निरूप मुखवाले तथा अपने तेजसे [सूर्यके समान] प्रज्वलित हो रहे आपको मैं विश्वरूपसे देखता हूँ यानी सम्पूर्ण जगत्को आपका ही स्वरूप देखता हूँ ॥ १९ ॥

भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय' इति श्रुतेः । ननु निर्विशेषं परं ब्रह्म सविशेषमपरं ब्रह्माऽप्यहमेव, तथापि मत्तोऽन्यो जीवोऽस्ति भेदायेत्यत आह—**सनातन इति** । 'न जीवो म्रियते' इति श्रवणात् सनातनो नित्यः पुरुषः पुरि शयनात् पुरुष आत्माऽपि त्वमेव, 'अयमात्मा ब्रह्म' इति श्रुतेः ॥ १८ ॥

ननु 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'यतो वा इमानि', 'एष सर्वेश्वरः', 'प्रज्ञानं ब्रह्म' इत्यादिश्रुतिप्रामाण्यं त्वया यदुक्तं तत्सत्यमेव । तथापि मत्तो भिन्नं जगदस्तीत्याशङ्कायाम् 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि श्रुत्यर्थमवष्टभ्य तदपि त्वमेवेत्याह—**अनादीति** ।

अनादिमध्यान्तमादिमध्यान्तरहितं वीराणां कर्म वीर्यमनन्तमपारं वीर्यं यस्य तमनन्तवीर्यम्, अनन्तबाहुम् अनन्ताः संख्यातीता बाहवो यस्य तमनन्तबाहुम् । शशिसूर्यौ नेत्रे यस्य तं शशिसूर्यनेत्रम् । दीप्तः शिखाभिर्जाज्वल्यमानो हुताशो वक्त्रं यस्य तं

क्योंकि 'यह भूतोंका अधिपति, यह भूतपाल, यह सेतुके समान विधारक है, इन लोकोंके मर्यादारक्षणके लिए' इत्यर्थक श्रुति है। यदि शङ्का हो कि निर्विशेष परब्रह्म और सविशेष अपरब्रह्म यद्यपि मैं ही हूँ, तो भी भेदका सम्पादक मुझसे अन्य जीव है ही, तो इसपर कहते हैं—**सनातन इति** । 'जीव मरता नहीं है' इस श्रुतिसे सनातन—नित्य—पुरुष—पुरमें शयन करनेसे पुरुष—यानी आत्मा (जीव) भी आप ही हैं, क्योंकि 'यह आत्मा ब्रह्म है' ऐसी श्रुति है ॥ १८ ॥

सत्य, ज्ञान, अनन्त ब्रह्म है', 'जिससे ये भूत उत्पन्न होते हैं', 'यह सबका ईश्वर है' तथा 'प्रज्ञान ब्रह्म है' इत्यादि श्रुतियोंका जो आपने प्रमाण्य कहा, वह यद्यपि सत्य ही है, तो भी आपसे भिन्न जगत् है, ऐसी आशङ्का होनेपर 'निश्चय यह सब ब्रह्म है' इत्यादि श्रुतिके अर्थका अवलम्बन कर वह भी आप ही हैं, ऐसा कहते हैं—**'अनादि०'** इत्यादिसे ।

अनादिमध्यान्त यानी आदि, मध्य और अन्तसे रहित, अनन्तवीर्य (वीरोंका कर्म वीर्य है, अनन्त—अपार जिसका वीर्य है, वह अनन्तवीर्य है), अनन्तबाहु (अनन्त यानी संख्यारहित भुजाएँ जिसकी हैं, वह अनन्तबाहु है), शशिसूर्यनेत्र (चन्द्र और सूर्य जिसके नेत्र हैं, वह शशिसूर्यनेत्र है), तथा दीप्तहुताशवक्त्र (दीप्त यानी शिखाओंसे जाज्वल्यमान हुताश—अग्नि—है मुख जिसका, वह दीप्तहुताशवक्त्र है) तथा अपने तेजसे सूर्यके समान तप रहे (प्रज्वलित

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाऽद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥ २० ॥

भूमि और आकाशके इस मध्यवर्ती भागको तथा सम्पूर्ण दिशाओंको अकेले आपने ही व्याप्त कर रक्खा है, भगवन् आपके इस अतिभयङ्कर आश्चर्यजनक स्वरूपको देखकर तीनों लोकोंमें रहनेवाले प्राणी भयभीत हो रहे हैं ॥ २० ॥

दीप्तहुताशवक्त्रम् । स्वतेजसा सूर्यवत्तपन्तं प्रज्वलन्तं त्वामिदं विश्वं पश्यामि इदं विश्वं त्वमेवेति त्वदभिन्नं विश्वं पश्यामि । त्वां विश्वात्मना स्थितं पश्यामीत्यर्थः ॥ १९ ॥

तदेव विस्पष्टयति—**द्यावेति** ।

हि यस्मात्कारणात् द्यावापृथिव्योः भूम्यन्तरिक्षयोरन्तरमन्तरालं सर्वं त्वयैकेन विश्वात्मना स्थितेन व्याप्तं पूर्णम् । तथा प्राच्याद्याः सर्वा दिशश्च व्याप्ताः पूर्णाः । उपलक्षणमेतत् । चराचरात्मकं विश्वं सर्वं त्वया व्याप्तम् । 'येन यद्व्याप्तं तत्तन्मात्रमेव' इति न्यायेन त्वद्व्याप्तं विश्वं त्वन्मात्रमेवाऽतः सर्वं विश्वं त्वमेवेत्यर्थः, 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' इति श्रुतेः । एवं सार्वात्म्यं प्रतिपाद्य प्रकृतं विश्वरूपं प्रस्तौति—**दृष्ट्वेत्यादिना** । महात्मन् महान्महत्तरो विश्वमय आत्मा देहो यस्य स महात्मा तस्य संबुद्धिर्हे महात्मन् । अद्भुतमाश्चर्यकरमुग्रमतिभयङ्करं च तवेदं रूपं दृष्ट्वा लोकत्रयं त्रिलोकस्थं प्राणिजातं सर्वं प्रव्यथितम्' क्षुब्धं व्याकुलं च भवतीत्यर्थः ॥ २० ॥

हो रहे) आपको ही यह विश्वरूप देखता हूँ । यह विश्व आप ही हैं, यों आपसे अभिन्न विश्वको देखता । आपको विश्वस्वरूपसे अवस्थित देखता हूँ, यह अर्थ है ॥ १९ ॥

उसीका विशेषरूपसे स्पष्टीकरण करते हैं—**'द्यावा'** इत्यादिसे ।

हि—जिस कारणसे—द्यु और पृथिवीका—भूमि और अन्तरिक्षका—सम्पूर्ण अन्तराल (मध्यवर्ती भाग) केवल विश्वरूपसे स्थित आपसे व्याप्त—पूर्ण—है, तथा पूर्व आदि सम्पूर्ण दिशाएँ व्याप्त—पूर्ण—हैं । यह उपलक्षण है । चराचरात्मक सब विश्व आपसे व्याप्त है । 'जिससे जो व्याप्त होता है, वह तन्मात्र ही होता है' इस न्यायसे आपसे व्याप्त विश्व केवल आपका ही स्वरूप है, इसलिए सब विश्व आप ही हैं, यह अर्थ है, क्योंकि 'यह सब ब्रह्म ही है' ऐसी श्रुति है । इस प्रकार सार्वात्म्यका प्रतिपादन करके प्रकृत विश्वरूपकी स्तुति करते हैं-**'दृष्ट्वा'** इत्यादिसे । महात्मन्, (महान्-महत्तर विश्वमय-आत्मा-देह-जिसका है, वह महात्मा है, उसकी सम्बुद्धि है, हे महात्मन्) अद्भुत—आश्चर्यकर—और उग्र--अतिभयङ्कर—इस प्रकारके रूपको देखकर लोकत्रय--तीनों लोकोंमें स्थित--प्राणीजात यानी सम्पूर्ण प्राणी प्रव्यथित हैं । क्षुब्ध और व्याकुल हैं, यह अर्थ है ॥ २० ॥

अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥२१॥
रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥ २२ ॥

किञ्च, भगवन्, ये कतिपय बलशाली देवता [आपको देखनेके लिए] आपके समीप आ रहे हैं, कुछ निर्बल भयभीत हो [दूरसे ही] हाथ जोड़कर आपकी स्तुति कर रहे हैं। भृगु आदि महर्षियों तथा कपिल आदि सिद्धोंके समुदाय 'स्वस्ति' कहकर विशिष्ट शब्द और भावसे पूर्ण स्तुतियोंसे आपकी स्तुति कर रहे हैं ॥२१॥

भगवन्! रुद्र, आदित्य, वसु, साध्य, विश्वेदेव, अश्विनीकुमार, मरुत् आदि देवता एवं पितर, गन्धर्व, यक्ष, असुर तथा सिद्ध सब विस्मित होकर आपको देख रहे हैं ॥ २२ ॥

किञ्च, **अमी हीति**। हि यस्मात्त्वं शाश्वतधर्मगोप्ता तस्मादुग्रमप्यत्यद्भुतस्वरूपं त्वां द्रष्टुं केचिद्बलाधिकाः सुरसङ्घाः सुराणां देवानां सङ्घाः सुरसङ्घास्तव समीपं विशन्ति। केचिदबला भीताः सन्तो दूरादेव प्राञ्जलयो भूत्वा गृणन्ति स्तुवन्ति। तत्र महर्षिसिद्धसङ्घाः महर्षयो भृग्वादयः सिद्धाः कपिलादयस्तेषां सङ्घाः स्वस्तीत्युक्त्वा पुष्कलाभिः शब्दार्थपुष्टियुक्ताभिः स्तुतिभिस्त्वां स्तुवन्ति ॥ २१ ॥

एवं सामान्येनोक्त्वा विशेषमाह—**रुद्रेति**।

रुद्रादित्या वसवस्तथाऽन्ये ये च साध्या देवताभेदा विश्वे विश्वेदेवा अश्विनौ मरुतो देवविशेषाश्चोष्मपाः पितरस्ते च 'ऊष्मभागा हि पितरः' इति श्रवणात्। गन्धर्वा यक्षा असुराः सिद्धास्तेषां सङ्घाश्च सर्वे विस्मिता आश्चर्यवन्तो भूत्वा त्वां वीक्षन्ते ॥ २२ ॥

किञ्च, **'अमी हि'** इत्यादि। हि—जिस कारणसे—आप शाश्वतधर्मके (वैदिक धर्मके) गोप्ता हैं, इसलिए उग्र होनेपर भी अद्भुतस्वरूपवाले आपको देखनेके लिए कोई अधिक बलवाले सुरसङ्घ (सुरोंके—देवताओंके—समूह) आपके समीप प्रवेश करते हैं, कोई निर्बल भयभीत होकर दूरसे ही हाथ जोड़कर स्तुति करते हैं। उनमें महर्षिसिद्धसङ्घ (महर्षि यानी भृगु आदि, सिद्ध यानी कपिल आदि, उनके सङ्घ) स्वस्ति कहकर पुष्कल—शब्द और अर्थकी पुष्टिसे युक्त—स्तुतियोंसे आपकी स्तुति करते हैं ॥ २१ ॥

इस प्रकार सामान्यरूपसे कह कर अब विशेषरूपसे कहते हैं—**'रुद्रा०'** इत्यादिसे।

रुद्र, आदित्य, वसु और अन्य साध्य यानी देवताभेद, विश्वे—विश्वेदेवता—, अश्वनीकुमार, मरुत्—देवविशेष—और ऊष्मपा यानी पितर, क्योंकि 'ऊष्मभागी पितर हैं' ऐसी श्रुति है। गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्धोंके सङ्घ सब विस्मित—आश्चर्यवान्—होकर आपको देखते हैं ॥ २२ ॥

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाऽहम् ॥ २३ ॥
नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥ २४ ॥

महाबाहो, जिसमें अनेक मुख और नेत्र हैं, अनेक बाहु, ऊरु तथा पैर हैं, अनेक उदर हैं तथा जो अनेक दाँतोंसे विकृत है, ऐसे आपके महान् स्वरूपको देखकर सम्पूर्ण प्राणी महती व्यथाको प्राप्त हो रहे हैं एवं मैं भी वैसे ही व्यथित हूँ ॥ २३ ॥

हे विष्णो, अभ्रंकष, तेजसे जाज्वल्यमान, विविध रूपोंसे युक्त, विस्फारित मुखोंसे विशिष्ट तथा सूर्यमण्डलके समान दीप्त, विशाल और विकृत नेत्रवाले आपको देखकर अन्तःकरणसे भयभीत हो रहा मैं न धीरताको प्राप्त हो रहा हूँ और न मानसिक शान्तिको ही प्राप्त कर रहा हूँ ॥ २४ ॥

एवं देवादीनां प्रवेशनं स्तवनं विस्मयदर्शनं चोक्त्वाऽधुना भयङ्कराकारदर्शनेन लोकानां स्वस्य च भयकार्यं प्रतिपादयति—**रूपमिति** त्रिभिः ।

बहूनि बहुविधानि च वक्त्राणि च नेत्राणि च यस्मिन् तद्बहुवक्त्रनेत्रम् । बहवो बाहव ऊरवश्च पादाश्च यस्मिन् तद्बहुबाहूरुपादम् । बहुभिर्दंष्ट्राभिः करालं विकृतं महदतिपरिमाणं ते रूपं स्वरूपं दृष्ट्वा लोकाः प्राणिनः सर्वे प्रव्यथिताः प्रकर्षेण व्यथिताः प्रव्यथिता महाव्यथां प्राप्तास्तथैवाऽहमपि व्यथितोऽस्मीत्यर्थः ॥ २३ ॥

व्यथाप्राप्तिकारणमेव स्पष्टयति—**नभःस्पृशमिति** ।

हिशब्दोऽवधारणार्थः । हे विष्णो सर्वव्यापिन् । नभःस्पृशमभ्रङ्कषम् । यद्वा

इस प्रकार देव आदिका प्रवेश, स्तवन और विस्मयदर्शन कहकर अब भयङ्कर आकारके दर्शनसे लोगोंके और अपने भयरूप कार्यका प्रतिपादन करते हैं—'**रूपम्**' इत्यादि तीन श्लोकोंसे ।

बहुवक्त्रनेत्र—बहुत प्रकारके मुख और नेत्र जिसमें हैं—, बहुबाहूरुपाद—बहुत भुजाएँ, ऊरु और पाद जिसमें हैं—, बहुत दाँतोंसे कराल यानी विकृत तथा महत्—अतिपरिमाणवाले—आपके रूपको—स्वरूपको—देखकर लोक—सब प्राणी—प्रव्यथित—महा व्यथाको प्राप्त हैं और वैसे ही मैं भी व्यथित हूँ ॥ २३ ॥

व्यथाकी प्राप्तिके कारणका स्पष्टीकरण करते हैं—'**नभःस्पृशम्**' इत्यादिसे ।

हिशब्द अवधारणके अर्थमें है । हे विष्णो—सर्वव्यापिन्, नभस्पृश—अभ्रंकष अथवा

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसंनिभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ २५ ॥

हे जगन्नाथ, दाँतोंसे विकृत तथा प्रलयाग्निके सदृश भयंकर आपके मुखोंको देखकर न दिशाओंको ही पहचान रहा हूँ और न सुख ही प्राप्त कर रहा हूँ। हे देवेश, आप प्रसन्न होइए ॥ २५ ॥

नभोवत्सर्वं स्पृशतीति नभःस्पृशं सर्वव्यापकं तेजोविशेषेण दीप्तं जाज्वल्यमानम् अनेकवर्णं वर्ण्यन्त इति वर्णा रूपाण्यनेकान्यनेकविधानि यत्र तदनेकवर्णं ब्रह्मादिनानाविधविचित्ररूपविशेषविशिष्टम् व्यात्तानि विस्फारितान्याननानि यत्र तं व्यात्ताननम् सूर्यमण्डलवद्दीप्तानि विशालानि विकृतानि च नेत्राणि यत्र तं दीप्तविशालनेत्रं त्वां दृष्ट्वैव प्रव्यथितान्तरात्मा भयक्षुब्धान्तरङ्गः सन् धृतिं धैर्यं शमं मनःस्वास्थ्यं च न विन्दाम्यतिचकितोऽस्मीत्यर्थः ॥ २४ ॥

उक्तमेवाऽर्थं प्रकारान्तरेण वदन् भगवत्प्रसादं प्रार्थयते—**दंष्ट्रेति** ।

जगतां निवासो यः स हे जगन्निवास, देवेश अन्यानपेक्षया स्वयमेव दीव्यते प्रकाशत इति देवः । स्वसन्निधानात् सर्वमीष्टे चेष्टयतीति ईशः । दिशो न जाने भयेन चित्तस्वास्थ्यजं शर्म सुखं च न लभे न प्राप्नोमि भीतोऽस्मि । प्रसीद प्रसन्नो भव । शिष्टं स्पष्टम् ॥ २५ ॥

आकाशके समान सबको जो छूता है, वह नभःस्पृश है यानी सर्वव्यापक, तेजोविशेषसे दीप्त--जाज्वल्यमान--, अनेकवर्ण--जिनका वर्णन किया जाता है, वे वर्ण हैं यानी रूप, जिसमें अनेक प्रकारके रूप हैं, वह अनेकवर्ण है यानी ब्रह्मा आदि नाना प्रकारके विचित्र रूपविशेषोंसे विशिष्ट—, व्यात्तानन (व्यात्त--विस्फारित--मुख जिसमें हैं वह व्यात्तानन है) तथा सूर्य मण्डलके समान दीप्त, विशाल और विकृत नेत्र जिसमें हैं, ऐसे दीप्तविशालनेत्रवाले आपको देखकर ही प्रव्यथितान्तरात्मा--भयसे क्षुब्ध अन्तरङ्ग—होकर धृति--धैर्य—और शम--मनके स्वास्थ्य--को मैं नहीं प्राप्त होता हूँ। अत्यन्त चकित हूँ, यह अर्थ है ॥ २४ ॥

उक्त अर्थको ही दूसरे प्रकारसे कहकर अर्जुन भगवान्के प्रसादकी प्रार्थना करते हैं—**'दंष्ट्रा०'** इत्यादिसे ।

जो जगत्का निवास है, वह जगन्निवास है, हे जगन्निवास, हे देवेश (अन्यकी अपेक्षाके विना जो स्वयं ही दीप्त होता है--प्रकाशित होता है—वह देव है । अपनी सन्निधिसे सबमें जो चेष्टा उत्पन्न करता है, वह ईश है, देवस्वरूप ईश देवेश है) दिशाओंको नहीं पहचानता हूं, भयके कारण चित्तके स्वास्थ्यसे उत्पन्न होनेवाले शर्मको--सुखको—नहीं प्राप्त होता हूं, भयभीत हूं। प्रसीद यानी आप प्रसन्न होइए। शेष स्पष्ट है ॥ २५ ॥

अमी च त्वा धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवाऽवनिपालसङ्घैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथाऽसौ सहाऽस्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥ २६ ॥
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥ २७ ॥
यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाऽभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवाऽमी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥ २८ ॥

ये दुर्योधन प्रभृति धृतराष्ट्रके सब पुत्र, भीष्म, द्रोण तथा यह सूतपुत्र कर्ण अनेक भूमिपालोंके और हमारे मुख्य मुख्य योद्धाओंके साथ त्वरासे भयानक दाँतोंसे विकृत आपके मुखमें प्रवेश कर रहे हैं, उनमें से कुछ लोग चूर्णित सिरोंसे युक्त होकर दाँतोंके बीचमें ही लगे हुए दिखाई देते हैं ॥ २६,२७ ॥

जैसे नदियोंके जलोंके वेगवाले विविध प्रवाह समुद्रमें ही प्रवेश करते हैं, वैसे ही मनुष्यलोकमें सबकी अपेक्षा वीर ये भीष्म आदि सब आपके दीप्त मुखमें प्रवेश कर रहे हैं ॥ २८ ॥

यच्चाऽन्यद् द्रष्टुमिच्छसीति यदुक्तं स्वजयं परेषां पराजयं च द्रष्टाऽसीति तदप्यत्र दृष्ट्वाऽऽह—**अमी चेति** चतुर्भिः ।

चकारस्य सर्वपदेन संबन्धः । अमी पुरो दृश्यमाना धृतराष्ट्रस्य पुत्रा दुर्योधनादयः सर्वे चाऽवनिपालसङ्घैः सहैव त्वा त्वां विशन्ति । विशधातोरत्राऽपि सम्बन्धः । भीष्मो द्रोणस्तथाऽसौ सूतपुत्रः कर्णश्चाऽस्मदीयैरपि योधमुख्यैः द्रुपदधृष्टद्युम्नादिभिः सह ॥२६॥

वक्त्राणीति । त्वरमाणाः सन्तः भयानकानि भयङ्कराणि दंष्ट्राकरालानि ते वक्त्राणि विशन्ति प्रविशन्ति तत्र केचिद्योधमुख्याश्चूर्णितैः चूर्णीकृतैरुत्तमाङ्गैः शिरोभिरुपलक्षिताः सन्तो दशनान्तरेषु दन्तविवरेषु संदृश्यन्ते ॥ २७ ॥

'यच्चाऽन्यद् द्रष्टुमिच्छसि' इत्यादिसे जो यह कहा था कि अपना जय और दूसरोंका पराजय देखोगे, उसे भी यहीं देखकर कहते हैं—**'अमी च'** इत्यादि चार श्लोकोंसे ।

सब पदोंके साथ चकारका सम्बन्ध है । ये—आगे दिखाई देनेवाले—धृतराष्ट्रके पुत्र दुर्योधन आदि सब अवनिपालोंके सहित ही आपमें प्रवेश करते हैं । 'विश्' धातुका यहां भी सम्बन्ध है । भीष्म, द्रोण तथा यह सूतपुत्र कर्ण, हमारे मुख्य योद्धा द्रुपद, धृष्टद्युम्न आदिके सहित [प्रवेश करते हैं] ॥ २६ ॥

'वक्त्राणि' इत्यादि । द्रुत गतिसे युक्त होकर वे भयानक--भयङ्कर—कराल दाँतवाले आपके मुखोंमें प्रवेश करते हैं। उनमें कई मुख्य योद्धा चूर्णित हुए उत्तमाङ्गोंसे--सिरोंसे—उपलक्षित होकर दशनोंके अन्तरमें--दांतोंके विवरोंमें—दिखलाई पड़ते हैं ॥ २७ ॥

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवाऽपि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥ २९ ॥
लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान् समग्रान् वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥ ३० ॥

जैसे पतङ्ग अपने विनाशके लिए बड़े वेगसे प्रदीप्त अग्निमें प्रवेश करते हैं, वैसे ही लोग अपने विनाशके लिए बड़े वेगसे आपके मुँहोंमें प्रवेश कर रहे हैं ॥२९॥

हे भगवन्, चारों ओरसे प्रविष्ट हो रहे सम्पूर्ण शत्रुजनोंको भीतर निगल रहे आप जाज्वल्यमान जिह्वाओंसे ओठ चाट रहे हैं। आपकी प्रचण्ड दीप्ति अपने प्रकाशसे सम्पूर्ण विश्वको व्याप्तकर ग्रीष्मके सूर्यके समान ताप कर रही है ॥ ३० ॥

पुनरपि तेषां भगवद्वक्त्रप्रवेशनमेव सदृष्टान्तं प्रतिपादयति—**यथेति** ।

नरलोके मर्त्यलोके वीराः शूरा नरलोकवीरा भीष्मादयः । शिष्टः स्पष्टार्थः ॥२८॥

किमर्थं वक्त्राणि प्रविशन्तीत्याकाङ्क्षायां प्रवेशनप्रयोजनं सदृष्टान्तमुपपादयति—**यथेति** ।

समृद्धवेगाः प्रचण्डवेगाः । पतङ्गाः शलभाः । लोकाः शत्रुजनाः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ २९ ॥

एवं प्रवेशनप्रयोजनमुक्त्वा तद्दशायां परमेश्वरस्य कृत्यमाह—**लेलिह्यस इति** ।

ज्वलद्भिर्बहिः प्रवर्ग्याग्निवज्जाज्वल्यमानैर्वदनैः समन्तात्सर्वतः प्रविष्टान् समग्रानशेषान् लोकान् शत्रुजनान् ग्रसमानोऽन्तर्गिलन् सन् त्वं च जिह्वाभिर्लेलिह्यसे तालुलेहनं करोषि । हे विष्णो, तेजोभिः स्वप्रकाशैः समग्रं सर्वं जगदापूर्य व्याप्य तवोग्राः प्रचण्डा भासो दीप्तयः प्रतपन्ति ग्रीष्मार्कवत्तापं कुर्वन्ति ॥ ३० ॥

फिर भी भगवत्के मुखमें उनके प्रवेशको ही, दृष्टान्तसहित कहते हैं—**'यथा'** इत्यादिसे ।

नरलोक—मनुष्यलोक—में वीर यानी शूर नरलोकवीर भीष्म आदि । शेष स्पष्ट है ॥ २८ ॥

किसलिए मुखमें प्रवेश करते हैं, ऐसी आकांक्षा होनेपर प्रवेश करनेका प्रयोजन दृष्टान्तसहित कहते हैं—**'यथा'** इत्यादिसे ।

समृद्धवेग प्रचण्ड वेगवाले । पतङ्ग यानी शलभ । लोक यानी शत्रुजन । शेष स्पष्ट है ॥२९॥

इस प्रकार प्रवेशनका प्रयोजन कहकर उस दशामें परमेश्वरके कृत्यको कहते हैं—**'लेलिह्यसे'** इत्यादिसे ।

जलते हुए प्रवर्ग्याग्निके—अनेक यज्ञाङ्गपात्रोंमें प्रज्वलित अग्निके—समान बाहर जाज्वल्यमान मुखोंसे सब तरफसे प्रविष्ट समग्र—अशेष—लोकोंको यानी शत्रुजनोंको ग्रसते हुए—निगलते हुए—आप जिह्वाओंसे लेहन करते हैं यानी ओठ चाटते हैं । हे विष्णो, तेजोंसे—अपने

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं नहि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥३१॥

हे देववर, आपको प्रणाम है, उग्ररूपधारी आप कौन हैं ? यह बतलाइए। आप अपनी उग्रताका त्याग कर प्रसन्न होइए। आदिभूत आपको मैं जानना चाहता हूँ, क्योंकि मैं आपकी प्रवृत्तिको नहीं जानता हूँ ॥ ३१ ॥

यस्मात्कल्पान्ते प्राणिनः कालान्तक इव महाशूरानपि प्रज्वलद्वदनैर्गिलसि। विचार्यमाणे महाद्भुतं तव कृत्यं तस्मात् को भवानिति पृच्छन्तं मां तव स्वरूपं ब्रूहीत्याह—**आख्याहीति।**

हे देववर देवताश्रेष्ठ, ते नमोऽस्तु त्वां नमस्कृत्य पृच्छामि। प्रसीद औग्र्यं त्यक्त्वा प्रसन्नो भव। उग्ररूपः उग्रस्य प्रलयकालरुद्रस्य रूपमिव रूपमाकारो यस्य। यद्वा उग्रं सर्वलोकभयङ्करं रूपं यस्य स उग्ररूपः। को भवान् प्रलयकालरुद्रो वा प्रलयाग्निर्वा महामृत्युर्वा कालान्तको वा परमपुरुषो वाऽन्यो वा तव स्वरूपं प्रवृत्तिं च मे मह्यमाख्याहि कथय। आ समन्तादत्तुं प्रवृत्त आद्यः। यद्वा आदौ भव आद्यस्तं जगतः संहारकर्तृणामग्रेसरं जगदाद्यमीश्वरं वा भवन्तं विज्ञातुमिच्छामि कथयेत्यर्थः। ननु मदीयं स्वरूपं मच्चेष्टादर्शनेनैव ज्ञातुं शक्यते को भवानिति कोऽयं प्रश्न

प्रकाशोंसे—समग्र—सम्पूर्ण—जगत्को पूर्ण करके—व्याप्त करके—आपकी उग्र—प्रचण्ड—दीप्तियां तपती हैं यानी ग्रीष्मके सूर्यके समान ताप करती हैं ॥ ३० ॥

यतः कल्पान्तमें प्राणियोंको कालान्तकके समान महाशूरोंको भी प्रज्वलित मुखोंसे आप निगलते हैं, विचारनेपर आपका यह कृत्य महा अद्भुत है, इसलिए आप कौन हैं, ऐसे पूछनेवाले मुझसे आप अपने स्वरूपको कहिए, ऐसा कहते हैं—**'आख्याहि'** इत्यादिसे।

हे देववर यानी देवताओंमें श्रेष्ठ, आपको नमस्कार है, आपको नमस्कार करके मैं पूछता हूँ। प्रसीद—उग्रताका त्यागकर आप प्रसन्न होइए। उग्ररूप (उग्रके—प्रलयकालके रुद्रके—रूपके समान जिसका रूप यानी आकार है, वह उग्ररूप है, अथवा उग्र यानी सब लोकोंको भय देनेवाला जिसका स्वरूप है, वह उग्ररूप है) आप कौन हैं ? प्रलयकालके रुद्र हैं या प्रलयाग्नि हैं या महामृत्यु हैं या कालान्तक हैं या परमपुरुष हैं या अन्य हैं ? अपने स्वरूपको और अपनी प्रवृत्तिको आप मुझसे कहिये। आद्य (सब ओरसे खानेके लिए जो प्रवृत्त है, वह आद्य है अथवा आदिमें उत्पन्न आद्य है) यानी जगत्का संहार करनेवालोंमें अग्रसर अथवा जगत्के आद्य ईश्वर-स्वरूप आपको मैं जानना चाहता हूँ, कहिये, यह अर्थ है। यदि शङ्का हो कि मेरे स्वरूप और मेरी चेष्टाको देखकर तुम जान सकते हो कि मैं कौन हूँ, फिर 'को भवान्' (आप कौन है ?) यह प्रश्न निरर्थक है, तो इसपर कहते हैं—**'नहि'** इत्यादि। जिस कारणसे

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥३२॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—हे अर्जुन, मैं भूमिके भारभूत जितने प्राणी हैं, उनका विनाश करनेवाला प्रचण्ड काल हूँ, यहाँ इकट्ठे हुए जनोंके विनाशके लिए प्रवृत्त हुआ हूँ, प्रतिपक्षकी सेनाओंमें अवस्थित दुर्जय भीष्म आदि सभी तुम्हारी प्रवृत्ति न होनेपर भी जीवित नहीं रहेंगे ॥ ३२ ॥

इत्यत आह—**नहीति** । हि यस्मादहं मनुष्यः किञ्चिज्ज्ञश्च तस्मात्तव प्रवृत्तिं न प्रजानाम्यतस्त्वमेव ब्रूहीत्यर्थः ॥ ३१ ॥

स्वं स्वप्रवृत्तिं चाऽऽख्यातुं श्रीभगवानुवाच—**कालोऽस्मीति** ।

लोकक्षयकृल्लोकानां भूमेर्भारायमाणानां प्राणिनां क्षयं नाशनं करोतीति लोकक्षयकृत्प्रवृद्धः प्रचण्डः कालोऽस्मि । सर्वप्राणिसंहारहेतुः कालोऽहमित्यर्थः । इति स्वं ख्यापयित्वा स्वप्रवृत्तिमाह—**लोकानिति** । इहाऽत्र समवेतान् लोकान् जनान् समाहर्तुं प्रवृत्तोऽस्मि । ननु लोकसंहारार्थं प्रवृत्तेन त्वया मां विना संहारः कर्तुं न शक्य इत्यत आह—**ऋतेऽपीति** । प्रत्यनीकेषु प्रतिपक्षसेनास्ववस्थिताः सज्जीभूय वर्तमानास्तव दुर्जया भीष्मद्रोणकर्णादयस्ते च सर्वे त्वामृतेऽपि त्वत्प्रवृत्त्यभावेऽपि न भविष्यन्ति न स्थास्यन्ति । मयि महामृत्यौ समुपस्थिते के नु जीविष्यन्ति । सर्वेऽपि म्रियन्त इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

मैं मनुष्य हूँ और अल्पज्ञ हूँ, इसलिए आपकी प्रवृत्तिको नहीं जान सकता, इसलिए आप ही कहिये, यह अर्थ है ॥ ३१ ॥

अपने स्वरूपको और अपनी प्रवृत्तिको कहनेके लिए श्रीभगवान् बोले—**'कालोऽस्मि'** इत्यादिसे ।

मैं लोकक्षयकृत् (लोकोंका—भूमिके भाररूप प्राणियोंका जो क्षय—नाश—करता है, वह लोकक्षयकृत् है) यानी लोगोंका विनाशकर्ता प्रवृद्ध—प्रचण्ड—काल हूँ, सब प्राणियोंके संहारका हेतु काल मैं हूँ, यह अर्थ है । इससे अपने स्वरूप कहकर अपनी प्रवृत्तिको कहते हैं—**'लोकान्'** इत्यादि । यहाँ एकत्र हुए लोकोंका—जनोंका—संहार करनेके लिए प्रवृत्त हूँ । शङ्का—लोकोंके संहारके लिए प्रवृत्त हुए आपसे मेरे बिना संहार नहीं किया जा सकता, इसपर कहते हैं—**ऋतेऽपीति** । प्रत्यनीकमें—प्रतिपक्षकी सेनाओंमें—स्थित—तैयार होकर वर्तमान—तुम्हारे लिए दुर्जय भीष्म, द्रोण, कर्ण और वे सब तुम्हारे बिना भी—तुम्हारी प्रवृत्ति न होनेपर भी—नहीं होंगे—स्थित नहीं रहेंगे । मुझ महामृत्युके उपस्थित होनेपर कौन जीयेंगे । सभी मर जायँगे, यह अर्थ है ॥ ३२ ॥

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥ ३३ ॥

इसलिए हे सव्यसाचिन् ! उठो, यश प्राप्त कर और शत्रुओंको जीतकर ऐश्वर्यपूर्ण राज्यका उपभोग करो, कालस्वरूप मैंने इन सबको पहले ही विनष्ट कर दिया है, इसलिए तुम केवल निमित्तमात्र होओ ॥ ३३ ॥

एवं स्वं स्वप्रवृत्तिं चोक्त्वा फलितमाह—**तस्मादिति** ।

महामृत्युना मयैव सर्वेष्वेतेषु म्रियमाणेषु सत्सु न योत्स्य इति तव प्रवृत्त्यभावो निष्फलो यस्मात्तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ युद्धाय सन्नद्धो भव । यशो लभस्व देवानामप्यजय्यान् भीष्मादीनर्जुनो जितवानिति कीर्तिमाप्नुहि । शत्रून् दुर्योधनादीन् जित्वा शत्रुजयेन लब्धं समृद्धं सर्वैश्वर्यसंपन्नं राज्यं भुङ्क्ष्व । भीष्मादिष्वतिरथेषु सत्सु शत्रुजयो दुर्लभ एवेत्यर्जुनस्याऽऽशङ्कां निःशेषयितुमाह—**मयैवेति** । यद्यपि शस्त्रास्त्रबलपराक्रमसंपत्त्या भीष्मादयो दुर्जया एव तथाप्येते त्वत्प्रवृत्तेः पूर्वं मयैवेश्वरेण तेजोबलपौरुषमाकृष्य निःसारतां गमयित्वा निहताः जीर्णपर्णवत् पतनोन्मुखीकृता भवन्तीत्यर्थः । सव्येन वामहस्तेन शरान् सन्धितुं प्रयोक्तुं शीलमस्याऽस्तीति सव्यसाची तस्य संबुद्धौ हे सव्यसाचिन् पर्णपातने वायुवत्तेषां पातने त्वं निमित्तमात्रं भव । न तत्र तव प्रयत्नविशेषोऽस्तीत्यर्थः ॥ ३३ ॥

इस प्रकार अपने स्वरूपको और अपनी प्रवृत्तिको कहकर फलित कहते हैं—**'तस्मात्'** इत्यादिसे ।

महामृत्युरूप मेरे द्वारा ही ये सब मारे जायँगे, ऐसी अवस्थामें 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' इस प्रकार तुम्हारी युद्धमें प्रवृत्तिका न होना निरर्थक है, इसलिए युद्धके लिए खड़े हो जाओ—तैयार होओ । यश प्राप्त करो यानी देवता आदिसे भी न जीते जानेवाले भीष्म आदिको अर्जुनने जीत लिया, इस प्रकारकी कीर्तिको प्राप्त करो, दुर्योधन आदि शत्रुओंको जीतकर शत्रुओंके जयसे प्राप्त हुए समृद्ध—सम्पूर्ण ऐश्वर्यसे सम्पन्न—राज्यका उपभोग करो । भीष्म आदि अतिरथियोंके रहते शत्रुओंका जीतना दुर्लभ ही है, अर्जुनकी इस शङ्काको दूर करनेके लिए कहते हैं—**मयैवेति** । यद्यपि शस्त्र, अस्त्र, बल और पराक्रमकी सम्पत्तिसे भीष्म आदिके ऊपर विजय पाना कठिन है, तथापि तुम्हारी प्रवृत्तिके पहले ही मैंने (ईश्वरने) तेज, बल और पौरुषको खींचकर इन्हें निस्सार कर मार दिया है। पुराने पत्तेके समान पतनके लिए इन्हें तैयार कर दिया है, यह अर्थ है। सव्य—बायें हाथ—से बाणोंका प्रयोग करनेका जिसका शील है, वह सव्यसाची है, उसकी सम्बुद्धि है—हे सव्यसाचिन्, पत्तेके गिरानेमें जैसे वायु निमित्त है, वैसे ही उनके गिरानेमें तुम निमित्त हो जाओ । उसमें तुम्हारा प्रयत्नविशेष नहीं है, यह अर्थ है ॥ ३३ ॥

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथाऽन्यानपि योधवीरान् ।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेताऽसि रणे सपत्नान् ॥३४॥

हे अर्जुन, तुम द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण तथा अन्य वीर योद्धाओंका भी, जो मेरे द्वारा पहले ही मारे जा चुके हैं, विनाश करो । चिन्ता मत करो, किन्तु युद्ध करो । अवश्य रणमें शत्रुओंको जीतोगे ॥ ३४ ॥

उक्तमेवाऽर्थं निर्विचिकित्सत्वाय विस्पष्टयति—**द्रोणमिति ।**

द्रोणं भीष्मं कर्णं जयद्रथं च तथाऽन्यानपि भगदत्तसौमदत्त्यादींश्च योधवीरान् मया तेजोबलपौरुषाकर्षणेन हतान् हतप्रायांस्त्वं जहि बाणैः पातय । तत्र मा व्यथिष्ठाः द्रोणो दिव्यास्त्रसंपन्न इति, तथाविधः स्वच्छन्दमरणो भीष्म इति वा, सर्ववीर्यशक्तियुक्तः कर्णो दुर्जय इति, पितृवरेणाऽवध्यः सैन्धव इति चेतसीषदपि व्यथां मा कुरु, किन्तु मदनुग्रहेण रणे सपत्नान् दुर्योधनादीन् शत्रून् जेताऽसि जेष्यस्यत्र न संशयः । यस्मादेवं तस्माद्युध्यस्वेति नाऽत्र विधिः, किन्तु मुक्तेः कारणं ज्ञानं तत्कारणं च चित्तशुद्धिस्तत्कारणं स्वधर्मानुष्ठितिरिति सूचयन्निव वक्ति—**युध्यस्वेति ।** मुमुक्षुस्त्वं स्वधर्ममनुवर्तस्वेति तात्पर्यार्थः । एतेन भक्त्या समाराधितः परमेश्वरः स्वभक्तानां दुर्लभमपि कार्यं सुलभं करोतीति सूचितं भवतीत्यर्थः ॥ ३४ ॥

प्रवृत्तमर्थं सर्वं धृतराष्ट्राय सञ्जय उवाच—**एतदिति ।**

सन्देह-निवृत्तिके लिए उक्त अर्थको ही विशेषरूपसे स्पष्ट करते हैं—**'द्रोणम्'** इत्यादिसे ।

द्रोण, भीष्म, कर्ण और जयद्रथ तथा भगदत्त, सौमदत्ति आदि अन्यान्य वीर योद्धाओंको, जो तेज, बल और पौरुषके खींच लेनेके कारण मेरे द्वारा मारे गये हैं यानी हतप्राय हैं, तुम मार दो—बाणोंसे गिरा दो । उसमें व्यथित मत होओ—द्रोण दिव्य अस्त्रोंसे सम्पन्न हैं, दिव्यास्त्रसम्पन्न भीष्म स्वच्छन्द मरणवाले हैं, कर्ण सम्पूर्ण वीर्य-शक्तिसे पूर्ण है और सैंधव पिताके वरदानसे अवध्य है, यों किसी प्रकारकी भी व्यथा मत करो, किन्तु तुम मेरे अनुग्रहसे रणमें सपत्नोंको—दुर्योधन आदि शत्रुओंको—जीतोगे, इस विषयमें संशय मत करो । जिस कारणसे ऐसा है, इसलिए 'युद्ध करो' यह प्रकृतमें विधि नहीं है, किन्तु मुक्तिका कारण ज्ञान है, ज्ञानका कारण चित्तशुद्धि है और उसका कारण स्वधर्मका अनुष्ठान है, ऐसा सूचन कर रहे-से कहते हैं—**युद्ध्यस्वेति ।** मुमुक्षुरूप तुम अपने धर्ममें प्रवृत्त होओ, ऐसा तात्पर्य है । इससे ऐसा सूचित होता है कि भक्तिसे आराधित परमेश्वर अपने भक्तोंके दुर्लभ कार्यको भी सुलभ कर देते हैं ॥ ३४ ॥

प्रवृत्त सम्पूर्ण अर्थ (वार्ता) धृतराष्ट्रके प्रति सञ्जयने कहा—**'एतद्'** इत्यादिसे ।

सञ्जय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाऽऽह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥ ३५ ॥

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः ॥ ३६ ॥

सञ्जयने कहा—भय और भक्तिसे कांप रहे कृताञ्जलि अर्जुनने भगवान्‌के इन वचनोंको सुनकर, हाथोंसे नमस्कार कर, भूमिमें साष्टाङ्ग प्रणाम कर तथा गद्गद और भयभीत होकर भगवान् कृष्णसे फिर कहा ॥ ३५ ॥

अर्जुनने कहा—हे हृषीकेश, आपके कीर्तनसे जो जगत् सन्तुष्ट और अनुरक्त होता है, वह युक्त ही है, जो भयभीत राक्षस इधर-उधर भागते हैं और जो अनेक देवता आदि आपको प्रणाम करते हैं, वह भी युक्त ही है ॥ ३६ ॥

किरीट्यर्जुनो भयभक्तिभ्यां वेपमानः कम्पमानः सन् कृताञ्जलिर्भूत्वा केशवस्यैतदुक्तप्रकारकं वचनं श्रुत्वा हस्ताभ्यां नमस्कृत्वा साष्टाङ्गं च भूमौ प्रणम्य सगद्गदं हर्षातिशयेनाऽऽनन्दाश्रुजलवेगेन च कुण्ठितकण्ठध्वनि यथा तथा भीतभीतोऽत्यन्तभययुक्तः सन् भूय एवेदं वचनं कृष्णमाह ॥ ३५ ॥

स्थाने इति । हे हृषीकेश, तव प्रकीर्त्या त्वन्महत्त्वकीर्तनेन श्रुतेन सर्वं जगत् प्रहृष्यति प्रकृष्टं हर्षं वहतीति यत्तत् स्थाने युक्तम्, तव सर्वजगद्धर्षविषयत्वमित्यर्थः । तव प्रकीर्त्या जगत्त्वय्यनुरज्यते अनुरागं चोपैतीति यत्तत् स्थाने युक्तम्, तव तदनुरक्तिविषयत्वमित्यर्थः । तव प्रकीर्त्या भीतानि रक्षांसि दिशो द्रवन्तीति यत्तत् स्थाने युक्तम्,

---

भय और भक्तिसे वेपमान—काँप रहे—और कृताञ्जलि (हाथ जोड़े हुए) अर्जुनने केशव द्वारा कहे गये उक्त वचनको सुनकर हाथोंसे नमस्कार कर और पृथिवीपर साष्टाङ्ग प्रणाम कर, सगद्गद—अतिशय हर्षसे और आनन्दके अश्रुओंके जलके वेगसे कुण्ठित-कण्ठध्वनि—होकर तथा भयसे भीत—अत्यन्त भययुक्त—होकर फिर भी यह वचन कृष्णसे कहा—**'स्थाने'** इत्यादिसे ।

हे हृषीकेश, आपकी प्रकीर्तिसे—आपके महत्त्वके कीर्तन और श्रवणसे जो सब जगत् अत्यन्त हर्षको प्राप्त होता है, वह स्थाने यानी युक्त ही है, आप सब जगत्‌के हर्षके विषय हैं, यह अर्थ है । आपकी प्रकीर्तिसे जगत् आपमें जो अनुरागको प्राप्त होता है, वह भी युक्त है । आप उसके अनुरागके विषय हैं, यह अर्थ है । आपकी प्रकीर्तिसे भयभीत होकर राक्षस जो दिशाओंमें यत्र-तत्र भागते हैं, वह भी युक्त है, आप राक्षसोंके पलायनके हेतु हैं, यह अर्थ है । सिद्धसङ्घ

तव रक्षःपलायनहेतुत्वमित्यर्थः। सिद्धसङ्घाः सिद्धानां देवताविशेषाणां सङ्घास्त्वां नमस्यन्तीति यत्तत् स्थाने युक्तम्, तव सर्वदेवनमस्कारविषयत्वमित्यर्थः। यद्वा हे हृषीकेश, 'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धो लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः' इति भूमेर्भारायमाणसर्वदुष्टलोकसंहारार्थं प्रवृत्तोऽस्मीत्युक्तलक्षणया तव प्रकीर्त्या प्रकृष्टवचनेन श्रुतेन जगत्साधुलोकः प्रहृष्यति सन्तोषमुपैतीति यत्तत् स्थाने युक्तम्। सर्वेश्वरेण सर्वलोकत्राणपरायणेन भवता सर्वदुष्टसंहारे क्रियमाणे साधूनां प्रहर्षणं युक्तमेवेत्यर्थः। तव प्रकीर्त्या जगत् साधुलोकस्त्वयि भक्तवत्सले सर्वभूतसुहृदि परमात्मन्यनुरज्यते अनुरागं वहतीति यत्तत् स्थाने युक्तम्। लोकोपद्रवनिवारणोद्युक्ते परमकृपालौ परमेश्वरे त्वयि साधूनामनुरागजननं युक्तमेवेत्यर्थः। तव प्रकीर्त्या दुष्टान् संहर्तुं प्रवृत्तोऽस्मीति तव प्रकृष्टवचनेन श्रुतेन रक्षांसि भीतानि राक्षसाः सर्वे भीताः सन्तो दिशो द्रवन्ति दिक्कोणान् प्रति पलायन्ते। तव प्रकीर्त्या सर्वलोकसुखकाङ्क्षिणः सिद्धसङ्घाः सर्वे त्वां नमस्यन्ति। सिद्धा इति देवजात्युपलक्षणम्। देवऋषिसिद्धगन्धर्वचारणादयः सर्वे स्वामिन्, तत्तथैव कर्तव्यमिति प्रार्थनापूर्वकं त्वां प्रणमन्तीत्यर्थः॥ ३६॥

भगवतः सर्वदेवनमस्कार्यत्वे हेतून् वदन् काका सर्वनमस्कार्यत्वमापादयति—**कस्मादिति।**

यानी सिद्धोंके—देवताविशेषोंके—समूह आपको जो नमस्कार करते हैं, वह युक्त है। आप सब देवोंके नमस्कारके विषय हैं, यह अर्थ है। अथवा हे हृषीकेश, 'लोगोंका क्षय करनेवाला मैं प्रचण्ड काल हूँ, लोगोंका संहार करनेके लिए मैं यहाँ प्रवृत्त हुआ हूँ' इत्यर्थक पूर्व श्लोकसे उक्त भूमिके भाररूप सब दुष्ट लोगोंके संहारके लिए मैं प्रवृत्त हुआ हूँ, इस प्रकारकी आपकी प्रकीर्तिसे—सुने गये प्रकृष्ट वचनसे—जो जगत्—साधुलोक—हर्ष करता है, यानी सन्तोषको प्राप्त होता है, वह स्थाने—युक्त—है। सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वर, सब लोकोंके रक्षणमें परायण आपके द्वारा सब दुष्टोंका संहार हो जानेपर साधुओंको प्रसन्न होना युक्त ही है, यह अर्थ है। आपकी प्रकीर्तिसे जगत्—साधुलोक—भक्तवत्सल सब भूतोंके सुहृद् आप परमात्मामें जो अनुराग करते हैं, वह युक्त है। लोगोंके उपद्रवके निवारणमें तत्पर, कृपालु परमेश्वररूप आपमें साधुओंका अनुराग होना युक्त ही है, यह अर्थ है। आपकी प्रकीर्तिसे—दुष्टोंका संहार करनेके लिए मैं प्रवृत्त हूँ आपके इस प्रकृष्ट वचनके सुननेसे—राक्षस भीत होकर इधर-उधर दिशाओंमें भाग जाते हैं—दिशाओंके कोनोंमें भाग जाते हैं। आपकी प्रकीर्तिसे सब लोकोंके सुखकी आकांक्षावाले सम्पूर्ण सिद्धसङ्घ आपको नमस्कार करते हैं। सिद्ध, यह देवजातिका भी उपलक्षण है। देव, ऋषि, सिद्ध, गन्धर्व, चारण आदि सब 'हे स्वामिन्, इसे आपने जैसा कहा वैसा ही करना चाहिए', यों प्रार्थनापूर्वक आपको नमस्कार करते हैं, यह अर्थ है॥ ३६॥

भगवान् सब देवताओंके नमस्कारके भाजन हैं, इसमें हेतु कहते हुए काकुसे (कण्ठकी एक प्रकारकी विकृत ध्वनिसे) भगवान् सबके वन्दनीय हैं, ऐसा प्रतिपादन करते हैं—**'कस्मात्'** इत्यादिसे।

कस्माच्च ते न नमेरन् महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥ ३७ ॥

हे महात्मन्, सर्वश्रेष्ठ और ब्रह्माके भी उत्पादक तथा नियामक आपको सिद्ध आदि देवता क्यों न नमस्कार करें अर्थात् अवश्य नमस्कार करेंगे। हे अनन्त, हे देवेश, हे जगत्‌के निधान, आप ही व्यक्त और अव्यक्त स्वरूप हैं और आप ही सच्चिदानन्दस्वरूप अक्षर ब्रह्म हैं ॥ ३७ ॥

चकारस्त्वर्थः । महान्महत्तरः सर्वोत्कृष्ट आत्मा स्वभावो यस्य स हे महात्मन्, ते तुभ्यं सिद्धादयः सर्वे देवाः कस्मात्तु हेतोर्न नमेरन् केन हेतुना त्वां न नमेयुः । सर्वप्रकारैर्विचार्यमाणे त्वामेव नमस्करिष्यन्तीत्यर्थः । नन्वहमपि लोकसाधारणः केन विशेषेण मह्यं नमस्कुर्युरित्याशङ्कायाम्, न; ज्ञानैश्वर्यबलवीर्यतेजःशक्तिविशेषैः परमार्थतश्च भवानेव सर्वोत्तमः सर्वनमस्कार्य इति । सर्वनमस्कार्यत्वे हेतूनाह—**गरीयसे** इत्यादिना । गरीयसे ज्ञानादिभिरुक्तैर्विशेषैर्यः सर्वोत्तमः सर्वगरीयान् तस्मै गरीयसे गुरुतराय । ज्ञानादिभिः सर्वेभ्यो गरीयस्त्वादित्यर्थः । किञ्च, ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्य सर्वभूतपतेरपि सर्वाराध्यस्याऽऽदिकर्त्रे आदिर्जनिकारणं कर्ता नियामकः स चाऽसौ कर्ता च तस्मै। तस्याऽपि स्रष्टृत्वादीश्वरत्वाच्च तव सर्वनमस्कार्यत्वे किं वक्तव्यमित्यर्थः। पुनरपि हेत्वन्तराण्याह—**अनन्तेति**। हे अनन्त देवेश जगन्निवासेति। अनन्तत्वाद्देवानामीश्वरत्वाज्जगन्निवासत्वाच्च सर्वदेवनमस्कार्योऽसीत्यर्थः 'अनन्तश्चाऽऽत्मा' इति

चकार 'तु' के अर्थमें है । महान्--महत्तर--, सर्वोत्कृष्ट आत्मा--स्वभाव--जिसका है वह महात्मा है, हे महात्मन्, क्या कारण है कि सिद्ध आदि सब देवता आपको नमस्कार न करें, अर्थात् सब प्रकारसे विचार करनेपर आपको ही वे नमस्कार करेंगे, यह तात्पर्य है । मैं भी लोकवत् साधारण ही हूँ, फिर मुझमें ऐसा क्या वैलक्षण्य है, जिससे मुझको वे नमस्कार करेंगे, ऐसी आशङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि ज्ञान, ऐश्वर्य, बल, वीर्य, तेज और शक्तिविशेषोंसे तथा परमार्थरूपसे सर्वोत्तम होनेके कारण आप ही सबके नमस्कारके भाजन हैं । उसकी सर्वनमस्कार्यतामें अर्जुन हेतु कहते हैं--**'गरीयसे'** इत्यादिसे । ज्ञान आदि उक्त विशेषोंसे जो सर्वोत्तम है, वह सर्वगरीयान् यानी ज्ञान आदिसे सबकी अपेक्षा श्रेष्ठ होनेके कारण गुरुतर, यह अर्थ है । किञ्च, ब्रह्माके भी आदि कर्ता (ब्रह्माके--हिरण्यगर्भके—यानी सब भूतोंके पति सबके आराध्यके भी आदिकर्त्ता—आदि--जन्मका कारण—कर्ता यानी नियामक, जो आदि होकर कर्ता है, वह आदिकर्ता है)। जब आप उसके भी (ब्रह्माके) स्रष्टा और ईश्वर हैं, तब आपकी सर्ववन्दनीयतामें क्या कहना है, यह अर्थ है । फिर भी दूसरे हेतुओंको कहते हैं—**अनन्तेति** । हे अनन्त, हे देवेश, हे जगन्निवास । अनन्त होने, देवताओंके ईश्वर होने तथा जगन्निवास होनेके कारण सब देवोंके प्रणम्य आप हैं, यह अर्थ

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्ताऽसि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥ ३८ ॥

हे अनन्तरूप, आप ही आदिदेव और सनातन पूर्ण पुरुष हैं, आप ही इस समग्र विश्वके परम आधार है । भगवन्, आप ही वेत्ता, वेद्य और अद्वितीय परब्रह्म हैं, आपने ही इस विश्वको व्याप्त किया है ॥ ३८ ॥

देवानामधिपो यस्मिँल्लोका अधिश्रिताः' इति श्रुतेः । ननु ममाऽनन्तत्वं न संभवति, जगत्तत्कारणाभ्यां व्यवधानादित्याशङ्कायामाह—**सदसदिति** । नामरूपाभ्यामस्तीति यन्निर्दिश्यते तत्सत्कार्यं जगत्, तद्विलक्षणमसज्जगत्कारणमव्याकृतं तदुभयं सदसच्च त्वमेव, 'सर्वं ह्येतद् ब्रह्म' इति श्रुतेः । ननु सदसद्रूपत्वेऽपि ममाऽनन्तत्वं न संभवति, परेण ब्रह्मणा व्यवधानादित्यत आह—**त्वमक्षरमिति** । तत्परं तयोर्जगदव्याकृतयोः कार्यकारणयोर्नित्यत्वेन सच्चिदानन्दरूपत्वेन निरतिशयमहत्त्वेनाऽतिसूक्ष्मत्वेन परं विलक्षणं कारणं च 'यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वा' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धं यदक्षरं कदाऽपि केनाऽपि कथञ्चिदपि न क्षरतीत्यक्षरं नित्यकूटस्थं सच्चिदानन्दैकरसमद्वितीयं निर्विशेषं तत्परं ब्रह्म त्वमेव त्वत्तो नाऽन्यत्ततोऽनन्तत्वं सिद्धम्, 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति श्रुतेः । यत एवं ततः सर्वदेवनमस्कार्यत्वं तव युक्तमिति तात्पर्यार्थः ॥ ३७ ॥

'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' इत्यादिश्रुत्यर्थावष्टम्भेन सविशेषं निर्विशेषं च सर्वं त्वमेवेति भगवतः सार्वात्म्यं प्रतिपादयति—**त्वमिति** ।

है, क्योंकि 'आत्मा अनन्त है' और 'जो देवोंका अधिपति है, जिसमें लोक अधिष्ठित हैं' ऐसी श्रुति है । मेरी अनन्तताका सम्भव नहीं है, क्योंकि जगत् और उसके कारणोंसे व्यवधान है, ऐसी आशङ्का होनेपर कहते हैं—**सदसदिति** । नाम और रूपसे जो कहनेमें आता है, वह सत् यानी कार्य जगत् है और उससे विलक्षण असत् यानी जगत्का कारण अव्याकृत है, वे दोनों सत् और असत् आप ही हैं, क्योंकि 'सब ही यह ब्रह्म है' ऐसी श्रुति है । सदसत्-रूप होनेपर भी मेरी अनन्तता नहीं हो सकती, क्योंकि परब्रह्मसे व्यवधान है, इसपर कहते हैं—**'त्वमक्षरम्' इति** । तत्पर(उन दोनोंकी—जगत् और अव्याकृत रूप कार्यकारणकी—अपेक्षा नित्य होने, सच्चिदानन्दरूप होने, निरतिशय महान् होने तथा अतिसूक्ष्म होनेसे पर—विलक्षण और उनका कारण—) 'हे गार्गि, जो निश्चय इस अक्षरको न जानकर' इत्यादि श्रुतिप्रसिद्ध जो अक्षर (कभी भी, किसीसे भी और किसी प्रकार भी जो नष्ट नहीं होता, वह अक्षर है) नित्य कूटस्थ, सच्चिदानन्दैकरस, अद्वितीय, निर्विशेष है, वह परब्रह्म आप ही हैं, आपसे अन्य नहीं है, इससे अनन्तत्व सिद्ध हुआ, क्योंकि 'सत्य, ज्ञान, अनन्त ब्रह्म है' ऐसी श्रुति है । जिस कारणसे ऐसा है, इसलिए सब देवताओंके वन्दनीय होनेकी आपमें योग्यता है, ऐसा तात्पर्यार्थ है ॥ ३७ ॥

'ब्रह्म ही यह सब है' इत्यादि श्रुतियोंके अर्थके आधारपर सविशेष और निर्विशेष सब आप ही हैं, ऐसा भगवान्की सर्वात्मताका प्रतिपादन करते हैं—**'त्वम्'** इत्यादिसे ।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥३९॥

वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्रजापति और प्रपितामह आप ही हैं, आपको हजार बार नमस्कार हैं, फिर-फिर अनेक नमस्कार हैं ॥ ३९ ॥

पूर्णत्वात्पुरुषः । स्वयं निर्विकारत्वात् पुराणः सनातनः । आदिदेवः जगत्कारणत्वादादिः स्वयमेव दीव्यत इति देवः। आदिश्चाऽसौ देवश्चाऽऽदिदेवः सृष्ट्यादिकर्ता मायोपाधिकः परमेश्वरस्त्वमेवाऽस्य परिदृश्यमानस्य विश्वस्य निधानम् । मृदि घटादय इव जले तरङ्गादय इव यत्र महदादयो विकाराः सर्वे निधीयन्ते तन्निधानं जगद्बीजं माया च त्वमेवाऽसि। बुद्धिं तद्विकारानहङ्कारममकारादीन् साक्षादव्यवधानेन सर्वदा यो वेत्ति जानाति स वेत्ता सर्वसाक्षी प्रत्यगात्माऽपि त्वमेवाऽसि । तद्वेद्यं बुद्धितद्विकारादिसर्वदृश्यजातं त्वमेवाऽसि । किञ्च, परं सर्वदृश्यविलक्षणतया सर्वमहत्तमं मायातत्कार्यलेशसंबन्धशून्यं जीवेशजगदाभासकल्पनाधिष्ठानं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं निर्विशेषं निराभासं नित्यानन्दैकरसमद्वितीयं यत्तुरीयं परं धाम परं ज्योतिः परं ब्रह्म तच्चाऽपि त्वमेवाऽसि। अनन्तमन्तशून्यं रूपं चिदात्मकं स्वरूपं यस्य स हे अनन्तरूप, यतस्त्वया ब्रह्मणा सद्रूपेण भ्रमकल्पितमिदं सर्वं ततं व्याप्तम् । 'येन यद्व्याप्तं तत्तन्मात्रमेव' इति न्यायेन त्वया व्याप्तमिदं सर्वं त्वन्मात्रमेवाऽतः सर्वं त्वमेव, तेनैवाऽनन्तरूपोऽसि । त्वमद्वितीय इत्यर्थः ॥ ३८ ॥

पूर्ण होनेसे पुरुष, स्वयं निर्विकार होनेसे पुराण यानी सनातन तथा आदिदेव (जगत्का कारण होनेसे आदि, जो स्वयं ही प्रकाशित होता है, वह देव है, जो आदिभूत देव है, वह आदिदेव यानी सृष्टिके आदि कर्ता) मायोपाधिक परमेश्वर आप ही इस दृश्यमान विश्वके निधान (जैसे मिट्टीमें घट आदि, जलमें तरङ्ग आदि अवस्थित हैं, वैसे ही जिसमें महद् आदि सम्पूर्ण विकार अवस्थित हैं, वह निधान है) यानी जगत्के बीज (माया) हैं । वेत्ता (बुद्धि और उसके विकारभूत अहङ्कार-ममकार आदिको साक्षात्—व्यवधानके बिना—सर्वदा जो जानता है, वह वेत्ता), यानी सबका साक्षी प्रत्यक् आत्मा आप ही हैं। उसके द्वारा वेद्य—बुद्धि, उसके विकार आदि सम्पूर्ण दृश्यजात—आप ही हैं । किञ्च, पर—सम्पूर्ण दृश्यकी अपेक्षा विलक्षण होनेसे सबसे महत्तम—माया, मायाके कार्यलेशके सम्बन्धसे रहित, जीव, ईश्वर और जगत्की आभासरूप कल्पनाके अधिष्ठान, नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव, निर्विशेष, निराभास, नित्य आनन्दैकरस, अद्वितीय जो तुरीय पर धाम—पर ज्योति पर ब्रह्म है, वह भी आप ही हैं । अन्तशून्य रूप—चिदात्मक स्वरूप—जिसका है, ऐसे हे अनन्तरूप, जिस सद्रूप ब्रह्मस्वरूप आपसे भ्रमकल्पित यह सब जगत् व्याप्त है । 'जिससे जो व्याप्त होता है, वह तन्मात्र ही होता है', इस न्यायसे आपसे व्याप्त यह सब केवल आपका ही स्वरूप है, इसलिए सब आप ही हैं, उसीसे आप अद्वितीय अनन्तरूप हैं, यह अर्थ है ॥ ३८ ॥

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥४०॥

हे परमात्मन्, आपको आगे पीछे सर्वत्र नमस्कार हैं, आप अनन्तवीर्यवाले और अनन्तपराक्रमवाले हैं, सम्पूर्णका जगत् आपने व्याप्त किया है, इससे आप ही सर्वात्मक हैं ॥ ४० ॥

यस्मादेवं तस्मात्सर्वं त्वमेवेति 'त्वं यज्ञस्त्वं विष्णुस्त्वं वषट्कारः' इत्यादि-श्रुतिप्रसिद्धमर्थं प्रतिपादयति—**वायुरिति** ।

वायुः यमः अग्निः वरुणः शशाङ्कश्चन्द्रः प्रजापतिः सर्वलोकपितामहश्चतुर्मुखश्च प्रपितामहस्तत्पिता विष्णुरपि त्वमेवेत्यर्थः । एवं सर्वं त्वमेवेति भगवतः सार्वात्म्यं सार्धेन प्रतिपाद्याऽधुना श्रद्धाभक्तिवेगेन सर्वात्मानं परमेश्वरं नमस्करोति सार्धेन नमो नमस्तेऽस्त्वित्यादिना । स्पष्टोऽयमर्थः ॥ ३९ ॥

भक्तिवेगोत्थसन्तोषातिशयेन स्तुवन् पुनः सर्वतो नमस्करोति—**नम इति** ।

हे सर्व सर्वात्मन्, सर्वात्मने ते पुरस्तात्पृष्ठतो नमः । सर्वतः सर्वत्राऽपि ते नमोऽस्तु । हे सर्वेति विशेषणात् सर्वात्मनः प्रागादिदिग्विभागो यद्यपि न संभवति दिग्विभागहेतोः सूर्यस्याऽपि सर्वात्मन्यन्तर्भूतत्वात्तथापि नमः पुरस्तादिति स्वदृष्टिगत्योक्तं न तु वस्तुगत्या । न तु हे सर्वेति नाम्नोक्तं न त्वर्थत इति मन्तव्यम्, तथात्वे 'अनन्त, जगन्निवास' इति, 'त्वमादिदेवः' इत्यादिवाक्यार्थव्याघातप्रसङ्गात्तत एव सर्वशब्दार्थं स्वय-

---

जिस कारण ऐसा है, इसलिए सब आप ही हैं, इस प्रकार 'तुम यज्ञ हो, तुम विष्णु हो, तुम वषट्कार हो' इत्यादि श्रुतिसे प्रसिद्ध अर्थका प्रतिपादन करते हैं—**'वायु०'** इत्यादिसे ।

वायु, यम, अग्नि, वरुण, शशाङ्क यानी चन्द्र, प्रजापति—सब लोकोंके पितामह—चतुर्मुख—तथा प्रपितामह—उनके पिता विष्णु—भी आप ही हैं, यह अर्थ है । इस प्रकार सब आप ही हैं, यों भगवान्की सर्वात्मताका डेढ़ श्लोकसे प्रतिपादन करके अब श्रद्धाभक्तिके वेगसे सर्वात्मा परमेश्वरको 'नमो नमस्तेऽस्तु' इत्यादि डेढ़ श्लोकसे नमस्कार करते हैं । अर्थ स्पष्ट है ॥ ३९ ॥

भक्तिके वेगसे उत्पन्न हुए सन्तोषके अतिशयसे स्तुति करते हुए अर्जुन फिर सब तरफसे नमस्कार करते हैं—**'नमः'** इत्यादिसे ।

हे सर्व यानी सर्वात्मन्, आप सर्वात्माको आगेसे पीछेसे नमस्कार है । सर्वतः—सर्वत्र ही—आपको नमस्कार है । हे सर्व, इस विशेषणसे सर्वात्माका पूर्व आदि दिशाओंके रूपसे विभाग यद्यपि नहीं हो सकता, क्योंकि दिशाओंके विभागके हेतु सूर्यका भी सर्वात्मामें ही अन्तर्भाव है, तथापि आगेसे नमस्कार है, यह अपनी [स्थूल] दृष्टिसे कहा है, वस्तुगतिसे नहीं । हे सर्व, इसको भी नामरूपसे कहा है, न कि अर्थतः कहा है, ऐसा नहीं मानना चाहिए । यदि ऐसा माना जाय यानी अर्थतः न माना जाय, तो 'अनन्त, जगन्निवास', 'आप आदिदेव हैं' इत्यादि वाक्योंके अर्थका

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात् प्रणयेन वापि ॥ ४१ ॥

हे भगवन्, मैंने आपकी महिमाको न जानकर एवं आपको मित्र समझकर जबरदस्ती, प्रमादसे या स्नेहसे 'हे कृष्ण, हे यादव, हे मित्र' इत्यादि जो कुछ

मेव निर्वर्त्योऽनन्तेत्यादिना तत्सिद्धौ हेतुमाह—**अनन्तवीर्यामितविक्रम इति**। सर्वतो विशिष्य ईरयितुं प्रसारयितुं योग्यं वीर्यं तेजः। विक्रमशब्देन व्यापनशीलत्वं लक्ष्यते। अनन्तं वीर्यं यस्य सः। अमितो विक्रमो यस्य सः। उभयोः कर्मधारये अनन्तवीर्यामितविक्रमः। हेतुगर्भितमिदं विशेषणम्। अनन्तवीर्यामितविक्रमत्वात्त्वं सर्वं जगद्यतः समाप्नोषि बहिरन्तःसर्वतो वह्निरयःपिण्डमिव वीर्येण तेजसा स्फूर्त्या विक्रमेण सत्तया च सम्यग्व्याप्तवानसि तत एव सर्वोऽसि। सर्वात्मकोऽसीत्यर्थः। एतेन नामरूपात्मकं जगत्सर्वं त्वमेव त्वत्तोऽन्यदणुमात्रमपि निरात्मकत्वान्निरूपयितुं न संभवतीति सूचितम् ॥ ४० ॥

एवं स्तुत्वा नत्वा प्राक्तनं स्वापराधं क्षमापयति—**सखेति** द्वाभ्याम्।

तवाऽपरिमिततेजोबलवीर्यसमग्रैश्वर्यसंपन्नस्य सर्वोत्तमस्य सृष्ट्यादिकर्तुः परमेश्वरस्य इदं परिदृश्यमानं महिमानं विश्वात्मकं स्वरूपमजानताऽज्ञातवता मया ममाऽयं सखा स्निग्ध इति मातुलेय इति च मत्वा हे कृष्ण हे यादव हे सखेति प्रमादाद्वा

व्याघात हो जायगा, इसीलिए सर्वशब्दके अर्थको स्वयं सम्पादन कर 'अनन्त' इत्यादिसे उसकी सिद्धिमें हेतु कहते हैं—**अनन्तवीर्यामितविक्रम इति**। सब ओरसे विशेषतः विस्तार करने योग्य वीर्य यानी तेज, विक्रमशब्दसे व्यापनशीलत्व लक्षित है, जिसका अनन्त वीर्य है तथा जिसका अमित विक्रम है, वह अनन्तवीर्य और अमितविक्रम है, इन अनन्तवीर्य और अमितविक्रम दोनों पदोंका कर्मधारयसमास करनेपर अनन्तवीर्यामितविक्रमशब्द हुआ, यह हेतुगर्भित विशेषण है यानी अनन्तवीर्य और अमितविक्रम होनेके कारण आप सम्पूर्ण जगत्में व्याप्त हैं—जैसे बाहर भीतर सब तरफसे अग्निसे लोहपिण्ड व्याप्त है, वैसे ही चारों ओर वीर्यसे, तेजसे, स्फूर्तिसे, विक्रमसे और सत्तासे भली भाँति आप व्याप्त हैं, इसीलिए आप सर्व हैं। आप सर्वात्मक हैं, यह अर्थ है। इससे यह सूचित किया कि नामरूपात्मक सब जगत् आप ही हैं, निरात्मक होनेसे आपसे अतिरिक्त पदार्थका अणुमात्र भी निरूपण नहीं किया जा सकता ॥४०॥

इस प्रकार स्तुति करके और नमन करके पहले किये गये अपने अपराधकी क्षमा कराते हैं—**'सखा'** इत्यादिसे।

अपरिमित तेज, बल, वीर्य और समग्र ऐश्वर्यसे सम्पन्न, सर्वोत्तम, सृष्टिके आदिकर्ता परमेश्वररूप आपकी चारों ओर दिखाई दे रही इस महिमाको (विश्वात्मक स्वरूपको) न जाननेवाले मैंने, अपना यह सखा—स्नेही—है और मातुलेय है, ऐसा मानकर हे कृष्ण, हे यादव, हे सखा, इस प्रकार प्रमादसे,

यच्चाऽवहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाऽप्यच्युत तत्समक्षं तत् क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥ ४२ ॥

कहा है, एवं क्रीडा, शयन, आसन और भोजन आदिके समयमें अकेले अथवा बहुतोंके बीचमें आपके उपहासके लिए मैंने जो कुछ भला-बुरा कहा है, उन सम्पूर्ण अपराधोंके लिए मैं अचिन्त्यस्वरूप आपसे क्षमा चाहता हूँ ॥ ४१—४२ ॥

प्रणयेन स्नेहेन वाऽपि प्रसभं हठादुच्चावचं वचनं यद्यदुक्तं तत्सर्वं क्षामये क्षम्यतामिति प्रार्थय इत्युत्तरेण सम्बन्धः । अत्र हे सखेति सन्धिरार्षः । महिमानं तवेदमिति प्रचुरः पाठः । तवेममिति पाठान्तरमप्यस्ति । तवेदं महिमानमितीदंपदस्य महिमानमित्यस्य च 'कन्येयं कुलभूषणम्' इतिवल्लिङ्गव्यत्ययेन सामानाधिकरण्यम् । इदंशब्दस्य पुंलिङ्गत्वे न विचारः ॥ ४१ ॥

किञ्च, **यच्चेति** । न च्यवते सदैकरूपेणाऽविक्रियात्मना कूटवत्तिष्ठतीत्यच्युतः हे अच्युत परमात्मन् । विहारशय्यासनभोजनेषु विहारः क्रीडा, शय्या शयनम् , सिंहासनपरिस्तरणादिषूपवेशनमासनम् , भोजनमन्नोदकादिस्वीकारस्तेषु त्वमेकः रहस्येक एव स्थितः सन् । अथवा बहूनां समक्षं मया मातुलेय इति बुद्ध्याऽवहासार्थं परिहासाय यद्यच्चकाराद् यावदसत्कृतोऽवमानितोऽसि तत्तदपराधजातं सर्वं त्वामप्रमेयमचिन्त्यमहिमानं परमेश्वरं क्षमस्वेति प्रार्थय इत्यर्थः ॥ ४२ ॥

ननु यथा गदादयस्तव तथैवाऽहमपि 'किं क्षामये त्वाम्' इति प्रार्थनयेत्याशङ्कायाम्,

अथवा स्नेहसे या हठसे भला-बुरा जो कुछ कहा है, उस सबको क्षमा कीजिये, ऐसी मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ, यों आगेके श्लोकके साथ सम्बन्ध है। 'सखेति' यहांपर सन्धि आर्ष है। 'महिमानं तवेदं' ऐसा पाठ अधिक मिलता है। 'तवेमम्' ऐसा दूसरा भी पाठ है। 'तवेदं महिमानम्' यहांपर 'इदम्' पदका और 'महिमानम्' पदका 'कन्येयं कुलभूषणम्' (यह कन्या कुलभूषण है) इसके समान लिङ्गके व्यतिक्रम सामानाधिकरण्य है। अतः इदंशब्दके पुंलिङ्ग होनेमें विचार नहीं करना चाहिए ॥ ४१ ॥

किञ्च, '**यच्चा०**' इत्यादि । जो च्युत नहीं होता यानी जो सदा एकरूपसे यानी कूटके समान अविक्रियस्वरूपसे स्थित रहता है, वह अच्युत है। हे अच्युत, परमात्मन्, विहार, शय्या, आसन और भोजनमें (विहार यानी क्रीडा, शय्या यानी शयन, आसन यानी सिंहासन, परिस्तरण आदिमें बैठना, भोजन—अन्न, जल आदिका स्वीकार—उनमें) आपके एकान्तमें अकेले ही स्थित होनेपर अथवा बहुतोंके समक्षमें मैंने 'ये मेरे मामाके पुत्र हैं', इस बुद्धिसे परिहासके लिए जो जो और जितने अपमान किये हैं, उन सब अपराधोंके लिए अप्रमेय अचिन्त्यमहिमा परमेश्वररूप आपसे मैं क्षमा चाहता हूँ। उन सब अपराधोंको आप क्षमा कीजिये, ऐसी मेरी प्रार्थना है, यह अर्थ है ॥ ४२ ॥

जैसे तुम्हारे गद, साम्ब आदि सम्बन्धी हैं, वैसा ही मैं भी हूँ, तो आपसे मैं क्षमा चाहता

पिताऽसि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥ ४३ ॥

हे निरतिशयमहत्त्वसम्पन्न, आप स्थावर-जङ्गमात्मक इस समस्त जगत्के जनक हैं, तत्त्वोपदेश द्वारा समस्त जगत्के सर्वोत्तम गुरु और पूज्य हैं, इन तीनों लोकोंमें आपकी बरा-बरी करनेवाला कोई दूसरा है ही नहीं, फिर आपसे अधिक होनेकी तो बात ही क्या है ? ॥ ४३ ॥

न; भवान् सर्वलोकपूज्यः परमेश्वर इति सहेतुकं पूज्यत्वमेव प्रतिपादयति—**पितेति** ।

चराचरस्य स्थावरजङ्गमात्मकस्याऽस्याऽनुभूयमानस्य लोकस्य सर्वप्राणिजातस्य त्वं पिता जनकोऽसि । 'यतो वा इमानि' इति श्रवणात् त्वं सर्वेषां भूतानां जनयितेत्यर्थः । न केवलं पितैव त्वं सर्वलोकस्य, किन्तु महान् गुरुरप्यसीत्याह—**गुरुरिति** । सकलानर्थबीजभूताविद्यातत्कार्यविध्वंसकतत्त्वज्ञानोपदेशेन गरीयान् सर्वोत्तमो गुरुश्चाऽसि यस्मात्तस्मात्त्वं पूज्यः सर्वलोकानां किमुत ममैवेति । ननु मत्तोऽप्यधिका ब्रह्मादयो महनीयाः सन्त्येवेत्यत आह—**न त्वत्सम इति** । 'आत्मन आकाशः संभूतः' इति 'अस्य महतो भूतस्य' इति च श्रवणादाकाशादिसर्वभूतजनकत्वेन धर्मज्ञानमूलसकलवेदोपदेष्टृत्वेन च लोकत्रयेऽपि गरीयान् महत्तमस्त्वत्समोऽन्यो नाऽस्ति । तत्सत्त्वे वेश्वरान्तरसिद्ध्या सर्वव्यवहारलोपप्रसङ्गात् । नहीश्वरे द्वितीये सत्येकस्य सिसृक्षायामन्यस्य संजिहीर्षायां सत्यां व्यवहारः सिद्ध्यत्यतस्त्वत्समो न कश्चिदस्ती-

हूँ, ऐसी प्रार्थना क्यों करते हो, ऐसी यदि आशङ्का हो, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि आप सब लोकोंके पूज्य परमेश्वर हैं, यों हेतुसहित पूज्यत्वका प्रतिपादन करते हैं—**'पिता'** इत्यादिसे ।

चर और अचररूप यानी दृश्यमान स्थावर-जङ्गमात्मक इस लोकके यानी सम्पूर्ण प्राणियोंके आप पिता—जनक—हैं । 'जिससे ये भूत' इत्यर्थक श्रुतिसे आप सब भूतोंको उत्पन्न करनेवाले हैं, यह अर्थ है । केवल सब लोकोंके आप पिता ही नहीं हैं, किन्तु महान् गुरु भी हैं, ऐसा कहते हैं—**'गुरु०'** इत्यादिसे । सब अनर्थोंकी बीजभूत अविद्या और उसके कार्य जगत्के नाशक तत्त्वज्ञानके उपदेशसे गरीयान्—सर्वोत्तम—और गुरु आप हैं, इसलिए आप मेरे ही क्या, सब लोकोंके पूज्य हैं। मुझसे भी अधिक पूजनीय ब्रह्मा आदि हैं ही, ऐसा यदि कहें, तो उसपर कहते हैं—**न त्वत्सम इति** । 'आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ' इससे और 'उस महद्भूतके श्वास ऋग्वेदादि हैं' इस श्रुतिसे आकाश आदि सब भूतोंके जनक होने और धर्मज्ञानके मूलभूत सब वेदोंके उपदेशकर्ता होनेके कारण तीनों लोकोंमें भी गरीयान्—महत्तम—आपके समान दूसरा नहीं है। क्योंकि आपके सदृश दूसरेके रहनेपर दूसरे ईश्वरकी सिद्धि होनेसे सम्पूर्ण व्यवहारके लोपका प्रसङ्ग आवेगा । दूसरा ईश्वर होनेपर एककी सृष्टि करनेकी इच्छा होनेपर और दूसरेकी संहार करनेकी इच्छा होनेपर व्यवहार ही सिद्ध नहीं होगा, इसलिए आपके समान दूसरा कोई नहीं है, यह अर्थ है । आपके

तस्मात् प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥ ४४ ॥

चूँकि आप सर्वैश्वर्यसम्पन्न परमात्मा हैं, इसलिए साष्टाङ्ग प्रणाम कर ब्रह्मादि द्वारा स्तुत्य परमात्मस्वरूप आपकी प्रार्थना करता हूँ । हे देव, जैसे पिता अपने पुत्रके, मित्र अपने मित्रके और प्रिय पति अपनी प्रेयसीके अपराधको क्षमा करता है, वैसे ही आप मेरे अपराधको क्षमा कीजिए ॥ ४४ ॥

त्यर्थः । त्वत्समस्यैवाऽसंभवे सत्युक्तधर्मैरभ्यधिकस्त्वत्तो महत्तमोऽन्यः कुतः स्यात् । न कुत्राऽपि संभवतीत्यर्थः, 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते' इति श्रुतेः । त्वत्समस्यैव पुरुषस्याऽसंभवे हेतुमाह—**अप्रतिमेति** । प्रतिमीयतेऽनयेति प्रतिमा सादृश्यं न विद्यते यस्याऽसावप्रतिमः प्रभावः सामर्थ्यं मायायोगजं प्रपञ्चबन्धमोक्षादिकार्यघटना-घटनपटीयस्त्वलक्षणं यस्य सोऽप्रतिमप्रभावस्तस्य संबुद्धिर्हे अप्रतिमप्रभाव । निरति-शयमहत्त्वसंपन्नेत्यर्थः ॥ ४३ ॥

जगद्गुरुत्वेन जगज्जनकत्वेन च सर्वलोकपूज्यस्य तव परमेश्वरस्य मया नाऽ-पराद्धव्यम्, प्रमादेन यदपराद्धं तत् क्षन्तव्यमिति प्रार्थय इत्युक्त्वा प्रणामपूर्वकं प्रसादयति—**तस्मादिति** ।

यस्मान्निरतिशयमहत्त्वसंपन्नः परमेश्वरस्त्वं तस्मात् कायं प्रणिधाय अष्टभिरङ्गैः संश्लेषो यथा स्यात्तथा भूमौ स्थापयित्वा प्रणम्य ब्रह्मादिभिरीड्यं स्तुत्यमीशं परमेश्वरं

समान दूसरेका ही जब असम्भव है, तब उक्त धर्मोंसे अधिक—आपसे महत्तम—दूसरा कहाँसे होगा ? कहीं भी उसका सम्भव नहीं है, यह अर्थ है, क्योंकि 'न उसके समान और न उससे अधिक दूसरा दिखाई देता है' ऐसी श्रुति है । आपके समान पुरुष नहीं है, इसमें हेतु कहते हैं—**अप्रतिमेति** । जिससे प्रतिमित किया जाता है, वह प्रतिमा है यानी सादृश्य, जिसका वह विद्यमान नहीं है, वह अप्रतिम है, अप्रतिम है प्रभाव यानी सामर्थ्य—प्रपञ्चके बन्ध, मोक्ष आदि कार्यके घटन और विघटनमें पटुतारूप मायाके योगसे उत्पन्न हुई सामर्थ्य—जिसकी, वह अप्रतिमप्रभाव है, उसकी सम्बुद्धि है—हे अप्रतिमप्रभाव । निरतिशय महत्त्वसे संपन्न, यह अर्थ है ॥ ४३ ॥

जगत्के गुरु और जनक होनेसे सब लोकोंके पूज्य आप परमेश्वरका अपराध करना मेरे लिए योग्य न था, प्रमादसे जो अपराध हो गया है, उसे क्षमा कीजिए, ऐसी प्रार्थना करता हूँ, ऐसा कहकर अर्जुन प्रणामपूर्वक भगवान्को प्रसन्न करते हैं—**'तस्मात्'** इत्यादिसे ।

जिस कारणसे आप परमेश्वर निरतिशय महत्त्वसे सम्पन्न हैं, इसलिए मैं शरीरका प्रणिधान कर—जैसे आठ अङ्गोंसे स्पर्श हो वैसे पृथिवीपर शरीर स्थापन कर—प्रणाम करके ब्रह्मा आदि द्वारा स्तुत्य

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ ४५ ॥
किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥ ४६ ॥

हे देवाधिदेव, जिस रूपको मैंने कभी नहीं देखा था, उसको देखकर यद्यपि मैं प्रसन्न हुआ हूँ, तथापि अनेक उदर, नेत्र आदिसे विकृत उक्त स्वरूपको देखकर मेरा मन भयभीत हो गया है । हे जगन्निवास, आप अपना वही पूर्व रूप दिखलाइए और प्रसन्न होइए । हे विश्वमूर्ते, मैं पहलेकी नाईं मुकुटसे सुशोभित, गदाधारी और हाथमें चक्र लिए हुए आपको देखनेकी इच्छा करता हूँ। आप शान्त चर्तुभुज वासुदेवस्वरूपसे ही युक्त हो जाइए ॥ ४५,४६ ॥

त्वां प्रसादये प्रसन्नो भवेति प्रार्थये । हे देव, मया प्रार्थितस्त्वं पुत्रस्याऽपराधं पितेव, सख्युरपराधं सखेव, प्रियायाः प्रेयस्याः स्त्रियोऽपराधं प्रिय इव ममाऽपराधं सोढुं क्षन्तुमर्हसीत्यर्थः । प्रियायार्हसीत्यत्र सन्धिरार्षः ॥ ४४ ॥

देवेश जगन्निवासेति प्रसादयन् स्तुवन् विश्वरूपोपसंहारं प्रार्थयते—**अदृष्टपूर्वमिति** ।

अदृष्टपूर्वं कदाचिदप्यदृष्टं विश्वरूपं दृष्ट्वा हृषितो हृष्टः सन्तुष्टोऽस्मि तथापि बहूदरवक्त्रादिभिर्विकृतत्वाद्भयेन मे मनो व्यथितं व्याकुलं च भवति । हे देव, प्रसीद प्रसन्नो भव । तदेव प्राक्तनमेव सौम्यं कार्ष्णं रूपं मे मह्यं दर्शय । दृष्टिविषयं कुर्वित्यर्थः ॥ ४५ ॥

तदेवेत्युक्त्वाऽप्यनिर्धारितत्वाद् द्रष्टव्यं रूपं विशेषणैर्विशिनष्टि—**किरीटिनमिति** ।

परमेश्वरस्वरूप आपको प्रसन्न करता हूँ यानी प्रसन्न होइए, ऐसी मैं प्रार्थना करता हूँ । हे देव, मुझसे प्रार्थित आप, जैसे पिता पुत्रके अपराधको, सखा मित्रके अपराधको और प्रिय प्रियाके—प्यारी स्त्रीके—अपराधको क्षमा करता है वैसे ही मेरे अपराधको क्षमा कीजिए, यह अर्थ है। 'प्रियायार्हसि' इसमें सन्धि आर्ष है ॥ ४४ ॥

देवेश, जगन्निवास, इत्यादिसे प्रसन्न करते हुए—स्तुति करते हुए—विश्वरूपके उपसंहारके लिए प्रार्थना करते हैं—**अदृष्टपूर्वमिति** ।

अदृष्टपूर्व—कभी भी न देखे गये—विश्वरूपको देखकर यद्यपि मैं हर्षित (हृष्ट) यानी सन्तुष्ट हुआ हूँ, तो भी बहुत उदर, मुख आदिसे विकृत होनेके कारण भयसे मेरा मन व्यथित और व्याकुल है। हे देव, प्रसीद—प्रसन्न होइये । उसी प्राक्तन सौम्य कृष्णके रूपको मुझे दिखाइये । मेरी दृष्टिका विषय कीजिये, यह अर्थ है ॥४५॥

'तदेव' (उसीको) ऐसा कहनेपर भी निर्धारण न होनेके कारण द्रष्टव्य रूपको विशेषणोंसे स्पष्ट करते हैं—'**किरीटिनम्**' इत्यादिसे ।

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवाऽर्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥ ४७ ॥

भगवान्‌ने कहा—हे अर्जुन, मैंने प्रसन्न होकर अपनी योगमायासे करोड़ों सूर्योंके समान प्रकाशमान, विश्वात्मक, अन्तरहित, सबका आदि यह सर्वोत्तम स्वरूप अपना तुम्हें दिखलाया है, इस स्वरूपको तुम्हारे सिवा और किसीने पहले नहीं देखा था ॥ ४७ ॥

पूर्वं यथा तथैव किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तं त्वामिदानीं द्रष्टुमिच्छामि । यत इदं रूपं भयानकं ततश्चतुर्भुजेन भुजचतुष्टयवता तेनैव वासुदेवेन रूपेण शान्तेन युक्तो भव । तदा चतुर्भुजविशिष्टरूपाभावं सूचयितुमाह—**सहस्रेति** । सहस्रं बाहवो यस्य हे सहस्रबाहो । विश्वं मूर्तिर्यस्य हे विश्वमूर्ते सर्वात्मन् । एतद्रूपमुपसंहृत्य प्राचीनं शान्तं रूपं दर्शयेत्यर्थः ॥ ४६ ॥

'स्थाने हृषीकेश' इत्यादिना स्तुवन्तं विश्वरूपसंदर्शनेन प्रहृष्टं तद्भयेन च क्लिष्टमर्जुनमाश्वासयितुं विश्वरूपसंदर्शनमतिदुर्लभं मदनुग्रहेण ते लब्धमित्युपश्लोकयितुं च श्रीभगवानुवाच—**मयेति** ।

हे अर्जुन, त्वदीयभक्त्यतिशयात्प्रसन्नेन त्वय्यनुग्रहवता मया तेजोमयं कोटिसूर्यप्रकाशं विश्वं विश्वात्मकं तत एवाऽनन्तमन्तवर्जितमिदं दृश्यमानं रूपमात्मयोगादात्मनः स्वस्य योगात् मायायोगसामर्थ्यात्ते भक्ताग्रगण्याय दर्शितम् । इतरेषां श्रवण-

---

में जैसे आप पहले थे, वैसे ही किरीट (मुकुट) पहिने हुए, गदाधारी तथा चक्र हाथमें लिये हुए आपको अब देखना चाहता हूँ, क्योंकि यह रूप भयानक है, इसलिए चतुर्भुज—चारभुजावाले—उसी शान्तस्वरूप वासुदेव रूपसे युक्त होइये । उस समय चतुर्भुजयुक्त रूपके अभावका सूचन करनेके लिए कहते हैं—**सहस्रेति** । हजार भुजाएँ जिसकी हैं, वह सहस्रबाहु है, हे सहस्रबाहो, विश्व जिसकी मूर्ति है, वह विश्वमूर्ति है, हे विश्वमूर्ते यानी सर्वात्मन् । इस रूपका उपसंहार करके पूर्वका शान्तरूप दिखलाइये, यह अर्थ है ॥ ४६ ॥

'स्थाने हृषीकेश' इत्यादिसे स्तुति कर रहे, विश्वरूपके दर्शनसे हर्षित तथा उसके भयसे खिन्न हुए अर्जुनको आश्वासन देनेके लिए विश्वरूपका दर्शन अतिदुर्लभ है, मेरे अनुग्रहसे तुम्हें प्राप्त हुआ है, ऐसा प्रकट करनेके लिए श्रीभगवान् बोले—**'मया'** इत्यादिसे ।

हे अर्जुन, तुम्हारी भक्तिके अतिशयसे प्रसन्न हुए, तुमपर अनुग्रह करनेवाले मैंने तेजोमय (कोटि सूर्योंके समान प्रकाशवाले) विश्व—विश्वात्मक—इसीलिए अनन्त (अन्तरहित) इस दृश्यमान रूपको आत्मयोगसे (आत्माके—अपने—योगसे—मायायोगकी सामर्थ्यसे) भक्ताग्रगण्य तुम्हें दिखलाया है । जो दूसरोंके केवल श्रवणका ही विषय है, वह केवल तुम्हारी ही दृष्टिका विषय

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥ ४८ ॥

हे कुरुश्रेष्ठ, इस लोकमें वेद और यज्ञोंके अध्ययनोंसे, विविध दानोंसे, क्रियाओंसे तथा उग्र तपोंसे तुम्हारे सिवा कोई भी इस रूपसे युक्त मुझको नहीं देख सकता है ॥ ४८ ॥

विषयमेव तवैव दृष्टिविषयं गमितमित्यर्थः । ननु धृतराष्ट्रगृहे भीष्मादीनां बाल्ये यशोदायाश्चाऽक्रूरस्याऽपीदं त्वया दर्शितमेव । मया प्रसन्नेन दर्शितमिति कथमित्याशङ्कायां तदवान्तरं रूपमुत्तमं न भवति, इदं तु सर्वाग्र्यमन्यैरदृष्टं चेत्याह—**यन्म इति** । त्वदन्येन भक्तवर्यात्त्वत्तोऽन्येन येन केनाऽपि न दृष्टपूर्वं मे मम परमेश्वरस्य यत्स्वरूपमाद्यमादिकालीनमीश्वरत्वकारणं सर्वोत्तमं तदेवैतत्ते दर्शितं तव भाग्याल्लब्धम् । ममैतद्रूपसंदर्शनेन कृतार्थोऽसीत्यर्थः ॥ ४७ ॥

एतद्रूपदर्शनस्य दुर्लभत्वमेव प्रतिपादयति—**न वेदेति** ।

वेदयज्ञाध्ययनैः । द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणस्याऽध्ययनशब्दस्य प्रत्येकं संबन्धः । वेदाध्ययनैर्यज्ञाध्ययनैरिति । नियमेन ऋगादीनां चतुर्णां वेदानामध्ययनानि वेदाध्ययनानि तैर्यज्ञियमन्त्रदेवताप्रयोगप्रतिपादकवेदार्थज्ञानाध्ययनानि यज्ञाध्ययनानि तैः । ननु वेदाध्ययनेनैव यज्ञाध्ययनस्य संभवात् पुनर्यज्ञार्थमध्ययनं न कर्तव्यमेवेति चेत्, न; वेदाध्ययनकाल एव बहूनां तदर्थविचारयोग्यत्वासंभवात्, पदप्रमाणाध्ययनपूर्वकत्वाद्विचारस्य ।

हुआ है, यह अर्थ है । धृतराष्ट्रके घरमें भीष्म आदिको, बालपनमें यशोदाको और अक्रूरको भी तो आपने यह रूप दिखलाया ही था, फिर मैंने प्रसन्न होकर तुम्हें ही यह रूप दिखलाया है, यह कैसे ? ऐसी आशङ्का होनेपर, वह अवान्तर रूप था, उत्तम नहीं था, यह तो सबसे उत्तम है और दूसरोंका देखा हुआ नहीं है, ऐसा कहते हैं—**यन्म इति** । त्वदन्येन—भक्तवर्य तुम्हारे सिवा—दूसरे किसीसे भी—पहले न देखा गया मेरा—परमेश्वरका—स्वरूप जो आदि यानी ईश्वरत्वका कारण और सर्वोत्तम है, वही तुम्हें दिखाया है, तुम्हें भाग्यसे प्राप्त हुआ है । मेरे इस रूपके दर्शनसे तुम कृतार्थ हुए हो, यह अर्थ है ॥ ४७ ॥

इस रूपके दर्शनकी दुर्लभताका ही प्रतिपादन करते हैं—**'न वेद०'** इत्यादिसे ।

वेद और यज्ञके अध्ययनोंसे । द्वन्द्वके अन्तमें श्रुत अध्ययनशब्दका प्रत्येकके साथ संबन्ध है । वेदाध्ययन और यज्ञाध्ययन । नियमसे ऋगादि चारों वेदोंके अध्ययन वेदाध्ययन हैं और यज्ञके मन्त्र, देवता और प्रयोगके प्रतिपादक वेदार्थज्ञानके अध्ययन यज्ञाध्ययन हैं, उनसे । यदि कहो कि वेदाध्ययनसे ही यज्ञाध्ययन हो सकता है, फिर यज्ञके लिए अध्ययन कर्तव्य नहीं है, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि वेदाध्ययनकालमें ही बहुतोंको उसके अर्थके विचारकी योग्यता नहीं हो सकती है, क्योंकि

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ् ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥४९॥

हे अर्जुन, मेरे इस भयङ्कर स्वरूपको देखकर तुम्हें जो व्यथा हुई है, वह निवृत्त हो तथा तुम्हारा चित्तका व्यामोह भी निवृत्त हो जाय, भयसे रहित और प्रसन्न होकर तुम मेरे पहलेके ही इस स्वरूपको देखो ॥ ४९ ॥

'अथातो धर्मजिज्ञासा' इति धर्मजिज्ञासाया वेदतदङ्गाध्ययनानन्तरभावित्वश्रवणात् प्रथममक्षरग्रहणार्थमनन्तरमर्थज्ञानार्थं चाऽध्ययनं कर्तव्यमेवेति सिद्धम् । दानैः कन्या-गवादिभिः, क्रियाभिः श्रौतस्मार्तकर्मानुष्ठानैरुग्रैः कर्तुमशक्यैस्तपोभिः कृच्छ्रचान्द्रा-यणादिभिरपि पुण्यकर्मविशेषैरपि एवंरूपो विश्वात्मकोऽहं परमेश्वरो नृलोके भूलोके त्वदन्येन मद्भक्तवर्यात्त्वत्तोऽन्येन द्रष्टुमशक्योऽस्मि । मत्प्रसादविमुखानां द्रष्टुमशक्योऽह-मित्यर्थः । 'शक्यतेऽहं नृलोके' इति सिद्धे सत्यपि संधौ कारकक्रियायामर्थगौरवं बुद्ध्वा वा शक्य इत्युक्तम् । आर्षत्वात् सन्ध्यभावो न दोषाय ॥ ४८ ॥

यद्रूपसंदर्शनेन तव मनसो व्यथाऽऽसीत्तद्रूपमुपसंहरिष्यामि व्यथा मास्त्वित्याह—**मा त इति ।**

बहुबाहूदरादियुक्तमीदृगेवंलक्षणं घोरं भयङ्करं रूपं दृष्ट्वा ते व्यथा परितापो

विचार पद और प्रमाणके अध्ययनसे होता है । 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इससे धर्मजिज्ञासा वेद और वेदाङ्गके अध्ययनके पीछे होती है, ऐसा सुना जाता है, इसलिए पहले अक्षरग्रहणके लिए और पीछे अर्थज्ञानके लिए अध्ययन करना चाहिए, ऐसा सिद्ध हुआ । दानोंसे—कन्यादान, गोदान आदिसे—क्रियाओंसे—श्रौत-स्मार्त कर्मोंके अनुष्ठानोंसे—, उग्र—दुष्कर—तपोंसे, कृच्छ्र, चान्द्रायण आदि पुण्यकर्मविशेषोंसे भी इस प्रकारके रूपवाले विश्वात्मक मुझ परमेश्वरको नरलोकमें—भूलोकमें—भक्तवर्य तुम्हारे सिवा दूसरा देखनेमें असमर्थ है । मेरे प्रसादसे विमुखोंको मैं देखनेमें नहीं आ सकता, यह अर्थ है । 'शक्यतेऽहं नृलोके' इस पाठमें सन्धिके सिद्ध होनेपर भी कारक-क्रियामें अर्थ-गौरवको जानकर 'शक्यः' ऐसा कहा है । आशय यह कि यद्यपि 'शक्यतेऽहम्' यहाँ-पर 'अहम्' का 'शक्यते' में अन्वय अनुपपन्न है, क्योंकि उत्तम-पुरुष 'अहम्' कर्मके योगमें 'शक्ये' यों उत्तम-पुरुष कर्म क्रिया आनी चाहिए, न कि 'शक्यते' यों प्रथम-पुरुष, तथापि 'एवं रूपोऽह-मिति' द्रष्टुं न शक्यते इस प्रकार इतिको कर्म मान कर या 'अहम्' को परामात्मवाची मानकर किसी प्रकार उपपत्ति हो सकती है, पर यह गौरवग्रस्त है । आर्ष होनेसे सन्धिका अभाव दोषाधायक नहीं होता ॥ ४८ ॥

जिस रूपके दर्शनसे तुम्हारे मनमें व्यथा हुई है, उस रूपका उपसंहार करूंगा, तुम्हें व्यथा मत हो, ऐसा कहते हैं—**'मा ते'** इत्यादिसे ।

बहुत भुजा, उदर आदिसे युक्त, इस प्रकारके घोर—भयङ्कर—रूपको देखकर तुम्हें

सञ्जय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥ ५० ॥

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥ ५१ ॥

सञ्जयने कहा—श्रीवासुदेवने यों कहकर अपना प्राक्तन स्वरूप फिर दिखलाया और फिर सौम्यदेह होकर भयभीत अर्जुनको अभय (भय रहित) किया ॥५०॥

अर्जुनने कहा—भगवन्, आपके सौम्य मानुष स्वरूपको देखकर अब मैं अपनी प्रकृतिको (स्वभावको) प्राप्त होकर स्वस्थचित्त हो गया हूँ ॥ ५१ ॥

माऽस्तु विमूढभावश्चित्तव्यामोहश्च माऽस्तु । किन्तु व्यपेतभीः गतभयो भूत्वा प्रीतमनाः सन् तत्कार्ष्णमेव ममेदं रूपं पुनरपि पश्य । दृष्ट्वा प्रशान्तो भवेत्यर्थः ॥ ४९ ॥

इत्यर्जुनमिति । महानप्रमेय आत्मा स्वभावो यस्य स महात्मा वासुदेवस्तथा तदैव 'व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं पश्य' इत्युक्त्वैव तत्क्षणे स्वकं रूपं दर्शयामास । उपसंहारदर्शनयोर्निमीलनोन्मीलनवत्स्वायत्तत्वज्ञापनार्थं तथेत्युक्तम् । पुनः सौम्यवपुर्भूत्वा धैर्यवचनैरेनमाश्वासयामासाऽभयं चकार ॥ ५० ॥

मानवरूपदर्शनेनाऽऽश्वासवचनेन च स्वस्थः सन्नर्जुन उवाच—**दृष्ट्वेति** ।

सौम्यं शान्तं तवेदं रूपं दृष्ट्वेदानीं विकृतिं भयकम्पादिलक्षणां त्यक्त्वा प्रकृतिं स्वभावं गतोऽस्मि । सचेताः स्वस्थचित्तः संवृत्तो जातोऽस्मीत्यर्थः ॥ ५१ ॥

व्यथा—परिताप—न हो, विमूढभाव और चित्तका व्यामोह भी मत हो, किन्तु व्यपेतभी—भय-रहित—तथा प्रसन्न मनवाले होकर तुम मेरे इस कृष्णरूपको ही देखो । देख कर प्रसन्न होओ, यह अर्थ है ॥ ४९ ॥

'इत्यर्जुनम्' इत्यादि । महान् यानी अप्रमेय आत्मा—स्वभाव—जिनका है, ऐसे महात्मा वासुदेवने उसी क्षणमें—'व्यपेतभी (भयरहित) तथा प्रीतमना (प्रसन्न) होकर फिर तुम मेरे उसी रूपको देखो' ऐसा कहकर उसी क्षणमें—अपना रूप दिखलाया। उपसंहार और दर्शन दोनों पलक मींचने और खोलनेके समान अपने अधीन हैं, यह बतलानेके लिए 'तथा' कहा है। फिर सौम्यशरीरवाले होकर धैर्यप्रद वचनोंसे उसको आश्वासन देकर निर्भय किया ॥ ५० ॥

मानवरूपके दर्शनसे और आश्वासनके वचनसे स्वस्थ होकर अर्जुन बोले—**'दृष्ट्वा'** इत्यादिसे।

आपके इस सौम्य—शान्त—रूपको देखकर अब भय, कम्प आदि रूप विकृतिका त्याग कर मैं प्रकृतिको—स्वभावको—प्राप्त हुआ हूँ तथा सचेत—स्वस्थचित्त—हो गया हूं, यह अर्थ है ॥५१॥

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥ ५२ ॥
नाऽहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥ ५३ ॥

भगवान्‌ने कहा—हे अर्जुन, तुमने जिसका दर्शन होना अत्यन्त दुर्लभ है, ऐसे मेरे जिस स्वरूपका अवलोकन किया है, इसे देखनेकी देवता भी सदा अभिलाषा करते हैं ॥ ५२ ॥

हे अर्जुन, इस प्रकारके मेरे स्वरूपका दर्शन, जैसा कि तुमने किया है, न वेदके अध्ययनसे, न तपसे, न दानसे तथा न यज्ञसे ही हो सकता है ॥ ५३ ॥

प्रशान्तमर्जुनं दृष्ट्वा प्राह्लादयितुं श्रीभगवानुवाच—**सुदुर्दर्शमिति** ।

अपरिमिततेजोमयत्वात् दुःखेन दर्शनं यस्य तद् दुर्दर्शं सुतरां दुर्दर्शं सुदुर्दर्शं यदिदं दर्शितलक्षणं मम विश्वाख्यं रूपं तत्त्वं दृष्टवानसि खलु । एतद्दर्शनमलभ्यं भाग्यात्तव लब्धमित्यर्थः । अलभ्यत्वमेव विशदयति—**देवा इति** । तेजोबलपौरुषैरुत्कृष्टा देवा इन्द्रादयोऽपि ममाऽस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः सर्वदैवं रूपं द्रष्टुमपेक्षन्ते न तु त्वं यथा दृष्टवानसि तथा दृष्टवन्तो भवन्ति । देवानामपि दुर्लभं मद्दर्शनमित्यर्थः ॥ ५२ ॥

जन्मान्तरेषु भोगेच्छया यथोक्तविधिना वेदाध्ययनादिपुण्यकर्मातिशयानुष्ठाना-द्देवभावं गतानां मद्भक्तिशून्यानां तेषामिन्द्रादीनां मद्दर्शनमलब्धमिति सूचयितुं वेदादीनां स्वस्वरूपसाक्षात्कारे साधनत्वं निषेधति—**नाऽहमिति** ।

न वेदैः सकलवेदाध्ययनैर्न तपसा कृच्छ्रादिना न दानेन कन्यादिना न चेज्यया

अर्जुनको प्रशान्त देखकर उसे आह्लादित करनेके लिए श्रीभगवान् बोले—**'सुदुर्दर्शम्'** इत्यादिसे ।

अपरिमित तेजोमय होनेके कारण दुःखसे जिसका दर्शन हो, वह दुर्दर्श, अत्यन्त दुर्दर्श—सुदुर्दर्श जो मेरा यह पूर्वदर्शित विश्वात्मक रूप है, उसे तुम देख चुके हो । यह अलभ्य दर्शन तुम्हें भाग्यसे ही प्राप्त हुआ है, यह अर्थ है । अलभ्यताका ही स्पष्टीकरण करते हैं—**देवा इति** । तेज, बल और पौरुषसे श्रेष्ठ इन्द्र आदि भी मेरे इस रूपके नित्य दर्शनकी—सर्वदा इस रूपके देखनेकी—इच्छा करते हैं परन्तु जैसा मेरा रूप तुमने देखा है, वैसा वे नहीं देख पाये । देवताओंको मेरा दर्शन दुर्लभ है, यह अर्थ है ॥ ५२ ॥

पिछले जन्मोंमें भोगकी इच्छासे विधिके अनुसार वेदाध्ययन आदि पुण्य कर्मोंके प्रचुर अनुष्ठानसे देवभावको प्राप्त हुए तथा मेरी भक्तिसे शून्य इन्द्र आदिको मेरा दर्शन प्राप्त नहीं हुआ है, ऐसा सूचन करनेके लिए वेद आदिमें स्वस्वरूपके साक्षात्कारकी साधनताका निषेध करते हैं—**'नाऽहम्'** इत्यादिसे ।

इस प्रकारका विराड् रूपवाला मैं न वेदोंसे—सकल वेदोंके अध्ययनसे—, न कृच्छ्र आदि

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ॥ ५४ ॥

हे अर्जुन, मेरे इस प्रकारके स्वरूपको अनन्य भक्तिसे मुमुक्षु पुरुष यथार्थतः जान सकते हैं, देख सकते हैं तथा विदेहावस्थामें मेरे स्वरूपसे अवस्थित भी रह सकते हैं ॥ ५४ ॥

श्रौतस्मार्तकर्मभिरप्येवंविधो विश्वरूपोऽहं द्रष्टुं शक्योऽस्मि । यथा मां त्वं दृष्टवानसि तथा वेदाध्ययनादिपुण्यकर्माणो मां सविशेषमेव द्रष्टुं न शक्नुवन्ति कुतो निर्विशेषं साक्षात्कुर्युरित्यर्थः । एतेन 'न वेदयज्ञाध्ययनैः' इति प्रतिपादितस्यैवाऽर्थस्य 'नाऽहं वेदैः' इति पुनः प्रतिपादनेन कर्मणां मोक्षं प्रति साक्षात्साधनत्वं कथंचिदपि न सिध्यतीति सम्यक्सूचितं भवति ॥ ५३ ॥

ननु वेदादीनामसाधनत्वे तर्हि केन तव साक्षात्कार इत्याकाङ्क्षायामाह— **भक्त्येति ।**

तु शब्दोऽन्यस्याऽसाधनत्वनिर्धारणार्थः । 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादिशास्त्रार्थोपदेशजन्यज्ञानसमुत्पन्नयाऽनन्यया श्रुतं दृष्टं स्पृष्टं मतं विज्ञातं च सर्वं ब्रह्मैवेति सर्वस्य स्वस्य च ब्रह्ममात्रत्वावगाहिन्या प्रत्ययान्तरशून्यया भक्त्या त्वनुसन्धानेनैव एवंरूपो विश्वात्मकोऽहं परमात्मा सम्यगाराधितः सन् तत्त्वेन यथार्थस्वरूपेण इदमेव परमार्थं वस्त्विति ज्ञातुं निश्चेतुं, द्रष्टुमिदमेवाहमिति स्वात्मना साक्षात्कर्तुमपि, प्रवेष्टुं

तपोंसे, न कन्यादान आदि दानोंसे और न इज्यासे—श्रौत-स्मार्त कर्मोंसे—देखा जा सकता हूँ। जैसे तुमने मुझको देखा है वैसे वेदाध्ययन आदि पुण्यकर्म करनेवाले मुझ सविशेषको ही जब नहीं देख सकते तब निर्विशेषस्वरूप मेरा साक्षात्कार वे कैसे कर सकेंगे, यह अर्थ है। इससे यह सम्यक् सूचित होता है कि 'वेद और यज्ञके अध्ययनसे नहीं' इससे प्रतिपादित अर्थका 'न मैं वेदोंसे' इससे फिर प्रतिपादन करनेसे कर्म मोक्षके प्रति साक्षात् साधन किसी प्रकार भी नहीं हो सकते हैं ॥ ५३ ॥

यदि वेद आदि आपके साक्षात्कारके साधन नहीं हैं, तो किस साधनसे आपका साक्षात्कार होता है, ऐसी आकांक्षा होनेपर कहते हैं—**'भक्त्या'** इत्यादिसे ।

तुशब्द भक्तिसे अन्यमें असाधनत्व निश्चय करनेके लिए है । 'सब यह निश्चय ब्रह्म है' इत्यादि शास्त्रके अर्थके उपदेशसे जनित ज्ञानसे उत्पन्न हुई अनन्य, (सुना गया, देखा गया, छुआ गया, सोचा गया सब ब्रह्म ही है, यों सबको और अपनेको ब्रह्ममात्र बतलानेवाली, दूसरे प्रत्ययसे शून्य) भक्तिसे—अनुसन्धानसे—ही इस प्रकारके रूपवाला विश्वात्मक मैं परमात्मा भली भाँति आराधित होनेपर तत्त्वसे—यथार्थ स्वरूपसे—'यही परमार्थ वस्तु है' यों जानने—निश्चय करने—, देखने (यही मैं हूं, ऐसे अपने स्वरूपसे साक्षात्करने) और प्रवेश करनेके लिए—देह-

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥ ५५ ॥

हे अर्जुन, जो केवल मेरे ही लिए कर्म करता है, जिसके सम्पूर्ण इन्द्रियोंके व्यापार मेरे ही स्वरूपके ग्रहणमें तत्पर हैं, जो मेरा भक्त है, जो पुत्र, कलत्र आदिमें अनुराग-रहित है तथा जो सम्पूर्ण भूतोंमें वैररहित है, वह मुझको ही प्राप्त होता है ॥५५॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे विश्वरूपदर्शनयोगो नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

———

च विदेहीभूय मदात्मनाऽवस्थातुमपि च शक्योऽस्मि । निर्विशेषब्रह्मात्मना ज्ञानस्य विषयो भवामीत्यर्थः । अत्राऽयमभिप्रायः—मुमुक्षोर्मुख्याधिकारिणश्चित्तशुद्धये स-विशेषविश्वरूपस्य ब्रह्मण उपास्तौ श्रद्धाभक्तिभ्यामजस्रं ब्रह्मैवेदं सर्वमिति कृतायां तया भेदप्रत्ययनाशात्परिशुद्धात्मनो निर्विशेषं परं ब्रह्म ज्ञातुं साक्षात्कर्तुं तदात्मनाऽवस्थान-लक्षणां विदेहमुक्तिं च प्राप्तुमपि त्वयमेव विषयो भवतीति ॥ ५४ ॥

इत्येवं भक्तैर्ब्रह्मप्राप्तौ कारणत्वमुक्त्वाऽधुना वक्ष्यमाणसाधनपञ्चकसम्पत्त्या यो मां भजति तस्यैव चित्तप्रसादः सम्यग्ज्ञानं मोक्षश्च सिध्यतीति सूचयन्नध्यायमुपसंहरति—

मत्कर्मकृदिति ।

मत्कर्मकृत् मदर्थमेव कर्म लौकिकं वैदिकं च चेष्टामात्रं सर्वमपि करोति न तु स्वार्थमीषदपि यः स मत्कर्मकृत् । मत्परमः यदर्थं पुरुषः कर्म करोति तदेव फलं प्रतिपद्यते नाऽन्यत्तद्वदयमपि मदर्थं कर्म कुर्वन् सन् मामेव प्रतिपद्यते । ततोऽहमेव

रहित होकर मेरे स्वरूपसे स्थित होनेके लिए—भी शक्य हूँ । निर्विशेषब्रह्मस्वरूपसे मैं ज्ञानका विषय होता हूं, यह अर्थ है । यहां यह अभिप्राय है कि चित्तकी शुद्धिके लिए सविशेष विश्वरूप ब्रह्मकी श्रद्धा और भक्तिसे निरन्तर 'ब्रह्म ही यह सब है', यों उपासना करनेपर उससे भेद-प्रत्ययका नाश होनेके कारण परिशुद्ध चित्तवाले मुमुक्षु—मुख्य अधिकारी—पुरुषको निर्विशेष परब्रह्मका साक्षात्कार करनेके लिए और उसके स्वरूपसे अवस्थानरूप विदेहमुक्ति प्राप्त करनेके लिए यही विषय (चरम गन्तव्य धाम) है ॥ ५४ ॥

इस प्रकार भक्त द्वारा ब्रह्म प्राप्त होता है, इसमें कारण कहकर अब वक्ष्यमाण पाँच साधनोंकी संपत्तिसे जो मुझको भजता है, उसीको चित्तप्रसाद, सम्यग्ज्ञान और मोक्ष प्राप्त होता है, ऐसा सूचन करते हुए अध्यायका उपसंहार करते हैं—**'मत्कर्मकृत्'** इत्यादिसे ।

मत्कर्मकृत्—मेरे लिए ही लौकिक और वैदिक कर्म यानी सम्पूर्ण चेष्टाओंको जो करता है, अपने स्वार्थके लिए किंचित् भी नहीं करता, वह मत्कर्मकृत् । मत्परम—जिस फलके लिए पुरुष कर्म करता है, उसी फलको वह प्राप्त करता है, अन्य फलको नहीं, वैसे ही यह भी मेरे लिए कर्म करता है, अतः

कृतकर्मणां फलभूता परमाऽनुत्तमा गतिरस्येति मत्परमः। यद्वा स एव रक्षकः स एवाऽऽश्रयणीयः स एव प्रार्थनीयः स एव प्राप्तव्यः स एवाऽऽधारः स एव गतिश्चाऽस्माकमिति निरतिशयप्रीत्याऽहमेव परमो रक्षकत्वादिधर्मैरुत्कृष्टतमो यस्य स मत्परमः। यद्वा मीयते पदार्थोऽनयेति मा, मा नामेन्द्रियाणां वृत्तिः। मत्परा सर्वत्र मत्स्वरूपग्रहणपरा मा इन्द्रियवृत्तिर्यस्य स मत्परमस्तत एव मद्भक्तः। सर्वात्मानं मां सर्वत्र सर्वदा भजति चक्षुरादीनां विषयभूतं वस्तु सर्वं ब्रह्मैवेत्यनुसंदधातीति मद्भक्तः। सङ्गवर्जितः पुत्रमित्रकलत्रादिषु रक्तिहेतुष्वसद्बुद्ध्याऽनुषक्तिरहितः। तर्हि तेष्वनुरागाभावे द्वेषस्तु स्यादेवेत्याशङ्कायामाह—**निर्वैर इति।** सर्वभूतेषु स्वस्योपद्रवकारिषु सत्स्वपि निर्वैरः वैरं शत्रुत्वबुद्धिः सर्वत्र ब्रह्मभावनया सा निर्गता यस्य स निर्वैर उपशान्तसर्वविकारो यो मुमुक्षुर्भवति स भक्तवर्यो निर्विशेषब्रह्मविज्ञानेनाऽऽत्मप्रसादसंपन्नः सन्मां परं ब्रह्मेति। विदेहकैवल्यं प्राप्नोतीत्यर्थः॥ ५५॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमदानन्दात्मसरस्वतीशिष्यश्रीमच्छङ्करानन्दसरस्वतीकृतौ गीतातात्पर्यबोधिन्यामेकादशोऽध्यायः॥ ११॥

———०———

मुझको ही प्राप्त होता है। इससे किये गये कर्मोंकी फलभूत परम—अनुत्तम—गति—जिसकी मैं ही हूँ, वह मत्परम अथवा वही रक्षक है, वही आश्रयणीय है, वही प्रार्थनीय है, वही प्राप्तव्य है वही आधार है और वही हमारी गति है, इस प्रकारकी निरतिशय प्रीतिसे मैं ही परम—रक्षकत्व आदि धर्मोंसे उत्कृष्टतम—जिसका हूँ, वह मत्परम है। अथवा जिससे पदार्थ जाना जाता है वह मा है यानी इन्द्रियोंकी वृत्ति। मत्परा—मेरे स्वरूपके ग्रहणमें तत्पर है मा—इन्द्रियोंकी वृत्ति—जिसकी, वह मत्परम, इसीलिए मेरा भक्त (सर्वात्मस्वरूप मुझको जो सर्वत्र सर्वदा भजता है—चक्षु आदिकी विषयभूत वस्तु सब ब्रह्म ही है, यों अनुसन्धान करता है, वह मेरा भक्त है) सङ्गवर्जित—पुत्र, मित्र, कलत्र आदि प्रीतिके हेतुओंमें असत्‌बुद्धि होनेसे अनुरक्तिरहित। उनमें अनुराग न होनेसे द्वेष तो होगा ही, ऐसी आशङ्का होनेपर कहते हैं—**निर्वैर इति।** अपने उपद्रव करनेवाले सब भूतोंमें भी निर्वैर—वैर—शत्रुत्वबुद्धि, सर्वत्र ब्रह्मभावनासे वह जिसकी निकल गई है, वह निर्वैर—सर्वविकारोंसे रहित जो मुमुक्षु है, वह मेरा भक्तवर्य निर्विशेष ब्रह्मके विज्ञानसे आत्मप्रसादसे सम्पन्न होकर मुझ परब्रह्मको प्राप्त होता है। विदेहमुक्तिरूप कैवल्यको प्राप्त होता है, यह अर्थ है॥ ५५॥

ग्यारहवां अध्याय समाप्त।

———०———

द्वादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाऽप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ १ ॥

अर्जुनने कहा—भगवन्, पूर्वोक्त असङ्गत्व, निर्वैरत्व आदि साधनोंसे सर्वदा अभिन्नरूपसे युक्त होकर जो भक्त विश्वस्वरूप सगुण आपकी उपासना करते हैं तथा जो इन्द्रियोंके अविषय अक्षरस्वरूप निर्गुण आपकी उपासना करते हैं, उनमें से कौन योगवित्तम हैं ॥ १ ॥

नवमाध्यायान्ते 'मन्मना भव मद्भक्तः' इति चित्तशुद्धये स्वोपास्तिः कर्तव्येत्युक्ते तव स्वरूपे ज्ञाते खलूपास्तिः कर्तुं शक्यत इत्याकाङ्क्षायां मन्दप्रज्ञानामुपासनार्थं विष्ण्वादिविभूतिविशेषानुपदिश्य तत्र मुख्याधिकारिणः 'एकांशेन स्थितो जगत्' इति विश्वात्मकमैश्वरं रूपमुपास्यमिति सूचयित्वा यदेतद्रूपं मुमुक्षूपासनीयं तदहं पश्येयमिति प्रार्थितवतेऽर्जुनाय तद्दर्शयित्वा ममैतद्रूपमुक्तसाधनसंपत्त्या यः समुपास्ते स ज्ञानेन कैवल्यं परमपुरुषार्थं प्राप्नोतीति स्वोपास्तेर्महाफलवत्त्वं प्रतिपाद्याऽधुना सगुणनिर्गुणोपासकानां तारतम्यविशेषं सगुणोपासकानां स्वोपास्तेः साधनान्तराणि च निर्गुणब्रह्मविदां समुत्पन्नज्ञानरक्षार्थं साधनविशेषं च निरूपयितुं द्वादशाध्याय आरभ्यते । तत्राऽऽदौ 'न जायते म्रियते वा' इत्यादिना परं ब्रह्म ज्ञेयत्वेनोक्त्वा 'निस्त्रैगुण्यो भवाऽर्जुन' इति, 'तद्बुद्धयः' इति, महात्मानस्तु मां पार्थ' इति, 'मद्भक्ता यान्ति मामपि'

नवें अध्यायके अन्तमें 'मन्मना भव मद्भक्तः' इत्यादि श्लोकसे चित्तशुद्धिके लिए अपनी (परमेश्वरकी) उपासना करनी चाहिए, ऐसा कहनेपर आपका (ईश्वरका) स्वरूप जाननेपर ही उपासना की जा सकती है, ऐसी आकाङ्क्षा होनेपर मन्दप्रज्ञावाले मनुष्योंकी उपासनाके लिए विष्णु आदि विभूतिविशेषोंका उपदेश करके, उसमें मुख्य अधिकारीको 'एकांशेन स्थितं जगत्' (मेरे एक अंशसे जगत् स्थित है) इत्यादिसे विश्वात्मक ईश्वररूपकी उपासना करनी चाहिए, ऐसा सूचन करके, जो रूप मुमुक्षुके लिए उपासनीय है, उसे मैं भी देखूँ, यों प्रार्थना कर रहे अर्जुनको उसे दिखलाकर मेरे इस रूपकी उक्त साधनसम्पत्तिसे जो उपासना करता है, वह ज्ञानसे कैवल्यरूप परम-पुरुषार्थको प्राप्त होता है, यों अपनी उपासनाका महाफल कहकर अब सगुण और निर्गुण ब्रह्मके उपासकोंके तारतम्यविशेषका, सगुण उपासकोंके लिए अपनी उपासनाके अन्य साधनोंका तथा निर्गुण ब्रह्मविदोंके उत्पन्न ज्ञानकी रक्षाके लिए साधनविशेषका निरूपण करनेके लिए बारहवें अध्यायका आरम्भ किया जाता है। सर्वप्रथम 'न जनमता है और न मरता है' इत्यादिसे परब्रह्म ज्ञेय है,

इति च परस्य ब्रह्मण उपासनं तत्फलं च निरुक्तं सप्तमेऽष्टमे नवमे दशमे एकादशे च सगुणब्रह्मणोऽपि स्वरूपमुपासनं च सफलं प्रतिपादितम्; तदेतद्रूपद्वयं श्रुत्वा द्वयोरेतयोः पक्षयोर्विशेषे विज्ञाते सुकरे मुमुक्षवः प्रवर्तेरन्निति बुद्ध्या सगुण-निर्गुणोपासकानां तारतम्यविशेषं ज्ञातुमिच्छया भगवन्तं प्रष्टुमर्जुन उवाच—**एवमिति**।

एवमेवंप्रकारैस्त्वत्कर्मकृत्त्वत्वत्परमत्वत्वद्भक्तत्वासङ्गत्वनिर्वैरत्वलक्षणैः साधनैः सततयुक्ताः सततं सर्वदाऽभिन्नतया युक्ता विशिष्टा भूत्वा ये भक्ताः सगुणनिष्ठास्त्वां विश्वरूपं सर्वज्ञं सर्वकारणं परमेश्वरं पर्युपासते भजन्ते। किञ्च, अव्यक्तं शब्दादिविशेषाभावान्न व्यज्यत इत्यव्यक्तं सर्वेन्द्रियागोचरम् 'अस्थूलमनण्वह्रस्वम्' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धमक्षरं स्वस्मिन्नध्यस्तं सर्वं महदादिस्थूलान्तमश्नुत इत्यक्षरमपि निर्विशेषं त्वां परं ब्रह्म ये च ब्रह्मविदः शमदमादिभिरद्वेष्टृत्वादिभिः सत्साधनैः संपन्नाः सन्तः पर्युपासते निरन्तरमनुसन्दधते तेषामेतेषामुभयेषां मध्ये के योगवित्तमाः योगः समाधिस्तं विदन्ति प्राप्नुवन्तीति योगविदस्तेषां मध्ये के विशिष्टयोगिन इत्यर्थः। अत्राऽयमभिप्रायः—मुमुक्षूणां सगुणोपासनं निर्गुणोपासनं चोभयमपि मोक्षसाधनं त्वयोपदिष्टम्, तत्र सुकरं किं साक्षान्मोक्षहेतुः किम्, तद्वक्तव्यमिति ॥ १ ॥

ऐसा कहकर 'हे अर्जुन, त्रैगुण्यसे रहित होओ', 'उसीमें बुद्धिवाले', 'हे पार्थ, महात्मा तो मुझको' और 'मेरे भक्त मुझको प्राप्त होते हैं' इत्यर्थक वाक्योंसे परब्रह्मकी उपासना और उसके फलका प्रतिपादन किया। सातवें, आठवें, नवें, दसवें और ग्यारहवें अध्यायमें सगुण ब्रह्मके भी स्वरूप, उपासना और उसके फलका प्रतिपादन किया। उन दो रूपोंको सुनकर इन दोनों पक्षोंमें भेदके जाननेपर, सुकरमें मुमुक्षु प्रवृत्त हों, इस बुद्धिसे सगुण और निर्गुण ब्रह्मके उपासकोंके तारतम्यको जाननेकी इच्छासे भगवान्‌से पूछनेके लिए अर्जुन बोले—'**एवम्**' इत्यादिसे।

इस प्रकार—त्वत्कर्मकृत्त्व, त्वत्परमत्व, त्वद्भक्तत्व, असङ्गत्व तथा निर्वैरत्वरूप साधनोंसे सततयुक्त (सतत—सर्वदा—अभिन्नतासे युक्त यानी विशिष्ट) होकर जो सगुणनिष्ठावाले भक्त विश्वरूप, सर्वज्ञ तथा सर्वकारण परमेश्वरस्वरूप आपका भजन करते हैं। किञ्च, अव्यक्त (शब्दादि-विशेषके अभावसे जो प्रकट नहीं होता, वह अव्यक्त है) यानी सब इन्द्रियोंका अविषय 'स्थूल नहीं, अणु नहीं, ह्रस्व नहीं' इत्यर्थक श्रुतिप्रसिद्ध अक्षरका (अपनेमें अध्यस्त महत्‌से लेकर स्थूलपर्यन्त सम्पूर्ण जगत्‌को जो व्याप्त करता है, वह अक्षर है, उसका) यानी निर्विशेष परब्रह्मरूप आपका जो ब्रह्मवित् शम, दम आदि तथा अद्वेष्टृत्व आदि सत् साधनोंसे संपन्न होकर निरन्तर अनुसन्धान करते हैं, उन दोनोंके मध्यमें कौन योगवित्तम हैं यानी योगको (समाधिको) जो प्राप्त होते हैं, वे योगवित् है। उनके मध्यमें कौनसे विशिष्ट योगी हैं, यह अर्थ है। यहां यह अभिप्राय है—सगुण और निर्गुण दोनों उपासनाएँ मुमुक्षुओंके लिए मोक्षकी साधन हैं, ऐसा आपने उपदेश किया, उनमें सुकर कौन है यानी साक्षात् मोक्षकी हेतु कौन है ? उसे कहिए ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ २ ॥

भगवान्‌ने कहा—हे अर्जुन, जो मोक्षस्वरूप मुझमें मन लगाकर मत्कर्मकृत्त्व आदि धर्मोंमें सदा निरत तथा निश्चल आस्तिक्य-बुद्धिसे युक्त हो मेरी उपासना करते हैं, वे ही योगियोंमें श्रेष्ठ हैं, ऐसा मेरा मत है ॥ २ ॥

एवं पृष्टवते आरुरुक्षोः प्रथममेवोत्तमं साधनं सुकरं द्वितीयं त्वारूढस्येति सूचयन्नारुरुक्षवेऽर्जुनायाऽऽदिममेव प्ररोचनपूर्वकमुपदेष्टुं श्रीभगवानुवाच—**मयीति** ।

मोक्षस्वरूपे मयि मनः सम्यगावेश्य । मोक्षमेव वाञ्छन्तः सन्त इत्यर्थः । यद्वा मयि मत्स्वरूपे दृष्टं स्पृष्टं श्रुतं मतं च सर्वं ब्रह्मैवेति सर्वस्य मन्मात्रत्वग्रहण एव मन आवेश्य सम्यग् निधाय । यद्वा मयि मद्ध्यान एव न तु विषयचिन्तने मन आवेश्य नित्ययुक्ता मत्कर्मकृत्त्वादिधर्मेषु नित्यमजस्रं युक्ता नियता भूत्वा परया निश्चलया श्रद्धया उक्तसाधनैः परमेश्वरोपास्तौ कृतायां चित्तशुद्धिस्ततो ज्ञानं च तेन मोक्षोऽपि सिध्यति वा न वेत्यादिसंशयनिर्मुक्तयाऽस्तिक्यबुद्ध्या समुपेताः सन्तः स्वधर्मं स्वाश्रमं स्वजनं स्वलक्षणं चाऽपरित्यज्यैवाऽतिभक्त्या ये मां विश्वरूपं सर्वज्ञं सर्वात्मकं परमेश्वरमुपासते सदा सर्वत्र सर्वं मामेव भावयन्ति त एव युक्ततमा योगिश्रेष्ठा इति मे मताः । मया निश्चिता इत्यर्थः । गृह एव वर्तमाना मौक्षैककामनया

'आरुरुक्षुके लिए पहला ही उत्तम तथा सुकर साधन है और दूसरा साधन योगारूढ़के लिए है', ऐसा सूचन कर रहे श्रीभगवान् उक्त रीति पूछनेवाले आरुरुक्षु अर्जुनके लिए पहले साधनका ही प्ररोचनपूर्वक उपदेश करनेके लिए बोले—**'मयि'** इत्यादिसे ।

मोक्षस्वरूप मुझमें मनको भली भाँति लगाकर यानी केवल मोक्षकी ही इच्छा करते हुए, यह अर्थ है । अथवा मुझमें—मेरे स्वरूपमें अर्थात् देखा गया, छुआ गया, सुना गया और विचारा गया, सब ब्रह्म ही है, यों सबकी मत्स्वरूपताके ग्रहणमें—ही मनको ठीक ठीक लगाकर अथवा मुझमें—मेरे ध्यानमें—ही न कि विषयचिन्तनमें मनको लगाकर नित्ययुक्त—मत्कर्मकृत्त्व आदि धर्मोंमें नित्य (सर्वदा) युक्त (नियत) होकर परम (निश्चल) श्रद्धासे, उक्त साधनोंसे परमेश्वरकी उपासना करनेसे चित्तकी शुद्धि होती है, तदनन्तर ज्ञान होता है और उससे मोक्ष होता है या नहीं होता, इत्यादि संशयसे रहित आस्तिक्यबुद्धिसे) युक्त होकर स्वधर्म, स्वाश्रम, स्वजन और स्वस्वरूपका त्याग किये बिना ही अति भक्तिसे जो मेरी—विश्वरूप, सर्वज्ञ, सर्वात्मक परमेश्वरकी—उपासना करते हैं—सदा सर्वत्र सबमें मेरी ही भावना करते हैं—, वे ही युक्ततम—श्रेष्ठ योगी हैं—, ऐसा मेरा मत है । मैंने निश्चय किया है, यह अर्थ है । घरमें ही रहते हुए केवल मोक्षकी ही

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ ३ ॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ४ ॥

सम्पूर्ण इन्द्रियोंका निग्रह कर, सम्पूर्ण प्रपञ्चमें ब्रह्मबुद्धि रखवाले तथा सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें तत्पर होकर जो पुरुष अक्षर, अनिर्देश्य, अव्यक्त, सर्वत्र व्याप्त, अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल तथा शाश्वत परब्रह्मकी उपासना करते हैं, वे मुझको ही प्राप्त होते हैं ॥ ३,४ ॥

मत्कर्मकृत्त्वादिमोक्षसाधनपरिनिष्ठिता भूत्वा सदा सर्वं मामेव भावयन्तः सन्तो ये कालं नयन्ति तेषामेव युक्तं योगिवरिष्ठत्वमित्यभिप्रायः । एतेन स्वाधिकारानुरूपं सगुणोपासनमेवाऽऽरुरुक्षोर्मुमुक्षोः सुकरं स्वार्थदं साधनमिति सूचितं भवति ॥ २ ॥

मुमुक्षूणां मन्दप्रज्ञानां सगुणोपास्तौ प्रवृत्तिसिद्धये 'ते मे युक्ततमाः' इति कर्मयोगिनः स्तुत्वाऽधुना परस्य ब्रह्मणः स्वरूपं साधकानां साधनसंपत्तिं च प्रतिपादय-न्निर्गुणोपासकानां युक्ततमत्वं तदुपास्तेः साक्षान्मोक्षैकसाधनत्वं च फलप्रकाशनेन स्वयमेव सिध्यतीति ब्रह्मविदां ब्रह्मोपास्तेः फलमाह—**ये त्विति** द्वाभ्याम् ।

उपासकानामुपास्तेरुपास्यस्य च क्रमात् साधनतः फलतः स्वरूपतश्च पूर्वस्मा-द्वैलक्षण्यद्योतनार्थस्तुशब्दः । इन्द्रियग्रामं संनियम्य संनिरुध्य विषयग्रहणायेन्द्रियेषु चलितेषु मनोऽपि चलति तेन समाधिर्भिद्यते तत इन्द्रियाणां विषयग्रहणवैमुख्यं

कामनासे मत्कर्मकृत्त्वादि मोक्षसाधनोंमें निष्ठावाले होकर सदा सबमें मेरी ही भावना करते हुए जो कालका अतिक्रमण करते हैं, वे ही युक्त हैं—श्रेष्ठ योगी हैं, यह अभिप्राय है । इससे यह सूचित होता है कि अपने अधिकारके अनुरूप सगुण ब्रह्मकी उपासना ही आरुरुक्षु मुमुक्षुके लिए सुकर साधन हैं—स्वार्थ देनेवाला साधन है ॥ २ ॥

मन्दबुद्धिवाले मुमुक्षुओंकी सगुण उपासनामें प्रवृत्ति हो, इसलिए 'वे मेरे मतसे युक्ततम हैं', इससे कर्मयोगियोंकी स्तुति करके अब परब्रह्मके स्वरूपको और साधकोंकी साधनसंपत्तिको कहकर निर्गुण उपासकोंका युक्ततम होना और उनकी उपासनाका साक्षात् मोक्षका ही साधन होना फलके प्रकाशसे स्वयं ही सिद्ध होता है, यों ब्रह्मविदोंकी ब्रह्मोपासनाका फल कहते हैं—**'ये तु'** इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

उपासकोंकी उपासना और उपास्यका क्रमशः साधनसे, फलसे और स्वरूपसे पूर्वसे वैल-क्षण्यद्योतन करनेके लिए 'तु' शब्द है । इन्द्रियसमूहका संनियम करके—संनिरोध करके—विषयग्रहण करनेके लिए इन्द्रियोंके चलनेपर मन भी चलता है, इसलिए समाधि टूट जाती है,

संपाद्येत्यर्थः । सर्वभूतहिते मशकपिपीलिकादीनां च सर्वेषां भूतानां हिते उपद्रवानाचरणे 'जनकृपानैष्ठुर्यमुत्सृज्यताम्' इति न्यायेनाऽहितानाचरणे च रता निरताः । यद्वा सर्वेषां ब्रह्मादिस्तम्बान्तानां भूतानां प्राणिनां हिते परमप्रेमास्पदत्वात्प्रियतमे प्रत्यगात्मनि रताः । सर्वत्र प्रत्यग्रूपेण स्थितमात्मानं सर्वात्मकोऽहमिति स्वात्मना पश्यन्त इत्यर्थः । तत एव सर्वत्र प्रपञ्चे समबुद्धयो ब्रह्मदृष्टयः सन्तो ये तु यतयो ब्रह्मविदः स्वयमव्यक्तं शब्दस्पर्शरूपाद्यभावान्न व्यज्यत इत्यव्यक्तं सर्वेन्द्रियागोचरं तत एवाऽनिर्देश्यं वागादिभिरिदमिति निर्देष्टुमशक्यं सर्वत्रगं गगनवन्निराकारं परिपूर्णमव्यक्तत्वादचिन्त्यमत एव कूटस्थं कूटवदकम्प्यतया तिष्ठतीति कूटस्थं तत एवाऽचलं चलनवर्जितं तत एव ध्रुवं शाश्वतमेवंलक्षणमक्षरं परं ब्रह्म पर्युपासते सर्वदाऽनुसन्दधते । सर्वं निर्विशेषं ब्रह्मैव ये पश्यन्तीत्यर्थः । ते ब्रह्मनिष्ठा मामेव सच्चिदानन्दैकरसं परं ब्रह्म प्राप्नुवन्ति । सगुणोपासकाः पूर्वोक्ता भक्तास्त्वग्न्यादिदेवान् प्राप्य क्रमेण मां प्राप्नुवन्ति । अक्षरोपासकास्तूत्क्रान्तिं देवतान्तरप्राप्तिं च विना साक्षाद् ब्रह्मैव मां प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । यत एवं ततः साक्षाद्ब्रह्मप्राप्तिरेव ब्रह्मविदामब्रह्मविदां च युक्ततमत्वमयुक्ततमत्वं च विस्पष्टयति । यथा परानपेक्षया तदपेक्षया च राजसान्निध्यं

इसलिए इन्द्रियोंको विषयग्रहणसे विमुख करके, यह अर्थ है । सब भूतोंके हितमें—मच्छर, चींटी आदि सब भूतोंके हितमें—यानी उपद्रव न करनेमें 'जनोंपर कृपा करनी चाहिए, क्रूरता त्यागनी चाहिए' इस न्यायसे अहित न करनेमें रत—निरत । अथवा सबके—ब्रह्मासे लेकर स्तम्ब तक भूतोंके—प्राणियोंके—हितमें (परम प्रेमास्पद होनेसे प्रियतम प्रत्यक् आत्मामें) रत । सर्वत्र प्रत्यग्रूपसे स्थित आत्माको 'सर्वात्मक मैं हूँ' यों अपने आत्मरूपसे देखते हुए, यह अर्थ है । इसीलिए सम्पूर्ण प्रपञ्चमें समबुद्धिवाले (ब्रह्मदृष्टिवाले) होकर जो ब्रह्मवित् यति स्वयं अव्यक्त (शब्द, स्पर्श, रूप आदि न होनेसे जो प्रकट नहीं होता, वह अव्यक्त है) यानी सम्पूर्ण इन्द्रियोंके अविषय, इसीलिए अनिर्देश्य—वाणी आदिसे 'यह है' यों जिसका कथन नहीं हो सकता—, सर्वजग यानी आकाशके समान व्यापक, निराकार एवं परिपूर्ण, अव्यक्त होनेसे अचिन्त्य, इसीलिए कूटस्थ (कूटके समान अकम्प्य होकर जो स्थित रहता है, वह कूटस्थ है), इसीलिए अचल—चलनक्रियासे रहित—इसीलिए ध्रुव—शाश्वत— इस प्रकारके लक्षणवाले अक्षर परब्रह्मका अनुसन्धान करते हैं । सबको निर्विशेष ब्रह्मस्वरूप जो देखते हैं, यह अर्थ है । वे ब्रह्मनिष्ठ मुझको ही—सच्चिदानन्दैकरस परब्रह्मको ही—प्राप्त होते हैं । सगुणोपासक पूर्वोक्त भक्त अग्नि आदि देवताओंको प्राप्त होकर क्रमसे मुझको प्राप्त होते हैं, अक्षरोपासक तो उत्क्रान्ति और दूसरे देवताकी प्राप्तिके बिना साक्षात् मुझ ब्रह्मको ही प्राप्त होते हैं, यह अर्थ है । जिस कारणसे ऐसा है, इसलिए साक्षात् ब्रह्मप्राप्ति ही ब्रह्मविदों और अब्रह्मविदोंके क्रमशः युक्ततमत्व और अयुक्ततमत्वको स्पष्ट करती है । जैसे दूसरेकी अपेक्षा न कर स्वयं ही और दूसरेकी सहायतासे राजाके सांनिध्यको प्राप्त करनेवाले पुरुषोंमें राजाके आप्त-

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५ ॥

व्यक्तस्वरूप ईश्वरकी उपासना करनेवालोंकी अपेक्षा इन्द्रियोंके अविषय अव्यक्त ब्रह्ममें अन्तःकरण लगानेवालोंको अधिक क्लेश होता है, क्योंकि देहमें आत्मबुद्धि करनेवाले पुरुषोंको अव्यक्तात्मक ब्रह्मभावकी प्राप्ति अत्यन्त कष्टसे होती है ॥ ५ ॥

प्राप्तवतामाप्ततमत्वमनाप्ततमत्वं च तत्प्राप्तिरेव विशदयति तद्वत्। तेन युक्ततमत्वं पूर्वेषामौपचारिकमिति सिद्धम्। निर्गुणोपास्तेरेव साक्षात्साधनत्वं ब्रह्मप्राप्त्या सूचितं भवति। एतेन सदसद्विवेकवतां पण्डितानां शुद्धात्मनां तीव्रमोक्षेच्छावतां सर्वकर्मसंन्यासपूर्वकं श्रवणादिना ब्रह्म ज्ञात्वा तदुपास्तिरेव कर्तव्या विदेहकैवल्यसिद्ध्य इति सूचितं भवति ॥ ३, ४ ॥

अपक्वचित्तानामक्षरोपास्तौ क्लेशाधिक्यमिति सूचयितुमाह—**क्लेश इति**।

यद्यपि व्यक्तस्य ममेश्वरस्योपासकानामपि मत्कर्मकृत्त्वादिधर्मसिद्धावस्त्येवाऽधिकक्लेशस्तथाप्येतदपेक्षया अव्यक्तासक्तचेतसां अव्यक्ते सर्वेन्द्रियागोचरे अदृश्यादिगुणकेऽतर्क्येऽचिन्त्येऽप्रमेये परे ब्रह्मण्यासक्तं तद्भावापत्त्यै यतमानं चेतो येषां तेषामव्यक्तासक्तचेतसां निराकारं परं ब्रह्म निदिध्यासयतां यतीनां विषयत्यागकृत आश्रमधर्मकृतो यमनियमाद्यभ्यासकृतोऽसत्प्रत्ययनिरासकृतो निराकारे ब्रह्मणि मनःस्थापनकृतश्च

तमत्व और अनाप्ततमत्वको उसकी प्राप्ति ही स्पष्ट करती है, वैसे ही यहां भी युक्ततमत्व और अयुक्ततमत्व समझना चाहिये। इससे पूर्वोक्त सगुणोपासकोंमें युक्ततमत्व औपचारिक है, यह सिद्ध हुआ। निर्गुण उपासना ही साक्षात् साधन है, यह ब्रह्मप्राप्तिसे सूचित होता है। इससे सत् और असत्का विवेक करनेवाले, शुद्धात्मा तथा तीव्र मोक्षकी इच्छावाले पण्डितोंको सर्वकर्मसंन्यासपूर्वक श्रवणादिके अनुष्ठानसे ब्रह्मको जानकर विदेहमुक्तिकी सिद्धिके लिए ब्रह्मकी उपासना ही करनी चाहिए, यह सूचित होता है ॥ ३ ॥ ४ ॥

अपक्वचित्तवाले पुरुषोंको अक्षरकी उपासनामें अत्यन्त क्लेश होता है, ऐसा सूचन करनेके लिए कहते हैं—'**क्लेशोऽ०**' इत्यादिसे।

यद्यपि व्यक्तस्वरूप मुझ ईश्वरकी उपासना करनेवाले मनुष्योंको भी मत्कर्मकृत्त्व आदि धर्मोंकी प्राप्तिमें अत्यन्त क्लेश होता ही है, तथापि उसकी अपेक्षा अव्यक्तासक्तचेतस् (अव्यक्तमें यानी सम्पूर्ण इन्द्रियोंके अविषय, अदृश्य आदि गुणवाले, अतर्क्य, अचिन्त्य तथा अप्रमेय परब्रह्ममें आसक्त यानी उसके स्वरूपकी प्राप्तिके लिए यत्नशील है चित्त जिनका वे अव्यक्तासक्तचेतस्) यानी अव्यक्तमें आसक्त चित्तवाले पुरुषोंको—निराकार परब्रह्मका निदिध्यासन करनेवाले यतियोंको—विषयोंके त्यागसे उत्पन्न, आश्रमधर्मोंके अनुष्ठानसे जनित, यम, नियम आदिके अभ्याससे जनित, असत्-प्रत्ययके

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥

मत्परायण होकर, मुझ परमात्मस्वरूपमें सम्पूर्ण कर्मोंका त्याग कर जो अनन्ययोगसे ध्यान करते हुए मेरी उपासना करते हैं ॥ ६ ॥

क्लेशोऽधिकतरो भवति, एकैकस्य साधनस्य सिद्धेर्दुष्करत्वात्तत्राऽप्यनात्मन्यहंभावपरित्यागो ब्रह्मणाऽपि कर्तुं न शक्यते । तथा ब्रह्मणि जगत्प्रत्ययपरित्यागोऽपि तत्त्यागस्य निरन्तरक्लेशसाध्यत्वाद् ब्रह्मविदामधिकतर एव क्लेश इत्यर्थः । इममर्थं स्वयमेव विस्पष्टयति श्रीभगवान्—**अव्यक्तेति** । हि यस्मात्कारणादव्यक्ताऽव्यक्तात्मिका गतिस्तद्भावापत्तिर्देहवद्भिर्देहतादात्म्यवद्भिः पुम्भिर्दुःखं यथा तथाऽवाप्यते । दुःखेनाऽत्यन्तक्लेशेन प्राप्यत इत्यर्थः । नहि सामान्यप्रयत्नेन देहाद्यहङ्कारः पुंसो निवर्तते चिरकालनित्यनिरन्तरनियतनिर्विकल्पसमाधिनिष्ठाविशेषाधिक्येन विना । सति यस्मिन्निःशेषविनष्टे ब्रह्मण्येवाऽऽत्मत्वं सिध्यति, अतो युक्तमव्यक्तासक्तचेतसां क्लेशाधिकतरत्वम् । तेषां या देहाद्यहङ्कारविच्छित्तिः साधनसम्पत्तिः साऽग्रे कथ्यते ॥ ५ ॥

यस्मादेवं तस्मादनायासेनाऽक्षरोपास्तिसिद्धेः कारणं सगुणोपास्तिः साऽवश्यं मुमुक्षुभिः कर्तव्या । ये तु तन्निष्ठास्ते सुखेनाऽक्षरोपास्तिं तत्प्राप्तिं च गच्छन्तीत्युभयसाध्यसाधनभावमङ्गीकृत्य साधनस्यैवाऽवश्यकर्तव्यतां सूचयितुमाह—**ये त्विति** ।

निराकरणसे उत्पन्न तथा निराकार ब्रह्ममें मनःस्थापनसे जनित क्लेश अधिकतर होता है, क्योंकि पूर्वोक्त प्रत्येक साधनकी सिद्धि दुष्कर है, उनमें भी अनात्मामें अहंभावका परित्याग ब्रह्मा भी नहीं कर सकते यानी अत्यन्त दुष्कर है । तथा ब्रह्ममें जगत्के प्रत्ययका त्याग भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसका त्याग निरन्तर क्लेशसे ही हो सकता है, इसलिए ब्रह्मविदोंको अत्यधिक ही क्लेश होता है, यह अर्थ है । इस अर्थको श्रीभगवान् स्वयं स्पष्ट करते हैं—'**अव्यक्ता**' इत्यादिसे। जिस कारणसे अव्यक्ता यानी अव्यक्तात्मिका गति (ब्रह्मभावापत्ति) देहवालोंसे—देहमें आत्मतादात्म्यबुद्धि रखनेवाले पुरुषोंसे—दुःखपूर्वक प्राप्त की जाती है । दुःखसे—अत्यन्त क्लेशसे—प्राप्त होती है, यह अर्थ है । पुरुषका देहादिमें अहंकार चिरकाल तक नित्य निरन्तर नियत निर्विकल्पसमाधिनिष्ठाविशेषकी अधिकताके सिवा सामान्यप्रयत्नसे निवृत्त नहीं होता । जिसके निःशेष नष्ट होनेपर ही ब्रह्ममें आत्मत्व सिद्ध होता है, इसलिए अव्यक्तासक्तचित्तवालोंको अधिकतर क्लेश होना युक्त ही है । देहादिमें अहङ्कारका विनाश करनेवाली उनकी जो साधनसंपत्ति है, वह आगे कही जायगी ॥५॥

जिस कारणसे ऐसा है, इसलिए अक्षरकी उपासनाकी अनायास सिद्धिकी कारण सगुण उपासना मुमुक्षुको अवश्य करनी चाहिए । जो उसमें निष्ठा रखते हैं, वे सुखसे अक्षरकी उपासना और मुक्तिको प्राप्त होते हैं, इस प्रकार दोनोंमें साध्यसाधनभावका अङ्गीकार करके साधनका ही अवश्य अनुष्ठान करना चाहिए, ऐसा सूचन करनेके लिए कहते हैं—'**ये तु**' इत्यादिसे ।

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥

हे अर्जुन, मैं मुझमें ही अन्तःकरण लगानेवाले अपने उन भक्तोंका अज्ञानसे युक्त संसाररूप सागरसे शीघ्र उद्धार करता हूँ ॥ ७ ॥

तुशब्दः पूर्वोपासकव्यावृत्त्यर्थः । ये तु सगुणोपासका मद्भक्ताः सर्वाणि वैदिकान्यवैदिकानि च कर्माणि मयि परमेश्वरे संन्यस्य मदर्पितानि कृत्वा मत्पराः मदेकप्रवणाः सन्तः । यद्वा अहमेव विश्वरूपः परमात्मा परः स्वस्मादन्यः श्रोतव्यो द्रष्टव्यः स्प्रष्टव्यो मन्तव्यो ज्ञातव्यश्च पदार्थो येषां ते मत्पराः स्वव्यतिरिक्ते वस्तुनि सर्वत्र मद्बुद्धय इत्यर्थः । तत एवाऽनन्येन न विद्यतेऽन्यद् मद्व्यतिरिक्तं बुद्धेरालम्बनं यत्र सोऽनन्यस्तेनैव योगेन समाधिना मां विश्वरूपं सर्वात्मकं परमेश्वरं ध्यायन्त उपासते । मदाकारवृत्त्या सदा मामेव ये भजन्तीत्यर्थः ॥ ६ ॥

एवं सगुणोपास्त्या शुद्धात्मनामक्षरोपास्तिस्तत्फलप्राप्तिश्च सुलभेति सूचयितुं सगुणोपास्तेः फलमाह—**तेषामिति** ।

मयि विश्वरूपे 'एष सर्वभूतान्तरात्मा' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धे परमेश्वर एवाऽऽवेशितं सर्वं ब्रह्मैवेति भावनायामेव स्थापितं चेतो येषां तेषां सर्वदा सर्वथा मामेव भजतां मद्भजनेन संप्राप्तसत्त्वशुद्धीनां तेषां मद्भक्तानां नचिराच्छीघ्रं मदुपास्त्या सम्यक्चित्त-

---

'तु' शब्द पूर्व उपासककी व्यावृत्तिके लिए है । जो सगुणोपासक मेरे भक्त सम्पूर्ण वैदिक या अवैदिक कर्मोंका मुझ परमेश्वरमें त्याग कर—मेरे अर्पण कर—मत्पर (केवल मेरे परायण) होकर अथवा विश्वरूप परमात्मा मैं ही पर—अपनेसे अन्य—सुनने योग्य, छूने योग्य, मनन करने योग्य और जानने योग्य जिनका पदार्थ हूँ, वे मत्पर हैं—अपनेसे भिन्न सब वस्तुओंमें परमात्मबुद्धि रखनेवाले, यह अर्थ है। इसीलिए अनन्य (मेरे सिवा अन्य बुद्धिका आलम्बन जिसमें विद्यमान नहीं है, वह अनन्य है) योगसे—समाधिसे—मुझ विश्वरूप सर्वात्मक परमेश्वरका ध्यान करते हुए उपासना करते हैं । मदाकारवृत्तिसे सदा मुझको ही जो भजते हैं, यह अर्थ है ॥ ६ ॥

इस प्रकार सगुण उपासनासे जो शुद्धात्मा हो गये हैं, उनको अक्षरकी उपासना और उसके फलकी प्राप्ति सुलभ है, ऐसा सूचन करनेके लिए सगुण उपासनाका फल कहते हैं—'**तेषाम्**' इत्यादिसे ।

'यह सब भूतोंका अन्तरात्मा है' इत्यादि श्रुतिप्रसिद्ध मुझ विश्वरूप परमेश्वरमें ही आवेशित—सब ब्रह्म ही है, ऐसी भावनामें ही स्थापित—है चित्त जिनका, उन सर्वदा और सर्वथा केवल मुझको ही भजनेवाले मेरे भजनसे प्राप्त चित्तशुद्धिसे युक्त उन मेरे भक्तोंका नचिरात्—शीघ्र ही—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥

हे अर्जुन, विश्वरूप मुझमें ही तुम अपना मन लगाओ, यह सब ब्रह्म ही है, यों मेरा अनुसन्धान करो, तदनन्तर निर्विशेष परब्रह्मका परिज्ञान कर निर्विशेषस्वरूप मुझमें ही स्थित होओगे, इसमें तनिक भी संशय नहीं है ॥ ८ ॥

शुद्ध्युत्पत्त्युत्तरक्षण एव 'तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् । ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ तेषामेवाऽनुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः । नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥' इत्युक्तप्रकारेणाऽहं परमेश्वरः सम्यग्दर्शनलक्षणं ज्ञानयोगं दत्त्वा ज्ञानदीपेनाऽज्ञानध्वान्तविध्वंसनं च कृत्वा । सम्यग्निर्गुणब्रह्मनिष्ठां संपाद्येत्यर्थः । मृत्युसंसारसागरात् म्रियन्ते पुनः पुनः प्राणिनो यस्मात्स मृत्युरज्ञानं सर्वानर्थकारणं तेन युक्तस्तत्कार्यभूतोऽहंममेत्यादिप्रवृत्तिलक्षणः संसारः सोऽयं निरवधिकत्वात् दुस्तरत्वात्तापत्रयवडवानलमयत्वाच्च सागरवद्भवतीति मृत्युसंसारसागरस्तस्मादुद्धर्ताऽस्मि समुद्धरणकर्ता भवामि । ब्रह्मज्ञानं तन्निष्ठा तत्प्राप्तिश्च यथा सिद्ध्येत्तथाऽनुग्रहं करोमीत्यर्थः । एतेन सगुणोपास्तिरङ्गं निर्गुणोपास्तिरङ्गी तयोः फलं तु मोक्ष एव मत्प्रसादैकलभ्य इति सूचितं भवति ॥ ७ ॥

यस्मादक्षरज्ञानं तत्फलं च मत्प्रसादैकलभ्यं मत्प्रसादोऽपि मदुपास्त्यैकलभ्यस्तस्मान्मदुपासनं कुर्वित्याह—**मय्येवेति** ।

मेरी उपासनासे हुई सम्यक् चित्तशुद्धिकी उत्पत्तिके उत्तर क्षणमें ही—'उन सततयुक्त प्रीतिपूर्वक भजनेवालोंको मैं उस बुद्धियोगको देता हूँ, जिससे वे मुझको प्राप्त होते हैं । उनपर अनुकम्पा करनेके लिए मैं आत्मभावमें स्थित होकर प्रकाशवाले ज्ञानदीपकसे अज्ञानजन्य अँधेरेको दूर करता हूँ ।' इत्यादि उक्त प्रकारसे मैं परमेश्वर सम्यग्दर्शनरूप ज्ञानयोगको देकर ज्ञानदीपकसे अज्ञानरूप अँधेरेको नष्ट करके । सम्यक् निर्गुणब्रह्मनिष्ठाका संपादन कराके, यह अर्थ है । मृत्युसंसाररूप सागरसे (फिर फिर प्राणी जिससे मरते हैं वह मृत्यु है यानी सम्पूर्ण अनर्थका कारण अज्ञान, उससे युक्त अर्थात् उसका कार्यरूप 'मैं मेरा' इत्यादि प्रवृत्तिरूप यह संसार अवधिरहित होनेसे, दुस्तर होनेसे तथा 'तापत्रयरूप प्रलयाग्निमय होनेसे सागरके समान है, इस प्रकार मृत्युसंसाररूप सागरसे) उद्धार करनेवाला होता हूँ । ब्रह्मज्ञान, उसकी निष्ठा और उसकी प्राप्ति जैसे हो, वैसा अनुग्रह करता हूं, यह अर्थ है । इससे यह सूचित होता है कि सगुण उपासना अङ्ग है और निर्गुण उपासना अङ्गी है, इन दोनोंका फल मोक्ष है, जो केवल मेरे प्रसादसे ही लभ्य है ॥ ७ ॥

जिस कारणसे अक्षरका ज्ञान और अक्षर ज्ञानका फल मोक्ष केवल मेरे प्रसादसे ही लभ्य है और मेरा प्रसाद मेरी केवल उपासनासे लभ्य है, इसलिए तुम मेरी उपासना करो, ऐसा कहते हैं—**'मय्येव'** इत्यादिसे ।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाऽऽप्तुं धनञ्जय ॥ ९ ॥

हे धनञ्जय, यदि विश्वात्मक मुझ ईश्वरमें मनको निश्चलरूपसे स्थिर करनेमें असमर्थ हो, तो अभ्यासरूप योगसे पहले मनको स्थिर कर तदनन्तर मेरी उपासना करो ॥ ९ ॥

मकारं प्रयुज्य सन्धिः कर्तुं शक्यते, तथापि स्वस्य बहुव्याकरणज्ञत्वप्रकाशनार्थमेव अत ऊर्ध्वमित्युक्तम् । मय्येव विश्वरूपे सगुणे न तु निराकारे केवलेऽक्षरे मदुपास्त्या विना तज्ज्ञानस्य तदुपास्तेश्चाऽतिदुर्लभत्वात् । मन आधत्स्व सर्वत्र वृत्तेर्विषयं मामेव कुरु न तु शब्दादिकमित्यर्थः । किञ्च, मय्येवोक्तलक्षणे बुद्धिं वस्तुतत्त्वावधारणशीलामन्तःकरणवृत्तिं विशेषात्मिकां निवेशय । इदं सर्वं ब्रह्मैवेति निश्चयवत्त्या बुद्ध्या सदा मामनुसन्धेहीत्यर्थः । अत ऊर्ध्वं निर्विशेषज्ञानं प्राप्य तद्बलेन देहसम्बन्धमुत्सृज्य निर्विशेषात्मना मय्येव निर्विशेषे परे ब्रह्मणि निवसिष्यसि विदेहकैवल्यं प्राप्स्यसि, नाऽस्त्यत्र संशयः । मद्भक्तस्य तव प्रतिबन्धासंभवात् कैवल्यं सिध्यति वा न वेति सन्देहो न कर्तव्यः, किन्तु मदेकाश्रयस्य मदुपास्त्या चित्तशुद्धिस्तया ज्ञानं तेन विदेहकैवल्यं च निष्प्रत्यूहेनैव सिद्ध्यतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

विश्वरूपोपासनमनेकविपरीतप्रत्ययकोटिप्रतिबन्धकमुक्तरीत्या कर्तुमशक्तानामतिमन्दप्रज्ञानां साधनान्तराण्युपदिशति —**अथेति** ।

यद्यपि मकार जोड़कर [यानी मय्येवमत ऊर्ध्वम्] संधि की जा सकती है, तथापि अपना बहुव्याकरणज्ञत्वका प्रकाशन करनेके लिए 'एव अत ऊर्ध्वम्' ऐसा कहा है । मुझ विश्वरूप सगुणमें— न कि निराकार केवल अक्षरमें, क्योंकि मेरी उपासनाके बिना उसका ज्ञान और उसकी उपासना अतिदुर्लभ है—मन लगाओ । मुझको ही सर्वत्र वृत्तिका विषय करो, शब्द आदिको नहीं, यह अर्थ है । किञ्च, उक्त लक्षणवाले मुझमें ही बुद्धिका—वस्तुतत्त्वका अवधारण करनेवाली अन्तःकरणकी विशेष वृत्तिका—प्रवेश कराओ यानी यह सब ब्रह्म ही है, यों निश्चयवाली बुद्धिसे सदा मेरा अनुसन्धान करो, यह अर्थ है । इसके पीछे निर्विशेष ज्ञानको प्राप्त करके, उसके बलसे देहके सम्बन्धको छोड़कर निर्विशेष परब्रह्ममें वास करोगे—विदेहकैवल्यको प्राप्त होओगे, इसमें संशय नहीं है । मेरे भक्तभूत तुम्हें, प्रतिबन्ध न होनेके कारण, कैवल्य प्राप्त होगा या नहीं, ऐसा संदेह नहीं करना चाहिए, किन्तु मेरे आश्रयण करनेवालेकी चित्तशुद्धि मेरी उपासनासे होती है, उससे ज्ञान और उससे विदेहकैवल्य प्रतिबन्धके बिना ही सिद्ध होता है, यह अर्थ है ॥ ८ ॥

विश्वरूपकी उपासनामें अनेक विपरीत ज्ञान प्रतिबन्धक है, अतः विश्वरूपकी उपासना करनेमें अशक्त अतिमन्द बुद्धिवालोंको दूसरे साधनोंका उपदेश देते हैं—'**अथ**' इत्यादिसे ।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ १० ॥

अभ्यासमें भी यदि तुम असमर्थ हो, तो केवल मेरे उद्देश्यसे ही वैदिक-लौकिक सम्पूर्ण कर्म करो, मेरे लिए कर्मानुष्ठान करते हुए भी तुम कैवल्यात्मिका सिद्धिको प्राप्त होओगे ॥ १० ॥

प्रज्ञाबलेन ज्ञानधनं जयतीति हे धनञ्जय, अथवोक्तरीत्या मयि विश्वरूपे परमात्मनि स्थिरं निश्चलं यथा तथा चित्तं समाधातुं सम्यक् स्थापयितुं यदि न शक्नोषि तर्हि त्वमभ्यासयोगेन विपरीतप्रत्ययान् तिरस्कृत्य सजातीयप्रत्ययावृत्तिरभ्यासः घटपटादि-प्रत्ययप्रविलापनपूर्वकं सर्वमिदं भौतिकमेवेति सर्वप्रमाणसिद्धे सर्वस्य भौतिकत्वप्रत्यये चिरकालं नित्यं निरन्तरं तात्पर्येण समभ्यस्यमाने सदा सर्वत्र भौतिकप्रत्ययो विप-रीतप्रत्ययानन्तरितो दृढतरः समुदेति । तेन मनश्चलनहेतूनां घटादिप्रत्ययानां सवास-नानां संक्षये सति मनः सुस्थिरं भवति । एवं सर्वस्य भौतिकमात्रत्वप्रत्ययाभ्यासः सगुणब्रह्मोपास्तिसिद्धेरुपायत्वाद्योग इत्युच्यते । स चाऽसौ योगश्च तेनाऽभ्यासयोगेन मनसि निश्चले सति ततस्तदनन्तरं विश्वरूपं मां परमेश्वरमाप्तुं सर्वत्र भौतिकत्वप्रत्ययं त्यक्त्वा सर्वं ब्रह्मैवेति सगुणं ब्रह्म मां विश्वरूपं ब्रह्मप्रत्ययैरुपासितुमिच्छ त्वमिच्छां कुरु । सर्वं ब्रह्मैवेति सर्वं मामेव भावयेत्यर्थः ॥ ९ ॥

प्रज्ञाके बलसे ज्ञानरूप धनको जो जीतता है, वह धनञ्जय है । हे धनञ्जय, अथवा उक्त रीतिसे मुझ विश्वरूप परमात्मामें स्थिररूपसे—निश्चलरूपसे—चित्तका समाधान करनेके लिए—सम्यक् स्थापन करनेके लिए—यदि तुम समर्थ नहीं हो, तो तुम अभ्यासयोगसे (विपरीत प्रत्ययोंका तिरस्कार करके सजातीय प्रत्ययोंकी आवृत्ति अभ्यास है, घट, पट, आदि प्रत्ययके प्रविलापनपूर्वक सब यह भौतिक ही है, इस प्रकार सब प्रमाणोंसे सिद्ध सबके भौतिकत्वप्रत्ययका चिरकालतक नित्य, निरन्तर तात्पर्यसे भली भाँति अभ्यास करनेपर सदा सर्वत्र विपरीत प्रत्ययके व्यवधानसे रहित दृढ़तर भौतिक प्रत्यय उदित होता है । उससे मनके चलनके हेतुभूत घटादि प्रत्ययोंका वासनासहित क्षय होनेपर मन भली भाँति स्थिर हो जाता है । इस प्रकार सब केवल भौतिक ही है, इस प्रत्ययका अभ्यास, सगुण ब्रह्मकी उपासनाकी सिद्धिका उपाय होनेसे, योग कहलाता है । अभ्यासरूप योग ही अभ्यासयोग है उस अभ्यासयोगसे मनके निश्चल होनेपर, तदनन्तर विश्वरूप मुझ परमेश्वरको प्राप्त होनेके लिए सर्वभौतिकत्वप्रत्ययका त्यागकर सब ब्रह्म ही है, यों सगुण ब्रह्मरूप मुझ विश्वरूपकी ब्रह्मप्रत्ययसे उपासना करनेकी इच्छा करो । सब ब्रह्म ही है, यों सबमें मेरी ही भावना करो, यह अर्थ है ॥ ९ ॥

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥ ११ ॥

हे अर्जुन, यदि तुम मेरे उद्देश्यसे कर्म करनेमें भी असमर्थ हो, तो काम आदि दोषोंसे अपने चित्तको हटा कर सम्पूर्ण कर्मोंको मेरे अर्पण कर सम्पूर्ण कर्मोंके फलका त्याग करो ॥ ११ ॥

उक्तलक्षणाभ्यासयोगेनाऽपि ब्रह्मोपासितुमशक्तस्याऽतिमन्दबुद्धेः साधनान्तरमाह—**अभ्यासेऽपीति** ।

अभ्यासेऽपि सजातीयप्रत्ययावृत्तिलक्षणाभ्यासेऽपि यदि त्वमसमर्थोऽशक्तोऽसि तर्हि त्वमभ्यासयोगमकृत्वैव नियमेन मत्कर्मपरमो मत्कर्म वैदिकं लौकिकं च सर्वं कर्म मदर्थमेव न तु स्वार्थमीषदपि तत् परमं प्रधानं तात्पर्येण कर्तव्यं न तु ध्यानादिकं यस्य स मत्कर्मपरमो भव । यथा राजार्थं भटस्तथा मदर्थमेव सर्वं कर्म कुर्वित्यर्थः । एवमीश्वरार्थमेव कर्म कुर्वतस्तदनुष्ठानस्य फलमाह—**मदर्थमिति** । नियमेन श्रद्धया च मदर्थमेव सर्वाणि कर्माणि कुर्वन्नपि तदनुष्ठानसंभावितचित्तशुद्धिजन्यज्ञानद्वारा सिद्धिं कैवल्यसिद्धिं प्राप्स्यसीत्यर्थः । एतेनाऽज्ञस्येश्वरोद्देशेन सर्वकर्माचरणमभ्यासापेक्षया मुक्तेः सुखसाधनमिति सूचितं भवति ॥ १० ॥

उक्तलक्षणकर्मानुष्ठानेऽप्यसमर्थस्याऽत्यन्तमन्दबुद्धेः साधनान्तरमाह सर्वदा मदुपासनमेव मुमुक्षोरवश्यं कर्तव्यमिति सूचयितुम्—**अथेति** ।

उक्त लक्षणवाले अभ्यासयोगसे भी ब्रह्मकी उपासना करनेमें अशक्त अतिमन्दबुद्धिवाले पुरुषके लिए दूसरा साधन कहते हैं—'**अभ्यासेऽ०**' इत्यादिसे ।

अभ्यासमें भी—सजातीय प्रत्ययकी आवृत्तिरूप आभासमें भी—यदि असमर्थ—अशक्त हो, तो तुम अभ्यासयोग न करके नियमसे मत्कर्मपरम (जिसका वैदिक और लौकिक सम्पूर्ण कर्म मेरे लिए ही, न कि तनिक भी अपने लिए, परम—प्रधानरूपसे—कर्तव्य है, ध्यान आदि नहीं, वह मत्कर्मपरम है) होओ । जैसे योद्धा राजाके लिए सब कुछ करता है, वैसे ही मेरे लिए सब कर्म करो, यह अर्थ है । इस प्रकार ईश्वरके लिए ही करनेवाले पुरुषके लिए उसके अनुष्ठानका फल कहते हैं—**मदर्थमिति** । नियमसे और श्रद्धासे मेरे लिए ही सब कर्म करते हुए भी तुम उसके अनुष्ठानसे उत्पन्न हुई चित्तशुद्धिसे जन्य ज्ञान द्वारा सिद्धिको—कैवल्यरूपा सिद्धिको—प्राप्त होओगे, यह अर्थ है । इससे यह सूचित होता है कि अज्ञानीका ईश्वरके उद्देश्यसे सब कर्मोंका आचरण अभ्यासकी अपेक्षा मुक्तिका सुखकर साधन है ॥ १० ॥

उक्त लक्षणवाले कर्मके अनुष्ठानमें भी असमर्थ अत्यन्त मन्दबुद्धिवालेके लिए दूसरा साधन, मुमुक्षुको सर्वथा मेरी उपासना ही अवश्य करनी चाहिए, यह सूचन करनेके लिए, कहते हैं—'**अथै०**' इत्यादिसे ।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥ १२ ॥

अभ्यासकी अपेक्षा ज्ञान मोक्षका श्रेष्ठ साधन है, प्रतिबन्ध-सहित ज्ञानकी अपेक्षा प्रतिबन्ध-निवर्तक ध्यान श्रेष्ठ साधन है और ध्यानकी अपेक्षा कर्मफलका त्याग श्रेष्ठ साधन है, देहपातके अनन्तर त्यागसे शाश्वत शान्ति प्राप्त होती है ॥१२॥

अथवोक्तरीत्या मामुद्दिश्यैव कर्म प्राधान्येन कर्तुं यदि त्वं न शक्नोषि तर्हि यतात्मवान् यतः संयतः कामसङ्कल्पविमुखीकृत आत्मा चित्तमस्याऽस्तीति यतात्मवान् नियतचित्तो भूत्वा मद्योगमाश्रितः कर्मणाऽनेन प्रीयतां भगवानिति मयि परमेश्वरे क्रियमाणानां सर्वेषां कर्मणां योजनं मद्योगः मयि सर्वकर्मसमर्पणं सर्वकर्मसंन्यास इति यावत् । तमाश्रितः सन् ततः समनुष्ठितकर्मणां मत्समर्पणानन्तरमेव सर्वकर्मफलत्यागं कृतानां सर्वेषां कर्मणां यानि फलानि तेषां त्यागः संन्यासस्तं कुरु । कर्मफलेषु कामं परित्यजेत्यर्थः । मयि समर्पितेषु सत्सु कर्मसु परार्थेष्विव फलकामासंभवाद्यथा सर्वकर्मफलपरित्यागस्तथैव तव मुक्तिरित्यभिप्रायः । एतेन कर्मफलेषु सुतरां कामं परित्यज्येश्वरार्पणबुद्ध्या विध्युक्तकर्माचरणमतिमूढस्याऽपि मुक्तेः सुखसाधनमिति सूचितम् ॥ ११ ॥

एवं यतात्मत्वपूर्वकं त्वं सर्वकर्मफलत्यागं कुर्वित्युपदिश्याऽत्रैव मुमुक्षोरपण्डितस्य प्रवृत्तिसिद्धये रुचिमुत्पादयितुं सर्वकर्मफलत्याग एव सर्वेभ्यो मोक्षसाधनेभ्य उत्तमं साधनमिति तं स्तौति—**श्रेय इति ।**

अथवा यदि तुम उक्त रीतिसे मेरे उद्देश्यसे ही प्रधानतः कर्मोंका अनुष्ठान नहीं कर सकते, तो यतात्मवान् (यत—संयत—है अर्थात् काम और संकल्पसे विमुख किया गया है आत्मा—चित्त—जिसका, वह यतात्मवान्) यानी नियतचित्त होकर मेरे योगके आश्रित (इस कर्मसे भगवान् प्रसन्न हों, इस बुद्धिसे क्रियमाण सम्पूर्ण कर्मोंका मुझ परमेश्वरमें सम्बन्ध करना मद्योग है यानी मुझमें सम्पूर्ण कर्मोंका समर्पण अर्थात् सम्पूर्ण कर्मोंका संन्यास, यह अर्थ है । उसके आश्रित) होकर तुम तदनन्तर—भली भाँति अनुष्ठित कर्मोंको मेरे अर्पण करनेके अनन्तर—ही सम्पूर्ण कर्मफलोंका त्याग—किये गये सम्पूर्ण कर्मोंके जो फल हैं, उनका त्याग (संन्यास)—करो । कर्मोंके फलोंमें कामनाका त्याग करो, यह अर्थ है । कर्मोंको मेरे अर्पण करनेपर, परार्थ कर्मोंके समान, उनके फलकी कामनाका संभव न होनेके कारण जैसे सम्पूर्ण कर्मोंके फलोंका परित्याग हो जाता है, वैसे ही तुम्हारी मुक्ति हो जायगी, यह अभिप्राय है । इससे कर्मफलोंकी कामनाका सर्वथा त्याग कर ईश्वरार्पणबुद्धिसे किया गया शास्त्रविहित कर्मानुष्ठान अतिमूढ़के लिए भी मुक्तिका सुखकर साधन है, यह सूचित किया ॥ ११ ॥

इस प्रकार यतात्मत्वपूर्वक तुम सम्पूर्ण कर्मोंके फलोंका त्याग करो, ऐसा उपदेश कर सर्वकर्म-

मुमुक्षोरभ्यासात् सर्वसंन्यासपूर्वकाद् यमनियमादिश्रमसाध्याच्छ्रवणाद्यभ्यासाज्ज्ञानं श्रवणमननसंभावितश्रुतियुक्तिजन्यं ब्रह्मात्मैकत्ववेदनलक्षणं श्रेयो हि मोक्षस्य श्रेष्ठतरं साधनं खल्विति । हिशब्दः सर्वशास्त्रप्रसिद्धिद्योतनार्थः । ज्ञानात् सप्रतिबन्धकात् प्रतिबन्धनिवृत्तिकारणं ध्यानं सजातीयप्रत्ययावृत्तिलक्षणं विशिष्यते जन्मादिहेतोरविद्याकामसङ्कल्पादिप्रतिबन्धस्य निवर्तकत्वाद्विशिष्टतरं भवति । निरुक्तलक्षणाद्ध्यानात्कर्मफलत्यागो विशिष्यते मनोनैश्चल्यस्याऽतिदुर्लभत्वाद्विपरीतप्रत्ययनिवारणस्याऽप्यतिदुष्करत्वान्नित्यनिरन्तरप्रयत्नैकसाध्यत्वाच्च ध्यानं महत्तरक्लेशसाध्यं यतस्ततो यथाशक्तिकृतानां कर्मणां फलपरित्यागस्तु निरुक्तश्रमरहितत्वेन मोक्षं प्रत्यन्तरङ्गसाधनत्वेन च ध्यानाद्विशिष्टतरो भवति । कामनाशकत्वधर्मस्योभयत्र तुल्यत्वेऽप्युक्तश्रमरहितत्वेन ततः श्रेष्ठतरो भवति । यदनुष्ठानादनन्तरमुत्तरकाल एव तदनुष्ठातुः सर्वकर्मसंन्यासवतो नियतचित्तस्य कामसङ्कल्पादिदोषनिर्मुक्तस्य शुद्धबुद्धेः कर्मयोगिनः संसारोपशमो मोक्षः सिद्ध्यतीत्यर्थः । ननु कर्मफलत्यागादेव मोक्षे सिद्धे 'तरति शोकमात्मवित्', 'तमेवं विद्वानमृत इह भवति', 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इत्यादिबहुश्रुतिविरोधो 'ज्ञानान्मुक्तिः' इति सर्व-

---

फलत्यागमें ही मूढ़ मुमुक्षुकी प्रवृत्ति हो, इस अभिप्रायसे उसमें मुमुक्षुकी रुचिको उत्पन्न करनेके लिए सम्पूर्ण कर्मफलोंका त्याग ही मोक्षके [अन्यान्य] सम्पूर्ण साधनोंसे उत्तम साधन है, यों उसकी स्तुति करते हैं—'श्रेयो' इत्यादिसे ।

मुमुक्षुके लिए अभ्याससे—सर्वसंन्यासपूर्वक यम, नियम आदि परिश्रमसे प्राप्य श्रवण आदिके अभ्याससे—ज्ञान (श्रवण और मननसे सहकृत श्रुतिरूप उपायसे जनित ब्रह्मात्मैकत्ववेदनरूप ज्ञान) मोक्षका श्रेष्ठतर साधन है । 'हि' शब्द सम्पूर्ण शास्त्र-प्रसिद्धिका द्योतन करनेके लिए है । ज्ञानसे—प्रतिबन्धविशिष्ट ज्ञानसे—प्रतिबन्धकी निवृत्तिका कारण ध्यान—सजातीय प्रत्ययकी आवृत्तिरूप ध्यान—श्रेष्ठ है यानी जन्म आदिके हेतु अविद्या, काम, सङ्कल्प आदि प्रतिबन्धोंका निवर्तक होनेसे ध्यान श्रेष्ठतर साधन है । उक्तलक्षणवाले ध्यानसे कर्मफलका त्याग श्रेष्ठ है । यतः पहले मनकी निश्चलता ही अतिदुर्लभ है, तत्रापि विपरीत प्रत्ययका निवारण करना और कठिनतर है तथा ध्यान केवल नित्य निरन्तर प्रयत्नसे ही साध्य है इन कारणोंसे ध्यान अत्यन्त क्लेशसे होता है, इसलिए यथाशक्ति किये गये कर्मोंके फलका त्याग, उक्त श्रमसे रहित होने तथा मोक्षके प्रति अन्तरङ्ग साधन होनेके कारण, ध्यानकी अपेक्षा श्रेष्ठतर साधन है । यद्यपि कामनाशकत्व ध्यान और कर्मफलत्याग दोनोंमें समान है, तथापि उक्त श्रमसे रहित होनेके कारण त्याग ध्यानसे श्रेष्ठतर है । सर्वकर्मफलत्याग करनेके अनन्तर—उत्तर क्षणमें—ही उक्त कर्मफलत्याग करनेवाले, सम्पूर्ण कर्मफलोंके त्यागी, नियतचित्त, कामसंकल्प आदि दोषोंसे रहित, शुद्धबुद्धियुक्त कर्मयोगी पुरुषको संसारसे उपशमरूप मोक्ष प्राप्त होता है, यह अर्थ है । यदि कर्मफलके त्यागसे ही मोक्ष प्राप्त हो जाता है, तो 'आत्मवित् शोकको तरता है', 'उसको इस प्रकार जाननेवाला ही मुक्त होता है', 'मोक्षके लिए ज्ञानसे अन्य दूसरा मार्ग नहीं है' इत्यादि

शास्त्रज्ञसमयविरोधश्च स्यादिति चेत्, न; 'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्' इत्यस्य वाक्यस्य कर्मफलत्यागस्तुतिपरत्वात्। स्तुतेः प्रवृत्तिप्ररोचनार्थत्वाच्च। 'अथ चित्तं समाधातुम्' इत्यारभ्य मुमुक्षोरतिमन्दप्रज्ञस्याऽभ्यासेऽपीश्वरोद्देशेन कर्तव्ये कर्मण्यप्यशक्तस्य चित्तशुद्धिसाधनत्वेन करणीयतया कर्मफलत्यागस्य विधानादस्यैव मुख्यत्वे प्राथम्येनैव निर्देशप्रसङ्गात् 'मत्कर्मकृन्मत्परमः' इत्यादिसाधनपञ्चकविधानवैयर्थ्यापत्तेश्च 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यात्मसाक्षात्कारमुद्दिश्य श्रवणादिविधेरानर्थक्यप्रसङ्गाच्च। ततः कर्मफलत्यागस्तुतिरेवैषा। ब्रह्मण्यर्पितेषु सत्सु कर्मसु पुनस्तत्र तत्फले च सङ्कल्पः कामोऽपि न संभवति तदनुदय एव चित्तस्य शुद्धिस्तया सकृदुपदेशादेव ज्ञानं तेन मोक्षः सिध्यतीत्युपायेन मूढतमं स्वार्थे कर्मणि प्रवर्तयितुं कर्मफलत्यागः स्तूयते—श्रेयो हीत्यादीना। ततो नाऽत्र श्रुतिविरोधो नाऽपि समयविरोधश्च।

यद्वा 'मय्येव मन आधत्स्व' इत्यारभ्य 'सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्' इत्यन्तेन ग्रन्थेन मुमुक्षूणां चित्तशुद्धेः परमकारणमधिकारिभेदेन गुरुलघ्वादिभेदभिन्नं सगुणोपासनं कर्तव्यत्वेन प्रतिपाद्याऽधुना सगुणोपास्त्या परिशुद्धबुद्धेस्तदुपास्तेः फल-

---

बहुत श्रुतियोंसे विरोध तथा 'ज्ञानसे मुक्ति होती है' सम्पूर्ण शास्त्रज्ञोंके इस सिद्धान्तसे विरोध होगा, ऐसा यदि कहो, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि 'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्' यह वाक्य कर्मफलत्यागकी केवल स्तुति करता है और स्तुति प्रवृत्तिमें रुचि उत्पन्न करके लिए होती है। 'अथ चित्तं समाधातुम्' (चित्तको समाहित करनेके लिए) इत्यादि श्लोकसे लेकर जो अभ्यास एवं ईश्वरके उद्देश्यसे कर्तव्य कर्ममें असमर्थ है, ऐसे अत्यन्त मन्दबुद्धिवाले मुमुक्षुके लिए चित्तशुद्धिके साधनरूपसे कर्मफलत्यागरूप कर्तव्यका विधान है, यदि यही मुख्य साधन होता, तो इसीका सर्व प्रथम निर्देश होगा; ऐसी परिस्थितिमें 'मत्कर्मकृत्मत्परमः' इत्यादिसे पाँच साधनोंके विधानका वैयर्थ्य तथा 'आत्माका ही अपरोक्षसाक्षात्कार करना चाहिए' इससे आत्मसाक्षात्कारके उद्देश्यसे प्रवृत्त श्रवण आदि विधिके नैरर्थक्यका प्रसङ्ग आवेगा। इसलिए कर्मफलके त्यागकी केवल यह स्तुति ही है। कर्मोंके ब्रह्ममें समर्पित होनेपर पुनः उनमें एवं उनके फलमें संकल्प और काम नहीं होता, उनका न होना ही चित्तकी शुद्धि है, चित्तशुद्धि होनेपर एकबारके उपदेशसे ही ज्ञान होता है और ज्ञानसे मोक्ष सिद्ध होता है। इस उपायसे मूढ़तम पुरुषको स्वार्थ कर्ममें प्रवृत्त करनेके लिए कर्मफलत्यागकी 'श्रेयो हि' इत्यादिसे स्तुति की गई है, इसलिए यहांपर न श्रुतिके साथ विरोध है और न शास्त्रज्ञोंके सिद्धान्तके साथ ही विरोध है।

अथवा 'मय्येव मन आधत्स्व' (मुझमें ही मन लगाओ) यहांसे लेकर 'यतात्मवान् होकर सम्पूर्ण कर्मफलोंका त्याग करो' इत्यर्थक 'सर्वकर्मफलत्यागम्' यहां तकके ग्रन्थसे मुमुक्षुओंकी चित्तशुद्धिकी परम कारण अधिकारियोंके भेदके अनुसार कठिन और साधारण सगुण उपासनाका कर्तव्यरूपसे प्रतिपादन कर अब सगुण उपासनासे परिशुद्ध बुद्धिवाले मनुष्योंके लिए, उस उपासनाकी फलभूत अक्षरकी उपासना करनी चाहिए, ऐसा बोधन करनेके लिए उस उपासनाका

भूतमक्षरोपासनं कर्तव्यमिति बोधयितुं तदुपासनस्य श्रवणादेरुत्तरोत्तरस्योत्कृष्टत्वं प्रतिपादयति—**श्रेयो हीति** ।

मुमुक्षोः परिशुद्धात्मनस्त्वभ्यासः श्रवणाद्यभ्यासः श्रेयान् सगुणोपासनेभ्यः सर्वेभ्यः श्रेष्ठो भवति, 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' इति श्रुत्यैव तुशब्देनेतरव्यावृत्तिपूर्वकं ज्ञानस्यैव साक्षान्मोक्षकारणत्वावधारणात् । तत्सिद्धेः प्रकृष्टं कारणं श्रवणादिरेव। ज्ञानहेतोः श्रवणादेरभावे पूर्वोपासनानैष्फल्यमेव यतस्ततो युक्तं श्रवणाद्यभ्यासस्य तेभ्यः श्रेयस्त्वम् । स एव मोक्षैककामस्य शुद्धात्मनः सर्वकर्मसंन्यासपूर्वकं कर्तव्य इति 'श्रेयः' इत्युक्त्या बोधितं भवति । 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः', 'सोऽन्वेष्टव्यः' 'संन्यस्य श्रवणं कुर्यात्' इत्यादिश्रुतिस्मृतिप्रसिद्धिद्योतनार्थो हिशब्दः । अभ्यासाच्छ्रवणाद्यभ्यासाज्ज्ञानं तज्जन्यं ब्रह्मात्मैकत्वग्राहकं श्रेयस्ततः श्रेष्ठतरं ज्ञानानुत्पत्तावभ्यासस्य निष्फलत्वाद्युक्तं ज्ञानस्य ततः श्रेष्ठतरत्वम् । अत्राऽपि 'श्रेयः' इत्युक्त्या बहूनां ब्रह्मविदां सन्निधौ बहुधा श्रुत्वाऽवश्यं ज्ञानं संपादनीयमिति बोधितं भवति । तस्मात् ज्ञानादपि सप्रतिबन्धात्तन्निवृत्तिकारणं ध्यानमुक्तलक्षणं विशिष्यते । 'ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः' इति श्रवणाद्ध्यानस्याऽप्रतिबन्धसाक्षात्कारहेतुत्वाद्युक्तं ज्ञानाद्विशिष्टत्वम् । ध्यानात्कर्मफलत्यागः प्रत्यग्वृत्तेर्वासनायाः कर्मत्वेन यत्फलति दृश्यजातं

श्रवण आदिसे उत्तरोत्तर उत्कृष्ट होना प्रतिपादन करते हैं—'**श्रेयो हि**' इत्यादिसे ।

परिशुद्ध चित्तवाले मुमुक्षुके लिए तो अभ्यास—श्रवण आदिका अभ्यास—श्रेयान् है यानी सगुण सब उपासनाओंकी अपेक्षा श्रेष्ठ है, क्योंकि 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' (ज्ञानसे ही कैवल्य होता है) इस श्रुतिने ही 'तु' शब्दसे इतरव्यावृत्तिपूर्वक ज्ञान ही साक्षात् मोक्षका कारण है, ऐसा निश्चय किया है । उसकी सिद्धिके सर्वोत्तम कारण श्रवण आदि ही हैं । ज्ञानके हेतु श्रवण आदि यदि न हों, तो पूर्वोक्त सगुणोपासनाएँ निष्फल ही होंगी, इसलिए श्रवण आदिका अभ्यास उक्त उपासनाओंकी अपेक्षा श्रेष्ठ है । केवल एक मोक्षकी ही कामनावाले शुद्धात्मा पुरुषको सर्वकर्मसंन्यासपूर्वक उसीका अनुष्ठान करना चाहिए, ऐसा 'श्रेयः' इस कथनसे बोधित होता है । 'हे मैत्रेयी, आत्माका ही साक्षात्कार करना चाहिए', 'वही खोजने योग्य है' तथा 'संन्यासका ग्रहण कर श्रवण करो' इत्यादि श्रुति और स्मृतिकी प्रसिद्धिका द्योतन करनेके लिए 'हि' शब्द है । अभ्याससे—श्रवण आदिके अभ्याससे—ज्ञान—उससे जन्य ब्रह्मात्मैकत्वग्राहक ज्ञान—श्रेय है, उससे श्रेष्ठतर है, क्योंकि ज्ञानके उत्पन्न न होनेपर अभ्यासके निष्फल होनेसे अभ्यासकी अपेक्षा ज्ञानका श्रेष्ठतर होना युक्त है । यहां भी 'श्रेयः' कहनेसे अनेक ब्रह्मविदोंके समीपमें जाकर अनेक बार श्रवणसे पुरुषको ज्ञानका अवश्य संपादन करना चाहिए, ऐसा बोधित होता है । इस सप्रतिबन्ध ज्ञानसे भी उसकी निवृत्तिका कारण उक्त लक्षणवाला ध्यान श्रेष्ठ है । 'तदनन्तर ध्यान करनेवाला उस निष्कलको देखता है' इस श्रुतिसे प्रतिबन्धरहित ब्रह्मसाक्षात्कारका हेतु होनेके कारण ज्ञानकी अपेक्षा ध्यानका श्रेष्ठ होना युक्त है । ध्यानकी अपेक्षा कर्मफलत्याग (प्रत्यक्वृत्तिकी वासनासे कर्मरूपसे जो दृश्यजात फलता है, वह कर्मफल

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ १३ ॥

सम्पूर्ण प्राणियोंके साथ द्वेष न करनेवाला, सबके साथ मित्रके समान आचरण करनेवाला, सब भूतोंपर दया करनेवाला, ममतारहित, अहङ्कारसे शून्य, सुख और दुःख होनेपर हर्षविषादसे रहित तथा सहनशील ब्रह्मविद् यति मुझे प्रिय है ॥१३॥

तत्कर्मफलमित्युच्यते, तस्य त्यागः नित्यनिरन्तरनिर्विकल्पकसमाधिनिष्ठयाऽदर्शनं वहिरन्तः सर्वत्र सर्वथा ब्रह्ममात्रोपलम्भः कर्मफलत्यागो ध्यानाद्विशिष्यते। 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्' इति श्रवणान्निरवशेषितसर्वविशेषत्वात्कर्मफलत्यागस्य त्रिपुटिमतो ध्यानाद्विशिष्टत्वं युक्तं त्यागात्सर्वकर्मफलत्यागान्निर्विकल्पकसमाधेर्निःशेषविनष्टविपरीतवासनाग्रन्थेर्विदुषस्त्वनन्तरमेतद्देहपातानन्तरमेव शान्तिरात्यन्तिकसंसारोपशमो ब्रह्मात्मनाऽवस्थानलक्षणं विदेहकैवल्यं सिध्यतीत्यर्थः। उभयत्राऽपि विशिष्यत इत्युक्त्या मोक्षैककामस्य ज्ञानस्याऽप्रतिबद्धत्वसिद्धये सविकल्पको निर्विकल्पकश्च समाधिरवश्यं कर्तव्य इति बोधितं भवति ॥ १२ ॥

निरुक्तशान्तिलक्षणं ब्रह्मभावं विदेहकैवल्यं प्राप्तुमिच्छया यस्त्वद्वेष्टृत्वादिधर्मसंपन्नो भूत्वा ब्रह्मनिष्ठायामेव तिष्ठति स एव मद्भक्तो मम प्रिय इति ब्रह्मविदं स्तौति यतीनां सम्यग्ज्ञानसिद्धये ब्रह्मनिष्ठा कर्तव्येति सूचयितुं सप्तभिः—**अद्वेष्टेत्यादिना**।

सर्वभूतानां सर्वेषामपि प्राणिनामद्वेष्टा द्वेषो नामाऽप्रीतिस्तामात्मन उपद्रवं कुर्वतोऽपि

कहलाता है, उसका त्याग यानी नित्य निरन्तर निर्विकल्पक समाधिनिष्ठासे अदर्शन यानी बाहर-भीतर सर्वत्र सब प्रकारसे ब्रह्ममात्रका उपलम्भ) श्रेष्ठ है। 'जहां उसका सब आत्मा ही हुआ' इस श्रुतिसे सम्पूर्ण विशेषोंके अवशिष्ट न रहनेके कारण कर्मफलत्यागका, त्रिपुटीवाले ध्यानकी अपेक्षा, श्रेष्ठ होना युक्त है। त्यागसे—सर्वकर्मफलत्यागसे—निर्विकल्पकसमाधिवाले अतएव जिसकी विपरीत वासनारूप ग्रन्थियाँ निःशेष विनष्ट हो गई हैं, ऐसे विद्वान्‌को इस देहके पातके पीछे ही—शान्ति—आत्यन्तिक संसारका उपशम—यानी ब्रह्मस्वरूपसे अवस्थानरूप विदेहकैवल्य प्राप्त होता है, यह अर्थ है। दोनों जगह 'विशिष्यते' ऐसा कहनेसे केवल मोक्षकी ही कामनावाले पुरुषको ज्ञानके अप्रतिवद्धत्वकी सिद्धिके लिए सविकल्पक और निर्विकल्पक समाधि अवश्य करनी चाहिए, ऐसा बोधित होता है ॥ १२ ॥

यतियोंको सम्यक् ज्ञानकी सिद्धिके लिए ब्रह्मनिष्ठा करनी चाहिए, ऐसा सूचन करनेके लिए उक्त शान्तिरूप ब्रह्मभावको यानी विदेहकैवल्यको प्राप्त करनेकी इच्छासे जो अद्वेष्टृत्व आदि धर्मोंसे संपन्न होकर ब्रह्मनिष्ठामें ही स्थित रहता है, वही मेरा भक्त मुझे प्रिय है, इस प्रकार सात श्लोकोंसे ब्रह्मवित्‌की स्तुति करते हैं—'**अद्वेष्टा**' इत्यादिसे।

सब भूतोंका—सभी प्राणियोंका—अद्वेष्टा (द्वेष यानी अप्रीति, उसको अपने प्रति उपद्रव करनेवाले

जन्तोर्यस्य कस्याऽपि न करोति मनोवाक्कायकर्मभिर्नाऽऽचरतीत्यद्वेष्टा निर्विकल्पकसमाधिनिष्ठया निर्मूलितभेदप्रत्ययत्वादहमेवेदं सर्वमिति सर्वात्मभावापन्नस्य विदुषो द्वैतप्रत्ययानुत्पत्तौ स्वस्वरूपे सर्वत्र प्रीतिमत्तया द्वेषबुद्ध्यसंभवात्सर्वेषामपि भूतानामद्वेष्टैव भवति ब्रह्मविद्यतिः। सत्येकस्मिन् रागे तदपकारिषु द्वेषः स्यात् सर्वात्मभावापन्नस्यैकत्र रागासंभवाद्विदुषो युक्तं सर्वभूताद्वेष्टृत्वं। अद्वेष्टेत्युक्त्या विदुषो रागद्वेषाद्यभावस्तेन मुक्तेः प्रतिबन्धाभावश्च सूचितो भवति। किञ्च, सर्वेषां भूतानां मित्रवदनुकूलतया वर्तत इति मैत्रः, स्वात्मभूतेषु भूतेषु सर्वत्र मित्रवद्वर्तनं विदुषो युक्तम्। मित्रत्वसिद्धेः कारणमाह—**करुण इति**। करुणयैव सर्वेषामानुकूल्ये वर्तते न तु गुणबुद्ध्या, गुणस्याऽपि दोषवद्बन्धकत्वात्। करुण इत्यत्र मतुबर्थेऽच्प्रत्ययः। अद्वेष्टृत्वादिधर्मत्रितयसिद्धेः कारणमाह—**निर्मम इति**। परदेहवत्स्वदेहान्निर्गतो ममभावो यस्य स निर्ममः। रागद्वेषहेतोर्ममताबन्धान्निर्मुक्त इत्यर्थः। तदभावादेवाऽमुष्याऽद्वेष्टृत्वादिधर्मत्रितयसिद्धिः। निर्ममत्वसिद्धेः कारणमाह—**निरहङ्कार इति**। ब्रह्मैवाऽहमिति परे ब्रह्मण्येवाऽऽत्मभावापत्त्या देहान्निःशेषेण निर्गताऽहंबुद्धिर्यस्य स निरहङ्कारः। निरन्तरब्रह्मनिष्ठया ब्रह्मण्येव निरूढात्मबुद्धेरेव देहादावहंभावो विच्छिद्यते तत एव निर्ममत्वं सिध्यति। नहि

किसी भी जन्तुमें नहीं करता—मन, वाणी, शरीर और कर्मसे नहीं करता—वह अद्वेष्टा है) निर्विकल्पक समाधिनिष्ठासे भेदप्रत्ययोंका निर्मूलन हो जानेसे, 'मैं ही यह सब हूँ' यों सर्वात्मभावको प्राप्त हुए विद्वान्में द्वैतप्रत्ययकी उत्पत्ति नहीं होती, ऐसी अवस्थामें स्वस्वरूपभूत सम्पूर्ण प्रपञ्चमें उसकी प्रीति होनेसे द्वेषबुद्धिका असम्भव है, इसलिए ब्रह्मवित् यति सब भूतोंका अद्वेष्टा (द्वेष न करनेवाला) होता है। एकमें राग होनेपर ही उसके अपकारियोंमें द्वेष होता है, सर्वात्मभावसम्पन्न विद्वान् पुरुषका एकमें राग न होनेके कारण सब भूतोंका अद्वेष्टा होना युक्त है। अद्वेष्टा, इस कथनसे विद्वान्में राग-द्वेष आदिका अभाव है और उससे मुक्तिके प्रतिबन्धका अभाव है, यह सूचित होता है। किञ्च, सब भूतोंके साथ मित्रके समान अनुकूलतासे व्यवहार करनेके कारण मैत्र, स्वात्मभूत भूतोंमें सर्वत्र मित्रके समान बर्ताव करना विद्वान्के लिए युक्त है। मित्रत्वकी सिद्धिका कारण कहते हैं—**करुण इति**। केवल करुणासे ही सबके साथ अनुकूलतासे व्यवहार करता है, न कि गुणबुद्धिसे, क्योंकि गुण भी दोषके समान बन्धक है। 'करुण' शब्दमें मतुप्के अर्थमें अच्प्रत्यय है। अद्वेष्टापन आदि तीन धर्मोंकी सिद्धिका कारण कहते हैं—**निर्मम इति**। पराई देहके समान अपनी देहमें से जिसकी ममता निकल गई है, वह निर्मम है। रागद्वेषके हेतु ममतारूप बन्धनसे मुक्त हुआ, यह अर्थ है। उसके न होनेसे ही इसमें अद्वेष्टापन आदि तीनों धर्मोंकी सिद्धि होती है। निर्ममत्वकी सिद्धिका कारण कहते हैं—**निरहङ्कार इति**। ब्रह्म ही मैं हूँ, इस प्रकार परब्रह्ममें आत्मभाव प्राप्त होनेसे देहमें से अहंबुद्धि जिसकी, बिलकुल निकल गई है, वह निरहङ्कार है। निरन्तर ब्रह्मनिष्ठासे जिसने, ब्रह्ममें ही आत्मबुद्धि दृढ़ कर ली है, ऐसे पुरुषका देहादिमें अहंभाव नष्ट हो जाता है, इसीसे निर्ममत्व

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १४ ॥

जो सदा सन्तुष्ट, चित्तको वशमें रखनेवाला, अपनेमें ब्रह्ममात्रत्वका दृढ़ निश्चय रखनेवाला, मुझमें मन और बुद्धिका समर्पण करनेवाला, योगी तथा मेरा भक्त है, वह मुझको प्रिय है ॥ १४ ॥

देहेऽहंबुद्धौ सत्यां ममतेषदपि गच्छति, ततो देहेऽहंभावाभावादेव विदुषो निर्ममत्वं तत एव समदुःखसुखः समे अनिष्टत्वेष्टत्वबुद्धिं त्यक्त्वैकरूपेण गृहीते दुःखसुखे द्वेषरागयोर्जनके यस्य ब्रह्मनिष्ठया तिष्ठतो यतेः स समदुःखसुखः । सुखदुःखयोः प्राप्तौ हर्षविषादरहित इत्यर्थः । उभयत्र समबुद्धिसिद्धेर्हेतुमाह—**क्षमीति** । तितिक्षुराध्यात्मिकादिदुःखानां सन्तापविलापराहित्येन सहनशील एव क्षमीत्यर्थः । 'वृक्ष इव तिष्ठासेच्छिद्यमानो न कुप्येत न कम्पेत' इति श्रुतेः ॥ १३ ॥

तर्हि कथं स्थातव्यमित्यत आह—**सन्तुष्ट इति** ।

सततमिति विशेषणपञ्चकेनाऽपि सम्बध्यते । सुखदुःखयोर्मानावमानयोर्लाभालाभयोश्च सततं सर्वदाऽपि सन्तुष्टः ब्रह्मानन्दानुभूत्या सन्तोषयुक्तः सन्नेव प्रसन्नवदनो भवति । सदानन्दयुक्तत्वे हेतुमाह—**योगीति** । सर्वदा ब्रह्मण्येवाऽऽनन्दात्मनि चित्तनैश्चल्येन स्थितिर्योगः सोऽस्याऽस्तीति योगी सदाऽऽत्माराम इत्यर्थः । योगित्वसिद्धेर्हेतुमाह—**यतात्मेति** । सततं यतः संयतः 'समं कायशिरोग्रीवम्' इत्युक्तलक्षणेन स्थापित

सिद्ध होता है । देहमें थोड़ी भी अहंबुद्धि रहनेपर ममता नहीं निकल सकती, उससे—देहमें अहंभावके न रहनेसे—ही विद्वान्‌में निर्ममत्व है, उसीसे समदुःखसुख (अनिष्टत्वबुद्धि और इष्टत्वबुद्धिका त्याग कर एकरूपसे गृहीत हैं द्वेष और रागके जनक दुःख-सुख ब्रह्मनिष्ठामें स्थित रहनेवाले जिस यतिके, वह समदुःखसुख है) सुख और दुःखके प्राप्त होनेपर हर्ष-विषादरहित, यह अर्थ है । दोनोंमें समबुद्धिकी सिद्धिका हेतु कहते हैं—**क्षमीति** । तितिक्षु ही—आध्यात्मिक आदि दुःखोंसे होनेवाले सन्ताप और विलापसे रहित होकर उन्हें सहन करनेवाला ही—क्षमी है, यह अर्थ है । क्योंकि 'वृक्षके समान स्थित होवे, छेदन करनेपर न कोप करे और न कांपे' ऐसी श्रुति है ॥ १३ ॥

तब कैसे स्थित रहना चाहिए, इसपर कहते हैं—**'सन्तुष्टः'** इत्यादिसे ।

'सतत' शब्द पाँच विशेषणोंसे सम्बन्ध रखता है । सुख और दुःख, मान और अपमान लाभ और अलाभमें सतत—सर्वदा ही—सन्तुष्ट—ब्रह्मानन्दके अनुभवसे सन्तुष्ट—होकर ही प्रसन्नवदन होता है । सदा आनन्दसे युक्त होनेमें हेतु कहते हैं—**योगीति** । सर्वदा आनन्दस्वरूप ब्रह्ममें चित्तकी निश्चलरूपसे स्थिति योग है, वह जिसका है, वह योगी है, यानी सदा आत्माराममें निमग्न, यह अर्थ है । योगित्वकी सिद्धिका हेतु कहते हैं—**यतात्मेति** । सतत यत—

आत्मा देहो यस्य स यतात्मा । सत्येव कार्यकारणसङ्घातनिरोधे समाधिः समाधिमत एव विपरीतप्रत्ययनाशस्तत एव सम्यक् ज्ञानं तद्वत एव विदेहमुक्तिरतो यतेः सदा समाधिना भवितव्यमिति सूचितम् । यद्वा यतो निरुद्ध आत्मा स्वभावो वासना यस्य स यतात्मा सततं योगी यतात्मेति विशेषणाभ्यां नैश्चल्येन योगसिद्धेः कारणमाह—**दृढनिश्चय इति** । निरन्तरसमाधिसञ्जातसम्यग्ज्ञानस्य विषयभूते परे ब्रह्मण्येवाऽऽत्मस्वानुभूत्या समुत्पन्नो ब्रह्मैवाऽहं न तु संसारीत्येवंलक्षणो दृढः प्रमाणान्तरप्रत्ययान्तरैरच्छेद्यः स्वभावनिश्चयो यस्य स दृढनिश्चयः । मूढो देहे यथा तथा ब्रह्मण्येवाऽऽरूढाहंबुद्धिरित्यर्थः । यद्वा नित्यनिरन्तरसमाधिनिष्ठासंभूतेनाऽधिष्ठानयाथात्म्यसंदर्शनेनाऽऽरोपितवस्तुतत्प्रत्ययोरभावे सिद्धे सर्वमिदमहं च ब्रह्मैवेति सर्वस्य स्वस्य च साक्षाद् ब्रह्ममात्रत्वाधिगमलक्षणो दृढः प्रमाणान्तराकम्प्यो निश्चयो वस्तुतत्त्वावधारणरूपो यस्य स दृढनिश्चयः । एवं दृढनिश्चयत्वसिद्धेः कारणमाह—**मय्यर्पितमनोबुद्धिरिति** । अहंवृत्तिर्बुद्धिरिदंवृत्तिर्मनः इदमहमात्मिके मनोबुद्धी मय्येव प्रत्यगभिन्ने पूर्णे ब्रह्मण्यर्पिते सर्वदा मदेकविषयत्वेन स्थापिते येन स मय्यर्पितमनोबुद्धिः, अहंबुद्धेरिदंबुद्धेश्च मामेव विषयं कृत्वा यः सर्वदा मामनुसन्धत्ते मद्भक्तो मदनुसन्धानपरः सदा सर्वत्र

संयत—है यानी 'समं कायशिरोग्रीवम्' इत्यादि लक्षणसे स्थापित है आत्मा यानी देह जिसका, यह यतात्मा है । कार्यकारणरूप संघातका निरोध होनेपर ही समाधि होती है, समाधिवालेके ही विपरीत प्रत्ययका नाश, उसीसे सम्यक् ज्ञान और सम्यक् ज्ञानवालेकी ही विदेहमुक्ति होती है, इसलिए यतिको सदा समाधिसे युक्त होना ही चाहिए, यह सूचित किया । अथवा निरुद्ध है, आत्मा—स्वभाव—यानी वासना जिसकी, वह यतात्मा है । सतत योगी और यतात्मा, इन दो विशेषणों द्वारा निश्चलरूपसे योगकी सिद्धिका कारण कहते हैं—**दृढनिश्चय इति** । निरन्तर समाधिसे उत्पन्न हुए ज्ञानके विषयभूत परब्रह्ममें ही आत्मत्वके अनुभवसे उत्पन्न हुआ है—'ब्रह्म ही मैं हूँ, न कि संसारी' इस प्रकार, दृढ़ यानी प्रमाणान्तर और प्रत्ययान्तरसे अच्छेद्य स्वभाव—निश्चय—जिसका, वह दृढ़निश्चय है, मूढ़ जैसे देहमें आत्मबुद्धि करता है, वैसे ही केवल ब्रह्ममें आरूढ़ अहंबुद्धिवाला, यह अर्थ है । अथवा नित्य-निरन्तर-समाधिनिष्ठासे उत्पन्न हुए अधिष्ठानके याथात्म्यदर्शनसे आरोपित वस्तु और उसका प्रत्यय, दोनोंका अभाव सिद्ध होनेपर 'सब यह और मैं ब्रह्म ही हूँ' ऐसा सबका और अपना साक्षात् ब्रह्ममात्रत्व जाननारूप दृढ़—दूसरे प्रमाणसे अकम्प्य—वस्तुतत्त्वावधारणरूप निश्चय जिसका है, वह दृढ़निश्चय है, इस प्रकार दृढ़निश्चयत्वकी सिद्धिका कारण कहते हैं—**'मय्यर्पितमनोबुद्धिः'** इत्यादिसे । अहंवृत्ति यानी बुद्धि, इदंवृत्ति यानी मन । 'इदम्' और 'अहम्' रूप मन और बुद्धिको मुझ प्रत्यगभिन्न पूर्ण ब्रह्ममें ही जिसने अर्पित—सर्वदा मेरे एक विषयरूपसे स्थापित—किया है, वह मय्यर्पितमनोबुद्धि है । मुझको ही अहंबुद्धि और इदंबुद्धिका विषय करके जो सर्वदा मेरा अनुसन्धान करता है, वह मेरा भक्त—मेरे

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥ १५ ॥

जिसके दर्शन आदिसे लोग दुःखी नहीं होते और जो लोगोंके [चोर, सर्प आदिके] दर्शन आदिसे दुःखी नहीं होता तथा जो हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वगसे मुक्त है, वह भक्त मुझको प्रिय है ॥ १५ ॥

ब्रह्ममात्रदर्शी ब्रह्मविद्यतिः स मे ईश्वरस्य प्रियः, आत्मभूतत्वात् । सर्वेषामात्मैव खलु प्रियः । 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' इति ज्ञानिनः स्वात्मत्वेनाऽवधृतत्वादात्मभूतो ज्ञान्येव मम नित्यप्रियस्तदन्ये तु नैमित्तिकप्रिया इत्यर्थः । 'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः' इत्युक्त एवाऽर्थः पुनरप्यत्र शुद्धात्मनां विवेकवतां सूक्ष्मबुद्धीनां वयमपि ब्रह्मीभूयेश्वरस्य प्रिया भविष्याम इति श्रवणमनननिदिध्यासनसमाधिषु प्रवृत्तिसंभूत्यर्थं प्रतिपादितः ॥ १४ ॥

अद्वेष्टृत्वादीनि स्थिरमतित्वान्तानि त्रयस्त्रिंशत्सिद्धस्य लक्षणानि साधकस्य तु ज्ञानपरिपाकसाधनान्यवश्यं संपादनीयानीति सूचयितुमध्यायसमाप्त्यन्तं तानि प्रतिपादयति—**यस्मादिति ।**

लोको जनो यस्मान्नोद्विजते उद्वेगं यथा न भजते । यस्य ब्रह्मविद आगमनश्रवणदर्शनादिना प्राणिवर्गो न विक्षिप्यत इत्यर्थः । लोकादुपद्रवकारिणश्चोरसर्पव्याघ्रादेर्यः स्वयं च नोद्विजते । तेषामागमनदर्शनस्पर्शनादिभिरुद्वेगं यथा न प्राप्नोतीत्यर्थः । हर्षा-

अनुसन्धानमें परायण—सदा सर्वत्र ब्रह्ममात्रदर्शी ब्रह्मवित् यति मुझको—ईश्वरको—प्रिय है, क्योंकि वह मेरा आत्मभूत है । सबको आत्मा ही प्रिय होता है । 'ज्ञानी तो मेरी आत्मा ही है, ऐसा मेरा मत है' इससे ज्ञानी मेरी आत्मा है, ऐसा पहले निश्चित किया जा चुका है, इसलिए आत्मभूत ज्ञानी ही मुझको सदा प्रिय है, उससे अन्य तो निमित्तवश प्रिय हैं, यह अर्थ है । 'ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और मुझको ज्ञानी प्रिय है' यों कहे गये अर्थका ही—शुद्धात्मा, विवेकी तथा सूक्ष्मबुद्धिवाले मुमुक्षुओंकी 'हम लोग भी ब्रह्मस्वरूप होकर ईश्वरके प्रिय हो जायँगे' इस बुद्धिसे श्रवण, मनन, निदिध्यासन और समाधिमें प्रवृत्ति होनेके लिए—यहां फिर प्रतिपादन किया है ॥१४॥

'अद्वेष्टा' से लेकर 'स्थिरमतिः' तक जो सिद्धके अद्वेष्टृत्व आदि तैंतीस लक्षण हैं, वे साधकके ज्ञानपरिपाकके साधन हैं, अतः साधकको उनका अवश्य संपादन करना चाहिए, ऐसा सूचन करनेके लिए अध्यायकी समाप्तिपर्यन्त उनका प्रतिपादन करते हैं—**'यस्माद्'** इत्यादिसे ।

लोक—जन—जिससे उद्विग्न नहीं होते—उद्वेगको प्राप्त नहीं होते । जिस ब्रह्मवित्‌के आगमन, श्रवण, दर्शन आदिसे प्राणी विक्षिप्त नहीं होते, यह अर्थ है । और लोकसे—उपद्रव करनेवाले चोर, सर्प, व्याघ्र आदिसे—जो स्वयं उद्विग्न नहीं होता । उनके आगमन, दर्शन, स्पर्श आदिसे उद्वेगको प्राप्त नहीं होता, यह अर्थ है । हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगसे मुक्त (इष्टप्राप्ति होनेपर हर्ष, रोग

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १६ ॥

सम्पूर्ण कामनाओंसे रहित, नित्यशुद्ध, सब शास्त्रोंके अध्ययन, अध्यापन आदिमें समर्थ, सम्पूर्ण कर्मोंका त्याग करनेवाला, देह, इन्द्रिय आदिके कर्मोंमें प्रवृत्त होनेपर तटस्थके समान उदासीन तथा व्यथारहित जो मेरा भक्त है, वह मुझको प्रिय है ॥१६॥

मर्षभयोद्वेगैर्मुक्तः इष्टप्राप्तौ हर्षः रोगाद्युपद्रवप्राप्तावमर्षोऽसहिष्णुता चोरसर्पादेः क्रूरजन्तोर्दर्शनादिना भयं प्राणहरणहेतोरनर्थस्य प्राप्तावुद्वेगोऽप्यथ सर्वैरेतैश्चित्तविकारैः स्वाज्ञानकृतैर्मुक्तः सन् हर्षादीनां विपरीतधर्मेषु परिनिष्ठितो भूत्वा यो मन्निष्ठायामेव तिष्ठति स मम प्रिय इत्युक्त एवाऽर्थः ॥ १५ ॥

ब्रह्मविदो लक्षणान्तराण्याह—**अनपेक्ष इति ।**

दृष्टे श्रुतेऽपि च वस्तुनि सर्वत्र देहजीवनादावप्यसद्बुद्ध्या जीवत एव मुक्तत्वान्मोक्षेऽप्यपेक्षा न विद्यते यस्य ब्रह्मनिष्ठस्य यतेः सोऽनपेक्षः । सर्वकामनिर्मुक्त इत्यर्थः । शुचिः 'कर्मस्वसङ्गमः शौचम्' इति न्यायेन देहेन्द्रियादिभिरेव न तु स्वेन क्रियमाणेष्वन्नादानविसर्गादिषु दुष्टेष्वदुष्टेषु च कर्मसु कर्मण्यकर्मत्वदर्शनेन स्वस्य तैः सम्बन्धाभावादकर्त्रात्मदर्शी ब्रह्मविदेव शुचिः । नित्यशुद्ध इत्यर्थः । दक्षः श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणन्यायमीमांसादिसर्वशास्त्राणामध्ययनाध्यापनतदर्थप्रकाशनानुष्ठानानुष्ठापनेषु सर्वेष्वपि च कर्मसु स्वयं बोद्धुं बोधयितुं कर्तुं कारयितुं च समर्थ इत्यर्थः ।

आदि उपद्रवोंके प्राप्त होनेपर अमर्ष—असहिष्णुता, चोर, सर्प आदि क्रूर जन्तुओंके दर्शन आदिसे भय और प्राणहरणके हेतु अनर्थके प्राप्त होनेपर उद्वेग होता है, अपने अज्ञान द्वारा किये गये इन सब चित्तके विकारोंसे मुक्त) होकर यानी हर्ष आदिके विपरीत धर्मोंमें (हर्षाभाव, अमर्षाभाव आदिमें) परिनिष्ठित होकर जो मेरी निष्ठामें ही स्थित रहता है, वह मुझको प्रिय है, यह कहा गया ही अर्थ है ॥ १५ ॥

ब्रह्मवित्‌के और भी लक्षण कहते हैं—'**अनपेक्षः**' इत्यादिसे ।

देखी और सुनी गई सब वस्तुओंमें, और की तो बात ही क्या ? देहपोषण आदिमें भी असत्‌बुद्धि होनेके कारण ब्रह्मनिष्ठ यति जीवित दशामें ही मुक्त है । अतः मोक्षमें भी जिस ब्रह्मनिष्ठ यतिको अपेक्षा नहीं है, वह अनपेक्ष है, यानी सब कामनाओंसे निर्मुक्त, यह अर्थ है । शुचि 'कर्मोंमें असङ्ग शौच है' इस न्यायसे अन्नग्रहण, मलत्याग आदि दुष्ट और अदुष्ट कर्मोंके देह, इन्द्रिय आदिसे ही, न कि आत्मासे, किये जानेपर कर्ममें अकर्मत्वदर्शनसे अपना उनसे सम्बन्ध न होनेके कारण कर्तृत्व-शून्यआत्मदर्शी ब्रह्मवित् ही शुचि यानी नित्यशुद्ध है, यह अर्थ है । दक्ष यानी श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण, न्याय, मीमांसा आदि सब शास्त्रोंके पढ़ने-पढ़ानेमें, अर्थप्रकाशनमें, अनुष्ठान करने-करानेमें तथा सब कर्मोंका बोधन करने-करानेमें एवं उनका अनुष्ठान करने-करानेमें स्वयं समर्थ, यह अर्थ है । तो भी सर्वारम्भ-

तथापि सर्वारम्भपरित्यागी । आरभ्यन्त इत्यारम्भाः सर्वे च ते आरम्भाश्च सर्वारम्भाः कर्माणि लौकिकानि वैदिकानि च सर्वाणि कर्माण्यविद्याकामसङ्कल्पाहङ्कारादिदोषप्रवर्धकत्वेन ज्ञानतत्फलप्रतिबन्धकत्वात् तानि परित्यक्तुं शीलमस्याऽस्तीति सर्वारम्भपरित्यागी सर्वकर्मसंन्यासीत्यर्थः । ननु विहिताचरणं धर्मस्तत्त्यागस्त्वधर्मः अधर्मे धर्मबुद्धिर्धर्मे त्वधर्मबुद्धिश्च श्रोत्रियस्य विवेकिनः सन्तापायैव भवति । कथं धर्मं त्यक्त्वा स्वयमधर्मं कृत्वा श्रोत्रियो न सन्तपतीत्याशङ्कायाम्, न; कर्मणां मोक्षं प्रत्यसाधनत्वात्समुत्पन्नज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वाच्च मुमुक्षोस्तत्त्यागस्य न्यायसिद्धत्वात् न्यायानुवर्तित्वाद्विद्वान्न तपतीत्याह—**गतव्यथ इति** । गता चित्तान्निर्गता व्यथा कृत्याकृत्याननुष्ठानानुष्ठानकृतः सन्तापो यस्य स गतव्यथः । कृत्याकृत्ययोरनात्मकर्तृकयोरकर्त्रात्मदर्शी ब्रह्मविन्न तपतीत्यर्थः, 'नैनं कृताकृते तपतः' इति श्रुतेः । तर्हि कथं तिष्ठतीत्यत आह—**उदासीन इति** । आहारादौ कर्मणि युक्तेऽयुक्ते च देहेन्द्रियादिषु स्वारब्धानुरूपेण प्रवृत्तेषु सत्सु स्वयं तटस्थवदुदासीनः साक्षी भूत्वाऽविक्रियात्मना तूष्णीं तिष्ठतीत्यर्थः । एवंलक्षणो यो मद्भक्तः स मे प्रिय इत्युक्तार्थः ॥ १६ ॥

रागद्वेषातिरिक्तो मुक्तेः प्रतिबन्धो न कश्चिदस्ति अतस्तौ मुमुक्षोस्तावदवश्यं

परित्यागी (जिनका आरम्भ किया जाता हैं, वे आरम्भ हैं, सम्पूर्ण आरम्भ, सर्वारम्भ हैं यानी कर्म, लौकिक और वैदिक सब कर्म अविद्या, काम, सङ्कल्प, अहङ्कार आदि दोषोंके बढ़ानेवाले हैं, अतः ज्ञान और उसके फलके प्रतिबन्धक हैं, उनका त्याग करनेका जिसमें स्वभाव है, वह सर्वारम्भपरित्यागी है) यानी सर्वकर्मसंन्यासी, यह अर्थ है । विहितका आचरण धर्म है, उसका त्याग अधर्म है । अधर्ममें धर्मबुद्धि और धर्ममें अधर्मबुद्धि श्रोत्रिय और विवेकी पुरुषके सन्तापकी ही हेतु होती है । धर्मका त्यागकर स्वयं अधर्म करके श्रोत्रिय विद्वान् सन्तापको क्यों प्राप्त नहीं होता, ऐसी आशङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि कर्म मोक्षके प्रति साधन नहीं हैं और उत्पन्न हुए ज्ञानके वे प्रतिबन्धक हैं, इसलिए मुमुक्षुको उनका त्याग न्यायतः प्राप्त है, अतः न्यायानुसार व्यवहार करनेवाला विद्वान् सन्तापको प्राप्त नहीं होता, ऐसा कहते हैं—**गतव्यथ इति** । गत—चित्तसे निकल गई है—व्यथा—कृत्य और अकृत्यके क्रमशः अननुष्ठान एवं अनुष्ठानसे जनित सन्ताप—जिसका, वह गतव्यथ है । कृत्य, अकृत्य दोनोंके अनात्मा द्वारा किये जानेपर अकर्ता आत्माको देखनेवाला ब्रह्मवित् सन्तापको प्राप्त नहीं होता, यह अर्थ है । क्योंकि 'उसको पुण्य और पाप सन्तप्त नहीं करते' ऐसी श्रुति है । तब कैसे स्थित रहता है, इसपर कहते हैं—**उदासीन इति** । युक्त या अयुक्त आहार आदि कर्मोंमें, अपने प्रारब्धानुसार देह, इन्द्रिय आदिके प्रवृत्त होनेपर स्वयं तटस्थके समान उदासीन—साक्षी—होकर अविक्रियस्वरूपसे चुपचाप स्थित रहता है । ऐसे लक्षणसे युक्त जो मेरा भक्त है, वह मुझको प्रिय है, यह उक्त अर्थ है ॥ १६ ॥

राग-द्वेषके सिवा दूसरा कोई मुक्तिका प्रतिबन्धक नहीं है, इसलिए मुमुक्षुको उन दोनोंका

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥ १७ ॥

जो किसी इष्ट वस्तुके प्राप्त होनेपर हर्ष नहीं करता, अनिष्ट वस्तुके प्राप्त होनेपर द्वेष नहीं करता, न शोक करता है और न अभिलाषा करता है, शुभ और अशुभ कर्मोंका परित्यागी है, ऐसा जो मेरा भक्त है, वह मुझको प्रिय है ॥ १७ ॥

परिहर्तव्याविति सूचयितुं मुक्तस्य तद्राहित्यं लक्षणमित्याह—**य इति** ।

यो ब्रह्मविद्यतिः स्वयं परेच्छया अनिच्छया वा प्राप्तेऽपीष्टे वस्तुनि न हृष्यति । परप्रयत्नेनाऽपि तत्र हर्षं न करोतीत्यर्थः । तथैवाऽनिष्टं प्राप्य न द्वेष्टि । स्वानिष्टप्रापकेऽप्यनिष्टेऽर्थे अप्रीतिं न करोतीत्यर्थः । महत्यनर्थे संप्राप्ते सति न शोचति । स्वनिष्ठया धैर्येण च तदविषयात्मज्ञानबलेनाऽपि च स्वयमश्रुमोक्षं विलापं च न करोतीत्यर्थः । तथा प्राप्तस्याऽनर्थस्य निवृत्तिं न काङ्क्षति, प्रारब्धभोगक्षयमन्तरा वाञ्छामात्रेण तन्निवृत्तेरसंभवात् तितिक्षया तत्प्रतीकाराय न किञ्चिद्यतत इत्यर्थः । किञ्च, शुभाशुभपरित्यागी शुभानि पुण्यान्यशुभानि पापान्यज्ञानसहभावीनि इच्छयाऽनिच्छया वा चिदाभासेन क्रियमाणानि कर्माण्यकर्मत्वज्ञानेन 'नाऽहं कर्ताऽस्मि' इति परित्यक्तुं स्वस्माद्विश्लेषयितुं शीलमस्याऽस्तीति शुभाशुभपरित्यागी । देहेन्द्रियादिभिरेव कृतैः कर्मभिः प्रत्यग्दृष्ट्या स्वयं न श्लिष्यत इत्यर्थः, 'तद्यथा पुष्करपलाश' इत्यादिश्रुतेः । य एवंलक्षणो भक्तिमान् ज्ञानवान्यतिः स मे प्रिय इत्युक्त एवाऽर्थः ॥ १७ ॥

त्याग अवश्य करना चाहिए, यह सूचन करनेके लिए उनसे [राग-द्वेषसे] रहित होना मुक्तका लक्षण है, ऐसा कहते हैं—'**यो**' इत्यादिसे ।

दूसरेकी इच्छासे या अपनी अनिच्छासे इष्ट वस्तुके प्राप्त होनेपर भी जो ब्रह्मवित् यति स्वयं प्रसन्न नहीं होता । दूसरेके प्रयत्नसे इष्ट वस्तुकी प्राप्तिमें हर्ष नहीं करता, यह अर्थ है । तथा अनिष्ट वस्तुके प्राप्त होनेपर द्वेष नहीं करता । अपना अनिष्ट करनेवाले पदार्थमें भी अप्रीति नहीं करता, यह अर्थ है । महान् अनिष्टके प्राप्त होनेपर शोक नहीं करता । आत्मनिष्ठासे, धैर्यसे तथा शोकके अविषय आत्मज्ञानके बलसे स्वयं अश्रुपात और विलाप नहीं करता, यह अर्थ है । तथा प्राप्त हुए अनर्थकी निवृत्ति नहीं चाहता, क्योंकि प्रारब्ध भोगके क्षयके बिना केवल इच्छामात्रसे उसकी निवृत्ति असम्भव है । तितिक्षासे (सहनशीलतासे) उसको हटानेके लिए कुछ यत्न नहीं करता, यह अर्थ है । किञ्च, शुभाशुभपरित्यागी (शुभ यानी पुण्य, अशुभ यानी पाप, अज्ञानके साथ होनेवाले इच्छा या अनिच्छासे चिदाभास द्वारा किये जानेवाले उन कर्मोंका, अकर्मत्वज्ञानसे यानी 'मैं कर्ता नहीं हूँ' इस ज्ञानसे, त्याग करनेके लिए—अपनेसे विश्लेषण करनेके लिए—जिसमें शील है, वह शुभाशुभपरित्यागी है) आत्मज्ञानसे देह, इन्द्रिय आदिसे ही किये गये कर्मोंसे स्वयं लिप्त नहीं होता, यह अर्थ है, क्योंकि 'जैसे कमलका पत्ता जलसे सम्बद्ध नहीं होता, वैसे

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥ १८ ॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥ १९ ॥

शत्रु और मित्रमें, मान और अपमानमें, शीत और उष्णमें, सुख और दुःखमें जो समबुद्धि है, जो देहादि-तादात्म्याध्याससे रहित है, तथा जो निन्दा और स्तुतिमें समान भाव रखता है, वाणीका संयम रखता है, जिस किसी प्राप्त वस्तुसे सर्वदा सन्तुष्ट रहता है, नियत स्थानमें रहता नहीं है, स्थिरमति है तथा जो भक्तिमान् है, वह मुझको प्रिय है ॥ १८,१९ ॥

इदं ब्रह्मविद्यतेर्लक्षणं विशिष्टतरं विकारहेतुष्वप्यविकारात्मनाऽवस्थानरूपं सर्वप्रत्यक्षमित्याह—**सम इति** द्वाभ्याम् ।

लोके त्वपकर्ता शत्रुरुपकर्ता तु मित्रं लोकदृष्टिमनुसृत्य तन्न्यायमत्राऽऽह, न तु विद्वद्दृष्टिम् । 'अहमेवेदं सर्वम्'इति सर्वात्मदर्शिनो विदुषः शत्रुमित्रादिभेदप्रत्ययासंभवात्प्रारब्धवशाद्देहस्य कश्चिदपकारी भवति कश्चिदुपकारी भवति । तत्र शत्रौ मित्रे च स्वयं विद्वान् समः समदर्शनस्तथा तत्कृतयोर्मानापमानयोः पूजातिरस्कारयोः सन्तोषविषादहेत्वोरपि समो निर्विकार एव भवतीत्यर्थः । तथैव शीतोष्णसुखदुःखेषु प्राप्तेषु समः समदर्श्येव भवति । किञ्च, तुल्यनिन्दास्तुतिः निन्दा विद्यमानानामविद्यमानानां वा दोषाणां प्रत्यक्षेण वर्णनम्, स्तुतिस्तु तथाविधगुणानां प्रत्यक्षेण कीर्तनम् । निन्दा

वह लिप्त नहीं होता' इत्यादि श्रुति है । जो इस प्रकारके लक्षणोंसे युक्त भक्तिमान्—ज्ञानवान्—यति है, वह मुझको प्रिय है, ऐसा उक्त अर्थ ही है ॥ १७ ॥

विकारके हेतुओंके विद्यमान रहते भी अविकारस्वरूपसे अवस्थानरूप ब्रह्मवित् यतिका यह विशिष्टतर लक्षण सबको प्रत्यक्ष है, ऐसा कहते हैं—**'समः'** इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

लोकमें अपकार करनेवाला शत्रु और उपकार करनेवाला मित्र कहलाता है । लोकदृष्टिके अनुसार उस न्यायको यहाँ भी कहते हैं, विद्वान्‌की दृष्टिके अनुसार नहीं । 'मैं ही यह सब हूँ' यों सर्वात्मदर्शी विद्वान्‌को शत्रु, मित्र आदि भेदप्रत्यय हो ही नहीं सकता, अतः प्रारब्धवश देहका कोई अपकारी होता है और कोई उपकारी होता है । उनमें—शत्रु और मित्रमें—स्वयं विद्वान् सम—समदर्शन—होता है तथा उनके द्वारा किये गये मान और अपमानमें—सन्तोष तथा विषादके हेतु पूजा और तिरस्कारमें—भी सम—निर्विकार—ही रहता है, यह अर्थ है । इसी प्रकार शीत, उष्ण, सुख एवं दुःखके प्राप्त होनेपर भी सम—समदर्शी—ही होता है । किञ्च, तुल्यनिन्दास्तुति (निन्दा यानी विद्यमान या अविद्यमान दोषोंका प्रत्यक्षतः वर्णन और स्तुति यानी विद्यमान और

च स्तुतिश्च निन्दास्तुती अनात्मगोचरे तुल्ये समे यस्य स तुल्यनिन्दास्तुतिस्तयोः समो निर्विकार इत्यर्थः । मानापमानयोः शीतोष्णादिषु च समदर्शनसिद्धेर्हेतुमाह— **सङ्गविवर्जित इति** । मानापमानशीतोष्णादीनामनुभविता साभासोऽहङ्कारस्तत्तादात्म्याध्यास एव सङ्गस्तेन विवर्जितः । विज्ञानात्मविषयकमानापमानादेरविषये परे ब्रह्मण्यात्मभावापन्नतया स्वयं तत्सम्बन्धरहित एव सन् सर्वत्र समदर्श्येव भवतीत्यर्थः । तत एव मौनी वाचंयमः, वाच्याभावात् । नहि सर्वं ब्रह्मैव पश्यतो विदुषो वाच्यमस्ति, तदभावादेव विद्वान्मौनी, 'विजानन्विद्वान् भवते नातिवादी' इति श्रुतेः । प्रारब्धवशात्प्राप्तेन येन केन शिष्टेन वाऽशिष्टेन वा सदसत्त्वभावनानिर्मुक्तेन भैक्षेण वस्तुनाऽल्पेन महता वा सन्तुष्टः सन्तृप्तः । संप्राप्तालम्प्रत्यय इत्यर्थः, 'येन केनचिदाशितः' इति स्मृतेः । अनिकेतः निकेतो निवासो नियतो न विद्यते यस्य यतेः सोऽनिकेतः । ग्रामैकरात्र इत्यर्थः, 'अष्टौ मासानेकाकी यतिश्चरेत्' इति श्रुतेः । स्थिरमतिः विपरीतभावनाजनकेषु मानापमानशीतोष्णादिषु सुखदुःखादिषु प्राप्तेष्वपि सर्वमिदमहं च ब्रह्मैवेति सर्वदा सर्वत्र ब्रह्माकारापन्नैकवृत्त्या स्थिरा निश्चला मतिर्मननशीला चित्तवृत्तिर्यस्य स स्थिरमतिः । स्थिरप्रज्ञ इत्यर्थः । दृढनिश्चय इति ज्ञानस्य मानान्तरबाधराहित्यम्,

---

अविद्यमान गुणोंका प्रत्यक्षरूपसे कीर्तन । निन्दा और स्तुति—निन्दास्तुती । अनात्मगोचर निन्दा और स्तुति दोनों जिसको तुल्य—सम—हैं, वह तुल्यनिन्दास्तुति है) यानी स्तुति एवं निन्दा दोनोंमें सम—निर्विकार—यह अर्थ है । मान, अपमान और शीतोष्ण आदिमें समदर्शनसिद्धिका हेतु कहते हैं—**सङ्गविवर्जित इति** । मान, अपमान तथा शीत, उष्ण आदिका अनुभव करनेवाला साभास अहङ्कार है । उसका तादात्म्यरूप अध्यास ही सङ्ग है, उससे वर्जित । विज्ञानात्माका अवलम्बन करनेवाले मान और अपमान आदिके अविषय परब्रह्ममें आत्मभावको प्राप्त होनेके कारण स्वयं उनके सम्बन्धसे सर्वथा रहित होकर यति समदर्शी होता है, यह अर्थ है । इसीलिए मौनी यानी वाणीका संयम करनेवाला, क्योंकि वक्तव्य कुछ नहीं है । 'सब ब्रह्म ही है' यों देखनेवाले विद्वान्के लिए कुछ वक्तव्य ही नहीं है, वक्तव्यके न होनेसे ही विद्वान् मौनी है, क्योंकि 'ब्रह्मको जानता हुआ 'विद्वान् अतिवादी नहीं होता' ऐसी श्रुति है । प्रारब्धवश प्राप्त हुए जिस किसी यानी शिष्ट या अशिष्ट तथा सत् तथा असत्-भावनासे रहित, भिक्षासे प्राप्त थोड़ी या बहुत वस्तुसे सन्तुष्ट—सन्तृप्त । जो कुछ मिल गया उसीको पर्याप्त समझनेवाला, यह अर्थ है । क्योंकि 'जिस किसीसे कृतभोजन' ऐसी स्मृति है । अनिकेत (निकेत यानी निवास, जिस यतिका वह नियत नहीं है, वह अनिकेत है) गाँवमें एक रात ही रहनेवाला, यह अर्थ है, क्योंकि 'आठ मासतक यति अकेला विचरे' ऐसी श्रुति है । स्थिरमति (विपरीत भावनाको उत्पन्न करनेवाले मान, अपमान, शीतोष्ण आदि सुख-दुःखोंके प्राप्त होनेपर भी 'सब यह और मैं ब्रह्म ही हूँ' ऐसी सर्वदा, सर्वत्र केवल ब्रह्माकारको प्राप्त वृत्तिसे स्थिर—निश्चल—है मति—मननस्वभावा चित्तवृत्ति—जिसकी, वह स्थिरमति है) यानी स्थिरप्रज्ञावाला, यह अर्थ है । दृढनिश्चय यानी ज्ञानका दूसरे प्रमाणसे बाध न होना और

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥ २० ॥

जो ब्रह्मविद् भक्त यति श्रद्धायुक्त तथा मत्परायण होकर स्वधर्मसे प्राप्त होनेवाले इन अद्वेष्टृत्व आदि मोक्षसाधनोंकी उपासना करते हैं, वे मुझे अत्यधिक प्रिय हैं ॥ २० ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

स्थिरमतिरिति वृत्तिनैश्चल्यमिति तयोर्भेदः । भक्तिमान् 'एकान्तभक्तिर्गोविन्दे यत्सर्वत्र तदीक्षणम् । अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे । लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्' । अस्याऽर्थः—अहैतुकी निमित्तरहिता विपरीतप्रत्ययनिवृत्त्यादिप्रयोजनवर्जिता ब्रह्मविदां स्वभावसिद्धा चाऽव्यवहिताऽविच्छिन्ना च वृत्त्यन्तरवर्जिता पुरुषोत्तमे प्रत्यगभिन्ने परमात्मनि या भक्तिरखण्डाकारवृत्तिस्तदेव निर्गुणस्य निर्गुणविषयस्य भक्तियोगस्य भक्तेर्लक्षणं स्वरूपं महद्भिरुदाहृतमुक्तमित्यर्थः । निरुक्तलक्षणा मुख्या भक्तिरस्याऽस्तीति भक्तिमान् ब्रह्मनिष्ठो यो नरः स्वनिष्ठया स्वं ब्रह्मैव नारयति प्रापयति न तु योन्यन्तरं लोकान्तरं चेति नरो ब्रह्मविद्यतिः स मे प्रिय इत्युक्त एवाऽर्थः ॥१८–१९॥

'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' इत्यारभ्याऽत्र यदुक्तं ब्रह्मनिष्ठस्य ब्रह्मविदो लक्षणजातं तत्सर्वं मोक्षैककामैः सर्वतो विरक्तैः साधकैर्यतिभिः श्रवणमननाभ्यां समुत्पन्नज्ञानस्य

स्थिरमति यानी चित्तकी निश्चलता—यों दृढ़निश्चय और स्थिरमति दोनोंका भेद है । भक्तिमान् ('जो सर्वत्र वासुदेवका दर्शन है, वही गोविन्दमें एकान्तभक्ति है, पुरुषोत्तममें अहैतुकी (अकारण) और अव्यवहित (अटूट) जो भक्ति है, वह निर्गुण भक्तियोगका लक्षण कहा गया है ।' इसका अर्थ यह है—अहैतुकी यानी निमित्तरहित, अर्थात् विपरीत प्रत्ययोंकी निवृत्ति आदिरूप प्रयोजनसे शून्य ब्रह्मविदोंकी स्वभावसिद्ध (सहज) तथा अव्यवहित—और अविच्छिन्न—यानी अन्यान्य वृत्तियोंसे रहित पुरुषोत्तममें—प्रत्यगभिन्न परमात्मामें—जो भक्ति—अखण्डाकारवृत्ति—है, वही निर्गुणब्रह्मविषयक भक्तियोगका (भक्तिका) लक्षण—स्वरूप—है, ऐसा महान् पुरुषोंने कहा है । निरुक्त लक्षणसे युक्त मुख्य भक्ति जिसकी है, वह भक्तिमान् है यानी ब्रह्मनिष्ठ) जो नर (आत्मनिष्ठासे अपनेको जो ब्रह्मभावकी प्राप्ति कराता है, दूसरी योनि या दूसरे लोककी नहीं, वह नर है) यानी ब्रह्मवित् यति हैं, वह मुझको प्रिय है, यह कहा गया ही अर्थ है ॥ १८,१९ ॥

'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' यहांसे लेकर प्रकृतमें जो ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मवित् यतिके लक्षण कहे गये हैं, केवल एक मोक्षकी ही कामनावाले, सबसे विरक्त साधक यतियोंको उन सब श्रवण और मननसे

परिपाकक्रसाधनमवश्यं संपादनीयमिति बोधयितुं तत्संपादननिष्ठान् साधकान् प्रस्तुवन्नध्यायमुपसंहरति—**ये त्विति**।

तुशब्दः सिद्धेभ्यः साधकानां व्यावृत्त्यर्थः। ये तु मद्भावापत्तिमेव प्रार्थयमानाः सुखसाधनं सिद्धं सर्वं संन्यस्य श्रवणादिना संपन्नज्ञानवन्तो यतयः श्रद्दधाना इदं मुक्तेः परमसाधनमवश्यमनुष्ठेयमिति विश्वासवन्तः सन्तो मत्परमाः अहं निर्विशेषं परं ब्रह्मैव परमं निरतिशयस्थानं प्राप्तव्यमिति येषां ते मत्परमा मय्येव परमार्थत्वबुद्धयो भूत्वा, यद्वा अहमेव परमो निरतिशयैश्वर्यसंपन्नो विश्वाधिकोऽनुल्लङ्घ्याज्ञ ईश्वर इति धीर्येषां ते मत्परमा मयि परमेश्वरत्वबुद्ध्या मदाज्ञावशवर्तिनो भूत्वा यथोक्तम् 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' इत्यादिना मया प्रतिपादितं धर्म्यामृतं यतीनां स्वधर्मत्वेन प्रयत्नादनुष्ठेयत्वाद्धर्म्यम्, यद्वा मुमुक्षुत्वधर्मेण प्राप्यं धर्म्यं अमृतस्य मोक्षस्य नियतसाधनत्वादमृतमिदमद्वेष्टृत्वादिसाधनजातं पर्युपासते नित्यं समनुतिष्ठन्ति ते मद्भक्ता मद्भावनानिष्ठा मे परमेश्वरस्याऽतीवाऽत्यन्तं प्रियाः परप्रेमाश्रया भवन्ति। लोके सर्वेषां यथोक्तकारिणस्त्वत्यन्तप्रियाः सन्तो दृष्टास्तद्वद्यथोक्तकारिणो ये तु यतयो भवन्ति ते ममाऽत्यन्तप्रिया इति स्वोक्ते मोक्षसाधने तेषां प्रवृत्तिसिद्धये इयं स्तुतिः, ततः परमेश्वरस्याऽतिप्रियत्व-

---

उत्पन्न ज्ञानके परिपाकके मुख्य साधनोंका अवश्य ही संपादन करना चाहिए, ऐसा बोधन करनेके लिए उनके संपादनमें निष्ठा रखनेवाले साधकोंकी स्तुति करते हुए श्रीभगवान् अध्यायका उपसंहार करते हैं—'**ये तु**' इत्यादिसे।

तुशब्द सिद्धोंसे साधक भिन्न हैं, यों सिद्धोंसे साधकोंकी व्यावृत्ति करनेके लिए है। जो मेरे भावको प्राप्त करनेके लिए इच्छा कर रहे सिद्ध सब सुखसाधनोंका त्याग करके श्रवण आदिसे प्राप्त ज्ञानवाले यति 'इस मुक्तिके परम साधनका अवश्य अनुष्ठान करना चाहिए' इस विश्वाससे युक्त होकर मत्परम (मैं निर्विशेष परब्रह्म ही जिनका परम—प्राप्तव्य निरतिशय स्थान—हूँ, वे मत्परम हैं। यानी मुझमें ही परमार्थ बुद्धिवाले अथवा मैं ही परम—निरतिशय ऐश्वर्यसम्पन्न विश्वसे अधिक, जिसकी आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं किया जाता, ऐसा—ईश्वर हूँ, ऐसी जिनकी बुद्धि है, वे मत्परम हैं) यानी मुझमें परमेश्वरत्वबुद्धिसे मेरी आज्ञाके वशवर्ती होकर। यथोक्त—'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' इत्यादिसे मेरे द्वारा प्रतिपादित—धर्म्यामृतकी (यतियोंका स्वधर्मरूपसे प्रयत्नपूर्वक जो अनुष्ठेय है, वह धर्म्य है। अथवा मुमुक्षुत्वरूप धर्मसे प्राप्त होने योग्य धर्म्य है, धर्म्यरूप अमृतकी यानी अमृतके—मोक्षके—नियत साधन होनेके कारण अमृतस्वरूप उन अद्वेष्टृत्व आदि साधनोंकी) उपासना करते हैं यानी नित्य अनुष्ठान करते हैं, वे मेरे भक्त (मेरी भावनामें निष्ठावाले भक्त) मेरे—परमेश्वरके—अतीव—अत्यन्त ही—प्रिय—परम प्रेमके आश्रय हैं। जैसे कहनेके अनुसार चलनेवाले पुरुष सभीको अत्यन्त प्रिय होते हैं, यह लोकमें देखा जाता है, वैसे ही मेरे कथनके अनुसार चलनेवाले जो यति हैं, वे मुझको अत्यन्त प्रिय हैं, इस प्रकार अपने द्वारा कहे गये मोक्षसाधनमें उनकी प्रवृत्तिकी सिद्धिके लिए यह स्तुति है, इसलिए परमेश्वरमें अतिप्रियत्वकी सिद्धिके लिए और

सिद्धये भवबन्धविमुक्तये च यथोक्तमिदं धर्म्यामृतं यतिभिः कृतश्रवणैर्मोक्षैककामैः प्रयत्नेनाऽनुष्ठातव्यमिति सिद्धम् ॥ २० ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमदानन्दात्मसरस्वतीशिष्यश्रीमच्छङ्करा-
नन्दसरस्वतीकृतौ गीतातात्पर्यबोधिन्यां द्वादशोऽध्यायः ।

भवबन्धनसे मुक्त होनेके लिए, जिन्होंने श्रवण किया है, ऐसे केवल मोक्षकी कामनावाले यतियोंको यथोक्त इस धर्म्यामृतका प्रयत्नपूर्वक अनुष्ठान करना चाहिए, यह सिद्ध हुआ ॥ २० ॥

यतिवर श्रीभोलेबाबाविरचित-गीताशङ्करानन्दीभाषानुवादमें बारहवाँ अध्याय समाप्त ।

त्रयोदशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ १ ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—हे कौन्तेय, यह शरीर क्षेत्र कहा जाता है, और इस क्षेत्रको जो जानता है, वह क्षेत्रज्ञ है, यों क्षेत्र और क्षेत्रज्ञको जाननेवाले विद्वान् लोग कहते हैं ॥ १ ॥

मुमुक्षूणां सत्त्वशुद्ध्यर्थमीश्वरोपास्तिरवश्यं कर्तव्येति तेषां मन्दातिमन्दात्यन्तमन्दप्रज्ञावतामुपासनाभेदं चोपास्त्या परिशुद्धात्मनामक्षरोपास्तिर्विदेहमुक्त्यै कर्तव्येति सूचयितुं श्रवणादेरुत्तरोत्तरस्योत्कृष्टत्वं च प्रतिपाद्य ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानेनाऽनात्मबन्धनिर्मुक्तानां जीवन्मुक्तानां ब्रह्मविदामद्वेष्टृत्वादिकं लक्षणं साधकानां तु तदेव साधनमनुष्ठातव्यमिति बोधयित्वाऽधुना जिज्ञासोर्मोक्षैककामस्य कथं ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं किं ब्रह्म कस्त्वात्मा कः पुनरनात्मा तत्कृतो बन्धश्च कः स कथं ज्ञानेन निवर्तते किं ज्ञानं ज्ञानसाधनं च कथं वा जीवन्मुक्तिश्चेत्याकाङ्क्षायां क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरनात्मात्मशब्दार्थयोः प्रकृतिपुरुषयोर्विवेचनं विविक्तस्याऽऽत्मनः क्षेत्रज्ञस्य ब्रह्मणैकत्वं विविक्तयोरपि क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्वैलक्षण्यज्ञानदार्ढ्यार्थं पुनः पुनर्विवेचनं प्रकृतेर्बन्धकत्वमात्मनोऽप्यध्यासकृतो बन्ध इति बोधयितुमात्मनोऽद्वितीयत्वं च सम्यक्प्रतिपादयितुं त्रयोदशाध्याय

मुमुक्षुओंको सत्त्वकी (चित्तकी) शुद्धिके लिए ईश्वरकी उपासना अवश्य करनी चाहिए, इसलिए मन्द, अतिमन्द और अत्यन्त मन्दबुद्धिवाले मुमुक्षुओंकी पृथक् पृथक् उपासनाओंका प्रतिपादन कर तथा उपासनासे परिशुद्ध अन्तःकरणवालोंको अक्षरकी उपासना विदेहमुक्तिकी सिद्धिके लिए करनी चाहिए, यह सूचित करनेके लिए श्रवण आदिमें उत्तरोत्तर उत्कृष्टत्वका प्रतिपादन करके तथा जीव और ब्रह्मके एकत्वविज्ञानसे अनात्मबन्धसे निर्मुक्त जीवन्मुक्त ब्रह्मविदोंका जो अद्वेष्टृत्व आदि लक्षण है वही साधकोंका अनुष्ठेय साधन है, ऐसा बोधन करके अब केवल मोक्षकी कामनावाले जिज्ञासुको कैसे जीव और ब्रह्मके एकत्वका विज्ञान होता है, ब्रह्म क्या है, आत्मा कौन है, अनात्मा कौन है, अनात्माके द्वारा किया गया बन्ध क्या है, वह ज्ञानसे कैसे निवृत्त होता है, ज्ञान क्या है, ज्ञानका साधन क्या है और कैसे जीवन्मुक्ति होती है ? ऐसी आकाङ्क्षा होनेपर अनात्मा और आत्मा इन शब्दोंसे कहे जानेवाले प्रकृति और पुरुषरूप क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनोंका विवेचन, विविक्त (प्रकृतिसे भिन्नतम ज्ञात) क्षेत्रज्ञ जीवका ब्रह्मके साथ एकत्व, विविक्त होनेपर भी वैलक्षण्यज्ञानको दृढ़ करनेके लिए क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका बार-बार विवेचन, प्रकृतिमें बन्धकत्व तथा आत्मामें भी अध्यासजनित बन्धकत्व आदिका बोधन करनेके लिए तथा भली भाँति आत्माके अद्वितीयत्वका प्रतिपादन करनेके लिए

आरभ्यते । तत्राऽऽदौ क्षेत्रज्ञं क्षेत्रात् संक्षेपेण विविच्य विविक्तस्याऽऽत्मनो ब्रह्मणैकत्वं बोधयितुं श्रीभगवानुवाच—**इदमिति** ।

सत्त्वादीनां त्रयाणां गुणानां साम्यावस्थालक्षणा या त्वपरा प्रकृतिः सैव भोक्तुः पुरुषस्याऽदृष्टद्वारेश्वरप्रेरणया गुणवैषम्यं प्राप्य सुखदुःखानुभूतेर्बन्धस्य च मोक्षस्याऽपि च साधनतया स्वयमेव देहेन्द्रियप्राणमनोबुद्ध्यादिरूपेण रागद्वेषादिरूपेण शमदमादिरूपेण च शब्दादिविषयरूपेणाऽपि जागराद्याकारेणाऽपि च बहुधा परिणमते । तदेवेदं कार्यकरणसङ्घातलक्षणं प्रत्यक्षेणाऽनुभूयमानं शरीरं क्षेत्रं रागद्वेषादिदोषविशिष्टः पुमान् क्षीयतेऽनेनेति वा, क्षितेः क्षयात्संसारात्मकादनर्थाच्छमादियुक्तं पुरुषं त्रायत इति वा, सर्वदा दीपशिखावत् स्वयं क्षिणोतीति वा सुखदुःखादिफलोत्पादने क्षेत्रवदाचरतीति वा, क्षेत्रमिति क्षेत्रशब्देनाऽभिधीयते विद्वद्भिरित्यर्थः । प्रकृतिः प्राकृतं च दृश्यजातं सर्वं क्षेत्रं तदेवेदं शरीरमिति क्षेत्रशब्देनाऽनात्मस्वरूपं निरूप्याऽथाऽऽत्मस्वरूपं बोधयितुमाह—**एतदिति** । एतदनुभूयमानं शरीरलक्षणं क्षेत्रं यो वेत्ति स्वाभाविकेन ज्ञानेनाऽऽपादतलमस्तकं विषयीकृत्याऽहमिति गुरूपदेशजन्येन च स्वस्य विषयभूतं बुद्ध्यादिस्थूलान्तमिदं शरीरमिदं चक्षुरयं प्राणोऽयं शब्दोऽयं गन्ध इति यः प्रत्यक्षेणेदंशब्दप्रत्ययार्थं कृत्स्नं दृश्यजातं विजानाति तं क्षेत्रस्याऽनात्मनो दृश्यजातस्य वेदितारमहं-

---

तेरहवें अध्यायका आरम्भ किया जाता है। उसमें पहले क्षेत्रज्ञका क्षेत्रसे संक्षेपतः विवेक करके विविक्त आत्माका ब्रह्मसे एकत्व बोधन करनेके लिए श्रीभगवान् बोले—'इदम्' इत्यादिसे ।

सत्त्व आदि तीनों गुणोंकी साम्यावस्थारूप जो अपरा प्रकृति है, वही भोक्ता पुरुषके अदृष्टके द्वारा ईश्वरकी प्रेरणासे गुणोंकी विषमताको प्राप्त होकर सुख-दुःखके अनुभव, बन्ध और मोक्षके साधनरूपसे स्वयं ही देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदिरूपसे, रागद्वेष आदिरूपसे, शम, दम आदिरूपसे, शब्द आदि विषयरूपसे तथा जागर आदिके आकारसे भी अनेकविध परिणामको प्राप्त होती है। उसका परिणामभूत कार्यकरणसंघातरूप प्रत्यक्षसे अनुभवमें आनेवाला शरीर क्षेत्र है (रागद्वेष आदिसे विशिष्ट पुरुष इससे क्षीण होता है, अथवा संसारात्मक क्षयरूप अनर्थसे यह शम आदिसे युक्त पुरुषकी रक्षा करता है, अथवा दीपककी शिखाके समान स्वयं यह क्षीण होता है, अथवा सुख, दुःख आदि फलका उत्पादन करनेमें क्षेत्रके समान यह आचरण करता है, अतः यह क्षेत्र है) यानी क्षेत्रशब्दसे विद्वानों द्वारा कहा जाता है, यह अर्थ है। प्रकृति और प्राकृत सब दृश्यवर्ग क्षेत्र है, वही यह शरीर है, यों क्षेत्रशब्दसे अनात्मस्वरूपका निरूपण करके अब आत्मस्वरूपका बोधन करनेके लिए कहते हैं—**एतदिति** । अनुभवमें आनेवाले इस शरीररूप क्षेत्रको जो जानता है—स्वाभाविक ज्ञानसे पादतलसे लेकर मस्तकतक सब अवयवोंको लक्ष्य करके 'मैं' यों जो जानता है और गुरुके उपदेशसे जनित ज्ञानसे बुद्धिसे लेकर स्थूलतक यह शरीर है, यह चक्षु है, यह प्राण है, यह शब्द है, यह गन्ध है, यों प्रत्यक्षतः इदंशब्दसे व्यवह्रियमाण अपने विषयभूत संपूर्ण दृश्यवर्गको जो जानता है—अनात्मभूत

पदप्रत्ययार्थं चेतनं पुरुषं क्षेत्रज्ञ इति क्षेत्रं प्रकृतिं प्राकृतं च सर्वं दृश्यं स्वतो भिन्नं जानातीति क्षेत्रज्ञ आत्मेति प्राहुः। बहिरन्तः सर्वत्र दृश्यं सर्वं प्रत्यक्षादिप्रमाणैः साक्षाद्व्यवधानेन विना च यो विजानाति स एव क्षेत्रज्ञ आत्मेति तद्विदः आत्मस्वरूपज्ञाः सन्तो वदन्ति। यद्वा, तयोः क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः स्वरूपं ज्ञेयत्वज्ञातृत्वप्रकाश्यत्वप्रकाशकत्वविकारित्वाविकारित्वादिलक्षणैः परस्परविलक्षणं ये विजानन्ति ते तद्विद आत्मानात्मस्वरूपज्ञा वसिष्ठादयो ज्ञेयं सर्वमनात्मा तज्ज्ञाता त्वात्मैवाऽहंपदार्थ इति निगदन्तीत्यर्थः। ननु कार्यकरणसङ्घातव्यतिरिक्तो न कश्चिदहंपदार्थो ज्ञातोपलभ्यते, कथमिदं शरीरं क्षेत्रमेतद्यो वेत्ति स क्षेत्रज्ञ इत्युच्यते, प्रत्यक्षादिप्रमाणविरोधात्। 'अहं गच्छाम्यहं भुञ्जे' इति गन्तव्यभोक्तव्यपदार्थज्ञातृत्वं क्रियाकरणं च संघातस्यैव दृश्यते। 'अयमेतस्य पुत्रो भवति एतत्सदृशत्वात्' इत्यनुमानेनोपमानेन चेदंशब्दार्थः सङ्घात एव भवति। आयुराशास्ते यजमानोऽसाविति सङ्घातस्यैवाऽऽयुराद्याशा श्रूयते, असावित्यदःशब्दस्य प्रत्यक्षार्थवाचकत्वादिति चेद्भवानत्र प्रष्टव्यः—ज्ञाताऽत्र देहो वा, इन्द्रियगणो वा, प्राणो वा, मनो वा, बुद्धिर्वा, अहङ्कारो वा, उत समुदायो वेति। नाऽऽद्यः, स्वापपारवश्यादौ देहस्य ज्ञानादर्शनात्, 'पादे मे वेदना शिरसि मे सुखम्' इति देहस्य सुखदुःख-

---

दृश्यजातको जाननेवाले उस अहंप्रतीतिके विषय चेतनपुरुषको क्षेत्रज्ञ (क्षेत्रको—प्रकृति और प्राकृत सब दृश्यजातको—अपनेसे जो भिन्न जानता है, वह क्षेत्रज्ञ) यानी आत्मा कहते हैं। बाहर-भीतर सर्वत्र सब दृश्योंको प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे साक्षात्—व्यवधानके बिना—जो जानता है, वही क्षेत्रज्ञ आत्मा है, ऐसा तद्वित् यानी आत्माके स्वरूपको जाननेवाले विद्वान् कहते हैं। अथवा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनोंके स्वरूपको ज्ञेयरूप, ज्ञातारूप; प्रकाश्यरूप, प्रकाशकरूप तथा विकारीरूप एवं अविकारीरूप लक्षणोंसे परस्पर विलक्षण जो जानते हैं, वे तद्विद् यानी आत्मा और अनात्माके स्वरूपको जाननेवाले वसिष्ठ आदि 'सब ज्ञेय अनात्मा है और उसका जाननेवाला आत्मा ही अहंपदका अर्थ है' यों कहते हैं। यदि शङ्का हो कि कार्यकरणसङ्घातसे भिन्न अहंपदार्थ ज्ञाता कोई पृथक् दिखाई नहीं देता, फिर 'कैसे यह शरीर क्षेत्र है, इसको जो जानता है, वह क्षेत्रज्ञ है' यह कहा जाता है ? प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे विरोध है—मैं चलता हूँ, मैं उपभोग करता हूँ, इस प्रकार गन्तव्य और भोक्तव्य पदार्थका ज्ञाता और क्रियाकरनेवाला सङ्घात ही देखनेमें आता है। 'यह इसका पुत्र है, इसके समान आकृतिवाला होनेसे' इस अनुमान और उपमानसे इदंशब्दका अर्थ सङ्घात ही होता है। 'यह यजमान आयुकी इच्छा करता है, यों संघातमें ही आयु आदिकी इच्छा सुननेमें आती है, क्योंकि 'असौ' शब्द प्रत्यक्ष अर्थका वाचक है, तो यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि इस विषयमें आपसे पूछा जाता है कि क्या ज्ञाता यहाँ देह है या इन्द्रियाँ हैं या प्राण है या मन है या बुद्धि है या अहङ्कार है अथवा इनका समुदाय है ? पहला पक्ष युक्त नहीं है, 'क्योंकि निद्रासे परवश होनेपर देहमें ज्ञान देखनेमें नहीं आता और मेरे पैरमें पीड़ा है, मेरे सिरमें सुख है, इस प्रकार देहके सुख-दुःखका ज्ञाता देहसे भिन्न प्रतीत होता

ज्ञातुर्देहान्यत्वेनोपलभ्यमानत्वाच्च । न द्वितीयः, दृष्टिर्मे मन्दा वाङ्मे स्पष्टेति तत्सौष्ठवा-सौष्ठवपरिज्ञातुस्तद्भिन्नत्वेनाऽवगमात् । न तृतीयः, निद्रादौ स्वपरज्ञानादर्शनात् । न चतुर्थो न पञ्चमो नाऽपि षष्ठश्च, 'मनो मे व्यथितं बुद्धिर्मे चपला दुष्टो मेऽहङ्कारः' इति मनआदीनां स्वान्यज्ञेयत्वावगमात् । 'यज्ज्ञेयं तज्जडम्' इति ज्ञेयस्य घटादेर्जडत्वदर्शनात् । जडस्य मनआदेर्ज्ञातृत्वासम्भवात् । तेषां तु तथात्वे घटस्याऽपि तथात्वं स्यात्, ज्ञेयत्व-स्योभयसाधारण्यात् । नैव च सप्तमः, अवयवानामचेतनत्वे त्ववयविनोऽपि काष्ठभार-वदचेतनत्वात् ज्ञातृत्वानुपपत्तेः । तर्हि चैत्रेण ज्ञातस्य मैत्रस्याऽप्यचेतनत्वं प्रसज्येतेति चेत्, तदिष्टापत्तेः । चैत्रेण मैत्रशरीरस्यैव ज्ञातत्वाच्छरीरादेरचेतनत्वस्य साधितत्वान्नाऽ-स्माकमेतदनर्थाय भवति । किञ्च, 'देहादेर्ज्ञाता देहादिभ्यो भिन्न एव भवति, ज्ञातृत्वात्, घटज्ञातृवत्' इत्यादियुक्तिभिः, 'चक्षुषो द्रष्टा श्रोत्रस्य द्रष्टा वाचो द्रष्टा मनसो द्रष्टा बुद्धेर्द्रष्टा तमसो द्रष्टा सर्वस्य द्रष्टा' इत्यादिश्रुतिभिश्च सम्यग्विचार्यमाणे क्षेत्रस्याऽ-नात्मनस्तद्धर्माणां तदवस्थानां च ज्ञाता क्षेत्राद्भिन्न एव भवति, न तु क्षेत्रं देहेन्द्रियादि-लक्षणम् । तथात्वे 'ममेदं शरीरं चक्षुः' इति शरीरादिषु स्वभिन्नत्वज्ञानं न स्यात् । स्वभिन्नत्वज्ञानस्य विवेकिप्रसिद्धत्वात् क्षेत्रात् क्षेत्रज्ञो भिन्न एव । तत एवोच्यते

है । दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि मेरी दृष्टि मन्द है, वाणी मेरी स्पष्ट है, इस प्रकार इन्द्रियोंके सौष्ठव और असौष्ठवका ज्ञाता इन्द्रियोंसे भिन्न ज्ञात होता है । तीसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि निद्रा आदिमें अपना अथवा दूसरेका ज्ञान देखनेमें नहीं आता । चौथा, पाँचवाँ और छठा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि मेरा मन दुःखी है, मेरी बुद्धि चपल है और मेरा अहङ्कार दुष्ट है, यों मन आदि उनसे अन्य ज्ञाता द्वारा जाने जाते हैं, यह प्रत्यक्ष है । जो ज्ञेय होता है, वह जड़ होता है, इस व्याप्तिसे ज्ञेयभूत घट आदिमें जडत्व देखनेमें आता है, अतः जड़भूत मन आदिमें ज्ञातृत्वका सम्भव नहीं है । यदि उनमें ज्ञातृत्व माना जायगा, तो घटमें भी ज्ञातृत्व मानना होगा, क्योंकि ज्ञेयत्व दोनोंमें समान है । सातवां पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि अवयवोंके अचेतन होनेपर अवयवी भी काष्ठके भारके (ढेरके) समान अचेतन ही होगा, इस परिस्थितिमें उसमें ज्ञातृत्व नहीं हो सकता । यदि कहो कि ऐसा माननेपर चैत्रसे ज्ञात मैत्रमें भी अचेतनत्वकी प्राप्ति होगी, तो यह इष्ट ही है, क्योंकि चैत्रने मैत्रके शरीरको ही जाना है, और शरीर आदिमें अचेतनत्व है ही, अतः वह प्रसङ्ग हमारे लिए अनर्थका कारण नहीं हो सकता । किञ्च, 'देह आदिका ज्ञाता देह आदिसे भिन्न ही होता है, ज्ञाता होनेसे, घटके ज्ञाताके समान' इत्यादि युक्तियोंसे और 'चक्षुका द्रष्टा, श्रोत्रका द्रष्टा, वाणीका द्रष्टा, मनका द्रष्टा, बुद्धिका द्रष्टा, तमका द्रष्टा, सबका द्रष्टा' इत्यादि श्रुतियोंसे भली भाँति विचार करनेपर अनात्मा क्षेत्रका, उसके धर्मोंका और उसकी अवस्थाओंका ज्ञाता क्षेत्रसे भिन्न ही होता है, देह, इन्द्रिय आदिरूप क्षेत्र ज्ञाता नहीं होता है, क्योंकि ऐसा होनेपर, तो 'मेरा यह शरीर है, मेरा चक्षु है, यों शरीर आदिमें अपनी भिन्नताका ज्ञान नहीं होगा । शरीर आदि अपनेसे भिन्न हैं, यों विवेकियोंको ज्ञान होता है, अतः क्षेत्रसे क्षेत्रज्ञ भिन्न ही है । इसीलिए सर्वज्ञ श्रीभगवान् कहते हैं—यह शरीर क्षेत्र है और इसको जो जानता है, वह क्षेत्रज्ञ

भगवता सर्वज्ञेन इदं शरीरं क्षेत्रमेतद्यो वेत्ति स क्षेत्रज्ञ इति। त्वदुक्तं प्रत्यक्षादिप्रमाणमविवेकिविषयमतो न कश्चिदत्र विरोधः। ननु क्षेत्राद्व्यतिरिक्तः क्षेत्रज्ञो नाम क्षेत्रज्ञाता 'अयम्' इति न कश्चिदुपलभ्यते, उपलम्भाभावात्तदभाव एवेति चेद्, भवानत्र प्रष्टव्यः—किं क्षेत्राभाव उच्यते उत क्षेत्रज्ञाभाव इति। नाऽऽद्यः, प्रत्यक्षेणोपलभ्यमानस्य क्षेत्रस्याऽभावकथनायोगात्। न द्वितीयः, क्षेत्रोपलब्धुः क्षेत्रज्ञस्याऽभावे 'इदं शरीरमयं घटः पटोऽयम्' इत्यादिदृश्यप्रत्ययाभावप्रसङ्गात्। सूर्याभाववत् क्षेत्रज्ञाभावे जगदान्ध्यं प्रसज्येत। क्षेत्रज्ञेन खलु सूर्यवत् स्वमहसा महदादिस्थूलान्तं दृश्यजातं बहिरन्तर्व्याप्येदं सर्वं भास्यते, 'इदमिदम्' इति सर्वं ज्ञायते च। अन्यथा त्वान्तरमहदादीनां बहिर्घटादिपदार्थानां सुखादिप्रत्ययानां जाग्रदाद्यवस्थानां च स्वरूपविवेकविज्ञानाभावप्रसङ्गात्। प्रत्यक्षादिसर्वप्रमाणानामहमादिप्रमेयानां च सर्वेषां प्रामाण्यं यतः सिध्यति तदभावः केन सम्पादयितुं शक्यते। तदभावे स्वाभावप्रसङ्गात्। ननु चिदाभासोऽस्त्येव प्रमाता सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यनिर्वोढेति चेत्, न; तस्याऽपि विकार्यन्तःपातित्वेन सर्वज्ञत्वानुपपत्तेः। अन्तःकरणविकारैः सार्धं क्षणे क्षणे विकृतिं गच्छतश्चिदाभासस्याऽपि विकारित्वात्तद्भावानुसारित्वाच्च जाग्रदाद्यवस्थास्वस्य सर्वस्य व्यवहारस्य विज्ञानायोगात्। ननु

है। तुम्हारे द्वारा कहे गये प्रत्यक्ष आदि प्रमाण अविवेकियोंकी दृष्टिमें प्रमाण हैं, इसलिए यहाँ कोई विरोध नहीं है। यदि कहो कि क्षेत्रसे भिन्न क्षेत्रज्ञ नामका कोई क्षेत्रका ज्ञाता 'यह है' यों प्रत्यक्षतः देखा नहीं जाता, न देखनेसे उसका अस्तित्व ही नहीं है, तो तुमसे इस विषयमें यह प्रश्न होगा कि क्या क्षेत्रका अभाव कहते हो या क्षेत्रज्ञका अभाव? पहला पक्ष तो युक्त है नहीं, क्योंकि प्रत्यक्षसे दिखलाई देनेवाले क्षेत्रका अभाव कहना असंभव है। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि क्षेत्रके उपलब्धा (ज्ञाता) क्षेत्रज्ञका अभाव होनेपर यह शरीर है, यह घट है, यह पट है, इत्यादिरूपसे होनेवाले दृश्यज्ञानके अभावका प्रसङ्ग आवेगा। जैसे सूर्यके न रहनेपर जगत् अन्धा (प्रकाशशून्य) हो जाता है, वैसे ही क्षेत्रज्ञका अभाव होनेपर जगत् अन्धा (प्रकाशरहित) हो जायगा। जैसे सूर्य सबका प्रकाश करता है, वैसे ही क्षेत्रज्ञ अपने तेजसे महद्से लेकर स्थूलपर्यन्त दृश्यसमूहको बाहर भीतर व्याप्त कर उसका प्रकाशन करता है और 'यह है, यह है' यों उससे सबका ज्ञान होता है। यदि ऐसा न हो, तो महद् आदि आन्तर पदार्थोंके, घट आदि बाह्य पदार्थोंके, सुख आदि प्रत्ययोंके और जाग्रत् आदि अवस्थाओंके स्वरूपका विवेकपूर्वकविज्ञान ही नहीं हो सकेगा। प्रत्यक्ष आदि सब प्रमाणोंका और अहं आदि प्रमेयोंका प्रामाण्य जिससे सिद्ध होता है, उसका अभाव किससे किया जा सकता है। उसका अभाव होनेपर अपना ही अभाव प्राप्त हो जायगा। यदि कहो कि सब प्रमाणोंके प्रामाण्यका निर्वाह करनेवाला चिदाभास प्रमाता है ही, तो यह कहना युक्त नहीं है, क्योंकि वह भी विकारियोंके अन्तर्गत है, इसलिए उसमें सर्वज्ञता नहीं हो सकती। अन्तःकरणके विकारोंके साथ क्षण-क्षणमें विकृतिको प्राप्त होनेवाला चिदाभास भी विकारी तथा अन्तःकरणके भावोंका अनुसरण करनेवाला है, अतः जाग्रत् आदि अवस्थाओंमें इस सम्पूर्ण व्यवहारका

विश्वादयः सन्त्येवाऽवस्थाविज्ञातार इति चेत्, न; क्षेत्रज्ञानेकत्वप्रसङ्गात्। 'एतद्यो वेत्ति' इत्येकवचनेन क्षेत्रज्ञैकत्वश्रवणाद् अभिमानस्य विकारत्वाज्जाग्रदाद्यवस्थाभिमानवतां विश्वादीनां विकारित्वेन नित्यत्वासंभवादेकस्याऽवस्थात्रितयज्ञानानुपपत्तेः। 'यो जागरमन्वभूवं यः स्वप्नमद्राक्षं यः सुखमस्वाप्सं सोऽहं तिष्ठामि इति अवस्थाज्ञातुर्विश्वादिभ्यो भिन्नत्वावगमात् तेषामविकारित्वं नित्यत्वं च न सिद्धयति। तदसिद्धौ अवस्थात्रितयज्ञानं च न सिद्धयति। अतस्तेभ्यो भिन्नोऽविकारी नित्यश्चैकश्चेतनश्च क्षेत्रस्य सर्वस्याऽपि ज्ञाता क्षेत्रज्ञ आत्मैवेति सिद्धम्। नन्वात्मनः क्षेत्रज्ञत्वमस्तु तथाप्ययमिति स्वयं क्षेत्रज्ञाता नोपलभ्यते। तत्कथमिति चेदुच्यते—ज्ञात्रन्तराभावात् तदुपलम्भाभावः। ज्ञात्रन्तराभ्युपगमे त्वनवस्थाप्रसङ्गात्। क्षेत्रज्ञस्याऽयमिति ज्ञानत्वे क्षेत्रभावापत्त्या क्षेत्रज्ञत्वं हीयेत। अनित्यत्वाचेतनत्वादिदोषश्च स्यात्। 'एको देवः' इति, 'एक एव साक्षी स्वप्रकाशः' इति, 'अजो नित्यः शाश्वतः' इत्यादिश्रुतिविरोधप्रसक्तेश्च। अत आत्मा घटादिवत् न ज्ञानविषयः। ननु 'तरति शोकमात्मवित्' इत्यात्मवेदनवतः शोकतरणं श्रूयते कथमयमस्मीत्यात्मन्यविज्ञाते शोकतरणं विदुषः सिद्धयेत्, अतोऽयमित्या-

---

विज्ञान ही किसीको नहीं हो सकेगा। यदि कहो कि अवस्थाओंके जाननेवाले विश्व आदि हैं ही, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि अनेक क्षेत्रज्ञोंका प्रसङ्ग होगा। 'एतद्यो वेत्ति' (इसको जो जानता है) इस प्रकार एक वचनसे एक क्षेत्रज्ञ सुननेमें आता है। यदि विश्व आदिमें से किसी एकको क्षेत्रज्ञ मानो, तो सो भी ठीक नहीं है। क्योंकि अभिमान विकार है, अतः जाग्रत् आदि अवस्थाओंके अभिमानी विश्व आदिके विकारी होनेसे उनमें नित्यत्वका संभव नहीं है, इसलिए उनमें से एकको तीनों अवस्थाओंका ज्ञान नहीं हो सकेगा। 'जिसने जाग्रत्का अनुभव किया, जिसने स्वप्न देखा और जो सुखसे सोया, वही मैं स्थित हूँ' इस अनुभवसे अवस्थाओंका ज्ञाता विश्व आदिसे भिन्न ज्ञात होता है। इन सबकारणोंसे उनका (विश्वादिका) अविकारी होना या नित्य होना सिद्ध नहीं होता। नित्यत्वके सिद्ध न होनेपर तीनों अवस्थाओंका ज्ञान सिद्ध नहीं होता। इसलिए इन तीनोंसे भिन्न अविकारी नित्य, एक, चेतन सब क्षेत्रका ज्ञाता क्षेत्रज्ञ आत्मा ही है, यह सिद्ध हुआ। यदि कहो कि आत्मा क्षेत्रज्ञ हो, तो भी 'यह है' यों स्वयं क्षेत्रके ज्ञाताका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। यह कैसे? तो इसपर कहते हैं—दूसरे ज्ञाताके न होनेसे उसके ज्ञानका अभाव है। दूसरे ज्ञाताको माननेपर तो अनवस्थाका प्रसङ्ग होगा। यह है, यों इदंरूपसे क्षेत्रज्ञका ज्ञान होनेपर, क्षेत्रत्वकी प्राप्ति होनेसे, उसका क्षेत्रज्ञपन ही चला जायगा और अनित्यत्व, अचेतनत्व आदि दोष भी प्राप्त होंगे। और 'एक देव', 'स्वप्रकाश साक्षी एक ही है' तथा 'अज, नित्य, शाश्वत' इत्यादि श्रुतियोंके साथ विरोधका प्रसङ्ग होगा। इसलिए आत्मा घटके समान ज्ञानका विषय नहीं है। 'आत्मवित् शोकको तर जाता है' इससे आत्माको जाननेवालेका शोकसे तरना सुना जाता है, अतः 'यह मैं हूँ' यों आत्माको जाने बिना विद्वान्का शोकसे तरना कैसे सिद्ध होगा? इससे 'यह आत्मा है' इस प्रकार आत्मा कैसे जाना जाता है? ऐसा यदि कहो, तो श्रौतज्ञानसे

त्मा कथं ज्ञायत इति चेत्, श्रौतेनैव ज्ञानेनाऽऽत्मा ज्ञातव्यः। तत्कथमिति चेदुच्यते—'नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञमदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः' इति श्रुत्या नान्तःप्रज्ञमित्यादिना तैजसविश्वादिभ्यो भिन्नत्वं तेषामनात्मत्वं च प्रतिपाद्य अदृष्टमित्यहमादिसर्वदृश्यभिन्नत्वमव्यवहार्यमिति कर्मेन्द्रियाविषयत्वमग्राह्यमिति ज्ञानेन्द्रियाविषयत्वमलक्षणमित्यनुमानागम्यत्वमचिन्त्यमिति मनसोऽप्यगोचरत्वमव्यपदेश्यमिति वागविषयत्वमेकात्मप्रत्ययसारमिति चिदेकरसत्वं स्वगतभेदराहित्यं च प्रपञ्चोपशममिति विजातीयभेदराहित्यमद्वैतमिति सजातीयभेदराहित्यं च शिवमिति आनन्दघनत्वं चतुर्थमिति स्वाभासविश्वादित्रितयमपेक्ष्य तुर्यत्वं सर्वदृश्यवैलक्षण्यं च सम्यगात्मनः प्रतिपाद्य, य एवं सर्वदृश्यविलक्षणश्चिदानन्दैकरस एवात्मा स्वलक्षणलक्षितः सोऽयमहमस्मीति विद्वद्भिः स्वात्मना ज्ञेयो ज्ञातव्य इति बोध्यते। अनेन श्रौतेन ज्ञानेनाऽविद्यातत्कार्यसम्बन्धरहितमात्मानं स्वं ज्ञात्वा विद्वान् संसारान्मुक्तो भवति। अतः सर्वदृश्यविलक्षणत्वं क्षेत्रज्ञत्वं चाऽऽत्मनो लक्षणमिति सिद्धम् ॥ १ ॥

एवमिदं शरीरं क्षेत्रमेतद्यो वेत्ति स क्षेत्रज्ञ इत्यनात्मनोऽप्यात्मनश्च स्वरूपं

ही आत्माको जानना चाहिए, वह कैसे? ऐसा यदि कहो, तो कहते हैं—'आत्मा न अन्तःप्रज्ञ है, न बहिःप्रज्ञ है, न अन्तर्बहिःप्रज्ञ है, न प्रज्ञानघन है, न प्रज्ञ है तथा न अप्रज्ञ है, परन्तु वह अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य, एकात्मप्रत्ययका सार, प्रपञ्चरहित, शान्त, शिव एवं अद्वैत, तुरीय है, यों विद्वान् मानते हैं, वह आत्मा है, उसको जानना चाहिए' इस श्रुतिसे आत्मामें 'नान्तःप्रज्ञ' इत्यादिसे तैजस, विश्व आदिसे भिन्नत्व और तैजस आदिमें अनात्मत्व का प्रतिपादन कर 'अदृष्ट' इससे अहं आदि सर्वदृश्यसे भिन्नत्व, 'अव्यवहार्य' इससे कर्मेन्द्रियोंका अविषयत्व, 'अग्राह्य' इससे ज्ञानेन्द्रियोंका अविषयत्व, 'अलक्षण' इससे अनुमानसे अगम्यत्व, 'अचिन्त्य' इससे मनका भी अगोचरत्व, 'अव्यपदेश्य' इससे वाणीका अविषयत्व, 'एकात्मप्रत्ययसार' इससे चिदेकरसत्व और स्वगतभेदरहितत्व, 'प्रपञ्चोपशम' इससे विजातीयभेदराहित्य, 'अद्वैत' इससे सजातीयभेदराहित्य, 'शिव' इससे आनन्दघनत्व, 'चतुर्थ' इससे स्वाभास विश्व आदि तीनोंकी अपेक्षा तुर्यत्व और सर्वदृश्यसे विलक्षणत्व का आत्मामें भली भाँति प्रतिपादन करके जो इस प्रकार सम्पूर्ण दृश्यसे विलक्षण अपने लक्षणोंसे लक्षित चिदानन्दैकरस आत्मा है, उसे 'यह मैं हूँ' यों अपने आत्मरूपसे विद्वानोंको जानना चाहिए, ऐसा बोधन किया जाता है। इस श्रौत ज्ञानसे अविद्या और उसके कार्योंके सम्बन्धसे रहित आत्माको स्वस्वरूप जानकर विद्वान् संसारसे मुक्त होता है, इसलिए सर्वदृश्यविलक्षणत्व और क्षेत्रज्ञत्व आत्माका लक्षण है, यह सिद्ध हुआ ॥ १ ॥

इस प्रकार 'यह शरीर क्षेत्र है, इसको जो जानता है, वह क्षेत्रज्ञ है, इससे अनात्माका

क्षेत्रज्ञं चाऽपि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ २ ॥

हे भारत, सम्पूर्ण क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ भी मुझको ही जानो और क्षेत्र भी मुझको ही जानो। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका जो ब्रह्ममात्रत्वज्ञान है, वही संसारकी अत्यन्त निवृत्ति करनेवाला ज्ञान है, ऐसा मेरा निश्चय है ॥ २ ॥

गृहप्रदीपवत् विभज्य दर्शयित्वा क्षेत्रज्ञस्याऽऽत्मनः श्रुत्यादिप्रमाणसिद्धं ब्रह्माभिन्नित्वं प्रतिपादयति ब्रह्मणः परोक्षत्वसद्वितीयत्वनिवृत्तये आत्मनोऽप्यात्यन्तिकसंसारनिवृत्तये चाऽऽनन्दरूपत्वसिद्धये च—**क्षेत्रज्ञमिति** ।

भायामखण्डवृत्तावेव सदा रमत इति हे भारत, सर्वक्षेत्रेषु सर्वेषु ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तेषु क्षेत्रेषूक्तलक्षणेषु शरीरेषु यः क्षेत्रज्ञस्तत्तत्क्षेत्रतद्धर्मतत्कर्मतदवस्थानां च ज्ञाता एकः परिपूर्णोऽपि स्वयं घटादिभिराकाशवदविद्यया स्वात्मनि कल्पितैस्तैस्तैरुपाधिभिः सुखदुःखादिप्रत्ययैश्च विभक्त इव प्रतिशरीरमहमहमित्यहंप्रत्ययार्थत्वेन स्थितः सर्वप्रत्ययसाक्षी प्रत्यग्लक्षणस्तमुक्तलक्षणेन सर्वेभ्यः क्षेत्रेभ्यः सम्यग्विभक्तं तत्तदुपाधितद्धर्मतत्कर्माद्यस्पृष्टं तत्तच्छब्दप्रत्ययागोचरमाकाशवन्निराकारं निर्विकारं निरञ्जनं कूटस्थासङ्गचिद्रूपमात्मानं मां सर्वश्रुतिप्रसिद्धं सत्यज्ञानादिलक्षणं निर्विशेषं परं ब्रह्म विद्धि । 'अयमात्मा ब्रह्म' इति श्रवणादात्मानं परं ब्रह्मेत्यवगच्छेत्यर्थः । सर्वशरीरेष्वात्मैकत्वं

और आत्माका स्वरूप घर और दीपकके समान विभागपूर्वक दिखला कर परोक्षत्व एवं सद्वितीयत्वकी निवृत्तिके लिए तथा आत्माके आत्यन्तिक संसारकी निवृत्ति और आनन्दरूपत्वकी सिद्धिके लिए क्षेत्रज्ञ आत्माके श्रुति आदि प्रमाणोंसे सिद्ध ब्रह्माभिन्नत्वका प्रतिपादन करते हैं—**'क्षेत्रज्ञम्'** इत्यादिसे ।

भामें—अखण्डवृत्तिमें—ही जो सदा रमण करता है, वह भारत है, हे भारत, सब क्षेत्रोंमें—ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त उक्त लक्षणवाले शरीरोंमें—जो क्षेत्रज्ञ यानी तत्-तत् क्षेत्र, उनके कर्म और उनकी अवस्थाओंका ज्ञाता, एक और परिपूर्ण होनेपर भी घटादिसे आकाशके समान अविद्यासे अपनेमें कल्पित तत्-तत् उपाधियोंसे और सुख, दुःख आदि प्रत्ययोंसे विभक्त-सा प्रत्येक शरीरमें 'मैं' 'मैं' यों अहंप्रत्ययके अर्थरूपसे स्थित, सब प्रत्ययोंका साक्षी तथा प्रत्यक्लक्षण आत्मा है, उसको—उक्त लक्षणके द्वारा सब क्षेत्रोंसे भली भाँति विभक्त (पृथक्कृत) तत्-तत् उपाधि, उपाधिके धर्म तथा उपाधिके कर्म आदिसे अस्पृष्ट, तत्-तत् शब्द और प्रत्ययके अगोचर, आकाशके समान निराकार, निर्विकार, निरञ्जन, कूटस्थ, असङ्ग तथा चिद्रूप आत्माको—तुम सम्पूर्ण श्रुतियोंमें प्रसिद्ध सत्य, ज्ञान आदि स्वरूप निर्विशेष परब्रह्म जानो। आत्मा परब्रह्म है, ऐसा जानो, क्योंकि 'यह आत्मा ब्रह्म है' ऐसी श्रुति है, यह अर्थ है। सब शरीरोंमें आत्माके एकत्वका पहले ही प्रतिपादन किया गया है, अतः सब शरीरोंमें 'अहम्' के

पूर्वमेव प्रतिपादितं सर्वक्षेत्रेष्वहमर्थत्वेन स्थित आत्मा ब्रह्मैवेति अवेहीत्यर्थः। एवं क्षेत्राद्विभक्तं क्षेत्रज्ञं च मामेव यथा वेत्सि तथा क्षेत्रस्याऽविद्याकार्यत्वेन स्वतः सत्ताभावान्मयि ब्रह्मण्यधिष्ठाने कल्पितं क्षेत्रमपि मामेव विद्धि अवेहि। अत्राऽपि हि क्षेत्रस्य क्षेत्रज्ञवत् ब्रह्माभिन्नत्वं बोधयति। अन्यथा द्वैतहेतोर्देहादिप्रपञ्चस्य पृथग्विद्यमानत्वे ब्रह्मणोऽद्वितीयत्वं न सिद्ध्यति, तदभावे अद्वैतश्रुतिविरोधः स्यात्; ततः क्षेत्रज्ञं च क्षेत्रमपि मां विद्धीति द्वयोरपि ब्रह्मत्वप्रतिपादनं युक्तम्। तेन स्वापेक्ष्यं च प्रयोजनं तयोर्ब्रह्माभिन्नत्वज्ञानदृढीकरणमेव। ततः क्षेत्रं क्षेत्रज्ञश्च सर्वं ब्रह्मैवेति सिद्धम्। तथा च श्रुतिः स्मृतिश्च —'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्', 'वासुदेवात्मकान्याहुः क्षेत्रं क्षेत्रज्ञ एव च' इति। ननु क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरुभयोरपि यदीष्टं ब्रह्ममात्रत्वं तर्हि सर्वं ब्रह्मैवेत्युक्त्या सर्वस्य ब्रह्ममात्रत्वं सिद्ध्यति, किम् 'इदं शरीरं कौन्तेय' इत्यादिग्रन्थगौरवेणेति न शङ्कनीयम्, 'इदं शरीरं क्षेत्रम्' इति प्रकृतिं प्राकृतं च सर्वं दृश्यं क्षेत्रमेवेत्यनात्मस्वरूपं निरूप्य 'एतद्यो वेत्ति स क्षेत्रज्ञः' इति क्षेत्रज्ञस्याऽऽत्मनः क्षेत्रतद्धर्मतत्कर्मतदवस्थासम्बन्धलेशराहित्ये प्रतिपादिते क्षेत्राद्विभिन्नमकर्तारमभोक्तारमविक्रियं कूटस्थासङ्गचिद्रूपं क्षेत्रज्ञमेव स्वं साक्षाद्विदितवतः सतामसतां च देहेन्द्रियादिव्यापाराणां

अर्थरूपसे स्थित आत्मा ब्रह्म ही है, ऐसा जानो, यह अर्थ है। इस प्रकार तुम क्षेत्रसे विभक्त क्षेत्रज्ञको जैसे मत्स्वरूप ही जानते हो वैसे ही अविद्याका कार्य होनेसे स्वतः सत्ता न होनेके कारण अधिष्ठानस्वरूप मुझमें कल्पित क्षेत्रको भी मत्स्वरूप ही जानो। इस श्लोकमें स्थित 'अपि' शब्द क्षेत्रज्ञके समान क्षेत्रमें ब्रह्माभिन्नत्वका बोधन करता है। यदि ऐसा न हो, तो द्वैतके हेतुभूत देह आदि प्रपञ्चके पृथक् विद्यमान रहनेपर ब्रह्मका अद्वितीयत्व सिद्ध नहीं होगा, अद्वितीयत्वके सिद्ध न होनेसे अद्वैतश्रुतियोंसे विरोध होगा, इससे क्षेत्रज्ञको और क्षेत्रको भी मत्स्वरूप ही जानो, यों दोनोंमें ब्रह्मत्वका प्रतिपादन करना युक्त है। वैसा करनेसे स्वाभीष्ट क्षेत्र और क्षेत्रज्ञमें ब्रह्माभिन्नत्वके ज्ञानका दृढीकरण ही प्रयोजन है। अतः क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ सब ब्रह्म ही है, यह सिद्ध हुआ। इस अर्थमें श्रुति और स्मृति भी है—भोक्ता, भोग्य और प्रेरक यह भेद आविद्यिक है, यह मानकर उक्त त्रिविध भेद ब्रह्म ही है, ऐसा जानकर जीव कृतार्थ होता है।' 'क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ वासुदेवात्मक ही हैं, ऐसा ब्रह्मवेत्ता कहते हैं'। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनोंमें ब्रह्ममात्रत्वका प्रतिपादन करना आपको यदि इष्ट है, तो 'सब ब्रह्म ही है', इस कथनसे ही सबमें ब्रह्ममात्रत्व सिद्ध हो सकता है, फिर 'इदं शरीरं कौन्तेय' इत्यादि ग्रन्थको बढ़ानेका क्या फल है? ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि 'यह शरीर क्षेत्र है' इससे प्रकृति और प्राकृत सब दृश्य क्षेत्र हैं, यों अनात्माके स्वरूपका निरूपण करके, 'इसको जो जानता है, वह क्षेत्रज्ञ है', इससे क्षेत्रज्ञ आत्मामें क्षेत्र, उसके धर्म, उसके कर्म तथा उसकी अवस्थाका तनिक भी सम्बन्ध नहीं है, ऐसा प्रतिपादन करनेपर जो अपनेको क्षेत्रसे भिन्न, अकर्ता, अभोक्ता, अविक्रिय, कूटस्थ, असङ्ग, चिद्रूप तथा क्षेत्रज्ञ ही साक्षात् जानता है, तथा देह, इन्द्रिय आदिके

सर्वदा तटस्थमेवाऽऽत्मानं प्रत्यग्वृत्त्या पश्यतो विदुषः क्षेत्रधर्मैः कर्तृत्वभोक्तृत्वादिभिर्जरा-रोगादिभिश्च तत्कर्मभिः पुण्यपापैस्तद्गोचरैर्मानावमानैश्च विक्षेपो न संभवत्येवं जीवन्मुक्तिसुखं चाऽऽगामिसञ्चितादिसर्वकर्मक्षयश्च सिध्यति । 'क्षेत्रज्ञं चाऽपि मां विद्धि' इति न्यायेन क्षेत्रं क्षेत्रज्ञं स्वं सर्वं च ब्रह्मैव पश्यतस्तु द्वैतप्रत्ययाभावात् सर्वदा वासनाक्षयो मनोनाशश्च । ततः प्रारब्धक्षयान्ते विदेहकैवल्यं तत्सुखं च सिध्यतीतीममर्थं सूचयितुं क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्विभजनं तयोर्ब्रह्ममात्रत्वं च प्रतिपाद्याऽधुना क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ब्रह्माभिन्नत्वदर्शनलक्षणमेव ज्ञानं मुक्तेः परमकारणमिति निश्चिनोति—**क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरिति ।** यद्यपि पुरुषः प्रकृतेर्भिन्नस्तद्गुणकर्मसम्बन्धलेशशून्यः सदाऽसङ्गचिद्रूप एवेत्येवंलक्षणं प्रकृतिपुरुषयोः परस्परभिन्नत्वविज्ञानं मुक्तेः परमकारणमिति सांख्या मन्यन्ते तथापि प्रकृतिसान्निध्यात् बाधितानुवृत्त्या पुरुषस्य पुनः पुनः संसारः प्रतीयते न तु निःशेषेण निवर्तते । निःशेषसंसारनिवृत्तिः खलु मोक्षो ब्रह्मात्मनाऽवस्थानलक्षणः, 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धः । स एष परावरैकत्वज्ञानैकलभ्यः, 'तस्मिन् दृष्टे परावरे' इति श्रवणात् ; ततः परावरैकत्वविषयकमेव ज्ञानं निःशेषसंसारध्वान्तविध्वंसकं विदेहमुक्तेः परमकारणमिति मत्वोच्यते—**क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरिति ।** क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः प्रकृतिपुरुषयोर्ज्ञानं यत्तयोर्याथात्म्यवेदनं सर्व-

व्यापारोंके होनेपर तथा न होनेपर जो प्रत्यक् वृत्तिसे सर्वदा अपनेको तटस्थ ही देखता है, ऐसे विद्वान्में कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि तथा जरा, रोग आदि क्षेत्रधर्मोंसे, पुण्य-पापरूपी उसके कर्मोंसे और मान-अपमानरूपी उसके विषयोंसे विक्षेप नहीं होता, इसी प्रकार जीवन्मुक्तिका सुख और आगामी, सञ्चित आदि सब कर्मोंका क्षय सिद्ध होता है। 'क्षेत्रज्ञ भी मुझको ही जानो' इस न्यायसे क्षेत्रको, क्षेत्रज्ञको, अपनेको और सबको ब्रह्म ही देखनेवाले विद्वान्का, द्वैतप्रपञ्चका अभाव होनेसे, सर्वदा वासनाक्षय और मनोनाश सिद्ध होता है। तदनन्तर प्रारब्धका क्षय होनेपर विदेह-कैवल्य और उसका सुख सिद्ध होता है, इस प्रकारके अर्थका सूचन करनेके लिए क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ दोनोंका विभाग और दोनोंका ब्रह्ममात्रत्व प्रतिपादन करके अब क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ दोनोंका ब्रह्मसे अभिन्नत्वदर्शनरूप ज्ञान मुक्तिका परम कारण है, ऐसा निश्चय करते हैं—'**क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः**' से। यद्यपि पुरुष प्रकृतिसे भिन्न, उसके गुण-कर्मोंके सम्बन्धसे शून्य तथा सदा असङ्ग चिद्रूप ही है, यों प्रकृति और पुरुषका परस्पर भिन्नत्वविज्ञान मुक्तिका परम कारण है, ऐसा सांख्य मानते हैं, तथापि प्रकृतिके सान्निध्यसे बाधितकी अनुवृत्तिसे पुरुषको फिर संसार प्रतीत होता है, निःशेष निवृत्त नहीं होता। 'निरञ्जन परम साम्यको प्राप्त होता है' इत्यादि श्रुतियोंसे प्रसिद्ध निःशेष संसारकी निवृत्ति ही ब्रह्मस्वरूपसे अवस्थानरूप मोक्ष है, वह पर और अवरके एकत्वविज्ञानसे प्राप्त होता है; क्योंकि 'उस पर और अवरको देखनेपर' ऐसी श्रुति है। अतः पर और अवरका एकत्व-विषयक ज्ञान ही संसाररूप अन्धकारका निःशेष नाश करनेवाला तथा विदेहमुक्तिका परम कारण है, ऐसा जानकर कहते हैं—**क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरिति।** क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका—प्रकृति और पुरुषका—जो

मिदमहं च ब्रह्मैवेति प्रत्यग्दृष्ट्या क्षेत्रस्य क्षेत्रज्ञस्य च ब्रह्ममात्रत्वदर्शनलक्षणं तदेव सम्यग्ज्ञानमात्यन्तिकसंसारनिवृत्तिकारणमिति सर्वज्ञस्य ममेश्वरस्य मतमभिमतं निश्चय इत्यर्थः । यद्वा येन ज्ञानेन क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोस्तत्त्वं ज्ञाता ज्ञेयं च सर्वं ब्रह्मैवेत्यवगम्यते तदेव मम ब्रह्मणो ज्ञानमिति मतम् । क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरप्रतिबद्धवृत्त्या ब्रह्ममात्रत्वावगमनमेव ब्रह्मज्ञानं कैवल्यकारणमिति ऋषीणामभिमतं निश्चितमित्यर्थः । ननु सर्वक्षेत्रेषु क्षेत्रज्ञ आत्मा ब्रह्मैवेति जीवेश्वरयोरेकत्वमनुपपन्नम्, प्रत्यक्षादिसर्वप्रमाणविरोधात् । प्रत्यक्षेण हि जीवस्य जन्ममृत्युसुखदुःखादिलक्षणः संसारः कर्मैकनिबन्धन उपलभ्यते । तद्वता जीवेनेश्वरस्यैकत्वे त्वीश्वरव्यतिरेकेण भोक्त्रन्तराभावादीश्वरस्यैव संसारप्रसङ्गात् । तथात्वे तु 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' इत्यादिश्रुतिविरोधः प्रत्यक्षविरोधश्च स्यात् । जीवस्य वाऽपीश्वराभिन्नत्वे जीवव्यतिरिक्तेश्वराभावात् जीवस्यैव सर्वनियन्तृत्वं स्यात् । स्वतन्त्रस्य तस्य संसारानुपयोगात् संसारस्याऽत्यन्ताभावः प्रसज्येत । संसारसंसारिणोरुभयोरप्यभावे प्रत्यक्षविरोधश्च, 'कर्मानुगान्यनुक्रमेण देही स्थानेषु रूपाण्यभिसंप्रपद्यते', 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' इत्यादिश्रुतिविरोधश्च । 'द्वा सुपर्णा सयुजा' इत्यादिभेदशास्त्रविरोधोऽपि च स्यात् । 'मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यन् तानि त्रेतायां बहुधा संत-

---

ज्ञान है यानी जो दोनोंके याथात्म्यका वेदन है अर्थात् सब यह और मैं ब्रह्म ही हूँ—ऐसा प्रत्यग्दृष्टिसे क्षेत्रका और क्षेत्रज्ञका ब्रह्ममात्रत्वदर्शनरूप जो ज्ञान है, वही सम्यग्ज्ञान है—आत्यन्तिक संसारनिवृत्तिका कारण है—ऐसा मेरा (सर्वज्ञ ईश्वरका) अभिमत—निश्चय—है, यह अर्थ है । अथवा जिस ज्ञानसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनोंका तत्त्व—ज्ञाता और ज्ञेय सब ब्रह्म ही है, ऐसा—ज्ञात होता है, वही मेरा—ब्रह्मका—ज्ञान है, ऐसा मत है । क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ दोनोंको अप्रतिबद्ध वृत्तिसे ब्रह्ममात्र जाननारूप ब्रह्मज्ञान ही कैवल्यका कारण है, ऐसा ऋषियोंने निश्चय किया है, यह अर्थ है । सब क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ आत्मा ब्रह्म ही है, यों जीव और ईश्वरके एकत्वका उपपादन करना युक्त नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष आदि सब प्रमाणोंसे विरोध है । प्रत्यक्षसे जीवका जन्म, मरण, सुख, दुःख आदिरूप कर्मजनित संसार देखा जाता है, संसारी जीवसे ईश्वरका अभेद होनेपर तो ईश्वरके सिवा दूसरा भोक्ता न होनेसे ईश्वरमें ही संसारका प्रसङ्ग आवेगा । ईश्वरको संसारी माननेपर 'नहीं खाता हुआ दूसरा देखता है' इत्यादि श्रुतियोंसे विरोध और प्रत्यक्षसे विरोध होगा । जीवको ईश्वरसे अभिन्न माननेमें जीवके सिवा दूसरा ईश्वर न होनेसे जीव ही सबका नियन्ता होगा । ऐसी अवस्थामें स्वतन्त्र जीवका संसार उपयोगी न होनेसे संसारका ही अत्यन्ताभाव होगा । संसार और संसारी दोनोंका अभाव माननेपर प्रत्यक्षका विरोध और 'देव, तिर्यक्, मनुष्य आदि योनियोंमें अपने-अपने कर्मोंके अनुसार जीव स्त्री, पुरुष आदि स्वरूपोंको प्राप्त होता है', तथा 'दोनोंमें से दूसरा फल चखता है' इत्यादि श्रुतियोंसे विरोध प्रसक्त हो जायगा एवं 'दो पक्षी साथ रहनेवाले' इत्यादि भेदशास्त्रसे भी विरोध होगा । 'मन्त्रोंमें जिन कर्मोंको कवियोंने देखा, उनको त्रेतामें बहुत प्रकारसे फैलाया, हे सत्यकाम,

तानि। तान्याचरथ नियतं सत्यकामाः' इत्यादिकर्मशास्त्रस्य 'तरति शोकमात्मवित्', 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यः' इत्यादिज्ञानशास्त्रस्य चाऽऽनर्थक्यं स्यात्। जीव ईश्वराद्भिन्नः, जननादिमत्त्वात्, किञ्चिज्ज्ञत्वात्, निकृष्टोपाधिमत्त्वात्, नित्यदुःखित्वात्, नियम्यत्वाच्चेत्यनुमानविरोधाच्च तयोरेकत्वं न सिद्धयतीति चेत्, न; बहुश्रुतिस्मृतिविरोधापत्तेः। तथाहि 'अयमात्मा ब्रह्म', 'प्रज्ञानं ब्रह्म', 'अहं ब्रह्मास्मि', 'तद्वा एतद् ब्रह्माद्वयं····सदानन्दचिन्मात्रमात्मैव····तदेतत्सत्यमात्मा ब्रह्मैव ब्रह्मात्मैवात्र ह्येव न विचिकित्स्यम्', 'सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नित्यं स त्वमेव त्वमेव तत्', 'तत्त्वमसि', 'स एकः' इत्यादिबहुश्रुतिभिः, 'सोऽहं स च त्वं स च सर्वमेतत्,' 'आत्मनो ब्रह्मणो भेदमसन्तं कः करिष्यति'। 'एकस्त्वमात्मा पुरुषः पुराणः', 'सकलमिदमहं च वासुदेवः', 'जीवो ब्रह्मैव नाऽपरः', 'सर्वे वयमतः परम्', 'भोक्तारं यज्ञतपसाम्', 'क्षेत्रज्ञं चाऽपि मां विद्धि', 'उपद्रष्टाऽनुमन्ता च' इत्यादिस्मृतिभिश्च ब्रह्मात्मनोरेकत्वमेव नियमेन प्रतिपाद्यते। 'आत्मा ब्रह्मैव भवति, सद्रूपत्वाच्चिद्रूपत्वादानन्दरूपत्वादविक्रियत्वादसङ्गत्वात् परिपूर्णत्वाच्च, यन्नैवं तन्नैवं यथा बुद्धयादिः', 'जीवेश्वरयोर्भेदोऽसत्यः, उपाधिकल्पितत्वात्, घटाकाशमहाकाशवत्', 'जीवोपाधिर्मिथ्या, मायाकार्यत्वात्' स्वप्नार्थवद्'इत्यादिभिर्युक्तिभिश्च सम्य-

---

उनको नियमसे करो' इत्यादि कर्मशास्त्र तथा 'आत्मवित् शोकको तरता है', 'आत्मा ही द्रष्टव्य, श्रोतव्य और मन्तव्य है' इत्यादि ज्ञानशास्त्र निरर्थक हो जायँगे। 'जीव ईश्वरसे भिन्न है, जन्मादिमान् होनेसे, अल्पज्ञ होनेसे, निकृष्ट उपाधियुक्त होनेसे, नित्य दुःखी होनेसे, तथा नियम्य होनेसे' इस प्रकार अनुमानसे विरोध है, इसलिए दोनोंका एकत्व सिद्ध नहीं होता, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि एकत्व न माननेपर बहुत श्रुति और स्मृतियोंसे विरोध प्राप्त होता है—'यह आत्मा ब्रह्म है', 'प्रज्ञान ब्रह्म है', 'मैं ब्रह्म हूँ', 'वही यह अद्वय ब्रह्म है, सदानन्द चिन्मात्र आत्मा ही है, वह यह सत्य है, आत्मा ब्रह्म ही है, ब्रह्म आत्मा ही है, इसमें संशय करना ही नहीं चाहिए', 'सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर, नित्य, वही तुम हो, तुम्हीं वह हो', 'वह तुम हो', 'वह एक है' इत्यादि अनेक श्रुतियोंसे तथा 'वह मैं हूँ, वही तुम हो, वही यह सब है', 'आत्माके और ब्रह्मके अविद्यमान भेदको कौन कर देगा', 'एक तुम आत्मा पुरुष पुराण', 'सब यह और मैं वासुदेव हूँ', 'जीव ब्रह्म ही है, दूसरा नहीं है', 'इससे पीछे हम सब क्या नहीं होंगे', 'यज्ञ और तपोंके भोक्ताको', 'क्षेत्रज्ञ मुझको ही जानो', 'उपद्रष्टा और अनुमन्ता' इत्यादि स्मृतियोंसे ब्रह्म और आत्माके एकत्वका ही नियमसे प्रतिपादन किया जाता है। 'आत्मा ब्रह्म ही है, सद्रूप होनेसे, चिद्रूप होनेसे, आनन्दरूप होनेसे, अक्रिय होनेसे, असङ्ग होनेसे और परिपूर्ण होनेसे, जो ऐसा नहीं है, वह ऐसा नहीं है, जैसे बुद्धि आदि।' 'जीव और ईश्वरका भेद असत्य है, उपाधि द्वारा कल्पित होनेसे, घटाकाश-महाकाशके समान', 'जीवकी उपाधि मिथ्या है, मायाका कार्य होनेसे, स्वप्नके पदार्थके समान' इत्यादि युक्तियोंसे भी भली भाँति विचार करनेपर दोनोंका अभेद ही ज्ञात होता है, किञ्चित् भी भेद

विचार्यमाणे तयोरभेद एवाऽवगम्यते, नैवेषदपि च भेदः । सति तु तयोर्भेदे भेददर्शननिषेधायोगात् । 'नात्र काचन भिदास्ति नैवात्र काचन भिदास्त्यत्र भिदामिव मन्यमानः शतधा सहस्रधा भिन्नो मृत्योः स मृत्युमाप्नोति' इति श्रुत्यैव पौनःपुन्येन भेददर्शनं निषिध्यते भेदद्रष्टुर्महाननर्थोऽप्युच्यते । ततस्तयोरभेद एव सम्यग्विज्ञातव्यो मुमुक्षुभिः । नन्वहं सुखी दुःखीति प्रत्यक्षेण जीवस्य संसार उपलभ्यते कथं संसारिणोऽप्यसंसारिणश्चैक्यं सिद्ध्यतीति चेत् , न; आत्मनः संसारो मिथ्या, अविद्याध्यारोपितत्वात्, जरादिवत् इत्यात्मनि प्रतीतसंसारस्याऽविद्याकार्यत्वेन मिथ्यात्वोपपत्तेः । 'अमूढो मूढ इव व्यवहरन्नाऽऽस्ते माययैव' इति श्रवणादात्मा स्वयमसंसार्येव सन्नविद्यया संसारीव प्रतीयते । करणदोषाच्छङ्खः पीत इव यथा तद्वत् । वस्तुतस्तु 'अयमात्मा सन्मात्रो नित्यः शुद्धो बुद्धः सत्यो मुक्तो निरञ्जनो विभुरद्वयानन्दः परः प्रत्यगेकरसः' इति श्रवणान्नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव एव भवति । संसारस्त्वनात्मधर्मः सन्नेवाऽविद्ययाऽऽत्मन्यध्यारोपितश्चक्षुर्धर्मः पीतिमा शङ्ख इव संसारो नाऽऽत्मधर्मः, ज्ञेयत्वात्, रूपवदिति संसारस्याऽनात्मधर्मत्वमेवाऽवगम्यते न त्वात्मधर्मत्वम् । तस्याऽऽत्मधर्मत्वे त्वात्मनः कदापि मोक्षो न स्यात् । श्रूयते च हि मोक्षः, 'तरति शोकमात्मवित्', 'विमुक्तश्च विमुच्यते'

ज्ञात नहीं होता, यदि दोनोंका भेद माना जाय, तो भेददर्शनका निषेध ही होगा । 'यहां कोई भेद नहीं है, यहां कोई भेद है ही नहीं, यहां भिन्नके समान मानता हुआ सैकड़ों हजारों प्रकार भिन्न हो जाता है, मृत्युसे वह मृत्युको प्राप्त होता है' इत्यादि श्रुतिसे ही बार-बार भेददर्शनका निषेध किया गया है और भेदके देखनेवालेके लिए महान् अनर्थ भी कहा गया है । इसलिए दोनोंका अभेद ही मुमुक्षुओंको भली भाँति जानना चाहिए । यदि कहो कि मैं सुखी, मैं दुःखी, इस प्रत्यक्षसे जीवका संसार प्रत्यक्ष है, संसारी और असंसारीका ऐक्य कैसे सिद्ध होता है ? तो ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि आत्माका संसार मिथ्या है, अविद्यासे अध्यारोपित होनेसे, जरा आदिके समान, इसलिए आत्मामें प्रतीत होनेवाले संसारमें अविद्याकार्यत्व होनेसे, मिथ्यात्व युक्तियुक्त है । 'मायासे ही अमूढ़ मूढ़के समान व्यवहार करता हुआ' इस श्रुतिसे आत्मा स्वयं असंसारी ही होकर अविद्यासे संसारीके समान प्रतीत होता है । जैसे कि करणके (नेत्र इन्द्रियके) दोषसे शङ्ख पीला दिखाई पड़ता है, वास्तवमें तो 'यह आत्मा सन्मात्र, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, सत्य, मुक्त, निरञ्जन, विभु, अद्वय, आत्मानन्द, पर तथा प्रत्यगेकरस है' इस श्रुतिसे वह नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव ही है । संसार तो अनात्माका धर्म होनेपर भी अविद्यासे आत्मामें अध्यारोपित है, जैसे कि चक्षुका धर्म पीतत्व शङ्खमें आरोपित होता है, संसार आत्माका धर्म नहीं है, ज्ञेय होनेसे, रूपके समान, इस युक्तिसे संसार अनात्माका धर्म है, ऐसा ही ज्ञात होता है, आत्माका नहीं । यदि वह आत्माका धर्म हो, तो आत्माका कभी मोक्ष ही नहीं होगा और मोक्ष सुननेमें आता है—'आत्मवित् शोकको तर जाता है', 'विमुक्त भी विमुक्त होता है' और 'ब्रह्म होकर ही ब्रह्मको प्राप्त होता है' । जिस कारणसे ऐसा है,

इति, 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' इति च। यत एवं तत आत्मनोऽविद्यारोपितसंसारित्वप्रतीतिदशायां स्वप्न इव प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धद्वैतव्यवहारस्य सर्वस्याऽपि सम्भवान्न कोऽपि विरोधो न कर्मज्ञानशास्त्रानर्थक्यं च संभवति। विद्याविर्भूतिदशायां प्रबोधे स्वप्नसंसाराभाववदाविद्यकसंसाराभावान्नित्यशुद्धबोधस्वभावस्याऽऽत्मनः परिपूर्णस्य ब्रह्माभिन्नत्वं न विरुध्यते। तत एव प्रमाणशिरोमण्या सर्वज्ञया श्रुत्याऽपि 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इति सर्वस्याऽप्याकाशादिस्थूलान्तस्याऽऽत्मनः संसारनिमित्तस्य द्वैतप्रपञ्चस्याऽविद्याकार्यस्य अधिष्ठानसत्तैकालम्बनस्य स्वतःसत्ताशून्यस्य ऐतदात्म्यमिति सन्मात्रत्वं बोधयित्वा भेदहेतोर्विशेषस्याभावाच्चिदेकरसस्याऽऽत्मनः तत्त्वमसीति ब्रह्मत्वं प्रतिपाद्यते ब्रह्मणोऽद्वितीयत्वसिद्ध्यै। सति द्वैते त्वद्वैतश्रुतिस्मृतीनां व्याकोपः स्यात् 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म', 'एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्थे', 'एको देवो नारायणः', 'एक एव हि भूतात्मा', 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति', 'एकः सन् बहुधा विचचार', 'एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति', 'एको दाधार भुवनानि विश्वा', 'एको देवो बहुधा संनिविष्टः', 'त्वमेकोऽसि बहूननुप्रविष्टः', 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्', 'ईशावास्यमिदं सर्वम्', 'सद्धीदं सर्वम्⋯चिद्धीदं सर्वम्', 'पुरुष एवेदं सर्वम्', 'ब्रह्मैवेदं विश्व-

---

इसलिए आत्मामें अविद्यासे आरोपित संसारित्वकी प्रतीतिदशामें स्वप्नके समान प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे सिद्ध सम्पूर्ण द्वैतव्यवहारका सम्भव होनेसे कोई भी विरोध नहीं है और कर्मशास्त्र एवं ज्ञानशास्त्रका आनर्थक्य भी नहीं है। विद्याके आविर्भाव कालमें, जागनेपर स्वाप्निक संसारके अभावके समान, आविद्यिक संसारका अभाव होनेसे नित्य, शुद्ध, बोधस्वभाव परिपूर्ण आत्माका ब्रह्मसे अभिन्नत्व विरुद्ध नहीं होता। इसीलिए प्रमाणशिरोमणि सर्वज्ञ श्रुतिने भी 'हे श्वेतकेतो यह सब इसीका स्वरूप है, वह सत्य है, वह आत्मा है, वही तुम हो', इससे आकाशसे लेकर स्थूलपर्यन्त, आत्माके संसारका निमित्त, अविद्याके कार्य, अधिष्ठानकी ही सत्तासे सत्तावान् तथा स्वतः सत्तासे शून्य सम्पूर्ण द्वैतप्रपञ्चका 'यह इसीका स्वरूप है' यों सन्मात्रत्वबोधनक करके भेदके विशेष हेतुके न रहनेसे चिदेकरस आत्मामें, ब्रह्मके अद्वितीयत्वकी सिद्धिके लिए, 'वही तुम हो' यों ब्रह्मत्वका प्रतिपादन किया गया है। यदि द्वैत होगा, तो श्रुति-स्मृतियोंका व्याकोप हो जायगा, यानी 'सत्य, ज्ञान, अनन्त ब्रह्म है', 'एक ही अद्वितीय ब्रह्म है' 'एक ही रुद्र है, दूसरा नहीं रहा', 'देव नारायण एक है', एक ही भूतात्मा', 'ब्राह्मण एक सत्को ही अनेकधा कहते हैं', 'एक होकर अनेक प्रकारसे फैला', 'एकको ही बहुत प्रकारसे कहते हैं' 'एक अनेक भुवनोंको धारण करता हुआ', 'एक देव बहुत प्रकारसे प्रवेश करता हुआ' 'बहुतोंमें प्रविष्ट तुम एक हो', 'वह यह ब्रह्म पूर्वरहित, पररहित, अन्तररहित, बाहररहित', 'ईश्वरसे यह सब व्याप्त है', 'सत् ही यह सब है', 'चित् ही यह सब है', 'पुरुष ही यह सब है', 'ब्रह्म ही यह विश्व, यह श्रेष्ठ',

मिदं वरिष्ठम्', 'मायामात्रमिदं द्वैतम्', 'नेह नानास्ति किंचन', नह्यस्ति द्वैतसिद्धिः' इत्यादिश्रुतिभिः; 'तस्मान्न विज्ञानमृतेऽस्ति किञ्चित्', 'ज्ञानं विशुद्धं विमलं विशोकम्', 'एकः समस्तं यदिहास्ति किञ्चित्', 'विशुद्धं ज्ञानमेवैकम्', 'मत्तः परतरं नान्यत्', 'वासुदेवः सर्वमिति', 'सर्वभूतस्थितं यो माम्', 'वेदार्थः परमाद्वैतम्' इत्यादिस्मृतिभिश्च; ब्रह्माऽद्वितीयम्, अनन्तत्वात् सर्वात्मकत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा नभः, ब्रह्माद्वितीयम्, वस्त्वन्तरशून्यत्वात्, सुषुप्तवत् इत्यादियुक्तिभिश्च ब्रह्मणोऽद्वितीयत्वं प्रतिपाद्यते। तस्मात्सर्वश्रुतिस्मृतिप्रसिद्धमेव क्षेत्रज्ञस्याऽऽत्मनो ब्रह्मत्वम्। तत एव 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' इति भगवतोच्यते सर्वज्ञेन। ननु नाऽत्र जीवेश्वरयोरेकत्वं प्रतिपाद्यते भगवता, किन्तु 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' इति न्यायेन सर्वक्षेत्रेष्वन्तर्यामित्वेन तिष्ठतः स्वस्वरूपस्यैवैकत्वं प्रतिपाद्यते। सर्वभूतेष्वन्तर्यामीश्वर एक एवेति मूढानामीश्वरैकत्वविज्ञानायेति चेत्, भवानत्र प्रष्टव्यः—किमीश्वरः स्वयं सावयवो भूत्वा भूतानि यमयति, किं निरवयवः सन्नेव वा, उतोभयात्मको वेति? नाऽऽद्यः, सावयवत्वे त्वीश्वरस्य विकारित्वानित्यत्वादिदोषप्रसङ्गाच्छ्रुतिविरोधाच्च। 'यस्यादित्यः शरीरम्' इत्यादिश्रुत्यतिरिक्तशरीराभावश्रवणात्सावयवत्वे परिच्छित्तिस्तया पूर्णत्वव्याघातश्चैक-

---

'मायामात्र यह द्वैत है', 'यह अनेक कुछ नहीं है', 'द्वैत सिद्ध नहीं है' इत्यादि श्रुतियोंसे तथा 'इसलिए विज्ञानके सिवाय कुछ नहीं है', 'ज्ञान विशुद्धविमल, विशाल', 'जो यह कुछ है, एक ही समस्त है', 'विशुद्धज्ञान ही एक है', 'मुझसे परतर अन्य नहीं है', 'वासुदेव सब है', 'सब भूतोंमें स्थित मुझको जो', 'वेदका अर्थ परम अद्वैत है' इत्यादि स्मृतियोंसे व्याकोप हो जायगा और ब्रह्म अद्वितीय है, अनन्त होनेसे, सर्वात्मक होनेसे, आकाशके समान, जो ऐसा नहीं है, वह वैसा नहीं है। ब्रह्म अद्वितीय है, दूसरी वस्तुसे शून्य होनेसे, सुषुप्तके समान, इत्यादि युक्तियोंसे ब्रह्मका अद्वितीयत्व प्रतिपादन किया जाता है। अतः क्षेत्रज्ञ आत्माका ब्रह्मत्व श्रुति एवं स्मृतियोंमें प्रसिद्ध ही है। इसीलिए 'क्षेत्रज्ञ भी मुझको ही जानो' ऐसा सर्वज्ञ भगवान्ने कहा है। यहां जीव और ईश्वरके एकत्वका भगवान्ने प्रतिपादन नहीं किया है। किन्तु 'हे अर्जुन, ईश्वर सब भूतोंके हृदयमें स्थित है' इस न्यायसे सम्पूर्ण क्षेत्रोंमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित स्वस्वरूपके एकत्वका ही प्रतिपादन किया जाता है, जिससे कि सब भूतोंमें अन्तर्यामी ईश्वर एक ही है, ऐसा मूढ़ोंको ईश्वरके एकत्वका विज्ञान हो, परन्तु ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि इस विषयमें आपसे प्रश्न होगा कि क्या ईश्वर स्वयं सावयव होकर भूतोंका नियमन करता है या निरवयव होकर अथवा उभयात्मक होकर? प्रथम पक्ष तो युक्त है नहीं, क्योंकि सावयव होनेमें तो ईश्वरमें विकारित्व, अनित्यत्व आदि दोषोंका प्रसङ्ग आवेगा और श्रुतियोंसे विरोध होगा। 'जिसका आदित्य शरीर है' इत्यादि श्रुतिसे अतिरिक्त शरीरका अभाव सुननेसे सावयव होनेमें परिच्छित्ति होगी और उससे पूर्णत्वका व्याघात होगा तथा एकत्वकी अनुपपत्ति होगी।

त्वानुपपत्तिश्च स्यात् । न द्वितीयः, 'यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरः··· एष त आत्मा सर्वान्तरः' इति श्रवणादीश्वरस्य प्राणित्वप्राणनक्रियावत्त्वप्रसक्त्याऽशरीरत्वानुपपत्तेः । तथात्वे तु 'अशरीरं शरीरेषु' इति 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' इत्यादिश्रुतिविरोधोऽपि स्यात् । न तृतीयः, निरवयवत्वतदन्यत्वयोः सामानाधिकरण्यासिद्धेः । ईश्वरस्यैव क्षेत्रज्ञत्वे 'पुरुषः सुखदुःखानाम्' इत्युक्तन्यायेन जीवत्वं सुखदुःखादिभोक्तृत्वं च स्यात्, 'कारणं गुणसङ्गोऽस्य' इत्युक्तेः सदसद्योनिजन्मप्रसङ्गाच्च । ननु क्षेत्रज्ञ आत्मेति पक्षेऽप्ययं दोषः स्यादेवेति चेत्, न; अविद्यया त्वात्मनो जन्माद्यनर्थाङ्गीकाराद्विद्यया तन्निवृत्त्युपपत्तेश्च । तेन ब्रह्मत्वं न विहन्यते,

'बन्धो मोक्ष इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुतः ।
गुणस्य मायामूलत्वान्न मे मोक्षो न बन्धनम् ॥'

इतीश्वरेणैवोक्तत्वात् । तत आत्मनस्त्वविद्यया जीवत्वे त्वयोक्तविकल्पानवकाशः विद्यया ब्रह्मत्वं च सिद्ध्यति, ततो नाऽत्र काचिदनुपपत्तिरिति सिद्धम् ॥ २ ॥

एवम् 'एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञः' इत्यनेन क्षेत्रज्ञस्याऽऽत्मनो ज्ञत्वमेव धर्मो न त्वहंकारममकारकर्तृत्वभोक्तृत्वादिलक्षणः संसारः, स तु ज्ञेयत्वेन क्षेत्रस्यैव धर्म इति सूचयित्वा 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' इत्यनेन सर्वक्षेत्रेभ्यो विभक्तस्याऽऽत्मनश्चिदेकरसस्य

दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, 'जो प्राणसे प्राणन क्रिया करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी है···यह तुम्हारा आत्मा सबसे भीतर है' इस श्रुतिसे ईश्वरका प्राणित्व, प्राणनक्रियावत्त्वके प्रसङ्गसे अशरीरत्व उपपन्न नहीं होता। अशरीरत्वके अनुपपन्न होनेसे 'अशरीर शरीरोंमें', 'प्राणरहित मनरहित शुभ्र' इत्यादि श्रुतियोंसे विरोध भी होगा। तीसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि निरवयवत्व और उससे अन्यत्वका (सावयवत्वत्व) सामानाधिकरण्य सिद्ध नहीं होता। ईश्वरको ही यदि क्षेत्रज्ञ मानो, तो उसमें 'पुरुष सुख, दुःख आदिके भोगमें कारण है' इस उक्त न्यायसे जीवत्व और सुख, दुःख आदिका भोक्तृत्व होगा और 'जीवकी भोग्य पदार्थोंमें आसक्ति सत् और असत् योनियोंमें अहङ्कार और ममकारकी कारण है' इस कथनसे सत्-असत् योनियोंमें जन्मका प्रसङ्ग आवेगा। यदि कहो कि क्षेत्रज्ञ आत्मा है, इस पक्षमें भी वह दोष है, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि अविद्यासे तो आत्माके जन्म आदि अनर्थका अङ्गीकार है, विद्यासे उसकी निवृत्ति हो जाती है, इससे उसमें ब्रह्मत्व नष्ट नहीं होता। 'बन्ध-मोक्ष यह व्याख्या मेरी गुणसे है, वस्तुतः नहीं, गुण मायाका कार्य है, इसलिए 'न मेरा मोक्ष है, न बन्ध है' ऐसा ईश्वरने ही स्वयं कहा है। इसलिए अविद्यासे आत्माके जीव होनेमें तुम्हारे द्वारा कहे गये विकल्पोंका अवकाश नहीं है और विद्यासे उसका ब्रह्मत्व सिद्ध होता है, इसलिए यहां कोई भी अनुपपत्ति नहीं है, यह सिद्ध हुआ ॥ २ ॥

इस प्रकार 'इसको जो जानता है, उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं' इससे क्षेत्रज्ञ आत्माका ज्ञत्व ही धर्म है, अहङ्कार, ममकार, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदिस्वरूप संसार आत्माका धर्म नहीं है, वह तो ज्ञेय होनेसे क्षेत्रका ही धर्म है, ऐसा सूचन करके, 'क्षेत्रज्ञ भी मुझको ही जानो' इससे सब क्षेत्रोंसे विभक्त चिदेकरस आत्मामें, परिच्छिन्नताका अभाव होनेपर, पूर्णत्व होनेसे 'यह आत्मा

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥ ३ ॥

'इदं शरीरम्' इत्यादि श्लोकसे प्रतिपादित क्षेत्र—स्वाभाविकरूपसे जैसा है, जिन महदादिरूप विकारोंसे विकारवान् होता है, जिन धर्मोंसे धर्मवान् होता है और जिससे क्षेत्रज्ञका कार्य होता है यानी जो क्षेत्रज्ञका उपाधि बनकर कार्य उत्पन्न करता है—मुमुक्षुको अवश्य ज्ञातव्य है और 'एतद्यो वेत्ति' इत्यादिसे उक्त क्षेत्रज्ञ भी—जैसा उसका वास्तविक स्वरूप है और उपाधिके सम्बन्धसे जैसा स्वभाववाला होता है—अवश्य ज्ञातव्य है । मैं संक्षेपसे दोनोंका स्वरूप तुमसे कहता हूँ, सुनो ॥ ३ ॥

परिच्छित्त्यभावे पूर्णत्वात् 'अयमात्मा ब्रह्म' इति न्यायेन ब्रह्मत्वं प्रतिपाद्याऽधुना श्रुतियुक्तिभिः क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्विवेके सम्यक्कृत एव पुंसः संसारित्वभ्रमो निःशेषेण निवर्तते नाऽन्यथेति बोधयितुं पुनरपि क्षेत्रक्षेत्रज्ञोः स्वरूपं विशेषतः सम्यग्विभज्य प्रदर्शयितुमाह—**तदिति** ।

'इदं शरीरम्' इति यदुक्तं तत् क्षेत्रं स्वयं स्वरूपेण यच्च यत्स्वरूपकं स्वाभाविकेन रूपेण यादृग्भवति । यद्विकारि च यैर्विकारैर्महदादिलक्षणैः स्वपरिणामात्मकैर्विकार्यवयवि भवति । स्वधर्मैर्यादृक्च यादृशधर्मकं यैर्धर्मैः स्वयं धर्मि भवति । यतश्च यत् यतो यस्मात् क्षेत्रशब्दितात् कारणाद्यच्च कार्यं पुंसः सम्भवति । क्षेत्रज्ञस्योपाधिर्भूत्वा स्वयं यत्कार्यं जनयतीत्यर्थः । तत् क्षेत्रं क्षेत्रज्ञस्य संसारकारणं मुमुक्षुणा सम्यग् ज्ञातव्यम् । यस्मिन् ज्ञाते स्वयं संसारी न भवति । किञ्च, 'एतद्यो वेत्ति' इत्युक्तः

ब्रह्म है' इस न्यायसे ब्रह्मत्वका प्रतिपादन करके अब श्रुति और युक्तियोंसे क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञका भली भाँति विवेक करनेपर ही पुरुषका संसारित्व-भ्रम निःशेष निवृत्त होता है, अन्यथा नहीं, ऐसा बोधन करनेके लिए फिर भी क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनोंके स्वरूपको, विशेषरूपसे भली भाँति विभाग करके, दिखलानेके लिए कहते हैं—**'तद्'** इत्यादिसे ।

'इदं शरीरम्' इससे जो कहा गया है, वह क्षेत्र स्वयं स्वरूपसे—जिस स्वरूपवाला यानी स्वाभाविक रूपसे जैसा है, यद्विकारि जिन विकारोंसे—महदादिरूप अपने परिणामोंसे—विकारी—अवयवी—होता है, अपने धर्मोंसे जैसा—जिस प्रकारके—धर्मवाला यानी जिन धर्मोंसे स्वयं धर्मी होता है और जिससे जो होता है यानी पुरुषका जिस क्षेत्र नामके कारणसे कार्य होता है, क्षेत्र क्षेत्रज्ञकी उपाधि होकर स्वयं जिस कार्यको उत्पन्न करता है, यह अर्थ है, मुमुक्षुको क्षेत्रज्ञके संसारके कारण क्षेत्रको भली भाँति जानना चाहिए । जिसके जाननेपर स्वयं संसारी नहीं होता । किञ्च, 'एतद्यो वेत्ति' इससे कहा गया क्षेत्रज्ञ स्वरूपसे

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके स्वरूपका महर्षियोंने, शाखाभेदसे विविध ऋग् आदि वेदोंने तथा तत्त्वके निश्चायक युक्तियुक्त ब्रह्मसूत्रोंने विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया है ॥४॥

क्षेत्रज्ञः स्वरूपेण यश्च यादृशो भवति । स्वयाथात्म्येन यत्स्वरूपको भवतीत्यर्थः । यत्प्रभावश्च उपाधियोगाद्यादृशस्वभाववान् भवति ततः स विज्ञातव्यः । यस्मिन् विज्ञाते स्वयं मुक्तो भवति तत्तयोः क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः स्वरूपं समासेन संक्षेपेणैव न तु विस्तरत उच्यमानं मे मत्तः शृणु । श्रुत्वा तदर्थं सम्यगवधारय तन्निष्ठो भव । तदेव श्रवणस्य फलं न तूपेक्षणं विस्मरणं वा ॥ ३ ॥

श्रुतिभिः सूत्रैर्महर्षिभिश्चाऽयमर्थः सुनिश्चित इति विवक्षितार्थस्य सर्वशास्त्रतदर्थज्ञ-प्रसिद्धत्वमाह श्रोतुः श्रद्धयाऽऽस्थया च प्रवृत्तिसिद्धये—**ऋषिभिरिति** ।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः स्वरूपं वासिष्ठविष्णुपुराणादिषु ऋषिभिर्वसिष्ठपराशरादिभिर्बहुधा बहुप्रकारं गीतं प्रतिपादितम् । विविधैः शाखाभेदेन बहुप्रकारैः छन्दोभिः ऋगादिवेदैः 'स ऐक्षत कथं न्विदं मदृते स्यात्' इति, 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः, 'अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः', 'एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्ये' इत्यादिना तयोः स्वरूपं पृथग्विभज्य गीतं कथितमित्यर्थः । हेतुमद्भिः हेतवोऽर्थसाधका युक्तयस्तद्वद्भिर्विनिश्चितैस्तत्त्वनिश्चायकै-

---

जैसा है, अपने वास्तविक स्वरूपसे जिस स्वरूपवाला होता है, यह अर्थ है । और यत्-प्रभाव—उपाधिके योगसे जिस स्वभाववाला—होता है, उससे उसे जानना चाहिए, जिसके जाननेपर स्वयं मुक्त होता है । इसलिए समाससे—संक्षेपसे—कहे जा रहे न कि विस्तारसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनोंके स्वरूपको मुझसे सुनो । सुनकर उसके अर्थको भली भांति निश्चित करो, उसकी निष्ठासे युक्त होओ । वही श्रवणका फल है, उपेक्षा या विस्मरण नहीं ॥ ३ ॥

श्रुति, सूत्र और महर्षियों द्वारा यह अर्थ भली भाँति निश्चित किया गया है, इस तरह विवक्षित अर्थ सब शास्त्र और उसके अर्थको जाननेवाले विद्वानोंमें अत्यन्त प्रसिद्ध है, यों श्रोताकी श्रद्धा और आस्थासे प्रवृत्तिकी सिद्धिके लिए कहते हैं—'**ऋषिभिः**' इत्यादिसे ।

वसिष्ठ, पराशर आदि ऋषियोंने वासिष्ठ, विष्णुपुराण आदिमें क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ दोनोंका स्वरूप बहुधा—बहुत प्रकारसे—गाया है—यानी कहा है । विविध—शाखाभेदसे बहुत प्रकारके—छन्दोंने—ऋग आदि वेदोंने—'उसने देखा, कैसे यह मेरे बिना होगा', 'वही यह पुरुष अन्नरसमय है', 'दूसरा भीतर आत्मा प्राणमय है', 'इस अदृश्य और अनात्म्यमें' इत्यादिसे—दोनोंका स्वरूप पृथक् विभाग करके गाया है, कहा है, यह अर्थ है । तथा हेतुवाले—हेतु—अर्थकी साधक युक्तियां, उनसे युक्त—विनिश्चित—तत्त्वका निश्चय करानेवाले निश्चित अर्थवाले—ब्रह्मसूत्र पदोंसे (ब्रह्मके सूचक ब्रह्मसूत्र, वे ही हुए पद—जिनसे वस्तुतत्त्व प्राप्त किया जाता है—

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ ५ ॥

अपञ्चीकृत आकाश आदि महाभूत, अहङ्कार, बुद्धि, अव्यक्त, दस इन्द्रियाँ, मन तथा इन्द्रियोंके पाँच विषय ॥ ५ ॥

निश्चितार्थैः ब्रह्मसूत्रपदैः ब्रह्मणः सूचकानि ब्रह्मसूत्राणि तान्येव पदानि पद्यते वस्तुतत्त्वं ज्ञायते एभिरिति पदानि तैर्ब्रह्मसूत्रपदैर्वेदान्तसूत्रैः 'जन्माद्यस्य यतः' इत्यादिभिस्तयोर्याथात्म्यं गीतम् । विविच्य सम्यक् प्रकाशितमित्यर्थः ॥ ४ ॥

एवं क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः स्वरूपविवेचनस्य सर्ववेदशास्त्रतदर्थज्ञप्रसिद्धत्वं प्रतिपाद्य तत्र प्रथमोद्दिष्टं क्षेत्रं प्रतिपादयति—**महाभूतानीति द्वाभ्याम् ।**

महाभूतानि भवन्तीति भूतान्याकाशादीनि सूक्ष्माण्यपञ्चीकृतानि । स्थूलानि तु 'पञ्च चेन्द्रियगोचरा' इति वक्ष्यति । ततोऽत्र तन्मात्राण्येव गृह्यन्ते भूतशब्देन । महान्ति च तानि भूतानि च महाभूतानि । सर्वकार्यव्यापकत्वात् भूतानां महत्त्वम् । अहङ्कारो महाभूतकारणम्, 'अहङ्कारात्पञ्चतन्मात्राणि' इति श्रुतेः । बुद्धिर्महत्तत्त्वमहंकारकारणम्, 'महतोऽहङ्कारः' इति श्रुतेः । महतः कारणमव्यक्तं मूलप्रकृतिर्महदादिवन्न व्यज्यत इत्यव्यक्तमव्याकृतं जगद्बीजं त्रिगुणात्मकं परमेश्वरशक्तिरपरा 'भिन्ना प्रकृतिरष्टधा । अपरेयम्' इति 'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया' इत्युक्तलक्षणाऽष्टधा भिन्ना त्वपरैव प्रकृतिरिति प्रकृतिस्वरूपावधारणार्थ एवकारः । चकारः समुच्चयार्थः ।

जाना जाता है—वे पद, उनसे—ब्रह्मसूत्रपदोंसे—वेदान्तसूत्रोंसे) 'जिससे इसके जन्मादि होते हैं' इत्यादिसे उन दोनोंका याथात्म्य गाया गया है । विवेक करके प्रकाशित किया गया है, यह अर्थ है ॥ ४ ॥

इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके स्वरूपका विवेचन सब वेद-शास्त्र और उनके अर्थोंके जाननेवालोंमें प्रसिद्ध है, ऐसा प्रतिपादन करके, उसमें प्रथम उपदिष्ट क्षेत्रका प्रतिपादन करते हैं—**'महाभूतान्य०'** इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

महाभूत—जो होते हैं, वे भूत हैं यानी आकाश आदि सूक्ष्म—अपञ्चीकृत—। स्थूल भूतोंको तो 'पाँच इन्द्रियोंके विषय' इत्यादिसे कहेंगे । इससे यहां भूतशब्दसे तन्मात्राओंका ही ग्रहण किया जाता है । महान् भूत महाभूत, सब कार्योंमें व्यापकत्व होनेसे भूत महत् हैं । अहङ्कार यानी महाभूतोंका कारण, क्योंकि 'अहङ्कारसे पञ्चतन्मात्राएँ' ऐसी श्रुति है । बुद्धि—महत्तत्त्व—यानी अहङ्कारका कारण, क्योंकि 'महत्से अहङ्कार' ऐसी श्रुति है । महत्का कारण अव्यक्त—मूल प्रकृति महदादिके समान व्यक्त नहीं होती, अतः अव्यक्त—अव्याकृत—जगत्का बीज त्रिगुणात्मक परमेश्वरकी अपरा शक्ति, 'भिन्न प्रकृति आठ प्रकारकी । अपरा यह' इससे और 'यह मेरी दैवी माया गुणमयी दुरत्यया', इससे उक्तलक्षणवाली आठ प्रकारसे भिन्न अपरा प्रकृति ही है, प्रकृतिके स्वरूपके अवधारणके लिए

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥

इच्छा (विषयोंमें प्रीति), द्वेष (अप्रीति), सुख, दुःख, संघात (कर, चरण आदिका समूहरूप देह), चेतना तथा धैर्य यह सब क्षेत्र है । मैंने संक्षेपसे विकारयुक्त क्षेत्रका स्वरूप तुमसे भली भाँति कहा ॥ ६ ॥

अव्यक्तमेव क्षेत्रस्य स्वाभाविकं रूपं महदादिभिः सप्तभिः 'इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः' इति वक्ष्यमाणैश्च षोडशभिर्विकारैर्यद्विकारीत्युक्तविशेषणवतः क्षेत्रस्यैव वैकारिकं रूपम्, चक्षुरादीनि वागादीनि च दशेन्द्रियाणि एकमन्तरिन्द्रियं मनश्चैकादश तथेन्द्रियगोचराः शब्दादयः पञ्च च मिलित्वा षोडशविकाराः पञ्चमहाभूतानि महदहङ्कारावव्यक्तं च चतुर्विंशतिपदार्थाः । 'मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त । षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥' इति सांख्यानां चतुर्विंशतितत्त्वानि भवन्ति ॥ ५ ॥

यादृक्चेत्युक्तविशेषणं स्फुटयति—**इच्छेति** ।

भोग्यानीच्छत्यनयेति इच्छा रागः विषयेषु प्रीतिः, द्वेषोऽप्रीतिः, इच्छा द्वेष इति सत्त्वगुणानां शमदमदयाक्षान्त्यादीनां तमोगुणानां निद्रालस्यमोहादीनामुपलक्षणम् । इच्छाद्वेषादयो राजससात्त्विकतामसाः सर्वे क्षेत्रान्तःपातिनोऽन्तःकरणस्य धर्मत्वात् क्षेत्रं स्वयमेतैर्जन्मादिभिश्च धर्मि भवति । इच्छाद्वेषादिभिः पुण्यापुण्यकर्महेतुत्वात् स्वयमेव कर्मि च भवति । इच्छादीनां पुण्यादिकर्मणां च क्षेत्रधर्मत्वेन ज्ञेयत्वेन

एवकार है । चकार समुच्चयके लिए है । अव्यक्त ही क्षेत्रका स्वाभाविक रूप है, महदादि सातसे 'दस इन्द्रियां, एक मन और पांच इन्द्रियोंके विषय' इन वक्ष्यमाण सोलह विकारोंसे, यद्विकारि, इस उक्त विशेषणवाले क्षेत्रका वैकारिक रूप है और चक्षु आदि और वागादि दस इन्द्रियाँ और एक इन्द्रिय मन मिलकर ग्यारह तथा इन्द्रियोंके विषय शब्द आदि पाँच, मिलकर सोलह विकार, पाँच महाभूत तथा महत्, अहङ्कार और अव्यक्त, यों चौबीस पदार्थ । 'मूल प्रकृति अविकृति, महदादि सात प्रकृति एवं विकृति और सोलह विकार, पुरुष न प्रकृति है और न विकृति है' यों सांख्योंके चौबीस तत्त्व हैं ॥ ५ ॥

'यादृक्च' इससे उक्त विशेषणोंको स्पष्ट करते हैं—**'इच्छा'** इत्यादिसे ।

जिससे भोगोंको चाहता है, वह इच्छा है यानी राग—विषयोंमें प्रीति, द्वेष—अप्रीति । इच्छा-द्वेष, यह सत्त्वगुणके शम, दम, दया, शान्ति आदिके और तमोगुणके निद्रा, आलस्य, मोह आदिके उपलक्षण हैं । राजस, सात्त्विक और तामस सब इच्छा, द्वेष आदि क्षेत्रके अन्तःपाती अन्तःकरणके धर्म हैं, अतः क्षेत्र स्वयं इनसे और जन्मादिसे धर्मी होता है । और पुण्य, अपुण्यके हेतु इच्छा, द्वेष आदिसे स्वयं ही कर्मी भी होता है । इच्छा आदिमें और पुण्यादि कर्मोंमें क्षेत्रधर्म होनेसे,

च क्षेत्रत्वमेव इष्टानिष्टवस्तुसान्निध्यात्प्रतीयमानं सुखं दुःखं चाऽन्तःकरणपरिणामविशेषत्वात्तद्धर्मावेव न त्वात्मधर्मौ, अयं रागोऽयं द्वेष इति इदं सुखमिदं दुःखमिति ज्ञायमानत्वात्सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मादीनामात्मधर्मत्वे ज्ञेयत्वानुपपत्तेः। ज्ञायन्ते हि घटवत्सुखदुःखेच्छादयो धर्मास्ततस्तेषां रूपवदनात्मधर्मत्वमेव। यद्यपि तार्किकैः सुखदुःखादय आत्मधर्मा इत्युररीकृतं तर्ह्यप्यात्मनोऽन्तःकरणस्यैव धर्मा न तु प्रतीचः। निरवयवसावयवयोः संयोगसमवायान्यतरासंभवात्तयोरयुतसिद्धत्वाभावाच्च न ह्यात्मा गुणी भवति, 'केवलो निर्गुणश्च' इति श्रुतेः। नापि क्रियावान्, 'निष्कलं निष्क्रियम्' इति श्रुतेः। निष्कलत्वान्नाऽप्यवयवी, असङ्गत्वादात्मनो न येन केनापि संयोगः समवायश्च संभवति। तेषां यदि आत्मधर्मत्वं तर्हि नित्यत्वं चैतन्यवत्सदोपलभ्यमानत्वं च स्यात्ततो रागद्वेषसुखदुःखादिधर्मकं जन्मजरादिधर्मकं च क्षेत्रमेवेति सिद्धम्। तत एव भगवताऽपि 'इच्छा द्वेषः सुखं दुःखम्' इतीच्छादीनां क्षेत्रान्तःपातित्वमेव प्रतिपादितम्। किञ्च, संघातः करचरणादिसंहतिरूपो देहोऽपि क्षेत्रमेव। बुद्धौ तप्तायःपिण्डेऽग्निरिव य आत्मचैतन्याभासो बुद्धिवृत्तिविशिष्टः शब्दादिविषयावभासकः स एव चेतना सा च बुद्ध्या सह साक्षिणो विषयत्वेन ज्ञेयत्वात्तद्भावभावित्वाच्च क्षेत्रमेव। धृतिः

और ज्ञेय होनेसे क्षेत्रत्व ही है। इष्ट एवं अनिष्ट वस्तुके सांनिध्यसे प्रतीत होनेवाले सुख और दुःख अन्तःकरणके परिणाम विशेष हैं, अतः उसीके धर्म हैं, न कि आत्माके धर्म हैं। क्योंकि वे यह राग है, यह द्वेष है, यह सुख है, यह दुःख है, यों ज्ञात होते हैं। यदि सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म आदि आत्माके धर्म हों, तो उनका ज्ञेयत्व उपपन्न नहीं होगा। पर सुख, दुःख, इच्छा आदि धर्म जाने जाते हैं, घटके समान, इसलिए वे रूपके समान अनात्माके ही धर्म हैं। यद्यपि तार्किकोंने सुख, दुःख आदि आत्माके धर्म हैं, ऐसा स्वीकार किया है, तो भी वे अन्तःकरणरूप आत्माके ही धर्म हैं, प्रत्यक्-रूप आत्माके नहीं। निरवयव, सावयव दोनोंका संयोग और समवायमें से अन्यतर सम्बन्ध न हो सकनेसे और दोनोंके अयुतसिद्ध न होनेसे आत्मा गुणी नहीं होता। क्योंकि 'केवल और निर्गुण' ऐसी श्रुति है। क्रियावान् भी नहीं है, क्योंकि 'निष्कल, निष्क्रिय' ऐसी श्रुति है। निष्कल होनेसे अवयवी भी नहीं है, असङ्ग होनेसे आत्माका किसीसे भी संयोग और समवाय नहीं हो सकता। यदि वे आत्माके धर्म हों, तो वे नित्य हों और चेतनके समान सदा उपलभ्यमान हों, इसलिए राग, द्वेष, सुख, दुःख आदि धर्मवाला और जन्म, जरा आदि धर्मवाला क्षेत्र ही है, यह सिद्ध हुआ। इसी लिए भगवान्ने भी 'इच्छा, द्वेष, सुख और दुःख' इससे इच्छा आदिका क्षेत्रके अन्तःपाती होना ही कहा है। किञ्च, संघात—कर, चरण आदिका संघातरूप देह—भी क्षेत्र ही है। जैसे तपे हुए लोहेके पिण्डमें अग्नि है, वैसे ही बुद्धिमें जो आत्मचैतन्यका बुद्धिवृत्तिविशिष्ट आभास, जो कि शब्दादि विषयोंका अवभासक है, वही चेतना, वह भी बुद्धिके सहित साक्षीके विषयरूपसे ज्ञेय होनेसे और उसके भावसे भावित होनेसे क्षेत्र

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ७ ॥

मुमुक्षुको मान (अपनेमें श्रेष्ठत्व बुद्धि), दम्भ (वेष-भूषा, भाषण आदिसे अपना महत्त्व प्रकट करना) और हिंसासे (मन, वचन, काय और कर्मसे प्राणियोंको पीड़ा पहुँचानेसे) शून्य होना चाहिए । क्षान्ति (आध्यात्मिकादि उपद्रव सहन), ऋजुता (स्वधर्ममें मन, वचन और शरीरकी सदा एकरूपसे प्रवृत्ति), ज्ञानोपदेशक गुरुकी श्रद्धाभक्तिसे सेवा, बाह्य और आभ्यन्तर शुद्धता, मनका श्रवण आदिमें ही स्थिरीकरण और अन्तःकरणका विषयोंके स्मरण आदिसे निरोध करना चाहिये ॥ ७ ॥

धैर्यलक्षणो बुद्धिवृत्तिविशेषः सापि ज्ञेयत्वात् क्षेत्रमेव । धृतिरिति कामसंकल्पविचिकित्सादीनामिदंकारममकारादिसर्वप्रत्ययानामुपलक्षणम् । तेन यद्यदात्मनो ज्ञेयं तत्तत्सर्वं क्षेत्रमेवेति सिद्धम् । सविकारं विकारैर्महदादिभिः शब्दादिभिश्च सह वर्तत इति सविकारं सधर्मं चैतत् क्षेत्रं समासेन ते समुदाहृतं । सम्यङ्निरूपितमित्यर्थः ॥ ६ ॥

एवं 'महाभूतान्यहंकारः' इत्यादिना क्षेत्रस्य स्वरूपं निरूप्याऽथ क्षेत्रज्ञे निरूपितव्ये सति तज्ज्ञानं तत्साधनाभावे न सिद्ध्यति जिज्ञासोस्तन्नियतसाधनसंपत्तिमतस्तज्ज्ञानं सुलभमित्यादावेवाऽऽत्मज्ञानोत्पत्तिसाधनान्याह पञ्चभिः—**अमानित्वमिति** ।

स्वस्मिन्नुत्कृष्टत्वबुद्धिर्मानः प्रतिष्ठार्थमात्मन्युत्कर्षारोपणहेतुः सोऽस्यास्तीति मानी तस्य भावो मानित्वं तदभावस्त्वमानित्वम् । ज्ञानोत्पत्तिहेतोश्चित्तशुद्धेः प्रतिबन्धो

ही है । धृति यानी धैर्यलक्षण बुद्धिकी वृत्ति, वह भी ज्ञेय होनेसे क्षेत्र ही है । 'धृति' यह काम, सङ्कल्प, विचिकित्सा आदिका तथा अहङ्कार, ममकार आदि सब प्रत्ययोंका उपलक्षण है । इससे यह सिद्ध हुआ कि जो जो आत्माका ज्ञेय है, वह सब क्षेत्र ही है । महदादि और शब्दादि विकारोंके साथ जो रहता है, वह सविकार—विकारवान—और धर्मवान् यह क्षेत्र समाससे कहा गया । उसका भलीभाँति निरूपण किया, यह अर्थ है ॥ ६ ॥

इस प्रकार 'महाभूतान्यहङ्कारः' इत्यादिसे क्षेत्रके स्वरूपका निरूपण करके अब यद्यपि क्षेत्रज्ञका निरूपण करना उचित था तथापि उसके ज्ञानके साधन जब तक प्राप्त न हों तब तक उसका ज्ञान सिद्ध नहीं होता, उसके ज्ञानकी नियतसाधनसम्पत्तिसे युक्त जिज्ञासुको ही उसका ज्ञान सुलभ है, इसलिए पहले ही आत्मज्ञानकी उत्पत्तिके साधनोंको पाँच श्लोकोंसे कहते हैं—**'अमानित्वम्'** इत्यादिसे ।

अपनेमें उत्कृष्टत्व बुद्धि है मान यानी प्रतिष्ठाके लिए अपनेमें उत्कर्षके आरोपणका हेतु, वह जिसमें है, वह मानी है, मानीका भाव मानित्व है, उसका न होना अमानित्व है । मान

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥

भोग्य पदार्थोंमें सर्वथा आसक्तिका त्याग, अनहङ्कार (जाति आदिसे श्रेष्ठत्वाभिमानसे शून्य होना) गर्भवासमें, जन्म-मरणसमयमें, वृद्धावस्थामें और विविध प्रकारकी व्याधियोंमें दुःख और दोषका दर्शन मुमुक्षुओंको करना चाहिए ॥८॥

मानस्तथैव दम्भित्वादयश्च तदभावेन मुमुक्षोर्भवितव्यमित्यर्थः । वेषभाषाक्रियाचातुर्यादिभिः स्वमहत्त्वप्रकटनं दम्भस्तद्वत्त्वं दम्भित्वं तद्रहितत्वमदम्भित्वम् । मनोवाक्कायकर्मभिः प्राणिपीडानाचरणम् अहिंसा भूतदयैकलभ्या । ब्रह्मचर्यादीनामिदमुपलक्षणम् । चिन्ताविलापराहित्येनाऽऽध्यात्मिकाद्युपद्रवसहनं क्षान्तिः । स्वधर्मे मनोवाक्कायप्रवृत्तेः सदैकरूपत्वमार्जवम् । आचार्योपासनं ज्ञानोपदेष्टुराचार्यस्य श्रद्धाभक्तिभ्यां शुश्रूषादिक्रिययाऽऽराधनमुपासनम् । शौचं द्विविधम्—बाह्यमाभ्यन्तरं च । बाह्यं मृज्जलाभ्यामस्पृश्याभक्ष्याग्राह्यत्यागेन च । आभ्यन्तरं रागद्वेषलोभमोहगर्वकाठिन्यादिमलानां तत्प्रतिकूलगुणावष्टम्भेन क्षालनमन्तःशौचम् । आत्मनोऽन्तःकरणस्य विषयभोगवासनाग्रस्तस्य विषयध्यानश्रवणदर्शनादौ सुतरां प्रवृत्तिनिरोध आत्मविनिग्रहः । निगृहीतस्य मनसो नैश्चल्येन मोक्षेच्छया श्रवणादावेव स्थापनं स्थैर्यम् ॥ ७ ॥

स्थैर्यसिद्धेः साधनमाह—**इन्द्रियार्थेष्विति ।**

ज्ञानकी उत्पत्तिकी हेतु चित्तशुद्धिका प्रतिबन्धक है और उसी प्रकार दम्भित्व आदि भी चित्तशुद्धिके प्रतिबन्धक हैं, मुमुक्षुको उनसे रहित होना चाहिए, यह अर्थ है। वेष, भाषा, क्रिया, चातुर्य आदिसे अपना महत्त्व प्रकट करना दम्भ है, उसका होना दम्भित्व है, उससे रहित होना अदम्भित्व है। मन, वाणी और कर्मसे प्राणियोंको पीड़ा न पहुँचाना अहिंसा है। वह भूतोंपर दया करनेसे ही प्राप्त होती है। यह ब्रह्मचर्य आदिका भी उपलक्षण है। चिन्ता एवं विलापसे रहित होकर आध्यात्मिक उपद्रव सहना क्षान्ति है। स्वधर्ममें मन, वाणी एवं कायाकी प्रवृत्तिका सदा एक-सा होना आर्जव है। आचार्योपासन—ज्ञानके उपदेष्टा आचार्यकी श्रद्धाभक्तिसे शुश्रूषा आदि क्रियासे आराधन उपासना है। शौच दो प्रकारका है, एक बाहरका और दूसरा भीतरका। बाहरका शौच मिट्टी और जलसे तथा अस्पृश्य, अभक्ष्य और अग्राह्यके त्यागसे होता है। राग, द्वेष, लोभ, मोह, गर्व और काठिन्य मलोंका, उनके प्रतिकूल गुणोंके अवलम्बनसे क्षालन अन्तःशौच है। आत्माका—विषयभोगवासनासे ग्रस्त अन्तःकरणका—विषयोंके ध्यान, श्रवण, दर्शन आदिमें प्रवृत्तिका आत्यन्तिक निरोध आत्मविनिग्रह है। निगृहीत मनको निश्चलतासे, मोक्षकी इच्छासे श्रवण आदिमें ही स्थापन करना स्थैर्य है ॥ ७ ॥

स्थैर्यसिद्धिका साधन कहते हैं—**'इन्द्रियार्थेषु'** इत्यादिसे ।

इन्द्रियार्थेषु शब्दादिषु भोग्यपदार्थेषु तेषु श्रुतेषु दृष्टेषु च सर्वत्र वैराग्यं निःशेषरागत्याग एव मनोनिग्रहे तन्निश्चलत्वे च कारणम्। यतेरिदमेव सम्यक्संपादनीयम्। तथैवाऽनहङ्कारश्च जातिवर्णाश्रमाचारविद्याकुलशीलादिभिः श्रेष्ठत्वाभिमानोऽहङ्कारः। जात्यादिष्वहङ्कारहेतुषु सत्स्वपि बन्धकत्वबुद्ध्या तद्रहितत्वमनहङ्कारः। अयमेव ज्ञानसिद्धौ मुख्यकारणमिति निश्चयार्थ एवकारः। चकारः समुच्चयार्थः। सर्वत्र वैराग्यसञ्जनने तत्कार्यनिष्पत्तौ च परमकारणं जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनमेव जन्मनि मृत्यौ जरायां व्याधिषु दुःखस्य दोषस्य चाऽनुदर्शनं शास्त्रं स्वानुभवं चाऽनुसृत्याऽऽलोचनम् जन्मपदेन तत्सन्निहितो गर्भवासोऽपि गृह्यते। गर्भे नवमासं पिण्डीभूत्वाऽवस्थानं मलकृमिदंशनं मातुर्जठराग्निदहनं तदीयविषमशयनगमनादिना सङ्घट्टनं सुदृढजरायुवेष्टनादिमहद्दुःखं मलमूत्रमध्येऽवस्थानं तद्रसपानं च दोषः। जन्मनि प्रसववायुनाऽऽकर्षणं योनियन्त्रनिष्पीडनं महद्दुःखं तद्द्वारा गमनं दोषः। मरणे सर्वनाड्याकर्षणं मर्मकृन्तनं प्राणाकुञ्चनमूर्ध्वश्वासो मरणतापश्च महद्दुःखम्। याम्याकर्षणेन व्यथया च मलजलपातादिदोषः। मृत्युपदेन तत्सन्निकृष्टो नरकवासोऽपि गृह्यते। कुम्भीपाकरौरवासिपत्रवनवैतरण्यादिषु याम्यपातनं महद्दुःखं श्लेष्मरक्तपूयरेतोमलमूत्रहृदेषु

सुने गये या देखे गये इन्द्रियोंके विषय शब्द आदि भोग्यपदार्थोंमें सर्वत्र वैराग्य—निःशेष रागत्याग—ही मनके निग्रहमें और उसके निश्चल होनेमें कारण है। यतिको इसीका भली भाँति संपादन करना चाहिए। उसी प्रकार अनहङ्कार—जाति, वर्ण, आश्रम, आचार, विद्या, कुल, शील आदिसे मैं श्रेष्ठ हूँ, यों अभिमान अहङ्कार है। अहङ्कारके हेतु जाति आदिके होनेपर भी, उनको बन्धक समझकर, उनसे रहित होना अनहङ्कार है। यही ज्ञानकी सिद्धिमें मुख्य कारण है, इस प्रकार निश्चय करनेके लिए 'एव' शब्द है। चकार समुच्चयके लिए है। सर्वत्र वैराग्य उत्पन्न करनेमें और उसके कार्यकी निष्पत्तिमें परम कारण जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शन ही है यानी जन्ममें, मृत्युमें, जरामें और व्याधियोंमें दुःखका और दोषका अनुदर्शन यानी शास्त्र और अपने अनुभवके अनुसार आलोचन ही है। जन्मपदसे जन्म समीपवर्ती गर्भवासका ग्रहण किया जाता है। गर्भमें नौ मासतक पिण्ड बनकर स्थित रहना, मलके कीड़ोंका काटना, माताकी जठराग्निसे जलना, उसके विषम शयन, गमन आदिसे टकराना, सुदृढ़ जरायुवेष्टन आदि महान् दुःख है और मलमूत्रके बीचमें रहना तथा उनके रसका पान दोष है। जन्ममें प्रसववायुसे आकर्षण, योनियन्त्रमें निष्पीडन महान् दुःख है और उसके द्वारा निकलना दोष है। मरणमें सम्पूर्ण नाड़ियोंका आकर्षण, मर्मच्छेदन, प्राणोंका सङ्कोच, ऊर्ध्वश्वास, मरणका ताप महान् दुःख है और यमदूतोंके आकर्षण और पीड़ासे मल तथा जलका गिरना आदि दोष है। मृत्युपदसे मृत्यु-निकटवर्ती नरकवासका भी ग्रहण किया जाता है। उसमें कुम्भीपाक, रौरव, असिपत्रवन तथा वैतरणी आदिमें यतदूतों द्वारा डाला जाना महान् दुःख है। श्लेष्म, रक्त, पूय, रेत मल-मूत्रके कुण्डोंमें

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥

मुमुक्षुको पुत्र, कलत्र, घर, धन आदिमें अनुराग एवं अभिष्वङ्ग (ममता एवं इष्टत्वबुद्धिसे अन्तःकरणका स्थापन) नहीं करना चाहिए। तथा इष्ट एवं अनिष्ट वस्तुके प्राप्त होनेपर सर्वदा बाह्य और आन्तर विकारोंसे रहित होना चाहिए॥९॥

वासो महद्दुःखं श्लेष्मादिपानदोषश्च । जरायां सर्वगात्रशैथिल्यं मान्द्यं बाधिर्यं गद्गदवाक्कम्पादिकं व्युत्थानादौ पतनं स्वपरजनपरिभवश्च महद्दुःखं मलजललालापातश्च दोषः । व्याधिषु दौर्बल्यं शीतज्वरादिवेगपरितापादिकं कषायपानादिकं महद्दुःखं देहदौर्गन्ध्यस्वेदादिर्दोषः । एवं जन्मादिषु पुनःपुनर्दुःखदोषानुदर्शनेन विवेकिनः पुण्यशीलस्य सर्वत्र तीव्रं वैराग्यं मोक्षेच्छा च तत्सिद्ध्यै प्रवृत्तिश्च सिद्ध्यत्यत एतद्दर्शनं मुमुक्षोः सम्यक्कर्तव्यमित्यर्थः ॥ ८ ॥

जन्मादिषु दुःखदोषदर्शनस्य फलमाह—**असक्तिरिति** ।

असक्तिः सक्तिर्भोगेष्वन्तःकरणस्य सङ्गो रागस्तदभावोऽसक्तिः । अप्राप्त इव प्राप्ते वस्तुनि सर्वत्र विषयमात्रे प्रीतिराहित्यमसक्तिशब्दार्थः । अनभिष्वङ्गः नाऽभिष्वङ्गोऽनभिष्वङ्गः समीचीनत्वबुद्ध्या ममतया चाऽजस्रमिष्टं विषयमालिङ्ग्य चित्तस्याऽवस्थानमभिष्वङ्गस्तदभावोऽनभिष्वङ्गः मुमुक्षूणां सुसंपाद्यः । कुत्रेत्याकाङ्क्षायामाह—

वास महान् दुःख है और श्लेष्म आदिका पान दोष है। जरामें सब गात्रोंका शिथिल होना, मन्दता, बधिरता, गद्गदवाक्, कम्प आदि, उठने आदिमें गिर जाना और अपने तथा पराये जनोंसे पराभव महान् दुःख है और मल, जल तथा रालका गिरना दोष है। व्याधियोंमें दुर्बल होना, शीत ज्वर आदिके वेगसे परिताप आदि, कषायपान आदि महान् दुःख है और देहमें दुर्गन्ध, स्वेद आदि दोष है। इस प्रकार जन्म आदिमें बार-बार दुःख और दोषके अनुदर्शनसे पुण्यशील विवेकीको सर्वत्र तीव्र वैराग्य और मोक्षेच्छा होती है तथा उनकी सिद्धिके लिए प्रवृत्ति होती है, इसलिए इस दर्शनका मुमुक्षुको भली भाँति सम्पादन करना चाहिए, यह अर्थ है ॥ ८ ॥

जन्म आदिमें दुःख और दोषके दर्शनका फल कहते हैं—‘**असक्ति०**’ इत्यादिसे ।

असक्ति (भोगोंमें अन्तःकरणका सङ्ग—राग—सक्ति है, उसका न होना असक्ति है)। अप्राप्त वस्तुके समान प्राप्त वस्तुमें—सम्पूर्ण विषयोंमें—प्रीतिरहित होना असक्तिशब्दका अर्थ है। अनभिष्वङ्ग (न अभिष्वङ्ग अनभिष्वङ्ग है यानी चित्तका समीचीनत्वबुद्धिसे और ममतासे निरन्तर इष्ट विषयका आलिङ्गन करके स्थित रहना अभिष्वङ्ग है, उसका न होना अनभिष्वङ्ग है) मुमुक्षुओंको अनभिष्वङ्गका भली भांति सम्पादन करना चाहिये। कहां ? ऐसी आकांक्षा होनेपर कहते हैं—

पुत्रदारगृहादिषु । आदिशब्देन धनक्षेत्रादि गृह्यते । तेषु चित्तस्य लग्नता न कर्तव्येत्यर्थः । ननु अनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिष्वित्यनेन गृहस्थानामेव श्रवणाद्यधिकारो न तु यतीनामितरेषां च । तेषामधिकारित्वे पुत्रादिष्वभिष्वङ्गो न कर्तव्य इति व्यतिरेकेण निषेधायोगात् । सत्स्वेव पुत्रादिष्वभिष्वङ्गः प्रसज्यते । प्रसक्तस्यैव निषेधो युक्तो न त्वप्रसक्तस्य । नहि नाऽनलं पिबेदिति निषेध उपयुज्यते । ततः प्रसक्तप्रतिषेधबलात् गृहस्थानामेव श्रवणाधिकारो नाऽऽश्रमान्तरनिष्ठानामिति चेद्, भवानत्र प्रष्टव्यः; गृहिणां वेदान्तश्रवणं मोक्षाय वा, उत अक्षरलाभाय वा, विलासार्थं वेति । नाऽऽद्यः, साधनानुपपत्तौ साध्यासिद्धेः श्रवणस्य व्यङ्गत्वे तत्साध्यज्ञानसिद्ध्यसंभवात् मोक्षाभावः । 'संन्यस्य श्रवणं कुर्यात्' इति संन्यासस्य श्रवणाङ्गत्वं स्मर्यते । 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इत्यत्राऽप्यथशब्दस्य संन्यासादिसाधनसिद्ध्यनन्तरमेव जिज्ञासा कर्तव्येत्यानन्तर्यार्थकत्वं कथ्यते । ततः संन्यासाद्यन्तरङ्गसाधनशून्यानां गृहिणामेव श्रवणानधिकारो न तु मोक्षेच्छया संन्यस्तसर्वकर्मतत्साधनानां यतीनाम् । ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं वेदान्तश्रवणादिना जायते परमहंसस्य यतेर्मुख्याधिकारिणः नाऽऽश्रमान्तरनिष्ठस्येत्यङ्गशून्यानां कृतेऽपि श्रवणे ज्ञानानुत्पत्तिस्मरणात्ततो यतीनामेव परमहंसानां श्रवणाधिकारो ज्ञानतत्फलप्राप्त्यधिका-

---

पुत्रदारगृहादिषु । आदिशब्दसे धन, क्षेत्र आदिका ग्रहण किया जाता है । उनमें चित्तको नहीं लगाना चाहिए, यह अर्थ है । 'अनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु' इससे गृहस्थोंका ही श्रवण आदिमें अधिकार प्रतीत होता है, यतियोंका और दूसरोंका प्रतीत नहीं होता । यदि उनका अधिकार मान लिया जाय, तो पुत्र आदिमें अभिष्वङ्ग नहीं करना चाहिए, यों व्यतिरेकसे निषेध नहीं हो सकता, क्योंकि पुत्र आदि होनेपर ही उनमें अभिष्वङ्गका प्रसङ्ग हो सकता है । प्रसक्तका ही निषेध युक्त है, अप्रसक्तका नहीं, अतएव 'अग्नि न पीवे' यों अप्रसक्त अग्निपानका निषेध उपयुक्त नहीं होता । इसलिए प्रसक्त प्रतिषेधके बलसे गृहस्थोंका ही श्रवणमें अधिकार है, दूसरे आश्रममें रहनेवालोंका नहीं, ऐसी यदि शङ्का हो, तो इस विषयमें आपसे प्रश्न होगा कि क्या गृहस्थोंका वेदान्तश्रवण मोक्षके लिए है अथवा अक्षरके लाभके लिए है या विलासके लिए है ? प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि साधनके प्राप्त न होनेपर साध्यकी सिद्धि नहीं होती, इस नियमसे श्रवणके अङ्गसे रहित होनेपर उससे साध्य ज्ञानकी सिद्धि न होनेसे मोक्ष हो ही नहीं सकता। 'संन्यासका ग्रहण करके श्रवण करे' इस स्मृतिसे संन्यास श्रवणका अङ्ग है, ऐसा प्रतिपादित है । 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इसमें भी अथशब्दका, संन्यास आदि साधनोंकी सिद्धिके पीछे ही जिज्ञासा करनी चाहिए, यों आनन्तर्य अर्थ कहा जाता है । इसलिए संन्यास आदि अन्तरङ्ग साधनोंसे शून्य गृहस्थोंका ही श्रवणमें अनधिकार है, मोक्षकी इच्छासे सम्पूर्ण कर्म और उनके साधनोंका त्याग करनेवाले यतियोंका नहीं। 'ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञान वेदान्तके श्रवण आदिसे मुख्य अधिकारी परमहंस यतिको ही होता है,आश्रमान्तरनिष्ठको नहीं' इस स्मृतिवचनसे अङ्गसे शून्य गृहस्थोंको, श्रवण करनेपर भी, ज्ञान नहीं होता, ऐसा प्रतिपादन किया गया है, इसलिए परमहंस यतियोंका ही श्रवणमें अधिकार है

श्च, 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः । ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृतात्परिमुच्यन्ति सर्वे' इति श्रुतेः । न द्वितीयः, निरन्तरविक्षेपवतां संसारिणां यथावदक्षरलाभासिद्धेः । नाऽपि तृतीयश्च, काव्यनाटकादिवदत्र चमत्काराभावात् । यत एवं ततो यतीनामेव श्रवणादियोग्यत्वमिति सिद्धम् । ननु मोक्षेच्छया संन्यस्तसर्वकर्मणां यतीनामेव श्रवणाधिकारित्वे पुत्रदारादिष्वभिष्वङ्गो न कर्तव्य इति निषेधवचनस्याऽऽनर्थक्यमिति चेत्, न; तेषामपि पूर्ववासनया त्यक्तेष्वपि पुत्रदारादिष्वभिष्वङ्गप्रसङ्गात्तन्निषेधपरत्वोपपत्तेः । 'मनसो वशे सर्वमिदं बभूव । भीष्मो हि देवः सहसः सहीयान्' इति, 'बन्धाय विषयासक्तम्' इति, 'प्रमाथि बलवद् दृढम्' इति, 'ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते' इति, 'विद्ध्येनमिह वैरिणम्' इति, 'ज्ञानिनो नित्यवैरिणा' इति च कामसङ्कल्पादिविकारवतोऽनादिदुर्वासनावासितान्तःकरणस्य दुर्धर्षत्वं दुर्निग्रहत्वं बन्धकत्वं विषयस्मृतिमात्रेणाऽनर्थकारित्वं ज्ञानिषु बद्धवैरित्वं च श्रूयते स्मर्यते च । ततः संन्यासिनामपि त्यक्तेषु तेषु तेषु दुर्वासनया क्वचिदभिष्वङ्गस्तद्वार्ताश्रवणादिभिः प्रसज्यते । यथा विद्यमानेषु तुच्छेष्वपि कौपीनकन्थादिष्विदं समीचीनमिदमसमीचीनमिति सक्तिस्तथा । ततस्तद्द्वयं प्रमादेनाऽपि न कर्तव्यमिति व्यतिरेक-

---

तथा ज्ञान और उसके फलकी प्राप्तिमें अधिकार है, क्योंकि 'वेदान्तके विज्ञानसे भली भाँति निश्चित अर्थसे युक्त, संन्यास योगसे शुद्ध अन्तःकरणवाले वे सब यति ब्रह्मलोकमें ब्रह्माके अन्तकालमें परके मुक्तिसे मुक्त हो जाते हैं', ऐसी श्रुति है । दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि निरन्तर विक्षेपवाले संसारियोंको अक्षरका लाभ यथार्थरूपसे नहीं हो सकता । तीसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि काव्य, नाटक आदिके समान इसमें चमत्कारका अभाव है । जिस कारणसे ऐसा है, इसलिए यतियोंमें ही श्रवण आदिकी योग्यता है, यह सिद्ध हुआ । यदि मोक्षकी इच्छासे सम्पूर्ण कर्मोंका त्याग करनेवाले यतियोंका ही श्रवणमें अधिकार है, तो पुत्र, दार आदिमें अभिष्वङ्ग नहीं करना चाहिए, यह निषेधवचन निरर्थक होगा, ऐसी शङ्का नहीं करना चाहिए, क्योंकि उनका भी पूर्व वासनासे परित्यक्त पुत्र, दार आदिमें अभिष्वङ्ग प्राप्त हो सकता है, अतः उसका निषेध करना युक्त है । 'मनसे यह सब हुआ है, मनरूप यह भीषण देव बलसे बलवान् हैं', 'विषयोंमें आसक्त मन बन्धनके लिए होता है', मन मथन करनेवाला, बलवान् और दृढ़ है' 'विषयोंका ध्यान करनेवाले पुरुषका उनमें सङ्ग होता है', इसको यहाँ वैरी जानो' तथा 'ज्ञानीके नित्य वैरीसे' इत्यादिसे काम, सङ्कल्प आदि विकारवाले, अनादि दुर्वासनासे वासित अन्तःकरणका दुर्धर्षत्व, दुर्निग्रहत्व, बन्धकत्व, विषयकी केवल स्मृतिसे अनर्थकारित्व और ज्ञानियोंके प्रति वैरित्व श्रुति और स्मृतिमें प्रतिपादित है । इसलिए संन्यासियोंका भी परित्यक्त तत्-तत् पुत्र आदि पदार्थोंमें दुर्वासनासे उनकी वार्ताके श्रवण आदिसे अभिष्वंग होता है । जैसे विद्यमान तुच्छ कौपीन कन्था आदिमें, यह अच्छी है, यह अच्छी नहीं है, यों आसक्ति होती है, वैसे ही प्रकृतमें भी जानना चाहिए । इसलिए उन

मयि चाऽनन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ १० ॥

मुमुक्षु मुनिको विजातीय प्रत्ययसे रहित समाधिसे मुझ परमात्माका अवलम्बन कर 'मैं ब्रह्म ही हूँ ब्रह्म ही मैं हूँ' यों सर्वदा अनुसन्धान करना चाहिए एवं निदिध्यासनके लिए जनसम्पर्करहित देशमें निवास और बहिर्मुख मनुष्योंके समुदायमें अरुचि करनी चाहिए ॥ १० ॥

मुखेनोपदिश्यते—'असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु' इति । गृहस्थानामधिकारित्वे त्विदं विशेषणमनुपन्नम्—'नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु' इति । इष्टानिष्टोपपत्तिषु इष्टं सुखं तत्साधनं च, अनिष्टं दुःखं तत्साधनं च तेषामुपपत्तिषु संप्राप्तिषु नित्यं सर्वदा समचित्तत्वं समं हर्षविषादमुखविकासवैवर्ण्यादिबाह्याभ्यन्तरविकारनिर्मुक्तं चित्तं यस्य विदुषस्तस्य भावः समचित्तत्वमविक्रियात्मनाऽवस्थानं न संसारिणामुपपद्यते । नहि पुत्रोत्पत्तौ हर्षो वारयितुं शक्यते, नाऽपि तन्मरणे विषादादिश्च । ततो नैवैषामत्राऽधिकार इति सिद्धम् ॥ ९ ॥

किञ्च—**मयीति** ।

अनन्ययोगेन न विद्यते परमेश्वरादन्यः शरणं ममेत्येवं निश्चयलक्षणस्त्वनन्यः योगो भक्तियोगः अनन्यश्चाऽसौ योगश्च तेनाऽनन्ययोगेन मयि सर्वेश्वरे सर्वलोकशरण्ये सर्वात्मन्यव्यभिचारिणी नियता भक्तिर्भजनं च ज्ञानसाधनम्, मत्प्रसादैकलभ्यत्वा-

---

दोनोंको प्रमादसे भी नहीं करना चाहिए, ऐसा व्यतिरेक द्वारा उपदेश दिया जाता है—असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु' । गृहस्थोंका अधिकार होनेपर तो 'नित्यं च समचित्तत्वं मिष्टानिष्टोपपत्तिषु' यह विशेषण उपपन्न नहीं होगा । इष्ट, अनिष्टकी उपपत्तिमें (इष्ट—सुख और उसका साधन, अनिष्ट—दुःख और उसका साधन, उनकी उपपत्तिमें—प्राप्तिमें—) नित्य—सर्वदा—समचित्तता (सम—हर्ष, विषाद, मुखविकास, वैवर्ण्य आदि बाहर-भीतरके विकारसे रहित—चित्त जिस विद्वान्का हो, वह समचित्त है, उसका भाव समचित्तत्व—अविक्रियस्वरूपसे अवस्थान—) संसारियोंमें उपपन्न नहीं हो सकती । पुत्रकी उत्पत्तिमें हर्ष रोका नहीं जा सकता और उसके मरणमें विषाद रोका नहीं जा सकता, इसलिए उनका इसमें अधिकार नहीं है, यह सिद्ध हुआ ॥ ९ ॥

किञ्च, **'मयि'** इत्यादि ।

अनन्ययोगसे—परमेश्वरके सिवा अन्य मेरा आश्रय नहीं है, इस प्रकारके निश्चयस्वरूप अनन्य योग यानी भक्तियोग, अनन्यरूप योग अनन्ययोग है, इस प्रकारके अनन्ययोगसे—मुझमें—सर्वेश्वर सर्वलोकशरण्य सर्वात्मामें—अव्यभिचारिणी (नियत) भक्ति—भजन—ज्ञानका साधन है, क्योंकि केवल मेरे ही प्रसादसे ज्ञान प्राप्त होता है । इसलिए केवल मेरी

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ ११ ॥

वेदान्तशास्त्रमें सदा तत्पर रहना तथा तत्त्वज्ञानके फलभूत मोक्षकी सिद्धिके लिए शास्त्रीय प्रक्रियाका आश्रयण करना चाहिए। महर्षियोंने 'अमानित्वम्' से लेकर 'तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्' तक बीस ज्ञानके साधन कहे हैं और उनसे विपरीत मानित्व आदि अज्ञानके साधन कहे हैं ॥ ११ ॥

ज्ज्ञानस्य । अतो मदेकशरणेन मुमुक्षुणा मद्भजनं सर्वदा कर्तव्यमित्यर्थः । यद्वा विविक्तदेशसेवित्वमिति वचनसामर्थ्यादयमर्थः—अनन्ययोगेन अन्यो विजातीयप्रत्ययो न विद्यते यत्र सोऽनन्ययोगः समाधिः । अनन्यश्चाऽसौ योगश्च तेनाऽनन्ययोगेन सजातीयप्रत्ययावृत्तिलक्षणेन मयि मां निर्विशेषं परं ब्रह्म विषयीकृत्य ब्रह्मैवाऽहमहमेव ब्रह्मेति भक्तिर्भजनमनुसन्धानं सर्वदा करणीयं ज्ञानस्याऽप्रतिबन्धकत्वसिद्धिकारणत्वाज्ज्ञानमित्युच्यते । किञ्च, विविक्तदेशसेवित्वं विविक्तान् जनसंमर्दरहितान् नदीपुलिनगिरिकुहरारामारण्याद्येकान्तप्रदेशान् निदिध्याससिद्ध्यर्थं सेवितुं शीलमस्याऽस्तीति विविक्तदेशसेवी, 'शून्यागारदेवतागृहतृणकूटवल्मीकवृक्षमूलकुलालशालाग्निहोत्रनदीपुलिनगिरिकुहरकन्दरकोटरनिर्झरस्थण्डिलेष्वनिकेतवासी' इति श्रुतेः । तस्य भावो विविक्तदेशसेवित्वम् । जनसंसदि जनानां बहिर्मुखानां संसदि सङ्घाते वसितुमरतिररुचिश्च ॥१०॥

किञ्च—**अध्यात्मेति** ।

शरणमें रहनेवाले मुमुक्षुको मेरा भजन सर्वदा करना चाहिए, यह अर्थ है। अथवा विविक्तदेशसेवित्वम्' इस वचनकी सामर्थ्यसे यह अर्थ है—अन्य यानी विजातीय प्रत्यय जिसमें नहीं है, वह अनन्ययोग है यानी समाधि, अनन्यरूप योग अनन्ययोग है। सजातीय प्रत्ययकी आवृत्तिरूप उस अनन्ययोगसे मुझ निर्विशेष परब्रह्मका आलम्बन करके 'ब्रह्म ही मैं हूँ और मैं ही ब्रह्म हूँ', यों भक्ति (भजन) यानी अनुसन्धान सर्वदा करना चाहिए। ज्ञानमें अप्रतिबन्धकत्वकी सिद्धिका कारण होनेसे वह ज्ञान कहलाता है। किञ्च, विविक्तदेशसेवित्व (विविक्त—जनसंमर्दरहित, नदीपुलिन, गिरिकुहर, आराम, अरण्य आदि प्रदेशोंके, निदिध्यासनकी सिद्धिके लिए, सेवन करनेका जिसका शील है, वह विविक्तदेशसेवी है)। शून्य अगार, देवमन्दिर, तृणराशि, वल्मीक, वृक्षमूल, कुलालशाला, अग्निहोत्र, नदीपुलिन, गिरिकुहर, कन्दरा, कोटर, निर्झर और स्थण्डिलमें (यज्ञशालामें) अनिकेतवासी' ऐसी श्रुति है। उसका भाव विविक्तदेशसेवित्व। और जनसंसद्में—जनोंके—बहिर्मुखोंके—संसत् यानी समूहमें बसनेमें अरति यानी अरुचि करनी चाहिये ॥ १० ॥

'अध्यात्म०' इत्यादि। 'आत्मा निश्चय एक ही पहले था', 'आत्मा ही यह पहले था

'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्', 'आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः', 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादिना आत्मानमधिकृत्य प्रवृत्तमध्यात्मं ज्ञायते आत्मतत्त्वमनेनेति ज्ञानमध्यात्मं च तज्ज्ञानं चाऽध्यात्मज्ञानं वेदान्तशास्त्रं तत्र नित्यत्वं निरतत्वं तदेकप्रावण्यमेव ज्ञानोत्पत्तेर्मुख्यं साधनं तत एव ज्ञानमित्युक्तम् । तत्त्वज्ञानार्थदर्शनं तत्त्वज्ञानस्याऽर्थः फलरूपो मोक्षस्तस्य दर्शनं तत्सिद्धिप्रक्रियालोचनं च। मोक्षः खलु ब्रह्मात्मनाऽवस्थानम् । स श्रवणेन श्रावणेन वा मननेन वा निदिध्यासया वा समाधिना वा सर्वकामप्रमोकेन वाऽन्यथा वा सिद्ध्यतीति युक्त्या स्वानुभूत्या च ज्ञानपौष्कल्यसिद्धिसाधनसम्पत्तिमालोच्य स्वाधिकारानुरूपं तत्साधनं क्रमेण समनुतिष्ठेदिति बोधयति तत्त्वज्ञानार्थदर्शनमिति भगवान् । ततो मोक्षैककामस्य यतेरमानित्वादिज्ञानसाधनं प्रयत्नेन संपादनीयम् । यत्सिद्ध्या ज्ञानं सिद्ध्यति ज्ञानसिद्ध्यैव मोक्षो यतः । निरुक्तमन्तरङ्गसाधनं ज्ञानस्योपसंहरति—**एतदिति** । अमानित्वमारभ्य तत्त्वज्ञानार्थदर्शनान्तं यदुक्तं तदेतद्विंशतिसंख्याकं ज्ञानसाधनं ज्ञानोत्पत्तिकारणत्वात् ज्ञानमिति महर्षिभिः प्रोक्तम् । अत एतस्मादमानित्वादिलक्षणाज्ज्ञानसाधनादन्यथा यदन्यद्विपरीतं मानित्वदम्भित्वहिंसाक्षान्त्यनार्जवादिकं रजस्तमोगुणजातं सर्वमज्ञानमज्ञानवृद्धिसाधनं संसारकारणं ज्ञानप्रतिबन्धकं च । ततोऽमानित्वादिकं सम्यग्ज्ञातव्यं ज्ञात्वा मुमुक्षुभिः सम्यक् परिहरणीयमित्यर्थः ॥ ११ ॥

पुरुषविध', 'आत्मा ही अरे द्रष्टव्य है' इत्यादिसे आत्माका अवलम्बन करके प्रवृत्त विषय अध्यात्म है, जिससे आत्मतत्त्व जाननेमें आता है, वह ज्ञान है, अध्यात्मरूप ज्ञान, अध्यात्मज्ञान है यानी वेदान्तशास्त्र, उसमें नित्यत्व—निरतत्व—केवल उसीमें प्रावण्य ही ज्ञानकी उत्पत्तिका मुख्य साधन है, इसीलिए वह ज्ञान कहा गया है। तत्त्वज्ञानके अर्थका दर्शन—तत्त्वज्ञानका अर्थ—फलरूप मोक्ष—है, उसका दर्शन यानी उसकी सिद्धिकी प्रक्रियाका विचार। मोक्ष ब्रह्मस्वरूपसे अवस्थान है, वह श्रवणसे, श्रावणसे, मननसे, निदिध्यासनसे, समाधिसे या सम्पूर्ण कामनाओंके त्यागसे या अन्य प्रकारसे सिद्ध होता है, यों युक्तिसे या अपने अनुभवसे ज्ञानपौष्कल्यकी सिद्धिकी साधनसंपत्तिका विचार कर अपने अधिकारके अनुसार उसके साधनका क्रमसे अनुष्ठान करे, ऐसा 'तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्' से भगवान् बोधन करते हैं, इसलिए केवल मोक्षकी कामनावाले यतिको अमानित्व आदि ज्ञानके साधनका प्रयत्नसे संपादन करना चाहिए, क्योंकि उसकी सिद्धिसे ज्ञान सिद्ध होता है और ज्ञानसिद्धिसे ही मोक्ष सिद्ध होता है। ज्ञानके निरुक्त अन्तरङ्ग साधनोंका उपसंहार करते हैं—**एतदिति**। अमानित्वसे लेकर तत्त्वज्ञानार्थदर्शन तक जो बीस ज्ञानके साधन कहे गये हैं, वे ज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण होनेसे ज्ञान हैं, ऐसा महर्षियोंने कहा है। इसलिए अमानित्व आदिरूप ज्ञानसाधनसे अन्यथा—विपरीत जो मानित्व, दम्भित्व, हिंसा, अक्षान्ति, अनार्जव आदि रजस्तमोगुण हैं, वे सब अज्ञान हैं—अज्ञानकी वृद्धिके साधन हैं, संसारके कारण हैं और ज्ञानके प्रतिबन्धक हैं, इसलिए अमानित्व आदिको भली भाँति जानना चाहिए,

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥ १२ ॥

हे अर्जुन, जो ज्ञातव्य तत्त्व है, उसका मैं तुम्हें उपदेश दूँगा, जिसको जानकर पुरुष संसारसे मुक्त हो जाता है। वह ज्ञातव्य तत्त्व है—सम्पूर्ण महद् आदि विकारोंसे विलक्षण नित्य कूटस्थ ब्रह्म, वह ब्रह्म न तो सत् (कार्यरूप) और न असत् (विकारकारणात्मक अव्यक्त) कहा जा सकता है ॥ १२ ॥

एवं ज्ञानोत्पत्तिसहकारिकारणसामग्रीममानित्वादिलक्षणां निरूप्य निरुक्तसाधनसम्पत्त्या कृतेन श्रवणादिना समुत्पन्नज्ञानस्य यतेर्यज्ज्ञातव्यं वस्तु तन्निरूपयति—**ज्ञेयमिति** ।

मुमुक्षोः कृतश्रवणस्य तदुत्पन्नज्ञानवतो यतेर्यत् ज्ञेयं श्रीगुरोर्मुखाद्यद् ज्ञातव्यं वस्तु तत्प्रवक्ष्यामि उपदेक्ष्यामि । ननु तज्ज्ञानेन किमस्माकमित्यत आह— **यदिति** । तत्त्वमस्यादिवाक्यार्थं विचार्य विचारजन्यज्ञानेन यद्वस्तु ज्ञात्वाऽमृतं वक्ष्यमाणलक्षणं परं ब्रह्माऽश्नुते । 'एतदमृतमभयमेतद् ब्रह्म' इति श्रवणादमृतं ब्रह्म विद्वान् प्राप्नोति, 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इति श्रुतेः । एवं फलवादेन श्रोतारमभिमुखीकृत्य यत्प्रतिज्ञातं प्रवक्ष्यामीति तत्प्रतिपादयति—**अनादिमदिति** । मुमुक्षुणा ज्ञातव्यं तद्ब्रह्म अनादिमत् आदिः कारणं जन्म वा यस्याऽस्ति तदादिमत्कार्यं महदादिस्थूलान्तं स्वयं ततो विलक्षणत्वाद् ब्रह्म अनादिमत् सर्वस्माद्विकारजातादन्यदित्यर्थः । अनादिमत्त्वमक्षरत्वा-

---

जानकर मानित्व आदिका मुमुक्षुको ठीक-ठीक परिहार करना चाहिए, यह अर्थ है ॥ ११ ॥

इस प्रकार ज्ञानकी उत्पत्तिके सहकारी कारणोंकी, अमानित्व आदि स्वरूप, सामग्रीका निरूपण करके निरुक्तसाधनसंपत्तिसे किये गये श्रवण आदि द्वारा उत्पन्न हुए ज्ञानवाले यतिकी जो ज्ञातव्य वस्तु है, उसका निरूपण करते हैं—**'ज्ञेयम्'** इत्यादिसे ।

जिस मुमुक्षु यतिने श्रवण किया है तथा श्रवणसे उत्पन्न ज्ञानसे युक्त है, उसका जो ज्ञेय है—श्रीगुरुके मुखसे जानने योग्य—जो वस्तु है, उसको मैं कहूँगा—उपदेश दूँगा । उस ज्ञानसे मुझे क्या ? इसपर कहते हैं—**'यद्'** इत्यादिसे । 'तत्त्वमसि' आदि वाक्योंके अर्थका विचारकर विचारजन्य ज्ञानसे जिस वस्तुको जानकर अमृतको—वक्ष्यमाण लक्षणवाले परब्रह्मको—प्राप्त होता है । 'यह अमृत है, यह अभय है, यह ब्रह्म है' इस श्रुतिसे अमृतरूप ब्रह्मको विद्वान् प्राप्त करता है, क्योंकि 'ब्रह्मवित् परको—ब्रह्मको—प्राप्त होता है' ऐसी श्रुति है । इस प्रकार फलको कहकर श्रोताको अभिमुख करके जिसकी प्रतिज्ञा की थी कि मैं कहूँगा, उसका प्रतिपादन करते हैं—**अनादिमदिति** । मुमुक्षु द्वारा ज्ञातव्य वह ब्रह्म अनादिमत्—आदि—कारण या जन्म—जिसका है, वह आदिमत् यानी महत्से लेकर स्थूलपर्यन्त वस्तु, स्वयं उससे विलक्षण होनेसे ब्रह्म अनादिमत् है ।

न्मूलप्रकृतेरविकृतेरव्याकृतस्याऽप्यस्ति ततो व्यावर्तयितुं विशेषणं परमिति । निरवयवत्वेन नित्यकूटस्थासङ्गचिद्रूपत्वेन ज्ञत्वेनाऽऽन्तरत्वेन परममहत्त्वेन च ब्रह्म स्वयमव्यक्तात् परमन्यदेव, 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः' इति श्रुतेः । अनादिमत्त्वात्परत्वाच्च ब्रह्म व्यक्ताव्यक्ताभ्यां कार्यकारणाभ्यामन्यदेवेति सिद्धम्, 'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि' इति श्रुतेः । ननु 'तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत् । स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥' इति क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्याथात्म्यप्रतिपादनमुपक्रम्य 'महाभूतानि' इत्यादिना क्षेत्रस्वरूपं प्रतिपादितम् । ततः क्षेत्रज्ञस्य स्वरूपे प्रतिपादितव्ये तत्त्यक्त्वा उपक्रान्तम् 'अनादिमत्परं ब्रह्म' इति कथमनुपक्रान्तं ब्रह्मस्वरूपं प्रतिपाद्यते, उपक्रमविरोधः स्यादिति चेत्, न; तयोरभेदावधारणाद्विरोधानुपपत्तेः । 'नाऽयं हन्ति न हन्यते' इति क्षेत्रज्ञस्याऽऽत्मनोऽविक्रियत्वं बोधयितुमुपक्रम्य, तदेव 'न जायते' इत्यादिना विस्पष्टीकृत्य, 'नित्यः सर्वगतः' इति नित्यकूटस्थासङ्गचिद्रूपत्वं व्यापकत्वं च प्रतिबोध्य, 'येन भूतान्यशेषेण' इति ब्रह्माभिन्नत्वं सूचयित्वा, 'भोक्तारं यज्ञतपसाम्' इति 'सर्वभूतस्थमात्मानम्' 'यो मां पश्यति सर्वत्र' इति च तयोरेकत्वमेवाऽनुभाव्य 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' इति कण्ठरवेणैक्यमेवोक्त्वा

सम्पूर्ण विकारोंसे भिन्न है, यह अर्थ है । अक्षर होनेके कारण अनादिमत्त्व विकारशून्य मूलप्रकृतिरूप अव्याकृतमें भी है, उससे ब्रह्मकी व्यावृत्ति करनेके लिए 'परम्' यह विशेषण है । निरवयव, नित्यकूटस्थ, असङ्ग, चिद्रूप, ज्ञाता, आन्तर और परममहत् होनेके कारण ब्रह्म स्वयं अव्यक्तसे पर—भिन्न—ही है, क्योंकि 'प्राणरहित, मनरहित, शुभ्र, पर अक्षरसे भिन्न' ऐसी श्रुति है । अनादि और पर होनेसे ब्रह्म व्यक्त और अव्यक्तसे—कार्य और कारणसे—अन्य ही है, यह सिद्ध है, क्योंकि 'वह विदित और अविदितसे अन्य ही है' ऐसी श्रुति है । 'वह क्षेत्र यादृश स्वरूप और जिनसे विकारयुक्त है तथा जिससे क्षेत्रज्ञका कार्य होता है, उसको एवं वह क्षेत्रज्ञ जिस प्रभावसे युक्त है, उसको तुम संक्षेपसे मुझसे सुनो ।' इस श्लोकसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके याथात्म्यप्रतिपादनका उपक्रम करके 'महाभूतानि' इत्यादि श्लोकसे क्षेत्रके स्वरूपका प्रतिपादन किया । तदनन्तर क्षेत्रज्ञके स्वरूपका प्रतिपादन करना प्राप्त था, परन्तु उस उपक्रान्तको छोड़कर 'अनादिमत् परं ब्रह्म' इससे अनुपक्रान्त ब्रह्मस्वरूपका प्रतिपादन क्यों किया जाता है ? वैसा करनेसे उपक्रमसे विरोध होगा, ऐसा यदि कहो, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि उनके अभेदका निश्चय हो चुका है, अतः विरोध नहीं है । 'न यह मारता है और न मारा जाता है' इससे क्षेत्रज्ञके स्वरूपमें अविक्रियत्वका बोधन करनेके लिए उपक्रम करके, उसीका 'न जायते' इत्यादिसे स्पष्टीकरण करके 'नित्यः सर्वगतः' इससे ब्रह्ममें नित्यत्व, कूटस्थत्व, असङ्गत्व, चिद्रूपत्व और व्यापकत्वका प्रतिपादन करके 'येन भूतान्यशेषेण' इससे ब्रह्माभिन्नत्वका सूचन करके 'भोक्तारं यज्ञतपसाम्' इससे और 'सर्वभूतस्थमात्मानम्' तथा 'यो मां पश्यति सर्वत्र' इससे उन दोनोंमें एकत्वको सिद्ध करके 'ज्ञानी तो मेरी आत्मा ही है, यह मेरा मत

श्रुतिस्मृतिकोटिप्रसिद्धमुक्तमेव ब्रह्मात्मैक्यं 'क्षेत्रज्ञं चाऽपि मां विद्धि' इति सुविस्पष्टतरं प्रतिपाद्य भगवता क्षेत्रज्ञ एव ब्रह्म ब्रह्मैव क्षेत्रज्ञ इति तयोरभेद एव मूढैरप्यमूढैश्च सर्वैर्ज्ञातव्य इति 'स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु' इति ज्ञेयत्वेनोपक्रान्तमेव क्षेत्रज्ञं विधेयप्राधान्येन नपुंसकलिङ्गेन 'ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि' इति परामृश्य तद्याथात्म्यं बोधयितुम् 'अनादिमत्परं ब्रह्म' इत्युक्तम्। तेन क्षेत्रज्ञब्रह्मशब्दयोरर्थ एक एवेत्युपक्रान्तोपपादितवाक्यार्थविवेकज्ञाननिपुणैर्विद्वद्भिर्ज्ञातव्य इति सिद्धम्। एवमनादिमत्परं ब्रह्मेति ब्रह्मणः सर्वदृश्यवैलक्षण्यं सूचयित्वा 'स च यो यत्प्रभावश्च' इत्यत्र यच्छब्दविवक्षितं तद्याथात्म्यम् 'नेति नेतीत्यात्मागृह्यो नहि गृह्यते' इति, 'अथात आदेशो नेति नेति' इत्यादिश्रुत्यर्थमनुसृत्याऽतन्निषेधद्वारा बोधयितुमाह—**न सत्तन्नासदुच्यत इति**। यदिदमिदमिति नामरूपक्रियाजातिगुणविशेषैर्निर्देष्टुमर्हति तदभिव्यक्तनामरूपादिविशेषं महदादिकार्यजातं सर्वं सदित्युच्यते। तद्विलक्षणत्वात्तत्कारणमव्यक्तमसदित्युच्यते। निरुक्तलक्षणं सद् ब्रह्म न भवति, जनिमत्त्वान्नामरूपादिमत्त्वाद् दृश्यत्वाच्च घटवत्। तद्विलक्षणत्वाद् ब्रह्मणः। नहि ब्रह्मणो जनिरस्ति, 'अजो नित्यः' इति श्रुतेः; नाऽपि नामरूपादिकमस्ति, 'अग्राह्यमगोत्रमशब्दमस्पर्शमरूपम्' इति च श्रुतेः; नाऽपि च

है' यों कण्ठतः ऐक्यका ही प्रतिपादन कर करोड़ों श्रुति और स्मृतियोंमें प्रसिद्ध उक्त ब्रह्मात्मैक्यका ही 'क्षेत्रज्ञ मुझको ही जानो' इससे अत्यन्त स्पष्टरूपसे प्रतिपादन करके भगवान्‌ने—क्षेत्रज्ञ ही ब्रह्म है, ब्रह्म ही क्षेत्रज्ञ है', इस प्रकार दोनोंका अभेद ही मूढ़ और अमूढ़ सभीको ज्ञातव्य है, इसलिए 'क्षेत्रका जो स्वरूप है और क्षेत्रज्ञका जो प्रभाव है, उसे मुझसे संक्षेपसे सुनो' इससे ज्ञेयत्वरूपसे उपक्रान्त क्षेत्रज्ञका ही विधेयके प्राधान्यसे नपुंसक लिंग द्वारा 'जो ज्ञेय है, उसको कहूँगा' यों परामर्श करके उसका वास्तविक स्वरूप बोधन करनेके लिए—'अनादिमत्परं ब्रह्म' ऐसा कहा है। इससे क्षेत्रज्ञ और ब्रह्म दोनों शब्दोंका अर्थ एक ही है, यों उपक्रान्त क्षेत्रज्ञके लिए उपपादित वाक्यार्थके विवेकज्ञानसे युक्त निपुण विद्वानोंको जानना चाहिए, यह सिद्ध हुआ। इस प्रकार 'अनादिमत्परं ब्रह्म, इससे ब्रह्मका सब दृश्योंसे वैलक्षण्य सूचन करके 'स च यो यत्प्रभावश्च' इसमें 'यत्' शब्दसे विवक्षित क्षेत्रज्ञके स्वरूपका—'यह नहीं, यह नहीं, यह आत्मा अगृह्य है, अतः उसका ग्रहण नहीं किया जाता', 'इसलिए नेति नेति, यह आदेश है' इत्यादि श्रुतिके अर्थके अनुसार अतत्‌के (दृश्यके) निषेध द्वारा—बोधन करनेके लिए कहते हैं—**न सत्तन्नासदुच्यत इति**। जो 'यह, यह' यों नाम, रूप, क्रिया, जाति और गुणविशेषोंसे कहा जा सकता है, वह अभिव्यक्त नाम, रूप आदिवाला महदादि सम्पूर्ण कार्यसमुदाय 'सत्' कहलाता है। उसका कारण अव्यक्त, उससे विलक्षण होनेसे, असत् कहलाता है। उक्त लक्षणवाला सत् ब्रह्म नहीं हो सकता, क्योंकि वह जन्मवान्, नामरूप आदिसे युक्त और दृश्य होनेसे घटके समान है और ब्रह्म उससे विलक्षण है। यतः ब्रह्मका जन्म नहीं है, क्योंकि 'ब्रह्म अजन्मा तथा नित्य है' ऐसी श्रुति है; नाम, रूप आदिवाला भी ब्रह्म नहीं है, क्योंकि, 'अग्राह्य,

दृश्यत्वम्, 'अदृष्टमव्यवहार्यम्' इति श्रुतेः यतस्ततो ब्रह्म महदादिसर्वविकार-जाताद्भिन्नमेवेत्यर्थः। एवं न सत्तदिति कार्यस्य ब्रह्मत्वं निषिध्य कारणस्याऽपि तद्भावं निषेधयति—**नाऽसदुच्यत इति**। सद्विलक्षणं सर्वजगत्कारणं यदव्याकृतं तद् ब्रह्म न भवति, सावयवत्वाज्ज्ञेयत्वाज्जडत्वाच्च, बीजवत्। कार्यस्य सावयवत्वादिधर्मवैशिष्ट्य-दर्शनात्कारणस्याऽपि तद्धर्मवैशिष्ट्यं युक्तम्, मृदादिषु तद्दर्शनात्, 'कारणगुणा हि कार्यगुणानारभन्ते' इति न्यायाच्च; यत्सावयवं तद्विकारि यद्विकारि तदनित्यमित्यनित्य-त्वाच्च। ज्ञेयत्वाज्जडत्वम्, अहमज्ञ इत्यव्यक्तस्य ज्ञेयत्वं स्पष्टम्। तद्विलक्षणमेव परं ब्रह्म। नहि ब्रह्मणः सावयवत्वमस्ति, 'निष्कलं निष्क्रियम्' इति श्रुतेः। नाऽपि जडत्वम्, 'साक्षी चेता' इति श्रुतेः। नाऽपि च ज्ञेयत्वम्, 'स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता' इति श्रुतेः। ननु सदसच्छब्दवाच्ययोर्व्यक्ताव्यक्तयोः कार्यकारणयोरुभयोरपि ब्रह्मत्वे निषिध्यमाने तदभावं विना तन्निषेधावधितया स्थितं वस्तु यत्किञ्चिन्न पश्यामः, तत् ज्ञेयशब्दार्थोऽप्रामाणिक एवेति चेद्, भवानत्र प्रष्टव्यः; तयोर्निषेधावधिभूतोऽभावः सन्वा, किमसन्वा, उतोभयविधो वा, स स्वयं स्वत एव भाति वा, उत परतो वेति। नाऽऽद्यः, तस्य सद्भावेन सदन्तःपातित्वात् न सदिति निषेधे सति पुनः स्वनिषेधाव-

अगोत्र, अशब्द, अस्पर्श, अरूप' ऐसी श्रुति है; और दृश्य भी नहीं है, क्योंकि 'अदृष्ट, अव्यवहार्य' ऐसी श्रुति है; इसलिए ब्रह्म महद् आदि सम्पूर्ण विकारोंसे भिन्न है, यह अर्थ है। इस प्रकार 'वह सत् नहीं है', यों कार्यमें ब्रह्मत्वका निषेध करके कारणमें भी ब्रह्मत्वका निषेध करते हैं—**नाऽसदुच्यते इति**। सत्से विलक्षण सम्पूर्ण जगत्का कारण जो अव्याकृत है, वह ब्रह्म नहीं है, क्योंकि वह बीजके समान सावयव, ज्ञेय और जड़ है। कार्य सावयवत्व आदि धर्मोंसे विशिष्ट देखनेमें आता है, इसलिए कारण भी उन धर्मोंसे विशिष्ट है, यह मानना युक्त है, क्योंकि मिट्टी आदिमें वैसा ही देखनेमें आता है और 'कारणके गुण ही कार्यके गुणोंका आरम्भ करते हैं' ऐसा न्याय भी है। जो सावयव है, वह विकारी है, जो विकारी है, वह अनित्य है, इस व्याप्तिसे उसमें अनित्यत्व भी है। ज्ञेय होनेसे अव्याकृत जड़ है, मैं अज्ञ हूँ, इस प्रकार अव्यक्तमें ज्ञेयत्व स्पष्ट प्रतीत होता है। परब्रह्म उससे विलक्षण ही है। ब्रह्म सावयव नहीं है, क्योंकि 'निष्कल, निष्क्रिय' ऐसी श्रुति है। जड़ भी नहीं है, क्योंकि 'साक्षी चेता' ऐसी श्रुति है। ज्ञेय भी नहीं है, क्योंकि 'वह वेद्यको जानता है, पर उसका कोई वेदिता नहीं है' ऐसी श्रुति है। सत् तथा असत् शब्दसे वाच्य कार्य और कारणरूप व्यक्त तथा अव्यक्त दोनोंमें ब्रह्मत्वका निषेध करनेपर उनके अभावके सिवा उनके निषेधकी अवधिभूत दूसरी किसी वस्तुको हम नहीं देखते, इसलिए ज्ञेयशब्दका अर्थ अप्रामाणिक ही है, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि इस विषयमें आपसे प्रश्न होगा कि क्या उन दोनोंके निषेधका अवधिभूत अभाव सत् है या असत् है या उभयात्मक (सदसदात्मक) है और वह स्वयं स्वतः ही भासता है अथवा दूसरेसे। प्रथम पक्ष तो युक्त है नहीं, क्योंकि वह सद्रूप होनेके कारण सत्के अन्तर्गत होनेसे 'सत् नहीं है' यों

धित्वानुपपत्तेः । न द्वितीयः, स्वतः सत्तारहितस्य तस्याऽसतः शशविषाणवत् शून्यत्वान्निषेधावधित्वासंभवात् । न तृतीयः, सत्त्वासत्त्वयोः परस्परविरुद्धयोरेकाधिकरणत्वानुपपत्तावेकस्य तद्वत्तासिद्धेः । तदङ्गीकारेऽपि अभावोऽस्तीत्यभावस्याऽस्तिमत्त्वे सत्तावत्त्वेन भावत्वादभावोऽस्तीति निर्देशोऽनुपपन्न एव, अयमस्तीति प्रत्यक्षेण निर्देशो भावस्यैव न त्वभावस्य युज्यते; विषयविषयिणोरन्योन्यावयवसंयोगाभावात् । सत्येवाऽन्योन्यावयवसंयोगे घटादेर्विषयत्वं दृष्टं नाऽसतः । योऽस्तिमान् चक्षुर्विषयः स भाव एव न त्वभावः, अस्तिमत्त्वाभावत्वयोरेकाधिकरणत्वायोगात् । नाऽपि चतुर्थः, अभावस्य ज्ञेयत्वेन जडत्वात् घटस्येव स्वतो भानासंभवात् । तर्ह्यन्यत एवेति चेदभावस्य भासकं वस्तु विद्यते वा न वा । न द्वितीयः, तदभावे सूर्याभावे घटादिवदभावस्य भानाभावप्रसङ्गात् । अस्त्येवेति चेद् , यदभावस्य भासकं वस्तु तदेव ब्रह्मेति ब्रूमः । तत्सद्भावे त्वमेवाऽस्माकं प्रमाणम् । श्रुतिश्च 'अन्यदेव तद्विदितात्', 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्' इत्यादिः । 'न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः' इति, 'सुषुप्तवच्छून्यवदप्रतर्क्यं तन्मूलभूतं पदमामनन्ति' इत्यादिस्मृतयश्च । यस्मात् 'अदृश्येऽनात्म्ये' इति 'अस्थूलमनणु' इत्या-

---

निषेध करनेपर फिर वह अपने निषेधका अवधि नहीं हो सकता । दूसरा भी पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि अपनी सत्तासे रहित वह असत्, खरगोशके सींगके समान, शून्यस्वरूप होनेके कारण निषेधका अवधि नहीं हो सकता । तीसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि परस्पर विरुद्ध सत् और असत् दोनोंका एक अधिकरण नहीं हो सकता, अतः एककी तद्वत्ता असिद्ध होगी । उसका अङ्गीकार करनेपर भी 'अभाव है' यों अभावमें अस्तित्व माननेपर उसमें सत्ता होनेसे भावत्व होनेके कारण 'अभाव है' ऐसा निर्देश नहीं हो सकता, क्योंकि 'यह है' ऐसा प्रत्यक्षसे कथन भावका ही होता है, अभावका नहीं, क्योंकि वहां विषय और विषयीका एक दूसरेके अवयवोंसे संयोग नहीं होता, एक दूसरेके अवयवोंसे संयोग होनेपर ही घट आदिमें विषयत्व देखनेमें आता है, असत्में नहीं । जो अस्तिमान् चक्षुका विषय है, वह भाव ही होता है, अभाव नहीं, क्योंकि अस्तित्व और अभावत्व इन दोनोंका एक अधिकरण नहीं हो सकता । चौथा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि अभावके ज्ञेय होनेसे जड होनेके कारण उसका घटके समान स्वतः भान असंभव है । यदि दूसरेसे ही उसका भान होता है, ऐसा कहो, तो इसमें प्रश्न होगा कि क्या अभावका भासक पदार्थ विद्यमान है या नहीं ? दूसरा पक्ष तो युक्त है नहीं, क्योंकि उसके अभावमें, सूर्यके अभावमें घट आदिके समान, अभावभानका अभाव हो जायगा । है ही, ऐसा यदि कहो, तो जो अभावका भासक पदार्थ है, वही ब्रह्म है, ऐसा हम कहते हैं । उसके सद्भावमें तुम ही हमारे प्रमाण हो और 'वह विदितसे अन्य ही है', 'वह धर्मसे अन्य, अधर्मसे अन्य' इत्यादि श्रुतियाँ तथा 'न प्रकृति और न विकृति पुरुष', 'सुषुप्तके समान, शून्यके समान अप्रतर्क्य उसके मूलभूत पदको कहते हैं' इत्यादि स्मृतियां प्रमाण हैं । जिस कारणसे 'अदृश्यमें अनात्म्यमें', 'स्थूल नहीं, अणु नहीं' इत्यादि श्रुतियोंसे

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १३ ॥

असङ्ख्य हाथ और पैरोंसे युक्त, असङ्ख्य चक्षु, सिर और मुखोंसे व्याप्त, असङ्ख्य कानोंसे समन्वित वह ब्रह्म सम्पूर्ण प्राणियोंको एवं प्रकृति और प्राकृत सारे जगत्को व्याप्त कर स्थित है ॥ १३ ॥

दिश्रुतिभिरध्यस्ताशेषविशेषनिषेधेनैव ब्रह्मणोऽधिगमितत्वात्तदिदं ज्ञेयं सर्वश्रुतिप्रसिद्धं प्रामाणिकमेव । तस्मात् सदसतोर्भिन्नं तन्निषेधावधिभूतं तदभावभासकं निर्विशेषं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यपरमानन्दाद्वितीयमेव परं ब्रह्म इदमेवाऽहमस्मीति मुमुक्षुभिः स्वात्मना ज्ञातव्यं वस्तु न तु सन्नाप्यसच्चेति सिद्धम् ॥ १२ ॥

एवम् 'स च यो यत्प्रभावश्च' इत्यत्र यच्छब्दविवक्षितं क्षेत्रज्ञस्याऽऽत्मनो नैजं तत्त्वं प्रकृतिप्राकृतविलक्षणं यतिभिर्विदेहमुक्त्यै स्वात्मना ज्ञातव्यमिति निरूप्याऽधुना सर्वश्रुतिप्रसिद्धस्याऽपि ब्रह्मणो विदिताविदितान्यत्वेन परोक्षत्वात्तत्सद्भावस्य संशयितत्वे यत्सन्निधिमात्रेण देहेन्द्रियादयश्चेष्टन्ते तच्चेष्टाकारणं ब्रह्मेति युक्त्या तत्सत्त्वमनुमानतो ज्ञातुं शक्यत इति बोधयितुं क्षेत्रज्ञस्य यत्प्रभावश्चेति विशेषणविवक्षितं सर्वप्राणिकरणोपाधिमत्त्वलक्षणं विशेषितं रूपं श्रुतिप्रसिद्धं प्रतिपादयति—**सर्वत इति** ।

यत् ज्ञेयत्वेनोपक्रान्तमनादिमत्त्वादिलक्षणं तद् ब्रह्म सर्वतः पाणिपादं सर्वतः

अध्यस्त अशेषविशेषके निषेधसे ही ब्रह्मके अवगत होनेके कारण यह सब श्रुतियोंमें प्रसिद्ध ज्ञेय ब्रह्म प्रामाणिक ही है । इसलिए सत् और असत्से भिन्न, उनके निषेधका अवधिभूत, उनका अवभासक, निर्विशेष, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य, परमानन्द तथा अद्वितीय पर ब्रह्मको 'यह मैं ही हूँ' यों मुमुक्षुओंकी अपने आत्मरूपसे ज्ञातव्य वस्तु न तो सत् है और न असत् है, यह सिद्ध हुआ ॥ १२ ॥

इस प्रकार 'स च यो यत्प्रभावश्च' इस श्लोकमें 'यत्' शब्दसे विवक्षित क्षेत्रज्ञ आत्माका स्वकीय स्वरूप, जो प्रकृति और प्राकृतसे विलक्षण है, यतियोंको विदेहमुक्तिके लिए अपने आत्मस्वरूपसे ज्ञातव्य है, ऐसा निरूपण करके अब सम्पूर्ण श्रुतियोंमें प्रसिद्ध भी ब्रह्म, विदित और अविदितसे भिन्न होनेके कारण, परोक्ष है, अतः उसका सद्भाव संदिग्ध होनेसे 'जिसकी केवल सन्निधिमात्रसे देह, इन्द्रिय आदि चेष्टा करते हैं, उनकी चेष्टाका कारण ब्रह्म है', इस प्रकारकी युक्तिसे उसका अस्तित्व अनुमानसे जाना जा सकता है, यों बोधन करनेके लिए 'यत्प्रभावश्च' इत्यादि विशेषणसे विवक्षित सम्पूर्ण प्राणियोंके कारणरूप उपाधिमत्त्वरूपसे विशेषित क्षेत्रज्ञके श्रुतिप्रसिद्ध स्वरूपका प्रतिपादन करते हैं—**'सर्वतः'** इत्यादिसे ।

जो ज्ञेयत्वरूपसे उपक्रान्त अनादिमत्त्व आदि लक्षणवाला है, वह ब्रह्म सर्वतःपाणिपाद

पाणयः पादाश्च सर्वप्राणिसम्बन्धिनो यस्य तत्सर्वतःपाणिपादम् । पाणिपादपदमनुक्तकर्मेन्द्रियाणामुपलक्षणम् । सर्वतोऽक्षीणि शिरांसि मुखानि च यस्य तत्सर्वतोक्षिशिरोमुखम् । अक्षिपदमनुक्तज्ञानेन्द्रियाणां मनोबुद्ध्यादीनां चोपलक्षणम् । सर्वतःशिरोग्रहणं देहानेकत्वसूचनार्थम् । घटमठादिविशेषणैराकाशो यथा तथा ब्रह्मादिपिपीलिकान्तदेहविशेषणनामरूपाभ्यां स्वयं विशेष्यत इत्यर्थः । सर्वतः श्रुतयः श्रोत्राणि यस्य तत्सर्वतःश्रुतिमत् । लोके लोक्यत इति लोकः प्राणिवर्गस्तस्मिन् । लोक इति द्वितीयार्थे सप्तमी लोकं प्राणिसमुदायं प्रकृतिं प्राकृतं च सर्वं बहिरन्तः सर्वतः स्वरूपेण चैतन्येनाऽऽवृत्य घटमठादिकमाकाश इव व्याप्य तिष्ठति । स व्याप्तदेहेन्द्रियादिकमयोऽयस्कान्त इव चेष्टयति स्वयं न चलतीत्यर्थः । निर्विशेषस्य ब्रह्मण इदं पाणिपादादिविशेषणविशेषितं रूपमौपाधिकं मायिकं च न तु स्वाभाविकम् । स्वाभाविकत्वे निषेधायोगात् । निषिध्यते हि वैशेषिकं रूपं 'न सत्तन्नासदुच्यते' इति । तर्हीदमप्रामाणिकमिति चेत्, न, 'सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् । सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति । सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् । सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं सुहृत्' इत्यादिश्रुतिप्रमाणकत्वात् । ऐश्वरं रूपं व्यवहारे तत्सत्यमेव,

---

(सर्वत्र सम्पूर्ण प्राणियोंके हाथ-पैर जिसके हाथ-पैर हैं, वह सर्वतःपाणिपाद) है । पाणिपादपद नहीं कही गई कर्मेन्द्रियोंका उपलक्षण है । सर्वत्र आंखें, सिर और मुख जिसके हैं, वह सर्वतोक्षिशिरोमुख है । अक्षिपद नहीं कही गई ज्ञानेन्द्रियोंका तथा मन, बुद्धि आदिका उपलक्षण है । 'सर्वतःशिरः' ग्रहण अनेक देहोंका सूचन करनेके लिए है, घट, मठ आदि विशेषणोंसे जैसे आकाश विशेषित होता है, वैसे ही ब्रह्मासे लेकर चींटी तकके देहके विशेषण नामरूपोंसे ब्रह्म स्वयं विशेषित होता है, यह अर्थ है । जिसके सर्वत्र श्रुति—श्रोत्र—हैं वह सर्वतःश्रुतिमत् है । एवंभूत ब्रह्म लोकमें (जो देखा जाता है, वह लोक है—प्राणिवर्ग, उसमें, 'लोके' यह द्वितीयाके अर्थमें सप्तमी है) यानी प्राणिसमुदायको—प्रकृति और प्राकृत सबको—बाहर भीतर सर्वत्र चैतन्यस्वरूपसे ढाँककर (जैसे आकाश घट, मठ आदिको व्याप्तकर स्थित है, वैसे ही व्याप्त कर) स्थित है । जैसे लोहचुम्बक लोहेको चलाता है, वैसे ही वह व्याप्त देह, इन्द्रिय आदिको चलाता है, स्वयं नहीं चलता, यह अर्थ है । निर्विशेष ब्रह्मका यह पाणिपाद आदि विशेषणोंसे विशेषित रूप औपाधिक और मायिक है, स्वाभाविक नहीं है, क्योंकि यदि स्वाभाविक हो, तो उसका निषेध नहीं हो सकेगा । विशेष स्वरूपका निषेध किया जाता है—'न वह सत् कहा जाता है और न असत्' । तब यह स्वरूप अप्रामाणिक होगा, ऐसा यदि कहो, तो वह अप्रामाणिक नहीं है, क्योंकि 'सर्वत्र हाथ एवं पैरोंसे युक्त, वह सर्वत्र आँख और मुखवाला, सर्वत्र श्रोत्रवाला, वह सबको ढाँककर स्थित है ।' 'सब इन्द्रियोंके गुणोंका आभासक, सब इन्द्रियोंसे रहित, सबका प्रभु और ईशान, सबकी शरण, सबका सुहृत्' इत्यादि श्रुतियाँ उसमें प्रमाण हैं । व्यवहारमें वह ईश्वरका रूप सत्य ही है, जिसका कि आराधन करके उसके प्रसादसे मुमुक्षु

यदेतदाराध्य तत्प्रसादेन मुमुक्षुर्मुक्तिं गच्छति । तदुक्तं च 'मत्कर्मकृन्मत्परमः' इति । निर्विशेषस्य क्षेत्रज्ञस्याऽऽत्मनः सविशेषस्वरूपोपन्यासस्तत्सद्भावद्योतनार्थः । सर्वतःपाणिपादादिलक्षणं प्रतिपादितम् । क्षेत्रं जानातीति वा क्षेत्रधर्मैः स्वयं ज्ञायत इति वा क्षेत्रज्ञः । तथाहि पाणिपादबुद्धीन्द्रियादयश्चेतनशक्तिनिमित्तस्वव्यापाराः स्वतो जडत्वाच्चर्मदारुमयप्रतिमादिवत्, देहेन्द्रियादयः स्वतो जडाश्चेतनाधिष्ठात्रन्तरबुद्धिपूर्वकं प्रवृत्तिमत्त्वाद्रथादिवत् । एवं सर्वप्राणिदेहेन्द्रियाद्युपाधिभिर्ज्ञेयस्य ब्रह्मणोऽस्तित्वमवगम्यते । एतदर्थमेव क्षेत्रज्ञस्याऽऽत्मनोऽसङ्गस्याऽपि पाणिपादादिमत्त्वमौपाधिकं मिथ्याभूतमप्युरीकृत्योच्यते भगवता मुमुक्षूणां स्वतत्त्वाभिगमाय शाखाग्रे चन्द्र इतिवत् । ततस्तदेव पारमार्थिकं रूपं यत् 'न सत्तन्नासदुच्यते' इत्युक्तम् । एतेन सर्वक्षेत्रेषु परस्परभिन्नेषु क्षेत्रज्ञस्याऽऽत्मन एकत्वं स्वसन्निधिमात्रेण तत्तद्देहेन्द्रियादिप्रवृत्तिनिमित्तत्वं प्रवर्तकत्वेन प्रवर्त्येभ्यस्तेभ्यो भिन्नत्वं निरवयवत्वं नित्यत्वं चेतनत्वमसङ्गत्वमसंसारित्वं पूर्णत्वं च बोधितं भवति ॥ १३ ॥

ननु तर्हि क्षेत्रज्ञस्यैवेश्वरत्वं प्राप्तमिति चेत्तदर्थमेव खलु गीताशास्त्रारम्भः । यस्मात् 'क्षेत्रज्ञं चाऽपि मां विद्धि' इति बोधयति । क्षेत्रज्ञलक्षणसंपत्तिमेव प्रतिपादयति— **सर्वेन्द्रियेति** चतुर्भिः श्लोकैः ।

मुक्तिको प्राप्त होता है । कहा भी है—'मत्कर्मकृत् मत्परमः' इत्यादि । निर्विशेष क्षेत्रज्ञ आत्माके सविशेष स्वरूपका कथन उसके सद्भावका द्योतन करनेके लिए है । सर्वत्र हाथ, पैर आदि लक्षणवाले प्रतिपादित क्षेत्रको जो जानता है अथवा क्षेत्रके धर्मोंसे जो स्वयं जाननेमें आता है वह क्षेत्रज्ञ है, क्योंकि पाणि, पाद, बुद्धि, इन्द्रिय आदि स्वयं, जड होनेके कारण चर्म या काष्ठमय प्रतिमा आदिके समान, चेतन शक्तिके बलसे अपने अपने व्यापारोंको करनेवाले हैं, 'देह, इन्द्रिय आदि स्वयं जड हैं, दूसरे चेतन अधिष्ठाताकी बुद्धिपूर्वक प्रवृत्तिवाले होनेसे, रथ आदिके समान' इस प्रकार सम्पूर्ण प्राणियोंकी देह, इन्द्रिय आदि उपाधियोंसे ज्ञेय ब्रह्मका अस्तित्व जाननेमें आता है । इसीलिए असङ्ग क्षेत्रज्ञ आत्माका भी हाथ-पैरवाला होना औपाधिक मिथ्याभूत है, ऐसा स्वीकार करके भगवान्‌ने मुमुक्षुओंको अपना तत्त्व समझानेके लिए शाखाके अग्रमें चन्द्रके समान कहा है । इसलिए वही पारमार्थिकरूप है, जो 'वह न सत् है और न असत् है' यों कहा गया है । इससे, परस्पर भिन्न सब क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ आत्मामें एकत्व, अपनी संनिधिमात्रसे तत्-तत् देह, इन्द्रिय आदिकी प्रवृत्तिका निमित्तत्व, प्रवर्तक होनेसे उन प्रवृत्त होनेवालोंसे भिन्नत्व, निरवयवत्व, नित्यत्व, चेतनत्व, असङ्गत्व, असंसारित्व और पूर्णत्व बोधित होता है ॥ १३ ॥

तब तो क्षेत्रज्ञमें ही ईश्वरत्व प्राप्त हुआ, ऐसा यदि कहो, तो इसीलिए गीता शास्त्रका आरंभ है, क्योंकि 'क्षेत्रज्ञ भी मुझको ही जानो' यों भगवान् उपदेश करते हैं । क्षेत्रज्ञलक्षणकी संपत्तिका ही प्रतिपादन करते हैं—'**सर्वेन्द्रिय०**' इत्यादि चार श्लोकोंसे ।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ १४ ॥

किञ्च, सम्पूर्ण इन्द्रियोंके स्पष्टत्व आदि गुणोंका अवभासक, सम्पूर्ण इन्द्रिय और उनके द्वारा विहित पुण्य-पापरूप कर्मोंसे रहित, असङ्ग, देहादिरहित, शब्द आदि गुणोंका उपलब्धा, स्वमें आरोपित अव्यक्तसे लेकर स्थूल पर्यन्त सम्पूर्ण पदार्थोंको, स्फूर्तिप्रदान द्वारा, स्वस्वरूपसे धारण करनेवाला वह ब्रह्म है ॥ १४ ॥

स्वस्वविषयान् शब्दादीन् इन्दयन्ति बोधयन्तीतीन्द्रियाणि सर्वाणि श्रोत्रादीनि वागादीनि बाह्यान्यन्तरिन्द्रियं मनश्च । आत्मोपाधित्वाविशेषात् बुद्धिश्चाऽध्यवसायलक्षणा । एतेषामिन्द्रियाणां गुणाः स्पष्टत्वास्पष्टत्वदुष्टत्वादुष्टत्वादयः श्रवणस्पर्शनवचनादानसङ्कल्पाध्यवसायादयोऽवभास्यन्ते येन तत्सर्वेन्द्रियगुणाभासम् । बुद्ध्यादयः स्वान्यप्राप्तप्रकाशाः स्वतो जडत्वात्तप्तायःपिण्डवत् । 'बुद्ध्यादयो जडाः ज्ञेयत्वात् घटादिवद्' इति बुद्ध्यादीनां तद्गुणानां यत्प्रकाशकं ज्ञातृ तद्ब्रह्मेत्यवगन्तुं शक्यते । यद्वा सर्वेन्द्रियगुणैः श्रवणादिभिरवभासत इति सर्वेन्द्रियगुणाभासम् । इन्द्रियाण्यधिष्ठातृप्रयोज्यानि, प्रयोज्यकरणत्वाद् वास्यादिवदिति करणक्रियया क्षेत्रज्ञसद्भावोऽधिगम्यत इत्युक्तं सर्वेन्द्रियगुणाभासमिति । नन्वसङ्गस्याऽक्रियस्याऽऽत्मनः कथं करणप्रयोक्तृत्वमिति चेत्, न, तस्याऽऽत्मन्यारोपितत्वेन विरोधानुपपत्तेः यथा पद्मविकासः

जो अपने अपने शब्द आदि विषयोंको इन्दन करती हैं—बोधन करती हैं—वे इन्द्रियां कहलाती हैं । श्रोत्र आदि, वागादि बाहरकी और भीतरकी मन इन्द्रिय तथा समान रूपसे आत्माकी उपाधि होनेसे अध्यवसायरूप बुद्धि । इन इन्द्रियोंके स्पष्टत्व, अस्पष्टत्व, दुष्टत्व, अदुष्टत्व आदि तथा श्रवण, स्पर्शन, वचन, आदान, सङ्कल्प, अध्यवसाय आदि गुणोंका जिससे अवभास किया जाता है, वह सर्वेन्द्रियगुणाभास है । स्वयं जड होनेसे, बुद्धि आदि इन्द्रियां अपनेसे अन्यसे प्रकाशप्राप्त करती हैं तप्त लोहेके पिंडके समान । बुद्धि आदि जड हैं, ज्ञेय होनेसे, घट आदिके समान, इससे बुद्धि आदिका उनके गुणोंका जो प्रकाशक ज्ञाता है—वह ब्रह्म है, ऐसा जाना जा सकता है । अथवा सब इन्द्रियोंके श्रवणादि गुणोंसे जो अवभासित होता है, वह सर्वेन्द्रियगुणाभास है । इन्द्रियां अधिष्ठातासे प्रयोज्य हैं, प्रयोज्यके करण होनेसे, वास्यादिके समान, यों करणक्रियासे क्षेत्रज्ञका सद्भाव ज्ञात होता है, इसलिए सर्वेन्द्रियगुणाभास, ऐसा कहा गया है । यदि कहो कि असङ्ग एवं अक्रिय आत्मामें करणप्रयोजकत्व कैसे है ? तो यह कहना युक्त नहीं है, क्योंकि वह आत्मामें आरोपित है, इसलिए विरोध नहीं है । जैसे कमल विकसनरूप कमलके धर्मका सूर्यमें आरोप किया जाता है कि कमलका सूर्य विकास करता है, वैसे ही उपाधिका

पद्मधर्मः सूर्ये आरोप्यते पद्मं विकासयति सूर्य इति । तथैवोपाधिधर्मः श्रवणादिरात्मन्यध्यस्यते । आत्मसद्भावाधिगमाय आत्मा करणानि प्रवर्तयतीति । तेन तद्व्यापारैर्व्यापारीव भाति, यथा वृक्षचलनेन नभश्चलितमिव, 'ध्यायतीव लेलायतीव' इति श्रुतेः । ननु 'पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः' इत्यात्मनः स्वतः श्रवणादिरहितत्वेऽप्युपाधिद्वारा श्रवणादिक्रियावत्त्वं श्रूयते तत्कथं श्रवणादिव्यापाराभाव उच्यते इति चेत्, न; श्रुतेस्तत्र तात्पर्याभावात् । 'वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च' इतीश्वरस्य वशित्वं सर्वलोकनिग्रहानुग्रहकारित्वं तेन देहेन्द्रियादिवैशिष्ट्ये प्राप्ते तद्राहित्यं प्रतिपादयति श्रुतिः, न तु परमात्मनः क्रियावत्त्वम् । तथात्वे 'निष्कलं निष्क्रियम्', 'वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठति', 'स्थाणुरचलोऽयं सनातनः', 'सर्वमावृत्य तिष्ठति' इत्यादि श्रुतिस्मृतिविरोधप्रसङ्गात् । तत आत्मा वृक्षे चलिते आकाशवदुपाधौ चलति सति चलतीव भाति, न तु स्वयं चलति; निरवयवत्वात्पूर्णत्वान्निराकारत्वान्निरिन्द्रियत्वाच्च । तत एवाऽऽत्मनः सद्भावाधिगमायाऽङ्गीकृतोपाधिसम्बन्धराहित्यमेव बोधयितुमाह—**'सर्वेन्द्रियविवर्जित-मिति** । सर्वैरुक्तैरिन्द्रियैस्तदाश्रयेण च तत्कृतैः पुण्यपापादिकर्मभिरपि वर्जितं रहितमित्यर्थः । आत्मनो देहेन्द्रियादिसम्बन्धासिद्धेर्हेतुमाह—**असक्तमिति** । निरवयवत्वाद्

धर्म श्रवण आदि आत्मामें अध्यस्त होता है । आत्माके सद्भावके परिज्ञानके लिए आत्मा इन्द्रियोंको कर्ममें प्रवृत्त करता है, इसलिए जैसे वृक्षके चलनेसे आकाश चलता-सा प्रतीत होता है, वैसे ही उन व्यापारोंसे आत्मा व्यापारी-सा प्रतीत होता है, क्योंकि 'ध्यान-सा करता है, चलता-सा है' ऐसी श्रुति है । 'वह नेत्ररहित है फिर भी देखता है, उसके कान नहीं हैं फिर भी सुनता है' इससे यद्यपि आत्माको स्वतः कान आदि नहीं है, तो भी उपाधिके द्वारा उसमें श्रवण आदि क्रियाका प्रतिपादन किया जाता है, फिर श्रवण आदि व्यापारका अभाव कैसे कहा जाता है, ऐसा यदि कहो, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि श्रुतिका उसमें तात्पर्य नहीं है । 'स्थावर और जङ्गम सब लोकका वशी' इस श्रुतिसे ईश्वरमें वशित्वका—सर्वलोकनिग्रहानुग्रहकारित्वका—प्रतिपादन किया गया है । उससे ईश्वरमें देह, इन्द्रिय आदिका सम्बन्ध प्राप्त होनेपर उसके अभावका श्रुति प्रतिपादन करती है, परमात्मामें क्रियाका प्रतिपादन नहीं करती । आत्मामें क्रिया होनेपर 'निष्कल, निष्क्रिय', 'वृक्षके समान स्तब्ध प्रकाशमान स्वस्वरूपमें स्थित है', 'स्थाणु अचल यह सनातन', 'सबको व्याप्त करके स्थित है' इत्यादि श्रुतियों और स्मृतियोंसे विरोध होगा । इसलिए आत्मा, वृक्षके चलनेपर आकाशके समान, उपाधिके चलनेपर चलता हुआ-सा भासता है, स्वयं नहीं चलता; क्योंकि वह निरवयव, पूर्ण, निराकार और निरिन्द्रिय है । इसीसे आत्मामें आत्मसद्भाव जाननेके लिए अङ्गीकृत उपाधिका सम्बन्ध नहीं है, यह बोधन करनेके लिए कहते हैं—**सर्वेन्द्रियविवर्जितमिति** । उक्त सब इन्द्रियोंसे, उनके आश्रयसे और उनके द्वारा किये गये पुण्य-पाप आदि कर्मोंसे वर्जित—रहित—यह अर्थ है । आत्माका देह, इन्द्रिय आदिके साथ सम्बन्ध नहीं है, इसकी सिद्धिमें हेतु कहते हैं—**असक्तमिति** । असक्त यानी निरवयव होनेके कारण जिस किसीसे

येन केनाऽपि संयोगादिसम्बन्धवर्जितमसक्तमसङ्गमित्यर्थः, 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इति श्रुतेः । 'सर्वेन्द्रियविवर्जितम्' इत्युक्त्या त्वात्मनो देहेन्द्रियादयः सन्ति, किन्त्वसङ्गत्वात्तैर्वर्जित इति प्राप्ते तत्सद्भावमप्यपनुदति—**निर्गुणमिति** । गुणाः गुणकार्यभूता देहेन्द्रियादयस्तद्रहितत्वान्निर्गुणम् । 'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम् । नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम्' इति, 'अशरीरं शरीरेषु', 'अशरीरो निरिन्द्रियोऽप्राणोऽमनाः सच्चिदानन्दमात्रः' इत्यादिश्रुतेः । एतेन 'सर्वतः पाणिपादम्' इति ब्रह्मणः सत्त्वाधिगमायैव पाणिपाद्युपाध्युपन्यासो न तु स्वरूपाधिगमायेति सूचितम् । तथात्वे निर्गुणमिति निषेधानुपपत्तेः । यद्वा निर्गुणं गुणरहितम्, सतः केवलस्य गुणानभ्युपगमात् । नहि ब्रह्मणः सत्त्वादयो रूपादयो वा सुखादयो वा, यद्योगात् स्वयं गुणि स्यात्, सत्त्वादिभिर्गुणित्वे गुणनाशाद् गुणिनोऽपि नाश इति नाशः प्रसज्येत । गुणिनो नित्यत्वे तद्गुणानामपि नित्यत्वमिति चेत्, न; तन्नित्यत्वे मानाभावात् । 'सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः' इति श्रुतिरेव मानमिति चेत्, न; अत्रत्यसत्यशब्दस्याऽमोघार्थकत्वेन नित्यत्वबोधकत्वाभावात्, नित्यत्वे सृष्टिकामस्य सर्वदा सृष्टिप्रसङ्गात्, 'विकल्पो नहि वस्तु' इति गुणानां गुणकार्याणामप्यवस्तुत्वश्रवणात् । नाऽपि च रूपादयः, 'अशब्दमस्पर्शम्' इति ब्रह्मणो रूपाद्यभावश्रवणात् । रूपादिमत्त्वे सावयवत्वेनाऽनित्यत्वं प्रसज्येत ।

भी संयोग आदि सम्बन्धसे वर्जित, असङ्ग, यह अर्थ है; क्योंकि 'असङ्ग ही यह पुरुष है' ऐसी श्रुति है । 'सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे रहित' इस कथनसे तो यह प्राप्त होता है कि आत्माके देह, इन्द्रिय आदि तो हैं, किन्तु असङ्ग होनेसे वह उनसे रहित है, ऐसा प्राप्त होनेपर उसमें देह, इन्द्रियोंके सद्भावका भी निरास करते हैं—**निर्गुणमिति** । गुण यानी गुणोंके कार्यभूत देह, इन्द्रिय आदि, उनसे रहित होनेके कारण निर्गुण, क्योंकि 'जो वह अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण, अचक्षु, अश्रोत्र, वह हस्तपादरहित, नित्य, विभु, सर्वगत, बहुत ही सूक्ष्म', 'शरीरोंमें अशरीर', 'अशरीर, इन्द्रियरहित अप्राण, मनरहित, सच्चिदानन्दमात्र' इत्यादि श्रुति है । इससे यह सूचित होता है कि 'सर्वतः पाणिपादम्' इससे ब्रह्मका अस्तित्व जाननेके लिए ही पाणिपाद आदि उपाधिका कथन किया गया है, स्वरूप जाननेके लिए नहीं, यदि ऐसा होता, तो 'निर्गुण' यह निषेध उपपन्न नहीं होता । अथवा निर्गुण यानी गुणरहित, क्योंकि शुद्ध सत्में गुणोंका स्वीकार नहीं किया गया है । ब्रह्ममें सत्त्व आदि, रूप आदि या सुखादि गुण नहीं हैं, जिनके योगसे वह स्वयं गुणी हो । यदि सत्त्व आदिसे उसे गुणवान् मानें, तो 'गुणके नाशसे गुणीका भी नाश होता है' इस व्याप्तिसे उसके नाशका प्रसङ्ग आवेगा । गुणीके नित्य होनेसे उसके गुण भी नित्य हैं, ऐसा यदि कहो, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि गुणोंके नित्यत्वमें कोई प्रमाण नहीं है । 'सत्यकाम, सत्यसङ्कल्प' यह श्रुति ही प्रमाण है, ऐसा यदि कहो, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि यहाँपर सत्यशब्दका अमोघ अर्थ है, इसलिए वह नित्यत्वका बोधक नहीं है, यदि वह नित्यार्थक माना जाय, तो सृष्टिकामकी सर्वदा सृष्टिका प्रसङ्ग आवेगा । 'विकल्प वस्तु नहीं है' इससे गुणों और गुणोंके कार्योंकी भी अवास्तविकता सुननेमें आती है । और उसमें रूप आदि भी नहीं हैं, क्योंकि 'अशब्द

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चाऽन्तिके च तत् ॥ १५ ॥

अपिच, वह अव्यक्तसे लेकर स्थूल तक सम्पूर्ण पदार्थोंको भीतर और बाहर सर्वत्र व्याप्तकर स्थित है, स्थावर और जङ्गम स्वरूप है, सूक्ष्म होनेके कारण अविज्ञेय है, मलिनचित्तवाले पुरुषोंके लिए दूर है यानी उसे हजारों जन्मोंमें भी वे प्राप्त नहीं कर सकते और शुद्धबुद्धिवाले पुरुषोंके लिए समीपवर्ती है यानी अपने हृदयमें ही वे अपने स्वरूपसे उसे प्राप्त कर सकते हैं ॥ १५ ॥

सुखादयस्तु ज्ञेयत्वेन क्षेत्रधर्मत्वात्तज्ज्ञातुरात्मनो न संभवन्ति । 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' इति श्रुत्यैव निर्गुणत्वावधारणाच्च गुणरहितमेव परं ब्रह्मेत्यर्थः । यद्यपि ब्रह्म स्वयं सत्त्वादिगुणतत्कार्यशून्यमेव, तथापि गुणभोक्तृ च गुणानां सत्त्वादिगुणकार्याणां देहेन्द्रियादीनां शब्दादीनां सुखादीनां च भोक्तृ उपलब्धृ । बुद्ध्यादिसान्निध्यात् ज्ञेय-जातं सर्वं जानातीत्यर्थः । उपलब्धृ ब्रह्मेत्युक्त्या ब्रह्मणः प्राप्तं परिच्छिन्नत्वं सद्वितीयत्वं चाऽपनुदति—**सर्वभृच्चेति** । स्वस्मिन्नारोपितं सर्वमव्यक्तादि स्थूलान्तं स्वसत्तास्फूर्तिभ्यां सत्तावत् स्फूर्तिमच्च कृत्वा स्वमात्रत्वेन बिभर्तीति सर्वभृत् । प्रपञ्चे सर्वत्र सदन्वया-च्चिदन्वयाच्च । 'सद्धीदं सर्वम्', 'चिद्धीदं सर्वम्' इति श्रवणाच्च सर्वं ब्रह्मैवेत्यर्थः, 'सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्' इति श्रुतेः । ततो ब्रह्मव्यतिरिक्तवस्त्वभावात् न ब्रह्मणः परिच्छिन्नत्वं नाऽपि सद्वितीयत्वमिति सिद्धम् ॥ १४ ॥

अस्पर्श' इससे ब्रह्ममें रूप आदिका अभाव सुननेमें आता है । यदि ब्रह्म रूप आदिसे युक्त हो, तो सावयव होनेके कारण उसमें अनित्यत्वका प्रसङ्ग आवेगा । सुख आदि तो ज्ञेय होनेसे क्षेत्रके धर्म हैं, अतः ज्ञाता आत्माके वे धर्म नहीं हो सकते । 'साक्षी चेता केवल और निर्गुण' इस श्रुतिसे ही निर्गुणत्वका अवधारण हो चुका है, अतः गुणरहित ही परब्रह्म है, यह अर्थ है । यद्यपि ब्रह्म स्वयं सत्त्व आदि गुणोंसे और उनके कार्योंसे शून्य है, तथापि गुणोंका भोक्ता (गुणोंका—सत्त्व आदि गुणोंके कार्य देह, इन्द्रिय आदि, शब्द आदि और सुख आदिका—भोक्ता यानी उपलब्धा) है । बुद्धि आदिकी सन्निधिसे सब ज्ञेय पदार्थोंको जानता है, यह अर्थ है । उपलब्धा ब्रह्म है, इस कथनसे ब्रह्ममें जो परिच्छिन्नत्व और सद्वितीयत्व प्राप्त होता है, उसका निषेध करते हैं—**सर्वभृच्चेति** । अपनेमें आरोपित अव्यक्तसे लेकर स्थूलपर्यन्त सबको अपनी सत्ता एवं स्फूर्तिसे सत्तावान् और स्फूर्तियुक्त बना कर स्वमात्ररूपसे जो भरण करता है, वह सर्वभृत् है, क्योंकि सम्पूर्ण प्रपञ्चमें सत् और चित्का अन्वय है और 'यह सब सत् है', 'यह सब चित् है', इस श्रुतिसे सब ब्रह्म ही है, ऐसा अर्थ है । 'सत्य ब्रह्म ही सत्य और अनृत हुआ' ऐसी श्रुति है । इसलिए ब्रह्मके सिवा अन्य वस्तुका अभाव होनेसे न तो ब्रह्ममें परिच्छिन्नत्व है और न सद्वितीयत्व है, ऐसा सिद्ध हुआ ॥ १४ ॥

ननु नामरूपात्मकस्य द्वैतप्रपञ्चस्य सतः पृथक्तया प्रत्यक्षेणोपलभ्यमानत्वात् कथं सर्वं ब्रह्मैवेत्याकाङ्क्षायाम्, न; बहिरन्तश्चाऽग्निना व्याप्तायसः पृथक् सत्ताभावाद्वह्निमात्रत्वमेव यथा तथा बहिरन्तश्च ब्रह्मणा व्याप्तस्य जगतोऽपि स्वतःसत्ताभावाद् ब्रह्ममात्रत्वमेवेत्याह—**बहिरिति** ।

यन्मुमुक्षोर्ज्ञेयत्वेनोपक्रान्तं तद् ब्रह्म भूतानामव्यक्तादिस्थूलान्तानामन्तश्च बहिश्च वह्निरयःपिण्डमिव सर्वतो व्याप्य स्थितं भवति, न तु केनाऽपि परिच्छिन्नम् । निरवयवत्वादतिसूक्ष्मत्वाच्चाऽऽकाशवन्न केनाऽपि परिच्छेत्तुं शक्यते । नहि निरवयवमतिसूक्ष्मं चाऽऽकाशं घटादिभिः परिच्छेत्तुं शक्यम्, परमसूक्ष्मत्वेन तेषामविषयत्वात् । किन्तु सर्वं बहिरन्तः सर्वतो व्याप्य तिष्ठति तद्वद् ब्रह्माऽपीत्यर्थः । तथाच श्रुतिः 'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः' इति । 'मया ततमिदं सर्वम्' इत्युक्तं च । नन्वयःपिण्डमग्निवद्भूतानामन्तर्बहिश्च व्याप्याऽवस्थितत्वेनाऽपरिच्छिन्नत्वेऽपि ब्रह्मणस्त्वग्नेरयःपिण्डवद्व्याप्यांशो द्वैतभावो विद्यत एव, सत्येतस्मिन् कथमद्वैतसिद्धिरित्याशङ्कायाम्, न; 'प्राणो ह्येष सर्वभूतैर्विभाति' इति श्रवणाद् ब्रह्मविवर्तत्वाज्जगतः पृथक्सत्ताभावात् प्रत्यग्दृष्ट्या

नाम-रूपात्मक विद्यमान द्वैतप्रपञ्चका पृथक्रूपसे प्रत्यक्षतः उपलम्भ होता है, फिर सब ब्रह्म ही है, यह कैसे ? ऐसी यदि आकांक्षा हो, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि बाहर और भीतर अग्निसे व्याप्त लोहेकी पृथक् सत्ताका अभाव होनेसे जैसे वह केवल अग्निस्वरूप ही है, वैसे ही बाहर और भीतर ब्रह्मसे व्याप्त जगत्की भी स्वतःसत्ताका अभाव होनेसे वह ब्रह्ममात्र ही है, ऐसा कहते हैं—'**बहि०**' इत्यादिसे ।

मुमुक्षुके ज्ञेयत्वरूपसे जो उपक्रान्त है, वह ब्रह्म भूतोंको—अव्यक्तसे लेकर स्थूलतकको—भीतर और बाहर, तप्त लोहेके पिण्डको अग्निके समान, चारों ओरसे व्याप्त करके स्थित है, किसीसे भी परिच्छिन्न नहीं है यानी आकाशके समान निरवयव और अतिसूक्ष्म होनेके कारण किसीसे भी उसका परिच्छेद नहीं किया जा सकता। जैसे निरवयव और अतिसूक्ष्म आकाशका घट आदिसे परिच्छेद नहीं किया जा सकता, क्योंकि अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण वह उनका विषय नहीं है, किन्तु सबको बाहर भीतर चारों ओर व्याप्त करके स्थित रहता है, वैसे ही ब्रह्म भी चारों ओरसे व्याप्त करके स्थित रहता है, यह अर्थ है । श्रुति भी है—'वह इन सबके भीतर है, वही इन सबके बाहर है' । और कहा भी है—'मैंने इन सबको व्याप्त किया है' । जैसे अग्नि तप्तलोहेके पिण्डको बाहर-भीतर चारों ओरसे व्याप्त कर स्थित रहती है, वैसे ही सब भूतोंको बाहर-भीतर चारों ओरसे व्याप्त कर अवस्थित होनेके कारण ब्रह्म यद्यपि अपरिच्छिन्न है, तथापि जैसे अग्निका व्याप्य अंश लोहपिण्ड दूसरा रहता है, वैसे ही ब्रह्मका भी व्याप्य अंश द्वैतभाव रहता ही है, ऐसी परिस्थितिमें अद्वैतकी सिद्धि कैसे होगी ? ऐसी आशङ्का नहीं करनी चाहिए; क्योंकि 'यह प्राण ही सब भूतोंके द्वारा भासता है' इस श्रुतिसे ब्रह्मके विवर्त जगत्की पृथक्

समीक्ष्यमाणे सर्वं ब्रह्मैवेत्याह—**अचरमिति** । यत्क्रियावत्तच्चरं तद्विलक्षणमचरं स्थावरं जङ्गमं च सर्वभूताभासं ब्रह्मैव रजताभासो यथा शुक्तिस्तद्वदित्यर्थः, 'सर्वं ह्येतद्ब्रह्म' इति श्रुतेः । ननु सर्वात्मकं परिपूर्णमद्वितीयं च ब्रह्म तर्हि सर्वैरिदमिति गृह्येत, तत्कथं न गृह्यत इत्याकाङ्क्षायामाह—**सूक्ष्मत्वादिति** । यद्यपि सर्वात्मकं परिपूर्णमद्वितीयं च परं ब्रह्म, तथापि स्वयमाकाशादप्यतिसूक्ष्मम्, 'सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नित्यम्' इति श्रुतेः । महदव्यक्तादेरपि सूक्ष्मत्वात्तद्ब्रह्माऽविज्ञेयं स्वात्मभूतमपि श्रुत्याचार्येश्वरात्मप्रसादशून्यानामविशुद्धबुद्धीनां विज्ञातुमशक्यमेव यथाऽन्धानां स्वरूपं तद्वत् । इममेवाऽर्थं विस्पष्टयति—**दूरस्थमिति** । विवेकवैराग्यशमदमादिनियतसाधनशून्यानां कृतश्रवणानामपि मलिनान्तरात्मनां स्वरूपमपि तद् ब्रह्म दूरस्थं चक्रवालादतिदूरगतमेव भवति । जन्मशतकोट्याऽपि प्राप्तुमशक्यमित्यर्थः । यदशुद्धबुद्धीनां दूरतरं तदेव ब्रह्म विद्वदनुग्रहवतां प्रशान्तात्मनामन्तिके । चकारोऽवधारणार्थः । समीप एव हृदये स्वात्मनाऽवगन्तुं शक्यमित्यर्थः, 'दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम्' इति श्रुतेः ॥ १५ ॥

सत्ता नहीं है, अतः प्रत्यक्दृष्टिसे देखनेपर सब ब्रह्म ही है, ऐसा कहते हैं—**अचरमिति**। चर (जो क्रियावान् है, वह चर है) और अचर (जो उससे विलक्षण यानी क्रियावान् नहीं है, वह अचर है) अर्थात् स्थावर और जङ्गम सब भूतोंका आभास ब्रह्म ही है, यानी जैसे शुक्तिरजतका आभास शुक्ति है, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए, यह अर्थ है, क्योंकि 'सभी यह ब्रह्म है' ऐसी श्रुति है। जब सर्वात्मक, परिपूर्ण और अद्वितीय ब्रह्म है, तब सभीको 'यह ब्रह्म है' यों ग्रहण होना चाहिये, पर उसका ग्रहण क्यों नहीं होता, ऐसी आकांक्षा होनेपर कहते हैं—**सूक्ष्मत्वादिति**। यद्यपि सर्वात्मक, परिपूर्ण और अद्वितीय परब्रह्म है, तथापि वह स्वयं आकाशसे भी अतिसूक्ष्म है, क्योंकि 'सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर नित्य' ऐसी श्रुति है। महत् और अव्यक्त आदिसे भी सूक्ष्म होनेके कारण वह ब्रह्म अविज्ञेय है यानी यद्यपि ब्रह्म स्वात्मभूत है, तथापि जैसे अन्धे पुरुषोंको अपना स्वरूप नहीं दिखलाई पड़ता, वैसे ही श्रुति, आचार्य, ईश्वर और आत्माके प्रसादसे शून्य अविशुद्ध बुद्धिवाले पुरुषोंको वह ब्रह्म नहीं दिखलाई पड़ता। इसी अर्थका स्पष्टीकरण करते हैं—**दूरस्थमिति**। विवेक, वैराग्य, शम, दम आदि नियत साधनोंसे शून्य, मलिन अन्तरात्मावाले पुरुषोंको श्रवण करनेपर भी स्वरूपभूत वह ब्रह्म दूरस्थ—चक्रवालसे (लोकालोक पर्वतसे) भी अतिदूरस्थ—ही है। सैकड़ों करोड़ों जन्मोंमें भी वह प्राप्त नहीं किया जा सकता, यह अर्थ है। जो ब्रह्म अशुद्ध बुद्धिवालोंके लिए दूरतर है, वही ब्रह्म, जिनपर विद्वान्का अनुग्रह है और जो प्रशान्त मनवाले हैं, उनके लिए पास ही है। चकार अवधारणके अर्थमें है। समीपमें हृदयमें ही अपने आत्मरूपसे जाना जा सकता है, यह अर्थ है। क्योंकि 'अविद्वानोंके लिए वह ब्रह्म दूरसे भी दूर है और विद्वानोंके लिए वह इस देहमें और समीपमें है, चेतनावान् प्राणियोंमें बुद्धिरूप गुहामें ही स्थित है' ऐसी श्रुति है ॥ १५ ॥

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥ १६ ॥

वह ब्रह्मचैतन्य स्वरूपतः अविभक्त होता हुआ भी ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त सम्पूर्ण भूतोंमें विभक्त-सा अवस्थित है, वही भूतोंका धारयिता, अध्यात्मरूपसे ज्ञेय, भ्रान्त पुरुषोंको प्रपञ्चके आकारमें दिखलाई देनेवाला और तत्त्वज्ञानसे अपनेमें आरोपित समस्त प्रपञ्चका स्वात्मस्वरूपसे ग्रसन करनेवाला है ॥ १६ ॥

यदुक्तम् 'अचरं चरमेव च' इति ब्रह्मणः सर्वात्मकत्वम्, तन्न; सर्वत्र तल्लक्षणादर्शनात्, जङ्गमेष्वेव प्राणिशरीरेष्वहं ममेदमित्यादिवेदनलक्षणं चेतनत्वमवगम्यते, न तु स्थावरदेहेष्वतः परिच्छिन्नमेव ब्रह्मेत्याशङ्कायाम्, न; ब्रह्मणः परिपूर्णस्यैव प्राणिनामन्तःकरणेष्वतिनिर्मलेषु स्फूर्तिर्न तु तदतिरिक्तेषु यथा सर्वगतस्याऽप्याकाशस्य निर्मलेषु जलादिष्वेव प्रतिबिम्बता, यथैवाऽऽतपाग्नेः सर्वगतस्याऽपि सूर्यकान्तेष्वेव स्फुरणम्, यथा सर्वगतस्याऽपि रूपस्य चक्षुष्षूपलम्भो न त्वन्यत्र नैतावताऽमुष्य परिच्छित्तिः संभवति, तथैव ब्रह्मणोऽपि परिच्छिन्नवद्भानं न तत्प्रामाणिकम्, परिच्छेदे मानाभावात्। अस्त्येव प्रत्यक्षप्रमाणमिति चेत्, न; प्रादेशमात्रश्चन्द्रः, नीलं नभ इत्यादौ तद्व्यभिचारात्। 'यदल्पं तन्मर्त्यम्' इति न्यायेन परिच्छिन्नत्वे त्वनित्यत्वप्रसङ्गात्, ततः 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति श्रवणाद् ब्रह्म पूर्णमेवेत्याह—**अविभक्तमिति** ।

विभक्तेषु नामरूपगुणक्रियाजातिस्वभावविशेषैः परस्परं भिन्नेषु ब्रह्मादिस्तम्बान्तेषु

'अचरं चरमेव च' इत्यादिसे जो ब्रह्मको सर्वात्मक कहा था, वह युक्त नहीं है, क्योंकि सर्वत्र उसका स्वरूप देखनेमें नहीं आता, जङ्गम प्राणियोंके शरीरोंमें ही 'मैं, मेरा' इत्यादि ज्ञानरूप चेतनत्व देखा जाता है, स्थावर देहोंमें नहीं, इसलिए ब्रह्म परिच्छिन्न ही है, ऐसी आशङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि परिपूर्ण ब्रह्मकी प्राणियोंके अतिनिर्मल अन्तःकरणोंमें ही स्फूर्ति होती है, अन्यत्र नहीं होती। जैसे सर्वगत आकाशका निर्मल जल आदिमें ही प्रतिबिम्ब पड़ता है, जैसे सर्वगत आतपरूप अग्निका सूर्यकान्तमें ही स्फुरण होता है और जैसे सर्वगत रूपका नेत्रोंमें ही उपलम्भ होता है, अन्यत्र नहीं, इतनेसे इसका परिच्छेद नहीं हो सकता, वैसे ही जो ब्रह्मका परिच्छिन्नके समान भान होता है, वह प्रामाणिक नहीं है, क्योंकि उसके परिच्छेदमें प्रमाण नहीं है। प्रत्यक्ष प्रमाण है ही, ऐसा यदि कहो, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि चन्द्रमा केवल बित्ताभर है, आकाश नीला है, इत्यादिमें उसका व्यभिचार है। 'जो अल्प है, वह मर्त्य है' इस न्यायसे परिच्छिन्न होनेमें तो ब्रह्ममें अनित्यत्वका प्रसङ्ग हो जायगा, इससे 'सत्य ज्ञान, अनन्त ब्रह्म' इस श्रुतिसे ब्रह्म परिपूर्ण ही है, ऐसा कहते हैं—'**अविभक्तम्**' इत्यादिसे ।

विभक्त—नाम, रूप, गुण, क्रिया, जाति और स्वभावविशेषोंसे परस्पर भिन्न—ब्रह्मासे

प्राणिष्वहमहमित्यहंपदार्थत्वेन प्रतीयमानत्वात्तैर्विभक्तैः प्राणिशरीरैर्विभक्तमिव स्थितं च भवति। तेनैव सांख्या आत्मनोऽसङ्गचिद्रूपत्वं परस्परभिन्नत्वमनेकत्वं च मन्यन्ते, तदसत्; श्रुतिन्यायविरोधात्। भ्रान्तानां घटादिभिराकाशवत्परिच्छिन्नमिव प्रतीयमानमपि तद् ब्रह्म स्वयं स्वरूपेणाऽविभक्तमेव न तु भूतैर्विभक्तुं शक्यते निरवयवत्वादतिसूक्ष्मत्वादविषयत्वाच्च। तैर्विभक्तत्वे सावयवत्वानित्यत्वादिदोषप्रसङ्गात्। सर्वप्रपञ्चस्फूर्त्यभावप्रसङ्गाच्च। श्रुतिविरोधश्च प्रसज्यते। यतः 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः', 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः', 'पूर्णं पुरुषेण सर्वम्', 'तदेतद् ब्रह्मापूर्वम्' इत्यादिश्रुतयो ब्रह्मण एकत्वं सर्वगतत्वं नित्यत्वमद्वितीयत्वं च नियमेन प्रतिपादयन्त्यतोऽविभक्तमेव, सर्वप्रकाशकत्वेनाऽप्यविभक्तमेव भवति। सौरालोकेनाऽविभक्तेनैव खलु विभक्तं घटपटादि भास्यं सर्वं व्याप्य ब्रह्माण्डं प्रकाश्यते न तु विभक्तेन। तथात्वे सर्वत्र सर्वेषां सर्वपदार्थस्फुरणासंभवात्। तद्वद्ब्रह्मणाऽप्यविभक्तेनैव बहिरन्तश्च सर्वतो व्याप्तेन स्थूलं सूक्ष्मं चाऽव्यक्तमहदादि दृश्यं सर्वं प्रकाश्यते। परिच्छिन्नत्वे बाह्यपदार्थभानाभावप्रसङ्गात्। भाति हि सर्वत्र सर्वं सर्वस्य, 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इति श्रुतेः। तत एव 'विभक्तमिव च स्थितम्' इत्युक्तं भगवताऽपि। तेन ब्रह्माऽपरिच्छिन्नमेवेति सिद्धम्। तत

लेकर स्तम्बपर्यन्त प्राणियोंमें 'मैं' 'मैं' यों अहं पदके अर्थरूपसे प्रतीयमान होनेके कारण उन विभक्त प्राणियोंके शरीरोंसे विभक्त-सा स्थित है। इसीसे सांख्य मतालम्बी आत्माका असङ्गचिद्रूपत्व, परस्पर भिन्नत्व और अनेकत्व मानते हैं। पर उनका वैसा मानना असत् है, क्योंकि श्रुति और न्यायसे विरोध है। जैसे भ्रान्तोंको आकाश घट आदिसे परिच्छिन्न प्रतीत होता है, वैसे ही वह ब्रह्म स्वयं स्वरूपसे अविभक्त ही है, भूतोंसे उसका विभाग नहीं किया जा सकता, क्योंकि निरवयव, अतिसूक्ष्म और अविषय है। उनसे विभक्त माननेपर आत्मामें सावयवत्व, अनित्यत्व आदि दोषोंका प्रसङ्ग हो जायगा। सम्पूर्ण प्रपञ्चकी स्फूर्तिका अभाव हो जायगा और श्रुतिसे विरोध हो जायगा, क्योंकि 'एक देव सम्पूर्ण भूतोंमें गूढ', 'आकाशके समान सर्वगत और नित्य है', 'पुरुषसे सब पूर्ण है', 'वह यह ब्रह्म अपूर्व है' इत्यादि श्रुतियां ब्रह्म एक, सर्वगत, नित्य और अद्वितीय है, यों नियमसे प्रतिपादन करती हैं, इसलिए ब्रह्म अविभक्त ही है। सबका प्रकाशक होनेपर भी ब्रह्म अविभक्त ही है। जैसे सूर्यका अविभक्त प्रकाश ही भासित होनेवाले विभक्त घट, पट आदि सम्पूर्ण पदार्थोंको व्याप्तकर ब्रह्माण्डको प्रकाशित करता है, विभक्त प्रकाशित नहीं करता, विभक्तके प्रकाशक होनेपर तो सर्वत्र सबको सब पदार्थोंका स्फुरण नहीं होगा। वैसे ही बाहर भीतर सर्वत्र व्याप्त अविभक्त ब्रह्म स्थूल और सूक्ष्म, अव्यक्त, महद् आदि सब दृश्योंका प्रकाशन करता है। परिच्छिन्न होनेपर बाह्य पदार्थोंका भान नहीं हो सकेगा। सबको सर्वत्र सभी भासता ही है, क्योंकि 'उसके प्रकाशसे यह सब प्रकाशित होता है' ऐसी श्रुति है। इसीलिए विभक्तके समान स्थित, ऐसा भगवान्ने कहा है। इससे ब्रह्म अपरिच्छिन्न ही है, यह सिद्ध हुआ। इसीलिए ब्रह्ममें अपरिच्छिन्नत्व

एव ब्रह्मणोऽपरिच्छिन्नत्वाद्वितीयत्वसिद्धये जगतो ब्रह्मविवर्तत्वं सूचयति—**प्रभविष्ण्विति** । अज्ञानदशायां तदेव ज्ञेयं ब्रह्माऽध्यात्मादिरूपेण प्रभवितुं रज्जुरिवाऽऽरोपिताकारेण प्रत्येतुं शीलमस्याऽस्तीति प्रभविष्णु भ्रान्तानां प्रपञ्चाकारेण ब्रह्मैव भातीत्यर्थः, 'सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्' इति श्रुतेः । भूतभर्तृ च तदेव ब्रह्म स्वस्मिन्नारोपितानां व्योमादिभूतानां सत्तास्फूर्तिप्रदानेन भरणं करोतीति भूतभर्तृ च भवति । स्वस्मिन्नारोपितं सर्वं मूढव्यवहारार्थं बिभर्तीत्यर्थः, 'व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः' इति श्रुतेः । तदेव ब्रह्म ग्रसिष्णु च प्रबोधदशायामधिष्ठानयाथात्म्यसन्दर्शनकाले त्वारोपितं सर्वं स्वात्मना ग्रसितुं स्वस्मिन्नेव तिरोभावयितुं शीलमस्याऽस्तीति ग्रसिष्णु च भवति । 'परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति', 'सर्वे वेदा यत्रैकं भवन्ति' इति श्रवणाद्रज्जुरिवाऽऽरोपितं सर्वं स्वात्मनोपसंहृत्य विपरीतभावमुत्सृज्य बोधमयीमविकारिणीं केवलामद्वैतां स्वसत्तां भजतीर्थः ॥ १६ ॥

प्रभविष्णुत्वादेर्ब्रह्मलक्षणस्य प्रकृतेरप्यव्याकृतस्य संभवात्तस्या अपि ब्रह्मत्वे प्राप्ते परत्वादिविशेषणैः परिहरन् ब्रह्मणोऽवगत्यर्थं स्वरूपं तत्प्राप्तिनियतसाधनं तदुपलब्धिस्थानं च बोधयति—**ज्योतिषामिति** ।

और अद्वितीयत्वको सिद्ध करनेके लिए जगत् ब्रह्मका विवर्त है, ऐसा सूचन करते हैं—**प्रभविष्ण्विति**। वही अध्यात्मादिरूपसे ज्ञेय ब्रह्म अज्ञानदशामें रज्जुके समान आरोपित आकारसे प्रतीत होता है, इससे वह प्रभविष्णु कहलाता है । यानी ब्रह्म ही भ्रान्त पुरुषोंको प्रपञ्चके आकारसे भासता है, यह अर्थ है । क्योंकि 'सत्य और अनृत सत्य हुआ' ऐसी श्रुति है, भूतभर्ता वही ब्रह्म है यानी अपनेमें आरोपित आकाश आदि भूतोंका सत्ता-स्फूर्तिके प्रदान द्वारा भरण करता है, इसलिए भूतभर्ता भी है । अपनेमें आरोपित सबको, मूढ़ोंके व्यवहारके लिए, धारण करता है, यह अर्थ है, क्योंकि 'व्यक्त और अव्यक्त रूप सम्पूर्ण विश्वका ईश भरण करता है' ऐसी श्रुति है । वही ब्रह्म ग्रसिष्णु भी (प्रबोधदशामें अधिष्ठानके याथात्म्यके संदर्शनकालमें सम्पूर्ण आरोपितको अपने स्वरूपसे ग्रसनेका—अपनेमें ही तिरोभावकरनेका—शील जिसका है, वह ग्रसिष्णु भी) है, 'पर अव्ययमें सब एक हो जाते हैं', 'सब वेद जहाँ एक हो जाते हैं' ऐसी श्रुति है, रज्जुके समान सब आरोपितका अपने स्वरूपसे उपसंहार करके—विपरीतभावको छोड़कर—बोधमयी, अविकारिणी, केवल अद्वैतरूपा अपनी सत्ताको भजता है, यह अर्थ है ॥१६॥

प्रभविष्णुत्व आदि ब्रह्मके लक्षणका—अव्याकृतात्मक प्रकृतिमें भी सम्भव होनेसे उसमें भी ब्रह्मत्व प्राप्त हुआ उसका परत्व आदि विशेषणोंसे परिहार करते हुए ब्रह्मको जाननेके लिए, ब्रह्मका स्वरूप, उसकी प्राप्तिके नियत साधन और उसकी उपलब्धिका स्थान बतलाते हैं—**'ज्योतिषाम्'** इत्यादिसे ।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम् ॥ १७ ॥

दूसरोंको प्रकाशित करनेवाले सूर्य तथा बुद्धि आदि ज्योतियोंके प्रकाशक, तमोरूपा प्रकृतिसे भिन्न, ज्ञानस्वरूप, ज्ञेयस्वरूप, तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्य ज्ञानसे गम्य तथा बुद्धिरूप गुहामें 'अहम्', 'अहम्' इस प्रतीतिस्वरूपसे स्थित वह ब्रह्मरूप चैतन्य ज्ञातव्य कहा जाता है ॥ १७ ॥

तज्ज्ञेयं ब्रह्म तमसः प्रकृतेरज्ञानाज्जगद्बीजात्परं भिन्नमेव । यतोऽज्ञोऽहमित्यज्ञानं स्वस्मिन्नध्यस्तं प्रत्यग्लक्षणेन ब्रह्मणाऽनुभूयते ततो ज्ञातृ ज्ञेयाद्भिन्नमेव भवति । तत एव 'अक्षरात्परतः परः' इति, 'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्' इति, 'अव्यक्तात्तु परः पुरुषः' इत्यादिश्रुतिभिर्ब्रह्म जगद्बीजादज्ञानादव्याकृताद्भिन्नमित्येवोच्यते । तमसो भिन्नत्वे ब्रह्मणो विशेषणान्तरमाह—**ज्योतिरिति** । हेतुगर्भितमिदं विशेषणम् । 'ब्रह्म तमसः प्रकृतेर्भिन्नम्, ज्योतिष्ट्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा घटः, इति युक्त्याऽपि ब्रह्मणोऽव्याकृताद्भिन्नत्वमेव सिद्ध्यति, ज्योतिष्ट्वं प्रकाशस्वरूपत्वं प्रकाशकत्वं वा । 'यो जागरमन्वभूवं यः स्वप्नमद्राक्षं यः सुखमस्वाप्सं सोऽहमस्मि' इति व्यक्ताव्यक्तप्रकाशकत्वेनाऽऽत्मनस्तदुभयभिन्नत्वे प्रत्यक्षम् ; 'आत्मा व्यक्ताव्यक्ताभ्यां कार्यकारणाभ्यां भिन्नः, तदुभयसाक्षित्वाद्, यन्नैवं तन्नैवम्' इत्यनुमानं च; 'अन्यदेव तद्विदितात्' इत्यादि श्रुतिश्च प्रमाणम्। ननु सूर्यादेर्बहिरन्तर्बुद्ध्यादेश्चाऽप्यस्ति ज्योतिष्ट्वमितरप्रकाशकत्वं कथं ब्रह्मण एवेत्याशङ्कायाम्,

---

वह ज्ञेय ब्रह्म तमसे—प्रकृतिसे यानी जगत्के बीज अज्ञानसे—पर—भिन्न—ही—है । यतः 'मैं अज्ञ हूँ' ऐसा अपनेमें अध्यस्त अज्ञानका प्रत्यक्-लक्षण ब्रह्मसे अनुभव होता है, इसलिए ज्ञाता ज्ञेयसे भिन्न ही है । इसीसे 'पर अक्षरसे पर', 'आदित्यके समान नित्य प्रकाशसे युक्त, तमसे पर' 'अव्यक्तसे पर पुरुष' इत्यादि श्रुतियोंसे जगत्के बीजभूत अज्ञानात्मक अव्याकृतसे ब्रह्म भिन्न है, ऐसा कहा जाता है । ब्रह्म तमसे भिन्न है, इसकी पुष्टिमें ब्रह्मका अन्य विशेषण कहते हैं—**ज्योतिरिति** । हेतुगर्भित यह विशेषण है । 'ब्रह्म तमसे—प्रकृतिसे—भिन्न है, ज्योतिरूप होनेसे, जो ऐसा नहीं है, वह ऐसा नहीं है, जैसे घट' इस युक्तिसे भी ब्रह्म अव्याकृतसे भिन्न है, यही सिद्ध होता है । ज्योतिष्ट्व यानी प्रकाशस्वरूपत्व या प्रकाशकत्व । 'जिसने जाग्रत्का अनुभव किया, जिसने स्वप्न देखा, जो सुखसे सोया, वही मैं हूँ' इस प्रकार व्यक्त और अव्यक्तका प्रकाशक होनेसे आत्मा दोनोंसे भिन्न है, इसमें प्रत्यक्ष; इसमें 'आत्मा व्यक्त और अव्यक्त—कार्यकारणसे—भिन्न है, दोनोंका साक्षी होनेसे, जो ऐसा नहीं है, वह ऐसा नहीं, यह अनुमान एवं 'वह विदितसे अन्य ही है' इत्यादि श्रुति प्रमाण है । यदि शङ्का हो कि बाह्य सूर्य आदिमें और भीतर बुद्धि आदिमें भी ज्योतिष्ट्व और अन्य प्रकाशकत्व है ही, फिर ज्योतिष्ट्व और अन्यप्रकाशकत्व ब्रह्ममें ही है, यह कैसे ? तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि उन सूर्य आदिका भी

न; तेषामपि प्रकाशकत्वाद् ब्रह्मणो नाऽतिव्याप्तिरित्याह— **ज्योतिषामिति ।** परप्रकाशकानामप्यादित्यादीनां बुद्ध्यादीनां च ज्योतिषां तद् ब्रह्म ज्योतिः प्रकाशकं भवति । आत्मज्योतिषैव खलु चैतन्यात्मकेन प्रकाशवन्तः सूर्यादयो बुद्ध्यादयश्च तप्तायःपिण्डवत्स्वातिरिक्तं प्रकाशयन्ति न तु स्वतः । 'येनादित्यस्तपति तेजसा भ्राजसा च' इति, 'श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनः' इति, 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इति च श्रुतेः । एतेन बहिरन्तरर्थप्रकाशकानामादित्यादीनां मनोबुद्ध्यादीनां च भौतिकज्योतिषां प्रकाशकमाविर्भावतिरोभाववृद्धिक्षयपरिच्छेदादिरहितं नित्यं निरतिशयं स्वप्रकाशमप्राकृतज्योतिःस्वरूपं ब्रह्मेत्युपदिष्टं भवति । एवं मुमुक्षूणां ज्ञातव्यं ब्रह्मस्वरूपम् 'न सत्तन्नासदुच्यते' इति अतन्निषेधमुखेन बोधयित्वा तदेव साकल्येन 'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः' इति अप्राकृतज्योतिःस्वरूपं ब्रह्मेत्युपदिश्य नैतावन्मात्रोपदेशेन ब्रह्मसाक्षात्कारः सिद्ध्यति विना विशेषोपदेशेनेति मत्वाऽस्मत्प्रत्ययार्थतया विद्वद्भिरनुभूयमानं बुद्धिगुहायामव्याकृताकाशे देदीप्यमानं बुद्ध्यादिसाक्षिलक्षणं सर्वान्तरं सर्वप्रकाशकं कालत्रयाबाध्यमसङ्गमविक्रियं प्रत्यग्रूपं यदखण्डचैतन्यं तदेव ब्रह्मेति साक्षाद्विधिमुखेन बोधयितुमाह—**ज्ञानमिति ।** बहिरन्तः सर्वत्र परिपूर्णं स्वप्रकाशं सर्वप्रकाशकमनाधारमनाधेयमखण्डितमवाङ्मनसगोचरमनाद्यन्तं नित्यकूटस्थं निर्विशेषं नित्यं शुद्धं निराभासं

प्रकाशक ब्रह्म ही है, इससे अतिव्याप्ति नहीं है, ऐसा कहते हैं—**ज्योतिषामिति ।** परप्रकाशक आदित्य आदि और बुद्धि आदि ज्योतियोंका भी वह (ब्रह्म) ज्योति—प्रकाशक—है । चैतन्यात्मक आत्म ज्योतिसे ही प्रकाशको प्राप्त हुए सूर्य आदि और बुद्धि आदि 'तप्त लोहपिण्डके समान' स्व-भिन्नका प्रकाश करते हैं, अपने आप नहीं, क्योंकि 'जिस तेज और प्रकाशसे आदित्य तपता है', 'श्रोत्रका श्रोत्र, मनका मन' और उसके प्रकाशसे यह सब भासता है' ऐसी श्रुतियाँ हैं । इससे यह उपदेश दिया कि बाह्य पदार्थोंके प्रकाशक आदित्य आदि और आन्तर अर्थोंके प्रकाशक मन, बुद्धि आदि भौतिक ज्योतियोंका प्रकाशक; आविर्भाव, तिरोभाव, वृद्धि, क्षय और परिच्छेदसे रहित तथा नित्य, निरतिशय, स्वप्रकाश, अप्राकृत ज्योतिःस्वरूप ब्रह्म ही है । इस प्रकार मुमुक्षुओंके ज्ञातव्य ब्रह्मस्वरूपका 'वह न सत् और न असत् कहलाता है' इससे अतत्के (अनात्माके) निषेध द्वारा प्रतिपादन कर वही पूर्णरूपसे 'ज्योतियोंका भी वह ज्योति है' इससे अप्राकृत ज्योतिस्वरूप ब्रह्म है, ऐसा उपदेश करके, विशेष उपदेशके बिना केवल उतने उपदेशसे ही ब्रह्मसाक्षात्कार सिद्ध नहीं होता, ऐसा मानकर अस्मत्-प्रत्ययके अर्थरूपसे विद्वानोंके अनुभवमें आनेवाले, बुद्धि-गुहारूप अव्याकृत आकाशमें प्रकाशमान, बुद्धि आदिके साक्षीरूप, सर्वान्तर, सर्वप्रकाशक, तीनों कालोंमें अबाध्य, असङ्ग, अविक्रिय, प्रत्यक्रूप जो अखण्ड चैतन्य है, वही ब्रह्म है, ऐसा साक्षात् विधिमुखसे बोधन करनेके लिए कहते हैं—**ज्ञानमिति ।** जो बाहर-भीतर सर्वत्र परिपूर्ण, स्वप्रकाश, सर्वप्रकाशक, अनाधार, अनाधेय, अखण्डित, मन और वाणीका अविषय, अनादि, अनन्त, नित्य-

यत्केवलं ज्ञानं तदेव ब्रह्म मुमुक्षोर्यतेः स्वात्मना ज्ञेयमवगन्तव्यमित्यर्थः, 'सत्यं ज्ञानमन्तं ब्रह्म', 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इति च श्रुतेः; 'ज्ञानं विशुद्धं विमलं विशोकम्' इति स्मृतेश्च। एवं यत्सर्वेन्द्रियगुणाभासं यत्सर्वभृत् यद् गुणभोक्तृ यत्प्रभविष्णु यद्भूतभर्तृ यद् ग्रसिष्णु यत्तमसः परं यच्च ज्योतिषां ज्योतिस्तद् ब्रह्मेति तटस्थलक्षणेन परोक्षतयोपदिष्टस्य वस्तुन एवाऽपरोक्षत्वसिद्धये ज्ञानं ब्रह्मेति स्वरूपलक्षणेन ज्ञातव्यं ब्रह्मोपदिश्याऽधुना तदधिगमाय नियतं साधनं सूचयितुमाह—**ज्ञानगम्यमिति**। सदसद्विवेकवैराग्यशमदमसंन्यासामानित्वाद्यन्तरङ्गसाधनसम्पत्त्या ब्रह्मविद्गुरुसन्निधौ नित्यनिरन्तरसमनुष्ठितश्रवणमननिदिध्यासाद्यनुष्ठानेन समुत्पन्नमनाद्यविद्यावासनाजातं संक्षिप्य, सर्वविकल्पनिर्मुक्तं यज्ज्ञानं तेनैवैकेन श्रुत्याचार्येश्वरात्मप्रसादसञ्जातेन गम्यमवगम्यं ज्ञानेनाऽधिगम्यं न तु सांख्येन न योगेन न कर्मणा नाऽप्युपास्त्या चाऽधिगम्यं भवति। किन्तु सर्वाङ्गीणं स्वारोग्यसुखं यथा तथा स्वज्ञानेनैव स्वात्मना ब्रह्म ज्ञातव्यमित्यर्थः, 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्', 'मनसैवेदमाप्तव्यम्' इति च श्रुतेः। एवं वस्तुस्वरूपं तत्प्राप्तिसाधनं चोक्त्वा तदुपलब्धिस्थानमाह—**हृदीति**। सर्वस्य ब्रह्मादिस्तम्बान्तस्य प्राणिजातस्य हृदि हृदये बुद्धिगुहायामव्याकृताकाशे धिष्ठितं सर्वप्राणिनां बुद्धितद्व्यापारतदवस्था-

---

कूटस्थ, निर्विशेष, नित्य, शुद्ध, निराभास, केवल और ज्ञानस्वरूप है, वही ब्रह्म मुमुक्षु यतिको अपने आत्मरूपसे समझने योग्य है, यह अर्थ है, क्योंकि 'सत्य, ज्ञान, अनन्त ब्रह्म है', 'विज्ञान और आनन्दरूप ब्रह्म है' ऐसी श्रुति और 'ज्ञान, विशुद्ध, विमल, विशोक' ऐसी स्मृति है। इस प्रकार जो सम्पूर्ण इन्द्रियोंके गुणोंका प्रकाशक है, जो सर्वभृत् है' जो गुणोंका भोक्ता है, जो प्रभविष्णु है, जो भूतभर्ता है, जो ग्रसिष्णु है, जो तमसे पर और ज्योतियोंका ज्योति यानी प्रकाशक है, वह ब्रह्म है, यों तटस्थ लक्षण द्वारा परोक्षरूपसे जिस वस्तुका उपदेश किया गया है, उसीमें अपरोक्षत्व सिद्ध करनेके लिए, 'ज्ञान ब्रह्म है', यों स्वरूपभूत लक्षणसे ज्ञातव्य ब्रह्मका उपदेश करके अब उसके ज्ञानके नियत साधनोंका सूचन करनेके लिए कहते हैं—**ज्ञानगम्यम् इति**। सत् और असत्का विवेक, वैराग्य, शम, दम, संन्यास, अमानित्व आदि अन्तरङ्ग साधनोंकी सम्पत्तिसे ब्रह्मवित् गुरुकी सन्निधिमें नित्य-निरन्तर भली भाँति विहित श्रवण, मनन और निदिध्यासन आदिके अनुष्ठानसे अनादि अविद्यासे जनित वासनाओंका सम्यक् निरास करके सम्पूर्ण विकल्पोंसे रहित सम्यक् उत्पन्न हुआ जो ज्ञान है, केवल उसी—श्रुति, आचार्य, ईश्वर और आत्मप्रसादसे उत्पन्न हुए—ज्ञानसे ब्रह्म गम्य—अवगम्य—यानी अधिगम्य है, सांख्यसे, योगसे, कर्मसे और उपासनासे अधिगम्य यानी प्राप्य नहीं है, किन्तु सर्वाङ्गीण स्वारोग्यसुखके समान तत्त्वज्ञानसे ही अपने विशुद्ध मनसे ब्रह्म ज्ञातव्य है, यह अर्थ है, क्योंकि 'मनसे ही देखने योग्य' और मनसे ही यह प्राप्त करने योग्य है' ऐसी श्रुति है। इस प्रकार वस्तुका स्वरूप और उसकी प्राप्तिका साधन कहकर उसकी उपलब्धिका स्थान कहते हैं—**हृदिति**। सबके (ब्रह्मासे लेकर स्तम्बतक सम्पूर्ण प्राणियोंके) हृदयमें यानी बुद्धिगुहारूप अव्याकृत आकाशमें धिष्ठित—सब

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥ १८ ॥

हे अर्जुन, यों उक्त रीतिसे क्षेत्र, ज्ञान तथा ज्ञेयका संक्षेपसे निरूपण किया, उन्हें जानकर मेरा भक्त मोक्षके योग्य हो जाता है यानी परिपूर्ण ब्रह्मस्वरूपसे अवस्थित हो जाता है ॥ १८ ॥

साक्षितयाऽहमहमित्यहंपदप्रत्ययार्थत्वेन विशिष्य स्थितं तत्र विशिष्योपलभ्यमानं प्रत्यग्रूपं ब्रह्म ज्ञातव्यमित्यर्थः । यद्यपि ब्रह्माऽऽकाशवत् सर्वगतं परिपूर्णम्, तथापि निरवयवत्वान्निराकारत्वादतिसूक्ष्मत्वाच्च सर्वत्र नोपलभ्यते । किन्तु सर्वगतोऽप्यातपाग्निः शुद्धस्फटिक इव निर्मलायां बुद्धावेवोपलभ्यते । 'गुहाहितं प्राणिभिर्गुह्यमानम्' 'आविः सन्निहितं गुहाचरम्' इति च श्रवणात्तत्रस्थं ब्रह्म ज्ञातव्यमित्युच्यते । हृदि सर्वस्य धिष्ठितमिति हृच्छब्दवाच्या बुद्धिरेव ब्रह्मोपलब्धिस्थानमित्यर्थः ॥ १७ ॥

उपक्रान्तमुपसंहरति —**इतीति** ।

इत्येवं समासतः संक्षेपेणैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञस्याऽऽत्मनः क्षेत्रतद्विकारतद्धर्मतत्कर्मतदवस्थासम्बन्धापवादेन विशुद्धत्वसिद्ध्येकप्रयोजनं महाभूतादि धृत्यन्तं हेयवस्तुस्वरूपम्, तथा ज्ञानं श्रवणमननादिद्वारात्मज्ञानसिद्ध्येकसाधनममानित्वादिलक्षणम्, ज्ञेयं च 'अनादिमत्परं ब्रह्म' इत्यादिना 'ज्ञानम्' इत्यन्तेन ग्रन्थेन तटस्थस्वरूपलक्षणाभ्यां ब्रह्मणः स्वरूपमप्युक्तम् । जिज्ञासोर्मुमुक्षावतः स्वस्वरूपाधिगमाय सम्यक् प्रतिपादितमित्युक्त्वा एवंविशेषण-

---

प्राणियोंकी बुद्धि, उनके व्यापार और उनकी अवस्थाओंके साक्षीरूपसे 'मैं' 'मैं' यों 'अहम्' प्रत्ययके अर्थरूपसे विशिष्ट होकर स्थित—यानी उसमें विशेषरूपसे उपलभ्यमान प्रत्यक्-रूप ब्रह्मको जानना चाहिए, यह अर्थ है । यद्यपि ब्रह्म आकाशके समान सर्वगत एवं परिपूर्ण है तथापि निरवयव, निराकार और अतिसूक्ष्म होनेके कारण उसका सर्वत्र ज्ञान नहीं होता, किन्तु सर्वगत आतपाग्निका जैसे शुद्ध स्फटिकमें उपलम्भ होता है, वैसे ही निर्मल बुद्धिमें ही उसका उपलम्भ होता है । 'गुहामें स्थित प्राणियोंसे छिपा हुआ' 'प्रकट, समीप गुहाचर' इस श्रुतिसे गुहास्थित ब्रह्म ज्ञातव्य है, ऐसा कहा जाता है । 'हृदि सर्वस्य धिष्ठितम्' इसमें हृद्‌शब्दसे वाच्य बुद्धि ही ब्रह्मकी उपलब्धिका स्थान है, यह अर्थ है ॥ १७ ॥

उपक्रान्तका उपसंहार करते हैं—'**इति**' इत्यादिसे ।

इति—इस प्रकार—समाससे—संक्षेपसे—ही क्षेत्रको—क्षेत्रज्ञ आत्माके क्षेत्र, उसके विकार, उसके धर्म, उसके कर्म तथा उसकी अवस्थाओंके सम्बन्धके निषेध द्वारा केवल विशुद्धत्वसिद्धिरूप प्रयोजनसे युक्त महाभूतोंसे लेकर धृति तक हेय वस्तु-स्वरूपको—ज्ञानको—श्रवण, मनन आदि द्वारा आत्मज्ञानकी सिद्धिमें मुख्य साधनभूत अमानित्व आदिको—तथा ज्ञेयको—'अनादिमत्परं ब्रह्म' इत्यादिसे लेकर 'ज्ञानम्' तकके ग्रन्थसे तटस्थ और स्वरूप लक्षणोंसे प्रत्यगभिन्न ब्रह्मके स्वरूपको—कहा यानी जिज्ञासु मोक्षाभिलाषीके प्रति स्वस्वरूपको समझनेके लिए उसका भली भाँति प्रतिपादन

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥ १९ ॥

हे अर्जुन, प्रकृति और पुरुष दोनोंको ही तुम अनादि यानी कारणरहित जानो एवं विकार तथा गुणोंको प्रकृतिसे उत्पन्न जानो ॥ १९ ॥

विशिष्ट एवाऽत्राऽधिकारीत्यधिकारिलक्षणं वदन्नुक्तलक्षणं ब्रह्म स्वात्मना विदितवतो विदुषस्तद्वेदनस्य फलमाह—**मद्भक्त इत्यादिना**। 'मत्कर्मकृन्मत्परमः' इति, 'ये तु सर्वाणि कर्माणि' इत्याद्युक्तलक्षणलक्षितो यः स मद्भक्तः मद्भजनेनैव शुद्धान्तःकरणः सन् सदसद्विवेकसंन्यासशमदमाद्यमानित्वादिसाधनसंपन्नो भूत्वा, ब्रह्मविदनुग्रहात् क्षेत्र-क्षेत्रज्ञयोः स्वरूपं सम्यग्विविच्य क्षेत्रतद्धर्मादीन् परित्यज्य विशुद्धं केवलं चिन्मात्रं क्षेत्रज्ञलक्षणमेतन्निर्विशेषं परं ब्रह्म इदमेवाऽहमिति स्वात्मना विज्ञाय, तत्तादात्म्यापत्त्या तत्रैवाऽहंबुद्धिं प्रतिष्ठाप्य ब्रह्मविद्यतिर्मद्भावाय मम ब्रह्मणो भावो मद्भावः कैवल्यं निर्विशेषब्रह्मात्मनाऽवस्थानलक्षणं तस्मै उपपद्यते। पतितेऽस्मिन्नुपाधौ पूर्णात्मना तिष्ठतीत्यर्थः ॥ १८ ॥

सर्वेषां वेदान्तानां गीतायाश्चार्थोऽत्र पर्यवसितस्तथापि सप्तमे 'एतद्योनीनि भूतानि' इति यत्परावरप्रकृत्योः संसारकारणत्वं जन्मादि तत्कारणत्वं च सूचितं तदिदानीं 'कार्यकारणकर्तृत्वे' इति 'यावत्सञ्जायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्' इति विस्पष्टयितुं

किया। उक्त प्रतिपादन कर अब उक्त विशेषणोंसे विशिष्ट ही यहाँ अधिकारी है, इस प्रकार अधिकारीके स्वरूपको कहते हुए उक्त लक्षणवाले ब्रह्मको अपने आत्मस्वरूपसे जाननेवाले विद्वान्को ब्रह्मज्ञानका जो फल होता है, उसे कहते हैं—**'मद्भक्त'** इत्यादिसे। 'मत्कर्मकृतन्मत्परमः' तथा 'ये तु सर्वाणि कर्माणि' इत्यादि श्लोकोंसे प्रतिपादित लक्षणोंसे लक्षित मेरा भक्त मेरे भजनसे ही शुद्ध अन्तःकरणवाला होकर अर्थात् सदसत्-विवेक, संन्यास, शम, दम, आदि तथा अमानित्व आदि साधनोंसे सम्पन्न होकर ब्रह्मवित्के अनुग्रहसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके स्वरूपका भलीभाँति विवेक-कर एवं क्षेत्र और उसके धर्म आदिका त्याग कर विशुद्ध, केवल, चिन्मात्र, क्षेत्रज्ञस्वरूप इस निर्विशेष पर ब्रह्मको, यही मैं हूँ, यों अपने स्वरूपसे जानकर—उसके तादात्म्यकी प्राप्तिसे उसीमें अहंबुद्धिकी स्थापना कर—ब्रह्मवित् यति मद्भावको —मेरा—ब्रह्मका—भाव मद्भाव—निर्विशेष ब्रह्मस्वरूपसे अवस्थानरूप कैवल्यको—प्राप्त करता है। इस उपाधिके नष्ट हो जानेपर पूर्णस्वरूपसे स्थित होता है, यह अर्थ है ॥ १८ ॥

यद्यपि सम्पूर्ण वेदान्तोंका और गीताका अर्थ यहाँ समाप्त हुआ, तथापि सातवें अध्यायमें 'एतद्योनीनि भूतानि' इस श्लोकसे जो पर और अपर प्रकृतियोंमें संसारकारणत्व, जन्मादि और उनका कारणत्व सूचित किया था, उसीका अब 'कार्यकारणकर्तृत्वे' तथा 'यावत्सञ्जायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्' इससे विशेष स्पष्टीकरण करनेके लिए क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका विवेक करनेपर

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्विवेके कृते सत्यप्यविदितं प्रकृतिपुरुषयोरनादित्वम्, विकाराणां गुणानां च प्रकृतिकार्यत्वं क्षेत्रस्य क्षेत्रज्ञे प्रतीयमानसंसारस्य गुणाध्यासमूलकत्वम्, संसृतेः प्रकृतिधर्मत्वमात्मनो निर्विकारत्वमसङ्गत्वमकर्तृत्वमभोक्तृत्वमसंसारित्वं च विस्पष्टीकर्तुमुत्तरग्रन्थ आरभ्यते—**प्रकृतिमिति** ।

'भिन्ना प्रकृतिरष्टधा । अपरेयम्' इति या प्रतिपादिता सर्वविकारकारणमीश्वरस्य शक्तिस्त्रिगुणात्मिका माया तां प्रकृतिम्, पुरुषं च । पुरुषस्त्वविद्योपाधिकः क्षेत्रज्ञः 'प्रकृतिं विद्धि मे पराम्' इत्युक्तलक्षणः । राज्यसम्बन्धान्मनुष्यस्य राजत्वं प्रभुत्वं च यथा तथा प्रकृतिसम्बन्धात् क्षेत्रज्ञस्याऽपि प्रकृतित्वं जीवत्वं च । प्रत्यक्त्वेन चेतनत्वेन प्रकाशकत्वेन च मूलप्रकृतेरुत्कृष्टत्वात्परा प्रकृतिरिति संज्ञां प्राप्तो यः पुरुषस्तं च । तावेतौ प्रकृतिपुरुषावनादी न विद्यते आदिः कारणं वाऽप्यादिमत्त्वं वा प्राक्कालपरिच्छेदो ययोस्तावनादी सर्वस्याऽऽदिभूतौ, स्वयमादिरहितावेवेति । एवकारस्तयोरपीश्वरवन्नित्यत्वावधारणार्थः । नित्यं हीश्वरस्येश्वरत्वं तच्चेशितव्यापेक्षमीशेशितव्ययोर्नित्यत्वे सत्येवेश्वरस्येश्वरत्वं नित्यं स्यान्नाऽन्यथा । ननु नक्षत्रान्तरयोगेनाऽर्कस्य नक्षत्रित्ववत्प्रकृतेरनित्यत्वेऽपीश्वरस्य क्षणे क्षणे जायमानप्रकृत्यन्तरयोगे सतीश्वरस्य नित्यत्वसंभवात् किमर्थं

ही अज्ञात प्रकृति और पुरुषका अनादित्व, विकारोंका और गुणोंका प्रकृतिकार्यत्व, क्षेत्रज्ञमें प्रतीत होनेवाले क्षेत्रके संसारसे गुणाध्यासमूलकत्व, संसारका प्रकृतिधर्मत्व, आत्माका निर्विकारत्व, असङ्गत्व, अकर्तृत्व, अभोक्तृत्व और असंसारित्वका विशेष स्पष्टीकरण करनेके लिए उत्तर ग्रन्थका आरम्भ किया जाता है—**'प्रकृतिम्'** इत्यादिसे ।

'भिन्ना प्रकृतिरष्टधा । अपरेयम्' इससे प्रतिपादित सब विकारोंकी कारण ईश्वरकी जो त्रिगुणात्मिका माया शक्ति है, उस प्रकृतिको और पुरुषको । पुरुष तो अविद्यारूप उपाधिसे युक्त क्षेत्रज्ञ है यानी 'मेरी परा प्रकृति जानो' इस कथित लक्षणसे युक्त चैतन्य । जैसे राज्यके सम्बन्धसे पुरुषमें राजत्व और प्रभुत्व आता है, वैसे ही क्षेत्रज्ञमें भी प्रकृतिके सम्बन्धसे प्रकृतित्व और जीवत्व आता है । प्रत्यक्-रूपसे चेतन और प्रकाशक होनेके कारण मूल प्रकृतिसे उत्कृष्ट, 'परा प्रकृति' इस संज्ञाको प्राप्त हुआ जो पुरुष है, उसको । ये दोनों प्रकृति और पुरुष अनादि (जिनका आदि—कारण—नहीं है, या जिनका आदिमत्त्व—पूर्वकालसे परिच्छेद—नहीं है, वे अनादि हैं यानी सबके आदिभूत या स्वयं आदिरहित । ईश्वरके समान उन दोनोंका नित्यत्वका अवधारण करनेके लिए एवकार है । ईश्वरत्व सदातन है, वह ईशितव्यकी अपेक्षा रखता है, ईश और ईशितव्य दोनोंके नित्य होनेपर ही ईश्वरत्वमें नित्य ईश्वरत्व होगा, अन्यथा नहीं । दूसरे नक्षत्रके योगसे जैसे सूर्य नक्षत्री होता है, वैसे ही प्रकृतिके अनित्य होनेपर भी क्षण-क्षणमें उत्पन्न होनेवाली दूसरी प्रकृतिका योग होनेपर ही ईश्वरमें नित्यत्वका सम्भव हो जायगा, फिर उनके नित्यत्वका स्वीकार किसलिए किया जाता है ? ऐसा यदि कहो, तो वह युक्त

तयोर्नित्यत्वाभ्युपगम इति चेत्, न; 'अजामेकाम्' इति मूलप्रकृतेरजत्वैकत्वश्रवणात्प्रकृत्यन्तरायोगात्। 'प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः' इति परमात्मनः प्रकृतिद्वयेश्वरत्वश्रवणाच्च। तत ईश्वरत्वनिमित्तयोस्तयोरपीश्वरवन्नित्यत्वमेव। तयोरनित्यत्वे त्वीश्वरस्य क्वचिदीशितव्याभावे ईश्वरत्वं भज्येत, सृष्ट्यादौ पुण्यपापाद्यनपेक्ष्य निर्निमित्तं च जीवानां नानायोनिप्राप्तिप्रसङ्गस्तथा सुखदुःखादिकल्पना च स्यात्, तथात्वे जगत्स्रष्टुरीश्वरस्य वैषम्यनैर्घृण्ये च प्रसज्येयाताम्, प्रकृत्या बद्धो बद्धस्तन्मुक्तो मुक्त इति नियतयोर्बन्धमोक्षयोरव्यवस्था च स्यात्, तथा सति बद्धानामपि मुक्तिर्मुक्तानामपि जन्मादिबन्धः प्रसज्येत। बन्धमोक्षप्रतिपादकशास्त्रानर्थक्यं च स्यात्। तयोरनित्यत्वे एवमाद्यनर्थपरम्परा सम्भवति। ननु पुरुषशब्दवाच्यस्य जीवस्याऽऽधुनिकत्वान्नैवोक्तानर्थागम इति चेत्, न; प्रत्यक्षादिप्रमाणविरोधापत्तेः। प्रत्यक्षेण खलु जीवानां सुखदुःखादिवैचित्र्यमुपलभ्यते तद्वैचित्र्यं कर्मनिबन्धनमेव न तु पुरुषस्वातन्त्र्यनिबन्धनम्। तथात्वे सर्वेषां तदैकरूप्यापत्तेः। तदन्यथानुपपत्त्या च धर्माधर्मनिमित्तः संसारो ह्यनुमीयते, ततोऽनुमानेन 'यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्येत' इत्यादिश्रुतिभिरपि सुखादेः कर्मैकनिबन्धनत्वमभ्युपगन्तव्यम्। तद्धेतुरपि कर्म जन्मान्तरीयमेव न त्वाधुनिकम्, तर्णकादौ कर्मादर्शनात्। कर्म-

---

नहीं हैं, क्योंकि 'अजामेकाम्' इससे मूल प्रकृति अज (नित्य) और एक है, ऐसा प्रतिपादित है, और दूसरी प्रकृतिका असंभव है। 'प्रधान क्षेत्रज्ञपति गुणोंका ईश्वर है' इससे परमात्मा दोनों प्रकृतियोंका ईश्वर है, ऐसा सुननेमें आता है, इसलिए ईश्वरत्वके निमित्तभूत दोनों ईश्वरके समान नित्य ही हैं। उन दोनोंके अनित्य होनेपर तो ईश्वरका, कहीं ईशितव्यके न होनेसे, ईश्वरत्व भङ्ग हो जायगा, सृष्टिके आदिमें पुण्य-पाप आदिकी अपेक्षा न कर निमित्तके बिना ही जीवोंकी नाना योनियोंमें प्राप्तिका प्रसङ्ग आवेगा, इसी प्रकार सुख दुःख आदिकी कल्पना भी निमित्तके बिना होगी, ऐसा होनेसे जगत्के स्रष्टा ईश्वरमें वैषम्य और नैर्घृण्यका प्रसङ्ग आवेगा, प्रकृतिसे जो बद्ध है, वह बद्ध है, उससे जो मुक्त है, वह मुक्त है, यों बन्ध और मोक्षकी नियत व्यवस्था नहीं होगी, ऐसा होनेसे बद्धोंकी भी मुक्ति, मुक्तोंके भी जन्मादि बन्धका प्रसङ्ग आवेगा। और बन्धमोक्षका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्र निरर्थक हो जायँगे। दोनोंके अनित्य होनेमें तथोक्त अनर्थ-परम्परा प्राप्त हो जायगी। यदि कहो कि पुरुषशब्दसे वाच्य जीवके आधुनिक होनेसे उक्त अनर्थोंकी प्राप्ति नहीं होती, तो यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे विरोध होगा। प्रत्यक्षसे जीवोंको सुख-दुःख आदिकी विचित्रता देखनेमें आती है, वह विचित्रता कर्मसे ही होती है, पुरुषकी स्वतन्त्रतासे नहीं होती, यदि ऐसा हो, तो सब एक-से ही हो जायँगे। उसकी अन्यथा उपपत्ति न होनेसे ही धर्म और अधर्मसे संसार होता है, ऐसा अनुमान किया जाता है। इसलिए अनुमानसे और 'जो कर्म करता है, उसको प्राप्त होता है' इत्यादि श्रुतियोंसे सुख आदि कर्मसे ही होते हैं, ऐसा जाननेमें आता है। उनका हेतु कर्म भी पिछले जन्मका ही है, आजकलका नहीं है, क्योंकि तर्णक (छोटे शिशु) आदिमें कर्म

णामनाधुनिकत्वे तत्कर्तुर्जीवस्य नित्यत्वमेवेति सिद्धम्, 'न जीवो म्रियते' इति श्रुतेः । 'अजामेकाम्' इति, 'न जीवो म्रियते' इत्यादिश्रुतिभिस्तयोर्नित्यत्वे न काचिदनुपपत्तिरस्ति । नन्वीश्वरवत्प्रकृत्योरपि नित्यत्वे तद्वत आत्मनः कदापि मोक्षो न स्यात् ब्रह्मणोऽप्यद्वितीयत्वं च न सिद्ध्यति ब्रह्मणस्त्वद्वितीयत्वं तद्विज्ञानवतो मोक्षं च प्रतिपादयतः शास्त्रस्याऽप्यप्रामाण्यं च स्यादिति चेत्, न; सर्वस्याऽप्येतस्य मायाकार्यत्वेन सम्यग्ज्ञानदशायां स्वप्नार्थवन्मिथ्यात्वोपपत्तेः । नहि प्रबोधदशायां निद्रायास्तत्कार्यस्य च सत्यत्वं दृष्टम् । तद्वत् 'न सत्तन्नासदुच्यते' इत्युक्तरीत्याऽऽत्मयाथात्म्यविज्ञानदशायां मायातत्कार्ययोरसत्यत्वमेव 'जीवेशावाभासेन करोति माया चाऽविद्या च स्वयमेव भवति', 'मायामात्रमिदं द्वैतम्', 'विकल्पो नहि वस्तु' इति मायायास्तत्कार्यस्याऽप्यसत्त्वश्रवणात् ततो ब्रह्मणोऽद्वितीयत्वं तद्विज्ञानवतो मोक्षश्च तत्प्रतिपादकशास्त्रस्य प्रामाण्यं च सिद्ध्यति । 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति' इति न्यायेनाज्ञानदशायां सर्वमर्थवदेव भवति । विवेकदशायां विचार्यमाणे सर्वं मिथ्यैवेति बोधयितुं भगवता प्रकृतिपुरुषविवेकमारभ्योच्यते । 'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि' इति प्रकृतिपुरुषावुभावप्यनादी नित्याविति विद्धि विजानीहि । किञ्च विकाराः देहे-

---

देखनेमें नहीं आता । आधुनिक कर्मके न होनेसे उनका कर्ता जीव नित्य ही है, यह सिद्ध हुआ, क्योंकि 'जीव नहीं मरता' 'ऐसी श्रुति है । 'अजामेकाम्' तथा 'न जीवो म्रियते' (जीव नहीं मरता) इत्यादि श्रुतियोंसे दोनोंको नित्य माननेमें कोई अनुपपत्ति नहीं है । ईश्वरके समान दोनों प्रकृतियोंको (जीव और प्रकृतिको) नित्य माननेपर प्रकृतिसे युक्त आत्माका कभी मोक्ष नहीं होगा और ब्रह्म अद्वितीय है, यह भी सिद्ध नहीं होगा । ब्रह्मका अद्वितीयत्व और ब्रह्मज्ञानीके मोक्षका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रका भी अप्रामाण्य हो जायगा, ऐसा यदि कहो, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि यह सब मायाका कार्य है, यथार्थज्ञानकी दशामें स्वप्नके पदार्थके समान मिथ्या है । जाग्रत्-दशामें निद्रा और निद्राका कार्य सत्य नहीं देखा जाता । उसीके समान 'न वह सत् न असत् कहा जाता है' इस उक्त रीतिसे आत्माके यथार्थ-विज्ञानकी दशामें माया और उसका कार्य दोनों असत्य ही हैं । 'माया जीव और ईश्वरको आभाससे करती है तथा स्वयं माया और अविद्या नामसे प्रसिद्ध होती है', 'मायामात्र यह द्वैत है' 'विकल्प वस्तु नहीं है' इससे माया और उसके कार्य भी असत् हैं, ऐसा प्रतिपादित है, इसलिए ब्रह्मका अद्वितीयत्व, उसके जाननेवालेका मोक्ष और उसके प्रतिपादक शास्त्रका प्रामाण्य सिद्ध होता है । 'जहां द्वैत-सा होता है, वहां दूसरा दूसरेको देखता है' इस न्यायसे अज्ञानदशामें सब अर्थवान् ही होता है. विवेकदशामें विचार करनेपर सब मिथ्या ही है, ऐसा बोधन करनेके लिए भगवान्ने प्रकृति और पुरुषका विवेक प्रारंभ करके कहा है । 'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादि उभावपि' (प्रकृति और पुरुषको अनादि जानो) इससे प्रकृति और पुरुष दोनोंको तुम अनादि यानी नित्य जानो । किञ्च, विकार—देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि, अहङ्कार आदि और शब्द आदि तन्मात्रा

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतु प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ २० ॥

हे अर्जुन, तत्त्वज्ञ पुरुष शरीर एवं महद् आदि कार्यों तथा इन्द्रिय, वचन, दर्शन आदि करणोंकी कर्तृतामें (कारणतामें) प्रकृतिको ही हेतु यानी उपादान कारण कहते हैं तथा सुखदुःखोंके अनुभवमें सबके साक्षीरूपसे विद्यमान प्रत्यगात्माको हेतु कहते हैं ॥ २० ॥

न्द्रियप्राणमनोबुद्ध्यहङ्कारादयश्च शब्दादीनि तन्मात्राण्यपि चैते सर्वे विकारास्तानेतान्, गुणांश्च गुणाः सुखदुःखेच्छाद्वेषलोभमोहकामसङ्कल्पादयो ये च शमदमादयो ये च भ्रमप्रमादादयः पुण्यपापादिलक्षणा इन्द्रियव्यापारास्तानेतान् सर्वानपि प्रकृतिसंभवान् प्रकृतिस्त्रिगुणात्मिकाऽव्यक्तशब्दवाच्या बीजादङ्कुरस्कन्धशाखापत्रपुष्पफलादिवत्तस्याः सकाशादेव समुत्पन्नान् विद्धि, न त्वात्मसंभवान् ; निरवयवत्वादसङ्गत्वादविक्रियत्वाच्चाऽऽत्मनस्ततः कस्याऽप्युत्पत्त्यनुपपत्तेः । किन्तु भोक्त्रदृष्टवशात्प्रकृतिः स्वयमेव गुणवैषम्यं प्राप्य महदादिविकारात्मना गुणात्मना च परिणमत इति विजानीहीत्यर्थः । विकाराणां गुणानां च प्रकृतिकार्यत्वे सिद्धे पुरुषस्याऽऽत्मनस्त्वकर्तृत्वमविकारित्वं निर्गुणत्वं च सिद्धमिति सूचितं भवति ॥ १९ ॥

विकाराणां गुणानां च प्रकृतिकार्यत्वमेव विशदयन् हेतुफलोत्पादकत्वेन प्रकृतेश्च तत्फलभोक्तृत्वेन पुरुषस्य चोभयोरपि संसारकारणत्वं सूचयितुमाह—**कार्येति** ।

भी, ये सब विकार हैं—इन सब विकारोंको और गुणोंको (सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, लोभ, मोह, काम, सङ्कल्प आदि; शम, दम आदि; भ्रम, प्रमाद आदि; तथा पुण्य-पापरूप इन्द्रियोंके व्यापार—इन सबको) भी प्रकृतिसम्भव (प्रकृतिस्वरूप त्रिगुणात्मिका अव्यक्तशब्दवाच्य मायासे, बीजसे जैसे अङ्कुर, स्कन्ध, शाखा, पत्र, पुष्प, फल आदिकी उत्पत्ति होती है वैसे ही, उत्पन्न हुए) जानो, आत्मासे उत्पन्न हुए न जानो, क्योंकि निरवयव, असङ्ग और अविक्रिय होनेसे आत्मासे किसीकी उत्पत्ति नहीं हो सकती । किन्तु भोक्ताके अदृष्टवश स्वयं प्रकृति ही गुणोंकी विषमताको प्राप्त होकर महद् आदि विकारस्वरूपसे और गुणस्वरूपसे परिणामको प्राप्त होती है, ऐसा जानो, यह अर्थ है । विकारों और गुणोंमें प्रकृतिकार्यत्वके सिद्ध होनेपर पुरुषमें यानी आत्मामें अकर्तृत्व, अविकारित्व और निर्गुणत्व सिद्ध हुआ, ऐसा सूचित होता है ॥ १९ ॥

विकार और गुण प्रकृतिके ही कार्य हैं, इस विषयको स्पष्ट करते हुए हेतु और फलके उत्पादकत्वरूपसे प्रकृति और उसके फलके भोक्तारूपसे पुरुष—दोनों ही संसारके प्रति कारण हैं, ऐसा सूचन करनेके लिए कहते हैं—**'कार्य०'** इत्यादिसे ।

कार्यकरणकर्तृत्वे कार्यं शरीरं कार्यस्य कारणानुमापकत्वादत्र कार्यपदेन महदादयः सप्त विकृतयः शब्दादयश्च तत्कारणानि गृह्यन्ते । करणानि दशेन्द्रियाणि मनश्च बुद्ध्यहङ्कारचित्तानि च चतुर्दश । करणपदेन वचनादयो दर्शनादयः कामसङ्कल्पाहङ्करणसुखदुःखमोहात्मका बुद्धिप्रत्ययाश्च प्रकृतिसंभवाः सर्वेऽपि गृह्यन्ते । कार्यं च करणानि च तेषां कार्यकरणपदगृहीतानां कर्तृत्वे । कर्तृत्वं जनकत्वं तस्मिन् कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुरुपादानकारणं प्रकृतिरेवेति तत्त्वज्ञैरुच्यते । अग्निसान्निध्यादय इवाऽऽत्मसान्निध्यात् प्राण्यदृष्टानुरूपेण प्रकृतिरेव कार्यकरणात्मना विषयरूपेण सुखादिप्रत्ययरूपेण च हेतुफलात्मना परिणमत इति मुनयो वदन्तीत्यर्थः । 'कार्यकारणकर्तृत्वे' इति पाठे तु दशेन्द्रियाणि मनश्च शब्दादयः पञ्च चैते षोडश विकाराः कार्यपदेन गृह्यन्ते । सप्त विकृतयः कारणपदेन गृह्यन्ते । तेषां कार्यकारणानां कर्तृत्वे आरम्भकत्वे मूलप्रकृतिरेव हेतुरुच्यते । यद्वा, कार्यकरणानां देहेन्द्रियमनोबुद्ध्यादीनां कर्तृत्वे कर्ता नियोक्ता तद्भावे विषयभोगवासनारूपा कर्मरूपा च प्रकृतिरेव कारणं निरवयवत्वान्नाऽऽत्मेत्यर्थः, 'स्वभावस्तु प्रवर्तते' इत्युक्तत्वात् । एवं प्रकृतेः संसारकारणत्वमुक्त्वा अविकारिणोऽप्यात्मनः संसारकारणत्वमाह—**पुरुष इति** । पुरि शयनात् पुरा सहैकरूपेणाऽऽस्त इति वा

कार्यकरणकर्तृत्वमें (कार्य यानी शरीर, कार्य कारणका अनुमान कराता है, इसलिए यहाँ कार्यपदसे महदादि सात विकृतियाँ तथा शब्द आदि उसके कारणोंका ग्रहण किया जाता है । करण यानी दस इन्द्रियाँ मन, बुद्धि, अहङ्कार और चित्त—ये चौदह । करणपदसे वचन आदि, दर्शन आदि तथा काम, सङ्कल्प, अहङ्कार और सुख-दुःख मोहात्मक बुद्धिप्रत्यय, जो प्रकृतिसे उत्पन्न हुए हैं, उन सबका ग्रहण किया जाता है । कार्य और करण कार्यकरण हैं, उनके कर्तृत्वमें) यानी कार्य-करण पदसे गृहीत उन सबके कर्तृत्वमें (जनकत्वमें) हेतु—उपादान कारण—प्रकृति ही है, ऐसा तत्त्वज्ञों द्वारा कहा जाता है । अग्निके सान्निध्यसे लोहेमें दाहकत्वके समान आत्माके सान्निध्यसे प्राणियोंके अदृष्टके अनुसार प्रकृति ही कार्य-करणस्वरूपसे, विषयरूपसे तथा सुख आदि प्रत्ययोंके रूपसे यानी हेतु और फलके स्वरूपसे परिणामको प्राप्त होती है, ऐसा मुनि कहते हैं, यह अर्थ है । 'कार्यकारणकर्तृत्वे' इस पाठमें तो दश इन्द्रियां, मन, और पाँच शब्द आदि विषय—इन सोलह विकारोंका कार्यपदसे ग्रहण किया जाता है और कारणपदसे सात विकृतियोंका ग्रहण किया जाता है । उन कार्यकारणोंके कर्तृत्वमें (आरम्भकत्वमें) मूलभूता प्रकृति ही हेतु कहलाती है । अथवा कार्य-करणोंके (देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिके) कर्तृत्वमें (नियोजक होनेमें) विषयभोग-वासनारूप और कर्मरूप प्रकृति ही कारण है, निरवयव होनेसे आत्मा कारण नहीं है, यह अर्थ है, क्योंकि 'स्वभावस्तु प्रवर्तते' इससे वैसा प्रतिपादन किया गया है । इस प्रकार प्रकृति संसारकी कारण है, ऐसा कहकर अविकारी आत्मा भी संसारका कारण है, यों कहते हैं—**पुरुष इति** । जो पुरमें शयन करता है या जो पुरके साथ एकरूप है यानी

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ २१ ॥

पूर्वोक्त कूटस्थ असङ्ग आत्मा शरीरतादात्म्यको पाकर प्रकृतिसे उत्पन्न देह, इन्द्रिय आदिके बाल्य, काणत्व आदि धर्मोंका तथा सुख, दुःख आदि प्रत्ययोंका, आत्मीय समझकर, अनुभव करता है। इस आत्माके पुण्य-पाप योनियोंमें जन्म लेनेका कारण गुणसङ्ग यानी काम है॥ २१ ॥

स्वाज्ञानात्पुरमुषतीति वा पुरुषः बुद्धिकोशे सर्वसाक्षित्वेन वर्तमानः प्रत्यगात्मा सुखदुःखानां सुखदुःखादिप्रत्ययानां भोग्यानां भोक्तृत्वे उपलब्धृत्वे हेतुः स्वाभासानुविद्धान्तःकरणद्वारा सुखदुःखादिप्रत्ययानुभूतेः कारणमित्युच्यते । देहेन्द्रियाद्याकारेण विषयाकारेण सुखदुःखादिप्रत्ययाकारेण च प्रकृतेः परिणामे सति स्वाविद्यया कृतानात्माध्यासेनाऽऽत्मनोऽपि स्वाभासद्वारा तदुपलब्धृत्वे सत्यहं ममेति संसारः संभवति । तथा प्रकृतेः परिणामाभावे क्षेत्रज्ञस्योपलब्धृत्वाभावे चोक्तलक्षणः संसारो न संभवति । तदिदं जाग्रदादौ सुषुप्तौ च प्रत्यक्षं ततो यावद्देहेन्द्रियविषयसुखादिप्रत्ययसंबन्धः स्यादात्मनस्तावन्न संसारोपरमः सिद्ध्यतीर्थः ॥ २० ॥

ननु प्रकृतिपुरुषयोर्नित्यत्वात् तत्संबन्धोऽप्यात्मनो नित्य एव भवति । तेन संसारोऽपि नित्य एव स्यात्कदा कथं वाऽऽत्मनः संसारमोक्षः सिध्यतीत्याकाङ्क्षायामात्मनो बुद्ध्यादिसंबन्धो नित्यो न भवति, निरवयवसावयवयोः संयोगसमवायादिसंबन्धा-

---

शरीरतादात्म्यापन्न है अथवा जो अपने अज्ञानसे पुरमें रहता है, वह पुरुष है यानी बुद्धिकोशमें सर्वसाक्षीरूपसे वर्तमान प्रत्यक् आत्मा सुख-दुःखोंके—भोग्य सुख-दुःख आदि विषयक प्रत्ययोंके—भोक्तृत्वमें (अनुभवमें) हेतु है यानी स्वाभाससे अनुविद्ध अन्तःकरण द्वारा सुख, दुःख आदि प्रत्ययोंकी अनुभूतिका कारण पुरुष है, ऐसा तत्त्वज्ञों द्वारा कहा जाता है। देह, इन्द्रिय आदिके आकारसे, विषयाकारसे और सुख, दुःख आदि प्रत्ययके आकारसे प्रकृतिका परिणाम होनेपर अपनी अविद्यासे किये गये अनात्माके अध्याससे आत्मा भी स्वाभास द्वारा उसका उपलब्धा होता है, तदनन्तर 'मैं और मेरा' इस प्रकारका संसार उत्पन्न होता है और प्रकृतिका परिणाम न होनेपर और क्षेत्रज्ञमें उपलब्धृत्वके न होनेपर उस प्रकारका संसार नहीं होता । यह जाग्रत् आदिमें और सुषुप्तिमें प्रत्यक्ष है, इसलिए जबतक देह, इन्द्रिय, विषय और सुख आदिके प्रत्ययोंसे सम्बन्ध है, आत्मामें तब तक संसारका उपरम सिद्ध नहीं हो सकता, यह अर्थ है ॥ २० ॥

यदि प्रकृति और पुरुष दोनों नित्य हैं, तो आत्माका और उनका संबन्ध भी नित्य ही है, अतः संसारको भी नित्य ही मानना पड़ेगा, ऐसी अवस्थामें कब और कैसे आत्माका संसारसे मोक्ष हो सकता है, ऐसी आकांक्षा होनेपर आत्माका बुद्धि आदिके साथ सम्बन्ध

सम्भवात् ; किन्त्वाध्यासिकः । सोऽयं स्वाज्ञानैकनिबन्धनः सति विवेकविज्ञाने निवर्तत एवेति बोधयितुमात्मनः प्रकृतिसंबन्धात्संसारं तत्कारणं च विशदयति—**पुरुष इति ।**

पुरुष उक्तलक्षण आत्मा स्वयं कूटस्थासङ्गचिद्रूपोऽपि प्रकृतिस्थः प्रकृतिः कार्यकरणसङ्घातः स्वाविवेकेनाऽयमेवाऽहमिति तदात्मना तिष्ठतीति प्रकृतिस्थो न तु स्वस्थः शरीरतादात्म्यमापद्येत्यर्थः । तत एव तद्धर्मतत्कर्मवान् सन् प्रकृतिजान् प्रकृते-र्बुद्ध्यादिस्थूलान्तरूपायाः सकाशाज्जातान् प्रकृतिजान् प्राकृतान् गुणान् देहगुणा बाल्यस्थौल्यादयः, इन्द्रियगुणाः काणत्वखञ्जत्वादयः, प्राणस्य गुणाः क्षुधितत्वादयः, मनोगुणाः समीचीनत्वादयः, बुद्धिगुणाः कर्तृत्वभोक्तृत्वादयस्तानेतान् स्थूलसूक्ष्म-कारणदेहधर्मान् सुखदुःखादिप्रत्ययांश्च स्वीयत्वेनाऽनुभुङ्क्ते । मनुष्योऽहं ब्राह्मणो गृही यतिर्मूढः पण्डितः शिष्टो भ्रष्टः कर्ता भोक्ता सुखी दुःखीति ममेदमिति च स्वयं प्रकृत्यात्मको भूत्वा तद्धर्मान् जन्मजराजातिवर्णाश्रमादीन् पुण्यपापादींश्च स्वधर्मत्वे-नाऽनुभवतीत्यर्थः । 'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धि-द्योतनार्थो हिशब्दः । अयमेव क्षेत्रज्ञस्याऽऽत्मनः संसारो यत्स्वयमन्यात्मको भूत्वा अन्यधर्मान् सतोऽप्यसतश्चाऽऽत्मीयत्वेन मन्यते । नन्वक्रियस्याऽसङ्गस्याऽऽत्मनः प्रकृति-

---

नित्य नहीं है, क्योंकि निरवयव और सावयवका संयोग तथा समवाय आदि संबन्ध हो नहीं सकता, किन्तु आध्यासिक सम्बन्ध है, वह केवल अपने अज्ञानके कारण ही है, विवेकविज्ञानके होनेपर वह निवृत्त हो जाता है, ऐसा बोधन करनेके लिए आत्मामें प्रकृतिके सम्बन्धसे संसार और उसके कारणका स्पष्टीकरण करते हैं—'पुरुषः' इत्यादिसे ।

पुरुष—उक्त लक्षणवाला आत्मा—स्वयं कूटस्थ, असङ्ग और चिद्रूप होनेपर भी प्रकृतिस्थ (प्रकृति यानी कार्यकरणसङ्घात । अपने अविवेकसे 'यही मैं हूँ' इस प्रकार कार्यकरणसङ्घातस्वरूपसे जो स्थित रहता है, वह प्रकृतिस्थ है, स्वस्थ नहीं है) यानी शरीरके तादात्म्यको प्राप्त होकर, यह अर्थ है । इसीसे उसके धर्म, तथा उसके कर्मसे युक्त होकर प्रकृतिज (प्रकृतिसे—बुद्धिसे—लेकर स्थूलान्तरूपा प्रकृतिसे—उत्पन्न हुए) यानी प्राकृत गुणोंका—देहके गुण बाल्य, स्थौल्य आदि; इन्द्रियके गुण काणत्व, खञ्जत्व आदि; प्राणके गुण भूख आदि; मनके गुण समीचीनत्व आदि; बुद्धिके गुण कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि—इन स्थूल, सूक्ष्म और कारण देहके धर्मोंका और सुख-दुःख आदि प्रत्ययोंका—स्वकीयत्वरूपसे उपभोग करता है । मै मनुष्य हूँ, ब्राह्मण हूँ, गृहस्थ हूँ, मूढ़ हूँ, पण्डित हूँ, शिष्ट हूँ, भ्रष्ट हूँ, कर्ता हूँ, भोक्ता हूँ, सुखी और दुःखी हूँ, तथा यह मेरा है, यों स्वयं प्रकृतिस्वरूप होकर उसके धर्म जन्म, जरा, जाति, वर्ण, आश्रम आदिका और पुण्य-पाप आदिका अपने धर्मरूपसे अनुभव करता है, यह अर्थ है । 'शरीर, इन्द्रिय और मनसे युक्त आत्मा भोक्ता है, ऐसा पण्डित लोग कहते हैं' इत्यादि श्रुतिप्रसिद्धिका द्योतन करनेके लिए 'हि' शब्द है । क्षेत्रज्ञ आत्माका यही संसार है कि वह स्वयं अन्यस्वरूप होकर भी अन्यके धर्मोंको, चाहे वे प्रतीयमान हों चाहे न भी हों, अपने धर्म मानता है । अक्रिय एवं असङ्ग आत्माकी प्रकृतितादात्म्यप्राप्तिमें एवं

तादात्म्यापत्तौ तदीयधर्मकर्मस्वात्मीयत्वानुभूतौ च को हेतुरित्याकाङ्क्षायामाह—**कारणमिति** । अस्य साक्षाद्विद्वद्भिरात्मत्वेनाऽनुभूयमानस्य कूटस्थासङ्गचिद्रूपस्याऽऽत्मनः सदसद्योनिजन्मसु सद्योनयो देवऋषिब्राह्मणादिपुण्ययोनयः असद्योनयो रक्षःपिशाचश्वपाकपश्वादिपापयोनयस्तासु जन्मानि तेषु सदसद्योनिजन्मसु । अहंममेत्यादिसंसारस्य कारणं गुणसङ्गः गुणेषु दृष्टादृष्टेषु भोग्येषु सज्ज्यते पुमान् सक्तो भवत्यनेनेति सङ्गः कामः, कामः खलु पुरुषस्य बन्धः सत्यामविद्यायाम्, पुमान् कामेनैवोच्चावचानि कर्माणि करोति तत्फलं च सुखदुःखात्मकं नानाजन्मभिः प्राप्नोति । तथाच श्रुतिः 'स यथाकामो भवति' इति, 'कामान्यः कामयते मन्यमानः' इति च । यत एवं ततः स्वाविद्यैकमूलः काम एव पुरुषस्य नानायोनिषु जन्मजरामरणादिदुःखानुभूतिकारणमिति सिद्धम् । यद्वा, गुणसङ्गः सज्ज्यते बध्यतेऽनेनेति सङ्गः गुणेषु देहेन्द्रियादिष्वहमित्यहंत्वाभिनिवेशलक्षणः शब्दादिष्विदं भोग्यमिति संभोग्याभिनिवेशरूपोऽप्यध्याससंबन्धः सङ्गः, एतमेवाऽविद्यामाहुः पण्डिताः । अविद्यावत एव हि पुरुषस्य कामः कर्माऽपि सदसद्योनिषु जन्मादिदुःखकारणम्, तन्निवृत्तिकारणमात्मयाथात्म्यविज्ञानमेव । तच्च 'न सत्तन्नाऽसदुच्यते' इत्यात्मनः प्रकृतितद्विकारतद्धर्मतत्कर्मसंबन्धलेशशून्यत्वसिद्धये अतन्निषेधद्वारा

प्रकृतिके धर्म और कर्ममें स्वात्मीयत्वके अनुभवमें कौन हेतु है ? ऐसी आकाङ्क्षा होनेपर कहते हैं—**कारणमिति** । विद्वानों द्वारा साक्षात् आत्मस्वरूपसे अनुभूयमान कूटस्थ, असङ्ग तथा चिद्रूप आत्माके सदसद्योनिजन्ममें (सत् योनियाँ यानी देव, ऋषि, ब्राह्मण आदि पुण्ययोनियाँ, असत्योनियाँ यानी राक्षस, पिशाच, श्वपाक और पशु आदि पापयोनियाँ, उनमें जन्म लेनेमें) 'मैं, मेरा' इत्यादि संसारका कारण गुणसङ्ग (गुणोंमें—दृष्ट और अदृष्ट भोग्य विषयोंमें जिससे पुरुष आसक्त हो जाता है, वह गुणसङ्ग है) यानी काम है । अविद्याके रहनेपर काम ही पुरुषका बन्धन है, पुरुष कामसे ही शुभ और अशुभ कर्म करता है और उनके सुख, दुःखात्मक फलको अनेक जन्मों द्वारा प्राप्त करता है । जैसे कि श्रुतियाँ हैं—'वह जैसी कामनावाला होता है' और 'जिन दृष्ट, अदृष्ट, इष्ट विषयोंको हित मानकर चाहता है' । जिस कारणसे ऐसा है, इसलिए अपनी अविद्याका कार्य काम ही पुरुषके नाना योनियोंमें जन्म, जरा, मरण आदि दुःखोंके अनुभवमें कारण है, यह सिद्ध हुआ । अथवा गुणसङ्ग (जिससे पुरुष बाँधा जाता है, वह सङ्ग है, गुणोंमें—देह, इन्द्रिय आदिमें—'मैं' यों अभिनिवेशरूप अहंत्व अथवा 'शब्द आदिमें यह भोग्य है' यों सम्भोग्याभिनिवेशरूप अध्याससम्बन्ध सङ्ग है, इसीको पण्डित अविद्या कहते हैं । अविद्यावाले पुरुषका ही काम और कर्म सत् एवं असत् योनियोंमें जन्म आदि दुःखके कारण हैं, इसकी निवृत्तिका कारण आत्माका याथात्म्यविज्ञान ही है । उस आत्मविज्ञानका 'वह न सत् और न असत् कहा जाता है' इससे आत्मामें प्रकृति, उसके विकार, उसके धर्म और उसके कर्मोंका तनिक भी सम्बन्ध नहीं है, इसकी सिद्धि करनेके लिए तथा अतत्के (अनात्मके) निषेध द्वारा आत्माका

उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाऽप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ॥ २२ ॥

कार्यकरणसङ्घातरूप इस देहमें 'अहम्' प्रत्ययार्थ आत्मा देह आदिसे भिन्न है, क्योंकि वह उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता, महेश्वर और परमात्मा कहा गया है ॥ २२ ॥

सद्भावसिद्धये 'ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यम्' इति स्वरूपनिरूपणद्वारा च सम्यक् प्रतिपादितम् ॥ २१ ॥

पुनरपि तदेव परं तत्त्वं मुमुक्षून् सम्यगधिगमयितुमात्मनः प्रकृतितत्कार्यसम्बन्धराहित्यं तद्रहितत्वेन शुद्धस्य चिदेकरसस्य ब्रह्माभिन्नत्वं च बोधयति—**उपद्रष्टेति** ।

अस्मिन् देहे कार्यकरणसङ्घातलक्षणे योऽस्मत्पदप्रत्ययार्थः पुरुष आत्मा स देहेन्द्रियादिभ्यः परो भिन्न एव भवति । तत्कुतः? यस्मादुपद्रष्टा, सर्वस्य द्रष्टा चिदाभासस्तं च तद्व्यापारं च साक्षित्वेनोपरि पश्यतीत्युपद्रष्टा । यद्वा, उप समीपे बुद्धेरपि अन्तरतया प्रत्यक्त्वेन स्थितः सन् बुद्धिं तद्व्यापारं च दृश्यजातं च सर्वं साक्षादविक्रियात्मना पश्यतीत्युपद्रष्टा। हेतुगर्भितमिदं विशेषणम्। आत्मा बुद्ध्यादेर्भिन्नः, उपद्रष्टृत्वात्, यज्ञोपद्रष्टृवद्, इति । नहि यज्ञोपद्रष्टा यजमानादिष्वन्यतमो भवति, तदन्यतमत्वे उपद्रष्टृत्वानुपपत्तेः । उपद्रष्टृत्वं नाम व्यापार्यन्यत्वे सत्यव्यापृतया ताटस्थ्येन व्यापारि-

---

सद्भाव सिद्ध करनेके लिए 'ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यम्' इससे स्वरूपके निरूपण द्वारा भली भाँति प्रतिपादन किया ॥ २१ ॥

फिर भी उसी पर तत्त्वका मुमुक्षुओंको भलीभाँति ज्ञान कराने लिए आत्मा प्रकृति और उसके कार्योंके सम्बन्धसे रहित है तथा उनसे रहित होनेके कारण शुद्ध चिदेकरस आत्मा ब्रह्मसे अभिन्न है, इस विषयका बोधन कराते हैं—**'उपद्रष्टा'** इत्यादिसे ।

कार्यकारणसङ्घातरूप इस देहमें जो अस्मत्-पदप्रत्ययका अर्थ पुरुष आत्मा है, वह देह, इन्द्रिय आदिसे पर—भिन्न—ही है । क्यों भिन्न ही है? चूँकि उपद्रष्टा है (सबका द्रष्टा चिदाभास है, उसको और उसके व्यापारको भी जो साक्षीरूपसे ऊपरसे देखता है, वह उपद्रष्टा है । अथवा उप—समीपमें—बुद्धिके भी भीतर रहकर प्रत्यक्रूपसे स्थित होकर बुद्धिको, उसके व्यापारको और सम्पूर्ण दृश्योंको जो साक्षात् अविक्रियरूपसे देखता है, वह उपद्रष्टा है)। यह हेतुगर्भित विशेषण है । आत्मा बुद्धि आदिसे भिन्न है, उपद्रष्टा होनेसे, यज्ञके उपद्रष्टाके समान । यज्ञका उपद्रष्टा यजमान आदिमें से कोई एक नहीं हो सकता । यदि उनमें से कोई एक उपद्रष्टा होगा, तो उसमें उपद्रष्टृत्वका ही असंभव हो जायगा । उपद्रष्टृत्वका लक्षण है—व्यापारियोंसे भिन्न होकर व्यापारके बिना तटस्थरूपसे व्यापारियों और उनके व्यापारके केवल दर्शनमें ही परायण

तद्व्यापारदर्शनमात्रैकपरत्वम् । तत उपद्रष्टा द्रष्टव्येभ्यः सर्वेभ्यो यजमानादिभ्यो भिन्न एव भवति यथा, तथाऽयमात्माऽप्युपद्रष्टृत्वाद् बुद्ध्यादिभ्यो भिन्न एव भवति। एतेनाऽऽत्मनोऽविकारित्वं नित्यत्वमकर्तृत्वमभोक्तृत्वं च सूचितं भवति। किञ्च, अनुमन्ता स्वस्वविषयेषु प्रवृत्तान्निवृत्तांश्च बुद्ध्यादीननु पश्चादेव मनुते बुध्यत इति अनुमन्ता। बुद्ध्यादीनां प्रवृत्तिं निवृत्तिं तत्फलं चाऽन्य एव जानातीत्यर्थः, 'उपद्रष्टानुमन्तैष आत्मा' इति श्रुतेः। एतेन आत्मा देहादिभ्यः पर एव, अनुमन्तृत्वात्, तटस्थवदित्यात्मनः प्रकृतिप्राकृतेभ्यो भिन्नत्वसाधकमनुमानं सूचितम्। चकारः समुच्चयार्थः। किञ्च, भर्ता स्वाविद्यया स्वस्मिन्नध्यस्तान् महदादिसर्वविकारान् सत्तास्फूर्तिप्रदानेन बिभर्तीति भर्ता। जलतरङ्गफेनबुद्‌बुदादीनां मरुरिव स्वस्मिन्नारोपितानां देहादिशब्दादिप्रत्ययानां स्वयमेवाऽर्थो भूत्वा सत्तां स्फूर्तिं च तनोत्यात्मेत्यर्थः। भर्ता भरणीयेभ्यः पर एवेति भर्तृत्वमप्यात्मनो देहेन्द्रियादिभ्यो भिन्नत्वे पूर्ववद्व्यावर्तकं विशेषणम्। किञ्च, भोक्ता स्वस्मिन्नध्यस्तमव्यक्तादिस्थूलान्तं सर्वं स्वमहसा चैतन्यात्मकेन तिमिरं रविरिव भुङ्क्ते स्वस्मिन्नेव तिरोभावयतीति भोक्ता। भ्रान्तिदशायां नानात्मना स्वयमेव प्रतीतोऽपि सम्यग्बोधदशायां स्वमात्रावशेषो भवतीत्यर्थः। भोक्ता भोज्यात्पर एवेति भोक्तृत्व-

---

होना यानी उपद्रष्टा वह है जो स्वयं व्यापारवान् न होकर तटस्थवृत्तिसे व्यापार करनेवालेको तथा व्यापाररूप कर्मको केवल देखता है। इससे जैसे उपद्रष्टा द्रष्टव्यसे यजमान आदि सबसे भिन्न ही होता है, वैसे ही यह आत्मा भी उपद्रष्टा होनेसे बुद्धि आदिसे भिन्न ही है। इससे आत्माका अविकारित्व, नित्यत्व, अकर्तृत्व और अभोक्तृत्व सूचित होता है। किञ्च, अनुमन्ता (अपने अपने विषयोंमें प्रवृत्त हुए और निवृत्त हुए बुद्धि आदिको अनु—पीछे—जो जानता है, वह अनुमन्ता है। बुद्धि आदिकी प्रवृत्ति, निवृत्ति और उनके फलको अन्य ही जानता है, यह अर्थ है, क्योंकि 'यह आत्मा उपद्रष्टा और अनुमन्ता है' ऐसी श्रुति है। इससे 'आत्मा देहादिसे भिन्न ही है, अनुमन्ता होनेसे, तटस्थके समान' यों आत्मामें प्रकृति और प्राकृतसे भिन्नत्वको सिद्ध करनेवाला अनुमान सूचित किया। यहां चकार समुच्चयके अर्थमें है। 'किञ्च' भर्ता—अपनी अविद्यासे अपनेमें ही ही अध्यस्त महदादि सम्पूर्ण विकारोंका सत्ता और स्फूर्तिके प्रदान द्वारा जो भरण करता है, वह भर्ता है। जैसे आरोपित जलके तरङ्ग, फेन, बुद्‌बुद आदिका मरु अर्थ होता है, वैसे ही अपनेमें आरोपित देहादि शब्दादि प्रत्ययोंका स्वयं ही अर्थ होकर आत्मा सत्ता और स्फूर्तिको देता है, यह अर्थ है। भर्ता भरणीयों (पोषणीयों) से भिन्न ही है, इससे भर्तृत्व भी देह, इन्द्रिय आदिसे आत्माके भिन्न होनेमें पूर्वके समान व्यावर्तक विशेषण है। किञ्च, भोक्ता—अपनेमें अध्यस्त अव्यक्तसे लेकर स्थूल तक सबको अपने चैतन्यात्मक तेजसे, जैसे अन्धेरेको सूर्य निगल जाता है, वैसे ही जो निगल जाता है यानी अपनेमें ही जो तिरोभाव कर लेता है, वह भोक्ता है। यद्यपि भ्रान्तिदशामें अनेकस्वरूपसे आत्मा प्रतीत होता है, तथापि सम्यक्-बोधकी दशामें केवल आप ही (आत्मा ही) अवशिष्ट

मप्यात्मनो देहादिभिन्नत्वे पूर्ववद्व्यावर्तकं विशेषणम् । किञ्च, महेश्वरः अव्यक्तादपि स्थूलतमत्वान्महान्, 'महतो महीयान्' इति श्रुतेः । महत्त्वमप्यात्मनो देहादिभिन्नत्वे हेतुः । आत्मा देहादिभ्यो भिन्नः, महत्त्वाद् आकाशवत् । महत्त्वमपरिच्छिन्नत्वम् । नहि परिपूर्णस्य वस्तुनः परिच्छिन्नत्वं देहाद्यन्यतमत्वं च संभवति, सर्वप्रमाणविरोधात् । किञ्च, ईश्वरः चुम्बकस्य सन्निधौ अय इव यस्य सन्निधिमात्रेण बुद्ध्यादि सर्वं जडं चेष्टते स आत्मा ईश्वर ईशनशीलः सर्वप्रवृत्तिहेतुः, 'ईशानो भूतभव्यस्य' इति श्रुतेः । आत्मा प्रकृतितत्कार्येभ्यो भिन्नः, ईश्वरत्वाद् राजवद्, इतीश्वरत्वमप्यात्मन इतरभिन्नत्वे हेतुस्तेन प्रकृतितद्विकारतद्धर्मतत्कर्मतदवस्थालेशराहित्यमात्मनः सिद्धम् । महांश्चाऽसावीश्वरश्च महेश्वरः परिपूर्णः कूटस्थोऽसङ्गश्चिदेकरस आत्मेति विशेषणषट्केन व्यवस्थापितम् । ननु प्रत्यगात्मा परमात्मेति द्वैविध्ये कथमद्वैतसिद्धिरित्याशङ्कायाम्, न; ब्रह्मण एव परिपूर्णस्याऽऽरोपिताविद्याकार्यैः परिच्छित्तिभानात्परिच्छिन्नत्वं क्षेत्रज्ञत्वं च कल्पितम् । यथैकस्यैवाऽऽकाशस्य कल्पितघटोपाधिना परिच्छिन्नत्वं घटाकाशत्वं च कल्पितम्, तद्वद् ब्रह्मणि प्रकृतिः प्राकृतं च सर्वमविद्यया कल्पितं मिथ्यैव भवति, न तु सत्यम्, 'त्रयमप्येतत्सुषुप्तं स्वप्नं मायामात्रं चिदेकरसो ह्ययमात्मा' इति, 'विकल्पो

रहता है, यह अर्थ है । भोक्ता भोज्यसे भिन्न ही होता है, इस नियमसे भोक्तृत्व भी आत्माके देह आदिसे भिन्न होनेमें पूर्वके समान व्यावर्तक विशेषण है । किञ्च, महेश्वर यानी अव्यक्तसे भी स्थूलतम होनेसे महान्, क्योंकि 'महान्से भी अत्यन्त महान्' ऐसी श्रुति है । महत्त्व भी देहादिसे आत्मा भिन्न है, इस अर्थमें हेतु है । आत्मा देह आदिसे भिन्न है, महान् होनेसे, आकाशके समान । महत्त्व यानी अपरिच्छिन्नत्व । परिपूर्ण वस्तु परिच्छिन्न और देहादिमें से कोई एक नहीं हो सकती, क्योंकि सब प्रमाणोंसे विरोध है । किञ्च, ईश्वर जैसे चुम्बककी सन्निधिमें लोहा चेष्टा करता है, वैसे ही जिसकी केवल सन्निधिसे बुद्धि आदि सब जड़ चेष्टा करते हैं, वह आत्मा ईश्वर—ईशनशील—सब प्रवृत्तियोंका हेतु है, क्योंकि 'भूत, भव्यका ईशान' ऐसी श्रुति है । आत्मा प्रकृति और प्रकृतिके कार्योंसे भिन्न है, राजाके समान, इस प्रकार ईश्वरत्व भी आत्माके इतरसे भिन्न होनेमें हेतु है । इससे सिद्ध हुआ कि आत्मा प्रकृतिसे, उसके विकारोंसे, उसके धर्मोंसे, उसके कर्मोंसे और उसकी अवस्थाओंके सम्बन्धसे रहित है । महान् ईश्वर महेश्वर है । आत्मा परिपूर्ण, कूटस्थ, असङ्ग और चिदेकरस है, ऐसा छः विशेषणोंसे सिद्ध किया । एक प्रत्यगात्मा और दूसरा परमात्मा यों आत्मामें द्वैधीभाव माननेपर अद्वैतकी सिद्धि कैसे है, ऐसी आशङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि परिपूर्ण ब्रह्मका ही आरोपित विद्याके कार्योंसे परिच्छिन्नताका भान होनेसे परिच्छिन्नत्व और क्षेत्रज्ञत्व कल्पित है । जैसे एक ही आकाशमें कल्पित घटरूप उपाधिसे परिच्छिन्नत्व और घटाकाशत्व कल्पित है, वैसे ही ब्रह्ममें अविद्यासे कल्पित प्रकृति और प्राकृत सब मिथ्या ही है, सत्य नहीं है, क्योंकि 'जाग्रद् आदि ये तीनों सुषुप्त तथा स्वप्न यानी मायामात्र हैं, चिदेकरस ही यह

नहि वस्तु' इति, 'असत्त्वादन्यस्य' इत्यादिश्रुतिभिः 'इदं सर्वं मिथ्या, मायाकार्यत्वात्, ऐन्द्रजालिकवद्' इत्यादियुक्तिभिश्च विचार्यमाणे देहादिद्वैतप्रपञ्चस्य सर्वस्य मायाकार्यत्वेन मिथ्यात्वात् द्वैतकारणत्वानुपपत्तेः ब्रह्मात्मनोर्भेदस्य महाकाशघटाकाशयोरिवोपाधिपरिकल्पितत्वादुपाधेरप्यविद्याकार्यत्वेन मिथ्यात्वाच्च । तदसत्त्वे तयोरभेद एव । ततस्त्वद्वितीयत्वं ब्रह्मणो निरङ्कुशमिति बोधयितुं ब्रह्मात्मनोरेकत्वमाह—**परमात्मेति चाऽप्युक्त इति।** योऽस्मिन्देहे पुरुषोऽस्मत्प्रत्ययार्थो बुद्धितद्वृत्तिसाक्षिलक्षणो यस्मिन् प्रकृतिसान्निध्यात्कर्तृत्वभोक्तृत्वादिसंसारः कल्पितः उपद्रष्टृत्वादिलक्षणैर्विचार्यमाणे यः प्रकृतितद्विकारतद्धर्मतत्कर्मसम्बन्धलेशशून्योऽसंसारी नित्यकूटस्थासङ्गचिद्रूपः स आत्मा परमात्मा ब्रह्मैव इति सर्वश्रुतिभिरुक्तः । 'तदेतदात्मानमोमित्यपश्यन्तः पश्यत तदेतत्सत्यमात्मा ब्रह्मैव ब्रह्मात्मैवाऽत्र ह्येव न विचिकित्स्यम्' इति, 'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इति, 'अयमात्मा ब्रह्म' इति चेत्यादिभिर्ब्रह्मात्मनोरभेद एव सम्यक् प्रतिपादित इत्यर्थः । ततः क्षेत्रज्ञस्य ब्रह्मभाव स्वाभाविक एव न तु कल्पितः । यतः सर्वज्ञया सत्यवादिन्या प्रमाणशिरोमण्या श्रुत्या 'तदेतत्सत्यमात्मा ब्रह्मैव ब्रह्मात्मैव' इति तयोरेकत्वमुच्यते, तथैवेश्वरेणाऽपि 'क्षेत्रज्ञं चाऽपि मां विद्धि' इति 'देहेऽस्मि-

---

आत्मा है', 'विकल्प वस्तु नहीं है', 'अन्यका असत्त्व है' इत्यादि श्रुतियोंसे और 'यह सब मिथ्या है, मायाका कार्य होनेसे, ऐन्द्रजालिकके समान' इत्यादि युक्तियोंसे विचार करनेपर देह आदि सम्पूर्ण द्वैतप्रपञ्च मायाका कार्य होनेसे मिथ्या है, अतः वह द्वैतका कारण नहीं हो सकता, ब्रह्म और आत्माका भेद महाकाश और घटाकाशके समान उपाधिसे कल्पित है और उपाधि भी अविद्याजनित होनेसे मिथ्या है । अविद्याके मिथ्या होनेसे दोनोंका अभेद ही है । इसलिए ब्रह्मका अद्वितीयत्व निरङ्कुश है, ऐसा बोधन करनेके लिए ब्रह्म और आत्माका एकत्व कहते हैं—**परमात्मेति चाऽप्युक्त इति** । जो इस देहमें अस्मत्प्रत्ययका अर्थ बुद्धि और उसकी वृत्तिका साक्षीरूप पुरुष है, जिसमें प्रकृतिके सान्निध्यसे कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि संसार कल्पित है; उपद्रष्टृत्व आदि लक्षणोंसे विचार करनेपर जिसका प्रकृति, उसके विकार, उसके धर्म और उसके कर्मोंसे तनिक भी सम्बन्ध नहीं है; जो असंसारी, नित्यकूटस्थ, असङ्ग और चिद्रूप है, वह जीव परमात्मा (ब्रह्म) ही है, यों सम्पूर्ण श्रुतियोंसे कहा गया है । 'उस आत्माको 'ओम्' यों अविषयत्वरूपसे देखो, वह आत्मा ब्रह्म ही है, ब्रह्म आत्मा ही है, यह यथार्थ है, इस विषयमें संशय नहीं करना चाहिए', 'वह आत्मा है, हे श्वेतकेतु वह तुम हो', 'यह आत्मा ब्रह्म है' इत्यादिसे ब्रह्म और आत्माके अभेदका ही प्रतिपादन किया गया है, यह अर्थ है । इसलिए क्षेत्रज्ञका ब्रह्मभाव स्वाभाविक ही है, कल्पित नहीं है । जिस कारणसे सर्वज्ञ सत्यवादिनी प्रमाणशिरोमणिभूता श्रुतिने 'वह यह सत्य है, आत्मा ब्रह्म ही है, ब्रह्म आत्मा ही है' यों दोनोंके एकत्वका प्रतिपादन किया है, तथा ईश्वरने भी 'क्षेत्रज्ञ मुझको ही जानो' इससे और 'इस देहमें पुरुष पर है' इससे वैसा ही प्रतिपादन किया है; इसलिए ब्रह्म

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥ २३ ॥

हे अर्जुन, इस प्रकारसे पुरुष और प्रकृतिके स्वरूपको महत्से लेकर स्थूलान्त गुण-कार्योंके साथ जो जानता है, वह किसी प्रकारका भी बर्ताव क्यों न करे, उसकी पुनः उत्पत्ति नहीं होती यानी फिर उसको जन्म-मरणरूप अनर्थ-प्रवाह प्राप्त नहीं होता ॥ २३ ॥

न्पुरुषः परः' इति च, ततो ब्रह्मात्मनोरेकत्वे द्वैतहेतोरन्यस्याऽभावाद् ब्रह्मणोऽद्वितीयत्वं च निर्विचिकित्सं सिद्धम् ॥ २२ ॥

एवं प्रकृतिपुरुषयोर्विभागं पुरुषस्य प्रकृतिसम्बन्धराहित्यं ब्रह्माभिन्नत्वं च प्रतिपाद्य एवंलक्षणमात्मानं यो विजानाति स विदेहकैवल्यं प्राप्नोतीत्याह—**य एवमिति** ।

जन्मानेकसहस्रसमाराधितपरमेश्वरप्रसादसम्पन्नः शुद्धात्मा यो मुमुक्षुरधिकारी ब्राह्मणः स्वयं सदसद्विवेकतीव्रवैराग्यशमदमसंन्यासाद्यन्तरङ्गसाधनसम्पत्तिविशिष्टो भूत्वा ब्रह्मविद्गुरुसन्निधौ समनुष्ठितश्रवणादिजन्यज्ञानेनैवमुक्तप्रकारेण प्रकृतिमधिष्ठानाज्ञानतः कार्यकरणकर्तृकर्मफलरूपेण विजृम्भितामनाद्यनिर्वाच्यां सर्वानर्थमूलभूतामविद्यां गुणैर्महदादिस्थूलान्तैर्गुणकार्यैर्भोक्तृभोग्यात्मना स्थितैः सह मरोर्दर्शनेन जलप्रवाहमिवाऽधिष्ठानसंदर्शनेन मिथ्याभूतां वेत्ति । तथा पुरुषं क्षेत्रज्ञं च चिदाभासकर्तृककर्तृत्व-भोक्तृत्वादिधर्माध्यारोपाधिष्ठानभूतं विद्यया सम्यङ्निरस्ताशेषविशेषं सर्वोपाधिविनिर्मुक्त-

---

और आत्माका एकत्व सिद्ध होनेपर द्वैतके हेतु अन्यका अभाव होनेसे अद्वितीयत्व भी असन्दिग्धरूपसे सिद्ध हुआ ॥ २२ ॥

इस प्रकार प्रकृति और पुरुष दोनोंका विभाग, पुरुषका प्रकृतिके सम्बन्धसे रहितत्व और ब्रह्मसे अभेदका प्रतिपादन करके इस प्रकारके लक्षणवाले आत्माको जो जानता है, वह विदेहकैवल्यको प्राप्त होता है, ऐसा कहते हैं—**'य एवम्'** इत्यादिसे ।

अनेक सहस्र जन्मोंमें भली भाँति आराधित परमेश्वरके प्रसादसे सम्पन्न, शुद्ध मनवाला जो मुमुक्षु अधिकारी ब्राह्मण स्वयं सत् और असत्के विवेक, तीव्र वैराग्य, शम, दम, संन्यास आदि अन्तरङ्ग साधनोंकी सम्पत्तिसे विशिष्ट होकर ब्रह्मवित् गुरुकी सन्निधिमें अनुष्ठित श्रवण आदिसे उत्पन्न हुए ज्ञानसे उक्त प्रकारसे प्रकृतिको (अधिष्ठानके अज्ञानसे कार्य, करण, कर्ता और कर्मफल-रूपसे फैली हुई अनादि अनिर्वाच्य, सम्पूर्ण अनर्थकी मूलभूत अविद्याको) गुणोंके साथ—महत्से लेकर स्थूल तक भोक्ता-भोग्यस्वरूपसे स्थित गुण-कार्योंके साथ—मरुके दर्शनसे जलप्रवाहके समान अधिष्ठानके दर्शनसे मिथ्याभूत जानता है । तथा पुरुष यानी क्षेत्रज्ञको—चिदाभाससे किये जानेवाले कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि धर्मोंके अध्यारोपके अधिष्ठानभूत, विद्यासे जिसमें सम्यक् अशेष विशेष निरस्त हैं, सम्पूर्ण उपाधियोंसे रहित, उपद्रष्टृत्व आदि लक्षणोंसे लक्षित, आदि और अन्तसे रहित,

मुपद्रष्टृत्वादिलक्षणलक्षितमाद्यन्तरहितमाकाशवदत्यन्तविशुद्धमानन्दघनं चिदेकरसमात्मानं परं ब्रह्म वेत्ति । अयमेवाऽहमस्मि, न तु कर्ता भोक्ता संसारीत्यतन्निरसनपूर्वकं प्रत्यगभिन्नं परं ब्रह्म प्रत्यग्दृष्ट्या स्वात्मना यो विजानाति स ब्रह्मविद्यतिः सर्वथा सर्वप्रकारेण वर्तमानोऽपि । यद्यपि सर्वात्मदर्शिनो विदुषः शुद्धात्मनः स्वव्यतिरेकेणाऽन्यस्य ग्राह्यादेरभावात्प्रवृत्तिरेव न संभवति, भेददर्शिनो रागादिमतः खलु प्रवृत्तिः, न तु विशुद्धवृत्त्या सर्वं ब्रह्मैव पश्यतः संभवति; तथापि दुष्टादुष्टप्रारब्धवशाद्देहे तदनुरूपेण प्रवृत्ते सति परदृष्ट्या विविधं प्रवृत्तवद्भाति, तथापि स्वदृष्ट्या स्वयमप्रवृत्त एव सन्निष्क्रियत्वान्नित्यमुक्तत्वान्निर्लेपत्वान्निर्मूलिताशेषकर्मत्वाच्च प्रारब्धक्षयात्पतितेऽस्मिन् देहे भूयः पुनर्नाऽभिजायते नोत्पद्यते । पुनरुत्पत्तेः कारणभूतानामविद्याकामादीनां सम्यग्ज्ञानाग्निनिर्दग्धत्वेन कारणाभावात्केवलभावं प्राप्नोतीत्यर्थः । किमु वक्तव्यं सद्वृत्तो नाऽभिजायत इत्यपेरर्थः । प्रकृतिपुरुषयोः स्वरूपं क्षीरनीरवत्सम्यक् विविच्य विज्ञाय प्रकृतिं च गुणैः सह विद्यया प्रविलाप्य ब्रह्मैवाहमित्यविक्रियब्रह्मात्मना तिष्ठतो यतेः सर्वथावर्तनं यथेष्टाचरणं न संभवति, अनात्मन्यहंममाभिमानाभावात् । सत्येवाऽनात्मनि देहेन्द्रियादावहंममाभिनिवेशे इदं कर्तव्यमिदं भोक्तव्यमिति इच्छावेगे च पुंसः कर्मणि दुष्टेऽदुष्टे च प्रवृत्तिर्दृश्यते नाऽसति । ततस्तद्विहीनस्य सर्वं ब्रह्मैव पश्यतो

आकाशके समान अत्यन्त विशुद्ध, आनन्दघन, चिदेकरस, आत्माको—परब्रह्म जानता है । 'यही मैं हूँ, कर्ता, भोक्ता और संसारी नहीं हूँ, इस प्रकार अतत्के निरसनद्वारा प्रत्यगभिन्न परब्रह्मको प्रत्यक्दृष्टिसे अपने आत्मरूपसे जो जानता है, वह ब्रह्मवित् यति सर्वथा—सब प्रकारसे—व्यवहार करता हुआ भी । यद्यपि सर्वात्मदर्शी शुद्धात्मा विद्वान्‌की स्वभिन्न अन्य ग्राह्य आदिके न होनेसे उसमें प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती, क्योंकि राग आदिसे युक्त भेददर्शीकी ही प्रवृत्ति होती है, विशुद्ध वृत्तिसे सभीको ब्रह्म देखनेवाले विद्वान्‌की नहीं होती, तो भी दुष्ट या अदुष्ट प्रारब्धवश देहके प्रारब्धके अनुसार प्रवृत्त होनेपर अन्यकी दृष्टिसे नाना प्रकारसे प्रवृत्त हुआ-सा भासता है, पर तत्त्वदृष्टिसे स्वयं निष्क्रिय होने, नित्यमुक्त होने, निर्लेप होने और निर्मूलित अशेष कर्म होनेसे अप्रवृत्त ही होता हुआ प्रारब्धका क्षय होनेसे इस देहके नष्ट होनेपर फिर जन्म नहीं लेता यानी उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि पुनः उत्पत्तिके कारणभूत उसके अविद्या, काम आदि सम्यग्ज्ञानरूप अग्निसे जल जाते हैं, अतः कारणके न होनेसे केवलभावको प्राप्त हो जाता है, यह अर्थ है । सत् वृत्तवाले उत्पन्न नहीं होते, इसमें तो कहना ही क्या है, यह 'अपि' शब्दका अर्थ है । प्रकृति और पुरुष दोनोंके स्वरूपको क्षीर और नीरके समान भली भाँति—पृथक्-पृथक्-रूपसे—जानकर और प्रकृतिका गुणों सहित विद्यासे प्रविलय करके 'ब्रह्म ही मैं हूँ' यों अविक्रिय ब्रह्म-स्वरूपसे स्थित होनेवाले यतिका सर्वथा वर्तनरूप यथेष्टाचार नहीं हो सकता, क्योंकि उसका अनात्मामें 'मैं, मेरा' ऐसा अभिमान नहीं है । अनात्मा देह आदिमें 'मैं मेरा' यह अभिनिवेश होनेपर और यह कर्तव्य है, यह भोक्तव्य है, यों इच्छाका वेग होनेपर पुरुषकी दुष्ट और अदुष्ट कर्ममें प्रवृत्ति देखनेमें आती है,

ध्यानेनाऽऽत्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चाऽपरे ॥ २४ ॥

कुछ लोग ध्यानसे यानी श्रवण आदिके संस्कारसे जनित ज्ञानसे उत्पन्न ध्यानसे बुद्धिमें परमात्माकी स्वस्वरूपसे भावना करते हैं, कुछ लोग सांख्यरूप योगसे बुद्धिमें आत्माकी निष्क्रियरूपसे भावना करते हैं और कुछ लोग कर्मयोगसे 'यह सब वासुदेव है' ऐसी भावना करते हैं ॥ २३ ॥

ब्रह्मविदः सत्यसति च प्रवृत्तिर्नोपयुज्यत । एव, सर्वत्रब्रह्मदर्शनप्रपञ्चदर्शनयोः परस्परविरुद्धत्वात् । तर्हि 'सर्वथा वर्तमानोऽपि' इति वचनस्य व्याहतिः स्यादिति चेद्, उच्यते; ब्रह्मविदोऽपि ब्रह्मात्मना तिष्ठतो देहप्रारब्धवशात् क्वचिदाहारादौ नियमोल्लङ्घनं प्रसज्यते । तेनैतस्य ज्ञानं तत्फलं च प्रतिहन्यत इति मूढानां प्रतिपत्तिस्तां वारयतीदं वचनं भागवतम् 'सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते' इति । अतो नैतस्य व्याघात इति ॥ २३ ॥

एवम् 'ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि' इत्यादिना निरूपितस्य ब्रह्मणः स्वरूपं विज्ञाय प्रकृतिं च विलाप्य सर्वमिदमहं च ब्रह्मैवेति सर्वं ब्रह्मैव पश्यतो यतेस्तद्विज्ञानस्य फलं विदेहकैवल्यं प्रतिपाद्याऽधुना मुमुक्षूणामेवोत्तममध्यमाधमाधिकारिणां निर्विशेषब्रह्मप्राप्तये तत्तदधिकारानुरूपाणि साधनान्याह—**ध्यानेनेति** द्वाभ्याम् ।

केचिदुत्तमाधिकारिणो यतयः 'विविक्तदेशे च सुखासनस्थः शुचिः समग्रीवशिरः

न होनेपर देखनेमें नहीं आती, इसलिए उससे रहित सभीको ब्रह्म देखनेवाले ब्रह्मविद्की सत् और असत्में प्रवृत्ति उपपन्न नहीं है, क्योंकि सर्वत्र ब्रह्मदर्शन और प्रपञ्चदर्शनका परस्पर विरोध है। तब 'सर्वथा वर्तता हुआ भी' इस वचनका व्याघात हो जायगा, ऐसा यदि कहो, तो इसपर कहा जाता है—ब्रह्मस्वरूपसे स्थित रहनेवाले ब्रह्मवित्के भी देहके प्रारब्धवश कहीं—आहार आदिमें—नियमका उलङ्घन प्राप्त होता है, उससे इसका ज्ञान और फल नष्ट होता है, ऐसी जो मूढ़ोंको विप्रतिपत्ति होती है, उसका भगवान्का यह वचन वारण करता है—'सर्वथा वर्तन करता हुआ भी वह फिर उत्पन्न नहीं होता।' इसलिए इसका व्याघात नहीं है ॥ २३ ॥

इस प्रकार 'जो ज्ञेय है, उसको तुमसे कहूँगा' इत्यादिसे निरूपित ब्रह्मके स्वरूपको जानकर और प्रकृतिका विलय कर 'यह सब और मैं ब्रह्म ही हूँ', यों सबको ब्रह्म ही देखनेवाले यतिके उस विज्ञानके फल विदेहकैवल्यका प्रतिपादन करके अब उत्तम, मध्यम और अधम अधिकारी मुमुक्षुओंको निर्विशेष ब्रह्मकी प्राप्ति हो, इसलिए उनके अधिकारके अनुसार साधन कहते हैं—**'ध्यानेन'** इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

कोई उत्तम अधिकारी यति 'एकान्त देशमें सुखासनसे स्थित, शुचि तथा ग्रीवा, सिर और शरीरसे

शरीरः' इत्यादिना 'एकान्ते सुखमास्यतां परतरे चेतः समाधीयताम्' इत्युक्तरीत्या तीव्रमोक्षेच्छावैराग्याभ्यां सर्वेभ्यो विषयेभ्य इन्द्रियाण्युपसंहृत्य मनसः प्रत्यगात्मन्येकाग्रतामापाद्य ध्यानेन श्रवणादिसंस्कारजन्यज्ञानसाध्येन ध्यानेन विजातीयप्रत्ययानन्तरितसजातीयप्रत्ययप्रवाहीकरणलक्षणेनाऽऽत्मनि बुद्धावेव सर्वदृश्यप्रकाशकतया स्थितं निर्विशेषं निराकारमाकाशवत्परिपूर्णं चिदेकरसमात्मानं परमात्मानं स्वात्मना स्वस्वरूपत्वेन पश्यन्ति भेदवासनानिवृत्तये श्रवणादिना ज्ञातं ब्रह्मैवाऽहमहमेव ब्रह्मेत्यात्मानं सर्वदा ब्रह्मैव भावयन्तीत्यर्थः । यद्वा 'सौम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः' इति मायाकार्यस्य सर्वस्य सदास्पदत्वश्रवणात् भ्रान्त्या कल्पितं सर्वमव्यक्तादिस्थूलान्तमात्मनि परमात्मनि सर्वाधिष्ठाने प्रातिलोम्येन प्रविलाप्य, तेन प्रत्यस्तमिताशेषविशेषं सद्घनं चिद्घनमानन्दघनमात्मानं परमात्मानं परं ब्रह्म ध्यानेन ब्रह्माकाराकारितान्तःकरणवृत्त्या तैलधारावदविच्छिन्नया वृत्त्यन्तरनिर्मुक्तया ब्रह्मैवाहमित्यात्मना स्वस्वरूपत्वेन पश्यन्ति । स्वमेव ब्रह्म सर्वदा भावयन्तीत्यर्थः । अन्ये मध्यमाधिकारिणो निरुक्तध्यानयोगाक्षमाः यतयः सांख्येन सांख्यं नाम बुद्धेः सर्वास्वप्यवस्थास्वहं नित्यकूटस्थासङ्गचिद्रूप एवाऽस्मि न कदापि चले न कुर्वे न भुञ्ज इति स्वस्य चैतन्याकारमात्रस्य प्रत्यग्वृत्त्या सर्वदा प्रकृतितद्गुणतद्विकारतद्धर्मतत्कर्मतदवस्थासम्बन्धराहित्य-

---

सम होकर' इत्यादिसे 'एकान्तमें सुखसे बैठे और परतर ब्रह्ममें चित्त समाहित करे' इस प्रकार कही गई रीतिसे तीव्र मोक्षकी इच्छा और वैराग्यसे सब विषयोंसे इन्द्रियोंको खींचकर मनको प्रत्यक् आत्मामें एकाग्र करके ध्यानसे (श्रवण आदि संस्कारजन्य ज्ञानसे साध्य और विजातीय प्रत्ययरहित सजातीयप्रत्ययप्रवाहीकरणरूप ध्यानसे) आत्मामें—बुद्धिमें—ही सब दृश्यके प्रकाशकरूपसे स्थित निर्विशेष, निराकार, आकाशके समान पूर्ण चिदेकरस आत्माको (परमात्माको) अपने आत्मासे—स्वस्वरूपसे—देखते हैं । भेदवासनाकी निवृत्तिके लिए श्रवण आदिसे ज्ञात ब्रह्म ही मैं हूँ, मैं ही ब्रह्म हूँ, इस प्रकार आत्मा ब्रह्म ही है, ऐसी सर्वदा भावना करते हैं, यह अर्थ है । अथवा 'हे सौम्य, यह प्रजा सत् आयतनवाली, सत् प्रतिष्ठावाली है' यों सब मायाके कार्योंका सदास्पदत्व सुननेमें आता है, अतः भ्रान्तिसे कल्पित अव्यक्तसे लेकर स्थूलतक सबका आत्मामें—सबके अधिष्ठान परमात्मामें—प्रातिलोम्यसे प्रविलय करके उससे अशेषविशेषसे रहित सद्घन, चिद्घन, आनन्दघन परमात्मा परब्रह्मको ध्यानसे—ब्रह्माकार अन्तःकरणकी वृत्तिसे यानी तैलकी धराके समान अविच्छिन्न दूसरी वृत्तिसे रहित वृत्तिसे—ब्रह्म ही मैं हूँ, यों अपने आत्मस्वरूपसे ही देखते हैं । अपनेमें ही सर्वदा ब्रह्मभावना करते हैं, यह अर्थ है। दूसरे मध्यम अधिकारी—पूर्वोक्त ध्यानयोग करनेमें असमर्थ यति—सांख्ययोगसे (बुद्धिकी सभी अवस्थाओंमें मैं नित्यकूटस्थ, असङ्ग और चिद्रूप ही हूँ, न कभी चलता हूँ, न करता हूँ और न भोगता हूँ, इस प्रकार अपने केवल चैतन्याकारको ही प्रत्यग्वृत्तिसे सर्वदा प्रकृति, उसके गुण, उसके विकार, उसकेधर्म, उसके

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वाऽन्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चाऽतितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥ २५ ॥

उक्त साधनोंमें से किसी एक साधनको भी न जाननेवाले कुछ लोग (अपठित स्त्री आदि) गुरुजनोंसे सुनकर आत्माकी उपासना करते हैं, वे भी गुरुके उपदेशका अनुसरण कर क्रमशः मृत्युका अतिक्रमण करते हैं ॥ २५ ॥

दर्शनमेव, संसारमोक्षस्योपायत्वेन सांख्यमेव योगस्तेन सांख्येन योगेनाऽऽत्मनि बुद्धावात्मानं पश्यन्ति। स्व मकर्तारमभोक्तारं निष्क्रियमेव सर्वदा भावयन्तीत्यर्थः । अपरे च ध्यानसांख्ययोगयोः सदसद्विवेकवैराग्यसंन्यासैकसाधनयोरनधिकारिणो गृहिणोऽपि कर्मयोगेन 'मत्कर्मकृन्मत्परमः' इत्युक्तरीत्या परमेश्वरार्थं सकलकर्मानुष्ठानं कर्मयोगः मोक्षोपायत्वात्कर्मैव योगः कर्मयोगस्तेन चित्तशुद्धिसंपादनकारणेनाऽऽराधयन्तः सन्तः आत्मानं परमात्मानं विश्वरूपमात्मनि बुद्धौ पश्यन्ति । 'वासुदेवः सर्वम्' इति बुद्ध्या सर्वं विष्णुं भावयन्ति । यद्वा परमेश्वरार्पणबुद्ध्या श्रद्धाभक्तिभ्यां समनुष्ठितेन कमयोगेन चित्तशुद्धिं प्राप्य तत्संपादितश्रवणादिजन्यज्ञानेनाऽऽत्मनि बुद्धावात्मानमात्मना पश्यन्ति क्रमेणेत्यर्थः ॥ २४ ॥

इत्थं ध्यानसांख्ययोगयोः कमयोगे चाऽप्यधिकारिणां यतीनां गृहस्थानां च ब्राह्मणादीनां यथाधिकारं मोक्षसाधनमुपदिश्य, परमदयालुतया श्रीभगवान् कर्मस्वप्यनधिकारिणां मुक्तिसाधनमाह—**अन्ये त्विति** ।

कर्म, उसकी अवस्थाके सम्बन्धसे रहित देखना ही सांख्य है, संसारसे मुक्ति पानेमें उपाय होनेके कारण सांख्य ही योग है, सांख्ययोगसे) आत्मामें—बुद्धिमें—आत्माको देखते हैं । अपनेको अकर्ता, अभोक्ता, निष्क्रिय ही सर्वदा समझते हैं, यह अर्थ है । कुछ लोग यानी सदसद्विवेक, वैराग्य और संन्यास से ही प्राप्त होनेवाले ध्यानयोग और सांख्ययोगमें अनधिकारी गृहस्थ भी कर्मयोगसे ('मत्कर्मकृत् मत्परमः' इससे प्रतिपादित रीतिसे परमेश्वरके लिए किये गये सब कर्मोंका अनुष्ठान कर्मयोग है, मोक्षका उपाय होनेसे कर्म ही योग है) यानी चित्तशुद्धिके सम्पादनके कारण कर्मयोगसे आराधन कर रहे गृहस्थ आत्माको—विश्वरूप परमात्माको—आत्मामें (बुद्धिमें) देखते हैं । 'वासुदेव सब हैं' इस बुद्धिसे सबको विष्णु समझते हैं । अथवा परमेश्वरार्पणबुद्धिसे, श्रद्धा-भक्तिसे अनुष्ठित कर्मयोगसे चित्तशुद्धिको प्राप्त कर, उससे सम्पादित श्रवण आदिसे जनित ज्ञानसे आत्मामें—बुद्धिमें—आत्माको आत्मरूपसे क्रमशः देखते हैं, यह अर्थ है ॥ २४ ॥

इस प्रकार ध्यान और सांख्ययोग दोनोंमें तथा कर्मयोगमें अधिकारी यति और ब्राह्मण आदि गृहस्थोंको यथाधिकार मोक्षके साधनका उपदेश करके परम दयालुतासे श्रीभगवान् कर्ममें भी अनधिकारियोंकी मुक्तिका साधन कहते हैं—**'अन्ये तु'** इत्यादिसे ।

यावत्संजायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ २६ ॥

हे भरतश्रेष्ठ, स्थावर और जङ्गमात्मक जितने भी प्राणी इस संसारमें उत्पन्न होते हैं, वे सब क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे उत्पन्न होते हैं, ऐसा तुम जानो ॥ २६ ॥

कर्माधिकारिभ्यस्त्रैवर्णिकेभ्यो ब्राह्मणादिभ्योऽन्ये तु कर्मस्वनधिकारिणः केवलपामराः स्त्रीशूद्रादयः किञ्चिदप्येवमुक्तेषु साधनेष्वेकमपि साधनमजानन्तः शास्त्राध्ययनतदर्थज्ञानयोग्यताभावादुक्तसाधनान्यतरं यथावत् ज्ञातुं कर्तुं चाऽसमर्थाः सन्तः स्वयमन्येभ्यो ब्राह्मणादिभ्यो गुरुभ्यस्त्वमिदमेवं कुरु इदमेवमनुसंधेहीति श्रुत्वा श्रद्धया भक्त्या च श्रुतिपरायणाः श्रूयत इति श्रुतिः श्रुतोऽऽर्थस्तत्परायणास्तदेकप्रवणाः सन्त उपासते श्रुतमर्थं सम्यगनुतिष्ठन्ति तेऽपि परोपदेशानुवर्तिनः ईश्वरप्रसादचित्तशुद्धितत्फलसिद्ध्यादिक्रमेण मृत्युं मृत्युदुःखप्रधानं संसारमतितरन्त्यतिक्रामन्ति । क्रमेण मुक्तिं गच्छन्तीत्यर्थः ॥ २५ ॥

'एतद्योनीनि भूतानि' इति यदुक्तं भूतानां संसारस्य क्षेत्रक्षेत्रज्ञलक्षणप्रकृतिद्वयसम्बन्धकारणत्वं तदिदानीं विशदयति—मौक्षैककामैः पण्डितैः प्रकृतिद्वयसम्बन्धः प्रयत्नेन परिहर्तव्य इति सूचयितुम्—**यावदिति** ।

स्थावरजङ्गमं स्थावररूपं जङ्गमरूपं यावद्यावत्परिमाणकं यत्किञ्चित् यद्यत्सत्त्वं

कर्मके अधिकारी त्रैवर्णिक ब्राह्मण आदिसे अन्य कर्ममें अनधिकारी केवल पामर स्त्री, शूद्र आदि किसी भी—इन कहे गये साधनोंमें से एक भी—साधनको न जाननेवाले (शास्त्रके अध्ययन और उसके अर्थके ज्ञानकी योग्यताके अभावसे उक्त साधनोंमें से एक साधनको भी यथावत् जानने और करनेमें असमर्थ होनेके कारण) स्वयं अन्य ब्राह्मण आदि गुरुओंसे 'तुम यह इस प्रकार करो, इसका यों अनुसंधान करो' ऐसा सुनकर श्रद्धासे और भक्तिसे श्रुतिपरायण (जो सुनी जाती है, वह श्रुति है, यानी सुना हुआ अर्थ, उसके परायण, केवल उसीपर चलनेवाले) होकर उपासना करते हैं—सुने हुए अर्थका भलीभाँति अनुष्ठान करते हैं, वे परोपदेशके अनुवर्ती भी लोग ईश्वरका प्रसाद, चित्तशुद्धि, उसके फलकी सिद्धि आदि क्रमसे मृत्युसे—मृत्युरूप दुःखप्रधान संसारसे—तर जाते हैं—मृत्युका उल्लङ्घन कर जाते हैं । क्रमसे मुक्तिको प्राप्त होते हैं, यह अर्थ है ॥ २५ ॥

'एतद्योनीनि भूतानि' इत्यादिसे जो यह कहा था कि जीवोंकी संसारप्राप्तिमें क्षेत्र और क्षेत्रज्ञरूप दो प्रकृतियोंका सम्बन्ध कारण है, अब उसीका—केवल मोक्षकी ही कामना करनेवाले पण्डितोंको दोनों प्रकृतियोंके सम्बन्धको प्रयत्नपूर्वक दूर करना चाहिए, ऐसा सूचन करनेके लिए—स्पष्टीकरण करते हैं—**'यावत्'** इत्यादिसे ।

स्थावर और जङ्गम (स्थावररूप-जङ्गमरूप जितने-जितने परिमाणवाले जो जो कोई सत्त्व

प्राणि संजायते त्रिलोक्यां समुत्पद्यते तत्सर्वं क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात् क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः संयोगात्सम्बन्धादेव संजायते । यत्किञ्चिदित्यविशेषग्रहणं देवमनुष्यादिषु सर्वत्राऽपि जनेः साधारणत्वसूचनार्थम् । क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः प्रकृतिपुरुषयोः सम्बन्धे सत्येव प्राणिजातं सर्वं समुत्पद्यते । जननादिदुःखमपरिच्छिन्नमनुभुङ्क्ते नाऽन्यथेति विद्धि विजानीहि त्वं भरतर्षभ । प्रकृतिपुरुषयोः सम्बन्धे सत्येवाऽविद्यास्मितादयो विजृम्भन्ते जन्मादिदुःखहेतवस्ततः कर्माणि च जन्मबीजानि नाऽसति अतस्तयोः सम्बन्धः प्रयत्नेन तत्त्वज्ञैर्मोक्षसुखेच्छुभिर्यतिभिः परिहर्तव्य इत्यर्थः । ननु प्रकृतिपुरुषयोः सम्बन्धः को यस्मिन् सति पुंसः संसारो यदभावे तदभाव इति चेद्, उच्यते—न तयोः परस्परावयवसंश्लेषैकनिबन्धनः संयोगः संभवति, सावयवनिरवयवयोः संयोगायोगात्, 'निष्कलं निष्क्रियम्'इति पुरुषस्याऽऽत्मनो निरवयवत्वश्रवणात् । ननु निरवयवस्याऽप्याकाशस्य विभुत्वसिद्धये सर्वमूर्तद्रव्यसंयोगित्वं विभुत्वमिति सर्वमूर्तद्रव्यैः संयोगोऽङ्गीकृत एवेति चेत्, तथात्वे त्वाकाशस्य सावयवत्वं वर्षवाय्वग्न्यादिसंयोगात् क्लेदशोषप्लोषाद्यनर्थश्च स्यादनित्यत्वं च । सूक्ष्मत्वात्स्थूलैर्न संयुज्यत इति चेत्, न; जलादीनां सूक्ष्मावयवैः सूक्ष्मस्याऽपि संयोगश्चोक्तानर्थश्च स्यात्, ततो मूर्तद्रव्यसंयोगित्वकल्पनं भ्रम एव । किन्तु निरवयवस्याऽऽकाशस्य

(प्राणी) जनमते हैं—त्रिलोकीमें उत्पन्न होते हैं—वे सब क्षेत्रक्षेत्रज्ञके संयोगसे (सम्बन्धसे) ही उत्पन्न होते हैं । यत्किञ्चित्, यह सामान्य ग्रहण देव, मनुष्य आदि सभीमें जन्मकी समानताका सूचन करनेके लिए है । क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनोंका—प्रकृति और पुरुष दोनोंका—सम्बन्ध होनेपर ही सम्पूर्ण प्राणी उत्पन्न होते हैं । जनन आदि अपरिच्छिन्न (अनन्त) दुःख भोगते हैं, अन्यथा नहीं, ऐसा हे भरतर्षभ, तुम जानो—समझो । प्रकृति और पुरुष दोनोंका सम्बन्ध होनेपर ही जन्म आदि दुःखकी हेतु अविद्या, अस्मिता आदि फैलते हैं, और उनसे जन्मके बीज कर्म फैलते हैं, यदि सम्बन्ध न हो, तो नहीं फैलते, इसलिए दोनोंका सम्बन्ध प्रयत्नसे मोक्षसुखकी इच्छावाले तत्त्वज्ञ यतियोंको दूर करना चाहिए, यह अर्थ है । प्रकृति और पुरुषका परस्पर अवयवोंके जुड़नेके कारणसे संयोग नहीं हो सकता, क्योंकि सावयव और निरवयवका संयोग हो नहीं सकता । 'निष्कल, निष्क्रिय' इससे पुरुषका—आत्माका—निरवयवत्व सुननेमें आता है । यदि कहो कि निरवयव आकाशमें भी विभुत्व सिद्ध करनेके लिए 'सर्वमूर्तद्रव्यसंयोगित्व विभुत्व है' इस प्रकार उसका सर्वमूर्त द्रव्योंसे संयोग होता है, ऐसा अङ्गीकार किया ही है, तो यह कहना युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेसे आकाशमें सावयवत्व तथा वर्षा, वायु, अग्नि आदिके संयोगसे भींगना, सूखना और जलना आदि अनर्थ होगा और अनित्यत्व भी होगा । सूक्ष्म होनेसे स्थूलोंसे जुड़ता नहीं है, ऐसा कहो, सो भी युक्त नहीं है, क्योंकि जल आदिके सूक्ष्म अवयवोंसे सूक्ष्मका संयोग और कहा गया अनर्थ होगा, इसलिए मूर्त द्रव्यके संयोगित्वकी कल्पना भ्रम ही है । किन्तु निरवयव

सर्वमूर्तद्रव्यव्यापकत्वस्यैव तत्संयोगित्वव्यपदेशो न तु साक्षादवयवसंश्लेषित्वस्य, निरवयवत्वेनाऽऽकाशस्य तदसंभवात् तद्वत् क्षेत्रज्ञस्याऽपि क्षेत्रेण संयोगो न संभवति। नाऽपि समवायश्च, तयोरयुतसिद्धत्वाभावात्। उभयोरप्यसम्भवे सम्बन्धान्तराभावात्। तर्हि कः सम्बन्धः? इत्यत्रोच्यते—युष्मदस्मत्पदप्रत्ययार्थयोर्विषयविषयिणोरन्योन्यविरुद्धस्वभावयोः प्रकृतिपुरुषयोर्विपरीतगृहीतयोरन्योन्यस्मिन्नन्योन्यधर्माध्यासलक्षणस्तद्विवेकज्ञानाभावैकनिबन्धनः सम्बन्धः शुक्तिरजतयोरिव संभवत्यनादिसंस्कारजन्यस्तत्स्वरूपाज्ञानमूलको मिथ्याज्ञानलक्षणः सोऽयमेव पुंसः संसारकारणम्, तन्निवृत्तिकारणं तयोः स्वरूपविवेचनमेव। तदुच्यते—घटतद्द्रष्ट्रोरिव विषयविषयिणोः प्रकृतिपुरुषयोरन्योन्यविलक्षणयोः स्वरूपं ज्ञेयत्वज्ञातृत्वाभ्यां प्रकाश्यप्रकाशकत्वाभ्यां विकारित्वाविकारित्वाभ्यामनित्यत्वनित्यत्वाभ्यां सावयवत्वनिरवयवत्वाभ्यामनेकत्वैकत्वाभ्यां च परस्परविलक्षणम्। 'इदं शरीरं क्षेत्रम्····एतद्यो वेत्ति स क्षेत्रज्ञः' इति, 'सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्' इति, 'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः' इति, 'तमसः परम्' इति, 'ज्ञानम्' इति, 'हृदि सर्वस्य धिष्ठितम्' इत्युक्तरीत्या क्षेत्रज्ञः क्षेत्राद्भिन्नः ज्ञातृत्वाद्घटज्ञातृवदित्यादियुक्तिभिर्विविच्य तिलतन्दुलवद्विभज्य क्षेत्राद्विभक्तं क्षेत्रज्ञं चिदेकरसमयमहमिति स्वात्मना विज्ञाय ततः प्रकृतिम् 'न सत्तन्नाऽसदुच्यते' इत्युक्तरीत्याऽऽत्मनि

आकाशका सम्पूर्ण मूर्तपदार्थोंमें व्यापक होना ही मूर्तपदार्थसंयोगित्व कहा गया है, साक्षात् अवयवसंश्लेषित्व मूर्तपदार्थसंयोगित्व नहीं है, क्योंकि निरवयव होनेसे आकाशका मूर्तपदार्थोंके साथ अवयवसंश्लेष नहीं हो सकता, वैसे ही क्षेत्रज्ञका भी क्षेत्रसे संयोग नहीं हो सकता और समवाय भी नहीं हो सकता, क्योंकि दोनोंमें अयुतसिद्धत्वका अभाव है। उक्त दो सम्बन्धोंका असम्भव होनेसे दूसरा सम्बन्ध भी नहीं हो सकता। तब कौन सम्बन्ध है? इस प्रश्नके उत्तरमें कहते हैं—युष्मत् और अस्मत् पदप्रत्ययके अर्थ, विषय और विषयीरूप, परस्पर विरुद्धस्वभाववाले, विपरीतरूपसे गृहीत प्रकृति और पुरुष दोनोंका एक दूसरेमें एक दूसरेके धर्मका अध्यासरूप सम्बन्धका, जिसका कि कारण उनके विवेकज्ञानका अभाव ही है, शुक्तिरजतके समान सम्भव है जो अनादिसंस्कारजन्य, प्रकृति-पुरुषके स्वरूपके अज्ञानका कार्य तथा मिथ्याज्ञान रूप है। वही पुरुषके संसारका कारण है, उसकी निवृत्तिका कारण दोनोंके स्वरूपका विवेचन ही है। वह कहा जाता है—घट और घटके द्रष्टाके समान विषय और विषयी रूप प्रकृति और पुरुष दोनोंका स्वरूप ज्ञेयत्व-ज्ञातृत्व, प्रकाश्यत्व-प्रकाशकत्व, विकारित्व-अविकारित्व, अनित्यत्व-नित्यत्व, सावयवत्व-निरवयवत्व और एकत्व-अनेकत्वरूपसे परस्पर विलक्षण है। 'यह शरीर क्षेत्र है, इसको जो जानता है, वह क्षेत्रज्ञ है', 'सब इन्द्रियोंके गुणोंका आभास सब इन्द्रियोंसे वर्जित', 'ज्योतियोंका भी वह ज्योति', 'तमसे पर', 'ज्ञान', 'सबके हृदयमें विशेषरूपसे स्थित' इत्यादि उक्त रीतिसे 'क्षेत्रज्ञ क्षेत्रसे भिन्न है, ज्ञाता होनेसे, घटके ज्ञाताके समान' इत्यादि युक्तियोंसे विवेक करके—तिल और तन्दुलके समान अलग करके—क्षेत्रसे भिन्न क्षेत्रज्ञरूप चिदेकरसको 'यह मैं हूँ' यों अपने आत्मस्वरूपसे जान-

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥ २७ ॥

नाम, रूप, जाति आदि भेदोंसे परस्पर विभक्त भूतोंमें (प्राणियोंके शरीरोंमें) एक रूपसे विद्यमान तथा भूतोंके नष्ट होनेपर भी नष्ट न होनेवाले परमेश्वरको जो साक्षात् देखता है, वह ब्रह्मविद् यति ही अपनेको विमुक्त देखता है ॥ २७ ॥

प्रविलाप्य पुनराभासरूपायाः प्रकृतेस्तद्धर्मतत्कर्मणां चाऽऽहारादौ संश्लेषो यथा न स्यात्तथा सदात्मनिष्ठायामेव तिष्ठतो ब्रह्मविद्यतेः पुनरविद्यास्मितादयो दुःखहेतवस्तत्कार्याणि च कर्माण्यपि जन्मबीजानि न संभवन्ति, विदेहमुक्तिश्च करस्था भवति; अतः क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः संयोगो यथा न स्यात्तथा ब्रह्मविद्भिर्ब्रह्मनिष्ठयैव स्थातव्यमिति सूचयितुं क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः संयोग एव विदामप्यविदां च सर्वेषां जन्मादिदुःखकारणमित्युच्यते जगद्गुरुणा 'यावत्संजायते किञ्चित्' इत्यादिना । तस्मात्सर्वदा सदात्मना स्थातव्यमिति सिद्धम् ॥ २६ ॥

कृतमपि क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्विवेचनं पुनरपि तद्विवेकदार्ढ्यार्थं तत्तन्नियतविशेषणैः कुर्वन्नेवं विविक्तमात्मानं यः साक्षाद्विजानाति स यतिरेव जीवन्मुक्त इति सूचयितुमाह—**सममिति** ।

भवन्ति जनिलक्षणं विकारं भजन्तीति भूतानि ब्रह्मादिस्थावरान्तानि । भूतानी-

---

कर, तदनन्तर प्रकृतिका 'वह न सत् है और न असत् कहा जाता है' इस कथित रीतिसे आत्मामें प्रविलापन करके फिर आहार आदिमें जैसे आभासरूप प्रकृतिका, उसके धर्मोंका और उसके कर्मोंका संश्लेष न हो, वैसे सदा आत्मनिष्ठामें ही स्थित रहनेवाले ब्रह्मवित् यतिके दुःखके हेतु अविद्या, अस्मिता आदि और उनके कार्य—जन्मके बीजभूत कर्म—फिर नहीं होते एवं विदेहमुक्ति हस्तगत हो जाती है, इसलिए क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका संयोग जैसे न हो, वैसे ब्रह्मविदोंको ब्रह्मनिष्ठासे ही स्थित रहना चाहिए, ऐसा सूचन करनेके लिए क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका संयोग ही ज्ञानी और अज्ञानी सबके जन्म आदि दुःखका कारण है, ऐसा जगत्के गुरु श्रीभगवान्ने कहा है—'यावत्संजायते किञ्चित्' इत्यादिसे । इसलिए सर्वदा सत् आत्मरूपसे स्थित रहना चाहिए, ऐसा सिद्ध हुआ ॥ २६ ॥

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका विवेचन यद्यपि किया गया है, तथापि उनके विवेकको दृढ करनेके लिए तत्-तत् नियत विशेषणोंसे पुनः क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका विवेचन कर रहे श्रीभगवान्, 'इस प्रकार विविक्त आत्माको जो साक्षात् जानता है' वही यति जीवन्मुक्त होता है, ऐसा सूचन करनेके लिए कहते हैं—**'समम्'** इत्यादि ।

जो होते हैं—जन्मरूप विकारको जो प्राप्त होते हैं—वे भूत हैं यानी ब्रह्मासे लेकर स्थावर तक

त्युक्त्या भूतानामेव भवनं न त्वात्मन इत्यात्मनो नित्यस्य भवनाभावस्तन्निमित्तकास्तित्वाभावश्च सूचितः । तेषु भूतेषु नामरूपजातिक्रियागुणविशेषैः परस्परं विभक्तेषु विषमेषु सर्वेष्वपि प्राणिशरीरेष्वविभक्तं सममेकरूपमुत्कर्षापकर्षवर्जितं समरसं निर्विशेषमित्यर्थः । आत्मन्यारोपितभूतेष्वेव नामरूपजातिगुणादिकृतो विशेषः न त्वधिष्ठाने आत्मनि, निरवयवत्वान्निर्गुणत्वादात्मनः केवलस्योत्कर्षापकर्षानुपपत्तेः । सममित्युक्त्या वृद्ध्यपक्षयलक्षणौ भावविकारावात्मनो न स्त इति सूचितं भवति । किञ्च, तिष्ठन्तम् 'क्षरः सर्वाणि भूतानि' इति न्यायेन क्षरस्वभावेषु भूतेषु प्रतिक्षणं विपरिणममाणेषु सत्सु स्वयं तद्रहिततया सर्वदैकरूपेण वर्तमानं निरवयवत्वादक्षरमाशैशवादापातं तत्तद्देहेन्द्रियादिषु विपरीतेषु सत्स्वहमस्मीत्यात्मसत्तायाः सदैकरूपत्वावगमात्सर्वदैकरूपेण स्थितमित्यर्थः, 'अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्' इति श्रुतेः । भूतानामेव विपरिणामो न त्वात्मन इत्यात्मनो विपरिणामाभावः सूचितः । किञ्च, अविनश्यन्तं जनिमत्त्वात् भूतेषु नश्यत्सु सत्सु स्वयमविनश्यन्तं चरमविकारवर्जितं नित्यमित्यर्थः । सुषुप्तौ सर्वभूतप्रलये सुखमहमस्वाप्समित्यात्मसद्भावावगमादात्मनित्यत्वे प्रत्यक्षम् । 'आत्मा नित्यः, अजत्वात्' इत्यनुमानम्, 'अविनाशी वा अरेऽयमात्मा' इति श्रुतिश्च प्रमाणम् । तत एव परमेश्वरं देहेन्द्रियप्राणमनोबुद्ध्य-

सम्पूर्ण प्राणी । 'भूत' इस कथनसे भूतोंकी ही उत्पत्ति होती है, आत्माकी नहीं, इस प्रकार नित्य आत्माकी उत्पत्तिका अभाव और उत्पत्तिसे होनेवाले अस्तित्वके अभावका सूचन किया है । उन भूतोंमें—नाम, रूप, जाति, क्रिया और गुणविशेषोंसे परस्पर विभक्त सब विषम प्राणियोंके शरीरोंमें—अविभक्त, सम, एकरूप उत्कर्ष और अपकर्षसे रहित, समरस यानी निर्विशेष, यह अर्थ है । आत्मामें आरोपित भूतोंमें ही नाम, रूप, जाति, गुण आदि द्वारा किया गया विशेष है, अधिष्ठानभूत आत्मामें नहीं है, क्योंकि निरवयव और निर्गुण होनेसे विशुद्ध आत्मामें उत्कर्ष और अपकर्ष नहीं हो सकता । 'सम' इस कथनसे आत्मामें वृद्धि और अपक्षय रूप भावविकार नहीं हैं, यह सूचित होता है । किञ्च, स्थित यानी 'सब भूत क्षर हैं' इस न्यायसे क्षरस्वभाववाले—प्रतिक्षण परिणामवाले—भूतोंमें स्वयं परिणामसे रहित होनेके कारण सर्वदा एकरूपसे वर्तमान । निरवयव होनेसे अक्षर, बचपनसे लेकर मरनेतक तत्-तत् देह, इन्द्रिय आदिके विपरीत होनेपर 'मैं हूँ' इस प्रकार आत्मसत्ता सदा एकरूपसे जाननेमें आती है, अतः सर्वदा एकरूपसे ही स्थित, यह अर्थ है; क्योंकि 'शरीरोंमें अशरीर और अस्थायियोंमें स्थायी' ऐसी श्रुति है । भूतोंका ही परिणाम होता है, आत्माका नहीं, इससे आत्माका विपरिणाम नहीं होता, ऐसा सूचित किया । किञ्च, अविनाशी—जन्मवान् होनेसे भूतोंके नष्ट होनेपर भी स्वयं अविनाशी—चरमविकारसे रहित यानी नित्य, यह अर्थ है । सुषुप्ति अवस्थामें सब भूतोंका प्रलय होनेपर 'सुखसे मैं सोया' यों आत्माका सद्भाव ज्ञात होता है, अतः आत्माके नित्यत्वमें प्रत्यक्ष प्रमाण है, तथा आत्मा नित्य है, अजन्मा होनेसे, यह अनुमान और 'यह आत्मा अविनाशी है' यह श्रुति भी उसके नित्यत्वमें प्रमाण हैं । इसीलिए पर-

व्यक्तेभ्यः परमं नित्यत्वेनाऽतिसूक्ष्मत्वेनाऽऽन्तरत्वेन व्यापकत्वेन चेतनत्वेन प्रकाशकत्वेनाऽधिष्ठानत्वेनाऽऽनन्दत्वेन चोत्कृष्टतममित्यर्थः, 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था ह्यर्थेभ्यः' इति श्रुतेः। ईश्वरमीशनशीलम्, अयसश्चुम्बकवत्स्वसन्निधिमात्रेण प्रकृतेः प्रवृत्तिहेतुत्वमीश्वरत्वमात्मनो न तु राजादिवन्नियन्तृत्वम् 'नैव कुर्वन्न कारयन्' इति, 'स्वभावस्तु प्रवर्तते' इत्युक्तत्वात्। एवं समत्वकूटस्थत्वनित्यत्वचेतनत्वादिभिः स्वधर्मैर्विषमत्वसविक्रियत्वविनाशित्वजडत्वादिधर्मवतः क्षेत्राद्विलक्षणत्वेनोपलभ्यमानं निर्विशेषमस्मत्पदप्रत्ययार्थमात्मानं क्षेत्रज्ञं क्षेत्रतद्धर्मतत्कर्मास्पृष्टं यः पश्यति नित्यनिरन्तरश्रवणमननिदिध्याससमाधिभिः क्रमेण समनुष्ठितैः संभावितसम्यग्ज्ञानेन नित्यकूटस्थासङ्गचिद्रूपः प्रत्यगेवाऽस्मि न तु क्वचित्संसारीति संसारिविलक्षणमात्मानं यः साक्षात्पश्यति स ब्रह्मविद्यतिर्यथाभूतस्वरूपं कर्तृत्वभोक्तृत्वादिसर्वसंसारधर्मवर्जितं सर्वोपाधिविनिर्मुक्तमाकाशवदत्यन्तनिर्मलं परिपूर्णमात्मानं स्वं मुक्तमेव सर्वावस्थासु सर्वदा पश्यति न त्वन्यः श्रवणमात्रेण स्वं कृतार्थं मन्यमान आत्मानं मुक्तं पश्यतीत्यर्थः। एतेन घटमठादिष्वाकाशस्येव ब्रह्मादिस्तम्बान्तशरीरेष्वात्मनो व्यापकत्वं समत्वमसङ्गत्वं नित्यत्वं निष्क्रियत्वं पूर्णत्वं च दृष्ट्वा प्रारब्धानुरूपेण देहेन्द्रियादिषु प्रवृत्तेषु सत्सु निवृत्तेषु वा स्वस्य तदुभयराहि-

---

मेश्वर—देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि और अव्यक्तकी अपेक्षा परम—नित्य, अतिसूक्ष्म, आन्तर, व्यापक, चेतन, प्रकाशक, अधिष्ठान और आनन्दरूप होनेसे उत्कृष्टतम, यह अर्थ है, क्योंकि 'इन्द्रियोंसे पर अर्थ हैं और अर्थोंसे पर मन हैं' इत्यादि श्रुति है। ईश्वर यानी ईशनशील, जैसे चुम्बक अपनी सन्निधिमात्रसे लोहेमें चेष्टा पैदा करता है, वैसे ही अपनी केवल संनिधिसे ही आत्मा प्रकृतिको प्रवृत्त (व्यापारयुक्त) करता है, यही आत्माका ईश्वरत्व है। राजा आदिके समान नियन्तृत्वरूप ईश्वरत्व नहीं है, क्योंकि 'न करता हुआ, न कराता हुआ', 'स्वभाव ही प्रवृत्त होता है' ऐसा कहा गया है। इस प्रकार समत्व, कूटस्थत्व, नित्यत्व, चेतनत्व आदि अपने धर्मोंके द्वारा विषमत्व सक्रियत्व, विनाशित्व, जडत्व आदि धर्मवाले क्षेत्रकी अपेक्षा विलक्षणरूपसे ज्ञात हो रहे निर्विशेष अस्मत्पदप्रत्ययके अर्थभूत आत्माको (क्षेत्रज्ञको) जो इस क्षेत्रके धर्म तथा क्षेत्रके कर्मोंसे अस्पृष्ट देखता है—नित्य, निरन्तर एवं क्रमशः अनुष्ठित श्रवण, मनन, निदिध्यासन और समाधिसे उत्पन्न हुए सम्यक् ज्ञानसे नित्य, कूटस्थ, असङ्ग, चिद्रूप, प्रत्यग्रूप ही मैं हूँ, संसारी नहीं हूँ, यों संसारीसे विलक्षण आत्माको साक्षात् देखता है—वह ब्रह्मवित् यति यथार्थ स्वरूपवाले कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि सम्पूर्ण संसारधर्मोंसे रहित, सम्पूर्ण उपाधियोंसे रहित, आकाशके समान अत्यन्त निर्मल एवं परिपूर्ण आत्माको—अपनेको—सब अवस्थाओंमें सर्वदा मुक्त ही देखता है, अन्य यानी श्रवणमात्रसे अपनेको कृतार्थ माननेवाला आत्माको मुक्त नहीं देखता है, यह अर्थ है, इससे यह सूचित होता है कि घट, मठ आदिमें आकाशके समान, ब्रह्मासे लेकर स्तम्ब तक शरीरोंमें आत्मामें व्यापकत्व, समत्व, असङ्गत्व, नित्यत्व, निष्क्रियत्व और पूर्णत्वको देखकर प्रारब्धके अनुरूप देह, इन्द्रिय आदिके प्रवृत्त अथवा निवृत्त होनेपर अपना उन दोनोंसे

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानं ततो याति परां गतिम् ॥ २८ ॥

ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त भूतोंमें बाहर और भीतर चारों ओरसे स्थित एकरस परिपूर्णस्वरूप परमात्माको प्रत्यक्ष कर रहा यति यतः अपनेसे अपना हनन नहीं करता यानी देहादिके अध्याससे आत्माका तिरोभाव नहीं करता, इसलिए विदेहमुक्तिको प्राप्त करता है ॥ २८ ॥

त्यमेव यः सर्वदा पश्यति स्वयमविकारात्मना पूर्णवृत्त्या तिष्ठति स एव जीवन्मुक्त इति सूचितं भवति ॥ २७ ॥

ब्रह्मविद्यतिः सर्वत्र परिपूर्णमात्मानमेवैकरूपेण सदा यत्पश्यति तेनैव नैरन्तर्यदर्शनेन मुक्तो भवतीत्याह— **सममिति** ।

श्रवणमननादिभिः समुत्पन्नविज्ञानेन इदमेवाऽहमस्मीत्यपरोक्षीकृतात्मतत्त्वो यतिः सर्वत्र ब्रह्मादिस्तम्बान्तेषु भूतेषु बहिरन्तश्च सर्वतः समवस्थितं सम्यगुत्कर्षापकर्षराहित्येनैकरीत्या घटमठादिष्वाकाशवन्नैरन्तर्येण व्याप्याऽवस्थितमत एव सममेकरसं निर्विशेषमीश्वरं रविवत्सर्वप्राणिप्रवृत्तिकारणमात्मानं परिपूर्णं पश्यन् हि यस्मात्कारणादात्मानं स्वमात्मना स्वेनैव न हिनस्ति न निहन्ति । स्वयमेव स्वस्य हननं न करोतीत्यर्थः । आत्मनाऽऽत्मनो हननं नाम निष्क्रियस्य निःसङ्गस्य निराकारस्य निर्लेपस्य चाऽऽत्मनः स्वस्य पुनर्देहेन्द्रियादितादात्म्याध्यासेन कर्ताऽहं भोक्ता

रहित होना ही जो सर्वदा देखता है—स्वयं अविकारस्वरूपसे पूर्णवृत्तिसे स्थित रहता है—वही जीवन्मुक्त है, यह सूचित होता है ॥ २७ ॥

ब्रह्मवित् यति सदा सर्वत्र परिपूर्ण आत्माको ही एकरूपसे जो देखता है, उसी नैरन्तर्यदर्शनसे मुक्त होता है, ऐसा कहते हैं—**'समम्'** इत्यादिसे ।

श्रवण, मनन आदिसे उत्पन्न हुए विज्ञानसे 'यही मैं हूँ' यों जिसने आत्मतत्त्वको अपरोक्ष कर लिया है, ऐसा यति सर्वत्र—ब्रह्मासे लेकर स्तम्ब तक भूतोंमें—बाहर और भीतर सर्वत्र समरूपसे अवस्थित, सम्यक् (उत्कर्ष और अपकर्षसे रहित, एक रीतिसे) घट, मठ आदिमें आकाशके समान निरन्तर सबको व्याप्त करके अवस्थित, इसीलिए सम—एकरस, निर्विशेष ईश्वरको—(सूर्यके समान सब प्राणियोंकी प्रवृत्तिके हेतु परिपूर्ण आत्माको) देखता हुआ जिस कारणसे आत्माका—अपना—आत्मासे (अपनेसे) ही हनन नहीं करता—नहीं मारता, आप ही अपना हनन नहीं करता, यह अर्थ है । आत्मासे आत्माका हनन है—निष्क्रिय, निःसङ्ग, निराकार और निर्भय आत्माकी पुनः देह, इन्द्रिय आदिके तादात्म्यरूप अध्याससे मैं कर्ता, भोक्ता, सुखी, दुःखी, शिष्ट, भ्रष्ट, सुकृती,

सुखी दुःखी शिष्टो भ्रष्टः सुकृती दुष्कृतीत्याद्यतद्धर्मतत्कर्मारोपणं कृत्वा यदप्रतीत्यापादनं तदेव हननम्, येनाऽऽत्महननदोषेण स्वयं कूटस्थासङ्गचिद्रूपोऽपि सदानन्दोऽपि देहीभूय कर्तृत्वभोक्तृत्वादिधर्मवान्सन् जन्ममृत्युदुःखसागरे मज्जति। तदेतदात्महननं विदेहकैवल्यार्थी सम्यग्विदितात्मतत्त्वो यतिर्न करोति, किन्तु बाह्यवासनाकृतामसत्प्रवृत्तिमुत्सृज्य सदात्मनिष्ठयैव तिष्ठति। ततः सदात्मज्ञाननिष्ठयैव निरस्ताज्ञानतत्कार्यः सन् परां नित्यनिरतिशयानन्दलक्षणां गतिं विदेहमुक्तिं याति प्राप्नोति। 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' इति ब्रह्मनिष्ठस्यैव स्वस्वरूपादप्रमाद्यतो यतेरमृतत्वसिद्धिश्रवणात् सर्वदा स्वरूपनिष्ठायामेव तिष्ठतो यतेर्मुक्तिरिति सिद्धम्। यद्वा 'सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तम्' इति न्यायेन सर्वभूतेषु समवस्थितं सम्यगुत्कर्षापकर्षरहितत्वेन बहिरन्तः सर्वतो व्याप्य स्थितमीश्वरमुक्तलक्षणमात्मानं स्वस्मिन् सर्वत्र सममेकरसं परिपूर्णमेव पश्यन् हि यस्माद् ब्रह्मविद्यतिरात्मानं परिपूर्णं न हिनस्ति 'ब्राह्मणोऽयं शूद्रः शिष्टोऽयं भ्रष्टः' इति, 'इदं शुद्धमिदमशुद्धम्' इति भेददर्शनेन पूर्णस्याऽऽत्मनस्तिरोभावनमेव हिंसनम्। सम्यग्दर्शी विद्वान् मोक्षेच्छया सदा सर्वत्र समदर्शनममुञ्चानः सन् तदेतन्न करोति, किन्तु सर्वमिदमहमेवेति सदा पूर्णमेवाऽऽत्मानं पश्यति। ततस्तेनैव सर्वत्र ब्रह्मदर्शनेन निर्दग्धभेदगन्धो भूत्वा परां गतिं

दुष्कृती इत्यादि अतत्के धर्म और उसके कर्मोंका आरोप करके अप्रतीतिका (अज्ञानका) संपादन करना, जिस आत्महननरूप दोषसे स्वयं कूटस्थ, असङ्ग, चिद्रूप एवं सदानन्द भी आत्मा देहवान् होकर कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि धर्मवाला होकर जन्म-मृत्युरूप दुःखसागरमें डूबता है। उस आत्महननको भली भांति आत्मतत्त्वको जाननेवाला विदेहकैवल्यार्थी यति नहीं कर सकता, किन्तु बाहरकी वासनाओं द्वारा की गई असत्-प्रवृत्तिको छोड़कर सत्रूप आत्माकी निष्ठासे ही स्थित रहता है। इसलिए सदात्मज्ञाननिष्ठासे ही जिसने अज्ञान और उसके कार्यका निरास किया है, ऐसा यति पर, नित्य, तथा निरतिशय आनन्दरूप गतिको—विदेहमुक्तिको—जाता है यानी प्राप्त करता है। 'ब्रह्ममें निष्ठा करनेवाला अमृतत्वको प्राप्त करता है' इत्यादि श्रुतिसे ब्रह्मनिष्ठामें—स्वरूपमें—प्रमाद न करनेवाले यतिकी ही अमृतत्वकी सिद्धि सुनी जाती है, अतः सर्वदा केवल स्वरूपनिष्ठामें स्थित रहनेवाले यतिकी मुक्ति होती है, यह सिद्ध हुआ। अथवा 'सब भूतोंमें स्थित' इस न्यायसे सब भूतोंमें समरूपसे अवस्थित—सम्यक् (उत्कर्ष और अपकर्षसे रहित होकर बाहर और भीतर सब तरफसे व्याप्त करके) स्थित—ईश्वरको (उक्त लक्षणवाले आत्माको) अपनेमें और सर्वत्र सम, एकरस और परिपूर्ण ही देखता हुआ जिस कारणसे ब्रह्मवित् यति परिपूर्ण आत्माकी हिंसा नहीं करता, यह ब्राह्मण है, यह शूद्र है, यह शिष्ट है, यह भ्रष्ट है, यों तथा यह शुद्ध है, यह अशुद्ध है, यों भेददर्शनसे पूर्ण आत्माको आवृत करना ही हिंसा है। मोक्षकी इच्छासे सदा सर्वत्र समदर्शनका त्याग न कर रहा सम्यग्दर्शी विद्वान् आत्महनन नहीं करता, किन्तु 'यह सब मैं ही हूँ' यों सदा पूर्ण आत्माको देखता है। पीछे उसी सर्वत्रब्रह्मदर्शनसे निर्दग्धभेदगन्ध (भेदलेशशून्य) होकर परम

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथाऽऽत्मानमकर्तारं स पश्यति ॥२९॥

जो सब प्रकारसे विहित और प्रतिषिद्ध श्रवण आदि कर्मोंको सत्त्व, रज और तमोगुणरूपा मायाके द्वारा ही किये जानेवाले देखता है तथा आत्माको कर्तृत्व आदि धर्मोंसे रहित देखता है, वही एकरस परिपूर्ण ब्रह्मको देखता है ॥ २९ ॥

याति । यस्मात्सर्वत्र परिपूर्णमेवाऽऽत्मानं सर्वदा पश्यन्नेव विद्वान्मुक्तो भवति । तस्मात् क्वचित्प्रमादेनाऽप्यनात्मनि तद्धर्मतत्कर्मस्वप्यहंममेत्यध्यासो जन्मादिदुःखहेतुर्विज्ञातात्मतत्त्वैर्यतिभिर्विदेहकैवल्यसुखार्थिभिर्न कर्तव्य इति सूचितं भवति ॥ २८ ॥

ननु सुखदुःखविवेकाविवेकशूरत्वभीरुत्वादिगुणैः स्वकृतकर्मविशेषैरहमहमिति प्रत्ययभेदैश्च प्रतिशरीरमात्मसु भिन्नेषु सत्सु कथं सर्वेषु भूतेष्वात्मानं समं पश्यति यतिरित्याशङ्कायाम् न; 'विज्ञानं यज्ञं तनुते, कर्माणि तनुतेऽपि च' इति, 'एष द्रष्टा स्प्रष्टा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः' इति च श्रवणाद्विज्ञानात्मन एव कर्मकरणं तत्फलानुभवः विवेकादिगुणाश्च प्रतिशरीरमहमहमित्यभिमानकृतो भेदश्च न त्वात्मनस्तस्याऽमनस्कत्वान्निरिन्द्रियत्वान्निरवयवत्वाच्च गुणानुपपत्तेः कर्मानुपपत्तेर्भेदानुपपत्तेश्च । ततः सर्वं कर्म प्रकृतिरेव करोति न त्वात्मा तेनाऽस्य सर्वभूतसमत्वं सिध्यतीति बोधयितुमाह—**प्रकृत्यैवेति** ।

गतिको प्राप्त होता है । जिस कारणसे सर्वत्र परिपूर्ण आत्माको सर्वदा देखता हुआ ही विद्वान् मुक्त होता है, इसलिए कहीं प्रमादसे भी अनात्मामें, उसके धर्मोंमें, उसके कर्मोंमें 'मैं, मेरा' इस प्रकारका जन्मादि दुःखका हेतु अध्यास आत्मतत्त्वको जाननेवाले विदेहकैवल्यार्थी यतियोंको नहीं करना चाहिए, ऐसा सूचित होता है ॥ २८ ॥

सुख, दुःख, विवेक, अविवेक, शूरत्व, भीरुत्व आदि गुणोंसे, अपने द्वारा किये गये कर्मविशेषोंसे और 'मैं' 'मैं' इस प्रकारके प्रत्ययोंसे प्रत्येक शरीरमें आत्मा जब भिन्न भिन्न हैं, तब सब भूतोंमें आत्माको सम यति कैसे देखेगा ? ऐसी आशङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि 'विज्ञान यज्ञको फैलाता है और कर्मोंको भी फैलाता है' तथा 'यह द्रष्टा, स्प्रष्टा, कर्ता और विज्ञानात्मा पुरुष है' इस श्रुतिसे विज्ञानात्माका ही कर्म करना, उनके फलका अनुभव करना, विवेक आदि गुण और प्रत्येक शरीरमें 'मैं' 'मैं' यों अभिमान द्वारा किया गया भेद है, आत्माका नहीं है, क्योंकि मनरहित होने इन्द्रियरहित होने तथा निरवयव होनेसे आत्मामें गुण, कर्म और भेदकी उपपत्ति नहीं हो सकती । इससे सब कर्म प्रकृति ही करती है, आत्मा नहीं करता, यह सिद्ध हुआ, इसलिए उसका सब भूतोंमें सम होना सिद्ध है, ऐसा बोधन करनेके लिए कहते हैं—'**प्रकृत्यैव**' इत्यादिसे ।

प्रकृतिस्त्रिगुणात्मिका माया देहेन्द्रियप्राणमनोबुद्ध्यादिरूपेण परिणता 'कार्य-करणकर्तृत्वे हेतुः' इत्युक्तलक्षणा या तया प्रकृत्यैव । एवकारोऽन्ययोगव्यवच्छेदार्थः । कर्माणि श्रवणदर्शनस्पर्शनवचनादानविसर्गादीनि सर्वशः सर्वप्रकारैर्विहितानि प्रतिषिद्धानि च सर्वाणि क्रियमाणानि चकारात्तत्फलानुभूतिं च तयैव क्रियमाणां यः पश्यति, श्रुति-युक्त्यनुभूतिभिरात्मानात्मनोः प्रकृतिपुरुषयोः स्वरूपमुक्तरीत्या सम्यग्विविच्याऽनात्मनः सकाशादात्मनः स्वरूपं मुञ्जादिषीकामिव पृथग्विभक्तं स्वात्मत्वेन साक्षाद्विज्ञाय तदा-त्मना सदा स्थितवतो ब्रह्मविद्यतेरेव स्वतो विभक्तया प्रकृत्यैव सर्वाणि कर्माणि क्रियमाणान्युपलभ्यन्ते तयैव क्रियमाणा तत्फलानुभूतिरप्युपलभ्यते, नाऽन्यस्य । एव-मात्मानात्मविवेकज्ञानशक्त्या प्रकृतिकर्तृकामेव सर्वचेष्टां फलानुभूतिं च । तथा-शब्दश्चार्थः । तथाऽऽत्मानमकर्तारं चाऽऽभोक्तारं निष्क्रियं नित्यकूटस्थं साक्षाद्यो यतिः पश्यति स एव स्वानुभूत्या प्रत्यग्दृष्ट्या ब्रह्मादिस्तम्बान्तेषु भूतेषु सर्वत्राऽऽत्मानम-कर्तारमभोक्तारं सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं सममेकरसमेव पश्यति तेन परां गतिं च याति नाऽन्य इत्यर्थः । श्लोकत्रयेणाऽपि 'सर्वभूतस्थमात्मानम्' इति श्रुतन्यायेन साक्षात्सर्वभूते-ष्वात्मानं सममेव पश्यतो यतेर्मुक्तिरिति सूचितं भवति ॥ २९ ॥

ननु 'समं सर्वेषु भूतेषु' इति, 'समं पश्यन् हि सर्वत्र' इति भूतानामात्मनश्चाऽऽ-

प्रकृति यानी त्रिगुणात्मिका माया यानी देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदिरूपसे परिणत, 'कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः' इस श्लोकसे कथित लक्षणसे सम्पन्न जो है, उस प्रकृतिसे ही। एवकार अन्य-योगके व्यवच्छेदके लिए है। कर्म—श्रवण, दर्शन, स्पर्शन, वचन, ग्रहण, त्याग आदि सब प्रकारोंसे विहित और प्रतिषिद्ध सम्पूर्ण क्रियमाण कर्म—चकारसे उनके फलका अनुभव, विवक्षित है। उसीसे क्रियमाण कर्मोंको जो देखता है। श्रुति, युक्ति और अनुभवसे आत्मा और अनात्मभूत पुरुष और प्रकृतिके स्वरूपका उक्त रीतिसे विवेचन करके अनात्मासे आत्माके स्वरूपको मूँजसे इषीकाके (डंठलके) समान पृथक् विभक्त कर, अपने आत्मरूपसे साक्षात् जानकर उसी स्वरूपसे सदा स्थित रहनेवाले ब्रह्मवित् यतिको अपनेसे ही विभक्त प्रकृतिसे ही किये जानेवाले सब कर्म उपलब्ध होते हैं, उसीसे क्रियमाण उनके फलकी अनुभूति भी उपलब्ध होती है, अन्यको नहीं। इस प्रकार आत्मा और अनात्माके विवेकज्ञानकी शक्तिसे प्रकृति द्वारा की गई सब चेष्टाओं और फलोंकी अनुभूति (तथाशब्द चके अर्थमें है) और इसीप्रकार अकर्ता, अभोक्ता, निष्क्रिय, नित्यकूटस्थ आत्माको साक्षात् जो यति देखता है, वही अपने अनुभवसे—प्रत्यक्‌दृष्टिसे—ब्रह्मासे लेकर स्तम्बतक सर्वत्र भूतोंमें आत्माको—अकर्ता, अभोक्ता सब उपाधियोंसे निर्मुक्त, सम एकरस ही देखता है, उससे वह परागतिको प्राप्त होता है, अन्य नहीं, यह अर्थ है। तीनों श्लोकोंसे भी 'सब भूतोंमें स्थित आत्माको' इस श्रुतिन्यायसे साक्षात् सम्पूर्ण भूतोंमें आत्माको सम देखनेवाले यतिकी मुक्ति होती है, ऐसा सूचित होता है ॥ २९ ॥

'समं सर्वेषु भूतेषु' 'समं पश्यन् हि सर्वत्र' इससे भूतोंका और आत्माका आधारके

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तथा ॥ ३० ॥

ब्रह्मविद् यति जिस समय एक ही आत्मामें कल्पित भूतोंके पार्थक्यको (भेदको) आत्मस्वरूप देखता है और आत्मासे ही उत्पन्न द्वैतप्रपञ्चके स्फुरणको आत्मस्वरूप देखता है, उसी समय वह ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है ॥ ३० ॥

धाराधेयत्वप्रतिपत्तौ सत्यां द्वैतमेवाऽऽपतति, कथमेवं द्वैतदर्शिनः 'ततो याति परां गतिम्' इति कैवल्यसिद्धिः प्रतिपाद्यत इत्याशङ्कायाम्, न, केदारे कल्पितसेतूनामन्तराले भूमिस्तिष्ठति, सेतवोऽपि भूमावेव तिष्ठन्ति, विचार्यमाणे भूमयः सेतवोऽपि सर्वं मृदेव भवति यथा, तथा कल्पितभूतेष्वात्मा तिष्ठति भूतान्यप्यात्मनि तिष्ठन्ति। श्रुतियुक्तिभिर्विचार्यमाणे सर्वमात्मैव भवत्यत आत्मव्यतिरिक्तवस्त्वभावादात्मैकत्वदर्शनं विदुषः संभवति तेन ब्रह्मसंपत्तिश्चेति बोधयति—**यदेति** ।

नित्यनिरन्तरसमाधिनिष्ठानिर्मूलितद्वैतप्रत्ययो ब्रह्मविद्यतिर्यदा यस्मिन् काले भूतपृथग्भावं भूतानामाकाशादीनां तत्कार्याणां च सर्वेषां पृथग्भावं भिन्नपदार्थवत्प्रतीतिविषयत्वं पृथक्त्वमेकस्मिन्नेवाऽऽत्मनि कल्पितं सत्पटे चित्रमिव दारुणि गजमिव प्रतीयमानमपि आत्मसत्ताव्यतिरेकेण पृथक्सत्ताभावादात्ममात्रमेवाऽनुपश्यति श्रुत्याचार्योपदेशजन्यज्ञानानुरूपेणाऽऽत्मैवेदं सर्वमिति पश्यति । प्रकृतिं तत्कार्यं च सर्वमारोपितम-

और आधेयके धर्मरूपसे ही भान होता है यानी भूत और आत्माका आधाराधेयभाव प्रतीत होता है, ऐसी अवस्थामें द्वैत ही सिद्ध होता है, अतः कैसे इस प्रकार द्वैतदर्शी विद्वान्की 'तदनन्तर परमगतिको प्राप्त होता है', यों कैवल्यसिद्धिका प्रतिपादन किया जाता है, ऐसी आशङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि केदारोंमें (खेतोंमें) कल्पित सेतुओंके (मेंड़के) बीचमें भूमि स्थित है, सेतु भी भूमिमें ही स्थित हैं । विचार करनेपर जैसे भूमि और सेतु सब मृत्तिकारूप ही हैं, वैसे ही कल्पित भूतोंमें आत्मा अवस्थित है और भूत भी आत्मामें स्थित हैं । श्रुति और तदनुकूल युक्तिके अनुसार विचार करनेपर सब आत्मस्वरूप ही हैं, इससे आत्माके सिवा दूसरी वस्तुके न होनेके कारण विद्वान्को आत्मैकत्वदर्शन और उससे ब्रह्मकी प्राप्ति हो सकती है, ऐसा बोधन करते हैं—'**यदा**' इत्यादिसे ।

नित्य-निरन्तर समाधिनिष्ठासे जिसका द्वैतप्रत्यय विनष्ट हो गया है; ऐसा ब्रह्मवित् यति जिस समय भूतपृथग्भावको (एक ही आत्मामें कल्पित आकाश आदि भूत और उनके सब कार्योंके पृथग्भावको यानी भिन्न पदार्थोंके समान प्रतीतिविषयतारूप पृथक्त्वको) पटमें कल्पित चित्रके समान एवं काठमें कल्पित हाथीके समान प्रतीयमान होनेपर भी आत्माकी सत्ताके सिवा पृथक् सत्ता न होनेसे आत्ममात्र ही देखता है—श्रुति और आचार्यके उपदेशसे जनित ज्ञानके अनुसार आत्मा ही यह सब है, यों देखता है । आरोपित प्रकृतिका और प्रकृतिके सब कार्योंका अधिष्ठानभूत

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्माऽयमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥ ३१ ॥

हे अर्जुन, अनादि (कारणरहित या जन्मरहित) और निर्गुण (सत्त्वादिगुणरहित) होनेके कारण विनाशरहित यह परमात्मा (महान् आत्मा) ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त शरीरोंमें आकाशके समान विद्यमान होनेपर भी न तो पुण्य-पापरूप कर्म करता है और न उन कर्मोंसे लिप्त होता है ॥ ३१ ॥

धिष्ठाने आत्मनि स्वस्वरूपे सद्वृत्त्या प्रविलाप्याऽऽत्मानमद्वितीयं पश्यतीत्यर्थः । 'यस्माद्यदुत्पद्यते तत्तन्मात्रमेव' इति न्यायेन प्रतीतिदशायामपि प्रपञ्चस्याऽऽत्ममात्रत्वं दर्शयितुमाह—**तत एवेति** । 'तस्मात्तत्सर्वमभवत्' इति श्रवणात्तत एव तस्मादात्मनः सकाशादेव विस्तारं द्वैतप्रपञ्चस्य विस्फुरणं च पश्यति । मृदः सकाशादुत्पन्नघटादेर्मृण्मात्रत्वं प्रत्यक्षेण दृष्टं तद्वदात्मनः सकाशादुत्पन्नभूतविस्तारस्य प्रतीतिदशायामप्यात्मसत्ताव्यतिरेकेण स्वतःसत्ताभावादात्ममात्रत्वं पश्यति । अहमेवेदं सर्वमिति सर्वं स्वमेव पश्यति यदा तदैव सूर्योगमतमोपगमयोरिव ब्रह्मवेदनतत्फलयोरन्तरालाभावाद्यस्मिन् क्षणे सर्वमात्मानं पश्यति तत्क्षण एव ब्रह्मवित्तमो यतिर्ब्रह्म संपद्यते ब्रह्मभावं गच्छति । स्वस्योपाधिकृतपरिच्छेदराहित्येन पूर्णात्मना स्थितिरेव ब्रह्मभावस्तं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ३० ॥

ननु 'समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तम्' इति भूतेष्वात्मनो व्याप्य स्थितत्वे सति

आत्मामें यानी स्वस्वरूपमें सद्वृत्तिसे प्रविलापन करके अद्वितीय आत्माको देखता है, यह अर्थ है । 'जिससे जो उत्पन्न होता है, वह तत्स्वरूप ही होता है, इस न्यायके अनुसार प्रतीति-दशामें भी प्रपञ्च आत्मस्वरूप है, ऐसा दिखलानेके लिए कहते हैं—**तत एवेति** । 'उससे वह सब हुआ' ऐसी श्रुति होनेके कारण उसीसे—उसी आत्मासे—विस्तारको यानी द्वैतप्रपञ्चके विस्फुरणको देखता है । मिट्टीसे उत्पन्न हुए घट आदिमें जैसे मृण्मात्रत्व (केवल मिट्टीपन) प्रत्यक्षसे देखा गया है, वैसे ही आत्मासे उत्पन्न हुए भूतोंके विस्तारकी प्रतीतिदशामें भी आत्मसत्ताके सिवा स्वतः सत्ताका अभाव होनेसे आत्ममात्रत्व देखता है । मैं ही यह सब हूँ, यों जब सबको आत्ममात्र ही देखता है, तभी सूर्यके आगमन और अन्धेरेके गमनके समान ब्रह्मज्ञान और उसके फलमें अन्तराल न होनेसे जिस क्षणमें सबको आत्मस्वरूप देखता है, उसी क्षणमें ब्रह्मवित्तम यति ब्रह्मको प्राप्त होता है—ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है । उपाधि द्वारा किये गये परिच्छेदसे रहित होकर अपना (आत्माका) पूर्णस्वरूपसे स्थित होना ही ब्रह्मभाव है, उसको प्राप्त होता है, यह अर्थ है ॥ ३० ॥

'समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तम्' इत्यादिसे भूतोंको व्याप्त कर आत्माके स्थित होनेपर

'आश्रयनाशादाश्रितस्याऽपि नाशः' इति न्यायेन स्वाश्रयभूतेषु भूतेषु नश्यत्सु सत्स्वाश्रयिणोऽप्यात्मनो नाशप्रसङ्गाद् दारुणि नष्टे दहनस्याऽपि नाशो दृष्टस्तद्वदुपाधिनाशादुपहितस्याऽपि नाशः स्यात्। अश्वगत्या तदधिष्ठितसारथेरपि गमनदर्शनात् प्रकृत्या कर्मसु क्रियमाणेषु सत्सु तत्स्थस्याऽप्यात्मनः कर्मकरणं तत्फलानुभूतिश्च स्यात्कथमात्मनोऽकर्तृत्वं नित्यत्वं चेति सिंहावलोकनन्यायेनाऽतीतश्लोकद्वयार्थमाशङ्क्याऽऽत्मनोऽजत्वान्निर्गुणत्वाच्च भूतानां नाशे सत्यपि न विनाशोऽस्ति कूटस्थत्वादात्मनो विक्रियासंभवात्कर्तृत्वादिरपि न संभवतीत्याह—**अनादित्वादिति**।

न विद्यते आदिः उत्पत्तिकारणं निमित्तमुपादानं वाऽस्येत्यनादिरयमात्मा 'न तस्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः' इति जनयित्रभावश्रवणान्निष्कारणकः। यद्वा न विद्यते आदिरादिमविकारो जनिलक्षणो भावधर्मो यस्य सोऽनादिर्निरवयवत्वादजः, 'अजो नित्यः' इति श्रुतेः। अनादेर्भावोऽनादित्वं तस्मात्। यत्सावयवं तदादिमत् यदादिमत्तद्विकारि यद्विकारि तद्व्येति भूतजातम्। तस्मिन् स्वोपाधौ भूतजाते नष्टे सत्ययमात्मा निरवयवत्वेनाऽनादित्वान्न व्येतीत्यव्ययः। सति कारणे 'कारणनाशात्कार्यस्याऽपि नाशः' इति न्यायेन भूतानामिवाऽऽत्मनोऽपि नाशः प्रसज्ज्येत तदभावादाश्रयनाशे सत्याकाशवन्न

'आश्रयके नाशसे आश्रितका भी नाश हो जाता है' इस न्यायसे अपने आश्रयभूत भूतोंके नष्ट होनेपर आश्रित आत्माका भी विनाश प्रसक्त होगा, जैसे लकड़ीके नष्ट होनेपर अग्निका नाश होता है, वैसे ही उपाधिके नाशसे उपहितका भी नाश होगा। जैसे अश्वकी गतिसे उसमें अधिष्ठित सारथिका भी गमन देखनेमें आता है, वैसे ही प्रकृतिके कर्म करनेपर उसमें स्थित आत्मामें भी कर्म करनेका और उनके फलके अनुभवका प्रसङ्ग होगा, ऐसी अवस्थामें आत्माका अकर्तापन और नित्यपन कैसे होगा ? इस प्रकार सिंहावलोकनन्यायसे पिछलेके दो श्लोकोंके अर्थोंमें शङ्का करके अज और निर्गुण होनेसे भूतोंका नाश होनेपर भी आत्माका विनाश नहीं होता तथा कूटस्थ होनेसे आत्मामें विक्रियाका भी संभव नहीं है, इसलिए उसमें कर्तृत्व आदिका भी संभव नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'अनादि०'** इत्यादिसे।

विद्यमान नहीं है आदि—उत्पत्तिका कारण निमित्त या उपादान—जिसका, वह अनादि है, यह आत्मा अनादि है, यानी 'उसका न कोई उत्पन्न करनेवाला है और न अधिपति है' इस श्रुतिसे जनयिताका अभाव होनेसे वह कारणरहित है। अथवा विद्यमान नहीं है आदि—पहिला विकार जन्मरूप भावधर्म—जिसका, वह अनादि है, यानी निरवयव होनेसे अजन्मा, क्योंकि 'अज और नित्य' ऐसी श्रुति है। अनादिका भाव अनादित्व है, इसलिए जो सावयव है, वह आदिमान् है, जो आदिमान् है, वह विकारी है, जो विकारी है, वह भूतजात नष्ट होता है। अपने उपाधिरूप उन भूतोंके नष्ट होनेपर यह आत्मा निरवयव होनेसे अनादि होनेके कारण नष्ट नहीं होता, इससे अव्यय है। यदि उसका कारण हो, तो 'कारणके नाशसे कार्यका भी नाश होता है' इस न्यायसे भूतोंके समान आत्माका भी नाश प्राप्त हो,

व्येतीत्यव्ययो नाशरहित इत्यर्थः । 'अविनाशी वा अरेऽयमात्मा' इत्यात्मन उपाधिनाशेऽपि नाशाभावश्रवणात् निर्गुणत्वाच्च गुणाः सत्त्वादयः शब्दादयो वाऽपीच्छादयस्तेभ्यो निर्गतो यः स निर्गुणः । यद्वा गुणा गुणकार्यभूताः प्राणादयः षोडशकलाशब्दवाच्यास्तेभ्यो निर्गतत्वान्निर्गुणो निरवयव इत्यर्थः । निर्गुणस्य भावो निर्गुणत्वं तस्माद् । यः सगुणः स गुणव्ययाद्व्येति भूतगणः । अयं तु निर्गुणत्वान्न व्येत्यात्मा सति गुणव्यये कारणव्यये च वीयात्तदभावान्न व्येतीत्यव्ययो नित्य इत्यर्थः, 'नित्यो नित्यानाम्' इति श्रुतेः । नन्वात्मनोऽनादित्वेन निर्गुणत्वेन च कारणगुणनाशद्वारकनाशासंभवेऽपि घटादिवत्परतो वा वायुवत्स्वतो वा नाशः स्यादित्याशङ्कायामाह—**परमात्मेति** । परमश्चाऽसावात्मेतीदं हेतुगर्भितं विशेषणद्वयम् । आत्मा खड्गाग्न्यादिभ्यो न नश्यति, परमत्वात्, यन्नैवं तन्नैवम्, यथा देह इति । परमत्वम व्यक्तादपि निरवयवत्वेनाऽतिसूक्ष्मत्वं निरतिशयमहत्त्वं च तस्मान्नाशयितुरविषय इत्यर्थः । आत्मत्वात्स्वतो नाशरहितः । आत्मत्वं प्रत्यक्त्वमहंप्रत्ययार्थता । सर्वावस्थासु सर्वदा सर्वैरहमस्मीत्यात्मसत्ताया अनुभूयमानत्वाद् बुद्ध्यादिषु स्थूलान्तेषु प्रतिक्षणं विपरीतभावं गतेषु सत्स्वपि । यस्मादेवं तस्मान्निरवयवो निराकारो नित्यो निष्क्रियः परिपूर्ण-

---

परन्तु उसके कारणका अभाव होनेसे आश्रयका नाश होनेपर आकाशके समान आत्माका नाश नहीं होता, इसलिए अव्यय है, नाशरहित है, यह अर्थ है । 'अरे, यह आत्मा अविनाशी है' इससे उपाधिका नाश होनेपर भी आत्माके नाशका अभाव सुननेमें आता है और निर्गुण (गुण यानी सत्त्व आदि, शब्द आदि या इच्छा आदि, उनसे जो रहित है, वह निर्गुण है अथवा गुण—गुणोंके कार्यभूत षोडशकलाशब्दसे वाच्य प्राण आदि—उनसे रहित होनेके कारण निर्गुण) निरवयव, यह अर्थ है । निर्गुणका भाव निर्गुणत्व है, उससे । जो सगुण है, वह भूतगण, गुणोंके नाशसे नष्ट हो जाता है, यह आत्मा तो निर्गुण होनेसे नष्ट नहीं होता । यदि आत्माके गुणोंका नाश हो और कारणका नाश हो, तो उसका नाश हो, परन्तु उनका अभाव होनेसे नष्ट नहीं होता, इसलिए अव्यय है । नित्य है, यह अर्थ है, क्योंकि 'नित्योंका नित्य' यह श्रुति है । अनादि होनेसे और निर्गुण होनेसे कारण और गुणोंके नाश द्वारा आत्माका भले ही नाश न हो, पर घट आदिके समान दूसरेसे अथवा वायुके समान अपनेसे नाश होगा, ऐसी आशङ्का होनेपर कहते हैं—**परमात्मेति** । परम और आत्मा, ये दोनों हेतुगर्भित विशेषण हैं । 'आत्मा तलवार आदिसे नष्ट नहीं होता, परम होनेसे, जो ऐसा नहीं, वह ऐसा नहीं, जैसे देह' । परम—अव्यक्तसे भी निरवयव होनेके कारण अतिसूक्ष्म—है यानी निरतिशय महान्, इसलिए नाश करनेवालेका अविषय है, यह अर्थ है । आत्मा होनेसे स्वयं नाशरहित है (आत्मत्व—प्रत्यक्त्व—यानी अहंप्रत्ययार्थत्व है), क्योंकि सब अवस्थाओंमें बुद्धिसे लेकर स्थूलपर्यन्त सब भूतोंके प्रतिक्षण विपरीतभावको प्राप्त होनेपर भी सर्वदा सबको 'मैं हूँ' यों आत्माकी सत्ताका अनुभव होता है । जिस कारणसे ऐसा है, इसलिए निरवयव, निराकार, नित्य, निष्क्रिय और

श्चाऽयमात्मा शरीरस्थोऽपि, यद्यप्यात्मनः स्वे महिम्नि तिष्ठतः परममहतोऽधिकरणं नाऽस्ति तथापि शरीरेष्वेवाऽऽत्मोपलब्धेर्दर्शनाच्छरीरस्थ इत्युच्यते । ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तशरीरेषु घटादिष्वाकाशवद्वर्तमानोऽप्यात्मा स्वयं तेषु प्रवृत्तेष्वपि पुण्यापुण्यलक्षणं कर्म यत्किञ्चिन्न करोति, किन्तु शरीरेषु बुद्धितद्वृत्तिसाक्षित्वेन तूष्णीं तिष्ठति, वायुना चलत्सु वृक्षेषु तत्स्थ आकाश इव न किञ्चिच्चेष्टते, निरवयवस्य परिपूर्णस्य चलनासंभवादित्यर्थः, 'वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठति' इति श्रुतेः । ननु कूटस्थस्याऽऽत्मनः स्वतः कर्मकरणाभावेऽपि देहे तिष्ठतस्तत्संयोगाद्देहेन्द्रियादिभिः क्रियमाणैः कर्मभिर्लेपः स्यात्, 'तत्संयोगी च पञ्चमः' इति पापकर्त्रा सह स्थितिमात्रेणाऽकर्तुरपि पापलेपप्राप्तिः स्मर्यते तन्न्यायेनाऽत्रापि स्यादित्याशङ्कायाम्, न; तत्संयोगीति सङ्गित्वस्य पापलेपापत्तिहेतोस्तत्र श्रूयमाणत्वात्तत्सङ्गिनः पापलेपः संभवेत् न त्वसंयोगिनो दूरवर्तिनः तथाऽत्रापि निरवयवत्वेनाऽतिसूक्ष्मत्वादात्मनो देहेन्द्रियादिभिस्तत्कृतकर्मभिश्च संयोगासंभवात् न तत्कृतकर्मलेप इत्याह—**न लिप्यत इति** । देहेन्द्रियतद्विकारतदवस्थातद्व्यापृतिसाक्षित्वेनाऽविक्रियात्मना स्थित आत्मा स्वयमसङ्गत्वान्न तत्कृतकर्मभिर्लिप्यत इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

परिपूर्ण यह आत्मा शरीरमें स्थित होनेपर भी । यद्यपि अपने स्वरूपमें स्थित रहनेवाले परम महत् आत्माका कोई अधिकरण नहीं हो सकता, तथापि शरीरमें ही आत्माकी उपलब्धि देखी जाती है, अतः शरीरमें स्थित, ऐसा कहा जाता है । ब्रह्मासे लेकर स्तम्बतक शरीरोंमें, घटादिमें आकाशके समान, वर्तमान यह आत्मा शरीरादिके प्रवृत्त होनेपर भी पुण्य-पापरूप किसी कर्मको स्वयं नहीं करता, किन्तु शरीरोंमें बुद्धि और बुद्धिकी वृत्तियोंके साक्षीरूपसे चुपचाप स्थित रहता है । वायुसे वृक्षोंके हिलनेपर जैसे उनमें स्थित आकाश कुछ चेष्टा नहीं करता, वैसे ही यह कुछ भी चेष्टा नहीं करता । निरवयव परिपूर्णका चलना असंभव है, यह अर्थ है; क्योंकि 'वृक्षके समान स्थिर स्वर्गमें स्थित है' ऐसी श्रुति है । यद्यपि कूटस्थ आत्मा स्वयं कर्म नहीं कर सकता, तथापि देहमें स्थित होनेके कारण देहके संयोगसे देह, इन्द्रिय आदि द्वारा किये जानेवाले कर्मोंसे उसका लेप होगा, क्योंकि 'तत्संयोगी च पञ्चमः' इस स्मृतिवचनसे ब्रह्महत्यादि पाप करनेवालोंके साथ केवल संसर्ग होनेसे ही अकर्ताको भी पापलेपकी प्राप्तिका प्रतिपादन किया गया है, इस न्यायसे यहाँ भी वैसा होगा, ऐसी आशङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि 'तत्संयोगी च' इससे संसर्गित्व पापलेपकी प्राप्तिका हेतु है, ऐसा वहां सुना गया है, अतः ब्रह्महत्यादि पाप करनेवालोंके साथ संसर्ग रखनेवालेको ही पापका लेप होगा, असंयोगी दूरवर्तीको नहीं, उसी प्रकार यहां भी निरवयव होनेके कारण, अतिसूक्ष्म होनेसे आत्माका देह, इन्द्रिय आदिसे और उनके द्वारा किये गये कर्मोंसे संयोग असंभव है, अतः उनके द्वारा किये गये कर्मोंका आत्मासे सम्बन्ध नहीं हो सकता, ऐसा कहते हैं—**न लिप्यत इति** । देह, इन्द्रिय, उनके विकार, उनकी अवस्था तथा उनके व्यापारके अविकारी साक्षीरूपसे स्थित आत्मा स्वयं असङ्ग होनेसे उनके द्वारा किये गये कर्मोंसे लिप्त नहीं होता, यह अर्थ है ॥ ३१ ॥

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथाऽऽत्मा नोपलिप्यते ॥ ३२ ॥

जैसे सर्वत्र व्याप्त आकाश अतिसूक्ष्म होनेके कारण तत्-तत् द्रव्योंके गुण और दोषोंसे लिप्त नहीं होता, वैसे ही सम्पूर्ण शरीरोंमें स्थित आत्मा भी देहादि द्वारा किये गये किसी कर्मसे लिप्त नहीं होता ॥ ३२ ॥

सर्वथाऽप्युपाधिः स्वप्रारब्धानुसारेण वर्ततां तत्रस्थोऽप्यात्मा तदीयधर्मकर्मावस्थाभिः किञ्चिदपि क्वचिन्न स्पृश्यत एवेति दृढनिश्चयवद्भिर्ब्रह्मविद्भिरात्मन्येवाऽऽत्मभावापन्नैः स्वेषां कर्तृत्वभोक्तृत्वादिभ्रममुत्सृज्य मौनेन सदात्मानन्दरसास्वाद एव क्रियतामिति सूचयितुं श्रीभगवानुक्तमप्यात्मन उपाधिकृतकर्मलेपाभावमेव पुनरपि सदृष्टान्तं प्रतिपादयति मन्दप्रज्ञानामपि कर्तृत्वभोक्तृत्वभ्रमविच्छित्तये—**यथेति** ।

सर्वगतम्, आकाशस्य निरवयवत्वेन गमनासंभवात्सर्वं येन गतं व्याप्तं तत्सर्वगतं सर्वेष्वपि घटमठादिषु मूर्तद्रव्येषु दुष्टेष्वदुष्टेषु च सर्वत्र बहिरन्तश्च व्याप्य वर्तमानमप्याकाशं सौक्ष्म्यात् स्वव्याप्तद्रव्यापेक्षया स्वयमतिसूक्ष्मत्वात्तत्तद्द्रव्यगुणदोषैः सुगन्धादिभिश्च वर्षवातातपवह्निधूमरजःपङ्कादिभिरपि यथा नोपलिप्यते लेप्यलेपकलेपनक्रियाविषयत्वात् येन केनाऽपि लिप्तं न भवति । न स्पृश्यत इत्यर्थः । तथा सर्वत्र सर्वेषु देहेषु । जातावेकवचनम् । देवमनुष्यतिर्यगाद्युच्चावचशरीरेषु

यद्यपि सब प्रकारसे उपाधि अपने प्रारब्धके अनुसार भले ही वर्ते, तथापि उसमें स्थित आत्मा उसके धर्म, उसके कर्म और उसकी अवस्थासे कुछ भी कहीं लिप्त ही नहीं होता, यों दृढ़ निश्चयवाले तथा आत्मामें ही आत्मभाव प्राप्त किये हुए ब्रह्मविदोंको अपनेमें कर्तापन, भोक्तापन आदि भ्रमको छोड़ मौन होकर सदा आत्मानन्दरसास्वाद ही करना चाहिए, ऐसा सूचन करनेके लिए श्रीभगवान् 'उपाधि द्वारा विहित कर्मसे आत्मा लिप्त नहीं होता, इस कहे गये विषयका ही—जिससे कि मन्दबुद्धिवालोंको भी कर्तृत्व-भोक्तृत्व-भ्रमकी निवृत्ति हो, इसलिए—फिर दृष्टान्तसहित प्रतिपादन करते हैं—**'यथा'** इत्यादिसे ।

निरवयव होनेसे आकाशका गमन असंभव होनेके कारण सब जिससे गत—व्याप्त—हैं, वह सर्वगत है । घट, पट आदि दुष्ट, अदुष्ट सब मूर्त द्रव्योंमें सर्वत्र बाहर और भीतर व्याप्त होकर वर्तमान भी आकाश सूक्ष्म होनेसे—स्वव्याप्त द्रव्यकी अपेक्षा स्वयं अतिसूक्ष्म होनेसे—तत्-तत् द्रव्यके गुण और दोषोंसे यानी सुगन्ध आदिसे और वर्षा, वायु, धूप, अग्नि, धूम, धूलि, पङ्क आदिसे भी जैसे उपलिप्त नहीं होता यानी लेप्य, लेपक और लेपन क्रियाका अविषय होनेसे किसीसे भी लिप्त नहीं होता । नहीं छुआ जाता, यह अर्थ है । वैसे सर्वत्र—सम्पूर्ण देहोंमें—(जातिमें एक वचन है) यानी देव, मनुष्य, तिर्यक् आदि ऊँच नीच शरीरोंमें सर्वत्र बाहर, भीतर व्याप्त होकर वर्तमान भी आत्मा

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ ३३ ॥

हे भारत, जैसे एक ही सूर्य इस समस्त लोकको प्रकाशित करता है, वैसे ही अकेला क्षेत्रज्ञ सम्पूर्ण क्षेत्रको (महदादिको) प्रकाशित करता है ॥ ३३ ॥

सर्वतो बहिरन्तर्व्याप्य वर्तमानोऽप्यात्मा सौक्ष्म्यात् 'सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति' इति श्रवणात् अव्यक्तमहदादेरपि परमसूक्ष्मत्वाद्देहेन्द्रियप्राणमनोबुद्ध्यादिभिरधुना पूर्वं शतकोटिजन्मभिश्च कृतैः कर्मभिः पुण्यपापैर्नोपलिप्यते । न किञ्चित्स्पृश्यत इत्यर्थः । एतेन सम्यग्दर्शनविध्वस्ताविद्यातत्कार्याणां ब्रह्मविदां यतीनां क्वचिदाहारादिनिमित्तकेन कर्मणा येन केनाऽपि च लेपो नाऽस्ति । अतः कैवल्यसिद्धिप्रतिबन्धकद्वैतवासनानिःशेषनिवृत्तये स्वानन्दानुभूतये च 'समं पश्यन् हि सर्वत्र' इत्युक्तरीत्या सर्वदा समदर्शननिष्ठयैव स्थातव्यमिति सूचितं भवति, न तु यथेष्टाचरणम् ; निरुक्तवचनविरोधापत्तेः संन्यासश्रवणादिश्रमफलाभावापत्तेश्च । अतः सदा पूर्णवृत्त्या स्थातव्यमिति सिद्धम् ॥ ३२ ॥

श्रुतियुक्त्यनुभूतिभिरात्मनः प्रकृतिवैलक्षण्यं ज्ञात्वा प्रकृतिमात्मनि प्रविलाप्याऽऽत्मनः साम्यमेव सर्वदा पश्यतो यतेर्विदेहमुक्तिरिति निश्चित्य प्रकरणमुपसंहर्तुकामः श्रीभगवान् मुक्तेरात्मनः प्रकृतिवैलक्षण्यज्ञानमेवाऽऽदिकारणमिति मन्दप्रज्ञानामुक्तज्ञाने

सूक्ष्म—'सूक्ष्मसे भी वह सूक्ष्मतर भासता है' इस श्रुतिसे अव्यक्त, महद् आदिसे भी परमसूक्ष्म—होनेसे देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदिसे इस जन्ममें या पहलेके करोड़ों जन्मोंमें किये गये पुण्य-पापरूप कर्मोंसे उपलिप्त नहीं होता । किञ्चित् भी छुआ नहीं जाता, यह अर्थ है । इससे यह सूचित होता है कि सम्यक्‌दर्शनसे अविद्या और अविद्याके कार्य जिनके नष्ट हो गये हैं, ऐसे ब्रह्मवित् यतियोंका कहीं आहारादिहेतुक जिस किसी कर्मसे भी लेप (संसर्ग) नहीं होता । इसलिए कैवल्यसिद्धिमें प्रतिबन्धकीभूत द्वैतवासनाकी निःशेष निवृत्तिके लिए और स्वानन्दके अनुभवके लिए 'सर्वत्र सम देखते हुए' इस उक्त रीतिसे सर्वदा समदर्शननिष्ठासे ही स्थित रहना चाहिए, यह सूचित होता है, यथेष्टाचरण नहीं करना चाहिए, क्योंकि पूर्वोक्त वचनसे विरोध और संन्यास, श्रवण आदि श्रमके फलके अभावकी प्राप्ति होगी । इसलिए सदा पूर्णवृत्तिसे ही स्थित रहना चाहिए, यह सिद्ध हुआ ॥ ३२ ॥

श्रुति, युक्ति और अनुभवसे आत्मा प्रकृतिसे विलक्षण है, ऐसा जानकर तथा प्रकृतिका आत्मामें प्रविलापन कर आत्माका साम्य ही सदा देखनेवाले यतिकी विदेहमुक्ति होती है, ऐसा निश्चय करके प्रकरणका उपसंहार करनेकी इच्छावाले श्रीभगवान्—मुक्तिका आदि कारण 'प्रकृतिसे

निर्विचिकित्सत्वाय पुनरपि 'एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञः' इत्युक्तलक्षणस्याऽऽत्मनः क्षेत्रज्ञस्य क्षेत्रवैलक्षण्यं रविदृष्टान्तेन विस्पष्टयति—**यथेति** ।

एक एव रविस्तेजोघनः इमं भूर्भुवरादिभेदभिन्नं कृत्स्नं लोकं ब्रह्माण्डं सर्वतो व्याप्य स्वतेजसा यथा प्रकाशयति सर्वेषां पदार्थानां स्वत एव सत्तां स्फूर्तिं च प्रयच्छति, सूर्येणैव हि जडानां घटादिसर्वपदार्थानां घटोऽस्त्ययमिति सत्ता च स्फूर्तिश्च संभाव्यते, ततः कृत्स्नं नामरूपविशेषैरनेकधा भिन्नं ब्रह्माण्डं स्वयमभिन्नस्वभाव एक एव सूर्यः स्वभास्यविलक्षणस्तत्संबन्धरहितः सन् यथा प्रकाशयति तथा क्षेत्री क्षेत्रमव्यक्तादिस्थूलपर्यन्तं समष्टिव्यष्टिलक्षणं शरीरमस्याऽस्ति ज्ञेयत्वेन प्रकाश्यत्वेन च विषयीभूय तिष्ठतीति क्षेत्री क्षेत्रज्ञ आत्मा स्वयमेक एव चिद्घनः । क्षेत्रीत्युक्तिः क्षेत्रतत्स्वामिनोरिव क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरचेतनत्वचेतनत्वज्ञेयत्वज्ञातृत्वभास्यत्वभासकत्वादिधर्मैर्वैलक्षण्यद्योतनार्था । यतः क्षेत्रज्ञस्ततः क्षेत्राद्भिन्न आत्माऽपि क्षेत्रं महदादिसर्वविकारोपेतं नामरूपजातिक्रियागुणविशेषैरनेकभेदभिन्नं कृत्स्नं तदवस्थातद्धर्मतत्कर्मभिः सह सर्वं प्रकाशयति स्वस्मिन्नध्यस्तानां महदादिस्थूलान्तानां सर्वविकाराणां सत्तां स्फूर्तिं च प्रयच्छतीत्यर्थः । एतेन क्षेत्रज्ञस्याऽऽत्मनः क्षेत्रतद्विकारतद्धर्मतत्कर्मतदवस्थाज्ञातृत्वं चेतनत्वं नित्यत्वं सर्वक्षेत्रेष्वेकत्वं बुद्ध्यादिसर्वजडपदार्थ-

---

आत्मा विलक्षण है' इस प्रकारका ज्ञान ही है, अतः मन्दप्रज्ञावालोंको उक्त ज्ञानमें संशय न हो, इसलिए 'क्षेत्रको जो जानता है, उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं' इस उक्त लक्षणवाले आत्मा क्षेत्रज्ञका क्षेत्रसे वैलक्षण्य सूर्यके दृष्टान्तसे—फिर भी स्पष्ट करते हैं—'**यथा**' इत्यादिसे ।

एक ही तेजोघन सूर्य भू, भुवः आदि भेदसे भिन्न इन संपूर्ण लोकोंको—ब्रह्माण्डको—सब ओर व्याप्त करके अपने तेजसे जैसे प्रकाशित करता है यानी सब पदार्थोंको अपनेसे ही सत्ता और स्फूर्ति देता है, सूर्यसे ही घटादि सब जड़ पदार्थोंकी यह घट है, यों सत्ता और स्फूर्ति प्राप्त होती है, इसलिए संपूर्ण नाम-रूपविशेषोंसे अनेक प्रकारसे भिन्न ब्रह्माण्डको स्वयं अभिन्न स्वभाववाला एक ही सूर्य अपने भास्यसे विलक्षण और उसके संबन्धसे रहित होकर जैसे प्रकाशित करता है, वैसे ही क्षेत्री (अव्यक्तसे लेकर स्थूल तक समष्टि और व्यष्टिरूप क्षेत्र [शरीर] जिसका है यानी ज्ञेय, प्रकाश्य और विषयी होकर स्थित रहता है, वह क्षेत्री है यानी—क्षेत्रज्ञ) आत्मा स्वयं एक ही चिद्घन है । क्षेत्री, यह कथन, क्षेत्र और उसके स्वामीके समान क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ दोनोंमें अचेतनत्व-चेतनत्व, ज्ञेयत्व-ज्ञातृत्व, भास्यत्व-भासकत्व आदि धर्मोंसे विलक्षणता द्योतन करनेके लिए है । चूँकि क्षेत्रज्ञ है, इसलिए क्षेत्रसे भिन्न आत्मा भी सम्पूर्ण क्षेत्रको—महदादि सम्पूर्ण विकारोंसे युक्त नाम, रूप, जाति, क्रिया और गुणविशेषोंसे अनेक भेदसे भिन्न, उसकी अवस्था, उसके धर्म तथा उसके कर्मोंके साथ सम्पूर्ण क्षेत्रको प्रकाशित करता है । अपनेमें अध्यस्त महदादि स्थूल तक सब विकारोंको सत्ता और स्फूर्ति देता है, यह अर्थ है । इससे क्षेत्रज्ञ आत्मा क्षेत्र, उसके विकार, उसके धर्म, उसके कर्म और उसकी अवस्थाओंका ज्ञाता, चेतन, नित्य,

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ ३४ ॥

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके इस प्रकारसे वैलक्षण्यको तथा सदसदात्मक भूत और प्रकृतिके 'न सत्तन्नाऽसदुच्यते' इत्यादिसे अभावापादनको जो ज्ञानरूप चक्षुसे जानते हैं, वे विदेहमुक्तिको प्राप्त करते हैं ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञनिर्देशयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

प्रकाशकत्वं प्रकाशस्वरूपत्वं स्वप्रकाशत्वं वृद्धिक्षयाद्यविषयत्वमेकरूपत्वं सर्वव्यापकत्वमसङ्गत्वमविक्रियत्वमकर्तृत्वमकारयितृत्वमभोक्तृत्वमभोजयितृत्वं सर्वद्रष्टृत्वं सर्वदृश्यधर्मशून्यत्वं स्वसन्निधिमात्रेण सर्वप्रवृत्तिहेतुत्वं सर्वभास्यगुणदोषास्पृष्टत्वं सर्वसाक्षित्वं स्वसाक्षात्कारेण तमस्तत्कार्यनिवर्तकत्वं च प्रतिपादितं भवति । एतेनोक्तलक्षणैः क्षेत्राद्भिन्नः क्षेत्रज्ञ आत्मा स्वात्मना सूक्ष्मबुद्धिभिर्युक्तिकुशलैर्यतिभिः सम्यगवगन्तुं शक्यत इति सूचितं भवति ॥ ३३ ॥

यावानध्यायार्थस्तावन्तमर्थं सङ्क्षेपेण प्रतिपादयन्नध्यायमुपसंहरति— **क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरिति** ।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः 'इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रम्', 'एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञः' इति प्रतिपादितयोः प्रकृतिपुरुषयोरेवम् 'महाभूतानि' इति, 'ज्ञेयं यत्तत्' इत्यादि-

---

सब क्षेत्रोंमें एक, बुद्धि आदि सब जड़ पदार्थोंका प्रकाशक, प्रकाशस्वरूप, स्वप्रकाश, वृद्धि और क्षय आदिका अविषय, एकरूप, सर्वव्यापक, असङ्ग, अविक्रिय, अकर्ता, अकारयिता, अभोक्ता, अभोजयिता, सर्वद्रष्टा, सर्वदृश्यधर्मशून्य, स्वसन्निधिमात्रसे सबकी प्रवृत्तिका हेतु, सम्पूर्ण भास्योंके गुण एवं दोषोंसे अस्पृष्ट, सर्वसाक्षी और अपने साक्षात्कारसे तम और तमके कार्यका निवर्तक है, ऐसा प्रतिपादित होता है । इससे यह सूचित होता है कि उक्त लक्षणोंसे क्षेत्रसे भिन्न क्षेत्रज्ञ आत्मा सूक्ष्मबुद्धिवाले, युक्तिकुशल यतियों द्वारा अपने आत्मरूपसे भली भाँति जाना जा सकता है ॥ ३३ ॥

अध्यायका जितना अर्थ है, उतने अर्थका संक्षेपसे प्रतिपादन करते हुए श्रीभगवान् अध्यायका उपसंहार करते हैं—'क्षेत्रक्षेत्रज्ञ०' इत्यादिसे ।

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके यानी 'इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रम्' इससे और 'एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञः' इससे प्रतिपादित प्रकृति और पुरुषके, इस प्रकारसे यानी 'महाभूतानि' और

वाक्यैः प्रतिपादितप्रकारेणाऽन्तरं ज्ञेयत्वज्ञातृत्वादिविशेषणैर्वैलक्षण्यं स्वात्मतया तत्र क्षेत्रज्ञं च भूतप्रकृतिमोक्षं च। अत्र भूतशब्देन व्यक्तनामरूपात्मकं सच्छब्दितं जगदुच्यते। प्रकृतिपदेनाऽव्यक्तमस्पष्टनामरूपमसच्छब्दितं तत्कारणमुच्यते। तयोर्भूतप्रकृत्योर्मोक्षम् 'न सत्तन्नाऽसदुच्यते' इत्युक्तप्रकारेणाऽभावापादनं च ज्ञानचक्षुषा निरुक्तामानित्वादिसाधनसंपत्त्या तीव्रमोक्षेच्छया च सम्यक्कृतश्रवणादिना समुत्पन्नं यत् ज्ञानं क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्याथार्थ्यग्रहणक्षममतिसूक्ष्मं तदेव चक्षुस्तेन ज्ञानचक्षुषा ये मुमुक्षवो यतयो विदुः प्रकृतितत्कार्यविलापनाधिष्ठानभूतं निर्विशेषं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यस्वभावं सदानन्दैकरसमपूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमद्वितीयं परं ब्रह्माऽहमेवेदमिति स्वात्मना विदुस्ते परमपुरुषार्थं विदेहकैवल्यं यान्ति। प्राप्नुवन्तीत्यर्थः॥ ३४॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमदानन्दात्मसरस्वतीशिष्यश्रीशङ्करानन्दसरस्वतीकृतौ गीतातात्पर्यबोधिन्यां त्रयोदशोऽध्यायः॥ १३॥

'ज्ञेयं यत्तत्' इत्यादि वाक्योंसे प्रतिपादित प्रकारसे, अन्तरको—ज्ञेयत्व, ज्ञातृत्व आदि विशेषणोंसे विद्यमान वैलक्षण्यको—तत्रापि क्षेत्रज्ञको अपने आत्मरूपसे तथा भूतप्रकृतिमोक्षको (यहां भूत-शब्दसे व्यक्त नामरूपात्मक 'सत्' शब्दसे वाच्य जगत्का ग्रहण किया जाता है और प्रकृति-पदसे अव्यक्त (अस्पष्टनामरूपवान्) असत्-शब्दसे वाच्य इस जगत्का ग्रहण किया जाता है। उन भूतों और प्रकृतिके मोक्षको यानी 'न वह सत् और न असत् कहलाता है' इत्यादि उक्त प्रकारसे अभावके आपादनको) ज्ञानचक्षुसे (निरुक्त अमानित्व आदि साधन-संपत्तिसे और तीव्र मोक्षकी इच्छासे भली भाँति अनुष्ठित श्रवण आदिसे उत्पन्न हुआ क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके यथार्थ स्वरूपको ग्रहण करनेमें समर्थ अतिसूक्ष्म जो ज्ञान है, वही चक्षु है, उस ज्ञानरूप चक्षुसे) जो मुमुक्षु यति जानते हैं—प्रकृति और उसके कार्यके प्रविलापनके अधिष्ठानभूत निर्विशेष, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त और सत्यरूप स्वभावसे युक्त, सदानन्दैकरस, अपूर्व, अनपर, अनन्तर, अबाह्य और अद्वितीय परब्रह्मको, 'यह मैं ही हूँ' यों अपने स्वरूपसे जो जानते हैं, वे परम पुरुषार्थरूप विदेहकैवल्यको जाते हैं। पाते हैं, यह अर्थ है॥ ३४॥

तेरहवां अध्याय समाप्त

चतुर्दशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥ १ ॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे अर्जुन, साङ्ख्य, योग और कर्म आदि विषयक अनेक ज्ञानोंमें से श्रेष्ठ और उत्तम जो मुक्तिका साधन ज्ञान (गुण और गुणके कार्योंका ज्ञान) है, उसे फिर तुमसे कहूँगा, जिसको जानकर शुक आदि सम्पूर्ण मुनि इस त्रिगुणात्मक मायासे मुक्त होकर विदेहमुक्तिको प्राप्त हुए थे ॥ १ ॥

पूर्वाध्याये मुमुक्षोरात्मानात्मतत्त्वं विज्ञातुमिच्छत इदं शरीरं क्षेत्रमनात्मा, क्षेत्रज्ञ एवाऽऽत्माऽहंपदार्थ इति बोधयित्वा, क्षेत्राद्विभक्तस्याऽऽत्मनः 'क्षेत्रज्ञं चाऽपि मां विद्धि' इति ब्रह्माभिन्नत्वं प्रतिपाद्य, प्रकृतेरेव कर्तृत्वं भोक्तृत्वं चाऽऽत्मनः प्रकृतितत्कर्मसाक्षिणस्तद्गुणसङ्गत एव संसारो न तु वस्तुत इत्युक्तम् । तत्र के गुणाः, तेषु पुरुषस्य कथं सङ्गः, कथं वा गुणाः पुरुषं बध्नन्ति, गुणेभ्यो मोक्षणं च कथम्, गुणमुक्तस्य च किं लक्षणम् ? इत्याकाङ्क्षायां प्रकृतेः प्रवृत्तिसामर्थ्यं तद्गुणविभागं गुणानां स्वरूपं कार्यं च बन्धकत्वं स्वस्वोत्कर्षेण परस्पराभिभावकत्वं तत्फलभेदं च गुणबद्धस्य फलं तन्मुक्तस्याऽपि फलं च गुणमुक्तस्य लक्षणं गुणातिक्रमणोपायं चैतत्सर्वम् 'कारणं गुणसङ्गोऽस्य' इति वाक्यार्थं विस्पष्टीकर्तुं चतुर्दशाध्याय आरभ्यते । तत्राऽऽदौ क्षेत्र-

---

पूर्व अध्यायमें आत्मा और अनात्माके तत्त्वको जाननेकी इच्छावाले मुमुक्षुको 'यह शरीर क्षेत्र यानी अनात्मा है और क्षेत्रज्ञ ही आत्मा अहंपदका अर्थ है' ऐसा बोधन करके, क्षेत्रसे विभक्त आत्मा ब्रह्मसे अभिन्न है, ऐसा 'क्षेत्रज्ञं चाऽपि मां विद्धि' इससे प्रतिपादन करके प्रकृतिमें ही कर्तृत्व और भोक्तृत्व है, प्रकृति और उसके कर्मोंके साक्षी आत्माका प्रकृतिके गुणोंके सम्बन्धसे ही संसार है, वस्तुतः नहीं है, ऐसा कहा गया है । उसमें गुण कौन हैं ? उनमें पुरुषका सङ्ग कैसे हुआ ? गुण पुरुषको कैसे बांधते हैं ? गुणोंसे छुटकारा कैसे होता है और गुणोंसे छुटकारा पाये हुए पुरुषका क्या लक्षण है ? ऐसी आकांक्षा होनेपर प्रकृतिकी प्रवृत्तिसामर्थ्य, प्रकृतिके गुणोंका विभाग, गुणोंका स्वरूप, उनका बन्धकत्वरूप कार्य, अपने-अपने उत्कर्षसे परस्पर अभिभावकत्व और उनके फलोंका भेद, गुणोंसे बद्ध पुरुषका फल और गुणोंसे मुक्तका फल, गुणोंसे मुक्त पुरुषके लक्षण तथा गुणोंका अतिक्रमण करनेका उपाय—इन सबका तथा 'कारणं गुणसङ्गोऽस्य' इस वाक्यके अर्थका स्पष्टीकरण करनेके लिए चौदहवें अध्यायका आरम्भ किया जाता है । उसमें सबसे पहले क्षेत्र क्षेत्रज्ञसे

क्षेत्रज्ञयोर्भिन्नत्वं क्षेत्रज्ञस्य स्वस्य ब्रह्माभिन्नत्वं च विदितवतो ब्रह्मविद्यतेर्विदेहकैवल्यार्थिनः समुत्पन्नज्ञानरक्षार्थं वक्ष्यमाणज्ञानकार्य एव प्रवृत्तिसिद्धये गुणतत्कार्यज्ञानमेवोत्कृष्टं मुक्तेः परमकारणमिति बोधयितुं श्रीभगवानुवाच—**परमिति** ।

'त्रिभिर्गुणमयैर्भावैः' इति, 'इच्छाद्वेषसमुत्थेन' इति, 'राक्षसीमासुरीं चैव' इति असकृत्पूर्वमुक्तमपि तद्विशेषप्रतिपत्तये भूयः पुनरपि ज्ञानं गुणतत्कार्यज्ञानं ज्ञानानां सांख्ययोगकर्मादिविषयकाणां मध्ये परं श्रेष्ठम् । परत्वे हेतुमाह—**उत्तममिति** । उत्तमस्य परमपुरुषार्थस्य मोक्षस्य कारणत्वादुत्तममिदं ज्ञानं प्रवक्ष्यामि । भक्ताय मुमुक्षवे ते सम्यगुपदेक्ष्यामीत्यर्थः । यद्वा क्षेत्रमनात्मा, क्षेत्रज्ञस्त्वात्मा, सत्यादिलक्षणं ब्रह्म, ब्रह्मैव क्षेत्रज्ञ इत्येवंरूपाणि मोक्षविषयाणि यानि ज्ञानानि तेषां ज्ञानानां मध्ये इदं गुणतत्कार्यज्ञानं परं श्रेष्ठमुत्तमं च भवति । यद्यप्यात्मानात्मनोः पृथक्त्वज्ञानमात्मनो ब्रह्माभिन्नत्वज्ञानं प्रकृतिप्रविलापनज्ञानं च मुक्तेर्नियतमसाधारणमेव कारणम्, तथाप्यविद्याकामादिदोषवतस्तज्ज्ञानमविद्यादिभिः प्रतिबध्यते स्वफलं च न प्रयच्छति तत्प्रसिद्धं भारतादिषु, इदं गुणतत्कार्यज्ञानं तु ब्रह्मविदं गुणवासनाकृतबहिःप्रवृत्तेर्विमुखीकृत्य येन ज्ञानं तत्फलं च न प्रतिबध्यते तत्रैव सम्यग्दर्शननिष्ठायां प्रतिष्ठाप्य

भिन्न है तथा क्षेत्रज्ञ आत्मा ब्रह्मसे अभिन्न है, यों जाननेवाले, विदेहकैवल्यके अभिलाषी ब्रह्मवित् यतिके उत्पन्न हुए ज्ञानकी रक्षाके लिए, वक्ष्यमाण ज्ञानके कार्यमें ही प्रवृत्तिकी सिद्धिके लिए गुण और उनके कार्यका ज्ञान ही उत्कृष्ट है यानी मुक्तिका परम कारण है, ऐसा बोधन करनेके लिए श्रीभगवान् बोले—**'परम्'** इत्यादिसे ।

'त्रिभिर्गुणमयैर्भावैः', 'इच्छाद्वेषसमुत्थेन', 'राक्षसीमासुरीं चैव' इत्यादि यद्यपि बारबार पूर्वमें कहा गया है, तथापि उसकी विशेष प्रतिपत्ति (ज्ञान) के लिए फिर भी ज्ञानको (गुण और उनके कार्यके ज्ञानको), जो ज्ञानोंमें—सांख्य, योग, कर्म आदिविषयक ज्ञानोंमें—पर यानी श्रेष्ठ है । श्रेष्ठत्वमें हेतु कहते हैं—**उत्तममिति** । उत्तमका—परमपुरुषार्थरूप मोक्षका—कारण होनेसे यह ज्ञान उत्तम है, उसे कहूँगा । मेरे भक्त मुमुक्षु जो तुम हो, तुम्हें उसका भलीभाँति उपदेश दूंगा, यह अर्थ है । अथवा अनात्मा क्षेत्र है, आत्मा क्षेत्रज्ञ है, सत्य आदि लक्षणवाला ब्रह्म है, ब्रह्म ही क्षेत्रज्ञ है, इस प्रकारके मोक्षके उपयोगी जो ज्ञान हैं, उन ज्ञानोंमें गुणोंका और उनके कार्योंका यह ज्ञान पर (श्रेष्ठ) और उत्तम है । यद्यपि आत्मा और अनात्माका भिन्नत्वज्ञान, आत्मामें ब्रह्मसे अभिन्नत्वका ज्ञान और प्रकृतिके विलापनका ज्ञान ही मुक्तिका नियत असाधारण कारण है, तथापि अविद्या, काम आदि दोषोंसे युक्त पुरुषका वह ज्ञान अविद्या आदिसे प्रतिबद्ध हो जाता है और अपना फल नहीं देता, ऐसा भारत आदिमें प्रसिद्ध है, यह गुण और उसके कार्यका ज्ञान तो ब्रह्मवित्को गुणोंकी वासना द्वारा की गई बाहरकी प्रवृत्तिसे विमुख करके जिससे ज्ञान और उसका फल नहीं रुकता, उस सम्यक्-दर्शननिष्ठामें स्थित करके गुणोंसे

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ २ ॥

इस गुण और गुणकार्यके ज्ञानसे अनुष्ठेय जो वस्तु है, उसका आश्रयण कर यानी उक्त ज्ञानसे प्राप्त होनेवाली निरन्तर ब्रह्मनिष्ठासे तीनों गुणोंका अतिक्रमण कर मेरे साधर्म्यको (ब्रह्मभावको) प्राप्त हुए मुनि सृष्टिमें भी उत्पन्न नहीं होते और प्रलयकालमें भी नष्ट नहीं होते ॥ २ ॥

गुणेभ्यो मोचयित्वा विदेहमुक्तिं गमयति । तत इदं ज्ञानमात्मानात्मविवेकादिज्ञानेभ्य उत्तमं भवति यथा रोगज्ञानादौषधज्ञानादनुपानज्ञानात्पथ्यज्ञानाचाऽयमपथ्यपदार्थः एतद्भक्षणमौषधस्याऽप्यारोग्यस्य च प्रतिबन्धकं भवतीति विज्ञानमपथ्याचरणनिवृत्तेरारोग्यसिद्धेश्च कारणमुत्तमं भवति । अपथ्याभावैकबलवत्त्वादौषधस्याऽप्यारोग्यसिद्धेश्च । तद्वत् ज्ञानतत्फलप्रतिबन्धकानां गुणानां तत्कार्याणां च ज्ञानं पूर्वोक्तज्ञानानामुत्तमं भवति। गुणतत्कार्यसम्बन्धाभावैकबलवत्त्वात् ज्ञानस्य च तत्फलसिद्धेश्च । ततो युक्तं गुणतत्कार्यज्ञानस्य ज्ञानानामुत्तमत्वम् । तदेव विस्पष्टयति—**यज्ज्ञात्वेति** । श्रवणादिजन्यज्ञानसंरक्षाहेतुत्वेन गुणातिक्रमणहेतुत्वेन च मुक्तेः परमकारणं यद्गुणतत्कार्यज्ञानं ज्ञात्वा प्राप्य तज्ज्ञानेन यत्कर्तव्यं तत्कृत्वेत्यर्थः । मुनयो ब्रह्मविदः शुकादयो यतयः इतोऽस्मात् प्रकृताद्गुणत्रितयान्मुक्ताः सन्तः परां पुनरावृत्तिरहितत्वेन नित्यनिरतिशयानन्दरूपत्वेन च सर्वसिद्धिभ्य उत्तमां सिद्धिं विदेहमुक्तिं गताः पूर्णत्वं प्राप्ता इत्यर्थः ॥ १ ॥

छुड़ाकर विदेहमुक्ति प्राप्त करा देता है, इसलिए यह ज्ञान आत्मा और अनात्माके विवेक आदि ज्ञानोंसे उत्तम है । जैसे रोगके ज्ञान, औषधके ज्ञान, अनुपानके ज्ञान और पथ्यके ज्ञानकी अपेक्षा 'यह अपथ्य पदार्थ है, उसका खाना औषधका और आरोग्यका प्रतिबन्धक है' इस प्रकारका विज्ञान अपथ्यके आचरणकी निवृत्तिका और आरोग्यकी सिद्धिका उत्तम कारण है, क्योंकि अपथ्यका अभाव ही औषध और आरोग्यसिद्धिका एकमात्र बल है, वैसे ही ज्ञान और ज्ञानके फलको रोकनेवाले गुणोंका और उनके कार्योंका ज्ञान पूर्वोक्त ज्ञानोंसे उत्तम है, क्योंकि गुण और उनके कार्योंके सम्बन्धका अभाव ही ज्ञान और उसकी सिद्धिका एकमात्र बल है । इसलिए गुण और गुणोंके कार्यके ज्ञानका अन्य ज्ञानोंसे उत्तम होना युक्त है । उसीको स्पष्ट करते हैं—**यज्ज्ञात्वेति** । श्रवण आदिसे जनित ज्ञानके संरक्षणका हेतु होनेसे और गुणोंका अतिक्रमण करनेमें हेतु होनेसे मुक्तिके परमकारण जिस गुण और गुणोंके कार्यज्ञानको जानकर यानी प्राप्त करके, उस ज्ञानसे जो कर्तव्य है, उसको करके, यह अर्थ है । मुनि—ब्रह्मविद् शुक आदि यति—इससे (इस तीन गुणवाली प्रकृतिसे) मुक्त होकर पराको (पुनरावृत्तिरहित होनेसे और नित्यनिरतिशय-आनन्दरूप होनेसे सब सिद्धियोंसे उत्तम सिद्धिरूप विदेहमुक्तिको) प्राप्त हो गये । पूर्णत्वको प्राप्त हो गये, यह अर्थ है ॥१॥

यदुक्तं पुनरावृत्तिरहितत्वादिविशेषणैर्विदेहमुक्तेः परत्वं तदेव विस्पष्टयति, मुमुक्षुभिस्तत्सिद्धय एव यत्नः कर्तव्य इति सूचयितुं—**इदमिति**।

इदं वक्तुमुपक्रान्तं ज्ञानं गुणतत्कार्यविषयं मुक्तेः परमकारणमुपाश्रित्य गुणतत्कार्यज्ञानेन यदनुष्ठेयं तदुपाश्रित्य गुणत्रयतत्कार्यज्ञानेन निरन्तरब्रह्मनिष्ठया गुणत्रयातिक्रमणं कृत्वेत्यर्थः। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'अस्थूलमनण्वह्रस्वम्' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धस्य निर्विशेषस्य मम परस्य ब्रह्मणः साधर्म्यं पूर्णत्वम्, न तु समानजातिरूपादिमत्त्वं निरवयवस्य निर्गुणस्य निर्विशेषस्य ब्रह्मणो जात्यादिधर्मासंभवात्। सजातीयरूपे चतुर्भुजत्वादिधर्मवत्त्वे विदुषोऽपि ब्रह्मणा समानधर्मत्वं वक्तुं शक्यते। 'अजातमभूतमप्रतिष्ठितमशब्दमस्पर्शमरूपमरसमगन्धमव्ययम्' इति, 'अप्राणममुखमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमचक्षुष्कमगोत्रमशिरस्कमपाणिपादम्' इति च सर्वधर्मनिषेधश्रवणाद् ब्रह्मणो दृश्यधर्मानुपपत्तेः, तद्वत्त्वे परिच्छिन्नत्वसावयवत्वानित्यत्वादिदोषप्रसङ्गात्। 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः', 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' इत्यादिश्रुतिविरोधप्रसङ्गाच्च। तस्माद् ब्रह्मसाधर्म्यं पूर्णत्वमेव, 'पूर्णमदः पूर्णमिदम्' इति श्रुतेः। मम साधर्म्यं पूर्णत्वमागताः मद्भावं प्राप्ता मुनयो ब्रह्मविद्यतयः सर्गेऽपि महदादिप्राकृतसृष्टावपि

पुनरावृत्तिरहितत्व आदि विशेषणोंसे विदेहमुक्ति पर है, ऐसा जो कहा गया था, उसीका—मुमुक्षुओंको विदेहमुक्तिकी सिद्धिके लिए ही यत्न करना चाहिए, ऐसा सूचन करनेके लिए—स्पष्टीकरण करते हैं—**'इदम्'** इत्यादिसे।

कहनेके लिए उपक्रान्त गुण और गुणोंके कार्यविषयक इस ज्ञानका, जो मुक्तिका परम कारण है, अवलम्बन कर यानी गुणोंके और उनके कार्यके ज्ञानसे जो अनुष्ठान करने योग्य है, उसका अवलम्बन कर, तीनों गुण और उनके कार्योंके ज्ञानसे निरन्तर ब्रह्मनिष्ठासे तीनों गुणोंका अतिक्रमण कर, यह अर्थ है। 'सत्य, ज्ञान और अनन्तरूप ब्रह्म है', तथा 'स्थूल नहीं, अणु नहीं, ह्रस्व नहीं इत्यादि श्रुतिसे प्रसिद्ध मेरा—निर्विशेष परब्रह्मका—साधर्म्य यानी पूर्णत्व है, समानजातिरूपादिमत्त्व नहीं है, क्योंकि निरवयव, निर्गुण और निर्विशेष ब्रह्ममें जाति आदि धर्मोंका सम्भव नहीं है। यद्यपि सजातीयरूप यानी चतुर्भुजत्व आदि धर्मसे युक्त होनेपर विद्वान्का भी ब्रह्मसे समानधर्मत्व कहा जा सकता है, तथापि 'अजात, अभूत, अप्रतिष्ठित, अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अरस, अगन्ध, अव्यय' इससे और 'अप्राण, अमुख, अश्रोत्र, अवाक्, अमन, अतेजस्क, अचक्षुष्क, अगोत्र, अशिरस्क, अपाणिपाद' इस श्रुतिसे सम्पूर्ण धर्मोंका निषेध होनेके कारण ब्रह्ममें दृश्यधर्म रह नहीं सकते। यदि उनका अङ्गीकार किया जाय, तो ब्रह्ममें परिच्छिन्नत्व, सावयवत्व, अनित्यत्व आदि दोषोंका प्रसङ्ग होगा, और आकाशके समान सर्वगत नित्य' 'साक्षी चेता केवल और निर्गुण' इत्यादि श्रुतियोंसे विरोध होगा। इसलिए ब्रह्मका साधर्म्य पूर्णत्व ही है, क्योंकि 'पूर्ण वह पूर्ण यह' ऐसी श्रुति है। मेरे साधर्म्यको (पूर्णत्वको) प्राप्त हुए—मेरे भावको प्राप्त हुए—मुनि यानी ब्रह्मवित् यति सर्गमें भी (महदादि प्राकृत सृष्टिमें भी) उत्पन्न नहीं होते—जन्मकी

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ३ ॥

हे अर्जुन, मेरे ईश्वरत्वकी उपाधिभूत महत् होनेसे त्रिगुणात्मिका माया सम्पूर्ण स्वकार्योंकी अपेक्षा महत् और ब्रह्मकी उपाधि होनेसे ब्रह्म कहलाती है, उसमें मैं गर्भ (स्वाभासरूप गर्भ) धारण करता हूँ, उससे सम्पूर्ण भूतोंकी उत्पत्ति होती है॥ ३ ॥

नोपजायन्ते जनिबीजं प्रकृतिमतीत्य चिदेकरसतां प्राप्तत्वात्तेषां प्रकृतिसम्बन्धाभावात् महासृष्टावपि नोत्पत्तिरित्यर्थः । तथा प्रलये महाप्रलये हिरण्यगर्भनाशेऽपि न व्यथन्ति न नश्यन्ति । परमसूक्ष्मब्रह्मभावं गतानां तेषां प्रलयक्रियाविषयत्वान्न किञ्चिच्चलनमस्तीत्यर्थः । ननु ब्रह्मभावं प्राप्तानां मुक्तानां ब्रह्मविदामयमप्राप्तप्रतिषेधः क्रियते सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति चेति न शङ्कनीयम् ; शिवविष्ण्वादिलोकेषु सारूप्यादिमुक्तिं गतानां महासृष्टौ सृष्टिर्महाप्रलये प्रलयश्च संभवति । तद्वद् ब्रह्मभावं गतानामपि जन्मादि स्यादिति पण्डितानामपि संशयस्तन्निवृत्त्यर्थं मुमुक्षूणां निर्विचिकित्सतया विदेहमुक्तौ प्रवृत्त्यर्थं चेदमुच्यते—'सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च' इति । ब्रह्मविद्व्यतिरिक्तानां मुक्तानामपि जन्मादिसंभवे इदमेव वचनं प्रमाणं वीतहव्यजयविजयादयश्च प्रमाणम् ॥ २ ॥

एवं गुणतत्कार्यज्ञानस्य समुत्पन्नज्ञानस्य रक्षाहेतुत्वेन गुणातिक्रमणोपायत्वेन विदेहमुक्तेः कारणत्वं प्रतिपाद्य प्रकृतेस्तद्गुणानां च मच्छक्तिसामर्थ्यादेव स्वकार्य-

---

बीजभूत प्रकृतिका उल्लङ्घन कर चिदेकरसताको प्राप्त होनेके कारण प्रकृतिके साथ सम्बन्ध न होनेसे महासृष्टिमें भी उनकी उत्पत्ति नहीं होती, यह अर्थ है । तथा प्रलयमें—महाप्रलयमें—हिरण्यगर्भका नाश होनेपर भी व्यथित नहीं होते—नष्ट नहीं होते । परम सूक्ष्म ब्रह्मभावको प्राप्त हुए वे प्रलयकी क्रियाके अविषय हैं, अतः किञ्चित् भी उनमें चलन (विक्रिया) नहीं होता, यह अर्थ है । 'सर्गमें भी उत्पन्न नहीं होते और प्रलयमें व्यथाको भी प्राप्त नहीं होते', यों ब्रह्मभावको प्राप्त हुए मुक्त ब्रह्मविदोंका अप्राप्तप्रतिषेध ही किया जाता है, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि शिव, विष्णु आदि लोकोंमें सारूप्य आदि मुक्तिको प्राप्त हुए पुरुषोंकी महासृष्टि होनेपर सृष्टि और महाप्रलय होनेपर प्रलय जैसे होता है, वैसे ही ब्रह्मभावको प्राप्त हुए यतियोंके भी जन्म आदि हो सकते हैं, ऐसा पण्डितोंको भी संशय होता है, उसकी निवृत्तिके लिए और मुमुक्षुओंको निःशङ्क होकर विदेहमुक्तिमें प्रवृत्तिके लिए यह कहा जाता है कि सर्गमें भी उत्पन्न नहीं होते और प्रलयमें व्यथाको प्राप्त नहीं होते । ब्रह्मविदोंके सिवा अन्य मुक्तोंके भी जन्मादि होते हैं, इसमें यही वचन प्रमाण है और वीतहव्य, जय, विजय आदि भी प्रमाण हैं ॥ २ ॥

इस प्रकार उत्पन्न हुए ज्ञानकी रक्षाका हेतु होनेसे तथा गुणोंके अतिक्रमणका उपाय होनेसे गुण और गुणकार्यका ज्ञान विदेहमुक्तिका कारण है, ऐसा प्रतिपादन करके, प्रकृति और

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥

हे कौन्तेय, सम्पूर्ण देव, मनुष्य आदि योनियोंमें जो मूर्तियाँ (शरीर यानी प्राणी) उत्पन्न होते हैं, उन सबकी महत्स्वरूप ब्रह्मात्मक प्रकृति जननी है और गर्भप्रदाता मैं (ईश्वर) पिता हूँ ॥ ४ ॥

निर्वाहक्षमत्वं न तु स्वत इति सूचयितुं प्रकृतेः स्वशक्तिसम्बन्धवत्त्वं सर्वभूतोत्पादकत्वं च प्रतिपादयति—**ममेति** ।

ममेश्वरत्वोपाधिभूता मदात्मिका माया गुणत्रयसाम्यावस्थालक्षणा प्रकृतिर्योनिः सर्वभूतोत्पत्तिकारणं या सा सर्वेभ्यः स्वकार्येभ्यो महत्त्वेन महदिति स्वकार्याणां बृंहकत्वेन वा ब्रह्मण उपाधित्वेन वा ब्रह्मेत्युच्यते । तस्मिन् जगद्बीजे ब्रह्मणि अव्यक्ते साक्षात्परम्परया च कार्यकारणात्मना परिणामसिद्धये तदवच्छिन्नचैतन्यैकलक्षणोऽह-मीश्वरस्तदुपहितानन्तशक्तिसम्पन्नो गर्भं स्वाभासलक्षणं प्रकृतितद्गुणविकारविजृम्भणकारणं दधामि निदधामि । निक्षिपामीत्यर्थः । ततो मदाभाससंभावितसामर्थ्यादेव मदाभास-शक्तिसमन्विताद्वा महतो ब्रह्मणः प्रकृतेः सकाशात्सर्वभूतानां महदादिक्रमेणाऽऽकाशादि-सकलभूतानां भूतकार्याणां चतुर्विधप्राणिशरीराणां च संभव उत्पत्तिर्भवति । सर्वाणि भूतानि संभवन्तीत्यर्थः ॥ ३ ॥

प्रकृतेः स्वानुग्रहबलेन सर्वजगदुत्पादकत्वं प्रतिपाद्य तस्याः सर्वभूतप्रसवित्रीत्वेन

प्रकृतिके गुणोंमें मेरी शक्तिकी सामर्थ्यसे ही अपने कार्यका निर्वाह करनेकी क्षमता है, स्वतः नहीं है, ऐसा सूचन करनेके लिए प्रकृतिमें अपनी शक्तिसे सम्बन्ध और सब भूतोंकी उत्पादकताका प्रतिपादन करते हैं—**'मम'** इत्यादिसे ।

मेरे ऐश्वर्यकी उपाधिभूत मद्रूपा जो माया—तीनों गुणोंकी साम्यावस्थारूप प्रकृति—योनि है यानी सब भूतोंकी उत्पत्तिकी कारण है, वह अपने सब कार्योंकी अपेक्षा महान् होनेसे महत् और अपने कार्योंकी वर्धक होनेसे अथवा ब्रह्मकी उपाधि होनेसे ब्रह्म कहलाती है, उस जगत्के बीजभूत ब्रह्ममें (अव्यक्तमें) साक्षात् और परम्परासे कार्यकारणस्वरूपसे परि-णामकी सिद्धिके लिए उससे अवच्छिन्न चैतन्यस्वरूप उससे उपहित अनन्त शक्ति-संपन्न मैं (ईश्वर) स्वाभासलक्षणरूप प्रकृति और प्रकृतिके गुणोंके वर्धनके कारण गर्भको धारण करता हूँ यानी निक्षेप करता हूँ, यह अर्थ है । उससे (मेरे आभाससे उत्पन्न सामर्थ्यसे ही अथवा मेरे आभासकी शक्तिसे युक्त महत् ब्रह्मरूप प्रकृतिसे सब भूतोंका (महद् आदिके क्रमसे आकाश आदि सम्पूर्ण भूतोंका, भूतोंके कार्योंका और चार प्रकारके प्राणियोंके शरीरोंका) संभव (उत्पत्ति) होता है । सब भूत उत्पन्न होते हैं, यह अर्थ है ॥ ३ ॥

अपने अनुग्रहवश प्रकृति सम्पूर्ण जगत्की उत्पादक है, ऐसा प्रतिपादन करके अब सब

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥

सत्त्व, रज और तम ये गुण प्रकृतिसे ही उत्पन्न होते हैं। हे महाबाहो, ये ही अव्ययरूप आत्मज्ञानीको देहमें बाँधते हैं यानी जन्म-मरणरूप प्रवाहमें डालते हैं ॥ ५ ॥

सर्वस्य जगतो जननीत्वं गर्भाधानकारणत्वेन स्वस्य जनकत्वं च सूचयितुमाह—**सर्वयोनिष्विति** ।

सर्वयोनिषु देवमनुष्यतिर्यगादियोनिषु या मूर्तयः प्राणिदेहाः संभवन्ति समुत्पद्यन्ते तासां मूर्तीनां प्राणिनामित्येतत् महदुक्तलक्षणं ब्रह्म प्रकृतिर्योनिर्जननी भवति । बीजप्रदो गर्भप्रदाताऽहमीश्वरः पिता भवामीत्यर्थः । एतेन मातुः प्रकृतेः पितुरीश्वरस्य च मम प्रसादादेव मोक्ष इति सूचितम् , 'ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वः' इति, 'तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशम्' इति च श्रुतेः; 'बुद्धिप्रसादाच्च शिवप्रसादाद्गुरुप्रसादात्पुरुषस्य मुक्तिः' इति स्मृतेश्च ॥ ४ ॥

प्रकृतेस्तद्गुणानां च स्वानुग्रहबलेनैव कार्यक्षमत्वं प्रतिपाद्य गुणविभागपूर्वकं गुणानां बन्धकत्वमाह—**सत्त्वमिति** ।

मुक्तेः परमसाधनत्वेनोत्कृष्टत्वात्सत्त्वस्य प्रथमोद्देशः, सर्वप्रवृत्तेः कारणत्वात् ततो रजसः, ततो निकृष्टत्वात्तमसश्च निर्देशः । सत्त्वमिति रज इति तम इत्येवं नामानो

भूतोंकी उत्पादक होनेसे प्रकृति सम्पूर्ण जगत्की जननी है और गर्भाधानका कारण होनेसे मैं (ईश्वर) जनक हूँ, ऐसा सूचन करनेके लिए कहते हैं—**'सर्वयोनिषु'** इत्यादिसे ।

सब योनियोंमें—देव, मनुष्य, तिर्यक् आदि योनियोंमें—जो मूर्तियां (प्राणियोंकी देह) होती हैं यानी उत्पन्न होती हैं, उन मूर्तियोंकी—प्राणियोंकी—यह महत् (उक्तलक्षण ब्रह्मरूपा प्रकृति) योनि यानी जननी है और मैं ईश्वर बीजप्रद—गर्भप्रदाता—पिता हूँ, यह अर्थ है। इससे यह सूचित होता है कि माता प्रकृतिके और मुझ पितारूप ईश्वरके प्रसादसे ही मोक्ष होता है, क्योंकि 'ज्ञानके प्रसादसे विशुद्ध अन्तःकरणवाले' और 'उस आत्मबुद्धिके प्रकाशक देवको' ऐसी श्रुति है तथा 'बुद्धिके प्रसादसे, शिवके प्रसादसे तथा गुरुके प्रसादसे पुरुषकी मुक्ति होती है' ऐसी स्मृति है ॥ ४ ॥

प्रकृति और उसके गुण अपने (ईश्वरके) अनुग्रहके बलसे ही कार्यमें समर्थ हैं, ऐसा प्रतिपादन करके विभागपूर्वक गुणोंका बन्धकत्व कहते हैं—**'सत्त्वम्'** इत्यादिसे ।

मुक्तिका परमसाधन होनेके कारण उत्कृष्ट होनेसे सत्त्वका प्रथम निर्देश है, तदनन्तर सम्पूर्ण प्रवृत्तियोंका कारण होनेके कारण रजका और तदनन्तर निकृष्ट होनेके कारण तमका निर्देश है।

गुणाः प्रकृतिसंभवाः । संभवत्यस्मादिति संभव उपादानम्, प्रकृतिरेव संभवो येषां ते प्रकृतिसंभवाः । सत्त्वादयो रूपादिवद् द्रव्यमात्राश्रया न भवन्ति, किन्तु कार्यकारणयोरभेदन्यायेन प्रकृत्यात्मकत्वात् सर्वगता भवन्ति, तेन सर्वं गुणमयमेव जगत्तत एव बहिर्विषयरूपेणाऽन्तश्च रागद्वेषलोभादिरूपेण निद्रालस्यप्रमादादिरूपेण च शमदमसत्यदयादाक्षिण्यादिरूपेण च वर्तमानाः सत्त्वादिगुणाः स्वयमव्ययं नाशरहितमपि देहिनम् आत्मानम् । आत्मविदमित्यर्थः । स्वविकारव्याप्त्या तिरोहितप्रत्यग्भावं देह एवाऽऽत्मभावापन्नं च कृत्वा देहे निबध्नन्ति । देहतद्धर्मतत्कर्मस्वहंममाभिमानाभिवेशं कारयित्वा जन्ममरणादिभिः संयोज्य नाशयन्तीत्यर्थः । ननु 'सर्वेन्द्रियविवर्जितम्' इति, 'असक्तम्' इति, 'प्रकृत्यैव च कर्माणि' इति, 'न करोति न लिप्यते' इति चाऽऽत्मनः क्षेत्रज्ञस्य क्षेत्रतद्धर्मतत्कर्मरहितत्वमसङ्गत्वमकर्तृत्वमलिप्तत्वं च प्रतिपादितम्, कथं कूटस्थासङ्गचिद्रूपस्य गुणैर्बध्यमानत्वमिति चेत्, उच्यते—निष्कलस्य निष्क्रियस्याऽसङ्गस्य चाऽऽत्मनस्त्वज्ञानदशायां ज्ञानदशायां वाऽप्यध्यासत एव बन्धो न तु वस्तुतोऽस्ति, तथात्वे मोक्षाभावप्रसङ्गात्; ततो निरवयवस्याऽसङ्गस्याऽविरोधिनः प्रतीचः सूर्यस्य तमःसम्बन्धवदविद्यातत्कार्यसम्बन्धः कदापि न संभवति, किन्तु स्वानुभूतौ प्रमाद्यतो ब्रह्म-

---

'सत्त्व', 'रज' और 'तम' नामक गुण प्रकृतिसंभव हैं । (जिससे उत्पन्न होता है, वह संभव है यानी उपादान । प्रकृति ही जिनका संभव है, वे प्रकृतिसंभव हैं ।) रूप आदि गुणोंके समान सत्त्व आदि गुण केवल द्रव्यमें ही नहीं रहते, किन्तु 'कार्य और कारण दोनोंका अभेद है' इस न्यायसे प्रकृतिरूप होनेके कारण सभीमें रहते हैं, इससे सम्पूर्ण जगत् गुणमय ही है, इसीसे बाहर विषयरूपसे और भीतर राग, द्वेष, लोभ आदि रूपसे; निद्रा, आलस्य, प्रमाद आदि रूपसे तथा शम, दम, सत्य, दया, दाक्षिण्य आदि रूपसे वर्तमान सत्त्व आदि गुण स्वयं अव्यय—नाशरहित—देहीको यानी आत्माको । आत्माके जाननेवालेको, यह अर्थ है । अपने विकारकी व्याप्तिसे प्रत्यग्भावका तिरोभाव और देहमें ही आत्मभाव प्राप्त कराकर देहमें बांधते हैं । देह, उसके धर्म तथा उसके कर्मोंमें मैं, मेरा, ऐसा अभिनिवेश कराकर तथा जन्म-मरण आदिसे सम्बन्ध कराकर (आत्मवित्का) नाश करते हैं, यह अर्थ है । 'सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे रहित', असक्त', 'प्रकृतिसे ही क्रियमाण कर्म' तथा 'न करता है, न लिप्त होता है' इत्यादिसे क्षेत्रज्ञ आत्मा क्षेत्रसे, उसके धर्मोंसे, उसके कर्मोंसे रहित है, तथा असङ्ग, अकर्ता और अलिप्त है, ऐसा प्रतिपादन किया गया है. ऐसी स्थितिमें कूटस्थ असङ्ग चिद्रूप आत्मा गुणोंसे बद्ध होता है, यह कैसे कहते हो? ऐसी यदि शङ्का हो, तो उसपर कहते हैं—निष्कल, निष्क्रिय और असङ्ग आत्माका तो अज्ञानदशा या ज्ञानदशामें अध्याससे ही बन्ध है, वास्तविक नहीं है । यदि उसका बन्ध वास्तव माना जाय, तो मोक्षके अभावका प्रसङ्ग होगा, इसलिए निरवयव, असङ्ग तथा अविरोधी प्रत्यगात्माका, जैसे सूर्यका तमसे सम्बन्ध नहीं होता, वैसे ही अविद्या और उसके कार्यसे कभी भी सम्बन्ध नहीं होता, किन्तु आत्माके

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चाऽनघ ॥ ६ ॥

हे अर्जुन, उन सत्त्वादि गुणोंमें से निर्मल होनेके कारण प्रत्यक् वस्तुका प्रकाशक जड़ताशून्य सत्त्वगुण ब्रह्मज्ञानीको भी शब्दादि विषय और इन्द्रियोंके सम्पर्कसे जनित सुखमें आसक्ति द्वारा बन्धनमें डालता है यानी विषयसुखलम्पट बना देता है तथा तर्क, मीमांसा आदि शास्त्रोंके अर्थज्ञानमें आसक्त कर देता है ॥६॥

विद्यतेऽनात्माध्यासः सत्त्वादिभिर्भिद्यमानत्वं च संभवति, नित्यनिरन्तरात्मानुभूत्या तमकुर्वत एव विदुषो दृष्टदुःखाभावः सदात्मानन्दरसानुभूतिश्च गुणातिक्रमणं च विदेहमुक्तिश्च सिध्यति । गुणदोषेण तं कृतवतस्तु यतेः संप्राप्तज्ञानसङ्कोचो विक्षेपश्च जन्मादिबन्धश्च भवति । तस्माद्देहेन्द्रियादिष्वन्यत्र वाऽहंममाध्यासराहित्यमेव विदुषो जीवन्मुक्तिः । तत्राऽहंममाध्यास एव बन्धः । सत्त्वादिगुणदोषेण तं कृत्वा विद्वानपि बध्यते, यथा सत्त्वगुणकृतदयादोषेण दूषितान्तरङ्गः सन्ननात्मन्यात्मभावं कृत्वा विद्वानपि भरतः कुरङ्गे च पोष्यत्वममत्वाध्यासं कृत्वा स्नेहपाशेन बद्धो जन्मादिबन्धं प्राप्तवान् । तस्मात्सत्त्वादिगुणतत्कार्यैरकम्पितेनैव विदुषा विदेहकैवल्यार्थिना सदात्मनिष्ठयैव स्थातव्यमिति बोधयितुमेव चतुर्दशाध्यायारम्भः ॥ ५ ॥

सामान्येनैवं गुणसमष्टिकार्यं दर्शयित्वा प्रत्येकं गुणानां स्वरूपं कार्यं च प्रतिपादयति त्रयोदशभिः—तत्रेति ।

अनुभवमें प्रमाद करनेवाले ब्रह्मवित् यतिका अनात्माध्यास और सत्त्व आदिसे भेद होता है और नित्य, निरन्तर आत्माके अनुभवसे उक्त अध्यासको न कर रहे विद्वान्में दृष्ट दुःखका अभाव, सदात्मानन्दरसका अनुभव, गुणोंका अतिक्रमण और विदेहमुक्ति ये सब सिद्ध होते हैं । गुणोंके दोषसे अध्यासको कर रहे यतिमें तो प्राप्त हुए ज्ञानका संकोच, विक्षेप और जन्म आदि बन्ध होते हैं । इसलिए देह, इन्द्रिय आदिमें अथवा अन्यमें मैं और मेरा, इस अध्याससे रहित होना ही विद्वान्की जीवन्मुक्ति है । उसमें मैं, मेरारूप अध्यास ही बन्ध है । सत्त्व आदि गुणरूप दोषोंसे अध्यासमें पड़कर विद्वान् भी बन्धनमें पड़ता है । जैसे सत्त्वगुणों द्वारा किये गये दयादोषसे दूषित अन्तःकरणसे युक्त होकर अनात्मामें आत्मभाव करके ज्ञानी भी जड़भरत मृगमें पोष्यत्व और ममत्व अध्यास करके स्नेहपाशसे बद्ध होकर जन्मादि बन्धको प्राप्त हुए थे । इसलिए सत्त्व आदि गुण और उनके कार्योंसे अविचलित, विदेहकैवल्यके अभिलाषी विद्वान्को सदा आत्मनिष्ठासे ही स्थित रहना चाहिए, ऐसा बोधन करनेके लिए ही चौदहवें अध्यायका आरम्भ है ॥ ५ ॥

इस प्रकार सामान्यतः समुदित गुणोंके कार्यको दिखलाकर प्रत्येक गुणके स्वरूप और कार्यका प्रतिपादन करते हैं—'तत्र' इत्यादि तेरह श्लोकोंसे ।

तत्र तेषु त्रिगुणेषु सत्त्वं सत्त्वगुणो निर्मलत्वात् मलाभ्यां रजस्तमोभ्यां निर्गतत्वेनाऽतिस्वच्छत्वात् प्रकाशकं प्रत्यग्वस्तुस्वरूपावभासकम्, अनामयं च सत्त्वस्याऽऽमयो नाम विक्षेपो जाड्यं च तत्कारणयो रजस्तमसोरभावादनामयमविक्षिप्तमजडं चैवंलक्षणमपि सत्त्वं स्वोपसृष्टं ब्रह्मविदमपि सुखसङ्गेन शब्दादीष्टविषयेन्द्रियसंपर्कजन्यं यत्सुखं तत्र सङ्गः सक्तिस्तेन बध्नाति। विषयसुखलम्पटं करोतीत्यर्थः। यद्वा, शमदमदयाहिंसाक्षान्त्यादिसाधनसम्पत्त्या ब्रह्मविदं सुखसङ्गेन यदुपास्तिसाध्यं ब्राह्मं वैष्णवं शैवं वा पारलौकिकं सुखं तत्सङ्गेन तत्कामेन बध्नाति। ब्रह्मज्ञानतत्सुखानुभूतिभ्यां च्यावयित्वा बहिर्मुखं करोतीत्यर्थः। किञ्च, ज्ञानसङ्गेन ज्ञानं नानाशास्त्रार्थविचारजन्यं तत्र सङ्गः सज्जतेऽनेनेति सङ्गः कामस्तेन बध्नाति। तर्कमीमांसासांख्ययोगागमतन्त्राणामर्थज्ञानासक्तं ब्रह्मविदं च करोतीत्यर्थः। यद्वा, ज्ञायते परमेश्वरोऽनेनेति ज्ञानमीश्वरमहत्त्वप्रतिपादकं शास्त्रं तत्र सङ्गस्तत्प्रतिपाद्यमानपरमेश्वरगुणकथाश्रवणभजनकीर्तनादिष्वासक्तिस्तेन बध्नाति ब्रह्मनिष्ठायाः प्रच्याव्य तत्प्रवणं करोतीत्यर्थः ॥ ६ ॥

एवं निर्मलत्वं प्रकाशकत्वमविक्षिप्तत्वं च सत्त्वस्य स्वरूपं सुखसंयोजनं ज्ञानसंयोजनं च तत्कार्यमपि निरूप्य रजसः स्वरूपं कार्यं चाऽऽह—रज इति।

उनमें—उन तीनों गुणोंमें—सत्त्व (सत्त्वगुण) निर्मल होनेसे (मल—रज और तम-से निर्मुक्त होनेके कारण अतिस्वच्छ होनेसे) प्रकाशक—प्रत्यक् वस्तुके स्वरूपका अवभासक—और अनामय (सत्त्वका आमय विक्षेप और जाड्य है, उनके कारण रज और तमके न होनेसे अनामय यानी अविक्षिप्त और अजड़) है। इस प्रकारके लक्षणसे युक्त सत्त्व अपनेसे संबद्ध ब्रह्मवित्‌को भी सुखके सङ्गसे (शब्दादि इष्ट विषय और इन्द्रियोंके संपर्कसे जनित सुखमें सङ्ग यानी सक्ति, उससे) बांधता है। विषयसुखलम्पट बना देता है, यह अर्थ है। अथवा शम, दम, दया, अहिंसा, क्षान्ति आदि साधनसंपत्तिसे ब्रह्मवित्‌को सुखके सङ्गसे (उपासनासे साध्य ब्रह्माका, विष्णुका अथवा शिवका जो पारलौकिक सुख है, उसके सङ्गसे) यानी उसकी कामनासे बाँधता है। ब्रह्मज्ञान और उसके सुखके अनुभवसे हटाकर बहिर्मुख कर देता है, यह अर्थ है। किञ्च, ज्ञानसङ्गसे (ज्ञान—नाना शास्त्रोंके विचारसे जनित ज्ञान—उसमें सङ्ग, अर्थात् जिससे फँस जाता है, वह सङ्ग यानी काम, उससे) बाँधता है। तर्क, मीमांसा, सांख्य, योग, आगम और तन्त्रशास्त्रके अर्थज्ञानमें ब्रह्मविद् मुनिको भी आसक्त कर देता है, यह अर्थ है। अथवा जिससे परमेश्वरका ज्ञान होता है, वह ज्ञान है यानी ईश्वरके महत्त्वका प्रतिपादन करनेवाला शास्त्र, उसमें सङ्ग यानी उससे प्रतिपाद्यमान परमेश्वरके गुण, कथा, श्रवण, भजन कीर्तन आदिमें आसक्ति, उससे बांधता है, ब्रह्मनिष्ठासे हटाकर उनमें तत्पर कर देता है, यह अर्थ है ॥ ६ ॥

इस प्रकार निर्मलत्व, प्रकाशकत्व और अविक्षिप्तत्व सत्त्वका स्वरूप है, इसका और सुखसे तथा ज्ञानसे जोड़ना, (सम्बद्ध करना) सत्त्वका कार्य है, इसका भी निरूपण करके रजका स्वरूप और कार्य कहते हैं—'रजो' इत्यादिसे।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥ ७ ॥
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ ८ ॥

हे कौन्तेय, तुम रजोगुणको रागस्वरूप तथा तृष्णा और सङ्गसे उत्पन्न हुआ जानो, वह रजोगुण आत्माको (आत्मज्ञानीको) ऐहिक और आमुष्मिक फलके हेतु लौकिक और वैदिक कर्मोंमें आसक्त कर देता है यानी आत्मस्वरूपानुभूतिसे हटाकर ब्रह्मज्ञानीको भी कर्मठ बना देता है ॥ ७ ॥

हे अर्जुन, तमोगुण अज्ञानसे उत्पन्न हुआ और सम्पूर्ण प्राणियोंका मोहक है। वह प्रमाद, आलस्य और निद्रासे ब्रह्मज्ञानीको भी ब्रह्मनिष्ठासे विमुख कर देता है ॥ ८ ॥

यत् 'सत्त्वं रजः' इत्युपक्रान्तं तद्रजो रजोगुणो रागात्मकं स्रगादिविषयेषु रज्यते पुमाननेनेति रागो रक्तिः स एवाऽऽत्मा स्वरूपं यस्य तद्रागात्मकं रागस्वरूपकं रागैकवेद्यं च। तृष्णासङ्गसमुद्भवं च। अप्राप्तेष्वाशा तृष्णा, प्राप्तेषु ग्रहणेच्छा सङ्गस्तयोः समुद्भव उत्पत्तिर्यस्मात्तत्तृष्णासङ्गसमुद्भवं देशकालाभ्यां व्यवहिताव्यवहितार्थस्पृहा-जनकं च रजो विद्धि। रजोगुणं विजानीहीत्यर्थः। एवंलक्षणो रजोगुणो देहिनमात्मा-नम्। आत्मविदमिति यावत्। कर्मसङ्गेन कर्माण्यैहिकामुष्मिकार्थैकप्रयोजनानि लौकि-कानि वैदिकानि च तेषु सङ्गः सक्तत्वं तत्परत्वं तेन बध्नाति। स्वस्वरूपानुभूतेः प्रताર्य ब्रह्मविदमपि कर्मठं करोतीत्यर्थः ॥ ७ ॥

तमसोऽपि स्वरूपं कार्यं च प्रतिपादयति—**तम इति।**

जिस रजोगुणका 'सत्त्वं रजः' इससे उपक्रम किया गया है, वह (रजोगुण) रागात्मक (माला आदि विषयोंमें जो पुरुषको रंगता है, वह राग है यानी रक्ति, वही है आत्मा—स्वरूप—जिसका, वह रागात्मक है) यानी रागस्वरूप या एकमात्र रागसे ही वेद्य तथा तृष्णासङ्गसमुद्भव (अप्राप्तमें आशा तृष्णा है, प्राप्तके ग्रहणकी इच्छा सङ्ग है, उन दोनोंका समुद्भव (उत्पत्ति) जिससे होता है, वह तृष्णासङ्गसमुद्भव) है। देश और कालसे व्यवहित या अव्यवहित पदार्थकी इच्छाको उत्पन्न करने-वाला रजोगुण है, ऐसा तुम जानो, यह अर्थ है। इस प्रकारके लक्षणसे युक्त रजोगुण देहीको यानी आत्माको। आत्मवित्को, यह अर्थ है। कर्मसङ्गसे (इस लोक और परलोकरूप प्रयोजनका सम्पादन करनेवाले लौकिक और वैदिक कर्मोंमें तत्परता कर्म-सङ्ग है, उससे) बांधता है। स्वस्वरूपके अनुभवसे हटाकर ब्रह्मवित्को भी कर्मठ बना देता है, यह अर्थ है ॥ ७ ॥

तमके भी स्वरूप और कार्यका प्रतिपादन करते हैं—'**तम०**' इत्यादिसे ।

रजःसत्त्वाभ्यां दोषाधिकेन बन्धकत्वेन विशिष्टत्वात्तमसस्तदुत्कृष्टत्वबोधनार्थस्तुशब्दः। तमस्त्वज्ञानजं यत्र ज्ञानं सत्तां न लभते तदज्ञानं न तु ज्ञानाभावः, अभावस्य कार्यकारित्वासंभवात्। तस्माज्जातमज्ञानजम्। यद्यपि 'गुणाः प्रकृतिसंभवाः' इति त्रयाणां गुणानां प्रकृतिजन्यत्वस्य तुल्यत्वम्, तथापि तमस्त्वज्ञानस्वभावाव्यभिचारादज्ञानजत्वविशेषणविशिष्टम्, तत एव सर्वदेहिनां सर्वेषां ब्रह्मादिस्तम्बान्तानां प्राणिनां स्वोपसृष्टानामविशेषेण मोहनम्, मोहयति स्वाविर्भूत्या विद्यमानमेव सदसद्विवेकज्ञानं तिरोभावयतीति मोहनम्, तमस्त्वज्ञानजं मोहकं स्वरूपतः ज्ञानावारकं च विद्धीत्यर्थः। तमसः सम्भवं स्वरूपं चोक्त्वा कार्यमाह—**प्रमादेति**। अज्ञानं जडं तदुत्पन्नत्वादेव विवेकविज्ञानावरकं तमः स्वयम्। प्रमादालस्यनिद्राभिः। प्रयत्नेन कर्तव्ये कार्ये विस्मृतिः प्रमादः, कर्तव्येऽपि च कार्ये श्रद्धावैधुर्येणोत्साहाभाव आलस्यम्, बुद्धिजाड्याधिक्येन कर्तव्यं परित्यज्य स्वापो निद्रा। निरुक्तैरनर्थैः प्रमादादिभिर्देहिनमात्मानमात्मज्ञमपि तन्निबध्नाति नितरां स्वगुणेन मोहयित्वा ब्रह्मविदमपि स्वनिष्ठाविमुखं करोतीत्यर्थः। बुद्धेर्नैर्मल्येन विषयसुखासक्त्या च सत्त्वाविर्भावं ज्ञात्वा, विषयेषु रागाविर्भूत्या कर्मासक्त्या च रजआविर्भावं ज्ञात्वा, बुद्धिजाड्येन विपरीतप्रत्ययाविर्भूत्या प्रमादनिद्रालस्या-

---

अधिक दोषवान् और बन्धक होनेके कारण रज और सत्त्वकी अपेक्षा विशिष्ट होनेसे तम सत्त्वादिसे उत्कृष्ट है, ऐसा बोधन करनेके लिए 'तु' शब्द है। तम तो अज्ञानजन्य है, जिसमें ज्ञान सत्ताको प्राप्त नहीं होता, वह अज्ञान है, ज्ञानका अभाव अज्ञान नहीं है, क्योंकि अभाव कार्यकारी नहीं हो सकता, उससे उत्पन्न हुआ अज्ञानज है। यद्यपि 'गुणाः प्रकृतिसम्भवाः' इससे तीनों गुणोंमें प्रकृतिजन्यत्व समानरूपसे ही प्रतिपादित है, तथापि तम अज्ञानस्वभावका व्यभिचारी न होनेसे अज्ञानजत्व विशेषणसे विशिष्ट है, इसीलिए सब देहियोंको—ब्रह्मासे लेकर स्तम्ब तक अपनेसे संबद्ध सब प्राणियोंको—एक-सा ही मोहन (जो मोहित करता है यानी अपनी आविर्भूतिसे विद्यमान सत्-असत्के विवेकविज्ञानको तिरोहित करता है, वह मोहन) तमको तो अज्ञानज, मोहक और स्वरूपज्ञानका आवारक जानो, यह अर्थ है। तमका कारण और स्वरूप कह कर उसके कार्यको कहते हैं—**प्रमादेति**। अज्ञान—जड़ है, उससे उत्पन्न होनेके कारण ही विवेकविज्ञानका आवारक तम स्वयं प्रमाद, आलस्य और निद्रासे, (प्रयत्नपूर्वक करने योग्य कार्यकी विस्मृति प्रमाद, है, कर्तव्य कार्यमें भी श्रद्धा न होनेपर जो उत्साहका अभाव होता है, वह आलस्य है, बुद्धिकी अधिक जड़तासे कर्तव्यको छोड़कर सो जाना निद्रा है।) तम निरुक्त प्रमाद आदि अनर्थोंसे आत्माको यानी आत्माके जाननेवाले देहीको भी बांधता है। अपने गुणसे मोहित करके ब्रह्मवित्को भी सदा आत्मनिष्ठासे विमुख करता है, यह भाव है। बुद्धिकी निर्मलता और विषयसुखकी आसक्तिसे सत्त्वके आविर्भावको जानकर, विषयोंमें रागका आविर्भाव तथा कर्मासक्तिसे रजके आविर्भावको जानकर और बुद्धिकी जड़तासे, विपरीत प्रत्ययकी अविर्भूति और प्रमाद निद्रा, आलस्य आदि से

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत ॥ ९ ॥

हे अर्जुन, सत्त्वगुण पुरुषको वैषयिक सुखोंमें आसक्त करता है, रजोगुण वैदिक या अन्य कर्मोंमें प्रवृत्त करता है और तमोगुण आत्मज्ञानको आवृत कर कर्तव्यकी विस्मृति तथा आलस्य आदिमें प्रवृत्त करता है ॥ ९ ॥

स्यादिभिश्च तमआविर्भावं च ज्ञात्वा, ब्रह्मविद्यतिः स्वयं सत्त्वादिगुणविकाराणामवशो भूत्वा, तत्तद्विकारप्रतियोगिगुणावलम्बनेन गुणदोषान् पराभाव्य, सदात्मानुभूतावेव तिष्ठेदिति सूचितं भवति ॥ ८ ॥

ज्ञाननिष्ठापरिपन्थीभूतगुणकार्यनिरूपणं कुर्वता स्वेन उक्तमेव गुणकार्यं परिजिहीर्षोर्ब्रह्मविद्यतेस्तज्ज्ञानदार्ढ्याय पुनरप्याह—**सत्त्वमिति**।

पुरुषं सत्त्वं सत्त्वगुणः सुखे वैषयिके सञ्जयति सक्तं करोति, रजः कर्मणि वैदिके चाऽन्यत्र च सञ्जयति लगयति, तमस्तु ज्ञानं स्वरूपज्ञानमावृत्य प्रमादे नियमेन कर्तव्यज्ञाननिष्ठाविस्मरणे सञ्जयति। उताऽप्यर्थः। आलस्यादावपि सञ्जयतीत्यर्थः ॥९॥

ननु वेणीकरणे केशभागानामिव त्रयाणामपि गुणानां साम्येन प्रवृत्तौ सत्यां समष्ट्या स्वकार्यारम्भकत्वं विना कथं तेषां प्रत्येकं कार्यारम्भः सम्भवतीत्याकाङ्क्षायां प्राणिकर्मफलानुरूपेण गुणानां ह्रासो वृद्धिश्च भवति न तु साम्येन प्रवृत्तिस्तथात्वे कर्म-

---

तमके आविर्भावको जानकर ब्रह्मवित् यति स्वयं सत्त्व आदि गुणोंके विकारोंके वश न होकर तत्-तत् विकारोंके प्रतियोगी गुणोंके अवलम्बनसे गुणोंके दोषोंका पराभव करके सदा आत्मानुभूतिमें ही स्थित होना चाहिए, ऐसा सूचित होता है ॥ ८ ॥

ज्ञाननिष्ठाके विरोधी गुणके कार्योंका निरूपण कर रहे अपने द्वारा कहे गये गुणोंके कार्योंको छोड़नेकी इच्छावाले ब्रह्मवित् यतिके उस ज्ञानकी दृढ़ताके लिए श्रीभगवान् फिर भी उक्त ही गुणकार्यको कहते हैं—**'सत्त्वम्'** इत्यादिसे।

पुरुषको सत्त्व (सत्त्वगुण) विषयोंके सुखमें जोड़ता है—यानी आसक्त करता है, रजोगुण कर्ममें—वैदिक कर्म या अन्य कर्ममें प्रवृत्त करता है—लगाता है और तमोगुण ज्ञानको—स्वरूपज्ञानको—ढांककर प्रमादमें (नियमसे कर्तव्य ज्ञाननिष्ठाके विस्मरणमें) जोड़ता है। उत-शब्द अपिके अर्थमें है। आलस्य आदिमें भी जोड़ता है, यह अर्थ है ॥ ९ ॥

वेणीके गूथनेमें केशोंके भागकी नाईं तीनों गुणोंकी साम्यसे प्रवृत्ति होनेपर समष्टिसे कार्यारम्भकत्वके बिना कैसे वे प्रत्येक कार्यके आरम्भक हो सकते हैं, ऐसी आकाङ्क्षा होनेपर प्राणियोंके कर्मोंके फलोंके अनुसार गुणोंका घटना और बढ़ना होता है, साम्यसे प्रवृत्ति नहीं होती, ऐसा होनेपर कर्म और उसके फलकी विचित्रता नहीं, इसलिए इन गुणोंकी गुण और

रजस्तमश्चाऽभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥ १० ॥
सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥ ११ ॥

हे भारत, जीवोंके अदृष्टवश सुखकी साध्यदशामें रजोगुण और तमोगुणका पराभव कर सत्त्वगुण स्वयं उत्कृष्ट हो जाता है, कर्मकी साध्यदशामें सत्त्वगुण और तमोगुणका पराभव कर रजोगुण और ज्ञानावरणकी साध्यदशामें सत्त्वगुण और रजोगुणका पराभव कर तमोगुण स्वयं प्रधान बन जाता है ॥ १० ॥

अर्जुन, जिस समय इस शरीरमें सम्पूर्ण अन्तःकरणकी प्रवृत्तिके द्वारभूत चक्षु आदि इन्द्रियोंमें ज्ञानरूप प्रकाशका विस्तार होता है, उस समय सत्त्वगुणकी वृद्धि और रजोगुण तथा तमोगुणका ह्रास समझना चाहिए ॥ ११ ॥

तत्फलवैचित्र्यासम्भवात्ततोऽमीषां गुणप्रधानभावेन प्रवृत्तिरिति बोधयितुमाह—**रज इति** ।

प्राण्यदृष्टेन सुखे साध्ये सति रजः रजोगुणं तमः तमोगुणं चाऽभिभूय ह्रस्वीकृत्य सत्त्वं स्वयमुत्कृष्टं भवति । गुणद्वयमङ्गीकृत्य स्वयमङ्गीभूय स्वकार्यं करोतीत्यर्थः । कर्मणि साध्ये सति सत्त्वं तमश्चाऽभिभूयैव रजोगुण उत्कृष्टो भवति । गुणद्वयमङ्गीकृत्य स्वयमङ्गीभूय स्वकार्यं करोतीत्यर्थः । तथा ज्ञानावरणे साध्ये सति रजः सत्त्वं चाऽभिभूय तमः स्वयमुत्कृष्टं भवति । तद्द्वयमङ्गीकृत्य स्वयमङ्गीभूय स्वकार्यं करोतीत्यर्थः ॥ १० ॥

ननु सत्त्वादिगुणानां ह्रासो वृद्धिश्च कथं केन लिङ्गेन ज्ञायते, ज्ञाते खलु तदुत्कर्षे तदुपशमाय यतितुं शक्यते नाऽज्ञात इत्याकाङ्क्षायामाह—**सर्वेति** ।

प्रधानभावसे प्रवृत्ति होती है, ऐसा बोधन करनेके लिए कहते हैं—**'रज०'** इत्यादिसे ।

प्राणियोंके अदृष्टवश सुखके साध्य होनेपर रज—रजोगुण—और तम (तमोगुण) को दबाकर—कम करके सत्त्व स्वयं उत्कृष्ट होता है । दो गुणोंको अङ्ग बनाकर स्वयं अङ्गी होकर अपना कार्य करता है, यह अर्थ है । कर्मके साध्य होनेपर सत्त्वको और तमको दबाकर ही रजोगुण उत्कृष्ट होता है । दो गुणोंको अङ्ग करके स्वयं अङ्गी होकर अपना कार्य करता है, यह अर्थ है । तथा ज्ञानावरणके साध्य होनेपर रजको और सत्त्वको दबाकर तम स्वयं उत्कृष्ट होता है । उन दोनोंको अङ्ग बनाकर स्वयं अङ्गी होकर अपना कार्य करता है, यह अर्थ है ॥ १० ॥

सत्त्व आदि गुणोंका घटना और बढ़ना कैसे और किस हेतुसे जाना जाता है, क्योंकि उनका उत्कर्ष जाननेपर ही उनकी निवृत्तिके लिए प्रयत्न किया जा सकता है, जाने बिना नहीं, ऐसी आकाङ्क्षा होनेपर कहते हैं—**'सर्व०'** इत्यादिसे ।

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ १२ ॥
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥ १३ ॥

हे भरतकुलश्रेष्ठ, जब रजोगुणकी वृद्धि होती है, तब लोभ, प्रवृत्ति, लौकिक एवं वैदिक कर्मोंका आरम्भ, अन्तःकरणमें अशान्ति और विषयोंकी अभिलाषा—ये उत्पन्न होते हैं ॥ १२ ॥

हे कुरुनन्दन, जब तमोगुणकी वृद्धि होती है, तब बुद्धिमें स्फूर्तिका अभाव, आलस्य, कर्तव्यमें असावधानी और मूढता उत्पन्न होती है ॥ १३ ॥

यदा यस्मिन्काले सर्वद्वारेषु सर्वेष्वन्तःकरणप्रवृत्तिद्वारेषु त्वक्चक्षुःश्रोत्रजिह्वाघ्राणेष्वस्मिन् देहे च ज्ञानं ज्ञानप्रसादलक्षणः प्रकाशः स्फुरणमुपजायते विजृम्भते तदा सत्त्वं सत्त्वगुणं विवृद्धं प्रवृद्धमुताऽपि रजस्तमसोर्ह्रासमपि विद्यात् । अन्तःकरणप्रसादातिशयेन लिङ्गेन सत्त्वस्य वृद्धिं तदन्यह्रासं च जानीयादित्यर्थः ॥ ११ ॥

रजोवृद्धेरेतानि लिङ्गानि जायन्त इत्याह—**लोभ इति** ।

लोभो विद्यमानवस्तुत्यागासहिष्णुता, प्रवृत्तिः सामान्येन सर्वेन्द्रियचेष्टा, लौकिकानां वैदिकानां च कर्मणामारम्भ उपक्रमः, अशमः कामसंकल्पादिभिरन्तःकरणस्योपशमाभावः, स्पृहा विषयेषु वाञ्छा, रजसि रजोगुणे विवृद्धे सत्येतानि कार्याणि जायन्ते । एतैर्लिङ्गै रजोवृद्धिमन्यह्रासं च जानीयादित्यर्थः ॥ १२ ॥

तमोवृद्धेर्लिङ्गान्याह—**अप्रकाश इति** ।

जिस समय अन्तःकरणकी प्रवृत्तिके सम्पूर्ण द्वारोंमें यानी त्वचा, चक्षु, श्रोत्र, जिह्वा और नासिकामें तथा इस देहमें ज्ञानप्रसादरूप प्रकाश (स्फुरण) उत्पन्न होता है—प्रकाशित होता है, उस समय सत्त्वगुणकी वृद्धि और रज एवं तमका ह्रास भी समझना चाहिए । अन्तःकरणके प्रसादातिशयरूप लिङ्गसे सत्त्व गुणका बढ़ना और दूसरोंका (रज और तमका) घटना जानना चाहिए, यह अर्थ है ॥ ११ ॥

रजोगुणकी वृद्धिके ये चिह्न उत्पन्न होते हैं, ऐसा कहते हैं—'**लोभः**' इत्यादिसे ।

लोभ यानी विद्यमान वस्तुके त्यागको न सहना, प्रवृत्ति यानी सामान्यतः सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी चेष्टा, आरम्भ यानी लौकिक और वैदिक कर्मोंका उपक्रम, अशम यानी काम, सङ्कल्प आदिसे अन्तःकरणमें उपशमका अभाव, स्पृहा यानी विषयोंकी अभिलाषा—ये सब कार्य रजोगुणके बढ़नेपर उत्पन्न होते हैं । इन लिङ्गोंसे रजोगुणकी वृद्धि और दूसरोंका (तम और सत्त्वका) ह्रास जानना चाहिए, यह अर्थ है ॥ १२ ॥

तमोगुणकी वृद्धिके लिङ्ग कहते हैं—'**अप्रकाशो०**' इत्यादिसे ।

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान् प्रतिपद्यते ।। १४ ।।

अर्जुन, जिस समय सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है, उस समय प्राणी यदि मर जाय, तो वह हिरण्यगर्भकी उपासना करनेवाले प्राणियों द्वारा प्राप्त होने योग्य निर्मल हिरण्यगर्भादि लोकोंको प्राप्त करता है ।। १४ ।।

अप्रकाशो बुद्धेः स्फूर्त्यभावः, अप्रवृत्तिरालस्यम्, प्रमादः कर्तव्यानवधानता, मोहो मूढ़ता, चकारान्निद्रापारवश्यं चैतान्येव तमःप्रवृद्धेर्लिङ्गानि । एतैस्तमोवृद्धिं तदन्यह्रासं च विजानीयादित्यर्थः ।। १३ ।।

गुणानुषङ्गानुरूपेणैव मृतानां पारलौकिकी गतिर्न तु वर्णाश्रमाद्यनुरूपेणेति गुणानामेव मृत्यनन्तरं गतिकारणत्वं बोधयति—यदेति ।

तुशब्दस्तमोरजसोर्व्यावृत्त्यर्थः । यदा यस्मिन्काले सत्त्वे तु सत्त्वगुणे प्रवृद्धे सति देहभृत्प्राणी प्रलयं याति म्रियते तदोत्तमविदां हिरण्यगर्भादय उत्तमास्तान् विदन्त्युपासत इत्युत्तमविदस्तेषां प्राप्यानमलान् मलं जन्मजरादिदुःखमेव तद्रहितान् लोकान् हिरण्यगर्भादिलोकान् प्रतिपद्यते प्राप्नोतीत्यर्थः । ननु 'यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते' इति पुण्यापुण्यकर्मानुरूपेण परलोकगतिः श्रूयते, कथं गुणानुगुण्येन गतिरुच्यते श्रुतिविरुद्धेति चेत्, सत्यम्; प्राणिनां स्वकर्मानुरूपेणैव शुभाशुभगतिर्न तु

अप्रकाश यानी बुद्धिकी स्फूर्तिका अभाव, अप्रवृत्ति यानी आलस्य, प्रमाद यानी कर्तव्यमें अनवधानता, मोह यानी मूढ़ता (श्लोकस्थ चकारसे निद्रापरवशताका ग्रहण है)—ये तमोगुणकी वृद्धिके चिह्न हैं, इनसे तमोगुणकी वृद्धि और दूसरोंका (सत्त्व और रजका) ह्रास जानना चाहिए, यह अर्थ है ।। १३ ।।

गुणोंके सम्बन्धके अनुसार ही मृतक पुरुषोंकी पारलौकिक गति होती है, वर्ण, आश्रम आदिके अनुसार नहीं, इसलिए मरनेके अनन्तर परलोक-गतिमें गुण ही कारण हैं, ऐसा बतलाते हैं—'**यदा**' इत्यादिसे ।

तुशब्द तम और रजकी व्यावृत्तिके लिए है । जिस समय सत्त्व गुणके बढ़नेपर प्राणी मरता है, उस समय वह उत्तमविदोंके (हिरण्यगर्भ आदि उत्तम हैं, उनकी जो उपासना करते हैं, वे उत्तमविद् हैं, उनके) द्वारा प्राप्तव्य जन्म, जरा आदि दुःखरूप मलसे रहित लोकोंको—हिरण्यगर्भ आदि लोकोंको—जाता है यानी प्राप्त करता है, यह अर्थ है । यदि शङ्का हो कि 'यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते' इस वचनसे पुण्य और पापरूप कर्मोंके अनुसार परलोककी प्राप्ति सुननेमें आती है, फिर आप श्रुतिविरुद्ध गुणोंके अनुसार गति कैसे कहते हैं? तो यह कहना यद्यपि ठीक है, क्योंकि प्राणियोंकी अपने कर्मोंके अनुसार ही शुभ एवं अशुभ गति

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥ १५ ॥
कर्मणः सुकृतस्याऽऽहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ १६ ॥

रजोगुणके बढ़नेपर यदि प्राणी मर जाय, तो वह फिर कर्मयोगी मनुष्योंमें जन्म लेता है । तमोगुणके बढ़नेपर यदि प्राणी मर जाय, तो वह पशु आदि मूढ़ योनियोंमें उत्पन्न होता है ॥ १५ ॥

भली-भाँति अनुष्ठित सात्त्विक कर्मका गुणवैषम्यरहित सात्त्विक ब्राह्म या वैष्णव सुख फल है, राजस कर्मका दुःख फल है यानी दुःखप्रचुर स्वर्ग सुख फल है तथा तामस कर्मका अज्ञान यानी निद्रामय सुख है, ऐसा मुनि लोग कहते हैं ॥ १६ ॥

वर्णाश्रमाद्यनुरूपेण, नाऽपि पाण्डित्यानुरूपेण संभवति, तथाप्यसुभृतां मृतिकाले जन्मान्तरीयपुण्यापुण्यकर्मवशादेव सत्त्वादिगुणोत्कर्षस्तदनुरूपेणैव ब्रह्मादिलोकप्राप्तिस्ततो न श्रुतिविरोधो न स्मृतिविरोधश्चेति सिद्धम् ॥ १४ ॥

रजसस्तमसश्च उत्कर्षे मृतस्य गतिमाह—**रजसीति** ।

रजसि रजोगुणे प्रवृद्धे सति देहभृत्प्रलयं गत्वा रजःप्रवृद्धिवेगेन पुनः कर्मसङ्गिषु कर्मयोगयुक्तेषु मनुष्येषु जायत इत्यर्थः । तथा तमसि तमोगुणे प्रवृद्धे सति प्रलीनो मृतः प्राणी तमःप्रवृद्धिवेगेन मूढयोनिषु पश्वादिषु जायत इत्यर्थः ॥ १५ ॥

एवं गुणानां स्वरूपं बन्धकत्वं वृद्धिं वृद्धिकार्यं च प्रतिपाद्य सत्त्वादिगुणप्रधानानां कर्मणां फलमाह—**कर्मण इति** ।

होती है, वर्णाश्रमके अनुसार अथवा पाण्डित्यके अनुसार नहीं होती, तथापि प्राणियोंके मरणकालमें पिछले जन्मोंके पुण्य-पापरूप कर्मोंसे ही सत्त्व आदि गुणोंका उत्कर्ष होता है, उसके अनुसार ही ब्रह्मादिलोककी प्राप्ति होती है, इसलिए श्रुतिसे विरोध नहीं है और स्मृतिसे भी विरोध नहीं है, यह सिद्ध हुआ ॥ १४ ॥

रज और तमका उत्कर्ष होनेपर मरे हुए पुरुषकी गति कहते हैं—**'रजसि'** इत्यादिसे ।

रजोगुणके बढ़नेपर देहधारी प्राणी यदि प्रलयको (मृत्युको) प्राप्त हो जाय, तो वह रजोगुणकी वृद्धिके वेगसे फिर कर्मयोगसे युक्त मनुष्योंमें जन्म लेता है, यह अर्थ है । तथा तमोगुणके बढ़नेपर मरा हुआ प्राणी तमकी वृद्धिके वेगसे पशु आदि मूढ़ योनियोंमें उत्पन्न होता है, यह अर्थ है ॥ १५ ॥

इस प्रकार गुणोंका स्वरूप, बन्धकत्व, उनकी वृद्धि और वृद्धिके कार्यका प्रतिपादन करके सत्त्व आदि गुणप्रधान कर्मोंका फल कहते हैं—**'कर्मणः'** इत्यादिसे ।

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ १७ ॥

सत्त्वगुणके अविर्भावसे ज्ञान उत्पन्न होता है, रजोगुणके अविर्भावसे लोभ उत्पन्न होता है, तथा तमोगुणके आविर्भावसे प्रमाद, मोह और अज्ञानकी उत्पत्ति होती है ॥ १७ ॥

सुकृतस्य शमदमश्रद्धादिसत्त्वगुणसंपत्त्या चेश्वरार्पणबुद्ध्या च सम्यगनुष्ठितस्य सात्त्विकस्य कर्मणः सात्त्विकं सत्त्वोपबृंहितं निर्मलं मलं दुःखं गुणवैषम्यकृतं ततो निर्गतं निर्मलं ब्राह्मं वैष्णवं वा सुखं फलमाहुर्मुनयो वदन्ति । रजसो राजसस्य रजोगुणप्रधानस्य कामसङ्कल्पादिपूर्वकं समनुष्ठितस्य कर्मणो दुःखं गमागमसन्तापादि-दुःखभूयिष्ठं स्वर्गसुखं फलं प्राहुः । तमसः तमोगुणनिष्पन्नस्य विधिनियमश्रद्धा-शून्यस्य तामसस्य कर्मणस्त्वज्ञानं भोक्तृभोग्यगुणरसज्ञानशून्यं निद्रामयं सुखं फलं प्राहुरित्यर्थः ॥ १६ ॥

सत्त्वादिगुणानां कार्यान्तरमाह कार्येण कारणज्ञानाय—**सत्त्वादिति** ।

सत्त्वात्सत्त्वगुणाविर्भूतेर्ज्ञानं कार्याकार्यविवेकज्ञानं संजायते समुत्पद्यते । रजसो रजोगुणाविर्भूतेर्लोभः पदार्थादितृष्णा संजायते । तमसः तमोगुणाविर्भूतेः प्रमादमोहौ भवतः । अज्ञानं बुद्धिजाड्यमितिकर्तव्यतानभिज्ञत्वं च संजायत इत्यर्थः ॥ १७ ॥

शम, दम, श्रद्धा आदि सत्त्वगुणकी संपत्तिसे और ईश्वरार्पणबुद्धिसे भली भांति अनुष्ठित सात्त्विक कर्मका सात्त्विक यानी सत्त्वगुणसे उपबृंहित तथा निर्मल (गुणोंकी विषमतासे उत्पन्न हुआ दुःख मल है, उससे रहित) ब्राह्म या वैष्णव सुख फल है, ऐसा मुनि लोग कहते हैं। राजस (रजोगुणप्रधान) काम, सङ्कल्प आदिपूर्वक भलीभांति अनुष्ठित कर्मका दुःख—जाना, आना, सन्ताप आदि दुःखप्रचुर—स्वर्गसुखरूप—फल कहते हैं, तमोगुणसे निष्पन्न विधि, नियम एवं श्रद्धासे शून्य तामस कर्मका तो अज्ञान (भोक्ता, भोग्य, गुण, रसके ज्ञानसे रहित निद्रामय सुख) फल कहते हैं, यह अर्थ है ॥ १६ ॥

कार्यसे कारणका ज्ञान करानेके लिए सत्त्व आदि गुणोंके दूसरे कार्य कहते हैं—**'सत्त्वात्'** इत्यादिसे ।

सत्त्वसे—सत्त्वगुणके आविर्भावसे—कार्य और अकार्यका विवेकज्ञान उत्पन्न होता है। रजोगुणके आविर्भावसे लोभ (पदार्थ आदिकी तृष्णा) उत्पन्न होता है। तमोगुणके आविर्भावसे प्रमाद और मोह उत्पन्न होते हैं तथा अज्ञान यानी बुद्धिकी जड़ता—इतिकर्तव्यताको न जानना—उत्पन्न होता है, यह अर्थ है ॥ १७ ॥

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥ १८ ॥

सात्त्विक पुरुष ऊर्ध्वलोकमें यानी ब्रह्मलोक या विष्णुलोकमें जाते हैं, राजस पुरुष मध्यमें (देवलोक या मनुष्यलोकमें) ही रहते हैं और निकृष्ट तमोगुण वृत्तिमें रहनेवाले तामस पुरुष तिर्यक् योनिमें बार-बार उत्पन्न और विलीन होते हैं ॥१८॥

गुणानां ज्ञानादिकार्यमुक्त्वा सत्त्वादिगुणनिष्ठानां गतिमाह—**ऊर्ध्वमिति** ।

सत्त्वस्थाः मोक्षेच्छया सत्त्वगुणोत्पन्ने सदसद्विवेकज्ञाने ज्ञानकार्ये च परमेश्वरोपास्त्यादौ ये तिष्ठन्ति ते सत्त्वस्थाः पुरुषाः ऊर्ध्वं ऊर्ध्वलोकं ब्रह्मविष्ण्वादिस्थानं गच्छन्ति । राजसा रजोगुणनिष्पन्ने ज्ञाने कामसंकल्पादिगुणयुक्ते ज्ञानकार्ये च श्रौतादौ कर्मणि भोगेच्छया ये तिष्ठन्ति ते राजसाः पुरुषाः मध्ये ब्रह्मतिर्यग्लोकयोरन्तराले गमागमाभ्यां देवलोके मनुष्यलोके च तिष्ठन्ति । जघन्यो निकृष्टो यस्तमोगुणस्तद्वृत्तौ तमःप्रधाने ज्ञाने सदसद्विवेकवर्जिते कर्मणि वा ये तिष्ठन्ति ते जघन्यगुणवृत्तिस्थास्तामसाः पुरुषाः कृत्याकृत्यविवेकज्ञानशून्या अधो गच्छन्ति तिर्यग्योनिषु जायन्ते पुनःपुनर्म्रियन्त इत्यर्थः ॥ १८ ॥

'त्रिभिर्गुणमयैर्भावैः' इति, 'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया' इति, 'कारणं गुणसङ्गोऽस्य' इति च यदुक्तं गुणानां मोहकत्वं दुर्जयत्वं सदसद्योनिषु जन्मकारणत्वं च तस्यैव विस्पष्टत्वाय पुनरपि 'सत्त्वं रजस्तमः' इत्यादिना गुणाना-

---

गुणोंके ज्ञान आदि कार्यको कहकर सत्त्व आदि गुणोंमें निष्ठा रखनेवाले पुरुषोंकी गति कहते हैं—**'ऊर्ध्वम्'** इत्यादिसे ।

सत्त्वस्थ (मोक्षकी इच्छासे सत्त्वगुणसे उत्पन्न हुए सत् और असत्‌के विवेकज्ञानमें और ज्ञानके कार्यभूत परमेश्वरकी उपासना आदिमें जो स्थित रहते हैं, वे सत्त्वस्थ हैं) पुरुष ऊर्ध्वलोकमें यानी ब्रह्मा, विष्णु आदिके स्थानमें जाते हैं । राजस (रजोगुणसे उत्पन्न हुए काम, सङ्कल्प आदि गुणोंसे युक्त ज्ञानमें और ज्ञानके कार्य श्रौत आदि कर्ममें भोगकी इच्छासे जो स्थित होते हैं, वे राजस हैं) पुरुष मध्यमें यानी ब्रह्मलोक और तिर्यक् लोकके बीचमें आवागमन होनेके कारण देवलोक और मनुष्य् लोकमें स्थित रहते हैं । जघन्य (निकृष्ट) तमोगुणकी वृत्तिमें यानी तमःप्रधान ज्ञानमें अथवा सत् और असत्‌के विवेकसे रहित कर्ममें जो स्थित होते हैं, वे जघन्यगुणकी वृत्तिमें स्थित तामस पुरुष कृत्य और अकृत्यके विवेकज्ञानसे रहित हो नीचे जाते हैं—तिर्यक् योनियोंमें जन्म लेते हैं और बारबार मरते हैं, यह अर्थ है ॥ १८ ॥

'तीन गुणमय भावोंसे', 'मेरी यह दैवी गुणमयी माया दुरत्यय है' और 'गुणोंका सङ्ग इसके जन्ममें कारण है' इत्यादिसे जो गुणोंमें मोहकत्व, दुर्जयत्व और सत् एवं असत् योनियोंमें होनेवाले जन्मके प्रति कारणत्व कहा गया है, उसीको विशेषरूपसे स्पष्ट करनेके लिए फिर भी

नाऽन्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टाऽनुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥ १९ ॥

हे अर्जुन, अपनेको अविक्रिय समझनेवाला यति जिस समय गुणोंके सिवा दूसरेको कर्ता नहीं देखता तथा जो गुण और गुणकार्य अहङ्कार आदिसे विलक्षण आत्माको जानता है, उस समय वह विद्वान् मद्भावको (पूर्णताको) प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

मेव सुखज्ञानतृष्णासक्तिकर्मप्रवृत्तिप्रमादालस्यनिद्रादिषु सञ्जकत्वेन पुरुषस्याऽविद्यादिदोषवतो गुणतत्कार्येष्वहंममेति मिथ्याज्ञानेन तिष्ठतो देवमर्त्यतिर्यग्योनिषु जन्माद्यनर्थकारणत्वं प्रतिपाद्याऽधुना 'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते' इत्युक्तरीत्या शास्त्राचार्यप्रसादेन मदनुग्रहेण च सम्यग्विविच्य, विज्ञातात्मानात्मस्वरूपो ब्रह्मविद्यतिर्गुणसङ्गकृतानर्थं विज्ञायाऽनात्मवासनायाः स्वयमवशो भूत्वा प्रत्यग्दृष्टिममुञ्चानः सन् सर्वास्ववस्थासु सर्वदा गुणानामेव कर्तृत्वं कारयितृत्वं भोक्तृत्वं च स्वस्याऽसङ्गत्वं गुणतत्कार्यतदवस्थासाक्षित्वं च पश्यन् सदात्मनिष्ठया सकार्यांस्त्रीन् गुणानतीत्य मुक्तो भवतीति प्रतिपादयति—**नाऽन्यमिति** द्वाभ्याम् ।

'चक्षुषो द्रष्टा श्रोत्रस्य द्रष्टा वाचो द्रष्टा मनसो द्रष्टा बुद्धेर्द्रष्टा प्राणस्य द्रष्टा तमसो द्रष्टा सर्वस्य द्रष्टा' इति, 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' इति, 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' इत्यादिश्रुतिभिः 'आत्मा देहेन्द्रियमनोबुद्ध्यादिभ्यो भिन्नः, द्रष्टृत्वाद्, घटद्रष्टृवत्' इत्यादियुक्तिभिश्च देहेन्द्रियादिभ्यो भिन्नत्वेन स्वात्मना च सम्यग्विज्ञातात्म-

---

'सत्त्वं रजस्तमः' इत्यादिसे गुण ही सुख, ज्ञान, तृष्णा, आसक्ति, कर्म, प्रवृत्ति, प्रमाद, आलस्य और निद्रा आदिके प्रेरकत्वरूपसे अविद्या आदि दोषवान् पुरुषके, जो गुण और गुणोंके कार्योंमें 'मैं और मेरा' यों मिथ्याज्ञानसे स्थित रहता है, देव, मनुष्य, तिर्यक् योनियोंमें जन्म आदि अनर्थके प्रति कारण हैं, ऐसा प्रतिपादन करके अब 'जो मेरे शरणमें आते हैं, वे इस मायाको तरते हैं' इस उक्त रीतिसे शास्त्र और आचार्यके प्रसादसे तथा मेरे अनुग्रहसे भलीभाँति विवेकपूर्वक आत्मा और अनात्माके स्वरूपको जाननेवाला ब्रह्मवित् यति गुणोंसे उत्पन्न अनर्थको जानकर स्वयं अनात्मवासनाके वश न होकर प्रत्यक्दृष्टिको न छोड़कर सब अवस्थाओंमें सर्वदा गुणोंका ही कर्तृत्व, कारयितृत्व और भोक्तृत्व तथा अपनेको असङ्ग एवं गुणोंका, उनके कार्य और अवस्थाका साक्षी देखता हुआ सदात्मनिष्ठासे कार्यसहित तीनों गुणोंका उल्लङ्घन कर मुक्त हो जाता है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं—**'नाऽन्यम्'** इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

'चक्षुका द्रष्टा, श्रोत्रका द्रष्टा, वाणीका द्रष्टा, मनका द्रष्टा, बुद्धिका द्रष्टा, प्राणका द्रष्टा, तमका द्रष्टा, सबका द्रष्टा', 'साक्षी, चेता, केवल और निर्गुण' तथा 'प्राण और मनसे रहित शुभ्र' इत्यादि श्रुतियोंसे और 'आत्मा देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिसे भिन्न है, द्रष्टा होनेसे, घटके द्रष्टा के समान' इत्यादि युक्तियोंसे देह, इन्द्रिय आदिसे भिन्न और अपने आत्मरूपसे जिसने भलीभाँति

स्वरूपः स्वस्याऽविक्रियत्वद्रष्टा यतिर्यदा यस्मिन् काले समाधिना ज्ञानपरिपाकदशायां गुणेभ्यो गुणकार्यभूतदेहेन्द्रियादिभ्यस्त्वन्यं व्यतिरिक्तं कर्तारं नाऽनुपश्यति कायिकवाचिकमानसिकानां विहितानां प्रतिषिद्धानां सामान्यानां च सर्वेषामपि कर्मणां कर्तारं देहेन्द्रियातिरिक्तं नाऽनुपश्यति, तत्तत्कर्मनिष्पत्त्युत्तरक्षण एव तत्तत्कर्मकर्तारं देहेन्द्रियादिकमेवाऽवगच्छति चक्षुरेव पश्यति श्रोत्रमेव शृणोति मन एव मनुते बुद्धिरेव विजानाति वागेव वदति नाऽहमनिन्द्रिय इत्यात्मानमकर्तारमेव पश्यति, गजारूढो गजस्यैव गमनं पश्यति न त्वात्मनो यथा तथा ब्रह्मवित्स्वयं स्वतो भिन्नतया गृह्यमाणदेहेन्द्रियादीनामेव कर्तृत्वम्, सत्त्वादिगुणकार्याणामविद्याकामादीनां कारयितृत्वं, विज्ञानात्मन एव तत्फलभोक्तृत्वं च पश्यति न तु स्वस्य, यानारूढो यथा तद्वत्। यदैवं ब्रह्मविद्यतिरात्मानात्मविवेकविज्ञानेन स्वान्यस्यैव देहेन्द्रियादेः कर्तृत्वं भोक्तृत्वं चाऽनुपश्यति तदैव गुणेभ्यो गुणकार्येभ्योऽहङ्कारादिभ्यश्च परं विलक्षणमकर्तारमभोक्तारमगन्तारममन्तारमबोद्धारमविकारमविक्रियं क्षेत्रतद्धर्मतत्कर्मास्प्रष्टारमात्मानं वेत्ति निष्कलं निष्क्रियं शान्तमाकाशवत्परिपूर्णं पश्यति एवं देहेन्द्रियादेरेव कर्तृत्वमात्मानश्चाऽकर्तृत्वं यः स्वयं साक्षात्पश्यति स विद्वान्मद्भावं मम निर्विशेषस्य परस्य

आत्मस्वरूपको जान लिया है, अपनेमें अविक्रियत्वका द्रष्टा यति जब—जिस कालमें—समाधिसे ज्ञानकी परिपाकदशामें—गुणोंसे गुणोंके कार्य देह, इन्द्रिय आदिसे भिन्नको कर्ता नहीं देखता यानी कायिक, वाचिक, मानसिक, विहित, प्रतिषिद्ध और सामान्य सब कर्मोंका कर्ता देह, इन्द्रिय आदिसे अतिरिक्तको नहीं देखता, तत्-तत् कर्मकी उत्पत्तिके उत्तर क्षणमें ही देह, इन्द्रिय आदिको ही तत्-तत् कर्मका कर्ता समझता है—चक्षु ही देखता है, श्रोत्र ही सुनता है, मन ही सोचता है, बुद्धि ही जानती है, वागिन्द्रिय ही बोलती है, इन्द्रिय रहित मैं नहीं बोलता इस प्रकार आत्माको अकर्ता ही देखता है। जैसे गजारूढ पुरुष गजके गमनको ही देखता है, अपने गमनको नहीं, वैसे ही ब्रह्मवित् स्वयं स्वभिन्नरूपसे गृहीत देह, इन्द्रिय आदिमें ही कर्तृत्व, सत्त्व आदि गुणोंके कार्यभूत अविद्या, काम आदिमें कारयितृत्व तथा विज्ञानात्मामें ही उनके फलका भोक्तृत्व देखता है, अपनेमें नहीं, जैसे रथ आदिपर आरूढ पुरुष अपनेमें कर्तृत्व आदि नहीं देखता, वैसे ही जब इस प्रकार ब्रह्मवित् यति आत्मा और अनात्माके विवेक विज्ञानसे स्वव्यतिरिक्त देह, इन्द्रिय आदिमें कर्तृत्व और भोक्तृत्वको देखता है, तभी गुणोंसे और गुणोंके कार्य अहङ्कार आदिसे पर—विलक्षण—अकर्ता, अभोक्ता, अगन्ता, अमन्ता, अबोद्धा, अविकार (अविक्रिय), क्षेत्र और उसके धर्मों और कर्मोंको न छूनेवाले आत्माको जानता है—निष्कल, निष्क्रिय, शान्त, आकाशके समान परिपूर्णको देखता है, इस प्रकार देह, इन्द्रिय आदिका ही कर्तृत्व और अपना अकर्तृत्व जो स्वयं साक्षात् देखता है, वह विद्वान् मेरे भावको (मेरा यानी निर्विशेष परब्रह्मका जो भाव है वह मद्भाव है) यानी मेरी स्वरूपता-

गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥

देहके आरम्भक इन तीन गुणोंका (सत्त्व आदिका) अतिक्रमण कर ब्रह्मवित् यति जन्म, जरा और मृत्युरूप दुःखोंसे विमुख हो अमृतको (मोक्षको) प्राप्त करता है ॥ २० ॥

ब्रह्मणो भावो मद्भावः मत्स्वरूपतां परिपूर्णत्वमधिगच्छति । नित्यनिरन्तरसमाध्यासादितसम्यग्ज्ञानेन सर्वमिदमहं च ब्रह्मैवेति सर्वस्य स्वस्य च ब्रह्ममात्रत्वमेव पश्यन् गुणतत्कार्यलक्षणमनर्थव्रातमतीत्य जीवन्नेव ब्रह्मात्मना तिष्ठति । मुक्तो भवतीत्यर्थः ॥१९॥

कर्तृत्वभोक्तृत्वादिधर्मवद्भ्यो देहेन्द्रियादिभ्यो भिन्नमेवाऽऽत्मानमविक्रियं विदित्वा ब्रह्मविद्यतिरजस्रं स्वानुभूत्या गुणत्रयातिक्रमणं कृत्वैव मुक्तो भवति नाऽन्यथेति बोधयितुमाह—**गुणानिति** ।

मेघाद्भिन्नमादित्यं मेघतत्कार्यैरस्पृष्टं च यथा, तथा देहेन्द्रियादिभ्यो भिन्नं देहतत्कार्यैरस्पृष्टमेवाऽऽत्मानमकर्तारमभोक्तारं च विदित्वा, देही ब्रह्मविद्यतिरेतान् चित्तप्रसादरागमोहलोभादिभिर्लिङ्गैर्ज्ञायमानान् सुखज्ञानकर्मप्रवृत्तिप्रमादादिष्वेव पुरुषस्य तात्पर्यमापाद्य ज्ञानं तत्फलं च प्रतिबध्नतस्तत एव देहसमुद्भवान् देहस्य समुद्भवो येभ्यस्ते देहसमुद्भवा देहारम्भकाः स्वपरिणामविशेषैर्दयासत्यशौचविनयदानशीलत्वादिभिः सात्त्विकै रागद्वेषलोभासूयादिभी राजसैर्मोहाभिनिवेशाहङ्कारममकारादिभिस्ताम-

को (पूर्णत्वको) प्राप्त होता है, नित्य-निरन्तर समाधिसे प्राप्त हुए यथार्थज्ञानसे सब यह और मैं ब्रह्म ही हूँ, यों सबका और अपना ब्रह्ममात्रत्व ही देखता हुआ गुणोंका और उनके कार्यरूप अनर्थोंका उल्लङ्घन कर जीवनदशामें ब्रह्मस्वरूपसे स्थित रहता है । मुक्त होता है, यह अर्थ है ॥ १९ ॥

कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि धर्मवाले देह, इन्द्रिय आदिसे भिन्न अविक्रिय आत्माको ही जानकर ब्रह्मवित् यति सर्वदा स्वात्मानुभवसे तीनों गुणोंका अतिक्रमण करके ही मुक्त होता है, अन्यथा नहीं, ऐसा बोधन करनेके लिए कहते हैं—'गुणा०' इत्यादिसे ।

जैसे आदित्य मेघसे भिन्न तथा मेघ और उसके कार्योंसे अस्पृष्ट है, वैसे ही देह, इन्द्रिय आदिसे भिन्न तथा देह और उसके कार्योंसे अस्पृष्ट अकर्ता और अभोक्ता आत्माको जानकर देही यानी ब्रह्मवित् यति इन चित्तप्रसाद, राग, मोह, लोभ आदि कारणोंसे जाननेमें आनेवाले, सुख, ज्ञान, कर्मप्रवृत्ति तथा प्रमाद आदिमें ही पुरुषका तात्पर्य सिद्ध करके ज्ञान और उसके फलको रोकनेवाले, इसीलिए देहसमुद्भव (देहका समुद्भव जिनसे होता है, वे देहसमुद्भव हैं) यानी देहारम्भक (अपने परिणामविशेष दया, सत्य, शौच, विनय, दानशीलत्व आदि सात्त्विक विकारोंसे; राग, द्वेष, लोभ, असत्य आदि राजस विकारोंसे और मोह, अभिनिवेश

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन् गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं त्वेतांस्त्रीन् गुणानतिवर्तते ॥ २१ ॥

अर्जुनने कहा—हे भगवन्, उक्त सत्त्व आदि तीन गुणोंका अतिक्रमण कर ब्रह्मस्वरूपसे स्थित रहनेवाला यति किन लक्षणोंसे जाना जाता है, वह किस तरहका आचरण करता है तथा किस उपायसे इन तीन गुणोंका अतिक्रमण करता है ॥२१॥

सैश्च विकारैः पुण्यपापाभ्यां च सत्त्वादिगुणा एव देहोत्पत्तिहेतवो भवन्ति । तानेतानुक्तलक्षणान् त्रीन् सत्त्वादिगुणान् गुणकर्मजांश्चाऽविद्याकामादीनतीत्य प्रत्यग्वृत्त्या सर्वमिदमहं च ब्रह्मैवेति सर्वत्र ब्रह्ममात्रदर्शनाग्निना गुणान् गुणकार्यभूतानहंममेदमित्यादिविपरीतप्रत्ययान् सर्वान् निर्दह्य सत्तामात्रात्मको भूत्वा जन्ममृत्युजरादुःखैर्देहसंबन्धसंभावितैर्विमुक्तः जन्मादिदुःखैरस्पृष्टः सन्नमृतं विदेहकैवल्यमश्नुते नित्याखण्डानन्दैकरसाद्वितीयब्रह्मात्मना तिष्ठतीत्यर्थः ॥ २० ॥

देहव्यतिरिक्तात्मवेत्ता यतिर्जीवन्नेव त्रीन् गुणानतीत्य मुक्तो भवतीति श्रुत्वाऽतिविस्मितः सन् गुणातीतस्य लक्षणान्याचारं च गुणातिक्रमणोपायं च पृष्ट्वा ज्ञातुमर्जुन उवाच—कैरिति ।

प्रकृष्टभास्वररूपत्वात् प्रभुश्चिद्घनस्तस्य संबुद्धिः हे प्रभो, एतानुक्तलक्षणान् त्रीन् गुणान् अतीतः समतिक्रम्य ब्रह्मात्मना स्थितो ब्रह्मविद्यतिः कैर्लिङ्गैर्लक्षणैर्ज्ञातो भवति । गुणातीतस्य सिद्धस्य कानि लक्षणानि यैरयं गुणातीत इति

अहङ्कार, ममकार आदि तामस विकारोंसे तथा पुण्य और पापसे सत्त्व आदि गुण ही देहकी उत्पत्तिके हेतु हैं) उक्त लक्षणवाले तीन सत्त्व आदि गुणोंका तथा गुण और कर्मसे उत्पन्न हुए अविद्या, काम आदि दोषोंका उल्लङ्घन कर प्रत्यग्वृत्तिसे सब यह और मैं ब्रह्म ही हूँ, यों सर्वत्र ब्रह्ममात्र-दर्शनरूप अग्निसे गुणोंको—गुणोंके कार्यभूत मैं, मेरा, यह इत्यादि सम्पूर्ण विपरीत प्रत्ययोंको—जलाकर सत्तामात्रात्मक होकर ब्रह्मवित् देहके सम्बन्धसे उत्पन्न हुए जन्म, मृत्यु, जरा रूप दुःखोंसे विमुक्त—जन्मादि दुःखोंसे अस्पृष्ट—हो अमृतको यानी विदेहकैवल्यको भोगता है । नित्य, अखण्डानन्दैकरस, अद्वितीय ब्रह्मस्वरूपसे स्थित होता है, यह अर्थ है ॥ २० ॥

देहसे भिन्न आत्माको जाननेवाला यति जीता हुआ ही तीन गुणोंका अतिक्रमण कर मुक्त होता है, ऐसा सुनकर अत्यन्त विस्मित हो रहे अर्जुनने गुणातीतके लक्षण, आचार और गुणोंके अतिक्रमणके उपायको प्रश्नपूर्वक जाननेके लिए कहा—'कैर्लिङ्गै०' इत्यादिसे ।

प्रकृष्ट भास्वररूप होनेके कारण प्रभु यानी चिद्घन, उसका प्रभो, यह सम्बोधन है । हे प्रभो, इन उक्तलक्षणवाले तीन गुणोंका अतिक्रमण करके ब्रह्मस्वरूपसे स्थित ब्रह्मवित् यति

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥ २२ ॥

श्री भगवान्ने कहा—हे अर्जुन, ब्रह्मविद् यति भलीभाँति प्रवृत्त हो रहे [सत्त्वादि गुणोंके कार्यभूत] प्रकाश, प्रवृत्ति और मोहसे द्वेष नहीं करता और उनकी निवृत्तिकी इच्छा नहीं करता ॥ २२ ॥

ज्ञातुं शक्यत इत्यर्थः । गुणातीतस्य किमाचारः कीदृग्विध आचारः । किमयं वैदिकमाचरति किं लौकिकमाचरतीति वा उत यथेष्टमाचरतीत्यर्थः । एतान् स्वस्वविकारैः सागरोपमान् त्रीन् सत्त्वादिगुणान् । तुशब्दः साधनस्य दुर्लभत्वद्योतनार्थः । कथं तु केन प्रकारेणाऽतिवर्तते केनोपायेनाऽयं गुणत्रयातिक्रमणं करोतीत्येतत्प्रश्नत्रयं सम्यग्वक्तव्यमित्यर्थः ॥ २१ ॥

तत्र प्रथमप्रश्नस्योत्तरं वक्तुं श्रीभगवानुवाच—**प्रकाशमिति** ।

गुणानां गुणकार्याणां च स्वयमविषयीभूय तदुभयं च चिद्वृत्त्या समतिक्रम्य ब्रह्मण्येव सदा तदात्मना यस्तिष्ठति स गुणातीतो ब्रह्मविद्यतिः । प्रकाशं च प्रकाशः सत्त्वविकारः विषयसुखज्ञानयोरासञ्जकश्चित्तेन्द्रियप्रसादः रसास्वादलक्षणः समाधेरन्तरायस्तं प्रकाशं च । प्रवृत्तिं च प्रवृत्तिः रजःकार्यं रागमूलकं मनसश्चेन्द्रियाणां च बहिःप्रावण्यं विक्षेपलक्षणः समाधेरन्तरायस्तामिन्द्रियाणां

किन लिङ्गोंसे (लक्षणोंसे) जाना जाता है । गुणातीत सिद्धके कौनसे लक्षण हैं, जिनसे यह गुणातीत है, ऐसा जाना जा सकता है, यह अर्थ है । गुणातीतका किस प्रकारका आचरण होता है ? क्या वह वैदिक आचरण करता है या लौकिक आचरण करता है अथवा यथेष्ट आचरण करता है, यह अर्थ है । अपने-अपने विकारोंसे सागरके समान इन सत्त्व आदि तीन गुणोंका ('तु' शब्द साधनकी दुर्लभताका द्योतन करनेके लिए है) किस प्रकारसे अतिक्रमण करता है यानी किस उपायसे यह तीनों गुणोंका अतिक्रमण करता है ? यों तीन प्रश्नोंका उत्तर भलीभाँति देनेकी कृपा कीजिए, यह अर्थ है ॥ २१ ॥

इनमें से प्रथम प्रश्नका उत्तर देनेके लिए श्रीभगवान् बोले—**'प्रकाशम्'** इत्यादिसे ।

गुणोंका और गुणोंके कार्योंका स्वयं अविषय होकर और उन दोनोंका चिद्वृत्तिसे भलीभाँति अतिक्रमण कर जो ब्रह्ममें ही सदा ब्रह्मस्वरूपसे स्थित रहता है, वह गुणातीत ब्रह्मवित् यति प्रकाश (विषयके सुख और ज्ञान दोनोंमें आसक्ति करानेवाला चित्त और इन्द्रियोंका रसास्वादरूप प्रसाद सत्त्वविकारभूत समाधिका अन्तराय प्रकाश है), प्रवृत्ति (रजका कार्य रागमूलक, विक्षेपरूप मन और इन्द्रियोंका बाह्यविषयप्रावण्य यानी विक्षेपरूप समाधिका अन्तराय—

विषयप्रवृत्तिं च । मोहमेव च । एवशब्दोऽप्यर्थः । मोहस्तमोविकारः निद्रालस्यप्रमादासञ्जकः लयः कषाय इत्येवंलक्षणः समाधेरन्तरायस्तं मोहमपि च तान्येतानि सत्त्वरजस्तमःकार्याणि संप्रवृत्तानि सम्यक् प्रसक्तानि न द्वेष्टि । प्राप्तेषु प्रकाशादिषु प्रतिकूलत्वबुद्ध्या द्वेषबुद्धिं न करोति, चिदाभासविषयत्वात्तेषां स्वस्य च संबन्धाभावान्न किञ्चिद्विक्षेपं प्राप्नोति यथा साधको निदिध्यासुः रसास्वादविक्षेपलयकषायरूपाणि प्रकाशादीनि समाधेर्विघ्नभूतानि सत्त्वादिगुणकार्याणि संप्रवृत्तानि द्वेष्टि ममैते समाधिविघ्नाः प्राप्ता इति विक्षिपति, निवृत्तानि काङ्क्षति च तेषां निवृत्त्यै दृश्यनिन्दादिप्रतिक्रियां च करोतीत्यर्थः । न तथाऽयं गुणातीतः संसिद्धः प्रकाशादीनि संप्रवृत्तानि द्वेष्टि न निवृत्तानि काङ्क्षति च । तेषां चिद्विलसितत्वेन ब्रह्मदृष्टावन्तर्भूतत्वात् निवृत्तिमपि नाऽपेक्षत इत्यर्थः । सत्यध्यासतोऽप्यनात्मतादात्म्ये रागद्वेषादयः संभवेयुः । नित्यनिरन्तरनिर्विकल्पकसमाध्यग्निनिर्दग्धाहंममाध्यासबन्धत्वाद्विदुषो रागद्वेषाद्यनात्मगुणाविर्भावाभावो युक्त इति भावः । एतेन विक्षेपकेषु गुणकार्येषु प्राप्तेष्वपि द्वेषाद्यभावो गुणातीतस्य लिङ्गमान्तरं स्वप्रत्यक्षमिति सूचितं भवति ॥ २२ ॥

यानी इन्द्रियोंकी विषयोंमें प्रवृत्ति) तथा मोह (एवशब्द अपिके अर्थमें है । मोह तमोगुणका विकार निद्रा, आलस्य और प्रमादको देनेवाला, लय और कषायरूप है, यह समाधिका अन्तराय है)—इन सत्त्व, रज और तमके कार्यभूत प्रकाश, प्रवृत्ति और मोहके भलीभाँति प्राप्त होनेपर भी उनसे द्वेष नहीं करता—प्रकाश आदिके प्राप्त होनेपर प्रतिकूलत्वबुद्धिसे द्वेषबुद्धि नहीं करता, क्योंकि उनका विषय चिदाभास है और अपना उनसे सम्बन्ध नहीं है, अतः किञ्चित् भी विक्षेपको प्राप्त नहीं होता । जैसे निदिध्यासन करनेवाला साधक यदि रसास्वाद [सविकल्पक रसास्वाद] विक्षेप, लय [अखण्ड वस्तुके अनवलम्बनसे चित्तवृत्तिकी निद्रा] और कषायरूप [लय और विक्षेपका अभाव होनेपर भी रागादिकी वासनासे स्तब्धी भाव द्वारा अखण्ड वस्तुका अनवलम्बन] प्रकाश आदि, जो समाधिके विघ्नभूत और सत्त्व आदि गुणोंके कार्य हैं, प्राप्त हो जायँ, तो वह उनसे द्वेष करता है—ये मेरी समाधिके विघ्न प्राप्त हुए, ऐसा समझकर विक्षिप्त होता है और उनकी निवृत्ति चाहता है, उनकी निवृत्तिके लिए दृश्यकी निन्दा आदि प्रतिक्रिया करता है, यह अर्थ है; वैसे यह गुणातीत संसिद्ध यति यदि प्रकाश आदि प्राप्त हो जायँ, तो उनसे द्वेष नहीं करता और न उनकी निवृत्तिकी आकाङ्क्षा करता है । केवल चित्का विलास होनेसे ब्रह्मदृष्टिमें अन्तर्भाव होनेके कारण उनकी निवृत्तिकी भी अपेक्षा नहीं करता, यह अर्थ है । अनात्मतादात्म्यका अध्यास होनेपर ही राग, द्वेष आदि होते हैं । नित्य निरन्तर निर्विकल्प समाधिरूप अग्निसे मैं मेरारूप अध्यासजनित बन्धके जल जानेपर विद्वान्में राग, द्वेष आदि अनात्मगुणोंका आविर्भाव नहीं होता, यह युक्त है, ऐसा भाव है । इससे यह सूचित होता है कि विक्षेपकारक गुणकार्योंके प्राप्त होनेपर भी द्वेष आदिका अभाव गुणातीतका आन्तर लिङ्ग स्वप्रत्यक्ष है ॥ २२ ॥

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥ २३ ॥

तटस्थके समान साक्षीरूपसे दूर रहनेवाले जिस ब्रह्मविद् यतिको सात्त्विक प्रकाश आदि गुण ब्रह्मनिष्ठासे विचलित नहीं करते, तथा 'देहादि ही विषयोंमें प्रवृत्त होते हैं, आत्मा नहीं' इस बुद्धिसे जो सदा आत्मस्वरूपमें अवस्थित रहता है, किञ्चित् भी विचलित नहीं होता [वह गुणातीत कहलाता है] ॥ २३ ॥

ननु गुणातीतो विद्वान् सत्त्वादिगुणकार्येषु संप्रवृत्तेषु सत्सु यदि द्वेषं न करोति तन्निवृत्तिं च न काङ्क्षति तर्हि सर्वं मिथ्येति तत्तद्गुणवृत्त्यनुरूपेण किं यथेष्टं वर्तेत इत्याशङ्क्य, न तस्य प्रवृत्तिहेतोरविद्याया वासनाख्यायाः सकार्याया निर्विकल्पक-समाध्यग्निनिर्दग्धत्वाद्वैदिके लौकिके चाऽन्यत्राऽपि प्रवृत्तिर्न संभवति, किन्तु स्वानन्दा-नुभूत्या स्वस्मिन्निश्चल एव तिष्ठति न किञ्चिद्विक्रियत इत्याह—**उदासीनवदिति** ।

वादिप्रतिवादिनोरुभयोः कस्यापि पक्षमनवलम्ब्य तदुभयव्यापारद्रष्टा तटस्थः पुरुष उदासीन इत्युच्यते । तद्वद्विषयेषु प्रवर्तकानां प्रकाशदयादाक्षिण्यसत्य-विनयरागद्वेषलोभमोहादीनां सत्त्वादिगुणानां तथा प्रवर्त्यानां देहेन्द्रियादीनां तद्व्या-पाराणां च द्रष्टा स्वयमुदासीनवत्तेषां तद्व्यापाराणां च साक्षित्वेनाऽऽसीनो दूरे वर्तमानः यो विद्वान् गुणैः प्रकाशादिभिः सात्त्विकै रागादिभिः राजसैर्मोहादिभि-स्तामसैश्च न विचाल्यते स्वनिष्ठाया न प्रच्याव्यते यथा बाह्यवासनाबद्धस्तथा ब्रह्मा-

---

गुणातीत विद्वान् सत्त्व आदि गुणोंके कार्योंके प्रवृत्त होनेपर यदि द्वेष नहीं करता और उनकी निवृत्ति नहीं चाहता, तो सब मिथ्या ही हैं, ऐसा समझकर तत्-तत् गुणोंकी वृत्तिके अनुसार क्या यथेष्टाचरण करता है ? ऐसी यदि आशङ्का हो, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि उसकी प्रवृत्तिकी हेतु वासनानामक अविद्या, कार्यके साथ, निर्विकल्प समाधिरूप अग्निसे जल चुकी है, अतः वैदिक, लौकिक और अन्य स्थलमें उसकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती, किन्तु स्वानन्दके अनुभवसे आत्मरूप ब्रह्ममें निश्चल ही स्थित रहता है, किञ्चित् भी विकारको प्राप्त नहीं होता, ऐसा कहते हैं—**'उदासीनवत्'** इत्यादिसे ।

वादी और प्रतिवादी दोनोंमें से किसी एकके पक्षका अवलम्बन न कर उन दोनोंके व्यापारको तटस्थरूपसे देखनेवाला पुरुष उदासीन कहलाता है । उसके समान विषयोंमें प्रवर्तक प्रकाश, दया, दाक्षिण्य, सत्य, विनय, राग, द्वेष लोभ, मोह आदि सत्त्व आदि गुणोंके तथा प्रवर्त्य देह, इन्द्रिय आदि और उनके व्यापारोंका द्रष्टा, स्वयं उदासीनके समान उनके और उनके व्यापारोंके साक्षीरूपसे दूर वर्तमान जो विद्वान् प्रकाश आदि सात्त्विक गुणोंसे, रागादि राजस गुणोंसे और मोह आदि तामस गुणोंसे विचलित नहीं होता, आत्मनिष्ठासे विचलित नहीं होता,

कारवृत्तेश्चालयितुं न शक्यत इत्यर्थः। ननु यद्येवं तर्ह्ययं विद्वान् देहयात्रायां कथं प्रवर्तेत इत्याकाङ्क्षायामाह—**गुणा इति**। चिरकालं नित्यनिरन्तरनिर्विकल्पसमाधिनिष्ठया स्थिरीभूतप्रज्ञो यः संसिद्धो ब्रह्मवित्यतिः स गुणा देहेन्द्रियादय एव फलानुभावककर्मणा यथाकालं प्रेर्यमाणाः सन्तो गुणेषु विषयेषु प्रवर्तन्ते भोजनादिक्रियां कुर्वन्ति तेषां तद्व्यापाराणां च साक्षी प्रत्यग्रूपोऽहं तु न प्रवर्ते सदा निष्क्रिय एवाऽस्मीत्यवतिष्ठते ब्रह्माकारवृत्त्या ब्रह्मण्येव सदा तदात्मनाऽवस्थानं करोति न तु स्वयं गुणेभ्यो गुणकार्येभ्यश्च किञ्चिदपीङ्गते चलति कर्ताऽहं भोक्ताऽहं ममेदं भोग्यमिति कर्तृत्वभोक्तृत्वाध्यासं न करोतीत्यर्थः। अवतिष्ठतीति परस्मैपदं छान्दसम्। एवंलक्षणो यो ब्रह्मवित्तमः स गुणातीत इत्युच्यत इत्युत्तरेणान्वयः। एतेन गुणप्रेरणया देहेन्द्रियादीनां विषयेषु प्रवृत्तौ सत्यामप्यौदासीन्यमविकारित्वं च विदुषो गुणातीतत्वे लिङ्गमिति सूचितम्। किमाचार इति प्रश्नस्योत्तरं च दत्तं भवति ॥ २३ ॥

ननु देहेन्द्रियादेः स्वस्थत्वदशायामयं गुणैः स्वनिष्ठातो न विचाल्यते परन्तु दुःख आध्यात्मिके चाऽऽधिभौतिके च निन्दाद्यनर्थे च संप्राप्ते गुणैर्निष्ठायाश्चालितः खेदमोहादिकं भजत्येवेत्याशङ्कायाम्, न; बाह्यसुखदुःखादीनां निन्दास्तुत्यादीनां च

बाहरकी वासनाओंसे बँधा हुआ पुरुष जैसे उनसे विचलित होता है, वैसे यह ब्रह्माकार-वृत्तिसे विचालित नहीं किया जा सकता, यह अर्थ है। यदि ऐसा है, तो देहयात्रारूप कर्ममें यह विद्वान् कैसे प्रवृत्त होता है ? ऐसी आकाङ्क्षा होनेपर कहते हैं—**गुणा इति**। चिरकाल तक नित्य-निरन्तर निर्विकल्पक समाधिनिष्ठासे निश्चल प्रज्ञावाला जो संसिद्ध ब्रह्मवित् यति है, वह गुण—देह, इन्द्रिय आदि ही—फलका अनुभव करानेवाले कर्मसे कालके अनुसार प्रेर्यमाण होकर गुणोंमें (विषयोंमें) प्रवृत्त होते हैं—भोजन आदि क्रिया करते हैं और उनका और उनके व्यापारोंका साक्षी प्रत्यग्रूप मैं तो प्रवृत्त नहीं होता, सदा निष्क्रिय ही हूँ, यों स्थित रहता है—ब्रह्माकार वृत्तिसे ब्रह्ममें ही सदा ब्रह्मस्वरूपसे अवस्थान करता है, स्वयं गुणोंसे और गुणोंके कार्योंसे किञ्चित् भी नहीं हिलता—नहीं चलता। मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ, मेरा यह भोग्य है, यों कर्तृत्व और भोक्तृत्व आदिका अध्यास नहीं करता, यह अर्थ है। 'अवतिष्ठति' यह परस्मैपद छान्दस है। ऐसे लक्षणवाला जो ब्रह्मवित्तम है, वह गुणातीत है, ऐसा कहा जाता है, ऐसा आगेके श्लोकसे अन्वय है। इससे यह सूचित होता है कि गुणोंकी प्रेरणासे देह, इन्द्रिय आदिके विषयोंमें प्रवृत्त होनेपर भी औदासीन्य और अविकारित्व विद्वान्के गुणातीत होनेमें लिङ्ग है। इससे 'किमाचारः' इस प्रश्नका उत्तर भी दिया गया ॥ २३ ॥

यदि शङ्का हो कि देह, इन्द्रिय आदिके होनेपर गुणोंसे यह आत्मनिष्ठासे विचलित नहीं होता यह कहना ठीक है, परन्तु आध्यात्मिक, आधिभौतिक दुःखके और निन्दा आदि अनर्थके प्राप्त होनेपर गुणों द्वारा निष्ठासे विचालित पुरुष खेद, मोहादिको भोगता ही है, तो वह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि बाहरके सुख-दुःख आदिका और निन्दा-स्तुतिका विषय अनात्मा ही है, मैं

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥ २४ ॥

सुख और दुःखमें समबुद्धि, मिट्टी, पत्थर और सोनेमें समदृष्टि, प्रिय और अप्रियमें तथा निन्दा और आत्मस्तुतिमें समभाव रखनेवाला आत्मनिष्ठ धीर योगी [ब्रह्मविद् कहलाता है] ॥ २४ ॥

विषयोऽनात्मैव न त्वहमात्मा निर्विशेषो निराकारश्चिदेकरस इति धीनैश्चल्येन बाह्य-सुखदुःखाद्यवस्थायामपि स्वात्मन्येव तिष्ठति न त्वनात्मन्यहंममेति बुद्ध्याध्यासं मूढव-त्करोतीत्याह—**समेति** द्वाभ्याम् ।

यत्र शोभनानि हृष्टानि खानि भवन्ति तत् सुखम्, यत्र दुष्टानि खानि भवन्ति तद् दुःखम् । समे दुःखसुखे यस्य स समदुःखसुखः समचित्तः । सुखदुःखयोः समत्वं नाम चित्तस्येष्टानिष्टभावनावैधुर्यमेव तदेव समचित्तत्वम् । परे इव तद्भोक्तर्यहमित्यध्याससंबन्धरहित इत्यर्थः । तत एव स्वस्थः सर्वावस्थासु सर्वदा स्वस्मिन्नेव परे ब्रह्मणि तदात्मना तिष्ठतीति ब्रह्मविदेक एव स्वस्थ इत्युच्यते । तत एव जन्मादिदुःखैराध्यात्मिकादिदुःखैश्च नाऽभिभूयते । तदन्ये त्वस्वस्था एव भवन्ति बहिर्मुखास्तत एव जन्मादिदुःखैराध्यात्मिकदुःखैश्चाऽनात्मधर्मैरन्यैश्चाऽऽधिभौतिकादि-भिरभिभूयन्ते । सति विक्षेपे ब्रह्मात्मना स्थितवृत्तेरप्रच्युतत्वमेव स्वस्थत्वं न तु धैर्येण तत्सहिष्णुत्वम् । तत एव तुल्यप्रियाप्रियः प्रियमिष्टमप्रियमनिष्टम् तुल्ये प्रियाप्रिये

निर्विशेष, निराकार, चिदेकरस आत्मा ही हूँ, ऐसी बुद्धिकी निश्चलतासे बाहरके सुख दुःख आदिकी अवस्थामें भी अपने आत्मामें ही स्थित होता है, अनात्मामें मैं मेरा, इस बुद्धिसे मूढके समान अध्यास नहीं करता है, ऐसा कहते हैं—'**सम**' इत्यादि दो श्लोकों से ।

जहाँ शोभन—हृष्ट इन्द्रियां होती हैं, वह सुख है । जहाँ दुष्ट इन्द्रियां होती हैं, वह दुःख है । दुःख और सुख दोनों जिसको समान है, वह समदुःखसुख है यानी समचित्त । सुख और दुःखमें समत्व है—चित्तका इष्ट और अनिष्टभावनासे रहित होना, वही समचित्तत्व है । दूसरेके समान, उनके भोक्तामें 'मैं' इस प्रकारके अध्यासके सम्बन्धसे रहित, यह अर्थ है । इसीलिए स्वस्थ (सब अवस्थाओंमें सर्वदा अपनेमें ही—परब्रह्ममें—उसी स्वरूपसे जो स्थित रहता है, वह केवल ब्रह्मवित् ही स्वस्थ कहा जाता है) इसीलिए जन्म आदि दुःखोंसे और आध्यात्मिक आदि दुःखोंसे नहीं दबता । उससे अन्य तो अस्वस्थ ही हैं यानी बहिर्मुख, इसीलिए जन्मादि दुःखोंसे और आध्यात्मिक आदि दुःखोंसे और अनात्मधर्मोंसे और अन्य आधिभौतिक आदिसे दबाये जाते हैं । विक्षेप होनेपर ब्रह्मस्वरूपसे स्थित वृत्तिका च्युत न होना ही स्वस्थत्व है, धैर्यसे उसे सहना । इसीलिए तुल्यप्रियाप्रिय (प्रिय यानी इष्ट, अप्रिय—अनिष्ट, प्रिय, अप्रिय

यस्य स तुल्यप्रियाप्रियः । उभयत्र सम इत्यर्थः । ननु प्रियाप्रिययोः सुखदुःखयोश्च विदुषः समत्वं न संभवति, अत्यन्तमधुरमतिकटु च द्रव्यं भुञ्जतश्चण्डातपानातपयोस्तिष्ठतश्च विदुषोऽपीष्टानिष्टत्वोपलब्धेर्दुर्वारत्वात्तदनुभूत्या विषमबुद्धिः स्यादेवेति चेत्, सत्यम्; सुखदुःखयोः प्रियाप्रिययोः प्राप्तयोः सतोर्विदुषोऽपि विषमबुद्धिः स्यादेव, ग्राह्यभेदाद् ग्रहणभेदोपपत्तेः; तथापि ब्रह्मनिष्ठस्य विषमबुद्धिर्न संभवति, कारणाभावात् । विषमबुद्धेः खलु कारणं बुद्धेर्विषमपदार्थसंयोगः । सत्येवैतस्मिन्निष्टानिष्टत्वज्ञानं संपद्यते । सत्येवेष्टानिष्टत्वज्ञाने विषमबुद्धिः स्यान्नाऽसति । नहि चिरकालनित्यनिरन्तरसमाध्यभ्यासबलेन ब्रह्माकारतामापद्य बुद्धिवृत्तौ सर्वदा ब्रह्मण्येव निश्चलतया संस्थितायां बुद्धेर्विषयैर्विषमैः संयोगः संभवति । तदसंभवे त्विष्टानिष्टत्वज्ञानं संभावयितुं न शक्यते । तदभावे विदुषो ब्रह्मनिष्ठस्य विषमबुद्धिश्च न संभवति । ततः सुखदुःखयोः प्रियाप्रिययोश्च विदुषः समत्वं न विरुद्धम् । ननु बलवति विक्षेपकारणे प्रसक्तेऽपि बुद्धेर्ब्रह्मात्मनावस्थितिः कथमुपपद्यत इति चेदभ्यासातिशय एव तत्र कारणमिति ब्रूमः, न त्वौषधं नाऽपि मन्त्रो न च लययोगश्च । अनभ्यासवशादेव सतामपि बहिर्मुखत्वं न त्वविवेकतः । 'अभ्यासेन तु कौन्तेय' इत्युक्तत्वाच्छ्रद्धाभक्तिपूर्वकं समाध्यभ्या-

---

दोनों जिसके समान है, वह तुल्यप्रियाप्रिय है । दोनोंमें सम, यह अर्थ है । प्रिय, अप्रिय और सुख और दुःखमें विद्वान् सम नहीं हो सकता, क्योंकि अत्यन्त मधुर और अतिकडुवे द्रव्यके खानेवाले और प्रचण्ड गर्मी और सर्दीमें बैठनेवाले विद्वान्को भी इष्टत्व, अनिष्टत्वकी उपलब्धि दुर्वार है, इसलिए उसके अनुभवसे विषमबुद्धि हो जाय, ऐसा यदि कहो, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि सुख दुःखरूप प्रिय औरअप्रियके प्राप्त होनेपर विद्वान्की भी विषमबुद्धि होती है, क्योंकि ग्राह्यके भेदसे ग्रहणका भेद होता है, तो भी ब्रह्मनिष्ठकी विषमबुद्धि नहीं होती, क्योंकि कारणका अभाव है । विषमबुद्धिका कारण बुद्धिका विषम पदार्थसे संयोग है । इसके होनेपर ही इष्टत्व और अनिष्टत्वका ज्ञान होता है, इष्टत्व और अनिष्टत्वका ज्ञान होनेपर विषमबुद्धि होती है, बिना हुए नहीं । चिरकाल नित्य निरन्तर समाधिके अभ्यासके बलसे ब्रह्माकारता प्राप्त करके बुद्धिकी वृत्तिके ब्रह्ममें ही सदा निश्चलरूपसे स्थित होनेपर बुद्धिका विषम विषयोंसे सम्बन्ध हो सकता है, उसके न होनेसे इष्ट अनिष्टत्वका ज्ञान नहीं हो सकता और उसके न होनेसे ब्रह्मनिष्ठ विद्वान्की विषमबुद्धि नहीं होती । इसलिए सुख दुःख, प्रिय अप्रियमें विद्वान्का समत्व विरुद्ध नहीं है । यदि कहो कि बलवान् विक्षेपकारणके प्राप्त होनेपर भी बुद्धिकी ब्रह्मस्वरूपसे स्थिति कैसे हो सकती है ? ऐसी यदि शङ्का हो, तो इसपर हम कहते हैं कि अभ्यासका अतिशय ही उसमें कारण है, औषध, मन्त्र या लययोग उसमें कारण नहीं है अनभ्याससे ही सत्पुरुष भी बहिर्मुख होते हैं, विवेक रहित नहीं, 'अभ्यासेन तु कौन्तेय' इस प्रकारके कथनसे श्रद्धाभक्तिपूर्वक समाधिके अभ्याससे बाहरका आलम्बन न करनेवाली ब्रह्मनिष्ठा सिद्ध होती है । अतः सर्वत्र अभ्यास ही

सेन बाह्यानालम्बिनी ब्रह्मनिष्ठा सिध्यति। सर्वत्राऽप्यभ्यास एव बलवत्कारणम्, 'अभ्यासात्पक्वविज्ञानः कैवल्यं लभते नरः' इति स्मृतेः। यदुक्तं तुल्यप्रियाप्रियः इति प्रियाप्रिययोः समत्वं तद्विस्पष्टयति—**समलोष्टाश्मकाञ्चन इति**। समानि प्रीत्यप्रीत्योरविषयाणि लोष्टाश्मकाञ्चनानि यस्य सः समलोष्टाश्मकाञ्चनः। यद्वा, समानि प्रत्यग्दृष्ट्या समभावं गतानि ब्रह्मात्मना दृष्टानि लोष्टाश्मकाञ्चनानि यस्य समलोष्टाश्मकाञ्चनः। सर्वत्र ब्रह्मबुद्धिरित्यर्थः। विदुषः सुखदुःखप्रियाप्रियादिषु सर्वत्र समदर्शनसिद्धौ हेतुमाह—**धीर इति**। आभासवासनया बहिर्मुखायमानां धियं राति निगृह्णाति स्वाकारेणैव स्थापयतीति धीरः। स्वनिष्ठाऽव्यभिचरितबुद्धिवृत्तिरित्यर्थः। तत एव तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः। निन्दा दूषणम्। आत्मनो देहादेर्गुणकीर्तनं स्तुतिरात्मसंस्तुतिः तुल्ये अनात्मगोचरे निन्दात्मसंस्तुती यस्य स तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः। अनात्मैकगोचरयोर्निन्दास्तुत्योरविषयीभूतस्वरूप इत्यर्थः। सुखदुःखप्रियाप्रियादिषु समत्वं विदुषो जीवन्मुक्तत्वे परप्रत्यक्षं लिङ्गमिति सूचितं भवति॥ २४॥

गुणातीतोऽयमिति विदुषो गुणातीतत्वविज्ञानाय लिङ्गान्तरं किमाचार इति प्रश्नस्योत्तरं च वदन् जीवन्मुक्तलक्षणमुपसंहरति—**मानेति**।

बलवान् कारण है। क्योंकि 'अभ्याससे पक्वविज्ञानवाला नर कैवल्यको प्राप्त होता है' ऐसी स्मृति है। जो 'तुल्यप्रियाप्रियः' इससे प्रिय और अप्रियमें समत्व कहा था, उसको स्पष्ट करते हैं—**समलोष्टाश्मकाञ्चन इति**। सम—प्रीति और अप्रीतिके अविषय—हैं लोष्ट, पत्थर और काञ्चन जिसके वह समलोष्टाश्मकाञ्चन। अथवा सम—प्रत्यग् दृष्टिसे समभाव—को प्राप्त यानी ब्रह्मात्मदृष्टिसे देखे हैं लोष्ट, अश्म और काञ्चन जिसने, वह समलोष्टाश्मकाञ्चन है, सर्वत्रब्रह्मबुद्धिवाला, यह अर्थ है। विद्वान्‌के सुख, दुःख प्रिय और अप्रिय आदिमें सर्वत्र समदर्शनकी सिद्धिमें हेतु कहते हैं—**'धीर'** इत्यादिसे। आभासकी वासनासे बहिर्मुख बुद्धिको जो रोकता है यानी अपने आकारसे स्थापन करता है, वह धीर है। स्वनिष्ठासे अव्यभिचरित बुद्धिवृत्तिवाला, यह अर्थ है। इसीलिए तुल्यनिन्दात्मसंस्तुति। निन्दा यानी दूषण। आत्माके—देहादिके—गुणकीर्तन यानी स्तुति आत्मसंस्तुति, तुल्य हैं अनात्माके विषयवाली निन्दात्मसंस्तुति जिसकी, वह तुल्यनिन्दात्मस्तुति है, केवल अनात्माको विषय करनेवाली निन्दा और स्तुति दोनोंके अविषयीभूत स्वरूपसे युक्त यह अर्थ है। सुख और दुःख प्रिय और अप्रिय आदिमें सम होना विद्वान्‌की जीवन्मुक्ततामें परप्रत्यक्ष लिङ्ग है, यह सूचित होता है॥ २४॥

'यह गुणातीत है' इस प्रकार विद्वान्‌में गुणातीतत्व जाननेके लिए अन्य लिङ्ग और 'किमाचारः' इस प्रश्नका उत्तर दे रहे श्रीभगवान् जीवन्मुक्तके लक्षणका उपसंहार करते हैं—**'माना०'** इत्यादि।

मानावमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥ २५ ॥

मान और अपमानमें, मित्र और शत्रुपक्षमें समदृष्टि रखनेवाला तथा सम्पूर्ण श्रौत आदि कर्मोंका परित्याग करनेवाला जो यति है, वह गुणातीत कहा जाता है॥२५॥

मानेति । मान उपचारैर्बहूकरणम्, अपचारैर्लघूकरणमवमानस्तयोरुभयोस्तुल्यः स्वप्रारब्धवशात् तयोर्विषयभूते देहे आत्मत्वभावनाभावादुभयत्राऽप्यविक्रिय इत्यर्थः । पूजावमानयोर्मुखविकासवैवर्ण्यादिविकाररहितत्वेन समचित्तत्वं जीवन्मुक्तस्य लिङ्गम् । यद्यपि सर्वं ब्रह्मैव पश्यतो ब्रह्मविद्यतेः प्रियाप्रियमित्रामित्रादिभेददृष्टिर्न संभवति, तथापि यदिष्टमिव भुज्यते तत्प्रियमिति, यदनिष्टमिवोदास्यते तदप्रियमिति, यस्तु ब्रह्मविच्चर्यां दृष्ट्वाऽनुमोदते स मित्रपक्षः यस्तु नाऽनुमोदते सोऽरिपक्षः इति लोकदृष्ट्या संभवति । तयोर्मित्रारिपक्षयोः स्वबुद्धिदोषेणैव मित्रामित्रभावं गतयोरुभयोस्तुल्यः समदर्शी । सर्वत्र समदर्शनमेव जीवन्मुक्तस्य परप्रत्यक्षं लिङ्गम् । किञ्च, सर्वारम्भपरित्यागी 'ममाऽमुना भवितव्यम्' इति फलकामनयाऽऽरभ्यन्त इत्यारम्भाः कर्माणि दृष्टादृष्टफलविषयकाणि श्रौतानि स्मार्तान्युपासनालक्षणानि च यानि कान्याश्रमोचितानि च शारीरव्यतिरिक्तानि लौकिकान्यपि च कर्माणि सर्वारम्भा इति सर्वपदेन गृह्यन्ते । ब्रह्मभावापन्नतयाऽवाप्तसकलकामत्वात् तान् सर्वारम्भसाध्यशून्यत्वबुद्ध्या परित्यक्तुं शीलमस्याऽस्तीति

उपचारोंसे बहूकरण यानी सत्कार करना मान है, अपचारोंसे तिरस्कार करना अवमान है, उन दोनोंमें तुल्य, यानी अपने प्रारब्धवश प्राप्त उन दोनोंके विषयभूत देहमें आत्मभावना न होनेसे मान और अवमान दोनोंमें भी विक्रियारहित, यह अर्थ है। पूजा और अपमानके होनेपर मुखके विकास और वैवर्ण्य आदि विकारोंसे रहित होनेके कारण समचित्तत्व जीवन्मुक्तका चिह्न है । यद्यपि सबको ब्रह्म ही देखनेवाले ब्रह्मवित् यतिकी प्रिय, अप्रिय, मित्र, अमित्र आदिमें भेददृष्टि नहीं हो सकती; तथापि जिसका इष्टके समान वह उपभोग करता है, वह उसका प्रिय है, जिसका अनिष्टके समान त्याग करता है, वह उसे अप्रिय है, जो ब्रह्मवित्के आचारको देखकर प्रसन्न होता है, वह उसका मित्रपक्ष है और जो प्रसन्न नहीं होता, वह शत्रुपक्ष है, ऐसा लोकदृष्टिसे प्राप्त हो सकता है । उन मित्र और शत्रु पक्षवाले दोनोंमें यानी केवल अपने बुद्धिदोषसे मित्र और अमित्रभावको प्राप्त हुए उन दो प्रकारके प्राणियोंमें तुल्य अर्थात् समदर्शी । सर्वत्र समदर्शन ही जीवन्मुक्तका परप्रत्यक्ष लिङ्ग है । किञ्च, सर्वारम्भपरित्यागी (मुझे यह चाहिए, इस प्रकार फलकी कामनासे जिनका आरम्भ किया जाता है, वे आरम्भ हैं यानी) दृष्ट और अदृष्ट फलके जनक श्रौत, स्मार्त और उपासना रूप सम्पूर्ण आश्रमोचित कर्म, शरीरस्थितिहेतु कर्मोंसे भिन्न सारे लौकिक कर्मोंका भी 'सर्वारम्भ' इस पदमें स्थित सर्व-

सर्वारम्भपरित्यागी । नहि ब्रह्मभावापन्नस्याऽऽप्तकामस्य श्रोत्रियस्याऽकामस्य ब्रह्मविदः कर्मणा साध्यमस्ति, यस्मिन् सति कर्मणः कर्तव्यता स्यात्, तदभावात् सर्वारम्भपरित्यागो युक्त एव । ननु कर्मसाध्याश्चोपास्तिसाध्याश्च सार्वभौमादिब्रह्मान्ता आनन्दविशेषाः शतोत्तरगुणिताः सन्त्येव विदुषोऽप्याशास्या इति चेत्, न; नित्यनिरतिशयानपायिब्रह्मानन्दरसानुभूतेर्विदुषस्तदाशासंभवात् तेषां क्रियाजन्यत्वेनाऽनित्यत्वादल्पत्वादसत्त्वाच्च विद्वदाशास्यत्वानुपपत्तेः, 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' इति न्यायेन तेषामपि ब्रह्मानन्दान्तर्भूतत्वाद् ब्रह्मानन्दावाप्त्या 'शते पञ्चाशत्' न्यायेन तदवाप्तेश्च संभवाद् ब्रह्मविदो महात्मनः सर्वात्मभावापन्नस्य न प्राप्तव्यशेषोऽस्ति । नहि सार्वात्म्यसिद्धिः प्राप्तव्यशेषश्चैकस्य संभवति । तस्माद् ब्रह्मविदः सर्वकर्मसंन्यासो युक्त एवेति सिद्धम् । एतेन 'किमाचारः' इत्यस्य प्रश्नस्य पूर्णवृत्त्या सर्वत्रौदासीन्यं विना न किञ्चिदस्याऽऽचार इत्युत्तरं दत्तम् । निष्कर्मत्वं विदुषो जीवन्मुक्तत्वे परप्रत्यक्षं लिङ्गमिति च सूचितं भवति । गुणातीतः समदुःखत्वादिलक्षणलक्षितो यः स एव गुणातीतः । गुणेषु देहेन्द्रियादिषु प्रतिबिम्बप्रतिच्छायापरदेहेष्विवाऽऽत्मभावमुत्सृज्य गुणकार्यविलक्षणे तद्धर्मकर्माद्यस्पृष्टे स्वस्वरूपे परे ब्रह्मणि तदात्मना स्थित्वा प्रकाशं च प्रवृत्तिं च

शब्दसे ग्रहण किया जाता है । ब्रह्मभावकी प्राप्तिसे सकल कामनाओंकी पूर्ति हो जानेके कारण सर्वारम्भसाध्यशून्यत्वबुद्धिसे कर्मोंका त्याग करनेका जिसका शील है, वह सर्वारम्भपरित्यागी है । ब्रह्मभावको प्राप्त हुए आप्तकाम, श्रोत्रिय, निष्काम, ब्रह्मवित्के लिए कर्मसे ऐसा कुछ भी प्राप्तव्य नहीं है, जिसके कि रहनेसे कर्मकी कर्तव्यता प्राप्त हो, उसके (कर्मसे प्राप्तव्य अर्थके) न होनेसे सर्वारम्भपरित्याग युक्त ही है । यदि शङ्का हो कि कर्मसे साध्य और उपासनासे साध्य सार्वभौमसे लेकर ब्रह्म तक उत्तरोत्तर शतगुण आनन्दविशेष विद्वान्के चाहने योग्य हैं ही, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि नित्य, अखण्ड, ब्रह्मानन्दरसकी अनुभूतिसे विद्वान्को उनकी इच्छा हो नहीं सकती, क्योंकि वे क्रियाजन्य हैं, अतः उनके अनित्य, अल्प और मिथ्या होनेसे वे विद्वान्की आशाके विषय नहीं हो सकते और 'इस आनन्दकी केवल एक ही मात्राका अन्य प्राणी उपभोग करते हैं' इस न्यायसे वे भी आनन्द ब्रह्मानन्दके अन्तर्गत हैं, इसलिए ब्रह्मानन्दकी प्राप्तिसे 'शतमें पचास' इस न्यायसे उनकी प्राप्ति हो जानेसे सर्वात्मभावको प्राप्त ब्रह्मवित् महात्माके लिए कुछ भी प्राप्तव्य अवशिष्ट नहीं रहता । एक पुरुषमें सार्वात्म्यसिद्धि और प्राप्तव्य शेष ये दोनों नहीं रह सकते । इसलिए ब्रह्मवित्का सर्वकर्मसंन्यास युक्त ही है, यह सिद्ध हुआ । इससे 'किमाचारः' इस प्रश्नका 'पूर्ण वृत्तिसे सर्वत्र औदासीन्य वृत्तिको छोड़कर ब्रह्मवित् यति कुछ भी अन्य आचरण नहीं करता' यह उत्तर दिया । निष्कर्मत्व विद्वान्की जीवन्मुक्ततामें परप्रत्यक्ष लिङ्ग है, यह भी सूचित होता है । जो समदुःखत्व आदि लक्षणोंसे लक्षित है, वही गुणातीत है । गुणोंमें— देह, इन्द्रिय आदिमें—प्रतिबिम्ब, परछाँई और अन्योंकी देहोंके समान आत्मभावको छोड़कर गुणोंके कार्यसे विलक्षण, उनके धर्म तथा कर्म आदिसे अस्पृष्ट, स्वस्वरूप परब्रह्ममें

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ २६ ॥

जो ब्रह्मविद् यति अव्यभिचरित भक्तियोगसे सर्वदा मेरा अनुसन्धान करता है, वह इन गुणोंका अतिक्रमण कर जीवित अवस्थामें ही ब्रह्मभावको (मोक्षको) प्राप्त हो जाता है ॥ २६ ॥

मोहं च योऽतिक्रामति स गुणातीत इत्युच्यते । गुणानां गुणकार्याणामविषय इति कृत्वा जीवन्मुक्तो ब्रह्मविद्यतिस्तल्लक्षणज्ञैरयं गुणातीत इति निगद्यत इत्यर्थः ॥ २५ ॥

कथं त्वेतांस्त्रीन् गुणानतिवर्तत इति पृष्टस्य तृतीयप्रश्नस्योत्तरमाह—**मामिति** ।

चशब्दस्त्वर्थः । यस्तु ब्रह्मविद्यतिस्तीव्रमोक्षेच्छया वासनाकृतं बाह्यं सर्वं परित्यज्याऽत्यन्तवैराग्येण तद्बुद्धित्वादिसाधनसंपत्त्या च युक्तो भूत्वा मां प्रत्यगभिन्नं निर्विशेषं निराभासं निराकारमखण्डचिदेकरसं परिपूर्णं परं ब्रह्म भक्तियोगेन । ध्येयाकारेणाऽखण्डात्मना चित्तस्य विषयानुल्लेखिनः परिणामो भक्तिरखण्डाकारवृत्तिः । तदुक्तम् 'मत्कथाश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये । मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ । अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे । लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम् ॥' इत्युक्तलक्षणा या भक्तिः सैव योगः कैवल्यसिद्धौ परमोपायस्तेनाऽ-

---

ब्रह्मरूपसे स्थित होकर प्रकाश, प्रवृत्ति और मोहका जो अतिक्रमण कर जाता है, वह गुणातीत कहा जाता है । चूँकि जीवन्मुक्त ब्रह्मवित् यति गुणोंका और गुणोंके कार्यका अविषय है, इसलिए उसके लक्षणोंको जाननेवाले पुरुषों द्वारा, 'यह गुणातीत है' ऐसा कहा जाता है, यह अर्थ है ॥ २५ ॥

'कैसे उन तीन गुणोंका अतिक्रमण करता है' यों पूछे गये तीसरे प्रश्नका उत्तर कहते हैं—**'माम्'** इत्यादिसे ।

'च' शब्द 'तु' के अर्थमें है । जो ब्रह्मवित् यति तीव्र मोक्षकी इच्छासे वासना द्वारा किये गये सम्पूर्ण बाह्य प्रपञ्चका त्याग कर अत्यन्त वैराग्य तथा तद्बुद्धित्व आदि साधनसम्पत्तिसे युक्त होकर मेरा—प्रत्यगभिन्न, निर्विशेष, निराभास, निराकार, अखण्डचिदेकरस परिपूर्ण परब्रह्मका—भक्तियोगसे । ध्येयाकार अखण्डस्वरूपसे विषयोंका उल्लेख करनेवाले चित्तका जो परिणाम है, वह भक्ति है यानी अखण्डाकार वृत्ति । कहा भी है—'जैसे गङ्गाजीकी समुद्रमें अविच्छिन्न गति है, वैसे ही सम्पूर्ण प्राणियोंके अन्तर्यामी मुझमें केवल मेरी कथा सुननेसे जो अविच्छिन्न मनकी गति है, वह भक्ति है । अव्यवहित और हेतुशून्य जो पुरुषोत्तममें भक्ति है, वह निर्गुण भक्तियोगका लक्षण कहा गया है ।' इन वचनोंसे उक्त लक्षणसे सम्पन्न जो भक्ति है, वही योग है, यानी कैवल्यसिद्धिमें

व्यभिचारेण प्रत्ययान्तरेण व्यवच्छेदो व्यभिचारः क्वचिदपि तद्रहितेन नित्यनिरन्तरसमाधिना सेवते । विषयग्रहणविमुखया निर्मलया निश्चलया चिदाकारापन्नया तैलधारावदविच्छिन्नया वृत्त्या व्युत्थानाव्युत्थानयोर्बहिरन्तश्च परिपूर्णं सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं निष्कलं निष्क्रियं शान्तमनन्तं गगनोपममानन्दघनं मां परं ब्रह्म सर्वमिदमहं च ब्रह्मैवेति स्वं च विश्वं च मदाकारमेव पश्यन् यो वेत्ति । सर्वदाऽनुसन्धत्त इत्यर्थः । एवं चिरकालनित्यनिरन्तरब्रह्मनिष्ठायामेव प्रतिष्ठितः स यतिः तदाकाराकारितान्तःकरणतया सर्वदा सर्वं ब्रह्मैव पश्यन् स्वयमेतान् पूर्वोक्तलक्षणान् गुणान् सत्त्वादीन् तत्कार्येण प्रपञ्चेन सहाऽतीत्याऽतिक्रम्य प्रकृतिं प्रकृतिकार्यं च विश्वं सर्वं ब्रह्मण्यधिष्ठाने सन्मात्रत्वेन प्रविलाप्यैवं गुणात्ययं कृत्वा । गुणात्ययो नामाऽधिष्ठानयाथात्म्यसंदर्शनेनाऽऽरोपितगुणतत्कार्ययोराभासतः प्रतीयमानयोरधिष्ठानमात्रत्वेनाऽवगाहनशीलया चिदाकारवृत्त्या पुनरहमिदमद इत्यग्रह एव, तं कृत्वा ब्रह्मीभूतसर्वप्रपञ्चो ब्रह्मवित्तमो ब्रह्मभूयाय ब्रह्मभावाय जीवन्नेव ब्रह्मात्मनाऽवस्थानाय कल्पते शक्तो भवति । 'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते' इत्युक्तन्यायेन स्वस्मिन् सर्वत्र ब्रह्ममात्रदर्शनलक्षणायां भगवत्प्रतिपत्तौ ब्रह्मनिष्ठायां यः प्रतिष्ठितो भवति स एव गुणमयीं गुणतत्कार्यतद्व्यवहाररूपां

परम उपाय है) यानी व्यभिचाररहित भक्तियोगसे (अन्य प्रत्ययसे व्यवच्छेद व्यभिचार है) अर्थात् कहीं भी व्यभिचरित न होनेवाले नित्य निरन्तर समाधिसे सेवन करता है । विषयग्रहणसे विमुख, निर्मल, निश्चल चिदाकारताको प्राप्त हुई तैलकी धाराके समान अविच्छिन्न वृत्तिसे व्युत्थान और अव्युत्थान दोनों दशाओंमें बाहर और भीतर परिपूर्ण, सम्पूर्ण उपाधियोंसे रहित, निष्कल, निष्क्रिय, शान्त, अनन्त, आकाशके समान, आनन्दघन मुझ परब्रह्मका 'यह सब और मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार अपनेको और सारे विश्वको मद्रूप ही देख रहा जो ब्रह्मवित् यति सदा अनुसन्धान करता है, यह अर्थ है । इस प्रकार चिरकाल तक नित्य निरन्तर केवल ब्रह्मनिष्ठामें प्रतिष्ठित वह यति ब्रह्माकारमें परिणत अन्तःकरणसे सर्वदा सबको ब्रह्म ही देखता हुआ स्वयं इन पूर्वोक्त लक्षणवाले सत्त्व आदि गुणोंका, उनके कार्य प्रपञ्चके साथ, अतिक्रमण करके प्रकृतिका और प्रकृतिके कार्य सम्पूर्ण विश्वका अधिष्ठानभूत ब्रह्ममें सन्मात्ररूपसे प्रविलापन करके यानी इस प्रकार गुणोंका अत्यय करके (अधिष्ठानके याथात्म्यदर्शनसे आभासरूपसे प्रतीत होनेवाले आरोपित गुणोंका और उनके कार्योंका अधिष्ठानरूपसे अवगाहन करनेवाली चिदाकारवृत्तिसे फिर 'मैं, यह, वह' यों ग्रहण न करना ही गुणात्यय है, उसको करके) जिसको सम्पूर्ण प्रपञ्च ब्रह्मस्वरूप हो गया है, ऐसा ब्रह्मवित्तम यति ब्रह्मभावके लिए यानी जीता हुआ ही ब्रह्मस्वरूपसे स्थित होनेके लिए समर्थ होता है । 'मुझको जो भजते हैं, वे इस मायाको तरते हैं' इस उक्त न्यायसे अपनेमें और सर्वत्र ब्रह्ममात्रत्वदर्शनलक्षण भगवत्प्रतिपत्तिरूप ब्रह्मनिष्ठामें जो प्रतिष्ठित होता है, वही गुणमयी—गुण, उनके कार्य और उनके व्यवहाररूप—मायाका (इन बाह्य प्रत्ययोंकी संततिका)

मायां चैतत्प्रत्यसंततिमतीत्य विदेहकैवल्यं सुखं प्राप्नोति नाऽन्य इति तात्पर्यार्थः। एतेन सर्वमिदमहं च ब्रह्मैवेति पूर्णवृत्त्या सदा सर्वत्र ब्रह्मदर्शनमेव प्रत्ययान्तरानन्तरितं सत्त्वादिगुणतत्कार्यातिक्रमणोपाय इति सूचितं भवति ॥ २६ ॥

ननु गुणतत्कार्यव्यपोहमात्रेण ब्रह्मविद् ब्रह्म भवितुं नाऽर्हति ब्रह्मविदोऽहमर्थत्वेन ज्ञातृत्वात् ब्रह्मण इदमर्थत्वेन ज्ञेयत्वाच्च ज्ञातुर्ज्ञेयभावो न संभवति, प्रत्यक्षविरोधादित्याशङ्कायाम् , न; यथा लोके अयमहमित्यत्राऽहंशब्देदंशब्दार्थयोः शब्दोपाधितो ज्ञातृज्ञेयरूपेण भेदे प्रतीयमानेऽपि विचार्यमाणे तयोरर्थत एकत्वमुपपद्यते नाऽत्र प्रत्यक्षविरोधो दृश्यते तद्वदत्राऽपि। किञ्च, 'सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते' इति, 'अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इति च श्रुतिर्ब्रह्मण एव नामरूपव्याकरणोपाधौ ज्ञातृरूपेणाऽवस्थितत्वं प्रतिपादयति। अतो ज्ञातुर्विदुष उपाध्युपरमे ब्रह्मभाव उपयुज्यते घटोपाध्यभावे घटाकाशस्य महाकाशत्वं यथा तद्वत्। 'नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता', 'अविज्ञातं विज्ञातृ' इति विज्ञातृब्रह्मणोरभेदश्रवणाच्च ब्रह्मणः प्रतिष्ठात्वाच्च प्रत्यग्रूपस्य विदुषो ब्रह्मभाव उपपद्यत इति बोधयितुमाह—**ब्रह्मण इति**।

उल्लङ्घन कर विदेहकैवल्यसुखको प्राप्त होता है, दूसरा नहीं, ऐसा तात्पर्यार्थ है। इससे ऐसा सूचित होता है कि 'सब यह और मैं ब्रह्म ही हूँ' ऐसा पूर्णवृत्तिसे सदा सर्वत्र दूसरे प्रत्ययसे रहित ब्रह्मदर्शन ही सत्त्व आदि गुणोंके और उनके कार्योंके अतिक्रमणका उपाय है ॥ २६ ॥

गुण और गुणोंके कार्योंका केवल प्रविलापन करने से ही ब्रह्मवित् यति ब्रह्मरूप नहीं हो सकता, क्योंकि ब्रह्मवित् अहमर्थ होनेसे ज्ञाता है और ब्रह्म इदमर्थ होनेसे ज्ञेय है, ज्ञाता ज्ञेयरूप नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्यक्षसे विरोध है, ऐसी यदि आशङ्का हो, तो, वह युक्त नहीं है, क्योंकि जैसे लोकमें 'यह मैं हूँ' इस प्रतीतिमें अहंशब्द और इदंशब्दके अर्थमें शब्दतः ज्ञाता और ज्ञेयरूपसे भेद प्रतीत होनेपर भी विचार करनेपर दोनोंमें अर्थतः ऐक्य ही है, वहाँ प्रत्यक्षसे विरोध देखनेमें नहीं आता, वैसे ही यहां भी समझना चाहिए। क्योंकि 'सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते' और 'इस जीवस्वरूपसे प्रवेश करके नाम और रूपोंका व्याकरण करूँ' यह श्रुति ब्रह्म ही नामरूपव्याकरणरूप उपाधिमें ज्ञातारूपसे अवस्थित है, ऐसा प्रतिपादन करती है। इसलिए उपाधिका उपरम होनेपर ज्ञाता विद्वान्‌का ब्रह्मभाव हो सकता है। जैसे घटरूप उपाधिका अभाव होनेपर घटाकाश महाकाशरूप हो जाता है, वैसे ही प्रकृतमें भी जानना चाहिए, क्योंकि 'इससे अन्य विज्ञाता नहीं है' और 'विज्ञाता अविज्ञात है' इससे विज्ञाताका और ब्रह्मका अभेद सुननेमें आता है और ब्रह्म प्रतिष्ठारूप होनेसे प्रत्यग्रूप विद्वान् ब्रह्मभावको प्राप्त हो सकता है, ऐसा बोधन करनेके लिए कहते हैं—'ब्रह्मणः' इत्यादिसे।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहममृतस्याऽव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ २७ ॥

यति विनाशरहित, अविकारी, ज्ञानरूप धर्मसे प्राप्य, आनन्दरूप, ऐकान्तिक (केवल आत्मप्रत्ययवेद्य), निर्विशेष, पूर्णस्वरूप परब्रह्मकी अहमर्थ प्रत्यगात्मा प्रतिष्ठा है, [इसलिए उक्त विद्वान्का ब्रह्मभाव युक्त ही है] ॥ २७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

अमृतस्य 'एतदमृतमभयमेतद् ब्रह्म' इति श्रवणादमृतस्याऽमरणधर्मस्य अविनाशिनः जन्मरहितस्यैवाऽविनाशित्वं युक्तम् । ततोऽमृतस्येत्यनेनाऽऽद्यन्तविकाराभावः सूचितः । अव्ययस्य व्ययरहितस्याऽविकारिण इत्यनेन वृद्धिविपरिणामाभावः सूचितः । शाश्वतस्य नित्यस्येत्यनेन आगन्तुकास्तित्वापक्षयाभावः सूचितः । चद्वयं समुच्चयार्थम् । धर्मस्याऽविद्यया जन्ममरणादिदुःखप्रवाहे पात्यमानः पुरुषो ध्रियतेऽनेनेति धर्मो ज्ञानं तस्य धर्मस्य धर्मावगम्यस्येत्यर्थः । सुखस्याऽऽनन्दरूपस्यैकान्तिकस्याऽत्यन्तं इदमेवमेवेति निश्चीयतेऽनेनेत्यन्त एकश्चाऽसावन्तश्चेत्येकान्त एकप्रत्ययस्तेनाऽवगम्यत इत्यैकान्तिकं तस्यैकान्तिकस्य सर्वत्राऽव्यभिचरितसत्ताकस्य परिपूर्णस्य ब्रह्मणो निर्विशेषस्य हि यस्मादहमर्थः प्रत्यगात्मा सर्वदृश्यज्ञाता प्रतिष्ठा प्रतितिष्ठत्यनेन ज्ञातृस्वरूपेण

'यह अमृत और अभय है, यह ब्रह्म है' इस श्रुतिसे अमृत—मरणधर्मसे शून्य—यानी अविनाशी (जन्मरहित ही अविनाशी होता है, इसलिए 'अमृतस्य' इस वचनसे आदि और अन्तरूप विकारका अभाव सूचित किया), अव्यय—व्ययरहित—यानी अविकारी ('अव्ययस्य' इस वचनसे वृद्धि और विपरिणामका अभाव सूचित किया), शाश्वत यानी नित्य (इससे आगन्तुक अस्तित्व और अपक्षयका अभाव सूचित किया, दो चकार समुच्चयके अर्थमें हैं). धर्म (अविद्यासे जन्म, मरण आदि दुःखके प्रवाहमें पड़ा हुआ पुरुष जिससे बचाया जाता है, वह धर्म है यानी ज्ञानरूप धर्मसे अवगम्य, यह अर्थ है । सुख (आनन्दरूप) तथा ऐकान्तिक (यह ऐसा ही है, यों जिससे अत्यन्त निश्चय किया जाता है वह अन्त है, एक और अन्त एकान्त है यानी एक प्रत्यय, उससे जो जाननेमें आता है, वह ऐकान्तिक है) उस ऐकान्तिक सर्वत्र अव्यभिचरित सत्तावाले परिपूर्ण निर्विशेष ब्रह्मकी जिस कारणसे अहमर्थ प्रत्यगात्मा (सम्पूर्ण दृश्यका ज्ञाता) प्रतिष्ठा है (नाम और रूपका व्याकरण करनेके लिए ज्ञातारूपसे जो प्रतिष्ठित होता है; प्रवृत्त

नामरूपव्याकरणाय प्रवर्तते इति प्रतिष्ठा, 'तदेवानुप्राविशत्' इति श्रु : । प्रत्यगात्मस्वरूपेणोपाधौ स्थित्वा परं ब्रह्मैव बुद्ध्यादिसर्वदृश्यजातं जानाति प्रकाशयति च तेनाऽऽत्मनो ब्रह्मत्वं न व्यभिचरति । यथा दीपरूपेणाऽर्थं प्रकाशयतोऽग्नेर्दीपरूपस्याऽग्नित्वं न व्यभिचरति, तद्वत् । ततो ज्ञातुरात्मन उपाध्यभावे ब्रह्मत्वं युक्तम् । ज्ञातैवाऽऽत्मा विद्वान् तस्माज्ज्ञाता विद्वान् ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः । यद्वा निरुक्तलक्षणस्य निर्विशेषस्य परस्य ब्रह्मणोऽहमात्मा प्रतिष्ठा स्वभावस्थितिहेतुत्वात् । प्रत्यगात्मनः खलु परं ब्रह्म स्वभावस्थितिं प्राप्नोति । ब्रह्मणः सत्त्वचित्त्वानन्दरूपत्वपरिपूर्णत्वाद्वितीयत्वादिकं बुद्ध्युपाधिकेन प्रत्यगात्मनैव हि चेतनेन सिद्ध्यति न तु स्वतो निर्विशेषत्वात् । ततोऽहमर्थोऽस्य प्रतिष्ठा भवति । ब्रह्मव्यतिरिक्तचेतनाभावात्, 'अयमात्मा ब्रह्म'इति श्रवणाच्च प्रत्यगात्मन उपाध्यभावे ब्रह्मत्वं युक्तम् । तस्माद् विदुषो ब्रह्मत्वं सिद्धम् ॥ २७ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमदानन्दात्मसरस्वतीशिष्यश्रीशङ्करानन्दसरस्वतीकृतौ गीतातात्पर्यबोधिन्यां चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

होता है, वह प्रतिष्ठा है, क्योंकि 'वही प्रविष्ट हुआ' ऐसी श्रुति है । प्रत्यक्-स्वरूपसे उपाधिमें स्थित होकर परब्रह्म ही बुद्धि आदि सम्पूर्ण दृश्योंको जानता है और प्रकाश करता है, उससे आत्मामें ब्रह्मत्वका व्यभिचार नहीं है । जैसे दीपकरूपसे पदार्थका प्रकाश करनेवाले दीपकरूप अग्निका अग्नित्व व्यभिचारको प्राप्त नहीं होता, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए । इसलिए ज्ञाता आत्माकी उपाधिका अभाव होनेपर ब्रह्मरूपता युक्त है । ज्ञाता ही आत्मा विद्वान् है, इसलिए ज्ञाता विद्वान् ब्रह्म ही है, यह अर्थ है । अथवा निरुक्त लक्षणवाले निर्विशेष परब्रह्मकी मैं (आत्मा) प्रतिष्ठा हूँ, क्योंकि मैं स्वभावकी स्थितिका हेतु हूँ । प्रत्यक्-स्वरूपसे परब्रह्म ही स्वभावस्थितिको प्राप्त होता है । ब्रह्ममें सत्त्व, चित्त्व, आनन्दरूपत्व, परिपूर्णत्व, अद्वितीयत्व आदि बुद्धिरूप उपाधिसे युक्त प्रत्यगात्मा चेतनसे ही सिद्ध होता है, स्वतः नहीं, क्योंकि स्वयं तो निर्विशेष है, इसलिए 'अहम्' इसकी प्रतिष्ठा है, क्योंकि ब्रह्मके सिवा चेतनका अभाव है । 'यह आत्मा ब्रह्म है' इस श्रुतिसे प्रत्यक् आत्माका, उपाधिका अभाव होनेपर, ब्रह्मत्व युक्त है । इसलिए विद्वान् ब्रह्मरूप है, यह सिद्ध हुआ ॥ २७ ॥

चौदहवां अध्याय समाप्त

पञ्चदशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दाँसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १ ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—हे अर्जुन, जिसका ऊर्ध्व (ब्रह्म) मूल यानी बीज है, जिसकी अधःशब्दसे कहलानेवाली महद् आदि वस्तुएँ शाखा हैं, जिसके ऋग् आदि वेद पत्ते हैं, ऐसे अश्वत्थको (क्षणभङ्गुर संसारवृक्षको) मीमांसक आदि नाशरहित कहते हैं, परन्तु इस प्रकारके संसाररूपी वृक्षको जो पुरुष यथार्थरूपसे यानी सुखदुःखादिसे उपप्लुत जानते हैं, वे वेदार्थविद् हैं ॥ १ ॥

'सत्त्वं रजस्तमः' इत्यादिना सत्त्वादिगुणानां ज्ञानतत्फलप्रतिबन्धकत्वेन ज्ञानिनो व्यपोह्यानां स्वरूपं कार्यं च तद्वतां फलं च गुणातिक्रमणं कृतवतो लक्षणं फलं च सम्यक् प्रतिपाद्याऽध्यायान्ते गुणातिक्रमणोपायविवक्षया 'मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते' इति ब्रह्मानुसन्धानं गुणात्ययसाधनत्वेनोक्तम् । ते च गुणाः कतिचित् पुंसो मुमुक्षोः कीदृशं ब्रह्म कथं तदनुसन्धानमित्याकाङ्क्षायां क्षराक्षरविलक्षणं पुरुषोत्तमाख्यं परं ब्रह्म तदनुसन्धानं तत्र महतां प्रवृत्तिं तत्प्रवृत्तिफलं च प्रतिपादयितुं पञ्चदशाध्याय आरभ्यते । तत्राऽऽदौ मुमुक्षोः संसारे जुगुप्सावैराग्यसंन्यासादिमोक्ष-साधनसिद्धये संसारं वृक्षत्वेन वर्णयति—**श्रीभगवानुवाच ऊर्ध्वमिति ।**

'सत्त्वं रजस्तमः' इत्यादिसे सत्त्व आदि गुणोंका, जो ज्ञान और उसके फलके प्रतिबन्धक होनेके कारण विद्वान् द्वारा त्याज्य हैं, स्वरूप और कार्यका, सत्त्वादि गुणोंसे युक्त पुरुषोंके फलका तथा गुणोंका अतिक्रमण करनेवाले पुरुषके लक्षण और फलका भलीभाँति प्रतिपादन करके अध्यायके अन्तमें गुणोंका अतिक्रमण करनेमें उपायको बतलानेकी इच्छासे 'मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते' (अव्यभिचारी भक्तियोगसे जो मेरी सेवा करता है) इससे गुणोंका अतिक्रमण करनेमें साधन ब्रह्मका अनुसन्धान है, ऐसा कहा गया । वे गुण मुमुक्षु पुरुषके कितने हैं, ब्रह्म कैसा है, कैसे उसका अनुसन्धान हो सकता है ? ऐसी आकाङ्क्षा होनेपर क्षर और अक्षरसे विलक्षण पुरुषोत्तमनामक परब्रह्म, उसके अनुसन्धान, उसमें महान् पुरुषोंकी प्रवृत्ति और उस प्रवृत्तिके फल का प्रतिपादन करनेके लिए पन्द्रहवें अध्यायका आरम्भ किया जाता है । उसमें पहले मुमुक्षुको संसारमें जुगुप्सा, वैराग्य, संन्यास आदि मोक्षके साधनोंकी सिद्धिके लिए संसारका वृक्षरूपसे श्रीभगवान् वर्णन करते हैं—'श्रीभगवानुवाच ऊर्ध्वम्' इत्यादि ।

ऊर्ध्वमूलम् अव्यक्तमहदादेरपि परममहत्त्वेनाऽतिसूक्ष्मत्वेन प्रकाशकत्वेन सर्वास्पदत्वेन सर्वव्यापकत्वेन सर्वकारणत्वेन च परं ब्रह्मोर्ध्वमित्युच्यते। सर्वोत्तमत्वाद् ब्रह्मण ऊर्ध्वमिति व्यपदेशः। ऊर्ध्वमुच्छ्रितमुत्कृष्टतमं यत्परं ब्रह्म तदेव मायाशबलं मूलं बीजं यस्य स ऊर्ध्वमूलः संसारवृक्षः श्रुतिप्रसिद्धः। 'ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः' इति, 'ऊर्ध्वमूलमवाक्शाखं वृक्षं यो वेद संप्रति' इति च श्रुतेः। यथा वटस्य बीजमव्यक्तमतिसूक्ष्ममविज्ञेयमपारशक्तिसम्पन्नं च तथा जगद्बीजमव्यक्तं ब्रह्माऽप्यतिसूक्ष्ममविज्ञेयमपारशक्तिसम्पन्नं च भवति। तत एवाऽतिविस्तरोऽतिविचित्रः संसारवृक्षस्तम्। अधःशाखम् 'अव्यक्तान्महन्महतोऽहङ्कारोऽहङ्कारात्पञ्चतन्मात्राणि पञ्चतन्मात्रेभ्यः पञ्चमहाभूतानीति श्रवणान्महदादिविकाराः सर्वे प्रकृतेरधःस्थत्वादध इत्युच्यन्ते। अधोऽधःशब्दवाच्या महदादयः शाखा इव शाखा यस्य सोऽयमधःशाखः। महदङ्कुरोऽहङ्कारः स्कन्धः पञ्चतन्मात्राणि शाखाः पञ्चमहाभूतान्युपशाखा अस्य भवन्तीत्यर्थः। यस्य महदादयः शाखा भवन्ति तमधःशाखमश्वत्थं मायाकार्यत्वेन श्वो न तिष्ठतीत्यश्वत्थः क्षणभङ्गुरोऽनित्य इत्यर्थः। तमेतं क्षणप्रध्वंसिनमश्वत्थं संसारवृक्षमव्ययं व्ययो नाशस्तद्रहितमव्ययं नित्यमिति प्राहुः। प्ररोचनोक्तिप्रमोहिताः कामिनो मीमांसकाः न कदाचिदनीदृशं जगदिति जगन्नित्यमिति वदन्तीत्यर्थः।

ऊर्ध्वमूल (अव्यक्त और महद् आदिसे भी परम महत्, अतिसूक्ष्म, प्रकाशक, सबका अधिष्ठान, सबका व्यापक तथा सबका कारण होनेसे परब्रह्म 'ऊर्ध्व' कहा जाता है। सर्वोत्तम होनेके कारण ब्रह्मका 'ऊर्ध्व' व्यपदेश होता है। ऊर्ध्व—उच्छ्रित—यानी उत्कृष्टतम जो परब्रह्म है, वही (मायाशबल ब्रह्म, जिसका मूल—बीज—है, वह ऊर्ध्वमूल है यानी श्रुतिप्रसिद्ध संसाररूपी वृक्ष), क्योंकि 'ऊर्ध्वमूलवाला, अधःशाखावाला यह अश्वत्थ वृक्ष सनातन है' तथा 'ऊर्ध्वमूलवाले अधःशाखावाले वृक्षको जो सम्प्रति जानता है' ऐसी श्रुति है। जैसे वटका बीज अव्यक्त, अतिसूक्ष्म, अविज्ञेय और अपारशक्तिसे सम्पन्न है, वैसे ही जगत्का बीजभूत अव्यक्त ब्रह्म भी अतिसूक्ष्म, अविज्ञेय और अपारशक्तिसे सम्पन्न है। इसीलिए अत्यन्त विस्तृत तथा अति विचित्र संसारवृक्ष है, तथा अधःशाखावाले ('अव्यक्तसे महत्, महत्से अहङ्कार, अहङ्कारसे पाँच तन्मात्राएँ, पाँच तन्मात्राओंसे पाँच महाभूत उत्पन्न होते हैं' इस वचनसे महद् आदि सम्पूर्ण विकार प्रकृतिसे नीचे स्थित है, अतः वे 'अधः' कहलाते हैं। अधः यानी अधःशब्दसे वाच्य महद् आदि शाखाके समान जिसकी शाखाएँ हैं, वह अधःशाख है) महत् इसका अङ्कुर, अहङ्कार स्कन्ध, पञ्चतन्मात्राएँ शाखा, पाँच महाभूत इसकी उपशाखाएँ हैं, यह अर्थ है। जिसकी महद् आदि शाखाएँ हैं, उस अधःशाखावाले अश्वत्थको (मायाका कार्य होनेसे कलतक जो नहीं ठहरता, वह अश्वत्थ है यानी क्षणभङ्गुर, अनित्य, यह अर्थ है।) इस प्रकारके क्षणभङ्गुर अश्वत्थको—संसाररूप वृक्षको—अव्यय (व्ययसे यानी नाशसे रहित अव्यय है) यानी नित्य, कहते हैं। प्ररोचक वचनोंसे मोहित कामी मीमांसक जगत् इससे विलक्षण कभी भी नहीं होता इसलिए जगत् नित्य

छन्दांसि संसारवृक्षस्याऽनित्यत्वदुःखरूपत्वव्यामोहकत्वानर्थकारित्वादिदोषजातं छादयन्ति 'ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी', 'दक्षिणावन्तो अमृतत्वं भजन्ते', 'स्वर्गे लोके न भयं किञ्चनास्ति', 'स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्ते', 'एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः' इत्यादिप्ररोचनवाक्यैर्गूहयन्तीति छन्दांसि ऋग्यजुःसामादीनि यस्य संसारवृक्षस्य मायामयस्य पर्णानीव पर्णानि भवन्ति। यथा पर्णानि सर्वतो वृक्षदोषमावृत्त्याऽक्षतं रक्षन्ति, तथा वेदाः सपुराणेतिहासाः कर्मोपासनयोगागमतन्त्रक्रियापराः सर्वे कर्मतत्साधनतत्फलप्रकाशनेनाऽनित्यत्वदुःखरूपत्वादिदोषं छादयन्तो यं संसारवृक्षं वर्धयन्तीत्यर्थः। तमेतं प्रतिपादितलक्षणं वेदपलाशं धर्माधर्मप्रसवं जन्ममरणादिदुःखैकफलं संसारवृक्षं समूलं यो वेद सम्यग्विजानाति स वेदविद्वेदार्थविदित्यर्थः। नन्वनृतजडदुःखात्मकस्य स्वगुणैर्व्यामोहकतया जन्माद्यनर्थहेतोः संसारवृक्षस्य वेदनेन विदुषः कथं वेदार्थवित्त्वं सिद्ध्यतीति चेद्, उच्यते—यस्माद्बीजादुत्पन्नो यो वृक्षः स तु तद्रस एव भवति। यथा तिक्तरसान्निम्बबीजादुत्पन्नो निम्बवृक्षस्तिक्तरसात्मक एव भवति, नाऽन्यथा। सोऽयं न्यायः सर्वत्राऽपि प्रसिद्धः। एवं चिदेकरसाद् ब्रह्मणः सकाशादुत्पन्नः संसारवृक्षश्चिद्रस एव भवति। ततः 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादिश्रुतिभिः 'संसारवृक्षः स्वबीज-

---

है, ऐसा कहते हैं, यह अर्थ है। संसाररूप वृक्षमें स्थित अनित्यत्व, दुःखरूपत्व, व्यामोहकत्व, अनर्थकारित्व आदि दोषोंका जो छादन करते हैं, यानी 'स्वर्ग नित्य है, पृथिवी ध्रुव है', 'दक्षिणाग्निके उपासक अमृतत्वको प्राप्त होते हैं', 'स्वर्गलोकमें कुछ भी भय नहीं है', 'स्वर्गस्थ लोक अमृतत्वको भजते हैं', 'यह तुम्हारा पुण्य सुकृत ब्रह्मलोक है' इत्यादि प्ररोचन वाक्योंसे (स्तावक वाक्योंसे) जो भ्रममें डालते हैं, वे छन्द हैं यानी ऋक्, यजु, साम आदि, ये इस मायामय संसारवृक्षके पत्तोंके समान पत्ते हैं। जैसे पत्ते सब ओरसे वृक्षके दोषको ढककर उसकी निरन्तर रक्षा करते हैं, वैसे ही पुराण और इतिहासके साथ कर्म, उपासना, योग, आगम, तन्त्र और क्रियाके बोधक सम्पूर्ण वेद कर्म, उसके साधन, उसके फलके प्रकाशन द्वारा अनित्यत्व, दुःखरूपत्व आदि दोषको ढकते हुए इस संसारवृक्षको बढ़ाते हैं, यह अर्थ है। इस प्रकार प्रतिपादित लक्षणवाले, वेदरूप पत्तेवाले, धर्म और अधर्मसे उत्पन्न होनेवाले तथा जन्म-मरण आदि दुःखरूप फलवाले संसारवृक्षको मूलसहित जो भलीभाँति जानता है—वह वेदवित् है। वेदार्थका जाननेवाला है, यह अर्थ है। यदि शङ्का हो कि मिथ्या, जड़ और दुःखस्वरूप, अपने गुणों द्वारा व्यामोह करनेवाले, जन्म आदि अनर्थके हेतु संसारवृक्षके जाननेसे विद्वान् वेदार्थविद् कैसे होगा, तो इसपर कहते हैं—जिस बीजसे जो वृक्ष उत्पन्न होता है, वह तद्रस ही होता है। जैसे तिक्तरसवाले निम्बके बीजसे उत्पन्न हुआ निम्बका वृक्ष तिक्तरसात्मक ही होता है, विपरीत नहीं होता। यह न्याय सर्वत्र ही प्रसिद्ध है। उसी प्रकार चिदेकरस ब्रह्मसे उत्पन्न हुआ संसारवृक्ष चिद्रूप ही है। इसलिए 'सब यह ब्रह्म है' इत्यादि श्रुतियोंसे तथा 'संसाररूपी वृक्ष अपने बीजके रसस्वरूप ही है, वृक्ष होनेसे, निम्ब

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥

उस संसाररूपी वृक्षकी सत्त्व आदि गुणोंके विकार काम, क्रोध आदिसे वृद्धिको प्राप्त हुई, शब्द आदि भोग्य पदार्थरूपी अङ्कुरोंसे युक्त शाखाएँ (पाप-पुण्य कर्मोंके फलभूत शरीर) मनुष्यसे लेकर स्थावरपर्यन्त तथा ब्रह्मलोकपर्यन्त नीचे ऊपर व्याप्त हैं तथा काम्य, नित्य आदि कर्मोंके उत्पादक इस संसाररूपी वृक्षके मूल मनुष्यलोकमें (प्राणिवर्गमें) सर्वत्र व्याप्त हैं ॥ २ ॥

रसात्मक एव भवति, वृक्षत्वात्, निम्बवृक्षवत्' इत्यादियुक्तिभिश्च तदुदितस्वानुभवेन च इमं संसारवृक्षं चिदेकरसं कारणब्रह्ममात्रमेव यः शुद्धात्मा पण्डितो वेद स वेदार्थविदेव स्यात् । 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इति न्यायेन सर्ववेदार्थो ब्रह्म तद्विद् ब्रह्मविदेव भवति । 'कस्मिन् भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' इति न्यायेन सर्वज्ञश्च भवति । सर्वज्ञस्य तस्य कर्तव्यं च वक्ष्यति—'स सर्वविद्भजति माम्' इति । अतः कारणज्ञानेन कार्यस्य वृक्षस्य कारणमात्रत्वविज्ञानाद्विदुषो वेदार्थवित्त्वं सिद्ध्यतीत्यर्थः ॥ १ ॥

शुद्धात्मन एवेश्वरप्रसादवतः कारणज्ञानेन कार्यस्य वृक्षस्य कारणमात्रत्वविज्ञानाद् ब्रह्मवित्त्वं विदेहमुक्तिश्च सिद्ध्यति, मलिनात्मनस्तु संसारवृक्षस्वरूपं सम्यग्विज्ञायाऽसद्बुद्ध्या ततो विरक्तवत एव ज्ञानं मोक्षश्च सिद्ध्यतीति बोधयितुं पुनः संसारवृक्षं विशिनष्टि—**अध इति** ।

वृक्षके समान' इत्यादि युक्तियोंसे तथा तदुदित अपने अनुभवसे इस संसारात्मक वृक्षको चिदेकरस कारण ब्रह्मस्वरूप ही जो शुद्ध मनवाला पण्डित जानता है, वह वेदार्थका ज्ञाता ही है। 'सम्पूर्ण वेद जिस पदको कहते हैं' इस न्यायसे सम्पूर्ण वेदोंका अर्थ ब्रह्म ही है, अतः वेदार्थको जाननेवाला ब्रह्मवित् ही होता है । तथा 'भगवन्, किसके जाननेसे यह सब ज्ञात हो जाता है' इस न्यायसे वह सर्वज्ञ भी होता है । उस सर्वज्ञका कर्तव्य आगे 'वह सर्ववित् मुझको भजता है' इत्यादिसे कहेंगे । अतः कारणके ज्ञानसे कार्य वृक्षके कारणमात्रत्वविज्ञानसे विद्वान् वेदार्थविद् सिद्ध होता है, यह अर्थ है ॥ १ ॥

जिसका मन शुद्ध है और जो ईश्वरके प्रसादसे सम्पन्न है, वही कारणके ज्ञानसे कार्यरूप वृक्षमें कारणरूपताके विज्ञानसे ब्रह्मवित् होता है और उसीको विदेहमोक्ष प्राप्त होता है तथा जो मलिन अन्तःकरणवाला पुरुष है उसको तो संसारवृक्षके स्वरूपका भलीभाँति परिज्ञान कर असत्-बुद्धिसे उससे विरक्त होनेपर ही ज्ञान और मोक्ष सिद्ध होता है, ऐसा बोधन करनेके लिए फिर संसारवृक्षका वर्णन करते हैं—'अधः' इत्यादिसे ।

तस्योक्तलक्षणस्य संसारवृक्षस्य शाखा उपशाखास्थानीयाः पापपुण्यकर्मफलभूता देहाः अधश्चोर्ध्वं प्रसृताः। मनुष्यादिस्थावरान्तमधःशब्दार्थः। मनुष्यान् व्याप्य ब्रह्मलोकपर्यन्तमूर्ध्वशब्दार्थः। अधः स्थावरपर्यन्तमूर्ध्वं च ब्रह्मलोकपर्यन्तमपि प्रसृताः। सर्वतो व्याप्ता इत्यर्थः। वाक्यस्याऽस्याऽयमभिप्रायः—क्षणिकस्याऽस्य देहस्य ध्वंसे सति पुरुषस्य मुक्तिः स्वयमेव सेत्स्यति किं पुंप्रयत्नेनेति न मन्तव्यम्, सञ्चितकर्माणि पुण्यपापलक्षणान्यनन्तानि विचित्राणि विचित्रफलकानि च यानि तान्येव 'नाऽभुक्तं क्षीयते कर्म' इति न्यायेनाऽस्मिन् देहे नष्टेऽपि स्थावरादिब्रह्मलोकपर्यन्तं तत्र तत्र पुरुषस्य शरीराणि संभावयन्ति। ततः पुंप्रयत्नं विना न मुक्तिः स्वतः सिद्ध्यतीति। ननु तत्कर्मफलानुभवान्ते देहाः स्वयमेव क्षीयन्ते ततः स्वयमेव मुक्तिः स्यादेवेत्याशङ्कायाम्, न; पुनः पुनः क्रियमाणकर्मभिर्वर्धन्त इति सूचयितुमाह—**गुणप्रवृद्धा इति**। गुणैः सत्त्वादिगुणविकारैः कामक्रोधलोभादिभिस्तत्कारणकैः पापपुण्यादिभिश्च प्रवृद्धाः प्रकर्षेण वृद्धिं प्राप्ताश्च भवन्ति। कामादिभिः कर्मादिभिश्चोपर्युपरि प्रवर्धन्त इत्यर्थः। उपर्युपरि प्रवृद्धेः कारणमाह—**विषयप्रवाला इति**। विषयाः शब्दादयो भोग्यपदार्थाः प्रवाला अङ्कुराः शाखाभ्य इव येभ्यः संभवन्ति ते विषयप्रवाला भवन्ति। शाखाः प्रवालानिव देहास्तत्र तत्र शब्दस्पर्शरूपरसादिभोग्यानिन्द्रिय-

---

उक्त लक्षणवाले संसारवृक्षकी शाखा एवं उपशाखाओंके स्थानपर पाप-पुण्यरूप कर्मोंके फलभूत देह अधः और ऊर्ध्व प्रसृत हैं। मनुष्यसे लेकर स्थावर तक अधःशब्दका अर्थ है। मनुष्योंसे लेकर ब्रह्मलोक तक ऊर्ध्वशब्दका अर्थ है। नीचे स्थावर तक और ऊपर ब्रह्मलोक तक भी [उक्त देह] फैली हुई हैं। सर्वत्र व्याप्त हैं, यह अर्थ है। इस वाक्यका यह अभिप्राय है—क्षणिक देहके नष्ट हो जानेपर पुरुषकी आप ही मुक्ति हो जायगी, फिर पुरुषके प्रयत्नसे क्या फल होगा ? ऐसा विचार नहीं करना चाहिए, क्योंकि अनन्त, विलक्षण तथा विचित्रफलवाले पुण्य-पापरूप जो संचित कर्म हैं, वे ही 'भोगके बिना कर्म क्षीण नहीं होता' इस न्यायसे इस देहके नष्ट होनेपर भी स्थावरसे लेकर ब्रह्मलोकपर्यन्त तत्-तत् स्थानोंमें पुरुषके शरीर उत्पन्न करते हैं। इसलिए पुरुषप्रयत्नके बिना स्वतः मुक्ति नहीं हो सकती। उन कर्मोंके फलके अनुभवके अन्तमें देह आप ही नष्ट हो जाती हैं, इसलिए स्वयं ही मुक्ति हो जायगी, ऐसी यदि शङ्का हो, तो वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि बार-बार किये गये कर्मोंसे शरीर बढ़ते रहते हैं, ऐसा सूचन करनेके लिए कहते हैं—**गुणप्रवृद्धा इति**। गुणोंसे—सत्त्व आदि गुणोंके विकार काम, क्रोध, लोभ आदिसे और उनके कार्य पाप और पुण्य आदिसे—प्रवृद्ध होते हैं यानी प्रकर्षसे वृद्धिको प्राप्त होते हैं। कामादि और कर्मादिसे उत्तरोत्तर बढ़ते रहते हैं, यह अर्थ है। उत्तरोत्तर बढ़नेमें कारण कहते हैं—**विषयप्रवाला इति**। जैसे शाखाओंसे अङ्कुर उत्पन्न होते हैं, वैसे ही जिनसे विषय—शब्दादि भोग्य पदार्थ—प्रवाल (अङ्कुर) उत्पन्न होते हैं, वे विषयप्रवाला हैं। शाखा जैसे अङ्कुरोंको उत्पन्न

संनिकर्षद्वारा संभावयन्तस्तेषु रागं द्वेषं कामं क्रोधं लोभं च समुद्भाव्य पुनःपुनः कर्माणि कारयन्तीत्यभिप्रायः। कामादीनां कर्मणां च सिद्धेः कारणमाह—**अधश्चेति**। कर्मानुबन्धीनि यानि काम्यनित्यनैमित्तिकप्रतिषिद्धानि नानाविधशरीरारम्भकाणि तान्येव कर्माण्यनुबध्नन्ति स्वोत्पत्तेरनन्तरमेव कारयन्तीति कर्मानुबन्धीनि। कामकर्मसमुत्पत्तेः कारणानि मूलानि पूर्वस्मादवान्तराणि संसारकारणानि विषयवासनाः कर्मवासना इति यावत्। अधोऽधश्च शरीरेषु चकारादूर्ध्वशरीरेषु लिङ्गाख्येष्वनुसन्ततानि प्राणिकर्मानुरूपेण सर्वतो व्याप्तानि भवन्ति। मनुष्यलोके प्राणिवर्गे सर्वत्र विषयेषु कामान् जनयन्त्यः कर्माणि कारयन्त्यो भोगवासना लिङ्गेषु सातत्येन तिष्ठन्ति, ततो वासनाः कामान् जनयन्ति, कामाः कर्माण्युच्चावचानि कारयन्ति, कर्माणि सर्वतः पुनः पुनः शरीराण्युत्पादयन्ति, एवं वासनाभिः कामादिभिः पुण्यपापादिकर्मभिश्च सर्वतः शरीरपरम्पराऽभिवर्धते न क्वचिदपि क्षीयते। ततः संसारवृक्षारूढानां विषयसुखाशापाशबद्धानां जननमरणदुःखप्रवाहपातं विना न कथञ्चित् न क्वचिन्न कदाचिदपि मोक्षः सिद्ध्यतीत्यर्थः। एतेन कर्मोपासनाफलेषु स्वर्गसत्यलोकवैकुण्ठादिषु तत्सुखेषु चाऽनित्यत्वबुद्ध्या असत्यत्वबुद्ध्या च मुमुक्षोर्वैराग्यसिद्धये मायोपहितब्रह्मणः सकाशादुत्पन्नस्य संसारवृक्षस्य स्कन्धशाखोपशाखात्वेन वर्णितानां महदादिमायाकार्यो-

---

करती हैं, वैसे ही तत्-तत् स्थानोंमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस, आदि भोग्य पदार्थोंको इन्द्रियोंके संनिकर्ष द्वारा उत्पन्न कर रहीं देह उनमें राग, द्वेष, काम, क्रोध और लोभका उद्भावन कर बार-बार कर्म कराती हैं, यह अभिप्राय है। काम आदिकी और कर्मोंकी सिद्धिका कारण कहते हैं—**अधश्चेति**। कर्मानुबन्धि (नाना शरीरोंका आरम्भ करनेवाले जितने काम्य, नित्य, नैमित्तिक और प्रतिषिद्ध कर्म हैं, वे ही कर्मोंको पीछे बांधते हैं यानी अपनी उत्पत्तिके पीछे ही कराते हैं, अतः वे कर्मानुबन्धी हैं) यानी काम और कर्मकी उत्पत्तिके कारण मूल (पूर्वकी अपेक्षा संसारके अवान्तर कारण) विषयवासना यानी कर्मवासना, यह अर्थ है। अधः—नीचे शरीरोंमें और ऊँचे—लिङ्ग-नामक शरीरोंमें—अनुसंतत—प्राणियोंके कर्मके अनुसार सर्वत्र व्याप्त—होते हैं। मनुष्यलोकमें—प्राणिवर्गमें सर्वत्र विषयोंमें कामनाओंको उत्पन्न कर रहीं, कर्मोंको कराती हुई भोगवासनाएँ लिङ्ग-शरीरोंमें निरन्तर स्थित रहती हैं। इसलिए वासनाएँ कामनाओंको उत्पन्न करती हैं और कामनाएँ ऊँच और नीच कर्म कराती हैं, कर्म सर्वत्र बार-बार शरीर उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार वासनाओंसे, कामादिसे और पुण्य, पाप आदि कर्मोंसे चारों ओर शरीरकी परम्पराएँ बढ़ती हैं, कहीं घटती नहीं हैं। इसलिए संसारवृक्षपर चढ़े हुए तथा विषयसुखरूप आशापाशमें बँधे हुए प्राणीको जन्ममरणरूप दुःखके प्रवाहमें गिरनेके सिवा किसी प्रकार, कहीं भी कभी भी मोक्ष प्राप्त नहीं होता, यह अर्थ है। इससे कर्म और उपासनाके फलभूत स्वर्ग, सत्यलोक एवं वैकुण्ठ आदिमें और उनके सुखोंमें अनित्यत्वबुद्धिसे तथा असत्यत्वबुद्धिसे मुमुक्षुके वैराग्यकी सिद्धिके लिए मायोपहित ब्रह्मसे उत्पन्न हुए संसारवृक्षमें स्कन्ध, शाखा और उपशाखारूपसे वर्णित मायाके कार्यभूत महद् आदि

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नाऽन्तो न चाऽऽदिर्न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥ ३ ॥

इस संसाररूपी वृक्षका जैसे मीमांसक आदिने नित्यत्व आदिरूपसे वर्णन किया है, वैसा विचार करनेपर उपलब्ध नहीं होता, उसका अन्त, आदि और मध्यमें अवस्थान भी उपलब्ध नहीं होता। वैराग्यरूपी दृढ़ शस्त्रसे जिसके मूल चारों ओरसे व्याप्त हैं, ऐसे इस संसाररूपी वृक्षका छेदन करके ॥ ३ ॥

पाधिकानां हिरण्यगर्भविराडादीनां गुणत्रयोपाधिकानां ब्रह्मविष्ण्वादीनामिन्द्रादीनां च मायिकत्वमनित्यत्वं सूचितम् । कर्मोपास्तितत्साधनतत्फलप्रतिपादकानां वेदवाक्यानां संसारवृक्षपर्णत्ववर्णनेन मुमुक्षोर्वटाश्वत्थपर्णवदुपेक्षणीयत्वं च सूचितं भवति ॥२॥

यद्यप्यधीतविदितसर्ववेदवेदार्थाः पुरुषाः पण्डिता अप्यविद्याकामपरतन्त्रा भूत्वा प्ररोचनोक्तिभिः संसारवृक्षफलेषु दृष्टेष्वदृष्टेषु च स्वर्गादिषु तत्सुखेषु च रम्यत्वबुद्ध्या नित्यत्वबुद्ध्या च मोहिताः सन्तश्चाऽन्यानुद्भ्रामयन्तः स्वयं च भ्रमन्ति । तथाप्यत्र यः शुद्धात्मा विचक्षणः सूक्ष्मबुद्धिर्मुमुक्षुर्भवति, तेन 'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते', 'श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्', 'श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः' इत्यादिश्रुतिभिः, 'इदं सर्वं मिथ्या, मायाकार्यत्वात्, इन्द्रजालवत्' इत्यादियुक्तिभिश्च सदसद्विचार्य तदुदितवैराग्यखड्गेन संसारवृक्षं छित्त्वा सर्वं संन्यस्य मोक्षाय यत्नः कर्तव्य इति बोधयति—**न रूपमिति** द्वाभ्याम् ।

उपाधिवाले हिरण्यगर्भ विराट् आदिमें, तीन गुणभूत उपाधिवाले ब्रह्मा, विष्णु आदि और इन्द्र आदिमें मायिकत्व एवं अनित्यत्वका सूचन किया । कर्म, उपासना, उनके साधन तथा उनके फलका प्रतिपादन करनेवाले वेदवाक्योंका संसारवृक्षके पत्तेरूपसे वर्णन करनेसे मुमुक्षुको उनकी वट और पीपलके पत्तेके समान उपेक्षा करनी चाहिए, ऐसा सूचित होता है ॥ २ ॥

यद्यपि सम्पूर्ण वेदोंको पढ़े हुए तथा वेदार्थको जाननेवाले पण्डित पुरुष भी अविद्या और कामके अधीन हो प्ररोचनवाक्योंसे संसारवृक्षके दृष्ट एवं अदृष्ट स्वर्ग आदि फलोंमें और उनके सुखोंमें रम्यत्व और नियतवबुद्धिसे मोहित होकर दूसरोंको भ्रममें डालते हुए आप भी भ्रममें पड़ते हैं, तथापि यहां जो शुद्ध मनवाला, चतुर एवं सूक्ष्मबुद्धि-युक्त मुमुक्षु है, उसको 'इस लोकमें जैसे कृषि आदि कर्मोंसे सम्पादित धान्य आदि लोक क्षीण हो जाता है', 'हे अन्तक, यह जो मनुष्यके कलतक रहनेवाले पदार्थ हैं', 'श्रेय और प्रेय दोनों मनुष्यको साधनरूपसे प्राप्त हुए हैं, धीर मनसे विचार कर दोनोंका विवेक करता है' इत्यादि श्रुतियोंसे तथा 'यह सब मिथ्या है, मायाका कार्य होनेसे, इन्द्रजालके समान' इत्यादि युक्तियोंसे सत् और असत्का विचार करके उससे उदित हुए वैराग्यरूप तलवारसे संसारवृक्षको काटकर यानी सम्पूर्णका त्याग कर मोक्षके लिए यत्न करना चाहिए, ऐसा बोधन करते हैं—'**न रूप०**' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

यद्यपि संसारवृक्षस्य पामरदृष्ट्योक्तरीत्या विशिष्टपर्णपुष्पफलादिमत्तया रमणीयत्वेनाऽऽश्रयणीयत्वं प्रतीयते तथापि पण्डितैः सूक्ष्मबुद्धिभिः इहाऽस्मिन्नर्थे सम्यग्विचार्यमाणे 'ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी' इति, 'स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्ते' इत्यादिप्ररोचनश्रुत्या यथारूपं स्वरूपं नित्यत्वेन सुखरूपत्वेन च वर्णितं भवति तथा तेन प्रकारेण नोपलभ्यते। ननु ध्रुवा द्यौरित्यन्तरिक्षादेर्नित्यत्वं श्रूयते कथं नित्यत्वं नोपलभ्यत इति चेद् वाक्यशेषेण ध्रुवेण हविषेति क्षणिकस्य हविषोऽपि ध्रुवत्वश्रवणात्तन्न्यायेनाऽन्तरिक्षादीनामपि ध्रुवत्वमौपचारिकमिति ज्ञापितं भवति। 'यत्सावयवं तदनित्यम्' इत्यादियुक्तिबलेन 'त्रयमप्येतत्सुषुप्तं स्वप्नं मायामात्रम्' इति, 'यथा स्वप्नप्रपञ्चोऽयम्' इत्यादिश्रुतिस्मृतिन्यायेन च संसारवृक्षस्य स्वप्नार्थवदनियतसत्ताकत्वात् ज्ञेयत्वाज्जन्मलयादिमत्त्वाच्चाऽस्य प्रत्यक्षेणोपलभ्यमानस्य नित्यत्वं सुखरूपत्वं चाऽप्रामाणिकमित्यर्थः। एतेन स्वर्गादेर्नित्यत्वं नित्यसुखत्वं च बुद्धिभ्रम इति सिद्धम्। ननु संसारवृक्षस्याऽनित्यत्वं दुःखरूपत्वमिति यदि निश्चयस्तर्हि तस्याऽभ्रच्छायावत्क्षणिकत्वात्किञ्चित्कालं दुःखं सोढ्वा तदपाये सुखं भोक्तुं शक्यत इत्याशङ्कायामाह—**नाऽन्त इति**। अस्य जननमरणदुःखप्रवाहसान्तत्येनाऽजस्रं वर्तमानस्याऽऽदिस्तत्प्रवृत्तेरादिमत्त्वं नोपलभ्यते अनादि-

---

यद्यपि पामरदृष्टिके अनुसार उक्त रीतिसे संसारवृक्ष विशिष्ट पत्र, पुष्प, फल आदिसे समन्वित होनेके कारण रमणीय होनेसे आश्रयणीय प्रतीत होता है, तथापि सूक्ष्मबुद्धिवाले पण्डितोंको यहां (इस अर्थमें) भलीभाँति विचार करनेपर 'स्वर्ग ध्रुव है, पृथिवी ध्रुव है' तथा 'स्वर्गलोकवाले अमृतत्वको भजते हैं' इत्यादि प्ररोचनश्रुतिसे जिस प्रकार स्वरूपका नित्यत्व और सुखरूपत्वसे वर्णन किया गया है, उस प्रकारका उपलब्ध नहीं होता। 'ध्रुव स्वर्ग है', इत्यादिसे अन्तरिक्ष आदिका नित्यत्व सुननेमें आता है, फिर कैसे नित्यत्व उपलब्ध नहीं होता, ऐसा कहते हो तो वह युक्त नहीं है क्योंकि 'ध्रुव हविसे' इस वाक्यशेषसे क्षणिक हविका भी ध्रुवत्व सुननेमें आता है। अतः उक्त न्यायसे अन्तरिक्ष आदिमें भी ध्रुवत्व औपचारिक है, ऐसा सूचित होता है। जो सावयव है, वह अनित्य है, इत्यादि युक्तिबलसे और 'तीनों ही यह सुषुप्त स्वप्न मायामात्र है', 'जैसे यह स्वप्न प्रपञ्च' इत्यादि श्रुति-स्मृति न्यायसे इस प्रत्यक्षतः उपलभ्यमान संसारवृक्षका स्वाप्निक अर्थके समान अनियत सत्तासे, ज्ञेयत्व और जन्म तथा लय आदिसे युक्त होनेके कारण नित्यत्व और सुखरूपत्व अप्रामाणिक है, यह अर्थ है। इससे यह सिद्ध हुआ कि स्वर्ग आदिमें नित्यत्व और नित्यसुखत्व केवल बुद्धिका भ्रम ही है। यदि संसार वृक्ष अनित्य और दुःखरूप है, ऐसा यदि निश्चय है, तो बादलकी छायाके समान क्षणिक होनेके कारण कुछ कालतक दुःख सहकर उसका नाश होनेपर सुख भोगा जा सकता है, ऐसी आशङ्का होनेपर कहते हैं—**नान्त** इत्यादि। इसका—निरन्तर जन्ममरणरूप दुःखप्रवाहसे सर्वदा वर्तमान संसारका आदि—उसकी प्रवृत्तिका आदिमत्त्व उपलब्ध नहीं होता, अविद्या और उसके कार्यकी प्रवृत्ति अनादि होनेसे, यह अर्थ है। और

त्वादविद्यातत्कार्यप्रवृत्तेरित्यर्थः । तत एव प्रतिष्ठा च—प्रतिष्ठा मध्ये स्थितिरपि नोपलभ्यते । अयमस्यादिरिदमस्य मध्यमिति ज्ञातुं न शक्यत इत्यर्थः । तथैवाऽन्तश्चाऽस्य पर्यवसानमपि नोपलभ्यते, इदमत्र समाप्तमिति समाप्तिरपि न विज्ञायत इत्यर्थः । ननु तर्हि मुमुक्षोः सदसद्विवेकिनः किं कर्तव्यमित्याकाङ्क्षायाम् 'श्वःकार्यमद्य कुर्वीत' इति न्यायेन सर्वं संन्यस्य मोक्षाय यतितव्यमिति बोधयितुमाह—**अश्वत्थमिति** । अनेकजन्मसमाराधितेश्वरप्रसादवता मुमुक्षुणा विपश्चिता असङ्गशस्त्रेण सज्जते विषयेषु पुमाननेनेति सङ्गो वैषयिको रागस्तदभावोऽसङ्गो विरागस्तीव्रमोक्षेच्छया सदसद्विवेकविज्ञानेन च समुत्पन्नं वैराग्यं तदेव शस्त्रं तेन दृढेन पुनःपुनर्विषयेषु दोषदर्शनेन विषयाणां बन्धकत्वबुद्धिजनितभयेन च तीव्रमोक्षेच्छया च मुहुर्मुहुः कृतविवेकबलेनाऽपि दृढतमोऽयं तेन दृढेनाऽसङ्गशस्त्रेण अश्वत्थं सुविरूढमूलं सुतरामेरण्डतैललेपेन तत्पात्रवत् सर्वतो विरूढानि विशिष्य व्याप्तानि मूलानि विविधविषयवासनाजालानि यस्य तं सुविरूढमूलं अनेककोटिब्रह्मकल्पनानुस्यूतनानाविधवासनापटलजटिलमश्वत्थं संसारवृक्षं मूलं छित्त्वा पुत्रादिसर्वैषणाभ्यो व्युत्थाय सर्वसंन्यासं कृत्वेत्यर्थः ॥ ३ ॥

इसीलिए प्रतिष्ठा—मध्यमें स्थिति भी प्रतीत नहीं होती । इसका यह आदि है, यह मध्य है, यह जाना नहीं जा सकता, यह अर्थ है । उसी प्रकार उसका अन्त पर्यवसान भी ज्ञात नहीं होता, यहां यह समाप्त हुआ, यों उसकी समाप्ति भी जाननेमें नहीं आती, यह अर्थ है । तब सत्य असत्यके विवेकी मुमुक्षुको क्या करना चाहिए, ऐसी आकाङ्क्षा होनेपर 'कलका कार्य आज करें, इस न्यायसे सबको छोड़कर मोक्षके लिए यत्न करना चाहिए, ऐसा बोधन करनेके लिए कहते हैं—**अश्वत्थमिति** । अनेक जन्मोंमें भलीभांति आराधित ईश्वरके प्रसादवाले विपश्चित् मुमुक्षुको असङ्ग शस्त्रसे—जिससे पुरुष विषयोंमें सक्त होता है, वह सङ्ग यानी विषयसम्बन्धी राग, उसका अभाव असङ्ग—विराग, तीव्र मोक्षकी इच्छासे तथा सत्य और असत्यके विवेकविज्ञानसे उत्पन्न हुआ वैराग्य ही शस्त्र है) इस प्रकारके दृढ शस्त्रसे—बारबार विषयोंमें दोषदर्शनसे और विषयोंको बन्धकत्व समझकर उत्पन्न हुए भयसे और तीव्र मोक्षकी इच्छासे बारबार किये गये विवेकके बलसे भी यह होता है दृढ़तम यह, उस दृढ़ असङ्ग शस्त्रसे सुविरूढ मूल (रेंडीके तेलके सुन्दर लेपसे जैसे उसका पात्र चारों ओरसे लिप्त हो जाता है, वैसे चारों ओरसे विरूढ—विशेष करके व्याप्त—है मूल यानी विविध वासनाजाल जिसके, वह सुविरूढ मूल है) यानी ब्रह्माके करोड़ों रूपोंसे अनुस्यूतरूपसे चली आ रही अनेक प्रकारकी वासनाओंके पटलसे जटिल अश्वत्थको यानी संसारवृक्षके मूलको काटकर पुत्रादि सम्पूर्ण एषणाओंसे रहित होकर सबका संन्यास करके, यह अर्थ है ॥ ३ ॥

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाऽऽद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ ४ ॥

संसारवृक्षका मूल कारण जो परब्रह्म है, उसका अन्वेषण करना चाहिए। जिसको प्राप्त होकर यति फिर इस संसारमें नहीं आते, जिससे संसारकी अनादि कालसे प्रवृत्ति हुई है और जो इस संसारवृक्षका बीज है, उस आदि पुरुषकी शरणमें मैं प्राप्त होता हूँ ॥ ४ ॥

एवं सदसद्विवेकसमुद्भूतवैराग्यतीव्रमोक्षेच्छावेगेन पराक्प्रवाहायमानमन्तःकरणं प्रत्यगभिमुखीकृत्य मोक्षैककामो यतिरात्मज्ञानैकतत्परो भवेदित्याह—**तत इति ।**

ततः 'संन्यस्य श्रवणं कुर्यात्' इति न्यायेन सद्गुरोः सन्निधौ पदं परतत्त्वं परिमार्गितव्यम् । श्रुतियुक्तिभिः सम्यग्विचारणीयमित्यर्थः । यद्वा षष्ठ्यर्थस्तसिः । ततस्तस्य संसारवृक्षस्य यत्पदं प्रवृत्तिमूलकारणं परं ब्रह्म तदेव परिमार्गितव्यम् । ब्रह्मवित्सन्निधौ सम्यग्विचार्य विज्ञातव्यमित्यर्थः । तज्ज्ञानस्य फलमाह—**यस्मिन्निति ।** परमेश्वराचार्यप्रसादसंपन्ना यतयो महात्मानः श्रवणमननादिसंजातविज्ञानेन यस्मिन्निर्विशेषे चिदेकरसे ब्रह्मणि गताः स्वात्मभावं गताः ब्रह्मतां प्राप्ताः सन्तो भूयः पुनः संसाराय न निवर्तन्ते । पुनः शरीरत्वाय न कल्पन्त इत्यर्थः । सदसद्विवेक-वैराग्याभ्यां मोक्षेच्छया च सर्वं संन्यस्य ज्ञानसिद्ध्यै श्रवणादि कुर्वतो यतेरेवं भवितव्यमित्याह—**तमेवेति ।** यतो यस्माज्जगज्जन्मादिहेतोरीश्वरात् पुराणी चिरन्तन्यनादि-

---

इस प्रकार सत् और असत्के विवेकसे उत्पन्न हुए वैराग्य और तीव्र मोक्षकी इच्छाके वेगसे बाह्य विषयोंमें बह रहे अन्तःकरणको प्रत्यगात्माकी ओर लगा कर केवल मोक्षकी ही कामनावाला यति आत्मज्ञानमें ही तत्पर हो, ऐसा कहते हैं—'ततः' इत्यादिसे ।

तदनन्तर 'संन्यास करके श्रवण करे' इस न्यायसे सद्गुरुके समीपमें परका—परतत्त्वका—अन्वेषण करना चाहिए । श्रुति और युक्तियोंसे भली भांति विचार करना चाहिए, यह अर्थ है । अथवा षष्ठीके अर्थमें 'तसि' प्रत्यय है । संसारवृक्षका जो पद—प्रवृत्तिका मूल कारण—परब्रह्म है, उसीको ढूँढ़ना चाहिए । ब्रह्मवित्की संनिधिमें भली भांति विचार कर जानना चाहिए, यह अर्थ है । उस ज्ञानका फल कहते हैं—**यस्मिन्निति ।** परमेश्वर और आचार्यके प्रसादसे संपन्न यति महात्मा श्रवण और मनन आदिसे उत्पन्न हुए विज्ञानसे जिस निर्विशेष, चिदेकरस ब्रह्ममें गत—स्वात्मभावको प्राप्त—यानी ब्रह्मभावको प्राप्त होकर भूयः—फिर—संसारके लिए नहीं लौटते । फिर शरीर धारण नहीं करते, यह अर्थ है । सत् और असत्के विवेक एवं वैराग्यसे तथा मोक्षकी इच्छासे सबका संन्यास कर ज्ञानकी सिद्धिके लिए श्रवण आदि करनेवाले यतिको ऐसा होना चाहिए, ऐसा कहते हैं—**तमेवेति ।** जिससे—जिस जगत्के

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ ५ ॥

मान और मोहसे रहित, बाहरके विषयोंमें आसक्तिसे रहित, आत्मज्ञानमें निरत, विषय-वासनाओंसे रहित, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंसे निर्मुक्त तथा अहम्, मम इत्यादि भेदप्रत्ययोंसे रहित अमूढ यति उस अविनाशी परम पदको प्राप्त होते हैं ॥ ५ ॥

कालीनेयं संसारवृक्षप्रवृत्तिः प्रसृता सर्वतः प्राणिनां प्रवृत्ता । ह्यर्थश्चकारः । योऽस्य संसारवृक्षस्य बीजभूतः पदशब्देनोक्तस्तमाद्यमादौ भवमाद्यं मायया सृष्ट्यर्थं सगुणभावं प्राप्तं भक्तवत्सलं पुरुषं परमेश्वरमेव हि शरणं प्रपद्ये । हिशब्दस्तत्परत्वावधारणदार्ढ्यार्थः । 'तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये' इति श्रवणात् संसारबन्धमोक्षाय परमेश्वरमेव हि शरणं गच्छामीतीश्वरैकशरणेन मुमुक्षुणा श्रवणादि कर्तव्यमित्यर्थः ॥ ४ ॥

एवमविद्याकामकर्मभिः संसारचक्रे भ्राम्यमाणानां ब्राह्मणानां मुमुक्षूणामीश्वरप्रसादसंप्राप्तसदसद्विवेकविज्ञानसंजाततीव्रवैराग्यसंन्यस्तसर्वकर्मतत्साधनानां श्रवणादिजन्यज्ञानेन जगत्कारणं निर्विशेषं परं ब्रह्म स्वात्मना ज्ञातव्यमित्युपदिश्य तेषामेव विज्ञातात्मस्वरूपाणां यतीनाम् 'स सर्वविद्भजति माम्' इति वक्ष्यमाणन्यायेन समुत्पन्नज्ञानस्य तत्फलसिद्धेश्च प्रतिबन्धायमानानात्मतद्धर्माध्यासरहितत्वाय सर्वदा ब्रह्मदृष्ट्यैवाऽवस्थातव्यमिति बोधयितुमेवंलक्षणसंपन्ना एव यतयो विदेहमुक्तिं गच्छन्तीत्याह—**निर्मानेति**।

जन्मादिके हेतु ईश्वरसे—पुराणी (चिरन्तनी) अनादिकालीन यह संसारवृक्षकी प्रवृत्ति प्रसृत हुई है यानी सर्वत्र प्राणियोंकी प्रवृत्ति हुई है । चकार हिके अर्थमें है। जो इस संसारवृक्षका बीजभूत पदशब्दसे कहा गया है, उस आद्यकी (आदिमें उत्पन्न आद्य है) यानी मायासे सृष्टिके लिए सगुणभावको प्राप्त हुए भक्तवत्सल पुरुष परमेश्वरकी ही शरण लेता हूँ । हि शब्द तत्परत्वके अवधारणकी दृढ़ताके लिए है । मैं मुमुक्षु 'आत्मबुद्धिके प्रकाशक उस परमात्माकी शरणमें जाता हूँ' इत्यर्थक श्रुतिसे संसारबन्धनसे छूटनेके लिए परमेश्वरकी शरण मैं जाता हूँ, इस प्रकार केवल ईश्वरकी शरण लेकर मुमुक्षुको श्रवण आदिकरना चाहिए, यह अर्थ है ॥ ४ ॥

इस प्रकार अविद्या, काम और कर्मसे संसारचक्रमें घूम रहे ब्राह्मण मुमुक्षुओंको, जिन्होंने ईश्वरके प्रसादसे प्राप्त सत् और असत्के विवेकविज्ञानसे जनित तीव्र वैराग्यसे सम्पूर्ण कर्म और उनके साधनोंका त्याग किया है, श्रवण आदिसे उत्पन्न हुए ज्ञानसे जगत्के कारण निर्विशेष परब्रह्मको अपने आत्मरूपसे जानना चाहिए, ऐसा उपदेश देकर उन्हीं आत्मस्वरूपको जाननेवाले यतियोंको 'वह सर्ववित् मुझको भजता है' इस वक्ष्यमाण न्यायसे उत्पन्न हुए ज्ञानकी और उसके फलकी सिद्धिके प्रतिबन्धक अनात्माके और उसके धर्मोंके अध्याससे रहित होनेके लिए सर्वदा ब्रह्मदृष्टिसे ही स्थित रहना चाहिए, ऐसा बोधन करनेके लिए इस प्रकार लक्षणोंसे संपन्न यति ही विदेहमुक्तिको प्राप्त होते हैं, ऐसा कहते हैं—'**निर्मान०**' इत्यादिसे ।

मानोऽभिमानो देहेन्द्रियादिष्वहमित्यभिनिवेशलक्षणोऽहङ्कारस्तत्कारणं मोहोऽज्ञानमावृत्तिलक्षणोऽनात्मन्यात्मधीहेतुस्तावुभौ मानमोहौ स्वरूपज्ञानेनाऽऽत्मन्येवाऽऽत्मभावापत्त्या च ताभ्यां मानमोहाभ्यां निर्गतास्ते निर्मानमोहाः श्रवणादिसमुत्पन्नेनाऽयमहमस्मीति विज्ञानेनाऽऽत्मन्येवाऽऽत्मत्वधीव्यवस्थया चाऽनात्मन्यहंभावशून्या इत्यर्थः। मानमोहयोर्वक्ष्यमाणाविद्याकामादेश्च निःशेषनिवृत्तौ कारणमाह—**अध्यात्मनित्या इति**। अध्यात्मम् आत्मज्ञानं सर्वत्र ब्रह्ममात्रदर्शनलक्षणं तत्रैव नित्या निरता आत्मारामा ये ते ह्यध्यात्मनित्याः। सर्वमिदमहं च ब्रह्मैवेति स्वस्मिन्सर्वत्र च ब्रह्मप्रत्ययदार्ढ्याय निरन्तरं ब्रह्मनिष्ठायामेव परिनिष्ठिता इत्यर्थः। तत एव विनिवृत्तकामाः काम्यन्ते विषया एभिरिति कामा वासनाः। वासनया खलु विषयान् कामयते ततो वासनानां कामत्वव्यपदेशः। निरन्तरं ब्रह्मनिष्ठयाऽन्तःकरणसकाशाद् विशिष्य निवृत्ताः कामा बाह्यवासना येषां ते विनिवृत्तकामाः। निरन्तरसमाधिनिष्ठानिर्दग्धाहमादिसर्ववासनाग्रन्थय इत्यर्थः। सर्ववासनानाशस्य फलमाह—**जितेति**। इन्द्रियाणां मनसश्च विषयैः संसर्गः सङ्गः स एव कामसङ्कल्पादिदोषहेतुत्वात् दोष इत्युच्यते। ध्यानश्रवणदर्शनादिभिश्चित्तस्येन्द्रियाणां च सति विषयसंसर्गे कामसङ्कल्पादयो दोषा जायन्ते। ततो

मान—अभिमान—यानी देह, इन्द्रिय आदिमें 'मैं' ऐसा अभिनिवेशरूप अहङ्कार, उसका कारण मोह—अज्ञान—है यानी आवरणरूप अनात्मामें आत्मबुद्धिका हेतु, [यों मान और मोहका स्वरूप है], स्वरूपके ज्ञानसे और आत्मामें ही आत्मभावकी प्राप्तिसे उन दोनों मान और मोहसे जो निकल गये हैं, वे निर्मानमोह हैं। श्रवण आदिसे उत्पन्न हुए 'यही मैं हूँ' इस प्रकारके विज्ञानसे और आत्मामें ही आत्मत्वबुद्धिकी व्यवस्थासे अनात्मामें अहंभाव रहित, यह अर्थ है। मान और मोहकी तथा वक्ष्यमाण अविद्या, काम आदिकी निःशेष निवृत्तिमें कारण कहते हैं—**अध्यात्मनित्या इति**। अध्यात्म यानी आत्मज्ञान—सर्वत्र ब्रह्मदर्शनरूप—, उसमें नित्य यानी रत जो आत्माराम हैं, वे ही अध्यात्मनित्य हैं। सब यह और मैं ब्रह्म ही हूँ, यों अपनेमें और सबमें ब्रह्मप्रत्ययको दृढ़ करनेके लिए निरन्तर ब्रह्मनिष्ठामें ही स्थिति रखनेवाले, यह अर्थ है। इसीलिए विनिवृत्तकाम (जिनसे विषयोंकी अभिलाषा होती है, वे काम हैं यानी वासना। वासनासे ही मनुष्य विषयोंको चाहता है, इसलिए वासनाओंका कामशब्दसे व्यपदेश होता है। निरन्तर ब्रह्मनिष्ठाके कारण अन्तःकरणसे विशेषतः निवृत्त हो गई हैं काम यानी बाह्य वासनाएँ जिनकी वे विनिवृत्तकाम हैं।) यानी निरन्तर समाधिनिष्ठासे जिनकी 'अहम्' आदि सम्पूर्ण वासनाग्रन्थियां जल गयी हैं ऐसे मनुष्य, यह अर्थ है। सम्पूर्ण वासनाओंके नाशका फल कहते हैं—**जितेति**। इन्द्रियोंका और मनका विषयोंसे जो संसर्ग है, वह सङ्ग है, वही काम, सङ्कल्प आदि दोषोंका हेतु होनेसे दोष कहलाता है। ध्यान, श्रवण, दर्शन आदिसे चित्तका और इन्द्रियोंका विषयोंसे संसर्ग होनेपर

भोक्तृभोगाद्यध्यासस्ततः प्रवृत्तिस्ततः प्रत्यग्दर्शनविच्छित्तिस्ततो 'ध्यायतो विषयान्पुंसः' इत्युक्तानर्थपरम्परापत्तिस्ततस्तदभावाय जितो वर्जितः सङ्गदोषो यैस्ते जितसङ्गदोषाः । बहिःप्रावण्यरहिता इत्यर्थः । यतो नित्यमध्यात्मनित्यास्तत एव निर्मानमोहास्तत एव विनिवृत्तकामास्तत एव जितसङ्गदोषास्तत एव सुखदुःखसंज्ञैः सुखमिति दुःखमिति संज्ञा संज्ञानं येभ्यो जायते तानि सुखदुःखसंज्ञानि शीतोष्णप्रियाप्रियशत्रुमित्रादीनि द्वन्द्वानि तैर्द्वन्द्वैः सुखदुःखसंज्ञैर्विमुक्ताः । गुणातीता इत्यर्थः । यत एवंलक्षणा अत एवाऽमूढा अहं ममेदमिति भेदप्रत्ययवन्तो मूढास्तद्विलक्षणास्त्वमूढा निःशेषनिवृत्ताविद्याः ब्राह्मणाः 'अमौनं च मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः' इत्युक्तलक्षणा यतयो ब्रह्मविदः । अव्ययं न केनाऽपि व्येति नश्यतीत्यव्ययम् , 'नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययम्' इति श्रुतेः । अव्ययमित्युक्त्या निर्विशेषब्रह्मव्यतिरिक्तानां व्ययः सूचितस्तेन मुमुक्षूणां निर्विशेषमेव परं ब्रह्म ज्ञातव्यं स्मर्तव्यं वक्तव्यमिति ज्ञापितं भवति । यत्सर्ववेदान्तप्रसिद्धं यत्प्राप्य मुक्ता न निवर्तन्ते तदव्ययं शाश्वतं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं सच्चिदानन्दैकरसमद्वितीयं पदं परं ब्रह्म गच्छन्ति । उपाधिविच्छित्त्याऽऽभासपरिच्छित्तिं परित्यज्य पूर्णत्वं गच्छन्तीत्यर्थः ॥ ५ ॥

काम, सङ्कल्प आदि दोष उत्पन्न होते हैं, उससे भोक्ता, भोग आदिका अध्यास होता है, तदनन्तर प्रवृत्ति होती है, तदनन्तर प्रत्यग्दर्शनका विनाश होता है, तदनन्तर 'ध्यायतो विषयान् पुंसः' इससे कहे गये अनर्थोंकी परम्पराकी प्राप्ति होती है, इसलिए इन अनर्थोंकी परम्परासे बचनेके लिए जीत लिया है—त्याग दिया—है सङ्गदोष जिन्होंने, वे जितसङ्गदोष हैं। बहिर्मुख वृत्तिसे रहित, यह अर्थ है। जिस कारणसे सदा आत्मज्ञानमें रत हैं, इसीलिए निर्मानमोह, इसीलिए विनिवृत्तकाम, इसीलिए जितसङ्गदोष, इसीलिए सुख-दुःखसंज्ञक (सुख और दुःख यों संज्ञा—ज्ञान—जिनसे उत्पन्न होती है, वे सुख-दुःखसंज्ञ हैं) शीत-उष्ण, प्रिय-अप्रिय, शत्रु-मित्र आदि द्वन्द्वोंसे छूटे हुए । गुणातीत, यह अर्थ है । जिस कारणसे इस प्रकारके लक्षणोंसे युक्त हैं, इसीलिए अमूढ (मैं मेरा, यह, इस प्रकारके भेदप्रत्ययवाले मूढ़ हैं, उनसे विलक्षण अमूढ़ हैं) यानी जिनकी अविद्याकी निःशेष निवृत्ति हो गई है, ऐसे ब्राह्मण, 'अमौन और मौनकी भी समाप्ति करके पीछे ब्राह्मण कृतार्थ होता है' इस श्रुतिसे उक्त लक्षणसे सम्पन्न ब्रह्मवित् यति अव्यय (किसीसे भी जिसका व्यय यानी नाश नहीं होता वह अव्यय है, क्योंकि 'नित्य, विभु, सर्वगत, बहुत ही सूक्ष्म, ऐसे अव्ययको' ऐसी श्रुति है । 'अव्यय' इस कथनसे निर्विशेष ब्रह्मके सिवा दूसरोंका व्यय सूचन किया, इससे मुमुक्षुओंको निर्विशेष परब्रह्मका परिज्ञान करना चाहिए, स्मरण करना चाहिए, कथन करना चाहिए, ऐसा बोधित होता है । जो सम्पूर्ण वेदान्तोंमें प्रसिद्ध है, जिसको प्राप्त होकर मुक्त फिर लौटते नहीं हैं, उस अव्यय) शाश्वत, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव सच्चिदानन्दैकरस अद्वितीय पदको (परब्रह्मको) प्राप्त होते हैं। उपाधिके विनाशसे आभासरूप परिच्छेदका (भेदका) त्यागकर पूर्णत्वको प्राप्त होते हैं, यह अर्थ है ॥ ५ ॥

न तद् भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ६ ॥

मुक्तों द्वारा प्राप्त होने योग्य उस स्वयंप्रकाशस्वरूप परब्रह्मको सूर्य, चन्द्र और अग्नि प्रकाशित नहीं कर सकते। जिसको (ब्रह्मको) पाकर यति निवृत्त नहीं होते, वह मेरा परम धाम है ॥ ६ ॥

ननु ब्रह्मविष्ण्वादिलोकप्राप्तानामिव निर्विशेषब्रह्मभावं प्राप्तानामपि पुनरावृत्तिः किं न स्यादित्याशङ्कायाम् 'न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तते' इति दहराद्युपासनं कृतवतः क्रमेण मुक्तिं गच्छतः सगुणोपासकस्यैव पुनरावृत्त्यभावः श्रूयते किमु वक्तव्यमुपाधिविलये साक्षान्निर्विशेषमेव परं ब्रह्म सच्चिदानन्दैकरसं स्वात्मभावेन प्राप्तवतां ब्रह्मविदां पुनरावृत्तिर्नास्तीतीममर्थं बोधयितुमर्थाद् ब्रह्मणः सूर्याद्यभास्यत्वं स्वयंज्योतिष्ट्वं तस्यैव निजस्वरूपत्वं च बोधयति—**न तदिति** ।

तत्पूर्वोक्तं मुक्तोपसृप्यं धाम परं ज्योतिःस्वरूपं पदशब्दार्थं परं ब्रह्म परमज्योतिष्ट्वात् सर्वप्रकाशनशक्तिसंपन्नः सहस्रांशुरपि सूर्यो न भासयते न प्रकाशयितुं शक्नोतीत्यर्थः, 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः' इति श्रुतेः । न शशाङ्कश्चन्द्रोऽपि भासयते । पावकोऽग्निरपि न भासयते । चक्षुरादीनां मनसश्च ब्रह्मानवभासकत्वे इदमुपलक्षणं न चक्षुरादीनामपि भास्यं ब्रह्मेत्यर्थः ।

यदि शङ्का हो कि ब्रह्मा, विष्णु आदिके लोकोंको प्राप्त हुए जीवोंके समान निर्विशेष पर ब्रह्मको प्राप्त हुए जीवोंकी भी पुनरावृत्ति होती है, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि 'वह फिर नहीं लौटता, वह फिर नहीं लौटता' इत्यर्थक श्रुतिसे दहर आदिकी उपासना कर क्रमसे मुक्तिको प्राप्त होनेवाले सगुण ब्रह्मके उपासक पुरुषकी ही जब पुनरावृत्तिका अभाव सुननेमें आता है, तब उपाधिका विलय होनेपर साक्षात् निर्विशेष सच्चिदानन्दैकरस परब्रह्मको स्वात्मरूपसे प्राप्त हुए ब्रह्मविद् यतियोंकी पुनरावृत्ति नहीं होती, इसमें तो कहना ही क्या है, इस अर्थका बोधन करनेके लिए ब्रह्म सूर्य आदिसे भास्य नहीं है, स्वयंज्योतिःस्वरूप है और वही अपना स्वरूप है, ऐसा अर्थतः बोधन करते हैं—**'न तद्'** इत्यादिसे ।

मुक्त पुरुषों द्वारा प्राप्त होने योग्य उस पूर्वोक्त धाम परमज्योतिःस्वरूप पदशब्दके अर्थ परब्रह्मका, परमज्योतिःस्वरूप होनेके कारण, सबको प्रकाश करनेकी शक्तिसे संपन्न हजार किरणोंवाला सूर्य भी प्रकाशन नहीं कर सकता। प्रकाश करनेके लिए समर्थ नहीं होता, यह अर्थ है, क्योंकि 'वहाँ न सूर्य भासता है, न चन्द्रमा और न तारे भासते हैं, न बिजली भासती है, कहांसे यह अग्नि' इत्यर्थक श्रुति है। 'शशाङ्क (चन्द्र) भी उसको प्रकाशित नहीं करता, पावक (अग्नि) भी प्रकाशित नहीं करता', यह चक्षु आदि और मन ब्रह्मके अवभासक नहीं हैं, इसमें उपलक्षण है। चक्षु आदिसे भी ब्रह्म भास्य नहीं है,

'न तत्र चक्षुर्गच्छति', 'न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैः' इति च श्रुतेः। एतेन बहिर्भौतिकस्य भास्करादेश्चक्षुरादेश्चाऽन्तर्बुद्ध्यादेश्चाऽभास्यत्वे ब्रह्मणस्त्वभौतिकत्वमतिसूक्ष्मतमत्वं सर्वान्तरत्वमन्यानवभास्यत्वं सर्वप्रकाशकत्वमदृश्यत्वमजडत्वमप्रमेयत्वं निरवयवत्वं निष्क्रियत्वं निर्विकारत्वं नित्यशुद्धत्वं च सिद्धम्। 'न सन्नासन्न सदसत्' इति, 'तस्मात्तमः संजायते' इति, 'सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरम्' इति, 'एष त आत्मा सर्वान्तरः' इति, 'न तत्र सूर्यो भाति' इति, 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इति, 'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः' इति, 'स्वप्रकाशानन्दघनम्' इति, 'अदृश्यमव्यवहार्यम्' इति, 'साक्षी चेता केवलः' इति, 'अप्रमेयं ध्रुवम्' इति, निष्कलं निष्क्रियम्' इति, 'चिद्रूप एवाविकारो ह्युपलब्धा' इति, 'नित्यं शुद्धं बुद्धं मुक्तं सत्यं सूक्ष्मं परिपूर्णमद्वयं सदानन्दचिन्मात्रम्' इत्यपि च श्रुतेः। एवं परमज्योतिषो ब्रह्मणः सूर्याद्यभास्यत्वेन अभौतिकत्वादिलक्षणसंपत्तिं सूचयित्वा यदुपक्रान्तं तत्प्रतिपादयति—**यद्गत्वेति**। निर्मानमोहत्वादिमुक्तलक्षणलक्षिता महात्मानो यतयो यदभौतिकत्वादिलक्षणं धाम परमज्योतिःस्वरूपं पदशब्दार्थं परं ब्रह्म गत्वा तद्भावं प्राप्य न निवर्तन्ते। पुनरहं ममेति संसाराय नाऽऽवर्तन्त इत्यर्थः। यदादित्यादीनामभास्यं यद्भावापन्नानामपुनरावृत्तिः यदपूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमखण्डानन्दैकरसमद्वितीयं तद्धाम परं ज्योतिर्मम विष्णोर्नैजं तत्त्वम-

---

यह अर्थ है। क्योंकि 'वहां नेत्र नहीं जाते', 'न चक्षुसे ग्रहण किया जाता है, न वाणीसे ही, न अन्य देवताओंसे' ऐसी श्रुतियां हैं। इससे बाह्य भौतिक भास्कर आदि तथा चक्षु आदिका और आन्तर बुद्धि आदिका भास्य न होनेके कारण ब्रह्म अभौतिक, अतिसूक्ष्मतम, सबका आन्तर, अन्यानवभास्य, सर्वप्रकाशक, अदृश्य, अजड़, अप्रमेय, निरवयव, निष्क्रिय, निर्विकार और नित्य शुद्ध है, यह सिद्ध हुआ। 'न सत्, न असत् और न सत्-असत्', 'इससे तम उत्पन्न होता है', 'सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर', 'यह तेरा आत्मा सबके भीतर', 'न वहां सूर्य भासता है', 'उसके प्रकाशसे यह सब भासता है', 'यहां यह पुरुष स्वयंज्योति', 'स्वप्रकाश आनन्दघन', 'अदृश्य अव्यवहार्य', 'साक्षी चेता केवल', 'अप्रमेय ध्रुव', 'निष्कल निष्क्रिय', 'चिद्रूप ही अविकार ही उपलब्धा' और 'नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य, सूक्ष्म, परिपूर्ण, अद्वय, सदानन्द, चिन्मात्र' इत्यादि श्रुतियां भी इस अर्थमें प्रमाण हैं। इस प्रकार परमज्योतिःस्वरूप ब्रह्मकी, सूर्य आदिसे भास्य न होनेके कारण, अभौतिकत्व आदि स्वरूपसंपत्तिका सूचन करके, जिसका उपक्रम किया था, उसका प्रतिपादन करते हैं—**यद्गत्वेति**। निर्मानमोहत्व आदि मुक्तके लक्षणोंसे लक्षित महात्मा यति जिस अभौतिकत्व आदि लक्षणवाले धाम परमज्योतिःस्वरूप, पदशब्दके अर्थ परब्रह्मको प्राप्त होकर (उसके भावको प्राप्त होकर) लौटते नहीं हैं। पुनः मैं, मेरा, यों संसारके लिए नहीं लौटते, यह अर्थ है। जो आदित्य आदिसे भासित नहीं होता, जिसके भावको प्राप्त हुए पुरुषोंकी पुनरावृत्ति नहीं होती, जो अपूर्व, अनपर, अनन्तर, अबाह्य अखण्डानन्दैकरस, अद्वितीय है,

मायिकं स्वरूपमित्यर्थः । ननु 'सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सत आगम्य न विदुः सत आगच्छामहे' इति सत्संपन्नानामपि पुनरावृत्तिः श्रूयते कथं 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते' इति सत्संपन्नानां पुनरावृत्त्यभावः प्रतिपाद्यत इति चेत्, सत्यम्; सत्संपन्नानामपि श्रुत्या यद्यपि सतः पुनरावृत्तिरुच्यते तथापि तत्र विशेषोऽस्ति स उच्यते । 'प्रयतो वाङ्मनसि संपद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्' इति विद्वदविदुषोरुभयोरपि सत्संपत्तौ समानायामप्यविद्याकामादिसंसारबीजविशिष्टस्त्वविद्वान् सत्संपद्याऽपि संसारहेतोरविद्यादेर्विद्यमानत्वात्तद्वेगेन सतः पुनरुत्क्रामति । तथा च श्रुतिः— 'तेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुषो वा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यस्तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति', 'सविज्ञानो भवति सविज्ञानमेवान्ववक्रामति तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च', 'अविद्यां गमयित्वान्यं नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते पित्र्यं वा गान्धर्वं वा दैवं वा प्राजापत्यं वा ब्राह्मं वान्येषां वा भूतानाम्' इति, 'तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य' इति, 'कामान् यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र' इति, 'पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन' इति, 'नाऽभुक्तं क्षीयते कर्म' इत्यादिस्मृतिश्च । ततोऽविद्याकामादिबलेन शेषकर्मानुभूत्यै अविद्याकामादिमन्तोऽनात्मज्ञाः सत्संपद्याऽपि

वह धाम—परज्योतिःस्वरूप मेरा (विष्णुका) अपना तत्त्व अमायिकस्वरूप है, यह अर्थ है । यदि शङ्का हो कि 'हे सौम्य, ये सम्पूर्ण प्रजा सत्से आकर नहीं जानतीं कि हम सत्से आई हैं' इससे सत्से संपन्नोंकी भी पुनरावृत्ति सुननेमें आती है, फिर कैसे 'जिसको प्राप्त होकर नहीं लौटते' इत्यादिसे सत्संपन्नोंकी पुनरावृत्ति नहीं होती, ऐसा प्रतिपादन किया जाता है, ऐसा यदि कहो, तो यह ठीक है, यद्यपि श्रुति सत्सपन्नोंकी भी पुनरावृत्ति कहती है, तथापि उसमें जो विशेष है, उसको हम कहते हैं—'मरनेवालेकी वाणी मनमें लीन हो जाती है और मन प्राणमें, प्राण तेजमें तथा तेज पर देवतामें लीन होता है' इससे विद्वान् और अविद्वान् दोनोंकी सत्संपत्ति समान होनेपर भी अविद्या, काम, कर्म आदि संसारके बीजसे विशिष्ट अविद्वान् तो सत्को प्राप्त होकर भी संसारके हेतु अविद्या आदिके विद्यमान होनेसे उनके वेगसे सत्से फिर उत्क्रमण करता है । जैसी कि श्रुति है—'इससे यह आत्मा निकलता है, चक्षुसे, मूर्धासे या अन्य शरीरके देशोंसे, निकल रहे उसके पीछे प्राण निकलता है, प्राणके निकलनेपर सब इन्द्रियां निकलती हैं, 'वह विज्ञान युक्त होता है, वह विज्ञानके साथ ही अनुक्रमण करता है, विद्या और कर्म उसके साथ जाते हैं और पूर्वप्रज्ञा भी', 'अविद्याको प्राप्त होकर अन्य नवीन कल्याणतर रूप करता है, पितरोंका, गन्धर्वोंका, देवताओंका, प्रजापतिका, ब्रह्माका या अन्य भूतोंका', 'जिसमें इसका मन निश्चय आसक्त होता है, आसक्त हुआ वह कर्मसहित उसको प्राप्त होता है', 'जो कामोंको श्रेष्ठ मानकर चाहता है, वह कामोंसे वहां वहां जन्मता है', 'पुण्य कर्मसे पुण्य होता है, पापसे पाप' और 'भोगे बिना कर्मका क्षय नहीं होता' इत्यादि स्मृतियां हैं । इससे अविद्या कामादिके बलसे शेष कर्मोंके अनुभवके लिए अविद्या कामादिवाले अनात्मज्ञ सत्को

पुनरावर्तन्ते यथा सुषुप्तेः 'न तथा ब्रह्मवित्तमो यतिरावर्तते। सदेकत्वविज्ञानाग्निना अविद्याकामादेर्निःशेषदाहादुपाधिविलये स्वस्वरूपमेव निर्विशेषं नित्यशुद्धं परं ब्रह्म प्राप्तवतो ब्रह्मविदः पुनर्व्युत्थानहेतोरभावाद् ब्रह्मात्मनाऽवस्थितिं विना पुनरुत्क्रमणं न संभवति तथा अविद्यादिमतः। तथा श्रुतिः—'गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति', 'योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामः', 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माऽप्येति', 'पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः' इति, 'यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' इति च कूटस्थत्वादात्मनो निर्गमागमायोगाच्च। यथा महाकाशस्यैव सतो घटाकाशस्य घटोपाधिना भिन्नवत् प्रतीयमानस्य घटनाशे स्वरूपेण महाकाशात्मनाऽवस्थितिं विना पुनरावृत्तिर्न संभवति, तथा ब्रह्मण एव सत आत्मनोऽप्यविद्योपाधिना भिन्नवत्प्रतीतस्योक्तरीत्या, अविद्यातत्कार्यविनाशे स्वरूपेण ब्रह्मात्मनावस्थितिं विना पुनरावृत्तिर्न संभवति। कूटस्थत्वात्क्रियाश्रयत्वानुपपत्तेर्यतस्ततः सम्यग्दर्शनेन ब्रह्मनिष्ठया चाऽविद्यादिविनाशादुपाधिविलये निर्विशेषनित्यशुद्धब्रह्मभावं गतानां महात्मनां नाऽस्ति पुनरावृत्तिरिति सिद्धम् ॥ ६ ॥

प्राप्त होकर भी फिर लौटते हैं, जैसे कि सुषुप्तिसे मनुष्य जागरणमें लौटते हैं वैसे ब्रह्मवित्तम यति नहीं लौटता है, क्योंकि सत्के एकत्वविज्ञानरूप अग्निसे अविद्या, काम आदिके जल जानेसे उपाधिका विलय हो जानेपर निर्विशेष नित्य शुद्ध स्वस्वरूप परब्रह्मको प्राप्त होनेवाले ब्रह्मवित्का, पुनः व्युत्थानके हेतुके अभावसे ब्रह्मस्वरूपसे स्थितिके सिवा, पुनः उत्क्रमण नहीं हो सकता जैसे कि अविद्या आदिवालेका होता है। श्रुति भी है—'गुहा ग्रन्थियोंसे विमुक्त अमृत होता है', 'जो अकाम, निष्काम, आप्तकाम, आत्मकाम', 'उसके प्राण नहीं निकलते, ब्रह्म ही होकर ब्रह्मको प्राप्त होता है', 'पर्याप्तकाम, कृतात्माके यहीं सम्पूर्ण काम लीन हो जाते हैं' इससे और 'जैसे नदियां बहती हुई नामरूपको छोड़कर समुद्रमें अस्त हो जाती हैं, उसी प्रकार विद्वान् नामरूपसे विमुक्त होकर परसे पर दिव्य पुरुषको प्राप्त होता है।' इससे कूटस्थ होनेसे आत्माका जाना और आना युक्त नहीं है। घटरूप उपाधिसे भिन्नके समान प्रतीत होनेवाले महाकाशस्वरूप ही घटाकाशकी घटके नष्ट होनेपर स्वरूपसे महाकाशभावसे-स्थितिके सिवा पुनरावृत्ति नहीं हो सकती, वैसे ही अविद्यारूप उपाधिसे भिन्नके समान प्रतीत होनेवाले सत् आत्मा ब्रह्मका भी उक्त रीतिसे अविद्या और उसके कार्यका नाश होनेपर स्वरूपसे—ब्रह्मात्मस्वरूपसे—स्थितिके सिवा पुनरावृत्ति नहीं हो सकती है। चूँकि वह कूटस्थ होनेसे क्रियाका आश्रय नहीं हो सकता, इसलिए सम्यक् दर्शनसे और ब्रह्मनिष्ठासे अविद्या आदिके नाशसे उपाधिका विलय होनेपर निर्विशेष नित्य शुद्ध, ब्रह्मभावको प्राप्त हुए महात्माओंकी पुनरावृत्ति नहीं होती, यह सिद्ध हुआ ॥ ६ ॥

मममैवांऽशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७ ॥
शरीरं यदवाप्नोति यच्चाऽप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाऽऽशयात् ॥ ८ ॥

हे अर्जुन, इस शरीरमें जीव मेरा ही एक अंश है, वह सनातन है और वह [भावी शरीरमें विषयोंके उपभोगके लिए] त्याज्य शरीरमें अवस्थित इन्द्रिय, प्राण और मनका आकर्षण करता है ॥ ७ ॥

हे अर्जुन, जब जीव प्राप्त देहसे निकलता है और अन्य शरीरका ग्रहण करता है, तब जैसे वायु उद्यान आदिसे फूलके गन्धको लेकर अन्य स्थानको जाता है, वैसे ही यह जीव मन, प्राण और इन्द्रियोंको लेकर अन्य शरीरमें जाता है ॥८॥

एवं संसारवृक्षस्वरूपं ज्ञात्वा विरक्तस्य सदसद्विवेकिनो मोक्षैककामनया संन्यस्तसर्वकर्मणो यतेः सद्गुरुप्रसादजन्यज्ञानेन ब्रह्मावाप्तिमपुनरावृत्तिं च प्रतिपाद्याऽधुना अकृतश्रवणानामेव यतीनामनात्मन्यात्मत्वभ्रमविशेषनिवृत्तये ब्रह्मण एवाऽविद्योपाधिवशाज्जीवत्वमिति बोधयितुं जीवस्य ब्रह्मांशत्वमात्मनो देहेन्द्रियादिव्यतिरिक्तत्वमविक्रियत्वमसंसारित्वं च प्रतिपादयति—**ममैवेति** त्रिभिः ।

ममैव निर्विशेषस्य चिदेकरस्य ब्रह्मणोंऽश इवांऽशोऽविद्यया कल्पितो भागः । जीवलोके संसारे । यद्वा जीवेन लोक्यत अनुभूयत इति जीवलोकः क्षेत्रं तत्र जीवभूतः नामरूपव्याकरणाय क्षेत्रज्ञतां गतः । प्रमाता भूत्वा तिष्ठतीत्यर्थः । ननु निर-

---

इस प्रकार संसारवृक्षके स्वरूपको जानकर सत् और असत्के विवेकी, विरक्त, मोक्षकी केवल कामनासे सम्पूर्ण कर्मोंका त्याग करनेवाले यतिकी सद्गुरुके प्रसादसे उत्पन्न हुए ज्ञानसे ब्रह्मप्राप्ति और अपुनरावृत्तिका प्रतिपादन करके अब जिन्होंने श्रवण नहीं किया है, ऐसे यतियोंके अनात्मामें आत्मत्वभ्रमविशेषकी निवृत्तिके लिए ब्रह्म ही अविद्यारूप उपाधिसे जीवभावको प्राप्त होता है, ऐसा बोधन करनेके लिए जीव ब्रह्मका अंश है, आत्मा देह, इन्द्रिय आदिसे भिन्न है, अविकारी है और असंसारी है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं—**'ममैव'** इत्यादि तीन श्लोकोंसे ।

मेरा—निर्विशेष चिदेकरस ब्रह्मका—ही अंशके समान एक अंश—अविद्यासे कल्पित भाग जीवलोकमें यानी संसारमें । अथवा जीवसे जो देखा जाता है—अनुभव किया जाता है—वह जीवलोक है यानी क्षेत्र, उसमें जीवभूत यानी नाम और रूपको प्रकट करनेके लिए क्षेत्रज्ञत्वको प्राप्त हुआ है । प्रमाता बनकर स्थित रहता है, यह अर्थ है । यदि शङ्का हो कि निरवयव निर्विशेष परब्रह्मका

वयवस्य निर्विशेषस्य परस्य ब्रह्मणोंऽशो जीव इत्यंशांशित्वकल्पना न युज्यते। सांशत्वे सावयवत्वमनित्यत्वं सद्वितीयत्वं च स्यात्। 'निष्कलं निष्क्रियम्' इति 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादिश्रुतिविरोधश्च स्यादिति चेत्, त्वमत्र प्रष्टव्यः—त्वया किं ब्रह्मणोऽन्यः कश्चिज्जीवोऽस्तीत्युच्यते, उत ब्रह्मण एव जीवत्वमुच्यते, किं वा जीव एव नाऽस्तीत्युच्यते। न तृतीयः, तवैवाऽहमस्मीति पुरो विद्यमानस्याऽभावप्रसङ्गात्। तदिष्टापत्तिरेवेति चेत्, न; प्रत्यक्षविरोधापत्तेः। आद्ये सचेतनो वा किमचेतनो वेति, न द्वितीयः। अहं ममेदमिति तवैव ज्ञानाभावप्रसङ्गात्, सुषुप्तिवत् सदा सर्वत्र व्यवहारलोपप्रसङ्गाच्च। नाऽद्यः; 'साक्षी चेता केवलः' इति ब्रह्मण एव चेतनत्वश्रवणात्तदतिरिक्तस्य चेतनत्वायोगात्। तर्हि ब्रह्मण एव जीवत्वमिति चेत्, न; सर्वस्याऽपि प्राणिमात्रस्य ब्रह्मैवाऽहमिति पूर्णत्वासंसारित्वज्ञानप्रसङ्गात्। संसाराभावप्रसङ्गाच्च। तथात्वे प्रत्यक्षादिसर्वप्रमाणविरोधप्रसङ्गात्। तर्ह्यविद्यया ब्रह्मण एव जीवत्वमिति चेत्, त्वमायुष्मान् भव। अयमेवाऽर्थो गत्यन्तरमपश्यता भगवताऽप्युच्यते—'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः' इति। ननु ब्रह्मण एवाऽस्त्वविद्यया जीवत्वं तथापि निरवयवस्यैकस्यैव ब्रह्मणः कथमंशांशिभाव उपपद्यत इति चेदविद्योपा-

---

अंश जीव है, यों ब्रह्ममें अंशांशिभावकी कल्पना करना युक्त नहीं है, क्योंकि अंश होनेपर ब्रह्म सावयव, अनित्य और सद्वितीय हो जायगा, तथा 'निष्कल निष्क्रिय' और 'एक ही अद्वितीय' इत्यादि श्रुतियोंसे विरोध होगा, तो इसमें तुमसे यह प्रश्न होगा कि तुम ब्रह्मसे अन्य कोई जीव है, ऐसा कहते हो अथवा ब्रह्म ही जीव है, ऐसा कहते हो अथवा जीव है ही नहीं, ऐसा कहते हो। तीसरा पक्ष तो युक्त है नहीं, क्योंकि तुम्हारे ही, जो मैं हूँ, यों मानकर आगे बैठे हो, अभावका प्रसङ्ग होगा। यदि कहो कि यह इष्टापत्ति है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षसे विरोध है। प्रथम पक्षमें वह जीव सचेतन है या अचेतन? दूसरा पक्ष तो युक्त है नहीं, क्योंकि मैं, मेरा, यह, यों तुम्हारे ही ज्ञानके अभावका प्रसङ्ग आवेगा और सुषुप्तिके समान सदा सर्वत्र व्यवहारके लोपका प्रसङ्ग होगा। प्रथम पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'साक्षी चेता केवल' इससे ब्रह्म ही चेतन सुननेमें आता है, उसके सिवा चेतन दूसरा है नहीं। यदि ब्रह्म ही जीव है, ऐसा कहो तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण प्राणीमात्रको 'ब्रह्म ही मैं हूँ' यों पूर्णत्व और असंसारित्वज्ञानका प्रसङ्ग होगा और संसारके अभावका प्रसङ्ग होगा। ऐसा होनेपर प्रत्यक्ष आदि सब प्रमाणोंके साथ भी विरोध हो जायगा। यदि इन सब दोषोंका निरास करनेके लिए अविद्यावश ब्रह्म ही जीव है, ऐसा कहो, तो तुम चिरंजीवी होओ, क्योंकि दूसरी गति न देखकर भगवान्ने भी यही अर्थ कहा है कि जीवलोकमें मेरा ही अंश जीव है। ब्रह्म ही अविद्यासे जीव हो, तो भी निरवयव एक ब्रह्मका अंशांशिभाव कैसे हो सकता है, ऐसा कहो, तो अविद्यारूप उपाधिसे वैसा हो सकता है, ऐसा हम कहते हैं। जैसे निरवयव एक ही

धितः संभवति, यथा निरवयवस्यैकस्यैव महाकाशस्य घटोपाधिवैशिष्ट्याद्घटाकाशत्वं कल्पयित्वा घटाकाशो महाकाशांश इत्येकस्यैव महाकाशस्यांऽशांशिभावः कल्पित उपपद्यते तद्वद् ब्रह्मणोऽप्येकस्याऽप्यविद्याप्रत्युपस्थापितबुद्ध्याद्युपाधिवैशिष्ट्यात्तदवच्छिन्नस्यांऽशत्वं कल्पयित्वा जीवो ब्रह्मांश इति ब्रह्मण एकस्यैवांशांशिभावः कल्पित उपपद्यते न तु वस्तुतोऽस्तीत्युच्यते। तथात्वे त्वदुदीरितो दोषः प्रसज्येत श्रुतिविरोधश्च स्यात्तदभावान्न काचिदप्यनुपपत्तिर्यतस्ततो ब्रह्मण एव उपाधिविशिष्टस्य जीव इति व्यपदेशः यथाऽग्नेरेव स्नेहाक्तवर्तियोगेन दीप इति व्यपदेशस्तद्वत्। नन्वसङ्गस्य ब्रह्मणः कथमुपाधिसम्बन्धः, कथं वा विकारित्वमिति चेत्, उच्यते। यथाऽसङ्गस्यैव शङ्खस्य नेत्रस्थपीतिम्ना संबन्ध आध्यासिकस्तेनैव पीतः शङ्ख इति पीतत्वं च सिध्यति, तद्वद् ब्रह्मणोऽप्युपाधिना संबन्ध आध्यासिकस्तेनैवाऽऽत्मा करोति भुङ्क्ते इति संसारित्वं च सिध्यत्यात्मन आध्यासिकं तन्न वास्तवम्, 'ध्यायतीव लेलायतीव' इति श्रवणात्। इममेवाऽऽध्यासिकं संसारमात्मनः प्रतिपादयति—प्रकृतिस्थानि कर्षतीति। श्लोकद्वयस्याऽप्यन्वयानुरूपेणैकमत्येनाऽर्थो वर्णनीयः। सनातनः ब्रह्मत्वात् सनातनो नित्यस्तत एवेश्वरः देहेन्द्रियादेः प्रवृत्तिहेतुत्वात्तत्स्वामी जीवः। चस्त्वर्थोऽपिर्वार्थः। यत्तु यदा तु वा उत्क्रामत्युपात्त-

---

महा आकाशकी घटरूप उपाधिसे विशिष्ट होनेपर, घटाकाशकी कल्पना कर घटाकाश महाकाशका अंश है, यों एक ही महाकाशका अंशांशिभाव होता है, वैसे ही एक ब्रह्मका भी अविद्यासे उत्थित बुद्धि आदि रूप उपाधिके सम्बन्धसे उससे अवच्छिन्न ब्रह्मके अंशकी कल्पना कर जीव ब्रह्मका अंश है, यों एक ही ब्रह्मका अंशांशिभाव कहा जा सकता है, वस्तुतः ऐसा नहीं कहा जा सकता। ऐसा होनेमें तुम्हारे द्वारा कहे गये दोषका प्रसङ्ग और श्रुतिसे भी विरोध होगा, उसके न होनेसे तो कोई अनुपपत्ति नहीं है, इसलिए उपाधिविशिष्ट ब्रह्मका ही जीव, ऐसा कथन है, जैसे अग्निका ही स्नेहयुक्त बत्तीके योगसे 'दीप' यह कथन है, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए। यदि शङ्का हो कि असङ्ग ब्रह्मका उपाधिसे संबन्ध और विकारित्व कैसे होगा, तो इसपर कहते हैं—जैसे असंग ही शङ्खका नेत्रमें स्थित पीलेपनसे आध्यासिक संबन्ध है और उसीसे पीला शङ्ख, यों शङ्खमें पीतत्व प्रतीत होता है, वैसे ही ब्रह्मका भी उपाधिसे आध्यासिक संबन्ध है और उससे आत्मा करता है, भोगता है, ऐसा आत्मामें आध्यासिक संसारित्व प्रतीत होता है, वह वास्तविक नहीं है, क्योंकि 'ध्यान करता हुआ-सा, गमन करता हुआ-सा' ऐसी श्रुति है। इसी आध्यासिक संसारका आत्मामें प्रतिपादन करते हैं—प्रकृतिस्थोंको खींचता है। दोनों श्लोकोंके अन्वयके अनुसार ऐकमत्यसे अर्थका वर्णन करना चाहिए। ब्रह्मरूप होनेसे सनातन यानी नित्य, इसीलिए ईश्वर—देह, इन्द्रिय आदिकी प्रवृत्तिका हेतु होनेसे, उनका स्वामी—जीव (चकार तुके अर्थमें है और अपिका वा अर्थ है)। जब कि आत्मा उत्क्रमण करता है यानी गृहीत देहसे निकलता

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥

कान, आँख, त्वचा जीभ, नाक, मन कर्मेन्द्रिय, बुद्धि और अहङ्कारको उपभोग-साधन बनाकर यह क्षेत्रज्ञ जीव शब्द आदि विषयोंका अनुभव करता है ॥ ९ ॥

देहान्निष्क्रामति तदा मनःषष्ठानि मनः षष्ठं येषां तानि मनःषष्ठानीन्द्रियाणि चक्षुरादीनि वागादीनि इन्द्रियाणीति प्राणानामप्युपलक्षणम् । प्राणांश्च प्रकृतिस्थानि त्याज्यदेहनिष्ठानि कर्षत्याकर्षति । प्राप्तव्यशरीरे विषयोपभोगार्थं गृह्णातीत्यर्थः । एतच्छरीरादन्यच्छरीरं यत् यदाऽवाप्नोति तदा वायुराशयात् पुष्पस्थानात् गन्धानिव कुसुमावयवानतिसूक्ष्मानिव एतानि मनःप्राणोभयेन्द्रियाणि गृहीत्वा संयाति शरीरान्तरं गच्छतीति द्वयोरर्थः ॥ ७ ॥ ८ ॥

इन्द्रियाणि संगृह्य शरीरान्तरं गत्वा तत्र किं करोतीत्याकाङ्क्षायामाह—**श्रोत्रमिति।**

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं त्वगिन्द्रियम् । चकारः समुच्चयार्थः । रसनं जिह्वां घ्राणमपि। एवोऽप्यर्थः । चकारात्कर्मेन्द्रियाण्यपि मनः षष्ठमन्तरिन्द्रियं चकाराद् बुद्धिमहङ्कारं चाऽधिष्ठायोपादाय भोगसाधनानि कृत्वा स्वयमयं जीवः क्षेत्रज्ञ आत्मा शरीरे वर्तमानः सन् विषयान् शब्दादीनुपसेवते उपलभते । 'एतस्मिन् बुद्धान्ते रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव

है, तब मन जिनमें छठा है, उन मन सहित छः इन्द्रियोंको—चक्षु आदि वागादि इन्द्रियोंको—(यह प्राणोंका भी उपलक्षण है), प्राणोंको, जो प्रकृतिस्थ यानी त्याज्य देहनिष्ठ हैं, खींचता है—आकर्षण करता है । प्राप्तव्य शरीरमें विषयोंके उपभोगके लिए ग्रहण करता है, यह अर्थ है । आत्मा इस शरीरसे अन्य शरीरको जब प्राप्त होता है, तब जैसे वायु आशयसे (पुष्पके स्थानसे) गन्धोंको (पुष्पके सूक्ष्म अवयवोंको) खींचता है, वैसे ही वह मन, प्राण और दोनों प्रकारकी इन्द्रियोंको ग्रहण करके जाता है—दूसरे शरीरको प्राप्त होता है, यह दोनों श्लोकोंका अर्थ है ॥ ७ ॥ ८ ॥

इन्द्रियोंको लेकर दूसरे शरीरमें जाकर वहां आत्मा क्या करता है ? ऐसी आकाङ्क्षा होनेपर कहते हैं—'श्रोत्रम्' इत्यादिसे ।

श्रोत्र, चक्षु, स्पर्शन यानी त्वगिन्द्रिय (चकार समुच्चयके अर्थमें है), रसन यानी जिह्वा और घ्राण भी । एवका अपि अर्थ है । चकारसे कर्मेन्द्रियां भी, छठा मन यानी भीतरकी इन्द्रिय, चकारसे बुद्धि और अहङ्कारका ग्रहण है—इन सबको भोगके साधन बनाकर स्वयं यह जीव क्षेत्रज्ञ आत्मा शरीरमें वर्तमान होकर शब्दादि विषयोंका सेवन करता है यानी अनुभव

पुण्यं च पापं च' इति श्रवणादिन्द्रियार्थसन्निकर्षात् समुत्पद्यमानां पुण्यपापक्रियामिन्द्रियाण्यर्थांश्च पश्यतीत्यर्थः । अत्र 'शरीरं यदवाप्नोति यच्चाऽप्युत्क्रामति' इति शरीरादुत्क्रमणतत्संक्रमणप्रतिपादनेनाऽऽत्मनो जीवस्य सूक्ष्मशरीरविशिष्टत्वं हेयोपादेयात् स्थूलाद्भिन्नत्वं च प्रतिपादितं मनःषष्ठानीन्द्रियाणि कर्षति गृहीत्वा संयातीत्युक्त्या ग्राह्यग्राहकयोर्भेदस्य प्रत्यक्षत्वाद् बुद्धिमात्रोपाधिमत्त्वमिन्द्रियेभ्यो मनसोऽपि भिन्नत्वं च प्रतिपादितम् । श्रोत्रं चक्षुरित्यादिना श्रोत्रादीन्द्रियाणि मनो बुद्धिं चोपादाय विषयानुपलभत इत्युक्त्या चोपलब्धुरुपादेयेभ्यश्चोपलब्धेभ्यश्च भिन्नत्वस्य प्रत्यक्षत्वादिन्द्रियेभ्य इन्द्रियार्थेभ्यो मनसो बुद्धेश्च भोगायतनाद्देहादपि च व्यतिरिक्तत्वमेव सम्यक्प्रतिपादितम् । एतेन 'चक्षुषः साक्षी श्रोत्रस्य साक्षी वाचः साक्षी मनसः साक्षी बुद्धेः साक्षी प्राणस्य साक्षी तमसः साक्षी सर्वस्य साक्षी ततोऽविक्रियः' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धमात्मनः सर्वसाक्षित्वमेवाऽविक्रियत्वं च सूचितं भवति ॥ ९ ॥

एवं देहेन्द्रियमनोबुद्ध्यादिभ्यो भिन्नमविक्रियमकर्तारमभोक्तारमेवाऽऽत्मानं स्वं सर्वसाक्षित्वेन स्थितं महात्मानो ब्रह्मविदः सर्वदा पश्यन्त्यब्रह्मविदो मूढा न पश्यन्तीत्याह—**उत्क्रामन्तमिति** ।

करता है। 'इस जागरितावस्थामें रमण करके गमन करके पुण्य और पापके फलको देखकर ही' इस श्रुतिसे इन्द्रियोंके और विषयोंके संनिकर्षसे उत्पन्न हुई पुण्य-पापरूप क्रियाको, इन्द्रियोंको और विषयोंको देखता है, यह अर्थ है। यहां 'जिस शरीरको प्राप्त करता है और जिसको छोड़ता है' इससे शरीरसे उत्क्रमण और उसके संक्रमणके प्रतिपादनसे आत्माका (जीवका) सूक्ष्म शरीरसे विशिष्ट होना और हेय तथा उपादेयरूप स्थूलसे भिन्न होना प्रतिपादन किया। मनके साथ छः इन्द्रियोंको खींचता है, ग्रहण करके जाता है, इस कथनसे ग्राह्य और ग्राहकका भेद प्रत्यक्ष होनेसे आत्मा केवल बुद्धिरूप उपाधिसे युक्त है और इन्द्रियोंसे तथा मनसे भी भिन्न है, ऐसा प्रतिपादन किया। श्रोत्र और चक्षु इत्यादिसे आत्मा श्रोत्रादि इन्द्रियें, मन और बुद्धिको ग्रहण करके विषयोंका अनुभव करता है, इस कथनसे उपलब्धा (आत्मा) उपादेयोंसे और उपलब्ध विषयोंसे भिन्न है, ऐसा प्रत्यक्ष होनेसे इन्द्रियोंसे, इन्द्रियोंके अर्थोंसे, मनसे और बुद्धिसे और भोगके आयतन देहसे भी भिन्न ही है, ऐसा भलीभांति प्रतिपादन किया। इससे चक्षुका साक्षी, श्रोत्रका साक्षी, वाणीका साक्षी, मनका साक्षी, बुद्धिका साक्षी, प्राणका साक्षी, अज्ञानका साक्षी, सबका साक्षी, इसलिए अविक्रिय इत्यादि श्रुतिप्रसिद्ध आत्मामें सर्वसाक्षित्व और अविक्रियत्व सूचित होता है ॥ ९ ॥

इस प्रकार देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदिसे भिन्न अविक्रिय, अकर्ता, अभोक्ता, सबके साक्षीरूपसे स्थित, स्वस्वरूप आत्माको महात्मा ब्रह्मवित् सर्वथा देखते हैं और अब्रह्मवित् मूढ नहीं देखते, ऐसा कहते हैं—'उत्क्रामन्तम्' इत्यादिसे ।

उत्क्रामन्तं स्थितं वाऽपि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नाऽनुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥ १० ॥

उपाधिका उत्क्रमण होनेपर यानी भिक्षा आदि कार्यके लिए शरीरादि उपाधिका गमन होनेपर जाता हुआ-सा, शरीरादिके स्थित होनेपर स्थित हुआ-सा, उपाधिके भोजन करनेपर भोजन करता हुआ-सा, उपाधिके गुणयुक्त होनेपर गुणयुक्त-सा प्रतीयमान होनेपर भी आत्माको ज्ञानरूपी चक्षुवाले यति वास्तवमें निष्कल तथा निष्क्रिय देखते हैं, परन्तु मूढ़ पुरुष वैसा नहीं देखते यानी वे आत्माको कर्ता, भोक्ता ही देखते हैं ॥ १० ॥

आद्यो वाशब्द इवार्थः । द्वितीयस्त्वप्यर्थः । उपाधावुत्क्रामति भिक्षादिकार्यमुद्दिश्य गच्छति सति 'ध्यायतीव लेलायतीव' इति न्यायेन स्वयमुत्क्रामन्तं गच्छन्तमिव प्रतीयमानं स्थिते सति स्थितमिव भुञ्जाने सत्यपि भुञ्जानमिव गुणान्विते गुणैः सत्त्वादिगुणविकारैः सुखदुःखकामक्रोधमोहभयादिभिरन्विते सति स्वयमपि गुणान्वितमिव प्रतीयमानं स्वभावेन निष्कलं निष्क्रयं निर्विकारं निर्विकल्पं चिदेकरसमानन्दघनमात्मानं स्वमविक्रियमेव ज्ञानचक्षुषः ज्ञानं प्रत्यग्भावापन्नशुद्धबुद्धिवृत्तिस्तदेव चक्षुः रूपादिग्रहणे चक्षुरिव स्वरूपग्रहणे येषां ते ज्ञानचक्षुषः शुद्धात्मानो यतयः पश्यन्ति । आहारादिषु सर्वेष्वपि कर्मसु सर्वदा स्वमत्मानं निष्कलं निष्क्रियं नित्यशुद्धं सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं परिपूर्णमेव पश्यन्तीत्यर्थः । विमूढाः दृष्टादृष्टविषयाशावशीभूतात्मानो दुर्विदग्धा बहिर्मुखाः सदसद्विवेकवैराग्यसंन्यासशमदमादि-

---

पहला 'वा' शब्द 'इव' के अर्थमें है और दूसरा 'वा' शब्द 'अपि' के अर्थमें है । शरीर आदि उपाधिके उत्क्रमण करने पर—भिक्षादि कार्यके उद्देश्यसे जानेपर—'ध्यान करता हुआ-सा, गमन करता हुआ-सा' इस न्यायसे स्वयं उत्क्रमण करते हुए—जाते हुए—के समान प्रतीयमान तथा उपाधिके स्थित होनेपर स्थितके समान, भोग करनेपर भोग करनेवालेके समान, गुणान्वित (गुणोंसे यानी सत्त्व आदि गुणोंके विकार सुख, दुःख, काम, क्रोध, मोह, भय आदिसे अन्वित, होनेपर स्वयं भी गुणोंसे अन्वितके समान प्रतीत होनेवाले, स्वभावसे निष्कल, निष्क्रिय, निर्विकार, निर्विकल्प, चिदेकरस, आनन्दघन स्वस्वरूप आत्माको अविक्रिय ही ज्ञानचक्षु (प्रत्यक् भावको प्राप्त शुद्ध बुद्धिवृत्ति ज्ञान है, वही रूपादिके ग्रहणमें चक्षुके समान स्वरूपके ग्रहणमें जिनका चक्षु है, वे ज्ञानचक्षु हैं) शुद्ध मनवाले यति देखते हैं । आहार आदि सब कर्मोंमें ही सर्वदा स्वस्वरूप आत्माको निष्कल, निष्क्रिय, नित्य शुद्ध, सम्पूर्ण उपाधिसे रहित परिपूर्ण ही देखते हैं, यह अर्थ है । विमूढ—दृष्ट और अदृष्ट विषयोंकी आशाके वशीभूत मनवाले, दुर्बुद्धि, बहिर्मुख, सत्यासत्यके

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥ ११ ॥

श्रवण, मनन आदिमें प्रयत्न कर रहे योगी बुद्धिमें स्थित यानी बुद्धि आदिके प्रकाशरूपसे अवस्थित आत्माको देखते हैं और दूसरे मेरे प्रसादसे विमुख आत्मज्ञानके लिए श्रवण आदिमें प्रयत्न करनेवाले विवेकशून्य मनुष्य, जिनका यज्ञानुष्ठानसे अन्तःकरण शुद्ध नहीं हुआ है, आत्मतत्त्वको नहीं जानते ॥ ११ ॥

साधनसंपत्त्या तीव्रमोक्षेच्छया च सद्गुरूपसत्त्या च सम्यक्संपादितविशेषज्ञानाभावादहमेवेदं सर्वमित्येतद्वाक्यार्थानुरूपमात्मानं न पश्यन्ति । किन्तु कर्ता भोक्ता सुखी दुःखी हतोऽहं म्रिये ममेदं नष्टमित्येवाऽऽत्मानं संसारिणं पश्यन्तीत्यर्थः ॥ १० ॥

ननु ये तु संसिद्धाः प्रबुद्धाः शुद्धात्मानस्त एवाऽऽत्मानं सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं केवलं पश्यन्ति न त्वन्ये इत्याशङ्कायाम्, न; ये तु मत्प्रसादसंपत्त्या यतयो योगनिष्ठा भवन्ति तेऽपि पश्यन्ति न त्वन्य एवंलक्षणा इत्याह—**यतन्त इति** ।

शास्त्राचार्यात्मेश्वरप्रसादसंपन्ना भूत्वा सदसद्विवेकतीव्रवैराग्यशमदमादिसाधनसंपत्त्या यतन्तः श्रवणमननादिभिर्ज्ञानसिद्ध्यै प्रयत्नवन्तः सन्तस्तेन लब्धज्ञाना ये यतयो योगिनो भवन्ति 'लक्ष्यैकतां समासाद्य निर्विकारतयाऽऽत्मनि । मनसो निश्चलत्वेन स्थितिर्योग इतीर्यते ॥' इत्युक्तलक्षणस्तीव्रमोक्षेच्छावैराग्याभ्यां बहिःप्रावण्यवैमुख्येन चित्तस्याऽऽत्मन्यविकारात्मना स्थितिरूपो योगो येषां ते योगिनः स्वात्मन्येवा-

---

विवेक, वैराग्य, संन्यास, शम, दम आदि साधनसंपत्तिसे, तीव्र मोक्षकी इच्छासे और सद्गुरुके समीप गमनसे सम्यक् संपादित विशेष ज्ञानके अभावसे मैं ही यह सब हूँ, इस वाक्यके अर्थके अनुसार आत्माको नहीं देखते, किन्तु कर्ता, भोक्ता, सुखी, दुःखी, मैं मारा गया, मैं मरता हूँ तथा मेरा यह नष्ट हो गया, इस प्रकार आत्माको संसारी देखते हैं, यह अर्थ है ॥ १० ॥

जो कि संसिद्ध, प्रबुद्ध, शुद्धमनवाले यति हैं, वे ही सम्पूर्ण उपाधियोंसे रहित केवल आत्माको देखते हैं, दूसरे नहीं, ऐसी शङ्का यदि हो, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि मेरे प्रसादरूप संपत्तिसे जो यति योगनिष्ठ होते हैं, वे भी देखते हैं, केवल उक्त लक्षणवाले ही नहीं, ऐसा कहते हैं—'यतन्तः' इति ।

शास्त्र, आचार्य, आत्मा और मेरे प्रसादसे संपन्न होकर सत्यासत्यविवेक, तीव्र वैराग्य, शम, दम आदि साधनोंकी संपत्तिसे यत्न कर रहे—श्रवण, मनन आदिसे ज्ञानकी सिद्धिके लिए प्रयत्न कर रहे—उससे ज्ञानको प्राप्त कर लेनेवाले जो यति—योगी—हैं 'लक्ष्यकी एकता प्राप्त करके निर्विकाररूपसे आत्मामें मनकी निश्चलरूपसे जो स्थिति है, वह योग कही जाती है' यों उक्त लक्षणवाले तीव्र मोक्षकी इच्छा और वैराग्यसे बाहरकी प्रवृत्तिसे रहित चित्तकी आत्मामें अविकार-

यदादित्यगतं तेजो जगद् भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥ १२ ॥

सूर्य, चन्द्र और अग्निमें बाहर और भीतर व्याप्त कर अवस्थित जो तेज समस्त जगत्का प्रकाशन करता है, वह तेज मेरा ही है अर्थात् सूर्य चन्द्र आदि मत्स्वरूप होनेके कारण उनमें ब्रह्मबुद्धि करनी चाहिए, यह भाव है ॥ १२ ॥

हितचित्ता भवन्ति । तेऽपि चाऽऽत्मनि बुद्धाववस्थितं बुद्ध्यादिप्रकाशकमात्मानं पश्यन्ति । अयमेवाऽहमिति स्वात्मना साक्षात्कृत्य स्वमकर्तारमभोक्तारमसंसारिणमेव पश्यन्तीत्यर्थः । मत्प्रसादरहिता ये तु यतन्तः श्रवणमननादिभिरात्मसाक्षात्कारसिद्धये बहुधा प्रयत्नं कुर्वन्तः शृण्वन्तः श्रावयन्तोऽप्यकृतात्मानः अकृतो बाह्यवासनाभिर्विषयकर्मशास्त्रादिगोचराभिरवशीकृतो बहिरेव प्रवाहायमान आत्मा चित्तं येषां ते अकृतात्मनः अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशविशिष्टास्तत एवाऽचेतसो विवेकशून्या बहिर्मुखा न पश्यन्ति । अयमेवाऽहमस्मीत्यात्मानं निर्विशेषं परं ब्रह्म स्वात्मत्वेन जानन्तीत्यर्थः ॥ ११ ॥

यस्माद्यत्नवतामप्यकृतात्मनां मत्प्रसादाभावादात्मसाक्षात्काराभावस्तस्मान्मुमुक्षोर्मत्प्रसादसिद्ध्यै मदुपास्तिरवश्यं कर्तव्या, सर्वत्र मद्बुध्या मदुपास्तिं कुर्वतां रागादिदोषा न भवन्ति, तेन चित्तप्रसादो ज्ञानं च सिध्यतीति स्वस्य सार्वात्म्यं प्रतिपादयति—**यदिति** चतुर्भिः ।

स्वरूपसे स्थितरूप योग जिनका है, वे योगी जो आत्मामें ही समाहित चित्तवाले होते हैं । वे भी आत्मामें—बुद्धिमें—अवस्थित बुद्धि आदिके प्रकाशक आत्माको देखते हैं, यही मैं हूँ, यों अपने स्वरूपसे साक्षात्कार किये गये आत्माको अकर्ता, अभोक्ता, असंसारी ही देखते हैं, यह अर्थ है । परन्तु जो मेरे प्रसादसे रहित यत्न करनेवाले श्रवण, मनन आदिसे आत्मसाक्षात्कारकी सिद्धिके लिए बहुत प्रकार प्रयत्न करते हुए सुनते-सुनाते हुए भी अकृतात्मा (अकृत—विषय कर्म शास्त्रादि विषयवाली बाहरकी वासनाओंसे अवशीभूत—बाहर ही फलता हुआ आत्मा—चित्त—जिनका है वे अकृतात्मा अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष अभिनिवेशसे विशिष्ट) इसीलिए अचेतस्—विवेकशून्य—बहिर्मुख नहीं देखते हैं । यही मैं हूँ, यों आत्माको—निर्विशेष परब्रह्मको—अपने आत्मस्वरूपसे नहीं जानते, यह अर्थ है ॥ ११ ॥

जिस कारणसे यत्न करनेवाले अकृतात्माओंको मेरे प्रसादके अभावसे आत्मसाक्षात्कारका अभाव है, इसलिए मुमुक्षुको मेरे प्रसादकी सिद्धिके लिए मेरी उपासना अवश्य करनी चाहिए, सर्वत्र मेरी बुद्धिसे मेरी उपासना करनेवालोंको राग आदि दोष नहीं होते, उससे चित्तका प्रसाद और ज्ञान सिद्ध होता है, ऐसा बोधन करनेके लिए अपने सार्वात्म्यका प्रतिपादन करते हैं—'**यदा**' इत्यादि चार श्लोकोंसे ।

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥ १३ ॥

मैं (परमात्मा ही) अपनी अपरिमित मायाशक्तिके बलसे पृथिवीमें प्रविष्ट होकर सम्पूर्ण स्थावर और जङ्गम भूतोंको धारण करता हूँ और रसस्वरूप चन्द्र बनकर सम्पूर्ण औषधियोंका पोषण करता हूँ ॥ १३ ॥

आदित्यगतं आदित्यस्य बहिरन्तश्च सर्वतो व्याप्य वर्तमानं यत्तेजोऽखिलं जगत् भासयते, तथा यच्चन्द्रमसि तेजः जगद्भासयते, तथा यदग्नौ तेजः जगद्भासयते तत्तेजो मामकं विद्धि । 'यदग्ने रोहितं रूपम्' इति न्यायेनाऽऽदित्यादीनां तेजोव्यतिरेकेण पृथक्स्वरूपाभावात्तेजोमात्रत्वमेवेति सिद्धम् । सूर्यचन्द्राग्न्यात्मकं तेजो मामकमित्यत्र राहोः शिर इतिवत् मच्छब्दतेजःशब्दार्थयोरेकत्वमेव । तेन सूर्यचन्द्रादयस्त्वहमेव मम विभूतित्वात्तत्र मद्बुद्धिः कर्तव्येति बोधितं भवति ॥ १२ ॥

किञ्च, **गामिति** । अहमीश्वर एवौजसाऽपरिमितमायाशक्तिबलेन गां भूमिं जलं स्वस्नेहसंभावितचिक्कणत्वबलेन भित्तिमिवाऽऽविश्य सर्वतो व्याप्य भूतानि स्थावरजङ्गमानि सर्वाणि धारयामि । यथा वायुः स्वशक्त्या मेघमण्डलं प्रविश्य जलानि धारयति तद्वदित्यर्थः । यद्यप्यतीन्द्रियत्वाद्वायुर्मेघमण्डले न दृश्यते तथापि योगिदृष्ट्या युक्त्या च विचार्यमाणे वायुव्यतिरेकेण मेघस्य पृथक्स्वरूपं न विद्यते, एवमयोग्न्यादौ व्याप्यस्य व्यापकेऽन्तर्भावदर्शनं च तद्वच्छक्तिद्वारा मद्व्याप्तया

आदित्यगत—आदित्यमें बाहर और भीतर सब ओरसे व्याप्त होकर वर्तमान—जो तेज संपूर्ण जगत्को प्रकाशित करता है, तथा चन्द्रगत जो तेज जगत्को प्रकाशित करता है, तथा अग्निगत जो तेज जगत्को प्रकाशित करता है, वह तेज मेरा है, ऐसा जानो; 'जो अग्निका लाल रूप है, वह तेजका है' इस न्यायसे आदित्य आदिका तेजके सिवा पृथक् स्वरूप न होनेसे वे तेजःस्वरूप ही हैं, यह सिद्ध हुआ । सूर्य, चन्द्र और अग्नि स्वरूप तेज मेरा है, इसमें राहुके सिरके समान 'मत्' शब्द और 'तेजस्' शब्द दोनोंका एक ही अर्थ है । इससे जाना जाता है कि सूर्य, चन्द्र आदि मैं ही हूँ, मेरी विभूति होनेसे उनमें मेरी बुद्धि करनी चाहिए ॥ १२ ॥

किञ्च, **'गाम्'** इत्यादि । मैं ईश्वर ही ओजसे—अपरिमित मायाशक्तिके बलसे—भूमिमें, जैसे जल अपने स्नेहसे उत्पन्न हुई चिकनाईके बलसे दीवारमें प्रविष्ट होकर उसको धारण करता है, वैसे ही प्रवेश करके—सर्वत्र व्याप्त होकर—स्थावर, जङ्गम सब भूतोंको धारण करता हूँ । जैसे वायु अपनी शक्तिसे मेघमण्डलमें प्रवेश करके जलको धारण करता है, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए, यह अर्थ है । यद्यपि इन्द्रियोंका विषय न होनेसे वायु मेघमण्डलमें दिखाई नहीं देता, तथापि योगीकी दृष्टिसे और युक्तिसे विचार करनेपर वायुके सिवा मेघका पृथक् स्वरूप नहीं है, इसी प्रकार लोहे, अग्नि आदिमें जैसे व्याप्यका व्यापकमें अन्तर्भाव देखा जाता है, वैसे ही

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ १४ ॥

मैं वैश्वानर (जठराग्नि) होकर प्राणियोंकी देहके भीतर प्रविष्ट होकर प्राण और अपानसे युक्त हो चार प्रकारके (भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य, यों चार प्रकारके अन्नका) पाचन करता हूँ ॥ १४ ॥

भूमेर्मद्व्यतिरेकेण पृथक्स्वरूपं न विद्यते । ततो भूम्यां सर्वत्र मद्बुद्धिः कर्तव्ये-त्यर्थः । रसात्मकोऽमृतरसात्मकः पयःस्वरूपो वा यः सोमः स एव भूत्वा चन्द्र-स्वरूपेण स्थितः सन्नहं व्रीहियवगोधूमाद्या वृक्षलतातृणगुल्माद्याश्च सर्वौषधीः पुष्णामि । पुष्टिमतीः करोमीत्यर्थः । एतेन चन्द्रोऽपि चन्द्रामृतरसपुष्टाः सर्वा ओष-धयोऽपि मम विभूतिस्तत्र मद्बुद्धिः कर्तव्येति सूचितं भवति ॥ १३ ॥

किञ्च, **अहमिति** । 'अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते' इति श्रुत्युक्तो यो जाठरोऽग्निः स एव भूत्वा अहं वैश्वानररूपेण प्राणिनां सर्वेषां देह-माश्रितः 'तस्य मध्ये महानग्निर्विश्वार्चिर्विश्वतो मुखः' इति, 'नाभ्यामुपरि तिष्ठति' इति च श्रवणात् प्राणिनामुदरे स्थित्वा प्राणापानसमायुक्तः प्राणापानाभ्यामुच्छ्वासनिश्वास-रूपाभ्यां पाकसहकारिभ्यां प्रज्वाल्यमानः सन् भक्ष्यभोज्यलेह्यचोष्यभेदेन चतुर्विधं प्राणिभिर्भुक्तमन्नं पचामि । यद्वा 'प्राणिनाम्' इति सामान्योक्त्या सर्वैरपि प्राणवद्भिर्भुज्य-

---

शक्तिके द्वारा मुझसे व्याप्त भूमिका मेरे सिवा पृथक् स्वरूप नहीं है । इसीलिए पृथिवीमें सर्वत्र मेरी बुद्धि करनी चाहिए, यह अर्थ है । रसात्मक—अमृतरसात्मक अथवा जलस्वरूप—सोम होकर यानी चन्द्रस्वरूपसे स्थित होकर मैं व्रीहि, यव, गोधूम आदि और वृक्ष, लता, तृण, गुल्म आदि सब औषधियोंको पुष्ट करता हूँ । पुष्टिसे सम्पन्न करता हूँ, यह अर्थ है । इससे सूचित होता है कि चन्द्र तथा चन्द्रामृतरससे पुष्ट सब औषधियां भी मेरी ही विभूतियाँ हैं, उनमें मेरी बुद्धि करनी चाहिए ॥ १३ ॥

किञ्च, **'अहम्'** इत्यादि । 'जो यह पुरुषके भीतर है और जिससे यह अन्न पच जाता है, यह अग्नि वैश्वानर' इस श्रुतिमें उक्त जो जाठर अग्नि है, तद्रूप होकर मैं वैश्वानररूपसे सब प्राणियोंकी देहमें आश्रित 'उसके मध्यमें विश्वार्चि, विश्वतो मुख, महान् अग्नि है' इससे और 'नाभिके ऊपर स्थित है' इस श्रुतिसे प्राणियोंके उदरमें स्थित होकर प्राण और अपानसे भलीभाँति युक्त होकर—पाकके सहकारी उच्छ्वास, निःश्वासरूप प्राण एवं अपानसे प्रज्वाल्यमान होकर—भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्यभेदसे प्राणियों द्वारा खाये गये चार प्रकारके अन्नोंको पचाता हूँ । अथवा 'प्राणिनाम्' यों सामान्यकथनसे सम्पूर्ण प्राणियोंके खाने योग्य अन्नको (जो खाया जाता है, वह

सर्वस्य चाऽहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाऽहम् ॥ १५ ॥

सम्पूर्ण प्राणियोंकी बुद्धिरूप गुहामें मैं परमात्मा ही क्षेत्रज्ञरूपसे प्रविष्ट होकर स्थित हूँ । मुझ परमेश्वरसे ही पूर्वानुभूत वस्तुकी स्मृति, ब्रह्मज्ञान और उन दोनोंका अभाव होता है । सम्पूर्ण वेदोंसे मैं ही वेद्य हूँ तथा मैं ही वेदान्तार्थका प्रवर्तक और सम्पूर्ण रहस्यको जाननेवाला हूँ ॥ १५ ॥

मानमन्नं अद्यत इत्यन्नं पार्थिवमाप्यं तैजसं वायव्यं चैवंरूपेण चतुर्विधं पचामि । मनुष्यादीनां पार्थिवम्, चातकादीनामाप्यम्, बालखिल्यादीनां तैजसम्, सर्पादीनां वायव्यम् एवंलक्षणं तत्तत्प्राणिजठरे स्थित्वा तैरशितमन्नं पक्कं करोमीत्यर्थः । एतेनाऽग्निस्वरूपेण मयाऽऽपादतलमस्तकं व्याप्तानां प्राणिनां मद्व्यतिरेकेण पृथक्स्वरूपाभावात्तेषु मया व्याप्तेषु प्राणिषु सर्वत्र मद्बुद्धिः कर्तव्येति सूचितं भवति ॥ १४ ॥

एवं जाठराग्निस्वरूपेणेश्वरेण व्याप्तानां सर्वप्राणिनामीश्वरविभूतित्वेनेश्वरमात्रत्वे सिद्धेऽपि भ्रमप्रमादाभ्यामप्ययं शिष्टोऽयं भ्रष्टोऽयं शूद्रोऽयं पुल्कस इति भेदबुद्धिरीश्वरोपासकैर्मुमुक्षुभिर्न कर्तव्येति तेषां सर्वत्र परमेश्वरत्वबुद्धिदार्ढ्याय पुनरपि सर्वेषां प्राणिनां स्वव्याप्त्या स्वमात्रत्वं स्वोपास्त्या शुद्धात्मनां ज्ञानं तद्विपरीतानामज्ञानं च मत्त एव सिद्ध्यतीति प्रतिपादयति—**सर्वस्येति** ।

'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः' इति, 'ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टः' इत्युक्त-

---

अन्न है) पार्थिव, आप्य, तैजस और वायव्यरूपसे चार प्रकारके अन्नको पचाता हूँ । मनुष्य आदिका पार्थिव, चातक आदिका आप्य, वालखिल्य आदिका तैजस और सर्प आदिका वायव्य अन्न है । इस प्रकारके प्राणियों द्वारा खाये गये अन्नको उन-उन प्राणियोंके जठरमें स्थित होकर मैं पचाता हूँ, यह अर्थ है । इससे यह सूचित होता है कि अग्निस्वरूप मुझसे पैरसे लेकर मस्तकतक व्याप्त प्राणियोंका मेरे सिवा पृथक् स्वरूप न होनेसे मुझसे व्याप्त उन उन प्राणियोंमें सर्वत्र मेरी बुद्धि करनी चाहिए ॥ १४ ॥

इस प्रकार जाठर अग्निस्वरूप ईश्वरसे व्याप्त सब प्राणी, ईश्वरकी विभूति होनेसे, ईश्वरस्वरूप हैं, ऐसा सिद्ध होनेपर भी भ्रम एवं प्रमादसे भी यह शिष्ट है, यह भ्रष्ट है, यह शूद्र है, यह पुल्कस है, ऐसी भेदबुद्धि ईश्वरके उपासक मुमुक्षुओंको नहीं करनी चाहिए, यों उनकी सर्वत्र परमेश्वरत्व-बुद्धिको दृढ़ करनेके लिए फिर भी सम्पूर्ण प्राणी मेरी व्याप्तिसे मत्स्वरूप हैं और अपनी उपासनासे शुद्ध मनवालोंको ज्ञान और उनसे विपरीतोंको अज्ञान मुझसे ही सिद्ध होता है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं—**'सर्वस्य०'** इत्यादिसे ।

'शरीरमें मेरा ही अंश जीव है', 'ईश्वर जीवरूप कलासे प्रविष्ट है' इस प्रकारकी उक्त

रीत्या सर्वस्य च ब्रह्मादिस्तम्बान्तस्य प्राणिजातस्य । चकारः सन्निवेशस्य सर्वसमत्वसूचनार्थः । हृदि बुद्धिगुहायामहं परमात्मा क्षेत्रज्ञरूपेण सन्निविष्टः सन्निहितो भूत्वा तिष्ठामि । अतः प्राणिवर्गः सर्वो ह्यहमेवेत्यर्थः । एतेन भेददृष्टेरनवकाश इति सूचितम् । एवं सर्वं परमेश्वर एवेति सर्वत्र तद्बुद्ध्या परमेश्वरोपासितं कुर्वतां तामकुर्वतां च फलमाह—**मत्त इति** । मत्तः परमेश्वरादेव मदुपास्त्या शुद्धात्मनां शास्त्राचार्यानुग्रहात्स्मृतिः, 'स आत्मा तत्त्वमसि' इति श्रीगुरुभिर्यो निर्विशेषस्त्रिविधपरिच्छेदशून्य आत्मा त्वमिति बोधितः स एवाहमिति तस्मिन्नेवाऽऽत्मनि स्वात्मत्वस्मृतिः, सर्वमिदमहं च ब्रह्मैवेति सर्वस्य स्वस्य च ब्रह्ममात्रत्वज्ञानं च भवति । मदुपास्तिविहीनानां मलिनबुद्धीनां रागादिदोषदुष्टानां मत्त एवेश्वरात्तदपोहनं तयोः स्मृतिज्ञानयोरपोहनमसंभवश्च भवति । किंच वेदान्तकृत् 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' इति श्रवणाद् ब्रह्मणे वेदान्तानुग्रहकर्ताऽहमेव । यद्वा लोके शिष्येभ्य आचार्यरूपेण वेदान्तार्थप्रकाशनकर्ताऽहमेव । वेदवित् वेदार्थं ब्रह्म निर्विशेषं मदनुग्रहाद्गुर्वनुग्रहाच्च यः स्वात्मना वेत्ति स वेदवित् ब्रह्मवेत्ताऽहमेव । सर्वस्य चाऽहं हृदि सन्निविष्ट इति सर्वस्य प्राणिमात्रस्याऽऽत्मव्याप्त्या स्वमात्रत्वे सिद्धे वेदान्त-

---

रीतिसे ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त सभी प्राणियोंके (संनिवेश सबमें समान है, यह सूचन करनेके लिए चकार है ।) हृदयमें—बुद्धिगुहामें—मैं परमात्मा क्षेत्रज्ञरूपसे संनिविष्ट—संनिहित होकर—स्थित हूँ । इसलिए सम्पूर्ण प्राणिवर्ग मैं ही हूँ, यह अर्थ है । इससे यह सूचित किया कि भेददृष्टिका अवकाश नहीं है । इस प्रकार सब परमेश्वररूप ही हैं, यों सर्वत्र ईश्वरबुद्धिसे परमेश्वरकी उपासना करनेवाले मनुष्योंका और न करनेवाले मनुष्योंका फल कहते हैं—**मत्त इति**। मुझसे—परमेश्वरसे ही मेरी उपासनासे शुद्ध मनवालोंको शास्त्र और आचार्यके अनुग्रहसे स्मृति—'वह आत्मा', 'वह तू है', इस प्रकार श्रीगुरुओंने जो निर्विशेष तीन प्रकारके परिच्छेदसे शून्य आत्मा तुम हो, यों आत्मस्वरूपका बोध कराया था, वही मैं हूँ, यों उस आत्मामें ही स्वात्मस्मृति होती है, और सब यह और मैं ब्रह्म ही हूँ, ऐसा सबका और अपना ब्रह्ममात्रत्वज्ञान होता है । मेरी उपासनासे विहीन, मलिन बुद्धिवाले, राग आदि दोषोंसे दूषित पुरुषोंको मुझसे ही—ईश्वरसे ही—अपोहन—उन दोनोंका (स्मृति और ज्ञानका) अपोहन और असंभव होता है । किञ्च, वेदान्तकृत् 'जो ब्रह्माका पहले सर्जन करता है और जो उसे वेदोंको देता है' इस श्रुतिसे ब्रह्माके ऊपर वेदान्तरूप अनुग्रह करनेवाला यानी ब्रह्मविद्याका उपदेशक मैं हूँ । अथवा लोकमें शिष्योंके लिए आचार्यरूपसे वेदान्तके अर्थका प्रकाश करनेवाला मैं ही हूँ । वेदवित्—वेदके अर्थ निर्विशेष ब्रह्मको मेरे अनुग्रहसे और गुरुके अनुग्रहसे जो अपने आत्मरूपसे जानता है, वह वेदवित्—ब्रह्मवेत्ता मैं ही हूँ । 'सबके हृदयमें मैं संनिविष्ट हूँ' इससे सम्पूर्ण प्राणी आत्मव्याप्तिसे स्वस्वरूप हैं, ऐसा सिद्ध होनेपर भी 'वेदान्तकृत् और वेदवित् मैं ही हूँ' यह विशेष कथन मूढ़ोंको और

कृद्वेदविदेव चाहमिति विशेषोक्तिर्मूढानाममूढानां च वेदान्तोपदेष्टरि गुरौ च ब्रह्मविद्यपि च परमेश्वरत्वबुद्धिरवश्यं कर्तव्येति बोधनार्था। 'यदादित्यगतं तेजः' इत्यादिना मुमुक्षूपासनार्थं स्वविभूतौ प्रतिपादितायां सत्यामिदमेव परमेश्वरस्य पारमार्थिकं रूपमिति प्राप्ते स्वयाथात्म्यं बोधयितुमाह—**वेदैरिति**। 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इति न्यायेन सर्वैर्ऋगादिभिर्वेदैर्वेदान्तैर्वेद्यः 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म', 'आनन्दो ब्रह्म', 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वं', 'अस्थूलमनण्वह्रस्वमप्राणममुखमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमचक्षुष्कमनाममगोत्रं', 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं', 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं', 'नित्यं शुद्धं बुद्धं मुक्तं सत्यं सूक्ष्मं परिपूर्णमद्वयं सदानन्दचिन्मात्रं शान्तं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः', 'तत्त्वमसि' इत्यादिभिर्ज्ञातव्यो यो निर्विशेषनित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः सच्चिदानन्दैकरसोऽद्वितीयः परमात्मा स एवाऽहं परमार्थतो नैवैष उक्तलक्षणो मायोपाधिक इत्यर्थः ॥ १५ ॥

विचक्षणानां युक्तिकुशलानां सूक्ष्मबुद्धीनामेव मुमुक्षूणां शुद्धात्मनां विवेकवैराग्यसिद्धये संसारं वृक्षत्वेन वर्णयित्वा, तदारूढानामविवेकिनामविरक्तानां मूढानां पतनं विना न कदापि च मोक्षफलं सिध्यतीत्यतो विवेकोत्थितवैराग्यखड्गेनैनं वृक्षं छित्वा, सदसद्विविच्य परं तत्त्वं ज्ञातव्यमिति तज्ज्ञाने प्रवृत्तिसिद्धये ब्रह्मविदां ब्रह्म-

---

अमूढोंको वेदान्तके उपदेशक गुरुमें और ब्रह्मवित्में भी परमेश्वरत्वबुद्धि अवश्य करनी चाहिए, ऐसा बोधन करनेके लिए है। 'जो आदित्यगत तेज' इत्यादिसे मुमुक्षुकी उपासनाके लिए ईश्वरकी विभूतिका प्रतिपादन करनेपर, वही परमेश्वरका पारमार्थिक रूप है, ऐसा प्राप्त हो जाता है, अतः ईश्वरका याथात्म्य बोधन करनेके लिए कहते हैं—**वेदैरिति**। 'सब वेद जिस पदको कहते हैं' इस न्यायसे सम्पूर्ण ऋगादि वेदोंसे यानी वेदान्तोंसे वेद्य 'सत्य, ज्ञान, अनन्त ब्रह्म', 'विज्ञान आनन्द ब्रह्म', 'आनन्द ब्रह्म', 'वह यह ब्रह्म अपूर्व', 'स्थूल नहीं, सूक्ष्म नहीं, ह्रस्व नहीं, प्राणरहित', मुखरहित, श्रोत्ररहित, वाणीरहित, मनरहित, तेजरहित, चक्षुरहित, नामरहित, गोत्ररहित', 'अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय', 'निष्कल, निष्क्रिय, शान्त', 'नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य, सूक्ष्म, परिपूर्ण, अद्वय, सदानन्द, चिन्मात्र, शान्त, चतुर्थ मानते हैं, वह आत्मा है, उसे जानना चाहिए', 'वही तुम हो' इत्यादिसे जानने योग्य जो निर्विशेष, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव सच्चिदानन्दैकरस अद्वितीय परमात्मा है, वही मैं हूँ, परमार्थरूपसे यह उक्त लक्षणवाला मायोपाधिक मैं नहीं हूँ, यह अर्थ है ॥ १५ ॥

शुद्ध मनवाले, सूक्ष्मबुद्धिसम्पन्न युक्तिकुशल विचक्षण मुमुक्षुओंके विवेक और वैराग्यकी सिद्धिके लिए संसारका वृक्षरूपसे वर्णन करके, इसपर चढ़े हुए अविवेकी अविरक्त मूढ़ोंका पतनके सिवा कभी भी मोक्षरूप फल सिद्ध नहीं होता, इसलिए विवेकसे उत्पन्न हुए वैराग्यरूप खड्गसे इस वृक्षको काटकर सत्यासत्यका विवेक करके परम तत्त्वको जानना चाहिए, यों उसके ज्ञानमें प्रवृत्ति सिद्ध करनेके लिए ब्रह्मविदोंकी ब्रह्मप्राप्ति, ब्रह्मप्राप्तिके साधन और उसके फलका निरूपण करके

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाऽक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ १६ ॥

संसारमें क्षर और अक्षर नामक दो ही पुरुष हैं, सम्पूर्ण भूत क्षर और कूटस्थ अक्षर कहलाता है ॥ १६ ॥

प्राप्तिं तत्प्राप्तिसाधनं तत्फलं च निरूप्याऽधुना तेषां ज्ञातव्यस्य ब्रह्मणः स्वरूपमतन्निरासपूर्वकं बोधयति त्रिभिः । तत्राऽऽद्येन परस्य ब्रह्मणः पुरुषोत्तमाख्यस्य यदपेक्ष्य पुरुषोत्तमत्वं तौ पुरुषौ प्रकृतितत्कार्यलक्षणावुपाधी निर्दिशति । यदपवादेन ब्रह्मणोऽसंसारित्वं निर्विशेषत्वं शुद्धत्वं नित्यमुक्तत्वमद्वितीयत्वं च सिध्यति तदाह—**द्वाविमाविति ।**

क्षरश्च—चकारः समुच्चयार्थः । क्षरः स्वकाले क्षरति नश्यतीति क्षरः नश्वरो महदादिस्थूलान्तः संसारलक्षणः कार्यवर्गः सर्वोऽपि एकः पुरुषः । अक्षरश्च—चः समुच्चयार्थः । पुरुषो द्वितीयः क्षरो यथा स्वकाले क्षरति तथा अयं न क्षरतीत्यक्षरः परमात्मविज्ञानेन विना न विनश्यति । मूलप्रकृतिः संसारकारणलक्षणः पुरुषः । पुरुषस्याऽऽत्मन उपाधित्वेन द्वयोरपि क्षराक्षरयोः पुरुषत्वम्, न तु वस्तुतः; परिच्छिन्नत्वादनित्यत्वादसत्त्वाच्च । एवकारोऽत्राऽनुसन्धातव्यः, अर्थानुसारित्वात् पदविनियोगस्य । ताविमौ क्षराक्षरौ द्वावेव पुरुषौ लोके संसारे पुरुषस्याऽऽत्मनः संसारित्वसिद्धये क्षराक्षरौ द्वावेव पुरुषौ पुरुषोपाधी नान्यस्ततः कश्चिदित्येवकारस्यार्थः । कौ तौ

अब उनको ज्ञातव्य ब्रह्मके स्वरूपका अतत्के निरसन द्वारा तीन श्लोकोंसे बोधन करते हैं । उसमें पहलेसे पुरुषोत्तमनामक परब्रह्मका जिनकी अपेक्षासे पुरुषोत्तमत्व है, उन दोनों पुरुषोंका—प्रकृति और उसके कार्यरूप दोनों उपाधियोंका—निर्देश करते हैं । जिसके अपवादसे ब्रह्मका असंसारित्व निर्विशेषत्व, शुद्धत्व, नित्यमुक्तत्व और अद्वितीयत्व सिद्ध होता है, उसको कहते हैं—**'द्वाविमौ'** इत्यादिसे ।

'क्षरश्च' में चकार समुच्चयके अर्थमें है। क्षर (स्वकालमें जो क्षर होता है यानी नष्ट होता है, क्षर है) यानी नश्वर, संसाररूप महत्से लेकर स्थूलतक सम्पूर्ण कार्यवर्ग एक पुरुष है। 'अक्षरश्च' में चकार समुच्चयके अर्थमें है । द्वितीय पुरुष (क्षर जैसे अपने कालमें नष्ट हो जाता है, वैसा जो नष्ट नहीं होता, वह अक्षर परमात्माके विज्ञानके विना नष्ट नहीं होता। मूल प्रकृति संसारकारणलक्षणवाला पुरुष । पुरुषका—आत्माका—उपाधि होनेसे क्षर और अक्षर दोनोंमें ही पुरुषत्व है, पर वास्तविक पुरुषत्व नहीं है, क्योंकि वह परिच्छिन्न, अनित्य और असत् है । यहां एवकार लगाना चाहिए, क्योंकि पदका विनियोग अर्थके अनुसार होता है । वे ये क्षर और अक्षर दोनों ही पुरुष लोकमें—संसारमें पुरुषके—आत्माके संसारित्वकी सिद्धिके लिए क्षर और अक्षर दोनों ही

क्षराक्षरावित्याकाङ्क्षायामाह—**क्षर इत्यादिना**। भवन्तीति भूतान्याकाशादीनि भूम्यन्तानि देहेन्द्रियादीनि भूतकार्याणि च सर्वाणि क्षर इत्युच्यन्ते। अभिव्यक्तनामरूपात्मकं महदादिविकारजातं देहान्तं सर्वं क्षराख्यः पुरुष इत्यर्थः। महदादिपृथिव्यन्तः समष्टिव्यष्ट्यात्मकः स्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चलक्षणकार्यराशिः कूट इत्युच्यते। सर्वोऽपि विकारमात्रः। तत्र कूटे स्वकार्ये सर्वत्र कारणत्वेन घटादिषु मृदिव बहिरन्तश्च सर्वतो व्याप्य तिष्ठतीत्यव्यक्तं प्रकृतिशब्दवाच्यं कूटस्थ इत्युच्यते। यद्वा पुत्रसन्ततेः पुत्रिकासन्ततेश्च मूलभूतः पुरुषः कूटस्थ इत्युच्यते। तद्वद्रजःकार्यसन्तते स्तमःकार्यसन्ततेः सत्त्वकार्यसन्ततेश्च मूलभूता त्रिगुणात्मिका प्रकृतिः कूटस्थ इत्युच्यते। यद्वा कूटसाक्षीत्यत्र कूटशब्दः कपटवाची। तत्र कूटे कपटे पुरुषस्य विपरीतभावाचरणे तिष्ठतीति कूटस्थो माया सैवाऽक्षर इत्युच्यते। क्षरश्चाऽक्षरश्चैतत् द्वयमेवाऽऽत्मनः संसारित्वस्य कारणम्। एतन्निवृत्तिकारणं तु 'न सत्तन्नासदुच्यते' इति न्यायेन तयोर्निरसनमेव एवं निरस्ताशेषे परे ब्रह्मण्येवात्मभावापत्त्या पुनरनात्माऽनालम्बनमेव विदेहमुक्तिकारणमिति पूर्वमेवोक्तं तन्न विस्मर्तव्यम्॥ १६॥

एवं क्षराक्षरयोः कार्यकारणयोरुभयोः पुरुषशब्दवाच्यत्वं प्रतिपाद्य, एताभ्या-

---

पुरुष पुरुषकी उपाधि हैं, उससे अन्य कोई नहीं है, यह एवकारका अर्थ है। वे क्षर और अक्षर कौन, ऐसी आकाङ्क्षा होनेपर कहते हैं—**क्षर इत्यादिना**। जो होते हैं, वे भूत आकाशसे लेकर भूमितक और भूतोंके कार्य देह, इन्द्रिय आदि सब क्षर कहलाते हैं। अभिव्यक्त नामरूपात्मक महदादिविकार देहतक सम्पूर्ण क्षरनामक पुरुष है, यह अर्थ है। महत्‌से लेकर पृथिवीतक समष्टिव्यष्टिस्वरूप स्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चरूप कार्यराशि कूट कहलाती है। सभी विकारमात्र हैं। उस कूटरूप सब कार्यमें जो सर्वत्र कारणरूपसे, घट आदिमें मिट्टीके समान बाहर और भीतर सर्वत्र व्याप्त होकर स्थित है, ऐसा अव्यक्त प्रकृतिशब्दवाच्य कूटस्थ कहलाता है। अथवा जैसे पुत्रसन्ततिका और पुत्रिकासन्ततिका मूलभूत पुरुष कूटस्थ कहलाता है, उसी प्रकार रजःकार्यसन्ततिका, तमःकार्यसन्ततिका और सत्त्वकार्यसन्ततिका मूलभूत त्रिगुणात्मिका प्रकृति कूटस्थ कहलाती है। अथवा 'कूटसाक्षी' इसमें कूटशब्द कपटवाची है। उस कूटमें—कपटमें—पुरुषके विपरीतभावके आचरणमें स्थित होती है, ऐसी कूटस्थ माया है, वही अक्षर कहलाती है। क्षर और अक्षर ये दो ही आत्माके संसारित्वके कारण हैं। उनकी निवृत्तिका कारण तो 'न वह सत् न असत् कहा जाता है', इस न्यायसे उन दोनोंका निरसन ही है। इस प्रकार सबका निरास करनेपर परब्रह्ममें ही आत्मभावकी प्राप्ति होनेसे फिर अनात्माका आलम्बन न करना ही विदेहमुक्तिका कारण है, ऐसा पहले कहा गया है, उसको न भूलना चाहिए॥ १६॥

इस प्रकार कार्य और कारण क्षर और अक्षर दोनोंका पुरुषवाच्यत्व प्रतिपादन करके उन दोनों

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ १७ ॥

उक्त दो पुरुषोंसे अन्य उपाधिरहित उत्तम पुरुष परमात्मा कहा जाता है। जो अविनाशी ईश्वर तीनों लोकोंमें प्रवेश कर उनको धारण करता है ॥ १७ ॥

मेवोपाधिभ्यामुमाभ्यां भिन्नं तद्धर्मकर्माद्यस्पृष्टं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं पदशब्दार्थं मुक्तोपसृप्यं परं तत्त्वं निर्दिशति—**उत्तम इति** ।

उत्तमः सर्वोत्कृष्टतमः । 'दिवो ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान्' इति 'ततो ज्यायांश्च पुरुषः' इति सर्वोत्कृष्टतमत्वश्रवणादात्मा स्वयमुत्तमः सत्तया स्फूर्त्या च महत्तमो निरतिशयवैभवः परिच्छेदरहित इति यावत्। तत एव सर्वतः परिपूर्णत्वात्पुरुष उत्तमस्त्वन्यः। उत्तमत्वे सति पुरुषत्वस्याऽऽत्मानन्यगामित्वसूचनार्थस्तुशब्दः । उत्तमत्वविशेषणविशिष्टः पुरुषस्त्वन्यः क्षराक्षरशब्दवाच्याभ्यां संसारसंसारकारणाभ्यामुभाभ्यां पुरुषाभ्यामन्यः परममहत्त्वेन चेतनत्वेन ज्ञातृत्वेन प्रकाशकत्वेन प्रकाशस्वरूपत्वेन चोत्कृष्टत्वादुत्तमत्वविशेषणविशिष्टः पुरुषोऽसंसारी प्रत्यगात्मा ताभ्यां पुरुषाभ्यामुक्तलक्षणो भिन्न एव भवति । यथा स्थावरजङ्गमाभ्यां तत्प्रकाशको ज्ञाता च भानुस्ताभ्यां भिन्नस्तद्धर्मकर्माद्यस्पृष्टश्च भवति, तथैवाऽहमज्ञ इति दुष्टो ममाऽयमहङ्कारादिरिति स्वप्रकाश्याभ्यामज्ञानतत्कार्याभ्यां ज्ञाता तत्प्रकाशकश्चाऽऽत्मा भिन्न एवाऽनुभूयते । ततो

उपाधियोंसे भिन्न, उनके धर्म और कर्म आदिसे अस्पृष्ट नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त स्वभाव, पदशब्दके अर्थ, मुक्तोंसे प्राप्त होने योग्य परं तत्त्वको कहते हैं—**'उत्तमः'** इत्यादिसे ।

उत्तम—सबसे उत्कृष्टतम, 'स्वर्गसे बड़ा, अन्तरिक्षसे बड़ा' और 'उससे पुरुष बड़ा' इससे सबसे उत्कृष्टतमत्व सुननेसे आत्मा स्वयं उत्तम, सत्ता और स्फूर्तिसे महत्तम—निरतिशयवैभववाला। परिच्छेदसे रहित, यह अर्थ है। इसीलिए सर्वत्र पूर्ण होनेसे पुरुष, उत्तम तो अन्य है। उत्तम होनेसे पुरुषत्वका आत्मानन्यगामित्व सूचन करनेके लिए तुशब्द है। उत्तमत्वविशेषणसे विशिष्ट पुरुष तो अन्य है—क्षर और अक्षर शब्दसे वाच्य, संसार और संसारके कारण दोनों पुरुषोंसे अन्य है, परम महत्त्वसे, चेतनत्वसे, ज्ञातापनेसे, प्रकाशकत्वसे और प्रकाशस्वरूप होनेसे उत्कृष्टत्व होनेसे उत्तमत्वविशेषणसे विशिष्ट पुरुष असंसारी प्रत्यक् आत्मा उन दोनों पुरुषोंसे उक्त लक्षणवाला भिन्न ही होता है। जिस प्रकार स्थावर और जंगमोंसे उनका प्रकाशक और ज्ञाता सूर्य उनसे भिन्न और उनके धर्म और कर्मसे अस्पृष्ट होता है, उसी प्रकार 'मैं अज्ञ हूँ' 'मेरा यह अहङ्कारादि दुष्ट है' यों अपने प्रकाश्य अज्ञानसे और अज्ञानके कार्यसे उनका ज्ञाता और उनका प्रकाशक आत्मा भिन्न ही अनुभवमें आता है, इसलिए ज्ञाता

ज्ञातृत्वेनाऽतिसूक्ष्मत्वेनाऽसङ्गत्वेन च ताभ्यां भिन्न एव सन् तद्धर्मकर्मादिभिश्च न स्पृश्यत इति ज्ञातव्य इत्यर्थः। ननु महतोऽप्यतिसूक्ष्मस्याऽपि च वायोः स्वभिन्नैर्दुष्टादुष्टद्रव्यैः संयोगे दुष्टादुष्टगन्धलेपो दृश्यते दुर्गन्धिः सुगन्धिर्वायुरिति, तद्वदात्मनोऽपि पुरुषोत्तमस्य क्षराक्षरभिन्नत्वेऽपि तद्योगात्तद्धर्मकर्मादिलेपः स्यादित्याशङ्कायाम्, न; सावयवत्वाद्वायोः सर्वं संभवति निरवयवत्वादिधर्मैरात्मा ताभ्यामपि परमत्वान्न तद्धर्मकर्मादिभिर्लिप्यत इति बोधयति—**परमात्मेति**। 'अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः' इत्यन्नमयादीनां कूटस्थान्तानां कोशानामात्मत्वश्रवणात् आत्मशब्दवाच्याभ्यां क्षराक्षराभ्यां निरवयवत्वेनाऽतिसूक्ष्मत्वेनाऽन्तरत्वेन प्रत्यक्त्वेन ज्ञातृत्वेन भासकत्वेन व्यापकत्वेनाऽसङ्गत्वेन च निरतिशयत्वादात्मा प्रत्यग्लक्षणः प्रकृतितत्कार्यैः स्प्रष्टुम् अशक्यत्वेन परम इत्युच्यते। परमश्चाऽसावात्मा च परमात्मेत्युदाहृतः। 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः। महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः। पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः॥' इति, 'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः। अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः॥' इति, 'अतो ज्यायांश्च पूरुषः। पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' इत्यादिश्रुतिभिः प्रतिपादित इत्यर्थः। परमत्वचेतनत्वज्ञातृत्वप्रकाशक-

होनेसे, अतिसूक्ष्म और असंग होनेसे उनसे भिन्न ही होकर उनके धर्म और कर्म आदिसे छुआ नहीं जाता, ऐसा जानना चाहिए, यह अर्थ है। यदि शङ्का हो कि महान् भी और अतिसूक्ष्म भी वायुका अपनेसे भिन्न दुष्ट और अदुष्ट द्रव्योंसे संयोग होनेपर दुष्ट और अदुष्ट गन्ध लेप देखनेमें आता है—दुर्गन्धि, सुगन्धि वायु, ऐसा, उसी प्रकार पुरुषोत्तम आत्माका भी क्षर और अक्षरसे भिन्न होनेपर भी उनके योगसे उनके धर्म और कर्म आदिका लेप हो, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि सावयवत्व होनेसे वायुमें सबका संभव है, निरवयवत्व आदि धर्मोंसे आत्मा उन दोनोंसे भी परम होनेसे उनके धर्म और कर्म आदिसे लिप्त नहीं होता, ऐसा बोधन करते हैं—**परमात्मेति**। 'दूसरा भीतर आत्मा प्राणमय है' इससे अन्नमयसे लेकर कूटस्थ तक कोशोंमें आत्मत्वश्रवण होनेसे आत्मशब्दसे वाच्य क्षर और अक्षर दोनोंसे निरवयव होनेसे, अतिसूक्ष्म होनेसे, अन्तर होनेसे, प्रत्यक् होनेसे, ज्ञाता होनेसे, भासक होनेसे, व्यापक होनेसे और असंग होनेसे निरतिशय होनेके कारण प्रत्यक् लक्षणवाले आत्माका प्रकृति और उसके कार्यसे स्पर्श नहीं किया जा सकता, इसलिए परम, ऐसा कहा जाता है। परम आत्मा परमात्मा, ऐसा कहा गया है। 'इन्द्रियोंसे पर अर्थ हैं, अर्थोंसे पर मन है, मनसे पर बुद्धि है, बुद्धिसे महान् आत्मा पर है, महान् आत्मासे पर अव्यक्त है और अव्यक्तसे पर पुरुष है, पुरुषसे पर कुछ नहीं है, वह काष्ठा है और वह परा गति है, 'दिव्य ही अमूर्त पुरुष, वही अजन्मा बाहर और भीतर, प्राणरहित, मनरहित, शुद्ध, अक्षरसे परसे पर' इससे, 'इससे बड़ा पुरुष है, इसका चतुर्थांश सब भूत हैं, इसके अविनाशी स्वरूप तीन भाग स्वप्रकाश स्वरूपमें हैं' इत्यादि श्रुतियोंसे प्रतिपादन किया

त्वादिधर्मैरुत्तमस्य पुरुषस्य यत् क्षराक्षराभ्यां संसारितद्धेतुभावापन्नाभ्यां पुरुषाभ्यामन्यत्वं प्रतिपादितं तदेव पुनर्विशेषणैर्विस्पष्टयति—**यो लोकत्रयमिति** । क्षराक्षराभ्यामात्मनो भिन्नत्वमेवाऽऽह—**अव्यय इति** । सुषुप्तिसमाध्योः क्रमात्तयोर्व्यये नाशे सत्यपि स्वयं न व्येतीत्यव्ययः । हेतुगर्भितमिदं विशेषणम् । आत्मा पुरुषाभ्यामन्यः, अव्ययत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा बुद्ध्यादिः । सुषुप्तिसमाध्योस्तद्द्वयसाक्षितया विद्यमानत्वादात्मनो व्ययाभावात्ततो नित्यत्वेन ताभ्यामन्यत्वमुत्तमत्वं च सिद्धम् । किञ्च, ईश्वरः स्वसन्निधिमात्रेण तयोर्व्यापृतिहेतुत्वादीश्वरः । हेतुगर्भितमिदं विशेषणम् । आत्मा ताभ्यां भिन्नः, तत्प्रवृत्तिहेतुत्वाद् राजवत्, स्वप्रवर्त्यप्रधानादिभ्यो राज्ञो यथा भिन्नत्वमुत्तमत्वं च तद्वदात्मनोऽपि स्वप्रवर्त्याभ्यां ताभ्यां भिन्नत्वमुत्तमत्वं च सिद्धम् । किञ्च, यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्ति । लोक्यन्ते ज्ञायन्त इति लोकाः समष्टिव्यष्टिलक्षणाः स्थूलसूक्ष्मकारणदेहाः साभिमानिनः सावस्थास्तेषां त्रयं लोकत्रयं स्थूलसूक्ष्मकारणाख्यं शरीरत्रयं स्वाधारमाविश्य बहिरन्तश्च सर्वतो व्याप्य बिभर्ति सत्तां स्फूर्तिं च प्रयच्छन् धारयति, 'व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः' इति श्रुतेः । आत्मा स्वधार्याल्लोकत्रयाद्भिन्नः, आधारत्वात्, चित्राधारकुड्यवत्, इत्यात्मनस्ताभ्यां भिन्न-

---

गया है, यह अर्थ है । परमत्व, चेतनत्व, ज्ञातृत्व, प्रकाशकत्व आदि धर्मोंसे उत्तम पुरुषका क्षर और अक्षरोंसे—संसारी और उसके हेतुभावापन्न पुरुषोंसे जो अन्यत्वका प्रतिपादन किया गया है, उसको ही विशेषणोंसे फिर स्पष्ट करते हैं—**यो लोकत्रयमिति** । क्षर और अक्षरसे आत्माका भिन्नत्व ही कहते हैं—**अव्यय इति** । सुषुप्ति और समाधिमें दोनोंका क्रमसे नाश होनेपर भी स्वयं नष्ट नहीं होता, अतः अव्यय है । यह हेतुगर्भित विशेषण है । आत्मा पुरुषोंसे अन्य है, अव्यय होनेसे, जो ऐसा नहीं, वह ऐसा नहीं, जैसे बुद्धि आदि । सुषुप्ति और समाधिमें, उन दोनोंके साक्षीरूपसे विद्यमान होनेसे आत्माके व्ययका अभाव है, इसलिए नित्य होनेसे उन दोनोंसे अन्यत्व और उत्तमत्व सिद्ध है । किञ्च, ईश्वर अपनी सन्निधिमात्रसे दोनोंके व्यापारका हेतु होनेके कारण ईश्वर है, यह विशेषण हेतुगर्भित है । आत्मा दोनोंसे भिन्न है, उनकी प्रवृत्तिका हेतु होनेसे, राजाके समान, जैसे अपने प्रवर्त्य प्रधान आदिसे राजाका भिन्नत्व और उत्तमत्व है, वैसे ही आत्माका भी अपने प्रवर्त्य उन दोनोंसे भिन्नत्व और उत्तमत्व सिद्ध है । किञ्च, जो तीनों लोकोंको व्याप्त करके धारण करता है । देखे जाते हैं—जाने जाते हैं, ऐसे लोक (समष्टिव्यष्टिरूप, स्थूल-सूक्ष्म-कारण देह, अभिमानसहित, अवस्थासहित) उनका त्रय—तीन लोक—स्थूलसूक्ष्म-कारण-नामवाले तीनों शरीरोंमें, जिनका स्वयं आधार है, प्रवेश करके—बाहर और भीतर सर्वत्र व्याप्त करके । धारण करता है—सत्ता और स्फूर्ति देकर धारण करता है । क्योंकि 'व्यक्त और अव्यक्त विश्वको ईश्वर भरण करता है' ऐसी श्रुति है । आत्मा अपने धार्य तीनों लोकोंसे भिन्न है, आधार होनेसे, चित्रके आधार दीवारके समान, इससे आत्माका उन दोनोंसे भिन्नत्व और उत्तमत्व सिद्ध

यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ १८ ॥

यतः मैंने क्षरका—विनाशी मायामय संसारका—अतिक्रमण किया है और अक्षरसे (संसारबीज अव्यक्तसे) मैं उत्तम हूँ, इसलिए मैं लोक और वेदमें पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध हूँ ॥ १८ ॥

त्वमुत्तमत्वं च सिद्धम् । यद्वा लोक्यन्ते दृश्यन्त इति लोका जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तयः साभिमानिभोग्यार्थास्तासां त्रयं लोकत्रयमाविश्य व्याप्य यो बिभर्ति प्रकाशयति, 'जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादिप्रपञ्चं यत्प्रकाशते' इति श्रुतेः । आत्मा स्वप्रकाश्याल्लोकत्रयाद्भिन्नः, प्रकाशकत्वात् , सूर्यवदित्यनुमानात् । यो जागरमन्वभूवं यः स्वप्नमद्राक्षं यः सुखमस्वाप्सं सोऽहं तिष्ठामीति प्रत्यभिज्ञाया विद्यमानत्वादात्मनः प्रकाशकस्य लोकत्रयाद्भिन्नत्वे श्रुतिरनुमानं प्रत्यक्षं च प्रमाणम् आत्मनो लोकत्रयप्रकाशकत्वसिद्ध्या नित्यत्वं परममहत्त्वं चेतनत्वं प्रकाशस्वरूपत्वमकर्तृत्वमभोक्तृत्वमविक्रियत्वं च सिद्धम् । अव्ययत्वेनेश्वरत्वेन भर्तृत्वेन च क्षराक्षराभ्यां द्वाभ्यामपि पुरुषाभ्यामुत्कृष्टतमत्वादात्मनः पुरुषोत्तमत्वं सर्वप्रमाणसिद्धमिति भावः ॥ १७ ॥

अव्ययत्वेश्वरत्वभर्तृत्वादिधर्मैः पुरुषोत्तमत्वसिद्धिप्रकारमेव विशदयन् तादृशी नामसिद्धार्थवत्ता मम वेदशास्त्रप्रसिद्धेति प्रतिपादनद्वारा स्वस्याविक्रियत्वमसंसारित्वं सच्चिदानन्दैकरसत्वमद्वितीयत्वं च सूचयति—**यस्मादिति** ।

है । अथवा जो लोके जाते हैं—देखे जाते हैं—वे लोक अभिमानी और भोग्य पदार्थ सहित जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति, उनका त्रय लोकत्रय है, उसमें प्रवेश करके—व्याप्त करके जो भरण करता है—प्रकाशित करता है, क्योंकि 'जाग्रत् , स्वप्न, सुषुप्ति आदि प्रपञ्चको जो प्रकाशित करता है' ऐसी श्रुति है, 'आत्मा अपनेसे प्रकाश्य लोकत्रय (तीनों लोक) से भिन्न है, प्रकाशक होनेसे, सूर्यके समान', यह अनुमान और 'जिसने जाग्रत्का अनुभव किया, जिसने स्वप्न देखा, जो सुखसे सोया, वह मैं स्थित हूँ', ऐसी प्रत्यभिज्ञा विद्यमान है, अतः प्रकाशक आत्माके लोकत्रयसे (तीनों लोकोंसे) भिन्न होनेमें श्रुति, अनुमान और प्रत्यक्ष प्रमाण है। लोकत्रयके प्रकाशकत्वकी सिद्धिसे आत्माका नित्यत्व, परममहत्त्व, चेतनत्व, प्रकाशस्वरूपत्व, अकर्तृत्व, अभोक्तृत्व और अविक्रियत्व सिद्ध है। अव्यय ईश्वर और भर्ता होने क्षर और अक्षर दोनों पुरुषोंसे भी उत्कृष्टतम होनेके कारण आत्माका पुरुषोतमत्व सब प्रमाणोंसे सिद्ध है, यह भाव है ॥ १७ ॥

अव्ययत्व, ईश्वरत्व, भर्तृत्व आदि धर्मोंसे पुरुषोत्तमत्वकी सिद्धिके प्रकारको ही स्पष्ट करते हुए मेरी उस प्रकारकी नामकी सिद्ध अर्थवत्ता वेदशास्त्रमें प्रसिद्ध है, यों प्रतिपादन द्वारा अपना अविक्रियत्व, असंसारित्व, सच्चिदानन्दैकरसत्व और अद्वितीयत्व सूचन करते हैं—**'यस्माद्'** इत्यादिसे ।

यस्मान्नित्यत्वज्ञातृत्वादिधर्मैः क्षरं महदादिस्थूलान्तमुत्पत्तिलयादिविकारविशिष्टं कर्तृत्वभोक्तृत्वादिसंसारधर्मकं कार्यलक्षणं पुरुषमहमतीतोऽतिक्रान्तोऽस्मि । नित्यत्वादिधर्मैर्विलक्षणत्वेनोत्कृष्टत्वादुत्तमोऽस्मीत्यर्थः । तथा प्रकाशस्वरूपत्वप्रकाशकत्वाधारत्वादिधर्मैर्महत्त्वादक्षरात्संसारबीजादव्यक्तादपि चोत्तमोऽस्मि यस्मादतोऽस्मादेव लोके पुराणे वेदे च वेदेषु च पुरुषोत्तमः पुरुषाभ्यामुक्तलक्षणाभ्यां निष्कलत्वनित्यत्वनिर्गुणत्वचेतनत्वादिधर्मैरुत्तमत्वात्पुरुषोत्तम इति । पुरुषतद्धर्मतत्कर्मतदवस्थासम्बन्धलेशशून्यत्वान्नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः केवलसच्चिदानन्दैकरसः परमात्मेति प्रथितः प्रख्यातः । 'महतो व्यक्तमुत्तमं अव्यक्तात्तु परः पुरुषः' इति, 'पुरुषान्न परं किञ्चित्' इति, 'अयमात्मा सन्मात्रो नित्यः शुद्धो बुद्धः सत्यो मुक्तो निरञ्जनो विभुरद्वय आनन्दः परः प्रत्यगेकरसः' इति, 'तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः' इत्यादिश्रुतिभिः, 'कार्यकारणसम्बन्धरहितः केवलः शिवः' इत्यादिस्मृतिभिश्च प्रतिपादित इत्यर्थः । चित्रमतीत्य भित्तिस्तिष्ठतीत्यत्र युक्त्या सूक्ष्मबुद्ध्या च विचार्यमाणे भित्तिव्यतिरेकेण चित्रस्य स्वरूपं न दृश्यते भित्तिसत्ताव्यतिरेकेण चित्रस्य पृथक्सत्ताभावात्तद्वत् क्षराक्षराख्यौ पुरुषावतीतोऽहमित्यत्र 'विकल्पो नहि वस्तु', 'मायामात्रमिदं द्वैतम्', 'असत्त्वादन्यस्य' इत्यादिश्रुतिभिरिदं सर्वमसन्मायाकार्यत्वादिन्द्रजालवत्सर्वं

जिस कारणसे नित्यत्व, ज्ञातृत्व आदि धर्मोंसे क्षरसे—महत्से लेकर स्थूलतक उत्पत्ति, लय आदि विकारोंसे विशिष्ट कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि संसारधर्मवाले कार्यलक्षणवाले पुरुषसे—मैं अतीत—अतिक्रान्त—हूँ । नित्यत्व आदि धर्मोंसे विलक्षण होनेसे, उत्कृष्ट होनेसे उत्तम हूँ, यह अर्थ है । तथा प्रकाशस्वरूपत्व, प्रकाशकत्व, आधारत्व आदि धर्मोंसे महत्त्व होनेसे जिस कारणसे अक्षरसे—संसारके बीज अव्यक्तसे भी उत्तम हूँ, अतः—इसीलिए—लोकमें, पुराणमें और वेदमें—वेदोंमें—पुरुषोत्तम—उक्त लक्षणवाले पुरुषोंसे निष्कलत्व, नित्यत्व, निर्गुणत्व चेतनत्व आदि धर्मोंसे उत्तम होनेसे पुरुषोत्तम हूँ । पुरुष, उनके धर्म, उनके कर्म, उनकी अवस्थाके सम्बन्धलेशसे शून्य होनेके कारण नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त स्वभाव केवल सच्चिदानन्दैकरस परमात्मा, ऐसा प्रथित प्रसिद्ध हूँ । 'महत्से अव्यक्त उत्तम, अव्यक्तसे पर पुरुष', 'पुरुषसे पर कुछ नहीं है', 'यह आत्मा सन्मात्र, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, सत्य, मुक्त, निरञ्जन, विभु, अद्वय, आनन्द, पर, प्रत्यक्, एकरस', 'उनसे विलक्षण साक्षी चिन्मात्र मैं सदाशिव' इत्यादि श्रुतियोंसे और 'कार्यकारणके सम्बन्धसे रहित केवल शिव' इत्यादि स्मृतियोंसे प्रतिपादित हूँ, ऐसा अर्थ है । चित्रका अतिक्रमण करके भित्ति स्थित रहती है, इसमें युक्तिसे और सूक्ष्म बुद्धिसे विचार करनेपर भित्तिसे भिन्न चित्रका स्वरूप देखनेमें नहीं आता, क्योंकि भित्तिकी सत्ताके सिवा चित्रकी पृथक् सत्ताका अभाव है, वैसे ही क्षर और अक्षर नामके दोनों पुरुषोंसे मैं अतीत हूँ, इसमें 'विकल्प वस्तु नहीं है', 'मायामात्र यह द्वैत है', 'अन्यका असत्त्व होनेसे' इत्यादि

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ।। १९ ।।

हे भरतकुलदीपक, जो मुमुक्षु पुरुष इस प्रकार उक्त लक्षणवाले मुझको पुरुषोत्तम (सर्वसंसारधर्मोंसे विनिर्मुक्त, सदानन्दैकरस, अद्वितीय) जानता है, वह सर्वज्ञ अतएव देह, इन्द्रिय आदिमें 'अहम् मम' बुद्धि न करनेवाला पुरुष 'मैं' और 'मेरा' इस भावसे निर्मुक्त होकर सर्वभावसे मुझको प्राप्त होता है ।। १९ ।।

सदेव सदनुवृत्तत्वान्मृदनुवृत्तघटादिवदित्यादियुक्तिभिश्च विचार्यमाणे परमात्मसत्ताऽव्यतिरेकेण तयोः पृथक्सत्ताभावात् 'सर्वं ह्येतद् ब्रह्म' इत्यादिश्रुतिवाक्यबलाच्च पुरुषोत्तमाख्यं परं ब्रह्माद्वितीयमेव भवति, ततः सर्वं ब्रह्मैवेति ज्ञातव्यमिति सिद्धम् ।। १८ ।।

एवं स्वमायातत्कार्यसम्बन्धराहित्येन स्वस्य नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावत्वं प्रतिपाद्य मामेवंलक्षणं यो विजानाति स मुक्तो भवतीत्याह—**यो मामिति** ।

जन्मानेकसहस्रेषु श्रद्धाभक्तिभ्यां सत्कर्माराधितपरमेश्वरप्रसादपात्रीभूतः शुद्धात्मा दैवसम्पद्विशिष्टो यो मुमुक्षुरधिकारी शमदमसंन्यासादिसाधनसम्पत्त्या कृतश्रवणादिजन्यज्ञानेनैवं प्रतिपादितलक्षणं नित्यत्वेश्वरत्वादिधर्मवत्त्वेन क्षराक्षरविलक्षणं पुरुषोत्तमं सर्वसंसारधर्मनिर्मुक्तं सदानन्दैकरसमद्वितीयं मां परमात्मानं जानात्ययमेवाऽहमिति स्वात्मना साक्षाद्विजानाति स सर्ववित्सर्वं ब्रह्मैवेत्यपरोक्षतया सर्वं ब्रह्मेव वेत्तीति सर्ववित्सर्वज्ञस्तत एवाऽसंमूढः देहेन्द्रियादिष्वहंममेति बुद्धिर्यस्य स संमूढस्तद्विलक्षणोऽसं-

---

श्रुतियोंसे और यह सब असत् है, मायाका कार्य होनेसे, इन्द्रजालके समान' 'सब सत् ही है, सत्से अनुवृत्त होनेसे, मिट्टीसे अनुवृत्त घट आदिके समान, इत्यादि युक्तियोंसे विचार करनेपर परमात्माकी सत्ताके सिवा इन दोनोंकी पृथक् सत्ताका अभाव होनेसे 'यह सब ब्रह्म है' इत्यादि श्रुतिवाक्यके बलसे पुरुषोत्तमनामक परब्रह्म अद्वितीय ही है, इसलिए सब ब्रह्म ही है, ऐसा जानना चाहिए, यह सिद्ध हुआ ।। १८ ।।

इस प्रकार अपनी माया और उसके सम्बन्धसे रहित होनेसे अपने नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभावत्वका प्रतिपादन करके, इस प्रकारके लक्षणवाले मुझको जो जानता है, वह मुक्त होता है, ऐसा कहते हैं—**'यो माम्'** इत्यादिसे ।

अनेक हजार जन्मोंमें श्रद्धा और भक्तिसे सत्कर्मसे आराधन किये गये परमेश्वरके प्रसादका पात्रीभूत, शुद्ध मनवाला, दैवी संपत्से विशिष्ट, जो मुमुक्षु अधिकारी शम, दम, संन्यास आदि साधनसंपत्तिसे किये गये श्रवण आदिसे जन्य ज्ञानसे इस प्रकार—प्रतिपादित लक्षणवाले, नित्यत्व, ईश्वरत्व आदि धर्मवाला होनेसे क्षर और अक्षरसे विलक्षण, पुरुषोत्तम—सर्वसंसारधर्मोंसे निर्मुक्त, सदानन्दैकरस, अद्वितीय मुझको—परमात्माको—जानता है—यही मैं हूँ, यों अपने स्वरूपसे साक्षात् जानता है—, वह सर्ववित् सब ब्रह्म ही है, यों अपरोक्षतासे सबको ब्रह्म ही जानता है, ऐसा सर्ववित्—सर्वज्ञ, इसीलिए असंमूढ—देह, इन्द्रिय आदिमें 'मैं' 'मेरा' ऐसी बुद्धि जिसकी है, वह

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥ २० ॥

हे निष्पाप अर्जुन, इस तरह मेरे द्वारा कहा गया यह शास्त्र अत्यन्त गोपनीय है । इसे सद्गुरुकी कृपासे भली-भाँति जानकर मनुष्य बुद्धिमान् और कृतकृत्य हो जाता है ॥ २० ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

मूढः देहादावहंभावममभावनिर्मुक्तः सन् । सर्वभावेनाऽहमेवेदं सर्वमिति भावः सर्वभावस्तेन सर्वभावेन सार्वात्म्येन सर्वात्मभावापत्त्या मां भजति प्राप्नोति । पतितेऽस्मिन् देहे पूर्णात्मना तिष्ठतीत्यर्थः । यद्वा, यो मुमुक्षुरसंमूढः विषयाशाग्रहग्रस्तः संमूढस्तद्विलक्षणोऽसंमूढः सर्वैषणाभ्यो व्युत्थितः सन् मामेवंलक्षणं पुरुषोत्तमं स्वात्मना जानाति स सर्ववित सर्वभावेन सर्वं ब्रह्मैवेति सर्वत्र ब्रह्मैकदृष्ट्या मां भजति ज्ञानतत्फलप्रतिबन्धराहित्याय सदा मामनुसंधत्ते ब्रह्मज्ञानस्य तन्निष्ठायाः फलं निर्मानमोहत्वादिसाधनसंपत्त्या सर्वभावेन मां सदा भजमानस्तदव्ययं पदं गच्छतीति पूर्वमेवोक्तमिति बोद्धव्यम् ॥ १९ ॥

'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्' इत्यारभ्योपदिष्टगीताशास्त्रस्येदमुपलक्षणं कृत्वा पञ्चदशाध्यायलक्षणमिदं शास्त्रमतिरहस्यमेतदर्थं बुद्ध्वा पुमान् कृतार्थो भवतीति प्रतिपादयन्नध्यायमुपसंहरति—इतीति ।

संमूढ, उससे विलक्षण असंमूढ—देहादिमें मैं भाव, मेरा भाव, उससे निर्मुक्त होकर, सर्वभावसे मैं ही यह सब है, ऐसा भाव सर्वभाव है, इस सर्वभावसे—सार्वात्म्यसे—सर्वस्वभावकी प्राप्तिसे मुझको भजता है—प्राप्त होता है । इस देहके गिरनेपर पूर्णस्वरूपसे स्थित होता है, यह अर्थ है । अथवा जो मुमुक्षु असंमूढ—विषयाशारूप ग्रहसे ग्रस्त संमूढ, उससे विलक्षण असंमूढ—सब एषणाओंसे व्युत्थित होकर मुझ ऐसे लक्षणवाले पुरुषोत्तमको अपने स्वरूपसे जानता है, वह सर्ववित् सर्वभावसे 'सब ब्रह्म ही है' यों सर्वत्र एकमात्र ब्रह्मदृष्टिसे मुझको भजता है—ज्ञान और उसके फलके प्रतिबन्धसे रहित होनेके लिए सर्वदा मेरा अनुसन्धान करता है—मान-मोहशून्यत्व आदि साधनसंपत्तिसे ब्रह्मज्ञानके और उसकी निष्ठाके फलरूप मुझको सर्वभावसे सदा भजता हुआ, उस अव्यय पदको प्राप्त होता है—ऐसा पहले ही कहा गया है, ऐसा जानना चाहिए ॥ १९ ॥

'अशोच्यके लिए तुम शोक करते हो, इससे आरंभ करके उपदिष्ट गीता शास्त्रका, इसे उपलक्षण करके पन्द्रहवाँ अध्यायरूप यह शास्त्र अतिरहस्य है, इसके अर्थको जानकर पुरुष कृतार्थ होता है, ऐसा प्रतिपादन करते हुए अध्यायका उपसंहार करते हैं—'इति' इत्यादिसे ।

इत्येवंप्रकारेण मयोक्तमिदमेतच्छास्त्रं निर्विशेषं परं तत्त्वं शास्ति बोधयतीति शास्त्रं पञ्चदशाध्यायरूपं गुह्यतमं ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनपरत्वादत्यन्तगोप्यं यस्मै कस्मैचिदनधिकारिणे दुष्टायाऽऽसुरसंपत्तिमते न वक्तव्यं न श्रावयितव्यं च। यः कश्चित् ब्राह्मणादिः शुभाचारनिरतः सुशीलः सर्वैषणावैमुख्येन मोक्षैककामो भवति स एतत् पञ्चदशाध्यायरूपं शास्त्रं तत्प्रतिपादितमर्थं सद्गुरोरनुग्रहाद् बुद्ध्वा सम्यग् ज्ञात्वा बुद्धिमान् ब्रह्मैवाऽहमिति ज्ञानमेवाऽत्र बुद्धिशब्दार्थस्तद्वान् ब्रह्मज्ञानसंपन्नस्तत्फलवांश्च स्यात्। कृतकृत्यश्च स्यात् कृत्यं ब्राह्मणादेः शुद्धात्मनो यत् कर्तव्यमग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तमौपासनादीशानबल्यन्तं यच्चाऽन्यच्छ्रौतं स्मार्तं च कर्म तत्सर्वं कृतमनेन ब्रह्मविदेति कृतकृत्यः सर्वकर्मानुष्ठाता स्यात्। सर्वात्मनि ब्रह्मणि विज्ञाते विदुषा सर्ववेदशास्त्रपुराणेतिहासागमप्रसिद्धं सर्वं कृतं भवति। तज्जन्यसुखं सर्वमनुभूतं च भवति, ब्रह्मानन्दे सर्वानन्दानामन्तर्भावात्; 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' इति श्रुतेः। तस्माद् ब्रह्मविदेव कृतार्थ इति सिद्धम्॥ २०॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमदानन्दात्मसरस्वतीशिष्यश्रीशङ्करानन्दसरस्वतीकृतौ गीतातात्पर्यबोधिन्यां पञ्चदशोऽध्यायः॥ १५॥

इति—इस प्रकारसे—मेरे द्वारा कहा गया यह शास्त्र—निर्विशेष परतत्त्वका जो शासन करता है—बोधन करता है, ऐसा पञ्चदश अध्यायरूप शास्त्र—गुह्यतम (ब्रह्मस्वरूपका प्रतिपादन करनेवाला होनेसे अत्यन्त गोप्य) है, जिस किसी अनधिकारी दुष्ट आसुर सम्पत्तिवालेके लिए इसका उपदेश नहीं करना चाहिए और न सुनाना चाहिए। जो कोई ब्राह्मण आदि शुभाचारमें प्रीति करनेवाला, सुशील, सब एषणाओंसे विमुख होकर एक मोक्षकी ही कामनावाला हो, वह इस पन्द्रहवें अध्यायरूप शास्त्रको और उसमें प्रतिपादित अर्थको सद्गुरुके अनुग्रहसे भली-भाँति जानकर, बुद्धिमान्—'ब्रह्म ही मैं हूँ' ऐसा ज्ञान ही यहां बुद्धिशब्दका अर्थ है, तद्वान्—ब्रह्मज्ञानसे संपन्न और उसके फलसे युक्त होता है। और कृतकृत्य होता है—कृत्य यानी शुद्ध मनवाले ब्राह्मण आदिका जो कर्तव्य अग्निहोत्रसे लेकर अश्वमेधतक, औपासनसे लेकर ईशानबलि तक और अन्य जो श्रौत और स्मार्त कर्म हैं, वे सब इस ब्रह्मवित् द्वारा किये गये हैं, ऐसा कृतकृत्य—सब कर्मोंका अनुष्ठान करनेवाला होता है। सर्वात्मा ब्रह्मका विज्ञान हो जानेपर विद्वान्ने सर्ववेद, शास्त्र, पुराण, इतिहास और आगम प्रसिद्ध सब कर लिया है। इससे ही जन्य सब सुखका अनुभव हो जाता है, क्योंकि ब्रह्मानन्दमें सब आनन्दोंका अन्तर्भाव है। 'इस आनन्दकी ही मात्राको अन्य भूत भोगते हैं' ऐसी श्रुति है। इसलिए ब्रह्मवित् ही कृतार्थ है, ऐसा सिद्ध हुआ॥ २०॥

पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त

षोडशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ १ ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—भयका अभाव (आध्यात्मिकादि उपद्रवोंके प्राप्त होनेपर भी मनमें किसी प्रकारका भय न होना), अन्तःकरणकी शुद्धता, ज्ञान-योगमें (श्रवण, मनन आदिमें) विशेष रूपसे तत्परता, याचकोंको श्रद्धापूर्वक यथाशक्ति अन्न आदिका दान, इन्द्रियोंका दमन, अग्निहोत्र आदि याग, स्वाध्याय, तप और मानसिक, वाचिक और कायिक कर्मोंमें सदा एकरूपता ॥ १ ॥

ॐ सत्त्वादिगुणत्रयातिक्रमणाय यन्निष्ठा कर्तव्या तस्य निर्विशेषस्य परस्य ब्रह्मणः स्वरूपं तद्वेदनप्रकारं ज्ञानं तत्फलं च विदेहकैवल्यं प्रतिपाद्याऽधुना 'यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्' इत्यसंमूढस्यैव पुरुषोत्तमस्वरूपवेदनाधिकार इत्यधिकारिणो योगिनो मुमुक्षोरसंमोहत्वसिद्धये दैवी सम्पत् सम्पादनीया आसुरसम्पद्वर्जनीयेति संपदोरुभयोः स्वरूपप्रदर्शनाय षोडशाध्याय आरभ्यते । तत्राऽऽदौ तयोरुभयोः संपदोर्दैवसंपद एव मोक्षसाधनत्वेनोत्तमत्वादेतस्या एव मुमुक्षोरुपादेयत्वाच्च प्रथमं दैवीं सम्पदं प्रतिपादयितुं श्रीभगवानुवाच—**अभयमिति** ।

अभयं भयाभावः आध्यात्मिकाद्युपद्रवेषु प्राप्तेष्वपि मनसि भयराहित्यं परेषां

सत्त्व आदि तीन गुणोंके अतिक्रमणके लिए जिसमें निष्ठा करना आवश्यक है, उस निर्विशेष परब्रह्मका स्वरूप, उसके जाननेका प्रकार, ज्ञान और उसके फल विदेहकैवल्यका प्रतिपादन करके अब 'यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्' इस श्लोकसे असंमूढका ही पुरुषोत्तमके स्वरूपको जाननेमें अधिकार है, यों अधिकारी योगी मुमुक्षुके असंमोहत्वकी सिद्धिके लिए दैवी संपत्का संपादन करना चाहिए और आसुरी संपत्का त्याग करना चाहिए, इस तरह दोनों संपत्तियोंका स्वरूप दिखलानेके लिए सोलहवें अध्यायका आरम्भ किया जाता है । उसमें पहले उन दोनों संपत्तियोंमें से दैवी संपत्ति ही मोक्षका साधन होनेसे उत्तम है और मुमुक्षुओंके लिए यह उपादेय है, अतः प्रथम दैवी संपत्तिका प्रतिपादन करनेके लिए श्रीभगवान् बोले—**'अभयम्'** इत्यादिसे ।

अभय यानी भयका अभाव अर्थात् आध्यात्मिक आदि उपद्रवोंके प्राप्त होनेपर भी मनमें भयका

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २ ॥

प्राणियोंकी हिंसा न करना, यथार्थ बोलना, अपकार करनेपर भी क्रोध न करना, नित्य किये जानेवाले श्रौत आदि कर्मोंके—ईश्वरार्पणबुद्धिसे—फलका त्याग, चित्तकी चञ्चलताका अभाव, परोक्षमें किसीकी निन्दा न करना, अन्धे, लँगड़े आदि दीन प्राणियोंपर करुणा, विषयोंकी सन्निधिमें भी इन्द्रियोंका विकार-रहित होना, कोमलता, लज्जा और निमित्तके बिना मन और इन्द्रियोंकी व्यापारशून्यता ॥ २ ॥

भयानुत्पादनं वा सर्वशास्त्रज्ञतया निर्विचिकित्सं सर्वकर्मानुष्ठातृत्वं वा अभयशब्दार्थः । सत्त्वसंशुद्धिः सत्त्वस्याऽन्तःकरणस्य संशुद्धिः शुद्धता रागद्वेषलोभमोहासूयामत्सराहङ्कारादिदोषानाश्रयत्वम्, ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ज्ञानयोगः श्रवणमननादिस्तत्रैव मनसो विशिष्याऽवस्थितिर्व्यवस्थितिः सदा तदेकप्रावण्यम्, दानमर्थिभ्यः श्रद्धया यथाशक्त्या अन्नाद्यर्थसमर्पणम्, दमो दुर्वृत्तेर्बाह्यकरणानामुपरमश्चेतसो दण्डनं वा दमः, चकारः समुच्चयार्थः । यज्ञः श्रौतोऽग्निहोत्रदर्शपौर्णमाससोमयागादिः, चकारात् स्मार्तः स्थालीपाकादिश्च गृह्यते । स्वाध्यायः ब्रह्मयज्ञदेवयज्ञादीनामप्युपलक्षणम्, तपः देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनादि शारीरं वाचिकं मानसिकं च वक्ष्यमाणं त्रिविधमपि, आर्जवं मनोवाक्कायकर्मसु सर्वत्र सदैकरूपता ॥ १ ॥

न होना अथवा दूसरोंको भय उत्पन्न न करना या सम्पूर्ण शास्त्रोंका यथावत् परिज्ञान होनेके कारण असंदिग्धरूपसे सम्पूर्ण कर्मोंका अनुष्ठातृत्व अभयशब्दका अर्थ है । सत्त्वसंशुद्धि (सत्त्वकी—अन्तःकरणकी—संशुद्धि—शुद्धता) यानी राग, द्वेष, लोभ, मोह, असूया, मत्सर, अहङ्कार आदि दोषोंका आश्रय न होना, ज्ञानयोग यानी श्रवण, मनन आदि, उसीमें विशेष करके अवस्थिति—व्यवस्थिति—सर्वदा केवल उसीमें तत्परता, दान—चाहनेवालोंके लिए श्रद्धासे यथाशक्ति अन्न आदि पदार्थका समर्पण, दम—दुष्ट वृत्तिसे बाहरकी इन्द्रियोंका उपरम अथवा चित्तको दण्ड देना दम है, चकार समुच्चयके लिए है । यज्ञ—श्रौत, अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास, सोमयाग आदि, चकारसे स्मार्त स्थालीपाकादिका ग्रहण किया जाता है । स्वाध्याय—ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ आदिका भी उपलक्षण है । तप—देव, द्विज, गुरु और विद्वान्‌का पूजन आदि शारीरक, वक्ष्यमाण वाचिक और मानसिक तीनों प्रकारका, आर्जव—मन, वाणी और कायके कर्मोंमें सर्वत्र सदा एकरूपता ॥ १ ॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥

हे अर्जुन, बुद्धिकी सूक्ष्मता, क्षमा, विक्षेप होनेपर भी देह, इन्द्रिय आदिको निश्चल रखनेकी शक्ति, आन्तर और बाह्य शुद्धि, अपकार करनेवालेको मारनेकी अनिच्छा और अपनेमें पूज्यताके अभिमानका अभाव—ये सब सात्त्विक गुण, दैवी सम्पद्के अनुसार उत्पन्न हुए पुरुषके होते हैं ॥ ३ ॥

किञ्च, **अहिंसेति**। अहिंसा तीर्थेभ्योऽन्यत्र प्राण्यहिंसनम्, सत्यं यथार्थभाषणम्, अक्रोधो न क्रोधोऽक्रोधस्ताडनपीडनाद्यपकारेणाऽऽग्रहानुदयः, त्यागः नित्यं क्रियमाणकर्मणां श्रौतादीनामीश्वरार्पणबुद्ध्या फलत्यागः, शान्तिः अन्तःकरणस्य सर्वत्रोपरतिः, अपैशुनं परोक्षे परमर्मप्रकाशनम्, दया भूतेषु दीनेष्वार्तान्धादिषु करुणा, अलोलुप्त्वं विषयसन्निधाविन्द्रियाणां विकारराहित्यम्, मार्दवं चित्तस्य काठिन्यराहित्यं शीतलता। ह्रीर्लज्जा अकार्याचरणे चित्तस्य संकोचः अप्रवृत्तिकारणम्, अचापलं मनस इन्द्रियाणां च निर्निमित्तव्यापारशून्यता ॥ २ ॥

किञ्च, **तेज इति**। तेजस्तेजस्त्वं बुद्धेः सूक्ष्मता प्रकाशाधिक्यं वा, क्षमा क्षान्तिरविकारित्वेनाऽऽगतोपद्रवसहिष्णुत्वम्, धृतिर्धैर्यं सति विक्षेपे देहेन्द्रियमनोबुद्धीनां निश्चलत्वापादनशक्तिः, शौचमान्तरं बाह्यं च, तत्र बाह्यं मृज्जलाभ्यां देहमलापनयनम् , आन्तरं सदसद्विवेकविज्ञानेन चित्तस्य दुर्वासनामलापनयनम्।

किञ्च, '**अहिंसा**' इत्यादि । अहिंसा—शास्त्रोक्त हिंसाके सिवा प्राणियोंकी हिंसा न करना। सत्य—यथार्थ भाषण । अक्रोध (न क्रोध—अक्रोध—ताड़न, पीड़न आदि अपकारसे आग्रहका उदय न होना), त्याग यानी नित्य क्रियमाण श्रौतादि कर्मोंके—ईश्वरार्पणबुद्धिसे—फलका त्याग, शान्ति यानी अन्तःकरणकी सर्वत्र उपरति, अपैशुन यानी पीठ पीछे पराया मर्म न खोलना, दया यानी आर्त, अन्धे आदि दीन भूतोंपर करुणा करना, अलोलुत्व यानी विषयोंकी संनिधिमें इन्द्रियोंका विकाररहित होना, मार्दव यानी चित्तका काठिन्यरहित होना—शीतलता। ह्री—लज्जा—अकार्यके करनेमें चित्तका संकोच—अप्रवृत्तिकारण । अचापल—निमित्तके बिना मन और इन्द्रियोंका व्यापाररहित होना ॥ २ ॥

किञ्च, '**तेज**' इत्यादि। तेज यानी तेजस्त्व—बुद्धिकी सूक्ष्मता अथवा अधिक प्रकाश। क्षमा यानी क्षान्ति—आये हुए उपद्रवको अविकारीरूपसे सहना । धृति—धैर्य—विक्षेप होनेपर देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धिको निश्चल रखनेकी शक्ति। शौच—आन्तर और बाह्य। उनमें मिट्टी और जलसे देहका मल दूर करना बाह्य शौच है, सत् और असत्के विवेकविज्ञानसे चित्तका दुर्वासनारूप मल दूर करना

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाऽभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥ ४ ॥

हे पार्थ, आसुरी सम्पत्तिके अनुसार उत्पन्न हुए पुरुषके दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, कठोरता और अज्ञान—ये सब गुण होते हैं ॥ ४ ॥

अद्रोहः द्रोहः स्वापकारिणं हन्तुमिच्छा तदभावोऽद्रोहः, नातिमानिता च स्वस्याऽतिपूज्यत्वाभिनिवेशोऽतिमानस्तदभावो नातिमानः सोऽस्याऽस्तीति नातिमानी तस्य भावो नातिमानिता स्वस्य प्रतिष्ठानपेक्षित्वं च । अभयादिनातिमानितान्ताः षड्विंशतिरेते सात्त्विका धर्माः । दैवीं सम्पदम् 'तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम्' इत्युक्तत्वात् दीव्यते निर्मलत्वेन प्रकाशत इति देवः सत्त्वगुणस्तस्य सम्बन्धिनी दैवी संपत् समृद्धिरुत्कर्षस्तां दैवीं सम्पदमभिजातस्य पूर्वजन्मकृतपुण्याधिक्यात्सत्त्वाधिक्यमभि अनुसृत्य जातस्य । यद्वा, देवानां सम्पदं दैवीमभिजातस्य भविष्यत्परमपुरुषार्थस्य पुण्यपुरुषस्य भवन्ति सम्भवन्तीत्यर्थः ॥ ३ ॥

दैवीं सम्पदमभिजातस्याऽभयादयो मोक्षहेतवः सात्त्विका गुणाः प्रभवन्तीति प्रतिपाद्याऽऽसुरीं सम्पदमभिजातस्यैते गुणा भवन्तीत्याह—**दम्भ इति ।**

वेषभाषाचारादिभिः स्वस्य महत्त्वसिद्धये स्वेनैव कुलशीलविद्याचारमहत्त्वप्रकटनं दम्भः, विद्यारूपकुलधनकर्मादिनिमित्तश्चित्तोद्रेकः सतामवमानहेतुर्दर्पः,

---

आन्तर शौच है । अद्रोह—द्रोह यानी अपने अपकारीको मारनेकी इच्छा, उसका अभाव अद्रोह और नातिमानिता अपनेमें अतिपूज्यत्वका अभिनिवेश अतिमान है, उसका अभाव नातिमान, वह जिसके है, वह नातिमानी, उसका भाव नातिमानिता—अपनी प्रतिष्ठाकी अपेक्षा न होना । अभयसे लेकर नातिमानिता तक ये छब्बीस सात्त्विक धर्म हैं । दैवी संपद् 'उनमें सत्त्वगुण निर्मल होनेसे प्रकाशक और अनामय है' इस कथनसे जो दीप्त होता है—निर्मल होनेसे प्रकाश करता है, वह देव—सत्त्वगुण, उसकी सम्बन्धिनी दैवी संपत्—समृद्धि—उत्कर्ष, उस दैवी संपत्में अभिजातके—पूर्वजन्ममें किये गये पुण्यकी अधिकतासे सत्त्वकी अधिकताके अनुसार जन्मे हुए पुरुषके अथवा देवताओंकी सम्बन्धिनी दैवी संपद्के अनुसार उत्पन्न भावी परम पुरुषार्थवाले पुण्यात्मा पुरुषके [ये छब्बीस सात्त्विक धर्म] होते हैं, यह अर्थ है ॥ ३ ॥

दैवी संपद्के अनुसार उत्पन्न हुए पुरुषमें अभय आदि मोक्षके हेतु सात्त्विक गुण उत्पन्न होते हैं, ऐसा प्रतिपादन करके आसुरी संपद्के अनुसार उत्पन्न पुरुषमें ये गुण होते हैं, ऐसा कहते हैं—**'दम्भः'** इत्यादिसे ।

वेष, भाषा और आचार आदिसे अपना महत्त्व सिद्ध करनेके लिए स्वयं ही अपने कुल, शील, विद्या और आचारके महत्त्वको प्रकट करना दम्भ है । विद्या, रूप, कुल, धन, कर्म आदिसे जनित

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायाऽऽसुरी मता ।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥ ५ ॥

दैवी सम्पत्ति संसारबन्धनसे मुक्तिके लिए और आसुरी सम्पत्ति संसारमें बन्धनके लिए मानी गई है । इसलिए हे पाण्डव, तुम शोक मत करो, क्योंकि तुम दैवी सम्पदाके अनुसार उत्पन्न हुए हो ॥ ५ ॥

स्वस्मिन्नेवोत्कृष्टत्वबुद्धिरभिमानः, परापकारनिमित्तो महानर्थसम्पादने हेतुश्चित्तक्षोभः क्रोधः, परुषो निष्ठुरभाषा तस्य भावः पारुष्यम्, चकारः समुच्चयार्थः । एवकारः स्वप्नेऽप्यस्य न मृदूक्तिरितीतरव्यवच्छेदार्थः । अज्ञानं सदसद्विवेकाभावः, चकारात्तत्कार्यं च । दम्भादयोऽज्ञानान्ताः षडेते रजस्तमोधर्माः । आसुरीं सम्पदं 'रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्' इति 'तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्' इति चोक्तत्वाद् घोरं कर्म कारयितुं पुरुषस्याऽसून् प्राणानिन्द्रियाणि च रात्याकर्षतीत्यसुरः रजोगुणस्तमोगुणश्च तस्य सम्बन्धिन्यासुरी सम्पत्समृद्धिरुत्कर्षस्तामासुरीं सम्पदमभिजातस्य प्राग्भवीयपापाधिक्याद् रजस्तमोगुणोत्कर्षाधिक्यमभ्यनुसृत्य जातस्य । यद्वा, असुराणां सम्पदासुरी सम्पत् तां सम्पदमासुरीमभिजातस्य दुरात्मन भाव्यनर्थपात्रस्य पुरुषस्य भवन्ति संभवन्तीत्यर्थः ॥ ४ ॥

द्वयोरपि सम्पदोः कार्यमाह—दैवीति ।

चित्तका उद्रेक, जो कि सत्पुरुषोंके अपमानका हेतु है, दर्प कहलाता है । अपनेमें ही उत्कृष्टत्वबुद्धि अभिमान है, पराये अपकारसे जनित महान् अनर्थका संपादन करनेमें हेतु चित्तका क्षोभ क्रोध है, परुष यानी कठोर भाषा, उसका भाव पारुष्य है, चकार समुच्चयके अर्थमें है । स्वप्नमें भी इसकी कोमल वाणी नहीं होती, ऐसे इतरसे व्यवच्छेदके लिए एवकार है । अज्ञान—सत् और असत्के विवेकका अभाव, चकारसे उसका कार्य भी विवक्षित है । दम्भसे लेकर अज्ञानतक ये छः रजोगुण और तमोगुणके धर्म हैं । आसुरी संपद् 'रजको रागात्मक जानो, वह तृष्णासंगसे उत्पन्न हुआ है', इससे और 'सब देहधारियोंके मोहक तमको अज्ञानसे उत्पन्न हुआ जानो, इससे उक्त होनेके कारण घोर कर्म करानेके लिए जो पुरुषके असून्–प्राणोंको और इन्द्रियोंको खींचता है, वह आसुर है— रजोगुण और तमोगुण, उसकी सम्बन्धिनी आसुरी संपत्—समृद्धि यानी उत्कर्ष, उस आसुरी संपद्में अभिजातके--पूर्व जन्मके पापकी अधिकतासे रजोगुण और तमोगुणकी अधिकताके अनुसार उत्पन्न हुए पुरुषके—होते हैं। अथवा असुरोंकी सम्पत् आसुरी संपत्, उस आसुरी संपद्में अभिजात— दुरात्मा भावी अनर्थके पात्र पुरुष—के होते हैं—उत्पन्न होते हैं, यह अर्थ है ॥ ४ ॥

दोनों ही संपदोंका कार्य कहते हैं—'दैवी' इत्यादिसे ।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥ ६ ॥

हे पार्थ, इस संसारमें दैव और आसुर दो ही प्रकारका भूतोंका स्वभाव है, इन दोनोंसे अतिरिक्त नहीं । इनमें दैव स्वभावका विस्तारपूर्वक वर्णन किया जा चुका है । अब तुम आसुर स्वभाव मुझसे सुनो ॥ ६ ॥

'अभयं सत्त्वसंशुद्धिः' इत्यादिना या दैवी सम्पदुक्ता सा विमोक्षाय संसारबन्धमोक्षाय भवत्यतो दैवसंपद्युक्त एवाऽसंमूढो ज्ञानाधिकारी भवति न त्वासुरसंपद्युक्त इति सूचयितुमासुरसम्पत्तेर्बन्धकत्वमाह—**निबन्धायेति** । 'दम्भो दर्पः' इत्यादिना प्रोक्ता या आसुरसम्पत् सा बन्धायैव भवतीति मता मया निश्चिता न कचिदपि मोक्षायेत्यर्थः । तर्ह्यहमासुरसम्पत्तिमानुत दैवसंपत्तिमान्वेति संदिह्यमानमर्जुनमालक्ष्य तत्संशयं परिहर्तुमाह—**मा शुच इति** । हे पाण्डव, त्वं दैवीमेव सम्पदमभिजातोऽसि । तद्युक्तः संसारान्मोक्ष्यसे । मा शुचस्त्वमस्मिन्नर्थे चिन्तां मा कुर्वित्यर्थः ॥ ५ ॥

ननु 'राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः' इति, 'दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः' इति, 'प्रकृत्या नियताः स्वया' इति च बह्व्यः प्रकृतयः प्रोक्ताः कथमेतासां निर्णय इत्याकाङ्क्षायां राक्षस्यासुर्यामेवान्तर्भवति, दैव्यासुरी चेति प्रकृतिर्द्विप्रकारैव भवति । 'प्रकृत्या नियताः स्वया' इति दैव्यासुरी चोच्यते न तदतिरिक्तोच्यत इति प्रकृति-

---

'अभयं सत्त्वसंशुद्धिः' इत्यादिसे जो दैवी संपद् कही गई है, वह विमोक्षके लिए—संसाररूप बन्धनसे छूटनेके लिए होती है, इसलिए दैवसंपद्से युक्त ही असंमूढ़ ज्ञानका अधिकारी होता है, आसुर सम्पत्तिसे युक्त पुरुष नहीं, ऐसा सूचन करनेके लिए आसुर सम्पत्तिका बन्धकत्व कहते हैं—'**निबन्धाय**' इत्यादिसे । 'दम्भ, दर्प' इत्यादिसे कही गई जो आसुर सम्पत्ति है, वह बन्धके लिए होती है, ऐसा माना गया है—मैंने निश्चय किया है। वह कभी भी मोक्षके लिए नहीं होती, यह अर्थ है । तब मैं आसुर सम्पत्तिवाला हूँ या दैवी संपत्तिवाला हूँ ऐसे संदेहसे युक्त अर्जुनको देखकर उसके संशयको दूर करनेके लिए भगवान् कहते हैं—'**मा शुचः**' इत्यादि । हे पाण्डव, तुम दैवी संपत्तिमें उत्पन्न हुए हो । उससे युक्त तुम संसारसे छूट जाओगे । शोक मत करो, इस विषयमें चिन्ता मत करो, यह अर्थ है ॥ ५ ॥

'राक्षसी, आसुरी और मोहनी प्रकृतिका आश्रय लेकर स्थित', 'दैवी प्रकृतिका आश्रय लिये हुए', और 'अपनी प्रकृतिसे नियत' इस तरह बहुत प्रकृतियां कही गई हैं, इनका निर्णय कैसे हो ? ऐसी आकांक्षा होनेपर राक्षसी आसुरीके ही अन्तर्गत है । दैवी और आसुरी, दो प्रकारकी ही प्रकृति हैं । 'अपनी प्रकृतिसे नियत' इस वाक्यसे दैवी और आसुरी ही प्रकृति कही जाती हैं,

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नाऽपि चाऽऽचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ७ ॥

आसुर स्वभाववाले मनुष्य प्रवृत्ति और निवृत्ति (धर्म और अधर्म) इन दोनोंको नहीं जानते; इसलिए उनमें न तो आन्तर और न बाह्य शुद्धता है, न आचार है और न यथार्थ भाषण ही है ॥ ७ ॥

द्वैविध्यमेव निदर्शयन्नासुरीमेव प्रकृतिं विशिष्य प्रतिपादयति, हेयांशे परिज्ञाते उपादेयांशस्तद्विलक्षणत्वेन ज्ञातुं शक्यत इति सूचयितुम्—**द्वाविति** ।

लोकेऽस्मिन् संसारमण्डले भूतसर्गौ भूतानां प्राणिनां सर्वेषां च सर्गौ । सृज्यते संसृज्यते गन्धः पुष्पमिव प्राणिचित्तमनुबध्य तिष्ठतीति सर्गः स्वभावस्तौ सर्गौ प्रकृती दैव आसुरश्चेति द्वावेव नाऽतिरिक्तोऽस्तीत्यर्थः । तयोः सर्गयोर्मध्ये अभयमित्यादिना दैवो भूतसर्गो विस्तरशो विस्तरेण प्रोक्तः । न त्वासुरस्तं मुमुक्षोर्हेयत्वेन विज्ञातव्यं मे मया वक्ष्यमाणं शृण्विति ॥ ६ ॥

तामेवाऽऽसुरीं संपदं प्रतिपादयति द्वादशभिः । तत्राऽऽद्येन तेषां शीलमाह—**प्रवृत्तिमिति** ।

शास्त्रदृष्टे कर्तव्ये धर्मे प्रवृत्तिं च शास्त्रदृष्टानर्थहेतोरधर्मान्निवृत्तिं च आसुरा आसुरस्वभावा रजस्तमोगुणप्रधाना जना न विदुः । धर्ममधर्मं च न जानन्तीत्यर्थः ।

उनसे अतिरिक्त नहीं कही जाती, इसलिए हेय अंशके जाननेपर ही उपादेय अंश, उससे विलक्षणरूपसे जाना जा सकता है, ऐसा सूचन करनेके लिए दो प्रकारकी ही प्रकृतिको दिखलाते हुए आसुरी प्रकृतिका ही विशेषरूप प्रतिपादन करते हैं—**'द्वौ'** इत्यादिसे ।

इस लोकमें—संसार मण्डलमें—भूतसर्ग (भूतोंका और सब प्राणियोंका सर्ग) जो जुटा रहता है—पुष्पमें गन्धके समान मिला रहता है—प्राणियोंके चित्तसे सम्बन्ध करके स्थित रहता है, वह सर्ग है यानी स्वभाव, वे दोनों सर्ग अर्थात् प्रकृति दैव और आसुर, दो ही हैं, अधिक नहीं, यह अर्थ है। उन दोनों सर्गोंमें से 'अभय' इत्यादिसे दैव भूतसर्ग विस्तारसे कहा जा चुका है। आसुर नहीं कहा गया है। वह मुमुक्षुको हेयरूपसे जानने योग्य है, उसको मैं कहूँगा, मुझसे सुनो ॥ ६ ॥

इसी आसुरी संपत्तिका बारह श्लोकोंसे प्रतिपादन करते हैं। उनमें पहले श्लोकसे उनका शील कहते हैं—**'प्रवृत्तिम्'** इत्यादिसे ।

शास्त्रदृष्ट कर्तव्यरूप धर्ममें प्रवृत्तिको और शास्त्रदृष्ट अनर्थके हेतु अधर्मसे निवृत्तिको आसुर—आसुर स्वभाववाले—रजोगुण और तमोगुण प्रधान पुरुष नहीं जानते। धर्मको और अधर्मको

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ ८ ॥

वे असुरस्वभाववाले कहते हैं कि सम्पूर्ण जगत् असत्य, कारणशून्य, ईश्वररूप जनकसे रहित, स्वभावसे ही स्त्री और पुरुषके संयोगसे उत्पन्न है, इसलिए काम ही उसका कारण है उसके अतिरिक्त और क्या कारण है ? ॥ ८ ॥

ननु 'सत्यं वद । धर्मं चर' इत्यादिश्रुतौ विद्यमानायां कथं ते धर्ममधर्मं च न जानन्तीत्याशङ्कायां तेषां तत्राऽप्रमाणत्वबुद्ध्या विश्वासो नाऽस्तीति सूचयितुमाह—**न शौचमिति ।** कर्तव्याकर्तव्यार्थज्ञानशून्यत्वेन निषिद्धरतेषु तेषु शौचं बाह्यमाभ्यन्तरं च नाऽस्ति । तथैव आचारोऽपि नाऽस्ति । चकाराद्दयाऽपि नाऽस्ति । सत्यं यथार्थभाषणं च नाऽस्ति । दयासत्यशौचाचाररहिता आसुरा इत्यर्थः ॥ ७ ॥

स्वभावानुरूपं तेषां निश्चयमाह—**असत्यमिति ।**

दयातपःसत्यशौचरहितास्ते आसुरा जना यथा स्वयमसत्यपरास्तथा जगत्सर्वमप्यसत्यं आहुः प्राहुः । वेदाः वेदोक्तधर्मास्तत्फलभूता लोकाश्च सर्वं मिथ्यैवेति वदन्तीत्यर्थः । ननु सुखदुःखादिभेदलक्षणं जगद्वैचित्र्यं दृश्यते यतस्तत्कारणं धर्माधर्मौ तन्मूलभूतो वेदश्च लोकाश्च सर्वं सत्यमित्यवगन्तुं शक्यत इत्यत आह—**अप्रतिष्ठमिति ।** प्रतितिष्ठत्यनयेति प्रतिष्ठा कारणं सुखदुःखादिवैचित्र्यहेतुभूतौ धर्माधर्मौ, न प्रतिष्ठाऽस्येत्यप्रतिष्ठं प्राहुर्न धर्माधर्मनिमित्तकं जगद्वैचित्र्यं । किन्तु वस्तु-

---

नहीं जानते, यह अर्थ है । 'सत्य बोलो, धर्म करो' इत्यादि श्रुतियोंमें विद्यमान धर्म और अधर्मको कैसे नहीं जानते, ऐसी आशङ्का होनेपर उनका उसमें अप्रमाणत्वबुद्धि होनेसे विश्वास नहीं है, यह सूचन करनेके लिए कहते हैं—**न शौचमिति** । कर्तव्य और अकर्तव्य अर्थके ज्ञानसे शून्य होनेके कारण निषिद्ध कर्ममें प्रीति करनेवाले उनमें बाह्य और आन्तरका शौच नहीं होता, उसी प्रकार आचार भी नहीं होता, चकारसे दया भी नहीं होती और यथार्थभाषण भी नहीं होता । दया, सत्य, शौच और आचारसे रहित आसुर हैं, यह अर्थ है ॥ ७ ॥

स्वभावके अनुसार उनका निश्चय कहते हैं—**'असत्यम्'** इत्यादिसे ।

दया, तप, सत्य और शौचसे रहित वे आसुर जन जैसे आप असत्यपर हैं, वैसे सब जगत्को भी असत्य कहते हैं । वेद, वेदोक्त धर्म और उनके फलभूत सब लोक मिथ्या ही हैं, ऐसा कहते हैं. यह अर्थ है । यदि कहो कि यतः सुख, दुःख आदि भेदलक्षणवाली जगत्की विचित्रता दिखायी देती है, इसलिए धर्म और अधर्म उनके मूलभूत वेद और लोक सब सत्य हैं, ऐसा जाना जा सकता है, तो इसपर कहते हैं—**अप्रतिष्ठमिति** । जिससे स्थित होता है, वह प्रतिष्ठा है यानी कारण, सुख, दुःख आदि विचित्रताके हेतुभूत धर्म और अधर्म; जिसकी प्रतिष्ठा नहीं है, वह

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९ ॥

इस लोकायतिक दृष्टिका (नास्तिक मतका) अवलम्बन करके काम, क्रोध आदि दोषोंसे तिरोहित बुद्धिवाले, अतएव तुच्छ विषयोंके भोगमें ही जिनकी बुद्धि है, साधु-महात्माओंके शत्रु, क्रूर कर्म करनेवाले आसुर मनुष्य केवल संसारके नाशके लिए ही उत्पन्न होते हैं ॥ ९ ॥

स्वभावादेव सुखदुःखादिवैचित्र्यमिति वदन्तीत्यर्थः । तथा अनीश्वरं च न यस्येश्वर उत्पत्तिकारणं तदनीश्वरं जगदाहुरित्यर्थः । नन्वीश्वरस्य जगदुत्पत्तिकारणत्वानङ्गीकारे कथं प्रजासर्ग इत्यत आह—**अपरस्परसंभूतमिति** । अपरश्च परश्च अपरस्परं मिथुनं तस्मात्संभूतमपरस्परसंभूतं प्राहुः । स्त्रीपुंसयोः संयोगाज्जगत्सर्वं जातमिति वदन्तीत्यर्थः । ननु तयोरपि प्रेरकं निमित्तकारणमीश्वरोऽभ्युपगन्तव्य इत्यत आह—**कामहैतुकमिति** । प्रजासर्गे काम एव हेतुर्यस्य तत्कामहेतुकं कामहेतुकमेव कामहैतुकं । तयोः प्रेरणे प्रजासृष्टौ काम एव कारणं किमन्यत्ततोऽन्यत्कारणं किमस्तीति प्राहुः । दृष्टं त्यक्त्वा अदृष्टस्य धर्मादेरीश्वरस्य वा कारणत्वकल्पना न युक्तेति वदन्तीत्यर्थः ॥ ८ ॥

एवं तेषामासुराणां प्रत्यक्षैकमानवतां निश्चयमुक्त्वा निश्चयस्य कार्यमाह—**एतामिति** ।

अप्रतिष्ठ है, यानी जगत्‌को अप्रतिष्ठ कहते हैं। धर्म और अधर्मके कारणसे जगत्‌की विचित्रता नहीं है, किन्तु वस्तुके स्वभावसे ही सुख, दुःख आदिकी विचित्रता है, ऐसा कहते हैं, यह अर्थ है । तथा अनीश्वर भी, जिसका ईश्वर उत्पत्तिका कारण नहीं है, ऐसे अनीश्वर जगत्‌को कहते हैं, यह अर्थ है । कोई कहे कि ईश्वरको जगत्‌की उत्पत्तिका कारण न मानें, तो प्रजाकी उत्पत्ति कैसे होगी ? इसपर कहते हैं—**अपरस्परसम्भूतमिति** । अपर और पर अपरस्पर यानी मिथुन, उससे संभूत अपरस्परसंभूत कहते हैं । स्त्री और पुरुषके संयोगसे सब जगत् उत्पन्न हुआ है, ऐसा कहते हैं, ऐसा अर्थ है । यदि कहो कि उन दोनोंका प्रेरक निमित्त कारण ईश्वरको मानना चाहिए, इसपर कहते हैं—**कामहैतुकमिति** । प्रजासर्गमें काम ही हेतु जिसका है, वह कामहेतुक है कामहेतुक ही कामहैतुक है, अतः दोनोंके प्रेरणमें, प्रजासृष्टिमें काम ही कारण है, उससे अन्य कारण कौन है, ऐसा कहते हैं । दृष्टका त्याग कर अदृष्ट धर्मादिकी अथवा ईश्वरकी कल्पना युक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं, यह अर्थ है ॥ ८ ॥

इस प्रकार एक प्रत्यक्ष प्रमाणवाले उन असुरोंका निश्चय कह कर निश्चयका कार्य कहते हैं—**'एताम्'** इत्यादि ।

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद् गृहीत्वाऽसद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥ १० ॥

दम्भ, मान और मदसे युक्त पुरुष हजारों वर्षोंमें भी विषयोंके भोगसे पूर्ण न होनेवाले केवल कामका ही आश्रय लेकर, अज्ञानसे वेदशास्त्र-विरुद्ध सिद्धान्तोंका ग्रहण कर, नरकादि अनर्थके हेतु नियमोंका पालन करके जगत्के नाशके लिए प्रवृत्त होते हैं ॥ १० ॥

प्रागुपदिष्टामेतां लोकायतिकदृष्टिमवष्टभ्याऽवलम्ब्य नष्टात्मानः कामक्रोधलोभ-मोहादिलक्षणेन रजस्तमोदोषेण नष्टस्तिरोहित आत्मा विवेकबुद्धिर्येषां ते नष्टात्मानः । तत एवाऽल्पबुद्धयः अल्पे तुच्छे स्रगादिविषयभोगे बुद्धिर्येषां तेऽल्पबुद्धयः । यद्वा, अल्पे मलमांसास्थिमये देहे अहमिति बुद्धिर्येषां ते देहमात्रात्मदर्शिनः । अत एवोग्र-कर्माणः उग्रं क्रूरं शास्त्रविरुद्धं देहपोषणैकप्रयोजनं परहिंसाप्रधानं कर्म येषां ते उग्र-कर्माणः । अत एवाऽऽसुरास्तत एवाऽहिताः साधूनां शत्रवः स्वयं जगतो नाशाय जगतः स्थितिहेतुभूतवेदतदुक्तधर्मनाशायैव प्रभवन्ति समर्था भवन्ति, न तु रक्षणायेत्यर्थः ॥ ९ ॥

जगन्नाशाय कथं प्रभवन्तीत्यत आह—**काममिति** ।

दुष्पूरं वर्षशतकोट्याऽपि विषयभोगेन पूरयितुं तर्पयितुमशक्यत्वात् दुष्पूरं काममेकमेवाऽऽश्रित्य न तु धर्मम् । दम्भमानमदान्विताः दम्भो बहिर्धर्मिष्ठत्वचिह्नम्, मानः स्वस्मिन्नवोत्कृष्टत्वाभिनिवेशः, मदो विद्यैश्वर्यादिकृतश्चित्तविकारः विवेकनाशहेतुः,

---

पूर्वोक्त इस लोकायतिक दृष्टिका अवलम्बन कर नष्टात्मा (काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि लक्षणवाले रजोगुण और तमोगुणरूप दोषसे नष्ट—तिरोहित—है आत्मा यानी विवेकबुद्धि जिनकी, वे नष्टात्मा हैं), इसीलिए अल्पबुद्धिवाले (अल्प—तुच्छ—स्रगादि विषयभोगमें बुद्धि जिनकी है, वे अल्पबुद्धिवाले अथवा अल्पमें—मल-मांस-हड्डीवाले देहमें 'मैं' ऐसी बुद्धि जिनकी है, वे अल्पबुद्धि हैं) यानी देहात्ममात्रदर्शी। इसीलिए उग्रकर्मा) उग्र—क्रूर, केवल देहपोषण प्रयोजन-वाला परहिंसाप्रधान शास्त्रविरुद्ध कर्म जिनका, वे उग्रकर्मा हैं), इसीलिए आसुर, इसीलिए अहित—साधुओंके शत्रु—स्वयं जगत्के नाशके लिए यानी जगत्की स्थितिके हेतुभूत वेद और वेदोक्त धर्मके नाशके लिए प्रभु होते हैं—समर्थ होते हैं, रक्षणके लिए नहीं, यह अर्थ है ॥ ९ ॥

जगत्के नाशके लिए समर्थ कैसे होते हैं, इसपर कहते हैं—'**कामम्**' इत्यादिसे ।

दुष्पूर—कोटि कोटि वर्षोंतक विषयभोगसे पूर्ण करनेके लिए—तृप्त करनेके लिए—अशक्य होनेसे दुष्पूर केवल कामका ही आश्रय करके, न कि धर्मका । दम्भ, मान और मदसे अन्वित, दम्भ—बाहर धर्मिष्ठताका चिह्न, मान—अपनेमें उत्कृष्टत्वका अभिनिवेश, मद—विद्या, ऐश्वर्य आदि द्वारा किया गया विवेकके नाशका हेतु चित्तका विकार । स्वयं इनसे युक्त आसुर मोहसे—असत्में

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥ ११ ॥

और वे प्रलयपर्यन्त रहनेवाली अपरिमेय (असंख्य) चिन्ताओंका आश्रय लेकर विषयोंके उपभोगको ही परम पुरुषार्थ समझनेवाले इतना ही—जन्मसे लेकर मरण पर्यन्त विषयोंका भोग करना—ही मनुष्य जन्मका फल है, ऐसा निश्चय करके ॥११॥

स्वयमेतैरन्विता आसुरा मोहादसति सद्बुद्धिर्मोहोऽविवेकस्तस्मादसद्ग्राहान् असदनर्थमेव ग्राहयन्ति संभावयन्तीत्यसद्ग्राहास्तान्निश्चयान् वेदशास्त्रविरुद्धान् गृहीत्वा अशुचिव्रताः अशुचीन्यमङ्गलकराणि नरकाद्यनर्थकारणानि व्रतानि नियमा येषां तेऽशुचिव्रता भूत्वा जगतो नाशाय प्रवर्तन्ते ॥ १० ॥

किञ्च, **चिन्तामिति** । अपरिमेयां परिमातुमशक्याम् । इयत्ताशून्यामित्यर्थः । प्रलयान्तां प्रलयश्चरमश्वासोऽन्तोऽवधिर्यस्यास्तां मरणावधिकां चिन्तां भोग्यसौष्ठवासौष्ठवसिद्ध्यसिद्ध्यालोचनरूपामाश्रिताः कामोपभोगपरमाः काम्यन्त इति कामा भोग्यपदार्थास्तेषामुपभोग एव परमः निरतिशयः पुरुषार्थः पुरुषत्वसिद्धेः फलं येषां ते कामोपभोगपरमाः । एतावदितिनिश्चिताः पुमान् जनित्वा मरणान्तं सम्यग्विषयाननुभुङ्क्त इति यत्त्वेतावदेव पुंजन्मनः फलं देहपातस्यैव मोक्षत्वान्नाऽतः परमं फलमिति निश्चितं सिद्धान्तो येषां ते एतावदितिनिश्चिताः सन्तः कामभोगार्थमीहन्ते इत्युत्तरेणाऽन्वयः ॥ ११ ॥

सत् बुद्धि मोह है, यानी—अविवेक, उससे, असत् ग्राहोंका—असत् का यानी अनर्थका ही जो ग्रहण कराते हैं—उत्पन्न करते हैं, वे असद्ग्राह—उनका अर्थात् वेदशास्त्रविरुद्ध निश्चयोंका ग्रहण करके अशुचिव्रत (अशुचि—अमङ्गलकारी—नरक आदि अनर्थके कारण व्रत यानी नियम जिनके हैं, वे अशुचिव्रत हैं) होकर जगत्के नाशके लिए प्रवृत्त होते हैं ॥ १० ॥

किञ्च, **चिन्तामिति** । अपरिमेय—जिसका नाप नहीं किया जा सकता, ऐसी यानी इयत्तासे शून्य, यह अर्थ है । प्रलयान्त (प्रलय यानी अन्तिम श्वास है अन्त—अवधि—जिसकी, वह प्रलयान्त है) यानी मरणपर्यन्त चिन्ताका (भोग्यकी सौष्ठव और असौष्ठव, सिद्धि एवं असिद्धिकी विचाररूप चिन्ताका) अवलम्बन कर, कामोपभोगपरमा (जिनकी अभिलाषा होती है, वे काम हैं यानी—भोग्य पदार्थ, उनका उपभोग ही परम यानी निरतिशय जिनका पुरुषार्थ—पुरुषत्वकी सिद्धिका फल—है, वे कामोपभोगपरम हैं) । एतावादितिनिश्चिताः—(पुरुष जन्म लेकर मरनेतक भली-भांति जो विषयोंको भोगता है, केवल इतना ही पुरुषजन्मका फल है, क्योंकि देहपात ही मोक्ष है, उससे अन्य फल नहीं है, ऐसा जिनका निश्चित सिद्धान्त है, वे एतावदितिनिश्चित यानी इतना ही परम पुरुषार्थ है, ऐसा निश्चयवाले होकर कामके भोगके लिए चेष्टा करते हैं, ऐसा आगेके श्लोकके साथ सम्बन्ध है ॥ ११ ॥

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनाऽर्थसञ्चयान् ॥ १२ ॥

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥ १३ ॥

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चाऽपरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी ॥ १४ ॥

सैकड़ों आशारूपी जालोंसे बँधे हुए, काम-क्रोधपरायण आसुर प्रकृतिवाले पुरुष स्रग् आदि विषयोंके भोगके लिए ही अन्यायसे धन-संग्रह करते हैं ॥ १२ ॥

मैंने आज यह प्राप्त कर लिया है, अब मैं इस मनोरथको प्राप्त करूँगा, मेरे पास इस समय इतना धन है और वह आगे इससे भी प्रचुर हो जायगा ॥ १३ ॥

मैंने इस शत्रुको मार डाला है और इन दूसरे शत्रुओंको भी मार डालूँगा। मैं ईश्वर हूँ, ऐश्वर्यको भोगनेवाला हूँ, मैं पुत्र-पौत्रादि सब धन-धान्यसे सम्पन्न, बलवान् तथा सुखी हूँ ॥ १४ ॥

किञ्च, **आशेति** । आशापाशशतैर्बद्धाः आशा अप्राप्तार्थाभिलाषास्ता एव पाशा बन्धनरज्जवस्तेषां शतैर्बद्धाः । कामक्रोधपरायणाः आसुराः कामभोगार्थं कामानां स्रगादिविषयाणां भोगार्थमेव न तु दानार्थं नाऽपि धर्मार्थं च । किन्तु विषयानुभवायैव अन्यायेन शास्त्रविरुद्धेन मार्गेण कपटवञ्चनादिरूपेणाऽर्थसञ्चयान् सम्पाद्यानीहन्ते कुर्वन्तीत्यर्थः ॥ १२ ॥

अन्यायेनाऽर्थसम्पादनपराणामासुराणां हृदये सङ्कल्पप्रकारमाह—**इदमिति त्रिभिः** । स्पष्टार्थः ॥ १३ ॥

किञ्च, आशेति । आशापाशशतोंसे बँधे हुए, आशा—अप्राप्त पदार्थोंकी अभिलाषा, वे ही हैं पाश—बन्धनकी रस्सियां उनके सैकड़ोंसे बँधे हुए । कामक्रोधपरायण—आसुर—कामभोगके अर्थ—कामोंके—स्रगादि विषयोंके भोगके लिए ही, न कि दानके लिए और न धर्मके लिए किन्तु विषयोंके अनुभवके लिए अन्यायसे—कपट, वञ्चना आदिरूप शास्त्रविरुद्ध मार्गसे धनका संचय करते हैं, यह अर्थ है ॥ १२ ॥

अन्यायसे धनके संपादनमें तत्पर आसुरोंके हृदयमें जैसे जैसे सङ्कल्प उठते हैं, उन्हें कहते हैं—'इदम्' इत्यादि तीन श्लोकोंसे ।

इस श्लोकका अर्थ स्पष्ट है ॥ १३ ॥

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥ १५ ॥
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ १६ ॥

मैं बड़ा धनी और अङ्गोंसहित वेदोंका परिज्ञाता हूँ । मेरे सदृश दूसरा कौन है ? मैं याग करूँगा, दान दूँगा और अमोद-प्रमोद करूँगा—इस प्रकार अज्ञानसे मोहको प्राप्त हुए, अनेक प्रकारके चित्तविकारोंसे विभ्रान्त, मोहरूपी जालसे समावृत, विषयोंके भोगोंमें अत्यन्त आसक्त आसुर स्वभाववाले मनुष्य अपवित्र नरकमें गिरते हैं ॥ १५,१६ ॥

किञ्च, **असाविति** । ईश्वरो विद्याधनादिभिः समर्थः सिद्धः पुत्रैः पौत्रैः पशुभिर्धनधान्यैः संपन्नः कृतकृत्यः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ १४ ॥

किञ्च, **आढ्य इति** । आढ्यो बहुधनसंपन्नः । अभिजनवाननूचानः । यक्ष्ये प्रतिष्ठार्थं धनार्थं जीवनार्थं वा यागं करिष्यामि । दास्यामि स्तावकेभ्यो नटविटादिभ्यो न तु श्रोत्रियेभ्यो बन्धुभ्यश्च । मोदिष्ये दत्त्वा भुक्त्वा संतोषं प्राप्स्यामीत्येवमज्ञानविमोहिताः सदसद्विवेकाभावोऽज्ञानं तेन विविधं मोहिताः मोहं प्राप्ताः ॥ १५ ॥

एवं कामसङ्कल्पैर्विविधभावापन्नानां कामपराणां तत्प्रवृत्तेः फलमाह—**अनेकेति** ।

अनेकचित्तविभ्रान्ताः 'इदमद्य मया लब्धम्' इत्येवंरूपैरनेकविधैश्चित्तविकारैर्विभ्रान्ता विविधं भ्रान्ताः । मोहजालसमावृताः मोहः सदसद्विवेकाभावः स एव जालं मत्स्याना-

---

किञ्च, **'असौ'** इत्यादि । ईश्वर—विद्या, धन आदिसे समर्थ, सिद्ध—पुत्रोंसे, पौत्रोंसे, पशुओंसे, धनधान्यसे संपन्न यानी कृतकृत्य । श्लोकका अवशिष्ट अंश स्पष्ट है ॥ १४ ॥

किञ्च, **'आढ्य'** इत्यादि । आढ्य—बहुधनसंपन्न । अभिजनवान् यानी अनूचान (साङ्गवेदज्ञाता) । यज्ञ करूँगा—प्रतिष्ठाके लिए, धनके लिए या जीवनके लिए याग करूँगा । दूँगा—स्तुति करनेवाले नट, विट आदिके लिए दान दूँगा, न कि श्रोत्रियोंके लिए और न बन्धुओंके लिए । मोद करूँगा—देकर, भोगकर संतोषको प्राप्त होऊँगा, इस प्रकार अज्ञानसे विमोहित, सत् और असत्का विवेक न होना अज्ञान है, उससे अनेक प्रकारसे मोहित यानी मोहको प्राप्त हुए ॥ १५ ॥

इस प्रकार कामसंकल्पोंसे अनेक प्रकारके भावोंको प्राप्त हुए कामपरायणोंकी प्रवृत्तिका फल कहते हैं—**'अनेक०'** इत्यादिसे ।

अनेक चित्तविभ्रान्त—'यह आज मैंने प्राप्त किया' यों इस प्रकारके अनेकविध चित्तके विकारोंसे विभ्रान्त—अनेक प्रकारसे भ्रान्त । मोहजालसे समावृत—मोह यानी सत् और असत्के

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाऽविधिपूर्वकम् ॥ १७ ॥

धनके उत्कर्षसे समुत्पन्न मान और मदसे युक्त, अपनेसे ही बहुकृत हुए (श्रेष्ठ बने हुए), उद्धत, असुरप्रकृतिके वे पुरुष केवल नाममात्रके यज्ञोंसे, शास्त्रविधिके बिना ही अपने महत्त्वकी ख्यातिके लिए याग करते हैं ॥ १७ ॥

मिवाऽऽवरणात्मको नाशकश्च तेन सम्यगावृतास्तिरोहितविवेकास्तत एव कामभोगेषु विषयसेवायामेव प्रसक्ताः प्रकर्षेण सक्ताः परिनिष्ठिताः न क्वचित्स्वधर्मे। तत एवाऽशुचौ श्लेष्मपूयहृदादिरूपत्वादशुद्धे नरके रौरवादौ पतन्ति ॥ १६ ॥

ननु तेषामपि ब्राह्मणत्वेन श्रुताध्ययनाध्यापनसंभवाद् वेदोक्तकर्मानुष्ठानसंभवाच्च कथमेतेषां वैदिकानामशुचिनरकपात इत्याशङ्कायाम्, न; 'श्रद्धयाग्निः समिध्यते' इति, 'यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्मिँल्लोके जुहोति' इत्यादिश्रुत्युक्तलक्षणाभावात्तैरविधिना क्रियमाणयज्ञैर्यज्ञाभासैर्नेश्वरः प्रीयते तन्नियमोल्लङ्घनप्रवृत्तत्वात्तेषामासुराणां नरकप्रापणमेव सिद्धमिति प्रतिपादयति—**आत्मेति द्वाभ्याम्** ।

धनमानमदान्विताः मानो गर्वः मदो मत्तता धनोत्कर्षसमुत्पन्नौ मानमदौ ताभ्यां समन्वितास्तत एवाऽऽत्मसंभाविता आत्मना स्वेनैव न तु क्वचिदपि शिष्टैः संभाविताः

विवेकका अभाव, वही ठहरा जाल मछलियोंका जाल-सा आवरणात्मक और नाशक, उससे भलीभाँति आवृत—तिरोहित विवेकवाले, इसीलिए कामभोगोंमें—विषयसेवनमें ही, प्रसक्त—अधिक आसक्त—न कि कहीं स्वधर्ममें परिनिष्ठित, इसीलिए अशुचिमें—श्लेष्म-पीवके कुण्डरूप होनेसे अशुद्ध रौरव आदि नरकमें पड़ते हैं ॥ १६ ॥

ब्राह्मणत्व होनेसे उनका भी श्रुत, अध्ययन और अध्यापनका संभव और वेदोक्त कर्मोंके अनुष्ठानका संभव है अतः इन वैदिकोंका अशुचि नरकपात कैसे हो सकता है ? ऐसी शङ्का हो, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि 'श्रद्धासे अग्नि दीप्त की जाती है', 'हे गार्गि, जो इस अक्षरको न जानकर इस लोकमें होम करता है' इत्यादि श्रुतिमें उक्त लक्षणोंके अभावसे उनके अविधिसे किये गये यज्ञोंसे—यज्ञाभासोंसे—ईश्वर प्रसन्न नहीं होता, क्योंकि वे भगवान्के नियमोंका उल्लङ्घन करते जाते हैं, इसलिए उन असुरोंका नरक प्राप्त होना ही सिद्ध है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं—'आत्मा' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

धनके मान और मदसे अन्वित (मान—गर्व, मद—मत्तता, धनके उत्कर्षसे उत्पन्न मान और मदसे युक्त) इसीलिए आत्मसंभावित—आत्मासे—आपसे—ही, न कि कहीं शिष्टोंसे संभावित—

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥ १८ ॥

वे अहङ्कार, बल, दर्प, काम और क्रोधके आश्रित सत्पुरुषोंकी निन्दा करनेवाले पुरुष अपने और दूसरोंके शरीरमें स्थित मुझ अन्तर्यामीसे द्वेष करनेवाले होते हैं ॥ १८ ॥

बहुकृतास्तत एव स्तब्धा उद्धता नम्रताशून्यास्ते आसुरा नामयज्ञैर्नाम्ना यज्ञैर्न तु वैदिकक्रियया लक्षणेन वा किन्त्वाभासयज्ञैरविधिपूर्वकं नियतकालमन्त्रहोमर्त्विग्विवर्जितं दम्भेन स्वमहत्त्वप्रसिद्ध्यै यजन्ते न त्वीश्वरप्रीतिसिद्ध्यै ॥ १७ ॥

किञ्च, अहङ्कारमिति । अहमेव कुलशीलसम्पन्नः सर्वशास्त्रपारगः सर्वज्ञो धर्मिष्ठः सर्वोत्तम इति येन स्वमुत्कृष्टं मन्यते सोऽसावहङ्कारस्तम् । बलं कामरागजं दर्पं दृप्ततां कामं क्रोधं चकारान्मोहलोभपारुष्यादिबुद्धिदोषान् संश्रिता आत्मपरदेहेषु आत्मदेहे परदेहेषु च मामात्मानं प्रत्यग्लक्षणं द्विषन्त ममाऽन्तर्यामित्वमनङ्गीकृत्य मां द्विषन्तः । यद्वा, आत्मनो मम देहादिव्यतिरिक्तत्वं नित्यत्वं चैतन्यमात्रत्वमकर्तृत्वमभोक्तृत्वं चाऽनङ्गीकृत्य प्रकर्षेण द्विषन्तः तत एवाऽभ्यसूयका आत्मनो देहव्यतिरिक्तत्वनित्यत्वैकत्वपूर्णत्वाविक्रियत्ववादिनां सत्पुरुषाणां गुणेषु दोषारोपकाः लोके य आसुरा बौद्धाचाराः प्रभवन्ति ॥ १८ ॥

आदृत, इसीलिए स्तब्ध—उद्धत—नम्रताशून्य, वे आसुर नामयज्ञोंसे—नाममात्रके यज्ञोंसे न कि वैदिक क्रिया या लक्षणसे यज्ञ, किन्तु आभासयज्ञोंसे अविधिपूर्वक—नियत काल, मन्त्र, होम और ऋत्विक्से रहित, दम्भसे अपना महत्त्व प्रसिद्ध करनेके लिए यजन करते हैं, न कि ईश्वरकी प्रीतिकी सिद्धिके लिए ॥ १७ ॥

किञ्च, 'अहङ्कारम्' इत्यादि । मैं ही कुलशीलसंपन्न, सर्वशास्त्रपारग, सर्वज्ञ, धर्मिष्ठ, सर्वोत्तम हूँ, ऐसा जिससे आपको उत्कृष्ट मानता है, वह अहङ्कार है, उसको, बल—काम और रागसे उत्पन्न हुए बलको, दर्प—दृप्तताको, काम, क्रोध, चकारसे मोह, लोभ, पारुष्य आदि बुद्धिके दोषोंको धारण किये हुए, आत्मपरदेहोंमें—अपनी देहमें और पराई देहोंमें, मुझसे—प्रत्यक्‌लक्षणवाले आत्मासे द्वेष करते हैं—मेरे अन्तर्यामी होनेको अङ्गीकार न करके मुझसे द्वेष करते हैं। अथवा आत्माका—मेरा—देहादिसे भिन्नत्व, नित्यत्व, चैतन्यमात्रत्व, अकर्तृत्व और अभोक्तृत्वका अङ्गीकार न करके प्रकर्षसे द्वेष करते हैं, इसीलिए अभ्यसूयक—आत्माका देहसे भिन्नत्व, नित्यत्व, एकत्व, पूर्णत्व, अविक्रियत्व कहनेवाले सत्पुरुषोंके गुणोंमें दोषका आरोपण करनेवाले—लोकमें जो आसुर बौद्ध आचारवाले होते हैं ॥ १८ ॥

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ १९ ॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥ २०

उन द्वेष करनेवाले, अशुभाचरणशील और क्रूरकर्म करनेवाले नराधमोंको मैं संसारमें बार-बार आसुरी योनियोंमें ही डालता हूँ ॥ १९ ॥

हे अर्जुन, जन्म-जन्ममें आसुरी योनिको प्राप्त वे मूढ मुझको न प्राप्त हो कर उससे भी अधम गतिको प्राप्त करते हैं ॥ २० ॥

किञ्च, **तानिति** । मां द्विषतः स्वदेहपरदेहेषु मामात्मानं द्विषतस्तत एव क्रूरान् क्रूरकर्मणो दयासत्यशौचाचारशून्यानशुभानमङ्गलाचारनिरतानत एव नराधमान् तानासुरान्निरुक्तासुरसंपद्विशिष्टान् जनान् तत्कृतदुष्कर्मभिः संसारेषु संसारमार्गेषु । यद्वा, संस्रियन्ते भुज्यन्त इति संसारा जननमरणादिखेदास्तेष्वनुभाव्येषु सत्सु तदनुभूत्यै आसुरीष्वेवाऽतिक्रूरासु शुनकसूकरसर्पव्याघ्रादियोनिषु क्षिपामि । तत्कर्मानुरूपामेव शुनकादियोनिमजस्रं पुनः पुनः प्रापयाम्यहमीश्वरो मदाज्ञाच्छेदिनो जनानित्यर्थः ॥१९॥

ननु शुनकादियोनिषु प्रवेशितानामपि तेषां बहुजन्मनामन्ते मोक्षः स्यादेवेत्याशङ्कायाम्, न; 'इमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति । जायस्व म्रियस्वेति श्रवणाद् वेदविरुद्धाचारनिरतानां पापिष्ठानां तेषां पुनः पुनर्जननमरणे विना न कदाचिदपि मत्प्राप्तिरस्तीत्याह—**आसुरीमिति** ।

किञ्च, '**तान्**' इत्यादि । मुझसे द्वेष करनेवाले—अपने पराये शरीरमें मुझ आत्मासे द्वेष करनेवाले—, इसीलिए क्रूर—क्रूर कर्म करनेवाले—, दया, सत्य, शौच और आचारसे शून्य, अशुभ—अमङ्गल—आचारमें निरत, इसीलिए नराधम, उन असुरोंको—निरुक्त आसुर संपत्से विशिष्ट-जनोंको, उनके द्वारा किये गये दुष्कर्मोंसे संसारोंमें—संसारके मार्गोंमें—अथवा जो संसरण किये जाते हैं—भोगे जाते हैं, वे संसार हैं यानी जन्म, मरण आदि क्लेश, उनके अवश्य अनुभाव्य (भोग्य) होनेपर उनका अनुभव करनेके लिए आसुरी ही अतिक्रूर श्वान, सूकर, सर्प, व्याघ्र आदि योनियोंमें डालता हूँ । मैं—ईश्वर—मेरी आज्ञाका उलङ्घन करनेवाले जनोंको उनके कर्मानुसार ही श्वान आदि योनिको अजस्र—बारबार—प्राप्त कराता हूँ, यह अर्थ है ॥ १९ ॥

यद्यपि वे श्वान आदि योनियोंमें प्रवेशित हैं तथापि उनका बहुत जन्मोंके बाद मोक्ष हो ही जायगा, ऐसी आशङ्का हो, तो वह युक्त नहीं है, 'ये क्षुद्र बारबार लौटनेवाले भूत होते हैं, जन्म लो, मरो' इस श्रुतिसे वेदसे विरुद्ध आचारमें प्रीति करनेवाले उन पापिष्ठोंको बारबार जन्म और मरणके सिवा कभी भी मेरी प्राप्ति नहीं होती, ऐसा कहते हैं—'**आसुरीम्**' इत्यादिसे ।

त्रिविधं नरकस्यैतद्द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥ २१ ॥

श्वान, सूकर आदि निकृष्टयोनिरूप नरककी प्राप्तिके काम, क्रोध और लोभ ये तीन ही द्वार हैं, ये मुमुक्षुके पुरुषार्थके विनाशक हैं; इसलिए विवेकी पुरुषको इन तीनोंको—काम, क्रोध और लोभका – त्याग कर देना चाहिए ॥ २१ ॥

अनेकचित्तविभ्रान्ताः कामभोगप्रसक्ता अशुचिव्रता मूढाः स्वकीयदोषातिशयादेव जन्मनि जन्मनि प्रतिजन्माऽप्यासुरीमेव योनिमापन्नाः सन्तो मामाप्राप्य । अत्र मामिति मच्छब्देन स्वप्राप्तिसाधनं लक्ष्यते । मां मत्प्राप्तियोग्यं मानवं देहमप्राप्यैव ततोऽप्यासुरयोन्यपेक्षयाऽधमां निकृष्टां वृक्षपाषाणादिरूपां वा पैशाचीं वा गतिं गम्यत इति गतिस्तनुं यान्ति । न तु तामेव पुनः शुनकादियोनिमपि प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । 'प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुः' इत्यारभ्य, 'ततो यान्त्यधमां गतिम्' इत्यन्तेन ग्रन्थेन रजस्तमोदोषदूषितान्तरङ्गाणामासुराणां या संपत् तस्याः फलमधोऽधः पतनं विना कदाचिदपि श्रेयःप्राप्तिर्यस्मान्नाऽस्ति तस्माद् बुद्धिमान् सदा सदसद्विवेकी पुरुषः पुरुषत्वसिद्धेः साफल्याय स्वयं विवेकभ्रंशहेतोर्दुर्योनिप्राप्तेः पूर्वमेवाऽऽसुरसंपत्तेरविषयो भूत्वा सदा सदसद्विवेकवैराग्याभ्यां परमपुरुषार्थाय यतेतेति सूचितं भवति । तेनाऽऽसुरसंपद्बन्धायैव न क्वचिन्मोक्षायेति सिद्धम् ॥ २० ॥

प्रतिपादितायास्त्वासुरसंपत्तेः सर्वस्वमत्रैव पर्यवसितमेतत्त्रितये परित्यक्ते प्रधान-

---

अनेकचित्तविभ्रान्त—कामभोगप्रसक्त, अशुचिव्रतवाले मूढ़ अपने अतिशय दोषसे ही जन्म-जन्ममें—प्रत्येक जन्ममें भी—आसुरी योनिको ही प्राप्त करनेवाले होते हैं, मुझको प्राप्त न होकर। यहांपर 'माम्' इस शब्दसे अपनी प्राप्तिके साधनका लक्षणासे बोध होता है । मुझको—मेरी प्राप्ति करनेके योग्य मानव देहको—न प्राप्त कर ही, उससे भी—आसुर योनिकी अपेक्षासे भी—अधम (निकृष्ट), वृक्ष, पाषाणरूप अथवा पैशाची गतिको—जो प्राप्तकी जाती है, वह गति यानी तनुको—प्राप्त होते हैं । उसी श्वान आदि योनिको भी फिर प्राप्त नहीं होते, यह अर्थ है । 'प्रवृत्ति और निवृत्ति आसुर जन नहीं जानते' यहांसे आरम्भ करके 'उससे भी अधमगतिको प्राप्त होते हैं' यहां तकके ग्रन्थसे रज और तमोरूप दोषसे दूषित अन्तरङ्गवाले आसुरोंकी जो संपत्ति है, उसका फल अधो अधो गिरनेके सिवा कभी भी श्रेयकी प्राप्ति नहीं है, इसलिए बुद्धिमान् (सदा सत्य और सत्यके विवेकी) पुरुष पुरुषत्वकी सिद्धिके सफल होनेके लिए स्वयं विवेकका नाश करनेवाली योनिके प्राप्त होनेसे पहले ही आसुर संपत्तिका विषय न होकर सदा सत् और असत्के विवेक और वैराग्यसे परमपुरुषार्थके लिए यत्न करे, ऐसा सूचित होता है । इससे सिद्ध हुआ कि आसुर संपत् बन्धनकी ही हेतु है, मोक्षकी कभी नहीं ॥ २० ॥

प्रतिपादित आसुर संपत्का सर्वस्व तो यहींपर समाप्त हुआ । इन तीनोंके त्यागनेपर, प्रधान

मल्लनिबर्हणन्यायेनाऽऽसुरी सम्पत् सर्वाऽपि परित्यक्ता स्यात् ततो मुमुक्षोरवश्यमेतत्त्रितयं त्यक्तव्यम् । एतत्त्यक्त्वा स्वधर्मेण श्रेयःसाधनमनुतिष्ठतः पुंस परमपुरुषार्थः सिध्यतीति प्रतिपादयति—**त्रिविधमिति** द्वाभ्याम् ।

नरत्वेनोत्कृष्टजन्मवतां नराणां निरतिशयमकं दुःखं यत्र तन्नरकं शुनकसूकरादिनीचयोनिः । नरकमिति शकन्ध्वादिकं रूपम् । तस्य नरकस्य श्वादिनिकृष्टयोनिरूपस्य प्राप्तेः कामः क्रोधो लोभ इति त्रिविधं त्रिप्रकारकमेव द्वारं प्रवेशमार्गः नैवैतादृशं द्वारमन्यदस्तीत्यर्थः । ननु कामादीनां नीचयोनिप्राप्तिद्वारत्वमस्तु ततः का नो हानिरित्याशङ्कायामाह—**नाशनमिति** । जन्मान्तरानेककृतपुण्यातिशयाद् मनुष्यत्वपुरुषत्वब्राह्मणत्ववेदाद्यधीतिमत्त्वविवेकित्वलक्षणं मोक्षसौधान्तमारूढस्याऽऽत्मनः स्वस्याऽधिकारिणो मुमुक्षोः कामादित्रयमेतत्पुरुषार्थस्य नाशकं भवति धर्माधर्मकर्तव्याकर्तव्यार्थानर्थबन्धमोक्षविवेकविज्ञानं नाशयतीत्यर्थः । नहि कामाकुलस्य क्रोधाविष्टस्य वा लोभग्रहग्रस्तस्य वा धर्माधर्मादेर्विवेकविज्ञानं भवति । तदभावे पुरुषो विनश्यत्येव । मनुष्यत्वाद्युत्कृष्टमोक्षसाधनसम्पत्त्या मोक्षसौधान्तमारूढोऽपि प्रमादेन तालारूढ इव कामादिभिरधः पातितः सन् निःशेषं विनश्यति । नह्युच्चात्पतितस्य स्वरूपनाशं विना

मल्लके पछाड़नेके न्यायसे, सभी आसुरी संपत् त्यक्त हो जाती हैं, इसलिए मुमुक्षुको इन तीनोंका अवश्य ही त्याग करना चाहिए । इनका त्यागकर स्वधर्मसे श्रेयके साधनका अनुष्ठान करनेवाले पुरुषका परमपुरुषार्थ सिद्ध होता है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं—**'त्रिविधम्'** इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

नरत्वसे उत्कृष्ट जन्मवाले नरोंको जहां निरतिशय अक यानी दुःख होता है वह नरक है—शुनक, सूकर आदि नीचयोनि । नरक, यह शकन्ध्वादिका रूप है । उस शुनक आदि निकृष्ट योनिरूप नरककी प्राप्तिका काम, क्रोध, लोभ, यह त्रिविध—तीन प्रकारका ही—द्वार यानी प्रवेशमार्ग है । इस प्रकारका अन्य द्वार नहीं है, यह अर्थ है । काम आदि नीच योनिकी प्राप्तिके द्वार भले ही हों, इससे हमारी क्या हानि है, ऐसी आशङ्का होनेपर कहते हैं—**नाशनमिति** । पिछले जन्मोंमें किये गये अनेक पुण्योंके अतिशयसे मनुष्यत्व, पुरुषत्व, ब्राह्मणत्व, वेदाध्ययनवत्त्व, विवेकित्व लक्षणवाले मोक्षके महलपर आरूढ़ हुए आत्माके—अपने यानी अधिकारी मुमुक्षुके—काम आदि ये तीन पुरुषार्थके नाशक हैं—धर्म और अधर्म, कर्तव्य और अकर्तव्य, अर्थ और अनर्थ, बन्ध और मोक्षके विवेकविज्ञानका नाश करते हैं, यह अर्थ है । कामसे आकुल, क्रोधसे आविष्ट अथवा लोभग्रहसे ग्रस्त पुरुषको धर्माधर्म आदिका विवेकविज्ञान नहीं होता । उसके न होनेसे पुरुष नष्ट हो ही जाता है । मनुष्यत्व आदिसे उत्कृष्ट मोक्षके साधनकी संपत्तिसे मोक्षके प्रासादपर चढ़ा हुआ भी प्रमादसे तालवृक्षमें आरूढ़के समान काम आदि द्वारा नीचे गिराया जाता हुआ निःशेष नष्ट हो जाता है । ऊँचेसे गिरे हुए का स्वरूपनाशके सिवा कुछ शेष नहीं रहता, इसीलिए

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥ २२ ॥

हे अर्जुन, मुमुक्षु पुरुष नरकके द्वारभूत इन तीनोंसे सर्वथा निर्मुक्त होकर अपने कल्याणके साधन धर्मका भली भाँति आचरण करता है, उसके बाद चित्त-शुद्धि द्वारा विदेह मुक्तिको प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

किञ्चिच्छेषं सिध्यत्यत एवोच्यते—नाशनमात्मन इति । यस्मादेवं कामादीनां प्रभाव-स्तस्मान्मुमुक्षुर्विवेकसम्पन्नस्तत्स्वभावं ज्ञात्वा स्वाविनाशाय चाण्डालमिव कामं कृष्ण-सर्पमिव क्रोधं मलमिव लोभं चैतत्त्रयं दूरतस्त्यजेत् । न तेषां गोचरो भवेदित्यर्थः ॥२१॥

एवं कामादीनामधर्मप्रवृत्तिहेतुतया नरकद्वारत्वं मुमुक्षुत्याज्यत्वं च प्रतिपाद्य चैतैर्विमुक्तः श्रेयःसाधननिष्ठो भूत्वा श्रेयः प्राप्नोतीत्याह—**एतैरिति** ।

नरो मुमुक्षुरधिकारी ब्राह्मणादिर्विद्वान् तमोद्वारैः तमसो नरकस्य द्वारैर्द्वारभूतै-स्त्रिभिरेतैः कामक्रोधलोभैर्विमुक्तो विशिष्य निर्मुक्तः सन्नात्मनः स्वस्य श्रेयःसाधनं स्वाधिकारानुरूपं स्वाश्रमोचितं धर्मं वैदिकं वा श्रवणादिकं वा यदाचरति सम्यगनु-तिष्ठति ततस्तेनैवाऽनुष्ठानेन चित्तशुद्धिद्वारा समुत्पन्नात्मज्ञानेन परां गतिं विदेहमुक्तिं याति गच्छतीत्यर्थः ॥ २२ ॥

एवं दम्भदर्पातिमानाद्यासुरसम्पत्तिमतां वेदशास्त्रविधिमुल्लङ्घ्य तदुक्तधर्माधर्मा-

---

कहते हैं—'नाशनमात्मन' इति । जिस कारणसे काम आदिका ऐसा प्रभाव है, इसलिए विवेकसंपन्न मुमुक्षु उनके स्वभावको जानकर अपना नाश न होनेके लिए चाण्डालके समान कामको, काले सर्पके समान क्रोधको और मलके समान लोभको—इन तीनोंको—दूरसे त्याग देवे । इनका विषय न होवे, यह अर्थ है ॥ २१ ॥

इस प्रकार काम आदि, अधर्ममें प्रवृत्तिके कारण होनेसे, नरकके द्वार हैं और मुमुक्षुके त्याज्य हैं, ऐसा प्रतिपादन करके, इनसे विमुक्त पुरुष श्रेयके साधनोंकी निष्ठावाला होकर श्रेय प्राप्त करता है, ऐसा कहते हैं—'एतैः' इत्यादिसे ।

नर—मुमुक्षु अधिकारी ब्राह्मण आदि विद्वान्—तमोद्वार, तमके—नरकके, द्वार—द्वारभूत इन तीनों काम, क्रोध और लोभसे विमुक्त—विशेषरूपसे निर्मुक्त—होकर अपने श्रेयके साधन अपने अधिकारके अनुसार अपने आश्रमके उचित वैदिक अथवा श्रवण आदि धर्मका जो आचरण करता है—भली भाँति अनुष्ठान करता है, उससे—उसी अनुष्ठानसे—चित्त शुद्धि द्वारा उत्पन्न हुए आत्मज्ञानसे परम गतिको—विदेह मुक्तिको—जाता है। प्राप्त करता है, यह अर्थ है ॥ २२ ॥

इस प्रकार दम्भ, दर्प, अभिमान आदि आसुर संपत्तिवालोंका वेदशास्त्रकी विधिका उल्लङ्घन कर

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ २३ ॥

जो अधिकारी पुरुष शास्त्रविधिका त्याग कर अपने इच्छानुसार कर्मानुष्ठान करता है उसको न तो सिद्धि (चित्तशुद्धि) प्राप्त होती है, न स्वर्गीय सुख प्राप्त होता है और न मोक्ष ही प्राप्त होता है ॥ २३ ॥

नुदयस्य तत्फलप्रदातारं चापीश्वरमनादृत्य यथेष्टं कामोपभोगेषु परस्वहरणादौ च प्रवृत्तानां पापिष्ठानां पुनरारोहवर्जितमधःपतनं प्रतिपाद्य स्वाज्ञानुल्लङ्घनाय पुनरपि य एवमेव प्रवर्तते सोऽप्यधोलोकमेव गच्छति न मुक्तिवार्तां स्वप्नेऽपि विन्दतीत्युक्तमेवार्थं द्रढयति—**य इति** ।

यः श्रुताध्ययनसम्पन्नो ब्राह्मणादिरधिकारी शास्त्रविधिं । विधीयते अपूर्वोऽर्थो बोध्यतेऽनेनेति विधिः । 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत', 'न कलञ्जं भक्षयेत्' इत्येवं कर्तव्याकर्तव्यार्थप्रकाशकं शास्त्रविधिं चोदनाविधिं निषेधं चोत्सृज्याऽविचार्य । शास्त्रविधिमुपेक्ष्येत्यर्थः । कामकारतः कामनया यथेच्छं वर्तते शास्त्रनियममुल्लङ्घ्य स्वेच्छानुरूपं श्रद्धाविधुरं कर्मानुष्ठानं यः करोतीत्यर्थः । स कामायत्तप्रवृत्तिः पुरुषः सिद्धिमविधिना कृतत्वात्तैः कर्मभिश्चित्तशुद्धिं नाऽऽप्नोति । विध्युक्तस्यैव कर्मणः फलावश्यंभावित्वनियमात्तत एव स्वर्गीयं च सुखं न प्राप्नोति । कर्मणां मुक्तिसाधनत्वाभावात् परां

उनमें कहे हुए धर्माधर्मके अनुदयका और उनका फल देनेवाले ईश्वरका भी अनादर करके यथेष्ट कामभोगोंमें और परधनहरण आदिमें प्रवृत्त पापिष्ठोंका पुनरारोहसे रहित अधःपतनका प्रतिपादन करके अपनी आज्ञाका कोई उल्लङ्घन न करे, इसलिए फिर भी जो इस प्रकार प्रवृत्त होता है, वह भी अधोलोकको प्राप्त होता है, मुक्तिकी वार्ताको स्वप्नमें भी नहीं प्राप्त करता, इस कहे गये अर्थको ही दृढ़ करते हैं—'यः' इत्यादिसे ।

जो वेद, शास्त्र आदिके अध्ययनसे संपन्न ब्राह्मण आदि अधिकारी शास्त्रविधिको, जिससे विधान किया जाता है—अपूर्व अर्थ बताया जाता है, वह विधि है । 'अग्नीषोमीय पशु आलभन करे', 'कलंज न खाय' इस प्रकार कर्तव्य और अकर्तव्य अर्थकी प्रकाशक शास्त्रविधिका—प्रेरणाविधि और निषेधका त्यागकर—विचार न कर—शास्त्रविधिकी उपेक्षा करके, यह अर्थ है । कामकारतः—कामनासे यथेच्छ व्यवहार करता है—शास्त्र नियमका उलंघन कर स्वेच्छानुसार श्रद्धाहीन धर्मका अनुष्ठान जो करता है, यह अर्थ है । वह कामाधीनप्रवृत्तिवाला पुरुष सिद्धिको—विधिरहित किये गये उन कर्मोंसे चित्त शुद्धिको—नहीं प्राप्त होता । क्योंकि विधिसे उक्त ही कर्मका फल अवश्य होता है, ऐसा नियम है, इसीलिए स्वर्गीय सुख भी नहीं प्राप्त करता और कर्म मुक्तिका साधन

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ २४ ॥

इसलिए तुम्हारे (मुमुक्षुके) कर्तव्य और अकर्तव्यके निर्णयमें श्रुति-स्मृति-रूप शास्त्र ही प्रमाण है। तुम शास्त्रविधिसे प्रतिपादित कर्मको जानकर ही स्वोचित कर्म करो ॥ २४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

गतिं मोक्षं चाऽपि नाऽऽप्नोति । यथेच्छमविधिना कर्म कुर्वाणः स्वर्गापवर्गोभयभ्रष्टो भवतीत्यर्थः ॥ २३ ॥

शास्त्रविधिनैव कर्मणां कर्तव्यत्वं निर्धारयन्नध्यायमुपसंहरति—**तस्मादिति** ।

यस्मादशास्त्रीयाणां कामैकनिबन्धनानां कर्मणां फलाभावो निश्चितस्तस्माते मुमुक्षोः कार्याकार्यव्यवस्थितौ कर्तव्याकर्तव्यार्थयोर्व्यवस्थापने इदमेवमनेन कर्तव्यमिदं तु न कर्तव्यमित्येवमनुष्ठेयाननुष्ठेयार्थनिर्णये श्रुतिस्मृतिलक्षणमेव शास्त्रं प्रमाणं तत्तदर्थ-प्रमापकं देशकालमन्त्रतन्त्रदेवताद्रव्यर्त्विगादिज्ञानस्य हेयद्रव्यज्ञानस्य च कारणमित्यर्थः। यत एवं ततः कर्मभूमौ कर्माधिकारी दैवसम्पत्त्या परित्यक्तकामादिदोषस्त्वमधीतविदित-वेदवेदार्थः सन् शास्त्रविधानोक्तं शास्त्रविधिदृष्टमेव कर्म ज्ञात्वा ममेदं शास्त्रीयं कर्म

नहीं है, इसलिए परमगति (मोक्ष) भी नहीं प्राप्त करता । यथेच्छ, विधिरहित कर्म करनेवाला स्वर्ग और अपवर्ग दोनोंसे भ्रष्ट होता है, यह अर्थ है ॥ २३ ॥

शास्त्रविधिसे ही कर्मोंके कर्तव्यत्व निर्धारण करते हुए अध्यायका उपसंहार करते हैं—'**तस्मात्**' इत्यादिसे ।

जिस कारणसे अशास्त्रीय केवल कामनासे किये गये कर्मोंके फलका अभाव निश्चित है, इसलिये मुमुक्षुको कार्य और अकार्यकी व्यवस्था करनेमें—कर्तव्य और अकर्तव्य दोनों अर्थोंके व्यव-स्थापनमें—यह इस प्रकार इससे कर्तव्य है, यह तो कर्तव्य नहीं है, इस प्रकार अनुष्ठेय और अन-नुष्ठेय अर्थके निर्णयमें श्रुतिस्मृतिरूप ही शास्त्र प्रमाण है—तत्-तत् अर्थका प्रमापक है । देश, काल, मंत्र, तंत्र, देवता, द्रव्य, ऋत्विक् आदिके ज्ञानका और हेय द्रव्यके ज्ञानका कारण है, यह अर्थ है । जिस कारणसे ऐसा है, इसलिए कर्मभूमिमें कर्माधिकारी दैव संपत्तिसे जिसने कामादि दोषका त्याग दिया है, ऐसे तुम वेदार्थके ज्ञाता होकर शास्त्रविधानोक्त शास्त्रविधिदृष्ट ही कर्मको जानकर मेरा यह शास्त्रीय कर्म कर्तव्य है, ऐसा शास्त्रसे जानकर ही अपना कर्म करने योग्य हो, अन्यथा

कर्तव्यमिति शास्त्रतो विज्ञायैव स्वीयं कर्म कर्तुमर्हसि नाऽन्यथा कर्मफलवैगुण्यापत्तेरित्यनेन स्ववर्णाश्रमोचितं कर्म शास्त्रेण विज्ञाय मुमुक्षुणा कर्तव्यमिति सिद्धम् ॥ २४ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमदानन्दात्मसरस्वतीशिष्य-
श्रीशङ्करानन्दसरस्वतीकृतौ गीतातात्पर्यबोधिन्यां
षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

नहीं, क्योंकि अन्यथा करनेसे कर्मफलमें वैगुण्य प्राप्त होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि मुमुक्षुको अपने वर्णाश्रमके उचित कर्मको शास्त्रसे जानकर करना चाहिए॥ २४ ॥

सोलहवां अध्याय समाप्त ॥ १६ ॥

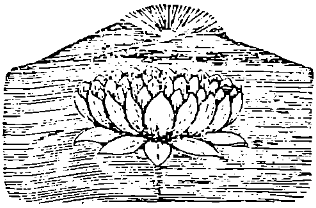

सप्तदशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयाऽन्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥ १ ॥

भगवन्, जो पुरुष शास्त्रविधिको न जानकर आस्तिक्यबुद्धिसे वैदिक कर्मसे देवताओंका यजन करते हैं, उनकी कौन वृत्ति होती है? सात्त्विक या राजस अथवा तामस? ॥ १ ॥

एवं दैवासुरसम्पद्विभागं तत्स्वरूपं तत्फलं चाऽऽसुराणां ज्ञानानधिकारित्वबोधनायाऽऽसुरसम्पत्तिमतां कामसङ्कल्पगुणकर्माणि च फलं च विशिष्य प्रतिपाद्य मुमुक्षोः शास्त्रज्ञानेनैव कर्म कर्तव्यमिति निरूप्याऽधुना शास्त्रार्थानभिज्ञानामपि शास्त्रीयमेव कर्म कामकारं विना श्रद्धया कुर्वतामपि मुमुक्षूणां सात्त्विकेष्वेवाऽऽहारयज्ञतपोदानादिषु प्रतिष्ठितानां ज्ञानाधिकारः शमदमादिषट्कसम्पत्त्या प्राप्तज्ञानेन मोक्षाधिकारश्च युज्यत इति बोधयितुं सप्तदशाध्याय आरभ्यते । तत्राऽऽदौ 'यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य' इति 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते' इति शास्त्रविधिं ज्ञात्वाऽपि तमुत्सृज्य कामकारेण यः प्रवर्तते स आसुरस्तस्य न चित्तशुद्धिर्न च ज्ञानं नाऽपि तत्फलं च सिध्यतीति श्रुत्वा शास्त्रार्थमजानतां कामकारं विनैव श्रद्धया कर्माणि कुर्वतां पुरुषाणां दैवी वाऽऽसुरी वा का वा सम्पत्तिः का गतिस्तेषामिति जिज्ञासुरर्जुन उवाच—**य इति** ।

इस प्रकार दैव और आसुर संपत्का विभाग, उनका स्वरूप और उनका फल, आसुरोंका ज्ञानमें अनधिकारबोधन करनेके लिए आसुरसंपत्तिवालोंके काम, संकल्प, गुण और कर्मोंका विशेषरूपसे प्रतिपादन करके मुमुक्षुको शास्त्रज्ञानसे ही कर्म करना चाहिये, यह निरूपण करके अब शास्त्रार्थके न जाननेवाले शास्त्रीय कर्म ही स्वेच्छाके विना श्रद्धासे करनेवाले, सात्त्विक आहार, यज्ञ, तप, दान आदिमें प्रतिष्ठित मुमुक्षुओंका भी ज्ञानमें अधिकार है और शम, दम आदि षट्संपत्तिसे प्राप्त हुए ज्ञानसे मोक्षमें अधिकार होता है, ऐसा बोधन करनेके लिए सत्रहवां अध्याय आरंभ किया जाता है । उसमें आदिमें 'जो शास्त्रविधिको छोड़कर' इससे, 'इसलिए शास्त्र तेरे लिए प्रमाण है' इससे शास्त्रविधिको जानकर भी उसको छोड़कर स्वेच्छासे जो कर्ममें प्रवृत्त होता है, वह आसुर है, उसके न तो चित्तकी शुद्धि होती है और न ज्ञान प्राप्त होता है, और न उसका फल मोक्ष सिद्ध होता है, ऐसा सुनकर शास्त्रार्थके न जाननेवाले स्वेच्छा बिना ही श्रद्धासे कर्म करनेवाले पुरुषोंकी दैवी या आसुरी या कौन-सी संपत्ति और कौन-सी गति है, ऐसा जाननेकी इच्छावाला अर्जुन बोला—'य इति' इत्यादिसे ।

ये सामान्याः पुरुषाः शास्त्रविधिं श्रुतिस्मृतिलक्षणं शास्त्रं तद्विधिं विधानं श्रौतस्मार्तसूत्राध्ययनतदर्थपरिज्ञानाभावादनुष्ठानविधिमुत्सृज्याऽविज्ञाय श्रद्धया वृद्धव्यवहारसंदर्शनसमुत्पन्नयाऽऽस्तिक्यबुद्ध्या विनैव कामकारं वैदिकेषु नियतेषु कर्मस्वत्यन्तविश्वासेनाऽन्विताः सन्तो वैदिकेन कर्मणा देवान् यजन्ते शास्त्रार्थमज्ञात्वाऽपि श्रद्धया भक्त्या च श्रौतं स्मार्तं च कर्म ये कुर्वन्तीत्यर्थः। तेषां श्रद्धया कर्मणि वैदिके प्रवृत्तानां पुरुषाणां निष्ठा स्थितिः का किंलक्षणा। सत्त्वमाहो रजस्तम इति कारणेन कार्यं गृह्यते। तुशब्दः पूर्वव्यावृत्त्यर्थः। तेषां तु निष्ठा वृत्तिः सात्त्विकी वा उत राजसी किं तामसी वा कथ्यतामिति। अत्र सत्त्वशब्देन दैवसम्पत्तिः रजस्तमःशब्देनाऽऽसुरसम्पत्तिर्विवक्षिता। दैवासुरसम्पत्तेरधिकारविचारे प्रक्रान्तत्वात्तेषां सम्पद्दैवी वाऽप्युत आसुरी वेति प्रश्नार्थः। ननु यः शास्त्रविधिमुत्सृज्येत्यनेनैव वचनेन शास्त्रविधिमुत्सृज्य यः प्रवर्तते स आसुर इत्येतेषामप्यासुरत्वमुक्तमेव पुनस्तेषां निष्ठा तु का कृष्णेत्यर्जुनस्य प्रश्नोऽनुपपन्न एवेति चेत्, सत्यम्; यद्यपि शास्त्रविध्युत्सर्जनमुभयत्र सममेव तेषामेतेषां च, तथापि श्रद्धान्वितत्वविशेषणविशिष्टत्वात्तेषामेतेषां च विशेषो विद्यते। कामकारत इति तत्र कामकारत्वविशेषणविशेषोपपत्तेश्च शास्त्रविधिमुत्सृज्येति ज्ञात्वा शास्त्रोल्लङ्घनदोषविशेषाच्च तेषामेतेषां च भेदो विद्यत

जो सामान्य पुरुष शास्त्रविधिको—श्रुति-स्मृतिरूप शास्त्र, उसकी विधिको—विधानको—श्रौत-स्मार्त-सूत्र अध्ययन, उनके अर्थके परिज्ञानके अभावसे अनुष्ठानकी विधिको छोड़कर—न जानकर—श्रद्धासे—वृद्धव्यवहारके संदर्शनसे उत्पन्न हुई आस्तिक्य बुद्धिसे—स्वेच्छाके बिना ही वैदिक नियत कर्मोंमें अत्यन्त विश्वाससे युक्त होकर वैदिक कर्मसे देवताओंका यजन करते हैं। शास्त्रार्थको न जानकर भी श्रद्धासे और भक्तिसे श्रौत और स्मार्त कर्म जो करते हैं, यह अर्थ है। उनकी—श्रद्धासे वैदिक कर्ममें प्रवृत्त हुए पुरुषोंकी—निष्ठा (स्थिति) क्या है, किस लक्षणवाली है। सत्त्व अथवा रज, तम, इस प्रकार कारणसे कार्यका ग्रहण किया जाता है। तु शब्द पूर्वकी व्यावृत्तिके अर्थमें है। उनकी निष्ठा—वृत्ति—सात्त्विकी है अथवा राजसी है अथवा तामसी है, उसको कहिये। यहां सत्त्वशब्दसे दैवसम्पत्ति, रज और तम शब्दोंसे आसुरी संपत्ति विवक्षित है। क्योंकि दैव और आसुर संपत्तिके अधिकारका विचार प्रस्तुत है, इसलिए उनकी संपत् दैवी है या आसुरी है, यह प्रश्नका अर्थ है।

शङ्का—'जो शास्त्रविधिको छोड़कर' इस वचनसे ही शास्त्रविधिको छोड़कर जो प्रवृत्त होता है, वह आसुर है, यों इनका भी आसुरत्व कहा ही है, फिर हे कृष्ण, उनकी निष्ठा क्या है, ऐसा अर्जुनका प्रश्न उपपन्न नहीं होता?

समाधान—यद्यपि शास्त्रविधिका उत्सर्जन उन दोनोंका समान ही है, तो भी श्रद्धान्वितत्व विशेषण विशिष्ट होनेसे उनका और इनका विशेष है। 'कामकारेण' इससे उसमें कामकारत्व विशेषण विशेष उपपन्न होनेसे और शास्त्रविधिको छोड़कर, ऐसे जानकर शास्त्रके उल्लंघनका दोष विशेष

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥ २ ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—हे अर्जुन, प्राणियोंकी प्राक्तन संस्कारसे उत्पन्न श्रद्धा सात्त्विक, राजस और तामस भेदसे तीन ही प्रकारकी होती है । उक्त श्रद्धाकी उत्पत्तिका प्रकार तुम मुझसे सुनो ॥ २ ॥

एव । ननु शास्त्रविध्युत्सर्जनमत्रापि च विद्यत एवेति चेत् , न; शास्त्रविध्युत्सर्जनपदेनाऽत्र शास्त्रार्थापरिज्ञानं विवक्षितं न तु ज्ञात्वा विध्युलङ्घनम् । ननु तर्हि शास्त्रार्थानभिज्ञानां मूढानां कथं वैदिके कर्मणि प्रवृत्तिरिति चेत् , उच्यते; 'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः' इति न्यायेन ज्ञानकर्मप्रवृद्धप्रवृत्तिसंदर्शनेन मूढानामपि श्रद्धावतां सद्बुद्धीनां वैदिककर्मप्रवृत्तिरुपपद्यते यतिभ्यो वृद्धेषु नमत्सु सत्सु बालानां नमनक्रिया यथा ततस्तेषामेतेषां च विशेषणभेदाद् भेदः सिध्यति, तत एवाऽर्जुनेन पृष्टं 'तेषां निष्ठा तु का कृष्ण' इत्यतो न काचिदप्यत्राऽनुपपत्तिः ॥ १ ॥

कारणे ज्ञाते कार्यं बोधयितुं शक्यं न त्वज्ञाते सत्यतः कारणश्रद्धाभेदज्ञापनेन निष्ठाभेदं बोधयितुं श्रीभगवानुवाच—**त्रिविधेति** ।

देहिनां प्राणिनां श्रद्धा सात्त्विकी राजसी तामसी चेति त्रिविधैव त्रिप्रकारा त्रिधैव भिन्ना भवतीत्यर्थः । श्रद्धायास्त्रैविध्यसिद्धौ कारणमाह—**स्वभावजेति** । 'आयुः कर्म च वित्तं च विद्या निधनमेव च । पञ्चैतानि विलिख्यन्ते गर्भस्थस्यैव

होनेसे, उनका और इनका भेद विद्यमान ही है । शास्त्रविधिका उल्लंघन यहां भी विद्यमान है ही, ऐसा यदि कहो, तो ऐसा नहीं, कह सकते, क्योंकि 'शास्त्रविधि-उत्सर्जन' पदसे शास्त्रार्थका अपरिज्ञान विवक्षित है, जानकर विधि उल्लंघन नहीं है । तब शास्त्रार्थके न जाननेवाले मूढ़ोंकी वैदिक कर्ममें प्रवृत्ति कैसे होगी ऐसा कहो, तो कहते हैं । 'श्रेष्ठ जैसा जैसा आचरण करता है, वैसा-वैसा दूसरे जन भी आचरण करते हैं' इस न्यायसे ज्ञानकर्ममें वृद्धोंकी प्रवृत्तिके देखनेसे शुद्धबुद्धिवाले, श्रद्धावाले मूढ़ पुरुषोंकी भी वैदिक कर्ममें प्रवृत्ति उपपन्न होती है । जैसे कि यतियोंके लिए वृद्धोंके प्रमाण करनेपर बालक प्रणाम करते हैं, इसलिए उनका और इनका विशेषणके भेदसे भेद सिद्ध होता है, इसीलिए अर्जुनने पूछा है—'हे कृष्ण, उनकी क्या निष्ठा है' इसलिए यहां कोई भी अनुपपत्ति नहीं है ॥ १ ॥

कारणके जाननेपर कार्य जाना जा सकता है, बिना जाने नहीं, इसलिए कारणरूप श्रद्धाका भेद जतानेसे निष्ठाका भेद बतानेको श्रीभगवान् बोले—'**त्रिविधा**' इत्यादिसे ।

देहियोंकी—प्राणियोंकी—श्रद्धा सात्त्विकी, राजसी और तामसी, त्रिविध—तीन प्रकारकी—होती है । तीन प्रकारकी ही भिन्न होती है, यह अर्थ है । श्रद्धाके तीन प्रकारके सिद्ध होनेमें कारण कहते हैं—**स्वभावजेति** । 'आयु, कर्म, धर्म, विद्या और मरण जब देही गर्भमें ही रहता है, तभी

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ ३ ॥

हे भरतकुलालङ्कार, सभी प्राणियोंकी श्रद्धा सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणके अनुरूप होती है । यह व्यवहारविषय पुरुष श्रद्धाप्रधान होनेसे श्रद्धामय कहा जाता है, जिस पुरुषमें जैसी श्रद्धा (जिस गुणसे उत्पन्न श्रद्धा) होती है, वह पुरुष उस गुणवाला ही होता है ॥ ३ ॥

देहिनः ॥' इत्यनेन प्राग्भवीयपुण्यापुण्यादिसंस्कारः स्वभावः स्वेन सह भवतीति स्वभावस्तस्माज्जाता स्वभावजा । यद्वा, स्वभावः सत्त्वरजस्तमोगुणात्मिका प्रकृतिस्तस्माज्जाता स्वभावजा । तत एव सत्त्वादिगुणभेदाच्छ्रद्धाया अपि सात्त्विकी राजसी तामसी चेति भेद उपपद्यत इत्यर्थः । यत्प्रधानक्रियायां वर्तमानानां देहिनां निष्ठां त्वं पृच्छसि तां श्रद्धां मयोच्यमानां शृणु । श्रद्धासम्भूतिप्रकारं शृण्वित्यर्थः ॥ २ ॥

तदाह—सत्त्वेति ।

सत्त्वानुरूपा सत्त्वमिति रजस्तमसोरुपलक्षणम् । सत्त्वरजस्तमोगुणानामनुरूपा गुणत्रयभेदानुवृत्ता सर्वस्य प्राणिजातस्य श्रद्धा भवति । पुण्यापुण्यकर्मवशादन्तःकरणविजृम्भितसत्त्वादिगुणभेदमाश्रित्यैव पुरुषाणां श्रद्धा भवति, न तु पुरुषभेदमाश्रित्येत्यर्थः । ननु सत्त्वादिगुणानुगुण्येन प्राणिनां श्रद्धा भवतु, प्रकृते किमायातमित्याकाङ्क्षायामाह—**श्रद्धामय इति**। अयमिति दृष्टव्यवहारो गृह्यते । अयं प्रत्यक्षः व्यवहारविषयः

लिख दिये जाते हैं' इससे पूर्व जन्मके पुण्यपाप आदि संस्कार—स्वभाव, अपने साथ जो होता है, वह स्वभाव है, उससे उत्पन्न हुई स्वभावजा । अथवा स्वभाव—सत्त्व, रज, तमोगुण स्वरूप प्रकृति—उससे उत्पन्न हुई स्वभावजा । इसीलिए सत्त्व आदि गुणोंके भेदसे श्रद्धाके भी सात्त्विकी, राजसी और तामसी, ऐसा भेद उपपन्न होता है, यह अर्थ है । जो प्रधान क्रियामें वर्तमान देहियोंकी निष्ठा तुम पूछते हो, मेरी कही हुई उस श्रद्धाको सुनो । श्रद्धाकी उत्पत्तिका प्रकार सुनो, यह अर्थ है ॥ २ ॥

उसको कहते हैं—**'सत्त्वा०'** इत्यादिसे ।

सत्त्वानुरूपा—'सत्त्व' रज और तमका उपलक्षण है। सत्त्व, रज और तमोगुणके अनुरूप, गुणत्रयके भेदसे अनुवृत्त सब प्राणियोंकी श्रद्धा होती है । पुण्य-पापरूप कर्मोंसे अन्तःकरणमें उद्रेकको प्राप्त सत्त्व आदि गुणोंके भेदका आश्रय लेकर ही पुरुषोंकी श्रद्धा होती है, पुरुषके भेदका आश्रय लेकर नहीं, यह अर्थ है । सत्त्व आदि गुणोंके अनुसार प्राणियोंकी श्रद्धा हो, उससे प्रकृतमें क्या आया, ऐसी आकाङ्क्षा होनेपर कहते हैं—**श्रद्धामय इति**। 'अयम्'से दृष्ट व्यवहारका ग्रहण किया

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चाऽन्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥ ४ ॥

सात्त्विक पुरुष अग्नि आदि देवताओंकी पूजा करते हैं, राजस लोग यक्ष और राक्षसोंकी पूजा करते हैं और तामस जन भूत-प्रेतोंकी पूजा करते हैं ॥ ४ ॥

पुरुषः श्रद्धामयः अधिकृते पुरुषे श्रद्धा प्राचुर्येण दृश्यते, ततोऽयं श्रद्धामयः श्रद्धाप्रधानत्वाच्छ्रद्धामय इत्युच्यत इत्यर्थः । ननु पुरुषस्य श्रद्धामयत्वे सिद्धेऽपि का निष्ठेत्युक्तेः किमुत्तरमित्याकाङ्क्षायामाह—**य इति** । योऽधिकारी पुरुषः स्वधर्मनिष्ठो यच्छ्रद्धः यद्गुणसम्भावितश्रद्धावान् भवति, स पुरुषः स एव तद्गुण एव भवति । सत्त्वगुणसम्भावितश्रद्धावान् सात्त्विकः, रजोगुणसम्भावितश्रद्धावान् राजसः, तमोगुणसम्भावितश्रद्धावान् तामसो भवतीत्यर्थः । यद्यपि श्रद्धा सत्त्वस्यैव धर्मो न तु रजस्तमसोस्तथापि तयोः प्राधान्ये सत्यपि तत्र सत्त्वस्योपसर्जनत्वसम्भवात्तद्वत्स्वपि तद्धर्माभासः श्रद्धाऽऽभासिकी सम्भवत्यत एवोच्यते यो यच्छ्रद्धः स एव स इति । एतेन सत्त्वरजस्तमोगुणसम्भावितश्रद्धावतां तेषां निष्ठा क्रमात् सात्त्विकी राजसी तामसी चेत्युत्तरं सूचितं भवति । ततः सिद्धं सात्त्विकानां दैवी सम्पद्राजसतामसानां त्वासुरी सम्पदिति ॥ ३ ॥

एवं सत्त्वरजस्तमःसम्भावितश्रद्धावतां पुरुषाणां सात्त्विकी राजसी तामसी च

जाता है । यह प्रत्यक्ष व्यवहारका विषय पुरुष श्रद्धामय है—अधिकृत पुरुषमें विशेषरूपसे श्रद्धा देखनेमें आती है, इसलिए यह श्रद्धामय, श्रद्धाप्रधान होनेसे श्रद्धामय है, ऐसा कहा जाता है, यह अर्थ है । पुरुष श्रद्धामय है, यह सिद्ध होनेपर भी, कौन-सी निष्ठा है, इस प्रश्नका क्या उत्तर है ? ऐसी आकाङ्क्षा होनेपर कहते हैं—**य इति** । जो अधिकारी स्वधर्मनिष्ठ पुरुष जिस श्रद्धावाला—जिस गुणसे उत्पन्न हुई श्रद्धावाला—होता है, वह पुरुष वही—उस गुणवाला ही—होता है । सत्त्वगुणसे उत्पन्न हुई श्रद्धावाला सात्त्विक, रजोगुणसे उत्पन्न हुई श्रद्धावाला राजस और तमोगुणसे उत्पन्न हुई श्रद्धावाला तामस होता है, यह अर्थ है । यद्यपि श्रद्धा सत्त्वका ही धर्म है, रज और तमका नहीं, तथापि उन दोनोंका प्राधान्य होनेपर भी उसमें सत्त्वका उपसर्जनत्व होनेपर रजोगुण और तमोगुण वालेमें भी सत्त्वधर्मका आभास आभासिकी श्रद्धा होती है, इसीलिए कहा जाता है—जो जिस श्रद्धावाला होता है वही वह । इससे सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणसे संभावित श्रद्धावालोंकी निष्ठा क्रमसे सात्त्विकी, राजसी और तामसी है, यह उत्तर सूचित होता है । इससे यह सिद्ध हुआ कि सात्त्विक पुरुषोंकी दैवी संपत् और राजस और तामसोंकी आसुरी संपत् होती है ॥ ३ ॥

इस प्रकार सत्त्व, रज और तमसे संभावित श्रद्धावाले पुरुषोंकी सात्त्विकी, राजसी और तामसी

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवाऽन्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ ६ ॥

दम्भ और अहङ्कारसे परिपूर्ण ऐहिक और पारलौकिक पदार्थोंकी तीव्र भोगेच्छासे युक्त अतएव अविवेकी जो लोग शरीरमें स्थित प्राण और इन्द्रिय वर्गको सुखाते हुए और अन्तःकरणमें स्थित मुझको भी क्लेश देते हुए अशास्त्रीय घोर तपस्या करते हैं, उन्हें तुम आसुरस्वभाववाले जानो ॥ ५ ॥ ६ ॥

प्रकृतिरिति सूचयित्वा तेषां प्रकृत्यनुरूपाणि कर्माण्याह कर्मणा लिङ्गेन तेषां स्वभावो ज्ञातव्य इति सूचयितुं—**यजन्त इति ।**

सात्त्विकाः श्रोत्रिया दैवसम्पत्तिमन्तो देवानग्न्यादीन् वैदिकेन कर्मणा यजन्ते सात्त्विक्या श्रद्धया । तदन्ये राजसास्तामसाश्चाऽऽसुरसम्पत्तिमन्तो राजस्यां तामस्या च श्रद्धया यक्षरक्षांसि पिशाचान् भूतगणांश्च यजन्ते ॥ ४ ॥

राजसानां तामसानां चाऽऽसुरमेव धर्मं प्रतिपादयति—**अशास्त्रेति द्वाभ्याम् ।**

दम्भो मन्त्रतन्त्रवेषभाषादिबाह्यपरिकराटोपः । अहङ्कारः कुलशीलविद्याश्रमादिभिरुत्कृष्टोऽहमित्यन्तःकरणाटोपस्ताभ्यां संयुक्ताः । कामरागबलान्विताः कामाः ऐहिकामुष्मिकभोग्यपदार्थाः रागस्तेषामुपभोगेच्छा बलमिच्छावेगस्तैः सम्यगन्वितास्तत एवाऽचेतसोऽविवेकिनो ये मूढाः शरीरस्थं स्थूलशरीर उदरे चाऽन्यत्र विद्यमानं भूतग्रामं स्थूलसूक्ष्मरूपप्राणिसमुदायम् । यद्वा, प्राणेन्द्रियग्रामं कर्षयन्तोऽन्नरसाद्यभावेन

प्रकृति है, ऐसा उनकी प्रकृतिके अनुसार कर्म सूचन करके कर्मरूप लिङ्गसे उनका स्वभाव जानना चाहिए, ऐसा सूचन करनेके लिए कहते हैं,—**'यजन्ते'** इत्यादिसे।

सात्त्विक—दैवसंपत्तिवाले श्रोत्रिय अग्नि आदि देवताओंकी वैदिक कर्म द्वारा सात्त्विक श्रद्धासे पूजा करते हैं । उनसे अन्य राजस और तामस आसुरसंपत्तिवाले राजसी और तामसी श्रद्धासे यक्ष, राक्षस, पिशाच और भूतगणोंकी पूजा करते हैं ॥ ४ ॥

राजस और तामसोंके आसुर धर्मका ही प्रतिपादन करते हैं—**'अशास्त्र०'** इत्यादि दो श्लोकोंसे।

दम्भ—मन्त्र, तन्त्र, वेष, भाषा आदि बाहरी सामग्रीका आटोप । अहङ्कार—कुल, शील, विद्या, आश्रम आदिसे मैं उत्कृष्ट हूँ, ऐसा अन्तःकरणका आटोप, उन दोनोंसे संयुक्त । कामरागबलान्वित—काम यानी इस लोक और परलोकके भोग्य पदार्थ, राग यानी उनके उपभोगकी इच्छा, बल यानी इच्छाका वेग, उनसे सम्यक् युक्त, इसीलिए अचेतस (अविवेकी) जो मूढ़ शरीरस्थ—स्थूल शरीरमें, उदरमें और अन्यत्र विद्यमान भूतग्रामको—स्थूल-सूक्ष्मरूप प्राणियोंके समुदायको—अथवा

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ ७ ॥

सभी लोगोंको आहार भी तीन प्रकारका प्रिय होता है और यज्ञ, तप और दान भी तीन प्रकारके होते हैं, उनके आगे कहे जानेवाले भेदको सुनो ॥ ७ ॥

शोषयन्तो मां चैवाऽन्तःशरीरस्थमन्तःशरीरं बुद्धिः तत्र सर्वप्रकाशतया विद्यमानं मां चापि प्रत्यग्रूपं कर्षयन्तो मनोबुद्धीन्द्रियाणामुपवासकृतातिश्रान्त्या प्रवृत्त्युपरमे सत्यात्मचैतन्यस्य स्फुरणं न भवति, तदभाव एवाऽस्य प्रत्यगात्मनः कृशीकरणं तत्कुर्वन्तः सन्तो ये जनाः अशास्त्रविहितं न शास्त्रविहितमशास्त्रविहितं घोरं पीडाकरं तपस्तप्यन्ते उपवासव्रतादिना कायशोषणं कामरागबलानुरूपया श्रद्धया ये कुर्वन्तीत्यर्थः । तानासुरनिश्चयान् आसुराणां निश्चयो येषां तानासुरनिश्चयान् विद्धि । दुष्करव्रतानासुरान् विजानीहीत्यर्थः । एतेनाऽऽभासश्रद्धावतां राजसानां तामसानां चाऽऽसुर्येव सम्पदिति सूचितम् । तेन सात्त्विकानां दैव्येव सम्पदिति सिद्धम् ॥ ५ ॥ ६ ॥

एवं श्रद्धाभेदेन देवादियजनभेदेन शास्त्रीयाशास्त्रीयकर्मानुष्ठानेन च सात्त्विका राजसास्तामसा ज्ञातव्या इति सूचयित्वाऽधुना त्वाहारेण यज्ञेन तपसा दानेन च ते ज्ञातव्या इति सूचयितुमाहारयज्ञतपोदानादीनां सत्त्वादिगुणभेदेन त्रैविध्यं प्रतिपादयति । सात्त्विकैर्मुमुक्षुभिः सात्त्विका एवाऽऽहारादयश्चित्तशुद्धये कर्तव्या न त्वितर इति ज्ञापयितुं च—आहारस्त्विति ।

प्राण और इन्द्रियग्रामको सुखाते हुए—अन्न, रस आदिके अभावसे सुखाते हुए—और मुझ अन्तःशरीरस्थको—अन्तःशरीर यानी बुद्धि, उसमें सबके प्रकाशकरूपसे विद्यमान मुझ प्रत्यक्रूपको—भी सुखाते हुए उपवाससे उत्पन्न अति श्रान्तिसे मन, बुद्धि और इन्द्रियोंकी प्रवृत्तिका उपरम होनेपर आत्मचैतन्यका स्फुरण नहीं होता, उसका अभाव ही इस प्रत्यक् आत्माका कृशीकरण है, उसे करते हुए जो लोग अशास्त्रविहित—जो शास्त्रविहित नहीं है, वह अशास्त्रविहित—, घोर (पीड़ा करनेवाला) तप तपते हैं । उपवास-व्रत आदि द्वारा कामरागबलानुसारी श्रद्धासे जो कायशोषण करते हैं, यह अर्थ है । उनको आसुरनिश्चय (आसुरोंका निश्चय है जिनका, उनको आसुरनिश्चयवाले) समझो, दुष्कर व्रतवालोंको आसुर समझो, यह अर्थ है । इससे यह सूचित हुआ कि आभास श्रद्धावाले राजस और तामसों की आसुरी ही सम्पत् है । इससे यह सिद्ध है कि सात्त्विकोंकी दैवी ही सम्पत्ति है ॥ ५, ६ ॥

इस प्रकार श्रद्धाके भेदसे, देवादियजनके भेदसे और शास्त्रीय और अशास्त्रीय कर्मोंके अनुष्ठानसे सात्त्विक, राजस और तामस जानने योग्य हैं, ऐसा सूचन करके अब तो आहारसे, यज्ञसे और दानसे वे जानने योग्य हैं, ऐसा सूचन करनेके लिए आहार, यज्ञ, तप, दान आदि सत्त्व आदि गुणोंके भेदसे तीन प्रकारके होते हैं, ऐसा प्रतिपादन करते हैं । सात्त्विक मुमुक्षुओंको सात्त्विक ही

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥ ८ ॥
कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥

आयु, अन्तःकरणकी स्फूर्ति, देह और इन्द्रियोंकी शक्ति, रोगकी अनुत्पत्ति, सन्तोष और नेत्रोंकी प्रीतिको बढ़ानेवाले, मधुर, स्नेहयुक्त, गरिष्ठ और मनोहर आहार सात्त्विकस्वभाववालोंके प्रिय होते हैं ॥ ८ ॥

अति कडुवे, खट्टे, नमकीन, गर्म, तीखे, स्नेहरहित, विदाही, तुरन्त दुःख देनेवाले और पीछे शोक और रोग देनेवाले आहार राजसप्रकृतिवालोंके प्रिय होते हैं ॥ ९ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ ७ ॥

आयुरिति । आयुषो ज्योग्जीवनस्य सत्त्वस्याऽन्तःकरणस्य तत्स्फूर्तेर्बलस्य देहेन्द्रियशक्तेरारोग्यस्य रोगानुदयस्य सुखस्य सन्तोषस्य प्रीतेश्चक्षुःप्रीतेर्विवर्धना वर्धका रस्या रसोपेता मधुराः स्निग्धाः स्नेहयुक्ताः स्थिराः सारवत्तरा हृद्या मनोरमा आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥ ८ ॥

कट्विति । अतिशब्दः कट्वादिभिः प्रत्येकं सम्बध्यते । अतिकटुरतितिक्तो निम्बादिः कटुकस्तिक्तशब्देनोच्यते । अत्यम्लोऽतिलवणोऽत्युष्णः अतितीक्ष्णो बृहन्मरीचादिः । रूक्षो निःस्नेहः प्रियङ्ग्वादिः । विदाही सर्षपादिः । सद्योदुःखप्रदाः पश्चाच्छोकरोगप्रदा आहारा राजसस्येष्टाः ॥ ९ ॥

आहार आदि चित्तकी शुद्धिके लिए करने चाहिएँ, दूसरे नहीं, यह बतलानेके लिए कहते हैं— 'आहार' इत्यादि ।

अर्थ स्पष्ट है ॥ ७ ॥

'आयु' इत्यादि । आयुके—चिर जीवनके, सत्त्वके—अन्तःकरणके यानी उसकी स्फूर्तिके, बलके—देह और इन्द्रियकी शक्तिके, आरोग्यके—रोगके अनुदयके, सुखके—सन्तोषके, प्रीतिके—नेत्रकी प्रीतिके विवर्धन—वर्धक, रस्य—रसयुक्त यानी मधुर, स्निग्ध—स्नेहयुक्त, स्थिर—सारवत्तर, हृद्य—मनोरम आहार सात्त्विकके प्रिय हैं ॥ ८ ॥

'कटु' इत्यादि । अतिशब्द कटु आदि प्रत्येकसे सम्बन्ध रखता है । अतिकटु—अतितिक्त, निम्ब आदि कडुवा तिक्तशब्दसे कहा जाता है । अति अम्ल, अति लवण, अति उष्ण, अति तीक्ष्ण बड़ी मिरच आदि । रूक्ष—निःस्नेह प्रियङ्गु (काँगनी) आदि, विदाही—सरसों आदि, शीघ्र ही दुःख देनेवाले पीछे शोक और रोग देनेवाले आहार राजसके इष्ट होते हैं ॥ ९ ॥

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चाऽमेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥ १० ॥
अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥ ११ ॥
अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥ १२ ॥

भली भाँति न पका हुआ, अधिक पका हुआ, दुर्गन्धयुक्त, बासी, उच्छिष्ट और अपवित्र भोजन तामस प्रकृतिवालोंके प्रिय होते हैं ॥ १० ॥

यज्ञ करना मेरा अवश्य कर्तव्य है, यों मनको स्थिर करके फल न चाहनेवाले पुरुषोंसे जो शास्त्र-विधिदृष्ट यज्ञ किया जाता है, वह सात्त्विक है ॥ ११ ॥

हे भरतकुलश्रेष्ठ, जो यज्ञ दम्भके लिए या स्वर्गादि फलके लिए किया जाता है, उस यज्ञको राजस समझो ॥ १२ ॥

यातेति । यातयामं मन्दपक्वम्, गतरसं अतिपक्वम्, पूति दुर्गन्धि, पर्युषितं पुरातनम्, उच्छिष्टं भोजनशेषम्, अमेध्यमयज्ञशेषं भोजनं तामसप्रियम् ॥ १० ॥

अफलेति । यष्टव्यमेवाऽनेन ममेश्वरप्रीतिलक्षणः पुरुषार्थः सिध्यतीति मनः समाधाय मनसो नैश्चल्यमापाद्य श्रद्धाभक्तिभ्यामफलकाङ्क्षिभिर्निष्कामैः श्रोत्रियैस्तन्त्रमन्त्रार्थवेदिभिर्विधिदृष्टो विध्युक्तनियमोपेतो यो यज्ञ इज्यते स सात्त्विको यज्ञ इत्यर्थः ॥ ११ ॥

अभिसन्धायेति । स्वर्गादिफलार्थं वा दम्भार्थं वा क्रियमाणो यज्ञो राजस इत्यर्थः ॥ १२ ॥

'यात' इत्यादि । यातयाम—मन्दपक्व, गतरस—अतिपक्व, पूति—दुर्गन्धवाला, पर्युषित—बासी, उच्छिष्ट—भोजनशेष, अमेध्य—अयज्ञशेष भोजन तामसके प्रिय होते हैं ॥ १० ॥

'अफल' इत्यादि । मुझे यज्ञ करना ही चाहिये, ईश्वरकी प्रीतिरूप मेरा पुरुषार्थ इससे सिद्ध होता है, यों मनका समाधान करके—मनको निश्चल करके—श्रद्धा और भक्तिसे फलकी आकाङ्क्षाके विना निष्काम तन्त्र-मन्त्रके अर्थ जाननेवाले श्रोत्रियोंसे विधिदृष्ट—विधि-उक्त नियमसे युक्त—जो यज्ञ किया जाता है, वह सात्त्विक यज्ञ है; ऐसा अर्थ है ॥ ११ ॥

'अभिसन्धाय' इत्यादि । स्वर्ग आदि फलके लिए अथवा दम्भके लिए किया हुआ यज्ञ राजस है, यह अर्थ है ॥ १२ ॥

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ १३ ॥
देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ १४ ॥

शास्त्रविधिसे हीन, अन्नदानसे रहित, मन्त्रसे हीन, दक्षिणा और श्रद्धासे विरहित यज्ञको तामस कहते हैं ॥ १३ ॥

देवता, ब्राह्मण, गुरु और ब्रह्मज्ञानियोंकी पूजा, बाहर और भीतरकी शुद्धि, कर्तव्य कर्ममें एवं साधुजनोंके विषयमें सर्वत्र मन, वचन और देहके व्यापारोंकी एकरूपता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह शारीर तप कहलाता है ॥ १४ ॥

विधिहीनमिति । स्पष्टोऽर्थः ॥ १३ ॥

शारीरादिभेदेन तपसस्त्रैविध्यमाह—**देवेति त्रिभिः** ।

देवा अग्न्यादयः, द्विजा श्रोत्रियाः, गुरवः पित्राचार्योपाध्यायाद्याः, प्राज्ञाः ब्रह्मविदः । प्राज्ञा इति द्विजातिभ्यः पृथग्ग्रहणं प्राज्ञत्वमीश्वरप्रसादातिशयेन शतकोटिजन्मार्जितपुण्यविशेषातिशयलब्धेन जात्यन्तरीयाणामपि सम्भवति, धर्मव्याधादिषु तद्दर्शनात्; ततो जात्यन्तरीयाणामपि तेषां भक्त्या समाराध्यत्वबोधनार्थम् । तेषां पूजनं प्रणामशुश्रूषान्नादिभिराराधनम् । शौचं बाह्याभ्यन्तरशुद्धिः । आर्जवं कर्तव्ये कर्मणि साधुषु च सर्वत्र मनोवाक्कायकर्मणामेकरूपता । ब्रह्मचर्यमनिषिद्धकालरतिः । अहिंसा प्राण्यपीडनम् । चशब्दः समुच्चयार्थः । तदेतत्सर्वं शरीरनिर्वर्त्यत्वाच्छारीरं तप उच्यते ॥ १४ ॥

'विधिहीनम्' इत्यादि । स्पष्ट अर्थ है ॥ १३ ॥

शरीर आदिके भेदसे तीन प्रकारका तप कहते हैं—**'देव०'** इत्यादि तीन श्लोकोंसे ।

देव-अग्नि आदि, द्विज—श्रोत्रिय, गुरु—पिता, आचार्य उपाध्याय आदि, प्राज्ञ—ब्रह्मवित् । 'प्राज्ञ' का द्विजातियोंसे पृथक् ग्रहण प्राज्ञत्व सौ करोड़ जन्मोंमें उपार्जित पुण्यविशेषके अतिशयसे प्राप्त हुए ईश्वरके अतिशय प्रसादसे दूसरी जातियोंका भी सम्भव है, क्योंकि धर्मव्याध आदिमें वैसा देखा गया है; इसलिए उन दूसरी जातिवालोंका भी भक्तिसे समाराध्यत्व बोधन करनेके लिए है । उनका पूजन है प्रणाम, शुश्रूषा, अन्न आदिसे आराधना । शौच—बाहर और भीतरकी शुद्धि । आर्जव—कर्तव्य कर्ममें और साधुओंमें सर्वत्र मन, वाणी और कायके व्यापारोंकी एकरूपता । ब्रह्मचर्य—अनिषिद्धकालमें रति । अहिंसा—प्राणियोंको पीड़ा न देना । चशब्द समुच्चयके लिए है । यह सब शरीरसे किया जाता है, इसलिए शारीर तप कहलाता है ॥ १४ ॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥ १५ ॥
मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥

उद्वेग न करनेवाला, सत्य, प्रिय और हितकारक वाक्य और स्वाध्यायका अभ्यास वाङ्मय तप कहलाता है ॥ १५ ॥

मनकी प्रसन्नता, सौम्यत्व, ध्यानपरायणता, मनका निग्रह और अन्तःकरणकी शुद्धि यह सब मानस तप कहलाता है ॥ १६ ॥

अनुद्वेगेति । अनुद्वेगकरं अपरुषं सत्यं यथार्थभाषणं प्रियं मनःश्रवणानन्दकरं हितं पुरुषार्थकारि वाक्यम् । अनुद्वेगकरं च सत्यं हितं प्रियं चेति वाक्यचतुर्विध-विशेषणसमुच्चयार्थश्चकारः । अनुद्वेगकरत्वसत्यत्वप्रियत्वहितत्वविशेषणचतुष्टयविशिष्ट-स्यैव वाक्यस्योच्चारितत्वे वाङ्मयतपस्त्वं सिध्यति । यथा उदात्तादिस्वरचतुष्टयानु-वृत्तस्यैव वेदस्य वेदत्वं नाऽन्यथा तद्वत्तन्नैवैकेन द्वाभ्यां वा त्रिभिर्वा विशेषणैर्वियुक्त-स्योच्चारणेन तपस्त्वं सम्भवति । अतो मुमुक्षुर्विशेषणचतुष्टयविशिष्टमेव वचनं वदेदिति सिद्धम् । ब्रह्मयज्ञस्याऽपि वाङ्मये तपस्यन्तर्भाव इत्याह—**स्वाध्यायाभ्यसनं चेति ।** प्राङ्मुखत्वपवित्रपाणित्वादिनियमविशिष्टं स्वाध्यायस्याभ्यसनमावृत्तिरपि वाङ्मयं तप एवेत्यर्थः । तदपि वाचा निर्वर्त्यमानत्वाद्वाङ्मयं तप उच्यते । चकारात् स्तोत्रपाठादिरपि वाङ्मयं तप एव भवतीत्यर्थः ॥ १५ ॥

मन इति । मनःप्रसादः मनसो विषयेभ्यो विश्लिष्याऽविकारात्मनैकत्राऽवस्थानं

'अनुद्वेग' इत्यादि । अनुद्वेगकर—अकठोर यानी मधुर, सत्य—यथार्थ भाषण, प्रिय—मन और कानोंको आनन्द देनेवाला, हित—पुरुषार्थ करनेवाला वाक्य । अनुद्वेगकर और सत्य, हित और प्रिय, ये चार प्रकारके वाक्यके विशेषणोंके समुच्चयके लिए चकार है । अनुद्वेगकरत्व, सत्यत्व, प्रियत्व, हितत्व विशेषणोंसे विशिष्ट वाक्यका उच्चारण करनेपर ही वाङ्मय तप सिद्ध होता है । जैसे उदात्त आदि चार स्वरोंसे अनुवृत्त वेदका वेदत्व है, अन्यथा नहीं; उसी प्रकार एक, दो या तीन विशेषणोंसे रहित वाक्यके उच्चारणसे तपका संभव नहीं है, इसलिए मुमुक्षु चारों विशेषणोंसे विशिष्ट वचन ही बोले, ऐसा सिद्ध होता है । ब्रह्मयज्ञका भी वाणीमय तपमें अन्तर्भाव है, ऐसा कहते हैं—**स्वाध्यायाभ्यसनं चेति** । प्राङ्मुखत्व, पवित्रपाणित्व आदि नियमोंसे विशिष्ट स्वाध्यायका अभ्यसन (आवृत्ति) भी वाङ्मय तप ही है, यह अर्थ है । वह भी वाणीसे किया जाता है, इसलिए वाङ्मय तप कहलाता है । चकारसे स्तोत्रपाठ आदि भी वाङ्मय ही तप है, यह अर्थ है ॥ १५ ॥

'मन' इत्यादि । मनका प्रसाद—मनको विषयोंसे अलग करके अविकारस्वरूपसे एकत्र स्थित

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्रिविधं नरैः ।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥ १७ ॥

जिनका एकाग्र चित्त है और जिनकी कर्मफलोंमें स्पृहा नहीं है, ऐसे पुरुषों द्वारा परम श्रद्धासे किये गये उस तीन प्रकारके तपको मुनि लोग सात्त्विक तप कहते हैं ॥ १७ ॥

प्रसादः । सौम्यत्वम् उपकारिण्यपकारिण्यपीष्टेऽप्यनिष्टे च पक्षपातरहितत्वेन मनसोऽवस्थानं सौम्यत्वमक्रूरता वा । मौनं मुनेर्भावो मौनं सगुणस्य वा निर्गुणस्य वाऽप्यनुसन्धानपरत्वं मौनं ध्यानपरायण एव मुनिस्तद्भाव एव मौनम्, न तु वाङ्मात्रनिरोधः । अन्यथा पश्वादीनामपि तद्वत्तापत्तेः । आत्मविनिग्रह आत्मनो मनसो विनिग्रहो विषयेषु प्रवृत्तिनिरोधनम् । भावसंशुद्धिः भाव्यतेऽर्थोऽनेनेति भावोऽन्तःकरणम्, तस्य रागद्वेषादिदोषसंश्लेषाभावापादनं भावसंशुद्धिरित्येतत् सर्वं मनएकसाध्यत्वात् मानसं तप उच्यते । महर्षिभिरित्यर्थः ॥ १६ ॥

उक्तस्यैव तपसस्त्रिविधस्य सत्त्वादिगुणभेदेन त्रैविध्यमाह—श्रद्धयेति ।

युक्तैरेकाग्रचित्तैः परमेश्वरभक्तियुक्तैरत एवाऽफलाकाङ्क्षिभिर्नरैः परया श्रद्धया तप्तं तत्त्रिप्रकारकं तपः सात्त्विकं सत्त्वगुणसम्भावितातिश्रद्धया निष्पादितत्वात् सात्त्विकमिति परिचक्षते । कथयन्तीत्यर्थः ॥ १७ ॥

करना प्रसाद । सौम्यत्व उपकार करनेवाले तथा अपकार करनेवालेमें और इष्ट एवं अनिष्टमें पक्षपातको छोड़ कर मनका अवस्थान अथवा अक्रूरता सौम्यत्व है । मौन—मुनिभाव मौन है, सगुण अथवा निर्गुणके अनुसन्धानमें परायण होना मौन है, ध्यानपरायण ही मुनि है, उसीका भाव मौन है, वाणीमात्रका निरोध मौन नहीं है । यदि वाणीका निरोधमात्र मौन होगा, तो पशु आदिमें भी मौनका प्रसङ्ग हो जायगा । आत्मविनिग्रह यानी आत्माका—मनका—विनिग्रह अर्थात् विषयोंमें प्रवृत्तिका रोकना । भावसंशुद्धि—अर्थकी जिससे भावना की जाती है, वह भाव है यानी अन्तःकरण, उसमें राग आदि दोषोंके सम्बन्धका अभाव सम्पादन करना भावसंशुद्धि है, वह सब केवल मनसे ही साध्य होनेके कारण मानस तप कहा जाता है । महर्षियों द्वारा, यह अर्थ है ॥ १६ ॥

उक्त तीन प्रकारका तप ही सत्त्व आदि गुणोंके भेदसे तीन प्रकारका है, ऐसा कहते हैं—'श्रद्धया' इत्यादिसे ।

युक्त—एकाग्र चित्तवाले परमेश्वरकी भक्तिसे सम्पन्न—इसीलिए फल न चाहनेवाले मनुष्योंके द्वारा परम श्रद्धासे तपा हुआ वह तीन प्रकारका तप सात्त्विक—सत्त्व गुणसे उत्पन्न हुई अति श्रद्धासे निष्पादित होनेके कारण सात्त्विक—है, ऐसा कथन करते हैं। कहते हैं, यह अर्थ है ॥१७॥

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥ १८ ॥
मूढग्राहेणाऽऽत्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥ १९ ॥

सत्कार, मान और पूजाके लिए दम्भपूर्वक जो दाम्भिक लोगों द्वारा अध्रुव तथा क्षणिक इसी लोकमें फलप्रद तप किया जाता है, वह राजस तप कहलाता है ॥ १८ ॥

अत्यन्त मूढ़ बुद्धिवाले पुरुष द्वारा अपने शरीरको केवल कष्ट ही देनेके लिए अथवा आभिचारिक (मारण) क्रियासे शत्रुके विनाशके लिए जो तप किया जाता है, वह तामस तप कहलाता है ॥ १९ ॥

सत्कारेति । सत्कारमानपूजार्थं सत्कारार्थं मानार्थं पूजार्थं च । सत्कारः साधुरयं विद्वान् ब्राह्मण इति स्तुतिस्तदर्थम् । मानो बहुमानस्त्वभ्युत्थानादिस्तत्प्रयोजनार्थम् । पूजा गन्धपुष्पदक्षिणादिभिः स्वपूजा तदर्थं च । दम्भेन वेषभाषादिप्रकाशनेन दाम्भिकैर्यत्तपः क्रियते तत्तप इहाऽस्मिन् लोके एव फलप्रदं भवति । तच्चाऽध्रुवं देहमात्रोपयोगित्वादध्रुवं तत्राऽपि चलं तात्कालिकफलं क्षणिकमेवंलक्षणं यत्तपस्तद्राजसमिति महर्षिभिः प्रोक्तमित्यर्थः ॥ १८ ॥

मूढग्राहेणेति । मूढग्राहेण अर्थानर्थस्वरूपानभिज्ञो मूढस्तस्य ग्राहस्त्वहमेव बुद्धिमानित्यभिनिवेशो मूढग्राहस्तेनाऽत्यन्तमूढबुद्ध्या स्वस्य पीडया कायक्लेशेन यदुक्तं त्रिविधं तपः क्रियते कायक्लेशमात्रैकप्रयोजनं अथवा परस्योत्सादनार्थमाभिचारिक-

---

'सत्कार०' इत्यादि । सत्कारमानपूजार्थं यानी सत्कार, मान और पूजाके लिए । सत्कार यानी यह साधु विद्वान् ब्राह्मण है, इस प्रकारकी स्तुति, उसके लिए । मान यानी बहुत मान अभ्युत्थान आदि, उसके लिए और पूजा यानी गन्ध, पुष्प, दक्षिणा आदिसे अपनी पूजा, उसके लिए । दम्भसे—वेष, भाषा आदिके प्रकाशनसे—दम्भ करनेवाले पुरुषों द्वारा जो तप किया जाता है, वह तप इसी लोकमें फल देनेवाला होता है और वह अध्रुव यानी केवल देहका ही उपयोगी होनेसे अध्रुव, उसमें भी चल—तात्कालिक फल देनेवाला—यानी क्षणिक है, इस प्रकारके लक्षणसे युक्त जो तप है, वह राजस है, ऐसा महर्षियोंने कहा है ॥ १८ ॥

'मूढग्राहेणा०' इत्यादि । मूढ़ग्राह (अर्थ और अनर्थके स्वरूपको न जाननेवाला मूढ़ है, उसका ग्राह यानी मैं ही बुद्धिमान् हूँ, ऐसा अभिनिवेश) अर्थात् अत्यन्त मूढ़बुद्धिवाला पुरुष अपनी पीड़ासे—शरीरक्लेशसे—जो उक्त तीन प्रकारका तप करता है यानी केवल शरीरको ही

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ २० ॥
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ २१ ॥
अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

देना चाहिए, इस बुद्धिसे देश, काल और पात्रका विचार कर अनुपकारी व्यक्तिको जो दान दिया जाता है, वह दान सात्त्विक कहा गया है ॥ २० ॥

प्रत्युपकारके लिए अथवा किसी फलकी इच्छासे लोभवश अन्तःकरणके क्लेशसे युक्त जो दान दिया जाता है, वह राजस दान कहलाता है ॥ २१ ॥

देश और कालका विचार न कर अपात्रोंको जो सत्कारके बिना तथा अपमानपूर्वक दान दिया जाता है, वह तामस दान कहलाता है ॥ २२ ॥

क्रियया शत्रुविनाशार्थं वा यत्करोति तत्तपस्तामसं तमःसंभावितश्रद्धानिष्पादितत्वात्तामसमिति मुनिभिरुदाहृतमित्यर्थः ॥ १९ ॥

दानस्य त्रैविध्यमाह—**दातव्यमिति** त्रिभिः ।

स्पष्टोऽर्थः ॥ २० ॥

यदिति । परिक्लिष्टं लोभातिशयेनाऽन्तःकरणक्लेशसंयुक्तं यत्तद्दानं राजसम् ॥२१॥

अदेशेति । असत्कृतमर्ध्यपाद्यादिभिरनर्चितम् । अवज्ञातमवमानप्रयुक्तं दानं यत्तत्तामसमिति मुनिभिरुदाहृतम् ॥ २२ ॥

कष्ट पहुँचानेवाला अथवा दूसरेके उत्सादके लिए यानी आभिचारिक (मारण) क्रियासे शत्रुके विनाशके लिए जो तप करता है, वह तप तामस है, तमसे उत्पन्न हुई श्रद्धासे निष्पादित होनेके कारण तामस है, ऐसा मुनियोंने कहा है, यह अर्थ है ॥ १९ ॥

दान तीन प्रकारका है, ऐसा कहते हैं—**'दातव्यम्'** इत्यादि तीन श्लोकोंसे ।

इस श्लोकका अर्थ स्पष्ट है ॥ २० ॥

'यद्' इत्यादि । परिक्लिष्ट यानी अधिक लोभ होनेके कारण अन्तःकरणके क्लेशसे युक्त जो दान है, वह राजस है ॥ २१ ॥

'अदेश०' इत्यादि । असत्कृत यानी अर्घ्य, पाद्य आदिसे अपूजित । अवज्ञात यानी अपमानप्रयुक्त जो दान है, वह तामस है, ऐसा मुनियोंने कहा है ॥ २२ ॥

ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥ २३ ॥

ॐ, तत् और सत् यों तीन तरहके परब्रह्मके नाम हैं, सृष्टिके आदिकालमें उन तीन नामोंसे ब्राह्मण, वेद और यज्ञ उत्पन्न हुए ॥ २३ ॥

ननु देशकालपात्रद्रव्यमन्त्रतन्त्रादिस्वरूपं ज्ञात्वा यथाशास्त्रं वैदिकं कर्म श्रद्धाभक्तिविनयैः कर्तुं न शक्यते, तेन सर्वस्याऽपि वैदिकस्य कर्मणो वैगुण्यमेव प्रसज्यते, तत्र कथमित्याकाङ्क्षायाम् 'विद्वान् यजते' इति श्रवणाद्देशकालादिस्वरूपज्ञेन विदुषैव सर्वं कर्म विज्ञाय श्रद्धया कर्तव्यम्, तथापि यज्ञदानतपोव्रतादीनामतत्त्वज्ञेन क्रियमाणानामश्रद्धया वा भ्रमप्रमादादिना वा क्वचित्तन्त्रमन्त्रस्वरवर्णादिलोपेन वा वैगुण्ये प्राप्ते ॐतत्सदित्युक्त्या सर्वं सगुणं सफलं च भवतीति बोधयितुमयमुपदेशः क्रियते—**ओमिति** ।

'ओमिति ब्रह्म' इति 'तत्त्वमसि' इति 'सदेव सोम्य' इति च श्रवणात् ओमिति तदिति सदिति च परस्य ब्रह्मणो निर्देशः निर्दिश्यते वस्त्वनेनेति निर्देशो नाम त्रिविधस्त्रिप्रकारः स्मृतो वेदान्तविद्भिरुद्दालकादिभिः । ॐतत्सदित्येतानि त्रीणि ब्रह्मणो नामान्युक्तानीत्यर्थः । एवं नामनिर्देशं कृत्वा नाम्नां महत्त्वमाह—**ब्राह्मणा इति** । पुरा सर्गादौ तेनोक्तेन नामत्रितयेन ब्राह्मणा ऋगादयो वेदाः श्रौताः स्मार्ताश्च सर्वे यज्ञा विहिता निर्मिताः । तेभ्यः समुत्पन्ना इत्यर्थः ।

देश, काल, पात्र, द्रव्य, मन्त्र, तन्त्र आदिके स्वरूपको जानकर शास्त्रके अनुसार [किसीके द्वारा] वैदिक कर्मका श्रद्धा, भक्ति और विनयसे अनुष्ठान नहीं किया जा सकता, इससे सम्पूर्ण वैदिक कर्मोंमें वैगुण्यका ही प्रसङ्ग आता है, ऐसी परिस्थितिमें उनका अविकलरूपसे अनुष्ठान कैसे करना चाहिए ? ऐसी आकाङ्क्षा होनेपर यद्यपि 'विद्वान् यजन करे' इत्यादि श्रुतिसे देश, काल, आदिके स्वरूपको जाननेवाले विद्वान्को ही सम्पूर्ण कर्मोंको जानकर श्रद्धासे अनुष्ठान करना चाहिए, यह ज्ञात होता है, तथापि तत्त्वको न जाननेवाले पुरुष द्वारा अश्रद्धा, भ्रम और प्रमाद आदिसे या कहीं तन्त्र, मन्त्र, स्वर, वर्ण आदिके लोपसे किये गये यज्ञ, दान, तप, व्रत आदिमें वैगुण्यके प्राप्त होनेपर 'ॐ तत्सत्' इस कथनसे सम्पूर्ण कर्म सगुण और सफल हो जाते हैं, ऐसा बोधन करनेके लिए यह उपदेश किया जाता है—**'ओम्'** इत्यादिसे ।

'ॐ यह ब्रह्म है', 'वह तुम हो' और 'सत् ही सोम्य' इस श्रुतिसे 'ओम्', 'तत्' और 'सत्' यह परब्रह्मका निर्देश है । जिससे जिस वस्तुका कथन किया जाता है, वह निर्देश है, यानी नाम, उसको वेदान्त जाननेवाले उद्दालक आदिने त्रिविध अर्थात् तीन प्रकारका कहा है । 'ॐ, तत् और सत्' ये तीन ब्रह्मके नाम कहे गये हैं, यह अर्थ है । इस प्रकार नामोंका निर्देश करके उनका महत्त्व कहते हैं—**ब्राह्मणा इति** । सर्गके आदिमें उन कहे गये तीन प्रकारके नामोंसे ब्राह्मण, ऋगादि वेद और श्रौत-स्मार्तरूप सम्पूर्ण यज्ञ विहित—निर्मित—

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥ २४ ॥

[यतः उक्त तीन नाम ब्रह्मके वाचक एवं वेद आदिके उत्पादक होनेके कारण अत्यन्त पवित्रतम हैं] अतः कर्मके आरम्भ और अन्तमें ॐकारके उच्चारणसे वेदनिष्णात विद्वानोंकी विधिप्रतिपादित यज्ञ, दान और तपोरूपा क्रियाएँ (अङ्ग विकल होनेपर भी) साङ्ग और पूर्ण हो जाती हैं ॥२४॥

एतेन पावनानां वेदादीनां जनिहेतुत्वाच्चेषां त्रयाणामपि नाम्नां पवित्रत्वस्येयत्ता नाऽस्तीति सूचितम् । ततस्तदुच्चारणं सर्वपापप्रायश्चित्ततममिति सिद्धम् ॥ २३ ॥

इममेवाऽर्थं प्रतिपादयन्नाऽऽदौ प्रणवस्य विनियोगमाह—**तस्मादिति** ।

यस्मादेतन्नामत्रितयं ब्रह्मवाचकत्वेन वेदादिजनकत्वेन च पवित्रतममिति मतम्, तस्मादोमित्युदाहृत्य कर्मारम्भे तदन्ते चोंकारमुच्चार्य ब्रह्मवादिनां ब्रह्म वेदास्तदर्थं च वदितुं शीलमेषामस्ति ते ब्रह्मवादिनो वेदवेदार्थपारगा ब्राह्मणास्तेषां ब्रह्मवादिनां विधानोक्ताः विध्युक्ता यज्ञदानतपःक्रियाः सर्वाः क्वचिदश्रद्धादिनाऽङ्गवैकल्येऽप्याद्यन्तयोरोमित्युच्चारणेन सततं यथोक्तलक्षणैः संपूर्णं यथा तथा प्रवर्तन्ते प्रकर्षेण वर्तन्ते प्रवर्तन्ते । प्रकृष्टाः साङ्गाः सात्त्विका भवन्तीत्यर्थः ॥ २४ ॥

एवमोंकारस्य कर्मसाद्गुण्यसंपादने विनियोगमुक्त्वा तत्पदस्य विनियोगमाह—**तदितीति** ।

हुए। उनसे उत्पन्न हुए, यह अर्थ है। इससे यह सूचित होता है कि पवित्र वेद आदिकी उत्पत्तिके हेतु होनेके कारण उन तीनों नामोंकी पवित्रताकी इयत्ता नहीं है। इसलिए उनका उच्चारण सम्पूर्ण पापोंका सबसे बढ़कर प्रायश्चित्त है, यह सिद्ध हुआ ॥ २३ ॥

इसी अर्थका प्रतिपादन कर रहे श्रीभगवान् पहले प्रणवका विनियोग कहते हैं—**'तस्मात्'** इत्यादिसे ।

यतः ये तीनों नाम ब्रह्मके वाचक तथा वेदादिके जनक होनेके कारण अत्यन्त पवित्र हैं, ऐसा मत है, इसलिए ॐ, ऐसा कहकर यानी कर्मके आरंभ और अन्तमें ओंकारका उच्चारण करके ब्रह्मवादियोंकी (ब्रह्म—वेद—और उसके अर्थको कहनेका जिनका शील है, वे ब्रह्मवादी हैं यानी वेद और वेदके अर्थके पारग ब्राह्मण, उन ब्रह्मवादियोंकी) विधानोक्त—विधिसे उक्त—यज्ञ, दान और तपरूप सम्पूर्ण क्रियाएँ कहीं अश्रद्धा आदिसे अङ्गवैकल्य होनेपर भी आदि और अन्तमें ओम्‌के उच्चारणसे सतत यानी यथोक्त लक्षणोंसे संपूर्ण हो जाती हैं—प्रकृष्ट, साङ्ग और सात्त्विक हो जाती हैं, यह अर्थ है ॥ २४ ॥

इस प्रकार ओंकारका कर्मसाद्गुण्यके संपादनमें विनियोग कहकर तत्पदका विनियोग कहते हैं—**'तत्'** इत्यादिसे ।

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥ २५ ॥
सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥ २६ ॥

मोक्षकी अभिलाषा करनेवाले विद्वान् लोग कर्मके आरम्भमें फलकी अभिलाषाका परित्याग कर यज्ञ, तप और दानरूप विविध क्रियाओंका अनुष्ठान 'तत्'का निर्देश कर करते हैं ॥ २५ ॥

हे पार्थ, विद्यमान वस्तुके अस्तित्वकी या सबमें ब्रह्मभावकी, सद्वृत्तत्वकी तथा प्रशस्त कर्मकी विविक्षा होनेपर पण्डित लोग 'सत्' सब्दका प्रयोग करते हैं ॥२६॥

उदाहृत्येति पदं पूर्वोक्तमनुवर्तते । मोक्षकाङ्क्षिभिर्मोक्षैककामैः । एतेन पूर्वोक्तानां कामित्वं सूचितम् । मुमुक्षुभिर्ब्राह्मणैः फलं कर्मजन्यमनभिसन्धाय संकल्पाननपेक्ष्य चेश्वरार्पणबुद्ध्या चित्तशुद्धये कर्मारम्भादौ तदिति पदमुदाहृत्य समुच्चार्य यज्ञदानतपःक्रियाः श्रौताद्या यज्ञक्रियाः, शारीरादयस्तपःक्रियाः, कन्यागवादिभेदेन विविधा दानक्रियाश्च क्रियन्ते । श्रद्धाद्यङ्गलोपे सति तत्पदप्रयोगेण सगुणाः क्रियन्त इत्यर्थः ॥ २५ ॥

एवमोंतच्छब्दयोर्विनियोगमुक्त्वाऽथ सच्छब्दस्य विनियोगमाह—**सद्भावे इति** द्वाभ्याम् ।

सद्भावे विद्यमानस्य वस्तुनोऽस्तित्वं सद्भावस्तस्मिन् सद्भावे देवदत्तस्य पुत्रोऽस्तीत्येतस्मिन्नर्थे पण्डितैः सदित्येतत्पदं प्रयुज्यते । यद्वा सतो ब्रह्मणो भावः सद्भा-

---

'उदाहृत्य' इस पूर्वोक्त पदकी यहाँ अनुवृत्ति होती है । मोक्षाकाङ्क्षी यानी केवल मोक्षकी ही कामना करनेवाले । इससे पूर्वमें कहे गये जनोंका कामित्व सूचन किया । मुमुक्षु ब्राह्मण कर्मजन्य-फलका अभिसन्धान न करके यानी संकल्पोंकी अपेक्षा न कर ईश्वरार्पणबुद्धिसे चित्तशुद्धिके लिए कर्मके आरम्भमें पहले 'तत्' पदका उदाहरण करके—उच्चारण करके—यज्ञ, दान, तप रूप क्रियाओंको (श्रौत आदि यज्ञक्रिया, शारीर आदि तपःक्रिया, कन्या, गो आदि भेदसे अनेक प्रकारकी दानक्रियाओंको) करते हैं । श्रद्धा आदि अङ्गका लोप होनेपर तत्पदके प्रयोगसे सगुण (पूर्ण) करते हैं, यह अर्थ है ॥ २५ ॥

इस प्रकार 'ओम्' और 'तत्' शब्दोंका विनियोग कहकर अब 'सत्' शब्दका विनियोग कहते हैं—**'सद्भाव'** इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

सद्भावमें (विद्यमानवस्तुका अस्तित्व सद्भाव है, उसमें) यानी देवदत्तका पुत्र है, इस अर्थमें पण्डित लोग 'सत्' पदका प्रयोग करते हैं । अथवा सत्का यानी ब्रह्मका भाव सद्भाव

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाऽभिधीयते ॥ २७ ॥

श्रौत यज्ञमें, शारीरिक तपमें तथा कन्यादान आदि दानमें जो अवस्थिति है, उसके लिए विद्वान् 'सत्' शब्दका प्रयोग करते हैं, तथा परमेश्वरके लिए किये गये कर्ममें भी 'सत्' शब्दका प्रयोग करते हैं ॥ २७ ॥

वस्तस्मिन् सर्वस्य ब्रह्मभावे विवक्षिते सदिदमिति सच्छब्दः प्रयुज्यते । साधुभावे च सद्वृत्तता साधुभावस्तस्मिन् विवक्षिते साधोः साधुभावे सद्भिः सन्नयमिति सच्छब्दः प्रयुज्यते । तथा च कर्मणः प्रशस्तत्वे विवक्षिते सदिदं कर्मेति सच्छब्दः प्रयुज्यत इत्यर्थः ॥ २६ ॥

किञ्च, यज्ञ इति । यज्ञे श्रौतादौ तपसि शारीरादौ दाने च कन्यादानादौ या स्थितिरवस्थानं सा च विद्वद्भिः सदित्युच्यते । यज्ञादीनामश्रद्धादिदोषोपपत्तौ साधुत्वसिद्धये सच्छब्दः प्रयुज्यत इत्यर्थः । तदर्थीयम् अत्र तच्छब्देन लोकशास्त्रप्रसिद्धः परमेश्वरो गृह्यते । तदर्थीयं परमेश्वरार्थकं कर्म च सदित्येवाऽभिधीयते । अश्रद्धादिदोषप्राप्तौ यज्ञादीनां साद्गुण्याय ॐ तत्सदिति ब्रह्मणो नामत्रयं प्रयुज्यत इत्युक्त्या सात्त्विक्या श्रद्धयैव मुमुक्षुभिर्यज्ञदानादि कर्म नियमेन कर्तव्यमिति पर्यवसितम्, नाऽन्यथेत्यर्थः ॥ २७ ॥

श्रद्धाविधुरस्य कर्मणो निष्फलत्वमाह—अश्रद्धयेति ।

है, उसमें यानी सबका ब्रह्मभाव विवक्षित होनेपर, यह सत् है, यों 'सत्' शब्दका प्रयोग किया जाता है । और साधुभावके—सद्वृत्तता साधुभाव है, उसके—विवक्षित होनेपर यानी साधुके साधुभावकी विवक्षामें सत्पुरुषों द्वारा यह सत् है, यों 'सत्' शब्दका प्रयोग किया जाता है । और इसी प्रकार कर्मका प्रशस्तत्व विवक्षित हो, तो यह कर्म सत् है, यों 'सत्' शब्दका प्रयोग किया जाता है, यह अर्थ है ॥ २६ ॥

किञ्च **'यज्ञ'** इत्यादि । श्रौत आदि यज्ञमें, शारीर आदि तपमें और कन्यादान आदि दानमें जो स्थिति यानी अवस्थान है, वह भी विद्वानोंके द्वारा सत्, ऐसा कहा जाता है । यज्ञ आदिमें, अश्रद्धा आदि दोष प्राप्त होनेपर, साधुत्वकी सिद्धिके लिए 'सत्' शब्दका प्रयोग किया जाता है, यह अर्थ है । तदर्थीय यहाँ 'तत्' शब्दसे लोक और शास्त्रमें प्रसिद्ध परमेश्वरका ग्रहण किया जाता है । तदर्थीय यानी परमेश्वरके लिए किया गया कर्म भी 'सत्' कहा जाता है । अश्रद्धा आदि दोषोंकी प्राप्ति होनेपर यज्ञ आदिके साद्गुण्यके लिए 'ॐ तत्सत्, यों ब्रह्मके तीन नामोंका प्रयोग किया जाता है', इस कथनसे सात्त्विक श्रद्धासे ही मुमुक्षुओंको यज्ञ, दान आदि कर्मोंका नियमसे अनुष्ठान करना चाहिए, अन्यथा नहीं, ऐसा तात्पर्य है, यह अर्थ है ॥ २७ ॥

श्रद्धाके विना किया गया कर्म निष्फल है, ऐसा कहते हैं—**'अश्रद्धया'** इत्यादिसे ।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥ २८ ॥

हे अर्जुन, अश्रद्धासे श्रौत आदि कर्मोंमें अग्निमें किया गया होम, ब्राह्मणोंको दिया गया दान, शारीरिक तप तथा अन्य स्तोत्रादि रूप किया गया कर्म सब असत् यानी निष्फल ही कहा जाता है, उसका परलोक और इस लोकमें कुछ भी फल नहीं होता ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे त्रिगुणविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

अश्रद्धया श्रौते स्मार्ते च कर्मणि यदग्नौ हुतम्, यदन्नोदकादिकं ब्राह्मणेभ्यो दत्तम्, यच्छारीरादिलक्षणं तपस्तप्तम्, यदन्यत् स्तोत्रमन्त्रजपादिकं कर्म कृतं भवति तत्सर्वमसन्निष्फलमेव भवति। तदेव विस्पष्टयति—**न चेति**। शरीरादिबहुप्रयासेन कृतं भक्तिश्रद्धाविधुरं यत्सर्वं कर्म प्रेत्य परलोकसुखाय न भवति नो इह ऐहिकसुखाय च न भवति, श्रद्धावैधुर्यान्मन्त्रादिलोपाच्च तत्कर्म देवा अपि नाऽनुमन्यन्ते नैव च शिष्टा अपि। अतः श्रद्धाशून्यं कर्म निष्फलमेवेत्यर्थः। ननु 'अश्रद्धया देयम्' इति विधिबलादश्रद्धया कृतमपि कर्म दानादि फलवदेव स्यादिति चेत्, सत्यम्; यद्यपि 'अश्रद्धया देयम्' इति श्रूयते, तथापि 'केवलाघो भवति केवलादी' इति केवलादिनो महापापिष्ठतमत्वप्राप्तौ तन्निवृत्तये तु 'अश्रद्धया देयम्'इति दयया श्रुत्योच्यते,

---

श्रद्धाके बिना जो श्रौत और स्मार्त कर्मोंमें अग्निमें होमा हुआ हो, जो अन्न, जल आदि ब्राह्मणोंको दिये गये हों, जो शारीर आदि रूप तप तपा हुआ हो, जो अन्य स्तोत्र, मन्त्र, जप आदि कर्म किये गये हों, वे सब असत्—निष्फल—ही हैं। उसीको विशेष स्पष्ट करते हैं—**न चेति**। शरीर आदिके अत्यधिक प्रयाससे किये गये जो भक्ति और श्रद्धासे रहित कर्म हैं, वे सब कर्म परलोकके सुखके हेतु नहीं होते और न इस लोकके सुखके हेतु होते हैं। श्रद्धारहित होनेके कारण तथा मन्त्र आदिका लोप होनेके कारण उन कर्मोंका देवता अनुमोदन नहीं करते और शिष्ट भी उनका अनुमोदन नहीं करते। इसलिए श्रद्धाशून्य कर्म निष्फल ही है, यह अर्थ है। 'अश्रद्धासे देना चाहिए', इस विधिके बलसे अश्रद्धासे भी किये गये दान आदि कर्म फलवाले होते हैं, ऐसा यदि कहो, तो यह कहना सत्य है। यद्यपि 'अश्रद्धासे देना चाहिए', ऐसा सुननेमें आता है, तथापि 'अकेला खानेवाला केवल पापसे ही युक्त होता है', इत्यर्थक श्रुतिसे अकेले खानेवाले पुरुषका महापापिष्ठ होना प्राप्त होता है, उसकी निवृत्तिके लिए ही 'अश्रद्धासे देना चाहिए' ऐसा दयासे श्रुतिने कहा है,

न तु विधीयते । 'यतिश्च ब्रह्मचारी च विद्यार्थी गुरुपोषकः । अध्वगः क्षीणवृत्तिश्च' इत्यादिषु भिक्षुकेष्वन्येषु वा दोषवत्सु सत्सु न तेषु श्रोत्रियस्य श्रद्धा जायते । तथापि गृहस्थैकशरणानां तेषां गत्यन्तराभावादश्रद्धयाऽपि च दातव्यमेवेत्युच्यते— 'अश्रद्धया देयं ह्रिया देयम्' इति । 'यथा मातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः । वर्तन्ते गृहिणं तद्वदाश्रित्येतर आश्रमाः ॥' इति न्यायेन सर्वाश्रमिणां गृहस्थैकशरणत्वात् 'दानमेव गृहस्थस्य' इति गृहिणो दानैकप्रधानत्वस्मरणाच्च यथाकथञ्चिदर्थिभ्योऽश्रद्धया वा ह्रिया वा भिया वाऽवश्यं दातव्यमिति दानस्याऽवश्यकरणीयत्वं सूच्यते 'अश्रद्धया देयम्' इत्यादिना । ततो नाऽयं विधिः, अन्यथा 'श्रद्धया देयम्', 'श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः', 'श्रद्धां कामस्य मातरम्' इति सर्वस्याऽपि कर्मणः श्रद्धाप्रधानत्वविधिर्वैयर्थ्यप्रसङ्गात् । तस्माच्छ्रौतं स्मार्तं च कर्म सर्वं श्रद्धयैव कर्तव्यमिति सिद्धम् ॥ २८ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमदानन्दात्मसरस्वतीशिष्यश्रीशङ्करानन्दसरस्वतीकृतौ गीतातात्पर्यबोधिन्यां सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

न कि विधान किया है । 'संन्यासी, ब्रह्मचारी, गुरुका पोषक विद्यार्थी, पथिक और क्षीणवृत्तिवाला' इत्यादि भिक्षुओंमें अथवा दूसरोंमें दोष होनेपर उनमें श्रोत्रियकी श्रद्धा उत्पन्न नहीं होती, तथापि केवल गृहस्थ ही जिनकी शरण है, ऐसे भिक्षुओंकी दूसरी गति न होनेसे अश्रद्धासे भी उन्हें देना चाहिए, ऐसा कहा जाता है—'अश्रद्धासे देना चाहिए, लज्जासे देना चाहिए' । 'जैसे माताका आश्रय करके सब जीव जीते हैं, वैसे ही गृहस्थके आश्रयसे दूसरे आश्रम अपना निर्वाह करते हैं' इस न्यायसे सम्पूर्ण आश्रमोंका केवल गृहस्थ ही शरण होनेसे और 'दानमेव गृहस्थस्य' (गृहस्थका दान ही प्रधान है) ऐसा स्मृतिवचन होनेसे किसी प्रकार कुछ भी अर्थियोंको अश्रद्धासे, लज्जासे अथवा भयसे अवश्य देना चाहिए, यों दान अवश्य कर्तव्य है, ऐसा 'अश्रद्धासे देना चाहिए' इत्यादिसे सूचित होता है । इसलिए यह विधि नहीं है । यदि यह विधिवाक्य होगा, तो 'श्रद्धासे देना चाहिए', 'श्रद्धासे अग्नि प्रज्वलित की जाती है, श्रद्धासे हवि होमा जाता है', 'कामकी माता श्रद्धाको' इत्यादि सम्पूर्ण कर्मोंकी जो श्रद्धाप्रधानत्वविधि है, वह व्यर्थ हो जायगी । इसलिए श्रौत और स्मार्त सब कर्म श्रद्धासे ही करना चाहिए, यह सिद्ध हुआ ॥ २८ ॥

सत्रहवां अध्याय समाप्त

अष्टादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक् केशिनिषूदन ॥ १ ॥

अर्जुनने कहा—हे महाबाहो, हे हृषीकेश, संन्यास और त्यागशब्दका पृथक्-पृथक्रूपसे निश्चित अर्थ आपसे मैं सुनना चाहता हूँ, हे केशिनिषूदन, कृपया मुझसे कहिए ॥ १ ॥

ॐ । सात्त्विक्या श्रद्धया समन्वितस्य सात्त्विकैर्यज्ञतपोदानादिभिः परिशुद्धात्मन एव ब्राह्मणादेर्ज्ञानाधिकार इति सूचयितुं श्रद्धया यज्ञतपोदानादीनां हेयत्वोपादेयत्वविज्ञानाय तेषां सात्त्विकत्वादिभेदं च विभज्य सम्यग् दर्शयित्वा, अधुना त्यागसंन्यासशब्दयोरेकार्थत्वं काम्यनिषिद्धयोरेव त्याज्यत्वं नित्यानां तु यज्ञदानादीनां नियमेन कर्तव्यत्वं त्यागस्य सात्त्विकत्वादिभेदं नैष्कर्म्यसिद्धिलक्षणज्ञानस्य कर्मणश्च कर्तुश्च बुद्धेर्धृतेश्च सुखस्य च सात्त्विकत्वं राजसत्वं तामसत्वं च ब्राह्मणादीनां कर्माणि च तैः प्रसन्नान्तःकरणस्य ज्ञानं तद्वतो यतेर्ज्ञाननिष्ठां च परमात्मस्वरूपवेदनप्रकारं ब्रह्मप्राप्तिं चैवमादिकं सर्वस्य गीताशास्त्रस्य सर्वोपनिषदां चार्थं सर्वं संगृह्यैकत्र प्रतिपादयितुमष्टादशाध्याय आरभ्यते । तत्राऽऽदौ 'मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याऽध्यात्मचेतसा'

ॐ । सात्त्विक श्रद्धासे युक्त, सात्त्विक यज्ञ, तप, दान आदिसे जिसका अन्तःकरण शुद्ध हुआ है, ऐसे ब्राह्मण आदिका ही ज्ञानमें अधिकार है, ऐसा सूचन करनेके लिए यज्ञ, तप, दान आदिका हेयत्व और उपादेयत्व जाननेके लिए उनके श्रद्धामूलक सात्त्विकत्व आदि भेदको विभागपूर्वक भली भाँति दिखलाकर अब त्याग और संन्यास दोनों शब्दोंका एकार्थत्व, केवल काम्य और निषिद्धका ही त्याज्यत्व, यज्ञ, दान आदि नित्य कर्मोंकी नियमसे कर्तव्यता, त्यागका सात्त्विक आदि भेद, नैष्कर्म्यसिद्धिलक्षण ज्ञानका, कर्मका, कर्ताका, बुद्धिका, धृतिका और सुखका सात्त्विकत्व, राजसत्व और तामसत्व, ब्राह्मण आदिके कर्म, उनसे शुद्ध हुए अन्तःकरणवालेका ज्ञान, ज्ञानवाले यतिकी ज्ञाननिष्ठा, परमात्माके स्वरूपको जाननेका प्रकार और ब्रह्मकी प्राप्ति इत्यादि सम्पूर्ण गीताशास्त्रके और सम्पूर्ण उपनिषदोंके अर्थका संग्रहपूर्वक एकत्र प्रतिपादन करनेके लिए अठारहवें अध्यायका आरम्भ किया जाता है । उसमें पहले 'अध्यात्मचित्तसे मुझमें सम्पूर्ण कर्मोंका त्यागकर', 'जो सम्पूर्ण

इति 'ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः' इति, संन्यासयोगयुक्तात्मा' इति च, 'त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गम्' इति, 'सर्वकर्मफलत्यागम्' इति च तत्र तत्र कर्मसंन्यासकर्मफलत्यागौ प्रतिपादितौ। कर्मफलत्यागेन कर्मानुष्ठानं कर्मसंन्यासं चोक्तं स्मृत्वा एकस्मिन्नेवाऽऽश्रमे तयोरनुष्ठानानुपपत्तिं मन्यमानस्तदनुष्ठानप्रकारं ज्ञातुमिच्छुरर्जुन उवाच—**संन्यासस्येति**।

संन्यासस्य संन्यासशब्दार्थस्य त्यागस्य त्यागशब्दार्थस्य च। चः समुच्चयार्थः। पृथग्विभज्य तत्त्वं याथार्थ्यं निश्चितमर्थं त्वत्तो वेदितुमिच्छामि। 'मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य' इति, 'योगसंन्यस्तकर्माणम्' इति, 'सर्वकर्मफलत्यागम्' इति च तत्र तत्र त्वयोक्तयोः संन्यासत्यागशब्दयोः प्रत्येकमर्थविशेषं विज्ञातुमिच्छामि। हे केशिनिषूदन, केशिनामानं दैत्यं निषूदितवानिति हे केशिनिषूदनेति संबुद्धिः। गृहमेधिविषये यथा ब्रह्मचर्यशब्दस्य यथा वाऽहिंसाशब्दस्य चाऽर्थविशेषस्तथा संन्यासशब्दस्य त्यागशब्दस्य चाऽर्थविशेषो वक्तव्य इत्यर्थः ॥ १ ॥

एतादृशमर्जुनप्रश्नतात्पर्यं विज्ञाय 'संन्यासयोगाद्यतयः' इति 'त्यागेनैके अमृतत्वम्' इति श्रवणात् 'मयेदं संन्यस्तं त्यक्तम्' इति संन्यासत्यागशब्दयोर्लोके वेदे च

कर्मोंका मुझमें त्यागकर मत्परायण', 'संन्यासयोगयुक्तात्मा', 'कर्मफलके आसङ्गका त्यागकर' और 'सम्पूर्ण कर्मोंके फलके त्यागको' इत्यादिसे तत्-तत् स्थानमें कर्मसंन्यास और कर्मफलत्याग दोनोंका प्रतिपादन किया गया है, कर्मफलके त्यागसे कर्मोंका अनुष्ठान और कर्मसंन्यास जो कहा गया है, उसका स्मरण करके एक ही आश्रममें दोनोंके अनुष्ठानकी अनुपपत्ति मानकर उनका अनुष्ठान करनेके प्रकारको जाननेके लिए इच्छा कर रहे अर्जुन बोले—**'संन्यासस्य'** इत्यादिसे।

संन्यासका यानी संन्यासशब्दके अर्थका और त्यागका यानी त्यागशब्दके अर्थका ['च' समुच्चयके लिए है] पृथक् पृथक् विभाग करके तत्त्व—याथार्थ्य—यानी निश्चित अर्थ मैं आपसे जानना चाहता हूँ। 'मुझमें सब कर्मोंका त्यागकर', 'योगसे परित्यक्तकर्मवालेको', और 'सम्पूर्ण कर्मोंके फलके त्यागको' इत्यादि तत्-तत् स्थलोंमें आपके द्वारा कहे गये संन्यास और त्याग दोनों शब्दोंमें से प्रत्येकका अर्थ विशेषरूपसे जानना चाहता हूँ। जो केशिनामक दैत्यको मार चुके हैं, वे केशिनिषूदन हैं, हे केशिनिषूदन यह उनकी संबुद्धि है। गृहस्थके विषयमें प्रयुक्त ब्रह्मचर्यशब्दका अथवा अहिंसाशब्दका जैसा अर्थविशेष है, वैसा ही संन्यासशब्दका और त्यागशब्दका अर्थविशेष कहना चाहिए, यह अर्थ है ॥ १ ॥

इस प्रकारके अर्जुनके प्रश्नका तात्पर्य जानकर 'संन्यास योगसे यति' तथा 'केवल त्यागसे ही अमृतत्व' इत्यादि श्रुतिसे 'मैंने इसका संन्यास किया यानी त्याग किया' इस प्रकार संन्यास और

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ २ ॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे अर्जुन, कुछ विद्वान् काम्य ज्योतिष्टोम आदि कर्मोंका त्याग ही संन्यास है, ऐसा कहते हैं और कुछ पण्डित सम्पूर्ण कर्मोंके फलके त्यागको संन्यास कहते हैं ॥ २ ॥

विसर्ग एक एवाऽर्थो न त्वर्थान्तरमस्ति तथापि गृहिविषये तयोरर्थं केचिदन्यथा वर्णयन्ति तेषां मतमिदं वक्ष्यामि शृण्विति श्रीभगवानुवाच—**काम्यानामिति ।**

'पुत्रकामो यजेत', 'स्वर्गकामो यजेत', 'पशुकामो यजेत' इति एवं कामोपबन्धनेन विहितानां काम्यानां ज्योतिष्टोमादिकर्मणां न्यासं परित्यागमेव गृहस्थस्य संन्यासमिति केचित्कवयो विद्वांसो विदुर्जानन्ति । काम्यकर्मपरित्याग एव मुमुक्षोर्गृहिणः संन्यास इति वदन्तीत्यर्थः । केचित्पदं सर्वत्राऽन्वेति । केचिद्विचक्षणाः पण्डिताः सर्वकर्मफलत्यागं सर्वेषां काम्यानामकाम्यानां नित्यनैमित्तिकानां च कर्मणां फलत्यागं फलमात्रस्य परित्यागं त्यागं संन्यासं प्राहुः कामेन वाऽकामेन वा विधिना कर्तव्यत्वेन प्राप्तानि वैदिकानि कर्माण्यनुष्ठायेश्वरार्पणबुद्ध्या तत्फलपरित्याग एव गृहिणोऽधिकृतस्य संन्यासो न तु कर्मत्याग इति केचिद्वदन्तीत्यर्थः । ननु 'यः पशुकामः स्यात्स एतं प्राजापत्यमजं तूवरमालभेत स वा एतस्मै प्रजां पशून् प्रजन-

---

त्याग दोनों शब्दोंका अर्थ यद्यपि लोक और वेदमें विसर्गरूप एक ही है, दूसरा नहीं है, तो भी गृहस्थोंके विषयमें दोनोंके अर्थका कोई अन्य प्रकारसे वर्णन करते हैं, उनका मत तुमसे कहूँगा। सुनो, ऐसा श्रीभगवान् बोले—**'काम्यानाम्'** इत्यादिसे ।

'पुत्रकी कामनावाला यज्ञ करे', 'स्वर्गकी कामनावाला यज्ञ करे' 'पशुकी कामनावाला यज्ञ करे', इस प्रकार कामके, सम्बन्धसे विहित काम्य ज्योतिष्टोम आदि कर्मोंका न्यास—परित्याग—ही गृहस्थका संन्यास है, ऐसा कोई कवि—विद्वान्—जानते हैं। काम्य कर्मोंका परित्याग ही मुमुक्षु गृहस्थका संन्यास है, ऐसा कहते हैं, यह अर्थ है। 'केचित्' पद सर्वत्र सम्बन्ध रखता है। कोई विचक्षण—पण्डित—सम्पूर्ण कर्मोंके फलके त्यागको—सब काम्य, अकाम्य, नित्य और नैमित्तिक कर्मोंके फलके त्यागको—यानी केवल फलके ही परित्यागको त्याग—संन्यास—कहते हैं। काम, अकाम या विधि द्वारा कर्तव्यरूपसे प्राप्त वैदिक कर्मोंका अनुष्ठान करके ईश्वरार्पणबुद्धिसे उनके फलका परित्याग ही अधिकारी गृहस्थका संन्यास है, कर्मोंका त्याग संन्यास नहीं है, ऐसा कोई कहते हैं, यह अर्थ है। 'जो पशुकी कामनावाला हो, वह इस प्रजापति देवताके लिए तूवर (अजातशृङ्ग) बकरेका आलभन करे, वह इसके

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चाऽपरे ॥ ३ ॥

कुछ विद्वान् कहते हैं—दोषयुक्त यानी प्रतिषिद्ध कर्मोंका ही त्याग करना चाहिए और कुछ विद्वान् कहते हैं कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्मका परित्याग नहीं करना चाहिए ॥ ३ ॥

यति' इति काम्यकर्मणां यथा फलं श्रूयते, न तथा 'अहरहः संध्यामुपासीत' 'सायं प्रातरग्निहोत्रं जुहोति' 'अहरहर्यजमानः स्वयमेवाग्निहोत्रं जुहोति' इत्यादिषु नित्यानां कर्मणां फलं श्रूयते । कथमविद्यमानस्य फलस्य त्याग उपपद्यते ब्रह्मचारिणो भार्यात्यागवदिति चेत्, न; 'कर्मणा पितृलोकः' इति 'धर्मेण पापमपनुदति' इति, 'सर्वे एते पुण्यलोका भवन्ति' इति, 'अग्नीन्हुत्वा विधानेन यत्पुण्यं फलमाप्नुयात्' इति नित्यानामपि फलश्रवणात् । 'अनिष्टमिष्टं मिश्रं च' इति भगवताऽपि नित्यानां फलमुच्यते, ततोऽस्त्येव नित्यानामपि फलमन्यथा फलत्यागविधानायोगात् । तस्मात् युक्तमेवोक्तम्—'सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः' इति । ततः सिद्धं गृहिणां कर्मफलत्याग एव त्यागः संन्यासो न तु सर्वकर्मत्याग इति ॥ २ ॥

एवं संन्यासत्यागयोरर्थैकत्वेऽपि मतभेदेन काम्यकर्मत्यागस्य सर्वकर्मफलत्यागस्य च संन्यासशब्दार्थत्वं प्रतिपाद्य पुनरपि त्यागशब्दस्य मतान्तरेणाऽर्थान्तरं वर्णयति—त्याज्यमिति ।

लिए प्रजाको और पशुओंको उत्पन्न करता है' इससे काम्य कर्मोंका फल जैसे सुननेमें आता है, वैसे 'प्रतिदिन सन्ध्या करे', 'सायं और प्रातःकाल अग्निहोत्र करे', 'प्रतिदिन यजमान स्वयं ही अग्निहोत्र करे' इत्यादिमें नित्य कर्मोंका फल सुननेमें नहीं आता । अतः जैसे ब्रह्मचारीका अविद्यमान भार्याका त्याग नहीं हो सकता, वैसे प्रकृतमें अविद्यमान फलका त्याग कैसे हो सकता है ? ऐसा यदि कहो, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि 'कर्मसे पितृलोक होता है', 'धर्मसे पाप नष्ट होता है,' 'सब ये पुण्यलोकवाले होते हैं, 'विधानसे अग्नियोंमें होम कर पुण्यफल प्राप्त करे' इस प्रकार नित्य कर्मोंका भी फल सुननेमें आता है। 'अनिष्टमिष्टं मिश्रं च' इससे भगवान्ने भी नित्य कर्मोंका फल कहा है, इसलिए नित्य कर्मोंका भी फल है ही। यदि नित्य कर्मोंका फल न होता, तो फलके त्यागका विधान युक्त नहीं होता, इसलिए ठीक ही कहा है—'सम्पूर्ण कर्मोंके फलके त्यागको विचक्षण त्याग कहते हैं' इसलिए सिद्ध हुआ कि गृहस्थोंका कर्मफल त्याग ही त्याग यानी संन्यास है, सम्पूर्ण कर्मोंका त्याग संन्यास नहीं है ॥ २ ॥

इस प्रकार संन्यास और त्याग दोनोंका एक अर्थ होनेपर भी मतभेदसे काम्यकर्मका त्याग और सर्व कर्मफलका त्याग संन्यासशब्दका अर्थ है, ऐसा प्रतिपादन करके फिर भी मतान्तरसे त्यागशब्दका दूसरा अर्थ कहते हैं—'त्याज्यम्' इत्यादिसे ।

एके केचन मनीषिणो विद्वांसः दोषवद्दोषो दूषणं निषेधलक्षणमस्याऽस्तीति दोषवद्दोषयुक्तं 'न कलञ्जं भक्षयेत्', 'न सुरां पिबेत्' इत्यादिशास्त्रप्रतिषिद्धं, दुर्गते-र्दुर्योनेश्च प्रापकं कलञ्जभक्षणादिलक्षणं पातकं यत् तत् कर्म त्याज्यं त्यक्तव्यमिति प्राहुः। दोषवत्कर्मणस्त्याग एव त्यागो न तु काम्यानां नाऽपि कर्मफलस्य च त्यागशब्दार्थ-स्तेषां दुर्गतिदुर्योनिप्रापकत्वाभावात्, फलाभावे प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यसंभवाच्च, 'यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते' इत्यादिश्रुतिविरोधप्रसङ्गाच्च, 'यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवित-व्यानि' इत्यदुष्टकर्मणां वैदिकानां कर्तव्यत्वश्रवणाच्च। तस्मात् दोषवत्कर्मत्याग एव त्यागः संन्यास इति केचिद्वदन्तीत्यर्थः। यद्वा, मनीषिणः प्रकृतिविकृतिविलक्षण-मात्मानमसङ्गचिद्रूपं मन्तुं शीलं येषामस्ति ते मनीषिणः केचित्पण्डिताः सांख्याः दोषवत् 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि' इति प्राणिमात्रस्य हिंसानिषेधके श्रुतिवचने जाग्रति सति 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इति निषेधो बुद्धिपूर्वकहिंसाया दोषाधिकत्व-बोधनार्थ एव भवति, न तु बुद्धिपूर्विका भूतहिंसा दोषहेतुर्न कर्तव्येत्येवमर्थो भवति। तथात्वे त्वबुद्धिपूर्विकाया हिंसाया दोषाभावप्रसङ्गाद्विशेषविध्यनर्थत्वप्रसङ्गाच्च। ततो दोषाधिकत्वबोधकत्वमेव विशेषविधेरभ्युपगन्तव्यम्। तेनाऽग्नीषोमीयपशुहिंसायामपि

कोई मनीषी (विद्वान्) दोषवत् (दोष—दूषण—यानी निषेधरूप दूषण जिसमें है, वह दोषवत् है यानी दोषयुक्त) अर्थात् 'विषसम्पृक्त वाणविद्ध मृगमांसको न खावे', 'सुरा न पीवे' इत्यादि शास्त्रप्रतिषिद्ध दुर्योनि और दुर्गतिको प्राप्त करानेवाला कलञ्जभक्षण आदि पातकरूप जो कर्म है, वह त्याज्य है—उसका त्याग करना चाहिए, ऐसा कहते हैं। दोषवाले कर्मोंका त्याग ही त्याग है, काम्योंका और कर्मफलका त्याग त्यागशब्दका अर्थ नहीं है, क्योंकि वे दुर्गति और दुर्योनिको प्राप्त करानेवाले नहीं हैं, [यानी उनका फल सद्गति प्राप्त करना ही है] यदि उनका फल न माना जाय, तो प्रेक्षावान्की उनमें प्रवृत्ति नहीं होगी। 'जिसके लिए कर्म करता है, उसको प्राप्त होता है' इत्यादि श्रुतियोंसे विरोध है और 'जो दोषरहित कर्म हैं, उनको करना चाहिए, इससे अदुष्ट वैदिक कर्मोंकी कर्तव्यताका श्रवण है। इसलिए दोषवाले कर्मोंका त्याग ही त्याग—संन्यास—है, ऐसा कोई कहते हैं, यह अर्थ है। अथवा मनीषी (प्रकृति और विकृतिसे विलक्षण असङ्ग चिद्रूप आत्माका मनन करनेका जिनका शील है, वे मनीषी) कोई सांख्य पण्डित दोषवत् 'सब भूतोंकी हिंसा न करे' इस प्रकार प्राणीमात्रकी हिंसाके निषेधक श्रुतिवचनके विद्यमान रहते 'ब्राह्मणका हनन नहीं करना चाहिए' यह निषेध बुद्धिपूर्वक हिंसा अधिक दोषवती है, ऐसा बतलानेके लिए ही है, बुद्धिपूर्वक दोषकी हेतु भूतहिंसा नहीं करनी चाहिए, ऐसा अर्थ नहीं होता है, क्योंकि ऐसा होनेपर तो अबुद्धिपूर्वक हिंसामें दोषके अभावका प्रसङ्ग होगा और विशेष विधि निरर्थक हो जायगी, इससे विशेष विधि अधिक दोषका बोधन करती है, ऐसा मानना चाहिए। इससे अग्नीषोमीय पशुहिंसा भी बुद्धिपर्वक होनेसे उसमें दोषका

बुद्धिपूर्वकत्वाद्दोषाधिकत्वमेव भवति, उभयत्राऽपि बुद्धिपूर्वकत्वाविशेषात् । 'तद्यग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इति विधेर्व्यर्थत्वमेव स्यादिति चेत्, न; प्रकारान्तरेणार्थवत्तासिद्धेः । रागतः प्राप्तामिषसेवाया अग्नीषोमीययजनव्याजेनाऽवकाशप्रदानपरत्वाद्विधिः सार्थ एव भवति । यथा रागतः प्राप्तव्यवायस्य 'धर्मप्रजासंपत्त्यर्थं स्त्रियमुद्वहेद्' इत्येष विधिः कर्माङ्गतया स्त्रीपरिग्रहविधानव्याजेनाऽवकाशं प्रयच्छन्नर्थवान् भवति तद्वत् । यत एवमतः 'सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाऽग्निरिवावृताः' इति न्यायेन सर्वमपि कर्म द्रव्यसाध्यत्वेन हिंसाप्रधानत्वाद्दोषवदेव भवति । दोषवत्त्वेन बन्धकत्वाच्छ्रौतं स्मार्तं च वैदिकं कर्म सर्वमपि त्याज्यमेवेति सर्वकर्मत्यागमेव त्यागं प्राहुरित्यर्थः । ननु विहिताकरणे प्रत्यवायः स्यादिति चेत्, न; दोषवत्कर्मानुष्ठाने ततोऽधिकतरः प्रत्यवायः स्यादित्याहुः, ततः कलञ्जभक्षणक्रियावत्सर्वस्याऽपि कर्मणो दोषवत्त्वेन तत्त्यागो न दोषायेति च ते मन्यन्त इत्यभिप्रायः । एवं सांख्यमतभेदेन त्यागशब्दस्याऽर्थभेदमुक्त्वा मीमांसकमतभेदेनाऽप्यर्थभेदं सूचयितुमाह—यज्ञेति । 'अकृत्वा वैदिकं नित्यं प्रत्यवायी भवेन्नरः' इति, 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति' इति, 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः' इति, 'सत्यं वद' 'धर्मं चर' इति, 'सत्यान्न प्रमदितव्यं' 'धर्मान्न प्रमदितव्यम्' इत्यादिश्रुतिभिः 'श्रौतं चापि तथा स्मार्तं कर्मालम्ब्य वसेद्द्विजः ।

आधिक्य ही है, क्योंकि दोनोंमें भी बुद्धिपूर्वकत्व समान है । तब 'अग्नीषोमीय पशुका आलभन करे', यह विधि व्यर्थ हो जायगी, ऐसा यदि कहो, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि दूसरे प्रकारसे उसकी अर्थवत्ता हो सकती है । रागसे प्राप्त मांसभक्षणको अग्नीषोमीय यजनके बहानेसे अवकाश प्रदान करती है, अतः वह विधि सार्थक ही है । जैसे रागसे प्राप्त मैथुनको 'धर्मप्रजाकी संपत्तिके लिए स्त्रीके साथ विवाह करे', यह विधि कर्मके अङ्गरूपसे स्त्रीपरिग्रहके विधानके व्याजसे अवकाश देकर सार्थक होती है, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए। जिस कारणसे ऐसा है, इसलिए 'सम्पूर्ण आरम्भ (कर्म) ही दोषसे घिरे हुए हैं, जैसे अग्नि धूमसे' इस न्यायसे सभी कर्म द्रव्यसाध्य होनेके कारण हिंसाप्रधान होनेसे दोषवाले ही हैं । दोषवाले होनेसे बन्धक हैं, अतः श्रौत और स्मार्तरूप सब वैदिक कर्म भी त्याज्य ही हैं, इसलिए सब कर्मोंके त्यागको ही त्याग कहते हैं, यह अर्थ है । यदि कहो कि विहित कर्मोंका अनुष्ठान न करनेसे प्रत्यवाय होगा, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि दोषवाले कर्मोंके अनुष्ठानसे उससे भी अधिक प्रत्यवाय होगा, ऐसा कहते हैं, इसलिए कलञ्जभक्षणक्रियाके समान सम्पूर्ण कर्म दोषवान् हैं, अतः उनका त्याग दोषके लिए नहीं होता, ऐसा वे मानते हैं, ऐसा अभिप्राय है । इस प्रकार सांख्यके मतभेदसे त्यागशब्दके अर्थविशेषको कहकर मीमांसक-मतभेदसे भी अर्थभेदका सूचन करनेके लिए कहते हैं—यज्ञेति । 'वैदिक नित्य कर्मोंका अनुष्ठान न कर मनुष्य प्रत्यवायी होता है', 'जबतक जीवे तबतक अग्निहोत्र करे', 'कर्म करता हुआ ही यहां सौ वर्ष तक जीनेकी इच्छा करे', 'सत्य बोलो, धर्म करो', 'सत्यसे प्रमाद नहीं करना चाहिए' तथा 'धर्मसे प्रमाद नहीं करना चाहिए' इत्यादि श्रुतियोंसे और 'द्विज श्रौत और स्मार्त कर्मका

तद्विहीनः पतत्येव ह्यालम्बरहितान्धवत्' इत्यादिस्मृतिभिश्च वैदिककर्मणो नित्यस्याऽवश्यकरणीयत्वविधानादकरणे प्रत्यवायविधानाच्च ब्राह्मणस्य यज्ञदानतपः यज्ञो दानं तप इत्येवंलक्षणं वैदिकं कर्म न त्याज्यं न कदापि च त्यक्तव्यम्, किन्तु निरुक्तश्रुतिस्मृतिबलाद्यावज्जीवं कर्तव्यमेव । 'एकाहं जपहीनस्तु संध्याहीनो दिनत्रयम् । द्वादशाहमनग्निश्च शूद्र एव न संशयः ॥ त्र्यहं सन्ध्यारहितो द्वादशाहं निरग्निकः । चतुर्वेदधरो विप्रः शूद्र एव न संशयः ॥ तस्मान्न लङ्घयेत्संध्यां सायं प्रातः समाहितः । उल्लङ्घयति यो मोहात्स याति नरकं ध्रुवम् ॥' इति संध्यापदमौपासनाग्निहोत्रादेरुपलक्षणम् । 'वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्वासयते' इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्योऽप्यग्निहोत्रादेः कर्मणः परित्यागे प्रत्यवायाधिक्यश्रवणाद् ब्राह्मणादीनां यज्ञदानादिकं वैदिकं कर्म नित्यं नियमेन कर्तव्यमेव । ननु द्रव्यसाध्यस्य यज्ञदानादेः कर्मणो हिंसावत्त्वेन दोषवत्त्वात् दोषवत्कर्मणः कथमनुष्ठानमुपपद्येत इति चेद्, उच्यते; 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्येतद्वचनं क्रोधतः प्राप्तं ब्राह्मणवधं दोषाधिकत्वं वदन्निषेधति, न तु बुद्धिपूर्वकहिंसामात्रे सर्वत्र दोषाधिकत्वं बोधयति, विशेषविधेः स्वविधेयमात्रविषयत्वात् । 'ब्राह्मणान् सर्वान् भोजयेद्देवदत्तं न भोजयेद्' इत्यत्र निषेधस्य स्वविधेयमात्रविषयत्वदर्शनात्; ततो-

---

अवलम्बन कर रहे, उससे रहित आलम्बनरहित अंधेकी नाईं' गिर ही जाता है, इत्यादि स्मृतियोंसे वैदिक नित्य कर्मोंके अवश्य करनेका विधान है और न करनेपर प्रत्यवायका विधान है, इसलिए ब्राह्मणको यज्ञ, दान और तपरूप वैदिक कर्म त्याज्य नहीं हैं, यानी कभी भी उनका त्याग नहीं करना चाहिए, किन्तु निरुक्त श्रुति और स्मृतिके बलसे जीवनपर्यन्त अनुष्ठान करना चाहिए । 'एक दिन जपहीन, तीन दिन संध्याहीन और बारह दिन बिना अग्निका द्विज शूद्र ही है, इसमें संशय नहीं करना चाहिए। तीन दिन संध्यारहित, बारह दिन निरग्निक रहनेवाला चार वेदको धारण करनेवाला ब्राह्मण भी शूद्र ही हो जाता है, इसमें संशय नहीं है। इसलिए सायं और प्रातःकालकी संध्याका समाहित पुरुष उल्लंघन न करे' जो मोहसे उल्लङ्घन करता है, वह निश्चय नरकमें जाता है ॥' इसमें संध्यापद औपासन अग्निहोत्र आदिका भी उपलक्षण है । 'जो अग्निका त्याग करता है, वह देवताओंका वीरहा है' इत्यादि श्रुति और स्मृतियोंसे भी अग्निहोत्र आदि कर्मोंके परित्यागमें अत्यन्त प्रत्यवाय सुननेमें आता है, इसलिए ब्राह्मण आदिको यज्ञ, दान आदि वैदिक कर्मोंका नित्य नियमसे अनुष्ठान करना ही चाहिए । द्रव्यसे साध्य यज्ञ, दान आदि कर्म हिंसायुक्त होनेके कारण दोषवान् हैं, अतः दोषवान् कर्मोंका अनुष्ठान कैसे हो सकता है ? ऐसा यदि कहो, तो इसपर कहते हैं—'ब्राह्मणको नहीं मारना चाहिए' यह वचन क्रोधसे प्राप्त ब्राह्मणवधका, दोषकी अधिकता कहकर, निषेध करता है, बुद्धिपूर्वक किये गये सर्वत्र हिंसामात्रमें अधिक दोष है, ऐसा नहीं बतलाता, क्योंकि विशेषविधिका अपना केवल विधेय ही विषय होता है, कारण कि 'सब ब्राह्मणोंको भोजन करावे, देवदत्तको भोजन न करावे',

ऽग्नीषोमीयपशुहिंसादौ दोषाधिकत्वं बोधयितुं न शक्नोति, स्वविधेयमात्रोपक्षीणत्वाद्विशेषस्य। नाऽपि 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि' इत्ययं निषेधोऽपि यागीयपशुहिंसायां सामान्यतोऽपि दोषमासञ्जयितुं कल्पते, सामान्यतो विशेषस्य बलीयस्त्वात्। 'अन्नं न प्रतिगृह्णीयात् प्राणैः कण्ठगतैरपि' इत्येतन्निषेधापेक्षया 'याचयेच्छ्रोत्रियस्याऽन्नम्' इत्येतस्य विधेर्बलीयस्त्वावगमात्। 'ब्राह्मणान् सर्वान् वारय देवदत्तं भोजय' इत्यत्र विशेषस्य बलीयस्त्वदर्शनाच्च सामान्यस्य तृणगुल्मच्छेदादौ सावकाशत्वाच्च। 'सावकाशनिरवकाशयोर्निरवकाशं बलीयः' इति निरवकाशस्य बलीयस्त्वस्मरणाच्च। ततो यागीयपशुहिंसायाः सामान्यतो विशेषतश्च दोषगन्धः सम्पादयितुं न शक्यते। किञ्च, 'मधुपर्के च यज्ञे च पित्र्ये दैवे च कर्मणि। अत्रैव पशवो हिंस्या नाऽन्यत्रेत्यब्रवीन्मनुः॥' इति 'अहिंसन् सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः' इति तीर्थेभ्यो यज्ञादिभ्योऽन्यत्र भूतान्यहिंसन्निति भूतहिंसानिषेधस्य यागीयव्यतिरिक्तहिंसाविषयत्वश्रवणान्निषेधाव्याप्तेः, 'याचयेच्छ्रोत्रियस्याऽन्नं तदभावे जलं पिबेत्' इति विध्युक्तायाः श्रोत्रियान्नादनक्रियाया निर्दुष्टत्वं पावकत्वं च यथा तथा यागीयपशुहिंसाया अपि विध्युक्तायाः निर्दुष्टत्वं पावनत्वं चाऽवगम्यते। तथैव श्रूयते—'धर्मेण पापमपनुदति तस्माद्धर्मं परमं

यहाँपर निषेध केवल अपने ही विधेयको विषय करता है, ऐसा देखनेमें आता है, इसलिए अग्नीषोमीय पशुहिंसा आदिमें अधिक दोष है, ऐसा वह नहीं बतला सकता, क्योंकि विशेष-विधि केवल अपने ही विधेयमें उपक्षीण हो जाती है। 'सब भूतोंकी हिंसा न करे' यह सामान्य निषेध यागीय पशुहिंसामें तनिक भी दोष लगानेमें समर्थ नहीं है, क्योंकि सामान्यसे विशेष बलवान् होता है; 'प्राणोंके कण्ठमें आनेपर भी अन्नका प्रतिग्रह न करे', इस निषेधकी अपेक्षा 'श्रोत्रियके अन्नकी याचना करे' यह विधि बलवान् समझी जाती है और 'सब ब्राह्मणोंको रोककर देवदत्तको भोजन कराओ' इसमें विशेष विधान बलवान् देखनेमें आता है। सामान्य निषेध वचन तृण और गुल्मके छेदन आदिमें सावकाश है। 'सावकाश और निरवकाश दोनोंमें निरवकाश बलवान् होता है' इत्यर्थक स्मृति निरवकाशके बलवान् होनेमें प्रमाण है। इसलिए यागीय पशुहिंसामें सामान्य या विशेष शास्त्रसे दोषका लेशमात्र भी संपादन नहीं किया जा सकता। किञ्च, 'मधुपर्कमें, यज्ञमें, पितृकर्ममें, दैवकर्ममें ही पशुओंकी हिंसा करे, अन्यत्र नहीं, ऐसा मनुने कहा है।' और 'अहिंसन् सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः' (तीर्थोंसे यानी यज्ञादिसे अन्यत्र भूतोंकी हिंसा न करे) इत्यादि भूतहिंसानिषेधका यागीय हिंसाको छोड़कर अन्य हिंसा विषय है, ऐसा श्रवण होनेसे प्रकृतमें निषेधकी व्याप्ति भी नहीं है। अतः 'श्रोत्रियके अन्नकी याचना करे, उसके अभावमें जल पी ले' इस विधिवचनसे उक्त श्रोत्रियान्नभोजनरूप क्रिया जैसे निर्दुष्ट और पवित्र करनेवाली है, वैसे ही विधिसे उक्त यागीय पशुहिंसा भी निर्दुष्ट और पवित्र करनेवाली है, ऐसा जाननेमें आता है। श्रुति भी है—'धर्मसे पापको नष्ट करता है' इसलिए धर्मको परम कहते हैं',

वदन्ति', 'तपसा कल्मषं हन्ति', 'ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा' इति। तस्माद् ब्राह्मणादेर्यज्ञदानादिलक्षणं नित्यं वैदिकं कर्माऽवश्यमनुष्ठातव्यमेव, न कदापि त्याज्यम्, किन्तु 'न तु काम्यं समाचरेत्', 'न कलञ्जं भक्षयेत्' इत्यादिवचनात् काम्यं निषिद्धं चैतद्द्वयमेव त्याज्यमिति। काम्यनिषिद्धत्याग एव त्यागो न तु कर्मफलत्यागस्त्याग इत्यपरे केचन मनीषिणो वैदिकशिरोमणयो मीमांसकाः प्राहुरित्यर्थः। ननु 'संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्' इत्यर्जुनकृतप्रश्नस्य विषयो मुख्यसंन्यासो वा उत गौणसंन्यासो वा, आद्ये स विद्वत्संन्यासो वा किं विविदिषासंन्यासो वा ? नाऽऽद्यः, विद्वत्संन्यासस्य निरुक्तविकल्पासंभवात् 'तामसः परिकीर्तितः' इति वक्ष्यमाणतामसादिभेदानुपपत्तेश्च। सति विदुषः कर्मणि कर्तव्ये तत्संन्यासस्य विकल्पाः स्युर्नाऽसति, 'तस्य कार्यं न विद्यते' इति नैवाऽस्ति किञ्चित्कर्तव्यम्' इति विदुषः सर्वकर्माभावश्रवणात्। 'ज्ञानयोगेन सांख्यानाम्' इति ब्रह्मविदां यतीनां ज्ञाननिष्ठापरत्वविधानाच्च नाऽस्ति विकल्पावकाशः। ननु 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति' इत्यादिविधिबलाद्विदुषोऽपि कर्म कर्तव्यमेवेति चेत्, न; विधेर्मिथ्यात्वोपपत्तेः। 'मायामात्रमिदं द्वैतम्' इति द्वैतस्य सर्वस्य मायामात्रत्वेन मिथ्यात्वे सिद्धे तदन्तःपातिनः

'तपसे पापको नष्ट करता है', 'ब्राह्मण यज्ञसे, दानसे और निरन्तर तपसे तत्त्वको जाननेकी इच्छा करते हैं'। इसलिए ब्राह्मण आदिको यज्ञ, दान आदिरूप नित्य वैदिक कर्मोंका अवश्य अनुष्ठान करना चाहिए, त्याग नहीं करना चाहिए, किन्तु 'काम्य कर्मोंका अनुष्ठान न करे', 'विषयुक्त बाणविद्ध मृगका मांस न खावे' इत्यादि वचनसे काम्य और निषिद्ध ये दो ही त्याज्य हैं। काम्य और निषिद्धका त्याग ही त्याग है, कर्मफलका त्याग त्याग नहीं है, ऐसा दूसरे कोई मनीषी—वैदिकशिरोमणि मीमांसक—कहते हैं, यह अर्थ है। 'हे महाबाहो, मैं संन्यासका तत्त्व जानना चाहता हूँ' इस प्रकार अर्जुन द्वारा किये गये प्रश्नका विषय मुख्य संन्यास है या गौण संन्यास है ? यदि पहला पक्ष है, तो वह विद्वत्संन्यास है या विविदिषासंन्यास है ? पहला पक्ष तो युक्त है नहीं, क्योंकि विद्वत्संन्यासमें निरुक्त विकल्प नहीं हो सकते, अतः उसमें 'तामसः परिकीर्तितः' इत्यादिसे उक्त तामस आदि भेद उपपन्न नहीं हो सकते। यदि विद्वान्‌का कर्तव्य कर्म हो, तो उसके संन्यासमें विकल्प हो सकते हैं, न होनेपर नहीं हो सकते। 'उसके लिए कार्य नहीं रहता', 'कुछ कर्तव्य ही नहीं है' इत्यर्थक वचनोंसे विद्वान्‌के सम्पूर्ण कर्मोंका अभाव सुननेमें आता है। 'ज्ञानयोगसे सांख्योंकी' इत्यर्थक वचनसे ब्रह्मवित् यतियोंकी ज्ञाननिष्ठापरायणताका विधान है, इसलिए विकल्पका अवकाश नहीं है। यदि कहो कि 'जबतक जीवे तबतक अग्निहोत्र करे' इत्यादि विधिके बलसे विद्वान्‌के लिए कर्तव्य कर्म हैं, तो वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि उसके प्रति विधि मिथ्या है। 'मायामात्र यह द्वैत है' इससे सम्पूर्ण द्वैतके, मायामात्र होनेके कारण, मिथ्या सिद्ध होनेपर उसके अन्तर्गत कर्मविधि भी

कर्मविधेरपि शुक्तिरजतवन्मिथ्यात्वेन बलासंभवात् स्वमिथ्यात्वदर्शिनं प्रति नियोक्तृत्वा-योगात्, नहि मिथ्याभूतं रजतं स्वतत्त्ववेदिनं पुरुषमादानादौ प्रवर्तयितुं शक्नोति। तद्वन्मिथ्याभूतः कर्मविधिरपि विद्वांसं न प्रवर्तयितुं शक्नोतीत्यर्थः। न द्वितीयः, सर्वतो विरक्तस्य विदुषः कर्मणा साध्यमपश्यतः काम्यकर्मपरित्यागेन वा कर्मफल-त्यागेन वा कर्मानुष्ठानानुपपत्तेः। चित्तशुद्ध्यै कर्म कर्तव्यमेवेति चेत्, न; सर्वतो विर-क्त्यतिरिक्तचित्तशुद्ध्यन्तराभावात्। विधिबलादीश्वरप्रीत्यै कर्म कर्तव्यमेवेति चेत्, न; 'यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्' इति त्यागविधेस्ततोऽपि प्रबलत्वात्। 'तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता। मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥' 'जिज्ञासायां संप्रवृत्तो नाऽऽद्रियेत्कर्मचोदनाम्।' इतीश्वरेणैव जिज्ञासोर्विध्युपेक्षाविधानात्। 'दूरेण ह्यवरं कर्म' इति मुमुक्षोर्विरक्तस्य कर्मनिन्दापूर्वकं श्रवणपरत्वविधानाच्च। आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात्' इति विविदिषोः सर्वकर्मसंन्यासस्मरणात्। ततो विविदिषोरपि कर्मसम्बन्धासम्भवे न निरुक्तविकल्पानामवकाशः सम्भवति। ततो गौण एव संन्यासो गृहिनिष्ठः प्रश्नस्य विषयो न तु मुख्य इति सिद्धम्। जिज्ञासितो गौण एव संन्यास इत्यत्र प्रमाणं पूर्वोक्तगीतावचनान्येवेति बोद्धव्यम्॥ ३॥

शुक्तिरजतके समान मिथ्या होनेसे उसमें सामर्थ्य नहीं हो सकती, इसलिए स्वमिथ्यात्वदर्शीके प्रति विधिमें नियोक्तृत्व युक्त नहीं है, जैसे मिथ्याभूत रजत स्वतत्त्वके जाननेवाले पुरुषको लेने आदिमें प्रवृत्त नहीं कर सकता, वैसे ही मिथ्याभूत कर्मविधि भी विद्वान्को प्रवृत्त नहीं कर सकती, यह अर्थ है। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थोंसे विरक्त, कर्मोंसे साध्य पदार्थको न देखनेवाले विद्वान्का काम्यकर्मके त्यागसे या कर्मफलके त्यागसे कर्मोंका अनुष्ठान हो नहीं सकता। यदि कहो कि चित्तकी शुद्धिके लिए कर्मानुष्ठान करना चाहिए, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि सब पदार्थोंसे विरक्तिके सिवा दूसरी चित्तकी शुद्धि है नहीं। विधिबलसे ईश्वरकी प्रीतिके लिए कर्मानुष्ठान करना चाहिए, ऐसा यदि कहो, तो वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि जिस दिन वैराग्य हो, उसी दिन संन्यास ग्रहण करे' यह त्यागविधि उससे भी प्रबल है। और 'जबतक वैराग्य न हो, अथवा जबतक मेरी कथाके श्रवण आदिमें श्रद्धा न हो, तबतक कर्म करे, जिज्ञासामें प्रवृत्त पुरुष कर्मविधिका आदर न करे' ऐसा ईश्वरने ही जिज्ञासुके प्रति विधिकी उपेक्षाका विधान किया है। निकृष्ट कर्म मोक्षहेतु ज्ञानका उपकारक नहीं है, यों विरक्त मुमुक्षुके प्रति कर्म निन्दापूर्वक श्रवणपरताका विधान है। 'आत्मामें अग्नियोंका आरोपण करके ब्राह्मण घरसे चल देवे' इस प्रकार विविदिषुके सर्वकर्मसंन्यासका स्मरण है। इसलिए विविदिषुको भी कर्मका सम्बन्ध न होनेसे उपर्युक्त विकल्पोंका अवकाश नहीं हो सकता। इसलिए गृहस्थनिष्ठ गौण संन्यास ही प्रश्नका विषय है, मुख्य नहीं, यह सिद्ध हुआ। जिज्ञासित गौण ही संन्यास है, इसमें प्रमाण पूर्वोक्त गीताके वचन ही हैं, ऐसा समझना चाहिए॥ ३॥

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः ॥ ४ ॥

हे भरतकुलावंतस, हे पुरुषव्याघ्र, तुम्हारे द्वारा पूछे गये त्यागके विषयमें मेरे निश्चित अर्थको सुनो, क्योंकि पण्डित लोग भी त्यागको तीन प्रकारका कहते हैं ॥४॥

त्यागगुणेन मुख्यसंन्याससादृश्यसम्भवाद् गृहिणः काम्यकर्मत्याग एव संन्यास इति, सर्वकर्मफलत्याग एव संन्यास इति, दोषवत्कर्मत्याग एव संन्यास इति, काम्यनिषिद्धकर्मपरित्याग एव संन्यास इति त्यागशब्दार्थं संन्यासं पण्डिताः स्वस्वमतानुसारेण बहुधा वर्णयन्तीत्येवं मतभेदेन त्यागशब्दस्याऽर्थभेदं प्रतिपाद्य स्वाभिमतमर्थं वक्तुं स्वमतसिद्धस्य त्यागस्याऽधिकारिभेदेन त्रैविध्यमाह—**निश्चयमिति** ।

उक्तरीत्या च बहुधा विकल्पिते तत्र तस्मिन् त्वत्प्रश्नविषयभूते त्यागे त्यागशब्दार्थे संन्यासे मे निश्चयं मया निश्चितमर्थं मत्तः शृणु । श्रुतार्थप्रवृत्तिसिद्धये श्रोतारं स्तौति—हे भरतसत्तम हे पुरुषव्याघ्रेति । हि यस्मात्कारणात्त्यागं पण्डिता अपि बहुधा वर्णयन्ति तस्मात् त्यागो बुद्धिमतामपि दुर्विज्ञेयः 'सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु' इत्यत्र नित्यानां नैमित्तिकानां च सर्वेषां कर्मणां फलमात्रपरित्याग एव यथा विवक्षितस्तथा 'मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य', 'योगसंन्यस्तकर्माणम्' इत्यादावपि कर्मसंन्यासपदस्य कर्मफलत्याग एवाऽर्थो विवक्षितो भवति, न तु कर्मसंन्यासः, कर्माधिकारे

त्यागरूप गुणसे मुख्य संन्यासका सादृश्य होनेके कारण गृहस्थके लिए काम्यकर्मोंका त्याग ही संन्यास है, सम्पूर्ण कर्मोंके फलका त्याग ही संन्यास है, दोषवाले कर्मका त्याग ही संन्यास है, काम्य और निषिद्ध कर्मोंका परित्याग ही संन्यास है, यों त्यागशब्दके अर्थभूत संन्यासका पण्डित लोग अपने अपने मतके अनुसार अनेक प्रकारसे वर्णन करते हैं, इस प्रकार मत-मतान्तरोंसे त्यागशब्दके अनेक अर्थोंका प्रतिपादन करके अपना अभिमत अर्थ कहनेके लिए श्रीभगवान् अपने मतसे सिद्ध त्यागार्थ अधिकारियोंके भेदसे तीन प्रकारका है, ऐसा कहते हैं—**'निश्चयम्'** इत्यादिसे ।

उक्त रीतिसे अनेक प्रकारसे विकल्पित तुम्हारे प्रश्नके विषयभूत त्यागमें—त्यागशब्दके अर्थ संन्यासमें—मेरा निश्चय (मेरा निश्चित अर्थ) मुझसे सुनो । श्रुत अर्थमें प्रवृत्तिकी सिद्धिके लिए श्रोताकी स्तुति करते हैं—हे भरतसत्तम, हे पुरुषव्याघ्र । जिस कारणसे त्यागका पण्डित लोग भी अनेक प्रकारसे वर्णन करते हैं, इसलिए बुद्धिमानोंको भी त्याग दुर्विज्ञेय है । 'सब कर्मोंके फलका त्याग करो' इसमें नित्य और नैमित्तिक सब कर्मोंके फलका परित्याग ही जैसे विवक्षित है, वैसे 'मुझमें सब कर्मोंका त्याग करो, योगसे कर्मोंका संन्यास करनेवालेको, इत्यादिमें भी कर्मसंन्यासपदका कर्मफलत्याग ही अर्थ विवक्षित है, कर्मसंन्यास नहीं, क्योंकि कर्मके

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ५ ॥

श्रौतस्मार्तरूप यज्ञ, दान और स्वाध्यायात्मक तप रूप कर्मोंका कभी त्याग नहीं करना चाहिए, किन्तु उनका अनुष्ठान करना ही चाहिए, क्योंकि यज्ञ, दान और स्वाध्यायरूप तप मुमुक्षुओंके सम्पूर्ण दुरितोंका विनाश करते हैं ॥ ५ ॥

कर्मसंन्यासविधानायोगात्। य उक्तलक्षणस्त्यागः स एव त्रिविधस्तामसादिभेदेन त्रिप्रकार इति मुनिभिः संप्रकीर्तितो भवति तं मयोच्यमानं शृणिवत्यर्थः ॥ ४ ॥

यत्प्रतिज्ञातं मे निश्चयं शृणिवति तं स्वनिश्चयं प्रतिपादयति — यज्ञेति द्वाभ्याम्।

यज्ञः श्रौतः स्मार्तश्च, दानं पात्रेष्वर्थसमर्पणम्, तपः स्वाध्यायः, 'त्रयो धर्मस्कन्धाः यज्ञोऽध्ययनं दानम्' इति अध्ययनस्य धर्मस्कन्धत्वेन गृहिधर्मत्वश्रवणात् 'तपो हि स्वाध्यायः' इति स्वाध्यायस्य तपस्त्वश्रवणात् तपःशब्देनाऽध्ययनमुच्यते। एवं यज्ञदान-तपोलक्षणं त्रिविधं नित्यं वैदिकं कर्म मुमुक्षोर्गृहिणो विरक्तस्य न त्याज्यम्, न कदाचि-त्त्यक्तव्यम्, किन्तु नित्यत्वात् पुरुषार्थहेतुत्वादकरणे प्रत्यवायाच्च 'यज्ञोऽध्ययनं दानम्' इति 'अहरहः संध्यामुपासीत', 'उदिते सूर्ये प्रातर्जुहोति' इत्यादिश्रुत्युक्तं कर्म नित्यं मुमुक्षोः कार्यम्। श्रद्धाभक्तिभ्यां नियमेन कर्तव्यमित्यर्थः। उक्ते कर्मणि प्रवृत्तिसिद्धये

अधिकारमें कर्मसंन्यासका विधान युक्त नहीं है। जो उक्त लक्षणवाला त्याग है, वही तीन प्रकारका है यानी तामस आदि भेदसे तीन प्रकारका है, ऐसा मुनियों द्वारा कहा गया है। मेरे द्वारा कहे जा रहे उसको सुनो, यह अर्थ है ॥ ४ ॥

जो प्रतिज्ञा की थी कि मेरे निश्चयको सुनो, उस अपने निश्चयका प्रतिपादन करते हैं— **'यज्ञदान०'** इत्यादि दो श्लोकोंसे।

यज्ञ यानी श्रौत और स्मार्तरूप यज्ञ, दान यानी पात्रोंको धनप्रदान, तप यानी स्वाध्याय, क्योंकि 'यज्ञ, अध्ययन और दान ये तीन धर्मके स्कन्ध हैं' इससे अध्ययन धर्मस्कन्ध होनेसे गृहस्थका धर्म है, ऐसा सुननेमें आता है, 'तप स्वाध्याय है' इत्यादि श्रुतिसे भी स्वाध्यायमें तपस्त्वका प्रतिपादन होनेसे 'तप' शब्दसे प्रकृतमें अध्ययन कहा जाता है। इस प्रकार यज्ञ, दान और तपरूप तीन तरहके नित्य वैदिक कर्मोंका मोक्ष चाहनेवाले विरक्त गृहस्थ पुरुषको कभी भी परित्याग नहीं करना चाहिए, किन्तु नित्य होनेसे, पुरुषार्थके हेतु होनेसे और न करनेमें प्रत्यवाय होनेसे 'यज्ञ, अध्ययन, दान', 'प्रतिदिन संध्या करे', 'सूर्यका उदय होनेपर प्रातःकाल होम करे' इत्यादि श्रुतियों द्वारा कहे गये कर्मोंका अनुष्ठान मुमुक्षुको नित्य करना चाहिए। श्रद्धा और भक्तिसे नियमसे करना चाहिए, यह अर्थ है। उक्त कर्ममें प्रवृत्तिकी सिद्धिके लिए फल कहते हैं—

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ६ ॥

हे पार्थ, उक्त यज्ञ, दान आदि नित्य कर्मोंका, कामना एवं फलाभिलाषाका त्याग कर, अनुष्ठान करना चाहिए, ऐसा मेरा निश्चित मत है और यह पूर्वोक्त सम्पूर्ण मतोंसे उत्तम है ॥ ६ ॥

फलमाह—**यज्ञ इति** । मनीषिणामधीतविदितवेदवेदार्थानां सदसद्विवेकवतां मुमुक्षूणां परमेश्वरार्पणबुद्ध्या कृतानि यज्ञो दानं तपः । चकारोऽत्र यज्ञदानादीनामुक्तानामनुक्तानां श्रौतानां स्मार्तानां च कर्मणां समुच्चयार्थः । एवकारो यज्ञदानादेर्वैदिकस्यैव कर्मणो वर्णाश्रमिणां विहितस्य पावनत्वनिधारणार्थः । यज्ञदानतपोलक्षणानि श्रौतानि स्मार्तान्येव कर्माणि पावनान्युपात्तसर्वदुरितक्षयकराणि सत्त्वशोधकानि तद्द्वारा ज्ञानस्य तत्फलस्य च कारणानीत्यर्थः ॥ ५ ॥

यज्ञदानादिकर्मणां नित्यानां नियमेनाऽवश्यकर्तव्यत्वं शोधकत्वं फलं चोक्त्वा तेषामनुष्ठानप्रकारमाह—**एतानीति** ।

'एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा कर्तव्यानि' इत्यत्र 'त्वन्ताथादि न पूर्वभाक्' इति न्यायेन तुशब्दयोगादपिशब्दाच्चोक्तव्यतिरिक्तानि काम्यान्यपि कर्माण्यकामेन कर्तव्यान्येवाऽन्यथा त्वपिशब्दप्रयोगस्य व्यर्थता स्यादिति विद्वद्भिर्न मन्तव्यम्, तथात्वे

यज्ञ इति । मनीषियोंको यानी जिन्होंने वेदोंका अध्ययन और उनके अर्थोंका परिज्ञान भली भाँति किया है, तथा जो सत्य और असत्यके विवेकसे युक्त हैं, ऐसे मुमुक्षुओंके लिए परमेश्वरार्पण-बुद्धिसे किये गये यज्ञ, दान, तप ['तपश्चैव यहांपर चकार यज्ञ, दान आदि उक्त तथा अनुक्त श्रौत स्मार्त कर्मोंके समुच्चयके लिए है । एवकार वर्ण और आश्रमके अनुसार विहित यज्ञ, दान आदि वैदिक कर्म ही पावन हैं, ऐसे निर्धारणके लिए है ।] यानी यज्ञ, दान, तपरूप श्रौत और स्मार्त कर्म ही पावन हैं—प्राप्त हुए सम्पूर्ण पापोंका विनाश करनेवाले हैं—यानी अन्तः-करणके शोधक और उसके द्वारा ज्ञानके एवं उसके फलके कारण हैं, यह अर्थ है ॥ ५ ॥

यज्ञ, दान आदि नित्य कर्मोंका नियमसे अवश्य कर्तव्यत्व और शोधकत्व फल कहकर उनके अनुष्ठानका प्रकार कहते हैं—**'एतानि'** इत्यादिसे ।

'एतान्यपि तु' सङ्गका त्याग कर इन कर्मोंका भी तो अनुष्ठान करना चाहिए) इसमें 'त्वन्ताथादि न पूर्वभाक्' (जिसके अन्तमें 'तु' है और जिसके आदिमें अथ है, ऐसा पद पूर्वान्वयी नहीं होता) इस न्यायसे तुशब्दके योगसे और अपिशब्दसे कहे गये कर्मोंसे भिन्न काम्य कर्मोंका भी अकाम पुरुषको अनुष्ठान करना ही चाहिए, अन्यथा 'तु' और 'अपि' शब्द व्यर्थ हो जायँगे, विद्वानोंको

भगवद्वचनवैलक्षण्याभावप्रसङ्गात् । 'सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः' इत्यत्र सर्वपदेन पूर्वोक्तकाम्यकर्माणि गृहीत्वा सर्वेषां काम्यानामकाम्यानां च कर्मणां फलमात्रस्य परित्यागं प्राहुरित्युक्तमतभेद एवाऽत्राप्युपन्यस्तः स्यात् । भगवतोऽपि तन्मतानुसारित्वे स्वातन्त्र्याभावप्रसङ्गात् , 'निश्चयं शृणु मे तत्र' इति वचनव्याघातप्रसङ्गात्, 'यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र' इत्ययज्ञार्थस्य काम्यस्य बन्धकत्वविधानात्, 'कृपणाः फलहेतवः' इति काम्यकर्मणो निन्दितत्वाच्च नैवाऽत्र तेषां प्रसञ्जनमस्ति । तर्ह्यपिशब्दतुशब्दयोर्व्यर्थता स्यादिति चेद्, उच्यते; तुशब्दो नित्यानां काम्यव्यतिरिक्तत्वबोधनार्थः । अपिशब्दस्तु संभावनार्थः । एतच्छब्दः सन्निहितपरामर्शार्थस्तत एवैतानि पूर्वोक्तानि यज्ञदानादीनि तु नित्यानि, न तु काम्यानि । तथापि काम्यवत्फलाभिसंधियुक्तानि चेद् बन्धायैव भवन्ति न तु मुक्तये । ततस्तान्येतानि यज्ञदानादीनि नित्यानि सङ्गं सज्जतेऽनेनेति सङ्गः कामस्तं सङ्गं फलानि चोक्तानि वक्ष्यमाणानि चाऽनिष्टादीनि त्यक्त्वा मुमुक्षुभिरीश्वरार्पणबुद्ध्या कर्तव्यानि इति निश्चितं श्रुतियुक्तिभिर्निर्धारितं ममेश्वरस्य मतं सिद्धान्तमुत्तमं चोक्तेभ्यो मतेभ्य उत्कृष्टतमं प्रत्यवायरहितत्वेन नरकाद्यनिष्टनिवृत्तिहेतुत्वात्स्वर्गगमागमक्लेशनिवर्तकत्वाच्चित्तशुद्धिद्वाराऽभीष्टमुक्तिहेतुत्वाच्च तेभ्यः श्रेष्ठतममित्यर्थः ॥ ६ ॥

ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि ऐसा माननेसे भगवान्‌के वचनमें पूर्व मतोंसे वैलक्षण्य नहीं हो सकेगा। 'सम्पूर्ण कर्मोंके फलके त्यागको विचक्षण त्याग कहते हैं' इसमें सर्वपदसे पूर्वोक्त काम्य कर्मोंका ग्रहण करके काम्य और अकाम्य सब कर्मोंके फलमात्रका परित्याग कहते हैं, ऐसा उक्त मतविशेष ही यहां भी कहा जायगा। भगवान् भी उस मतका अनुसरण करते हैं, ऐसा माननेसे, तो उनकी स्वतन्त्रताका भङ्ग हो जायगा, 'उसमें मेरा निश्चय सुनो' इस वचनके व्याघातका प्रसङ्ग होगा, 'परमेश्वरार्थक कर्मोंसे अन्यत्र' इससे अयज्ञार्थ काम्य कर्मोंके बन्धकत्वका विधान है, और 'फलके हेतु कर्म करनेवाले कृपण हैं' इससे काम्यकर्म निन्दित हैं, अतः काम्य कर्मोंका यहाँ प्रसङ्ग ही नहीं है। तब अपिशब्दकी और तुशब्दकी व्यर्थता होगी? ऐसा यदि कहो तो, इसपर कहते हैं— 'तु' शब्द नित्योंका काम्यसे भिन्नत्व बोधन करनेके लिए है। 'अपि' शब्द तो संभावनाके लिए है। 'एतत्' शब्द समीपके परामर्शके लिए है, इसीलिए यद्यपि 'एतानि'से पूर्वोक्त यज्ञ, दान आदि नित्य कर्म ही विवक्षित हैं, काम्य कर्म नहीं, तो भी काम्यके समान फलके सङ्कल्पसे युक्त हों, तो बंधनके ही हेतु होते हैं, मुक्तिके हेतु नहीं होते। इसलिए यज्ञ, दान आदि नित्य कर्मोंका सङ्गका (जिससे पुरुष सक्त होता है, वह सङ्ग है, यानी कामका) और उक्त एवं वक्ष्यमाण अनिष्टादि फलोंका त्याग कर मुमुक्षुओंको ईश्वरार्पणबुद्धिसे अनुष्ठान करना चाहिए, ऐसा निश्चित—श्रुति और तदनुकूल युक्तियोंसे निर्धारित—मेरा (ईश्वरका) मत (सिद्धान्त) है और कहे गये मतोंसे उत्तम—उत्कृष्टतम—है। प्रत्यवायरहित होनेसे, नरक आदि अनिष्टकी निवृत्तिका हेतु होनेसे, स्वर्गमें आने जानेके क्लेशका निवर्तक होनेसे और चित्तशुद्धि द्वारा अभीष्ट मुक्तिरूप फलका हेतु होनेसे उनसे श्रेष्ठतम है, यह अर्थ है ॥ ६ ॥

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥

अशुद्धचित्तवाले मुमुक्षुको श्रुति-स्मृतिसे विहित सन्ध्योपासन आदि कर्मोंका परित्याग नहीं करना चाहिए । यदि मोहवश उसका परित्याग किया जाय, तो वह त्याग तामस त्याग कहलाता है ॥ ७ ॥

'निश्चयं शृणु मे तत्र' इत्युपक्रान्तं स्वसिद्धान्तमुक्त्वाऽधुना मुमुक्षोरविरक्तस्य कर्मसंन्यासं निषेधयन् 'त्रिविधः संप्रकीर्तितः' इत्युक्तं त्यागस्य त्रैविध्यं प्रतिपादयति—**नियतस्येति** ।

नियतस्य श्रुतिस्मृतिविहितस्य संध्योपासनाग्निहोत्रादेः कर्मणः संन्यासः काम्यकर्मवत्परित्यागो मुमुक्षोरशुद्धचित्तस्य नोपपद्यते । नित्यस्य कर्मणः सत्त्वशोधकत्वादकरणे प्रत्यवायाच्चाऽज्ञस्य कर्मसंन्यासो न कर्तव्य इत्यर्थः । कर्मणस्तत्त्वमविज्ञायाऽऽपातदृष्ट्या दोष इति त्यागोऽविवेकेन कृतश्चेत्किमित्यत आह—**मोहादिति** । कृत्याकृत्यज्ञानाभावो मोहोऽविवेकस्तस्मान्मोहात्तस्य नियतस्य स्वानुष्ठानजन्यचित्तशुद्धिद्वारा मोक्षहेतुत्वेनोपादेयस्य नित्यस्य कर्मणः परित्यागस्तामसस्तमोगुणकार्यत्वात्तामस इति सद्भिः परिकीर्तितः । तमोगुणादेव मोहो वैचित्यमनिष्टादिकर्मफलाज्ञानं तस्मादेवोपादेयमपि नित्यं कर्म त्यजति त्यक्त्वाऽकरणदोषजं फलं नरकं च प्राप्नोतीत्यर्थः । एतेनाऽज्ञस्यानिर्विण्णस्य च कर्मत्यागो न कर्तव्य इति सूचितं भवति ॥७॥

'उसमें मेरा निश्चय सुनो' इससे उपक्रान्त अपने सिद्धान्तको कहकर अब अविरक्त मुमुक्षुके कर्मसंन्यासका निषेध करते हुए 'तीन प्रकारका कहा गया है' इससे उक्त त्यागके त्रैविध्यका प्रतिपादन करते हैं—**'नियतस्य'** इत्यादिसे ।

नियतका—श्रुति और स्मृतिसे विहित संध्योपासन, अग्निहोत्र आदि कर्मका—संन्यास—यानी काम्य कर्मोंके समान परित्याग अशुद्ध चित्तवाले मुमुक्षुके लिए योग्य नहीं है। क्योंकि नित्यकर्म सत्त्वके (मनके) शोधक हैं और उनको न करनेमें प्रत्यवाय होता है, इसलिए अज्ञानीको कर्मसंन्यास नहीं करना चाहिए, यह अर्थ है। कर्मका तत्त्व न जानकर स्थूल दृष्टिसे [इसके अनुष्ठानमें] दोष है, ऐसा समझकर अविवेकसे यदि उनका त्याग किया, तो क्या होता है ? इसपर कहते हैं—**मोहादिति** । कृत्य और अकृत्यके ज्ञानका न होना मोह यानी अविवेक है, मोहसे उस नियतका—स्वानुष्ठानजन्य चित्तशुद्धि द्वारा मोक्षका हेतु होनेसे उपादेय नित्य कर्मका—परित्याग तामस है—तमोगुणका कार्य होनेसे तामस है—ऐसा सत्पुरुषोंके द्वारा कहा गया है । तमोगुणसे ही मोह—वैचित्य—यानी अनिष्ट आदि कर्मफलका अज्ञान, होता है, उसीसे उपादेय नित्य कर्मका भी त्याग करता है और त्याग करनेपर न करनेके दोषसे उत्पन्न हुए नरकरूप फलको प्राप्त होता है, यह अर्थ है । इससे यह सूचित होता है कि अज्ञानी और अविरक्त पुरुषको कर्मोंका परित्याग नहीं करना चाहिए ॥ ७ ॥

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात् त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ ८ ॥
कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥ ९ ॥

यह कर्म आयाससे होनेवाला अतएव दुःखरूप है, ऐसा निश्चय कर जो पुरुष शरीरक्लेशके भयसे उसका परित्याग करता है, वह राजस त्यागको करके भी त्यागसे होनेवाले फलको प्राप्त नहीं कर सकता ॥ ८ ॥

हे अर्जुन, कामना और फलाभिसन्धिका त्याग कर, मुझे इसका अवश्य अनुष्ठान करना चाहिए, इस बुद्धिसे विधिविहित नित्य कर्मोंका जो अनुष्ठान किया जाता है, वह सात्त्विक त्याग कहलाता है ॥ ९ ॥

राजसत्यागस्य लक्षणं फलं चाऽऽह—दुःखमिति ।

यथोक्तनियमेन यन्नित्यं कर्तव्यं तत्कर्म श्रमसाध्यत्वाद् दुःखं दुःखात्मकमायाससाध्यमित्येव निश्चित्याऽऽलसत्वदोषेण कर्मणः कर्तव्यत्वं विजानन्नपि यः कायक्लेशभयाद् देहेन्द्रियादिक्लेशो भवत्यस्याऽनुष्ठानेनेति भयात् त्यजेत् त्यजति स पुरुषो देहानुगतरागविशिष्टत्वाद् राजसं रजोदूषितबुद्धिदोषादागतं राजसं त्यागं कर्मसंन्यासं कृत्वाऽपि त्यागफलं त्यागस्य कर्मसंन्यासस्य फलं चित्तशुद्धिं तज्जन्यज्ञानं तत्फलं मोक्षं च न लभेत् न लभते, किन्तु स्ववञ्चनात्मकस्य राजसत्यागस्याऽनुरूपं विहिताकरणप्रत्यवायतः प्राप्तं फलं नरकमेव प्रतिपद्यत इत्यर्थः । एतेन 'न सुखाल्लभ्यते सुखम्' इति न्यायेन स्वधर्मानुष्ठानक्लेशसहिष्णोरेव पुरुषार्थः सिध्यतीति सूचितम् ॥ ८ ॥

राजस त्यागका लक्षण और फल कहते हैं—'दुःखम्' इत्यादिसे ।

उक्त नियमके अनुसार जो नित्य कर्तव्य कर्म है, वह श्रमसाध्य होनेके कारण दुःख है यानी दुःखात्मक आयाससे साध्य है, ऐसा निश्चय करके आलस्यदोषसे कर्मकी कर्तव्यताको जानकर भी जो कायक्लेशके भयसे—इसके अनुष्ठानसे देह, इन्द्रिय आदिको क्लेश होता है, इस भयसे—उसका त्याग करता है, वह पुरुष देहमें प्रेम रखनेके कारण राजस—रजोगुणसे दूषित बुद्धिके दोषसे प्राप्त—त्यागका यानी कर्मसंन्यासका ग्रहण करके भी त्यागफलको (त्यागके यानी कर्मसंन्यासके फल चित्तशुद्धिको, उससे जन्य ज्ञानको और उसके फल मोक्षको) प्राप्त नहीं करता, किन्तु स्ववंचनात्मक राजस त्यागके अनुरूप विहितका अनुष्ठान न करनेसे जनित प्रत्यवायसे प्राप्त होनेवाले नरकरूप फलको ही प्राप्त करता है, यह अर्थ है । इससे यह सूचित होता है कि 'सुखसे सुख प्राप्त नहीं किया जाता' इस न्यायसे जो स्वधर्मके अनुष्ठानके क्लेशको सहता है, उसीका पुरुषार्थ सिद्ध होता है ॥ ८ ॥

फलमग्रे विवक्षन् सात्त्विकत्यागमाह—**कार्यमिति**।

विध्युलङ्घनभीत्या मुमुक्षया च कार्यं ममेदवश्यं कर्तव्यमित्येव। कर्तव्यताबुद्धेर्विकल्पान्तरनिषेधार्थ एवकारः। मयेदं कर्मेश्वरप्रीत्यै करणीयमेवेति दृढनिश्चयवता मुमुक्षुणा नियतं विध्युक्तं यन्नित्यं तत्कर्म, सङ्गं कर्तृत्वाभिनिवेशं कामं वा फलं च। चः समुच्चयार्थः। यद्यपि 'स्वर्गकामः पशुकामः' इतिवन्नित्यस्य कर्मणः फलं न श्रूयते, तथापि फलाभावे 'अहरहः सन्ध्यामुपासीत' इत्यादिकर्मविधेरुन्मत्तवाच इवाऽऽनर्थक्यं स्यात्, ततो यत्किञ्चित्फलं कल्पनीयमुपात्तदुरितक्षयलक्षणम्, तादृशफलं च फलकामनां च त्यक्त्वा परित्यज्येत्यर्थः। ननु फलानपेक्षायां सत्यां पुंसः प्रवृत्तिरेव न स्यादिति चेत्, न; साधोर्विध्युलङ्घनभीत्यैव प्रवृत्तिसंभवात्। 'श्रुतिस्मृतिभ्यां सुजनो नियम्यते' इति स्मृतेः। वैधे दन्तधावने कृते मुखशुद्धिवद् विना फलकामनया कर्मणि कृते कर्तुः 'आपः शुन्धन्तु मैनसः', 'पापेभ्यो रक्षन्ताम्' इत्यादिमन्त्रक्रियाशक्तिबलेन सत्त्वशुद्धिलक्षणं फलमर्थात्स्वयमेव सिध्यति तत्फलं मोक्षश्च, अतस्तत्र कामसङ्कल्पादि न कर्तव्यम्, किन्तु सङ्गं फलं च त्यक्त्वैव नित्यं यत्कर्म क्रियते स त्यागः सात्त्विकः सत्त्वगुणनिष्पन्नत्वात् सात्त्विक इति मतः सतामिष्टत्वेनाऽभिमतः।

आगे फलको कहनेकी इच्छासे पहले सात्त्विक त्याग कहते हैं—**'कार्यम्'** इत्यादिसे।

विधिके उल्लंघनके भयसे और मोक्षकी इच्छासे कार्य—मुझे इसका अवश्य अनुष्ठान करना चाहिए—इस प्रकारकी बुद्धिसे ही। कर्तव्यताबुद्धिमें दूसरे विकल्पके निषेधके लिए एवकार है। मुझे यह कर्म ईश्वरकी प्रीतिके लिए करना चाहिए, ऐसा दृढ़निश्चयवाले मुमुक्षुके द्वारा नियत—विधिसे उक्त—जो नित्य कर्म है, वह सङ्गको यानी कर्तापनेके अध्यासको अथवा काम और फलको। च समुच्चयके लिए है। यद्यपि 'स्वर्गकाम, पशुकाम' इसके समान नित्यकर्मका फल सुननेमें नहीं आता, तथापि यदि नित्यकर्मका फल न माना जाय, तो 'प्रतिदिन संध्या करे' इत्यादि कर्मविधि उन्मत्तके वचनके समान व्यर्थ हो जायगी, इसलिए कुछ न कुछ फल यानी किये गये पापका क्षयरूप फल मानना चाहिए, उस प्रकारके फलका और फलकी कामनाओंका त्याग कर, परित्याग करके, यह अर्थ है। फलकी अपेक्षा न होनेपर तो पुरुषकी प्रवृत्ति ही नहीं होगी, ऐसा यदि कहो, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि साधुकी विधिके उल्लंघनके भयसे ही प्रवृत्ति हो सकती है। 'श्रुति और स्मृतिसे सुजन नियममें रक्खा जाता है' ऐसी स्मृति है। विधिसे विहित दन्तधावन करनेसे जैसे मुखकी शुद्धि होती है, वैसे ही कामनाके बिना कर्मका अनुष्ठान करनेसे कर्ताको 'जल मेरे पापोंको शुद्ध करे', 'पापोंसे रक्षा करे' इत्यादि मन्त्र और क्रियाशक्तिके बलसे चित्तशुद्धिरूप फल अर्थात् स्वयं ही सिद्ध हो जाता है और उसका फल मोक्ष भी प्राप्त होता है, इसलिए उनमें काम, सङ्कल्प आदि नहीं करना चाहिए, किन्तु सङ्ग और फलका त्याग कर ही जो नित्य कर्म किया जाता है, वह त्याग सात्त्विक है—सत्त्वगुणसे निष्पन्न होनेके कारण सात्त्विक है, ऐसा सत्पुरुषोंका मत है यानी सत्पुरुषोंका इष्टत्वरूपसे अभिमत है। कर्मके

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नाऽनुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥ १० ॥

त्यागी, सत्त्वगुणसे युक्त तथा संशयशून्य ब्रह्मवित् यति अकुशल (मोक्षके अहेतु संसाररूप) कर्मसे द्वेष नहीं करता और कुशल (मोक्षहेतु नित्य) कर्ममें आसक्ति (प्रेम) नहीं करता ॥ १० ॥

कर्मफलभ्रंशाभावात् प्रत्यवायकृतानर्थाभावाच्च पूर्वोक्तत्यागद्वयापेक्षया सात्त्विककर्मफलत्यागः श्रेष्ठ इत्यर्थः ॥ ९ ॥

एवं तामसादित्यागत्रयस्वरूपं प्रतिपाद्य बहुजन्मस्वीश्वरार्पणबुद्ध्या फलाभिसन्धिरहिततया सात्त्विकत्यागनिष्ठया सम्यगनुष्ठितैर्यज्ञदानादिकर्मभिः सम्यक्संस्कृतत्वेन विशुद्धान्तःकरणस्य शमदमादिसत्त्वगुणसंपन्नस्य सात्त्विकत्यागेनाऽन्तःकरणपरिपाकसिद्धेः फलमाह—**न द्वेष्टीति ।**

सात्त्विकत्यागनिष्ठया भक्त्याऽनेकजन्मभिः समाराधितपरमेश्वरप्रसादसंपन्नस्त्यागी सात्त्विकत्यागनिष्ठः पुरुषः सत्त्वसमाविष्टः सत्त्वं रजस्तमस्तत्कार्यनिर्मुक्त आत्मानात्मस्वरूपनिर्धारणसमर्थोऽन्तःकरणपरिपाकविशेषस्तेन समाविष्टः सम्यग्विशिष्टः स एव मेधावी ब्रह्मविद्गुरोः सकृदुपदेशमात्रेण ब्रह्मैवाऽहमिति संप्राप्तात्मतत्त्वविज्ञानस्तत एव छिन्नसंशयः छिन्नः स्वस्य कूटस्थासङ्गचिदात्मत्वविज्ञानेन विच्छिन्नः संशयः सञ्चितागामिवर्तमानकर्मभिर्मम लेपोऽस्ति वा न वा, कर्तृत्वभोक्तृत्वादिलक्षणः संसार

फलका भ्रंश न होनेसे और प्रत्यवाय द्वारा किये गये अनर्थका अभाव होनेसे पूर्वोक्त दोनों त्यागोंकी अपेक्षा सात्त्विक कर्मफलत्याग श्रेष्ठ है, यह अर्थ है ॥ ९ ॥

इस प्रकार तामस आदि तीन त्यागोंके स्वरूपका प्रतिपादन करके अनेक जन्मोंमें ईश्वरार्पणबुद्धिसे फलके सङ्कल्पसे रहित होकर सात्त्विकत्यागनिष्ठासे भली भाँति अनुष्ठित यज्ञ, दान आदि कर्मोंसे सम्यक् संस्कृत होनेके कारण विशुद्ध अन्तःकरणवाले शम, दम आदि सत्त्व गुणोंसे सम्पन्न पुरुषके सात्त्विक त्यागसे प्राप्त अन्तःकरणके परिपाककी सिद्धिका फल कहते हैं—**'न द्वेष्टि'** इत्यादिसे ।

सात्त्विकत्यागनिष्ठारूप भक्तिसे अनेक जन्मोंमें भली भाँति आराधित परमेश्वरके प्रसादसे सम्पन्न त्यागी—सात्त्विक त्यागमें निष्ठावाला, सत्त्वसमाविष्ट (सत्त्वसे—रज, तम और उनके कार्यसे रहित आत्मा और अनात्माके स्वरूपका निर्धारण करनेमें समर्थ अन्तःकरणके परिपाकविशेषसे—समाविष्ट यानी भली भाँति युक्त) अतएव मेधावी यानी ब्रह्मविद् गुरुके एक बारके केवल उपदेशसे 'ब्रह्म ही मैं हूँ', इस प्रकार आत्मतत्त्वविज्ञानको प्राप्त करनेवाला, इसीलिए छिन्नसंशय (छिन्न—अपने कूटस्थ असङ्ग आत्मतत्त्वके विज्ञानसे विच्छिन्न—हुए हैं संशय—संचित, आगामी और वर्तमान कर्मोंसे मेरा संसर्ग है या नहीं; कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदिरूप संसार आत्मामें है या अनात्मामें; मोक्षका कारण

आत्मनो वाऽनात्मनो वा, मोक्षकारणं योगो वाऽप्युपास्तिर्वा कर्म वा ज्ञानं वा तन्निष्ठा वा, मोक्षः सालोक्यादिर्वा निर्विशेषात्मनाऽवस्थालक्षणो वाऽन्यो वा, इत्येवमादिर्यस्य स छिन्नसंशयः, तत एवाऽकुशलं न लभ्यते कुशलं निःश्रेयसं येन तदकुशलं शरीरारम्भकत्वेनेदं संसारलक्षणं बन्धकमिति काम्यं कर्म च नरकहेतुत्वेनेदं दुःखकारणमिति निषिद्धमपि किमनेनेति न द्वेष्टि द्वेषोऽप्रीतिस्तामत्र न करोति। तमःकृतमोहाभावादिदं दुष्टं बन्धकं न कर्तव्यमिति बुद्धिं न करोतीत्यर्थः। कुशले कुशलसाधने यज्ञदानादौ कर्मणि नित्ये मोक्षकारणमिति नाऽनुषज्जते अनुषङ्गः प्रीतिस्तां न करोतीति, मुक्तस्य मोक्षेच्छासंभवे साधनापेक्षाभावात् तत्र कर्तव्यत्वबुद्धिं न करोति; किन्तु 'दोषबुद्ध्योभयातीतो निषेधान्न निवर्तते। गुणबुद्ध्या च विहितं न करोति यथाऽर्भकः॥' इति न्यायेन कुशलमकुशलं च कर्म सर्वं संन्यस्य ब्रह्मात्मना तिष्ठतीत्यर्थः। एतेन सर्वकर्मफलकामनात्यागपूर्वकमीश्वरार्पणबुद्ध्या सम्यगनुष्ठितैरेव यज्ञदानादिभिः सत्त्वशुद्धिः। शुद्धसत्त्वस्यैव सम्यग्ज्ञानं ब्रह्मात्मैकत्वविषयकमप्रतिबद्धं सम्यग्ज्ञानवत एव संशयादिविच्छित्तिः सर्वकर्मसंन्यासः सन्निष्ठा च सिद्ध्यतीति बोधितं भवति। ततो ज्ञानकर्मणोः साध्यसाधनभाव इति सिद्धम्। यत्सर्वस्याऽपि गीताशास्त्रस्य सर्वस्याऽपि च वेदस्य तात्पर्यं तच्चाऽप्याविष्कृतं भवतीति वेदितव्यमित्यर्थः॥ १०॥

क्या योग है या उपासना है, या कर्म है या ज्ञान है या ज्ञाननिष्ठा है; क्या मोक्ष सालोक्य आदिरूप है या निर्विशेष आत्मरूपसे अवस्थानरूप है या अन्य प्रकारका है ? इत्यादि संशय—जिसके वह संछिन्नसंशय है) पुरुष अकुशल (जिससे कुशल—निःश्रेयस—प्राप्त नहीं होता, वह अकुशल) कर्मसे यानी शरीरारंभक होनेसे यह संसाररूप बन्धनको देनेवाला है, इस बुद्धिसे काम्य कर्मके साथ और नरकका हेतु होनेसे यह दुःखका कारण है, इस बुद्धिसे निषिद्ध कर्मके साथ भी, इससे क्या, यों द्वेष नहीं करता, अर्थात् उनमें द्वेष—अप्रीति—नहीं करता। तमोगुण जनित मोहका अभाव होनेसे इस दुष्ट—बन्धक—कर्मका अनुष्ठान नहीं करना चाहिए, ऐसी बुद्धि नहीं करता, यह अर्थ है। कुशलमें—मोक्षके साधन यज्ञ, दान आदि नित्य कर्ममें—'यह मोक्षका कारण है' इस बुद्धिसे अनुषङ्ग नहीं करता। अनुषङ्गको यानी प्रीति, उसको नहीं करता। मुक्त पुरुषको मोक्षकी इच्छा न होनेके कारण साधनकी अपेक्षा न होनेसे उनमें वह कर्तव्यत्वबुद्धि नहीं करता, किन्तु 'दोनोंसे अतीत ब्रह्मवित् यति बालककी नाईं दोष समझकर निषेधसे निवृत्त नहीं होता और गुण समझ कर विहितका अनुष्ठान नहीं करता' इस न्यायसे कुशल और अकुशल सब कर्मोंका त्याग कर ब्रह्मरूपसे स्थित होता है, यह अर्थ है। इससे यह बोधित होता है कि सम्पूर्ण कर्मोंके फलकी कामनाके त्यागपूर्वक ईश्वरार्पणबुद्धिसे भली भाँति अनुष्ठित यज्ञ, दान, आदिसे चित्तशुद्धि होती है, शुद्ध चित्तवालेको ही भली भाँति ब्रह्मात्मैकत्वविषयक अप्रतिबद्ध ज्ञान होता है, सम्यक् ज्ञानवालेको ही संशय आदिकी विच्छित्ति, सर्वकर्मसंन्यास और सत्की निष्ठा प्राप्त होती है, इसलिए ज्ञान और कर्मका परस्पर साध्यसाधनभाव है, यह सिद्ध हुआ। जो सम्पूर्ण गीताशास्त्रका और सम्पूर्ण वेदका भी तात्पर्य है, उसको भी प्रकट किया है, ऐसा जानना चाहिए, यह अर्थ है॥ १०॥

नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ ११ ॥

यतः देहमें आत्मबुद्धि रखनेवाले अनात्मज्ञ पुरुष द्वारा पूर्णरूपसे कर्मोंका त्याग नहीं किया जा सकता, अतः जो कर्मफलका त्याग करता है, वही त्यागी कहलाता है ॥ १२ ॥

इदानीं नित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठानेष्वधिकृतो देहात्मबुद्धिः पुरुषस्तस्याऽशेषकर्मपरित्यागस्याऽशक्यत्वात्कर्मफलत्यागेन कर्मानुष्ठान एवाऽधिकारो न तु कर्मत्याग इति प्रतिपादयति—**नहीति** ।

हि यस्मात्कारणाद्देहभृता देहमयमेवाऽहमिति स्वात्मना बिभर्तीति देहभृद्देहात्मबुद्धिरज्ञ एव कर्माधिकारी न त्वात्मज्ञस्तस्य कूटस्थमेवाऽऽत्मानं सर्वदृश्यविलक्षणं पश्यतो विदुषो देहात्मत्वबुद्ध्यसंभवात् कर्माधिकारानुपपत्तेरहं कर्तेति कर्तृत्वाभिमानिन एव देहाद्यहंबुद्धेः कर्मण्यधिकारस्ततो देहभृताऽनात्मज्ञेन अशेषतोऽशेषाणि नित्यनैमित्तिककाम्यप्रतिषिद्धान्यन्यान्यपि च कर्माणि त्यक्तुं संन्यसितुं न शक्यम् तस्याऽकर्त्रात्मज्ञानाभावात् । यस्तु अकर्त्रात्मज्ञानवान् भवति तस्यैवाऽशेषकर्मसंन्यास उपपद्यते न त्वन्यस्य । तस्माद्यस्त्वनात्मज्ञः कर्मण्यधिकृतः सन् कर्मफलत्यागी भवति, स एव त्यागी सर्वकर्मसंन्यासी निष्काम इत्यभिधीयते । सर्वेषामपि कर्मणां तत्फलानां चेश्वरार्पितत्वे सत्यकर्मिसादृश्यसंभवादयं स्वयं नित्यकर्म्यप्यकर्मीति स्तूयते

अब नित्य और नैमित्तिक कर्मके अनुष्ठानमें अधिकारी देहात्मबुद्धिवाला जो पुरुष है, उसका, अशेष कर्मोंका परित्याग अशक्य होनेके कारण कर्मफलके त्याग द्वारा कर्मके अनुष्ठानमें ही, अधिकार है, कर्मके त्यागमें नहीं, ऐसा कहते हैं—'नहि' इत्यादिसे ।

जिस कारणसे देहभृत् (देहको यही मैं हूँ, यों अपने स्वरूपसे जो धारण करता है, वह देहभृत्, यानी देहात्मबुद्धिवाला) अज्ञानी ही कर्मका अधिकारी है, आत्मज्ञ नहीं, सर्वदृश्यसे विलक्षण कूटस्थ आत्माको देखनेवाले उस विद्वान्‌का, देहात्मबुद्धि न होनेसे, कर्ममें अधिकार हो नहीं सकता, क्योंकि 'मैं कर्ता हूँ', यों कर्तृत्वके अभिमानी और देहादिमें अहंबुद्धिवाले पुरुषका कर्ममें अधिकार है, इसलिए देहभृत द्वारा—अनात्मज्ञ द्वारा—अशेष नित्य, नैमित्तिक, काम्य, प्रतिषिद्ध एवं अन्य भी कर्मोंका त्याग नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसे अकर्ता आत्माका ज्ञान नहीं है । जो अकर्ता आत्माके ज्ञानसे युक्त है, वही अशेष कर्मोंका परित्याग कर सकता है, दूसरा नहीं, इसलिए जो अनात्मज्ञ कर्ममें अधिकारी होकर कर्मके फलका त्याग करता है, वही त्यागी—सर्वकर्मसंन्यासी—यानी निष्काम है, ऐसा कहा जाता है । सम्पूर्ण कर्मोंके और उनके फलोंके ईश्वरार्पण करनेपर अकर्मीके साथ समानता हो जानेसे यह स्वयं नित्यकर्मी

मुमुक्षूणामत्रैव सात्त्विकत्यागे प्रवृत्तिसिद्धये ।

यद्वा सात्त्विकत्यागस्वरूपं सात्त्विकत्यागनिष्ठस्य तन्निष्ठासंजातसत्त्वशुद्धिं तत्संभावितज्ञानं तत्फलं नैष्कर्म्यसिद्धिं च प्रतिपाद्याऽथ सदसद्विवेकशून्यानां पूर्वोक्तानां राजसतामसत्यागवतामाभासत्यागित्वं वस्तुतः कर्मित्वमनिष्टादिफलवत्त्वं च बोधयितुम् 'यज्ञोऽध्ययनं दानम्' इत्यादि श्रुत्युक्तानां नित्यनैमित्तिककर्मणामीश्वरार्पणबुद्ध्या समनुष्ठितवतः सात्त्विकत्यागिन एव स्वधर्मानुष्ठानसमुत्पन्नचित्तशुद्ध्या संप्राप्तात्मयाथात्म्यविज्ञानस्य कुशलादिसर्वकर्मसंन्यासिनोऽकर्मित्वमनिष्टादिफलरहितत्वं च प्रतिपादयति—**नहीति** द्वाभ्याम् ।

केश्चित्पण्डितैरेव बौद्धस्वभावैर्मोहात्मिकया तमोदूषितबुद्ध्या किमनेन कर्मणेत्यश्रद्धया सर्वस्याऽपि च कर्मणस्त्यागो तामसोऽश्रुतः क्रियते तथा पण्डितैरेव केश्चिदलसैर्देहसौख्येच्छुभिर्देहायाससाध्यं सर्वं कर्म दुःखमेवेति रजोदोषदूषितबुद्ध्या सर्वस्याऽपि कर्मणस्त्यागो राजसोऽश्रुत एव क्रियते, तेषां राजसतामसत्यागिनां कर्मत्याग आभासिक एव न तु क्रियया सिध्यति । हि यस्मात्कारणाद्देहभृता देहं स्वभावत एव क्रियावत्प्राणेन्द्रियमनोबुद्ध्यादिकरणसङ्घातविशिष्टमयमेवाऽहमिति स्वस्वरूपत्वेन बिभर्तीति देहभृत् तेन देहात्मबुद्धिना पुरुषेण कर्माणि काले काले कर्तव्यत्वेनाऽप्रयत्नतः

भी अकर्मी हो जाता है, ऐसी स्तुति की जाती है, जिससे कि मुमुक्षुओंकी इसी सात्त्विक त्यागमें प्रवृत्तिकी सिद्धि हो ।

अथवा सात्त्विक त्यागके स्वरूपका, सात्त्विकत्यागनिष्ठ पुरुषकी उस निष्ठासे उत्पन्न हुई सत्त्वशुद्धिका, उससे सम्भावित ज्ञान और उसके फल नैष्कर्म्यसिद्धिका प्रतिपादन करके अब सत्यासत्यके विवेकसे शून्य, पूर्वोक्त राजस और तामस त्यागसे युक्त पुरुष आभासतः त्यागी हैं, वस्तुतः कर्मी हैं और अनिष्ट आदि फलसे युक्त हैं, ऐसा बोधन करनेके लिए 'यज्ञ, अध्ययन और दान' इत्यादि श्रुतिमें कहे गये नित्य, नैमित्तिक कर्मोंका ईश्वरार्पणबुद्धिसे अनुष्ठान करनेवाला सात्त्विक त्यागी ही स्वधर्मानुष्ठानसे उत्पन्न हुई चित्तशुद्धिसे प्राप्त हुए आत्मयाथात्म्यविज्ञानसे युक्त, कुशल आदि सम्पूर्ण कर्मोंका संन्यासी अकर्मी और अनिष्टादि फलसे रहित है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं—**'नहि'** इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

कितने बौद्धस्वभाववाले पण्डितों द्वारा ही मोहात्मक तमोदूषित बुद्धिसे, इस कर्मके अनुष्ठानसे क्या होगा ? यों अश्रद्धासे सम्पूर्ण कार्मोंका अश्रुत तामस त्याग किया जाता है, इसी प्रकार कितने ही आलसी, देहके सुखकी इच्छावाले पण्डितोंके ही द्वारा देहके आयाससे साध्य सम्पूर्ण कर्म दुःख ही हैं, इस प्रकार गुणके दोषसे दूषित बुद्धिसे सम्पूर्ण कर्मोंका राजस अश्रुत त्याग ही किया जाता है। राजस और तामस त्यागियोंका कर्मत्याग केवल देखनेका ही होता है, क्रियासे नहीं होता। जिस कारणसे देहभृत्के (स्वभावसे ही क्रियावाले प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि करणसंघातविशिष्ट देहको 'यही मैं हूँ' यों स्वस्वरूपसे जो धारण करता है, वह देहभृत् है) यानी

प्राप्तानि पुण्यान्यपुण्यान्यन्यानि चाऽशेषतोऽशेषेण त्यक्तुं संन्यसितुं न शक्यम्। कर्म त्यक्तमित्याभासमात्रमेव कर्मत्यागो न तु वस्तुतः सिध्यति, कर्मकर्तृकारकव्यतिरिक्तात्मज्ञानाभावात्। स्वत एव चेष्टावद्देहात्मबुद्धित्वाच्च बुद्धिपूर्वकमबुद्धिपूर्वकं वाऽप्यपुण्यपुण्याचरणमस्त्येव। तस्मात् ते त्यागिनः सर्वकर्मसंन्यासिनो न भवन्तीत्यर्थः। तर्हि कः संन्यासीत्यत आह—**यस्त्विति**। तुशब्दोऽस्य तामसादिवैलक्षण्यबोधनार्थः। यस्तु कर्मफलत्यागी यज्ञदानादिकर्माणि कृत्वा पूर्वोक्तरीत्या सर्वकर्मफलत्यागं करोति स एव त्यागी संन्यासीत्यभिधीयते। निष्कर्मत्वसिद्धिप्रकारज्ञैः पण्डितैः स एव सर्वकर्मसंन्यासीत्युच्यते, न त्वितरे तामसत्यागादयः। आपातदृष्ट्या ते कर्मसंन्यासिनोऽपि सम्यग्विचार्यमाणे तु कर्मिण एव भवन्ति। विहिताकरणप्रत्यवायत्वाद् भ्रमप्रमादादिषु पुण्यापुण्यकर्मवत्त्वाच्च न तेषामशेषकर्मसंन्यासः संभवति। यत एवं ततः सर्वकर्माणि कृत्वा तानि तत्फलानि चेश्वरे त्यक्त्वा कामसङ्कल्पादिदोषशून्यत्वेन विशुद्धचित्ततया विज्ञातकूटस्थात्मस्वभावः सन् 'सर्वकर्माणि मनसा'इत्युक्तप्रकारेण कुशलानि अकुशलानि च सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य निष्क्रियब्रह्मात्मना यस्तिष्ठति तस्यैव सर्वकर्मसंन्यासः

देहात्मबुद्धिवाले पुरुषके द्वारा कर्मोंका—समय समयपर प्रयत्नके बिना कर्तव्यरूपसे प्राप्त पुण्य, अपुण्य और अन्य कर्मोंका—अशेषरूपसे त्याग नहीं किया जा सकता। 'मैंने कर्मका त्याग किया, यह केवल आभासरूप ही कर्मका त्याग है, वास्तवमें वह त्याग नहीं है, क्योंकि कर्म, कर्ता और कारकसे भिन्न विलक्षण आत्माका ज्ञान उसको नहीं है और स्वतः ही चेष्टायुक्त देहमें आत्मबुद्धिवाला है, इसलिए बुद्धिपूर्वक या अबुद्धिपूर्वक पुण्य और अपुण्यका आचरण है ही, इसलिए वे त्यागी यानी सर्वकर्मसंन्यासी नहीं हैं, यह अर्थ है। तब कौन संन्यासी है, इस पर कहते हैं—**यस्त्विति**। 'तु' शब्द इसका तामस आदिसे वैलक्षण्य बतलानेके लिए है। जो कर्मफलका त्यागी है यानी यज्ञ, दान आदि कर्मोंका अनुष्ठान करके पूर्वोक्त रीतिसे जो सम्पूर्ण कर्मफलका त्याग करता है, वही त्यागी—संन्यासी—है, ऐसा कहा जाता है। निष्कर्मत्वकी सिद्धिके प्रकारको जाननेवाले पण्डितों द्वारा वही सर्वकर्मसंन्यासी है, ऐसा कहा जाता है, दूसरे तामस त्याग करनेवाले नहीं। स्थूलदृष्टिसे वे यद्यपि कर्मसंन्यासी-से प्रतीत होते हैं, तथापि भली भाँति विचार करने पर तो वे कर्मी ही हैं। विहितका अनुष्ठान न करनेसे प्रत्यवाय होनेके कारण और भ्रम, प्रमाद आदि दोषोंके होनेपर पुण्य और अपुण्य कर्मवान् होनेके कारण उनका अशेषकर्मसंन्यास हो नहीं सकता। जिस कारणसे ऐसा है, इसलिए सम्पूर्ण कर्मोंका अनुष्ठान करके उनका और उनके फलोंका ईश्वरमें परित्याग कर काम, संकल्प आदि दोषोंसे रहित होकर विशुद्ध चित्तसे कूटस्थ आत्मस्वभाव जानकर 'सम्पूर्ण कर्म मनसे' इत्यादि उक्त प्रकारसे कुशल और अकुशल सम्पूर्ण कर्मोंका त्याग कर जो निष्क्रिय ब्रह्मस्वरूपसे स्थित रहता है, उसीका सर्वकर्मसंन्यास सिद्ध होता है, क्योंकि कूटस्थ असङ्ग, चिदात्माको जो जानता है उसीका

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥ १२ ॥

कर्म और कर्मफलका त्याग न करनेवाले पुरुषको मरनेके अनन्तर अनिष्ट, इष्ट और मिश्र यों तीन प्रकारके कर्मफल प्राप्त होते हैं, परन्तु कर्म और उनके फलका त्याग करनेवाले संन्यासियोंको कुछ भी कर्मफल प्राप्त नहीं होता ॥१२॥

सिध्यति । कूटस्थासङ्गचिदात्मतत्त्वविज्ञानवतः सर्वकर्मसंन्याससंभवाद् बहुजन्मसु सात्त्विककर्मानुष्ठानेन सत्त्वसमाविष्टस्य मेधाविनश्छिन्नसंशयस्य विदुषः कुशलाकुशलादिसर्वकर्मसंन्यासस्य प्रतिपादितत्वाच्च । अतः उपक्रान्तस्यैव कर्मफलत्यागिनः स्वधर्मानुष्ठानसम्भावितचित्तशुद्धिद्वारा सम्प्राप्तविज्ञानस्य सर्वकर्मसंन्यासित्वप्रतिपादनं युक्तमिति भाति । तथा प्रतिपादिते सत्यश्रद्धादुर्मेधाभ्यामीश्वरार्पणबुद्ध्या ये तु कर्म न कुर्वन्ति तेषां कल्पकोट्यापि चित्तशुद्धिर्ज्ञानं मोक्षश्च न सिद्ध्यति । ये त्वकामनया श्रद्धाभक्तिभ्यामीश्वरप्रीत्यै वैदिकं कर्म कुर्वन्ति तेषां सत्त्वशुद्धिर्ज्ञानं नैष्कर्म्यं मोक्षश्च सिध्यति । अतो मोक्षैककामैर्विचक्षणैः सात्त्विकत्यागनिष्ठया स्वधर्मोऽनुष्ठातव्य इत्युपदेशः सेत्स्यति, नाऽन्यथेत्येव भाति ॥ ११ ॥

एवं तामसादित्यागवतामापाततोऽकर्मिणामपि कर्मित्वं सात्त्विकत्यागिनस्त्वकर्मित्वं च प्रतिपाद्य कर्मिणां कर्मफलमकर्मिणां तदभावं च प्रतिपादयति—**अनिष्टमिति** ।

सर्वकर्मसंन्यास हो सकता है । और अनेक जन्मोंमें सात्त्विक कर्मके अनुष्ठानसे सत्त्वसमाविष्ट, मेधावी छिन्नसंशयवाले विद्वान्का कुशल अकुशल आदि सम्पूर्ण कर्मोंके संन्यासका प्रतिपादन किया गया है । इसलिए उपक्रान्त कर्मफलत्यागी, स्वधर्मके अनुष्ठानसे संभावित चित्तशुद्धि द्वारा प्राप्त हुए विज्ञानवाले पुरुषमें सम्पूर्णकर्मसंन्यासित्वका प्रतिपादन युक्त है, ऐसा भासता है । ऐसा प्रतिपादन होनेपर अश्रद्धा और दुर्भाग्यसे जो ईश्वरार्पणबुद्धिसे कर्म नहीं करते, उनको करोड़ों कल्पोंमें भी चित्तशुद्धि, ज्ञान और मोक्ष प्राप्त नहीं होता । और जो अकामनासे श्रद्धा एवं भक्ति द्वारा ईश्वरकी प्रीतिके लिए वैदिक कर्म करते हैं, उनको सत्त्वशुद्धि, ज्ञान, नैष्कर्म्य और मोक्ष प्राप्त होता है । इसलिए केवल मोक्षकी ही कामनावाले विचक्षण पुरुषोंको सात्त्विकत्यागनिष्ठासे स्वधर्मका अनुष्ठान करना चाहिए, ऐसा उपदेश सिद्ध होगा, दूसरा नहीं, यही ज्ञात होता है ॥ ११ ॥

इस प्रकार तामस आदि त्याग करनेवाले ऊपर ऊपरसे अकर्मी (प्रतीत होनेवाले) पुरुषोंमें कर्मित्वका और सात्त्विक त्याग करनेवाले पुरुषोंमें अकर्मित्वका प्रतिपादन करके कर्मियोंको कर्मफल मिलता है और अकर्मियोंको वह नहीं मिलता, ऐसा प्रतिपादन करते हैं—'अनिष्टम्' इत्यादिसे ।

अनिष्टं पापकर्मफलं नारकित्वं तिर्यक्त्वं वा, पुण्यकर्मफलमिष्टं देवत्वम्, मिश्रमुभयमिश्रफलं मनुष्यत्वं च 'पुण्येन पुण्यलोकं नयति' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धं त्रिविधं त्रिप्रकारकमपि कर्मफलमत्यागिनां कर्मतत्फलत्यागमकुर्वतां तामसादित्यागिनां प्रेत्य मरणादूर्ध्वं भवत्येव । वाचा त्यागेऽपि क्रियया कर्मणां त्यागाभावात्कृतानां कर्मणां फलावश्यंभावित्वाच्च त्रिविधं कर्मफलमत्यागिनां भवत्येव न तु संन्यासिनाम्, कर्मफलत्यागसंजातसत्त्वशुद्धिसंभावितात्मज्ञानेन संन्यस्ताकुशलादिसर्वकर्मणां यतीनां क्वचित् किञ्चिदपि सञ्चितस्याऽऽगामिनो वाऽन्यस्य वा पुण्यापुण्यलक्षणस्य कर्मणो ज्ञानाग्निनिर्दग्धस्वरूपस्य फलं न भवति । 'सति कुड्ये चित्रकर्म' इति न्यायेन स्वस्यैव सत्त्वाभावे फलदानासम्भवादकर्मिणां विदुषां विदेहमुक्तिरेवेति सिद्धम् ॥ १२ ॥

ननु विदुषामपि संन्यासिनामकर्मित्वं न सम्भवति, 'शिष्यादीनां तत्त्वोपदेशेन हितोपदेशेन वा पुण्यक्रियासम्भवात्तथाऽऽहारादिषु क्वचिद्दुष्टान्नभक्षणेन वा सञ्चारादिषु प्राणिपीडया वाऽन्यथा वा पापक्रियासम्भवाच्च तत्तत्क्रियाफलमिष्टानिष्टादिलक्षणं स्यादेवेति चेत्, सत्यम्; महान्तो ब्रह्मविदो जीवन्मुक्ताः शिष्येभ्योऽन्येभ्यश्च वा साधुभ्यो ब्रह्मतत्त्वमुपदिशन्ति हितं च तेषां क्वचिदाहारादिषु दुष्टान्नसेवा च सम्भवति भ्रमप्रमादादिना

अनिष्ट यानी पापकर्मका फल नरक अथवा तिर्यग्भाव, इष्ट यानी पुण्यकर्मका फल देवभाव और मिश्र यानी दोनोंका सम्मिलित फल मनुष्यभाव 'पुण्यसे पुण्यलोकको ले जाता है' इत्यादि श्रुतिप्रसिद्ध त्रिविध यानी तीनों प्रकारके कर्मफल अत्यागियोंको—कर्म और उनके फलका त्याग न करनेवाले तामस आदि त्यागियोंको—प्रेत्य—मरनेके अनन्तर—प्राप्त होते ही हैं। वाणीसे कर्मत्याग करनेपर भी क्रियासे कर्मोंका त्याग न होनेके कारण और किये गये कर्मोंका फल अवश्यंभावी होनेके कारण तीन प्रकारका कर्मफल अत्यागियोंको प्राप्त होता ही है, संन्यासियोंको प्राप्त नहीं होता यानी कर्मफलके त्यागसे उत्पन्न हुई अन्तःकरणशुद्धिसे संभावित आत्मज्ञानसे अकुशल आदि सब कर्मोंका त्याग करनेवाले यतियोंको कहीं कुछ भी संचित, आगामी अथवा अन्य पुण्य और अपुण्यरूप कर्मका, जिसका कि स्वरूप ज्ञानरूप अग्निसे निर्दग्ध हो गया है, फल प्राप्त नहीं होता। 'दीवार होनेपर चित्रविलेखन होता है' इस न्यायसे अपना ही अस्तित्व न होनेपर फलप्रदायक नहीं हो सकता, अतः अकर्मी विद्वानोंकी विदेहमुक्ति ही होती है, यह सिद्ध हुआ ॥ १२ ॥

विद्वान् संन्यासी भी अकर्मी नहीं हो सकते, क्योंकि शिष्य आदिको तत्त्वका उपदेश अथवा हितका उपदेश देनेसे पुण्यक्रिया हो सकती है, तथा आहार आदिमें कहींपर दुष्ट अन्नका भक्षण करनेसे अथवा गमन आदिमें प्राणियोंको पीड़ा हो जानेसे अथवा अन्य कारणवश पापक्रिया हो जानेसे तत्-तत् क्रियाका इष्ट, अनिष्ट आदिरूप फल हो ही जायगा, ऐसा यदि कहो तो ठीक है, यद्यपि बड़े बड़े ब्रह्मवित् जीवन्मुक्त शिष्योंके लिए अथवा अन्य साधुओंके लिए ब्रह्मतत्त्वका और हितका उपदेश करते हैं और उनके द्वारा कहींपर आहार आदिमें दुष्ट अन्नका सेवन

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥ १३ ॥

हे महाबाहो, जिसमें आत्मा और अनात्माके स्वरूपका निश्चय किया गया है, ऐसे वेदान्तशास्त्रमें सब कर्मोंकी उत्पत्तिके लिए कहे गये इन पाँच कारणोंको तुम मुझसे सुनो ॥ १३ ॥

क्वचित्प्राणिपीडा च; तथापि निरन्तरब्रह्मनिष्ठासम्पन्नसम्यग्ज्ञानेन निष्कलं निष्क्रियं नित्यकूटस्थासङ्गचिद्रूपमेव परं ब्रह्माऽहमिदमेवेति स्वात्माना साक्षात्कृतवतां सदा तदात्मनैव तिष्ठतामधिष्ठानादिभ्यः क्रियाकर्तृकारकादिभ्यो भिन्नमेवाऽऽत्मानमकर्तारमभोक्तारमाकाशवदक्रियं परिपूर्णमेव सर्वदा पश्यतां परमहंसपरिव्राजकानां स्वतो भिन्नैरेवाधिष्ठानादिभिः क्रियमाणपुण्यपापादिक्रियालेशसंबन्धासंभवात्तन्निमित्तकेष्टानिष्टफलं कल्पयितुं न शक्यते इति बोधयितुमादौ कर्मनिष्पत्तेः कारणान्याह—**पञ्चैतानीति** द्वाभ्याम् ।

सांख्ये सम्यक् ख्यायते निरुच्यते आत्मानात्मनोस्तत्त्वं प्रकाश्यतेऽनेनेति सांख्यं वेदान्तशास्त्रं तस्मिन् सांख्ये, कृतान्ते 'निष्कलं निष्क्रियं' इति, 'उपशान्तोऽयमात्मा' इति, 'शिवं शान्तम्' इति, 'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' इति, 'नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्' इति, 'नित्यः सर्वगतः स्थाणुः' इति, 'प्रकृत्यैव च कर्माणि' इति, 'प्रकृतेः क्रियमाणानि' इति, 'स्वभावस्तु प्रवर्तते' इत्येवं कृतः स्पष्टीकृत आत्मानात्मनोरन्तस्तत्त्वनिश्चयो यत्र तत्कृतान्तम् । यद्वा क्रियत इति कृतं विहितप्रति-

---

और कहीं भ्रम, प्रमाद आदिसे प्राणियोंको पीड़ा भी हो सकती है; तथापि निरन्तर ब्रह्मनिष्ठासे प्राप्त यथार्थज्ञानसे 'निष्कल, निष्क्रिय, नित्यकूटस्थ असङ्ग चिद्रूप ही परब्रह्म और यही मैं हूँ' इस प्रकार अपने आत्मरूपसे साक्षात् करनेवाले, सदा उसी स्वरूपसे स्थित रहनेवाले अधिष्ठान, क्रिया, कर्ता, कारक आदिसे भिन्न ही अकर्ता, अभोक्ता, आकाशके समान अक्रिय परिपूर्ण आत्माको ही सदा देखनेवाले परमहंस परिव्राजकोंका अपनेसे भिन्न अधिष्ठान आदि द्वारा की जा रही पुण्य, पाप आदि क्रियाओंके साथ तनिक भी सम्बन्ध न होनेसे उनसे इष्ट एवं अनिष्टफलकी कल्पना नहीं की जा सकती, ऐसा बोधन करनेके लिए पहले कर्मकी उत्पत्तिमें कारण कहते हैं—**'पञ्चैतानि'** इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

सांख्ये (जिससे भली भाँति आत्मा और अनात्माके तत्त्वका प्रकाश किया जाता है, वह सांख्य है यानी वेदान्तशास्त्र, उसमें), कृतान्ते (निष्कल, निष्क्रिय', 'उपशान्त यह आत्मा', 'शिव शान्त', 'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया', 'नव द्वारवाले पुरमें देही न करता हुआ न कराता हुआ', 'नित्य सर्वगत स्थाणु', 'प्रकृतिसे ही कर्म', 'प्रकृतिके द्वारा किये जा रहे', 'स्वभाव ही प्रवृत्त होता है' इस प्रकार स्पष्टीकृत है आत्मा और अनात्माका अन्त यानी तत्त्वनिश्चय जिसमें वह कृतान्त है, अथवा जो किया जाता है वह कृत है यानी विहित और प्रतिषिद्धरूप कर्म,

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधा च पृथक्चेष्टा दैवं चैवाऽत्र पञ्चमम् ॥ १४ ॥

अधिष्ठान (शरीर), विज्ञानात्मा कर्ता, बाह्य और अवान्तर भेदसे विभक्त इन्द्रियाँ, अनेक (दश) प्रकारके वायुके व्यापार (प्राण आदि और नाग आदि) तथा पाँचवाँ दैव [ये पाँच कर्मकी उत्पत्तिके कारण हैं] ॥ १४ ॥

षिद्धादिलक्षणं कर्म तस्याऽन्तः समाप्तिर्येन 'न तेषां धर्माधर्मौ', 'त्यज धर्ममधर्मं च' इत्यादिशास्त्रेण तत्कृतान्तम् । यद्वा कृतस्य कर्मणो वैदिकस्य नित्यनैमित्तिकादेः 'संन्यस्य श्रवणं कुर्यात्' इत्यन्तः समाप्तिर्यच्छ्रवणनिमित्तं तत्कृतान्तं तस्मिन् कृतान्ते सर्वकर्मसमाप्तिकारणे सांख्ये वेदान्ते सर्वकर्मणां सिद्धये यावन्ति कर्माणि चलनात्मकानि तेषां सर्वेषां कर्मणां निष्पत्तये क्रियामात्रस्य सिद्ध्यै इत्यर्थः । एतानि वक्ष्यमाणानि पञ्च कारणानि प्रोक्तानि क्रियासंभूतिप्रकारविद्भिः ऋषिभिः कथितानि वक्ष्यामि । मे मम वचनान्निबोध अधिष्ठानादिस्वरूपं क्रियानिष्पत्तिप्रकारमात्मनोऽकर्तृत्वं च पण्डितानामपि दुर्विज्ञेयं मयोच्यमानं नितरां बुध्यस्व । क्रियानिष्पत्तिकारणसामग्रीमवबुध्य कर्मणस्तत्कृतत्वनिश्चयेनाऽऽत्मनि कर्तृत्वभ्रमं परित्यजेत्यर्थः ॥ १३ ॥

तानि कानीत्याकाङ्क्षायामाह—**अधिष्ठानमिति** ।

अधिष्ठानं सुखदुःखभोगायतनं करणानामाश्रयो वा शरीरम् । तथाशब्दश्चाऽर्थः । कर्ता च कर्ता भोक्ताहमिति सर्वत्राऽहंमानी साभासाहङ्कारो विज्ञानात्मा पृथग्विधं

उसका अन्त—समाप्ति—होती है जिससे अर्थात् 'उनके धर्म अधर्म नहीं', 'धर्मको और अधर्मको त्याग दो' इत्यादि शास्त्रसे, वह कृतान्त है, अथवा कृत—अनुष्ठित—नित्य, नैमित्तक आदि वैदिक कर्मका 'संन्यास करके श्रवण करे' इस प्रकार जिसके श्रवणसे अन्त यानी समाप्ति होती है, वह कृतान्त है, उसमें) कृतान्त यानी सम्पूर्ण कर्मकी समाप्तिके कारण सांख्यमें—वेदान्तमें—सम्पूर्ण कर्मोंकी सिद्धिके लिए—जितने चलनात्मक कर्म हैं, उन सब कर्मोंकी निष्पत्तिके लिए, क्रियामात्रकी सिद्धिके लिए, यह अर्थ है । इन वक्ष्यमाण पांच कारणोंको, जो क्रियाकी उत्पत्तिके प्रकारको जाननेवाले ऋषियों द्वारा कहे गये हैं, मैं कहूँगा, मेरे वचनसे तुम सुनो—अधिष्ठान आदिके स्वरूपको, क्रियाकी निष्पत्तिके प्रकारको और आत्माके अकर्तृत्वको, जिन्हें पंडित भी बड़ी कठिनाईसे नहीं जान पाते, और जिन्हें मैं कह रहा हूँ, भली भांति जानो । क्रियाकी सिद्धिकी कारणसामग्रीको जानकर 'कर्म उसीसे किये जाते हैं' इस प्रकारके निश्चयसे आत्मामें कर्तृत्वके भ्रमको त्याग दो, यह अर्थ है ॥ १३ ॥

वे कौन हैं ? ऐसी आकांक्षा होनेपर कहते हैं—'**अधिष्ठानम्**' इत्यादिसे ।

अधिष्ठान यानी सुख, दुःखके भोगका आयतन अथवा करणोंका आश्रय शरीर । तथा शब्द 'च' के अर्थमें है । कर्ता यानी मैं कर्ता और भोक्ता हूँ, ऐसा सर्वत्र 'मैं' माननेवाला साभास

बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विधा विभक्तं करणं ज्ञानेन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि मनो बुद्धिश्चेति द्वादशविधं करणं च पृथक् दशधा भिन्ना चोर्ध्वादिगतिभेदेन विविधा नानाप्रकारा चेष्टा वायुचेष्टाविशेषाः प्राणादयो नागादयश्च दश। अत्रैतेषु क्रियानिष्पत्तिकारणत्वेन प्रोक्तेष्वधिष्ठानादिषु चतुर्षु। चकारस्त्वर्थः। एवकारोऽतिरिक्तव्यवच्छेदार्थः। पञ्चमं तु दैवमेव श्रोत्रादीन्द्रियप्रवर्तकं दिग्वातार्कादिलक्षणं सर्वकर्मसिद्धिकारणं दैवमेव नाऽन्यदस्तीत्यर्थः। यद्यपि 'पञ्चैतानि'इति पञ्चत्वसंख्ययैव कारणान्तराभावः सिध्यति, तथापि पुनरेवकारः पुरुषस्य 'मयेदं क्रियते' इति दुष्टेऽप्यदुष्टेऽपि च कर्मणि कर्तृत्वभ्रमापनोदनार्थः। नन्वदृष्टेश्वरादीनामपि क्रियासिद्धिकारणत्वसंभवात् पञ्चैतानि' इति पञ्चसंख्यावधारणाभ्यामतिरेकव्यवच्छेदोऽनुपपन्न एवेति चेत्, सत्यम्; 'बलाद्दैवेन नीयते' इति, एष एव साधु कर्म कारयति' इति श्रवणादस्त्येवाऽदृष्टेश्वरादेरपि कारणत्वम्, तथापि 'यो दिक्षु तिष्ठन् दिग्भ्योऽन्तरः' इतीश्वरस्य दिगादीनामन्तर्यामित्वश्रवणात्तदन्तस्थतया तेष्वेव दिगाद्यधिदैवतेष्वन्तर्भावः कर्त्राश्रयत्वाददृष्टस्य कर्तर्यन्तर्भावस्ततो न काचिदनुपपत्तिरतोऽधिष्ठानादीनामेव पञ्चानां सर्वकर्मनिष्पत्तिकारणत्वमिति सिद्धम्॥ १४॥

अहङ्काररूप विज्ञानात्मा, पृथक्विध यानी बाह्य और आन्तर भेदसे दो प्रकारसे विभक्त करण—ज्ञानेन्द्रियां, कर्मेन्द्रियां, मन और बुद्धि, ये बारह प्रकारके करण—पृथक्—दश प्रकारसे विभक्त ऊर्ध्व आदि गतिभेदसे विविध—यानी नाना प्रकारकी चेष्टा यानी वायुकी चेष्टाविशेष प्राण आदि और नाग आदि दश। अत्र यानी इन क्रियाकी निष्पत्तिके कारणरूपसे कहे गये अधिष्ठान आदि चारोंमें। चकारका अर्थ 'तु' है। 'एव' शब्द अतिरिक्तके व्यवच्छेदके लिए है। पाँचवां तो दैव ही—श्रोत्र आदि इन्द्रियोंके प्रवर्तक, दिशा, वायु, सूर्य आदि रूप सम्पूर्ण कर्मोंकी सिद्धिमें कारण दैव ही है, अन्य नहीं, यह अर्थ है। यद्यपि 'पञ्चैतानि' इस पञ्चत्वसंख्यासे ही दूसरे कारणका अभाव सिद्ध होता है, तथापि पुनः पठित एवकार 'मेरे द्वारा यह किया जाता है' इस प्रकार दुष्ट कर्ममें और अदुष्ट कर्ममें भी पुरुषके कर्तृत्वभ्रमको दूर करनेके लिए है। अदृष्ट, ईश्वर आदि भी क्रियाकी सिद्धिमें कारण हो सकते हैं, फिर 'पञ्चैतानि', यों पांच संख्या और अवधारणसे अधिकका व्यवच्छेद नहीं हो सकता ? ऐसा यदि कहो, तो यह कहना ठीक है कि 'बलपूर्वक दैव ले जाता है', 'यही साधु कर्म कराता है' इत्यादि श्रुतिसे अदृष्ट और ईश्वर आदिमें कारणत्व है ही, तथापि 'जो दिशाओंमें स्थित होकर दिशाओंके भीतर' इत्यादि श्रुतिसे ईश्वर दिशा आदिका अन्तर्यामी है, ऐसा जाननेमें आता है, अतः उनके भीतर स्थित होनेके कारण उन दिशा आदिके अधिदेवताओंमें ही उनका अन्तर्भाव है, कर्ताके आश्रित होनेके कारण अदृष्टका कर्तामें अन्तर्भाव है, इसलिए कोई अनुपपत्ति नहीं है, अतः अधिष्ठान आदि पांच ही सम्पूर्ण कर्मोंकी निष्पत्तिके कारण हैं, यह सिद्ध हुआ॥ १४॥

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥ १५ ॥

शरीर, वाणी और मनसे जिस कर्मका पुरुष आरम्भ करता है, वह चाहे विहित हो या प्रतिषिद्ध हो, उसके उक्त पाँच ही हेतु हैं ॥ १५ ॥

उक्तमेवाऽर्थं विस्पष्टयति—**शरीरेति** ।

नरो बाह्यदृष्ट्या कर्मकर्ता पुरुषः शरीरवाङ्मनोभिः 'तत्कर्मणा करोति'इति श्रवणादत्र शरीरपदेन वाग्व्यतिरिक्तानीन्द्रियाणि गृह्यन्ते । शरीरेणेन्द्रियैर्वाचा मनसा च बुद्धिपूर्वकं न्याय्यं शास्त्रीयं वा विपरीतं प्रतिषिद्धं वा यत्कर्म प्रारभते करोति तस्य करणत्रयनिर्वर्त्यस्य कर्मणः विहितस्य निषिद्धस्य वाऽन्यस्य वा सर्वस्याऽप्येते अधिष्ठानादयः पञ्च हेतवः कारणानि भवन्ति । ननु सर्वस्याऽपि कर्मणः करणत्रयसाध्यत्वे सिद्धे सत्यधिष्ठानादीनां कारणत्वोक्तिर्व्यर्थैवेति चेत्, सत्यम्; विहितं प्रतिषिद्धं च यत्क्रियते पुरुषेण तत्सर्वं करणत्रयेणैव सिध्यति, तथापि 'यद्धि मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति' इति न्यायेन बुद्धिपूर्वकस्यैव कर्मणः करणत्रयसाध्यत्वं न त्वबुद्धिपूर्वकस्य क्षुतजृम्भणादेः, तत्राप्युच्छ्वासनिःश्वासोन्मेषादेः स्वाभाविकक्रियात्वेन करणत्रयसाध्यत्वासंभवात् कर्त्रैकसाध्यायाः फलानुभूतिक्रियायास्तत्साध्यत्वायोगाच्च करणत्रयस्य चेष्टामात्रकारणत्वं न संभवति । तत एवोच्यते-

---

उक्त अर्थका ही विशेषरूपसे स्पष्टीकरण करते हैं—'**शरीर०**' इत्यादिसे ।

नर यानी बाह्यदृष्टिसे कर्मका कर्ता पुरुष, 'शरीरवाङ्मनोभिः' यहाँपर 'उसे कर्मसे यानी इन्द्रियोंसे करता है' इत्यादि श्रवणसे शरीरपदसे वागिन्द्रियसे भिन्न इन्द्रियोंका ग्रहण किया जाता है । शरीरसे यानी इन्द्रियोंसे, वाणीसे और मनसे शास्त्रीय या विपरीत यानी प्रतिषिद्ध जिन कर्मोंको बुद्धिपूर्वक करता है, तीन करणोंसे होनेवाले विहित, निषिद्ध या अन्य प्रकारके उन सभी कर्मोंके ये अधिष्ठान आदि पांच हेतु—कारण—हैं । यदि कहो कि जब सब कर्म तीन करणोंसे उत्पन्न होते हैं, तब अधिष्ठान आदिमें कारणत्वका कहना व्यर्थ ही है, तो यह कहना यद्यपि ठीक ही है कि विहित और प्रतिषिद्ध, जो पुरुष द्वारा किया जाता है, वह सब तीन करणोंसे ही सिद्ध होता है, तथापि ''जिसका मनसे ध्यान करता है, उसको वाणीसे बोलता है, उसे कर्मसे यानी इन्द्रियसे करता है' इस न्यायसे बुद्धिपूर्वक कर्म ही तीन करणोंसे उत्पन्न होते हैं, अबुद्धिपूर्वक छींक, जँभाई आदि नहीं । उनमें भी उच्छ्वास, निःश्वास, उन्मेष आदि, स्वाभाविक क्रिया होनेसे, तीन करणोंसे साध्य नहीं हो सकते और केवल एकमात्र कर्तासे होनेवाली फलानुभूतिरूप क्रिया भी उनसे साध्य नहीं हो सकती, इसलिए तीन करण चेष्टामात्रके प्रति कारण नहीं हो सकते । इसीलिए कहा जाता है—'शरीर, वाणी और मनसे नर

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥ १६ ॥

उक्त रीतिसे अधिष्ठान आदि पाँच ही सम्पूर्ण कर्मोंके उत्पादक हैं, ऐसा निष्कर्ष निकलने पर जो पुरुष अकर्ता शुद्ध आत्माको कर्ता मानता है, वह आत्मतत्त्वज्ञानसे शून्य होनेके कारण दुर्मति है, अतः वह आत्माको नहीं जानता ॥१६॥

'शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः', 'तस्याऽप्येते पञ्च हेतवः' इति। तेन शरीरादीनां पृथक्करणत्वाभावात्तत्कृतकर्मणोऽप्येतान्येव कारणानीति सूचितं भवति। ततः पुरुषादृष्टानुरूपेण सर्वकर्मनिष्पादकत्वं पुण्यापुण्यकर्मफलानुभावकत्वमनुभवितृत्वं चाऽधिष्ठानादीनामेवेति सिद्धम् ॥ १५ ॥

प्रकृत्यैव च कर्माणीतिन्यायेन अधिष्ठानादिपञ्चकस्यैव प्राकृतस्य क्रियामात्रकारणत्वे सिद्धे फलितमाह—**तत्रैवमिति ।**

एवमधिष्ठानादीनामेव पञ्चानां सर्वकर्मनिर्वर्तकत्वनिष्कृष्टौ सत्यां यः अकृतात्मा आत्मानात्मतत्त्वविचारशून्यः पुरुषस्तत्र प्राकृतैरेवाऽधिष्ठानादिभिः कृते विहिते निषिद्धे वा कर्मण्यहमेतस्य कर्मणः कर्तेत्यकर्तारमेवाऽऽत्मानं केवलं त्वेकमेकरसं निष्क्रियं निर्विशेषं कर्तारं पश्यति। मया स्नातं भुक्तमागतं गतमिति दुष्टमदुष्टं कर्म कृतमिति वाऽकृतश्रवणादिः सन् य आत्मानं तत्तत्कर्मणां कर्तारमेव पश्यति मन्यत इत्यर्थः। स एवं निष्क्रिय एवाऽऽत्मन्यकर्तरि स्वे कूटस्थासङ्गचिद्रूपे कर्तृत्वभोक्तृत्वाद्यन्यधर्मारोप-

---

जिस कर्मको करता है', 'उसके भी ये पाँच हेतु हैं'। इससे शरीर आदिके पृथक् करण न होनेसे उनके द्वारा किये गये कर्मके भी ये ही कारण हैं, ऐसा सूचित होता है। इसलिए पुरुषके अदृष्टके अनुसार सम्पूर्णकर्मनिष्पादकत्व, पुण्य-अपुण्यरूप कर्मके फलका अनुभावकत्व और अनुभवितृत्व अधिष्ठान आदिका ही है, यह सिद्ध हुआ ॥ १५ ॥

'प्रकृत्यैव च कर्माणि' इस न्यायसे प्राकृत अधिष्ठान आदि पाँच क्रियामात्रके कारण हैं, ऐसा सिद्ध होनेपर फलित कहते हैं—'तत्रैवम्' इत्यादिसे।

इस प्रकार अधिष्ठान आदि पाँच ही सम्पूर्ण कर्मोंके आरम्भक हैं; ऐसा निष्कर्ष होनेपर जो अकृतात्मा यानी आत्मा और अनात्माके तत्त्वके विचारसे शून्य पुरुष उन प्राकृत अधिष्ठान आदि द्वारा किये गये विहित या प्रतिषिद्ध कर्मोंमें 'मैं इस कर्मका कर्ता हूँ', इस प्रकार अकर्ता, केवल, एकरस, निष्क्रिय तथा निर्विशेष आत्माको कर्ता देखता है। मैंने स्नान किया, भोजन किया, मैं आया, गया, यह दुष्ट और अदुष्ट कर्म किया, यों श्रवण आदिका अनुष्ठान न कर जो आत्माको उन उन कर्मोंका कर्ता ही देखता है, मानता है, यह अर्थ है। वह इस प्रकार निष्क्रिय अपने अकर्ता कूटस्थ असङ्ग चिद्रूप आत्मामें कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि अन्य धर्मोंका

यिता पुरुषः स्वयमकृतबुद्धिर्नित्यनिरन्तरश्रवणमननादिसंस्कारैः सुसंस्कृतो निष्क्रियो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावोऽयमात्माऽहंपदार्थ इत्येवमाकारेण सम्यग्विषयीकृतात्मतत्त्वा बुद्धिर्यस्य स कृतबुद्धिः प्रबुद्धात्मतत्त्वस्तद्विपरीतस्त्वकृतबुद्धिश्च । तथा कृतश्रवणोऽपि सम्यङ् नापरोक्षीकृतात्मस्वरूपस्तस्य भावोऽकृतबुद्धित्वम्, तस्मादेव दुर्मतिरविद्याकार्यत्वेन दुष्टे देहेन्द्रियादावेवाऽहमिति मतिर्यस्य स दुर्मतिः । यद्वा रजस्तमोवासनात्मिकयाऽविद्यया दूषिता मतिर्यस्य स दुर्मतिः । पशुवद्देहात्मबुद्धिरेव भवति यतोऽनात्मानमेवाऽधिष्ठानादिकं सक्रियमात्मानं पश्यत्यहं कर्ता भोक्ता गच्छाम्यागच्छामि कुर्वे भुञ्ज इति । यथाऽभ्रेषु धावत्स्वधावन्तं चन्द्रं धावन्तं पश्यति यथा नावि गच्छन्त्यामगच्छन्तं तरुं गच्छन्तं पश्यति मूढस्तरुमक्रियं बुद्ध्वाऽपि सक्रियमेव पश्यति यथा, तथाऽयमात्मानमकर्तारमेव श्रुत्वा मत्वा च पुनरपि कर्तारं भोक्तारमेव पश्यत्यतः स आत्मतत्त्वम् 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्' इति, 'नित्यं शुद्धं बुद्धं मुक्तं सत्यं सूक्ष्मं परिपूर्णमद्वयं सदानन्दचिन्मात्रम्' इति, 'नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः' इति श्रुतिस्मृत्याचार्यबोधितं न पश्यति । न विजानातीत्यर्थः ।

नन्वयं पुरुषः आत्मानमकर्तारमेव कर्तारं पश्यतीति यदुक्तं तदनुपपन्न-

---

आरोप करनेवाला पुरुष अकृतबुद्धि नित्य निरन्तर श्रवण, मनन आदिके संस्कारोंसे भली भाँति संस्कृत है यानी निष्क्रिय, नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव यह आत्मा अहंपदका अर्थ है, इस प्रकारके आकारसे ठीक ठीक आत्मतत्त्वको अवलम्बन करनेवाली बुद्धि जिसकी है, वह कृतबुद्धि है यानी भली भाँति आत्मतत्त्वको जाननेवाला, उससे विपरीत अकृतबुद्धि है। तथा श्रवण करने पर भी जिसने आत्मस्वरूपका यथार्थ प्रत्यक्ष नहीं किया है, वह अकृतबुद्धि है। उसका भाव अकृतबुद्धित्व है, इसीसे दुर्मति (अविद्याके कार्य होनेसे दुष्ट देह, इन्द्रिय आदिमें ही जिसकी अहंबुद्धि है, वह दुर्मति अथवा रजोगुण एवं तमोगुणकी वासनास्वरूप अविद्यासे दूषित जिसकी मति है वह दुर्मति ।) यानी पशुके समान देहमें ही आत्मबुद्धिवाला ही होता है, क्योंकि मैं कर्ता, भोक्ता, जाता हूँ, आता हूँ, रहता हूँ, भोगता हूँ, इस प्रकार सक्रिय अधिष्ठान आदि अनात्माको ही आत्मा देखता है, जैसे बादलोंके दौड़नेपर न दौड़ते हुए चन्द्रमाको दौड़ता हुआ देखता है, जैसे नावके चलनेपर नहीं चलनेवाले वृक्षको चलता हुआ देखता है, जैसे मूढ़ वृक्षको अक्रिय जानकर भी सक्रिय ही देखता है, वैसे ही अपनी आत्माका भले ही श्रवण करे फिर भी उसे कर्ता एवं भोक्ता ही देखता है, इसलिए वह आत्म-तत्त्वको 'निष्कल, निष्क्रिय, शान्त, 'नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य, सूक्ष्म, परिपूर्ण, अद्वैत, सदानन्द, चिन्मात्र', 'नित्य, सर्वगत, स्थाणु, अचल, यह सनातन' इस प्रकार श्रुति, स्मृति और आचार्यके द्वारा बोधित आत्मतत्त्वको नहीं देखता । नहीं जानता, यह अर्थ है ।

यदि कहो कि यह पुरुष अकर्ता आत्माको ही कर्ता देखता है, ऐसा जो कहा है, वह युक्त

मेव, सर्वप्रमाणविरोधात् 'अहं करोमि' इत्यहंभावस्य कर्तृधर्मस्य प्रत्यक्षत्वात्। न त्वयं देहधर्मः, मृतदेहस्याऽहंभावाभावाद्गमनादिक्रियाभावाच्च देहचेष्टा सर्वाप्यात्मकर्तृका सत्यात्मन्युपलभ्यमानत्वात् सति वायौ वृक्षचेष्टावदिति सर्वस्याऽपि कर्मण आत्मकर्तृकत्वमेवाऽनुमीयते। 'स एव मायापरिमोहितात्मा शरीरमास्थाय करोति सर्वम्' इति श्रूयते च। ततः कर्तृत्वमात्मधर्म एवेति चेत् सत्यम्; कर्तृत्वमात्मनः श्रूयते मृतदेहस्य च तन्न दृश्यते; तथापि श्रुतियुक्तिभिर्विचार्यमाणे निरवयवस्य व्योमवदविक्रियस्याऽऽत्मनश्चलनक्रियाऽसंभवात्कर्तृत्वं न सिध्यति। सुषुप्तावात्मनः कर्तृत्वाभावस्य सर्वप्रत्यक्षत्वात्। ननु सुषुप्तावात्मोपलम्भाभावात्तदसत्त्वे तत्कर्तृत्वाभावो युक्त एवेति चेत्, न; सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषमिति सुषुप्तावात्मसद्भावस्य प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्तदसत्त्वासिद्धेः 'स्वप्नमहमद्राक्षम्' इति स्वस्य स्वप्नदर्शनवत्सुषुप्तिसुखस्याऽनुभूयमानत्वात्स्वप्न इव सुषुप्तावात्माऽस्त्येवाऽहंपदार्थस्तदसत्त्वे सुषुप्तितत्सुखज्ञानाभावप्रसङ्गात्। सुषुप्तितत्सुखज्ञातुः स्वस्य सद्भावोऽभ्युपगन्तव्यस्तत्र सत्यात्मसद्भावेऽप्यात्मनः कर्तृत्वं न दृश्यते। ननु सुषुप्तावप्यात्मनः 'सुखमस्वाप्सम्' इति स्वापक्रिया-

---

नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण प्रमाणोंके साथ विरोध है और 'मैं करता हूँ', यों कर्ताके धर्मभूत अहंभावका प्रत्यक्ष है। यह देहका धर्म है, ऐसा भी नहीं कह सकते, कारण कि मृत देहमें अहंभावका और गमन आदि क्रियाका अभाव है, और 'देहकी सम्पूर्ण क्रियाएँ आत्मा द्वारा ही की जाती हैं, आत्माके होनेपर ही उनका उपलम्भ होनेसे, वायुके होनेपर वृक्षचेष्टाके समान' यों सब कर्ममें आत्मकर्तृकत्वका ही अनुमान होता है और 'वही मायासे परिमोहित आत्मा शरीरमें स्थित होकर सब करता है' यों सुननेमें आता है। इसलिए कर्तृत्व धर्म आत्माका ही धर्म है, तो यह कहना यद्यपि ठीक है कि आत्मामें कर्तृत्व सुननेमें आता है और मृत देहमें वह देखनेमें नहीं आता, तथापि श्रुति और तदनुकूल युक्तिसे विचार करनेपर आकाशके समान अविक्रिय निरवयव आत्मामें चलनात्मक क्रियाका संभव न होनेसे कर्तृत्व सिद्ध नहीं हो सकता। कारण कि सुषुप्तिमें आत्मामें कर्तृत्व नहीं है, यह सबको प्रत्यक्ष है। यदि कहो कि सुषुप्तिमें आत्माका उपलम्भ न होनेके कारण आत्मा ही नहीं है, ऐसी अवस्थामें उस समय उसके कर्तृत्वका अभाव युक्त ही है, तो ऐसा कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'सुखसे मैं सोया, कुछ भी मैंने नहीं जाना' ऐसा सुषुप्तिमें आत्माके अस्तित्वका प्रत्यभिज्ञान होनेसे आत्माका अभाव सिद्ध नहीं होता, 'मैंने स्वप्न देखा' यों स्वप्रदर्शनके समान सुषुप्तिके सुखका अपनेको अनुभव होनेसे स्वप्नके समान सुषुप्तिमें अहंपदका अर्थ आत्मा विद्यमान ही है। यदि वह न हो, तो सुषुप्ति और उसके सुखके ज्ञानके अभावका प्रसंग आवेगा, इसलिए सुषुप्ति और सौषुप्त सुखके ज्ञाता आत्माका सद्भाव मानना चाहिए। वहां आत्माका सद्भाव होनेपर भी आत्माका कर्तृत्व देखनेमें नहीं आता। यदि कहो कि सुषुप्तिमें आत्माका 'सुखसे सोया' इस प्रकार सुषुप्ति

कर्तृत्वमस्त्येवेति चेत्, न; निरवयवस्य क्रियानुपपत्तौ 'तिष्ठति, आस्ते' इत्यत्र यथा तथा 'स्वपिति'इति व्यपदेशमात्रमेव। नाऽत्र पुरुषव्यापारः संभवति, करणाभावान्निरवयवत्वाच्चाऽऽत्मनः। किञ्च, 'स्वमपीतो भवति' इति श्रवणात्तत्राऽऽत्मा स्वस्य निरुपाधिकस्वरूपप्राप्तिं प्रकाशयत्यस्वाप्समिति, न तु बुद्ध्यादिवत् स्वपिति, 'असुप्तः सुप्तानभिचाकशीति', 'एष सुप्तेषु जागर्ति' इति च श्रुतेः। यत एवमतः कर्तृत्वमन्यधर्म एव न त्वात्मधर्मः। 'निष्कलं निष्क्रियम्' इति, 'नाऽयं हन्ति न हन्यते' इति, 'अनन्तश्चाऽऽत्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता' इति, 'वृक्ष इव स्तब्धः' इति, 'नित्यः सर्वगतः स्थाणुः' इत्यादिश्रुतिस्मृतिशतमात्मनः कर्तृत्वाभावमेव बोधयति। 'न किञ्चिदात्मा चेष्टते, निरवयवत्वात्, परिपूर्णत्वात्' इत्यादियुक्तयश्चाऽक्रियत्वमेव साधयन्ति। तर्हि कस्य धर्मः कर्तृत्वमिति चेद्, उच्यते पुनरपि सतां मुमुक्षूणामात्मनि कर्तृत्वभ्रमविच्छित्त्यै, जाग्रत्स्वप्नयोर्देहे चाऽन्यत्राऽहंममेत्यभिमानवतो विज्ञानात्मन एव साभासस्य कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च जाग्रत्स्वप्नयोः खल्वहंममेत्यभिमानी विज्ञानात्मा सर्वाणि कर्माणि करोति, उभयत्राऽपि तस्यैव कर्तृत्वं विद्वत्प्रत्यक्षम्, सुषुप्तौ तदभावात् कर्तृत्वधर्मप्रतीत्यभावस्ततोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां विज्ञानात्मन एव कर्तृत्वम्, यस्मादिदमहं करोमीत्यभिमानेन सामान्यं विशेषं च कर्म करोति।

क्रियाके प्रति कर्तृत्व है ही, तो वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि निरवयवमें क्रिया हो नहीं सकती, अतः 'तिष्ठति, आस्ते' इत्यादिकी तरह 'पुरुष सोता है' यह भी केवल वाङ्मात्र ही है। सुषुप्तिमें पुरुषका व्यापार नहीं हो सकता, क्योंकि [उस समय] करण नहीं हैं और आत्मा निरवयव है। किञ्च, 'स्वमपीतो भवति' (सुषुप्तिमें जीव आत्माको प्राप्त हो जाता है) इस श्रुतिसे सुषुप्तिमें आत्मा 'अस्वाप्सम्' इससे अपने निरुपाधिक स्वरूपकी प्राप्तिको प्रकाशित करता है, न कि बुद्धि आदिके समान सोता है, क्योंकि 'न सोया हुआ सोये हुओंको देखता है' और 'यह सोये हुओंमें जागता है' इत्यादि श्रुतियाँ हैं। जिस कारणसे ऐसा है, इसलिए कर्तृत्व दूसरेका ही धर्म है, आत्माका धर्म नहीं है। 'निष्कल निष्क्रिय', 'न यह हनन करता है और न इसका हनन किया जाता है', 'आत्मा अनन्त विश्वरूप अकर्ता ही है', 'वृक्षके समान निश्चल', 'नित्य, सर्वगत स्थाणु' इत्यादि सैकड़ों श्रुतियाँ और स्मृतियाँ आत्मा कर्ता नहीं है, ऐसा ही बोधन करती हैं। 'आत्मा कुछ चेष्टा नहीं करता, निरवयव होनेसे, परिपूर्ण होनेसे' इत्यादि युक्तियां भी आत्मामें अक्रियत्व ही सिद्ध करती हैं। तब कर्तृत्व धर्म किसका है ? ऐसा यदि प्रश्न करो, तो उसपर फिर भी कहते हैं, जिससे कि सत् मुमुक्षुओंकी आत्मामें कर्तृत्व-भ्रमकी विच्छित्ति हो, जाग्रत्-स्वप्न अवस्थामें देह और अन्यमें 'मैं मेरा', यों अभिमान करनेवाला साभास विज्ञानात्मा ही कर्ता और भोक्ता है, क्योंकि जाग्रत् और स्वप्नमें मैं, मेरा, इस प्रकार अभिमान करनेवाला विज्ञानात्मा ही सम्पूर्ण कर्मका कर्ता है, दोनों ही अवस्थाओंमें वही कर्ता है, ऐसा विद्वानोंको प्रत्यक्ष है। सुषुप्तिमें विज्ञानात्माका अभाव होनेसे कर्तृत्वधर्मकी प्रतीति नहीं होती, इसलिए अन्वयव्यतिरेकसे विज्ञानात्मामें ही कर्तृत्व है, क्योंकि वही 'यह मैं करता हूँ, इस

तथा च श्रुतिः—'विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च' इति। 'मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः' इति सर्वप्रमाणैर्विज्ञानात्मन एव कर्तृत्वावधारणान्न त्वात्मा कर्ता भोक्तेति सिद्धम्। 'शरीरमास्थाय करोति सर्वम्' इत्यत्र मायापरिमोहितात्मेति लिङ्गात् 'मायया ह्यन्यदिव स वा एष आत्मा' इति, 'ध्यायतीव लेलायतीव' इति च श्रवणाद् गजारूढे राजनि राजाऽयं गच्छतीति गमनक्रियाकर्तृत्वं यथाऽऽरोपितं तथा माययाऽविद्यया मूढै रात्मन्यारोपितं कर्म करोतीवेत्यनुवदति 'करोति सर्वम्' इति श्रुतिर्न तु सत्यमिति ब्रूते। तत्सत्यत्वे संसारित्वादात्मनो मोक्षाभावप्रसङ्गात् स्ववचनव्याघातप्रसङ्गाच्च। यतः स्वयमेव मोक्षं वक्ति 'विमुक्तश्च विमुच्यते' इति। तस्मादात्मनो न कर्तृत्वमिति व्यवस्थितम्। 'ननु तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु' इति तुशब्दयोगात् केवलशब्दस्वारस्याच्चाऽऽत्मनः केवलस्य तु कर्तृत्वाभावेऽप्युपाधिविशिष्टस्य कर्तृत्वमस्त्येवेति चेद्, भवानत्र प्रष्टव्यः—आत्मन उपाधिवैशिष्ट्यसिद्धेः संबन्धः संयोग उच्यते उत समवायो वा? आद्ये संयोगः सर्वत उच्यते किमेकदेशेन वा? न द्वितीयः, निरवयवस्य देशकल्पनायोगात्। नाऽऽद्यः, परिच्छिन्नस्योपाधेः पूर्णेन सह सर्वतः संयोगायोगान्निरवयवसावयवयोः संयोगासंभवाच्च। सत्यपि सर्वतः संयोग-

---

प्रकारके अभिमानसे सामान्य और विशेष कर्म करता है। श्रुति भी है—'विज्ञान यज्ञ करता है और कर्म भी करता है', । 'मन्ता, बोद्धा, कर्ता विज्ञानात्मा पुरुष' इत्यादि सम्पूर्ण प्रमाणोंसे विज्ञानात्मा ही कर्ता है, ऐसा निश्चय होनेसे, आत्मा कर्ता और भोक्ता नहीं है, यह सिद्ध हुआ। 'शरीरमें 'मैं मनुष्य हूँ' इत्यादि अभिमान कर सब करता है' इस वाक्यमें 'मायासे परिमोहित स्वरूपवाला' ऐसा लिङ्ग होनेसे तथा 'मायासे अन्यके समान वह यह आत्मा', 'ध्यान करता हुआ-सा, चलता हुआ-सा' इत्यादि श्रुति होनेसे जैसे गजपर चढ़े हुए राजामें, यह राजा जाता है, यों गमनक्रियाका कर्तृत्व आरोपित है, वैसे ही मायासे—अविद्यावश—मूढ़ों द्वारा आत्मामें आरोपित कर्मको करता-सा है' ऐसा 'सबको करता है', यह श्रुति अनुवाद करती है, वस्तुतः करता है, ऐसा नहीं कहती। उसके सत्य होनेपर संसारी होनेसे आत्माका मोक्ष नहीं हो सकेगा, और अपने वचनका व्याघात हो जायगा, क्योंकि श्रुति स्वयं ही आत्माका मोक्ष कहती है—'विमुक्त ही विमुक्त हो जाता है'। इसलिए आत्मामें कर्तृत्व नहीं है, ऐसा सिद्ध हुआ। 'तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः' (ऐसा होनेपर केवल आत्माको जो कर्ता देखता है) इसमें 'तु' शब्दके योगसे और केवलशब्दके स्वारस्यसे यद्यपि केवल आत्मामें कर्तृत्व नहीं है, तथापि उपाधिविशिष्ट आत्मामें तो कर्तृत्व है ही, ऐसा यदि कहो, तो इस विषयमें प्रश्न होगा कि आत्माके उपाधिवैशिष्ट्यकी सिद्धिके लिए क्या संयोग सम्बन्ध कहा जाता है या समवाय? पहले पक्षमें सार्वदेशिक संयोग कहते हैं, या ऐकदेशिक? दूसरा पक्ष तो युक्त है नहीं, क्योंकि निरवयव वस्तुके देश या कालकी कल्पना युक्त नहीं है। पहला पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि एक तो परिच्छिन्न उपाधिका पूर्णके साथ सार्वदेशिक संयोग

संबन्धे त्वात्मनोऽपि जडत्वं जगदान्ध्यं च स्यात् । न द्वितीयः, समवायसमवायिनोर्द्वयोः संबन्धसिद्धौ समवायान्तरापेक्षायामनवस्थाप्रसङ्गात्तयोरयुतसिद्धत्वाभावाच्च न समवायः सिध्यति । 'कर्मानुगान्यनुक्रमेण देही' इत्यात्मनो देहित्वश्रवणादुभयोर्देहदेहिनोरवयवावयविभावसंभवादस्त्येवाऽयुतसिद्धत्वमिति चेत्, न; 'यत्राऽवयवी तत्राऽवयवः' इतिवत् 'यत्राऽऽत्मा तत्र देहः' इति व्याप्त्यभावादयुतसिद्धत्वासिद्धेः । तर्हि देहीति कथमिति चेद्, अविद्यादशायामध्याससंबन्धेनाऽऽत्मनो देहित्वसंभवाद्देहीत्युक्तिराध्यासिकी न तु वास्तवी । संयोगसमवाययोरन्यतरसंबन्धाङ्गीकारेऽपि 'विशेषणनाशाद्विशिष्टस्याऽपि नाशः' इति न्यायेनोपाधिनाशादात्मनोऽपि नाशप्रसङ्गादस्य नित्यत्वप्रतिपादकश्रुतिविरोधप्रसङ्गाच्च । संसारित्वमोक्षरहितत्वाद्यनर्थप्रसङ्गाच्च । 'न तदश्नाति किञ्चन', 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इति श्रवणादसङ्गस्य निरवयवस्याऽऽत्मनो निर्विशेषस्योपाधिना तद्धर्मेण तत्कर्मभिर्वा सम्बन्धः कल्पयितुं केनाऽपि न शक्यते । तस्मादात्मनः क्रिया वा क्रियाश्रयत्वं वा क्रियाविषयत्वं वा क्वचित्कदाचित्किञ्चिदपि न सम्भवति । तत एवोच्यते भगवताऽविद्यां तत्कार्यं च मोचयित्वा भक्तान् रक्षितु-

---

हो नहीं सकता और दूसरा निरवयव एवं सावयवका संयोग भी दुर्घट है। यदि कथञ्चित् आत्माका सार्वत्रिक संयोग सम्बन्ध मान भी लिया जाय, तो आत्माका जड़त्व और जगत्का आंध्य प्रसक्त हो जायगा। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि समवाय एवं समवायी दोनोंके सम्बन्धकी सिद्धिमें दूसरे समवायकी अपेक्षा होनेपर अनवस्था हो जायगी और दोनोंका अयुतसिद्धत्व न होनेके कारण समवाय ही सिद्ध नहीं है। 'कर्मानुगान्यनुक्रमेण देही' (देही कर्मोंके अनुसार स्त्री, पुरुष, नपुंसक आदि शरीरोंको परिपाकके अनुकूल देवादियोंमें प्राप्त होता है) इत्यादि श्रुतिसे आत्मा देही है, ऐसा ज्ञात होता है, अतः दोनों देह और देहीका अवयवावयवीभाव होनेसे अयुतसिद्धत्व है ही, ऐसा यदि कहो, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि जहां अवयवी रहता है, वहां अवयव रहता है, इस नियमके समान जहां आत्मा है, वहां देह है, इस प्रकारकी व्याप्तिके न होनेसे अयुतसिद्धिकी सिद्धि नहीं है। तब देही, ऐसा क्यों कहा, ऐसा यदि कहो, तो वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि अविद्यादशामें अध्याससम्बन्धसे आत्मा देही (देहवान्) हो सकता है, अतः 'देही' कथन आध्यासिक है, वास्तविक नहीं है। संयोग और समवाय दोनोंमें से किसी भी एक सम्बन्धका अङ्गीकार करनेपर 'विशेषणके नाशसे विशिष्टका नाश होता है' इस न्यायसे उपाधिके नाशसे आत्माका भी नाश मानना होगा, ऐसी अवस्थामें आत्मामें नित्यत्वका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतिसे विरोध हो जायगा एवं संसारित्व और मोक्षरहितत्व आदि अनर्थोंका प्रसङ्ग हो जायगा। 'वह कुछ नहीं खाता', 'असङ्ग ही यह पुरुष है' इत्यादि श्रुतिसे असङ्ग, निरवयव एवं निर्विशेष आत्माका उपाधि, उपाधिके धर्म, अथवा उसके कर्मोंके साथ सम्बन्ध है, ऐसी कोई भी कल्पना नहीं कर सकता। इसलिए आत्मामें क्रिया, क्रियाश्रयत्व अथवा क्रियाविषयत्व कहीं, कभी, कुछ भी नहीं है। इसलिए अविद्या और उसके कार्यको छुड़ाकर भक्तोंकी रक्षा करनेकी इच्छा कर रहे सर्वज्ञ श्रीभगवान्ने 'आत्मानं

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥ १७ ॥

जिस ब्रह्मवित्का अन्तःकरण अहंभावसे रहित है और जिसकी बुद्धि धर्माधर्मसंस्कारसे रहित है, वह इन लोकस्थ प्राणियोंका हनन करके भी हनन नहीं करता है और उसके फल पुण्यपापसे संबद्ध नहीं होता ॥१७॥

मिच्छता सर्वज्ञेन 'आत्मानं केवलं तु' इति । तुशब्द आत्मन उपाधिभिन्नत्वदृढीकरणार्थः । सावयवं सक्रियमुपाधिं कर्तारं भोक्तारं च पश्यतु, न तु केवलं निष्कलं निष्क्रियमात्मानं प्रमादेनाऽपि कर्तारं पश्येत्, निरवयवस्याऽसङ्गस्याऽऽत्मनः क्रियाश्रयत्वादेरसम्भवात् । य एवं लक्षणमात्मतत्त्वं सद्गुरोर्मुहुः श्रुत्वा मत्वा चाऽऽत्मानं पुण्यपापक्रियाकर्तारं भोक्तारं वा पश्यति स एव दुर्मतिरविवेकी न त्वजाविपाल इत्यर्थः ॥१६॥

एवमनात्मकर्तृके कर्मण्यकर्तारमेवाऽऽत्मानम् 'मयेदं कृतम्' इति यः कर्तारं पश्यति स शतधा श्रुतश्रावितवेदान्तोऽप्यविदितात्मस्वरूपत्वेन दुर्मतिरिति प्रतिपाद्य, यस्तु श्रुत्याचार्येश्वरप्रसादसंपन्नः सततश्रवणमनननिदिध्यासनादिसमुत्पन्नज्ञानेनाऽऽत्मयाथात्म्यदर्शी विद्वाननात्मकर्तृके दुष्टे शिष्टे वा कर्मण्यात्मानमकर्तारमेव पश्यति स एव सुमतिः पण्डितोत्तमः शरीरयात्रादिलक्षणं वाऽन्यद्वा कर्म दुष्टमदुष्टं कृत्वाऽपि स्वयमकर्तैव भवति न किञ्चिदप्युपाधिकृतेन कर्मणा लिप्यत इत्याह—**यस्येति** ।

केवलं तु' ऐसा कहा है । 'तु' शब्द आत्मा उपाधिसे भिन्न है, इसको दृढ़ करनेके लिए है । सावयव, सक्रिय, उपाधिको ही कर्ता और भोक्ता देखो, परन्तु केवल निष्कल, निष्क्रिय आत्माको प्रमादसे भी कर्ता न देखो, क्योंकि निरवयव असङ्ग आत्मामें क्रियाश्रयत्व आदि नहीं है । जो इस प्रकारके लक्षणवाले आत्मतत्त्वको सद्गुरुसे बार-बार सुनकर और मनन करके भी उसको पुण्य और पाप रूप क्रियाका कर्ता अथवा भोक्ता देखता है, वही दुर्मति—अविवेकी—है, बकरी-भेड़ पालनेवाला अविवेकी नहीं है, यह अर्थ है ॥ १६ ॥

इस प्रकार जिसका कर्ता अनात्मा ही है, ऐसे कर्मके विषयमें अकर्ता ही आत्माको 'मैंने यह किया' यों जो कर्ता देखता है, वह पुरुष भले ही सैकड़ों बार वेदान्तको सुन चुका हो या सुना चुका हो, तथापि आत्माके स्वरूपका परिज्ञाता न होनेसे दुर्मति है, ऐसा प्रतिपादन करके, अब श्रुति, आचार्य और ईश्वरके प्रसादसे संपन्न सर्वदा श्रवण, मनन निदिध्यासन आदिसे उत्पन्न हुए ज्ञानसे आत्माके यथार्थ-स्वरूपको देखनेवाला जो विद्वान् अनात्मा द्वारा किये जानेवाले दुष्ट या शिष्ट (निषिद्ध और विहित) कर्ममें आत्माको अकर्ता ही देखता है, वही सुमति—पण्डितोत्तम—है । वह शरीरनिर्वाह आदिके लिए भोजन आदिरूप अथवा अन्य दुष्ट या अदुष्ट कर्म करके भी स्वयं अकर्ता ही रहता है, उपाधि द्वारा किये गयें कर्मसे किञ्चित् भी लिप्त नहीं होता, ऐसा कहते हैं—**'यस्य'** इत्यादिसे ।

ब्रह्मविदाचार्यप्रसादपात्रीभूतस्य वैदिकैरेव कर्मभिः सात्त्विकैर्बहुजन्माराधितपरमेश्वरानुग्रहवतः शुद्धात्मनः श्रवणादिजन्यज्ञानेन क्षीरनीरवदात्मानात्मनोः स्वरूपं ज्ञातृज्ञेयलक्षणं सम्यग्विभज्य तत्राऽऽत्मन्येवाऽऽत्मभावमापद्य सदा तदात्मनैव तिष्ठतो यस्य महात्मनो ब्रह्मवित्तमस्याऽधिष्ठानादिभिरेव स्ववेद्यैरविद्याकार्यैर्विहिते प्रतिषिद्धे वाऽन्यस्मिन् वा कर्मणि क्रियमाणे सति, भावः भाव्यते अहमिति गृह्यतेऽनेनेति भावोऽन्तःकरणम् ब्रह्मैवाऽहमिति स्वस्वरूपे ब्रह्मण्येवाऽहंभावमुपेत्य सदा तदात्मनैव वर्तमानोऽहमात्मको बुद्धिविशेषो नाहङ्कृतः कर्मकर्तर्युपाधावहङ्करणमहङ्कृतं ब्रह्माकारतामुत्सृज्य कर्त्राकारेणाऽहमित्यवस्थानं न विद्यते यस्य भावस्य स नाहङ्कृतः अधिष्ठानादिलक्षण उपाधिरेव स्ववासनानुरूपेणेदं कर्म करोतीत्यहं तूपाधितत्कर्मणोरुभयोः साक्षी तटस्थो निष्क्रिय एवाऽस्मीति ब्रह्मात्मनैव स्थितः सन् चिरकालं नित्यनिरन्तरसमाध्यभ्यासबलेनाऽऽहारादिकर्मकालेऽपि कर्तर्यहम्भावरहित इत्यर्थः । तथा यस्योक्तलक्षणस्य ब्रह्मविदो बुद्धिर्वृत्तिरूपा न लिप्यते मयेदं सुष्ठु दुष्टं च कर्म कृतमित्येवंभावनावती न भवति । धर्मशीलस्य बुद्धिर्मयाऽयं धर्मः कृतोऽयमधर्मः कृत इति तेन कर्मणा यथा लिप्यते धर्माधर्मसंस्कारवती भवति तथा 'मयेदं दुष्टमदुष्टं कृतम्' इति सामान्येन वा विशेषेण

ब्रह्मवित् आचार्यके प्रसादसे सम्पन्न, सात्त्विक वेदविहित कर्मोंसे अनेक जन्मोंतक आराधित परमेश्वरके अनुग्रहसे युक्त, शुद्धात्मा, श्रवण आदिसे जनित ज्ञानसे क्षीर एवं नीरके समान आत्मा और अनात्माके ज्ञातृज्ञेयरूप स्वरूपको भली भाँति अलग-अलग कर उनमें से आत्मामें ही आत्मभावको प्राप्त करके सदा आत्म-स्वरूपसे ही स्थित रहनेवाले जिस महात्मा ब्रह्मवित्तमका स्ववेद्य अविद्याके कार्य अधिष्ठान आदिके ही द्वारा विहित, प्रतिषिद्ध अथवा अन्य कर्मोंके किये जानेपर भी भाव (जिससे भावना की जाती है यानी 'मैं' यों ज्ञान होता है, वह भाव है अर्थात् अन्तःकरण) यानी ब्रह्म ही मैं हूँ, इस प्रकार स्वस्वरूप ब्रह्ममें अहंभाव प्राप्त करके सर्वदा उसीके स्वरूपसे वर्तमान एक प्रकारकी अहमात्मक बुद्धि नाहंकृत (कर्म करनेवाली उपाधिमें अहंकरणरूप अहंकृत यानी ब्रह्माकारताको छोड़कर कर्ताके आकारसे मैं, ऐसा अवस्थान जिस भावका नहीं है, वह नाहंकृत है) यानी अधिष्ठान आदिरूप उपाधि ही अपनी वासनाके अनुसार इस कर्मको करती है, मैं तो उपाधि, उसके कर्म दोनोंका साक्षी, तटस्थ, निष्क्रिय ही हूँ, इस प्रकार ब्रह्मात्मस्वरूपसे स्थित होकर चिरकालीन नित्य निरन्तर समाधिके अभ्यासके बलसे आहार आदि कर्म समयमें भी कर्तामें अहंभावसे रहित है, यह अर्थ है । तथा जिस उक्त लक्षणवाले ब्रह्मवित्की वृत्तिरूप बुद्धि लिप्त नहीं होती—मैंने यह शुभ और अशुभ कर्म किया, यों भावनायुक्त नहीं होती । सारांश यह कि जैसे धर्मशीलकी बुद्धि, मैंने यह धर्म किया और यह अधर्म किया, यों उस कर्मसे लिप्त होती है—धर्माधर्मके संस्कारसे युक्त होती है—वैसे ब्रह्मवित्की मैंने यह दुष्ट या अदुष्ट कर्म किया, यों सामान्य या विशेषरूपसे उनके

वा तत्संस्कारवती न भवति प्रतिच्छायावत्स्वभिन्नेनैवोपाधिना कृते कर्मण्यहं करोमि मयेदं कृतमिति प्रत्ययो ब्रह्मविद्बुद्धेर्नोदेति, कर्तृतत्कर्मतादात्म्यसम्बन्धाभावात्। येनाऽहमिदं करोमीति यत्कर्म क्रियते तद्बुद्धेरेव मयेदं कृतमिति कृतत्वभावना लेपश्च सिध्यति नाऽन्यस्य बुद्धेः। यथा 'स्नानमहं करोमि' इति स्नानं कृतवतो देवदत्तस्य बुद्धेरेव मया स्नानं कृतमिति कृतत्वभावना तेन कर्मणा लेपश्च न तु तटस्थयज्ञदत्तस्य बुद्धेरस्ति तद्वत्।

नन्वननुरूपदृष्टान्तोपन्यासेनेदं विपरीतमुच्यते—ब्रह्मविदः स्वदेहे तत्कृते च कर्मण्यहमिति मयेदं कृतमिति च प्रत्ययो न जायते इति, विदुषोऽपि स्वदेहे स्नाते सत्यहमिति मया स्नातमिति च प्रत्ययो जायत एव, विद्वच्छरीरयोः परस्परविभागाभावादिति चेत्, न; तयोर्ज्ञातृज्ञेयत्वलक्षणेन परस्परभिन्नस्वभावत्वादेकत्वानुपपत्तेः। सत्येकत्वे तथाविधः प्रत्ययः प्रसज्येत। नहि देह एव विद्वान्नापि विद्वानेव हि देहो भवति, तयोर्ज्ञातृज्ञेयत्वधर्मेण घटतज्ज्ञातृवद्भिन्नस्वभावत्वाद्विभक्तत्वमेव युक्तं न त्वेकत्वम्, प्रत्यक्षादिप्रमाणविरोधात्। ततोऽधिष्ठानादिलक्षणोपाधौ वासनया तत्कर्मणि प्रवृत्ते सति तत्राऽहं करोमीत्यहंप्रत्ययो नोदेति, कर्तृतादात्म्याभावात्। तत एव मयेदं कृत-

---

संस्कारोंसे युक्त नहीं होती—प्रतिछायाके समान अपनेसे भिन्न उपाधि द्वारा किये गये कर्ममें मैं करता हूँ, मैंने यह किया, इस प्रकारकी प्रतीति उसकी बुद्धिमें उदित नहीं होती, क्योंकि कर्ता और उसके कर्मका तादात्म्यसंबन्ध नहीं है। मैं यह कर्म करता हूँ, इस बुद्धिसे जिसके द्वारा जो कर्म किया जाता है, उसीकी बुद्धिमें मैंने यह किया, यों कृतत्वभावना और कर्मलेप होता है, अन्यकी बुद्धि नहीं, जैसे मैं स्नान करता हूँ, इस बुद्धिसे स्नान करनेवाले देवदत्तकी बुद्धिमें ही मैंने स्नान किया, यों कृतत्वभावना और उक्त कर्मसे लेप होता है, तटस्थ यज्ञदत्तकी बुद्धिमें नहीं, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए।

यदि शङ्का हो कि विषम दृष्टान्तके द्वारा आप यह विपरीत ही कहते हैं कि ब्रह्मवित्‌को अपनी देहमें और उसके द्वारा किये गये कर्ममें 'मैं' यों और 'मैंने किया' ऐसी प्रतीति नहीं होती, विद्वान्‌को भी अपनी देहके स्नान करनेपर 'मैं', और 'मैंने स्नान किया' ऐसी प्रतीति होती ही है, क्योंकि विद्वान्‌का और विद्वान्‌के शरीरका परस्पर विभाग नहीं है, तो यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि वे दोनों ज्ञातृत्व और ज्ञेयत्वरूप लक्षणसे परस्पर भिन्न स्वभाववाले होनेके कारण, एक नहीं हो सकते, उन दोनोंके एक होनेपर ही उस प्रकारके व्यवहारका प्रसंग आवेगा, न तो देह विद्वान् है और न विद्वान् ही देह है। वे दोनों ज्ञातृत्व और ज्ञेयत्वरूप धर्मसे घट और घटके ज्ञाताके समान भिन्नस्वभाव होनेके कारण विभक्त ही हैं, एक नहीं हैं, क्योंकि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे विरोध है, इसलिए अधिष्ठानादिरूप उपाधिके, वासनाके अनुसार, कर्ममें प्रवृत्त होनेपर मैं करता हूँ, ऐसा वहां अहंप्रत्यय नहीं होता, क्योंकि कर्तासे तादात्म्यका अभाव है, इसीलिए मैंने यह किया, इस प्रकार उसकी बुद्धिमें कृतत्व-

मिति तद्बुद्धेः कृतत्वभावना तत्क्रियालेपश्च न सम्भवति, तत एवोच्यते—'यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते' इति। यदुक्तमननुरूपदृष्टान्तोपन्यासेनेति, तन्न; विद्वच्छरीरयोर्ज्ञातृज्ञेयत्वधर्मेण विलक्षणतया परस्परभिन्नत्वे सति शरीरे तत्कृते च कर्मणि तद्भिन्नस्य विदुषस्त्वहमिति मयेदं कृतमिति प्रत्ययानुत्पत्तौ युक्त एव दृष्टान्तः। एवं ब्रह्मविदः स्वस्योपाधितद्धर्मतत्कर्मसम्बन्धलेशाभावज्ञानमेवाऽप्रतिबद्धं नैष्कर्म्यसिद्धेः परमकारणमिति सूचयित्वा तादृशज्ञानसिद्धेः फलमाह—हत्वाऽपीति। य एवमधिष्ठानादिभिरेव पञ्चभिरनात्मकैर्दृश्यभूतैः क्रियमाणे कर्मणि चेष्टामात्रे वाऽहंकारममकारशून्यो भवति स विद्वानिमान् त्रीन् लोकान् लोकस्थान् देवर्षिब्राह्मणादीन् सर्वप्राणिनो हत्वाऽपि स्वहस्तेन सर्वसंहारं कृत्वाऽपि न हन्ति न किञ्चिदपि हिनस्ति। स्वयं तद्धननक्रियायाः कर्ता न भवतीत्यर्थः। नन्विदमतिविरुद्धमुच्यते—ब्रह्मवित् स्वयं लोकत्रयं हत्वापि न हन्तीति, येन यत्कर्म क्रियते स तस्य कर्मणः कर्ता भवन्नेव दृश्यते कुलालादिः। कथं ब्रह्मवित्स्वयं सर्वप्रपञ्चसंहारं कृत्वाप्यकर्तैव भवतीति। किमन्यं प्रयोजयति वा स्वयमेव न करोति वा? नाऽऽद्यः, अन्यप्रयोगेऽपि राज्ञ इवैतस्याऽपि हननक्रियासंभवात्। न द्वितीयः, हत्वापीत्युक्तिविरोधप्रसङ्गात्। ततोऽ-

---

भावना और उसकी क्रियाका लेप नहीं होता, इसीलिए भगवान् कहते हैं—यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते। 'अननुरूपदृष्टान्तोपन्यासेन' (विषम दृष्टान्तको देकर) यह जो कहा था, वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि विद्वान् और शरीर दोनों ज्ञाता और ज्ञेयत्वरूप धर्मसे विलक्षण होनेके कारण परस्पर भिन्न हैं, ऐसी अवस्थामें शरीर और उसके द्वारा किये गये कर्ममें उससे भिन्न विद्वान्को मैंने यह किया, ऐसा प्रत्यय न होनेके कारण युक्त ही दृष्टान्त है। इस प्रकार उपाधि, उसके धर्म और उसके कर्मसे आत्माका तनिक भी सम्बन्ध नहीं है, इस प्रकारका ब्रह्मवित्का अप्रतिबद्ध ज्ञान ही नैष्कर्म्य सिद्धिका परम कारण है, यों सूचन करके अब उस प्रकारके ज्ञानकी सिद्धिका फल कहते हैं—हत्वाऽपीति। इस प्रकार पांच अनात्म दृश्यभूत अधिष्ठान आदि द्वारा किये जा रहे कर्म या चेष्टामात्रमें अहंकार और ममकारसे शून्य जो पुरुष है, वह विद्वान् इन तीनों लोकोंको—लोकोंमें स्थित देव, ऋषि, ब्राह्मण आदि सब प्राणियोंको—मारकर भी (अपने हाथोंसे सबका संहनन करके भी) किसीका हनन नहीं करता यानी स्वयं उस हननक्रियाका कर्ता नहीं होता, यह अर्थ है। यह तो अत्यन्त विरुद्ध कहते हैं कि ब्रह्मवित् स्वयं तीनों लोकोंको मारकर भी नहीं मारता, क्योंकि जिसके द्वारा जो कर्म किया जाता है, वह उस कर्मका कर्ता कुलाल आदि होता ही है, ऐसा देखा जाता है, फिर कैसे ब्रह्मवित् स्वयं सम्पूर्ण प्रपंचका संहार करके भी अकर्ता ही रहेगा? क्या वह [उक्त हननादि कर्मोंमें] अन्य पुरुषका नियोग करता है [इसलिए अकर्ता रहता है ?] या स्वयं ही हननादि कर्म नहीं करता? प्रथम पक्ष तो युक्त है नहीं, क्योंकि हननादिमें अन्यकी नियुक्ति करनेपर भी, राजाके समान, इसमें भी हनन क्रिया हो सकती है। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'हत्वाऽपि' इत्यादि

स्त्येव हननक्रियाकर्तृत्वं विदुष इति चेत्, सत्यम्, यो यत्कर्म करोति कारयति वा स तस्य कर्मणः साक्षात्क्रमेण वा कर्तैव भवति । न तथाऽयं विद्वान् स्वान्यत्करणजातं प्रयोजयति नापि स्वयं करोति, किन्तु मेघस्थश्चन्द्रो मेघकर्मणीव देहस्थो विद्वान् देहेन्द्रियादिभिः कृते कर्मणि कर्तेव दृश्यते । सम्यग्बुद्ध्या विचार्यमाणे मेघानामेव धावनक्रियाकर्तृत्वं न तु चन्द्रस्य यथा, तथा देहेन्द्रियाद्यभिमानिन एव विज्ञानात्मनो हननक्रियाकर्तृत्वं न तु विदुषः । नहि कूटस्थासङ्गचिद्रूपेणैव तिष्ठतो विदुषस्त्वधिष्ठानादिभिः संयोगः समवायो वा संभावयितुं शक्यते । तदसंभवे तत्कर्तृके कर्मणि कर्तृत्वं च न संभवति । तत एवोच्यते परमेश्वरेण 'हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति' इति । मूढदृष्ट्या चन्द्रवद्बहिःक्रियावानिव प्रतीयमानोऽपि वस्तुतो ब्रह्मविद् ब्रह्मभावापन्नत्वात् क्रियामात्रस्य तु कर्ता न भवति, तत एवाऽकर्तुर्ब्रह्मविदस्तत्कर्मफलसंबन्धं निषेधति—**न निबध्यत इति** । यस्मान्निष्क्रियब्रह्मभावापत्त्या ब्रह्मवित्तम उपाधिसंबन्धरहितत्वेन स्वयमुपाधिकृतस्य कर्मणः पुण्यस्य पापस्याऽन्यस्य वा कर्ता न भवति, तस्मादेव न निबध्यते तत्कार्येण फलेन दुष्टेन वाप्यदुष्टेन न संयुज्यते, कर्मणामन्यकर्तृकत्वात् । नैवान्यकर्तृकं कर्माऽन्यस्य लेपाय फलाय च भवति । नहि देवदत्तकृतेन कर्मणा यज्ञदत्तो लिप्यते बध्यते वा

कथनसे विरोध होगा, इसलिए हननक्रियाका कर्ता विद्वान् ही है, ऐसा यदि कहो तो, यह ठीक है कि जो जिसको करता है या कराता है, वह उस कर्मका साक्षात् या क्रमसे कर्ता ही होता है । परन्तु यह विद्वान् अपनेसे भिन्न करणोंको न तो प्रयुक्त करता है और न तो आप ही करता है, किन्तु जैसे मेघस्थ चन्द्रमा मेघमें कर्म होनेपर कर्ता-सा दीखता है, वैसे ही देहस्थ विद्वान् देह, इन्द्रिय आदि द्वारा किये गये कर्मका कर्ता-सा दीखता है । यथार्थबुद्धिसे विचार करनेपर मेघ ही धावनक्रियाका जैसे कर्ता है, चन्द्रमा नहीं, वैसे ही देह, इन्द्रिय आदिका अभिमानी विज्ञानात्मा ही हननक्रियाका कर्ता है, विद्वान् नहीं । कूटस्थ असङ्ग चिद्रूपसे स्थित विद्वान्का तो अधिष्ठान आदिके साथ संयोग या समवाय हो नहीं सकता और उसके न होनेसे उनके द्वारा किये गये कर्मके प्रति वह कर्ता हो नहीं सकता, इसलिए परमेश्वरने कहा है—'हत्वाऽपि स इमान् लोकान्न हन्ति' (इन लोकोंको मारकर भी वह नहीं मारता)। मूढ पुरुषोंकी दृष्टिसे चन्द्रके समान बाहर क्रियावान्-सा प्रतीत होता हुआ भी वास्तवमें ब्रह्मवित् ब्रह्मभावापन्न होनेसे क्रियामात्रका भी कर्ता नहीं होता, इसीलिए अकर्ता ब्रह्मवित्का उस कर्मके फलके साथ संबन्धका निषेध करते हैं—**न निबध्यत इति** । जिस कारणसे निष्क्रियब्रह्मभावापन्न होनेके कारण ब्रह्मवित्तम उपाधिके संबन्धसे रहित होनेसे स्वयं उपाधि द्वारा किये गये पुण्य, पाप या अन्य कर्मका कर्ता नहीं होता, इसीलिए वह बांधा नहीं जाता—उसके कार्य दुष्ट एवं अदुष्ट फलसे संयुक्त नहीं होता, क्योंकि कर्म दूसरेके द्वारा किये गये हैं, दूसरेके द्वारा किये गये कर्म दूसरेको लिप्त करनेमें और फल देनेमें समर्थ नहीं होते । जैसे देवदत्त द्वारा किये गये कर्मसे यज्ञदत्त लिप्त

तद्वत् 'मयेदं कृतम्' इत्यात्मन्यविद्ययाऽध्यस्तं पूर्वमिदानीं वा न तदात्मनोऽविक्रियस्याऽऽकाशकल्पस्य लेपाय फलाय च भवति। नहि 'नीलं नभः' इत्यज्ञैरारोपितेन नीलिम्ना नभो लिप्यते न नीलं च भवति । नाऽपि च 'इदं जलम्' इत्यध्यस्तजलेन मरुर्जलवान् भवत्यार्द्रश्च, तद्वत् आरोपितेन कर्मणा दुष्टेनाऽप्यदुष्टेन वाऽऽत्मा निरवयवः कूटस्थः क्रियावान्न भवति नाऽपि च तत्फलवान्। यस्मादेवं तस्मादाऽऽत्मन्येवाऽऽत्मतामापन्न आत्मविद्यतिः स्वस्याऽविक्रियात्मत्वदृष्ट्या 'मया कूटस्थेन पूर्वं चाऽधुना च नैव किञ्चित्कृतम्' इति मुहुर्मुहुः स्वयाथात्म्यविषयीकरणसमुत्पन्नविज्ञानबलात् संचितादिभ्यः सर्वेभ्यः कर्मभ्यो विनिष्क्रम्य तत्फलेन जन्मादिना दुःखादिना च न किञ्चित् स्पृश्यते इत्यर्थः । एतेन लोकत्रयस्थिताशेषप्राणिसंघातघाते कृते सत्यपि ब्रह्मविदस्तद्धननक्रिया च तत्कृतप्रत्यवायलेशश्च न संभवतीत्येवंलक्षणो ब्रह्मज्ञानस्य महिमा महाद्भुततरः संसारबन्धविच्छेदहेतुरिति ज्ञानस्य माहात्म्यं स्वाभाविकमेव स्तूयते—'हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते' इति। न तु नित्यनिरन्तरसमाधिनिष्ठानिर्दग्धसर्ववासनाग्रन्थेर्महात्मनः स्वात्मारामस्य स्वानन्दामृतरसपायिनो नित्यतृप्तस्य सर्वात्मदर्शिनो विदुषः प्रवृत्तिरस्तीति सूच्यते, प्रवृत्तिहेतोरविद्याकामादेः समाधिना निर्मूलितत्वात् , किन्तु

नहीं होता या बांधा नहीं जाता, वैसे ही मैंने यह किया, यों पहले या इस समय आत्मामें अविद्यासे अध्यस्त कर्म आकाशके समान अविक्रिय आत्माको लिप्त करनेमें और फल देनेमें समर्थ नहीं होते, जैसे आकाश नील है, इस प्रकार अज्ञानियों द्वारा आरोपित नीलिमासे आकाश लिप्त नहीं होता और नीला भी नहीं होता है एवं जैसे यह जल है, यों अध्यस्त जलसे मरुभूमि न जलयुक्त होती और न गीली ही होती है, वैसे ही आरोपित दुष्ट या अदुष्ट कर्मसे निरवयव, कूटस्थ आत्मा क्रियावान् नहीं होता और उसके फलसे युक्त भी नहीं होता है। जिस कारणसे ऐसा है, इसलिए आत्मामें ही आत्मभावको प्राप्त करनेवाला आत्मवित् यति अपनी अविक्रिय आत्मदृष्टिसे 'कूटस्थरूप मैंने न पहले और न अब कुछ किया है' इस प्रकार बारम्बार अपने याथात्म्यका अवलम्बन करनेसे उत्पन्न हुए विज्ञानके बलसे संचित आदि सब कर्मोंसे निर्मुक्त होकर उनके जन्मादि और दुःखादि फलसे कुछ भी स्पर्श नहीं करता, यह अर्थ है। इससे तीनों लोकोंमें स्थित सब प्राणियोंका घात करनेपर भी ब्रह्मवित्में उक्त हननक्रिया और उसके द्वारा जनित प्रत्यवायका लेश भी नहीं हो सकता है, इस प्रकार ब्रह्मज्ञानकी महा अद्भुततर महिमा है, जो संसाररूपी बंधके उच्छेदमें हेतु है, यों 'मारकर भी इन लोकोंको वह न मारता है और न तज्जनितपापसे लिप्त होता है' इससे ज्ञानके स्वाभाविक माहात्म्यकी स्तुति की जाती है, ऐसा सूचन नहीं किया जाता है कि नित्य निरन्तर समाधिसे नियमतः जिसने सम्पूर्ण वासनारूपी ग्रन्थि जला दी है, ऐसे स्वात्माराम, स्वानन्दामृतरूप रसको पीनेवाले, नित्यतृप्त सर्वात्मदर्शी महात्मा विद्वान्की प्रवृत्ति होती है, क्योंकि प्रवृत्तिके हेतु अविद्या, काम आदिका समाधिसे उच्छेद हो गया है। किन्तु पर और अवरके (जीव और

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥ १८ ॥

ज्ञान, ज्ञेय और प्रमाताके भेदसे हानादि क्रियाकी हेतु चोदना तीन प्रकारकी होती है और करण, कर्म तथा कर्ताके भेदसे क्रियाका आश्रय तीन प्रकारका होता है ॥ १८ ॥

परावरैकत्वविज्ञाननिर्दग्धद्वैतदर्शनस्य ब्रह्मविद्यतेः क्वचिदाहारविहारादिलक्षणेन शरीरयात्रामात्रैकप्रयोजनेन कर्मणा दुष्टेन वाऽप्यदुष्टेन श्लेषो नाऽस्तीत्युच्यते। तथैव श्रूयते—'तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेन' इति, 'यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते' इति च ॥ १७ ॥

एवं विहितप्रतिषिद्धादीनां कर्मणां सर्वेषामधिष्ठानादिपञ्चकैकनिर्वर्त्यत्वं तत्कृते कर्मणि कर्तृत्वाभिमानिनो दुर्मतेः कर्मभिर्बद्धत्वम्, कृतबुद्धेर्विदुषस्त्वकर्तुस्तद्रहितत्वं च प्रतिपाद्य, अथ निरुक्तलक्षणं निष्कर्मत्वज्ञानमेवाऽप्रतिबद्धं कैवल्यसिद्धेः परमकारणमित्यारुरुक्षोर्मोक्षैककामस्य तादृशज्ञानसिद्धेः कारणं सत्त्वशुद्धिस्तत्सिद्धेः कारणं तु कर्मैव सात्त्विकं तदेव कर्तव्यमिति बोधयितुं कर्मप्रवृत्तिहेतुं कर्माश्रयं च ज्ञानकर्मकर्तृबुद्ध्यादीनां सात्त्विकत्वराजसत्वादिभेदं च प्रतिपादयितुमुत्तरग्रन्थ आरभ्यते। यद्यपि सप्तदशे आहारादीनां सात्त्विकादिभेदः प्रतिपादितस्तथापि तत्र श्रद्धादीनामेव पञ्चानां सात्त्विकादिभेदः प्रतिपादितो न तु ज्ञानादीनाम्। तेषां सात्त्विकादिभेदे

ब्रह्मके) एकत्वविज्ञानसे जिसका द्वैतदर्शन दग्ध हो गया है, ऐसे ब्रह्मवित् यतिका कहीं जिसका केवल शरीरयात्रा ही प्रयोजन है ऐसे आहार विहार आदिरूप दुष्ट या अदुष्ट कर्मसे सम्बन्ध नहीं है, ऐसा सूचित होता है। श्रुति भी है—'उसको जानकर पापरूप कर्मसे लिप्त नहीं होता' और 'जैसे कमलके पत्तोंको जल स्पर्श नहीं करता, वैसे ही इस प्रकार आत्माके जाननेवाले पुरुषको पापरूप कर्म कहीं स्पर्श नहीं करता ॥ १७ ॥

उक्त रीतिसे विहित और प्रतिषिद्ध आदि सम्पूर्ण कर्म अधिष्ठान आदि पांच द्वारा ही किये जाते हैं, उनके द्वारा किये गये कर्ममें कर्तृत्वका अभिमान करनेवाला दुर्मति कर्मोंसे बद्ध होता है और आत्मतत्त्वबुद्धिसे युक्त अकर्ता विद्वान् बद्ध नहीं होता, ऐसा प्रतिपादन करके अब निरुक्त लक्षणवाला अप्रतिबद्ध निष्कर्मत्व ज्ञान ही कैवल्यसिद्धिका परम कारण है, इसलिए मोक्षकी केवल इच्छा करनेवाले आरुरुक्षु पुरुषको उस प्रकारके ज्ञानकी प्राप्तिमें कारण सत्त्वशुद्धि है, सत्त्वशुद्धिका कारण तो सात्त्विक कर्म ही है, अतः उसीका अनुष्ठान करना चाहिए, ऐसा बोधन करनेके लिए कर्मकी प्रवृत्तिके हेतु, कर्मके आश्रय, ज्ञान, कर्म, कर्ता, बुद्धि आदिके सात्त्विकत्व, राजसत्व आदि भेदका प्रतिपादन करनेके लिए आगेके ग्रन्थका आरंभ किया जाता है। यद्यपि सत्रहवें अध्यायमें आहारादिके सात्त्विकादि भेदका प्रतिपादन किया गया है,

विज्ञाते हेयांशं राजसं तामसं च त्यक्त्वा सात्त्विके ज्ञानादौ प्रवृत्तस्य सत्त्वं शुध्यति। तेन ज्ञानं तत्फलं च सिध्यति। तदर्थमत्र चोदनायाः कर्माश्रयस्य च स्वरूपज्ञानादीनां गुणभेदेन भेदं च प्रतिपादयति द्वाविंशत्या ज्ञानकर्मणोः साध्यसाधनभावमेव सर्ववेदार्थं गीतार्थं च दृढीकर्तुम्—**ज्ञानमिति**।

ज्ञानमिष्टानिष्टादिरूपं द्रव्यगुणकर्मादिपदार्थजातं ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं साधारणः सर्वपदार्थविषयको बोधः। ज्ञातव्यं द्रव्यगुणादिपदार्थजातं सर्वं ज्ञेयमित्युच्यते। परिज्ञाता ज्ञेयस्य ज्ञानस्य च ज्ञाता प्रमाता साभासो विज्ञानात्मा। इत्येवंप्रकारेण चोदना चोद्यते प्रवर्ततेऽनयेति चोदना सामान्येन सर्वपदार्थानां हानोपादानादिक्रियाहेतुस्त्रिविधा त्रिप्रकारा। प्रमाणप्रमेयप्रमातृलक्षणस्य यस्य सन्निधिमात्रेण हानादिक्रिया जायते सा चोदना त्रिविधेत्यर्थः। एवं प्रवृत्तेः कारणस्य त्रैविध्यमुक्त्वा कर्माश्रयस्यापि त्रैविध्यमाह—**करणमिति**। क्रियतेऽनेनेति करणं बाह्यमाभ्यन्तरं च श्रोत्रादिवागादिबुद्ध्यादिद्वादशविधं कर्मेप्सिततमं कर्तुराप्तिक्रियाविषयभूतं यद्वस्तु द्वितीयान्तं तत्कर्मेत्यर्थः। कर्ता करणानां प्रयोक्ता न तु स्वयं तत्प्रयोज्यः स्वतन्त्रः कर्ता विज्ञानात्मा। एवं कर्मसंग्रहः कर्म सम्यग्गृह्यतेऽस्मिन्निति कर्मसंग्रहः क्रियाश्रयः

तथापि वहांपर श्रद्धा आदि पांचके ही सात्त्विक आदि भेदका प्रतिपादन किया गया है, ज्ञान आदिका नहीं। उनके सात्त्विक आदि भेदके जाननेपर राजस, तामसरूप हेय अंशका त्यागकर सात्त्विक ज्ञान आदिमें प्रवृत्त पुरुषका सत्त्व (अन्तःकरण) शुद्ध होता है, उससे ज्ञान और उसका फल सिद्ध होता है। इसलिए यहां विधि और कर्माश्रयके स्वरूपज्ञान आदिके भेदका, गुणके भेदसे, बाईस श्लोकोंसे प्रतिपादन करते हैं, जिससे कि ज्ञानकर्मका साध्यसाधनभाव ही सम्पूर्ण वेदोंका और गीताका अर्थ है, यह दृढ़ हो—**'ज्ञानम्'** इत्यादिसे।

ज्ञान (जिससे इष्ट एवं अनिष्ट आदिरूप द्रव्य, गुण, कर्म आदि सब पदार्थ जाने जाते हैं, वह ज्ञान है) यानी सम्पूर्णपदार्थविषयक साधारण बोध। जानने योग्य द्रव्य, गुण आदि सब पदार्थ ज्ञेय कहे जाते हैं। परिज्ञाता (ज्ञेय और ज्ञानका ज्ञाता—प्रमाता—) यानी साभास विज्ञानात्मा। इस प्रकारसे चोदना (जिससे सब प्रेरित होता है—प्रवृत्त होता है—वह चोदना) यानी सामान्यसे सब पदार्थोंके त्याग एवं ग्रहण आदि क्रियाकी हेतु तीन प्रकारकी है। प्रमाण, प्रमेय और प्रमातृरूप जिसकी केवल संनिधिसे ही हान आदि क्रिया होती है, वह चोदना तीन प्रकारकी है, यह अर्थ है। इस प्रकार प्रवृत्तिके कारणका त्रैविध्य कहकर कर्मके आश्रयका भी त्रैविध्य कहते हैं—**करणमिति**। करण (जिससे किया जाता है, वह करण) बाह्य और आन्तर श्रोत्र आदि, वागादि तथा बुद्धि आदिके भेदसे बारह प्रकारका है। कर्ताका ईप्सिततम यानी कर्ताकी प्राप्तिक्रियाकी विषयभूत जो वस्तु द्वितीयान्त है, वह कर्म है, यह अर्थ है। कर्ता यानी करणोंका प्रयोक्ता, स्वयं उनसे प्रयोज्य नहीं, किन्तु स्वतंत्र कर्ता विज्ञानात्मा है। इस प्रकार कर्मसंग्रह (जिसमें कर्मोंका भली भांति ग्रहण किया जाता है, वह कर्मसंग्रह है)

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥ १९ ॥

महामुनि कपिल द्वारा निर्मित साङ्ख्यशास्त्रमें सत्त्व आदि गुणोंके भेदसे ज्ञान, कर्म और कर्ता प्रत्येक तीन तीन प्रकारके ही होते हैं, ऐसा कहा जाता है। साङ्ख्यशास्त्रमें कही गई रीतिके अनुसार उन्हें भी तुम मुझसे सुनो ॥ १९ ॥

करणादिस्त्रिविधस्त्रिप्रकार इत्यर्थः। ननु संप्रदानादेः क्रियाश्रयत्वसंभवे कथं क्रियाश्रयस्य त्रैविध्यमिति चेत्, न; संप्रदानादेः परम्परया विना साक्षात्क्रियाश्रयत्वासंभवाद्यथा कर्मणः साक्षात्क्रियाश्रयत्वं न तथा संप्रदानादेः संभवति ततो युक्तं क्रियाश्रयस्य त्रैविध्यमित्यर्थः ॥ १८ ॥

यद्विवक्षितं सत्त्वादिगुणभेदेन ज्ञानादीनां त्रैविध्यं तदेव विशदयति—ज्ञानमिति।

गुणसंख्याने गुणाः सत्त्वादयस्तत्कार्याणि च सम्यक्ख्यायन्ते प्रतिपाद्यन्ते यत्र तद्गुणसंख्यानं सांख्यशास्त्रं तस्मिन्गुणसंख्याने कापिले शास्त्रे ज्ञानमुक्तलक्षणं पदार्थबोधः कर्म च श्रौतस्मार्तादिलक्षणं कर्ता कर्मनिर्वर्तकश्चेत्येतत्त्रयं गुणभेदतः सत्त्वादिगुणभेदेन त्रिधैव त्रिविधमेव भवति। ज्ञानादीनां सत्त्वादिगुणकृतत्रैविध्यव्यतिरेकेण विधान्तराभावनिर्धारणार्थ एवकारः। चकारौ समुच्चयार्थौ। घटः

यानी क्रियाका आश्रय करण आदि त्रिविध—तीन प्रकारका—है, यह अर्थ है। यदि कहो कि संप्रदान आदि क्रियाके आश्रय हो सकते हैं, फिर क्रियाका आश्रय तीन प्रकारका कैसे? तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि संप्रदान आदि परम्पराके बिना साक्षात् क्रियाश्रय नहीं हो सकते हैं। जैसे कर्म साक्षात् क्रियाका आश्रय है वैसे संप्रदान आदि साक्षात् क्रियाके आश्रय नहीं हो सकते, इसलिए क्रियाके आश्रयका त्रैविध्य युक्त है, यह अर्थ है ॥ १८ ॥

सत्त्व आदि गुणोंके भेदसे ज्ञान आदिका जो त्रैविध्य विवक्षित है, उसीको स्पष्ट करते हैं—'ज्ञानम्' इत्यादिसे।

गुणसंख्यानमें (गुणोंका—सत्त्व आदि गुणोंका—और उनके कार्योंका जिसमें भली भाँति प्रतिपादन किया जाता है, वह गुणसंख्यान है) यानी महामुनि कपिलनिर्मित सांख्यशास्त्रमें ज्ञान यानी उक्त लक्षणवाला पदार्थोंका बोध, कर्म यानी श्रौतस्मार्तरूप कर्म और कर्ता यानी कर्मका निर्वर्तक—ये तीन सत्त्व आदि गुणोंके भेदसे तीन प्रकारके हैं। ज्ञान आदिके सत्त्व आदि गुणों द्वारा किये गये त्रैविध्यके सिवा दूसरा प्रकार नहीं है, ऐसा निर्धारण करनेके लिए एवकार है। दो चकार समुच्चयके लिए है। घट, पट इत्यादि ज्ञानका तामस ज्ञानमें ही

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥ २० ॥

विद्वान् अव्यक्तसे लेकर स्थूलपर्यन्त परस्पर विभक्त सम्पूर्ण भूतोंमें [आकाशके समान निरवयव होनेके कारण] अविभक्त, विनाशरहित प्रत्यगात्माको जिस ज्ञानसे देखता है, उस ज्ञानको मुनि लोग सात्त्विक ज्ञान कहते हैं ॥ २० ॥

पट इत्यादिज्ञानस्य तामसज्ञान एवाऽन्तर्भावात् । ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं साधारणं सत्त्वादिगुणभेदात्सात्त्विकं राजसं तामसमिति त्रिधैव भवति । तथैव कर्माऽपि कर्ताऽपि च त्रिधैव भवतीति कपिलादिभिः प्रोच्यत इत्यर्थः । यथावद्यथाशास्त्रं सांख्यशास्त्रे यथा प्रोक्तं तथा गुणभेदेन भिन्नानि ज्ञानादीन्यपि मया च वक्ष्यमाणानि शृणु । श्रुत्वा सारग्रहणेऽतितत्परो भवेत्यर्थः ॥ १९ ॥

तत्र ज्ञानस्य त्रैविध्यं प्रतिपादयन्नादौ बहुजन्मभिः सत्त्ववृत्त्या सर्वकर्मफलपरित्यागपूर्वकमीश्वरार्पणबुद्ध्या समनुष्ठितसात्त्विककर्मसमुत्पादितं यच्छुद्धसत्त्वं सकृच्छ्रवणमात्रेण तत्त्वावधारणशक्तं तस्मादुत्पन्नस्याऽऽत्मैकत्वदर्शनलक्षणस्य सात्त्विकज्ञानस्य लक्षणमाह—**सर्वभूतेष्विति** ।

विभक्तेषु नामरूपजातिगुणक्रियाविशेषैराविद्यकैः परस्परभिन्नेषु सर्वभूतेषु सर्वेष्वव्यक्तादिस्थूलान्तेषु भूतेषु शरीरेषु स्थावरेषु जङ्गमेषु च सर्वत्र घटमठादिष्वाकाश-

---

अन्तर्भाव है । जिससे जाना जाता है, वह साधारण ज्ञान सत्त्व आदि गुणोंके भेदसे सात्त्विक, राजस और तामस, यों तीन प्रकारका ही होता है । इसी प्रकार कर्म और कर्ता भी तीन प्रकारका ही है, ऐसा कपिल आदि द्वारा कहा जाता है, यह अर्थ है । यथावत् यानी सांख्यशास्त्रमें जिस तरह कहा गया है, उस तरह गुणोंके भेदसे भिन्न ज्ञान आदिको भी, जिन्हें मैं आगे कहूँगा, तुम सुनो । सुनकर उसके सारांशके ग्रहणमें अत्यन्त तत्पर होओ, यह अर्थ है ॥ १९ ॥

उसमें ज्ञान तीन प्रकारका है, ऐसा प्रतिपादन कर रहे श्रीभगवान् पहले अनेक जन्मोंसे सात्त्विकभावसे सम्पूर्ण कर्मफलके परित्यागपूर्वक ईश्वरार्पणबुद्धिसे भलीभाँति अनुष्ठित सात्त्विक कर्मोंसे उत्पन्न हुआ जो एकबारके श्रवणमात्रसे तत्त्वके अवधारण करनेमें समर्थ शुद्ध अन्तःकरण है, उससे उत्पन्न हुए आत्मैकत्वदर्शनस्वरूप सात्त्विक ज्ञानका लक्षण कहते हैं—**'सर्वभूतेषु'** इत्यादिसे ।

विभक्त—अविद्या द्वारा जनित नाम, रूप, जाति, गुण, क्रिया विशेषोंसे परस्पर भिन्न—सम्पूर्ण भूतोंमें (अव्यक्तसे लेकर स्थूलपर्यन्त सम्पूर्ण भूतोंमें—स्थावर और जङ्गम शरीरोंमें)

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥ २१ ॥

सम्पूर्ण भूतोंमें पृथक्त्वरूपसे परस्पर विलक्षण क्षेत्रज्ञोंका जिस ज्ञानसे परिज्ञान होता है, उस ज्ञानको तुम राजस जानो ॥ २१ ॥

वदविभक्तं निरवयवत्वान्निर्विशेषत्वाच्च विभागवर्जितमखण्डात्मना सर्वतः परिपूर्णमत एकमेकरूपं तदीयधर्मकर्मादिभिरस्पृष्टमत्यन्तविशुद्धं चिदेकरसमव्ययं भूतेषु नश्यत्सु सत्सु स्वयमविनश्यन्तम्, भूतानामाविर्भावतिरोभावागमनिर्गमादिषु स्वयमाविर्भावतिरोभावागमनिर्गमादिधर्मनिर्मुक्तमविक्रियात्मनैकरूपेण सर्वदा तिष्ठन्तं नित्यं शाश्वतमित्यर्थः । एवंलक्षणं भावं नामरूपादिकं सर्वं भाव्यते यत्र येन वा स भावः प्रत्यगात्मा तं सच्चिदानन्दैकरसमात्मानं स्वं येन शुद्धसत्त्वसंभावितेन 'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः' इति, 'अशरीरं शरीरेषु' इत्यादिश्रुतिवाक्यार्थश्रवणमात्रात् समुत्पन्नेन ज्ञानेनाऽखण्डाकारवृत्त्या कृतबुद्धिर्विद्वानीक्षते पश्यति । 'सर्वमिदमहं च ब्रह्मैव' इति स्वं च सर्वं च ब्रह्मैवेति पश्यति तज्ज्ञानमद्वैतात्मविषयकं द्वैतभ्रमविध्वंसकं सात्त्विकं बहुजन्मार्जितपुण्यपुञ्जपरिपाकसमुदितशुद्धसत्त्वसमुत्पन्नत्वात्सात्त्विकं विद्धि । तदेव विदेहमुक्तिकारणमिति विजानीहीत्यर्थः ॥ २० ॥

येनाऽऽत्मनामनेकत्वं पश्यति तद्राजसमित्याह—**पृथक्त्वेनेति** ।

सर्वत्र घट, मठ आदिमें आकाशके समान अविभक्त—निरवयव होनेसे और निर्विशेष होनेसे विभागसे रहित—यानी अखण्डस्वरूपसे सर्वत्र परिपूर्ण, इसीलिए एक यानी एकरूप, उनके धर्म और कर्म आदिसे अस्पृष्ट अत्यन्तविशुद्ध चिदेकरस अव्यय—भूतोंका नाश होनेपर स्वयं अविनाशी। भूतोंका आविर्भाव, तिरोभाव, आना-जाना आदि होनेपर भी स्वयं आविर्भाव, तिरोभाव, आना-जाना आदि धर्मोंसे निर्मुक्त) अविकारी होनेके कारण एकरूपसे स्थित नित्य शाश्वत, यह अर्थ है। इस प्रकार लक्षणवाले भावको (नामरूप आदि सब जिसमें अथवा जिससे उत्पन्न होता है, वह भाव) यानी प्रत्यगात्माको (सच्चिदानन्दैकरस आत्माको) जिस शुद्धसत्त्वसे सम्भावित 'दिव्य ही अमूर्त पुरुष', अशरीरको शरीरोंमें' इत्यादि श्रुति वाक्यके अर्थके श्रवणमात्रसे उत्पन्न हुए ज्ञानसे—अखण्डाकारवृत्तिसे—कृतबुद्धिवाला विद्वान् ईक्षण करता है—देखता है। सब यह और मैं ब्रह्म ही हूँ, यों अपनेको और सबको ब्रह्म स्वरूप ही देखता है, उस अद्वैतात्मविषयक द्वैतभ्रमनाशक ज्ञान ज्ञानके सात्त्विक ज्ञान—अनेक जन्मोंमें विहित पुण्यपुञ्जके परिपाकसे उदित शुद्धसत्त्वसे उत्पन्न होनेके कारण सात्त्विक—जानो, वही विदेहमुक्तिका कारण है, ऐसा जानो, यह अर्थ है ॥ २० ॥

जिस ज्ञानसे आत्मा अनेक हैं, ऐसा देखता है, वह राजस ज्ञान है, ऐसा कहते हैं—'पृथक्त्वेन' इत्यादिसे ।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहेतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

देहाकार और प्रतिमाकार ही जीव और ईश्वर हैं, इस प्रकारके निश्चयसे युक्त, हेतुशून्य, यथार्थविषयसे रहित निकृष्ट जो ज्ञान है, वह तामस ज्ञान है, ऐसा मुनियोंने कहा है ॥ २२ ॥

तुशब्दः पूर्वस्मादस्य वैलक्षण्यबोधनार्थः । नानाविधमलिनवासनया विशिष्टः पुरुषः सर्वेषु भूतेषु देवर्षिमनुष्यादिशरीरेषु पृथक्त्वेन प्रतिशरीरं भिन्नत्वेन स्वभावत एव नानाभावाननेकान् क्षेत्रज्ञान् पृथग्विधान् सुखदुःखादिभेदेन परस्परविलक्षणान् । अत्र ज्ञानस्य करणत्वमेव न तु कर्तृत्वं संभवति । ततः येन ज्ञानेन वेत्ति पश्यति घटमठादिषु स्थितानामाकाशानामनेकत्वं तदीयवक्रत्वादिधर्मैर्वक्रत्वादिमत्त्वं यथा पश्यति तथा देवमनुष्यादिशरीरेषु स्वत एव जीवात्मनामनेकत्वं जन्ममरणादिविकारविशिष्टत्वं सुखादिभाक्त्वं च येन विजानाति तज्ज्ञानमयथाग्राहकत्वाद्राजसम् । यज्ञदानादिकर्मसंभावितरजोदोषविशिष्टान्तःकरणवृत्तित्वाच्च राजसं बन्धस्यैव कारणं न तु मुक्तेरित्यर्थः ॥ २१ ॥

तामसज्ञानस्य लक्षणमाह—**यदिति** ।

तुशब्दोऽस्य ज्ञानस्योभयविलक्षणत्वद्योतनार्थः । एकस्मिन् कार्ये भूतकार्ये देहे प्रतिमादौ वा कृत्स्नवत्परिपूर्णवत्सक्तमात्मा परमेश्वरश्च स्वयं स्वरूपेणैतावान्

'तु' शब्द पूर्व ज्ञानसे इस ज्ञानका वैलक्षण्य बोधन करनेके लिए है । नाना प्रकारकी मलिन वासनासे विशिष्ट पुरुष सब भूतोंमें (देव, ऋषि, मनुष्य आदि शरीरोंमें) पृथक्त्वरूपसे यानी प्रतिशरीर भिन्नरूपसे स्वभावतः ही नानाभावोंको—अनेक क्षेत्रज्ञोंको—यानी सुख, दुःख आदि भेदसे परस्पर विलक्षण क्षेत्रज्ञोंको । यहां ज्ञान करण ही है, कर्ता नहीं है । इसलिए जिस ज्ञानसे जानता है—देखता है—यानी जैसे घट, मठ आदिमें स्थित आकाशोंका अनेकत्व, घटादिके वक्रत्व आदि धर्मोंसे वक्रत्वादिमत्त्व जैसे देखता है, वैसे ही देव, मनुष्य आदि शरीरोंमें स्वयं ही जीवात्माओंका अनेकत्व, जन्ममरण आदि विकारोंसे विशिष्टत्व और सुख आदिसे युक्तत्व जिससे जानता है, वह ज्ञान अतत्त्वका ग्रहण करानेवाला होनेसे राजस है । यज्ञ, दान आदि कर्मसे संभावित रजोदोषसे विशिष्ट अन्तःकरणवृत्तिरूप होनेसे राजस यानी बन्धका ही कारण है, मुक्तिका नहीं है, यह अर्थ है ॥ २१ ॥

तामस ज्ञानका लक्षण कहते हैं—**'यत्तु'** इत्यादिसे ।

'तु' शब्द इस ज्ञानका उक्त दोनों ज्ञानोंसे वैलक्षण्य बतलानेके लिए है । एक कार्यमें (भूतकार्य देह या प्रतिमा आदिमें) कृत्स्नवत् (परिपूर्णके समान) सक्त (आत्मा और परमेश्वर

देहपरिमाणक एवाऽऽत्मा प्रतिमापरिमाण एवेश्वरो नैतद्व्यतिरिक्तोऽस्तीति निश्चययुक्तम्। यद्वा, कृत्स्नवत् एष घट एष पट इति कृत्स्नपदार्थनिश्चयो यथा, तथा कार्ये देहे प्रतिमादौ वा सक्तं एष देह एवाऽऽत्माहमिति एष पाषाणादिरेवेश्वर इति निश्चययुक्तमहेतुकं देहस्यैवाऽऽत्मत्वनिश्चये प्रतिमादेरेवेश्वरत्वनिर्धारणे च हेतुस्तदभावादहेतुकम्। ननु 'देह एवाऽऽत्मा, अहमर्थत्वात्' इत्यादियुक्तिरस्त्येवेति चेत्, न; 'स्वप्नमहमद्राक्षम्' इत्यादौ व्यभिचारदर्शनाद्देहदाहे त्वात्मदाहप्रसङ्गाच्च। न देहस्याऽऽत्मत्वसाधको हेतुरस्ति नाऽपि प्रतिमादेरीश्वरत्वसाधको हेतुरस्ति। ननु प्रतिमाद्याकार ईश्वरः कामान् प्रयच्छति तत एष प्रतिमादिरेवेश्वरः कामप्रदत्वादित्यादियुक्तिरस्त्येवेति चेत्, न; अश्वत्थस्याऽप्यारोग्यप्रदत्वदर्शनात्तत्राऽतिव्याप्तिः स्यात्। किन्तु तत्र भक्त्याराधितः परमेश्वरः सर्वगतस्तत्र स्थितः सन्कामान् प्रयच्छति न तु प्रतिमादिस्तस्य नाशे ईश्वरस्याऽपि नाशप्रसङ्गात्। ततो देहप्रतिमादेरात्मेश्वरत्वसाधकयुक्तिर्नोऽस्ति। अत एवाऽतत्त्वार्थवदबाधितार्थस्तत्त्वार्थः स यस्य ज्ञानस्य नाऽस्ति तदतत्त्वार्थवदयथार्थविषयकमत एवाऽल्पम् अल्पविषयत्वेनाऽल्पफलत्वेन चाऽल्पं निकृष्टमित्यर्थः। यदेवंलक्षणं

स्वयं अपने स्वरूपसे इतने ही बड़े हैं यानी देहके सदृश आकारवाला ही जीवात्मा है और प्रतिमाके सदृश आकारवाला ही ईश्वर है, इससे अधिक नहीं है, इस प्रकारके निश्चयसे युक्त अथवा कृत्स्नवत् यानी यह घट है, यह पट है, इस प्रकार सम्पूर्ण पदार्थोंका जैसे निश्चय है, वैसे ही देहमें या प्रतिमा आदिरूप कार्यमें सक्त यानी यह देह ही आत्मा मैं हूँ, तथा यह पाषाण आदि ही ईश्वर है, इस प्रकारके निश्चयसे युक्त) अहेतुक (देह ही आत्मा है तथा प्रतिमा आदि ही ईश्वर है, इस प्रकारके निर्धारणमें हेतुसे रहित)। यदि कहो कि 'देह ही आत्मा है, अहंका अर्थ होनेसे' इत्यादि युक्ति उक्त निश्चयमें हेतु है ही, तो यह कहना युक्त नहीं है, क्योंकि मैंने स्वप्न देखा, इत्यादिमें व्यभिचार है और देहके जलनेपर आत्माके जलनेका भी प्रसङ्ग होगा। अतः न तो देहमें आत्मत्वका साधक हेतु है तथा न तो प्रतिमा आदिमें ईश्वरत्वका साधक हेतु है। यदि शङ्का हो कि प्रतिमा आदिके सदृश आकारवाला ईश्वर अभीष्ट वस्तुओंको देता है, इसलिए 'यह प्रतिमा आदि ही ईश्वर है, कामका देनेवाला होनेसे', इत्यादि युक्ति है ही, तो यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि अश्वत्थ (पीपल) भी आरोग्यप्रद देखनेमें आता है, अतः उसमें अतिव्याप्ति हो जायगी। इसलिए यह मानना चाहिए कि भक्तिसे आराधित सर्वगत परमेश्वर ही उसमें स्थित होकर कामनाओंको देता है, प्रतिमा आदि नहीं, क्योंकि यदि यह न माना जायगा, तो प्रतिमा आदिका नाश होनेपर ईश्वरके भी नाशका प्रसङ्ग आवेगा। इसलिए देह तथा प्रतिमा आदिमें आत्मत्व एवं ईश्वरत्वकी साधक युक्ति नहीं है। अतएव अतत्त्वार्थवत् (अबाधित अर्थ तत्त्वार्थ है, वह जिस ज्ञानका नहीं है, वह अतत्त्वार्थवत्) यानी अयथार्थविषयक, इसीलिए अल्प (अल्पविषय और अल्प फलवाला होनेसे अल्प) निकृष्ट, यह अर्थ है। जो इस प्रकारके लक्षणसे युक्त ज्ञान

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ २३ ॥

राग-द्वेषसे रहित और फलकामनासे शून्य पुरुष द्वारा श्रुति और स्मृतिसे अवश्यकर्तव्यत्वेन विहित यज्ञ आदि जो कर्म अहङ्कारको छोड़कर किया गया हो, वह सात्त्विक कहलाता है ॥२३॥

ज्ञानं तत्तामसं बहुजन्मभिस्तामसयज्ञदानादिकर्मानुष्ठानसंप्राप्ततमोगुणकार्यत्वात्तामसमिति कपिलादिभिरुदाहृतमुच्यत इत्यर्थः । जन्मानेकशतैः समनुष्ठितसात्त्विकयज्ञदानादि-सत्कर्मपरिपाकसमुत्पन्नं सात्त्विकं ज्ञानं मोक्षायैव भवति । राजसं तु स्वर्गाद्यभ्युदयाय निरुक्तलक्षणम् । तामसं ज्ञानं तु केवलं मूढव्यवहारगोचरं जननमरणदुःखप्रवाहायैव भवति, न तु स्वर्गाय नाऽप्यपवर्गायेति सूचितं भवति ॥ २२ ॥

सत्त्वादिगुणभेदात् कर्मणस्त्रैविध्यं प्रतिपादयन्नादौ मुमुक्षूणामनुष्ठेयं सात्त्विकं कर्माऽऽह—**नियतमिति** ।

नियतं श्रुतिस्मृतिभ्यामवश्यकर्तव्यत्वेन विहितं यज्ञतपोदानलक्षणं सङ्गरहितं सङ्गः कर्तृत्वाभिनिवेशोऽहङ्कारस्तच्छून्यमनहङ्कारमरागद्वेषतः सुखसाध्यत्वे तत्फल-साधनत्वे वा कर्मणि रागः, दुःखसाध्यत्वे दुःखफलसाधनत्वे वा कर्मणि द्वेषश्च जायते, रागश्च द्वेषश्च रागद्वेषौ न रागद्वेषौ, यस्येष्टानिष्टयोः कर्मणोः समबुद्धेर-

---

है, वह तामस है । अनेक जन्मोंमें तामस यज्ञ, दान आदि कर्मोंके अनुष्ठानसे सम्प्राप्त तमोगुणका कार्य होनेसे कपिल आदि मुनियों द्वारा 'तामस' कहा गया है, यह अर्थ है । अनेक सैकड़ों जन्मोंमें अनुष्ठित सात्त्विक यज्ञ, दान आदि सत्कर्मोंके परिपाकसे उत्पन्न हुआ सात्त्विक ज्ञान मोक्षका ही कारण होता है । निरुक्त लक्षणवाला राजस ज्ञान तो स्वर्ग आदि अभ्युदयका हेतु ही है । केवल मूढ़ोंके व्यवहारको विषय करनेवाला तामस ज्ञान तो जन्ममरणरूप दुःखके प्रवाहका ही हेतु है, स्वर्गका या अपवर्गका हेतु नहीं है, ऐसा सूचित होता है ॥ २२ ॥

सत्त्व आदि गुणोंके भेदसे कर्म त्रिविध होता है, ऐसा प्रतिपादन करते हुए पहले मुमुक्षुओंके अनुष्ठेय सात्त्विक कर्मको कहते हैं—'नियतम्' इत्यादिसे ।

नियत—श्रुति और स्मृतिसे अवश्यकर्तव्यत्वरूपसे विहित यज्ञ, तप और दान रूप, सङ्गरहित (सङ्ग—कर्तृत्वका अभिनिवेश अर्थात् अहङ्कार—उससे शून्य) यानी अहङ्काररहित, अरागद्वेषतः (सुखसे साध्य अथवा सुखरूप फलके साधन कर्ममें राग और दुःखसे साध्य अथवा दुःखरूप फलके साधन कर्ममें द्वेष होता है । राग और द्वेष राग-द्वेष हैं, जिस समबुद्धिको इष्ट एवं अनिष्ट कर्मोंमें राग और द्वेष नहीं हैं, वह अरागद्वेष है, तृतीयाके अर्थमें

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ २४ ॥

किन्तु कर्मफलको चाहनेवाले साहङ्कार (मैं यह कर्म करता हूँ, इस अभिमानसे युक्त) पुरुष द्वारा आयासपूर्वक जो कर्म किया जाता है, वह राजस कर्म कहलाता है॥ २४ ॥

सावरागद्वेषः । तृतीयार्थे तसिः । तेनाऽरागद्वेषेण सात्त्विकेनाऽफलप्रेप्सुना निष्कामेण कर्त्रा कृतं यत्तत्कर्म सात्त्विकं सत्त्वशुद्धिकारणमिति महर्षिभिः प्रोच्यते ॥ २३ ॥

राजसं कर्माऽऽह—यत्त्विति ।

तुशब्दो वैलक्षण्यार्थः । वा चार्थः । पुनरप्यर्थः । कामेप्सुना काम्यत इति कामः कर्मफलं तमाप्तुमिच्छता कामेप्सुना साहङ्कारेणाऽपि च 'अहमिदं कर्म करोमि फलाय' इत्यभिनिवेशोऽहङ्कारस्तद्रहितः सात्त्विकः पूर्वोक्तस्त्वयं राजसस्तेनाऽपि च युक्तत्वात् साहङ्कारोऽहमिदं करोमीत्यभिमानाडम्बरयुक्तस्तेन साहङ्कारेणाऽपि च कर्त्रा बहुलायासं बाहुभ्यां नदीतरणे यथा तथा बहुलो महानायासः श्रमो यस्मिन् कर्मण्याचमनादौ भवति तद् बहुलायासं यत्तु कर्म क्रियते तत्कर्म राजसम्, फलकामनया चाऽहङ्कारेणाऽपि रजःकार्येण युक्तेनाऽधिकारिणा क्रियमाणत्वाद्राजसं तत्कर्मेति मुनिभिरुदाहृतमित्यर्थः ॥ २४ ॥

'तसि' प्रत्यय है) यानी रागद्वेषरहित, सात्त्विक और फलको न चाहनेवाले निष्काम कर्ता द्वारा किया गया जो कर्म है, वह कर्म सात्त्विक है—सत्त्वशुद्धिका कारण है—ऐसा महर्षियों द्वारा कहा जाता है ॥ २३ ॥

राजस कर्मको कहते हैं—'यत्तु' इत्यादिसे ।

'तु' शब्द वैलक्षण्यके लिए है । 'वा' शब्द चकारके अर्थमें है । 'पुनः' शब्दका 'अपि' अर्थ है । कामेप्सु (जो चाहा जाता है, वह काम है यानी कर्मफल, उसकी प्राप्तिकी इच्छा करनेवाले) और साहङ्कार (फलके लिए मैं यह कर्म करता हूँ, ऐसा अभिनिवेश अहङ्कार है, उससे रहित पूर्वोक्त सात्त्विक है और यह तो राजस है, इससे भी युक्त होनेके कारण साहङ्कार) यानी मैं यह करता हूँ, इस प्रकार अभिमान पूर्ण आडम्बरसे युक्त साहङ्कार कर्ताके द्वारा बहुत आयास, जैसे भुजाओंसे नदीके तरणमें आयास पड़ता है, वैसा ही महान् आयास—श्रम—जिस आचमन आदि कर्ममें होता है, वह बहुलायास है) यानी अत्यन्त यत्नपूर्वक जो कर्म किया जाता है, वह कर्म राजस है, फलकी कामनासे और रजके कार्य अहङ्कारसे युक्त अधिकारी द्वारा विहित होनेसे वह राजस कर्म है, ऐसा मुनियोंने कहा है, यह अर्थ है ॥ २४ ॥

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥ २५ ॥
मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥ २६ ॥

उत्तरकालीन अनर्थ, क्षय (धनक्षय, बलक्षय या पुण्यक्षय), प्राणिपीड़ारूप हिंसा तथा अपनी सामर्थ्यका बुद्धिपूर्वक विचार न कर जो कर्म मोहसे किया जाता है, वह तामस कहलाता है ॥ २५ ॥

जिसने कामनाका परित्याग किया है, जो 'मैंने यह किया' ऐसा नहीं कहता, जो धैर्य और उत्साहसे युक्त है तथा जो प्रारब्धकी सिद्धि और असिद्धिमें निर्विकार रहता है, वह कर्ता सात्त्विक कहा जाता है ॥ २६ ॥

तामसं कर्माऽऽह—**अनुबन्धमिति** ।

अनुबन्धः उत्तरभाव्यनर्थस्तत्कर्मणः फलभूतस्तमनुबन्धं पश्चाद्भाव्यनर्थम् । क्षयं यस्मिन्कर्मणि क्रियमाणे धनक्षयो वा बलक्षयो वा पुण्यक्षयो वा आयुःक्षयो वाऽन्यस्य वा क्षयस्तं क्षयम् । हिंसां प्राणिपीडाम् । कर्मनिर्वाहे स्वसामर्थ्यं च पौरुषमेव । तत्सर्वमप्यनवेक्ष्य बुद्धिबलेनाऽविचार्य, बालवन्मोहादविवेकाद्यत्कर्माऽऽरभ्यते तत्कर्म संमोहो विवेकाभावस्तमोगुणस्तेन कार्यत इति तामसमित्युच्यत इत्यर्थः ॥ २५ ॥

गुणभेदेन कर्तृभेदं वदन् सात्त्विककर्तारमाह—**मुक्तसङ्ग इति** ।

मुक्तसङ्गः मुक्तो मनसा संत्यक्तः सङ्गः फलाभिसन्धिलक्षणः कामो येन स मुक्तसङ्गः निष्काम इत्यर्थः । अनहंवादी सङ्कल्पेऽप्यहमिदं करोमीति वदनशीलो

तामस कर्मको कहते हैं—'**अनुबन्धम्**' इत्यादिसे ।

अनुबन्ध यानी उत्तरभावी अनर्थ, जो कि उक्त कर्मका फलभूत है, क्षय (जिस कर्मके करनेपर धनका क्षय, बलका क्षय, पुण्यका क्षय, आयुका क्षय अथवा अन्यका क्षय होता है, उसे क्षय कहते हैं), प्राणियोंकी पीड़ारूपा हिंसा तथा कर्मके निर्वाहमें अपना सामर्थ्यरूप पौरुष—इन सबको न देखकर—बुद्धिबलसे उनका विचार न कर—बालककी नाईं मोहसे—अविवेकसे—जो कर्म आरम्भ किया जाता है, वह कर्म सम्मोहसे—विवेकके अभावरूप तमोगुणसे—किया जाता है, इससे तामस कहा जाता है, यह अर्थ है ॥ २५ ॥

गुणोंके भेदसे कर्ताका भेद कहते हुए सात्त्विक कर्ताको कहते हैं—'**मुक्तसङ्गो**' इत्यादिसे ।

मुक्तसङ्ग (जिसने सङ्गका—फलाभिसन्धिरूप कामका—मनसे त्याग कर दिया है, वह मुक्तसङ्ग है) निष्काम, यह अर्थ है । अनहंवादी (सङ्कल्प होनेपर भी, मैं यह करता हूँ, ऐसा कहनेका

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ।। २७ ।।

स्वर्ग आदि फलके तत्-तत् साधनोंमें आसक्ति रखनेवाला अतएव पुत्र, धन, आदि सम्पत्तिकी प्राप्ति चाहनेवाला, लुब्ध, दूसरोंको पीड़ा देनेवाला, शौच रहित हर्ष और शोकसे युक्त कर्ता, राजस कर्ता कहलाता है ।। २७ ।।

न भवतीत्यनहंवादी । अनहंमानित्वेऽपीदमुपलक्षणम् । धृत्युत्साहसमन्वितः धृतिः अर्थव्ययदेहायासादौ धैर्यम्, उत्साहः चिकीर्षावेगः, ताभ्यां सम्यगन्वितः सिद्ध्यसिद्ध्योरारब्धस्य कर्मणः सिद्धावसिद्धौ च निर्विकारः सम्यगीश्वरार्पितस्य तन्नियन्तृत्वादीश्वरेच्छेति हर्षविषादशून्य इत्यर्थः । एवं सत्त्वगुणसंपन्नो यः कर्ता कर्मणां स सात्त्विक इति ऋषिभिरुच्यत इत्यर्थः । एवंगुणविशिष्टत्वं सात्त्विकस्य लक्षणमिति सूचितं भवति ।। २६ ।।

राजसकर्तारमाह—**रागीति** ।

रागी कर्मफलापेक्षत्वात्तत्साधनेषु कर्मसु रागोऽस्याऽस्तीति रागी, यद्वा, रागो विषयभोगेच्छा सोऽस्याऽस्तीति रागी । तत एव कर्मफलप्रेप्सुः कर्मणां फलं पुत्रकलत्रधनादिसंपत्तिं स्वर्गं च प्राप्तुमिच्छुः । स्वेन्द्रियतर्पणशीलत्वाल्लुब्धः परस्वाभिलाषी देवपितृयज्ञादौ धनत्यागासहिष्णुर्वा लुब्धः । हिंसात्मकः परपीडनशीलः । अशुचिः शास्त्रोक्तशौचरहितः । कर्मणः सिद्ध्यसिद्ध्योर्लाभालाभयोर्वा हर्षशोकान्वितो यः कर्मणां

जिसका स्वभाव नहीं है, वह अनहंवादी), अनहंमानित्वमें भी यह उपलक्षण है । धृत्युत्साहसमन्वित (धृति यानी अर्थव्यय और देहके आयास आदिमें धैर्य और उत्साह यानी करनेकी इच्छाका वेग, इन दोनोंसे भली भाँति युक्त), सिद्धि और असिद्धिमें (आरब्ध कर्मकी सिद्धि और असिद्धिमें) निर्विकार यानी भली भाँति ईश्वरमें समर्पित कर्मोंका फल देने और न देनेमें ईश्वर ही नियन्ता है, अतः ईश्वरकी इच्छा, ऐसा समझकर हर्ष और विषाद से शून्य, यह अर्थ है । इस प्रकार सत्त्वगुणसे सम्पन्न जो कर्मोंका कर्त्ता है, वह सात्त्विक कर्ता है, ऐसा ऋषियों द्वारा कहा जाता है, यह अर्थ है । इस प्रकारके गुणोंसे विशिष्ट होना सात्त्विक कर्ताका लक्षण है, यह सूचित होता है ॥ २६ ॥

राजस कर्ताको कहते हैं—**'रागी'** इत्यादिसे ।

रागी (कर्मके फलकी इच्छा होनेसे जिसका कर्मफलके साधनमें राग है, वह रागी है अथवा राग यानी विषयभोगकी इच्छा, वह जिसकी हो, वह रागी), इसीलिए कर्मफलप्रेप्सु, (कर्मफलको—पुत्र, स्त्री, धन आदि संपत्ति और स्वर्गको—प्राप्त करनेकी इच्छा रखनेवाला), लुब्ध अपनी इन्द्रियोंकी तृप्ति करना ही स्वभाव होनेसे लुब्ध यानी परधनका अभिलाषी अथवा देव एवं पितरोंके यज्ञ आदिमें धनके त्यागको न सह सकनेवाला लुब्ध) हिंसात्मक यानी परपीडन युक्त, अशुचि यानी शास्त्रोक्त शौचसे रहित तथा कर्मकी सिद्धि और असिद्धिमें अथवा लाभ और

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैकृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥ २८ ॥

चञ्चल चित्तवाला, कार्य और अकार्य ज्ञानसे शून्य, नम्रतारहित, सबको धोखा देनेवाले, दूसरोंका अपमान करनेवाला, श्रद्धारहित, असन्तोषी तथा दीर्घसूत्री कर्ता तामस कहलाता है ॥ २८ ॥

कर्ता स राजसः उक्तलक्षणै रजोगुणैर्विशिष्टत्वाद्राजस इति मुनिभिः परिकीर्तित इत्यर्थः । रागित्वादि राजसस्य लक्षणमिति सूचितं भवति ॥ २७ ॥

तामसकर्तारमाह—अयुक्त इति ।

अयुक्तोऽस्थिरचित्तश्चञ्चल इत्यर्थः । प्राकृतः पामरः कार्याकार्यज्ञानविहीन इत्यर्थः । स्तब्धोऽनम्रः महत्सु विनयशून्य इत्यर्थः । शठो गूढविप्रियकारी सर्ववञ्चक इत्यर्थः । नैकृतिकः निकृतिर्मनोवाक्कायैः परतिरस्करणं तत्प्रवणो नैकृतिकः परावमानीत्यर्थः । अलसो मन्दः कार्येष्ववश्यकर्तव्येष्वपि प्रवृत्तिरहितः श्रद्धाशून्य इत्यर्थः । विषादी क्लिष्टचित्तः इष्टे वस्तुनि लब्धेऽपि तृप्तिरहितत्वादीषदपि संतोषरहित इत्यर्थः । दीर्घसूत्री च सद्यः कर्तव्यमपि कार्यं पक्षेण मासेन वा यः करोति स दीर्घसूत्री चिरकारीत्यर्थः । य एवंलक्षणः कर्मकर्ता स तामसस्तमोदोषेण जड़बुद्धित्वात्तामस इत्युच्यते । अयुक्तत्वादिकं तामसस्य लक्षणमिति सूचितं भवति ॥ २८ ॥

अलाभमें हर्ष एवं शोकसे युक्त जो कर्मोंका कर्ता है, वह राजस है, उक्त रजोगुणके लक्षणोंसे विशिष्ट होनेके कारण राजस है, ऐसा मुनियोंने कहा है, यह अर्थ है । रागित्व आदि राजसके लक्षण हैं, यह सूचित होता है ॥ २७ ॥

तामस कर्ताको कहते हैं—'अयुक्तः' इत्यादिसे ।

अयुक्त—अस्थिरचित्तवाला—चञ्चल, यह अर्थ है । प्राकृत—पामर—कार्य और अकार्यके ज्ञानसे रहित, यह अर्थ है । स्तब्ध यानी अनम्र, महान् पुरुषोंमें विनयशून्य, यह अर्थ है । शठ यानी गूढ़विप्रियकारी, सबको ठगनेवाला, यह अर्थ है । नैकृतिक (निकृति—मन, वाणी और शरीरसे दूसरेका तिरस्कार करना—उसमें तत्पर नैकृतिक) यानी दूसरोंका अपमान करनेवाला, यह अर्थ है । अलस यानी मन्द, अवश्य करनेयोग्य कर्मोंमें प्रवृत्तिसे रहित, श्रद्धाशून्य, यह अर्थ है । विषादी—चित्तको क्लेश देनेवाला यानी इष्ट वस्तुकी प्राप्ति होनेपर भी तृप्ति न होनेके कारण तनिक भी संतोषसे रहित, यह अर्थ है । और दीर्घसूत्री (शीघ्र करने योग्य कार्यको भी जो पक्षमें या मासमें करता है, वह दीर्घसूत्री), चिरकारी, यह अर्थ है । जो इस प्रकारके लक्षणोंसे कर्मका कर्ता है, वह तामस है । तमोदोषवश जड़ बुद्धिवाला होनेके कारण तामस है, ऐसा कहा जाता है । अयुक्तत्व आदि तामसका लक्षण है, ऐसा सूचित होता है ॥ २८ ॥

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय ॥ २९ ॥
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३० ॥

हे धनञ्जय, बुद्धि और धैर्यका गुणोंके अनुसार तीन प्रकारका भेद, जिसे मैं पूर्णरूपसे कह रहा हूँ, तुम सुनो ॥ २९ ॥

हे अर्जुन, प्रवृत्ति और निवृत्तिको, कार्य और अकार्यको, भय और अभयको तथा बन्ध एवं मोक्षको जो बुद्धि जानती है, वह बुद्धि सात्त्विक कहलाती है ॥३०॥

कर्तृवत्करणस्याऽपि त्रैविध्यं सूचयितुं बुद्ध्यादेस्त्रैविध्यं बोधयितुमाह—**बुद्धेरिति।**

यया पदार्थतत्त्वमध्यवसाय कार्ये पुमान्प्रवर्तते तस्या बुद्धेः अन्तःकरणवृत्तिविशेषस्य धृतेश्च वृत्तिविशेषस्य। चकारः समुच्चयार्थः। एवकारोऽन्यव्यवच्छेदार्थः। **पृथक्प्रत्येकं** गुणतः सत्त्वादिगुणभेदेन त्रिविधं भेदमशेषेण साकल्येन मयोच्यमानं शृणु। यद्यपि पूर्वं ज्ञानस्य त्रैविध्यं प्रतिपादितम्, तथापि ज्ञानं वृत्तिसामान्यं बुद्धिस्तु वृत्तिविशेषः। धृतिरपि वृत्तिविशेष एव ततो न पुनरुक्तिप्रसङ्गः ॥ २९ ॥

सत्त्वबुद्धेर्लक्षणमाह—**प्रवृत्तिमिति।**

प्रवृत्तिं च श्रुतिस्मृतिभ्यां विहितं धर्मं निवृत्तिं ताभ्यां निषिद्धमधर्मं च कार्याकार्ये कार्यं देशकालादेरानुकूल्ये कर्तव्यं प्रातिकूल्ये त्यक्तव्यमकार्यं भयाभये भयं भय-

---

कर्ताके समान करण भी तीन प्रकारका है, ऐसा सूचन करनेके लिए बुद्धि आदिका त्रैविध्य बोधन करनेके लिए कहते हैं—'बुद्धेः०' इत्यादिसे।

जिससे पदार्थके तत्त्वका निश्चय करके पुरुष कार्यमें प्रवृत्त होता है, उस बुद्धिके यानी अन्तःकरणके वृत्तिविशेषके, धृतिके यानी वृत्तिविशेषके। चकार समुच्चयके लिए है। एवकार अन्यके व्यवच्छेदके लिए है। पृथक् यानी प्रत्येकके गुणतः—सात्त्विक आदि गुणोंके भेदसे—तीन प्रकारके भेदोंको, जिन्हें कि मैं तुम्हें अशेषतः—पूर्णरूपसे—कह रहा हूँ, सुनो। यद्यपि पूर्वमें ज्ञान तीन प्रकारका है, ऐसा प्रतिपादन किया गया है, तथापि वह ज्ञान वृत्तिसामान्यात्मक है और बुद्धि वृत्तिविशेषात्मक है। धृति भी वृत्तिविशेषरूप ही है, इसलिए पुनरुक्तिका प्रसङ्ग नहीं है ॥ २९ ॥

सात्त्विक बुद्धिका लक्षण कहते हैं—'प्रवृत्तिम्' इत्यादिसे।

प्रवृत्तिको—श्रुतिस्मृतिसे विहित धर्मको—, निवृत्तिको—श्रुतिस्मृतिसे निषिद्ध अधर्मको—, कार्याकार्यको (कार्य यानी देश, काल आदिके अनुकूल होनेपर कर्तव्यको और अकार्य यानी प्रतिकूल

कारणमनर्थम् अभयं भयाभावकारणमनर्थाभावं बन्धं बन्धहेतुं मोक्षं मोक्षहेतुं च बुद्धेर्ज्ञानकर्तृत्वासंभवात्करणार्थता । यया बुद्ध्या पदार्थतत्त्वनिश्चयकारिण्या धर्माधर्मादिकं पुरुषोऽधिकारी विजानाति सा बुद्धिः सात्त्विकी । यद्वा, 'बन्धं मोक्षं च' इत्यत्र बन्धमोक्षयोरेव प्रतिपाद्यत्वेन प्रवृत्त्यादिपदानां तद्विशेषणत्वेनाऽन्वयो युक्तः । प्रवृत्तिं प्रवृत्तिः सत्त्वबुद्धेः कारणभूतः कर्ममार्गः, यत्र प्रवृत्तः शुद्धात्मा सन्मोक्षाय कल्पते तां प्रवृत्तिं च । निवृत्तिं च निवृत्तिर्निष्कर्मत्वमार्गः संन्यासो यत्र प्रवृत्तः संसारबन्धान्मुक्तो भवति तां निवृत्तिं च । चत्रयं समुच्चयार्थम् । कार्याकार्ये कार्यमारुरुक्षोः कर्मणि विषये काले काले यत्कर्तव्यं तत्कार्यं तथाऽकार्यमारूढस्य यदकर्तव्यं त्यक्तव्यं तदकार्यं ते चोभे कार्याकार्ये । भयाभये यस्माद् बिभेति तद्भयमज्ञानं संसारकारणं यस्मादभयं भयाभावः सिध्यति तदभयं ज्ञानं मोक्षकारणं ते चोभे भयाभये । बन्धमध्यासलक्षणमज्ञानकार्यं मोक्षमध्यासाभावलक्षणं ज्ञानकार्यं च यया बुद्ध्या बुद्धाऽऽत्मा विचक्षण एतत्सर्वं क्षीरनीरवद्विभज्य विजानाति अज्ञस्येदं साधनं तज्ज्ञस्येदं साधनमारुरुक्षोरिदं कर्तव्यमारूढस्येदं त्यक्तव्यमिदमज्ञानमयं बन्धोऽयं मोक्ष इति स्वाधिकारानुरूपेण साध्यसाधनभेदं बन्धं मोक्षं च सम्यग्यया वेत्ति पुरुषः, सा बुद्धिः सात्त्विकी बहुजन्मसुकृतपरि-

होनेपर त्यागने योग्य, अकर्तव्यको) भयाभयको (भयका कारण अनर्थ भय है, भयके अभावका कारण अनर्थका अभाव अभय है, उनको) बन्धको यानी बन्धके हेतुको और मोक्षको यानी मोक्षके हेतुको। ज्ञानमें कर्तापन न होनेके कारण बुद्धि करणार्थक है। पदार्थके तत्त्वका निश्चय करानेवाली जिस बुद्धिसे धर्म, अधर्म आदिको पुरुष यानी अधिकारी जानता है, वह बुद्धि सात्त्विकी है। अथवा 'बन्धं मोक्षं च', यहां बन्ध और मोक्ष दोनों प्रतिपादनीय होनेके कारण प्रवृत्ति आदि पदोंका उनके विशेषणरूपसे अन्वय होना युक्त है। प्रवृत्तिको—प्रवृत्ति सात्त्विक बुद्धिका कारण कर्ममार्ग, जिसमें प्रवृत्त हुआ पुरुष शुद्धात्मा होकर मोक्षके लिए समर्थ होता है, उस प्रवृत्तिको—और निवृत्तिको (निवृत्ति यानी निष्कर्मत्वमार्ग संन्यास, जिसमें प्रवृत्त हुआ पुरुष संसाररूप बन्धनसे मुक्त होता है, उस निवृत्तिको) तीनों चकार समुच्चयार्थक हैं । कार्याकार्यको (कार्य—आरुरुक्षुका कर्मविषयमें समय समयपर जो कर्तव्य है—वह कार्य है, तथा आरूढ़का जो अकर्तव्य—त्यक्तव्य है, वह अकार्य है, उन दोनों कार्य और अकार्यको) भयाभये (जिससे पुरुष डरता है, वह भय है, यानी संसारका कारण अज्ञान, जिससे भयका अभाव होता है यानी अभय सिद्ध होता है वह अभय है यानी ज्ञान, मोक्षका कारण, उन दोनों भय और अभयको) बन्ध यानी अध्यासलक्षण अज्ञानके कार्य और मोक्ष यानी अध्यासाभावलक्षण ज्ञानके कार्यको, जिस बुद्धिसे विचक्षण बुद्धात्मा इन सबको क्षीरनीरके समान पृथक् करके जानता है—अज्ञका यह साधन है, तज्ज्ञका यह साधन है, आरुरुक्षुका यह कर्तव्य है, आरूढ़का यह त्यक्तव्य है, यह अज्ञान है, यह ज्ञान है, यह बंध है, यह मोक्ष है, यों अपने अधिकारके अनुसार साध्य-साधनके भेदको तथा बन्ध और मोक्षको जिससे पुरुष ठीक ठीक जानता है, वह बुद्धि सात्त्विकी है—बहुत जन्मके पुण्यके परिपाकसे

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥ ३१ ॥
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥ ३२ ॥

हे अर्जुन, जिस बुद्धिसे पुरुष धर्म और अधर्मको तथा कार्य और अकार्यको अयथार्थरूपसे जानता है, वह बुद्धि राजस कहलाती है ॥ ३१ ॥

हे पार्थ, तमोगुणसे आवृत जिस बुद्धिसे पुरुष अधर्मको धर्मरूपसे और सम्पूर्ण पदार्थोंको विपरीतरूपसे ग्रहण करता है, वह तामसी बुद्धि है ॥ ३२ ॥

पाकसमुत्पन्नशुद्धसत्त्वकार्यत्वात्सात्त्विकीति बुधैरुच्यत इत्यर्थः । एतेन सात्त्विक्येव बुद्धिर्मुमुक्षोः प्रयत्नेन संपादनीयेति सूचितं भवति ॥ ३० ॥

राजसीं बुद्धिमाह—**ययेति** ।

धर्मं विहितमधर्मं प्रतिषिद्धं च कार्यं चाऽकार्यं च देशकालादेरानुकूल्ये प्रातिकूल्ये च कर्तव्याकर्तव्ये कर्मणी चकारादर्थानर्थानेतान् सर्वानयथावदयथार्थवद्यावदर्थांर्थानिर्णयेनाऽसाकल्येन संदेहेन यया बुद्ध्या प्रजानाति पुरुषः सा बुद्धिः राजसी रजोगुणसंपन्नत्वाद्राजसीत्युच्यते ॥ ३१ ॥

तामसीं बुद्धिमाह—**अधर्ममिति** ।

धर्ममधर्मं कार्यमकार्यमर्थमनर्थं च यया तमसा तमोगुणेनाऽऽवृतयाऽस्पष्टप्रकाशया बुद्ध्या सर्वार्थान् वैपरीत्येन मन्यते गृह्णाति पुरुषः सा तामसी बुद्धिरित्यर्थः ॥ ३२ ॥

उत्पन्न हुए शुद्ध सत्त्वकी कार्य होनेसे सात्त्विकी है, ऐसा पंडितों द्वारा कहा जाता है, यह अर्थ है । इससे यह सूचित होता है कि सात्त्विकी बुद्धि ही मुमुक्षुको प्रयत्नपूर्वक संपादन करनी चाहिए ॥ ३० ॥

राजसी बुद्धिको कहते हैं—'यया' इत्यादिसे ।

धर्म यानी विहित और अधर्म यानी प्रतिषिद्ध, कार्य और अकार्य यानी देशकाल आदिके अनुकूल और प्रतिकूल होनेपर कर्तव्य और अकर्तव्यरूप कर्म, चकारसे अर्थ और अनर्थोंका ग्रहण है, इन सबको अयथावत्—अयथार्थवत्—जिससे सम्पूर्ण अर्थांशके अर्थका निर्णय नहीं हो सकता ऐसे असाकल्यसे—संदेहसे—जिस बुद्धिसे पुरुष जानता है, वह बुद्धि राजसी है । रजोगुणसे संपन्न होनेसे राजसी कहलाती है ॥ ३१ ॥

तामसी बुद्धिको कहते हैं—'अधर्मम्' इत्यादि ।

तथा धर्म और अधर्म, कार्य और अकार्यका अर्थ और अनर्थको जिस तमसे—तमोगुणसे—आवृत अस्पष्ट प्रकाशवाली बुद्धिसे सम्पूर्ण अर्थोंको पुरुष विपरीतरूपसे मानता है—ग्रहण करता है, वह तामसी बुद्धि है, यह अर्थ है ॥ ३२ ॥

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाऽव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३३ ॥

हे अर्जुन, चित्तकी एकाग्रतारूप समाधिसे अव्यभिचरित जिस धारणारूप बुद्धिवृत्तिसे मन, प्राण और इन्द्रियोंकी बाह्य प्रवृत्तियोंको ब्रह्मवित् नियन्त्रणमें रखता है, वह धारणारूप धृति सात्त्विक है ॥ ३३ ॥

धृतेरपि त्रैविध्यं वदन् सात्त्विकीं धृतिमाह—धृत्येति ।

योगेन ब्रह्मणि चित्तैकाग्र्यलक्षणेन समाधिना अव्यभिचारिण्या अविनाभूतया धृत्या धारणात्मिकया धीवृत्त्या यया मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः मनसः प्राणानामिन्द्रियाणां चक्षुरादीनां च क्रियाः या याश्चेष्टाः बहिः प्रवृत्तिरूपास्ताः सर्वा धारयते ब्रह्मनिष्ठो धारयति नियच्छति । ब्रह्मणि चित्तैकाग्रतायां स्थिरायां सत्यां मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः सर्वाः स्वयमेव स्थिरा भवन्ति । तेनैकाग्रताधारणाशक्तेर्योगाव्यभिचारित्वं मनःप्राणेन्द्रियक्रियाधारकत्वं च सहैव सिद्ध्यति । अत एवोच्यते योगेनाऽव्यभिचारिण्या यया धृत्या मनःप्राणेन्द्रियक्रिया धारयते, सा धृतिर्धारणाशक्तिः सात्त्विकी शुद्धसत्त्वगुणसंभूतत्वात्सात्त्विकीत्युच्यते मुनिभिरित्यर्थः । पुण्यकर्मपरिपाकवशात् संप्राप्तशुद्धसत्त्वस्य पुरुषस्य ज्ञानं सात्त्विकं बुद्धिः सात्त्विकी धृतिरपि सात्त्विकी मनःप्राणेन्द्रियवृत्तयोऽपि सात्त्विक्य एव भवन्ति । ज्ञानादीनां सात्त्विकत्वं नाम बाह्यानालम्बनमेव ततो मुमुक्षोः सत्त्वशुद्धिरेव संपादनीयेति सिद्धम् ॥ ३३ ॥

धृति भी तीन प्रकारकी है, ऐसा कह रहे श्रीभगवान् पहले सात्त्विक धृतिका प्रतिपादन करते हैं—'धृत्या' इत्यादिसे ।

योगसे—ब्रह्ममें चित्तकी एकाग्रतारूप समाधिसे—अव्यभिचारिणी यानी अविनाभूतरूपा जिस धृतिसे—धारणात्मक जिस धीवृत्तिसे—मनप्राणेन्द्रियक्रियाको (मनकी, प्राणोंकी और चक्षु आदि इन्द्रियोंकी जो बाहरकी प्रवृत्तिरूप चेष्टाएँ हैं, उन सबको) ब्रह्मनिष्ठ धारण करता है यानी रोकता है । ब्रह्ममें चित्तकी एकाग्रताके स्थिर होनेपर मन, प्राण और इन्द्रियोंकी सब क्रियाएँ स्वयं ही स्थिर हो जाती हैं, उससे एकाग्रताधारणाशक्तिमें योगकी अव्यभिचारिता और मन, प्राण एवं इन्द्रियोंकी क्रियाका धारकत्व साथ ही सिद्ध हो जाता है । अतएव कहते हैं—योगसे अव्यभिचारिणी जिस धृतिसे मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाका धारण किया जाता है, वह धृति—धारणाशक्ति—सात्त्विक है । शुद्ध सत्त्व गुणसे उत्पन्न होनेके कारण मुनियों द्वारा वह सात्त्विक धृति कही जाती है, यह अर्थ है । पुण्य कर्मके परिपाकसे प्राप्त हुए शुद्ध सत्त्वसे युक्त पुरुषका ज्ञान, बुद्धि और धृति भी सात्त्विक है, मन, प्राण एवं इन्द्रियोंकी वृत्तियां भी सात्त्विक ही होती हैं । बाह्य विषयका अनवलम्बन ही ज्ञान आदिका सात्त्विकत्व है, इसलिए मुमुक्षुको सत्त्वशुद्धिका ही संपादन करना चाहिए, यह सिद्ध हुआ ॥ ३३ ॥

यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥ ३४ ॥
यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥ ३५ ॥

हे अर्जुन, जिस धृतिसे फलाभिलाषी पुरुष धर्म, अर्थ और कामका परित्याग नहीं करता, वह धृति राजस है ॥ ३४ ॥

हे पार्थ, जिस धृतिसे भाग्यहीन पुरुष स्वप्न, निद्रा, भय, शोक, विषाद और मदको नहीं छोड़ता, वह धृति तामस है ॥ ३५ ॥

राजसीं धृतिमाह—ययेति ।

तुशब्दोऽन्यव्यावृत्त्यर्थः । यया तु धृत्या पुरुषो धर्मकामार्थान् धर्ममर्थं कामं च प्राधान्येन धारयते धरति न विमुञ्चति प्रसङ्गेन धर्मादीनां प्रसक्तौ संपादनकाले फला-काङ्क्षी भवति । सा धर्मादीनां धात्री धृतिः राजसी ॥ ३४ ॥

तामसीं धृतिमाह—ययेति ।

दुष्टा तमोदोषदूषिता मेधा बुद्धिर्यस्य स दुर्मेधाः दुर्भगः पुरुषः यया धृत्या स्वप्नं निद्रां भयं शोकं विषादं च मदमेव सदा धारयते, न तु क्वचिदपि मुञ्चति सा निद्रादीनां धात्री धृतिस्तामसीत्युच्यते । सर्वव्यवहारहेतोर्बुद्धेस्त्रैविध्ये सिद्धे तद्द्वार-भूतानां श्रोत्रादिकरणानामपि सात्त्विकत्वादिभेदसद्भावः सूचितः ॥ ३५ ॥

राजस धृतिको कहते हैं—'यया' इत्यादिसे ।

'तु' शब्द अन्यकी व्यावृत्तिके लिए है । जिस धृतिसे पुरुष धर्म, अर्थ और कामका मुख्यरूपसे धारण करता है—पकड़ता है—नहीं छोड़ता है, प्रसंगसे धर्मादिकी प्रसक्ति होनेपर संपादनकालमें फलकी आकांक्षा करता है, वह धर्म आदिका धारण करनेवाली धृति राजस है ॥ ३४ ॥

तामस धृतिको कहते हैं—'यया' इत्यादिसे ।

दुष्ट—तमोदोषसे दूषित—मेधा—बुद्धि—जिसकी है, ऐसा दुर्मेध यानी दुर्भग पुरुष जिस धृतिसे स्वप्न, निद्रा, भय, शोक, विषाद और मदका ही सदा धारण करता है, कभी भी उन्हें नहीं छोड़ता, वह निद्रा आदिका धारण करनेवाली धृति तामस कहलाती है । सम्पूर्ण व्यवहारोंकी हेतु बुद्धिका त्रैविध्य सिद्ध होनेपर उसके द्वारभूत श्रोत्र आदि करणोंके भी सात्त्विक आदि भेद हैं, ऐसा सूचित किया ॥ ३५ ॥

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥ ३६ ॥
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥ ३७ ॥

अर्जुन, अब तुम मुझसे तीन प्रकारका सुख सुनो, जिस समाधिसुखमें अभ्याससे (चिरकालिक परिचयसे) पुरुष रमण करता है और रमण करता हुआ दुःखके अन्तको प्राप्त होता है, वह सात्त्विक सुख है ॥ ३६ ॥

हे अर्जुन, जो पहले विषके सदृश होता है और परिणाममें अमृततुल्य है, वह आत्मबुद्धिके प्रसादसे होनेवाला सुख सात्त्विक कहा गया है ॥ ३७ ॥

एवं गुणभेदेन कर्तॄणां करणानां कर्मणां च त्रैविध्यमुक्त्वा कर्मफलस्य सुखस्याऽपि त्रैविध्यं वदन् सात्त्विकसुखस्य स्वरूपमाह द्वाभ्याम्—**सुखं त्विति** ।

स्पष्टार्थः ॥ ३६ ॥

यदिति । यद् ब्राह्मं सुखं निरन्तरं नित्यप्राप्तमप्यग्रे स्वसिद्धेः पूर्वं स्वसिद्धिसाधनस्य विषवत्स्वीकर्तुं दुष्करत्वात्स्वयमपि विषमिव प्राप्तुमनुभवितुं चाऽशक्यमेव भवति । यतः स्वसाधनं सदसद्विवेको दुर्लभो मुमुक्षुत्वं ततो दुर्लभं वैराग्यं ततो दुर्लभं शमादिसंपत्तिस्ततो दुर्लभा संन्यासस्ततोऽपि दुर्लभः श्रद्धैकमूलः श्रवणादिस्ततो दुर्लभः मुक्तेरसाधारणकारणं तज्जन्यं ज्ञानमपरोक्षमतीव दुर्लभतरं तत्परिपाकहेतुः समाधिर्दुर्लभतमस्तत एव स्वसिद्धिसाधनस्य समाध्येकमूलस्य ज्ञानस्य प्राच्योदीच्याङ्गिस्तीव्रमोक्षेच्छैककारणैः सह दुष्प्रापत्वात्स्वयमपि तद्वद् दुष्प्रापं भोक्तुमशक्यं च भव-

---

इस प्रकार गुणोंके भेदसे कर्ता, करण और कर्मोंका त्रैविध्य कहकर कर्मके फलभूत सुखका भी त्रैविध्य कह रहे श्रीभगवान् पहले दो श्लोकोंसे सात्त्विक सुखका स्वरूप कहते हैं—'सुखं तु' इत्यादिसे ।

इस श्लोकका अर्थ स्पष्ट है ॥ ३६ ॥

'यद्' इत्यादि । ब्राह्म सुख यद्यपि निरन्तर नित्य प्राप्त है, फिर भी आगे यानी उसकी सिद्धिके पहले उसकी सिद्धिके साधनको स्वीकार करना विषके स्वीकारके समान दुष्कर है, अतः वह स्वयं भी विषके समान है यानी उसकी प्राप्ति और अनुभव करना अति कठिन ही है, क्योंकि उसके साधन सत् और असत्का विवेक दुर्लभ है, उससे मुमुक्षुत्व दुर्लभ है, उससे वैराग्य दुर्लभ है, उससे शम आदि संपत्ति दुर्लभ है, उससे संन्यास दुर्लभ है, उससे श्रद्धा ही जिनका एक मूल है, ऐसे श्रवण आदि दुर्लभ हैं, उनसे मुक्तिका असाधारण कारण श्रवण आदिसे जन्य अपरोक्ष ज्ञान अत्यन्त ही दुर्लभतर है और उसके परिपाकका हेतु समाधि तो दुर्लभतम है, उसीसे ब्राह्मसुखकी सिद्धिका साधन, केवल समाधि ही जिसका मूल है, ऐसा

तीत्यर्थः । नन्वेवं सति यतीनां मोक्षसुखापेक्षावतां का गतिरित्याकाङ्क्षायामाह— **परिणाम इति ।** सद्गुरोश्चेश्वरस्याऽनुग्रहात्सिद्धस्य तत्प्राप्तिसाधनस्य ज्ञानस्य नित्यनिरन्तरसमाधिना परिणामे परिपक्वत्वे सिद्धे सत्यमृतोपमं भवति । यथा कालकूटापायेन प्राप्तममृतं देवानां जरामृत्युनिवर्तकं भवति, तथा करणदोषापायेन प्राप्तं तद् ब्राह्मं सुखमपि यतीनां महात्मनां जन्ममरणदुःखप्रवाहविध्वंसकत्वादमृततुल्यं परमानन्दकरं च भवति । ततो ब्रह्मविद्भिः परमहंसैर्मोक्षसुखानुभूतिकामैः साधनशुद्धिसिद्धावेव प्रयत्नः कर्तव्यो न तु साध्यसिद्धये । साधने सिद्धे साध्यं स्वयमेव सिध्यति । यथा चक्षुःसौष्ठवे सिद्धे पूर्णचन्द्रदर्शनाह्लादः सिध्यति तद्वद्यत्सुखमात्मबुद्धिप्रसादजं यया बुद्ध्या ज्ञानेनाऽऽत्मा सच्चिदानन्दैकलक्षणोऽयमहमस्मीति साक्षात्क्रियते, तस्या एव बुद्धेः प्रसादश्चिरकालनित्यनिरन्तरसविकल्पनिर्विकल्पकसमाध्यभ्यासातिशयेन, रजसो रजःकार्याणां च रागद्वेषलोभमोहदम्भदर्पहर्षविषादासूयाहंकारादीनाम्, तमसश्च तमःकार्याणां संशयासंभावनाविपरीतभावनाजाड्यालस्यप्रमादादीनां च सम्यग्भावप्रतिबन्धकानां निःशेषनिवृत्त्या समुत्पन्नः शुद्धस्फटिकवद्दर्पणवदवभासमानो यः स्वच्छत्वगुणः शुद्धसत्त्वाभिधानः तस्माज्जायते । चक्षुषो दोषनिवृत्त्या पूर्णचन्द्रिका-

---

ज्ञान तीव्र मोक्षकी इच्छाके एकमात्र कारण पूर्वोक्त अङ्गोंके साथ दुष्प्राप्य होनेसे स्वयं भी विषके समान है यानी दुष्प्राप्य और उपभोगके लिए अशक्य है, यह अर्थ है । जब ऐसा है, तब मोक्षसुखकी इच्छावाले यतियोंकी क्या गति होगी ? ऐसी आकांक्षा होनेपर कहते हैं— 'परिणामे' इत्यादिसे । सद्गुरु और ईश्वरके अनुग्रहसे सिद्ध, ब्राह्मसुखकी प्राप्तिके साधन ज्ञानका नित्य निरन्तर समाधिसे परिणाम यानी परिपक्वता सिद्ध होनेपर वह अमृतके सदृश होता है । जैसे कालकूटके दूर करनेसे प्राप्त हुआ अमृत देवताओंकी जरा और मृत्युका निवर्तक होता है, वैसे ही करणदोषोंके दूर करनेसे प्राप्त हुआ ब्रह्मसुख भी यति महात्माओंके लिए, जन्ममरणरूप दुःखप्रवाहका नाशक होनेसे, अमृतके समान और परमानन्दकर होता है, इसलिए मोक्षसुखके अनुभवकी इच्छा रखनेवाले परमहंस ब्रह्मविदोंको साधनकी शुद्धिकी सिद्धिके लिए ही प्रयत्न करना चाहिए, साध्यकी सिद्धिके लिए नहीं, क्योंकि साधनके सिद्ध होनेपर साध्य स्वयं ही सिद्ध हो जाता है जैसे चक्षुका सौष्ठव होनेपर पूर्णचन्दके दर्शनका आह्लाद प्राप्त होता है, वैसे ही जो सुख आत्मबुद्धिप्रसादज है (जिस बुद्धिसे—ज्ञानसे—'सच्चिदानन्दैक लक्षणवाला, यह मैं हूँ' यों आत्माका साक्षात्कार किया जाता है, उस बुद्धिका ही प्रसाद—चिरकाल नित्य-निरन्तर सविकल्प और निर्विकल्प समाधिके अभ्यासके अतिशयसे रज और रजके कार्यकी—राग, द्वेष, लोभ, मोह, दम्भ, दर्प, हर्ष, विषाद, असूया, अहंकार आदिकी—तथा तम और तमके कार्यकी—संशय, असंभावना, विपरीतभावना, जाड्य, आलस्य, प्रमाद आदिकी—जो कि आत्मभावनाके प्रतिबन्धक हैं, निःशेषनिवृत्तिसे उत्पन्न हुआ शुद्ध स्फटिकके समान और दर्पणके समान प्रकाशवाला जो शुद्धसत्त्वनामवाला स्वच्छत्व गुण है—उससे उत्पन्न होता है) । चक्षुके दोषकी निवृत्तिसे

वद् बुद्धिवृत्तेः स्वयमेवाऽऽविर्भवतीत्यात्मबुद्धिप्रसादजमित्युच्यते। न तु विषयसुखवज्जायते। जन्यत्वे त्वनित्यत्वपरिच्छिन्नत्वसातिशयत्वादिदोषप्रसङ्गान्मुमुक्षूणामनाशास्यत्वोपपत्तेश्च। ततश्चक्षुषो नैर्मल्यापत्त्या रूपवद् बुद्धिवृत्तेः शुद्धसत्त्वापत्त्याऽप्रयत्नेन स्वयमेव विषयीभवति। नित्यसिद्धत्वात्स्वरूपसुखस्य।

ननु ब्रह्मविदां ब्राह्मं सुखमतिक्लेशसाध्यं विषयसुखं त्वतिसुलभं सुखार्थिभिस्तदेवाऽनुभोक्तव्यमिति चेत्, भवानत्र प्रष्टव्यः। किं वैषयिकं सुखं विषयधर्मो वा करणधर्मो वा कर्मधर्मो वा भोक्तृधर्मो वा देशधर्मो वा कालधर्मो वाऽप्यज्ञानधर्मो वा ज्ञानधर्मो वाऽऽत्मधर्मो वा स्वयं व्यापाराभावस्वरूपं वा दुःखाभावस्वरूपं वेति। नाऽऽद्यः, विषयसंनिधाने पूर्वक्षण इवोत्तरक्षणे सुखादर्शनात्। व्यञ्जकाभावाद्व्यङ्ग्यानुदय इति चेत्, न; दुरदृष्टत्वे पूर्वक्षणेऽपि सुखानुदयप्रसङ्गात् तादृगिष्टविषयासिद्धेश्च। न द्वितीयः, विषयव्यवधाने सुखादर्शनात्। नापि तृतीयः, सुखस्य पुण्यकर्मकार्यत्वेन तद्धर्मत्वानुपपत्तेस्तथात्वे धर्म्युत्पत्त्युत्तरक्षण एव सुखोदयप्रसङ्गात्। न चतुर्थः, भोक्तुः सर्वदा विक्षेपदर्शनात्। नाऽपि पञ्चमः,

---

पूर्णचन्द्रिकाके समान बुद्धिकी वृत्तिसे वह स्वयं प्रकट होता है, अतः 'आत्मबुद्धिप्रसादज' कहा जाता है। विषयके सुखके समान उत्पन्न नहीं होता है। यदि वह जन्य होगा, तो उसमें अनित्यत्व, परिच्छिन्नत्व, सातिशयत्व आदि दोषोंका प्रसङ्ग होगा और मुमुक्षुओंकी इच्छाविषयताका अभाव हो जायगा। इससे चक्षुके निर्मल होनेसे जैसे रूप अपने आप उसका विषय हो जाता है, वैसे ही शुद्धसत्त्वकी प्राप्तिसे बुद्धिवृत्तिका वह प्रयत्नके बिना स्वयं ही विषय हो जाता है, क्योंकि स्वरूप सुख नित्यसिद्ध है।

ब्रह्मविदोंका ब्रह्मसुख अतिक्लेशसे साध्य है, विषयसुख तो अतिसुलभ है, अतः सुखकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको उसीका उपभोग करना चाहिए, ऐसा यदि कहो, तो इस विषयमें तुमसे यह प्रश्न होगा कि क्या वैषयिक सुख विषयका धर्म है या करणका धर्म है या कर्मका धर्म है या भोक्ताका धर्म है या देशका धर्म है या कालका धर्म है या अज्ञानका धर्म है या ज्ञानका धर्म है या आत्माका धर्म है या स्वयं व्यापाराभावस्वरूप है अथवा दुःखाभावस्वरूप है? पहला पक्ष तो युक्त है नहीं, क्योंकि विषयके सन्निधानमें पूर्वक्षणके समान उत्तरक्षणमें सुख देखनेमें नहीं आता। यदि कहो कि व्यञ्जकके अभावसे व्यङ्ग्यका उदय नहीं होता, तो ऐसा कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि प्रारब्ध खोटा होनेपर पूर्व क्षणमें भी सुखके अनुदयका प्रसङ्ग होगा और उक्त इष्ट विषयकी असिद्धि हो जायगी। दूसरा भी पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि विषयका व्यवधान होनेपर सुख देखनेमें नहीं आता। तीसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि सुख पुण्यकर्मका कार्य होनेसे उसका धर्म नहीं हो सकता, ऐसा होनेसे धर्मीकी उत्पत्तिके उत्तर क्षणमें ही सुखके उदयका प्रसंग आवेगा। चौथा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि भोक्ताका सर्वदा विक्षेप देखनेमें

सुखार्थिनः स्वर्गगमनाभावप्रसङ्गात् स्वर्गस्थानामपि दुःखश्रवणाच्च । नापि षष्ठः, शीतातपवत्सार्वत्रिकत्वप्रसङ्गात् । नाप्यज्ञानधर्मः, वस्तुनो भोग्यत्वाज्ञाने सुखादर्शनात् । नाऽपि ज्ञानधर्मः, वस्तुरम्यत्वज्ञानेऽपि विरक्तस्य सुखानुदयात् । सुखं करणव्यापाराभावस्वरूपं न भवति, स्वप्ने सुखादर्शनात्, करणव्यापारवति भोजनादौ सुखदर्शनाच्च । नाऽपि च दुःखाभावस्वरूपम्, दुःखाभाववति मृत्पिण्डे सुखादर्शनात् । अचेतनत्वात्तत्र तदभिव्यक्त्यभाव इति चेत्, न; दुःखाभाववत्यां बुद्ध्यस्फूर्तौ सुखादर्शनात् । यदुक्तं मूढतमेन दुःखाभावः सुखमिति, तन्न; सुखस्य भावत्वेनाऽभावरूपत्वानुपपत्तेः । नैवैतेन पशुकल्पेन सौषुप्तिकसुखमनुभूतं निर्विषयम् । अत एवोक्तं दुःखाभावः सुखमिति । तर्हि सुखमात्मन एव धर्म इति चेत्, न; सुखमात्मनः स्वरूपम्, न तु धर्मः । धर्मत्वे धर्मनाशादात्मनोऽपि नाशप्रसङ्गात् । ननु स्वरूपत्वेऽपि सुखस्य क्षणिकत्वात् स्वरूपभूतसुखनाशे त्वात्मनोऽपि नाश एवेति चेत्, न; 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' इत्यात्मनो नित्यत्वश्रवणात्तत्स्वरूपभूतसुखस्याऽपि नित्यत्वसिद्धेः । ननु सुखं यथाऽऽत्मनः स्वरूपं तथा दुःखमप्यात्मन एव स्वरूपं भवतु,

---

आता है । पाँचवां पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि सुखार्थीका स्वर्गमें गमन नहीं होगा और स्वर्गस्थ जीवोंका भी दुःख सुननेमें आता है । छठा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि सुख शीत और गर्मीके समान सर्वत्र प्राप्त हो जायगा । अज्ञानका भी धर्म नहीं है, क्योंकि वस्तुकी भोग्यताका परिज्ञान न होनेपर सुख देखनेमें नहीं आता । ज्ञानका धर्म भी नहीं है, क्योंकि वस्तुके रम्यत्वका ज्ञान होनेपर भी विरक्तको सुख नहीं होता । करणके व्यापारोंका अभाव भी सुख नहीं है, क्योंकि स्वप्नमें सुख देखनेमें नहीं आता और करणके व्यापारसे युक्त भोजन आदिमें सुख देखनेमें आता है । दुःखका अभाव भी सुख नहीं है, क्योंकि दुःखके अभावसे युक्त मिट्टीके पिण्डमें सुख देखनेमें नहीं आता । यदि कहो कि अचेतन होनेसे उसमें उसकी अभिव्यक्तिका अभाव है, तो वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि दुःखाभाववती बुद्धिकी अस्फूर्तिमें सुख देखनेमें नहीं आता । मूढतमने यह जो कहा था कि दुःखका अभाव सुख है, वह भी युक्त नहीं है क्योंकि सुख भावरूप है, अतः उसमें अभावत्व युक्त नहीं है । इस पशुतुल्य पुरुषने सुषुप्तिके निर्विषय सुखका अनुभव ही नहीं किया है, इसलिए कहता है कि दुःखका अभाव सुख है । तब सुख आत्माका ही धर्म है, ऐसा यदि कहो, तो वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि सुख आत्माका स्वरूप है, धर्म नहीं है, क्योंकि यदि धर्म होगा तो धर्मका नाश होनेपर आत्माके नाशका प्रसंग आवेगा । स्वरूप होनेपर सुखके क्षणिक होनेसे स्वरूपभूत सुखका नाश होनेपर आत्माका भी नाश है ही, ऐसा यदि कहो, तो वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'आकाशके समान सर्वगत नित्य' इससे आत्मा नित्य है, ऐसा सुननेमें आता है, इसलिए उसका स्वरूपभूत सुख भी नित्य ही है । जैसे सुख आत्माका स्वरूप है, वैसे ही दुःख भी आत्माका स्वरूप ही हो, क्योंकि 'मैं सुखी, मैं दुःखी'

सुख्यहं दुःख्यहमिति सुखदुःखप्रत्यययोरेकविषयत्वदर्शनादिति चेत्, न; मृतोऽस्मीतिवद् दुःख्यहमिति प्रत्ययस्य संमोहकार्यत्वेन मिथ्यात्वोपपत्तेः । नहि पुत्रे मृते 'मृतोऽहमस्मि इति वक्तुर्मरणमस्ति मोहादारोपणं विना, तद्वद् दुःख्यहमिति दुःखित्वप्रत्ययस्याऽऽत्मनि मोहादारोपितत्वान्मिथ्यात्वमेव । दुःखस्याऽऽत्मनः स्वरूपत्वे सुषुप्तावुपलभ्येत सुखमहमस्वाप्समिति सुखोपलब्धिवत्, तदुपलम्भाभावाद् दुःखमात्मनः स्वरूपं न भवति । सुखमेवाऽऽत्मस्वरूपम् । सुखस्यैवाऽऽत्मस्वरूपत्वे सुखमहमस्वाप्समिति प्रत्यक्षं प्रमाणम् । आत्मा सुखस्वरूपः, सुषुप्तौ सुखमात्रोपलम्भात्, समाधिवदित्यनुमानं च । 'सच्चिदानन्दमात्रमेकरसम्', 'बुद्धः सुखस्वरूप आत्मा', 'सद्घनोऽयं चिद्घन आनन्दघनः' इति श्रुतिश्च । मुमुक्षुप्रवृत्त्यन्यथानुपपत्तिप्रसूतार्थापत्तिरपि च प्रमाणम् । तर्हि दुःखं कस्य स्वरूपमिति चेदनात्मन एव स्वरूपमिति ब्रूमः । अनृतजडदुःखात्मकत्वमनात्मनः सर्वप्रसिद्धेः । 'अतोऽन्यदार्तम्' इति 'नाल्पे सुखमस्ति' इति 'तदेतज्जडं मोहात्मकं अन्तवत्तुच्छम्' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धेश्च । ननु सुखस्याऽऽत्मरूपत्वे सिद्धे विषयसुखमिति व्यपदेशः कथमिति चेत्, उच्यते; पुण्यकर्मवशात्पुरुषस्येष्टपदार्थसान्निध्ये सत्यन्तःकरणे सत्त्वमाविर्भवति । तत्राऽऽनन्दस्वरूप आत्मा प्रतिबिम्बति । प्रतिबिम्बात्मानन्दस्फूर्तिरेव विषयसान्निध्याद्विषयसुखमित्युच्यते । पुण्यतारतम्यात्

इस प्रकार सुख-दुःख प्रतीतिमें एकविषयत्व देखनेमें आता है, ऐसा यदि कहो, तो वह भी युक्त नहीं, 'मैं मरा' इस प्रतीतिके समान 'मैं दुःखी हूँ' यह प्रत्यय मोहका कार्य होनेसे मिथ्या है । पुत्रके मरनेपर 'मैं मरा' यों कहनेवाले पुरुषका मरण मोहसे आरोपणके सिवा दूसरा नहीं है, इसी प्रकार मैं दुःखी हूँ, यह दुःखित्वप्रत्यय आत्मामें मोहसे आरोपित होनेके कारण मिथ्या ही है । यदि दुःख आत्माका स्वरूप होता, तो सुषुप्तिमें 'मैं सुखसे सोया' यों जैसे सुखका उपलम्भ होता है, वैसे दुःखकी भी उपलब्धि होती, पर दुःखकी उपलब्धि नहीं होती, इसलिए दुःख आत्माका स्वरूप नहीं है । सुख ही आत्माका स्वरूप है । सुखसे मैं सोया, यह प्रत्यक्ष सुखकी ही आत्मस्वरूपतामें प्रमाण है । 'आत्मा सुखस्वरूप है, सुषुप्तिमें सुखमात्रका उपलम्भ होनेसे, समाधिके समान यह अनुमान सुखकी ही आत्मरूपतामें प्रमाण है और 'सच्चिदानन्दमात्र एकरस', 'बुद्ध सुखस्वरूप आत्मा', 'सद्घन, चिद्घन, आनन्दघन' यह श्रुति तथा मुमुक्षुकी प्रवृत्तिकी अन्यथानुपपत्तिसे जनित अर्थापत्ति भी उक्त अर्थमें प्रमाण है । तब दुःख किसका स्वरूप है ? अनात्माका स्वरूप है, ऐसा हम कहते हैं । क्योंकि अनात्मा मिथ्या, जड़ और दुःखात्मा है, यह सबपर विदित है । 'इससे अन्य मिथ्या है', 'अल्पमें सुख नहीं है', 'वह यह जड़ मोहात्मक, अन्तवाला, तुच्छ' इत्यादि श्रुतिप्रसिद्ध हैं । सुख आत्मस्वरूप है, ऐसा सिद्ध होनेपर विषयसुख, ऐसा कैसे कहा जा सकता है ? ऐसा यदि कहो, तो कहते हैं—पुण्यकर्मवश पुरुषके अन्तःकरणमें इष्ट पदार्थकी संनिधि होनेपर सत्त्व प्रकट होता है, उसमें आनन्दस्वरूप आत्मा प्रतिबिम्बित होता है । प्रतिबिम्बरूप आत्मानन्दकी स्फूर्ति ही विषयके सान्निध्यसे विषयसुख कहलाती है । पुण्यके तारतम्यसे सत्त्वका तारतम्य होता है,

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोऽपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥

विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे जायमान जो सुख सेवन करनेवालेको पहले अमृतके सदृश प्रतीत होता है और परिणाममें विषके सदृश उसका नाशक होता है, वह सुख राजस है ॥ ३८ ॥

सत्त्वतारतम्यं सत्त्वतारतम्यात्प्रतिबिम्बस्फूर्तेश्च तारतम्यम्, तेन सुखस्याऽपि तरतमभावः। तत एव श्रूयते—'एतस्यैवानन्दस्याऽन्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' इति, ततो विषयसुखमाभासिकं महान्तो ब्रह्मविदो नाऽपेक्षन्ते पूर्णानन्दामृतरसपायिनः । नन्वात्मन आनन्दस्वरूपत्वात् परिपूर्णत्वाच्च सदा सर्वत्र सर्वेषामयत्नतः सुखानुभूतिः स्वयमेव स्यादिति चेत्, न; वृत्तिशुद्धिसापेक्षत्वादात्मस्वरूपोपलब्धेः । यद्वद्राकाचन्द्रचन्द्रिकायाः परिपूर्णत्वेऽपि तद्दर्शनाह्लादश्चक्षुःसौष्ठवमपेक्षते तद्वदात्मानन्दानुभूतिरपि बुद्धिप्रसादमपेक्षते । तत एवोच्यते भगवताऽप्यात्मबुद्धिप्रसादजमिति । एवमात्मबुद्धिप्रसादजं नित्यं निरन्तरं निरपेक्षं निरतिशयं निरवधिकं यद् ब्राह्मं सुखं तत्सात्त्विकं सत्त्वाविर्भूत्या आविर्भूतत्वात् सात्त्विकमिति महर्षयो वदन्तीत्यर्थः ॥ ३७ ॥

राजसं सुखमाह—विषयेति ।

विषयेन्द्रियसंयोगाद्विषयाणामिन्द्रियाणां च संसर्गाज्जायमानं यद्वैषयिकं सुखमग्रे पूर्वं स्वानुभूतिकाले स्वानुसेविनः पुरुषस्याऽमृतोपमं सुधाकल्पं सत् 'भूयो भूयो

सत्त्वके तारतम्यसे प्रतिबिम्बकी स्फूर्तिका तारतम्य होता है इससे सुखका भी तारतम्य होता है । इसीलिए सुननेमें आता है—इस आनन्दकी मात्राका ही अन्य भूत भोग करते हैं'। इसलिए आभासिक विषयसुखकी पूर्णानन्द अमृतरस पीनेवाले बड़े बड़े ब्रह्मवित् इच्छा नहीं करते । आत्मा आनन्दस्वरूप और पूर्ण होनेसे सदा सर्वत्र सबको प्रयत्नके विना सुखका अनुभव स्वयं ही होना चाहिए, ऐसा यदि कहो, तो वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि आत्मस्वरूपकी उपलब्धिमें वृत्तिकी शुद्धिकी अपेक्षा है । जैसे पूर्णमासीके चन्द्रमाकी चांदनीके परिपूर्ण होनेपर भी उसके दर्शनका आह्लाद चक्षुकी सौष्ठवताकी अपेक्षा करता है, इसी प्रकार आत्मानन्दका अनुभव भी बुद्धिके प्रसादकी अपेक्षा करता है । इसीलिए भगवान्ने भी कहा है—'आत्मबुद्धिप्रसादजम्' । इस प्रकार आत्मबुद्धिप्रसादसे जनित नित्य, निरन्तर, निरपेक्ष, निरतिशय तथा निरवधिक जो ब्राह्मसुख है, वह सात्त्विक है । सत्त्वगुणके आविर्भावसे आविर्भूत होनेके कारण सात्त्विक है, ऐसा महर्षि कहते हैं, यह अर्थ है ॥ ३७ ॥

राजस सुखको कहते हैं—'विषये०' इत्यादिसे ।

विषयेन्द्रियसंयोगसे—विषयोंके और इन्द्रियोंके संसर्गसे—उत्पन्न होनेवाला जो विषयसुख पहले यानी अपने अनुभव-कालमें अपना अनुभव करनेवाले पुरुषको अमृतोपम—सुधाके तुल्य—

यदग्रे चाऽनुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥

अपनी उत्पत्ति और विनाश-दशामें विवेकहेतु बुद्धिका तिरोधान करनेवाला निद्रा, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न जो सुख है, वह तामस कहलाता है ॥ ३९ ॥

विवर्धत'इति न्यायेन स्वविषयकाण्येवाऽविद्याकामकर्माणि प्रवर्धयति । परिणामे स्वकार्यफलकाले स्वानुषक्तं पुरुषं विषमिव हन्ति स्वकार्येण योजयित्वा 'स कामभिर्जायते तत्र तत्र' इति न्यायेन नानायोनिषु पातयित्वा मुहुर्मुहुर्मृत्युं गमयतीत्यर्थः । यदेवंलक्षणं वैषयिकं सुखं तद्राजसं रजोगुणेन कामेन संभावितत्वाद्राजसमिति मुनिभिः स्मृतम् । उक्तमित्यर्थः ॥ ३८ ॥

तामसं सुखमाह—**यदग्र इति** ।

अग्रे स्वोत्पत्तिकाले चाऽनुबन्धे च परिणामकालेऽवसानेऽप्यात्मनः सदसद्विवेकहेतोर्बुद्धेर्मोहनं मोहकारकं विवेकशक्तितिरोधायकं निद्रालस्यप्रमादोत्थं निद्रा प्रसिद्धा, आलस्यं बुद्धिजाड्यम्, प्रमादो बुद्धिपारवश्यमेतेभ्यः समुत्पन्नं यत्सुखं तत्तामसं तमोगुणनिष्पन्नत्वात्तामसमिति ऋषिभिरुदाहृतमित्यर्थः ॥ ३९ ॥

क्रियाकारकफलानां विभज्य त्रिगुणात्मकत्वं प्रतिपाद्याऽविभागेन सर्वं त्रिगुणात्मकमेवेत्याह—**न तदिति** ।

होकर 'फिर फिर बढ़ता है' इस न्यायसे स्वविषयक अविद्या, काम और कर्मको बढ़ाता है और परिणाममें—अपने कार्यके (अविद्या, काम और कर्मके वर्धनके) फल-कालमें—अपनेमें आसक्ति रखनेवाले पुरुषको विषके समान मारता है, अपने कार्यसे सम्बद्ध करके 'वह कामनाओंसे तत्-तत् योनियोंमें जन्मग्रहण करता है' इस न्यायसे अनेक योनियोंमें गिराकर बार बार मृत्युको प्राप्त कराता है, यह अर्थ है । जो इस प्रकारके स्वरूपसे युक्त विषयोंका सुख है, वह राजस है । रजोगुणसे—कामसे—उत्पन्न होनेके कारण—राजस है, ऐसा मुनियोंने स्मरण किया है । कहा है, यह अर्थ है ॥ ३८ ॥

तामस सुखको कहते हैं—'यदग्रे' इत्यादिसे ।

पहले—अपनी उत्पत्तिके समयमें—और अनुबन्धमें—परिणामकालमें—यानी अन्तमें भी आत्माका—सत्य और असत्यके विवेककी हेतु बुद्धिका—मोहन—मोहकारक—यानी विवेकशक्तिको ढांकनेवाला निद्रालस्यप्रमादोत्थ (निद्रा—प्रसिद्ध है—, आलस्य—बुद्धिकी जड़ता—और प्रमाद यानी बुद्धिकी परवशता, इनसे उत्पन्न हुआ) जो सुख है, वह तामस है । तमोगुणसे उत्पन्न होनेके कारण तामस है, ऐसा ऋषियोंने कहा है, यह अर्थ है ॥ ३९ ॥

क्रिया, कारक और फल त्रिगुणात्मक हैं, ऐसा विभागशः प्रतिपादन करके अब अविभागसे सब त्रिगुणात्मक हैं, ऐसा कहते हैं—'न तद्' इत्यादिसे ।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥ ४० ॥
ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ ४१ ॥

पृथ्वीमें या पातालमें या स्वर्गमें अथवा ब्रह्मा आदि देवताओंमें कोई भी ऐसा प्राणी नहीं है, जो प्रकृतिसे उत्पन्न उक्त सत्त्व आदि तीन गुणोंसे रहित हो॥ ४० ॥

हे परन्तप, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके कर्म स्वभावजनित सत्त्व आदि गुणोंके अनुसार शास्त्रोंने विभक्त किये हैं ॥ ४१ ॥

पृथिव्यां भूलोके वाशब्दात्पाताले दिवि स्वर्गे वा देवेषु ब्रह्मादिषु वा । पुनः शब्दो वार्थः । प्रकृतिजैः प्रकृतिसमुत्पन्नैरेभिरुक्तलक्षणैस्त्रिभिस्त्रिविधैर्गुणैः सत्त्वादिभिर्मुक्तं परित्यक्तमस्पृष्टं यत्स्याद्भवेत्तत्सत्त्वं द्रव्यं प्राणि वा त्रिलोक्यां नाऽस्ति । त्रिगुणात्मकमायाकार्यत्वाज्जगत्सर्वमपि त्रिगुणात्मकमेवेत्यर्थः ॥ ४० ॥

एवं सर्वस्याऽपि जगतो गुणत्रयात्मकत्वे सिद्धे गुणत्रयातिक्रमणं कृतवत एव-मुक्तिरिति गुणानत्येतुमिच्छोर्मुमुक्षोस्तदतिक्रमसिद्धेः परमकारणं ज्ञानं तत्सिद्धेः कारणं सत्त्वशुद्धिस्तत्कारणं तु कर्मैव तदेवाऽवश्यं कर्तव्यमिति वैदिकानां कर्मणां सर्वेषां कर्तव्यतायां प्राप्तायां ब्राह्मणादीनां मुमुक्षूणां येषां येषां स्वस्वगुणानुरूपेण यानि यानि कर्माणि विभक्तानि भवन्ति तैस्तैस्तानि तान्येव कर्तव्यानि न त्वितराणीति नियमं दर्शयति—**ब्राह्मणेति** ।

पृथिवीमें—भूलोकमें—, वाशब्दसे पातालमें, दिव्में—स्वर्गमें—अथवा देवोंमें यानी ब्रह्मादिमें । पुनःशब्द वाके अर्थमें है । प्रकृतिज—प्रकृतिसे उत्पन्न हुए—इन उक्त लक्षणवाले तीनोंसे—तीन प्रकारके सत्त्व आदि गुणोंसे—मुक्त—परित्यक्त—अस्पृष्ट कोई हो, ऐसा सत्त्व—द्रव्य अथवा प्राणी—त्रिलोकीमें नहीं है । त्रिगुणात्मक मायाका कार्य होनेसे सब जगत् त्रिगुणात्मक ही है, यह अर्थ है ॥ ४० ॥

इस प्रकार सभी जगत् त्रिगुणात्मक है, ऐसा सिद्ध हो चुकनेपर तीनों गुणोंका अतिक्रमण कर चुकनेवाले पुरुषकी ही मुक्ति होती है, इसलिए गुणोंका अतिक्रमण करनेकी इच्छावाले मुमुक्षुके गुणातिक्रमणकी सिद्धिका परम कारण ज्ञान है, उसकी सिद्धिका कारण सत्त्वशुद्धि है और सत्त्वशुद्धिका कारण कर्म ही है, अतः मुमुक्षुको उसीका अवश्य अनुष्ठान करना चाहिए, इस प्रकार सब वैदिक कर्मोंकी कर्तव्यता प्राप्त होनेपर जिन-जिन ब्राह्मण आदि मुमुक्षुओंके लिए अपने-अपने गुणोंके अनुसार जो-जो कर्म विभक्त हैं, उन उनको उन उन कर्मोंका ही अनुष्ठान करना चाहिए, दूसरे कर्मोंका नहीं, ऐसा नियम दिखलाते हैं—'ब्राह्मण०' इत्यादिसे ।

ब्राह्मणाश्च क्षत्रियाश्च विशश्च तेषां ब्राह्मणक्षत्रियविशामित्यत्र जात्या विषमत्वेऽपि उपनयनाध्ययनयाजनादिकर्मभिराश्रमेण च समत्वाद्धर्मतः समानानां समासकरणमविरुद्धम् । शूद्राणां चेति पृथक्करणं जात्या धर्मेण क्रियया च विषमत्वान्न विरुद्धम् । एवं तेषां ब्राह्मणादीनां शूद्राणां च नियमेन कर्तव्यानि कर्माणि स्वभावप्रभवैः स्वभावः प्रकृतिस्तत्प्रभवैर्गुणैः सत्त्वादिभिः प्रविभक्तानि प्रकर्षेण विभक्तानि गुणवतां गुणभेदेन कर्माण्यपि भिन्नानि गुणैरसंकीर्णत्वेन व्यवस्थापितानि भवन्तीत्यर्थः । यद्वा स्वभावप्रभवैः ब्राह्मणस्वभावः केवलसत्त्वगुणप्रभवः, क्षत्रियस्वभावः सत्त्वमिश्रितरजःप्रभवः, वैश्यस्वभावः रजोमिश्रिततमःप्रभवः, शूद्रस्वभावः केवलतमःप्रभवः, एवं सत्त्वादिगुणभेदेन तत्तद्गुणवतां ब्राह्मणादीनां शूद्राणां च कर्तव्यानि कर्माण्यपि भिद्यन्त इत्यर्थः । यद्वा 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' इति श्रुत्युक्तप्रकारेण चत्वारो वर्णा ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रास्तेषाम् 'पूर्वः पूर्वो जन्मतः श्रेयान्' इति न्यायेन च भव एव भावो जननं स्वः स्वकीयो भावः स्वभावः । यद्वा स्वेषां भावः स्वभावः मुखबाह्वादिभ्यो जननं प्रभवः कारणं येषां तैः स्वभावप्रभवैः स्वजन्मनिमित्तकैर्गुणैरुत्तमत्वमध्यमत्वनिकृष्टत्वातिनिकृष्टत्वैरुपलक्षितानां ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राणां नियमेन कर्तव्यानि यानि कर्माणि तानि जन्मत उत्कृष्टत्वादिभेदेन विभक्तानि शास्त्रेण विभज्य विहितानीत्यर्थः ॥ ४१ ॥

ब्राह्मणक्षत्रियविशां यानी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंका । ब्राह्मण आदिमें जातिसे विषमता होनेपर भी उपनयन, अध्ययन, यजन आदि कर्मोंसे और आश्रमसे उनकी समता होनेके कारण धर्मतः वे बराबर हैं, अतः उनका समास करना प्रकृतमें विरुद्ध नहीं है । 'शूद्राणाम्' यह पृथक्करण जातिसे, धर्मसे और क्रियासे विषमता होनेके कारण विरुद्ध नहीं है । इस प्रकार उन ब्राह्मण आदिके और शूद्रोंके नियमसे कर्तव्य कर्म स्वभावप्रभव (स्वभावसे—प्रकृतिसे—उत्पन्न हुए) सत्त्व आदि गुणोंसे प्रविभक्त—प्रकर्षसे विभक्त—हैं । गुणवालोंके गुणोंके भेदसे कर्म भी भिन्न-भिन्न हैं यानी गुणोंके द्वारा पृथक्‌रूपसे व्यवस्थापित हैं, यह अर्थ है । अथवा स्वभावप्रभव यानी ब्राह्मणका स्वभाव केवल सत्त्वगुणसे उत्पन्न है, क्षत्रियका स्वभाव सत्त्वमिश्रित रजोगुणसे उत्पन्न है, वैश्यका स्वभाव रजोमिश्रित तमसे उत्पन्न है, शूद्रका स्वभाव केवल तमोगुणसे उत्पन्न है । इस प्रकार सत्त्व आदि गुणोंके भेदसे उन-उन गुणवाले ब्राह्मण आदिके और शूद्रोंके कर्तव्य कर्म भी भिन्न-भिन्न हैं, यह अर्थ है । अथवा 'ब्राह्मण इसका मुख हुआ' इस श्रुति द्वारा उक्त प्रकारसे चार वर्णोंमें—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रमें—'पूर्व पूर्व जन्मसे श्रेष्ठ है' इस न्यायसे भव ही भाव—जनन—स्वकीय भाव स्वभाव है । अथवा अपना अपना भाव स्वभाव है, मुख, बाहु आदिसे जनन है—प्रभव—कारण जिनका, उन स्वभावप्रभव—स्वजन्मनिमित्तक—उत्तमत्व, मध्यमत्व, निकृष्टत्व और अतिनिकृष्टत्वरूप गुणोंसे उपलक्षित ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके नियमसे कर्तव्य जो कर्म हैं, वे जन्मतः उत्कृष्टत्व आदि भेदसे विभक्त हैं । शास्त्रने विभाग करके उनका विधान किया है, यह अर्थ है ॥ ४१ ॥

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्राह्मं कर्म स्वभावजम् ॥ ४२ ॥

शम, दम, तप, शौच (बाह्य और आभ्यन्तर शुद्धि), क्षमा, अकुटिलता, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिक्य यह कर्म ब्राह्मण जातिका स्वाभाविक है ॥ ४२ ॥

तेषां जातिनियमेन विभक्तानि तानि कर्माणि कानीत्यत आह—**शम इति** ।

शमश्चित्तस्योपरमः दृष्टादृष्टविषये सर्वत्र निःशेषभोगाशानिवृत्तिः । दम इन्द्रियाणामुपरमः निषिद्धार्थेष्वप्रवृत्तिः । तपः सप्तदशे प्रोक्तं शारीरादित्रिविधं तपः । शौचं बाह्याभ्यन्तरा च शुद्धिः, अनृतस्य परान्नस्य च त्यागेन वक्त्रस्य जिह्वायाश्च शुद्धिः, प्रतिग्रहत्यागेन पाणिशुद्धिर्विहितब्रह्मचर्येण कच्छशुद्धिः, रागद्वेषादिदोषत्यागेन मनःशुद्धिः, विहिताचरणेन क्रियाशुद्धिरिति षोढा शौचम् । क्षान्तिः क्षमा निन्दाक्रोशताडनादिप्रसक्तावपि चित्तविकारानुदयः । आर्जवं सर्वदा करणत्रयस्यैकरूपत्वम् । ज्ञानं सम्यगधीतवेदशास्त्राणां पदवाक्यार्थज्ञानम् । विज्ञानं त्वनुष्ठानानुष्ठापनक्षमं निरङ्कुशं शास्त्रार्थतत्त्वनिश्चयः । आस्तिक्यमास्तिकत्वमिदमवश्यं कर्तव्यमनेनेश्वरः प्रीयत इति कर्मणि कर्मफले च श्रद्धा । चकारोऽनुक्तयोराचार्यवेदेश्वरेषु भयभक्त्योः समुच्चयार्थः । एवकार एतदेव ब्राह्मणस्य मुमुक्षोः कर्तव्यं कर्मेत्यवधारणार्थः । स्वभावजं केवलसत्त्वप्रकृतितो मुखादुत्पत्तितो वा प्राप्तं ब्राह्मं ब्राह्मणजातेरर्हं कर्तव्यं कर्मेदं शास्त्रेण

उनके जातिनियमसे विभक्त वे कर्म कौन हैं ? ऐसा प्रश्न होनेपर कहते हैं—'**शमो**' इत्यादिसे ।

शम—चित्तका उपरम—यानी दृष्ट एवं अदृष्ट सब विषयोंमें भोगेच्छाकी निःशेष निवृत्ति । दम—इन्द्रियोंका उपरम—यानी निषिद्ध अर्थोंमें अप्रवृत्ति । तप यानी सत्रहवें अध्यायमें कहा गया शारीर आदि तीन प्रकारका तप । शौच यानी बाह्य और आन्तरकी शुद्धि, असत्य भाषण और पराये अन्न के त्यागसे मुख और जिह्वाकी शुद्धि, प्रतिग्रहके त्यागसे हाथकी शुद्धि, विहित ब्रह्मचर्यसे कच्छकी शुद्धि, राग, द्वेष आदि दोषोंके त्यागसे मनकी शुद्धि, विहितके आचरणसे क्रियाकी शुद्धि, यों छः प्रकारका शौच । क्षान्ति यानी क्षमा, निन्दा, गालीप्रदान, ताड़न आदि होनेपर भी चित्तमें विकारका न होना । आर्जव यानी तीन प्रकारकी सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी एकरूपता । ज्ञान यानी भलीभाँति पढ़े गये वेदशास्त्रोंके पदवाक्यके अर्थका ज्ञान । विज्ञान यानी अनुष्ठान करने करानेमें समर्थ निरङ्कुश शास्त्रार्थके तत्त्वका निश्चय । आस्तिक्य—आस्तिकत्व—यानी यह अवश्य कर्तव्य है, इससे ईश्वर प्रसन्न होते हैं, यों कर्ममें और कर्मके फलमें श्रद्धा, चकार नहीं कहे गये आचार्य, वेद और ईश्वरमें भय और भक्तिके समुच्चयके लिए है । एवकार ब्राह्मण मुमुक्षुका यही कर्तव्य कर्म है, ऐसा अवधारण करनेके लिए है । स्वभावज—केवल सत्त्वगुणात्मिका प्रकृतिसे अथवा मुखसे जन्मतः प्राप्त—ब्राह्म—ब्राह्मण जातिके योग्य—यह कर्तव्य कर्म शास्त्रसे

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाऽप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥ ४३ ॥

शौर्य, तेज, धृति, दक्षता, युद्धमें अपलायन, दान, धर्मतः प्रजापालन ये सब क्षत्रियोंके स्वाभाविक कर्म हैं ॥ ४३ ॥

विहितमित्यर्थः । यद्यपि त्रैवर्णिकानां मुमुक्षूणां सर्वेषां शमाद्यास्तिक्यान्तं कर्म मोक्षसाधनत्वेन सममेव भवति, तथापि केवलं सत्त्वप्रभवानां ब्राह्मणानां गुडस्य माधुर्यवन्निरुक्तं कर्म स्वाभाविकं नियतं च भवति, तदितरेषां तु यत्नसाध्यमिति बोधयितुं ब्राह्मं कर्मेत्युक्तम् । तेन ब्राह्मणानामेव सत्त्वाधिक्याच्छमादिसंपत्तिस्तदेकसाध्ये ज्ञाने तत्फले मोक्षे चाऽधिकारो न त्वितरेषामिति सूचितं भवति । ततो मोक्षस्य सन्निकृष्टं ब्राह्मणजन्म प्राप्तवद्भिः पण्डितैः क्षिप्रं मोक्षाय यतितव्यमिति सिद्धम् ॥ ४२ ॥

एवं ब्राह्मं कर्मोक्त्वा क्षात्रं कर्माऽऽह—**शौर्यमिति** ।

शूरस्य भावः शौर्यं पराक्रमो वीराणामपि संहरणसामर्थ्यम् । तेजः प्रागल्भ्यं बलवतामपि दुर्धर्षत्वम् । धृतिर्विपदि चित्तस्य वैकल्यराहित्यं धैर्यम् । दाक्ष्यं दक्षस्य भावो दाक्ष्यं प्रातिकूल्यशतेऽपि स्वकार्यनिर्वाहसामर्थ्यञ्च । युद्धे त्वपलायनं प्राणान्तेऽप्यपराङ्मुखत्वम् । दानं पात्रेभ्यो वित्तसमर्पणम् । ईश्वरभाव ऐश्वर्यं प्रभावातिशयेन सर्वनियन्तृत्वं धर्मेण प्रजापरिपालनमित्यर्थः । चकारोऽपिश्चोक्तसमुच्चयार्थः ।

विहित है, यह अर्थ है । यद्यपि तीन वर्णोंके सब मुमुक्षुओंके लिए शमसे लेकर आस्तिक्यतक कर्म मोक्षका साधन होनेसे समान ही है, तो भी केवल सत्त्वप्रभव ब्राह्मणोंका गुड़के माधुर्यके समान निरुक्त कर्म स्वाभाविक और नियत है, इसके सिवा दूसरोंका यत्नसाध्य है, ऐसा बोधन करनेके लिए 'ब्राह्म कर्म' कहा गया है । इससे सूचित होता है कि ब्राह्मणोंकी ही, सत्त्वकी अधिकता होनेसे, शम आदि संपत्ति है और केवल शमादिसे साध्य ज्ञान और उसके फल मोक्षमें अधिकार है, दूसरोंका नहीं । इसलिए मोक्षके सन्निकृष्ट ब्राह्मणजन्मको प्राप्त हुए पण्डितोंको शीघ्र ही मोक्षके लिए यत्न करना चाहिए, यह सिद्ध हुआ ॥ ४२ ॥

इस प्रकार ब्राह्म कर्मको कहकर क्षात्र कर्मको कहते हैं—'शौर्यम्' इत्यादिसे ।

शूरका भाव शौर्य, पराक्रम यानी वीरोंका भी संहार करनेकी सामर्थ्य । तेज यानी प्रागल्भ्य यानी बलवानोंसे भी अभिभूत न होना । धृति यानी विपत्तिमें चित्तका विकल न होना अर्थात् धैर्य । दाक्ष्य यानी दक्षका भाव दाक्ष्य, सैकड़ों प्रतिकूलताएँ होनेपर भी अपने कार्यका निर्वाह करनेकी सामर्थ्य । युद्धमें अपलायन यानी प्राणान्तकी संभावना होनेपर भी मुख न मोड़ना । दान यानी पात्रोंको धन देना। ईश्वरभाव—ऐश्वर्य—यानी प्रभावके अतिशयसे सबको नियन्त्रणमें रखना, धर्मसे प्रजाका पालन करना, यह अर्थ है । चकार और अपिशब्द उक्तके समुच्चयके लिए है ।

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्याऽपि स्वभावजम् ॥ ४४ ॥

कृषि, गोरक्षा और क्रयविक्रयरूप व्यवहार वैश्योंका स्वाभाविक कर्म कहा गया । और शूद्रका सेवारूप कर्म स्वाभाविक है ॥ ४४ ॥

शौर्याद्यैश्वर्यान्तं सर्वं कर्म स्वभावजं सत्त्वमिश्ररजःप्रकृतितो बाह्वोरुत्पत्तितो वा प्राप्तं क्षात्रं क्षत्रियजातेरर्हं कर्तव्यं शास्त्रेण विहितमित्यर्थः ॥ ४३ ॥

वैश्यशूद्रयोः कर्माऽऽह—**कृषीति** ।

कृषिः कर्षणम् । गौरक्ष्यं गाः रक्षतीति गोरक्षस्तस्य भावो गौरक्ष्यं पशुपालनम् । वाणिज्यं वणिजः कर्म वाणिज्यं क्रयविक्रयलक्षणमेतत्त्रिविधं कर्म स्वभावजं रजोमिश्रतमः-प्रकृतित ऊर्वोरुत्पत्तितो वा प्राप्तं वैश्यं विशो जातेरर्हं कर्तव्यं शास्त्रेण विहित-मित्यर्थः । परिचर्यात्मकं त्रैवर्णिकानां शुश्रूषालक्षणं स्वभावजं केवलतमःप्रकृतितः पद्भ्यां जन्मतो वा प्राप्तं शूद्रस्य कर्तव्यं कर्म । 'शुश्रूषा शूद्रस्य' इति शास्त्रेणोक्तमित्यर्थः । ननु ब्राह्मणक्षत्रियविशां नियमेन कर्तव्यानि कर्माणि वक्ष्यामीत्युपक्रम्य 'शमो दमः' इति 'शौर्यं तेजः' इति प्राकृत एव धर्म उपदिश्यते, न तु वैदिकं कर्म नियमेन कर्तव्यं येन कृतेनेश्वरः प्रीयते । नहि शमशौर्यकृष्यादिकर्मणाऽनुष्ठितेनेश्वरः प्रीयते कथमिदं विप-

---

शौर्यसे लेकर ऐश्वर्यतक सब कर्म स्वभावसे उत्पन्न है—सत्त्वमिश्रित रजोगुणात्मक प्रकृतिसे अथवा भुजाओंसे जन्मप्राप्त क्षात्र—क्षत्रिय जातिका योग्य—कर्तव्य शास्त्रसे विहित है, यह अर्थ है ॥ ४३ ॥

वैश्य और शूद्रके कर्मको कहते हैं—'कृषि०' इत्यादिसे ।

कृषि यानी कर्षण, गौरक्ष्य (जो गाय रखता है, वह गौरक्ष है, उसका भाव गौरक्ष्य) यानी पशुपालन और वाणिज्य (वणिक्‌का कर्म वाणिज्य) क्रयविक्रयरूप, यों तीन प्रकारका कर्म स्वभावज—रजोमिश्रित तमोरूप प्रकृतिसे अथवा उरुओंसे उत्पत्तिसे ही प्राप्त—वैश्य—वैश्यजातिके योग्य—कर्तव्य है। शास्त्रसे विहित है, यह अर्थ है। परिचर्यात्मक—तीन वर्णोंकी शुश्रूषारूप—स्वभावज—केवल तमोरूप प्रकृतिसे अथवा पैरोंसे जन्मसे प्राप्त हुआ शूद्रका कर्तव्य कर्म है । 'शुश्रूषा करना शूद्रका धर्म है' इस शास्त्रसे कहा गया है, यह अर्थ है । 'ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंके नियमसे कर्तव्य कर्मोंको कहूँगा' ऐसा उपक्रम करके 'शमो, दमः' इससे और 'शौर्यं तेजः' इससे प्राकृत धर्मका ही आप उपदेश देते हैं, नियमसे कर्तव्य वैदिक कर्मका, जिसके करनेसे ईश्वर प्रसन्न होता है, उपदेश नहीं देते । शम, शौर्य, कृषि आदि कर्मसे ईश्वर प्रसन्न नहीं होता, अतः कैसे इस विपरीत कर्मका उपदेश देते हैं, ऐसा यदि कहो, तो ठीक है; यद्यपि शम

रीतं कर्मोपदिश्यत इति चेत्, सत्यम्; शमादिकं शौर्यादिकं च कर्म संध्यादिवदनुष्ठेयं न भवति नाऽपीदमीश्वरप्रीतये च भवति तथापि विशेष उच्यते—'अहरहः संध्यामुपासीत', 'सायं प्रातरग्निहोत्रं जुहोति', 'यज्ञोऽध्ययनं दानम्' इति, 'द्विजातीनामध्ययनमिज्या दानम्' इति ब्राह्मणादीनां नियमेन नित्यं कर्तव्यं कर्म यथा शास्त्रेणैवोक्त तथा 'शमेन शान्ताः शिवमाचरन्ति', 'दमेन दान्ताः किल्बिषमवधून्वन्ति', 'तपसा किल्बिषं हन्ति' इति, 'राज्ञोऽधिकं रक्षणं सर्वभूतानाम्', 'न्याय्यदण्डत्वम्', 'बिभृयाद् ब्राह्मणाञ्श्रोत्रियान्' 'संग्रामे संस्थानमनिवृत्तिश्च' इति, 'कृषिवाणिज्ये वाऽस्वयंकृते', 'कुसीदं च' इति, 'शूद्रश्चतुर्थो वर्ण एकजातिः' 'तस्यापि सत्यमक्रोधः शौचम्', 'परिचर्या चोत्तरेषाम्' इत्येतान्यपि कर्माण्यनुष्ठेयत्वेन शास्त्रेणैवोक्तानि भवन्ति। किन्त्वयमत्र विशेषः—ब्राह्मणादीनां संध्योपासनाग्निहोत्रादिरविभक्तो वर्णाश्रमधर्मः शमशौर्यकृष्यादिस्तु प्रत्येकं विभक्तो जातिधर्मस्ततो जातिवर्णाश्रमनिमित्तकौ द्वावप्येतौ धर्मौ नित्यौ श्रौतस्मार्तकर्मवत्प्रधानावेव भवतो न तु तयोरङ्गाङ्गिभावः सिध्यति। उभावपि शास्त्रेण नियतत्वान्मुमुक्षूणां नियमेनाऽनुष्ठातव्यावेव। नैवाऽत्र किञ्चिद्विपरीतमस्ति ग्रहीतुं बोधयितुं वा। ततो जातिधर्मे नियमेन वर्तमानैर्ब्राह्मणादिभिः स्वस्ववर्णाश्रमार्हं कर्म वैदिकं नित्यमनुष्ठातव्यं नाऽन्यथा। कर्मणः प्रधानस्यैकदेशानुष्ठानेन साकल्यासंभवान्न तत्फलं सिध्यति। नहि

आदि और शौर्य आदि कर्म संध्या आदिके समान अनुष्ठेय नहीं हैं और ईश्वरकी प्रीतिके लिए भी नहीं हैं, तो भी विशेष कहा जाता है—'प्रतिदिन सन्ध्या करे', 'सायं और प्रातः अग्निहोत्र करे', 'यज्ञ, अध्ययन और दान' इससे तथा 'द्विजातियोंका अध्ययन, इज्या, दान' इत्यादिसे ब्राह्मण आदिका नियमसे नित्य कर्तव्य कर्म जैसे शास्त्रसे ही कहा गया है, वैसे ही 'शमसे शान्त पुरुष भला आचरण करते हैं', 'दमसे दान्त पुरुष पापको नष्ट करते हैं', 'तपसे पाप नष्ट करता है', 'राजाका अधिक कर्म सब भूतोंका रक्षण', 'न्यायानुसार दण्ड देना', 'श्रोत्रिय ब्राह्मणोंका भरण-पोषण करना', संग्राममें स्थिति और अनिवृत्ति', 'दूसरेके द्वारा कृषि और वाणिज्य' तथा 'कुसीदवृत्ति'। 'शूद्र चौथा वर्ण एक जाति है', 'उसका भी सत्य, अक्रोध कर्म है' और 'ब्राह्मण आदिकी परिचर्या कर्म हैं' इत्यादिसे ये भी कर्म अनुष्ठेयरूपसे शास्त्रसे कहे गये हैं। किन्तु यहाँ इतना विशेष है—ब्राह्मण आदिका सन्ध्या उपासन, अग्निहोत्र आदि अविभक्त वर्णाश्रम धर्म है, शम, शौर्य, कृषि आदि तो प्रत्येकका विभक्त जातिधर्म है, इसलिए जाति, वर्ण और आश्रम निमित्तक ये दोनों धर्म नित्य श्रौत-स्मार्त कर्मके समान प्रधान ही हैं, उन दोनोंका अङ्गाङ्गिभाव नहीं है। दोनों भी शास्त्रसे नियत होनेके कारण मुमुक्षुओंके नियमसे अनुष्ठान करने योग्य ही हैं। यहां कुछ भी विपरीत ग्रहण करनेके लिए अथवा बोधन करानेके लिए नहीं है। इसलिए जातिधर्ममें नियमसे वर्तमान ब्राह्मण आदिको अपने अपने वर्णाश्रमके योग्य वैदिक कर्मोंका नित्य अनुष्ठान करना चाहिए, अननुष्ठान नहीं। प्रधान कर्मके एकदेशके अनुष्ठानसे पूर्णता न

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥ ४५ ॥

अपने अपने कर्ममें निरत पुरुष संसिद्धिको (सत्त्वशुद्धिको) प्राप्त होता है। अपने कर्ममें निरत पुरुष जिस प्रकार सिद्धिको प्राप्त करता है, उसे तुम सुनो ॥ ४५ ॥

श्रौतस्मार्तयोरन्यतरानुष्ठानेन संस्कारसाकल्यं सिध्यति तद्वत्। ततः स्वधर्मे शमादौ शौर्यादौ सदा वर्तमानैरेव ब्राह्मणक्षत्रियादिभिः संध्याग्निहोत्रादि नित्यं कर्म नियमेन कर्तव्यमिति सिद्धम् ॥ ४४ ॥

एवं ब्राह्मणादीनां नियमेन कर्तव्यानि शमादीनि कर्माणि तदुपलक्षितानि 'यज्ञो दानं तपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्' इति श्रौतानि स्मार्तानि चोपदिश्य सत्त्वशुद्ध्यै तेषामीश्वरार्पणबुद्ध्या कर्तव्यत्वं बोधयितुं प्रवृत्तिसिद्धये फलं प्ररोचयति—**स्व इति ।**

नरो ब्राह्मणादिर्मुमुक्षुरधिकारी पुरुषः । स्वे स्वे 'शमो दमः' इत्यादिना विभज्य प्रदर्शिते स्वकीये कर्मणि शमादौ श्रौते स्मार्ते चाऽभिरतो नियमेन परिनिष्ठितो यथाविधि समनुष्ठितसत्कर्मसंक्षालितप्रतीपसर्वपापपटलः सन् संसिद्धिं सत्त्वशुद्धिं सकृदुपदेशमात्रेणाऽऽत्मतत्त्वावगत्याविर्भावयोग्यतालक्षणां विन्दति । ननु बहुभिर्ब्राह्मणादिभिरजस्रं

होनेके कारण उसका फल सिद्ध नहीं होता। जैसे श्रौत और स्मार्त कर्मोंमें से एकका अनुष्ठान करनेसे संस्कारसाकल्य सिद्ध नहीं होता, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए। इसलिए शम आदि, शौर्य आदि स्वधर्ममें सदा वर्तमान ब्राह्मण, क्षत्रिय आदिको सन्ध्या, अग्निहोत्र आदि नित्य कर्मोंका नियमसे अनुष्ठान करना चाहिए, ऐसा सिद्ध हुआ ॥ ४४ ॥

इस प्रकार ब्राह्मण आदिके नियमसे कर्तव्य शम आदि कर्मोंका एवं उनसे उपलक्षित 'यज्ञ, दान और तपका कभी त्याग नहीं करना चाहिए, उनका अनुष्ठान करना ही चाहिए' इत्यादिसे उक्त श्रौत और स्मार्त कर्मोंका उपदेश करके सत्त्वकी शुद्धिके लिए उनका ईश्वरार्पणबुद्धिसे अनुष्ठान करना चाहिए, ऐसा बोधन करनेके लिए उनमें प्रवृत्तिसिद्धिके लिए फल-प्रदर्शन करते हैं—'**स्वे**' इत्यादि।

नर यानी ब्राह्मण आदि मुमुक्षु अधिकारी पुरुष अपने अपने—'शम दम' इत्यादिसे विभाग करके दिखलाये गये स्वकीय—श्रौत और स्मार्तरूप शम आदि कर्ममें अभिरत—नियमसे परिनिष्ठित—यथाविधि अनुष्ठित सत्कर्मसे प्रतिबन्धरूप सम्पूर्ण पापपटलको धोकर संसिद्धिको—एकबारके उपदेशमात्रसे आत्मतत्त्वावगतिके आविर्भावकी योग्यतालक्षण सत्त्वशुद्धिको—प्राप्त करता है। अनेक ब्राह्मण आदि द्वारा सर्वदा कर्मका अनुष्ठान किया जाता है,

कर्म क्रियते न तेषां तत्कर्मानुष्ठानेन सत्त्वशुद्धिरुक्तलक्षणा दृश्यते कथं कर्मण्यभिरतः सत्त्वशुद्धिं लभत इत्याकाङ्क्षायाम्, 'यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वा अस्मिँल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तवदेवास्य तद्भवति' इति न्यायेन पूर्वोक्तशमाद्यभावेन कामसङ्कल्पाहङ्काराभिनिवेशेन च कर्माण्यनुतिष्ठतः सत्त्वशुद्धिर्न सिध्यतीति बोधयितुमाह—स्वकर्मेति । मुमुक्षुर्ब्राह्मणादिरुक्तशमदमादिसंपन्नः स्वकर्मनिरतः स्वस्य श्रुतिस्मृतिभ्यां विहिते वैदिके कर्मणि निरतो निष्ठितः । सिद्धिं सत्त्वशुद्धिं यथा येन प्रकारेण विन्दति तं प्रकारं शृणु, श्रुत्वा तथानुष्ठाने मतिं कुर्वित्यर्थः ॥४५॥

'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः' इति, 'कर्ता क्रियाणां स स युज्यते क्रतुः स एव तत्कर्मफलं च तस्य । स्रुगादि यत्साधनमप्यशेषं हरेर्न किञ्चिद्व्यतिरिक्तमस्ति' इत्येतच्छ्रुतिस्मृत्युक्तरीत्या मुख्याधिकारिणो विदुषः कर्तृकर्मतत्साधनस्रुक्स्रुवचरुपुरोडाशाग्न्यादिषु ब्रह्मदृष्ट्याऽव्याहतया कर्माण्यनुतिष्ठतः इष्टानिष्टत्वमित्रामित्रत्वदुष्टादुष्टत्वादिविषमबुद्धिः क्रमेण विनश्यति, तन्नाशाद्रागद्वेषादिदोषा नश्यन्ति तन्नाशादहंममेत्यभिमानदोषा नश्यन्ति, तेषां रजस्तमोदोषाणां सर्वेषां क्रमेण निःशेषविनाशे सत्त्वं स्वयमेव

पर उनकी उस कर्मके अनुष्ठानसे उक्तलक्षण शुद्धि देखनेमें नहीं आती, फिर कर्ममें अभिरत पुरुष कैसे शुद्धि प्राप्त करता है ? ऐसी आकांक्षा होनेपर 'हे गार्गि, जो इस अक्षरको न जानकर इस लोकमें अनेक हजारों वर्ष तक हवन करता है, यजन करता है, तप तपता है, वह उसका अन्तवान् ही होता है' इस न्यायसे पूर्वोक्त शम आदिके अभावसे और काम, संकल्प एवं अहङ्कारके अभिनिवेशसे कर्मोंका अनुष्ठान कर रहे पुरुषकी सत्त्वशुद्धि नहीं होती, ऐसा बोधन करनेके लिए कहते हैं—स्वकर्मेति । उक्त शम आदिसे संपन्न, स्वकर्मनिरत—अपने श्रुति और स्मृतिसे विहित वैदिक कर्ममें निरत यानी निष्ठ—मुमुक्षु ब्राह्मण आदि सिद्धिको यानी सत्त्वशुद्धिको जिस प्रकार प्राप्त होते हैं, उस प्रकारको तुम सुनो, सुनकर उसी प्रकारका अनुष्ठान करनेमें बुद्धि करो, यह अर्थ है ॥ ४५ ॥

'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः', 'क्रियाओंका कर्ता वही (ईश्वर) है, फलभागी भी वही है, क्रतु भी वही है, कर्मफल भी वही है, स्रुक् आदि जो अशेष यज्ञसाधन हैं, वे भी हरिस्वरूप हैं, कुछ भी भिन्न नहीं है' इस प्रकार श्रुति और स्मृतिमें कही गई रीतिसे मुख्य अधिकारी विद्वान्की—जो कि कर्ता, कर्म, उसके साधन स्रुक्, स्रुव, चरु, पुरोडाश, अग्नि आदिमें अव्याहत ब्रह्मदृष्टिसे कर्मका अनुष्ठान करता है—इष्टत्व, अनिष्टत्व, मित्रत्व, अमित्रत्व, दुष्टत्व, अदुष्टत्व आदि विषमबुद्धि नष्ट हो जाती है, उसका नाश होनेसे राग, द्वेष आदि दोष नष्ट हो जाते हैं, उनका नाश होनेसे 'मैं, मेरा' इत्यादि अभिमानदोष नष्ट हो जाते हैं, उन सब रज तम दोषोंके क्रमसे नष्ट होनेपर सत्त्व (अन्तःकरण) स्वयं ही प्रसन्न हो जाता है, ऐसा बोधन करनेके लिए सब सगुण

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ ४६ ॥

जिससे सम्पूर्ण भूतोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त हैं, उसकी अपने वर्णाश्रमानुसार श्रुति-स्मृति विहित कर्मोंसे पूजा कर मनुष्य चित्तशुद्धिरूप सिद्धिको प्राप्त करता है ॥ ४६ ॥

प्रसीदतीति बोधयितुं सर्वस्य सगुणब्रह्ममात्रत्वज्ञानवतः पण्डितस्य तथा तदाराधनमेव कुर्वतः सत्त्वशुद्धिः सिध्यतीत्याह—**यतः** इति ।

'जन्माद्यस्य यतः', 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्युक्तप्रकारेण यतो यस्मान्मायोपाधिकाद् ब्रह्मणः सकाशाद्भूतानामाकाशादीनां तत्कार्याणां च प्रवृत्तिरुत्पत्तिर्मृदः सकाशाद् घटादिवद्यस्मादिदं सर्वं समुत्पन्नमित्यर्थः । किञ्च, येन कारणभूतेन ब्रह्मणा तत्कार्यमिदं जगत्सर्वं ततं व्याप्तं मृदा घटवद्बहिरन्तश्च पूर्णं भवति तं सर्वात्मकं परमात्मानं स्रुक्स्रुवाग्निहोत्रमन्त्रतन्त्रादिषु सर्वत्र ब्रह्मदृष्टिर्भूत्वा मानवोऽधिकारी विद्वान् स्वकर्मणा श्रौतस्मार्तादिना सात्त्विकेनाऽभ्यर्च्य श्रद्धाभक्तिभ्यां नियमेनेष्ट्वा सर्वत्र ब्रह्मदृष्टिं च कृत्वा सिद्धिं सत्त्वशुद्धिलक्षणां विन्दति । सत्त्वशुद्धिं तत्फलभूतां ज्ञानसिद्धिं च प्राप्नोतीत्यर्थः । 'यतः प्रवृत्तिः' 'येन सर्वम्, इति विशेषणद्वयं

ब्रह्मस्वरूप ही है, ऐसा ज्ञान रखनेवाले तथा उसीका आराधन करनेवाले पण्डितकी सत्त्वशुद्धि होती है, ऐसा कहते हैं—**'यतः'** इत्यादिसे ।

'जगत्के जन्म आदि जिससे होते हैं, वह ब्रह्म है', 'जिससे ये भूत उत्पन्न होते हैं, वह ब्रह्म है' इत्यादि उक्त प्रकारसे जिससे—जिस मायारूप उपाधिवाले ब्रह्मसे—भूतोंकी—आकाश आदिकी और उनके कार्योंकी—प्रवृत्ति—उत्पत्ति—हुई है यानी जैसे मिट्टीसे घट आदिकी उत्पत्ति होती है, वैसे ही जिससे यह सब उत्पन्न हुआ है, यह अर्थ है । किञ्च, जिस कारणभूत ब्रह्मसे उसका कार्य यह सब जगत् तत—व्याप्त—है यानी मिट्टीसे घटके समान बाहर भीतर पूर्ण है, उस सर्वात्मक परमात्माका—स्रुक्, स्रुव, अग्निहोत्र, मन्त्र, तन्त्र आदिमें सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि रखकर मानव (अधिकारी विद्वान्) श्रौत और स्मार्त आदि सात्त्विक स्वकर्मसे—अर्चन करके (श्रद्धाभक्तिपूर्वक नियमसे पूजन करके) और सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि करके सत्त्वशुद्धिलक्षण सिद्धिको प्राप्त होता है । सत्त्वशुद्धि और उसकी फलभूत ज्ञानसिद्धिको प्राप्त होता है, यह अर्थ है । 'जिससे प्रवृत्ति' और 'जिससे सब व्याप्त' ये दो विशेषण

सर्वत्र ब्रह्मदृष्टिकर्तव्यताबोधनार्थमेवेत्यवगम्यते । अधिकारिणां मध्यमादिभेदे तु 'यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्सर्वेभ्यो भूतेभ्योन्तरः' इत्यादिश्रुत्युक्तरीत्या यतो यस्माद्भूतानां ब्रह्मादिस्तम्बान्तानां प्रवृत्तिश्चेष्टा सिध्यति । यः सर्वं प्रवर्तयतीत्यर्थः । सर्वं जगदिदं येन ततं व्याप्तं यः सर्वात्मक इत्यर्थः । तमग्नीन्द्रादित्यादिदेवतारूपेण वर्तमानं सर्वनियन्तारं परमेश्वरं स्वकर्मणाऽभ्यर्च्य श्रद्धाभक्तिभ्यामग्न्यादिदेवान् सर्वान् परमेश्वर-बुद्ध्या इष्ट्वा तदनुग्रहेण मानवो मुमुक्षुरधिकारी ब्राह्मणादिः सिद्धिं सत्त्वशुद्धिं तत्फलभूतां ज्ञानसिद्धिं च क्रमेण विन्दतीत्यर्थः ॥ ४६ ॥

ननु 'ब्राह्मणस्य भिक्षणे निमित्तमाचार्यो यज्ञो विवाहः' इति मुमुक्षोश्चित्तशुद्धिं तत्फलं वाऽऽप्तुमिच्छतो यज्ञादेः प्रतिग्रहद्रव्यैकसाध्यत्वात् प्रतिग्रहस्यैव पापहेतुत्वात् प्रतिगृहीतद्रव्येण क्रियमाणयागापेक्षया ब्रह्मचारिवदप्रतिगृह्य शुद्धवृत्त्याऽवस्थानमेव तस्य शोधकं निष्पापकं च भवति । तथा हिंसाप्रधानत्वाद्युद्धस्य तत्साध्येन द्रव्येण क्रियमाणराजसूयादियागाद्यनुष्ठानापेक्षया शुद्धिकामस्य क्षत्रियस्य प्रतिग्रहभीरुब्राह्मण-वच्छुद्धवृत्त्यावस्थानमेव शोधकं निष्पापं च भवतीत्याशङ्कयामाह—**श्रेयानिति** ।

सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि करनी चाहिए, यह बोधन करनेके लिए ही हैं, ऐसा जाना जाता है। अधिकारियोंका मध्यम आदि भेद होनेपर तो 'जो सब भूतोंमें स्थित होकर सब भूतोंसे अभ्यन्तर है' इत्यादि श्रुतिमें कही गई रीतिसे जिससे भूतोंकी—ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त भूतोंकी—प्रवृत्ति—चेष्टा—होती है, जो सबको प्रवृत्त करता है, यह अर्थ है । यह सब जगत् जिससे तत यानी व्याप्त है। जो सर्वात्मक है, यह अर्थ है। उसका—अग्नि, इन्द्र, आदित्य आदि देवतारूपसे वर्तमान सबके नियन्ता परमेश्वरका—अपने कर्मोंसे अर्चन कर—श्रद्धाभक्तिसे अग्नि आदि सब देवताओंका ईश्वरबुद्धिसे पूजन कर—उसके अनुग्रहसे मानव—मुमुक्षु अधिकारी ब्राह्मण आदि—सिद्धिको—सत्त्वशुद्धि और उसकी फलभूत ज्ञानसिद्धिको—क्रमसे प्राप्त होता है, यह अर्थ है ॥ ४६ ॥

'ब्राह्मणकी भिक्षामें आचार्य, यज्ञ और विवाह—ये निमित्त हैं'। चित्तशुद्धि और उसका फल प्राप्त करनेकी इच्छावाले मुमुक्षु ब्राह्मणका प्रतिग्रहप्राप्त द्रव्यसे किये जा रहे यागकी अपेक्षा ब्रह्मचारीके समान प्रतिग्रह न करके शुद्ध वृत्तिसे अवस्थान ही उसका शोधक और पापरहित है, क्योंकि यज्ञ आदिका अनुष्ठान प्रतिग्रह-प्राप्त द्रव्यसे ही होता है और प्रतिग्रह पापका हेतु है। इसी प्रकार युद्ध हिंसाप्रधान होनेके कारण उससे साध्य द्रव्यसे किये जा रहे राजसूय आदि यागानुष्ठानकी अपेक्षा शुद्धिकी कामनावाले क्षत्रियका प्रतिग्रहभीरु ब्राह्मणके समान शुद्ध वृत्तिसे अवस्थान ही उसका शोधक और पापरहित है, ऐसी आशङ्का होनेपर कहते हैं—**'श्रेयान्'** इत्यादिसे ।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाऽऽप्नोति किल्बिषम् ॥ ४७ ॥

भली भाँति अनुष्ठित परधर्मकी अपेक्षा गुणरहित (अङ्गविकल) अपना धर्म श्रेष्ठ है । अपनी अपनी जातिके अनुसार शास्त्रविहित कर्मका अनुष्ठान कर रहे ब्राह्मण आदिको चित्तशुद्धिका प्रतिबन्धक पाप नहीं लगता है ॥ ४७ ॥

परधर्मात्परो जात्या वर्णेन वाऽऽश्रमेण वा स्वस्माद्भिन्नः स्वविलक्षणस्तस्य धर्मादाचारात्स्वनुष्ठितादङ्गलोपराहित्येन सम्यगाचारितात् विगुणोऽपि स्वलक्षणपौष्कल्यहीनोऽपि दोषवानपि ब्राह्मणस्य क्षत्रियस्य वाऽन्यस्य वा स्वधर्म एव श्रेयान् श्रेष्ठो निःश्रेयसस्य साधनं भवति, न तु सम्यगनुष्ठितोऽपि परधर्मस्तस्याऽविहितत्वादित्यर्थः । तदेव विस्पष्टयति—स्वभावेति । 'ब्राह्मणस्याऽधिकाः प्रवचनयाजनप्रतिग्रहाः', 'न दोषो हिंसायामाहवे', 'अन्यत्र····' इत्येवं स्वभावनियतं स्वभावस्तत्तज्जातिस्तमुद्दिश्य नियतं शास्त्रेण विहितं कर्म प्रतिग्रहं तदुपार्जितद्रव्येण यागाद्यनुष्ठानं च ब्राह्मणः युद्धादिलक्षणं कर्म तदुपार्जितद्रव्येण यागाद्यनुष्ठानं च क्षत्रियः कुर्वन्किल्बिषं चित्तशुद्धिप्रतिबन्धकं नाऽऽप्नोति । स्वजातेः स्ववर्णस्य स्वाश्रमस्य विहितधर्मानुष्ठानेन पुरुषः पापी न भवतीत्यर्थः ॥ ४७ ॥

ब्राह्मणस्य क्षत्रियस्य वा स्वधर्मस्याऽग्निष्टोमादेर्युद्धस्य च बहिर्दोषवत्प्रतीय-

---

परधर्मसे (परके—जातिसे, वर्णसे अथवा आश्रमसे अपनेसे भिन्न यानी स्वविलक्षणके—धर्मसे यानी आचारसे), जो स्वनुष्ठित यानी अङ्गके लोपसे रहित तथा ठीक-ठीकरूपसे आचरित है, विगुण भी—स्वलक्षणपौष्कल्यसे हीन (अङ्गविकल) एवं दोषवान् भी—ब्राह्मणका, क्षत्रियका या अन्यका स्वधर्म ही श्रेयान्—श्रेष्ठ—यानी श्रेयस्का साधन है, भली भाँति अनुष्ठित होनेपर भी परधर्म श्रेयस्का साधन नहीं है, क्योंकि वह विहित नहीं है, यह अर्थ है । इसीको स्पष्ट करते हैं—'स्वभाव' इत्यादिसे । 'ब्राह्मणके प्रवचन, याजन और प्रतिग्रह अधिक हैं ।' ['क्षत्रियका युद्धमें मरण और अपलायन अधिक धर्म हैं' ।] 'युद्धमें हिंसा दोष नहीं है', 'परन्तु युद्धमें जिसके घोड़े आदि नष्ट हो गये हों एवं जो प्राणयाचना कर रहा हो इत्यादि कुछ अपवाद हैं, जिनको युद्धमें मारनेसे दोष लगता है', इस प्रकार स्वभावनियत स्वभावको—तत्-तत् जातिको—उद्देश्य करके नियत—शास्त्रसे विहित—कर्म—प्रतिग्रहरूप कर्मसे—उपार्जित द्रव्यसे याग आदिका अनुष्ठान कर रहा ब्राह्मण तथा युद्ध आदिरूप कर्मसे उपार्जित द्रव्यसे याग आदिका अनुष्ठान कर रहा क्षत्रिय किल्बिषको—चित्तशुद्धिके प्रतिबन्धक पापको—प्राप्त नहीं होता । अपनी जाति, वर्ण और आश्रमके अनुसार विहित धर्मके अनुष्ठानसे पुरुष पापी नहीं होता, यह अर्थ है ॥ ४७ ॥

ब्राह्मण या क्षत्रियका अपना अपना अग्निष्टोम आदि धर्म और युद्ध धर्म बाहरसे यद्यपि दोषवान्

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाऽग्निरिवाऽऽवृताः ॥ ४८ ॥

हे अर्जुन, वर्ण और आश्रमके अनुसार उपनयन आदि संस्कारके साथ प्राप्त हुए शास्त्रविहित कर्मका, वह दोषयुक्त ही क्यों न हो, परित्याग नहीं करना चाहिए, क्योंकि जैसे उत्पत्तिकालमें अग्नि धूमसे आवृत रहती है, वैसे ही सभी कर्म रजोदोषसे या हिंसादोषसे आवृत ही रहते हैं ॥ ४८ ॥

मानत्वेऽपि विध्युक्तत्वेन निर्दुष्टत्वात्तदनुष्ठानं मुक्तय एव भवति न तु बन्धायेति बोधयित्वा पुनरपि यागो वा संग्रामो हिंसाप्रधानत्वेन दोषवानेव भवतीति कथं कर्तुं शक्यत इत्याशङ्का सर्वथाऽपि न कर्तव्येत्युक्तमेवाऽर्थं द्रढयितुमाह—सहजमिति ।

सहजम् 'कर्मणा जायते द्विजः' इति न्यायेन सह जन्मना द्वितीयेन जायत इति सहजं जातितः प्राप्तम् । जातिं वर्णं च निमित्तीकृत्य शास्त्रेण विहितं कर्म, स्वधर्ममित्यर्थः । सदोषमप्युक्तरीत्या दोषयुक्तमप्यारुरुक्षुर्मोक्षेच्छुर्ब्राह्मणादिर्न त्यजेन्न संन्यसेदित्यर्थः । ननु दोषवत्कर्मणोऽनुष्ठानान्निर्दुष्टस्य परधर्मस्याऽऽश्रयणं युक्तमेवेति चेत्, भवानत्र प्रष्टव्यः—कर्तव्यस्य कर्मणस्त्यागो दुष्टत्वबुद्ध्या वा किमसाधनत्वबुद्ध्या वा, किमसत्त्वबुद्ध्या वा, परधर्मस्त्वदुष्टः स आश्रयणीय इति वा ? नाऽऽद्यः, विहितस्य परित्यागे प्रत्यवायप्रसङ्गात् । न द्वितीयः, अविरक्तस्याऽसाधनत्वबुद्ध्य-

---

प्रतीत होता है, तथापि विहित होनेसे निर्दुष्ट है, अतः उसका अनुष्ठान मुक्तिरूप फलका ही उत्पादक है, बन्धनका नहीं, ऐसा बोधन करके याग या संग्राम हिंसाप्रधान होनेसे दोषवान् ही है, इसलिए उसका अनुष्ठान कैसे किया जा सकता है ? ऐसी शङ्का सर्वथा नहीं करनी चाहिए, यों कहे गये अर्थको ही पुनः दृढ़ करनेके लिए कहते हैं—'सहजम्' इत्यादिसे ।

सहज—'कर्मसे द्विज होता है' इस न्यायसे दूसरे जन्मके (उपनयनके) साथ जो उत्पन्न होता है, वह सहज—जातिसे प्राप्त यानी (जाति और वर्णको निमित्त करके शास्त्रसे विहित) कर्मका, स्वधर्मका यह अर्थ है। उक्त रीतिसे दोषयुक्त होनेपर भी आरुरुक्षु—मोक्षेच्छु—ब्राह्मण आदि त्याग न करे, संन्यास न करे, यह अर्थ है । यदि कहो कि दोषवाले कर्मके अनुष्ठानकी अपेक्षा निर्दुष्ट परधर्मका आश्रयण ही युक्त है, तो इस विषयमें तुमसे यह प्रश्न होगा कि क्या कर्तव्य कर्मका त्याग दुष्टत्वबुद्धिसे करना चाहिए ? अथवा असाधनत्वबुद्धिसे या असत्त्व-बुद्धिसे या परधर्म अदुष्ट है, अतः वह आश्रयणीय है, इस बुद्धिसे करना चाहिए ? पहला पक्ष तो युक्त है नहीं, क्योंकि विहितका परित्याग करनेसे प्रत्यवाय होता है । दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि अविरक्त पुरुषको असाधनत्वबुद्धि नहीं होती और विरक्त पुरुषको त्यक्तव्य कर्ममें गुण और

नुत्पत्तेः विरक्तस्य त्यक्तऽये कर्मणि गुणदोषविचारासंभवाच्च । न तृतीयः, अनात्मज्ञस्य कर्मतत्साधनफलेष्वसत्त्वबुद्ध्यनुत्पत्तेः । नाऽपि चतुर्थः; परधर्मस्याऽपि कर्मत्वेन दोषवत्त्वाव्यभिचारादिति । कुटीचकस्याऽप्यविरक्तस्य शिखायज्ञोपवीतादिमत्त्वेन कर्मित्वात्तत्कर्मणोऽपि साधनसाध्यत्वेन दोषवत्त्वमेव निश्चित्य सर्वैर्वर्णाश्रमिभिः क्रियमाणं कर्म दोषवदेव, 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि' इति श्रुत्या भूतहिंसाया निषिद्धत्वात्सर्वस्याऽपि कर्मणो वैदिकस्य कुशसमिदादिद्रव्यसाध्यत्वेन हिंसाप्रधानत्वात् सर्ववर्णाश्रमिभिः क्रियमाणं कर्म सर्वमपि हिंसाप्रधानत्वेन दोषयुक्तमेव भवतीति सर्वस्याऽपि कर्मणो दोषवत्त्वं दर्शयितुमाह—**सर्वारम्भा हीति** । यद्वा 'काममय एवायं पुरुषः' इति, 'यद्यद्धि कुरुते जन्तुस्तत्तत्कामस्य चेष्टितम्' इति, 'रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् । तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्' इति न्यायेन कर्मणः सर्वस्याऽपि कामसङ्कल्पादिरजोगुणकार्यत्वेन दोषवत्त्वात्सर्वाण्यपि कर्माणि दोषवन्त्येवेत्युच्यन्ते—**सर्वेति** । हि यस्मात्कारणात्सर्वारम्भा आरभ्यन्ते क्रियन्त इत्यारम्भाः सर्ववर्णाश्रमिभिः क्रियमाणानि कर्माणि सर्वाण्यपि हिंसादोषेण रजोदोषेण वा वृता व्याप्ता धूमेनाऽग्निरिव । यथा अग्नेः स्वोत्पत्तौ धूमेन विना भावाभावस्तथा वैदिकस्य कर्मणोऽपि हिंसया कामेन वा विना भावाभावात्सर्वमपि कर्म दोषवदेव । यस्मादेवं

दोषका विचार नहीं होता । तीसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि अनात्मज्ञ पुरुषको कर्म, कर्मके साधन और फलमें असत्त्वबुद्धि नहीं हो सकती । चौथा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि कर्म होनेसे परधर्ममें भी दोषवत्त्वका अव्यभिचार है । अविरक्त कुटीचक भी शिखा, यज्ञोपवीत आदि होनेके कारण कर्मी है, उसका कर्म भी साधनसाध्यरूपसे दोषवान् ही है, ऐसा निश्चय कर सम्पूर्ण वर्ण और आश्रमवालोंके द्वारा क्रियमाण कर्म दोषवान् ही हैं, क्योंकि 'सब भूतोंकी हिंसा न करे' इस श्रुतिसे भूतहिंसाका निषेध है और सब वैदिक कर्म कुश, समिधा आदिसे साध्य होनेके कारण हिंसाप्रधान हैं, इसलिए सम्पूर्ण वर्ण और आश्रमवालोंके द्वारा क्रियमाण सभी कर्म हिंसाप्रधान होनेसे दोषयुक्त ही हैं, यों सब कर्मोंकी दोषवत्ता दिखलानेके लिए कहते हैं—**'सर्वारम्भा हि'** इत्यादिसे । अथवा 'काममय ही यह पुरुष है', 'जो जो जन्तु करता है, वह वह कामकी चेष्टा है' तथा 'तृष्णा और सङ्गसे उत्पन्न रजोगुणको रागात्मक जानो, हे कौन्तेय, वह कर्मके सङ्गसे देहीको बाँधता है' इस न्यायसे प्रत्येक कर्म काम, सङ्कल्प आदि रजोगुणके कार्य होनेके कारण दोषवान् हैं, अतः सभी कर्म दोषवान् ही हैं, ऐसा कहा जाता है—**सर्वेति** । जिस कारणसे सम्पूर्ण आरम्भ (जिनका आरम्भ किया जाता है, वे आरंभ हैं) यानी सम्पूर्ण वर्ण और आश्रमवालोंसे क्रियमाण सभी कर्म हिंसादोषसे अथवा रजोदोषसे, धूमसे अग्निके समान, वृत यानी व्याप्त हैं । जैसे अपनी उत्पत्तिमें धूमके विना अग्निके अस्तित्वका अभाव है, वैसे ही हिंसा या कामके विना वैदिक कर्मके अस्तित्वका भी अभाव होनेसे सब कर्म दोषवान् ही हैं । जिस कारणसे ऐसा है, इसलिए परधर्म

तस्मात्परधर्मोऽपि दोषवानेव भवति । परधर्माचरणेन स्वाभाविक एको दोषः, स्वधर्मत्यागकृतो द्वितीयश्च, अविहिताचरणं तृतीयः, ईश्वराज्ञोल्लङ्घनं चतुर्थश्चाऽऽपतति । तस्मादारुरुक्षोरविरक्तस्य मोक्षैककामस्य जातिं वर्णमाश्रमं च निमित्तीकृत्य श्रुतिस्मृतिभ्यां विहितं कर्म सदोषमपि सत्त्वशुद्धयेऽवश्यं कर्तव्यम् । स्वधर्माचरणेनैव शुद्धात्मा ब्राह्मणादिर्मुक्तिं गच्छति । तथा च स्मृतिः—'वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः । तद्धि कुर्वन्यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम्' इति । यत एवं ततो वर्णाश्रमिणां मुमुक्षूणां बन्धमुक्तये स्वधर्म एव कर्तव्य इति सिद्धम् ॥ ४८ ॥

ज्ञानकर्मणोः साध्यसाधनभावं सर्वशास्त्रप्रसिद्धं बोधयितुमेवमारुरुक्षोर्मोक्षैककामस्य कर्तव्यस्य कर्मणो दोषवत्त्वेऽपि चित्तशुद्धेरन्यासाध्यत्वेनाऽवश्यकरणीयत्वं श्रुतिस्मृतिभ्यां विहितत्वेन निर्दुष्टत्वं श्रेयःसाधनत्वं तेन सात्त्विकेन कर्मणा बहुजन्मभिः समाराधितपरमेश्वरप्रसादाच्चित्तशुद्धिं च प्रतिपाद्य सात्त्विक्यैव बुद्ध्या सात्त्विकेन च कर्मणा समाराधितपरमेश्वरप्रासादात्सम्यक्सत्त्वशुद्धिं प्राप्तवतः सद्गुरोः सकृदुपदेशमात्रेण संप्राप्तात्मज्ञानस्याऽऽरूढस्य संन्यासयोगेन ब्रह्मप्राप्तिं निर्दिशति—असक्तेति ।

भी दोषयुक्त ही है । परधर्मके आचरणसे एक स्वाभाविक दोष प्राप्त होता है, स्वधर्मका त्याग दूसरा दोष है, अविहितका आचरण तीसरा दोष है और ईश्वरकी आज्ञाका उल्लङ्घन करना चौथा दोष प्राप्त होता है । केवल मोक्षकी ही कामना करनेवाले आरुरुक्षु अविरक्त पुरुषको जाति, वर्ण और आश्रमको निमित्त कर श्रुति और स्मृतिसे विहित कर्मका, वह दोष युक्त ही क्यों न हो, सत्त्वशुद्धिके लिए अवश्य अनुष्ठान करना चाहिए । स्वधर्मके आचरणसे ही शुद्धात्मा होकर ब्राह्मण आदि मुक्तिको प्राप्त करते हैं । जैसे कि स्मृति है—'वेदोक्त स्वकीय कर्मोंका आलस्यरहित होकर नित्य अनुष्ठान करे, यथाशक्ति उनका अनुष्ठान करता हुआ पुरुष परम गतिको प्राप्त होता है । जिस कारणसे ऐसा है, इसलिए वर्णाश्रमी मुमुक्षुओंको बन्धसे मुक्ति पानेके लिए स्वधर्मका अनुष्ठान ही करना चाहिए यह सिद्ध हुआ ॥ ४८ ॥

सम्पूर्ण शास्त्रोंमें प्रसिद्ध ज्ञान और कर्मके साध्यसाधनभावका बोधन करानेके लिए ही उस प्रकार केवल मोक्षकी ही कामना रखनेवाले आरुरुक्षु पुरुषका कर्तव्य कर्म दोषयुक्त होनेपर भी, चित्तशुद्धि अन्यसे साध्य न होनेके कारण, अवश्य करने योग्य है, श्रुति और स्मृतिसे विहित होनेके कारण निर्दुष्ट और श्रेयका साधन है तथा सात्त्विक उस कर्मसे अनेक जन्मों तक भलीभाँति आराधित ईश्वरके प्रसादसे चित्तशुद्धि होती है, ऐसा प्रतिपादन करके केवल सात्त्विक ही बुद्धि और सात्त्विक कर्मसे समाराधित परमेश्वरके प्रसादसे सम्यक् शुद्धिको प्राप्त कर चुकनेवाले, सद्गुरुके एकवारके उपदेशमात्रसे प्राप्त हुए आत्मज्ञानसे युक्त आरूढ़की संन्यासयोगसे ब्रह्मप्राप्ति दिखलाते हैं—'असक्त०' इत्यादिसे ।

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाऽधिगच्छति ॥ ४९ ॥

जिसकी बुद्धि सर्वत्र विषयोंसे निर्मुक्त है, जिसके वशमें अन्तःकरण है और जिसकी जीवनसाधन विषयोंमें स्पृहा नहीं है, ऐसा यति संन्याससे (समाधिसे) उत्तम नैष्कर्म्य-सिद्धिको प्राप्त करता है ॥ ४९ ॥

असक्तबुद्धिः सर्वत्र विषयान्तरे कर्मान्तरे देशान्तरे लोकान्तरे देवतान्तरे च भोक्तुं कर्तुं स्थातुं प्राप्तुमुपासितुं च असक्ताऽननुरक्ता तत्तद्विषयैः संबन्धरहिता बुद्धिर्यस्य सोऽसक्तबुद्धिः । सर्वदृश्यमिथ्यात्वं निश्चित्य सर्वत्र विषयमात्रे सम्यग्विरक्त इत्यर्थः । सर्वमिथ्यात्वनिश्चयेन विषयाननुषक्तबुद्धित्वेऽपि चलचित्तस्य ज्ञाननिष्ठासंभवाद्विदुषो वश्यात्मत्वेन भवितव्यमित्याह—**जितात्मेति** । जितस्तीव्रवैराग्येण श्रद्धापूर्वकचिरकालिकनित्यनिरन्तरसत्प्रत्ययावृत्त्यभ्यासेन निर्जितो ब्रह्मण्येव स्थिरतां गमित आत्मा मनो यस्य स जितात्मा । वशीकृतचित्त इत्यर्थः । असक्तबुद्धित्वे जितात्मत्वेऽपि च सिद्धे शरीरसौख्यापेक्षावतः परिग्रहवतश्च योगिनो ज्ञाननिष्ठा न सिध्यत्यतस्तद्राहित्येन भवितव्यमित्याह—**विगतस्पृह इति** । देहात्परिग्रहाच्च विशिष्य गता विगता देहपरिग्रहक्षेमविषया स्पृहाऽपेक्षा यस्य स विगतस्पृहः । काले प्रारब्धप्रापितान्नभोजी कौपीनकन्थादण्डकुण्डिकामात्रधारी च भवेदित्यर्थः । एवमुक्तसाधनसंपन्नः सम्य-

---

असक्तबुद्धि (सर्वत्र दूसरे विषयमें, दूसरे कर्ममें, दूसरे देशमें, दूसरे लोकमें और दूसरे देवतामें भोगनेके लिए, करनेके लिए, स्थितिके लिए, प्राप्त करनेके लिए और उपासना करनेके लिए असक्त—अननुरक्त—यानी उन उन विषयोंके साथ सम्बन्धसे रहित है बुद्धि जिसकी, वह असक्तबुद्धि है) यानी सम्पूर्ण दृश्यमें मिथ्यात्वका निश्चय करके सर्वत्र—विषयमात्रमें—भलीभांति विरक्त, यह अर्थ है । सबमें मिथ्यात्वके निश्चयसे विषयोंमें असक्तबुद्धि होनेपर भी चंचलचित्तवालेकी ज्ञाननिष्ठाका संभव न होनेसे विद्वान्‌को अपना मन वशमें रखना चाहिए, ऐसा कहते हैं—**जितात्मेति** । जित—तीव्र वैराग्यसे श्रद्धापूर्वक चिरकालिक नित्य निरन्तर सत्प्रत्ययकी आवृत्तिके अभ्याससे निर्जित—ब्रह्ममें ही स्थिरताको प्राप्त हुआ है आत्मा—मन—जिसका, वह—जितात्मा, चित्तको वशमें रखनेवाला, यह अर्थ है । असक्तबुद्धित्व और जितात्मत्वके सिद्ध होनेपर भी शरीरसुखकी अपेक्षा रखनेवाले और परिग्रहवाले योगीको ज्ञाननिष्ठा सिद्ध नहीं होती, इसलिए इससे रहित होना चाहिए, ऐसा कहते हैं—**विगतस्पृह इति** । देहसे और परिग्रहसे विशेष करके गत-विगतहो गई है देह, परिग्रह और क्षेमविषयक स्पृहा—अपेक्षा—जिसकी, वह विगतस्पृह । समय पर प्रारब्धसे प्राप्त हुए अन्नका भोजन करनेवाला और कौपीन, कन्था, दण्ड और कुण्डिकामात्रका परिधान करनेवाला होवे, यह अर्थ है । इस प्रकार उक्त साधनोंसे संपन्न, आत्मतत्त्वको भली भाँति जाननेवाला

ग्विदितात्मतत्त्वस्तीव्रमुमुक्षुरारूढः संन्यासेन सति ब्रह्मणि स्वात्मना विदिते नितरामासः संन्यासः समाधिर्निरन्तरब्रह्मनिष्ठा तेन संन्यासेन निरन्तरज्ञाननिष्ठया । यद्वा, 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्युक्तलक्षणं ब्रह्मैवाऽहमिति स्वस्य ब्रह्माकारेण नितरामितरभावापत्तिराहित्येनाऽवस्थानं येन सिद्ध्यति स संन्यासः सम्यग्ज्ञानम् 'अहमेवाऽधस्तादहमुपरिष्टादहमेवेदं सर्वम्' इत्येवंलक्षणं तेन संन्यासेन स्वयाथात्म्यविज्ञानेन नैष्कर्म्यसिद्धिं न यत्र कर्म तन्निष्कर्म निष्क्रियं परं ब्रह्म, 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्' इति श्रुतेः । निष्कर्मणो भावो नैष्कर्म्यं ब्रह्मभावस्तत्प्राप्तिर्नैष्कर्म्यसिद्धिर्निर्विशेषब्रह्मात्मनाऽवस्थितिलक्षणा तां नैष्कर्म्यसिद्धिम् । परमां ब्रह्मभावापत्तेरुत्तमसिद्ध्यन्तराभावादनुत्तमाम् । सर्वा अप्यणिमादिसिद्धयः सालोक्यादिसिद्धयो वा भेदप्रत्ययहेतुत्वेन मोहकतया पुरुषं संसारयन्ति नैष्कर्म्यसिद्धिस्तु स्वसिद्धिकारणेन सम्यग्दर्शनेन द्वैततत्प्रत्ययहेतुभूताज्ञानध्वान्तविध्वंसनं कारयित्वा संसाराद्विनिवर्त्य ब्रह्मविदं स्वाराज्यसाम्राज्यसुखे संस्थापयत्यतः परमत्वं युक्तं नैष्कर्म्यसिद्धेस्तामेतां नैष्कर्म्यसिद्धिं ब्रह्मविद्यतिः संन्यासेन निरन्तरब्रह्मनिष्ठासंभावितसम्यग्दर्शनेनैवाऽधिगच्छति न त्वन्येनेति सिद्धम् । यद्वा, नैष्कर्म्यसिद्धिं नैष्कर्म्यं निर्विशेषब्रह्मभावस्तत्प्राप्तिर्नैष्कर्म्यसिद्धिस्तां संन्यासेन 'अहङ्कारं बलं दर्पम्' इति वक्ष्यमाणलक्षणेनाऽहमादित्यागेनाऽधिगच्छति ।

तीव्र मोक्षकी इच्छा रखनेवाला आरूढ़ मुमुक्षु पुरुष संन्याससे (स्वात्मरूपसे विदित सत्-ब्रह्ममें निरन्तर स्थित रहना संन्यास—समाधि—है यानी निरन्तरब्रह्मनिष्ठा उससे यानी, निरन्तर ज्ञाननिष्ठासे। अथवा 'सत्य ज्ञान अनन्त ब्रह्म' इत्यादिसे उक्त लक्षणवाला ब्रह्म ही मैं हूँ, यों दूसरे भावकी प्राप्तिसे शून्य अपना ब्रह्माकारसे निरन्तर अवस्थान जिससे सिद्ध होता है, वह संन्यास है यानी मैं ही नीचे हूँ, मैं ही ऊपर हूँ, मैं ही यह सब हूँ, इस प्रकारका सम्यक् ज्ञान, उससे यानी अपने यथार्थ स्वरूपके विज्ञानसे) नैष्कर्म्यसिद्धिको (जहां कर्म नहीं, वह निष्कर्म है यानी निष्क्रिय परब्रह्म, क्योंकि 'निष्कल, निष्क्रिय शान्त' ऐसी श्रुति है। निष्कर्मका भाव नैष्कर्म्य यानी ब्रह्मभाव, उसकी प्राप्ति नैष्कर्म्यसिद्धि है, उसको अर्थात् निर्विशेषब्रह्मस्वरूपसे अवस्थितिरूप नैष्कर्म्यसिद्धिको), जो कि परमा है—ब्रह्मभावकी प्राप्तिसे उत्तम दूसरी सिद्धि न होनेसे अनुत्तमा है—, सभी अणिमा आदि सिद्धियाँ अथवा सालोक्य आदि सिद्धियां भेदप्रत्ययकी हेतु होनेके कारण मोहक हैं, अतः वे पुरुषको संसारकी प्राप्ति कराती हैं, नैष्कर्म्यसिद्धि तो स्वसिद्धिके कारण सम्यक्-दर्शनसे द्वैत और द्वैतप्रत्ययके हेतुभूत अज्ञानरूप अन्धकारका विध्वंस कराकर संसारसे निवृत्त करके ब्रह्मवित्को स्वाराज्यके साम्राज्यसुखमें स्थापन करती है, इसलिए नैष्कर्म्यसिद्धिका उत्तम होना युक्त है। इस नैष्कर्म्यसिद्धिको ब्रह्मवित् यति संन्याससे—निरन्तर ब्रह्मनिष्ठासे होनेवाले यथार्थविज्ञानसे—ही प्राप्त होता है, दूसरे मार्गसे नहीं, यह सिद्ध हुआ। अथवा नैष्कर्म्यसिद्धिको (नैष्कर्म्यकी—निर्विशेष ब्रह्मभावकी—प्राप्ति नैष्कर्म्यसिद्धि है, उसको) संन्याससे यानी 'अहङ्कार, बल और दर्पको' इत्यादिसे वक्ष्यमाण अहंकार आदिके त्यागसे प्राप्त होता है।

यद्वा, 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य' इति न्यायेन मुमुक्षोः सात्त्विकस्य सात्त्विकैर्बुद्धिश्रद्धादिभिर्युक्तस्य सात्त्विकेनैव कर्मणा वैदिकेनाऽनेकजन्मभिः समाराधितपरमेश्वरानुग्रहात्समुपात्तसत्त्वशुद्धेस्ततः सकृदुपदेशमात्रेण संप्राप्तात्मतत्त्वविज्ञानस्य पण्डितस्य तु 'ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च' इत्युक्तप्रकारेण सर्वकर्मसंन्यास एवाऽधिकारो न कथञ्चिदपि कर्मणीति बोधयितुमेवंलक्षणस्यैव संन्यासयोग्यत्वमित्यधिकारिलक्षणानि वदन् परिपक्कान्तःकरणस्य नैष्कर्म्यसिद्धिं प्रतिपादयति—**असक्तबुद्धिरिति** ।

असक्तबुद्धिः सर्वत्र पुत्रमित्रकलत्रधनादिष्वसक्ता सक्तिर्मोहादनुरक्तिस्तद्रहितत्वादसक्ता रागममतादिदोषनिर्मुक्ता बुद्धिर्यस्य सोऽसक्तबुद्धिः । सर्वतः सम्यग्विरक्त इत्यर्थः । तात्कालिकवैराग्ये सत्यप्यस्थिरात्मनः पश्चाद्रागादयो विषयप्रवृत्तिस्तया पातित्यं च स्यादतस्तदभावेन भवितव्यमित्याह—**जितात्मेति** । जितो निर्जितस्तीव्रमुमुक्षया मुहुर्मुहुर्विषयदोषसंदर्शनेन तदुदिततीव्रवैराग्येण तेषु बन्धकत्वबुद्ध्या भयेन चाऽसत्त्वज्ञानेन च सम्यग्विषयवैमुख्यं गमित आत्मा मनो यस्य स जितात्मा । वशीकृतचित्त इत्यर्थः । तीव्रमोक्षेच्छादिभिर्जितात्मत्वे सिद्धेऽपि 'औषधवदशनमाचरेत्' इत्युक्तलक्षणाभावे देहसौख्यापेक्षावतो ज्ञानतत्फला-

---

अथवा 'अपने कर्मसे उसका अर्चन करके' इस न्यायसे सात्त्विक बुद्धि, श्रद्धा आदिसे युक्त सात्त्विक मुमुक्षु पण्डितका तो—जिसने कि सात्त्विक वैदिक कर्मोंसे अनेक जन्मोंमें समाराधित परमेश्वरके अनुग्रहसे सत्त्वशुद्धि प्राप्त कर ली है और तदनन्तर एकबारके उपदेशमात्रसे आत्मतत्त्वविज्ञानको प्राप्त किया है, 'वे पुत्रैषणाका त्याग करते हुए' इत्यादि उक्त प्रकारसे—सम्पूर्ण कर्मोंके संन्यासमें ही अधिकार है, कर्ममें किसी प्रकार नहीं है, ऐसा बोधन करनेके लिए उस प्रकारके लक्षणोंसे युक्त पुरुषमें ही संन्यासयोग्यता है, इस प्रकार अधिकारीके लक्षणोंको कह रहे श्रीभगवान् जिसका अन्तःकरण परिपक्क हो गया है, उसी पुरुषको नैष्कर्म्यसिद्धि प्राप्त होती है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं—'**असक्तबुद्धिः**' इत्यादिसे ।

असक्तबुद्धि सर्वत्र—पुत्र, मित्र, कलत्र, धन आदिमें—असक्त (सक्ति यानी मोहसे अनुरक्ति, उससे रहित होनेसे असक्त यानी राग, ममता आदि दोषोंसे निर्मुक्त बुद्धि जिसकी है, वह असक्तबुद्धि) । सबसे भलीभाँति विरक्त, यह अर्थ है । तात्कालिक वैराग्य होनेपर भी अस्थिर मनवाले पुरुषमें पीछेसे राग आदि दोष, विषयप्रवृत्ति और विषयप्रवृत्तिसे पातित्य हो जायगा, इसलिए पुरुषको उससे रहित होना चाहिए, ऐसा कहते हैं—जितात्मेति । जित यानी निर्जित—तीव्र मुमुक्षासे, बारबार विषयोंमें दोष देखनेसे, उससे उदित तीव्र वैराग्यसे, उनमें बन्धकत्वबुद्धिसे, भयसे और असत्त्वज्ञानसे भलीभाँति विषयोंसे विमुखताको प्राप्त हुआ—है आत्मा—मन—जिसका, वह जितात्मा है । मनको अपने वशमें कर चुकनेवाला, यह अर्थ है । तीव्र मोक्षेच्छा आदिसे जितात्मत्वके सिद्ध होनेपर भी 'औषधके समान भोजन करे' इत्यादिसे उक्त लक्षणके न होनेपर देहसुखकी अपेक्षा रखनेवाले पुरुषका, ज्ञान और उसके

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाऽऽप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥ ५० ॥

हे कौन्तेय, नैष्कर्म्यरूप सिद्धिको प्राप्त हुआ विद्वान् जिस प्रकार ब्रह्मको प्राप्त करता है, उस प्रकारको, जो ज्ञानकी परानिष्ठारूप है, तुम मुझसे संक्षेपसे ही सुनो ॥ ५० ॥

संभवात् संन्यासे नाऽधिकारोऽतस्तदभावेन भवितव्यमित्याह—**विगतस्पृह इति ।** देहसौख्यात्परिग्रहसामीचीन्याद्विशिष्य गता स्पृहा आशा यस्य स विगतस्पृहः । देहभरणापेक्षारहित इत्यर्थः । एवंलक्षणलक्षितः शुद्धात्मा सद्गुरुप्रसादाद्विज्ञातात्मस्वरूपो मुमुक्षुर्विद्वान् नैष्कर्म्यसिद्धिं श्रौतस्मार्तादिसर्वकर्मभ्यो निर्गतो यः स निष्कर्मा तस्य भावो नैष्कर्म्यं विहितप्रतिषिद्धादिसर्वकर्मसंबन्धराहित्येनाऽवस्थानं नैष्कर्म्यं कर्मतद्विध्योरविषयत्वं तस्य प्राप्तिर्नैष्कर्म्यसिद्धिस्तां परमां परमपुरुषार्थस्य मोक्षस्य हेतुभूतज्ञाननिष्ठासाधनत्वात् परमां नैष्कर्म्यसिद्धिम् । संन्यासेन हि विहितानां कर्मणांससाधनानां विधिना परित्यागः संन्यासस्तेन संन्यासाश्रमेण यतिधर्मेणैव गच्छति । न तु ब्रह्मचर्याश्रमेण नाऽपि गार्हस्थ्येन नाऽपि च वानप्रस्थ्येन नैष्कर्म्यं सिध्यति । अतो ब्रह्मविदो नैष्कर्म्यं संन्यासेनैव प्राप्तव्यमिति सिद्धम् ॥ ४९ ॥

ज्ञानकर्मणोः साध्यसाधनभावं सूचयितुं सात्त्विककर्मानुष्ठानसंभाविता सत्त्वशुद्धिरुक्ता, ततः संप्राप्ततत्त्वविवेकज्ञानारूढस्य यतेर्विदेहकैवल्यसिद्धिकारणस्य ज्ञान-

---

फलका संभव न होनेसे, संन्यासमें अधिकार नहीं है, इसलिए उससे रहित होना चाहिए, ऐसा कहते हैं—**विगतस्पृह इति ।** देहके सुखसे और परिग्रहकी (भिक्षा, कथा, कौपीन आदिकी) सुन्दरतासे विशेष करके चली गई है स्पृहा यानी आशा जिसकी, वह विगतस्पृह । देहभरणकी अपेक्षासे रहित, यह अर्थ है । इस प्रकारके लक्षणोंसे लक्षित शुद्धात्मा तथा सद्गुरुके प्रसादसे आत्मतत्त्वको जान चुकनेवाला मुमुक्षु विद्वान् नैष्कर्म्यसिद्धिको (श्रौत, स्मार्त आदि सम्पूर्ण कर्मोंसे जो निकल गया है, वह निष्कर्मा है, उसका भाव नैष्कर्म्य यानी विहित, प्रतिषिद्ध आदि सम्पूर्ण कर्मोंके संबन्धसे रहित होकर अवस्थान यानी कर्म और कर्मविधिका विषय न होना, उसकी प्राप्ति नैष्कर्म्यसिद्धि है, उसको) यानी परम पुरुषार्थरूप मोक्षके हेतुभूत ज्ञानकी साधन होनेसे परम नैष्कर्म्यसिद्धिको संन्याससे—साधनोंके साथ विहित कर्मोंका विधिसे त्याग संन्यास है, उससे यानी संन्यास आश्रमसे—अर्थात् यतिके धर्मसे ही प्राप्त होता है । ब्रह्मचर्य आश्रमसे, गार्हस्थ्यसे और वानप्रस्थ्यसे नैष्कर्म्यसिद्धि नहीं होती, इसलिए ब्रह्मवित्को नैष्कर्म्यका संन्याससे ही सम्पादन करना चाहिए, यह सिद्ध हुआ ॥ ४९ ॥

पहले ज्ञान और कर्मका साध्यसाधनभाव सूचन करनेके लिए सात्त्विक कर्मके अनुष्ठानसे होनेवाली सत्त्वशुद्धिका प्रतिपादन किया, अब तत्त्वविवेकज्ञानको प्राप्त हुए आरूढ यतिकी विदेह•

स्याऽप्रतिबद्धत्वसिद्धये नियमेन क्रमेण कर्तव्यां ज्ञाननिष्ठां सप्रकारां ज्ञानफलं च निरूपयितुमाह—**सिद्धिमिति** ।

सत्त्वशुद्ध्या सम्यग्विदितात्मतत्त्वो मुमुक्षुरारूढः संन्यासेन सिद्धिं नैष्कर्म्यसिद्धिं प्राप्तः सन् यथा येन प्रकारेण तत्तत्साधनानुष्ठानपूर्वकज्ञाननिष्ठासिद्धिक्रमेण परिपक्वज्ञानेन ब्रह्माऽऽप्नोति ब्रह्मभावं गच्छति । विदुषो ब्रह्माप्तिर्नाम संशयासंभावनाविपरीतभावनादि-विकल्पराहित्येन सम्यगपरोक्षीकृते स्वात्मनि नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसच्चिदानन्दैकरसे निर्विशेषेऽद्वितीये परे ब्रह्मणीदमेवाऽहमिति आत्मत्वबुद्धिकरणमेव, यथाऽऽरोपितदोषेण स्वमन्यथा गृहीत्वा देवदत्तस्तन्निवृत्त्या देवदत्त एवाऽहमिति स्वात्मनि स्वबुद्धिं करोति एवं स्वाज्ञानेन स्वं ब्रह्म विस्मृत्य गुरुप्रसादादवाप्तविज्ञानेन तन्निवृत्त्या स्वात्मनि ब्रह्मणि स्वबुद्धिं करोति, तत्र स्वबुद्धिकरणमेव विदुषो ब्रह्मप्राप्तिर्न तु धनवत्प्राप्तिरुच्यते । देशतः कालतः स्वरूपतश्च प्राप्तव्यस्य ब्रह्मणो व्यवधानाभावात् । 'अयमात्मा ब्रह्म' इति न्यायेनाऽऽप्तुर्विदुषः स्वरूपत्वान्नित्याप्तस्य वस्तुनः पुनराप्तिकल्पनायोगात् । अतो विस्मृतकण्ठाभरणस्याऽवमर्शनेनाऽस्तित्वावधारणं यथा प्राप्तिस्तथाऽज्ञानेनाऽन्यथा गृहीते स्वात्मनि ब्रह्मणि विचारजन्यज्ञानेन पुनः स्वभावावधारणमेवाऽऽप्तिः । एवं ब्रह्मविद्यथा

कैवल्यसिद्धिके कारण ज्ञानके अप्रतिबद्धत्वकी सिद्धिके लिए नियमपूर्वक क्रमसे कर्तव्य प्रकारसहित ज्ञाननिष्ठाका और ज्ञानके फलका निरूपण करनेके लिए कहते हैं—'**सिद्धिम्**' इत्यादिसे ।

सत्त्वशुद्धिसे जो आत्मतत्त्वको भली भाँति जान चुका है, ऐसा आरूढ़ मुमुक्षु संन्यासले सिद्धि-को—नैष्कर्म्यसिद्धिको—प्राप्त होकर जिस प्रकार तत्-तत् साधनोंके अनुष्ठानसे जनित ज्ञाननिष्ठा-सिद्धिके क्रमसे परिपक्व हुए ज्ञानसे ब्रह्मको प्राप्त करता है यानी ब्रह्मभावको प्राप्त होता है । संशय, असंभावना, विपरीतभावना आदि विकल्पोंसे रहित होकर जिसका भलीभाँति प्रत्यक्ष किया गया है, ऐसे स्वात्मरूप, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त तथा सच्चिदानन्दैकरस निर्विशेष अद्वितीय परब्रह्ममें 'यही मैं हूँ' ऐसी आत्मत्वबुद्धि करना ही विद्वान्की ब्रह्मप्राप्ति है । जैसे देवदत्त आरोपित दोषसे पहले अपनेको अन्यथा जान कर अनन्तर दोषकी निवृत्तिसे 'देवदत्त मैं ही हूँ,' यों अपने स्वरूपमें आत्मबुद्धि करता है, वैसे ही अपने अज्ञानसे अपनेको ब्रह्मस्वरूप न समझ कर गुरुके प्रसादसे प्राप्त हुए विज्ञानसे उसकी निवृत्तिसे स्वस्वरूप ब्रह्ममें आत्मबुद्धि करता है । वहां आत्मबुद्धि करना ही विद्वान्की ब्रह्म-प्राप्ति कही जाती है, धनकी प्राप्तिके समान प्राप्ति नहीं कही जाती है, क्योंकि प्राप्तव्य ब्रह्मका देशसे, कालसे और स्वरूपसे व्यवधान नहीं है । 'यह आत्मा ब्रह्म है' इस न्यायसे प्राप्त करनेवाले विद्वान्का स्वरूप होनेसे नित्य प्राप्त वस्तुकी फिर प्राप्तिकल्पना करना युक्त नहीं है । इसलिए भूले हुए कंठा-भारणकी जैसे परामर्शसे उसके अस्तित्वका अवधारण ही प्राप्ति है, वैसे ही अज्ञानसे अन्यथा रूपसे गृहीत स्वस्वरूप ब्रह्ममें विचारजन्य ज्ञानसे फिर स्वभावका अवधारण करना ही ब्रह्मप्राप्ति है । इस प्रकार ब्रह्मवित् जिस ब्रह्मनिष्ठासिद्धिके प्रकारसे विशुद्ध बुद्धि द्वारा ब्रह्मको प्राप्त होता

येन ब्रह्मनिष्ठासिद्धिप्रकारेण विशुद्धबुद्ध्या ब्रह्माऽऽप्नोति तथा तं ज्ञाननिष्ठासिद्धिप्रकारं समासेन संक्षेपेणैव न तु विस्तरेण, विशुद्धबुद्धेः सूक्ष्मग्राहिणो बहुगाथानुपयोगात् स्वल्पग्रन्थेन तं प्रकारं मे निबोध नितरां बुध्यस्व। बुद्ध्वा तदनुष्ठानपरो भव। श्रुतेर्बोधस्य च फलमनुष्ठानमेव, अन्यथाऽऽपणवार्तावदुपदेशो निरर्थक इत्यर्थः। तत्खलु सम्यग्ज्ञानं विदेहमुक्तेः परमकारणम्। या परा निरतिशयपरिपाकलक्षणा निष्ठा परिसमाप्तिविकारनिर्मुक्ता निश्चला स्थितिः। कस्य निष्ठेत्यत आह—**ज्ञानस्येति**। 'न जायते म्रियते' इत्यारभ्य 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः'।....'प्रथितः पुरुषोत्तमः' इत्यन्तेन निर्विशेषविषयकेण ग्रन्थेन यादृश आत्मा निर्विशेषो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः परः प्रत्यगेकरसोऽद्वितीयः सम्यङ्निरूपितस्तद्विषयं ज्ञानं यादृशम्, यादृशज्ञानेनाऽहमेवेदं सर्वमिदं सर्वमहमिति ब्रह्मविद्यतिः सर्वात्मकं दृश्यसंबन्धरहितं चिदेकरसमाकाशवत्परिपूर्णमद्वितीयमात्मानं पश्यति, तादृशज्ञानसिद्ध्यै कार्या या परा निष्ठा सा येन प्रकारेण सिध्यति तं प्रकारं मत्तो निबोधेत्यर्थः। ननु मुमुक्षोरात्मज्ञानमेव न सिध्यति, कुतस्तन्निष्ठा परा सिद्ध्येत्? कथं ज्ञानस्याऽसिद्धिरिति चेद्, उच्यते; यदाकारं ज्ञेयं तदाकारमेव भवति तज्ज्ञानम्, नरश्चेत् ज्ञेयस्तज्ज्ञानं च नराकारमेव भवति, पशुश्चेत् पश्वाकारम्, नाऽन्यथा। निराकारस्त्वात्मा। न ह्यात्मन आकारोऽस्ति, 'न सत्तन्नासदुच्यते'

है, उस ज्ञाननिष्ठासिद्धिके प्रकारको समाससे—संक्षेपसे—(विस्तारसे नहीं, क्योंकि विशुद्ध बुद्धिसे युक्त सूक्ष्म वस्तुका ग्रहण करनेवाले पुरुषके लिए अनेक गाथाओंका उपयोग करना युक्त नहीं है) यानी अल्प ग्रन्थसे उस प्रकारको मुझसे सुनो, भली भाँति जान लो। जानकर उसके अनुष्ठानमें तत्पर होओ। सुननेका और जाननेका फल अनुष्ठान ही है, अन्यथा बाजारु वार्ताके समान उपदेश निरर्थक है, यह अर्थ है। वह सम्यक् ज्ञान विदेहमुक्तिका परमकारण है। जो कि परा—निरतिशयपरिपाकस्वरूपानिष्ठा—परिसमाप्ति और विकारसे रहित निश्चल स्थिति—है। किसकी निष्ठा है? इसपर कहते हैं—**ज्ञानस्येति**। 'न जन्मता है, न मरता है' यहाँसे लेकर 'उत्तम पुरुष तो अन्य है, जो परमात्मा कहा गया है'।....'पुरुषोत्तम प्रसिद्ध है' यहाँ तकके निर्विशेषवस्तुप्रतिपादक ग्रन्थसे जिस निर्विशेष नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव पर प्रत्यगेकरस, अद्वितीय, आत्माका सम्यक् निरूपण किया गया है, उसका जिस तरह ज्ञान है, जिस प्रकारके ज्ञानसे मैं ही यह सब हूँ, यह सब मैं हूँ, यों ब्रह्मवित् यति सर्वात्मक, दृश्यसम्बन्धसे रहित, चिदेकरस, आकाशके समान परिपूर्ण तथा अद्वितीय आत्माको देखता है, उस प्रकारके ज्ञानकी सिद्धिके लिए करने योग्य जो परा निष्ठा है, वह जिस प्रकार सिद्ध होती है, उस प्रकारको मुझसे सुनो, यह अर्थ है। जब मुमुक्षुका आत्मज्ञान ही सिद्ध नहीं होता, तब उसकी परा निष्ठा कहाँसे सिद्ध होगी? यदि कहो कि क्यों ज्ञानकी सिद्धि नहीं होती? तो इस विषयमें कहते हैं—जिस आकारका ज्ञेय होता है, उसी आकारका उसका ज्ञान होता है, यदि ज्ञेय नर है, तो उसका ज्ञान भी नराकार ही होता है, यदि पशु ज्ञेय है, तो पशुके आकारका ज्ञान होता है, दूसरे आकारका नहीं होता। आत्मा तो निराकार

इति दृश्यत्वनिषेधात्सदसद्विलक्षणस्य वस्तुनोऽप्रसिद्धत्वादनाकारत्वाच्च विषयत्वानुपपत्तेः। आकारवत्ता त्वात्मनस्तदा सिद्ध्येद्यद्यात्मा युष्मत्प्रत्ययार्थः स्यात्। न ह्ययं युष्मत्प्रत्ययार्थो भवति, 'अस्थूलमनण्वह्रस्वम्' इत्यात्मनः सर्वदृश्यवैलक्षण्यश्रवणात्। ननु 'तं देवा ज्योतिषां ज्योतिः' इति, 'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः' इत्यात्मनो ज्योतिःस्वरूपत्वं श्रूयते, कथमरूपत्वमिति चेत्, न; 'अस्थूलम्' इति, 'यत्तदद्रेश्यम्' इति रूपवद्द्रव्यत्वनिषेधे सत्यरूपिद्रव्यत्वापत्त्या जडत्वापत्तौ सत्यां श्रुत्या तन्निरस्यते—प्रकाशस्वरूप आत्मेति न तु सूर्यादिवज्ज्योतिःस्वरूप आत्मेत्युच्यते। तथात्वे सत्यात्मनो भौतिकत्वज्ञेयत्वजडत्वानित्यत्वादिदोषः प्रसज्येत। सूर्यादिवदप्रयत्नेन विषयत्वं च स्यात्, तदयुक्तम्, 'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः' इत्यमूर्तत्वश्रवणात्। 'न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य' इति आत्मनो निर्विषयत्वमेव श्रूयते। विषयभूते हि वस्तुनि ज्ञानस्य तदात्मना परिणामो न त्वविषयभूते परिणामः संभवति। ननु 'स आत्मा स विज्ञेयः' इत्यात्मा निर्विशेषः श्रूयते, श्रुतार्थाकारेण ज्ञानस्य परिणाम उपपद्यत एवेति चेत्, न; 'एष वन्ध्यासुतो याति' इत्यादिश्रुतार्थाकारज्ञानप्रसङ्गाचादृशज्ञानस्य मनोराज्यवन्मिथ्यात्वोपपत्तेश्च। नहि श्रुतं श्रावितं वा मनसा भावितं वा वस्तु तद्विषयकं ज्ञानं च सत्यं

है। आत्माका आकार नहीं है, क्योंकि 'वह न सत् कहा जाता और न असत् कहा जाता है' इससे दृश्यत्वका निषेध है और सत् एवं असत्‌से विलक्षण वस्तु अप्रसिद्ध होनेसे आकारशून्य है, अतः उसमें विषयत्व हो नहीं सकता। आत्माका आकार तो तभी सिद्ध हो सकता है, जब आत्मा युष्मत्-प्रत्ययका अर्थ (विषय) हो, यह आत्मा युष्मत् प्रत्ययका अर्थ है नहीं, क्योंकि 'स्थूल नहीं, अणु नहीं, ह्रस्व नहीं' इससे आत्माका सब दृश्यसे वैलक्षण्य सुननेमें आता है। यदि कहो कि 'देवता उसको ज्योतियोंका ज्योति मानते हैं' इससे तथा 'यहां यह पुरुष स्वयंज्योति है' इससे आत्मा ज्योतिःस्वरूप है, ऐसा सुननेमें आता है, फिर वह रूपरहित कैसे है ? तो यह कहना युक्त नहीं है, क्योंकि 'स्थूल नहीं' 'जो वह अदृश्य है' इत्यादिसे रूपवत् द्रव्यत्वका निषेध होनेपर अरूपिद्रव्यत्वकी आपत्ति द्वारा जड़त्वकी प्राप्ति होनेपर श्रुतिसे उसका निषेध किया जाता है—प्रकाशस्वरूप आत्मा है, न कि सूर्य आदिके समान ज्योतिःस्वरूप आत्मा है ऐसा कहा जाता है, क्योंकि ऐसा होनेपर आत्मामें भौतिकत्व, ज्ञेयत्व, जड़त्व, अनित्यत्व आदि दोषोंका प्रसंग आवेगा। यदि कहो कि सूर्य आदिके समान प्रयत्नके बिना ही वह विषय हो जायगा, तो वह कहना भी अयुक्त है, क्योंकि 'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः' इससे अमूर्तत्व सुननेमें आता है। 'ईश्वरका रूप इन्द्रियोंका विषय नहीं है' इससे आत्माका निर्विषयत्व सुननेमें आता है। विषयभूत वस्तुमें ही ज्ञानका उसके स्वरूपसे परिणाम होता है, अविषयभूत वस्तुमें परिणाम नहीं होता है। 'वह आत्मा है, उसको जानना चाहिए' इससे निर्विशेष आत्मा सुना जाता है, अतः सुने हुए अर्थके आकारसे ज्ञानका परिणाम उपपन्न है ही, ऐसा यदि कहो, तो वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'यह वन्ध्यापुत्र जाता है' इत्यादि श्रुत अर्थके आकारके ज्ञानका प्रसंग आवेगा और उक्त ज्ञान मनोराज्यके समान मिथ्या है। श्रुत, श्रावित या मनसे भावित पदार्थ

भवति, प्रमाणान्तरेण च बाध्यते । यत एवमत आत्मविषयकं ज्ञानमेव न संभवति, तदसंभवे विदुषः कथं तन्निष्ठा सिद्ध्यतीति चेत्, न; प्रत्यक्षादिप्रमाणगम्यत्वादात्मसत्तायास्तज्ज्ञानासंभवासिद्धेः । कुत्रचित्प्रत्यक्षं प्रमाणं कुत्रचिदनुमानं कुत्रचिच्छास्त्रं कुत्रचिदर्थापत्तिः । आत्मविषये त्वेतत्सर्वं प्रमाणमेव भवति, तदुच्यते—देहेन्द्रियादयोऽधिष्ठातृमन्तः, स्वतो जडत्वे सति इष्टानिष्टप्रवृत्तिनिवृत्तिमत्त्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा शकटः', 'तदधिष्ठाताऽऽत्मा देहादिभ्यो भिन्नः, नियामकत्वाद्रथिकवत्' इत्याद्यनुमानेन 'नाऽन्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञम्' इत्यादिशास्त्रेण चाऽऽत्माऽवगन्तुं शक्यते पण्डितैः, यथा चाऽद्यैकादशी शिवरात्रिरिति शास्त्रेणोक्तमङ्गीकृत्योपोष्यते, तथा विदुषा 'नाऽन्तःप्रज्ञम्' इत्यादिना 'प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा' इत्यन्तेन शास्त्रेण सकलदृश्यसंबन्धं निषिध्याऽर्पितं केवलमात्मतत्त्वं स्वात्मनाऽवगन्तव्यम्, उभयोः शास्त्रप्रतिपाद्यत्वाविशेषात् । ननु 'नान्तःप्रज्ञम्' इति श्रुत्युक्तार्थस्य निर्विशेषत्वेनोपलब्ध्यभावाद्वन्ध्यापुत्रवदसत्त्वमेवेति चेत्, एकादश्या अपि विशेषाकारादर्शनात् स्वरूपेण तत्तुल्यत्वादननुष्ठेयत्वप्रसङ्गात्, तत उभयोरपि शास्त्रैकगम्यत्वं तदुक्तत्वेनाऽभ्युपगम्यत्वं च सममेव । नन्वेकादशीवदात्मसद्भावः शास्त्रेणाऽङ्गीक्रियत एवेति चेद्, अत्र यथा

और उसका अवलम्बन करनेवाला ज्ञान सत्य नहीं होता तथा दूसरे प्रमाणसे बाधित होता है । जिस कारणसे ऐसा है, इसलिए आत्मविषयक ज्ञानका ही संभव नहीं है, उसका संभव न होनेपर विद्वान्‌की उक्त निष्ठा कैसे होगी, ऐसा यदि कहो, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि आत्माकी सत्ता प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे जाननेमें आती है, अतः उसके ज्ञानका असंभव नहीं हो सकता । कहीं प्रत्यक्ष प्रमाण है, कहीं अनुमान है, कहीं शास्त्र और कहीं अर्थापत्ति है । आत्मविषयमें तो यह सब प्रमाण ही है—'देह, इन्द्रिय आदि अधिष्ठातासे युक्त हैं, स्वयं जड़ होनेपर भी इष्ट और अनिष्टमें प्रवृत्तिमान् और निवृत्तिमान् होनेसे, जो ऐसा नहीं है, वह ऐसा भी नहीं है, जैसे शकट', 'उनका अधिष्ठाता आत्मा देहादिसे भिन्न है, नियामक होनेसे, रथिकके समान' इत्यादि अनुमानसे और 'न अन्तःप्रज्ञ, न बहिःप्रज्ञ' इत्यादि शास्त्रसे आत्मा पण्डितों द्वारा जाना जा सकता है । जैसे कि आज एकादशी है, शिवरात्रि है, यों शास्त्र द्वारा कहे गये अर्थका अङ्गीकार करके उपवास किया जाता है, वैसे ही विद्वान्‌को 'न अन्तःप्रज्ञ' इत्यादिसे लेकर 'प्रपञ्चसे रहित, शान्त, शिव, अद्वैत चौथा मानते हैं, वह आत्मा है' यहांतकके शास्त्रसे सम्पूर्ण दृश्यसम्बन्धका निषेध करके समर्पित केवल आत्मतत्त्वका अपने स्वरूपसे ही परिज्ञान करना चाहिए, क्योंकि दोनों समानरूपसे शास्त्रप्रतिपादित हैं । यदि शङ्का हो कि 'अन्तःप्रज्ञ नहीं' इस श्रुतिसे उक्त अर्थकी निर्विशेषरूपसे उपलब्धि नहीं होती, इसलिए वह वन्ध्यापुत्रके समान असत् ही है, तो एकादशीका भी विशेष आकार देखनेमें नहीं आता, अतः स्वरूपसे उसके समान होनेके कारण उसका अनुष्ठान ही असम्भव होगा । इसलिए दोनोंमें शास्त्रैकगम्यत्व और शास्त्रके द्वारा कथित होनेसे अभ्युपगम्यत्व समान ही है । एकादशीके समान आत्माके सद्भावका शास्त्रसे अङ्गीकार किया जाता ही है, ऐसा यदि कहो, तो यहाँ जैसे निश्चयसे

निश्चयेन प्रवृत्तिस्तथा 'नाऽहं देहादिः' इति निश्चयेनाऽनात्मन्यहंभावं परित्यज्य 'ब्रह्मैवाऽहम्' इति तूष्णीं स्थीयतां न पुनर्विकल्प्यतामिदमेव प्रामाणिकस्य प्रमाणस्य च फलम्। नन्वस्माकं शास्त्रं प्रमाणमेव, तथाप्यविषयत्वादात्मनस्तदनुभवाभावात्प्रवृत्त्यभाव इति चेत्, तर्हि एकादश्याः प्रत्यक्षत्वं तदनुभूत्या प्रवृत्तिरित्यज्ञतमत्वं स्वीयं प्रकटितम्। पण्डितानां शुद्धबुद्धीनामेव मुमुक्षूणां मोक्षशास्त्रे तत्प्रतिपादितार्थे च विश्वासो दृढप्रत्ययः प्रवृत्तिश्च सहस्रकोटिजन्मार्जितपुण्यपुञ्जपरिपाकवशादीशप्रसादादेव सिध्यति नाऽन्यथा युक्तिकोटिभिरशुद्धात्मनाम्। यदुक्तमविषयत्वादप्रसिद्धत्वाच्चाऽऽत्मनस्तदनुभवाभावात्प्रवृत्त्यभाव इति, अत्रोच्यते—न तावदयमात्मा स्वयमेकादशीवदेकान्तेनाऽविषयः। अस्मत्प्रत्ययार्थत्वेन नित्यापरोक्षत्वात्प्रकाशस्वरूपत्वात् सर्गप्रकाशकत्वाच्च प्रत्यगात्मप्रसिद्धेः। न ह्यात्मा यस्य कस्यचित्कदाचिदप्रसिद्धो भवति ज्ञातव्यः प्राप्तव्यो वा सत्यप्रसिद्धत्वे आत्मनो लौकिको वैदिकश्च व्यवहारस्तव न सिध्येत्, सर्वेषामात्मानमुद्दिश्यैवेष्टानिष्टयोः प्रवृत्तिर्निवृत्तिश्च दृश्यते, न त्वनात्मानं देहं प्राणं वा बुद्धिं वाऽन्यं वा। मर्त्यः खल्वात्मसुखायैव देहस्याऽऽरोग्यमिच्छति बुद्धेः सौष्ठवमाहारस्योपशमं च प्राणनिरोधं योगं च करोति भार्यामुद्वहते देवान्

प्रवृत्ति होती है, वैसे ही 'मैं देहादि नहीं हूँ' ऐसे निश्चयसे अनात्मामें अहंभावका त्यागकर 'ब्रह्म ही मैं हूँ', ऐसी बुद्धिकर चुपचाप स्थित हो जाना चाहिए, फिर विकल्प नहीं करना चाहिए, यही प्रामाणिक और प्रमाणका फल है। यद्यपि हमारे मतमें शास्त्र प्रमाण ही हैं, तो भी आत्मा विषय नहीं है, अतः उसका अनुभव न होनेसे प्रवृत्तिका अभाव है, ऐसा यदि कहो, तो यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेपर तुम्हें एकादशीका प्रत्यक्ष और उसके अनुभवसे उसमें प्रवृत्ति माननी होगी ऐसी स्थितिमें अपना अज्ञतमत्व ही प्रकट करना होगा। शुद्धबुद्धिवाले मुमुक्षु पण्डितोंका ही मोक्षशास्त्रमें और उसके प्रतिपादित अर्थमें विश्वास, दृढ़ प्रत्यय और प्रवृत्ति हजार करोड़ जन्मोंमें किये गये पुण्यपुञ्जके परिपाकसे ईश्वरके प्रसादसे ही सिद्ध होती है, दूसरे प्रकारसे करोड़ों युक्तियोंसे कोटियोंसे अशुद्ध आत्मावालोंका नहीं होती। यह जो कहा था कि अविषय होनेसे, अप्रसिद्ध होनेसे और आत्माका अनुभव न होनेसे प्रवृत्तिका अभाव है, उसमें कहते हैं—यह आत्मा स्वयं एकादशीके समान एकान्त अविषय नहीं है, क्योंकि अस्मत्-प्रत्ययके अर्थरूपसे नित्य अपरोक्ष प्रकाशस्वरूप एवं सर्गका प्रकाशक है, अतः प्रत्यगात्मा प्रसिद्ध है। आत्मा कभी किसीको अप्रसिद्ध नहीं होता एवं ज्ञातव्य तथा प्राप्तव्य भी नहीं होता। यदि आत्मा अप्रसिद्ध होता, तो तुम्हारा लौकिक और वैदिक व्यवहार सिद्ध न होता, आत्माके उद्देश्यसे ही सबकी इष्ट और अनिष्ट पदार्थमें प्रवृत्ति और निवृत्ति देखनेमें आती है, अनात्माके—देह, प्राण, बुद्धि या अन्यके—उद्देश्यसे नहीं देखनेमें आती। मनुष्य आत्मसुखके लिए ही देहको नीरोग चाहता है तथा बुद्धिकी स्वच्छता, आहारका उपशम, प्राणका निरोध और योग करता है,

यजते हरिं भजति । ततो देहादिविलक्षण आत्मा प्रसिद्ध एवाऽस्मत्प्रत्ययार्थः । नहि 'नाऽहमस्मि' इति कदापि यस्य कस्याऽपि प्रत्ययोऽस्ति । 'स्वप्नहमद्राक्षम्, सुखमहमस्वाप्सम्, अहं जागर्मि' इत्यवस्थात्रयेऽपि सर्वैरहमस्म्येवेत्यात्मसत्तायाः सदाऽनुभूयमानत्वादात्मनो ज्ञेयत्वानुपपत्तेः सर्वदृश्यभिन्नत्वप्रसिद्धेश्च । नहि स्वमेकं साक्षादनुभवतः पण्डितस्य स्वसत्तासिद्धेः प्रमाणमपेक्ष्यते । सर्वेषां प्रमाणानां प्रामाण्यं यतः सिध्यति तं सर्वप्रमाणप्रामाण्यसिद्धिकारणं स्वप्रकाशमात्मानं किं नु प्रकाशयेत् । नह्यचेतनं चेतनं प्रकाशयति, स्वसत्त्वं स्वस्यैव प्रत्यक्षम्, ततः प्रत्यक्षं प्रमाणम् । व्यवहारान्यथानुपपत्तिप्रसूतार्थापत्तिश्च प्रमाणम् । एवं प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धस्याऽऽत्मनो वन्ध्यापुत्रवदसत्त्वं तज्ज्ञानस्य मनोराज्यवत्सगुणध्यानवन्मिथ्याविषयत्वं प्रमाणान्तरबाध्यत्वं च संभावयितुं न शक्यते । तथात्वे तव त्वज्ज्ञानस्य चाऽभावत्वप्रसङ्गात् । ततो ज्ञातृत्वेनाऽस्मत्प्रत्ययार्थत्वेन सर्वव्यवहारकारणत्वेन परमप्रेमास्पदत्वेन च प्रसिद्धत्वादात्मा नाऽयमत्यन्ताविषयो भवति । किन्तु स्वच्छत्वात् निर्मलत्वात् सूक्ष्मत्वाच्च बुद्धिरात्मचैतन्यव्याप्त्या सूर्यप्रकाशव्याप्त्या स्फटिकः सूर्यवद्यथा तथाऽऽत्मवदवभासते । तादृशबुद्धिव्याप्त्या मनआदिस्थूलान्तं सर्वमात्मवदवभासते । तेन देहेन्द्रियप्राणमनोबुद्ध्यादि-

---

भार्याके साथ विवाह करता है, देवताओंका यजन करता है और हरिको भजता है । इसलिए देह आदिसे भिन्न आत्मा अस्मत्-प्रत्ययका अर्थ प्रसिद्ध ही है । मैं नहीं हूँ, ऐसी प्रतीति कभी किसीको नहीं होती । मैंने स्वप्नको देखा, मैं सुखपूर्वक सोया, मैं जागता हूँ, इस प्रकार तीनों अवस्थाओंमें सभी 'मैं हूँ' यों आत्मसत्ताका सदा अनुभव करते हैं, अतः आत्मा ज्ञातव्य नहीं है और सम्पूर्ण दृश्योंसे भिन्न है । अकेले अपना (स्वात्माका) साक्षात् अनुभव कर रहे पण्डितके लिए अपनी सत्ताकी सिद्धिके लिए प्रमाणकी अपेक्षा नहीं रहती । जिससे सब प्रमाणोंका प्रामाण्य सिद्ध होता है, सम्पूर्ण प्रामाणोंके प्रामाण्यकी सिद्धिके कारणभूत उस स्वप्रकाश आत्माका कौन प्रकाश करेगा ? अचेतन चेतनका प्रकाश नहीं कर सकता । अपने अस्तित्वका अपनेको ही प्रत्यक्ष होता है, इसलिए आत्मामें प्रत्यक्ष प्रमाण है और व्यवहारकी अन्यथा अनुपत्तिसे जनित अर्थापत्ति भी उक्त अर्थमें प्रमाण है । इस प्रकार प्रत्यक्ष आदि प्रमाणसे सिद्ध आत्मा वन्ध्यापुत्रके समान असत् है तथा उसका ज्ञान मनोराज्यके समान मिथ्याविषयक है एवं सगुणध्यानके समान अन्य प्रमाणसे बाधित है, ऐसी कभी संभावना नहीं कर सकते, ऐसा होनेपर तुम्हारी और तुम्हारे ज्ञानकी अभावरूपता हो जायगी । इसलिए ज्ञातारूपसे, अस्मत्प्रत्ययके अर्थरूपसे, सम्पूर्ण व्यवहारोंके कारणरूपसे और परमप्रेमके भाजनरूपसे प्रसिद्ध होनेके कारण यह आत्मा अत्यन्त अविषय नहीं है । किन्तु स्वच्छता, निर्मलता और सूक्ष्मतासे युक्त बुद्धि आत्मचैतन्यके सम्बन्धसे—जैसे सूर्यके प्रकाशके सम्बन्धसे स्फटिक सूर्यके समान भासित होता है, वैसे ही—आत्माके समान भासती है । उस प्रकारकी बुद्धिकी व्याप्तिसे मनसे लेकर स्थूलपर्यन्त सम्पूर्ण जगत्

ष्वनात्मस्वहमित्यात्मबुद्धिः सर्वेषां मनुष्योऽहं ब्राह्मणो यतिरिति, द्रष्टा श्रोता काणः खञ्जोऽहमिति, क्षुधितः पिपासितोऽहमिति, कर्ता भोक्ताऽहं सुखी दुःखीत्येवमारोपितैरनात्मतत्प्रत्ययैः शैवालैर्जलमिव मेघपटलैश्चन्द्रवत्तिरोहिततया विस्पष्टं न प्रकाशते। शतधा श्रुत्वा मत्वाऽप्यनाद्यविद्यावासनया पण्डिता अपि बहिरन्तःपरिपूर्णमप्यात्मानमतिसूक्ष्ममतीन्द्रियमनवगाह्य जडमारोपितमेव स्थूलमनात्मानमात्मत्वेन गृह्णन्ति न त्वात्मानम्। ततोऽनाद्यविद्यारोपितानामन्तर्बुद्ध्यादीनां बहिर्घटपटादीनां तत्प्रत्ययानां च सर्वमिदमहं च ब्रह्मैवेति सर्वत्र प्रत्यग्दृष्ट्या ब्रह्मैकविषयया निरास एव कर्तव्यः। सन्ततब्रह्मप्रत्ययावृत्त्या विपरीतप्रत्ययानां निःशेषनिवृत्तौ सत्यां शैवालनिवृत्तौ स्वच्छं सुखकरं जलमिव मेघापाये पूर्ण आनन्दकरश्चन्द्र इव स्वच्छः शान्तश्चिद्घन आनन्दघन आत्मा ज्ञानचक्षुषः सम्यग्विषयो भवति। यत एवं ततः आत्मावारकानात्मप्रत्ययनिरसन एव प्रयत्नः कर्तव्यस्तीव्रमुमुक्षया विदुषा, न त्वात्मा कीदृशः? किंलक्षणः? कथं तिष्ठति? कुत्राऽऽस्ते? कथं प्राप्यः? इत्यात्मसद्भावे तत्प्राप्तिवेदने च, तस्याऽहमर्थत्वेन स्वतःसिद्धत्वान्नित्यप्राप्तत्वाच्च। कालदिगादेर्निराकारस्याऽपि च ज्ञानं शास्त्राचार्योपदेशाभ्यां सिध्यति—अद्यैकादशी, इयं

आत्माके समान भासता है। उससे देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदि अनात्माओंमें 'मैं' ऐसी आत्मबुद्धि सबको विस्पष्टरूपसे नहीं होती, क्योंकि मैं मनुष्य हूँ, ब्राह्मण हूँ, यति हूँ तथा मैं द्रष्टा, श्रोता काना और लँगड़ा हूँ एवं मैं भूखा और प्यासा हूँ तथा मैं कर्त्ता, भोक्ता, सुखी और दुःखी हूँ इत्यादि आरोपित अनात्मा और अनात्मप्रत्ययोंसे आत्मा शैवालसे जलके समान तथा मेघपटलोंसे चन्द्रमाके समान तिरोहित है। पण्डित भी सैकड़ों बार श्रवण और मनन करके अनादि अविद्याकी वासनासे बाहर भीतर परिपूर्ण अतिसूक्ष्म, अतीन्द्रिय आत्माको न जानकर जड़ आरोपित स्थूल अनात्माका ही आत्मरूपसे ग्रहण करते हैं, आत्माका नहीं। इसलिए अनादि अविद्यासे आरोपित आन्तर बुद्धि आदिका, बाह्य घट, पट आदिका और उनके प्रत्ययोंका 'यह सब और मैं ब्रह्म ही हूँ', इस प्रकारकी सर्वत्र केवल ब्रह्ममात्रका ही अवलम्बन करनेवाली प्रत्यक्दृष्टिसे निरास ही करना चाहिए। सर्वदा ब्रह्मप्रत्ययकी आवृत्तिसे विपरीत प्रत्ययोंके निःशेष निवृत्त होनेपर, शैवालके निवृत्त होनेपर स्वच्छ सुखकर जलके समान तथा मघेके निवृत्त होनेपर पूर्ण आनन्दकर चन्द्रके समान, स्वच्छ, शान्त, चिद्घन, आनन्दघन आत्मा ज्ञानरूपी चक्षुका भली भाँति विषय होता है। जिस कारणसे ऐसा है, इसलिए विद्वान्को तीव्रमोक्षकी इच्छासे आत्माको ढांकनेवाले अनात्मप्रत्ययके निरसनमें ही प्रयत्न करना चाहिए, आत्मा कैसा है? किस लक्षणवाला है? कैसे स्थित है? कहाँ है? कैसे प्राप्य है? इत्यादिरूपसे आत्माके सद्भावमें और उसकी प्राप्ति होती है या नहीं इत्यादि ज्ञानमें यत्न नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह अहंका अर्थ होनेसे स्वतः सिद्ध है और नित्य प्राप्त है। जब निराकार काल और दिशा आदिका भी ज्ञान शास्त्र और आचार्यके उपदेशसे

प्राचीति। किमुत स्वस्वरूपत्वेन सिद्धस्याऽऽत्मनो ज्ञानं शास्त्राचार्योपदेशेन सिध्यतीति। आत्मज्ञानेनैव हि स्वं च परं च विजानात्यहं ममेदमिति। यः स्वप्नमद्राक्षं यः सुखमस्वाप्सं सोऽहं जागर्मीत्यनुभूयमानस्य स्वस्य देहेन्द्रियादिभिन्नत्वं स्वप्ने सुषुप्तौ बुद्ध्यादिभिन्नत्वं ज्ञातृत्वं च सर्वत्र ज्ञात्वाऽप्यात्मा कस्तज्ज्ञानं कथमिति वक्तुं पण्डितस्य न युक्तम्। यस्य प्रकाशेनेदं सर्वं बहिरन्तर्विजानाति तज्ज्ञानं न सिद्ध्यतीति वचनमतीव साहसम्। 'एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञः' इति क्षेत्रं क्षेत्रधर्मजातं च सर्वं यो विजानाति सोऽहमात्मेत्यात्मज्ञानं यतेः शुद्धात्मनः परमेश्वरप्रसादात्सुलभतममेव। यस्मादेवं तस्मादात्मा सुप्रसिद्धस्तज्ज्ञानमप्यात्मेश्वरप्रसादात्सुलभतममेवेति कृत्वा शुद्धात्मनो यतेः सद्गुरूपदेशात्संप्राप्तस्यैवाऽऽत्मज्ञानस्याऽनात्मवासनाकृतविपरीतप्रत्ययनिःशेषनिवृत्त्या अप्रतिबद्धत्वसिद्धये मुमुक्षोर्ज्ञाननिष्ठा संपादनीयेत्युच्यते भगवता 'निष्ठा ज्ञानस्य या परा' इति। ननु मुमुक्षोर्ज्ञाननिष्ठा संपादनीयेत्युच्यते। ज्ञाननिष्ठा नाम ज्ञाने ज्ञानस्वरूपे ब्रह्मणि चित्तस्य नैश्चल्येन स्थितिर्वा किं ज्ञानाभ्याससमाप्तिर्वा? नाऽऽद्यः? चञ्चलत्वान्मनसो ब्रह्मणि स्थित्यसंभवात्। द्वितीये ज्ञानस्य ज्ञानहेतोर्वेदान्तशास्त्राभ्यासस्य परि-

---

सिद्ध होता है—आज एकादशी है, यह पूर्वदिशा है इत्यादि; तब स्वस्वरूपरूपसे सिद्ध आत्माका ज्ञान शास्त्र और आचार्यके उपदेशसे सिद्ध होता है, इसमें तो कहना ही क्या है? आत्मज्ञानसे ही अपनेको और दूसरेको मैं, मेरा, यह इत्यादिरूपसे जानता है। जिसने स्वप्न देखा, जो सुखसे सोया, वही मैं जागता हूँ, इस प्रकार अनुभूयमान अपना देह, इन्द्रिय आदिसे भेद, स्वप्न और सुषुप्तिमें बुद्धि आदिसे भेद और ज्ञातापन सर्वत्र जानकर भी आत्मा कौन है? उसका ज्ञान कैसे होता है? यह कहना पण्डितके लिए शोभा नहीं देता। जिसके प्रकाशसे इस सबको बाहर-भीतर जानता है, उसका ज्ञान नहीं होता, यह कहना अत्यन्त ही साहस है। 'क्षेत्रको जो जानता है, उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं' इससे क्षेत्र और क्षेत्रके धर्म सबको जो जानता है, वही मैं आत्मा हूँ, इस प्रकार आत्मज्ञान शुद्धात्मा यतिके लिए परमेश्वरके प्रसादसे सुलभतम ही है, चूँकि ऐसा है इसलिए आत्मा सुप्रसिद्ध है और उसका ज्ञान भी ईश्वरके प्रसादसे सुलभतम ही है, इसलिए शुद्धात्मा यति मुमुक्षुको सद्गुरुके उपदेशसे प्राप्त हुए आत्मज्ञानके ही, अनात्मवासना द्वारा किये गये विपरीत प्रत्ययकी निःशेष निवृत्तिसे, अप्रतिबद्धत्वकी सिद्धिके लिए ज्ञाननिष्ठाका संपादन करना चाहिए, ऐसा भगवान्‌ने कहा है—'जो ज्ञानकी परा निष्ठा है'। मुमुक्षुको ज्ञाननिष्ठाका संपादन करना चाहिए, ऐसा जो कहा जाता है, उसमें प्रश्न यह होता है कि क्या ज्ञानमें—ज्ञानस्वरूप ब्रह्ममें—चित्तकी निश्चल स्थितिका नाम ज्ञाननिष्ठा है? या ज्ञानाभ्यासकी समाप्तिका नाम ज्ञाननिष्ठा है? प्रथम पक्ष तो युक्त नहीं है, क्योंकि चञ्चल होनेके कारण मनकी ब्रह्ममें स्थिति असंभव है। दूसरे पक्षमें क्या ज्ञानकी—ज्ञानके हेतु वेदान्तशास्त्रके अभ्यासकी—परिसमाप्ति ज्ञाननिष्ठा है? अथवा ज्ञानकी

समाप्तिर्वा ? उत ज्ञानस्य प्रत्ययावृत्तेः परिसमाप्तिर्वा ? नाऽऽद्यः, केवलग्रन्थस्य शुष्कतर्कवदावृत्त्या क्लेशं विना प्रयोजनादर्शनात्। न द्वितीयः, 'तत्त्वमसि' इति तत्त्वंपदार्थशोधनपूर्वकं वाक्यार्थश्रवणमात्रेणैवाऽहं ब्रह्मास्मीति विदुषो ब्रह्मात्मप्रत्यये संपद्यमाने पुनः पुनस्तदावृत्तेः फलादर्शनात्। 'अहं ब्रह्मास्मि' इति संपन्नज्ञानस्यैव ब्रह्मात्मप्रत्ययस्य दार्ढ्याय पुनःपुनरावृत्तिः कर्तव्येति चेत्, न; पट्टाभिषेकेणैव संप्राप्तराजत्वस्य नृपतेः पुनः पुनः राजाऽहमित्यावृत्तिवच्छ्रुतियुक्तिभिः सम्यक्शोधितयोस्तत्त्वंपदार्थयोरेकत्वावबोधकवाक्यार्थश्रवणमात्रेणाऽहं ब्रह्मैवेति ब्रह्मात्मभावापन्नस्य यतेः पुनः पुनर्ब्रह्मैवाऽहमिति प्रत्ययावृत्त्या पुनरुपाधिकृतपरिच्छित्तिं विना फलान्तरादर्शनादराज्ञ आवृत्तिक्रियया राजत्वमिव अब्रह्मणो ब्रह्मत्वमावृत्तिक्रियया कल्प्यं च स्यात्। घटोऽयमित्युपदेशमात्रेण घटविषयकं ज्ञानं झटिति यथा जायते तथैव 'तत्त्वमसि'इत्युपदेशमात्रेणाऽहं ब्रह्मेति ब्रह्मात्मत्वापादकं ज्ञानं शुद्धात्मनो जायत एव, नाऽत्र पुनः पुनः प्रत्ययावृत्तिरपेक्ष्यते। नहि चक्षुःसंनिकर्षमात्रेण घटज्ञाने जाते घटोऽयं घटोऽयमिति तज्ज्ञानदार्ढ्याय मुहुर्मुहुरावृत्तिरपेक्षिता भवति। प्रमाणप्रमेयसंबन्धमात्रैकसाध्यत्वात्प्रमायाः न त्वावृत्तिसाध्यत्वमस्ति। वस्तुतन्त्रत्वाज्ज्ञानस्य न पुरुषतन्त्रत्वम्। अतो

यानी प्रत्ययकी आवृत्तिकी परिसमाप्ति ज्ञाननिष्ठा है? प्रथम पक्ष तो युक्त है नहीं, क्योंकि शुष्क तर्कके समान केवल ग्रन्थकी आवृत्तिसे क्लेशके सिवा दूसरा प्रयोजन देखनेमें नहीं आता। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'वह तुम हो' इस प्रकार तत् और त्वं पदार्थके शोधनपूर्वक वाक्यार्थके श्रवणमात्रसे ही 'मैं ब्रह्म हूँ' यों जाननेवाले विद्वान्‌को ब्रह्मात्मप्रत्ययके प्राप्त हो जानेपर बार-बार उसकी आवृत्ति करनेसे फल देखनेमें नहीं आता। यदि कहो कि 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार जिसे ज्ञान प्राप्त हुआ है, उसीको ब्रह्मात्मप्रत्ययकी दृढ़ताके लिए बार-बार आवृत्ति करनी चाहिए, तो वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि पट्टाभिषेकसे जिसने राजापन प्राप्त किया है, ऐसे राजाको बार-बार मैं राजा हूँ, इस प्रकारकी आवृत्ति करनेसे जैसे लघुताके सिवा दूसरा फल प्राप्त नहीं होता वैसे ही श्रुति और युक्तिसे तत् और त्वं पदार्थके सम्यक् शोधित होनेपर एकत्वावबोधक वाक्यार्थके श्रवणमात्रसे ही 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसे ब्रह्मभावको प्राप्त हुए यतिकी बार-बार 'मैं ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार प्रत्ययकी आवृत्तिसे फिर उपाधि द्वाराकी गई परिच्छिन्नताके सिवा दूसरा फल देखनेमें नहीं आता, और जैसे 'मैं राजा हूँ' इस आवृत्तिक्रियासे अराजामें राजापनकी कल्पनाकी जाती है, वैसे ही अब्रह्ममें ब्रह्मत्वकी आवृत्तिक्रियासे कल्पना ही होगी। जैसे यह घट है, इस उपदेशमात्रसे घटविषयक ज्ञान तुरन्त उत्पन्न हो जाता है, वैसे ही 'वह तुम हो' इस प्रकारके केवल उपदेशमात्रसे, 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा ब्रह्मत्वापादक ज्ञान शुद्धात्माको उत्पन्न हो ही जाता है, इसमें फिर प्रत्ययावृत्तिकी अपेक्षा नहीं होती। चक्षुके संनिकर्षमात्रसे घटका ज्ञान होनेपर यह घट है, यह घट है, यों ज्ञानको दृढ़ करनेके लिए बार-बार आवृत्तिकी अपेक्षा नहीं होती, क्योंकि प्रमाण-प्रमेयके सम्बन्धमात्रसे ही प्रमा हो जाती है, आवृत्तिसे नहीं होती, क्योंकि वह वस्तुके अधीन है, पुरुषके

ज्ञानाभ्यासो निष्प्रयोजन एवेति चेत्, सत्यम्; प्रमाणप्रमेयसंबन्धमात्रजन्यमेव ज्ञानं वस्तुतन्त्रम्, न तु पुरुषतन्त्रम्, नाऽपि क्रियातन्त्रम्, तथापि स्वोत्पत्तौ प्रमाणसौष्ठवमपेक्षते। वास्तवमपि ज्ञानं सति प्रमाणसौष्ठवे समीचीनं जायते न त्वसौष्ठवे। यथा चक्षुषः काचकामलादिदोषेण तैमिरिकत्वे चन्द्रानेकत्वज्ञानमवास्तवमेव जायते वस्तुनो विस्पष्टत्वेऽपि, तस्यैव निरन्तरौषधसेवया तद्दोषनिवृत्त्या निर्मलत्वे सिद्धे वास्तवमेव चान्द्रं ज्ञानं विस्पष्टं तद्दर्शनाह्लादश्च सिध्यति। तथैवाऽनाद्यविद्यावासनाकृतैः सत्त्वरजस्तमोदोषैर्दूषिते सत्यन्तःकरणे समुत्पद्यमानैरहमिदमद इत्याद्यनात्मप्रत्ययैर्व्यवधीयमानमात्मतत्त्वं न विस्पष्टं भाति। तस्यैवाऽन्तःकरणस्य चिरकालनित्यनिरन्तरसमुनिष्ठितसमाधियोगेन सजातीयप्रत्ययावृत्तिलक्षणेन निरुक्तदोषाणां तत्कार्याणां च निःशेषनिवृत्त्या केवलशुद्धसत्त्वभावापत्तौ सर्वमिदमहं च ब्रह्मैवेत्यद्वैतात्मविज्ञानं सर्वदृश्यसंबधनिर्मुक्तमप्रतिबद्धं च जायते। ततो ज्ञानपरिपाकैकप्रयोजनत्वात्प्रत्ययावृत्तेः, सत्यामेव ज्ञानपरिपाकसिद्धौ उक्तलक्षणं सम्यग्ज्ञानं कैवल्यपदावसानकमखण्डानन्दानुभावकं च सिध्यति। तथा च श्रुतिः—'समाधिनिर्धौतमलस्य चेतसो निवेशितस्याऽऽत्मनि यत्सुखं भवेत्' इति, 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः' इति,

---

अधीन नहीं है, इसलिए ज्ञानका अभ्यास निष्प्रयोजन ही है, ऐसा यदि कहो, तो ठीक है, यद्यपि प्रमाण-प्रमेयके सम्बन्धमात्रसे जन्य ही ज्ञान वस्तुके अधीन होता है, पुरुषके या क्रियाके अधीन नहीं होता, तो भी अपनी उत्पत्तिमें प्रमाणसौष्ठवकी अपेक्षा रखता है। वास्तव ज्ञान भी प्रमाणसौष्ठव होनेपर ही समीचीन होता है, यदि प्रमाणका असौष्ठव हो, तो नहीं। जैसे वस्तुके विस्पष्ट होनेपर भी काच, कामल आदि दोषसे चक्षुके दुष्ट हो जानेपर चन्द्रके अनेकत्वका ज्ञान अवास्तव ही होता है, निरन्तर औषधसेवाके द्वारा उक्त दोषकी निवृत्तिसे चक्षुकी निर्मलता सिद्ध होनेपर वास्तव ही चन्द्रका ज्ञान विस्पष्ट और उसके दर्शनसे आह्लाद सिद्ध होता है। उसी प्रकार अनादि अविद्याकी वासनाओं द्वारा किये गये सत्त्व, रज और तमरूप दोषोंसे अन्तःकरणके दूषित हो जानेपर उत्पन्न हुए मैं, यह, वह इत्यादि अनात्मप्रत्ययोंसे आवृत हुआ आत्मतत्त्व विस्पष्ट नहीं भासता। जब चिरकाल नित्यनिरन्तर अनुष्ठित सजातीय प्रत्ययकी आवृत्तिरूप समाधियोगसे निरुक्त दोषोंकी और उनके कार्योंकी निःशेष निवृत्तिसे उसी अन्तःकरणमें केवल शुद्ध सत्त्वभाव प्राप्त होता है, तब यह सब और मैं ब्रह्म ही हूँ, ऐसा सम्पूर्ण दृश्यसम्बन्धसे रहित और अप्रतिबद्ध अद्वैत आत्मविज्ञान उत्पन्न होता है। इसलिए ज्ञानपरिपाक ही प्रत्ययकी आवृत्तिका प्रयोजन है, ज्ञानपरिपाकके सिद्ध होनेपर ही उक्तलक्षण सम्यक् ज्ञान, जिसका कैवल्यपद ही फल है तथा जो अखण्ड आनन्दका अनुभव कराता है, सिद्ध होता है। श्रुति भी है—'समाधिसे जिसका मल साफ हो गया है, ऐसे आत्मामें निवेशित चित्तमें जो सुख होता है, वह अवर्णनीय है'। 'आहारके शुद्ध होनेपर सत्त्वशुद्धि, और सत्त्वशुद्धि होनेपर निरन्तर स्मृति होती है' और 'अभ्याससे जिसका विज्ञान परिपक्व हुआ है, ऐसा

'अभ्यासात्पक्वविज्ञानः कैवल्यं लभते नरः' इति च, 'नाऽस्ति ज्ञानात्परं किञ्चित् पवित्रं पापनाशनम्। तदभ्यासादृते नाऽस्ति संसारोच्छेदकारणम् ॥' इति। ज्ञानस्य परिपाको नाम चिरकालनित्यनिरन्तरसमभ्यस्यमानसजातीयप्रत्ययावृत्त्या सम्यग्ज्ञानोत्पत्तिप्रतिबन्धकानां सत्त्वरजस्तमोगुणानां तत्कार्याणां चाऽहमिदमद इष्टमनिष्टमित्यादिविपरीतप्रत्ययानां रागद्वेषमोहादिविकाराणां च निःशेषनिवृत्त्या समुत्पद्यमानोऽन्तःकरणस्य केवलशुद्धसत्त्वभाव एव प्रसादलक्षणः, यस्मिन्सति सर्वमिदमहं च ब्रह्मैवेति स्वस्मिन्सर्वत्र ब्रह्मत्वधीऽव्यवस्थापकं परावरैकत्वविज्ञानं विकल्पनिर्मुक्तं वृत्तिव्यापारसमाप्तिलक्षणं संभवति। तदेतज्ज्ञानं नित्यनिरन्तरसजातीयप्रत्ययावृत्त्येकगम्यं न त्वयं घट इतिवत्सकृदुपदेशमात्रगम्यम्, नाऽपि राजत्वज्ञानवत्पट्टबन्धक्रियामात्रगम्यं च भवति, तत्र ज्ञेयस्य स्थूलत्वेन तज्ज्ञानस्याऽपि स्थूलत्वान्निष्प्रतियोगिकत्वाल्लौकिकत्वाच्च प्रत्ययावृत्तिर्नाऽपेक्ष्यते। 'सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नित्यम्' इति, 'तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्' इति श्रवणादत्र तु ज्ञेयं वस्तु परमसूक्ष्ममलौकिकं शैवालपटलैर्जलवदविद्यातत्कार्यैस्तिरोहितं भवति। ततस्तज्ज्ञानं चक्षुः सूर्यालोकमिव स्वविषयावारकवारणं सत्प्रत्ययावृत्तिलक्षणमपेक्षते। नैतेन ब्रह्मभावः कल्पितो भवति। 'नाऽहं मनुष्यः'

पुरुष कैवल्यको प्राप्त करता है', 'ज्ञानसे बढ़कर पवित्र दूसरा पापनाशक कुछ नहीं है', उसके अभ्यासके सिवा दूसरा संसारके उच्छेदका कारण नहीं है ॥' चिरकाल नित्य निरन्तर अभ्यास द्वाराकी गई सजातीय प्रत्ययकी आवृत्तिसे सम्यक्-ज्ञानकी उत्पत्तिके प्रतिबन्धक सत्त्व, रज और तमोगुणकी, उनके कार्य मैं, यह, वह, इष्ट, अनिष्ट इत्यादि विपरीत प्रत्ययोंकी और राग, द्वेष, मोह आदि विकारोंकी निःशेष निवृत्तिसे उत्पन्न हुए अन्तःकरणका केवल प्रसादरूप शुद्ध सत्त्वभाव ही ज्ञानका परिपाक है, जिसकी सामर्थ्यसे 'सब यह और मैं ब्रह्म ही हूँ' ऐसा अपनेमें और सबमें ब्रह्मत्वबुद्धिका व्यवस्थापक विकल्परहित वृत्तिव्यापारसमाप्तिरूप जीवब्रह्मैकत्व-विज्ञान उत्पन्न होता है। यह ज्ञान केवल नित्य निरन्तर सजातीय प्रत्ययकी आवृत्तिसे ही प्राप्त होता है, न कि यह घट है, इसके समान एक बारके उपदेशमात्रसे प्राप्त होता है और न राजत्वज्ञानके समान पट्टबन्धक्रियामात्रसे ही प्राप्त होता है। वहाँ ज्ञेय (राजा) स्थूल है, अतः उसका ज्ञान भी स्थूल होनेसे, सप्रतियोगी (सप्रतिबन्धक) न होनेसे और लौकिक होनेसे प्रत्ययकी आवृत्तिकी अपेक्षा नहीं करता। 'सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर, नित्य', 'दुःखसे दर्शनके योग्य, गहन, प्राकृत विषयविज्ञानोंसे प्रच्छन्न, बुद्धिरूप गुहामें स्थित, विषम अनेक अर्थ संकटोंमें स्थित उस पुरातनको' इत्यादि श्रुतियाँ हैं, यहाँ तो ज्ञेय वस्तु परम सूक्ष्म, अलौकिक, शैवाल पटलोंसे जलके समान अविद्या और उसके कार्योंसे तिरोहित है इसलिए उसका ज्ञान, जैसे चक्षु सूर्यलोकके आवरककी निवृत्ति चाहता है, वैसे ही वह स्वविषयके आवरकका वारण करनेवाली सत्यप्रत्ययकी आवृत्तिकी अपेक्षा करता है। एतावता ब्रह्मभाव कल्पित नहीं होता। मैं

इत्यत्राऽऽत्मनो मनुष्यत्वमपोह्यते, न त्वहमर्थत्वं कल्प्यते, नाऽपि ब्रह्मभावः कल्प्यते, अहमर्थत्वस्य स्वतःसिद्धत्वात् 'अयमात्मा ब्रह्म' इति, 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' इति ब्रह्मभावस्य श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धत्वात्। सति तयोर्भेदे कथमद्वैतं सिध्येत्? 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन', 'एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः' इत्यादिश्रुतिभिरद्वैतमेव प्रतिपाद्यते। ततस्तयोर्घटाकाशमहाकाशयोरिव ब्रह्मात्मनोरभिन्नत्वं स्वतःसिद्धम्, न तु क्रियया कल्पयितुं शक्यम्, किन्तु सत्प्रत्ययावृत्त्याऽनादिवासनया प्रतीयमानविपरीतप्रत्ययापनोदनमात्रमेव क्रियते ब्रह्मविदा स्वस्य पूर्णत्वज्ञानदार्ढ्याय, यथा स्थूलमपि रत्नज्ञानं स्वदार्ढ्यार्थं नित्यपरिशीलनमपेक्षते, यथा रविबिम्बज्ञानं स्थूलमपि सर्वेषामपरोक्षत्वाय चिरकालनित्यनिरन्तराभ्यासमपेक्षते, तथैव ब्रह्माभिन्नत्वज्ञानमतिसूक्ष्मं सप्रतिपक्षं च किमुत स्वस्याऽप्रतिबद्धत्वसिद्धये सत्प्रत्ययावृत्तिमपेक्षत इति 'तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावात्' इति, 'तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे' इति, 'निष्कलं ध्यायमानः' इति, 'ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिम्' इत्यादिश्रुतिभिरुत्पन्नात्मज्ञानस्याऽप्रतिबद्धत्वसिद्धये सजातीयप्रत्ययावृत्तिलक्षणः समाधिः कर्तव्यत्वेन श्राव्यते—'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः' इति। यत एवमतः सार्वात्म्यसिद्धये द्वैतप्रत्यया-

---

मनुष्य नहीं हूँ, यहाँपर आत्मामें मनुष्यत्वकी निवृत्तिकी जाती है, न कि अहमर्थत्वकी कल्पनाकी जाती है। ब्रह्मभावकी भी कल्पना नहीं होती, क्योंकि अहमर्थत्व स्वतःसिद्ध है और 'यह आत्मा ब्रह्म' 'क्षेत्रज्ञ मुझको ही जानो' इससे ब्रह्मभाव श्रुति और स्मृतिसे प्रसिद्ध है। उनका भेद होनेपर, तो अद्वैत कैसे सिद्ध होगा। 'एक ही अद्वितीय ब्रह्म है, यहाँ अनेक कुछ नहीं है', 'एक रुद्र अतः द्वितीय भावके लिए स्थित नहीं हुए' इत्यादि श्रुतियोंसे अद्वैतका ही प्रतिपादन किया जाता है। इसलिए घटाकाश और महाकाशके समान उन दोनों ब्रह्म और आत्माका अभेद स्वतः ही सिद्ध है, उसकी क्रियासे कल्पना नहीं की जा सकती, किन्तु ब्रह्मवित् केवल अपने पूर्णत्वज्ञानकी दृढ़ताके लिए सत्प्रत्ययकी आवृत्तिसे अनादि वासनासे प्रतीत होनेवाले विपरीत प्रत्ययका अपनोदनमात्र ही करता है। जैसे रत्नका ज्ञान स्थूल होनेपर भी अपनी दृढ़ताके लिए सदा परिशीलनकी अपेक्षा करता है अथवा जैसे सूर्यके बिम्बका ज्ञान स्थूल होनेपर भी सबके अपरोक्षत्वके लिए चिरकाल तक नित्य निरन्तर अभ्यासकी अपेक्षा करता है, उसी प्रकार अतिसूक्ष्म और प्रतिबन्धकोंसे युक्त ब्रह्माभिन्नत्वज्ञान अपनी अप्रतिबद्धत्वकी सिद्धिके लिए सत्प्रत्यावृत्तिकी अपेक्षा करता, इसमें तो कहना ही क्या है? 'परमात्माके ध्यानसे, योजनसे और तत्त्वभावसे', 'उसके ध्यानसे देहका नाश होनेपर मोक्ष प्राप्त करता है', 'निष्कलका ध्यान करता हुआ', 'ध्यान करके मुनि भूतयोनिको (ब्रह्मको) प्राप्त होता है' इत्यादि श्रुतियोंसे उत्पन्न हुए आत्मज्ञानके अप्रतिबद्धत्वकी सिद्धिके लिए सजातीय प्रत्ययकी आवृत्तिरूप समाधि कर्तव्यरूपसे सुनाई जाती है—'उसीको जान कर धीर ब्राह्मण प्रज्ञा (समाधि) करे'। जिस कारणसे ऐसा है, इसलिए

पनोदकः सत्प्रत्ययावृत्तिलक्षणो ज्ञानाभ्यासः कृतश्रवणस्य विदितात्मतत्त्वस्य मुमुक्षोर्यतेः सहकारिसाधनैस्तुद्बुद्धित्वादिभिरद्वेष्टृत्वादिभिश्च वक्ष्यमाणैश्च संपन्नस्याऽवश्यं कर्तव्य इति षष्ठाध्याये निरूपितमेवाऽर्थं पुनर्दृढयितुमुच्यते भगवता—'निबोध मे । समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा' इति । यदुक्तं ज्ञानहेतोर्वेदान्तशास्त्रस्याऽऽवृत्त्या शुष्कतर्कवत् क्लेशं विना प्रयोजनाभावादिति, तन्न, वेदान्तावृत्त्येकलभ्यत्वादात्मज्ञानस्य तदावृत्तेः सफलत्वोपपत्तेः । नहि मुमुक्षोर्यतेः स्तोत्रमन्त्रजपादिभिर्ज्ञानं सिध्यति विनाऽजस्रवेदान्तविचारेण, 'संन्यस्य श्रवणं कुर्यात्' इति, 'श्रोतव्यो मन्तव्य' इति, उपनिषदमावर्तयेत्, इति निरन्तरविचारस्यैव कर्तव्यत्वश्रवणात्, 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' इति, 'शमादिसहितस्तावदभ्यसेच्छ्रवणादिकम्' इति, 'आसुप्तेरामृतेः कालं नयेद्वेदान्तचिन्तया' इति, 'तत्त्यागी पतितो भवेत्' इति विचारस्य नियमेन कर्तव्यत्वं तत्त्यागे प्रत्यवायश्च स्मर्यते । ततः प्रणवजपादिकमङ्गं कृत्वा विचारमङ्गिनं कृत्वा यावत्सम्यगात्मविज्ञानं नोदेति तावदजस्रं वेदान्तावृत्त्यैव नियमेन भवितव्यम् । तदेकप्रयोजनं स्यात् संन्यासस्य । यदा ज्ञानं विज्ञानं च सिद्ध्यति तदाऽऽवृत्तिस्त्यक्तव्या ।

जिसने श्रवण किया है तथा आत्मतत्त्वको जाना है, ऐसे तद्बुद्धित्व आदि और अद्वेष्टृत्व आदि वक्ष्यमाण सहकारी साधनोंसे संपन्न मुमुक्षु यतिको सार्वात्म्यसिद्धिके लिए द्वैतप्रत्ययोंके नाशक सत्प्रत्ययावृत्तिरूप ज्ञानाभ्यास अवश्य करना चाहिए, इस प्रकार छठे अध्यायमें निरूपित अर्थको दृढ़ करनेके लिए भगवान्‌ने कहा है—'मुझसे संक्षेपसे सुनो, जो ज्ञानकी परा निष्ठा है'। यह जो कहा था कि ज्ञानके हेतु वेदान्तशास्त्रकी आवृत्तिका शुष्कतर्कके समान क्लेशके सिवा दूसरा प्रयोजन नहीं है, वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि आत्मज्ञान केवल वेदान्तकी आवृत्तिसे ही प्राप्त होता है, अतः उसकी आवृत्ति सफल है। निरन्तर वेदान्त-विचारके सिवा स्तोत्र, मन्त्र और जप आदिसे मुमुक्षु यतिको ज्ञान सिद्ध नहीं होता, क्योंकि 'संन्यास ग्रहण कर श्रवण करे', 'श्रवण करना चाहिए, मनन करना चाहिए' तथा उपनिषदोंकी आवृत्ति करे' इत्यादि श्रुतियोंसे निरन्तर विचार ही करना चाहिए, ऐसा सुननेमें आता है। 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' (बार बार आवृत्ति करनी चाहिए, क्योंकि श्रुति है) 'शमादि सहित तब तक श्रवण आदिको करे', 'सोने तक और मरने तक वेदान्तके चिन्तनसे काल बितावे' तथा 'इसका त्याग करनेवाला पतित हो जाता है' इत्यादि स्मृतियोंसे वेदान्तविचारकी नियमसे कर्तव्यता और उसका परित्याग करनेपर प्रत्यवायका प्रतिपादन किया जाता है। इसलिए प्रणवजप आदिको अङ्ग बना कर और विचारको अङ्गी बना कर जब तक सम्यक् आत्मविज्ञानका उदय न हो, तब तक सर्वदा वेदान्तकी आवृत्ति ही नियमसे करनी चाहिए। संन्यासका भी वही प्रयोजन है। जब ज्ञान और विज्ञानकी सिद्धि हो जाय, तब आवृत्तिका परित्याग करना चाहिए, कहा भी है—'ग्रन्थका अभ्यास करके

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्याऽऽत्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥ ५१ ॥

संशय, विपर्यय आदिसे निर्मुक्त बुद्धिसे युक्त ब्रह्मवित् यति सात्त्विक धृतिसे बाह्य विषयोंमें प्रवृत्त चित्तका निरोध कर, शब्द आदि विषयोंका त्याग कर (अनुसन्धान न कर) तथा राग और द्वेषका परित्याग कर ॥ ५१ ॥

तथा च 'ग्रन्थमभ्यस्य मेधावी ज्ञानविज्ञानतत्परः । पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद्ग्रन्थमशेषतः ॥' इत्यतो जिज्ञासोर्निरन्तरावृत्तिः कर्तव्येति सिद्धम् । यदपि चोक्तं चञ्चलत्वान्मनसो ज्ञानस्वरूपे ब्रह्मणि स्थित्यसंभवादिति, तन्न ; तदेकसाध्यत्वादात्मयाथात्म्यावधृतेः । निश्चलबुद्धिवृत्तेः सम्यग्विषयभूतस्यैव मण्यादेः स्वरूपावधारणा दृश्यते, न तु चञ्चलवृत्तेर्विषयभूतस्य, तद्वत् समाहितबुद्ध्या सम्यग्विषयीकृतस्यैव ब्रह्मणो याथात्म्यावधारणं तत्राऽऽत्मत्वबुद्धिकरणं तत्फलं च सिध्यति, नाऽन्यथा । अतो मनसः स्थैर्यं समाधिना प्रयत्नेन संपादनीयम् । मुमुक्षोर्विज्ञाततत्त्वस्य यतेः 'समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति सर्वमात्मानं पश्यति' इति समाहितबुद्धेरेवाऽऽत्मयाथात्म्यवेदनं तत्राऽऽत्मत्वबुद्धिकरणं सार्वात्म्यदर्शनं च श्रूयते यतस्ततः केवलश्रुतिमात्रेण यतेरात्मन्येवाऽऽत्मत्वसिद्धिः सार्वात्म्यसिद्धिश्च न सिद्ध्यति, ततस्तदर्थैवैषा कृतश्रवणस्य ज्ञाननिष्ठोच्यते सर्वज्ञेनेश्वरेण 'निष्ठा ज्ञानस्य' इति ॥ ५० ॥

मेधावी ज्ञान और विज्ञानमें तत्पर होकर जैसे धान्यार्थी पलालका त्याग कर देता है, वैसे ही ग्रन्थका अशेषरूपसे त्याग करे' । इस श्रुतिसे जिज्ञासुको निरन्तर आवृत्ति करनी चाहिए, ऐसा सिद्ध होता है । पहले यह जो कहा था कि चञ्चल होनेसे मनकी ज्ञानस्वरूप ब्रह्ममें स्थिति नहीं हो सकती, वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि आत्मयाथात्म्यका अवधारण केवल मनसे ही होता है । जैसे निश्चयात्मक बुद्धिवृत्तिके भली भांति विषय हुए ही मणि आदिके स्वरूपका अवधारण देखनेमें आता है, चञ्चल वृत्तिके विषयभूत मणि आदिका नहीं, वैसे ही समाहित बुद्धिसे भलीभांति विषयीकृत ही ब्रह्मके याथात्म्यरूपका अवधारण, उसमें आत्मत्वबुद्धिका करना और उसका फल सिद्ध होता है, अन्यथा नहीं । इसलिए समाधिसे प्रयत्नपूर्वक मनकी स्थिरताका संपादन करना चाहिए । यतः विज्ञाततत्त्व मुमुक्षु यति 'समाहित होकर आत्मामें आत्माको देखता है, सबको आत्मा देखता है' इत्यादि श्रुतिसे समाहित बुद्धिवाला होकर ही आत्मयाथात्म्यको जानता है, उसमें आमत्वबुद्धि करता है और सबको आत्मरूपसे देखता है, ऐसा सुना जाता है, इसलिए केवल सुननेमात्रसे यतिकी आत्मामें आमत्वसिद्धि और सार्वात्म्यसिद्धि नहीं हो सकती, अतः उसीके लिए जिसने श्रवण किया है, ऐसे यतिकी इस ज्ञाननिष्ठाका सर्वज्ञ ईश्वरने 'निष्ठा ज्ञानस्य' इत्यादिसे प्रतिपादन किया है ॥ ५० ॥

तत्तन्नियतसाधनानुष्ठानपूर्वकं निष्ठां कुर्वतो ब्रह्मविदो ब्रह्मप्राप्तिमाह—बुद्ध्येति त्रिभिः ।

बुद्धिरध्यवसायात्मिका । अध्यवसायस्तु 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'अयमात्मा ब्रह्म' इति न्यायेन ब्रह्मणः सत्यज्ञानानन्दरूपत्वनिश्चयः, आत्मनो ब्रह्माभिन्नत्वनिश्चयः, 'विकल्पो नहि वस्तु' इति न्यायेन प्रत्यगभिन्ने परे ब्रह्मणि मरौ जलवद्व्योम्नि नैल्यवद्देहादिसर्वदृश्यप्रपञ्चस्य कल्पितत्वनिश्चयः । एवंलक्षणाध्यवसायवती बुद्धिरत्र विवक्षिता, स्वात्मनि ब्रह्मण्यारोपितानात्मप्रत्ययनिरसने प्रवृत्तत्वाद्विदुषः । सा च विशुद्धा श्रुतियुक्तिभिर्निश्चितार्थतया संशयविपर्ययनिर्मुक्ता, तया विशुद्धया बुद्ध्या युक्तः सम्यगविनाभूतः सन् ब्रह्मनिष्ठायां प्रवृत्तो ब्रह्मविद्यतिर्धृत्या सात्त्विक्योक्तयाऽऽत्मानं चित्तं बहिःप्रवृत्तेर्नियम्य चित्तस्य बहिःप्रावण्यं निरुध्य, चकारात् प्राणेन्द्रियक्रियाः सर्वाः सम्यङ्नियम्य शब्दादीन् शब्दस्पर्शरूपादीन् विषयान् त्यक्त्वा । विषयानुसन्धानमकृत्वेत्यर्थः । यद्यपि बहिरन्तःकरणनिरोधे कृते सति विदुषः स्वतो विषयसंबन्धो न संभवति, तथाप्यवशात् प्राप्तानामप्यनुसन्धानं न करोतीत्यर्थः । रागद्वेषौ व्युदस्य च भिक्षाकालेऽपि प्राप्तेष्वर्थेष्विष्टेषु रागमनिष्टेषु द्वेषं च व्युदस्य परित्यज्येत्यर्थः । यद्वा, व्युत्थानदशायां दृष्टेषु श्रोत्रियेषु हित-

---

तत्-तत् नियत साधनोंके अनुष्ठानपूर्वक निष्ठा कर रहे ब्रह्मवित्की ब्रह्मप्राप्ति होती है, ऐसा कहते हैं—'बुद्ध्या' इत्यादि तीन श्लोकोंसे ।

बुद्धि यानी अध्यवसायात्मिका बुद्धि । अध्यवसाय है—'सत्य ज्ञान अनन्त ब्रह्म है' तथा 'यह आत्मा ब्रह्म है' इस श्रुत्युक्त रीतिसे ब्रह्ममें सत्य, ज्ञान और आनन्दरूपत्वका निश्चय, आत्मामें ब्रह्माभिन्नत्वका निश्चय एवं 'विकल्प वस्तु नहीं है' इस न्यायसे प्रत्यक्-स्वरूप परब्रह्ममें, मरुमें जलके समान तथा आकाशमें नीलिमाके समान, देहादि सम्पूर्ण दृश्य प्रपञ्चके कल्पितत्वका निश्चय । इस प्रकारके अध्यवसायसे युक्त बुद्धि यहां विवक्षित है, क्योंकि अपने आत्मरूप ब्रह्ममें आरोपित अनात्मप्रत्ययके निरसनमें विद्वान् प्रवृत्त है । वह भी विशुद्ध होनी चाहिए, यानी श्रुति और तदनुसार युक्तियोंसे निश्चितार्थ होनेके कारण संशय और विपर्याससे निर्मुक्त होनी चाहिए, उस विशुद्ध बुद्धिसे युक्त—भली भांति अविनाभूत—होकर ब्रह्मनिष्ठामें प्रवृत्त ब्रह्मवित् यति उक्त सात्त्विक धृतिसे आत्माको—चित्तको—बाह्य प्रवृत्तिसे रोक कर (चित्तकी बाह्य प्रवणताका निरोध कर) चकारसे प्राण और इन्द्रियोंकी सम्पूर्ण क्रियाओंको भली भांति नियममें रख कर, शब्दादिका—शब्द, स्पर्श, रूप आदि विषयोंका—परित्याग कर । विषयोंका अनुसन्धान न कर यह अर्थ है । यद्यपि बाह्य और आन्तर करणोंको रोकनेसे विद्वान्का स्वतः विषयोंसे सम्बन्ध नहीं हो सकता, तथापि जबरदस्ती प्राप्त हुए विषयोंका भी अनुसन्धान नहीं करता, यह अर्थ है । राग और द्वेषको हटा कर—भिक्षाकालमें प्राप्त हुए इष्ट पदार्थोंमें राग और अनिष्ट पदार्थोंमें द्वेषको हटा कर–यानी परित्याग कर, यह अर्थ है । अथवा

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥ ५२ ॥

जो निर्जन अरण्य आदि देशोंमें रहता है, परिमित अशन करता है, वाणी, शरीर और मनको वशमें रखता है, सदा ध्यान और योगमें तत्पर रहता है एवं सदा वैराग्यसे पूर्ण रहता है ॥ ५२ ॥

कारिषु साधुषु वा रागस्तद्विपरीतेषु द्वेषस्तावुभौ व्युदस्य । चकारात् समाधिविघ्नकारणं मोहमालस्यं जाड्यं प्रमादं च परित्यज्येत्यर्थः ॥ ५१ ॥

किञ्च, **विविक्तसेवीति** । विविक्तसेवी विविक्तान् विजनानेव देशानरण्यनदीपुलिनगिरिकन्दरगुहादीन् चित्तप्रसादतदेकाग्रतासिद्ध्यर्थं सेवितुं शीलमस्याऽस्तीति विविक्तसेवी सर्वदा भवेन्निदिध्यासुर्यतिः । तथा लघ्वाशी च स्याल्लघु यथा तथाऽशितुं शीलमस्याऽस्तीति लघ्वाशी, लघ्वशनशीलस्यैव नैश्चल्येन समाधिनिष्ठासंभवात् । यद्वा, लघु गुरुत्वरहितद्रव्यमश्नातीति लघ्वाशी । लघुपदं हितमितमेध्यानामप्युपलक्षणम् । तेन लघुं हितं मितं मेध्यं चाऽन्नमश्नीयान्निदिध्यासुर्यतिरिति सिद्धम् । यतवाक्कायमानसश्च भवेत् । यतानि संयतानि सम्यङ्निरुद्धानि बाह्यप्रवृत्तेः सम्यग्विमुखीकृतानि वाक्कायमानसानि येन स यतवाक्कायमानसः । विषयचिन्तनेन मनः स्थूलमेव भवति न तु तनुत्वं

व्युत्थान-दशामें देखे गये श्रोत्रिय, हितकारी तथा साधुओंमें राग और उनसे विपरीतोंमें द्वेष उन दोनोंको छोड़ कर । चकारसे समाधिमें विघ्नके कारण मोह, आलस्य, जड़ता और प्रमादका त्याग कर, यह अर्थ है ॥ ५१ ॥

किञ्च, '**विविक्तसेवी**' इत्यादि । विविक्तसेवी (विविक्त—निर्जन—देशका यानी अरण्य, नदी, पुलिन, गिरि, कन्दर, गुहा आदिका ही चित्तके प्रसाद और चित्तकी एकाग्रताकी सिद्धिके लिए सेवन करनेका जिसका शील है, वह विविक्तसेवी) । निदिध्यासु यतिको सदा विविक्तसेवी होना चाहिए । तथा लघ्वाशी भी होना चहिए, हलका भोजन करनेका जिसका शील है, वह लघ्वाशी है, लघु भोजन करनेवालेकी ही निश्चलरूपसे समाधिनिष्ठा होती है । अथवा लघु यानी गुरुत्वरहित द्रव्यका जो अशन करता है, वह लघ्वाशी है । लघुपद हित, मित और मेध्यका भी उपलक्षण है । इससे यह सिद्ध हुआ कि निदिध्यासु यति लघु, हित, मित और मेध्य अन्नका भोजन करे और यतवाक्कायमानस भी होवे (यत—संयत—बाहरकी प्रवृत्तिसे भली भाँति निरुद्ध यानी भली भाँति विमुख कर लिए हैं वाक्, काय और मन जिसने, वह यतवाक्कायमानस है) । विषयचिन्तनसे मन स्थूल ही होता है, सूक्ष्म नहीं होता और वासना भी बढ़ती है,

गच्छति, वासना च प्रवर्धते, मनोनाशाय वासनाक्षयाय क्रियमाणः समाधिर्गजस्नानवन्निष्फल एव भवति। ततः सदा विषयचिन्ताराहित्येन भवितव्यम्। तथा वाक्प्रवृत्त्या त्वमहमिदमद इत्यादिविपरीतप्रत्यया न विनश्यन्ति, द्वैतमेव प्रवर्धते रोगिणोऽपथ्येन रोगवृद्धिवत्। ततः सदा मौनेन भवितव्यम्। कायेन कर्मसु प्रवृत्त्या कर्तृतादात्म्यं कर्मवासना च। समाधिकाले कायचलनेन मनसश्चेन्द्रियाणां च चलनं समाधिविघ्नश्च भवति यतस्ततो वासनाक्षयाय मनोनाशाय च प्रवृत्तस्य यतेर्विषयाननुसंधानेन मौनेन नैष्कर्म्येण च सर्वदा भवितव्यमित्युच्यते यतवाक्कायमानस इति। एतत्सिद्ध्यै हेतुमाह—**वैराग्यमिति**। दृश्ये मिथ्यात्वबुद्ध्या तुच्छत्वबुद्ध्या च भोक्तुमनुसन्धातुं च विषयेभ्यो विगतो निर्गतो राग इच्छा यस्य स विरागस्तस्य भावो वैराग्यं सर्वत्रेच्छाराहित्यं नित्यमविच्छिन्नं समुपाश्रितः सन्। एवं शुद्धबुद्धित्वादिसाधनयुक्तो ब्रह्मविद्यतिर्नित्यं निरन्तरम्। नित्यमिति विशेषणं देहलीदीपन्यायेनोभयत्र सम्बध्यते। नित्यपदं निदिध्यासोरनुष्ठानान्तराभावसूचनार्थम्। ततः सर्वदा ध्यानयोगपरः ध्यानं च योगश्च ध्यानयोगौ तत्र परो ध्यानयोगपरः। प्रत्यगभिन्ने सच्चिदानन्दैकरसे निर्विशेषेऽद्वितीये परे ब्रह्मण्यधिष्ठाने आरोपितनामरूपादिविजातीयप्रत्ययतिरस्कारपूर्वकं बहिरन्तः सर्वत्र ब्रह्ममात्रैकविषयाणां

ऐसी अवस्थामें मनोनाश और वासनाक्षयके लिए क्रियमाण समाधि हाथीके स्नानके समान निष्फल ही होती है, इसलिए सदा विषयचिन्तनसे रहित होना चाहिए। तथा वाणीकी प्रवृत्तिसे तुम, मैं, यह, वह, इत्यादि विपरीत प्रत्यय नष्ट नहीं होते, द्वैत ही बढता है, जैसे कि अपथ्याचरणसे रोगीके रोगकी वृद्धि होती है। इसलिए सदा मौन रहना चाहिए। शरीरसे कर्मोंमें प्रवृत्ति द्वारा कर्ताका तादात्म्य और कर्मवासना होती है। समाधिकालमें शरीरके चलनेसे मन और इन्द्रियोंका चलन और समाधिमें विघ्न होता है, इसलिए वासनाक्षय और मनोनाशके लिए प्रवृत्त यतिको विषयोंके अनुसन्धानसे रहित तथा मौन और नैष्कर्म्यसे सदा युक्त होना चाहिए, ऐसा—'यतवाक्कायमानसः'से कहा जाता है। इसकी सिद्धिके लिए हेतु कहते हैं—**वैराग्यमिति**। दृश्यमें मिथ्यात्वबुद्धिसे और तुच्छत्वबुद्धिसे विषयोंका भोग और अनुसन्धान करनेके लिए विषयोंसे विगत—निकल गया है—राग यानी इच्छा जिसकी, वह विराग है उसका भाव वैराग्य—सर्वत्र इच्छासे रहित होना—है, उसके नित्य—अविच्छिन्न—आश्रित होकर। इस प्रकार शुद्धबुद्धित्व आदि साधनोंसे युक्त ब्रह्मवित् यति नित्य निरन्तर। 'नित्य' विशेषण देहलीदीपन्यायसे दोनोंके साथ सम्बन्ध रखता है। नित्यपद निदिध्यासुको दूसरा अनुष्ठान नहीं करना चाहिए, इसका सूचन करनेके लिए है। तदनन्तर सर्वदा ध्यानयोगपर (ध्यान और योग ध्यानयोग, उनमें परायण ध्यानयोगपर) प्रत्यगभिन्न सच्चिदानन्दैकरस, निर्विशेष, अद्वितीय परब्रह्मरूप अधिष्ठानमें आरोपित नाम, रूप आदि विजातीय प्रत्ययोंके तिरस्कारपूर्वक बाहर और भीतर

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ५३ ॥

अहङ्कार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रहका त्याग कर, देह आदिमें ममतारहित और शान्त रहता है, वह यति ब्रह्मभावको प्राप्त करता है ॥ ५३ ॥

सत्प्रत्ययानां प्रत्यग्भावापन्नया वृत्त्या निरन्तरतैलधारावदविच्छिन्नया यत्प्रवाहीकरणं तद्ध्यानम् । विजातीयप्रत्ययानन्तरितानां केवलसत्प्रत्ययानामेव चिरकालनित्यनिरन्तराभ्यासवशाद्विक्षेपकाणां वासनानां संक्षये सति तनुतां गताया बुद्धिवृत्तेर्ब्रह्मणि ब्रह्माकारेण निवातस्थलदीपवद्यो निश्चलीभावः स एव योगस्तयोर्ध्यानयोगयोरुक्तलक्षणयोर्नित्यं परः सन् तद्ध्यानयोगनिष्ठासंपन्न एव यतिः परिपक्वज्ञानो भवतीत्यर्थः ॥ ५२ ॥

एवं बहुकालं निरन्तरसमाधिनिष्ठामेव कुर्वतो ब्रह्मविद्यतेः समाध्यग्निनिर्दग्धाशेषवासनाग्रन्थेर्निःशेषनिवृत्तविपरीतभावस्य सम्यक्परिपक्वविज्ञानसिद्धेः फलमाह—

अहङ्कारमिति ।

चिरकालनित्यनिरन्तरसमनुष्ठितसमाधिनिष्पन्नसम्यग्ज्ञानेन देहादिद्वैतप्रपञ्चस्य स्वव्यतिरिक्तत्वाभासत्वात् स्वत्वधीपूर्वकमधिष्ठाने स्वात्मनि ब्रह्मणीदमेवाऽहमस्मीति स्वात्मना विदिते ब्रह्मण्येवाऽऽत्मत्ववासनादार्ढ्यादनात्मनि देहादावहङ्कारमहङ्करणमनात्मन्यह-

---

सर्वत्र ब्रह्ममात्रका ही अवगाहन करनेवाले सत्प्रत्ययोंका, प्रत्यग्भावको प्राप्त हुई वृत्तिसे निरन्तर तैलधाराके समान, जो अविच्छिन्न प्रवाहीकरण है, वह ध्यान है । विजातीय प्रत्ययोंसे अप्रतिबद्ध केवल सत्प्रत्ययोंके ही चिर काल तक नित्य निरन्तर अभ्याससे विक्षेप करनेवाली वासनाओंका क्षय हो जानेपर सूक्ष्मताको प्राप्त हुई बुद्धिकी वृत्तिका ब्रह्ममें ब्रह्माकारसे निवातस्थलमें स्थित दीपके समान जो निश्चलीभाव है, वही योग है, इन उक्तलक्षण ध्यान और योगमें नित्य परायण होकर यानी उक्त ध्यान और योगमें निष्ठासे सम्पन्न यति ही परिपक्व ज्ञानसे सम्पन्न होता है, यह अर्थ है ॥ ५२ ॥

जो इस प्रकार बहुत काल तक निरन्तर केवल समाधिनिष्ठाका ही अनुष्ठान कर रहा है, जिसकी समाधिरूप अग्निसे वासनाग्रन्थि दग्ध हो गई है एवं जिसकी निःशेष विपरीत भावना निवृत्त हो गई है, ऐसे ब्रह्मवित् यतिके सम्यक् परिपक्व विज्ञानकी सिद्धिका फल कहते हैं—'**अहङ्कारम्**' इत्यादिसे ।

चिर काल तक नित्य, निरन्तर भली भाँति अनुष्ठित समाधि द्वारा निष्पन्न सम्यक् ज्ञानसे देहादि द्वैत प्रपञ्चमें, अपनेसे भिन्नत्वका आभास होनेसे, स्वत्वबुद्धिपूर्वक स्वात्मरूप अधिष्ठानभूत ब्रह्ममें यानी यही मैं हूँ, यों अपने स्वरूपसे ज्ञात ब्रह्ममें ही आत्मत्ववासनाके दृढ़ हो जानेसे अनात्मा देहादिमें अहङ्कार (अहङ्करण) यानी अनात्मामें 'मैं' ऐसी बुद्धि ब्रह्मवित् यति छोड़ देता है । अज्ञानीके

मिति बुद्धिं विमुञ्चति ब्रह्मविद्यतिः । नह्यज्ञवदात्मतत्त्वज्ञः सर्वाधिष्ठानं नित्यं शुद्धं बुद्धं मुक्तं चिदेकरसं परिपूर्णं परं ब्रह्म स्वस्वरूपत्वेन विज्ञायाऽऽरोपितमसत्तुच्छमहमित्यवलम्बते, किन्तु प्रतिच्छायावदाभासरूपेण प्रतीयमानेऽप्यस्मिन् देहेऽहंभावं परित्यजति, तत्राऽऽत्मत्वधीहेतोरज्ञानस्याऽधिष्ठानयाथात्म्यसंदर्शनेन विनष्टत्वात् । ततः 'कारणनाशात्कार्यनाशः' इति न्यायेन ब्रह्मवित्तत्राऽहंभावं न करोतीत्यर्थः । किञ्च बलं त्वमहमिदमद इत्यारोपितपदार्थग्रहणकारणं अविद्यावासनाकृतं वृत्तिवेगलक्षणं विमुञ्चति । नित्यनिरन्तरसमाधिनिष्ठयाऽनाद्यविद्यावासनासंक्षये सति तत्कृतं बलं वेगलक्षणमन्तःकरणस्थं परित्यजति । पूर्वं वासनाबलादन्तःकरणं परिपूर्णमपि ब्रह्मस्वरूपमतिक्रम्य यथा प्रपञ्चं गृह्णाति, तथा समाधिना वासनासंक्षयात् विशिष्य नामरूपादिग्रहणं न करोति, किन्त्वाभासप्रपञ्चं त्यक्त्वा सर्वत्र ब्रह्मैव पश्यति । व्युत्थानाव्युत्थानयोः सर्वदा ब्रह्मण्येव तिष्ठतीत्यर्थः । एतेन विदुषस्त्वहमिति भावेनेदमिति वासनाद्यभावः सूचितः । दर्पं च कृतार्थोऽहमिति ब्रह्मविदहमित्यभिनिवेशलक्षणोऽन्तःकरणविकारो दर्पस्तं च विमुञ्चति । स्वकारणेऽज्ञानेऽहङ्कारे च समाधिना विनष्टे सति 'कारणनाशात्कार्यनाशः' इति न्यायेन स्वयमेव दर्पो विनश्यतीत्यर्थः । तथैव कामं क्रोधं च विमुञ्चति । संप्राप्तपदार्थ-

---

समान आत्मतत्त्वज्ञ पुरुष सबके अधिष्ठान, नित्यशुद्धबुद्धमुक्तरूप चिदेकरस परिपूर्ण परब्रह्मको स्वस्वरूप जानकर आरोपित, असत्, तुच्छका 'मैं' इस रूपसे अवलम्बन नहीं करता, किन्तु प्रतिबिम्बके समान आभासरूपसे प्रतीयमान होनेपर भी इस देहमें अहंभावका त्याग करता है। क्योंकि उसमें आत्मत्वबुद्धिका हेतु अज्ञान अधिष्ठानके याथात्म्यसन्दर्शनसे नष्ट हो गया है। इसलिए 'कारणके नाशसे कार्यका नाश होता है' इस न्यायसे ब्रह्मवित् उनमें अहंभाव नहीं करता, यह अर्थ है। किञ्च, बलको यानी तुम, मैं, यह, वह, इस प्रकार आरोपित पदार्थोंके ग्रहणमें कारणभूत अविद्यावासना द्वारा सम्पादित वृत्तिके वेगरूप बलको छोड़ देता है। नित्य निरन्तर समाधिनिष्ठासे अनादि अविद्यावासनाका क्षय हो जानेपर अन्तःकरणमें स्थित वेगरूप बलको त्याग देता है। पहले जैसे वासनावश अन्तःकरण परिपूर्ण ब्रह्मस्वरूपका ग्रहण न कर प्रपञ्चका ग्रहण करता है, वैसे ही समाधिसे वासनाका क्षय होनेपर नाम, रूप आदि विशेषोंका ग्रहण नहीं करता, किन्तु आभासरूप प्रपञ्चका त्याग कर सर्वत्र ब्रह्मका ही ग्रहण करता है। व्युत्थान और अव्युत्थान दोनों दशाओंमें सर्वदा ब्रह्ममें ही स्थित रहता है, यह अर्थ है। इससे विद्वान्में 'अहम्' भावसे 'इदम्' वासना आदिका अभाव है, ऐसा सूचित होता है। दर्पको यानी मैं कृतार्थ हूँ, मैं ब्रह्मवित् हूँ, ऐसे अभिनिवेशरूप अन्तःकरणके विकारको भी त्याग देता है। समाधिसे अपने (दर्पके) कारण अज्ञान और अहङ्कारके नष्ट हो जानेपर 'कारणके नाशसे कार्यका नाश हो जाता है' इस न्यायसे दर्प स्वयं ही नष्ट हो जाता है, यह अर्थ है। उसी प्रकार काम और क्रोधको छोड़ देता है। प्राप्त हुए पदार्थके

भोगेच्छा कामः, स्वापकारिणं हन्तुमुद्योगः क्रोधस्तौ परित्यजति। स्वकारणस्य रजसः समाधिना निर्मूलितत्वाद्विनिर्मलान्तःकरणतया सम्यगप्रतिबद्धात्मविज्ञानेन अहमेवेदं सर्वमिति सर्वात्मभावं प्राप्तस्याऽहं भोक्तेदं भोग्यमिति अयं हन्ताऽहं हन्य इति विपरीतभावनाभावात् स्वमात्रत्वात्सर्वत्र रागद्वेषयोरनवकाशापत्तौ 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याऽप्यपायः' इति न्यायेन कामक्रोधौ स्वयमेव विनाशं प्राप्तावित्यर्थः। तत एव परिग्रहं शरीररक्षणार्थत्वेन प्राप्तो यः परिग्रहः कौपीनकाषायकन्थादिस्तं चाऽपि विमुञ्चति। एवमहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहं च यद्बहिरन्तश्च विकल्पकारणं तत्सर्वं विमुच्य, 'न दण्डं न कमण्डलुं न शिखां न यज्ञोपवीतं नाच्छादनं चरति परमहंसः' इत्युक्तरीत्या देहमात्रावशिष्टः परमहंसो भूत्वा। ननु शरीरस्थितिहेतोः काषायकन्थादेः परित्यागे शीतवातादिभिर्विकल्प एव संभवति कथं निर्विकल्पत्वं ब्रह्मविदुत्तमस्य परमहंसस्येत्याशङ्क्य, न; देहादावहंममेत्यभिमानवत एव शीतादिकृतविक्षेपो न तु निरभिमानस्येति। तदसंभवे हेतुमाह—**निर्मम इति**। स्वकारणस्याऽहंकारस्य विनष्टत्वान्निःशेषेण गतो निर्गतो देहे ममभावो यस्य स निर्ममः। परदेह इव स्वदेहे ममतारहित इत्यर्थः। 'स्ववपुः कुणपमिव दृश्यते एतद्वपुरपध्वस्तम्' इति श्रवणाद् ब्रह्मण्येवाऽऽत्मत्वप्रत्ययवता

भोगकी इच्छा काम है, अपने अपकारीका हनन करनेके लिए उद्योग करना क्रोध है, उन दोनोंका ब्रह्मवित् त्याग कर देता है। समाधिसे अपने कारण रजोगुणका निर्मूलन हो जानेसे अन्तःकरणके विशेष निर्मल होनेके कारण अप्रतिबद्ध सम्यक् आत्मविज्ञानसे मैं ही यह सब हूँ, यों सर्वात्मभावको प्राप्त हुए विद्वान्‌में मैं भोक्ता हूँ, यह भोग्य है, तथा यह हन्ता है, मैं मारा जाता हूँ, इत्यादि विपरीत भावनाका अभाव होनेसे सभी उसके स्वस्वरूप हैं, अतः सर्वत्र राग, द्वेषका अनवकाश होनेपर 'निमित्तके नाशसे नैमित्तिकका नाश होता है', इस न्यायसे काम और क्रोध स्वयं ही नष्ट हो गये, यह अर्थ है। उसीसे परिग्रहका भी (शरीररक्षणके लिए प्राप्त जो वस्तु है, वह परिग्रह है, यानी कौपीन, काषाय, कन्था आदि, उसका भी) त्याग कर देता है। इस प्रकार अहङ्कार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रह जो बाह्य और आन्तर विकल्पके कारण हैं, उन सबका परित्याग कर 'दण्ड, कमण्डलु, शिखा, यज्ञोपवीत और आच्छादनको परमहंस नहीं रखता है,' इस श्रुति द्वारा उक्त रीतिसे केवल देहरूपसे अवशिष्ट परमहंस होकर। शरीरस्थितिके हेतु काषाय, कन्था आदिका परित्याग करनेपर शीत, वात आदिसे विकल्प ही हो सकता है, ऐसी अवस्थामें ब्रह्मविदुत्तम परमहंस निर्विकल्प कैसे हो सकता है ? ऐसी यदि आशङ्का हो, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि देहादिमें मैं, मेरा इस प्रकारके अभिमानवाले पुरुषको ही शीत आदिसे विक्षेप हो सकता है, निरभिमानी पुरुषको नहीं। उसके (विकल्पके) न होनेमें हेतु कहते हैं—**निर्मम इति**। अपने कारण अहङ्कारके निःशेष नष्ट हो जानेसे गत—निकल गया है—देहमें से ममभाव जिसका, वह निर्मम। परायी देहके समान अपनी देहमें ममतारहित, यह अर्थ है। 'परमहंस अपने शरीरको

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ ५४ ॥

ब्रह्मभूत प्रसन्नचित्तवाला यति न शोक करता है और न किसीकी इच्छा करता है तथा सब भूतोंमें समदृष्टि होकर मेरी अनुत्तम भक्तिको (सब भूतोंमें मत्स्वरूपत्व-ग्राहक अद्वैत ज्ञानको) प्राप्त करता है ॥ ५४ ॥

महात्मना ब्रह्मविदाऽनात्मत्वेन त्यक्ते शवकल्पे शरीरे त्वहंभावो ममभावश्च न क्रियते । तन्निमित्तकत्वात् सर्वविकल्पस्य, विदुषस्तदभावात्तदभाव इति सूचयितुमेव निर्मम इत्युक्तम् । यत एवं चिरकालनित्यनिरन्तरसमाधियोगनिर्धूताहङ्कारममकाराद्याविद्यावासनाप्रपञ्चो यो ब्रह्मविद्यतिः स सर्वेभ्यो गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तो भवति । तत एव शान्तः निरिन्धनाग्निवदुपशान्तान्तःकरणसर्वविकारस्तत एव प्रसन्नान्तःकरणतया संप्राप्तात्मयाथात्म्यविज्ञानो ब्रह्मभूयाय ब्रह्मभावाय । ब्रह्मभावो नाम सच्चिदानन्दैकरसब्रह्मात्मनावस्थानं तस्मै कल्पते ब्रह्माकारेण तिष्ठतीत्यर्थः । एतेनाऽत्यन्तश्रद्धया चिरकालं नित्यं निरन्तरं समाधिनिष्ठामेवैकां नियमेन समनुतिष्ठतस्तन्निष्ठयाऽहमादिसर्ववासनाग्रथिविच्छित्तिं सम्यक्कृतवतस्तद्विच्छित्त्या सम्यगात्मप्रसादं लब्धवतस्तल्लब्ध्वा संसिद्धात्मयाथात्म्यविज्ञानेनाऽहमेवेदं सर्वमिति सर्वमात्मानमेव पश्यतो ब्रह्मविदो ब्रह्मभावः सिध्यतीति सूचितम् ॥ ५३ ॥

मरा हुआ-सा देखता है, यह शरीर नष्ट हो गया है' इस श्रुतिके अनुसार केवल ब्रह्ममें ही आत्मत्वप्रत्ययसे युक्त महात्मा ब्रह्मवित् अनात्मत्वरूपसे परित्यक्त शवके सदृश शरीरमें अहंभाव और ममभाव नहीं करता । क्योंकि सब विकल्प अहंममभावनिमित्तक ही हैं, विद्वान्में उनका अभाव है, अतः उसमें विकल्पका अभाव है, ऐसा सूचन करनेके लिए ही 'निर्मम' कहा गया है । जिस कारणसे इस प्रकार चिरकाल, नित्य, निरन्तर समाधियोगसे अहङ्कार, ममकार आदि अविद्यावासनाप्रपञ्चको धो डालनेवाला ब्रह्मवित् यति सब गुहारूपी ग्रन्थियोंसे विमुक्त हो जाता है, इसीलिए शान्त—इन्धनरहित अग्निके समान अन्तःकरणके सब विकारोंसे शून्य—, इसीलिए अन्तःकरणके प्रसन्न होनेसे आत्मयाथात्म्यविज्ञानको प्राप्त कर लेनेवाला यति ब्रह्मभावके लिए (ब्रह्मभाव यानी सच्चिदानन्दैकरस ब्रह्मस्वरूपसे अवस्थान, उसके लिए) समर्थ होता है । ब्रह्माकारसे स्थित होता है, यह अर्थ है । इससे यह सूचित होता है कि जो अत्यन्त श्रद्धासे चिरकाल तक नित्यनिरन्तर केवल समाधिनिष्ठाका ही नियमसे अनुष्ठान करता है, जो समाधिनिष्ठासे अहमादिवासनाग्रन्थियोंका भली भाँति विनाश कर चुका है, जो वासनाग्रन्थिके उच्छेदसे सम्यक् आत्मप्रसादको प्राप्त कर चुका है तथा जो उसको प्राप्त करके संसिद्ध आत्मयाथात्म्यविज्ञानसे मैं ही यह सब हूँ, यों सबको आत्मा ही देखता है, उस ब्रह्मवित्का ब्रह्मभाव सिद्ध होता है ॥ ५३ ॥

एवं विशुद्धबुद्धित्वादिसहकारिसाधनसंपत्त्या समनुष्ठितध्यानयोगनिष्ठासमुत्पन्न-सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मभावं गतवतो महात्मनो जीवन्मुक्तस्य कृतार्थस्य यतेः स्थितिमाह श्लोकार्धेन—ब्रह्मभूत इति ।

निरुक्तसाधनसंपत्त्या समनुष्ठितसमाधिनिष्ठाविध्वस्तरजस्तमस्तत्कार्यरागद्वेषाद्यहङ्कार-ममकाराद्यशेषमलतया प्रसन्नः केवलशुद्धसत्त्वभावापन्नः सर्वत्र ब्रह्ममात्रग्रहणेन प्रशान्तो विपरीतप्रत्ययनिर्मुक्त आत्माऽन्तःकरणं यस्य स प्रसन्नात्मा समाधिनिष्ठापरिपक्वविज्ञान-स्तत एव दृश्यसम्बन्धं परित्यज्य ब्रह्मभूतः सद्घनं चिद्घनमानन्दघनं यत्परं ब्रह्म एतदे-वाऽहमिति तद्भावं गतो जीवन्मुक्तो ब्रह्मवित्तमो न शोचति शोकं न करोति शोकहेतो-रनर्थस्याऽभावात् । लोके यं कंचनाऽनर्थमात्मनो दृष्ट्वा मूढः शोचति । तदभावान्नाऽयं शोचति । नहि सर्वं स्वमेव पश्यतो विदुषः संभवत्यर्थान्तरमनर्थाय, यद् दृष्ट्वाऽयं शोचेत् । 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' इति द्वैतस्यैव भयहेतुत्वं श्रूयते । दृश्यते च स्व-व्यतिरिक्तस्यैव भयकारणत्वं दुःखकारणत्वं च । ततः स्वयमेव सर्वत्र चिदेकरसं प्रशान्तं वृद्धिक्षयादिवर्जितमानन्दघनमद्वितीयं च पश्यतोऽनर्थहेतोरन्यस्याऽदर्शनाद् ब्रह्मवित्तमः शोकनिमित्ताभावान्न शोचतीत्यर्थः । नन्वाभासरूपेण विदुषोऽप्युपाधिरस्त्येव तद्वैकल्य-

---

इस प्रकार विशुद्धबुद्धित्व आदि सहकारी साधनोंकी सम्पत्तिसे समनुष्ठित ध्यानयोगनिष्ठासे उत्पन्न हुए सम्यक् ज्ञानसे जिसने ब्रह्मभावको प्राप्त कर लिया है, ऐसे महात्मा जीवन्मुक्त कृतार्थ यतिकी स्थितिका आधे श्लोकसे वर्णन करते हैं—'ब्रह्मभूतः' इत्यादिसे ।

निरुक्त साधनसंपत्तिसे समनुष्ठित समाधिनिष्ठासे रज, तम तथा उनके कार्य राग, द्वेष आदि एवं अहंकार, ममकार आदि अशेष मलके नष्ट हो जानेके कारण प्रसन्न है यानी केवल शुद्धसत्त्वभावको आपन्न है—सर्वत्र ब्रह्ममात्रका ग्रहण करनेसे प्रशान्त अर्थात् विपरीत प्रत्ययसे रहित है—आत्मा यानी अतःकरण जिसका, वह प्रसन्नात्मा—समाधिनिष्ठासे उत्पन्न परिपक्व विज्ञानसे संयुक्त-, इसीलिए दृश्यसम्बन्धको छोड़ कर ब्रह्मभूत—सद्घन, चिद्घन, आनन्दघन जो परब्रह्म है, वही मैं हूँ, इस प्रकार ब्रह्मभावको प्राप्त—जीवन्मुक्त ब्रह्मवित्तम यति सोचता नहीं है यानी शोक नहीं करता, क्योंकि शोकके हेतु अनर्थका अभाव है । लोकमें जिस किसी अनर्थका अपनेमें आरोप कर ही मूढ़ शोक करता है, किन्तु यह उसका अभाव होनेसे शोक नहीं करता । सबको आत्मस्वरूप देखनेवाले विद्वान्के प्रति दूसरा अर्थ अनर्थका हेतु हो नहीं सकता, जिसको कि देख कर वह शोक करे । 'दूसरेसे ही भय होता है' इत्यादि श्रुतिसे द्वैतमें ही भयहेतुत्व सुननेमें आता है और लोकमें भी अपनेसे भिन्न ही भयका कारण और दुःखका कारण देखनेमें आता है, इसलिए जो अपनेको ही सर्वत्र चिदेकरस, प्रशान्त, वृद्धि और क्षय आदिसे रहित, आनन्दघन और अद्वितीय देखता है, वह अनर्थके हेतु दूसरेको नहीं देखता, अतः ब्रह्मवित्तम शोकनिमित्तके न होनेसे शोक नहीं करता, यह अर्थ है । यदि कहो कि आभासरूपसे विद्वान्में भी उपाधि है ही, उसके वैकल्य और वैगुण्यरूप

वैगुण्ययोः शोकनिमित्तयोः संभवात् कथं विद्वान्न शोचतीति चेत्, न; देहे ममताभावस्य प्रतिपादितत्वात्। देहे ह्यहंममेत्यभिमानवत एव तद्वैकल्यवैगुण्ययोः शोकः संभवति। किन्तु 'ब्रह्मैवाऽहं न तु देहः' इति निरभिमानस्य सर्वात्मन्येव तयोरविषये ब्रह्मण्यात्मभावापत्त्या तदात्मना निरूढवृत्तेर्विदुषः प्रतिच्छायावदुपाधेरसत्त्वात्तन्निमित्तकः शोको न संभवति। तथा च श्रुतिः 'किमिच्छन् कस्य कामाय' इति, 'मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति' इति, 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' इति च। न काङ्क्षति च निरुक्तलक्षणो ब्रह्मविद्यतिर्न किञ्चिदर्थान्तरं कामयते। सर्वो ह्यप्राप्तमर्थं कामयते, न तथाऽस्य ब्रह्मविदः प्राप्तव्यमर्थान्तरमस्ति, यत्कामयेत ममेदं भूयादिति। 'अहमन्नमहमन्नमहमन्नमहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः' इति, 'अहं मनुरभवं सूर्यश्च' इति न्यायेन स्वस्यैव भोक्तृभोग्यात्मनाऽवस्थितत्वात् स्वव्यतिरिक्तवस्त्वन्तराभावाच्च 'अहमेवेदं सर्वम्' इति सर्वात्मभावापत्त्या सर्वस्याऽपि वस्तुनः स्वात्मत्वेन प्राप्तत्वाच्च कामनैव न संभवति तत एव न काङ्क्षति। 'सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणा विपश्चिता' इति ब्रह्मभावापन्नस्य यतेः सर्वकामाप्तिश्रवणादवाप्तसर्वकामस्य कामयितृत्वासंभवात् 'कामं क्रोधम्' इति कामस्य परित्यक्तत्वाच्च ब्रह्मवित्कदाचित्कचित्किञ्चिदपि न काङ्क्षतीत्यर्थः। ज्ञानस्य सम्यक्त्वसिद्धये विशुद्धबुद्धित्वादि-

शोकनिमित्तके होनेसे विद्वान् शोक नहीं करता, यह कैसे कहा जा सकता है? तो वह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि विद्वान्को देहमें ममता नहीं होती है, ऐसा प्रतिपादन किया जा चुका है। देहमें मैं मेरा, यों अभिमान करनेवालेको ही उसका वैकल्य और वैगुण्य होनेपर शोक होता है। किन्तु ब्रह्म ही मैं हूँ, न कि देह, इस प्रकार निरभिमानी, कैवल्य और वैगुण्यके अविषय सबके आत्मस्वरूप ब्रह्ममें ही आत्मभावकी प्राप्ति होनेके कारण, ब्रह्मस्वरूपसे निरूढवृत्तिवाले विद्वान्की दृष्टिमें प्रतिबिम्बके समान उपाधिका अस्तित्व नहीं है, अतः तन्निमित्तक शोक नहीं हो सकता। श्रुति भी है—'ब्रह्मवित् किसकी इच्छा कर या किस प्रयोजनके लिए शरीरके दुःखसे दुःखी होवे', 'ब्रह्मको जानकर धीर हर्ष और शोकका परित्याग करता है' और 'एकत्व देखनेवाले विद्वान्को क्या मोह और क्या शोक?'। निरुक्त लक्षणसे युक्त यति किसी दूसरे पदार्थकी कामना नहीं करता। सभी पुरुष अप्राप्त अर्थकी कामना करते हैं, इस ब्रह्मवित्को प्राप्तव्य दूसरा अर्थ कोई है नहीं, जिससे कि वह 'मुझे यह मिले' यों इच्छा करे। 'मैं अन्न हूँ, मैं अन्न हूँ, मैं अन्न हूँ, मैं अन्नाद हूँ, मैं अन्नाद हूँ मैं अन्नाद हूँ' तथा 'मैं मनु हुआ और सूर्य हुआ' इस न्यायसे भोक्ता और भोग्यस्वरूपसे अपनी ही स्थिति है और अपनेको छोड़कर दूसरी वस्तुका अभाव है। 'मैं ही यह सब हूँ' यों सर्वात्मभावकी प्राप्तिसे सभी वस्तुओंकी ही स्वात्मरूपसे प्राप्ति हो चुकी है, अतः ब्रह्मभूत यतिको उनकी कामना ही नहीं हो सकती, इसीलिए वह इच्छा नहीं करता। 'ब्रह्मवित् सर्वज्ञ ब्रह्मरूप होकर सब भोगोंको एक साथ भोगता है' इससे ब्रह्मभावापन्न यतिको सब कामोंकी प्राप्ति सुननेमें आती है, इसलिए जिसने सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर लिया है, वह कामी नहीं हो सकता, और 'काम एवं क्रोधको' इससे कामका परित्याग कर चुका है, अतः ब्रह्मवित् कभी, कहीं, कुछ भी इच्छा

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥ ५५ ॥

उपाधिभेदोंसे विविधरूपको प्राप्त हुआ मेरा जैसा स्वरूप है, उसको निर्विकल्पक प्रत्यग्दृष्टिसे जानता है, उस प्रकार मुझको तत्त्वतः जानकर तदनन्तर मत्स्वरूप हो जाता है ॥ ५५ ॥

साधनसंपत्त्या ज्ञाननिष्ठां कुर्वतोऽतत्त्यागपूर्विका ब्रह्मप्राप्तिरेव सूचिता न तु निष्ठया संप्राप्तं ज्ञानस्वरूपं तेन वस्तुतत्त्वनिर्धारणप्रकारो निर्धारितवस्तुप्राप्तिश्च, जिज्ञासोर्विज्ञातव्यं तदेतत्सर्वं संक्षेपेण प्रतिपादयति सार्धेन—**सम इति** । विशुद्धबुद्धित्वादिभिस्तद्बुद्धित्वादिभिश्च ज्ञाननिष्ठासहकारिसाधनैः सम्यक्संपन्नः समदर्शनपरः सम्यग्ज्ञानसिद्ध्यै ज्ञाननिष्ठायां प्रवृत्तो ब्रह्मवियतिः 'अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्' इति', सर्वभूतेषु येनैकम्' इत्युक्तप्रकारेण भूतेष्वाकाशादिस्थूलान्तेषु भूतकार्येषु च ब्रह्मादिस्तम्बान्तशरीरेषु सर्वेषु सर्वत्र परां ज्ञाननिष्ठापरिपाकजन्यत्वात्संशयविपर्ययादिदोषनिर्मुक्तत्वादप्रतिबद्धत्वात्परमार्थबोधकत्वाच्च परा प्रकृष्टा तां परां मद्भक्तिं विषयाकारं भजतीति भक्तिर्ज्ञानं निष्ठापरिपाकजं मम सर्वभूतात्मभूतस्य निर्विशेषस्याऽपरिच्छिन्नस्य सर्वोपाधिविनिर्मुक्तस्य चिदेकरसस्य ब्रह्मणो भक्तिर्मद्भक्तिस्तां लभते । नित्यनिरन्तरसमाधिनिष्ठयाऽन्तःकरणस्य शुद्धसत्त्वभावापत्तौ सर्वत्र मत्स्वरूपमात्रग्राहकमद्वैतविषयं ज्ञानं ब्रह्मवित् प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ५४ ॥

नहीं करता, यह अर्थ है । ज्ञानके सम्यक्त्वकी सिद्धिके लिए विशुद्धबुद्धित्व आदि साधनसंपत्तिसे ज्ञाननिष्ठा कर रहे यतिकी ज्ञाननिष्ठाके अत्यागपूर्वक ब्रह्मप्राप्ति ही सूचित की गई है, निष्ठासे संप्राप्त ज्ञानस्वरूप, उससे वस्तुतत्त्वके निर्धारणका प्रकार और निर्धारित वस्तुकी प्राप्ति सूचित नहीं की गई है । जिज्ञासुके जानने योग्य उस सबका संक्षेपतः डेढ़ श्लोकसे प्रतिपादन करते हैं—**सम इति** । ज्ञाननिष्ठाके सहकारी विशुद्धबुद्धित्व आदि और तद्बुद्धित्व आदि साधनोंसे भली भाँति युक्त समदर्शनपरायण तथा सम्यक् ज्ञानकी सिद्धिके लिए ज्ञाननिष्ठामें प्रवृत्त ब्रह्मवित् यति 'अशरीरको तथा अनित्य शरीरोंमें नित्यरूपसे अवस्थितको', 'सब भूतोंमें जिससे एकको' इत्यादि उक्त प्रकारसे सब भूतोंमें—आकाशसे लेकर स्थूलतक भूतोंमें और भूतोंके कार्य ब्रह्मासे लेकर स्तम्बतक सब शरीरोंमें—सर्वत्र परा—ज्ञाननिष्ठाके परिपाकसे जन्य, संशय, विपर्यय आदि दोषोंसे रहित अप्रतिबद्ध तथा परमार्थकी बोधक होनेके कारण परा—प्रकृष्टा—मद्भक्तिको (विषयाकारको जो भजती है, वह भक्ति यानी ज्ञान अर्थात् निष्ठाके परिपाकसे जन्य ज्ञान, सर्वभूतोंके आत्मभूत मेरी यानी निर्विशेष, अपरिच्छिन्न सम्पूर्ण उपाधिसे रहित, चिदेकरस, परब्रह्मकी भक्ति—मद्भक्ति है, उसको) प्राप्त करता है । नित्य निरन्तर समाधिनिष्ठासे अन्तःकरणमें शुद्ध सत्त्वभावके प्राप्त होनेपर सर्वत्र मेरे स्वरूपमात्रका ही ग्रहण करनेवाले अद्वैतविषयक ज्ञानको ब्रह्मवित् यति प्राप्त करता है, यह अर्थ है ॥ ५४ ॥

एवं चिरकालं नित्यनिरन्तरसमभ्यस्तज्ञानयोगेन विपरीतप्रत्ययहेतूनामनाद्यविद्यावासनानां तत्कार्याणां च विपरीतप्रत्ययानां निःशेषसंक्षये सति विकल्पं सर्वं परित्यज्य सर्वत्र समदर्शनलक्षणं ज्ञानं प्राप्तवतो ब्रह्मविद्यतेस्तज्ज्ञानोत्पन्नं वस्तुतत्त्वनिश्चयं प्रतिपादयंस्तादृङ्निश्चयवता ब्रह्मप्राप्तिं दर्शयति—**भक्त्येति** ।

भक्त्या बहिरन्तः सर्वत्र वस्तुमात्रावगाहिन्या निर्विकल्पया प्रत्यग्दृष्ट्या सम्यगधिष्ठानसंदर्शनजन्यज्ञानेन ब्रह्मविद्यतिर्मां परं ब्रह्माऽभिजानात्यभितः सर्वत आभिमुख्येन विकल्पराहित्यं यथा तथा साक्षात्कृतस्य वस्तुनस्तत्त्वं विनिश्चिनोति । सामान्यतो विशेषतश्चाऽधिगतस्य वस्तुनस्तत्त्वनिर्धारणं करोतीत्यर्थः । निर्धारणप्रकारमेवाऽऽह—**यावानिति** । अव्यक्तमहदादितत्कार्योपाधियोगादहं यावान् मायाकल्पितोपाधिभेदैरहं यादृशोऽस्मि समष्टिस्थूलसूक्ष्मकारणोपाधिभिर्विराड्हिरण्यगर्भ ईश्वर इति, व्यष्टिस्थूलसूक्ष्मकारणोपाधिभिर्विश्वस्तैजसः प्राज्ञ इति, गुणत्रयोपाधितो ब्रह्मा विष्णुरीश्वर इति, अवान्तरवृत्तिभिर्देवास्तिर्यञ्चो मनुष्या इत्युपाधिभेदैर्यादृग्रूपः प्रतीतोऽस्मीत्यर्थः । स्वयमविकृतमेव सदधिष्ठानमारोपितनामरूपाण्यनुकरोति, यथा रज्जुरविकारिण्येवाऽऽरोपितसर्पशिरःपुच्छाद्याकारेण भाति ग्रहीतुर्ग्रहणदोषेण, मरुरेवाऽऽरोपितजलप्रवाहतरङ्गादि-

---

इस प्रकार चिर काल तक नित्य निरन्तर अभ्यस्त ज्ञानयोगसे विपरीत प्रत्ययोंके हेतु अनादि अविद्यावासनाओंका और उनके कार्य विपरीत प्रत्ययोंका निःशेष क्षय हो जानेपर सब विकल्पोंको छोड़कर सर्वत्र समदर्शनरूप ज्ञानको प्राप्त कर लेनेवाले ब्रह्मवित् यतिके उस ज्ञानसे उत्पन्न वस्तुतत्त्वके निश्चयका प्रतिपादन करते हुए श्रीभगवान् उस प्रकारके निश्चयसे युक्त यतिकी ब्रह्मप्राप्ति दिखलाते हैं—**'भक्त्या'** इत्यादिसे ।

भक्तिसे—बाहर भीतर सर्वत्र वस्तुमात्रका ग्रहण करानेवाली निर्विकल्प प्रत्यग्दृष्टिसे—यानी भलीभाँति अधिष्ठानके संदर्शनसे जनित ज्ञानसे ब्रह्मवित् यति मुझको—पर ब्रह्मको—जानता है यानी अभितः—सर्वतः—आभिमुख्यसे साक्षात् प्रत्यक्षीकृत वस्तुके तत्त्वका विकल्परहित निश्चय करता है, सामान्य और विशेषरूपसे अधिगत वस्तुके तत्त्वका निर्धारण करता है, यह अर्थ है । निर्धारणके प्रकारको ही कहते हैं—**'यावान्'** इत्यादिसे । अव्यक्त, महदादि तथा उनके कार्यरूप उपाधिके योगसे मैं जितना हूँ यानी कल्पित उपाधिके भेदोंसे मैं जैसा हूँ—समष्टि स्थूल सूक्ष्म कारणरूप उपाधियोंसे विराट्, हिरण्यगर्भ और ईश्वर; व्यष्टि स्थूल और सूक्ष्म कारणरूप उपाधियोंसे विश्व, तैजस और प्राज्ञ; तीन गुणरूप उपाधियोंसे ब्रह्मा, विष्णु, ईश्वर तथा आवान्तर वृत्तियोंसे देव, तिर्यक्, मनुष्य, यों उपाधिभेदोंसे जिस स्वरूपका मैं प्रतीत होता हूँ, यह अर्थ है । अधिष्ठान स्वयं अविकारी ही रहकर आरोपित नाम और रूपोंका अनुकरण करता है । जैसे अविकारी रज्जु ही ग्रहीताके ग्रहणदोषसे आरोपित सर्पके शिर, पुच्छ आदि आकारसे भासती है, मरु ही आरोपित जलके प्रवाह, तरङ्ग आदि रूपसे प्रतीत होता है, इसी

रूपेण प्रतीयते, तथाऽधिष्ठानभूतमविक्रियमेव परं ब्रह्माऽप्यारोपितनामरूपाण्यनुकुर्वन्नानेव प्रतीयते। तथैव श्रूयते स्मर्यते च—'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते', 'एकः सन् बहुधा विचचार', 'एक एव ही भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः', 'स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा भवति नवधा चैव पुनश्चैकादशः स्मृतः, इति, 'बहुरूप इवाऽऽभाति मायया बहुरूपया। नित्यः सर्वगतोऽप्यात्मा कूटस्थो दोषवर्जितः॥' 'एकः सन् भिद्यते भ्रान्त्या मायया न तु तत्त्वतः।' इति। य एवं मायापरिकल्पितोपाधिविशेषैः परिच्छिन्न इव धर्मीव कर्मीव गुणीव प्रतीतः, स एवाऽहं श्रुत्यनुगतयुक्त्या समाहितबुद्ध्या च परिशील्यमान उपाधितद्धर्मतत्कर्मतद्गुणतद्विकाररहितोऽपरिच्छिन्नो नित्यो निर्विशेषो मुक्तोपसृप्य एक एवाऽविक्रियोऽस्मीत्याह—**यश्चाऽस्मि तत्त्वत इति**। 'अथात आदेशो नेति नेति', 'यत्र नान्यत्पश्यति', 'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रम्', 'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्' इत्यादिश्रुत्यनुकूलैर्नेति नेति वाक्यैरारोपितनामरूपादेरपवादे क्रियमाणे तन्निषेधावधिभूतं युक्तिशतैरप्यनपोह्यमपवदितुरात्मभूतमहेयमनुपादेयं निर्विशेषं निराभासं निराधारं निराकारं निरवद्यं निरञ्जनं निष्कलं निष्क्रियं शान्तमनन्तमनाद्यन्तं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावमखण्डानन्दैकरसं

प्रकार अधिष्ठानभूत अविकारी परब्रह्म भी आरोपित नाम और रूपोंका अनुकरण करता हुआ अनेक-सा प्रतीत होता है। इस अर्थकी पोषक श्रुति और स्मृति भी है—'ईश्वर मायासे बहुरूप प्रतीत होता है', 'एक होकर बहुत प्रकारसे विचरा', 'एक ही भूतात्मा प्रत्येक भूतमें व्यवस्थित है', 'वह एक प्रकारका होता है, तीन प्रकारका होता है, पाँच प्रकारका, सात प्रकारका होता है, नव प्रकारका और फिर ग्यारह प्रकारका कहा गया है', 'नित्य, सर्वगत, कूटस्थ और दोषरहित भी आत्मा अनेक रूपवाली मायासे अनेक-सा भासता है।' 'एक होकर भ्रान्तिरूप मायासे अनेक होता है, परमार्थतः नहीं'। जो इस प्रकार मायापरिकल्पित उपाधिविशेषोंसे परिच्छिन्न-सा, धर्मी-सा कर्मी-सा, गुणी-सा प्रतीत हुआ, वही मैं श्रुत्यनुसारी युक्तिसे और समाहित बुद्धिसे परिशील्यमान होकर उपाधि, उसके धर्म, उसके कर्म, उसके गुण और उसके विकारसे रहित, अपरिच्छिन्न, नित्य, निर्विशेष, मुक्तोंसे प्राप्त होने योग्य, एक ही अविक्रिय हूँ, ऐसा कहते हैं—**यश्चाऽस्मि तत्त्वत इति**। 'इसलिए नेति नेति आदेश है', 'जहां दूसरेको नहीं देखता', 'ब्रह्म न देखने योग्य न पकड़ने योग्य, अगोत्र, अवर्ण, चक्षु और श्रोत्रसे रहित है', 'स्थूल नहीं, अणु नहीं, ह्रस्व नहीं, दीर्घ नहीं' इत्यादि श्रुतियोंके अनुकूल नेति नेति वाक्योंसे अरोपित नाम, रूप आदिका अपवाद करनेपर उस निषेधका अवधिभूत सैकड़ों युक्तियोंसे भी अबाध्य, अपवाद करनेवालेका आत्मभूत, अहेय, अनुपादेय, निर्विशेष, निराभास, निराधार, निराकार, निरवद्य, निरञ्जन, निष्कल, निष्क्रिय, शान्त, अनन्त, आदि और अन्तसे रहित, नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव अखण्ड-आनन्दैकरस परतत्त्व जो है, उससे यानी परमार्थिकस्वरूपसे तीन कालमें भी

परं तत्त्वं यदस्ति ततः पारमार्थिकस्वरूपेण कालत्रयेऽपि प्रमाणान्तराबाधितसत्तावत्तया स्थितो नित्यः शाश्वतो योऽहमेक एवाऽद्वितीयोऽस्मि सच्चिदानन्दैकलक्षणस्तं मां परं ब्रह्माऽभिजानाति 'सर्वात्मायं हि सर्वं नैवोतोऽद्वयो ह्ययमात्मैकल एव······नह्ययमोतो नानुज्ञाता असङ्गत्वादविकारित्वादसत्त्वादन्यस्य', 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म', 'नेह नानास्ति किंचन', 'सर्वं यदयमात्मा', 'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्', 'ज्ञानं विशुद्धं विमलं विशोकमशेषतो भाति निरस्तसङ्गम्' इति, 'इदं सर्वं ब्रह्ममात्रम्, ब्रह्मण्यारोपितत्वात्, शुक्तिरजतवत्' इत्यादिश्रुतिस्मृतियुक्तिभिः समाहितबुद्ध्या च सम्यक् परिशील्य भ्रमकृतं विकल्पं परित्यज्य सर्वमिदमहं च ब्रह्मैवेत्यभिजानाति । विनिश्चिनोतीत्यर्थः । श्रुतियुक्तिगुरूक्तिस्वानुभवैः पूर्वं यदनेकधा भातं तत्केवलमविक्रियं निर्विशेषं परं ब्रह्मैवेति सामान्यविशेषाभ्यां सविकल्पकनिर्विकल्पकाभ्यामवगतस्वरूपं वस्त्वेकमेव निर्विशेषं नाऽन्यदस्तीति तत्त्वतः परमार्थस्वरूपेण चिन्मात्रकेण मां परं ब्रह्मैवं प्रत्यग्दृष्ट्या सर्वतः सम्यग्विषयीकृतं सदेकरसतया ज्ञात्वाऽवधार्य, रज्जोः स्वरूपसंदर्शनेन यत्सर्पात्मना भातं तद्रज्जुरेव केवलेति करगृहीताया रज्जोः कैवल्यमिव 'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण । अधश्चोर्ध्वं प्रसृतं

दूसरे प्रमाणसे बाधित न होनेवाली सत्तासे युक्त, नित्य, शाश्वत, जो मैं एक ही सच्चिदानन्दैकलक्षण अद्वितीय हूँ, उस मुझ पर ब्रह्मको जानता है । 'यह सर्वात्मा है, यह सब है यह ओत नहीं है, यह अद्वय ही है, यह आत्मा अकेला ही है···यह ओत नहीं है और न अनुज्ञाता है, क्योंकि वह असङ्ग एवं अविकारी है, तथा अन्यका अस्तित्व नहीं है', 'एक ही अद्वितीयब्रह्म', 'यहाँ अनेक कुछ नहीं है', 'सब जो यह आत्मा', 'भोक्ता, भोग्य और प्रेरकको जानकर सबको तीन प्रकारका कहा है, वह ब्रह्म ही है', 'ज्ञान, विशुद्ध, विमल, विशोक, निरस्तसङ्ग ब्रह्म अशेषरूपसे भासता है', 'यह सब ब्रह्ममात्र है, ब्रह्ममें आरोपित होनेसे, शुक्तिमें रजतके समान' इत्यादि श्रुति, स्मृति और युक्तियोंसे तथा समाहित बुद्धिसे भली भाँति विचार कर भ्रमसे उत्पन्न विकल्पका त्याग कर सब यह और मैं ब्रह्म ही हूँ, इस प्रकार जानता है । निश्चय करता है, यह अर्थ है । श्रुति, युक्ति, गुरुके कथन और अपने अनुभवसे पहले जो अनेक प्रकारका भासता था, वह केवल अविक्रिय, निर्विशेष परब्रह्म ही है, यों सामान्य और विशेषसे सविकल्पक और निर्विकल्पकोंसे अवगतस्वरूप एक ही वस्तु निर्विशेष है, अन्य नहीं है, ऐसा तत्त्वसे—परमार्थ चिन्मात्रस्वरूपसे—मुझ परब्रह्मको उस प्रकारकी प्रत्यक्-दृष्टिसे सर्वतः सम्यक्-विषयीकृत सत्-एकरसरूपसे जानकर—अवधारण करके—जैसे रज्जुके स्वरूपके ठीक-ठीक देखनेसे जो सर्परूपसे भासती थी, वह केवल रज्जु ही है, यों हाथमें पकड़ी हुई रज्जुमें कैवल्य है, वैसे ही 'ब्रह्म ही यह अमृत है, आगे ब्रह्म' पीछे ब्रह्म, दक्षिणसे,

ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्' इत्येवंदृष्ट्या ज्ञाननिष्ठापरिपक्वया सर्वं ब्रह्मैव केवलमिति ब्रह्मणः कैवल्यं निश्चित्य, सर्वमिदमहं च ब्रह्मैवेति सर्वस्य च स्वस्य च ब्रह्ममात्रत्वं सम्यगनुभूयेत्यर्थः। 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्', 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इत्युक्तरीत्या ज्ञानादेव मुक्तिर्नाऽन्यथेति श्रुत्यनुगतं स्वनिश्चयमाह—तत इति। तदनन्तरं यदैवं विज्ञानं वस्तु तत्त्वनिश्चयात्मकं निरूढमप्रतिबद्धं जायते तदनन्तरमेव प्रबोधस्थूलदेहप्राप्त्योरिव ब्रह्मवेदनतत्प्राप्त्योरन्तरालाभावात्सम्यग्ज्ञानोत्तरक्षण एव ब्रह्मनिष्ठो यतिस्ततस्तेनैव ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानेन विशते 'अहं ब्रह्माऽस्मि' इति स्वात्मना साक्षात्कृते निर्विशेषे चिदेकरसे परे ब्रह्मण्यानन्दात्मन्येतदेवाऽहमस्मीत्यहं बुद्धिं प्रवेशयति। स्थूले स्वस्वरूपे निद्रयाऽन्यथाभावं गतः पुरुषः प्रबोधेन तन्निवृत्तौ सत्यां तत्राऽहंबुद्धिं यथा करोति तथा स्वाज्ञानेन विपरीतभावं गतो विद्वान् विवेकविज्ञानेन तन्निवृत्तौ सत्यां स्वात्मन्येव ब्रह्मणि एतदेवाऽहमिति तत्राऽहंबुद्धिं करोति न तु देवदत्तो गृह इव ब्रह्मणि प्रविशति, ब्रह्मणः परिपूर्णत्वान्निरवयवत्वेन संकोचव्याकोचशून्यत्वादाप्तुः स्वरूपत्वान्नित्याप्तत्वाच्च प्रवेश्यत्वायोगात्। 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवलीयन्ते', 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति', 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति', 'तमेवं विद्वानमृत इह भवति' इति विदुषः उत्क्र-

---

उत्तरसे, नीचे और ऊपर फैला हुआ ब्रह्म ही है, विश्व ब्रह्म ही है यह ब्रह्म वरिष्ठ है' इस प्रकार ज्ञाननिष्ठासे परिपक्व दृष्टिसे सब केवल ब्रह्म ही है, ऐसा ब्रह्मका कैवल्य निश्चय करके, सब यह और मैं ब्रह्म ही हूँ. यों सबमें और अपनेमें ब्रह्ममात्रत्वका सम्यक् अनुभव करके, यह अर्थ है। 'ज्ञानसे ही तो कैवल्य', 'मोक्षके लिए अन्य मार्ग नहीं है' इत्यादि श्रुतियोंमें उक्त रीतिसे ज्ञानसे ही मुक्ति होती है, अन्यथा नहीं, इस प्रकार श्रुतिके अनुगत अपने निश्चयको कहते हैं—तत इति। उसके अनन्तर—जब इस प्रकार वस्तुतत्त्वनिश्चयात्मक विज्ञान निरूढ़—अप्रतिबद्ध—उत्पन्न होता है, उसीके पीछे ही—जैसे जागरण और स्थूलदेहकी प्राप्ति दोनोंमें व्यवधान नहीं रहता, वैसे ही ब्रह्मज्ञान और ब्रह्मप्राप्ति दोनोंमें अन्तराल न होनेसे सम्यक् ज्ञानके उत्तर क्षणमें ही ब्रह्मनिष्ठ यति उससे—उस ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानसे—प्रवेश करता है यानी मैं ब्रह्म हूँ, इस प्रकार आत्मरूपसे साक्षात्कृत निर्विशेष चिदेकरस आनन्दस्वरूप परब्रह्ममें यही मैं हूँ, यों अहंबुद्धिका प्रवेश कराता है। अपने स्थूल स्वरूपमें निद्रासे अन्यथाभावको प्राप्त हुआ पुरुष जागनेसे उसकी निवृत्ति होनेपर उसमें जैसे अहंबुद्धि करता है, वैसे ही अपने अज्ञानसे विपरीत भावको प्राप्त हुआ विद्वान् विवेकविज्ञानसे उसकी निवृत्ति होनेपर अपने आत्मा ब्रह्ममें ही, यही मैं हूँ, यों उसमें अहंबुद्धि करता है। जैसे देवदत्त घरमें प्रवेश करता है, वैसे ब्रह्ममें प्रवेश नहीं करता, क्योंकि ब्रह्म परिपूर्ण, निरवयव और संकोच एवं विकाससे रहित है, प्राप्त करनेवालेका स्वरूप होनेसे नित्यप्राप्त है, अतः उसमें प्रवेश नहीं हो सकता। 'उसके प्राण उत्क्रमण नहीं करते, यहीं लीन हो जाते हैं', 'ब्रह्म होकर ब्रह्मको ही प्राप्त होता है', 'ब्रह्मको जानता है, ब्रह्म ही होता है', 'उसको वैसे जाननेवाला यहाँ अमृत होता है' इत्यादिसे उत्क्रमणरहित ब्रह्मस्वरूपसे

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥ ५६ ॥

अपने आराध्य देवता आदिमें मेरी भावनासे युक्त होकर सदा श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सम्पूर्ण श्रौतस्मार्त कर्मोंका अनुष्ठान कर रहा यति मद्रूप परमेश्वरके अनुग्रहसे वृद्धिक्षयरहित नित्य मोक्षरूप पदको प्राप्त करता है ॥ ५६ ॥

मणराहित्येन ब्रह्मात्मनाऽवस्थितस्येहैव ब्रह्मप्राप्तेः श्रूयमाणत्वाद्गन्तृत्वगन्तव्यगमनक्रिया न संभवन्ति, किन्तु 'एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते' इति श्रवणाददृश्यत्वादिलक्षणलक्षिते प्रत्यस्तमिताशेषविशेषे अजरेऽमृतेऽभयेऽपूर्वेऽनपरेऽनन्तरेऽबाह्ये नित्यानन्दाखण्डैकरसेऽद्वितीये परे ब्रह्मण्यहंबुद्धिं प्रतिष्ठापयति । श्रुत्याचार्येश्वरात्मप्रसादसंपत्त्या कृतार्थो ब्रह्मवित्तमो यतिः सविशेषं परित्यज्य निर्विशेषब्रह्मात्मना सुखं तिष्ठतीत्यर्थः ॥ ५५ ॥

'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य' इत्यारभ्य 'विशते तदनन्तरम्' इत्यन्तेन ग्रन्थेन मुमुक्षोरीश्वरार्पणबुद्ध्या समनुष्ठितकर्मभिरेव सत्त्वशुद्धिः शुद्धात्मन एव ज्ञानं ज्ञानवत एव मोक्ष इति ज्ञानकर्मणोः साध्यसाधनभावं सर्वशास्त्रप्रसिद्धं निर्धारयितुं कर्मभिश्चित्तशुद्धिं शुद्धात्मनो ज्ञानं तस्य फलं मोक्षं च क्रमेण प्रतिपाद्य, अधुना त्वारुरुक्षोर्गृहिणश्चाऽऽरूढस्य च यतेश्चोभयोर्मोक्षैककामनयोर्नित्यं नियमेन कर्तव्यार्थनिर्णयायोत्तरग्रन्थ आरभ्यते । तत्राऽऽदौ ज्ञानं मोक्षफलकं चित्तशुद्धिं विना न सिद्ध्यति, चित्तशुद्धिश्च

अवस्थित विद्वान्की ही यहींपर ब्रह्मप्राप्ति सुननेमें आती है, अतः गन्तृत्व, गन्तव्य और गमनक्रियाका संभव नहीं है, किन्तु 'इस अदृश्य, अनात्म्य, अनिरुक्त, अनिलयनमें अभयरूप प्रतिष्ठाको प्राप्त होता है' इत्यादि श्रुतिसे अदृश्यत्व आदि लक्षणोंसे लक्षित, अशेषविशेषोंसे रहित, अजर, अमृत, अभय, अपूर्व, अनपर, अनन्तर, अबाह्य, नित्य, आनन्द-अखण्डैकरस अद्वितीय परब्रह्ममें अहंबुद्धि करता है । श्रुति, आचार्य, ईश्वर और आत्मप्रसादसंपत्तिसे कृतार्थ ब्रह्मवित्तम यति सविशेषका त्याग कर निर्विशेष ब्रह्मस्वरूपसे सुखपूर्वक स्थित होता है, यह अर्थ है ॥ ५५ ॥

'स्वकर्मसे उसका पूजन करके' यहाँसे ले करके 'उसके पीछे प्रवेश करता है' यहां तकके ग्रन्थसे ईश्वरार्पणबुद्धिसे सम्यक् अनुष्ठित कर्मोंसे मुमुक्षुकी सत्त्वशुद्धि होती है, शुद्धात्माका ही ज्ञान होता है, ज्ञानवालेको ही मोक्ष होता है, ऐसे ज्ञान और कर्मके सर्वशास्त्रप्रसिद्ध साध्यसाधनभावका निर्धारण करनेके लिए कर्मोंसे चित्तशुद्धि, शुद्धात्माको ज्ञान और उसीको ज्ञानका फल मोक्ष होता है, ऐसा क्रमसे प्रतिपादन करके अब केवल मोक्षकी ही कामनावाले आरुरुक्षु गृहस्थ और आरूढ़ यति दोनोंके नित्य नियमसे कर्तव्य अर्थके निर्णयके लिए उत्तर ग्रन्थका आरंभ किया जाता है । उसमें पहले मोक्षरूप फल देनेवाला ज्ञान चित्तशुद्धिके बिना प्राप्त नहीं होता और चित्तशुद्धि ईश्वरार्पणबुद्धिसे

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥ ५७ ॥

हे अर्जुन, विवेकबुद्धिसे तुम तीव्र मुमुक्षु होकर, सम्पूर्ण श्रौत-स्मार्तरूप कर्मोंके फल मेरे अर्पण कर, सर्वदा मेरे भजनमें तत्पर होकर निरन्तर मेरे शरणागत होओ ॥ ५७ ॥

स्वकर्मभिरेवेश्वरार्पणबुद्ध्या कृतैर्न तु कामनया, आरुरुक्षोरीश्वरप्रीत्यै कर्मैवाऽवश्यं कर्तव्यमिति बोधयितुं मत्प्रीत्यै कर्माणि कुर्वाणो मत्प्रसादान्मुक्तिं प्राप्नोतीत्याह—**सर्वेति** ।

मद्व्यपाश्रयः योऽहं 'अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ' इत्युक्तलक्षणः सर्वभूतात्मभूतः सर्वात्मकः परमेश्वरः स एव व्यपाश्रयो भवमुक्त्यै स्वकर्मभिराराधनीयो यस्य स मद्व्यपाश्रयः, स्वाराध्येषु देवेष्वग्न्यादिषु यागे यागीयेषु चरुपुरोडाशस्रुगादिषु च सर्वत्र मद्भावनायुक्तो भूत्वा मुमुक्षुः सर्वकर्माणि सर्वाणि श्रौतानि स्मार्तानि च नित्यानि नैमित्तिकानि च कर्माणि विध्युक्तानि मत्प्रीत्यै श्रद्धया भक्त्या च कुर्वाणः सन् मत्प्रसादान्मम भक्त्याऽनेकजन्मसु समनुष्ठितकर्मभिः सन्तोषितस्य परमेश्वरस्य प्रसादोऽनुग्रहस्तस्मात्सत्त्वशुद्धिं ज्ञानं च लब्ध्वा अव्ययं वृद्धिक्षयवर्जितं न्यूनाधिकभाववर्जितं सदैकरूपं शाश्वतं नित्यं पदं मोक्षाख्यं प्राप्नोति । कर्मभिः सन्तुष्टेश्वरानुग्रहान्मुक्तिं विन्दतीत्यर्थः ॥ ५६ ॥

किये गये अपने कर्मोंसे ही होती है. कामनासे किये गये कर्मोंसे नहीं होती, अतः आरुरुक्षुको ईश्वरकी प्रीतिके लिए कर्म ही अवश्य करना चाहिए, ऐसा बोधन करनेके लिए मेरी प्रसन्नताके लिए कर्म कर रहा यति मेरे प्रसादसे मुक्तिको प्राप्त होता है, ऐसा श्रीभगवान् कहते हैं—'सर्व०' इत्यादिसे ।

मद्व्यपाश्रय ('अग्नि मूर्धा है नेत्र चन्द्र और सूर्य हैं' इससे उक्त लक्षणवाला जो मैं सर्वभूतोंका आत्मभूत, सर्वात्मक परमेश्वर हूँ, वही है व्यपाश्रय—भवसे मुक्तिके लिए स्वकर्मसे आराधनीय—जिसका, वह मद्व्यपाश्रय) यानी स्वाराध्य अग्नि आदि देवोंमें, यागमें और यागीय चरु, पुरोडाश, स्रुक् आदिमें सर्वत्र मेरी भावनासे युक्त होकर मुमुक्षु विधियोंसे उक्त सम्पूर्ण श्रौत और स्मार्तरूप, नित्य और नैमित्तिकरूप कर्मोंका मेरी प्रीतिके लिए श्रद्धासे और भक्तिसे अनुष्ठान करता हुआ मेरे प्रसादसे—मेरी भक्तिसे• अनेक जन्मोंमें भली भाँति अनुष्ठित कर्मोंसे सन्तुष्ट किये गये परमेश्वरके प्रसादसे—यानी अनुग्रहसे सत्त्वशुद्धि और ज्ञानको प्राप्त करके अव्यय—वृद्धि और क्षयसे रहित—यानी न्यूनाधिकभावसे रहित सदा एकरूप शाश्वत यानी नित्य मोक्षनामक पदको प्राप्त करता है । कर्मसे सन्तुष्ट ईश्वरके अनुग्रहसे मुक्तिको प्राप्त होता है, यह अर्थ है ॥ ५६ ॥

'तेषामेवाऽनुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः । नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता' इत्युक्तो बुद्धेरात्मतत्त्वप्रकाशनलक्षणो यो मत्प्रसादस्तेनैकलभ्यो मोक्षो यस्मात्तस्मात् मत्परो भवेत्याह—चेतसेति ।

कर्मणा सन्तुष्टेश्वरानुग्रहादेव मुक्तिरिति ज्ञानं चेतस्तेन चेतसा विवेकबुद्ध्या त्वं मत्परः अहमेव परः परमपुरुषार्थः प्राप्यं वस्त्विति बुद्धिर्यस्य स मत्परः । तीव्रमुमुक्षुः सन्नित्यर्थः । मत्प्रसादसिद्धये 'कर्ता भोक्ता जनार्दनः' इति न्यायेन सर्वकर्माणि श्रौतानि स्मार्तानि च सर्वाणि कर्माणि कृतानि मयि परमेश्वरे संन्यस्य । कर्माणि कर्मफलानि च मह्यं समर्प्येत्यर्थः । बुद्धियोगं बुद्धेर्मय्येव योगः स्थितिस्तमुपाश्रित्य । सततं मद्भजनपरो भूत्वेत्यर्थः । यद्वा 'भूतानि विष्णुर्भुवनानि विष्णुः' इति न्यायेन सर्वत्र परमेश्वरत्वबुद्धिर्बुद्धियोगस्तं सततमाश्रित्य, यद्वा 'न्यायार्जितधनस्तत्त्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः' इति गृहिणोऽपि वेदान्तविचारस्य कर्तव्यत्वस्मरणात् कर्माणि कुर्वन्सन् बुद्धियोगः ज्ञानसिद्धिहेतुः श्रवणमननादिस्तं बुद्धियोगमुपाश्रित्य सर्वदा वेदान्तार्थविचारपरो भूत्वा सततं मच्चित्तः मय्येव सर्वमये परमात्मनि चित्तं यस्य स मच्चित्तः ज्ञानसिद्ध्यै तत्फलसिद्ध्यै च सर्वदा मच्छरणो भवेत्यर्थः ॥ ५७ ॥

यतः 'तेषामेवाऽनुकम्पार्थम्—' (उन्हींके ऊपर अनुग्रह करनेके लिए मैं आत्मभावस्थ होकर अज्ञानजनित तमको प्रकाशमान ज्ञानरूप दीपकसे नष्ट करता हूँ) इस श्लोकसे कहा गया बुद्धिनिष्ठ आत्मतत्त्वप्रकाशनरूप जो मेरा प्रसाद है, केवल उसीसे मोक्ष प्राप्त होता है, इसलिए तुम मेरे परायण होओ, ऐसा कहते हैं—'चेतसा' इत्यादिसे ।

कर्मोंसे सन्तुष्ट ईश्वरके अनुग्रहसे ही मुक्ति होती है, इस प्रकारका ज्ञान चेतस् है, उससे यानी विवेकबुद्धिसे तुम मत्पर (मैं ही परम पुरुषार्थ यानी प्राप्य वस्तु हूँ, इस प्रकारकी जिसकी बुद्धि है, वह मत्पर है) यानी तीव्र मुमुक्षु होकर, यह अर्थ है । मेरे प्रसादकी सिद्धिके लिए 'कर्ता और भोक्ता जनार्दन ही हैं' इस न्यायसे किये गये श्रौत और स्मार्तरूप कर्मोंका मुझमें—परमेश्वरमें—त्याग कर । कर्म और कर्मफलोंको मेरे समर्पण करके, यह अर्थ है । बुद्धियोगका (बुद्धिकी केवल मुझमें ही स्थिति बुद्धियोग है, उसका) आश्रयण करके, सर्वदा मेरे भजनमें परायण होकर, यह अर्थ है । अथवा 'भूत विष्णु हैं, भुवन भी विष्णु हैं' इस न्यायसे सर्वत्र परमेश्वरकी बुद्धि करना बुद्धियोग है, उसका सदा आश्रयण करके । अथवा 'न्यायसे उपार्जित धनवाला, तत्त्वज्ञाननिष्ठ, अतिथिप्रिय' इस वचनसे गृहस्थको भी वेदान्तविचार करना चाहिए, ऐसा विधान होनेसे कर्म करता हुआ बुद्धियोगका (ज्ञानकी सिद्धिके हेतु श्रवण, मनन आदिका) आश्रयण करके यानी सर्वदा वेदान्तविचारमें तत्पर होकर सदा मच्चित्त (केवल मुझमें ही यानी सर्वमय परमात्मामें ही जिसका चित्त है, वह मच्चित्त है) यानी ज्ञानकी और उसके फलकी सिद्धिके लिए सर्वदा मेरे शरणागत होओ, यह अर्थ है ॥ ५७ ॥

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥ ५८ ॥

हे अर्जुन, केवल मुझमें ही चित्त लगा कर तुम मेरे प्रसादसे सम्पूर्ण दुस्तर अविद्या आदिको तर जाओगे यानी मुक्ति पा जाओगे । यदि तुम अहङ्कारवश मेरे वचनको न सुनोगे, तो तुम्हारा विनाश हो जायगा ॥ ५८ ॥

वेदान्तार्थविचारपरत्वस्य त्वदेकशरणत्वस्य किं फलमिति चेदुच्यते शृणु—**मच्चित्त इति ।**

मच्चित्तः सर्वदा ध्येयत्वेन सर्वत्र विषयत्वेन वाऽहमेव परमात्मा चित्ते यस्य सः । यद्वा सर्वात्मनि मय्येव चित्तं यस्य स मच्चित्तः सदा मदेकचित्तः सन् त्वं मत्प्रसादान्मदनुग्रहप्राप्तात्मविज्ञानात् सर्वदुर्गाणि सर्वाणि दुर्गाणि दुःखेनाऽतिगन्तुमशक्यानि दुर्गाणि दुस्तराण्यविद्याकामकर्माणि । यद्वा सत्त्वरजस्तमांसि सकार्याणि जन्मजरामृत्युदुःखप्रवाहकारणानि तरिष्यसि । तानि तीर्त्वा विदेहमुक्तिसुखं प्राप्स्यसीत्यर्थः । एतेनेश्वरार्थं कर्म कुर्वाण एव तरति न त्वकुर्वाण इति सूचितं भवति । ननु कर्मणां द्रव्यसाध्यत्वेन हिंसाप्रधानत्वात् साधूनां हिंसाप्रधानकं कर्म कर्तुं न शक्यते । तत्राऽपि स्वजनवधलक्षणं युद्धं तु सुतरां कर्तुं न शक्यत एवेति सांख्यमतमनुसृत्याऽहङ्कारेण स्वधर्मवैमुख्यं न कर्तव्यमिति मुमुक्षोः स्वधर्मप्रवृत्तिमेव दृढी-

---

वेदान्त-प्रतिपादित अर्थके विचारमें परायणतारूप केवल आपकी ही शरण लेनेका क्या फल है ? ऐसा अर्जुनका प्रश्न होनेपर श्रीभगवान् कहते हैं कि सुनो, मैं उत्तर देता हूँ—**'मच्चित्तः'** इत्यादिसे ।

मच्चित्त (सर्वदा ध्येयरूपसे अथवा सर्वत्र विषयरूपसे मैं ही परमात्मा जिसके चित्तमें हूँ, वह मच्चित्त है अथवा सर्वात्मा मुझमें ही जिसका चित्त है, वह मच्चित्त है) यानी सदा केवल मुझमें ही चित्त लगाकर तुम मेरे प्रसादसे—मेरे अनुग्रहसे—प्राप्त आत्मविज्ञानसे सम्पूर्ण दुर्गोंको (दुःखसे भी जिनका अतिक्रमण नहीं हो सकता, वे दुर्ग हैं) यानी दुःखसे भी जिनका सन्तरण नहीं हो सकता, दुस्तर अविद्या, काम और कर्मोंको । अथवा सकार्य सत्त्व, रज और तमको, जो जन्म, जरा और मृत्युरूप दुःखप्रवाहके कारण हैं, तर जाओगे । उनको तर कर विदेहमुक्तिरूप सुखको प्राप्त हो जाओगे, यह अर्थ है । इससे यह सूचित होता है कि ईश्वरके लिए कर्म कर रहा पुरुष ही तरता है, दूसरा नहीं । द्रव्यसाध्य होनेसे कर्म हिंसाप्रधान है, इसलिए हिंसाप्रधान कर्मका साधु पुरुष अनुष्ठान नहीं कर सकता, उसमें भी स्वजनवधरूप युद्ध तो बिलकुल किया ही नहीं जा सकता, यों सांख्यमतके अनुसार अहङ्कारवश स्वधर्मसे विमुख नहीं होना चाहिए, इस

यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥ ५९ ॥

यदि अहङ्कारका आश्रयण कर यह निश्चय करो कि मैं युद्ध नहीं करूँगा, तो वह तुम्हारा निश्चय वृथा ही है, क्योंकि प्रकृति ही तुम्हें वैसा करनेमें (युद्ध करनेमें) बलात् प्रवृत्त करेगी ॥ ५९ ॥

कर्तुमाक्षेपपूर्वकं स्वधर्मनिष्ठामेवाऽर्जुनमङ्गीकारयति सार्धद्वयेन—अथेति । अथशब्दः पक्षान्तरारम्भार्थः । त्वमहङ्काराच्छास्त्रान्तरज्ञानकृताभिनिवेशात् 'चेतसा सर्वकर्माणि' इत्युक्तं मद्वचनं न श्रोष्यसि चेत् । विधिमुल्लङ्घ्य यदि कर्म न करिष्यसीत्यर्थः । ततो विनङ्क्ष्यसि विनाशमेष्यसि । 'अकृत्वा वैदिकं कर्म द्विजः पतनमृच्छति' इति न्यायेन स्वधर्मत्यागात् पातित्यं प्राप्स्यसि । विध्युल्लङ्घनमेको दोषः स्वधर्मत्यागो द्वितीयः परधर्माश्रयस्तृतीयः पुरुषार्थभ्रंशश्चतुर्थः, एवमनर्थपरम्परा स्यादित्यर्थः ॥ ५८ ॥

तथापि नाऽहं योत्स्य इति चेत्, न; तव सङ्कल्पो व्यर्थ एव भविष्यति, स्वभावादपि कर्म कर्तव्यमेव स्यादिति स्वयमपि सांख्यमतावष्टम्भेन कर्मणोऽवश्यकर्तव्यतां प्रतिपादयति—यदिति ।

दोषवत्कर्म न कर्तव्यमेवेत्यहङ्कारमविवेककृतं पाण्डित्याभिमानमाश्रित्य 'ये युध्यन्ते प्रधनेषु' इति वेदोक्तं धर्ममविज्ञायाऽवैदिकमताश्रयेण 'न योत्स्ये' इति यदि

प्रकार मुमुक्षुकी स्वधर्ममें प्रवृत्ति दृढ़ करनेके लिए ढाई श्लोकोंसे आक्षेपपूर्वक स्वधर्मनिष्ठाका ही अर्जुनको अङ्गीकार कराते हैं—अथेति । अथशब्द अन्य पक्षका उपन्यास करनेके लिए है । यदि तुम अहङ्कारसे—दूसरे शास्त्रके ज्ञानसे उत्पन्न अभिनिवेशसे—'चेतसा सर्वकर्माणि' इत्यादि कहे गये मेरे वचनको नहीं सुनोगे यानी विधिका उल्लङ्घन कर यदि तुम कर्म न करोगे, तो नष्ट हो जाओगे यानी विनाशको प्राप्त हो जाओगे । 'द्विज वैदिक कर्मोंका अनुष्ठान न करनेसे पतनको प्राप्त होता है' इस न्यायसे स्वधर्मके त्यागसे पतनको प्राप्त हो जाओगे । विधिका उल्लङ्घन करना एक दोष है, स्वधर्मका त्याग करना दूसरा दोष है, परधर्मका आश्रयण करना तीसरा दोष है और पुरुषार्थका भ्रंश चौथा दोष है, इस प्रकार अनर्थपरम्परा होगी, यह अर्थ है ॥ ५८ ॥

तथापि मैं युद्ध नहीं करूँगा, ऐसा यदि अर्जुन सङ्कल्प करे, तो भी उसका वह सङ्कल्प व्यर्थ ही होगा, क्योंकि स्वभावसे भी कर्मकी कर्तव्यता ही होगी, इस प्रकार स्वयं श्रीभगवान् भी सांख्यमतका अवलम्बन कर कर्मकी अवश्यकर्तव्यताका प्रतिपादन करते हैं—'यद्' इत्यादिसे ।

दोषवान् कर्मको करना ही नहीं चाहिए, इस प्रकार अहङ्कारका—अविवेकजनित पाण्डित्यके अभिमानका—आश्रयण करके 'जो रणमें शूर युद्ध करते हैं' इस वेदोक्त धर्मको न जानकर

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥ ६० ॥

हे, अर्जुन, मोहवश जातितः प्राप्त जिस कर्मको करना नहीं चाहते, उसे स्वाभाविक अपने क्षात्रधर्मसे संसृष्ट तुम अवश हो कर अवश्य करोगे ॥ ६० ॥

मन्यसे, स एष ते तव व्यवसायो निश्चयः शास्त्रविरुद्धो मिथ्याकाशगमनेच्छावन्निरर्थक एव भवति । कथं मे सङ्कल्पो निरर्थक इत्यत आह—**प्रकृतिरिति ।** तेजःशौर्यधैर्यदक्षत्वाभिमानादिगुणोत्पत्तिहेतुः क्षत्रत्वयोनिः रजोगुणमयी प्रकृतिः क्षत्रियस्वभावस्त्वामस्वतन्त्रमस्वाधीनं नियोक्ष्यत्यधिक्षेपासहिष्णुत्वलक्षणं गुणमुत्पाद्य युद्धं कारयिष्यतीत्यर्थः ॥ ५९ ॥

अहं करोमि नाऽहं करोमीति चाऽभिमानी बद्ध एव भवति न तु मुक्तः, अमुक्तस्याऽशेषकर्मत्यागासंभवादतः स्वाभाविकेन कर्मणा निबद्धस्य तव कर्मत्यागः कर्तुं न शक्यते । यदविवेकात्त्यक्तुमिच्छसि तदेव प्रकृतिवशो भूत्वा करिष्यसि । ततः प्रकृतिबद्धस्य प्राप्तं कर्म कर्तव्यमेवेत्याशयेनाऽऽह—**स्वभावेति ।**

जन्मान्तरीयपुण्यापुण्यकर्मसंस्कारो वर्तमानजन्मनि प्रवृत्तिनिवृत्तिसुखदुःखादिसिद्धिहेतुः स्वभाव इत्युच्यते प्रकृतिगुणविशेषः, तस्माज्जायत इति स्वभावजं तेन स्वाभाविकेन स्वेन स्वकीयेन क्षात्रेण 'शौर्यं तेजो धृतिः' इत्युक्तेन कर्मणा निबद्धः

अवैदिक मतका आश्रयण कर 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' ऐसा यदि तुम मानते हो, तो वह तुम्हारा व्यवसाय—निश्चय—शास्त्रसे विरुद्ध मिथ्या—आकाशमें जानेकी इच्छाके समान निरर्थक—ही है । कैसे मेरा सङ्कल्प निरर्थक है ? इसपर कहते हैं—'प्रकृति०' इत्यादिसे । तेज, शौर्य, धैर्य और दक्षत्वका अभिमान आदि गुणोंकी उत्पत्तिकी हेतु क्षत्रियत्वयोनिरूप रजोगुणमयी प्रकृति (क्षत्रियस्वभाव) अस्वतन्त्र—अस्वाधीनभूत—तुम्हें नियुक्त करेगी । अधिक्षेपासहिष्णुत्वरूप (निन्दा न सहन कर सकना रूप) गुणको उत्पन्न करके युद्ध करावेगी, यह अर्थ है ॥ ५९ ॥

मैं करता हूँ और मैं नहीं करता हूँ, इस प्रकार अभिमान करनेवाला बद्ध पुरुष ही होता है, मुक्त नहीं, क्योंकि अमुक्त अशेष कर्मोंका त्याग नहीं कर सकता है, इसलिए स्वाभाविक कर्मसे बँधे हुए तुम अपने कर्मका त्याग नहीं कर सकते । जिसको तुम अविवेकसे त्यागना चाहते हो, उसको प्रकृतिके वश होकर करोगे । इसलिए प्रकृतिसे बद्ध पुरुषको प्राप्त हुए कर्मका अनुष्ठान करना ही चाहिए, इस आशयसे श्रीभगवान् कहते हैं—'स्वभाव०' इत्यादिसे ।

वर्तमान जन्ममें प्रवृत्ति, निवृत्ति, सुख, दुःख आदिकी सिद्धिका हेतु पिछले जन्मके पुण्यपापरूप कर्मका संस्कार स्वभाव कहलाता है यानी प्रकृतिका गुणविशेष, उससे जो उत्पन्न होता है, इसलिए वह स्वभावज है, स्वाभाविक अपने क्षात्र कर्मसे—'शौर्य, तेज, धृति' इत्यादिसे उक्त

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ ६१ ॥

हे अर्जुन, जैसे सूत्रधार दारुमय प्रतिमाको घुमाता है, वैसे ही परमेश्वर सब भूतोंको मायासे घुमाता हुआ सब भूतोंके हृदयदेशमें रहता है ॥ ६१ ॥

संसृष्टस्त्वं मोहाद्युद्धादेः स्वधर्मत्वाज्ञानाद्यत्स्वजातितः प्राप्तं कर्म कर्तुं नेच्छसि ममेदं न कर्तव्यमिति त्यक्तुमिच्छसि तदेव कर्म अवशः स्वप्रकृतेर्वशो भूत्वा करिष्यस्येवाऽस्वतन्त्रत्वात् प्रकृत्या बलात्कारेण चोदितः सन्करोष्येव न तु त्यक्तुं शक्नोषि । ततः कर्तव्यत्वेन प्राप्तं स्वीयं शास्त्रीयं कर्म विदुषाऽवश्यं कर्तव्यमित्यर्थः ॥ ६० ॥

प्रकृत्यधीनस्य स्वातन्त्र्याभावात् स्वाभाविकं कर्म त्यक्तुं न शक्यते, किन्तु कर्तव्यमेवेत्युक्त्वाऽधुनेश्वराधीनस्य कर्म त्यक्तुं न शक्यं तत्प्रेरणया प्राप्तं कर्म कर्तव्यमेवेति कर्मणोऽवश्यं कर्तव्यं बोधयितुमाह—**ईश्वर इति** ।

ईश्वरः ईशनशीलः सर्वलोकनियन्ता परमेश्वरः सूत्रधारी यन्त्रारूढानि दारुमयप्रतिमा यथा तथा सर्वभूतानि ब्रह्मादिस्तम्बान्तानि वासनात्मिकया मायया विक्षेपशक्त्या भ्रामयन् स्वस्वकर्मसु प्रवर्तयन् हृद्देशे हृदये बुद्धिगुहायां तिष्ठति । यद्वा 'एष

कर्मसे—निबद्ध (संसृष्ट) तुम मोहसे—युद्ध आदिमें स्वधर्मत्वके अज्ञानसे—जिस स्वजातिसे प्राप्त कर्मको करना नहीं चाहते यानी 'मेरा यह कर्तव्य नहीं है' यह समझ कर त्यागना चाहते हो, उसी कर्मको अवश—अपनी प्रकृतिके वश—होकर तुम करोगे ही, अस्वतन्त्र होनेके कारण प्रकृतिसे बलपूर्वक प्रेरित होकर करोगे ही, त्याग नहीं सकोगे । इसलिए कर्तव्यरूपसे प्राप्त हुए अपने शास्त्रीय कर्मका विद्वान्‌को अवश्य अनुष्ठान करना चाहिए ॥ ६० ॥

प्रकृतिके अधीन पुरुष स्वतन्त्र न होनेके कारण स्वाभाविक कर्मका त्याग नहीं कर सकता, किन्तु उसे करता ही है, ऐसा कह कर अब ईश्वरके अधीन पुरुष कर्मका त्याग नहीं कर सकता, किन्तु उसकी प्रेरणासे प्राप्त कर्म करता ही है, यों कर्मकी अवश्यकर्तव्यताका बोधन करनेके लिए श्रीभगवान् कहते हैं—**'ईश्वर'** इत्यादिसे ।

ईश्वर—ईशनशील—यानी सब लोकोंके नियन्ता परमेश्वर जैसे सूत्रधारी यन्त्रारूढोंको लकड़ीकी प्रतिमाओंको—घूमाता है, वैसे ही सर्वभूतोंको—ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त सब भूतोंको—वासनात्मिका मायासे—विक्षेपशक्तिसे—घुमाता हुआ—अपने अपने कर्ममें प्रवृत्त कराता हुआ—हृद्देशमें (हृदयमें) यानी बुद्धिरूपी गुहामें स्थित रहता है । अथवा 'यही साधु

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥ ६२ ॥

हे भारत, सर्वत्र परमेश्वरकी बुद्धिसे उसी परमात्माकी शरणमें जाओ, उसके अनुग्रहसे नित्य परब्रह्मको अवश्य प्राप्त होओगे ॥ ६२ ॥

एव साधु कर्म कारयति यम्' इति, 'यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यं सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयति' इति श्रवणाद्यन्त्रारूढानि यन्त्राणि शरीराणि तेष्वात्मत्वाभिमानेनाऽधिष्ठितानि भूतानि प्राणिनो भ्रामयन् तत्तत्कर्मसु प्रवर्तयन् ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे तिष्ठति, अतस्तत्प्रेरणया प्राप्तं कर्म तत्परतन्त्रस्य त्यक्तुं न शक्यते। ततो 'यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि' इति मुमुक्षोः कर्तव्यतया प्राप्तं कर्माऽवश्यं करणीयमित्यर्थः ॥ ६१ ॥

आरुरुक्षोश्चित्तशुद्ध्यै कर्मैव कर्तव्यमिति निर्धारयितुमेवं नयेन भयेन च कर्मणः कर्तव्यत्वमेव संपाद्य अधुना तस्यैव मोक्षैककामस्य तदेकशरणतया स्वकर्मणा तदाराधनं कुर्वतस्तत्प्रसादाज्ज्ञानं मोक्षश्च सिध्यत्यतस्तत्प्रीत्यै कर्म कुर्वन् तमेव शरणं याहीत्याह—**तमेवेति**।

हे भारत, स्वकर्मणा तदाराधनपरो भूत्वा सर्वभावेन 'नारायण एवेदं

कर्म कराता है, जिसको', 'जो सब भूतोंमें स्थित, सब भूतोंके भीतर, जिसको सब भूत नहीं जानते, जिसके सब भूत शरीर हैं, जो सब भूतोंको भीतर रह कर नियममें रखता है' इत्यादि श्रुतिसे यन्त्रारूढ (यन्त्रोंमें यानी शरीरोंमें आत्मत्वके अभिमानसे अधिष्ठित) भूतोंको—प्राणियोंको—घुमाता हुआ यानी उन उन कर्मोंमें प्रवृत्त कराता हुआ—ईश्वर सब भूतोंके हृद्देशमें स्थित रहता है, इसलिए उसकी प्रेरणासे प्राप्त हुए कर्मोंका उससे परतन्त्र पुरुष त्याग नहीं कर सकता, इसलिए 'जैसे नियुक्त होता हूँ, वैसे करता हूँ', इस बुद्धिसे मुमुक्षुको कर्तव्यरूपसे प्राप्त हुए कर्मका अवश्य अनुष्ठान करना चाहिए, यह अर्थ है ॥ ६१ ॥

चित्तकी शुद्धिके लिए आरुरुक्षुको कर्मका ही अनुष्ठान करना चाहिए, ऐसा निर्धारण करनेके लिए यों नय और भयसे कर्मकी कर्तव्यताका ही संपादन करके अब केवल मोक्षकी ही कामना करनेवाले तथा केवल परमेश्वरकी ही शरण होकर अपने कर्मसे उसका आराधन कर रहे मुमुक्षुको ही ईश्वरके प्रसादसे ज्ञान और मोक्ष सिद्ध होता है, इसलिए परमेश्वरकी प्रीतिके लिए कर्म करते हुए उसीकी शरणमें तुम जाओ, ऐसा श्रीभगवान् कहते हैं—'**तमेव**' इत्यादिसे।

हे भारत, अपने कर्मसे उसके आराधनमें परायण होकर तुम सर्वभावसे (नारायण ही

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ६३ ॥

'नत्वेवाहं जातु' यहाँसे लेकर 'स्थानं प्राप्स्यसि' यहाँ तकके ग्रन्थसे गोपनीय मणि आदिसे भी अत्यन्त गोपनीय ज्ञानका तुम्हें मैंने उपदेश दिया, उस सबका भली भाँति विचार कर जैसा तुम चाहो, वैसा करो ॥ ६३ ॥

सर्वम्'इति सर्वत्राऽऽत्मभावः सर्वभावस्तेन सर्वभावेन सर्वत्र परमेश्वरत्वबुद्ध्या सर्वात्मानं तमेव परमेश्वरं शरणं गच्छ 'संसारसागरे मग्नं मामुद्धर जगत्प्रभो' इति संसारदुःखनिवृत्त्यै तमेवाऽऽश्रय, तदेकशरणो भूत्वा तत्प्रसादात्तस्यैवेश्वरस्य प्रसादादनुग्रहात्समुत्पन्नात्मविज्ञानात् परां दृश्यालम्बनरहितत्वात्प्रकृष्टां परमानन्दानुभूतिहेतुत्वाद्वा परां शान्तिं वृत्त्युपरतिं सर्वत्र समदृष्टिं वा प्राप्स्यसि शाश्वतं नित्यं सर्वदा चिदानन्दैकरसरूपेणाऽविक्रियात्मना तिष्ठतीति स्थानं स्वस्वरूपं कूटस्थासङ्गचिदात्मकं परं ब्रह्म प्राप्स्यसि । विदेहमुक्तिसुखं गमिष्यसीत्यर्थः ॥ ६२ ॥

'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' इत्यारभ्य 'सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाऽऽप्नोति निबोध मे' इत्यन्तेन कर्मभिः समाराधितेश्वरप्रसादाच्चित्तशुद्धिस्ततो ज्ञानं ततो मोक्ष इत्युक्तमेवाऽर्थं दृढीकर्तुं पुनः संक्षेपेणोपन्यस्येदानीमुपक्रान्तं शास्त्रमुपसंहरति—इतीति ।

यह सब है, यों सर्वत्र आत्मभाव सर्वभाव है, उससे) यानी सर्वत्र परमेश्वरत्वबुद्धिसे सर्वात्मस्वरूप उस परमेश्वरकी शरणमें जाओ यानी 'हे जगत्प्रभो, संसाररूप समुद्रमें डूब रहे मेरा उद्धार करो' इस भावनासे संसाररूप दुःखकी निवृत्तिके लिए, उसीका आश्रयण करो, केवल उसीकी शरण लेकर उसके प्रसादसे—उसी ईश्वरके प्रसादसे—यानी अनुग्रहसे भली भांति उत्पन्न हुए आत्मविज्ञानसे परा (दृश्यके अवलम्बनसे रहित होनेके कारण प्रकृष्ट अथवा परमानन्दके अनुभवकी हेतु होनेके कारण परा) शान्तिको—वृत्तिकी उपरतिको अथवा सर्वत्र समदृष्टिको—प्राप्त होओगे, शाश्वत यानी नित्य स्थानको (सर्वदा चिदानन्दैकरसरूपसे तथा अविक्रिय स्वरूपसे जो स्थित रहता है, वह स्थान है) यानी स्वस्वरूप कूटस्थ असङ्ग चिदात्मक परब्रह्मको प्राप्त होओगे । विदेहमुक्तिरूप सुखको प्राप्त होओगे, यह अर्थ है ॥ ६२ ॥

'स्वकर्मसे उसका पूजन करके मानव सिद्धिको प्राप्त होता है' यहांसे लेकर 'सिद्धिको प्राप्त हुआ पुरुष जिस प्रकारसे ब्रह्मको प्राप्त होता है, उस प्रकारको मुझसे तुम सुनो' यहां तकके ग्रन्थसे कर्मोंसे समाराधित ईश्वरके प्रसादसे चित्तशुद्धि, उससे ज्ञान और उससे मोक्ष होता है, इस प्रकार उक्त अर्थका ही, दृढ़ीकरणके लिए, पुनः संक्षेपसे उपन्यास कर अब उपक्रान्त शास्त्रका उपसंहार करते हैं—'इति' इत्यादिसे ।

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥ ६४ ॥

हे अर्जुन, सब गोपनीयोंमें परम गोपनीय उत्कृष्ट मेरे वचनको तुम फिर सुनो, तुम मेरे अत्यन्त प्रिय हो, इसलिए मैं हितकारी वचन तुमसे कहूँगा ॥ ६४ ॥

'न त्वेवाऽहं जातु नाऽऽसम्' इत्यारभ्य 'स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्' इत्येतदन्तं ज्ञानं ब्रह्मात्मैकत्वज्ञानोत्पत्तिकारणमेतद्गीताशास्त्रं गुह्याद्गोपनीयात् मणिमन्त्रादेरणिमादिसिद्धिहेतोरपि प्रयत्नेन संवरणीयत्वाद् गुह्यतरं परमरहस्यं ज्ञानशास्त्रं मुमुक्षवे शुद्धात्मने शरणं गताय ते तुभ्यं मया सर्वज्ञेन परमकारुणिकेनाऽवाप्तसर्वकामेनेश्वरेणाऽऽख्यातं ज्ञानतत्सिद्धिसाधनप्रकाशकं मोक्षशास्त्रं समग्रमुपदिष्टम्। ज्ञानस्य तत्साधनसंपत्तेश्च बोधकमेतद्गीताशास्त्रं पदवाक्यप्रमाणनिपुणस्त्वमशेषेण सर्वमवमृश्य, साधनं तत्सिद्धिप्रकारं साध्यं तत्सिद्धिप्रकारं स्वाधिकारं च सम्यगालोच्य सत्त्वशुद्धेरभावे साधने कर्मणि तत्सद्भावे सत्यात्मविज्ञाननिष्ठायां च स्वस्य योग्यत्वं निश्चित्य यथेच्छसि यथा कर्तुमिच्छसि तथा कुरु तथा वर्तस्व। स्वतृप्तिवत् स्वाधिकारस्य स्वज्ञेयत्वात् परबुद्धेरप्रत्यक्षत्वाच्च स्वाधिकारं स्वयमेव निश्चित्य कर्मणि ज्ञाने वा यत्राऽधिकारस्तत्र तिष्ठेत्यर्थः ॥ ६३ ॥

'मैं कभी नहीं था, ऐसा नहीं है' यहांसे लेकर 'शाश्वत स्थानको प्राप्त करोगे' यहां तक ज्ञानका—ब्रह्मात्मैकत्वज्ञानकी उत्पत्तिके कारण इस गीताशास्त्रका—, जो कि गुह्यकी अपेक्षा—अणिमा आदि सिद्धिके हेतुभूत गोपनीय मणि, मन्त्र आदिकी भी अपेक्षा—प्रयत्नपूर्वक संवरणीय (गोपनीय) होनेके कारण गुह्यतर यानी परम रहस्यभूत ज्ञानशास्त्र है, मैंने (सर्वज्ञ परमकारुणिक, अवाप्तसर्वकाम ईश्वरने) तुमसे—मेरे शरणागत शुद्धात्मा मुमुक्षुरूप तुमसे—प्रतिपादन किया यानी ज्ञान और उसकी सिद्धिके साधनोंका प्रकाशन करनेवाले सम्पूर्ण मोक्षशास्त्रका तुम्हें उपदेश दिया। ज्ञान और उसकी साधनसम्पत्तिके बोधक इस सम्पूर्ण गीताशास्त्रका पद (व्याकरण), वाक्य (मीमांसा) और प्रमाण यानी न्यायशास्त्रमें पारङ्गत तुम अशेषरूपसे विचार कर यानी साधन, साधन-सिद्धिके प्रकार, साध्य, साध्यसिद्धिके प्रकार तथा अपने अधिकारका भली भाँति विचार कर यानी सत्त्वशुद्धिका अभाव होनेपर साधनरूप कर्ममें या उसका सद्भाव होनेपर आत्मविज्ञाननिष्ठामें अपनी योग्यताका निश्चय कर जैसा तुम चाहो यानी जैसा तुम करना चाहो वैसा करो। अपनी तृप्तिके समान अपने अधिकारका अपनेसे ही ज्ञान होता है और पराई बुद्धिका प्रत्यक्ष नहीं होता, अतः अपने अधिकारका अपने आप ही निश्चय करके कर्ममें या ज्ञानमें, जिसमें अधिकार हो उसमें, स्थित होओ, यह अर्थ है ॥ ६३ ॥

एवमारुरुक्षोरारूढस्य च कर्तव्यांशं निर्धार्य ज्ञानतत्फलसिद्धेश्चित्तशुद्धिरेवाऽसाधारणकारणं चित्तशुद्धौ सिद्धायां ज्ञानसिद्धिः सुलभतरा तदभावे ज्ञानं ज्ञाननिष्ठा संन्यासश्च न फलति, साधनदार्ढ्येनैव भवितव्यमतश्चित्तशुद्ध्यै कर्मैवाऽऽरुरुक्षोरीश्वरार्पणबुद्ध्या सम्यक्कर्तव्यमिति दृढतरमुपदेष्टुमुपदेष्टव्यं स्तौति मुमुक्षोः श्रद्धयाऽत्रैव प्रवृत्तिसिद्धये — **सर्वेति** ।

सर्वाणि यानि गुह्यानि गोप्यान्यणिमादिसिद्धिसाधनानि मन्त्रौषधादीनि तेभ्यो मोक्षसुखैकसाधनत्वेन गुह्यतरं ज्ञानम्, तत्सिद्धेः कारणत्वादीश्वरैकशरणत्वेन कर्माचरणं गुह्यतममत्यन्तरहस्यम् । तद्बोधकं मम वचनमपि सर्वगुह्यतममेव । किञ्च, परमं परमपुरुषार्थसाधनत्वात् परममुत्कृष्टं मे मम वचो वचनं 'मत्कर्मपरमो भव' इति, मत्कर्मकृन्मत्परमः' इति तत्र तत्रोक्तमपि भूयः पुनरपि दार्ढ्यायोच्यमानं शृणु । श्रद्धया श्रुत्वा मत्परो भवेत्यर्थः । नन्वस्य वचनस्य सर्वगुह्यतमत्वे कथमुपदेश उपयुज्यत इत्यत आह—**इष्ट इति** । यतः पितुः पुत्रवत् त्वं मदंशत्वान्मे ममेष्टः प्रियोऽसि ततस्तस्मादेव हेतोस्ते तव इत्येवंवक्ष्यमाणलक्षणं दृढं फलाव्यभिचारि पूर्वोक्तमपि दृढं यथा तथा हितं हितसाधनं वक्ष्याम्युपदेक्ष्यामि शृण्वित्यर्थः ॥ ६४ ॥

इस प्रकार आरुरुक्षु और आरूढ़के कर्तव्य अंशका निर्धारण करके अब ज्ञान और उसके फलकी सिद्धिका चित्तशुद्धि ही असाधारण कारण है, चित्तशुद्धिके सिद्ध होनेपर ज्ञानकी सिद्धि अत्यन्त सुलभ हो जाती है, चित्तशुद्धिका अभाव होनेपर ज्ञान, ज्ञाननिष्ठा और संन्यास फल नहीं देते, मुमुक्षुको दृढ़ साधनसे युक्त ही होना चाहिए, अतः आरुरुक्षुको चित्तशुद्धिके लिए ईश्वरार्पणबुद्धिसे कर्मका ही भली भाँति अनुष्ठान करना चाहिए, यों दृढ़तर उपदेश देनेके लिए श्रीभगवान् उपदेष्टव्य वस्तुकी स्तुति करते हैं, जिससे कि श्रद्धासे उसीमें मुमुक्षुकी प्रवृत्ति हो—'सर्व०' इत्यादिसे ।

सम्पूर्ण जो गुह्य यानी गोप्य अणिमा आदि सिद्धिके साधन मन्त्र तथा औषध आदि हैं, उनसे केवल मोक्षसुखका ही साधन होनेसे ज्ञान यानी ज्ञानशास्त्र गुह्यतर है, उसकी सिद्धिका कारण होनेसे केवल ईश्वरकी ही शरण लेकर किया गया कर्मका आचरण गुह्यतम यानी अत्यन्त रहस्य है । उसका बोधक मेरा वचन भी सर्वगुह्यतम ही है । किञ्च, परम—परम पुरुषार्थका साधन होनेसे उत्कृष्ट—मेरे वाक्यको (वचनको), जो 'मत्कर्मपरमो भव' और 'मत्कर्मकृत् मत्परमः' इत्यादि तत्-तत् स्थानमें उक्त होनेपर भी दृढ़ताके लिए पुनः मेरे द्वारा कहा जा रहा है, तुम सुनो । श्रद्धासे सुनकर उसमें परायण होओ, यह अर्थ है । यदि यह वचन सबकी अपेक्षा अत्यन्त गोप्य है, तो इसका उपदेश कैसे हो सकता है ? इसपर कहते हैं—**इष्ट इति** । जैसे पिताका अंश होनेके कारण पुत्र पिताको प्रिय होता है, वैसे ही मेरे अंश होनेके कारण तुम भी मेरे इष्ट—प्रिय—हो, इसीलिए तुम्हें इस वक्ष्यमाणलक्षण दृढ़—फलके अव्यभिचारी—हितसाधनको, यद्यपि यह पहले तत्-तत् स्थानमें कहा जा चुका है, तथापि दृढ़ताके लिए, मैं कहूँगा यानी उसका उपदेश करूँगा, सुनो, यह अर्थ है ॥ ६४ ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ ६५ ॥

हे अर्जुन, तुम मुझमें ही चित्त लगाओ, मेरा भजन करो, मेरा यजन करो, मुझे ही नमस्कार करो । चूँकि तुम मेरे प्रिय हो, इसलिए मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि ऐसा करनेपर तुम मुझे ही प्राप्त होओगे ॥ ६५ ॥

'वक्ष्यामि' इति यत्प्रतिज्ञातं तमेव गुह्यतमं भागवतं कर्मयोगं साङ्गमुपदिशति—**मन्मना इति ।**

मद्याजी मद्यजनशीलो भव । मन्मनाः मय्येव मनो यस्य स मन्मना मच्चित्तो भव । मद्भक्तः मामेव भजतीति मद्भक्तो मद्भजनो भव । मां नमस्कुरु नमस्कारमपि मह्यमेव कुरु । यद्वा मद्याजी वेदोक्तैरेव स्वकर्मभिरौपासनाद्यश्वमेधान्तैर्मामेव परमेश्वरं यष्टुम् राधयितुं शीलमस्याऽस्तीति मद्याजी भव । स्वकर्मभिर्मामेव यज । मत्प्रीतये सर्वाणि कर्माणि कुर्वित्यर्थः । पुत्रादिकामनयैव परमेश्वरस्याऽऽराधनं कृतवतः परमपुरुषार्थासंभवात् कामराहित्येन भवितव्यमित्याशयेनाऽऽह—**मन्मना इति ।** मयि मोक्षस्वरूप एव मनो यस्य स मन्मना मोक्षैककामो भव न तु पुत्रकामः पशुकामो राष्ट्रकामः स्वर्गकामो मल्लोककामश्च भवेत्यर्थः । स्वकर्मभिः परमेश्वरमेवाऽऽराधयतः 'क्रतुष्वग्नये स्वाहा' इत्यग्न्यादिषु देवतान्तरत्वबुद्धौ सत्यां परमेश्वरभक्तिर्विच्छिद्यते, ततः

'कहूँगा' यों जिसकी प्रतिज्ञा की थी, उसी गुह्यतम कर्मयोगका श्रीभगवान् अङ्गोंके साथ उपदेश करते हैं—'**मन्मना**' इत्यादिसे ।

मद्याजी यानी मेरा ही यजन करना जिसका स्वभाव है, ऐसे होओ । मन्मना (जिसका मुझमें ही मन लगा रहता है, वह मन्मना है) यानी मेरेमें ही चित्त लगानेवाले होओ । मद्भक्त (मुझको ही जो भजता है, वह मद्भक्त है) यानी मेरा ही भजन करनेवाले होओ । मुझको नमन करो यानी नमस्कार भी मुझको ही करो । अथवा मद्याजी (वेदोक्त औपासनसे लेकर अश्वमेधपर्यन्त अपने कर्मोंसे मेरा ही आराधन करनेका जिसका शील है, वह मद्याजी है) यानी स्वकर्मोंसे मेरा ही यजन करो । मेरी प्रीतिके लिए ही सब कर्मोंका अनुष्ठान करो, यह अर्थ है । केवल पुत्र आदिकी कामनासे परमेश्वरका आराधन कर रहे पुरुषको परम पुरुषार्थ प्राप्त नहीं हो सकता, अतः पुरुषको कामनासे रहित ही होना चाहिए, इस आशयसे कहते हैं—**मन्मना** इति । (मोक्षस्वरूप मुझमें ही जिसका मन है, वह मन्मना है) यानी केवल मोक्षकी ही कामनावाले होओ, पुत्रकी, पशुकी, राज्यकी, स्वर्गकी या मेरे लोककी कामनावाले मत होओ, यह अर्थ है । स्वकर्मोंसे परमेश्वरकी आराधना कर रहे पुरुषकी यज्ञोंमें 'अग्नये स्वाहा' यों अग्नि आदिमें अन्यदेवतात्वकी बुद्धि होनेपर परमेश्वरकी भक्ति विच्छिन्न हो

सर्वत्र मद्बुद्धिः कर्तव्येत्याशयेनाऽऽह—**मद्भक्त** इति । 'ब्रह्मा नारायणः शिवश्च नारायणः' इति, 'तदेवाग्निस्तद्वायुस्तत्सूर्यस्तदु चन्द्रमाः' इति परमेश्वरस्यैव सर्वदेवतात्मकत्वश्रवणात् सर्वदेवतात्मकं मामेकमेव भजतीति मद्भक्तो भव । वह्न्यादिषु सर्वत्र मद्बुद्ध्या सर्वात्मकं मामेकमेव भजेत्यर्थः । फलेषु कामत्यागेनाऽग्न्यादिष्वीश्वरत्वबुद्ध्या च रागद्वेषादिदोषा न संभवन्ति, तथापि अहं ब्राह्मणो याजी पण्डित इत्याद्यभिमानलक्षणं कालुष्यं चित्तप्रसत्तिप्रतिबन्धकं त्वस्ति तन्निवर्तयितुमाह—**मामिति** । 'ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति', 'वासुदेवः सर्वम्' इति न्यायेन देहाभिमाननिवृत्तये सर्वभूतात्मकं मां सर्वत्र नमस्कुरु, न तु केवलदारुपाषाणादिरूपमित्यर्थः । एवं साधनसंपत्त्या स्वकर्मणा मदाराधनतत्परस्त्वं मत्प्रसादाच्चित्तशुद्धिं प्राप्य संप्राप्तात्मतत्त्वविज्ञानः सन् मामेव त्रिविधपरिच्छेदशून्य सच्चिदानन्दैकरसं परं ब्रह्मैष्यसि मद्भावं प्राप्स्यसि । सत्यं ब्रवीमि नाऽत्र सन्देहः कर्तव्यः । ते तवाऽहमस्मिन्नर्थे प्रतिजाने प्रमाणं करोमि । यस्मान्मे मम त्वमुत्तमभक्त्या प्रियोऽसि तस्मात्तव मद्भावापत्तौ संशयो नाऽस्तीति प्रतिज्ञां करोमीत्यर्थः । श्रद्धाभक्तिभ्यां स्वकर्मभिर्मदाराधनमेव कुर्वाणो निरुक्तसाधनसंपन्नो मुमुक्षुः सत्त्वशुद्धिसंभावितात्मविज्ञानेन मद्भावं

जाती है, इसलिए सर्वत्र मेरी बुद्धि करनी चाहिए, इस आशयसे कहते हैं—**मद्भक्त इति** । 'ब्रह्मा नारायण है और शिव नारायण है', 'वही अग्नि है, वह वायु है, वह सूर्य है, वही चन्द्रमा है' इत्यादिसे परमेश्वर ही सम्पूर्ण देवतास्वरूप हैं, ऐसा जाननेमें आता है, अतः सर्वदेवात्मक मुझको ही जो भजता है, वह मद्भक्त यानी मेरे भक्त होओ । अग्नि आदि सबमें मेरी बुद्धिसे सर्वात्मक मुझको ही भजो, यह अर्थ है । यद्यपि फलोंमें कामनाके त्यागसे और अग्नि आदिमें ईश्वरत्वकी बुद्धिसे राग, द्वेष, आदि दोष नहीं होते, तथापि 'मैं ब्राह्मण हूँ, याजक हूँ, पण्डित हूँ' इत्यादि अभिमानरूप चित्तकी निर्मलताका प्रतिबन्धक कालुष्य तो रहता ही है, उसकी निवृत्ति करनेके लिए कहते हैं—**मामिति** । 'भगवान् ईश्वर ही जीवरूपसे प्रविष्ट हुआ है', 'सब वासुदेवरूप हैं' इस न्यायसे देहाभिमानकी निवृत्तिके लिए सर्वभूतात्मक मुझको ही सर्वत्र प्रणाम करो, केवल दारु, पाषाण आदिरूप मुझको नहीं, यह अर्थ है । इस प्रकार साधनसंपत्ति द्वारा स्वकर्मसे मेरे आराधनमें तत्पर तुम मेरे प्रसादसे चित्तशुद्धिको प्राप्तकर आत्मतत्त्वविज्ञानको प्राप्त हो मुझको ही—त्रिविध परिच्छेदसे रहित सच्चिदानन्दैकरस परब्रह्मको ही—प्राप्त होओगे—मेरे भावको प्राप्त होओगे । सत्य कहता हूँ, इसमें सन्देह नहीं करना चाहिए । मैं इस अर्थमें तुमसे प्रतिज्ञा करता हूँ । यतः उत्तम भक्तिके कारण तुम मुझे प्रिय हो, इसलिए तुम्हारी मद्भावापत्तिकी प्राप्तिमें संशय नहीं है, ऐसी मैं प्रतिज्ञा करता हूँ, यह अर्थ है । श्रद्धाभक्तिपूर्वक स्वकर्मोंसे केवल मेरा ही आराधन कर रहा, उक्त साधनोंसे संपन्न मुमुक्षु सत्त्वशुद्धिसे उत्पन्न हुए आत्मविज्ञानसे मेरे भावको प्राप्त होता है, इसमें संशय नहीं है, ऐसी भगवान्के

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ ६६ ॥

हे अर्जुन, तुम सम्पूर्ण धर्मोंका परित्याग कर केवल मेरी ही शरणमें जाओ, सम्पूर्ण पापोंसे मैं तुम्हें मुक्त करूँगा, तुम शोक मत करो ॥ ६६ ॥

याति नाऽस्त्यत्र संशय इति भगवति प्रतिज्ञां कृतवति सति कस्य ब्राह्मणस्य प्रामाणिकस्य योनिबीजशुद्धिमतो विश्वासो न स्यादत आरुरुक्षोर्मोक्षैककामस्याऽकामनयेश्वरप्रीत्यै कर्मैवाऽवश्यं कर्तव्यमिति सिद्धम् ॥ ६५ ॥

एवमारुरुक्षोर्मोक्षार्थमीश्वरैकशरणत्वेन कर्तव्यः कर्मयोग एवेति निर्धार्य त्वारूढस्याऽऽविर्भूतात्मविज्ञानस्याऽप्रतिबद्धत्वसिद्धये सर्वकर्मसंन्यासपूर्वकं ज्ञाननिष्ठैव कर्तव्येति निर्धारयितुमाह—**सर्वधर्मानिति** ।

नन्वस्य वचनस्य कर्मप्रकरणान्तःपातित्वात्कर्मिपरत्वमेव न त्वकर्मिपरत्वमिति चेत्, न; 'सर्वधर्मान्'इति सर्वकर्मसंन्यासश्रवणात् । नह्यारुरुक्षोर्मुमुक्षोर्गृहिणः सर्वकर्मसंन्यास उपयुज्यते, 'ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नाऽनुतिष्ठन्ति मे मतम् । सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः' इति, 'सर्वकर्मबहिष्कृतः' इति, 'तद्विहीनः पतत्येव ह्यालम्बरहितान्धवत्' इति स्मरणात् सर्वकर्मपरित्यागे दुर्ब्राह्मणत्वपतितत्वादिदोषापत्तेः । ननु 'मामेकं

प्रतिज्ञा करनेपर किस प्रामाणिक ब्राह्मणको, जो योनि एवं बीजकी शुद्धिसे सम्पन्न हो, विश्वास न होगा, इसलिए केवल मोक्षकी ही कामनावाले आरुरुक्षुको कामनारहित होकर ईश्वरकी प्रीतिके लिए कर्म अवश्य करना चाहिए, यह सिद्ध हुआ ॥ ६५ ॥

इस प्रकार आरुरुक्षुको मोक्षके लिए केवलमात्र ईश्वरकी शरण लेकर कर्मयोगका ही अनुष्ठान करना चाहिए, ऐसा निर्धारण करके आरूढ़को तो आविर्भूत आत्मविज्ञानके अप्रतिबद्धत्वकी सिद्धिके लिए सर्वकर्मसंन्यासपूर्वक ज्ञाननिष्ठा ही करनी चाहिए, ऐसा निर्धारण करनेके लिए कहते हैं—**'सर्वधर्मान्'** इत्यादिसे ।

यदि शङ्का हो कि कर्मप्रकरणके अन्तर्गत होनेसे यह वचन कर्मी पुरुषके लिए ही है, अकर्मी पुरुषके लिए नहीं है, तो यह कहना युक्त नहीं है, क्योंकि 'सर्वधर्मान्' (सम्पूर्ण धर्मोंको) इससे सम्पूर्ण कर्मोंके संन्यासका श्रवण है । आरुरुक्षु मुमुक्षु गृहस्थके लिए सम्पूर्ण कर्मोंका संन्यास करना योग्य नहीं है, क्योंकि 'जो इसमें दोषदृष्टि करते हुए मेरे मतका अनुष्ठान नहीं करते, उनको सर्वज्ञानसे विमूढ़, नष्ट और अचेतस् जानो', 'सम्पूर्ण कर्मोंसे बहिष्कृत' तथा 'उनसे रहित पुरुष अवलम्बनरहित अन्धेके समान गिर जाता है' इत्यादि स्मृतिवचनोंसे सम्पूर्ण कर्मोंके परित्यागमें दुर्ब्राह्मणत्व, पतितत्व आदि दोष प्राप्त होते हैं । यदि शङ्का हो कि 'केवल मेरी शरणमें ही जाओ ।

शरणं व्रज' इतीश्वरभजनात्मकस्य कर्मणो विहितस्याऽत्यक्तत्वादुक्तदोषा न संभवन्तीति चेत्, न; स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य' इति स्मरणान्नामकीर्त्यादिलक्षणस्य कर्मणः श्रुतिस्मृत्यविहितत्वात् स्वधर्मत्वानुपपत्तेर्विहितत्यागाविहितकरणदोषौ च प्रसज्येयाताम् । 'श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः' इति विगुणस्याऽपि स्वधर्मस्य श्रेष्ठत्वस्मरणात् 'नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः' इति, 'कर्मण्येवाऽधिकारस्ते' इति, 'न कर्मणामनारम्भात्' इति, 'नहि संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति' इति, 'तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचार' इति, 'मत्कर्मकृन्मत्परमः' इति, 'यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्' इति, 'उपनयनं वेदाध्ययनं फलवन्ति च कर्माणि' इति, 'दारान् कृत्वाऽग्नीनाधाय कर्माण्यारभन्ते' इति, पाणिग्रहणादि गृह्यं परिचरेत्' इति, 'उदिते सूर्ये प्रातर्जुहोति', 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति' इत्यादिश्रुतिस्मृतिकोटिभिर्ब्राह्मणादेर्वैदिकस्यैव कर्मणः स्वधर्मत्वेन कर्तव्यत्वविधानात । ननु 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' इत्यत्र लक्षणया सर्वकर्मफलत्याग एवोच्यते न तु कर्मपरित्यागस्ततः कर्मप्रकरणाङ्गत्वमेवाऽस्य वचनस्येति चेत्, न; 'सम्बन्धानुपपत्तिभ्यां लक्षणा' इति न्यायेनाऽत्राऽर्थानुपपत्त्यभावाल्लक्षणाप्रसक्तेः । मुख्यस्य गत्यन्तराभावे खलु लक्षणा, गत्यन्तरा-

---

इससे जो ईश्वरभजनात्मक कर्म विहित है, उसका त्याग न करनेके कारण उक्त दोष नहीं हो सकते, तो वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'स्वकर्मसे उसका पूजन करके' इस स्मृतिसे नामकीर्तन आदि रूप कर्म श्रुति और स्मृतिसे विहित नहीं है, इसलिए वह स्वधर्म नहीं हो सकता, ऐसी परिस्थितिमें विहितका त्याग करनेसे और अविहितका अनुष्ठान करनेसे दोषका प्रसङ्ग हो जायगा। 'विगुण भी स्वधर्म श्रेष्ठ है' इस वचनसे विगुण भी स्वधर्म श्रेष्ठ कहा गया है। 'तुम नियत कर्म करो, न करनेसे करना श्रेष्ठ है', 'कर्ममें ही तुम्हारा अधिकार है', 'कर्मोंका आरम्भ किये बिना', 'केवल संन्याससे ही सिद्धिको प्राप्त नहीं होता', 'इसलिए असक्त होकर सदा कर्तव्य कर्म करो', 'मत्कर्मकृत् मत्परम', 'यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंका त्याग नहीं करना चाहिए, किन्तु उनका अनुष्ठान करना ही चाहिए', 'उपनयन, वेदाध्ययन और फलवाले कर्म', 'विवाह कर अग्निका आधान कर कर्मोंका आरम्भ किया जाता है', 'पाणिग्रहण आदि गृह्य कर्म करे', 'सूर्यका उदय होनेपर प्रातः हवन करे', 'जीवनपर्यन्त अग्निहोत्र करे' इत्यादि करोड़ों श्रुतियों और स्मृतियोंसे ब्राह्मण आदिको वैदिक कर्मोंका ही अपने धर्मरूपसे अनुष्ठान करना चाहिए, ऐसा विधान है। यदि कहो कि 'सम्पूर्ण धर्मोंको छोड़कर' इसमें लक्षणासे सब कर्मोंके फलका त्याग ही कहा जाता है, कर्मका परित्याग नहीं, इसलिए यह वचन कर्मप्रकरणका ही अङ्ग है, तो यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'वाच्य अर्थसे सम्बन्ध और वाच्य अर्थकी अनुपपत्तिसे लक्षणा होती है' इस न्यायसे यहाँ अर्थकी अनुपपत्ति नहीं है, इसलिए लक्षणा नहीं हो सकती। मुख्य अर्थकी अन्य गति न होनेपर ही लक्षणा

भावाभावाल्लक्षणा नाऽत्र प्रसज्यते। कथं गत्यन्तरमिति चेत्, उच्यते, 'लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ। ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥' इति योगिनामारुरुक्षूणां कर्मिणां कर्मयोगेन निष्ठा सांख्यानामारूढानां संन्यासिनां ब्रह्मविदां ज्ञानयोगेन निष्ठेति निष्ठाद्वयमुपक्रम्य 'नियतं कुरु कर्म त्वम्' इति कर्मयोगमारभ्य 'प्रतिजाने प्रियोऽसि मे' इत्यन्तेन ग्रन्थेनाऽऽरुरुक्षोर्नियमेन कर्तव्यतया कर्मयोगं साङ्गं सफलं च निर्धार्य, अथ सांख्यानां ब्रह्मविदां सर्वकर्मसंन्यासिनामारूढानाम् 'यस्त्वात्मरतिरेव स्यात्' इत्यारभ्य 'सर्वकर्माणि मनसा' इति, 'योगारूढस्य तस्यैव' इति, 'योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः' इति, 'ध्यानयोगपरो नित्यम्' इति, 'ब्रह्मभूयाय कल्पते' इति, 'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्' इत्यन्तेन ग्रन्थेन सर्वकर्मसंन्यासपूर्वकं नियमेन कर्तव्यतया ज्ञाननिष्ठां सफलां निर्धार्याऽन्ते तामेव निष्ठामुक्तलक्षणां साङ्गां सफलामुपसंहरति सर्वधर्मेति यतस्ततो नाऽस्य वचनस्य कर्मप्रकरणान्तःपातित्वं कर्मिपरत्वं च सिध्यति। नन्वारूढस्याऽपि यतेः सर्वकर्मन्यासो न युक्तः, किन्तु यत्किञ्चित् स्मार्तेन कर्मणा भवितव्यमेवेति न शङ्कनीयम्, तृतीयाध्याये श्रीभाष्यकृद्भिरेवैषा शङ्का परिहृता तत्र द्रष्टव्या ग्रन्थविस्तरभयान्नाऽत्र मीमांस्यते। जन्मान्तरानेकशतेषु श्रद्धाभक्तिभ्यां समनुष्ठितैरीश्वरप्रसादैक-

---

होती है, प्रकृतमें दूसरी गतिका अभाव नहीं है, अतः लक्षणा नहीं हो सकती। दूसरी गति कैसे है? ऐसा यदि कहो, तो कहते हैं—'हे अनघ, इस लोकमें दो प्रकारकी निष्ठाएँ हैं, ऐसा मैंने पूर्वमें कहा है, ज्ञानयोगसे सांख्योंकी और कर्मयोगसे योगियोंकी' इत्यर्थक वचनसे योगियोंकी यानी आरुरुक्षु कर्मियोंकी कर्मयोगसे निष्ठा और सांख्य यानी आरूढ़ संन्यासी ब्रह्मज्ञानियोंकी ज्ञानयोगसे निष्ठा, यों दो निष्ठाओंका उपक्रम करके 'तुम नियत कर्म करो' इससे कर्मयोगका आरम्भ करके 'प्रतिज्ञा करता हूँ, तुम मेरे प्रिय हो' यहाँ तकके ग्रन्थसे आरुरुक्षुके नियमसे कर्तव्यरूप कर्मयोगका अङ्ग-सहित और फलसहित निर्धारण करके तदनन्तर सांख्य ब्रह्मवित् सर्वकर्मसंन्यासी आरूढ़ोंकी 'जो आत्मामें रतिमान् हो' यहाँसे लेकर 'सब कर्मोंको मनसे', 'उसी योगारूढ़का', 'योगी सदा एकान्तमें स्थित होकर आत्माका योग करे', 'नित्य ध्यानयोगमें परायण', 'ब्रह्मताको प्राप्त होता है', 'तदनन्तर मुझे तत्त्वतः जानकर मुझमें प्रवेश करता है' यहाँ तकके ग्रन्थसे सर्वकर्मसंन्यासपूर्वक नियमसे कर्तव्यरूपसे फलसहित ज्ञाननिष्ठाका निर्धारण करके अन्तमें उसी उक्त लक्षणवाली निष्ठाका अङ्गसहित और फलसहित यतः 'सर्वधर्म' इत्यादिसे उपसंहार करते हैं, इसलिए यह वचन कर्मप्रकरणका अङ्ग यानी और कर्मपरक नहीं हो सकता। यदि शङ्का हो आरूढ़ यतिको भी सम्पूर्ण कर्मोंका त्याग करना युक्त नहीं है, किन्तु थोड़ासा स्मार्तरूप कर्म करना ही चाहिए, तो यह भी कहना युक्त नहीं है, क्योंकि तीसरे अध्यायमें श्रीभाष्यकारने इस शङ्काका परिहार किया है, अतः वहींपर देख लेना चाहिए, ग्रन्थके

प्रयोजनैः श्रौतस्मार्तकर्मभिर्निःशेषनिर्धूताशेषपापौघतया विशुद्धान्तःकरणस्त्वं सम्यग्विज्ञातात्मरूपो भूत्वोत्पन्नज्ञानस्याऽप्रतिबद्धत्वसिद्धये ज्ञाननिष्ठां कर्तुकामः सन्नादौ प्रयोजनरहितानसद्विषयान्निष्ठाप्रतिबन्धकत्वेन दुष्टांश्च सर्वधर्मान् सर्वे च ते धर्माश्च तान् श्रौतानि स्मार्तानि च सर्वाण्यपि कर्माणि ससाधनानि परित्यज्य। ननु कर्मणां शास्त्रोक्तानामसद्विषयत्वमप्रयोजनवत्त्वं चाऽनुपपन्नम्, 'ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन' इति यज्ञदानादीनां फलवत्ताश्रवणात् 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य' इति कर्मणामीश्वराराधनात्मकत्वादस्त्येव सद्विषयत्वं फलवत्त्वं चेति चेत्, सत्यम्; अस्त्येव कर्मणामीश्वराराधनात्मकत्वं चित्तशुद्ध्येकप्रयोजनत्वं च, तथापि तदज्ञविषयम्, कर्तृत्वादिकारकभेदबुद्धिनिबन्धनत्वात्। नाऽऽत्मैकत्वदर्शिनो विदुषः कर्मोपयुज्यते, ज्ञानकर्मणोः परस्परविरोधिनोः सहभावायोगात् चित्तशुद्धिं तत्फलं ज्ञानं च प्राप्तवतस्तैः प्रयोजनमपश्यतो ब्रह्मविदस्तत्परित्यागो युक्त एव भवति, 'सत्यानृते सुखदुःखे वेदानिमं लोकममुं च परित्यज्यात्मानमन्विच्छेत्' इति 'स्वाध्यायं च सर्वकर्माणि संन्यस्य' इति विदुषः सर्वकर्मपरित्यागश्रवणात्।

विस्तारके भयसे यहाँ उसका विचार नहीं किया जाता। पिछले सैकड़ों जन्मोंमें श्रद्धा और भक्तिसे भली भाँति अनुष्ठित श्रौत और स्मार्त रूप कर्मोंसे, जिनका केवल ईश्वरप्रसाद ही प्रयोजन है, पापसमूहके निःशेष निवृत्त हो जानेके कारण विशुद्ध अन्तःकरणसे युक्त हुए तुम आत्मस्वरूपको भली भाँति जानकर उत्पन्न हुए ज्ञानके अप्रतिबद्धत्वकी सिद्धिके लिए ज्ञाननिष्ठाका सम्पादन करनेकी कामनावाले होकर पहले प्रयोजनरहित, असत् विषयवाले तथा निष्ठाके प्रतिबन्धक होनेके कारण दुष्ट सम्पूर्ण धर्मोंका—श्रौत और स्मार्तरूप सब कर्मोंका—साधनसहित त्याग करो। यदि शङ्का हो कि शास्त्रोक्त कर्म असत्-विषयवाले और निष्प्रयोजन नहीं हो सकते, क्योंकि 'ब्राह्मण यज्ञसे और दानसे जाननेकी इच्छा करते हैं' इससे यज्ञ, दान आदिकी फलवत्ता सुननेमें आती है और 'अपने कर्मसे उसका अर्चन करके' इससे कर्म ईश्वराराधनरूप हैं, अतः उनमें सद्विषयत्व और फलवत्त्व है ही, तो यह कहना यद्यपि ठीक है कि कर्मोंमें ईश्वराराधनात्मकत्व और चित्तशुद्ध्येकप्रयोजनत्व है तथापि वे अज्ञानीके विषय हैं, क्योंकि वे कर्तृत्व आदि कारकभेदबुद्धिसे ही प्रवृत्त होते हैं। आत्माके एकत्वको देखनेवाले विद्वान्के लिए कर्म उपयोगी नहीं हो सकते, क्योंकि परस्पर विरोधी ज्ञान और कर्मका साहित्य नहीं हो सकता, इसलिए चित्तशुद्धि और उसके फल ज्ञानको प्राप्त कर चुकनेवाले तथा उनसे किसी फलको न देख रहे ब्रह्मवित्के लिए उनका परित्याग करना ही युक्त है, क्योंकि 'सत्य और असत्यका, सुख और दुःखका, वेदोंका तथा इस लोक और परलोकका त्यागकर आत्माकी अन्वेषणा करे', 'तथा स्वाध्याय और सम्पूर्ण कर्मोंका त्याग कर' इस श्रुतिसे विद्वान्के लिए सम्पूर्ण कर्मोंका परित्याग सुना जाता है। यदि शङ्का हो कि कर्मसे ईश्वर

ननु कर्मणेश्वरः प्रीयते तत्प्रीत्यै कर्म कर्तव्यमेवेति चेत्, न; ब्रह्मनिष्ठया परमेश्वरस्य ततोऽधिकतरप्रीत्युत्पत्तेः, 'जीवेशावाभासेन करोति' इति श्रवणान्ममाऽऽभासिकं मायिकमसत्यस्वरूपं परित्यज्य मायातत्कार्यसम्बन्धरहितं नित्यं निरन्तरं निराभासं निष्कलं निष्क्रियं शान्तमनन्तमनाद्यन्तं सच्चिदानन्दैकरसं प्रमाणान्तराबाध्यं परिपूर्णमद्वैतं परं ब्रह्म मामेकमेवाऽयमुपास्त इति यथार्थदर्शिनि सत्यवादिनि सत्यनिष्ठे ब्रह्मविदि परमेश्वरस्याऽधिकतरप्रीतिसम्भवात्, मम वैभवमयं निर्वहतीति यथा राज्ञः शूरतमे तद्वत् 'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः' इत्युक्तत्वात् ब्रह्मविदि परमा प्रीतिः परमेश्वरस्य युक्ता, पितुः पुत्रादौ गुणाधिक्ये प्रीत्याधिक्यं यथा दृश्यते तद्वत्। ततः सिद्धं परमेश्वरस्य निर्गुणं नित्यममायिकं स्वरूपं प्राप्तुमिच्छया श्रवणमनननिदिध्यासनादावेव श्रद्धया नियमेन प्रवृत्तेषु सत्यनिष्ठेषु सत्सु मुमुक्षुषु परमा प्रीतिरिति। ननु 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' इति धर्मस्यैव परित्यागो विधीयते न त्वधर्मस्याऽतस्तत्र प्रवृत्तिः प्रसज्जत एवेति चेत्, न; 'न कलञ्जं भक्षयेत्' इति पूर्वमेव परित्यक्तस्य कलञ्जभक्षणादेरधर्मस्योत्तरकाले प्रसक्त्यसम्भवाद्, ब्रह्मचर्य एव परित्यक्तस्य पर्युषितान्नभोजनस्य गार्ह-

---

प्रसन्न होते हैं, अतः उनकी प्रीतिके लिए कर्मोंका अनुष्ठान करना ही चाहिए, तो यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि कर्मोंकी अपेक्षा ब्रह्मनिष्ठासे परमेश्वरकी प्रीति अधिक होती है, भाव यह है कि यह ब्रह्मवित् 'जीव और ईश्वरको माया आभाससे करती है' इस श्रुतिसे दर्शित मेरे आभासिक, मायिक, असत्य स्वरूपका त्याग कर माया और मायाकार्यके सम्बन्धसे रहित, नित्य, निरन्तर, निराभास, निष्कल, निष्क्रिय, शान्त, अनन्त, अनाद्यन्त, सच्चिदानन्दैकरस, प्रमाणान्तरसे अबाध्य, परिपूर्ण, अद्वैत, केवल मद्रूप परब्रह्मकी ही उपासना करता है, इसलिए यथार्थदर्शी, सत्यवादी, सत्यनिष्ठ ब्रह्मवित्में परमेश्वरकी अधिकतर प्रीतिका सम्भव है, जैसे यह मेरे वैभवको सँभालता है, यों अत्यन्त शूर वीर योधामें राजाकी प्रीति होती है, वैसे ही 'ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह मुझे प्रिय है' इस उक्त वचनके अनुसार ब्रह्मवित्में परमेश्वरकी परम प्रीतिका होना युक्त है, जैसे पिताकी पुत्र आदिमें गुणकी अधिकता होनेपर प्रीति अधिक देखनेमें आती है, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए। इससे सिद्ध हुआ कि परमेश्वरके निर्गुण, नित्य, अमायिक स्वरूपको प्राप्त करनेकी इच्छासे श्रद्धा और नियमपूर्वक केवल श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदिमें प्रवृत्त सत्यनिष्ठ सत् मुमुक्षुओंमें ईश्वरकी परम प्रीति होती है। यदि शङ्का हो कि 'सम्पूर्ण धर्मोंको त्याग कर' इस वचनसे केवल धर्मका ही परित्याग विहित है, अधर्मका परित्याग विहित नहीं है, इसलिए अधर्ममें तो प्रवृत्ति होगी ही, तो यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि यद्यपि 'कलञ्जका भक्षण नहीं करना चाहिए' इत्यादिसे पहले ही (पूर्वाश्रममें) परित्यक्त कलञ्जभक्षण आदि अधर्मकी उत्तरकालमें (अन्त्याश्रममें) प्राप्ति नहीं हो सकती। जैसे कि ब्रह्मचर्यमें ही परित्यक्त बासी अन्नके भोजनमें गृहस्थाश्रममें प्रवृत्ति नहीं होती, इसलिए अधर्ममें

स्थ्ये यथा प्रवृत्तिर्न प्रसज्जते तद्वत्, तथापि 'त्यज धर्ममधर्मं च' इति, 'न तेषां धर्माधर्मौ' इति वचनात् सर्वधर्मपदेनाऽधर्मोऽपि गृह्यते। ततो धर्ममधर्मं च परित्यज। यद्यपि अर्जुनस्य संन्यासोऽनुपयुक्तस्तथापि मुमुक्षुं ब्राह्मणं विषयीकृत्योच्यते 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' इति ज्ञानकर्मणोस्तमस्तेजसोरिव परस्परप्रतियोगित्वेनैकाश्रयत्वानुपपत्तिं निर्धार्य भगवता। ततः सर्वधर्मान् परित्यज्य विधिना संन्यस्य मामेकम् 'अयमात्मा ब्रह्म', 'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुतिभिर्ब्रह्मात्मनोरेकत्वप्रतिपादनात् 'अस्थूलमनण्वह्रस्वम्' इति, 'सर्वं ह्येतद् ब्रह्म' इत्यादिश्रुतिभिरारोपितस्य जगतोऽपवादपूर्वकं सर्वस्य ब्रह्ममात्रत्वनिरूपणात् 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म', 'एक एव हि भूतात्मा', 'एक एव रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः' इत्यादिश्रुतिभिर्ब्रह्मण एकत्वावधारणादेकं सजातीयविजातीयस्वगतभेदरहितं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावमपूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमखण्डं चिदेकरसमद्वितीयं मां परं ब्रह्म शरणं व्रज, सर्वमिदमहं च ब्रह्मैवेति प्रत्यग्दृष्ट्याऽनुसन्धेहि। साधकस्यैवाऽभ्यासदशायाम् 'बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च। शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा' इत्यादिदेशकालदृष्टिस्थापनादिनियमः, न तु 'सर्वमिदमहं च ब्रह्मैव' इति प्रत्यग्दृष्ट्या स्वं च सर्वं चाऽऽरोपितनामरूपाद्यग्रहणपूर्वकं ब्रह्मैव पश्यतो ब्रह्मवित्तमस्याऽतो गच्छन्

प्रवृत्तिको रोकनेके लिए 'सर्वधर्मान्' में अधर्मपदकी आवश्यकता नहीं रह जाती, तथापि 'धर्म और अधर्मका परित्याग करो', 'उनके धर्म और अधर्म नहीं हैं' इस वचनके अनुसार 'सर्वधर्म' पदसे अधर्मका भी ग्रहण किया जाता है। इसलिए धर्म और अधर्मका तुम त्याग करो। यद्यपि संन्यास ग्रहण करना अर्जुनके लिए उपयोगी नहीं है, तथापि श्रीभगवान् तम और तेजके समान परस्परविरोधी ज्ञान और कर्मका एक आश्रय नहीं हो सकता है, ऐसा निर्धारण करके मुमुक्षु ब्राह्मणको उद्देश्य कर 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' ऐसा कहते हैं। इसलिए सब धर्मोंका त्यागकर—विधिसे संन्यास कर—केवल मेरी—'यह आत्मा ब्रह्म है', 'वही तुम हो' इत्यादि श्रुतियोंसे ब्रह्म और आत्माके एकत्वका प्रतिपादन है; 'स्थूल नहीं, अणु नहीं, ह्रस्व नहीं' तथा 'सभी यह ब्रह्म हैं' इत्यादि श्रुतियोंसे आरोपित जगत्‌का अपवाद कर सबमें ब्रह्ममात्रत्वका निरूपण किया गया है तथा 'एक ही अद्वितीय ब्रह्म है', 'एक ही भूतात्मा', 'एक ही रुद्र है, अतः दूसरे भावके लिए स्थित नहीं हुए' इत्यादि श्रुतियोंसे ब्रह्मके एकत्वका अवधारण है, अतः सजातीय, विजातीय और स्वगत भेदसे शून्य नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव अपूर्व अनपर, अनन्तर, अबाह्य, अखण्डचिदेकरस, अद्वितीय मुझ परब्रह्मकी—शरणमें जाओ यानी सब यह और मैं ब्रह्म ही हूँ, यों प्रत्यग्-दृष्टिसे अनुसन्धान करो। केवल साधकके लिए ही अभ्यासदशामें 'विशुद्ध बुद्धिसे युक्त, धैर्यसे मनको रोककर और शब्द आदि विषयोंका त्याग कर' इत्यादि देश, काल, दृष्टिस्थापन आदिका नियम है, सब यह और मैं ब्रह्म ही हूँ, यों प्रत्यग्-दृष्टिसे अपनेको और सबको, आरोपित नाम, रूप आदिका ग्रहण किये

तिष्ठन्नुपविशन् शयानो वाऽन्यथा वा स्थितः सन् सर्वदा सर्वत्र मामेकमेव परं ब्रह्माऽनुसन्धेहि । एवं दृष्टं स्पृष्टं श्रुतं मतं विज्ञातं च सर्वं सर्वदा ब्रह्मैव पश्यन्तं त्वामहं परमात्मा स्वात्मत्वेन सम्यग्विज्ञातश्चक्षुषो रूपवद् वृत्तेर्बहिरन्तश्च सर्वत्रोपलभ्यमानः सन् सर्वपापेभ्यः अत्र पापशब्देन पुण्यपापात्मकानि कर्माणि गृह्यन्ते । तेभ्यः पापेभ्यः पापकार्येभ्यो जन्मजरामृत्युबन्धेभ्यो मोक्षयिष्यामि । जन्मादिबन्धनिर्मुक्तं करिष्यामीत्यर्थः । यद्वा, पापपदेन पापानि कर्माणि तत्कारणभूता अविद्याकामाश्च गृह्यन्ते । सर्वेभ्यः पापेभ्योऽविद्याकामकर्मभ्यः संततजराजन्ममृत्युदुःखप्रवाहहेतुभ्यः सम्यङ् मोचयिष्यामि । नित्यः कूटस्थोऽसङ्गश्चिद्रूपः परिपूर्ण एवाऽहमिति नित्यकूटस्थासङ्गचिन्मात्रस्वरूपस्य स्वात्मनो याथात्म्यप्रकाशनेनाऽऽरोपितदेहेन्द्रियादिसर्वदृश्यतद्धर्मतत्कर्मतदवस्थासंबन्धरहितमेवाऽऽत्मानमाकाशवदसङ्गमविक्रियं परिपूर्णमेकरसमेव सदा सर्वत्र ग्राहयित्वा सर्वत्र स्वमात्रग्रहणेनाऽविद्यां वासनात्मिकां कामांश्च कर्माण्यपि सर्वाणि निर्मूल्य विपरीतभावं निःशेषं विध्वस्य पूर्णश्चिदानन्द एक एवाऽहमस्मीति वृत्तिमप्रतिबद्धां कारयित्वा सर्वदा मुक्तोऽहमिति मुक्तमेवाऽऽत्मानं भावयिष्यामि । एवमात्मानमविद्यातत्कार्यबन्धनिर्मुक्तं निर्विशेषब्रह्मात्मना स्थितं साक्षादपरोक्षीकृत्य जीव-

---

बिना, केवल ब्रह्मरूप ही देखनेवाले ब्रह्मवित्तमके लिए उक्त नियम नहीं है, इसलिए चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते अथवा अन्यथास्थित होते हुए तुम सर्वदा सर्वत्र केवल मुझ परब्रह्मका ही अनुसन्धान करो । इस प्रकार देखे गये, छुए गये, सुने गये, माने गये और जाने गये सभी पदार्थोंको सर्वदा केवल ब्रह्मस्वरूप ही देखनेवाले तुमको स्वात्मरूपसे भली भाँति जाना गया, चक्षुकी वृत्तिका रूप जैसे विषय होता है वैसे ही, बाहर भीतर सर्वत्र उपलभ्यमान होकर मैं परमात्मा सब पापोंसे (यहां पापशब्दसे पुण्यपापात्मक कर्मोंका ग्रहण किया जाता है) यानी पापके कार्य जन्म, मृत्यु और जरारूप बन्धनोंसे मुक्त कर दूँगा । जन्म आदि बन्धनोंसे निर्मुक्त कर दूँगा, यह अर्थ है । अथवा पापपदसे पाप कर्म और उनके कारणभूत अविद्या और कामोंका ग्रहण किया जाता है । सब पापोंसे—जरा, जन्म और मृत्युरूप दुःखप्रवाहके हेतु अविद्या, काम और कर्मोंसे—सदा भली भाँति छुड़ा दूँगा । नित्य कूटस्थ, असङ्ग, चिद्रूप, परिपूर्ण ही मैं हूँ, यों नित्य कूटस्थ असङ्ग चिन्मात्रस्वरूप अपने आत्माके याथात्म्यप्रकाशसे आरोपित देह, इन्द्रिय आदि सम्पूर्ण दृश्य, उनके धर्म, उनके कर्म, उनकी अवस्थाके सम्बन्धसे रहित, आकाशके समान असङ्ग, अविक्रिय, परिपूर्ण, एकरस आत्माको ही सदा सर्वत्र ग्रहण कराकर सर्वत्र स्वमात्रग्रहणसे वासनात्मिका अविद्या, काम और कर्म सभीका निर्मूलन करके विपरीत भावका निःशेष विनाश कर पूर्ण, चिदानन्द अद्वितीय ही मैं हूँ, यों अप्रतिबद्ध वृत्तिको कराकर सर्वदा मैं मुक्त हूँ, यों मुक्त आत्माकी ही भावना करा दूँगा । इस प्रकार अविद्या और उसके कार्य बन्धसे (प्रपञ्चसे) रहित निर्विशेष ब्रह्मस्वरूपसे स्थित आत्माका साक्षात् प्रत्यक्ष

न्नैव मुक्तस्त्वं मा शुचः। 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' इति स्वात्मैकत्वं पश्यतो विदुषः शोकाभावश्रवणात् सर्वमात्मानमेव पश्यन्मुक्तस्त्वं शोकं मा कार्षीः। स्वातिरिक्तमनर्थकारणमर्थान्तरं पश्यत एव मूढतमस्य शोको न त्वहमेवेदं सर्वमिति स्वमेव सर्वं पश्यतो विदुषः शोककारणं सम्भवति तदभावात् त्वं मा शुच इत्यर्थः। यद्वा 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्' इत्युपक्रान्तं शोकापनोदनमुपसंहरति भगवान्मा शुचस्त्वमिति। अद्वैतं पश्यतश्चाऽऽत्मनोऽकर्तृत्वं च पश्यतस्तव शोको न युक्त इत्युपक्रान्तशोकापनोदनमेवाऽनूद्यते न तु विदुषः शोकं संभाव्य तस्याऽपनोदः क्रियते। 'तत्र को मोहः कः शोकः' इत्यादिश्रुतिविरोधप्रसङ्गात् 'न शोचति न काङ्क्षति' इत्युक्तस्ववचनव्याघातप्रसंगाच्चोपसंहारार्थकमेवेदं वचनमिति युक्तम्। एवं निर्विशेषमेव परं ब्रह्म स्वात्मना समधिगतमनुसन्दधतो विदुषस्तदनुसन्धानफलं सम्यग्ज्ञानं तत्फलं विदेहकैवल्यं च 'ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्' इति पूर्वमेव निरूपितं न पुनरत्र निरूपितव्यं भवति। यस्माज्ज्ञानकर्मणोः साध्यसाधनभाव एवाऽत्र सम्यङ् निरूपितः सर्वज्ञेनेश्वरेण, तस्मात्सिद्धं कर्मकाण्डस्य ब्रह्मकाण्डस्य च मोक्षकारणत्वम्॥ ६६॥

करके जीवित अवस्थामें ही मुक्त तुम शोक मत करो। 'एकत्व देखनेवालेको क्या शोक, और क्या मोह' इस श्रुतिसे स्वात्मामें एकत्व देखनेवाले विद्वान्‌को शोक नहीं होता, ऐसा जाननेमें आता है, इसलिए सबको आत्मस्वरूप ही देखते हुए मुक्तभूत तुम शोक मत करो। अपनेसे भिन्न अनर्थके कारण दूसरे पदार्थको देखनेवाले मूढ़तम पुरुषको ही शोक होता है, मैं ही यह सब हूँ' यों सबको स्वस्वरूप देखनेवाले विद्वान्‌को शोकका कोई कारण नहीं हो सकता, उसका अभाव होनेसे तुम शोक मत करो, यह अर्थ है। अथवा 'अशोच्योंका तुम शोक करते हो' इससे उपक्रान्त शोकके अपनोदनका 'मा शुचः' इससे श्रीभगवान् उपसंहार करते हैं। अद्वैत और आत्माके अकर्तृत्वको देख रहे तुम्हें शोक करना युक्त नहीं है, यों उपक्रान्त शोकके अपनोदनका अनुवाद ही किया जाता है, न कि विद्वान्‌में शोककी संभावना कर उसका अपनोदन किया जाता है, क्योंकि 'वहाँ क्या शोक और क्या मोह' इत्यादि श्रुतिसे विरोध और 'न शोचता है, न आकाङ्क्षा करता है' इत्यादि उक्त अपने वचनका व्याघात हो जायगा, इसलिए उपसंहारार्थक ही यह वचन है, ऐसा मानना युक्त है। इस प्रकार अपने आत्मस्वरूपसे विज्ञात निर्विशेष परब्रह्मका ही अनुसन्धान कर रहे विद्वान्‌के, उक्त अनुसन्धानके फल सम्यक् ज्ञान और उसके फल विदेहकैवल्यका 'जानकर तदन्तर ही प्रवेश करता है' इत्यादिसे पहले ही निरूपण किया जा चुका है, अतः फिर उसका यहाँ निरूपण करना योग्य नहीं है। यतः ज्ञान और कर्मके साध्यसाधनभावका ही यहां सर्वज्ञ ईश्वरने निरूपण किया है, इससे कर्मकाण्ड और ब्रह्मकाण्डमें मोक्षकारणत्व सिद्ध हुआ॥ ६६॥

इदं ते नाऽतपस्काय नाऽभक्ताय कदाचन ।
न चाऽशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥ ६७ ॥

हे अर्जुन, इस मोक्षशास्त्रका तुम ऐसे पुरुषको कभी उपदेश मत देना, जो वेदोक्त कर्मका अनुष्ठान नहीं करता, देवता और गुरुमें भक्ति नहीं करता, गुरुकी शुश्रूषा नहीं करता और जो प्राकृत पुरुष समझ कर मेरी निन्दा करता है ॥ ६७ ॥

एवमारुरुक्षोरारूढस्य चोभयोरात्यन्तिकसंसारदुःखोपशान्तये नियमेन कर्तव्यांशं विभज्य दर्शयित्वा तत्फलमप्युपपाद्य ज्ञानकर्मणोर्मोक्षसाधनत्वावधारणेन सर्वेषामपि वेदान्तानां सकलाया अपि गीतायाश्च निर्विशेषब्रह्मपरत्वमेव सूचयित्वा 'इति ते ज्ञानम्' इत्युपक्रान्तं शास्त्रमुपसंहृत्य अधुना शास्त्रप्रवर्तकानामस्य मोक्षशास्त्रस्य संप्रदायप्रवर्तने नियममाह—**इदमिति** ।

इदं मोक्षशास्त्रं ते त्वया अतपस्काय 'ऋतं तपः सत्यं तपः' इत्यादिश्रुत्युक्तं तपो न यस्याऽस्ति सोऽतपस्कस्तस्मै अतपस्काय वेदोक्तकर्मानुष्ठानविहीनाय न वाच्यम् । कदाचन नोपदेष्टव्यमित्यर्थः । स्वधर्मनिष्ठायाऽप्यभक्ताय 'यस्य देवे परा भक्तिः' इति न्यायेन गुरौ देवे भक्तिरहितस्त्वभक्तस्तस्मा अभक्ताय कदाचन न वाच्यम् । तपस्विने भक्तिमतेऽप्यशुश्रूषवे गुरुशुश्रूषामकुर्वते कदाचन न वाच्यम्, किन्तु विशेषणद्वयवते गुरोः शुश्रूषां कुर्वत एव वाच्यम् । चकारान्मेधाविने ग्रन्थतदर्थधारणशक्तिमत

इस प्रकार आरुरुक्षु और आरूढ़ दोनोंके आत्यन्तिक संसारदुःखकी निवृत्तिके लिए नियमपूर्वक कर्तव्य अंशका विभागशः दिग्दर्शन कराकर, उसके फलका भी उपपादन कर ज्ञान और कर्म मोक्षके साधन हैं, इस अवधारणसे सम्पूर्ण वेदान्त और संपूर्ण गीता भी निर्विशेष ब्रह्मके ही प्रतिपादक हैं, ऐसा सूचन करके 'इति ते ज्ञानम्' इत्यादिसे उपक्रान्त शास्त्रका उपसंहार करके अब शास्त्रप्रवर्तकोंका इस मोक्षशास्त्रके संप्रदायप्रवर्तनमें नियम कहते हैं—'इदम्' इत्यादिसे ।

इस मोक्षशास्त्रका तुम्हें अतपस्कको ('ऋत तप है, सत्य तप है' इत्यादि श्रुतिसे उक्त तपका जो आचरण नहीं करता, वह अतपस्क है, उसको) यानी वेदोक्त कर्मके अनुष्ठानसे विहीन पुरुषको कभी भी उपदेश देना नहीं चाहिए । स्वधर्मनिष्ठा होनेपर भी अभक्तको ('जिसकी देवमें परा भक्ति है' इस न्यायसे उक्त गुरु और देवकी भक्तिसे जो रहित है, वह अभक्त है, उसको) कभी भी उपदेश देना नहीं चाहिए । तपस्वी और भक्तिमान् होनेपर भी अशुश्रूषुसे—गुरुशुश्रूषा न करनेवालेसे—यह मोक्षशास्त्र कभी भी नहीं कहना चाहिए, किन्तु दोनों विशेषणोंसे युक्त गुरुकी शुश्रूषा करनेवाले पुरुषसे ही कहना चाहिए। चकारसे मेधावीसे—ग्रन्थ और उसके धारणकी शक्तिवालेसे—

य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥ ६८ ॥

जो कोई श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ यति इस परम गुह्य शास्त्रका मेरे भक्तोंको उपदेश करेगा, वह मेरी परम भक्तिको पाकर मुझको ही प्राप्त होगा, इसमें संशय नहीं करना चाहिए ॥ ६८ ॥

एव वाच्यं न तु पूर्वोक्तविशेषणवतेऽपि मेधाशून्याय कदाचन वाच्यम्। तथा चतुर्विशेषणवतेऽपि यो मां वासुदेवं प्राकृतं मनुष्यं मत्वाऽभ्यसूयति निन्दति तस्मै तु न कदाचन वाच्यम्। यद्वा, मां निर्विशेषं परं ब्रह्माऽभ्यसूयति ब्रह्मणो निर्विशेषत्वं केवलत्वं सजातीयादिभेदरहितत्वमद्वितीयत्वं चाऽयुक्तमिति विदेहकैवल्यमपि लोकशास्त्रविरुद्धमित्यत्रैव ब्रह्मप्राप्तिश्चाऽयुक्तेत्यद्वैतमद्वैतशास्त्रं विदेहकैवल्यं चाऽसहमानो यो निन्दति तस्मै चतुर्वेदिनेऽपि शतक्रतवेऽपि च सगुणभक्तिमतेऽपि चाऽद्वैतद्वेषिणे कथञ्चिदपि नोपदेष्टव्यम्। उपदेष्टव्यस्याऽद्वैतशास्त्रत्वादद्वैते प्रीतिमत एवोपदेष्टव्यं न तु ज्ञानशास्त्रतदर्थासहिष्णव इत्यर्थः। चकारान्मुमुक्षवे यथाऽऽरोग्यकामिन एव दिव्यौषधं तथा मोक्षेच्छावत एव ज्ञानशास्त्रमुपदेष्टव्यं नाऽन्यस्मा इति सिद्धम् ॥६७॥

तपस्वित्वं भक्तिमत्त्वं शुश्रूषुत्वमद्वैते प्रीतिमत्त्वं मुमुक्षुत्वं चाऽधिकारिणः शुद्धा-

---

ही कहना चाहिए, पूर्वोक्त विशेषणोंसे युक्त होनेपर भी मेधाशून्य पुरुषसे कभी नहीं कहना चाहिए। तथा चार विशेषणोंसे युक्त होनेपर भी जो मुझको—वासुदेवको—प्राकृत मनुष्य मान कर मेरी निन्दा करता है, उससे कभी भी नहीं कहना चाहिए। अथवा मेरा—निर्विशेष परब्रह्मका—तिरस्कार करता है यानी ब्रह्मका निर्विशेषत्व, केवलत्व, सजातीय आदि भेदरहितत्व और अद्वितीयत्व अयुक्त है, विदेहकैवल्य भी लोकशास्त्रसे विरुद्ध है और यहीं परब्रह्मकी प्राप्ति होती है, यह अयुक्त है, यों अद्वैतको—अद्वैतशास्त्रको—न सहता हुआ जो उसकी निन्दा करता है, वह चाहे चारों वेदोंको जाननेवाला, सौ यज्ञोंको करनेवाला तथा सगुणकी भक्ति करनेवाला ही क्यों न हो, यदि अद्वैतद्वेषी हो, तो उसको तनिक भी इस शास्त्रका उपदेश करना नहीं चाहिए, क्योंकि उपदेष्टव्य अद्वैतशास्त्र है, अतः अद्वैतमें प्रीति करनेवाले पुरुषको ही उपदेश देना चाहिए, ज्ञानशास्त्र और उसके अर्थको सहन न कर सकनेवाले पुरुषको नहीं देना चाहिए, यह अर्थ है। चकारसे मुमुक्षुको—जैसे आरोग्यकामीके लिए दिव्य औषधका उपदेश होता है, वैसे ही मोक्षकी इच्छावाले पुरुषको—ही ज्ञानशास्त्रका उपदेश देना चाहिए, अन्यको नहीं, यह सिद्ध हुआ ॥ ५६७ ॥

तपस्विता, भक्तिमत्ता, शुश्रूषुता, अद्वैतमें प्रीतिमत्ता और मुमुक्षुता—ये अधिकारीकी शुद्धा-

त्मत्वे ज्ञानशास्त्रोपदेशयोग्यत्वे च लिङ्गमित्यधिकारिलक्षणमुक्त्वा, निरुक्तलक्षणलक्षितेभ्य एवाऽधिकारिभ्यो ज्ञानशास्त्रमुपदेष्टुः फलमाह—**य इति** ।

यः श्रोत्रियो ब्रह्मनिष्ठो यतिर्मद्भक्तेषु मामेव परमेश्वरं संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुं मोक्षेच्छया स्वकर्मभिराराधयन्तो ये भजन्ति ते भक्तास्तेषु । तपस्विने भक्तायेति पूर्वमुक्त्वा मद्भक्तेष्विति पुनर्भक्तग्रहणम्, 'तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये' इति, 'अमृतस्यैष सेतुः' इति, 'शिवप्रसादेन विना न सिद्धिः' इति मोक्षस्येश्वरप्रसादैकलभ्यत्वश्रवणान्मुमुक्षूणामीश्वरैकशरणत्वेन भवितव्यम्, परमेश्वरैकशरणैरेव कृतं श्रवणादिकं फलत्यतस्तत्रैव दृढा भक्तिः कर्तव्येति ज्ञापनार्थम् । मद्भक्तेषु मदेकशरणेषु पूर्वोक्तविशेषणवत्सु च । अत्र विषयसप्तमी । मद्भक्तानात्मतत्त्वजिज्ञासूनुद्दिश्येत्यर्थः । परमं परमपुरुषार्थसाधनं गुह्यं गोप्यमयोग्येष्वप्रयोक्तव्यमिदं गीताख्यं ज्ञानमयं शास्त्रमभिधास्यति परमकरुणयैवोपदेक्ष्यति न तु शुश्रूषाद्यपेक्ष्य ग्रन्थं तदर्थं च यथा गृह्णीयुस्तथा व्याख्यास्यतीत्यर्थः । ननु ब्रह्मनिष्ठस्य विदेहकैवल्यार्थिनः शिष्येभ्यो गीताशास्त्रोपदेशो नोपयुज्यते, ज्ञाननिष्ठातत्फलप्रतिबन्धकत्वात् 'ब्रह्मसंस्थोऽ-

---

त्मतामें और ज्ञानशास्त्रके उपदेशकी योग्यतामें लिङ्ग हैं, यों अधिकारीके लक्षणको कह कर उक्त लक्षणोंसे लक्षित केवल अधिकारीको ही ज्ञानशास्त्रका उपदेश करनेवाले पुरुषका फल कहते हैं—'य' इत्यादिसे ।

जो श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ यति मद्भक्तोंमें (संसार, मोक्ष, स्थिति और बन्धके हेतु मुझ परमेश्वरका ही मोक्षकी इच्छासे अपने कर्मोंसे आराधन कर रहे जो यति मेरा भजन करते हैं, वे मद्भक्त हैं, उनमें)। 'तपस्वी भक्तको' यों पहले कह कर 'मेरे भक्तोंमें,' इस प्रकार फिर भक्तिका ग्रहण—'मुमुक्षु मैं उस प्रसिद्ध आत्मबुद्धिके प्रकाशक देवकी शरणमें जाता हूँ', 'अमृतका यह सेतु है', 'शिवके प्रसादके बिना सिद्धि नहीं होती', 'मोक्ष केवल ईश्वरके प्रसादसे ही प्राप्त होता है' इत्यादि श्रुतियोंसे मुमुक्षुओंको केवल ईश्वरकी ही शरण लेनी चाहिए, परमेश्वरकी ही शरणमें रहकर किया गया श्रवण आदि फल देता है, इसलिए ईश्वरमें ही दृढ भक्ति करनी चाहिए—, यह बतलानेके लिए है । मेरे भक्तोंमें यानी मेरी केवल शरणमें रहनेवालोंमें और पूर्वोक्त विशेषणोंसे युक्तोंमें। यहाँ विषय सप्तमी है । आत्मतत्त्वके जिज्ञासु मेरे भक्तोंके उद्देशसे, यह अर्थ है । परम—परम पुरुषार्थके साधन—गुह्य (गोप्य) यानी अयोग्य अधिकारियोंके प्रति न कहने योग्य गीतानामक ज्ञानमय शास्त्रका अभिधान करेगा यानी केवल परम करुणासे ही उपदेश करेगा, शुश्रूषा आदिकी अपेक्षा रख कर नहीं, ग्रन्थ और इसके अर्थका जिस तरह ग्रहण करें उस तरह, व्याख्यान करेगा, यह अर्थ है । यदि कहो कि विदेहकैवल्यको चाहनेवाले ब्रह्मनिष्ठ यतिके लिए शिष्योंको गीताशास्त्रका उपदेश देना युक्त नहीं है, क्योंकि वैसा करना ज्ञाननिष्ठाका और उसके फलका प्रतिबन्धक है, 'ब्रह्ममें भली भाँति अवस्थित

मृतत्वमेति', 'प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि' इति श्रुत्या स्मृत्या च ब्रह्मविदो बहिर्मुखत्वं मुक्तिप्रतिबन्धकं निषिध्यत इति चेत्, भवानत्र प्रष्टव्यः; तत्त्वोपदेष्टा साधको वा सिद्धो वा संसिद्धो वेति। नाऽऽद्यः, साधकस्याऽऽत्मयाथात्म्यविज्ञानाभावाद् वाक्यार्थोपदेशमात्रं विना निर्विचिकित्सतत्त्वोपदेशानुपपत्तेः। यथा शास्त्रेण लक्षणेन स्वरूपेण च वज्रमणिं विज्ञातवत एव तत्त्वोपदेश उपपद्यते, न तु शास्त्रमात्राध्येतुर्नाऽपि लक्षणं श्रुतवतो नाऽपि चाऽऽपातदर्शनवतः सिध्यति तद्वत्। नाऽपि तृतीयः, सप्तमीं भूमिकामधिरुह्य प्रपञ्चं विस्मृत्य परप्रयत्नाच्छारीरं कर्म कुर्वत उपदेशायोगात्पारिशेष्यात्सिद्धस्यैवोपदेशयोग्यत्वम्। ननु सिद्धस्याऽपि बहिःप्रवृत्त्या ज्ञानं प्रतिबध्येतेति चेत्, न; मुमुक्षुभ्यः शिष्येभ्यस्तत्त्वमस्यादिवाक्यार्थोपदेशेनाऽऽत्मज्ञानं दृढमेव भवति। ततः शिष्येभ्यो मुमुक्षुभ्यः सिद्धेनोपदेष्टव्यम्। अन्यथा त्वाचार्याभावप्रसङ्गाच्छास्त्रानर्थक्यप्रसङ्गान्मुमुक्षूणामगतित्वप्रसङ्गाच्च। ततः 'स्वयं तीर्णः परान् तारयति' इति न्यायेन सिद्धः स्वयं मुक्तोऽन्यान् शरणागतान् मुमुक्षून् बन्धान्मोचयति तदेव फलमैहिकं ज्ञानसंपत्तेर्विदुषः। ननु तदेतत्सत्यम्, तथापि मूढानामुपदेशप्रवृत्त्या द्वैतवासना प्रवर्धते तया विपरीतप्रत्ययवृद्धिस्तया सर्वात्मत्वज्ञानं प्रतिबध्यते तेन मोक्षश्च कथमात्म-

---

पुरुष ही अमृतत्वको प्राप्त होता है,' 'प्रमाद निश्चय मृत्यु है, मैं कहता हूँ' इत्यादि श्रुति और स्मृतिसे ब्रह्मवित्तमके लिए मुक्तिके प्रतिबन्धक बहिर्मुखत्वका निषेध किया जाता है, तो यह कहना युक्त नहीं है, क्योंकि इस विषयमें आपसे प्रश्न होगा कि क्या तत्त्वका उपदेष्टा साधक है या सिद्ध है अथवा संसिद्ध है? पहिला पक्ष तो युक्त नहीं है, क्योंकि साधकको आत्मयाथात्म्य-विज्ञान नहीं है अतः वह वाक्यार्थके उपदेशमात्रके सिवा संशयरहित तत्त्वका उपदेश नहीं कर सकता, जैसे शास्त्र, लक्षण और स्वरूपसे वज्रमणिको जाननेवाले पुरुषका ही उक्त मणिका तत्त्वोपदेश युक्तियुक्त होता है, केवल शास्त्र या अध्ययन करनेवाले, केवल लक्षण सुननेवाले और ऊपर ऊपरसे देखनेवाले पुरुषका युक्तियुक्त नहीं होता, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए। इसी प्रकार तीसरा पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि सातवीं भूमिकामें चढ़कर प्रपञ्चको भूल कर परप्रयत्नसे शरीर कर्मको करनेवाला संसिद्ध यति उपदेश नहीं कर सकता, अतः परिशेषसे सिद्धकी ही उपदेशयोग्यता है। यदि कहो कि सिद्धका भी बाहरकी प्रवृत्तिसे ज्ञान रुक जायगा, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि मुमुक्षु शिष्योंको 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यार्थका उपदेश देनेसे आत्मज्ञान दृढ ही होता है, इसलिए मुमुक्षु शिष्योंके लिए सिद्ध यतिको उपदेश देना ही चाहिए, अन्यथा आचार्यके अभावका, शास्त्रकी निरर्थकताका और मुमुक्षुओंकी अगतिका प्रसङ्ग आवेगा। इसलिए 'स्वयं तीर्ण दूसरोंको तारता है' इस न्यायसे सिद्ध स्वयं मुक्त दूसरे शरणागत मुमुक्षुओंको बन्धसे छुड़ाता है। वही विद्वान्की ज्ञानसम्पत्तिका ऐहिक फल है। यदि शङ्का हो कि यद्यपि यह कहना ठीक है, फिर भी मूढ़ोंको उपदेश देनेकी प्रवृत्तिसे द्वैतवासना बढ़ती है, उससे विपरीत प्रत्ययकी वृद्धि होती है, उससे सर्वात्मत्वज्ञान प्रतिबद्ध हो जाता है और

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥ ६९ ॥

मनुष्योंमें मुमुक्षुओंको गीताशास्त्रका उपदेश करनेवाले पुरुषकी अपेक्षा दूसरा कोई भी पुरुष मेरा प्रियकृत्तम (प्रिय करनेवालोंमें उत्तम) इस भूलोकमें नहीं है और न भविष्यमें ही उसकी अपेक्षा दूसरा मेरा प्रियतर होगा ॥ ६९ ॥

हानिं विद्वानङ्गीकृत्योपदेक्ष्यतीत्यत आह—भक्तिमिति । 'पुङ्खानुपुङ्खविषयेषु च तत्परोऽपि ब्रह्मावलोकननिरूढमना हि योगी । संगीततालपरिनृत्यवशं गताऽपि मौलिस्थकुम्भपरिरक्षणधीर्नटीव ॥' इति न्यायेन परोपदेशे प्रवृत्तोऽपि सिद्धो यतिर्मयि सर्वात्मन्यद्वितीये परे ब्रह्मण्यारोपितं सर्वदृश्यं चिरकालनित्यनिरन्तर-समाध्यभ्यासबलेन सन्मात्रतया गृह्णातीति परा प्रकृष्टा तामुत्तमां भक्तिं सर्वत्र सन्मात्र-ग्राहिणीं प्रत्यग्दृष्टिं कृत्वा । सदा सर्वत्र सर्वं ब्रह्मैव पश्यन् निःशेषविनष्टद्वैतभावो विद्वान्मामेवाऽद्वितीयं निर्विशेषं परं ब्रह्मैष्यति प्राप्स्यति । न तूत्क्रमणं नाऽपि लोकान्तरं नाऽपि देशान्तरं नैव च देहान्तरं यास्यति । अत्र संशयो न कर्तव्यः । ब्रह्मविदो यतेः सिद्धस्य क्वचित्परोपदेशे प्रवृत्तस्य ब्रह्मप्राप्तौ शङ्कामेवकारेणैव निरस्य तस्याऽपि दार्ढ्यार्थमसंशय इत्युक्तम्, तेन सिद्धं ब्रह्मविद्यतिः सिद्धः क्वचित्परोपदेशे प्रवृत्तोऽपि स्वयं सर्वत्र ब्रह्मदृष्टिममुञ्चानो ब्रह्मभावमेव गच्छति नाऽस्त्यत्र संशय इति ॥ ६८ ॥

उससे मोक्ष रुक जाता है, विद्वान् आत्महानिका अङ्गीकार करके कैसे उपदेश करेगा, इसपर कहते हैं—भक्तिमिति । पुङ्खानुपुङ्खके समान यानी जैसे बाणके पिछले भागमें एकके पीछे एक पर लगा रहता है, वैसे ही शाखाप्रशाखारूपसे एकके पीछे एक लगे हुए विषयोंमें परायण होनेपर भी योगी ब्रह्मके अवलोकनमें ही मनको स्थिर करनेवाला होता है, जैसे कि सङ्गीत और तालके अनुसारी नृत्यमें परायण होनेपर भी नटी सिरपर रक्खे हुए कुम्भके रक्षणमें तत्पर रहती है' इस न्यायसे दूसरेको उपदेश देनेमें प्रवृत्त होनेपर भी सिद्ध यति मुझमें—सर्वात्मा अद्वितीय परब्रह्ममें—आरोपित सम्पूर्ण दृश्यको चिरकाल तक नित्य निरन्तर समाधिके अभ्यासके बलसे सन्मात्ररूपसे ग्रहण करता है, इसलिए परा—प्रकृष्टा—उत्तम भक्तिको (सर्वत्र सन्मात्रको ग्रहण करने-वाली प्रत्यग्-दृष्टिको) प्राप्त करके । सदा सर्वत्र सबको केवल ब्रह्मस्वरूप ही देख रहा विद्वान्, जिसका द्वैतभाव निवृत्त हो चुका है, मुझ अद्वितीय, निर्विशेष परब्रह्मको ही प्राप्त होगा, उत्क्रमण या लोकान्तर या देशान्तर या देहान्तरको प्राप्त नहीं होगा । इस विषयमें संशय नहीं करना चाहिए । कहींपर परोपदेशमें प्रवृत्त ब्रह्मवित् सिद्ध यतिकी ब्रह्मप्राप्तिमें सन्देहका एवकारसे निरसन कर उसकी भी दृढ़ताके लिए 'असंसय' शब्द कहा गया है । इससे सिद्ध हुआ कि सिद्ध ब्रह्मवित् यति कहीं परोपदेशमें प्रवृत्त होनेपर भी स्वयं सर्वत्र ब्रह्म-दृष्टिका परित्याग न करता हुआ ब्रह्मभावको ही प्राप्त होता है, इसमें संशय नहीं है ॥ ६८ ॥

एवं करुणयैव मुमुक्षुभ्यो गीताशास्त्रं तदर्थं चोपदिशन्तं स्तौति—**न चेति ।**

यो ब्रह्मविद्यतिर्मुमुक्षुभ्यो निरुक्तविशेषणवद्भ्यो गीतां तदर्थं चोपदिशति तस्माद्गीताशास्त्रोपदेष्टुर्यतेरन्यः प्रियकृत्तमः मे प्रियमिष्टं मत्प्राप्तेरन्तरङ्गसाधनं श्रवणमननध्यानादिकं नित्यं प्रयत्नेन ये कुर्वन्ति ते प्रियकृतस्तेभ्यः सर्वेभ्योऽप्युत्तमः प्रियकृत् प्रियकृत्तमः । मनुष्येषु स्तोत्रमन्त्रजपपूजादिबहिरङ्गसाधनपरेषु कश्चिन्नास्ति । बहिरङ्गसाधनपरेभ्योऽन्तरङ्गसाधनपराः मम प्रियास्तेभ्यः सर्वेभ्यः प्रियो गीतार्थोपदेष्टा, यतः स्वयं तीर्णः परेषामपि तारणाय प्रवृत्तस्ते तु स्वतरण एव प्रवृत्तास्तस्मादयमेव प्रियकृत्तमो नाऽन्यः कश्चिदिदानीमित्यर्थः । इतः परमपि मे मम तस्मान्मम भक्तेभ्यो गीताशास्त्रोपदेष्टुरन्यः प्रियतरः प्रियकृत्तरो भुवि भूलोके न भविता च न भविष्यति । संसारदुःखसागरनिमग्नान् मद्भक्तान् मुमुक्षून् दययैव ज्ञानशास्त्रार्थोपदेशेन यो ब्रह्मविद्यतिः समुद्धरति स एव कालत्रयेऽपि मम परमेश्वरस्य प्रियकृत्तम इति तात्पर्यार्थः ॥ ६९ ॥

इस प्रकार केवल करुणासे ही मुमुक्षुओंको गीताशास्त्र और उसके अर्थका उपदेश कर रहे यति पुरुषकी श्रीभगवान् स्तुति करते हैं—'न च' इत्यादिसे ।

जो ब्रह्मवित् यति पूर्वोक्त विशेषणोंसे युक्त मुमुक्षुओंको गीता और उसके अर्थका उपदेश देता है, उस गीताशास्त्रके उपदेष्टा यतिसे अन्य दूसरा कोई मेरा प्रियकृत्तम—(प्रियका—इष्टका—यानी मेरी प्राप्तिके अन्तरङ्ग साधन श्रवण, मनन, ध्यान आदिका जो प्रति दिन प्रयत्न-पूर्वक अनुष्ठान करते हैं, वे प्रियकृत् हैं—उन सभीकी अपेक्षा उत्तम प्रियकृत्, प्रियकृत्तम है) मनुष्योंमें यानी स्तोत्र, मन्त्र, जप, पूजा आदि बहिरङ्ग साधन करनेवालोंमें कोई नहीं है । बहिरङ्ग साधन करनेवालोंकी अपेक्षा अन्तरङ्ग साधनोंका अनुष्ठान करनेवाले मेरे प्रिय हैं, उन सबकी अपेक्षा गीताके अर्थका उपदेष्टा प्रिय है, क्योंकि यह तो स्वयं तीर्ण होकर दूसरोंके तारणके लिए प्रवृत्त हुआ है, वे तो केवल अपने तरणमें ही प्रवृत्त हैं, इसलिए यही प्रियकृत्तम है, दूसरा इस समय कोई मेरा प्रियकृत्तम नहीं है, यह अर्थ है । भविष्यमें भी उससे—मेरे भक्तोंको गीताशास्त्रका उपदेश देनेवाले पुरुषकी अपेक्षा—अन्य प्रियतर—प्रियकृत्तर—भूमिपर यानी भूलोकमें नहीं होगा । संसाररूप दुःखसागरमें डूबे हुए मेरे भक्त मुमुक्षुओंका, केवल दयासे ही ज्ञानशास्त्रके अर्थके उपदेशसे, जो ब्रह्मवित् यति भली भाँति उद्धार करता है, वही तीनों कालोंमें मेरा—परमेश्वरका—प्रियकृत्तम है, यह तात्पर्य अर्थ है ॥ ६९ ॥

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाऽहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥ ७० ॥
श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥ ७१ ॥

मेरे और तुम्हारे बीचमें हुए इस धर्मयुक्त संवादका अर्थज्ञानपूर्वक जो पुरुष अध्ययन करेगा, उसके द्वारा मैं ज्ञानरूप यज्ञसे पूजित होऊँगा, यह मेरा मत है ॥ ७० ॥

जो भी कोई मनुष्य, चाहे वह मूढ हो, वृद्ध हो या स्त्री हो, श्रद्धापूर्वक असूया आदि दोषोंसे मुक्त होकर इस शास्त्रका श्रवण करेगा, वह भी पापोंसे मुक्त होकर पुण्य कर्म (यज्ञ आदि) करनेवाले मनुष्योंके शुभ लोकोंको प्राप्त करेगा ॥ ७१ ॥

श्रद्धया भक्त्या च नित्यं यो मुमुक्षुर्गीतापारायणं करोति तस्य फलमाह—
अध्येष्यत इति ।

तव च मम चाऽऽवयोः संवादं संलापरूपं धर्म्यं धर्मस्य मोक्षैककारणस्य ज्ञानस्य सिद्धिहेतुत्वाद्धर्मादनपेतं धर्म्यमिमं ग्रन्थं गीताशास्त्रं यश्च मुमुक्षुर्ब्राह्मणादिः श्रद्धया भक्त्या चाऽर्थज्ञानपूर्वकमध्येष्यते । नित्यं नियमेन पठिष्यतीर्थः । तेनाऽर्थज्ञानपूर्वकं गीताप्रवृत्तिं कुर्वता मद्भक्तेनाऽहं परमेश्वरः ततं ज्ञानयज्ञेन ज्ञानमात्मैकत्वविषयं ज्ञानमेव यज्ञो ज्ञानयज्ञस्तेन ज्ञानयज्ञेन इष्टः आराधितः स्यां भवेयम् । गीतापठनस्याऽर्थज्ञानपूर्वकत्वाद् ब्रह्मण एव तदर्थत्वात् तदनुसन्धानेन यत्फलं कैवल्यलक्षणं तत्क्रमेण गीताध्येता प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ७० ॥

जो मुमुक्षु श्रद्धा और भक्तिपूर्वक प्रतिदिन गीताका पारायण करता है, उसका फल कहते हैं—'अध्येष्यते' इत्यादिसे ।

तुम्हारे और मेरे—हम दोनोंके—संवाद (संलापरूप) इस धर्म्य (धर्मके यानी मोक्षके मुख्य कारण ज्ञानकी सिद्धिका हेतु होनेसे धर्मसे युक्त) ग्रन्थका—गीताशास्त्रका—जो मुमुक्षु ब्राह्मण आदि श्रद्धासे और भक्तिसे अर्थज्ञानपूर्वक अध्ययन करेगा। नित्य नियमसे पढ़ेगा, यह अर्थ है। उसके—अर्थज्ञानपूर्वक गीतामें प्रवृत्ति करनेवाले मेरे भक्तके—द्वारा मैं परमेश्वर सदा ज्ञानयज्ञसे—आत्मैकत्वविषयक ज्ञानरूप यज्ञसे—इष्ट यानी आराधित होऊँगा। अर्थज्ञानपूर्वक गीताका पठन होता है और ब्रह्म ही उसका अर्थ है, अतः उसके अनुसंधानसे कैवल्यलक्षण जो फल है, उसको गीताका पढ़नेवाला क्रमसे प्राप्त करता है, यह अर्थ है ॥ ७० ॥

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रणष्टस्ते धनञ्जय ॥ ७२ ॥

हे अर्जुन, क्या तुमने मेरे द्वारा उपदिष्ट इस शास्त्रका सावधान चित्तसे श्रवण किया? धनञ्जय, क्या तुम्हारा अज्ञान-जनित संमोह नष्ट हो गया? ॥ ७२ ॥

प्रवक्तुरध्येतुश्च फलमुक्त्वा श्रोतुरिदानीं फलमाह—**श्रद्धावानिति।**

विचाराध्ययनयोरनधिकारी योऽपि यश्च नरो नरमात्राकारवान् मूढो वा वृद्धो वा स्त्रीजनो वाऽन्वहं श्रद्धावान् वक्तरि गीतायामपि परमेश्वरे च श्रद्धाभक्तिसंपन्न-स्तथाऽनसूयुरसूयादिदोषरहितो भूत्वा नित्यमिदं गीताशास्त्रं शृणुयात् सोऽपि श्रोताऽपि ज्ञानाज्ञानकृतेभ्यः पापेभ्यो मुक्तः सन् पुण्यकर्मणामश्वमेधादियागकर्तॄणां ये लोका-स्तान् शुभान् अत्यन्तसुखकरान् प्राप्नुयात्। नित्यं गीताश्रवणमात्रेण सत्यादिपुण्य-लोकान् प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ७१ ॥

शास्त्रार्थे सम्यग्ज्ञाते शिष्यः कृतार्थ एव स्यात्, अज्ञाते तु प्रकारान्तरेण बोधयित्वा तदज्ञानविपरीतग्रहणादिदोषमपास्य तस्य कृतार्थतासंपादनीयाऽयमाचार्यस्य धर्मः इत्युपदेष्टॄणां सूचयितुमर्जुनस्य स्वबोधितार्थग्रहणं तदग्रहणं च विज्ञातुमिच्छया पृच्छति श्रीभगवान्—**कच्चिदिति।**

वक्ता और अध्येताका फल कहकर अब श्रोताका फल कहते हैं—'**श्रद्धावान्**' इत्यादिसे।

विचार और अध्ययनमें अनधिकारी जो भी कोई मनुष्य यानी केवल मनुष्याकृति, वह चाहे मूढ़ हो, वृद्ध हो या स्त्रीजन हो चाहे जो भी कोई हो, श्रद्धावान्—वक्तामें, गीतामें और पर-मेश्वरमें श्रद्धा और भक्तिसे सम्पन्न—तथा अनुसूयु—असूया आदि दोषरहित—होकर नित्य इस गीताशास्त्रको सुनता है, वह भी—श्रोता भी—ज्ञान या अज्ञानसे किये गये पापोंसे मुक्त होकर पुण्यकर्मवालोंके—अश्वमेध आदि याग करनेवालोंके—जो लोक हैं, उन शुभ—अत्यन्त सुख करनेवाले—लोकोंको प्राप्त होता है। नित्य गीताका केवल श्रवण ही करनेसे सत्य आदि पुण्य लोकोंको प्राप्त होता है, यह अर्थ है ॥ ७१ ॥

शास्त्रार्थके भली भांति ज्ञात हो जानेपर शिष्य कृतार्थ ही हो जायगा। यदि शिष्यको उसका परिज्ञान न हुआ हो, तो दूसरे प्रकारसे उसका बोधन कराकर उसके अज्ञान, विपरीत ग्रहण आदि दोषोंको दूर कर उसे कृतार्थ कर देना चाहिए, यह आचार्यका धर्म है, ऐसा उपदेश देनेवाले आचार्योंको सूचन करनेके लिए अपने बोधित अर्थका अर्जुनने ग्रहण किया है या नहीं किया है? यों जाननेकी इच्छासे श्रीभगवान् अर्जुनसे पूछते हैं—'**कच्चित्**' इत्यादिसे।

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥ ७३ ॥

अर्जुनने कहा—भगवन्, आपके प्रसादसे मेरा सम्पूर्ण मोह नष्ट हो गया, वेदान्तप्रतिपाद्य नित्य कूटस्थ परमात्मा ही मैं हूँ, इस प्रकार आत्मतत्त्वस्मृति भी प्राप्त हुई, सम्पूर्ण सन्देहोंसे मैं मुक्त हो गया हूँ, आपके वचनोंका अवश्य पालन करूँगा ॥ ७३ ॥

हे पार्थ, तत्त्वजिज्ञासुना त्वया एतन्मयोपदिष्टमात्मतत्त्वप्रकाशकवाक्यजातमेकाग्रेण सावधानेन चेतसा श्रुतं कच्चित् किम् ? मयोक्तं सर्वं सावधानेन गृहीतं न गृहीतं वा वक्तव्यमित्यर्थः । एवमुपदेशं पृष्ट्वा तत्कार्यं पृच्छति—**कच्चिदिति** । ते तवाऽज्ञानसंमोहः अज्ञानमात्मतत्त्वावरकं तिमिरवदावरणलक्षणं तन्निमित्तकः संमोहो विपरीतग्रहः नष्टो नाशं गतः कच्चित् । मयोक्तवचनजन्यज्ञानेन तव बुद्धिभ्रमो नष्टः किं न वेत्यर्थः ॥ ७२ ॥

एवं पृष्टवन्तं भगवन्तं प्रति कार्यकथनेन कारणसिद्धिरुक्तप्रायेति मत्वा भगवदुपदेशजन्यज्ञानफलं वक्तुमर्जुन उवाच—**नष्ट** इति ।

जन्मजरामरणदुःखप्रवाहकारणं सर्वानर्थहेतुर्दुरन्तो मोहः स्वाज्ञानसंभवः शार्वरवत्सर्वोऽपि हे अच्युत कूटस्थ भगवन्, त्वत्प्रसादात् त्वदुपदेशजन्यज्ञानान्नष्टः ।

हे पार्थ, तत्त्वके जाननेकी इच्छावाले तुमने मेरे द्वारा उपदिष्ट आत्मतत्त्वप्रकाशक वाक्योंको एकाग्र—सावधान—चित्तसे सुन लिया क्या । मेरे द्वारा कहे गये सम्पूर्ण विषयको सावधान होकर तुमने ग्रहण किया या नहीं यह तुम मुझसे कहो, यह अर्थ है । इस प्रकार उपदेशको पूछ कर उसके कार्यको पूछते हैं—कच्चिदिति । तुम्हारा अज्ञानसंमोह (अज्ञान यानी आत्मतत्त्वको ढांकनेवाला अन्धकारके समान आवरणरूप (अविद्या), उससे जनित संमोह यानी विपरीत ग्रहण) नष्ट हुआ क्या यानी नाशको प्राप्त हुआ ? मेरे द्वारा कहे गये वचनसे उत्पन्न ज्ञानसे तुम्हारा बुद्धिभ्रम नष्ट हुआ अथवा नहीं, यह अर्थ है ॥ ७२ ॥

उस प्रकार प्रश्न करनेवाले भगवान्‌के प्रति कार्यके कथनसे कारणकी सिद्धि उक्तप्राय ही हो जायगी, ऐसा मान कर भगवान्‌के उपदेशसे उत्पन्न ज्ञानका फल कहनेके लिए अर्जुन बोले—'नष्टः' इत्यादिसे ।

जन्म, जरा और मरणरूप दुःखके प्रवाहका कारण, सम्पूर्ण अनर्थका हेतु दुरन्त मोह, जो स्वकीय अज्ञानसे उत्पन्न अन्धकारके समान था, सभी हे अच्युत—कूटस्थ भगवन्—,

स्वरूपेणाऽदर्शनं गत इत्यर्थः। एवं भगवदुपदिष्टवाक्यजातस्य तदर्थस्य च ग्रहणं कार्यप्रकाशनेनैव ज्ञापयित्वा तत्प्रसादसिद्धायाः स्वाज्ञानतत्कार्यनिवृत्तेः फलमाह—**स्मृतिरिति**। अविद्याकृतकर्तृत्वभोक्तृत्वादिसर्वसंसारनिर्मुक्तो नित्यकूटस्थोऽसङ्गचिद्रूपो निष्कलो निष्क्रियः शान्तो य आत्मा सर्ववेदान्तप्रसिद्धः स एवाऽहमस्मीति स्वात्मतत्त्वविषया स्मृतिर्लब्धा, यथा प्रमादाद्विस्मृतार्थस्याऽऽप्तवाक्येन स्मृतिस्तथा त्वत्प्रसादान्मया लब्धा भवति सर्वहृदयग्रन्थीनां निर्मूलनकारणं यतस्ततो गतसन्देहः गतोऽभावं गतः सन्देहः स्वजनवधो दोषः कर्तुं शक्यते वा न वा, मत्कृतेन कर्मणा लेपोऽस्ति वा न वा, कर्तृत्वमात्मनोऽस्ति वा न वेत्येवमादिद्विकोटिकः स्वतत्त्वनिर्धारणविषये यस्य सोऽहं गतसन्देहः। गतसन्देह इत्यनेन विपरीतभावस्य तत्कारणस्य च निःशेषनिवृत्तिः सूचिता। सति विपरीतभावे तत्कारणसद्भावे च सन्देहनिवृत्त्यसंभवादतः सन्देहनाशात् सर्वविकल्पनाशः सिद्धो भवति। एवं त्वदुपदेशजनितविज्ञानेन सर्वानर्थबीजे मोहे सकारणे विनष्टे सति संप्राप्तात्मयाथात्म्यविज्ञानोऽहं गतसन्देहः सन्नक्षोभ्यस्वभावेन स्थितोऽस्म्यविद्यातत्कार्यतद्धर्मतत्कर्मतदवस्थानिर्मुक्ताविक्रियात्मस्वरूप एव। इतः परं मम न किञ्चिज्ज्ञातव्यं प्राप्तव्यं वाऽपीषदस्ति तथापि मद्गुरो-

---

आपके प्रसादसे (आपके उपदेशसे जनित ज्ञानसे) नष्ट हो गया। स्वरूपसे अदर्शनको प्राप्त हो गया, यह अर्थ है। इस प्रकार भगवान्‌के द्वारा उपदिष्ट वाक्योंके और उनके अर्थोंके ग्रहणको, कार्यके प्रकाशन द्वारा, बतला कर अर्जुन भगवान्‌के प्रसादसे सिद्ध अपने अज्ञान और उसके कार्यकी निवृत्तिका फल कहते हैं—**स्मृतिरिति**। अविद्याकृत कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि समस्त संसारसे निर्मुक्त, नित्य, कूटस्थ, असङ्ग, चिद्रूप, निष्कल, निष्क्रिय, शान्तस्वरूप जो आत्मा सम्पूर्ण वेदान्तोंमें प्रसिद्ध है, वही मैं हूँ, ऐसी स्वात्मतत्त्वविषयक स्मृति प्राप्त हुई। जैसे प्रमादसे विस्मृत पदार्थकी आप्तके वाक्यसे स्मृति होती है, वैसे ही यतः आपके प्रसादसे सम्पूर्ण हृदयग्रन्थियोंके निर्मूलनकी कारण मुझको स्मृति प्राप्त हुई है, इसलिए मैं गतसन्देह (स्वतत्त्वनिर्धारणके विषयमें गत यानी अभावको प्राप्त हुए हैं सन्देह—स्वजनोंका वधरूप दोष किया जा सकता है या नहीं, मेरे द्वारा किये गये कर्मोंसे लेप है या नहीं, आत्मा कर्ता है या नहीं, इत्यादि दो कोटिवाले संशय—जिसके, वह गतसन्देह) हुआ। 'गतसन्देह' इससे विपरीतभावकी और उसके कारणकी निःशेष निवृत्ति सूचित हुई। विपरीतभाव और उसके कारणका सद्भाव होनेपर सन्देहकी निवृत्ति नहीं हो सकती, इसलिए सन्देहके नाशसे सम्पूर्ण विकल्पोंका नाश सिद्ध होता है। इस प्रकार आपके उपदेशसे उत्पन्न हुए विज्ञानसे सम्पूर्ण अनर्थोंके बीजभूत मोहके कारणसहित नष्ट हो जानेसे आत्मयाथात्म्य-विज्ञानको प्राप्त करनेवाला मैं गतसन्देह होकर अक्षोभ्य स्वभावसे स्थित हूँ। अविद्या, उसके धर्म, उसके कर्म, उसकी अवस्थासे निर्मुक्त अविक्रिय आत्मस्वरूप ही हूँ। यद्यपि इससे अन्य दूसरा कुछ भी मुझको ज्ञातव्य अथवा प्राप्तव्य नहीं है, तथापि

रीश्वरस्य तव वचनं करिष्ये। नन्वविद्यासंबन्धनिर्मुक्तेनाऽर्जुनेन करिष्ये 'वचनं तव' इति यदुक्तम्, तदयुक्तमेव, मुक्तस्य कर्तव्यासंभवान्ममेदमीश्वरस्य वचनं कर्तव्यमिति करणमज्ञधर्मो न तु तत्त्वज्ञधर्मः, तज्ज्ञस्याऽयमीश्वरोऽहं तद्वचनं करिष्य इति भेदज्ञानासंभवात। नह्यहमेवेदं सर्वमिति सर्वमात्मानमेव विजानतो विदुषस्त्वयमीश्वर इति तस्येदं वचनमहं करिष्य इति भेदज्ञानं संभावयितुं शक्यते कार्यशेषो वा, 'तस्य कार्यं न विद्यत' इति विदुषः कृत्यनिषेधात्। 'नैवास्ति किञ्चित्कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित्' इति कृत्यशेषवतोऽज्ञत्वस्मरणाच्च। ततो ज्ञानित्वं कर्मित्वं चैकस्य न संभवति परस्परविरुद्धं सम्राट्त्वं भिक्षुत्वं चैकस्य यथा तद्वत्। यद्यर्जुनस्य कर्तव्यशेषस्तर्हि ज्ञत्वमेव न संभवति। ननु 'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा' इत्यज्ञाननिवृत्तिर्ज्ञानप्राप्तिश्च कण्ठरवेणोक्ता अतोऽस्त्येव ज्ञत्वमिति चेत्, न; 'करिष्ये वचनं तव' इत्येवमपि कण्ठरवेणैवोक्तत्वादज्ञत्वमपि संभवति। ननु 'इष्टोऽसि मे दृढम्' इति हितबुद्ध्या दयया च 'मद्याजी भव' इति भगवतोक्तहितवचनकरणं तज्ज्ञस्याऽप्यर्जुनस्य युक्तमेवेति चेत्, न; तदारुरुक्षुविषयत्वादारूढस्याऽस्यानुपयुक्तेः। मद्यजनमारुरुक्षोः कर्तव्यमित्युक्तकर्माचरणमर्जुनस्याऽऽरूढस्याऽनुपयुक्तमेवेति

मेरे गुरुभूत आप ईश्वरके वचनोंका पालन करूँगा। यदि शङ्का हो कि अविद्याके सम्बन्धसे निर्मुक्त अर्जुनने 'आपका वचन करूँगा', ऐसा जो कहा, वह युक्त नहीं है, क्योंकि मुक्तका कोई कर्तव्य रहता नहीं है, 'हमें ईश्वरके इस वचनका पालन करना चाहिए, इस बुद्धिसे करना अज्ञानीका धर्म है, तत्त्वज्ञानीका धर्म नहीं है, क्योंकि तत्त्वज्ञको यह ईश्वर है और मैं उसका वचन करूँगा, ऐसा भेदज्ञान नहीं हो सकता। मैं ही यह सब हूँ, यों सबको आत्मस्वरूप जाननेवाले विद्वान्के लिए तो यह ईश्वर है, उसके इस वचनका मैं पालन करूँगा, ऐसा भेदज्ञान नहीं हो सकता अथवा उसके कार्यशेषकी भी कल्पना नहीं हो सकती, क्योंकि 'उसका काय विद्यमान नहीं है' इससे विद्वान्के कृत्यका निषेध किया है और 'तत्त्वज्ञका कुछ कर्तव्य अवशिष्ट नहीं है, यदि है तो वह तत्त्ववित् नहीं है' इस स्मृतिवचनसे वे पुरुष. जिनका कर्तव्य अवशिष्ट है, अज्ञत्व अतत्त्वज्ञ कहे गये हैं, इसलिए ज्ञानवत्ता और कर्मशीलता एकमें नहीं हो सकती, जैसे कि परस्पर विरुद्ध सम्राट्पन और भिक्षुपन एकमें नहीं होते, इसी प्रकार यदि अर्जुनका कर्तव्य अवशिष्ट है, तो उसका ज्ञानी होना ही असम्भव है। यदि कहो कि 'मोह ,नष्ट हुआ', 'स्मृति प्राप्त हुई' यों अज्ञानकी निवृत्ति और ज्ञानकी प्राप्ति कण्ठतः ही कही गई है, इसलिए अर्जुन ज्ञानी ही है, तो यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'आपका वचन करूँगा', यह भी कण्ठतः ही कहा गया है, इसलिए उसमें अज्ञानित्वका भी सम्भव है। यदि कहो कि 'इष्टोऽसि मे दृढमिति' इत्यादि वचनके अनुसार हितबुद्धि और दयासे 'मेरा यजन करो' इस प्रकार भगवान् द्वारा कहे गये हितवचनका करना तत्त्वज्ञ अर्जुनके लिए भी युक्त है, तो यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि वह आरुरुक्षुका विषय है, अतः आरूढ अर्जुनके लिए उपयुक्त नहीं हो सकता। इसलिए 'मेरा यजन आरुरुक्षुको करना चाहिए, इस बुद्धिसे भगवान् द्वारा कहा गया कर्माचरण आरूढ

सञ्जय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।

संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥ ७४ ॥

सञ्जयने कहा—राजन्, इस प्रकार मैंने भगवान् वासुदेव और महात्मा अर्जुनके प्रश्नोत्तररूप रोमाञ्चकारी अद्भुत संवादको सुना ॥ ७४ ॥

चेत्, त्वयोक्तं सत्यम्; ब्रह्मविद आरूढस्य कर्मानुपयुक्तमेव तथाऽप्याधिकारिकत्वादर्जुनस्य तदुपपद्यते । यथा जनकाश्वपतिप्रभृतीनां मुक्तानामप्याधिकारिकाणां लोकसंग्रहचिकीर्षया कर्माचरणं तद्वदर्जुनस्याऽऽप्याधिकारिकस्य लोकहिताय कर्माचरणमविरुद्धमेव 'लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि', 'यद्यदाचरति श्रेष्ठः' इति भगवता पूर्वं यदुक्तं तन्मनसि निधायोच्यते—'करिष्ये वचनं तव' इति । इन्द्रांशत्वादर्जुनस्येन्द्रादिवदाधिकारिकत्वं तज्ज्ञत्वं लोकहितार्थं कर्मित्वं चाऽविरुद्धम्, ततो युक्तमेवोक्तम्—'करिष्ये वचनं तव' इति । यद्वा भगवत्प्रसादान्निःशेषविनष्टमोहत्वाल्लब्धात्मस्मृतित्वाच्चाऽर्जुनः प्राप्तारूढभावः सन् स्वोत्पन्नज्ञानस्य परिपाकसिद्धयै समाधिं कर्तुमिच्छया भगवदुक्तं बाह्यं सर्वं परित्यज्य मां परं ब्रह्मैवाऽजस्रमनुसंधेहीत्येतदर्थावबोधकं 'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' इति चरमवचनं हृदिस्थमनुवदति—'करिष्ये वचनं तव' इति । सन्निहितत्वादस्योपदेशस्य परमसिद्धान्तत्वाद्विद्वत्कृत्यत्वाच्च विदुषः स्वस्याऽग्रे कर्तव्यं वदति—'करिष्ये वचनं तव' इति । अतो न कश्चिदत्र विरोध इति सिद्धम् ॥७३॥

अर्जुनके लिए अयुक्त ही है, तो यह जो तुमने कहा, वह यद्यपि ठीक ही है कि आरूढ ब्रह्मवित्के लिए कर्मानुष्ठान अनुपयुक्त ही है, तथापि आधिकारिक होनेसे कर्मानुष्ठान अर्जुनके लिए युक्त ही है । जैसे जनक, अश्वपति आदि मुक्त आधिकारिकोंका लोकसंग्रह करनेकी इच्छासे कर्माचारण है, वैसे ही अर्जुनका आधिकारिका लोकहितके लिए कर्माचारण अविरुद्ध ही है । 'लोकसंग्रहको देखते हुए तुम्हें कर्म करना योग्य है', जो श्रेष्ठ पुरुष आचरण करता है' इससे पूर्वमें जो भगवान्ने कहा है, उसको मनमें रखकर 'मैं आपका वचन करूँगा', ऐसा कहा गया है । इन्द्रका अंश होनेसे अर्जुनका इन्द्र आदिके समान आधिकारिक होना, तत्त्वज्ञ होना और लोकहितके लिए कर्मी होना अविरुद्ध है, इसलिए ठीक ही कहा है—'करिष्ये वचनं तव' । अथवा भगवान्के प्रसादसे निःशेष मोह नष्ट हो जानेसे और आत्मस्मृति प्राप्त करनेसे आरूढभावको प्राप्त हुए अर्जुन अपने उत्पन्न हुए ज्ञानके परिपाककी सिद्धिके लिए समाधि करनेकी इच्छासे भगवान् द्वारा कहे गये 'बाह्य सबका त्याग कर मुझपरब्रह्मका ही सदा अनुसंधान करो' इस अर्थके अवबोधक 'सब धर्मोंको छोड़कर केवल मेरी शरणमें जाओ' इस हृदयस्थित अन्तिम वचनका अर्जुन अनुवाद करते हैं—'करिष्ये वचनं तव' । यह उपदेश समीप होनेसे, परम सिद्धान्त होनेसे और विद्वानोंका कृत्य होनेसे विद्वान्रूप अपना आगेका कर्तव्य कहता है—'करिष्ये वचनं तव' । अतः प्रकृतमें कोई विरोध नहीं है, यह सिद्ध हुआ ॥७३॥

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद् गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥ ७५ ॥

भगवान् वेदव्यासके प्रसादसे स्वयं श्रीमुखसे कह रहे साक्षात् भगवान् योगेश्वर श्रीकृष्णचन्द्रजीसे इस अत्यन्त रहस्यात्मक योगका मैंने श्रवण किया ॥ ७५ ॥

एवमर्जुनस्याऽविद्यातत्कार्यभ्रममार्जनायोपक्रान्तस्य ज्ञानशास्त्रस्य तदर्थस्य च परिसमाप्तिं ज्ञात्वा तच्छ्रवणतदर्थानुभवसंजातात्मानन्दरसातिरेकेण स्वगुरोरनुग्रहं स्वतृप्तिं चाऽऽविष्कर्तुं कथासंदर्भमवतारयितुं च संजय उवाच—इतीति ।

'सर्वभूताधिवासं यद्भूतेषु च वसत्यपि' इति श्रुतलक्षणलक्षितत्वाद् वासुदेवः सर्वज्ञः परमेश्वरस्तस्य वासुदेवस्य महात्मनो महानुभावस्य पार्थस्य चाऽर्जुनस्य इत्युक्तप्रकारकं संवादं प्रश्नप्रतिवचनरूपमिमं गीताग्रन्थमद्भुतमत्यन्तविस्मयकरं रोमहर्षणमश्रुतपूर्वत्वेनाऽतिगम्भीरत्वेनाऽमेयार्थत्वेनाऽतिलोकत्वेनाऽद्भुतरसत्वेन च रोमाञ्चावहं तयोः संवादमहमश्रौषं श्रुतवानस्मि ॥ ७४ ॥

कथमश्रौषीरित्याकाङ्क्षायां स्वगुरोः प्रसादादित्याह—व्यासेति ।

व्यासप्रसादाद्वेदानां शास्त्राणां पुराणानां च विस्तरकरणाद्व्यासस्तस्य मद्गुरोः श्रीकृष्णद्वैपायनस्य प्रसादादनुग्रहात्तज्जनितज्ञानशक्तेरेवैतत् । एतच्छब्दस्य विधेय-

---

इस प्रकार अर्जुनकी अविद्या और अविद्याके कार्य भ्रमको दूर करनेके लिए उपक्रान्त ज्ञानशास्त्रकी और उसके अर्थकी परिसमाप्ति जान कर श्रवण और उसके अर्थके अनुभवसे उत्पन्न हुए आत्मानन्दरसके अतिरेकसे (आधिक्यसे) अपने गुरुका अनुग्रह और अपनी तृप्तिको प्रकट करनेके लिए और कथासंदर्भका अवतरण करनेके लिए संजय बोले— 'इति' इत्यादिसे ।

'जो सब भूतोंका अधिवास है और जो सब भूतोंमें रहता भी है' इससे श्रुत लक्षणसे लक्षित होनेके कारण वासुदेव सर्वज्ञ परमेश्वर ही हैं, उन वासुदेव महात्मा—महानुभाव—का और पार्थका—अर्जुनका—इस उक्त प्रकारका संवाद यानी प्रश्नप्रतिवचनरूप यह गीता ग्रन्थ, जो अद्भुत—अत्यन्त विस्मयकर—और रोमहर्षण (पहले श्रुत न होनेसे, अतिगंभीर होनेसे, अमेयार्थक होनेसे, अलौकिक होनेसे और अद्भुतरससम्पन्न होनेसे रोमाञ्च करनेवाला) है, सुना यानी उन दोनोंका संवाद मैं सुन चुका हूँ ॥ ७४ ॥

कैसे सुना, ऐसी आकांक्षा होनेपर, अपने गुरुके प्रसादसे, ऐसा कहते हैं—'व्यास०' इत्यादिसे ।

व्यासके प्रसादसे (वेदोंका, शास्त्रोंका और पुराणोंका विस्तार करनेसे व्यास कहलाते हैं, उन अपने गुरु श्रीकृष्णद्वैपायनके प्रसादसे) यानी अनुग्रहसे अर्थात् अनुग्रहसे उत्पन्न हुई

राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥ ७६ ॥

राजन्, श्रीकेशव और अर्जुनके इस पुण्योत्पादक अद्भुत संवादका बार बार स्मरण कर मैं अत्यन्त पुलकित होता हूँ ॥ ७६ ॥

प्राधान्येन लिङ्गनिर्देशः । एतदेतं मोक्षैकसाधनत्वात्परमत्यन्तं गुह्यं गोपनीयं रहस्यमित्यर्थः । योगं ज्ञानयोगमहं श्रुतवानस्मि । कस्य मुखाच्छ्रुतमित्याकाङ्क्षायां योगेश्वरादिति । योगानां हठादीनां तत्फलसिद्धेश्च कारणत्वाद्योगेश्वरः । यद्वा, योगो मायायोगः सृष्ट्यादिस्तत्कर्तृत्वाद्योगेश्वरः । यद्वा, योगो ज्ञानयोगः आत्यन्तिकसंसारदुःखनिवृत्तिकारणं तत्सिद्धिर्यस्य प्रसादात् स योगेश्वरस्तस्माद्योगेश्वरात् साक्षाच्छ्रीकृष्णादेव स्वयं स्वमुखेनैव कथयत एतं ज्ञानयोगमहं श्रुतवानस्मि । अहो मम भाग्यमहो गुरुप्रसाद इति स्वतृप्तिमाविष्कृतवानित्यर्थः ॥ ७५ ॥

श्रुत्वा किं कृतवानसीत्याकाङ्क्षायां सन्तुष्यामीत्याह—**राजन्निति** ।

पुण्यं पुण्यकरं पावनं श्रवणपठनाभ्यां ज्ञानाज्ञानकृतसर्वपापविध्वंसकं केशवार्जुनयोः संवादमुक्तलक्षणमिमं गीताख्यं ग्रन्थं श्रुतं मुहुर्मुहुश्च स्मृत्वा स्मृत्वा हृष्यामि । किं मया जन्मान्तरशतेषु पुण्यं कृतं किं तप्तं किं दत्तं

ज्ञानशक्तिसे ही इस (विधेयके—गुह्यके—प्राधान्यसे 'एतत्' शब्दका नपुंसक लिंगसे निर्देश है) मोक्षका ही एकमात्र साधन होनेसे परम (अत्यन्त) गुह्य यानी गोपनीय, रहस्य यह अर्थ है । योगको—ज्ञानयोगको—मैंने सुना है । किसके मुखसे सुना ? ऐसी आकांक्षा होनेपर कहते हैं—योगेश्वरादिति । हठ आदि योगोंका और उनकी फलसिद्धिका कारण होनेसे योगेश्वर । अथवा योग—मायायोग—यानी सृष्टि आदि, उसका कर्ता होनेसे योगेश्वर । अथवा योग—आत्यन्तिक संसारदुःखकी निवृत्तिका कारण ज्ञानयोग, उसकी सिद्धि जिसके प्रसादसे होती है, वह योगेश्वर है । योगेश्वरसे—साक्षात् स्वयं स्वमुखसे कह रहे श्रीकृष्णसे—ही इस ज्ञानयोगको मैंने सुना है । अहो मेरा भाग्य, अहो गुरुका प्रसाद, यों संजयने अपनी तृप्तिको प्रकट किया, यह अर्थ है ॥ ७५ ॥

सुनकर तुमने क्या किया ? ऐसी आकांक्षा होनेपर सन्तुष्ट हुआ हूँ, ऐसा कहते हैं—**'राजन्'** इत्यादिसे ।

पुण्य—पुण्यकर यानी पावन अर्थात् श्रवण और पठनसे ज्ञान या अज्ञानसे किये गये सब पापोंके नाशक—केशव और अर्जुनके संवादका—उक्त लक्षणवाले इस गीतानामक सुने गये ग्रन्थका—बारबार स्मरण कर मैं हर्षको प्राप्त होता हूँ । सैकड़ों पिछले जन्मोंमें मैंने कौन-सा पुण्य

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ॥ ७७ ॥
यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ ७८ ॥

राजन्, भगवान्‌के उस अद्भुत विराट्स्वरूपका बार-बार स्मरण कर मुझे अत्यन्त विस्मय होता है और मैं बड़ा प्रसन्न होता हूँ ॥ ७७ ॥

जिस पक्षमें भगवान् योगेश्वर श्रीकृष्णचन्द्र हैं और जिस पक्षमें धनुर्धर पार्थ (अर्जुन) हैं, उसी पक्षमें निश्चल श्री, विजय और नीति है, यही मेरी मति है ॥ ७८ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसंन्यासयोगो नामाऽष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

किं हुतं किं दृष्टं वा न जाने येन तयोरिदं संवादलक्षणं गीताशास्त्रं मया श्रुतमित्यर्थः ॥ ७६ ॥

विश्वरूपसंदर्शनजां तृप्तिं वर्णयति—तच्चेति ।

हरेः स्वसाक्षात्कारमात्रेणाऽविद्यां तत्कार्यं च हरति स्वस्मिन्नेव तिरोभावयतीति हरिः सच्चिदानन्दस्वरूपः परमेश्वरस्तस्य 'अनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्' इत्युक्तलक्षणं तच्च रूपं विश्वरूपमपि अत्यद्भुतं महाश्चर्यकरं पुनः पुनश्च संस्मृत्य संस्मृत्य स्मृत्वा स्मृत्वा हृष्यामि । धन्योऽहं धन्योऽहं कृतकृत्योऽहमिति सन्तोषसागरे मज्जामीत्यर्थः ॥ ७७ ॥

किया था, कौन-सा तप किया था, कौन-सा दान दिया था, कौन-सा हवन किया था अथवा किसका दर्शन किया था, यह मैं नहीं जानता, जिससे कि दोनोंका संवादरूप यह गीताशास्त्र मैंने सुना, यह अर्थ है ॥ ७६ ॥

विश्वरूपसंदर्शनसे उत्पन्न हुई तृप्तिका वर्णन करते हैं—'तच्च' इत्यादिसे ।

हरिके (अपने साक्षात्कारमात्रसे अविद्या और उसके कार्यको जो हरते हैं—अपनेमें ही छिपा लेते हैं—वे हरि हैं) यानी सच्चिदानन्दस्वरूप परमेश्वरके 'अनन्तभुजावाले और शशि-सूर्यरूप नेत्रवाले' इत्यादिसे उक्त लक्षणवाले उस रूपका—विश्वरूपका—भी, जो अति अद्भुत यानी महा आश्चर्य करनेवाला है, बारबार स्मरण कर हर्षित होता हूँ, मैं धन्य हूँ, मैं धन्य हूँ, मैं कृतकृत्य हूँ, यों संतोषसागरमें मग्न होता हूँ, यह अर्थ है ॥ ७७ ॥

किमतः परं वक्तव्यमस्ति मम निश्चयं शृण्वित्याह—यत्रेति ।

योगेश्वरः योगास्तेजोबलपौरुषविद्याराज्यजयधनधान्यपुत्रपौत्राद्यभ्युदयानां घटनास्तेषामीश्वरः । यद्वा, 'विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः' इति श्रवणाद् युज्यते आभ्यामिति योगौ विद्याविद्ये ईशितुं शीलमस्याऽस्तीति योगेश्वरः । यद्वा, युज्यते समाधीयते चित्तमेतेष्विति योगाः ऐहिकामुष्मिकसुखविशेषाः कर्मसाध्या उपास्तिसाध्याश्च तेषां प्रदाने शक्त ईश्वरो योगेश्वरः । यद्वा, योगो ज्ञानयोगः कर्मयोगो वा तयोः फलसिद्धेरीश्वराधीनत्वाद्योगेश्वरः, 'संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः' इति श्रुतेः । एवंलक्षणः परमात्मा श्रीकृष्णो यत्र यस्मिन् पक्षे तिष्ठति धनुर्धरो धनुर्विद्यापारगोऽतिरथो गाण्डीवधन्वाऽर्जुनः यत्र यस्मिन् पक्षे तिष्ठति तत्र तस्मिन् पक्ष एव ध्रुवा अव्यभिचारिणी नीतिः शास्त्रदृष्टा मर्यादा तिष्ठति । धर्मस्तत्रैव तिष्ठतीत्यर्थः । 'यतो धर्मस्ततो जयः' इति न्यायेन विजयोऽपि तत्रैव तिष्ठतीत्यर्थः । श्रीर्ध्रुवा निश्चला राजलक्ष्मीस्तत्रैव तिष्ठति । भूतिर्गजतुरगधनधान्यादिसंपत्तिस्तत्र • तस्मिन्नेव पक्षे ध्रुवा निश्चला तिष्ठतीति मम मतिर्निश्चयः । त्वमतः पुत्राणां जयाशां परित्यजेत्यर्थः । गुरुभ्रात्रादिहिंसालक्षणं घोरं कर्माऽहं कृत्वा पापी स्यां तेन नरकं यास्यामीत्यनात्मकर्तृके कर्मण्यकर्तारमेवाऽऽत्मानं कर्तारं

इससे अधिक क्या वक्तव्य है, मेरा निश्चय सुनो, ऐसा कहते हैं—'यत्र' इत्यादिसे ।

योगेश्वर (योग—तेज, बल, पौरुष, विद्या, राज्य, जय, धन, धान्य, पुत्र, पौत्र आदि अभ्युदयोंके संघटन, उनका ईश्वर । अथवा 'विद्या, अविद्या दोनोंको जो नियममें रखता है, वह अन्य है' इस श्रुतिसे जिनसे युक्त होता है, वे योग हैं यानी विद्या और अविद्या, उनको नियममें रखनेका जिसका शील है, वह योगेश्वर। अथवा जिनमें चित्त समाहित होता है, वे योग हैं यानी कर्मसाध्य और उपास्तिसाध्य इस लोक और परलोकके सुखविशेष, उनके देनेमें समर्थ ईश्वर योगेश्वर । अथवा योग—ज्ञानयोग अथवा कर्मयोग—उन दोनोंके फलकी सिद्धि ईश्वरके अधीन है, अतः ईश्वर योगेश्वर, क्योंकि 'संसार, मोक्ष, स्थिति और बन्धका हेतु ईश्वर है' ऐसी श्रुति है)। इस प्रकार लक्षणवाले परमात्मा श्रीकृष्ण जहाँ—जिस पक्षमें—स्थित हैं और धनुर्धर—धनुर्विद्यापारंगत अतिरथ गाण्डीवधनुषधारी अर्जुन—जहाँ (जिस पक्षमें) स्थित है, वहाँ—उस पक्षमें—ही ध्रुवा (अव्यभिचारिणी) नीति यानी शास्त्र द्वारा दिखलायी गई मर्यादा स्थित है। वहींपर धर्म स्थित है, यह अर्थ है । 'जहाँ धर्म तहाँ जय' इस न्यायसे विजय भी वहीं स्थित है, यह अर्थ है । श्री ध्रुवा—निश्चल—राजलक्ष्मी वहीं स्थित है । भूति—हाथी, घोड़ा, धन, धान्य आदि संपत्ति--वहीं (उसी पक्षमें) ध्रुवा (निश्चल) स्थित है, ऐसी मेरी मति—मेरा निश्चय—है । इसलिए तुम अपने पुत्रोंके जयकी आशाका त्याग करो, यह अर्थ है । गुरु, भाई आदिकी हिंसारूप घोर कर्म करके मैं पापी होऊँगा, इससे नरकमें जाऊँगा, ऐसे अनात्मकर्तृक

भोक्तारं मत्वा मोहेन शोचतोऽर्जुनस्य मोहसागरे निमग्नस्योद्धरणमात्मयाथात्म्यविज्ञानेन विना नाऽन्येन सिध्यत्यात्मयाथात्म्यविज्ञानं च तत्त्वंपदार्थयोः शोधितयोरेकत्वप्रतिपादनेन विना न सिध्यत्यतस्तयोः शोधनं कर्तव्यमिति। 'न त्वेवाऽहं जातु नाऽऽसम्' इत्यारभ्य प्रथमषट्केण त्वंपदार्थं शोधयित्वा द्वितीयेन तत्पदार्थं च शोधयित्वा तृतीयेन तयोरेकत्वं प्रतिपाद्य कर्तृत्वभोक्तृत्वाद्यविद्यातत्कार्यसम्बन्धरहितं सर्वसंसारधर्मनिर्मुक्तमात्मतत्त्वं बोधयित्वा तस्यैव बोधस्याऽप्रतिबद्धत्वसिद्धये ज्ञाननिष्ठामुपदिश्य तत्परिपक्वज्ञानेन 'भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चाऽस्मि तत्त्वतः। ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥' इत्यात्मयाथात्म्यावधारणं तेन ब्रह्मप्राप्तिश्च प्रतिपादिता, ततः सर्वस्या अपि गीतायाः प्रतिपाद्यं प्रत्यगभिन्नं परं ब्रह्मैव तज्ज्ञानमेव मोक्षसाधनमिति पर्यवसितम्। तथैव सर्वस्या अपि गीतायाः श्रवणं कृतवतोऽर्जुनस्योक्तिरप्यनुभवारूढा 'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा' इति ज्ञानेनाऽज्ञाननिवृत्तिं तत्फलभूतमात्मलाभं च बोधयति। अतः सिद्धं ज्ञानमेव मोक्षस्य परमकारणमिति। तथाच श्रुतिः 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्', 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इति, 'एषा तेऽभिहिता सांख्ये' इति ज्ञानयोगमुपदिश्य स्वेनोपदिष्टज्ञानसंपादने

(जिसका कर्ता अनात्मा है) कर्ममें अकर्ता आत्माको भी कर्ता-भोक्ता मानकर मोहसे शोक करते हुए, मोहसागरमें डूब रहे अर्जुनका उद्धरण आत्माके याथात्म्यज्ञानके बिना दूसरे उपायसे सिद्ध नहीं हो सकता और आत्माका याथात्म्यज्ञान शोधित तत् और त्वं पदार्थोंके एकत्वके प्रतिपादनके बिना सिद्ध नहीं हो सकता, इसलिए दोनोंका शोधन करना चाहिए। 'मैं कभी नहीं था, ऐसा नहीं है' यहाँसे लेकर प्रथम षट्कसे त्वंपदार्थका शोधन करके, दूसरे षट्कसे तत्पदार्थका शोधन करके और तीसरेसे उन दोनोंके एकत्वका प्रतिपादन करके कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि तथा अविद्या और उसके कार्यके सम्बन्धसे रहित सर्वसंसारधर्मसे निर्मुक्त आत्मतत्त्वका बोध कराकर, उस बोधके अप्रतिबद्धत्वकी सिद्धिके लिए ज्ञाननिष्ठाका उपदेश करके, उससे परिपक्व ज्ञानसे 'भक्तिसे मुझको जानता है, जितना और जो मैं तत्त्वतः हूँ, मुझे तत्त्वरूपसे जानकर, उसके पीछे मुझमें प्रवेश करता है' इससे आत्मयाथात्म्यका अवधारण और इससे ब्रह्मप्राप्तिका प्रतिपादन किया, इसलिए सभी गीताका प्रतिपाद्य प्रत्यगभिन्न परब्रह्म ही है, उसका ज्ञान ही मोक्षका साधन है, ऐसा सिद्धान्त हुआ। इसी प्रकार सम्पूर्ण गीताके श्रवण करनेवाले अर्जुनकी अनुभवारूढ उक्ति भी 'मोह नष्ट हुआ, स्मृति प्राप्त हुई' यों ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति और उसके फल आत्मलाभका बोधन करती है। इससे सिद्ध हुआ कि ज्ञान ही मोक्षका परम कारण है, इस अर्थकी पोषक श्रुति भी है— 'केवल ज्ञानसे ही कैवल्य होता है'। 'उसीको जानकर पुरुष मृत्युको लांघता है, मोक्षके लिए अन्य मार्ग नहीं है', 'यह तुमसे सांख्यमें कहा' यों ज्ञानयोगका उपदेश करके, अपने द्वारा उपदेश

पुरुषस्य प्रज्ञामान्द्यमालक्ष्य 'बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु' इति कर्मयोगमुपक्रम्य 'बुद्धौ शरणमन्विच्छ', 'योगः कर्मसु कौशलम्' इति ज्ञानयोगं च पुनः प्रस्तुत्य 'ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्' इति तयोर्विषयभेदव्यवस्थां कृत्वा राजसतामसत्यागनिन्दापूर्वकं सात्त्विकत्यागस्यैव श्रेष्ठत्वमुक्त्वा तच्चाऽपि परमेश्वरप्रीत्यै कर्तव्यमिति निश्चित्य कर्मनिष्ठया परिशुद्धचित्तस्य ज्ञानं प्राप्तवतो ज्ञाननिष्ठा विहिता। ततः कर्मयोगो ज्ञानयोगस्य साधनमेव भवति न तु साक्षान्मोक्षकारणमित्येव सिद्धान्तितं भवति। अत्र गीताया ज्ञानकर्मयोगयोरेव द्वयोरुपक्रमोपसंहारदर्शनाद्योगान्तरस्य न प्राधान्यं प्रतीयते। अमानित्वाद्वेष्टृत्वशुद्धबुद्धित्वादयो यथा ज्ञानतत्फलसिद्धिसाधनानि तथा मुमुक्षुत्वनिष्ठावत्त्वसात्त्विकश्रद्धाभक्तिमत्त्वादयः कर्मफलसिद्धिसाधनानीति सिद्धं सर्वमनवद्यम्॥ ७८॥

कालकूटसमो दोषो यस्य कण्ठे लवायते।
गुणोऽपि वा कलामात्रो यस्य भूषायते सतः।
तमहं पुरुषं वन्देऽविद्यादोषहरं परम्॥ १॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमदानन्दात्मसरस्वतीभगवत्पादपूज्यशिष्यश्रीशङ्करानन्दसरस्वतीकृतौ गीतातात्पर्यबोधिन्यामष्टादशोऽध्यायः॥ १८॥

किये गये ज्ञानके संपादनमें पुरुषकी बुद्धिकी मन्दता देखकर 'योगमें इस बुद्धिको सुनो' इससे कर्मयोगका उपक्रम करके 'बुद्धिकी शरण लो', 'कर्मोंकी निवृत्तिमें ज्ञानयोग ही समर्थ है' इससे ज्ञानयोगका फिर प्रस्ताव करके 'ज्ञानयोगसे सांख्योंकी, कर्मयोगसे योगियोंकी' यों उन दोनोंके विषयभेदकी व्यवस्था करके राजस, तामस त्यागकी निन्दा सहित सात्त्विक त्यागका ही श्रेष्ठत्व कहकर और उसकी भी परमेश्वरकी प्रीतिके लिए ही कर्तव्यता है, ऐसा निश्चय करके कर्मनिष्ठासे परिशुद्ध चित्तवाले, ज्ञानको प्राप्त हुए पुरुषकी ज्ञाननिष्ठाका विधान किया। इसलिए कर्मयोग ज्ञानयोगका साधन ही है, न कि साक्षात् मोक्षका कारण है, यही सिद्धान्त हुआ। इस गीतामें ज्ञानयोग और कर्मयोग दोनोंका ही उपक्रम और उपसंहार देखनेसे दूसरे योगकी प्रधानता प्रतीत नहीं होती, अमानित्व, अद्वेष्टृत्व, शुद्धबुद्धित्व आदि जैसे ज्ञान और ज्ञानके फलकी सिद्धिके साधन हैं, वैसे मुमुक्षुत्व, निष्ठावत्त्व, सात्त्विकश्रद्धाभक्तिमत्त्व आदि कर्मफलकी सिद्धिके साधन हैं, ऐसा सिद्ध है। सब निर्दोष है॥ ७८॥

आसु कण्ठमें होय लव, कालकूट सम दोष।
कलामात्र गुण होय बहु, जिस सतका भवतोष॥ १॥
जिसके दर्शनमात्रसे, होय अविद्या चूर्ण।
बन्दौं सो ही देववर, अघहर शिव परिपूर्ण॥ २॥

यतिवर श्रीभोलेबाबाविरचितगीताशङ्करानन्दीभाषानुवादमें अठारहवाँ अध्याय समाप्त।

श्रीमद्भगवद्गीतापद्यानामकारादिवर्णानुक्रमः ।

श्लोकप्रतीकः	अ०	श्लो०
अ		
अकीर्तिं चापि भूतानि	२	३४
अक्षरं ब्रह्म परमं	८	३
अक्षराणामकारोऽस्मि	१०	३३
अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः	८	२४
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयं	२	२४
अजोऽपि सन्नव्ययात्मा	४	६
अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च	४	४०
अत्र शूरा महेष्वासाः	१	४
अथ केन प्रयुक्तोऽयं	३	३६
अथ चित्तं समाधातुं	१२	९
अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं	२	३३
अथ चैनं नित्यजातं	२	२६
अथवा योगिनामेव	६	४२
अथवा बहुनैतेन	१०	४२
अथ व्यवस्थितान् दृष्ट्वा	१	२०
अथैतदप्यशक्तोऽसि	१२	११
अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि	११	४५
अदेशकाले यद्दानं	१७	२२
अद्वेष्टा सर्वभूतानां	१२	१३
अधर्मं धर्ममिति या	१८	३२
अधर्माभिभवात् कृष्ण	१	४१
अधश्चोर्ध्वं प्रसृताः	१५	२
अधिभूतं क्षरो भावः	८	४
अधियज्ञः कथं कोऽत्र	८	२
अधिष्ठानं तथा कर्ता	१८	१४
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं	१३	११
अध्येष्यते च य इमं	१८	७०
अनन्तविजयं राजा	१	१६
अनन्तश्चास्मि नागानां	१०	२९

श्लोकप्रतीकः	अ०	श्लो०
अनन्यचेताः सततं	८	१४
अनन्याश्चिन्तयन्तो मां	९	२२
अनपेक्षः शुचिर्दक्षः	१२	१६
अनादित्वान्निर्गुणत्वात्	१३	३१
अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यं	११	१९
अनाश्रितः कर्मफलं	६	१
अनिष्टमिष्टं मिश्रं च	१८	१२
अनुद्वेगकरं वाक्यं	१७	१५
अनुबन्धं क्षयं हिंसा०	१८	२५
अनेकचित्तविभ्रान्ता	१६	१६
अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं	११	१६
अनेकवक्त्रनयनम्	११	१०
अन्तकाले च मामेव	८	५
अन्तवत्तु फलं तेषां	७	२३
अन्तवन्त इमे देहा	२	१८
अन्नाद्भवन्ति भूतानि	३	१४
अन्ये च बहवः शूरा	१	९
अन्ये त्वेवमजानन्तः	१३	२५
अपरं भवतो जन्म	४	४
अपरे नियताहाराः	४	३०
अपरेयमितस्त्वन्यां	७	५
अपर्याप्तं तदस्माकं	१	१०
अपाने जुह्वति प्राणं	४	२९
अपि चेत्सुदुराचारो	९	३०
अपि चेदसि पापेभ्यः	४	३६
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च	१४	१३
अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो	१७	११
अभयं सत्त्वसंशुद्धिः	१६	१
अभिसन्धाय तु फलं	१७	१२
अभ्यासयोगयुक्तेन	८	८

श्लोकप्रतीकः	अ०	श्लो०
अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि	१२	१०
अमानित्वमदम्भित्व०	१३	७
अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः	११	२६
अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति	११	२१
अयतिः श्रद्धयोपेतो	६	३७
अयनेषु च सर्वेषु	१	११
अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः	१८	२८
अवजानन्ति मां मूढा	९	११
अवाच्यवादांश्च बहून्	२	३६
अविनाशि तु तद्विद्धि	२	१७
अविभक्तं च भूतेषु	१३	१६
अव्यक्तादीनि भूतानि	२	२८
अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः	८	१८
अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तः	८	२१
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयं	२	२५
अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं	७	२४
अशास्त्रविहितं घोरं	१७	५
अशोच्यानन्वशोचस्त्वं	२	११
अश्रद्दधानाः पुरुषाः	९	३
अश्रद्धया हुतं दत्तं	१७	२८
अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां	१०	२६
असक्तबुद्धिः सर्वत्र	१८	४९
असक्तिरनभिष्वङ्गः	१३	९
असत्यमप्रतिष्ठं ते	१६	८
असौ मया हतः शत्रुः	१६	१४
असंयतात्मना योगो	६	३६
असंशयं महाबाहो	६	३५
अस्माकं तु विशिष्टा ये	१	७
अहङ्कारं बलं दर्पं	१६	१८
अहङ्कारं बलं दर्पं	१८	५३
अहं क्रतुरहं यज्ञः	९	१६
अहं वैश्वानरो भूत्वा	१५	१४
अहं सर्वस्य प्रभवो	१०	८
अहं हि सर्वयज्ञानाम्	९	२४
अहमात्मा गुडाकेश	१०	२०
अहिंसा सत्यमक्रोधः	१६	२
अहिंसा समता तुष्टिः	१०	५
अहो बत महत्पापं	१	४५

आ

श्लोकप्रतीकः	अ०	श्लो०
आख्याहि मे को भवान्	११	३१
आचार्याः पितरः पुत्राः	१	३४
आढ्योऽभिजनवानस्मि	१६	१५
आत्मसंभाविताः स्तब्धाः	१६	१७
आत्मौपम्येन सर्वत्र	६	३२
आदित्यानामहं विष्णुः	१०	२१
आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं	२	७०
आब्रह्मभुवनाल्लोकाः	८	१६
आयुधानामहं वज्रम्	१०	२८
आयुःसत्त्वबलारोग्य०	१७	८
आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं	६	३
आवृतं ज्ञानमेतेन	३	३९
आशापाशशतैर्बद्धाः	१६	१२
आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनं	२	२९
आसुरीं योनिमापन्नाः	१६	२०
आहारस्त्वपि सर्वस्य	१७	७
आहुस्त्वामृषयः सर्वे	१०	१३

इ

श्लोकप्रतीकः	अ०	श्लो०
इच्छाद्वेषसमुत्थेन	७	२७
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं	१३	६
इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं	१३	१८
इति गुह्यतमं शास्त्रं	१५	२०
इति ते ज्ञानमाख्यातं	१८	६३
इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा	११	५०
इत्यहं वासुदेवस्य	१८	७४
इदमद्य मया लब्धं	१६	१३
इदं ज्ञानमुपाश्रित्य	१४	२
इदं तु ते गुह्यतमं	९	१
इदं ते नातपस्काय	१८	६७
इदं शरीरं कौन्तेय	१३	१
इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे	३	३४

श्लोकप्रतीकः	अ०	श्लो०
इन्द्रियाणां हि चरतां	२	६७
इन्द्रियाणि पराण्याहुः	३	४२
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः	३	४०
इन्द्रियार्थेषु वैराग्य०	१३	८
इमं विवस्वते योगं	४	१
इष्टान् भोगान् हि वो देवा	३	१२
इहैकस्थं जगत् कृत्स्नं	११	७
इहैव तैर्जितः सर्गो	५	१९
ई		
ईश्वरः सर्वभूतानां	१८	६१
उ		
उच्चैःश्रवसमश्वानां	१०	२७
उत्क्रामन्तं स्थितं वाऽपि	१५	१०
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः	१५	१७
उत्सन्नकुलधर्माणाम्	१	४४
उत्सीदेयुरिमे लोका	३	२४
उदाराः सर्व एवैते	७	१८
उदासीनवदासीनो	१४	२३
उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं	६	५
उपद्रष्टाऽनुमन्ता च	१३	२२
ऊ		
ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था	१४	१८
ऊर्ध्वमूलमधःशाखम०	१५	१
ऋ		
ऋषिभिर्बहुधा गीतं	१३	४
ए		
एतच्छ्रुत्वा वचनं	११	३५
एतद्योनीनि भूतानि	७	६
एतन्मे संशयं कृष्ण	६	३९
एतां दृष्टिमवष्टभ्य	१६	९
एतां विभूतिं योगं च	१०	७
एतान्न हन्तुमिच्छामि	१	३५
एतान्यपि तु कर्माणि	१८	६
एतैर्विमुक्तः कौन्तेय	१६	२२
एवमुक्तो हृषीकेशो	१	२४

श्लोकप्रतीकः	अ०	श्लो०
एवमुक्त्वाऽर्जुनः संख्ये	१	४७
एवमुक्त्वा ततो राजन्	११	९
एवमुक्त्वा हृषीकेशं	२	९
एवमेतद्यथात्थ त्व०	११	३
एवं परम्पराप्राप्त०	४	२
एवं प्रवर्तितं चक्रं	३	१६
एवं बहुविधा यज्ञा	४	३२
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा	३	४३
एवं सततयुक्ता ये	१२	१
एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म	४	१५
एषा तेऽभिहिता सांख्ये	२	३९
एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ	२	७२
ओ		
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म	८	१३
ॐतत्सदिति निर्देशो	१७	२३
क		
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टः	६	३८
कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ	१८	७२
कट्वम्ललवणात्युष्ण०	१७	९
कथं न ज्ञेयमस्माभिः	१	३९
कथं भीष्ममहं संख्ये	२	४
कथं विद्यामहं योगिन्	१०	१७
कर्मजं बुद्धियुक्ता हि	२	५१
कर्मणः सुकृतस्याऽऽहुः	१४	१६
कर्मणैव हि संसिद्धिमा०	३	२०
कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं	४	१७
कर्मण्यकर्म यः पश्येद०	४	१८
कर्मण्येवाऽधिकारस्ते	२	४७
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि	३	१५
कर्मेन्द्रियाणि संयम्य	३	६
कर्षयन्तः शरीरस्थं	१७	६
कविं पुराणमनुशासितार०	८	९
कस्माच्च ते न नमेरन्	११	३९
काम एष क्रोध एष	३	३७
कामक्रोधवियुक्तानां	५	२६

श्लोकप्रतीकः	अ०	श्लो०
काममाश्रित्य दुष्पूरं	१६	१०
कामात्मानः स्वर्गपरा	२	४३
कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः	७	२०
काम्यानां कर्मणां न्यासं	१८	२
कायेन मनसा बुद्ध्या	५	११
कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः	२	७
कार्यकारणकर्तृत्वे	१३	२०
कार्यमित्येव यत्कर्म	१८	९
कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्	११	३२
काश्यश्च परमेष्वासः	१	१७
काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं	४	१२
किं कर्म किमकर्मेति	४	१६
किं तद् ब्रह्म किमध्यात्मं	८	१
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या	९	३३
किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त०	११	४६
किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च	११	१७
कुतस्त्वा कश्मलमिदं	२	२
कुलक्षये प्रणश्यन्ति	१	४०
कृपया परयाऽऽविष्टो	१	२८
कृषिगोरक्षवाणिज्यं	१८	४४
कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतान्	१४	२१
क्रोधाद्भवति संमोहः	२	६३
क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ	२	३
क्लेशोऽधिकतरस्तेषां	१२	५
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा	९	३१
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवम०	१३	३४
क्षेत्रज्ञं चाऽपि मां विद्धि	१३	२
ग		
गतसङ्गस्य मुक्तस्य	४	२३
गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी	९	१८
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्	१	३०
गामाविश्य च भूतानि	१५	१३
गुणानेतानतीत्य त्रीन्	१४	२०
गुरूनहत्वा हि महानुभावान्	२	५

श्लोकप्रतीकः	अ०	श्लो०
च		
चञ्चलं हि मनः कृष्ण	६	३४
चतुर्विधा भजन्ते मां	७	१६
चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं	४	१३
चिन्तामपरिमेयां च	१६	११
चेतसा सर्वकर्माणि	१८	५७
ज		
जन्म कर्म च मे दिव्यं	४	९
जरामरणमोक्षाय	७	२९
जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः	२	२७
जितात्मनः प्रशान्तस्य	६	७
ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये	९	१५
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा	६	८
ज्ञानेन तु तदज्ञानं	५	१६
ज्ञानं कर्म च कर्ता च	१८	१९
ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानं	७	२
ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता	१८	१८
ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी	५	३
ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि	१३	१२
ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते	३	१
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः	१३	१७
त		
तं तथा कृपयाविष्टम०	२	१
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं	१५	४
तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य	१८	७७
ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च	१	१३
ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते	१	१४
ततः स विस्मयाविष्टो	११	१४
तत्त्ववित्तु महाबाहो	३	२८
तत्र तं बुद्धिसंयोगं	६	४३
तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्	१४	६
तत्रापश्यत्स्थितान् पार्थः	१	२६
तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं	११	१३
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा	६	१२
तत्रैवं सति कर्तारं	१८	१६

श्लोकप्रतीकः	अ०	श्लो०
तत्क्षेत्रं यच्च यादृक् च	१३	३
तदित्यनभिसन्धाय	१७	२५
तद्बुद्धयस्तदात्मानः	५	१७
तद्विद्धि प्रणिपातेन	४	३४
तपस्विभ्योऽधिको योगी	६	४६
तपाम्यहमहं वर्षं	९	१९
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि	१४	८
तमुवाच हृषीकेशः	२	१०
तमेव शरणं गच्छ	१८	६२
तं विद्याद्दुःखसंयोग०	६	२३
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते	१६	२४
तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय	११	४४
तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ	३	४१
तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो	११	३३
तस्मात्सर्वेषु कालेषु	८	७
तस्मादसक्तः सततं	३	१९
तस्मादज्ञानसंभूतं	४	४२
तस्मादोमित्युदाहृत्य	१७	२४
तस्माद्यस्य महाबाहो	२	६८
तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं	१	३७
तस्य संजनयन् हर्षं	१	१२
तानहं द्विषतः क्रूरान्	१६	१९
तानि सर्वाणि संयम्य	२	६१
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी	१२	१९
तेजः क्षमा धृतिःशौच०	१६	३
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं	९	२१
तेषामहं समुद्धर्ता	१२	७
तेषामेवाऽनुकम्पार्थं	१०	११
तेषां सततयुक्तानां	१०	१०
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त	७	१७
त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं	४	२०
त्याज्यं दोषवदित्येके	१८	३
त्रिभिर्गुणमयैर्भावैः	७	१३
त्रिविधा भवति श्रद्धा	१७	२
त्रिविधं नरकस्येदं	१६	२१
त्रैगुण्यविषया वेदा	२	४५
त्रैविद्या मां सोमपाः	९	२०
त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं	११	१८
त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणः	११	३८
द		
दण्डो दमयतामस्मि	१०	३८
दम्भो दर्पोऽभिमानश्च	१६	४
दंष्ट्राकरालानि च ते	११	२५
दातव्यमिति यद्दानं	१७	२०
दिवि सूर्यसहस्रस्य	११	१२
दिव्यमाल्याम्बरधरं	११	११
दुःखमित्येव यत्कर्म	१८	८
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः	२	५६
दूरेण ह्यवरं कर्म	२	४९
दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं	१	२
दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं	११	५१
देवद्विजगुरुप्राज्ञ०	१७	१४
देवान्भावयतानेन	३	११
देही नित्यमवध्योऽयं	२	३०
देहिनोऽस्मिन्यथा देहे	२	१३
दैवमेवाऽपरे यज्ञं	४	२५
दैवी ह्येषा गुणमयी	७	१४
दैवी संपद्विमोक्षाय	१६	५
दोषैरेतैः कुलघ्नानां	१	४३
द्यावापृथिव्योरिदम०	११	२०
द्यूतं छलयतामस्मि	१०	३६
द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा	४	२८
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च	१	१८
द्रोणं च भीष्मं च	११	३४
द्वाविमौ पुरुषौ लोके	१६	१६
द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्	२६	६
ध		
धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे	१	१
धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः	८	२५

श्लोकप्रतीकः	अ०	श्लो०
धूमेनाव्रियते वह्निः	३	३८
धृत्या यया धारयते	१८	३३
धृष्टकेतुश्चेकितानः	१	५
ध्यानेनाऽऽत्मनि पश्यन्ति	१३	२४
ध्यायतो विषयान्पुंसः	२	६२
न		
न कर्तृत्वं न कर्माणि	५	१४
न कर्मणामनारम्भान्नै०	३	४
न काङ्क्षे विजयं कृष्ण	१	३२
न च तस्मान्मनुष्येषु	१८	६९
न च मत्स्थानि भूतानि	९	५
न च मां तानि कर्माणि	९	९
न चैतद्विद्मः कतरन्नो	२	६
न जायते म्रियते वा	२	२०
न तदस्ति पृथिव्यां वा	१८	४०
न तद्भासयते सूर्यो	१५	६
न तु मां शक्यसे द्रष्टुम०	११	८
न त्वेवाहं जातु नासं	२	१२
न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म	१८	१०
न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य	५	२०
न बुद्धिभेदं जनयेद०	३	२६
नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं	११	२४
नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते	११	४०
न मां कर्माणि लिम्पन्ति	४	१४
न मां दुष्कृतिनो मूढाः	७	१५
न मे पार्थास्ति कर्तव्यं	३	२२
न मे विदुः सुरगणाः	१०	२
न रूपमस्येह तथोपलभ्यते	१५	३
न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै०	११	४८
नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा	१८	७३
नहि कश्चित्क्षणमपि	३	५
नहि देहभृता शक्यं	१८	११
नहि प्रपश्यामि ममापनुद्यात्	२	८
नहि ज्ञानेन सदृशं	४	३८
नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति	६	१६
नादत्ते कस्यचित्पापं	५	१५
नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां	१०	४०
नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं	१४	१९
नासतो विद्यते भावो	२	१६
नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य	२	६६
नाऽहं प्रकाशः सर्वस्य	७	२५
नाहं वेदैर्न तपसा	११	५३
निमित्तानि च पश्यामि	१	३१
नियतस्य तु संन्यासः	१८	७
नियतं कुरु कर्म त्वं	३	८
नियतं सङ्गरहित०	१८	२३
निराशीर्यतचित्तात्मा	४	२१
निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा	१५	५
निश्चयं शृणु मे तत्र	१८	४
निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः	१	३६
नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति	२	४०
नैते सृती पार्थ जानन्	८	२७
नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि	२	२३
नैव किंचित्करोमीति	५	८
नैव तस्य कृतेनाऽर्थो	३	१८
प		
पञ्चैतानि महाबाहो	१८	१३
पत्रं पुष्पं फलं तोयं	९	२६
परस्तस्मात्तु भावोऽन्यो	८	२०
परं ब्रह्म परं धाम	१०	१२
परं भूयः प्रवक्ष्यामि	१४	१
परित्राणाय साधूनां	४	८
पवनः पवतामस्मि	१०	३१
पश्य मे पार्थ रूपाणि	११	५
पश्यादित्यान् वसून् रुद्रान०	११	६
पश्यामि देवाँस्तव देव देहे	११	१५
पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामा०	१	३
पाञ्चजन्यं हृषीकेशो	१	१५
पार्थ नैवेह नाऽमुत्र	६	४०
पितासि लोकस्य चराचरस्य	११	४३

श्लोकप्रतीकः	अ०	श्लो०
पितामहस्य जगतो०	९	१७
पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च	७	९
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि	१३	२१
पुरुषः स परः पार्थ	८	२२
पुरोधसां च मुख्यं मां	१०	२४
पूर्वाभ्यासेन तेनैव	६	४४
पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं	१८	२१
प्रकाशं च प्रवृत्तिं च	१४	२२
प्रकृतिं पुरुषं चैव	१३	१९
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य	९	८
प्रकृतेः क्रियमाणानि	३	२७
प्रकृतेर्गुणसंमूढाः	३	२९
प्रकृत्यैव च कर्माणि	१३	२९
प्रजहाति यदा कामान्	२	५५
प्रयत्नाद्यतमानस्तु	६	४५
प्रयाणकाले मनसा	८	१०
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्	५	९
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च	१६	७
,,	१८	३०
प्रशान्तमनसं ह्येनं	६	२७
प्रशान्तात्मा विगतभीः	६	१४
प्रसादे सर्वदुःखानां	२	६५
प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां	१०	३०
प्राप्य पुण्यकृतांल्लोकान्	६	४१
ब		
बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य	६	६
बलं बलवतामस्मि	७	११
बहिरन्तश्च भूतानां	१३	१५
बहूनां जन्मनामन्ते	७	१९
बहूनि मे व्यतीतानि	४	५
बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा	५	२१
बीजं मां सर्वभूतानां	७	१०
बुद्धियुक्तो जहातीह	२	५०
बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः	१०	४
बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव	१८	२९
बुद्ध्या विशुद्धया युक्तः	१८	५१
बृहत्साम तथा साम्नां	१०	३५
ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहं०	१४	२७
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि	५	१०
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा	१८	१४
ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः	४	२४
ब्राह्मणक्षत्रियविशां	१८	४१
भ		
भक्त्या त्वनन्यया शक्यः	११	५४
भक्त्या मामभिजानाति	१८	५५
भयाद्रणादुपरतं	२	३५
भवान् भीष्मश्च कर्णश्च	१	८
भवाप्ययौ हि भूतानां	११	२
भीष्मद्रोणप्रमुखतः	१	२५
भूतग्रामः स एवाऽयं	८	१९
भूमिरापोऽनलो वायुः	७	४
भूय एव महाबाहो	१०	१
भोक्तारं यज्ञतपसां	५	२९
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां	२	४४
म		
मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि	१८	५८
मच्चित्ता मद्गतप्राणा	१०	९
मत्कर्मकृन्मत्परमो	११	५५
मत्तः परतरं नान्यत्	७	७
मदनुग्रहाय परमं	११	१
मनःप्रसादः सौम्यत्वं	१७	१६
मनुष्याणां सहस्रेषु	७	३
मन्मना भव मद्भक्तो	९	३४
मन्मना भव मद्भक्तो	१८	६५
मन्यसे यदि तच्छक्यं	११	४
मम योनिर्महद्ब्रह्म	१४	३
ममैवांशो जीवलोके	१५	७
मया ततमिदं सर्वं	९	४
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः	९	१०
मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं	११	४७
मयि चानन्ययोगेन	१३	१०

श्लोकप्रतीकः	अ०	श्लो०
मयि सर्वाणि कर्माणि	३	३०
मय्यावेश्य मनो ये मां	१२	२
मय्यासक्तमनाः पार्थ	७	१
मय्येव मन आधत्स्व	१२	८
महर्षयः सप्त पूर्वे	१०	६
महर्षीणां भृगुरहं	१०	२५
महात्मानस्तु मां पार्थ	९	१३
महाभूतान्यहंकारो	१३	५
मा ते व्यथा मा च	११	४९
मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय	२	१४
मानापमानयोस्तुल्य०	१४	२५
मामुपेत्य पुनर्जन्म	८	१५
मां च योऽव्यभिचारेण	१४	२६
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य	९	३२
मुक्तसङ्गोऽनहंवादी	१८	२६
मूढग्राहेणाऽऽत्मनो यत्	१७	१९
मृत्युः सर्वहरश्चाऽहं०	१०	३४
मोघाशा मोघकर्माणः	९	१२
य		
य इदं परमं गुह्यं	१८	६८
य एनं वेत्ति हन्तारं	२	१९
य एवं वेत्ति पुरुषं	१३	२३
यच्चापि सर्वभूतानां	१०	३९
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि	११	४२
यजन्ते सात्त्विका देवान्	१७	४
यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहं	४	३५
यततो ह्यपि कौन्तेय	२	६०
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां	१८	४६
यतेन्द्रियमनोबुद्धिः	५	२८
यतो यतो निश्चरति	६	२६
यतन्तो योगिनश्चैनं	१५	११
यत्करोषि यदश्नासि	९	२७
यत्तदग्रे विषमिव	१८	३७
यत्तु कामेप्सुना कर्म	१८	२४
यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्	१८	२२
यत्तु प्रत्युपकारार्थं	१७	२१
यत्र काले त्वनावृत्ति०	८	२३
यत्र योगेश्वरः कृष्णो	१८	७८
यत्रोपरमते चित्तं	६	२०
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं	५	५
यथाकाशस्थितो नित्यं	९	६
यथा दीपो निवातस्थो	६	१९
यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः	११	२८
यथा प्रकाशयत्येकः	१३	३३
यदा प्रदीप्तं ज्वलनं	११	२९
यथा सर्वगतं सौक्ष्म्या०	१३	३२
यथैधांसि समिद्धोऽग्नि०	४	३७
यदग्रे चानुबन्धे च	१८	३९
यदहंकारमाश्रित्य	१८	५९
यदक्षरं वेदविदो वदन्ति	८	११
यदा ते मोहकलिलं	२	५२
यदादित्यगतं तेजो	१५	१२
यदा भूतपृथग्भावं	१३	३०
यदा यदा हि धर्मस्य	४	७
यदा विनियतं चित्तं	६	१८
यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु	१३	१४
यदा संहरते चाऽयं	२	५८
यदा हि नेन्द्रियार्थेषु	६	४
यदि मामप्रतीकार०	१	४६
यदि ह्यहं न वर्तेयं	३	२३
यदृच्छया चोपपन्नं	२	३२
यदृच्छालाभसन्तुष्टो	४	२२
यद्यदाचरति श्रेष्ठ०	३	२१
यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं	१०	४१
यद्यप्येते न पश्यन्ति	१	३८
यं यं वापि स्मरन् भावं	८	६
यया तु धर्मकामार्थान्	१८	३४
यया धर्ममधर्मं च	१८	३१
यया स्वप्नं भयं शोकं	१८	३५
यं लब्ध्वा चापरं लाभं	६	२२

श्लोकप्रतीकः	अ०	श्लो०
यं संन्यासमिति प्राहु०	६	२
यं हि न व्यथयन्त्येते	२	१५
यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य	१६	२३
यः सर्वत्रानभिस्नेहः	२	५७
यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्म०	३	१७
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा	३	७
यस्मात्क्षरमतीतोऽहं०	१५	१८
यस्मान्नोद्विजते लोको	१२	१५
यस्य नाऽहंकृतो भावो	१८	१७
यस्य सर्वे समारम्भाः	४	१९
यज्ञदानतपःकर्म	१८	५
यज्ञशिष्टामृतभुजो	४	३१
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो	३	१३
यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र	३	९
यज्ञे तपसि दाने च	१७	२७
यातयामं गतरसं	१७	१०
या निशा सर्वभूतानां	२	६९
यान्ति देवव्रता देवान्	९	२५
यामिमां पुष्पितां वाचं	२	४२
यावत्संजायते किंचित्	१३	२६
यावदेतान्निरीक्षेऽहं	१	२२
यावानर्थ उदपाने	२	४६
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा	५	१२
युक्ताहारविहारस्य	६	१७
युञ्जन्नेवं सदात्मानं	६	१५
,,	६	२८
युधामन्युश्च विक्रान्त	१	६
ये चैव सात्त्विका भावा	७	१२
ये तु धर्म्यामृतमिदं	१२	२०
ये तु सर्वाणि कर्माणि	१२	६
ये त्वक्षरमनिर्देश्य०	१२	३
ये त्वेतदभ्यसूयन्तो	३	३२
येऽप्यन्यदेवताभक्ता	९	२३
ये मे मतमिदं नित्य०	३	३१
ये यथा मां प्रपद्यन्ते	४	११

श्लोकप्रतीकः	अ०	श्लो०
ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य	१७	१
येषामर्थे काङ्क्षितं नो	१	३३
येषां त्वन्तगतं पापं	७	२८
ये हि संस्पर्शजा भोगा	५	२२
योगयुक्तो विशुद्धात्मा	५	७
योगसंन्यस्तकर्माणं	४	४१
योगस्थः कुरु कर्माणि	२	४८
योगिनामपि सर्वेषां	६	४७
योगी युञ्जीत सततं०	६	१०
योत्स्यमानानवेक्षेऽहं	१	२३
यो न हृष्यति न द्वेष्टि	१२	१७
योऽन्तःसुखोऽन्तराराम०	५	२४
यो मामजमनादिं च	१०	३
यो मामेवमसंमूढो	१५	१९
यो मां पश्यति सर्वत्र	६	३०
यो यो यां यां तनुं भक्तः	७	२१
योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः	६	३३
र		
रजस्तमश्चाभिभूय	१४	१०
रजसि प्रलयं गत्वा	१४	१५
रजो रागात्मकं विद्धि	१४	७
रसोऽहमप्सु कौन्तेय	७	८
रागद्वेषवियुक्तैस्तु	२	६४
रागी कर्मफलप्रेप्सु०	१८	२७
राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य	१८	७६
राजविद्या राजगुह्यं	९	२
रुद्राणां शङ्करश्चास्मि	१०	२३
रुद्रादित्या वसवो ये च	११	२२
रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं	११	२३
ल		
लभन्ते ब्रह्मनिर्वाण०	५	२५
लेलिह्यसे ग्रसमानः	११	३०
लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा	३	३
लोभः प्रवृत्तिरारम्भः	१४	१२

श्लोकप्रतीकः	अ०	श्लो०
व		
व मर्हस्यशेषेण	१०	१६
वक्त्राणि ते त्वरमाणा	११	२७
वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः	११	३९
वासांसि जीर्णानि यथा	२	२२
विद्याविनयसंपन्ने	५	१८
विधिहीनमसृष्टान्नं	१७	१३
विविक्तसेवी लघ्वाशी	१८	५२
विषया विनिवर्तन्ते	२	५९
विषयेन्द्रियसंयोगात्	१८	३८
विस्तरेणात्मनो योगं	१०	१८
विहाय कामान्यः सर्वान्	२	७१
वीतरागभयक्रोधा	४	१०
वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि	१०	३७
वेदानां सामवेदोऽस्मि	१०	२२
वेदाविनाशिनं नित्यं	२	२१
वेदाहं समतीतानि	७	२६
वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव	८	२८
व्यवसायात्मिका बुद्धि०	२	४१
व्यामिश्रेणेव वाक्येन	३	२
व्यासप्रसादाच्छ्रुतवान्	१८	७५
श		
शक्नोतीहैव यः सोढुं	५	२३
शनैः शनैरुपरमेत्	६	२५
शमो दमस्तपः शौचं	१८	४२
शरीरं यदवाप्नोति	१५	८
शरीरवाङ्मनोभिर्यत्	१८	१५
शुक्लकृष्णे गती ह्येते	८	२६
शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य	६	११
शुभाशुभफलैरेवं	९	२८
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं	१८	४३
श्रद्धया परया तप्तं	१७	१७
श्रद्धावाननसूयश्च	१८	७१
श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं	४	३९
श्रुतिविप्रतिपन्ना ते	२	५३
श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञात्	४	३३
श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः	३	३५
,,	१८	४७
श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासात्	१२	१२
श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये	४	२६
श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च	१५	९
श्वशुरान्सुहृदश्चैव	१	२७
स		
स एवायं मया तेऽद्य	४	३
सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो	३	२५
सखेति मत्वा प्रसभं	११	४१
स घोषो धार्तराष्ट्राणां	१	१९
सततं कीर्तयन्तो मां	९	१४
स तया श्रद्धया युक्तो	७	२२
सत्कारमानपूजार्थं	१७	१८
सत्त्वात्संजायते ज्ञानं	१४	१७
सत्त्वं रजस्तम इति	१४	५
सत्त्वं सुखे संजयति	१४	९
सत्त्वानुरूपा सर्वस्य	१७	३
सदृशं चेष्टते स्वस्याः	३	३३
सद्भावे साधुभावे च	१७	२६
समदुःखसुखः स्वस्थः	१४	२४
समोऽहं सर्वभूतेषु	९	२९
समं कायशिरोग्रीवं	६	१३
समं पश्यन् हि सर्वत्र	१३	२८
समं सर्वेषु भूतेषु	१३	२७
समः शत्रौ च मित्रे च	१२	१८
सर्गाणामादिरन्तश्च	१०	३२
सर्वकर्माणि मनसा	५	१३
सर्वकर्माण्यपि सदा	१८	५६
सर्वगुह्यतमं भूयः	१८	६४
सर्वतः पाणिपादं तत्	१३	१३
सर्वद्वाराणि संयम्य	८	१२
सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्	१४	११
सर्वधर्मान् परित्यज्य	१८	६६

श्लोकप्रतीकः	अ०	श्लो०
सर्वभूतस्थमात्मानं	६	२९
सर्वभूतस्थितं यो मां	६	३१
सर्वभूतानि कौन्तेय	९	७
सर्वभूतेषु येनैकं	१८	२०
सर्वमेतदृतं मन्ये	१०	१४
सर्वयोनिषु कौन्तेय	१४	४
सर्वस्य चाऽहं हृदि	१५	१५
सर्वाणीन्द्रियकर्माणि	४	२७
सर्वेन्द्रियगुणाभासं	१३	१४
सहजं कर्म कौन्तेय	१८	४८
सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा	३	१०
सहस्रयुगपर्यन्तं	८	१७
साधिभूताधिदैवं मां	७	३०
सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म	१८	५०
सीदन्ति मम गात्राणि	१	२९
सुखदुःखे समे कृत्वा	२	३८
सुखमात्यन्तिकं यत्तत्	६	२१
सुखं त्विदानीं त्रिविधं	१८	३६
सुदुर्दर्शमिदं रूपं	११	५२
सुहृन्मित्रार्युदासीन०	६	९
संकरो नरकायैव	१	४२
संकल्पप्रभवान्कामान्	६	२४
सन्तुष्टः सततं योगी	१२	१४
संनियम्येन्द्रियग्रामं	१२	४
संन्यासस्तु महाबाहो	५	६
संन्यासस्य महाबाहो	१८	१
संन्यासः कर्मयोगश्च	५	२
संन्यासं कर्मणां कृष्ण	५	१
सांख्ययोगौ पृथग्बालाः	५	४
स्थाने हृषीकेश तव	११	३६
स्थितप्रज्ञस्य का भाषा	२	५४
स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यान्	५	२७
स्वधर्ममपि चावेक्ष्य	२	३१
स्वभावजेन कौन्तेय	१८	६०
स्वयमेवात्मनात्मानं	१०	१५
स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः	१८	४५
ह		
हन्त ते कथयिष्यामि	१०	१९
हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं	२	३७
हृषीकेशं तदा वाक्य०	१	२१

समाप्तोऽयं गीतापद्यानामकारादिवर्णानुक्रमः